प्रस्तुतकर्ता की अन्य पुस्तकें

1. Co-operation in the East and the West (Co-author)
2. Economics Essays in Honour of Prof Rudra (Co-author)
3. Essays in Economic Theory (Co-author) (in the Press)
4. आधुनिक आर्थिक सिद्धान्त
5. पूर्व और पश्चिम में सहकारी आन्दोलन (सहलेखक) (प्रेस में)

भारतीय अर्थशास्त्र

(खकों की विख्यात पुस्तक Indian Economics का हिन्दी रूपान्तर)

[खण्ड १–२]

जे० बी० जथार एम० ए०

तथा

एस० जी० बेरी एम० ए०

प्रस्तुतकर्ता

डी० एस० कुशवाहा

(इलाहाबाद विश्वविद्यालय)



राजकमल प्रकाशन

दिल्ली इलाहाबाद बम्बई

मूल पुस्तक Oxford University Press द्वारा प्रकाशित की गई है। हिन्दी संस्करण में अद्यतन सूचनाएं और आंकड़े प्रस्तुतकर्ता द्वारा यथास्थान दे दिये गए हैं।

प्रथम हिन्दी संस्करण, १९५६

भूमिका

पिछले २५ वर्षों से प्रो० जथार तथा प्रो० बेरी द्वारा लिखित 'इण्डियन इकनॉमिक्स' को एक प्रामाणिक पुस्तक के रूप में सबने स्वीकार किया है। विषय का सर्वांगीण विवेचन तथा निष्पक्ष आलोचनात्मक दृष्टिकोण इसकी विशेषता है। अभी तक यह पुस्तक केवल अंग्रेज़ी में ही उपलब्ध थी, इसलिए विषय का हिन्दी में अध्ययन करने वाले विद्यार्थी इससे लाभ न उठा पाते थे। विश्वविद्यालयों द्वारा हिन्दी माध्यम अपनाये जाने पर इसके हिन्दी संस्करण की आवश्यकता और बढ़ गई। मूल पुस्तक का यह हिन्दी संस्करण विषय पर एक गम्भीर पुस्तक प्रस्तुत करने के अतिरिक्त विद्यार्थियों के लिए भी हितकर सिद्ध होगा, क्योंकि उन्हें इस संस्करण में अद्यतन सूचनाओं और आँकड़ों के अतिरिक्त भारतीय अर्थशास्त्र-सम्बन्धी लगभग सभी विषयों पर पर्याप्त ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के साथ उनका सविस्तार आलोचनात्मक विवरण भी उपलब्ध हो जायगा जिसका अन्यत्र मिलना कठिन ही है।

प्रस्तुत संस्करण में प्रत्येक विषय-सम्बन्धी अद्यतन विकास की रूपरेखा और आँकड़े दे दिये गए हैं। अतएव यह मूल पुस्तक का केवल हिन्दी संस्करण-मात्र ही नहीं, वरन् उसका *संशोधित संस्करण* भी है। संशोधन-कार्य में मुझे जिन साधनों से सहायता मिली है, उनमें से निम्न मुख्य हैं: भारतीय संविधान, सन् १९५१ की जनगणना रिपोर्ट, स्टेटिस्टीकल एब्स्ट्रेक्ट १९५१-५२, लेबर ईयरबुक १९५२-५३, इण्डियन ईयर बुक (टाइम्स ऑफ इण्डिया), इण्डिया ऐट ए ग्लान्स, इण्डिया १९५४, रिव्यू ऑफ द कोऑपरेटिव मूवमेन्ट इण्डिया, बैंकिंग एण्ड मॉनीटरी स्टेटिस्टिक्स ऑफ इण्डिया, रिज़र्व बैंक बुलेटिन, एग्रिकल्चरल सिचुएशन इन इण्डिया, प्रोग्रेस रिपोर्ट ऑफ द फाइव ईयर प्लान आदि। इनका तथा अन्य प्रयुक्त साधनों का उल्लेख यथास्थान भी कर दिया गया है। जहाँ तक सम्भव हुआ है अद्यतन आँकड़ों का समावेश पाठ में ही किया गया है और महत्त्वपूर्ण विकास, जिसका पुस्तक में पहले समावेश नहीं था, पाद-टिप्पणियों में दे दिया गया है। अतएव पाठक किसी भी विषय का आधुनिक विकास और तत्सम्बन्धी सांख्यिकीय स्थिति बड़ी सरलता से जान सकते हैं। विद्यार्थियों की सुविधा के लिए आवश्यक स्थलों पर हिन्दी पर्याय के सामने कोष्ठक में अंग्रेजी शब्द भी हिन्दी में लिख दिये गए हैं।

पुस्तक को हिन्दी में प्रस्तुत करने में मुझे अनेक व्यक्तियों से सहायता मिली है। सर्वश्री छैलबिहारीलाल एम० ए०, पारसनाथसिंह एम० ए०, गिरीशदत्त-

पाण्डे, एम० ए०, विष्णुसरन अग्रवाल एम० ए० और लाल सूर्योदय प्रतापसिंह एम० ए० आदि सभी धन्यवाद के पात्र हैं। अर्थशास्त्र के विद्यार्थी होने के अतिरिक्त इनमें से कुछ अन्यत्र कालिजों में इस विषय के अध्यापक भी हैं। उन्होंने मुझे अनेक विषयों पर परामर्श भी दिये हैं। श्री छैलविहारीलाल ने भाषा के रूप के सम्बन्ध में मुझे उपयोगी सुझाव दिये हैं, इसके लिए मैं उनका विशेष रूप से आभारी हूँ।

मुझे आशा है कि पुस्तक का यह हिन्दी संस्करण विद्यार्थियों एवं भारत की आर्थिक गतिविधि के जिज्ञासुओं के लिए उपयोगी सिद्ध होगा।

अर्थशास्त्र विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
३१ जुलाई, १९५५

—धर्मेन्द्रसिंह कुशवाह

सूची

सूची

[खण्ड २]

अनुमान—फिण्डले शिराज का अनुमान—वी० के० आर० वी० राव का अनुमान—ईस्टर्न इकनामिस्ट का अनुमान—व्याख्या तथा तुलना की कठिनाइयाँ—अन्तर्राष्ट्रीय तुलनाएँ—गहन परीक्षण—क्या भारतीय दरिद्रता घट रही है ?—अधिक सही आँकडो की आवश्यकता—बाउली-राबर्ट्‌सन जाँच—आँकडे सकलित करने का सकलन—राष्ट्रीय आय का माप—उत्पादन-गणना—भारतीय दरिद्रता को बढाने वाली उपभोग-सम्बन्धी कुछ भूलें।

परिवहन का महत्त्व। रेलवे राज्य और रेलवे के बीच सम्बन्धो की विविधता—रेलवे के इतिहास के प्रधान काल-खण्ड—पुरानी गारण्टी प्रथा—सरकारी निर्माण और प्रबन्ध (१८६९-७९)—नया गारण्टी सिस्टम (१८७९-१९००)—वर्तमान स्थिति—रेलो का शीघ्र विस्तार और लाभ का प्रारम्भ (१९००-१४)—रेलो का विघटन (१९१४-२१)—आकवर्थ समिति—भारत में सरकारी प्रबन्ध के पक्ष में मत—साधारण वित्त से रेलवे वित्त का पृथक्करण (अलगाव)—वेजवुड रेलवे जाँच समिति (१९३४-३७)—द्वितीय विश्व-युद्ध-काल में भारतीय रेलवे। रेलवे प्रशासन की कुछ समस्याएँ · रेलवे पर नीति—रेलवे बोर्ड का पुनर्गठन—रेलवे परामर्शदात्री समितियाँ—भारतीयकरण इत्यादि—सघीय रेलवे सत्ता (फेडरल रेलवे अथारिटी)—रेलवे के आर्थिक प्रभाव—रेलो के और अधिक विकास की आवश्यकता। सड़क परिवहन : हाल का सड़क इतिहास—भारतीय सडको की विशेषताएँ—अधिक सडको की आवश्यकता — सडक बनाम रेलवे — सड़को की प्रतिस्पर्धा को कम करने के लिए अपनाये गए उपाय — परिवहन संयोजन नीति—रेल-सडक सयोजन पर वेजवुड समिति और उसके बाद — सडक के मोटर यातायात (ट्रैफिक) का नियमन — भारतीय सडक विकास समिति — सडक वित्त—नवीन सडक नीति—सडक खाते की आर्थिक दशा—सडक सम्बन्धी नवीन प्रस्ताव। जल-परिवहन अन्तर्देशीय जलपथ—सामुद्रिक परिवहन—जलयान के सम्बन्ध में भारतीय साहस की बाधाएँ—विलम्बित छूट व्यवस्था, दर-युद्ध इत्यादि—भारतीय जलयान-निर्माण उद्योग की स्थिति—भारतीय व्यापारिक बेडे की आवश्यकता—व्यापारिक जहाजरानी समिति (१९२३)—तटीय यातायात को भारतीय जहाजो के लिए सुरक्षित करने का बिल—विलम्बित छूट व्यवस्था की समाप्ति-सम्बन्धी बिल—जहाजरानी पुनर्निर्माण नीति उप-समिति—तटीय यातायात को नियन्त्रित करने के लिए हाल में किये गए प्रयत्न—विजगापट्टम का जलयान निर्माण-प्रागण—इधर हाल में हुआ विकास। वायु-परिवहन नागरिक उड्डयन—बंगलौर की वायुयान फैक्ट्री।

६. भारत का व्यापार १६८

वाह्य व्यापार ऐतिहासिक सिंहावलोकन—१८६४-६५ से भारत का व्यापार—भारतीय बाजार के लिए सघर्ष—१६१४-१८ के युद्ध के पूर्व की स्थिति का साराश—प्रथम विश्वयुद्ध का भारत के व्यापार पर प्रभाव—दोनो युद्धो के बीच के समय में व्यापार (१६१६-२० से १६३६-४०)—विश्व के आर्थिक अवसाद-काल में भारत का व्यापार—विश्व का आर्थिक समुत्थान और भारत का व्यापार—मन्दी के समय में भारत का व्यापार (१६३७-३८ से १६३८-३६ तक)—युद्ध-काल (१६३६-४५) में भारत का विदेशी व्यापार—ग्रेगरी-मीक मिशन—निर्यात-परामर्श समिति तथा अन्य उपाय—भारत के समुद्र-वाहित व्यापार की विशेषताएँ—व्यापार की रचना में हाल में हुए परिवर्तन—भारत के व्यापार की दशा—१६१४ के पहले भारत के व्यापार का वितरण—युद्ध-काल (१६१४-१८) में भारत के व्यापार का वितरण—भारत के विदेशी व्यापार (१६१४-१८) की युद्धोत्तर प्रवृत्तियाँ—वस्तु-व्यापार की दिशा—भारत-वर्मा व्यापार—द्वितीय विश्वयुद्ध और उसके उपरान्त व्यापार की दिशा में परिवर्तन—भारत का मध्यागार (पुनर्निर्यात) व्यापार—व्यापारिक सतुलन—भारत के स्थिति-विवरण पत्रक (वैलेन्स शीट) में नामे और जमा की मदे—'निस्सारण' की परिभाषा (दि ड्रेन डिफाइण्ड)—गृह-व्यय (होम चार्जेज)—विदेशी ऋण के सम्बन्ध में किये गए भुगतान—नागरिक एव सैनिक सेवाएँ—जहाज तथा बीमा-कम्पनियो और वैको के लाभ—निस्सारण विवाद की कुछ आधारभूत मान्यताएँ—देश का (भौमिक) सीमान्त व्यापार—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और आर्थिक समृद्धि । **आन्तरिक व्यापार** तटीय व्यापार—आन्तरिक व्यापार—भारत के प्रधान व्यापारिक केन्द्र—व्यावसायिक ज्ञान तथा व्यापार सगठन—भारत के वाणिज्यिक सगठन ।

७ व्यापारिक समझौते २४८

साम्राज्य अधिमान (इम्पीरियल प्रेफरेंस) आन्दोलन का इतिहास—साम्राज्य अधिमान के प्रति भारत का रुख—ओटावा समझौता—ओटावा समझौता पक्ष—ओटावा समझौता विपक्ष—वम्बई-लकाशायर टेक्स्टाइल समझौता (मोदी लीज पैक्ट)—१६३५ का पूरक आग्ल-भारतीय व्यापारिक समझौता—ओटावा समझौते पर धारासभा का विरोधी निर्णय—आग्ल-भारतीय व्यापारिक समझौता (१६३५)—भारत-जापानी समझौते की उत्पत्ति (१६५४)—१६३४ के समझौते की धाराएँ—१६३४ के भारत-जापानी समझौते की कार्य-विधि—नवीन जापानी-भारत व्यापारिक समझौता (१६३७)—१६४० का अस्थायी समझौता—१६४१ का नया वर्मा-भारत व्यापारिक समझौता—द्विपक्षी (बिलेटरल) व्यापारिक समझौतो की नई नीति ।

खण्ड १

अध्याय १

क्षेत्र तथा परिभाषा

१. परिभाषा—भारत की मुख्य आर्थिक समस्याओ के अध्ययन और उनके सम्भावित कारणो तथा उन्हे सुलझाने के लिए किये गए या किये जाने वाले उपायो के विश्लेषण को समष्टि रूप से हम भारतीय अर्थशास्त्र के नाम से अभिहित कर सकते है। यह राष्ट्रीय दृष्टिकोण से देश की आर्थिक स्थिति का अध्ययन है। देश की आर्थिक स्थिति के परीक्षण मे स्वभावत. दो बाते आ जायँगी—एक तो सरकारी नीति की आलोचना अथवा प्रशसा और दूसरे इस आर्थिक दशा को सुधारने की योजनाओ का निर्माण। यदि हमारे अध्ययन का दृष्टिकोण बराबर राष्ट्रीय रहे तो हमारा प्रथम और अन्तिम लक्ष्य भारतीय जनो की भौतिक उन्नति ही होगा। सन् १८७७ में सर जॉन स्ट्रैची ने वित्त-विवरण पेश करते हुए इस सिद्धान्त का खण्डन किया था कि भारत-सरकार का कर्तव्य केवल भारतीय हितो का विचार करना है। वरन् उन्होने इस बात को स्वीकार किया था कि वह अपने देश के प्रति अपने कर्तव्यो से बडा कोई अन्य कर्तव्य नही समझते। यह वास्तव में उपनिवेश-नीति की एक प्रतिध्वनि-मात्र थी, जिसके अनुसार इगलैण्ड के समुद्र-पार स्थित उपनिवेशो और डोमिनियनो का मुख्य उद्देश्य अग्रेजी हितो की सिद्धि ही था। यह स्पष्ट है कि राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने के बाद अन्य स्वशासित डोमिनियनो की भाँति भारत भी अब अपने निजी हितो की दृष्टि से सबसे उपयुक्त नीति निर्धारित करने के लिए स्वतन्त्र है, भले ही वह कॉमनवेल्थ का सदस्य बना रहने का निश्चय क्यो न कर ले।

२. दूसरा सम्भावित अर्थ—उपरोक्त परिभाषा के अनुसार कई कारणो से 'भारतीय अर्थशास्त्र' शब्द के औचित्य पर कभी-कभी सन्देह होता है। इनमे से एक कारण यह है कि यह शब्द साधारणतया स्वीकृत अर्थ के अतिरिक्त अन्य अर्थो की ओर भी सकेत करता है, परन्तु किसी शब्द के एक विशेष प्रयोग को उचित बतलाने के लिए यह सिद्ध करना आवश्यक नही है कि उसका दूसरा अर्थ होना असम्भव है। सच बात तो यह है कि 'भारतीय अर्थशास्त्र' शब्द के कम-से-कम दो अर्थ और हो सकते है। इसका एक अर्थ यह हो सकता है कि 'भारतीय अर्थशास्त्र' आदिकाल से लेकर वर्तमान समय तक की भारतीय आर्थिक चिन्ताधारा का इतिहास है। सम्भवत ऐसे इतिहास का अध्ययन रोचक नही होगा, क्योकि इस चिन्ताधारा के क्रमबद्ध विकास का हमे पता नही है और उसकी प्रगति का कोई अभिलेखन भी नही हुआ है। किसी एक शताब्दी के प्रचलित विचार परवर्ती शताब्दियो मे भी लगभग उसी रूप मे बने रहे है। जो परिवर्तन हुए है वह आधुनिक युग में आने पर ही, और उसके मूल में पाश्चात्य प्रभावो की महत्ता

स्वीकार करनी पडती है। यह भी सम्भव है कि ऐसा इतिहास अविच्छिन्न न हो, क्योकि अनेक स्थानो पर हमारी अज्ञानता के कारण प्रवाह भग होगा। आज वस्तु-स्थिति यह है कि अपने अतीत इतिहास के कई कालखण्डो की परिस्थितियो एव विचार-पद्धतियो के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान नही के बराबर है। परन्तु इन आक्षेपो के कारण 'भारतीय अर्थशास्त्र' शब्द का प्रयोग भारतीय आर्थिक चिन्ताधारा के इतिहास के अर्थ मे करने मे हमें कोई सकोच नही होना चाहिए। (यद्यपि इस अर्थ-विशेष का बोध कराने के लिए पूरे पद का प्रयोग करने मे भ्रान्ति की कोई गुजाइश नही रहती।)

३ तीसरी व्याख्या—अगर केवल भाषा की दृष्टि से विचार किया जाय तो 'भारतीय अर्थशास्त्र' का अर्थ आर्थिक सिद्धान्तो की एक नवीन पद्धति भी हो सकता है। यदि यह सत्य है कि भारतीय समाज और परिस्थितियां पाश्चात्य समाज और परिस्थितियो से मूलत इतनी भिन्न है कि राजनीतिक अर्थशास्त्र की सामान्य आधार-भूत धारणाएँ इस देश मे लागू नही होती तो ये सिद्धान्त पश्चिम में प्रचलित सिद्धान्तो से भिन्न होंगे। फिर भी चूँकि एकान्तत भारतीय तथ्यो पर आधारित 'अर्थशास्त्र' नाम के किसी सर्वथा नवीन विज्ञान का अस्तित्व ही नही है, इसलिए भारतीय अर्थ-शास्त्र शब्द को इस विशेष अर्थ में प्रयोग करने की कभी आवश्यकता न होगी। मानव-स्वभाव भारत में प्रधानत वैसा ही है जैसा कि पश्चिम में, और वे आधारभूत अनुमान, जिन पर राजनीतिक अर्थशास्त्र का निर्माण हुआ है, अन्य स्थानो की भाँति भारत में भी लागू होते हैं। यदि पश्चिम मे पर्याप्त प्रबल और निरन्तर क्रिया-शील स्वार्थ-भाव अर्थशास्त्र का आधार माना गया है तो यह मानने के लिए कोई कारण नही है कि यहाँ लोग सामान्यत आर्थिक भावना के बजाय परोपकार की भावना से प्रेरित होते हैं। यही बात स्वतन्त्र प्रतियोगिता, श्रम तथा पूँजी की गतिमत्ता आदि अन्य धारणाओ के सम्बन्ध मे भी है। यद्यपि भारतीय परिस्थितियो में ये धारणाएँ उसी निश्चय के साथ नही की जा सकती जैसे कि पश्चिम मे, फिर भी वे पश्चिमी विचारको द्वारा विवेचित अर्थशास्त्र के सामान्य नियम निर्धारित करने में बहुत-कुछ सगत हैं, और भारत की आर्थिक समस्याएँ समझने में बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। व्यावहारिक अर्थशास्त्र के क्षेत्र में पाश्चात्य अनुभव से भारत को अनेक शिक्षाप्रद बातें मिलती हैं।

मानव-प्रकृति सर्वत्र एक-सी है और अर्थशास्त्र मानव-प्रकृति की कुछ सार्व-लौकिक विशिष्टताओ पर निर्भर है। अतएव, वास्तव में 'अर्थशास्त्र' केवल एक ही हो सकता है, जिस तरह गणितशास्त्र, भौतिक-शास्त्र, रसायनशास्त्र सब एक-एक हैं। अत पाश्चात्य आर्थिक सिद्धान्तो से अवगत कोई विद्यार्थी भारतीय अर्थशास्त्र की कोई पुस्तक अर्थशास्त्र के नवीन सिद्धान्तो की खोज की आशा से उठाता है तो उसे निराश होना पडेगा। अधिक-से-अधिक अध्ययन के पश्चात् उसे 'विभिन्न रूपो में अर्थशास्त्र की वस्तुगत एकता' (मार्शल) का पूर्ण रूप से ज्ञान हो जायगा और साथ ही आर्थिक सिद्धान्तो की सापेक्षता के सम्बन्ध में भी उसका विचार खूब दृढ हो जायगा।

। **भारतीय अर्थशास्त्र : अध्ययन का एक अलग विषय**—इस स्वीकृति से कि अर्थशास्त्र केवल एक है, हमारे लिए यह मानने में कोई बाधा नही है कि प्रत्येक देश की आर्थिक स्थिति का अलग-अलग अध्ययन न केवल उचित है वरन् अनिवार्य भी है। यह बिलकुल स्पष्ट है कि ऐसे अध्ययन के अभाव में आर्थिक नीति गलत समझी जा सकती है और वह देश के सच्चे हितो के लिए हानिकर हो सकती है। 'भारतीय अर्थशास्त्र' को अध्ययन का एक अलग विषय कहने से हमारा यही तात्पर्य है। फिर भी हमे यह सोचने की गलती नही करनी चाहिए कि भारत की आर्थिक परिस्थितियो का अध्ययन किसी भी प्रकार से अन्य देशो के ऐसे ही अध्ययन से पूर्णतया भिन्न है।

५. भारतीय अर्थशास्त्र भारत के उदाहरणों सहित अर्थशास्त्र के नियमों का आख्यान मात्र नहीं है—भूमि, श्रम, पूँजी, उत्पादन, वितरण और विनिमय आदि सामान्य शीर्षको के अन्तर्गत भारतीय अर्थशास्त्र की विभिन्न समस्याओ का अध्ययन सम्भव है। इससे हमें यह नही सोचना चाहिए कि 'भारतीय अर्थशास्त्र' केवल आर्थिक नियमो का एक विवरण है, जिसमें भारतीय आर्थिक जीवन के तथ्यो को उदाहरणो के रूप मे समाविष्ट कर दिया गया है। इसमे सन्देह नही कि अपरिचित स्थितियो से दिये गए उदाहरणो की अपेक्षा भारत के उदाहरणो के साथ अर्थशास्त्र के सिद्धान्तो को भारतीय विद्यार्थी अधिक आसानी से ग्रहण कर लेगा। फिर भी इसे 'भारतीय अर्थशास्त्र' कहलाने का कोई अधिकार नही है। 'भारतीय अर्थशास्त्र' पूरी तरह भारत के आर्थिक जीवन की स्थितियो और समस्याओ का ही एक तथ्यपरक अध्ययन है। अर्थशास्त्र के सिद्धान्तो का निर्देश वही तक उचित है जहाँ तक कि वे इन समस्याओ और स्थितियो को समझने में सहायक हो।

भारत के सम्बन्ध में इस प्रकार के अलग-अलग अध्ययन को हम 'भारतीय अर्थशास्त्र' कहते है, ठीक वैसे ही जैसे कि ब्रिटिश परिस्थितियो के ऐसे ही अध्ययन को हम 'ब्रिटिश अर्थशास्त्र' कह सकते है। ब्रिटेन के आर्थिक जीवन के विभिन्न रूपो जैसे बैंकिंग (बैक-व्यवहार), मुद्रा, यातायात, कृषि आदि के सिद्धान्त-ग्रन्थ 'ब्रिटिश अर्थशास्त्र' से ही सम्बन्धित माने जा सकते है।

६. रानाडे का बहुमूल्य कार्य—उन्नीसवी शताब्दी के अधिकाश भाग में देश की सरकारी नीति अनावश्यक रूप से सिद्धान्तपरक थी। आर्थिक सिद्धान्तो के परिकाल्पनिक स्वरूप की उपेक्षा कर यहाँ की आर्थिक नीति अर्थशास्त्र की लोकप्रिय अंग्रेजी पाठ्य-पुस्तको में दिये हुए आर्थिक नियमो पर आधारित थी। स्वतन्त्र व्यापार (Free Trade) इंगलैंड के लिए हितकर था, अतएव इस बात पर जोर दिया गया कि वह भारत के लिए भी हितकर होगा। राज्य-अनतिपाल (हस्तक्षेप न करने की नीति) अंग्रेजी परिस्थितियो के उपयुक्त थी, इसलिए कहा गया कि यह नीति भारत के लिए भी उतनी ही लाभप्रद होगी—यद्यपि भारत में व्यक्तिगत साहसोद्यम करीब-करीब था ही नही, और यदि था भी तो बहुत कम विकसित। सरकार द्वारा अर्थशास्त्र के निष्कर्षो के पालन का आग्रह कभी निश्छल होता था तो कभी कपटपूर्ण। बहुत से विचारशील लोगो के मत से आर्थिक विषयो में सरकारी नीति भारत के सच्चे हित के लिए उप-

योगी न थी। इस नीति पर राजनीतिज्ञो ने आक्षेप किया। उन्होंने साम्राज्यवादी और ब्रिटिश हितो के लिए भारत के राष्ट्रीय हितो की आहुति देने के लिए मुख्यकर सरकार को दोषी ठहराया। अर्थशास्त्रियो ने भी इस नीति पर आक्षेप किये, जिनमें स्वर्गीय न्यायमूर्ति रानाडे प्रमुख थे। रानाडे ने अपने सहज पाण्डित्य के बल जैसी सशक्त और प्राणवान भाषा में इस नीति पर आर्थिक दृष्टिकोण से प्रहार किया उसकी समता कोई अन्य भारतीय लेखक नही कर सकता था। उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि राजनीतिक अर्थशास्त्र के सैद्धान्तिक विश्लेषण के अनेक आधारभूत अनुमान भारत में लागू नही होते, अतएव यदि सरकारी नीति वास्तव में देश की आर्थिक उन्नति करने के लिए है तो भारतीय परिस्थितियो की बहुत सी विशेषताओ को भुलाया नही जा सकता। प्राय उद्धृत किये जाने वाले निम्नलिखित अश मे वे सरकार द्वारा उपस्थित कुछ महत्त्वपूर्ण विशिष्ट लक्षणो की ओर सकेत करते हैं 'क्योकि यह अनुमान (रानाडे का सकेत व्युत्पन्न व्यक्तिवाद, स्वतन्त्र प्रतियोगिता, श्रम और पूँजी की गतिमत्ता आदि अनुमानों की ओर है) अत्यधिक उन्नतिशील समाज मे भी पूर्ण रूप मे लागू नही होते, इसलिए स्पष्ट है कि हमारे जैसे समाज में मुख्य रूप मे इनका अभाव ही होगा। हमारे यहाँ एक औसत व्यक्ति-मानव, अधिकाश में आर्थिक मनुष्य के ठीक विपरीत होता है। जीवन में उसकी स्थिति निर्धारित करने मे परिवार तथा जाति अधिक प्रबल हैं। धन की इच्छा के रूप में स्वार्थ का अभाव नही है, किन्तु यह एकमात्र और प्रमुख प्रेरणा नही है। धन की खोज ही उसका एकमात्र ध्येय नही है। कुछ पूर्व-निश्चित क्षेत्रो अथवा सघो के अतिरिक्त स्वतन्त्र तथा असीमित प्रतियोगिता की न तो आकाक्षा ही है और न योग्यता ही। रीति-रिवाज तथा सरकारी नियम प्रतियोगिता मे कही अधिक प्रबल हैं और सविदे की अपेक्षा परिष्ठा (Status) का कहीं अधिक निश्चयात्मक प्रभाव पडता है। पूँजी तथा श्रम दोनो ही एक स्थान से दूसरे स्थान को जाने के लिए गतिमान, जोखिम उठाने वाले तथा बुद्धिमान नही हैं। मजदूरी एव लाभ स्थिर हैं, न कि नम्य और परिस्थितियो के साथ परिवर्तित होने वाले। जनसख्या अपने ही नियमो का अनुसरण करती है। बीमारी तथा अकालो से उसमें कमी होती रहती है, जबकि उत्पादन लगभग स्थिर रहता है और एक वर्ष की अच्छी फसल दूसरे गाढे वर्षो में कमी पूरने के काम आती है। इस प्रकार से निर्मित समाज में स्वयसिद्ध प्रवृत्तियाँ केवल लागू ही नही होती, वरन् वस्तुतः उचित दिशा से दूर पडती हैं। मापनीय समय के अन्दर अपने व्यावहारिक आचरण के कारणस्वरूप लोग पर्वतों के समुद्र मे बह जाने, घाटियो के भर जाने या सूर्य के ठण्डे हो जाने की बात भी कर सकते हैं।'[1]

७. पाश्चात्य आर्थिक सिद्धान्त तथा भारतीय अर्थशास्त्र—उन्नीसवी शताब्दी के इगलैण्ड की सर्वथा भिन्न परिस्थितियो के लिए उपयुक्त आर्थिक नीति का भारत में अन्धानुकरण करने का प्रबल विरोध करके रानाडे ने अपने देश की महान् सेवा की। इतने समय बाद आज उनके शब्दो पर फिर से विचार करने पर यह मानना पडता है

१ एम० जी० रानाडे द्वारा लिखित 'एसेज ऑन इण्डियन इकनॉमिक्स', द्वितीय सस्करण, पृष्ठ १०-११ में 'इण्डियन पॉलिटिकल इकनॉमी' शीर्षक लेख देखिए।

क उन्होने अशत इस धारणा को प्रचारित किया कि पाश्चात्य आर्थिक सिद्धान्त ारत की आर्थिक घटनाओ का आख्यान करने तथा आर्थिक उन्नति के उपाय सुझाने ॉ बिलकुल बेकार है। जहाँ तक रानाडे की इन धारणाओ का सम्बन्ध है, यह कहा ा सकता है कि व्यावहारिक सार्थकता और प्रभावशीलता के लिए वस्तुस्थिति को ढा-चढाकर कहने की आवश्यकता थी। उन दिनो सरकार राजनीतिक अर्थशास्त्र के ास्त्रीय रूप को अतिशय सम्मान देती थी जिसके लिए वह सार्वलौकिक प्रामाणिकता का ावा करती थी, और कभी-कभी किसी एक अतिशयोक्ति को सुधारने का केवल एक ी उपाय होता है कि विपरीत दिशा मे भी अत्युक्तियो का सहारा लिया जाय। रानाडे । यह ऐसे समय लिखा था जबकि व्यावहारिक प्रश्नो को हल करने के लिए अर्थशास्त्र े तथाकथित शाश्वत नियमो पर विश्वास करना एक सामान्य बात थी और सैद्धान्तिक नेष्कर्षो की ऐतिहासिक और आगमनात्मक अध्ययन द्वारा रक्षा करने की आव-यकता नही समझी जाती थी, जिससे कि इस बात का पता चल जाय कि किसी वेशेष मानव-समाज मे वे कहाँ तक लागू किये जा सकते है। भारत में रानाडे का कार्य जर्मनी में फ्रेडरिक लिस्ट की ऐसी ही सफलता से बहुत-कुछ मिलता-जुलता है। फ्रेडरिक लिस्ट ने अपनी कृति 'नेशनल सिस्टम आफ पोलिटिकल इकानमी' (१८४२) में राज-नीतिक अर्थशास्त्र के मतवादो और तथाकथित सार्वलौकिक सत्यो का दृढता से विरोध केया। उन्होने विशेपकर वर्तमान आर्थिक पद्धति में सार्वत्रिक सिद्धान्त का और स्वतन्त्र व्यापार के परम मत का, जो कि उस सिद्धान्त के अनुरूप था, विरोध किया। 'उन्होने राष्ट्रीय विचार को प्रधानता दी तथा परिस्थितियो के अनुसार—मुख्यत उसके विकास की स्थिति के अनुसार—प्रत्येक राष्ट्र की विशेष आवश्यकताओ पर बल दिया।'[१] वस्तुत रानाडे को मुख्य रूप से लिस्ट (List) के लेखो से ही प्रेरणा मिली और अपने युग मे उन्होने देश की वैसी ही बहुमूल्य सेवा की जैसे कि लिस्ट ने जर्मनी की। उन्होने इस विषय में एक शैली चलाई जो अपने लिए उपयुक्त समय के बहुत बाद तक चलती रही। उदाहरणार्थ, आजकल भी इस विचार मे बहुत कम सगति है कि राजनीतिक अर्थशास्त्र की शायद ही कोई धारणा भारतीय परिस्थितियो में लागू होती हो और 'सुखवादी सिद्धान्त मे जहाँ-तहाँ केवल हेर-फेर की ही आवश्यकता नही है, वरन् वह भारत के लिए बिलकुल प्रयोजनहीन हो जाता है।'[२] इस ढग के विचार कभी-कभी लोगो में यह धारणा फैलाते है कि भारतीय आर्थिक समस्याओ के विशेष अध्ययन के लिए एक बिलकुल ही नवीन आर्थिक प्रणाली की आवश्यकता है। वास्तव मे भारतीय आर्थिक समस्याओ को हल करने के लिए हमें हर कदम पर पाश्चात्य आर्थिक सिद्धान्तो की ही शरण लेनी पडेगी। यह भी सच है कि रानाडे के लिखने के बाद राजनीतिक अर्थशास्त्र तथा भारत दोनो में ही रूप-परिवर्तन हुआ है। राजनीतिक अर्थशास्त्र अपने परिणामो के अनुमानशील स्वरूप को उचित रूप से बल देने लगा है तथा उनके

१ 'एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' के ग्यारहवें सस्करण में एफ० लिस्ट पर लेख पढिए।

२ सन् १९२६ मे मद्रास में हुई तृतीय भारतीय 'इकनॉमिक कान्फ्रेंस' में पी० एन्स्टे द्वारा पठित लेख देखिए।

लिए सार्वलौकिक पुष्टता की माँग करने में भी सावधान है।[1] धारणाओं में सुधार करके यह अधिक मानवीय और व्यावहारिक हो गया है जिससे कि नियम यथार्थ स्थिति के अधिक अनुरूप हो सकें। अपनी प्राचीन बनावटी सादगी छोड़ देने से यह बहुत अधिक उपयोगी हो गया है। भारतीय परिस्थितियाँ भी बहुत हद तक बदल चुकी हैं और पाश्चात्य स्थितियों के अधिक-से-अधिक निकट आने की दिशा में बराबर तेजी से बढ़ रही हैं।

१ 'अर्थशास्त्र के सिद्धान्त कुछ ऐसे निश्चित निष्कर्ष नहीं प्रदान करते हैं जिन्हें नीति निर्धारित करते समय तुरन्त ही व्यवहार में लाया जा सके। एक सिद्धान्त की अपेक्षा यह एक कार्य-प्रणाली है, प्रज्ञा का उपकरण है तथा विचार करने की प्रविधि है जो इससे युक्त व्यक्ति को सही निष्कर्ष पर पहुँचने में सहायता देती है।—'कैम्ब्रिज इकनॉमिक हैण्डबुक्स' की सामान्य प्रस्तावना; जे० एम० केन्स द्वारा लिखित।

अध्याय २

भारत का भौतिक परिवेश तथा प्राकृतिक साधन

१. प्राकृतिक साधन और उनका महत्त्व—किसी जाति के आर्थिक जीवन को निश्चित करने में प्राकृतिक साधनो का अतीव महत्त्वपूर्ण योगदान है। जैसा कि जे० एस० निकल्सन का कथन है, इगलैंड मे उसके व्यापार तथा मिल-उत्पादनो की प्रधानता होने पर भी प्राकृतिक परिस्थितियाँ विशेष महत्त्व की हैं। तट और नदियाँ, लोहे और कोयले की खानो की सन्निकटता, कम और शीतोष्ण जलवायु तथा भूमि की उर्वरा शक्ति अब भी वहाँ राष्ट्र-सम्पदा के आधार हैं। बुद्धि और ज्ञान की वृद्धि के साथ प्रकृति के ऊपर मनुष्य का स्वामित्व भले ही बढता जाय, परन्तु इस प्रक्रिया की भी निश्चित सीमाएँ हैं और अन्त में मनुष्य को प्रकृति की शक्तियो और पदार्थो पर ही निर्भर रहना पडेगा। अत भारत की आर्थिक स्थिति के सम्बन्ध में हम अपना अध्ययन उसकी प्राकृतिक परिस्थितियो के सक्षिप्त वर्णन से प्रारम्भ करेंगे।

२. भारत : क्षेत्रफल तथा जनसंख्या—भारतीय सघ का क्षेत्रफल १२,६६,६४० वर्गमील और सन् १६५१ की जनगणना के अनुसार जनसख्या लगभग ३५.६ करोड है। उत्तर से दक्षिण तक देश की लम्बाई २००० मील है तथा पूरव से पश्चिम तक लगभग १७०० मील है। इस प्रकार भारत अपने में एक दुनिया है जो ब्रिटिश द्वीपसमूह की तेरह गुनी है और उसका क्षेत्रफल रूस और रूस के क्षेत्रफल को घटा देने पर शेष यूरोप के बराबर है। उसकी विस्तृत स्थल-सीमा लगभग ८२०० मील लम्बी है। तथा उसकी तटरेखा की लम्बाई लगभग ३५०० मील है। अत भारत को एक उप-महाद्वीप मानना उचित ही है।

३. भौगोलिक अवस्थिति—भौगोलिक अवस्थिति जो सदैव ही महत्त्वपूर्ण होती है, आर्थिक विकास की परवर्ती अवस्थाओ के साथ और अधिक महत्त्वपूर्ण होती जाती है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए शेष दुनिया की अपेक्षा भारत की स्थिति अत्यन्त अनुकूल है। भारत पूर्वी गोलार्द्ध के बिलकुल केन्द्र पर है तथा यहाँ से सभी दिशाओ को जाने वाले व्यापारिक मार्ग हैं। विस्तृत समुद्री तटो के कारण समुद्री मार्ग उसके लिए सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है, और यदि उसके पास आवश्यक समुद्री उपस्कर हो जायँ तो ससार के व्यापार का एक मुख्य सवाहक बनने की उसमें क्षमता है।

४. बन्दरगाहों की न्यूनता—भारत की एक कठिनाई ऐसे प्राकृतिक बन्दरगाहो का अभाव भी है जहाँ आधुनिक जहाज ठहर सकें। ओखा, बम्बई मर्मागओ तथा कोचीन

को छोडकर पश्चिमी किनारे के सभी बन्दरगाह मानसून के समय मे परिवहन के लिए करीब-करीब बन्द ही रहते है। पूर्वी किनारे पर ऊँची-ऊँची लहरे उठती है तथा वहाँ कोई प्राकृतिक बन्दरगाह नही है। अत्यधिक व्यय से बनी हुई समुद्री दीवारो के निर्माण के पश्चात् मद्रास के बन्दरगाह मे बहुत सुधार हो गया है। पूर्वी किनारे के कटे-पिटे न होने के कारण जो कठिनाइयाँ है उनको दूर करने के लिए दूसरा प्रयत्न यह था कि विशाखापटनम बन्दरगाह का विस्तार और सुधार किया गया। यद्यपि कलकत्ता की स्थिति वैसे बहुत अच्छी है फिर भी हुगली नदी मे बनने वाली रेतीली रुकावटो की कठिनाई उसमें रहती है। चिटगॉव की दशा भी इसी प्रकार की है। अत यह बात सरलता से समझ मे आ सकती है कि भारत का अधिकाश विदेशी व्यापार क्यो तीन बन्दरगाहो—कलकत्ता, बम्बई, और मद्रास—तक ही सीमित है। इनमे केवल बम्बई प्राकृतिक बन्दरगाह है। वर्तमान असन्तोषजनक परिस्थितिया ऐसी सशक्त नीति की आवश्यकता की ओर स्पष्ट सकेत करती है जिसका उद्देश्य अच्छे बन्दरगाहो की सख्या मे वृद्धि करना हो और जिसके अन्तर्गत नये बन्दरगाहो का निर्माण तथा पुराने बन्दरगाहो का पुनर्जीवन भी हो। समुद्री जहाजो की परिस्थिति भी बहुत असन्तोषजनक है, क्योंकि समुद्री कार्रवाइयो की पुरातन परिपाटी के योग्य व्यापारिक जहाजी बेडा भी भारत के पास नही है।

५. सचार-साधन—भारत के मुख्य-मुख्य बन्दरगाह रेलो तथा सडको के जाल द्वारा देश के व्यापारिक केन्द्रो से सम्बन्धित हो है।[1] देशीय सचार के सम्बन्ध मे प्रायद्वीप (दक्षिण भारत) की तुलना मे उत्तर भारत की परिस्थिति अधिक अच्छी है। उत्तर भारत मे नाव चलाने योग्य नदियाँ तो है ही, इसके अतिरिक्त वहाँ के बडे-बडे मैदानो म रेले और सडकें बडी आसानी से बन सकती है जबकि प्रायद्वीप (दक्षिण भारत) की ऊँची-नीची तथा पहाडी भूमि मे इस बारे मे बडी कठिनाइयाँ है जिन्हे बहुत व्यय करके ही दूर किया जा सकता है। जहाँ तक नाव चलाने योग्य नदियो का सम्बन्ध है उत्तर भारत की स्थिति प्रायद्वीप से कही अधिक अच्छी है। यातायात की सम्पूर्ण स्थिति का अधिक विस्तृत विवेचन दूसरे खण्ड मे किया गया है।

६ भौगोलिक अवस्थिति से जनित कठिनाइयो को दूर करने के प्रयत्न—भौगोलिक अवस्थिति की कठिनाइयो को दूर करने के सम्बन्ध में सैलिगमैन ने तीन प्रकार के सुधारो की चर्चा की है, अर्थात् (i) मनुष्य तथा पण्य का यातायात, (ii) विद्युत्सचरण, तथा (iii) विचारो का आदान-प्रदान इनमे से पहले विषय का हमने उल्लेख मात्र किया है। विद्युत सचरण से सम्बन्धित प्रश्न पर इसी अध्याय मे बाद मे विचार किया जायगा (४३)। विचारो और जानकारी के आदान-प्रदान। के सम्बन्ध मे डाक, तार, टेलीफोन तथा बे-तार के तार ने भौगोलिक स्थिति के महत्त्व को बहुत कम कर दिया है, और वे आधुनिक व्यापार तथा आर्थिक कार्य-कलाप के महत्त्वपूर्ण अग हो गए है। इनमें से कुछ साधन जैसे डाक व तार, भारत मे बहुत परिचित व विस्तृत हो चुके है तथा यातायात के साधनो के सुधारो के साथ इन्होने देश के आर्थिक जीवन को अनेक प्रकार से

१ प्रिन्सिपल ऑफ पॉलिटिकल इकनॉमी, वाल्यूम १ पृ० ६६।

बदल दिया है। जिस प्रकार शेष दुनिया से भारत अब अलग नही है उसी प्रकार गाँव का एकाकीपन भी अधिकतर अतीत की बात हो गई है। तो भी भारत व्यापारिक जानकारी के प्रसार के लिए बेतार के तार के प्रयोग में अब भी पिछड़ा हुआ है और कुछ बडे शहरो को छोडकर टेलीफोन का प्रचार अभी बहुत कम हुआ है।

७. भारत के तीन स्पष्ट विभाग—भारत स्पष्ट रूप से तीन भागो मे विभाजित है: (i) भारत का प्रायद्वीप जो कच्छ की पश्चिमी सीमा से लेकर दिल्ली तक और दिल्ली से लेकर कलकत्ता तक फैली हुई रेखा के नीचे के भाग को समाहित करता है, (ii) हिमालय और प्रायद्वीप के बीच सिन्ध और गगा का मैदान जो दुनिया मे समतल भूमि की कृषि का सबसे बडा क्षेत्र है, और (iii) गगा के मैदान के शीर्ष रूप में हिमालय पर्वत श्रेणी।

८. दक्षिणी प्रायद्वीप—यह एक ऊँचा पठार है जिसे सिन्धु और गगा के मैदान से विन्ध्याचल और सतपुडा पर्वत-श्रेणी—नीची पहाडियो और खडे ढालो की एक रेखा—अलग करती है। इसके दोनो पार्श्वो में तटीय पर्वत-श्रेणियाँ है, जिन्हे पश्चिमी घाट और पूर्वी घाट कहते है। इनमे से पश्चिमी घाट कही बडा है और एक अविच्छिन्न विशाल समुद्री दीवार है जिसमे दक्षिणी सिरे से दो सौ मील के अन्तराल को छोडकर न तो किसी आकार की घाटियाँ ही है और न उसे चीरकर नदियाँ ही बहती है। पूर्वी घाट इतने कठिन नही है। उनमें चौडी-चौडी घाटियाँ है जो महानदी, गोदावरी, कृष्णा और कावेरी आदि नदियो द्वारा प्रायद्वीप के निकास को बगाल की खाडी से मिलाती है। बम्बई प्रान्त में समुद्र की ओर समुद्र और पश्चिमी घाट के बीच स्थल की केवल एक सकरी पट्टी है। इस कारण समुद्र की ओर से देश के अन्तर मे प्रवेश कठिन हो गया है—यहाँ तक कि मानसून के बादल भी पहाडी अवरोध पर अपनी नमी छोडने के लिए विवश हो जाते है और इस तरह अन्तर्भाग में सूखा और अकाल की सम्भावना बढ जाती है। पूर्वी घाट और समुद्र तट के बीच काफी जगह है। पूर्वी घाट की निचली श्रेणियो के ऊपर से मानसून बडी सरलता से अन्तर्भाग में छा सकते है। इसके परिणामस्वरूप नदियो से प्राप्त निचली उपजाऊ भूमि से प्रायद्वीप के पूर्वी भाग घनी आबादी का पोषण करते है और इस सम्बन्ध में उनकी तुलना उत्तर के मैदानो से की जा सकती है।

प्रायद्वीप का धरातल सामान्यतया ऊबड-खाबड तथा चट्टानी है और जङ्गलो से ढकी हुई पर्वत-शिखर और पर्वत-श्रेणियो से युक्त है। इसमे भिन्न-भिन्न प्रकार के दृश्य और वनस्पतियाँ पाई जाती है। पूर्व में नीची पहाडियो के नीचे धान का क्षेत्र फैला है, पच्छिम मे ज्यो-ज्यो भूमि ऊँची होती जाती है—क्योकि प्रायद्वीप पच्छिम से पूर्व की ओर एक मकान की छत की तरह झुका हुआ है—तथा अपेक्षाकृत कम वर्षा वाले क्षेत्र मिलते है, धान का स्थान ज्वार-बाजरा ले लेते है और वृक्षहीन पठारी भूमि पर कपास पैदा की जाती है।

९. सिन्धु-गंगा का मैदान—यह मैदान पूर्णतया नदियो और उनके द्वारा जमा की हुई मिट्टी से बना है। दो दिशाओ में बहते हुए नदियो के दो क्रम इसके आर-पार फैले हुए हैं। पच्छिम की पाँच नदियाँ जिनसे पजाब नाम बना, पाकिस्तान में सिन्धु नदी के

निचले भाग मे मिलकर अरब सागर में गिरती हैं। पूर्व की ओर मात अन्य बडी-बडी नदियाँ, जिनमे गगा और ज़मुना भी मम्मिलित हैं, गगा में मिलकर बगाल की खाडी में गिरती हैं। समुद्र के निकट इनमें ब्रह्मपुत्र भी मिल जाती है जो पूर्व मे आमाम की घाटी मे बहती हुई आती है। इन नदियो द्वारा जमा की हुई मिट्टी बगाल की खाडी के ऊपर मुहाने का धीरे-धीरे विस्तार कर रही है जिस पर कलकत्ता शहर बसा हुआ है।

१० हिमालय तथा प्रायद्वीप की नदियाँ—हिमालय की नदियाँ सामान्यत बारहमासी हैं, क्योकि उन्हे गरमियो में भी हिमालय की पिघलती हुई बर्फ मे प्रचुर मात्रा में पानी मिलता है। चौडे मैदानो से बहती हुई ये नदियाँ अपने दोनो ओर उपजाऊ भूमि वाले भूखण्ड बनाती हैं। अत इसमें कोई आश्चर्य नही कि उपजाऊ नदीपात्र प्राचीन आर्य-सभ्यता के केन्द्र रहे हैं और आज भी देश के प्राकृतिक धान्यागार बने हुए हैं। इनमें मे कुछ नदियाँ जैसे गगा और सिन्धु नौ-चालन के योग्य हैं और उन्होने रेलो के चलने से पहले वाणिज्य के बडे सवाहको का काम किया है। यही नदियाँ सिचाई की भी पोषक हैं जिन पर पजाब और उत्तर प्रदेश की खुशहाली निर्भर है। इसके विपरीत प्रायद्वीप की महत्त्वपूर्ण नदियाँ मानसून के समय बडे वेग मे बहती हैं परन्तु गरमियो में सूखकर पोखर-मात्र रह जाती हैं। उनमे से अनेक सँकरी घाटियो मे मे बहती हैं जिसके कारण उनमें नाव नही चलती। इनकी घाटियो मे समय-समय पर पानी के अभाव को दूर करने के लिए एक भिन्न प्रकार की और मँहगी सिंचाई की योजना बनानी पडी, जिसके अन्तर्गत वर्षा के पानी को एकत्रित करने के लिए बडे-बडे जलाशयो का निर्माण जरूरी हो गया।

११. हिमालय श्रेणी—सिन्धु और गगा के मैदान पर हिमालय छाया हुआ है। इसकी कुछ चोटियाँ ३०,००० फीट तक ऊँची हैं। २००० मील लम्बी पर्वत-श्रेणियाँ भारत को एशिया से अलग करती हैं। इसमें १,२५० मील की लम्बाई में हिमालय का विस्तार है। हिमालय की बर्फ के घुलने से बडी-बडी नदियो को पानी मिलता है, जिससे उत्तरी भारत के मैदानो की सिंचाई होती है। हिमालय के दोनो सिरो पर पर्वतो के फैलाव मे यकायक परिवर्तन हो जाता है, पूर्व और पश्चिम के बजाय वे उत्तर और दक्षिण मे फैलने लगते हैं और हिमालय के साथ वे भारत के मैदान को तीन ओर से—अफगानिस्तान, बिलोचिस्तान और बर्मा की ओर से—बन्द कर देते हैं। एक अभेद्य सीमावरोध के रूप में उसका राजनीतिक महत्त्व तो है ही, इसके अतिरिक्त वर्षा, हवाओ, गरमी, सरदी, नमी और वनस्पति पर अपने प्रभावो के द्वारा हिमालय आर्थिक दशाओ पर भी बहुत असर डालता है।

१२ भौगोलिक तथा जलवायु-सम्बन्धी विभिन्नताएँ—भारत के विभिन्न भागो में भौगोलिक और जलवायु-सम्बन्धी बडी असमानताएँ हैं। 'उत्तर में बरफीले क्षेत्रो से घिरे हुए ऊँचे-ऊँचे विशाल पर्वत तथा शान्त एकान्त हिमखण्ड हैं। उनके चरणो पर नदीपात्रो के विस्तृत क्षेत्र हैं जो रेतीले, सूखे और सूर्य से झुलसे हुए, या खेती किये हुए तथा भाप की तरह नम वातावरण से गीले हैं। दक्षिण की ओर बडा मध्यवर्ती पठार फैला हुआ है जिसके जगलो में अब भी आदिनिवासियो की तितर-बितर हुई

जातियाँ विद्यमान हैं। इसके पश्चिमी पार्श्व में हिन्द महासागर की ओर उन्मुख विच्छिन्न पर्वतमाला तथा दुर्ग की रूपरेखा की तरह के पर्वतों का पृष्ठ भाग है। दक्षिण में ऊँचे हरे-भरे क्षेत्रों के सरल गोलाकार ढाल हैं।'[1] 'उदाहरण के लिए, यदि किसी ने भारत के सम्बन्ध में दक्षिणी बंगाल में जानकारी प्राप्त की हो तो उसके लिए भारत स्थिर नमी और गरमी का देश है जहाँ भरपूर वनस्पति, नदियाँ, तालाब, धान के खेत, नारियल, थोड़े से शहर तथा भीरु प्रकृति के व्यक्तियों की घनी आबादी है।' अगर कोई आगरा और अमृतसर को देखे 'तो पृथ्वी के अत्यधिक नम और हरे-भरे देश के बजाय गरमियों के प्रारम्भ में हम उसे अत्यधिक भूरे रंग का तथा सूखा पाएँगे, वह एक ऐसा देश लगेगा जो गरमी में भट्टी से निकलते हुए गरम झोंकों की तरह की हवाओं से झुलसा हुआ तथा जाड़ों में शीत और स्फूर्तिदायक जलवायु से युक्त है। बंगाल की उष्ण प्रदेशीय वनस्पति के स्थान पर हमें हज़ारों वर्गमील भूमि शीतोष्ण प्रदेशों की पैदावार—गेहूँ और जौ—से ढकी मिलती है।'[2] वह प्रसिद्ध शहरों, शानदार स्मारकों तथा हृष्ट-पुष्ट और बलवान लोगों का देश लगता है।

मौसम-शास्त्र की दृष्टि से दुनिया के किसी भी भाग की तुलना में भारत में अधिक विभिन्नताएँ हैं। इस देश में उष्ण तथा शीतोष्ण प्रदेशों का मौसम बड़ी विलक्षण रीति से एक साथ मिलता है। 'बाहर के दो समीपवर्ती भागों से भारत प्रभावित है। उत्तर में हिमालय पर्वत-श्रेणी और अफगानिस्तान का पठार मध्य एशिया की जलवायु को दूर रखकर उसे महाद्वीपी जलवायु प्रदान करते हैं, जिसकी विशेषताएँ भूमि से चलने वाली हवाएँ, वायु की अत्यधिक शुष्कता, दैनिक तापक्रम की बड़ी सीमा और वर्षा का न होना है। दक्षिण में समुद्र उसे समुद्री जलवायु प्रदान करता है जिसकी विशेषताएँ तापक्रम की समानता, दैनिक तापक्रम की छोटी सीमा, वायु की अत्यधिक नमी और बहुधा वर्षा होना है। जाड़े की ऋतु में दक्षिणी भारत की तुलना में पंजाब का औसत तापक्रम ३० डिग्री कम रहता है। पंजाब, उत्तर प्रदेश और उत्तर भारत की जलवायु रिवीयरा[3] की ठण्डी और सूखी जलवायु से मिलती-जुलती है। दक्षिणी भारत में पूर्वी किनारे की अपेक्षा पच्छिमी किनारे की जलवायु अधिक गरम है। सबसे अधिक तापमान कृष्णा नदी के उद्गम के समीप पाया जाता है। समुद्र की निकटता के कारण कलकत्ता, बम्बई और मद्रास में एक-सी जलवायु है। कलकत्ता में शीत ऋतु भी होती है जो दूसरे प्रेसीडेन्सी शहरों में नहीं है, परन्तु साथ ही वहाँ की ग्रीष्म ऋतु अपेक्षाकृत अधिक असह्य होती है।'[4]

१२. भारत में ऋतुएँ—सरकारी तौर पर पंजाब में ग्रीष्म ऋतु १५ मार्च से प्रारम्भ होती है और उसके बाद जून में वर्षा प्रारम्भ होने तक तपती हुई पृथ्वी पर सूर्य की अग्निमय किरणों के कारण तापमान बढ़ता जाता है। इस मौसम में प्रायद्वीप के भीतरी

---

१ इम्पीरियल गजेटियर, वाल्यूम १, पृ० १।

२ सर जे० स्ट्राची, 'इण्डिया, इट्स एडमिनिस्ट्रेशन एण्ड प्रोग्रेस', चौथा संस्करण, पृ० ३–४।

३ Riviera

४. इम्पीरियल गजेटियर, वाल्यूम १, पृ० २।

निचले भाग में मिलकर अरब सागर में गिरती है। पूर्व की ओर सात अन्य बडी-बडी नदियाँ, जिनमें गगा और ज़मुना भी सम्मिलित है, गगा में मिलकर बगाल की खाडी में गिरती है। समुद्र के निकट इनमें ब्रह्मपुत्र भी मिल जाती है जो पूर्व से आसाम की घाटी से बहती हुई आती है। इन नदियो द्वारा जमा की हुई मिट्टी बगाल की खाडी के ऊपर मुहाने का धीरे-धीरे विस्तार कर रही है जिस पर कलकत्ता शहर बसा हुआ है।

१० हिमालय तथा प्रायद्वीप की नदियाँ—हिमालय की नदियाँ सामान्यत बारहमासी है, क्योकि उन्हे गरमियो में भी हिमालय की पिघलती हुई बर्फ से प्रचुर मात्रा में पानी मिलता है। चौडे मैदानो से बहती हुई ये नदियाँ अपने दोनो ओर उपजाऊ भूमि वाले भूखण्ड बनाती है। अत इसमें कोई आश्चर्य नही कि उपजाऊ नदीपात्र प्राचीन आर्य-सभ्यता के केन्द्र रहे है और आज भी देश के प्राकृतिक धान्यागार बने हुए है। इनमें से कुछ नदियाँ जैसे गगा और सिन्धु नौ-चालन के योग्य है और उन्होने रेलो के चलने से पहले वाणिज्य के बडे सवाहको का काम किया है। यही नदियाँ सिचाई की भी पोषक है जिन पर पजाब और उत्तर प्रदेश की खुशहाली निर्भर है। इसके विपरीत प्रायद्वीप की महत्त्वपूर्ण नदियाँ मानसून के समय बडे वेग से बहती है परन्तु गरमियो में सूखकर पोखर-मात्र रह जाती है। उनमें से अनेक सँकरी घाटियो में से बहती है जिसके कारण उनमें नाव नही चलती। इनकी घाटियो में समय-समय पर पानी के अभाव को दूर करने के लिए एक भिन्न प्रकार की और मँहगी सिंचाई की योजना बनानी पडी, जिसके अन्तर्गत वर्षा के पानी को एकत्रित करने के लिए बडे-बडे जलाशयो का निर्माण जरूरी हो गया।

११. हिमालय श्रेणी—सिन्धु और गगा के मैदान पर हिमालय छाया हुआ है। इसकी कुछ चोटियाँ ३०,००० फीट तक ऊँची है। २००० मील लम्बी पर्वत-श्रेणियाँ भारत को एशिया से अलग करती है। इसमें १,२५० मील की लम्बाई में हिमालय का विस्तार है। हिमालय की बर्फ के घुलने से बडी-बडी नदियो को पानी मिलता है, जिससे उत्तरी भारत के मैदानो की सिचाई होती है। हिमालय के दोनो सिरो पर पर्वतो के फैलाव में यकायक परिवर्तन हो जाता है, पूर्व और पश्चिम के बजाय वे उत्तर और दक्षिण में फैलने लगते है और हिमालय के साथ वे भारत के मैदान को तीन ओर से—अफगानिस्तान, बिलोचिस्तान और बर्मा की ओर से—बन्द कर देते है। एक अभेद्य सीमावरोध के रूप में उसका राजनीतिक महत्त्व तो है ही, इसके अतिरिक्त वर्षा, हवाओ, गरमी, सरदी, नमी और वनस्पति पर अपने प्रभावो के द्वारा हिमालय आर्थिक दशाओ पर भी बहुत असर डालता है।

१२ भौगोलिक तथा जलवायु-सम्बन्धी विभिन्नताएँ—भारत के विभिन्न भागों में भौगोलिक और जलवायु-सम्बन्धी बडी असमानताएँ है। 'उत्तर में बरफीले क्षेत्रो से घिरे हुए ऊँचे-ऊँचे विशाल पर्वत तथा शान्त एकान्त हिमखण्ड है। उनके चरणो पर नदीपात्रो के विस्तृत क्षेत्र है जो रेतीले, सूखे और सूर्य से झुलसे हुए, या खेती किये हुए तथा भाप की तरह नम वातावरण से गीले है। दक्षिण की ओर बडा मध्यवर्ती पठार फैला हुआ है जिसके जगलो में अब भी आदिनिवासियो की तितर-बितर हुई

जातियाँ विद्यमान है। इसके पश्चिमी पार्श्व मे हिन्द महासागर की ओर उन्मुख विच्छिन्न पर्वतमाला तथा दुर्ग की रूपरेखा की तरह के पर्वतो का पृष्ठ भाग है। दक्षिण में ऊँचे हरे-भरे क्षेत्रो के सरल गोलाकार ढाल है।'[1] 'उदाहरण के लिए, यदि किसी ने भारत के सम्बन्ध में दक्षिणी बगाल मे जानकारी प्राप्त की हो तो उसके लिए भारत स्थिर नमी और गरमी का देश है जहाँ भरपूर वनस्पति, नदियाँ, तालाब, धान के खेत, नारियल, थोडे से शहर तथा भीरु प्रकृति के व्यक्तियो की घनी आबादी है।' अगर कोई आगरा और अमृतसर को देखे 'तो पृथ्वी के अत्यधिक नम और हरे-भरे देश के बजाय गरमियो के प्रारम्भ मे हम उसे अत्यधिक भूरे रग का तथा सूखा पाएँगे; वह एक ऐसा देश लगेगा जो गरमी में भट्टी से निकलते हुए गरम झोको की तरह की हवाओ से झुलसा हुआ तथा जाडो मे शीत और स्फूर्तिदायक जलवायु से युक्त है। बगाल की उष्ण प्रदेशीय वनस्पति के स्थान पर हमें हजारो वर्गमील भूमि शीतोष्ण प्रदेशो की पैदावार—गेहूँ और जौ—से ढकी मिलती है।'[2] वह प्रसिद्ध शहरो, शानदार स्मारको तथा हृष्ट-पुष्ट और बलवान लोगो का देश लगता है।

मौसम-शास्त्र की दृष्टि से दुनिया के किसी भी भाग की तुलना में भारत में अधिक विभिन्नताएँ है। इस देश में उष्ण तथा शीतोष्ण प्रदेशो का मौसम बडी विलक्षण रीति से एक साथ मिलता है। 'बाहर के दो समीपवर्ती भागो से भारत प्रभावित है। उत्तर में हिमालय पर्वत-श्रेणी और अफगानिस्तान का पठार मध्य एशिया की जलवायु को दूर रखकर उसे महाद्वीपी जलवायु प्रदान करते है, जिसकी विशेषताएँ भूमि से चलने वाली हवाएँ, वायु की अत्यधिक शुष्कता, दैनिक तापक्रम की बडी सीमा और वर्षा का न होना है। दक्षिण में समुद्र उसे समुद्री जलवायु प्रदान करता है जिसकी विशेषताएँ तापक्रम की समानता, दैनिक तापक्रम की छोटी सीमा, वायु की अत्यधिक नमी और बहुधा वर्षा होना है। जाडे की ऋतु में दक्षिणी भारत की तुलना में पजाब का औसत तापक्रम ३० डिग्री कम रहता है। पजाब, उत्तर प्रदेश और उत्तर भारत की जलवायु रिवीयरा[3] की ठण्डी और सूखी जलवायु से मिलती-जुलती है। दक्षिणी भारत मे पूर्वी किनारे की अपेक्षा पच्छिमी किनारे की जलवायु अधिक गरम है। सबसे अधिक तापमान कृष्णा नदी के उद्गम के समीप पाया जाता है। समुद्र की निकटता के कारण कलकत्ता, बम्बई और मद्रास में एक-सी जलवायु है। कलकत्ता में शीत ऋतु भी होती है जो दूसरे प्रेसीडेन्सी शहरो में नही है, परन्तु साथ ही वहाँ की ग्रीष्म ऋतु अपेक्षाकृत अधिक असह्य होती है।'[4]

१२. भारत में ऋतुएँ—सरकारी तौर पर पजाब में ग्रीष्म ऋतु १५ मार्च से प्रारम्भ होती है और उसके बाद जून मे वर्षा प्रारम्भ होने तक तपती हुई पृथ्वी पर सूर्य की अग्निमय किरणो के कारण तापमान बढता जाता है। इस मौसम मे प्रायद्वीप के भीतरी

१ इम्पीरियल गजेटियर, वाल्यूम १, पृ० १।

२ सर जे० स्ट्राची, 'इण्डिया, इट्स एडमिनिस्ट्रेशन एण्ड प्रोग्रेस', चौथा सस्करण, पृ० ३-४।

३ Riviera

४. इम्पीरियल गजेटियर, वाल्यूम १, पृ० २।

भाग और उत्तरी भारत बहुत गरम हो जाते हैं और तापमान की विपरीतता उत्तरी और दक्षिणी भारत के बीच न होकर भारत के भीतरी भाग और समुद्री किनारे व उनके समीपवर्ती क्षेत्रो के मध्य होती है। दक्षिण और मध्य प्रदेश का अधिकाश भाग अत्यधिक गरम क्षेत्रो में सम्मिलित किया जाता है, यद्यपि मई में अधिकतम तापमान उत्तरी-पश्चिमी राजपूताना तथा दक्षिण-पश्चिमी पजाब में पाया जाता है। भारत में उन स्थानो में जहाँ ऋतुओ की स्पष्ट परिभाषा दी जा सकती है, तीन ऋतुएँ होती हैं (i) सूखा और सरद मौसम (शीत ऋतु), जब उत्तरी व्यापारी हवाएँ चलती हैं तथा उत्तर के प्रान्तो को छोडकर जहाँ कभी-कभी मामूली चक्रवात आते हैं, वर्षा बहुत थोडी या बिलकुल नही होती, (ii) वर्षा ऋतु, जो दक्षिण-पश्चिमी मानसून के प्रवेश-सहित अति उष्ण और कष्टकारक है, (iii) ग्रीष्म ऋतु जो वर्षा के पूर्व होती है। वर्षा बहुधा अचानक तूफान के साथ आती है।

१४. वर्षा—सालाना औसत वर्षा चेरापूँजी के ४६० इच की वर्षा से लेकर राजस्थान के कुछ भागो की ३ इच की वर्षा तक होती है। जलवायु के दृष्टिकोण से भारतीय प्रायद्वीप एशिया के वृहत् मानसून क्षेत्र का एक भाग है तथा इस क्षेत्र के अन्य भागो की तुलना मे यहाँ मानसून का नियन्त्रण अधिक पूर्णता से प्रकट है। पारिभाषिक अर्थ में मानसून शब्द का प्रयोग हवाओ के परिवर्तन या उलटाव के लिए किया जाता है जो सम्पूर्ण मानसून क्षेत्र मे होता रहता है तथा वर्ष को दक्षिण-पश्चिमी मानसून तथा उत्तर-पूर्वी मानसून दो स्पष्ट भागों में विभाजित करता है। वास्तव में दक्षिण-पश्चिमी मानसून दक्षिण-पूर्वी व्यापारिक हवाओ का विस्तार मात्र है जो भूमध्य रेखा को पार कर दाहिनी ओर मुडकर दक्षिण-पश्चिमी हवाएँ बन जाती है। जुलाई तक इनका क्रम भारत मे पूरी तरह स्थापित हो जाता है। ये हवाएँ दक्षिणी भारत, गगा के मुहाने और गगा की घाटी मे क्रमश दक्षिण-पश्चिम, दक्षिण तथा दक्षिण-पूर्व से आती हैं। सिन्धु नदी का भाग इन हवाओ की पहुँच का अन्तिम तथा हटने का प्रथम स्थान है। इससे वहाँ पर वार्षिक वर्षा बहुत कम है। पश्चिमी घाट तथा हिमालय पर भारी वर्षा होती है, यहाँ तक कि भूमि को बचाने के प्रयत्न करने पडते है। सितम्बर में मानसून का वेग तेजी से कम होने लगता है और लगभग १५ सितम्बर के बाद उत्तर-पश्चिमी भारत के अधिकाश भागो में वर्षा नही होती। उसके पीछे हल्की उत्तर-पूर्वी हवा चलने लगती है जो उत्तर-पूर्वी मानसून कहलाती है तथा जिसका विस्तार बगाल की खाडी तक है। मानसून के नियन्त्रण के कारण भारत मे वर्षा नियतकालिक हो गई है और इस कारण जलवायु-वर्ष को हम इस प्रकार विभाजित कर सकते है (अ) दक्षिण-पश्चिमी मानसून की ऋतु—(i) आधे जून से आधे सितम्बर तक—सा[illegible] र्षा का मौसम, (ii) आधे सितम्बर से आधे दिसम्बर तक—

[illegible] उत्तर-पूर्वी मानसून की ऋतु (i) जनवरी और

[illegible] जून—गरम मौसम। एक वर्ग की फसलें धान,

[illegible] तथा सरद ऋतु मे काटे जाते है। इन्

[illegible] गेहूँ, जौ, तिलहन आदि मानसून की

समाप्ति पर आधे सितम्बर में बोये जाते है तथा जनवरी और मार्च में काटे जाते हैं। इसे रवी की फसल कहते है।

१५. वर्षा का महत्त्व—यह सम्पूर्ण भारत की जलवायु और कृषि का सामान्य वर्णन है। यद्यपि देश के किसी विशेष स्थान के सम्बन्ध में इसमें हेर-फेर करना होगा, परन्तु सामान्य रूप से देश के मौसम में वर्षा का महत्त्व इससे स्पष्ट हो जाता है, जिसके परिमाण, वितरण तथा समय के परिवर्तन लाखो मनुष्यो की विपन्नता या सम्पन्नता का कारण होते हैं।[1] कदाचित् दुनिया के अन्य किसी भाग में वर्षा का जीवन के प्रत्येक पहलू पर इतना प्रभाव न होगा जितना कि भारत मे। यहाँ के जीवन का आधार कृषि है जिसका अस्तित्व वर्षा पर निर्भर है और वर्षा पूर्णतया दक्षिण-पश्चिमी मानसून पर निर्भर है, जो देश की कुल वर्षा के ९० प्रतिशत का कारण है। इस दृष्टिकोण से उत्तर-पूर्वी मानसून की अपेक्षा दक्षिण-पश्चिमी मानसून कही अधिक महत्त्वपूर्ण है और वह एक धुरी की तरह है जिस पर समूचा भारतीय जीवन आधारित हैं।

भारत में वर्षा की विशेषता यह है कि वह निरन्तर और निश्चित रूप से नही होती। उदाहरण के लिए इगलण्ड मे वर्ष के किसी भी समय वर्षा की आशा की जा सकती है, परन्तु भारत में वर्षा कुछ निश्चित ऋतुओ तक ही सीमित है। अधिकाश में भारी वर्षा होती है और पानी ज़मीन के विना सोखे हुए ही वह जाता है जिससे ज़मीन में नमी की कमी, भूमि का कटाव आदि उत्पन्न हो जाते हैं।

निम्न विभाजन विभिन्न स्थानो की वार्षिक वर्षा की असमानता के आधार पर किया गया है · (1) वे क्षेत्र जिनमे सदैव निश्चित रूप से वर्षा होती है। इनमें आसाम, पूर्वी तथा दक्षिणी बगाल, अरव सागर और पश्चिमी घाट के नीचे की तटीय पट्टी तथा प्रायद्वीप के धुर दक्षिण से सूरत जिले की दक्षिणी सीमा तक के भाग सम्मिलित हैं, (11) कम वर्षा वाले क्षेत्र जहाँ १० इच से ३० इच तक वर्षा होती है जैसे उदयपुर, अजमेर तथा पश्चिमी घाट को छोडकर वम्बई का दक्षिणी भाग, (111) सूखे वर्षा वाले क्षेत्र जिनमें विना सिंचाई के कृषि सन्दिग्ध और कही-कही असम्भव है, जैसे पश्चिमी राजपूताना, आदि।

१६. जलवायु—भारत की जलवायु के सम्बन्ध मे सामान्य कथन असम्भव है, क्योकि जैसा हम देख चुके है, उसकी सीमाओ के अन्दर उष्ण या शीतोष्ण प्रदेशो में पाई जाने वाली जलवायु का कोई भी रूप पाया जाता है। फिर भी मुख्यतया भारतीय जलवायु अर्द्ध-उष्ण या अर्द्ध-अयनवृत्तीय कही जा सकती है, क्योकि शीतोष्ण प्रदेशो की जलवायु के शक्तिवर्धक प्रभावो के विपरीत यह जलवायु मनुष्य को उत्साहहीन करती है तथा अपेक्षाकृत उनके स्वास्थ्य और शरीर को हीन वनाती है। भारतीय श्रमिको की तुलना में यूरोप के श्रमिको की श्रेष्ठ कार्यक्षमता का कम-से-कम एक कारण अधिक अनुकूल जलवायु है। इस सम्बन्ध में यद्यपि हमें जलवायु के प्रभाव की अति-

१. वर्ष में कई महीने भारत की जीवन-परीक्षा होती है और कभी-कभी ही वह दडमुक्त होता है। —एल० सी० ए० नोल्स द्वारा उद्धृत, 'दी इकनॉमिक डिवेलपमेण्ट ऑफ द ब्रिटिश ओवरसीज एम्पाइर', पृ० २७८.

शयोक्ति नही करनी चाहिए परन्तु साथ ही उसे स्वीकार अवश्य करना चाहिए ।

१७ आर्थिक उन्नति के सन्दर्भ में उष्ण जलवायु—बहुधा कहा जाता है कि अयनवृत्तीय देशो में प्रकृति मनुष्य को जीवन-यापन के साधन अपेक्षाकृत सरल प्रयत्नों से ही दे देती है (जबकि शीतोष्ण प्रदेशो की अपेक्षा उष्ण (अयनवृत्तीय) प्रदेशो के मनुष्यो की आवश्यकताएँ भी कम होती है) तथा उसमें सतत प्रयत्न, विचार और शक्तियो के भरसक प्रयोग के प्रति अरुचि उत्पन्न कर देती है। इसके विपरीत शीतोष्ण प्रदेशो में प्रकृति कजूस है और बिना कठोर परिश्रम के कुछ भी प्राप्त नही होता। काम करना सभी के लिए अनिवार्य होने के कारण श्रम को स्वतन्त्रता, प्रतिष्ठा और अच्छा पारिश्रमिक भी मिलता है। जाडो के सर्द और तूफानी होने के कारण भोजन, वस्त्र तथा आश्रय-सम्बन्धी बातो पर उससे पहले गरमियो में ही विचार करना आवश्यक होता है। इन क्षेत्रो में रहने का मूल्य सावधानी से नियोजित अनवरत कठोर परिश्रम है और यह एक उच्च कोटि की सभ्यता की उन्नति में सहायक है।

प्रो० कार-सॉण्डर्स ने इस मत का विरोध किया है कि जब प्रकृति के उपहार सरलता से प्राप्य होते है तो आर्थिक प्रगति और सभ्यता पिछड जाती है। इसके विपरीत उनका विचार है कि 'जिन प्रदेशो मे उपयोगी पदार्थ गुण एवम् मात्रा में बहुतायत से मिलते है वहाँ उनके उपयोग देखने की अधिकतम सम्भावना होती है तथा वहाँ कुशलता में वृद्धि होने पर प्रति व्यक्ति उपलब्धि अधिकतम होगी। इसलिए जितनी अधिक उर्वरता होगी उतनी ही कुशलता प्राप्त करने के लिए प्रेरणा मिलती है।'[1] कुछ भी हो, भारत की उष्ण जलवायु और उर्वरता ने ही गत युगो में विशाल सभ्यता के विकास मे कोई रुकावट नही डाली। अत आज भारतीयो के पिछडे तथा उदासीन होने का कारण, जो उनके स्वभाव की विशेषताएँ हो गई है, जलवायु या प्रकृति की प्रचुरता न होकर कुछ और ही है।

१८. वन—भारत के अत्यन्त बहुमूल्य प्राकृतिक साधनो में उसके विशाल वनो की भी गिनती है। देश के वनो की प्रकृति ऊँचाई और वर्षा पर निर्भर है। जहाँ वर्षा अधिक होती है वहाँ सदा हरे रहने वाले ताड, महीन पत्तियो वाले पेड, बाँस और रबड के वृक्ष आदि है। इससे कम वर्षा वाले क्षेत्रो में चौडी पत्तियो वाले वन दिखाई देते हैं जिनमें सागौन, साल तथा अन्य प्रकार के कीमती पेड होते है। इससे भी कम वर्षा होने पर वनस्पति छितरी होती जाती है तथा बबूल, इमली आदि के वृक्ष पाये जाते है। हिमालय में अर्द्ध उष्ण से लेकर आर्कटिक तक की दशाएँ पाई जाती हैं तथा ऊँचाई के अनुसार वहाँ अनन्नास, देवदार, अखरोट तथा बाँस आदि पाये जाते हैं। यह प्रत्येक देश का अनुभव है कि वनो की उत्पत्ति और पुनरुत्पत्ति की प्रक्रिया जिससे कि जगल बने रहते है मनुष्य की नष्ट करने की शक्ति की तुलना में वनो को जीवित रखने में असमर्थ है, अत देश के हित में जगलों को बुरी तरह से नष्ट होने से बचाने के लिए सरकार को विशेष उपाय करना आवश्यक हो जाता है। किसी देश में वनो को किस सीमा तक सुरक्षित रखा जाय, यह प्रश्न कुछ विशेष परिस्थितियो पर निर्भर है, जैसे

१. ए० एम० कार-सॉण्डर्स, द पापुलेशन प्रॉब्लम, पृ० ४२२।

देश की सस्थिति, उसकी संचार-व्यवस्था, वनो के अतिरिक्त भूमि को अन्य प्रकार से प्रयोग में लाने की सम्भावनाएँ, आबादी की सघनता, विनियोग के लिए प्राप्त पूँजी आदि, परन्तु फिर भी सर्वमान्य धारणा यही है कि भारत के वन बहुमूल्य राष्ट्रीय सम्पत्ति हैं और उनका उचित सरक्षण भारत सरकार का एक प्रमुख आर्थिक कार्य है।

१६. वनों की उपादेयता—मनुष्य और प्रकृति की अर्थ-व्यवस्था में वनो की प्रत्यक्ष और परोक्ष उपयोगिता है। वनो के परोक्ष प्रयोगो में से ये है · (i) वन जलवायु को अधिक समान बना देते हैं, वायु की नमी में सापेक्षिक वृद्धि करते हैं तथा वर्षा होने में सहायता करते हैं, (ii) वे जल की पूर्ति को नियमित रखने में सहायता करते हैं, सोतो को अधिक स्थायी रूप से पानी देते हैं, प्रबल बाढो को रोकते हैं तथा नदियो मे पानी के बहाव को निरन्तर बनाये रखते हैं, (iii) वे भूमि के कटाव को रोकते हैं और उसके उपजाऊपन मे वृद्धि करते हैं, क्योकि वे खनिज-भूमि से भी वनस्पति की खाद बनने मे सहायता करते हैं, (iv) वे हवा के वेग को कम करते हैं, निकटवर्ती क्षेत्रो की सरद और गरम हवाओ से रक्षा करते हैं और पशु, पक्षियो तथा शिकार के जानवरो को आश्रय देते हैं, (v) कुछ विशिष्ट परिस्थितियो में वे देश के स्वास्थ्य को बढाते हैं और उसकी रक्षा में भी मदद करते है, (vi) वे देश के सौन्दर्य में वृद्धि करते हैं तथा जन-साधारण पर स्वस्थ कलात्मक प्रभाव डालते हैं।

वनो की प्रत्यक्ष उपयोगिता मुख्यतया उनकी उत्पादन वस्तुओ के कारण है, जैसे लकडी, ईंधन तथा विभिन्न उद्योगो के लिए कच्चा माल। विशेषकर भारत में उनका दूसरा मुख्य उपयोग जानवरो के लिए चरागाहो की सुविधा है, परन्तु यह वन-सरक्षण मे बहुत बाधक हो सकता है। इन दोनो आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए भारत में यह तरीका अपनाया गया है कि जगलो का कुछ भाग चरने के लिए एकदम बन्द कर दिया जाता है, कुछ भाग कुछ जानवरो—जिनमें भेड, बकरी, ऊँट शामिल हैं—के चरने के लिए बन्द कर दिया जाता है और बहुत बडा भाग हर तरह के जानवरो के चरने के लिए खोल दिया जाता है।

साधारण वर्षो में बन्द रहने वाले क्षेत्र कमी और अकाल वाले वर्षो में चारे का सुरक्षित भण्डार हो जाते हैं। उस समय उन्हे पशुओ के चराने के लिए खोल दिया जाता है या घास काटकर उन जिलो को भेजी जाती है जहाँ उसकी अत्यधिक आवश्यकता होती है। प्राय यह शिकायत सुनने मे आती है कि भारतीय वन-प्रशासन वनो के सरक्षण और विकास के प्रति उचित कर्तव्यो का पालन करते हुए ग्रामीण जनता की जरूरतो को जितनी सहानुभूति दे सकता है उतनी नही देता। वन-विभाग और प्रत्यक्ष रूप से किसानो की उन्नति से सम्बद्ध कृषि तथा सहकारिता जैसे विभागो के बीच विरोधी दृष्टिकोणो को मिटाने के लिए अधिक निकट सामजस्य वाञ्छनीय है। यद्यपि वन-विभाग का मुख्य कार्य वन-सरक्षण और विकास-कार्य ही है, परन्तु हमें यह न भूलना चाहिए कि कृषि के सहायक रूप में भी इसका महत्त्व है। इसका कारण यह है कि वन किसानो की तमाम आवश्यकताओ की पूर्ति कर सकता है जैसे ईंधन देकर, जिससे कि गोबर की खाद को जलाया न जाय। घर बनाने के लिए तथा

अन्य आवश्यकताओ के लिए लकडियाँ, पशुओ के लिए चारा और चरागाह आदि ऐसी सुविधाएँ है जिनके भारतीय किसान शताब्दियो से आदी हो चुके हैं। और इन पर एकाएक रोक लगाने से वे बुरा मानते है, क्योकि उसे वे स्वेच्छाचार और अनावश्यक रूप से कठोर मानते है।

वनो के प्रशासन में किसानो के सजग दृष्टिकोण और वनो की उपयोगिता बढाने के लिए कृषि आयोग ने ये सिफारिशें की थी (१) प्रत्येक प्रान्त मे वन आयोग अधिकारी की नियुक्ति की जाय जिसका प्रमुख कार्य वनो से सम्बन्धित उद्योगो को विकसित करना हो। इसका किसानो, विशेषकर वनो के पास रहने वालो के लिए बडा महत्त्व है। (२) वनो का पुनर्वर्गीकरण, बडा प्रदेश या इलाका जिसके अन्तर्गत व्यावसायिक तथा जलवायु और भौगोलिक कारणो से आवश्यक वन हों, छोटा प्रदेश या इलाका जिसके अन्तर्गत छोटे-मोटे वन, ईंधन वाले वन, गांव की बेकार जमीन तथा वन हों। वन-विभाग के अधीन वन-क्षेत्रो को, मद्रास सरकार की तरह समुचित रूप से किन्ही चुनी हुई ग्रामीण समितियों अथवा पचायतो के अधीन कर दिया जाय। (३) वन और कृषि-विभाग के सम्बन्ध को और घनिष्ठ करने के लिए वनाधिकारियों को कृषि-विद्यालयो में अल्पकालीन शिक्षा दी जाय।[1]

२०. वन सरक्षण—भारत मे अंग्रेजी राज्य से पूर्व शताब्दियो तक वनो को असावधानी से नष्ट करने का क्रम चलता रहा। विदेशी शासन के आरम्भिक वर्षो में अनेक कारणो से वनो को अत्यधिक नष्ट किया जाने लगा। इसके विभिन्न कारण जनसख्या की वृद्धि, पशुसख्या की वृद्धि, कृषि का विस्तार, और रेलो के लिए ईंधन और लकडी की माँग आदि है। आखिरकार, सरकार इस असावधानी के साथ किये जाने वाली क्षति को रोकने के प्रति सजग हुई और १८५५ में लगभग लार्ड डलहौजी के शासन-काल में वनो की सुरक्षा के लिए पहले सगठित प्रयत्न किये गए। उस समय बम्बई, मद्रास और बर्मा में वन-सरक्षक होते थे। इसके बाद शीघ्र ही अन्य नियुक्तियाँ भी की गई और १८६४ में वनो के इन्सपेक्टर जनरल के अधीन एक सगठित राजकीय विभाग की स्थापना की गई। तब से भारतीय वन-विभाग विकसित होता रहा और अब वह भारतीय सघ के लगभग १५ प्रतिशत भाग का नियन्त्रण करता है। १८९४ में भारत की सरकार ने एक महत्त्वपूर्ण परिपत्र जारी किया, जो सरकार की वन-नीति का आधार है। इसके अनुसार वन चार विभागो में विभाजित किये गए। (१) वे वन जिनकी सुरक्षा जलवायु और भौगोलिक कारणो से आवश्यक है, (२) वे वन जिनसे व्यापारिक उद्देश्यो के लिए मूल्यवान लकडियाँ प्राप्त होती है, (३) छोटे-छोटे वन जो सच्चे अर्थो मे वन है, परन्तु जिनमें निम्न कोटि की लकडियाँ अथवा अच्छी किस्म की कम लकडियाँ होती है, और (४) घास के मैदान और चरागाह जो नाम-मात्र के लिए ही वन है।[2]

२१. भारत में वनो के क्षेत्र—सन् १९४९-५० में समस्त भारत के १२,६६,६४०

१ कृषि आयोग रिपोर्ट, १९२८, पैरा २२९-३३।

२ कृषि आयोग रिपोर्ट, पैरा २१५।

वर्गमील क्षेत्रफल में से १,६४,८३५ वर्गमील या लगभग १५ प्रतिशत वन-क्षेत्र था।[1] इस वन-प्रदेश में १३०,५४१ वर्गमील आरक्षित वन, २४,०८७ वर्गमील में सुरक्षित वन और २७,३६६ वर्गमील में अवर्गीकृत राजकीय वन थे।[2] प्रयोक्ताओं के अधिकार पर सरकार के घटते हुए नियन्त्रण के अनुसार वन क्रमश आरक्षित, सुरक्षित और अवर्गीकृत सरकारी वनो में विभाजित है। सन् १९४९-५० में विभिन्न राज्यो में वनो की सापेक्षिक महत्ता निम्नलिखित तालिका से देखी जा सकती है। तालिका से यह स्पष्ट है कि मध्यप्रदेश इस सम्बन्ध मे नेतृत्व कर रहा है। दूसरा स्थान मध्य भारत और आसाम का है। वम्बई, मद्रास और वगाल उनसे बहुत पीछे हैं।

राज्य	वन क्षेत्र का राज्य के क्षेत्रफल से अनुपात	राज्य	वन क्षेत्र का राज्य के क्षेत्रफल से अनुपात
मद्रास	१३ ६	आसाम	२३.४
वम्बई	१४.६	हैदरावाद	११ ६
पश्चिमी बगाल	८.७	जम्मू और काश्मीर	११ ६
उत्तर प्रदेश	८.१	मध्य भारत	२३ ६
पजाव	१२ ३	मैसूर	१५ ६
विहार	३ ५	अजमेर	३ ०
उडीसा	१७ १	कुर्ग	५२ ३
मध्य प्रदेश	२७.६	अण्डमन और निकोवार	६८ १

भारत में वडे-वडे वन-क्षेत्र पहाडियो में स्थित है, परन्तु मैदानो में भी कृषि-क्षेत्रो के वीच-वीच में वन फैले हुए है। ऊपर की तालिका से यह स्पष्ट है कि वनो का अन्तर्राज्यीय वितरण असामान्य है। साथ ही वहुत सा क्षेत्र तो बेकार जमीन का है, जिसमें पेड लगभग है ही नही। वनो की इन विशेषताओ के कारण सम्पूर्ण आवश्यकताओ की पूर्ति कठिन हो जाती है।

२२. वन-प्रशासन का उद्देश्य—वन-प्रशासन का उद्देश्य यह है कि वनो को अति उपयोग के खतरो से वचाया जाय और साथ-ही-साथ उनकी उत्पत्ति-क्षमता बढाई जाय। सरकार इन दोनो उद्देश्यो की पूर्ति मे वहुत सफल हुई है। वन-विभाग के प्रथम पचास वर्षो में वन-अर्थशास्त्र के अनुसधान के महत्त्व को मान्यता नही दी गई, और अनुसधान कार्य को प्रोत्साहन देने के लिए सरकार ने भी कोई खास कदम नही उठाया। सन १९०६ में देहरादून में वन-अनुसधान सस्थान (फारेस्ट रिसर्च इन्स्टीट्यूट) की स्थापना हुई। सन् १९१८ के भारतीय औद्योगिक आयोग की सिफारिशो के अनुसार उसका समुचित विस्तार किया गया और अव यह वन-अनुसधान के प्रत्येक पहलू पर खोज करने में समर्थ है। इसके परिणामस्वरूप बहुत से महत्त्वपूर्ण खोज-कार्य

१. स्टैटिस्टिकल ऐब्स्ट्रैक्ट १९५१-५२, पृ० ५४६ के आधार पर।

२. अवर्गीकृत राजकीय वनों के अन्तर्गत अनधिकृत एवम् वेकार भूमि, जो बहुधा वृक्षविहीन होती है, भी सम्मिलित की जाती है। अतएव उपर्युक्त आकड़े पूर्णतया जगली क्षेत्र का प्रतिनिधित्व नहीं करते।

किये गए तथा वैज्ञानिक और व्यावहारिक ज्ञान में लगातार उन्नति हुई जिसमे बहुत हद तक वनो की उत्पत्ति का पूरा और पहले से अच्छा उपयोग हो सका।

२३ भारतीय वनों से कच्चे माल की प्राप्ति—विभिन्न उद्योगो के लिए आवश्यक कच्चे माल की पूर्ति और बहुत से लोगो को जीविका प्रदान करने मे भारतीय जगलो और वनो का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हाथ है। उदाहरण के लिए हम वनो में रहने वाली अधिकाश जनसख्या को ले सकते है जो प्रत्यक्ष रूप मे वनो की पैदावार मे अपनी जीविका चलाती है। वनो के समीप रहने वाले अनेक लकडी काटने वाले, आरा चलाने वाले, बोझा ढोने वाले, कारीगर आदि व्यक्ति बहुत बडी सख्या में वनो में या उनके आस-पास काम करते है। अन्त मे वनो के कच्चे माल मे वस्तुए बनाने वाले जैसे बढई, पहिया बनाने वाले, नाव बनाने वाले, रस्सी बुनने वाले, चमडा कमाने वाले, तथा लाख बनाने वाले आदि भी है।

२४ वनों के प्रमुख और गौण उत्पादन—जगलो की उत्पत्ति दो मुख्य भागो मे विभाजित है—(१) प्रधान उत्पत्ति जैसे इमारती लकडी तथा ईंधन, (२) गौण उत्पत्ति जिसमें लाख, चमडा कमाने की वस्तुएं, तेल, तारपीन और गोद आदि है। भारतीय जगलो की गौण उत्पत्ति का महत्त्व बढता जा रहा है और उनमें मे कई ने तो विश्व के बाजारो में अपना स्थान बना लिया है। अनुसधान कार्य का एक महत्त्वपूर्ण परिणाम यह सिद्ध कर देने में है कि सबाई और भाबर घास, जो पहले कलकत्ता के अग्रेजो की मिलो में काम में लाई जाती थी, के अतिरिक्त बाँस मे भी कागज की लुगदी बनाई जा सकती है। और बाँस के विस्तृत क्षेत्रों के कारण आवश्यक कागज को यही बनाने का काम आरम्भ किया जा सकता है। इन सम्भावनाओ को विचार मे लाकर ही टैरिफ बोर्ड की सिफारिशो के अनुसार भारतीय कागज की बाँस की लुगदी के व्यवसाय को सरक्षण प्रदान किया गया था। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि कृषि आयोग ने प्रत्येक राज्य में वन उपयोग अधिकारी की नियुक्ति की सिफारिश की थी ताकि वन-उद्योगो का विकास उसकी खास जिम्मेदारी बना दी जाय।[1]

२५ भारतीय वनों की क्षमता—सन् १९१४-१८ के विश्वयुद्ध में मेसोपटामिया में तैनात अग्रेजी फौजो की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए भारत को अपने साधनो पर निर्भर रहना पडा। इस विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिए समुचित पैमाने पर किये गए विशेष प्रयत्नों ने भारतीय जगलो की अप्रत्यक्ष सम्भावनाओ को स्पष्ट रूप से सबके सामने ला दिया और वन-उपयोग ने एक नये युग का आरम्भ किया। द्वितीय युद्ध में इनके उपयोग के लिए और भी प्रोत्साहन मिला।

२६. भूगर्भ-रचना—किसी भी देश के भूगर्भीय सर्वेक्षण में सतही और निचले परतो की मिट्टी पर विचार किया जाता है। अब हम पहले भारत की सतह वाली मिट्टी पर विचार करेंगे और उसका अन्तर मुख्य प्रकार की मिट्टियो से बताएँगे जो तीन प्रकार की भूगर्भीय रचना के कारण होता है।

(१) नदियो द्वारा लाई हुई मिट्टी के भूखड बहुत विस्तृत और कृषि-कार्य के

---

१. कृषि आयोग रिपोर्ट, पैरा २२४।

लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह भूखड गुजरात, राजपूताना, पजाब, उत्तर प्रदेश और वगाल के अधिकाश भाग तथा मद्रास राज्य के गोदावरी, कृष्णा और तजौर जिलो में फैले हुए हैं। नदियो द्वारा लाई हुई मिट्टी की विभिन्न चौडाई की एक पट्टी प्रायद्वीप के पूर्वी और पश्चिमी किनारो पर फैली हुई है जो नदियो के डेल्टो पर चौडी होती गई है। नदियो वाली मिट्टी के प्रदेश जहाँ पर वर्षा मध्यम परिमाणो में हर जगह होती है, विशेपकर सिन्धु और गगा के मैदान, जिनकी मिट्टी अधिक मात्रा में भुरभुरी, पर्याप्त रासायनिक तत्त्वो से युक्त और सरलता से जोती जा सकती है, रवी और खरीफ की अधिकाश फसल उगाने में समर्थ है।

(२) दक्षिणी भाग वम्वई और मद्रास के अधिकाश भाग, (पहले के) सम्पूर्ण वरार प्रान्त, मध्य प्रदेश के पश्चिम की ओर के तिहाई भाग और हैदरावाद के पश्चिमी भाग से मिलकर बना है। इस क्षेत्र की मिट्टी कई प्रकार की है और उसकी उर्वरा शक्ति भी असमान है। रुई पैदा करने वाली असली काली मिट्टी, दक्षिणी भाग में पहाडियो के नीचे ढालू जगहो में फैली हुई है। स्थिति के अनुसार उसकी गहराई में अन्तर पडता जाता है और जहाँ वह बहुत गहरी है वहाँ नदियो द्वारा लाकर जमा की गई है। नर्मदा और ताप्ती की घाटियो में मिट्टी अधिक गहरी होने के कारण भारी वर्षा होने पर जमीन काम करने योग्य नही रह जाती और तव यह रवी की गेहूँ, चना और तीसी तिलहन फसलो के लिए प्रयोग की जाती है। दक्षिण प्रदेश की काली मिट्टी जो खरीफ में मुख्य फसलो के तौर पर रुई और ज्वार पैदा करती है, ३ या ४ फुट गहरी है और उसमें चूना मिला हुआ है। नीचे की मिट्टी में काफी चूना मिला होने और पथरीली ककरीली होने के कारण नीचे की चट्टानो के लिए पर्याप्त वहाव सम्भव हो जाता है।

(३) शेप मिट्टी लाल मिट्टी कहलाती है, जो पूरे मद्रास, मैसूर, दक्षिणी-पूर्वी, वम्वई और आधे पूर्वी हैदरावाद और मध्यप्रदेश के दो तिहाई भाग को घेरे हुए है। यद्यपि प्राय इसमें रासायनिक तत्त्वो का अभाव है और कमजोर फसले ही पैदा होती हैं, फिर भी इसके कुछ प्रकार जैसे मद्रास और मैसूर की लाल मिट्टी तथा लाल और भूरी चिकनी मिट्टी वहुत उपजाऊ है। वीच के दर्जे की उपजाऊ मिट्टी भी कई प्रकार की पाई जाती है। काफी गहराई वाली मिट्टी में सिंचाई से लाभ हो सकता है। जहाँ नहर की सिंचाई सम्भव है वहाँ चावल को मुख्य फसल की तरह पैदा किया जा सकता है। तालावो और कुओ की सिंचाई से अन्य किस्म की मूल्यवान फसलें भी पैदा की जा सकती है। इस तरह की भूरी और पीली लाल मिट्टी, जो बेलगाँव, धारवार आदि में पाई जाती है, फल वाले वृक्षो, विशेषकर आम, के लिए अनुकूल है।

२७. खनिज उत्पादन—सन् १९१८ के औद्योगिक आयोग की राय मे उन उद्योगो को छोडकर जिनमें रोचातु (वैनेडियम), गिलट (निकल) और सम्भवत सवर्णातु (मोलडिनम) की आवश्यकता होती है, शेष सभी मूल उद्योगो के लिए भारत के खनिज पर्याप्त हैं। वहुत दिनो तक लोगो में यह विश्वास था कि देश के खनिज-पदार्थ आधुनिक स्तर पर लाभ-सहित खोदने के लिए वहुत कम हैं। सन् १८८० दशक के आरम्भिक वर्षों

तक भारतीय खनिजो के प्रयोगात्मक विकास के लिए कुछ भी नही किया गया। इसलिए भारतीय खनिज पदार्थों की सम्भावनाओं के बारे मे कोई विश्वसनीय निर्णय सम्भव नही था। बाद की खोजो ने उत्खनन के लिए अनेकों प्रकार के खनिज पदार्थ ढूँढ निकाले। अब हम कुछ निश्चय के साथ कह सकते है कि भारतीय खनिज पदार्थ, भले ही वह असीमित या अद्वितीय न हो, किसी भी प्रकार नगण्य नही है और वे देश के धातु वाले उद्योगो के विकास का आधार बन सकते है। आधुनिक यातायात के विस्तार, बैंक-व्यवहार के विकास, तथा वर्तमान औद्योगीकरण के साथ खनिज पदार्थों का और भी अच्छी प्रकार से विकास हो रहा है। भारत की खनिज सम्पत्ति के उपयोग को सन् १९१४-१८ और सन् १९३९-४५ के युद्ध ने बहुत प्रोत्साहन दिया।[1]

खनिज पदार्थ	१९४६		१९५१	
	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य
कोयला (टनों में)	२९,३६०,६८५	३५,०३,३९,९४२	३४,४३२,३६६	५०,४८,[illegible],३[illegible]४
सोना (औंस में)	[illegible]३१,७५५	३,४८,९०,२५[illegible]	२२६,३६४	६,७५,३०,७०६
वर्णिज (क्रोमाइट) (टनों में)	२४,२०१	६,६१,८५०	१६,७०२	६,[illegible]३,०८७
कच्चा तावा (टनों में)	३५२,७१८	७[illegible],७१, ६६	३६६,०५७	१,६४,००,५५०
हीरा (कैरट में)	१,[illegible]०७२	१,७७,४७२	१,६७४	५,३४,३६१
अपोरजजारिज (इलमेनाइट) (टनों में)	१८५,०३२	[illegible]७,[illegible]२,८६६	२११,५६८	४०,२४,७००
लिखिज (ग्रेफाइट) ,,	[illegible],६२७	१,६०,[illegible]७८	१,७३५	२,३१,६५७
कच्चा लोहा ,,	२,४०७,६८२	६५,०७,८५५	३,६५७,१०५	२,०६,५२,६१६
अभ्रक (हडरवेट में) (क)	२०६,८८१	३,०९,०६,६३२	४६०,४८८	१३,७६ ४[illegible] २३०
शोरा (माल्ट पीटर) (हडरवेट में)[1]	(क) २२,७०३	(क) ६,३५,८०७	५,२१२	(ख) ३[illegible],८४,०८४
चादी (औंस में)	११,२७५	५२,७[illegible]८	१४,६१२	७०,३१०
कच्चा मैंगनीज (टनों में)	२५२,६१६	६८ ६३,७२४	१,२६२ ३७५	१७,८३,४७,७५०

ऊपर दी हुई तालिका में सन् १९४६ और सन् १९५१ मे भारतीय सघ के खनिज पदार्थों के उत्पादन और मूल्य के आकडे दिये गए है।[2]

१ (क) निर्यात आंकडे है। (ख) इसमें मद्रास राज्य के उत्पादन का मूल्य सम्मिलित नही है। यह तालिका स्टेटिस्टिकल एब्सट्रैक्ट इण्डिया—१९५१-५२, पृ० ५८८ से ली गई है। —अनुवादक

२ खनिज पदार्थों के लिए मुख्यत निम्नलिखित साधनों की सहायता ली गई है—सी० डब्लू० ई० कॉटन, हैण्डबुक ऑफ कमर्शियल इन्फॉर्मेशन ऑफ इण्डिया, जे० सी० ब्राउन, इण्डियाज मिनरल वेल्थ, रिपोर्ट ऑफ दी जियॉलॉजीकल सर्वे ऑफ इण्डिया (१९३९), एनुअल रिपोर्ट ऑफ द चीफ इन्स्पेक्टर ऑफ माइन्स इन इण्डिया (१९३८), स्टेटिस्टिकल एब्सट्रैक्ट फॉर ब्रिटिश इण्डिया (१९३७ ८), इण्डिया इअर बुक (१९४१-२) पृ० ७४०-४, कैपिटल (इण्डियन इण्डस्ट्रीज ट्रेड एन्ड ट्रान्सपोर्ट सप्लीमेंट), दिसम्बर १९४०, और इण्डियन फाइनैन्स (ईस्टर्न ग्रुप नम्बर और इअर बुक, १९४०) दिसम्बर १९४०।

सन् १९४६ और १९५१ में खनिज पदार्थो का कुल मूल्य क्रमश ४४·३७५ और ९४०२ करोड रुपए था।[1]

अब हम भारत में व्यावसायिक आधार पर उपयोग किये जाने वाले कुछ प्रमुख खनिज पदार्थो का सक्षेप में वर्णन करेंगे।

२८ कोयला—कोयला भारतवर्ष का प्रमुख खनिज पदार्थ है और हर प्रकार से देश का महत्त्वपूर्ण आधारोद्योग है। भारत में कोयले के उद्योग का प्रारम्भ देश में रेलो के निर्माण से होता है, जिसने तुरन्त ही कोयले की माँग बढा दी तथा गत शताब्दी के मध्य में नई खानो के उत्खनन को जन्म दिया। आयात किये हुए ब्रिटिश कोयले से अधिक सस्ते और सुलभ कोयले की प्राप्ति के हेतु ईस्ट इण्डिया रेलवे कम्पनी के अनुसन्धानो से इस उद्योग का खूब विकास हुआ। यह कार्य विशेषतया यूरोपीय सम्मिलित पूँजी वाली कम्पनियाँ (जॉयण्ट स्टॉक कम्पनियो) ने किया जो इसी उद्देश्य के लिए निर्मित थी। सन् १८८४ और १९०१ के बीच में कोयले का उत्पादन १३ लाख टन से बढकर ६६ लाख टन हो गया।[2] बगाल में लगभग एकाधिपत्य प्राप्त करने के अतिरिक्त भारतीय कोयला पूर्वी बाज़ारो, जैसे कोलम्बो, ब्रिटिश मलाया तथा पूर्वी द्वीप समूह आदि में भी पहुँच गया। सन् १९१४-१८ के युद्ध से पूर्व पाँच वर्षो में आन्तरिक उपभोग में वृद्धि होने के कारण कोयले की वार्षिक औसत उत्पत्ति बढकर १४७ लाख टन हो गई। इन पाँच वर्षो में कोयले का औसत आयात (खासकर ब्रिटिश कोयले का) ४५५,००० टन और औसत निर्यात २२५,००० टन हो गया। यूनाइटेड किंगडम को छोडकर भारतवर्ष कॉमनवेल्थ के अन्य किसी भाग की अपेक्षा अधिक कोयला उत्पन्न करता है। भारत में पाये जाने वाले कोयले का अधिकाश भाग बगाल, बिहार और उडीसा (गोडवाना की कोयले की खान) से आता है। इन प्रान्तो के बाद कोयले की मुख्य खानें हैदराबाद में सिंगरेनी और सस्ती तथा मध्यप्रदेश और आसाम में हैं। राजपूताना, बीकानेर तथा मध्यभारत से भी भारत मे मिलने वाले कुल कोयले का कुछ भाग मिलता है। भारतीय कोयले का वितरण बहुत ही असमान है। प्रायद्वीप (दक्षिण भारत) में इसकी कमी विशेष रूप से मालूम होती है। मद्रास राज्य में कोयले के अभाव तथा परिवहन की ऊँची लागत के राज्य कच्चे लोहे की उन्नति में बाधा रही है। बम्बई राज्य में भी स्थानीय कोयले के अभाव के कारण इसी तरह की कठिनाई थी, जिसकी कमी कुछ जलविद्युत्-शक्ति और कुछ समय के लिए दक्षिणी अफ्रीका से आयात किये हुए कोयले से पूरी की गई। दूसरी बुराई यह है कि हमारे

१ पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत खनिज साधनों के विकास के लिए १०६·१९ लाख रुपये की रकम रखी गई है। इसमें से केवल १९·६० लाख की रकम अब तक खर्च की जा चुकी है। योजना के प्रारम्भ में प्रगति धीमी रही, परन्तु फिर भी योजना के पहले दो वर्षो में भारतीय सघ के खनिज उत्पादन की मात्रा और मूल्य में सामान्य वृद्धि हुई। सन् १९५०, १९५१, १९५२ में कुल खनिज उत्पत्ति का मूल्य क्रमश ८३ ४१ करोड़ रु०, १०५·५५ करोड रु० और १०८·०४ करोड रुपये था। यह वृद्धि मुख्यत उत्पादन की वृद्धि के कारण हुई थी।—पचवर्षीय योजना, प्रगति रिपोर्ट १९५३-५४, अध्याय ११।

२. स्टेटिस्टीकल एब्सट्रैक्ट, इण्डिया १९५१-५२ के आधार पर।

देश का कोयला विदेशी कोयलो की तुलना मे खराब होता है। धातुशोधक कोयले के उत्पादन के विचार से केवल बगाल का ही कोयला विदेशी कोयलो का मुकाबला कर सकता है।

सन् १९१४-१८ के विश्वयुद्ध मे विशेषतया १९१७ और १९२१ के बीच और उसके बाद के वर्षो मे, कोयला-उद्योग का आश्चर्यजनक विस्तार हुआ। जहाजरानी की कमी की वजह से ब्रिटिश कोयले का न मिलना, अप्रैल सन् १९२० तक सरकार द्वारा कोयले की माँग, कोयले की कीमत मे वृद्धि और युद्ध के अनन्तर उद्योगो की उन्नति से हुई कोयले की खपत मे वृद्धि आदि कारणो ने उद्योग को प्रोत्साहित किया। कोयला ढोने के लिए रेल के डिब्बो की कमी मे और खानो मे काम करने वाले मजदूरो के पर्याप्त सख्या मे न मिलने से इसका विकास सीमित रहा।[1] विश्वयुद्ध के बाद के अभिवृद्धि काल मे नई-नई कोयले की खाने खोदी गई। साथ ही सरकार ने बहुत सी बडी-बडी खानें खुदवाई जिससे रेल-व्यवस्था को कोयले के लिए बाजार पर निर्भर न रहना पडे। इसी बीच मे दक्षिणी अफ्रीका का कोयला-निर्यात पूर्वी देशो के बाजारो में, जिनमें भारत भी शामिल था (वहाँ की सरकार की दी हुई यथेष्ट सहायता के कारण) बहुत बढ गया। ब्रिटेन का आयात बन्द हो गया और भारत में कोयले की कमी और रेलो पर अधिक भार होने के कारण सन् १९२०-२३ में भारतीय कोयले के निर्यात पर रोक लगाई गई। इन कठिनाइयो के दूर हो जाने पर भी विदेशी बाजारो में भारतीय कोयले की बिक्री पहले की बिक्री को आशिक रूप से अधिक न हो सकी। बाजार मे प्रतिस्पर्धा बढती चली गई। दक्षिणी अफ्रीका के व्यापारिक सन्तुलन मे परिवर्तन होने के बाद तथा भाडे की सस्ती दरें (जहाज के निचले भाग में कोयला भरकर भेजने की दरें) न रहने के कारण दक्षिणी अफ्रीका के कोयले की पहले जैसी अच्छी स्थिति पूर्वी बाजारो में नही रही।[2] कोयलो और कोक के आयात और निर्यात व्यापार के समय-समय के आँकडे निम्न तालिका में दिखाये गए है।[3]

१ देखिए, रिपोर्ट ऑफ द टैरिफ बोर्ड (कोयला उद्योग), १९२६, परा ११।

२ ऐन्स्टे (द ट्रेड ऑफ द इडियन ओशन) पृष्ठ ५५।

३ देखिये, रिव्यू ऑफ द ट्रेड ऑफ इडिया।

	युद्ध के पहले का औसत १९०९-१० से १९१३-१४	युद्ध के समय का औसत १९१४-१५ से १९१८-१९	युद्ध के बाद का औसत १९१९-२० से १९२३-२४	१९२९-३०	१९३४-३५	१९३८-३९	१९३९-४०
आयात-मात्र हज़ार टनो मे	४५५	१३३	६३०	२३७	७१	४४	१८
मूल्य हज़ार रुपयो में	८०८९	३०४१	२२५३९	४५५५	१२५०	८०५	२६४
निर्यात-मात्र हज़ार टनो में	८२५	५२६	४३४	६८८	३११	१३४१	२०००६
मूल्य हज़ार रुपयो में	७५७७	४८४६	५७२४	७२०५	२९२२	१३६२५	१९३३५

इन अको से प्रगट होता है कि मन्दी के समय कोयले के निर्यात में कमी होने के बाद आगे चलकर १९३७-३८ से १९३९-४० तक इस व्यापार का बहुत काफी विस्तार हुआ। निर्यात के इस आकस्मिक विस्तार के प्रधानत दो कारण थे। पहला कारण चीन और जापान की शत्रुता थी जिससे जापान को सुदूर पूर्व के बाज़ारो में कोयला नही मिल सका। दूसरा कारण दक्षिणी अफ्रीका का कोयले के निर्यात को बन्द करना था। इस उद्योग ने १९३९-४० में आश्चर्यजनक उन्नति की और पिछले मात्रा-मानो (रिकार्ड) से बहुत आगे बढ गया। परन्तु जहाज़ो द्वारा निर्यात की कठिनाइयाँ और भाडे की अत्यधिक वृद्धि निर्यात व्यापार के विस्तार में बाधा डालती है। हर हालत में निर्यात व्यापार के अनुकूल कारण अस्थायी हैं। माँग और उत्पादन में समजन कराने वाली दीर्घकालिक नीति निर्धारित करते समय हमें कोयला-उद्योग की इस विशेपता को ध्यान में रखना चाहिए। भारतीय कोयले की अधिकाश खपत देशी बाज़ारो में ही होती है और वही इस उद्योग का प्रधान अवलम्ब है। वास्तव मे देश की कोयले की माँग (लगभग ३०० लाख टन) इसकी वार्षिक उत्पत्ति (लगभग २२० लाख टन) से अधिक है।

सन् १९१४-१८ के युद्ध तथा उसके बाद कोयला-उद्योग ने जो उन्नति की उसे हम इस बात से आँक सकते हैं—सन् १९१४ मे कोयले की उत्पत्ति और मूल्य क्रमश. १,६४,६४,२६३ टन, और ५,८६,१०,६९५ रुपया था। सन् १९३० में उत्पत्ति

और मूल्य वढकर क्रमश २३,८०३,०४८ टन और ६,२६,२५,३२३ रुपया हो गया। कोयला-उद्योग पर देश के औद्योगिक क्रियाकलापो के उतार-चढाव का पर्याप्त प्रभाव पडता है। आर्थिक अपकर्ष के आरम्भ तथा उसके परिणामस्वरूप आन्तरिक खपत की कमी के कारण दाम एकदम गिर गए और कोयले की अनेक खानें मजबूरन वन्द करनी पडी। सन् १९३३ में कोयले की उत्पत्ति घटकर १९,७८९,१९३ टन रह गई जिसका मूल्य ६,११,८६,०८३ रुपया था। (सन् १९३० में २३,८०३,०४८ टन का उत्पादन हुआ था जो उस समय तक सबसे अधिक था।) सन् १९३४ में आर्थिक समुत्थान के आरम्भ में परिवर्तन की दिशा वदल गई और उत्पादन वढकर २२० लाख टन हो गया जिसका मूल्य ६३० लाख रुपया था। १९३५ में प्रगति शिथिल रही और उत्पादन २३,०१६,६९५ टन रहा। सन् १९३६ में उत्पादन २२,६१०,८२१ टन था जो १९३५ के उत्पादन से भी कम था। १९३७ में २५, ०३६, ३८६ टन कोयला निकाला गया जो उस समय तक किसी वर्ष में निकाले गए कोयले से अधिक था। तदनन्तर उत्पत्ति इससे भी अधिक होती गई। १९३८ में और १९३९ में कुल उत्पादन क्रमश २८,३४२,९०६ टन और २७७ लाख टन था। १९३७-३९ का समय कोयला-उद्योग के उच्चतम उत्पादन के वर्ष थे। १९३८ मे विहार से १५,३६४, ०७९ टन और वगाल से ७,७४५, ३७२ टन कोयला निकाला गया। सन् १९३८-३९ के आखिरी महीनो में तथा १९३९-४० के प्रथम पाँच महीनो में अल्प समय के लिए व्यापार में मन्दी आ गई। युद्ध छिडते ही भविष्य उज्ज्वल हो गया, कोयले की माँग तेजी से वढने लगी, और उसका अतिरिक्त भण्डार समाप्त हो गया। जनवरी १९४० के वाद डिव्वो की अत्यन्त कमी हो जाने से, कोयले के भण्डार फिर इकट्ठे होने लगे। मजदूरी और किराये की अधिकता तथा कोयले पर अधिभार के कारण उत्पादन की लागत वहुत वढ गई, जिससे लाभ कम हो गया। विदेशी प्रतिस्पर्धा के अभाव में औद्योगिक उपभोग की वढती हुई आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए अधिक उत्पादन द्वारा ही ये लाभ वने रहे थे। निर्यात व्यापार की अवस्था की ओर पहले ही सकेत किया जा चुका है।[1]

हाल के वर्षो में देश के अन्दर खपत में आश्चर्यजनक वृद्धि हुई। 'टैरिफ' वोर्ड के अनुमान के अनुसार सन् १९१० के ९८ लाख टन की खपत की तुलना में १९२५ मे खपत की मात्रा १८४ लाख टन थी। तदनन्तर इसमे काफी वृद्धि हुई। भारतीय

१ कोयला और कोक के उत्पादन और निर्यात सम्बन्धी वर्तमान स्थिति इस प्रकार है

वर्ष	उत्पादन (लाख टन)	निर्यात (लाख टन)
१९४८ ४९	२८०.१	११ ०
१९४९ ५०	३२३ ४	९ ७
१९५०-५१	३६१ ८	३६ ९
१९५१-५२	३५० ०	२४ ०

भारत में कोयले के उत्पादन और निर्यात दोनों में ही उन्नति हुई है। भारत से कोयला मुख्यत जापान, आस्ट्रेलिया, सीलोन और पाकिस्तान जाता है। भारत से कोयला आयात करने वाले अन्य [illegible] फिनलैन्ड, ईजिप्ट आदि हैं। नीचे की तालिका में हाल ही में विभिन्न देशों से निर्यात किये

कोयले की प्रधान उपभोक्ता भारत की रेलें हैं। देश का बढता हुआ औद्योगीकरण भी, जो लोहा तथा अन्य उद्योगो के विस्तार से प्रकट है, देश के अन्दर कोयले के बढते हुए उपभोग का कारण है। जैसा ऊपर सकेत किया जा चुका है हाल ही में हुए युद्ध ने कोयले की माँग को बढा दिया। यद्यपि कोयले को विद्युत् और जलने वाले तेल की बढती हुई प्रतिस्पर्धा का सामना करना पडता है, तथापि उसकी स्थिति अब भी दृढ है, और भविष्य में उसका प्रयोग बढने की बहुत सम्भावना है।

अब हम कोयला-उद्योग के कतिपय प्राविधिक (टेक्निकल) पहलुओ पर विचार करेंगे जो उद्योग की उन्नति पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव डालते हैं। उदाहरणार्थ असेम्बली के मार्च सन् १९२४ के दक्षिणी अफ्रीका के कोयले पर सतुलन शुल्क लगाने के पक्ष के प्रस्ताव के अनुसार भारतीय कोयला कमेटी (इण्डियन कोल कमिटी) की नियुक्ति की गई। कमेटी का कार्य भारतीय कोयले को विदेशी प्रतिस्पर्धा से बचाने के लिए सरक्षण प्रदान करने के प्रश्न को शुल्कआयोग (टैरीफबोर्ड) के विचाराधीन करने से पूर्व इस विषय के प्राविधिक पहलू की जाँच करना था। इस कमेटी ने भारतीय उद्योग की स्थिति को दृढ बनाने के लिए और विशेपतया कलकत्ता के बन्दरगाह से भारतीय और विदेशी बन्दरगाहो को कोयला निर्यात बढाने के लिए अनेक सिफारिशें प्रस्तुत की। उनके विचार से इस सम्बन्ध मे गुण और मूल्य यह दो सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हे। पहली बात की प्राप्ति के लिए उसने कोयला श्रेणी-बन्धन परिषद (कोल ग्रेडिंग बोर्ड) के स्थापित करने की सिफारिश की, जिसके प्रमाण पत्र सम्बन्धित कोयले के गुण की गारण्टी होंगे। सरकार ने इस सिफारिश को मान लिया और १९२५ में कोयला श्रेणी-बन्धन एक्ट (कोल ग्रेडिंग बोर्ड एक्ट) के रूप में आवश्यक विधान पास किया गया और बाकायदा २० जनवरी सन् १९२६ को यह बोर्ड बना दिया गया। कमेटी ने खानो से कलकत्ता जाने वाले प्रमाणित कोयले पर रेलो को ३७½ प्रतिशत अधिक छूट देने की और नदियो से

हुए कोयले का मूल्य दिखाया गया है

	१९४९-५० रु०	१९५०-५१ रु०	१९५१-५२ रु०
पश्चिमी पाकिस्तान	१,००,०३,९९१		४०,७२,४२७
लका (सीलोन)	१,५९,२६,०६६	१,०,५४,९५६	८२,९९,२०४
बर्मा	३६,१२,७२४	५०,१०,९१४	४६,०१,१२१
सिंगापुर	२५,३०,८२१	१८,९२,४७३	३६,२६,४०८
हॉगकॉग	३७,३९,१३०	३८,४५,४५१	४८,२६,५१७
जापान	१,९९,२६०	३७,७५,३९०	२,६३,४३,१४७
आस्ट्रेलिया	६०,०१,६६०	६६,७७ ५६०	५८,८३,८७६
अन्य देश	१,२७,५०४	१४ ७३,४१९	२,०४,७३,९३८
	४,२१,४१,१५६	३,३६ ३०,१६३	७,८१,२६,६३८

विदेशों में भारतीय कोयले की बढती माँग हर्ष का विषय है। अब से लगभग बीस वर्ष पूर्व भारतीय कोयले के निर्यात व्यापार में अनेक कठिनाइयाँ थीं। कोयले के प्रकार में सुधार होने के साथ भारतीय कोयले का प्रचार बढ रहा है।

—अनुवादक

जाने वाले कोयले के किराये को चार आना प्रति टन कम करने की भी सिफारिश की। बोर्ड की यह सिफारिशें भी रेलवे कम्पनियो और पोर्टट्रस्ट अधिकारियो द्वारा स्वीकृत कर ली गई।

भारत के भूगर्भ सम्बन्धी सर्वेक्षण के सचालक लुई फर्मर ने सन् १९३९ मे एक सरकारी पत्रिका मे आगामी सौ वर्षों के अन्दर अच्छे कोयले के साधनो के पूर्णतया समाप्त हो जाने की सम्भावना की चेतावनी दी। उसके बाद भारतीय कोयले को सुरक्षित रखने का प्रश्न सामने आया। यह अनुभव किया गया कि कोयला खोदने के दोषपूर्ण ढग से भारतीय कोयला जो वैसे ही अधिक नही है, नष्ट होता है। अक्टूबर १९३६ में भारत सरकार द्वारा नियुक्त कोयला खान समिति (कोल माईनिंग कमिटी) ने कोयले के सरक्षण और खानो में सुरक्षा का प्रबन्ध करने के प्रश्नो पर विचार किया। कमेटी ने मई १९३७ की रिपोर्ट मे यह विचार प्रकट किया कि द्वितीय श्रेणी के कोयले के भण्डार तो लगभग असीमित है। अच्छे प्रकार के सारे कोयले को सुरक्षित रखने के लिए उन्होंने कानून की सहायता लेने की इच्छा प्रकट की और उसे सुरक्षित रखने के लिए विधिवत् इकट्ठा करने की सिफारश की।[1]

कमेटी की सिफारिश पर अप्रैल १९३९ में कोयला उत्खनन सुरक्षा कानून पास किया गया। इस कानून द्वारा निरीक्षको को खानो के अन्दर काम करने वाले मजदूरो के लिए सुरक्षा सम्बन्धी कार्य करने तथा कोयले को सुरक्षित ढग से जमा करने का प्रबन्ध करने का अधिकार मिल गया। इस कानून के अन्तर्गत कोयले को सुरक्षित रूप से रखने (स्टोइग) की सहायतार्थ कोष इकट्ठा करने के लिए कोयला और कोक पर उत्पादन कर लगाने की आवश्यकता हुई। इस नये कानून को कार्यान्वित करने के लिए, जिसका उद्देश्य कोयला ढग से निकालना अथवा बरबादी रोकना है, कलकत्ते में कोयले की खानो का सुरक्षा-मण्डल स्थापित किया गया।[2]

---

१ कोल माइनिंग कमिटी की रिपोर्ट

२ सन् १९३९ के कानून में कोयले की सुरक्षा के लिए स्टोइग की सहायता के लिए कोई विधान न था। अनेक कमेटियों द्वारा कोयले के साधनो के आपरीक्षण ने कोयले की सुरक्षा की अनिवार्यता को सामने ला दिया। ४ मार्च १९५२ को एक नया कानून कोयला खान (सरक्षण) कानून [कोल माइन्स (कन्जरवेशन एण्ड सेफ्टी) एक्ट] बनाया गया। इसने सन् १९३९ के कानून को रद्द कर दिया। नया कानून जम्मू और काश्मीर को छोड़कर समस्त भारत पर लागू होता है। इस कानून के अन्तर्गत सरकार को अधिकार है कि खानों और कोयले की सुरक्षा के लिए ऐसे कदम उठाए जिन्हें वह उचित समझती है। कानून के अन्तर्गत कोयला परिषद (कोल बोर्ड) की स्थापना का भी विधान है। सरकार परामर्शदात्री कमेटियाँ भी बना सकती है जो केन्द्रीय सरकार या बोर्ड के कानून के कार्यान्वित करने के सम्बन्ध में राय दे सकती हैं। कानून के अन्तगत उत्खनिक कोयले तथा खानों में तैयार किये और बाहर भेजे जाने वाले कोक पर उत्पादन कर लगाने की भी व्यवस्था है। उत्पादन कर से प्राप्त राशि कोयला परिषद (कोल बोर्ड) को दे दी जायगी और यह राशि कोयले की खानों के सुरक्षा कोष (कोल माइन्स सेफटी एण्ड कन्जर्वेशन फण्ड) में जमा कर दी जायगी। इसका उपयोग बोर्ड के व्यय तथा सुरक्षा सम्बन्धी कार्यादि के लिए होगा। प्रमुख निरीक्षक और निरीक्षकों को कोयले की खानों को देखकर यह पता लगाने का अधिकार है कि इस कानून के अनुसार काम हो रहा है या नहीं। देखिए, द इण्डियन लेबर ईअर बुक, १९५२-५३ पृ० ८४। —अनुवादक

२९. लोहा—लौह धातु-शोधन का ज्ञान भारत में वहुत पुराना है। यूरोप से आयात की हुई धातु की प्रतिस्पर्धा से पूर्व लोहे का उद्योग उन्नतिशील अवस्था में था तथा भारत के सभी भागो मे फैला हुआ था।

वडे पैमाने पर लोहे के निर्माण की आधुनिक विधाओ का प्रारम्भ सन् १८७४ से वराकर आयरन वर्कस के कार्य से होता है। यही कारखाने वाद मे वगाल आयरन एण्ड स्टील कम्पनी कहलाए। इसका मौजूदा नाम वगाल आयरन कम्पनी है। सन् १९११ में बिहार प्रान्त में टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी का उद्घाटन साक्ची (Sakchi) नामक स्थान पर हुआ। सन् १९१३ के अन्त तक भारतीय इस्पात का निर्माण और लोठन सफलतापूर्वक होने लगा। कोयले की खानो की सन्निकटता और विहार में लोहे के निक्षेपो के कारण इस काम में बहुत सुविधा हुई। लोहा और इस्पात उद्योगो के विकास का व्यौरेवार विवेचन भारतीय उद्योगो वाले अध्याय मे करना उचित होगा (दूसरा खण्ड।)

भारत में कच्चे लोहे के उत्पादन में की गई उन्नति निम्नलिखित आँकडो से स्पष्ट है:

१९१४		१९२१		१९२९		१९३८	
मात्रा टनो मे	मूल्य रुपयो मे	मात्रा टनो में	मूल्य रुपयो में	मात्रा टनो में	मूल्य रुपयो में	मात्रा टनो मे	मूल्य रुपयो में
४,४१,५७४	५,४४,७४०	९४२,०८४	२१,०८,३२९	२४,२८,५५५	६४,९१,२३६	२७,४३,६७५	४८,५६,९७४

१९३० और १९३३ के बीच जो शिथिलता आई, वह उत्पादन तथा मूल्य की कमी मे परिलक्षित होती है। सन्१९३३ में १,२२८,६२५ टन उत्पादन हुआ, जिसका मूल्य २४,९७,९१४ रुपये था। १९३४ में समय ने पलटा खाया और उत्पादन तेजी से वढकर १९,१९,९१८ टन हो गया। १९३५ मे उत्पादन और भी वढकर २३,६४,२९७ टन तक पहुँचा। उन्ही दिनो खान से निकले हुए लोहे और इस्पात मे पर्याप्त वृद्धि हुई।[1] (दूसरा खण्ड दूसरा अध्याय देखिए।) १९३७ में कच्चे लोहे का उत्पादन २,८७०,८३२

१ पिछले चार वर्षो में कच्चे लोहे का उत्पादन और उसका मूल्य इस प्रकार था :

	उत्पादन (हजार टनों में)	मूल्य (लाख रु० में)
१९५०	२०९५	१५४
१९५१	२९५७	२१०
१९५२	३९२९	२९८
१९५३	२७८४	

फाइव ईअर प्लान प्रोग्रेस रिपोर्ट फॉर १९५३—५४, पृ० २२५।

टन था जो १९२९ के उत्पादन की मात्रा से अधिक था। सन् १९३८ में उत्पादन कुछ कम होकर २७,४३,६७५ टन रह गया। १९३९-४५ के विश्व युद्ध के कारण देश के कच्चे लोहे के निक्षेपो को प्रयोग में लाने के लिए काफी प्रोत्साहन मिला।

सिंहभूम और उडीसा के क्योझर, बोनई और मयूरभज नाम के स्थानो म लोहे के जो निक्षेप है वे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। हाल के अनुसन्धानो मे ज्ञात हुआ है कि उडीसा राज्य में लगभग ४० मील लम्बाई मे फैली हुई कच्चे लोहे की पट्टी है। कहा जाता है कि एक स्थान पर कच्चे लोहे की पट्टी को काटकर फैली हु एक घाटी में उत्तम प्रकार की हैमेटाइट की ७०० फुट मोटी तह है जिसमें ६०प्रतिश से अधिक लोहा है और कम-से-कम २,८००,०००,००० टन कच्ची धातुओ क अनुमान किया जाता है। मैसूर राज्य मे भी कच्चे लोहे की खानें पाई जाती है जिनक उपयोग भद्रावती के कारखानो द्वारा किया जा रहा है। यह विश्वास के साथ कहा ज सकता है कि विश्व मे कच्चे लोहे के उत्पादक देशो मे भारत अवश्य ही एक प्रमु स्थान ग्रहण कर लेगा।

हम जैसे-जैसे लोहे की इन खानो के उपयोग की राह पर प्रगति करते जायें वैसे-वैसे ही यह कहा जा सकता है कि विदेशी लोहे पर भारत की निर्भरता कम हो हुए अन्त में समाप्त हो जायगी।[1]

३० **मैंगनीज़**—यह बहुत ही मूल्यवान औद्योगिक खनिज पदार्थ है। यह एक तथ्य कि विश्व में पाई जाने वाली मैंगनीज का ९०% हिस्सा इस्पात के निर्माण व बेसेमर और खुली भट्टी प्रक्रियाओ के लिए आवश्यक होता है। भारी रासायनिव विद्युत् तथा शीशे के उद्योगो में भी इसका उपयोग होता है।

भारत में मैंगनीज उद्योग का आरम्भ १८९२ मे मद्रास प्रान्त में विशाखापटन में हुआ, जब वहाँ पत्थर की खानें खोदी गई। १९००-१९०१ मे ९०,००० टन मैंग नीज़ बाहर भेजा गया। इसके बाद से सबसे अधिक मैंगनीज़ पैदा करने का गौरव मध्य प्रदेश को प्राप्त है। भारत में सन् १९१४-१५ में ६८२,८९८ टन मैंगनीज़ हुआ जिसव मूल्य १,३१,५८,९६५ रुपये था, जबकि सन् १९२९ मे ९९४,२७९ टन मैंगनीज़ हुर जिसका मूल्य २,१०,५१,८०२ रुपये था। १९३२ में उत्पादन और मूल्य कम होक क्रमश २१२,६०४ टन और १८,६२,२९३ रुपये हो गया। १९०१ के बाद से अ तक उत्पादन की यह मात्रा और मूल्य सबसे कम थे। मैंगनीज़ उद्योग पर मन्दी व जितना गम्भीर प्रभाव पड़ा उतना भारत के किसी अन्य बडे खनिज उद्योग पर नह

[1] भारत अब विदेशी लोहे पर निर्भर नहीं, वरन् उसने लोहे का निर्यात भी आरम्भ कर दिया है। ग चार वर्षो में लोहे का निर्यात इस प्रकार था

वर्ष	कच्चे लोहे का निर्यात (हजार टन)
१९५०	५५
१९५१	१९७
१९५२	६९९
१९५३	१०९५

पड़ा। मध्य प्रदेश में १९३२ और १९३३ के बीच अधिकाश खाने बन्द रही। सन् १९३४ और १९३५ में मैंगनीज़ उद्योग ने फिर थोडी-बहुत उन्नति की। इन दोनो वर्षों में उत्पादन और मूल्य बढकर क्रमश ४०६,००० टन व ५१,६३,५९२ रुपये और ६४१,४८३ टन व १,२६,४३,३७९रुपये हो गया। १९३८ में कच्चे मैंगनीज का उत्पादन ९६७,९२९ टन हो गया जिसका मूल्य ३,९२,९४,७६२ रुपये था। भारत की तीनो प्रधान लोहा-कम्पनियो के कारखानो में कच्चे मैंगनीज़ की नियमित मात्रा मे खपत होती है। इसका उपयोग इस्पात की भट्टियो में अयो-लोहक (फेरो मैंगनीज़) के निर्माण के हेतु तथा खान से निकले हुए लोहे के निर्माण के हेतु भट्टी मे डालने के लिए होता है। सितम्बर सन् १९३९ में विश्वयुद्ध आरम्भ हो गया, जिसने भारतीय मैंगनीज उद्योग को और प्रोत्साहन दिया।

मैंगनीज़ उत्पादन करने वाले प्रमुख क्षेत्र बम्बई, मध्य प्रदेश, मद्रास और मैसूर है। सन् १९०७ में यह उद्योग अपनी पूरी समृद्धि पर पहुँच गया था जबकि भारत ने रूस को, जो इस धातु को पैदा करने वालो में सबसे आगे था, पीछे छोड़ दिया। परन्तु १९१२-१३ में पुन. रूस भारत से आगे निकल गया। १९१४ के बाद रूस का निर्यात लगभग बन्द-सा हो गया। पिछले कुछ वर्षो में रूस ने अलाभकर तरीके अपनाकर अत्यधिक मात्रा में कच्ची धातु को बाजार में सस्ते दामो पर प्रस्तुत किया। दक्षिणी अफ्रीका के निक्षेपो का भी विकास किया जा रहा है। १९१४-१८ के युद्ध में भारत में मैगनीज़ के बढते हुए उत्पादन के कारण और मूल्यो के भी बहुत बढ जाने से उसके उत्पादन को काफी प्रोत्साहन मिला। अत १९२९-३० में निर्यात के लिए ८१६,००० टन मैंगनीज उपलब्ध था जिसका मूल्य २२९ लाख रुपया था। मैंगनीज के जखीरो में वृद्धि होने तथा विश्व में इस्पात के उत्पादन की कमी और फलत मैंगनीज़ की माँग में कमी हो जाने के कारण १९३२-३३ की मन्दी मे मैगनीज़ का निर्यात घटकर १९८,००० रह गया जिसका मूल्य ४८ लाख रुपया था। फिर विश्व में लोहा और इस्पात, तथा शस्त्र-उद्योगो के विस्तार के कारण मैंगनीज़ की माँग बढी। इसके फलस्वरूप १९३७-३८ में मैंगनीज़ का निर्यात १०,०१,००० टन हो गया जिसका मूल्य २२१ लाख रुपया था। इस्पात उद्योगो की माँग मे कमी हो जाने के कारण १९३८-३९ में मैंगनीज का निर्यात घटकर ४५६,००० टन रह गया जिसका मूल्य १०७ लाख रुपया था, परन्तु दूसरे ही वर्ष (१९३९-४०) में इसका निर्यात फिर बढकर ७१९,००० टन हो गया जिसका मूल्य १८३ लाख रुपया था।[1]

१. गत चार वर्षो में कच्चे मैंगनीज का उत्पादन, उसका मूल्य और निर्यात निम्न था।

वर्ष	उत्पादन (हजार टन)	मूल्य (लाख रु०)	निर्यात (हजार टन)
१९५०	९८३	८४८	७८०
१९५१	१२९२	१७८३	९०७
१९५२	१४६२	२२४५	२४०९
१९५३	१८६४		१६५४

फाइव ईअर प्लान प्रोग्रेस रिपोर्ट फॉर १९५३-५४, पृ० २२५।

३१. **सोना**—विश्व में सोने के कुल उत्पादन का केवल तीन प्रतिशत भारत में होता है। भारत में निष्पादित कुल सोने का ६८ प्रतिशत भाग, पूर्वी मैसूर में स्थित कोलार से प्राप्त होता है जो भारत में सोना पैदा करने वाले क्षेत्रों में सबसे प्रधान है। आजकल कोलार का उत्पादन कम होता जा रहा है। सन् १६०५ में ६१६,७५८ औंस सोना निकाला गया था। इससे अधिक सोना किसी भी और वर्ष मे नहीं निकाला गया। शेष सोने का अधिकांश भाग मद्रास राज्य के अनन्तपुर नामक क्षेत्र से निकलता है। सन् १६०३ मे हुट्टी नामक स्थान में निज़ाम की खान पर काम शुरू किया गया था, पर सन् १६२० के बाद से उसमें काम नही किया गया। पंजाब, उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश में भी साफ करने की क्रिया से कुछ सोना तैयार किया जाता है, पर उसकी मात्रा नगण्य है। सन् १६३१ में ३३०,४८८ औंस सोना पैदा हुआ जिसका मूल्य २,०८,०१,६४३ रुपया था जबकि सन् १६३८ मे ३२१,१३८ औंस सोना निकाला गया जिसका मूल्य ३,०४,७५,३६७ रुपया था। सोने की ऊँची कीमतो के कारण उत्पादन की कमी की क्षतिपूर्ति हो गई है और इससे सोने के उत्पादन को प्रोत्साहन मिला है। फलत सोने का निष्पादन १६३४ के ३२२,१४३ औंस से १६३५ में बढकर ३२७,६५२ औंस, १६३६ में ३३३,३८५ औंस हो गया, पर १६४३ में २५२,२६२ औंस रह गया।[1]

३२. **पैट्रोलियम**[2]—भारत में हिमालय पर्वत के दोनों ओर स्पष्टतया पेट्रोलियम के दो क्षेत्र हैं—पूर्व की ओर वाले क्षेत्र में जो सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण क्षेत्र है और जिसमें आसाम भी सम्मिलित है, कुल निष्पादन का ८५% प्रतिशत तेल निकलता है। दूसरा पंजाब और बिलोचिस्तान का पश्चिमी क्षेत्र पाकिस्तान में चला गया है।

वर्मा के अलग हो जाने से भारत के पेट्रोलियम-साधन विश्व की तुलना में कुछ भी नही रहे। १६३८ में इसका कुल निष्पादन ८७० लाख[3] गैलन और मूल्य १६५ लाख रुपया था जो विश्व के कुल निष्पादन के एक प्रतिशत का दसवाँ भाग है। आसाम में तेल निकालने का काम किया जाता है, परन्तु अभी और जगह भी तेल-क्षेत्रों के पाये जाने की आशा है।[4]

भारत से वर्मा के अलग होने से पहले भी हमारे यहाँ मोटर-स्पिरिट, मिट्टी का तेल आदि पर्याप्त मात्रा में बाहर से मँगाया जाता था। बर्मा के अलग हो जाने के बाद भारत की विदेश-निर्भरता बहुत अधिक बढ गई। प्राय वर्मा ही भारत की मिट्टी

१. नीचे हम सन् १६५२ तक के लिए सोने के उत्पादन के आकड़े दे रहे हैं
(हजार शुद्ध (फाइन) औंस में।)

१६४६	१६४७	१६४८	१६४६	१६५०	१६५१	१६५२
१३२	१७२	१८०	१६४	१६७	२२६	२४३

—इण्डिया एट ए ग्लान्स, पृ० १३४५

[2] ... रोचक वर्णन के लिए देखिए, रिपोर्ट ऑफ द टैरीफ बोर्ड (तेल-उद्योग) १६२८,

[3] ... और भारत का पेट्रोलियम का कुल उत्पादन ३२३० लाख गैलन था।

[4] ... टैरिफ बोर्ड (तेल उद्योग), पैरा ५।

के तेल और मोटर-स्पिरिट-सम्बन्धी अधिकाश आवश्यकताओ को पूरा करता है। इसमें हवाई पैट्रोल भी सम्मिलित है। उदाहरणार्थ १९३९-४० में बाहर से मँगाये जाने वाले १९३० लाख गैलन मिट्टी के तेल में से ११२० लाख गैलन अथवा ५८ प्रतिशत और १९३८-३९ मे कुल आयात किये हुए १८२० लाख गैलन में से ११४० लाख गैलन या ६३ प्रतिशत वर्मा से आया।[1] जहाँ तक मोटर स्पिरिट का सम्बन्ध है १९३९-४० में ५ करोड गैलन या कुल आयात का ५८ प्रतिशत, और १९३८-३९ मे ५ करोड १० लाख गैलन अर्थात् ५९ प्रतिशत भारत मे बर्मा से मँगाया गया।[2]

३३. अभ्रक—अभ्रक का प्रयोग मुख्यत विद्युत् उद्योग मे अवरोधन-माध्यम के रूप में होता है। १९१४-१८ के युद्ध-काल में बेतार से समाचार भेजने, वैयानिकी और मोटर-परिवहन के विकास के कारण इसने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया, क्योकि अभ्रक के विना इनका विकास असम्भव था। १९३९-४५ के युद्ध ने इसके प्रयोग और महत्ता को और भी बढा दिया।

विश्व मे अभ्रक के उत्पादन का ⅘ भाग भारत में होता है। अभ्रक का उत्पादन करने वाले देशो मे भारत अग्रगण्य रहा है। अभ्रक बिहार, मद्रास राज्य के नैलोर, सलेम तथा मालावार जिलो, ट्रावनकोर तथा अजमेर-मेरवाडा और राजस्थान के अन्य भागो में पाया जाता है। १९३९-४० में २१७,००० हडरवेट अभ्रक, जिसका मूल्य १७२ लाख रुपया था, वाहर भेजा गया। भारत में अभ्रक का वार्षिक उत्पादन शायद लगभग इतना ही है।[3]

३४ शोरा – शीशा बनाने, खाद्यो को सुरक्षित रखने तथा खाद बनाने की क्रियाओ आदि औद्योगिक कार्यों के लिए शोरे की माँग बहुत होती है। इसका उत्पादन विहार, उत्तर प्रदेश और पजाब मे ही होता है। एक समय था जव दुनिया में शोरे

१ पेट्रोलियम (पेट्रोल, वेन्जीन और वेन्जोला भी सम्मिलित हैं।) के आयात-सम्बन्धी गत वर्षो के आँकडे इस प्रकार है (हजार गैलन में)

१९४४-४५	१९४५-४६	१९४६-४७	१९४७-४८
५,९०,२२९	५,३२,२९०	१,२३,८२६	१० ८६,४८
१९४८-४९	१९४९-५०	१९५० ५१	१९५१-५२
१,२७,४४९	१,७७,६०१	१,९३,४८१	२,५१,०८४

स्टेल्टिकल एब्स्ट्रैक्ट ऑफ इण्डिया १९५१-५२, पृ० ७५२

२. भारत में खनिज तेलों के साधनों के सम्बन्ध में अन्य वातों के लिए दूसरे खण्ड का छठा अध्याय देखिए।

३ अभ्रक के निर्यात और उसके मूल्य-सम्बन्धी हाल के आँकडे इस प्रकार है

	१९४६	१९४७	१९४८
मात्रा (हडरवेट में)	२०९,८८१	१९१,५७१	३६३,०१५
मूल्य (रु० में)	३०९,०६,९६२	४.६५,७९,६६३	६,१४,५०,०३६
	१९४९	१९५१	१९५२
मात्रा (हण्डरवेट में)	२७०,७६०	३२८,४००	४९०,४८८
मूल्य (रु० में)	५,७१,९६,३१८	९.१५,०७,९६५	१३,७९,४१,२३०

स्टेटिस्टीकल ऐब्स्ट्रैक्ट ऑफ इण्डिया १९५१-५२, प० ५६३।

के अम्ल की जितनी जरूरत होती थी वह सब भारत पूरी करता था। यह विस्फोटक पदार्थों और रासायनिक खादो के निर्माण के लिए बहुत ही आवश्यक होता है। किन्तु, कुछ तो भारत सरकार की तटकर-नीति के कारण जिसने भारी निर्यात कर लगाकर अपने इस एकाधिकार से अधिक-से-अधिक आय का प्रयत्न किया और कुछ अन्य कारणो से भारत का यह स्थान प्रतिस्पर्धी विदेशी उत्पादको द्वारा समाप्त कर दिया गया। १९१४-१८ के युद्ध में युद्ध-सामग्री के लिए शोरे की आवश्यकता पडी जिससे स्थिति में कुछ सुधार हुआ। युद्धकालीन मांग खत्म हो जाने तथा विदेशी बाजारो मे चिल्ली शोरे और फ्रान्स के पोटाश से प्रतियोगिता हो जाने के कारण शोरा-उद्योग पर प्रतिकूल प्रभाव पडा। युद्धकालीन निर्यात की तुलना मे युद्धोत्तर निर्यात कम हो गया। १९१४-१५ से १९१८-१९ मे औसतन ४४०,००० टन हडरवेट शोरा, जिसका मूल्य ८० लाख रुपया था, का निर्यात हुआ जबकि १९४३-४४ में ४७,०००[1] हडरवेट शोरे का निर्यात हुआ जिसका मूल्य १२·३४ लाख रुपया था।[2] शोरे का लगभग सम्पूर्ण उत्पादन बाहर भेज दिया जाता है। केवल कुछ भाग खाद के उपयोग के लिए—विशेषकर आसाम के चाय-बागो में खाद देने के लिए—रख लिया जाता है।

३५ अन्य खनिज पदार्थ—कुछ कम महत्त्व वाले और खनिज पदार्थ भी भारत में पाये जाते है जैसे तांबा, अलमोनियम, वणिज (क्रोमाइट), पोटाश, अम्बर, हीरा, मानिक (रूबी) और गन्धक आदि।

३६ नमक—भारत में साल-भर में नमक की जितनी खपत होती है उसका लगभग ⅘ हिस्सा भारत में ही होता है। देश में वर्ष में १८ लाख टन नमक की खपत होती है। १९३८ में कुल १,५३९,६९३ टन नमक हुआ जिसका मूल्य ९५,१८,३८३ रुपया था। १९३९-४० में मुख्यत बगाल के उपयोग के लिए ३१४,००० टन नमक का आयात किया गया जिसका मूल्य ६२ लाख रुपया था। यह अधिकाश में अदन से मँगाया गया था। बम्बई और मद्रास के समुद्र-तटो पर पानी सुखाकर ६० प्रतिशत के लगभग नमक पैदा किया जाता है। नमक-उत्पादन के अन्य साधन पजाब में नमक की पहाडियाँ और कोहाट की खानें है, जो क्षेत्र भारत-विभाजन में पाकिस्तान में जा चुके है।

१ शोरे का निर्यात और उसका मूल्य हाल ही के वर्षो में घटता गया है। निम्न आंकड़ों से निर्यात और उसके मूल्य का दिग्दर्शन होता है

	१९४६	१९४७	१९४८
मात्रा (हडरवेट में)	२२,७०३	१६,३२३	७२१
मूल्य (रुपयों में)	६,३५,८०७	६,३४ ६६०	६३,५०८

सन् १९४९-५० और १९५१ में देश में शोरे का उत्पादन और मूल्य इस प्रकार था

	१९४९	१९५०	१९५१
मात्रा (टनों में)	६,५५४	५०,५०१	५,२१२
मूल्य (रुपयों में)	३४,६६,६५२	२८,५६,६५४	३५,८४,०८४ (अ)

(अ) मद्रास राज्य का उत्पादन सम्मिलित नही है।

—स्टेटिस्टीकल एब्सट्रैक्ट, इण्डिया, १९५१-५२, पृ० ५६३

२ रिव्यू ऑफ़ द ट्रेड ऑफ़ इण्डिया १९४३-४४, पृ० १७२

दो और जगहो से नमक उपलब्ध होता है राजपूताना में स्थित साम्भर झील का खारा नमक और कच्छ की खाडी में खारे पानी से जमाया हुआ नमक। नमक में भारत को आत्म-निर्भर बनाने के लिए उत्पादन की वृद्धि का प्रश्न विचारार्थ सन् १९२९ मे तटकर मण्डल (टेरीफ बोर्ड) को सौपा गया था जिसने १९३० में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। बगाल के बाजारो के लिए लगभग ५००,००० टन विदेशी नमक की माँग थी। बगाल के बाजारो में इसका विशेष ध्यान रखा जाता है कि नमक सफेद हो, उसकी डलिया इकसार हो तथा नमी न हो। भाव का भी निस्सन्देह ही महत्त्व होता है। कलकत्ता के बाजार में मूल्य बडी तेजी से घटते-बढते रहते है। इसका कारण कुछ तो किराये की दरो का परिवर्तन है, परन्तु मुख्य कारण व्यापारियो और सघो के कार्य है। तटकर-मण्डल का विचार था कि बगाल के बाजार की कुल माँग भारत और अदन (जो १९३७ मे भारत से अलग कर दिया गया) के नमक से पूरी की जा सकती है, यदि समुद्र से आने वाले नमक के उद्गम-स्थानो (कराची और ओखा) और रेलो से आने वाले नमक के उद्गम-स्थानो (खेवरा, साम्भर और पचभद्र) का समुचित ढग से विकास किया जाय।

राष्ट्रीय हित की दृष्टि से खेवरा आदि का रेलवाहित नमक बगाल के लिए समुद्र से लाये हुए कराची और ओखा के नमक से अच्छा है, यद्यपि कराची और ओखा आदि केन्द्रो को कुछ विशेष प्राकृतिक लाभ प्राप्त है। रेलो से लाने में यह विश्वास रहता है कि युद्ध-काल में नमक की कमी न पडेगी, रेलो को अधिक यातायात का अवसर मिलेगा और उत्पादन मे वृद्धि हुई तो मूल्यो मे कमी निश्चय ही होगी। परन्तु रेल से लाये हुए नमक की मात्रा कम पडे तो वह समुद्र से लाये हुए नमक से पूरी कर लेनी चाहिए। तटकर मण्डल ने सरकार से साधनो के विकास और रेलो के किराये घटाने के लिए इस प्रश्न की अच्छी तरह जाँच करने की सिफारिश की।[1] आयात किये हुए नमक के मूल्य में अत्यधिक कमी होने के कारण जल्दी से कुछ करने के लिए तटकर मण्डल द्वारा सुझाये गए तरीके अर्थात् सरकारी नियन्त्रण से अधिक सरल समझकर विधान-सभा की एक कमेटी ने (अदन को छोडकर) विदेशो से आने वाले नमक पर ४½ आना प्रति मन अस्थायी अतिरिक्त कर लगाने की सिफारिश की। (इसके लिए अदन भारत का ही भाग समझा जाता है।) यह सिफारिश १९३१ में नमक (अतिरिक्त) आयात-कर-अधिनियम (साल्ट एडिशनल इम्पोर्ट ड्यूटी) में सम्मिलित कर ली गई। इस अधिनियम की अवधि आरम्भ में एक साल के लिए सीमित थी, बाद में समय-समय पर अधिनियमो द्वारा इसकी अवधि बढती गई। १९३१ के पूरक वित्त अधिनियम द्वारा नमक के आयात और उत्पादन पर २५ प्रतिशत अधिभार लगाया गया।[2] १९३३ में, जैसी कि विधान-सभा की नमक-उद्योग-समिति ने सिफारिश की थी, अतिरिक्त कर ४½ आ० प्रति मन से घटाकर २¾ आ० प्रति मन कर दिया गया। २१ अप्रैल १९३६ से यह घटाकर १½ आना प्रतिमन कर दिया गया तथा उसकी

१. देखिए, रिपोर्ट ऑफ द टेरीफ बोर्ड (साल्ट इण्डस्ट्री), १९३०।
२. द्वितीय खण्ड का १२वाँ अध्याय देखिए।

जाता है जिसमे बोझा ढोने का काम खूब लिया जाता है। ऊँट देश के रेतीले भागो में पाया जाता है। यह रेगिस्तान में परिवहन का साधन है। मछली भी बहुत आवश्यक है, विशेषकर बगाल, आसाम और प्रायद्वीप के तटीय भागो मे जहाँ भोजन मे नाइट्रोजन-तत्त्व तक के लिए उस पर निर्भर रहा जाता है, जिनके लिए अन्यत्र दालो का प्रयोग किया जाता है। भारत के समुद्रो मे कई प्रकार की खाने के काम आने वाली मछलियाँ पाई जाती है। इन साधनो से आधुनिक ढग पर सगठित रूप मे फायदा उठाने की आवश्यकता है।

भारत के विस्तृत वनो मे अनेक प्रकार के पशु-पक्षी शरण लिये रहते है जिनसे शिकारियो को अच्छे शिकार मिल जाते है।

४२ **शक्ति के साधन**—भारत मे पाये जाने वाले शक्ति-साधनो मे कोयला, ईधन, तेल, अलकोहल, हवा और पानी प्रधान है। कोयले का विवेचन खनिज पदार्थों के अन्तर्गत किया जा चुका है। ईधन के लिए जगलो की उपयोगिता की ओर भी सकेत किया जा चुका है। बहुत से भारतीय जगल पर्वतीय क्षेत्रो मे स्थित है, इस कारण वहाँ परिवहन-व्यवस्था बडी कठिन और महँगी होती है। यदि इस कठिनाई को दूर भी कर लिया जाय तब भी जगल लगाए बिना ईधन की पूर्ति और उसकी औद्योगिक माँग का बराबर होना सन्देहास्पद ही है। लकडी का कोयला तथा अन्य उपोत्पाद जैसे मिथाइल अलकोहल, बिरोजा या राल आदि प्राप्त करने की विधि के रूप में वनस्पति-मद्य बनाने (वुड-डिस्टिलेशन) की क्रिया पर औद्योगिक आयोग ने विशेष ध्यान दिया। उपोत्पाद के विक्रय से लकडी के कोयले की स्थानीय लागत बहुत कम हो जायगी। उन्होने सुझाव दिया कि शक्ति की अत्यन्त छोटी इकाइयो को छोडकर अन्यत्र प्रभूपण गैस यन्त्र लगाना सुविधाजनक भी है और उससे काम भी सुचारु रूप मे हो सकता है। और ऐसी विधियो को अपनाने की सिफारिश की जिससे इन यन्त्रो के लिए आवश्यक ईधन सस्ते में सुलभ हो जाय। भारत के तेल साधनो की स्थिति और बर्मा के अलग हो जाने के बाद उस स्थिति के पहले से खराब हो जाने की ओर, खनिज पदार्थों के अन्तर्गत सकेत किया जा चुका है। आसाम और पजाब आदि के तेल वाले क्षेत्रो की भावी उपादेयता अब भी सन्देहास्पद ही है। अत हम लोग इस शक्ति-रूप पर अधिक भरोसा नही कर सकते।

औद्योगिक कार्यों में विद्युत्-शक्ति के लिए जहाँ तक अलकोहल के प्रयोग का सम्बन्ध है, लगता है, कुछ प्रकार की वनस्पतियो से विशेष प्रक्रियाओ द्वारा अलकोहल की आवश्यक मात्रा पैदा की जा सकती है। परन्तु अभी यह अनुमान-मात्र है और सावधानी से इस सम्बन्ध मे जांच-परख और प्रयोग कर देखने की आवश्यकता है। इसमें सुविधा देने के विचार से औद्योगिक-आयोग ने आबकारी-नियन्त्रण (एक्साइज रिस्ट्रिक्शन) में कुछ ढील [illegible]रने का सुझाव दिया था।

[illegible] की उपलब्धि सफल औद्योगिक विकास की एक [illegible] है। [illegible] की दृष्टि से कोयला, ईधन अथवा तेल आदि की [illegible] होनी चाहिए। [illegible] कारणो की ओर पहले

ही संकेत किया जा चुका है। किन्तु जल-शक्ति के विकास के आसार काफी अच्छे हैं। अब तक तो उसका विकास सीमित ही रहा है, क्योंकि वर्षा तो ऋतु-विशेष में ही होती है, अतः बडा धन व्यय करके जलाशय आदि की व्यवस्था किये बिना काम नही चल सकता था। जब तक विद्युत्-शक्ति को दूर-दूर भेजने में सफलता नही हुई थी उस समय तक पहाडी नदियो पर पनचक्कियो, सिंचाई की नहरो के झरनो पर आटे की चक्कियो को चलाने के लिए ही जल-शक्ति का प्रयोग होता था। उस समय तक जल-शक्ति का पर्याप्त प्रयोग, पहाडी रियासतो में छोटे-छोटे कारखानो तथा दो-एक बडी सूती मिलो, जैसे बम्बई प्रान्त में गोकाक की सूती मिल, आदि में ही होता था। इधर कुछ वर्षो से बडी-बडी पनबिजली योजनाओ पर अधिक ध्यान दिया जा रहा है। कोलार की सोने की खानों में शक्ति पहुँचाने के प्रमुख उद्देश्य से मैसूर सरकार ने कावेरी नदी पर शिवसमुद्रम् के पास प्रथम पनबिजली सयत्र स्थापित किया (१६०२)। तब से बगलौर और मैसूर शहरो तथा मैसूर राज्य के लगभग २०० अन्य नगरो और गाँवो में शिवसमुद्रम से विद्युत्-शक्ति पहुँचाई जाने लगी है। उसके बाद काश्मीर-राज्य ने उसी प्रकार का कारखाना झेलम नदी पर बनवाया, जिसमें २०,००० विद्युत-हार्स पावर पैदा करने के लिए पर्याप्त पानी ले जाने की शक्ति है। बम्बई प्रान्त मे पश्चिमी घाट इस प्रकार के कार्यो के लिए विशेप रूप से अनुकूल है। अत यह कोई आश्चर्य की बात नही है कि भारत के सबसे बडे जल-शक्ति के कारखाने वही स्थित हैं। भारत के औद्योगिक विकास में टाटा-पनबिजली योजना का समारम्भ एक बहुत बडा कदम है। टाटा हाइड्रो इलेक्ट्रिक पावर सप्लाई कम्पनी ने १६१५ मे सबसे पहला काम लोनावला के पास प्रारम्भ किया था। बम्बई के मिलों की अत्यधिक औद्योगिक माँग तब भी पूरी नही हो सकी, अतएव विद्युत्-शक्ति का और विकास करना, और तुरन्त ही करना, बहुत जरूरी था। दूसरी योजना के, जो आन्ध्र घाटी विद्युत् योजना (१६२२) (आन्ध्र वैली पॉवर स्कीम) के नाम से मशहूर है, पूर्णतया विकसित होने पर १००,००० हार्स पावर विद्युत्-शक्ति प्राप्त हो सकेगी। नीलामुला नामक जल-विद्युत् योजना भी टाटा पॉवर कम्पनी द्वारा चालू की गई है (१६२७), जिससे १५,००० हार्स पॉवर बिजली पैदा होने का अनुमान है। कोयना नदी की विस्तृत घाटी में भी टाटा की एक विशाल योजना का निर्माण विचाराधीन है। इन योजनाओ के, जो एक ही प्रबन्ध के अन्तर्गत है तथा जिनकी संयुक्त शक्ति २४६,००० हार्स पावर है, पूरे हो जाने पर बम्बई के आस-पास कोयले के अभाव की कठिनाई पूर्णतया दूर हो जायगी तथा बम्बई में सार्वजनिक स्वास्थ्य की दशा भी सुधर जायगी। बम्बई की सूती मिलो तथा अन्य कारखानो में १५०,००० हार्स पॉवर बिजली की खपत होती है। बी० बी० एण्ड० सी० आई और जी० आई० पी० रेलवे के बाहरी भाग तथा थाना कल्याण और ग्रेटर पूना बिजली के लिए उपर्युक्त साधन पर निर्भर है। पजाब की प्रसिद्ध मण्डी जल-विद्युत् योजना एक अन्य महत्त्वपूर्ण योजना है जिसके पूर्ण होने पर इतनी अधिक बिजली उत्पन्न हो सकेगी कि अनेक औद्योगिक केन्द्रो के अतिरिक्त दिल्ली जैसे दूरस्थ स्थानो में भी (इस योजना से) बिजली जा सकेगी। यह योजना

जाता है जिससे बोझा ढोने का काम खूब लिया जाता है। ऊँट देश के रेतीले भागों में पाया जाता है। यह रेगिस्तान में परिवहन का साधन है। मछली भी बहुत आवश्यक है, विशेषकर बंगाल, आसाम और प्रायद्वीप के तटीय भागों में जहाँ भोजन में नाइट्रोजन-तत्त्व तक के लिए उस पर निर्भर रहा जाता है, जिसके लिए अन्यत्र दालों का प्रयोग किया जाता है। भारत के समुद्रों में कई प्रकार की खाने के काम आने वाली मछलियाँ पाई जाती हैं। इन साधनों से आधुनिक ढंग पर संगठित रूप से फायदा उठाने की आवश्यकता है।

भारत के विस्तृत वनों में अनेक प्रकार के पशु-पक्षी शरण लिये रहते हैं जिससे शिकारियों को अच्छे शिकार मिल जाते हैं।

४२. शक्ति के साधन—भारत में पाये जाने वाले शक्ति-साधनों में कोयला, ईंधन, तेल, अलकोहल, हवा और पानी प्रधान हैं। कोयले का विवेचन खनिज पदार्थों के अन्तर्गत किया जा चुका है। ईंधन के लिए जंगलों की उपयोगिता की ओर भी संकेत किया जा चुका है। बहुत से भारतीय जंगल पर्वतीय क्षेत्रों में स्थित हैं, इस कारण वहाँ परिवहन-व्यवस्था बड़ी कठिन और महँगी होती है। यदि इस कठिनाई को दूर भी कर लिया जाय तब भी जंगल लगाए बिना ईंधन की पूर्ति और उसकी औद्योगिक माँग का बराबर होना सन्देहास्पद ही है। लकड़ी का कोयला तथा अन्य उपोत्पाद जैसे मिथाइल अलकोहल, बिरोजा या राल आदि प्राप्त करने की विधि के रूप में वनस्पति-मद्य बनाने (वुड-डिस्टिलेशन) की क्रिया पर औद्योगिक आयोग ने विशेष ध्यान दिया। उपोत्पाद के विक्रय से लकड़ी के कोयले की स्थानीय लागत बहुत कम हो जायगी। उन्होंने सुझाव दिया कि शक्ति की अत्यन्त छोटी इकाइयों को छोड़कर अन्यत्र प्रभूपण गैस यन्त्र लगाना सुविधाजनक भी है और उससे काम भी सुचारु रूप से हो सकता है। और ऐसी विधियों को अपनाने की सिफारिश की जिससे इन यन्त्रों के लिए आवश्यक ईंधन सस्ते में सुलभ हो जाय। भारत के तेल साधनों की स्थिति और बर्मा के अलग हो जाने के बाद उस स्थिति के पहले से खराब हो जाने की ओर, खनिज पदार्थों के अन्तर्गत संकेत किया जा चुका है। आसाम और पंजाब आदि के तेल वाले क्षेत्रों की भावी उपादेयता अब भी सन्देहास्पद ही है। अतः हम लोग इस शक्ति-रूप पर अधिक भरोसा नहीं कर सकते।

औद्योगिक कार्यों में विद्युत्-शक्ति के लिए जहाँ तक अलकोहल के प्रयोग का सम्बन्ध है, लगता है, कुछ प्रकार की वनस्पतियों से विशेष प्रक्रियाओं द्वारा अलकोहल की आवश्यक मात्रा पैदा की जा सकती है। परन्तु अभी यह अनुमान-मात्र है और सावधानी से इस सम्बन्ध में जाँच-परख और प्रयोग कर देखने की आवश्यकता है। इसमें सुविधा देने के विचार से औद्योगिक-आयोग ने आबकारी-नियन्त्रण (एक्साइज रिस्ट्रिक्शन) में कुछ ढील करने का सुझाव दिया था।

४३ जल-शक्ति—सस्ती गति-शक्ति की उपलब्धि सफल औद्योगिक विकास की एक आवश्यक शर्त है। शक्ति उत्पन्न करने की दृष्टि से कोयला, ईंधन अथवा तेल आदि की स्थिति उतनी अच्छी नहीं है जितनी कि होनी चाहिए। इसके कारणों की ओर पहले

ही सकेत किया जा चुका है। किन्तु जल-शक्ति के विकास के आसार काफी अच्छे हैं। अब तक तो उसका विकास सीमित ही रहा है, क्योकि वर्षा तो ऋतु-विशेष मे ही होती है, अतः बडा धन व्यय करके जलाशय आदि की व्यवस्था किये बिना काम नही चल सकता था। जब तक विद्युत्-शक्ति को दूर-दूर भेजने में सफलता नही हुई थी उस समय तक पहाडी नदियो पर पनचक्कियो, सिंचाई की नहरो के झरनो पर आटे की चक्कियो को चलाने के लिए ही जल-शक्ति का प्रयोग होता था। उस समय तक जल-शक्ति का पर्याप्त प्रयोग, पहाडी रियासतो में छोटे-छोटे कारखानो तथा दो-एक बडी सूती मिलो, जैसे बम्बई प्रान्त में गोकाक की सूती मिल, आदि में ही होता था। इधर कुछ वर्षो से बडी-बडी पनबिजली योजनाओ पर अधिक ध्यान दिया जा रहा है। कोलार की सोने की खानो में शक्ति पहुँचाने के प्रमुख उद्देश्य से मैसूर सरकार ने कावेरी नदी पर शिवसमुद्रम् के पास प्रथम पनबिजली सयत्र स्थापित किया (१६०२)। तब से बगलौर और मैसूर शहरो तथा मैसूर राज्य के लगभग २०० अन्य नगरो और गाँवो में शिवसमुद्रम से विद्युत्-शक्ति पहुँचाई जाने लगी है। उसके बाद काश्मीर-राज्य ने उसी प्रकार का कारखाना झेलम नदी पर बनवाया, जिसमें २०,००० विद्युत-हार्स पावर पैदा करने के लिए पर्याप्त पानी ले जाने की शक्ति है। बम्बई प्रान्त मे पश्चिमी घाट इस प्रकार के कार्यो के लिए विशेष रूप से अनुकूल है। अत यह कोई आश्चर्य की बात नही है कि भारत के सबसे बडे जल-शक्ति के कारखाने वही स्थित हैं। भारत के औद्योगिक विकास मे टाटा-पनबिजली योजना का समारम्भ एक बहुत बडा कदम है। टाटा हाइड्रो इलेक्ट्रिक पावर सप्लाई कम्पनी ने १६१५ में सबसे पहला काम लोनावला के पास प्रारम्भ किया था। बम्बई के मिलो की अत्यधिक औद्योगिक माँग तब भी पूरी नही हो सकी, अतएव विद्युत्-शक्ति का और विकास करना, और तुरन्त ही करना, बहुत जरूरी था। दूसरी योजना के, जो आन्ध्र घाटी विद्युत् योजना (१६२२) (आन्ध्र वैली पॉवर स्कीम) के नाम से मशहूर है, पूर्णतया विकसित होने पर १००,००० हार्स पावर विद्युत्-शक्ति प्राप्त हो सकेगी। नीलामुला नामक जल-विद्युत् योजना भी टाटा पॉवर कम्पनी द्वारा चालू की गई है (१६२७), जिससे १५,००० हार्स पॉवर बिजली पैदा होने का अनुमान है। कोयना नदी की विस्तृत घाटी में भी टाटा की एक विशाल योजना का निर्माण विचाराधीन है। इन योजनाओ के, जो एक ही प्रबन्ध के अन्तर्गत हैं तथा जिनकी सयुक्त शक्ति २४६,००० हार्स पावर है, पूरे हो जाने पर बम्बई के आस-पास कोयले के अभाव की कठिनाई पूर्णतया दूर हो जायगी तथा बम्बई में सार्वजनिक स्वास्थ्य की दशा भी सुधर जायगी। बम्बई की सूती मिलों तथा अन्य कारखानो मे १५०,००० हार्स पॉवर बिजली की खपत होती है। बी० बी० एण्ड० सी० आई और जी० आई० पी० रेलवे के बाहरी भाग तथा थाना कल्याण और ग्रेटर पूना बिजली के लिए उपर्युक्त साधन पर निर्भर हैं। पंजाब की प्रसिद्ध मण्डी जल-विद्युत् योजना एक अन्य महत्त्वपूर्ण योजना है जिसके पूर्ण होने पर इतनी अधिक बिजली उत्पन्न हो सकेगी कि अनेक औद्योगिक केन्द्रो के अतिरिक्त दिल्ली जैसे दूरस्थ स्थानो में भी (इस योजना से) बिजली जा सकेगी। यह योजना

१९३३ मे कार्यान्वित की गई। मद्रास में भी, जिसे बम्बई की अपेक्षा कोयले की अधिक कठिनाई है, हाल मे विद्युत्-शक्ति की उन्नति-सम्बन्धी रोचक प्रयत्न किये गए हैं। मद्रास सरकार द्वारा १९२९ के अन्त में प्रारम्भ की गई पाइकारा विद्युत्-शक्ति योजना सन् १९३२ से काम कर रही है। इस योजना मे नीलगिरी पठार से निकलने वाली पाइकारा नदी के जल का प्रयोग किया जाता है। मिट्टूर जल-विद्युत् योजना, जो मिट्टूर सिंचाई योजना से सयुक्त है, अधिक से अधिक ६०,००० हार्स पावर बिजली उत्पन्न कर सकती है। यह योजना १९३३ मे चालू की गई। तिनेवेली जिले में ताम्रपर्णी नदी के झरनो का उपयोग करने के लिए मद्रास सरकार ने १९३८ में पापनाशम नामक जल विद्युत् योजना को भी मञ्जूर किया। अन्य रोचक योजनाएँ उत्तरप्रदेश में गगा नहर जल विद्युत् योजना (गेजिज केनाल हाईड्रोइलेक्ट्रिक ग्रिड प्रॉजेक्ट) तथा अन्य योजनाएँ है। ये योजनाएँ अनेक नगरो और गाँवो मे विद्युत् शक्ति ले जायँगी तथा ग्रामीण क्षेत्रो के विकास में विशेष सहायता देगी। गत वर्षों में विद्युत् उपभोक्ताओ की बढती हुई माँग और औद्योगिक विकास की नीति के फलस्वरूप मैसूर सरकार ने शिमला झरने के समीप २३,००० हार्स पावर तथा जोग झरने पर २४,००० हार्स पावर बिजली उत्पन्न करने वाले शक्ति-केन्द्रो, (पावर स्टेशनो) के निर्माण की मञ्जूरी दी। बगलोर में भारत के सर्वप्रथम हवाई जहाज बनाने के कारखाने की स्थापना सस्ती विद्युत्-शक्ति से बहुत अधिक प्रभावित हुई थी। राज्य के बीच मे बहने वाली गोदावरी कृष्णा और तुगभद्रा नदियो से लाभ उठाकर हैदराबाद राज्य ने अनेक योजनाओ को प्रारम्भ किया है। २८ फरवरी १९४५ को तुगभद्रा योजना का उद्घाटन किया गया। यह योजना जिसकी अनुमानित लागत २० करोड रुपये है, हैदराबाद और मद्रास सरकार के बीच लगभग ५० वर्षों से होन वाले पत्र-व्यवहार का परिणाम है तथा अकाल का खतरा मिटाने के लिए दोनो राज्यो के सगठित प्रयत्नो का परिणाम है। १९५२ तक इस योजना के पूरे होने की आशा की जाती है।[1] यह मद्रास और हैदराबाद राज्यो मे अलग-अलग ५ लाख एकड भूमि को सीचेगी। इससे जल-विद्युत्-शक्ति भी पैदा की जायगी। आयोजना के इस भाग से सिंचाई-योजना की अपेक्षा शीघ्र लाभ होगा। औद्योगिक आयोग की सिफारिश के अनुसार भारत सरकार ने जल-विद्युत् की दृष्टि से १९१८ में विस्तृत सर्वेक्षण किया। जल विद्युत्-शक्ति के विकास के सम्बन्ध में इस आपरीक्षण से अनेक रोचक सम्भावनाओ का पता चला। उदाहरणार्थ सिन्ध से पूर्व की ओर बहने वाली सात बडी नदियो के बहाव से हिमालय से प्रति हजार

---

१ तुगभद्रा योजना में जलाशय बन चुका है। नहर बनाने का काम अभी जारी है। फाइव ईयर प्लान प्रोग्रेस रिपोर्ट, १९५३-५४, पृ० १२९

उसकी कुल लागत, आगामी वर्षों में उस पर किये जाने वाला व्यय और उसे प्राप्त लाभ के सम्बन्ध में वर्तमान अनुमान इस प्रकार हैं —

तुगभद्रा योजना कुल-लागत ४९६८ लाख रुपया, १९५५-५६ में प्रस्तावित खर्च, ३३१४ लाख रुपया, १९५६ में होने वाले अतिरिक्त लाभ ' सिंचाई ३१५००० एकड़, शक्ति की अधिष्ठित क्षमता ३०,००० किलोवाट। देखिए इण्डिया एट ए ग्लान्स (१९५३), पृ० १०८८-९०।

फीट नीचे गिरने के वाद ३० लाख हार्स पावर विजली उत्पन्न हो सकती है और ऐसी सम्भावनाएँ अन्य नदियो के बारे में भी हैं। जल विद्युत् योजनाएँ केवल कारखानो को ही विद्युत् प्रदान नही करेंगी वरन् उनसे सिंचाई की सुविधा भी बढेगी।[1]

हम उस समय का स्वप्न देख सकते है, जब जल-विद्युत्-शक्ति केन्द्रो के समीप के सारे गाँव, ग्रामीण उद्योगो के विकास-के लिए तथा अन्य ग्रामीण सुविधाओ के लिए विद्युत्-शक्ति प्राप्त कर सकेंगे।[2] भारत में अधिकाश जल-विद्युत् योजनाओ के लिए आवश्यक लम्बी रकम इन लक्ष्यो की प्राप्ति नें वाधक है। यहाँ वर्षा एक ही ऋतु में होती है, अत तालावो पर बहुत सा खर्च अनिवार्य-होता है। इस प्रकार लगाई हुई लागत के कारण काफी सस्ती विजली देना अत्यन्त कठिन हो जाता है। वम्वई जैसे औद्योगिक केन्द्रो में भी, जहाँ कोयला मँहगा है जलविद्युत् सापेक्षिक दृष्टि से विशेष सस्ती नही है।[3] विज्ञान अथवा नियोजन और वित्त के सम्बन्ध मे हमारे विचार, जिनमें युद्धकाल में अनेक तेजी से परिवर्तन हुआ, कहाँ तक इस कठिनाई को दूर कर सकेंगे, यह केवल भविष्य-ही वता सकता है।

४४. समृद्ध देश के निर्धन निवासी—उपर्युक्त वर्णन से भारत के प्राकृतिक साधनो की समद्धि और विविधता स्पष्ट है। यह एक साधारण कथन है कि प्रकृति ने उदारतापूर्वक भारत को अपने उपहार प्रदान किये है, परन्तु भारतीय उससे समुचित लाभ नही उठा सके। प्राकृतिक विपुलता और मानव-निर्धनता की यह विषमता कैसी विडम्बना है! इस कथन का यही कारण है जो अब एक कहावत-सा वन चुका है कि भारत निर्धनो से वसा हुआ एक समृद्ध देश है।

---

१. देश में जल-विद्युत् की उन्नति सम्वन्धी आधुनिकतम स्थिति इस प्रकार है। प्रत्येक वर्ष को १ जनवरी को अधिष्ठित क्षमता। १९५१—५५६,२८५, १९५२—५७५,१७९, १९५३—७१५,१७९, १९५४—७३१,१७९—देखिए, फाइव ईयर प्लान प्रोग्रेस रिपोर्ट, १९५३-५४, पृ० १४८।

२ सन् १९४५ में दिल्ली में हुई इन्स्टीट्यूट ऑफ इजीनियर्स की एक वैठक में भारत सरकार के विद्युत कमिश्नर ने कहा कि भारत मे उत्पन्न की जाने वाली कुल विद्युत् शक्ति यूनाइटेड स्टेट्स के विद्युत् शक्ति के साप्ताहिक उत्पादन के वरावर है। भारत की तुलना में यहाँ प्रति व्यक्ति विद्युत् का प्रयोग १८० गुना है (इगलिस्तान में यह सौ गुना है)।

३ 'जव कोई सदा वहने वाला झरना किसी औद्योगिक केन्द्र के निकट स्थित होता है तभी रासायनिक और धातु-शोधक विधियों के लिए जल-विद्युत् सस्ती पड़ती है।'—श्री० जे० वीसुगर के ७ फरवरी १९४५ के रेडियो-भाषण से।

अध्याय ३

जनसंख्या

१. कुल जनसंख्या—सन् १९५१ की जनगणना के अनुसार भारत की जनसंख्या का अनुमान ३५६,८७९,३९४ था। सन् १९४१ की जनगणना के अनुसार अविभाजित भारत की जनसंख्या ३८८,९९७,९५५ थी, जिसमें ब्रिटिश भारत और देशी राज्यों की जनसंख्याएँ भी सम्मिलित थी।[1] सन् १९४१-'५१ भारत के लिए एक महत्त्वपूर्ण दशक था। इस दशक में ही भारत का विभाजन हुआ। निम्नलिखित तालिका सन् १९३१, १९४१ और सन् १९५१ के बीच हुए परिवर्तनो को स्पष्ट कर रही है।

	१९३१	१९४१	१९५१
कुल संख्या	३३ ८ करोड	३८ ९ करोड	३५ ६ करोड
पुरुष	१७ ४ ,,	२० १ ,,	१८ ३ ,,
स्त्री	१६ ४ ,,	१८ ८ ,,	१७ ३ ,,
शहरी	३ ७ ,,	५ ० ,,	६ १ ,,
ग्रामीण	३० १ ,,	३३ ९ ,,	२९ ५ ,,
साक्षर	२ ३ ,,	४ ७ ,,	६ ० ,,

२. घनत्व निर्धारित करने वाले तत्त्व—जनसंख्या का घनत्व (अर्थात् प्रति वर्गमील पर आश्रित व्यक्तियो की संख्या) जलवायु, जान-माल की सुरक्षा, आराम का स्तर, आर्थिक साधन तथा आर्थिक विकास की अवस्था पर निर्भर होता है। दूसरे शब्दो में जनसंख्या का घनत्व वाह्य परिस्थितियो और मनुष्यो द्वारा उनके प्रयोग पर निर्भर होता है। अन्य वातो के समान रहने पर यदि आर्थिक साधन वहुतायत से हो तो

१ जनसंख्या की वृद्धि जानने के लिए निम्नलिखित आँकड़े रोचक सिद्ध होंगे।

वर्ष	अविभाजित भारत (दस लाख)	भारत संघ का क्षेत्र (दस लाख)
१९०१	२८३ ४	२३८ ४
१९११	३०३ ०	२५२ ३
१९२१	३०५ ७	२५१ ७
१९३१	३३८ १	२७९ २
१९४१	३८९ ०	३१८ ९
१९५१	—	३५६ ८

—इंडिया एट ए ग्लान्स, पृ० ९९ (१९५३)

स्पष्ट ही किसी देश में आर्थिक साधनो के कम होने की स्थिति की तुलना में जनसख्या का घनत्व अधिक होगा। इसी प्रकार अन्य वातो के समान रहने पर यदि कोई जाति अपनी सभ्यता की कलाओ में आगे बढी हुई है तो उसकी घनी जनसख्या को आश्रय देने की क्षमता भी अधिक होगी। गहरी खेती वाले, अत्यधिक व्यापारिक और उद्योगी-कृत देशो में सामान्यत जनसख्या का घनत्व अधिक होता है, उदाहरणार्थ इगलैण्ड ओर वेल्स (७१२), बेल्जियम (७१२)। एक नितान्त खेतिहर देश सामान्यत कही कम जनसख्या को आश्रय देगा। भारत का प्रधानत खेतिहर होना ही यहाँ की जनसख्या के औसत घनत्व के कम होने को स्पष्ट करता है।

पुन, कृषि-युग की तुलना में पशुचारण युग प्रति वर्गमील कम मनुष्यो को आश्रय दे सकता है, तथा आखेट-युग उससे भी कम मनुष्यो को। एक खेतिहर देश में जनसख्या का घनत्व खेती के स्वरूप पर भी निर्भर होगा।

प्रति वर्गमील पर आश्रित व्यक्तियो की सख्या का कोई विशेप महत्त्व नही है जव तक कि उससे सम्वन्धित जनसंख्या के आराम के स्तर को भी ध्यान मे न रखा जाय। उदाहरणार्थ वगाल मे जनसख्या का घनत्व (७७९) बेल्जियम या इगलैण्ड और वेल्स के घनत्व से अधिक है। परन्तु आर्थिक क्षेम के दृष्टिकोण से वगाल और इन देशो के मध्य कोई तुलना ही नही है। वगाल में जनसख्या का घनत्व केवल अत्यधिक निर्धनता का द्योतक हो सकता है, क्योकि वगाल प्रधानत एक खेतिहर प्रदेश है। अनुमान किया गया है कि अच्छी परिस्थितियो में भी आराम के एक समुचित स्तर पर कृषि प्रति वर्गमील २५० से अधिक व्यक्तियो को आश्रय नही दे सकती।

३. घनत्व तथा समृद्धि—सन् १९५१ की जनगणना के अनुसार समस्त भारत की जनसख्या का औसत घनत्व ३१२ प्रति वर्गमील है। तुलना के लिए कुछ अन्य देशो की जनसख्या के औसत घनत्व के आँकडे नीचे दिये जा रहे है।

बेल्जियम	७१२ (१९३८)	नीदरलैण्ड्स	६८६ ५ (१९३८)
इगलैण्ड और वेल्स	७१२ (१९३१)	जापान	४६९ ० (१९३५)

यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ अमेरिका ४४ २ (१९४०)

औसत घनत्व से आर्थिक स्थिति के वारे में कोई निष्कर्ष निकालना सम्भव नही है। उदाहरणार्थ इगलैण्ड और वेल्स का घनत्व वगाल के घनत्व के वरावर है, परन्तु इगलैण्ड और वेल्स निस्सन्देह वगाल से अधिक समृद्धिशाली है। इसके विपरीत यूनाइटेड स्टेट्स तथा इंगलैण्ड और वेल्स के घनत्वो में वहुत अन्तर है, परन्तु यह अन्तर उनकी आर्थिक स्थिति की समानता में कोई रुकावट नही डालते। जनसख्या के घनत्व और आर्थिक स्थिति में यदि कोई सम्वन्ध है, तो उसे जानने के लिए हमें प्रत्येक देश का अलग से अध्ययन करना पडेगा। नीचे दी हुई तालिकाओ में (i) सन् १९०१ मे प्रत्येक दशाब्दी में भारत तथा प्रान्तो के घनत्व की वृद्धि, (ii) प्रतिशत परिवर्तन, और (iii) कुछ प्रान्तो की घनत्व की वृद्धि के तुलनात्मक आँकडे दिखाए गए है।[1]

१. सेन्सस रिपोर्ट (१९४१) खण्ड १, भाग १, पृ० ६९ पर ही दी हुई तालिकाओं में सन् १९५१ की जनगणना के आँकड़े भी सम्मिलित कर दिये गए हैं।

तालिका एक : औसत घनत्व

	१९०१	१९११	१९२१	१९३१	१९४१	१९५१
भारत	१७९	१९१	१९३	२१३	२४६	३१२
राज्य	२५४	२६७	२६९	२९६	३४१	—

तालिका दो · प्रतिशत परिवर्तन

	भारत	राज्य
१९०१—११	+६ ७	+५ ०
१९११—२१	+० ९	+० ८
१९२१—३१	+१० ६	+९ ९
१९३१—४१	+१५ ०	+१५ २
१९०१—४१	+३७ ०	+३४ १
१९०१—५१	+७४ ३[1]	—

तालिका तीन

राज्य	घनत्व, प्रति वर्ग मील				प्रतिशत परिवर्तन
	१९०१	१९३१	१९४१	१९५१	१९०१–५१
मद्रास	२८७	३५०	३९१	४४६	+५५ ४
बम्बई	२००	२३५	२७२	३२३	+६१ ५
बगाल	५२९	६२७	७७९	८०६[2]	+५२ ४
पजाब	२०१	२३८	२८७	३३८	+६८ २
बिहार	४०५	४६४	५२१	५७२	+४१ २
सी० पी० और बरार	१२०	१५६	१७०	१९३	+३५ ८
सिक्किम	२१	४०	४४	५०	+१३८ १

उपर्युक्त तीसरी तालिका राज्यो के बीच घनत्व का अत्यधिक परिवर्तन दिखा रही है।

जनसख्या के घनत्व पर असर डालने वाले अनेक कारणो में से किसी एक कारण द्वारा इन असमानताओ को स्पष्ट नही किया जा सकता। उदाहरणार्थ यह कहना गलत होगा कि भारत में मुख्यतया वर्षा ही घनत्व को निश्चित करती है। एक सीमा के बाद लाभदायक होना तो दूर की बात है, वर्षा निश्चय ही हानिकारक हो जाती है। भारत के अधिकाश भागो मे यदि वर्षा का वितरण उचित रूप से हो तो अनुकूलतम परिस्थितियो के लिए वर्ष में ४० इच की औसत वर्षा की आवश्यकता है। जब वर्षा

१ यह प्रतिशत परिवर्तन अविभाजित भारत (सन् १९०१) तथा विभाजित भारत के (सन् १९५१) घनत्वों का है, इस बात को ध्यान में रखना चाहिए।

२ पश्चिमी बगाल के लिए है।

इससे कम होती है या उसका वितरण अत्यन्त असमान होता है, तभी कृषि पर वर्षा की मात्रा का महत्त्वपूर्ण प्रभाव पडता है; और इस प्रकार घनत्व पर भी। जहाँ तक कृषि की सफलता पानी पर निर्भर है, वहाँ तक सिंचाई का प्रभाव भी वर्षा के समान ही होगा और इसलिए सिंचाई घनत्व निर्धारित करने वाला एक महत्त्वपूर्ण कारण है।

इस बात को ध्यान में रखते हुए कि सिंचाई का प्रभाव कुल भारत के एक बहुत छोटे भाग पर ही पडता है, इसका घनत्व पर सामान्य प्रभाव नही के बराबर है। यदि सम्पूर्ण देश की दृष्टि से विचार किया जाय तो उसकी आकृति बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण कारण है। दूसरी बातो के एक-सा रहने पर सफल कृषि अधिकाश में पृथ्वी-तल की आकृति पर निर्भर रहती है। वह जहाँ समतल है वहाँ भूमि के हर इच पर खेती की जा सकती है परन्तु जहाँ भूमि ऊँची-नीची या ढलवा है वहाँ कृषि कठिन और अनिश्चित हो जाती है, भले ही निचले ढाल बहुत उपजाऊ हों। सम्पूर्ण भारत में सबसे घने बसे हुए भाग समतल मैदान हैं, उदाहरणार्थ बगाल, पूर्वी उत्तरप्रदेश तथा प्रायद्वीप के दक्षिणी भाग में पूर्वी किनारे के निचले भाग। उपजाऊ भूमि तथा पर्याप्त वर्षा वाले विस्तृत मैदान स्पष्ट ही ऊँचे घनत्व के अनुकूल हे, जैसे बगाल तथा उत्तरप्रदेश।

इन बातो में परिस्थितियो का इतना अनुकूल न होना ही बम्बई के अपेक्षाकृत कम घनत्व को स्पष्ट करता है। कभी-कभी प्रतिकूल जलवायु के कारण अन्य सारे लाभ व्यर्थ हो जाते हे जिससे घनत्व अपेक्षाकृत कम हो जाता है जैसा कि आसाम में है।

आवश्यक वर्षा के साथ ही भूमि का स्वरूप एक महत्त्वपूर्ण कारण बन जाता है। भारत में उसका स्वय कोई विशेष महत्त्व नही है। इसके अतिरिक्त बडे-बडे क्षेत्रो को लिया जाय तो घनत्व के अन्तर इतने सूक्ष्म हे कि उन पर विचार नही किया जा सकता।

घनत्व के सम्बन्ध में ये असमानताएँ कुछ सीमा तक भारतीयो की घर पर ही रहने की प्रवृत्ति तथा देश के अन्दर ही प्रवास-सम्बन्धी अन्य कठिनाइयो के कारण भी हे। दिल्ली (घनत्व प्रति वर्ग मील = १,६०२) की स्थिति अपनी तरह की है, जहाँ दिल्ली नगर की जनसख्या राज्य की कुल जनसख्या का बहुत बडा भाग है।[1]

४. धर्म तथा जाति के आधार पर जनसंख्या का वितरण—सन् १९५१ की जनगणना के अनुसार भारत में प्रत्येक १०,००० व्यक्तियो में ८,४९९ हिन्दू, १७४ सिक्ख, ४५ जैन, ६ बौद्ध, ३ पारसी, २३० ईसाई, ९९३ मुसलमान तथा ५० अन्य धर्मावलम्बी हे।

सरकार की जातीय विभेद कम करने की नीति के अनुसार सन् १९५१ की जनगणना मे जाति-सम्बन्धी सूचना कुछ विशेष वर्गो के लिए ही एकत्रित की गई है।

१ जैसा पहले कहा जा चुका है जनसख्या का घनत्व भूमि का स्वरूप, वर्षा, जलवायु आदि कारणों पर निर्भर होता है। अत घनत्व की समस्या के उचित अध्ययन के लिए देश के राजनीतिक विभाग उतने उपयुक्त नहीं है जितने कि प्राकृतिक विभाग। इस बात को ध्यान में रखकर सन् १९५१ की जनगणना में जनसख्या के घनत्व के दृष्टिकोण से देश को १५ उपविभागों में बाँटा गया जिन्हें पुनः तीन क्षेत्रों—ऊँचे, मध्यम तथा कम घनत्व वाले क्षेत्र—में वर्गीकृत किया गया। नीचे हम इन क्षेत्रों और उपविभागों का घनत्व दे रहे हैं

इसमें वे वर्ग शामिल है जिनका उल्लेख सविधान मे किया गया है। अनुसूचित जाति, पिछडी हुई जाति, अनुसूचित आदिम जाति के सदस्य तथा आग्ल-भारतीय विशेष वर्ग मे सम्मिलित किये जाते है। सविधान के अनुच्छेद ३१४ तथा ३४२ के अन्तर्गत राष्ट्रपति के आदेशानुसार अण्डमन, चन्द्रनगर और सिक्किम में कोई अनुसूचित जातियाँ नहीं थी, अत सन् १६५१ की जनगणना मे चन्द्रनगर तथा सिक्किम के लिए पश्चिमी बगाल की अनुसूचित आदिम जाति-सम्बन्धी सूची का ही प्रयोग किया गया।

नीचे दी हुई तालिका मे भारत में विभिन्न धर्मावलम्बियों की सख्या दी हुई है

धर्म	सख्या (लाखो मे)
हिन्दू	३,०३२
सिक्ख	६२
जैन	१६
बौद्ध	२
पारसी	१
ईसाई	८२
मुसलमान	३५४
अन्य धर्म (आदिम जातीय)	१७
अन्य धर्म (गैर आदिम जातीय)	१

अधिक घनत्व वाले क्षेत्र उपविभाग	घनत्व प्रति वर्गमील
१ गङ्गा का नीचे का मैदान	८३२
२ गङ्गा का ऊपर का मैदान	६८१
३. मलाबार कोंकण	६३८
४ दक्षिणी मद्रास	५५४
५ उत्तरी मद्रास और तटीय उड़ीसा	४६१
सम्पूर्ण क्षेत्र का घनत्व	६६०

कम घनत्व वाले क्षेत्र उपविभाग	घनत्व प्रति वर्गमील
६ रेगिस्तान	६१
७ पश्चिमी हिमालय	६८
८ उत्तर-पश्चिमी पहाड़ियाँ	१६३
९ पूर्वी हिमालय	११८
१० उत्तरी एव मध्य की पहाड़ियाँ और पठार	१६४
११. उत्तर-पूर्वी पठार	१६२
सम्पूर्ण क्षेत्र का घनत्व	१२६

मध्य घनत्व वाले क्षेत्र उपविभाग	घनत्व प्रति वर्गमील
१२. गङ्गा पार का मैदान	३३२
१३ दक्खिन का दक्षिणी भाग	२४७
१४. दक्खिन का उत्तरी भाग	२४६
१५. गुजरात काठियावाड़	२२६
सम्पूर्ण क्षेत्र का घनत्व	२६६

सेन्सस ऑफ इण्डिया, वाल्यूम १, पार्ट १—A रिपोर्ट, अध्याय १

विशेष वर्गो के सम्बन्ध में आँकडे इस प्रकार है

आँग्ल भारतीय	१,११,६३७
अनुसूचित जाति	५,१३,४३,८६८[1]
अनुसूचित आदिम जाति	१,९१,१६,४९८[1]

	अनुसूचित जाति	अनुसूचित आदिम जाति
चन्द्रनगर	५,४५७	१३७
सिक्किम	११२	२६,४२६

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि अनुयायियो की सख्या के अनुपात से भारत में धर्मो का क्रम इस प्रकार है हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, सिक्ख, अन्य धर्म (आदिम जातीय), जैन, वौद्ध, पारसी तथा अन्य धर्म (गैर आदिम जातीय)। हिन्दू धर्म के अनुयायियो की सख्या सबसे अधिक है। विभाजन के पश्चात् भी भारत में दूसरा मुख्य धर्म इस्लाम ही है। इस्लाम धर्म के अनुयायी मुख्यत उत्तर भारत मे ही फैले हुए है। सिक्ख मुख्यतया पजाब मे है। जैन अधिकतर राजस्थान, अजमेर मेरवाडा और वम्बई प्रान्त में है। आदिम जाति के लोग मुख्यतया आसाम, बिहार, उडीसा, मध्यप्रदेश वम्बई में फैले हुए है। आधे से अधिक ईसाई दक्षिण भारत मे ही रहते है। पारसियो का मुख्य निवास-स्थान वम्बई है।

२. व्यवसाय के आधार पर जनसंख्या का वितरण–हमारे देश की ७०% जनसख्या कृषि पर निर्भर है तथा शेष ३०% व्यक्ति दूसरी वृत्तियो से जीविकोपार्जन करते है। सौराष्ट्र, कच्छ, अजमेर, दिल्ली तथा अण्डमन और निकोबार द्वीपो को छोडकर सारे भारत में कृषि प्रधान जीविका है। पश्चिमी वगाल तथा वम्बई में भी, जो उद्योगो मे कही अधिक वढे-चढे है, कृपिकर जनसख्या का अनुपात कृषि-इतर जनसख्या के अनुपात से कही अधिक है, यद्यपि अन्य राज्यो की तुलना में वहाँ कृपि-इतर जनसख्या का अनुपात वहुत कम है।

हर १०० भारतीयो में, आश्रितो को सम्मिलित करने पर, ४७ भूस्वामी कृपक, ९ लगान देने वाले कृषक, १३ भूमिहीन मजदूर और १ (भूमिधर) है जबकि उद्योगो एव कृषि-इतर उत्पादन कार्यो में १०, वाणिज्य में ६, परिवहन में २, तथा अन्य सेवाओ और वृत्तियो मे १२ व्यक्ति लगे हुए है। नीचे दी हुई तौलिका में जीविकाओ के दो वडे विभागो तथा उनके आठ उपविभागो के अन्तर्गत स्वावलम्बी, अर्जन न करने वाले आश्रित और अर्जन करने वाले आश्रितो की सख्या दिखाई गई है

१. इन आँकड़ों में चन्द्रनगर और सिक्किम की जनसख्या सम्मिलित नहीं है।

कृषीय	स्वावलम्बी	अजन न करने वाले आश्रित	अजन करने वाले आश्रित	कुल योग (लाखों में)
वे कृषक जो पूर्णत या मुख्यत भूमि के स्वामी हैं	४५८	१००१	२१४	१६७३
वे कृषक जो भूमि के बिलकुल स्वामी नहीं हैं या केवल आंशिक रूप से ही स्वामी हैं	८८	१८६	३६	३१६
कृषि करने वाले मजदूर	१४६	२४६	५३	४४८
कृषि करने मे हुए भूस्वामी[1] तथा कृषि-लगान पाने वाले व्यक्ति	१६	३३	४	५३
योग	७११	१४६६	३१०	२४६०
गैर-कृषीय				
कृषि-इतर उत्पादन	१२२	२२४	३१	३७७
वाणिज्य	५६	१४५	६	२१३
परिवहन	१७	३६	३	५६
अन्य सेवाएँ और साधन	१३६	२६८	२६	४३०
योग	३३४	६७३	६६	१०७६

कृषि-इतर विभाग के अन्तर्गत स्वावलम्बी व्यक्तियो की सख्या ३३४ लाख है। इनमें चार प्रकार के व्यक्ति सम्मिलित है नियोक्ता, स्वय-नियोज्य, नियोज्य तथा निवृत्ति-वेतन, लगान आदि पाने वाले व्यक्ति। इनकी सख्या क्रमश ११ लाख, १६५ लाख, १४८ लाख तथा १० लाख है। यदि नियोक्ताओ को छोड दिया जाय तो शेष स्वावलम्बी व्यक्ति उद्योग और सेवाओ के निम्न दस वर्गो में विभिन्न अनुपातो में बँटे हुए है जिसे नीचे दी हुई तालिका स्पष्ट कर रही है

१ कृषि करते हुए भूस्वामी (Cultivating owners of land) से तात्पर्य उन कृषकों से है जो भूमि के स्थायी काश्तकार है और जिनसे भूमि छुड़ाई नही जा सकती। इस प्रकार कृषि करने से ही वे उसके स्वामी हैं, यद्यपि कानूनन वे उसके स्वामी नहीं हैं।

	उद्योगो और सेवाओ का विभाजन	सख्या (लाखो मे)	प्रतिशत
१	कृषि के अतिरिक्त अन्य प्राथमिक उद्योग, खानो तथा पत्थर की खानो की खुदाई	२४	७ ४
२	खानो तथा पत्थर की खानो की खुदाई	५ ७	१ ८
३	विधायन और निर्माण—खाद्य पदार्थ, कपडा, चमडा तथा उनकी अन्य उत्पत्ति	५५ १	१७ ०
४	विधायन और निर्माण—धातुएँ, रासायनिक पदार्थ और उनकी उत्पत्ति आदि	१२ ४	३ ८
५	विधायन और निर्माण—जिसे अन्यत्र सम्मिलित नही किया गया है।	२४ ३	७ ५
६	सार्वजनिक उपयोगिता की सेवाएँ और निर्माण	१५ ९	४ ९
७	वाणिज्य	५९ ०	१८ २
८	परिवहन, भाण्डागार और यातायात	१९ ०	५ ९
९	स्वास्थ्य, शिक्षा तथा सार्वजनिक प्रशासन	३२ ९	१० २
१०	सेवाएँ, जिन्हे अन्यत्र सम्मिलित नही किया गया है।	७५ ४	२३ ३
	योग	३२३ ७	१०० ०

उपर्युक्त आँकडो की तुलना सन् १९३१ तथा उससे पूर्व की जनगणना मे एकत्रित आँकडो से दी जा सकती है। (सन् १९४१ में इस प्रकार के आँकडे एकत्रित नही किये गए थे।) इसके अतिरिक्त ये आँकडे राष्ट्र-सघ की आर्थिक, सामाजिक तथा सास्कृतिक सस्था द्वारा स्वीकृत योजना के अनुसार अन्य देशो में एकत्र किये हुए आँकडो से भी तुलना योग्य है।

भारत में १००० स्वावलम्वी अपने-आपको एव २५०४ अन्य व्यक्तियो को आश्रय देते हैं। इन २५०४ व्यक्तियो में कमाने वाले आश्रितो की सख्या ३७३ और निवृत्ति-वेतन और लगान पाने वालो की सख्या २९ है। सयुक्तराष्ट्र अमेरिका में १००० स्वावलम्वियो पर १५४७ व्यक्ति ही आश्रित हैं और इगलैण्ड में प्रति १००० आश्रितो की सख्या केवल १२०७ ही है। भारत में आश्रितो की अधिकता का एक प्रमुख कारण १५ वर्ष से कम आयु की जनसख्या का अधिक अनुपात है। प्रति १००० स्वावलम्बियो में १४ वर्ष या उससे कम आयु वालो की सख्या भारत में १,३१७ तथा सयुक्तराष्ट्र अमेरिका और इगलैड में क्रमश ७०२ तथा ४९६ है।[1]

दुनिया के सभ्य देशो की तुलना में भारत में कृषि पर निर्भर व्यक्तियो का प्रतिशत सबसे अधिक है तथा उद्योग, परिवहन, व्यापार आदि मे लगे हुए व्यक्तियों

१. सेन्सस ऑफ इण्डिया—वलयूम १. पार्ट १-A रिपोर्ट, पृ० ११९

का प्रतिशत सबसे कम। उदाहरण के लिए, इगलैण्ड में प्रति १००० व्यक्तियों में ५० व्यक्ति कृषि में लगे थे तथा शेष ९५० व्यक्ति खानों, निर्माण, वाणिज्य तथा अन्य उद्योगों और व्यवसायों में थे जबकि भारत में सन् १९५१ की जनगणना के अनुसार प्रति १००० व्यक्तियों में ७०६ व्यक्ति कृषि में तथा २९४ व्यक्ति खानों, निर्माण, वाणिज्य तथा अन्य उद्योगों और सेवाओं में लगे थे।

इतनी अधिक सीमा तक कृषि पर निर्भर रहने वाले देश की आर्थिक व्यवस्था अवश्य ही अस्थिर होगी। कृषि पर निर्भर रहने का अर्थ वर्षा पर निर्भर रहना है, और यदि वर्षा नहीं होती तो व्यापक रूप से देश पर सकट आ जाता है। यदि देश-वासियों का अधिकाश भाग कृषि पर प्रत्यक्ष रूप से निर्भर न हो तो ऐसा नहीं होगा। सन् १८८० के दुर्भिक्ष आयोग ने स्थिति का सही निदान करते हुए ठीक ही कहा था कि भारतवासियों की गरीबी तथा उन पर आने वाले जोखिमों का मूल यह दुर्भाग्य-पूर्ण परिस्थिति है कि कृषि ही अधिकाश जनता का एकमात्र धन्धे का साधन है। इस सकट से बचने के लिए उन्होंने निर्माण उद्योगों के विकास की सिफारिश की। सचमुच देश के आर्थिक साधनों के सर्वतोमुखी विकास के साथ-साथ व्यवसायों का सम वितरण अत्यधिक वाञ्छित है।

६ **नगरों तथा गाँवों में जनसख्या** · कृषि की प्रधानता ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों मे वितरित जनसख्या मे भी झलकती है। सन् १९३१ की जनगणना मे सन् १९२१ की तुलना में शहरी जनसख्या १० २ प्रतिशत से बढकर ११ प्रतिशत हो गई। सन् १९४१ में कुछ और वृद्धि हुई और जनसख्या १२ ८ प्रतिशत हो गई। सन् १९५१ मे यह प्रतिशत १७ ३ हो गया। कुल जनसख्या तथा ग्रामीण जनसख्या के परिवर्तनों का घनिष्ठ सम्बन्ध तथा शहरी जनसख्या और कुल जनसख्या के परिवर्तनों के सम्बन्ध का इसका विपरीत होना शहरी जनसख्या के कम अनुपात का द्योतक है।

सन् १९४१ की शहरी जनसख्या की तुलना में सन् १९५१ की शहरी जन-सख्या में २२ प्रतिशत वृद्धि हुई है, परन्तु ग्रामीण जनसख्या १३ प्रतिशत कम हो गई है। इसका कारण भारत का विभाजन है जिसके फलस्वरूप काफी ग्रामीण क्षेत्र पाकि-स्तान में चले गए। बडे-बडे शहरों जैसे कलकत्ता, दिल्ली, बम्बई आदि के भारत में ही रहने के अतिरिक्त पाकिस्तान में शहरी क्षेत्रों के अपेक्षाकृत कम आने के कारण विभाजित भारत की शहरी जनसख्या सन् १९४१ की तुलना में बढ गई है। भारत अब भी प्रधानत गाँवों का देश है तथा उसकी ८२ ७ प्रतिशत जनसख्या गाँवों में ही रहती है।[1]

दिल्ली और अजमेर के छोटे राज्यों को छोडकर जहाँ शहरी जनसख्या क्रमश ८२ तथा ४३ प्रतिशत है, अन्य राज्यों मे वह ४ १ प्रतिशत (उड़ीसा), ४ ६ प्रतिशत (आसाम), ६ ७ प्रतिशत (बिहार), ३१ प्रतिशत (बम्बई), तथा ३४ प्रतिशत

१ सन् १९५१ की जनगणना में सारे देश को २५ वर्गमील के 'ग्राम-समूहों' में बाँटा गया था। सारे देश में ऐसे ४७,०७४ ग्राम-समूह थे। भारत के ६ भागों में एक सामान्य ग्राम-समूह में, ग्राम एव ग्रामीणों की सख्या निम्न प्रकार थी

(सौराष्ट्र) है ।[1]

भारत की १७ ३ प्रतिशत शहरी जनसख्या की तुलना मे फ्रांस मे ४६ प्रतिशत, उत्तरी आयरलैण्ड में ५०·८ प्रतिशत, कनाडा में ५३·७ प्रतिशत, सयुक्तराज्य अमरीका में ५६ २ प्रतिशत तथा इगलैड और वेल्स में ८० प्रतिशत शहरी जनसख्या है ।[2]

नीचे दी हुई तालिका में वे शहर दिये हुए है जिनकी जनसख्या एक लाख से अधिक है । इस समय भारत में ७३ शहरो की जनसख्या एक लाख या उससे अधिक है। तालिका में इन शहरो की सन् १६४१ की जनसख्या भी दी गई है।

राज्य और नगर (पार्ट ए राज्य)	सन् १६५१ की जनसंख्या	सन् १६४१ की जनसंख्या	दस वर्षीय औसत वृद्धि (१६४१-१६५१)
बिहार			
१. पटना	२,८३,४७६	१,६६,४१५	+३६·३
२. जमशेदपुर	२,१८,१६२	१,६५,३६५	+२७·५
३ गया	१,३३,७००	१,०५,२२३	+२३·८
४. भागलपुर	१,१४,५३०	६३,२५४	+२०.५
५ राँची	१,०६,८४६	६२,५६२	+५२ ३
बम्बई			
१. बम्बई	२८,३६,२७०	१६,६५,१६८	+५०·५
२ अहमदाबाद	७,८८,३३३	५,६१,२६७	+२८·६
३. पूना	४,८०,६८२	२,७८,१६५	+५३ ४
४ शोलापुर	२,६६,०५०	२,०३,६६१	+२६·६
५. सूरत	२,२३,१८२	१,७१,४३४	+२६·२
६. वडोदा	२,११,४०७	१,५३,३०१	+३१ ६

एक 'ग्राम-समूह' में ग्राम एव ग्रामीणों की सख्या

	ग्रामों की सख्या	ग्रामीणों की सख्या (हजारों में)
उत्तरी भारत	२५	१२.२
पूर्वी भारत	१८	७ ८
दक्षिणी भारत	६	६·०
पश्चिमी भारत	७	५·०
मध्य भारत	६	३·६
उत्तर-पश्चिमी भारत	८	३·६
भारत	१०	६·३

१ भारत में शहरी जनसख्या ६१६ लाख है जो ग्रेट ब्रिटेन या फ्रास की कुल जनसख्या से भी अधिक है । शहरी जनसख्या के अनुपात के क्रम में भारत के भाग निम्न प्रकार से हैं .
पश्चिमी भारत (३१ २ प्रतिशत), उत्तर-पश्चिमी भारत (२१·४ प्रतिशत), दक्षिणी भारत (१६·७ प्रतिशत), मध्य भारत (१५·८ प्रतिशत) और उत्तर भारत (१३ ६ प्रतिशत) तथा पूर्वी भारत (११·१ प्रतिशत) ।

२. सेन्सस ऑफ इडिया १६५१, खण्ड १, A रिपोर्ट, अध्याय २, तथा इडिया १६५४, पृ० १५ ।

७ कोल्हापुर	१,३६,८३५	९९,०३७	+३८ १
८ हुबली	१,२९,६०९	९५,५१७	+३० ३
मध्य प्रदेश			
१ नागपुर	४,४९,०९९	३,०१,९५७	+३९ २
२ जबलपुर	२,५६,९९८	१,७८,३३९	+३९ १
मद्रास			
१ मद्रास	१४,१६,०५७	७,७७,४८१	+५८ ५
२ मदुरई	३,६१,७८१	२,३९,१४४	+४० ८
३ तिरुचिरापल्ली	२,१८,९२१	१,५९,५६६	+३१ ८
४. सलेम	२,०२,३३५	१,२९,७०२	+४३ ८
५ कोयम्बटूर	१,९७,७५५	१,३०,३४८	+४१ ७
६ विजयवाड़ा	१,६१,१९८	८६,१८४	+६० ६
७ कोज़्हकोड	१,५८,७२४	१,२९ ३५२	+२२ ७
८ गुंटूर	१,२५,२५५	८३,५९९	+३९ ९
९ मंगलोर	१,१७,०८३	८१,०६९	+३९ ३
१० विशाखापटनम	१,०८,०४२	७०,२४३	+४२ ४
११ वैलोर	१,०६,०२४	७१,५०२	+३८ ९
१२ राजामुन्दरी	१,०५,२७६	७४,५६४	+३४ २
१३ तंजोर	१,००,६८०	६८,७०२	+३७ ८
उड़ीसा			
१ कटक	१,०२,५०५	७४,२९१	+३१ ९
पंजाब			
१ अमृतसर	३,२५,७४७	३,९१,०१०	—१८ २
२ जालन्धर	१,६८,८१६	१,३५,२८३	+२२ १
३ लुधियाना	१,५३,७९५	१,११,६३९	+३१ ८
उत्तर प्रदेश			
१ कानपुर	७,०५,३८३	४,८७,३२४	+३६ ६
२ लखनऊ	४,९६,८६१	३,८७,१७७	+२४ ८
३ आगरा	३,७५,६६५	२,८४,१४९	+२७ ७
४ बनारस	३,५५,७७७	२,६३,१००	+३० ०
५ इलाहाबाद	३,३२,२९५	२,६०,६३०	+२४ २
६ मेरठ	२,३३,१८३	१,६९,२९०	+३१ ८
७ बरेली	२,०८,०८३	१,९२,६८८	+ ७ ७
८ मुरादाबाद	१,६१,८५४	१,४२,४१४	+१२ ८
९ सहारनपुर	१,४८,४३५	१,०८,२६३	+३१ ३
१० देहरादून	१,४४,२१६	७८,२२८	+५९ ३

१ अलीगढ	१,४१,६१८	१,१२,६५५	+२२८
२ रामपुर	१,३४,२७७	८६,३२२	+४०२
३ गोरखपुर	१,३२,४३६	९८,९७७	+२८९
४. झाँसी	१,२७,३६५	१,०३,२५४	+२०९
पश्चिमी बंगाल			
१ कलकत्ता	२५,४८,६७७	२१,०८,८९१	+१८९
२ हावडा	४,३३,६३०	३,७९,२९२	+१३४
३ टॉलीगंज	१,४९,३१७	५८,५९४	+८७५
४ भटपारा	१,३४,९१६	१,१७,०४४	+१४२
५ खडगपुर	१,२९,६३६	८७,१८५	+३९२
६ गार्डन रीच	१,०९,१६०	८५,१८८	+२४७
७ साउथ सबर्बन (बेहाला)	१,०४,०५५	६३,४७९	+४८४
(पार्ट बी राज्य)			
हैदराबाद			
१ हैदराबाद	१०,८५,७२२	७,३९,१५९	+३८०
२ वारंगल	१,३३,१३०	९२,८०८	+३५७
मध्य भारत			
१. इन्दौर	३,१०,८५९	२,०३,६९५	+४१७
२. ग्वालियर	२,४१,५७७	१,८२,४९२	+२७९
३ उज्जैन	१,२९,८१७	८१,२७२	+४६०
मैसूर			
१. वगलोर	७,७८,९७७	४,०६,७६०	+६२८
२ मैसूर	२,४४,३२३	१,५०,५४०	+४७५
३ कोलार गोल्ड फील्ड्स	१,५९,०८४	१,३३,८५९	+१७२
राजस्थान			
१ जयपुर	२,९१,१३०	१,७५,८१०	+४९४
२ जोधपुर	१,८०,७१७	१,२६,८४२	+३५०
३ वीकानेर	१,१७,११३	१,२७,२२६	— ८३
सौराष्ट्र			
१ भावनगर	१,३७,९५१	१,०२,८५१	+२९२
२ राजकोट	१,३२,०६९	५२,१७८	+८६७
३ जामनगर	१,०४,४१९	७१,५८८	+३७३
ट्रावनकोर-कोचीन			
१. त्रिवेन्द्रम	१,८६,९३१	१,२८,३६५	+३७२

२ एलेथी	१,१६,२७८	५६,५३३	+९९ ५
(पार्ट सी राज्य)			
१ अजमेर	१,९६,६३३	१,४७,२५८	+२८ ७
२ भोपाल	१,०२,६३३	७५,२२८	+३० ५
३ दिल्ली	६,१४,७६०	५,२१,८४६	+५४ ७
४ नई दिल्ली	२,७६,३१४	९८,७३३	+९८ ७

तालिका में मोटे अक्षरो में दिये गए नगर वे है जिनकी जनसख्या सन् १९५ में पहली बार १ लाख से अधिक हुई थी।[1]

सन् १९५१ में शहरी जनसख्या की वृद्धि बडे-बडे शहरो की जनसख्या व वृद्धि को भी दिखा रही है। तालिका को देखने से पता चलता है कि बम्बई और मद्रा में जनसख्या की वृद्धि क्रमश ५० ५ और ५८ ५ प्रतिशत हुई है।

अधिकाश पश्चिमी देशो में उन्नीसवी शताब्दी में सगठित उद्योगो का विका हुआ, जिसके परिणामस्वरूप शहरी जनसख्या में अत्यधिक वृद्धि हुई, जब कि भारत शहरी जनसख्या की वृद्धि बहुत धीमी है। औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात् इगलैण्ड व शहरी जनसख्या की आश्चर्यजनक वृद्धि एक ऐसी सर्वविदित घटना है जिसका विवेच यहाँ अनावश्यक है। इगलैण्ड में लगभग ८० प्रतिशत लोग शहरो में रहते है, जब भारत में लगभग ८० प्रतिशत लोग गाँवो में।

जनसख्या का गाँवो और शहरो के बीच इतना असमान वितरण कि शहरो रहने वाले कुल जनसख्या का एक नगण्य भाग ही हो, जनसख्या की पिछडी हुई आर्थि दशा का द्योतक है। रानाडे ने गाँवो की बढती हुई जनसख्या पर टिप्पणी करते हुए क था कि इससे शक्ति, बुद्धि की कुशाग्रता और आत्म-निर्भरता की हानि होगी। सभ्य और प्रगति शहरो से ही प्रारम्भ होकर गाँवो में फैली है। गाँवो ने तो अपने अ शायद ही कभी विकास करने की क्षमता का परिचय दिया हो। गाँवो और शहरो बीच जनसख्या का वितरण शहरो के पक्ष में उद्योग, व्यापार और यातायात के विका से ही बदला जा सकता है। हमें कुछ बडे-बडे शहरो जैसे लन्दन, न्यूयार्क, बम्ब कलकत्ता में ही जनसख्या के केन्द्रित होने के दोषो को नही भुला देना चाहिए, पर देश-भर में औसत क्षेत्र वाले शहर होने से बडे पैमाने के उत्पादन और शहरी जीव की सुविधाएँ प्राप्त होंगी और साथ ही आधुनिक गन्दी बस्तियो (स्लम) से सम्बन्धि नैतिक और शारीरिक स्वास्थ्य भी अनेक खतरो से बचा रहेगा।

७ जनसख्या पुरुष और स्त्रियों में—निम्नलिखित तालिका में विभिन्न जनगणना के अनुसार स्त्रियो की सख्या दी हुई है।

जनगणना (वर्ष)	स्त्रियो की सख्या (प्रति १,००० पुरुष)
१९११	९५४
१९२१	९४६
१९३१	९४०

१. इडिया १९५४, पृ० १६-१८।

१९४१	९३५
१९५१	९४७

उडीसा, मणिपुर, मद्रास, ट्रावनकोर-कोचीन और कच्छ को छोडकर जहाँ प्रति १००० पुरुष क्रमश. १,०२२, १,०३६, १,००६, १,००८ और १,०७९ स्त्रियाँ है, शेष राज्यो में पुरुषो की संख्या अधिक है। निकोबार द्वीपो तथा दिल्ली में स्त्रियो की सख्या सबसे कम है। वहाँ क्रमश· प्रति १००० पुरुषो के अनुपात में ६२५ तथा ७६८ स्त्रियाँ है। पश्चिमी वगाल, आसाम, कुर्ग, पजाव तथा पैप्सू में प्रति १००० पुरुषो के अनुपात में स्त्रियो की सख्या ९०० से भी कम है।[1]

यह स्वाभाविक वात है कि सभी देशो में स्त्रियो की जनसख्या कम होती है। यूरोप के देशो में यह असमानता पुरुषो की अधिक ऊँची शिशु-मृत्यु-दर द्वारा दूर हो जाती है। 'शारीरिक रचना के विचार से स्त्री पुरुष से अधिक शक्तिवान् है।'[2] परन्तु यूरोप के देशो के विपरीत भारत मे स्त्रियो के जीवन के लिए परिस्थितियाँ स्पष्ट रूप से अनुकूल नही है। यूरोप की स्थिति के विपरीत यहाँ दस वर्ष की उम्र के बाद, विशेष रूप से किशोरावस्था के बाद, पुरुषो की अपेक्षा स्त्रियो की मृत्यु-दर अधिक होती है। इसके कारण रूप में कुछ सामाजिक प्रथाएँ भी कही जा सकती है। उदाहरण के लिए घनी आवादी वाले शहरो मे पर्दा स्त्रियो के स्वास्थ्य के लिए विशेष हानिकारक होता है। यह प्रथा धनी मुसलमानो तथा हिन्दुओ में भी देश के उन भागो में पाई जाती है जहाँ मुसलमानी प्रभाव अधिक रहा है। परन्तु स्त्रियो की ऊँची मृत्यु-दर का सबसे प्रमुख कारण वाल-विवाह है, जो लडकियो को अपरिपक्व अवस्था में ही माँ वनने को वाध्य करता है। वडोदा (१९०१) के जनगणना-अधीक्षक ने ठीक ही कहा है कि अनेक वाल-वधुएँ 'सुहाग-सेज से ही मृत्यु-शय्या की ओर प्रस्थान कर देती है। स्नायविक अशक्तता, क्षय तथा गर्भाशय की वीमारियाँ उनका सत्यानाश कर देती है।' इतने शीघ्र गृहस्थ भार के साथ ही उन्हे वार-वार वच्चो को जन्म देने का कष्ट भी उठाना पडता है। सन् १९३३ में सर जॉन मेगॉ की जाँच के अनुसार भारतवर्ष मे माताओ की मृत्यु-दर प्रति हजार २४·०५ है। इनके अनुसार वगाल में यह दर प्रति हजार ५० है। 'इगलैण्ड में इस वात पर विशेष चिंता प्रकट की जाती है कि यह दर वहुत ऊँची अर्थात् प्रति हजार ४ ११ है।' दूसरा सम्भाव्य कारण यह है कि भारत में पश्चिमी देशो की अपेक्षा स्त्री-जीवन न केवल पुरुषो द्वारा ही वरन् स्वय स्त्रियो द्वारा भी महत्त्वहीन समझा जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि प्रारम्भिक वर्षो में स्त्रियो के स्वास्थ्य के प्रति जान-बूझकर लापरवाही की जाती है। इसके अतिरिक्त खेतो और कारखानो में काम करने वाली मजदूर स्त्रियो के जनन के पूर्व और पश्चात् आराम के लिए आवश्यक

१ इण्डिया, १९५४ पृ० १३।

२ पी० के० वट्टल, पॉपुलेशन प्रॉब्लम इन इण्डिया, पृ० १७। लड़कों और लड़कियों का असमान अनुपात कभी-कभी इस वात का द्योतक माना गया है कि लड़कियों की शिशु-हत्या अभी पूर्णतया वन्द नहीं हुई है। यह प्रथा केवल नीची जातियों में ही नहीं वरन् जाट, खत्री, गूजर, राजपूत जैसी सम्मानित और प्रसिद्ध जातियों में भी कुछ हद तक प्रचलित है। देखिए, सेन्सस ऑफ इण्डिया (१९२१) खण्ड १, परिशिष्ट ६.

समय शायद ही कभी मिलता हो। इतने कार्याधिक्य मे भी उनका स्वास्थ्य खराब हो जाता है। गाँव की दाई का अशिक्षित दाई-कर्म भी इसमे योग देता है। हर जनगणना मे (सन् १९५१ को छोडकर) पुरुषो की सख्या के प्रति स्त्रियो की सख्या का अनुपात घटता ही गया है। (जैसा कि प्रारम्भ में दिये गए आँकडो से स्पष्ट है)

साधारण जनसख्या मे विशेष रूप से शहरो मे स्त्रियो की कमी है। पश्चिमी देशो में परिस्थितियाँ इसके बिलकुल विपरीत हैं। वहाँ शहरो में पुरुषो की अपेक्षा स्त्रियो की सख्या अधिक है। इसका कारण कारखाने के मजदूरो का प्रभाव है। वे शायद ही कभी अपने परिवारो को शहर मे लाते हैं। इसका दूसरा कारण यह है कि शहरी उद्योगो मे स्त्रियो की सख्या कम है। सन् १९५१ की जनगणना के अनुसार शहरो में प्रति १००० पुरुषो के अनुपात मे ८६० स्त्रियाँ हैं। यदि १ लाख से ऊपर की आबादी वाले शहरो को ही लिया जाय तो यह अनुपात और भी कम केवल ७८७ है। कलकत्ता और बम्बई मे यह अनुपात क्रमशः ६०२ और ५९६ (प्रति १००० पुरुष) है।

कहने की आवश्यकता नही कि शहरो में स्त्रियो की कमी मजदूरो के स्वास्थ्य, सुविधा और चरित्र पर प्रतिकूल प्रभाव डालती है।

स्त्रियो की कुल सख्या का २५ प्रतिशत काम करता है (मजदूरी या अन्य काम) और इसकी तुलना पश्चिम के अत्यन्त समृद्धिशाली देशो मे की जा सकती है। यह बहुत ही आश्चर्यजनक है और इस बात का द्योतक है कि स्त्रियो की बहुत कम सख्या पर पर्दे का प्रभाव है। साथ ही इससे भारत की गरीबी का भी पता चलता है, क्योकि भारत में अर्जन-क्षमता के बढ जाने पर स्त्रियाँ काम करना बन्द कर देती हैं। प्रचलित विचारों के अनुसार प्रतिष्ठित भावना के कारण घर की स्त्रियो का बाहर काम करने जाना अच्छा नही माना जाता। स्त्रियो में काम करने वालो का बडा अनुपात इस बात का द्योतक है कि देश मे बहुत थोडे व्यक्ति ही अपनी स्त्रियो को बेकार रख सकते हैं। अनिच्छापूर्वक भी परिवार की आय को पूरा करने के लिए उन्हे काम करना पडता है।

८. आयु के अनुसार वितरण—सन् १९५१ की जनगणना रिपोर्ट ने आयु-समूहो के निम्नलिखित आँकडे प्रस्तुत किये हैं।

	आयु-समूह	प्रतिशत
शिशु और बच्चे	०— ४	१३ ५
लडके और लडकियाँ	५—१४	२४ ८
युवक और युवतियाँ	१५—२४	१७ ४
	२५—३४	१५ ६
अधेड पुरुप और स्त्री	३५—४४	११ ९
	३५—५४	८ ५
वृद्धजन	५५—६४	५ १
	६५—७४	२ २
	७५ या अधिक	१ ०
		१००

जनसख्या के आयु-समूहो का प्रमुख आर्थिक महत्त्व क्रियाशील जनसख्या के अनुपात में है। किसी देश की जनसख्या का आयु के अनुसार वितरण एक पिरामिड के आकार में दिखाया जा सकता है। कम आयु वाले समूह, जो जनसंख्या का सबसे बडा भाग दरशाते हैं, इस पिरामिड का आधार होते हैं और यह ऊँची अवस्था वाले समूहो के साथ कम होता जाता है और अन्त में एक विन्दु से समाप्त होता है, क्योकि एक आयु के वाद कोई जीवित व्यक्ति न मिलेगा जिसकी गणना की जाय। विभिन्न आयु-समूहो की कुल सख्या के अनुपात के अनुसार पिरामिड का आकार वदल जाता है। भारत मे वहुत ऊँची जन्म-दर होने के कारण आयु-पिरामिड का आधार सब देशो की तुलना में अधिक चौडा है। भारत मे १० वर्ष से कम उम्र वाले वालकों का अनुपात सवसे अधिक है। दूसरे देशो की अपेक्षा भारत शीर्ष-विन्दु की ओर भी तेजी से गतिवान् होता है, यह वात भारतीय जनसख्या की दीर्घ जीविता में कमी की ओर सकेत करती है। यहाँ ५० वर्ष से अधिक जीवित रहने वाले व्यक्तियो की सख्या अपेक्षाकृत वहुत कम है।

यूरोप में क्रियाशील जनसख्या की सामान्यत आयु-सम्वन्धी स्वीकृत सीमा १५ वर्ष से लेकर ६०-६५ वर्ष तक है। भारत में ऊपरी सीमा आवश्यक रूप से कम होती है, क्योकि वृद्धावस्था तथा काम करने की अशक्तता यूरोप की अपेक्षा यहाँ वहुत जल्दी आरम्भ हो जाती है। इस सम्वन्ध में यहाँ की मान्य सीमा १३ वर्ष से लेकर ४० वर्ष तक है। इस अर्थ मे भारत की क्रियाशील जनसख्या कुल जनसख्या का लगभग ४४ ९ प्रतिशत[१] है। १५ वर्ष मे ६० वर्ष तक की सीमा के अनुसार फ्रान्स में यह अनुपात ५३ प्रतिशत तथा इंगलैण्ड में ६४ प्रतिशत से अधिक है। जनता को स्वस्थ और दीर्घायु वनाने के लिए किये गए उपाय अवश्य ही क्रियाशील जनसख्या का अनुपात वढा देंगे। सम्भवत सार्वजनिक स्वास्थ्य विभाग के पुनर्सगठन तथा उनकी कार्रवाइयो के वढ जाने के कारण ही सन् १९२० से मृत्यु-दर थोडी घट गई है।

१. सामाजिक प्रथाओं के विरोध में भी स्त्रियों का घर से वाहर निकलकर काम ढूँढने के लिए वाध्य होना, इस निष्कर्ष का—कि भारत गरीव है—आधार है, परन्तु इससे इस तर्क के सत्य में कोई फर्क नहीं पडता कि पश्चिमी देशों की अपेक्षा यहाँ मजदूर स्त्रियों की कुल मात्रा कम है। रीति-रिवाज और प्रतिकूल विचारों के कारण अनेक धन्धे स्त्रियों के लिए वन्द हैं जिससे स्त्रियों का श्रम-अधिकार वेकार हो जाता है तथा प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय भी जितनी होनी चाहिए उससे कम होती है। काम करने वाली स्त्रियों की सख्या तो वहुत है, परन्तु उनमें से अधिकाश आशिक समय के लिए या कुछ समय के लिए ही काम करती हैं तथा वैतनिक श्रमिकों की सख्या का वे (पुरुष श्रमिकों की तुलना में) नगण्य भाग हैं। सन् १९३१ की जनगणना में काम करने वाले और काम न करने वाले आश्रितों में अन्तर किया गया था। जिस व्यक्ति की आय नगण्य हो या कभी-कभी होती हो, उसे काम न करने वाला आश्रित ही माना गया था। इस वर्ग में अधिकतर स्त्रियाँ ही थीं। इसलिए सन् १९३१ की जनगणना में काम करने वाली स्त्रियों की संख्या वहुत कम थी। यद्यपि इससे पहले की जनगणनाओं के वर्गीकरण के आधार पर उनमें से अनेक काम करने वालों के वर्ग में ही आतीं।

२. १५ वर्ष से लेकर ४४ वर्ष तक की आयु के व्यक्तियों का प्रतिशत है।
(सन् १९५१ की जनगणना से)

यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि एक ही देश में जनसंख्या का आयु के अनुसार वितरण समय-समय पर बदल सकता है। उदाहरण के लिए मृत्यु और जन्म-दर बदल सकती है। युद्ध, अकाल, महामारी आदि भी आयु-वितरण को बदल सकते हैं। युद्ध युवकों के अनुपात को कम कर देता है। अकाल और महामारी का प्रभाव विभिन्न आयु-वर्गों पर भिन्न होगा। वयस्कों की अपेक्षा बच्चों पर अकाल का अधिक प्रभाव पड़ता है, जबकि महामारियों का प्रभाव इसका उल्टा होता है। बच्चों की अत्यधिक मृत्यु का प्रभाव कुछ समय बाद (लगभग १५ वर्ष बाद) वयस्कों की कम संख्या में व्यक्त होता है। इसी प्रकार यदि प्रजनन-क्षमता वाले अनेक वयस्कों की महामारी से मृत्यु हो जाय तो इसके परिणामस्वरूप जन्म-दर घट जायगी और बच्चों का अनुपात कम हो जायगा। सन् १९१८ की इनफ्लुएंजा महामारी में होने वाली भारी मृत्यु-संख्या के कारण भारत में कुल जनसंख्या के साथ क्रियाशील जनसंख्या का अनुपात असाधारण रूप से प्रतिकूल हो गया। यद्यपि सभी आयु के व्यक्ति उसके शिकार हुए, परन्तु सबसे अधिक मृत्यु वयस्कों की हुई थी।

नीचे दी हुई तालिका में सन् १९२१ की जनगणना के समय जनसंख्या का आयु और लिंग के अनुसार विवरण दिया गया है

आयु	कुल जनसंख्या (लाखों में)			आयु	कुल जनसंख्या (लाखों में)		
	मनुष्य	पुरुष	स्त्री		मनुष्य	पुरुष	स्त्री
०-५	३९६ ५	१९४ ८	२०१ ७	४०-४५	१९५ ८	१०० ७	९५ १
५-१०	४६७ ४	२३८ ४	२२९ ०	४५-५०	११६ ४	६३ ४	५३ ०
१०-१५	३६७ ४	२०१ ७	१६५ ७	५०-५५	१३७ ४	७० ३	६७ १
१५-२०	२६१ ४	१३६ ५	१२४ ९	५५-६०	५५ ७	२९ ९	२५ ८
२०-२५	२६० ६	१२५ ६	१३५ ०	६०-६५	८८ ८	४३ १	४५ ७
२५-३०	२७५ ९	१४० २	१३५ ७	६५-७०	२५ १	१३ ०	१२ १
३०-३५	२६१ ३	१३३ ७	१२७ ६	७० और अधिक	५३ ४	२५ ८	२७ ६
३५-४०	१८९ ६	१०३ ०	८६ ६				
				आयु, जिनकी व्याख्या नही की गई	२४[1]	२४[1]	
				कुल योग	३१५३ ५	१६२० ८	१५३२ ७

९. भारत में जन्म और मृत्यु-दर—आवास-परावास के नगण्य होने के कारण भारत की जनसंख्या का आकार प्रधानतः जन्म और मृत्यु-दर से निश्चित होता है। भारत

१. यह लाखों में नहीं है।

सवसे अधिक वार्पिक जन्म और मृत्यु-दर वाले देशो में से है। सन् १९५१ की जनगणना के अनुसार जन्म और मृत्यु की वार्पिक दरें ४० और २७ प्रति हजार थी।[1] प्रगतिशील यूरोपीय देशो में जन्म और मृत्यु-दर की घटने की प्रवृत्ति वरावर वनी रही है। उदाहरण के लिए इगलैण्ड और वेल्स मे १८९१-५ मे प्रति हजार जन्म और मृत्यु-दरें क्रमश ३० ५ और १८·७ थी। वहाँ सन् १९३२ मे ये दरें १५ ३ (जन्म-दर) तथा १२·० (मृत्यु-दर) थी। सन् १९५१ की भारतीय जनगणना की रिपोर्ट के अनुसार अव ये दरें क्रमश १६ (जन्म-दर) और १२·५ (मृत्यु-दर) है।

भारत मे जन्म और मृत्यु-दरें इस प्रकार कम नहीं हुई है। इसके विपरीत कभी-कभी दोनो में ही वास्तविक वृद्धि हुई है जैसा कि नीचे दी हुई तालिका से भी ज्ञात होता है।[2]

अवधि या वर्प	जन्म, प्रति हजार	मृत्यु, प्रति हजार
१८८५-९०	३५ ८३	२७ ४४
१८९१-१९००	३५ ४३	३१ ३१
१९०१-१०	३८ १८	३३·९४
१९११-१७	३८ ६८	३०·३१
१९१८	३५ ३५	६२ ४६
१९१९	३० २४	३० ८४
१९११-२० औसत	३६ ९३	३४ १३
१९२१	३२ २०	३० ५९
१९२३	३५ ०६	२५ ००
१९२६	३४ ७७	२६ ७६
१९२८	३६ ७९	२५ ५९
१९३०	३५ ९९	२६ ८५
१९३१	३४ ३८	२४ ८९
१९३२	३३·७	२१ ६
१९३३	३५·६	२२ ४
१९३४	३३ ७	२४ ९
१९३५	३५ ०	२३ ८
१९३६	३५ ६	२२ ७
१९३७	३४ ५	२२·४
१९३८	३४ १	२४ ३

१. भारत में जीवनाक विशेष रूप से अविश्वसनीय हैं—खास तौर पर गाँवों में, जहाँ उन्हें इकट्ठा करने के लिए नियुक्त व्यक्ति कम वेतन पाने वाले तथा निरक्षर हैं। यदि इस वात का समुचित ध्यान रखा जाय तो प्रोफेसर ज्ञानचन्द के अनुसार जन्म और मृत्यु-दर के आँकड़े क्रमश. ४८ और ३३ (प्रति हजार) होंगे। देखिए, ज्ञानचन्द, 'टीमिग मिलियन्स', पृ० ९७-९।

२. 'इस तालिका में सन् १९३० तक (सन् १९३० सहित) जन्म और मृत्यु-दर की प्रवृत्तियाँ सही नहीं हैं, क्योंकि मृत्यु की तुलना में जन्म की अधिकता से हुई जनसख्या की वार्पिक वृद्धि पर कोई ध्यान नहीं दिया गया।' उपर्युक्त निर्देश के लिए राजकीय कृषि गवेषणा परिषद् (इम्पीरियल

१० मृत्यु-दर—प्राय अनियन्त्रित तथा ऊँची जन्म-दर ऊँची मृत्यु-दर से सम्बन्धित होती है। भारत मे ऊँची मृत्यु-दर अन्ततोगत्वा सामान्य गरीबी के कारण ही है जो व्यक्तियो को मलेरिया, प्लेग, इन्फ्लुएंजा जैसी बीमारियो से बचने में असमर्थ बना देती है। भारतीयो की निम्न जीवन-शक्ति से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि विभिन्न आयु-स्तरो पर यूरोपीय देशो की अपेक्षा यहाँ जीवन की आशा कम होती है।

'इगलैण्ड में पुरुष की औसत आयु ५५.६२ वर्ष है, भारत मे केवल २६.६१ वर्ष, अर्थात् वहाँ की आधी भी नहीं है। स्त्रियो के सम्बन्ध में इगलैण्ड और भारत के आँकडे क्रमश ५९.५८ तथा २६.५६ है। सन् १८९१ मे इगलैण्ड और भारत मे पुरुष-जीवन के आँकडे क्रमश ४४.१३ और २५.५४ थे। सन् १९२०-२२ मे इगलैण्ड के आँकडे बढकर ५५.६२ हो गए परन्तु भारत के आँकडे १९०१ में २३.६३, सन् १९११ मे २३.३२ और सन् १९३१ मे भी केवल २६.५६ थे। दूसरे शब्दो में अंग्रेजो ने ३० वर्ष की अवधि में जीवन में ११½ वर्ष बढा लिये जब कि भारतीयो ने उससे अधिक अवधि अर्थात् ४० वर्षो मे केवल १ वर्ष की वृद्धि की।[1] भारत में पैदा होने वाले १००० व्यक्तियों में ४५ व्यक्ति ५ वर्ष की आयु से पूर्व ही मर जाते है जबकि पश्चिमी यूरोप के देशो में केवल १४-१५ ही मरते है।

मृत्यु-निवारण कारणो के ऊपर अधिकार तथा रहने की अच्छी परिस्थितियो के कारण यूरोपीय देशो में औसत आय निश्चित रूप से बढ रही है जबकि भारत की आर्थिक स्थिति ज्यो-की-त्यो है तथा यूरोपीय देशो की-सी प्रगति यहाँ नही हो सकी। भारत में औसत आयु के कम होने का अर्थ यह है कि अनेक अनुभव-प्राप्त और समझदार व्यक्ति उस उम्र में जीवन खो बैठते है, जब उनमें राष्ट्र की सेवा करने की अधिकतम शक्ति होती है।

भारत मे मृत्यु-दर की दो महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ अत्यधिक शिशु-मृत्यु तथा प्रजनन-आयु में स्त्रियो की अत्यधिक मृत्यु है। भारत में शिशु-मृत्यु किसी भी सभ्य देश की तुलना में अधिक है। लगभग २० प्रतिशत बच्चे १ वर्ष की आयु से पहले ही मर जाते है, और इस प्रकार शिशु-मृत्यु-दर सभी आयु-वर्गो की कुल मृत्यु-दर की २० प्रतिशत है। बडे शहरो की गन्दी परिस्थितियो के कारण वहाँ अत्यधिक शिशु-मृत्यु होती है। उदाहरण के लिए बम्बई मे शिशु-मृत्यु-दर २७४ प्रति हजार है जबकि लन्दन में यह दर ६६ प्रति हजार है। किसी समय यूरोप मे भी शिशु-मृत्यु भारत के समान ही अधिक थी, परन्तु इस शताब्दी में शिशु-मृत्यु-दर मे उल्लेखनीय कमी हुई,

काउन्सिल ऑफ एग्रीकल्चरल रिसर्च) के अक-शास्त्री डॉ० पी० वी० सुखात्मे के हम आभारी हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि यह दरें जनगणना के वर्षो से पहले जितनी वास्तव में होनी चाहिएँ, उससे अधिक हैं। उदाहरण के लिए सन् १९३० की सशोधित जन्म-दर ३२.९ है जबकि तालिका में यह ३५.९९ है। इसी प्रकार इस वर्ष की सशोधित मृत्यु-दर तालिका की २६.८५ दर के बजाय २४.६ है। सन् १९३१ के बाद सशोधन की आवश्यकता नही है, क्योंकि जनसख्या की वार्षिक वृद्धि को ध्यान में रखा गया है।

१. वड्रल, पृ० ७१-२।

जैसा कि इगलैण्ड और वेल्स के लिए दी हुई निम्न तालिका से प्रकट होता है :

अवधि	एक वर्ष से कम आयु मे मृत्यु प्रति हजार	अवधि	एक वर्ष से कम आयु में मृत्यु प्रति हजार
१८५०-५	१५६	१९११-१५	११०
१८७०-५	१५३	१९१६	८०
१८९१-५	१५१	१९२४	७५
१८९६-१९००	१५६	१९२५	७५
१९०२-५	१३८	१९२६	७०
१९०६-१०	११७	१९३२	६०

इसके विपरीत नीचे दी हुई तालिका से भारत में शिशुओ की मृत्यु स्थिति प्रकट होती है—

वर्ष	एक वर्ष से कम आयु मे मृत्यु, प्रति हजार		वर्ष	एक वर्ष से कम आयु में मृत्यु, प्रति हजार	
	पुरुष	स्त्री		पुरुष	स्त्री
१९११	२१४	१९६	१९१८	२७४	२६०
१९१२	२१६	१९९	१९१९	२२८	२२०
१९१३	१९३	१९७	१९२०	२०१	१८८
१९१४	२१९	२०४	१९२२	१८३	१६६
१९१५	२०८	१९५	१९२५	१८१	१६७
१९१६	२०९	१९५	१९२८	१८१	१६४
१९१७	२१२	१९८	१९३१	१८८	१७०

शिशु-मृत्यु की यह ऊँची दर किसी प्रकार भी पश्चिमी देशो के समान कम होती नही दिखाई देती। कुछ अशो तक यह बाल-विवाह प्रथा के कारण है, जो माँ की जीवन-शक्ति कम कर देते है और इसी प्रकार बच्चे की भी। काम करने के लिए माँ का बच्चो को अफीम खिलाना तथा अच्छे दूध का पर्याप्त मात्रा में न मिलना भी इसका कारण है। ये कारण शहरो में तो विशेष रूप से विद्यमान है ही परन्तु गाँव भी उनसे अछूते नही। इन सबके अतिरिक्त तथा सबसे महत्त्वपूर्ण कारण जनता की घोर गरीबी है। भारतीय मृत्यु-दर की दूसरी विशेषता प्रजनन-आयु की स्त्रियो की अत्यधिक मृत्यु है। इसके कारणो का विश्लेषण हम पहले ही कर चुके है, अत. इस विषय पर टीका-टिप्पणी करने की अब कोई आवश्यकता नही है।

११. जनसंख्या की वृद्धि—यदि हम पिछले ५० वर्षो पर विचार करें, जिनकी जनगणना के आँकडे प्राप्य है, तो पता चलेगा कि जनसख्या की वृद्धि की गति प्रत्येक दशक में बहुत धीमी रही है। कारण यह है कि ऊँची जन्मदर के साथ ही मृत्यु-दर भी करीब-करीब वैसी ही ऊँची रही है और इसलिए यूरोप की अपेक्षा यहाँ जीवन-दर कम है। यह ठीक है कि यूरोप मे जन्म-दर कम है परन्तु वहाँ की मृत्यु दर और भी कम है। सन् १८७२ और १९२१ के बीच भारत की जनसंख्या केवल २० प्रतिशत बढी। सन् १९११ की जनसख्या ३१५,५६,३९६ थी जो १९२१मे बढकर ३१८,९४२,४८० हो गई, अर्थात्

१ २ प्रतिशत वढी । सन् १६१८ में चारो ओर वर्षा न होने तथा इनफ्लुएञ्जा की महामारी के महानाश के कारण ही (जिसने पिछले सात वर्षो मे हुई जनसख्या की वृद्धि को लगभग समाप्त कर दिया) १६११-२१ की वृद्धि-दर बहुत नीची रही । अनुमान है कि इनफ्लुएञ्जा मे लगभग १४० लाख लोगो की मृत्यु हुई थी । नीचे दी हुई तालिका मे जनसख्या की अनियमित गति देखी जा सकती है—

सख्या मे वृद्धि

जनगणना-वर्ष	जनसख्या (करोडो मे)	पिछली जनगणना मे प्रतिशत परिवर्तन
१८७२ वर्मा सहित	२० ६१६	·
१८८१	२५ ३८६	+२३ २
१८९१	२८ ७३१	+१३ २
१९०१	२९ ४३६	+ २ ५
१९११	३१ ५१५	+ ७ १
१९२१	३१ ८९४	+ १ २
१९३१	३५ २८	+१० ६
१९४१	४० ५८२	+१५
१९५१	३५ ६	—१४[1]

जनसख्या की वृद्धि की वास्तविक दर जानने के लिए हमें क्षेत्रफल की वृद्धि तथा जनगणना विधि के सुधारो से हुई वृद्धि को भी ध्यान मे रखना होगा । इन कारणो से हुई वृद्धि के लिए उचित छूट देने पर हम निम्न निष्कर्ष पर पहुँचते है जो वृद्धि की वास्तविक दर दिखाते है [2]

अवधि	नये क्षेत्र सम्मिलित करने के कारण वृद्धि	जनगणना-विधि मे सुधार से हुई वृद्धि	वास्तविक वृद्धि	कुल योग	वास्तविक वृद्धि की प्रतिशत दर
	(लाखो में)	(लाखो मे)	(लाखो में)	लाखो मे	
१८७२-८१	३३०	१२०	३०	४८०	१ ५
१८८१-९१	५७	३५	२४३	३३५	९ ६
१८९१-१९०१	२७	२	४१	७०	१ ४
१९०१-१९११	१८		१८७	२०५	६ ४
१९११-१९२१	१	·	३७	३८	१ २
१९२१-१९३१	०		३४०	३४०	१० ६
योग	४३३	१५७	८७८	१४६८	३० ७

जबकि भारत में १८७० और १९३० के बीच जनसख्या की वृद्धि ३० प्रतिशत थी, तब यूरोप में यह ६० प्रतिशत थी ।

जिस अवधि मे भारत की वृद्धि-दर अत्यन्त कम है उसमें अकाल, प्लेग, महामारी

१ भारत का विभाजन होने से भारत की जनसख्या सन् १९४१ की अविभाजित भारत की जनसख्या की तुलना में घट गई है, इसलिए सन् १९५१ का प्रतिशत परिवर्तन ऋणात्मक है ।

२. सेन्सस ऑफ इण्डिया (१९२१), खण्ड १, पृ० ७ और इण्डिया इन १९३०-१, पृ० १४६ ।

आदि घटनाएँ हुई है, जिन्होने स्वाभाविक वृद्धि को बहुत कम कर दिया है। उदाहरण के लिए सन् १८७६-८ में दक्षिण भारत में भयानक अकाल पडा तथा १८९० और १९०० में प्लेग और अकाल ने वृद्धि के रोकने मे एक दूसरे का साथ दिया।

सन् १९०१ से १९११ तक के समय को कृपि की मध्यम सम्पन्नता का समय कहा जाता है। यदि प्लेग और मलेरिया महामारी के रूप में उत्तर प्रदेश और पजाब में अत्यधिक मृत्यु के कारण न बनते तो जनसख्या में काफी वृद्धि होती। सन् १८८१ से १८९१ का दशक ही ऐसा समय था जिसमे कोई भयानक विपत्ति नही आई। अतः यह भी कहा गया है कि वृद्धि की ९६ प्रतिशत दर असाधारण है तथा जनसख्या की सामान्य वृद्धि के जानने के लिए उसमे कुछ कमी अवश्य करनी चाहिए। परिस्थितियो के विशेप रूप से अनुकूल या प्रतिकूल न होने पर जो वृद्धि होती है उसे सामान्य वृद्धि कहते है। सन् १९२१ के जनगणना कमिश्नर ने विकास की स्थिति को देखते हुए तथा अपवादस्वरूप आने वाली आपत्तियो को छोडकर एक दशक में जनसख्या की सभाव्य स्वाभाविक वृद्धि ७ या ८ प्रतिशत मानी थी।[1] यह अनुमान सम्भवत कम है। सन् १९१८ की इनफ्लुएजा महामारी के बावजूद भी, जिसने प्रजनन-आयु की जनसख्या को विशेष रूप से प्रभावित किया था, सन् १९२१ और १९३१ के बीच सम्पूर्ण भारत में वास्तविक वृद्धि १०.६ प्रतिशत थी।

इसके विपरीत सन् १९३१ से पूर्व दशक में, जो जनसख्या की वृद्धि के लिए विशेष रूप से अनुकूल था, जनसख्या की वृद्धि ३४० लाख थी। इस दशक में कोई बडा अकाल नही पडा तथा हैजा प्लेग, और काला अजार जैसी महामारियो को रोकने की विधियो में भी सुधार हो रहा है।[2] सन् १९३१ की तुलना मे सन् १९४१ में लगभग ५०० लाख की वृद्धि हुई। सन् १९४१ मे भारतीय सघ के क्षेत्र की जनसख्या लगभग ३१८९ लाख थी।[3] सन् १९५१ में यह ३५६८ लाख थी। अत सन् १९४१ की तुलना में भारतीय सघ (विभाजित भारत) की जनसख्या में ३७९ लाख की वृद्धि हुई। सन् १९५१ की जनगणना के अनुसार जनसख्या की प्राकृतिक वृद्धि-दर १ ३ प्रतिशत है। आधुनिक समय में भारतीय जनसख्या की वृद्धि का कारण आर्थिक विकास न होकर राजनीतिक सुरक्षा है। यदि युद्धोत्तर योजना से वाञ्छित आर्थिक विकास सम्भव हो सका तो इसका प्रत्यक्ष परिणाम यह होगा कि मृत्यु-दर काफी कम हो जायगी, परन्तु जन्म-दर में इस प्रकार की कोई कमी न होगी। इसके फलस्वरूप जीवन-दर बढ जायगी और जनसख्या अनुमानित दर से भी—उदाहरण के लिए बम्बई योजना (बाम्बे प्लान) की दर—अधिक तेजी से बढेगी। बम्बई योजना में अनुमानित ५० लाख प्रति वर्ष की वृद्धि के बजाय देश में जनसख्या की वृद्धि सम्भवत १०० लाख प्रतिवर्ष या उससे भी अधिक होगी।

---

१. सेन्सस ऑफ इण्डिया (१९२१) खण्ड १, पृ० ४८।

२. सन् १९२१-३१ में प्रारम्भ किया हुआ इलाज काला अजार को दस या उससे भी कम दिनों में ठीक कर देता है—सेन्सस ऑफ इण्डिया (१९३१), खण्ड १, प० ७।

३ देखिए, इण्डिया एट ए ग्लान्स, पृ० ९९।

१२ भारत में जनाधिक्य की समस्या—जनसख्या की अनियन्त्रित वृद्धि ही भारत की गरीबी का प्रमुख कारण है। भारत में इस प्रश्न पर बहुत वाद-विवाद हुआ है। ब्रिटिश सरकार का मत यही था कि भारत की गरीबी का बहुत बडा कारण जनाधिक्य है, परन्तु राजनीतिज्ञ इसका विरोध करते थे, क्योंकि इसके मानने का अर्थ अग्रेजो को भारत की गरीबी के दोष और दायित्व से मुक्त करना था।

जनाधिक्य को एक स्थिति या प्रवृत्ति-रूप माना जा सकता है और सबसे अच्छा तो यह होगा कि उसे अनुकूलतम जनसख्या की धारणा से सम्बन्धित कर दिया जाय। इसे कैनन ने इस प्रकार समझाया है, "किसी भी दिये हुए समय मे अर्थात् ज्ञान और परिस्थितियो के समान रहने पर अधिकतम प्रत्युपलब्धि का एक विन्दु होता है। उस समय श्रम की मात्रा ऐसी होती है कि उसमे वृद्धि या कमी करने पर प्रत्युपलब्धि अनुपात के अनुसार ही कम हो जायगी। जिस प्रकार किसी एक उद्योग में अधिकतम प्रत्युपलब्धि का विन्दु होता है, उसी प्रकार सभी उद्योगो के मिला लेने पर भी एक अधिकतम प्रत्युपलब्धि विन्दु होगा। यदि जनसख्या इतनी अधिक नही है कि सारे उद्योग इस बिन्दु तक पहुँच जायँ तो प्रत्युपलब्धि कम होगी, उस समय जनसख्या की वृद्धि ही उपाय है। इसके विपरीत यदि जनसख्या इतनी अधिक है कि इस विन्दु का अतिक्रमण हो चुका है तो उपाय जनसख्या को कम करना है।"[1] जनाधिक्य का अर्थ जनसख्या का अनुकूलतम आकार से अधिक होना है।

जनसख्या के वढने से श्रम-शक्ति में वृद्धि होती है जिसके परिणामस्वरूप सामान्यत कुल धन में वृद्धि होती है, परन्तु महत्वपूर्ण प्रश्न तो यह है कि (धन की) यह वृद्धि जनसख्या की वृद्धि की समानुपाती है या नही ताकि प्रत्येक व्यक्ति का भाग कम-से-कम पूर्ववत् वना रहे। यह सच है कि प्रत्येक व्यक्ति के पास खाने के लिए मुँह के साथ ही काम करने के लिए दो हाथ भी होते है, परन्तु प्रश्न यह है कि यह हाथ उसका सम्पूर्ण भार सँभालने में समर्थ भी होगे। जब जनसख्या की वृद्धि इस प्रकार की हो कि उससे प्रति व्यक्ति आय कम होने की सम्भावना हो, तो हम इसे जनाधिक्य की प्रवृत्ति कहते है। यह मानने के लिए पर्याप्त कारण है कि वर्तमान जनसख्या के कम होने से प्रतिव्यक्ति आय वढ जायगी, तो इसे हम जनाधिक्य की दशा कहते है।[2] जनाधिक्य की प्रवृत्ति और दशा का साथ-साथ होना कोई असाधारण वात नही है। भारत मे आज निश्चय ही यह स्थिति है। माल्थस मनुष्यो की सख्या वढने की शक्ति के अनुमान मे मूलत सही था और उसका यह सुझाव भी सही था कि यदि जनन-शक्ति का पूरा उपयोग किया जाय तो अपवादस्वरूप अत्यन्त अनुकूल परिस्थितियो को छोडकर जीवन-निर्वाह के साधन जनसख्या की वृद्धि से पीछे रह जायँगे। उदाहरण के लिए गणना की गई है कि वृद्धि के वर्तमान अनुपात से, जो नैसर्गिक और प्रतिवन्धक निरोधो से अत्यधिक नियन्त्रित है तथा किसी प्रकार भी अधिकतम दर नही है, स्त्री-पुरुष का एक जोडा १७५० वर्षो मे दुनिया की वर्तमान जन-

१. ई कैनन वैल्थ, पृ० ६८ ९।
२. देखिए, पी. एस फ्लोरेन्स, ओवर पॉपुलेशन, पृ० ११

सख्या के बराबर सन्तति उत्पन्न कर सकता है। मानव की जनन-क्षमता इतनी अधिक है कि यदि उसका पूर्ण उपयोग किया जाय तो यह बहुत सम्भव है कि धनोत्पत्ति किसी भी सीमा तक की प्रगति पीछे रह जाय। इसलिए यदि किसी पुराने देश के बारे मे अनियन्त्रित प्रजनन की बात निश्चित रूप से कही जा सके, तो यह उस देश के जनाधिक्य का पुष्ट प्रमाण माना जा सकता है। जनाधिक्य के लक्षण जन्म तथा मृत्यु-दर—विशेषकर शिशु मृत्यु-दर—का ऊँचा होना है।

उपर्युक्त विवाद के अनुसार अब हम इस प्रश्न पर विचार कर सकते हैं कि भारत में जनाधिक्य एक प्रवृत्ति या दशा या दोनो ही रूपो मे विद्यमान है अथवा नही। इस सम्बन्ध मे प्रमुख विचारणीय बात यह है कि भारत मे जनसख्या की वृद्धि के रोकने के लिए प्रतिबन्धक निरोधो का प्रभावपूर्ण प्रयोग होता है या नही। यदि हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि वे यहाँ प्रयुक्त ही नही होते या उनका प्रभाव नगण्य है तथा जनसख्या मुख्यत प्राकृतिक विरोधो द्वारा ही नियंत्रित है, त। देश में वर्तमान दोष के रूप में जनाधिक्य की बात दृढता से सिद्ध हो जाती है।

१३. प्रतिबन्धक निरोध—जनसख्या की वृद्धि रोकने वाले विभिन्न प्रतिबन्धक निरोधो को निम्न प्रकार से वर्गीकृत किया जा सकता है[१]—(i) देर में विवाह करने या अविवाहित रहने के कारण विवाह-दर का न्यून होना, (ii) प्रतिविवाह अवन्ध्यता का कम होना, (क) प्राकृतिक—जनन-क्षमता का कम होना (ख) परिस्थितिजन्य, पति की अनुपस्थिति आदि, (ग) विचारपूर्वक किये गए कार्य परहेज़, आत्म-सयम, गर्भ-निरोधक वस्तुओ का प्रयोग, ऐच्छिक गर्भपात, इत्यादि, (iii) कुछ सामाजिक रीतिरिवाज तथा आदतें—उदाहरणार्थ बच्चो को अधिक समय तक दूध पिलाना, कुलीन प्रथा इत्यादि, (iv) शिशु-हत्या, (v) गरीबी, बीमारी आदि।

अब हम यह देखने की चेष्टा करेंगे कि भारत में इनमें से एक या अधिक प्रतिबन्ध किस सीमा तक प्रयोग में लाए जाते है।

१४. भारत में विवाह-दर—इस सम्बन्ध में पहली बात सम्पूर्ण भारत में विवाहित दशा का पाया जाना है। पश्चिम, में धर्म कभी-कभी अविवाहित रहने का आदेश देता है, परन्तु भारत में धार्मिक आदेश विवाह के पक्ष मे है। 'प्रत्येक हिन्दू को विवाह और सन्तानोत्पत्ति करना चाहिए ताकि पुत्र उसकी अन्त्येष्ठि-क्रिया कर सकें और उसकी आत्मा पृथ्वी के शून्य भागो में अशान्त होकर न भटके।'[२] सामाजिक निन्दा से बचने के लिए लडकियो का विवाह रजस्वला होने से पहले ही कर देना चाहिए।[३] यद्यपि मुसलमानो और अनीमियो को शादी के सम्बन्ध में धर्म विवश नही करता, परन्तु विवाहो का शीघ्र होना वहाँ भी प्रचलित है। सयुक्त परिवार की प्रथा इसे और प्रोत्साहित

१. फ्लोरेन्स, पूर्व उद्धृत, पृ० १८।
२. वट्टल, पूर्व उद्धृत पृ० २३।
३. यदि उच्च वर्ण की हिन्दू कुमारी रजस्वला होने पर भी अविवाहित रहती है, तो उसकी यह दशा परिवार को सामाजिक निन्दा का पात्र बना देती है और धर्म ग्रन्थों के वचनों के अनुसार पूर्वजों की पिछली तीन पीढियां तक नरक की भागी होती हैं।—एच० रिसले, पीपुल ऑफ इण्डिया, पृष्ठ १५४।

करती है। नवविवाहित दम्पति के लिए परिवार के साधन अनिश्चित समय तक उपलब्ध होने के कारण भारत मे उन विचारो का कोई प्रभाव नही है जिनके कारण यूरोप मे विवाह स्थगित करने पडते हैं। इसके अतिरिक्त अत्यधिक गरीबी आम जनता में आर्थिक कारणों से विवाह को रोकने के बजाय प्रोत्साहित करती है, क्योंकि घरेलू काम के लिए पत्नी आवश्यक है तथा कभी-कभी वह बाहर के काम में भी पति की मदद करती हैं। बच्चे भी किसी-न-किसी काम पर लगा दिये जाते हैं और जैसे ही सम्भव होता हैं कमाना आरम्भ कर देते हैं। वे भार नही समझे जाते, क्योंकि जीवन का प्रचलित स्तर निम्नतम है, जहाँ छोटी आय ही काफी है तथा बच्चो के लिए किसी प्रशिक्षण की अपेक्षा नही करता। कम आयु वालो के काम की शक्ति को शीघ्र ही प्रयोग मे लाने से होने वाले सामाजिक अपव्यय पर साधारणत ध्यान नही दिया जाता। यदि इस पर ध्यान दिया भी जाय, तो अत्यधिक गरीबी के कारण माता-पिता बच्चो को जिन्दा रहने के लिए आवश्यक प्रशिक्षण नही दे सकते और न उनको उसके लिए कुशल बना सकते हैं।

सन् १९३१ की जनगणना की कुल जनसख्या ३५२,८३७,७७८ में से विवाहित पुरुषो की सख्या ८४,२०८,४६७ (४७ प्रतिशत) तथा विवाहित स्त्रियो की सख्या ८३,६०७,२२३ (४९ प्रतिशत) थी। ८६,३३८,००१ (४८ प्रतिशत) पुरुष तथा ५९,६६८,०४३ (३५ प्रतिशत) स्त्रियाँ अविवाहित थी, शेष विधुर थे।[१] सन् १९५१ की जनगणना में (विस्थापित व्यक्तियो को छोडकर) हर दस हजार व्यक्तियो मे ५,१३३ पुरुष तथा ४८६७ स्त्रियाँ हैं। इनमे से २,५२१ पुरुष और १,८८६ स्त्रियाँ अविवाहित हैं। अविवाहित स्त्री और पुरुषो की सख्या मिला देने पर कुल जनसख्या का ४१ १ प्रतिशत भाग अविवाहित है।

अन्य देशो की तुलना में अविवाहित स्त्री-पुरुषो का अनुपात भारत में सबसे कम है। बाल-विवाह प्रचलित है—लडको की विवाह-आयु लडकियो से कुछ अधिक होती है।[२] (बाल-विवाह के आँकडे स्पष्टतया कम हो रहे हैं। १५ वर्ष से कम आयु वाली विवाहित लडकियो का अनुपात सन् १९४१ में ९ ६ प्रतिशत था जबकि १९५१ मे यह अनुपात ७ ४ प्रतिशत था)। यदि हम इगलेण्ड और वेल्स के आँकडो को पश्चिमी यूरोप का प्रतिनिधि मान लें तो यूरोप की तुलना मे प्रान्तीय विभिन्नताओ के बावजूद भी भारतीय विवाह-दर बहुत ऊँची है। 'पुरुष जनसख्या में ४८ प्रतिशत अविवाहित हैं जिनमें तीन चौथाई से कुछ अधिक (७७ प्रतिशत) १५ वर्ष की आयु से कम हैं जबकि अविवाहित स्त्रियो में ९१ प्रतिशत इस आयु से कम हैं। १५ वर्ष से ४० वर्ष

१. इन आकडों में विवाहित पुरुषों का अनुपात विवाहित स्त्रियों के अनुपात से अधिक है जबकि इससे पूर्व की जनगणनाओं में विवाहित स्त्रियों का अनुपात अधिक था। डा० हटन का कहना है कि १ अप्रैल सन् १९३० से लागू शारदा कानून के अन्तर्गत मुकदमा चलाये जाने के भय से सन् १९३१ की जनगणना में बडी सख्या—लगभग १२½ लाख—विवाहित स्त्रियो को अविवाहित ही बताया गया।

२ यद्यपि बाल-विवाह कानून (शारदा कानून) जिसने लडकियों की विवाह-आयु को बढा दिया है, स्वागत योग्य है, परन्तु मनुष्यों की सख्या के दृष्टिकोण से उसका प्रभाव नगण्य होगा, क्योकि वह अत्यधिक अवश्य आयु—१५ से २० वर्ष की आयु —को प्रभावित नही करता।

तक के प्रजनन-काल की आयु मे अविवाहित स्त्रियो का अनुपात केवल ५ प्रतिशत रह जाता है जबकि इगलैण्ड और वेल्स में यह अनुपात ३६ प्रतिशत है ।'[1]

हाल में ही स्त्रियो और पुरुषो मे देर मे विवाह करने की प्रवृत्ति बढती जा रही है, परन्तु यह केवल शिक्षित समाज तक ही सीमित है जो सख्या में नगण्य है। आम जनता में अभी यह बात नही आई है। इसके अतिरिक्त देर में विवाह करने की प्रवृत्ति पुरुषो में ही विशेष रूप से पाई जाती है। जनसख्या को सीमित करने के लिए देर में विवाह करना बहुत ही प्रभावपूर्ण तरीका है, यदि वह लडको की अपेक्षा लडकियो पर अधिक लागू किया जाय। एक दूसरे दृष्टिकोण से प्रश्न यह उठता है—जब तक कि विवाह बहुत ही देर में न किया जाय उसको स्थगित करने से जनसख्या घटने के बजाय बढने तो नही लगेगी ? विवाह के जल्दी होने से दम्पति के—विशेषकर पत्नी के—स्वास्थ्य पर पडे हुए घातक प्रभाव अवन्ध्यता को कम कर देते है जो देर में विवाह करने से बढने लगेगी। शीघ्र विवाह का बहिष्कार सामाजिक सुधार का एक महत्त्वपूर्ण अग होना चाहिए, परन्तु उससे जनसख्या की तीव्र वृद्धि भी हो सकती है, जब तक कि विवाह की औसत आयु, विशेषकर स्त्रियो के लिए, काफी न बढा दी जाय और अन्य निरोध प्रयोग मे न लाये जायँ।

अब हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि जनसख्या की वृद्धि रोकने के लिए विवाह न करना या देर से विवाह करना, भारत में नही के बराबर है तथा पशु-प्रवृत्तियाँ जिन्हे अशत धार्मिक मान्यता भी प्राप्त है, पूर्णतया स्वतन्त्र है। अत इसमे कोई आश्चर्य नही कि भारतीय जन्म-दर दुनिया की सबसे ऊँची दरो में से है।

१९. अवन्ध्यता का कम होना : (क) प्राकृतिक—अत्यधिक ऊँची जन्म-दर होने के बावजूद भी भारत में जनसख्या की यथार्थ वृद्धि यूरोपीय देशो से बहुत कम है। इसका कारण मृत्यु-दर का बहुत ऊँचा होना है। कभी-कभी कहा जाता है कि यह भारतीयो की जनन-क्षमता की हीनता के कारण है। प्रजनन-आयु की विवाहित स्त्रियो की अवन्ध्यता १६० प्रति हजार है जबकि इगलैण्ड[2] में १९६ प्रति हजार है। सभ्यता की उन्नति के साथ जनन-क्षमता बढ जाती है, इस सिद्धान्त का समर्थन उपर्युक्त उदाहरण से किया जाता है।[3] जनन-क्षमता और अवन्ध्यता में सावधानी से अन्तर करना आवश्यक है।

---

१. वकील, पूर्व उद्धृत, पृ० २४।

२. देखिए, कार-सॉण्डर्स, द पॉपुलेशन प्रॉब्लम, पृ० ६७।

३. जनन-क्षमता और अवन्ध्यता में सावधानी से अन्तर न करने के कारण बहुधा भ्रम उत्पन्न हो जाता है। उदाहरण के लिए जब यह कहा जाता है कि मुसलमानों की जनन-क्षमता हिन्दुओं से अधिक है, तो अर्थ यह होता है कि मुसलमान हिन्दुओं की अपेक्षा अधिक तेजी से बढ़ रहे हैं। परन्तु केवल इतने से ही मुसलमानों की अधिक जनन-क्षमता नहीं सिद्ध होती। मुसलमानों की ऊँची वृद्धि-दर के अन्य अनेक कारण हैं, उदाहरण के लिए कम आयु की विवाह-प्रथा का कमजोर होना (इस प्रथा से स्वास्थ्य खराब हो जाता है और अवन्ध्यता कम हो जाती है, विधवा-विवाह का प्रचलन जो हिन्दुओं की अपेक्षा मुसलमानों में अधिक प्रचलित है तथा कुलीनता का न होना इत्यादि।) मुसलमानों की अधिक वृद्धि-दर जो जनगणनाओं में क्रमश दृष्टिगोचर हुई है अशात हिन्दुओं द्वारा इस्लाम धर्म को स्वीकार करने तथा हिन्दुओं की अपेक्षा मुसलमानों द्वारा कम सख्या में ईसाई धर्म को स्वीकार करने के कारण भी है। सन् १९३१

जनन-क्षमता का प्रयोग प्रजनन-शक्ति के अर्थ में किया जाता है और अवन्ध्यता का अर्थ वास्तविक प्रजनन से होता है। उदाहरण के लिए जब हम कहते है कि भारतीयों की जनन-क्षमता कम है तो इसका अर्थ यह नही है कि कुल जनसंख्या के अनुपात में यहाँ प्रति वर्ष कम बच्चे पैदा होते है, यह तो नितान्त असत्य है। इसका अर्थ यह है कि अन्य वातो के समान रहने पर एक अंग्रेज स्त्री की तुलना मे एक भारतीय स्त्री प्रजनन-काल में अपेक्षाकृत कम बच्चो को जन्म दे सकती है। इगलैण्ड मे प्रजनन-शक्ति पूर्णतया प्रयोग में नही आती, क्योकि भारत की अपेक्षा वहाँ अविवाहित रहना और देर मे शादी करना अधिक प्रचलित है। अत भारत की हीन जनन-क्षमता का सिद्धान्त ऊँची जन्म-दर के तथ्य के विरोध मे नही है।

कहा जाता है कि अवन्ध्यता का यह अन्तर भारत मे प्रचलित बाल-विवाहो से ही स्पष्ट नही किया जा सकता। यद्यपि इसमें सन्देह नही है कि अवन्ध्यता कम करने के यह महत्त्वपूर्ण कारणो मे से एक है, परन्तु यह भी मानना पडेगा कि यूरोप में प्रतिबन्धक निरोधो का अत्यधिक प्रचलन इससे कही अधिक प्रभावशाली है और इसलिए भारत मे अवन्ध्यता का कम होना (अर्थात् प्रति स्त्री बच्चो की सख्या) यूरोपीय जातियो की तुलना में भारतीयो की जनन-क्षमता कम होने के कारण ही है। फिर भी सभ्यता की प्रगति और जनन-क्षमता की वृद्धि को सम्बन्धित करने वाला सिद्धान्त एक अनुमान-मात्र है जिसकी पर्याप्त पुष्टि किसी अकाट्य प्रमाण से अभी तक नही हुई है। सामान्यत स्वीकृत विचार यह है कि जनन-क्षमता मानसिक और भौतिक विकास के साथ घटती जाती है, परन्तु उपर्युक्त सिद्धान्त इसके विपरीत है।

(ख) परिस्थितिजन्य—कभी-कभी पति और पत्नी एक-दूसरे से काफी समय तक अलग रहते हैं। उदाहरण के लिए यदि वर्षा न हो तो पति परिवार को छोडकर महीनो बाहर घूमता रहता है। परन्तु ऐसा कभी-कभी होता है और इसलिए अवन्ध्यता कम करने की दिशा में उसके प्रभाव पर विचार करने की आवश्यकता नही है।

(ग) विचारपूर्वक किये गए कार्य—माल्यस द्वारा बताये गए नैतिक परहेज का कोई विशेष प्रयोग नही किया जाता और यह बात माल्थस की परम्परा के आधुनिक तरीको पर भी लागू होती है। ऐसा सकारण विश्वास किया जा सकता है कि बडे शहरो में उच्च-मध्यम-वर्ग वालो में इनका प्रयोग बढता जा रहा है तथा भविष्य में इनके और अधिक प्रयोग की आशा की जा सकती है। परन्तु वर्तमान समय मे जन्म-दर को कम करने में इसका प्रभाव लगभग नही के बराबर है।

स्वेच्छा से गर्भपात तो कुछ हद तक किये जाते है, परन्तु कानून द्वारा इस प्रथा

और १६४१ की जनगणनाओं में मुसलमानों की सख्या के आकड़ों के अतिरंजित होने की सम्भावना को भी नही भुला देना चहिए। पहले की जनगणनाओं के बायकाट में मुसलमानों की अपेक्षा हिन्दुओं ने अधिक भाग लिया है तथा सन् १६४१ की जनगणना में अनेक कारणों से, जिनमें अधिकारियो का पक्षपात भी एक कारण है, मुसलमानों ने अपने-आपको अधिक सख्या में गिनवाया। अधिकाश मुसलमान जाति के दृष्टिकोण से हिन्दुओं के समान ही हैं, अत मुसलमानों की जनन-क्षमता हिन्दुओं से अधिक है, इस बात को शीघ्र ही बिना सोचे समझे स्वीकार न करना चाहिए।

को सगीन अपराध मानना उचित ही है। जनसख्या की वृद्धि रोकने में इसका प्रभाव तेज़ी से घटता जा रहा है।[1]

१६. सामाजिक रीति-रिवाज (स्तन-पान इत्यादि)—भारत मे अधिक समय तक स्तन-पान कराने की प्रथा आम तौर से प्रचलित है और यह सर्वसाधारण के मत से, जिसमे डाक्टरो का साक्ष्य भी है, गर्भ धारण करने की शक्ति कम कर देती है। यूरोप में सौन्दर्य-रक्षा की भावना से माताएँ कभी-कभी बच्चो को स्तन-पान बिलकुल नही करने देती और यदि स्तन-पान कराती है तो भारत की अपेक्षा बहुत जल्द बन्द कर देती है। विशेषज्ञ चिकित्सको के अनुसार नौ महीने या एक साल से अधिक स्तन-पान माँ और बच्चा दोनो के लिए ही हानिप्रद है। यूरोपीय माताओ का इससे बचने का यह एक और कारण है। परन्तु भारत में इस प्रथा के प्रचलन को जनसख्या रोकने का कारण अवश्य मानना चाहिए।

हम पहले ही कह चुके है कि भारत में जनसख्या रोकने के लिए विवाहित जीवन में सभोग से ऐच्छिक परहेज नही के बराबर है। हाँ, कुछ धार्मिक आदेश कुछ समयो पर परहेज अनिवार्य कर देते है। उदाहरण के लिए मनु का आदेश है कि द्वितीया और पूर्णिमा (तिथियो) के दिन पति-पत्नी को अलग रहना चाहिए। अनेक आधुनिक प्रभावो के कारण ऐसे नियमो का पालन धीरे-धीरे कम होता जा रहा है। इसके अतिरिक्त यह बहुत समय तक अलग रहने के लिए बाध्य नही करते और वास्तव में उनका प्रभाव नगण्य है।

कुलीन-प्रथा भारत के कुछ भागो में, उदाहरणार्थ पूर्वी बगाल में, अब भी प्रचलित है और कुछ सीमा तक यह जनसख्या की वृद्धि अवश्य रोकती है। इसके अनुसार एक लडकी समाज में अपने बराबर या हीन जाति के व्यक्ति से विवाह नही कर सकती। वह केवल अपने से उच्च वर्ण मे ही विवाह कर सकती है। उच्च वर्ण के वरों की सख्या सीमित होने के कारण, वे अत्यधिक प्रतिस्पर्धा का विषय बन जाते है और इससे ऊँचे दहेज़ तथा बहु-विवाह जैसी कुप्रथाओ का जन्म होता है।[2]

विधवा-विवाह का निषेध जनसख्या की वृद्धि पर एक नगण्य निरोध नही है। इससे गर्भ धारण करने योग्य लगभग ६० लाख स्त्रियो का 'सामाजिक वन्ध्यीकरण' हो जाता है। अगर यह निषेध बन्द हो जाय तो वृद्धि की दर लगभग ६ प्रति हज़ार

१. गर्भपात बहुधा जुर्म तथा नीतिविरुद्ध जन्म छिपाने के लिए ही अपनाया जाता है। विहित जन्मों को रोकने के लिए अधिकतर लोग उसे पसन्द नहीं कर सकते।

२. मैं ऐसे दो कुलीनों को जानता हूँ जिनमें से एक के साठ पत्नियाँ थीं तथा दूसरे के सौ से भी अधिक। दोनों एक पुस्तक रखते थे जिसमें वे अपनी विवाहित पत्नियों के पिताओं के नाम लिखते थे। शीत ऋतु प्रारम्भ होने पर वह किताब लेकर अपनी ससुराल-यात्रा पर चल देते थे तथा जिन पत्नियों के यहाँ जाते थे उनके पिता से उसकी परिस्थिति के अनुसार रुपया इकट्ठा करते हुए शेष दिन अपने गाँव में बिताने के लिए गरमी के प्रारम्भ में लौट आते थे।—बाबू अभयचन्द्रदास, रिसले द्वारा उद्धृत, पृ० १६६-१६७। कुलीन-प्रथा इस भयानक रूप में अब प्रचलित नहीं है, परन्तु वह समाप्त भी नहीं हुई है। रिसले ने कुलीन-प्रथा के आधुनिक विकास का भी हवाला दिया है जो बगाल के विवाह-बाजार में ग्रेजुएट वरों की मांग के कारण हुआ है।

की दर से बढ जायगी ।

१७. शिशु-हत्या—कभी-कभी उपर्युक्त प्रकार मे लडकी की शादी करने की कठिनाइयाँ शिशु-हत्या (लडकियो की) का कारण बनती है । लडकियो के रजस्वला होने मे पूर्व ही उनकी शादी करने के सामाजिक और धार्मिक दायित्व के कारण लडकियो का जन्म साधारणत हर्ष का विषय नही होता और यह लडकियो की उपेक्षा का एक कारण है। जहाँ कुलीन प्रथा प्रचलित है, वहाँ स्थिति और भी शोचनीय है। परन्तु लडकियो की शिशु-हत्या[२] स्वेच्छा से कराये हुए गर्भपात की तरह ही कम होती जा रही है और आशा है कि जनमत और कानून के सयुक्त प्रभाव से उसके चिह्न तक शीघ्र ही मिट जायँगे ।

१८ गरीबी और बीमारी[३]—गरीबी शारीरिक शक्ति को हीन कर जन्म-दर को सीमित करती है। गरीबी के इस सम्भाव्य परिणाम की ओर हम पहले भी सकेत कर चुके हैं। साधारणत गरीबी को असावधानी और नासमझी से हुए प्रजनन का कारण माना जाता है, यद्यपि गरीबी विवाह करने के लिए हतोत्साहित करती है। विवाह मे होने वाले खर्च न कर सकने के कारण उसे अनिच्छापूर्वक टालना पडता है, परन्तु जैसे ही आर्थिक स्थिति सुधरती है वैसे ही सबसे पहले इस स्थगित सस्कार को सम्पन्न करने का उपक्रम किया जाता है।

मलेरिया ज्वर जिससे भारत का कोई भी भाग अछूता नही है, अवन्ध्यता के प्रतिकूल है, क्योकि प्रजनन आयु की स्त्रियाँ विशेष रूप से उसका शिकार होती है ।

१९ निष्कर्ष—हम ऊपर देख चुके है कि भारत मे ऐच्छिक तथा अनैच्छिक दोनो प्रकार के प्रतिबन्धक निरोध किस सीमा तक क्रियाशील है। परन्तु ऊँची जन्म-दर स्पष्टतया सकेत करती है कि इन सब उपायो का 'सम्मिलित प्रभाव बहुत कम है। उनमे से कुछ, जैसे शिशु-हत्या, और गर्भपात लगभग मिट रहे है, तथा अन्य, जैसे बाल-विवाह, कुलीन-प्रथा तथा विधवा-विवाह का निषेध, सामाजिक सुधार की प्रगति और सर्वसाधारण की शिक्षा के साथ कम होते जायँगे। इन प्रतिबन्धक निरोधो को हटा दिया गया या कमज़ोर कर दिया गया और रोक के नये उपायो ने उनका स्थान न लिया तो स्पष्टतया जीवन-निर्वाह के साधनो को अतिक्रमण करने की जनसख्या की प्रवृत्ति को बल मिलेगा ।

निश्चयात्मक और निवारक निरोधो में विलोम सम्बन्ध है। जनसख्या को जीवन-निर्वाह के साधनो से सतुलित रखने के लिए स्वय किये गए उपायो के अभाव मे प्रकृति

---

१ ज्ञानचन्द, पूर्व उद्धृत, पृ० १४० ।

२ पजाब में '२० वर्ष पूर्व की तुलना में अब परिस्थितियां अच्छी हैं, परन्तु अब भी ऐसे जाट और राजपूत हैं जो अपनी लड़कियों का विवाह अपनी स्थिति से नीचे करने के बजाय उनका मर जाना पसन्द करते हैं।—एम० एल० डार्लिंग, द० पजाब पेजैंट इन प्रॉसपेरिटी एण्ड डेट, चौथा सस्करण, पृ० ५१ ।

३ गरीबी और बीमारी को बहुधा निश्चयात्मक निरोधों के अन्तर्गत रखा जाता है। यहा हमने उन्हें प्रतिबन्धक निरोधों के अन्तर्गत सम्मिलित किया है, क्योंकि हम वर्तमान जनसख्या की वृद्धि को रोकने के सम्बन्ध में उनके प्रभावों पर विचार कर रहे हैं, वर्तमान जनसख्या कम करने के बारे में नहीं ।

के कष्टकारक तरीके अपना काम प्रारम्भ कर देते है। इसमें सन्देह नही कि भारत अनि-यन्त्रित प्रजनन का दण्ड भोग रहा है। लाखो अतिरिक्त व्यक्ति थकी हुई पृथ्वी पर बोझ बन जाते है जो उनका पालन नही कर सकती। ऊँची मृत्यु-दर अशत सार्वजनिक स्वास्थ्य-सम्बन्धी अपर्याप्त प्रबन्ध तथा स्वास्थ्य-नियमो की अज्ञानता के कारण है। लेकिन आखिर में इनका कारण भी गरीबी ही है। लगभग ९० प्रतिशत व्यक्ति सदैव क्षुधा-पीडित रहते है—और यह घोर निर्धनता शिशुओ तथा वयस्को की भारी मृत्यु-सख्या का मुख्य कारण है। बच्चो की मृत्यु का कारण यह है कि उनको समुचित पोषण-तत्त्व नही मिलते तथा अपर्याप्त भोजन के कारण वयस्को की हीन जीवन-शक्ति उन्हे सर-लता से बीमारी का शिकार बना देती है। सन् १९१८-१९ की इनफ्लुएजा महामारी में हुई भयानक मृत्यु भारतीयो की बीमारियो को रोकने की हीन शक्ति के कारण थी जिसका कारण गरीबी था।

यदि जनसख्या की अनियन्त्रित वृद्धि हो रही हो और उपलब्ध साधन उसका पालन करने में असमर्थ हो, तो यह जनाधिक्य का सूचक है। भारत की वर्तमान दशा इसी प्रकार की है। गरीबी के कारण ऊँची मृत्यु-दर जनाधिक्य की खरी कसौटी है। इस अर्थ में, यह बहुत सम्भाव्य है, कि भारत में जनाधिक्य है। यहाँ की वर्तमान दशा और निकट भविष्य में विकास की सम्भावनाओ को ध्यान में रखकर हम कह सकते है कि यदि जनसख्या की वृद्धि काफी कम दर से हो तो यहाँ के निवासियो के लिए यह अधिक अच्छा देश बन जाय।[1]

२०. जनाधिक्य और राष्ट्रीय आय—राष्ट्रीय आय की गणना से पता चलता है कि प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय धीरे-धीरे बढती रही है। यदि जनसख्या बढ रही हो और उसके साथ राष्ट्रीय आय भी कम-से-कम उसी दर से बढ रही हो, तब हम जनाधिक्य की चर्चा कैसे कर सकते है। इस कठिनाई से निकलने का एक उपाय राष्ट्रीय आय-गणनाओ की विभिन्न मान्यताओ की यथार्थता पर सन्देह प्रकट करना है।[२] सही आँकडो के अभाव मे राष्ट्रीय आय की गणना अनुमान-मात्र ही है।[3] हम विन्सेन्ट स्मिथ पर

---

१. इस सामान्य निष्कर्ष के बावजूद भी हमारा विश्वास है कि भारत के वृहत् विस्तार, जलवायु, वश तथा प्राकृतिक साधनों के विभिन्न प्रकारों के कारण जनाधिक्य की गम्भीर समस्या का अध्ययन यदि छोटे पैमाने पर जिलों और राज्यों के आधार पर किया जाय तो अधिक उपयुक्त हो। श्री एन वी सोवानी ने अपनी पुस्तक पॉपुलेशन प्रॉब्लम आफ इण्डिया, १९४२. में इस समस्या का प्रादेशिक आधार पर ही अध्ययन प्रस्तुत किया है। इसके अतिरिक्त जाति-प्रथा तथा भारतीय समाज की अन्य विशेषताओं के कारण प्रतिस्पर्धाहीन जन-समूह बडी सख्या में पाए जाते हैं। सामान्य सर्वेक्षण की तुलना में जिसका हमने यहाँ प्रयत्न किया है, प्रत्येक समूह और जाति का अध्ययन जनाधिक्य की समस्या के विस्तार और प्रकृति में महत्त्वपूर्ण अन्तर्दृष्टि प्रदान करेगा।

२. देखिए, खण्ड २, अध्याय ४।

३ राष्टीय आय के परिगणनों को अगर हम अनुमान-मात्र न मानें तब भी वह जनाधिक्य के विरोध में कोई सबल तर्क उपस्थित नहीं करते। इन अनुमानों से वास्तविक आय की वृद्धि का कोई अनुमान नहीं मिलता। उदाहरण के लिए राष्ट्रीय आय समिति का अनुमान (प्रति व्यक्ति २६५ रुपए के लगभग) मुद्रा प्रसार के कारण ही इतना अधिक है। —अनुवादक

पक्षपात का सन्देह नहीं कर सकते, परन्तु इस सम्बन्ध में यह भी निश्चित करना हो तो कह सकें कि अन्य राज्यों की अपेक्षा अंग्रेजी राज्य में जनता अधिक सुखी थी तथा सब बातों को ध्यान में रखते हुए जनता के हित के दृष्टिकोण से अकबर के राज्य की तुलना में अंग्रेजी राज्य का पलड़ा कुछ भारी था।[1] मोरलैण्ड ने भी यही कहा है कि कोई बड़ा गुणात्मक परिवर्तन नहीं हुआ।[2] देश की आर्थिक परिस्थितियों में ऐसा स्पष्ट सुधार नहीं हुआ है कि उसे हरएक व्यक्ति देख ले। किन्तु बड़ी गम्भीरता से अध्ययन करने वाले भी उसमें सुधार की अपेक्षा अवनति अधिक पायेंगे।

इस कठिनाई से बचने का दूसरा उपाय यह है कि हम आर्थिक स्थिति के सुधार को स्वीकार कर लें, परन्तु यह कहें कि यह सुधार प्राकृतिक निरोधों के क्रियाशील होने के बजाय जनसंख्या के अपेक्षाकृत कम होने तथा जान-बूझकर जन्म रोकने से कहीं अधिक होता। हमारे विचार से यही सही मत है।[3]

२१ निश्चयात्मक तथा निवारक उपाय—यदि जनसंख्या को कम करना वाञ्छित मान लिया जाय तब उसे कम करने के लिए निश्चयात्मक और निवारक निरोधों के सम्बन्ध में हम उदासीन नही हो सकते। आराम के उच्चतम स्तर को पाने के लिए केवल यही आवश्यक नही है कि जनसख्या के अनुकूलतम सख्या तक सीमित ही किया जाय वरन् यह भी आवश्यक है कि हम अनुकूलतम सख्या से सम्बन्धित उत्पादन-क्षमता को भी बनाए रखे। प्रकृति के तरीके भद्दे है, वे बहुत ही दुखदायी होते है। यद्यपि प्राकृतिक आपत्ति जनसख्या की अत्यधिक वृद्धि को समाप्त करने मे सफल हो सकती है, परन्तु वह शेष व्यक्तियो को उत्साहहीन और शिथिल कर देती है। उससे इतनी अधिक आर्थिक व सामाजिक दुर्व्यवस्था हो सकती है कि उस आपत्ति के बाद समाज की स्थिति पहले से बुरी हो सकती है। और इस प्रकार से जनसख्या मे होने वाली कमी मे गरीबी और कष्ट बढ सकते है। इसलिए आर्थिक दृष्टिकोण मे जनाधिक्य के दोषो को दूर करने के लिए निश्चयात्मक निरोधो की तुलना में निवारक निरोध अच्छे है। सच तो यह है कि निश्चयात्मक निरोध शायद ही कभी जनाधिक्य का रोग दूर कर सके, बहुधा वे उसे बढा ही देते है।

भारत मे जनाधिक्य है, इस बात के खण्डन करने के विचार मे कभी-कभी पश्चिमी देशो की तुलना मे यह तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि यहाँ जनसख्या अपेक्षाकृत कम दर से बढ रही है। इस अल्प वृद्धि द्वारा यह सिद्ध नही होता कि जनाधिक्य नही होता। इसके लिए हमें यह भी सिद्ध करना होगा कि धन की वृद्धि कम-से-कम उसी अनुपात मे हुई है तथा जनसख्या की वृद्धि-दर के और कम होने से प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय कम हो जाती। दूसरे, हमें यह भी देखना होगा कि जनसख्या की वृद्धि को निश्चयात्मक निरोध रोक रहे है अथवा निवारक। हमे मालूम है कि भारत मे मुख्यतया निश्चयात्मक निरोध ही काम करते रहे है। इस कारण से, जैसा कि हम ऊपर कह चुके

१ विन्सेन्ट स्मिथ, अकबर द ग्रेट मुगल, पृ० ३६४-४१४।
२ डब्लू, एच. मोरलैण्ड, इण्डिया एट द डेथ ऑफ अकबर, पृ० २७०।
३ देखिए, सेक्शन २८ (नीचे)।

है, जन-सख्या की कम वृद्धि-दर या जनसख्या की कमी और देशवासियो की आर्थिक स्थिति का ह्रास परस्पर-विरोधी नही हैं।

२२ जनसंख्या रोकने के लिए विचारपूर्वक किये गए उपायों के अतिरिक्त अन्य उपाय—भारत मे जनाधिक्य है, इस मत के प्रतिपादन का अर्थ यह नही है कि देश के साधनो के समुचित रूप से विकसित होने पर यहाँ और अधिक सख्या मे व्यक्तियो के रहने की सुविधा नही है। कहा जा सकता है कि पश्चिमी देशो का आर्थिक विकास चरम सीमा को पहुँच चुका है जबकि भारत मे अभी इसका उदय-काल ही है, उद्योगीकरण अभी शुरू ही हुआ है तथा उद्योगो की अधिकतम प्रत्युपलब्धि बहुत दूर है। यही बात परिवहन, जहाज़रानी आदि के बारे में भी लागू होती है। कृषि में भी विकास और सिंचाई की सम्भावनाओ का पूर्ण उपयोग नही हुआ है। इसके अतिरिक्त धनोत्पत्ति में वृद्धि के अलावा धन का समुचित वितरण आर्थिक क्षेत्र के इसी या इससे भी ऊँचे स्तर पर अधिक जनसख्या को रख सकता है। जनसख्या का वितरण अपेक्षाकृत अधिक समान हो सकता है। घने बसे हुए जिलो से अतिरिक्त जनसख्या उन भागो में बसाई जा सकती है जिनमे जनसख्या उचित आर्थिक विकास के लिए अपर्याप्त है। अति सघनता (अत्यधिक घना बसा होना) को कम करने के लिए प्रवास की सहायता भी ली जा सकती है।

२३. इन उपायों की सीमाएँ—फिर भी इनमे से किसी भी उपाय के पूरी तरह कारगर होने की सम्भावना का अतिरजित अनुमान हमे नही करना चाहिए।

यदि हम वर्तमान बाधाओ पर ध्यान न भी दे तथा निकट भविष्य में योजनाओ के कार्यान्वित होने से तीव्र औद्योगिक विकास अवश्यम्भावी मान ले तब भी यह सम्भव नही है कि उद्योगो के विकास के लिए प्राप्य सख्या से अधिक व्यक्तियो की आवश्यकता होगी। ऐच्छिक निरोधो के अभाव में जनसख्या की सदैव आवश्यकता से अधिक हो जाने की सम्भावना है। यदि जनसख्या मे क्रमश होने वाली वृद्धि विकासशील आर्थिक साधनो द्वारा खपती जाय तो शायद प्रकृति के कठोर निरोधो की कभी नौबत ही न आए। नये बसे हुए देशो में कभी-कभी ऐसा होता है, परन्तु ऐसी घटना बहुत थोडे समय के लिए होती है।[1] भारत एक नया देश नही है और न ही प्राप्त अवसर, चाहे कितनी ही आशाभाव से देखे, औद्योगिक क्रान्ति के समय की इगलैण्ड की परिस्थितियो के समान है।

---

१ इस समस्या का एक अन्य पहलू निम्न उद्धरण से स्पष्ट है—'मेरा विचार है कि पूँजी का अत्यधिक सचय, जिससे वैज्ञानिक आविष्कारों का प्रयोग सम्भव हो जाता है बडे पैमाने के निर्माण उद्योगों में वृद्धिमान उपलब्धियों के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण रहा है। यदि मनुष्यों की अधिक सख्या आवश्यक भी हो तब भी अर्थशास्त्री को पूछना चाहिए कि क्या आन्तरिक मितव्ययता तथा अधिकाश बाह्य मितव्ययताएँ व्यक्तिगत सगठनों, बाजारों तथा शहरों में बड़ी सख्या में नियोजित लोगों से प्राप्त नहीं होतीं? यदि बढती हुई प्रत्युपलब्धि को यही मुख्य शर्त हो तो इसका सम्बन्ध प्रत्येक उद्योगशाला या स्थान में नियोजित व्यक्तियों की औसत सख्या की वृद्धि से होगा, जिससे कृषि की घटती हुई प्रत्युपलब्धि कम हो जायगी न कि समस्त उद्योग में श्रमिकों की सख्या की वृद्धि। यह सभव है कि जनसख्या की वृद्धि से उद्योग को बढती हुई प्रत्युपलब्धि प्राप्त ही न हो।' —फ्लोरेन्स, पूर्व उद्धृत, पृ० १५।

अतिरिक्त जनसख्या की औद्योगिक कार्य व्यापारो में खपत समस्या का स्थायी हल तभी बन सकता है जबकि जनसख्या की वृद्धि केवल उत्पादित खाद्य तक ही नही वल्कि औद्योगिक श्रमिको की मांग चरम बिन्दु तक सीमित रखी जाय। (ऊपर सेक्शन ११ देखिए)

२४. जनाधिक्य के विरुद्ध श्रम के अभाव का तर्क—कृषि तथा उद्योग में श्रम के अभाव का तर्क बहुधा जनाधिक्य के विरोध में दिया जाता है। इसके प्रत्युत्तर में यह कहा जा सकता है कि श्रम के अभाव का विचार कुछ अवसरो पर ही, जैसे फसल बोने और काटने के समय, उत्पन्न होता है, क्योकि उस समय श्रम की मांग अत्यधिक होती है। लोग भूल जाते है कि वर्ष के शेष समय में श्रम को बेकार रहने के लिए मजबूर होना पडता है। कृषि-काल में श्रम का अपेक्षाकृत अभाव सदैव ही रहा होगा, परन्तु, अब उसकी अधिक चर्चा की जाने लगी है। शहरो के पास के ग्रामीण क्षेत्रो को श्रम के बढते हुए अभाव की शिकायत हो सकती है, क्योकि कुछ भाग शहरो मे चले जाने के कारण श्रम का कुछ भाग उनके लिए अप्राप्य हो जाता है अथवा कृषि-कार्यो के लिए आवश्यकता के अनुसार सारा श्रम नही मिल पाता। परन्तु यह बात शहरो मे दूर स्थित ग्रामीण क्षेत्रो के ऊपर लागू नही होती। कृषि श्रम के सामान्य अभाव का विचार इस सिद्धान्त से मेल नही खाता कि भूमि का भार बढ रहा है तथा समाई मे अधिक व्यक्ति उस पर आश्रित है।[1] कृषि आयोग का सुविचारित मत यह था कि आसाम को छोडकर अन्य किसी प्रान्त मे भी श्रम के सामान्य अभाव की स्थिति कठिन नही थी।[2] इसी प्रकार उद्योगो में भी श्रम का अभाव वास्तविक नही है, केवल प्रतीत ही होता है। श्रम बिलकुल ही प्राप्य हो, ऐसी बात नहीं है। किन्तु निवास-स्थान की कठिनाइयां और रहने की अस्वास्थ्यकर दशा श्रम को हतोत्साहित करती है और उनके कारण बहुत सा सम्भावित श्रम भी नही मिल पाता। इसके अतिरिक्त देशवासियो की रूढिवादिता और अज्ञान को दूर करने के लिए कोई ठीक सस्था भी नही है। ये लाग खेती करके कठिनाई के जीवन ही विताले रहेगे, भले ही शहरो मे स्थायी काम से स्थिति सुधारने का पर्याप्त अवसर प्राप्त हो। श्रम की मांग भी अधिकतर कुशल श्रम के लिए होती है। अत इसका उपाय आधुनिक उद्योगो के लिए श्रमिको को प्रशिक्षण की आवश्यक सुविधाएँ प्रदान करना है। अन्तिम बात यह है कि मॉग किसी मूल्य पर ही होती है। सम्भव है कि श्रमिक को दिया जाने वाला मूल्य (मजदूरी) पर्याप्त रूप से आकर्षक न हो। इस बात से इन्कार नही किया जा सकता कि कृषि और उद्योग दोनो मे ही श्रम की मांग और पूर्ति (असमजित) है, परन्तु यह बात अत्यधिक सन्देहास्पद है कि

१. आर्थिक आधार पर खेती करने में वास्तविक कठिनाई यह है कि दिये हुए क्षेत्र पर गिने-चुने व्यक्ति ही काम कर सकते है। भले ही खाद्योत्पत्ति उनसे अधिक व्यक्तियों के लिए भी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हो, परन्तु जनसख्या की अधिक वृद्धि कृषि-क्षेत्रों के विभाजन को जन्म देगी और इस प्रकार अनार्थिक क्षेत्र होने के कारण उत्पत्ति कम हो जायगी या देश में जनसख्या का एक भाग ऐसा हो जायगा जो कृषि में भी न लगा होगा तथा जिसके पास आवश्यक खाद्य पदार्थों को प्राप्त करने के लिए खाद्योत्पत्ति करने वालों से विनिमय के लिए भी कुछ न होगा। —सेन्सस ऑफ इण्डिया (१९३१), खण्ड १, पृ० ३१।

२ कृषि आयोग रिपोर्ट, पैरा ५०६।

इसका उपाय जनसख्या में शीघ्र वृद्धि है। श्रमिको की सख्या में वृद्धि उन्हे इस बात पर तो मजबूर कर सकती है कि वे कार्य करने की उन दशाओ तथा उस मजदूरी को स्वीकार कर ले जिस पर काम करने से वे आज इन्कार करते है। इससे नियोक्ता के लिए स्थिति सरल हो सकती है, परन्तु श्रमिक को इससे हानि होगी। एक वर्ग-विशेष अस्थायी रूप से लाभ उठा ले, परन्तु राष्ट्र की स्थिति अब से खराब हो जायगी।

२५ कृषि-विकास—कृषि की सम्भावनाएँ बहुत अवश्य है परन्तु असीमित नही है और सभी को कार्यान्वित भी नही किया जा सकता।[1] ऐसे बहुत से अविकसित क्षेत्र है जहाँ अभी तक खेती नही की गई। परन्तु उपजाऊ भूमि अधिकतर जोती जा चुकी है तथा शेष भूमि अपेक्षाकृत कम उपजाऊ है और उसे प्रयोग में लाने के लिए इतनी पूँजी अपेक्षित है जो साधारणत एक सामान्य कृषक की सामर्थ्य के बाहर है। खेतो के विभाजित और दूर-दूर होने के कारण गहन कृषि की सम्भावनाएँ सीमित है। ये कठिनाइयाँ एकबारगी दूर नही की जा सकती। फिर कृषि की आधुनिकतम विधियाँ धीरे-धीरे ही अपनाई जा सकती है और उसके बाद भी असमान प्रत्युपलब्धि का नियम कालान्तर में अवश्य लागू होगा, क्योकि अब तक के अनुभव के आधार पर हम कृषि में लगातार ऐसे सुधारो की आशा नही कर सकते जिससे ह्रासमान प्रत्युपलब्धि का प्रारम्भ अनिश्चित समय के लिए रुक जाय। कृषि का विकास सिंचाई पर निर्भर है, और देश के अधिकाश भाग मे सिंचाई-सम्बन्धी दुर्जय असुविधाओ के कारण मानसून पर ही निर्भर है, इसलिए निकट भविष्य में उनकी कृषि-सम्बन्धी स्थिति में किसी उल्लेख्य उन्नति की सम्भावना नही है।[2]

२६. अन्तर्प्रान्तीय प्रवास[3] : यदि छितरे बसे हुए क्षेत्रो की अधिक जनसख्या को आश्रय देने की क्षमता-सम्बन्धी अतिरजित अनुमानो को छोड दिया जाय, तो भी विभिन्न राज्यो मे जनसख्या के अधिक समान वितरण की सभावनाओ के सम्बन्ध में घने बसे हुए क्षेत्रो से अन्य क्षेत्रो में जनसख्या के स्थानान्तर की कठिनाई को हमें यो ही नही भुला देना चाहिए। विभिन्न राज्यो में भाषा, विचार, रहन-सहन तथा जलवायु आदि इतने भिन्न है कि लोगो को बडी सख्या में एक राज्य से दूसरे राज्य में ले जाने की आशा नही की जा सकती। घर तथा परिचित परिस्थितियो के प्रति स्वाभाविक प्रेम अज्ञान, रूढिवादिता तथा देशवासियो की असाहसी प्रकृति से और भी पुष्ट हो जाता है।[4] आसाम जैसे राज्यो में जनसख्या के विस्तार के लिए पर्याप्त स्थान है, यह स्वीकार

१. "कृषि प्रधान भारत १६५ प्रति वर्गमील के घनत्व से अत्यधिक औद्योगिक यूरोप या यूनाइटेड स्टेट्स की तुलना में प्रति वर्गमील अधिक जनसख्या को आश्रय देता है। यूरोप तथा यूनाइटेड स्टेट्स में घनत्व क्रमश १२७ तथा ४१ प्रति वर्गमील है।"—वकील, पूर्व उद्धृत, पृ० १०।

२. भारत में नदियों का ५·६ प्रतिशत पानी सिचाई के काम आता है। सिचाई की बड़ी-बड़ी योजनाएँ पूरी होने पर भी उनका १३·६ प्रतिशत पानी ही काम में आ सकेगा। यह भारत में होने वाली वर्षा का लगभग ६ ६ प्रतिशत होगा। —इण्डिया १९५४, पृ० १८७ के आधार पर।

३. नीचे सेक्शन ३३ देखिए।

४. देश के विभाजन का एक दु:खद परिणाम यह हुआ कि अनेक व्यक्ति बे-घरबार हो गए। इससे

[illegible]

२७. [illegible]— [illegible]

२८. जनसंख्या और उत्पादन— [illegible] थे। भारत सरकार ने इस विषय को इस आधार पर नहीं माना था कि इन के आँकड़े अविश्वसनीय और असन्तोषप्रद थे। उसका कहना था कि सिंचाई आदि [illegible] क्षेत्रफल में वृद्धि तथा खाद्य-सामग्री दोनों ही जनसंख्या के अनुपात में बढ़ रहे थे। सन् १९५० में श्री [illegible] ने यह सिद्ध करने के लिए आँकड़े प्रस्तुत किये कि देश में ६० से १०० लाख टन के लगभग खाद्यान्न का अभाव है, (देश के निर्यात को शामिल करते हुए)। इससे खाद्यान्न का तत्कालीन अभाव तथा जनाधिक्य का पता चलता है, परन्तु यह पता नहीं चलता कि पिछले वर्षों की तुलना में स्थिति अच्छी है या बुरी। इसके विपरीत जनसंख्या का बढ़ता हुआ दबाव, जिसे अनेक अर्थशास्त्री स्वीकार करते हैं, इस बात की पुष्टि करता है कि उत्पादन की वृद्धि जनसंख्या की वृद्धि के अनुपात में कम है।

भारत तथा पाकिस्तान दोनों के सम्मुख लाखों शरणार्थियों के पुनर्वास की समस्या आ गई। दोनों ही देशों में जनसंख्या और साधनों का सन्तुलन पहले की अपेक्षा कहीं अधिक बिगड़ गया।

१ कृषि आयोग रिपोर्ट, पैरा ५०६।

डॉ० राधाकमल मुकर्जी ने अपनी पुस्तक 'फूड प्लानिंग फॉर फोर हण्ड्रेड मिलियन्स' (१९३८) में अनुमान किया है कि सामान्य फसलो वाले वर्ष में लगभग १२% जनसख्या के लिए खाद्य का अभाव रहता है। सन् १९३८ मे श्री पी० के० वट्टल ने कहा कि सन् १९१३-१४ से १९३५-३६ के बीच जनसख्या १% प्रतिवर्ष की दर से बढी, जबकि इस समय मे खाद्य सामग्री की वृद्धि ० ६५ प्रतिशत प्रतिवर्ष थी। इसका अर्थ यह है कि कृषि-उत्पादन मे जनसख्या के अनुकूल वृद्धि नही हुई।[1] प्रोफेसर ज्ञानचन्द ने भी इसी प्रकार का मत प्रस्तुत किया है। उन्होने अनुमान किया है कि १९०० और १९३४ के बीच में जबकि कृषि-क्षेत्र में ११ प्रतिशत वृद्धि हुई है, जनसख्या लगभग २१ प्रतिशत बढी है।[2] योजना आयोग का अनुमान है कि १९४७-५२ तक प्रतिवर्ष देश मे ३२ ७ लाख टन खाद्यान्न आयात होता था। सन् १९५१ के आसपास देश मे खाद्य-उत्पादन ५५६ लाख टन तथा खपत ५९० लाख टन थी। इस प्रकार सन् १९५१ मे भी देश में ३४ लाख टन खाद्यान्न की कमी थी जो देश के २१ दिन के खाद्यान्न की जरूरत के बराबर है।[3]

डॉ० पी० जे० थॉमस[4] ने समस्या को जनसख्या और उत्पादन के अन्तर-सम्बन्ध के दृष्टिकोण से देखा। उनके अनुसार १९२०-१ से १९२१-२ और १९३०-१ से १९३१-२ इन दो वर्षों मे जनसख्या की वृद्धि १०.४% थी, कृषि तथा औद्योगिक उत्पादन की वृद्धि क्रमश. १६ और ५१ प्रतिशत थी। तीस साल की लम्बी अवधि (१९००-१९३०) पर विचार करके भी वह ऐसे ही निष्कर्ष पर पहुँचे।[5] इन तीस वर्षो में जनसख्या १९ प्रतिशत बढी, परन्तु यदि पहले (१९००-१ से १९०४-५) और अन्तिम (१९२५-६ से १९२९-३०) पाँच वर्षो की तुलना की जाय तो विदित होगा कि जनसख्या केवल १३ ५ प्रतिशत बढी तथा कृषि उत्पादन २९ प्रतिशत तथा औद्योगिक उत्पादन उससे भी अधिक, अर्थात् १८९ प्रतिशत बढा। इस प्रकार हम कोई भी समय क्यो न लें, इस बात का कोई सकेत नही मिलता कि जनसख्या आवश्यक उत्पादन से अधिक है। अकशास्त्रीय अध्ययन के आधार पर उनका दावा है कि उत्पादन बराबर जनसख्या के अनुरूप बढता रहा है और किन्ही क्षेत्रो में, जैसे मिल-उद्योग, व्यापारिक फसल इत्यादि मे उत्पादन जनसख्या की अपेक्षा कही तेज़ी से बढा। महत्त्व की बात तो यह है कि यह प्रगति व्यापारिक मन्दी में भी बनी रही, और यदि जन-समूह की स्थिति इसे स्पष्ट नही करती तो इसका कारण अवश्य ही वितरण की असमानता है।

इस विषय पर किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचने की मुख्य कठिनाई भारत मे

---

१. खाद्य-फसलों के अन्तर्गत वास्तविक क्षेत्र लगभग ०.७२ एकड़ प्रतिव्यक्ति है। ऐसा प्रतीत होता है कि पिछले २०-३० वर्षो में प्रतिव्यक्ति कृषि क्षेत्र घट गया है। अकाल जाँच आयोग (१९४४), अन्तिम रिपोर्ट।

२. पूर्व-उद्धृत अध्याय ८।

३. सेन्सस ऑफ इण्डिया, १९५१, खण्ड १, पार्ट A, रिपोर्ट, पृ० १६७-१७२।

४. इण्डियन जरनल आफ इकनामिक्स, कान्फ्रेन्स नम्बर (अप्रेल १९३५), पृ ७३७-४७।

५ तुलना कीजिए, डी. जे. कर्वे, पावर्टी एण्ड पॉपुलेशन इन इण्डिया, प. ११०-१३।

डॉ० राधाकमल मुकर्जी ने अपनी पुस्तक 'फूड प्लानिंग फॉर फोर हण्ड्रेड मिलियन्स' (१९३८) मे अनुमान किया है कि सामान्य फसलो वाले वर्ष में लगभग १२% जनसख्या के लिए खाद्य का अभाव रहता है। सन् १९३८ मे श्री पी० के० वेट्टल ने कहा कि सन् १९१३-१४ से १९३५-३६ के बीच जनसख्या १% प्रतिवर्ष की दर से बढी, जवकि इस समय मे खाद्य सामग्री की वृद्धि ० ६५ प्रतिशत प्रतिवर्ष थी। इसका अर्थ यह है कि कृषि-उत्पादन मे जनसख्या के अनुकूल वृद्धि नही हुई।[1] प्रोफेसर ज्ञानचन्द ने भी इसी प्रकार का मत प्रस्तुत किया है। उन्होने अनुमान किया है कि १९०० और १९३४ के बीच मे जबकि कृषि-क्षेत्र में ११ प्रतिशत वृद्धि हुई है, जनसख्या लगभग २१ प्रतिशत बढी है।[2] योजना आयोग का अनुमान है कि १९४७-५२ तक प्रतिवर्ष देश मे ३२ ७ लाख टन खाद्यान्न आयात होता था। सन् १९५१ के आसपास देश मे खाद्य-उत्पादन ५५६ लाख टन तथा खपत ५९० लाख टन थी। इस प्रकार सन् १९५१ मे भी देश मे ३४ लाख टन खाद्यान्न की कमी थी जो देश के २१ दिन के खाद्यान्न की ज़रूरत के बराबर है।[3]

डॉ० पी० जे० थॉमस[4] ने समस्या को जनसख्या और उत्पादन के अन्तर-सम्बन्ध के दृष्टिकोण से देखा। उनके अनुसार १९२०-१ से १९२१-२ और १९३०-१ से १९३१-२ इन दो वर्षो में जनसख्या की वृद्धि १० ४% थी, कृषि तथा औद्योगिक उत्पादन की वृद्धि क्रमश १६ और ५१ प्रतिशत थी। तीस साल की लम्बी अवधि (१९००-१९३०) पर विचार करके भी वह ऐसे ही निष्कर्ष पर पहुँचे।[5] इन तीस वर्षो में जनसख्या १९ प्रतिशत बढी, परन्तु यदि पहले (१९००-१ से १९०४-५) और अन्तिम (१९२५-६ से १९२९-३०) पाँच वर्षो की तुलना की जाय तो विदित होगा कि जनसख्या केवल १३ ५ प्रतिशत बढी तथा कृषि उत्पादन २९ प्रतिशत तथा औद्योगिक उत्पादन उससे भी अधिक, अर्थात् १८९ प्रतिशत बढा। इस प्रकार हम कोई भी समय क्यो न लें, इस बात का कोई सकेत नही मिलता कि जनसख्या आवश्यक उत्पादन से अधिक है। अकशास्त्रीय अध्ययन के आधार पर उनका दावा है कि उत्पादन बराबर जनसख्या के अनुरूप बढता रहा है और किन्ही क्षेत्रो मे, जैसे मिल-उद्योग, व्यापारिक फसल इत्यादि मे उत्पादन जनसख्या की अपेक्षा कही तेज़ी से बढा। महत्त्व की बात तो यह है कि यह प्रगति व्यापारिक मन्दी में भी बनी रही, और यदि जन-समूह की स्थिति इसे स्पष्ट नही करती तो इसका कारण अवश्य ही वितरण की असमानता है।

इस विषय पर किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचने की मुख्य कठिनाई भारत में

---

१ खाद्य-फसलों के अन्तर्गत वास्तविक क्षेत्र लगभग ० ७२ एकड प्रतिव्यक्ति है। ऐसा प्रतीत होता है कि पिछले २०-३० वर्षो में प्रतिव्यक्ति कृषि क्षेत्र घट गया है। अकाल जाँच आयोग (१९४४), अन्तिम रिपोर्ट।

२. पूर्व-उद्धृत अध्याय ८।

३ सेन्सस ऑफ इण्डिया, १९५१, खण्ड १, पार्ट A, रिपोर्ट, पृ० १६७-१७२।

४. इण्डियन जरनल आफ इकनामिक्स, कान्फ्रेन्स नम्बर (अप्रैल १९३५), पृ ७३७-४७।

५. तुलना कीजिए, डी जे. कर्वे, पावर्टी एण्ट पॉपुलेशन इन इण्डिया, प ११०-१३।

कर लेने पर भी हमे यह मानना पडेगा कि पूर्वी मद्रास से लेकर उत्तर में वगाल, विहार, और उत्तर प्रदेश तक फैले हुए कटिवन्ध की अतिरिक्त जनसख्या का एक छोटा हिस्सा ही वहाँ खप सकता है जवकि इस पट्टी से जनसख्या के स्थानान्तर की सबसे अधिक आवश्यकता है।[1]

२७. परावास—विदेशो मे जाकर वसने से समस्या के हल मे कोई खास सहायता की आशा करना हाल की घटनाओ के सम्बन्ध मे अक्षम्य अज्ञान का परिचायक है। हाल की घटनाओ मे ब्रिटिश उपनिवेशो की भारतीयो को वसाने की नीति तथा राष्ट्रीय स्व-निर्भरता-नीति विशेप रूप से महत्त्वपूर्ण है। यह सच है कि भारतीय श्रमिको ने उपनिवेशो को मूल्यवान् वना दिया है तथा ब्रिटिश साम्राज्य के सभी भागो को लाभप्रद सम्पत्ति वना दिया है, परन्तु इसका अर्थ यह नही है कि उन्हे वसाने के लिए हर उपनिवेश तैयार है। इस सम्वन्ध मे दक्षिणी अफ्रीका और आस्ट्रेलिया का रुख इस वात को स्पष्ट कर देता है कि भारतीयो को अपनी आर्थिक उन्नति के लिए अपने देश मे ही काम करना चाहिए।

२८ जनसख्या और उत्पादन—जनाधिक्य की समस्या से सम्वन्धित सभी प्रश्नो मे सामग्री के सम्भरण की स्थिति सबसे प्रमुख है। सामान्यत खाद्य-सामग्री के सम्भरण के लिए भारत (वर्मा को छोडकर, जहाँ से चावल मँगाया जाता है) विदेशो पर कोई विशेप निर्भर नही है तथा खाद्य-उत्पादन की मात्रा के अन्तर का स्पष्ट प्रभाव जीवन-निर्वाह के साधनो पर जनसख्या के दवाव के रूप में पडता है। यदि हम यह सिद्ध कर सकें कि खाद्य-सामग्री का सम्भरण कम-से-कम जनसख्या की वृद्धि के अनुपात मे हो रहा है, तो हम कह सकते है कि जनाधिक्य नही है। इस विपय पर उपलब्ध आँकडे इसके विरोधी है। के० एल० दत्त ने अपनी कीमत जाँच रिपोर्ट (प्राइसेज इन्क्वायरी रिपोर्ट) मे यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि सन् १८९४-१९१२ के मध्य कृपि-क्षेत्र, विशेपकर वह क्षेत्र जो खाद्योत्पादन मे लगे थे, जनसख्या के हिसाव से पिछडे हुए थे। भारत सरकार ने इस निष्कर्प को इस आधार पर नही माना था कि श्री दत्त के आँकडे अनिश्चित और सन्देहास्पद थे। उनका कहना था कि सिंचाई आदि जैसे कारणो से कृपि-क्षेत्र तथा खाद्य-सामग्री दोनो ही जनसख्या के अनुपात में वढ रहे थे। सन् १९२० मे श्री दुवे ने यह सिद्ध करने के लिए आँकडे प्रस्तुत किये कि देश मे ९० से १०० लाख टन के लगभग खाद्यान्न का अभाव है, (देश के निर्यात को शामिल करते हुए)। इससे खाद्यान्न का तत्कालीन अभाव तथा जनाधिक्य तो पता चलते है, परन्तु यह पता नही चलता कि पिछले वर्पो की तुलना मे स्थिति अच्छी है या वुरी। इसके विपरीत जनसख्या का वढता हुआ दवाव, जिसे अनेक अर्थशास्त्री स्वीकार करते है, इस वात की पुप्टि करता है कि उत्पादन की वृद्धि जनसख्या की वृद्धि के अनुपात से कम है।

भारत तथा पाकिस्तान दोनों के सम्मुख लाखों शरणार्थियों के पुनर्वास की समस्या आ गई। दोनों ही देशों मे जनसख्या और साधनों का सन्तुलन पहले की अपेक्षा कही अधिक विगड गया।

१ कृपि आयोग रिपोर्ट, पैरा ५०६।

डॉ० राधाकमल मुकर्जी ने अपनी पुस्तक 'फूड प्लानिंग फॉर फोर हण्ड्रेड मिलियन्स' (१९३८) में अनुमान किया है कि सामान्य फसलो वाले वर्ष मे लगभग १२% जनसख्या के लिए खाद्य का अभाव रहता है। सन् १९३८ में श्री पी० के० मिट्टल ने कहा कि सन् १९१३-१४ से १९३५-३६ के बीच जनसख्या १% प्रतिवर्ष की दर से बढी, जबकि इस समय मे खाद्य सामग्री की वृद्धि ० ६५ प्रतिशत प्रतिवर्ष थी। इसका अर्थ यह है कि कृषि-उत्पादन में जनसख्या के अनुकूल वृद्धि नही हुई।[1] प्रोफेसर ज्ञानचन्द ने भी इसी प्रकार का मत प्रस्तुत किया है। उन्होने अनुमान किया है कि १९०० और १९३४ के बीच मे जबकि कृषि-क्षेत्र; में ११ प्रतिशत वृद्धि हुई है, जनसख्या लगभग २१ प्रतिशत बढी है।[2] योजना आयोग का अनुमान है कि १९४७-५२ तक प्रतिवर्ष देश में ३२ ७ लाख टन खाद्यान्न आयात होता था। सन् १९५१ के आसपास देश मे खाद्य-उत्पादन ५५६ लाख टन तथा खपत ५९० लाख टन थी। इस प्रकार सन् १९५१ में भी देश मे ३४ लाख टन खाद्यान्न की कमी थी जो देश के २१ दिन के खाद्यान्न की जरूरत के बराबर है।[3]

डॉ० पी० जे० थॉमस[4] ने समस्या को जनसख्या और उत्पादन के अन्तर-सम्बन्ध के दृष्टिकोण से देखा। उनके अनुसार १९२०-१ से १९२१-२ और १९३०-१ से १९३१-२ इन दो वर्षों में जनसख्या की वृद्धि १० ४% थी, कृषि तथा औद्योगिक उत्पादन की वृद्धि क्रमश १६ और ५१ प्रतिशत थी। तीस साल की लम्बी अवधि (१९००-१९३०) पर विचार करके भी वह ऐसे ही निष्कर्ष पर पहुँचे।[5] इन तीस वर्षो में जनसख्या १९ प्रतिशत बढी, परन्तु यदि पहले (१९००-१ से १९०४-५) और अन्तिम (१९२५-६ से १९२९-३०) पाँच वर्षो की तुलना की जाय तो विदित होगा कि जनसख्या केवल १३ ५ प्रतिशत बढी तथा कृषि उत्पादन २९ प्रतिशत तथा औद्योगिक उत्पादन उससे भी अधिक, अर्थात् १८९ प्रतिशत बढा। इस प्रकार हम कोई भी समय क्यो न ले, इस बात का कोई सकेत नही मिलता कि जनसख्या आवश्यक उत्पादन से अधिक है। अकशास्त्रीय अध्ययन के आधार पर उनका दावा है कि उत्पादन बराबर जनसख्या के अनुरूप बढता रहा है और किन्ही क्षेत्रो मे, जैसे मिल-उद्योग, व्यापारिक फसल इत्यादि मे उत्पादन जनसख्या की अपेक्षा कही तेज़ी से बढा। महत्त्व की बात तो यह है कि यह प्रगति व्यापारिक मन्दी में भी बनी रही, और यदि जन-समूह की स्थिति इसे स्पष्ट नही करती तो इसका कारण अवश्य ही वितरण की असमानता है।

इस विषय पर किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचने की मुख्य कठिनाई भारत मे

---

१ खाद्य-फसलों के अन्तर्गत वास्तविक क्षेत्र लगभग ०.७२ एकड़ प्रतिव्यक्ति है। ऐसा प्रतीत होता है कि पिछले २०-३० वर्षो में प्रतिव्यक्ति कृषि क्षेत्र घट गया है। अकाल जाँच आयोग (१९४४), अन्तिम रिपोर्ट।

२. पूर्व-उद्धृत अध्याय ८।

३ सेन्सस ऑफ इण्डिया, १९५१, खण्ड १, पार्ट A, रिपोर्ट, पृ० १६७-१७२।

४. इण्डियन जरनल आफ इकनामिक्स, कान्फ्रेन्स नम्बर (अप्रेल १९३५), पृ ७३७-४७।

५. तुलना कीजिए, डी जे. कवे, पावर्टी एण्ड पॉपुलेशन इन इण्डिया, प. ११०-१३।

उत्पादन-सम्बन्धी सही और विश्वसनीय आँकडो की कमी है।[1] यह बात फसलो के भावी अनुमानो के आधार पर फसलो के उपज-सम्बन्धी सरकारी अनुमानो पर विशेष रूप से लागू होती है, जो कृषि-उत्पादन को वास्तविकता से अधिक या कम आँकते हैं। डॉ० थॉमस का विचार है कि ये अनुमान बहुधा कम ही होते है। यह तो हर हालत में स्पष्ट ही है कि डॉ० थॉमस ने जनसख्या की वृद्धि से सम्बन्धित खाद्य-समस्या के आँकडो को अलग नही निकाला है। वह स्वीकार करते हैं कि भारत मे धान की खेती के सीमित विस्तार के कारण यह अत्यधिक सम्भव है कि भविष्य में भारत आयात किये हुए चावल पर ही निर्भर रहेगा, परन्तु उनका विचार है कि इसकी क्षतिपूर्ति औद्योगिक उत्पादन की वृद्धि से हो जायगी। यदि हम डॉ० थॉमस के मतानुसार यह मान भी लें कि कृषि-उत्पादन जनसख्या की वृद्धि से अधिक अनुपात में बढ रहा है और कृषि-उत्पादन का अधिक भाग खाद्यान्न होने के कारण, खाद्य-सामग्री का सम्भरण जनसख्या की अपेक्षा अधिक तेजी से बढ रहा है[2] तो भी इसका अर्थ केवल इतना है कि भारत में जनाधिक्य भद्दे तथा अत्यधिक स्पष्ट रूप में नही है। डॉ० थॉमस के आँकडे, जैसा कि वह स्वय स्वीकार करते है, इस बात को असिद्ध नही करते कि भारत की जनसख्या अनुकूलतम से अधिक है। इस सम्पूर्ण तर्क के मध्य में जनाधिक्य की धारणा बनी रहती है जिसका अर्थ यह है कि जनसख्या की वृद्धि की कम दर होने से देशवासियो की स्थिति में निस्सन्देह उल्लेखनीय सुधार होगा।

२६ धन की वृद्धि . एक अप्रत्यक्ष और शक्तिशाली उपचार—जनाधिक्य की प्रवृत्ति और स्थिति को स्वीकार करने का अर्थ यह नही है कि आर्थिक सुधार के सारे प्रयत्न निरर्थक हैं। ऐसा निष्कर्ष गलत तथा अत्यधिक हानिकारक है। कृषि और औद्योगिक उन्नति की सशक्त नीति द्वारा प्रत्याशित धन की वृद्धि से सख्या में वृद्धि हो सकती है, परन्तु कुछ हद तक इससे जीवन-स्तर भी ऊँचा हो सकता है। एक बार जीवन-स्तर के ऊँचे हो जाने पर जनसख्या के स्वैच्छिक नियन्त्रण द्वारा उसे स्थिर बनाये रखने की इच्छा और क्षमता बढ जाती है।[3] पश्चिमी देशो में ऐसा हुआ है और हम यह विश्वास करें तो अनुचित न होगा कि उस प्रकार के कारणो

१ देखिए, खण्ड २, अध्याय ४।

२ यहा डॉ० थॉमस के पक्ष में बहुत कुछ रियायत की गई है। यह बात आँकड़ों के आधार पर सिद्ध की जा सकती है कि सन् १९२१-१९४१ में खाद्यान्न और दालों के कृषि-क्षेत्र में १५ प्रतिशत की वृद्धि हुई परन्तु जनसख्या १५ प्रतिशत से अधिक बढ़ी और खाद्यान्न ४ प्रतिशत कम हो गया। देखिए नानावती और अजारिया, द इण्डियन रूरल प्रॉब्लम, पृ० ५५।

३ जन्म-दर पर ऐच्छिक नियन्त्रण के अलावा अन्य कारण जिनसे मृत्यु-दर कम हो जाती है, अज्ञात रूप से जन्म-दर को भी कम कर देते हैं। धन और मानसिक कार्यो की वृद्धि के साथ प्रजनन-क्षमता भी कम हो जाती है। सार्वजनिक स्वास्थ्य सुधार जीवन-स्तर का सुधार, शिक्षा का प्रसार, स्त्रियों का घरेलू कामकाज के अतिरिक्त उपयोगी कार्यक्षेत्रों में पदार्पण आदि सुधार जनसख्या की अनियमित और तीव्र वृद्धि को रोकने के लिए भी वाछनीय हैं। देखिए, सेन्सस ऑफ इण्डिया, (१९३१) खण्ड १, पृ० ४३।

का प्रभाव भारत मे भी वैसा ही होगा। देशवासियो की आर्थिक स्थिति में पर्याप्त सुधार हो जाय तो जनसख्या की वृद्धि को विचारपूर्ण दूरदर्शिता से नियमित करने की आवश्यकता मालूम हो जायगी। अत जनाधिक्य का सबसे आशाजनक हल यह है कि देशवासी तथा सरकार हर दिशा मे देश के आर्थिक विकास का प्रयत्न करें। आर्थिक आयोजन की सफलता तथा उसके फलस्वरूप धन की वृद्धि से तुरन्त ही जनसख्या के बढने की सम्भावना रहती है। बाद मे आर्थिक उन्नति के साथ-साथ यह वृद्धि कम होती जायगी, क्योकि अतीत का अनुभव हमे बताता है कि आर्थिक उन्नति और शिक्षा के एक सीमा तक पहुँचने पर शहरी औद्योगिक सभ्यता के प्रसार के साथ-साथ सह-सम्बन्धन में प्रारम्भ में मृत्यु-दर मे तीव्र कमी होती है और उसके बाद जन्म-दर तेजी से घटती जाती है।[1]

३०. चेष्टापूर्वक नियन्त्रण करने का महत्त्व—यद्यपि हमारे मुख्य प्रयत्न द्रुत आर्थिक विकास की ओर ही होने चाहिएँ, परन्तु सन्तति-निरोध का प्रचार भी वाञ्छनीय है।[2] अन्ततोगत्वा जनाधिक्य की समस्या का हल रहन-सहन के स्तर को बनाए रखने की इच्छा वाले व्यक्तियो द्वारा सख्या के स्वय निरोध मे ही है। जो व्यक्ति देश के विपुल अविकसित साधनो के विकास की चर्चा करते है और उसके आधार पर सयम की कोई आवश्यकता नही समझते, वे सम्भाव्य और वास्तविकता का अन्तर नही समझते। आखिरकार इस कहावत में कि, 'ते ते पाँव पसारिये जेती लाबी सौर', अवश्य ही व्यावहारिक बुद्धिमत्ता है। किसी भी समय जनसख्या को निश्चित करने के लिए उपलब्ध या प्राप्य साधनो को ही पथ-प्रदर्शक मानना चाहिए न कि उन्हे विकसित करने की दूरस्थ भावनाओ को। इसमे सन्देह नही कि यदि वैज्ञानिको के स्वप्न प्रतिदिन वास्तविकता होते जायँ तथा परमाणु, सूर्य और ज्वार-भाटे की असीमित शक्ति को मनुष्य की सेवा के योग्य बना लिया जाय, तो पृथ्वी वर्तमान से कही अधिक जनसख्या को आश्रय दे सकेगी और तब हमारी सन्तान जनसख्या की समस्या के सम्बन्ध मे हमारी चिंता पर हँसेगी। परन्तु इसे एक सिद्ध सत्य मानकर चलना भी मूर्खता है। भावी विकास की सभी सम्भावनाओ से इन्कार करने वाले सशयात्माओ के रुख का हमें निस्सन्देह तिरस्कार करना चाहिए, परन्तु साथ ही हमें उन व्यक्तियो से सावधान रहना चाहिए

---

१. आर्थिक तथा स्वास्थ्य-सम्बन्धी प्रगति से मृत्यु-दर में कमी की आशा की जा सकती है। इसके बाद जन्म-दर कम होगी, जिसकी कमी मृत्यु-दर की कमी से कम होगी (जैसा कि आजकल यू० एस० एस० आर० में है)। इसके बाद जन्म-दर और मृत्यु-दर की कमी इस प्रकार सतुलित होगी कि जनसख्या स्थिर रहेगी और अन्त में ऐसी स्थिति आएगी जिसमें जन्म-दर मृत्यु-दर से भी कम होगी जैसा कि वर्तमान समय में इगलैण्ड और उसमे भी अधिक फ्रान्स में है।

२ स्वास्थ्य-सेवाओं के माध्यम से राज्य ऐसे कदम उठा सकता है जो परिवार को सीमित करने को प्रोत्साहित करेंगे। सन्तति-निरोध-सम्बन्धी ज्ञान प्रसूतिका और शिशु-कल्याण केन्द्रों में लेडी डाक्टरों द्वारा उन स्त्रियों को दिया जा सकता है, अधिक बच्चे होने से जिनके स्वास्थ्य के खराब हो जाने का भय है, तथा उन स्त्रियों को भी दिया जा सकता है जो अपने बच्चो के बीच उचित अन्तर रखने के सम्बन्ध में सलाह चाहती हैं।—अकाल जाँच आयोग (१९४४), अन्तिम रिपोर्ट, पृ० १०३।

जो विकास के पथ की सारी कठिनाइयो को भुला देते है। हमें यह भी याद रखना चाहिए कि आर्थिक विकास से जनसख्या की वृद्धि के अल्प भाग का ही काम चल सकता है। यदि मानव की प्रजनन-क्षमता को पूर्ण स्वतन्त्रता दे दी जाय तो अवश्य ही युद्ध, महामारी, अकाल जैसी दुष्ट शक्तियाँ जो 'प्राकृतिक नियन्त्रण' शब्दो में समाविष्ट है, अपना कार्य प्रारम्भ कर देंगी। आर्थिक विकास को जनाधिक्य का एक अस्थायी उपचार ही समझना चाहिए तथा हर स्थिति में उसे ऐच्छिक और विवेक-पूर्ण नियन्त्रण से पुष्ट करना चाहिए। इसी नियन्त्रण मे विवेकशील प्राणी—मानव—और खरगोशो का अन्तर परिलक्षित होता है।

२१ परिवारों का परिसीमन : पक्ष और विपक्ष—अधिकतर लोग इस बात को बडी सरलता से मान लेते है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने साधनो के अनुसार परिवार को सीमित करना चाहिए ताकि उसकी सन्तान को जीवन में कम-से-कम अपने बराबर तो अवसर मिल सके। जिस प्रकार पौधो के विकास के लिए बहुत घने बीज नही बोने चाहिएँ, उसी प्रकार उचित विकास के लिए परिवार में बहुत अधिक सन्तान भी नही होनी चाहिए। अत्यधिक सन्तान होने से जीवन-शक्ति क्षीण हो जाती है और शिशु-मृत्यु-दर बढ जाती है। जो बच्चे उचित पोषण और सावधानी की कमी के कारण मर जाते है, उनके पालन में किया हुआ श्रम अकारथ हो जाता है तथा उनका सक्षिप्त जीवन माता-पिता तथा जीवित बच्चो के लिए व्यर्थ ही कष्ट का कारण होता है। व्यक्तिवादी दृष्टिकोण से यह उचित है कि बच्चे उस समय तक न पैदा किये जायँ जब तक कि उनके उचित पालन-पोषण के लिए वह व्यक्ति स्वय समर्थ न हो। व्यक्ति का हित समूचे समाज का हित भी है। यदि अधिकाश व्यक्ति बिना सोचे-समझे बच्चे पैदा करते रहेगे तो रहन-सहन का सामान्य स्तर अवश्य ही नीचा हो जायगा।[1] अक्सर देखा गया है कि अनेको परिवारो के कष्ट और दु ख का कारण उनमें अनेक बच्चो का जन्म है। सावधानी और दूरदर्शिता अति की हद तक भी बढ सकती है जैसे कि फ्रान्स में, परन्तु इसके विपरीत एकदम असावधानी बरतना भी चिन्तनीय है, जिसके परिणाम वर्तमान भारतीय सन्तान के ललाट पर बडे-बडे अक्षरो में लिखे है।

फ्रान्स का प्रसग आ जाने से सन्तति-निरोध के विरुद्ध एक सामान्य तर्क की याद आती है कि जनसख्या का परिसीमन इस हद तक भी पहुँच सकता है कि वह सैनिक दृष्टिकोण से खतरे का विषय बन जाय।[2] फ्रान्स इसका सबसे अच्छा उदाहरण

---

१ हेरल्ड कॉक्स, द प्राब्लम ऑफ पॉपुलेशन, पृ० ११८।

२ जैसा कि कॉक्स कहता है "जनसख्या की अनियन्त्रित वृद्धि स्वय युद्ध का एक शक्तिशाली कारण है, क्योंकि विभिन्न राष्ट्रों के मध्य जीवन-सघर्ष को यह तीव्रतर कर देता है, यद्यपि बहुधा आक्रमण को रोकने के एक प्रभावपूर्ण साधन के रूप में इसका प्रचार किया जाता है। जनसख्या के बढ जाने पर नेता-गण कहते हैं 'हमारे देश की जनसख्या इतनी अधिक है कि हमें और अधिक स्थान के लिए लडना चाहिए।' युद्ध के पश्चात् नेतागण कहते हैं, 'हमें दूसरे युद्ध की तैयारी के लिए जनसख्या बढानी चाहिए।' आखिर इस भयानक खेल का अन्त किस प्रकार होगा? यह तभी समाप्त हो सकता है जब दुनिया के सभी राष्ट्र जनसख्या की अतिवृद्धि को युद्ध का एक आवश्यक कारण मान ले। ऐसा होने पर

है। वहाँ की सरकार जनसख्या के न वढने या काफी न वढने पर चिन्तित है तथा बडे-बडे परिवार बनाने के लिए प्रयत्न किये गए है कि कही जर्मनी, जो फ्रान्स का सदैव शत्रु रहा है, केवल अपनी अधिक जनशक्ति से फ्रान्स को समाप्त न कर दे। मार्शल पेता के अनुसार जून १९४० मे फ्रान्स की हार का एक मुख्य कारण 'बच्चो का बहुत कम होना' था। भारत में सैनिक योग्यता के लिए सख्या की अपेक्षा ऊँचे दर्जे के शारीरिक स्वास्थ्य, बौद्धिक चैतन्य, अनुशासन, सगठन, सुरक्षा तथा आक्रमण के लिए आधुनिकतम साधन तथा एक सूत्र में बाँधने वाली राष्ट्रीय भावना की अधिक आवश्यकता है।

३२. जनसंख्या को सीमित करने के उपाय : (क) नैतिक संयम—जन्म-निरोध के समर्थको में भी इस उद्देश्य के लिए उपयुक्ततम साधन के बारे में मतैक्य नही है। कुछ लोग नैतिक सयम को ही सबसे अच्छा उपाय मानते है। यद्यपि यूरोपीय मध्य-वर्गीय परिवारो मे विद्यमान नैतिक सयम को प्राय कम आँके जाने की प्रवृत्ति है, फिर भी हमें यह स्वीकार करना पडेगा कि जनसख्या की अत्यधिक वृद्धि रोकने के लिए सभी वर्ग के व्यक्तियो द्वारा नैतिक सयम पर्याप्त रूप से नही अपनाया जा सकता। विवाहित व्यक्तियो को अधिक समय तक सयम से रहने का उपदेश देना, भूख दूर करने के लिए पेट काटने के उपाय के समान है। उसके अपनाये और न अपनाये जाने की सम्भावनाएँ बराबर है। माल्थस स्वय इसे अच्छी तरह समझता था और इसीलिए उसकी कृतियो में निराशा की झलक है। इसके अतिरिक्त मान्य डाक्टरी राय के अनुसार दीर्घ काल तक सयम रखने से विवाहित दम्पति के शरीर और मस्तिष्क पर पडे हुए हानि-कारक प्रभावो के कारण यह उपचार रोग से भी बुरा है।[1]

(ख) गर्भ-निरोधक—गर्भपात, शिशु-हत्या आदि के पुराने तरीके कानून और जनमत मे उचित नही समझे जाते और यह ठीक ही है। उनको पुन अपनाने का सुझाव कोई नही देगा। उनके त्याग से हम नैतिक स्तर मे एक कदम आगे बढ जाते है तथा यह प्रगति का शुभ चिन्ह है। दूसरा उपाय केवल गर्भ-निरोधको का प्रयोग है। अधिकाश यूरोपीय देशो मे हाल मे ही जन्म-दर का बहुत कम होना निस्सन्देह सन्तति-निरोध के कृत्रिम उपायो के प्रयोग के कारण ही है।

प्रत्येक पश्चिमी देश में जन्म-दर की कमी एक विचित्र ढग से सन्तति-निरोध के प्रचार के साथ ही प्रारम्भ हुई है। उदाहरण के लिए इगलैण्ड में जन्म-दर की कमी सन् १८७७ में ब्रेडलॉ के मुकदमे से शुरू होती है जिसमे श्रीमती बेसेन्ट और चार्ल्स ब्रेडलॉ पर सन्तति-निरोध के विभिन्न उपायो के सम्बन्ध मे एक पुस्तिका प्रकाशित करने के अपराध में मुकदमा चलाया गया था। उनके मुकदमे ने जनसाधारण का बहुत ध्यान आकर्षित किया और इस सयोग से गर्भ-निरोध-सम्बन्धी उपायो के ज्ञान और

प्रत्येक राष्ट्र का नैतिक कर्तव्य हो जायगा कि अपने पडोसियों से सघर्ष बचाने के लिए वह जनसख्या को सीमित रखे। —पूर्व उद्धृत, पृ० ३५।

१. 'नैतिक इन्द्रिय-दमन' के विरुद्ध प्रमुख आपत्तियों के कथन के लिए देखिए, ल्योनार्ड डारविन 'हट इज यूजेनिक्स', पृ० ३६।

प्रयोग का प्रचार हुआ।[1]

प्रश्न यह उठता है कि भारत में माल्थस के आधुनिक मत के बारे में हमारा क्या रुख होना चाहिए। इस सामान्य आपत्ति को कि यह अप्राकृतिक है, हम सरलता से भुला सकते है। यदि यह अप्राकृतिक है तब तो वस्त्र, पका हुआ भोजन, औषधियाँ तथा सभ्य जीवन से सम्बन्धित ऐसी ही अनेक-असख्य वस्तुएँ भी अप्राकृतिक है। हमें अन्य प्रमुख विरोधो पर विचार करना चाहिए जिनमें से सर्वप्रचलित यह है कि गर्भ-निरोध-सम्बन्धी ज्ञान का प्रसार यौन-अनैतिकता की जबरदस्त रोक को हटा देगा। इसका यह प्रत्युत्तर कि अनैतिकता के परिणामो के भय से होने वाली नैतिकता व्यर्थ है, विश्वास योग्य नही है, क्योकि अनियमित सम्बन्धो की रोक-थाम, भले ही वह किन्ही कारणो से हो, समाज के लिए वाञ्छनीय है।[2] इसे सरलता से स्वीकार किया जा सकता है कि ऐसे कार्यों के प्रति आकर्षित होने वाले कुछ व्यक्ति देखे जाने के भय से या गैर-कानूनी सन्तान होने के भय से ही रुक जाते है। इस देश में अधिकतर गर्भ-पात जुर्म को छिपाने के विचार से किया जाता है और कुछ हद तक गर्भ-निरोध-सम्बन्धी ज्ञान के प्रचार से गर्भ-निरोध गर्भपात का स्थान ले लेगा। इस विवाद के प्रसग में यह पूछना उचित है कि समाज की सभ्यता का क्या होगा यदि हम हर चीज़ को केवल इसलिए न अपनाएँ क्योकि व्यक्तियो के एक वर्ग द्वारा उसके दुरुपयोग की सम्भावना है। गर्भ-निरोधक-सम्बन्धी ज्ञान के प्रसार से सम्भव खतरो को स्वीकार करते हुए भी यह कहना पडेगा कि सरकार इन खतरो को कम कर सकती है। सरकार ऐसे ज्ञान को हर प्रकार के व्यक्तियो में प्रसारित न करके उसे केवल उन्ही व्यक्तियों तक सीमित रखे जो नैतिक और आर्थिक कारणो से उसे जानना चाहते हो।

सन्तति-निरोध के उपायो के सम्बन्ध में विवेकहीन प्रचार से यौन-अनैतिकता की वृद्धि सम्भव है। प्रश्न यह है कि जनाधिक्य के सम्भावित खतरे से बचने के लिए प्रचार के ऊपर विवेक-सम्मत सरकारी नियन्त्रण लगाने के बावजूद इससे सम्बन्धित जोखिम उठाना उचित है या नही।

विरोधियो द्वारा सन्तति-निरोध के विपक्ष में दूसरा तर्क यह है कि इनका प्रयोग अधिकतर उन्नत और बुद्धिमान् व्यक्तियो द्वारा ही किया जायगा जबकि गरीबी, असावधानी तथा उनमें स्त्रियो का दर्जा नीचा होने के कारण उनकी अपनी इच्छा के विरुद्ध बच्चो को जन्म देना आदि कारणो से गरीबो में इसकी अधिक आवश्यकता हैं। परिणाम यह होगा कि समाज में जनसख्या की वृद्धि गलत दिशा में होगी तथा देशवासियो में गुण घटते चले जायँगे। इसका अर्थ यह नही है कि अमीरो के बच्चो

१ देखिए, फ्लोरेन्स, पूर्व उद्धृत, पृष्ठ ३१-२।

२ कॉक्स का तर्क यह है कि गर्भ-निरोध के साधनों के ज्ञान से वेश्यावृत्ति या अनियमित सम्बन्धों के बढ जाने का भय निराधार है। इसके विपरीत कुछ अनियमित सम्बन्ध तो इसलिए होते हैं कि बच्चे होने के भय से बहुत से लोग पवित्र विवाह-सम्बन्ध स्वीकार ही नहीं करते। गर्भ-निरोध के ज्ञान के प्रसार से बच्चे कम होंगे और इस प्रकार यौन-अनैतिकता भी कुछ हद तक कम हो जायगी। देखिए, द प्रॉब्लम ऑफ़ पॉपुलेशन, पृ० १३४-८।

की तुलना में गरीबो के बच्चे शारीरिक और मानसिक गुणो में हीन होगे। उनकी अधिक सख्या के कारण उनका पालन-पोषण ऐसा नही हो पाता कि उनके उत्कृष्ट गुण विकसित हो सकें। गरीबी तथा असावधानी के अलावा सन्तति-निरोध-सम्बन्धी नये ज्ञान के अभाव के कारण भी वे उससे लाभ नही उठा पाते। इसका उपचार यह है कि इस ज्ञान को हमे उन तक अधिकाधिक पहुँचाने की कोशिश करनी चाहिए। सन्तति-निरोध के विरुद्ध एक तर्क यह भी है कि सन्तति-निरोध के अपेक्षाकृत निर्दोष तरीके गरीबो की सामर्थ्य के बाहर है जिसकी वजह से उन्हे सन्तति-निरोध के हानिप्रद तरीको को अपनाना पडता है। यह और भी शोचनीय है क्योकि इससे उत्पन्न दोष जनाधिक्य के दोप से कही अधिक गम्भीर है। यहाँ शका की जा सकती है कि क्या जनाधिक्य से बढकर भी कोई दोप है ? यह विश्वास करना भी कठिन है कि बच्चो के पालन-पोपण का व्यय सन्तति-निरोध के उपायो पर किये हुए व्यय से कम होगा। पश्चिम में उच्च वर्ग के लोग थोडे बच्चो के पालन-पोषण के भार और हर्ष की अपेक्षा अनावश्यक रूप से ऊँचे जीवन-स्तर को पसन्द करते है और इस प्रकार इतना सन्तति-निरोध करते है जो समाज के लिए हानिप्रद है, अत उन्हे राज्य को स्वस्थ, सुदृढ और सुशिक्षित नागरिक प्रदान करने के नैतिक कर्त्तव्य को निबाहने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। हर दृष्टि से वाञ्छित होने पर ही हमे सन्तति-निरोध की सुविधाएँ देनी चाहिएँ। स्वार्थ-सिद्धि के लिए उसके प्रयोग की हमें हर प्रकार से निन्दा करनी चाहिए। सन्तति-निरोध के पक्ष और विपक्ष दोनो में ही प्रचार की आवश्यकता है।[1] इस समय भारत में सभी लोगो की प्रवृत्ति जनसख्या की अतिवृद्धि की ओर है। अत जनसख्या को विवेकपूर्वक नियन्त्रित करने के लिए एक सगठित प्रयत्न आवश्यक प्रतीत होता है।[2]

सन्तति-निरोध के प्रश्न पर इस देश में कभी गम्भीरता से विचार नही किया गया है, यद्यपि इसकी वहुत आवश्यकता है। यहाँ व्यर्थ के विरोधो का ही बोलवाला रहा है। हमने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि यह एक विचारणीय प्रश्न है और इसे हम आर्थिक विकास की असीमित भावनाओ के धुँधले सामान्य निष्कर्षो के आधार पर यो ही नही छोड सकते।

देशवासियो की अत्यधिक निर्धनता और उससे उत्पन्न विचारपूर्ण निरोध की शिथिलता के कारण सन्तति-निरोध के भली प्रकार व्यवहार में आने में बहुत दिन लगेंगे। अज्ञानवश किये जाने वाले विरोध को भी दूर करना होगा। अब यह धारणा हो चली है कि 'राम भरोसे नीति' भयानक सिद्ध होगी।[3]

---

१ ल्योनार्ड डारविन, पूर्व उद्धृत, पृ० ३८.

२. 'उत्पादन और प्रजनन का अर्थशास्त्र घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है। उत्पादन का युक्तिकरण तभी और उतना ही हो सकता है जबकि और जितना प्रजनन का युक्तिकरण किया जायगा।'—प्रो० गोल्डशीड, एन० बी० सोवानी द्वारा उद्धृत, पृ० २०८.

३ हाल का एक महत्त्वपूर्ण विकास यह है कि भारतीय स्त्रियां जन्म-निरोध के प्रश्न में बहुत अभिरुचि दिखाने लगी हैं। जन्म-निरोध के पक्ष में प्रस्ताव स्त्रियों की कान्फ्रेन्सों की एक सामान्य विशेपता हो गए

३३. प्रवास 'आवादी का देश में एक जगह से दूसरी जगह जाना' —एडम स्मिथ का यह कथन कि सब प्रकार के सामान में मनुष्य का परिवहन अत्यधिक कठिन है, भारत में विशेष रूप से लागू होता है। सन् १९३१ की जनगणना के अनुसार लगभग ३५ करोड की जनसख्या में १० लाख से भी कम व्यक्तियो का जन्म अन्यत्र हुआ था। सन् १९५४ में विदेशो में रहने वाले भारतीयो की सख्या ४० लाख के लगभग थी। भारतीयो का 'गृह-प्रेम सामाजिक एवम् आर्थिक कारणो का परिणाम है। भूमि से अविच्छिन्न रूप से सम्वन्धित कृपक जनसख्या की गतिहीनता भी इसका कारण है जिसे जाति, भाषा, सामाजिक-रीति-रिवाज तथा किसी भी प्रकार के परिवर्तन से भयभीत होने की प्रवृत्ति ने और भी दृढ कर दिया है।' हिन्दुओ को प्रभावित करने वाला प्रमुख सामाजिक कारण जाति-व्यवस्था है जिसके कारण सामाजिक परिधि के वाहर एक मनुष्य का जीवन कठिन हो जाता है। वहुधा अन्य जातियो के साथ खान-पान, विवाह आदि करने में वह असमर्थ होता है तथा उसकी अधिक समय की अनुपस्थिति से लोग सन्देह करने लगते हैं कि उसने जाति-पाँति के नियमो का उल्लघन किया है और इससे वापिस आने पर उसे समाज-वहिष्कृत भी किया जा सकता है।

प्रवास की सबसे वडी आर्थिक वाधा तो यह है कि भारतीय मुख्यतया कृपि पर निर्भर है। भूमि के छोटे टुकडे का स्वामित्व या उसमें दिलचस्पी होने पर अन्यत्र जीविकोपार्जन की जोखिम के भय से लोग जीविका के इस असन्तोषप्रद साधन को छोडना ही नही चाहते। मलेरिया, हुकवर्म आदि बीमारियो का प्रभाव भी हानिप्रद होता है तथा ये देशवासियो की शक्ति और कार्यारम्भ की प्रवृत्ति को रोकती है। इसके अतिरिक्त अधिकाश ग्रामीण साहूकार के पजो में रहते है जो उनके गाँव छोडने में हर सम्भव रोडा अटकाते हैं।

मान्यता है कि जनसख्या कम होने पर अन्यत्र पैदा होने वाले व्यक्तियो का अनुपात अधिक होता है। यदि यह सच है तब भारत में, जहाँ ससार की लगभग ¹⁄₅ जनसख्या रहती है, प्रवास का कम होना अवश्यम्भावी है। जनसख्या की सामान्य गतिहीनता के बावजूद भी देश के अन्दर गतिशीलता के कुछ निश्चित प्रवाह है, जिनका हम सक्षेप में विवेचन करेंगे।[२]

हैं। अप्रैल सन् १९३७ में बम्बई में हुए अखिल भारतवर्षीय जनसख्या और परिवार-स्वास्थ्य सम्मेलन (ऑल इण्डिया पॉपुलेशन एण्ड फेमिली हाईजीन कान्फ्रेन्स) ने जन्म-निरोध आन्दोलन को खूब प्रोत्साहित किया।

१ देखिए, सेन्सस ऑफ इण्डिया (१९३१), खण्ड १, अध्याय ३, सेन्सस ऑफ इण्डिया (१९२१) खण्ड १, पृ० ८३-९; सेन्सस ऑफ इण्डिया (१९११) खण्ड १, अध्याय ३, सेन्सस ऑफ इण्डिया (१९०१) खण्ड १, पृ० ८८-९५ और कृषि आयोग रिपोर्ट पृ० ५८१-५।

२ सन् १९११ की जनगणना रिपोर्ट में विभिन्न प्रकार के देशान्तर गमन को इस तरह बताया गया है: (1) पडोस के गाँवों के मध्य गतिशीलता, इसका मुख्य कारण रीति-रिवाज है। लगभग सभी हिन्दुओं में माता-पिता पुत्र-वधू किसी दूसरे गाँव में खोजते हैं तथा सामान्यत गर्भावस्था में वधू माता-पिता के यहाँ चली जाती है, विशेषकर पहली वार। (11) अस्थायी, यह नई नहरों, रेलों, तीर्थयात्रा, विवाह सस्कारादि अवसरों पर श्रम की माग की पूर्ति के लिए कुलियों के देशान्तर-गमन के कारण होती है। (111) सामयिक:

(क) **आसाम**—आसाम राज्य की आवादी दूर-दूर वसी हुई है तथा खेती के लिए प्राप्य भूमि प्रचुर मात्रा में है। अत वहाँ के निवासियो के लिए किराये पर काम करना आवश्यक है। इस कारण राज्य के चाय के वागानो लिए मजदूर कही और से प्राप्त करने होते हैं। ब्रह्मपुत्र की घाटी में खेती-योग्य वेकार पडी हुई जमीन अन्य राज्यो के आवासियो को आकर्षित करती है।

चाय के वागानो मे काम करने वाले आसाम से वाहर के लोग विहार, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश और मद्रास से आते है तथा ब्रह्मपुत्र की घाटी मे वसने वाले मुख्यतया पूर्वी वगाल से आते है। आसाम में तीसरा आवास-प्रवाह नेपालियो का है जो मुख्य रूप से पशु-चारण करते हैं। आसाम में समस्त स्रोतो से प्राप्त कुल आवास का परिमाण काफी है। प्रान्त की लगभग एक चौथाई जनसख्या वाहर की या वाहर पैदा होने वालो की है। आसाम में अब भी खेती-योग्य भूमि वहुत है, परन्तु काला आजार तथा अन्य वीमारियो का प्रसार, सन्देश भेजने के असन्तोषप्रद साधन तथा कम मजदूरी वाहर के लोगों की खपत को वढने नही देती।

सन् १६२१ के वाद उन प्रान्तो से प्राप्त आवास के परिमाण में विकास और परिवर्तन हुआ है जो इससे पहले चाय के वागानो में श्रमिको की कमी पूरी करते थे। मद्रास ही एक ऐसा प्रान्त है जहाँ से आसाम के लिए प्रवास की मात्रा वढ रही है। सन् १६२१ के वाद विहार और उडीसा की भरती, जो असहयोगियो के प्रयत्नो के फलस्वरूप वहुत कम हो गई थी, अल्पकालीन भरती की प्रथा की लोकप्रियता के कारण फिर से वढने लगी। साथ ही आसाम स्वय स्थानीय श्रम पर निर्भर रहना सीख रहा है।

(ख) **बंगाल**—बगाल के आवासियो मे लगभग ६० प्रतिशत विहार और उडीसा के है तथा शेष उत्तर प्रदेश (१८ प्रतिशत), नेपाल (५ प्रतिशत), आसाम (४ प्रतिशत), और मध्य प्रदेश (३ प्रतिशत) के है। आवास के प्रमुख प्रवाह इस प्रकार है (क) कलकत्ता और उसके आसपास के औद्योगिक क्षेत्र में विहार, उडीसा तथा उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिलो से, (ख) वीरभूम, माल्दा, दिनाजपुर और उत्तरी वगाल के जिलो में सथाल पर-

---

यह श्रम की मौसमी माँग के कारण होती है। फसल काटने के समय सुन्दरवन, वर्मा, उत्तरी भारत के गेहूँ के जिलों के लिए वार्षिक देशान्तर-गमन तथा विहार और उत्तर प्रदेश में जाडे के दिनों में सडकों पर काम करने के वृहत् देशान्तर-गमन को उदाहरणस्वरूप लिया जा सकता है। (iv) अर्द्ध स्थायी; जव एक स्थान के निवासी किसी दूसरे स्थान पर जीविका कमाते हैं, परन्तु अपना सम्वन्ध पुराने घर से वनाये रखते है, जहाँ वे अपने परिवार को छोड आते हैं और आखिर वहीं लौट जाते हैं। वडे शहरों में मिल और कारखानों में काम करने वाले श्रमिक, सरकारी दफ्तरों के क्लर्क, घरेलू नौकर, तथा हर जगह पाये जाने वाले मारवाडी व्यापारी और साहूकार इसका उदाहरण हैं। (v) स्थायी, इस प्रकार का देशान्तर-गमन उपनिवेशन की तरह का होता है। यह उस समय होता है जव सिंचाई या सन्देशवाहन में सुधार होने के कारण या राजनीतिक परिस्थितियों के वदल जाने के कारण नई भूमि वसने के लिए प्राप्त हो जाती है। इसका उदाहरण दक्षिणी वर्मा तथा पजाव के नहरी क्षेत्र का उपनिवेशन है। (vi) सन् १६३१ की जनगणना रिपोर्ट प्रवास का एक और प्रकार वताती है जिसे 'दैनिक' कहा गया है, यद्यपि यह भी स्वीकार किया गया है कि भारत में ऐसी परिस्थिति कुछ विशेष उत्पन्न नहीं हुई है कि मजदूर का रहने और काम करने का स्थान जनगणना की विभिन्न इकाइयों में हो।

गना से, (ग) दार्जिलिंग और जलपाइगुरी के चाय के बागो में नेपाल और छोटा नागपुर से, और (घ) त्रिपुरा राज्य में आसाम से।

बगाल की भूमि की अपेक्षाकृत अधिक उर्वरता, उद्योगो का विकास, विशेषकर कलकत्ता के आसपास, तथा शारीरिक श्रम से विमुखता, जो बगालियो की प्रमुख विशेषता है, आदि कारण बगाल मे आवास के लिए उत्तरदायी है। केवल शारीरिक परिश्रम करने वाले श्रमिक ही नही, वरन् जेल में पुलिस के पहरेदार और जमीदारो के चपरासी आदि भी अधिकतर अन्य राज्यो से ही भरती किये जा सकते हैं। राज्य के आन्तरिक प्रवासन की विशेपता यह है कि बीच के कटिबन्ध से एक ओर जनसख्या कलकत्ता के आसपास के औद्योगिक क्षत्रो में जाती है तथा दूसरी ओर उत्तरी बगाल और आसाम की घाटी में।

(ग) बम्बई—बम्बई मे आवास की विशेपता यह है कि बडे-बडे औद्योगिक एवम् व्यापारिक शहरो—जैसे बम्बई, शोलापुर—आदि में पजाव, उत्तर प्रदेश, हैदराबाद (दक्षिण) और मद्रास से आने वाले लोग बस गए हैं। सन् १९२१ के बम्बई जनगणना के अध्यक्ष श्री एल०जे० सेजविक के अनुसार "यहाँ आवासियो के दो प्रवाह पहुँचते हैं।[१] एक तो उत्तर पश्चिमी भारत से आता है जिसका प्रतिनिधित्व बिलोचिस्तान, उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त, पजाब, उत्तर प्रदेश और राजपूताना के विस्तृत क्षेत्र करते है तथा दूसरा दक्षिण-पूर्व अर्थात् मद्रास, हैदराबाद से आता है। उत्तर का प्रवाह बम्बई और कराची के निर्धनो की सख्या मे वृद्धि करता है तथा दक्षिण का प्रवाह शोलापुर की मिलो में जाता है।"[१] बगाल की अपेक्षा बम्बई औद्योगिक दृष्टिकोण से आगे बढा हुआ है। उसकी भूमि की उर्वरा-शक्ति कही कम होने के कारण वहाँ जनसख्या का घनत्व कम है और स्थानीय श्रम कही अधिक मात्रा में उपलब्ध है। अत श्रम की माँग का अपेक्षाकृत बहुत थोडा अश राज्य के बाहर से पूरा करना पडता है।

उत्तर-पश्चिमी भारत से वास्तविक आवास की मात्रा बहुत काफी है। एक तिहाई आवासी उत्तरप्रदेश से, $\frac{2}{7}$ राजपूताना से तथा शेष पजाब से आते हैं। राज्य के अन्य भागो से औद्योगिक क्षेत्रो की ओर जनसख्या का अन्तर्वाह आन्तरिक प्रवासन की विशेपता है। दक्षिण प्रदेश अनुपजाऊ एवम् कृषि-मन्दी से ग्रस्त भाग है। वहाँ की अतिरिक्त जनसख्या बम्बई राज्य के शेप भागो में जाती है तथा बम्बई नगर में भी अन्य प्रदेशो की तुलना में सबसे अधिक व्यक्ति इसी क्षेत्र के है।

२. परावास—आसाम की तरह बर्मा में भी आबादी छितरी बसी हुई है और वहाँ खेती योग्य बहुत सी जमीन बेकार पडी है। जिन कारणो से आसाम के चाय-बागानो में बाहरी श्रम काम करता है उन्ही कारणो से बर्मा की धान और तेल की मिलें भी बाहरी श्रम पर—जो मुख्यतया मद्रास से प्राप्त होता है—निर्भर रहती हैं। अकयाव में धान की फसल के समय तथा रगून मे धान की कुटाई-पिसाई के लिए अनेक कुली चटगाँव से बर्मा चले जाते थे। बर्मा की कुल आवासित जनसख्या ७०७,००० थी, जिनमें ५७३,००० भारतीय थे। सन् १९११ और १९२१ की जन-

---

१ सेजविक का उपर्युक्त कथन बम्बई और सिन्ध के सम्बन्ध में है, केवल बम्बई के सम्बन्ध में नहीं।

गणनाओ के मध्य वर्मा में भारतीय आवासियो की सख्या में १६ प्रतिशत वृद्धि हुई। सन् १९२१ की तुलना में सन् १९३१ की जनगणना मे आवासियो की सख्या में २१००० की वृद्धि हुई[1]। पुरुपो की अपेक्षा स्त्रियो की कम सख्या इस आवास के अस्थायित्व को स्पष्ट करती है। वर्मा में भारतीय आवासियो की सख्या में मद्रासी सवसे अधिक है। उसके वाद वगाल, उत्तर प्रदेश और पजाव का नम्वर आता है। भारतीय आवासी मुख्यतया शहरी उद्योगो में लगे हुए थे तथा कठिन शारीरिक परिश्रम का कार्य करते थे। इन कार्यों में वर्मियो की रुचि नही है।

अप्रैल १९३७ में वर्मा के राजनीतिक दृष्टि से भारत से अलग हो जाने के वाद जव वर्मियो में जागरण की भावना विकसित हुई तथा वर्मी जनसख्या की वृद्धि के कारण आर्थिक दवाव वढा तो ब्रिटिश भारत के घने वसे क्षेत्रो से वर्मा में जाना कठिन-तर होने लगा। सन् १९४१ में भारत-व्रर्मा आवास पैक्ट (इन्डो-वर्मन इमिग्रेशन पैक्ट) पर हुआ घोर मतभेद इसका प्रमाण है। ये कठिनाइयाँ अव भी है और जापानियो से वर्मा पुन जीतने के वाद स्वभावतया इनका रूप और भी विकट हो गया है।[2] यह वात मलाया आदि क्षेत्रो पर भी लागू होती है। लका (सीलोन) में भारतीय आवासियो के प्रति विरोध दिन-प्रतिदिन वढता जा रहा है।

इस समय लगभग ४० लाख भारतीय विदेशो में है। कॉमनवैल्थ के विभिन्न भागो में उनका विवरण इस प्रकार है :—

	भारतीय जनसख्या	वर्ष		भारतीय जनसख्या	वर्ष
लका (सीलोन)	९,८५,३२७	१९५३	केन्या	९०,५२८	१९४८
ब्रिटिश मलाया	६,४०,७०९[3]	१९५२	टाँगानीका	५६,४९९	१९५२
मारीशस	३,२२,९७२	१९५२	जमैका	२५,०००	१९५२
दक्षिणी अफ्रीका	३,६५,५२४	१९५१	जजीवार और पेम्वा	१५,८१२	१९४८
ट्रिनीडाड और टोवेगो	२,२७,३९०	१९५०	यूगाडा	३३,७६७	१९४८
ब्रिटिश गायना	१,९७,६९६	१९५१			
फीजी द्वीपसमूह	१,४८,८०२	१९५२			

आज भारतीय प्रवास के मुख्य देश मलाया, लका और वर्मा है (सन् १९३१

---

१. वर्मा में भारतीयों की सख्या के सम्वन्ध में सही आँकडे उपलब्ध नहीं है। सन् १९३१ की जनगणना के अनुसार वहाँ भारतीयों की सख्या ११ लाख थी। रगून में भारतीय मिशन (इण्डियन मिशन) के अनुसार अव भारतीयों की सख्या लगभग ७ लाख है।—देखिए, इण्डिया १९५४, पृ० २९।

२ जापानियों से वर्मा सन् १९४५ में मुक्त हो गया था, परन्तु नागरिक-प्रशासन की पुनः स्थापना सन् १९४६ में हुई। ४ जनवरी सन् १९४८ को वर्मा स्वतन्त्र प्रजातन्त्र राज्य हो गया, परन्तु देश गृह-युद्ध में फँस गया। गृह-युद्ध के प्रारम्भ से ही अधिकाधिक सख्या में भारतीय भारत लौटने के लिए वाध्य किये गए। वर्मा की सरकार सार्वजनिक सेवाओं के पद मे भारतीयों को राष्ट्रीयता के आधार पर पदच्युत करने लगी।—देखिए, इण्डिया एट ए ग्लान्स, पृ० ४०४ व १५६८

३ इस सख्या में पाकिस्तानी भी सम्मिलित हैं।

में यहाँ भारतीयो की जनसख्या १० लाख से ऊपर थी)। अगस्त सन् १६३० में रबड और टीन के मूल्य गिर जाने के कारण मलाया में भारतीय श्रम की भरती बन्द कर दी गई और सन् १६३०-३१ मे बहुत बडी सख्या मे स्वदेश-आगमन हुआ। लका में सन् १६३० मे रबर के क्षेत्रो में भारतीय श्रम की भरती बन्द कर दी गई और सन् १६३१ में ११००० भारतीय स्वदेश वापिस आये, परन्तु अन्यथा प्रवास जारी रहा। देखने से प्रतीत होता है कि इस देश में अब और भारतीय नही बस सकते। भारतीय प्रवास मुख्यतया दो प्रकार का हुआ है। प्रथम, इकरारनामा के अन्तर्गत अदक्ष श्रमिको का प्रवास जैसा कि फीजी, मारीशस, नेटाल, और वेस्ट इण्डीज में हुआ, या भरती की विशेष विधि के अनुसार प्रवास, जैसा कि मलाया और लका मे हुआ। द्वितीय, व्यापारियो, कारीगरो एवम् ख़ास पेशेवाले व्यक्तियो (प्रोफेशनल) का स्वैच्छिक प्रवास। पहले प्रकार की अपेक्षा दूसरे प्रकार के प्रवास का क्षेत्र अधिक विस्तृत है और इसकी पहुँच उन क्षेत्रो तक है जो सहाय्य प्रवास की किसी भी स्कीम के अन्तर्गत नही आए। उदाहरण के लिए दक्षिणी अफ्रीका तथा कुछ ब्रिटिश उपनिवेशो—विशेपकर पूर्वी अफ्रीका के क्षेत्रो के उपनिवेशो को—छोडकर यह बात स्वशासित डोमिनियनो पर पूरी तरह लागू होती है।

अधिकाश प्रवासी रबर, चाय, कहवा के बागानो मे कृपक-श्रमिको की तरह काम करते है। मार्च सन् १६१७ में श्रमिको का इकरारी प्रवास बन्द कर दिया गया जिसके फलस्वरूप प्रवास बहुत कम हो गया। सन् १६२१ के साम्राज्य-सम्मेलन (इम्पीरियल कान्फ्रेन्स) ने इस नियम को फिर से दुहराया कि ब्रिटिश कॉमनवैल्थ का प्रत्येक देश अन्य देशो से आने वालो की सख्या को सीमित कर अपने देश की जनसख्या के सघटन पर नियन्त्रण रखने का पूर्ण अधिकारी है। कॉमनवैल्थ के अधिकाश देशो ने भारतीय आवास बन्द करने के लिए, नही तो कम-से-कम रोकने के लिए अवश्य ही आवास को नियमित करने के अधिकार का प्रयोग किया। इसके कारण भले ही राजनीतिक, जातीय या एकदम आर्थिक हो, परन्तु इस कटु सत्य को मानना ही पडेगा कि भारत में जनसख्या के घनत्व को दूर करने के लिए प्रवास का उपाय व्यवहारत असम्भव है।[1] आस्ट्रेलिया, कनाडा और न्यूज़ीलैण्ड जैसे डोमीनियन निश्चयात्मक रूप से ऐसी नीति को अपनाये हुए है ताकि उनके प्रदेश भविष्य में श्वेत वर्ण की जातियो के लिए सुरक्षित रहे। अभ्यश-विधि (कोटा सिस्टम) के अन्तर्गत सन् १६२२ से सयुक्त राष्ट्र अमेरिका ने निश्चयात्मक रूप से एशियाई देशो के प्रति विशेष नीति अपना ली है। दक्षिणी अफ्रीका, पूर्वी अफ्रीका तथा केन्या में

१ भारत सरकार की प्रवास नीति के विभिन्न पहलुओं के विस्तार में जाना अनावश्यक है। इससे सम्बन्धित सख्या नगण्य है और देश की आर्थिक परिस्थितियो को सरल करने की दृष्टि मे यह प्रश्न किसी भी अर्थ में महत्त्वपूर्ण नहीं है। सन् १६२२ के प्रवास कानून (एमीग्रेशन एक्ट, १६२२) के अनुसार उन देशों और कालों को छोड़कर जिसे गवर्नर-जनरल-इन-कौन्सिल निर्देशित करें, अदक्ष श्रमिकों का सहाय्य प्रवास अवैध था। एक स्थायी प्रवास समिति (स्टेण्डिंग एमीग्रेशन कमिटी) भी है जो सरकार को प्रवास सम्बन्धी बड़े-बड़े प्रश्नों पर, जैसे अदक्ष प्रवासियों की मजदूरी का निर्धारण, उपनिवेशन की शर्तें आदि, सलाह देती है।

भारतीयो को जिन कठिनाइयो का सामना करना पड़ता है उनसे प्रवास के घटने की ही सम्भावना है। हाल ही की घटनाएँ जैसे दक्षिणी अफ्रीका मे 'पैगिग बिल' का पास होना भी इसका पूर्व-सकेत करती है।[1] सन् १९३१ की जनगणना मे यह बात देखी गई थी कि दशाब्दी में जनसख्या की तेज और भारी वृद्धि के बावजूद भी पहले की तुलना में प्रवास से कोई विशेष सहायता नही मिली।

ऊपर वर्णन किये गए विभिन्न प्रकार के प्रतिबन्धो के कारण भारत के बाहर प्रवास महत्त्वहीन हो गया है। प्रवास की सम्भावना ब्रिटिश साम्राज्य के अयनवृत्तीय या उप-अयनवृत्तीय भागो तक ही सीमित है। ब्रिटिश मलाया के अतिरिक्त ब्रिटिश गायना के लिए प्रवास की बहुत सम्भावना है, क्योकि वहाँ कृषि-विस्तार के लिए अभी बहुत गुन्जाइश है। ब्रिटिश गायना की जनसख्या लगभग ३२०,००० है परन्तु वह देश इससे दस गुनी सख्या को आश्रय दे सकता है तथा भारतीयो के बसने लिए विशेष रूप से उपयुक्त है। सन् १९२२ के प्रवास अधिनियम के अन्तर्गत इस उपनिवेश मे प्रवास के लिए एक योजना स्वीकृत हुई थी, परन्तु बाग-मालिको द्वारा शर्तो को अलाभप्रद मानने के कारण वह अब तक कार्यान्वित नही हुई। कृषि-आयोग ने इस स्कीम की प्रशंसा की और कहा कि उसके बारे में आगे जाँच होनी चाहिए, क्योकि भारतीय जनसख्या के द्विगुणित होने की सम्भावना को यो ही नही भुलाया जा सकता। (रिपोर्ट, पैरा ५१०)

३४. सुजनन-विद्या—धनोत्पत्ति में सबसे महत्त्वपूर्ण निमित्त मनुष्य है और जो बातें उसके स्वास्थ्य, चरित्र एवम् बुद्धि को श्रेष्ठतर करती हैं वे उसकी कार्य-क्षमता एवम् आर्थिक शक्ति को भी बढाती है। आर्थिक महत्त्व के पौधो तथा जानवरो के सुधार के लिए वंश-परम्परा के विषय का अभी हाल के वर्षो में बहुत अध्ययन हुआ है तथा इस दिशा मे महत्त्वपूर्ण व्यावहारिक परिणाम प्राप्त हुए है। अक्सर कहा जाता है कि पौधो तथा घरेलू जानवरो के लिए जो कुछ मनुष्य कर सका है वह अपने लिए नही कर सका। मनुष्य जाति के सम्बन्ध में वश-परम्परा का अध्ययन तथा जाति के सुधार के लिए उसके नियमो के प्रयोग में कठिनाई यह रही है कि विस्तृत सीमाओ के अन्दर मनुष्यो पर प्रयोग करना या सभोग के नियमन के लिए उन्हे पौधो या जानवरो की तरह बरतना असम्भव है।

फिर भी मानव-जाति के कल्याण के लिए यह अत्यधिक महत्त्व की बात है कि उसका सतत अस्तित्व जहाँ तक सम्भव हो उन व्यक्तियो पर ही निर्भर रहे जो जाति की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए उपयुक्ततम हैं। यह और भी आवश्यक हो गया है क्योकि वर्तमान सभ्यता की प्रवृत्ति कतिपय ऐसे कारणो को दूर करने की है जो शारीरिक और मानसिक रूप से अयोग्य व्यक्तियो को नष्ट कर देते है। विकास की प्रारम्भिक दशा में कमजोरो के जीवित रहने या अपनी जाति बनाये रखने की बहुत कम सम्भावना

---

१ वाडिया और मर्चेण्ट, पूर्व उद्धृत, तृतीय सस्करण, पृ० १०२ . 'पचास वर्ष पूर्व जस्टिस रानाडे सुदूर देशों में भारतीय श्रम का प्रवास सोच सकते थे। आज परिस्थिति इतनी बदल गई है कि पुराने प्रवासियों के स्वदेश आगमन की समस्या खड़ी हो गई है।' —डी० आर० गाडगिल, सोवानी की (पूर्व उद्धृत) पुस्तक की प्रस्तावना में।

थी। उदाहरण के लिए जो लोग अत्यधिक साहसी और साधनयुक्त होते थे वे समाज के कमजोर सदस्यो की तुलना में अधिक पत्नियां रख सकते थे तथा जाति की अधिक वृद्धि कर सकते थे। आजकल मानव-प्रेम की भावना के साथ-साथ सफाई, औषधि तथा शल्य-चिकित्सा की प्रगति के कारण 'प्राकृतिक वरण' समाप्त हो गया है।[1] शरीर से अयोग्य, मस्तिष्क के खोखले एवम् नैतिक पतन तथा परम्परागत बीमारियो के बीज समाहित करने वाले व्यक्तियो के विवाह एवम् सन्तानोत्पत्ति पर कोई प्रभावपूर्ण रोक नही है। वैज्ञानिक पर्यवेक्षण और प्रयोग की कठिनाइयो के कारण सुजनन-विद्या की प्रगति बहुत धीमी रही है तथा मानवीय गुणो की परम्परा को समझाने के लिए वंश-परम्परा के नियमो का ज्ञान अभी बहुत कम है। इस समय हम अधिक-से-अधिक पशु-पालन के पर्यवेक्षित नियमो से मनुष्यो के लिए कुछ निष्कर्ष ही निकाल सकते हैं। सुजनन-विद्या की किसी भी व्यावहारिक योजना के सकारात्मक एवम् नकारात्मक पहलू होगे अर्थात वह उपयुक्त व्यक्तियो के प्रजनन को प्रोत्साहित करेगी तथा अनुपयुक्त व्यक्तियो के प्रजनन को हतोत्साहित करेगी। भारत मे विवाह-सम्बन्ध के लिए सुजनन-विद्या के कुछ नियमो का पालन किया जाता है। उदाहरणार्थ कुछ सीमा तक सम्बन्धियो में विवाह नही हो सकता। जातियाँ गोत्रो में बँटी हुई है तथा एक ही गोत्र वाले आपस में विवाह नही कर सकते। इस प्रथा के वैज्ञानिक आधार के सम्बन्ध में भी प्रश्न किया गया है।[2] भारत में कुछ ऐसी प्रथाएँ भी है जो सम्भवत हानिप्रद है जैसे अति अल्प-संख्यक उप-जातियो में सगोत्र या सजातीय विवाह की प्रथा।[3] सम्पूर्ण स्थिति को देखकर कहा जा सकता है कि मानव वंश-परम्परा के नियमो के सम्बन्ध में भारत को भी अन्य देशो के समान ही ज्ञान की आवश्यकता है। अत्यधिक ज्ञान होने पर केवल वाञ्छित (उपयुक्त) वंश-परम्परा का ही प्रसार होगा, ऐसी आशा करना व्यर्थ है। अधिकांश पश्चिमी देशो में भी जो बहुत आगे बढे हुए है निश्चयात्मक सुजनन की वैधानिक योजनाओ को अपनाने का प्रश्न नही उठता, क्योकि व्यक्ति की स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप करने के कारण उनका विरोध होगा। फिर भी कुछ देशो ने इस सम्बन्ध में प्रयोग के लिए कानून बनाए हैं। उदाहरणार्थ संयुक्त राष्ट्र अमरीका के नेब्रास्का राज्य में गुप्त रोगो से पीडित किसी भी व्यक्ति को विवाह करने की मनाही है। कनेक्टीकट राज्य में मृगी-रोग से पीडित या दुर्बल मस्तिष्क वाले व्यक्ति विवाह नही कर सकते। मोण्टाना मे निर्बुद्धि (पागल) एवम् मृगी-रोग से पीडित व्यक्तियो की आपरेशन द्वारा प्रजनन-शक्ति खत्म

१ यहाँ यह बता देना उपयुक्त होगा कि प्रारम्भिक दशा में 'प्राकृतिक वरण' से श्रेष्ठतम व्यक्ति ही बचते हों, ऐसा आवश्यक नहीं था। ठीक ही कहा गया है कि 'प्राकृतिक वरण' में मस्तिष्क की अपेक्षा सुदृढ़ पेशियों का चुनाव होता था और कलात्मक प्रतिभा के स्थान पर निकृष्ट धूर्तता या चालाकी का। सफाई तथा औषधि की प्रगति निस्सन्देह सारी जाति की आर्थिक क्षमता बढा देती है। फिर भी यह निर्विवाद है कि प्रारम्भिक दशा की तुलना में वर्तमान परिस्थितियों में अपेक्षाकृत अधिक अयोग्य पुरुष जीवित रहने तथा सन्तानोत्पत्ति के योग्य हो जाते हैं।

२ एस० वी० करन्दीकर ने 'हिन्दू एक्ज़ोगेमी' में हिन्दू समाज द्वारा विवाह-सम्बन्धी प्रतिबन्धों के सरल करने के मत का समर्थन किया है।

३ देखिए, करन्दीकर, (पूर्व उद्धृत) पृ० २८८।

कर दी जाती है जिससे उनकी यौन-क्रियाएँ ज्यो-की-त्यो बनी रहती हैं, परन्तु प्रजनन की शक्ति नष्ट हो जाती है। यह सुझाव भी दिया गया है कि घोर अपराधियो एवम् अन्य अवाञ्छित प्रकार के व्यक्तियो के सम्वन्ध में भी यही रास्ता अपनाया जाय।[1] अधिकाश वर्तमान देशो मे जनमत एवम् भावना के समक्ष सुजनन-सम्वन्धी कानून वनाने में अधिक प्रगति करना सम्भव नही है। परन्तु राज्य जनमत को शिक्षित वनाकर, आवश्यक ज्ञान का प्रसार कर तथा इस महत्त्वपूर्ण विषय पर सलाह देकर कुछ प्रगति अवश्य कर सकता है।

२५ सार्वजनिक स्वास्थ्य और सफाई—देशवासियो की आर्थिक क्षमता को वनाए रखने के लिए सार्वजनिक स्वास्थ्य और सफाई के महत्त्व पर जितना ज़ोर दिया जाय कम है। प्लेग, इनफ्लुएंज़ा, मलेरिया, चेचक तथा ठीक होकर पुन होने वाले ज्वर आदि के कारण होने वाली आश्चर्यजनक मृत्युएँ आर्थिक दृष्टिकोण से अनिष्टकारी हैं, क्योकि इनसे धनोत्पादन-व्यवस्था में वाधा पडती है। पिछले ८० वर्षो मे इगलैण्ड में सार्वजनिक स्वास्थ्य-सम्वन्धी वहुत सुधार हुए हैं जिनके कारण टाइफायड, हैजा, लाल जूडी, (सक्रामक) कुष्ठ रोग आदि का नामोनिशान लगभग मिट गया है। भारत में देशवासियो की असावधानी, शिथिलता एवम् उदासीनता आदि विशेषताएँ अधिकतर हुकवर्म, मलेरिया जैसी वीमारियो के ही परिणाम हैं। ये वीमारियाँ 'स्थानीय प्रचलित वीमारियो के दुखान्त नाटक की दुष्ट अभिनेत्री हैं जिस पर कभी परदा नही गिरता।'[2] ये वीमारियाँ जितने व्यक्तियो को मारती नही उससे अधिक व्यक्तियो को अपना शिकार वनाकर शक्तिहीन कर देती हैं। इन्हे दूर करने से होने वाला आर्थिक लाभ असीम और अपार होगा। स्वास्थ्य और स्वास्थ्य-विज्ञान के सम्वन्व में देशवासियो के मध्य ज्ञान-प्रसार की तथा सार्वजनिक स्वास्थ्य विभागो के सुदृढ वनाने की आवश्यकता है। यद्यपि इस कार्य में प्रारम्भिक व्यय वहुत अधिक होगा, परन्तु यह वाञ्छनीय होगा क्योकि इससे आर्थिक क्षमता की अत्यधिक वृद्धि—भले ही वह तुरन्त न हो—अवश्य होगी।[3]

२६ शिक्षा—किसी भी देश की आर्थिक क्षमता को पूर्णतया विकसित करने के लिए सामान्य ज्ञान तथा विशेष व्यवसायो के लिए विशेष प्रकार का प्रशिक्षण आवश्यक है। भारत में सामान्य एवम् शिल्पिक (टैक्निकल) शिक्षा के सम्वन्ध में अभी वहुत-कुछ करना

---

१ देखिए, सी० पी० ब्लेकर, 'वर्थ कन्ट्रोल एण्ड दि स्टेट,' पृ० ६७-६.

२. लार्ड रोनाल्डशे (मार्क्वेस आफ जेटलेण्ड)।

३. 'राष्ट्र के स्वास्थ्य पर किया हुआ सार्वजनिक व्यय डूवने से वचाने वाली नौका (लाइफ वोट) या आग वुझाने वाले एजिन पर किये हुए व्यय के समान है, इतना ही नही, वह दीर्घकालीन विनियोग है। उस पर निश्चयात्मक रूप से सौ गुना व्याज प्राप्त होता है, परन्तु कुछ वर्षो वाद और कभी-कभी कुछ पीढियों वाद। कभी कभी हम यह वेकार का प्रश्न भी सुनते हैं कि स्वास्थ्य पर किये हुए व्यय से क्या लाभ है। वहुधा यह प्रश्न ऐसे व्यक्ति पूछते हैं जो यह नहीं सोचते कि चैतन्य एवम् समर्थ जीवितों के मध्य उनकी स्वागत योग्य उपस्थिति ही इसका उत्तर है।'—इगलैण्ड के स्वास्थ्य विभाग के प्रधान स्वास्थ्य अधिकारी (मेडिकल आफिसर) की वार्षिक रिपोर्ट, १६२१।

शेष है। इस विषय का विवेचन हम बाद में कृषि एवम् औद्योगिक उन्नति के प्रसग में करेंगे।

२७ जातिगत सम्मान—आर्थिक प्रगति निहित जातिगत क्षमता पर भी निर्भर होती है तथा कुछ जातियो में इसके लिए सम्मान ही नही होता। कुछ वर्गो (जातियो) की उच्चता तथा कुछ की हीनता के सम्बन्ध में सहज निष्कर्षो के विवेचन में पडना खतरनाक है। इस प्रकार के अनेक निष्कर्ष वर्तमान स्थिति के सक्षिप्त सार मात्र हैं। आज भारतीय आर्थिक एवम् सास्कृतिक दृष्टि से पिछडे हुए हैं, इसलिए कुछ लेखको का मत है कि यूरोपीय कवियो के समान सभ्यता के शिखर पर पहुँचने की उनमें क्षमता ही नही है। हम कल्पना कर सकते हैं कि इसी प्रकार का निष्कर्ष किसी भारतीय पर्यवेक्षक का रहा होगा। जब ब्रिटिश द्वीपसमूह के निवासी असभ्यो की तरह जगलो में घूमते होंगे तथा भारत अपनी शक्तिशाली सभ्यता पर गौरव करता होगा। यदि उससे कोई कहता कि इन असभ्यो के वशज भारत पर शासन करेंगे तो इस सुझाव का स्वागत वह क्षम्य घृणा एवम् अविश्वास के साथ करता। परन्तु यह आश्चर्यजनक घटना होकर रही और अब भारतीयो की बारी आई कि वे अपने सभ्य होने की क्षमता के दावे को सिद्ध करे। इतिहास के क्रम में एक जाति के दूसरी जाति के बारे में इस प्रकार के अनेक निर्णय भरे पडे है। अठारहवी शताब्दी के अन्त मे पश्चिमी यूरोप वाले रूस-निवासियो को अर्द्ध-असभ्य मानते थे तथा अलम्बर्ट और डिडेरट उनका यूरोपीय स्तर तक सभ्य होना सम्भव ही नही समझते थे। अब भी नीग्रो जाति के बारे मे सामान्य धारणा यही है कि वे श्वेत वर्ण की जातियो के समान नही हो सकते तथा भारतीयो के बारे में भी कभी-कभी इस मत का प्रतिपादन किया गया है कि सभी भूरी जातियो के समान वे भी सतत प्रगति करने में असमर्थ है जिसके कारण वे प्रगति के कुछ मध्यान्तरो को छोडकर दीर्घकाल तक गतिहीन और एक ही प्रकार के विचारो में पडे रहेगे।[1] यह मत स्वय खण्डित है क्योकि इसमें यह स्पष्ट बात भुला दी गई है कि भारतीय किसी एक जातीय तत्त्व से सगठित नही वरन् उनके निर्माण में अनेक जातीय-प्रवाहो का सम्मिश्रण है। इसके अतिरिक्त यह सर्वविदित है कि भारत के धन और सभ्यता ने ही विदेशियो को आकर्षित किया था। अब भी इस पिछडी हुई दशा में योग्य पर्यवेक्षको ने भारतीयो में महत्ता के तत्त्व देखे है और स्वीकार किया है कि उचित अवसर मिलने पर भारतीय बुद्धि में यूरोपियनो से किसी प्रकार भी हीन नही है।[2] यह बात भी असत्य है कि वे आर्थिक सगठन और प्रगति के प्रति उदासीन है या कुछ करने में समर्थ नही है। अत आर्थिक उन्नति के सम्बन्ध में भारतीयो को इस भावना से प्रभावित न होना चाहिए कि उनकी हीनता दूर ही नही की जा सकती।

---

१ मेरेडिथ टाउनसेन्ट, 'एशिया एण्ड यूरोप', पृ० ६।

२ २६ अगस्त १९१९ को जोहान्सबर्ग में भाषण देते समय फील्ड मार्शल स्मट्स ने निम्न शब्दो का प्रयोग किया—'मैं भारतीयों को घृणा की दृष्टि से नही देखता वरन् आशा की दृष्टि से देखता हूँ। ससार के इतिहास में भारतीय महान् पुरुष हुए हैं। मानव-जाति का नेतृत्व करने वाले महान् भारतीय भी हुए हैं जिनके पाँवों की धूल के बराबर भी मैं नही हूँ।'

अध्याय ४

सामाजिक और धार्मिक संस्थाएँ

१. आर्थिक कार्यों पर धार्मिक और सामाजिक संस्थाओं का प्रभाव—किसी देश के आर्थिक जीवन पर वहाँ की सामाजिक और आर्थिक सस्थाओ का बहुत गहरा प्रभाव पडता है। इस अध्याय में हम भारत के आर्थिक जीवन की मूलाधार सस्थाओ का वर्णन करेंगे और यह विचार करेंगे कि उनमें से विशेष महत्त्व वाली सस्थाएँ किस सीमा तक देश के आर्थिक जीवन के विकास मे बाधक अथवा साधक सिद्ध हुई है। इस बात पर जोर देने की आवश्यकता नही कि भारत के आर्थिक जीवन की धार्मिक और सामाजिक पृष्ठभूमि का विशेष अध्ययन आवश्यक है, क्योकि यह तो प्रत्यक्ष ही है कि भारतवर्ष के आर्थिक जीवन के अनेक अगो की रूपरेखा देश की आर्थिक और सामाजिक सस्थाओ की विशेषताओ का ही फल है।[1]

२. वर्ण-व्यवस्था—वर्ण-व्यवस्था भारतीय समाज की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता है।

ससार के सभी राष्ट्रो में सामाजिक वर्ग-विभाजन के जो अनेक सोपान पाये जाते है उनसे हमारे देश की जाति-व्यवस्था सर्वथा भिन्न है। अन्य राष्ट्रो में हमारी तरह विभाजन की कठोर सीमा-रेखाएँ नही खिची हुई और इनके विभाजन का आधार भी धर्म नही है। इस कारण से किसी एक वर्ग के व्यक्ति को दूसरे वर्ग में जाना भी वर्जित नही है। इनमे अन्तर्वर्गीय विवाह पर कोई प्रतिबन्ध नही है। प्रत्येक व्यक्ति को अपना जीवन-व्यवसाय चुनने की पूरी स्वतन्त्रता है। इसके विपरीत वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत हिन्दू समाज एक-दूसरे से नितान्त पृथक् असंख्य छोटी-बडी जातियो और उपजातियो में विभाजित है। इन जातियो के सदस्यो का नित्यप्रति का आचरण भी उस जाति-विशेष में प्रचलित विस्तृत नियम-सहिता से नियन्त्रित होता है। किसी एक जाति के सदस्यो का अपने से नीची जाति के सदस्यो के साथ विवाह-सम्बन्ध स्थापित करना अथवा खान-पान वर्जित है। भारत में तो जन्म से ही व्यक्ति-विशेष के सामाजिक और घरेलू सम्बन्ध सदा के लिए निश्चित हो जाते हैं। जिन रूढियों और रीति-

[1] "सामाजिक जीवन के ढग ने ही भारत में लोगों की भूमि-अधिकार व्यवस्था को निश्चित किया है। ग्राम्य जीवन व्यवस्था"'सयुक्त परिवार तथा जाति-व्यवस्था ने सदा से ही लोगों के व्यक्तिगत अधिकार सयुक्त परिवार के सदस्य की हैसियत से, तथा उन व्यावसायिक वर्गो के सदस्य की हैसियत से, जिसमें उस व्यक्ति ने जन्म लिया है, निश्चित किये हैं।"—एच० एस० चटर्जी, इण्डियन इकानॉमिक्स, पृष्ठ ८०।

रिवाजो के बीच उसका जन्म हुआ है उसे खान-पान, वेश-भूषा विवाह आदि में जीवन-भर उन्ही के अनुकूल चलना पडता है।[1]

३. वर्णों के तीन मुख्य भेद—वर्णों के तीन मुख्य भेद हैं—व्यावसायिक, आनुवंशिक तथा धार्मिक। इनमें सबसे अधिक महत्त्वशाली व्यावसायिक जातियाँ है। ये जातियाँ उन व्यवसायो की प्रतीक है जिनमें यन्त्रो के प्रयोग में आने के पहले प्राचीन युग में लोग लगे हुए थे।[2] व्यावसायिक जातियो के उदाहरण पूजापाठ कराने वाले ब्राह्मण और व्यापार करने वाले वैश्य है, जिनमे अन्य जातियो के अतिरिक्त पजाब की खत्री जाति और राजपूताना की अग्रवाल और ओसवाल जातियाँ आदि भी सम्मिलित है। सभी व्यावसायिक जातियो की गणना तो कठिन है, फिर भी उनमें से मुख्य जुलाहे, बढई, कुम्हार और सुनार आदि का उल्लेख किया जा सकता है। गाँवो में काम करने वाले ग्वाले, नाई, धोबी भी इसी वर्ग के होते है। इनके अतिरिक्त अन्य प्रकार के काम करने वालो की जैसे ज्योतिषी, तेली, अहीर, गडरिया तथा कत्थक आदि की भी इनमें गणना की जाती है। आनुवशिक जातियाँ असख्य है और भारत के कोने-कोने में फैली हुई है। इनमे से बगाल की राजवशी तथा चाडाल आदि, उत्तर प्रदेश और बिहार की भर तथा चीरो आदि, राजपूताना और पजाब की जाट, गूजर तथा मेव आदि, बम्बई की कोली और महार आदि तथा मद्रास की नायर तथा परायन आदि जातियो के नाम विशेष उल्लेखनीय है। धार्मिक जातियाँ वे है जिनका उद्‌भव किसी धार्मिक सम्प्रदाय-विशेष से हुआ है, जैसे बम्बई की लिंगायत जाति। इस जाति की नीव एक ऐसे धार्मिक नेता द्वारा डाली गई थी जिसने ब्राह्मणो की प्रभुता को स्वीकार नही किया था।[3]

४. वर्ण-व्यवस्था का उद्‌भव—जेम्स मिल के मतानुसार समाज का वर्णों में विभाजन मूलत किसी ऐसे दैवी-प्रेरणा-प्राप्त व्यक्ति द्वारा किया गया होगा जो व्यवस्थित श्रम-विभाजन के लाभो की पूर्व-कल्पना करने में समर्थ रहा होगा। उनके मतानुसार किसी एक जाति के दूसरी जाति पर प्रभुता स्थापित करने के दो मुख्य कारण थे। एक तो कमजोर जातियो में बलिष्ठ जातियो के प्रति काल्पनिक भय की भावना तथा दूसरे ब्राह्मण जाति की शक्ति-लोलुपता, जो कि उनकी विशेषता रही है। अपनी इस विशे-

---

१ इपीरियल गजटियर ऑफ इण्डिया, खण्ड १, पृष्ठ ३२३, डा० जी० एस० घूरिये ने भारतीय वर्ण-व्यवस्था की निम्नलिखित विशेषताएँ वर्णन की है (१) समाज का छोटे-छोटे वर्गो में विभाजन, (२) आचार्याधिपत्य, (३) खान-पान तथा सामाजिक व्यवहार में निषेध, (४) भिन्न-भिन्न जातियों के नागरिक अथवा धार्मिक अधिकार तथा अयोग्यताएँ, (५) व्यवसाय चुनने के अवसर का अभाव, और (६) विवाह-सम्बन्ध स्थापित करने में बाधाएँ।—Caste & Race in India, पृष्ठ २-१८।

२ व्यवसाय वर्ण-व्यवस्था का एकमात्र कारण नही माना जा सकता, क्योंकि सिनार्ट के मतानुसार यदि ऐसा होता तो इस सस्था के अधिक उपविभाजन तथा अस्त-व्यस्त होने की सम्भावना कम होती और आरम्भ में उन्हें सयुक्त रखने का कारण ही बाद में भी उनको सम्मिलित रखता। यदि व्यवसाय के आधार पर ही जातियाँ बनी होती तो हमें एक जाति में एक प्रकार का ही व्यवसाय करते हुए लोग दिखाई देते। पर हम जानते हैं कि ऐसा नही है। उदाहरण के लिए देश के एक भाग में रहने वाले सभी कपड़ा बुनने वाले एक ही जाति के नहीं होते।"—रिसले, पूर्व उद्धृत, पृष्ठ २६६-७०।

३ देखिए, इनसाइक्लोपीडिया ऑफ रिलिजन एण्ड एथिक्स, भाग ३, पृ० २३१।

पता के कारण धीरे-धीरे ब्राह्मण जाति ने समाज में ऐसा उच्चतम पद प्राप्त कर लिया कि उनके प्रति सम्मान प्रकट करना अन्य जातियो का कर्तव्य हो गया। दैवी प्रकोपो के वाद, जिन्हे दूर करने की सामर्थ्य का ब्राह्मण ढोग करते थे, युद्ध के अनिष्टकारी परिणामो का ही विशेप भय होता था, और इसीलिए ब्राह्मणो के वाद सम्मान में दूसरा स्थान क्षत्रियो का हुआ।[1]

सिनार्ट के सिद्धान्तानुसार, "जाति-व्यवस्था आर्यों की प्राचीन सस्थाओ के स्वाभाविक विकास का फल है, जिसने भारत की तत्कालीन परिस्थितियो के अनुकूल ढलते-ढलते यह रूप धारण कर लिया है।" इस मत के प्रतिपादन में उन्होने हिन्दुओ की सामाजिक व्यवस्था तथा ग्रीस और रोम के राष्ट्रीय विकास के प्रारम्भिक युग की अवस्था के वीच पाये जाने वाले अत्यधिक साम्य को आधार माना है। इन दोनो में अन्तर केवल इतना था कि भारत में जाति-व्यवस्था वडी कठोर और अनम्य हो गई, परन्तु यूरोप मे ऐसा नही हुआ।

एम० सिनार्ट के वर्ण-व्यवस्था-सम्वन्धी सिद्धान्त का आधार निम्न वातें कही जा सकती हैं—(१) आर्यो का देश में दूर-दूर तक फैल जाना, जिससे वर्गो की सख्या में वृद्धि होती गई, (२) दस्युओ से आर्यो का सम्पर्क, जिससे कुल-भेद के गर्व को प्रोत्साहन मिला, (३) धार्मिक अनुष्ठानो में पवित्रता का विचार, जिसके कारण वहाँ के आदिवासियो को शारीरिक श्रम वाले कार्यो मे लगना पडा जवकि उच्च व्यवसाय केवल आर्यो के लिए सुरक्षित रहे, (४) पुनर्जन्म के सिद्धान्त का प्रभाव, जिसके अनुसार समाज मे प्रत्येक व्यक्ति का स्थान पूर्व जन्म के कर्मो के अनुसार नियत होता है, (५) राजनीतिक सत्ता का अभाव जो इन विखरे हुए समूहो को एक सूत्र मे वाँध सकता था, और (६) ब्राह्मणो की सत्ता जो उन्होने धीरे-धीरे प्राप्त कर ली थी।[2]

५. वर्ण-व्यवस्था की कठोरता—जातियो के उद्भव और विकास के सम्वन्ध मे अनेक सिद्धान्तो का प्रतिपादन हुआ है। पर वे सव अपूर्ण कहे जा सकते है, क्योकि वे भारतीय जाति-व्यवस्था की अप्रतिम कठोरता का कारण पूर्ण रूप से स्पष्ट करने में असमर्थ हैं। वारहवी और अठारहवी शताब्दी के वीच यवनो के वारम्वार के आक्रमणो के प्रतिक्रियास्वरूप इस व्यवस्था मे और भी अनम्यता आ गई। इस्लाम धर्म के लोकतन्त्रीय प्रभावो की ऐसी प्रतिक्रिया होना वडी अजीव और अप्रत्याशित वात थी। यह विश्वास करने के पर्याप्त कारण है कि विकास की प्रारम्भिक अवस्था में वर्ण-व्यवस्था

१. देखिए, एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका, ग्यारहवां सस्करण, जाति पर लेख।

२. रिसले, पीपुल ऑफ इण्डिया, पृष्ठ २६७। वर्ण-व्यवस्था की हाल की प्रगति को समझाते हुए डॉ० जी० एस० घूरिये का कथन है कि देश में कठोर एकछत्र शासन के अभाव, शासकों की कानून और रिवाज के समान मापदण्डों को लागू करने की अनिच्छा तथा उनके भिन्न-भिन्न वर्गो में प्रचलित रिवाजों को मान्यता प्रदान करने की तत्परता आदि ने जाति-विभेदों की वृद्धि की है और प्रत्येक समूह में सजातीय भावना को वढाकर उनमें ऐक्य स्थापित किया है। डा० घूरिये का यह भी मत है कि 'जातियों की अनेकता तथा सम्पूर्ण व्यवस्था का सर्वाङ्ग पूर्णता हिन्दुओं के वर्ग-विभाजन का स्वभाव तथा उसे तर्कसहित चरम सीमा तक पहुँचाने की प्रवृत्ति का प्रमाण है जो उनके विश्वास, साहित्य तथा दर्शन की विशेषता है।' पूर्वउद्धृत, पृ० १४७-८।

इतनी अनम्य न थी—विशेष रूप से जहाँ तक तीन मुख्य वर्णों का सम्बन्ध है। इनकी इस नम्यता का लोप कैसे हो गया, यह सदैव एक ऐसा प्रश्न रहेगा जिसका सही उत्तर नही दिया जा सकता। हो सकता है विजित दस्युओ की प्रतिनिधि होने के कारण अथवा किसी और कारण से शूद्र जाति के साथ शुरू से ही लगा हुआ हीनता-दोष ही इस अनम्यता का मूल कारण रहा हो और वही धीरे-धीरे समूची समाज-व्यवस्था में व्याप्त हो गया हो। यह भी सम्भव हो सकता है कि आर्यो के यज्ञ तथा संस्कारो की क्रियाओ की विधि को विशेष महत्ता मिलने के कारण ब्राह्मणो के हाथो मे, जो ये कार्य सम्पन्न कराते थे, शक्ति केन्द्रित हो गई हो और उन्होने इस शक्ति का प्रयोग अपने सामाजिक उत्कर्ष के लिए किया हो। यह भी सम्भव है कि सिनार्ट महोदय ने जिन कारणो का उल्लेख किया है उनका भी कुछ हाथ रहा हो, लेकिन यह मान लेना कठिन है कि भारतीय समाज की स्थैर्य और शान्तिमय स्थिति ने कई पीढियो तक व्यावसायिक परम्परा निश्चित कर ली और इस प्रकार आनुवशिकता और उत्तराधिकार के सिद्धान्तो को दृढ बनाकर जातियो की वृद्धि मे योग दिया।[1] हम ऐसा इसलिए कहते है कि ऐसी ही स्थिरतामय स्थिति औद्योगिक क्रान्ति के पूर्व समस्त यूरोप में फैली हुई थी, फिर भी वहाँ भारतीय जाति-व्यवस्था की कठोरता के तुल्य सामाजिक व्यवस्था का जन्म नही हुआ। ऐसे ही कारणो के आधार पर हम इस तर्क को भी अस्वीकार करने के लिए बाध्य है कि सचार के अविकसित साधनो और जनसाधारण के अज्ञान ने सामाजिक सम्पर्क को दु साध्य बनाकर जाति-व्यवस्था की नीव और भी मजबूत की। उपर्युक्त तर्को से केवल इतना ही स्पष्ट होता है कि जाति-व्यवस्था की कठोरता एक बार आरम्भ होने पर किस प्रकार उत्तरोत्तर बढती गई। यह स्पष्ट नही होता कि जाति-व्यवस्था की कठोरता का जन्म कैसे हुआ। अस्तु, वर्ण-व्यवस्था के जन्म और विकास के प्रश्न को यह कहकर छोड देना ही उचित होगा कि यह 'एक अबूझ और निष्प्रयोजन पहेली' है।

६. वर्ण-व्यवस्था के लाभ और उसकी उपलब्धियाँ—वर्ण-व्यवस्था का सबसे अधिक प्राणवान् सिद्धान्त, जिसके कारण इसे युक्तियुक्त अथवा न्याय्य ठहराया जाता है, श्रम-विभाजन का सिद्धान्त है जिससे लोगो की आर्थिक शक्ति तथा कार्य-क्षमता की वृद्धि हुई है। प्राय सभी देशो में कभी-न-कभी व्यवसाय सिद्धान्त-रूप में नही तो कार्य-रूप में अवश्य परम्परागत रहे है और इसमें अनेक लाभ भी थे। ऐसी व्यवस्था में पुत्र स्वभावत. व्यवसाय के रहस्यो को बडी सरलता से जान लेता था और घर के सुखद वातावरण, पिता के वात्सल्ययुक्त सरक्षण में कम-से-कम प्रयास से कार्य में दक्षता प्राप्त कर लेता था। इस बात की महत्ता उस समय विशेष थी जबकि शिक्षा का कोई व्यवस्थित ढग न था और हस्त-लाघव का विशेष मान था। इस प्रकार पिता को बडे सस्ते में एक सहायक प्राप्त हो जाता था और पुत्र को बडी सुगमता से जीवन में प्रवेश मिल जाता था, क्योकि उसे पैतृक सम्पति के रूप में पिता की कला और ख्याति प्राप्त हो जाती थी। कला में शिक्षा से प्राप्त निपुणता का बहुत मूल्य था और कुलागत परम्परा इसमें सहायक होती थी। जब तक इस सिद्धान्त का प्रयोग स्वाभाविक और सगत ढग से

[1] देखिए, पी० ए० वाडिया और जी एन० जोशी, वैल्थ ऑफ इण्डिया, पृष्ठ १२४।

होता रहा इसमें कोई आपत्ति नही की जा सकती थी। पर ऐसा नही हुआ। कुछ समय के पश्चात् किसी व्यक्ति का दूसरे व्यवसाय का अपनाना असाधारण बात ही नही, वरन् दोषपूर्ण तथा दण्डनीय माना जाने लगा।

व्यावसायिक जातियो की तुलना प्राय यूरोप के मध्यकालीन व्यापार-सघो से की जाती है और उनको समान व्यवसायियो के बीच आपसी सम्बन्ध स्थापित करने का एक लाभप्रद साधन माना जाता है। ये जातियाँ यूरोप के प्राचीन व्यापार-सघो की ही तरह अपने सदस्यो के लिए शिशिक्षुओ को शिक्षा देकर, सदस्यो के बीच सद्भाव का प्रचार करके झगडो का निवटारा करने के लिए विवाचन-न्यायालयों की व्यवस्था करके सदस्यो के पारिश्रमिक तथा लाभ को नियमित करके और कभी-कभी कठिनाई के समय उनकी सहायता करके, अन्योन्य हितकारिणी समितियो का कार्य किया करती थी।[1] 'हिन्दुओं के लिए तो उनका जाति-सघठन ही उनका सम्मिलन-केन्द्र है, उनका व्यापार-सघ है, हितकारिणी समिति है और वही उनकी जन-हितैषी सभा भी है।'[2] यूरोपीय व्यापार-सघ कुछ विशेष बातो में जातियो से भिन्न है। सर्वप्रथम, वे स्वेच्छा से वनाये गए सघ थे जो कि ये जातियाँ नही हैं। दूसरे, यद्यपि इन सघो मे सदस्यो के पुत्रो को शिशिक्षु की हैसियत से वहुत लाभ प्राप्त हो जाते थे फिर भी आवश्यक शिक्षा प्राप्त वाहरी लोगो को भी प्रवेश मिल जाता था। ऐसा कम-से-कम उस समय तक होता रहा जव तक कि ये विगडकर सकीर्ण एकाधिकारी सघो के रूप में परिणत नही हो गए। इसके अतिरिक्त इनमें अन्तर्वर्गीय विवाह की आज्ञा थी, क्योकि वे इसे विशुद्ध रूप से सामाजिक भावना की वात मानते थे। भारतवर्ष मे किसी जाति-विशेष की सदस्यता पूर्णत जन्म पर निर्भर रही है और अन्तर्जातीय विवाह दृढता से वर्जित रहे हैं। यूरोपीय व्यापार-सघो के सम्वन्ध में सदस्यो की व्यावसायिक एकता ही वास्तव में उनके बीच का यथार्थ वन्धन था और यह एकता ही आगे चलकर सामन्तो और राजाओ के विरुद्ध उनकी सामूहिक शक्ति का स्रोत सिद्ध हुई। भारत की जातियो की तरह उनकी व्यावसायिक एकता आपसी फूट और कमजोरी की प्रतीक नही थी। कुछ लेखको का विश्वास है कि यूरोप के मध्यकालीन व्यापार-सघो की तरह जातियो ने भी सम्भवत कला और उद्योग को प्रश्रय दिया होगा और उनकी उन्नति की होगी और शायद 'इस व्यवस्था ने शिल्पियो की आश्चर्यजनक यान्त्रिक निपुणता की वाह्य प्रतिस्पर्धा से रक्षा की होगी।'[3] निस्सन्देह, इस विचार में सत्य का अश है, पर यह भी विलकुल सम्भव है कि भारत की वर्तमान शिल्प-कला में जो समयानुकूल परिवर्तनशीलता का अभाव अथवा साधारणतया विकास के प्रति शैथिल्य दिखाई पड रहा है, जाति-व्यवस्था के वन्धनो ही के कारण है, जिसने अवश्य ही उसकी स्वाभाविक उन्नति में वाधा डाली होगी।[4]

---

१ देखिए, चटर्जी, पूर्व उद्धृत, पृष्ठ ९२।

२ एस० लो०, विजन ऑफ इण्डिया, पृ० २६३

३ देखिए, वाडिया एण्ड जोशी, पूर्व उद्धृत, पृ० १२६।

४. 'व्यावसायिक सघ विस्तृत और विकसित हो सकता है। इसमें कलात्मक प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति

इतनी अनम्य न थी—विशेष रूप से जहाँ तक तीन मुख्य वर्णों का सम्बन्ध है। इनकी इस नम्यता का लोप कैसे हो गया, यह सदैव एक ऐसा प्रश्न रहेगा जिसका सही उत्तर नही दिया जा सकता। हो सकता है विजित दस्युओ की प्रतिनिधि होने के कारण अथवा किसी और कारण से शूद्र जाति के साथ शुरू से ही लगा हुआ हीनता-दोष ही इस अनम्यता का मूल कारण रहा हो और वही धीरे-धीरे समूची समाज-व्यवस्था में व्याप्त हो गया हो। यह भी सम्भव हो सकता है कि आर्यो के यज्ञ तथा सस्कारो की क्रियाओ की विधि को विशेष महत्ता मिलने के कारण ब्राह्मणो के हाथो में, जो ये कार्य सम्पन्न कराते थे, शक्ति केन्द्रित हो गई हो और उन्होने इस शक्ति का प्रयोग अपने सामाजिक उत्कर्ष के लिए किया हो। यह भी सम्भव है कि सिनार्ट महोदय ने जिन कारणो का उल्लेख किया है उनका भी कुछ हाथ रहा हो, लेकिन यह मान लेना कठिन है कि भारतीय समाज की स्थैर्य और शान्तिमय स्थिति ने कई पीढियो तक व्यावसायिक परम्परा निश्चित कर ली और इस प्रकार आनुवशिकता और उत्तराधिकार के सिद्धान्तो को दृढ बनाकर जातियो की वृद्धि में योग दिया।[1] हम ऐसा इसलिए कहते है कि ऐसी ही स्थिरतामय स्थिति औद्योगिक क्रान्ति के पूर्व समस्त यूरोप में फैली हुई थी, फिर भी वहाँ भारतीय जाति-व्यवस्था की कठोरता के तुल्य सामाजिक व्यवस्था का जन्म नही हुआ। ऐसे ही कारणो के आधार पर हम इस तर्क को भी अस्वीकार करने के लिए बाध्य है कि सचार के अविकसित साधनो और जनसाधारण के अज्ञान ने सामाजिक सम्पर्क को दु साध्य बनाकर जाति-व्यवस्था की नीव और भी मजबूत की। उपर्युक्त तर्को से केवल इतना ही स्पष्ट होता है कि जाति-व्यवस्था की कठोरता एक बार आरम्भ होने पर किस प्रकार उत्तरोत्तर बढती गई। यह स्पष्ट नही होता कि जाति-व्यवस्था की कठोरता का जन्म कैसे हुआ। अस्तु, वर्ण-व्यवस्था के जन्म और विकास के प्रश्न को यह कहकर छोड देना ही उचित होगा कि यह 'एक अबूझ और निष्प्रयोजन पहेली' है।

६. वर्ण-व्यवस्था के लाभ और उसकी उपलब्धियाँ—वर्ण-व्यवस्था का सबसे अधिक प्राणवान् सिद्धान्त, जिसके कारण इसे युक्तियुक्त अथवा न्याय्य ठहराया जाता है, श्रम-विभाजन का सिद्धान्त है जिससे लोगो की आर्थिक शक्ति तथा कार्य-क्षमता की वृद्धि हुई है। प्राय सभी देशो में कभी-न-कभी व्यवसाय सिद्धान्त-रूप में नही तो कार्य-रूप में अवश्य परम्परागत रहे है और इसमें अनेक लाभ भी थे। ऐसी व्यवस्था में पुत्र स्वभावत. व्यवसाय के रहस्यो को बडी सरलता से जान लेता था और घर के सुखद वातावरण, पिता के वात्सल्ययुक्त सरक्षण में कम-से-कम प्रयास से कार्य में दक्षता प्राप्त कर लेता था। इस बात की महत्ता उस समय विशेष थी जबकि शिक्षा का कोई व्यवस्थित ढग न था और हस्त-लाघव का विशेष मान था। इस प्रकार पिता को बडे सस्ते में एक सहायक प्राप्त हो जाता था और पुत्र को बडी सुगमता से जीवन में प्रवेश मिल जाता था, क्योकि उसे पैतृक सम्पति के रूप में पिता की कला और ख्याति प्राप्त हो जाती थी। कला में शिक्षा से प्राप्त निपुणता का बहुत मूल्य था और कुलागत परम्परा इसमे सहायक होती थी। जब तक इस सिद्धान्त का प्रयोग स्वाभाविक और सगत ढग से

[1] देखिए, पी० ए० वाडिया और जी एन० जोशी, वैल्थ ऑफ इण्डिया, पृष्ठ १२४।

होता रहा इसमें कोई आपत्ति नही की जा सकती थी। पर ऐसा नही हुआ। कुछ समय के पश्चात् किसी व्यक्ति का दूसरे व्यवसाय का अपनाना असाधारण बात ही नही, वरन् दोषपूर्ण तथा दण्डनीय माना जाने लगा।

व्यावसायिक जातियो की तुलना प्राय यूरोप के मध्यकालीन व्यापार-सघो से की जाती है और उनको समान व्यवसायियो के बीच आपसी सम्बन्ध स्थापित करने का एक लाभप्रद साधन माना जाता है। ये जातियाँ यूरोप के प्राचीन व्यापार-सघो की ही तरह अपने सदस्यो के लिए शिशिक्षुओ को शिक्षा देकर, सदस्यो के बीच सद्भाव का प्रचार करके झगडो का निबटारा करने के लिए विवाचन-न्यायालयो की व्यवस्था करके सदस्यो के पारिश्रमिक तथा लाभ को नियमित करके और कभी-कभी कठिनाई के समय उनकी सहायता करके, अन्योन्य हितकारिणी समितियो का कार्य किया करती थी।[1] 'हिन्दुओं के लिए तो उनका जाति-सघठन ही उनका सम्मिलन-केन्द्र है, उनका व्यापार-सघ है, हितकारिणी समिति है और वही उनकी जन-हितैषी सभा भी है।'[2] यूरोपीय व्यापार-सघ कुछ विशेष बातो में जातियो से भिन्न हैं। सर्वप्रथम, वे स्वेच्छा से बनाये गए सघ थे जो कि ये जातियाँ नही हैं। दूसरे, यद्यपि इन सघों में सदस्यो के पुत्रो को शिशिक्षु की हैसियत से बहुत लाभ प्राप्त हो जाते थे फिर भी आवश्यक शिक्षा प्राप्त बाहरी लोगो को भी प्रवेश मिल जाता था। ऐसा कम-से-कम उस समय तक होता रहा जब तक कि ये बिगडकर सकीर्ण एकाधिकारी सघो के रूप मे परिणत नही हो गए। इसके अतिरिक्त इनमे अन्तर्वर्गीय विवाह की आज्ञा थी, क्योकि वे इसे विशुद्ध रूप से सामाजिक भावना की बात मानते थे। भारतवर्ष में किसी जाति-विशेष की सदस्यता पूर्णत जन्म पर निर्भर रही है और अन्तर्जातीय विवाह दृढता से वर्जित रहे हैं। यूरोपीय व्यापार-सघो के सम्बन्ध मे सदस्यों की व्यावसायिक एकता ही वास्तव में उनके बीच का यथार्थ बन्धन था और यह एकता ही आगे चलकर सामन्तो और राजाओ के विरुद्ध उनकी सामूहिक शक्ति का स्रोत सिद्ध हुई। भारत की जातियो की तरह उनकी व्यावसायिक एकता आपसी फूट और कमजोरी की प्रतीक नही थी। कुछ लेखकों का विश्वास है कि यूरोप के मध्यकालीन व्यापार-सघो की तरह जातियो ने भी सम्भवत कला और उद्योग को प्रश्रय दिया होगा और उनकी उन्नति की होगी और शायद 'इस व्यवस्था ने शिल्पियो की आश्चर्यजनक यान्त्रिक निपुणता की बाह्य प्रतिस्पर्धा से रक्षा की होगी।'[3] निस्सन्देह, इस विचार में सत्य का अश है, पर यह भी बिलकुल सम्भव है कि भारत की वर्तमान शिल्प-कला में जो समयानुकूल परिवर्तनशीलता का अभाव अथवा साधारणतया विकास के प्रति शैथिल्य दिखाई पड रहा है, जाति-व्यवस्था के बन्धनो ही के कारण है, जिसने अवश्य ही उसकी स्वाभाविक उन्नति में बाधा डाली होगी।[4]

---

१ देखिए, चटर्जी, पूर्व उद्धृत, पृष्ठ ९२।

२. एस० लो०, विजन ऑफ इण्डिया, पृ० २६३

३. देखिए, वाडिया एण्ड जोशी, पूर्व उद्धृत, पृ० १२६।

४ 'व्यावसायिक सघ विस्तृत और विकसित हो सकता है। इसमें कलात्मक प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति

जाति-व्यवस्था के पक्ष मे कहा जा सकता है कि आर्यों के आक्रमण के समय शायद यह भिन्न-भिन्न जातियो के सहयोग तथा सस्कृतियो की सहकारिता मे सहायक सिद्ध हुई होगी।[1]

सम्भवत इस व्यवस्था ने हिन्दू-समाज को स्वय अक्षुण्ण बने रहकर राजनीतिक आक्रमणो के आघातो को सहने की शक्ति भी दी। यह भी कहा जा सकता है कि जाति-व्यवस्था ही ने भारतीय समाज को आधारभूत स्थिरता और सन्तोष प्रदान किया। अभी हाल तक भारत में किसी व्यक्ति का जीवन-पथ और व्यवसाय जन्म से ही निश्चित होता था। इससे वह अपने व्यवसाय चुनने की उलझन तथा उद्विग्नता से, जो वर्तमान सामाजिक जीवन की विशेषता है, बच जाता था। चूँकि व्यक्तियो का व्यवसाय जन्म से ही निश्चित हो जाता था, इसलिए वह 'सामाजिक विद्वेष तथा असफल आकाक्षाओ से जनित विष' से भी सुरक्षित रहता था।

७ जाति-व्यवस्था वर्तमान रूप में समर्थनीय नहीं—जाति-व्यवस्था की प्रारम्भ मे चाहे जो भी अच्छाइयाँ रही हो, पर वह अपने वर्तमान रूप मे हर प्रकार से निन्दनीय है। मनुष्य की कुत्सित धूर्तता द्वारा जनित और पोषित यह व्यवस्था प्रगति के मार्ग की सबसे बडी बाधा है। वर्तमान समय में तो यह अत्याचार और असहिष्णुता का व्यापक साधन बन गई है,[2] जो सामाजिक तथा राजनीतिक अनैक्य और दुर्बलता को जन्म देती है। यदि आज भारतीय राष्ट्रीयता को वास्तविक ऐक्य की भावोष्णता से रहित भिन्न-भिन्न अगो का अव्यवस्थित सग्रथन कहा जा सकता है तो यह स्मरण रहे कि इसके लिए जाति-व्यवस्था ही बहुत हद तक उत्तरदायी है। भारतवर्ष मे जाति-व्यवस्था सुदृढ राष्ट्रीयता के विकास मे बाधक रही है, जब कि अन्यत्र एक ही प्रदेश मे रहने वाली भिन्न-भिन्न जातियों का निर्बाध मिलन इस विषय मे सहायक ही होता रहा है। सम्भवत यह एक ऐसी महान् राजनीतिक बाधा है जिसके कुप्रभाव मे आज भी भारतीय पीडित है और जो अतीत मे उनकी राजनीतिक दुर्बलता का कारण रही है।

का पूर्ण अवसर रहता है। मध्यकालीन नगरों का जन्म भी इन्ही सघों के कारण हुआ था। जाति एक निम्न कोटि की व्यवस्था है। पार्थक्य की भावना से इसकी सख्या में बढती होती है। ज्यों-ज्यों इसमें वृद्धि होती है उसकी अपनी कलात्मक प्रवृत्तियों के विकास की क्षमता का ही नही उनको सुरक्षित रखने की क्षमता का भी ह्रास होता जाता है।' रिसले, पूर्व उद्धृत, पृ० २७०

१ 'यथार्थ में वर्ण-व्यवस्था न तो आर्यो की देन है और न द्रविडों की, वरन् इसका आरम्भ समय की आवश्यकता के अनुसार किया गया जब अनेक जातियो को एक-दूसरे से मिल-जुलकर रहना पडा। किसी जाति-विशेष की सस्कृति की रक्षा के लिए (बहुसख्यक आदिनिवासियो के प्रचलित अन्धविश्वासों द्वारा जिसके मिट जाने का बहुत भय था) अपनी जाति और सस्कृति-सम्बन्धी विशेषताओं को कठोर बधनों द्वारा अलग रखने के अतिरिक्त कोई दूसरा उपाय न था। दुर्भाग्य से इस सामाजिक व्यवस्था को अवनति और मृत्यु से बचाने की यह युक्ति अन्त में विकास के हित में बाधक सिद्ध हुई है।'—एम० राधाकृष्णन्, इण्डियन फिलासफी, खण्ड १, पृ० ११२-१३।

२ 'किसी जिले अथवा नगर की जनसख्या ऐसे भिन्न-भिन्न देशवासियों की समष्टि है जो न तो एक साथ खाएँगे न पिएँगे, और न आपस में विवाह ही करेंगे। यह कहना अत्युक्ति न होगा कि भारतवासी लगभग २००० जातियो-उपजातियों में विभाजित है जिनमें जीवन-सम्बन्धी आपसी समानता इतनी कम है कि जितनी किसी ...

उदाहरणार्थ, प्रो० जदुनाथ सरकार की यह स्थापना, कि मराठो की शक्ति का ह्रास विशेप रूप से जातीयता की अस्वस्थ भावना के विकास से हुआ, बहुत-कुछ अशो में सत्य है।

८ सजातीय विवाह तथा जातियों का अपकर्ष—जाति-व्यवस्था के पक्ष में एक बात प्राय यह कही जाती है कि इसने उच्च वशो की विशुद्धता को अक्षुण्ण रखा है। केवल हिन्दू जाति ही नही है जिसने विशुद्धता की रक्षा के लिए यह व्यापक युक्ति निकाली है, पर ससार के किसी भी देश मे सजातीय विवाह के सिद्धान्त को इतनी दृढता से नही अपनाया गया जितना कि भारत में। इसके कारण सदैव सजातीय अभिजनन होता है जिससे सम्भवत उच्च-कुलागत मूल गुणो का ह्रास हुआ है। इसके अतिरिक्त अन्त-र्जातीय विवाह न होने से यदि किसी एक जाति में पुरुषो का बाहुल्य हो तथा किसी दूसरी में स्त्रियो का बाहुल्य हो तो स्त्री-पुरुषो की सख्या की यह असमानता भी दूर नही की जा सकती, क्योकि एक जाति की कमी दूसरी जाति से पूरी नही हो सकती। भारी दहेज की कुत्सित सामाजिक प्रथा, और पजाब के कुछ भागो में अब भी प्रचलित शिशु-हत्या की घृणित प्रथा का कारण भी कुछ हद तक यही (सजातीय विवाह) है।

९. जाति-व्यवस्था वैयक्तिक रुझान और व्यवसाय के सामन्जस्य में बाधक है—आर्थिक उन्नति और समृद्धि के लिए मानव की सहज प्रवृत्ति और उसके व्यवसाय में जो सामञ्जस्य होना चाहिए उसमें जाति-प्रथा बाधक होती है। यदि केवल जन्म के ही आधार पर लोगो की प्रवृत्ति तथा योग्यता का विचार किये बिना ही हम उनको पृथक्-पृथक् वर्गो में बाँट दें और उन्हे अपनी शक्तियो को पूर्ण रूप से विकसित करने का जन्म-सिद्ध अधिकार न दे तो राष्ट्र उन लाभो से वचित रहेगा जो अन्यथा राष्ट्रीय सम्पत्ति तथा जन-कल्याण मे वृद्धि करते। हम नही जानते कि इस प्रकार लोगो को अनुपयुक्त स्थानो पर रखकर अथवा दूसरे शब्दो में सबको समान अवसर न देकर हम उनके आर्थिक उद्यम को कितना बडा आघात पहुँचा रहे हैं।[1]

१०. पूँजी और श्रम में गतिमत्ता का अभाव—जाति-व्यवस्था पूँजी और श्रम की स्वतन्त्र गतिमत्ता मे बाधा उपस्थित करती है। व्यवसाय-परिवर्तन तथा स्थान-परिवर्तन के कठिन होने पर श्रम की गतिमत्ता कम हो जाती है। शिल्प-कला की पुरानी व्यवस्था मे शिल्पी स्वय अपनी ही पूँजी का प्रयोग करता है, इसलिए श्रम कि गतिहीनता का अर्थ स्वभावत पूँजी की गतिहीनता भी होता है। इस प्रकार इस व्यवस्था में ऐसे वर्गों की स्थापना हो गई थी जिनमें आपसी प्रतिद्वन्द्विता के लिए कोई अवसर न था। ऐसी स्थिति में किन्ही व्यवसायो में काम करने वालो का बाहुल्य दिखाई पडता था, जब कि दूसरो में व्यवसायी जाति-भेद की दीवारो के कारण बाह्य प्रतियोगिता से बचकर लाभान्वित होते थे।

११. बड़े पैमाने के साहसोद्यम में जाति-प्रथा बाधक—जाति-व्यवस्था ने कुछ हद तक अधिक मात्रा में उत्पादन करने वाले उद्योगो के विकास को अवरुद्ध किया है। पहले तो किसी विशेष प्रकार के श्रमिको की माँग और उसके सम्भरण में तुरन्त समजन

१. एस० वी० केटकर, इण्डियन इकानॉमिक्स।

होना कठिन है। दूसरे, जाति-व्यवस्था आजकल के बडे पैमाने की उत्पादन-प्रणाली के लिए आवश्यक श्रम के सूक्ष्म विभाजन की विरोधी है। इन बातो के अतिरिक्त जाति-भेद के कारण बुद्धि, शारीरिक श्रम और पूँजी को जो प्राय भिन्न-भिन्न जातियो की विशेषताएँ होती हैं, एक स्थान पर एकत्रित करना भी कठिन है।[1] प्रत्येक जाति के खाने-पीने, पहनने और रहने के ढग में अन्तर होने के कारण उपभोग का स्वरूप भी साम्प्रदायिक तथा स्थानीय हो जाता है। इसलिए अनेक प्रकार की वस्तुओ का उत्पादन तो करना पडता है परन्तु प्रत्येक वस्तु का उत्पादन छोटे पैमाने पर ही किया जाता है।[2] इन बातो के फलस्वरूप देश के इतने विशाल होते हुए भी उत्पादन छोटे पैमाने पर ही होता रहा है और बडे पैमाने पर उत्पादन करने में जो बचत होती है उससे लाभ नही उठाया जा सका। एक छोटा दोष यह भी है कि सामाजिक दृष्टि से नीची जातियो की आर्थिक स्थिति में उन्नति हो जाय तब भी वह सदैव रहन-सहन के स्तर में परिलक्षित नही होती, क्योकि नीची जातियो के उच्च जातियो में सम्मिलित किये जाने की तो कोई सम्भावना होती नही और इसलिए उनके अनुकरण द्वारा रहन-सहन का श्रेष्ठतर स्तर अपनाने का भी अवसर उन्हे नही मिल पाता।

१२ जातियाँ और श्रम की गरिमा—जाति-व्यवस्था प्राय उच्च वर्गो के लोगों में नीच जातियो द्वारा अपनाये गए उद्योगो के अनुकरण के प्रति अरुचि पैदा कर देता है। परिणाम यह होता है कि वे वहुधा अपनी आर्थिक स्थिति में उन्नति नही कर पाते और इस प्रकार तथाकथित प्रतिष्ठित व्यवसायो में काम करने वालो के बाहुल्य से उत्पन्न विषमताएँ बढती जाती है। यह सत्य है कि यूरोप में श्रम की गरिमा के बारे में लोगो में कोई भ्रान्त धारणा नही है। वे किसी व्यवसाय-विशेष को किसी वर्ग-विशेष का एकाधिकार नही मानते, वरन् वे तो लोगो में काम को समान और स्वतन्त्र रूप से वितरित करने के पक्षपाती है। प्रत्येक व्यक्ति को इस बात की स्वतन्त्रता है कि वह अपनी आर्थिक स्थिति की उन्नति के लिए कोई भी व्यवसाय अपना ले। उनकी दृष्टि में कोई भी ईमानदारी का व्यवसाय हीन नही है। वहाँ अपने परम्परागत व्यवसाय को छोडकर किसी अन्य व्यवसाय के अपनाने से न तो कोई जातिच्युत होता है और न सामाजिक निन्दा का भागी ही। इससे श्रम तथा पूँजी की गतिमत्ता को प्रोत्साहन मिलता है और आर्थिक स्थिति दृढ होती है। जाति-प्रथा से एक और हानि विभिन्न जातियो में कृषिक तथा औद्योगिक उत्पादन के विकास के कुछ तरीको के विरुद्ध विद्यमान अरुचि और पूर्वग्रहो के कारण होती है। हड्डियों, मछलियो तथा विष्ठा का खेती में खाद के रूप में प्रयोग करने में आपत्ति इसका एक उदाहरण है।

---

१ भारत में सयुक्त पूँजी वाले बैंकों का आरम्भिक असफलता का एक कारण यह भी था कि बैंक में काम करने के लिए एक ही जाति के लोग न मिलते थे। तत्कालीन परिस्थितियों के अनुसार बैंकों के कार्य को सफलतापूर्वक चलाने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक था।

२ यह मानना पड़ेगा कि यदि किसी जाति के सदस्यों की सख्या लाखों में हो, जैसी कि कुछ जातियों की है, तो इस तर्क में कोई बल नहीं रह जाता।

१३. जाति-प्रथा समानता के सिद्धान्त की विरोधी है—जाति-व्यवस्था समानता के लाभकारी सिद्धान्त को अस्वीकार करती है। इससे ऊँची तथा नीची दोनो जातियो को हानि पहुँची है। इस भेद-व्यवस्था ने उच्च वर्णों में एक विकृत तथा निराधार प्रभुता की भावना को और नीच वर्णों में उनके स्वाभिमान के विकास के लिए घातक मानसिक प्रवृत्ति को जन्म दिया है। इसका सबसे बडा उदाहरण अछूत जाति के लोग है, जो तरह-तरह से निरादृत किये जाते है, जलालत भुगतते है और अनेक सामाजिक ही नही आर्थिक कठिनाइयो से भी दबे है।[1] इस प्रथा के अभागे शिकार, अर्थात् अछूत, दुकानो में घुसने तथा उन सडको पर जहाँ दुकानदार रहते है, चलने योग्य न होने के कारण साधारण व्यापारिक आदान-प्रदान में सदा घाटे में रहे है। शताब्दियो से प्रचलित सामाजिक बहिष्कार की यह अपमानजनक प्रथा पौरुष, स्वातन्त्र्य तथा स्वावलम्बन की भावना के विकास में बहुत बडी बाधा रही है।[2]

१४. पाश्चात्य सभ्यता का जाति-प्रथा पर प्रभाव—पाश्चात्य विचार-धारा के प्रभाव तथा सभ्यता के आधुनिक साधनो (उदाहरणार्थ रेल आदि) ने कुछ अभी तक जाति-भेद की दीवारो को ढाने का प्रयत्न किया है। गाँवो के बाह्य जगत् से सम्बन्धित हो जाने के कारण तथा व्यापार और नवीन उद्योगो की वृद्धि के कारण अधिकाधिक सख्या में लोग अपने प्राचीन परम्परागत व्यवसायो को छोडकर नये कारखानो, मिलो तथा खानो में काम स्वीकार करके लाभ उठाने लगे है। उच्च जाति के लोग भी आर्थिक परिस्थिति के दबाव से ऐसे व्यवसायो को स्वीकार करने के लिए बाध्य हो रहे है, जो अभी तक समाज में केवल निम्न जाति वालो द्वारा ही अपनाये जाते थे। उदाहरणार्थ, अनेक ब्राह्मण आज दरज़ी, व्यापारी तथा दुकानदारी का काम करने लगे है। इसलिए अब व्यवसाय सही मानो में जाति का सूचक नही रह गया है। रेल-यात्रा की आवश्यकता ने भी खान-पान तथा व्यक्तिगत व्यवहार-सम्बन्धी निषेधो को शिथिल कर दिया है। इस कार्य मे पाश्चात्य शिक्षा ने, जिसमें ऊँच-नीच के भावो के मिटाने की प्रवृत्ति है, बहुत सहायता पहुँचाई है।[3]

१. स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद, विशेषकर नवम्बर सन् १९४९ में भारतीय सविधान बन जाने के बाद, परिस्थिति बदल गई है। सविधान के अनुच्छेद १५ (२) के अनुसार कुल, जाति, योनि, जन्मस्थान या इनमें से किसी एक या अनेक कारणों से किसी व्यक्ति के दुकानों, आमोद-प्रमोद के स्थानों आदि में जाने या कुएँ, तालाब, स्नान-घाट के प्रयोग करने पर कोई रोक नहीं है। पिछड़ी जातियाँ अब अपने अधिकारों के प्रति जागरूक हो रही है तथा उच्च जातियों का रुख भी बदल रहा है। भविष्य में जाति-प्रथा की असमानताएँ कम होंगी, ऐसी प्रवृत्ति दिखाई देती है। अनुच्छेद (१७) के अनुसार अस्पृश्यता का भी बहिष्कार हो चुका है और किसी भी रूप में अस्पृश्यता पर अमल करने की मनाही है।

—अनुवादक

२ मॉरल एण्ड मेटीरियल प्रोग्रेस रिपोर्ट (१९२३)।

३. अन्य जातियों के साथ सम्पर्क तथा भोजन आदि के नियम आनुष्ठानिक दूषण के अधिमानसिक सिद्धान्त पर आधारित थे जिसमें कई अपवाद भी मान्य थे। मनु के समय से ही यह सर्वमान्य रहा है कि यदि कोई यात्री भूख से मर रहा है तो उसे जाति-भावना का विचार त्याग कर हर प्रकार से भूख मिटा लेनी चाहिए। आधुनिक काल में, विशेषकर जब से रेलों का प्रचार हो गया है, धर्माधर्म विचारक ब्राह्मणों ने इस सिद्धान्त की विशेष अनुकूल व्याख्या कर ली है। उदाहरणार्थ, मिठाई, जिनमें कई तरह

पाश्चात्य शिक्षा और सस्कृति, विश्व-विद्यालयो और कॉलेजो का जीवन, जहाँ नीच जाति के लोग उच्च जाति वालो के साथ कन्धे-से-कन्धा रगडते हैं, विशाल नगरो की स्थापना और इस प्रथा के प्रति अविश्वास आदि जातीयता की सकीर्ण भावना को मिटा रहे हैं। इन कारणो से उच्च वर्ग अपने विशेष अधिकारो के लिए उत्तरोत्तर कम बल देने लगा है और निम्न वर्ग उच्च वर्ग की प्रभुता को अकारण ही स्वीकार करने के लिए तैयार नही है। देश में अब केवल एक ही नियम बिना किसी भेदभाव के सब पर लागू है और राज्य की ओर से भी उच्च वर्ण वालो के अभिमान को न तो किसी प्रकार का प्रोत्साहन ही प्राप्त है और न सरकारी नौकरियो मे उच्च पदो की प्राप्ति में उनके साथ कोई पक्षपात बरता जा रहा है। उलटे निम्न वर्ग के लोगो को सरकारी नौकरियो में औरो की अपेक्षा अधिमान्यता (Preference) दी जा रही है और इस प्रकार एक प्रतिलोम जाति-व्यवस्था का प्रारम्भ हो गया है। नीची जातियाँ अब अपनी पूर्व निर्योग्यताओ को सामूहिक प्रयत्न द्वारा दूर करने में विशेष रूप से सचेष्ट हैं। हिन्दू और मुसलमानो के पारस्परिक तनाव ने सकीर्ण हिन्दुओ में भी सामाजिक सुधार और सामाजिक समानता के विचारो के प्रति सहानुभूति जगा दी है। ऐसा लोग अनुभव करने लगे हैं कि हिन्दुओ का एक जाति के रूप में अस्तित्व तभी सम्भव है जब कि वे अपना सुधार कर ले, जिसका अर्थ यह है कि जाति-व्यवस्था को नष्ट कर दिया जाय अथवा उसमें ऐसे सुधार कर दिये जायँ कि उसका बिलकुल रूपान्तर हो जाय।[1]

१५. जाति-व्यवस्था की शक्ति—यह सब होते हुए भी जाति-व्यवस्था को मृतप्राय समझना भ्रमात्मक होगा। दुर्भाग्य से समाज पर उसका प्रभाव आज भी भरपूर है। भारतीय जनता पर जाति का प्रभाव इतना गहन है कि मुसलमान भी इससे अछूते न रह सके यद्यपि उनका धर्म इस्लाम सभी अनुयायियो मे परस्पर पूर्ण समता के भाव पर बहुत जोर देता है। हाल की कुछ घटनाओ ने जाति-व्यवस्था के दोषो को और

की चीजे मिली रहती है, जो स्टेशन के प्लेटफार्मो पर बेची जाती है, किसी से भी लेकर खाई जा सकती है। मिठाई बेचने वालों से उनकी जाति-पाँति के विषय में स्टेशनो पर, जहाँ कुछ ही क्षण गाडियाँ खडी होती है, तीसरे दर्जे की खिडकियों से पूछताछ नहीं की जा सकती। यहा यह कहावत सही बैठती है कि 'पानी पीकर जाति पूछने से क्या ?' इसी सिद्धान्त के अनुसार चतुर लोग भी यह भुला देते हैं कि बरफ भी पानी का ही परिवर्तित रूप है तथा सोडावाटर भी बोतलों में भरे जाने से पहले साधारण पानी ही था, गगा-जल नही। अनेक औषधिया ऐसी हैं जिनका सम्बन्ध गौ-मास से है, और दूसरे देशों से मँगाये हुए बिस्कुट न जाने कितने जातिहीन व्यक्तियों द्वारा बनाये गए है। ऐसे चतुर व्यक्ति इस सम्बन्ध में कोई पूछताछ नही करते कि अशुद्ध होने से बचने के लिए उनके पडोसी को कितनी दूर रहना चाहिए जबकि वे जानते हैं कि रेल-यात्रा में १२ घण्टे तक उनसे कन्धे-से-कन्धा मिलाकर बैठना ही पडता है।—रिसले, पृष्ठ ७७९-८०।

१ कुछ पाठकों को याद होगा कि सन् १९३६ में डा० अम्बेदकर ने अपने अनुयायियो के साथ हिन्दू धर्म त्याग कर किसी भी ऐसे धर्म को, जो धर्म-परिवर्तित करके आये हुए हरिजनों के प्रति समानता का व्यवहार करने को तैयार हो, अपनाने की घोषणा करके सनसनी पैदा कर दी थी। उन्हें जाति-प्रथा से पीडित हिन्दुत्व के गढ पर चारो ओर से किये गए अप्रत्याशित आक्रमण भी याद होगे, जिनके कारण कुछ प्रबुद्ध अछूतों ने हिन्दू जाति छोडने का विचार किया था।

विषम बना दिया है। विशेष रूप से हाल के राजनीतिक सुधारो ने भिन्न जातियो के बीच राजनीतिक अधिकारो को हथियाने की प्रवृत्ति को जन्म देकर मालिन्य और कटुता बढाई है। नीची जातियो की जागृति की ओर पहले संकेत किया जा चुका है। अनेक दृष्टिकोणो से उस जागृति का हम स्वागत करते है पर व्यवहार में देखा जाता है कि अपनी जाति के प्रति मोह अन्य उच्च जातियो के प्रति कट्टर घृणा की भावना का रूप ले लेता है, और इस प्रकार उच्च जातियो के प्रति अपने पुराने वैमनस्य को प्रज्वलित करने में अधिक शक्ति नष्ट की जाती है। लोकतन्त्रीय सुधारो ने जो नये-नये अधिकार लोगो को दिये है, उनका दुरुपयोग प्राय. राष्ट्रीय कल्याण की अपेक्षा केवल अपने ही वर्ग के हित की भावना जगाने में किया जा रहा है। उन जातियो का, जिनका सगठन अच्छा है और जो सुदृढ आत्म-चेतना से सम्पन्न है, राजनीतिक गुटो के रूप में प्रयोग किया जा रहा है। यद्यपि भिन्न-भिन्न जातियाँ अपने से उच्च जातियो के प्रति खुल्लमखुल्ला विरोधी भावनाएँ प्रकट करती है, पर वे समाज में स्वय अपने से नीची जातियो को समानता प्रदान करने के लिए तैयार नही है। अन्य सामाजिक समानता का प्रचार करने वालो की ही तरह ये भी ऊपर से अपने तक तो समानता लाना चाहते है पर नीचे वालो को अपनी समानता मे नही लाना चाहते। इसमे सन्देह नही कि ब्राह्मणो की प्रभुता घट रही है परन्तु ब्राह्मणत्व की भावना अभी विद्यमान है और निम्न वर्गों मे भी व्याप्त हो गई है।

१६. जाति-व्यवस्था की बुराइयों का उपचार—जब हमारा ध्यान जाति-व्यवस्था के अनेक दोषो की ओर जाता है तो हृदय दुखी होकर अनायास ही ऐसे परोपकारी तथा शक्तिशाली राजा के अवतरण की कामना करने लगता है जो वर्तमान सामाजिक ढाँचे को छिन्न-भिन्न करके नये सिरे से अधिक विचारपूर्ण ढग से उसका पुनर्निर्माण करे। भारतीय जाति-व्यवस्था को नष्ट करने के लिए फ्रान्स की क्रान्ति से भी बढकर व्यापक शक्तिशाली और परिवर्तनकारी सामाजिक क्रान्ति की आवश्यकता है। ऐसी क्रान्ति की सम्भावना के अभाव में जाति-व्यवस्था को मिटाने और निर्दोष बनाने के लिए हमें शिक्षा के प्रसार और जन-साधारण की जागृति की प्रतीक्षा करनी पडेगी। यह ध्यान रहे कि यह जागृति स्त्रियो में विशेष रूप से होनी चाहिए क्योकि उनका अज्ञान और रूढिप्रियता उन्हे प्राचीन विधि-निषेधो के पालन में बहुत दृढ बना देती है। इसी प्रकार यह भी परम आवश्यक है कि यह जागृति गाँवो मे भी प्रवेश पाये, क्योकि हमारे देश में गाँवो की प्रधानता है और सुधारो का विरोध बहुत अधिक मात्रा में गाँव-वासियो की ओर से ही होने की सम्भावना है।[१]

१७ संयुक्त परिवार-व्यवस्था—हिन्दू समाज की दूसरी विशेषता अविभक्त अथवा सयुक्त परिवार है। पाश्चात्य देशो में एक परिवार में प्राय. पति, पत्नी तथा उनके छोटे बच्चे ही सम्मिलित रहते है। परन्तु भारतवर्ष में एक परिवार में कभी-कभी तीन-तीन पीढियो के लोग, अनेक अन्य सम्बन्धियो के साथ, रहते हुए मिल सकते है।

---

१ जाति-प्रथा को मिटाने के विभिन्न उपायों के सम्बन्ध में पाठक श्री घूरिये की पूर्व उद्धृत पुस्तक के पृ० १८२-१८९ देखें।

हिन्दुओ का सयुक्त परिवार केवल सम्पत्ति के दृष्टिकोण से ही सयुक्त नही है वरन् उनका खाना-पीना और पूजापाठ तक सयुक्त ढग से होता है। इतना ही नही विवाह, भरण-पोषण, गोद लेना, उत्तराधिकार तथा पैतृक धन के सम्बन्ध मे हिन्दू कानून का अधिकार सयुक्त परिवार की सस्था ही है।

३८. संयुक्त परिवार का उद्भव—समाज-शास्त्र-वेत्ताओ के अनुसार पशु-पालन-काल से कृषि-काल तथा औद्योगिक काल तक हुए आर्थिक जीवन के विकास-काल में ही सयुक्त परिवार-प्रणाली का उद्भव खोजा जा सकता है। 'जब कि आखेट अथवा कन्द-मूल का स्थान सुव्यवस्थित कृषि ने ले लिया, उस समय भूमि जोतने, घर बनाने तथा पैतृक सम्पत्ति की रक्षा करने के मानव-प्रयत्नो की महत्ता बहुत बढ गई। इस स्थिति में पुरुष आर्थिक प्रक्रिया का मुख्य अग बन गया। इसीलिए इस युग मे पितृसत्ता-परिवारो का अस्तित्व दीख पडता है।'[१] आर्थिक कारणो के अतिरिक्त आपस के रिश्ते-नाते की प्रबल भावना तथा धार्मिक ऐक्य आदि सब मिलकर परिवार के वृद्ध जनो के प्रति श्रद्धा तथा भक्ति की भावना बढाते थे। इस प्रकार सयुक्त परिवार-सस्था एक जटिल सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था बन गई जिसका कार्य उन बडे-बडे सयुक्त परिवारो का आध्यात्मिक तथा आर्थिक कल्याण करना हो गया जिनसे उनका समाज सघटित होता था। भारत की पितृसत्तात्मक सयुक्त परिवार-व्यवस्था जो कि आर्यो की विजय के बाद समूचे देश में फैल गई थी, प्राचीन यूनान और रोम की पेट्रिया पोटेस्टास (patria potestas) से बहुत कुछ मिलती-जुलती थी। उनकी तरह भारत के सयुक्त परिवारो में भी सबसे वयोवृद्ध पुरुष-सदस्य को परिवार के कार्यो में सबसे अधिक प्रभुत्व प्राप्त था। वह एक प्रकार से परिवार का न्यासधारी समझा जा सकता है जिसका कार्य परिवार की सम्पत्ति की देखरेख करना तथा सदस्यो के आध्यात्मिक और आर्थिक कल्याण की दृष्टि से नित्य प्रति के कार्यों का नियन्त्रण करना था। इस दृष्टिकोण से परिवार के सम्बन्ध में कोई भी निर्णय करने का उसे पूर्ण अधिकार था। परिवार की स्त्रियो की प्रधान एक स्त्री ही होती थी। उसे भी प्रधान पुरुष के समान घर के आर्थिक जीवन के सम्बन्ध में अधिकार प्राप्त थे और वह बहुधा परिवार के बाह्य मामलो के नियन्त्रण में भी अपना पर्याप्त प्रभाव रखती थी, यद्यपि बाह्य मामले प्रधानत वयोवृद्ध पुरुष सदस्य के ही अधिकार में रहते थे। प्रत्येक सदस्य की आय एकत्रित कर ली जाती थी और प्रत्येक की आवश्यकता के अनुसार परिवार के प्रधान द्वारा निकाली तथा खर्च की जाती थी। प्रत्येक सदस्य अपनी शक्ति के अनुसार कमाता था और खर्च के लिए उसे आवश्यकतानुसार मिलता था। इस प्रकार सयुक्त परिवार को हम समाजवादी आदर्श के निकटतम पहुँची हुई व्यवस्था कह सकते हैं।

पारिवारिक, धार्मिक तथा सामाजिक परम्परागत सम्बन्धो के अतिरिक्त जीवन की आर्थिक परिस्थितियो तथा श्रम-व्यवस्था ने भी सदियो तक सयुक्त परिवारो के ऐक्य और दृढता में सहयोग दिया है। सूचना तथा सचार के साधनो की कमी ने परिवार के सभी सदस्यो को एक साथ रहने और मिलकर परम्परागत पारिवारिक व्यवसाय को करने

२ ई० आर० ए० सेलिगमैन 'प्रिन्सिपल्स ऑफ इकनॉमिक्स', अध्याय ६।

के लिए वाध्य किया।[1] ऐसी परिस्थिति में किसी सदस्य के लिए यह कहना कठिन था कि वह परिवार से निकलकर कही वाहर जाता और अपने लिए कोई दूसरा स्वतन्त्र व्यावसायिक जीवन निर्धारित करता। इस प्रकार लोगो की विशेष अभिरुचि और प्रवृत्ति से लाभ उठाने का भी, जो वर्तमान जटिल आर्थिक व्यवस्था में अत्यन्त महत्वपूर्ण है, कोई अवसर न था।

१६. संयुक्त परिवार-व्यवस्था के लाभ—सयुक्त परिवार के पक्ष मे अनेक वाते कही जा सकती है। सर्वप्रथम यह लोगो को विना किसी हानि की सम्भावना के नि स्वार्थ रूप से परिश्रम करना सिखाती है। प्रत्येक को कम-से-कम जीवन-निर्वाह का आश्वासन तो रहता ही है, जो आर्थिक उन्नति के लिए प्राथमिक महत्त्व की वात है। विना माँ-वाप के वालको को संरक्षरण प्राप्त रहता है जो अन्यथा जीवन का भार वहन करने की सामर्थ्य प्राप्त करने के पहले दर-दर की ठोकरें खाते फिरें। इसी प्रकार सयुक्त परिवार अभागी विधवाओ को सुरक्षित और सम्मानपूर्ण आश्रय प्रदान करता है जिनके लिए पुनर्विवाह द्वारा इस असहाय दशा से वचने का उपाय साधारणत असम्भव होता है। इनके कारण सरकार को भी वृद्धो और निर्धनो के लिए दरिद्रता-निवारण तथा वृद्धावस्था-वृत्ति देने के प्रवन्ध करने की आवश्यकता नही रह जाती। वृद्ध तथा अशक्तागो को भी, उनकी क्षमता के अनुरूप घर में कार्य वाँटकर घरेलू आर्थिक व्यवस्था में उचित स्थान दिया जाता हैं। इसलिए हम कह सकते है कि सयुक्त-परिवार में हमें साधारण श्रम-विभाजन के लाभ किसी हद तक प्राप्त हो जाते है क्योकि प्रत्येक सदस्य को उसकी योग्यतानुसार काम दिया जाता है। गाँवो में किसानो और शिल्पियो के व्यवसाय मे उनके परिवार की स्त्रियाँ तथा वच्चे भी, पुरुषो की सहायता करते हैं। विशेपकर फसल के समय जवकि गाँव में किराये के मजदूर नही मिलते, इन लोगो की सहायता वडे काम की सिद्ध होती है।

उपभोग के क्षेत्र में भी सयुक्त-परिवार मे वहुत वचत हो जाती है और वडे-वडे परिवारो का अपेक्षाकृत कम आय में ही सुगमता से काम चल जाता है, क्योकि घर मे आवश्यक सामान और चीज-वस्तु पर दोहरे खर्च की आवश्यकता नही होती। यदि परिवार अलग-अलग रहते तो जितने परिवार हो, घरेलू आवश्यकता की वस्तुओ की सख्या भी उतनी ही होनी जरूरी है। जव तक सयुक्त-परिवार में मेलजोल से काम चलता रहता है, उसकी सम्पत्ति का अच्छे-से-अच्छा आर्थिक प्रयोग सम्भव है और भूमि के वहुत अधिक उपविभाजन और अपखण्डन से वचा जा सकता है।

इन आर्थिक लाभो के अतिरिक्त सयुक्त-परिवार सदस्यो में आत्मसयम, त्याग, आज्ञाकारिता तथा शील आदि गुणो का भी पोषण करता है।

२० इसकी वुराइयाँ—आज की परिवर्तित परिस्थितियो ने इस प्रथा के मौलिक दोपो को उभार दिया है। एक सवसे वडा दोप, जो समाजवाद के अनेक रूपो पर भी लागू होता है, प्रयत्न और प्रतिफल के वीच सामञ्जस्य का अभाव है। यह मानव-स्वभाव की विशेपताहै कि यदि उसे निश्चित रूप से यह विश्वास हो जाय कि अपने प्रयत्न का पूरा-

१. वी० जी० भटनागर, 'वेसिस ऑफ इंडियन इकनॉमी'।

पूरा फल उसे ही प्राप्त होगा तो वह अपनी शक्ति-भर प्रयत्न करने में किंचित्मात्र भी सकोच नही करता। सयुक्त-परिवार मे, दुर्भाग्य से, यह आश्वासन किसी को नही होता। प्रायः ऐसा देखा गया है कि इस विश्वास के कारण कि परिवार के प्रत्येक सदस्य की आवश्यकताओ की पूर्ति का प्रवन्ध तो हो ही जायगा, चाहे कोई काम करे या न करे, सयुक्त परिवार में अनेक आलसी निरुपयोगी लोग पदा हो जाते हैं जिनमें न तो स्वाभिमान ही होता है और न उत्तरदायित्व की भावना ही।

सयुक्त परिवार का आधार समष्टि-हित के लिए व्यक्ति-हित के उत्सर्ग की भावना है। इसलिए कुलपति को कुल के प्रत्येक सदस्य के साधारण-से-साधारण आचार-विचार पर नियन्त्रण रखना पडता है। ऐसी स्थिति में परिवार का वातावरण वहुधा ऐसे सदस्यो के व्यक्तित्व, साहसिकता तथा उद्योगारम्भ-भावना को प्रोत्साहित करने के लिए हितकर नही होता जिनका कर्तव्य केवल आज्ञा पाना और पालन करना हो। कुलपति ही इसका अपवाद ह। ऐसा होते हुए भी प्राय वह परिवार के प्रति अपने उत्तरदायित्व के विचार से जोखिम वाले कार्यो में हाथ डालने का साहस नही करता, यद्यपि आज आर्थिक उन्नति के लिए वे इतने आवश्यक है। सदस्यो की कुल आय का प्रत्येक की आवश्यकता की पूर्ति के लिए थोडे-थोडे मे वँट-विखर जाने के कारण पूजी एकत्रित नही हो सकती और इसीलिए वडे पमाने पर उत्पादन करने का प्रोत्साहन नही मिलता। परिवार में पारस्परिक स्नेह की वृद्धि यद्यपि वडी ही प्रिय वस्तु है पर उसके फलस्वरूप लोगो में घर पर ही रहने की इच्छा बलवती हो जाती है और इस कारण श्रमिको में गतिमत्ता का अभाव वढ जाता है।

२१ आधुनिक विघटनकारी प्रभाव—आज की परिस्थितियाँ सयुक्त परिवार के अस्तित्व के लिए अनुकूल नही है इसलिए इसके दोषो को उभारकर दिखाया जा रहा है और विभिन्न शक्तियो के प्रभाव से धीरे-धीरे यह सस्था मिटती जा रही है। पहली वात तो यह है कि परिवहन तथा सचार साधनो के विकास के कारण प्रत्येक व्यक्ति को नये साहसोद्यम आरम्भ करने का अवसर प्राप्त हो सकता है। परिवार के अधिक साहसोद्यमी सदस्य परिवार का मोह छोड नये-नये व्यवसाय आरम्भ कर अपना स्वतन्त्र जीवन-क्रम निश्चित करने की प्रेरणा पाते हैं। दूसरे, प्राचीन पारिवारिक व्यवसाय के विनष्ट हो जाने के कारण बहुत से परिवारो का सयुक्त रूप से रहना असम्भव हो गया है। पाश्चात्य सभ्यता की देन के रूप में प्राप्त व्यक्तिवादिता ने भी सयुक्त-परिवार की दृढता में शैथिल्य उत्पन्न कर दिया है। अग्रेजी (सिविल लॉ) जानपद नियमो के व्यवहार ने अपने विशेष व्यक्तिवादी झुकाव के कारण सयुक्त परिवार-व्यवस्था के ह्रास की गति को वढा दिया है। अपने-अपने अस्तित्व के लिए होने वाला सघर्ष तीव्रतर हो जाने और व्यक्तिवादिता की भावना के विकास ने मिलकर इस सस्था को समय के अनुपयुक्त सिद्ध कर दिया है। अव सयुक्त परिवार में यह घरेलू सुख और शान्ति तथा सन्तोष, जो पारस्परिक आदान-प्रदान की भावना का स्थान अकम्प-व्यक्तिनिष्ठता ने ले लिया है जिसके फलस्वरूप सयुक्त परिवारो में असन्तोष फैल गया है और छोटी-छोटी वातो पर आपस में झगडा होता दिखाई पडता है।

सयुक्त परिवार-सस्था के ह्रास का हम स्वागत करते है, पर इसका मतलव यह नही कि हम पूर्णरूपेण स्वार्थरत, आत्मकेन्द्रित तथा अपने दीन-हीन सम्वन्धियो के प्रति सहायता का हाथ न बढाने वाले घोर व्यक्तिवादियो की वृद्धि चाहते है। वाञ्छनीय तो यह है कि एक ओर हम व्यक्तित्व को पूर्णरूप से संयुक्त परिवार-व्यवस्था मे मिट जाने से वचाएँ और दूसरी ओर पारस्परिक सहानुभूति तथा सहायता की भावना को पूर्ण रूप से निजी स्वार्थ में सकुचित होने से वचाएँ। स्वार्थ-त्याग की आवश्यकता तो सदा रहेगी ही, पर यह स्वार्थ-त्याग स्वेच्छाजनित होना चाहिए, न कि अनिवार्य।

२२. उत्तराधिकार और दायाधिकार के नियम—सयुक्त परिवार-व्यवस्था पर विचार कर लेने के पश्चात् हमारे लिए यह स्वाभाविक होगा कि हम उत्तराधिकार एव दायाधिकार के नियमो पर विचार करें, जो विशेष रूप से सयुक्त परिवार-परिपाटी पर निर्भर है। सेलिगमैन ने ठीक ही कहा है कि 'व्यक्तिगत सम्पत्ति की सस्था वर्तमान आर्थिक जीवन का मूलाधार है।' और यह एक दीर्घ काल के विकास का परिणाम है जिसमें तीन अवस्थान स्पष्ट रूप से गिनाये जा सकते है। पहला अवस्थान तो सामूहिक या सामाजिक सम्पत्ति का है। दूसरा अहस्तान्तरणीय और सयुक्त परिवार-सम्पत्ति का है तथा तीसरा अवस्थान व्यक्तिगत निजी सम्पत्ति का। भारत मे हम लोग आज भी दूसरे ही अवस्थान में कहे जा सकते है, यद्यपि तीसरे मे पदार्पण आरम्भ हो गया है। हिन्दू कानून का आधार अव भी सयुक्त पारिवारिक सम्पत्ति है जव तक कि सदस्यो मे उसका नियमानुसार वँटवारा न हो जाय।[1]

२३. मिताक्षर और दायभाग प्रणाली—आरम्भ मे पारिवारिक सम्पत्ति पर अधिकार का स्वरूप समष्टिगत अधिकार जैसा था। सम्पत्ति पर पूरे परिवार का सयुक्त रूप से अधिकार माना जाता था, न कि पृथक्-पृथक् प्रत्येक सदस्य का, जैसा कि साझीदारी में होता है। उस सम्पत्ति का व्यवस्थापक कुलपति ही होता था जिसके ऊपर किसी का नियन्त्रण नही होता था। जव तक कि सम्पत्ति के अलग होने की अनुमति नही थी तव तक सम्पत्ति का स्वामित्व और उसकी व्यवस्था में अन्तर करने का कोई

[1] 'इगलैण्ड में स्वामित्व अधिकार नियम के अधीन ऐकान्तिक स्वतन्त्र तथा अवाध है। भले ही वह सयुक्त हो, पर पहला अनुमान इसके विरुद्ध ही होगा। यदि उसमें कोई प्रतिवन्ध है तो केवल विशेष परिस्थिति और व्यवस्था के अधीन। भारतवर्ष में इसके विपरीत सयुक्त अधिकार ही नियमित रूप से पाया जाता है और किसी भी मामले में जव तक इसके विपरीत सिद्ध न कर दिया जाय, सयुक्त स्वामित्व ही माना जाता है। यदि किसी व्यक्ति के पास निजी सम्पत्ति है तो वह दूसरी पीढी में अवश्य सयुक्त रूप से अधिकृत सम्पत्ति हो जायगी। निरपेक्ष अनियन्त्रित अधिकार, जिसमें स्वामी अपनी सम्पत्ति का जो चाहे करे, अपवाद मात्र है। पिता पुत्र द्वारा, भाई-भाई द्वारा तथा स्त्रियाँ अपने उत्तराधिकारियों द्वारा सम्पत्ति पर अधिकार के सम्वन्ध में नियन्त्रित है। यदि अर्जित करने वाले के हाथ में सम्पत्ति स्वतन्त्र है तो उसके उत्तराधिकारियों के हाथ में जाने पर नियन्त्रित हो जायगी। व्यक्तिगत सम्पत्ति पाश्चात्य देशों का नियम है और सम्मिलित सम्पत्ति पूर्वीय देशों का। यद्यपि दोनों के वीच का अन्तर उनमें वैपरीत्य वता करके ही व्यक्त किया जा सकता है, फिर भी यह तो पूर्ण रूप से निश्चित है कि दोनों का उद्गम एक ही है। भारत में अतीत और वर्तमान अविच्छिन्न है और इगलैण्ड में दोनों के वीच वडा व्यवधान है। जिस हेतु द्वारा व्यावहारिक रूप से वे जुडे हुए है उनके कुछ अश ही शेष है।' जे० टी० मेन, 'ट्रीटिज ऑन हिन्दू लॉ एण्ड यूसेज', पृ० ३०५।

अवसर नही आया। कालान्तर में जब सम्पत्ति को अलग करने की बात उठी तब हिन्दू विधान के दो प्रमुख भाष्यो मिताक्षर तथा दायभाग में अनेक परस्पर-विरोधी सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया गया।[1] मिताक्षर विचारधारा के अनुसार पुत्रो का पिता के जीवनकाल में पिता के साथ-ही-साथ पारिवारिक सम्पत्ति पर बराबर का अधिकार होता है और दायभाग विचारधारा के अनुसार पिता की मृत्यु के पश्चात् ही पुत्रो को पारिवारिक सम्पत्ति पर अधिकार होता है। दोनो ही दशाओ में पिता अनियन्त्रित प्रबन्धकर्ता होता है। अन्तर केवल स्वामित्व के सम्बन्ध में है। दायभाग प्रणाली में पिता अपने जीवनकाल में सम्पत्ति का एकान्त अधिकारी है और मिताक्षर में पिता और पुत्र दोनो ही सयुक्त रूप से अधिकारी होते हैं, व्यक्तिगत रूप से नही। इस अन्तर ने उत्तराधिकार तथा पारिवारिक विभाजन के अनेक सिद्धान्तो को जन्म दिया है। यदि किसी हिन्दू सयुक्त परिवार का कोई सदस्य परिवार से अलग होना चाहता है तो वह हो सकता है, क्योकि परिवार के सदस्य एक साथ रहने के लिए बाध्य नही है। दायभाग प्रणाली में पिता और पुत्र के बीच बँटवारा हो सकता है, क्योकि दोनो का ही सयुक्त रूप से उस सम्पत्ति पर अधिकार है। यदि कभी बँटवारा हुआ तो पुत्र अपने अधिकार को पूर्णरूप से मान्य करवा सकता है।[2]

२४ दोनों प्रणालियों के अन्तर्गत दायाधिकार—अब हम दायाधिकार के नियमो पर विचार करेंगे। दायाधिकार का अर्थ है मृत्यु के पश्चात् स्वामित्व का स्थानान्तरित होना।[3] मिताक्षर प्रणाली के मानने वाले सयुक्त परिवारो में दायाधिकार का कोई स्थान नही होता, क्योकि किसी सदस्य की मृत्यु के कारण स्वामित्व में कोई परिवर्तन ही नही होता तथा सारी सम्पत्ति अविभक्त बनी रहती है, जब तक कि बँटवारा न किया जाय। मेन ने भी इस बात का सकेत किया है कि मिताक्षर प्रणाली में जब तक कि परिवार सयुक्त ही रहना चाहे कुलपति की मृत्यु के पश्चात् सम्पत्ति पर अधिकार परिवार के अन्य सदस्यो को इसलिए प्राप्त हो जाता है कि वे जीवित बचे हुए है न कि इसलिए कि वे सम्पत्ति के उत्तराधिकारी है। बँटवारा न होने पर दायभाग प्रणाली मे भी कुलपति की मृत्यु के पश्चात् पारिवारिक व्यवस्था में कोई विशेष परिवर्तन नही होता। हाँ, जब बँटवारा होता है तब उत्तराधिकार निश्चित करना पडता है। इस प्रणाली के मानने वाले परिवारो में जब कोई सदस्य मरता है, तभी उत्तराधिकार का

---

१ 'भारत में उत्तराधिकार के नियम हैं मिताचर और दायभाग। पिछला बगाल में प्रचलित है और दूसरा भारत के अन्य भागों में। दोनों में अन्तर इस प्रकार है कि मिताचर विचारधारा में सगोत्रता ही उत्तराधिकार निश्चित करने का मूलाधार है और दायभाग विचारधारा में सगोत्रता के स्थान पर धार्मिक प्रभाव आधार है जिसका अर्थ उत्तराधिकारी की अन्य लोगो को लाभ पहुँचा सकने की शक्ति है।' टी० एफ० मुल्ला, 'प्रिंसिपल्स ऑफ हिन्दू लॉ', पृ० १६।

२ कुछ भारतीय रियासतों में और जमींदारियों में बँटवारा वर्जित है। राज्य-सिहासन अथवा सम्पत्ति ज्येष्ठ पुरुष-सदस्य को प्राप्त होती है। ऐसी ही अपवाद-रूप स्थितियों में वयोज्येष्ठता का नियम लागू होता है।

३ बँटवारा मृत्यु से सम्बन्धित नही है, यद्यपि प्राय पिता अथवा प्रबन्धक की मृत्यु के पश्चात् ही बँटवारा होता है।

प्रश्न उठता है और उस सदस्य का भाग उसके उत्तराधिकारी को प्राप्त हो जाता है।

परन्तु उपर्युक्त बातो का यह अर्थ कदापि न समझना चाहिए कि भारत में सभी सम्पत्ति संयुक्त परिवार की ही सम्पत्ति है। व्यक्तिगत सम्पत्ति भी अर्जित की जा सकती है, परन्तु किन परिस्थितियो में कोई सम्पत्ति व्यक्तिगत रूप से अर्जित निजी सम्पत्ति मानी जायगी, इस बात के निर्णय में बहुत कठिनाइयाँ है। अलग से अर्जित सम्पत्ति के सम्बन्ध में सही अर्थ में दायाधिकार होगा, जिसके लिए कानूनी व्यवस्था आवश्यक है।

२५. दायाधिकार एवं उत्तराधिकार के नियमों का आर्थिक प्रभाव—दोनो प्रणालियो के अन्तर्गत बँटवारे और दायाधिकार का परिणाम पारिवारिक सम्पत्ति का अत्यधिक बँट जाना है, क्योकि पुत्र बराबर भाग के अधिकारी होते है और पुत्रियो तथा विधवाओ का भी सम्मिलित सम्पत्ति में कुछ सीमा तक हित निहित रहता है। सामान्य नियम यह है कि एक ही पुरखा के पुत्र-पौत्रादि द्वारा उत्पन्न पुरुष वशजो का, दूसरो की अपेक्षा, सम्पत्ति पर अधिक अधिकार होता है। सिद्धान्त मे न सही, परन्तु व्यावहारिक दृष्टिकोण से मुसलमानो के दाय और उत्तराधिकार के नियम बहुत सीमा तक हिन्दुओ के नियमो से मिलते-जुलते है। यद्यपि मुसलमान-परिवार संयुक्त नही माने जाते, परन्तु उनमें संयुक्त परिवार का होना असाधारण बात नही है। मुसलमानो में पैतृक अथवा निजी अर्जित सम्पत्ति पर किसी व्यक्ति का अधिकार केवल उसके जीवन-पर्यन्त ही रहता है और उसकी मृत्यु के पश्चात् वह अधिकार हिन्दू कानून की अपेक्षा अधिक विविध प्रकार के उत्तराधिकारियो को प्राप्त हो जाता है। मुसलमानो मे सम्पत्ति के विभाजन का आधार केवल वशगत ही नही है, वरन् एक प्रकार से समानता प्रदान करने के विचार पर आधारित है, जिसके कारण वशगत अधिकारो पर आधारित नियमो में संशोधन हो गए है। हिन्दुओ के नियम की ही तरह मुसलमानो में भी वयोज्येष्ठता का कोई अधिकार नही है और उत्तराधिकार के सम्बन्ध मे पुरुषो को स्त्रियो की अपेक्षा अधिमान्यता प्राप्त है।

भारत में प्रचलित दाय एव उत्तराधिकार के नियमो के पक्ष मे यह कहा जा सकता है कि वयोज्येष्ठता के नियम का अभाव समानता एवम् सबके प्रति न्याय की भावना के आदर का सूचक है। इन नियमो का ध्येय समाज मे आर्थिक विषमता को कम करने तथा एक प्रभावशाली मध्यवर्ग का विकास करना है। उनका भूमि के बँटवारे का ढग तो कुछ ऐसा लगता है मानो उनका आशय स्वतन्त्र एव स्वाभिमानी कृषक स्वामियो से संघटित स्थिर ग्राम्य-समाज की स्थापना हो—जो स्वस्थ कृषि-संगठन की आधार-शिला है और जिनसे देश का आर्थिक हित घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है। औद्योगिक प्रगति के दृष्टिकोण से भी हम कह सकते है कि समाज मे प्रत्येक सदस्य को आर्थिक जीवन आरम्भ करने के लिए एक सहारा मिल जाना बडे लाभ की बात है। एक तरह से पैतृक सम्पत्ति की न्यूनता पाने वाले को अपने प्रयत्नो द्वारा सम्पत्ति वढाने के लिए बाध्य करती है, ताकि पहले का रहन-सहन का स्तर कायम रखा जा सके।[1]

१. देखिए, पी० बनर्जी, 'ए स्टडी ऑफ इण्डियन इकानॉमिक्स', पृ० ४८।

इसके विपरीत भारत मे प्रचलित उत्तराधिकार के नियमो के विरुद्ध भी वहुत-सी वाते कही जा सकती है। उनका एक दोप तो यह है कि वे अधिक मात्रा मे पूँजी के सचय मे बाधा डालकर बडे पैमाने पर उत्पादन को हतोत्साहित करते है। जब प्रत्येक व्यक्ति का भाग थोडा होता है और सम्पत्ति का समान वितरण होने पर बहुधा ऐसा ही होता है, तो बचत बहुत कठिन हो जाती है। परन्तु यह दोप सीमित दायित्व वाली सम्मिलित पूँजी के आधार पर उद्योगो का सगठन करने से बहुत-कुछ दूर किया जा सकता है, क्योकि इस व्यवस्था मे थोडी-थोडी बचत का भी प्रयोग बडे पैमाने से उत्पादन के लिए किया जा सकता है।

इन नियमो के निर्बाध परिपालन का दूसरा भयानक खतरा यह है कि भूमि अत्यधिक छोडे-छोटे टुकडो मे विभाजित होकर लाभकर नही रह जाती। मुकद्दमेबाजी को प्रोत्साहन मिलता है, जो किसानो की दरिद्रता बढाने के लिए बहुत हद तक उत्तरदायी है।

२६ क्या भारतीयों की आध्यात्मिकता उनकी आर्थिक अवनति का कारण है?—प्राय यह आरोप किया जाता है कि भारतवर्ष मे, 'धर्म लोगो को भौतिक लाभो के प्रति उदासीन होने की शिक्षा देता है और यदि वे हिन्दू है तो हर चीज को धर्म की अभिव्यक्ति-मात्र मानने लगते है।' भारतीय सभ्यता की विशेपता है कि व्यक्ति अनन्त शक्ति का सदा अनुभव करता रहे, परन्तु आर्थिक उन्नति के लिए यह आवश्यक है कि उसका ध्यान ससार के नश्वर और भौतिक पहलू पर भी रहे। भारतीय आध्यात्मिकता के अच्छे-बुरे प्रभाव का निर्णय करने के लिए एक तो यह देखना आवश्यक है कि भारतीय धर्म और दर्शन कहाँ तक लोगो मे ऐसी पारलौकिक दृष्टि को प्रोत्साहन देते है, कि यह बात अन्य देशो के धर्म और दर्शन पर किस हद तक लागू होती है और दूसरे हमे यह भी विचार करना है कि भारतवर्ष मे आर्थिक उन्नति का मार्ग भारतीय अध्यात्मवाद द्वारा जनता के सम्मुख रखे हुए आदर्श द्वारा किस हद तक अवरुद्ध हुआ है।

२७ ऐतिहासिक प्रमाण—भारतीय अध्यात्मवाद द्वारा जनता मे निराशावादिता तथा भौतिक पदार्थों के प्रति उदासीनता जगाने के दोषारोपण के विरुद्ध हमे इतिहास मे अनेक प्रमाण मिलते है। यदि भारतीयो का ध्यान सदैव परलोक की ही चिन्ता मे सलग्न रहा होता तो वे इतिहास मे उपनिवेश-स्थापको, विजेताओ तथा बडे-बडे साम्राज्य स्थापको के रूप मे कदापि प्रसिद्ध न हुए होते।[1] इस सम्बन्ध मे उनकी महत्त्वपूर्ण सफलताओ को किसी ने भी अस्वीकार नही किया है। यद्यपि भारतीयो का धर्म और दर्शन मे कोई सानी नही था, परन्तु इसका अर्थ यह नही कि उनकी प्रतिभा इन क्षेत्रो तक ही सीमित थी। व्यावहारिक विज्ञान के क्षेत्र मे उनकी सर्वमान्य सफलताएँ इस धारणा को, कि भारतीय सदैव धार्मिक और अधिमानसिक चिन्तना मे ही लीन रहते थे, असत्य ठहराती है। भारतीयो ने ही गणित-विज्ञान तथा यन्त्र-विज्ञान की नीव डाली थी। 'उन्होने ही भूमि को नापा, आकाश का मानचित्र बनाया, सूर्य तथा अन्य

[1] देखिए, वी० जी० काले, 'इंडियन इकनॉमिक्स', भाग १, अध्याय ३।

नक्षत्रो के मार्ग-चक्र कटिबन्धो का अन्वेषण किया, भौतिक पदार्थ के तत्त्वो का विश्लेषण किया और पशु-पक्षी, वनस्पति तथा बीजो की प्रकृति का अध्ययन किया।' समस्त यूरोप मे प्रचलित गणना के अक तथा बीजगणित और उसका ज्यामिति शास्त्र में प्रयोग हिन्दुओ का ही आविष्कार है। इन सबके अतिरिक्त भारतीय हस्तकला की ससार-व्यापी प्रसिद्धि इस बात का प्रमाण है कि भारतीय आध्यात्मिकता ने आर्थिक क्षेत्र में उनके कौशल को विनष्ट नही किया था। यह सत्य है कि भारतीयो ने किसी बडे यन्त्र का आविष्कार नही किया। डॉ० राधाकृष्णन् के मतानुसार इसका कारण 'प्रकृति की विशेष कृपा रही है जिसने उन्हे इतनी नदियाँ और बहुतायत से खाद्यान्न प्रदान किया है।' उपर्युक्त तथ्य के आधारभूत कारणो के पूरे-पूरे स्पष्टीकरण के लिए यह स्थापना काफी नही, पर इस सम्बन्ध में अन्य जो दो मत हैं उन्हे हम निस्सकोच भाव से अस्वीकार कर सकते हैं—पहला तो यह कि इसका कारण भारतीय मेधा की कोई मौलिक कमी है, और दूसरा यह कि सासारिक वस्तुओ की बजाय आध्यात्मिकता में उनका मन बहुत अधिक केन्द्रित रहा है। फिर हमें यह भी याद रखना चाहिए कि यान्त्रिक आविष्कार अपेक्षाकृत हाल की ही घटनाएँ हैं। १८वी शताब्दी तक तो भौतिक सभ्यता की कलाओ मे भारतीय प्रमुख पाश्चात्य देशो से टक्कर लेने में समर्थ थे। इसके बाद ही भारत की आर्थिक प्रगति में शिथिलता आ गई। अत भारतीय आध्यात्मिकता को उसका कारण ठहराना तर्कसगत प्रतीत नही होता। आगे चलकर पता चलेगा कि इस शैथिल्य के अन्य अनेक कारण हैं जो उपर्युक्त कारणो की तुलना में कही अधिक सगत, और विश्वास-नीय हैं।

२८. आर्थिक क्रिया-कलाप पर धार्मिक भावना के प्रभाव की अतिशयोक्ति—भारत की वर्तमान स्थिति देखने पर पता चलता है कि हिन्दुओ मे मारवाडी, जैन और भाटिया आदि तथा मुसलमानो मे खोजा, बोहरा और मेमन आदि जातियो ने, जो प्राचीन धार्मिक परम्पराओ से बहुत प्रभावित मानी जाती हैं, देश की औद्योगिक व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण भाग लिया है और पश्चिमी उद्योग-व्यवस्था अपनाने में आश्चर्यजनक क्षमता दिखाई है।[1] इसलिए हम कह सकते हैं कि हिन्दू या इस्लाम धर्म आर्थिक प्रगति में बाधक नही हुआ है। यदि हम जनसाधारण के मतानुसार इस बात को मान भी लें कि भारतीयो की धार्मिक प्रवृत्ति प्राय सासारिक कार्य-कलाप के प्रतिकूल रही है, फिर भी यह तो स्पष्ट ही है कि यदि आर्थिक उन्नति के साधन पर्याप्त मात्रा मे प्राप्य हो, और यदि जनता में उनसे लाभ उठाने के प्रति जन्मजात अयोग्यता या उदासीनता न हो तो धर्म के इस कुप्रभाव को अवश्य ही मिटाया जा सकता है। अग्रेजो के भारत में आगमन के पहले से ही जैन, भाटिया आदि जातियो में, जिनकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है, साहसोद्यम और व्यापार की सुदृढ परम्परा थी जिनसे उन्हे बडी सहायता मिली है। कोई भी धर्म, चाहे वह कितना ही परलोकोन्मुख क्यो न हो, मनुष्य की अपनी आर्थिक दशा सुधारने की सहज-वृत्ति को हमेशा के लिए दबाए नही रख सकता। अर्थ की प्रेरणा धर्म की प्रेरणा से किसी तरह कम शक्तिशाली नही होती, और हर जगह अपेक्षाकृत

१. देखिए, काले, पूर्व उद्धृत, भाग १, पृ० ४५।

अधिक स्थायी रूप से क्रियाशील होती है। यह बात पूर्व और पश्चिम दोनो के बारे मे समान रूप से सत्य है। हाँ, यदि राज्य-व्यवस्था लोगो की निर्माण-प्रवृत्ति के दमन की नीति का अनुसरण करने वाली है तब अवश्य ही साधारण जनता सन्तोष, शान्ति तथा भाग्यवादिता का प्रचार करने वाले धर्म का आश्रय लेगी, और उसे अपने चारो ओर के अप्रिय वातावरण को, जिसका निराकरण करने में वे असमर्थ है, भुलाने वाली पीडाः नाशक, औषधि समझेगी। जब आर्थिक स्थिति को सक्रिय प्रयत्नो द्वारा परिवर्तित करने का सुअवसर प्राप्त हो, तब निष्क्रियता की भावना तथा ऐसी धार्मिक भावना, जो सासारिक सुख की सिद्धि में बाधक हो, केवल दिखावा-मात्र रह जाती है। धर्म और कर्म मे अन्तर आ जाता है, और लोग धर्म-ग्रन्थो के प्रति बाह्य सम्मान प्रदर्शित करते हुए अपने जीवन को भिन्न मानदण्डो के आधार पर नियमित करते है। अथवा धार्मिक आचार कुछ कर्मकाण्डो और पूजा-पाठ आदि के नियमो के श्रद्धामय परिपालन तक ही सीमित रह जाता है जिनका धनोपार्जन-कार्यो मे कोई विरोध नही है। इन विषमताओ का कारण यह है कि परम्परागत विश्वासो की परिवर्तित परिस्थितियो के साथ सगति नही बैठती। धार्मिक भावना का पुन धीरे-धीरे विवेकपूर्ण सश्लेषण होता है और उसमे ऐसे नवीन विचारो का समावेश हो जाता है जो विश्वास और व्यवहार के बीच की खाई को पाट देते है। विभिन्न प्रकार के कार्यो के महत्त्व का ऐसा समजन हो जाता है कि सासारिक क्रिया-कलाप अपने मे ही पापमय या अकारथ नही माना जाता। अब तो सासारिक कार्यो में सक्रिय रूप से प्रवृत्त होने का प्रचार किया जा रहा है न कि वीतराग होकर उनसे दूर भागने का। साथ ही सासारिक और आध्यात्मिक क्रियाओ के एक-दूसरे से पृथक् होने को भी अस्वीकार किया जा रहा है। ऐहिक सुखो की साधना और आध्यात्मिक लक्ष्य की उपलब्धि में कोई पारस्परिक असगति है, यह बात नही मानी जाती। इसलिए इन दोनो आदर्शो की समन्वय भी व्यक्ति-जीवन का उद्देश्य बन सकता है। वर्तमान युग के मसीही-धर्मावलम्बी बाइबिल में दी हुई इस चेतावनी को, कि धनी व्यक्ति केवल धनवान होने के कारण आध्यात्मिक उन्नति नही कर सकते, अक्षरश सत्य नही मानते।[1] आजकल का मसीही धर्म-गुरु इस बात को मानने में कोई आपत्ति नही करेगा कि कैडबरी जैसे व्यापारी को भी स्वर्ग में स्थान पाने का उतना ही अवसर है जितना किसी और को। भौतिक सम्पत्ति अपने-आपमें कोई बुरी वस्तु नही है। ईमानदारी से अर्जित सम्पति का कारण समाज की कोई ऐसी सेवा है जिसके लिए समाज ने धन देना आवश्यक समझा है। इस प्रकार धनोपार्जन और धन-व्यय का उद्देश्य और परिणाम परोपकारिक हो सकते हैं।

२६ भाग्यवादिता अतीत की अशान्त राजनीतिक परिस्थितियों की देन है—हमारा यह दृढ विश्वास है कि भारतीयो की भाग्यवादिता और पारलौकिकता, जो जीवन के प्रति भारतीय दृष्टिकोण की विशेषता तथा उनकी भौतिक उन्नति की बाधाएँ रही है, भारत में अग्रेजो के आगमन के पहले की अव्यवस्थित राजनीतिक परिस्थितियो की देन है

१ 'कितनी कठिनाई से वे, जिनके पास धन है, स्वर्ग में पहुँच सकेंगे। किसी धनाढ्य के स्वर्ग जाने की अपेक्षा सुई की आँख में से होकर ऊँट का निकल जाना सरल है।' बाइबिल, मार्क, १०, २३।

जसने भारतीयो की अर्थ-प्रेरणा की सहज गति को भग कर दिया। भारत में अंग्रेजी राज्य की स्थापना के पहले के युग मे, जब शासक प्राय रक्षक न होकर भक्षक होते थे और जब प्रजा को क्षण-भर में ही अपनी वरसो की मेहनत की कमाई के किसी नृशस शासक अथवा दैवयोग से आये हुए आक्रमणकारी द्वारा लुट जाने का भय सदैव लगा रहता था, परिश्रम से धनोपार्जन करने तथा उसके सचय की प्रेरणा का क्षीण हो जाना अवश्यम्भावी था। ऐसी स्थिति में लोगो के मन से आशा और महत्त्वाकाक्षा का लोप होना तथा भाग्यवादिता की भावना का दृढ होना स्वाभाविक ही था।

१०. परिवर्तित परिस्थितियों के अनुकूल धर्म के पुनराख्यान का क्रम—देश में शान्ति की स्थापना के वाद से पाश्चात्य विज्ञान और पाश्चात्य विचारधारा के प्रभावो के कारण धर्म की व्याख्या पाश्चात्य ढंग पर की जाने लगी है, और निष्क्रिय होकर सब-कुछ सहने के स्थान पर सोद्देश्य कार्य में प्रवृत्त होने की शिक्षा दी जाने लगी है।[1] दूसरे शब्दो मे इसका अर्थ यह है कि लोगो की धार्मिक भावना उनकी आर्थिक स्थिति का फल है, न कि कारण। जैसे-जैसे आर्थिक स्थिति अनुकूल होती जाती है वैसे-वैसे भाग्य-वादी धारणाएँ मिटती जाती है और आशावादी दृष्टिकोण उनका स्थान ले लेता है। हिन्दू धर्म को आर्थिक उन्नति की प्रगति का स्थायी वाधक मानना गलत है, क्योकि यह धर्म ऐसा नही जो हमेशा एक वँधी-पिटी लीक पर चलता रहे और सदा के लिए स्थिर हो। उसकी रूपरेखा में भौतिक परिस्थितियो की उन्नति की आशा और समया-नुकूल विचारो के विकास से सामंजस्य रखने के लिए प्रत्यक्ष रूप में परिवर्तन हो रहे हैं।[2] शताब्दियो तक शक्तिशाली आक्रमणो को वार-वार सहने के पश्चात् भी हिन्दू धर्म आज तक जो जीवित वच गया है उसका रहस्य है भारतीय सभ्यता की नम्य एव परिवर्तनशील रूढिवादिता। वर्तमान परिस्थितियो में भी वह अपनी अनुकूल-शक्ति को वनाए रखेगा, इसमें सन्देह करने का कोई कारण नही है। पुरातन काया में नये प्राण डालना, प्राचीन ग्रन्थो का नवीन अर्थ लगाना, अन्य धर्मो की अपेक्षा हिन्दू धर्म में कही अधिक सरल है। सहानुभूतिहीन समालोचको ने इस गुण के कारण हिन्दू धर्म को

---

१. भारत में इस पुनराख्यान-क्रम के उदाहरण के तौर पर हम राधाकृष्णन् की 'इंडियन फिलॉसफी' भाग १, (सस्करण २, १९२९) से निम्न उद्धरण देते हैं:

'इस धारणा के आधार पर कि हमारी आत्मा ससार-भर की आत्माओं से वढकर है, मुक्ति-प्राप्ति के प्रयत्न आत्मा के सच्चे शील की अभिव्यक्ति नहीं है। उपनिषद् हमें निष्काम कर्तव्य की शिक्षा देते हैं।' (पृष्ठ २१६)

'जीवन के प्रति छद्म विरक्ति-भावना, जो जीवन को स्वप्न मानती है और ससार को माया-जाल समझती है, उपनिषदों की शिक्षा के विरुद्ध है। 'सासारिक जीवन में एक स्वस्थ आनन्द सर्वत्र व्याप्त है विराग का दर्शन, विरक्तिपूर्ण आचार-सहिता, ससार के प्रति खिन्न उदासीनता का भाव विश्व के स्रष्टा का अपमान है और अपने तथा ससार के प्रति, जिसका हम पर अधिकार है, पाप-कर्म है। उपनिषद देवताओं में विश्वास रखते हैं और इसी प्रकार ससार में भी विश्वास रखते है।' (पृ० २१९)

२. 'विश्वास अथवा व्यवहार किसी भी दृष्टिसे एकरस, जड तथा अपरिवर्तनशील हिन्दू-धर्म जैसी कोई वस्तु नहीं रही है। हिन्दू-धर्म एक गतिमान व्यवस्था है, न कि स्थिर, वह प्रक्रिया है, परिणाम नहीं, एक वर्धमान परम्परा है, न कि जड अभिव्यक्ति'—राधाकृष्णन्, द हिन्दू व्यू ऑफ़ लाइफ', पृ० १२९

रूपरेखाहीन और निश्चित सिद्धान्तो में व्यक्त किये जाने के अयोग्य बताया है और इसलिए ही 'वायु के समान अभेद्य तथा पकड में न आने वाला' कहा है। पर यह गुण ही इसकी शक्ति है, जिसने इसे अपने-आपको परिवर्तित परिस्थितियो के अनुरूप ढालने की क्षमता प्रदान की है। अत यह धर्म ससार से विरत करने के दोषारोपण को सहज ही असत्य सिद्ध कर सकता है, क्योकि ठीक प्रकार से समझा जाय तो उसमें यह दोष है ही नही। वास्तव में यह धर्म अपने अनुयायियो से केवल स्वार्थपरता त्यागने को कहता है, न कि ससार के सब लगाव। वह ससार से पिड छुड़ाने के लिए नही कहता, वरन् उसमे उचित रीति से रहने की सीख देता है। तिलक की अमरकृति 'गीता रहस्य' का मुख्य आशय यही है कि भगवद्गीता, जो कि हिन्दू धर्म का मुख्य सन्देश है, वैराग्य के स्थान पर कर्मण्य जीवन को पसन्द करती है और निष्काम कर्मयोग की शिक्षा देकर आध्यात्मिक और सासारिक जीवन मे समन्वय लाने का प्रयत्न करती है। बहुधा यह कहते सुना जाता है कि हिन्दू धर्म द्वारा प्रतिपादित कर्म-सिद्धान्त भारतीयो की निराशा-वादिता का मूल कारण है, क्योकि यह सिद्धान्त हमें इस बात की शिक्षा देता है कि वैराग्य और त्याग ही वे साधन है जो बार-बार के पुनर्जन्म से किसी व्यक्ति की रक्षा कर सकते है। इस सिद्धान्त की एक नितान्त भिन्न व्याख्या की जा सकती है कि कर्म अवरोध उपस्थित करने के स्थान पर कार्य में प्रवृत्त करने का शक्तिशाली प्रेरक हो सकता है, क्योकि कर्म-सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य ही अपना भाग्य-विधायक है, कोई अदृष्ट शक्ति नही।

दिलचस्पी की बात यह है कि इस्लाम धर्म के कुछ विशिष्ट सिद्धान्तो में भी कुछ इसी ढग के परिवर्तन हो रहे है। उदाहरणार्थ इस्लाम धर्म-शास्त्रो के अनुसार कोई मुसलमान न तो ब्याज ले सकता है और न दे सकता है। इसलिए इस मत के अनुसार यह विवाद का विषय है कि कोई मुसलमान किसी सहकारी समिति का सदस्य हो सकता है अथवा नही, क्योकि समिति ब्याज लेती है। यह भी सर्वविदित है कि मुसल-मानो का ब्याज का लाखो रुपया डाकखाने के सेविंग बैंक खाते में पडा रहता है और उसकी कोई माँग नही करता। इन कारणो से इस बात का प्रयत्न किया जा रहा है कि कुरान की प्रासगिक आयतो की व्याख्या इस ढग से की जाय कि ब्याज के प्रत्येक रूप के स्थान पर केवल सूदखोरी का ही निषेध हो।[1]

२१ भारतीय निराशावादिता के (धर्म के अतिरिक्त) अन्य कारण—अनेक निरीक्षको ने निराशावादिता और दीनतापूर्ण विषाद को भारतीय मनोवृत्ति की विशेषता के रूप में देखा है। उसे सविस्तार समझने के लिए धर्म और दर्शन के अतिरिक्त अन्य कारणो का जानना भी अत्यन्त आवश्यक है। अनेक शताब्दियो की विदेशी प्रभुता और कुशासन के अवसादमय प्रभाव का पहले वर्णन किया जा चुका है। प्रकृति द्वारा किये गए विनाश को भी इन कारणो की सूची में जोड लेना आवश्यक है। भारत की जलवायु का प्रभाव, विशेषकर गरम और तर जलवायु वाले भागो में, मनुष्य को अशक्त कर देता है जिससे कर्क रेखाओ के बीच फैलने वाली प्लेग और हुकवर्म आदि बीमारियाँ

१ देखिए, डार्लिंग, 'रस्टीकम लोक्विटर', पृ० ३६७-३६८।

उनमे जोरो से फैलती है। इनमें से हुकवर्म आदि कुछ बीमारियाँ ऐसी है कि वे घातक न होते हुए भी प्राण-शक्ति को इतना क्षीण कर देती है कि बीमार का मन सदा के लिए उचट जाता है और जीवन के प्रति आशा-आकाक्षामय दृष्टिकोण असम्भव हो जाता है।[1] इस प्रकार उनकी निराशावादिता के मूल में शारीरिक कारण भी है जिसको नगण्य न समझना चाहिए। और फिर अनिश्चित मानसून हवाओ पर निर्भर भारत जैसे कृषि-प्रधान देश मे हमें दुर्भिक्ष आदि विपदाओ के प्रभाव का भी विचार करना चाहिए, जिनके निराकरण के लिए प्राचीन काल में दुर्भिक्ष-बीमा और सहायता आदि साधन उपलब्ध नही थे जैसे कि अब है। इस बारम्बार के दैवी प्रकोप के समक्ष लोगो की एकान्त असहायता ने उनके मन में अवश्य ही निराशावादी और भाग्यवादी भावनाओ को जन्म दिया होगा। दुर्भिक्ष और बीमारियाँ, जिनका प्रकोप बहुधा भारत मे होता है, भारतीयो में व्याप्त अवसाद या खिन्नता के कारण रहे है। दूसरा महान् कारण विभिन्न जातियो द्वारा विभक्त समाज में निम्न जातियो की निर्योग्यताएँ थी जिनके फलस्वरूप अन्य जातियो से सम्पर्क रखने अथवा आर्थिक उन्नति करने में हमेशा उनका मार्गविरोध हुआ और वे सदा दास बने रहने के लिए बाध्य हुए।

पश्चिम यूरोप में भी जन-साधारण में आशावादिता और कर्मण्यता की भावना की परिव्याप्ति अभी हाल की ही बात है। वर्तमान वैज्ञानिक युग के पहले दुर्भिक्ष तथा प्लेग और महामारी आदि बीमारियाँ दैवी प्रकोप समझी जाती थी और निर्बल मनुष्यो द्वारा उनके विरोध की चेष्टा निष्प्रयोजन मानी जाती थी। इस प्रकार पूर्वी भाग्य-वादिता एक समय यूरोप की जनता में भी प्रचलित थी। यूरोप में असहायता और भाग्यवादिता की भावना का लोप इसलिए हो गया है कि विज्ञान के बहुमुखी विकास ने औषधियो, यातायात आदि की उन्नति में बडी सहायता पहुँचाई है, और मनुष्य अब प्रकृति पर अपनी विजय की उत्तरोत्तर वृद्धि की भावना से अनुप्राणित हो रहा है। अब तक जो विजय प्राप्त कर ली है उसके कारण वह समझने लगा है कि उसके दु खो का सतत प्रयत्नो द्वारा निवारण सम्भव है। लोगो की भावनाओ में इस प्रकार का परि-वर्तन भारत में भी आरम्भ हो गया है। हम आशा करते है कि शिक्षा के प्रसार, व्याव-हारिक विज्ञान के विकास और राष्ट्रीय आर्थिक उन्नति की नीति के सतत परिपालन से भारतीयो की निराशावादिता के वर्तमान कारण दूर हो जायँगे और उनकी आर्थिक उन्नति के प्रमुख बाधको में उसकी गिनती नही की जाया करेगी।

---

१ देखिए, रोनाल्डशे, इडिया, ए बर्ड्स आई व्यू', अध्याय २२।

अध्याय ५

भारत में आर्थिक संक्रान्ति

१ इंगलैण्ड की औद्योगिक क्रान्ति—इस अध्याय मे हम पिछले सौ वर्षो में यहाँ के जीवन और श्रम की परिस्थितियो का कायापलट करने वाले आर्थिक विन्यास तथा सगठन-सम्बन्धी मूल परिवर्तनो का सिंहावलोकन करेंगे। परिवर्तन करने वाली शक्तियो को (अशत·) एक शब्द 'औद्योगिक-क्रान्ति' द्वारा व्यक्त किया जाता है। इन शक्तियो का स्वरूप भली-भाँति समझने के लिए इगलैण्ड की औद्योगिक क्रान्ति का सक्षिप्त इतिहास जान लेना श्रेयस्कर होगा।

इ गलैण्ड की औद्योगिक क्रान्ति यद्यपि एक प्रकार से अनिष्टकारी कही जा सकती है, परन्तु दूसरे दृष्टिकोण से वह उन शक्तियो का परिणाम थी जो लगभग दो सौ वर्ष से क्रियाशील थी और जिन्होने १८वी शताब्दी के मध्य में उभरकर विस्फोट पैदा किया। इस विस्फोट के फलस्वरूप जो अद्भुत परिवर्तन हुए 'औद्योगिक-क्रान्ति' सज्ञा उन्ही से सम्बद्ध है। सर्वप्रथम इगलैण्ड मे ही औद्योगिक क्रान्ति के आरम्भ होने के अनेक कारण थे। सोलहवी और सत्रहवी शताब्दी मे भारत के समुद्री मार्गो और अमेरिका की खोज के कारण हुई जो व्यापारिक क्रान्ति हुई वह इस औद्योगिक क्रान्ति की आवश्यक भूमिका थी। व्यापारिक क्रान्ति ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के मापदण्ड और स्वरूप को बदल दिया तथा औद्योगिक क्रान्ति के नये-नये यान्त्रिक आविष्कारो से होने वाले विपुल उत्पादन की खपत के लिए ससार-व्यापी मण्डियाँ प्रस्तुत की। वाणिज्य-एकाधिकार-सिद्धान्त के कारण, जो पश्चिमी यूरोपीय देशो की वाणिज्य-नीति की विशेषता थी, सत्रहवी और अठारहवी शताब्दी में आर्थिक राष्ट्रीयता के अनेक युद्ध हुए थे। इन युद्धो के दौर से इगलैण्ड विजयी होकर एक बडी सामुद्रिक एवम् व्यापारिक शक्ति के रूप में प्रकट हुआ। इसके विपरीत उसके प्रतिद्वन्द्वी उद्योग तथा अन्य साधनो में शक्तिहीन हो गए। इससे इगलैण्ड की प्रतियोगिता-शक्ति बहुत बढ गई। इसके अतिरिक्त इगलैण्ड की औद्योगिक क्रान्ति तभी घटित हुई जब इधर भारत मे अग्रेजी शासन की सुदृढ स्थापना हुई। भारत की बडी-बडी मण्डियाँ हाथ मे आ जाने के कारण लकाशायर के सूत-उद्योग को नई गति और नई प्रेरणा मिली। अन्य अनेक कारणो ने भी इगलैण्ड के इस नये आन्दोलन की प्रगति में योग दिया। उदाहरणार्थ, इगलैण्ड की द्वीपी स्थिति, आन्तरिक स्वतन्त्र व्यापार की स्थापना तथा समदीय शासन की स्थापना, जिसमें अभिजात-वर्गीय भूमिपतियो का प्रभुत्व था और

जिनका झुकाव उद्योग तथा व्यापार के प्रति विशेष रूप से था।[1]

२. **इंगलैंण्ड की औद्योगिक क्रान्ति की चार मुख्य बातें**—अग्रेजी औद्योगिक क्रान्ति की चार मुख्य बातें थी—(१) कृषि, (२) यातायात, (३) उद्योग, तथा (४) आर्थिक विचारधारा और नीति में क्रान्ति, जिन्होने परस्पर एक-दूसरे को प्रभावित किया। सर्वप्रथम जनसख्या की वृद्धि के कारण अधिक अन्न की माँग से कृषि के क्षेत्र में क्रान्ति हुई और मध्यकालीन अपव्ययशील सामान्य कृषि प्रणाली का स्थान भू-वृति की नई पद्धति तथा अधिक सक्षम कृषि-पद्धति ने ले लिया। कृषि विज्ञान की उन्नति और वैज्ञानिक ढग की कृषि-व्यवस्था के फलस्वरूप द्वितीय 'परिवेष्टन आन्दोलन' आरम्भ हुआ और इससे प्राचीन क्षेत्रपालो का लोप तथा भूमि-विहीन श्रमिको और लगान पर खेती करने वाले ऐसे पूँजीपति कृषको का उदय हुआ जो इन श्रमिको को काम देते थे। इस प्रकार से वर्तमान तीन विभाजन हो गए—बडे ज़मीदार, पूँजीपति किसान तथा भूमि-विहीन कृषि श्रमिक। यातायात तथा उद्योग के क्षेत्र मे क्रान्ति सचार-साधनो के विकास तथा कारखानो (फैक्ट्री) की स्थापना के रूप में प्रकट हुई। पहले प्रकार के सुधारो में फाटको से सुरक्षित सडके तथा नौगम्य नहरें तथा कोयला, लोहा और कपडा बुनने के उद्योगो में नये आविष्कार विशेषकर सूत कातने की मशीन (स्पिनिंग जैनी), बिजली-करघे, तथा भाप के इन्जन आदि है। दूसरे प्रकार के परिवर्तनो मे बडे पैमाने का उत्पादन और मानव-श्रम के स्थान पर यन्त्रो के उपयोग का समारम्भ आदि है। १८२५ के लगभग यातायात और सचार-साधनो में दूसरी क्रान्ति हुई, जिसने उपयुक्त समय पर रेल, तार और जहाज़ आदि को जन्म दिया। कपडे के कारखानो, कोयले की खानो और लोहे की खानो से आरम्भ होकर धीरे-धीरे औद्योगिक क्रान्ति अन्य चीज़ो के कारखानो मे भी फैली। इसकी प्रगति में सीमित-दायित्व वाली जॉयट स्टाक कम्पनियो के सगठन तथा साख और बैंकिग की सुविधाओ ने बडी सहायता दी।

इन परिवर्तनो से सहानुभूति रखते हुए एडम स्मिथ और उनके परवर्ती युग की आर्थिक विचारधारा को भी नई दिशा मिली। नयी विचारधारा सहज स्वतन्त्रता तथा व्यक्तिगत साहसोद्यम की भावना पर आधारित थी, जो राज्य द्वारा राष्ट्र के आर्थिक जीवन के विशेष नियमन की प्राचीन प्रथा के विरुद्ध थी। मि० एडम स्मिथ की कृति 'वेल्थ आफ नेशन्स' भी अधिकाश मे इस प्राचीन प्रथा का सशक्त शब्दो में तर्कपूर्ण प्रतिवाद थी। नवीन आर्थिक विचारधारा ने 'राज्य अनतिपात नीति' का आदर्श सामने रखा। आत्यन्तिक 'राज्य अनतिपात-नीति' ने, औद्योगिक क्रान्ति की प्रगति को तो बढाया, पर सक्रान्तिकालीन बुराइयो को भी शह दी और अनेक सामाजिक और आर्थिक दोषो के शमन को जो विशेपकर औद्योगिक क्रान्ति के कारण उत्पन्न हो गए थे बहुत दिनो के लिए टाल दिया।

३. **औद्योगिक क्रान्ति के परिणाम**—औद्योगिक क्रान्ति के परिणाम बडे ही आश्चर्य-जनक हुए। धन के उत्पादन में बहुत बडी वृद्धि हुई। आन्तरिक और वैदेशिक व्यापार

१. जे० एल० और बी० हेमण्ड, 'द राइज ऑफ माडर्न इण्डस्ट्री', पृ० ६४-६५।

का विस्तार हुआ और इगलैण्ड के दक्षिणी भाग से लोग बहुत बडी सख्या मे उत्तरी भाग की ओर गये। जनसख्या में भी तेजी से वृद्धि हुई। देश की सामाजिक और आर्थिक अवस्था में मौलिक परिवर्तन हुए, जिनसे सामाजिक और राजनीतिक शक्ति का सन्तुलन कृषि तथा उद्योगो के मजदूरों के विरुद्ध, पूँजीपतियो की ओर विशेष झुक गया। घरेलू उद्योगो का स्थान बडे पैमाने की फैक्ट्री ने ले लिया जिनमें हजारो की सख्या मे मजदूर काम करते थे। इनका पूँजीपतियो से स्वामी और मजदूर के प्राचीन मानवीय सम्बन्ध के स्थान पर केवल नकद मजदूरी प्राप्त करने के अतिरिक्त और कोई सम्बन्ध न रह गया। पूँजी और उत्पादन के साधनो के थोडे से धनाढ्यो के हाथ में केन्द्रित हो जाने के कारण मजदूरो और मालिको के बीच बडा व्यवधान आ गया, जिससे समाज ऐसे दो वर्गों में विभाजित हो गया जो सदैव के लिए दूसरे के विरोधी हो गए। मजदूरो का अरक्षित और अनिश्चित जीवन जिसमें बेकारी का भय सदा बना रहता था, सामाजिक व्यवस्था को अस्त-व्यस्त कर देने वाली बार-बार की हडतालें और आर्थिक सन्तुलन में विघ्न डालने वाले सकट—इस नई औद्योगिक व्यवस्था की विशेषताएँ हो गई और देश के समक्ष बडी जटिल आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक समस्याएँ उपस्थित हो गई।

४. मॉरीसन का वर्गीकरण : नवीन और प्राचीन ढंग के देश—हमें अब यह देखना है कि ये परिवर्तन भारतवर्ष में किस सीमा तक हुए। हम भारत में आर्थिक सक्रान्ति का वर्णन मॉरीसन-कृत ससार के देशो के दो मुख्य वर्गो से आरम्भ करेंगे—(1) वे प्राचीन आर्थिक व्यवस्था वाले देश जिनमें अभी औद्योगिक क्रान्ति नही हुई है। (11) उस नई आर्थिक पद्धति पर चलने वाले देश जहाँ औद्योगिक क्रान्ति सम्पन्न हो चुकी है। पहले प्रकार के देशो में मिश्र पूर्वीय यूरोप के कुछ देश और भारतवर्ष की गणना भी की जा सकती है जिनमें उद्योगो की प्राचीन व्यवस्था वर्तमान परिवर्तनो से अप्रभावित चल रही है। दूसरे प्रकार के देशो में इग्लैण्ड, फ्रान्स, जर्मनी और सयुक्त राज्य अमरीका की गणना की जा सकती है जिनमें प्राचीन व्यवस्था का स्थान उत्पादन और वितरण की नई रीतियो ने ले लिया है। ये विभाजन केवल कामचलाऊ ढग पर किया गया है, क्योकि दोनो प्रकार के देशो के बीच कोई पृथक् करने वाली गहरी रेखा नही खीची जा सकती। पहले वर्ग के बहुत से देशो में दूसरे वर्ग में परिणत हो जाने के चिह्न स्पष्ट दिखाई देने लगे हें। हम अपने काम के लिए भारतवर्ष और इग्लैण्ड को विरोधी वर्ग के देशो के प्रतिनिधि के रूप में मान लेंगे। अधिकाश मे भारतवर्ष आज भी प्राचीन वर्ग के देशो में ही गिना जाने योग्य है, यद्यपि इसके दूसरे वर्ग में परिणत होने के चिह्न स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगे हैं। इगलैण्ड को अपनी औद्योगिक क्रान्ति पूर्ण करने वाला देश कहा जा सकता है जिसने जीवन और श्रम की स्थिति को इतना अधिक परिवर्तित कर दिया है जितना किसी भी अन्य देश ने नही। प्राचीन औद्योगिक व्यवस्था विशेष प्राकृतिक परिस्थितियो का परिणाम थी जो किसी-न-किसी समय ससार के प्रत्येक देश मे वर्तमान थी और जहाँ-जहाँ वैसी परिस्थितियाँ थी वहाँ लगभग एक-सी ही आर्थिक व्यवस्था का उदय हुआ था।

५. प्राचीन ढंग के देशों की विशेषताएँ—प्रथम वर्ग के अथवा प्राचीन आर्थिक व्यवस्था वाले देशो की विशेषताएँ निम्नलिखित है —(1) प्रतियोगिता तथा सविदा की अपेक्षा परिष्ठा (status) और रीति-रिवाजो का प्रभुत्व। (ii) जन-सख्या का छोटे-छोटे वर्गो में पृथक्करण, जैसा कि गाँवो मे पाया जाता है और उनकी आर्थिक आत्म-निर्भरता जो विशेषकर यातायात और सचार-साधनो के दोषपूर्ण होने के कारण है। (iii) अन्य व्यवसायो की अपेक्षा कृषि का प्राधान्य तथा उसके फलस्वरूप विभिन्न व्यवसायो में जनसख्या का असमान वितरण तथा शहरी जनसख्या की अपेक्षा ग्रामीण जन-सख्या का प्राधान्य। (iv) मण्डियो के कम विस्तार के कारण श्रम का सीधा-सादा और अपूर्ण विभाजन। (v) घरेलू और कुटीर-उद्योगो जैसे छोटी मात्रा में उत्पादन करने वाले उद्योग-धन्धे जिनको शिल्पी स्वय चलाता है और इसलिए उसमें थोडी ही पूँजी का उपयोग सम्भव है और उसमें मध्यस्थ, व्यवस्थापक या जोखिम उठाने वाला कोई नहीं होता। (vi) द्रव्य पर आधारित अर्थ-व्यवस्था का अभाव और वस्तु-विनिमय का या माल के बदले माल की प्रत्यक्ष अदल-बदल की व्यवस्था। (vii) अविकसित उधार-व्यवस्था और सूदखोरी।

६. नवीन ढंग के देशों की विशेषताएँ—उपर्युक्त विशेषताओ के विपरीत दूसरे यानी नई प्रकार की आर्थिक व्यवस्था वाले देशो की विशेषताएँ निम्नलिखित है—(i) सविदा की स्वतन्त्रता और निर्बाध प्रतियोगिता। (ii) यातायात तथा सचार के विकसित साधनो के कारण औद्योगिक ससार के विभिन्न भागो का घनिष्ठ रूप से अन्योन्याश्रित होना। (iii) जनसख्या का विभिन्न व्यवसायो में अपेक्षाकृत समान वितरण जिसमें कृषि का स्थान कोई विशेष महत्ता नही रखता तथा इस कारण से नगर-निवासियो की सख्या का ग्राम-निवासियो की सख्या से अधिक होना। (iv) मशीनों के अधिकाधिक प्रयोग तथा मण्डियो के विस्तार के फलस्वरूप श्रम का जटिल और पूर्ण विभाजन। (v) उद्योगो का बडे पैमाने पर सगठन, तदर्थ बहुत बडी मात्रा में पूँजी की आवश्यकता और गिने-चुने साहसोद्यमी व्यक्तियो द्वारा उद्योगो का सचालन, बडे-बडे कारखानो में मजदूरो का बहुत बडी सख्या में केन्द्रित होना और पूँजीपति तथा मजदूरो के बीच व्यक्तिगत सम्बन्ध का लोप। (vi) वस्तु-विनिमय के स्थान पर द्रव्य आधारित अर्थ-व्यवस्था की स्थापना। (vii) उधार और बैंकिंग की सुविधाओ का प्रसार तथा सूदखोरी का लोप।

भारतवर्ष आर्थिक सक्रान्ति में से गुज़र रहा है, इसलिए उसमें दोनो प्रकार के देशो की विशेषताएँ न्यूनाधिक मात्रा में दृष्टिगोचर होती है। शताब्दियो से वह विकास की विषम अवस्थाओ से गुजर रहा है, क्योकि उसके कुछ भाग यदि आदियुगीन नही तो मध्यकालीन अर्थ-व्यवस्था वाले तो लगते ही है और कुछ भाग निश्चित रूप से आधुनिक लगते है जो प्रगतिशील यूरोप के पश्चिमी देशो में पाई जाने वाली अर्थ-व्यवस्था को पूर्णरूप से अपना चुके है। तात्पर्य यह है कि विकास की प्रवृत्ति ऊपर वर्णित दूसरे प्रकार की व्यवस्था की ओर ही है।

७. प्राचीन आर्थिक संगठन : गाँव—जो परिवर्तन भारत में हुआ है उसे ठीक-ठीक समझने के लिए यह आवश्यक है कि भारत के उस प्राचीन आर्थिक सगठन का वर्णन

किया जाय जो नई शक्तियो के प्रभाव से पूर्व देश में विद्यमान था ।

भारत के प्राचीन आर्थिक सगठन की प्रमुख विशेषता यह है कि देश गाँवो में विभाजित था जहाँ अधिकाश लोग रहते थे और आज भी रहते है। विविक्त और आत्म-निर्भर गाँव ही प्राचीन आर्थिक सगठन की इकाई थे । और आज भी 'उस व्यवस्था के लोगों के रहन-सहन और काम की स्थिति का अध्ययन करने के लिए हमें गाँव में ही जाना पडेगा ।'[1]

८ **ग्रामों का उद्भव कैसे हुआ और आज भी वे क्यों विद्यमान हैं**—गाँव के नाम की वस्ती के उद्भव के सम्बन्ध में अनेक परिकल्पनाएँ प्रस्तुत की गई है। हो सकता है खेती के लिए जगल साफ करने के कठिन काम में एक-दूसरे का सक्रिय सहयोग पाने के लिए कोई यायावर जन-जाति या वश कही एक जगह स्थायी रूप से वसने के लिए वाध्य हुआ हो। दूसरा प्रभावशाली कारण जल-प्राप्ति की सुविधा हो सकती है । किसी क्षेत्र-विशेष में सर्वत्र पानी अप्राप्य होने पर वसने के लिए वे स्थान चुने जाते थे जहाँ पानी का बाहुल्य होता था । लोगो के इस तरह केन्द्रित होने का तीसरा कारण जगली पशुओ और आक्रान्ता कवीलो से अपनी रक्षा करने की आवश्यकता हो सकता है । अन्य देशो में भारतीय गाँवो के समान वस्तियाँ न हो ऐसा नही है । इगलैण्ड के मध्य-कालीन मेनर, जर्मनी के मार्क और रूस के मीर स्पष्ट रूप से ऐसी ही वस्तियाँ है । परन्तु अनेक राजनीतिक परिवर्तनो के समक्ष भारतीय ग्राम-व्यवस्था का स्थायित्व उसकी अपनी विशेषता है जिसकी ओर विदेशियो का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित हुआ है । उन्होने उसकी आदर्श सरलता और सुख-शान्ति की, जिसका कदाचित् प्राचीन ग्रामीण-समाजो में एकच्छत्र साम्राज्य रहा होगा, भूरि-भूरि प्रशसा की है ।[2]

युद्धो और क्रान्तियो से एकदम अप्रभावित रहकर गाँव के लोग जीवन व्यतीत करते रहे, अन्य कारणो को समझे विना यह स्वीकार नही किया जा सकता ।[3] उदाहरणार्थ अठारहवी शताब्दी में मुगलो के शासन के छिन्न-भिन्न हो जाने के पश्चात् जब सम्पूर्ण देश हत्या, मारकाट और लूटपाट की स्थायी रगशाला वन गया था, यह मान लेना कि ग्रामवासी बिना किसी विघ्न-बाधा के शान्तिपूर्वक जीवनयापन करते रहे होंगे समीचीन नही प्रतीत होता । आक्रमणो के विरुद्ध अपनी सुरक्षा का प्रबन्ध सामान्यत उन्हे स्वय करना पडता था । हम मान लेते है कि कभी-कभी वे आक्रमणो से अपनी रक्षा करने में समर्थ हो जाते थे, पर बहुधा शत्रु अधिक शक्तिशाली सिद्ध होते थे और सफलता से उनका सामना करना असम्भव था । बलात्, अपहरण लूट-मार और

१ मॉरीसन, पूर्व उद्धृत, पृ० ३४.

२. सन् १८३० के सर चार्ल्स मेटकाफ के प्राय उद्धृत किये जाने वाले विवरण को पाठक याद करें— "गाँव के समाज छोटी-छोटी स्वायत्त शासन की इकाइया है जहा प्रत्येक आवश्यकता की वस्तु उपलब्ध है और उनका प्राय बाह्य ससार से सम्बन्ध नहीं है । ऐसा लगता है कि जब और कोई व्यवस्था स्थिर न रहेगी वे तब भी स्थिर रहेंगे । एक पृथक् छोटे राज्य की इकाइयों के रूप में व्यवस्थित गाँव के समाजो का ऐक्य उनकी सुख, शान्ति और स्वतन्त्रता का बहुत बडा कारण रहा है ।"

३ ए० एस० अल्तेकर, 'ए हिस्ट्री आफ विलेज कम्यूनिटीज इन वेस्टर्न इण्डिया', पृ० १०५-६ से तुलना कीजिए।

डाकेजनी आदि विभीपिकाओ ने समय-समय पर उनकी अर्थ-व्यवस्था को जरूर ही वेतरह झकझोरा होगा और उनके दुखदायी प्रभावो से निकलकर पुन अपनी सामान्य अवस्था को प्राप्त करने की प्रक्रिया निश्चय ही वडी लम्वी और कष्टमय रहती होगी। ग्राम-सगठन के सदियो तक अप्रभावित और अपरिवर्तित वने रहने के कुछ ऐसे चिरस्थायी कारण ही हो सकते है जो आज भी वने हुए है जैसे सचार साधनो का अभाव तथा उसके फलस्वरूप किसी समर्थ केन्द्रीय शासन-व्यवस्था की अनुपस्थिति आदि। गाँवो की व्यवस्था में निहित कोई गुण-विशेष इसके कारण नही।

९. ठेठ भारतीय गाँव—ठेठ भारतीय गाँव खेती किये हुए भूमि-खण्डो की समष्टि होता है—जिसके साथ परती जमीन का कुछ क्षेत्र कभी जुडा रहता है कभी नही। उसके केन्द्रीय भाग में रहने के अनेक घर पास-पास वने होते है। गाँव के खेत प्रायः वस्ती के चारो ओर समकेन्द्र वृत्तो में फैले होते हैं। कभी-कभी छोटे-छोटे निवासस्थान खेतो पर भी अलग से वने होते हैं, यद्यपि सुरक्षा के विचार से अथवा अन्य कारणो से प्रायः किसान अपने गाँव के घर में ही रहता है। गाँवो में प्राय. एक वगिया भी होती है और किसी-न-किसी तरह का सरकारी कार्यालय भी, जहाँ पर गाँव के अफसर अपने कागज पत्रादि रखते है और अपना कार्य करते हैं।

१०. ग्राम-व्यवस्था : कृषक—ग्राम-व्यवस्था का वर्णन करते समय हम भारत में गाँवो के दो मुख्य रूपो रैयतवाडी तथा सयुक्त गाँवो के अन्तर को छोड देंगे और यहाँ एक सामान्य वर्णन करने का प्रयत्न करेंगे जिसमे दोनो प्रकार के गाँवो में समान रूप से पाये जाने वाले लक्षणो का समावेश हो जाय। प्रत्येक गाँव पूर्णतया आत्म-निर्भर आर्थिक इकाई होता है जिसकी हद में वहाँ की कृषि तथा उद्योग-धन्धो के लिए आवश्यक पूँजी, श्रमिक तथा कारीगर आदि सभी मिल जाते है। ग्रामवासी तीन वर्गो मे विभाजित किये जा सकते हैं, (1) किसान, (11) गाँव के पदाधिकारी, तथा (111) गाँव के शिल्पी और नौकर आदि। किसान भू-स्वामी और लगान पर खेती करने वाले दो वर्गों में बाँटे जा सकते हैं। ये ग्राम-समाज के सवसे अधिक महत्त्वपूर्ण सदस्य होते है। असल में, खेती करने वाले चाहे भूमि के स्वामी हो अथवा लगान पर जोतने वाले किसान, मभी प्राय छोटे-छोटे खुले हुए खेतो पर खेती करते है (जो इगलैण्ड में कृषि-क्रान्ति के पहले के सम्मिलित रूप से जोते जाने वाले परिवेष्टनहीन खेतो का स्मरण दिलाते हैं) और श्रम के लिए मुख्यतः अपने और अपने परिवार के लोगो पर ही निर्भर रहते है। ये कभी-कभी ही किराये के मजदूरो की सहायता लेते है। आवश्यक पूँजी वे अपनी वचत से प्राप्त करते हैं अथवा गाँव के जमीदार या अक्सर महाजन से उधार लेते हैं। वे ही खेती की जोखिम उठाते है तथा अपनी छोटी सी खेती के प्रवन्धक सगठन-कर्त्ता और विशेपज्ञ भी स्वय होते हैं। वे स्वय ही अपने खेतो में पैदा हुई चीजो को सवसे नजदीक के वाजारो में ले जाते हैं और उसे वेचकर नमक तथा अन्य छोटी-मोटी आवश्यक और ऐश-आराम की वस्तुएँ ले आते है जो प्रायः गाँव में नही मिलती।

११ (२) गाँव के अधिकारी (अफसर)—भारत मे गाँव शासन-व्यवस्था की इकाई रहा है, और अव भी है। प्रत्येक गाँव मे उसके अधिकारी होते हैं। इन अधिकारियो

में मुखिया अथवा पटेल का स्थान—विशेषकर रैयतवाडी गाँवो में—सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। यह पद आनुवशिक होता है। गाँव में शान्ति स्थापित रखने तथा लगान वसूल करने का उत्तरदायित्व उसी पर होता है। वहुधा वह छोटे-मोटे झगडो का फैसला भी करता है। उसके अधिकार में 'भूमि' का एक भाग होता है जिसे 'वतन, कहते है। यह भूमि उसको उसकी सेवाओ के वदले में मिली हुई होती है। पटवारी अथवा कुलकर्णी गाँव का दूसरा अधिकारी है जो गाँव से सम्वन्ध रखने वाले जरूरी कागजात तथा अन्य लेखा रखता है। गाँवो में चौकीदार होता है जिसे गाँव में हुए अपराधो की सूचना देनी पडती है। अपराधियो को पकडवाने में वह पुलिस की महायता करता है। गाँव में एक सन्देश-वाहक भी होता है। गाँव के ये पदाधिकारी ममष्टि रूप से 'अलूत' भी कहलाते है। गाँव के अन्य सेवको कारीगरो तथा छोटे-मोटे काम करने वालो से, जिन्हे 'वलूत' कहते है, इनका दर्जा भिन्न होता है। ग्रामवासियो का एक तीसरा वर्ग इन शिल्पियो और सेवको का माना जा सकता है। प्राचीन काल मे वहुत से गाँवो मे पचायत अर्थात् वयोवृद्धो की एक जमात होती थी जो गाँव-समाज में एका वनाए रखने के अतिरिक्त कुशल और मध्यस्थ-न्यायालय का काम भी करते थे, जिसमें किसी को कुछ विशेष खर्च नही करना पडता था।

१२ (३) गाँव के शिल्पी—प्राचीन काल में प्राय प्रत्येक गाँव में समाज के लिए आवश्यक कारीगर—उदाहरणार्थ, वढई, लुहार, कुम्हार, नाई, जो शल्य-कर्म (जर्राही) भी करता था, चमार, धोवी, सुनार, तेली और एक छोटा वनिया आदि रहा करते थे। गाँवो मे एक-न-एक महात्मा भी हुआ करते थे, वे या तो ज्योतिषी होते थे या पुजारी अथवा फकीर। बडे-बडे गाँवो में एक जुलाहा भी हुआ करता है। पर प्रत्येक ग्राम में एक महाजन अवश्य होता है जो व्याज पर रुपया देने के साथ ही प्राय अन्न का थोक व्यापार भी किया करता है। शिल्पी गाँव वालो के सेवक होते है और उनका कार्य वश-परम्परा में चलता रहता है। अपने काम से उनकी आमदनी कोई खास नही होती। उन्हे तो गाँव में रहने के लिए घर दे दिया जाता है और वे सभी गाँव वालो की सभी आवश्यकताओ को पूरा करते है। गाँव वाले आवश्यक सामान या उसके दाम-भर उन्हे दे देते है। उपर्युक्त सेवाओ के लिए उन्हे वार्षिक पारिश्रमिक या भूमि अथवा फसल के समय अन्न मिल जाया करता है।[1] उन शिल्पियो को, जिनकी सेवाओ की कभी-कभी आवश्यकता पडती है, जैसे जुलाहे आदि, कार्य के अनुसार पारिश्रमिक दिया जाता है। नियमित रूप से सेवा करने वाले गाँव के वढई को वैलगाडी अथवा कोल्हू वनाने के लिए अलग से मजदूरी मिलती है। सन् १९०१ की जनगणना के अनुसार 'भारतीय ग्राम्य-जीवन की विशेषता गाँवो मे सभी प्रकार के शिल्पियो और सेवको का होना है, जिनके कारण, पाश्चात्य पण्यो जैसे मशीन का वना कपडा-मिट्टी का तेल, छाते इत्यादि के गाँवो में आने से पहले अभी हाल तक, नमक तथा कुछ अन्य ऐश-आराम की वस्तुओ को छोडकर जिन्हे वे गाँव के मेलो अथवा फेरीवालो से खरीद लिया करते थे, गाँव पूर्ण-

१ नेटेन पॉवेल और नॉवल्स कृत 'द इकानॉमिक डेवलपमेंट ऑफ द ओवरसीज ब्रिटिश एम्पायर', पृ० ४३५-३६.

तया स्वतन्त्र और आत्म-निर्भर थे।'

१३. गाँवों का अलग-थलगपन और आत्म-निर्भरता—रेलो और सडको के निर्माण के पहले, गाँव-वासियो का वाह्य ससार से सम्पर्क नही के वरावर था। कभी-कभी कोई व्यक्ति अपनी दस्तकारी की चीजो को वडे-वडे व्यापार-केन्द्रो मे बेचने के उद्देश्य से जाता था अथवा कपडे और अन्न के व्यापारी, एक गाँव की कमी पूरी करने के लिए दूसरे गाँव की अतिरिक्त उपज ले जाकर वेचा करते थे। वाह्य ससार से सम्पर्क टूट जाने के कारण गाँवों के लिए आत्म-निर्भर हो जाना अनिवार्य हो गया। मॉरीसन के कथनानुसार "जव कि जलमार्ग से यातायात असम्भव हो और थल के साधन धीमे और अविश्वसनीय हो तो आदान-प्रदान केवल उन्ही वस्तुओ तक सीमित रहता है जो मनुष्यो और जानवरो द्वारा लादकर लगाई जा सकती हो।" १९वी सदी के आरम्भ में गगा और सिन्धु नदियो जैसे प्राकृतिक जलपथ भारत में वहुत कम थे और सडको की दशा ऐसी खराव थी जैसी की आर्थर यंग द्वारा वर्णित अठारहवी शताब्दी के आरम्भ में इगलैण्ड की सडको की। मुगल शासको द्वारा निर्मित इनी-गिनी सडको के अतिरिक्त अच्छी सडके प्राय थी ही नही और यदि थी भी तो उनकी दशा वहुत असन्तोपजनक थी और उन पर लुटेरे और डाकुओ का आतंक रहता था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने सडको की उन्नति की ओर कोई व्यान नही दिया, क्योकि उनका ध्येय तो आय की वृद्धि था, शासन-व्यवस्था को सुचारु रूप देना नही। आन्तरिक व्यापार इसलिए ही विकसित नही हुआ। वाह्य ससार से पूर्णतया पृथक् हो जाने के कारण गाँवो को अपनी आवश्यकता-पूर्ति का पूरा प्रवन्ध करना पडा और उन्हे इस वात में आवश्यक शिल्पियो को घर और नियमित पारिश्रमिक देकर गाँवो मे रहने के लिए आकर्षित करना पडा। सामान्यत गाँवो को यातायात के साधनो की कमी के कारण कोई हानि नही उठानी पडी, क्योकि उनकी सघटना इस कठिनाई को व्यान में रखकर ही की गई थी। अकाल के समय अवश्य इस अभाव के कारण प्राचुर्य के क्षेत्र से कमी के क्षेत्र में अन्न का ले जाना कठिन हो जाता था और कमी के क्षेत्रो में लोगो की विपदा वहुत अधिक वढ जाती थी। यही कारण है कि पडोस के गाँवो में वस्तुओ के मूल्य में इतने आश्चर्यजनक अन्तर पाये जाते थे। ये गाँव इतने निकट होते हुए भी यातायात के साधनो की कमी के कारण एक-दूसरे से दूर हुआ करते थे। यदि यह विपत्ति थोडे ही दिनो की होती थी तव तो गाँव के अन्न-भण्डार ही उनकी रक्षा में समर्थ होते थे। गाँव के शिल्पियो द्वारा वनाये माल का वाजार वहुत सकीर्ण था, इसलिए श्रम का अपूर्ण विभाजन ही हो पाता था। विशेपज्ञता के कामो का कोई अवसर ही न था तथा समय और कौशल का वहुत अपव्यय होता था जिसके कारण ग्रामीण उद्योग-धन्धे वहुत पिछड़ गए।[1] भारतीय दस्तकारी की उत्कृष्ट कला-कृतियो की जो अक्सर प्रशसा की जाती हैं, उसका श्रेय वस्तुत प्राचीन नागरिक उद्योगो को है, न कि गाँवो मे चलाये जाने वाले उद्योगो को।

१४. द्रव्य की अनुपस्थिति आदि—गाँव के जीवन की दूसरी विशेपता, जिस पर जोर देने की आवश्यकता है, वस्तुओ के क्रय-विक्रय तथा सेवाओ के पारिश्रमिक के लिए

१. देखिए, गैडगिल, पूर्व उद्धृत, पृ० १२।

अभी हाल तक द्रव्य का अल्प प्रयोग है। वास्तव में आत्म-निर्भर समाज मे जहाँ वाहरी दुनिया से विनिमय करने के अवसर वहुत ही कम होते है द्रव्य की आवश्यकता प्राय महसूस नही की जाती है।[1] कृषि सवसे अधिक महत्त्व का उद्योग होने के कारण अनाज ही मूल्य का मापदण्ड था और ग्रामवासियो द्वारा अन्य वस्तुओ के साथ विनिमय करने मे प्रयुक्त होता था। अन्न की सर्वत्र माँग थी और विनिमय क्योंकि गाँव में ही होते थे इसलिए उसकी दुर्वहनीयता कोई खास वाधा पैदा नही करती थी। अन्न के ही समान भूमि की भी गाँव में माँग थी और क्योकि भूमि पर अधिकार होना ही लोगो की उच्च सामाजिक स्थिति का द्योतक था इसलिए पटेल आदि महत्त्वशाली अधिकारियो को, उनकी सेवाओ के वदले में भूमि दी जाती थी।[2] ये सव भुगतान गाँव के वडे सूक्ष्म और जटिल रिवाजो पर आधारित थे जिन्हे सभी खूव अच्छी तरह समझते थे। पारिश्रमिक तथा गाँव के अन्य आर्थिक सम्वन्धो का नियमन प्रतियोगिता के आधार पर न होकर प्रचलित रिवाजो के आधार पर होता था।[3]

श्रम की गतिहीनता और ग्रामवासियो की रूढिवादिता आज की भी अपेक्षा पहले कही अधिक थी, परन्तु उस समय आपसी ऐक्य और सगठन की भावना वहुत वलवती थी जिसका अव धीरे-धीरे लोप होना वहुत चिन्ता का विषय है।

उपर्युक्त वर्णन को वर्तमान स्थिति का एक सच्चा चित्र न समझ लेना चाहिए। देश की अन्य प्राचीन आर्थिक व्यवस्थाओ की तरह गाँव में भी अनेक वडे-वडे परिवर्तन हो गये है जिन्हे हमें कुछ हद तक आधारभूत परिवर्तन कह सकते है। यह परिवर्तन विशेषकर पिछले सौ वर्षो में होने वाली उथल-पुथल के कारण हुए है। फिर भी प्राचीन व्यवस्था का स्थान पूर्ण रूप से आधुनिक व्यवस्था ने ले लिया है, यह कहना ठीक नही होगा। आज, इतने परिवर्तन होने के वाद भी, ग्राम-व्यवस्था में उसकी प्राचीन रूपरेखा की झलक स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। सक्रमणकालीन गाँव का विशेष वर्णन इस अध्याय में आगे चलकर किया जायगा। (सेक्शन २३—२७)

१४ रीति-रिवाज और परिष्ठा (Status)—रानाडे के मत का हम पहले ही निर्देश कर चुके है कि भारतवर्ष में "कुछ गिने-चुने व्यवसायो को छोडकर अन्यत्र लोगो में न तो स्वतन्त्र तथा असीमित प्रतियोगिता की इच्छा ही है और न प्रवृत्ति ही। रीति-रिवाज तथा सरकारी नियम प्रतियोगिता से अधिक शक्तिशाली है और सामाजिक स्थिति का सविदा की अपेक्षा अधिक निर्णयात्मक प्रभाव है।"[4] रीति-रिवाज और

---

१ द्रव्य की कमी का अनुभव विशेषकर सरकार का भूमि का लगान देने में रोकड़ की आवश्यकता के अनुसार हुआ होगा। उस परिस्थिति में किसान को अपनी उपज का एक भाग बेच देना पड़ता था और इस प्रकार उसकी स्थिति वर्तमान स्थिति को अपेक्षा हीन थी। यातायात कष्टकर और दुरूह होने के कारण व्यापारी क्रय और विक्रय के मूल्य में अधिक अन्तर रखना चाहते थे। कच्चे माल के निर्यात का प्रचार न होने के कारण सभी किसान अपनी वस्तुओ का अधिकतम मूल्य पाने के दृष्टिकोण से आज की अपेक्षा हीनतर दशा में थे।

२ देखिए मॉरीसन, पूर्व उद्धृत, पृ० ४५।

३ आगे सेक्शन १५-१८ देखिए।

४ पृष्ठ ४ देखिए।

परिष्ठा अर्थात् सामाजिक स्थिति भारतीय सभ्यता के गतिहीन स्वरूप, लोगो की रूढि-वादी प्रवृत्ति और विशेषकर प्राकृतिक अर्थ-व्यवस्था या वस्तु-विनिमय से पोषित थे। डॉ० कनिंघम के अनुसार वस्तु-विनिमय का रीति-रिवाजो से और प्रतियोगिता का द्रव्य से सम्बन्ध है। "जब तक वस्तु-विनिमय चलता रहेगा लगान, कर तथा मजदूरी आदि के भुगतान का रीति-रिवाजो पर आधारित होना सम्भव है, परन्तु द्रव्य का प्रयोग आरम्भ होते ही इन भुगतानो के स्वरूप में परिवर्तन होने लगता है और अन्त मे वे प्रतियोगिता द्वारा निश्चित होने लगते है।"

भारतीय जाति-व्यवस्था और सयुक्त परिवार-सस्था के अध्ययन से हमें यह तो अन्दाज़ हो ही गया है कि इन सस्थाओ का वैयक्तिक जीवन-क्रम निर्धारित करने और उसके सामाजिक और घरेलू सम्बन्धो को निश्चित करने में कितना हाथ रहता है। जब तक कि इन सस्थाओ पर वर्तमान परिवर्तनो का प्रभाव नही पडा था समाज का कोई सदस्य अपना व्यवसाय, अपना रहन-सहन का स्तर, अपना आवास आदि स्वय निश्चय करने के लिए स्वतन्त्र नही था। किसी विशेष जाति में जन्म लेने से ही सामाजिक स्थिति, चाहे अच्छी हो अथवा बुरी, निश्चित हो जाती थी, जिससे छुटकारा असम्भव था। जन्म के सयोग से व्यक्ति अपने-आपको जिस स्थिति में पाता था उसके अनुरूप ही उसे अपने आप को ढालना पडता था और विवश होकर अपनी परिस्थिति से समझौता करना पडता था। ऐतिहासिक दृष्टि से, रिवाजो ने हर तरह के आर्थिक सम्बन्धो के निर्णय में बहुत बडा भाग लिया है। यूरोप में भी औद्योगिक क्रान्ति के पहले व्यापार-सघ-व्यवस्था और मेनर-व्यवस्था (मेनोरियल सिस्टम) के युग में इसका बोलबाला रहा है। अभी थोडे ही दिनो से प्रतियोगिता ने रिवाजो का स्थान ले लिया है। प्राचीन भारतीय व्यवस्था में बहुत हद तक लगान, मज़दूरी तथा मूल्य का निर्धारण इसी प्रकार से होता था।

१६. रिवाज और लगान—अब हम प्राचीन काल के विभिन्न आर्थिक सम्बन्धो पर रिवाजो के प्रभाव का विवेचन करेंगे।

किसानो द्वारा जमीदारो को दिया जाने वाला लगान अधिकतर परम्परागत रिवाजो के अनुसार निर्धारित होता था और पीढी-दर-पीढी चला करता था। कुछ विशेष परिस्थितियाँ भी ऐसी थी जिनके कारण यदि प्रतियोगिता होती तो भी लगान-निर्धारण में परिवर्तन न हो पाता। पुराने जमाने में भूमि के प्राचुर्य के कारण किसान खेतो की खोज नही करते थे वरन् खेतो के लिए किसानो की खोज की जाती थी जैसी कि इधर हाल में स्थिति रही है। किसी सीमा तक इसका कारण राजनीतिक अरक्षा की भावना थी जिसके कारण किसानो को अपने प्रयत्न का फल स्वय उपभोग कर पाने का आश्वासन कभी नही रहता था। इसके अतिरिक्त युद्ध के चिरन्तन भय के कारण बहुधा किसान जमीदारो की छत्रछाया मे रहना ही श्रेयस्कर समझते थे। वास्तव में अरक्षा की इसी भावना के मारे किसान जमीदारो के साथ कडाई से सौदा करके अपने हित के अनुकूल लगान निर्धारित नही करा पाते थे, क्योकि आखिर ये जमीदार ही उनके रक्षक थे और उन्ही की शक्ति पर उनकी उन्नति भी निर्भर

थी।[1] इन परिस्थितियो ने जमीदारो और किसानो के बीच पारस्परिक हितमूलक सम्बन्ध स्थापित कर दिया। पर जब शान्ति की स्थापना हो गई तब ज़मीदार लगान बढाने में नही चूके। इसके लिए उन्होने प्रत्यक्ष रूप से लगान न बढाकर किसानो पर अतिरिक्त उपकर लगाने की युक्ति से काम लिया।

१७. रिवाज़ और मज़दूरी—देश मे यदा-कदा खेती के कार्य के लिए जो मजदूर किराये पर रखे जाते थे, उनकी मजदूरी का नियमन और निर्धारण प्राय कुछ सर्वमान्य प्रचलित रिवाजो के आधार पर होता था। मजदूर को प्राय खाने और रहने की सुविधा अथवा कभी-कभी अन्न के रूप में पारिश्रमिक देने का रिवाज प्रचलित था। मजदूर प्राय पूरे वर्ष-भर के लिए रखा जाता था। हम पहले ही बता चुके है कि गाँव के दस्तकारो को उनकी सेवाओं के बदले प्रत्येक किसान द्वारा खलिहान से अन्न की विशिष्ट मात्रा प्रतिवर्ष पारिश्रमिक के रूप मे दी जाती थी। यह विधान दोनो पक्षो के लिए हितकर ही था। मजदूरी में दी जाने वाली अन्न की मात्रा प्रतिवर्ष फसल के अनुसार घटती-बढती रहती थी। चूँकि अन्न में लेन-देन होता था इसलिए द्रव्य की क्रय-शक्ति के परिवर्तनो के कारण वास्तविक और द्राव्यिक मजदूरी में पाये जाने वाले अन्तर का कोई प्रश्न न उठता था।

१८ रिवाज और मूल्य—खरीदी हुई वस्तुओ का द्रव्य के रूप में मूल्य चुकाना उस समय का नियम नही वरन् अपवाद था। जहाँ कही द्रव्य में मूल्य चुकाया जाता था वहाँ भी सामान्य स्थिति में प्राय रिवाज ही उसे नियमित करते थे। जिस समाज में सभी लेन-देन रिवाजो द्वारा प्रभावित हो वहाँ ऐसा होना स्वाभाविक ही था। पर असाधारण परिस्थितियो में प्रतियोगिता का प्रभाव रिवाजो की अपेक्षा बहुत अधिक और प्रबल हो जाता था और अन्न की कमी के वर्षो में मूल्य बेहद अधिक और प्राचुर्य होने पर मूल्य बहुत गिर जाया करता था। यातायात के साधनो के अभाव में गाँव बाहरी दुनिया से लगभग बिलकुल ही अलग-थलग हो जाता था इसलिए गाँव की मडियो में स्थानीय कारणो से होने वाले मूल्य-परिवर्तनो में बाहर से किसी प्रकार का प्रभाव पडने की सम्भावना नही थी। ऐसी परिस्थिति में जब कोई विस्तृत, सुव्यवस्थित और बाहरी दुनिया की घटा-बढी के प्रति जागरूक बाजार नही था, समूचे देश में प्रतियोगिता-मूल्यो का एक-सा स्तर होना सम्भव नही था। हम पहले भी बता चुके हैं कि बहुधा पडोस तक के गाँवो मे वस्तुओ के मूल्य में आश्चर्यजनक अन्तर होता था।

१९ प्राचीन अर्थ-व्यवस्था में नगर[2]—यह सम्भव है कि गत शताब्दी के आरम्भ में भारत की शहरी जनसख्या का प्रतिशत अनुपात रूस और फास आदि यूरोपीय देशो के लगभग बराबर रहा हो। यह याद रखने की बात है कि उस युग मे उद्योगो में काम करने वाले प्राय गाँव में ही बसते थे और आज की अपेक्षा जनसख्या का बहुत बडा अश अपनी जीविका के लिए इन गाँव और नगरो के उद्योगो पर निर्भर

१ मार्टिन लीक कृत 'द फाउण्डेशन ऑफ इण्डियन कल्चर', पृ० १३०, से तुलना कीजिए।

२. नगरों के विवरण के सम्बन्ध में हमने बहुत-कुछ गाडगिल, पूर्व उद्धृत, से लिया है।

रहता था।

भारत के वहुत से प्राचीन नगरो का उद्भव और उनकी समृद्धि निम्न तीन कारणो पर निर्भर कही जा सकती है —(१) उनके तीर्थ-स्थान होने अथवा किसी धार्मिक भावना से सम्बद्ध होने के कारण, जैसे इलाहाबाद, बनारस, नासिक, पुरी आदि; (२) उनके किसी प्रान्त की राजधानी होने अथवा शासन की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण होने के कारण, जैसे दिल्ली, लखनऊ, नागपुर, पूना, तन्जौर, अरकाट आदि, और (३) व्यापारिक मार्गों पर स्थित होने से व्यापार-केन्द्र होने के कारण जैसे मिर्ज़ापुर, बगलौर, हुबली आदि। इनमें व्यापारिक नगरो की अपेक्षा राजधानियाँ और तीर्थस्थान विशेष महत्त्व के नगर थे। बनारस जैसे पवित्र नगर मे पूजा-पाठ-सम्बन्धी वर्तनो की निरन्तर माँग होने के कारण वहाँ तावे, पीतल के वर्तन और घण्टियाँ बनाने के उद्योग-धन्धे विकसित हो गए। राजधानियो की महत्ता इस दृष्टि से कुछ कम नही थी। राजदरबारो वाले नगर भी सख्या मे कुछ कम नही थे, क्योकि इनका उद्भव केवल शाही दरबारो से ही सम्बद्ध होने के कारण नही हुआ था वरन् छोटे-छोटे सामन्तो और नवाबो से भी ये सम्बद्ध थे। अत इनकी समृद्धि आश्रयदाता राज्य पर निर्भर रहती थी और उनके विनाश के साथ इनका भी विनाश हो जाता था। प्राचीन दक्षिणी भारत की राजधानियो के साथ यही हुआ, आज भी वे उसी ध्वस्त अवस्था में पडी हुई है जैसे देवगिरी, पैठान, बीजापुर और विजयनगर। इस प्रकार के नगरो मे विलासिता से सम्बद्ध चीजो के उद्योगो का बाहुल्य था, जैसे महीन कपडे, वेल-बूटे के काम, सोने और चाँदी के काम तथा हाथी दाँत आदि के अन्य वहुत से कलात्मक कार्य जो उस युग मे अपनी ख्याति की चरम सीमा पर पहुँच चुके थे और जो कला-प्रेमियो द्वारा प्रशसित थे। व्यापारिक नगरो की समृद्धि उनके व्यापार-मार्गों पर स्थित होने के कारण थी। पहले ये ऐसे स्थलो पर स्थित गाँव थे जहाँ दो सडकें एक-दूसरी को काटा करती थी और उसी स्थिति से धीरे-धीरे बढकर वे इतने बडे नगर बन गए। चूँकि भारत में आन्तरिक और वैदेशिक व्यापार इस युग में वहुत ही नगण्य था इस कारण ऐसे नगरो की कोई विशेष महत्ता नही थी। परन्तु इनकी स्थिति उन नगरो की अपेक्षा अधिक स्थिर थी जो अपने अस्तित्व के लिए राज-दरबारो की समृद्धि पर निर्भर थे।

उस काल में भी नागरिक जीवन की विशेषताएँ ग्राम-जीवन मे भिन्न थी। नगरो में लोगो की सख्या अधिक थी और अपनी अनाज की आवश्यकता के लिए वे आस-पास के गाँवो पर ही निर्भर रहते थे। उनमें विविध प्रकार के व्यवसाय और उद्योग-धन्धे प्रचलित थे। वहाँ के बाज़ारो मे अधिक व्यापकता थी और उद्योग अधिक सुव्यवस्थित होते थे। उनमे लेन-देन अधिकतर द्रव्य के माध्यम से होता था। वहाँ वस्तुओ के उपयोग में भी अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त थी और उधार-व्यवस्था भी सुसगठित थी। आदि काल से ही भारत में वस्तुओ के एकत्रित करने तथा बाद में बिक्री द्वारा भिन्न-भिन्न उपभोक्ताओ तक पहुचने की व्यवस्था वहुत अधिक विकसित हो चुकी थी। हुण्डी आदि देशी साख-पत्रो का प्रयोग, जो एक व्यापारी दूसरे को लिखा करते थे, व्यापार-

व्यवस्था के विकास का द्योतक था और इस प्रकार भारत-भर में द्रव्य एक खाते से दूसरे खाते में बडी सुगमता से स्थानान्तरित हो जाता था। बडे-बडे व्यापारी केवल द्रव्य के ही लेन-देन का कार्य नही करते थे वरन् वस्तुओ का भी व्यापार करते थे। उदाहरण के लिए, मिरज़ापुर और बनारस में ऐसे व्यापारी थे जो माल इकट्ठा करके दूर-दूर तक बेचा करते थे।

२० अतीत-काल में भारतीय उद्योग—प्राय कहा जाता है कि भारतवर्प कभी भी औद्योगिक देश नही रहा है। उसे तो प्रकृति ने कृपि-देश होने के लिए ही रचा है। यदि इस कथन का अर्थ भारत के कृपि-प्रधान होने से है तब तो इस पर कोई आपत्ति नही की जा सकती। यदि इसका अर्थ यह माना जाय कि भारत अर्वाचीन ढग का औद्योगिक देश नही रहा है तो भी इसे स्वीकार किया जा सकता है, पर यह याद रहे कि इगलैण्ड और आजकल के दूसरे बडे-बडे देश भी कुछ समय पहले तक औद्योगिक विकास के उसी अवस्थान में थे जिसमे भारतवर्प आज है। यह तो मानी हुई बात है कि भारत में कृपि के अतिरिक्त कभी भी बडे-बडे उद्योग-धन्धे नही थे, पर यह कथन कि वह औद्योगिक देश नही रहा है, निराधार है। हमारा प्राचीन इतिहास इस बात का साक्षी है। सन् १९१८ के औद्योगिक आयोग का कथन है कि "जिस समय पश्चिमी यूरोप में, जो कि आधुनिक औद्योगिक व्यवस्था का जन्म-स्थान है, असभ्य लोग निवास करते थे उस समय भारत अपने शासको की अपार सम्पत्ति तथा अपने शिल्पकारो के स्तुत्य कला-कौशल के लिए प्रसिद्ध हो चुका था। बहुत बाद में भी जब भ्रमणशील एव साहसी पाश्चात्य व्यापारिक यात्री सर्वप्रथम भारत में आये, यहाँ का औद्योगिक विकास यूरोप के उन्नतिशील देशो के मुकाबले किसी प्रकार कम नही था।"[1] प्रो० बेवर का कहना है कि भारत के शिल्पकार नाजुक तन्तुओ से कपडा बुनने में, रगो के मिश्रण में, बहुमूल्य धातुओ में नगो की जडाई करने में तथा अन्य विशिष्ट कला के कार्यो में अपनी निपुणता के लिए आरम्भ से ही विश्व-प्रसिद्ध थे।"[2] मिश्र में २००० वर्ष पूर्व के आरक्षित शव भारत की सर्वोत्कृष्ट प्रकार की मलमल से आवेष्टित पाये गए है। रोम में भारत की वस्तुओ का सबसे अधिक प्रयोग होता था और ढाका की मलमल को यूनानी गेन्जेटिका के नाम से प्रयोग किया करते थे। लोहे के उद्योग का भी समुचित विकास अवश्य हो चुका था, दिल्ली-स्थित लौह-स्तम्भ इसका साक्षी है। इस प्रकार 'भारतीय उद्योग केवल स्थानीय आवश्यकताओ की पूर्ति ही नही करते थे वरन् अपनी निर्मित वस्तुएँ विदेशो में भी भेजते थे।'[3] इसी प्रकार भारत रेशमी कपडो, ऊनी शाल-दुशालो, चन्दन की मजूपाओ तथा लोहे की बनी अन्य वस्तुओ के लिए भी प्रसिद्ध था। कितने ही परदेशी यात्रियो ने भारत की कला और तत्सम्बन्धी उद्योगो की भूरि-भूरि प्रशसा की है। ११वी शताब्दी से आरम्भ होने वाले विदेशियो के नियमित आक्रमणो ने निश्चय ही कुछ काल तक भारतीय उद्योगो के विकास को रोका होगा। अकबर महान् के शासन-काल में

१ औद्योगिक आयोग रिपोर्ट, पृ० १।
२ वही—असहमति का वृत्तात, पृ० २६५।
३ रानाडे, 'एसेज ऑन इण्डियन इकनॉमिक्स' पृ० १७१।

पुन स्थायी शान्ति की स्थापना होने पर उनका पुनरुत्थान हुआ प्रतीत होता है भारतीय सूती तथा रेशमी माल बडी मात्रा में फारस, सीरिया और अरब भेजा जाता था। इसी व्यापार और समृद्धि ने यूरोपीय व्यापारियो को भारत की ओर आकर्षित किया। उन देशो की भारत में पैर जमाने की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा, यहाँ के कच्चे माल के लिए ही थी, वरन् उसके द्वारा निर्मित बहुमूल्य और वैविध्यपूर्ण शिल्प और कला-कृतियो के लिए थी। ईस्ट-इण्डिया कम्पनी का लाभकारी व्यापार भारत की मलमल की छीट, कसीदे और कढाई के काम की वस्तुओ, हीरे-जवाहिरात तथा ऊनी और रेशमी कपडो पर आधारित था।[1]

पिछली शताब्दी के आरम्भ मे नगर के उद्योग-धन्धे प्राय अभिजात-वर्ग के लिए विलासिता की वस्तुएँ तैयार करने और उत्कृष्ट एव महीन कपडा तैयार करने तक ही सीमित थे। गाँव के उद्योग की अपेक्षा नागरिक उद्योग अधिक सुव्यवस्थित था और विदेशी प्रतियोगिता का पहला धक्का इसे ही सहना पडा। हाथ के बिने कपडे का उद्योग मुख्य था और इसमे भी सूती कपडे का स्थान सर्वोपरि था और भारत मे सर्वत्र उसका प्रसार था। आर० सी० दत्त का कथन है कि "बिनाई का काम जनता का राष्ट्रीय उद्योग था और कताई का काम लाखो स्त्रियाँ करती थी।" सूती कपडो के केन्द्र ढाका, लखनऊ, अहमदाबाद, नागपुर और मथुरा आदि नगर थे। ऊनी वस्त्रो मे सबसे प्रसिद्ध काश्मीरी दुशाले थे जो सिर्फ काश्मीर में ही नही बनाये जाते थे, पजाब के कुछ नगरो में भी ये काश्मीरी दुशाले बनते थे। यद्यपि धातु की चीजें बनाने की उद्योगशालाएँ जहाँ पीतल, ताबे और घण्टी की धातु की चीजें तैयार होती थी, सिर्फ बनारस, नासिक, पूना, अहमदाबाद, विजगापट्टम और तञ्जौर आदि नगरो में ही केन्द्रित थी तथापि यह उद्योग सारे भारतवर्ष में फैला हुआ था। ढाल, तलवार आदि अस्त्र-शस्त्र पञ्जाब और सिन्ध के प्रान्तो मे बनाए जाते थे। राजपूताना के नगरो ने पत्थर पर खुदाई करने तथा जेवरो पर मीने के काम आदि कला-कृत्यो में विशेप निपुणता प्राप्त कर ली थी। सोने और चाँदी के तार बनाने की कला, प्रस्तर कला, चन्दन-काष्ठ कला, कामदार चूडियो के बनाने की कला, चमडा कमाने और चमडे का सामान बनाने की कला तथा कागज़ और तेल इत्यादि बनाने की कला और ऐसे ही दूसरे प्रकार के कला-कौशल भी भारत में प्रचलित थे।[2] डेढ सौ वर्प पहले पोत-निर्माण का उद्योग इतनी समृद्ध अवस्था में था कि इगलैण्ड के पोत-निर्माता एव व्यापारी आदि भी उसके उत्कर्प से ईर्ष्या करते थे। इस उद्योग के उत्कर्प का कारण भारत मे उपयुक्त लकडी का प्राचुर्य था जो इस्पात-निर्मित जहाजो के युग के पहले इस उद्योग मे विशेप महत्त्व की वस्तु समझी जाती थी।

नगर की हस्त-कलाएँ जाति के आधार पर निर्मित व्यापार-सघो में सगठित थी। ये संघ आनुवशिक व्यवसायो को अपनाते थे और पारस्परिक सहायता वाली समितियो का काम करते थे। सदस्यता की शर्तो और उनके काम के सौष्ठव का भी वे नियमन

१ औद्योगिक आयोग रिपोर्ट, मालवीय जी का असहमति वृत्ताश, पृ० २९६-७।
२ गैडगिल. पूर्व उद्धृत, पृ० ३५-३७

करते थे। काफी हद तक श्रम का विभाजन लागू था और पिछले वर्णन के अनुसार किसी सीमा तक उद्योगो का स्थानीयकरण भी हो गया था, यद्यपि प्रत्येक महत्त्वपूर्ण नगर में विविध दस्तकारियो की चीजें सम्यक् मात्रा में मिल जाती थी। इस प्रकार हम कह सकते है कि नगर के उद्योग-धन्धो की व्यवस्था गाँव के उद्योग-धन्धो से अधिक सुव्यवस्थित थी। ससार के अन्य देशो की तरह यहाँ के स्वतन्त्र शिल्पकारी बडे पूँजीपति नही होते थे। वे प्राय ग्राहको के कहने पर काम किया करते थे और उन्हें कच्चा माल ग्राहको से ही प्राप्त होता था। घरेलू उद्योग-व्यवस्था के अधीन रहने के कारण शिल्पी को अपने पिता से अपने व्यवसाय के रहस्य और बारीकियाँ सीखने की सुविधा थी और परिवार के आनुवशिक व्यवसाय की प्रथा का चलन होने के कारण वह अपनी स्थिति के बारे में आश्वस्त रहता था। यह कहना तो सत्य नही कि आज की अपेक्षा उस युग में, वस्तुओं की निश्चित माँग होने के कारण, शिल्पकार अधिक समृद्धिशाली थे। उसकी आर्थिक स्थिति को बहुत उन्नतिशील कहना भी उचित न होगा। उदाहरणार्थ जुलाहे प्राय अपनी वस्तु की अधिक माँग होने का पूर्ण लाभ नही उठाते थे, क्योकि अधिकाश लाभ मध्यस्थ ले लेते थे जो उनको अपने यहाँ नौकर रखते थे और जो इन जुलाहो को द्रव्य उधार देते थे तथा जिनमें उनका शोषण करने की सामर्थ्य तो होती ही थी, कभी-कभी उसको क्रियान्वित भी करते थे।

२१. भारतीय उद्योगों की अवनति के कारण तथा उत्तरोत्तर ग्राम-निर्भरता—उद्योगो की अवनति के कारण जो किन्ही उद्योगो में १८ वी सदी के अन्त में ही लक्षित होने लगे थे, १९ वी शताब्दी के मध्य में पूर्णरूप से प्रकट हो गए। ये कारण निम्नलिखित है—[1]

(१) देशी राज-दरबारों का लोप—राज-दरबारो और सरदार-सामन्तो का सरक्षण समाप्त हो जाने पर हस्त-कला की वस्तुओ की मुख्य माँग का स्रोत सूख गया। अत उनका ह्रास शुरू हो गया। उदाहरण के लिए, बगाल के सूती और रेशमी कपडों के उद्योग की समृद्धि मुगल साम्राज्य के आगरा, दिल्ली और लाहौर के दरबारो के कारण थी और औरगजेब की मृत्यु के पश्चात् साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होते ही बगाल में कपडा बनना स्वभावत धीरे-धीरे कम होने लगा। दरबारो और सरदार-सामन्तो की सरक्षकता के तिरोभाव की गति अग्रेजी शासन के विस्तार से बहुत अधिक बढ गई और जहाँ उद्योग उन पर ही निर्भर थे, जैसे तन्जौर और लखनऊ आदि में, वहाँ उनका तेजी से ह्रास होने लगा।

(२) विदेशों का प्रतिकूल प्रभाव—अग्रेजी राज्य की स्थापना ने इन सघो तथा अन्य सस्थाओ की शक्ति को परोक्ष रूप से बहुत कम कर दिया, जो व्यापार का नियमन और प्रयुक्त कच्चे माल की किस्म की देख-रेख करते थे, शान्ति की स्थापना और जनता को नि शस्त्र करने की नीति की प्रतिक्रिया शस्त्र-निर्माण उद्योगो पर हुई। जिन लोगो की सरक्षकता में हस्त-कलाएँ पनप रही थी उनके स्वाभाविक उत्तराधिकारी यूरोपीय अफसर, विदेशी यात्री और नये शिक्षा-प्राप्त भारतीय व्यवसायी थे। यद्यपि भारत में आये हुए यूरोपीय यूरोप से मँगाये हुए माल को ही अधिक पसन्द करते थे फिर भी

१ देखिए, पूर्व उद्धत गैडगिल पृ० ४०-४।

उन लोगो में भारतीय वस्तुओ की माँग थी, जो इन हस्त-कलाओ के ह्रास को रोकने में सहायक हुई। पर यूरोपीय रुचि के अनुरूप नये ढग की वस्तुओ के निर्माण से और सस्ती वस्तुओ की माँग वढने से भारतीय हस्तकला के सौष्ठव पर वहुत बुरा प्रभाव पडा। शासको के मापदण्डो से प्रभावित भारतीय शिक्षित वर्ग ने भी देशी वनी हुई वस्तुओ से मुँह मोड लिया और विदेशी वस्तुओ को बडे प्रेम से खरीदने लगे। इस प्रकार पहले राज दरवारो से जो सरक्षण इन उद्योगो को प्राप्त था वह तो खत्म हो गया पर उस स्थान की पूर्ति नई परिस्थितियो में हुई भी तो केवल आंशिक रूप से।

(३) ईस्ट इण्डिया कम्पनी और ब्रिटिश संसद की नीति—आरम्भ में तो ईस्ट-इण्डिया कम्पनी ने अपनी व्यापारिक प्रवृत्ति की प्रेरणा से भारतीय उद्योगो को द्रव्यादि की सहायता द्वारा प्रोत्साहन दिया, क्योकि उनका निर्यात-व्यापार इन्ही पर निर्भर था। पर इस नीति का इंगलैण्ड के स्वार्थप्रिय लोगो ने वडा विरोध किया। उन्होने अपनी शक्ति का प्रयोग ससद् मे किया और कहा कि वह कम्पनी को अपना निर्यात-व्यापार भारत के ऐसे कच्चे माल तक ही सीमित रखने के लिए बाध्य करे जिनकी इगलैण्ड के कारखानो को आवश्यकता थी।[1] १७वी सदी के अन्त में इगलैण्ड और भारत के बीच ईस्ट इण्डिया कम्पनी के व्यापार का इगलैण्ड में इसलिए भी विरोध किया गया कि इस व्यापार के परिणामस्वरूप इंगलैण्ड को वहुत मात्रा मे सोना भारत भेजना पडता था। १८ वी सदी के पूर्वार्ध इगलैण्ड ने अपने रेशमी और ऊनी उद्योगो की रक्षा तथा महाद्वीपीय युद्ध का व्यय पूरा करने के दोहरे उद्देश्य से अतिरिक्त धन प्राप्त करने के लिए भारतीय माल के विरुद्ध तटकर लगा दिया। सन् १७०० से १८५४ तक इगलैण्ड में रगीन भारतीय छीटो का उपयोग गैरकानूनी था। परन्तु सादी मलमल, छीट और सभी प्रकार के रेशमी और सूती कपडे जो इगलैण्ड से पुन अन्य यूरोपीय देशो को भेजे जाते थे, इस कानून से मुक्त थे। आर० सी० दत्त का कथन है कि "भारतवर्ष १८वी सदी में एक वहुत वडा खेतिहर और औद्योगिक देश था और भारत के हाथ के बुने कपडो की एशिया और यूरोप मे भारी खपत थी। सौ वर्ष पूर्व ईस्ट इण्डिया कम्पनी और ब्रिटिश ससद ने घोर स्वार्थपरता की नीति अपनाकर अग्रेज़ी राज्य की स्थापना के आरम्भिक युग में भारतीय कारखानो को हतोत्साहित किया और विकासोन्मुख अग्रेज़ी कारखानो को भरपूर प्रोत्साहन दिया। १८वी सदी की अन्तिम दशाब्दी और १९वी सदी की आरम्भिक दशाब्दी में जिस स्थायी नीति पर अमल किया गया उसका उद्देश्य भारत के उद्योगो को इगलैण्ड के उद्योगो के आश्रित और अधीन कर देना था। उनका मन्तव्य यह था कि भारतीय इगलैण्ड के करघो और अन्य कारखानो की आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए केवल कच्चे माल का उत्पादन करे। इस नीति का अनुसरण वडी दृढता से किया गया और इसका घातक परिणाम हुआ। कम्पनी के कारखानो में भारतीय शिल्पियो से ज़वरदस्ती काम करवाने की आज्ञा भेजी गई। वाणिज्य-अधिकारियो को गाँवो और भारतीय जुलाहो के समुदाय के सम्वन्ध में कानून द्वारा व्यापक अधिकार दे दिये गए। भारतीय रेशमी और सूती कपडो पर

१. औद्योगिक आयोग रिपोर्ट, पृ० ७५।

इतना अधिक आयात-कर लगा दिया गया कि वे इगलैण्ड के बाजारो में प्रवेश ही न पा सके। इसके विपरीत इगलैण्ड का माल भारत के बाजारो में नि शुल्क या बहुत साधारण-सा कर चुकाने पर ही मँगाया जा सकता था।"[1] भारतीय माल पर ३० से ८० प्रतिशत तक के शुल्क लगाने और किसी-किसी हालत में इगलैण्ड में उनका आयात बिलकुल रोक देने से इगलैण्ड के लिए भारत से होने वाले निर्यात-व्यापार को बड़ी क्षति पहुँची।[2] इससे भी अधिक गम्भीर बात भारत तथा ससार की अन्य मण्डियो में इगलैण्ड के बने माल की प्रतियोगिता थी।[3] 'यदि इतना अधिक कर न लगाया गया होता और निषेधात्मक आज्ञाएँ जारी न की गई होती तो पैस्ले और मैनचेस्टर के कारखाने आरम्भ में ही बन्द हो गए होते और भाप की शक्ति होते हुए भी उनके इन्जन शायद ही चलते। इन कारखानो का अस्तित्व भारतीय उद्योग की आहुति देकर बनाये रखा गया। ब्रिटिश निर्माताओ ने अपने ऐसे प्रतिद्वन्द्वी को दबाने के लिए, जिससे बराबरी के आधार पर प्रतिस्पर्धा करना उनकी सामर्थ्य के बाहर था, राजनीतिक अन्याय के अस्त्र का प्रयोग किया।'[4] अब इगलैण्ड सूती कपडे तैयार करता था जिसकी खपत के लिए भारत में बडा अच्छा बाजार था और इस बाजार से पूरा-पूरा लाभ उठाने में इगलैण्ड को अपनी राजनीतिक शक्ति का प्रयोग करने में तनिक भी सकोच न था। 'ब्रिटिश सरकार से ऐसी आशा करना भी व्यर्थ था कि वह पूर्णतया अपनी सत्ता के अधीन आये हुए भारत जैसे दूर देश के साथ अमरीका-स्थित ब्रिटिश उपनिवेशो की अपेक्षा अधिक नि स्वार्थ-नीति से काम लेगा।'[5] इगलैण्ड द्वारा घरेलू उपभोग के लिए भारतीय वस्तुओ के विरुद्ध लगाये हुए आत्यन्तिक कर १९वी सदी के मध्य में हटाये गए जब भारत और अन्य बाजारो में ब्रिटिश निर्माताओ की निर्बाध प्रतिस्पर्धा भारतीय उद्योग को मृतप्राय कर चुकी थी।

(४) मशीनों से बने माल की प्रतियोगिता—इस काल में भारतीय कपडे तथा अन्य निर्मित वस्तुओ की मन्दी का मुख्य कारण इगलैण्ड की औद्योगिक क्रान्ति थी। जो कुछ भी हो भारत के घरेलू उद्योगो और हस्त-कलाओ का विदेशी उद्योगो से प्रतिस्पर्धा

---

१. आर० सी० दत्त, इकनामिक हिस्ट्री आफ इण्डिया अण्डर अरली ब्रिटिश रूल, पृ० ७, ८।

२ इगलैण्ड में भारतीय माल का प्रवेश रोकने के लिए जो उपाय किये गए थे, भारतीय सूती उद्योग की अवनति के कारणों को स्पष्ट करने में लोग प्राय उनका वर्णन बहुत बढाकर करते हैं। इगलैण्ड तो भारत के निर्यात-बाजार का 'जो कि जापान से लेकर चीन तक और ब्रह्मा, पीगू, फारस, अरब, पश्चिमी अफ्रीका और इगलैण्ड के अतिरिक्त यूरोप के अन्य देशों तक फैला हुआ था', एक बहुत ही अदना अंग था।—नोल्स, द इकनामिक डैवलपमेंट ऑफ द ब्रिटिश ओवरसीज एम्पायर, पृ० ३१०।

३ सी० जे० हेमिल्टन कृत 'ट्रेड रिलेशन्स बिटवीन इगलैण्ड एण्ड इण्डिया', पृ० १६३।

४. इस बात पर जोर दिया गया है कि भारतीय माल के आयात पर रोक लगाकर रक्षात्मक उपाय न किये जाते तो भी मशीनों से उन्हें जो फायदे थे उनके कारण इगलैण्ड के कारखाने उन्नति करते। परन्तु विल्सन साहब के उपर्युक्त मत के अनुसार यदि इगलैण्ड को भारत के हित की भी उतनी ही चिन्ता होती जितनी कि अपने हित की, तो निश्चय ही इगलैण्ड अपने लिए सुरक्षा की नीति अपनाकर भारत पर स्वतन्त्र व्यापार की नीति न थोपता।

५ जे एल तथा बी हैमण्ड, पूर्व उद्धृत, पृ० १८५।

करना असम्भव था, क्योकि विदेशी उद्योगो की शक्ति के अजस्र स्रोत, बडी-बडी मशीनो, बडे पैमाने के उत्पादन और जटिल श्रम-विभाजन से सम्पन्न औद्योगिक व्यवस्था थी, जिसे विकसित यातायात तथा सचार के अपार साधन उपलब्ध थे। जैसा कि दत्त महाशय ने लिखा है कि "यूरोप में बिजली-करघे के आविष्कार ने भारतीय उद्योगो के ह्रास में पूर्णाहुति दे दी।" भारत के पोत-निर्माण उद्योग की भी वही दशा हुई और भारतीय पोतो का स्थान इगलैण्ड के व्यापारिक समुद्री जहाजो ने ले लिया। इसका कारण किसी हद तक भारतीय पोतो के सम्बन्ध में वह अहितकर नीति थी जिसे, इगलैण्ड में किये गए आन्दोलन के कारण, संचालक-सभा ने लागू करना स्वीकार किया था। अन्य भारतीय उद्योगो—जैसे इस्पात, शीशा और कागज आदि—की भी ऐसी ही दशा हुई। सडको के तीव्र गति से बनने और विशेषकर लार्ड डलहौजी के शासन-काल के पश्चात् रेलो के निर्माण ने, देश के दूर-दूर तक के भीतरी भागो में भी विदेशी वस्तुओ को पहुँचा दिया और इस प्रकार प्रतिस्पर्धा की शक्तियो को और भी बल मिल गया।[1] स्वेज नहर के निर्माण, ब्रिटिश माल के निर्यात मे परिवहन की कम लागत, स्टीमरो के भाडे में कमी—विशेषत १८३० के बाद-तथा रेल, तार और डाक की सुविधाओ आदि के कारण कठिनाइयाँ और बढ गई तथा भारतीय शिल्पियो के विनाश की प्रक्रिया को और भी गति दे दी।[2] भारत में रेलो का निर्माण इतनी तीव्र गति से हुआ कि शिल्पी नई परिस्थिति से न तो सामजस्य ही स्थापित कर सके और न अपने लिए धनोपार्जन का कोई दूसरा मार्ग ही ढूँढ सके। इस आकस्मिक परिवर्तन ने उन्हें बिलकुल बेसहारा कर दिया। हजारो की सख्या मे शिल्पियो ने अपना वशानुगत व्यवसाय छोड दिया और खेती करने लगे तथा इस प्रकार भूमि पर जीविकोपार्जन का दबाव बढ गया। यदि रेलो का निर्माण कुछ धीमी गति से हुआ होता और परिवर्तन भी मन्दतर गति से हुए होते तो शायद भारतीय उद्योगो ने कुछ अधिक प्रतिरोध दिखाया होता और इस प्रकार सब-के-सब कृपि की ओर ही न मुडे होते। ऐसी स्थिति मे दस्तकारो ने अपने लिए नये रास्ते खोज लिये होते और उनका अनुसरण किया होता तथा इस सक्रान्ति-काल मे उन्हे जिन कठिनाइयो का सामना करना पडा वे बहुत सीमा तक कम हो गई होती। परन्तु यह क्रान्ति इतनी आकस्मिक थी कि इस प्रकार का समजन सम्भव नही हो सका।[3]

(४) भारतीय सरकार की अनतियात नीति—सरकार ने सघर्षरत हस्त-कलाओ की ओर सहायता का हाथ नही बढाया। इतना ही नही उन्होने अग्रेजी निर्माताओ को भारतीय बाजारो से अनुचित और भरपूर लाभ उठाने के लिए कभी-कभी प्रत्यक्ष रूप से सहायता भी दी जो कभी भी न्यायोचित नही थी। रेलें देश के कोने-कोने में इगलैण्ड की बनी वस्तुएँ पहुँचा देती थी जिससे देशी वस्तुओ के स्थान पर उनका प्रयोग होने लगता था और कच्चे माल के निर्यात को प्रोत्साहन मिलता था। देशी व्यापार का प्राण-

---

१. देखिए, खण्ड २, अध्याय ५।

२. देखिए, ए० चेटरटन कृत 'इण्डस्ट्रियल इवोल्यूशन इन इण्डिया', पृ० २०।

३. ए० लवडे कृत 'इण्डियन फैमिन्स' पृ० १०७ देखिए। भारत में हस्त-कलाओं के ह्रास का एक और कारण परिवहन-करों का अत्यधिक बोझ था। ये कर १८४४ में समाप्त कर दिये गए।

रस ग्रहण कर विदेशी व्यापार का विस्तार होता गया। परिणामस्वरूप देश के साधनो का एकागी और अस्वस्थ विकास हुआ। रानाडे ने लिखा है कि "इगलैण्ड के अधीन भारत के महान् राज्य ने इस (१९वी) शताब्दी में प्राचीन उपनिवेशो का स्थान ले लिया। यह अधीन राज्य एक प्रकार से अग्रेजो का वह कृपि-क्षेत्र है जहाँ कच्चा माल पैदा किया जाता है, जिसे अग्रेजी अभिकर्त्ता अग्रेजी पूँजी और श्रम के प्रयोग द्वारा तैयार माल का रूप देने के लिए अग्रेजी जहाजो में इगलैण्ड भेज देते हैं। बाद मे फिर वही माल अग्रेज माल-व्यापारियो द्वारा इसी अधीन राज्य (भारत) मे अथवा अन्य स्थानो में अग्रेजी फर्मो के पास निर्यात कर दिया जाता है। भाप-शक्ति और यन्त्र-कौशल के विकास और सचार की सुविधाओ ने मिलकर इस युगीन प्रवृत्ति को और भी बल दिया। इसके परिणामस्वरूप यह महान् अधीन राज्य धीरे-धीरे कृपि-कार्य में अधिकाधिक प्रवृत्त होता गया और निर्मित वस्तुओ के व्यवसाय का द्रुत ह्रास स्पष्ट परिलक्षित होने लगा।"[1] भारतीय उपभोक्ता को सस्ते विदेशी माल की प्राप्ति के कारण चाहे थोडा-बहुत लाभ हुआ हो पर देशीय दस्तकारी से उत्थापित कारीगरो के पूरी तरह कृपि पर आश्रित हो जाने से दुर्भिक्षकालीन सहायता का खर्च बढ गया और इस प्रकार करदाता की हैसियत से उपभोक्ता पर भार भी बढ गया।

२२ भारत और इगलैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति दोनों का अन्तर—यह सत्य है कि इगलैण्ड में भी औद्योगिक क्रान्ति द्वारा प्राचीन व्यवस्था का जब नई व्यवस्था में सक्रमण हुआ तो भयकर उथल-पुथल हुई और हस्तकला-शिल्पियो को बेहद कठिनाइयाँ झेलनी पडी। यह भी सत्य है कि इगलैण्ड की सरकार ने विस्थापित जुलाहो और अन्य शिल्पकारो के भविष्य के प्रति ऐसी ही उदासीनता दिखाई जैसी यहाँ और राज्य की ओर से जो कुछ ठोस कार्यवाही की गई सो नये पूँजीपति-निर्माताओ की कठिनाइयाँ दूर करने के अभिप्राय से, न कि हस्तकला-शिल्पियो की मुसीबतें कम करने के लिए। परन्तु थोडे काल के कष्ट के पश्चात् विस्थापित श्रमिक नये उद्योगो में लग गए। कृषि-कार्य की वृद्धि के स्थान पर नगर के व्यवसायो में बडी तेजी से विस्तार होने लगा और नये उद्योगो में श्रम की माँग इतनी बढ गई कि गाँव इस माँग की पूर्ति के लिए प्राय. निर्जन हो गए। औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप इगलैण्ड ने शक्ति और समृद्धि के ऐसे युग में पदार्पण किया जिसकी मिसाल नही। उपर्युक्त सभी बातो के भारत में बिलकुल भिन्न परिणाम हुए। भारत में औद्योगिक क्रान्ति ऐसी शक्तियो के फलस्वरूप हुई थी जिनका उद्भव देश के बाहर हुआ था और मशीन-निर्मित माल, जिससे शिल्पियो को प्रतियोगिता करनी पडती थी, बहुत समय तक भारत में नही वरन् यूरोप के कारखानो में बनता रहा था।[2] इस प्रकार से बेकार हुई औद्योगिक आबादी को देश में बडे पैमाने के उद्योगो के अभाव में लाचार होकर खेती की शरण लेनी पडी और खेती पर

१ पूर्व उद्धृत, पृ० १०६-७।

२ भारत में आर्थिक क्रान्ति का प्रभाव एकान्तत यातायात के साधनों पर पड़ा और उसका महत्त्वपूर परिणाम था आन्तरिक और वैदेशिक व्यापार की अपार वृद्धि। इसके साथ खेतों में या उद्योगों में उत्पाद के ढग में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ।

भार बढ गया। कृषक के रूप में शिल्पकारो ने अपने को आर्थिक दृष्टिकोण से पहले की अपेक्षा हीनतर दशा में पाया। इसके विपरीत इगलैण्ड मे नये कारखानो में काम पाने से शिल्पकारो की आर्थिक दशा पहले की अपेक्षा अधिक अच्छी हो गई। समस्त देश पर इन सब परिवर्तनो के आर्थिक प्रभाव के कारण, कृषि, सिंचाई और परिवहन के साधनो में उन्नति होते हुए भी यह कहना विवादास्पद होगा कि पिछले सौ वर्षो से राष्ट्रीय आय में कोई उल्लेख्य वृद्धि हुई है।[1]

उपर्युक्त वर्णन के अनुसार देश के बढते हुए ग्रामीणीकरण का आभास जन-गणना के आँकडो से मिलता है, जो कृषि पर निर्भर लोगो की सख्या के सम्बन्ध में दिये गए है। सन् १८८० में ही इस वर्ष के दुर्भिक्ष-आयोग को यह पता लग गया था कि भूमि पर भली प्रकार खेती करने के लिए जितने लोगो की आवश्यकता थी, जीविकोपार्जन के लिए कृषि पर निर्भर लोगो की सख्या उससे कही अधिक थी, और तब से यह प्रवृत्ति निरन्तर बढती ही गई है। लगभग सभी प्रान्तो में (पञ्जाब में सम्भवत अधिक परिवर्तन नही हुआ है) भूमि पर जीविकोपार्जन का भार बढ गया है। यदि सम्पूर्ण भारत के दृष्टिकोण से देखा जाय तो १८९१ की जनगणना के अनुसार खेती करने वालो की सख्या कुल आबादी का ६१ प्रतिशत थी। १९०१ में यह बढकर ६५ ०२ हो गई, १९११ में ६९·८ और १९२१ में ७० ९ हो गई। यदि १८९१ की जनगणना को बाद मे वर्गीकरण के आधार मे परिवर्तन हो जाने के कारण ठीक न भी माने तो भी बाद की जन-गणनाओ की प्रतिशत सख्या देखते हुए, इसमें तनिक भी सन्देह नही रहता कि उद्योगो से निकलकर लोग कृपि की ओर ही अधिक प्रवृत्त हुए। सन् १९३१ में कृपिकार्यो में सलग्न लोगो की सख्या में जो कमी दिखलाई पड़ी थी वह कदाचित् खेती में काम करने वाली स्त्रियो की गलती से गृह-दासियो में शुमार हो जाने के कारण थी। १९४१ के आँकडे प्राप्त नही है।[2] यह सत्य है कि जन-गणना के आँकडो को पूर्णरूपेण विश्वास-योग्य नही माना जा सकता क्योकि उनमें प्राय. मुख्य और गौण व्यवसाय में भेद नही किया जाता। बहुत से घरेलू उद्योग-धन्धे खेती के साथ-साथ किये जाते है। परन्तु यह गलती तो सभी जनगणनाओ में विद्यमान रही है इसलिए उनके आँकडे तुलनात्मक अध्ययन के काम में लाये जा सकते है।

आधुनिक ढंग के बडे पैमाने पर उत्पादन करने वाले उद्योग-धन्धो ने देश मे कुछ प्रगति की है।[3] भारत और पाकिस्तान दोनो की सरकारें तेजी से उद्योगीकरण करने की नीति अपनाने के लिए वचनबद्ध है। इस कारण हम आशा कर सकते है कि भविष्य मे इस दिशा में और सन्तोषजनक प्रगति होगी और जनता का खेती की ओर आवश्यकता से अधिक झुकाव कम हो जायगा जिसके कारण रानाडे का मन इतना चिन्तित-आशकित हो उठा था। कारखानो की वृद्धि निश्चय ही शिल्पकारो की कठिनाइयो को बढाएगी और

१. देखिए, खण्ड २, अध्याय ४।

२ सन् १९५१ की जनगणना के अनुसार कुल सख्या का ८२·७ प्रतिशत ग्रामीण है।

३. यह एक विचित्र बात है कि लोहा, इस्पात और इन्जिनियरिंग आदि जो इगलैण्ड की औद्योगिक क्रान्ति के आधार थे, अभी हाल तक भारत में उपेक्षित ही थे।

आगे चलकर हमें इस प्रश्न पर विचार करना पड़ेगा कि घरेलू उद्योग-धन्धों को, जिन्होंने इंगलैण्ड की अपेक्षा भारत में अधिक प्रतिरोध दिखाया है, विनष्ट हो जाने दिया जाय अथवा वे आधुनिक अर्थ में उद्योगीकरण के साथ-साथ प्रगति करते हुए चल सकते हैं।

२३. **संक्रमणकालीन ग्राम**—ग्राम-समाज की व्यवस्था और उसके ऊपर वर्णित आर्थिक जीवन में प्रशासकीय केन्द्रीयकरण से उद्भूत नई शक्तियों के जन्म, पाश्चात्य सभ्यता के समाधान के कारण व्यक्तिवादी भावना के विकास, यातायात और संचार-साधनों में क्रान्ति आदि कारणों से आमूल परिवर्तन हो रहा है।

(१) **प्रशासकीय केन्द्रीयकरण**—'भारतीय गाँवों को प्राचीन काल में बहुत अधिक मात्रा में स्थानीय स्वतन्त्रता प्राप्त थी। देशी राजवंश, तथा उनके स्थानीय प्रतिनिधि किसानों से व्यक्तिशः कोई सम्पर्क नहीं रखते थे। वे तो पूरे गाँव को अथवा किसी बड़े भूमिपति को सरकारी लगान वसूल करने के लिए और वहाँ शान्ति रखने के लिए उत्तरदायी समझते थे। आजकल स्थानीय फौजदारी और दीवानी अदालतों की स्थापना के कारण अथवा वर्तमान लगान-वसूली तथा पुलिस-व्यवस्था के कारण और व्यक्तिगत रैयतवाड़ी प्रथा के उत्तरी भारत में भी प्रचलित हो जाने के कारण इस स्थानीय स्वतन्त्रता का लोप हो गया है।'[1] अंग्रेजों की प्रशासकीय केन्द्रीयकरण की नीति ने, जो सुदृढ़ स्थायी सरकार की स्थापना तथा सुगम यातायात और संचार-साधनों के कारण सम्भव हो सकती थी, गाँव की स्वतन्त्रता के प्रति लोगों की उमंग को मृतप्राय कर दिया और उनके स्थान पर जो नई ज़िला-परिषद् (बोर्ड) और तालुका परिषद् (बोर्ड) बनी वे गाँव के सीमित पर अधिक प्रभावशाली स्वायत्त शासन के समकक्ष नहीं थीं। बम्बई के एलफिन्स्टन और मद्रास के मुनरो, ग्राम-समाज की प्राण-शक्ति और स्वास्थ्य को बनाये रखना चाहते थे। उनके विरोध के बावजूद भी यह नीति अपनाई गई।

(२) **व्यक्तिवादिता का विकास**—ग्राम-समाज के विघटन में योग देने वाला एक और कारण व्यक्तिवादिता की भावना का विकास था। वर्तमान समय में सभी क्षेत्रों में व्यक्तिगत विधि-अधिकारों का विस्तार हुआ है और इसने सामुदायिक जीवन की उपेक्षा करके व्यक्ति की स्थिति को दृढ़ किया है। ऐसी प्रवृत्ति भारत में भी परिलक्षित होती है और यह आज की सबसे प्रभावशाली शक्ति है जिसने व्यष्टि की अपेक्षा समष्टिगत अधिकारों पर आधारित भारतीय समाज के पुराने सूत्रों को छिन्न-भिन्न कर दिया है। सामुदायिक भावना का भारतीय गाँवों में बहुत ह्रास हो गया है यद्यपि उसका पूर्णरूप से लोप नहीं हुआ है। गाँव इतने महत्त्वशाली हैं कि वे आज भी शासन की आरम्भिक इकाई माने जाते हैं और गाँव के प्राचीन पदाधिकारी जैसे मुखिया और पटवारी, अब भी गाँव और सरकार के बीच सम्पर्क स्थापित करने वाली एक आवश्यक कड़ी की तरह हैं। इसके अतिरिक्त गाँव के सामुदायिक जीवन तथा स्वतन्त्र शासन के पुनरुत्थान की प्रत्याशा सहकारिता आन्दोलन के प्रभाव तथा ग्राम-पंचायतों की महत्ता के अनुभव से, इधर कुछ विशेष बढ़ गई है। मान्टेग्यू-चेम्सफोर्ड रिपोर्ट ने इस आन्दोलन को, जिसे १९०९ के विकेन्द्रीयकरण आयोग (डिसेन्ट्रलाइजेशन कमीशन) की सहानुभूति प्राप्त थी,

१ रिपोर्ट आफ़ द डिसेन्ट्रलाइज़ेशन कमिशन (१९०९)।

आवश्यक प्रेरणा दी। बिना तोडे-फोडे जीर्णोद्धार सम्भव नही है और गाँवो की स्वायत्त शासन-प्रणाली को आज पुनरुज्जीवित करना बडा कठिन काम है, जब कि पिछली प्रचलित स्वायत्त शासन-प्रणाली से आज सौ वर्ष का व्यवधान पड चुका है और जब वित्त और कार्यकर्ताओ के सम्बन्ध में अपार कठिनाइयाँ हैं। इन सब कठिनाइयों के बावजूद ग्राम-स्वायत्तता का आदर्श अनुसरणीय है और इसके मार्ग की बाधाएँ कालान्तर में ग्रामीण भारत की आर्थिक दशा सुधारने और जनता में शिक्षा और ज्ञान के प्रसार होने से दूर हो जायँगी। यह आवश्यक है कि ग्राम-स्वायत्तता की स्थापना गाँवो के पुनर्निर्माण की व्यापक योजना का एक आवश्यक अग माना जाय।

(३) परिवहन में क्रान्ति—१९वी सदी के मध्यकाल से रेल और सडको के जाल बिछ जाने से परिवहन में जो क्रान्ति हुई वह गाँवो की अलग-थलग स्थिति को खत्म करने और उसके फलस्वरूप हुए बडे-बडे परिवर्तनो का कारण रही है।

२४. संक्रमणकालीन ग्राम की विशेषताएँ—(१) सबसे अधिक महत्त्वशाली विशेषता गाँवो की अत्मनिर्भरता का विनाश है। गाँव अब बाहर से कपडा, मिट्टी का तेल, अलुमिनियम के बर्तन, चीनी, चाय, दियासलाई, छाता, कैंची, चूडियाँ, दर्पण, दवाइयाँ तथा सीने की मशीनें आदि वस्तुएँ मँगाने लगे हैं। गाँवो की वाह्य क्षेत्रो पर उत्तरोत्तर निर्भरता को इस बात से और प्रोत्साहन मिला है कि उनका रहन-सहन का स्तर पाश्चात्य प्रभावो के कारण बहुत-कुछ बदल गया है। इतना ही नही, गाँव बाहरी बाजारो में विक्रय के लिए सामान तैयार करने लगे है और बाहरी दुनिया के साथ विनिमय पर अधिकाधिक निर्भर रहने के फलस्वरूप एक बड़ी ही प्रभावशाली आर्थिक क्रान्ति उत्पन्न हो गई है।

(२) गाँवो की अलग-थलग स्थिति खत्म हो जाने के कारण अकाल की विपदा का स्वरूप भी बदल गया है। स्थानीय फसल के खराब होने के कारण जहाँ अन्न की कमी हो जाती है वहाँ बाहुल्य के क्षेत्र से अन्न मँगाने की सुविधा के कारण अन्न के अकाल का स्थान धन के अकाल ने ले लिया है। अब तो अकाल का अर्थ केवल अन्न की दुष्प्राप्यता के कारण उसका बढा हुआ मूल्य है अथवा रोजगार और कृषि-कार्य में अस्थायी अव्यवस्था उत्पन्न हो जाना है। बंगाल के युद्धकालीन दुर्भिक्ष को, हमें अपवाद समझना चाहिए क्योकि उनका कारण तात्कालिक यातायात की सुविधाओ का लोप तथा अक्षम और भ्रष्ट शासन-व्यवस्था थी। इसी प्रकार इसके विपरीत फसल खूब अच्छी होने पर अनाज के बाहुल्य तथा उसके मूल्य गिर जाने से किसानो के विनाश का जो भय था, वह भी आन्तरिक और अन्तर्राष्ट्रीय बाजार के विस्तार के कारण बहुत घट गया है। प्राचीन कालिक ग्राम-भण्डारो की भी अब आवश्यकता नही रही क्योकि अनाज की आवश्यकता पडने पर गाँव के लाग समूचे देश के व्यापक अनाज-भण्डार से अनाज प्राप्त कर सकते थे।

(३) एक और आश्चर्यजनक परिवर्तन द्रव्यपरक अर्थ-व्यवस्था के आरम्भ से सम्बन्धित है। बाह्य ससार से उत्तरोतर बढता हुआ विनिमय, जिसका पहले प्राय. नितान्त अभाव था, खेती के मूल्य में वृद्धि, और गाँव से नौकरी करने गये व्यक्तियो

द्वारा भेजे हुए रुपये आदि, गाँवो में निरन्तर द्रव्य की मात्रा बढा रहे हैं। इस प्रकार द्रव्य की बढती हुई आमद ने उसे गाँवो में विनिमय का सामान्य माध्यम बना दिया है और अब अनाज द्वारा भुगतान बहुत कम होता है। निस्सन्देह वस्तु-विनिमय के स्थान पर द्रव्य के उपयोग का आरम्भ प्राचीन से नवीन अर्थ-व्यवस्था में पदार्पण करने का परिचित सकेत है और सभ्यता के विकास की एक सीढी है। मालगुजारी तथा अन्य ब्याज, मजदूरी और लगान आदि का भुगतान नकद ही होता है। गाँव के शिल्पकार को उसकी सेवाओं के बदले अनाज देने की प्रथा अभी पूर्ण रूप से नही बदली है, पर उसकी महत्ता प्राचीन काल की अपेक्षा अब बहुत घट गई है। बाहर से मँगाये हुए माल का मूल्य भी नकद देना पडता है।

(४) गाँव की जनता अब पहले की तरह एक ही स्थान पर स्थायी रूप से रहने वाली नही रह गई है। इस परिवर्तन का श्रेय रेलो के समारम्भ और ग्रामवासियो की अपनी आमदनी को नगर की कमाई से बढाने की आवश्यकता को है। पहले की तरह अब पूर्व-निर्धारित व्यवसायो के अनुसरण का बन्धन नही है और जाति तथा परिष्ठा (status) के प्रभाव भी क्षीण होते जा रहे हैं। कारखानो, खानो और बडे-बडे निर्माण-कार्यों में किसी एक वक्त काम करने वालो की सख्या कुल जनसख्या के मुकाबले भले ही नगण्य हो पर समय-समय पर उनके बदलते रहने के कारण इन परिवर्तनो से बहुत बडी सख्या में लोग प्रभावित हुए हैं। जो गाँव बडे-बडे नगर-केन्द्रो के समीप स्थित हैं, उनका अलग-थलगपन किस हद तक खत्म हो गया है, यह बात अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

२५. ग्रामीण व्यवसायों में संक्रान्ति : (१) कृषि में संक्रान्ति—अब हम गाँव के व्यवसायो में सक्रान्ति का सक्षिप्त रूप में विवेचन करेंगे। पहले हम गाँव के प्रमुख उद्योग—कृषि—को लेंगे और बाद में गाँव की दस्तकारियो आदि में सक्रान्ति का अध्ययन करेंगे।

कृषि-उद्योग की व्यवस्था में कोई आधारभूत परिवर्तन नही हुआ है। छोटे-छोटे किसानों द्वारा छोटे पैमाने पर अपनी ही पूँजी और अपने ही श्रम से खेती करने की व्यवस्था आज भी सामान्य है। यदि कोई बात बदली है तो वह खेती पर अधिक लोगो की निर्भरता है तथा खेतो के अधिक बँटवारे के कारण किसानो की सख्या की वृद्धि है। इसी प्रकार खेती के वे प्राचीन ढग जो न जाने कब से चले आ रहे हैं, आज भी ज्यो-के-त्यो प्रचलित हैं। खेती के नये ढग सिखाने और आधुनिक उपकरणो का प्रयोग आरम्भ कराने में कृषि तथा सहकारी विभागो की सफलताएँ अभी तक तो बहुत सीमित ही रही हैं।

भारतीय कृषि में परिवर्तन के चार अग हैं (१) कृषि का वाणिज्यीकरण, (२) रैयत का बेदखल होना और खेतो का उनके अधिकार से निकलकर स्वय खेती न करने तथा रुपया उधार देने वाले महाजनो के अधिकार में जाना, (३) खेतो का उत्तरोत्तर छोटे-छोटे भागों में बँटवारा, और (४) खेतिहर मजदूरो की दुष्प्राप्यता।[1]

१ विशेष विवेचना के लिए गाडगिल, पूर्व उद्धृत, अध्याय ११ देखिए।

(१) कृषि का वाणिज्यीकरण मुख्यत परिवहन और सचार-साधनो के विकास के कारण हुआ है। १८६६ में खोली गई स्वेज नहर ने—विशेष रूप से कृषि-उत्पादन के लिए—विस्तृत और ससार-व्यापी वाजार की स्थापना में सहायता की।

अमरीकी गृहयुद्ध के परिणामस्वरूप पिछली शताब्दी की सातवी दशाब्दी में, ससार-भर में मण्डियाँ मिल जाने से भारतीय कृषि का जो वाणिज्यीकरण हुआ वह बडे महत्त्व की बात थी। युद्ध के कारण अमरीका से रुई मिलना बन्द हो जाने से लकाशायर को भारत और मिश्र आदि पर निर्भर होना पडा। लकाशायर की माँग से रुई के व्यापार की ऐसी अभिवृद्धि हुई कि रुई उगाने और निर्यात करने वालो को कुछ काल तक वहुत लाभ हुआ। पजाव और उत्तर प्रदेश में सिंचाई के वड़े-वड़े साधनो का प्रयोग आरम्भ हो जाने से बडे-वडे भू-भाग खेती के योग्य हो गए और इससे निर्वाह-कृषि के स्थान पर वाणिज्य-कृषि को वहुत प्रोत्साहन मिला। परिवहन और सिंचाई का तो इससे सीधा सम्वन्ध है ही। इसके अतिरिक्त कृषि के वाणिज्यीकरण का एक और महत्त्वपूर्ण कारण गाँवो मे कर, लगान, व्याज और मजदूरी का नकद भुगतान और द्रव्य का अधिकाधिक प्रयोग है। नकद भुगतान की अनिवार्यता से कभी-कभी तो किसान को विवश होकर फसल कटने के पश्चात् तुरन्त ही उसका एक वहुत वडा अश वेच देना पडता है और फिर वाद में उससे कही अधिक मूल्य पर महाजन से खरीदना पड़ता है। कृषि-उत्पादन के इस नये अवस्थान ने भिन्न-भिन्न भागो को भिन्न-भिन्न फसलें उगाने में विशेषता प्राप्त करने का अवसर दिया है। उदाहरणार्थ वगाल ने पटसन, वम्वई और वरार ने कपास, मध्यप्रदेश ने तिलहन और इसी प्रकार पजाव ने गेहूँ के उगाने में विशेषता प्राप्त कर ली है। इससे खाद्यान्न के स्थान पर औद्योगिक फसलें जैसे पटसन, कपास और तिलहन के उगाने का क्षेत्र वढ गया। इसके अतिरिक्त थोक विक्रेता तथा निर्यातक आदि का एक ऐसा विशिष्ट विचौलिया वर्ग वन गया है जो रुई, पटसन और गेहूँ आदि फसलो को जल्दी-से-जल्दी बन्दरगाहो और देश के व्यापार-केन्द्रो तक पहुँचा देते हैं। आठवें अध्याय में हम यह विचार करेंगे कि कृषि के इस वाणिज्यीकरण ने कहाँ तक उत्पादन को और देश को लाभ पहुँचाया है और कृषि-उत्पाद के विपणन में किन सुधारो की आवश्यकता है।

(२) महाजन द्वारा किसानो की वेदखली ग्रामवासियो के अधिक कर्ज़दार होने का ही एक परिणाम है। भूमि-सम्वन्धी वैयक्तिक अधिकारो की वृद्धि से, हस्तान्तरण की स्वतन्त्रता से, भूमि का मूल्य वढ जाने से, सुविधापूर्ण उधार-व्यवस्था से और जटिल व्यवहार-कानून और कार्यविधि से भी इसे विशेष प्रोत्साहन मिला है। हम किसानो की ऋण-भारता के मुख्य और गौण कारणो पर तथा अकृपिक-वर्ग के लिए मिभू-हस्तान्तरण रोकने के वारे में सरकार द्वारा किये गए उपायो पर अन्यत्र विचार करेंगे।

(३) कृषि-भूमि के विभाजन-उपविभाजन और अपखण्डन का कारण यह है कि खेती पर आश्रित लोगो की सख्या वढती जा रही है और उसके साथ-साथ उत्तराधिकार तथा दायाधिकार के नियमों का परिपालन हो रहा है। भूमि के इस तरह टुकडे-टुकडे

हो जाना विकसित खेती के लिए बहुत घातक है।[१]

(४) कृषि-मजदूरो के अभाव का विशेष रूप से अनुभव फसल कटते समय होता है जब कि छोटे-छोटे किसान भी जो प्राय खाली समय में सपरिवार मजदूरी कर लेते है, नही मिलते। इस अभाव के प्राय अन्य कारण भी दिये जाते है जैसे, खेती के क्षेत्र का विस्तार, नगरो में उद्योगो का आरम्भ होना और धनी किसानो की जिन्हें मूल्य के बढने से विशेष लाभ होता है, स्वय खेती न करके किराये के मजदूरो द्वारा खेती करवाने की प्रवृत्ति आदि।[२]

(२) ग्रामीण शिल्प-उद्योगों में संक्रान्ति—अब हम गाँव के शिल्पकारों की स्थिति में हुए परिवर्तनो का अध्ययन करेगे। कुल मिलाकर इनमें कोई आमूल परिवर्तन नही हुए। "बढई, लुहार, धोबी, नाई, शल्य चिकित्सक और कुम्हार आज भी गाँव के सेवको के रूप में विद्यमान है और उनके कार्य तथा वृत्ति निश्चित और सर्वस्वीकृत है।" उन्हे अपनी सेवाओ के बदले जो-कुछ मिलता आ रहा है, वही अब भी मिल जाता है, पर आज उनके परम्परागत कार्यो का महत्त्व पहले की अपेक्षा कम हो गया है। आज गाँव के शिल्पकार अधिक आय की खोज में गाँव छोडकर बाहर जाने को अधिक तत्पर है। सस्ते और सुगम परिवहन-साधनो ने, जिनके कारण अब बाहर से माल आसानी से मँगाया जा सकता है, गाँव में ही सारी जरूरी वस्तुओ के निर्माण की आवश्यकता को भी बहुत कम कर दिया है। इसलिए शिल्पकारो की भी गाँव में सदैव उपस्थिति आवश्यक नही रह गई है। वार्षिक पारिश्रमिक देने के स्थान पर शिल्पकारो को उनके कार्य के अनुसार पारिश्रमिक देने का रिवाज धीरे-धीरे अधिक प्रचलित होता जा रहा है, यद्यपि इस दिशा में भी परिवर्तन अभी अधूरा ही है। यही कारण है जुलाहे और सुनार आदि शिल्पी बडे-बडे गाँवो और नगरो में किसी सीमा तक केन्द्रित हो गए है। गाँव के शिल्पियो को बडे पैमाने पर उत्पादन करने वाले भारतीय और विदेशी उद्योगो की प्रतिस्पर्धा के कारण भी बडा धक्का सहना पडा है और इस प्रतिस्पर्धा के कारण कुछ ग्राम-उद्योग खत्म भी हो गए है।

इस परिवर्तन से भिन्न-भिन्न शिल्पी भिन्न-भिन्न ढग से प्रभावित हुए है। हाथ से सूत कातने के उद्योग को, जैसा कि इगलैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति के कारण हुआ था, सबसे अधिक धक्का सहना पडा है और घर-घर में चलने वाले चरखे अब प्राय बन्द हो गए है। गाँव के रगरेज को भी रासायनिक ढगो के आयात और मशीन के रगे हुए सूत के प्रयोग के कारण हानि उठानी पडी है। जुलाहो को केवल विदेशी माल (जिससे भारत का बाजार भरा पडा था) की प्रतिस्पर्धा से ही घाटा नही हुआ वरन् एशिया, जावा और फारस में इगलैण्ड के माल पहुँचने से भी हुआ, जहाँ अब तक भारत का माल जाया करता था। यह सब होते हुए भी यह नही हुआ कि हाथ से बुनना भारत में लोप हो गया। ऐसा अनुमान है कि आज भी भारत में लगभग २० या ३० लाख करघे है और लगभग ६० लाख जुलाहे हाथ से बुनने का कार्य कर

१ अध्याय ७ देखिए।

२. देखिए जी एफ कीटिंग, प्रोग्रैस ऑफ एग्रीकल्चर इन वैस्टर्न इण्डिया, पृ० १४४-१४६।

रहे हैं[1] जिनकी कुल वार्षिक आय लगभग ५० करोड रुपया होनी चाहिए।[2]

जिस प्रकार लोहे के हल, चर्खी तथा अन्य आधुनिक वैज्ञानिक औजारो के अधिकाधिक प्रयोग ने बढई तथा लुहार की स्थिति खराब कर दी है वैसे ही आकाचित तथा तावे और पीतल के वरतनो के प्रयोग ने बेचारे कुम्हार को बहुत कुछ बेकार कर दिया है। कच्चे चमडे के मूल्य में सारे ससार में वृद्धि हो जाने से, जिसे भारत बहुत वडी मात्रा में विदेश भेजता है, तथा कमाये हुए चमडे के अधिक आयात के कारण गाँव के चमार को भी भयकर आघात सहना पडा है। गाँव में मिट्टी के तेल का अधिक प्रयोग होने से, तिलहन के विदेश भेजे जाने से तथा नगरो मे तेल पेरने के उद्योग का आरम्भ हो जाने से गाँव के तेली की भी हालत विगड गई है। जहाँ कही भी गाँव के उद्योगो मे मन्दी आई है या उन्हे आघात पहुँचा है, वहाँ शिल्पियो की या तो गाँव में ही मजदूरी करने की, अन्यथा नगरो में अधिक अच्छी जीविका की खोज में चले जाने की प्रवृत्ति दिखाई पडती है। सामान्यत शिल्पकारो ने अपने पैतृक व्यवसाय को तो तभी छोडा जब परिस्थितियो ने उन्हे विवश कर दिया पर कुछ के विषय में यह कहा जा सकता है कि उन्होने भावी विनाश का पहले ही आभास पा लिया और दुर्दशा को प्राप्त होने से पहले ही अपने व्यवसाय को त्याग दिया।

उन शिल्पकारो के सम्वन्ध में जो अपने आनुवंशिक शिल्प को आज भी चला रहे है, यह कहा जा सकता है कि उनकी स्थिति में सिवाय इसके और कोई परिवर्तन नही हुआ कि उन्होंने अपने व्यवसाय को उत्पादन की वर्तमान परिवर्तित परिस्थिति के थोडा-बहुत अनुकूल वना लिया है। उदाहरण के लिए जुलाहे अब अधिकतर मशीन के कते सूत का ही प्रयोग करने लगे है और मद्रास में तो वे यान्त्रिक टरकी (फ्लाई शटिल) का भी प्रयोग करते है। लुहार अब टीन और लोहे की वनी-वनाई चद्दरें मँगाता है, वढई नवीन ढग के औजारो का तथा दर्जी सीने की मशीनो का प्रयोग करता है।

अब यह स्पष्ट हो गया होगा कि गाँव के सभी शिल्पकार समान रूप से प्रभावित नही हुए है। जो वडे-वडे गाँवो में केन्द्रित हो गए अथवा नगरो में चले गए उन्होने अपनी दशा सुधार ली। नगर की इन्जीनियरी कर्मशालाओ तथा उपस्करादि वनाने के उद्योगो में इनकी वहुत आवश्यकता रही है। उन लोगो को जो न तो गाँव ही छोड सकते थे और न कोई अन्य मार्ग ही अपना सकते थे, सब-कुछ सहना पड़ा और विवश होकर खेतिहर मजदूर वनना पडा।

गाँव के शिल्प-उद्योग के उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि ग्राम-उद्योग[3] अवनति पर है। वडी सख्या में शिल्पी मजदूरी करने लगे है। वहुत कम ऐसे थे जिन्होने नगरो में जाकर अपना भविष्य वना लिया। कुछ किसानी करने लगे और वे जिन्हे अपने आनुवशिक व्यवसाय को ही करना पडा, वडी दुर्दशा में है और अकाल आदि विपत्तियो में वे

---

१ सम्पूर्ण भारत में २,८५१,६८५ हाथ-करघे हैं और एक करोड़ से अधिक व्यक्ति इस उद्योग में लगे हुए हैं।—इण्डिया ऐट ए ग्लान्स, पृ० १२३५।

२. औद्योगिक आयोग रिपोर्ट देखिए, पैरा ७५६ और एम०सी० मैथसन 'इण्डियन इण्डस्ट्री', परिशिष्ट ४।

३ विशेष विवरण के लिए गाडगिल देखिए, पूर्व उद्धृत, अध्याय १२।

ही सबसे पहले सार्वजनिक सहायता-कार्यो से लाभान्वित होने के लिए दौडते है।

२६. परिष्ठा और रीति-रिवाज़ से प्रतियोगिता और संविदा में संक्रान्ति—सामाजिक और धार्मिक सस्थाओ वाले पिछले अध्याय में हमने इस विषय का विवेचन किया है कि जाति तथा सम्मिलित परिवार-सस्था द्वारा नियमित परिष्ठा (सामाजिक स्थिति) किस सीमा तक आज भी अपना महत्त्व रखती है और यह भी वताया है कि भारतीय समाज सक्रान्ति-काल से गुजर रहा है। वह धीरे-धीरे अपना नया स्वरूप धारण कर रहा है। उदाहरण के लिए मूल्य, लगान और मजदूरी नियमित करने वाले रिवाजो का स्थान विशेषरूप से नगरो में प्रतियोगिता लेती जा रही है। पाश्चात्य सभ्यता का प्रसार, द्रव्य पर आधारित अर्थ-व्यवस्था का आरम्भ तथा उसका उत्तरोत्तर प्रसार और सचार-साधनो का विकास आदि कारण प्राचीन रिवाजो को शिथिल कर रहे है और प्रतियोगिता सब जगह प्रबल शक्ति होती जा रही है। यह ठीक है कि सबसे अधिक सभ्य समाज में भी प्रतियोगिता का जोर रिवाजो के कारण थोडा-बहुत घट ही जाता है फिर भी हम यह कह सकते है कि यूरोप मे यदि रिवाजो का पूर्णरूप से अभाव नही है तो कम-से-कम इसका प्रभाव नगण्य ही है। हाँ, भारत में अवश्य ही इसका प्रभाव वहुत है पर यह ध्यान रखना चाहिए कि सामान्य प्रवृत्ति रिवाजो का स्थान प्रतियोगिता को देने की ओर और धीरे-धीरे वातावरण को पाश्चात्य ढग के अनुरूप बनाने की ओर है।

(१) प्रतियोगिता और लगान—जनसख्या की वृद्धि, खेती द्वारा जीविकोपार्जन करने की बढती हुई प्रवृत्ति, पटसन, रुई, गेहू, तिलहन आदि व्यापारिक फसलो के मूल्य में वृद्धि, भूमि के प्रति परम्परागत मोह, नकद लगान अदा करने की अनिवार्यता तथा देश में स्थापित सुख और शान्ति आदि कारणो ने लगान निर्धारण में प्रतियोगिता के प्रभाव-क्षेत्र को बढ़ा दिया है। वगाल, मद्रास उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश आदि में तो जमीदारो के मनमाना लगान लेने पर प्रतिबन्ध लगाने के विचार से, भूधारण-अधिनियम भी पास करने पडे है ताकि किसान उन अधिकारो का उपभोग कर सकें, जो प्रचलित रिवाज के अनुसार उन्हे प्राप्त हो गए है और जमीदार स्वेच्छा से न तो लगान ही बढा सकें और न उन्हे बेदखल ही कर सकें।

(२) प्रतियोगिता और मज़दूरी—आजकल भारत में, विशेषकर शहरो में, मजदूरी रिवाज की अपेक्षा प्रतियोगिता से नियमित होती है, यद्यपि पश्चिमी यूरोपीय देशो की तुलना में यहाँ इसका प्रभाव बहुत कम है। माँग और सम्भरण की स्थिति बदलने से मजदूरी में यहाँ उतनी शीघ्रता से परिवर्तन नही होते जितनी शीघ्रता से पश्चिमी देशो में होते है। अतएव यहाँ मजदूरी का स्तर लगभग स्थिर-सा है। अब प्रतियोगिता गाँवो में भी मजदूरी को प्रभावित करने लगी है। इसके मुख्य कारण शहरो में मजदूरो की अधिक माँग, परिवहन के विकास के कारण श्रम की अधिक गतिशीलता तथा मजदूरी नकद देने के तरीके का आरम्भ है। गाँव के शिल्पियो को, विशेषकर लुहार, बढई आदि को जिन्हे शहर में सरलता से काम मिल सकता है, रीति-रिवाज के अनुसार पारिश्रमिक देने की प्रथा कम होती जा रही है। खेतिहर श्रमिको की मज़दूरी भी, विशेषकर उन स्थानों में जहाँ कृषि का अभाव है, प्रतियोगिता से ही प्रभावित होती है। शहरो में मजदूरो

की नित बढती हुई माँग के कारण प्राय प्रतियोगिता-जनित मजदूरी ही पाई जाती है।

(२) प्रतियोगिता और क़ीमतें—गाँवो में कीमतो का निर्धारण उत्तरोत्तर माँग और सम्भरण से नियमित प्रतियोगिता के आधार पर हो रहा है। संचार की विकसित सुविधाओ के कारण देश के एक भाग में कीमतो के घटने-बढने से दूसरे भागो में कीमतो पर तुरन्त प्रभाव पडता है। ससार के अन्य बाजारो से सम्पर्क हो जाने के कारण मूल्य-निर्धारण में प्रतियोगिता का महत्त्व बहुत काफी बढ गया है। यह कहने की आवश्यकता नही कि ग्रामवासियो के अज्ञान और रूढिप्रियता के कारण गाँवो में कीमतो का परिवर्तन नगरो की अपेक्षा धीमा होना अनिवार्य है।

२७ उद्योगों में संक्रान्ति—पिछले अध्यायों में हमने अपने देश के ग्राम उद्योगो में परिवर्तन तथा उनके ह्रास और बढते हुए ग्रामीणीकरण के कारणो का विवेचन किया है।

स्वर्गीय रानाडे के मतानुसार भारत की औद्योगिक स्थिति पिछली शताब्दी की आठवी दशाब्दी के मध्य में अधोगति को पहुच गई थी।[१] परन्तु उसके बाद से बडे पैमाने पर उत्पादन करने वाले उद्योगो का धीरे-धीरे पर निरन्तर विकास ही होता गया है। 'जो लोग भारत में औद्योगिक क्रान्ति देखने की आशा करते है उन्हे उसका उज्ज्वल पक्ष गाँव में देखने का प्रयत्न नही करना चाहिए। उन्हे तो उन औद्योगिक केन्द्रो की ओर देखना चाहिए जो इधर थोडे दिनो में ही अस्तित्व में आये है और जहाँ पर उद्योगो का प्रबन्ध पूर्णरूप से अर्वाचीन ढग पर किया जा रहा है। श्रमिको को केन्द्रित तथा कुशल व्यवस्थापको की देख-रेख में काम करते हुए देखने के लिए हमें बम्बई कानपुर और हुगली-तट पर जाना पडेगा। इन्ही नगरो में कारखानो के बनवाने और बहुमूल्य मशीनो के खरीदने मे स्वतन्त्रतापूर्वक पूँजी का व्यय किया गया है और यही के कारखानो को बहुमात्रा-उत्पादन की मितव्ययता का लाभ मिला है तथा यही उद्योगो के बडे-बडे भारतीय अधिष्ठाता बने और बढे है।'[२] चाय, काफी नील और पटसन आदि बागान-उद्योगो द्वारा ही सर्वप्रथम उद्योग के नये स्वरूप की स्थापना हुई।[३] ये उद्योग आज तक यूरोपीय मालिको के ही हाथो में रहे है और है। यह बात विशेषकर १८३३ के चार्टर एक्ट (चार्टर अधिनियम) के अनुसार यूरोपवासियो के लिए भारत में निवास तथा व्यवसाय करने पर लगाये हुए प्रतिबन्धो को हटा लेने के कारण हुई। इसका दूसरा कारण वेस्ट इन्डीज में दास-प्रथा का अन्त भी था जिससे वहाँ के बागान-मालिको को सस्ते मजदूर मिलने बन्द हो गए।[४] इगलैंड के व्यापारियो को भी यह समझते देर

१. १८७०-५ में दशा जितनी खराब हो सकती थी हो गई थी। उसके बाद से परिस्थिति ने पलटा खाया है और भारत में पुनर्जीवन के चिह्न दिखाई पडे है जिसे हम भारत के पूर्णरूप से कृषि-आधारित देश होने की स्थिति से किसी सीमा तक औद्योगिक तथा व्यापारिक देश की स्थिति की ओर अग्रसर होने के लिए बढाया हुआ पहला कदम समझते हैं। पूर्व उद्धृत, पृ० ११६।

२. मॉरीसन, पूर्व उद्धृत, १७०-१।

३. विभिन्न रोपण उद्योगों के विस्तृत वर्णन के लिए, देखिए, डी० एच० बुचानन, 'द डेवलपमेन्ट ऑफ़ द केपिटलिस्ट एन्टरप्राइज़ इन इण्डिया, अध्याय ३ और ४।

४. देखिए, नोल्स, पूर्व उद्धृत, पृ० ३०६।

न लगी कि यहाँ हर प्रकार के कच्चे माल के प्राचुर्य होने से यहाँ के बडे-बडे बाजारो में अर्वाचीन ढग की मशीनो द्वारा निर्माण करने वालो के लिए कितना विस्तृत क्षेत्र है। लार्ड डलहौजी को भावी घटनाओ की गतिविधि का पहले ही कुछ आभास हो गया था। उनका पूर्वानुमान सही सिद्ध हुआ। पिछली शताब्दी के उत्तरार्ध में अग्रेजी पूँजी और अग्रेजी व्यवसाय ने भारत में विशेप प्रगति दिखलाई।

यूरोपीय व्यापारियो के इस दृष्टान्त से, भारत के, विशेपकर वम्बई के, व्यापारी-वर्ग को प्रोत्साहन मिला। वम्बई को इस मामले मे भारत के अन्य भागो का पथ-प्रदर्शन करने का श्रेय प्राप्त है और उसने भारत की औद्योगिक राजधानी के रूप में अपना स्थान बना लिया है। यद्यपि बहुमात्रा-उत्पादन उद्योगो की प्रगति बहुत धीमी रही है फिर भी यह तो कहा ही जा सकता है कि ग्रामीणीकरण की प्रवृत्ति को जिसे रानाडे ने चिन्त्य बताया था, इसने किसी हद तक रोका है।

पिछली शताब्दी के मध्य के करीब भारत में फैक्ट्री उद्योगो के आरम्भ से इस देश में औद्योगिक क्रान्ति का प्रथम अवस्थान शुरू हुआ। इसके पश्चात् भारत के वर्तमान दो सबसे बडे उद्योगो की वम्बई और बगाल में स्थापना हुई। सूती कपडा-उद्योग आरम्भ से ही भारतीय पूँजी और व्यवस्था द्वारा सचालित रहा है पर पटसन उद्योग में अग्रेजी पूँजी और व्यवस्था का प्राधान्य रहा है। औद्योगिक क्रान्ति विस्तार पाकर खान खोदने के उद्योग में पहुची फिर धीरे-धीरे अन्य उद्योगो की ओर वढी जैसे मनवा निकालना, रुई दवाना तथा कोयला, मेंगनीज, सोना, अभ्रक और लोहे की खानें खोदना, इस्पात तैयार करना, धान छाँटना, दाले तैयार करना और तेल पेरना आदि। आरम्भ में ग्रो प्रगति बहुत धीमी थी और देश के थोडे से नगरो तक ही सीमित थी, पर पिछली दशाब्दी के अन्त में देश के कोने-कोने मे फैक्ट्रियाँ खुलने लगी। वर्तमान सदी की प्रथम शताब्दी में स्वदेशी आन्दोलन के कारण जो उत्साह फैला उसके फलस्वरूप अनेक खनिज पदार्थ निकालने वाले और अन्य विविध प्रकार के उद्योगो की वृद्धि हुई। बाद के वर्पो में छोटी-छोटी मशीनो और इजनो का प्रयोग भारत में खूब बढा, सर्वत्र यान्त्रिक उपकरणो के प्रयोग करने की लोगो में प्रवृत्ति दिखलाई पडी।[1] सन् १९१४-१८ के युद्ध से भारतीय निर्माण उद्योगो को अस्थायी प्रोत्साहन मिला, विशेषकर पटसन, इस्पात, लोहे, चमडे और सूती कपडे के उद्योगो को। 'विभेदात्मक सरक्षण नीति' के कारण बडे पैमाने पर माल तैयार करने वाले उद्योगो का हाल में जो विस्तार हुआ है उसकी चर्चा हम भारत की तटकर-नीति के अध्ययन के अन्तर्गत करेगे।

भारतीय उद्योगो के इस परिवर्तन की दो विषादकारी बातो की ओर भी ध्यान देना आवश्यक है। पहली बात तो यह कि इस आन्दोलन की गति बहुत धीमी और असमान रही है और दूसरी यह कि इस आन्दोलन का सचालन विदेशी पूँजी द्वारा हुआ जिसके कारण भारतीय उद्योगो में विदेशी पूँजी ने महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया और भारत की नवसर्जित सम्पदा का बहुत बडा भाग आत्मसात् कर लिया। विदेशी पूँजी और साहसोद्यम के इस आक्रमण ने औद्योगिक विकास को गति दी, पर प्राय इसने देश

१ ऐतिहासिक वर्णन के लिए गैडगिल देखिए, पूर्व उद्धृत, अध्याय ४, ६ और ८।

के वहुत से ऐसे साधनो का, जो स्वाभाविक विकास की प्रकिया के अधीन नही, समय के पहले ही प्रयोग किया और निहित स्वार्थो का एक ऐसा वर्ग तैयार कर दिया जो वहुधा राजनीतिक और आर्थिक मामलो मे देश के राष्ट्रीय दृष्टिकोण का कट्टर विरोध करता रहा। हमारे देश के औद्योगिक विकास की मन्द और असमान गति के मुख्य कारण हे . भारतीय पूँजी की अपर्याप्तता तथा उसके उपयोग मे सकोच (जिसके कारण अधिकतर पूँजी व्याज पर उधार देने, भूमि खरीदने अथवा वाणिज्य मे लगाने ही तक सीमित रही), वैकिंग-सुविधा की कमी, कोयले आदि प्राकृतिक साधनो का असमान वितरण, देश में उनकी जानकारी का अभाव तथा अपेक्षाकृत अविकसित स्थिति, प्राविधिक शिक्षा की कमी, कुशल और श्रमिको की सापेक्षिक अक्षमता, कुशल श्रमिको और उद्योग निर्देशको का अभाव, लोहा और इस्पात जैसे मूल उद्योगो की अविकसित दशा, सरकार की उदासीनता और उद्योगो के विकास के लिए सरकार की ओर से विशेष प्रयत्न का अभाव आदि हे। सरक्षण और आयोजना की वर्तमान नीति औद्योगिक विकास के प्रति उदासीनता की अग्रेजी नीति से कही भिन्न हैं और यह निश्चय ही एक स्तुत्य परिवर्तन है।

२८. औद्योगिक उन्नति की दो कसौटियाँ—भारत मे औद्योगिक विकास तथा आर्थिक क्रान्ति किस हद तक हुई है इसकी परख दो वातो से की जा सकती है। पहली, विदेश-व्यापार के आँकडे और दूसरी, नगरो का विकास।

१ हम भारत के विदेशी-व्यापार के अन्तर्गत कारखानो में निर्मित वस्तुओ के आयात और निर्यात-अनुपात के आँकडो की सवसे पहले परीक्षा करेंगे। मॉरीसन के कथनानुसार "देग की सम्पत्ति और जनसख्या की वृद्धि के साथ-ही-साथ आयात तथा निर्यात में भी वहुत वृद्धि हुई, परन्तु निर्मित वस्तुओ का निर्यात कच्चे माल के निर्यात से कही अधिक वढा है। यह तथ्य स्थानीय उद्योगो के विकास को परिलक्षित करता है।" इस कथन से यह सिद्ध होता है कि देश में सामान तैयार करने के लिए कच्चा माल वडी मात्रा में मँगाया जाता रहा है। रानाडे ने भी सकेत किया है कि सन् १८७९ और १८९२ के बीच निर्मित माल का निर्यात १६ करोड ४२ लाख रुपये के मूल्य तक पहुँच गया था अर्थात् २११% की वृद्धि हो गई थी। कच्चे माल का निर्यात ५९ करोड ६ लाख रुपये से वढकर ८५ करोड ६ लाख रुपये तक अर्थात् ४३% वढ गया था। निर्मित माल का आयात २५ करोड ९० लाख रुपये से वढकर ३६ करोड २० लाख रुपये अर्थात् ३९% अधिक हो गया, और कच्चे माल का आयात तो लगभग दूना होकर १३ करोड ७५ लाख से २६ करोड ३८ लाख रुपया अर्थात् ९१% वढ गया। इन आँकडो के आधार पर रानाडे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि एक प्रतिकूल आन्दोलन देश के व्यवसायो का विनाश करने और धीरे-धीरे जीविका के मार्गो को अवरुद्ध करने के लिए वडी सफलता से आरम्भ हो गया है।[1] इसी प्रकार के विश्लेषण द्वारा १८९२ से १९०७ के आँकडो के आधार पर प्रो० काले ने यह दिखाया है कि "निर्मित माल का आयात इस काल मे ९३ प्रतिशत और कच्चे माल का १२७ प्रतिशत वढ गया,

१. पूर्व उद्धृत, पृ० १११।

जब कि निर्मित माल का निर्यात १३६ प्रतिशत और कच्चे माल का केवल ५७ प्रतिशत बढा। निर्मित माल के आयात का कुल आयात से अनुपात जो १८७६ में ६५% और १८६२ में ५७% था, १६०७ में ५३% रह गया, और उसी प्रकार निर्मित माल के निर्यात का अनुपात जो १८७६ में कुल ८%, और १८६२ में १६ प्रतिशत था, १६०७ में बढकर २२% हो गया।[१] यहाँ यह बता देना उचित होगा कि १६१४-१८ के महा युद्ध से जो प्रोत्साहन मिला उसके कारण १६१६ मे यह अनुपात बढकर ३६% हो गया। सन् १६३६-४५ के दूसरे महासमर ने भी इसी प्रकार निर्मित माल के निर्यात को प्रोत्साहित किया।[२]

इन आँकडो की सचाई पर कुछ समीक्षको ने आक्षेप किया है। उदाहरणार्थ लार्ड केन्स का मत है कि 'निर्मित माल के आयात-सम्बन्धी आँकडे जो सरकारी पदाधिकारियो द्वारा दिये गए है, कम मूल्य के है और उन पर आधारित निष्कर्ष असत्य है,' क्योकि इस मद में यन्त्रो, धातुओ और धातुओ की बनी वस्तुओ आदि के आयात के आँकडे सम्मिलित नही किये गए है। इसी प्रकार कच्चे माल के आयात की वृद्धि के आँकडे भी भ्रामक है। जहाँ तक निर्यात से सम्बन्ध है, अर्ध-निर्मित वस्तुएँ जैसे सूत और कमाया हुआ चमडा आदि निर्मित माल में सम्मिलित कर दिये गए है। और इस प्रकार निर्यात के बढे हुए आँकडे दिखाये गए है जिससे उद्योगो की उन्नति और उनके विकास की गति का एक अतिरजित चित्र हमारे सामने आता है। इस विषय पर हम फिर भारत के विदेश-व्यापार की विशेषताओ वाले अध्याय में विचार करेंगे। यहाँ इतना कह देना पर्याप्त होगा कि व्यापार के आँकडे यह सिद्ध करते है कि भारत की औद्योगिक प्रगति पर सन्देह नही किया जा सकता और समय के साथ-साथ उसका विकास हो रहा है। यहाँ तक कि डॉ० गिल्बर्ट स्लेटर जैसे विद्वान् भारत के वर्तमान औद्योगिक विकास की गति से आशकित है कि उसकी तीव्रता के कारण कही देश का आर्थिक और सामाजिक सन्तुलन न बिगड जाय और वर्तमान औद्योगीकरण की हानियो से बचने के लिए जो उपाय किये जा रहे है वे सब निष्फल न हो जायँ। पर इस विचार से प्राय लोग असहमत हैं, क्योकि अधिकतर लोग और अधिक वेग से औद्योगीकरण चाहते है। आज भी भारत का तीन-चौथाई आयात निर्मित वस्तुओ का ही है और अनाज सहित कच्चे माल का कुल निर्यात से अनुपात लगभग उतना ही बना हुआ है।[३]

२ अब हम दूसरी कसौटी अर्थात् नगरो के विकास पर विचार करेंगे।[४]

नगरो की सख्या का कम होना और कुल जनसख्या के हिसाब से नगण्य

---

१ देखिए, पी० पी० पिले, इकनामिक कण्डीशन्स इन इण्डिया, पृ० ३१।

२. सन् १६५१-५२ में भारत के कुल निर्यात का मूल्य ७०१, ५७, ३४,००० रु० था और आयात का मूल्य ८६०, १४,०३,००० रु० था। आयात किये हुए सामान में कच्ची कपास, कच्ची ऊन, रेशमी सूत, सूती सूत, कच्चा जूट का कुल मूल्य २२० ६६ लाख रुपया था। पूर्णत प्रधानत निर्मित वस्तुओं के निर्यात का मूल्य २३,४०,३३ लाख रुपया था। देखिए, स्टेटिस्टिकिल एक्सट्रेक्ट, इण्डिया १६५१-५२ पृ० ७२६, ७३७ तथा इण्डिया १६५४, पृ० २३०-२३३

३ खण्ड २, अध्याय ६।

४. देखिए, गैडगिल, पूर्व उद्धृत, अध्याय १०।

अनुपात में लोगो का नगरो में रहना औद्योगिक दृष्टि से देश के पिछड़े होने का द्योतक समझा जा सकता है। बहुत काल तक नगर-निवासियो का कुल जनसख्या से अनुपात ज्यो-का-त्यो ही बना रहा है। इसके विपरीत इगलैण्ड में नये उद्योगो के विकास के साथ ही नगर-निवासियो का अनुपात बडी तेजी से बढा था। इगलैण्ड में जनसख्या का ७८% भाग नगरो में रहता है। इस दृष्टिकोण से भारतवर्ष में नागरिक जनसख्या का अनुपात अभी बहुत कम है।

२१. नगरों के विकास को प्रभावित करने वाली आधुनिक शक्तियाँ—अब हम उन विभिन्न शक्तियो का विवेचन करेंगे जो वर्तमान भारत में नगरो के विकास में सहायक हैं।

(१) रेल-यात्रा और नौ-यात्रा की सुविधाओ के कारण बहुत व्यापारिक केन्द्र स्थापित हो गए हैं और अनेक पुराने केन्द्रो की महत्ता बढ गई है। वास्तव में अग्रेजी राज्य के प्रभाव से शुरू में ही बहुत से व्यापारिक केन्द्रो का विकास हो गया था और हम उन्हे भारत के नगरो के विधाता की उपाधि दे सकते हैं। बम्बई, मद्रास, कलकत्ता, दिल्ली, हुबली और बगलौर नये व्यापारिक केन्द्रो के उदाहरण हैं।

(२) पाश्चात्य देशो मे नये उद्योगो के विकास का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ था कि जनसख्या का बहुत बड़ा हिस्सा बडे-बडे नगरो में जा बसा, भारत में ऐसा नही हुआ। देश के बडे-बडे उद्योगो ने ग्रामो को नगरो में और नगरो को बड़े-बडे शहरो में परिवर्तित कर दिया है। सूती कपडो के कारखानो वाले शहर बम्बई, अहमदाबाद, शोलापुर और हुबली आदि और ऊन तथा चमडे के कारखानो से युक्त कानपुर नये औद्योगिक युग की देन हैं और उनका विस्तार तथा महत्ता बहुत-कुछ अशो में उनके अपने प्रधान उद्योग के ही कारण है। टाटा के लोहे और इस्पात उद्योग के विस्तार के कारण सन् १९११ के बाद से जमशेदपुर का जिस वेग से विकास हुआ है वह भारत की औद्योगिक सिद्धि की एक रम्याद्भुत कहानी है। नगरो की वृद्धि में औद्योगिक उन्नति का भारत में इतना अधिक प्रभाव नही पडा जितना कि पाश्चात्य देशो मे पडा था। यह इस बात से स्पष्ट है कि भारत में (सन् १९५१ मे) एक लाख से अधिक जनसख्या वाले ७३ नगरो में कम-से-कम २८ ऐसे थे जिनकी महत्ता उनकी व्यापारिक और औद्योगिक विशेषता पर नही वरन् किसी अन्य कारण पर आधारित है। १९११ की जनगणना के इस तथ्य से भी कि इन नगरो में केवल ३० प्रतिशत लोग औद्योगिक कार्यो मे लगे थे, इस मत की पुष्टि होती है।[1]

(३) अकाल भी उन कारणो में से एक है जिससे गाँव के लोग गाँव छोडकर नगरो को चले जाते हैं। ऐसा होने पर यह सम्भव है कि किसी नगर में आये हुए लोगो में से कुछ काम पाकर नगर में ही बस जायँ यद्यपि अधिकाश वर्षा आरम्भ होते ही अपने गाँवो को वापस चले जाते हैं।

(४) अकाल, पुराने किसान भू-स्वामियो की बेदखली तथा शिल्पकारो के साधारण मजदूरो में बदल जाने के कारण गाँवो में भूमिहीन श्रमिको का एक नया वर्ग बन

१. सन् १९५१ की जनगणना के अनुसार कुल जनसंख्या का १७.३ नगरों में रहता है। सन् १९२१, १९३१ और १९४१ में यह प्रतिशत ११.२, १२.१ तथा १३.९ था।—इण्डिया १९५४, पृ० १५

गया है। इस प्रकार के लोग यदि काम पाना सम्भव हो तो तुरन्त नगरो मे जाने के लिए तत्पर रहते हैं, इसलिए नगर की जनसख्या बढाने में इस वर्ग का अस्तित्व भी एक कारण रहा है।

(५) नागरिक जीवन के आकर्षण ने धनी जमीदारो और अन्य पैसे वालो को शहरो में बस जाने का प्रलोभन दिया है। स्वाभाविक है कि इसके कारण अपनी भूमि से अनुपस्थित रहने वाले जमीदारो की सख्या बढ गई है।

(६) प्रशासकीय केन्द्रीयकरण ने गाँव के मुकाबले ताल्लुका-नगर की और उसके मुकाबले जिले के सदर मुकाम की महत्ता बढा दी है। डिवीजन के सदर मुकाम तथा प्रान्तीय एव केन्द्रीय राजधानियो का महत्त्व भी बहुत बढा है।

(७) माध्यमिक और उच्च शिक्षा की सुविधाएँ बडे-बडे नगरो तक ही सीमित है, इसलिए माता-पिता बच्चे को शिक्षा देने के लिए नगरो में ही बस जाते हैं।

३० नगरो के ह्रास के कारण—बढते हुए नागरकरण के साथ-ही-साथ प्राचीन नगरो के उजडने की भी प्रवृत्ति दिखाई पडती है। इसके कारण निम्नलिखित कहे जा सकते हैं—

(१) प्रादेशिक महत्ता के परिवर्तन और व्यापार-मार्ग बदल जाने के कारण, बहुत से ऐसे नगरो का ह्रास हो गया है जिनकी समृद्धि सडको और नदियो द्वारा यात्रा की सुविधा पर निर्भर थी। इनका महत्त्व रेल की लाइनो के खुल जाने से बहुत कम हो गया है। गगा के किनारे बसा हुआ मिर्जापुर तथा पटना, सागर आदि नगर इसके उदाहरण हैं। इन्जीनियर ऐसी युक्ति ढूँढ निकालने में सदैव सफल नही हो सकते कि रेल की लाइन प्राचीन नगरो से ही होकर जाय। फलत उससे दूर पड जाने से नगरो का महत्त्व घटता चला जाता है।

(२) नगर से राज-परिवारो के विलुप्त होने और यूरोपीय प्रतियोगिता के फलस्वरूप नागरिक दस्तकारियो के विनष्ट हो जाने से तन्जौर और मुर्शिदाबाद जैसे नगरो की जनसख्या मे बहुत बडी कमी आ गई है, यहाँ तक कि यात्रियो की ओर से नगर के प्राचीन उद्योगो की वस्तुओ की माँग कम हो जाने के कारण गया और बनारस जैसे तीर्थ-स्थानो की महत्ता और जनसख्या मे भी कमी होती जा रही है।

(३) प्लेग और हैजे जैसी बीमारियो के समय-समय पर फैलने पर नगर विशाल शवालयो का रूप धारण कर लेते है और लोगो को गाँव की खुली बस्ती में भाग जाने के लिए बाध्य करते हैं। यह परिवर्तन प्राय अस्थायी होता है और नगरो में स्वास्थ्य की सामान्य परिस्थितियाँ स्थापित हो जाने पर गाँवो में गये हुए लोग पुन वापस आ जाते हैं।

नगरो की विकास और ह्रास की दोनो परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियो को ध्यान में रखते हुए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अब तक दोनो पलडो मे बिलकुल बराबर वजन रहा है, पर इधर नागरकरण की प्रवृत्ति का पलडा कुछ भारी हो चला है। औद्योगिक क्रान्ति के कारण इगलैण्ड में जो स्थिति पैदा हुई थी उसमें और इस स्थिति में ज़मीन-आसमान का अन्तर है। वहाँ दक्षिण में बसे हुए नगरो का ह्रास बहुत तेज़ी से

हो गया, पर उत्तरी भाग में बडी जनसख्या वाले नगर-केन्द्रो का विकास भी इतने वेग से हुआ कि इस दृष्टि से उन्हे किसी तरह का घाटा नही होने पाया।

३१. स्थानीय अर्थ-व्यवस्था से अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था में आकस्मिक संक्रान्ति—जिस विकास को हमने, 'आर्थिक सक्रान्ति' शीर्षक के अन्तर्गत स्पष्ट किया है उसे प्रो वाडिया और जोशी ने, 'स्थानीय अर्थ-व्यवस्था से अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था में आकस्मिक सक्रान्ति' कहा है।[1] इसका अभिप्राय स्पष्टत यह है कि भारतीय गाँव एकाएक ही वाह्य ससार से सम्वन्धित हो गए। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आन्तरिक व्यापार की अपेक्षा वहुत अधिक तेजी से विकास हुआ और चूँकि यह विकास अनियन्त्रित और अनियमित ढग से हुआ अत इसके फलस्वरूप देश के आर्थिक जीवन का एकागी विकास हुआ और कुल मिलाकर इसका अहितकर प्रभाव पडा। उद्योग की अपेक्षा कृषि की ओर अविक झुकाव हो गया। यह घटना यूरोप के शक्तिशाली राष्ट्रो द्वारा पिछडे हुए अफ्रीका और एशिया महाद्वीपो के शोपण की व्यापक योजना का ही एक अग थी और इसकी अनुमति देने मे देश की सरकार ने सच्चे राष्ट्रीय हित की उपेक्षा की। यदि इस घटना को कोई छोटा-सा अभिव्यजक शीर्षक देने की आवश्यकता समझी गई है तो हमारे मत में सम्भवत 'आत्मनिर्भरता से अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय में आकस्मिक सक्रान्ति' नाम अधिक उपयुक्त होगा। अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था से यह ध्वनि निकलती है मानो राष्ट्रीय इच्छाओ के ऊपर कोई 'अन्तर्राष्ट्रीय इच्छा' है जो अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था में अभिव्यक्ति पाती है। पर अभी तो ऐसी किसी 'अन्तर्राष्ट्रीय इच्छा' का अस्तित्व है नही, और 'अन्तर्राष्ट्रीय सम्वन्ध मानवता के आदर्शो के आधार पर नियमित नही होते है, वरन् प्रत्येक राष्ट्र की अपनी-अपनी इच्छानुसार निश्चित होते हैं।'[2] राष्ट्र आज भी एक आर्थिक इकाई है और हम अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था का नाम भी उस समय तक नही ले सकते जव तक कि 'राष्ट्रीय दृष्टिकोण मे परिवर्तन नही हो जाता।'[3] वास्तविक अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था में कोई भी राष्ट्र स्वेच्छा से त्याग करने को तत्पर रहेगा न कि अन्य राष्ट्रो की धूर्तता अथवा पाशविक वल के डर से। और यह त्याग भी न्याय्य समझा जायगा जव कि अन्तत उससे केवल ससार के राष्ट्रो का ही हित-सावन न हो वरन् त्याग करने वाले राष्ट्र की भी हित-सिद्धि हो।

३२. क्या औद्योगीकरण भारत के लिए वांछनीय है?—भारत में औद्योगीकरण का आरम्भ वडी सफलता से हो गया है, और यद्यपि साधारणत लोग इसकी तीव्रतर गति के पक्षपाती हैं तथापि ऐसे लोग भी मिलेगे जो यह मानकर कि इसका परिणाम देश के लिए अहितकर और अशुभ होगा, अगर उनका वश चले तो इस आन्दोलन को समूल नष्ट करने में भी सकोच न करेगे। औद्योगीकरण का विरोध अशत तो ऐसे लोगों द्वारा है जो मशीनो को एक भयावह वस्तु समझते है, क्योकि उनका विश्वास है कि इनसे मानव-जीवन और मानव-कार्य अधोगति को प्राप्त होते है तथा उसके परिणामस्वरूप

१. वैल्थ ऑफ इण्डिया, पृ० १५८-६०।
२. जे ग्रुन्जेल 'इकनामिक प्रोटेक्शनिज्म', पृ० ३-४।
३. सेलिगमेन, 'प्रिंसिपल ऑफ इकनॉमिक्स', पृ० ८१-८२।

दोनो ही अप्रिय और यन्त्र-संचालित हो जाते है। वे प्राचीन साधारण ढग के उद्योग की कामना करते है जिसमें हवा और धूप की कमी न होगी, हाथ-पैर फैलाने के लिए अधिक जगह होगी और अधिक स्वतन्त्रता होगी जो इस मशीन-युग में किसी तरह सम्भव नहीं है। उनके मन में उस आदर्श-सरल आर्थिक जीवन की ऐसी धुंधली काव्योचित कल्पना है जो वास्तविकता और यथार्थता से बहुत दूर है। हम यह निश्चित रूप से जानते है कि ये स्वप्न कही भी और कभी भी पूर्ण नही हुए है। इसके विपरीत हम यह भी जानते है कि शारीरिक श्रम अत्यन्त मन्द, निर्मम और निर्दयतापूर्ण हो सकता है और यह भी जानते है कि मनुष्य ने प्रकृति पर एक के बाद एक विजय प्राप्त करते हुए इस पृथ्वी को अधिक सुखकारी और मनचाहा स्थान बना लिया है तथा अपनी आर्थिक स्थिति सुधार ली है। वास्तव में मानव और पशु-श्रम के स्थान पर मशीनो के प्रयोग का अर्थ भी मूलत यही है।

कुछ लोग यह तो मानते है कि मानव और पशु-श्रम को मशीनो के सहयोग की आवश्यकता है, परन्तु एक विशेष सीमा तक ही, और वे मनुष्य के प्रकृति-विजय के प्रयत्नो को भी एक सीमा से आगे नही बढने देना चाहते। उदाहरण के लिए वे हवा से चलने वाली मिल, पानी से चलने वाली मिल, लकडी के साधारण हल, अथवा सूत कातने के चर्खे तक ही यन्त्रो के प्रयोग में बढ सकते है, आगे नही। उनके पास इस प्रश्न का कोई सन्तोषप्रद उत्तर नही है कि प्रकृति पर मानव-विजय की इस प्रारम्भिक स्थिति को पूर्णता तक पहुंचाने का प्रयत्न क्यो न किया जाय।

इसमें सदेह नही कि आधुनिक यन्त्रो के प्रयोग और बहुमात्रा-उत्पादन का परिणाम बहुत भयानक हो सकता है जैसे नगरो में जनसख्या का बाहुल्य होना, और शक्तिशालियो द्वारा निर्बलो का शोषण तथा बहुत बडी सख्या में मज़दूरो का बेहद भद्दे और अस्वास्थ्यकर वातावरण में अशान्तिपूर्ण, सकुचित और दु खद जीवन बिताने के लिए बाध्य होना आदि। पर यह सही नही कि इन बुराइयो से बचने का एकमात्र उपाय आधुनिक ढग से बहुमात्रा-उत्पादन के विचार को तिलाजलि देना ही है। पाश्चात्य देशो के अनुभव ने यह सिद्ध कर दिया है कि राज्य की ओर से यदि समुचित कार्यवाही की जाय और आवश्यक कानून बनाए जायें तो ये बुराइयाँ अवश्य कम हो जायेंगी। यह बात महत्त्वपूर्ण है कि यद्यपि पाश्चात्य देशो में भी लोग वर्तमान आर्थिक व्यवस्था से बहुत अधिक असन्तुष्ट है पर किसी थोडे-बहुत प्रभावशाली व्यक्ति ने भी मशीनो के खत्म किये जाने का कभी सुझाव नही रखा। उनका असतोष उस ढग के प्रति है जो उत्पादित सपत्ति के वितरण में अपनाया जाता है, न कि मशीनों द्वारा उत्पादन के ढगो के प्रति।

निस्सन्देह हमें सावधान रहने की आवश्यकता है कि कही हम जीवन के भौतिक पक्ष को आवश्यकता से अधिक महत्त्व न दे बैठें। पर यह तो भारत जैसे निर्धन देश के लिए स्पष्टत आवश्यक है कि देश की प्रति व्यक्ति सम्पत्ति बढाई जाय और उसके लाखो-करोडो वासियो को जीते रहने-भर में जो कठिनाइयाँ और परेशानियाँ भुगतनी पड रही है उनसे उन्हे मुक्त किया जाय ताकि उनके लिए भी अधिक सुखी जीवन की

सम्भावना हो सके।[1] आधुनिक ढग के उत्पादन-साधनो के प्रयोग के बिना यह सम्भव नही है। यह भी स्मरण रहे कि भारत यदि चाहे भी तो आज वह दूसरे देशो से अलग-थलग नही रह सकता और आधुनिक औद्योगिक प्रणाली के यन्त्रो के निर्माण द्वारा वह वैदेशिक प्रतियोगिता के आघातो को सहने में समर्थ हो सकता है। एफ०एस० डारविन ने मशीनो के प्रयोग के पक्ष में ठीक ही कहा है "मशीन ऐसी चीज़ है जो प्रकृति से चुनौती लेने के लिए मनुष्य की शारीरिक शक्ति का विस्तार करती है, उसे इस योग्य बनाती है कि वह अपनी लम्बी और दक्ष उँगलियो में और सुदृढ मास-पेशियो में बुद्धि की अधिकाधिक प्रेरणा कर सके। जो लोग इसका सिद्धान्तत. विरोध करते हैं, वे मानव जाति के विकास के विरोधी हैं। वे कोई ऐसी सीमा नही बाँध सकते जहाँ तक शक्ति बढाने का प्रयत्न किया जाय और फिर आगे न बढ़ा जाय। क्या मानव-विकास को यन्त्र-सचालित हल तक या मिट्टी काटने की लकडी तक या पाषाण-युगीन मानव की मज़बूत कुल्हाडी तक सीमित रखना चाहिए? इनमें अगर कुछ अन्तर है तो शक्ति और पूर्णता के अवस्थान का। दरअसल, वास्तविक आपत्ति अन्य बातों के प्रति है—औद्योगिक नगर फैक्ट्री-प्रणाली और 'भृति-दासता' आदि के प्रति, पर ये तो सामाजिक व्यवस्थाएँ हैं जो इच्छानुसार बदली जा सकती हैं और इनका प्रकृति पर हमारे शक्ति-विस्तार से कोई अविच्छेद्य सम्बन्ध नही है।"

भारत मे औद्योगीकरण के विरोधी कभी-कभी दूसरा तर्क उपस्थित करते हैं। उनका कहना है कि भारत में उद्योगो का विकास कृषि को हानि पहुँचाकर ही सम्भव हो सकता है, जो कि देश का प्रमुख उद्योग है। इस मत की परीक्षा हम आगे चलकर उद्योगो वाले अध्याय में करेंगे। यहाँ इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि औद्योगिक विकास से कृषि के विकास में बाधा पहुँचने की तो कोई सम्भावना हो ही नही सकती बल्कि उस पर बडा अनुकूल और लाभकारी प्रभाव पडेगा।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि सवेग औद्योगीकरण की आवश्यकता और वाछनीयता में सर्वसाधारण की इतनी प्रबल आस्था है कि जो लोग इसका विरोध करते हैं उनकी सफलता में केवल उतनी ही आशा की जा सकती है जितनी श्रीमती पार्टिंगटन के असमान प्रतिद्वन्द्वी अटलाण्टिक महासागर के साथ सघर्ष करने में।

---

१. भारत की भौतिक उन्नति के विशेष महत्त्वपूर्ण विचार के लिए डार्लिङ्ग कृत रस्टिकस लॉक्विटर, पृष्ठ ३७४, देखिए।

अध्याय ६

कृषि : उत्पादन और निर्यात

१ भारतीय अर्थ-व्यवस्था में कृषि का स्थान—भारतवर्ष के आर्थिक जीवन की सबसे अधिक ध्यान आकर्षित करने वाली विशेषता यहाँ के निवासियो का बहुत बडी सख्या में अन्य व्यवसायो की अपेक्षा कृषि-कार्य में सलग्न रहना है। देश की विशाल जन-सख्या के प्रति चार व्यक्तियो में से तीन की जीविका खेती से ही चलती है। देश में जिस-जिस और जितने अनाज की खपत है लगभग सभी अपने यहाँ खेती से ही प्राप्त होता है और फैक्ट्रियो में काम आने वाले कच्चे माल, जैसे रुई, पटसन और तिलहन आदि भी सब खेती से ही उपलब्ध होते हैं। फिर भी कृषि की वर्तमान स्थिति के अध्ययन से हम डॉ० क्लाउस्टन के निम्नलिखित निराशामूलक शब्दो से सहमत हुए बिना नही रह सकते "भारत में दलित जातियाँ है और उन्ही के समान दलित उद्योग भी हैं, दुर्भाग्य से कृषि-उद्योग भी उन्ही मे से एक है।"[१] हम चाहे जिस मानक से देखें, किसानो के खेतो का विस्तार और स्थिति, उनके प्रयोग में आने वाले औजार और खाद, फसलो के हेर-फेर की पद्धति, बीजो का प्रकार, सिंचाई की सुविधाओ और अन्य भूमि-सुधारों के सम्बन्ध में उनकी स्थिति, विपणन-व्यवस्था, पशुपालन-व्यवस्था, गाँवो के सहायक उद्योग-धन्धे इत्यादि, सभी दृष्टिकोणो से हमें यह कहना पडेगा कि हमारा कृषि-उद्योग पिछडी दशा में है। यह बात प्रति एकड उपज से सिद्ध होती है जो कि अधिक-से-अधिक अन्य देशो की उपज की एक चौथाई है और वह भी अनावृष्टि और अकाल में तो नगण्य-सी रह जाती है।[२]

२ कृषि-विकास की आवश्यकता—अनेक दृष्टिकोणो से कृषि का विकास परमावश्यक है। इससे सर्वसाधारण के आर्थिक जीवन मे विकास और उसके रहन-सहन के स्तर में उन्नति होगी, देश की जनसख्या के लिए पर्याप्त अनाज की प्राप्ति होगी। कृषि की उन्नति की अन्य उद्योगो पर प्रतिक्रिया भी कम महत्त्व की बात न होगी। गाँव की जनता की क्रय-शक्ति का बढना देश की बनी हुई वस्तुओ की खपत के लिए एक बहुत ही अच्छा साधन होगी। कृषि में सुधार होने में यह बात तो निश्चित रूप से निहित ही है कि कृषि में मशीनो का विशेष प्रयोग होगा और इसके फलस्वरूप कृषि-सम्बन्धी और औजारो के निर्माण के लिए बहुत-से कारखाने स्थापित हो जायँगे।[३]

१ कृषि आयोग रिपोर्ट, साक्ष्य-अभिलेख, खण्ड १, भारत सरकार के अधिकारियों की साक्षी।

२ वही, पृष्ठ १४।

३. औद्योगिक आयोग रिपोर्ट देखिए, पृष्ठ ७२।

जैसा कि पहले सकेत किया जा चुका है कृषि-विकास का पक्ष लेने का यह अर्थ कदापि नही है कि भारत के भाग्य में सदैव एकान्तत खेतिहर देश बना रहना ही लिखा है। हमारे मत से तो भारत की स्थिति ऐसी है कि वह एक समृद्ध निर्माण-उद्योग तथा समुन्नत कृपि, दोनो से सम्पन्न देश हो सकता है। इसके अतिरिक्त हमें यह स्मरण रखना आवश्यक है कि बिना औद्योगिक समस्याओ का ध्यान रखे हमारी कृषि-सम्बन्धी समस्याएँ अलग से नही सुलझाई जा सकती । यहाँ इगलैण्ड के औद्योगिक क्रान्ति के दृष्टान्त की ओर ध्यान आकृष्ट करना अप्रासगिक न होगा जहाँ कृषि तथा कारखाने वाले उद्योग दोनो में साथ-ही-साथ परिवर्तन हुआ था, एक उद्योग की उन्नति दूसरे की उन्नति का कारण बनी थी। आवश्यकता से अधिक सख्या में लोगो के खेती पर निर्भर रहने तथा गाँवो में बसने की वर्तमान असन्तोपजनक स्थिति केवल कृषि की उन्नति से दूर नही की जा सकती। कृपि के साथ-साथ अन्य उद्यागो की उन्नति भी परमावश्यक है, जिससे कि जीविका के लिए एकान्तत. भूमि पर निर्भर रहने वालों की संख्या में कुछ कमी आ जाय और नगरो तथा कारखानो से खेती में प्रयुक्त होने के लिए पूँजी निरन्तर मिलती रहे।

वर्तमान भारतीय जागृति कृपि के प्रति ससारव्यापी दिलचस्पी का ही एक अवस्थान माना जा सकता है। १९१४-१८ के महायुद्ध से यह स्पष्टत परिलक्षित हो रहा है। कदाचित् महायुद्ध के पहले कृपि-उद्योग की परम महत्ता को लोग भूल गए थे, पर युद्ध-काल के अनुभव ने कच्चे माल और खाद्यान्न के लिए बाह्य देशो पर निर्भर रहने के भयानक परिणामो को प्रत्यक्ष करके इस उदासीनता का अन्त कर दिया। दूसरे महायुद्ध ने कृपि-उत्पादन के क्षेत्र में अधिक-से-अधिक आत्मनिर्भरता प्राप्त कर लेने की आवश्यकता को पूर्णत सिद्ध कर दिया। बगाल के दुर्भिक्ष ने १९४३ मे भोजन-सामग्री की कमी पूरी तरह पर बडी कष्टमय प्रक्रिया से स्पष्ट कर दी थी। कृपि-उद्योग पुन प्रधान उद्योग के गौरव-पद पर आसीन है और प्रत्येक देश में उसकी पुनर्स्थापना और विकास के विषय में विचार-विमर्श हो रहा है। इगलैण्ड, जिसे हम कारखानो वाले उद्योग का प्राचीनतम देश कह सकते है, वह भी इससे अलग नही है।

३. भारत में विभिन्न फसलों के क्षेत्रफल-सम्बन्धी आँकडे—

तालिका १

१९४९–५० (अंक हज़ार एकड़ों में)

१. सर्वेक्षण के अनुसार	८१०,८०९ [1]
२ गाँवो के कागजादि के अनुसार	६१४,६१० [2]
३ वन	९३,१४३
४ कृपि के लिए अप्राप्य	९६,०२४

१. इन आंकड़ों में २५०० हजार एकड़ भूमि सम्मिलित है जिसके सम्बन्ध में विशेष जानकारी नहीं है तथा पाकिस्तान के अधीन जम्मू-काश्मीर का भाग छोड दिया गया है।

२. मनीपुर तथा अण्डमान-निकोबार द्वीपों की क्रमश' ५,५२२ हजार और २०५८ हजार एकड़ भूमि भी सम्मिलित है।

५ खेती न की जाने वाली अन्य भूमि (जिसमें बजर सम्मिलित नही है)	९८,४००
६ बजर	५८,१७१
७ बोया गया क्षेत्र	२६६,३७२
८ ऊपर ५ के अन्तर्गत कृषि-योग्य भूमि	११,५५४

१९५०-५१ (हजार एकड़ों में)[1]

खाद्यान्न के क्षेत्र—

चावल	७५,९७५	रागी	५,४४४
गेहूँ	२४,१३४	मक्का	७,७९४
जौ	७,७०१	चना	१८,७०९
ज्वार	३८,४१६	अन्य अन्न और दाले[2]	
बाजरा	२२,२६७	कुल खाद्यान्न और दाल	२४४,७७६[3]

फल, शाक तथा जड वाली अन्य फसलें[2]

तिलहन के क्षेत्र

अलसी (तीसी)	३,४४७
तिल	५,६२९
सरसो तथा एक अन्य प्रकार का तिल (रेप)	५,०९७
अन्य तिलहन[2]	

रेशे वाली फसलों का क्षेत्र

कपास	१४,५५६	जूट	१,४५४
रेशेवाली अन्य फसलें[2]		रेशेवाली फसलो का कुल क्षेत्र[4]	

खाद्य-फसलों के अतिरिक्त अन्य फसलें

नील[2]	
अफीम[2]	
कहवा	२२४
चाय	७७७
चारे की किसमें[2]	

अन्य[2]

कुल बोया हुआ क्षेत्र (एक बार से अधिक बोये जाने वाले क्षेत्रफल सम्मिलित है)	३०१,८८६[5]

---

१ ये तालिकाएँ १९५४ में प्रकाशित स्टेटिस्टीकल एब्स्ट्रेक्ट, १९५१-५२ से तैयार की गई हैं।

२. इनके आंकड़े १९४९-५० के हैं तथा भूमि-उपयोग आँकड़ों से सम्बन्धित हैं।

३ १९४९-५० से सम्बन्धित 'अन्य खाद्यान्न और दालों के आंकड़े' इसमें सम्मिलित हैं।

४ १९४९-५० से सम्बन्धित आँकड़ों के सम्मिलित होने के कारण नहीं दिये गए।

५ यह क्षेत्रफल १९४९ ५० का है।

४. प्रमुख फसलों की अनुमानित उपज तथा क्षेत्रफल—

तालिका २

(संख्या हजारों में)

	क्षेत्रफल (एकडो में)	उत्पादन (टनो में)
चावल	७६,६४६	२७,०७६
ज्वार	४२,६६०	७,६६१
बाजरा	२८,८२०	४,२४६
गेहूँ	२६,०६८	७,७६२
चना	१८,८६३	४,५५१
गन्ना	३,५६८	४,६१४[1]
कपास (३६२ पौ० की गाँठो में)	१७,०२७	३,६३५
जूट (४०० पौ० की गाँठो मे)	१,१६६	३,१२८
अलसी	३,३६६	३५५
सरसो	५,३७३	८२६
तिल	६,१३२	५३१
अरण्डी (रेंडी)	१,३६८	१०७
मूँगफली	११,३५६	३,७७२[2]

तालिका ३

१९४९-५० (हजार एकड़ो में)

राज्य	गाँव के कागजात के अनुसार क्षेत्रफल	वह क्षेत्रफल जिस पर खेती की जाती है		वह क्षेत्रफल जिस पर खेती नही की जाती		वन
		वोया हुआ क्षेत्र	वर्तमान वजर	खेती के लिए अप्राप्य क्षेत्र	वजर को छोडकर खेती न किये जाने वाले अन्य क्षेत्र	
आसाम	३३,४००[3]	५,५७०	१,७३६	४,२४८	१६,६४६	४,०६२
विहार	४४,७६०	२२,८४८	४,७३७	३,७४७	५,५७४	७,८८४
वम्वई	७०,२१२[3]	४१,०८२	७,०४२	८,४७३	२,०६८	६,६१४
मध्य प्रदेश	८३,१०४	२८,४५६	४,६१६	५,८१७	२०,२६७	२३,६४५
मद्रास	८०,७५७	३१,३०८	६,७१६	१४,६४७	११,२७२	१३,८१४
उडीसा	१८,२६४	६,३५६	१,१६६	४,७३६	३,४६८	२,५०२
पंजाव	२३,२०८	११,६४८	१,८८०	६,०३४	२,५८७	७५६
उत्तर प्रदेश	७२,२२४	३६,७६६	२,५६२	११,८३४	१०,२४०	७,८१६
पश्चिमी वगाल	१६,५४६	११,७२०	१,१५६	३,०४६	१,६११	१,७१३
मध्य भारत	२७,६२५	१०,७५२	१,१०६	६,२१५	६,६६६	२,८८०
मैसूर	१७,३८५	६,४५६	१,८०७	५,७०५	१,४६०	१,६५७
अजमेर	१,५६१	३६६	२४७	५६५	३०३	४७
कुर्ग	१,०१२	१७०	३५	२५०	२२६	३३१
दिल्ली	३६६	२२५	११	८०	५०	.. [3]

१. उत्पादन गुड का है।   २. यह उत्पादन छिलके सहित मूँगफली का है।

३. आसाम के आंकडों में ८,३५,००० एकड भूमि और वम्बई के आंकडों में, वनसकण्ठा जिले की

४ विस्तृत और घनी खेती की सम्भावनाएँ—कुल भूमि का (जगलो को सम्मिलित करने पर) ३१ प्रतिशत[1] कृषि के लिए अप्राप्य है। कुल भूमि का केवल ५२ ५ प्रतिशत भाग जोता-बोया जाता है। यदि सारी परती भूमि और अन्य खेती के अयोग्य भूमि को सम्मिलित कर लिया जाय तो कुल भूमि के लगभग २६ प्रतिशत हिस्से में खेती का विस्तार सम्भव है। भिन्न-भिन्न राज्यो में कितनी भूमि खेती के प्रसार के लिए प्राप्त हो सकती है यह तालिका न० ३ से ज्ञात हो सकता है। इस तालिका में दिखाया गया है कि १९४९-५० में प्रमुख राज्यो में कितनी भूमि में खेती हो रही थी और कितनी में नही।

देखने से पता लगता है कि खेती के विस्तार के लिए विशेपकर आसाम, मद्रास और मध्यप्रदेश मे बहुत गु जायश है। परन्तु अध्ययन करने पर हम इस परिणाम पर पहुँचते है कि भारत में विस्तृत ढग की खेती के बढाने की बहुत कम आशा है। बगाल मद्रास, उत्तरप्रदेश और बम्बई जैसे प्राचीन प्रदेशो मे कृषि करने में कम-से-कम कठिनाई का मार्ग अपनाया गया है, और सभी अच्छी भूमि पर खेती हो रही है। जो खराब भूमि है उसे तोडना बाकी है। ऐसी भूमि पर जब तक सिंचाई की पर्याप्त सुविधाएँ नही प्राप्त होती खेती सम्भव नही हो सकती। ऐसी ही परिस्थिति पजाब, मध्यप्रदेश, आसाम जैसे नये राज्यो मे भी धीरे-धीरे पैदा होती जा रही है, जहाँ पर यद्यपि सारी अच्छी भूमि खेती के अन्तर्गत अभी नही आ पाई है फिर भी अनेक कठिनाइयो का सामना करना है। पजाब में खेती के विस्तार के लिए पहले सिंचाई के साधनो की उन्नति करना अनिवार्य है। यद्यपि बम्बई और मध्यप्रदेश आदि राज्यो की अपेक्षा वहाँ सिंचाई सुगम है, फिर भी वहाँ की आर्थिक और भौतिक परिसीमाएँ नगण्य नही है। भूगर्भ-शास्त्रीय सर्वेक्षण के आधार पर यह पता लगाने की कोशिश की जा रही है कि जल विद्युत के विकास की सम्भावनाएँ कहाँ तक है। आसाम में वहाँ की अस्वास्थ्यकर जलवायु के अतिरिक्त उपयुक्त श्रम की अप्राप्यता कृषि की उन्नति में एक बडी बाधा है। इसलिए जहाँ खेती योग्य बहुत-सी बेकार भूमि पडी भी है, उसका कभी उपयोग किया जा सकेगा इसकी आशा भी बहुत अधिक नही है। इस अनुच्छेद के अन्त में दिये हुए आँकडे भी इस निष्कर्ष की पुष्टि करते है। इन आँकडो से पता चलता है कि पिछले वर्षो में भारत के ब्रिटिश-अधीन भाग में बोये हुए खेतो के क्षेत्र में वृद्धि बडी मन्द गति से हुई है। कभी-कभी तो इस क्षेत्र में कमी भी हुई है।

कृषि की समस्याओ का घनी खेती में अधिक आशाजनक समाधान दिखाई पडता है। घनी खेती की सफलता सिद्ध करने के लिए जापान का उदाहरण दिया जा सकता है जहाँ ५६,०००,००० लोगो का १७,०००,००० एकड भूमि की खेती पर भरण-पोषण हो रहा है जिसका अर्थ है कि प्रति व्यक्ति के हिस्से ३/१० एकड खेती की भूमि पडती है जबकि भारत में प्रति व्यक्ति के हिस्से ५/६ एकड भूमि आती है।[2] यद्यपि भारत में खेती

२६,०३,००० एकड भूमि भी सम्मिलित है, जिनके विषय में विशेष जानकारी नहीं है। दिल्ली का वन-क्षेत्र ५०० एकड से भी कम है।

१ यह तथा अन्य आँकडे कामर्स, एनुअल नम्बर १९५४ से लिये गए हैं। —अनुवादक

२ देखिए, एम० विश्वेश्वरय्या, 'रिकन्स्ट्रक्टिंग इण्डिया', पृ० १७४।

निर्भर रहने वालो की बहुत बडी संख्या के कारण और खेतो के छोटे-छोटे टुकडो में होने के कारण, विस्तृत खेती का ढग बहुत ही अनुपयुक्त है फिर भी यहाँ अभी तक ग्रुनिक वैज्ञानिक ढग पर घनी खेती का गम्भीरतापूर्वक आरम्भ नही हुआ है। डॉ० न्यू० वर्न्स ने अपनी टिप्पणी 'भारत में कृषि के औद्योगिक विकास की सम्भावनाएँ' क्नोलॉजिकल पॉसीबिलिटीज़ ऑफ एग्रीकल्चरल डैवेलपमेण्ट इन इण्डिया) में इस ा में विकास की सम्भावनाओ पर प्रकाश डाला है।

वर्ष	बोये हुए खेतो का वास्तविक क्षेत्रफल (दस लाख एकड की संख्या में)	
१८९२-९३	१९५ ९१	बर्मा को मिलाकर
१९०१-२	१९९ ७१	
१९१०-११	२२३ ०६	
१९२१-२२	२२३ १८	
१९२७-२८	२२३ ८६	
१९३०-३१	२२९ १२	
१९३२-३३	२२८ ०८	
१९३३-३४	२३२ २५	
१९३४-३५	२२६ ९८	
१९३५-३६	२०९ ७१	बर्मा को छोडकर
१९३७-३८	२१३ ४९	
१९३८-३९	२०९.४०	
१९४०-४१	२१३ ९६	
१९४२-४३	२१५ ९३	
१९४३-४४[1]	२४६ २८	
१९४४-४५	२४५ ६६	
१९४५-४६	२४१ ९१	
१९४६-४७	२४२ ७७	
१९४७-४८	२४५ ५०	
१९४८-४९	२४८ ९६	
१९४९-५०	२६६ ३७	

. **फसलों की सापेक्षिक महत्ता**—भारत में कृपि-उत्पादन में अनाज की फसलो का यान सर्वोपरि है। 'यहाँ के लोग अधिकतर शाकाहारी है। रेशे और बीज निर्यात ी सबसे प्रमुख चीजें है। भारतीय किसान प्रधानत अनाज की फसलो का उत्पादक । उसके चौपाये खेती तथा परिवार के भरण-पोषण में सहायक होते है। मास, ऊन ौर डेरी-उत्पाद देश से बाहर नही भेजे जाते।'[2] विभिन्न फसलो के अलग-अलग क्षेत्रो ो देखा जाय तो कृषि-उत्पाद के स्वरूप की विविधता का पता लग जाता है जिसके ारण देश प्राय खाद्यान्न के सम्भरण तथा अनेक प्रकार के कच्चे माल के लिए

. १९४३-४४ से १९४९-५० तक के आंकड़े स्टेटिस्टिकल एब्स्ट्रैक्ट, इण्डिया, १९५१-५२, पृ० ०६ से लिये गए हैं।

ए० हॉवर्ड, 'क्राप प्रोटक्शन', पृ० ६१।

आत्म-निर्भर है। विभिन्न फसलो के सापेक्षिक महत्त्व का आभास भी इससे मिल जाता है। अनाज की खेती सबसे अधिक होती है। ७९ ९८७ प्रतिशत कृषि-भूमि अनाज उपजाने में और बाकी २० ०१३ प्रतिशत अन्य फसलें उपजाने के काम आती है। ससार-भर में मूल्यो के बढ जाने पर अनाज की फसलो की अपेक्षा तिलहन, रुई और पटसन की फसलो में अधिक भूमि का उपयोग करने की प्रवृत्ति देखी गई है। अनाज की फसलो में धान का स्थान सबसे पहला है। गेहूँ, ज्वार, बाजरा और चने का स्थान इसके बाद है। अनाज के अतिरिक्त अन्य फसलो में रेशे वाली फसलें जैसे रुई, पटसन आदि महत्त्वपूर्ण वर्ग में आती है और कुल कृषि-भूमि के ७ ७ प्रतिशत हिस्से में ये ही फसलें उगाई जाती है। अनाज के अतिरिक्त जो फसलें होती है उनमें एक और समान महत्त्व का वर्ग तिलहन का है और ६ ७५ प्रतिशत कृषि-भूमि में इस वर्ग की फसलें बोई जाती है।[1]

७ भारत की प्रमुख फसलों का सर्वेक्षण[2]—(क) अनाज की फसलें[3] (१) चावल— चावल भारत की प्रमुख फसल है। यह देश के अधिकाश लोगो के भोजन का प्रधान अग है। इसकी खेती कुल कृषि-भूमि के ३२ प्रतिशत[4] हिस्से में होती है। यह फसल उपजाने वाले खेतो का क्षेत्रफल ब्रिटिश भारत में ६८८ ५ लाख लाख एकड[5] भूमि था। सन् १९४०-४१ में इसकी उपज २ करोड २० लाख टन थी। १९४३-४४ के आँकडे थे ७ करोड ६ लाख एकड भूमि और २ करोड ९० लाख टन उत्पादन।

१ इस सम्बन्ध में आधुनिक आँकडे इस प्रकार है

६७ ३ प्रतिशत अन्न की फसले।

५ ३ प्रतिशत रेशे वाली फसलें।

० १ प्रतिशत, तिलहन। —इण्डिया एट ए ग्लान्स (१९५३), पृ० ५६१।

२ इस सर्वेक्षण के लिए निम्न पुस्तकों से सहायता ली गई है—

(i) एग्रीकलचर एण्ड एनीमल हसबेण्टरी इन इण्डिया (वार्षिक)।

(ii) एस्टीमेट्स ऑफ एरिया एण्ड यील्ट ऑफ द प्रिन्सिपल क्राप्स इन इण्डिया (वार्षिक)।

(iii) द क्राप एटलस ऑफ इण्डिया।

(iv) काटन, 'हैण्डबुक ऑफ कमर्शियल इन्फर्मेशन फॉर इण्डिया', तीसरा सस्करण (१९३७)।

(v) हॉवर्ड, (पूर्व उद्धृत)।

(vi) कृषि आयोग रिपोर्ट (१९२८)।

(vii) रिव्यू ऑफ द ट्रेड ऑफ इण्डिया, (वार्षिक)।

(viii) इण्डियन फाइनेन्स, ईस्टर्न ग्र प नम्बर (१९४०), पृ० १८४-१९७।

३ अनाज की फसलें अनेक खाद्य सामग्री बनाने वाले उद्योगों का आधार है। जैसे, आटा पीसने की मिले, परिष्करणी, नानबाई की दुकान, मिठाइयाँ, नाश्ते का सामान तैयार करने वाली दुकानें, तरकारियों और फलों को टिब्बों में बन्द करने वाले, सुखाने वाले, उनका माल्ट बनाने वाले तथा माल्टयुक्त सामान बनाने वाले, तरह-तरह के विटामिन और प्रोटीन निकालने वाले कारखाने तथा बिनौलो से घी तैयार करने वाले कारखाने आदि। अनाज का प्रयोग स्पिरिट और पॉवर अलकोहल तैयार करने में भी किया जाता है।

४ अब २६ प्रतिशत—इण्डिया एट ए ग्लान्स (१९५३), पृ० ५६१।

५ यह क्षेत्रफल १९५०-५१ में ७,५९,७५,००० एकड था।—स्टैटिस्टकिल एब्स्ट्रैक्ट, इण्डिया, १९५१-५२, पृ० ५१४।

र्मा के भारत से अलग करने से पहले भारत की चावल की उपज सारे ससार की पज के अनुपात में ४० प्रतिशत थी और ससार में सबसे अधिक चावल का निर्यात ी यही से होता था, यद्यपि उसका औसत निर्यात उसकी कुल उपज के ७ अथवा प्रतिशत से अधिक कभी नही हुआ। वर्मा के अलग हो जाने के वाद भारत का चावल ा निर्यात नगण्य हो गया। (१६३६-४० में कुल उपज का केवल १ प्रतिशत था।) ौर अव केवल लका, अरव और अफ्रीका के उन प्रदेशो को ही भेजा जाता है जहाँ ी आवादी विशेष रूप से भारतीयो की ही है। चावल की उपज इतनी अधिक मात्रा होने पर भी काफी चावल विदेशो से, जिनमें वर्मा मुख्य है, मँगाया जाता है। इस कार १६३६-४० में भारत ने २,६२,००० टन चावल वाहर भेजा और १८,८७,००० न वाहर से मँगाया।[1]

ससार-व्यापी आर्थिक मन्दी के कारण आरम्भ से ही भारतीय चावल की माँग कमी आ गई। इस क्षति की थोडी-वहुत पूर्ति इसलिए हो गई कि इगलैण्ड में ारतीय चावल को अधिमान्यता दी जाती रही। १६३६-४० में ब्रिटेन द्वारा केवल ००० टन चावल खरीदा गया। १६४१ के अन्त तक भारत मे चावल का आयात याम (थाइलैण्ड), फ्रान्सीसी हिन्दचीन और जापान से वहुत अधिक वढ गया। यह ावलो की टूटन थी और प्राय मद्रास में उतरती थी। यह धान कूटने की मिलो का क प्रकार का उप-उत्पाद था और इसने चावल के स्थानीय मूल्य को वहुत घटा दिया। प्रैल १६३५ मे भारतीय चावल पैदा करने वालो के सहायतार्थ टूटे चावलो पर वारह ाना प्रतिमन का सरक्षण-कर लगा दिया गया और वह तव से लागू है। इस कर कारण चावल के आयात पर विशेपकर थाइलैण्ड से, एक प्रकार की रोक लग गई ौर इसके कारण धीरे-धीरे आयात में कमी होने लगी। १६३४-३५ के २,८३,००० न के आयात की तुलना में सन् १६३६-३७ में चावल का आयात घटकर केवल ८,००० टन रह गया। सन् १६३६-४० में धान का आयात वर्मा से ४३,००० टन, हन्दचीन से २,६२,००० टन और थाईलैण्ड से ३४,००० टन हो गया। जुलाई १६४३ चावल का निर्यात वन्द हो गया। भारत के अग्रेजी शासनाधीन भाग से १६४३-४४ (विशेष रूप से १६४३ के अप्रैल से जुलाई तक के चार महीनो मे) चावल का र्यात २७,००० टन था जव कि पिछले वर्ष के निर्यात के आँकडे २,५५,००० टन के थे। समें से सबसे बडा भाग लका का था जिसने २६,००० टन चावल का निर्यात िया था।

धान की खेती भारत के वहुत भागो में होती है, नम और तर भागो में शेष रूप से। निम्न तालिका में यह दिखाया गया है कि भिन्न-भिन्न प्रदेशो में कितने ाख एकड भूमि में चावल पैदा किया जाता था।[2]

---

[1] सन् १६४५ से निर्यात लगभग वन्द हो गया और भारत चावल का आयात करने वाला देश रह ा। सन् १६४८ से चावल का औसत आयात ५ लाख टन प्रतिवर्ष था।—इण्डिया एट ए ग्लान्स, ५६३।

[2] इस सम्बन्ध में हाल के आकडे इस प्रकार है

राज्य	१९४०-४१	१९४३-४
बगाल	२१ ९९	२६ ६१
बिहार	९ ९५	९ ९८
उडीसा	५ १४	५ ११
मद्रास	९ ८५	१० ९२
उत्तर प्रदेश	७ २९	७ १०
मध्यप्रदेश	५ ७९	५ ८७
आसाम	५ ४४	५ ६३
वम्वई	१ ९७	२ ००

पूर्वी प्रदेशो के निवासियो का तो चावल मुख्य भोजन है। यह जाडो की फसल है, जो दिसम्वर और जनवरी में काटी जाती है। भारत के भिन्न-भिन्न भागो में भिन्न-भिन्न प्रकार का धान वोया जाता है। इसकी किस्मो की सख्या स्थानीय परिस्थितियो और लोगो की जानकारी पर निर्भर होती है। प्रदेशो के कृपि-विभाग इस फसल की जटिलता और विस्तार के ही कारण सम्भवत पहले इसमें कोई उन्नति नही कर सके। पर इधर हाल में कृषि-गवेपणा की साम्राज्यिक परिपद[1] (इम्पीरियल काउन्सिल ऑफ एग्रिकल्चरल रिसर्च) के तत्त्वावधान म भी खोज हुई है उसमें कुछ सफलता मिली है। यहाँ १९३४ की फसल-योजना सम्मेलन (क्रॉप प्लानिंग कान्फ्रेन्स) की सिफारशो के अनुसार चावल-सम्वन्धी खोज के लिए एक स्थायी समिति की नियुक्ति भी कर दी गई है।

युद्ध-काल में वर्मा की हार के कारण देश में चावल की स्थिति बहुत खराव हो गई और १९४२-४३ में विशेप रूप से वगाल में इसके परिणामस्वरूप अन्न-सकट हुआ। चावल के थोक मूल्य का सूचनाक (आधार १९ अगस्त १९३९=१००) अप्रैल १९४३ में मार्च के सूचनाक ४९६ से वढकर ६३४ हो गया। अगले महीनो में मूल्य तेजी से वढा और उसके फलस्वरूप अगस्त के महीने का सूचनाक १,०३४ हो गया जो कि वगाल के अन्न-सकट का सवसे अधिक कष्ट का समय था। उस प्रान्त की स्थिति इतनी गम्भीर

	१९५०-५१ (हजार एकड़ों में)
प० वगाल	९,८०२
विहार	१४,४९०
उड़ीसा	९,५७२
मद्रास	९,८८१
उ० प्र०	९,५१९
मध्य प्रदेश	८,९४७
आसाम	४,०४३
वम्वई	३,००१

—स्टेटिस्टिकल एब्स्ट्रेक्ट ऑफ इण्डिया, १९५१-५२, पृ० ५१४।

१ अव यह 'साम्राज्यिक' न होकर 'भारतीय' है।

हो गई थी कि भारत सरकार को उत्तर-पूर्वी प्रदेश को स्वतन्त्र व्यापार-क्षेत्र घोषित करके अपनी नीति में बहुत बडा परिवर्तन करना पडा। पर कुछ ही महीने बाद जुलाई १९४३ में ही उन प्रान्तो के आपत्ति प्रकट करने पर, जिनको यहाँ से अनाज मिलना कठिन हो गया था अथवा जहाँ अनाज का मूल्य बहुत ऊँचा हो गया था, सरकार को स्वतन्त्र व्यापार-नीति को त्यागना पडा। इसके पश्चात् उत्तर-पूर्वी प्रदेश से आने वाले प्रान्तो मे पुन मूल्य-नियन्त्रण लागू कर दिया गया।

भारत में चावल की खेती का क्षेत्र १९४२-४३ के ७ करोड ५२ लाख एकड से बढकर १९४३-४४ में ८ करोड एकड हो गया, यानी लगभग ६ प्रतिशत की वृद्धि हुई।[1] यह वृद्धि 'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन का परिणाम थी। १९४३-४४ मे चावल की उपज भी काफी बढी। यह १९४२-४३ में २ करोड ४९ लाख टन थी और १९४३-४४ में बढकर ३ करोड ६ लाख टन हो गई, अर्थात् करीब २३ प्रतिशत की वृद्धि हुई। उपज में यह बढोतरी बगाल में विशेष रूप से हुई। १९४२-४३ में ७० लाख टन से १९४३-४४ मे १ करोड १८ लाख टन, यानी लगभग ६८ प्रतिशत बढ गई। चावल के सम्भरण की स्थिति सुधरने और अक्तूबर १९४३ के बाद मूल्य घटने का कारण मुख्यत १९४३-४४ की बढी हुई उपज ही थी। आसाम और बिहार में बाजार-भाव नियत्रित मूल्य से नीचे था। सामान्य सूचनाक १९४४ मार्च तक घटकर ३६४ हो गया था जब कि मार्च १९४३ में वह ४९६ था, यह लगभग २७ प्रतिशत की कमी हुई। उत्तरी भारत मे चावल के भाव मे भारी अन्तर था, इसलिए कानून द्वारा अधिकतम मूल्य निर्धारित नही किया जा सका। पर इस बात मे जल्दी ही सब लोग सहमत हो गये कि भाव निर्धारित करने के लिए समुचित स्तर क्या होना चाहिए। भावो के मूल्य-नियन्त्रण से पूर्व यह भी निश्चय हुआ कि प्रत्येक प्रान्त भाव घटाकर उसी स्तर पर ले आने का प्रयत्न करे। इस काल में चोर-बाजारी की बडी धूम थी इसलिए सूचनाक, माँग और सम्भरण की असली स्थिति के विश्वसनीय द्योतक नही माने जा सकते।[2]

२. गेहूँ—कृषि-क्षेत्र के विस्तार की दृष्टि से चावल के बाद गेहूँ का स्थान है। खेती की कुल जमीन के लगभग ११% हिस्से[3] में गेहूँ की खेती होती है। गेहूँ रबी की

---

१. १९५१-५२ में चावल की खेती का क्षेत्रफल ७५,५९५,००० एकड और उत्पादन २०,७६७,००० टन था—टाइम्स ऑफ इण्डिया डाइरेक्टरी एण्ड इण्डियन ईयर बुक, १९५४।

२ भारत में चावल की माग और सम्भरण का सन्तुलन इस समय तक नहीं हुआ है। सन् १९४८ से १९५२ तक चावल का निर्यात नहीं हुआ। खपत के लिहाज से देश का उत्पादन कम है। सदैव ही कुल उत्पादन के ८ या १० प्रतिशत की कमी पड़ती है। पिछले तीन वर्षो में चावल का आयात इस प्रकार था ·
१९५०—३.५ लाख टन, १९५१—७ ५ लाख टन, १९५२—७ २ लाख टन।

सन् १९५१-५२ में चावल की खेती के क्षेत्रफल और उत्पादन की चर्चा पिछले फुटनोट में कर चुके है। चावल की खेती का क्षेत्र लगातार बढ़ता रहा है। यह वृद्धि मुख्यत मध्यप्रदेश और बम्बई में हुई है, परन्तु किसी भी क्षेत्र में चावल की प्रति एकड़ उपज में कोई वृद्धि नहीं हुई है। इस विषय के विशेषज्ञों का अनुमान है कि यद्यपि चावल की खेती का क्षेत्रफल बढ़ता रहा है, परन्तु प्रति एकड़ उपज कमी की ओर जा रही है। अब यह—११ ९ प्रतिशत है—इण्डिया एट ए ग्लान्स (१९५३), पृ० ५९४।

३ अब यह ११ ९ प्रतिशत है।

फसल है जो अक्तूबर से दिसम्बर तक बोई जाती है और मार्च से मई तक काटी जाती है। यह पजाब तथा उत्तर प्रदेश के लोगो का मुख्य भोजन है। अन्य प्रदेशो में इसे विशेषकर बाहर भेजने के लिए ही बोते है। १६४०-४१ में गेहूँ की खेती ३,४८, ६०,०००[1] एकड भूमि में की गई थी। गेहूँ पैदा करने वाले मुख्य प्रदेश और उनकी उपज नीचे दी हुई सारिणी से ज्ञात हो सकती है[2]

प्रदेश और रियासतें	उत्पत्ति (दस लाख टन में)			
	१६४०-४१	१६४१-४२	१६४२-४३	१६४३-४४
पजाब	६ ८८४	१० ००८	१० ४६३	६ ६८६
उत्तरप्रदेश	७ ६३५	७ ८७३	७ ५४६	७ ६७२
मध्य प्रदेश और बरार	३ २२६	२ ८५१	२ ५४४	२ ६६८
मध्य भारतीय रियासतें	२ २१२	१ ६३५	२ ०३६	१ ६५४
बम्बई	१ ७५२	१ ५६४	१ ३२६	१ ५६२
बिहार	१ ०६६	१ ३००	१ २८०	१ २२१
ग्वालियर	१ ५३३	१ ३२६	१ ३२८	१ ३३४
हैदराबाद	१ ०६०	१ १२५	० ६६५	० ६६६
पजाब की रियासतें	१ ५२२	१ ६१६	१ ७६८	१ ६३५
राजपूताना की रियासतें	१ ३४७	१ २२०	१ ५३५	१ ६६७

गेहूँ की फसल के अन्तर्गत कुल क्षेत्र का १/३ और कुल उपज का ३/४ भाग सिर्फ उत्तर प्रदेश और पजाब में मिलाकर होता है। ससार की गेहूँ की उपज का १/१० भाग भारत में पैदा होता है। १६१४-१८ के महायुद्ध के पहले गेहूँ का निर्यात करने वाले पांच मुख्य देशो के नाम क्रम से ये थे सयुक्तराष्ट्र, रूस, कनाडा, अरजेन्टाइन गणराज्य तथा भारत "उत्पादन के दृष्टिकोण से भारत का स्थान तीसरा है" (काटन)। उस युद्ध के समय भारत में गेहूँ के अन्तर्गत भूमि का क्षेत्र सरकारी खरीद के कारण २८,४७०,००० एकड से बढकर ३४,८६०,००० एकड हो गया था। १८७० में स्वेज नहर के खुल जाने

१ यह क्षेत्रफल १६५१-५२ के अन्तिम अनुमान के अनुसार २३,२३५,००० एकड़ है।

२ इन क्षेत्रों का वर्तमान (१६५०-५१) उत्पादन का परिमाण नीचे (हजार टनों में) दिया गया है।

पजाब	२,६६०
उत्तर प्रदेश	८,१६३
मध्य प्रदेश	२,६२३
मध्य भारत	१,६६१
बम्बई	२,०७५
बिहार	१,४५४
हैदराबाद	४४८
पैप्स	६३८
राजस्थान	१,३१०

के बाद से गेहूँ का निर्यात-व्यापार निरन्तर बढता जा रहा है। निर्यात की मात्रा भारत तथा ससार के अन्य भागो में मौसम के परिवर्तन के आधार पर बदलती रहती है। अकाल के समय स्थानीय मूल्य इतना बढा हुआ होता है कि निर्यात बहुत घट जाता है। १६१४-१८ के महायुद्ध के पहले के पाँच वर्ष का औसत निर्यात १,३०८,००० टन था जिसका मूल्य १३ करोड ६६ लाख रुपये था अर्थात् कुल गेहूँ की उपज का १४ प्रतिशत था। तब से और विशेष रूप से पिछले वर्षो में गेहू का निर्यात बहुत घट गया है। कुछ वर्षों तक तो भारत ससार के बाजार में बहुत ही कम मात्रा में गेहू भेज सका। १६३५-३६ में निर्यात की मात्रा ६६,००० टन थी जिसका मूल्य साढे नौ लाख रुपया था जबकि १६३१-३२ में २०,२०० टन थी जिसका मूल्य १५ लाख रुपया था। लडाई के बाद वाले पहले पाँच वर्षो यानी १६१८ से १६२३ तक के औसत निर्यात २३७,००० टन था जिसका मूल्य ३ करोड ७० लाख रुपये था। अन्य देशो की तुलना में भाव में किफायत होने के कारण १६३६-३७ में भारत से काफी गेहूँ बाहर भेजा गया। निर्यात की मात्रा २,३१,५०० टन थी जिसका मूल्य २ करोड साढे नौ लाख रुपया था। १६३७-३८ में इन्ही कारणो से निर्यात बढकर ४६०,००० टन हो गया जिसका मूल्य ४ करोड ६२ लाख रुपया था। १६३८-३६ में स्थिति कुछ खराब हुई। अमेरिका और कनाडा मे गेहूँ की अच्छी फसल होने से भारत के निर्यात में कमी आ गई और केवल २७६,००० टन गेहूँ जिसका मूल्य २ करोड़ ४८ लाख रुपया था बाहर भेजा गया। १६३६-४० मे तो गेहू का निर्यात और भी घट गया और उसकी मात्रा कुल ७,८०० टन रह गई जिसका मूल्य १० लाख रुपया था। निर्यात में इतनी भारी कमी का कारण था कि ससार के बाजारो में द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ से पहले मूल्य कम हो गए थे[१] तथा कनाडा और अर्जेन्टाइना आदि अन्य निर्यातक देश अधिक मात्रा में गेहू भेजने लगे थे। भारत का निर्यात आस-पास के देशो तक ही सीमित था। केवल बर्मा ही ३५०० टन खरीदता था। आयातक और निर्यातक दोनो तरह के देशो में १६१४-१८ के महायुद्ध के बाद (आर्थिक सहायता और आयात प्रतिबन्धो के सहारे) खेती का अलाभ-कर ढग से विस्तार हुआ है और गेहू सम्बन्धी अन्तर्राष्ट्रीय समस्या का मूल भी यही है।

इतनी अधिक प्रतियोगिता और गिरे हुए मूल्यो के कारण भारत को इन दिनो अन्तर्राष्ट्रीय बाज़ार से केवल अलग ही नही रहना पडा वरन् उसे अपने किसानो के हित के विचार से बाहर से आने वाले सस्ते गेहूँ और सस्ते आटे पर कर भी लगाना पडा। मार्च १६३१ में जो कर (गेहू आयात शुल्क अधिनियम के अन्तर्गत) २ रु० प्रति हुन्ड्रेडवेट था, वह अप्रैल १६३५ में घटाकर १ रु० ८ आ० और अप्रैल १६३६ से १ रु० कर दिया गया। क्योकि भारतीय और आस्ट्रेलिया के गेहू के मूल्य का अन्तर भी घट गया था। १६३६-३७ मे गेहू का आयात नही के बराबर था। इसकी मात्रा केवल १०० टन हो गई थी जबकि १६३३-३४ में १८,३०० टन थी। मूल्य के बढ जाने से

१. सन् १६४४-४५ में भारत से १५०० टन गेहूँ, जिसका मूल्य ३६६ हजार था, का निर्यात हुआ। उसके बाद सन् १६५१-५२ तक कोई निर्यात नहीं हुआ।

३१ मार्च १९३७ को आयात कर हटा दिये गए। किन्तु इसके बाद आयात किया हुआ गेहूँ भारत के प्रमुख बन्दरगाहो में बहुत सस्ते भाव पर पहुँचने लगा अत जनवरी १९३९ के भारतीय (सशोधन) अधिनियम के अधीन गेहूँ की खेती करने वाले किसानों के हित को ध्यान में रखते हुए ३१ मार्च १९४० तक की थोडी अवधि के लिए गेहूँ अथवा गेहूँ के आटे पर १ रु० ८ आ० प्रति हन्ड्रेडवेट आयात कर लगा दिया। बाद में यह कर ३१ मार्च १९४१ तक के लिए बढा दिया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत में गेहूँ का आयात १९३८-३९ के १५९,०६२ टन से घटकर १९३९-४० में ८५,५०६ टन हो गया। देश में काम आने के लिए लगभग १ करोड टन गेहूँ बचता है और देश की आवश्यकता में इधर कोई विशेष परिवर्तन भी नही हुआ है। यह कहने की आवश्यकता नही है कि जनता को कष्ट से बचाने के लिए भारत को वर्तमान परिस्थिति में गेहूँ तथा अन्य खाद्य सामग्री बाहर से मँगाने के लिए अलग से प्रयत्न करना आवश्यक हो गया है।[1]

परिवहन और सिंचाई के साधनो के विकास के कारण पजाब के नये नहर उपनिवेशो को गेहूँ की खेती करने में बहुत प्रोत्साहन मिला है। किसी जमाने में भारतीय गेहूँ गन्दा समझा जाता था। पर इसका कारण लापरवाही के साथ गेहूँ के दानो का भूसे से अलग करना या धरना-उठाना इतना नही था जितना कि अग्रेजी अनाज व्यापार की परम्परा के अनुरूप उसमें मिलावट करना। १९४७ से इस ओर बहुत उन्नति हुई है। जबसे कृषि-विभाग ने १२ न० पूसा गेहूँ का उपयोग शुरू कराया है, उसकी किस्म सुधर गई है। ससार के बाजारो में कनाडा और अमेरिका के गेहूँ के बराबर मूल्य प्राप्त करने के लिए इसकी किस्म और अधिक सुधारने की आवश्यकता है।[2]

३ जौ—यह विशेषकर उत्तर प्रदेश (४८,१२,००० एकड), बिहार (९०५,००० एकड) और पजाब (३९८,००० एकड) में[3] उगाया जाता है। इसकी खपत विशेष रूप से देश में ही होती है, इसलिए बहुत कम बाहर भेजा जाता है। १९३९-४० में इसका निर्यात ५०० टन था जिसका मूल्य ७५ हजार रुपया था। यह मनुष्यो के अतिरिक्त पशुओ को भी खिलाया जाता है।

---

१ देश में गेहूँ की खपत अधिक होने के कारण उसका आयात आवश्यक है। चावल की खपत कम करने के लिए भी उसकी जगह गेहूँ और गेहूँ की वस्तुएँ ही प्रयुक्त की गई हैं। अनुमान है कि आगामी वर्षो में लगभग २० लाख टन गेहूँ बाहर से मँगाना आवश्यक हो जायगा। पिछले तीन वर्षो में गेहूँ का आयात निम्न था

(लाख टनों में)

१९५०	१९५१	१९५२
१.४१	३.०२	२.५१

२ गेहूँ में सुधार करने के लिए भारतीय कृषि अनुसन्धान परिषद् (इण्डियन काउन्सिल ऑफ एग्रीकल्चरल रिसर्च) सतत प्रयत्नशील है। रस्ट (बीमारी) से बची रहने वाली गेहूँ की कई किस्में भी निकाली गई हैं। गेहूँ में प्रोटीन तत्त्व बढ़ाने के लिए उचित प्रकार की खादों और उनके प्रयोग के समय के बारे में भी अनुसन्धान हुआ है।—अनुवादक

३ ये आँकडे १९५०-५१ के हैं।

४. ज्वार और बाजरा—ज्वार और बाजरा मद्रास, बम्बई (दक्षिण) और हैदराबाद के आसपास के ज़िलो में जनता के आहार की मुख्य फसले है। इनसे पशुओ के लिए चारा भी प्राप्त होता है। इनकी खेती में गेहूँ की खेती की तरह मेहनत की आवश्यकता नही है। इसके खेत मे कदाचित् ही कभी खाद दी जाती हो। सारे भारतवर्ष में ३,८४,१६,००० एकड़* भूमि से ज्वार और २,२२,६७,००० एकड भूमि में बाजरे की खेती होती है। ज्वार पैदा करने वाले मुख्य क्षेत्र ये है · हैदराबाद (दक्षिण), जहाँ ७२,५२,००० एकड, बम्बई जहाँ १,१२,८४,००० एकड, मद्रास जहाँ ४५,३२,००० एकड, मध्य प्रदेश जहाँ ४६,६६,००० एकड और उत्तर प्रदेश जहाँ २३,२६,००० एकड भूमि में इसकी खेती की जाती है। इसी प्रकार बाजरे की भी खेती विस्तृत क्षेत्र मे होती है। बम्बई में ४६,७५,००० एकड, पजाब में २०,२०,००० एकड, मद्रास में २१,२५,००० एकड, उत्तर प्रदेश मे २५,८२,००० एकड, और हैदराबाद (दक्षिण) में १० लाख एकड भूमि में इसकी खेती होती है। ज्वार-बाजरा दोनो में से किसी का भी कोई विशेष निर्यात नही होता। १६२६-३० में १५००० टन ज्वार-बाजरा बाहर भेजा गया था जिसकी कीमत २५ लाख १३ हज़ार रुपया थी, और सन् १६३६-४० में इनका निर्यात केवल ७,००० टन ही रह गया जिसका मूल्य ७ लाख ४५ हज़ार रुपया था।

५ दालें—इनकी खेती समस्त भारत में होती है और ये लोगो के भोजन का मुख्य अग है। इनकी खेती विशेष रूप से उत्तरप्रदेश, पजाब, बम्बई, मध्यप्रदेश और बगाल आदि राज्यो में होती है। चना भारत की मुख्य दाल है और १६५०-५१ में १,८७,०६,००० एकड भूमि पर इसकी खेती की गई थी। जिसमे से लगभग ६०,२८,००० एकड की खेती तो अकेले उत्तरप्रदेश में ही हुई थी, जो इसकी खेती का प्रमुख प्रदेश है। देश में ही इसकी बहुत बडी खपत होने के कारण दालें बाहर बहुत कम भेजी जाती है। १६३६-४० मे ७३,००० टन दालें बाहर भेजी गई थी जिनका मूल्य ६५ लाख रुपया था।[1]

६. अन्य खाद्य-फसलें—इनके अन्तर्गत फल, तरकारियाँ मसाले और अन्य अनेक प्रकार की खाद्य फसलें आती हैं। सन् १६४६-५० में भारत में ४,४३,३३,००० एकड़ भूमि में इनकी खेती की गई थी। फल और तरकारियो में ज़मीन के नीचे फलने वाली फसले भी सम्मिलित है जिनकी खेती ५०,०३,००० एकड भूमि में होती है। भारत में अनेक प्रकार के फल जैसे आम, सेब, सन्तरे, बेर आदि पैदा होते है।

फलो की कमी के कारण मूल्य अधिक होने तथा लोगो की गरीबी की वजह से फल-उद्योग का कम विकास हुआ है। भारतवर्ष मे अनेक प्रकार की तरकारियाँ पैदा

---

१. चने का निर्यात गत वर्षों में इस प्रकार रहा है

	१६४४-४५	१६४५-४६	१६४६-४७	१६४७-४८	१६४८-४६	१६४६-५०	१६५०-५१	१६५१-५२
मात्रा (टनों में)	२८६०	८४५६	—	—	—	२	—	—
मूल्य (हजार रु० में)	७८०	२०३२	—	—	—	१	—	—

की जाती है जैसे आलू, प्याज, बैंगन, गोभी, करमकल्ला, शलजम और टमाटर आदि। यदि सिंचाई की सुविधा मिल जाय तो फल और तरकारी के खेतो के क्षेत्र का विस्तार, विशेषकर बड़े-बड़े नगरो के आसपास की भूमि मे, सम्भव हो सकता है। परिस्थितियो को देखते हुए हमें यह कहना पड़ेगा कि कृषि विभागो द्वारा हम फल और तरकारी के प्राचुर्य वाले नये युग के आरम्भ की जो आशा करते थे वह पूरी नही हो सकी है। व्यापारिक दृष्टिकोण से फल पैदा करने वालो के लिए बड़े-बड़े नगर ही विक्री-केन्द्र हैं, परन्तु परिवहन-साधनो के अभाव के कारण इस माँग का लाभ उठाना उनके लिए असम्भव है। इस उद्योग के समुचित विकास के लिए परिवहन-साधनो, फलो के तोड़ने और उनके पैक करने की विशेष कुशलता और शीत-भण्डारण (cold storage) की सुविधा आदि में सुधार आदि साधारण आवश्यकता की बातें हैं।[1] सन् १९४९-५० में भारत में तरह-तरह के मसालो की खेती के अन्तर्गत करीब २४,५९,००० एकड़ भूमि थी। मसालो की खेती मुख्यत भारत के धुर दक्षिण में होती है। यो तो कुछ मसाले प्राय सारे देश में बोये जाते हैं। भारतवर्ष के मुख्य मसाले जैसे काली मिर्च (मालाबार, ट्रावन्कोर, दक्षिणी केनारा, कुर्ग और थोड़ी मात्रा में बगाल में), लालमिर्च (विशेषकर मद्रास, पूर्वी और उत्तरी बगाल और बम्बई के कुछ जिलो में), अदरक (मालावार के किनारे, बम्बई प्रान्त के सूरत और थाना और उत्तर प्रदेश तथा बगाल के कुछ जिलो में), इलायची (पश्चिमी और दक्षिणी भारत के नम जलवायु वाले जगलो मे तथा मद्रास, ट्रावन्कोर, मैसूर, कुर्ग और बम्बई में मुख्यत केनारा जिले में), सुपारी (दक्षिणी भारत में), दालचीनी (दक्षिणी भारत के पच्छिमी घाट में), और लौंग (विशेषकर मद्रास प्रदेश के पश्चिमी घाट की नीची पहाड़ियो पर) पैदा होते हैं। इनका थोड़ा सा निर्यात व्यापार भी है। १९५१-५२ में ३८,९८,१४,००० हन्ड्रेडवेट मसाले (इलायची, लौंग, काली मिर्च) जिसकी कीमत २५ करोड़ ७६ लाख ६६ हजार रुपये थी, बाहर भेजे गए थे।

७. चीनी—भारतवर्ष सम्भवत गन्ने का आदि उद्गम-स्थान ही है और गन्ने की खेती जितने क्षेत्र में यहाँ होती है उतनी ससार के किसी भी देश में नही। परन्तु औसत उपज प्रति एकड़ इतनी कम है और शाकाहारी जनसख्या इतनी अधिक है कि हमारे देश को थोड़े ही दिन पहले तक बाहर की सस्ती चीनी के आयात का ही भरोसा करना पड़ता था। उदाहरण के लिए सन् १९२९-३० में हमने १५ करोड़ ७७ लाख रुपये के मूल्य की १,०१२,००० टन विभिन्न प्रकार की चीनी बाहर के देशो से मँगाई थी। १९२० की भारतीय चीनी समिति (इण्डियन शूगर कमेटी) का कहना था कि भारत में चीनी की प्रति एकड़ पैदावार क्यूबा की पैदावार के १/३ से कम, जावा की पैदावार के १/६ से कम और हवाई की पैदावार के १/७ से कम थी। आस्ट्रिया और जर्मनी की चुकन्दर से बनाई हुई चीनी के आयात का स्थान धीरे-धीरे जावा और मॉरीशस की गन्ने की चीनी के आयात ने ले लिया। इसका श्रेय सन् १९०३ में

[1] रिव्यू ऑफ एग्रीकल्चरल आपरेशन्स इन इण्डिया (१९२७ २८) पृ० ४, वही (१९२८-२९) पृ० ५-७ और कृषि आयोग रिपोर्ट, पैरा ५१५-५१९

लगाये गए आयात प्रति-कर को है। इस वैदेशिक प्रतियोगिता ने भारतीय गन्ने की खेती को बडी हानि पहुँचाई और सन् १६१४ की लडाई के पहले गन्ने की खेती के क्षेत्र में कुछ कमी आ गई। युद्धकालीन मूल्य-वृद्धि के कारण १६१८-१६ में स्थिति बहुत-कुछ पूर्ववत् हो गई। कितने ही वर्षों तक लगातार गन्ने की खेती का क्षेत्र लगभग उतना ही बना रहा। सन् १६३०-३१ में समाप्त होने वाले २० वर्षों की औसत २,८४०,००० एकड रही। १६३०-३१ में गन्ने की खेती का कुल क्षेत्र २७,८०,००० एकड था। सरकारी रक्षा के परिणामस्वरूप चीनी के उद्योग मे बहुत बडी वृद्धि हुई और १६३६-३७ में गन्ने की खेती का क्षेत्र बढकर ४४,४०,००० एकड हो गया। १६३८-३६ मे क्षेत्रफल घटकर ३१,१०,००० हो गया, पर १६४०-४१ में फिर बढ कर ४५,६०,००० हो गया। गन्ने की खेती करने वाले मुख्य प्रदेश है उत्तर प्रदेश १८,८०,००० एकड, बिहार ४,४०,००० एकड, पजाब ४,२०,००० एकड, बगाल ३,२०,००० एकड, मद्रास १,४०,००० एकड, बम्बई ८०,००० एकड, आसाम ४०,००० एकड और उडीसा ३०,००० एकड (सन् १६३८-३६ के आँकडे)।[1] इससे यह स्पष्ट है कि उत्तरी भारत के लिए इस फसल का विशेष महत्त्व है। यद्यपि दक्षिणी भारत में गन्ने की खेती कम क्षेत्र में होती है पर जो गन्ना वहाँ पैदा किया जाता है वह उत्तरी भारत के गन्नो की अपेक्षा अधिक मोटा और अच्छा होता है। यद्यपि ब्रिटिश भारत में गन्ने की खेती कुल खेती के अनुपात में १ ८ प्रतिशत ही थी पर इसकी देश के आर्थिक जीवन मे बहुत बडी महत्ता है। इधर चीनी-उद्योग के द्रुत विकास से भी यह बात प्रगट होती है।

चीनी उद्योग के हाल के आश्चर्यकारी विकास के पहले सफेद चीनी भारत मे प्राय नही बनती थी। सामान्यत: गन्ने के रस को उबालकर बिना उसमें की राब निकाले हुए गुड बनाया जाता है और उसी को लोग खाते है। आजकल गन्ना लोहे की बनी चर्खी से पेरा जाता है न कि लकडी के कोल्हू मे। सफेद चीनी उत्तर प्रदेश और बिहार के अनेक कारखानों मे बनाई जाती है। पजाब, बम्बई और मद्रास आदि

१ सन् १६५०-५१ में गन्ने की खेती का क्षेत्र ४२,१४,००० एकड़ था। मुख्य-मुख्य राज्यों में गन्ने की खेती का क्षेत्र निम्न था :

उत्तरप्रदेश	२५०५	हजार एकड़
पजाब	३०६	,, ,,
बगाल	५३	,, ,,
मद्रास	२६७	,, ,,
बम्बई	१८८	,, ,,
आसाम	५८	,, ,,
उड़ीसा	६१	,, ,,
बिहार	४११	,, ,,

(स्टेटिस्टिकल एब्स्ट्रैक्ट, इण्डिया (१६५१-५२)

सन् १६५३-५४ और १६५४-५५ में सम्पूर्ण भारत में गन्ने की खेती का क्षेत्रफल और उत्पादन क्रमश. ३५,३६,००० एकड़ व ४,२१,११,००० टन तथा ३६,१७,००० एकड़ व ४,७४,६६,००० टन था।

—एग्रीकल्चरल सिचुएशन इन इण्डिया, जनवरी १६५५।

राज्यो में हाल में महीन चीनी बनाने के कारखाने खोले गए है। मैसूर और हैदराबाद आदि रियासतो ने भी चीनी के कारखाने खोले हैं।[1] १९३२-३३ के पहले केवल ३२ चीनी के कारखाने चल रहे थे। १९३१-३२ में सरकारी सरक्षा मिल जाने से चीनी के कारखानो की सख्या १९३९-४० में बढकर १४५ हो गई। गन्ने और गुड से चीनी का उत्पादन जो कि १९२८-२९ में ९९,०८८ टन था, बढकर १९३०-३१ में १५१,६५० टन, १९३२-३३ में ३७०,२८३ टन, १९३४-३५ में ६१७,२१८ टन और १९३६-३७ में १,१३०,९०० टन पर पहुँच गया। इसमें खाण्डसारी[2] कारखानो का उत्पादन सम्मिलित नही है जिसकी मात्रा १९३६-३७ में १००,००० टन हो गई थी। इस प्रकार भारत वर्ष की कुल चीनी के उत्पादन की मात्रा १९३६-३७ में १,२३०,९०० टन के ऊपर ही थी—जो कि खपत की अनुमानित मात्रा (लगभग १,१५०,००० टन) से कुछ अधिक ही थी। दो कम उत्पादन के वर्षो के पश्चात् १९३९-४० में भारत में १३½ लाख टन चीनी पैदा हुई। सन् १९४३-४४ और १९४४-४५ में फिर उत्पादन में थोडा ह्रास हुआ।[3] देश में चीनी का उत्पादन बढ जाने के कारण ब्रिटिश भारत में चीनी का आयात बहुत तेजी से घट गया और १९३०-३१ में जो आयात १०,००,००० टन था, वह सन् १९३६-३७ में घटकर २३,००० टन हो गया।[4] भारतवर्ष अब चीनी की आवश्यकता के लिए पूर्ण रूप से आत्मनिर्भर[5] हो गया है। भारतीय चीनी उद्योग की इस महान् प्रगति के कारण उसकी तटकर द्वारा सरक्षा, ससारव्यापी आर्थिक मन्दी के फलस्वरूप भूमि तथा कच्चे माल और मशीनरी के मूल्य में कमी आदि भी है। भारतवर्ष आज ससार में चीनी का सबसे अधिक उत्पादन करने वाला देश है और

---

१ भारतीय चीनी उद्योग के प्रादेशिक वितरण में परिवर्तन के विषय में अधिक जानकारी के लिए देखिए, रिपोर्ट ऑफ द टैरिफ बोर्ड (चीनी उद्योग), १९३८, पृष्ठ २१-२९।

२ खाण्डसारी कारखानों में सफेद चीनी बनाने का देशी ढग ही जिसे 'बेल' ढग कहते हैं, काम में लाया जाता है।

३ भारत में इस समय चीनी के १३४ कारखाने हैं। गत वर्षों में चीनी का उत्पादन निम्न था।

१९५१-५२	१४ ८ लाख टन
१९५२-५३	१३ २ ,, ,,
१९५३-५४	१० १ ,, ,,

इस प्रकार १९५३-५४ का उत्पादन सन् १९५२-५३ तथा १९५१-५२ की तुलना में २३ ४ प्रतिशत और ३१ ८ प्रतिशत कम हो गया। इसका मुख्य कारण गन्ने के मूल्य की कमी थी जो १९५१-५२ में १ रुपया १२ आने प्रति मन था। १९५२-५३ और १९५३-५४ में घटकर क्रमश १ रु० ७ आने और १ रु० ५ आने रह गया।—कामर्स, एनुअल नम्बर, १९५४ पृ० १३९, केपीटल (सप्लीमेन्ट), दिसम्बर १६, १९५४ पृ० ७१।

४ खराब फसल तथा समस्त भारत के उत्पादन में कमी के कारण १९३९-४० में आयात २५५,००० टन से अधिक था।

५ सन् १९५३-५४ में चीनी के उत्पादन का अनुमान १२-१३ लाख टन था। उपभोग की आवश्यकताओं का अनुमान १८ लाख टन था। अतएव ४००,०००—५००,००० टन आयात आवश्यक था, जिसके लिए बजट में २५ ८४ करोड रु० का प्रबन्ध किया गया था। चीनी के क्षेत्र में आत्मनिर्भरता के लिए आयात-सम्बन्धी निम्न आँकड़े विचार योग्य हैं

चीनी उद्योग का सूती वस्त्रोद्योग के बाद द्वितीय स्थान है। इस उद्योग में १२०,०००[1] मजदूर काम करते हैं।[2]

भारतीय परिष्कृत चीनी उद्योग सरकारी संरक्षा पाने के पहले समृद्ध नही हुआ। इसका कारण अनेक कठिनाइयाँ थी, जैसे विदेशी चीनी की प्रतियोगिता, प्रति एकड उपज की कमी, गन्ना पेरने के नये ढगो का अभाव, शीरे का कम निष्पादन, फैक्ट्री के आसपास से पर्याप्त गन्ने की प्राप्ति मे कठिनाई, और कारखाने के आरम्भ करने मे अधिक पूँजी की आवश्यकता आदि। कभी भारतवर्ष में समय-समय पर तटकर मे वृद्धि करने पर भी १९१८ और १९३९ के बीच चीनी के मूल्य की कमी ने इस उद्योग की कठिनाइयो को बढाया है। इस कमी का कारण चीनी की वास्तविक माँग की तुलना में उत्पादन का आधिक्य था जो १९१४-१८ का युद्धजनित स्थिति का परिणाम था और जिसने क्यूबा और वेस्ट इण्डीज आदि में गन्ने की घनी खेती को प्रोत्साहित किया। इसमें विभिन्न देशो की तटकर-नीति ने भी योग दिया और इसका भारत के चीनी उत्पादको पर बहुत बुरा प्रभाव पडा। पहले के महायुद्ध के बाद यूरोप के चुकन्दर से चीनी बनाने वाले उद्योग का भी भारी आर्थिक सहायता और ऊँचे तटकर आदि के फलस्वरूप तेजी से पुनरुत्थान हुआ और ससार के बाज़ार वहाँ की चीनी से पाट दिये गए।

गन्ने की किस्म और उत्पादन के विकास के ध्येय से सन् १९०१-२ से गन्ने की खेती व्यवस्थित अध्ययन का विषय बन गई है। मद्रास के कोयम्बटूर नगर में गन्ने की किस्म सुधारने के लिए एक केन्द्र की स्थापना हुई। भारत सरकार द्वारा १९-१९ में एक चीनी समिति (शूगर कमेटी) भारत में चीनी उद्योग की व्यवस्था और विकास की सम्भावना की जाँच करने के लिए नियुक्त की गई थी। १९३० में नयी-नयी स्थापित कृषि-गवेपणा की साम्राज्यिक परिषद इम्पीरियल कौंसिल ऑफ एग्रिकल्चरल रिसर्च के आवेदन पर चीनी उद्योग को सरक्षा प्रदान करने के बारे में तटकर-मण्डल से

	१९४४-४५	१९४५-४६	१९४६-४७	१९४७-४८
मात्रा (टनों में)	—	३५	—	१९
मूल्य (हजार रुपयों में)	२	३८	—	३१
	१९४८-४९	१९४९-५०	१९५०-५१	१९५१-५२
मात्रा (टनों में)	१०,५७६	७३	८०५०	११,८८६
मूल्य (हजार रुपयों में)	६,५९०	२३	७०५६	८,५००

इन आँकड़ों तथा १९५३-५४ के उत्पादन और उपभोग (१०'१ लाख टन और १८ लाख टन क्रमश) के आँकड़ों को देखकर हम कह सकते हैं कि आत्मनिर्भरता की स्थिति अभी नहीं आई है। पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत इस दिशा में प्रयत्न हो रहा है। योजना के प्रथम वर्ष में गन्ने की खेती के क्षेत्रफल और उपज तथा दानेदार चीनी के उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि हुई। दिसम्बर सन् १९५४ में ८० ५ हजार टन परिष्कृत चीनी तथा ६० हजार टन कच्ची शकर का आयात हुआ।

१ इस समय चीनी उद्योग में १३०,००० कुशल और अकुशल श्रमिक तथा ३५०० अन्य व्यक्ति काम कर रहे हैं तथा गन्ने के उत्पादन में २ करोड़ किसान लगे हुए हैं।—सप्लिमेन्ट टु कैपिटल, १६ दिसम्बर, १९५४, पृ० ७१।

२ इण्डियन ईअर बुक (१९४०-४१), पृ० ७७६।

सम्मति माँगी।[1] तटकर मण्डल ने अपनी १९३१ में छपी रिपोर्ट में इस उद्योग को सरक्षा प्रदान करने की सिफारिश की क्योंकि उनके मत के अनुसार इण्डियन फिसकल कमीशन (भारतीय राजवित्त आयोग) द्वारा निर्धारित सारी शर्ते यह उद्योग पूरी करता था। मण्डल ने राय दी कि राष्ट्रीय हित के दृष्टिकोण से गन्ने की खेती का क्षेत्रफल कम नही होने देना चाहिए और सफेद चीनी के उद्योग को प्रोत्साहित करके गन्ने की खपत के लिए रास्ता खोल देना चाहिए। उन्होने चेतावनी दी कि यदि इस उद्योग की उन्नति के लिए प्रयत्न न किया गया तो गुड के मूल्य में भारी कमी आने का डर था जिसका किसानो पर बडा बुरा प्रभाव पड सकता था।[2] मण्डल ने शासन-व्यवस्था की कठिनाई के कारण अर्थ-साहाय्य प्रदान करना अनुपयुक्त समझा और प्रथम सात वर्ष तक ७रु० ४ आ० प्रति हन्ड्रेडवेट, तथा बाद के आठ वर्ष तक ६ रु० ४ आ० प्रति हन्ड्रेडवेट सरक्षण-कर लगाने का सुझाव दिया और इस प्रकार १५ वर्ष तक के लिए इस उद्योग की सरक्षा का प्रबन्ध कर दिया। तटकर मण्डल की अनुमति पाने की आशा में १९३१-३२ के बजट में आमदनी बढाने के विचार से १ रु० चार आ० प्रति हन्ड्रेड वेट का अस्थायी कर तुरन्त ही लगा दिया गया। इस पर अप्रैल १९३२ में विचार किया गया जब कि केन्द्रीय विधान-सभा ने चीनी उद्योग सरक्षण अधिनियम (शूगर इन्डस्ट्री प्रोटेक्शन एक्ट) पास किया। सरक्षण-कर (७ रु० ४ आना प्रति हन्ड्रेडवेट) आरम्भ में ३१ मार्च १९३८ तक ही लागू किया गया, पर अधिनियम के प्रचलन-काल में आवश्यकता होने पर उसकी अवधि बढाई जा सकती थी। इससे उद्योग को बडा प्रोत्साहन मिला और तब से बडी तीव्र गति से उसका विकास हुआ। तटकर मण्डल (१९३८) के शब्दो में यह कहना कि भारत के चीनी उद्योग में क्रान्ति हो गई, कोई अत्युक्ति न होगी। विदेशी चीनी पर निर्भर रहने वाले देश से भारत संसार में सबसे अधिक चीनी का उत्पादन करने वाला देश हो गया है जिसका उत्पादन उसकी आवश्यकताओ से यदि अधिक नही तो बराबर अवश्य है (रिपार्ट पैरा १३)। दस वर्ष पहले उत्पादन की दृष्टि से प्रथम स्थान क्यूबा को प्राप्त था जो उस समय भारत से १६१ प्रतिशत अधिक उत्पादन करता था, परन्तु आज स्थिति बिलकुल विपरीत है।

यह बडे दुर्भाग्य की बात थी कि १९३४ में भारत के कारखानो में बनाई जाने वाली चीनी पर उत्पादन कर लगाना पडा।[3] यह कर चीनी का आयात घट जाने से

१ देखिए, अध्याय ११।

२ रिपोर्ट ऑफ द टेरिफ बोर्ड (चीनी उद्योग), १९३१ अध्याय ४, विशेष रूप से पैरा ४३,४५-४६।

३ २५% अधिभार (१ रु० १३ आना प्रति हन्ड्रेडवेट) के सितम्बर १९३१ में लागू होने पर कुल आयात शुल्क ९ रु० १० आना प्रति हन्ड्रेडवेट हो गया, जो १ अप्रेल, १९३४ तक रहा। सन् १९३४ के चीनी (उत्पादन-शुल्क कानून [शूगर एक्साइज ड्यूटी एक्ट] ने १ अप्रेल, सन् १९३४ से (१) खाडसारी चीनी पर १० आना प्रति हन्ड्रेडवेट तथा (२) पालमीरा चीनी को छोड़ जो कि ब्रिटिश भारत में एक कारखाने में बनाई जाती थी अन्य सभी प्रकार की चीनी पर १ रु० ५ आना प्रति हन्ड्रेडवेट उत्पादन-शुल्क लगा दिया। सरक्षण-कर बढाकर ७ रु० १२ आना कर दिया गया और अधिभार घटाकर १ रु०५ आना कर दिया गया जो कि नये उत्पादन-शुल्क के बराबर था। १९३७ की फरवरी से सरक्षण कर

केन्द्रीय आय की कमी को पूरा करने के लिए और इस विचार से लगाया गया था कि सितम्बर १९३१ में संरक्षण के उपरान्त २५% प्रतिशत अधिभार लगा देने से प्राप्त कृत्रिम प्रेरणा के फलस्वरूप कही उद्योग इतनी तेजी से उन्नति न करे कि बाद में उसका बुरा असर हो। साथ-ही-साथ ईख-अधिनियम (शुगर केन एक्ट) के केन्द्रीय विधान सभा द्वारा पास कर देने से प्रान्तीय सरकारो को ऐसी योजनाएँ लागू करने का अवसर मिल गया जिससे वे गन्ना पैदा करने वालो को फैक्ट्रियो के अधिकारियो से गन्ने का निश्चित न्यूनतम मूल्य अवश्य दिला सकें। इस अधिभार का उत्तरप्रदेश और बिहार की सरकारो ने लाभ उठाया और उन्होने किसानो के हित को ध्यान में रखते हुए गन्ने के मूल्य को नियमित करने के कानून बना दिये। भारत सरकार ने एक आना प्रति हन्ड्रेडवेट के हिसाब से यानी कि लगभग ७ लाख रु० की रकम अलग रख देने का वायदा किया। इस कोष का उपयोग सफेद चीनी बनाने वाले प्रान्तो में गन्ने की खेती करने को उचित मूल्य दिलाने के लिए सहकारी समितियो के स्थापनार्थ और उनके सगठन और सचालन के लिए तथा ऐसे ही अन्य सहायक कार्यो के लिए बाँटकर किया जाना था।

तटकर मण्डल ने १९३७ में इस बात की जाँच करवाई कि शेष सरक्षण-काल मे, जो कि ३१ मार्च, सन् १९४६ तक था, चीनी उद्योग को किस हद तक सरक्षा की आवश्यकता है। इसकी रिपोर्ट जो भारत सरकार को दिसम्बर १९३७ में ही दे दी गई थी, कही जाकर मार्च सन् १९३९ में सरकार के निर्णय के साथ छपी। मण्डल के मत में विवेचनात्मक सरक्षण (Discriminating Protection) नीति में आशातीत सफलता मिली थी और इसलिए मण्डल ने शेष सरक्षण अवधि (८ वर्ष) के लिए ७ रु० ४ आ० प्रति हन्ड्रेडवेट (उत्पादन शुल्क के अतिरिक्त) सरक्षण करके लागू रखने की सिफारिश की।[1] ससार के चीनी बाजारो की परिस्थिति में तथा यहाँ उत्तरप्रदेश और बिहार राज्यो की परिस्थिति में चीनी उद्योग का नियमन और नियन्त्रण कर देने के कारण परिवर्तन आ जाने से भारत सरकार ने अप्रैल १९३९ मे दो वर्ष के लिए सरक्षण थोडा कम करके (बाद में १९३९-४५ के महायुद्ध द्वारा जनित परिस्थितियो के कारण फिर दो वर्ष के लिए और बढा दिया गया) लागू करने का निश्चय किया और यह भी व्यवस्था कर दी कि इस काल के समाप्त होने के पहले ही दूसरी जाँच पूरी हो जाय। इसके अनुसार चीनी उद्योग सरक्षण अधिनियम (शूगर इन्डस्ट्री प्रोटेक्शन एक्ट) (अप्रैल १९३९)

घटाकर ७ रु० ४ आना प्रति हन्ड्रेडवेट कर दिया गया और अधिभार २ रु० प्रति हन्ड्रेडवेट कर दिया गया जो कि देश की बनी चीनी पर उसी तारीख से लगे २ रु० प्रति हन्ड्रेडवेट के बढे हुए उत्पादन-शुल्क के बराबर था। भारतीय वित्त १९४० (इण्डियन फाईनेन्स एक्ट १९४०) ने युद्धकालीन कर-वृद्धि के अन्तर्गत चीनी पर उत्पादन शुल्क २ रु० से बढाकर ३ रु० प्रति हन्ड्रेडवेट कर दिया। साथ ही साथ आयात-कर भी उसी मात्रा में बढा दिया गया। भारतीय चीनी उद्योग पर चीनी उत्पादन-कर के प्रभाव की समालोचनापूर्ण पुनरीक्षण के लिए बी० पी० अदारकर कृत इन्डियन फिस्कल पालिसी पृष्ठ २४८-२५१ देखिए। उत्पादन शुल्क के आरम्भ और उसकी समालोचना के लिए खण्ड २ में वित्त पर लिखे अध्याय का भी अध्ययन कीजिए।

१. रिपोर्ट ऑफ द टैरिफ बोर्ड (चीनी उद्योग) देखिए, १९३८, पैरा १३, १०७।

ने चीनी पर लागू सरक्षण-कर ७ रु० ४ आ० प्रति हन्ड्रेडवेट से घटाकर ६ रु० १२ आ० प्रति हन्ड्रेडवेट कर दिया (२ रु० राजस्व-शुल्क जो उत्पादन-शुल्क के बराबर था, इसमें सम्मिलित नही)। सन् १९४१ में एक अधिनियम पास किया गया जिसके अनुसार उस समय लागू करो की अवधि मार्च १९४२ तक के लिए बढा दी गई। बाद में उनकी अवधि फिर ३१ मार्च, १९४६ तक के लिए बढा दी गई।[१]

अनियन्त्रित आन्तरिक प्रतियोगिता को रोकने के लिए और भावो को अकस्मात गिरने से बचाने के लिए सन् १९३७ में शूगर सिन्डीकेट की स्थापना की गई जिसमें ९० कारखानो से अधिक सम्मिलित थे। उत्तर प्रदेश और विहार की सरकारो ने चीनी कारखाना नियन्त्रण अधिनियम (शूगर फेक्ट्री कन्ट्रोल एक्ट) पास किया जिसके अन्तर्गत प्रत्येक कारखाने को सरकार से लाइसेन्स लेना आवश्यक है। इन राज्यो में प्रत्येक कारखाने के लिए इण्डियन शूगर सिन्डीकेट का सदस्य बनना तथा उसकी मार्फत अपनी चीनी बेचना अनिवार्य है। १९४० मे एक चीनी आयोग (शूगर कमीशन) की भी नियुक्ति की गई थी जिसका उद्देश्य शूगर सिन्डीकेट द्वारा कारखानो पर आवश्यक सरकारी नियन्त्रण रखना था।

तटकर मण्डल (१९३१) का यह विश्वास था कि उसकी सरक्षा की योजना की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि चीनी उद्योग के कृषि और विज्ञान-सम्बन्धी पहलुओ को अधिक महत्त्व दिया जाय। उन्होने इसलिए कृषि-गवेषणा की साम्राज्यिक परिषद् (इम्पीरियल काउन्सिल ऑफ एग्रीकल्चरल रिसर्च) को गन्ने के सम्बन्ध में अन्वेषण-कार्य के लिए १० लाख रुपया वार्षिक देने की सिफारिश की।[२] दूसरे तटकर-

---

[१] चीनी उद्योग की वर्तमान स्थिति (विशेषकर उत्तरप्रदेश की) और उसकी समस्याओं को जानने के लिए निम्न पत्रिकाओं से सहायता ली जा सकती है कैपिटल (इण्डियन इण्डस्ट्रीज, ट्रेड एण्ड ट्रान्सपोर्ट, सप्लीमेन्ट) दिसम्बर १९४१, पृष्ठ २९-३१, इण्डियन फाइनेन्स (ईस्टर्न ग्रुप नम्बर, दिसम्बर १९४०, पृष्ठ १५७-८ रिव्यू ऑफ द ट्रेड ऑफ इण्डिया, (१९३९-४०) पृष्ठ ६३ ६८, और बी० पी० अदारकर, पूर्व उद्धृत, पृ० २५७-५८)। यहाँ यह बताना उचित होगा कि १९३९-४५ के महायुद्ध के कारण चीनी उद्योग को कोई विशेष लाभ नही हुआ और हाल के वर्षो में तो चीनी उत्पादन के आधिक्य तथा बिहार और उत्तरप्रदेश की सरकारों द्वारा गन्ने के न्यूनतम मूल्य नियमित करने के लिए किये गए हस्तक्षेप के कारण हानि ही उठानी पडी है। यद्यपि उनका आशय सत् ही था, अन्य प्रान्तों में सरकारी नियन्त्रण का अभाव तथा शूगर सिन्डीकेट की सदोष कार्य व्यवस्था यह परिस्थिति पैदा होने के अन्य कारण थे। शूगर सिन्डीकेट के कहने पर तथा १९४० के चीनी आयोग की सलाह के आधार पर नियन्त्रित उत्पादन नीति जो दो प्रान्तो द्वारा अपनाई गई उससे इस उद्योग को स्थिरता मिल जाने की आशा की जा सकती है।

[२] रिपोर्ट ऑफ द टेरिफ बोर्ड (चीनी उद्योग) १९३१, पैरा १०५। अपनी पुस्तक 'इण्डियन टेरिफ पालिसी विद स्पेशल रेफरेन्स टु शूगर प्रोटेक्शन' (१९३६) पृष्ठ १३५-३६ में बी० एन० अदारकर लिखते हैं कि "चीनी उद्योग अब एक ऐसी स्थिति में पहुच गया है कि जब सरकार और उद्योगपतियों द्वारा चीनी के उत्पादन और निर्माण सम्बन्धी खोज पर अधिक खुले दिल से पैसा खर्च करने से अधिक लाभ की आशा है।" यहाँ यह बता देना उपयुक्त होगा कि चीनी उद्योग का कौशल और क्षमता बढाने के लिए और चीनी का मूल्य घटाने के लिए यह आवश्यक है कि उपजातों—जैसे राब और खुइया—का कुछ प्रयोग अवश्य किया जाय। पहले से पॉवर अलकोहल और दूसरा कागज बनाने की सम्भावना की नियमित ढग से परीक्षा होनी चाहिए। (खुइया उसे कहते है जो गन्ना पेरने पर गन्ना की रेशेदार वस्तु

मण्डल (१६३८) के मत के अनुसार चीनी उद्योग के खेती-सम्बन्धी पहलू पर अनुसन्धान-कार्य में थोडी-बहुत प्रगति अवश्य हुई थी, पर वह पर्याप्त न थी। इसलिए उत्पादन शुल्क की आय से केन्द्रीय अनुसन्धान-कार्य के लिए तथा प्रान्तीय कृषि विभागो की सहायता के लिए ३ आ० प्रति हण्ड्रेडवेट दे दिया जाय। यह याद रहे कि भारत में गुड का उत्पादन (७,१००,००० टन) और खपत बहुत अधिक मात्रा में होती है (४,४५४,००० टन १६३६-३७ में)।[1] इसलिए गुड बनाने के देशी उद्योग का भी उतना ही ध्यान रखना आवश्यक है जितना कि सस्ती सफेद चीनी तैयार करने का। कृषि के विभिन्न विभाग तथा कोयम्बटूर का ईख अभिजनन-केन्द्र (इम्पीरियल केन ब्रीडिंग स्टेशन) अच्छी किस्म के गन्ने का प्रयोग शुरू करके गन्ने का उत्पादन बढाने का प्रयत्न कर रहे है। चीनी औद्योगिक साम्राज्यिक सस्थान (इम्पीरियल इन्स्टीट्यूट ऑफ शूगर टेक्नॉलोजी) ने जो १६३६ में कानपुर मे स्थापित हुआ था, बहुत ही लाभकारी अनुसन्धान-कार्य अपने जिम्मे लिया है। नये और अधिक अच्छे किस्म के गन्ने की खेती का क्षेत्रफल प्रत्येक प्रदेश में बढ गया है। १६३०-३१ मे इसका क्षेत्र कुल का २० प्रतिशत था जबकि १६३८-३६ में बढकर[2] ८२ प्रतिशत हो गया, पर प्रति एकड औसत उत्पादन में उतनी वृद्धि नही हुई। १६३०-३१ में उत्पादन १२ ३ टन प्रति एकड़ से बढकर १६३६-३७[3] में सिर्फ १५ ६ टन प्रति एकड हुआ है।[4]

यह बताने की आवश्यकता नही है कि लका, फिजी और अन्य जलडमरूमध्य उपनिवेशो में भारतीयो के लिए कच्ची चीनी का निर्यात नगण्य है। १६३७ के अन्तर्राष्ट्रीय चीनी (इन्टरनेशनल शूगर कन्वेन्शन) के अन्तर्गत भारत सरकार ने पाँच वर्ष के समय के लिए परिष्कृत चीनी का सामुद्रिक मार्गो से निर्यात बर्मा के अतिरिक्त अन्य सभी देशो के लिए रोक दिया था। चीनी उद्योग तेजी से विकास कर रहा था और उसकी भावी उन्नति के लिए जरूरी था कि निर्यात की मण्डियाँ उसके हाथ में रहे अत. इस, फैसले से चीनी उद्योग के क्षेत्रो मे भारी असन्तोष फैला। १६४० मे अस्थायी ढग पर यह प्रतिबन्ध हटा लिया गया ताकि भारत ब्रिटेन को दो लाख टन चीनी भेज सके (युद्धजनित परिस्थितियो के कारण इसकी आवश्यकता हो गई थी)। ब्रिटिश सरकार ने

अवशिष्ट रहती है। आजकल इसका प्रयोग फैक्ट्रियों में वाष्प पैदा करने के लिए ईंधन के रूप में किया जाता है।)

१ अनुमान है कि १६५४-५५ (नवम्बर १६५४ से अक्टूबर १६५५) में गुड़ का उत्पादन ४,७४६ हजार टन होगा। १६५३-५४ में गुड का उत्पादन ४,२०६ हजार टन था। उत्पादन की वृद्धि का मुख्य कारण गुड के ऊँचे मूल्य थे। —एग्रीकल्चरल सिचुएशन इन इण्डिया, जनवरी १६५५, पृ० ६४६।

२ अब अच्छे किस्म की गन्ने की खेती का क्षेत्रफल (कुल क्षेत्रफल का) लगभग ८० प्रतिशत है यद्यपि कुछ भागों में गन्ने की खेती की ६० प्रतिशत भूमि पर अच्छे किस्म के गन्ने की खेती होती है।

—अनुवादक

३. बी० पी० अदारकर, पृ० २१६-१७।

४. १६५३-५४ में उपज १२·०२ टन प्रति एकड थी। अनुमान है कि १६५४-५५ में प्रति एकड़ उपज १३ १२ टन होगी।—एग्रीकल्चरल सिचुएशन इन इण्डिया, जनवरी १६५५, पृ० ६४६ पर दिये हुए आँकडों के आधार पर।

बहुत कम मूल्य देना चाहा, अत शूगर सिन्डीकेट इस अनुज्ञा का लाभ नही उठा सका।

सन् १९४२ में भारत सरकार की मार्फत बहुत बडी मात्रा मे चीनी मध्य-पूर्व और आसपास के देशो को उनकी युद्धकालीन माँग पूरी करने के लिए सिन्डीकेट द्वारा निर्धारित मूल्य से अधिक मूल्य पर भेजी गई। यह परिस्थिति पैदा होने का एक नया कारण यह भी था कि जावा से चीनी के निर्यात की व्यवस्था टूट-सी गई थी। अगस्त सन् १९४२ मे अन्तर्राष्ट्रीय चीनी-करार (शूगर एग्रीमेन्ट) की अवधि समाप्त हो जाने के कारण भारत अब समुद्री-मार्ग से चीनी बाहर भेजने के लिए स्वतन्त्र है। पर अब (१९४९) इस स्वतन्त्रता का कोई व्यावहारिक लाभ नही है क्योकि चीनी का उत्पादन अपने ही देश की आवश्यकता के लिए पर्याप्त नही है।

(२) खाद्य से इतर फसलें—१ कहवा (कॉफी)—कहवा उद्योग भारत में कब आरम्भ हुआ, इसका कुछ पता नही। ऐसा कहा जाता है कि भारत मे इसका प्रारम्भ सोलहवी शताब्दी में मक्का से हज करके लौटने पर बाबा बूदन ने किया था। नियमित रूप से कहवा की खेती १८३० से ही आरम्भ हुई। कुर्ग, मैसूर और नीलगिरी की पहाडियो पर विस्तृत क्षेत्र में कहवा उगाने का काम आरम्भ किया गया। १८६२ में यह उद्योग उन्नति के शिखर पर पहुँच गया। इसके पश्चात् एक हानिकारक कीडे के कारण इस उद्योग की अवनति आरम्भ हो गई। बाद मे यूरोपीय देशो में ब्राज़ील के सस्ते कहवे के आयात ने भी भारतीय कहवे की खेती को हानि पहुचाई और इसमें कमी आ गई। बहुत से कहवा पैदा करने वाले भागो में अब चाय पैदा की जाने लगी है। १९४०-४१ में सारे भारतवर्ष में १८१,२०० एकड भूमि में कहवा पैदा किया गया था। मुख्य उत्पादक राज्य ये थे मैसूर ९६,२०० एकड, मद्रास ४४,६०० एकड, कुर्ग ३७,५०० एकड, कोचीन १,८०० और ट्रावन्कोर १,००० एकड।[१] १९३९-४० में १,९८,००० हेन्ड्रेडवेट कहवा जिसका मूल्य ७३ लाख रुपया था, ब्रिटिश-भारत से विदेश भेजा गया जबकि १९३०-३१ मे २,९३,००० हन्ड्रेडवेट कहवा जो १९२ लाख रुपये का था विदेश भेजा गया।[२] सदा की तरह फ्रान्स और ब्रिटेन ही दो मुख्य देश भारतीय कहवे के ग्राहक थे। तत्कालीन कठिनाई में भारतीय कहवा-उद्योग की सहायता करने के लिए सितम्बर १९३५ में विधान सभा ने भारतीय कहवा उपकर अधिनियम (इण्डियन काफी टेक्स एक्ट) पास किया। कहवा पर एक रुपया प्रति हन्ड्रेडवेट जो कर है उससे उपलब्ध धन के खर्च की व्यवस्था भारतीय कहवा उपकर कमेटी द्वारा की जाती है और

---

१ १९५० ५१ में भारतवर्ष में कहवा की खेती का क्षेत्रफल २,२४,००० हजार एकड था। कहवा उत्पन्न करने वाले मुख्य-मुख्य राज्यों में (१९५० ५१ में) कहवा की खेती का क्षेत्रफल निम्नलिखित था

मैसूर	१०७	हजार एकड
मद्रास	६०	,, ,,
कुर्ग	४८	,, ,,
ट्रावनकोर-कोचीन	९	,, ,,

२ सन् १९४८-४९ में ६२६ हन्डेडवेट कहवा जिसका मूल्य १०७ हजार रु० था विदेशों को भेजा गया और १९४९-५० में ६६,६२८ हन्डेडवेट जिसका मूल्य १३,०५१ हजार रुपया था, निर्यात हुआ।

यह धन केवल प्रचार के ही काम नही आता वरन् इसका प्रयोग कृषि तथा औद्योगिक अनुसन्धान, बिक्री के ढग की उन्नति तथा अन्य ढगो से इस उद्योग के विकास के लिए भी किया जा सकता है। १९४१ मे २,८०,७०० हन्ड्रेडवेट कहवा पैदा हुआ और युद्ध के कारण विदेशो में केवल ४८,७८० हन्ड्रेडवेट भेजा गया।[1]

२. चाय—चीन को छोडकर ससार-भर मे शायद अधिक चाय पैदा करने वाला देश भारतवर्ष है। १८वी शताब्दी के उत्तरार्ध में चीन की चाय ईस्ट इण्डिया कम्पनी के निर्यात-व्यापार की सबसे अधिक लाभ देने वाली वस्तु थी। शताब्दी के अन्त में भारत को चाय की प्राप्ति का एक अतिरिक्त स्थान बनाने का सुझाव दिया गया, परन्तु १८३४ से लॉर्ड विलियम बेन्टिन्क के प्रयत्न से ही इस विचार को गम्भीरतापूर्वक कार्यान्वित किया गया। आसाम मे चाय के देशी पौधे के अस्तित्व का ज्ञान होने के कारण चीनी बीज का प्रयोग करके सरकारी बागीचे लगाये गए। १८५२ में यह पूर्णरूप से निश्चित हो गया कि भारतीय चाय चीन की चाय से लन्दन के बाजार में मुकाबला कर सकती है। इस उद्योग का तीव्र गति से विकास होने पर १८६५ में इसका सरकार से सम्बन्ध टूट गया। और तब से इसका प्रबन्ध मुख्यत यूरोपीय व्यापारिक फर्मों द्वारा ही होता आ रहा है और उन्ही के द्वारा पूँजी भी लगाई जा रही है। चाय के उद्योग को देश में चाय की खपत बढने तथा विदेशो के लिए निर्यात बढ जाने से बहुत प्रोत्साहन मिला है। १९४०-४१ में चाय की खेती ८३३,२०० एकड भूमि में होती थी जिसका ब्यौरा इस प्रकार है · आसाम ४३८,००० एकड, बगाल २००,८०० एकड, मद्रास ७९,२०० एकड, ट्रावनकोर ७७,००० एकड, पजाब (कागडा) ९,५०० एकड और उत्तर प्रदेश ६,६०० एकड। कुल उत्पादन ४६,३८,८०,००० पौण्ड था।[2] 'प्रत्येक चाय-बागान में उसकी एक निजी फैक्ट्री होती है जहाँ बाजार में बेचने के लिए चाय की पत्ती तैयार की जाती है, क्योकि चाय की पत्ती तोड लेने के पश्चात् यह आवश्यक है कि तुरन्त ही पत्ती को तैयार करने से सम्बन्वित सभी प्रक्रियाएँ कर ली जायें। जो फैक्ट्रियाँ सुव्यवस्थित है उनमें सब तरह के उपस्कर और विशिष्ट सयत्र मौजूद है तथा कुशल चाय-निर्माताओ के पर्यवेक्षण में काम होता है।' चाय की बहुत बडी मात्रा विदेशो को भेजी जाती है विशेषकर ब्रिटेन को जिसने १९३९-४० मे भारत के कुल निर्यात का ८०% अर्थात् कुल उत्पादन का ७९% हिस्सा खरीदा था (४५,२०,००,००० पौ०) और बाकी की खपत देश में ही हुई। सन् १९२९-३० में ३७,६६,३०,००० पौण्ड चाय जिसकी कीमत २६ करोड रुपया थी, विदेश भेजी गई। इसके बाद से चाय का निर्यात उपभोक्ताओ की क्रय-शक्ति में ह्रास हो जाने से और

---

१. सन् १९५०-५१ में ५४,३२३ हजार पौण्ड कहवा पैदा हुआ, जिसमें से ५३,५३३ हड्रेडवेट कहवा, जिसका मूल्य १,३८,६५,००० रु० था, बाहर भेजा गया।

२. १९५० में ७,७७,००० एकड़ में चाय की खेती हुई। इसमें विभिन्न राज्यों का हिस्सा इस प्रकार था

आसाम	बगाल	मद्रास	ट्रावन्कोर-कोचीन	पजाब	उत्तर प्रदेश	
३८२	१९८	८२	८०	९	५	(हजार एकड़ों में)

सन् १९५० में ६०,७३,०९,००० पौण्ड चाय पैदा हुई।

विदेशी-व्यापार पर प्रतिबन्ध लग जाने से बहुत घट गया। फिर भी कुल मिलाकर चाय के उद्योग में वैसी शिथिलता नही आई जैसी अन्य उद्योगो में। इसका श्रेय चाय के निर्यात को नियमित कर देने वाली अन्तर्राष्ट्रीय योजना को है जो मई १९३३ में लागू की गई। इसके अनुसार प्रत्येक निर्यातक देश को एक विशेष सीमित मात्रा तक ही चाय बाहर भेजने की छूट दी गई थी। निर्यात नियन्त्रण योजना १९३८ से पाँच वर्ष के लिए और बढा दी गई और बाद में लडाई के समाप्त होने पर फिर दो वर्ष के लिए बढाई गई।[1] १९३९-४० में विदेशो को निर्यात ३५,७०,००,००० पौण्ड था जबकि उससे पिछले वर्ष ३४,८०,००,००० पौण्ड ही था, इस हिसाब से मूल्य २३ करोड २९ लाख रुपये से बढकर २६ करोड ८ लाख रुपये हो गया। इस बढे हुए निर्यात तथा मूल्य-वृद्धि का कारण युद्धकालीन माँग थी। १९४०-४१ में चाय के निर्यात का मूल्य बढकर २७ करोड २३ लाख रुपये तक पहुँच गया। १९४१-४२ मे निर्यात का मूल्य और अधिक बढकर ३९ करोड ५७ लाख रुपये हो गया और उसकी मात्रा ३८,२०,००,००० करोड पौण्ड थी।[2] दूसरे विश्व-युद्ध से चाय-उद्योग को बहुत लाभ पहुँचा। इस प्रकार चाय को हम निर्यात-व्यापार का मुख्य अग कह सकते है। इसकी खपत भी भारत में तेजी से बढ रही है। इसका श्रेय भारतीय चाय सस्था (इण्डियन टी एसोसिएशन) के प्रयत्नो को मिलना चाहिए जिसे १९०३ में इस उद्योग की प्रार्थना पर भारत से विदेश भेजी हुई चाय पर लगाये गए मामूली से उपकर से प्राप्त धन दे दिया जाता है। अप्रैल १९३५ मे इस प्रकार की दर ८ आ० प्रति १०० पौण्ड से बढाकर १२ आ० प्रति १०० पौण्ड कर दी गई थी। सस्था द्वारा इस कोष का कुछ अश विदेशो में—विशेषत सयुक्त राज्य अमेरिका में—भारत के चाय की बिक्री बढाने पर खर्च किया जाता है।

३. तिलहन—भारत मे अनेको प्रकार के तिलहन पैदा किये जाते है जैसे अलसी, तिल, सरसो, मूँगफली, नारियल, अण्डी, बिनौला आदि। १९४०-४१ में ब्रिटिश भारत की १,६७,००,०००[3] एकड भूमि मे तिलहन की खेती होती थी। इसकी बहुत बडी मात्रा विदेश भेजी जाती है। १९४०-४१ में भारतीय निर्यात में तिलहन का चौथा स्थान था। यदि हम १९०९-१० से १९१२-१४ के औसत निर्यात से, जो कि १४,५३,००० टन और २४ करोड ३७ लाख रुपये के मूल्य का था, मुकाबला करें तो पता चलता है कि विभिन्न प्रकार के तिलहन के निर्यात में बहुत कमी आ गई है। उदाहरणार्थ १९३५-३६ में १० करोड २९ लाख रुपये के मूल्य के ६७३,००० टन तिलहन का निर्यात हुआ। व्यापारिक शिथिलता के अतिरिक्त यूरोपीय देशो में विशेषकर जर्मनी, फ्रान्स और इटली (१९३९-

---

१ भारतीय धारा सभा ने भारतीय चाय नियन्त्रण कानून (इण्डियन टी कन्ट्रोल एक्ट) चाय की उत्पत्ति और बिक्री नियमित करने के लिए १९३८ में पास किया।

२. १९५०-५१ में ४३९,२५५ हजार पौण्ड चाय जिसका मूल्य ७९,८६,९४,००० रुपये था बाहर भेजी गई। १९५१-५२ में निर्यात की जाने वाली चाय की मात्रा और मूल्य क्रमश ४२५,५१८,००० पौण्ड और ९३,३५,६६,००० रुपए था।

३ सन् १९५०-५१ में विभिन्न प्रकार के तिलहन के अन्तर्गत ३,०९,५४,००० एकड भूमि थी।

४५ की लडाई के पहले) में आयात-सम्बन्धी प्रतिबन्धो और नियमो के फलस्वरूप भी भारतीय तिलहन की माँग मे कमी हुई। सन् १९३४-३४ मे और फिर १९३६-३७ में अर्जेन्टाइना की फसल खराब होने से और इंगलैण्ड के बाजार में १० प्रतिशत (ओटावा) अधिमान्यता प्राप्त होने से स्थिति कुछ अनुकूल हो गई। १९३७-३८ में मूँगफली के मूल्य में कमी हो जाने और अलसी और मूँगफली के निर्यात के घट जाने से मात्रा और मूल्य में क्रमश १८ और २४ प्रतिशत की कमी आ गई। १९३८-३९ में स्थिति फिर कुछ सुधरी, क्योकि भारत में मूँगफली की अच्छी फसल हो जाने से और अर्जेन्टाइना में अलसी की फसल खराब हो जाने से इन दोनो बीजो के निर्यात में—और तिलहन के निर्यात में इन्ही की प्रधानता थी—विशेष उन्नति हुई। १९३९-४० में तिलहन के निर्यात की मात्रा और मूल्य मे २९ प्रतिशत और २१ प्रतिशत की कमी आ गई, ८४६,००० टन तिलहन का निर्यात हुआ जिसका मूल्य ११ लाख ८४ हजार रुपया था। उत्पादन में तो कोई विशेष कमी नही थी, पर महायुद्ध के कारण यूरोप में तेल पेरने के उद्योग मे गड-बडी पैदा हो जाने से निर्यात मे कमी हो गई। १९४०-४१ में भारतीय तिलहन के लिए यूरोप के बाजार बन्द हो जाने के कारण निर्यात में और अधिक कमी हो गई। तिलहन के कुल उत्पादन और निर्यात का अनुपात विभिन्न बीजो के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न है। अलसी की खेती अधिकतर विदेशो में भेजने के ही दृष्टिकोण से की जाती है। १९३९-४० में अलसी की पैदावार का ४६ ९ प्रतिशत हिस्सा विदेश भेज दिया गया। अलसी के निर्यात के लिए जहाजो में जगह की कमी के कारण कम भूमि अलसी पैदा करने के प्रचार से और 'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन के फलस्वरूप १९३९-४० से अलसी की खेती में बहुत कमी आ गई है। मूँगफली भी काफी मात्रा में बाहर भेजी जाती है (१९३९-४५ की लडाई के पहले फ्रान्स सबसे बडा ग्राहक था)। १९३९-४० में कुल उत्पादन का १८ ३ प्रतिशत बाहर भेजा गया था। सरसो और तिल आदि का निर्यात नही के बराबर है। १९३९-४० में सरसो (कुल उत्पादन) का २ २ प्रतिशत और तिल का ०.८ प्रतिशत निर्यात हुआ था।

यद्यपि भिन्न-भिन्न स्थानो में तेल पेरने के उद्योग के विकास का प्रयत्न किया गया है। फिर भी ऐसा कहा जाता है कि भारत अपने तिलहन के साधनो का समुचित उपयोग नही करता।[1] पाश्चात्य देशों में वनस्पति तेल अनेक कामो में आता है। उदाहरण के लिए अमेरिका में बिनौले से तेल निकाला जाता है और उसे खाते हैं और उसकी खली को खाद के रूप में अथवा पशुओ के भोजन के रूप में प्रयोग करते हैं। पर भारत से अधिकाश बिनौला विदेशो में भेज दिया जाता है। तिलहन के निर्यात-व्यापार पर, जो मुख्यत यूरोपीय देशो से रहा है, १९१४-१८ के महायुद्ध का बहुत प्रभाव पडा है। उस युद्ध ने यूरोपीय देशो की माँग का ही अन्त नही किया वरन् व्यापार की परिस्थितियो में भी परिवर्तन कर दिया। शोधन प्रक्रियाओं के विकास के कारण एक तेल की जगह दूसरे का प्रयोग बहुत-कुछ सम्भव हो जाने से बडा परिवर्तन पदा हो गया। उदाहरण के लिए खजूर और राई के तेलो की गणना खाने वाले तेलो में

१ देखिए खण्ड २, अध्याय २, सेक्शन ३१।

होने लगी है। इससे तिलहन प्राप्त करने के अनेक नये साधनो का भी पता चल गया। भारतवर्ष की १६१४-१५ की अनुकूल स्थिति पर इसका बुरा प्रभाव पडा। भारतीय अलसी को अब अर्जेन्टाइना की अलसी से, जिसकी खेती का क्षेत्रफल निरन्तर बढता जा रहा है, प्रतियोगिता करनी पडती है। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है १६३३ मे भारतीय अलसी को इगलैण्ड में १० प्रतिशत अधिमान्यता प्राप्त है। भारतीय निर्यात-व्यापारी को तिल के सम्बन्ध में चीन के और मूँगफली के सम्बन्ध में पश्चिमी अफ्रीका के मुकाबले का साथ-ही-साथ विचार रखना होगा। अन्य वनस्पतियो को जिनकी उपज चीन अमेरिका और पश्चिमी अफ्रीका मे होती है, तेल निकालने के काम में लाने का प्रयत्न किया जा रहा है। मूँगफली के तेल का प्रयोग बढ जाने से राई और सरसो आदि का प्रयोग कम हो गया है।[1]

सन् १६३६-४५ के महायुद्ध के कारण भारतीय तिलहन के महाद्वीपीय बाजार बन्द हो जाने से भारत में तेल पेरने के उद्योग का तुरन्त ही विकास करना बहुत ही जरूरी हो गया है। विदेश से मँगाये जाने वाले खनिज तेलो के मूल्य बढ जाने और मिट्टी के तेल और स्नेहक तेलो की सप्लाई में कमी हो जाने से तथा मूँगफली के तेल को उद्योगो में काम में लाने के प्रयत्नो के कारण (जैसे रासायनिक घी तैयारी करने के लिए) भारतवर्ष में वनस्पति तेलो की माँग बहुत बढ गई। उदाहरण के लिए केवल मूँगफली की खेती के क्षेत्र में १६४२-४४ में २० लाख एकड की वृद्धि हुई। १६४० में स्थापित वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसन्धान मण्डल (बोर्ड ऑफ साइन्टिफिक एण्ड इन्डस्ट्रियल रिसर्च) ने इस सम्बन्ध में अनुसन्धान-कार्य आरम्भ किया है। (देखिए, खण्ड २, अध्याय १, सेक्शन १३।)

अब हम भारत में होने वाले कुछ प्रमुख तिलहनो की खेती का कुछ विवरण देंगे—

(क) अलसी की खेती उसके बीज के लिए की जाती है, रेशे के लिए नही। अधिकाश बीज और उनसे निकले हुए तेल तथा खली का निर्यात होता है। १६४०-४१ में रियासतो को शामिल करके कुल ३६ लाख एकड भूमि में अलसी की खेती हुई, जिसका ब्यौरा इस प्रकार है मध्य प्रदेश में १२,६०,००० एकड, बिहार में ५,८०,००० एकड, उत्तरप्रदेश में ६,१०,००० एकड[2], हैदराबाद (दक्षिण) मे ४,१०,००० एकड, बम्बई में १,२०,००० एकड और बगाल में १,६०,००० एकड।[3] १६३८-३६ के ४ करोड ४० लाख रुपये मूल्य की ३१८,००० टन अलसी की तुलना में १६३६-४० में केवल ३ करोड १८ लाख रुपये के मूल्य की २१६,००० टन अलसी

१. देखिए एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका, तेरहवाँ सस्करण तेल और स्नेहक वर्ग पर लिखा लेख, और गॉडगिल द्वारा लिखित इण्डस्ट्रियल इवोल्यूशन ऑफ इण्डिया, अध्याय १५।

२. इसमें ६३०,००० एकड मिश्रित फसलें भी सम्मिलित हैं।

३ सन् १६५०-५१ में ३४,४७,००० एकड भूमि में अलसी की खेती हुई थी। इसमें से मध्यप्रदेश में ६,७०,००० एकड, बिहार में २,६७,००० एकड, उत्तरप्रदेश में ७,८७,००० एकड, हैदराबाद में ५,३३,००० एकड, बम्बई में ६२००० एकड और बगाल में ८६,००० एकड भूमि में अलसी की खेती की गई थी।

विदेश भेजी गई।[1]

(ख) **तिल**—तिल लगभग सभी प्रदेशो में पैदा किया जाता है, पर विशेष रूप से इन जगहो में—मद्रास ७,३०,००० एकड, मध्यप्रदेश ४,७०,००० एकड, वम्वई १,७०,००० एकड, वम्वई की रियासतो में ३,२०,००० एकड, हैदरावाद (दक्षिण) में ४,२०,००० एकड, उत्तरप्रदेश में ११,८०,००० एकड[2], पजाव मे १,००,००० एकड, वगाल में १,८०,००० एकड, विहार में १,१०,००० एकड और उडीसा में १,००,००० एकड भूमि में। १९४०-४१ में तिल की खेती का कुल विस्तार ४० लाख ९० हजार[3] एकड था। हाल के वर्षो मे निर्यात में वहुत कमी आ गई है। १९३८-३९ में १५ लाख रुपये कीमत के ८,००० टन तिल का निर्यात हुआ था और १९३९-४० में निर्यात केवल ४,००० टन ही रह गया जिसका मूल्य ७ लाख रुपया था।

(ग) **राई और सरसो**—१९४०-४१ में राई और सरसो की खेती मिलाकर ६१,८०,००० एकड भूमि में हुई (इसमे उत्तरप्रदेश की मिश्रित फसल की खेती का २५ लाख एकड क्षेत्र भी सम्मिलित है)। इसमे उत्तरप्रदेश का प्रमुख स्थान है जहाँ इसका क्षेत्र मिश्रित फसल को मिलाकर २८ लाख एकड था। अन्य स्थान ये है विहार (५,००,०००), वगाल (७,७०,०००), पजाव (११,१०,०००) और आसाम (४,१०,०००) आदि।[4] १९०९-१० से १९१३-१४ तक समय कुल पैदावार का लगभग २०% भाग विदेश भेजा गया। अव निर्यात का अनुपात घटकर ५ प्रतिशत से भी कम रह गया है। १९३६-३७ मे ४ प्रतिशत था और १९३९-४० में २ २ प्रतिशत। वाद के वर्षो में निर्यात २२,००० हो गया, जिसका मूल्य ३३ लाख रुपया था।[5]

(घ) **मूँगफली**—तिलहन में सबसे अधिक महत्वपूर्ण मूँगफली है और हाल में उसकी खेती में वहुत विस्तार हुआ है। १९१८-१९ में १४,००,००० एकड भूमि की तुलना मे १९४०-४१ में ८७,७०,००० एकड भूमि मे उसकी खेती की गई। इनमें मुख्य-मुख्य स्थान मद्रास (३९,२०,००० एकड), बम्वई (१४,२०,००० एकड), बम्वई की रियासतें (१०,१०,००० एकड), हैदरावाद (१६,७०,००० एकड) तथा मव्यप्रदेश और वरार

---

१ १९५०-५१ में ५,६६,७६,००० रु० की (६८,००० टन) अलसी वाहर भेजी गई और १९५१-५२ में ७०,०२,००० रु० की (७००० टन)।

२ इसमें ९,८०,००० एकड मिश्रित फसलें भी सम्मिलित है।

३. आजकल तिल लगभग सभी प्रदेशों में वोया जाता है, पर विशेषकर मद्रास (६७०,००० एकड), मध्यप्रदेश (४४१,००० एकड), वम्वई (२७४,००० एकड), हैदरावाद (६३२,००० एकड), उत्तरप्रदेश (१,२४८,००० एकड़), पजाव (७२,००० एकड), वगाल (१७,००० एकड), विहार (४३,००० एकड) और उड़ीसा (४२१,००० एकड) में पैदा होता है। सन् १९५०-५१ में तिल की खेती का क्षेत्रफल [illegible],६२९,००० एकड था।

४ सन् १९५०-५१ में राई और सरसों की खेती का क्षेत्रफल ५,०९७,००० एकड़ था। इसमें से ३,०६६,००० एकड़ उत्तर प्रदेश में, ३१६,००० एकड़ विहार में, २२१,००० एकड वगाल में, ३४५,००० एकड पजाव में तथा ३१३,००० एकड आसाम में था।

५ सन् १९५०-५१ में एक प्रकार की सरसों (रेप सीड)का निर्यात १००टन था जिसका मूल्य १२५,००० रुपये था। १९५१-५२ में २०० टन सरसों का निर्यात हुआ जिसका मूल्य २२२,००० रुपये था।

(२,४०,००० एकड) है।[1] यह फसल आर्थिक दृष्टिकोण से कुछ प्रदेशो में वडे महत्त्व की फसल होती जा रही है और कही-कही तो रूई की फसल से भी प्रतियोगिता करती दिखाई पडती है। पिछली शताब्दी के अन्तिम वर्षों में इसके निर्यात और इसकी खेती के क्षेत्र-फल मे काफी कमी आ गई जिसका कारण था देशी मूँगफली की खराव किस्म। मेनीगाल और मोजमबीक की विदेशी सेगमार मूँगफली की अपने देश में सफलतापूर्वक खेती आरम्भ करने से १६०१ के वाद से कुछ स्थिति सुधरी और धीरे-धीरे खेती के क्षेत्र का विस्तार होना आरम्भ हुआ। १६२६-३३ की व्यापारिक शिथिलता के कारण इसके विकास में फिर कुछ वाधा पडी। १६३६-३७ में पुन स्थिति सँभली, पर १६३७-३८ में फिर विगडी। जो उन्नति १६३८-३६ में हुई थी वह १६३६-४० में कायम न रह सकी। १६३८-३६ में ८,३५,००० टन का निर्यात हुआ जिसका मूल्य ६ करोड ६३ लाख रुपया था और १६३६-४० में केवल ५,४६,००० टन का निर्यात हुआ जिसका मूल्य ७ करोड १६ लाख रुपया था। युद्धजनित अव्यवस्था ही इस कमी का कारण थी।[2] लगभग तीन-चौथाई फसल अपने उपयोग के लिए देश में ही रोक ली जाती है और वाकी बाहर भेजी जाती है। कृषि-विभाग को खोखली भूमि पर भी मूँगफली की पैदावार वढाने में सफलता मिली है।

४. रेशे—रेशे वाली फसलें वडे महत्त्व की फसलें हैं। ब्रिटिश भारत में १६०१-२ में कुल खेती के केवल ५ ६ प्रतिशत हिस्से में और १६४०-४१ में ७ ७ प्रतिशत में इस प्रकार की फसलें की गई थी।[3]

(क) कपास भारत की रेशे वाली प्रमुख फसल है। सन् १६२५-२६ में ब्रिटिश भारत में १,८१,८०,००० एकड भूमि में इसकी खेती होती थी और १६४०-४१ में १,४०,८०,००० एकड भूमि में।[4] देशी रियासतो को शामिल करके खेती के क्षेत्र के आँकडे उपर्युक्त क्रम के अनुसार २,८४,००,००० और २,३२,८०,००० एकड थे। इन वर्षो में (अर्थात् १६२५-२६ तथा १६४०-४१ में) कपास की उपज ६२,१०,००० और ५६,००,००० गाँठें थी (वजन—४०० पौंड प्रति गाँठ)[5]। इधर हाल में कपास की खेती के क्षेत्र में 'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन के कारण, और बम्वई आदि प्रदेशो में सर-कारी विधान के कारण अनिवार्यत कमी आ गई है। हमारे देश में रुई का निर्यात-व्यापार भी काफी वढा है। कुल उत्पादन का लगभग ६० प्रतिशत हिस्सा बाहर भेज दिया जाता

---

१ सन् १६५०-५१ में मूँगफली की खेती का क्षेत्र ११,१३०,००० एकड़ था। इसमें से ४,५७६,००० एकड़ मद्रास में, २,०७४,००० एकड़ वम्बई में, १६,६८,००० एकड़ हैदरावाद में तथा ५,४३,०००एकड़ मध्यप्रदेश में था।

२ सन् १६५०-५१ में ३८,००० टन मूँगफली जिसका मूल्य ३,५७,११,००० रु० था, बाहर भेजी गई। सन् १६५१-५२ में २०,००० टन मूँगफली का निर्यात हुआ जिसका मूल्य २,३४,६६,००० रुपये था।

३ १६४६ ५० में रेशे वाली फसलों के अन्तर्गत कुल क्षेत्र १,७०,५६,००० एकड़ था।

४ १६५०-५१ में कपास की खेती का क्षेत्रफल १४,५५६,००० एकड़ था।

५ सन् १६५०-५१ में २६,७१,००० गाँठे (३६२ पौंड प्रति गाँठ) हुई।

है। इसमें कोई सन्देह नही कि कुछ वर्ष पहले तक रुई भारत के निर्यात-व्यापार की प्रमुख वस्तु थी और व्यापारिक शिथिलता-काल (१९२९-३३) के आरम्भ के एक वर्ष पहले तक कपास के निर्यात-मूल्य मे आश्चर्यजनक वृद्धि भी हुई थी। १९१५-१६ मे २४ करोड ९७ लाख रुपये के मूल्य का अर्थात् ४४०,००० टन का निर्यात हुआ। १९२५-२६ मे निर्यात वढकर ७४०,००० टन हो गया जिसका मूल्य ९५ करोड रुपया था। वाद के वर्षो में कई कारणो से—जैसे व्यापारिक शिथिलता, जापान का वित्त-सकट, भारतीय सूती कारखानो मे खपत वढ जाना, कुछ वर्षो तक भारतीय रुई को अमेरिका की रुई की अपेक्षा अधिक मान मिलना, और कुछ विशेष वर्षों मे सयुक्त राज्य अमेरिका में कपास की फसल वहुत अच्छी होने से—रुई के निर्यात की मात्रा में तथा उसके मूल्य में वहुत कमी आ गई। १९३२-३३ में निर्यात की मात्रा घट कर ३६८,००० टन रह गई जिसका मूल्य २० करोड ३७ लाख रुपया था। दोनो विश्व-युद्धो के वीच मे निर्यात के आँकडे इतने नीचे कभी नही गए। १९३३-३४ में निर्यात की मात्रा में थोडी वृद्धि होती दिखाई पडी। १९३४ मे जापान द्वारा लगभग छ महीने तक भारतीय कपास के वहिष्कार के कारण, जो कि जापान ने १९०४ के व्यापारिक समझौते को रद्द करने के लिए भारत के निर्णय का वदला लेने के दृष्टिकोण से किया था, वम्वई के रुई वाजार की स्थिति कुछ समय तक डाँवाडोल रही। १९३४ के जनवरी के महीने में, भारत और जापान के वीच नया व्यापारिक समझौता हो जाने के कारण वहिष्कार बन्द कर दिया गया। इस समझौते के अनुसार भारत द्वारा खरीदे जापानी सूती कटपीस की मात्रा जापान द्वारा भारतीय रूई की खरीद की मात्रा पर निर्भर थी। इस प्रकार यह निर्धारित हो गया था कि ३२,५०,००,००० गज जापानी कटपीस के भारत द्वारा खरीदे जाने के वदले में जापान को भारत से १०,००,००० गाँठें रूई भी खरीदना अनिवार्य होगा। इस समझौते को १९३७ में फिर से नया कर लिया गया। इसके अधीन कटपीस की मूल आयात मात्रा घटाकर २८,३०,००,००० गज कर दी गई, क्योकि १ अप्रैल १९३७ से वर्मा भारत से अलग कर दिया गया था।[1] भारतीय रूई का निर्यात जो कि १९३६-३७ में ४१,४०,००० गाँठें था १९३७-३८ में घटकर २७,३०,००० गाँठें हो गया और १९३८-३९ में केवल २७,००,००० गाँठें ही रह गया। यह कमी जापान द्वारा—जो कि भारतीय रूई का सबसे वडा ग्राहक था—खरीदारी घटा लेने के कारण हुई थी। यह जापानियो के युद्ध-सम्वन्धी आर्थिक उपायों (जैसे आयात-प्रतिवन्ध और विनिमय-नियन्त्रण आदि) का एक अग था जिन्हे उन्होंने चीन और जापान के बीच युद्ध आरम्भ हो जाने पर लागू किया था। जापान की खरीदारी जो कि १९३६-३७ में २३,३०,००० गाँठें थी घटकर १९३७-३८ में १३,६०,००० गाँठे, १९३८-३९ में १२,१०,००० गाँठे और १९३९-४० में केवल १०,६०,००० गाँठें ही रह गई। लकाशायर की भारतीय कपास कमेटी (इण्डियन काटन कमेटी) के प्रयत्न

१ सन् १९३४ व १९३७ के भारत और जापान के समझौते तथा सन् १९४१ में भारत-जापान के व्यापारिक सम्मेलन की समाप्ति के नोटिस के विशेष विवरण के लिए खण्ड २, अध्याय ७, और सेक्शन १३ देखिए।

के कारण भारत से ब्रिटेन के लिए निर्यात धीरे-धीरे बढता गया। यह १९३३-३४ में ३४२,००० गाँठो से बढकर १९३६-३७ में ६१०,००० गाठें हो गया। १९३७-३८ में यह निर्यात घटा और ३९५,००० गाँठे हो गया, पर १९३८-३९ और १९३९-४० में फिर वृद्धि के लक्षण दिखाई पडे और निर्यात क्रमश ४११,००० गाँठें और ४७२,००० गाँठें हो गया। यूरोपीय महाद्वीप दूसरे महायुद्ध मे इस बाजार के हाथ से निकल जाने के पूर्व भारतीय रूई का एक महत्त्वपूर्ण खरीदार था। ब्रिटिश भारत से कुल रूई का निर्यात १९३८-३९ में २७,००,००० गाँठें अर्थात् ४८३,००० टन से बढकर, १९३९-४० में २९,५०,००० गाँठें अर्थात् ५२६,००० टन हो गया, यानी ९ प्रतिशत की वृद्धि हुई। निर्यात का मूल्य २३ ८६ करोड रुपये से बढकर ३० ११ करोड रुपया अर्थात् २९% अधिक हो गया। यद्यपि जापान ने रूई की खरीद कम कर दी थी, पर चीन ने अपनी खरीदारी १९३८-३९ में १९३,००० गाँठो से १९३९-४० में बढाकर ६८१,००० गाँठें कर दी। ब्रिटेन और फ्रान्स ने भी अपनी खरीद बढाई। रूई के निर्यात से सन् १९४१ में जो ६½ करोड की कमी आ गई थी उसके मुख्य कारण यूरोपीय बाजार का हाथ से निकल जाना और जापान की खरीद में कमी थी। रूई के भाव की भारी कमी भी निर्यात का मूल्य घट जाने का कारण था। उदाहरण के लिए भडौच की रूई का भाव जो १९३९ के जून के अन्त मे (लडाई आरम्भ होने के पहले) १६० रुपया प्रति कैण्डी था, जनवरी १९४० मे ३३७ रु० प्रति कैण्डी होकर शिखर पर पहुँच गया, लेकिन उसी वर्ष के जून के महीने तक पहुँचते-पहुँचते मूल्य फिर घटकर १५६ रुपया प्रति कैण्डी रह गया। भाव में यह आकस्मिक उतार-चढाव युद्ध-काल में सट्टे की धूम होने और यूरोपीय बाजार निकल जाने के कारण था। भारतीय मिलो में खपत बढ़ जाने से १९४१ के जुलाई-अगस्त महीने में रूई का मूल्य २३० रु० प्रति कैण्डी पर स्थिर हो जाने के पश्चात् मार्च १९४२ में जापान से युद्ध छिड जाने के कारण जापानी बाजार का अन्त हो जाने पर मूल्य घटकर फिर १८५ रु० हो गया। इस प्रकार छोटे रेशे वाली रुई की स्थिति जिसका 'ऑर्फन' नाम उपयुक्त ही है, विशेष रूप से चिन्ताजनक हो गई। भारत सरकार का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ और उसने एक अलग कोष की स्थापना करने के उद्देश्य से जनवरी सन् १९४२ में कपास पर आयात-कर दूना कर दिया। इस कोष का उपयोग छोटे रेशे वाली कपास की खेती करने वालो की सहायतार्थ सरकारी खरीदारी आदि उपायो पर खर्च करके किया जाना था। इनको यह सलाह दी गई थी कि वे कपास के स्थान पर अधिक उपयोगिता वाली विशेषकर खाद्यान्न की खेती करें। अनाज की खेती को प्रोत्साहन देने और आन्तरिक तथा बाह्य व्यापारो में घाटा बचाने के उद्देश्य से कपास की खेती के क्षेत्र पर सरकार ने जो प्रतिबन्ध लगाया है, उसके फलस्वरूप कपास की खेती करने वालो के लिए लाभ की प्रत्याशा अच्छी-खासी हो गई है।[1]

---

१ सन् १९४४-४५ से सन् १९४७-४८ तक (कच्ची) कपास का निर्यात-व्यापार उन्नतिशील रहा। निर्यात का जाने वाली मात्रा और मूल्य दोनों में ही उत्तरोत्तर वृद्धि हुई। सन् १९४४ ४५ के निर्यात-व्यापार (५६,९१८ टन, ६९८,३८,००० रु०) की तुलना में सन् १९४७-४८ के नियात-व्यापार की मात्रा और मूल्य क्रमश २,०९,३८७ टन और ३४,७५,२९,००० रुपये था। हाल के निर्यात-सम्बन्धी

कही-कही पर तो अनाज की पैदावार की चिन्ता न करके कपास की खेती मे अधिक भूमि का प्रयोग किया गया है। १८९५ से लगाकर १९०० तक का कपास की खेती के क्षेत्रफल का औसत १,३८,६०,००० एकड था, पर १९२५-२६ मे २,८४,००,००० एकड भूमि पर कपास की खेती हुई थी। १९४०-४१ में कपास की खेती में २,३२,८०,००० एकड भूमि लगी हुई थी और १९४५-४६ में यह क्षेत्र १,४८,००,००० एकड हो गया था।[1] १९३९-४० मे भारत मे रुई पैदा करने वाले मुख्य क्षेत्र ये थे—वम्बई (३५ लाख एकड), वम्बई प्रदेश की रियासते (१४ ७ लाख एकड), मध्यप्रदेश और वरार (३३ ३ लाख एकड), हैदरावाद (३१ ९ लाख एकड), पजाव (२९ ४ लाख एकड), मध्यभारत की रियासतें (१० ४ लाख एकड), मद्रास (२२ २ लाख एकड) और पजाव की रियासतें (९⅔ लाख एकड)।[2] जहाँ तक कपास की खेती के क्षेत्र तथा उत्पादन से सम्वन्ध है, हम कह सकते है कि भारतवर्ष का स्थान सयुक्त राज्य अमेरिका के वाद दूसरा है। भारतीय कपास प्राय छोटे रेशे वाली होती है। उसका तूलिपट मिश्र और अमेरिका की रुई की अपेक्षा छोटा और रुक्ष होता है। इसलिए कुछ समय पहले तक रुई ऐसे महीन कपडो की विनाई के लिए जैसे कि लकाशायर के कारखाने वनाते है, अनुपयुक्त समझी जाती थी। भारत में कपास की प्रति एकड पैदावार कम है। भारत में प्रति एकड ७५ से १०० पौण्ड तक तूलिपट कपास का उत्पादन होता है जवकि सयुक्त राज्य अमेरिका में १८० पौण्ड और मिश्र मे ३०० से ४०० पौण्ड तक। भारत का कृषि-विभाग, जिसकी स्थापना लकाशायर की प्रेरणा से हुई थी, कुछ वर्षों से देशी रुई के गुण और प्रति एकड पैदावार की मात्रा की वृद्धि का प्रयत्न कर रहा है। इस विभाग ने विदेशी किस्म की विशेषकर लम्वे रेशे वाली रुई के उत्पादन का प्रयत्न किया है। भारत के वहुत से भागो की स्थिति विदेशी कपास के उत्पादन के अनुपयुक्त है, इसलिए देशी कपास की उन्नति पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। पठारो पर पैदा होने वाली अमरीकी कपास और मिश्री कपास की खेती का प्रयोग सिन्ध मे किया गया था और अमेरिका की रुई का प्रयोग वहुत सफल भी हुआ था। यह आशा की गई थी कि सक्खरवैरेज नहर की पूर्ति इस प्रकार की रुई की खेती का क्षेत्र वढा देगी और उत्पादन ५,४९,००० गाँठें प्रतिवर्ष हो जायगा। दूसरी प्रशसनीय सफलता यह थी कि मद्रास मे कम्वोडिया की रुई की खेती का आरम्भ किया गया। वम्वई, पजाव और उत्तरप्रदेश में भी अमेरिकी किस्म की रुई की खेती आरम्भ कर दी गई है। मार्च १९३९ मे आयात-कर को दूना करने का आशय लम्वे रेशे वाली रुई की खेती करने वाले भारतीय किसानो

आंकड़े इस प्रकार हैं—

	१९४८-४९	१९४९-५०	१९५०-५१	१९५१-५२
मात्रा (टनों में)	७६,०८०	५७,६९४	१४,६६३	२३,०३७
मूल्य (हज़ार रुपया में)	१४ ००,२२	१०,५६,६५	४,६४,४१	१३,६६,३९

1 सन् १९५१-५२ में कपास की खेती का क्षेत्रफल १६,२,००,००० एकड था।

2 सन् १९५०-५१ में कपास उत्पन्न करने वाले क्षेत्रों का वितरण मुख्य-मुख्य राज्यों में इस प्रकार था वम्बई—३,४८७,००० एकड, मध्यप्रदेश—२,७७६,००० एकड़, हैदरावाद २,४१८,००० एकड़, पजाव ४४७,००० एकड़, मध्यभारत १५,८६,००० एकड़, मद्रास १७,३०,००० एकड़।

के कारण भारत से ब्रिटेन के लिए निर्यात धीरे-धीरे बढता गया। यह १९३३-३४ में ३४२,००० गाँठों से बढकर १९३६-३७ में ६१०,००० गाँठे हो गया। १९३७-३८ में यह निर्यात घटा और ३९५,००० गाँठें हो गया, पर १९३८-३९ और १९३९-४० में फिर वृद्धि के लक्षण दिखाई पडे और निर्यात क्रमश ४११,००० गाँठें और ४७२,००० गाँठे हो गया। यूरोपीय महाद्वीप दूसरे महायुद्ध में इस बाजार के हाथ से निकल जाने के पूर्व भारतीय रूई का एक महत्त्वपूर्ण खरीदार था। ब्रिटिश भारत से कुल रुई का निर्यात १९३८-३९ में २७,००,००० गाँठें अर्थात् ४८३,००० टन से बढकर, १९३९-४० में २९,५०,००० गाँठे अर्थात् ५२६,००० टन हो गया, यानी ९ प्रतिशत की वृद्धि हुई। निर्यात का मूल्य २३ ८६ करोड रुपये से बढकर ३० ११ करोड रुपया अर्थात् २६% अधिक हो गया। यद्यपि जापान ने रूई की खरीद कम कर दी थी, पर चीन ने अपनी खरीदारी १९३८-३९ में १९३,००० गाँठो से १९३९-४० में बढाकर ९८१,००० गाँठें कर दी। ब्रिटेन और फ्रान्स ने भी अपनी खरीद बढाई। रूई के निर्यात से सन् १९४१ में जो ६½ करोड की कमी आ गई थी उसके मुख्य कारण यूरोपीय बाजार का हाथ से निकल जाना और जापान की खरीद में कमी थी। रूई के भाव की भारी कमी भी निर्यात का मूल्य घट जाने का कारण था। उदाहरण के लिए भडौच की रुई का भाव जो १९३९ के जून के अन्त में (लडाई आरम्भ होने के पहले) १६० रुपया प्रति कैण्डी था, जनवरी १९४० में ३३७ रु० प्रति कैण्डी होकर शिखर पर पहुँच गया, लेकिन उसी वर्ष के जून के महीने तक पहुँचते-पहुँचते मूल्य फिर घटकर १५६ रुपया प्रति कैण्डी रह गया। भाव में यह आकस्मिक उतार-चढाव युद्ध-काल में सट्टे की धूम होने और यूरोपीय बाजार निकल जाने के कारण था। भारतीय मिलो मे खपत बढ़ जाने से १९४१ के जुलाई-अगस्त महीने में रूई का मूल्य २३० रु० प्रति कैण्डी पर स्थिर हो जाने के पश्चात् मार्च १९४२ मे जापान से युद्ध छिड जाने के कारण जापानी बाजार का अन्त हो जाने पर मूल्य घटकर फिर १८५ रु० हो गया। इस प्रकार छोटे रेशे वाली रुई की स्थिति जिसका 'ऑर्फन' नाम उपयुक्त ही है, विशेष रूप से चिन्ताजनक हो गई। भारत सरकार का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ और उसने एक अलग कोष की स्थापना करने के उद्देश्य से जनवरी सन् १९४२ में कपास पर आयात-कर दूना कर दिया। इस कोष का उपयोग छोटे रेशे वाली कपास की खेती करने वालो की सहायतार्थ सरकारी खरीदारी आदि उपायो पर खर्च करके किया जाना था। इनको यह सलाह दी गई थी कि वे कपास के स्थान पर अधिक उपयोगिता वाली विशेषकर खाद्यान्न की खेती करें। अनाज की खेती को प्रोत्साहन देने और आन्तरिक तथा बाह्य व्यापारो में घाटा बचाने के उद्देश्य से कपास की खेती के क्षेत्र पर सरकार ने जो प्रतिबन्ध लगाया है, उसके फलस्वरूप कपास की खेती करने वालो के लिए लाभ की प्रत्याशा अच्छी-खासी हो गई है।[1]

---

१ सन् १९४४-४५ से सन् १९४७-४८ तक (कच्ची) कपास का निर्यात-व्यापार उन्नतिशील रहा। निर्यात की जाने वाली मात्रा और मूल्य दोनों में ही उत्तरोत्तर वृद्धि हुइ। सन् १९४४ ४५ के निर्यात-व्यापार (५६,९१८ टन, ६९८,३८,००० रु०) की तुलना में सन् १९४७-४८ के नियात-व्यापार की मात्रा और मूल्य क्रमश. २,०९,३१७ टन और ३४,७५,२९,००० रुपये था। हाल के निर्यात-सम्बन्धी

जिसके द्वारा लाइसेन्स व्यवस्था की देख-रेख किया करेगी। कमेटी से यह भी आशा की जाती थी कि वह नये किस्मो की रुई की उपयोगिता के बारे में तथा रुई की कताई के प्रयोगो पर अपना अधिकारपूर्ण मत दिया करेगी। १९२२ में ईस्ट इण्डिया कॉटन ट्रेड एसोसिएशन की स्थापना हुई। सेण्ट्रल कॉटन कमेटी की पहली बैठक १९२१ मे बम्बई में हुई। कमेटी ने १९२३ मे एक काटन ट्रान्सपोर्ट एक्ट के प्रचलित कराने का प्रयत्न किया जिससे रुई मे मिलावट बन्द हो जाय। सर्वप्रथम यह कानून बम्बई मे लागू किया गया, जहाँ इसे इतनी सफलता मिली कि इसे मद्रास में भी लागू कर दिया गया। १९२५ में ट्रान्सपोर्ट एक्ट का एक उपनियम काटन जिनिंग एण्ड प्रेसिंग फैक्ट्रीज एक्ट भी पास किया गया। इण्डियन सेण्ट्रल काटन कमेटी ने बम्बई में कताई के प्रयोगो के लिए एक प्रयोगशाला खोल दी है। मध्यभारत की रियासतो के सहयोग से कमेटी ने इन्दौर की पौद-उद्योग सस्था (इन्स्टीट्यूट ऑफ प्लान्ट इण्डस्ट्री) के द्वारा रुई पर प्रयोग करवाना आरम्भ किया है। यह कमेटी विशिष्ट अन्वेषण-योजनाओ को भी भिन्न-भिन्न प्रान्तो में प्रोत्साहित कर रही है। इस कमेटी का सारा खर्च २ आना प्रति गाँठ के उपकर से पूरा किया जाता है जो कि भारत के कारखानो में काम आने वाली सभी प्रकार की रुई पर और भारत से विदेश भेजी जाने वाली रुई पर लागू किया गया है। १९२७ में बम्बई में कॉटन मार्केट एक्ट पास किया गया था और इस एक्ट के अन्तर्गत सब नियम बम्बई सरकार द्वारा प्रचलित किये गए थे। इस एक्ट के प्रावधान जो तीन प्रान्तो में लागू थे, १९३९ में बम्बई एग्रीकल्चरल प्रोड्यूस मार्केट्स एक्ट में सम्मिलित कर लिये गए। इसी प्रकार के कानून मध्यप्रान्त में (सेन्ट्रल प्राविन्सेज काटन मार्केट एक्ट) और मद्रास मे (दी मद्रास कमर्शियल क्राप्स मार्केट एक्ट) भी प्रचलित किये गए। ऊपर वर्णित परिस्थिति में हमे केवल यह कहना ठीक है कि भारत की विदेशी कपड़ो पर निर्भरता कम करने के लिए देश में ही नये और अच्छे किस्म की रुई के प्रयोग करने के उपाय निकालने की बहुत बडी आवश्यकता है। हम लोग अच्छे किस्म के कपडो के बनाने के लिए अपनी मिलो में विदेशी रुई का प्रयोग करते है।

(ख) जूट—रुई के बाद दूसरी महत्त्वशाली रेशे वाली फसल जूट की है। भारत को जूट की उत्पत्ति का एकाधिकार प्राप्त है। (यह और नीचे के कथन अविभाजित भारत के लिए है।) इसका उत्पादन बगाल स्थित गगा-ब्रह्मपुत्र का डेल्टा, आसाम प्रान्त तथा उसके पडोस की कूच-बिहार की रियासत तथा बिहार और उडीसा तक ही सीमित है। यहाँ की भूमि नदियो द्वारा लाई हुई चिकनी मिट्टी से बनी हुई है, इसलिए यह फसल खाद पर एक पैसा भी खर्च किये बिना पैदा की जा सकती है। १९४०-४१ मे जूट की खेती ५६ ६ लाख एकड के क्षेत्रफल मे की गई थी। यद्यपि १९२९-३३ के ससारव्यापी आर्थिक सकट के परिणामस्वरूप जूट के उद्योग मे अवसाद और मूल्य में भारी कमी के कारण १९३१-३७ में जूट की खेती का क्षेत्र बहुत घट गया था फिर भी स्थिति के सुधार के लिए बहुत बडा प्रयत्न किया गया। सितम्बर, १९३४ में बगाल की सरकार ने स्वेच्छा से जूट की उत्पत्ति कम करने की घोषणा की ताकि जूट

की सहायता करना था। हाल के वर्षों में मध्यम वर्ग के रेशे वाली कपास की खेती मे बहुत उन्नति हुई है और भविष्य में और अधिक उन्नति की आशा की जाती है, परन्तु ऐसी रुई का मूल्य कम होने के कारण इस वात का भय है कि किसान छोटे रेशे वाली कपास की खेती फिर से न करने लगे, क्योकि छोटे रेशे वाली रुई की मांग सदैव रहती ह, यद्यपि इसके विकास की सम्भावना कम है। लकाशायर में किये गए प्रयोगो से यह सिद्ध हो गया है कि भारत में पैदा होने वाली कुछ किस्म की कपास जैसे अमेरिकी पजावी, कम्बोडियाई मद्रासी और सूरत वाली कपास से अधिक महीन सूत काता जा सकता है। १९३२ में उसकी स्थापना के समय से ही लकाशायर भारतीय कपास-कमेटी (लकाशायर-इण्डियन-कॉटन-कमेटी) के प्रयत्नो से भारतीय रुई की लकाशायर के कारखानो मे अब पहले से अधिक खपत हो गई है। १९३३ के बम्बई लकाशायर टैक्सटाइल एग्रीमेन्ट, (जिसे सामान्यत मोडी-ली-पैक्ट कहा जाता है) का आशय इगलैण्ड मे भारतीय रुई के प्रयोग को बढाना था।[1] १९३९ के इण्डो-ब्रिटिश ट्रेड एग्रीमेन्ट ने भारत से इगलैण्ड के लिए रुई के निर्यात को लकाशायर से सूती कटपीस के आयात से सम्बद्ध कर दिया।[2]

१९१४-१८ के महायुद्ध ने अग्रेजी साम्राज्य की रुई के उत्पादन की आत्म निर्भरता के प्रश्न को खडा कर दिया। इस कारण से तथा अन्य कारणो से भारत सरकार को लम्बे रेशे वाली रुई की उत्पत्ति की वृद्धि की सम्भावना की परीक्षा करने के लिए, वर्तमान बिनौला निकालने और बेचने के ढग में उन्नति के उपाय बताने के लिए और मिलावट रोकने के उपायो की सिफारिश करने के लिए सन् १९१७ मे भारतीय कपास कमेटी (इण्डियन कॉटन कमेटी) की नियुक्ति करनी पडी। इस कमेटी की रिपोर्ट, जो १९१९ में छपी दो भागो में विभक्त थी। पहला भाग कृषि-सम्बन्धी था और दूसरा व्यापार-सम्बन्धी। शुद्ध और अच्छी जाति की रुई के उत्पादको को समुचित मूल्य दिलवाने के विचार से कमेटी ने अनेक बहुत अच्छी-अच्छी सिफारिशें, बरार के ढग के खुले बाजारो के पक्ष में की, ताकि खरीदारो को इस बात का पूरा पूरा ज्ञान हो कि वह क्या और कैसी वस्तु खरीद रहे है। इसके अतिरिक्त सहकारी बिक्री समितियो के विस्तार के लिए, बिनौला निकालने और रुई दबाने के कारखानो को लाइसेन्स लेने के लिए तथा रुई के स्थानान्तरित करने मे प्रतिबन्ध लगाने के लिए भी सिफारिशें की ताकि मिलावट करने और भिगोने की अनीति में बाधा पड सके। रुई के व्यापार की उन्नति के लिए सेन्ट्रल ईस्ट इण्डिया कॉटन ट्रेड एसोसिएशन की स्थापना की भी सलाह दी गई। कमेटी का अन्तिम सुझाव रुई के व्यापार और कृषि विभाग के बीच निकटतर सम्बन्ध बनाए रखने के लिए एक स्थायी रूप से केन्द्रीय कपास कमेटी (सेन्ट्रल कॉटन कमेटी) की स्थापना की थी। इस २० सरकारी और गैर-सरकारी सदस्यो की कमेटी को एक राय देने वाली सस्था बनाने की सम्मति दी गई थी जिससे सरकार अपने प्रस्तावित कानूनो के सम्बन्ध में राय लिया करेगी तथा

१ देखिए, खण्ड २, अध्याय ७, सेक्शन ६।

२ देखिए, खण्ड २, अध्याय ?, सेक्शन १३, और अध्याय ७, सेक्शन ९।

जिसके द्वारा लाइसेन्स व्यवस्था की देख-रेख किया करेगी। कमेटी से यह भी आशा की जाती थी कि वह नये किस्मो की रुई की उपयोगिता के बारे में तथा रुई की कताई के प्रयोगो पर अपना अधिकारपूर्ण मत दिया करेगी। १९२२ में ईस्ट इण्डिया कॉटन ट्रेड एसोसिएशन की स्थापना हुई। सेण्ट्रल कॉटन कमेटी की पहली बैठक १९२१ मे बम्बई में हुई। कमेटी ने १९२३ में एक काटन ट्रान्सपोर्ट एक्ट के प्रचलित कराने का प्रयत्न किया जिससे रुई मे मिलावट बन्द हो जाय। सर्वप्रथम यह कानून बम्बई मे लागू किया गया, जहाँ इसे इतनी सफलता मिली कि इसे मद्रास में भी लागू कर दिया गया। १९२५ में ट्रान्सपोर्ट एक्ट का एक उपनियम काटन जिनिंग एण्ड प्रेसिंग फैक्ट्रीज़ एक्ट भी पास किया गया। इण्डियन सेण्ट्रल काटन कमेटी ने बम्बई में कताई के प्रयोगो के लिए एक प्रयोगशाला खोल दी है। मध्यभारत की रियासतो के सहयोग से कमेटी ने इन्दौर की पौद-उद्योग सस्था (इन्स्टीट्यूट ऑफ प्लान्ट इण्डस्ट्री) के द्वारा रुई पर प्रयोग करवाना आरम्भ किया है। यह कमेटी विशिष्ट अन्वेषण-योजनाओ को भी भिन्न-भिन्न प्रान्तो में प्रोत्साहित कर रही है। इस कमेटी का सारा खर्च २ आना प्रति गाँठ के उपकर से पूरा किया जाता है जो कि भारत के कारखानो में काम आने वाली सभी प्रकार की रुई पर और भारत से विदेश भेजी जाने वाली रुई पर लागू किया गया है। १९२७ में बम्बई में कॉटन मार्केट एक्ट पास किया गया था और इस एक्ट के अन्तर्गत सब नियम बम्बई सरकार द्वारा प्रचलित किये गए थे। इस एक्ट के प्रावधान जो तीन प्रान्तो में लागू थे, १९३९ में बम्बई एग्रीकल्चरल प्रोड्यूस मार्केट्स एक्ट में सम्मिलित कर लिये गए। इसी प्रकार के कानून मध्यप्रान्त में (सेन्ट्रल प्राविन्सेज काटन मार्केट एक्ट) और मद्रास में (दी मद्रास कर्मशियल क्राप्स मार्केट एक्ट) भी प्रचलित किये गए। ऊपर वर्णित परिस्थिति में हमें केवल यह कहना ठीक है कि भारत की विदेशी कपडो पर निर्भरता कम करने के लिए देश में ही नये और अच्छे किस्म की रुई के प्रयोग करने के उपाय निकालने की बहुत बडी आवश्यकता है। हम लोग अच्छे किस्म के कपडो के बनाने के लिए अपनी मिलो में विदेशी रुई का प्रयोग करते हैं।

(ख) जूट—रुई के बाद दूसरी महत्त्वशाली रेशे वाली फसल जूट की है। भारत को जूट की उत्पत्ति का एकाधिकार प्राप्त है। (यह और नीचे के कथन अविभाजित भारत के लिए हैं।) इसका उत्पादन बगाल स्थित गगा-ब्रह्मपुत्र का डेल्टा, आसाम प्रान्त तथा उसके पडोस की कूच-विहार की रियासत तथा बिहार और उडीसा तक ही सीमित हैं। यहाँ की भूमि नदियो द्वारा लाई हुई चिकनी मिट्टी से बनी हुई है, इसलिए यह फसल खाद पर एक पैसा भी खर्च किये बिना पैदा की जा सकती है। १९४०-४१ मे जूट की खेती ५६ ६ लाख एकड के क्षेत्रफल में की गई थी। यद्यपि १९२९-३२ के ससारव्यापी आर्थिक सकट के परिणामस्वरूप जूट के उद्योग में अवसाद और मूल्य में भारी कमी के कारण १९३१-३७ में जूट की खेती का क्षेत्र बहुत घट गया था फिर भी स्थिति के सुधार के लिए बहुत बडा प्रयत्न किया गया। सितम्बर, १९३४ में बगाल की सरकार ने स्वेच्छा से जूट की उत्पत्ति कम करने की घोषणा की ताकि जूट

के मूल्य में कुछ वृद्धि हो जाय और लगातार तीन फसलो तक इसका प्रचार भी करती रही। यद्यपि समालोचको ने इस स्वेच्छा के प्रयत्न को असफल ही समझा पर इसका निषेधात्मक मूल्य अवश्य था। १६३६-४५ के युद्ध-काल में जूट की माँग और उसके मूल्य में परिवर्तन के कारण बगाल सरकार ने १६४० में बगाल जूट रेगूलेशन एक्ट पास कर दिया जिसका प्रयोग १६४१ की फसल के बोने वालो पर उनके हित को विचाराधीन रखते हुए अनिवार्य रूप से लागू किया गया। १६४० में बगाल में सबसे अधिक जूट की खेती हुई (३६,०७,०००एकड भूमि में) और अन्य प्रान्तो में जैसे बिहार (२८२,००० एकड), उडीसा (२८,००० एकड) और आसाम (३६३,०००एकड) में कम। कूचविहार और त्रिपुरा की रियासतो में क्रम से ४६,००० एकड और १८,००० एकड भूमि में जूट की खेती हुई थी। उत्तरप्रदेश के गान्जार भाग में जूट की उत्पत्ति का प्रयोग सफल रहा। पिछले ६० वर्षो में जूट के अन्तर्गत खेतो का क्षेत्रफल और उत्पत्ति बहुत बढ गई हैं।[1]

जहाँ तक निर्यात-व्यापार से सम्बन्ध है जूट का स्थान रुई के बाद ही आता है।[2] १६२८-२६ में ३२ ३५ करोड रु० के मूल्य का ८६८,००० टन जूट विदेशो को भेजा गया था। १६३२-३३ मे केवल ५६३,००० टन जूट जिसका मूल्य ६ ७३ करोड रुपया था, भेजा गया था। यह कमी भारत मे और खरीदने वाले देशो के जूट के उद्योग मे बहुत बडे अवसाद के कारण आ गई थी। १६३६-३७ मे स्थिति कुछ सुधरी और निर्यात की मात्रा ८२१,००० टन और मूल्य १४ ७७ करोड रुपया हो गया। १६३७-३८ में व्यापार की अवनति के कारण फिर जूट के निर्यात मे कमी हो गई और उसकी मात्रा ७४७,००० टन तथा मूल्य १४·७२ करोड रुपया हो गया। १६३८-३६ में और भी अधिक गिरकर केवल ६६०,००० टन ही रह गई जिसका मूल्य १३ ४० करोड रुपया था। १६३६-४० में पिछले वर्ष की तुलना में निर्यात की मात्रा (५६८,०००) में १८ प्रतिशत की कमी आ गई थी, पर उसके मूल्य में (१६ ७३ करोड रुपया) ४७ प्रतिशत की वृद्धि हो गई थी। यह वृद्धि सन् १६३६ के सितम्बर के महीने मे द्वितीय महायुद्ध की घोषणा हो जाने पर जूट के मूल्य के बढ जाने के कारण हुई थी। जूट के बहुत अधिक सट्टे के कारण जूट का मूल्य जून में ६ रु० ४ आ० प्रतिमन से बढकर जनवरी में १६ रु० ८ आ० प्रतिमन हो गया। इसी प्रकार जूट के बने सामानो के मूल्य में भी वृद्धि हुई। इस मूल्य-वृद्धि का विदेशी ग्राहको पर हानिकारक प्रभाव पडा। बाहरी देशों की बोरो की माँग में कमी आ गई और यूरोप की खरीदारी बिलकुल बन्द हो गई। इसका प्रभाव जूट और जूट के बने सामान पर बहुत बुरा हुआ और मूल्य गिर गया। १६४०-४१ मे

१ सन् १६५०-५१ में जूट की खेती का क्षेत्रफल १४,५४,००० एकड़ था। मुख्य-मुख्य राज्यों में जूट की खेती का क्षेत्रफल इस प्रकार था: बगाल ६५१,००० एकड़, बिहार ३५८,००० एकड़, उडीसा ११०,००० एकड़, आसाम २६२,००० एकड़, त्रिपुरा १६,००० एकड़ और उत्तर-प्रदेश २४,००० एकड़।

२ जूट और जूट के बने सामान के सम्मिलित निर्यात का भारत के निर्यात-व्यापार में प्रथम स्थान है।

जूट के निर्यात के मूल्य में १२ करोड रुपए[1] की कमी हुई।[2]

भारत के जूट के मुख्य खरीदार जर्मनी (१९३९ के पहले) और इगलैण्ड थे। अन्य जूट खरीदने वाले देश स्पेन, फ्रान्स, जापान, चीन, सयुक्त राज्य अमेरिका, इटली और बेलजियम थे। जूट का निर्यात १७९५ मे बहुत थोडी मात्रा से आरम्भ हुआ था। १८३२ तक डन्डी के शक्ति-सचालित करघो वाले कारखानो के जूट की खपत काफी हो गई थी। १८५० तक वगाल के हाथो से चलाए जाने वाले करघो के उद्योग में इतनी शक्ति थी कि हाथ के वने सामान का निर्यात जूट से अधिक ही रहा। क्रीमिया की लडाई के कारण इगलैण्ड का रूस से फलेक्स (एक प्रकार का सन) का पाना वन्द-सा हो गया और जूट का प्रयोग एक व्यापारिक स्तर पर होने लगा, जिसके फलस्वरूप जूट का निर्यात १९०८-९ में वढकर ९००,००० टन हो गया। जर्मनी और इगलैण्ड जूट के मुख्य खरीदार थे। १९१४-१८ के युद्ध-काल में निर्यात घट गया था, पर थोडे ही समय पश्चात् वृद्धि हो गई और १९२९-३३ के अवसाद-काल तक स्थिति ठीक रही। जूट से सामान वनाने के उद्योग के विकास का वर्णन अन्यत्र किया जायगा (खण्ड २, अध्याय २)। यहाँ यह वताया जा सकता है कि जूट उद्योग मे १९२९-३३ के व्यापार अवसाद तक अवाध गति से निरन्तर उन्नति होती रही है। १९१४-१८ की लडाई आरम्भ होने के पहले भारत में जूट द्वारा वनाये जाने वाले सामान में जूट

१. दूसरे महायुद्ध के जूट उद्योग पर प्रभाव, जूट के और जट के वने सामान के मूल्य पर सरकारी नियन्त्रण और जूट की खेती को वगाल में नियमित करने के कानून के विषय में विशेष जानकारी के लिए खण्ड २, अध्याय २, सेक्शन १८ भी देखिए।

२ सन् १९४४-४५ में १६०,१७४ टन कच्चे जूट का निर्यात हुआ जिसका मूल्य ७,५०,०१,००० रु० था। ३८६,६३१,००० वोरो का भी निर्यात हुआ जिनका मूल्य २४,४९,६१,००० रु० था। सन् १९४५-४६ में कच्चे जूट के निर्यात की मात्रा और मूल्य वढ गया, परन्तु वोरों की निर्यात की हुई सख्या और मूल्य में कमी आ गई। सन् १९४६-४७ और १९४७-४८ में कच्चे जूट का निर्यात कम हो गया, परन्तु १९४७-४८ में जूट का निर्यात कम होने पर भी उसका मूल्य अधिक था। इसका कारण जूट के मूल्य की अधिकता थी। इन दोनों वर्षों में वोरों के निर्यात मूल्य में वृद्धि हुई। १९४८-४९, १९४९-५० और १९५०-५१ में कच्चे जूट का निर्माण क्रमश घटता गया। सन् १९५०-५१ में केवल ५२६ टन जूट का निर्यात हुआ। १९५१-५२ में कच्चे जूट का निर्यात ही नही हुआ। सन् १९५०-५१ को छोडकर वोरों का निर्यात वृद्धिशील था और १९५१-५२ में ५१२,८६१ हजार वोरे निर्यात किये गए जिनका मूल्य १,३५,३४,४८,००० रुपये था। सन् १९५२-५३ में जूट और जूट के वने सामानों के निर्यात का मूल्य १,२६,०५ ९५,००० रु० था। इनका निर्यात कुल निर्यात का २३'४२ प्रतिशत था।

उपर्युक्त निर्यात-आंकडों से प्रकट है कि सन् १९४७-५२ तक का समय जूट के निर्यात के लिए अनुकूल सिद्ध नही हुआ। इसके मुख्यत तीन कारण थे। इस अवधि में दो वर्ष जूट की फसल अत्यधिक अच्छी हुई। विदेशों की माँग एकदम कम हो गई। मिलों में जूट का भण्डार इकट्ठा हो जाने के कारण उनकी अपनी कठिनाइयाँ भी उत्पन्न हो गइ। विदेशों में जूट की माग कम होने का एक मुख्य कारण भारी निर्यात-कर था जिसके कारण भारतीय जूट की प्रतिस्पर्धा शक्ति समाप्तप्राय हो गई। इस वात को ध्यान में रखते हुए ७ मई १९५२ को जूट का निर्यात-कर ७५० रु० प्रति टन से घटाकर २७५ रु० प्रति टन कर दिया गय। वोरों के टाट का निर्यात-कर भी घटा दिया गया। पहले ३८० रु० प्रतिटन से घटाकर उसे १७० रु० प्रतिटन किया गया और वाद में २७ फरवरी १९५३ को इसे और घटाकर ८० रु० प्रतिटन कर दिया गया। सन् १९५३-५४ जूट उद्योग के लिए अपेक्षाकृत अधिक स्थिर वर्ष थे।

के निर्यात से अधिक वृद्धि हुई और इस प्रवृत्ति को युद्ध-काल में और उसके पश्चात् और भी अधिक प्रोत्साहन मिला। जूट की खपत भारत में उत्तरोत्तर बढती रही। १९३९-४० में निर्यात की मात्रा से १४१% अधिक देश मे ही जूट की खपत हुई थी। भविष्य में जूट की बिक्री में कमी होने की सम्भावना को रोकने के दृष्टिकोण से भारत की केन्द्रीय जूट कमेटी (इण्डियन सेन्ट्रल जूट कमेटी) ने, जिसने अपना कार्य १९३६ के अन्त में आरम्भ कर दिया था, जूट और जूट द्वारा निर्मित वस्तुओ के सम्बन्ध में निरन्तर अन्वेषण-कार्य करते रहने के लिए कुशल प्रबन्धको की देखरेख में एक औद्योगिक प्रयोगशाला खुलवाई।[1]

४. नील—नील का इतिहास बडे ही उत्थान और पतन का इतिहास है। इसका आरम्भ ईसवी सम्वत् के आरम्भ से हुआ। 'आरम्भ में पश्चिमी भारत में यह उद्योग पुर्तगालियो के हाथ में था, पर १७७८ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने बगाल में इसे पुनर्जीवन प्रदान किया और २० वर्ष तक इसे प्रोत्साहन दिया। पर १८३७ में जब यह उद्योग तिरहुत और उत्तरप्रदेश मे आ गया तो भारत को नील उत्पादन करने वाले ससार के देशो में सर्वोच्च स्थान प्राप्त हो गया, जिस पद से वह कुछ दिनों के लिए पश्चिमी द्वीप-समूह द्वारा हटा दिया गया था। भारत का यह स्थान उस समय तक बना रहा जब तक कि जर्मनी के लिए १८९७ मे व्यापारिक स्तर पर नील का उत्पादन (वास्तव में लगभग ३० वर्ष पहले ही नील सश्लेपित हो चुका था) करना सम्भव नही हो गया। इसके पश्चात् बिहार के कारखानो का भी भविष्य वही होता दिखाई पडने लगा जो कि मजिष्ठा और लाक्षारजक का उत्पादन करने वाले उद्योगों का हो चुका था।'[2] भारतीय निर्यात पर इसका बहुत बुरा प्रभाव पडा। १९०७-८ तक नील का निर्यात रजक वस्तुओ और चमडा कमाने की वस्तुओ के निर्यात के मूल्य का आधा था, पर १९१३-१४ में यह अनुपात कम होकर १/५ हो गया। नील की खेती का क्षेत्रफल भी १८९६-९७ में १,६८८,६०१ एकड से घटकर १९१३-१४ में १,७२,६०० एकड हो गया और निर्यात भी १६९,५२३ हण्ड्रेडवेट से घटकर १०,९३९ हण्ड्रेडवेट हो गया। नील के उद्योग को अस्थायी प्रोत्साहन १९१४-१८ की लडाई के कारण मिला जिसके कारण सश्लेपित नील की माँग का सारे ससार में अन्त हो गया था और इसका परिणाम यह हुआ कि नील का मूल्य बढ गया। नील की खेती का क्षेत्रफल भी बढकर १९१६-१७ में ७००,००० एकड हो गया और निर्यात १९१५-१६ में बढकर ४१,९३२ हन्ड्रेडवेट हो गया। युद्ध के समाप्त होने पर फिर कुछ अवनति हुई। इन दिनो तो नील का निर्माण बिलकुल ही नगण्य हो गया। १९३८-३९ में कुल निर्यात का मूल्य ४१,००० रु० था और १९३९-४० में घटकर १७,००० रु० रह गया। इस

---

१ भारतीय जूट मिल सस्था (इण्डियन जूट मिल्स एसोसिएशन) ने उत्तरी अमेरिका के बाजारों में जूट की खपत बनाए रखने तथा बढाने के लिए बाजार-विस्तार प्रोग्राम (मार्केट डिवेलपमेन्ट प्रोग्राम) प्रारम्भ किया है। सन् १९५२ में टाट के बोरो का विज्ञापन भी राष्ट्रीय पैमाने पर किया गया है। विदेशी बाजारों को बनाए रखने के लिए यह अति आवश्यक है।—अनुवादक

२ देखिए, कपास, पूर्व उद्धृत, पृष्ठ २६४।

उद्योग के भविष्य के सम्बन्ध मे मतभेद है, पर इसकी उन्नति की कोई आशा नही है। सस्ती लागत पर उत्पत्ति करने और निर्यात करने ही में कल्याण है। १९१५ मे दिल्ली कान्फ्रेन्स ने इस उद्योग को तीन दृष्टिकोणो से सहायता देने की सिफारिश की थी—कृषि, अन्वेषण और व्यापार। १९१८ में नील के निर्यात पर उपकर लगाया गया। इस आय को भारत सरकार द्वारा नील की खेती और निर्माण-सम्बन्धी वैज्ञानिक अन्वेषण पर खर्च करने का इरादा था।

१९४०-४१ में नील की खेती के अन्तर्गत ६०,००० एकड भूमि थी'[1] इसकी खेती में भाग लेने वाले मुख्य रूप से मद्रास, उत्तर प्रदेश, विहार, पजाव और बगाल आदि प्रदेश थे। विदेशी व्यापार की दृष्टि से विहार का बहुत वडा महत्त्व है क्योकि यही पर यूरोपीय प्रवन्धको की देखरेख में नील से रजक उचित रूप से निकाला और अकित किया जाता है। बिहार के कारखानो में उत्पादित नील १९३९ के पहले कलकत्ते से मुख्यत. ग्रीस, इगलैण्ड, मिश्र, यूगोस्लाविया, जापान और अदन को भेजा जाता था।[2]

६. अफीम—अफीम की खेती के अन्तर्गत तीव्रता मे कमी होती गई है। इसके कारण, १९०७ में चीन को उसके साथ किये समझौते के आधार पर पूर्णरूप से अफीम भेजना वन्द करना, १९३५ तक अन्य देशो को भी ऐसे ही समझौतो के अनुसार अफीम भेजना वन्द करना तथा देश में सरकार द्वारा अफीम के उपयोग पर प्रतिवन्ध लगाने की नीति है। तत्कालीन व्रिटिश भारत में अफीम की खेती के क्षेत्रफल में कमी हो गई। १९०६-७ में ६१४,८७९ एकड भूमि में खेती होती थी, पर १९३९-४० में यह क्षेत्रफल घटकर ७,१३८ एकड हो गया। पोस्त की खेती सरकारी लाइसेन्स प्राप्त करके की जाती है और आजकल तो इसकी खेती उत्तरप्रदेश (५,८३४ एकड) और पजाव (१,३०४ एकड) तक ही सीमित है।[3] १९३४-३५ में ६४४ पेटियाँ या ८२५ हण्ड्रेडवेट अफीम विदेश भेजी गई जवकि पिछले वर्ष २,८२३ पेटियाँ या ३५२४ हन्ड्रेडवेट अफीम भेजी गई थी। १९०९-१० से १९१३-१४ तक के पाँच वर्षो का औसत निर्यात ५१,००० हन्ड्रेडवेट था जिसका मूल्य ९ ९७ करोड रुपया था।[4] व्यक्तिगत रूप से १९३५-६ के वाद से अफीम का निर्यात नही हुआ है। इस प्रकार भारत ने अफीम द्वारा प्राप्त होने वाली एक वहुत वडी आय का त्याग अन्तर्राष्ट्रीय समझौतो के अन्तर्गत अपने उत्तरदायित्व को पूरा करने में किया है।

७. तम्बाकू—ऐसा विश्वास किया जाता है कि तम्बाकू की फसल का उत्पादन

---

१. १९४९-५० में नील की खेती का क्षेत्रफल १९,००० एकड़ था।—स्टेटिस्टिकल एब्स्ट्रेक्ट ऑफ इण्डिया, १९५१-५२, पृ० ५२०।

२ सन् १९५०-५१, १९५१-५२ और १९५२-५३ में रजकरगों का निर्यात मूल्य क्रमशः ६०,७७,००० रु०, १,५४,०४,००० रु० तथा १,००,६५,००० रु० था।

३ १९४९-५० में ४७,००० एकड भूमि पर अफीम की खेती होती है। सन् १९५०-५१ में पजाब में २,००० एकड़, उत्तरप्रदेश में १६,००० एकड, मध्यभारत में १८,००० एकड, राजस्थान में ८,००० एकड और हिमाचल प्रदेश में ३,००० एकड भूमि अफीम की खेती के अन्तर्गत थी।

४ उपर्युक्त आँकडों की तुलना में अफीम के निर्यात की मात्रा वहुत कम हो गई है। गत वर्षो में इसके

भारत में १७ वी शताब्दी के आरम्भ में पुर्तगालियो द्वारा किया गया था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के जमाने से ही सरकार ने तम्बाकू की पत्तियो को सुखाने और उसको उपयोग के योग्य वनाने के देशी ढगो में सुधार तथा पत्ती की किस्म का विकास करने का प्रयत्न किया है। तम्बाकू-उद्योग के दो वडे-वडे केन्द्र हैं—एक उत्तरी और पूर्वी वगाल और दूसरा दक्षिणी भारत। १९३९-४० में तम्बाकू की खेती मे कुल भूमि १३,१०,००० एकड लगी हुई थी जिसमें मद्रास, वगाल, विहार, उडीसा, वम्बई उत्तरप्रदेश और पजाव की भूमि सम्मिलित है।[1] यद्यपि भारत में उत्पादित तम्बाकू का अधिकाश यही काम आ जाता है, फिर भी कुछ मात्रा मे तम्बाकू की पत्ती, विशेपकर मद्रास से, विदेश भेजी जाती है। १९३९-४० में ५७६ लाख पौण्ड तम्बाकू जिसका कि मूल्य १८१ लाख रुपया था, विदेश भेजी गई थी। १९४१-४२ मे निर्यात का मूल्य २२० लाख था जो १९४२-४३ में १४९ लाख रुपया रह गया। १९४३-४४ मे तो पिछले वर्ष से भी निर्यात कम हो गया। उसकी मात्रा केवल १९९ लाख पौण्ड थी जिसका मूल्य ७६ लाख रुपया था जबकि १९४२-४३ मे निर्यात की मात्रा ३८२ लाख पौण्ड थी। १९४३-४४ में जितनी तम्बाकू का निर्यात हुआ था उसमें ९४ प्रतिशत कच्ची पत्ती का अश था, जिसका निर्यात ३७१ लाख पौंड से घटकर १९० लाख पौंड और मूल्य १३८ लाख रुपये से घटकर ५८ लाख रुपया हो गया था। इगलैण्ड के लिए निर्यात वहुत कम हो गया। १९४२-४३ मे २९३ लाख पौड से घटकर[2] बाद में ४५ लाख पौंड हो गया।[3] जहाँ तक वनी हुई तम्बाकू से सम्बन्ध है आयात का मूल्य निर्यात से सदा वढकर रहा है, और यह अन्तर इधर सिगरेट के अधिक प्रयोग के कारण वहुत वढ गया है। १९२९-३० में भारत ने ५३ लाख पौड सिगरेट, जिनका मूल्य २१३ लाख रुपया था, और ४८ लाख पौंड तम्बाकू जिसका मूल्य ५७ लाख रुपया था, विदेश से खरीदा। धीरे-धीरे सिगरेट का आयात कम हुआ और १९३३-३४ में घटकर ५,९३,००० पौंड हो गया। तब से आयात-कर के घट जाने के कारण सिगरेट के आयात में उन्नति हुई है। १९३९-४० मे १३,७१,००० पौंड का आयात हुआ जिसका मूल्य ४० लाख रुपया था। तम्बाकू की कच्ची पत्ती का आयात १९३८-३९ में ६४ लाख पौंड से १९३९-४० में घटकर ५८ लाख पौड हो गया, परन्तु मूल्य ५८

निर्यात की मात्रा और मूल्य इस प्रकार था

	१९४९-५०	१९५०-५१	१९५१ ५२
मात्रा (हड्रेडवेट)	१७७६	६१३५	४८१३
रुपये (हजार)	५८७०	२,००,९९	१,७३,३५

१ सन् १९५०-५१ में ९०२,००० एकड भूमि तम्बाकू की खेती के अन्तर्गत थी। तम्बाकू उत्पादन के प्रमुख क्षेत्र वम्बई (२४६ ००० एकड) मद्रास (३७७,००० एकड), विहार (४४,००० एकड), पश्चिमी वगाल (४४,००० एकड) उत्तरप्रदेश (४३,००० एकड) आदि थे।

२ रिव्यू ऑफ द ट्रेड ऑफ इण्डिया (१९४३-४४), पृ० १०१।

३ सन् १९४५-४६ से प्रत्येक एकान्तरिक वर्ष में निर्यात की मात्रा वढी और घटी भी है, परन्तु १९४८-४९ से १९५१-५२ तक निर्यात की मात्रा और मूल्य में लगातार वृद्धि हुई है। सन् १९५१ ५२ में अनिर्मित तम्बाकू के निर्यात की मात्रा और मूल्य क्रमश ९९,२३५,००० पौंड तथा १३,९३,५२,००० रुपये थी।

लाख रुपये से बढकर ६४ लाख रुपया हो गया। १९४३-४४ में तम्बाकू के आयात में कुछ वृद्धि हुई। आयात की हुई सभी प्रकार की तम्बाकू ९८ लाख पौंड थी जिसका मूल्य १९४३-४४ में १६० लाख रुपया था जबकि इसके पिछले वर्ष ८६ लाख पौंड का आयात हुआ था, जिसका मूल्य १३३ लाख रुपया था। कच्ची तम्बाकू की पत्ती का आयात भी ७८ लाख की पौंड से बढ गया।[1] देश की माँग के कारण भारत में ही अनेक सिगरेट का निर्माण करने वाले कारखानो के खोलने में प्रोत्साहन मिला है। भारतीय तम्बाकू की पत्ती भरने के लिए बहुत ही उपयुक्त है पर लपेटन के योग्य नही है। यह कमी १९४१ तक जावा और सुमात्रा मे पाई जाने वाली एक तरह की पत्ती के बहुत बडी मात्रा में आयात करने से पूरी हुई। भारतीय तम्बाकू की जाति मे उन्नति करने के प्रश्न पर कृषि अन्वेषण सस्था (एग्रीकल्चरल रिसर्च इन्स्टीट्यूट) के वनस्पति विभाग ने अपनी शक्ति का प्रयोग आरम्भ किया है। उन्होने अपना प्रयत्न अनेक प्रकार की तम्वाकुओ के प्रसकरण से नये प्रकार की तम्बाकू पैदा करने में और विशेषकर ऐसी तम्बाकू पैदा करने में जो कि अपने रग, स्वाद और बनावट में वर्जीनिया के समान हो, लगाया है। आय-कर की वृद्धि ने भी भारतीय तम्बाकू की खेती और उपयोग[2] को बढाया है।[3]

८ **पशुओं का चारा**—पशुओ को खिलाने वाली फसलो की खेती का क्षेत्रफल १९०१-२ में २९,४०,००० एकड से १९४०-४१ में १,०४,७०,००० एकड हो गया। उत्पादन के मुख्य क्षेत्र पजाब (५०,४०,००० एकड), बम्बई (२३,७०,००० एकड) और उत्तरप्रदेश (१६,३०,००० एकड) है।[4] इस वृद्धि के होते हुए भी हम कह सकते है कि भारत जैसे कृषि-प्रधान देश के लिए जहाँ इतनी अधिक सख्या मे पशुओ का समुचित ढग से पालन-पोषण होना आवश्यक है, पशुओ के चारे की उत्पत्ति में लगाया हुआ भूमि का क्षेत्रफल बहुत ही नगण्य है। मोटे चारे की फसल दूध की उत्पत्ति बढाने की दृष्टि से व्यर्थ है। जो फसलें बोई जाती है उनकी खेती सन्तोषप्रद है, पर सबसे अधिक मूल्यवान फलीदार फसले है जैसे कि बरसीम (मिस्र की क्लोवर) और लूसरीन (अल्फाल्फा) घास इत्यादि। इन फसलो की महत्ता भारतीय कृषि के लिए विशेष

१. रिव्यू ऑफ द ट्रेड ऑफ इण्डिया, पृष्ठ ८४।

२. रिव्यू ऑफ एग्रीकल्चरल आपरेशन्स इन इण्डिया देखिए (१९२८-२९), पृष्ठ ६७-७०।

३. गत वर्षो में १९४८-४९ से १९५१-५२ तक अनिर्मित तम्बाकू का आयात बराबर घटता रहा है। सिगरेटों का आयात १९४९-५० और १९५०-५१ में बहुत कम होकर १९५१-५२ में फिर बढ गया। १९४९-५० और १९५०-५१ के क्रमश ११२ पौंड और १३३ पौंड सिगरेटों के आयात की तुलना में १९५१-५२ में ८९३ पौंड सिगरेटों का आयात हुआ जिनका मूल्य १०,१५,००० रुपया था। यद्यपि आयात की मात्रा अधिक थी परन्तु उसका मूल्य पिछले वर्षो की तुलना में कम था। सन् १९४९-५० और १९५०-५१ के आयात का मूल्य क्रमश ११६४००० रु० तथा १५३०,००० रु० था। सन् १९५१-५२ के आयात मूल्य से सही तुलना कीजिए।

४ सन् १९५०-५१ में चारे की फसलों के अन्तर्गत १,११,७१,००० एकड भूमि थी। इसके उत्पादन के मुख्य क्षेत्र पजाब (१९,९८,००० एकड), उत्तरप्रदेश (१७,५६,००० एकड) और बम्बई (८२,५६,००० एकड) है।

हैं, क्योकि इनमें भूमि की उर्वरता बढाने की शक्ति है।[1] कृषि विभाग ने बहुत दिनो से चारे की उत्पत्ति और उसके सुरक्षित रखने के प्रश्न पर विशेष ध्यान दिया है। मिस्र की क्लोवर घास का भूमि को पुनर्जीवन देने के दृष्टिकोण से विहार और मध्यप्रदेश में सफलतापूर्वक प्रयोग और पूसा में वरसीम की उत्पत्ति को विभाग का प्रसशनीय कार्य कहा जा सकता है।

६ **रवड**—रवड, जिसके आजकल असख्य प्रयोग हैं, मुख्यत दक्षिणी भारत में (मद्रास, कुर्ग, मैसूर तथा ट्रावन्कोर-कोचीन मे) पैदा किया जाता है। १६४०-४१ में रवड की खेती का क्षेत्रफल १३०,००० एकड था और कुल उत्पत्ति ३,५५,३०,००० पौण्ड थी जवकि १६३२ में उत्पत्ति केवल १८ लाख पौण्ड थी। उस समय रवड के व्यापार में बडा तीव्र अवसाद छाया हुआ था।[2] अधिकाश उत्पादित रवड विदेशो को भेजा जाता है। १६३६-४० में २ करोड १५ लाख पौण्ड रवड जिसका मूल्य ६४ लाख रुपया था वाहर भेजा गया था, जवकि पिछले वर्ष १ करोड ७२ लाख पौण्ड, जिसका मूल्य ७२ लाख रुपया था, वाहर भेजा गया गया था।[3] १६१० के पहले निर्यात कम था, क्योकि उद्योग अपनी आरम्भिक अवस्था में था। आज भी ससार के उत्पादन में भारत का भाग वहुत कम है। जून १६३४ से रवड के उत्पादन और निर्यात एक अन्तर्राष्ट्रीय योजना के अनुसार नियमित है। इस योजना ने पहले की रवड की बिक्री की गिरी हुई स्थिति का उद्धार किया है। रवड के बने सामान (टायर और ट्यूव इत्यादि) के आयात का मूल्य १६३६-४० में १४८ लाख रुपया था। इस सम्वन्ध में सबसे अधिक महत्त्व की घटना १६३६ में रवड के टायर और अन्य सामान वनाने की एक वडी भारी फैक्ट्री की स्थापना थी। दूसरे महायुद्ध के प्रोत्साहन से रवड के सामान का स्थानीय कारखानो में निर्माण बढ जाने के कारण भविष्य में रवड के सामान के आयात के घट जाने की सम्भावना है। व्रिटिश भारत में मुख्यत वर्मा से बहुत बडी मात्रा में रवड मँगाया भी जाता था।[4]

८. कृषि उत्पत्ति का निर्यात—भारत की मुख्य फसलो के पिछले पृष्ठो में किये गए वर्णन में उनके निर्यात के सम्बन्ध में भी कुछ वाते बताई गई हैं। अब यह आवश्यक है कि कृषि-उत्पत्ति के निर्यात के विषय पर अलग से विचार कर लिया जाय। इस प्रश्न की आलोचना करने से पहले कच्चे माल और खाद्यान्न के कुछ आँकडे देना आवश्यक होगा। अगले पृष्ठो पर दी गई तालिकाओ में सन् १६२६ से १६४४ तक का (१) अन्न और (२) दूसरी मुख्य फसलो के निर्यात की मात्रा और उसका मूल्य दिया गया है।

---

१ एन० सी० राइट की 'रिपोर्ट ऑन द डेयरिंग इण्डस्ट्री ऑफ इण्डिया' देखिए।

२ इस समय रवड के अन्तर्गत १७०,००० एकड भूमि है और उसकी उत्पत्ति १८,००० टन है जो दुनिया की कुल रवड़ उत्पत्ति का १ प्रतिशत है।—इण्डियन ईयर वुक १६५४

३ सन् १६५२-५३ में २,०८,०४२ पौण्ड (कच्चा) रवड़ वाहर भेजा गया जिसका मूल्य ४२८,२५६ रुपये था। रवड़ के बने सामान (टायर ट्यूब आदि) के निर्यात का मूल्य १,४२,२४,८७० रु० था।

४ रवड और रवड के सामान का आयात अब भी होता है। सन् १६५२-५३ में ६० लाख रुपये के मूल्य की रवड़ और उसके सामान का आयात हुआ।

तीसरी तालिका में मुख्य फसलों के निर्यात का कुल उत्पत्ति से प्रति सैंकड़ा अनुपात दिया गया है और चौथी में कुल निर्यात के मूल्य का प्रति सैंकड़ा अनुपात दिया गया है और मुख्य अन्नों तथा अन्य वस्तुओं की १९३९-४३ और १९४३-४४ के निर्यात-व्यापार में तुलनात्मक महत्ता दिखाई गई है।[1]

९. **खाद्य पदार्थों के निर्यात पर प्रतिबन्ध**[2]— यद्यपि वर्मा के भारत से पृथक् होने के पश्चात् से चावल का भारत से निर्यात बहुत कम हो गया है। गेहूँ की स्थिति (जिसका अभी हाल तक विदेश भेजे जाने वाले अन्नों में दूसरा स्थान था) का निर्यात-व्यापार में पहले ही वर्णन किया जा चुका है और इस सम्बन्ध में हम इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि निर्यात की मात्रा बहुत गिर गई है। इसलिए खाद्यान्न के निर्यात पर विचार करने से हमें चावल[3] के ही विषय में विशेष विचार करना होगा जिसकी महत्ता बर्मा के पृथक् हो जाने से अब बहुत घट गई है। पर इसमें सन्देह नहीं कि दूसरे महा-युद्ध के आरम्भ होने के पहले गेहूँ और चावल का आयात रोकने के लिए रक्षा के उपायों का प्रयोग आवश्यक हो गया था। क्या अन्न तथा कच्चे माल का निर्यात भारत के लिए प्रसन्न होने अथवा भयभीत होने की बात है? कुछ लोगों का मत है कि यह निर्यात बढ़ते हुए वैभव का द्योतक है। इससे यह प्रकट होता है कि देश संसार में प्रचलित मूल्य का लाभ उठा रहा है और अपने यहाँ की आवश्यकताओं को पूरा करने के पश्चात् बचत की मात्रा को विदेश भेजता है और अपने निर्यात के मूल्य के बदले में सस्ती बनी हुई ऐसी वस्तुओं का आयात करता है जिनका देश में लाभकारी ढंग से निर्माण सम्भव नहीं है। इस मत के अनुसार इस निर्यात का यह अर्थ है कि देश में इतनी मात्रा की यथार्थ में बचत होती है—जिसका अच्छी फसल में देश त्याग कर सकता है और सुर-क्षित रख लेने पर जिसका प्रयोग फसल खराब होने पर अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति

---

१ १९३९-४०, १९४१-४२, १९४२-४३ और १९४३-४४ में ब्रिटिश भारत से विदेश भेजे हुए कुल निर्यात का मूल्य क्रमशः २,०२,४३,५४,००० रु०, २,३७,५६,२१,००० रु०; १,८७,९०,४४,००० रु०, १,९९,८७,९८,००० रु० था।—रिव्यू ऑफ दि ट्रेड ऑफ इण्डिया १९३९-४० (पृष्ठ १३९) और १९४३-४४ (पृष्ठ ८६) देखिए।

२. सेक्शन ९ और १० में प्रगट किये हुए मत स्पष्ट रूप से विचार करने में सहायक होंगे। पर इस मत का प्रतिपादन करने के लिए सामान्य स्थिति और राज्य-निर्बाधता की आर्थिक उन्नति के प्रचलन की कल्पना करनी होगी। वर्तमान युद्ध द्वारा जनित आपदावस्था में जबकि सर्वत्र सरकारी नियम और नियन्त्रण लागू है, इसका कोई स्थान नहीं है। यद्यपि राज्य-व्यवस्था द्वारा नियन्त्रण और नियमित करने के ढंग की लोगों ने कड़ी आलोचना की है परन्तु वर्तमान काल में प्रयोजनात्मक और विशद सरकारी हस्तक्षेप की उपयोगिता का सारा संसार मान करता है।

३ "यद्यपि भारतवर्ष संसार में सबसे अधिक चावल का उत्पादन करता है और गेहूँ के उत्पादन में उसको द्वितीय स्थान प्राप्त है, फिर भी उसके इन अन्नों के सम्बन्ध में निर्यात-व्यापार की कोई विशेष महत्ता नहीं है क्योंकि अधिकांश इन अन्नों का उत्पादन देश में ही काम आ जाता है।"—इण्डियन फाइनेन्स (ईस्टर्न ग्रुप नम्बर १९४०) पृष्ठ १८५। यह पहले ही बताया जा चुका है कि भारत बर्मा से बहुत बड़ी मात्रा में चावल खरीदता है। दालें, जौ, ज्वार, बाजरा और मक्का दूसरे अन्न हैं जो विदेश भेजे जाते जाते हैं, परन्तु निर्यात की कुल मात्रा बहुत थोड़ी है।

प्रथम तालिका

अन्न, दालें और आटा	मात्रा (१,००० टन) युद्ध के पहले का औसत १९०९-१० से १९१३-१४	युद्धकालीन औसत १९१४-१५ से १९१८-१९	युद्ध के बाद का औसत १९१९-२० से १९२३-२४	१९२९-३०	१९३९-४०	मूल्य (१००० रु०) युद्ध के पहले का औसत	युद्धकालीन औसत	युद्ध के बाद का औसत	१९२९-३०	१९३९-४०
धान	४२	३२	३५	२८	४	२७१२	२००९	३१३६	२२२०	२८७
चावल	२,३९८	१,६८५	१४६२	२२९८	२६२	२५६६५५	१८८८२५	२४३३६६	३१२८४२	३११०५
गेहूँ	१,३०८	८०७	२३७	१३	८	१३९६८६	१०३३४१	३६६६१	२११४	१०२०
गेहूँ का आटा	५५	५७	५६	५१	५०	८६९९	११३२०	१५०२६	१०७१८	६८१९
दाल	१५९	१२९	१४१	९७	७३	१२९८१	१८८५२	२०२७८	१६३७८	९५२९
जौ	२२७	१९८	४०	६		१९३१६	२२१७३	४६५६	७२	६७२
ज्वार और बाजरा	४१	४१	११	१५	७	३७६०	४४१५	१७३९	२५१३	७४५
अन्य प्रकार के अन्न	१८१	१९२	२७	२	४	१४२९६	२३२४५	३४०३	४४९	३६०
कुल अन्न	टन ४४११	३१४१	२००९	२५१०	४०८	४५८१११	३७४१८०	३२८२६५	३४७९४६	५०७३७
चाय	पौ २९९,४९७	३२२९९१	३२११९९	३७६६३४	३५६६९५	१३०६७८	१७५४५७	२०९२४२	२६००६४	२६०७७८

प्रथम तालिका (चल रही है) अन्न, दाल और आटा	मात्रा (१००० टन) १९४०-४१	१९४१-४२	१९४२-४३	१९४३-४४	कीमत (रु० १०००) १९४०-४१	१९४१-४२	१९४२-४३	१९४३-४४
धान	२	२८	११		१५५	३१४०	१४०३	
चावल	२५१	३०३	२५५	२७	३३४७२	४८३४८	५२४८७	६०४१
गेहू	४५	१८६	८	३१	४९७१	२४१६२	१२१०	६९२७
गेहूँ का आटा	६६	८७	१४	११	९१९६	१३६६९	२६८९	३२२६
दाल	८८	११३	३८	१६	१०६९४	१३७९५	७३९४	५२१३
जौ		१			४१	१२१	३०	१
ज्वार-बाजरा	२	५	६	१०	४५९	४८७	८८९	१५८७
दूसरा अन्न	४	३	२०		४०१	३६६	३२२४	८७
कुल	टन ४५८	७२६	३५२	९५	५९०८९	१०४०८८	६९३२३	१३[illegible]८२
चाय	पौ ३४९४८०	३८१९५१	३२२९४७	४१३०९०	२७७८६१	टन ४१८	३१६३४७	३७८१८२

	मात्रा (१००० टन)					मूल्य (१००० रुपये)				
	युद्ध के पहले का औसत १९०९-१० से १९१३-१४	युद्धकालीन औसत १९१४-१५ से १९१८-१९	युद्ध के पश्चात् का औसत १९१९-२० से १९२३-२४	१९२९-३०	१९३९-४०	युद्ध के पहले का औसत	युद्ध-कालीन औसत	युद्ध के पश्चात् का औसत	१९२९-३०	१९३९-४०
रेशे : कपास ..	४३०	३९१	५२१	७२७	५२६	३३२७८३	३३६३१९	६४७३८९	६५०७७०	३०१०८०
जूट	७६४	४६४	५५४	८०७	५६८	२२२०२४	१२८०२८	१९५२७७	२७१७३८	१९७३१८
कुल रेशे ..	११९४	८५५	१०७५	१५३४	१०९४	५५४८०७	४६४३४७	८४२६६६	९२२५०८	४९८३९८
तिलहन : आवश्यक	१०	८	९	४	८	२०५७	२४१६	३५८८	१५६८	२०४७
कम आवश्यक : अलसी	३७९	२७०	२५१	२४८	२१९	७९८९०	४९४९४	७५७७२	५७२३७	३१७६१
मूगफली ..	२१२	११९	१९५	७१४	५४९	३५२५७	१९११७	५६१९७	१६३८८६	७१९०१
राई ..	२७३	९१	२०६	४४	२२	४१४६९	१४३०१	५०७३७	९२०८	३२७७
तिल ..	११९	३३	२८	११	४	२८८१५	६७३५	१०२७३	२७१८	७४९
रेंडी ..	११४	८९	४८	१०६	४०	१६६४३	१५७५५	११४५४	२१४९६	७११८
नारियल .	३१	१६	७	..	.	११०४३	६०७३	२८८४	६८	३८
रुई ...	२४०	६९	१५५	५८	२	१७९९८	५०२५	१८८०५	५४८७	३३५
सरसों ...	४	३	२	३	३	१००८	९१६	९७५	७६२	६६५
Mowra ..	२९	३	८		...	४२५३	३०४	१२७९	६३	...
पोस्त ...	३३	५	६	...	...	६९४१	९५८	२०९७	७१	२०
अन्य प्रकार ...	९	२	८	७	४	२३२३	६४८	१३०३	२११२	१०२२
कुल	१४५३	७०८	९२३	११९५	८५१	२४३६९७	१२१७४२	२३५३६४	२६४६७६	११८९३३

तालिका २ का शेषांश

	मात्रा (१,००० टन)				मूल्य (१००० रु०)			
	१९४०-४१	१९४१-४२	१९४२-४३	१९४३-४४	१९४०-४१	१९४१-४२	१९४२-४३	१९४३-४४
रेशे कपास	३८७	२५७	५४	५०	२३५६२५	१५९४०२	३६४२०	६३६३५
जूट	२४३	३१५	२४३	१७८	७८४६०	१०४१७३	९०१५७	८३२९१
कुल रेशे	६३०	५७२	२९७	२२८	३१४०८५	२६३५७५	१२६५७७	१४६९२६
तिलहन आवश्यक	१४	१८	१३	५	३८४५	५४०६	४१२७	२५८३
कम आवश्यक . अलसी	२३८	२५६	१६१	३७	३६८७६	३८९९८	३१००८	११००७
मूँगफली	३३९	३०५	२५८	२४१	४०६३५	४८८४३	५१२५३	८२१८१
राई	३५	३४	३५	१८	४६९२	४५६२	६६२८	५७१४
तिल	४	९	१०	६	६९१	१४२६	२४६८	२१२५
रेटी	६७	२०	२९	१४	११८७३	७७०९	५९६३	५३१३
नारियल	.				३८	४६	७९	.
राई			१	१	१४	२०	४९	३४५
सरसों	४	१	१		९५६	११५	३३५	१६५
Mowra						४	११	१०
पोस्त		१			६५	३२८	१२२	३
अन्य प्रकार	३	३	४	४	८०७	८५९	३१३३	२०४९
कुल	७०४	६४७	५१२	३२६	१००४६२	१०४३१६	१०५१७६	१११४६२

रिव्यू ऑफ द ट्रेड ऑफ इण्डिया (१९२९-३०, १९३९-४० और १९४३-४४)

तालिका ३

	युद्ध के पहले का औसत १९०९-१० से १९१३-१४	युद्धकालीन औसत १९१४-१५ से १९१८-१९	युद्ध के पश्चात् का औसत १९१९-२० से १९२३-२४	१९२७-२८	१९३०-३१	१९३६-३७	१९३९-४०	१९४१-४२	१९४२-४३	१९४३-४४
चावल	६	५	५	८	७	४	१ १	१ ३	१ १	०·१
गेहूँ ..	१४	६	३	४	२	२	० १	१ ८	० १	० ३
चाय	९६	८९	९५	९१ (क)	९१	७७	७८ ६	७६·२	५७ ३	७१ ९
कपास ..	५६	५१	६१	४६	७५	६८	५९ ६	२३ १	६ ४	५ ३
जूट	५१	३१	४८	४९	३१	५३	३३·०	३२ २	१५ ०	१४ २
अलसी	७३	६३	५९	६३	६८	७१	४६ ९	७१ ०	३९ २	९ ७
राई और सरसो	२३	८	१९	८	४	४	२ २	३ २	३ ४	२ ०
तिल	२५	८	६	२	० २	३	० ८	२ १	२ २	१ ४
मूँगफली	३५	१२	१९	२४	१९	२६	१२ ३	१५ ०	९ ०	६ ३
नील	४०	४४	२७	१७	७	(ख)	(ख)	(ख)	(ख)	.

(क) · १९२६-२७ (ख) अप्राप्य

तालिका ४

	१९३९-४३	१९४३-४४		१९३९-४३	१९४३-४४
कपास ..	१५ २६	३ ७५	खली .	१ ००	० ०७
जूट .	९ ७०	४ १७	मसाला .	० ५३	० ७२
अन्न, दाल और आटा	२ ४९	१·१५	तम्बाकू	१ २४	०·३८
चाय .	१२ ८२	१८ ९४	काफी	० ३६	० ३५
तिलहन ..	५ ८५	५ ५८	फल और तरकारियाँ	१ १६	१·१४

के लिए कर सकता है।[1]

दूसरे पक्ष वालो का मत है कि अन्न और कच्चा माल, जिसका निर्यात होता है, वह ऐसी वास्तविक बचत नही है जिसे हम देश की आवश्यकताओ की पूर्ति के बाद की अवशिष्ट मात्रा समझें। इसलिए यह उचित होगा कि देश के सच्चे हित के लिए इस निर्यात को कर लगाकर रोकना अथवा उस पर प्रतिबन्ध लगाना आवश्यक होगा। इस पक्ष वालो का कहना है कि जब कि देश की जनसख्या का अधिकाश भूख से पीडित हो, यहाँ के अन्न को विदेश जाने देना तथा देश के बहुमूल्य कच्चे माल का विदेशो में बेरोक खिचता जाना, जब कि देशी कारखानो के विकास के लिए उनकी बहुत बडी आवश्यकता है, और सन्तोष के साथ देखते रहना, महान् पातक है।

इस मतभेद के सम्बन्ध मे हम एक साधारण सत्य की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहते हे जिसे प्राय लोग भूल जाते है, कि माल के केवल विदेश भेज देने मात्र से ही यह निष्कर्ष निकालना, कि माल भेजने वाले देश की आवश्यकता माल भेजने के पहले पूर्ण रूप से सन्तुष्ट कर दी गई होगी, अनुचित है। 'वास्तविक बचत' शब्द ही यह सकेत करता है कि कोई 'अवास्तविक बचत' भी होगी। सच बात तो यह है कि जो बचत विदेश भेजी जाती है उसमें यही वैज्ञानिक विशेषता होती है। विदेश को निर्यात इसी-लिए होता है कि प्रचलित मूल्य पर देश में उसकी माँग नही है। अर्थशास्त्र का प्रारम्भिक ज्ञान प्राप्त करने वाला भी जानता है कि अर्थशास्त्र में माँग का अर्थ वस्तु प्राप्त कर लेने की इच्छा मात्र ही नही है, वरन् वह इच्छा है जिसे उपभोक्ता की क्रय-शक्ति का सम्बल प्राप्त है। यदि सयुक्त राज्य अमेरिका गेहूँ का निर्यात करता है तो इसका यह अर्थ नही कि प्रत्येक अमेरिकावासी व्यक्ति को जितना गेहूँ उपयोग के लिए चाहिए, प्राप्त हो चुका है। इसी प्रकार भारत में भी अन्न के निर्यात का यह अर्थ नही समझना चाहिए कि जो अन्न विदेश भेजा जा रहा है उसकी देश में किसी को आवश्यकता नही है। इन दोनो देशो में अन्तर केवल इतना ही है कि अमेरिका की अपेक्षा भारत में अधिक सख्या में लोगो की अन्न की माँग का कोई प्रभाव नही है। यह तो क्रम का अन्तर है, प्रकार का नही। इसलिए पहले 'फिस्कल कमीशन' ने चावल और गेहूँ के निर्यात के सम्बन्ध में जब बडे ज्ञानपूर्ण ढग से यह कहा था कि 'प्रचलित मूल्य पर भारत की वास्तविक माँग पूरी हो जाती है और विदेश के लिए निर्यात करने के लिए कुछ बच रहता है',[2] तो उन्होने एक पूर्ण रूप से सत्य बात ही कही थी। पर वह बात पूर्ण रूप से निरर्थक भी थी। 'प्रचलित मूल्य पर' चाहे वह ऊँची हो अथवा नीची 'वास्तविक माँग' तो सदैव पूरी होती है। पर अन्न की वास्तविक माँग के पूरा होने पर भी करोडो व्यक्ति देश में भूखे रह सकते है। भारत की यही दशा है।

इस स्थिति का सुधार करने के दो उपाय है (जो प्रत्यक्ष रूप से परस्पर व्यावर्तक नही है)—पहला तो यह कि अन्न का मूल्य इतना कम कर दिया जाय कि वह निम्न क्रय-शक्ति वाले जन-साधारण की पहुँच की वस्तु हो जाय, और दूसरा उपा

१ टा० वर्सविक (सकलित), इकानॉमिक रिसोर्सेज ऑफ द एम्पायर, पृष्ठ १४५

२ फिस्कल कमीशन रिपोर्ट, पृष्ठ १५५.

है उनकी क्रय-शक्ति को इतना बढा देना कि प्रचलित मूल्य पर ही वे अपनी इच्छा को 'वास्तविक माँग' बनाने में समर्थ हो सकें।

अन्न का मूल्य कम करने का एक ढग, जिसका सुझाव दिया गया है, अन्न को विदेश भेजने पर रोक लगाना है। पर प्रश्न तो यह है कि क्या निर्यात बन्द कर देने से अथवा बहुत अधिक निर्यात-कर लगा देने से अन्न का मूल्य जितना हम चाहते है, कम हो जायगा, और यदि हो जायगा तो क्या इसकी देश के आर्थिक जीवन पर कोई हानिकारक प्रतिक्रिया होगी ?

जो लोग प्रयत्न द्वारा अन्न का मूल्य घटाए जाने के विरोधी है, उनका कहना है कि अन्न का निर्यात रोक देने का स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि लोग अन्न के स्थान पर दूसरी फसले जैसे रुई जूट, तिलहन आदि का उत्पादन करने लगेंगे, जब तक इनकी उत्पत्ति पर भी प्रतिबन्ध न लगा दिया जायगा। इस प्रकार अन्न का मूल्य घटाने के प्रयत्न का परिणाम अन्न के उत्पादन की कमी हो जायगी, और जनसख्या के पेट भरने के दृष्टिकोण से स्थिति पहले की अपेक्षा और अधिक खराब हो जायगी।

निर्यात के पूर्ण रूप से रोक देने पर अथवा भारी निर्यात-कर लगा देने पर अन्न की उत्पत्ति में अवश्य कमी आ जायगी, इस मत का हमें विरोध करने की आवश्यकता नही। यदि पूर्ति बहुत लचीली है तो कम उत्पत्ति के परिणामस्वरूप देश की पूर्ति पहले से घट जायगी और यदि लचीली नही है तो यह मान लेना भी युक्तिसगत होगा कि यह सिद्ध करने के लिए कि कही देश में ही उपयोग के लिए अधिक मात्रा में अन्न न बच रहे, उसकी पूर्ति में कमी कर दी जायगी। हम निश्चित रूप से यह नही कह सकते कि निर्यात के रोक का अवश्यम्भावी परिणाम पहले की अपेक्षा देश में कम अन्न का बच रहना होगा। बहुत से किसानो के लिए यह सम्भव न होगा कि वे अपने खेतो को, अन्न छोड, दूसरी फसलो के खेतो में परिणत कर सकें। उसके लगानो के कम होते जाने पर भी वह उसी मात्रा मे अन्न की खेती करता चलेगा। प्रत्येक व्यक्ति जिसको भारतीय किसानो का किंचित् मात्र ज्ञान है, यह समझ सकेगा कि उसके लिए अपने सकीर्ण मार्ग को, जिस पर वह वर्षों से चलता आ रहा है, छोडकर तुरन्त परिवर्तित परिस्थिति के अनुकूल नवीन मार्ग का अनुसरण करना कितना कठिन है। इसलिए यह असम्भव नही है कि अन्न का निर्यात रोक देने पर अन्न की पूर्ति बढ जाय।

बिना किसी प्रतिबन्ध के अन्न के निर्यात के पक्ष में प्राय· उपस्थित किये जाने वाले तर्क से सहमत न होते हुए भी हम यह मानने को तत्पर नही है कि प्रतिबन्ध की नीति वाञ्छनीय है। हमने पहले ही इस बात का सकेत किया है कि भारत के निर्यात की मात्रा उसकी कुल उत्पत्ति का बहुत साधारण अश है, इसलिए यदि यह पूरी मात्रा देश में ही रोक ली जाय तो इसका प्रभाव अन्न के मूल्य पर बहुत ही कम होगा। और अधिक विचारणीय बात तो यह है कि इस प्रकार जो लाभ होगा वह किसानो के माथे जायगा। फिस्कल कमीशन (१९२३) ने गेहूँ के निर्यात के रोकने के कारण किसानो की हानि का अनुमान १६ करोड रुपये लगाया था। दूसरी साधारण बात जिसकी ओर फिस्कल कमीशन ने सकेत किया था, यह थी कि विचाराधीन नीति

का कृषि की उन्नति पर विपरीत प्रभाव पडेगा । बढे हुए मूल्य का लाभ समृद्ध किसानो को अन्य लोगो की अपेक्षा अधिक प्राप्त होता है, और क्योकि इन्ही लोगो के पास पूँजी तथा बुद्धि विशेष होती है इसलिए इन्ही से हम कृषि में उन्नति की आशा भी कर सकते है । पर गिरा हुआ मूल्य इस वर्ग की समृद्धि में ह्रास करके उनकी उन्नति के कार्य को अपनाने की योग्यता में कमी कर देता है । यद्यपि इस तर्क को आवश्यकता से अधिक महत्त्व देना बडा सरल है, फिर भी यह मानना पडेगा कि यह सारयुक्त है । अन्न को सस्ता करने का एकमात्र सतोषप्रद उपाय कृषि-कर्म को अधिक कुशल बनाने और उत्पत्ति बढाने का है । जहाँ तक जनता की क्रय-शक्ति की वृद्धि का प्रश्न है, जिससे वह पर्याप्त मात्रा में अन्न खरीद सके, वह शासन-नीति का सदा ही आदर्श बनी रहेगी ।

यद्यपि हम सामान्य परिस्थिति में अन्न के विदेश भेजने पर प्रतिबन्ध लगाने के पक्षपाती नही है, पर यह मानते हैं कि कभी ऐसी असामान्य परिस्थिति उत्पन्न हो सकती है जिसके कारण अस्थायी रूप से भारी निर्यात-कर लगाने की आवश्यकता पड जाय । हो सकता है कि देश में ही कही की फसल खराब हो जाय अथवा भारत के अन्न की, किसी विदेश में अकाल पड जाने के कारण, बहुत तीव्र माँग पैदा हो जाय जैसा कि दोनों ही विश्व युद्धो के समय हो गया था, और अन्न का मूल्य बढकर सीमा के परे चला जाय । सरकार द्वारा हस्तक्षेप करने में शासन-व्यवस्था तथा अन्य प्रकार की अनेक कठिनाइयों के होते हुए भी न केवल स्थिति सुधारने के दृष्टिकोण से, वरन् जनता की ऐसे कठिनाई के समय इन उपायो को लागू करने की माँग पूरी करने के लिए भी, सरकार को ऐसा करना पड सकता है । यह सत्य है कि स्थानीय अन्न की कमी के कारण भारत में मूल्य बढ़ जाने पर निर्यात स्वयमेव कम हो जाय, और उतना कम होने के पहले ही एक बडी मात्रा में अन्न विदेशो को भेजा जा सकता है, यदि और किसी कारण से नही तो कम-से-कम उत्पादको द्वारा व्यापारियो को दिये अथवा व्यापारियो द्वारा निष्क्रामको को दिये गए वचनो को पूरा करने के लिए और देश में ही काम आने के हित अन्न के निर्यात को रोकने के लिए, अथवा उसके मूल्य में बहुत बडी वृद्धि न होने देने के लिए, सरकार को किसी भय का अनुमान होते ही तुरन्त उपाय करने पडेंगे न कि इस बात की प्रतीक्षा करनी पडेगी कि स्वयमेव सुधार होने की प्रक्रिया आरम्भ हो जाय ।

१०. कच्चे माल के निर्यात पर प्रतिबन्ध—कच्चे माल के निर्यात के सम्बन्ध में फिर से 'वास्तविक बचत' के उचित अर्थ समझने का प्रयत्न करने की आवश्यकता नही है ।

कृषि से प्राप्त कारखानों के काम आने वाले अनेक प्रकार के कच्चे माल के बेरोक निर्यात के विरुद्ध कई तर्क उपस्थित किये गए है । सर्वप्रथम यह कहा जाता है कि रुई, जूट तथा तिलहन आदि व्यापारिक फसलों का मूल्य अधिक होने से ये फसलें खती में अन्न का स्थान ले लेती है । और उपजाऊ भूमि इन फसलो में पैदा करने के काम में लगा दी जाती है जिसका परिणाम यह होता है कि अन्न की उपज के लिए

साधारण भूमि छोड दी जाती है।[1] व्यापारिक फसलो द्वारा अन्न के खेतो का जो अपहरण हुआ है उसका क्षेत्रफल व्यापारिक फसलो की खेती के क्षेत्रफल से बहुत कम है।[2]

इसमें सन्देह नही कि व्यापारिक फसलो की खेती का क्षेत्रफल धीरे-धीरे बढ रहा है और अन्न की खेती का क्षेत्रफल घट रहा है, पर उत्पत्ति की मात्रा के दृष्टिकोण से दोनो में महान् अन्तर है, और व्यापारिक फसलो द्वारा अन्न की फसल का स्थान ले लेने के कारण अन्न की उपज में कमी होने का निकट भविष्य में कोई भय नही है। हमारी समझ मे तो अभी इस बात का समय नही आया है कि देश में अन्न के उत्पादन के हित के लिए विशेष उपायो का प्रयोग करना पडे, विशेषकर ऐसे कठोर उपायो का जैसा कि व्यापारिक फसलो की उत्पत्ति और निर्यात पर प्रतिबन्ध लगाना इत्यादि। हमें यह न भूल जाना चाहिए कि व्यापारिक फसलो से उत्पादक को विशेष लाभ मिलता है और अभी किसानो को भी जो लाभकारी जान पडे उसकी खेती करने की स्वतन्त्रता मे हस्तक्षेप करने का कोई कारण नही दिखाई पडता।

कच्चे माल के बेरोक विदेश भेजे जाने में दूसरी आपत्ति यह है कि इस नीति के कारण ऐसे महत्त्वशाली कच्चे मालो का—जैसे रुई, जूट और तिलहन आदि जिनकी कारखानो में आवश्यकता है—मूल्य इतना बढा दिया जायगा कि भारतीय उद्योगपतियों के लिए अपने विदेशी प्रतिद्वन्द्वियो के सामने टिकना कठिन हो जायगा। यदि इनका निर्यात रोक दिया जाय तो भारतीय उद्योगपतियो को सस्ता कच्चा माल पाने का लाभ होगा, जो लाभ विदेशी उद्योगपतियो को प्राप्त नही है। देश के ऐसे उद्योगो को जिनका आरम्भ ही हुआ है, सहायता देने की आवश्यकता को हम मानते है, पर इसके लिए कच्चे माल का कृत्रिम रूप से मूल्य घटा देने के उपाय की सफलता पर हमें सन्देह है, क्योकि ऐसे उद्योगो की उत्पत्ति देश की कुल उत्पत्ति की तुलना मे बहुत ही कम है। रक्षण-आयात-कर तथा आर्थिक सहायता द्वारा अधिक प्रभावोत्पादक ढग से उद्योगों की मदद की जा सकती है।

तीसरा तर्क यह उपस्थित किया जाता है कि रुई और जूट आदि फसलो की निरन्तर उत्पत्ति करने से भूमि की उर्वरता का क्षय हो जाता है। इस सम्बन्ध में यह भी कहा जाता है कि तिलहन और खली का निर्यात बहुत आपत्तिजनक है। इस प्रकार भूमि का क्षय निरन्तर होता जाता है, क्योकि जिन तत्त्वो का खेती के कारण विनाश होता है उनकी परिपूर्ति नही हो पाती। इस प्रकार के भूमि के क्षय का निरोध करने के लिये तिलहन के निर्यात पर रक्षक-कर आरोपित करने तथा खली, हड्डी और मछली की खादो पर भारी निर्यात-कर आरोपित करने की सम्मति दी गई है। इस अवसर पर यह भी बता देना उचित होगा कि तिलहन पर निष्क्राम्य-कर लगा देने से स्थानीय तेल पेरने के उद्योग को प्रोत्साहन मिलेगा। भूमि का क्षय हो रहा है अथवा नही, यह

१. के० एल० दत्त की 'रिपोर्ट ऑन द इन्क्वायरी इन टु द राइज ऑफ प्राइसेज इन इण्डिया' (१९१४) देखिए, पृष्ठ ६४-६६।

२. ऊपर दी हुई तालिकाएँ देखिए, पृष्ठ १९२-५।

विवादग्रस्त प्रश्न है ।[1] यदि यह मान भी लिया जाय कि भूमि का क्षय नही हो रहा है, तो भी इस बात में दो मत नही हो सकते कि जितनी खाद वर्तमान समय में खेतो में दी जाती है, उससे अधिक का प्रयोग करने से भूमि की उर्वरता वढ जायगी । इस दृष्टिकोण से तिलहन और खली पर एक साधारण निष्क्राम्य-कर के आरोप की सम्मति दी जा सकती है, जिसकी आय के एक अश को प्रचार कार्य पर खर्च करने के लिए सुरक्षित कर दिया जाय जिससे ऐसी खाद के प्रयोग में वृद्धि निश्चित हो और जिसके फलस्वरूप खाद के मूल्य में इतनी कमी की सम्भावना भी हो जायगी कि किसानो के लिए इसका खरीदना सुगम भी हो जायगा और साथ ही तिलहन के उत्पादक किसानो को भी कोई गम्भीर आर्थिक आघात न पहुँचेगा । कृषि आयोग ने भी फिस्कल कमीशन के इस मत की पुष्टि की कि तिलहन और खली के निर्यात पर रोक लगाना और न कोई कर का आरोप करना ही न्याय सगत होगा ।[2] उनका कहना था कि निष्क्राम्य-कर का भार उत्पादन पर होगा, क्योकि भारत किसी प्रकार भी ससार में अकेला तिलहन का उत्पादक नही है, और इस कर से किसानो को तिलहन और खली के उपभोक्ता की हैसियत से हुए लाभ की अपेक्षा उनके उत्पादक की हैसियत से हानि अधिक होगी । आयोग के निर्णय के अनुसार भारत की तिलहन की वडी फसल से प्राप्त होने वाले सयुक्त नाइट्रोजन का लाभ उठाने का एकमात्र उपाय तेल पेरने के उद्योगो का देश में स्वाभाविक विकास ही है । यद्यपि तेल की भारत में माँग कम होने से और विदेशी बाजारो में यूरोपवासियो की प्रतिद्वन्द्विता से यह कठिन अवश्य है पर इस उद्योग की उन्नति की सम्भावना के दृष्टिकोण से दूसरे महायुद्ध के पश्चात् यूरोप की खरीदारी के विलकुल वन्द हो जाने की स्थिति को विचाराधीन रखते हुए परीक्षा करना[3] युक्ति-सगत होगा ।[4]

११. कम उत्पत्ति तथा उसके कारण—यद्यपि कृषि ही देश का एकमात्र राष्ट्रीय उद्योग है, पर यह कार्य वहुत ही असन्तोषजनक ढग से किया जाता है और इसलिए प्रति एकड औसत उत्पत्ति भिन्न-भिन्न फसलो की अन्य सुव्यवस्थित ढग से कृषि करने वाले देशो की अपेक्षा वहुत कम है । निम्न तालिका में भारत की मुख्य फसलो का प्रति

---

१ इसी अध्याय का सेक्शन १२ देखिए ।

२ बोर्ड ऑफ एग्रीकल्चर, १९३६, ने और टैक्सेशन इन्क्वायरी कमेटी के अधिकाश सदस्यों ने निष्क्राम्य-कर के आरोप की अनुमति दी थी ।

३ कृषि आयोग रिपोर्ट देखिए पैरा ८७ ।

४ सेक्शन ८,९,१० में व्यक्त विचार मुख्यतया औद्योगीकरण के वर्तमान प्रयत्नों के पूर्व की पृष्ठभूमि पर आधारित हैं, इस बात को ध्यान में रखना चाहिए ।

औद्योगीकरण के प्रयत्नों के कारण हमारे विदेशी व्यापार की प्रकृति भी वदल रही है । सन् १९२९-३० में समाप्त होने वाली पचवर्षीय अवधि में कच्चे माल का आयात मुश्किल से ९ ३ प्रतिशत तथा निर्यात ४९ ५ प्रतिशत था । १९५०-५१ में कच्चे माल का आयात ३५ १ प्रतिशत तथा निर्यात २० ८ प्रतिशत था ।

१९२९-३० की तुलना में तैयार माल का आयात ७२ ६ प्रतिशत था जो १९५०-५१ में घटकर ४५ ७ प्रतिशत रह गया । इसके विपरीत १९२९-३० में भारत के तैयार माल का निर्यात २६ ६ प्रतिशत था । सन् १९५०-५१ में यह वढकर ५५ प्रतिशत हो गया । —अनुवादक

एकड औसत १९१८-१९, १९२३-२४, १९३९-४० और १९४०-४१ का[1] दिखाया गया है।[2]

फसल	१९१८-१९ (पौण्ड)	१९२३-२४ (पौण्ड)	१९३९-४० (पौण्ड)	१९४०-४१ (पौण्ड)	१९४३-४४ (पौण्ड)
चावल (साफ)	७०१	७९८	७६६	६७४	८४७
गेहूँ	७०७	६९४	७०९	६४५	६४२
गन्ना (कच्ची चीनी)	१,८९७	२,५४४	२,८६८	२,८२७	३,०९४
चाय	५६१	५२८	५४४ (१९३९)	५५७ (१९४०)	६८५
रुई (बिनौला निकाली)	७६	८७	९१	१०४	१००
जूट	१,१९५ (१९१८)	१,१६८ (१९२४)	९२८ (१९४०)	१,०२३	१,१८३
कहवा	१८३ (१९१९-२०)	१३९	१८९ (१९३८-३९)	१७४	१९२
अलसी	२६५	२७८	२८१	२६८	२४२
राई और सरसो	३५१	४१६	४१०	३९६	३८५
तिल	१७४	१९२	२३०	२३७	२२५
मूँगफली (बिना छिली)	९९७	८६७	८६०	९४६	८७३
अण्डी	—	२०७ (१९२४-२५)	२१६	२३०	२०३
रबड	११५ (१९१९)	१२१ (१९२४)	२३४ (१९३९)	२५७ (१९४०)	२५४

१. देखिए, एस्टिमेट्स ऑफ एरिया एण्ड यील्ड ऑफ द प्रिंसिपल क्रॉप्स इन इण्डिया (१९४३-४) पृष्ठ ९-११।

२ फसलों के उपज-सम्बन्धी आधुनिक अनुमान इस प्रकार है—

फसल	१९४९-५० (पौण्ड में)	१९५०-५१	१९५१-५२
चावल	६८८	५९८	६३०
ईख	३०५२	२९८५	२७९३
चाय	८१५	८४२	क
कपास	८५	८०	७६
जूट	१०९२	९०८	९५९
कहवा	२४६	२६६	क
अलसी	२४४	२३५	२१०
सरसों (ख)	३७२	३०९	३५३
तिल	१९१	१८०	१७०
मूँगफली	७७०	६९२	५७९
अंडी	१९७	१९९	१९४
रबड	२७५	३०५	(क)

(क) आंकड़े अप्राप्य हैं।

(ख) सरसों का एक प्रकार, जिसे अंग्रेजी में रेप सीड कहते हैं, भी शामिल है।

ये आँकड़े विदेशो की तुलना में बड़े ही दुःखप्रद हैं। उदाहरण के लिए १९३२-३३ में भारत में चावल की प्रति एकड़ औसत उपज १२४० पौण्ड, जापान में ३,४४४ पौण्ड और इटली में ४,५६८ पौण्ड थी। गेहूँ की प्रति एकड़ औसत उत्पत्ति भारत में ६६० पौण्ड, इटली में १३८३ पौण्ड, मिश्र में १,९१९ पौण्ड, जापान में १,७१३ पौण्ड और अमेरिका में ८१२ पौण्ड थी।[1]

भारतीय कृषि की कम उत्पत्ति को संकेत करते हुए सर० एम० विश्वेश्वरय्या लिखते हैं, "लड़ाई के पहले की (१९१४) साधारण स्थिति को आधार मानते हुए ब्रिटिश भारत की औसत उत्पत्ति, नहरो द्वारा सीची फसलो को सम्मिलित करते हुए, २५ रु० प्रति एकड़ से अधिक नही हो सकती और यह जापान में १५० रु० से कम नही हो सकती।"[2] इसी लेखक का कहना है कि जबकि भारत में प्रति किसान की आय ५९ रु० थी (१९२९ के आर्थिक अवसाद के पहले) तब स्वीडन में १०२ रु०, अमेरिका में १७५ रु० और कनाडा में २१३ रु० थी।[3]

कम उत्पत्ति का एक बहुत बड़ा कारण भारत में अनिश्चित वर्षा है। वर्षा के कम और असमान होने के अतिरिक्त अन्य कारण जैसे बाढ़, तुषार और ओले पड़ना तथा अन्य जलवायु के उपद्रव आदि भी हैं। वर्षा की कमी के एक बहुत छोटे अंश की पूर्ति कृत्रिम सिंचाई के साधनो से हो पाती है, पर अन्य आपदाओ के प्रभाव का निराकरण मानवी उपायो से सम्भव नही है। जंगली पशुओ, चूहो, टिड्डी-दलो और अन्य जीवो द्वारा भी बड़ी हानि पहुँचती है। प्रान्तीय कृषि विभागो ने इनसे बचने के उपायो का पता लगाने और उनका प्रचार करने का प्रयत्न किया है।

कृषि की उत्पत्ति की कमी का अन्य कारण अकुशल ढंग से खेतो का जोतना तथा किसानो के पास कम और अनुपयुक्त औजारो का होना भी है। यान्त्रिक शक्ति संचालित पहियो और धीरे-धीरे चलनेवाले ट्रैक्टरो के जोतने, बीज बोने के मार्ग बनाने तथा फसल काटने के लिए प्रयोग करने से ऐसी भूमि पर भी खेती की जा सकती है जो अन्यथा खेती के अयोग्य समझी जाती है। गहरी जड़ वाली घास उखाड़ी जा सकती है। यदि मशीनें काम में आने लगें तो लोग बोझ खीचने वाले जानवरो के स्थान पर दुधारू जानवर पाल सकते हैं। छोटे-छोटे ट्रैक्टरो को खीचने के लिए जानवरो का प्रयोग किया जा सकता है जैसा यूरोप के कुछ देशो में हो रहा है। उत्तरप्रदेश की सरकार ने अपने तीन भागो को, जिनमें से गंगा खदार का भाग सबसे बड़ा तथा एक चक में है, अपने ट्रैक्टर संगठन से, जो भारत में सबसे बड़ा है, कुछ वर्ष हुए खेती के काम मे लाने का प्रयत्न आरम्भ कर दिया था। इस संस्था में उस समय १५० ट्रैक्टर थे। १९४८-४९ के अन्त तक इनकी संख्या बढ़ाकर ३५० कर दी गई। तब तक लगभग ३०,००० एकड़ भूमि खेती के योग्य बना ली गई और आशा की जाती है कि वर्ष के अन्त होते-होते ४०,०००

१ स्टैटिस्टिकल ईअर बुक ऑफ द लीग आफ नेशन्स, (१९१३-१४)।
२ रिकंस्ट्रिक्टिंग इण्डिया, पृ० १७४।
३ प्लाण्ड इकानॉमी फॉर इण्डिया, पृ० ३२।

एकड और भूमि खेती के योग्य वना दी जायगी।[1] अनेक कारखाने मरम्मत का काम करने और मशीनो के छोटे-मोटे अतिरिक्त भागो का निर्माण करने लगेंगे। इस सम्वन्ध मे जो समस्याएँ उठेगी उनका और भूमि के अत्यधिक अन्तर्विभाजन और अपखण्डन पर जिससे खेती को वहुत नुकसान हो रहा है, आगे विचार किया जायगा।

१२. क्या भारत की भूमि का निरन्तर क्षय होना जा रहा है—ऐसा कहा जाता है कि इधर कुछ समय से भारत में प्रति एकड अन्न की औसत उत्पत्ति कम हो गई है और कम होती जा रही है। यदि हम यह मान भी लें कि यह ठीक है, फिर भी यह भूमि के क्षय होने का निश्चित प्रमाण नही माना जा सकता। यह लोगो की अन्न की कम उपजाऊ भूमि पर खेती करने और अच्छी भूमि को रुई, जूट और तिलहन आदि व्यापारिक फसलो की खेती में लगाने की प्रवृत्ति का भी परिणाम हो सकता है। भूमि के निरन्तर क्षय होने के कारण अन्न की ही प्रति एकड उपज में कमी नही हुई वरन् अन्य फसलो की उपज में भी कमी आ गई है। यह साधारण विश्वास किसी सीमा तक इसलिए भी सम्भव है कि अन्न की माँग वढने से खेती का विस्तार किया गया है और कम उपजाऊ भूमि भी खेती के काम आने लगी है। इसकी वजह से प्रति एकड औसत उत्पत्ति भी घट गई है। इस सम्वन्ध में किसानो के निर्णय के उस युग की स्मृति से प्रभावित होने की सम्भावना है जवकि केवल उपजाऊ भूमि पर ही खेती की जाती थी। जनसख्या के घनत्व के वढ जाने से भी समय-समय पर परती छोड दिये जाने वाले खेतो की सख्या में कमी और इसके फलस्वरूप अनेक प्रकार की अनावश्यक जंगली घास की उत्पत्ति में वाहुल्य और खाद की प्राप्त मात्रा की अपेक्षा खेतो की मात्रा में आधिक्य आदि कारणो से भी भूमि की उर्वरता में कमी होना सम्भव है।[2] भूमि के अपक्षारण, भूमि पर लवणक्षार का प्रकट हो जाना, पानी लगना आदि कारणो ने देश के वहुत से भागो की उर्वरता घटाकर वडी हानि पहुँचाई है।

उपर्युक्त कारणो के होते हुए भी विशेषज्ञो का मत इसके विरुद्ध है कि इन दिनो भारत की भूमि की दिन-प्रतिदिन शक्ति क्षीण होती जा रही है। डॉ० क्लाउस्टन ने अपने उपपत्र में जो उन्होने कृषि-आयोग को दिया था, कहा है कि "अधिकाश भारत की भूमि अपनी क्षीणता की चरम सीमा पर सौ वर्ष पहले ही पहुँच चुकी होगी और यदि आगे सौ वर्ष तक विना खाद का प्रयोग किये ही उस पर खेती की जाय तो भी उसका आगे क्षय न होगा। एक औसत फसल लगभग २० पौण्ड नाइट्रोजन प्रति एकड लेती है और इस कमी की प्रतिवर्ष वायुमण्डल से नाइट्रोजन की प्राप्ति से तथा फसल कटने पर अवशिष्ट जडो के भूमि के अन्दर-ही-अन्दर गल जाने से पूर्ति हो जाती है, इसलिए अधिकाश भूमि में नाइट्रोजन की कमी नही हो रही है। रौथमस्टेड में, जो कि ससार का सवसे वडा कृषि-अन्वेषण केन्द्र है, वहाँ की भूमि पर प्रयोग करके यह वात

१. इस सस्था में १९५३-५४ में ५५० ट्रैक्टर थे। सन् १९५१-५४ तक इन ट्रैक्टरों द्वारा १,९१,७७७ एकड भूमि खेती योग्य वनाई गई, यद्यपि इस अवधि का लक्ष्य २,५६,००० एकड़ भूमि को खेती योग्य वनाना था।

२. कृषि आयोग रिपोर्ट, पैरा ७७।

निश्चित रूप से सिद्ध कर दी गई थी कि बिना खाद दिये हुए यदि ४० वर्ष तक गेहूँ की किसी भूमि पर खेती निरन्तर की जाय, तब कही जाकर वह भूमि अपनी उर्वरा-शक्ति के निम्नतम स्तर पर पहुँचेगी क्योकि उसके पश्चात् उस भूमि पर उत्पत्ति प्रतिवर्ष समान बनी रही, जब कि उस पर किंचित् भी खाद का प्रयोग नही किया गया। इसलिए हम यह मान सकते है कि कुछ भूमि को छोडकर जिनमें भास्वीय (फॉस्फेट्स) की न्यूनता है, हमारी शेप प्राचीन भूमि अपनी उर्वरता के न्यूनतम स्तर पर बहुत दिनो से पहुँच चुकी है। और हम यह भी मान सकते है कि उत्पत्ति में वृद्धि अब वर्षा, खेती के ढग तथा खाद के प्रयोग पर निर्भर है और केवल उस नवीन भूमि की उर्वरता जिसमे भास्वीय की कमी है निरन्तर कृपि में काम आने के कारण छीज रही है।" डॉ० वायलकर के मतानुसार[1] भारत की भूमि तिलहन, रुई आदि के निर्यात के कारण जो भूमि से रासायनिक तत्त्व निकल जाते है, उनकी पूर्ति नही हो पाती और इसलिए कृपि होने से निरन्तर उसका क्षय हो रहा है। उन्होने भी अपने मत का नियमन करते हुए हमारा ध्यान इस ओर आकृष्ट किया है कि भारत में उत्पन्न की जाने वाली अधिकाश फसलें तथा पेड-पौधे और स्वयमेव उत्पन्न हो जाने वाली अनावश्यक घासें शिम्बि-कुल्य है और इसलिए वे वायुमण्डल से नाईट्रोजन प्राप्त कर लेती है।[2] के० एल० दत्त प्राप्त सभी आँकडो पर विचार कर लेने के पश्चात् इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि "भारत के किसी भी भाग की भूमि की उर्वरता में परीक्षा के समय (१८९०-१९१२) अथवा किसी अन्य लम्बी अवधि में कमी आ गई है, इस बात की पुष्टि के लिए कोई आँकडे प्राप्त नही है।[3] जो कुछ भी हो हमारे दृष्टिकोण मे सबसे अधिक महत्त्व की बात भारत की भूमि की वास्तविक उर्वरता की कमी है तथा भूमि के प्रति उचित ध्यान देना और प्रर्याप्त मात्रा मे खाद का प्रयोग करना ही इसका एकमात्र उपचार है। यह सोचकर सन्तुष्ट होकर बैठ जाना कि अब सन्तुलन स्थापित हो जाने के पश्चात् भूमि अपनी उर्वरता के निम्नतम स्तर पर पहुँच चुकी है और आगे अब उर्वरता में क्षय न होगा, जान-बूझकर सत्य से आँखें मोडना है, क्योकि इसका अर्थ तो यही है कि स्थिति इतनी बिगड चुकी है कि आगे और अधिक बिगडने का अवसर ही नही है। इस सम्बन्ध में कृषि आयोग ने भूमि-सम्बन्धी अन्वेषण-कार्य पर विशेष जोर डाला था और कृषि-विभाग में अन्वेषण-कर्ताओ की सख्या बढाने की तथा शाकाण्विकीय भौतिक तथा जैविकीय सम्बन्धो पर विशेष रूप से अन्वेषण-कार्य करने के लिए विशेषज्ञ अधिकारियो की नियुक्ति की सिफारिश की थी।[4]

---

१ साक्ष्य लेख, खण्ड १, भाग १, पृ० ३२।
२ देखिए, दत्त, पूर्व उद्धृत, पृ० १७।
३ पूर्व उद्धृत, पृष्ठ ६८।
४ कृपि आयोग रिपोर्ट, पैरा ७८।

अध्याय ७

कृषि : भूमि और उसकी समस्याएँ

इस अध्याय में भूमि-सम्बन्धी प्रमुख समस्याओ का विवेचन निम्नलिखित शीर्षको के अन्तर्गत किया जायगा · १. उपविभाजन और अपखण्डन, २ स्थायी सुधार, और ३. सिंचाई।[1]

उपविभाजन और अपखण्डन

१. अनुकूलतम जोत का विचार—भारत में कृषि की पिछडी हुई अवस्था और किसानो की निर्धनता के जो अनेक कारण है, उनमें से एक भूमि का उपविभाजन और अपखण्डन है। निर्माण-उद्योगो के समान कृषि में भी उत्पादन का एक अनुमाप (स्केल) होता है जो उत्पादक के दृष्टिकोण से सर्वोत्तम परिणाम देता है। एक निश्चित सीमा के बाद, उत्पादन के अनुमाप में कमी होने पर लागत और उपज का सम्बन्ध प्रतिकूल होता जाता है, यहाँ तक कि आर्थिक जोत बिलकुल खत्म हो जाता है। दूसरी ओर, एक ऐसी भी सीमा है जिसके बाद जोत के विस्तार को बढाना लाभदायक नही है, परन्तु प्रस्तुत विवेचन में, हम इस सम्भावना पर ध्यान न देंगे क्योकि भारत में इसका कोई व्यावहारिक महत्त्व नही है।

२ कृषि और स्वामित्व की इकाई—जब हम जोत के उपयुक्त आकार की चर्चा करते है, उस समय हमारा अभिप्राय कृषि की इकाई से है, न कि स्वामित्व के अन्तर्गत भूमि के विस्तार से, यद्यपि ये दोनो भारत के रैयतवारी भागो में लगभग एक ही अर्थ रखते है। जैसा कि मिल ने कहा है "चूँकि भूमि का ऐसा सूक्ष्म उपविभाजन है, अत इसका यह अर्थ नहीं कि कृषि-क्षेत्र भी इसी प्रकार विभाजित होंगे। जिस प्रकार बडी भू-सम्पत्ति के होते हुए भी छोटे कृषि-क्षेत्र सम्भव है, उसी प्रकार भू-सम्पत्ति के कम होने पर भी उचित आकार के कृषि-क्षेत्र भी सम्भव है। यदि पैतृक सम्पत्ति का विभाजन न हो तो कृषि-क्षेत्रो का उपविभाजन भू-स्वामी कृषको की सख्या की वृद्धि का आवश्यक परिणाम नही है।" अथवा जैसा कि निकलसन ने कहा है "बडी जमीदारियो का यह अर्थ कदापि नही है कि कृषि भी बडे पैमाने पर ही की जायगी और भूमि के अधिकार अनेक व्यक्तियो में बँटे होने का भी अनिवार्यत. यह अभिप्राय नही कि कृषि छोटे पैमाने पर की जायगी। बडी जमीदारी छोटे-छोटे खेतो के रूप में लगान पर उठाई जा सकती है और बडा किसान भू-स्वामियो से कृषि के लिए बहुत भूमि

१. भू-धृति (लैण्ड टेन्योर) का विवेचन एक पृथक् अध्याय के लिए रखा गया है (अध्याय १२)।

प्राप्त कर सकता है।"[1]

यदि किसी किसान की जोत आर्थिक कृषि के लिए बहुत छोटी है तो वह अन्य व्यक्तियो से पट्टे पर अतिरिक्त भूमि लेकर इस कमी को दूर कर सकता है।[2] भारत में कुछ हद तक ऐसा होता है। जोत के आकार और उसके आर्थिक परिणामो से सम्बन्धित आँकडो की व्याख्या करते समय हमें इस बात को नही भूल जाना चाहिए। हमें सयुक्त कृषि को भी ध्यान में रखना चाहिए। बिना जाँच किये, हमें अनायास इस बात को मान लेने का कोई अधिकार नही है कि पृथक् स्वामित्व वाली भूमि का प्रत्येक टुकडा अलग-अलग जोता जाता है। यह बात सामान्यतया सच हो सकती है, परन्तु सदैव सच हो, यह ज़रूरी नही।

भारत में लगभग हर हालत में भूमि का उपविभाजन अपखण्डन से सम्बन्धित है। जोत का आकार ही छोटा नही होता वरन् यह अनेक छोटे-छोटे टुकडो में एक-दूसरे से इतने अन्तर पर स्थित होते है जिसमे बडी असुविधा हो जाती है।

कृषि-आयोग ने उपविभाजन और अपखण्डन की समस्या का अध्ययन निम्न-लिखित चार शीर्षको के अन्तर्गत किया है १ भू-स्वामियो की जोत का उपविभाजन, २ किसानो की जोतो का उपविभाजन, ३ भू-स्वामियो की जोत का अपखण्डन और ४ किसानो की जोत का अपखण्डन। भू-स्वामी शब्द का प्रयोग उन लोगो के लिए किया जाता है जिनका भूमि पर स्थायी पैतृक अधिकार है, चाहे वे ज़मीदार हो या काश्तकार अथवा पट्टेदार। 'किसान' शब्द का प्रयोग उन लोगो के लिए किया गया है, जो ज़मीन को ज़मीदार, पट्टेदार, काश्तकार अथवा स्वैच्छिक काश्तकार के रूप में जोतते हैं, परन्तु किराये के मजदूर के रूप में नही।[3] विषय के विवेचन की सुविधा के लिए हम इस तथ्य को मानकर चलते है कि भू-स्वामियो की जोतो का उपविभाजन और अपखण्डन कृषि-क्षेत्र के उपविभाजन और अपखण्डन में परिलक्षित होता है और इसे दूर करने के लिए जो उपाय लागू होगा वही दूसरे पर भी लागू होगा।

३ उपविभाजन और अपखण्डन के दोष—अत्यधिक छोटी-छोटी जोत पर खेती करने में कई तरह की बरबादी होती है। साधारण किसानो के एक जोडी बैल और हल का भी इसमें पूरा उपयोग नही हो सकता। कभी-कभी खेत इतने छोटे होते है कि जोतते समय बैलो को घुमाना भी असम्भव हो जाता है। बैलो और किसानो का निर्वाह-व्यय वही रहता है, भू-खण्डो के छोटे-छोटे होने के कारण कम नही होता। हाँ, अगर जमीन अधिक हो तो उसी साज-सामान और खर्चे में उसे जोता जा सकता है। इसके विपरीत पैदावार अवश्य ही कम होगी। सामान्यतया एक निश्चित सीमा के बाद, जोत के आकार मे जितनी कमी होती जाती है, उत्पाद के मूल्य के अनुपात में स्थायी खर्च उतना ही बढता चला जाता है। जो खर्चे बदलते रहते है वे भी प्राय खेत के आकार

---

१ 'प्रिन्सिपल्स ऑफ पोलिटिकल इकॉनामी', खण्ड १, पृ० १४६।

२ किसानों को पट्टे पर लिये गए खेतों से प्राप्त लाभ अधिकृत खेतों के लाभ की तुलना में स्पष्टतया कम होगा, क्योंकि लगान निर्धारित मालगुजारी से अधिक होता है।

३. कृषि आयोग रिपोर्ट, पैरा ७८।

के अनुपात में ही नही घटते-बढते। उदाहरण के लिए बाडा लगाने की प्रति एकड लागत, जितना क्षेत्र घेरना होगा, उसके हिसाब से बढती जायगी। यदि भूमि का टुकडा बहुत ही छोटा हो तो घूमते-भटकते हुए पशुओ से बचाने के लिए बाडा लगाने पर व्यय करना ठीक नही भी जँच सकता, उचित बाडो से खेत की रक्षा कर सकने की अयोग्यता किसानो को कृषि की एक-सी ही पद्धति पर अमल करने के लिए बाध्य करेगी। कृषि की कोई नई पद्धति और फसलो के हेर-फेर का ढग इसलिए सम्भव नही होगा कि पडोस के ऊसर खेत में घूमते हुए पशुओ से फसलो के नष्ट होने का भय सदा लगा रहेगा। अब बाडे लगाना मँहगा पडता है तो रखवालो को नियुक्त करना और भी मँहगा पडेगा। ऐसी स्थिति उत्साही किसानो को भी अवश्य ही हतोत्साहित करेगी। छोटे खेतो की सख्या बढने से दूसरी हानि उनके अन्तर्गत पडने वाले क्षेत्र की भारी बरबादी है। अपेक्षाकृत बहुत-अधिक मेडो और रास्तो की आवश्यकता होती है और इस प्रकार काफी क्षेत्र बरबाद होता है। व्यक्तिगत खेतो की सख्या जितनी ही कम होगी, कृषि के क्षेत्र में उतना ही विस्तार होगा और उतनी ही बचत होगी। खेत में सतह के नीचे पानी बहुतायत से हो सकता है, परन्तु इससे कोई लाभ नही उठाया जा सकता, क्योकि खेत के अत्यन्त छोटे आकार के कारण उस पर कुआँ खोदने का व्यय बिलकुल असगत होता है। यदि खेत ४ या ५ एकड का है तो कुआँ खोदना उचित है, परन्तु यदि वह एक एकड या इससे भी कम है तो कुआँ खोदना उचित नही होगा। बीजनयन्त्र (बिनोअर्स),दाँय चलाने वाले यन्त्र (थ्रेशर) और ट्रैक्टर आदि श्रम बचाने वाले उपकरणो का प्रयोग छोटे किसान के लिए उस समय तक असम्भव है जब तक कि किसी-न-किसी रूप में उद्यम और साधनो का सगठन और एकीकरण नही हो, और यह सरल नही है। अत्यधिक छोटी जोतो से उत्पन्न दोष उस समय और भी बढ जाते है जब ये जोत छोटी होने के अलावा अपखण्डित भी होती है। अपखण्डन के बारे में डॉ० एच० एच० मैन का कहना है कि "अपखण्डन मे छोटी जोतो के सारे दोष है क्योकि यह यन्त्र के प्रयोग तथा श्रम बचाने वाले उपायो के अपनाने में बाधक है। इसके विपरीत बडी जोतो के दोष भी इसमें विद्यमान है क्योकि यह घनी खेती के रास्ते मे भी बाधक है और यही छोटी जोत वालों को सबसे बडा लाभ होता है।"[1] बाडा लगाने, पडोसी खेतों के काँस आदि के आक्रमण से बचाने, घूमते-भटकते हुए पशुओ से बचाने और चोरी आदि की कठिनाइयाँ अत्यधिक उपविभाजन और अपखण्डन के फलस्वरूप बहुत मामूली-सी बातें होती है।

अपखण्डन के कुछ अपने दोष भी है। यदि क्षेत्र अपखण्डित है तो उस पर श्रम और पूँजी की लागत कही अधिक होगी बनिस्बत उसके कि पूरा क्षेत्र एक सहित-खण्ड हो। हिसाब लगाकर देखा गया है कि खेतो के बीच जितना अन्तर अधिक होगा उसमें हर ५०० मीटर की दूरी पर शारीरिक श्रम और जुताई का व्यय ५ ३ प्रतिशत, खाद ढोने का व्यय २० प्रतिशत से ३५ प्रतिशत तक और फसलो के ढोने का व्यय १५ से ३२ प्रतिशत तक बढ जाता है। यह स्पष्ट है कि अपखण्डन के कारण सभी तरह से व्यय

१, लैण्ड एण्ड लेबर इन ए डेक्कन विलेज, खण्ड १, पृ० ४८

बढता है। यह कृषि-कार्य में बाधा डालता है और गाँव से खेत तथा एक खेत मे दूसरे खेत में जाने से पशु-शक्ति, समय और श्रम की बरबादी होती है। इसके कारण किसानों का अपने खेतो पर रुकना, जो अच्छी खेती के लिए जरूरी है, असम्भव हो जाता है। बहुधा समय बचाने के लिए किसान दूसरो के खेतो के बीच से छोटा रास्ता बनाने की कोशिश करते हैं। खेतो की सीमाओ और मार्ग के अधिकारो आदि सवालो के अतिरिक्त यह भी मुकदमेबाजी और ग्रामीणो के पारस्परिक लडाई-झगडे का एक कारण है। यदि किसान की सारी भूमि एक चक में हो तो वह अपने पशुओ को गाँव में ले जाने की बजाय खेत में ही रखेगा जिससे खाद की बहुत बडी बचत होगी। अभी तो खाद गाँव के खाद-स्थलो से खेतो को ले जाई जाती है और इस प्रकार बहुत-सी खाद व्यर्थ हो जाती है। भूमि का अत्यधिक अपखण्डन होने पर सिंचाई करना असम्भव हो जाता है, भले ही पानी सुलभ क्यों न हो। एक व्यक्ति की जोत के अनेक छोटे-छोटे टुकडो में पानी आसानी से नही पहुँचाया जा सकता। नालियो द्वारा पानी ले जाने में भी बडी कठिनाइयाँ होती हैं क्योंकि इन नालियो को दूसरो के खेतो में से होकर ले जाना पडेगा। यह सभी जानते हैं कि पानी की नालियो और उसके वितरण की कठिनाइयो के कारण अनेक झगडे पैदा हो जाया करते हैं।

उपविभाजन और अपखण्डन का सयुक्त परिणाम यह होता है कि कभी-कभी भूमि पर खेती बिलकुल ही नही की जाती। यह (अपखण्डन) साहसोद्यम को मारता है, श्रम की बडी बरबादी करता है, चौहद्दियो के कारण बहुत-सी भूमि बेकार हो जाती है, जोत में उतनी घनी खेती असम्भव हो जाती है जितनी अन्यथा हो सकती है। वह बाहर के किसी धनाढ्य व्यक्ति को काश्तकारो के या अच्छी कृषि-सम्पत्ति के खरीदार के रूप में आने देने मे भी बाधक होता है।[1]

४. उपविभाजन और अपखण्डन का पक्ष—अपखण्डन हर दशा में अवाञ्छनीय है, ऐसा नही समझना चाहिए। जोत के एक स्थान पर सहित न होने के मूल में ऐसे आर्थिक विचार भी हो सकते हैं जो बिलकुल ठीक और प्रत्ययकारी हों। मौसम के वैविध्य के कारण जोतो का विभिन्न प्रकार की भूमि में होना बहुत ही आवश्यक है। भारत के अनेक भागो में, विभिन्न प्रकार की भूमि पर दो या दो से अधिक प्रधान फसलें अलग-अलग पैदा की जाती हैं, ताकि वर्षा की कमी और उसका अनियमित वितरण यदि एक फसल को बरबाद कर भी दे, तो दूसरे खेतो में अनुकूल फसल पैदा हो सके। वास्तव में फसलो के हेर-फेर की विस्तृत पद्धति जो भारतीय कृषि को पश्चिमी कृषि से अलग करती है, प्रधानतया बिखरी हुई जोतों के कारण ही सम्भव हुई है।[2] विभिन्न प्रकार की फसलो के कारण किसानो को साल में अपेक्षाकृत अधिक दिनो तक काम मिला रहता है, जब कि भूमि के एक स्थान पर होने से यह सम्भव नही होता। आर्थिक दृष्टिकोण से जोतो के अलग-अलग बिखरे हुए रखे जाने के कई उदाहरण दिये जा सकते हैं।

---

१ पूर्व उद्धृत, पृ० १५४।

२ इण्डियन जर्नल ऑफ इकानॉमिक्स (अप्रैल १९२७), राधाकमल मुकर्जी का Fractionalization (फ्रैक्शनलाईजेशन) विखण्डन पर लेख।

उदाहरण के लिए, कोकण से चावल के खेतो के अतिरिक्त वर्का भूमि का होना आवश्यक है और इसलिए ये दोनो साथ-ही-साथ विद्यमान होती है। घाटो (पश्चिमी और पूर्वी घाट की पहाड़ियो) के ऊपर विशेषकर नदियो की तरफ हर किसान के पास नदियो से लाई हुई मिट्टी वाली भूमि की पट्टी होना आवश्यक है। यह पट्टी किसानो को पशुओ के लिए चारा देती है तथा अन्य कार्यो के लिए भी लाभप्रद है। चकबन्दी की किसी भी योजना को सफल बनाने के लिए इन बातो को अवश्य ध्यान में रखना चाहिए।

इसी तरह एक हद तक उपविभाजन को भी उचित ठहराया जा सकता है क्योकि उससे सम्पत्ति का व्यापक वितरण होता है और भू-स्वामी कृपको के एक विशाल वर्ग का जन्म होता है, जिसे भूमि से बडी ममता होती है। यह सभी स्वीकार करते है कि इस प्रकार का वर्ग आर्थिक स्थिरता का पोपक है। भारत में वर्तमान जोतो के विस्तार की योजना बनाते समय हमें यह बात ध्यान में रखनी चाहिए। अग्रेजी नमूने की जमीदारियाँ और पूँजीवादी कृपि भारतीय परिस्थितियो के लिए अनुकूल नही है। छोटे पैमाने की कृपि और भू-स्वामी कृपको का एक दृढ वर्ग ही हमारा आदर्श होना चाहिए। जब हम उपविभाजन और अपखण्डन की निन्दा करते है उस समय हमारे मन में ऐसे उदाहरण होते है जिनमें उनके औचित्य और लाभ की कोई गिनती नही होती और दोप असहनीय सीमा पर पहुँचे हुए होते है।

४ भारत में यह दोष किस हद तक बढ़ा हुआ है—१. भू-स्वामियों की जोतों का उपविभाजन—अब हम यह देखने की कोशिश करेगे कि भारत के लगभग सभी भागो मे पाया जाने वाला यह दोष किस हद तक बढा हुआ है।[1] विहार और उडीसा के घने बसे हुए क्षेत्रो में काश्तकारो (टेनेन्ट) की औसत जोत आधा एकड से भी कम है, यद्यपि किसानो की औसत जोत ३ १ एकड है। बगाल में प्रति किसान का औसत क्षेत्र मुश्किल से ३ १ एकड है। विशेप भूमि अधिकार-विधान (टेनेन्सी लेजिस्लेशन) से प्राप्त अधिकार तथा निजी अधिकारो के कारण किसान अपनी छोटी जोतो में चिपटा रहता है और औद्योगिक केन्द्रो पर काम ढूँढने नही जाता। आसाम में किसान की औसत जोत ३ एकड से अधिक नही है, जबकि उत्तरप्रदेश में यह केवल २ ५ एकड ही है। पजाब में २३६७ गाँवो की विशेप जाँच से यह ज्ञात हुआ है कि 'भू-स्वामियो' की जमीनो में से १७.६ प्रतिशत १ एकड़ से भी कम है और २५.५ प्रतिशत १ और ३ के बीच, १४ ६ प्रतिशत ४ और ५ एकड के बीच है और १८ प्रतिशत ५ और १० एकड के बीच है। एक एकड से कम ज़मीनो के बारे में विशेप जाँच की गई, जिसमे पता चला कि अधिकाश इनमें कृषि-जोतें ही थी। मद्रास

१ अपखण्डन के दोषों के सम्बन्ध में जनसख्या के प्रतिव्यक्ति आकड़े दिये जाते हैं। यदि हम ब्रिटिश भारत में कुल कृषित क्षेत्रफल को समस्त जनसख्या से भाग दें तो भजनफल लगभग १ ४ एकड़ प्रति-व्यक्ति होगा। यह भूमि पर जनसख्या के भार का सकेत करता है, परन्तु प्रत्यक्ष रूप से यह उपविभाजन और अपखण्डन की समस्या से सम्बन्धित नहीं है। इससे यह तो स्पष्ट होगा कि बहुत से लोग भूमि पर निर्भर रहते हैं, परन्तु इससे यह स्पष्ट नहीं होता कि भूमि का किस हद तक अपखण्डन हुआ है।

और बम्बई में जोत का औसत क्षेत्र छोटा है और बहुत-सी जोतें २ या ३ एकड से भी कम हैं जिससे अच्छी खेती असम्भव हो जाती है। एक एकड से कम वाली जोतो का अनुपता बहुत है। बम्बई में सर चुनीलाल मेहता ने यह सिद्ध किया है कि अधिकृत क्षेत्रो की अपेक्षा जोतो का विस्तार अधिक तेजी से हो रहा है और यह प्रवृत्ति ५ एकड अथवा इससे कम जोतो मे विशेष रूप से दिखाई पड रही है। डॉ० मान के अनुसार पूना जिले के पिम्पला सौदागर गांव में सन् १७७१ मे किसी जोत का औसत आकार ४० एकड के लगभग था, सन् १८१८ में यह १७½ एकड हो गया, सन् १८२० के बाद यह बहुत दिन तक १४ एकड रहा, परन्तु १९१५ मे यह घटकर ७ एकड हो गया। डॉ० मान कहते है कि यह स्पष्ट है कि गत ६०-७० वर्षो मे भू-धृति (जोतो) का स्वरूप बिलकुल बदल गया है। ब्रिटिश शासन के पहले और उसके आरम्भिक दिनो में, सामान्यतया जोतें काफी बडे आकार की थी। आम तौर से वे ९ या १० एकड की होती थी। २ एकड या उससे कम की जोतें बहुत कम होती थी। आजकल जोतो की सख्या लगभग दूनी हो गई है और ८१ प्रतिशत जोतें आकार में दस एकड से कम हैं तथा कम-से-कम ६० प्रतिशत जोतो का आकार ५ एकड से कम है।[1]

२ **कृषि का उपविभाजन**—कृषि का उपविभाजन और भी अधिक है, क्योकि भू-स्वामियो की तुलना में काश्तकारो की सख्या कही अधिक है। जीविका के अन्य साधनो के अभाव में अधिकाश जनता कृषि को ही अपनी जीविका बनाती है। पजाब[2] में २२ ५ प्रतिशत किसान एक एकड अथवा इससे कम भूमि जोतते है, १५ ४ प्रतिशत किसान १ और २ ५ एकड के बीच भूमि जोतते है, १७ ९ प्रतिशत २ ५ और ५ एकड के तथा २० ५ प्रतिशत किसान ५ और १० एकड के बीच जमीन में खेती करते है।[3] १९२१ की जनगणना के अनुसार प्रति किसान द्वारा कृषित औसत जमीन के आँकडे एकडो में नीचे दिये गए है।

बम्बई	१२ २	मद्रास	४ ९
पजाब	९ २	बगाल	३ १
मध्यप्रान्त और बरार	८ ५	बिहार और उडीसा	३ १
		आसाम	३ १
बर्मा	५ ६	युक्तप्रान्त	२ ५

योजना आयोग के आँकडो के आधार पर विभिन्न राज्यो में जोतो का आकार तथा कुल जोतो से उनका अनुपात इस प्रकार है : (अ) ५ एकड से कम की जोत है, और (ब) ५ एकड से १० एकड तक की जोत है।[4]

१ पूर्व उद्धृत, पृ० ४६।

२. सन् १९४९-५० में की गई कृषि-श्रम जाच (एग्रीकलचरल लेबर इन्क्वायरी) से पता चला कि मद्रास, बिहार और पश्चिमी बगाल में अधिकाश जोते २ एकड से भी कम हैं।

३ अन्तर्विभाजन की वर्तमान प्रवृत्ति को समझाने वाले आकड़ों के लिए देखिए, वाडिया एण्ड मर्चेंट, 'अवर इकॉनामिक प्रॉब्लम' तृतीय सस्करण, पृ० १७५ = और 'द फैमीन इन्क्वायरी कमीशन' अन्तिम रिपोर्ट, पृ० २५३-८।

४ भूमि जोतों के सम्बन्ध में सूचना एकत्रित करने के लिए योजना-आयोग ने भूमि जोतो की गणना

		कुल क्षेत्रफल का प्रतिशत	कुल जोतो का प्रतिशत
उत्तरप्रदेश	(अ)	३८ ८	८१·२
	(न)	२६ १	१२·७
वम्वई	(अ)	१४ ०	५२·३१
	(न)	२४ ६५	२८·१८
मध्यप्रदेश	(अ)	१० ०	५१ ५
	(न)	१२ ०	१६·५
उडीसा	(अ)	३० १	७४ २
	(न)	२२ ०	१५·३
विहार	(अ)	—	८३ ३
	(न)	—	३ ४
आसाम	(अ)	२६ ०	६६·१
	(न)	३२ ६	२२ ५
मद्रास	(अ)	४१ २	८२·२
	(न)	२७ २	११ ४
मैसूर	(अ)	२५ ३	६६ २
	(न)	२४ ०	२१ २
ट्रावनकोर कोचीन	(अ)	४४	६४ १
	(न)	१३	३ ४
पेप्सू	(अ)	८ २	४५·४
	(न)	१० ७	१७ ६
हिमाचल प्रदेश	(अ)	१७	६५
चम्वा जिला	(न)	११	३
कुर्ग	(अ)	३०	७६
	(न)	१३	१२

३. **भू-स्वामियों की जोतों का अपखण्डन**—अपखण्डन दायाधिकार नियमो के भूमि के विभाजन का अनुगामी है जिसके कारण वहुधा जोतें एक स्थान पर नही रहती। उदाहरण के लिए वम्वई प्रान्त में एक जोत मे लगभग ३ या ४ खेत होते है। पिम्पला सौदागर गाँव में डॉ० मान ने पता लगाया कि १५६ भू-स्वामियो के पास ७२६ खेत थे जिसमें ४६३ खेत एक एकड से कम थे और २११ खेत चौथाई एकड से भी कम थे। रत्नगिरी में निजी खेतो का आकार कहीं-कही ०·००६२५ एकड या ३०¼ वर्ग गज तक है। पजाव में एक मील तक लम्वे और केवल कुछ गज़ चौडे खेत पाये जाते हैं। ऐसे क्षेत्र भी है जहाँ अपखण्डन इतना अधिक हो चुका है कि कृषि असम्भव है।

(सेन्सस ऑफ लैण्ड होल्डिंग्स) की सिफारिश की। यह गणना कुछ राज्यों के विचाराधीन है तथा कुछ राज्यों में कार्यान्वित की जा रही है।

४. **कृषि का अपखण्डन**—जोतो के अपखण्डन से कृषि का अपखण्डन अधिक गम्भीर दोष है तथा कही-कही इसकी स्थिति बहुत ही विषम है। पिम्पला सौदागर में डॉ० मान ने पता लगाया कि ६२ प्रतिशत किसानो का खेत एक एकड से भी कम था और जेटगाँव में ३१ प्रतिशत लोगो के पास ऐसे ही खेत थे। रामलाल भल्ला ने पता लगाया कि पजाब के बहरामपुर गाँव मे ३४ ५ प्रतिशत किसान ऐसे थे जिनमे से प्रत्येक के पास जमीन के २५-२५ टुकडे थे। यह स्थिति काफी व्यापक है।[1]

६. **उपविभाजन और अपखण्डन के कारण**—खेतो के अत्यधिक बिखरे और छोटे होने के अनेक कारण प्रस्तुत किये गए हैं। इन कारणो में से एक है व्यक्तिवाद की प्रवृत्ति का विकास, जो सयुक्त परिवार प्रथा के तोड़ने के लिए उत्तरदायी है। पहले की भाँति सयुक्त खेती अब नही होती। सीमा और हदबन्दी करके बँटवारे का आग्रह और पृथक् खेती अब पहले से कही अधिक प्रचलित है। भारत में अग्रेजी न्यायाधीशो द्वारा व्यक्तिगत सम्पत्ति और व्यक्तिगत अधिकारों पर जोर दिये जाने के कारण व्यक्तिवाद की प्रवृत्ति को और भी शह मिली। कुछ लोग ऐसे भी है जिनका विचार है कि हिन्दू और मुसलमानो के उत्तराधिकारी और पैतृक सम्पत्ति सम्बन्धी कानून और रिवाज भी उपविभाजन और अपखण्डन के मूलवर्ती कारण है। यह बात सरलता से समझ में आ जाती है कि क्यो परिवार की जोत का आकार पैतृक सम्पत्ति के प्रत्येक विभाजन के साथ कम होता जा रहा है। सामान्यतया उपविभाजन और अपखण्डन साथ-ही-साथ होते है क्योकि प्रत्येक हिस्सेदार एक-एक खेत से सन्तुष्ट होने के बजाय, प्रत्येक भूमि में छोटे-छोटे टुकडे लेने का आग्रह करता है।[2] इस प्रकार के बँटवारे का उद्देश्य प्रत्येक हिस्से को हर तरह से बराबर रखना है। मध्यकालीन यूरोप की अनावृत क्षेत्र-व्यवस्था (ओपन फील्ड सिस्टम) में भी यही विचार निहित था। इसके अन्तर्गत अच्छी और बुरी स्थिति वाले खेतो को समान और न्याय्य रूप से विभाजित करने के लिए, भूमि की पट्टियाँ एक-दूसरे से मिला तथा बिखरा दी जाती थी। परन्तु भारत में समान और सगत विभाजन की इस रीति को खीचकर विषम स्थिति तक पहुँचा दिया गया है और बहुधा इसके प्रेरक समानताजन्य लाभ न होकर पारस्परिक ईर्ष्या और सन्देह होते है।[3]

इस दोष के लिए मुख्यत उत्तराधिकार और पैतृक सम्पत्ति के कानून, उत्तरदायी है। इस स्थापना के विरुद्ध यह तर्क उपस्थित किया गया है कि ये कानून

१ कृषि आयोग रिपोर्ट देखिए, पैरा ११६-२२।

२ इस रिवाज का परिणाम यह होता है कि उत्तराधिकारियों की सख्या के बराबर ही प्रत्येक खेत के टुकडे किये जाते हैं जिससे अपखण्डित जोतों की सख्या हिस्सेदारों की सख्या के बराबर हो जाती है।

३ 'जन-सख्या की विशेष वृद्धि के अभाव में पीढी-दर-पीढी अपखण्डन के क्या कारण हैं? इसका प्रमुख कारण लगभग प्रत्येक कृषक परिवार में भाइयों की पारस्परिक घोर ईर्ष्या है। एक-दूसरे को लाभ उठाने का कोई अवसर नही देता। वे वृक्ष की शाखा पर स्थित मधु के छत्ते तक के हिस्से के लिए झगडा करते हैं। वे वृक्षों के फल और शाखाओं के लिए ही नही वरन उसकी छाया तक के लिए भी सिर फुटौवल करते हुए पाये जाते हैं।' १० अक्तूबर, १९२७ में छोटी छोटी जोतों के बिल पर बम्बई विधान सभा के विवाद में एफ० जी० एच० एण्डरसन का भाषण।

सैकडो वर्षों से चले आ रहे हैं। परन्तु यह दोष अपेक्षाकृत नया और आधुनिक ढग का है।[१] यह तो मानना ही पडेगा कि यदि ये कानून न होते तो ये बुराइयाँ इतना व्यापक और गम्भीर रूप धारण न कर पाती जितना इन्होने अब कर लिया है। कानूनन हर हिस्सेदार को अपना हिस्सा लेने का अधिकार है। हिस्सा बाँट लेने की इच्छा अन्य कारणो से भी हो सकती है, परन्तु इच्छा होने पर कानून ने इसका मार्ग और भी सरल कर दिया। इन कारणो में से एक कारण व्यक्तिवादी प्रवृत्ति है, यह हम पहले ही कह चुके है। पर इस प्रवृत्ति को वास्तव में अभिव्यक्ति मिलती है उत्तराधिकार और पैतृक सम्पत्ति-सम्बन्धी कानूनो के द्वारा ही। यह कहने के बजाय कि ये कानून उपविभाजन और अपखण्डन के कारण है, यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि ये ऐसे साधन या उपकरण है जिनके द्वारा सतत उपविभाजन कार्यान्वित होता है। इन साधनो के प्रयोग के लिए कोई बाध्य नही है, परन्तु इच्छा होने पर इसका कभी भी उपयोग किया जा सकता है। यह तो सच है कि प्राचीन काल में इसके प्रयोग की इतनी आवश्यकता नही होती थी जितनी आज होती है, परन्तु यह सच नही है कि इन कानूनो की कार्यान्विति का परिणाम प्राचीन काल में उपविभाजन नही होता था।[२] हमें यह कहना चाहिए कि सयुक्त-परिवार प्रथा के कारण ये कानून बहुत कम प्रयोग में लाये जाते थे, परन्तु इनका प्रयोग होने पर उपविभाजन न हो, यह असम्भव था।

ब्रिटिश शासन की स्थापना के बाद, जनसख्या की वृद्धि इसका दूसरा कारण बताया जाता है। जनसख्या की वृद्धि का अर्थ उत्तराधिकारियो की वृद्धि है। परन्तु यह विभाजन का अपने-आप में कोई कारण नही है जब तब कि अन्य कारण उत्तराधिकारियो को सयुक्त परिवार की परिपाटी तोडने तथा पूर्णत बँटवारा करवाने के लिए विवश न कर दें। जब तक पर्याप्त खाली भूमि उपलब्ध थी, जैसे पजाब के नहर उपनिवेश में, तब तक परिवार के अतिरिक्त सदस्यो का प्रबन्ध उप-अधिकृत भूमि के खण्ड किये बिना सम्भव था।[३] पर जब समस्त कृषि-योग्य भूमि लोगो के अधिकार में चली गई तो स्थिति बदल गई और उपविभाजन से बचने का एकमात्र उपाय सयुक्त कृषि-प्रथा ही रह गई।[४]

मशीनो द्वारा बनी हुई वस्तुओ की प्रतिस्पर्धा के कारण दस्तकारी की अवनति हुई, जो अपखण्डन का एक प्रमुख कारण मानी जाती है। इस विषय में अपने विचारो को स्पष्ट करने के लिए, इस कारण की कार्य-विधि समझना उचित है। जैसा कि हम

१. वाडिया और जोशी, 'वेल्थ ऑफ इण्डिया', पृ० २४४।
२. वही।
३ यहां पर हम अधिकृत क्षेत्रों के छोटेपन तथा भू स्वामियो के औसत क्षेत्रों के उपविभाजन की बात कह रहे हैं। नये-छोटे भू-अधिकारियों का प्रवेश (उदाहरणार्थ महाजनों) की पैतृक सम्पत्ति को प्रभावित किये बिना ही गाव की जोतों की औसत कम कर सकता है। देखिए, कृषि आयोग रिपोर्ट, पैरा ११६।
४ एण्डरसन के अनुसार सयुक्त परिवार का विलयन आयकर कानून के कार्यान्वित होने के बाद १८८६ से हुआ। छोटी जोतों के बिल पर बम्बई विधान सभा का विवाद देखिए।

पहले कह चुके है कि गाँव के कारीगरो के पास सामान्यतया कुछ भूमि होती थी। मशीनो की बनी वस्तुओ की प्रतियोगिता के कारण उसमें से कुछ लोगो की स्थिति तेजी से बिगडने लगी। पारिवारिक जोत भरण-पोषण का मुख्य साधन होने के कारण उसके स्वामियो की नजरो में उसकी महत्ता बढ गई। जिन लोगो की आवश्यकताएँ कम थी, और जो उसकी पैदावार का थोडा भाग ही उपयोग करते थे, उन्हे सयुक्त कृषि-प्रणाली में उत्पादन का हिस्सेदारो की आवश्यकतानुसार विभाजन करना अनुचित लगने लगा। इस प्रकार से उत्पन्न हुई ईर्ष्या की भावना ने सम्मिलित कृषि की योजना निभाना असम्भव कर दिया और उसका परिणाम हुआ अन्तर्विभाजन। पर यह स्पष्ट है कि इस बात का जितनी भूमि पर असर पडा होगा, उसका क्षेत्र नही के बराबर ही रहा होगा। जहाँ तक शहरी कारीगरो का प्रश्न है, उनके पास प्राय भूमि नही रहती। मशीनो द्वारा बनी हुई वस्तुओ से जब प्रतिस्पर्धा हुई वे अपना पेशा खो बैठे तथा भूमिहीन मजदूर हो गए। इससे भूमि पर भार बढा, परन्तु भूमि के विभाजन पर इसका कोई प्रत्यक्ष प्रभाव नही पडा। यह हो सकता है कि कुछ शहरी कारीगर गाँवो में बस गए हो, जहाँ उन्होने भूमि के छोटे-छोटे टुकडे खरीद लिये हो। ये टुकडे आरम्भ से अनार्थिक थे या कालान्तर में दायाधिकार-नियमो के फलस्वरूप अनार्थिक हो गए। यह असम्भव प्रतीत होता है कि अपनी मूल वृत्ति के लाभप्रद न रह जाने के कारण, भूमि की शरण मे जाने वाले कारीगरो के पास सामान्य अवस्था मे भूमि खरीदने के लिए काफी बचत या साख रही हो। और फिर यदि इस प्रकार से प्राप्त भूमि किसी बड़े भू-खण्ड का टुकडा न रही हो तो जहाँ तक उपविभाजन का प्रश्न है, स्थिति पहले के समान ही रहेगी। इसके विपरीत, यदि नई भूमि पर अधिकार किया गया हो तो इससे जोतो की सख्या तो बढी होगी, परन्तु उपविभाजन को प्रोत्साहन नही मिला होगा। सारी स्थिति को ध्यान में रखते हुए हम यह कह सकते है कि दस्तकारी के ह्रास से भूमिहीन श्रमिको की सख्या में तो अवश्य वृद्धि हुई, परन्तु जोतो के उपविभाजन और अपखण्डन को बढाने की दिशा में इसका अधिक प्रभाव नही पडा। हाँ, यह जरूर है कि कारीगरो के काश्तकार हो जाने पर, उनकी कृषियोग्य भूमि की माँग के कारण, कृषि का उपविभाजन और अपखण्डन बढ गया।

अस्तु, आबादी की वृद्धि के अनुपात में एक ओर तो उद्योगो, का समुचित विस्तार न होने और दूसरी ओर जोतो का आत्यन्तिक उपविभाजन और अपखण्डन, इन दोनो का कार्य-कारण सम्बन्ध जोडना सम्भव है। यदि गत वर्षो मे जनसख्या की वृद्धि के अनुरूप ही निर्माण-उद्योगो का विकास भी हुआ होता, तो भूमि की अतिरिक्त आबादी उनमें खप जाती। यदि परिवार का आकार इतना बढ जाता कि अपनी जोत पर आराम से रहना सम्भव होता तो कुछ सदस्य निश्चय ही औद्योगिक केन्द्रो को चले जाते तथा शेष सदस्य पारिवारिक जोत पर अपने श्रम का लाभ उठाते। गाँव छोडने वाले व्यक्तियो का भूमि पर कानूनी अधिकार बना रहता। यदि उद्योगों की नौकरी से उच्च स्तर का निर्वाह सम्भव होता तो वे प्रसन्नता से पारिवारिक भूमि से प्राप्त आय का अपना भाग घर पर रहने वाले व्यक्तियो को दे देते। दुर्भाग्यवश इस प्रकार की

उन्नति न हो पाई और जनसख्या वढती गई। यह अतिरिक्त आवादी उद्योगो में जाने के वजाय, भूमि पर ही आश्रित होती गई। सयुक्त परिवार प्रथा के शिथिल होने और अलग रहने की प्रवृत्ति के कारण, पैतृक सम्पत्ति-सम्वन्धी कानून का अधिकाधिक आश्रय लिया जाने लगा। इस प्रकार, आर्थिक कठिनाइयो के वढने के कारण लोगो ने ऐसी कार्य-प्रणाली अपनाई जिसने उनके सकट को कम करने की वजाय और वढा दिया। अव भूमि ही उनका एकमात्र साधन थी, अतएव हम आशा कर सकते थे कि इस कारण वे भूमि का पूर्ण उपयोग करेंगे, परन्तु अत्यधिक सावधानी और विचार-पूर्ण कार्यो के वजाय, उन्होने भूमि को वडी लापरवाही से छोटे-छोटे टुकडो में वाँटकर नष्ट कर दिया।

सक्षेप में हम कह सकते है कि जनसख्या की वृद्धि, उसके अनुरूप उद्योगो मे विस्तार का न होना, सयुक्त परिवार का ह्रास तथा व्यक्तिवादिता का विकास, आदि और इनको पुष्ट करने के लिए उत्तराधिकार और पैतृक सम्पत्ति-सम्बन्धी कानून जोतो के उपविभाजन और अपखण्डन के ये ही प्रधान कारण है।

जिस समय कोई दोष असह्य सीमा तक पहुँच जाता है तो कुछ प्राकृतिक उपाय स्वय क्रियाशील हो उठते है। उदाहरण के लिए, अत्यधिक छोटी जोत मालिक द्वारा या तो वेची जा सकती है या किराये पर दी जा सकती है। परन्तु इस प्रकार के उदाहरण सामान्यत नही पाये जाते और न वे मुख्य समस्या पर कोई गहरा प्रभाव ही डालते है। अत हमें यह मानना पडेगा कि यह समस्या अत्यन्त विषम और वद्धमूल है तथा इसी आधार पर हम इसे दूर करने के सामान्य उपायो का विवेचन करेंगे।

७. आर्थिक जोत क्या है?—गत वर्षो में भारत में इस समस्या को वैधानिक दवाव के और ऐच्छिक आधार पर हल करने का प्रयास किया गया है। चाहे हम कोई भी आधार क्यो न अपनाएँ, हमें आर्थिक जोत शब्द का अर्थ हर हालत में स्पष्ट करना पडेगा। इस शब्द की अनेक परिभाषाएँ की गई है। कीटिंग के अनुसार आर्थिक जोत का अभिप्राय 'उस जोत से है जिससे कृषि-कार्यो का आवश्यक व्यय निकाल देने के वाद कोई व्यक्ति अपने तथा अपने परिवार के निर्वाह के लिए पर्याप्त उत्पादन कर सकें।' वह आगे कहते है कि 'दक्षिण में एक आदर्श आर्थिक जोत एक ही स्थान पर ४० अथवा ५० एकड की अच्छी भूमि होगी जिस पर सिंचाई के लिए एक कुआँ तथा एक घर होगा। परिस्थितियो की विविधता के अनुसार विभिन्न भागो में अभीष्ट क्षेत्र की कियत्ता अलग-अलग होगी। सूरत जिले में एक माली ३ एकड के वगीचे से अपने परिवार का पालन वडे आराम मे कर सकता है जव कि दक्षिण के सूखे भागो में खराव मिट्टी वाली ३० एकड भूमि भी पर्याप्त नही होती। आदर्श आर्थिक जोत और अनार्थिक जोत में वहुत से कोटि क्रम है, परन्तु किसी एक भाग के लिए मानक निश्चित कर देना कठिन नही है।'[1] डॉ० मान के अनुसार आर्थिक जोत उसे कहते है जिससे एक औसत परिवार का निर्वाह सन्तोषप्रद ढग से हो सके।[2] स्टेनले जेवन्स ने, उत्तरप्रदेश की

१. प्रोग्रेस ऑफ एग्रीकलचर इन वेस्टर्न इण्डिया, पृ० ५२-५३।
२. पूर्व उद्धृत, खण्ड २, पृ० ४३।

परिस्थितियो को ध्यान में रखते हुए लगभग ३० एकड भूमि को आदर्श जोत माना है। उनका उद्देश्य किसानो को 'युक्त' स्तर ही नही—'निम्नतम' का तो प्रश्न ही नही—वरन् रहन-सहन का 'उच्च' स्तर प्रदान करना है।

विभिन्न कारणो के आधार पर आर्थिक जोत की परिभाषा में अन्तर हो जायगा, उदाहरणार्थ, हम कुल प्रत्याप्ति को ले रहे है या विशुद्ध प्रत्याप्ति को, पूँजी की प्रचुरता है अथवा कमी आदि। पुन यह कृषि-पद्धति के स्वरूप पर भी निर्भर होगी, कृषि के विस्तृत या घने होने पर, भूमि की प्रकृति पर, सिंचाई की सुविधाओ के होने-न-होने पर कौनसी फसलें उगा ली जाती है, आदि।

इतना समझ लेने के बाद हमें आर्थिक जोत शब्द को एक विशिष्ट अर्थ दे देना चाहिए। एक औसत परिवार को लेकर हम कह सकते है कि भूमि की वह मात्रा जो उसकी पूँजी और श्रम का सबसे अधिक लाभप्रद उपयोग करने का अवसर दे, आदर्श जोत है। इसके लिए हर प्रकार के कारणो पर ध्यान देना होगा। उदाहरणार्थ, प्राप्य श्रम और पूँजी या उसके कुछ भाग को कृषि के अतिरिक्त अन्यत्र प्रयोग करने की सम्भावना की अपेक्षा नही की जा सकती। श्रम और पूँजी का कृषि और अन्य वृत्तियो के बीच यह वितरण 'समसीमान्त प्रत्याप्ति' ('Equimarginal returns) के सिद्धान्त पर निर्धारित किया जायगा। यहाँ निहित उद्देश्य कृषि में लगी हुई पूँजी और श्रम की प्रत्येक इकाई के लिए अधिकतम प्रत्याप्ति उपलब्ध करना है।

पर इस सम्बन्ध में निकाले गए कुछ निष्कर्ष साधारणत भारत की वास्तविक परिस्थितियो में सत्य सिद्ध नही किये जा सकते। खास तौर से इसलिए कि यह परिकल्पना कि कृषि और अन्य वृत्तियो के बीच श्रम—गाँव में या गाँव के बाहर—पूर्णरूप से गतिशील है, मान्य नही। और इसका कारण है ग्रामीण उद्योगो का अभाव तथा शहरो में निर्माण-उद्योगो की अविकसित अवस्था। जहाँ तक भारतीय परिस्थितियो का सम्बन्ध है, हमें यह मानकर चलना पडेगा कि एक औसत कृषक-परिवार में जो श्रम उपलब्ध होता है वह खेती को छोड किसी अन्य कार्य में निर्देशित नही किया जा सकता।

सख्यात्मक उदाहरण से यह विचार सरलता से समझ में आ जायगा। हम पाँच सदस्यो वाले औसत परिवार को लें और उसमें उपलब्ध 'श्रम' को ही श्रम की इकाई मान लें। इसी तरह पूँजी की इकाई एक जोडी बैल और हल को मान लें। ये प्राकल्पनाएँ भारत की वर्तमान परिस्थितियो से पूरी तरह मेल खाती है। मान लीजिए इस परिवार की जोत का आकार ५ एकड है, जिससे उपलब्ध पूँजी और श्रम द्वारा १५० रुपये की कुल आय हो सकती है। इसमें एक जोडी बैल को रखने का खर्च मान लीजिए ४० रुपये है, तथा अन्य खर्च, मान लीजिए, २० रुपये है, खर्च घटा दीजिए; अत इस परिवार की वास्तविक आय १५० रु०—६० रु०=९० रुपये है।[1] मान लीजिए एक जोडी बैल और हल तथा उपलब्ध श्रम से यह परिवार २० एकड भूमि में अच्छी तरह से खेती कर सकता है। अब मान लीजिए उनके पास २० एकड जमीन है।

---

१ वास्तव में ये अक केवल समझने के लिए है, परन्तु इनके स्थान पर किन्ही और अको को प्रतिस्थापित करना किसी तरह तर्क को प्रभावित नही करेगा।

नतीजा यह होगा कुल आय=६०० रुपये, एक हल और एक जोडी वल रखने का खर्च ४० रु०, अन्य खर्च ८० रु० अर्थात्, पहले से चार गुना अधिक (यद्यपि अधिक सम्भावना तो यह है कि अन्य खर्चो की वृद्धि भूमि की वृद्धि के अनुपात से कम होगी) इस प्रकार हमारे वास्तविक माप=६००रु०—१२० रु०=४८० रु० है।

मान लीजिए, क, ख, ग, घ चार परिवार है। प्रत्येक परिवार के पास ५ एकड भूमि है जिसे वे अलग-अलग जोतते है। प्रत्येक परिवार ६० रु० व्यय करता है—४० रु० वैलो पर तथा २० रु० अन्य मदो पर। और १५० रु० कुल आय तथा ९० रुपये वास्तविक आय के रूप मे पाता है। मान लीजिए, अव वे २० एकड के सम्पूर्ण क्षेत्र पर सयुक्त कृपि करने का निर्णय करते है। ऐसा करने पर उन्हें तीन जोडी वैलो की आवश्यकता नही रहेगी और वे इस मद मे १२० रुपये वचा लेंगे। पहले के वरावर ही श्रम लगाने पर अव ६०० रु० की कुल आय होगी जिसमें से ४० रु० वैलो के तथा ८० रु० अन्य व्ययो के लिए निकाल देने पर प्रत्येक परिवार का भाग १२० रु० होगा जवकि अलग-अलग ५ एकड पर खेती करने मे उनका हिस्सा ९० रु० ही था। इस प्रकार प्रत्येक परिवार की आय वढ जाती है, यद्यपि अव कुल श्रम का एक चौथाई भाग ही काम करता है, क्योकि हमारी प्राकल्पना के अनुसार एक परिवार के श्रम का पूरा लाभ उठाने के लिए २० एकड भूमि जरूरी है।

अव सवाल यह है कि जो अतिरिक्त श्रम उपलब्ध है उसका क्या हो? उसे कुछ और धन्धा मिल नही सकता, यह हम पहले ही मान चुके है। अत कृषि-कार्य करने और न करने के वीच ही चुनाव करना है। इन परिस्थितियो मे कुछ अतिरिक्त श्रम भूमि पर लगाया जा सकता है अगर उससे उत्पादन मे कुछ वृद्धि हो, भले ही यह वृद्धि श्रम-इकाइयो की वृद्धि के अनुपात में न हो। मान लीजिए कि अतिरिक्त श्रम के प्रयोग से २०० रु० की उपज वढती है। अव स्थिति इस प्रकार है। कुल आय ८०० रु०—व्यय १२० रु०=६८० रु० विशुद्ध आय।

हम इन्हे निम्नाकित क्रम से रख सकते है। 'श' श्रम की एक इकाई को व्यक्त करता है (अर्थात् एक औसत परिवार), 'प' पूँजी की एक इकाई को व्यक्त करता है, (अर्थात् एक हल और एक जोडी वैल)।

पहली दशा १ श+१ प+२० एकड, विशुद्ध आय ४८० रु०। परिवार की प्रति व्यक्ति आय $\frac{४८०}{५}$=९६ रु०।

दूसरी दशा ४ श+१प+२० एकड, विशुद्ध आय ६८० रु०। परिवार की प्रति व्यक्ति आय=$\frac{६८०}{२०}$=३४ रु०।

तीसरी दशा. ४ श+४ प+२० एकड, विशुद्ध आय ३६० रु०। परिवार की प्रति व्यक्ति आय=$\frac{३६०}{२०}$=१८ रु०।

सर्वश्रेष्ठ परिणाम उस समय प्राप्त होगा जव श्रम और पूँजी की एक-एक इकाई २० एकड भूमि से सयुक्त की जाय। यही हमारी आर्थिक जोत ह। ऊपर परि-भापित आदर्श जोत की तुलना में भूमि, श्रम और पूँजी के अनुपात मे अन्तर हुआ तो इसके परिणामस्वरूप जोत अनार्थिक हो जायगी, तथा उत्पादको की प्रति व्यक्ति आय

घट जायगी। आदर्श जोत के अनुकूल अनुपात बदलने पर अनार्थिक जोत अधिकाधिक आर्थिक होती जायगी। यदि तीनो परिवारो का अतिरिक्त श्रम कृषि के अतिरिक्त किसी अन्य जीविका में लगाया जा सके तो उत्पादको के दृष्टिकोण मे पहली दशा सबसे अच्छे परिणाम देती है। यदि परिस्थितियाँ ऐसी है कि सभी परिवारो को २० एकड भूमि पर ही निर्भर रहना पडता है तो दूसरी दशा सर्वश्रेष्ठ है, क्योकि पहली दशा में वास्तविक आय केवल ४८० रु० है जबकि दूसरी दशा में यह ६८० रु० है। परन्तु इसमे यह बात गलत नही हो जाती कि पहली दशा भूमि, श्रम और पूँजी का आदर्श सयोग दिखाती है। यदि श्रम की मात्रा ४ श में है तो सर्वश्रेष्ठ सयोग ४ श + ४ प + ८० एकड होगा, केवल २० एकड उपलब्ध होने के कारण दूसरी दशा को ही अपनाना चाहिए जो प्रसगत यह बात भी स्पष्ट करती है कि कुछ हद तक सम्मिलित कृषि-भूमि पर अत्यधिक दबाव के दोष को दूर करती है।

यह स्पष्ट ही है कि आर्थिक जोत की परिभाषा देने की उपर्युक्त विधि ऊपर दी हुई प्रचलित परिभाषाओ से कम आपत्तिजनक है। 'अच्छी खासी सुविधाएँ', 'निम्नतम स्तर' और 'उच्चतम स्तर' आदि शब्द अस्पष्ट तथा अनेकार्थी है। इसके विपरीत यदि हम कहे कि हमारा उद्देश्य भूमि, पूँजी और श्रम के सम्बन्ध को इस प्रकार व्यवस्थित करना है ताकि उत्पादको को अधिकतम लाभ हो तो हम इस कठिनाई से मुक्त हो जायँगे। अधिकतम आर्थिक लाभ किसानो को रहन-सहन का उच्च स्तर बनाए रखने के योग्य भी बना सकता है तथा निम्नतम स्तर आवश्यकताओ के लिए अपर्याप्त हो सकता है। पहली अवस्था में प्राप्त ९६ रु० प्रति व्यक्ति की आय आरामपूर्वक रहन-सहन का अच्छा स्तर बनाए रखने के लिए पर्याप्त नही है, परन्तु प्राप्य अधिकतम आय वही है। यह सम्भव है कि भूमि, श्रम और पूँजी के उपयुक्ततम सयोग के परिणाम पूर्णतया सन्तोषजनक न हो। इस दशा में हमें अन्य उपायो को अपनाना पडेगा, जैसे उत्पादन के कुशल साधन, विपणन सुविधाएँ आदि। 'आर्थिक जोत' बनाने का उद्देश्य उचित आकार की जोत द्वारा किसानो की स्थिति सुधारना है, जहाँ तक एक तरीके से सुधारी जा सकती है और वह यह कि उसे सही आकार की जोत मिल जाय। यह किसानो के लिए नई धरा अथवा नये स्वर्ग की आशा नही दिलाती और न यह किसानो की समस्याओ का पूरा हल ही है। यह तो समस्या को हल करने का केवल एक रास्ता-भर है।

८ उपचार—अब हमें उपचारो को देखना चाहिए जो भारत मे उपविभाजन और अपखण्डन की बुराइयो को दूर करने के लिए अपनाये या सुझाये गए है। सन् १८२०-२१ से पजाब में सहकारी विभाग के तत्त्वावधान में सहकारी समितियाँ बनाकर प्रचार और प्रेरणा द्वारा बिखरी हुई जोतो की चकबन्दी के सम्बन्ध में दिलचस्प प्रयोग किये गए जिसमें अद्भुत सफलता मिली। जुलाई सन् १९४३ के अन्त तक प्रान्त में सहकारी चकबन्दी समितियो की सख्या १८०७ थी और चकबन्दी किया हुआ क्षेत्र १४.५[1] लाख एकड था।[2] चकबन्दी की गति नवम्बर सन् १९३६ के चकबन्दी अधिनियम

१ फेमिन इन्क्वायरी कमिशन, फाइनल रिपोर्ट, पृ० २६२।

२ १९५०-५१ में पजाब में ३६१ सहकारी चकबन्दी समितिया थी जिनकी सदस्य-सख्या १,८६,०५७ थी।

(कन्सॉलिडेशन ऑफ होल्डिंग्स एक्ट) के पास होने से और भी वढ गई। इस कानून के अन्तर्गत हठीअल्पसख्यक व्यक्तियो के विरोध के वावजूद भी चकवन्दी अनिवार्य कर दी गई। चकवन्दी का प्रभाव वहुत ही लाभदायक रहा है। भूमि की उत्पादकता में वृद्धि हुई, अपखण्डन के कारण न जोती जाने वाली भूमि पर खेती होने लगी, मुकद्दमेवाजी और झगडे कम हो गए, तथा सुधार की उत्कट अभिलाषा भी उत्पन्न हो गई है। कुछ कारणो से पजाव इस प्रकार के सहकारी कार्यो के लिए वहुत उपयुक्त है जिसका परिणाम ऐच्छिक आधार पर चकवन्दी का होना है। पहली वात तो यह है कि भूमि और जनसख्या के सम्वन्ध में वहाँ के गांवो में एकरूपता है। दूसरी वात यह है कि नहर उपनिवेशो मे भूमि की जुताई हाल ही में शुरू हुई है, इसलिए वहाँ चकवन्दी अधिक आसान है। तीसरी वात यह है कि हर भू-घृति की सापेक्षिक सरलता के कारण भी चकवन्दी में सुविधा रहती है।[1] अच्छी-से-अच्छी परिस्थिति होने पर भी चकवन्दी आन्दोलन की गति अवश्य ही धीमी होगी। इसकी भी कोई गारन्टी नही है कि भविष्य में चकवन्दी कार्य व्यर्थ न हो जायगा। एक कठिनाई यह भी है कि चकवन्दी की लागत अधिक है और जनता इतना देने के लिए तैयार नही है। एक शिकायत यह भी है कि जो लोग स्थानीय रूप से शक्तिशाली या प्रभावशाली है किसी-न-किसी प्रकार सर्वोत्तम भूमि ले लेते है। इसके अतिरिक्त पजाव का प्रयोग केवल अपखण्डन की समस्या को ही हल करता है, उसका उद्देश्य उपविभाजन रोकना नही है।

पजाव द्वारा दिखाये हुए मार्ग का अनुसरण कुछ अन्य राज्यो जैसे मध्यप्रदेश (नीचे देखिए) उत्तरप्रदेश आदि ने किया है। उत्तरप्रदेश में पजाव के नमूने पर आधारित सहकारी चकवन्दी समितियो की सरक्षता में (जिनकी सख्या १६३६-४० मे १८२ थी) ७७,६७२ पक्के वीघे भूमि की चकवन्दी की गई। पुनर्विभाजन के कारण खेतो की सख्या १/१० हिस्सा कम हो गई।[2] सन् १६३६ के चकवन्दी अधिनियम के पास होने पर इन समितियो का काम समाप्त नही हुआ। जैसा कि पजाव में है सहकारी चकवन्दी और कानून के अन्तर्गत की जाने वाली चकवन्दी साथ-साथ चल सकती है।[3] मद्रास ने मामूली शुरुआत की और सन् १६३६-४० मे वहाँ २२ चकवन्दी समितियाँ थी, परन्तु प्रयास असफल रहा और प्रयोग छोड दिया गया।[4]

लगभग ७ ०७ लाख एकड भूमि की चकवन्दी सहकारी समितियों द्वारा की गई तथा चकवन्दी विभाग ने ३.५ लाख एकड भूमि के चक वनाए।

१. चकवन्दी के लाभों तथा उसकी कठिनाइयों के लिए देखिए 'कन्सॉलिडेशन ऑफ़ लैण्ड होल्डिंग्स इन द पजाव, के० एम० वशीर अहमदखां, इण्डियन सोसाइटी ऑफ़ एग्रीकल्चर इकानामिक्स की पहली कान्फ्रेंस कार्यवाही (१६४०), पृ० ३८-४४।

२. उत्तर प्रदेश में १६४६-५० के अन्त में ४३८ सहकारी चकवन्दी समितियां थीं। इनके द्वारा लगभग दो लाख एकड भूमि की चकवन्दी हो चुकी है।

३ सन् १६३६-४० में उत्तरप्रदेश में सहकारी समितियों के कार्य पर रजिस्ट्रार की रिपोर्ट, पैरा ४४, और इण्डियन को-आपरेटिव रिव्यू में अक्तूबर-दिसम्बर (१६३६) में वी० मुकर्जी का लेख, पृ० ५१६-२६।

४ रिजर्व वैंक के १६४६-४८ के रिव्यू के अनुसार मद्रास में २२ चकवन्दी समितिया है तथा उनके द्वारा

घट जायगी। आदर्श जोत के अनुकूल अनुपात बदलने पर अनार्थिक जोत अधिकाधिक आर्थिक होती जायगी। यदि तीनो परिवारो का अतिरिक्त श्रम कृषि के अतिरिक्त किसी अन्य जीविका में लगाया जा सके तो उत्पादको के दृष्टिकोण से पहली दशा सबसे अच्छे परिणाम देती है। यदि परिस्थितियाँ ऐसी है कि सभी परिवारो को २० एकड़ भूमि पर ही निर्भर रहना पड़ता है तो दूसरी दशा सर्वश्रेष्ठ है, क्योकि पहली दशा में वास्तविक आय केवल ४८० रु० है जबकि दूसरी दशा में यह ६८० रु० है। परन्तु इसमे यह बात गलत नही हो जाती कि पहली दशा भूमि, श्रम और पूँजी का आदर्श सयोग दिखाती है। यदि श्रम की मात्रा ४ श मे है तो सर्वश्रेष्ठ सयोग ४ श + ४ प + ८० एकड़ होगा, केवल २० एकड उपलब्ध होने के कारण दूसरी दशा को ही अपनाना चाहिए जो प्रसगत यह बात भी स्पष्ट करती है कि कुछ हद तक सम्मिलित कृषि-भूमि पर अत्यधिक दबाव के दोष को दूर करती है।

यह स्पष्ट ही है कि आर्थिक जोत की परिभाषा देने की उपर्युक्त विधि ऊपर दी हुई प्रचलित परिभाषाओ से कम आपत्तिजनक है। 'अच्छी खासी सुविधाएँ', 'निम्नतम स्तर' और 'उच्चतम स्तर' आदि शब्द अस्पष्ट तथा अनेकार्थी है। इसके विपरीत यदि हम कहे कि हमारा उद्देश्य भूमि, पूँजी और श्रम के सम्बन्ध को इस प्रकार व्यवस्थित करना है ताकि उत्पादको को अधिकतम लाभ हो तो हम इस कठिनाई से मुक्त हो जायँगे। अधिकतम आर्थिक लाभ किसानो को रहन-सहन का उच्च स्तर बनाए रखने के योग्य भी बना सकता है तथा निम्नतम स्तर आवश्यकताओ के लिए अपर्याप्त हो सकता है। पहली अवस्था में प्राप्त ९६ रु० प्रति व्यक्ति की आय आरामपूर्वक रहन-सहन का अच्छा स्तर बनाए रखने के लिए पर्याप्त नही है, परन्तु प्राप्य अधिकतम आय वही है। यह सम्भव है कि भूमि, श्रम और पूँजी के उपयुक्ततम सयोग के परिणाम पूर्णतया सन्तोषजनक न हो। इस दशा मे हमें अन्य उपायो को अपनाना पड़ेगा, जैसे उत्पादन के कुशल साधन, विपणन सुविधाएँ आदि। 'आर्थिक जोत' बनाने का उद्देश्य उचित आकार की जोत द्वारा किसानो की स्थिति सुधारना है, जहाँ तक एक तरीके से सुधारी जा सकती है और वह यह कि उसे सही आकार की जोत मिल जाय। यह किसानो के लिए नई धरा अथवा नये स्वर्ग की आशा नही दिलाती और न यह किसानो की समस्याओ का पूरा हल ही है। यह तो समस्या को हल करने का केवल एक रास्ता-भर है।

८ उपचार—अब हमें उपचारो को देखना चाहिए जो भारत में उपविभाजन और अपखण्डन की बुराइयो को दूर करने के लिए अपनाये या सुझाये गए है। सन् १९२०-२१ से पजाब में सहकारी विभाग के तत्त्वावधान में सहकारी समितियाँ बनाकर प्रचार और प्रेरणा द्वारा बिखरी हुई जोतो की चकबन्दी के सम्बन्ध में दिलचस्प प्रयोग किये गए जिसमें अद्भुत सफलता मिली। जुलाई सन् १९४३ के अन्त तक प्रान्त में सहकारी चकबन्दी समितियो की सख्या १८०७ थी और चकबन्दी किया हुआ क्षेत्र १४.५[1] लाख एकड़ था।[2] चकबन्दी की गति नवम्बर सन् १९३६ के चकबन्दी अधिनियम

[1] फेमिन इन्क्वायरी कमिशन, फाइनल रिपोर्ट, पृ० २६२।

[2] १९५०-५१ में पजाब में ३६१ सहकारी चकबन्दी समितिया थी जिनकी सदस्य-सख्या १,८६,०५७ थी।

(कन्सॉलिडेशन ऑफ होल्डिंग्स एक्ट) के पास होने से और भी बढ गई। इस कानून के अन्तर्गत हठीअल्पसख्यक व्यक्तियो के विरोध के बावजूद भी चकबन्दी अनिवार्य कर दी गई। चकबन्दी का प्रभाव बहुत ही लाभदायक रहा है। भूमि की उत्पादकता मे वृद्धि हुई, अपखण्डन के कारण न जोती जाने वाली भूमि पर खेती होने लगी, मुकद्दमेबाजी और झगडे कम हो गए, तथा सुधार की उत्कट अभिलाषा भी उत्पन्न हो गई है। कुछ कारणो से पजाब इस प्रकार के सहकारी कार्यो के लिए बहुत उपयुक्त है जिसका परिणाम ऐच्छिक आधार पर चकबन्दी का होना है। पहली बात तो यह है कि भूमि और जनसख्या के सम्बन्ध में वहाँ के गाँवो में एकरूपता है। दूसरी बात यह है कि नहर उपनिवेशो मे भूमि की जुताई हाल ही में शुरू हुई है, इसलिए वहाँ चकबन्दी अधिक आसान है। तीसरी बात यह है कि हर भू-धृति की सापेक्षिक सरलता के कारण भी चकबन्दी में सुविधा रहती है।[1] अच्छी-से-अच्छी परिस्थिति होने पर भी चकबन्दी आन्दोलन की गति अवश्य ही धीमी होगी। इसकी भी कोई गारन्टी नही है कि भविष्य में चकबन्दी कार्य व्यर्थ न हो जायगा। एक कठिनाई यह भी है कि चकबन्दी की लागत अधिक है और जनता इतना देने के लिए तैयार नही है। एक शिकायत यह भी है कि जो लोग स्थानीय रूप से शक्तिशाली या प्रभावशाली है किसी-न-किसी प्रकार सर्वोत्तम भूमि ले लेते है। इसके अतिरिक्त पजाब का प्रयोग केवल अपखण्डन की समस्या को ही हल करता है, उसका उद्देश्य उपविभाजन रोकना नही है।

पजाब द्वारा दिखाये हुए मार्ग का अनुसरण कुछ अन्य राज्यो जैसे मध्यप्रदेश (नीचे देखिए) उत्तरप्रदेश आदि ने किया है। उत्तरप्रदेश मे पजाब के नमूने पर आधारित सहकारी चकबन्दी समितियो की सरक्षता में (जिनकी सख्या १९३९-४० में १८२ थी) ७७,६७२ पक्के बीघे भूमि की चकबन्दी की गई। पुनर्विभाजन के कारण खेतो की सख्या $\frac{1}{9}$ हिस्सा कम हो गई।[2] सन् १९३९ के चकबन्दी अधिनियम के पास होने पर इन समितियो का काम समाप्त नही हुआ। जैसा कि पजाब में है सहकारी चकबन्दी और कानून के अन्तर्गत की जाने वाली चकबन्दी साथ-साथ चल सकती है।[3] मद्रास ने मामूली शुरुआत की और सन् १९३९-४० में वहाँ २२ चकबन्दी समितियाँ थी, परन्तु प्रयास असफल रहा और प्रयोग छोड दिया गया।[4]

लगभग ७ ०७ लाख एकड भूमि की चकबन्दी सहकारी समितियों द्वारा की गई तथा चकबन्दी विभाग ने ३ ५ लाख एकड भूमि के चक बनाए।

१. चकबन्दी के लाभों तथा उसकी कठिनाइयों के लिए देखिए 'कन्सॉलिडेशन ऑफ़ लैण्ड होल्डिंग्स इन द पजाब, के० एम० बशीर अहमदखाँ, इण्डियन सोसाइटी ऑफ़ एग्रीकल्चर इकानामिक्स की पहली कान्फ्रेंस कार्यवाही (१९४०), पृ० ३८-४४।

२ उत्तर प्रदेश में १९४९-५० के अन्त में ४३८ सहकारी चकबन्दी समितिया थी। इनके द्वारा लगभग दो लाख एकड़ भूमि की चकबन्दी हो चुकी है।

३ सन् १९३९-४० में उत्तरप्रदेश में सहकारी समितियों के कार्य पर रजिस्ट्रार की रिपोर्ट, पैरा ४४; और इण्डियन को-आपरेटिव रिव्यू में अक्तूबर-दिसम्बर (१९३९) में बी० मुकर्जी का लेख, पृ० ५१९-२९।

४ रिजर्व बैंक के १९४६-४८ के रिव्यू के अनुसार मद्रास में २२ चकबन्दी समितिया हैं तथा इनके द्वारा

अनुज्ञात्मक विधान को लागू करके भी देखा गया है, परन्तु इसमें कई कमियाँ रह जाती हैं। बडौदा ने सन् १६२० में इस तरह का कानून बनाया, परन्तु वह कभी काम में नही लाया गया। चकबन्दी समितियो ने हितकर कार्य किये है (सन् १६३८-३६ में इनकी सख्या ७६ थी)।

मध्यप्रदेश में चकबन्दी का कार्य ध्यान देने योग्य है। उस प्रान्त में पजाब के समान सहकारी चकबन्दी समितियो के अलावा अनिवार्य चकबन्दी के लिए सन् १६-२८ में चकबन्दी अधिनियम पास किया गया। आरम्भ में यह अधिनियम केवल छत्तीस-गढ प्रदेश में ही लागू करने के लिए था। इस अधिनियम के अन्तर्गत गाँव के कम-से-कम आधे स्थायी भू-स्वामियो को, यदि उनके कब्जे में गांव की कम-से-कम दो-तिहाई भूमि है, चकबन्दी की योजना में सम्मिलित होने का अधिकार दिया गया है। स्वीकृत हो जाने पर यह योजना गाँव के स्थायी भू-स्वामियो तथा उनके उत्तराधिकारियो पर लागू होगी। कानून के पास हो जाने के बाद यह कार्य २४३६ गाँवो में किया गया और ५००,००० एकड से अधिक भूमि की, जो हजारो छोटी-छोटी जोतो में विभक्त थी, ४ आना प्रति एकड के व्यय पर चकबन्दी की गई। मध्य प्रदेश की सरकार का दावा है कि चकबन्दी के अनेक लाभ है—-उदाहरणार्थ समय और श्रम की बचत, अच्छे औजारो और फसलो का प्रवर्तन, अतिक्रमण के कारण हुए झगडो में कमी, कुल उत्पादन में वृद्धि, और अधिक कृषि-योग्य भूमि की प्राप्ति, आदि। यह भी कहा गया है कि चकबन्दी के अनुकूल प्रभावो को अच्छी तरह समझ लिये जाने पर अपखण्डन को दूर करने के लिए स्वस्थ एव ऐच्छिक कदम भी उठाये जाते हैं। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, इसी प्रकार का अधिनियम १६३६ में पजाब के लिए और १६३६ में उत्तर

चकबन्दी की हुई भूमि १४६३ एकड है।

इन्टरनेशनल लेबर आफिस, इण्डिया ब्रान्च न्यू दिल्ली से प्रकाशित 'रिसेन्ट-डिवेलपमेन्ट्स इन इण्डियन इकॉनामी, के अनुसार चकबन्दी सम्बन्धी आधुनिक प्रगति इस प्रकार है·

राज्य	तिथि	गावो की सख्या,	चकबन्दी की हुई भूमि
(१)	(२)	(३)	(४)
बम्बई	३०-४-१६५४ तक	८७८,	१२,८४,६६८ एकड़
मध्य प्रदेश	३१-६-५४ तक	३,०३३,	२६,६४,७३६"
पजाब (प्राप्त उत्तर की तारीख)	१२-७-५४	३,३५३,	२६,५३,२०८"
		(चकबन्दी विभाग)	(चकबन्दी विभाग)
		१८३	१,५४,४०२
		(सहकारी विभाग)	(सहकारी विभाग)
उत्तर प्रदेश १६४७ तक			एकड़
(चकबन्दी कानून १६४७ के अन्तर्गत)		७००४	४,६४,२६१
१६५२-५३			
(सहकारी समिति कानून के अन्तर्गत) समितिया		५६०	१,७१,६६६"
दिल्ली	३१-३-१६५४	१६६	१,६२,१८८,

प्रदेश[1] के लिए पास हुआ।[2]

पजाब के नहर उपनिवेशो में, स्वामित्व हस्तान्तरण पर रोक लगाकर और कुछ अनुदानो के मामले में केवल एक व्यक्ति को उत्तराधिकारी बनाकर उपविभाजन रोका गया है। परन्तु इससे कृषि के उपविभाजन को रोकने मे कोई सफलता नही मिली।

बडौदा में, सहकारी समितियो द्वारा किये गए ऐच्छिक कार्यो के अलावा, अपखण्डन को रोकने के लिए अन्य उपाय किये गए। इसका एक उदाहरण सन् १९३३ का कृषि जोत-अपखण्डन-निरोधक (प्रिवेन्शन आफ फ्रैगमेन्टेशन आफ एग्रीकल्चरल होल्डिंग्स एक्ट) अधिनियम है जो पडोसियो और साझीदारो को समीप की भूमि के खरीदने का अधिकार देता है। अन्य उपाय भू-राजस्व सहिता (लैण्ड रेवेन्यू कोड) के अन्तर्गत भू-राजस्व अधिकारियो (रेवेन्यू आफिसरो) तथा सम्पत्ति-विभाजन अधिनियम (पार्टीशन आफ प्रापर्टी एक्ट) को लागू करने के लिए दीवानी अदालतो द्वारा किये गए कार्य है, जो बडी-बडी जोतो को निश्चित सीमा से आगे विभक्त नही होने देते। आज तक की उन्नति बहुत धीमी रही है। मुसलमानो के लिए मिश्र की प्रथा प्रस्तावित की गई है। इस प्रथा के अनुसार भूमि समस्त उत्तराधिकारियो मे बाँट दी जाती है, परन्तु सबकी ओर मे कृषि-कार्य के लिए वह एक ही व्यक्ति को सौंप दी जाती है अथवा सभी उत्तराधिकारियो की ओर से प्रबन्ध करने के लिए किसी न्यासधारी (ट्रस्टी) को सौप दी जाती है। हिन्दुओ के लिए बिना विभाजन के ही पैतृक भूमि की संयुक्त खेती का समर्थन किया गया है।

जैसा कि बम्बई के अनुभव से देखा गया है केवल सरकार की ओर से अनार्थिक जोतो की स्वीकृति न देना ही पर्याप्त नही है। सयुक्त रिपोर्ट प्रस्तुत करने वालो ने, जिस पर बम्बई की रैय्यतवाडी प्रथा आधारित है, उपविभाजन की सम्भावना को पहले ही देख लिया था और वही भू-राजस्व सहिता के अनुच्छेद ९८ के समावेश के लिए उत्तरदायी थे। इस अनुच्छेद के अनुसार समय-समय पर निश्चित की हुई न्यूनतम सीमा से कम अनेक प्रकार की भूमि का कोई खतौनी नम्बर (सर्वे नम्बर) नही होता। भूमि के विभाजन को तथा भूमि अलग टुकडो में रखने को यह नही रोक सका। ऐसे विभाजनों को अदालतो द्वारा स्वीकार कर लिये जाने के कारण अनुच्छेद ९८ को रद्द करना पडा और आजकल 'अधिकारो के अभिलेख' (Records of Rights) द्वारा

---

१ पजाब तथा उत्तर प्रदेश में क्रमश १९४८ तथा १९५३ में चकबन्दी-सम्बन्धी नये एक्ट पास किये गए हैं। अतएव पुराने एक्ट अब रद्द हो गए हैं। उत्तर प्रदेश जोतों की चकबन्दी कानून १९५३ (यू० पी० कन्सॉलिडेशन ऑफ होल्डिंग्स एक्ट १९५३) १० अप्रैल, सन् १९५४ से लागू किया गया। इसके अनुसार जहाँ जोत का अधिक भाग होगा उस क्षेत्र में चक बनाने की यथासम्भव कोशिश की जायगी। इस कानून का उद्देश्य कम-से-कम कठिनाइयां द्वारा किसानों को अधिकतम लाभ पहुंचाना है।

२ भारत के अनेक प्रान्तों में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया द्वारा की गई चकबन्दी सम्बन्धी जाच की दिलचस्प समीक्षा के लिए, के० जी० अम्बेगवकर आई० सी० एस० का 'कन्सॉलिडेशन ऑफ एग्रीकल्चरल होल्डिंग्स' लेख देखिए जो (१९४०) में इण्डियन सोसाइटी ऑफ एग्रीकल्चरल इकनॉमिक्स की पहली कान्फ्रेंस में पढा गया था, कार्यवाही पृ० २५,३५।

सूक्ष्मतम विभाजन को मान्यता दी जाती है।

१. सन् १९२७ का बम्बई का स्वल्प जोत-बिल (स्मॉल होल्डिंग्स बिल)—अक्तूबर १९२७ में यह बिल बम्बई विधान परिषद में माननीय सर चुन्नीलाल मेहता द्वारा पेश किया गया। बिल के प्रथम भाग में स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार एक मानक-इकाई निश्चित करने की व्यवस्था की गई थी—यानी भूमि का ऐसा छोटे-से-छोटा आकार निश्चित कर देना, जिस पर अलग से खेती करके लाभ उठाया जा सकता हो। मानक इकाई से छोटे खेतों को खेत-खण्ड-मात्र घोषित कर देने की व्यवस्था की गई। बिल का उद्देश्य यह था कि पुराने खण्डों का और उपविभाजन न हो तथा और नये खण्ड न बनते जायें और चकबन्दी को बढ़ावा मिले। दूसरे भाग का उद्देश्य अधिक लाभ के लिए वर्तमान खण्डों की चकबन्दी करना था।

बिल में कुछ हद तक अनिवार्यता भी थी। किन्तु स्टैनले जेवन्स के शब्दों में "यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और विलक्षण समाजशास्त्रीय तथ्य है कि स्वामित्व और भूमि के प्रयोग को व्यवस्थित करने वाले कानून और रिवाज समाज की किसी अन्य विशेषता की अपेक्षा अधिक स्थायी होते हैं और इसलिए उन्हें कानून की अजेय शक्ति के अतिरिक्त किसी और ऊपरी कार्यवाही से बदलना बहुत कठिन है।"[1]

इस सम्बन्ध में दूसरी आलोचना यह थी कि बिल में पैतृक सम्पत्ति-सम्बन्धी और भारतीय पारिवारिक जीवन के आधारभूत सिद्धान्तों का प्रतिषेध किया गया है। पर यह बात ध्यान देने की है कि बिल ने 'विभाजन की रीति बदलने का प्रयत्न किया था, न कि विभाजन के आधारभूत कानून को'। कुछ भी हो, आखिरकार कानून मनुष्य द्वारा ही बनाए जाते हैं और उनमें दोष तथा हानिकर सम्भावनाएँ पाई जाने पर बदल देना ही बुद्धिमानी है।

पर सबसे व्यापक आलोचना यह थी कि बिल के पास होने पर बहुतों की भूमि छिन जायगी और इस प्रकार एक भूमिहीन सर्वहारा वर्ग का जन्म होगा। यह अनुमान था कि किसानों की वर्तमान औसत जोत की तुलना में मानक-जोत बहुत बड़ी होगी। बिल में केवल 'फायदेमद जोत' बनाने का विचार किया गया था, 'आर्थिक' जोत का नहीं। निम्नतम मानक-जोत की परिभाषा लाभदायक कृषि के लिए कम-से-कम अनिवार्य जोत के रूप में की गई थी, आर्थिक जोत के रूप में नहीं। इस प्रकार की लाभदायक जोत आर्थिक जोत से कहीं छोटी होगी।

यह मानकर चलें कि मानक इकाई एक उचित आकार के बराबर रखी जायगी तो नये कानून के अन्तर्गत जिन लोगों को जमीन पट्टे या विक्रय द्वारा छोड़नी पड़ेगी। वे वही व्यक्ति होंगे जिनकी जोतें इतनी होंगी कि सम्भवतया वे उसी के सहारे जीवित नहीं रह सकते और इस प्रकार वे सम्पूर्ण समय के लिए कृषक भी नहीं हैं। ऐसे लोगों के छोटे खेत हानिप्रद थे, उनके मालिक मुख्य जीविका पर पूरा ध्यान नहीं दे सकते थे। ऐसी परिस्थितियों में भू-स्वामी के लिए यह अच्छा होगा कि वे अपनी भूमि को लगान पर दे दें और वे भूमि से कुछ-न-कुछ लाभ प्राप्त करते हुए मालिक बने रहें और

१ अक्तूबर १९२७ में बम्बई विधान परिषद के विवाद में सर चुनीलाल मेहता द्वारा उद्धृत।

स्वय खेती करने में अपना समय बरबाद न करें और नुक्सान न उठाएँ।[1]

बिल के आलोचको ने इस सम्भाव्यता पर ध्यान नही दिया कि यह उपविभाजन को रोकेगा और अनेक दशाओ में भूमि के हाथ से निकल जाने का प्रश्न ही नही उठेगा।

यह बिल प्रवर-समिति (सिलेक्ट कमेटी) को भी सौंपा गया, जिसने मई १९२८ में अपनी रिपोर्ट दी और उसमे छोटे-मोटे सुधार करके उसे स्वीकार्य बना दिया। परन्तु परिषद के बाहर और भीतर तीव्र और दृढतापूर्वक विरोध होने पर इसे अनिश्चित काल तक के लिए स्थगित कर देना पडा।[2]

कृषि-आयोग ने चेतावनी दी थी कि दवाव का तत्त्व कुछ हद तक अनिवार्य हो सकता है, परन्तु इसका अर्थ यह न समझ लेना चाहिए कि हम लोगो की इच्छाओ का पूरी तरह ध्यान रखना जरूरी नही समझते। हमें दवाव को तो अन्तिम उपाय की तरह अलग रखना चाहिए और इसका प्रयोग बहुमत के लाभ के लिए उस समय करना चाहिए जब कि हठी अल्पमत उसमें बाधक हो। सरकार को प्रचार-कार्य करना चाहिए और कठिनाइयो को अकर्मण्यता का बहाना न बन जाने देना चाहिए। जहाँ चकबन्दी अनुज्ञात्मक कानून के रूप में लागू की गई हो वहाँ उसके पक्ष में सरकार को धीरे-धीरे कार्य करना चाहिए। कानून के अन्तर्गत विशेष क्षेत्रो को चुन लेना चाहिए और दवाव डालने वाला कोई उपाय अपनाने से पूर्व भू-स्वामियो के मत के सम्बन्ध में पूरी जाँच कर लेनी चाहिए।[3]

कृषि की आर्थिक इकाइयाँ बनाना बहुत ही महत्त्वपूर्ण और मूलभूत सुधार है। इसमें असफल होने पर, जनता की गरीबी को दूर करने के लिए अब तक जो-कुछ प्रयत्न किया गया है वह व्यर्थ हो जायगा। जैसा कि ऊपर सकेत किया गया है, इस प्रश्न पर राजकीय कृषि आयोग तथा अन्य राज्यीय सरकारो का रुख बडा ही अस्थिर और कमज़ोर रहा है।[4] यह स्मरण रखना चाहिए कि इसका हल ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था के आमूल परिवर्तन में है और इस समस्या को दूरदर्शिता और साहस से हल करने की आवश्यकता है। हाल ही के युद्ध और युद्धोत्तरकालीन अनुभव ने यह सिद्ध किया है कि

---

१. बम्बई स्वल्प जोत बिल पर एफ० जी० एच० एण्टरमन की पुस्तिका।

२. सन् १९४७ में बम्बई प्रान्त में एक नया चकबन्दी अधिनियम (द बॉम्बे प्रिवेन्शन आफ फ्रेगमेन्टेशन एड कन्सालिडेशन आफ होल्डिंग्स एक्ट) बनाया गया जिसमें सन् १९५३ में सशोधन हुआ है। यह अधिनियम ८ अप्रैल, १९४८ से लागू किया गया। जुलाई १९५३ तक सरकार ने १८१० गावों में चकबन्दी करने का नोटिस दे दिया था। ७६७ गाँवों में चकबन्दी की योजनाएँ पूरी हो गई हैं तथा २७३,५७५ जोतों की सख्या घटकर १४२,०७९ रह गई है। बम्बई की सरकार २३,००० गावो में से प्रति वर्ष १५०० गावों में चकबन्दी करके १४ वर्षों में उसे पूरा करना चाहती है।

३. कृषि आयोग रिपोर्ट, पैरा १२७।

४. अकाल जाच उद्योग ने भी इसी प्रकार की अस्थिरता दिखाई है। एक ओर तो वे पैतृक सम्पत्ति के कानूनों में दखल देने के विरोधी हैं, दूसरी ओर उनका विचार है कि अपखण्डन को फैलने से रोकने के लिए अधिकारों के अनियन्त्रित हस्तान्तरण पर रोक लगाना आवश्यक एव वाञ्छनीय है। केवल एक सदस्य, सर मनीलाल नानावटी को अपने निश्चय पर दृढ विश्वास था और उन्होंने औसत दर्जे की अविभाज्य जोत बनाने की सिफ़ारिश की। अन्तिम वार्षिक रिपोर्ट पृ० २५९, ९५।

भारतीय जनता बहुत बडी सीमा तक कठोर वर्गीकरण और नियमन स्वीकार कर सकती है। इसलिए इसे स्वीकार करने के लिए कोई दृढ आधार नही है कि शुरू में कुछ अज्ञान और विवेकशून्य भय से जनित विरोध के बाद वे शान्त न हो जायेंगे और अन्ततोगत्वा उन सुधारो का स्वागत नही करेंगे, जो उनके स्थायी आर्थिक कल्याण का अनिवार्य ठोस आधार बनेंगे। इस सम्बन्ध मे 'पावर्टी एण्ड सोशल चेन्ज' नामक नई पुस्तिका[1] की चर्चा की जा सकती है जिसमें लेखक ने एक ऐसी पद्धति का सकेत किया है जिसके अन्तर्गत सारे गाँव की भूमि सयुक्त प्रबन्ध और कृषि के लिए ले ली जायगी, तथा भूमि के समस्त वर्तमान अधिकार और पैतृक सम्पत्ति के मान्य तथा चिर-आदृत नियम सुरक्षित रहेगे। श्री त्रिलोकसिह का कहना है कि उनकी योजना जनतन्त्रात्मक है और शान्तिमय परिवर्तन का मार्ग दिखाती है। इस प्रकार यह रूस की योजना से कही अच्छी है जिसके अधीन परम्परा से पूरी तरह नाता तोड और समस्त भूमिगत अधिकारो का अपाकरण करके तुरन्त ही समष्टि की सत्ता की प्रतिष्ठा करने का विधान है। लेखक का यह विश्वास है कि इन आधारो पर पुन सगठित कृषि-व्यवस्था मे गाँव आधुनिक औद्योगिक ढाँचे के आधार का काम कर सकेंगे ताकि कृषि और औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था में लाभदायक समन्वय सम्भव हो सकेगा और गाँवो की जनता औद्योगीकरण में अधिक भाग ले सकेगी और इससे प्रत्यक्ष और ठोस लाभ उठा सकेगी। यह स्वीकार किया गया है कि इस योजना के अनुसार कृषि के सगठन से गाँव की अधिकाश जनता (लेखक का अनुमान १ करोड ५५ लाख का है) बेकार हो जायगी, परन्तु साथ ही उद्योगो का आयोजित विकास होने पर कृषि से बेरोज़गार हुई अतिरिक्त जनसख्या बडी आसानी से खप जायगी। श्री त्रिलोकसिह का कहना है कि उनकी योजना के मूल विचार पजाब में ज़िला-अधिकारी के रूप में किये गए अनुभवो के परिणामस्वरूप ६ या ७ वर्षो में निखरे है। उनका यह भी कहना है कि प्रत्येक विचार के किसानो से विचार-विमर्श करके परीक्षा कर ली गई है तथा उनके कई व्यावहारिक सुझाव स्वय ग्रामीणो के ही है। यह सब होते हुए भी यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि ऐसी योजना का पर्याप्त विरोध होगा। परन्तु जब तक साहस और दृढ विश्वास के साथ ऐसे उपाय नही अपनाए जाते तब तक भारतीय कृषि सदैव अवसन्न दशा में रहेगी तथा ग्रामीण निर्धनता की समस्या हल न हो सकेगी।

स्थायी सुधार

१० स्थायी सुधारों का अभाव और इसके परिणाम—भारतीय और पश्चिमी देशो के बीच एक मुख्य अन्तर यह है कि भारत में भूमि के स्थायी सुधारो का एकदम अभाव है। दक्षिण बम्बई की परिस्थितियो के सम्बन्ध में जो भारत के अन्य भागो पर भी न्यूनाधिक रूप से लागू होती है, कीटिंग का कहना है कि "पश्चिमी भागो में छोटे-छोटे स्वामियो द्वारा पहाडी हिस्सो में बडे परिश्रम के साथ कृषि-योग्य पट्टियाँ बना ली गई है। यत्र-तत्र किसी अच्छे टुकडे में सिंचाई के कुएँ तथा घर भी

१ लेखक त्रिलोकसिंह, १९४५।

मिलेंगे, परन्तु अधिकाश भाग में मनुष्य का कोई हाथ नही रहता है। खेत बिना सीचे, विना बाढ और बांध के अरक्षित पडे रहते है और वे मनुष्यों या पशुओ को कोई आश्रय नही दे सकते।[1] सही वाडो के न होने से सुअरो, भटकते हुए पशुओ और चोरो को मनमानी करने का मौका मिल जाता है। मेडो को लेकर बहुत-से झगडे होते है तथा फसल की रखवाली करने और पशुओं को इकट्ठा करने में बहुत श्रम करना पडता है। वायुवेग को कम करने वाले साधनो के अभाव में कपास जैसी फसलो को निर्बाध और तेजी से चलने वाली हवाओ से कुछ कम हानि नही होती। यद्यपि सहकारी एव व्यक्तिगत आधार पर वाडें डालने का प्रयत्न किया गया है तथापि इस सम्बन्ध में अभी बहुत-कुछ करना शेप है। खेतो की मेडबन्दी का भी एकदम अभाव है। इसका फल यह होता है कि जमीन कटने और खुरने लगती है तथा किसानो को ऐसी बहुत-सी हानियाँ पहुँचती है। जिन्हे रोका जा सकता है। इसके अतिरिक्त जमीन को भली प्रकार समतल नही बनाया जाता कि पानी का शोषण सर्वत्र एक-सा हो। इस सम्बन्ध मे नालियो का भी कोई उचित प्रबन्ध नही है। इससे पानी एक जगह जमा हो जाता है और यदि उसके निकास के लिए कोई नाली होती भी है तो वह दूसरो की भूमि से होकर जाती है और उसका नुकसान करती है। उदाहरण के लिए जमुना के बाईं ओर हजारो एकड बहुमूल्य भूमि खाई-खड्डो के जाल-से बन जाने के कारण बेकार हो गई है और हजारो गाँव जो उपजाऊ भूमि से घिरे हुए थे, अब बेकार खाइयो से घिरे हुए है।[2] सतह की नालियो का उचित नियन्त्रण इन हानियो का निवारण कर देगा, फसलो की पैदावार बढाएगा और सोतो की सतह को उठाकर कुओ को बारहो महीने चालू बनाए रखेगा।[3]

आवश्यक पैमानो पर खेतो की मेडबन्दी और वाडा लगाने का प्रबन्ध किसानकी शक्ति के परे है। इस समस्या का समाधान भूमि-सुधार योजना से हो सकता है। यह भी आवश्यक है कि सरकार तकावी ऋण द्वारा किसानो की सहायता करे और विशेप रूप से प्रशिक्षित व्यक्तियो की नियुक्ति द्वारा टेक्निकल मामलो में पथ-प्रदर्शन करे। खेतो में इमारतो का अभाव भी एक गम्भीर दोष है, क्योकि निरीक्षण-कार्य कठिन हो जाता है और मनुष्य तथा पशु दोनो के लिए अधिक समय और श्रम की बरबादी होती है, पशुओ को अच्छी तरह नही रखा जा सकता और मनुष्यो के साथ उन्हे गाँवो में रखना बहुत ही बुरा है। गाँव से खेतो तक ले जाने में खाद की बहुत हानि होती है। खेतो पर आवश्यक इमारत आदि की व्यवस्था करने में अभी बहुत-सी कठिनाइयाँ है, जिन्हे दूर करने में कुछ समय लगेगा। एक कठिनाई यह है कि इमारत मे रहने से किसान के जान-माल की वैसी रक्षा नही हो सकेगी, जैसी कि अन्य किसानो के साथ गाँव मे रहने पर सम्भव है। दूसरी कठिनाई गाँव के पैतृक घर का मोह है जो उसके खेत पर रहने में बाधक है। तीसरी कठिनाई घर बदलने का व्यय है। चौथी कठिनाई किसान की जोत

१ पूर्व उद्धृत, पृ० १०७।

२ देखिए, डॉ० क्लाउस्टन का मेमोरेन्डम, कृषि आयोग रिपोर्ट, साक्ष्य खण्ड १, पृ० १२।

३ देखिए, हॉवर्ड, क्रॉप प्रोडक्शन इन इण्डिया, पृ० १४।

का छोटे छोटे टुकडो में अनेक जगह बिखरा होना है। अन्तिम कठिनाई यह है कि गाँव में रहने पर किसान पचायती कुओ से पीने के पानी की सुविधा प्राप्त कर सकता है, परन्तु खेत पर घर बनाने पर उसे निजी कुआँ खोदना पडेगा। पर खेतो में घर बनाकर रहने से किसानो को जो अपार लाभ है उन्हे देखते हुए हमें इन कठिनाइयों को अवश्य ही दूर करना चाहिए।

सिचाई

११ आवश्यकता और महत्त्व[1]—ऐसे अनेक कारण है जिनसे हमारी कृषि एकान्तत वर्षा पर निर्भर नही रह सकती तथा कृपक को सिंचाई-सम्बन्धी समुचित सुविधाएँ प्रदान करना जरूरी होता है। दक्षिणी पश्चिमी पजाब, राजपूताना आदि बहुत से भाग है जहाँ वर्षा नही होती, इसलिए सिंचाई के कृत्रिम साधनो के बिना वहाँ खेती असम्भव है। दूसरी बात यह है कि जहाँ वर्षा की इतनी कमी नही है वहाँ वर्षा अनिश्चित तथा दुर्वितरित है। दक्षिण के उत्तरी पठार ऐसे ही है जहाँ सदैव सूखा पडता है। तीसरी बात यह है कि चावल और ईख जैसी फसलें नियमित रूप से पर्याप्त पानी चाहती है जो कुछ अनुकूलतम स्थानो को छोडकर अन्यन्त्र असम्भव है। चौथी बात यह है कि आबादी के दबाव के कारण घनी खेती आवश्यक हो गई है, जो दूसरी फसल या जाडे की फसल को अनिवार्य बना देती है। इन फसलो को जाडे की वर्षा के अभाव में कृत्रिम सिंचाई की आवश्यकता होती है। अन्तिम बात यह है कि लगभग ८० प्रतिशत जनता कृषि पर निर्भर है और उनकी खुशहाली सिंचाई के आवश्यक साधनो के पर्याप्त होने या न होने पर ही निर्भर है। भारत में सिंचाई के लिए विशेषत तालाब और कुओ आदि साधनो का प्रयोग प्राचीन काल से होता आ रहा है। सिंचाई के सम्बन्ध में अग्रेजो की सच्ची देन नदियो के बेकार जल का उपयोग करने के लिए बनाई हुई नहरें है।

सिंचाई से अनेक लाभ है, जिसमें से मुख्य लाभ ये है . पैदावार की उन्नति, सूखे और सदिग्ध वर्षा वाले भागो में स्थायी और सफल कृषि का आरम्भ, अकाल और दुर्लभता से सुरक्षा, पजाब जैसे खेतिहार प्रदेशो में रेलो को लाभ और राज्य को प्रत्यक्ष आर्थिक लाभ आदि है।

१२. सिंचाई के साधनों का वर्गीकरण · १ सामान्य वर्गीकरण—भारत में सिंचाई के तीन प्रकार के साधन पाये जाते है १ कुएँ २. तालाब और ३ नहरें। नहरें भी तीन प्रकार की है १ बाढ के जल से बनी हुई नह, २ बारह महीने चलने वाली नहरें, ३. जलाशयो से निकली हुई नहरें।[2]

(१) कुएँ—भारत में कुआँ सिंचाई का एक समर्थ साधन रहा है और हमेशा रहेगा। कुल सिंचित क्षेत्र के २५ प्रतिशत भाग की सिंचाई कुएँ से होती है, यानी १३५

१ देखिए, १९२७-३० का ट्रीऐनियल रिव्यू ऑफ इरीगेशन, और डी० जी० हेरिस का इरीगेशन इन इण्डिया, पृ० १-४।

२ भारत में सिचाई के अन्य प्रयुक्त साधन बाढ की नदियों के पानी को थोडे समय के लिए बांध बनाकर रोकना तथा नदियों से ढेंकुल द्वारा सिचाई है। देखिए, इण्डिया इन १९३०-१, पृ० २२९।

लाख एकड भूमि की, और इन पर १०० करोड रुपया पूँजी परिव्यय है। सिचाई का यह तरीका बहुत ही उपयोगी है और नहर की सिंचाई से अच्छा है। कुआँ खोदना व्यक्तिगत कार्य है और उसके निर्माण के लिए तकावी ऋण देकर तथा इससे सुधरी हुई भूमि पर कोई अतिरिक्त-कर लगाकर सरकार भी उसे प्रोत्साहित करती है। आधुनिक ढंग के पाताल-तोड कुएँ और छोटे-छोटे निर्धारित प्रतिमान के बिजली-पम्पो के लगाने से कुओ की उपयोगिता और भी बढ गई है। ये सब सुधार कृषि-विभाग के इन्जीनियरी सेक्शन द्वारा किये जा रहे है। कुएँ की सिंचाई की सुविधाएँ बढाने के लिए सभी राज्यो में प्रचुर सम्भावनाएँ है। जिन स्थानो में व्यक्तिगत जोत बहुत छोटी है, वहाँ पर सहकारी समितियाँ कुआँ खोदने के लिए उत्तम अधिकरण सिद्ध हो सकती है। कृषि-आयोग ने किसानो द्वारा उचित फीस देने पर कुओ के निर्माण के लिए टेक्निकल सम्मति, तकावी ऋण, बोरिंग का सामान और कुशल श्रम आदि सहायता सरकार की ओर से दी जाने की सिफारिश की।[1] अकाल-जाँच-आयोग[2] ने यह सुझाव पेश किया कि सरकार को भूमि के नीचे के पानी के सम्बन्ध में पूरी जानकारी प्राप्त करनी और प्रकाशित करनी चाहिए। कुआँ खोदने के बारे मे ग्रामीणो को सलाह और सहायता देने के लिए विशेष अधिकारियो की नियुक्ति करनी चाहिए।[3]

(२) **तालाब**—प्राचीन काल से तालाब भारतीय कृषि-व्यवस्था के विशेष अग रहे है। पजाब में ये लगभग अज्ञात है। मद्रास में ये सबसे अधिक उन्नत है। यहाँ पर लगभग ३५००० से ऊपर छोटे-मोटे तालाब है जो २५ से ३० लाख एकड भूमि की सिंचाई करते है।[4] बहुत से पुराने तालाब मिट्टी से इस तरह भर गए है कि उनकी मरम्मत भी नही की जा सकती। विशेषकर ऐसे स्थानो में जहाँ पर नहरो द्वारा सिंचाई असम्भव अथवा अनुपयुक्त है, सिंचाई के पुराने साधनो को ठीक करने के लिए सरकार और जनता दोनो की ओर से अथक प्रयास किये जाने की आवश्यकता है। व्यक्तिगत सिंचाई के साधनो की उचित सुरक्षा के लिए पास किये कानूनो को सख्ती से लागू किया जाना चाहिए।

(३) **नहरें**—नहरें भारत में सिंचाई का सबसे महत्त्वपूर्ण साधन है तथा विशेष रूप से सरकार ने इसको उत्साहित भी किया है। नहरो के दो भेद हो सकते है एक तो वे नहरें जो जल के लिए बारहो महीने नदियो से मिलने वाले प्राकृतिक जल पर निर्भर रहती है और दूसरी जल के कृत्रिम भण्डार से युक्त नहरें। पहले प्रकार की नहरो का विकास खासकर हिमालय पर्वत से निकलने तथा बारहो महीने बहने वाली नदियो के क्षेत्र में हुआ है। पहाड़ो की बरफ गरमी के दिनो में एक अक्षय भण्डार का काम करती है। किसी हद तक मद्रास की भी यही दशा है जहाँ पर जाडे की वर्षा

१ कृषि आयोग रिपोर्ट, पैरा २७४-२८०।

२ फ़ाइनल रिपोर्ट, पृ० ३६२।

३. सन् १९४६-४७ से केन्द्रीय भूमि-जल सगठन (सेन्ट्रल ग्राउण्ट वाटर आर्गनाईजेशन) पानी के साधनों की खोज का कार्य कर रहा है। सन् १९४९-५० तक कुँओं द्वारा सींचा हुआ कुल क्षेत्र १,२८,८१,००० एकड था।

४ सन् १९४९-५० में सम्पूर्ण भारत में तालाबों से सिंचित क्षेत्र ८१,७४,००० एकड था।

बम्बई से अधिक होती है। दूसरे प्रकार की नहरें मद्रास प्रान्त, दक्षिण, मध्यप्रदेश और बुन्देलखण्ड में पाई जाती है। दक्षिण भारत की नदियाँ बरसात मे बडे वेग से वहती हैं और गरमी के दिनो में सूख जाती है। इसलिए कृत्रिम जल-भण्डार की आवश्यकता पडती है।

पहले प्रकार की नहरो का विभाजन दो भागो में किया जा सकता है—(क) (बाढ के जल से भर जाने वाली) बरसाती नहरें और (ख) (वारहो महीने वहने वाली) बारहमासी नहरें।

(क) बरसाती नहरें बिना किसी बाँध के सीधी नदियो से ही निकाली जाती है। जब तक नदियो में बाढ न आ जाय और एक खास सतह तक पानी न पहुँच जाय तब तक इन नहरो को पानी नही मिलता। सिन्ध और पजाब की भूमि की सिंचाई सतलुज और सिन्ध नदियो की इसी प्रकार की नहरो द्वारा होती है। सिन्ध में बहुत सी बरसाती नहरें है। प्राकृतिक बाढ की सतह पर निर्भर रहने के कारण और जल की सतह नीची हो जाने पर उन्हे कम जल प्राप्त होता है, यद्यपि बाढ के अधिक और बहुत दिनो तक रहने पर दूर-दूर तक सिंचाई होना सम्भव है। इस प्रकार सिंचाई जून से सितम्बर तक सीमित है और वर्षा के अन्तिम भाग में कुओ के बगैर सिंचाई असम्भव हो जाती है। सिन्ध नदी का सक्खर बाँध जो १९३२ में बनाया गया, विश्व में अपनी तरह का सबसे बडा बाँध है। सिन्ध नदी के आर-पार बाँध बनाकर यह उपर्युक्त कमियो को दूर करता है। इससे नहरो को साल-भर तक सिंचाई के लिए पर्याप्त जल मिल सकता है। इस प्रकार का काम पजाब में भी किया जा रहा है, इसमें देर होने का कारण इस पर होने वाला भारी व्यय है।

(ख) बारहमासी नहरें—जैसा कि ऊपर सकेत किया गया है बारहो महीने रहने वाली नहरें सदा बहने वाली नदियो पर बाँध बनाकर बनाई जाती है। नहरो के ज़रिये नदी के पानी को सिंचाई के क्षेत्रो में भेजा जाता है। इस प्रकार नदियो के जल की सतह घटने-बढने से उन पर कोई असर नही होता। उत्तरप्रदेश और पजाब की सदा बहने वाली नहरें भी इसी वर्ग में आती है। सिन्ध और पजाब की बहुत सी बाढ वाली नहरो को बारहमासी नहरो में बदला जा रहा है।

बरसात के दिनो मे वर्षा के जल को एकत्र करने के लिए घाटी के आर-पार जल-भण्डार बनाकर नहर बनाई जाती है। इस प्रकार एकत्र किया हुआ जल पडोस के क्षेत्रो मे नहरो द्वारा भेजा जाता है। भारत में प्राचीन काल से बरसात के दिनो में जल एकत्र करने की प्रथा चली आ रही है। ऐसी नहरो का निर्माण दक्षिण, मध्य-प्रदेश और बुन्देलखण्ड में हुआ है।

२ **सरकारी सिंचाई-कार्यों का वर्गीकरण**—सरकारी सिंचाई-कार्यो के निर्माण के लिए किस सूत्र से पूजी मिली, इसका निर्देश करने के लिए इनका वर्गीकरण सन् १९२१ तक इस प्रकार किया जाता था—(१) प्रतिफलात्मक (२) रक्षात्मक (३) अप्रधान।

(१) **प्रतिफलात्मक निर्माण-कार्य**—इन साधनो के बन जाने के १० वर्ष बाद

इनसे इतनी वास्तविक आय की आशा की जाती है कि लगाई हुई पूँजी का वार्षिक व्याज निकल आए। इस प्रकार के कार्य अधिकतर उत्तर भारत और मद्रास मे किये गए है। इनमें लगी हुई पूँजी सन् १९३८-३९ के अन्त तक ११४ करोड रुपया और वास्तविक आय ८ करोड ६७ लाख रुपया थी, अर्थात् ७ ६१ प्रतिशत का लाभ हुआ। सरकारी सिचाई-कार्यों के अधीन सीचे गए क्षेत्रो में सबसे अधिक वढोतरी उन क्षेत्रो में हुई जहाँ सिंचाई के प्रतिफलात्मक साधन है। इनसे १८७८-७९ मे ४५ लाख एकड भूमि सींची जाती थी तथा १९२९-३० में २३५,०५, ६५७ एकड। १९३८-१९३९ में यह क्षेत्र वढकर २,४७,०९,१२० एकड हो गया।[1]

(२) **सिंचाई के सुरक्षात्मक कार्य**—इनसे किसी प्रत्यक्ष धन-लाभ की आशा नही की जाती थी, परन्तु इनका काम सन्दिग्ध या कम वर्षा वाले क्षेत्रो में अकाल से रक्षा करना था। ये कार्य अकाल में जनता की सहायता के लिए समय-समय पर किये जाने वाले खर्च को वचाते है। इस प्रकार के कार्यो की लागत सरकार की चालू आय से दी जाती है तथा अकाल-पीडितो की सहायता और वीमे के लिए अलग रखे हुए अनुदानो से पूरी की जाती है। यद्यपि इनसे प्रत्यक्षत कोई धन-लाभ नही और प्राय. इनसे हानि ही होती है तथापि दीर्घकाल में ये बचत के साधन प्रमाणित होगे, क्योकि ये नाजुक हालत वाले क्षेत्रो को आर्थिक स्थिरता प्रदान करते है। सन् १९३८-३९ में इनसे सिंचित हुआ क्षेत्र २८,८४,२५९ एकड था और साल के अन्त में कुल निविष्ट पूँजी ३८ करोड ७९ लाख रुपये थी।

(३) **सिंचाई के अप्रधान कार्य**—इसके अन्तर्गत विविध प्रकार के कार्य थे, विशेषकर ब्रिटिश शासन के पूर्व के तालाब और कुछ छोटे-मोटे ब्रिटिश काल के कार्य आदि। पूँजी या आय का लेखा रखने या न रखने के आधार पर इनमें अन्तर किया जाता था, यद्यपि इनका अर्थ-प्रवन्धन चालू आय से ही होता था।

सन् १९२१ के वाद, यह पुराना वर्गीकरण वदल दिया गया है और अव ऋण-कोप से सार्वजनिक उपयोगिता वाले किसी भी कार्य का अर्थ-प्रवन्ध किया जा सकता है। रक्षात्मक और प्रतिफलात्मक कार्यो का वर्ग समाप्त कर दिया गया है तथा सिंचाई के सभी छोटे-वडे कार्यो का, जिनका पूँजी-लेखा रखा जाता है, अव दो शीर्पो के अन्तर्गत वर्गीकरण कर दिया गया है। (१) प्रतिफलात्मक और (२) अप्रतिफलात्मक। एक तीसरा वर्ग भी है जिसमें ऐसे क्षेत्र आते है जिनके लिए कोई पूँजी-लेखा नही रखा जाता।

१२. विस्तार, विकास और राजस्व—सन् १९२७-२८ में सम्पूर्ण साधनो से सीचे जाने वाला समस्त क्षेत्र ४६० लाख एकड तथा सन् १९३९-४० में ६०० लाख एकड था। दोनो फसलो पर सीचे जाने वाले क्षेत्र को घटाकर १९२७-२८ में वास्तविक सीचा हुआ क्षेत्र ४३२ लाख एकड था जवकि १९३९-४० में इसका विस्तार ५५० लाख

१. सन् १९४९-५० के अन्त में कुल विनियोजित पूँजी ५१,०९,५२,६०५ रु० थी तथा वास्तविक आय ३,४३,९९,९३१, रु० थी जो विनियोजित पूँजी का ६ ७३ प्रतिशत थी। इस वर्ष इन साधनों (उत्पादक साधनों, से सिंचित भूमि का क्षेत्रफल १५, ३६२,७४८ एकड़ था।

एकड था। इसमें नहर से सींचा जाने वाला क्षेत्र २९० लाख एकड, तालाब से ६० लाख, कुएँ से १३० लाख तथा अन्य साधनो से सींचा जाने वाला क्षेत्र ७० लाख एकड था।[1] कुल सींचे हुए क्षेत्र में १९० लाख एकड में चावल, १३० लाख एकड मे गेहूँ, जौ, ज्वार, बाजरा और मक्का मिलाकर ७० लाख एकड में, अन्य खाद्यान्न और दालें लगभग ७० लाख एकड में और ईख तथा अन्य फसले २० लाख एकड क्षेत्र में फैली हुई थी। कपास का क्षेत्रफल ४० लाख एकड तथा अन्य फसलो (अखाद्य) का क्षेत्रफल ६० लाख एकड[2] था।[3] गत ६० वर्षो मे सरकारी साधनो द्वारा सींचे हुए क्षेत्र मे अधिक वृद्धि हुई है। सन् १८७८-७९ में वार्षिक सींचा हुआ क्षेत्र १०५ लाख एकड था जो इस शताब्दी के आरम्भ में १९२ ५ लाख एकड और १९१९-२० में २८१ लाख एकड हो गया। उस वर्ष तक क्षेत्र-विस्तार के आँकडे इससे ऊपर कभी नही गए थे। यह रिकार्ड १९२९-३० में तोड दिया गया जबकि ब्रिटिश भारत में सिंचाई के सरकारी साधनो से सींचा हुआ क्षेत्र ३१६ १ लाख एकड हो गया[4] और पुन १९३७-३८ में सरकारी साधनो द्वारा हर प्रकार की सींची हुई भूमि ३२८ १ लाख एकड हो गई जो भारत में फसलो के कुल क्षेत्र का १२ ७ प्रतिशत थी। सन् १९४१-४२ मे सरकारी साधनो द्वारा सींची हुई भूमि ३४० लाख एकड थी जो बोये हुए क्षेत्र का १३ प्रतिशत थी। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, प्रतिफलात्मक साधनो मे ही मुख्य वृद्धि हुई है जिनसे १८७८-९ में ४५ लाख एकड भूमि सींची गई, १९००-१ मे १०५ लाख एकड, १९२७-२८ में १९१ ५ लाख एकड, १९२९-३० मे २३५ ० लाख एकड और १९४१-४२ में २६० लाख एकड भूमि सींची गई।[5] प्रमुख नहरो तथा उनकी शाखाओ और सहायक नहरो की कुल लम्बाई १९३८-३९ में लगभग ७४,३४१ मील थी। १९००-१ में यह लम्बाई कुल ३९,१४२ मील थी।[6] उसी वर्ष सरकारी सिंचाई के साधनो से सींची गई भूमि की फसल का मूल्य १०९ ३५ करोड रुपये था।[7] सन् १९४१-४२ के अन्त में प्रतिफलात्मक सिंचाई-कार्यो में लगाई हुई पूँजी १०३ करोड रुपये थी जो

१. सन् १९४९-५० में सिंचाई का कुल वास्तविक क्षेत्र ४८६,५२,००० एकड़ था। इसमें से १९९५१,००० एकड़ भूमि सरकारी नहरों से, २८५६,००० एकड़ निजी नहरों से, ८१७४००० एकड़ तालाबों से, १२८,८१,००० एकड़ कुओं से तथा ७७८०,००० एकड़ अन्य साधनों से सींची गई थी।

२ एग्रीकल्चरल स्टैटिस्टिक्स (ब्रिटिश इण्डिया) सन् १९३९-४०, पृ० १।

३ सन् १९४९-५० में सींचे हुए क्षेत्रफल में २३७८२,००० एकड चावल, ७४४३,००० एकड़ गेहूँ, ६०८८,००० एकड़ जौ, ज्वार, बाजरा और मक्का, ५०७८,००० एकड़ अन्य खाद्यान्न और दालें, ४८९६,००० एकड़ ईख तथा अन्य खाद्य फ़सलों में बँटा था। कपास का क्षेत्रफल ८९३,००० एकड़ तथा अन्य खाद्येतर फ़सलों का क्षेत्रफल ३६०५,२०० एकड़ था।

४ हैरिम देखिए, पूर्व उद्धृत पृ० ८-९, और इण्डियन ईअर बुक १९३५, पृ०३१८-२० और स्टैटिस्टिकल एब्स्ट्रैक्ट फ़ार ब्रिटिश इण्डिया (१९३८-३९), तालिका न० १९३।

५ सन् १९४९-५० में सरकारी साधनों द्वारा सींचा हुआ क्षेत्र १८,९९७,३६३ एकड़ था। कुल क्षेत्र का यह सकोच भारत के विभाजन का परिणाम है।

६ सन् १९४९-५० में इनकी कुल लम्बाई ६४,४२७ मील था।

७. सन् १९४९-५० में सींची हुई भूमि की फसलों का मूल्य ३०१,९९,३९,८०६ रु० था। (१९४९-५० ये आंकड़े पूर्ण नहीं हैं।)—स्टैटिस्टिकल एब्स्ट्रैक्ट, इण्डिया, १९५१-५२, पृ० ५४२।

१९००-१ में ४२·२ करोड रु० थी। वास्तविक आय १० करोड ६६ लाख रु० थी अर्थात् पूँजी पर १० प्रतिशत लाभ हुआ। यह परिणाम सन्तोषजनक था क्योंकि कुल पूँजी में से ३८ करोड ७९ लाख रु० अप्रतिफलात्मक कार्यों में लगाया गया, जिसका लाभ अधिकाशत १ प्रतिशत से भी कम था। व्यक्तिगत सिंचाई के सावनो के लाभो मे वहुत विविधता है। दक्षिण भारत के कुछ सिंचाई के साधन १ या २ प्रतिशत लाभ देते है जवकि पंजाव में प्रतिफलात्मक कार्यो में लगाई हुई पूँजी पर अच्छा लाभ होता है—(८·४४ प्रतिशत १९४१-४२ मे) वम्वई मे ८ ४७ प्रतिशत, मद्रास में २.६७ प्रतिशत और उत्तर प्रदेश में ७ ४४ प्रतिशत[1] लाभ मिलता है।[2] इन आँकडो पर विचार करते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि लगाई हुई पूँजी में उन कार्यों का भी व्यय शामिल है, जो अभी-अभी पूरे हुए है या अभी तक वन रहे है तथा आय के रूप में जिनसे कुछ भी प्राप्त नही होता। विभिन्न राज्यो में जल का प्रभार विभिन्न प्रकार से लगाया जाता है। उदाहरण के लिए मद्रास और वम्वई के कुछ भागो में सिंचित अथवा असिंचित भूमि के अनुसार मालगुजारी की दर निर्धारित होती है। सिंचित भूमि की मालगुजारी में सिंचाई का प्रभार भी शामिल रहता है। पर इन तरीको को अपवादस्वरूप माना जा सकता है। भारत के अधिकाश भागो में सिंचाई के लिए अलग से भुगतान करना पडता है। वास्तविक रूप में सीची गई भूमि को नापा जाता है और पैदा हुई फसल के अनुसार प्रति एकड कर लगाया जाता है। हर राज्य में कर की दरो में उगाई हुई फसलो के अनुसार वहुत अन्तर रहता है और वहुधा एक ही राज्य में विभिन्न नहरो से प्राप्त जल की दरें अलग-अलग होती है। इस प्रकार पजाव में[3] कर की दर ईख के लिए प्रति एकड ६ रु० से १२-४ रुपये तक है, चावल के लिए प्रति एकड ४-४

प्रान्त	सीची हुई भूमि का कुल वोई हुई भूमि से प्रतिशत	प्रान्त	कुल वोई हुई भूमि के प्रतिशत के रूप में
वगाल	० ७९	मद्रास	२१ १८
विहार	४ ०	उड़ीसा	८ ४३
वम्वई	१.९१	पजाव	३९ ५६
मध्यप्रदेश	३.०७	उत्तर प्रदेश	१६ ८४
		व्रिटिश भारत की कुल औसत	१६·२८

१ सन् १९४९-५० में प्रतिफलात्मक कार्यो की वास्तविक आय का प्रतिशत इस प्रकार था—वम्वई ६.४५, मद्रास ४ ४३, उत्तर प्रदेश ८.५६। स्टेटिस्टिकल एव्स्ट्रेक्ट, इण्डिया १९५१-५२, पंजाव के आकडे उपलब्ध नहीं थे।

२ इण्डिया इन १९३३-३४, पृ० ९९ स्टेटिस्टिकल एव्सट्रेक्ट फॉर व्रिटिश इण्डिया (१९३८-३९) तालिका न० १९२; और इण्डियन ईअर वुक १९४७-४८ पृ० ३३४।

३ पजाव में सिंचाई के कर अव इस प्रकार हैं. ईख ६ रु० प्रति एकड से ११ रु० १ आ० ८ पा० प्रति एकड़ तक, चावल ६ रु० ८ आ० प्रति एकड़ से ६ रु० ८ आ० १० पा० प्रति एकड़ तक, गेहूँ ४ रु० ४ आने प्रति एकड से ४ रु० ४ आ० ७ पाई प्रति एकड़ तक और ज्वार-वाजरा तथा दालों पर २ रु० ८ आ० से ३ रु० ४ आ० ५ पा० तक।—इण्डियन ईअर वुक १९५४।

रु० से ७-१२ रु० तक, गेहूँ के लिए ३-८ रु० से ५-८ रु० प्रति एकड, कपास के लिए प्रति एकड ४-८ से ६-८ रु० तक और ज्वार, बाजरे और दालो के लिए प्रति एकड २-४ रु० से ४-८ रु० तक हैं।[1]

१९३८-३९ मे जैसा कि ऊपर दी हुई तालिका से प्रकट है कि विभिन्न प्रान्तो की ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में सिंचाई की महत्ता अलग-अलग है।[2] यह भी देखा जायगा कि इस दृष्टि से पजाव, मद्रास, उत्तरप्रदेश और उडीसा अधिक उन्नत राज्य हैं। वम्बई और मध्यप्रदेश दोनो को सिंचाई की सुविधाओ की आवश्यकता है, इन राज्यो में सिंचाई का विकास वहुत कम हुआ है। हमें इन भागो में, जहाँ वर्षा की स्थिति वडी अनिश्चित और सदिग्ध होती है, फसलो को निश्चित करने के लिए सिंचाई-सम्वन्धी प्रगति और भी तेजी से करनी चाहिए।[3]

१४. सरकार की सिंचाई-नीति—ब्रिटिश सरकार को सिंचाई के वहुत से वर्तमान साधन अपने पूर्वाधिकारियो से प्राप्त हुए, जैसे उत्तर भारत की कुछ वरसाती नहरें, मद्रास प्रेजिडेन्सी के जलाशय और तालाव आदि। ब्रिटिश काल के आरम्भ में इनकी उपेक्षा की गई, जिसके फलस्वरूप इनमें से कुछ नष्ट हो गए। परन्तु गत शताब्दी के मध्य से सरकार की नीति में परिवर्तन हुआ। सरकार ने इन पुराने कार्यो की मरम्मत करनी शुरू की। परन्तु निजी गारण्टी वाली कम्पनियो को काम सौप देने के कारण प्रगति धीमी रही। इसके वाद सरकार ने एक नई नीति अपनाई और प्रतिफलात्मक सिंचाई-कार्यों के निर्माण के लिए आवश्यक ऋण लिये। इस नीति के अन्तर्गत पजाव और उत्तर प्रदेश में सिंचाई के वडे-वडे कार्यों का निर्माण हुआ। पजाव के नहर उपनिवेशों का सक्षिप्त वर्णन इस अध्याय के अन्त में दिया गया है।

सम्पूर्ण स्थिति को देखते हुए हम कह सकते है कि सिंचाई-कार्य की प्रगति वडी मन्द रही है। इसी वीच में सरकार की नीति में एक और महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। सरकार ने अकाल वाले क्षेत्रो में सिंचाई के रक्षात्मक साधनो के निर्माण के सम्वन्ध में अपना दायित्व समझा जिसके फलस्वरूप दक्षिण तथा अन्य भागो में भी इस दिशा में कदम उठाये गए।[4] अधिक लागत और किसानो द्वारा पानी की अनियमित माँग के

१ इण्डियन ईअर बुक (१९४५-४६), पृ० ३२६।

२ विभिन्न राज्यों में सिंचाई की महत्ता भिन्न-भिन्न है, जैसा कि सन् १९४९-५० के लिए नीचे दी हुई तालिका से प्रकट है

राज्य	कुल वोई हुई भूमि	सींची हुई भूमि
वगाल	१२,९७८ एकड़	२,२१३ एकड़
विहार	२२,६०७ ”	४,२८० ”
वम्बई	३४,४७३ ”	१,७६० ”
मध्यप्रदेश	३२,३०५ ”	१,६८६ ”
मद्रास	३५,७१६ ”	१०,०७० ”
उड़ीसा	७,४५१ ”	१,६०५ ”
पजाव	१३,३३७ ”	५,८४६ ”
उत्तरप्रदेश	३९,७८० ”	१०,८०३ ”

३ इण्डियन ईअर बुक (१९४७-८), पृ० ३३५।

४ सन् १८७७-८ के अकाल के वाद अकाल-सहायता तथा बीमा कोष (फेमीन रिलीफ एण्ड इन्शोरेन्स

कारण और कभी-कभी मानसून का कोप हो जाने के कारण सिंचाई के ये साधन लाभप्रद नही हुए। परिणाम यह हुआ कि सरकार पंजाब की नदियो से सम्बन्धित नहरो पर ही विशेष ध्यान देने लगी। गत शताब्दी के अन्त में भारत में जो अकाल पडे और जिनमें दक्षिण भारत की बहुत बुरी हालत हुई उनके फलस्वरूप लार्ड कर्जन ने १९०१ में सिंचाई आयोग की नियुक्ति की। इस आयोग का मत था कि अकाल से रक्षा करने में, रक्षात्मक सिंचाई के साधनो के साथ-ही-साथ रेलो के निर्माण ने, जिसकी सिफारिश १८८० के अकाल-आयोग ने की थी, उचित योग दिया है और अब खाद्य-सम्भरण में विकास करना आवश्यक और महत्त्वपूर्ण है। उनके अनुसार सिंचाई के लाभदायक साधनो का निर्माण के उपयुक्त क्षेत्र सिन्ध, पजाब तथा मद्रास के कुछ भाग ही थे जिनके अकाल से पीडित होने का इतना डर नही है। उन्होने सिफारिश की कि जहाँ तक सम्भव हो इन साधनो को बढाना चाहिए, क्योकि ये सरकार के लिए लाभदायक होगे और देश के कुल खाद्यान्न में वृद्धि करेंगे। अकाल-क्षेत्रो को बचाने के लिए उन्होने सिंचाई के रक्षात्मक साधनो के निर्माण की सिफारिश की जो प्रत्यक्षत लाभदायक नही होगे परन्तु अन्यथा अकाल-सहायता पर होने वाले बहुत बडे व्यय को बचा देंगे। तदनन्तर सिंचाई की सरकारी नीति का आधार ये सिफारिशें ही बन गईं जो सिंचाई की उपेक्षा करके रेलो पर ध्यान देने की प्राचीन नीति के प्रतिकूल थी और जिसकी आलोचना स्वर्गीय आर० सी० दत्त जैसे व्यक्तियो तक ने की थी। बहुत से नये कार्य भी आरम्भ किये गए और सिंचाई प्रतिफलात्मक तथा रक्षात्मक कार्यो पर पूँजी-परिव्यय अब पहले से दुगुना हो गया है जबकि सींचे हुए क्षेत्र में केवल ७० प्रतिशत की बढोतरी हुई है।

सन् १९१९ के सुधारो के अन्तर्गत सिंचाई प्रान्तीय विषय हो गया तथा प्रान्तीय सरकारो को वित्त और कार्यारम्भ-सम्बन्धी अधिक अधिकार मिल गए। केवल ५० लाख से अधिक लागत वाली योजनाओ के लिए ही सेक्रेटरी ऑफ स्टेट और भारत सरकार की स्वीकृति लेना आवश्यक था। कर्ज का प्रयोग अब केवल प्रतिफलात्मक कार्यो तक ही सीमित न रह गया था और यदि अकाल-सहायता के लिए आवश्यकता न हो तो प्रान्तीय अकाल बीमा अवदान (प्राविंशियल फेमीन इन्श्योरेन्स ग्राट) से और कार्यो के लिए भी रुपया सुलभ हो गया।

कृषि-आयोग द्वारा बम्बई सरकार ने भूमि को अकाल से बचाने के लिए प्राकृतिक साधनो की जाँच के लिए, १९२५ मे एक विशेष जाँच-अधिकारी की नियुक्त की थी जिसकी कृषि-आयोग ने बडी सराहना की तथा अन्य प्रान्तो को अनुसरण करने की सलाह दी। ऐसे सिंचाई के साधनों को बनाने और सुरक्षित रखने के लिए सहकारी सिंचाई-समितियो की स्थापना की जानी चाहिए और उन्हे सहायता दी जानी चाहिए।

फण्ट) के लिए प्रति वर्ष १५९ लाख रुपया अलग रखने का निश्चय किया गया। १९१० में सेक्रेटरी ऑफ स्टेट ने अकाल-सहायता-कोष (फेमीन रिलीफ फण्ट) से ७५ लाख रु० के अतिरिक्त २५ लाख रु० सालाना सहायता देने की स्वीकृति दी। परन्तु पूरा एक करोड रु० १९१४-१८ के युद्ध से पहले भी कभी पूर्ण रूप से काम में नहीं लाया गया और इस कारण अनुदान में कमी करना आवश्यक हो गया। इस अनुदान का कुछ भाग रक्षात्मक कार्यों पर व्यय करने के लिए था।

सिंचाई के अप्रधान साधनो का निर्माण, सुरक्षा और सुधार अभी इतना नही हुआ है जितना कि वाञ्छनीय है।[१] सन् १९३७ में प्रान्तो में लोकप्रिय मन्त्रिमण्डल वनने के वाद सिंचाई-सम्वन्धी कामो में द्रुत प्रगति के लक्षण दिखाई दिये।

सन् १९२२ से सिंचाई सम्वन्धी कार्यों में वडी तेजी से प्रगति हुई। ५० करोड रुपये की लागत से सिंचाई के महत्त्वपूर्ण साधनो का निर्माण हुआ। इससे सिंचाई अर्थात् अच्छी सिंचाई के अन्तर्गत १२० लाख एकड भूमि आ गई जो सन् १९०२-३ के सीचे हुए क्षेत्र से तिगुनी थी। विशेष महत्त्व वाले प्रधान कार्य ये थे—पजाव की सतलुज-घाटी योजना (जो १९३२-३३ के अन्त मे समाप्त हुई और जिसकी लागत उस समय तक ३३ करोड ३ लाख १० हजार रुपये थी) इससे ५०,००,००० एकड भूमि के सीचे जाने का अनुमान किया गया। सिन्ध में सक्खर (लायड) वाँध और अन्य नहरो से जो १९३२ में खोली गई तथा जिन पर २४ करोड रुपये की लागत लगी, ५५,००,०० एकड भूमि सीची जायगी, यह अनुमान किया गया था। मद्रास मे कावेरी जलाशय और मेट्टूर योजना (जिसका उद्घाटन अगस्त सन् १९३४ में किया गया) जिस पर ७ करोड ३७ लाख रुपये के खर्च का अनुमान था तथा इससे ३०,००,००० एकड की सिंचाई और खाद्य सम्भरण में १,५०,००० टन चावल की वृद्धि का अनुमान किया गया था। इस योजना में औद्योगिक कार्यो के लिए जल-विद्युत् का भी प्रवन्ध है। मिट्टूर के औद्योगिक केन्द्र वनाए जाने की काफी सम्भावनाएँ है। व्रम्वई में दो महत्त्वपूर्ण कार्य क्रमश १९२५ और २६ में पूरे किये गए। पहला, भण्डारदर वाँध, जो भारत मे सवसे ऊँचा (२७० फीट) है और दूसरा, भटगर के पास का लायड वाँध, जो विश्व में सवसे वडा है। उत्तरप्रदेश में शारदा-अवध नहर के सम्वन्ध में सन्तोपजनक प्रगति की गई है। १०,००,००० एकड से अधिक भूमि को सीचने के लिए सन् १९२८ के वसन्त में शारदा-नदी-सिंचाई-योजना औपचारिक रूप से कार्यान्वित की गई। मध्यप्रदेश में भी एक विस्तृत योजना वनाई गई है जिसे पूरा करने में १४ वर्प लगेंगे। पजाव में इमर्सन वाँध और उत्तरप्रदेश में गगा-नलकूप योजना हाल ही में पूरे हुए प्रधान कार्य है। सभी राज्यो में अनेक योजनाओ की जाँच-पडताल की जा रही है। हैदराबाद, मैसूर और ग्वालियर आदि में हाल ही में सिंचाई की महत्वपूर्ण योजनाएँ आरम्भ की गई है जिनमें से कुछ योजनाएँ पूरी भी हो गई है। व्रिटिश राज्य के समय में सिंचाई के कार्यो ने तत्कालीन देशी राज्यो को भी प्रभावित किया था। उदाहरणार्थ पजाब और राजपूताना में वहुत सी योजनाओ का अर्थ-प्रवन्ध देशी राज्य और प्रान्त मिलकर करते थे। सिंचाई की विचाराधीन समर्थ योजनाओ को ध्यान में रखें तथा वर्तमान योजनाओ के स्वाभाविक विस्तार की आशा रखें तो ५ करोड एकड भूमि की सिंचाई किसी भी प्रकार असम्भव नही समझी जा सकती।[२]

कृषि-आयोग ने सिफारिश की कि सिंचाई और कृषि-विभागो मे घनिष्ठतर सम्बन्ध रखे जायँ। सिंचाई-सम्बन्धी शिकायतो पर विचार करने के लिए स्थानीय

१ कृषि आयोग रिपोर्ट, पैरा ७७९।

२ इण्डिया इन १९३४-३५, पृ० २३-२४, और इण्डियन ईयर बुक (१९४१-४२) पृ० ३५५-५६।

सलाहकार समिति (रेलवे सलाहकार समिति के समान) बनाई जाय और दिल्ली में केन्द्रीय सिंचाई-सूचना-विभाग की स्थापना की सिफारिश की।[1] केन्द्रीय राजस्व परिषद् के आवश्यक अग के रूप में केन्द्रीय सिंचाई सूचना विभाग की स्थापना करके मई सन् १९३१ में आयोग की अन्तिम सिफारिश कार्यान्वित की गई। इसके प्रधान कार्य प्रान्तीय अधिकारियो के लिए सूचना-निकास-घर का काम करना और सम्पूर्ण भारत में सिंचाई-सम्बन्धी अनुसन्धान का समन्वय तथा प्राप्त निष्कर्षो का ज्ञापन और प्रसार करना है।[2] अप्रैल सन् १९४५ में, भारत सरकार ने 'केन्द्रीय जलमार्ग, सिंचाई तथा नौचालन-आयोग' की स्थापना की। यह वस्तु-स्थिति का पता लगाने तथा आयोजना एव समन्वय करने वाली केन्द्रीय सस्था है। इसका कार्य इस बात की जाँच करना है कि भारतीय नदियो की क्षमता का कैसे पूरा-पूरा उपयोग किया जा सकता है। साथ ही एक से अधिक राज्य में बहने वाली नदियो के बहुध्येयी विकास में सहायता करना भी इसका कार्य है।

पञ्चवर्षीय योजना[3] के अन्तर्गत १६८ करोड रु० बहुध्येयी सिंचाई एव शक्ति-योजनाओ के लिए २६६ करोड रुपये और छोटे-छोटे सिंचाई के कार्यों के लिए ७७ करोड रुपये का प्रबन्ध है। आशा की जाती है कि सन् १९५६ तक इन योजनाओ से सीचे हुए क्षेत्र में ८५,००,००० एकड की वृद्धि होगी। इसके अतिरिक्त सिंचाई के छोटे-छोटे कार्यो से १,१०,००,००० एकड की सिंचाई होगी। सीचा हुआ कुल क्षेत्र ४९०,००,००० से बढकर ६८०,००,००० एकड हो जायगा। सिंचाई के साधनो से खाद्यान्न की वृद्धि का अनुमान इस प्रकार है :

कृषि के आधुनिक स्तर के आधार पर अनुमानित

१९५५-५६	१८ लाख टन
१९५६-५७	२२ „ „
१९५७-५८	२५ „ „
१९५८-५९	२८ „ „
१९५९-६०	३१ „ „
और अन्त में	४३ „ „

इस समय भारत में १५३ योजनाओ पर काम हो रहा है। इनमें ६ बहुध्येयी, १०४ सिंचाई तथा ४३ विद्युत-शक्ति-योजनाएँ है। बहुध्येयी योजनाओ के अतिरिक्त सिंचाई की ३ बडी योजनाएँ है। पचवर्षीय योजना का लगभग एक तिहाई व्यय नदी-घाटी योजनाओ पर ही किया जायगा। बहुध्येयी योजनाओ मे भाखड़ा-नागल योजना

१. कृषि आयोग रिपोर्ट, पैरा २६९-७६।

२. हाल ही में जल-मार्ग, सिंचाई तथा नौचालन आयोग को केन्द्रीय विद्युत् आयोग में मिलाकर केन्द्रीय जल एवम् शक्ति-आयोग नामक एक नई सस्था बनाई गई है। सन् १९४६-४७ से एक केन्द्रीय भूमि जल सस्था (सेन्ट्रल ग्राउन्ड वाटर आर्गनाइजेशन) भी काम कर रही है। सन् १९४५ के आरम्भ से खाद्य एवम् कृषि के केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल में नलकूप-सम्बन्धी प्रारम्भिक खोज करने वाला डिवीजन (ट्यूब वैल एक्सप्लोरेटरी डिवीजन) भी काम कर रहा है।

३. अगले पृष्ठ की तालिका तक की सूचनाएँ अनुवादक द्वारा दी जा रही हैं।

(पजाब) हरीके योजना (पजाव), दामोदर घाटी योजना (विहार व पश्चिमी वगाल), हीराकुड योजना (उडीसा) आदि मुख्य हैं।

पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत सिंचाई-सम्बन्धी प्रगति सन्तोषजनक रही है। सन् १९५२-५३ तक प्रमुख राज्यो में सींचे हुए क्षेत्रो की वृद्धि इस प्रकार हुई है—

राज्य[1]	मार्च सन् १९५१ तक किया हुआ व्यय (लाख रु० में)	योजना के अनुसार सिंचाई के क्षेत्रो में प्रत्याशित वृद्धि (हज़ार एकडो में)	१९५२-५३ (हज़ार एकडो में)
विहार	१२५	१८०	१४६
वम्बई	२७०	१६	२
मध्य प्रदेश	१४	१०	१०
मद्रास	१५६१	४२	७
उडीसा	१०२	२६३	१८२
पजाव	१०६	१७६	२३८
उत्तर प्रदेश	५३२	५२८	५८५
मैसूर	२४५	७	८
राजस्थान	१६३	७३	५
सौराष्ट्र	२९२	२०	११

१९ सिंचाई बनाम रेलें—इस विवाद के विषय में कुछ शब्द कहना उचित होगा। विशेषकर गत शताब्दी के अन्त में यह समस्या बहुत ही गम्भीर और महत्त्वपूर्ण हो गई थी। श्री आर० सी० दत्त ने, जिन्होंने इसमें मुख्य भाग लिया, सिद्ध किया कि किस प्रकार सन् १९०२ तक सरकार ने रेलो पर ३७० करोड रुपया खर्च किया जब कि सिंचाई पर केवल ३८ करोड रुपया खर्च किया गया था। यह असमानता वर्तमान शताब्दी के अन्त तक रेलो से होने वाली आर्थिक हानि तथा गत शताब्दी के अन्त के अकालो की बहुलता को ध्यान में रखने पर और भी आपत्तिजनक प्रतीत होती थी। श्री दत्त ने यह तर्क उपस्थित किया कि इगलैंड में पूँजीपतियो, सटोरियो और निर्माण-कर्ताओ ने गारन्टी प्रथा के अनुसार रेलों के निर्माण की शीघ्रता के लिए सरकार पर अनुचित दवाव डाला। सैनिक बातो ने तथा अकाल-पीडित क्षेत्रो की सहायता के प्रति उत्तरदायित्व की बढती हुई भावना ने सरकार की नीति को प्रभावित किया। यह पहले कहा जा चुका है कि सिंचाई के रक्षात्मक कार्यो से कोई लाभ नही हो रहा था तथा उनकी प्रगति धीमी थी। आगे भी, सरकारी नीति के आलोचको ने यह दोषारोपण किया कि रेल-निर्माण की अनुचित शीघ्रता ने देशी उद्योगो के ह्रास द्वारा कृषि पर दवाव वढा दिया और रेलो द्वारा अकालो की गम्भीरता और तज्जन्य क्षति को कम करने के उद्देश्य को अशत असफल कर दिया। तत्पश्चात् कई कारणो से इस विवाद का महत्त्व कम होता गया। अब रेलो का कार्य लाभप्रद होने के कारण करदाता पर विशेष

१ ये सब आंकडे प्रान्तीय सिंचाई योजनाओं के हैं। अत स्पष्ट है कि सिंचाई के सम्बन्ध में भारतीय सरकार जागरूक है तथा देश की कृषि को हर प्रकार से उन्नत बनाने के लिए देश-व्यापी कदम उठाए जा रहे हैं।—अनुवादक

नही पडता और इसलिए उनके विस्तार के प्रति उसका विरोध कम हो गया है। १९०१ में सिंचाई-आयोग की सिफारिशो के परिणामस्वरूप सरकार की सिंचाई न अधिकाधिक उदार होती गई। सच तो यह है कि ऐसे वहुत से काम आरम्भ कर गए, जिनके वारे में सिंचाई-आयोग ने सोचा भी न था।

जहाँ तक इस विवाद-ग्रस्त प्रश्न की अच्छाइयो-बुराइयो का प्रश्न है, हम कह ते है कि रेलो और सिंचाई में किसका कितना महत्व है, यह विवादास्पद हो सकता रन्तु इसमें सन्देह नही किया जा सकता कि वे एक-दूसरे के पूरक और पोपक है, ोधी नही।[1] यह स्पष्ट ही है कि सिंचाई द्वारा अतिरिक्त खाद्यान्न की प्राप्ति तो हो ती है, परन्तु देश में उसका उचित वितरण रेलो द्वारा ही हो सकता है। यह सत्य है गत शताब्दी के अन्त में सरकारी सिंचाई-नीति उतनी प्रगतिशील नही थी जितनी कि । है। और अब भी यदि हम तुरन्त लाभ के विचार को छोड दें, तो सिंचाई के विस्तार लेए वहुत सम्भावनाएँ है। यह वात विशेषकर वम्वई पर लागू होती है जहाँ चार शत से भी कम क्षेत्र की सिंचाई होती है तथा शेप भूमि मानसून पर निर्भर है। तक सम्पूर्ण भारत का सम्वन्ध है, स्थिति वडी विषादमय और विकल्पग्रस्त है। उन ों में जहाँ सिंचाई अत्यधिक लाभदायक है—उदाहरणार्थ उत्तर भारत में—कृपि अस्थिरता और अकाल की सम्भावनाएँ वहुत कम है। प्रायद्वीपीय भाग में, विशेप- वम्वई प्रान्त में, जहाँ वरसात का कोई ठिकाना नही रहता, सिंचाई प्रत्यक्ष रूप से दायक नही है। हमे यह याद रखना चाहिए कि लाभ और हानि का वाणिज्यिक टकोण अनुपयुक्त है, इस प्रश्न को वृहत्तर दृष्टिकोण से देखना चाहिए। किसी ाई-योजना के औचित्य का अनुमान लगाने के लिए उससे प्राप्त आय को ही नही ना चाहिए वरन् उस अतिरिक्त अप्रत्यक्ष आय को भी देखना चाहिए जो उसके णामस्वरूप जनसख्या की समृद्धि के रूप में प्राप्त होती है।[1]

भूमि पर पानी और नमक का जमाव—इन दोनो का नहरो की सिंचाई से विशेप न्ध है। अतीत में इनसे वचने के लिए कोई प्रभावपूर्ण प्रयत्न नही किये गए, का परिणाम यह हुआ कि कभी-कभी सिंचाई से मिट्टी की उर्वरता कम हो गई। हरण के लिए पजाव तथा वम्वई मे पृथ्वी के नीचे के पानी के ऊपर आने तथा ह पर नमक छोड जाने से वहुत सी भूमि कृपि के लिए वेकार हो गई।[2]

नहरो से सीचे जाने वाले क्षेत्र मे किसानो द्वारा अधिक मात्रा में जल वर- करना ही पानी के जमाव तथा नमक छा जाने का एक ऐसा कारण है जिसे सभी कार करते है, परन्तु जैसा कि कृपि-आयोग ने कहा है इसका कारण एकान्तत नही है कि सरकार ने किसान के लिए जो पानी सुलभ किया है उसे कम खर्च ने के वारे में उन्हे किसी तरह की प्रेरणा नही होती। पानी मिलने की अनिश्चि-

---

[1] ान इन्डस्ट्रियल कमीशन रिपोर्ट, पृ० ३९१। देखिए, गाडगिल 'इकानामिक इफेक्ट आफ इरीगेशन' ले इन्स्टीट्यूट ऑफ पालिटिक्स एण्ड इकानामिक्स, प्रकाशन न० १७, सिंचाई योजना के प्रत्यक्ष तथा यक्ष लाभों के अनुमान के लिए।

[2] ृजनारायण, इण्डियन इकानामिक लाइफ, पृ० ३८३, और हावर्ड, पूर्व उद्धृत, पृ० ४५.

तता के कारण भी कम बरबादी नही होती। जल की किफायत के लिए कृषि-आयोग ने पजाब तथा अन्यत्र पानी को घनफल के हिसाब से बेचने का इरादा करने से पूर्व कुछ और जांच-पडताल तथा प्रयोग करने की सलाह दी। इस प्रकार की जांच-पडताल और प्रयोग सिंचाई-आयोग की सिफारिश पर किये गए थे।[1]

नहर वाले हिस्सो में उचित नालियो का अभाव केवल कृषि के दृष्टिकोण से ही बाधक नही, परन्तु इसने स्वास्थ्यप्रद भागो को भी मलेरिया से पीडित बना दिया है, इसलिए नहरो की सिंचाई केवल इन्जीनियर का ही काम नही है वरन् भू-भौतिकविद्, कृषि-रसायनविद्, और औषधी एव स्वास्थ्य-विशेषज्ञो का भी काम है। कृषि आयोग की यह सिफारिश थी कि भविष्य में पानी के बहाव का सावधानी से सर्वेक्षण किया जाना भी नई सिंचाई-योजनाओ का आवश्यक अग हो तथा पानी के निकास के नक्शे भी तैयार किये जायें।

१७ पंजाब के नहर-उपनिवेश[2]—पजाब के नहर-उपनिवेशो के सम्बन्ध में कुछ शब्द कहकर हम सिंचाई के सम्बन्ध में अपना विवेचन समाप्त कर सकते है। इन उपनिवेशो का हमारी सिंचाई के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। पजाब में सिंचाई की समस्याएँ, अन्य प्रान्तो की समस्याओ से भिन्न थी। सिंचाई आरम्भ होने से पहले गत शताब्दी के नौवें दशाब्द मे, आजकल चनाब, झेलम और बारी-दोआब से सींचा हुआ क्षेत्र वर्षा की कमी और अनिश्चितता के कारण रेगिस्तान था। अतएव 'सिंचाई की सुविधाओ के साथ इन नये क्षेत्रो में बस्तियाँ बसाना आवश्यक था। (हैरिस)। बसने वालो के आने से पहले जल-मार्ग बनाये गए। प्रत्येक उपनिवेश में बडे और छोटे वर्गों और आयातो मे भूमि बाँट दी गई तथा सामूहिक रूप से चरागाह के लिए गाँव के पास ही भूमि रखी गई। उपनिवेशवासियों को केवल घर बनाना और भूमि को तोडना पडा। औपनिवेशिक गाँवो को ढग से बसाया गया और सफाई आदि की दृष्टि से ये अन्य गाँवो से अच्छे हैं। भू-राजस्व अधिकारियो ने प्रान्त के घने बसे हुए जिलों से पुश्तैनी जमीदारो और मौरूसी काश्तकारो को कृषक अनुदान (पैज़ेन्ट ग्रान्ट) के लिए, जिसके अन्तर्गत अधिकाश भूमि दी गई है, बडी सावधानी से चुना। सामान्य बन्धनों से बँधे हुए इस प्रकार के समूहो को उपनिवेशो में इकाई के रूप में पृथक् ग्राम-समाज बनाने के लिए भेजा गया। अनुदान की शर्ते विभिन्न उपनिवेशो में भिन्न-भिन्न थी। सामान्यतया प्रत्येक किसान को दिया गया क्षेत्र औसतन १½ से २ वर्ग तक या ४० से ५० एकड तक है। बहुत से पुराने उपनिवेशो में परीक्षण-काल के समाप्त होने पर बिना कर के अथवा बहुत थोडी रकम चुकाने के बाद जोतो में अपरिवर्तनीय मौरूसी अधिकार दे दिये गए, परन्तु बाद की सशोधित कार्य-प्रणाली के अनुसार 'कुछ वर्षों की पहली अवधि के समाप्त होने पर मौरूसी अधिकार दिये गए। दूसरी अवधि के बाद काश्तकारो को स्वामित्व हस्तातरण योग्य भूमि को कम मूल्य पर खरीदने का अवसर भी दिया गया जिसे वे सरल किश्तो में चुका सकते थे।'. उन पुश्तैनी बडे जमी-

१ कृषि आयोग रिपोर्ट, पैरा २७७।

२. देखिए, हैरिस, पूर्व उद्धृत, पृ० ४८-५६, और डार्लिंग, पजाब पैज़ेएट, अध्याय ७।

दारो तथा उच्च परिष्ठा वाले व्यक्तियो को जो कृपि और सिंचाई के अच्छे तरीको का प्रयोग करना चाहते थे, अधिक अनुदान दिये गए। सैनिक एव नागरिक सरकारी सेवाओ के उपलक्ष में भी अनुदान दिये जाते थे। नये गाँवो में उपनिवेश-वासियो के वसने के वाद सचार के विकसित साधनो, पक्की सडको, रेलो तथा शहरो और वाजारो के उद्भव से उपनिवेशो का विकास हुआ। इस प्रकार जो भूमि किसी समय वृक्षविहीन, जलविहीन और बेकार थी, अव मनुष्यो के हितकारी कार्यों से इन विकासमान उपनिवेशो में बदल गई है। इन उपनिवेशो की समृद्धि का मूल कारण भू-स्वामी कृपक हैं जिनके पास वहाँ की लगभग ८० प्रतिशत भूमि है। तीन प्रधान उपनिवेशो—लायलपुर, शाहपुर और माण्टगोमरी—में सिंचाई करने वाली नहरो से सरकार ने भी ३० प्रतिशत से अधिक वास्तविक लाभ प्राप्त किया और सन् १९३८-३९ के अन्त तक प्रतिफलात्मक कार्यों में लगाई गई ३४ करोड ५३ लाख रुपये की पूँजी पर १४ ९९ प्रतिशत का लाभ प्राप्त किया। किसानो को इससे भी अधिक लाभ हुआ। मूल्य कम हो जाने के वावजूद भी, उसी वर्ष प्रान्त में नहरो से सीची जाने वाली फसल का मूल्य ४० ३१ करोड रुपया था। एम० एल० डार्लिग ने ठीक ही कहा है कि 'उपनिवेशो ने पजाव में एक अद्वितीय समृद्धि-काल ला दिया है।[1]

अध्याय ८

कृषि : श्रम, उपस्कर और संगठन

१. मानव-अंग उसकी असन्तोषजनक प्रकृति—अन्य सभी बातो की अपेक्षा कृषि की सफलता सबसे अधिक हल चलाने के लिए उत्तरदायी कृषको के गुणो पर निर्भर है। कृषि की वर्तमान परिस्थिति को समझने के लिए कृषको के गुण-दोष का मूल्याकन परमावश्यक है। जैसी स्थिति आज है उसके अनुसार तो यह मानना पडेगा कि भारतीय कृषक यूरोपीय तथा अमेरिकी किसान की तुलना में शारीरिक श्रम करने की क्षमता, बुद्धिमत्ता तथा साहस के दृष्टिकोण से निम्नकोटि का है। परन्तु उसकी अक्षमता न तो जन्मजात ही है और न उसके स्वभाव का मूलाधार ही और इसलिए उपचार-योग्य है। वह अनेक कठिनाइयो के भार से दबा हुआ है। प्रशंसा की बात तो यह है कि इतना सब होते हुए भी उसका लोप नही हुआ है और वह अस्तित्व के सघर्ष में आज भी डटा हुआ है।[1]

भारतीय कृषक के पिछडे होने का सबसे बडा कारण वह हृदयविदारक स्थिति है जिसमें वह कृषि-कार्य करता है। इस मत की पुष्टि इस बात से होती है कि उन भागो में जहाँ वर्षा निश्चित है और जहाँ सिचाई के साधन प्राप्त है तथा उसे विश्वास रहता है कि उसे अपने प्रयत्न का फल अवश्य प्राप्त होकर रहेगा किसान सजग है और बडी तत्परता से कार्यारूढ रहता है तथा उद्यमी है। जहाँ पर स्थिति प्रतिकूल है वहाँ किसानो का आलसी, निराशावादी और लापरवाह होना तथा दारुण-दरिद्रता में पडा रहना अस्वाभाविक नही। डॉ० वायलकर ने, जो कि राजकीय कृषि समिति (रायल एग्रीकल्चरल सोसायटी) के सलाहकार रसायनज्ञ थे तथा जिन्हे १८८९ में भारतीय कृषि-कर्म के बारे में आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण से सम्मति देने के लिए भेजा गया था, भारतीय कृषक की 'कठोर और अथक परिश्रम और साधनो के ढूँढ लेने की प्रवृत्ति' से युक्त सावधानतापूर्ण कृषि की भूरि-भूरि प्रशसा की है। ऐसे महान् वैज्ञानिको की सम्मति का, जो प्रामाणिक और मान्य है, हमें सम्मान करना

१ 'भारत के विभिन्न भागों की विविधता को देखते हुए यद्यपि विभिन्न प्रकार के कृषकों के विषय में सामान्य कथन अनुचित होगा फिर भी उन सबमें एक निहित समानता दृष्टिगोचर होती है। सर्वत्र वही सादा जीवन, प्राकृतिक अनिश्चितता से सघर्ष (कुछ भागों को छोड़कर), वही साधारण खेलों और गाने से प्रेम, वही धार्मिक पृष्ठभूमि, वही पारस्परिक सहानुभूति और वही ऋणग्रस्तता विद्यमान है।'—डब्ल्यू बर्न्स, सन्स ऑफ द सायल' पृष्ठ ७।

चाहिए और इसमे कोई सन्देह नही रहना चाहिए कि यदि स्थिति अनुकूल हो तो भारतीय कृषि उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच सकती है। पर ऐसे प्रशंसात्मक शब्दो का जो दूसरे पक्ष के आत्यन्तिक विचारो को सतुलित करने के दृष्टिकोण से व्यक्त किये गए है, उनके सन्दर्भ से अलग करके अपनी कुशलता पर सन्तुष्ट होकर हाथ-पर-हाथ धरकर बैठ रहना नितान्त अनुचित होगा। यदि सामान्य भारतीय कृषक इतना कुशल और उद्यमी होता जैसा डॉ० वायलकर के प्रशसात्मक शब्द सुनकर कोई अनजान व्यक्ति समझेगा, तो भारत की वर्तमान ग्राम्य समस्या कही अधिक सरल होती। कृपको के वास्तविक दोपो को समझना, चाहे वे किसी कारण से क्यो न हो, तथा प्रत्यक्षतः व्यापक अर्थ में शिक्षा द्वारा और अप्रत्यक्षत उनकी वाह्य परिस्थितियो में परिवर्तन लाकर उनके निराकरण के उपायो को ढूँढ निकालना अत्यन्त आवश्यक है। यह तो हमें मानना पडेगा कि भारतीय कृपक मे मौलिकता तथा सूझ-बूझ और साहसोद्यम की कमी है और सामान्य रूप से वह परम्परागत प्रणाली का भक्त है, जिनमें से अनेक अपव्यय और अवैज्ञानिकता की पोषक है। उसका जीवन अन्ध-विश्वासो और पूर्वग्रहो से आक्रान्त है जो उसकी आर्थिक उन्नति में वाधक है। उसकी निश्चेष्टता, उदासीनता और सकीर्णता उसकी स्थिति के सुधार के मार्ग में बहुत बडे रोडे है। रहन-सहन के अपने गन्दे और अस्वच्छ ढग के कारण वह अपने ऊपर बहुत सी ऐसी शारीरिक विपत्तियो को निमन्त्रित करता है जो बचाई जा सकती है। परिणामतः उसकी प्राण-शक्ति का ह्रास होता है। लगातार शारीरिक परिश्रम करने में वह असमर्थ हो जाता है तथा जीवन के प्रति उसकी दृष्टि अवसादपूर्ण हो जाती है। वह अज्ञात, अदूरदर्शी और असावधान है। इन सब अवगुणो के कारण कोई भी उसकी दुर्बलता का लाभ उठा सकता है। व्यर्थ की मुकदमेवाजी में अपनी शक्ति और धन के खर्च करने की उसकी आदत है और वह अपने धन को अपनी कुशलता की वृद्धि के लिए खर्च करने अथवा अधिक धनोत्पत्ति करने वाले कार्यो पर लगाने की अपेक्षा आभूषणादि के बनवाने में खर्च करने के लिए अधिक तत्पर रहता है। विवाहादि सस्कारो में वह प्रायः अपनी शक्ति से कही अधिक खर्च करता है और जान-बूझकर महाजन के चगुल में फँसता है, जिससे उसका उद्धार शायद ही फिर कभी होता हो। उसे इस सत्य पर कम विश्वास है कि परमात्मा मानवी साधनो द्वारा ही रक्षा करवाता है, उसका तो यह प्रगाढ विश्वास है कि परमात्मा अथवा कोई अन्य वाह्य शक्ति ही विपदाओ से उसकी रक्षा करेगी। अब अपनी आपदाओ को दूर करने के लिए उसे अपने वाहुवल का भरोसा नही, भाग्य या देव पर उसका दोप डालकर वह अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेता है।

जिनको भारत की ग्राम्य स्थिति का ज्ञान है, वे जानते है कि ये वास्तविक दोप है और इनके निराकरण का प्रयत्न अत्यन्त आवश्यक है। यद्यपि यह उक्ति कि 'वातावरण का सुधार कीजिए, कृषक स्वयं सुधर जायगा' ठीक ही है, पर इससे अधिक अच्छी उक्ति यह होगी कि कृपक और उसका वातावरण दोनो का एक साथ सुधार कीजिए जिससे वे एक-दूसरे की उन्नति में सहायक हो सकें।

२ ग्राम्य शिक्षा की व्यापक योजना—कृषकों की मनोवैज्ञानिक विचारधारा तथा उनकी व्यक्तिगत और सामाजिक आदतों को बदलने के लिए यह आवश्यक है कि उन्हे शिक्षित बना दिया जाय। यह तो सर्वविदित है कि जब तक अशिक्षा और अज्ञान का साम्राज्य रहेगा, और केवल ८% ही लोग[1] लिख-पढ सकेंगे, ग्राम-सुधार की सारी बातें व्यर्थ हैं। व्यापक साक्षरता तथा ग्राम्य शिक्षा की उपयुक्त प्रणाली के अभाव ही उन अधिकांश दोषों के लिए उत्तरदायी हैं जिनका हम निराकरण करना चाहते हैं। अशिक्षा ऋणग्रस्तता की वृद्धि करती है, अदूरदर्शिता और फिजूलखर्ची को प्रोत्साहन देती है, कृषि-प्रणाली की उन्नति में बाधक है और उसका सबसे भयानक दोष तो जनता की उस जागृति में बाधा उपस्थित करना है जिसके बिना कोई भी सुधार स्थायी रूप नहीं ले सकता। ग्राम-सुधार की समस्या का निराकरण उस समय तक नहीं हो सकता जब तक किसान स्वयं अपनी उन्नति नहीं चाहेगा और उसके लिए चिन्तित और प्रयत्नशील न होगा। ग्रामीण जनता की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए वर्तमान शिक्षा-प्रणाली का पुनस्संगठन अत्यन्त आवश्यक है। पाठ्य-पुस्तकों की रचना तथा कार्यक्रम बनाने में शिक्षा-विभाग को अन्य ऐसे विभागों की सम्मति को ध्यान में रखना चाहिए जिनका गाँव वालों से सीधा सम्पर्क रहता है। गाँव के स्कूलों में ऐसी शिक्षा दी जानी चाहिए जो गाँव वालों के हृदय में कृषि और ग्राम्य जीवन के प्रति प्रेम और रुचि उत्पन्न कर सके ताकि लोग उसके विरुद्ध यह न कह सकें कि यह शिक्षा तो ग्रामवासियों के पैतृक व्यवसाय के प्रति अरुचि उत्पन्न करती है और उन्हें इतना सुकुमार बना देती है कि वे कृषि-कार्य के अयोग्य हो जाते हैं। शिक्षा-प्रणाली के इस दोष के प्रति १९३६-३७ की एबट और वुड जाँच कमेटी ने और बाद में वर्धा एजुकेशन कान्फ्रेन्स (१९३७) द्वारा नियुक्त की गई जाकिर-हुसेन कमेटी ने तथा बम्बई सरकार द्वारा १९३८ में नियुक्त की हुई व्यावसायिक शिक्षा-कमेटी ने भी विशेष ध्यान आकृष्ट किया था। अब तो यह सभी मानते हैं कि प्रारम्भिक स्कूलों में बालकों की शिक्षा पुस्तकों की अपेक्षा बच्चों की स्वाभाविक रुचियों और कार्यों के अनुरूप और उन्हीं पर आधारित होनी चाहिए।[2]

जाकिर हुसेन कमेटी ने महात्मा गांधी के इस मूल विचार को स्वीकार किया था कि 'सुव्यवस्थित शिक्षा-प्रणाली वह है जिसमें शिक्षा प्रदान करने का माध्यम कोई उपयोगी हस्त-कला हो और वही स्कूलों में दी जाने वाली हर प्रकार की शिक्षा का मूलाधार होना चाहिए।'[3] किसी उद्देश्य-विशेष से किये गए कार्यों के द्वारा बच्चों को शिक्षा देने का सिद्धान्त आगे चलकर उन्हें उपयोगी कार्यों में प्रवृत्त करता है, और गाँव की स्थिति और आवश्यकता की दृष्टि से बहुत ही उपयुक्त है।[4]

केवल अक्षर-मात्र के ज्ञान का झूठा महत्त्व देने की प्रवृत्ति को, जो साक्षरों के मन में अपने को अन्य अशिक्षित भाई-बन्धुओं से भिन्न वर्ग का समझने की भावना करे

---

१ ग्रामीण साक्षरता, सन् १९५१ की जनगणना के अनुसार, १२ प्रतिशत है।

२. ए० एबट एण्ड एम० एच० वुड, रिपोर्ट ऑन जनरल एण्ड वोकेश्नल एजूकेशन, पैरा ९८।

३ रिपोर्ट ऑफ द जाकिर हुसेन कमेटी, सेक्शन १।

४ रिपोर्ट ऑन वोकेशनल ट्रेनिंग इन प्राइमरी एण्ड सेकण्डरी स्कूल्स (बम्बई), पैरा २४।

वढावे और जो उनके मन में हल के स्थान पर कलम चलाने की आकाक्षा को दीप्त करे सवके लिए शिक्षा अनिवार्य वनाकर तथा व्यावसायिक और हस्त-कला की शिक्षा द्वारा श्रम-गरिमा की भावना जगाकर, नष्ट कर देना चाहिए। शिक्षा का लाभ स्त्री तथा पुरुष दोनो को ही प्राप्त होना चाहिए। स्त्री-शिक्षको की पर्याप्त सख्या की प्रतीक्षा में स्त्रियो की शिक्षा के विकास को रोके रहने की आवश्यकता नही है। वच्चो को स्थायी रूप से शिक्षित वनाने के लिए स्त्रियो में शिक्षा का प्रसार आवश्यक है। ग्राम्य शिक्षा की किसी सम्पूर्ण योजना के मुख्य अग, पौधो और जीवो के स्वभाव का अध्ययन, स्कूल के उद्यान और खेतो का अध्ययन, ऐसी पाठ्य-पुस्तको का अध्ययन जो ग्राम्य विषयो का वर्णन करती हो, हस्त-कला, स्थानीय सहायक उद्योगो के आधार पर शिक्षा, वालचर (वाय स्काउट) प्रशिक्षण तथा शारीरिक स्वास्थ्य की शिक्षा और तात्कालिक उपचार की शिक्षा आदि होने चाहिएँ।

किसानो की सर्वतोमुखी क्षमता को पूर्णत. विकसित करने के लिए तथा ऐसी व्यवस्था करने के लिए कि वर्तमान पीढी के लोग कृषि-विकास के आधुनिक साधनो का पूर्ण लाभ उठा सकें, वयस्को की शिक्षा की समुचित योजना का होना भी अत्यन्त आवश्यक है। युवको के स्कूल छोड देने के कुछ ही काल वाद पढा-लिखा सव-कुछ भूलकर फिर निरक्षर हो जाने की प्रवृत्ति को रोकने के लिए भी वयस्क-शिक्षा की योजना आवश्यक है। इस शिक्षा की योजना मे स्त्रियो को भी सम्मिलित करना अत्यन्त आवश्यक होगा जिससे कि वे प्रगति-चक्र मे वाधक न सिद्ध हो। शक्तिशाली और कुशल प्रजातन्त्र के विकास के लिए भी वयस्को की शिक्षा को मुख्य स्थान मिलना चाहिए। वम्बई वयस्क शिक्षा कमेटी ने भी कहा था कि "वयस्क शिक्षा का देश की शिक्षा-व्यवस्था में एक सम्मानित स्थान होना चाहिए जो राज्य द्वारा ही सचालित होनी चाहिए।" सरकार को वयस्क शिक्षा में पूर्ण सहयोग देना चाहिए, विशेषकर साक्षरता तथा मनोरञ्जन की योजनाओ में आर्थिक सहायता द्वारा।

वयस्को को शिक्षित वनाने के लिए विशिष्ट उपायो से काम लेना आवश्यक है जिसमें रात के स्कूल, निरन्तर लगने वाली कक्षाएँ, पुस्तकालय और वाचनालय, सिनेमा, विजली के प्रकाश द्वारा चित्रो का प्रदर्शन तथा प्रदर्शन करने वाली रेल आदि सम्मिलित होनी चाहिए। शिक्षा-प्रसार में सिनेमा का वहुत वडा उपयोग है। यह वात रेडियो पर भी लागू है।[1] सिनेमा द्वारा ग्रामवासियो के मन मे नई-नई आवश्यकताएँ तथा कार्य करने की प्रेरणाएँ जगाई जा सकती है जो देहातियो के वुद्धि-विकास के साधन के रूप में लिखे अथवा कहे हुए शब्दो की अपेक्षा सिनेमा कही अधिक प्रभावशाली है। अधिकाशत वयस्क-शिक्षा नियमित स्कूलो की औपचारिक शिक्षा के वजाय ऐसे ही साधनो पर आधारित होनी चाहिए।

गाँव में रहने वाले वयस्को की शिक्षा का पहला कदम यह होना चाहिए कि उन्हे अपने मन की वद्धमूल निराशा और उदासीनता पर विजय पाने मे सहायता मिले

---

१ अव तो ऑल इण्डिया रेडियो स्टेशनो से ग्रामवासियों के लिए निरन्तर देहाती प्रोग्राम प्रसारित किये जाने लगे हैं।

तथा जीवन के प्रति उनमें रुचि उत्पन्न हो। इसलिए यह आवश्यक है कि वयस्क शिक्षा आन्दोलन को ग्राम-पुनरुद्धार की योजनाओ से सम्बद्ध कर दिया जाय।[1]

३. किसानों की शारीरिक अक्षमता : उसके कारण और उपचार—हमारे अधिकाश गाँव मलेरिया, प्लेग, महामारी, आँव, क्षय, कालाज़ार, हुकवर्म आदि भयकर रोगो तथा साधारण चर्म और कुष्ट रोगो आदि से आक्रान्त है। ये किसानो की अक्षमता के प्रधान कारण है। वीमारियाँ किसी समुदाय की आर्थिक शक्ति का, हृष्ट-पुष्ट और शक्तिवान् लोगों को मारकर और काम करने वालों की सख्या न काम करने वालो से अधिक वढाकर, विनाश कर सकती है। दूसरे, यदि ये वीमारो का प्राण नही लेतीं तो उन्हे अशक्त कर देती है और इस प्रकार श्रमिको की सख्या ही में कमी नही वरन् श्रम की शक्ति में भी कमी कर देती है। तीसरे, ये वीमारियाँ प्रायः जब कृषि-कार्य जोरो पर चल रहा होता है, उस समय श्रमिको को श्रम करने के अयोग्य बना देती है। और अन्त में ये लोगो को आलसी, निरुत्साही और भाग्यवादी वना देती है। सर्वसाधारण में स्वास्थ्य और स्वच्छता का आन्दोलन होना चाहिए ताकि ये बीमारियाँ दूर हो और लोगो में स्वास्थ्य के प्रति विचारपूर्ण सक्रिय जागरूकता उत्पन्न हो और उनके मन के पूर्वग्रह छूटें जिनमें से कुछ तो धर्म के साथ जुडे होने के कारण बडे ही भयावह होते है।

स्वास्थ्य प्रचार विभाग, शिशु-सप्ताह, रेडक्रास, जच्चा-वच्चा सघ तथा सहकारी औषधालय आदि सस्थाओ को गाँव के स्वास्थ्य तथा स्वच्छता के सम्वन्ध में वहुत सेवाएँ करनी है। सीचे जाने वाले भागो में तथा तथा दलदलो में पानी के वहाव के उचित प्रवन्ध, पीने के लिए शुद्ध जल और गाँव में घरो के निर्माण की उचित व्यवस्था आदि अत्यन्त आवश्यक बातें है। मलेरिया से, जो कि 'हमारा सवसे वडा रुग्णता-दण्ड' है, बचाव के आन्दोलन में विशेष सफलता तभी सम्भव है जव कि जनता सरकारी सहायता के साथ-साथ स्वय भी पूरे उत्साह और ऊर्जा के साथ प्रयत्न करे। कुनैन का अधिक विस्तृत रूप से वितरण होना चाहिए। इसका उत्तरदायित्व केन्द्रीय सरकार को अपने ऊपर लेना चाहिए और सिनकोना की खेती का निरन्तर विस्तार करके कुनैन को सस्ता करने का प्रयत्न किया जाना चाहिए।

गाँवो में चिकित्सा-सम्बन्धी सुविधाओ का अभाव बहुत बडी कठिनाई उपस्थित करता है। देशी चिकित्सा-प्रणाली की सफलता की उचित ढग से जाँच करनी चाहिए और मँहगी अग्रेजी दवाओ के स्थान पर प्रभावोत्पादक देशी जडी-बूटियो के प्रयोग को प्रोत्साहित करना चाहिए।[2] कुछ वर्ष पहले बम्बई सरकार ने गाँवो में चिकित्सा की

१. रिपोर्ट ऑफ द एडल्ट एजूकेशन कमेटी (बम्बई) १९३८, पृ० ४-५।

२ राष्ट्रीय आयोजन कमेटी (नेशनल प्लानिग कमेटी) तथा सन् १९४६ में हुई स्वास्थ्य मन्त्रियों की कान्फ्रेन्स की सिफारिशों के आधार पर चिकित्सा-सम्बन्धी देशी पद्धतियों की शिक्षा और खोज की उपलब्ध सुविधाओं को जाँच के लिए दिसम्बर सन् १९४६ में श्री आर० एन० चोपड़ा की अध्यक्षता में एक कमेटी की नियुक्ति की गई थी। इस कमेटी की रिपोर्ट पर विचार किया जा चुका है तथा वैद्य और हकीमों की शिक्षा के पुनर्गठन का प्रयत्न किया जा रहा है। सरकार की स्वीकृति से अगस्त २४, १९५३

सुविधाएँ वढाने के ध्येय से ग्राम-सहायक-योजना (विलेज एड स्कीम) की स्थापना की, जिसके अन्तर्गत प्रदेश के कुछ ज़िलो में प्रारम्भिक स्कूलो के शिक्षको को जिले के सिविल अस्पताल में थोडे दिनो की चिकित्सा-सम्वन्धी शिक्षा दी गई और एक-एक दवाइयो का वक्स देकर उन्हें गाँव वापस भेजा गया। वे साधारण बीमारियो का उपचार करते थे, तात्कालिक उपचार करते थे और भयानक वीमारियो से पीडित लोगो को पडोस के अस्पतालो में भेज देते थे। इधर कुछ दिनो से सरकार गाँवो में चिकित्सा-कार्य करने वालो को कुछ आर्थिक सहायता भी देने लगी है।

गाँवो की सफाई की समस्या से सम्बन्धित गाँव वालो के रहने के लिए सुन्दर स्वच्छ घरो की समस्या है। यह सोचना, कि आवास की समस्या शहरो तक ही सीमित है, गलत है। यद्यपि शहरो की अपेक्षा गाँवो मे वहुत अधिक स्थान है, पर वहाँ के घर प्रायः मिट्टी के कमज़ोर ढाँचे ही होते है जिनकी छतें घास-फूस की होती है और जिनमे केवल एक दरवाजा होता है और कदाचित् ही कोई खिडकी होती हो। ये घर प्राय· अधेरे, मच्छरो, चूहो तथा अन्य हानिकारक जीवो और कीडो के निवास-स्थान होते है। वहुधा मनुष्य और पशु एक ही कमरे में रहते है और एक-दूसरे की निकली हुई दूषित वायु की साँस लेते है, जो दोनो ही के लिए हानिकारक है। इन गाँवो के छोटे गन्दे अधेरे घरो को गिरवाकर उनके स्थान पर स्वच्छ और सुन्दर घरो का निर्माण करवाने के लिए वहुत वडे प्रयत्न की आवश्यकता है। गाँवो में सहकारी आवासन-समितियाँ खुलवानी चाहिएँ जिन्हे सरकार से आर्थिक तथा अन्य प्रकार की सहायता मिले। सरकार केवल सीधे ऋण द्वारा ही समितियो की सहायता न करे वरन् कर्ज देने वाली विशेष आर्थिक सस्थाओ को उनके ऋणो की अदायगी तथा व्याज की गारन्टी द्वारा भी सहायता कर सकती है।

४. भोर कमेटी रिपोर्ट—यहाँ पर १९४३ की भोर कमेटी के अन्तर्गत नियुक्त स्वास्थ्य सर्वेक्षण और विकास कमेटी (हेल्थ सर्वे एण्ड डिवेलपमेण्ट कमेटी) की रिपोर्ट का सारांश देना उपयुक्त होगा।

सुधार की जो योजना कमेटी ने सामने रखी वह दो भागो में विभाजित की जा सकती है· (१) व्यापक दीर्घकालीन योजना तथा (२) अल्पकालीन योजना।

प्रशासन के सम्वन्ध में यह प्रस्ताव किया गया था कि (१) केन्द्र में एक स्वास्थ्य-मन्त्रालय हो जिसके अधीन एक केन्द्रीय परिनियत स्वास्थ्य परिषद् (सेन्ट्रल स्टेच्युटरी बोर्ड ऑफ हेल्थ) हो, (२) प्रत्येक राज्य में भी स्वास्थ्य मन्त्रालय हो, और (३) स्थानीय क्षेत्र-स्वास्थ्य-प्रशासन की स्थापना हो।

केन्द्रीय परिनियत स्वास्थ्य परिषद् (सेन्ट्रल स्टेच्युटरी बोर्ड ऑफ हेल्थ) की स्थापना, जिसके सदस्य केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारो के स्वास्थ्य-मन्त्री है, इस उद्देश्य से की गई है कि उनके हितो मे किसी प्रकार सघर्ष न होने पावे और वे निरन्तर एक-दूसरे से परामर्श करते रहे। यह आशा की जाती है कि केन्द्रीय सरकार, जिसके पास

से देशी चिकित्सा पद्धति का प्रस्तावित केन्द्रीय अनुसधान सस्थान, जामनगर के गुलाब कुँअरबा आयुर्वेदिक विद्यालय के सहयोग में काम करने लगा है।

प्रचुर धन तथा विशेषज्ञ हैं, सहायक अनुदान तथा प्राविधिक सहायता प्रदान करेगी। रोग-चिकित्सा, दन्त-चिकित्सा तथा परिचर्या-सम्बन्धी विशेषज्ञो की तीन स्थायी समितियो की स्थापना तीन स्तरो पर—केन्द्रीय, प्रान्तीय तथा स्थानीय—होनी चाहिए। केन्द्रीय स्वास्थ्य-मण्डलो (हैल्थबोर्ड) के ही समान विधान और कार्य वाली स्वास्थ्य परिषदो की राज्यीय स्थापना राज्यो में भी होनी चाहिए। प्रान्तीय और केन्द्रीय स्वास्थ्य मन्त्रालयो को स्वास्थ्य-सम्बन्धी प्रबन्ध का एक निम्नतम आदर्श निश्चित करना तथा पूरा करवाना चाहिए और अपने-अपने अधीन स्वास्थ्य पदाधिकारियो का पूरा उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेना चाहिए। केन्द्रीय सरकार को सक्रामक रोगो के अन्तर्राज्यीय विस्तार को रोकने का हर प्रकार से प्रयास करना चाहिए और अन्तर्राज्यीय व्यापार में अन्न तथा औषधियो की शुद्धता का समुचित स्तर बनाये रखना चाहिए। केन्द्र में एक प्रधान स्वास्थ्य-सेवा-सचालक (डायरेक्टर जनरल ऑफ हेल्थ सर्विसिज) तथा राज्य में एक स्वास्थ्य-सेवा-सचालक (डायरेक्टर ऑफ हेल्थ सर्विसिज) स्वास्थ्य-मन्त्रालय का प्रौद्योगिक सलाहकार होना चाहिए। स्थानीय क्षेत्रो मे वर्तमान समय के अनेक पदाधिकारियो के स्थान पर केवल एक स्वास्थ्य-पदाधिकारी होना चाहिए—जिला स्वास्थ्य मण्डल। सभी बडी नगरपालिकाओ को, जिनमें जनसख्या २००,००० या इससे अधिक है, अपना स्वतन्त्र स्वास्थ्य-विभाग बनाना और कायम रखना चाहिए। प्रत्येक नगरपालिका के लिए सरकारी सहायता की रकम छोडकर बाकी आय का ३०% जिला स्वास्थ्य मण्डल को देना कानून से अनिवार्य कर देना चाहिए। इसी प्रकार प्रत्येक जिला मण्डल अथवा पचायत को भी अपनी सम्पूर्ण आय का १२½ प्रतिशत से कम नहीं देना चाहिए।

(१) **दीर्घकालीन योजना**—जिलो की जनसख्या १,००,००० से ५०,००,००० तक पाई जाती है, इसलिए वर्तमान योजना को प्रस्तुत करते समय प्रत्येक जिले की जनसख्या ३०,००,००० के लगभग मान ली गई है। जिले की स्वास्थ्य-व्यवस्था के अन्तर्गत सबसे छोटी प्रारम्भिक इकाई सामान्यत दस से बीस हजार व्यक्तियो के निवास-स्थान के क्षेत्र के बराबर ही होगी। १५ से २५ तक की गिनती की प्रारम्भिक इकाइयाँ मिलाकर एक माध्यमिक इकाई बनाएँगी और इस प्रकार की ३ या ५ माध्यमिक इकाइयो को मिलाकर जिले की एक स्वास्थ्य इकाई बनेगी। प्रारम्भिक, माध्यमिक और जिले की इकाइयो के केन्द्रो पर एक स्वास्थ्य-केन्द्र खोला जायगा जहाँ से भिन्न-भिन्न प्रकार की स्वास्थ्य-सम्बन्धी कार्यवाहियाँ प्रत्येक क्षेत्र में की जायँगी। जिला स्वास्थ्य-केन्द्र में सामान्य और विशेष अस्पताल होंगे जिनमें लगभग २५०० रोगियो के भरती करने का प्रबन्ध होगा और रोगो की आधुनिक ढग पर ही तथा उपचार-सम्बन्धी छानबीन के लिए आवश्यक उपकरण तथा प्रयोगशाला की व्यवस्था भी होगी। इसी प्रकार माध्यमिक स्वास्थ्य-केन्द्र में भी लगभग ६५० रोगियो के भरती करने का प्रबन्ध होगा तथा सभी उपस्कर समुचित मात्रा में उपलब्ध होगे। प्रारम्भिक स्वास्थ्य-केन्द्र के अस्पताल में केवल ७५ रोगियो के लिए स्थान होगा। जिला स्वास्थ्य-केन्द्र समस्त जिले के ऊपर देख-रेख तथा नियन्त्रण रखेगा। इसी प्रकार माध्यमिक स्वास्थ्य-केन्द्र प्रारम्भिक

स्वास्थ्य-केन्द्रो पर नियन्त्रण रखेंगे और प्रारम्भिक स्वास्थ्य-केन्द्र उस समस्त क्षेत्र पर नियन्त्रण रखेंगे जो उनके अधीन है। इस प्रकार चिकित्सालयो मे रोगियो के ठहरने का अनुपात जनसख्या के अनुपात से ५ ६७ प्रति १००० व्यक्ति हो जायगा जब कि पहले यही अनुपात केवल ० २४ प्रति १००० था। एक जिले में प्राय १५० प्रारम्भिक इकाइयाँ होगी जिनमें से प्रत्येक में ६ डॉक्टर (आधी सख्या स्त्री डाक्टरनी) २६ नर्सें, ६ दाइयाँ और १८ अन्य कर्मचारी जैसे समाज सेवक तथा सफाई-निरीक्षक (सेनेटरी इन्स्पेक्टर्स) होगे। प्रत्येक माध्यमिक इकाई से सम्बन्धित ३० प्रारम्भिक इकाइयाँ होगी जो सस्था को अधिक गम्भीर प्रकृति की सुविधाएँ प्रदान करेंगी। प्रत्येक जिला-स्वास्थ्य-केन्द्र के अन्तर्गत ५ माध्यमिक इकाइयाँ होगी। आशा है यह विकास-कार्य ४० वर्ष के भीतर सम्पन्न हो जायगा।

(२) **अल्पकालीन योजनाएँ**—वर्तमान स्वास्थ्य-सेवा को सहयोग देने के लिए, न कि उनका स्थान लेने के लिए, इन अल्पकालीन योजनाओ का प्रस्ताव किया गया है। समस्त राज्य में विस्तृत आरोग्यकारी और एहतियाती स्वास्थ्य सुविधाओ के समस्त प्रसार का प्रस्ताव भी किया गया है। इससे प्रत्येक जिले में (क) जिले की स्वास्थ्य इकाई में सम्मिलित अनेक प्रारम्भिक और माध्यमिक इकाइयाँ होगी और (ख) जच्चा और बच्चा के विशेष उपचार के लिए, स्कूल जाने वाले बच्चो और उद्योगो में काम करने वालो की सेवा के लिए, और भारत में प्रचलित अधिक भयकर बीमारियो के उपचार करने के लिए विशेषज्ञो की सेवाएँ प्राप्त हो सकेंगी। ऐसी स्वास्थ्य-सेवाओ की भी सिफारिश की गई है कि जो व्यक्तिगत नही है और जिनका सम्बन्ध गाँव तथा नगरों के बसाने की योजनाओ तथा पानी के बहाव और अन्य साधारण सफाई से सम्बन्ध रखने वाली योजनाओ से है। डाक्टरो, नर्सो तथा अन्य वर्ग के स्वास्थ्य सम्बन्धी कर्मचारियो को नये-नये आविष्कारो की शिक्षा देने के लिए भी विशेष सुझाव रखे गए है। राज्य-व्यापी स्वास्थ्य-व्यवस्था दीर्घकालीन योजना के ही मार्ग पर की जायगी, अन्तर केवल इतना होगा कि यह उतनी विशद न होगी। प्रत्येक प्रारम्भिक इकाई से यह आशा की जायगी कि वह पहले दस वर्षो में ४०,००० व्यक्तियो से सम्पर्क स्थापित करे। प्रारम्भिक स्वास्थ्य केन्द्र में एक छोटा-सा अस्पताल होगा, उसमें दो पलग प्रसवो के लिए और दो आरम्भिक रोगियो की परिचर्या के लिए होगे। आरम्भ में माध्यमिक स्वास्थ्य-केन्द्रो मे २०० रोगियो का स्थान होना चाहिए जिसको कि दस वर्ष में धीरे-धीरे बढाकर ५०० पलग वाले अस्पताल में परिणत कर दिया जायगा। तब तक के लिए जिला स्वास्थ्य-केन्द्र की व्यवस्था को स्थगित कर देना चाहिए। गाँवो में उपचार सम्बन्धी सुविधाओ का विस्तार करने के लिए आरम्भ में ३० रोगियो के स्थान वाला अस्पताल खुलवाना चाहिए, जो कि चार प्रारम्भिक इकाइयो की आवश्यकता पूरी करेगा। पहले दस वर्ष बीतने पर उनकी सख्या दूनी कर दी जायगी ताकि दो-दो प्रारम्भिक इकाइयो के बीच एक अस्पताल अवश्य हो जाय।

हर प्रान्त के प्रत्येक जिले मे आरम्भ से ही जिला स्वास्थ्य-व्यवस्था की स्थापना आवश्यक होगी। इस व्यवस्था की शुरुआत पाँच प्रारम्भिक इकाइयो और एक माध्य-

मिक इकाई से होनी चाहिए और दस वर्ष के अन्त तक धीरे-धीरे इनकी सख्या वढकर २५ प्रारम्भिक और २ माध्यमिक इकाइयाँ हो जानी चाहिएँ।

(३) व्यावसायिक शिक्षा—पहले दस वर्षो में प्रतिवर्ष ४००० से ४५०० डाक्टरो को शिक्षा देने का ध्येय होना चाहिए। यह सख्या वर्तमान समय में शिक्षा पाकर बाहर निकलने वाले डाक्टरो की सख्या से लगभग दूनी है। ग्रेजुएट हो जाने के पश्चात् जो लोग जन-सेवा के कार्य मे लगना चाहे उन्हे कम-से-कम १००० रु० प्रति-वर्ष आय का निश्चित आश्वासन होना चाहिए। एक अखिल भारतीय चिकित्सा शिक्षा-संस्था होनी चाहिए जहाँ से निरन्तर सर्वोत्तम शिक्षक मिलते रहे। नर्सो की आवश्यकता तो डाक्टरो से भी वढकर है। वर्तमान समय मे सारे भारतवर्ष मे केवल ७००० रजिस्टर की हुई नर्सें हैं और अल्पकालीन योजना के अन्तर्गत लगभग ८०,००० नर्सें होनी चाहिएँ। प्रत्येक छात्रा-नर्स को ६० रु० मासिक छात्र-वृत्ति दी जानी चाहिए। इस रकम का एक अश धीरे-धीरे उनसे बाद में वापस भी लिया जा सकता है।

५. गाँव और नगरों में घनिष्ठतर सम्पर्क की आवश्यकता—गाँव वासियो का सुधार करने में सवसे बडी आवश्यकता इस बात की है कि उनके मन में जमे हुए भ्रमपूर्ण निष्क्रियता तथा दारिद्र्यजनक विचार निकाल दिये जायँ और और उनके स्थान पर साहस और प्रेरणादायी विचार जागृत कर दिए जायँ। इसलिए उन सभी बातो का जो बाहरी ससार से गाँव का सम्पर्क वढाने वाली तथा नगरो के प्रगतिशील वातावरण से प्रभावित करने वाली हैं, हमे स्वागत करना चाहिए। पुराने जमाने की तरह गाँव आज नगरो से अलग नही हैं, फिर भी अभी सस्ते और सुगम परिवहन-साधनो के विकास के लिए नई सडको और रेलो की बडी आवश्यकता है। सभ्यता के विकास के एक साधन के रूप में डाकखानो का भी यहाँ वर्णन करना असगत न होगा। लोगो के जीवन को डाकखाने किस सीमा तक प्रभावित कर सकते हैं, यह साक्षरता के प्रसार पर निर्भर है। डाक की सुविधाएँ स्वय ही लोगो में साक्षर होने की इच्छा जागृत करती हे और जो लोग साक्षर हो गए हे उनकी साक्षरता बनाए रखने मे सहायता देती हैं। डाकखानो के माध्यम से शिक्षा और मनोरजन के दृष्टिकोण से तैयार किये गए दिलचस्प और सुरुचिपूर्ण बुलेटिनो द्वारा भी प्रचार का काम किया जा सकता है। डाकखाने की वचत-बैक सुविधा से लोगो में मितव्ययिता की आदत पडती है और नकदी-सर्टिफिकेट के प्रचलन ने तो गाँव वालो की छोटी मात्रा की वचत का उचित आर्थिक उपयोग भी सम्भव कर दिया है। एक साधारण लाभ डाकखानो से यह भी है कि उनके द्वारा बीज तथा सस्ती कुनैन गाँव वालो में आसानी से बाँटी जा सकती है। बेतार तथा रेडियो कार्य-क्रम गाँव वालो का बहुत मनोरजन कर सकते हैं और उनके जीवन में आशातीत परिवर्तन पैदा कर सकते हैं।[1]

---

१ सन् १९४६ से ग्रामीण विकास सम्बन्धी प्रयोग सेवाग्राम (मध्यप्रदेश), बम्बई के सर्वोदय केन्द्र, मद्रास की फिरका विकास योजना तथा उत्तरप्रदेश में इटावा और गोरखपुर की अग्रगामी योजनाओं में किये गए है। इनकी सफलता के कारण ही योजना आयोग ने सामूहिक विकास योजना प्रारम्भ की है। इसके ऊपर ९० करोड़ रुपया खर्च करने की व्यवस्था की गई है। कालान्तर में राष्ट्रीय प्रसार-सेवा सारे

६. कृषि-मज़दूर—भारतीय कृषि में वैयक्तिक तत्त्व का उपर्युक्त वर्णन मुख्यत उस किसान के दृष्टिकोण से ही किया गया है जो स्वय भूमि का स्वामी है और कृषि-कार्य करता है। विवेचन की पूर्णता के लिए यह आवश्यक है कि भारतीय कृषि-व्यवस्था में खेती में लगाये जाने वाले मज़दूरो तथा जमीदारो के योग के विषय में भी दो शब्द कह दिये जायें। जहाँ तक किराये के मज़दूरो का सम्बन्ध है, यह कहा जा सकता है कि उनकी स्थिति असन्तोषजनक है। खेती में काम करने वाले मज़दूरो में से कुछ तो भूमिहीन मजदूर हैं। ऐसे मज़दूरो का वर्ग यद्यपि छोटा ही है पर इसके विस्तृत होने की प्रवृत्ति दिखलाई पडती है। ऐसे भी मजदूर हैं जिनके पास कुछ खेतो के टुकडे हैं। ये खेत इतने छोटे हैं कि उनके स्वामियो को दूसरे लोगो के खेतो पर जीविका के लिए मज़दूरी करनी पडती है। दोनो प्रकार के मज़दूर बडे मँहगे, अकुशल और

देश में फैल जायगी और ग्रामोन्नति के कार्य में इससे सहयोग मिलेगा।

प्रारम्भ में २ अक्टूबर १९५२ को ५५ सामूहिक विकास योजनाएँ प्रारम्भ की गई। प्रत्येक योजना के अन्तर्गत लगभग ३०० गांव होंगे जिनकी आबादी लगभग २ लाख होगी। इन गाँवों का क्षेत्रफल ४५०-५०० वर्गमील होगा तथा खेती-योग्य भूमि १५०,००० एकड़ होगी। प्रत्येक योजना-क्षेत्र तीन विकास-समूहों में बाँट दिया जाता है। पाँच गाँवों का एक समूह ग्राम-सेवक का सेवा-क्षेत्र होता है।

सामूहिक विकास योजना का उद्देश्य (१) हर प्रकार से कृषि-उत्पादन में वृद्धि करना, (२) गाँव वालों की बेकारी की समस्या को हल करना, (३) गाँव में संचार के साधनों की उन्नति करना, (४) प्रारम्भिक शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य तथा आमोद-प्रमोद का प्रबन्ध, (५) घरों का सुधार, और (६) देशी हस्त-कला और छोटे पैमाने के उद्योगों का विकास करना है। वास्तव में सामूहिक विकास योजना का उद्देश्य ग्राम निवासियों के दृष्टिकोण को बदलना तथा उनमें रहन-सहन के स्तर को ऊँचा उठाने की इच्छा तथा दृढ़ निश्चय पैदा करना है, क्योंकि अन्ततोगत्वा ग्रामोन्नति ग्राम-निवासियों पर ही निर्भर है। सरकार अधिक-से-अधिक पथ-प्रदर्शन तथा विकास में सहायता ही कर सकती है।

२ अक्टूबर १९५३ से प्रारम्भ की गई राष्ट्रीय प्रसार-सेवा ग्रामोन्नति की दिशा में एक महत्त्व-पूर्ण कदम है। इसका प्रधान उद्देश्य कृषि की आधुनिक विधियों को किसानों तक पहुँचाना तथा उनके दृष्टिकोण को बदलना है। दस वर्ष में यह सम्पूर्ण देश में फैल जायगी।

सन् १९५१-५६ के बीच देश के लगभग एक चौथाई भाग या १२०० विकास-समूहों में विकास योजनाएँ फैल जायेंगी। इनमें से लगभग ३०० समूह सामूहिक विकास-योजना के अन्तर्गत होंगे तथा शेष राष्ट्रीय प्रसार-सेवा के अन्तर्गत। राष्ट्रीय प्रसार-सेवा के अन्तर्गत १९५३-५४ में १८० समूह दूसरे वर्ष २७० समूह तथा योजना के अन्तिम वर्ष में ४०० समूहों को लेने की व्यवस्था है। इनमें से लगभग ४०० समूह सामूहिक योजनाओं की तरह गहन उन्नति के लिए चुन लिए जायँगे।

इन विकास-योजनाओं को कार्यान्वित करने का अधिकाश उत्तरदायित्व राज्यीय सरकारों पर है। राज्य में एक राज्य-विकास कमेटी होती है जिसमें मुख्य मन्त्री, योजना मन्त्री आदि सम्मिलित होते हैं। राज्य का विकास कमिश्नर (डिवेलपमेंट कमिश्नर) इस कमेटी का मन्त्री होता है। जिले में जिलाधीश की अध्यक्षता में एक जिला योजना कमेटी होती है जिसका मन्त्री योजना अधिकारी (प्लानिंग आफीसर) होता है। जिले के उप-विभागों में डिप्टीकलक्टरों को काम में सहायता देने के लिए विशेष सहायक नियुक्त कर दिये गए हैं ताकि वे योजना का कार्य देख सकें।

ग्रामीण स्तर पर पन्चायतें भी विकास-कार्य में सहायता कर रही हैं। गाँवों की विकास मण्डल आदि संस्थाएँ भी इसी उद्देश्य से संगठित की गई हैं ताकि गाँव वालों का दृष्टिकोण बदले और वे उन्नत अवस्था को प्राप्त हों।

अविश्वसनीय हैं। प्रवासन की वर्तमान सुविधाओ तथा रेलवे और सार्वजनिक निर्माण-कार्य, व्यापार तथा अन्य उद्योगो द्वारा मज़दूरो की अधिकाधिक मांग के कारण मज़दूरो की स्थिति विशेष रूप से दृढ हो गई है। इसके अतिरिक्त प्लेग और इनफ्लुएन्ज़ा आदि बीमारियो के कारण अधिक मौतें हो जाने से भी अस्थायी रूप से मज़दूरो की सख्या में कमी पैदा हो सकती है। अन्त में यह भी प्रवृत्ति देखी गई है कि छोटे-छोटे भू-भागो के स्वामी कृषक अपनी आर्थिक स्थिति के तनिक भी अच्छी हो जाने पर स्वय खेतो में काम करना छोड देते हैं और किराये के मज़दूरो पर निर्भर हो जाते है। इन कारणो ने मज़दूरो को अधिक परिश्रम के लिए प्रोत्साहित करने के स्थान पर उनकी मज़दूरी बढा दी है। दुख तो इस बात का है कि मजदूरी बढ जाने पर मज़दूर अपने रहन-रहन का स्तर और कार्य-क्षमता बढाने के बजाय कम काम करना पसन्द करता है। सक्षेप में यह कहा जा सकता है कि मजदूरो की कठिनाइयाँ भी वही हैं, जिनका वर्णन किसानो के सम्बन्ध में ऊपर किया जा चुका है। इसलिए वे उपाय जो गाँवो को पुनरुज्जीवित करने के लिए किये जायगे, इनके लिए भी निस्सन्देह ही लाभदायक सिद्ध होगे।

७ जमींदार और गाँव की अर्थ-व्यवस्था में उसका स्थान—सबसे बडी कठिनाई जो भारतीय कृषि को आक्रान्त किये हुए है, बुद्धिमानो और उद्यमी साहसियो का सहयोग तथा पूँजी का अभाव है जिसकी कृषि में सबसे अधिक आवश्यकता है। जीवन की आधुनिक सुख-सुविधाएँ—जैसे शिक्षा, सफाई, पूर्णतया विकसित सचार-साधन—प्राय नगरो का ही एकाधिकार हो गई हैं, यद्यपि इन सुविधाओ के लिए अधिकाश धन गाँवो से ही प्राप्त होता है। नगरो के बडे-बडे आकर्षणो और व्यापक उन्नति-अवसरो ने बहुत बडी सख्या में गाँव के बुद्धिमानो तथा साहसी व्यक्तियो को नगर मे आ जाने की प्रेरणा दी है तथा गाँवो में जो स्थान रिक्त कर दिया है उसकी पूर्ति सरल कार्य नही है। अन्त में यह कहा जा सकता है कि नगर के शिक्षित व्यक्तियो ने तथा जमीदारो ने अभी तक गाँव की समस्याओ को ठीक से अध्ययन करने तथा समझने और उनकी आवश्यकताएँ पूरी करके का प्रयत्न नही किया है। इन लोगो के ज्ञान, साधनो और साहस का योग गाँवो की उन्नति के लिए नही मिल पाया है। इस देश में नगर में रहने वालो की कृषि के प्रति अनभिज्ञता 'ऐसी वास्तविक, गहन और व्यापक है कि उनके प्रति सम्मान की दृष्टि से ही देखना पडता है।'[1] वैकवेल, बेट्स और 'टर्निप टाउनशैण्ड' जैसे महान् जमीदारो का नेतृत्व—१८वी सदी के इगलैण्ड की कृषि जिनकी ऋणी है—भारतीय कृषि को प्राप्त नही हो सका। बगाल में स्थायी बन्दोबस्त का प्रवर्तन करने वालो को यह आशा थी कि उससे बडे-बडे जमीदारो का एक ऐसा वर्ग तैयार हो जायगा जो कि अपनी जमीदारी में रहेगे और उनका व्यक्तिगत प्रभाव तथा

१ एच० कलवर्ट की 'वेल्थ एण्ड वेलफेयर ऑफ़ द पजाब' पुस्तक के आमुख के पृष्ठ १ में उद्धृत ए० कार्वर के कथन से लिया गया। उपर्युक्त बातें इगलैण्ड की स्थिति के सम्बन्ध में हैं, पर वे भारत के सम्बन्ध में भी उतनी ही लागू हैं। राधाकमल मुकर्जी का 'लैण्ड प्राब्लम्स ऑफ़ इण्डिया' पृष्ठ १२३ और १६३-६४ भी देखिए।

उनकी आर्थिक सहायता किसानो के लिए बहुत ही लाभकारी होगी। दुर्भाग्यवश यह आशा पूरी नही हो पाई। कुछ को छोडकर अधिकाश जमीदारो ने अपनी जमीदारी की अपेक्षा दूरस्थ बडे-बडे नगरो में जाकर बसना अधिक पसन्द किया और उनका अपनी जमीदारी से सम्बन्ध केवल मालगुजारी वसूल करने तक ही सीमित रह गया। जमीदारो का काम काश्तकारो से प्रचलित नियमो के अन्तर्गत अधिकाधिक मालगुजारी वसूलना हो गया। उनका काम मालगुजारी खीचने वाले एक चूषण-पम्प के समान ही रह गया। बगाल मे ही नही वरन् सारे देश में जहाँ-कही जमीदार वर्ग है, उनमे जमीदारी से दूर रहने की प्रथा प्राय प्रचलित हो गई है। जमीदारो के जमीदारी मे अनुपस्थित रहने के विषय में कार्वर का कथन है कि "युद्ध, बीमारी तथा अकाल के बाद यदि सबसे अधिक हानिकारक कोई बात गाँव-निवासियो के लिए हो सकती है तो वह जमीदारो का अपनी जमीदारी में न रहना है।"[1] यह बुराई उन भागो में, जहाँ जमीदारी है, बडा भयकर रूप धारण कर लेती है, यद्यपि रैयतवाडी क्षेत्रो में भी इसका पूर्ण अभाव नही है। जमीदारो के व्यवहार को देखकर यह कहा जा सकता है कि जहाँ तक भूमि की उन्नति से सम्बन्ध है, जमीदारो का वर्ग उसके प्रति राज्य से भी अधिक निस्सग तथा वाह्य अभिकरण के समान है। राज्य ने तो ऐसे आवश्यक कार्यो का भार अपने ऊपर ले रखा है, जैसे सिचाई की सुविधाएँ देना, सडकें तथा रेल बनवाना, कृषि-सम्बन्धी शिक्षा देना और तकावी ऋण बाँटना इत्यादि, पर जमीदार वास्तव में भूमि की उन्नति के लिए कुछ भी नही करता। कृषि की उन्नति के लिए यह सबसे अधिक आवश्यक बात है कि उसे जमींदार-वर्ग का सक्रिय सहयोग प्राप्त हो। इससे अत्यधिक मालगुजारी वसूलना बन्द हो जायगा और जमीदार और किसान के बीच निजी सम्बन्ध स्थापित हो जायगा जिसमे उन्नति तीव्रतर गति से होगी और दोनो का लाभ होगा। बडे-बडे जमीदारो के पास उन्नति के कम-से-कम दो साधन मौजूद हैं—पहला पूँजी और दूसरी बुद्धि। यदि उनमें वस्तुओ की सापेक्षिक उपयोगिता की नई धारणाएँ और जगा दी जायें और वे यह समझने लगें कि नगरो में रहकर समय नष्ट करने की अपेक्षा गाँवो मे रहने तथा गाँवो के पुनरुत्थान में सहयोग देने से अधिक सुख तथा लाभ है, तो हमे कृषि-सुधारों के लिए सर्वसाधारण की जागृति की प्रतीक्षा न करनी पडेगी जिसकी गति बहुत मन्द है। जमीदार सुधारो मे अनेक ढग से सहयोग दे सकते हैं। वे अपने घर पर फार्म खोल सकते है, पशुओ की नस्ल अच्छी करने के उद्देश्य से अभिजात पशु रख सकते हैं, अच्छा बीज पैदा कर सकते हैं और अधिक अच्छे औजारो का प्रयोग आरम्भ करा सकते है और अन्त मे गाँव वालो को प्रगतिशील विचारो से अवगत करा सकते हैं। उनको स्वयं गाँव में रहकर शिक्षा तथा स्वच्छता-सम्बन्धी सुधारो द्वारा गाँवो को अधिक आकर्षक बनाने मे सहायता देनी चाहिए।

८. भूमि-स्वामित्व के सहवर्ती कर्तव्य तथा उत्तरदायित्व—यह बात सदा से मान्य रही है कि भूमि-स्वामित्व के साथ कुछ कर्तव्य और उत्तरदायित्व जुडे हुए हैं। सिद्धान्त के आधार पर हमारे मन में यह प्रश्न उठ सकता है कि सम्मिलित पूँजी वाली कम्पनी

१ टी० एन० कार्वर 'प्रिंन्सिपल ऑफ रूरल इकानॉमिक्स', पृष्ठ ३७७।

(जायण्ट स्टॉक कम्पनी) के हिस्सेदार की स्थिति, जो कि विना प्रवन्ध में भाग लिये हुए केवल अपना लाभाश प्राप्त करके सन्तुष्ट रहता है, किस प्रकार किसी ज़मीदार से भिन्न है, जो कि उसी प्रकार मालगुजारी लेकर सन्तुष्ट रहता है और कुछ नही करता ? इसके उत्तर में पहली वात तो यह है कि यदि कम्पनी का हिस्सेदार प्रवन्ध में भाग लेता, तो बहुत ही अच्छा होता, उसका प्रवन्ध में भाग न लेना ही कुप्रबन्ध का कारण और अनेक सम्मिलित पूँजी वाली कम्पनियो के विनाश का कारण हुआ है। यह स्मरण रहे कि एक औसत हिस्सेदार के पास न तो इतनी वुद्धि ही होती हैं और न इतना अवकाश ही, कि वह अपनी कम्पनी के सचालन मे समझदारी से सक्रिय भाग ले सके। फिर, वह अनेक हिस्सेदारो में से एक है, उसके व्यक्तिगत विचारो पर कम्पनी की स्थिति के अच्छे और बुरे होने का वहुत कम उत्तरदायित्व होता है। कोई हिस्सेदार कम्पनी के प्रवन्ध में सक्रिय रूप से सहायता नही देता इसलिए उस कम्पनी का प्रवन्ध करने वाला कोई भी नही है, ऐसी वात नही है। सम्मिलित पूँजी वाली कम्पनियो की प्रवन्ध-कुशलता उस चरम सीमा पर पहुँच गई है कि हिस्सेदारों की उदासीनता के होते हुए भी उसका वहुत कुशल ढग से नेतृत्व और सचालन हो सकता है। जहाँ तक मजदूरो और अन्य कर्मचारियो का सम्वन्ध है, हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि उनकी स्थिति किसानो की स्थिति से वहुत अच्छी है क्योकि वे एक हो सकते हैं और अपनी माँगो को पूरा करवाने के लिए मजदूर-सघ जैसी सस्थाओ की स्थापना कर सकते हैं। अन्त में, जैसा कि लार्ड केन्स ने कहा था 'आधुनिक जायण्ट स्टाक सस्थाओ की प्रवृत्ति, आज जव कि वे इतनी पुरानी और इतनी विस्तृत हो गई हैं, व्यक्तिगत सस्था के स्थान पर एक सार्वजनिक सामाजिक सस्था का रूप धारण कर लेने की हो गई है। ऐसी व्यवसाय-सस्थाओ की सामान्य स्थिरता तथा ख्याति का अधिक महत्त्व माना जाता है, लाभाश का स्थान तो गौण माना जाता है।'[1] ऐसी परिस्थिति में जनता की आलोचना से वचने के लिए मजदूरो तथा उपभोक्ताओ के हित का ध्यान विशेष रूप से रखा जाता है। उपर्युक्त सभी वातों में भूमि की स्थिति सर्वथा भिन्न है, और यह मत कि सम्पत्ति चाहे जिस प्रकार की हो एक न्यास (ट्रस्ट) है, जिसकी व्यवस्था समाज द्वारा होनी चाहिए, अन्य प्रकार की सम्पत्ति की अपेक्षा भूमि के सम्बन्ध में अधिक लागू होता दिखाई पडता है। भारतीय जनता की वर्तमान असहाय अवस्था में तो इस विचार को प्रधानता देना तथा जमीदारो को ग्रामोन्नति के कार्यो के लिए एक बहुत ही प्रभावशाली तथा लाभदायक माध्यम बनाना अत्यन्त आवश्यक हो गया है। किसानो में जागृति फैलने के साथ-साथ यह समस्या आज पहले की अपेक्षा कही अधिक महत्त्वपूर्ण और आवश्यक हो गई है। बहुत से राज्यो ने तो किसानो की जमीदारो से रक्षा करने के उद्देश्य से अनेक कानून या तो लागू कर दिये है अथवा लागू करने का इरादा कर लिया है। यदि जमीदार समय की माँग को न समझेंगे और उसके अनुसार न चलेंगे तो उनके लिए केवल पैतृक सम्पत्ति होने के नाते भूमि पर अपना अधिकार जमाए रखना और उसे न्यायोचित सिद्ध

१ लार्ड केन्स कृत 'द एण्ड ऑफ लेजे फ़ेयर' पृष्ठ ४२-४३।

करना कठिन होगा ।[1]

प्रविधि तथा उपस्कर

६. प्रविधि : कृषि की विधियाँ—भारतीय किसान प्रायः विस्तृत खेती की प्रणाली का अनुसरण करता है जो कि उसकी औसत जोत की छोटाई देखते हुए अनुपयुक्त है। इसी का परिणाम है कि उत्पादन जितना होना चाहिए उससे बहुत कम होता है। इस सम्बन्ध में भारतीय स्थिति का जापान की स्थिति से अन्तर बताते हुए सर एम० विश्वेश्वरय्या लिखते हैं कि "यद्यपि जापान खाद्यान्न की दृष्टि से पूर्णतया आत्मनिर्भर नही है फिर भी वह १७० लाख एकड भूमि पर ५६० लाख की आबादी का सामान्यतः भरण-पोषण करता है, अर्थात् प्रति व्यक्ति $\frac{1}{3}$ एकड भूमि पर, जब कि भारत में प्रति व्यक्ति $\frac{5}{6}$ एकड भूमि पडती है।" जापान में बडी कुशलता के साथ धनी खेती की प्रणाली पर करीब-करीब बाग लगाने की तरह ही खेती की जाती है और इसी प्रकार की धनी खेती अपनाने से भारतीय किसान का भी कल्याण हो सकता है। ऐसा करने में अन्य बातो के अतिरिक्त स्थायी उन्नति के साधनो, जैसे सिचाई आदि, पर अधिक व्यय की आवश्यकता होगी और होशियारी के साथ बीजो का चुनाव करके अधिक लाभदायक ढग से फसलो का हेरफेर करके तथा पर्याप्त मात्रा में खेतो में खाद देकर कृषि-कार्य को अधिक दक्षता से करना होगा। स्थायी उन्नति के साधनो और सिचाई की सुविधाओ के विषय में तो पहले ही बताया जा चुका है। जहाँ तक खेती के कार्य में दक्षता का प्रश्न है यद्यपि कही-कही किसानो की दक्षता बहुत ही ऊँचे स्तर की दृष्टिगोचर होती है, परन्तु अधिकाश भागो में अभी भूमि के तैयार करने, बोने, गोडने, निराने, पौधो के बीच अन्तर डालने तथा फसल काटने के ढगो मे उन्नति करने की बहुत गुजायश है। शुद्ध और अच्छी जाति के बीजो की बहुत बडी महत्ता है, पर प्रायः या तो किसान बीजो के चुनाव में काफी सावधान नही रहते अथवा इसकी महता जानते हुए भी अच्छे बीज प्राप्त नही कर पाते। बहुत सी बीज-समितियाँ और बीज बाँटने वाले फार्म है, पर इनकी सख्या देश के हर भाग में किसानो को पर्याप्त मात्रा में अच्छे बीज दे सकने के लिए कई गुणा अधिक करनी होगी। कृषि आयोग ने कृषि-निर्देशक (डाइरेक्टर ऑफ एग्रीकल्चर) के अधीन सहायक कृषि-सचालक की देखरेख में एक बीज बाँटने तथा बीजो की परीक्षा करने की अलग सस्था स्थापित करने की सम्मति दी थी।[2] फसलो के हेरफेर के कौशल में पहले की अपेक्षा निश्चित रूप से उन्नति हो गई है। तुरन्त लाभ प्राप्त कर लेने की आकाक्षा के कारण बहुत से स्थानो पर गेहूँ और रुई आदि की फसलो पर ही सारे प्रयत्न केन्द्रित कर दिए जाते है। यह अस्वस्थ मनोवृत्ति है और इससे अत में हानि ही होती है। इसका दुष्परिणाम निस्सन्देह किसान का फसलो के विचारपूर्ण हेरफेर की आवश्यकता की ओर ध्यान आकृष्ट करेगा ही, पर प्रचार द्वारा भी इस दिशा में कुछ किया जा सकता है। इधर कुछ दिनो से

---

१. यह सेक्शन केवल उन्हीं लोगों के लिए लागू समझना चाहिए जहा जमींदारी प्रथा का उन्मूलन अभी तक नहीं हो सका है।—अनुवादक

२. कृषि आयोग रिपोर्ट, पैरा १०३।

रबी की फसल में मूँगफली की फसल का हेरफेर किया जा रहा है और इस फसल से तुरन्त लाभ प्राप्त कर लेने की सुविधा ने इसमे योग भी दिया है। फसलो में हेरफेर की नियमित प्रणाली में ढोरो के लिए चारा पैदा करने वाली फसलो को स्थान देने की सम्भावना पर, विशेष रूप से ढोरो के चारे की वर्तमान कठिनाई को ध्यान में रखते हुए, विचार करना आवश्यक होगा।

हमारे देश में कृषि के काम में आने वाले उपकरणो का विकास करने की बहुत आवश्यकता है। खेतो में काम करने के लिए पानी खीचने, आटा पीसने, तेल और गन्ना पेरने के लिए बैलो के स्थान पर अब यान्त्रिक शक्ति का प्रयोग होना चाहिए।

१०. खाद[1]—खाद तथा खेती की उर्वरा-शक्ति बढाने वाली वस्तुओ का प्रयोग भूमि का उत्पादन बढाने का बहुत बडा उपाय है, विशेषकर आज की परिस्थिति मे जब इतने अधिक लोगो के पालन-पोषण का भार भूमि पर आ गया है। यदि, भूमि में पर्याप्त मात्रा में खाद नही पडी है तो इसके लिए सदैव किसान ही दोषी नही है। यदि सिंचाई के साधन अप्राप्य है तो सूखी भूमि को खाद देना बिलकुल बेकार है। यह भी सम्भव है कि जैसी खाद किसी भूमि-विशेष को चाहिए वैसी खाद पर्याप्त मात्रा में न मिल सके, या उसका मूल्य इतना अधिक हो कि उसका खरीदना साधारण किसान की शक्ति के बाहर हो। यह सब होते हुए भी यह कहा जा सकता है कि भूमि को उचित खाद देने की तथा खाद के सुरक्षित रखने की समस्या के प्रति इस देश में बहुत उदासीनता दिखाई गई है। भारतीयो की हानिकारक आदतो में से एक गोबर को जलाने की आदत भी है। इसको रोकना परमावश्यक है, और यदि यह कहा जाय की कृषि-क्षेत्र के गोबर को बिना जलाए काम नही चल सकता[2] तो इसके लिए यह आवश्यक है कि इस प्रकार जलाने के लिए अन्य प्रकार के ईधन ढूँढ निकाले जायँ। गाँव के आस-पास बेकार पडे हुए मैदानो में ईधन की जगह काम आने वाले पेड लगवाने चाहिएँ और यथासम्भव गाँव के निकट वन-विभाग तथा स्थानीय सस्थाओ द्वारा ईधन-भण्डार स्थापित किये जाने चाहिएँ। ईधन की सप्लाई बढाने के लिए जगल लगवाने तथा उसके लिए सस्ते रेलभाडे की सम्भावना पर पूरी तरह विचार होना चाहिए। पशुओ का मूत्र यो ही बहकर बेकार हो जाने दिया जाता है और विष्ठा को खाद की तरह प्रयोग करने की अभी भी लोगो में बडी अरुचि है यद्यपि धीरे-धीरे यह कम हो रही है। भारतीय किसान को चीनी तथा जापानी किसान से कम्पोस्ट खाद बनाने के सम्बन्ध में बहुत कुछ सीखना है। चीन में कोई भी ऐसा स्थूल पदार्थ नही जो अन्त में खाद के रूप में भूमि की भेंट न कर दिया जाता हो।

---

१ कृषि-आयोग रिपोर्ट, पैरा ८०-९५ देखिए, तथा एग्रीकल्चर एण्ड एनीमल हस्बेण्ड्री इन इण्डिया (१९३५-३६), इण्डिया इन १९३४-३५, पृ० १०-११ भी देखिए।

२ गाय के गोबर का ईंधन की तरह प्रयोग केवल इसीलिए होता है कि कोई दूसरा ईंधन प्राप्त नहीं है। कभी-कभी यह बात बड़े अविचार और अरुचि के कारण भी होती है। उदाहरण के लिए पजाब में यह विश्वास है कि बिना कण्डों पर दूध गरम किये हुए घी नहीं निकाला जा सकता। (देखिए, एफ० एल० ब्रेन, रिमेकिंग ऑफ विलेज इण्डिया, पृ० ६।)

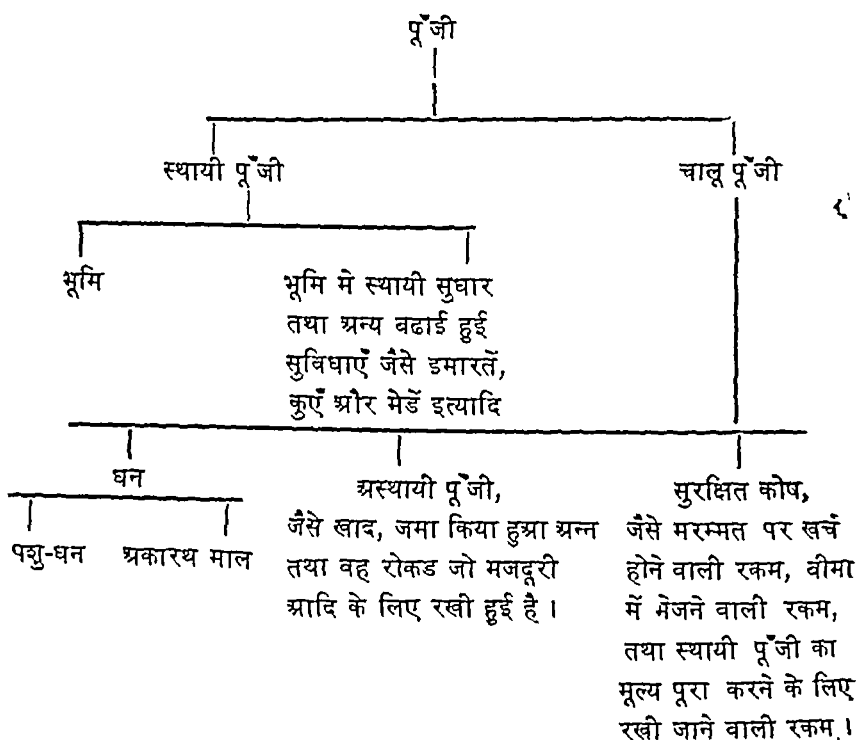
गाँव के कूडे-करकट, ईख की खोइया, जलकुम्भी और गाँव में पाई जाने वाली अन्य वस्तुओ से किस प्रकार कम्पोस्ट खाद बनाई जा सकती है, इसकी छानबीन करनी चाहिए। इस बात का प्रयत्न करना चाहिए कि ग्रामवासी छोटी-छोटी खाइयाँ खोदकर उनका शौचालय के रूप में प्रयोग करने लगें और गाँव के कूडे-करकट आदि को भी उन गड्ढो में फेंका करें, जिससे गाँव की सफाई भी रहे और साथ ही खाद का सुरक्षण भी। विष्ठा तथा हरी पत्तियाँ तथा बटोरकर फेंके हुए कूडे-करकट का यदि पूरा-पूरा प्रयोग खेती के लिए खाद के रूप में करना अभीष्ट है तो अनेक नगरो में प्रचलित पानी के बहाव के वर्तमान ढग को पूर्णतया बदल देना होगा जिससे इस प्रकार की सभी खाद बनाने योग्य वस्तु बहकर नदी अथवा समुद्र की राह लेती है। कोयले के साथ मिलाकर विष्ठा का पाउडर के रूप में किसानो को खाद की तरह प्रयोग करने के लिए प्राप्त होना सबसे कम अप्रिय ढग हो सकता है। इस सम्बन्ध मे नासिक मे जो ढग अपनाया गया है उस पर अन्य नगरपालिकाएँ भी सोचें-विचारें तो उनका श्रम सार्थक हो सकता है। फसलो के हेरफेर में सयुक्त नाइट्रोजन की प्राप्ति के लिए शिम्बिकुल्य फसलो का महत्त्व भारतीय किसान को हमेशा से ज्ञात रहा है। कृपि-विभाग को इस बात की खोज करनी चाहिए कि किस प्रकार शिम्बिकुल्य फसलो का प्रयोग भूमि की उर्वरता बढाने के लिए किया जा सकता है। हरे पत्तो वाली खाद के विषय में भी खोज आवश्यक है। हड्डी की खाद, मछली की खाद तथा वधशाला के कूडे-करकट के प्रयोग के बारे में भी परीक्षा होनी चाहिए। वास्तव में भूमि की उर्वरता बढाने वाली सभी वस्तुओ के सम्बन्ध में अनुसन्धान होना चाहिए ताकि किसानो को उनके प्रयोग के सम्बन्ध में निश्चित सलाह दी जा सके। कार्बनिक तथा अकार्बनिक खाद किसानो को सस्ते दामो में मिल सके, इस बात का प्रयत्न होना आवश्यक है।

नहरो तथा अन्य साधनो द्वारा सींचे जाने वाले भागो में अमोनियम सल्फेट, अस्थि-चूर्ण, मछली और खली आदि की खाद का प्रयोग उत्तरोत्तर बढता जा रहा है। इसके लिए हमें कृषि-विभाग के प्रचार-कार्य का कृतज्ञ होना चाहिए। यह निश्चय किया गया कि सिन्दरी में प्रतिवर्ष ३,५०,००० टन अमोनियम सल्फेट खाद तैयार करने वाला कारखाना खोला जाय। यह आशा की गई थी कि सन् १९५० के अन्त तक यह कारखाना पूरा उत्पादन करने लगेगा।[1]

उपस्कर

कीटिंग महोदय का निम्न वर्गीकरण भिन्न-भिन्न साज-सामान का विवरण देता है जो एक किसान के पास होना चाहिए .

१. सिंदरी के कारखाने से ७ फरवरी १९५२ से अमोनियम सल्फेट के बोरे बाहर जाने लगे है। दैनिक औसत उत्पादन १००० टन है।



कीटिंग का कथन है कि "अगर किसी व्यक्ति के व्यवसाय को सुदृढ रूप से चलाना है और भूमि से अधिक-से-अधिक लाभ लेना है तो ऊपर बताई हुई प्रत्येक प्रकार की पूँजी का चाहे जैसे भी हो, होना आवश्यक है, और प्रत्येक प्रकार की पूँजी को ठीक-ठीक समझने पर ही हिसाब ठीक ढग से रखा जा सकता है तथा लाभ और हानि के वास्तविक सूत्रो को समझा जा सकता।"[1]

११. औज़ार[2]—भारतीय किसान आज भी अधिकतर प्राचीन सादे औज़ारो का प्रयोग करता है। ये औज़ार बहुत सस्ते, हल्के एक स्थान से दूसरे स्थान तक सरलता से ले जाने योग्य, सुगमता से बनाए जाने तथा बिगडने पर सुधारे जाने योग्य और खीचने वाले बैलो की शक्ति के अनुरूप हैं, परन्तु अधिक उत्पादन तो उन्नत औज़ारो के प्रयोग पर निर्भर है। लोहे के हल तथा गन्ना पेरने की चर्खी, छोटे-छोटे पानी खीचने वाले पम्प, पानी चढाने वाली मशीन का प्रयोग किसी सीमा तक आरम्भ हुआ है पर इस दिशा में अभी बहुत-कुछ करना बाकी है। अन्य अच्छे औज़ार, जिनका वितरण किया गया है कुदाल, फावडे, बीज बोने के चोगे या नली और चारा काटने की मशीनें इत्यादि हैं। अमेरिकी कृषि की अधिकाधिक यन्त्रो के प्रयोग की रीति भारत के लिए अनुपयुक्त है, क्योंकि यहाँ के किसानों के पास छोटे-छोटे भूमि के टुकडे ही हैं। परन्तु ये कठिनाइयाँ सहकारी खेती तथा सयुक्त खेती प्रथा द्वारा बहुत-कुछ मिटाई जा सकती

१ रूरल इकानॉमी इन द बाम्बे डेकन, पृष्ठ १०३-४।
२ कृषि आयोग रिपोर्ट, पैरा १०७-१० देखें।

हैं। वम्बई राज्य के दक्षिणी भागो में गहरी जडो वाली हारीची घास को उखाडने के लिए ट्रैक्टरो का प्रयोग किया जा रहा है। खेती के औज़ारो का अपने हाथो या पशुओ के द्वारा प्रयोग किया जाता है, उनके सुधार की भी बहुत आवश्यकता है। बडी सख्या में सभी किसानो द्वारा नये ढग के औज़ारो के प्रयोग के लिए बहुत व्यापक और गहरे प्रचार की आवश्यकता है, क्योकि किसी एक किसान द्वारा उनके प्रयोग करने में सबसे बडी बाधा उसकी हँसी उडाए जाने की तथा झक्की कहलाने की प्रथा है। विकसित औज़ारो के प्रयोग का प्रचार बढाने का कार्य कृषि विभागो, कृषि-सस्थाओ तथा सहकारी समितियो के कार्य-क्षेत्र के अन्तर्गत है। यह अत्यन्त वाञ्छनीय होगा कि ये सब सस्थाएँ मिलकर समन्वित रूप से कार्य करें। कृषि-विभागो को नये विकसित औज़ार सस्ते दामो पर देने की सम्भावना पर—जैसे उन औजारो के लकडी वाले हिस्सो को अधिक मात्रा में बनवाकर—विशेष रूप से विचार करना चाहिए। जिन औज़ारो का प्रयोग हो रहा है उनमें सुधार करने का ध्येय हमारे सामने होना चाहिए, न कि नये औज़ारो के आविष्कार का। अनावश्यक ढग से औज़ारो की सख्या बढाने से किसान भ्रान्ति में पड सकता है और उसके मन में कृषि-विभाग की सलाह के प्रति सन्देह उत्पन्न हो सकता है। रेल के अधिकारियो को भी कृषि-सम्बन्धी औज़ारो और मशीनो के किराये में छूट देने के प्रश्न पर अत्यधिक सहानुभूति से विचार करना चाहिए। कृषि-विभाग ने एक लाभकारी कदम उठाया है और वह है किसानो को सलाह देने के लिए और मशीनें—खास तौर से सिंचाई के यन्त्रादि—लगाने का प्रवन्ध करने के लिए कृषि-इजीनियरो की नियुक्ति है। सस्ते और पाश्चात्य देशो की तुलना में सादे औज़ारो के वनाने के प्रति भी ध्यान दिया जा रहा है। नये औजारो से पूरा-पूरा लाभ उठाने के लिए यह आवश्यक है कि उन औजारो का देश मे ही निर्माण हो और इस बात का आश्वासन हो कि उनके मरम्मत आदि के लिए उनके अतिरिक्त हिस्से भी यही प्राप्त हो सकेंगे। कृषि-आयोग ने यह सम्मति दी थी कि यदि लोहे और इस्पात पर लगाये हुए सरक्षण-कर के कारण भारत मे लोहे से सामान वनाने मे वाधा पडती है तो जो लोहा या इस्पात कृषि-सम्बन्धी औजारो और मशीनो के निर्माण के लिए विदेशो से मँगाया जाय उस पर छूट दे दी जाय। यदि इस ओर विशेष गम्भीरता से प्रयत्न किया जाय—जिसमें राज्य की ओर से देशी कार-खानो को आर्थिक सहायता भी सम्मिलित होगी—तो इन औजारो के लिए विदेशो पर निर्भरता वहुत-कुछ कम हो जायगी या उसका अन्त हो सकता है।[1]

१२. पशुधन[2]—भारतीय कृपको के पशुधन का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग उनके ढोर हैं। "उनके विना किसान के खेत जोते नही जा सकते। उनके खत्ती और खलिहान खाली पडे रहते हैं, और खाने-पीने का मजा अधूरा रह जाता है, क्योकि शाकाहारी देश मे घी, दूध

१. १६३८ की उद्योग-मन्त्रियों की दिल्ली कॉन्फ्रेन्स ने औजारों के देश में वनाये जाने पर बहुत जोर दिया था।

२. देखिए, एग्रीकल्चर एण्ड एनीमल हस्वैण्डरी इन इण्डिया (१६३५-३६), पृ० २४०-५४, तथा एनुअल रिपोर्ट ऑफ द डिपार्टमेण्ट ऑफ एग्रीकल्चर, वम्बई (१६३६-४०), पैरा ५०-६१।

और मक्खन न मिलने से अधिक दुर्भाग्य की बात और क्या हो सकती है ?"[1] भारत में हल प्राय: सर्वत्र बैलो ही द्वारा चलाए जाते हैं और पानी खीचने का भी काम उन्ही के द्वारा चलता है। उन्ही से खाद—जिसका कि खेतो में प्रयोग होता है—प्राप्त होती है। बैलगाडी हाँकना भी—और गाँवो में यही एक सहायक धन्धा है—इन्ही पर निर्भर है। भार-वहन करने के लिए स्वस्थ और बलिष्ठ पशुओ की आवश्यकता है। व्यवस्थित डेरी उद्योग के विकास के लिए, जिसे लोग भारत के गाँव वासियो के लिए बहुत ही लाभदायक सहायक उद्योग समझते है, पशुओ के सुधार की बडी आवश्यकता है। अन्त में यह कहा जा सकता है कि भारत जसे शाकाहारी देश के लिए, जहाँ दूध ही एक ऐसा सुलभ पदार्थ है जो लोगो के भोजन को स्वास्थ्यप्रद बना सकता है, दूध का प्राचुर्य अनिवार्य है। स्वस्थ और प्रचुर पशु-धन की भारत को कितनी अधिक आवश्यकता है, इस बात के महत्त्व को समझते हुए भी इस सम्बन्ध में अभी बहुत-कुछ करना बाकी है।[2] यद्यपि देश में पशुओ की सख्या आवश्यकता से अधिक है पर प्राय वे इतने निर्बल और भूखे रहते है कि देश में पशु-शक्ति की बहुत बडी कमी आ गई है। प्रति १०० एकड जोती-बोई भूमि के पीछे ६७ पशु रहते है। जोती जाने वाली भूमि के स्वरूप, कूप द्वारा सिंचाई की सीमितता, झाडी और जगलो के क्षेत्र का विस्तार, गाँव की जनसख्या तथा खेतो का क्षेत्रफल आदि प्रतिकूल बातो को ध्यान में रखकर भी यदि अन्तर्राज्यीय पशुओ के वितरण पर विचार करें तो हम देखेंगे कि वह अत्यन्त विषम है। साधारण औसत का विचार करते हुए कृषि आयोग ने यह कहा था कि भारतीय पशु चाहे जितने दृष्टिकोणो से हीन हो पर सख्या में तो वे बढे-चढे ही है। देश के विस्तार के दृष्टिकोण से हालैण्ड में सबसे अधिक पशु है फिर भी उनकी सख्या प्रति १०० एकड खेती की भूमि पर ३८ ही है। मिश्र देश में भी, जहाँ पर खेती की परिस्थितियाँ हालैण्ड की अपेक्षा भारत के भू-भागों में पाई जाने वाली परिस्थितियो से अधिक समानता रखती है, प्रति १०० एकड २५ पशु पाये जाते है।[3]

कृषि-आयोग के मतानुसार भारत में पशुओ की सख्या एक दुरन्त-चक्र का-सा आभास देती है। "किसी जिले के पशुओ की सख्या बैलो की माँग द्वारा नियमित होती

---

१ डार्लिङ्ग, पूर्व उद्धृत, पृष्ठ ३०।

२ सन् १९१९-२० में सबसे पहली पचवर्षीय पशुगणना ब्रिटिश भारत में की गई थी। जनवरी १९३५ में की गई चौथी पचवर्षीय गणना की रिपोर्ट से यह प्रकट हुआ कि उस समय ब्रिटिश भारत में १५,३७,४५,००० गाय बैल थे। इस बार १९३० की गणना से करीब ५० लाख पशु सख्या में अधिक थे। इनमें से बहुत से आर्थिक दृष्टि से बेकार हैं। इसके बाद की पचवर्षीय गणना १९३९-४० में हुई जिसमें पशुओं की सख्या १४,७४,२४,००० बताई गई, पर यह सख्या बहुत से राज्यों और रियासतों के इस गणना में भाग न लेने के कारण अपूर्ण ही मानी जायगी। देखने से सन् १९४० की गणना के अनुसार पशु-सख्या में कमी लगती है जिसका कारण सन् १९३० में बाद के कृषि की पैदावार के मूल्य में कमी को बताया जाता है—फैमीन इन्क्वायरी कमीशन रिपोर्ट, पृष्ठ १७६-७७, इण्डियन ईयर बुक (१९४१-४२) पृष्ठ ३३० भी देखिए।

सन् १९५१ की पशु गणना के अनुसार भारत में पशुओं की सख्या १५,५०,९९,००० थी।

३ कृषि आयोग रिपोर्ट, पैरा १८८।

है। अच्छे पशुओ के पालन-पोषण की दशा जितनी ही बुरी दिखाई पडे उतनी ही अधिक सख्या में पशु पाले जाने की प्रवृत्ति होती है। गौओ में सन्तानोत्पत्ति की योग्यता घट जाती है और उनके बछडे नाटे कद के हो जाते है जिनसे किसान असन्तुष्ट रहता है, और काम आने लायक बैलो की प्राप्ति की आशा से अधिकाधिक बच्चे पैदा करवाता है। ज्यो-ज्यो पशुओ की सख्या बढती जाती है अथवा यो कहिए कि खेतो का विस्तार बढते-बढते अच्छे घास के मैदानो का अतिक्रमण करने लगता है। चारे की कमी के कारण गौएँ और अधिक दुर्बल होती जाती है और धीरे-धीरे ऐसी स्थिति सामने आ जाती है कि दूसरे राज्यो से बैल अथवा भैसे खेती के काम के लिए मँगाए जाते है जैसा कि बगाल में होता है।"[1]

१३ चारे की समस्या—भारत में पशुओ से केवल अधिक काम ही नही लिया जाता इसके साथ ही उनको भरपेट भोजन भी नही दिया जाता। यूरोप में पशु के लिए भोजन जुटाने का उत्तरदायित्व पशु के स्वामी का ही होता है। भारत में ऐसी बात नही है। यहाँ तो कदाचित् ही कोई किसान अपने पशुओ को स्वस्थ रखने का प्रयास करता दिखाई पडता है। इसमें कोई सन्देह नही कि यह प्रयास समय-समय पर अनावृष्टि होने से तथा चारे का अकाल पडने से बडा कठिन हो जाता है। दिसम्बर से जुलाई तक भारत के अधिकाश भागो में चारे की कमी रहती है। पशुओ की दशा मार्च और जून के बीच बहुत बुरी हो जाती है जबकि वे सूखे खेतो में तिनके चरते हुए दिखाई पडते है और अधिकाश पशु वर्षा होते-होते हड्डी की ठठरी-मात्र रह जाते है। जैसे ही वर्षा आरम्भ हो जाती है और हरी घास अकुरित होने लगती है, वे खूब खाना आरम्भ कर देते है, और उसके परिणामस्वरूप तरह-तरह की बीमारियो के शिकार हो जाते है। कीटिंग का यह कथन कि भारतवासियो के लिए चारे की उचित खेती, उसकी सुरक्षा तथा उसके आर्थिक प्रयोग का पाठ सीखना सबसे महत्त्वपूर्ण है। वास्तव में अनाज-उत्पादन से अधिक महत्त्व की समस्या चारे के उत्पादन की है, क्योकि चारा एक स्थान से दूसरे स्थान पर अपने बडे आकार और कम मूल्य के कारण आसानी से नही ले जाया जा सकता। विस्तृत हरे घास के मैदान वाला पुराना युग अब नही रहा और न अब उसके फिर से आने की आशा ही की जा सकती है, क्योकि अब कृषि का बहुत अधिक विस्तार हो गया है। वर्तमान घास के मैदानो का क्षेत्रफल तो नही बढाया जा सकता परन्तु यह सम्भव है कि उस जमीन की उत्पादकता बढाई जाय जिसमें अभी घास उगती है। यदि वन-विभाग पशुओ के चरने की तथा चारे की अधिक सुविधा प्रदान करके कुछ अधिक सहानुभूति दिखाए तो स्थिति कुछ सुधारी जा सकती है। चारे का अकाल पडने पर जगल से चारा प्राप्त कर सकने की सम्भावना की अच्छी तरह जाँच होनी चाहिए तथा चरने की सुविधा की अपेक्षा घास काट लेने की अनुमति देना अधिक उपयोगी समझना चाहिए। गाँव में सबके काम आने वाला चारे का मैदान एक तो बहुत छोटा होता है, दूसरे गाँववालो की लापरवाही के कारण तरह-तरह के निरर्थक पेड़-पौधो और झाडियो के उग आने से उसका क्षेत्रफल और भी कम होता जाता है। हमारे

१ वही, पैरा १६८।

विचार से तो सभी चरागाहो का अधिक-से-अधिक अच्छा उपयोग किया जाना चाहिए तथा उनमें खाद डालकर, बीज बोकर तथा चराई और खाद के आवर्तन से उनकी उपयोगिता बढाने का प्रयत्न करना चाहिए। हरे चारे की इतनी अधिक कमी को देखकर यह आवश्यक लगता है कि मिश्रित कृषि की सम्भावनाओ पर और विचार किया जाय। अब यह परमावश्यक हो गया है कि लोग इस बात की महत्ता को समझे कि मिश्री क्लोवर घास तथा शिम्बिकुल्य आदि चारे की फसलो की भी खेती की जानी चाहिए तथा घास के मैदानो को कायम रखना चाहिए। घास को सुखाकर सुरक्षित रखने अथवा हरी घास को ही सहरितालयो (सायलो) में सुरक्षित रखने की ओर भी ध्यान देना आवश्यक है। यह प्रयत्न होना चाहिए कि चारे का एक तृण भी व्यर्थ न जाय। इसके लिए चारा काटने की उपयुक्त मशीनो का प्रयोग होना चाहिए। सरकार को चाहिए कि पशुओ को बहुत अच्छे ढग से रखने तथा चारे को सुरक्षित रूप से रखने की आदत को इनाम देकर, मालगुजारी से छूट देकर या किसी और ढग से प्रोत्साहन दे। चारे के आर्थिक प्रयोग मे बेकार पशुओ की सख्या की कमी निहित है। लोग बहुत बडी सख्या में लगडी-लूली तथा लाती हुई गायें आधा पेट खिलाकर पाले रहते है। पाश्चात्य देशो में तो भोजन के लिए उनका वध कर दिया जाता है। भारत में ऐसे पशुओ के माँस की माँग बहुत ही कम है और बेकाम पशुओ के मारने के विरुद्ध किसान तथा सर्वसाधारण की भावना प्रबल है। किसान उनको मारता तो नही पर उनको भूखा रखने में उसे कोई आपत्ति नही है। इस सम्बन्ध में किसान के विचारो का सार यह है कि "तुम उन्हें मार नही सकते, पर उनको जिन्दा रखने के लिए प्रयत्न करने की भी आवश्यकता नही।" यदि इस सम्बन्ध में भारतीय किसान पाश्चात्य किसानो की ही तरह सोचने लगता तो यह उसके तथा उन पशुओ के लिए, जो ऐसी दुर्दशा में जीवित रखे जाते है, बडे हित की बात होती। परन्तु लोगो का यह विचार इतना गहरा है कि हमें सुधार के लिए अभी बहुत दिन प्रतीक्षा करनी पडेगी। दूसरा ढग चारे के अभाव को दूर करने का युग्म-उद्देश्य वाले पशुओ के प्रजनन का विकास करना है जिसके कारण भैंसें दूध देने के लिए आवश्यक हो जायेंगी।[1]

१४ पशु-अभिजनन—भारतवर्ष में प्राचीन युग में सर्वत्र पशुओ की नस्ल सुधारने वाले व्यक्ति पाये जाते थे, जिनका व्यवसाय ही यह था। परन्तु अब खेती के विस्तार के कारण चरने की सुविधा अप्राप्य हो जाने से उनकी सख्या बहुत कम हो गई है और अब पशु पालने के साथ-साथ पशु-अभिजनन उसका आवश्यक अग न होकर केवल सयोग की बात रह गई है। जनता में जिस ढग पर प्राय पशुओ का अभिजनन और पालन-पोषण हो रहा है उससे पशुओ की दशा उत्तरोत्तर गिरती जा रही है, जिसकी रोक के लिए यह आवश्यक है कि हमें निरन्तर पर्याप्त सख्या में अच्छे साँडो (वृषो) की उपलब्धि होती रहे। बैलो के नस्ल-सुधार के लिए यह आवश्यक है कि उन्हे अनिवार्य रूप से बधिया

---

१ कृषि आयोग ने इस सम्बन्ध में चेतावनी दी थी कि भारत में साधारण प्रजनन की कठिनाइयों के कारण द्वि उद्देश्य वाले प्रजनन के प्रयत्न में साधारण प्रजनन का कही विनाश न हो जाय (रिपोर्ट, पैरा ९७)।

कर दिया जाय। पशु-चिकित्सा विभाग ने इधर कुछ दिनो से इस महत्त्वपूर्ण कार्य का आरम्भ ऐसे ढंग से कर दिया है जिससे लोगो की धार्मिक भावना को किसी प्रकार का आघात नही पहुँचता।[1] उत्कृष्ट अभिजनन तथा सकरण के लिए पशुओ को अलग वन्द रखने की आवश्यकता है। गुजरात मे पशुओ की हालत अच्छी है। इसके विपरीत दक्षिण देश में आधे और चौथाई डीलडौल के पशु उल्टी ही स्थिति प्रदर्शित करते हैं। इस अन्तर का कारण यह है कि गुजरात में पशुओ को अलग वन्द रखने की रीति है। कुछ स्थानो में सहकारी अभिजनन समितियाँ स्थापित की गई है पर कुछ अधिकारियो का मत है कि इस प्रकार के कार्य में व्यक्तिगत रूप से ध्यान देने की आवश्यकता है और इसलिए यह काम सहकारी समिति की सहायता से नही हो सकता। केन्द्रीय और प्रादेशिक कृषि-मन्त्री पशु-अभिजनन की समस्या पर विशेप रूप से ध्यान दे रहे हैं ताकि कुछ ही समय में दूध देने वाले और भार वहन करने वाले दोनो प्रकार के उत्कृष्ट पशुओ की सख्या बढ जाय। केन्द्रीय और राज्यीय फार्मो में अभिजनन का कार्य किया जा रहा है (मद्रास में होसुर के ढोर-फार्म तथा पजाब मे "हिसार के ढोर-फार्म का नाम विशेष उल्लेखनीय है) ताकि उत्कृष्ट अभिजनन और उत्तम चारे की प्राप्ति तथा देशी और यूरोपीय अभिजात वृषो के सकरण के कारण अधिक दूध की उपलब्धि हो सके।[2] कृषि-अनुसन्धान-सस्थान (एग्रीकल्चरल रिसर्च इन्स्टीट्यूट) में जो कि १९३८ में पूसा से नई दिल्ली ले आया गया है, इन ढगो को अपनाने से शुद्ध साहीवाल नस्ल की गायो का दूध बहुत अधिक बढ गया है, और जो प्रयोग वहाँ पर किये जा रहे हैं, आशा है उनके परिणामस्वरूप सहीवाल-आयर शायर नस्ल के पशु उत्पन्न होगे जो भारतीय परिस्थितियो को सहने की कडी क्षमता में पूरे उतरेंगे। वडे-वडे जमीदारो की अरुचि इस दिशा में प्रगति की वाधक है, इसलिए इस कठिनाई पर वडे-वडे पदधिकारियो की सहायता से विजय पानी चाहिए, क्योकि वे प्राय जमीदारो पर प्रभाव डाल सकते हैं। जमीदारो के लडको को यदि अधिक प्रयोगात्मक और वैज्ञानिक शिक्षा दी जाय तो यह आशा की जा सकती है कि गाँव के आर्थिक जीवन के प्रति जमीदारो की उदासीनता मिट जायगी।[3]

---

१. वम्बई के १९३३ के 'लाइव स्टॉक इम्प्रूवमेंट ऐक्ट' ने यह सुविधा दे रखी है कि गाँवों में नाटे वैलों को अनिवार्य रूप से स्थानीय सस्थाओं के कहने पर वधिया कर दिया जाय। १९४० में यह कानून ७७ गाँवों में लागू किया गया था। ऐसा कहा जाता है कि गाव वालों के सहयोग से इस कानून का वड़ा सन्तोपजनक प्रयोग गाव के पशुओं के स्तर को वढाने में हुआ है।—वम्बई की कृषि-विभाग की वार्षिक रिपोर्ट (१९३९-४०), पैरा ५४।

२ देखिए, इण्डिया इन १९३४-५, पृष्ठ १७।

३ पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत पशुओं के सुधार और उन्नति के लिए अनेक व्यवस्थाएँ की गई हैं। इनके अन्तर्गत 'आधार-ग्राम' योजना (की विलेज स्कीम), गोसदन की स्थापना तथा पशु-चिकित्सालयों का खोलना आदि है।

आधार-ग्राम योजना के अन्तर्गत सारे देश में इस प्रकार के कुछ केन्द्र खोले जायँगे। प्रत्येक केन्द्र में ३-४ ग्राम सम्मिलित होंगे। इन केन्द्रों में अभिजनन केवल श्रेष्ठ जाति के साडों तक ही सीमित रहेगा तथा अन्य साँड़ या तो हटा दिये जायँगे या नपुसक कर दिये जायँगे। साड़ों की सख्या कम करने के

१५. पशु-चिकित्सा विभाग—पशुओ की बीमारियो से बहुत अधिक प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष हानि होती है। पशुओ की मृत्यु से होने वाला घाटा गाँव वालो के कर्ज़ में दवे रहने का एक बहुत बड़ा कारण है। जीवित बचे रहने वाले पशुओ की अशक्तता और भी अधिक गम्भीर विचारणीय समस्या है। पशुओ के जीवन की अनिश्चितता किसानो को आवश्यकता से अधिक पशु पालने के लिए विवश करती है जिन्हे वह भरपेट चारा तक नही खिला सकता, इसलिए पशुओ की उत्कृष्टता की ओर उसका ध्यान नही जाता। जमीदारो के मन मे पशु-अभिजनन के कार्यो के प्रति अरुचि होने का यह भी एक कारण है।[1] अब हमें पशुओ की भयानक मृत्यु-सख्या और बीमारी कम करने के लिए किये जाने वाले पशु-चिकित्सा-विभाग के कार्यो पर दृष्टिपात कर लेना चाहिए। पशु-चिकित्सालय तथा अन्य चिकित्सालयो में जितने पशुओ की चिकित्सा होती है तथा इधर-उधर घूमने वाले जितने पशुओ का डाक्टरो द्वारा उपचार किया जाता है, उनकी सख्या उत्तरोत्तर बढती जा रही है। इससे यह प्रकट होता है कि जनता चिकित्सा-विभाग की इस आवश्यक सेवा का मूल्य समझने लगी है।[2] पशु-चिकित्सा-विभाग की रोगाक्रान्त क्षेत्रो में पशुओ को अनिवार्य रूप से सीरा और वेक्सीन का टीका लगाकर सक्रामक रोगो से निर्भय कर देने वाली सेवा कम महत्त्व की बात नही है। यहाँ पर भी किसानो की टीका लगवाना नापसन्द करने की प्रवृत्ति धीरे-धीरे कम हो रही है, क्योकि अब उनकी समझ में इस उपचार की उपयोगिता आ गई है। मद्रास में पशु-महामारी (रिण्डरपेस्ट) को रोकने का प्रयत्न किया गया है। इस बीमारी का भारतवासियो को सबसे अधिक भय है। उसी राज्य में जिलाधीश द्वारा नामाकित गावो में सीरम का टीका लगाने की बात कानून द्वारा वैध मान ली गई है। चूँकि यह बीमारी सर्वत्र फैल जाती है इसलिए बीमार पशुओ को अलग करके रखना भी असम्भव है, और स्वस्थ पशुओ को बीमारी लग जाने पर मरवा डालने की बात तो हिन्दुओ में सोची भी नही जा सकती। इसलिए बीमारी के उद्गम के विनाश करने की अपेक्षा पशुओ को ही बीमारी से बचाने का प्रयत्न करना चाहिए। टीका लगवाना अनिवार्य कर देना

लिए कृत्रिम गर्भाधान का प्रयोग भी किया जा रहा है। योजना की अवधि में ६०० आधार-ग्राम योजना तथा १५० कृत्रिम-गर्भाधान केन्द्र खोले जायँगे। सन् १९५३-५४ के अन्त तक ३४५ आधार ग्राम तथा ११२ कृत्रिम गर्भाधान केन्द्र स्थापित किये गए।

गोसदनों की स्थापना का उद्देश्य वृद्ध तथा अनुत्पादक पशुओ को अलग करना है। योजना के अन्तर्गत १६० गोसदनों की स्थापना की व्यवस्था है जिसमें १८ गोसदनों की स्वीकृति १९५२-५३ में दी जा चुकी है जिसमें से केवल १० गोसदन १९५३-५४ के अन्त तक स्थापित हुए। सन् १९५३ में केन्द्रीय सरकार द्वारा स्थापित गोसवर्धन की केन्द्रीय-परिषद् की रजिस्ट्री की गई।

लखनऊ में सन् १९५१ में खाद्य और कृषि सस्था (एफ० ए० ओ०) के सम्मेलन में भी, जिसमें १३ देशों ने भाग लिया था, राज्य सरकारों द्वारा अन्वेषण-केन्द्र तथा प्रयोग के लिए पशुओं के आयात आदि की सिफारिशें की थीं ताकि पशुओं में सुधार हो। उनका विचार था कि प्रत्येक देश को अपनी आर्थिक क्षमता के अनुसार ही पशु रखने चाहिए।

१ कृषि आयोग रिपोर्ट, पैरा २३६।

२ एग्रीकल्चर एण्ड ऐनीमल हस्बैण्ड्री इन इण्डिया (१९३५-३६), पृष्ठ २४८-९।

तो वर्तमान समय में अनुपयुक्त होगा। इसलिए कृषि विभाग ने रिण्डरपेस्ट महामारी के नियत्रण के लिए टीका लगाने की 'सीरम एलोन' प्रणाली की तुलना मे 'सीरम साइ-मल्टेनिअस' प्रणाली को प्रयोग में लाने की सम्मति दी है।[1] निरोधक टीके के लिए कोई फीस लेने की आवश्यकता न होनी चाहिए। भारत में पशु-चिकित्सा की सुविधाएँ बहुत ही कम है, इसलिए कृषि-आयोग ने हर जिले मे छोटे-छोटे दवाखानो के साथ केन्द्रीय पशु-चिकित्सालय खोलने की सिफारिश की थी, जो जिले के अन्दर गाँवो मे अपना काम करे। इन दवाखानो में काम करने वालो की सख्या बढाकर उन्हे गाँवो में दौरा करने का काम भी देना चाहिए। पशु-चिकित्सा सम्बन्धी सभी ग्रेड के पदाधिकारियो की सख्या में वृद्धि होनी आवश्यक है। मुक्तेश्वर इन्स्टीट्यूट[2] में पशु-चिकित्सा सम्बन्धी शोध केन्द्रित होना चाहिए।[3]

१६. सुरक्षित पूँजी[4]—यदि भारतीय कृषि को सुदृढ व्यापारिक नियमो के अनुसार व्यवस्थित करना है तो अन्य उद्योगो की तरह उसकी भविष्य की आवश्यकताओ का प्रबन्ध तथा बीमा और देय-शोधन-कोष की स्थापना करना आवश्यक है। यह तो सर्वविदित है—विशेषकर ऐसे भागो में जहाँ पर वर्षा अनिश्चित है, जैसे बम्बई(दक्षिण)—कि कृषि में नियमित रूप से अच्छी, साधारण और खराब फसलो के वर्ष आवर्तन में आया करते है। अकाल जैसी विपदाओ का सामना करने का उचित प्रबन्ध न होने के कारण इनसे जनित कठिनाई व दुर्दशा और भी अधिक हो जाती है। इसी प्रकार अनुत्पादक कर्जो को अदा करने की भी कोई नियमबद्ध प्रणाली नही है और न औजारो तथा खेत में किये हुए स्थायी सुधारो को पूरा करने का ही कोई ढग दिखाई पडता है।

---

१ पदाधिकारियों का विश्वास है कि नियमित रूप से काम करने से अब ऐसी स्थिति आ गई है कि यदि आवश्यकतानुकूल सख्या में काम करने वाले व्यक्ति मिल जायँ तो पशुओं की महामारी रोग की रोकथाम अपेक्षाकृत बहुत कम खर्चे में ही की जा सकती है।

२. कृषि आयोग की रिपोर्ट, पैरा २३७।

३ पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत पशु-चिकित्सालयों की सख्या इस प्रकार बढाने की व्यवस्था है ताकि १६५५-५६ में उनकी सख्या बढकर २६४० हो जाय। योजना की प्रगति सम्बन्धी रिपोर्ट (१६५३-५४) के अनुसार निम्न राज्यों में जो नये पशु-चिकित्सालय खोले गए उनकी सख्या नीचे दिखाई गई है—

हैदराबाद	५२
पैप्सू	२५
विन्ध्यप्रदेश	१८
हिमाचलप्रदेश	७
मध्यप्रदेश	४७
उड़ीसा	१०
बिहार	१४
कुल	१७३

राजस्थान और मध्यभारत में कोई नये चिकित्सालय नहीं खोले गए, यद्यपि वहां उनकी बहुत आवश्यकता है। बम्बई और आसाम में भी कोई नये चिकित्सालय नही खोले गए। शेष राज्यों से इस सम्बन्ध में सूचना प्राप्त नहीं है।

४ देखिए, कीटिंग, पृष्ठ १४१-४५।

यदि इन आवश्यकताओ के लिए कोई देय-शोधन-कोष का प्रबन्ध किया गया हो तो उस धन को बेकार अथवा रोकड मे रखने की आवश्यकता नही है। उसका प्रयोग पशु-अभिजनन अथवा ईंधन के लिए पेड लगवाने में कर लेना उचित होगा जहाँ से आवश्यकता पडने पर रुपया तुरन्त वापस किया जा सके।

भारत में कृषि-बीमा की जडें अभी गहरी नहीं उतर पाई है। पर यह तो मानी हुई बात है कि भविष्य में चारे के प्रबन्ध के लिए, कृषि-क्षेत्र-भवन के निर्माण के लिए, फसलो तथा पशुओ के हित में इनका बीमा करा लेना एक अत्यन्त आवश्यक पूर्वोपाय है। पशुओ और चारे के सम्बन्ध में बीमा अत्यन्त आवश्यक है। खलिहान में बहुधा आग लग जाने तथा पशुओ के मर जाने के कारण आवर्ती हानियाँ बेहद होती है। सहकारिता के आधार पर पशु-बीमा का आरम्भ हाल ही में हुआ है। बीमा और देय-शोधन-कोष का नियमित रूप से प्रबन्ध न हो सकने पर, जिसके किसानो द्वारा अपनाये जाने के लिए बहुत प्रतीक्षा करनी पडेगी, दूसरी सर्वोत्तम योजना किसानो को अपनी जोत पर इमारत बनाने के लिए प्रोत्साहित करना होगा, "ताकि वह अपनी सम्पत्ति की रक्षा के लिए उस स्थान उपस्थित रह सके, अकाल से पशुओं की रक्षा के लिए चारा सुरक्षित रख सके, यदि कभी कोई सक्रामक रोग फैल जाय तो अपने पशुओ को उसी में रखकर बीमार पशुओ से दूर रख सके और एक सिंचाई के लिए कुआँ बनवा सके जिसके प्रयोग से वह अनावृष्टि-काल में अपने को बेकारी से बचा सके।"[1]

संगठन

१७. ग्रामीण उद्योगों की महत्ता—कृषि को व्यवस्थित करने की उतनी ही आवश्यकता है जितनी कि किसी और उद्योग को, पर भारतीय कृषि आन्तरिक और वाह्य सगठन के दृष्टिकोण से बडी दुरवस्था में है। आन्तरिक सगठन की कुछ समस्याओ, जैसे आर्थिक जोत, स्थायी सुधार आदि पर पहले ही प्रकाश डाला जा चुका है। दूसरा बडा दोष सहायक उद्योगो का अभाव है।

कृषि-कर्म के ऋतु पर निर्भर होने के कारण बहुत अधिक मात्रा में कृषि-श्रम व्यर्थ हो जाता है। उन भागो को छोडकर जहाँ सिंचाई की सुविधाएँ प्राप्त है और जहाँ पर किसान के लिए यह सम्भव है कि वह 'हर महीने में कुछ-न-कुछ बो और काट ले अथवा निराई और सिंचाई में व्यस्त रहे', अन्यत्र साधारणतया किसान को पूरे वर्ष-भर काम करने का अवसर नही होता है। यह अवकाश-काल कितना होता है इस बारे में भिन्न-भिन्न अनुमान लगाये गए है जो प्रतिवर्ष १५० दिन से लगाकर २७० दिन तक के है। श्री ई० एच० एच० ऐडी ने, जो कि उत्तरप्रदेश के जनगणना अधिकारी थे, अपनी १९२१ की रिपोर्ट में लिखा कि "इस देश की अधिकाश जनता खेतिहर है और यहाँ खेती करने का अर्थ प्रतिवर्ष दो फसलें बोने और काट लेने से है। इगलैंड में प्रचलित मिश्रित कृषि जैसी कोई चीज यहाँ देखने को नही मिलती। इस प्रकार के कृषि-कर्म में थोडे-थोडे दिन के लिए बडे कठिन परिश्रम की आवश्यकता होती है—प्राय दो बार बोना और दो बार काटना तथा वर्षा काल में कभी-कभी निराना और शीतकाल

१. देखिए, कीटिंग, पृ० १४५।

में तीन वार सिंचाई करना—और वर्ष में शेप समय हाथ-पर-हाथ धरे बैठे रहना ही भारतीय किसानो का कार्यक्रम है। सदिग्ध वर्षा वाले भागो में सम्पूर्ण ऋतु-भर अथवा पूरे वर्ष-भर भी वे बेकार रह सकते है। यह काल प्राय आलस्य मे ही विता दिये जाते है।" डॉ० स्लेटर के अनुसार सारे दक्षिण के भू-भागो को ध्यान में रखते हुए किसानो के लिए जो काम का काल नियत समझा जाता है उसका केवल ५/१२वाँ भाग ही वास्तविक रूप से काम का समय है। श्री जे० सी० जैक अपनी पुस्तक 'इकनामिक लाइफ ऑफ ए वगाल डिस्ट्रिक्ट' में लिखते है "जव किसान की भूमि पटसन की खेती के योग्य नही होती तो उनका कार्य-क्रम केवल तीन महीने कठिन परिश्रम करना और नौ महीने निरुद्यम बैठे रहना है, परन्तु यदि वह पटसन और धान दोनो की खेती करता है तो ६ सप्ताह का कार्य जुलाई और अगस्त के महीने मे और वढ जाता है।" कीटिंग के मत से वम्वई (दक्षिण) के किसानो के लिए प्रतिवर्ष १८० से लेकर १९० दिन का कार्य रहता है; और कल्वर्ट महाशय की गणना के अनुसार पजाव के एक औसत किसान का कार्य पूरे १५० दिन के परिश्रम से अधिक नही है। राजकीय कृषि आयोग (रायल एग्रीकल्चर कमीशन) ने वताया था कि अवकाश की यह अवधि स्थानीय कृषि-स्थिति के अन्तर के कारण सब जगह अलग-अलग है। पर यह वात साधारणतया सव पर लागू मानी जा सकती है कि अधिकाश किसानो को एक वर्ष में कम-से-कम दो से लगाकर चार महीने तक का अवकाश रहता ही है (पैरा ४८८)। उत्तरप्रदेश की वैंकिंग जाँच समिति ने अनुमान लगाया था कि सारे राज्य में किसानो के पास २०० दिन से अधिक का काम नही होता (पैरा ३६१)।

सहायक उद्योग के अभाव में भारतीय किसान खाली समय को मनोविनोद, विवाहादि और मुकदमेवाजी करने का समय समझता है। कभी-कभी वह शहर की फैक्ट्रियो में अथवा सरकारी निर्माण-कार्यों में अस्थायी रूप से काम करने लगता है या अन्य गाँवो में मजदूरी करने चला जाता है या अपनी गाडी किराये पर चलाने लगता है। गाडी चलाने वाले काम में उसे आजकल मोटर की वढती हुई प्रतियोगिता का ध्यान रखना पडता है। कृषि के दृष्टिकोण से इनमें से कोई भी काम उपयुक्त नही है। जापान में रेशम के कीडे पालना एक वडे महत्त्व का सहायक ग्रामीण उद्योग है। इसी प्रकार फ्रान्स, जर्मनी और इटली आदि सभी देशो के अपने सहायक उद्योग-धन्धे है। इसके अतिरिक्त पाश्चात्य देशो में खेती के सयुक्त और विभिन्न ढग के होने से किसान को निरन्तर काम में व्यस्त रहना पडता है। खाली समय में डेरी-फार्मिङ्ग, सूअर और कुक्कुटादि-पालन गाँव के मुख्य धन्धे है। भारतवर्ष में काम के अभाव की इस समस्या का निराकरण मुख्यत घनी खेती तथा कृषि को अनेकरूपता प्रदान करने में है। यह भी सत्य है कि जितना अभी हो रहा है उससे कही अधिक किसानो के अवकाश के समय के लिए पुराने धन्धो के विस्तार तथा नये और उपयुक्त सहायक उद्योग-धन्धो की स्थापना करके किया जा सकता है। समस्या तो यह है कि भारत के किसानो को ऐसे उपयुक्त कार्य वताये जायँ जिन्हे वे अवकाश के समय अपने परिवार के साथ विना

खेती के कार्य में बाधा डाले कर सकें और अपनी आय बढा सकें।[1] इस प्रश्न की ओर दिसम्बर सन् १६३४ में अखिल भारतीय औद्योगिक सस्था (ऑल इण्डिया इन्डस्ट्रीज ऐसोसिएशन) की स्थापना तथा ग्राम पुनरुद्धार केन्द्रो की समाज-सेवा सस्थाओ के खुलने से विशेष ध्यान आकृष्ट हुआ है। गाँव सुधार आन्दोलन (अध्याय ११ देखिए) और ग्राम-उद्योगो के पुनर्जीवित करने में सरकार की विशेष रुचि ने भी ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था की इस अत्यन्त आवश्यक समस्या की ओर लोगो का ध्यान केन्द्रित किया है।

१८. डेरी-फ़ार्मिङ्ग आदि—डेरी-फार्म चलाना भारत का एक सहायक उद्योग हो सकता है और यदि सफलतापूर्वक इसकी सथापना हो जाय तो यह केवल ग्रामीण जनता की आर्थिक उन्नति[2] ही नही वरन् पर्याप्त मात्रा में शुद्ध दूध की उपलब्धि की समस्या को भी हल कर सकता है। दूध की समस्या तो शहरो में बडी दारुण है जहाँ पर ऐसे हानिकारक द्रव्य दूध में मिला दिये जाते हैं जैसे बोरिक-एसिड, फार्मेलिन इत्यादि। इतना ही नही दूध भी बहुत निकृष्ट तथा ससार के सभी देशो से मँहगा भी है। डेरियाँ खोलने के जो प्रयत्न अब तक किये गए, वे सभी असफल रहे है। इनकी असफलता का सबसे पहला कारण है देशी गायो की कम दूध देने की शक्ति, (जो उनके जीवन की कठिन परिस्थितियो के कारण और भी घट गई है) और दूसरा कारण है उनकी कानून द्वारा सुरक्षा का और सरकारी प्रोत्साहन का अभाव। इस बात को ध्यान में रखते हुए कि दूध तथा दूध की बनी चीजें ही टायफायड तथा डिपथीरिया आदि भयकर बीमारियो के कीटाणु फैलाने का सबसे सरल माध्यम हैं, यह आवश्यक है कि वैज्ञानिक ढग पर उत्पादन को आर्थिक दृष्टि से सफल बनाया जाय ताकि जनता को अच्छा दूध निश्चित रूप से प्राप्त होता रहे। नगरो के आसपास के गाँवो के लिए यह सम्भव होना चाहिए कि वे पर्याप्त मात्रा में विश्वसनीय दूध उचित मूल्य पर दे सकें। जो गाँव नगरो से दूर हैं वहाँ के लोग दूध से मलाई, मक्खन, घी, खोया आदि बनाकर नगरो को भेज सकते है। यदि उचित ढग से डेरियो का सचालन किया गया तो पशुओ की किस्म पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता होगी जिससे उनकी दूध देने की शक्ति पर्याप्त हो। अधिक मात्रा में दूध देने वाले पशुओ की नस्ल वैज्ञानिक ढग से बढाना और सुधारना अत्यन्त आवश्यक है और साथ-ही-साथ ऐसे पशुओ की नस्ल को न बढने देना भी आवश्यक है जो पीढियो से भूखे तथा मिली-जुली जातियो की सन्तान है।[3] अतएव किसानो के लिए सबसे उत्तम सहायक उद्योग-धन्धा पशु-पालन होगा, जो कि अवकाश के समय उन्हे काम देगा तथा हर ऋतु में आय का एक साधन बन सकेगा। भूमि की उर्वराशक्ति बनाए रखने के लिए उससे खाद की भी प्राप्ति होगी। इस मार्ग में अनेक बाधाएँ है जैसे गाँव के घरो में पशुओ तथा मनुष्यो का एक ही कोठरी में इकट्ठे रहना इत्यादि। ऐसी स्थिति में पशुओ पर विशेष ध्यान देना असम्भव है

१ भारत के विभिन्न राज्यों में खेती के सहायक उद्योगों की सम्भावनाओं के विशद वर्णन के लि प्रान्तीय बैंकिंग जाच कमेटी तथा केन्द्रीय बैंकिंग जाच कमेटी की रिपोर्टों को देखिए (पैरा २६६)।

२ डेरी फार्मों की उत्पत्ति का वार्षिक मूल्य ८०० करोड रुपये से अधिक अनुमान किया जाता है।

३ देखिए, कृषि आयोग रिपोर्ट के साक्ष्य का विवरण, खण्ड १, भाग १, पृष्ठ ३३८-४१

व्यापारिक ध्येय से पशु-पालन उद्योग को सफलतापूर्वक चलाने के लिए बिखरे हुए खेतों तथा घने बसे गाँवो वाली वर्तमान स्थिति में परिवर्तन लाना अत्यन्त आवश्यक होगा। इसके अतिरिक्त पशुओ के चरने तथा चारे की पूर्ति के विषय में अन्य बहुत सी कठिनाइयो का ऊपर वर्णन किया जा चुका है जिनका समाधान होना आवश्यक है ताकि अन्न के उत्पादन और पशु-पालन-उद्योग के बीच अब की अपेक्षा अधिक सन्तुलन सम्भव हो सके।[1]

डेरीफार्मिङ्ग और पशु-अभिजनन के अतिरिक्त निम्नलिखित अन्य घरेलू और कुटीर उद्योग धन्धो का भी उल्लेख किया जा सकता है मुर्गे पालना, फलो का उत्पादन करना, मछली मारना, बेचने के लिए फूल और तरकारियाँ पैदा करना, गुड बनाना, हाथ से धान का छिलका उतारना, रेशम के कीडे पालना, लाख पैदा करना, शहद की मक्खी पालना, चमडा कमाना, साबुन बनाना, चटाई बुनना, बाँस तथा बेंत की उपयोगी वस्तुएँ बनाना, रस्सी बँटना, कुम्हार का काम करना, बुनाई करना, बीडी बनाना, खिलौने बनाना, शीशे की चूडियाँ बनाना, कृषि सम्बन्धी औजार बनाना तथा लोहार का काम करना, लकडी का काम करना, बेल-बूटे काढना, कागज बनाना और पेस्ट्री तथा मिठाइयाँ बनाना इत्यादि।[2]

यह तो सर्वविदित है कि सभी उद्योग धन्धे भारत में सभी जगह नही शुरू किए जा सकते। इस बात को पूर्ण रूप से समझने के लिए कि कौनसा उद्योग-धन्धा कहाँ के लिए उपयुक्त है, अनेक बार विभिन्न प्रदेशो की छान-बीन करनी पडेगी।[3] प्रत्येक जिले और गाँव की परिस्थिति का विचारपूर्ण अध्ययन करना होगा और उसके अनुसार वहाँ के लिए उद्योग निश्चित करना होगा। उदाहरण के लिए कुक्कुटादि का पालना उन्ही भागो में उपयुक्त होगा जहाँ के लोगो के मन में इस उद्योग के विरुद्ध कडी धार्मिक भावना न हो। कुछ इसी प्रकार के विचारो के कारण गुजरात में, जहाँ के लोगो के विचारो पर जैन धर्म का बहुत प्रभाव है, शहद की मक्खी पालने का व्यवसाय नही अपनाया जा सकता। कुक्कुटादि पालने और तरकारियाँ पैदा करने वाले उद्योगो के आरम्भ के लिए ऐसे गाँव उपयुक्त होंगे जिनके आस-पास ऐसे नगर हो जहाँ इन वस्तुओ की खपत हो सके। रेशम के कीडो के पालने का उद्योग एक विशेष ऊँचाई पर स्थित गाँवो में ही सम्भव है, जहाँ की जलवायु इसके लिए विशेष रूप से उपयुक्त हो। फिर इस उद्योग को कृत्रिम रेशम के बढते हुए आयात के कारण कठोर प्रतियोगिता का सामना भी करना पड रहा है।

१. डॉ० राइट की रिपोर्ट ऑन डेयरिंग इन्डस्ट्री ऑफ इण्डिया देखिए।

२. ग्रामीण उद्योगों के अधिक अध्ययन के लिए ग्रामीण उद्योग सस्था की वार्षिक रिपोर्ट देखिए। बम्बई राज्य के सहायक कुटीर उद्योग की चित्रावली के लिए बॉम्बे इकनामिक एन्ड इन्डस्ट्रियल सर्वे कमेटी की रिपोर्ट देखिए (१९३८-४०), खण्ड १, पैरा १४।

३. सर एम० विश्वेश्वरय्या का कथन है कि जापान ही की तरह भारतवर्ष के राज्यों तथा रियासतों के कुछ जिलों को मुख्यतः खेती करने वाले तथा अन्य को मुख्यतः उद्योगों पर निर्भर रहने वाले वर्गों में विभाजित करने का प्रयत्न करना चाहिए और लोगों को सहायता तथा प्रोत्साहन देना चाहिए कि वे अपने जिलों के मान्य व्यवसाय को ही अपनाए—(प्लान्ड इकानॉमी फॉर इण्डिया, पृष्ठ ३९)।

खेती के कार्य में बाधा डाले कर सकें और अपनी आय बढा सकें।[1] इस प्रश्न की ओर दिसम्बर सन् १६३४ में अखिल भारतीय औद्योगिक सस्था (ऑल इण्डिया इन्डस्ट्रीज ऐसोसिएशन) की स्थापना तथा ग्राम पुनरुद्धार केन्द्रो की समाज-सेवा सस्थाओ के खुलने से विशेष ध्यान आकृष्ट हुआ है। गाँव सुधार आन्दोलन (अध्याय ११ देखिए) और ग्राम-उद्योगो के पुनर्जीवित करने में सरकार की विशेष रुचि ने भी ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था की इस अत्यन्त आवश्यक समस्या की ओर लोगो का ध्यान केन्द्रित किया है।

१८. डेरी-फार्मिङ्ग आदि—डेरी-फार्म चलाना भारत का एक सहायक उद्योग हो सकता है और यदि सफलतापूर्वक इसकी सथापना हो जाय तो यह केवल ग्रामीण जनता की आर्थिक उन्नति[2] ही नही वरन् पर्याप्त मात्रा मे शुद्ध दूध की उपलब्धि की समस्या को भी हल कर सकता है। दूध की समस्या तो शहरो में बडी दारुण है जहाँ पर ऐसे हानिकारक द्रव्य दूध में मिला दिये जाते है जैसे बोरिक-एसिड, फार्मेलिन इत्यादि। इतना ही नही दूध भी बहुत निकृष्ट तथा ससार के सभी देशो से मँहगा भी है। डेरियाँ खोलने के जो प्रयत्न अब तक किये गए, वे सभी असफल रहे हैं। इनकी असफलता का सबसे पहला कारण है देशी गायो की कम दूध देने की शक्ति, (जो उनके जीवन की कठिन परिस्थितियो के कारण और भी घट गई है) और दूसरा कारण है उनकी कानून द्वारा सुरक्षा का और सरकारी प्रोत्साहन का अभाव। इस बात को ध्यान में रखते हुए कि दूध तथा दूध की बनी चीजें ही टायफायड तथा डिपथीरिया आदि भयकर बीमारियो के कीटाणु फैलाने का सबसे सरल माध्यम है, यह आवश्यक है कि वैज्ञानिक ढग पर उत्पादन को आर्थिक दृष्टि से सफल बनाया जाय ताकि जनता को अच्छा दूध निश्चित रूप से प्राप्त होता रहे। नगरो के आसपास के गाँवो के लिए यह सम्भव होना चाहिए कि वे पर्याप्त मात्रा में विश्वसनीय दूध उचित मूल्य पर दे सकें। जो गाँव नगरो से दूर हैं वहाँ के लोग दूध से मलाई, मक्खन, घी, खोया आदि बनाकर नगरो को भेज सकते है। यदि उचित ढग से डेरियो का सचालन किया गया तो पशुओ की किस्म पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता होगी जिससे उनकी दूध देने की शक्ति पर्याप्त हो। अधिक मात्रा में दूध देने वाले पशुओ की नस्ल वैज्ञानिक ढग से बढाना और सुधारना अत्यन्त आवश्यक है और साथ-ही-साथ ऐसे पशुओ की नस्ल को न बढने देना भी आवश्यक है जो पीढियो से भूखे तथा मिली-जुली जातियो की सन्तान हे।[3] अतएव किसानों के लिए सबसे उत्तम सहायक उद्योग-धन्धा पशु-पालन होगा, जो कि अवकाश के समय उन्हे काम देगा तथा हर ऋतु में आय का एक साधन बन सकेगा। भूमि की उर्वराशक्ति बनाए रखने के लिए उससे खाद की भी प्राप्ति होगी। इस मार्ग में अनेक बाधाएँ हैं जैसे गाँव के घरो में पशुओ तथा मनुष्यो का एक ही कोठरी में इकट्ठे रहना इत्यादि। ऐसी स्थिति में पशुओ पर विशेष ध्यान देना असम्भव है।

---

१ भारत के विभिन्न राज्यों में खेती के सहायक उद्योगों की सम्भावनाओं के विशद वर्णन के लिए प्रान्तीय बैंकिंग जाच कमेटी तथा केन्द्रीय बैंकिंग जाच कमेटी की रिपोर्टों को देखिए (पैरा २६६)।

२ डेरी फार्मों की उत्पत्ति का वार्षिक मूल्य ८०० करोड़ रुपये से अधिक अनुमान किया जाता है।

३ देखिए, कृषि आयोग रिपोर्ट के साक्ष्य का विवरण, खण्ड १, भाग १, पृष्ठ ३३८-४१

समय भी यह चलाया जा सकता है। (४) इस कार्य में लोगो की सामाजिक तथा धार्मिक भावनाओ से किंचित मात्र भी विरोध की सम्भावना नही है। (५) अकाल का सामना करने के लिए यह एक सुलभ और समर्थ साधन है। (६) यह कार्य किसान की कुटिया में ही किया जा सकता है, इसलिए आर्थिक कठिनाई के कारण परिवार का विघटन रोका जा सकता है। (७) मृतप्राय ग्राम-समुदाय को यह पुनर्जीवित करके उससे लाभ प्राप्त करा सकता है। (८) यह जुलाहो तथा किसानो दोनो के लिए समान रूप से एक दृढ आर्थिक आधार प्रस्तुत करता है, क्योकि इससे ही करघा उद्योग को—जो ८० से लगाकर १०० लाख लोगो की जीविका का साधन है और जो भारत की वस्त्र की माँग का एक तिहाई अश पूरा करता है—दृढता और स्थायित्व प्राप्त होता है। (९) इसके पुनर्जीवन से अनेक ऐसे उद्योगो को प्रोत्साहन मिलेगा जो आवश्यक तथा सहायक ग्राम-उद्योगो में से है और इस प्रकार विनाश के गर्त में पडे हुए गाँवो का उद्धार करेगा। (१०) यही भारत के करोडो व्यक्तियो के बीच धन के समान वितरण का साधन बन सकता है (११) यह अकेले ही बेकारी की समस्या सुलझाने मे कारगर हो सकता है। यही नही कि किसानो की अवकाश के समय की बेकारी दूर कर सकता है, पर ऐसे शिक्षित बेकार नवयुवको को भी, जो एक स्थान से दूसरे स्थान पर नौकरी ढूँढते हुए घूमते रहते है, काम दे सकता है। इस कार्य की महत्ता के दृष्टिकोण से यह आवश्यक है कि देश के सभी विचारवान् व्यक्ति मिलकर इस आन्दोलन का सचालन तथा पथ-प्रदर्शन करे।[1]

सी० राजगोपालाचारी ने अपने ज्ञापक में जो उन्होने राजकीय कृषि आयोग (एग्रीकल्चर रायल कमीशन) को भेजा था, चर्खे के विषय में लिखा है "यदि हम गाँव के लोगो के सीमित ज्ञान और कुशलता तथा उन बातो पर ध्यान दें जो अवकाश के समय के धन्धे के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं—जैसे कि उस धन्धे का सरल, सुगम और जब जी चाहे बन्द कर देने अथवा आरम्भ कर लेने योग्य होना, ताकि मुख्य उद्योग में वह कोई बाधा न डाले—तो हाथ से सूत कातने का ही काम, अकेला ऐसा धन्धा हो सकता है जिसमें गाँव की जनता के अवकाश के समय का सदुपयोग किया जा सकता है।" इसी प्रकार श्री एस० वी० पुन्ताम्बेकर तथा एन० एस० वर्धाचारी ने हाथ से सूत कातने और बुनने के विषय पर लिखे हुए अपने सुन्दर लेख में यह मत प्रकट किया है कि चर्खे का भविष्य बडा उज्ज्वल है, और यदि समुचित ढग से इसके लिए विकेन्द्रीय व्यवस्था कर दी जाय तो यह वर्तमान मिलो के उत्पादन में सहयोग प्रदान करके सारी जनसख्या के लिए पर्याप्त मात्रा में कपडे की आवश्यकता भी पूरी कर सकता है।

---

१. १९२३ में इण्डियन नेशनल कांग्रेस के तत्त्वावधान में अखिल भारतीय स्पिनर्स एसोसिएशन की अपने उत्पादन केन्द्रों तथा बिक्री-भण्डारों के द्वारा खद्दर की उत्पत्ति तथा बिक्री की व्यवस्था करने तथा तत्सम्बन्धी व्यय पूरा करने के लिए स्थापना हुई थी। १९४१-४२ में यद्यपि इस सघ की कुल पूँजी ५० लाख रुपये से अधिक नहीं थी जबकि इसी वर्ष वस्त्र बनाने वाली मिलों में ५० करोड रुपया लगा हुआ था फिर भी कारखानों में काम करने वाले मजदूरों की आधी सख्या इसमें लगी हुई थी।—नानावती और अन्जारिया कृत 'द इण्डियन रूरल प्रॉब्लम', पृ० २४६ देखिए।

अकाल जाँच आयोग (फैमिन इन्क्वाइरी कमीशन)[1] ने अन्य उपायो के साथ-ही-साथ इस बात की भी सम्मति दी थी कि गाँव के निर्माण कार्य तथा शस्य-उद्योग की उन्नति की जाय। शस्य-उद्योगो से तात्पर्य उन उद्योगो से है जो कुटीर उद्योग त नही कहे जा सकते पर ऐसे उद्योग कहे जा सकते हैं जिनकी उन्नति के लिए गाँव क वातावरण विशेष रूप से उपयुक्त है। गाँवो में ऐसे कारखाने खोले जा सकते हैं जं बेचने के लिए कृषि-उत्पाद को सजाएँ और सवारें। ऐसे कारखानो को चलाने में बडे बडे भू-स्वामियो और छोटे-छोटे भूभागो के स्वामियो की प्रतिनिधि सहकारी समितिय से सहायता ली जा सकती है।

जिस समय कृषि-कार्य बन्द हो, उस समय लोगो को काम देने के लिए गाँवे में सुधार-सम्बन्धी निर्माण-कार्य आरम्भ किये जा सकते है। उनकी सफलता के लि निम्न बातें अत्यन्त आवश्यक है (१) प्रत्येक गाँव तथा गाँव के समूह के लिए एव पचायत की स्थापना, जिसे कर लगाकर धन एकत्रित करने का अधिकार हो, (२) गाँवे के सुधार कार्यो पर होने वाले व्यय के लिए सरकारी सहायक-अनुदान प्रणाली कं *स्थापना, तथा (३) पचायतो द्वारा किये गए ऐसे सुधारो की देख-रेख का अधिका* सरकार, जिला-मण्डल तथा स्थानीय मण्डल के पदाधिकारियो को हो।

१६ खद्दर की आर्थिक महत्ता—हाथ से सूत कातने के विषय का विस्तृत विवेचन इसकं वास्तविक महत्ता के कारण ही आवश्यक नही बल्कि इसलिए भी अनिवार्य है कि चखे और इसकी शक्ति के विषय में घोर मतभेद रहा है। चर्खे के पक्षपातियो का दृढ़ विश्वास है कि हाथ से सूत कातने का काम ही एकमात्र ऐसा सहायक उद्योग है जो वर्तमान परिस्थिति में गाँव की जनता के लिए सम्भव और उपयुक्त है, तथा वर्तमान बेकार पडी रहने वाली जन-शक्ति को तुरन्त काम में लाने का सबसे सरल साधन है चर्खे के प्रवर्तक महात्मा गाधी ने इसके लाभ निम्न बताए थे।[2]

(१) यह तुरन्त आरम्भ किया जा सकता है, क्योकि (क) इसके लिए न तो किसी पूँजी की आवश्यकता है और न मँहगी मशीनो की, इस उद्योग के लिए कच्चा माल तथा काम में आने वाले औजार गाँव में ही मिल सकते है, (ख) इस कार्य के करने के लिए बेचारे अनभिज्ञ तथा दरिद्र भारतीय किसानो के पास जितनी बुद्धि तथा दक्षता है उससे अधिक की आवश्यकता नही है, (ग) इसके करने में इतने कम शारीरिक परिश्रम की आवश्यकता है कि लडके और वृद्ध सभी अपने बूते के अनुसार कमाकर परिवार की आय में वृद्धि कर सकते है और इस उद्योग के आरम्भ करने के लिए नये सिरे से कोई तैयारी नही करनी है क्योकि लोगो में सूत कातने का चलन बहुत पुराना है। (२) यह स्थायी और सर्वव्यापी उद्योग है, क्योकि अन्न के बाद वस्त्र ही एक ऐसी वस्तु है जिसकी माँग सदैव अपरिमित मात्रा में काम करने वाले के द्वार पर ही बनी रहती है जिससे दरिद्र किसानो के लिए यह स्थायी रूप से एक नियमित आय का निश्चित साधन है। (३) इसका सम्बन्ध मानसून हवाओ से नही है इसलिए अकाल के

१ फाइनल रिपोर्ट, पृष्ठ ३०६-११।
२ देखिए, आर० बी० ग्रेग, 'इकानामिक्स ऑफ खद्दर' पृ० १७०-२।

समय भी यह चलाया जा सकता है। (४) इस कार्य में लोगो की सामाजिक तथा धार्मिक भावनाओ से किंचित मात्र भी विरोध की सम्भावना नही है। (५) अकाल का सामना करने के लिए यह एक सुलभ और समर्थ साधन है। (६) यह कार्य किसान की कुटिया में ही किया जा सकता है, इसलिए आर्थिक कठिनाई के कारण परिवार का विघटन रोका जा सकता है। (७) मृतप्राय ग्राम-समुदाय को यह पुनर्जीवित करके उससे लाभ प्राप्त करा सकता है। (८) यह जुलाहो तथा किसानो दोनो के लिए समान रूप से एक दृढ आर्थिक आधार प्रस्तुत करता है, क्योकि इससे ही करघा उद्योग को—जो ८० से लगाकर १०० लाख लोगो की जीविका का साधन है और जो भारत की वस्त्र की माँग का एक तिहाई अश पूरा करता है—दृढता और स्थायित्व प्राप्त होता है। (९) इसके पुनर्जीवन से अनेक ऐसे उद्योगो को प्रोत्साहन मिलेगा जो आवश्यक तथा सहायक ग्राम-उद्योगो में से है और इस प्रकार विनाश के गर्त मे पडे हुए गाँवो का उद्धार करेगा। (१०) यही भारत के करोडो व्यक्तियो के बीच धन के समान वितरण का साधन बन सकता है (११) यह अकेले ही बेकारी की समस्या सुलझाने मे कारगर हो सकता है। यही नही कि किसानो की अवकाश के समय की बेकारी दूर कर सकता है, पर ऐसे शिक्षित बेकार नवयुवको को भी, जो एक स्थान से दूसरे स्थान पर नौकरी ढूँढते हुए घूमते रहते है, काम दे सकता है। इस कार्य की महत्ता के दृष्टिकोण से यह आवश्यक है कि देश के सभी विचारवान् व्यक्ति मिलकर इस आन्दोलन का सचालन तथा पथ-प्रदर्शन करे।[1]

सी० राजगोपालाचारी ने अपने ज्ञापक में जो उन्होने राजकीय कृषि आयोग (एग्रीकल्चर रायल कमीशन) को भेजा था, चर्खे के विषय में लिखा है "यदि हम गाँव के लोगो के सीमित ज्ञान और कुशलता तथा उन बातो पर ध्यान दें जो अवकाश के समय के धन्धे के लिए अत्यन्त आवश्यक है—जैसे कि उस धन्धे का सरल, सुगम और जब जी चाहे बन्द कर देने अथवा आरम्भ कर लेने योग्य होना, ताकि मुख्य उद्योग में वह कोई बाधा न डाले—तो हाथ से सूत कातने का ही काम, अकेला ऐसा धन्धा हो सकता है जिसमें गाँव की जनता के अवकाश के समय का सदुपयोग किया जा सकता है।" इसी प्रकार श्री एस० वी० पुन्ताम्बेकर तथा एन० एस० वर्धाचारी ने हाथ से सूत कातने और बुनने के विषय पर लिखे हुए अपने सुन्दर लेख में यह मत प्रकट किया है कि चर्खे का भविष्य बडा उज्ज्वल है, और यदि समुचित ढग से इसके लिए विकेन्द्रीय व्यवस्था कर दी जाय तो यह वर्तमान मिलो के उत्पादन में सहयोग प्रदान करके सारी जनसख्या के लिए पर्याप्त मात्रा में कपडे की आवश्यकता भी पूरी कर सकता है।

---

१. १९२३ में इण्डियन नेशनल काग्रेस के तत्त्वावधान में अखिल भारतीय स्पिनर्स एसोसिएशन की अपने उत्पादन-केन्द्रों तथा बिक्री-भण्डारों के द्वारा खद्दर की उत्पत्ति तथा बिक्री की व्यवस्था करने तथा तत्सम्बन्धी व्यय पूरा करने के लिए स्थापना हुई थी। १९४१-४२ में यद्यपि इस सघ की कुल पूँजी ५० लाख रुपये से अधिक नही थी जबकि इसी वर्ष वस्त्र बनाने वाली मिलों में ५० करोड रुपया लगा हुआ था फिर भी कारखानों में काम करने वाले मजदूरों की आधी सख्या इसमे लगी हुई थी।—नानावती और अन्जारिया कृत 'द इण्डियन रूरल प्रॉब्लम', पृ० ७४६ देखिए।

खद्दर के बडे-से-बडे पक्षपाती भी यह मानते हैं कि इसमें दो बडी कठिनाइयाँ हैं—(१) महीन सूत के वस्त्रो के प्रति लोगो की रुचि तथा (२) हाथ के कते-बुने कपडो का मिल के कपडों, विशेषकर विदेशो से मँगाये हुए कपडो, की अपेक्षा अधिक मूल्य। दूसरी कठिनाई अधिक बडी है और यह सलाह दी जाती है कि राज्य की ओर से आर्थिक सहायता दी जानी चाहिए ताकि उत्पादन बढे और मूल्य में कमी सम्भव हो सके। इस आर्थिक सहायता की आवश्यकता थोडे दिन तक के लिए आवश्यक होगी, जब तक कि जनता की आर्थिक स्थिति नही सुधरती और जब तक कि प्रति वर्ष बचत करते-करते उनकी क्रय-शक्ति नही बढ जाती। सरकारी सहायता के अन्य तरीके ये हैं ऋण देना, उत्पादन और वितरण में सुविधाएँ देना, रेलादि के भाडे में कमी कर देना और चुंगी आदि करो के सम्बन्ध में छूट देना आदि। हम इस बात से सहमत नही हो सकते कि निर्धन लोगो की क्रय-शक्ति में वृद्धि होने पर, यद्यपि यह भी अपने-आप में आसान बात नही—वे मिल के सस्ते कपडो की अपेक्षा खद्दर खरीदेंगे। जब तक कि खद्दर के दाम मिल के कपडे के बराबर या उससे कम नही हो जाते, आर्थिक सहायता के रूप में स्थायी रूप से कृत्रिम सहारा देना पडेगा जिसका भार साधारण करदाता पर पडेगा। कुटीर उद्योगो के सर्वेक्षण के लिए मद्रास सरकार द्वारा नियुक्त विशेष पदाधिकारी ने अपनी प्रारम्भिक रिपोर्ट में राज्य के खद्दर आन्दोलन की परिसीमाओ पर जोर देते हुए यह निष्कर्ष निकाला कि लोगो की वार्षिक बचत इतनी नही है कि वे उसके कारण हाथ से सूत कातना आरम्भ कर दें। ये कठिनाइयाँ वास्तविक हैं और लागत के प्रश्न को थोडी देर के लिए भूल भी जायँ तो खद्दर से 'अधिक ठडे और आकर्षक वस्त्रो के प्रति, जिनका खरीदना केवल बहुत निर्धन लोगो को छोड सबकी शक्ति में है, विशेष अनुराग का मिटा देना सहज नही है।' जब तक कि किसानो के लिए कोई अन्य आय देने वाला अतिरिक्त धन्धा नही ढूँढ निकाला जाता, हाथ से सूत कातना ही ए[illegible] ऐसा धन्धा है जो वर्ष के अन्त तक किसानो के आय-व्ययक (बजट) को सन्तुलि[illegible] कर सकने का अवसर दे सकता है। चर्खे की बात तो यह है कि जब तक कोई अन्[illegible] साधन न हो चर्खा कातना खाली बैठे रहने से अधिक अच्छा है। परन्तु अधिक आय देने वाले सहायक उद्योगो की खोज करनी चाहिए जो किसानो को पर्याप्त आर्थिक सहायता पहुँचा सके।

२०. कुछ अन्य ग्राम-उद्योग—गाँव वालो की बेकारी दूर करने का दूसरा तरीका गाँवो में कृषि-उत्पाद को उपयोग तथा निर्यात के योग्य बनाने से सम्बन्धित उद्योगो, जैसे कपास से बिनौले निकालना, धान कूटना, चीनी तैयार करना, तेल निकालना और हड्डी की खाद बनाना इत्यादि, की स्थापना में सहयोग देना है। इन उद्योगो की व्यवस्था जहाँ तक सम्भव हो सके सहकारिता के आधार पर होनी चाहिए। इनका नगरो में केन्द्रित होना ठीक नही है, बल्कि ऐसा प्रबन्ध होना चाहिए कि अधिक-से-अधिक क्षेत्र और सख्या में गाँव वालो को काम मिल सके। सस्ती विद्युत्-शक्ति की प्राप्ति ऐसे कृषि-सम्बन्धित उद्योगो के विकास के लिए बहुत बडी सुविधा होती। भविष्य में पजाब और बम्बई में पनबिजली के कारखानो की स्थापना की शीघ्र ही आशा

दिखाई पडती है जिससे गाँवो में सस्ती विद्युत्-शक्ति वितरित की जा सकेगी। सफलता के लिए उपयुक्त तकनीकी शिक्षा की व्यवस्था अत्यन्त आवश्यक है। कम-से-कम प्रारम्भिक काल में राज्य-सहायता की भी आवश्यकता होगी। कृषि-आयोग ने व्यक्तिगत कारखानो में कृषि-विभाग के इजीनियरी सेक्शनो की सहायता से कृषि-सम्बन्धी औजारो में निर्माण की सलाह दी थी। इससे यातायात के वर्तमान भारी खर्चे मे बहुत कमी हो जायगी और स्थानीय मूल्य घटकर किसानो की शक्ति के अनुकूल हो जायगा। यदि कागज बनाने मे बाँस का प्रयोग किया जाने लगे तो जगलो की सीमाओं पर रहने वालो को बहुत काम मिल सकता है। फलो से अचार, चटनी, मुरब्बे बनाने तथा उनको सुखाने और डिब्बो में बन्द करके बेचने के उद्योग में बहुत से किसान लग सकते हैं, जिससे उनको बहुत लाभ हो सकता है।

२१. कृषि उत्पाद का सदोष विपणन[१]—जब तक भारतीय किसान अपने ही निर्वाह के लिए कृषि करता था और उसे प्राचीन ग्राम-व्यवस्था की सरक्षा प्राप्त थी, तब तक गाँव में किसी अन्य प्रकार की व्यवस्था या सगठन की आवश्यकता नही थी पर अब परिस्थिति पूर्णतया बदल गई है। कृषि के वाणिज्यीकरण तथा व्यापक प्रतियोगिता वाले बाजारो की स्थापना से आज दृढतर व्यवस्था आवश्यक हो गई है, और प्राचीन व्यवस्था इतनी निष्प्राण हो गई है कि उसका कोई प्रयोजन नही रह गया है और इस प्रकार ग्रामवासी इस नई परिस्थिति का सामना करने के लिए बिना किसी सरक्षा अथवा पथ-निर्देश के छोड दिया गया है। कृषि आयोग ने भी कहा था कि, 'उसके हितो को आर्थिक परिस्थितियो की तरगो के मुक्त प्रवाह में बिना सहारे छोड दिया गया है और इससे उन्होने घाटा सहा है। इसका कारण यह है कि अपने उत्पाद के वितरण-कर्ता और उपभोक्ताओ के अनुपात में वह एक अत्यन्त नगण्य इकाई है और इधर वे तो प्रतिवर्ष अधिकाधिक व्यवस्थित और दृढता से सगठित होते जा रहे हैं'।[२]

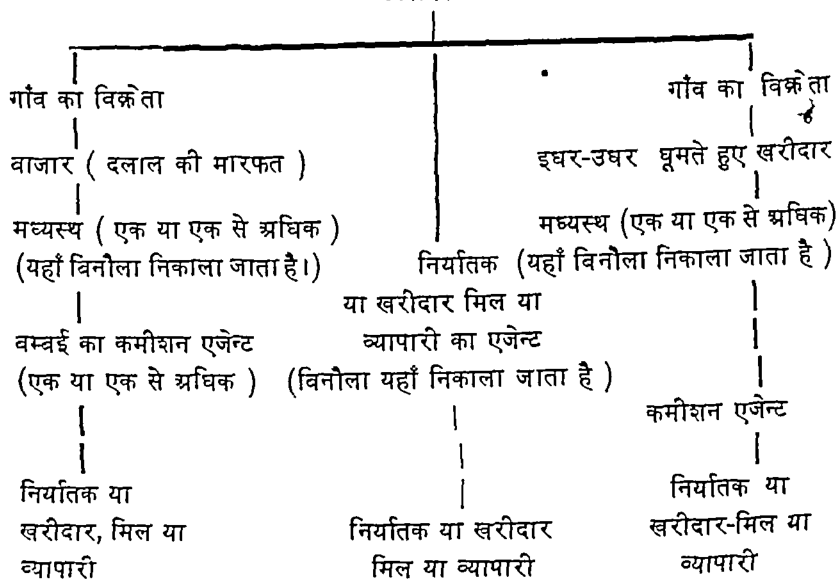
यह एक सामान्य अनुभव है कि ससार में सभी जगह कच्चे माल के उत्पादक के भाग में ससार की अच्छी वस्तुओ का उचित अश नही पडता। भारत मे तो विशेष रूप से आजकल यही स्थिति है, जहाँ खेती छोटे-छोटे भू-खण्डो पर किसी विशेष सुरक्षा सस्था की सहायता के बिना ही की जाती है। सामान्यतः भारतीय किसान महाजन पर निर्भर रहता है जिसके हाथो बहुधा पहले से ही उनकी फसल गिरवी रखी रहती है। महाजनो के अतिरिक्त अनेक व्यवसायी क्रेता-विक्रेता और मध्यस्थ होते हैं जो भिन्न-भिन्न स्थलो पर जमे रहते हैं और अपने पोषण के लिए किसान को एक बहुत सुखद साधन बनाए रहते हैं। एक दूसरी कठिनाई सडको, पुलो और सहायक रेलो के अभाव की है, जिसकी वजह से किसान सीधे-सीधे उपभोक्ताओ तथा थोक व्यापारियो से सौदा नही कर पाता। किसानो की अन्य कठिनाइयाँ निम्न हैं: शिक्षा का अभाव,

---

१. कृषि उत्पत्ति के विक्रय के विषय में विशद विवरण के लिए एस० जी० बेरी द्वारा लिखित 'कृषि-उत्पाद का विपणन' शीर्षक अध्याय 'कोआपरेशन इन इण्डिया', जिसको एच० एल० काजी ने सम्पादित किया है, में पृष्ठ ३४०-६५ पर देखिए।

२. कृषि आयोग रिपोर्ट, पैरा ३२०।

उचित नियमित बाजारो का अभाव तथा किसानो के बीच एकता का अभाव, नाप-जोख के बांटो की विविधता, अनधिकृत रूप से बाजारो में बट्टा काटा जाना, माल की भण्डारण सुविधाओ की कमी, कृषि-उत्पाद के किसी मानक का अभाव, कोटिक्रम का अभाव, पैंकिग की सुविधाओ का अभाव तथा बाजार की सूचनाओ के लिए किसी नियमित प्रणाली का प्रचलित न होना इत्यादि।[1] यदि इन परिस्थितियो में किसान को अपने माल का उचित मूल्य नही मिलता तो यह कोई आश्चर्य की बात नही है। पूँजी की सदा से ही कमी होने के कारण, साहूकार की माँग पूरी करने के लिए और सरकारी मालगुजारी अदा करने के लिए किसान को अपना माल ऐसे अवसर पर बेचना पडता है जबकि प्रत्येक व्यक्ति अपना माल बेचता है और बाजार माल से पटा रहता है। मुख्य-मुख्य वस्तुओ के निर्यात में मध्यस्थो की एक लम्बी शृंखला है। बडे-बडे फर्म किसानो से पहले से ही सौदा तय किये रहते हैं और अपनी खरीदारी पक्की करने के लिए उसे रुपया भी पेशगी दे देते हैं। भारत की केन्द्रीय कपास कमेटी (इण्डियन सेन्ट्रल काटन कमेटी) की ओर से कृषि आयोग को दिये गए ज्ञापक से उपभोक्ता और किसान के बीच मध्यस्थो की बहुलता का एक उदाहरण हम यहाँ दे रहे हैं।[2]



---

१ बिक्री के ढंग तथा बाजार में प्रचलित अवैध तरीकों और बट्टों के काटने के विषय की विशेष जानकारी के लिए १६३७ का 'रिपोर्ट आन द मार्केटिंग ऑफ व्हीट इन इण्डिया' के पैरा १४८-१६२ पढिए। इस रिपोर्ट ने इस बात पर प्रकाश डाला है कि प्रति एक रुपये में से जो कि उपभोक्ता गेहूँ के मूल्य में देता है, उत्पादक को केवल साढे नौ आने ही मिलते हैं। एक हाल की रिपोर्ट के अनुसार (१६४१) जो कि चावल की बिक्री के विषय में दी गई है, किसान को प्रति रुपया केवल सवा आठ आने-भर प्राप्त होता है।

२ [illegible] साक्ष्य टिप्पणी, खण्ड २, भाग २, पृष्ठ २१।

इस ज्ञापक में आगे कहा गया है कि यह विविधता नाना प्रकार की हो सकती है और इस तरह मध्यस्थो की सख्या बहुत बडी हो सकती है। यदि हम आत्यन्तिक उदाहरणो को छोड भी दें तो भी यह प्रत्यक्ष ही है कि किसान और उपभोक्ता के बीच दलाल बहुत अधिक सख्या में होते हैं जैसे किसानो का स्थानीय प्रतिनिधि, मुफस्सिल के खरीदारो का प्रतिनिधि, मुफस्सिल के खरीदार तथा अन्य फुटकर खरीदने वाले। जैसा श्री वी० एल० मेहता ने अपने ज्ञापक में बताया है, सहकारिता की प्रणाली के प्रयोग से इन दलालो और मध्यस्थो को दूर किया जा सकता है। उदाहरणार्थ एक सहकारी समिति स्थानीय एजेन्ट और मुफस्सिल के खरीदार के एजेन्ट को हटा सकती है और सीधे-सीधे मुफस्सिल के खरीदारो से सौदा कर सकती है। इतना ही नही, यदि उपभोक्ता-समितियाँ भी कुशलतापूर्वक केन्द्र में काम कर रही हैं तो सब मध्यस्थों को हटाया जा सकता है और इसके उत्पादक तथा उपभोक्ता दोनो ही को बहुत लाभ होगा।[1] किसानो को उत्पाद का पूरा मूल्य दिलाने के लिए सहकारिता ही एकमात्र सतोषप्रद साधन है। कभी-कभी किसान सीधे उपभोक्ता से ही सौदा करता है, पर क्योकि प्रत्येक किसान व्यक्तिगत दृष्टिकोण से ही निर्णय करता है इसलिए उत्पाद को दूरस्थित बाजारो में ले जाने तथा थोडा-थोडा बेचने में बहुत अधिक समय और शक्ति का खर्च होता है।

२२. सहकारी विक्रय—इधर थोडे ही दिनो से कृषि विभाग तथा सहकारी विभाग की समझ में यह बात आई है कि गाँव की आर्थिक उन्नति और समृद्धि की पहली शर्त गाँव के उत्पाद की उचित ढग से बिक्री ही है और सहकारी ढग से बिक्री के आन्दोलन में इधर भारत में कुछ उन्नति हुई है। सयुक्त धान बिक्री सहकारी समितियाँ बनाकर बर्मा ने इस दिशा में मार्ग-प्रदर्शन किया है। परन्तु सबसे अधिक आशापूर्ण उन्नति रुई की बिक्री के सम्बन्ध मे बम्बई में हुई है। सहकारी रुई बेचने वाली समितियाँ बम्बई मध्यप्रदेश, मद्रास और पजाब में आरम्भ कर दी गई हैं। इस आन्दोलन ने बम्बई में सबसे अधिक सफलता प्राप्त की है जहाँ पर चार मुख्य क्षेत्रो में रुई विक्रय-समितियाँ स्थापित हुई हैं (i) धारवाड और बेलगाम, (ii) बीजापुर, (iii) सूरत, भडोच और कैरा, और (iv) खानदेश। इनमे प्रथम और तृतीय क्षेत्र की समितियाँ सबसे अधिक महत्वशाली हैं। इन समितियो की ख्याति कपास की उत्कृष्टता बढाने वाली तथा उत्पादको को अधिक मूल्य दिलाने वाली समितियो के रूप में हो गई है। अन्य अनेक प्रकार की सस्थाओ के सम्बन्ध में भी प्रयोग किये जा रहे हैं, जैसे (i) ऐसी समितियाँ जो सदस्यो के उत्पाद को एकत्रित करके उनसे बिनौले निकलवाती है और बिनौले निकाली हुई रुई की गाँठे बनवाकर बेचती हैं; (ii) ऐसी समितियाँ जो कोटिक्रम-बद्ध कपास का समय-समय पर नीलाम करती है और बिक्री व्यक्तिगत हिसाब में करती है; (iii) सहकारी कमीशन दुकाने जो रुई बेचने वालो को अपना माल सुरक्षित रखने की सुविधा देती हैं जिससे उन्हे किसी ऐसे दिन अपना माल बेचने के लिए बाध्य न होना पडे जब कि मूल्य उनकी दृष्टि से कम है। ऐसी समितियो के सम्बन्ध में पजाब में प्रयोग

१. वही, खण्ड २, पार्ट २, पृ० ११०।

किया जा रहा है, (iv) सहकारी ढग से कपास के विनौले निकालकर प्रत्येक सदस्य की रुई को बीज यूनियन द्वारा बेचा जाना। ऐसे सघो की व्यवस्था मुख्यत शुद्ध बीजो के उत्पादन के लिए हुई है और रुई बेचने के वास्तविक प्रश्न को सुलझाने के लिए ये कुछ कर रहे है, ऐसा तो शायद ही कहा जा सकता है। पहले ढग की समितियाँ ही केवल ऐसी है जिन्होने छोटे-छोटे मध्यस्थो को पूर्णतया दूर करने का गम्भीर प्रयत्न किया है और इन्हे सूरत जिले में सफलता भी प्राप्त हुई है जहाँ पर हाल ही में रुई विक्रय समितियो ने एक होकर बिक्री यूनियन का रूप धारण कर लिया है और जिसने सदस्यो द्वारा आरम्भ की हुई विनौले निकालने की फैक्ट्री को अपने अधिकार में कर लिया है। सघ का दूसरा कर्त्तव्य समिति की रुई का बीमा करा लेना है जिससे उन्हे प्रीमियम पर कमीशन मिलती है और यही उनकी आय का मुख्य साधन है। इस दूसरे प्रकार के सघ धारवाड जिले मे प्रचलित है। गदाग और हुबली उनके प्रधान केन्द्र है।

रुई की बिक्री के सम्बन्ध में इतनी उन्नति होते हुए भी हम न तो यही कह सकते है कि सहकारी बिक्री-समितियो का विकास तेजी से हुआ है, और न यह कह सकते है कि वह इन गम्भीर दोपो से मुक्त रहा है, जैसे कुशल प्राविधिक सलाह और निर्देशन की कमी, बाजार की स्थिति तथा प्रवृत्तियो के विशेष ध्यान आदि और उचित व्यापारिक व्यवस्था करने की योग्यता का अभाव, सदस्यो पर नियन्त्रण का अभाव (जिनको वैध रूप से अपनी रुई समितियो की ही मार्फत बेचने के लिए बाध्य नही किया जा सकता), अपर्याप्त पूँजी (जो उत्पादको को तुरन्त पेशगी रुपया देने में बाधा-स्वरूप है), भण्डारण-सुविधा का अभाव, आन्तरिक और बाह्य बाजारो की स्थिति से अनभिज्ञता और विक्रय-समितियो का अलग-अलग होना इत्यादि। स्वार्थरत व्यापारियो के विरोध के अतिरिक्त प्रशिक्षित कर्मचारी-वर्ग के अभाव के कारण भी सहकारी विक्रय-समितियो की व्यवस्था में बाधा पडती है। इन सब दोषो को दूर करके इस आन्दोलन का कुशल प्रबन्ध विशेषज्ञो की देख-रेख में होना चाहिए ताकि शक्तिशाली स्वार्थी दलालो, अदातयो और मध्यस्थो का सफलता से विरोध किया जा सके।[1] भारत के रिज़र्व बैंक को राज्यीय सहकारी बैंको द्वारा सहकारी विक्रय-समितियो को आर्थिक सहायता देनी चाहिए। (अध्याय १० देखिये।)

सहकारी विक्रय के सिद्धान्त का प्रयोग कृषि के अन्य उत्पादो पर भी किया गया है, जैसे गुड, तम्बाकू, लाल मिर्च, धान, आलू तथा सुपारी आदि। बम्बई प्रान्त के नहर क्षेत्रो में गुड की बिक्री का बहुत ही कुशल प्रबन्ध है। दुर्भाग्य से बगाल में जो प्रयोग पटसन और धान की बिक्री के लिए सहकारिता के सिद्धान्तो पर किये गए उन्हे सफलता नही मिल पाई है। इधर हाल में धान, गन्ना और मछलियो की बिक्री के लिए समितियो की व्यवस्था की गई है। मद्रास में अनेक विक्रय-समितियाँ है, पर वे बहुत छोटा सौदा करती है और उन्होने कोई विशेप उन्नति भी नही की है।[2] जैसा

[1] कृषि आयोग रिपोर्ट, मार्केटिंग [illegible], भाग [illegible], पृष्ठ [illegible]-३१।

[2] [illegible] प्रान्तीय सहकारी विक्रय समिति भी है जिसका आरम्भ १९३८ में अन्य विक्रय-समितियों के

कि ऊपर सकेत किया जा चुका है, बम्बई राज्य में बिक्री-आन्दोलन ने जड पकड ली है, विशेषकर गुजरात और बम्बई कर्नाटक मे, जहाँ पर रुई की खेती करने वालो को रुई की विक्रय-समितियो से बहुत लाभ हुआ है। उत्तरप्रदेश मे भी सहकारी बिक्री ने बहुत उन्नति की है जहाँ पर गन्ना बेचने की सहकारी समितियाँ निरन्तर अपना महत्त्व बढ़ाती जा रही है। घी की बिक्री समितियो ने भी उल्लेखनीय उन्नति की है। सन् १९३९-४० में आलू, फल और अन्न के उत्पादन और विक्रय की एक योजना आरम्भ की गई थी और इन वस्तुओ के विक्रय के लिए समितियाँ स्थापित की गई थी। बिहार में भी गन्ना पैदा करने वालो की समितियाँ बनाई जा रही है। अन्य राज्यो मे सहकारी विक्रय-समितियो ने बहुत कम उन्नति की है। राज्यीय तथा भारतीय सरकार द्वारा स्थापित विक्रय की नई व्यवस्था (सेक्शन २४-२५ देखिए) से यह आशा की जाती है कि वह भारत मे कृषि-उत्पाद के सहकारी विपणन में प्रोत्साहन देगी।

२३. विपणन-व्यवस्था में कुछ सुधार—वर्तमान उद्योगो के लिए यह आवश्यक है कि प्रति वर्ष उनका माल एक-सा हो और सदा दिखाये हुए नमूने के ही अनुरूप रहे, और जब तक ये शर्तें पूरी न होगी दूर स्थित ग्राहको के लिए अधिक मात्रा में सतोपप्रद विपणन नही हो सकता और न प्रारम्भिक उत्पादक को ही पूर्ण लाभ प्राप्त हो सकता है। अभी तो इसमें अनेक गडबडे पाई जाती हैं जैसे मिश्रण कर देना तथा भिगोकर नम कर देना आदि। यही नही कि ये कुत्सित कार्य उत्पादको के ही यहाँ होते हो, दलालो और व्यापारियो के गोदामो मे भी यही होता है। इन कुप्रथाओं को रोकने के लिए कानून बनाने की आवश्यकता महसूस की गई है। जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं भारतीय केन्द्रीय कपास समिति (इण्डियन सेण्ट्रल काटन कमेटी) के कहने पर काटन ट्रान्सपोर्ट एक्ट तथा काटन जिनिंग एण्ड प्रेसिंग फैक्ट्रीज एक्ट सन् १९२३ और १९२५ में क्रम से पास किये गए थे। पहले नियम के अन्तर्गत (जो कि अब बम्बई, मद्रास तथा बडौदा राजपीपला और इन्दौर आदि के कपास पैदा करने वाले मुख्य क्षेत्रो में लागू है) राज्यीय सरकारो को अधिकार है कि वे कपास की खेती करने वाले विशेष भागो को सुरक्षित घोषित कर दे और इन क्षेत्रो के बाहर से बिना लाइसेन्स रुई के आयात को रोक दें। इस नियम का ध्येय अच्छी रुई में मिलाने के लिए बाहर से निकृष्ट रुई के आयात पर रोक लगाना है, जिसने भारत की अनेक प्रकार की प्रमुख रुई की ख्याति को विनष्ट कर दिया है। काटन जिनिंग और प्रेसिंग फैक्ट्रीज एक्ट के अन्तर्गत जो कि पहले नियम का एक उपप्रमेय ही है, बिनौला निकालने और रुई दबाने के कारखानो पर नियन्त्रण रखने का अधिकार दिया गया है तथा दबाई हुई रुई की गाँठो पर दबाने का चिन्ह-विशेष क्रमाक छापने का भी अधिकार दिया गया है ताकि गाँठो के मूल स्थान का सरलता मे पता लगाया जा सके। तीसरा रुई से सम्बन्धित नियम १९२७ का बाम्बे काटन मार्केट एक्ट था जो यद्यपि बरार के (दि बरार काटन एण्ड ग्रेन मार्केट्स लॉ ऑफ १८९७) नियम का प्रतिरूप था फिर भी कुछ अशो में

कार्यों का सामञ्जस्य करने के ध्येय से हुआ था। यह समिति वास्तव में राज्य की सर्व समिति नहीं है जैसा कि प्राय राज्यीय शब्द से समझा जाता है।

उससे आगे था। इसके अन्तर्गत रुई के उन खुले बाजारो को अधिसूचित करने का अ
था जहाँ पर खुली हुई रुई की बिक्री होती थी जिसे उत्पादक 'मार्केट कमेटी' द्वारा
नियमो तथा उपनियमो के अनुसार लाकर बेच सकते थे। इस कमेटी में रुई के
दको का भी प्रतिनिधित्व था। यह अधिनियम १६३६ के बाम्बे एग्रीकल्चर प्र
मार्केट एक्ट के पास हो जाने पर रद्द कर दिया गया। नियमित बाजारो की र
के दृष्टिकोण से अनेक अधिनियम हैदराबाद (१६३०), मद्रास (१६३३),[1] मध
(१६३५), पजाब (१६३६)[2], और मैसूर (१६३६) में पास कर दिये गए।
निधि विपणन समिति द्वारा शासित नियमित बाजारो की सहायता से जो बा
सौदे करने वाले लाइसेन्सदार दलालो पर नियन्त्रण रखती है उत्पादक अवैध व
झूठे बाटो और अनुचित तथा कम मूल्य से उसकी रक्षा के निमित्त बनाये गए
के कारण उचित लाभ पर सौदा कर सकता है। दूसरा लाभ यह है कि ऐसी स
के द्वारा किसान बडे खरीदारो से सम्पर्क स्थापित कर लेता है। यह सम्पव
बाजारो में बेचने से अधिक सम्भव है।

इतने अधिक व्यापारिक महत्त्व की फसल रुई के सम्बन्ध में विपणन-व
के विकास की ओर लोगो का ध्यान आकर्षित होना स्वाभाविक ही है। अन्य फस
सम्बन्ध मे भी यह सिद्धान्त लागू किया जाना वाञ्छनीय है। वर्तमान विक्रय-व
में एक गम्भीर दोष इस बात की अज्ञानता है कि बाजार में बेचने के लिए क्या
करना चाहिए, जैसे माल का एकत्रित करना, सुरक्षित रखना, एक स्थान से दूसरे
को भेजना, तरह-तरह के उपायो का प्रयोग और प्रत्येक स्थिति में मूल्यो का वि
कर सकना, इत्यादि। (देखिए सेक्शन २६ आगे।) यह बाजारो में बेचने की स्थिति के
के विचार से किसी सन्तोषप्रद नीति के विकास के लिए आवश्यक है। इण्डियन
काटन कमेटी ने किसानो की रुई की बिक्री तथा व्यय के सम्बन्ध में कुछ जाँच-प
की है और उनकी रिपोर्ट में बहुत-सी बहुमूल्य सूचनाएँ है।[3] कृषि आयोग ने, ब
में किस प्रकार बिक्री होती है, उसकी जाँच-पडताल करने पर तथा उनमें काम
वालों की शिक्षा पर बहुत जोर दिया था। उन्होंने प्रत्येक राज्य में कृषि-विभाग के
एक विशेषज्ञ विपणन अधिकारी के नियुक्त किये जाने की सिफारिश भी की
अनेक राज्यीय बैंकिंग जाँच कमेटियो ने (हैदराबाद राज्य को सम्मिलित करते
भी अपने-अपने राज्य के बाजारो में विपणन की स्थितियो पर विशेष ध्यान दि
और उनकी रिपोर्टो से भारत के विभिन्न भागो में विपणन-सम्बन्धी समस्याओ व
चलता है और यह भी मालूम होता है कि प्रत्येक राज्य में विक्रय की स्थिति में
भिन्नता है तथा प्रत्येक वस्तु के सम्बन्ध में एक ही राज्य में विपणन की स्थिति में

---

१ १६३६ में मद्रास एक्ट XIX, और १६४० के मद्रास एक्ट III द्वारा सशोधित।

२ पजाब एक्ट अक्टूबर १६४१ से लागू हुआ।

३ एट इनवैस्टीगेशन्स इन टू द फाइनेंस एण्ड मार्केटिग ऑफ कल्टिवेटर्स कॉटन, जनरल रि
पृथक् रिपोर्टें भी देखें (सेन्ट्रल कॉटन कमिटी)।

४ कृषि आयोग रिपोर्ट, पैरा ३४७-८।

अन्तर है ।[1]

२४. नई विपणन-व्यवस्था—यद्यपि राज्यीय सरकारो ने कृषि आयोग की वह सिफारिश मान ली थी जो उन्होने कृषि-विभाग के अधीन एक विशेषज्ञ विपणन-अधिकारी की नियुक्ति तथा बाजारो की जाँच-पडताल करने के सम्बन्ध में दी थी, पर आर्थिक कठिनाई के कारण राज्यीय सरकारें इस ओर कोई विशेष उन्नति न कर सकी । भारत सरकार इस निष्कर्ष पर पहुँची कि सम्पूर्ण भारत के दृष्टिकोण से इस समस्या के अध्ययन पर केन्द्रीय आय से ऐसी आर्थिक कठिनाई के समय में भी धन व्यय करना न्यायसगत होगा, क्योकि सुधरी हुई स्थिति में कृषि उत्पाद की बिक्री से देश की सामान्य आर्थिक स्थिति की उन्नति में विशेष सहायता मिलेगी । इसके अतिरिक्त प्रतिद्वन्द्वी देशो में वैज्ञानिक और आर्थिक उन्नति के परिणामस्वरूप जो वैदेशिक प्रतियोगिता बढ गई थी उससे भारत की रक्षा करने के लिए भी यह आवश्यक था । इसलिए प्रान्तीय सरकारो तथा इम्पीरियल (भारतीय) का कौन्सिल ऑफ एग्रीकल्चर रिसर्च की सलाह से भारत सरकार ने इस ओर पहला कदम १९३४ के अप्रैल मे ए० एम० लिविंगस्टन महाशय को, जो ब्रिटेन के कृषि-मन्त्रालय के बिक्री विभाग के बडे अधिकारी थे, अनुसधान परिषद् का कृषि-विपणन सलाहकार नियुक्त करके उठाया गया । १९३४ के प्रान्तीय आर्थिक सम्मेलन ने भी कृषि उत्पादन की बिक्री की समस्या पर विचार किया था और सब इस बात पर सहमत थे कि कृषि उत्पादन (अनाज तथा पशुओ से प्राप्त वस्तुओ) की विपणन-सुविधाओं के विकास के लिए बडे मनोयोग से प्रयत्न होना चाहिए, क्योकि इससे आर्थिक स्थिति के सुधार की बडी आशा की जा सकती है । सम्मेलन ने निम्न प्रकार से कार्य मे प्रवृत्त होने की सिफारिश की : भारतीय वस्तुओ का बाह्य बाजारो में प्रचार करके तथा तत्सम्बन्धी सूचनाएँ देकर, मुख्य उत्पादो को कोटिक्रमबद्ध कर तथा एकत्रित करके, नाशवान् वस्तुओ के लिए विशेष बाजारो की व्यवस्था करके, भारतीय उत्पादको को भारत तथा विदेशो के उपभोक्ताओ की आवश्यकताओ के विषय में सूचनाएँ देकर, माँग के अनुरूप और उत्कृष्टता के आधार पर वस्तुओ के उत्पादन की योजनाएँ बनाकर, नियमित बाजारो की स्थापना तथा उनको विकसित करके, बाजारो की जाँच-पड़ताल करके ताकि समस्त भारत के लिए एक ही प्रकार की योजना बने, और सुसगठित 'अगाऊसौदा' बाजारो की स्थापना करके तथा वस्तु-विनिमय शालाओ तथा भाण्डागारो की उचित व्यवस्था करके । भारत सरकार ने ५ मई सन् १९३४ के अपने एक प्रस्ताव में बाजारो मे बिक्री सम्बन्धी अपनी नई नीति की रूपरेखा बनाई थी जो सम्मेलन की सिफारिशों के आधार पर बनाई गई थी और भारतीय रियासतो और प्रान्तो के सहयोग से जिसका अनुसरण अनिवार्य कर दिया गया था । इस कार्य के लिए केन्द्रीय और प्रान्तीय पदाधिकारियो की नियुक्ति की गई ।[2] केन्द्रीय

---

१. कृषि उत्पाद के विपणन के सम्बन्ध में केन्द्रीय बैंकिङ्ग जाँच समिति के सुझावों की रिपोर्ट के २८४-६ और २८९ पैरा देखें ।

२. नई नीति कृषि के सम्बन्ध में बनाये गए शाही कृषि आयोग के अनुसरण में चली जिसकी केन्द्रीय बैंकिंग जाँच कमेटी ने पुष्टि की थी ।

पदाधिकारियो में कृषि-विपणन सलाहकार, तीन प्रवर विपणन-अधिकारी (सीनियर मार्केटिंग अफसर) तीन अवर विपणन-अधिकारी (जूनियर मार्केटिंग अफसर), ग्रेड बनाने तथा माल की पैकिंग करने के प्रयोग करने वाले केन्द्र पर काम करने के लिए एक सुपरवाईजिंग अफसर और बारह सहायक विपणन अधिकारी थे। राज्यो में विपणन सम्बन्धी अफसरो में एक मुख्य विपणन अधिकारी और अन्य सहायक विपणन अधिकारी थे। इस सम्बन्ध में राज्य का व्यय जो प्रतिवर्ष २ लाख रुपये होता था केन्द्रीय सरकार द्वारा पाँच वर्ष तक वहन किया गया। इनके अतिरिक्त ६२ मार्केटिंग अफसरो की नियुक्ति समस्त भारत मे काम करने के लिए हुई और २२६ अफसरो की नियुक्ति छोटी-छोटी भारतीय रियासतो में और अन्य शासन इकाइयो में काम करने के लिए की गई।

केन्द्रीय विपणन-सगठन के अधिकारियो ने जो कार्य प्रान्तीय अधिकारियो के सहयोग से किया उसे ३ वर्गो में विभाजित किया जा सकता है (१) अन्वेषण सम्बन्धी, (२) विकास सम्बन्धी, और (३) कोटिक्रम (ग्रेडो) के स्तर नियत करने से सम्बन्धित अन्वेषण सम्बन्धी कार्यो में अनेको वस्तुओं की बिक्री सम्बन्धी जाँच-पडताल सम्मिलित थी जिसमे अधिक महत्त्व की वस्तुओ के प्रति विशेष ध्यान दिया गया था, जैसे अन्न, तिलहन, तम्बाकू, रेशेवाली फसलें, फल, डेरी-उत्पाद, तथा पशु-धन इत्यादि। कुछ सामान्य हित के प्रश्नो पर, जैसे नियमित बाजार, यातायात की समस्याएँ और वस्तुओ के सुरक्षित रखने की सुविधाओ आदि पर, भी विचार किया गया था। बाजारो की जाँच-पडताल में वस्तुओ की केवल प्रान्त में ही बिक्री के सम्बन्ध में नही वरन् अन्तर्प्रान्तीय तथा विदेशी व्यापार के सम्बन्ध में भी विशद विवरण दिया गया था, ताकि समस्त भारत की वर्तमान स्थिति का चित्र सामने आ सके और भविष्य के विकास की एकरूप योजना बनाई जा सके। बाजार जाँच-पडताल की रिपोर्टों ने आवश्यक और व्यावहारिक सुधारो के प्रस्ताव सामने रखे थे। इन जाँच-पडतालो के कार्य में केन्द्रीय और प्रान्तीय अधिकारियो ने बराबर सहयोग दिया, पर जाँच की योजना बनाने, आँकडो को एकत्रित करने और परिणाम निकालने का कार्य मुख्यत केन्द्रीय अधिकारियो के हिस्से में पडा था। विकास-कार्य में, जो स्पष्टत ही विपणन-सर्वेक्षण के परिणामो पर ही निर्भर हो सकता है, उपभोक्ताओ की आवश्यकता से उत्पादको और विक्रेताओ को अवगत रखने के लिए की गई सिफारिशो के प्रदर्शन, बताये हुए कोटिक्रमो (ग्रेडो) के स्तरो को तथा माल को बाहर भेजने के लिए पैकिंग करने के ढगो को सर्वप्रिय बनाने आदि के कार्य सम्मिलित थे। प्रत्येक वस्तु के सम्बन्ध में उन्नति के कार्य बाजार के प्रान्तीय अधिकारियो को करने थे। कोटिक्रमो (ग्रेडो) के स्तर बनाने का कार्य प्राविधिक है और वस्तुओ के रासायनिक और भौतिक गुणो से सम्बन्धित है, जैसे तिलहन, अन्न, फलादि और वास्तविक परिस्थितियो मे कोटिक्रम बनाने की प्रविधि तथा उपस्कर की परीक्षा से सम्बन्धित है।

२४ विपणन-सगठन द्वारा किये गए कार्य—यद्यपि यह विपणन-सगठन अपेक्षाकृत थोडे ही दिनो से कार्य कर रहा है फिर भी बहुत-सा काम पूरा हो गया है। १९४० के

अन्त तक २९ वाजारो की जाँच-पडताल राज्यो और रियासतो में या तो पूरी हो गई थी या होने वाली थी। उत्पादको, वितरको, थोक विक्रेताओ, निर्माताओ, रेल के अधिकारियो तथा अन्य ऐसे लोगो के सहयोग से जिनका पण्य के उत्पादन और वितरण से सम्बन्ध था, अन्वेषण का कार्य करने मे वस्तुओ की उत्कृष्टता तथा उनके मूल्य पर विशेष ध्यान दिया गया है। सबसे पहले जाँच चावल, गेहूँ, अलसी, मूँगफली, तम्बाकू, कहवा, फलादि, दूध, अण्डे पशु तथा उनकी खाल और चमडे के सम्बन्ध में आरम्भ किया गया था और वाजारो तथा मेलो और सहकारी सिद्धान्त पर बिक्री के सम्बन्ध में भी जाँच की गई थी। अब तक १३ अखिल भारत विपणन सर्वेक्षण रिपोर्टें प्रकाशित हो चुकी हैं। इनमें से पहली रिपोर्ट जो १९३७ में भारत मे गेहूँ के विपणन के सम्बन्ध में छपी थी, विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस देश में गेहूँ के विपणन का पूरा विवरण इसमें दिया गया है और ऐसी सूचनाएँ हे जो गेहूँ के व्यापार से सम्बन्धित व्यक्तियो के लिए बहुमूल्य हे।[1]

१९३७ के शुरू में ही विपणन-सर्वेक्षण के प्रारम्भिक परिणामो को कार्य-रूप में परिणत करने के लिए गम्भीर प्रयत्न किये गए। बहुत सी बातें जिनका इस प्रकार पता लगा, पुस्तक रूप में एकत्रित कर ली गई ताकि उनका प्रयोग अनाज के व्यापारियो तथा तिलहन, घी, दूध तथा डेरी-उत्पाद के व्यापारियो और उत्पादको के साथ विचार-विमर्श करने में किया जाय। इसके साथ-ही-साथ प्रारम्भिक जाँच-पडताल से यह भी पता लगता है कि मिली हुई तथा सन्देहास्पद उत्कृष्टता वाली वस्तुओ के बेचने का आम रिवाज है, जो उत्पाद से लाभ प्राप्त करने में बाधक है। इससे यह बात स्वयं-सिद्ध है कि कृषि उत्पाद के अधिक अच्छे कोटिक्रम बनने चाहिएँ ताकि व्यापार करने के लिए वस्तु की उत्कृष्टता पर निर्भर एक सर्वमान्य आधार प्राप्त हो और जिससे उत्पादक और उपभोक्ता दोनो को ही लाभ हो। इस ध्येय से ही केन्द्रीय धारा सभा ने १९३७ की फरवरी में कृषि उत्पाद अधिनियम (जिसमें ग्रेड बनाना तथा बिक्री करना सम्मिलित था) पास किया जिसमें अनुसूचित कृषि-उत्पाद की किस्म का निर्देश करने के लिए उनके विभिन्न कोटिक्रमो (ग्रेडो) के नाम रखने की अनुमति दी गई थी तथा उत्कृष्टता के स्तर को निश्चित करने और कोटिक्रमो के नाम-चिह्नो को व्यक्त करने का अधिकार दिया गया था। इस एक्ट के अन्तर्गत बने उपनियमो से कृषि-विपणन सलाहकार को यह अधिकार प्राप्त था कि ऐसे व्यक्तियो को जो अपने उत्पाद के कोटिक्रम बनाने तथा उसके चिह्न नियत करने के लिए तत्पर हो यह अधिकार प्रदान करने वाला प्रमाणपत्र दे दे। सम्बन्धित लोगो का व्यवहारत पथ-प्रदर्शन करने के लिए केन्द्रीय वाजार पदाधिकारियो ने २५ प्रयोगात्मक केन्द्रो में उत्पाद

---

[1] बाजारों की जाँच-पड़ताल के अतिरिक्त, जो केन्द्रीय सरकार के पदाधिकारियों और विभिन्न प्रान्तों तथा रियासतों के द्वारा नियुक्त बाजार के अफसरों द्वारा की गई थी, अनेक परिनियत अखिल भारतीय केन्द्रीय पण्य समितियां (जो कि लाख, पटसन, चीनी, कहवा और रुई के लिए नियुक्त की गई थीं) के अपने निजी विपणन-कर्मचारी थे, जो कि केन्द्रीय और स्थानीय विपणन अफसरों के सहयोग से अनेक वस्तुओं के सम्बन्ध में जाँच-पड़ताल करते थे।

का ग्रेड बनाना तथा चिह्न लगाना आरम्भ किया। १९४० में ४०० केन्द्रो में बडे पैमाने पर अण्डे, घी, मक्खन, चावल, ताजे फल, तम्बाकू, रुई इत्यादि वस्तुओ के प्रामाणिक कोटिक्रम (ग्रेड) बनाये गए और वे नामाकित की गई। केवल १९४० में ही १०२ लाख रुपये मूल्य की ऐगमार्क वस्तुएँ बेची गई जबकि १९३९ मे केवल ६१ लाख रुपये की ही बेची गई थी।[१] अनेक कठिनाइयो के होते हुए भी इन केन्द्रो को जो सफलता मिली है, उससे यह स्पष्ट है कि लोगो में कोटिक्रम में वर्गीकृत वस्तुओ की माँग है, विशेष रूप से नाशवान वस्तुओ की, जैसे अण्डे तथा फलादि[२] के उत्पादको को ग्रेड बनाने से ऐसी बहुत सी वस्तुओ से कही अधिक लाभ भी होगा। प्रान्तीय और केन्द्रीय सरकार के अधिकारियो ने इन ग्रेड बनाने वाले केन्द्रो की स्थापना में सहायता दी है। अपनी-अपनी सरकारो की सहायता के आधार पर उन लोगो ने इस दिशा में तीव्रगति से उन्नति की है। प्राथमिक उत्पादको के हित की रक्षा के लिए यह आवश्यक है कि कोई विशेष प्रबन्ध किया जाय क्योकि १९४१ के विपणन (मार्केटिंग) अफसरो के सम्मेलन में यह बात मालूम हुई थी कि बाजार में बिकी हुई कोटिक्रम मे वर्गीकृत वस्तुओ के केवल १८ प्रतिशत मूल्य की वस्तुएँ ही उत्पादको के द्वारा बेची गई थी, बाकी मध्यस्थो द्वारा बेची गईं।

भारतवर्ष-भर में फैले हुए अनेक व्यापार-सघो की सहायता से सक्षिप्त मानक शब्दो के बनाने में (गेहूँ, अलसी और मूँगफली के लिए) पर्याप्त प्रगति की गई है।

अन्त में ऑल इण्डिया रेडियो दिल्ली स्टेशन से अग्रेजी और अन्य भारतीय भाषाओ में गेहूँ, अलसी, चावल आदि के मूल्य, उनकी राशि तथा उनके एक स्थान से दूसरे स्थान ले जाये जाने के विषय मे साप्ताहिक प्रसार द्वारा तथा हापुड बाजार के बन्दी के भाव की सूचना के विषय में प्रतिदिन के प्रसार द्वारा बाजारो की खबरें देने वाले विभाग (मार्केट न्यूज़ सर्विस) का प्रबन्ध किया गया। इसी ढग के प्रयत्न प्रान्तीय मार्केटिंग अफसरो द्वारा भी बाजारो के सूचना-विभाग के विकास करने के लिए किये

---

१ भारत में कृषि विपणन के सम्बन्धी १९४० की वार्षिक रिपोर्ट, पृष्ठ ३।

२ एग्रीकल्चरल प्रोड्यूस (ग्रेडिंग एण्ड मार्केटिंग) एक्ट १९३७ में पास हुआ था। यह फलों, फल से बनी वस्तुओं, शाकों, अण्डो, डेरी की वस्तुओं, तम्बाकू, कहवा, चावल, बूरा, गेहूँ, आटा, गुड़, तिलहन, वनस्पति तेल, कपास, लाख, सन, आंवला, चमड़ा और खाल, ऊन आदि पर लागू है। हाल ही में इस सूची में लकड़ी, सुअर के कड़े बाल, विरोजा, तारपीन व सुपारी भी शामिल कर लिये गए हैं। सन् १९४८ से १९५२ तक कोटिक्रम बद्ध वस्तुओं का मूल्य नीचे दिया जा रहा है

वर्ष	मूल्य
१९४८	११ ९ करोड़ रुपया
१९४९	१२ ३ ,, ,,
१९५०	१४ ० ,, ,,
१९५१	१३ ० ,, ,,
१९५२	१८ ० ,, ,,

निर्यात के लिए कृषि-उत्पाद के अनिवार्य कोटि-क्रमबन्धन के नियम को योजना आयोग ने भी [illegible] या है। योजना आयोग की सिफारिश थी कि क्रमबन्धन (ग्रेडिंग) १९५१-५२ से आरम्भ [illegible] वर्षो में हो जाना चाहिए।

गए। उदाहरण के लिए वम्वई सरकार ने १९४१ से मूल्य जाँच विभाग की स्थापना रेवेन्यू विभाग के द्वारा की है। वम्वई सरकार द्वारा आयोजित विक्री के अधिक अच्छे ढग सहकारी विक्री समितियो के विकास, नियमित वाजारो की स्थापना और ऐगमार्क योजना के अन्तर्गत उत्पाद को प्रामाणिक बनाने के प्रयत्नो में जिनका ध्येय उत्पादन को सुधारना है, परिलक्षित होते है। वम्वई में १९४१ में एक प्रान्तीय सहकारी विपणन समिति की रजिस्ट्री हुई थी। यह समिति सारे देश के लिए आदर्श थी और यह आशा की जाती थी कि अन्य प्रान्तो से भी इस समिति को कार्य मिलेगा।

कृषि-उत्पाद के विपणन के भावी विकास के प्रश्न पर सन् १९४१ में दिल्ली मे कृषि-मन्त्रियो के सम्मेलन मे विचार किया गया था। इन लोगो ने विभागीय जाँच-पडताल की गति कम करके विकास के कार्यो को तीव्रतर करने की सलाह दी और वर्तमान वाजारो की व्यवस्था में जो अभाव रह गए थे उनको पूरा करने के लिए अनेक वहुमूल्य सुझाव दिए।

अनेक भारतीय रियासतो ने भी कृषि-विपणन के विकास के लिए अपनी सेवाएँ अर्पित की। कहने की आवश्यकता नही कि गाँव के अभ्युदय का मूलाधार यही है।

२६. भाण्डागारों तथा मापों और वाटों के मानकीकरण की आवश्यकता—विपणन-व्यवस्था की उन्नति में दूसरी आवश्यकता उपयुक्त भाण्डागारो की सुविधा और उत्पादको को भाण्डागार प्रमाण-पत्र देने की है जिसके आधार पर वे सहकारी वैंक अथवा अन्य वैंको से रुपया उधार पा सकें। इससे उत्पादक अपने माल को अच्छे मूल्य चढने तक रोके रह सकेगा। इस सम्वन्ध में हम अमेरिका के लाइसेन्सदार भाण्डागारो और मिश्र की रुई के आधार पर छोटे उत्पादको को ऋण देने की प्रथा की ओर ध्यान आकर्षित करना चाहते है। विभिन्न वैंकिंग जाँच-कमेटियो ने अपनी रिपोर्टो में भारतीय परिस्थितियो में इन दोनो योजनाओ की व्यावहारिकता के सम्वन्ध में वहुत कुछ कहा है और भाण्डागारो को लाइसेन्स देने के लिए कानून वनाने तथा उनका नियन्त्रण करने के सम्वन्ध मे विविध मत प्रकट किये है। उदाहरण के लिए पजाव की जाँच-कमेटी ने यह मत प्रकट किया कि ऐसे भाण्डागारो की अभी आवश्यकता नही है पर कुछ समय वाद उनकी आवश्यकता पडेगी।[1] इसके विपरीत वम्वई की कमेटी ने आरम्भ में कुछ प्रमुख केन्द्रो मे लाइसेन्सदार भाण्डागारो की स्थापना की सिफारिश की।[2] इस सम्वन्ध में केन्द्रीय वैंकिंग जाँच-कमेटी ने अनेक उपयोगी सिफारिशें की। व्यक्तिगत एजेंसियो के भाण्डागारो के निर्माण के लिए पूँजी और लाइसेन्स देने के प्रश्न पर उनका सुझाव था कि यह कार्य प्रान्तीय सरकारो द्वारा किया जाना चाहिए तथा इनके कार्यो को कृषि अनुसन्धान राजकीय (अव भारतीय) परिषद् (इम्पीरियल कौन्सिल ऑफ एग्रीकल्चरल रिसर्च) द्वारा संयोजित किया जाय। रेलवे भाण्डागार स्थापित करने के प्रश्न को रेलवे वोर्ड को अपने हाथ मे लेना चाहिए तथा इस सम्वन्ध में चुने हुए केन्द्रो में प्रयोग करना चाहिए। इन केन्द्रो जहाँ अच्छे वाजार है, गोदाम वनाने के लिए प्रान्तीय

---

१. पजाव वैंकिंग जाँच कमेटी रिपोर्ट, पैरा ९२।

२. रिपोर्ट ऑफ द वाम्बे वैंकिंग इन्क्वायरी कमेटी, पैरा १५१।

सरकारो को कम सूद पर दीर्घकालीन ऋण देना चाहिए ।[1] यह प्रसन्नता की बात है कि बम्बई और मद्रास की सरकारो ने बहुध्येयी तथा विपणन समितियो को ऐसा ऋण देना आरम्भ कर दिया है । साधारणतया विश्वास किया जाता है कि भारत में मिश्री कपास योजना (ईजिप्शियन कॉटन स्कीम) को अपनाने का समय अभी नही आया है । अभी मिस्र में ही इस योजना की उपयोगिता पूर्णतया प्रमाणित नही हुई है । साथ ही वर्तमान परिस्थितियो में छोटे-मोटे किसान का मूल्य बढने की आशा में उत्पाद को रखे रहने के लिए प्रोत्साहित करना वाञ्छनीय नही है ।[2]

एक अन्य अति आवश्यक सुधार बाटो और मापो के मानकीकरण का है । इस पर कृषि-आयोग, विभिन्न राज्यीय बैंकिंग जाँच समितियो तथा केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति ने बहुत जोर दिया है । इस सम्बन्ध में सेन्ट्रल प्रॉविन्सेज वेट्स एण्ड मेज़र्स ऑफ केपीसिटीज एक्ट (१९२८) की ओर ध्यान आकर्षित किया जा सकता है, जो बाटो और मापो की इकाइयो को निर्धारित करता है तथा सरकार के विभिन्न क्षेत्रो को अधिसूचित करके मानकीकरण का अधिकार देता है । इसी प्रकार का अधिनियम बम्बई में १९३५ से लागू हुआ । मन्त्रियो के विपणन-सम्मेलन की सिफारिश के अनुसार १९३९ में केन्द्रीय विधान सभा ने स्टेण्डर्डस ऑफ वेट बिल पास किया । इस कानून के अन्तर्गत आवश्यक नियमो और प्रामाणिक बाटो को जारी करने से पूर्व ही इसे मद्रास, बगाल, उत्तरप्रदेश और मध्यप्रदेश में स्थानीय रूप से कार्यान्वित कर दिया गया है ।[3] मीट्रिक प्रणाली का प्रारम्भ एक स्पष्ट सुधार है, परन्तु दुर्भाग्य से इस प्रस्ताव को जनता के लोकप्रिय नेताओ का समर्थन प्राप्त नही हुआ है ।

अन्त में क्रेता और विक्रेता दोनो के हित की दृष्टि से देश-भर में उचित रूप से नियमित और पुराने तरीको पर चलाये जाने वाले अगाऊ सौदा बाजारो का विकास करने की सम्भावना और वाछनीयता पर विचार करना भी आवश्यक है ताकि उत्पाद के मूल्य के सम्बन्ध में आश्वस्त हुआ जा सके[4] और बाजार-भाव के चढाव-उतार की जोखम कम हो जाय ।[5]

---

१ देखिए, रिपोर्ट ऑफ द सेन्ट्रल बैंकिंग इन्क्वायरी कमेटी, पैरा २७९-८० ।

२ देखिए, रिपोर्ट ऑफ द पजाब बैंकिंग इन्क्वायरी कमेटी, पैरा ९३, तथा सेन्ट्रल प्राविन्सेज एण्ड बरार बैंकिंग इन्क्वायरी कमेटी, पैरा १०८५ ।

३ एनुएल रिपोर्ट्स ऑफ द एग्रीकल्चरल मार्केटिङ्ग एडवाइज़र (१९४०), पृ० ३ और (१९४१) पृ० ६ ।

४ अनियमित बाजारों के काम में मुख्य कठिनाई बाजार कमेटियों पर कृषकों के उचित प्रतिनिधियों का अभाव है । साधारणतया कृषकों के प्रतिनिधि थोड़े से प्रलोभन मिलने पर उनके हितों का सौदा कर बैठते हैं । इस विषय के अधिकारी विद्वान् डॉ० शिरनामे का विचार है कि कुछ समय तक हमें जनतन्त्रवाद के नियम को त्याग देना चाहिए और बाजारों को एक प्रभावपूर्ण प्रशासन द्वारा नियमित करना चाहिए" (देखिए, पृ० २५८, प्रोसीडिंग्ज ऑफ द फोर्थ कान्फ्रेन्स, (दिसम्बर १९४३) ऑफ द इण्डियन सोसायटी ऑफ एग्रीकलचरल इकनामिक्स) ।

५ अनियमित बाजारों का उद्देश्य किसानों को उनके उत्पाद का उचित मूल्य दिलाना है तथा उसे अनधिकृत कटौतियाँ एवम् असुविधाओं से बचाना है । इन बाजारों का प्रबन्ध एक कमेटी के हाथ में होना है जिसमें उत्पादक, उपभोक्ता तथा मध्यस्थ होते हैं । सन् १९५०-५१ में २८३ अनियमित बाजार थे जिनकी

अध्याय ६

ग्रामीण ऋणिता

१. ग्रामीण ऋणिता : एक गम्भीर समस्या—उपजाऊ भूमि तथा श्रम के बाहुल्य में खेती करने के आनुवंशिक कौशल के कारण ऐसा प्रतीत होता है मानो स्वयं प्रकृति ने ही भारत को एक सम्पन्न खेतिहर देश बनाने के लिए वरण किया हो। फिर भी भारतीय कृषि अत्यन्त पिछड़ी हुई अवस्था में है और एक औसत किसान का जीवन बिलकुल कंगालों जैसा है। इसे सभी ने स्वीकार किया है कि इस हीनावस्था का एक मुख्य कारण ऋण का अतिशय भार है। जैसा कि स्व० श्री वोल्फ ने कहा था—"देश महाजन के चंगुल में है। ऋण के बन्धन ही खेती को जकड़े हुए हैं।"[1] अतिशय ऋणिता जो अधिकांशत अप्रतिफलात्मक है, प्रत्येक दिशा में सुधार के मार्ग को अवरुद्ध करती है। यह भारतीय कृषि-अर्थ-व्यवस्था की सबसे अधिक गम्भीर समस्याओं में से एक है।

२ ऋणिता का विस्तार : प्रारम्भिक जाँच-पड़ताल—सन् १८७५ में दकन-उपद्रव-आयोग (डेकन रॉयट्स कमीशन), अहमदनगर जिले (बम्बई) के १२ गाँवों की स्थिति का विश्लेषण करने के बाद इस परिणाम पर पहुँचा कि सरकारी ज़मीन के एक-तिहाई काश्तकार कर्जों से परेशान हैं, औसत कर्ज निर्धारित लगान के १८ गुणा हैं;

संख्या १९५३-५४ में बढ़कर ३५६ हो गई। ७३ नये अनियमित बाजार निम्न राज्यों में स्थित थे —

बम्बई	२६
हैदराबाद	१९
मध्यप्रदेश	५
मैसूर	५
पंजाब	१८

हैदराबाद, पैप्सू और पंजाब में अधिकांश बड़े-बड़े थोक बाजार अनियमित हैं। कुछ महत्त्वपूर्ण राज्यों ने जैसे आसाम, बिहार, उड़ीसा, पश्चिमी बंगाल और उत्तरप्रदेश, थोक बाजारों को अनियमित नहीं किया है। कुछ राज्यों ने बाटों और मापों का प्रमापण अभी तक नहीं किया है और कुछ राज्य इस सम्बन्ध में पास किये गए कानून को पूर्णतया कार्यान्वित नहीं कर रहे हैं।

मण्डियों की हालत सुधारने के लिए लाइसेन्सदार भाण्डागारों की स्थापना की सिफारिश पंचवर्षीय योजना में भी की गई है। बम्बई, बिहार, मद्रास, मध्यप्रदेश, हैदराबाद तथा ट्रावनकोर-कोचीन में इस सम्बन्ध में आवश्यक कानून पास कर दिया है, परन्तु अभी तक (सितम्बर १९५४ तक) किसी भाण्डागार की स्थापना नहीं हुई है।

१. वोल्फ, कोआपरेशन इन इण्डिया, पृ० ३।

दो-तिहाई कर्जा जमीन रहन रखकर किया गया है और औसतन हर किसान पर ३७१ रु० का कर्जा है।

भारत के सारे हिस्सो से प्रमाण इकट्ठा करने के बाद अकाल आयोग, (फेमिन कमीशन, १८८०) ने यह निष्कर्ष निकाला था कि भूमिधारी वर्ग के एक-तिहाई व्यक्ति कर्ज में बुरी तरह डूबे हुए हैं और कम-से-कम इतने ही लोग ऐसे हैं जो ऋणग्रस्त तो हैं पर ऐसे नही कि अपनी स्थिति फिर से न सुधार सके। १८९५ में सर फ्रेडरिक निकलसन के अनुमान के अनुसार मद्रास का कुल ग्रामीण ऋण ४५ करोड रुपये था।

१९०१ का अकाल आयोग (फेमिन कमीशन) इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि बम्बई के एक चौथाई किसानो ने अपनी जमीनो का अधिकार खो दिया था। उनमें से १/५ से कम ऋण-मुक्त और शेष न्यूनाधिक मात्रा में ऋणग्रस्त थे।

मद्रास के बारे में निकलसन के अनुमान के आधार पर सर एडवर्ड मेक्लैगन ने हिसाब लगाया था कि १९११ में ब्रिटिश भारत का कुल कृषि-ऋण ३०० करोड रुपये था। एम० एल० डार्लिंग ने १८९५ की मद्रास के ऋण की रकम की अपेक्षा १९२४ की पजाब के आंकडो को अधिक विश्वसनीय मानते हुए 'ब्रिटिश भारत' के ऋण का अनुमान ६०० करोड रुपये लगाया था। पजाब के ऋण की रकम (९० करोड) उस राज्य के भू-राजस्व का १९ गुणा है। १९२३-२४ में ब्रिटिश भारत (बर्मा सहित) के भू-राजस्व (३३ ४५ करोड) से ऋणिता का यही अनुपात लगाएँ तो ६७४ करोड रु० की रक़म होती है। यह विश्वास करने के कारण हैं कि ग्रामीण भारत के बहुत से भागो की अपेक्षा पजाब कही अधिक ऋणग्रस्त है। अनेक बातें इस ओर सकेत करती हैं, जैसे साहूकारो की सख्या जोकि जनसख्या के अनुपात में ब्रिटिश भारत की औसत की अपेक्षा पजाब में तीन गुणा है तथा विशेष कानून, जो कि साहूकार से किसान को बचाने के लिए पास करना पडा। इसलिए १९ से गुणा करने की अपेक्षा १७ से गुणा करना अधिक ठीक होगा। इसमें कुल ऋण ६०३ करोड रुपया आता है। यह रकम सम्भवत अधिक है, क्योकि जहाँ कही भी स्थायी बन्दोबस्त है भू-राजस्व का अनुमाप अन्य स्थानो की तुलना में बहुत कम है। साथ ही ब्रिटिश भारत के भू-राजस्व की रकम में स्वत्वग्रहीताओ का भू-राजस्व शामिल नही था, यद्यपि पजाब के आंकडो में यह भी शामिल था। फिर यदि हम जनसख्या की दृष्टि से पजाब की रकम को लेते हैं तो हमें १०८० करोड का योगफल मिलता है, क्योकि पजाब की ग्रामीण जनसख्या ब्रिटिश भारत की ग्रामीण जनसख्या की $\frac{1}{12}$ थी। अतएव अनुमानत हम कह सकते हैं कि ब्रिटिश भारत, जिसकी आबादी २४ करोड ७० लाख थी, का कुल ग्रामीण ऋण, ६०० करोड से कम नही था।[१]

इस प्रश्न पर सन् १९२९-३० की विभिन्न राज्यीय बैंकिंग जांच समितियो की जांच-पडताल से अपेक्षाकृत अधिक व्यापक अनुमान प्राप्त हुए है। इनसे पहले की गई

१ "सारे भारत के लिए हम कुल ग्रामीण ऋण को १,००० करोड़ मान सकते है।" डार्लिंग, पजाब पेजेंट, चौथा सस्करण, पृ० १९, दूसरा सस्करण भी देखिए, पृ० १७ और तीसरा सस्करण पृ० १८-१९।

जाँच-पडतालो के परिणामो की पुष्टि होती है, तथा उनके सम्बन्ध में धारणा अधिक निश्चयात्मक हो जाती है।[1] ये अनुमान बिलकुल सही है, यह दावा नही जा सकता, लेकिन कुल ऋण के विस्तार का अनुमान देने के लिए उपयोगी है।

३ **प्रान्तीय बैंकिंग जाँच-समितियों के ग्रामीण ऋणिता-सम्बन्धी अनुमान**—नीचे हम ग्रामीण ऋण के अनुमान देते है जोकि विभिन्न प्रान्तीय बैंकिंग जाँच समितियो की रिपोर्टो से लिये गए है। रिपोर्टे सन् १९३० मे प्रकाशित हुई थी।

(१) बम्बई—सिन्ध को शामिल करते हुए सारे प्रान्त के कुल ग्रामीण ऋण का अनुमान ८१ करोड रुपये था। यह कुल मालगुजारी (या किसानो द्वारा सरकार को दिया हुआ लगान) का १५ गुणा था, अर्थात् प्रान्त के सम्पूर्ण कृषि-उत्पाद के औसत मूल्य का ५३ प्रतिशत था। प्रति परिवार औसत ऋण ३२९ रु० था। ऋण से मुक्त परिवारो का प्रतिशतय इस प्रकार था · सिन्ध में १३, उत्तरी गुजरात में २१, दक्षिण गुजरात में २३, और कोकण में २९ (पैरा ४९-५०, ५४)। (२) मद्रास—उस साल ऋण की अधिकतम रकम १५० करोड रुपये के लगभग थी तथा प्रतिवर्ष चालू रहने वाला ऋण लगभग ७० करोड रुपये था। राज्य का औसत ऋण मालगुजारी या सरकार को दिये जाने वाले लगान का १९ गुणा था (पैरा९६, ९८)। (३) बंगाल—सारे बगाल के लिए कुल कृषि-ऋण का अनुमान १०० करोड रुपये लगाया गया था। प्रत्येक खेतिहर परिवार के लिए औसत ऋण १६० रुपये था (पैरा ९०)। (४) सयुक्त प्रान्त (उत्तरप्रदेश)—सयुक्त प्रान्त बैंकिंग जाँच समिति ने सारे प्रान्त के भू-स्वामी कृषक एवम् अन्य किसानो के लिए १२४ करोड रुपये के ऋण का अनुमान किया था। (५) पजाब—१९२९ में पजाब के कुल कृषि-ऋण का अनुमान १३५ करोड रुपये था जबकि १९२१ में ९० करोड रुपये था। इसका अर्थ यह हुआ कि १९२९ से ऋण ५० प्रतिशत बढ गया। १९२९ में कुल ऋण लगान का २७ गुणा था जबकि १९२१ में सिर्फ १९ गुणा था। खेती पर आश्रित व्यक्तियो में यह ऋण १९२९ में १०४ रुपया प्रति व्यक्ति था जबकि १९२१ में केवल ७६ रुपया प्रति व्यक्ति था। खेती की जाने वाली भूमि के प्रति एकड पर ऋण १९२१ के ३१ रु० से बढकर १९२९ में ४५ रु० हो गया (पैरा २२)। (६) मध्यप्रान्त व बरार—कुल ऋण लगभग ३६½ करोड रुपये था जोकि सामान्यत फसल की कुल उपज का ४९ प्रतिशत था। ब्याज की रकम भू-राजस्व की अढाई गुणा तथा खर्च आदि निकालने के बाद खेती की आय के एक-तिहाई से अधिक होती थी। किसानो का कुल ऋण २२७ रु० प्रति कृषक-परिवार था (पैरा ६४४, ६५३-५४)। (७) बिहार और उडीसा—सारे प्रान्त के लिए ग्रामीण ऋण का अनुमान १५५ करोड रुपये था। इसमें से २४ करोड रुपया जमीदारो पर, २

---

१ कृषि आयोग ने सिफारिश की थी कि आयकर विभाग (उधार) लेन-देन पर समय-समय पर रिपोर्टें तैयार करे ताकि ग्रामीण ऋण के विभिन्न पहलुओं पर कुछ प्रकाश डाला जा सके (रिपोर्ट पैरा ३६८) यह उद्देश्य साहूकारी कानूनों के कार्य की रिपोर्टों से भी पूरा हो सकता है जिसके अनुसार उन्हें रजिस्ट्री करानी पड़ती है, हिसाब-किताब रखने पड़ते हैं। पिछले वर्षों में यह कानून कई राज्यों में पास हो चुका है। आगे सेक्शन ८ देखिए।

करोड रुपया देहात के अन्य परिवारो पर तथा १२९ करोड रुपया साधारण किसानो पर ऋण था (पैरा ६०)। (८) आसाम—मैदानी जिलो का कुल ग्रामीण ऋण २२ करोड रुपये मे अधिक था, अर्थात् वार्षिक भू-राजस्व का २१ गुणा प्रति परिवार औसत ऋण २४२ रु० था। १५ प्रतिशत परिवार ऋण से मुक्त थे (पैरा ३३)। (९) केन्द्रीय प्रदेश—केन्द्र द्वारा शासित प्रदेशो पर ऋण का अनुमान १८ करोड रुपये था और कुर्ग पर ऋण का अनुमान ३५ व ५५ लाख के बीच में था।

इन अनुमानो से यह प्रकट होगा कि १९२९ में ब्रिटिश भारतीय प्रान्तो[1] का कुल ग्रामीण ऋण ९०० करोड रुपये के आसपास था,[2] यद्यपि यह अनुमान बिलकुल ठीक होने का दावा नही किया जा सकता। ऐसा विश्वास किया जाता था कि १९४१ में केवल ब्रिटिश भारत पर ऋण का भार १२०० करोड से भी अधिक था।[3] पहले विश्वयुद्ध के बाद और विशेषकर १९२९ के बाद आर्थिक मदी के दौरान में ऋण-भार और अधिक असह्य हो गया।[4]

लेकिन ऋण की भयानकता अपने विस्तार अथवा बढने की गति मे नही है। चिन्ता का कारण तो यह है कि अधिकाश ऋण अनुत्पादक है। उदाहरणार्थ डार्लिंग के अनुसार पजाब में ऋण का ५ प्रतिशत से भी कम भाग भूमि-सुधारो के लिए था।[5] अधिकतर पुराने ऋण चुकाने के लिए नए ऋण लिए जाते है।

४. ऋणिता के कारण—यदि ऋण निर्धनता का कारण है, तो इसका उलटा भी उतना ही सत्य है। अतएव यह प्रकट है कि ऋणिता के कारणो के रूप में जो कुछ अधिकतर कहा जाता है उसमे भारत की ग्रामीण जनसख्या की निर्धनता के कारणो की भी व्याख्या रहती है। ग्रामीण ऋणिता के मुख्य कारणो में हम निम्नलिखित का उल्लेख कर सकते है—

१ भूमि पर जनसख्या का अत्यधिक दबाव।

२ भूमि का अत्यधिक उपविभाजन और अपखण्डन।

३ कुटीर उद्योगो का पतन और खाली दिनो में अतिरिक्त काम न होने के कारण आय की क्षति।[6]

---

१. बर्मा सहित।

२ देखिए, केन्द्रीय बैंकिंग जॉच कमेटी की रिपोर्ट, पैरा ७७।

३ पी० जे० थॉमस, 'द प्रावलम ऑफ रूरल इनडैटिडनैस' (१९४१), पृ० १९।

४ "१९२९ से कीमतें गिर जाने के कारण, वस्तुओं के रूप में हिसाब लगाने पर यह अवश्य ही दुगना होगा।"—प्रॉलिमिनरी रिपोर्ट ऑन एग्रीकल्चरल क्रेडिट बार्ड रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया (१९३६), पैरा १३।

५ तुलना कीजिए "ग्रामीण ऋण की एक विशेषता यह है कि यह सकट की निशानी है, जबकि अन्य उद्योगों में उधार लिया गया धन एक मामान्य बात है। चूँकि अधिकाश ऋण अनुत्पादक कार्यों के लिए होते हैं, इसलिए किसान पर ऋण-भार बहुत अधिक हो जाता है। अधिक ऋण का अनिवार्यत यह अर्थ नहीं कि उसके पीछे काफी सम्पत्ति होगी, जिससे उत्पादकता बढे। इसी में ग्रामीण ऋण की दुरन्तता छिपी हुई है।"—रिपोर्ट ऑफ द बगाल बैंकिंग इनक्वायरी कमेटी, पैरा १०४।

६ देखिए, रिपोर्ट ऑफ द सेन्ट्रल बैंकिंग इन्क्वायरी कमेटी, पैरा ८१।

४ किसान का बुरा स्वास्थ्य—किसी मौसम मे बीमारी (जैसे मलेरिया) किसान को काम करने में असमर्थ बना देती है और साधारणतया उसकी क्षमता में चिन्त्य कमी कर देती है।

५ फसलो की अनिश्चितता—कहा जाता है कि भारतीय कृषि मानसून मे जुआ खेलने की तरह है—कारण है फसलो की अनिश्चितता। यह बिलकुल सच है। जैसा कि डालिंग ने कहा है, "पूर्वी राजाओ की सभी सुविख्यात चपलताएँ इसमें विद्यमान हैं।" अनुमान किया गया है कि पचवर्षीय कृषि-चक्र में एक अच्छा, एक बुरा और तीन साधारण वर्ष होते हैं। सम्भवत अच्छे सालो में ही किसान अपने को ऋण-मुक्त रख सकता है।

६ दुर्भिक्ष और रोगो के कारण पशुओ की हानि—रिण्डरपैस्ट जैसे रोग किसान की आर्थिक आकुलता के अन्य स्पष्ट कारण है। पशु खरीदने के लिए बडी प्रतिशतता में सहकारी समितियो द्वारा ऋण दिया जाना इसका प्रमाण है।

७ अवक्षयण या घिसाव—एक अन्य कारण पशु व औजारो के अवक्षयण के लिए व्यवस्था न कर सकना है, जिससे उनकी उपयोगिता समाप्त हो जाने पर बिना ऋण लिये उनकी जगह दूसरे पशु या औजार खरीदने के लिए उनके पास कोई कोष नही होता। इस प्रकार पूँजी का लगातार उपभोग होता रहता है। अधिकतर इसका कारण तथ्यो को अच्छी तरह न समझ सकना है, परन्तु अशत अधिक ऊँचे जीवन-स्तर की इच्छा भी इसका एक कारण है। अवक्षयण के लिए—उदाहरणार्थ पशुओ का अवक्षयण—रुपयो को अलग रख देना मुश्किल हो जाता है जब कि बहुत सी आवश्यक चीजें, भले ही वे विलास की हों अथवा अन्य, घर में न हो। बैंकिंग की सुविधाओ व बचत की परम्परा न होने से कठिनाइयाँ और भी बढ जाती है।[1]

८ मुकदमेबाजी से अत्यधिक प्रेम—भारतीय किसान की यह विशेषता—यद्यपि समुचित व्यवहार, चिकित्सा व अच्छी शिक्षा से ठीक हो सकती है, निश्चय ही ऋण का एक कारण है, परन्तु यह एक छोटा ही कारण है।

९ किसान की अदूरदर्शिता व फिजूलखर्ची—सामाजिक रीतिरिवाजो की कठोरता, शिक्षा का अभाव और व्यवसाय की सदिग्ध प्रकृति आदि में किसान की अदूरदर्शिता व उसके अपव्यय के कारण निहित माने जा सकते है, क्योकि इनसे उसको एक जुआरी जैसी प्रवृत्ति मिलती है। ऋणिता का दबाव बढाने मे उनके अस्तित्व और प्रभाव को अस्वीकार करना सम्भव नही है। यद्यपि एक भारतीय किसान साधारणतया अत्यधिक मितव्ययिता व सयम का जीवन व्यतीत करता है लेकिन विशेष अवसरो पर वह निस्सन्देह असीमित व्यय करने के लिए तैयार हो जाता है। दक्षिण उपद्रव आयोग (१८५७) ने यह स्वीकार नही किया है कि विवाह आदि पर फिजूलखर्ची ऋण का एक प्रमुख कारण है। यहाँ हम उनके शब्द उद्धृत करते हैं "विवाह व अन्य उत्सवो के खर्च को किसान के ऋण के कारण के रूप मे अनुचित प्रधानता दी गई है। किसान के साधनो की तुलना मे, ऐसे अवसरो पर किया गया

१. देखिए, रिपोर्ट ऑफ द बर्मा बैंकिंग इन्क्वायरी रिपोर्ट, पैरा ११३।

खर्च निस्सन्देह असीमित कहा जा सकता है, पर ऐसे अवसर कभी-कभी ही आते हैं और सम्भवत कई सालो में किसी भी किसान द्वारा इस प्रकार किया गया खर्च उससे अधिक नही है जोकि उसकी-सी स्थिति वाला एक मनुष्य सामाजिक व घरेलू सुख पर औचित्य की सीमा में रहते हुए खर्च कर सकता है। यह खर्च उसके ऋण का मूल कारण कठिनता से प्रतीत होता है। कभी-कभी के विवाह-शादी की अपेक्षा, भोजन एव अन्य आवश्यक वस्तुओ, जैसे बीज, बैलो, सरकारी कर के लिए हमेशा लिये जाने वाले छोटे मोटे कर्जे, किसान के ऋण को बढाने में अधिक सहायक होते है।" बगाल बैंकिग जाँच कमेटी ने भी इस विचार का समर्थन किया है (पैरा ६५)।

इसे अस्वीकार नही किया जा सकता कि विवाह और सामाजिक व धार्मिक समारोहो का खर्च, ऋण के कारणो में से एक है, यद्यपि अन्य अप्रतिफलात्मक कार्यो की तुलना में यह उतना महत्त्वपूर्ण नही है, जितना कि कभी-कभी समझा जाता है। परन्तु हमे यह नही भूल जाना चाहिए कि ऐसे उदाहरणो का अभाव नही जबकि ऐसे अवसरो पर भारी ऋण लिये गए है जिनसे ऋणी कभी मुक्त न हो सका। पुनः गाँवो में ऐसे अवसरो पर खर्च का स्तर पिछले कुछ समय से स्पष्ट रूप से बढोतरी पर है।

१० पैतृक ऋण—दक्षिण उपद्रव आयोग ने यह विचार प्रकट किया था कि वर्तमान ऋण का मुख्य कारण पैतृक ऋण है जो बिना किसी न्यायोचित प्रतिबन्ध के बाप से बेटे को हस्तातरित होता रहा है। किसान पर पैतृक ऋण का असह्य भार वैधानिक स्थिति के अज्ञान के कारण है। वह यह नही समझता कि एक मृत व्यक्ति के ऋण उसके उत्तराधिकारियो को तभी भुगताने पडते है जब वे उसकी सम्पत्ति के मालिक हो। ऐसा होने पर भी ऋण के सम्बन्ध में उसकी देनदारी उस सम्पत्ति तक ही सीमित रहती है। वास्तव में यह परम्परा के कारण भी है जिससे किसान पैतृक ऋण का सम्मान करता है और उसे चुकाना अपना नैतिक और पवित्र कर्तव्य मानता है। आवश्यकता इस बात की है कि किसान को उसके अधिकार बतलाए जायँ और उनका उपयोग करने के लिए उसे उत्साहित किया जाय। ग्रामीण परिस्थितियो के अनुकूल एक सादा दिवालिया कानून (इनसॉल्वेन्सी एक्ट) बनाने पर भी ध्यानपूर्वक विचार करना चाहिए। जैसा कि कृषि आयोग ने कहा था,"कोई भी एकदम दिवालिया नही बनना चाहता और हमें विश्वास है कि कोई भी व्यक्ति यह नही चाहता कि ऐसी प्रणाली जारी रहे जिसमें असख्य व्यक्ति ऋणी के रूप में जन्म लेते हो, ऋणी रहते हो और अपने पीछे आने वालो पर अपना भार छोडकर ऋण में ही मर जाते हो।"[१] केन्द्रीय बैंकिग जाँच समिति ने इस सिफारिश का समर्थन किया और प्रस्तावित ग्रामीण दिवालिया कानून में कुछ विशेष बातें शामिल करने के लिए सुझाव रखे।[२] कुछ राज्यो में ऋणी की सम्पत्ति उसकी देनदारी से कम होने पर कानूनो की कुछ धाराएँ ऋणी को दिवालिया घोपित कर देती है (देखिए आगे सेक्शन १० और ११)।

१ कृषि आयोग रिपोर्ट, पैरा ३६७। रिपोर्ट ऑफ द बाम्बे बैंकिग इन्क्वायरी कमेटी, पैरा ५६।
२ रिपोर्ट, पैरा ६३।

११ कृषक की आर्थिक स्थिति में आधुनिक परिवर्तन—पैक्स ब्रिटानिका की स्थापना, मालगुजारी के निश्चित निर्धारण, सुदृढ व स्थायी शासन के विकास, नगरो की उत्पत्ति व ऊँचे मूल्यो आदि के कारण भूमि का मूल्य बढ गया और साथ ही बन्धक पर ऋण लेने की शक्ति भी बढ गई। यद्यपि इससे कष्ट कम हुआ पर साथ ही बन्धक पर लिये ऋणो में तीव्र वृद्धि भी हुई। पिछली शताब्दी के छठे दशाब्द में अमेरिकी गृहयुद्ध के कारण कपास के अभिवृद्धि-काल में व पुन पहले विश्व-युद्ध के दौरान में और उसके कुछ बाद किसानो के लिए असाधारण सम्पन्नता के कुछ अवसर आए। परन्तु इन्होने किसान पर अनैतिक प्रभाव ही डाला। सम्पन्नता भी ऋण का उतना ही कारण है जितनी कि फसलो की अनिश्चितता। "सम्पन्नता के कारण उधार लेने की आवश्यकता कम हो सकती है, पर उधार लेने के अवसर और अधिक हो जाते है। और इच्छाएँ एक के द्वारा जितनी अनुशासित होती है उतनी ही दूसरे के द्वारा।"[1] विशेषकर जब सम्पन्नता किसान के प्रयत्नो के फलस्वरूप नही होती है तो अपढ और अशिक्षित किसान के चरित्र पर उसका प्रभाव हानिकारक ही होता है क्योकि इससे शराबखोरी, अपव्यय, जुआ, रिश्वत और फिजूलखर्ची की आदत पडती है या भूमि में अविवेकपूर्ण व अहितकर पूँजी-निवेश किया जाता है। सम्पन्नता से जीवन-यापन के स्तर मे उन्नति होती है। यह स्वय एक वाछनीय फल है, परन्तु जब सम्पन्नता आकस्मिक होती है और इसके बाद अभाव और मन्दी आती है, तो बदली हुई परिस्थितियो में उस स्तर का निर्वाह नही हो पाता और यह ऋण की वृद्धि का कारण हो जाती है।[2]

१२ साहूकार और सूदखोरी का रिवाज[3]—अन्य देशो की भाँति भारत में भी रुपया उधार देने की प्रथा हमेशा से रही है। लेकिन ब्रिटिश काल से पहले साहूकार पर दो रुकावटें थी, शक्तिशाली ग्राम-समुदाय का होना, जिससे कि महाजन का अलग-अलग किसानो से अनुचित सौदा करना असम्भव नही तो कठिन अवश्य हो जाता था, तथा कर्ज की अदायगी के प्रति राज्य की उदासीनता। यह काम ग्राम-पचायतें किया करती थी जोकि बकाया आदि के प्रश्नो को न्यायपूर्ण ढग से सक्षेप में और शीघ्रता के साथ तय कर देती थी। ब्रिटिश शासन में ये रुकावटें अधिकतर हट गई। ग्राम-समुदाय के बिखर जाने से किसान की स्थिति कमजोर हो गई और महाजनो तथा जमीन हडप कर जाने वालो ने किसान का शोषण करने में इस अवसर से अपनी चालाकी और साधनो से खूब फायदा उठाया। अनतिपात-नीति और सविदा के विचारो पर आधारित नागरिक न्याय की नई प्रणाली को कार्यान्वित करने के लिए दीवानी अदालतो की स्थापना

१. अपनी पुस्तक पजाब पेजेंट के चौथे सस्करण की भूमिका में डार्लिंग ने अपने इस विचार के समर्थन में कि जब तक किसान अपने धन का उचित उपयोग न सीखे तब तक ऋण का कारण जिस हद तक निर्धनता है, उसी हद तक सम्पन्नता, ने भी अफ्रीका और दक्षिणी एशिया से नये प्रमाण दिये हैं। इस उचित उपयोग को एक अच्छी सहकारी समिति के सदस्य के रूप में ही उसे सबसे अच्छी तरह सिखाया जा सकता है।

२. इस विषय के उत्तम विवेचन के लिए देखिए, डार्लिंग, पूर्व उद्धृत, अध्याय १० व ११।

३. विभिन्न प्रकार के महाजन, जो ग्रामीण वित्त की पूर्ति करते हैं तथा उनके व्यापार के तरीकों के विस्तृत अध्ययन के लिए देखिए, रिपोर्ट ऑफ द सैण्ट्रल बैंकिंग इनक्वायरी कमेटी, अध्याय ७।

और एक विस्तृत और पेचीदा कार्यविधि ने किसान का पलडा और भी हल्का कर दिया। काम के अत्यधिक भार से दीवानी अदालतो के जजो ने न्यूनतम अवरोध के मार्ग का अनुसरण किया और बन्ध-पत्र के वास्तविक अर्थ जानने का प्रयास किये बिना ही कानून के शाब्दिक व कठोर प्रयोग को पसन्द किया। साधारणतया नगरवासी होने और गाँवो की स्थिति से अनभिज्ञ होने के कारण वे चालाक साहूकार के हाथो में आसानी से खेलने लगते थे। एक दीवानी डिग्री के अन्तर्गत कर्ज की अदायगी के लिए रहन रखी गई जमीन की बिक्री ब्रिटिश काल के पहले एक असाधारण बात थी, परन्तु अब यह आम बात हो गई।

ब्याज की ऊँची दर व चक्रवृद्धि ब्याज की प्रथा के कारण किसानो का शोषण हुआ जो कि "अपने लाभ से उसी प्रकार वचित कर दिया जाता था जिस प्रकार कि एक भेड अपनी ऊन से वचित कर दी जाती है (डार्लिंग)।" ब्रिटिश काल से पूर्व साधारणतया चक्रवृद्धि ब्याज का नकदी पर ५० प्रतिशत व अनाज पर १०० प्रतिशत (दामदुपट) तक सीमित कर देने की प्रथा थी। ब्रिटिश शासन में ऐसा कोई बन्धन नही माना गया और ब्याज बिना किसी सीमा के बढता गया और अदालतें उसे स्वीकार करती थी। अदालत के घूसखोर और कम वेतन पाने वाले अहलकारो से मिलकर साहूकार अक्सर एकतरफा डिग्री हासिल कर लेता था। इस प्रकार ग्राम-समुदाय के पतन, नागरिक अदालतो की स्थापना और जमानत के रूप में जमीन का मूल्य बढ जाने से साहूकार का अनियन्त्रित प्रभुत्व प्रारम्भ हुआ और पिछली शताब्दी के उत्तरार्ध में लगातार अकाल पडने पर किसान पूर्णतया साहूकार की दया पर आश्रित रह गया। कर्ज की वसूली के लिए दीवानी अदालतो द्वारा दी गई सुविधाओ व अन्य कारणो से एक निम्न दरजे का साहूकार वर्ग पैदा हो गया जो कि पुराने वर्ग के सम्मानित साहूकारो के आदृत नियमो को नही मानता था। धीरे-धीरे किसान और साहूकार के बीच स्थापित पुराने मानवीय सम्बन्ध कर्जदार और साहूकार के कानूनी सम्बन्धो में बदल गए और धन के बन्धन के अतिरिक्त दोनो को सम्बन्धित करने की कोई कडी न रही। अतएव यह कोई आश्चर्य की बात नही है कि एक भयावह पैमाने पर जमीन किसान के हाथ से निकलकर साहूकार के पास जाने लगी और विशेषकर बम्बई और पजाब में कृषक-स्वामित्व भूधृति (पेजेन्ट प्रोपाइटरी टेन्योर) बिगडकर मारवाडी-भूधृति में बदल गई और कृषक-पूँजीपति बडी तेजी से साहूकार के दास के रूप में बदलते गए।

साहूकार द्वारा किसान की बेदखली ने ग्रामीणो में असन्तोष फैला दिया व साहूकार के प्रति घृणा का भाव पैदा कर दिया जिसके कारण क्षुब्ध किसानो के खूनी विप्लव हुए, जैसे सन्थाल का विद्रोह (१८५५), दक्षिण के उपद्रव (१८७४) तथा अजमेर का उपद्रव (१८६१)।

साहूकार के उपर्युक्त वर्णन से हमें यह निष्कर्ष नही निकालना चाहिए कि वह नृशसता और अमानवीयता का अप्राकृतिक प्रतीक है। उसमें साधारण मनुष्यो जैसे गुण व अवगुण दोनो ही है, परन्तु किसानो—जिनके साथ उनका भाग्य बँधा है—की दशा ऐसी है जहाँ गुणो की अपेक्षा उसके दुर्गुण ही अधिक व्यवहार-रूप में परिणत

होते हैं। किसानो के अज्ञान, अपव्यय तथा अनियमितता के कारण वह जो खतरे उठाता है वे बडे और अनगिनत हैं। इसलिए जो अधिक ब्याज वह वसूल करता है, अधिकतर इन खतरो से बचने के लिए होता है। पुन साहूकार को स्वय ही पूँजी की कमी रहती है और असख्य छोटे-छोटे उधार लेने वालो के कर्जो को उगाहने व उनका प्रबन्ध करने के खर्च, एक सयुक्त पूँजी बैंक (जॉइन्ट स्टॉक बैंक) के तत्सम्बन्धी खर्चो से कही ज्यादा होते हैं। शिक्षा का अभाव, दकियानूसी आदतें व साहूकार का अर्ध-एकाधिकारी होना, उसकी ऊँची ब्याज की दर के अन्य कारण हे।[1]

साहूकार की ऊँची ब्याज-दर को उचित बतलाने में इस बात पर भी जोर दिया गया है कि उसके अलोकप्रिय व्यवसाय के लिए भी अवश्य कुछ प्रतिकार मिलना चाहिए। पुन, उसकी पूँजी के लिए कोई दूसरा मार्ग नही होता, अत उधार देना ही उसका एकमात्र उपयोग है। किसान को ऋण की अत्यधिक आवश्यकता होती है और साहूकार ही शायद एकमात्र ऐसा व्यक्ति होता है जो इस जरूरत को पूरा कर सकता है। इसलिए यदि ऐसी परिस्थितियो में वह बहुधा कठोर व्यवहार करता है और अपनी बढी-चढी शक्ति का दुरुपयोग करता है, तो यह मानव-स्वभाव-मात्र ही है। "उसकी निन्दा करना मनुष्य की अपूर्णताओ की निन्दा करना है। हमें मनुष्य की बजाय उस प्रथा को दोष देना चाहिए जिसने उसे इस रूप में ढाल दिया है।"[2]

जब तक गाँव की आवश्यकताओ को पूर्ण करने वाली श्रेष्ठतर उधार-व्यवस्था विकसित नही होती, साहूकार को अलग नही किया जा सकता। जब कभी साहूकार के व्यवहार से यह प्रतीत हो कि वह किसान की विवशता का अनुचित लाभ उठा रहा है, तो हमें हर सम्भव तरीके से उसे रोकने का प्रयत्न करना चाहिए। परन्तु ऐसा करते समय वर्तमान समय में गाँव की अर्थ-व्यवस्था में उसकी जो उपयोगिता है, उसके प्रति भी हमें आँखें बन्द न कर लेनी चाहिएँ। अदूरदर्शिता व अपव्यय के मरुस्थल में एकमात्र साहूकार ही मितव्ययिता का नखलिस्तान है। वह भारतीय ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था की सरल प्रणाली की नीव है और उधार की सतत प्रवहमान धारा का वह स्रोत है जिस-से गाँव वाला अपनी सारी आवश्यकताएँ पूरी कर सकता है। उधार देने के अलावा वह अनेक प्रकार से गाँव की सेवा करता है। उदाहरणार्थ, वह साधारणतया अनाज का व्यापारी भी होता है और इस रूप में वह अकाल और अनावृष्टि के समय में विशेष प्रकार से उपयोगी होता है; क्योकि वह अनाज देता है और इस प्रकार कठिन समय को पार करने में गाँव की सहायता करता है। इसलिए 'साहूकार मुर्दाबाद' का नारा एक बेहूदा झगडे का नारा होगा। ग्रामीण अर्थ-पूर्ति की किसी भी अन्य सम्भाव्य योजना में—जैसे कि सहकारी साख समितियाँ तथा भूमि-बधक बैंक आदि—यह अत्यन्त उपयोगी होगा कि नई साख-व्यवस्था का वह एक अनिवार्य अग बना दिया जाय और उसे इन नये संगठनो द्वारा अपने ज्ञान व पूँजी के विकीरण के लिए प्रेरित किया जाय।

१३. भू-राजस्व नीति—स्वर्गीय आर० सी० दत्त के समान ऐसे बहुत से

१. देखिए, रिपोर्ट ऑफ द सेन्ट्रल बैंकिंग इन्क्वायरी रिपोर्ट, पैरा ११४।
२. डार्लिंग, पूर्व उद्धृत, पृ० १९७।

व्यक्ति हैं जो भूमि-कर के आधिक्य और इसके वसूलने की कठोरता को गाँव की ऋणिता का एक कारण मानते हैं। उनका कहना है कि कई वर्षो तक अकाल पडने अथवा फसल के आधी मर जाने और देश के कई हिस्सो में जमीन की उपज कम होने के बावजूद भी भू-राजस्व में वृद्धि हुई है। ऐसा प्रतीत होता है कि १९०१ के अकाल-आयोग ने इस विचार का समर्थन किया है। उनका कहना है—"अच्छे सालो में किसान को निर्वाह मात्र की आशा के अतिरिक्त कुछ नही रहता और बुरे वर्षो में वह सार्वजनिक दान पर आश्रित हो जाता है।" इस सम्बन्ध में १८८० के अकाल-आयोग ने निम्नलिखित विचार प्रकट किए थे "वे भू-स्वामी जिन्हे कोई भू-राजस्व नही देना पडता अथवा हलका-सा छूट-लगान (क्विट रेन्ट) देना पडता है, बहुधा अत्यधिक परेशान रहते है इस तथ्य से यह सिद्ध होता है कि भू-राजस्व की अदायगी कर्ज का मुख्य कारण नही है। यदि एक मनुष्य अपने ही ऊपर अपनी सारी आमदनी खर्च कर दे और लगान या कर देने के लिए उधार ले तो यह नही कहा जा सकता कि उसके कर्ज का कारण उसके लगान या कर हैं, जबकि इन प्रभारो का उसकी आमदनी से अनुपात इतना कम होता है जितना कि भूमि की कुल उपज से भू-राजस्व का।"[1] बहुधा किसान सरकारी करो की अदायगी के लिए कर्ज लेता है। बीज और अन्न के लिए भी किसान को कर्ज लेना पड सकता है। अतएव भू-राजस्व को ही कर्ज का कारण नही कहा जा सकता।

जब कभी यह सिद्ध किया जा सके कि कर की अधिकता अथवा उसे वसूल करने में नम्यता के अभाव से बहुत अत्याचार हुआ है, तब भूमि-कर को ऋणिता का कारण कहना बिलकुल ठीक होगा। वे लोग भी जो ग्रामीण ऋणिता का भूमि-कर से सम्बन्ध मानने के लिए तनिक भी प्रस्तुत नही हैं, यह स्वीकार करते हैं कि भूमि-कर प्रणाली ने कभी-कभी इस दिशा में कठोरता बरती है। उदाहरणार्थ, पजाब के बारे में कहते हुए एम० एल० डार्लिग ने स्वीकार किया है कि ब्रिटिश शासन के आने से भूमि-कर की माँग कम कर दी गई और वस्तु (kind) के बजाय नकदी में बदल दी गई। पर यह कमी उगाही के कम नम्य तरीके के अनुरूप नही थी।[2] आगे वे यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि यद्यपि भू-राजस्व 'बहुधा उधार लेने का अवसर' होता है, परन्तु वह कर्ज का मुख्य कारण नही है। परन्तु यह विभेद अन्तर-रहित है। ऋण के मौलिक और उसे बढाने वाले कारणो के बीच यह वैज्ञानिक भेद नही। हम तो यह जानना चाहते हैं कि क्या तथाकथित कारण वास्तविक कारण है। एक व्यक्ति पहले से ही ऋणी हो सकता है, जैसे कि पैतृक ऋण के भार से दबा हुआ व्यक्ति। वह विवाह के अवसर पर फिजूल-खर्ची के लिए उधार लेकर अपनी ऋणिता को बढा सकता है, अतएव विवाह के अवसर पर किये हुए खर्च को ऋणिता का कारण बताने से किसी को रोकना नही चाहिए। सब प्रकार का उधार लेना, चाहे वह किसान के अपने हठ से हो, अथवा साहूकार की अनुचित माँग से हो, अथवा सरकार की भू-राजस्व नीति की कठोरता से हो, सबको ऋणिता का कारण समझना चाहिए। पुन यह तर्क दिया जाता है कि भू-

१. अकाल आयोग की रिपोर्ट (१८८०), पृ० १३२।
२. देखिए, डार्लिग, पूर्व उद्धृत, पृ० २१६।

राजस्व को घटाने से ही ऋण नही घटेगा, क्योकि 'प्रत्येक लाभ जनसंख्या की वृद्धि से व्यर्थ हो जाता है।'[1] निर्धारित भू-राजस्व को घटाने के लिए यह एक अच्छा कारण हो सकता है और नही भी हो सकता, लेकिन इससे इस विचार को निश्चय ही कोई सहारा नही मिलता कि भू-राजस्व की अधिकता ऋण का कारण नही है। जिस तर्क की हम इस समय आलोचना कर रहे हैं वह वास्तव में भू-राजस्व के ऋण का एक कारण होने को अस्वीकार नही करता, परन्तु केवल इतना बताता है कि यदि इसे हटा दिया जाय तो दूसरा कारण, जनसख्या की वृद्धि, बीच में आ जायगा। अनियन्त्रित जनसख्या की वृद्धि से भू-राजस्व की दमनकारी प्रणाली के उन्मूलन का प्रभाव निरर्थक हो सकता है। वास्तव में यह किसी भी बुराई को हटाने के प्रभाव को भी निरर्थक कर सकती है, लेकिन इससे यह सिद्ध नही होता कि भारी भू-राजस्व ऋणिता का कारण नही है। ऐसे समय आए हैं जबकि भू-राजस्व का आधिक्य सबने स्वीकार किया है, जैसे दक्षिण में ही, जब तक प्रिगले बन्दोबस्त लागू रहा। पुन, कर की माफी अथवा उनकी वसूली रोकते समय भी बहुधा खेतिहर की स्थिति को भली प्रकार नही समझा गया। यद्यपि सम्पूर्ण भू-राजस्व-प्रणाली में अनेक सुधार और सशोधन हो चुके हैं तथापि वर्तमान समय में भी व्यवहार की अत्यधिक कठोरता की व्यक्तिगत घटनाएँ घटती दिखाई जा सकती हैं, जिनके समाधान का कोई प्रभावपूर्ण उपाय भी नही है।

ये दोष पहले भी थे और अब भी बने हुए है, इसलिए उनको ऋणिता के कारणो में सम्मिलित करना अयुक्त न होगा। हाँ, जब हम इस बात पर विचार करते हैं कि भू-राजस्व गाँव की कुल ऋणिता का सत्रहवाँ अथवा कम भाग है, और यह भी ध्यान में रखते है कि सम्पूर्ण भू-राजस्व ऋणिता दूर करने का कारण नही समझा जा सकता, तो इस दोष के कारणो में उसका एक नगण्य स्थान ही समझा जा सकता है। यह बतलाने की आवश्यकता नही है कि हमारा तात्पर्य वर्तमान भू-राजस्व-प्रणाली को दोप-मुक्त बताना नही है।[2]

५. ग्रामीण ऋणिता के बारे में सरकारी नीति[3]—इस समस्या ने पिछली शताब्दी की सातवी दशाब्दी में बरवस सब लोगो का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया। अब हम उन प्रयासो पर विचार कर सकते हैं जो सरकार ने इसे सुलझाने के लिए किये। इस प्रश्न पर समय-समय पर दकन उपद्रव आयोग और १८८० व १९०१ के अकाल आयोगो ने

१. वही, पृ० २७१।

२. ऋणिता की वृद्धि-मात्र ही यह दिखाने के लिए तर्क के रूप में प्रयुक्त नहीं की जा सकती कि खेती लाभदायक नहीं है और भू-राजस्व दमनकारी है। दूसरी ओर 'जमीन की जमानत पर उधार लिये गए कर्ज का अस्तित्व ही इस बात का साक्षी है कि जमीन एक अच्छी जमानत है। कर्ज का विस्तार जमानत के मूल्य का परिचायक है।' बारदोली रिपोर्ट, पैरा ११६।

३ देखिए, एस० सी० रे, एग्रीकल्चरल इनडैटिडनेस इन इण्डिया एण्ड इट्स रेमेडीज (कलकत्ता यूनीवर्सिटी), स्टेच्यूटरी रिपोर्ट ऑन एग्रीकल्चरल क्रैडिट बाई द रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया (१९३७); सी० एफ० स्ट्रिकलैण्ड, द रिलीफ ऑफ एग्रीकल्चरल डैट (१९३८); के० जी० शिवस्वामी, लैजिस्लेटिव प्रोटैक्शन एण्ड रिलीफ ऑफ एग्रीकल्चरल डैटर्स इन इण्डिया (१९३९), तथा एन० जी० अभयकर, प्रॉविन्शियल डैट लैजिस्लेशन (इन रिलेशन टु रूरल क्रैडिट्स) (१९४०)।

विचार किया। दकन कृषक-सहायता विल (डैकन एग्रीकल्चरिस्ट्स रिलीफ विल) (१८७८), तकावी ऋण अधिनियम (तकावी लोन्स एक्ट) (१८८२-८३), कृषि वैंक योजना (एग्रीकल्चरल वैंक स्कीम) (१८८४), निकलसन की रिपोर्ट (निकलसन्स रिपोर्ट) (१८९७), व पजाब भू-स्वामित्व हस्तातरण बिल (पजाव लैंड एलिनेशन बिल (१८९९), और सहकारी साख-समिति विल (को-आपरेटिव क्रेडिट सोसाइटीज विल) (१९०३) के विचार-विमर्श व सन्देशो का मुख्य विपय भी यही था।

भारत में कृषि-ऋणिता पर अपने नोट ('नोट ऑन एग्रीकल्चरल इनडैटिडनैस इन इण्डिया) में सर एडवर्ड मेक्लेगन ने सरकार द्वारा उठाये गए कदमो को निम्न-लिखित चार भागो में विभाजित किया है—(१) अनावश्यक ऋणो से वचाव को प्रोत्साहित करने के लिए उठाये गए कदम, (२) रुपये उधार देने का नियमन तथा कृपि-ऋणो के सम्बन्ध मे दीवानी कानून में सुधार के लिए उठाये गए कदम, (३) भूमि-हस्तातरण को रोकने के लिए उठाये गए कदम, (४) उधार देने अथवा वनाए रखने या ऋण घटाने के उद्देश्य से उठाये गए कदम। इनमें हम (५) ऋण समझौता या शोधन के लिए उठाये गए कदमो को और जोड सकते है। इन पर (२) के वाद विचार किया जा सकता है।

६. अनावश्यक ऋणों से बचाव के लिए उठाये गए कदम—इस शीर्षक के अन्तर्गत हम कह सकते है कि सरकार ने गाँव के इलाको में प्रारम्भिक शिक्षा (प्राइमरी एजूकेशन) को लोकप्रिय बनाने के प्रयत्न किये है ताकि खेतिहर अपनी ऋणिता को व्यापारिक दृष्टिकोण से देखने और वरावरी के आधार पर साहूकार से व्यवहार करने के योग्य हो सकें। परन्तु शिक्षा गुण और मात्रा दोनो ही की दृष्टि से अत्यन्त कम है। किसान के साधन बढाने के लिए सरकार द्वारा उठाये गए अन्य सब कदम इसी शीर्षक के अन्तर्गत शामिल किये जा सकते है, लेकिन उनमें से अनेक पर पहले अध्यायो में विचार हो चुका है। आशिक उपायो के रूप में कमी के सालो मे कर में छूट दी गई है या वे वसूल नही किये गए है। मनुष्यो में वचत और कम-खर्च की भावनाएँ उत्पन्न करने के लिए गाँव में डाकखानो में वचत वैंक चालू किये गए है। लेकिन कम खर्च को काफी मात्रा में प्रोत्साहित करने व लाभदायक उपयोग के लिए खेतिहर की छोटी-छोटी बचतो को इकट्ठा करने के लिए इन सुविधाओ का अब की अपेक्षा वहुत अधिक विस्तार होना चाहिए।

७ दीवानी कानून (लॉ) में सुधार के कदम—जैसा कि हम पहले ही देख चुके है, अनतिपात की मूल नीति सरकार को छोडनी पडी, क्योकि इसने ऋणी और साहूकार के बीच पुराने सन्तुलन को वहुत विगाड दिया था[1] और इस वात को आवश्यक समझा गया कि

---

१ इस वात को तुरन्त ही स्वीकार किया जा सकता है कि जो परिवर्तन ब्रिटिश शासन के प्रारम्भ के साथ आये, जैसे सम्पत्ति के अधिक स्पष्ट अधिकार, सविदा की शक्ति की अधिक मान्यता और दीवानी अदालतों द्वारा उनका दृढता से कार्यान्वित किया जाना, ये सव कम उन्नत से अधिक उन्नत सामाजिक सगठन में सक्रमण होने के चिह्न हैं। लेकिन जहां तक अधिकाश किसानो से इनका सम्बन्ध था, ये परिवतन उनके लिए तत्काल ही विनाशकारी सिद्ध हुए, क्योंकि किसान उनका लाभ उठाने के लिए शिक्षा अथवा आर्थिक स्थिति की दृष्टि से पर्याप्त उन्नत न थे।

उन विभिन्न शस्त्रो को वापिस ले लिया जाय जो विना सोचे-विचारे साहूकार के हाथों में दे दिये गए थे और जिनका दुरुपयोग भी प्रकट रूप से हुआ था "तथा कानून की अंधी और क्रूर कार्यवाहियो के स्थान पर बुद्धिमत्ता से मनुष्य और मनुष्य के बीच न्याय किया जाय।[1] इस उद्देश्य की प्राप्ति में सबसे अधिक आवश्यक और साथ ही कठिन बात तो यह है कि गाँव के साहूकार के न्यायोचित व्यापार की हस्तक्षेप से रक्षा हो अन्यथा उधार-व्यवस्था मे ऐसी कमी आ सकती है जो बहुत अहितकर सिद्ध हो। साहूकार के मार्ग में अड़चन न डालकर उसे अपने न्यायोचित दावो की वसूली मे कानून द्वारा मदद दी जानी चाहिए। खेतिहर को निस्सन्देह अत्याचार और लूट से बचाना चाहिए, लेकिन साथ ही उससे उसके साधनो के अनुसार, न्यायोचित ऋण पूरी तरह अदा कराया जाना चाहिए। खेतिहर की रक्षा करने के लिए ही किसानो के विरुद्ध डिग्री कार्यान्वित करने के सम्बन्ध में जाब्ता दीवानी (कोड ऑफ सिविल प्रोसीजर) में कई परिवर्तन किये गए थे। उदाहरणार्थ खेती के औजारो और खेती के लिए आवश्यक ढोर बिक्री अथवा कुर्की से मुक्त कर दिये गए, ऋणी कृपक को अदालती डिग्री के आधार पर गिरफ्तारी से भी छूट दे दी गई और उसे अपने कर्ज को किश्तो में अदा करने की रियायत भी दी गई।

दक्षिण के कुछ जिलो में हुए उपद्रव की जाँच-पडताल करने के लिए नियुक्त १८७५ के दकन उपद्रव आयोग की सिफारिशो के फलस्वरूप दकन कृषक सहायता अधिनियम १८७९ (डैकन एग्रीकल्चरिस्ट्स रिलीफ एक्ट) में पास किया गया था। इन उपद्रवो की एक विशेषता यह थी कि साहूकारो पर उनके द्वारा पीडित कर्जदारो ने भयकर आक्रमण किये थे। इस कानून ने ऋण की गैर-अदायगी के लिए जेल की सजा को समाप्त कर दिया, अदालतो को सविदा की मूल भावना का विश्लेषण करने की इजाजत दी तथा ब्याज की आत्यतिक दर को कम करके, जमीन की बिक्री को रोककर, जब तक कि वह विशेष रूप से ही रहन न रखी गई हो, और जमीन किसान को ही वापस कराके, भले ही दोनो दलो के बीच विक्रीनामा हो, सविदा को किसान के हक में परिवर्तित करने की इजाज़त दी। कानून ने साहूकारो को हिसाब-किताब रखने व रसीदें देने पर वाध्य किया और किसानो की बधको का लिखित रूप में होना आवश्यक कर दिया। सीमा-अवधि जोकि १८५९ से केवल ३ वर्ष थी, किसानो के विरुद्ध मुकदमो में, यदि मुकदमा पजीकृत सलेख (डीड) पर आधारित हो, १२ वर्ष कर दिया गया तथा अन्य मुकदमो में यह अवधि ६ वर्ष कर दी गई। यद्यपि इस कानून के पीछे सद्भावनाएँ थीं पर यह देखा गया कि यह प्रभावहीन है, यहाँ तक कि निश्चय रूप से हानिकारक है।[2] इसने मुकदमेबाजी को बढाया है और खेतिहर व साहूकार के सौदो के बीच

[1] दक्षिणी कृषक सहायता बिल (१८७९) (डैकन एग्रीकल्चरिस्ट्स रिलीफ बिल) पर गवर्नर जनरल की कौन्सिल में सर टी० होप का भाषण।

[2] 'यदि देखा जाय तो दक्षिण कृषक सहायता अधिनियम प्रधान रूप से ग्रामीण साहूकारों का अधिनियम है। आधुनिक साहूकार-एक्टों के समान, जिन्होंने कि इससे काफी ग्रहण किया है, यह अधिनियम उस साधारण ढाँचे को नियमित करता है जिसके अन्दर कि ग्रामीण साख काम करती है। इसको अधिनियम का क्रियात्मक भाग भी कहा जा सकता है। जहाँ पर यह अधिनियम अपने सामान्य लक्ष्य से आगे बढ़

विचार किया। दकन कृपक-सहायता विल (डेकन एग्रीकल्चरिस्ट्स रिलीफ विल) (१८७८), तकावी ऋण अधिनियम (तकावी लोन्स एक्ट) (१८८२-८३), कृषि वैंक योजना (एग्रीकल्चरल वैंक स्कीम) (१८८४), निकलसन की रिपोर्ट (निकलसन्स रिपोर्ट) (१८६७), व पजाब भू-स्वामित्व हस्तातरण विल (पजाव लैंड एलिनेशन विल (१८६६), और सहकारी साख-समिति विल (को-आपरेटिव क्रेडिट सोसाइटीज विल) (१६०३) के विचार-विमर्श व सन्देशो का मुख्य विपय भी यही था।

भारत में कृषि-ऋणिता पर अपने नोट ('नोट ऑन एग्रीकल्चरल इनडैटिडनैस इन इण्डिया) में सर एडवर्ड मेक्लेगन ने सरकार द्वारा उठाये गए कदमो को निम्न-लिखित चार भागो मे विभाजित किया है—(१) अनावश्यक ऋणो से वचाव को प्रोत्सा-हित करने के लिए उठाये गए कदम, (२) रुपये उधार देने का नियमन तथा कृपि-ऋणो के सम्वन्ध में दीवानी कानून मे सुधार के लिए उठाये गए कदम, (३) भूमि-हस्ता-तरण को रोकने के लिए उठाये गए कदम, (४) उधार देने अथवा वनाए रखने या ऋण घटाने के उद्देश्य से उठाये गए कदम। इनमें हम (५) ऋण समझौता या शोधन के लिए उठाये गए कदमो को और जोड सकते है। इन पर (२) के वाद विचार किया जा सकता है।

६ **अनावश्यक ऋणों से बचाव के लिए उठाये गए कदम**—इस शीर्षक के अन्तर्गत हम कह सकते है कि सरकार ने गाँव के इलाको में प्रारम्भिक शिक्षा (प्राइमरी एजूकेशन) को लोकप्रिय वनाने के प्रयत्न किये है ताकि खेतिहर अपनी ऋणिता को व्यापारिक दृष्टिकोण से देखने और बराबरी के आधार पर साहूकार से व्यवहार करने के योग्य हो सकें। परन्तु शिक्षा गुण और मात्रा दोनो ही की दृष्टि से अत्यन्त कम है। किसान के साधन बढाने के लिए सरकार द्वारा उठाये गए अन्य सब कदम इसी शीर्षक के अन्त-र्गत शामिल किये जा सकते हैं, लेकिन उनमें से अनेक पर पहले अध्यायो में विचार हो चुका है। आशिक उपायो के रूप में कमी के सालो में कर में छूट दी गई है या वे वसूल नही किये गए है। मनुष्यो में बचत और कम-खर्च की भावनाएँ उत्पन्न करने के लिए गाँव में डाकखानो में बचत वैक चालू किये गए है। लेकिन कम खर्च को काफी मात्रा में प्रोत्साहित करने व लाभदायक उपयोग के लिए खेतिहर की छोटी-छोटी वचतो को इकट्ठा करने के लिए इन सुविधाओ का अब की अपेक्षा बहुत अधिक विस्तार होना चाहिए।

७ **दीवानी कानून (लॉ) में सुधार के कदम**—जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं, अनति-पात की मूल नीति सरकार को छोडनी पडी, क्योकि इसने ऋणी और साहूकार के बीच पुराने सन्तुलन को बहुत विगाड दिया था[1] और इस वात को आवश्यक समझा गया कि

---

१ इस वात को तुरन्त ही स्वीकार किया जा सकता है कि जो परिवर्तन ब्रिटिश शासन के प्रारम्भ के साथ आये, जैसे सम्पत्ति के अधिक स्पष्ट अधिकार, संविदा की शक्ति की अधिक मान्यता और दीवानी अदालतों द्वारा उनका दृढता से कार्यान्वित किया जाना, ये सव कम उन्नत से अधिक उन्नत सामाजिक सगठन में सक्रमण होने के चिह्न हैं। लेकिन जहाँ तक अधिकाश किसानों से इनका सम्बन्ध था, ये परिवर्तन उनके लिए तत्काल ही विनाशकारी सिद्ध हुए, क्योंकि किसान उनका लाभ उठाने के लिए शिक्षा अथवा आर्थिक स्थिति की दृष्टि से पर्याप्त उन्नत न थे।

परिधि इतनी विस्तृत कर दी गई थी कि उसमें वे सभी मामले आ सकें जहाँ साहूकार ने अपनी शक्तिशाली स्थिति का उपयोग अनुचित लाभ उठाने के लिए किया हो। जहाँ भी सौदा प्रकट रूप से अन्याय्य था, 'अनुचित प्रभाव के न होने को सिद्ध करने का भार साहूकार के ऊपर डाल दिया गया।' १९१८ में समेकित व संशोधित सूदखोरी-परक ऋण-अधिनियम (यूज़ूरियस लोन्स एक्ट) के उद्देश्य ये थे . ब्याज की वैध व अधिकतम वसूलने योग्य रकम निश्चित करना, वसूल किए जाने वाले ब्याज की दर को कम करना और ब्याज की अधिकतम दर को निश्चित करना। यह अधिनियम सभी व्यक्तियों पर लागू होता है चाहे वे किसान हो या न हो। 'इस अधिनियम की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि यदि एक बार मामला अदालत में आ जाय तो वह अपनी ही इच्छा से पुराने सौदो पर विचार कर सकती है और शर्तो के औचित्य की जाँच कर सकती है। सन् १९२६ में इस अधिनियम मे संशोधन किया गया ताकि इसमे वे मामले भी आ सकें जिनमें कोई भी पक्ष रहन-सम्बन्धी छूट चाहता हो। जहाँ कर्ज गैर-जमानती है, कर्जदार साहूकार को ऋण नया करने से इन्कार करके अदालत में खीच ला सकता है और इस प्रकार इस मामूली उपाय से उसे इस कानून के क्षेत्र में लाया जा सकता है।[1] कुछ राज्यीय बैंक-व्यवहार जाँच-समितियो और कृषि आयोग का मत था कि यह कानून वास्तव में एक मृत-पत्र हो चुका है। इसकी असफलता के निम्न कारण बताये गए हैं "अत्यधिक काम से बोझिल मुन्सिफो के लिए इसे प्रयोग में लाना अनिवार्य न होना, ब्याज की निर्धारित दर का न होना, इस कानून के बारे में कर्जदारो का अज्ञान और उन संविदाओ के प्रति जो बहुत अनुचित थी, अत्यधिक आदर भाव होना।"[2] १९३३-३९ में बहुत से राज्यो में (बंगाल, आसाम, मध्यप्रान्त, पंजाब, संयुक्तप्रान्त, सीमा-प्रान्त, मद्रास और बिहार) ब्याजाधिक्य ऋण अधिनियम (१९१८) में ऐसे संशोधन किये गए जिससे अदालतो के लिए यह अनिवार्य हो गया कि वे संशोधित कानून के अनुसार फिर से खाता खुलवाएँ और ब्याज की दर कम करें। बम्बई साहूकार विधेयक (बॉम्बे मनीलैंडर्स बिल) (१९३८) में भी ऐसी ही व्यवस्था थी।

८. साहूकारों का नियन्त्रण करने और अनुज्ञा देने के बारे में विधान—बहुत से देशो में साहूकारी को नियन्त्रित करने के लिए कदम उठाये गए है, क्योंकि उधार ले जाने वालो पर साहूकारो के प्रभाव के दुरुपयोग की बडी सम्भावना है। यह बात रीति और कानून की परवाह न करने वाले साहूकारो के बारे में विशेष रूप से ठीक है, मुख्यतया छोटे-मोटे साहूकारो के लिए जिनकी कोई सामाजिक स्थिति या अधिष्ठा नही है। इन-की संख्या और चालाकी-भरे व्यवहार उस समुदाय की पिछडी हुई स्थिति पर निर्भर हैं जिनके बीच उनका रोजगार चलता है। राजकीय कृषि आयोग (रॉयल कमीशन ऑन एग्रीकल्चर) ने पंजाब लेखा-नियमन विधेयक (पंजाब रेग्यूलेशन ऑफ एकाउन्टस बिल) (जोकि १९३० में अधिनियम के रूप में पास हुआ), १९२७ के ब्रिटिश साहूकार अधिनियम (ब्रिटिश मनीलैंडर्स एक्ट) के आधारभूत सिद्धान्तो को पसन्द किया और उन

१. कृषि आयोग रिपोर्ट, पैरा ३६५।
२ स्ट्रिकलैंड, पूर्व उद्धृत, पृ० १०।

अनिश्चितता लाकर उधार के सामान्य ढांचे में विघ्न पैदा कर दिया है, इसके कारण किसान रियायतो का दुरुपयोग करने लगे है और साहूकारों को अधिक सावधान तथा कठोर बना दिया है जिससे ऋण लेने की कठिनाइयाँ बढ़ गई है। 'किसान' की परिभाषा भी बहुत विस्तृत है। जिनके लिए यह एक्ट बनाया भी नही गया था वे भी अपने लाभ के लिए अक्सर इसका दुरुपयोग करते हैं, क्योंकि उनके लिए इसके द्वारा अदालतों को चकमा देना और ईमानदार साहूकारो को हराना सम्भव है। १९०१ के अकाल आयोग के अनुसार यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि कानून (एक्ट) के पास होने के बाद बिक्री और रहन दोनो के द्वारा भूमि का हस्तान्तरण और ज्यादा होने लगा है। अधिनियम को व्यावहारिक और किसानो के लिए वास्तविक रूप से लाभदायक बनाने के हेतु इसमें आमूल परिवर्तन सुझाये गए है।[1] बम्बई बेंकिंग जांच-समिति के समक्ष बहुत से गवाहो ने इसको बिलकुल समाप्त कर देने पर जोर दिया। उन्होंने कहा कि १९१८ के सूदखोरी-परक ऋण-अधिनियम (यूजूरियस लोन्स एक्ट) तथा अदालतो की अविवेकपूर्ण सौदों से मुक्त करने की शक्ति के कारण यह अधिनियम बिलकुल बेकार हो गया है। उस समिति ने यह सुझाव दिया कि सूदखोरी परक ऋण-अधिनियम का पहले की अपेक्षा अधिक उपयोग होना चाहिए और साथ ही यह विचार भी प्रकट किया कि यह दकन कृषक सहायता अधिनियम (डैकन एग्रीकल्चरिस्ट्स रिलीफ एक्ट) का स्थान पूर्णतया नही ले सकता। अतएव उन्होने सिफारिश की कि दकन कृषक सहायता अधिनियम को समाप्त कर दिया जाय और उसके स्थान पर एक दूसरा अधिनियम बनाया जाय जिसमें उन व्यक्तियो के लिए जो केवल छोटे और सही अर्थ में किसान हैं, हितो की रक्षा के लिए कुछ व्यवस्था हो।[2]

दकन कृषक सहायता अधिनियम की अपेक्षा बम्बई साहूकार बिल (बॉम्बे मनी-लेंडर्स बिल) साहूकारी को अधिक व्यापक रूप में नियमित करता है (आगे सेक्शन ८ देखिए)। बम्बई ऋणी-कृषक सहायता अधिनियम (सशोधन) १९४१ [बॉम्बे एग्रीकल्चरल डैटर्स रिलीफ एक्ट (एमैण्डमैण्ट)] में व्यवस्था है कि यदि राज्य के किसी भी भाग के लिए अधिनियम के अन्तर्गत ऋण-समजन-मण्डल (डैट एडजस्टमेंट बोर्ड) स्थापित हो जाय तो दकन कृषक सहायता अधिनियम (१८७९) रद्द हो जायगा। (आगे सेक्शन ११ देखिए)। बम्बई कृषक-ऋणी सहायता अधिनियम १९४७ के अन्तर्गत अदालतो को अधिकार है कि ऋणी की सम्पत्ति से १२ किश्तो में ऋण का भुगतान सम्भव न होने पर वे उसे दिवालिया घोषित कर दें।

दीवानी कानून के परिवर्तन के एक अन्य उदाहरण के रूप में १८९९ के अधिनियम का उल्लेख किया जा सकता है जिसके अनुसार सविदा अधिनियम (कन्ट्रैक्ट एक्ट) में कुछ परिवर्तन किये गए थे और 'अनुचित प्रभाव' ('अनड्यू इन्फ्ल्यूऐंस') की

जाता है, इसकी धाराएं एक मृत-पत्र ही रह गई हैं।' के० जी० शिवस्वामी, पूर्व उद्धृत, पर डी० आर० गाडगिल की प्रस्तावना, पृ० १ व २।

[1] देखिए कृषि आयोग रिपोर्ट और के० एस० गुप्ते का मैमोरेंडम, साक्ष्य विवरण, खण्ड २।

[2] देखिए, रिपोर्ट ऑफ द बॉम्बे बैङ्किग इन्क्वायरी कमेटी, पैरा, २३९-४०।

परिधि इतनी विस्तृत कर दी गई थी कि उसमें वे सभी मामले आ सकें जहाँ साहूकार अपनी शक्तिशाली स्थिति का उपयोग अनुचित लाभ उठाने के लिए किया हो। उ भी सौदा प्रकट रूप से अन्याय्य था, 'अनुचित प्रभाव के न होने को सिद्ध करने का भ साहूकार के ऊपर डाल दिया गया।' १६१८ में समेकित व संशोधित सूदखोरी-ऋ ऋण-अधिनियम (यूज़ूरियस लोन्स एक्ट) के उद्देश्य ये थे . व्याज की वैध व अधिक वसूलने योग्य रकम निश्चित करना, वसूल किए जाने वाले ब्याज की दर को करना और व्याज की अधिकतम दर को निश्चित करना। यह अधिनियम सभी व्यक्ति पर लागू होता है चाहे वे किसान हो या न हो। 'इस अधिनियम की एक महत्त्वपू विशेषता यह है कि यदि एक बार मामला अदालत में आ जाय तो वह अपनी ही इच से पुराने सौदो पर विचार कर सकती है और शर्तों के औचित्य की जाँच कर सक है। सन् १६२६ में इस अधिनियम में संशोधन किया गया ताकि इसमें वे मामले आ सकें जिनमें कोई भी पक्ष रहन-सम्बन्धी छूट चाहता हो। जहाँ कर्ज गैर-जमानती कर्जदार साहूकार को ऋण नया करने से इन्कार करके अदालत में खीच ला सकता और इस प्रकार इस मामूली उपाय से उसे इस कानून के क्षेत्र में लाया जा सकता है कुछ राज्यीय बैंक-व्यवहार जाँच-समितियो और कृषि आयोग का मत था कि यह का वास्तव में एक मृत-पत्र हो चुका है। इसकी असफलता के निम्न कारण बताये गए "अत्यधिक काम से बोझिल मुन्सिफो के लिए इसे प्रयोग में लाना अनिवार्य न होन ब्याज की निर्धारित दर का न होना, इस कानून के बारे में कर्जदारो का अज्ञान और उ संविदाओ के प्रति जो बहुत अनुचित थी, अत्यधिक आदर भाव होना।"[२] १६३३-३ मे बहुत से राज्यो में (बगाल, आसाम, मध्यप्रान्त, पजाब, सयुक्तप्रान्त, सीम प्रान्त, मद्रास और बिहार) ब्याजाधिक्य ऋण अधिनियम (१६१८) में ऐसे संशोध किये गए जिससे अदालतो के लिए यह अनिवार्य हो गया कि वे संशोधित कानून अनुसार फिर से खाता खुलवाएँ और ब्याज की दर कम करें। बम्बई साहूकार विधेय (बॉम्बे मनीलेंडर्स बिल) (१६३८) में भी ऐसी ही व्यवस्था थी।

८. साहूकारों का नियन्त्रण करने और अनुज्ञा देने के बारे में विधान—बहुत देशो में साहूकारी को नियन्त्रित करने के लिए कदम उठाये गए है, क्योकि उधार ले जा वालो पर साहूकारो के प्रभाव के दुरुपयोग की बडी सम्भावना है। यह बात रीति औ क़ानून की परवाह न करने वाले साहूकारो के बारे में विशेष रूप से ठीक है, मुख्यत छोटे-मोटे साहूकारो के लिए जिनकी कोई सामाजिक स्थिति या प्रतिष्ठा नही है। इन की सख्या और चालाकी-भरे व्यवहार उस समुदाय की पिछडी हुई स्थिति पर निर्भ है जिनके बीच उनका रोजगार चलता है। राजकीय कृषि आयोग (रॉयल कमीश ऑन एग्रीकल्चर) ने पजाब लेखा-नियमन विधेयक (पजाब रेग्यूलेशन ऑफ एकाउन्ट बिल) (जोकि १६३० में अधिनियम के रूप में पास हुआ), १६२७ के ब्रिटिश साहूका अधिनियम (ब्रिटिश मनीलेंडर्स एक्ट) के आधारभूत सिद्धान्तो को पसन्द किया और उ

१ कृषि आयोग रिपोर्ट, पैरा ३६५।

२. स्ट्रिकलैंड, पूर्व उद्धृत, पृ० १०।

पर विचार करने के लिए प्रान्तीय सरकारो से सिफारिश की ।[1] ब्रिटिश एक्ट में साहूकारो के लाइसेन्स लेने, चक्रवृद्धि ब्याज का निषेध और ऋणी द्वारा माँगे जाने पर ऋण की स्थिति के बारे में सूचना और सम्बन्धित प्रलेखो की नकलें देने की व्यवस्था है । विभिन्न राज्यीय बैंक-व्यवहार जाँच-समितियाँ साहूकारो के अनुज्ञा-पत्र लेने के औचित्य के बारे में एकमत न थी, परन्तु उनमें से अधिकाश ने पजाब लेखा-नियमन अधिनियम के आधार पर निर्मित कानून को पसन्द किया । केन्द्रीय बैंक-व्यवहार जाँच-समिति ने तो साहूकारो को अनिवार्य अथवा ऐच्छिक, किसी भी प्रकार के अनुज्ञा प्रदान को पसन्द नही किया । साहूकारो के अनुज्ञा प्रदान करने के विरोध के निम्न कारण हैं रुपया उधार लेने वाला ग्रामीण अशिक्षित वर्ग उन साहूकारो के मैत्री भाव को नही खोना चाहता जिन पर वह आश्रित है । 'साहूकार' शब्द की परिभापा देने में कठिनाइयाँ हैं और ऐसा कानून पास करना निरर्थक है जिससे साहूकार अपनी सुदृढ़ स्थिति के कारण आसानी से बच सकते हैं । दूसरी ओर यह बिलकुल ठीक ही कहा गया है कि 'पेशेवर साहूकारो के कार्यों के नियमन के लिए अनुज्ञा-प्रदान और पजीकरण (रजिस्ट्री) आवश्यक है । इस सम्बन्ध में उनके बुरा मानने का कोई उचित कारण भी नहीं है, क्योकि वकालत जो सर्वाधिक सम्मानित पेशो में से एक है, उस पर भी अनुज्ञा-प्रदान और पजीकरण का सिद्धान्त लागू किया जाता है ।[2] मन्दी के दिनो में कीमतें गिर जाने से किसान की हालत शोचनीय हो गई । अतएव, पिछले वर्षों में ऋणी कृषक की रक्षा व उसे सहायता देने के उद्देश्य से राज्यीय सरकारो ने साहूकारो के अनुज्ञा प्रदान और पजीकरण के लिए और ऋण लेने वालो के हित की दृष्टि से साहूकारी नियमन के बहुत से कानून बनाए हैं ।[3] बम्बई में साहूकार अधिनियम १९३८ (मनीलेंडर्स बिल) प्रवर-समिति के सुपुर्द किया गया था, लेकिन वह कानून नही बन पाया । उडीसा ने १९३९ में इसी प्रकार का कानून पास किया । साहूकारी के अधिक व्यापक नियमन के लिए बगाल मे १९३९ में कानून पास हुआ । जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, सूदखोरीपरक ऋण-अधिनियम (यूज़ूरियस लोन्स एक्ट) (१९१८) कई राज्यो में सशोधित हो चुका है ।

---

१ कृषि अयोग रिपोर्ट, पैरा ३६६ ।

२ देखिए, रिपोर्ट्स ऑफ द बगाल (पैरा ३२०) एण्ड सेन्ट्रल प्राविसेज़ (पैरा १७८-८०) बैंकिंग इनक्वायरी कमेटीज ।

३ विभिन्न राज्यों के लिए तत्सम्बन्धी कानून ये हैं—

(१) पजाब—द रेग्यूलेशन ऑफ एकाउन्टस एक्ट, १९३०, रिलीफ आफ इनडैटिडनैस एक्ट, १९३४, टैटर्स प्रोटैक्शन एक्ट, १९३६ तथा रजिस्ट्रेशन आफ मनीलैंडर्स एक्ट १९३८, (२) बगाल—मनीलैंडर्स एक्ट, १९३३; (३) मध्यप्रदेश—मनीलैन्डर्स एक्ट, १९३४, रिडक्शन आफ इन्टरेस्ट एक्ट, १९३६, प्रोटैक्शन ऑफ टैटर्स एक्ट, १९३७, (४) उत्तरप्रदेश—एग्रीकल्चरिस्ट्स रिलीफ एक्ट, १९३४, एनकम्बर्ड एस्टेट्स एक्ट, १९३४, रेग्यूलेशन ऑफ सेल्स एक्ट, १९३४, (५) आसाम—मनीलैन्डर्स एक्ट, १९३४, (६) मद्रास—टैटर्स प्रोटैक्शन एक्ट, १९३४, एग्रीकल्चरिस्टस रिलीफ एक्ट, १९३८, (७) बिहार—मनीलैन्डर्स एक्ट, १९३८, (८) उडीसा—मनीलैन्डर्स एक्ट, १९३९ । इन ऐक्टों की ज्ञानवर्द्धक समीक्षा के लिए देखिए, शिवस्वामी, पूर्व उद्धृत, तथा अभयकर, पूर्व उद्धृत ।

यहाँ पर प्रत्येक राज्यीय बिल या एक्ट की समीक्षा अलग-अलग करना सम्भव नही है। अतएव हम उनकी मुख्य-मुख्य विशेताएँ ही बताएँगे—(१) साहूकारो की परिभाषा, (२) साहूकारो का पजीकरण व अनुज्ञा-प्रदान, (३) लेखा-नियमन; (४) व्याज का नियमन; तथा (५) विविध व्यवस्थाएँ।

१. साहूकारो की परिभाषा—प्रान्तीय विधान-सभाओ ने 'साहूकार' शब्द की परिभाषा देना सरल नही पाया। कतिपय अधिनियमो में (आसाम, बगाल तथा विहार में) परिभाषा कुछ विस्तृत है। साधारणतया साहूकार उस व्यक्ति को कहा गया है जिसका ऋण देना नियमित व्यापार है। सामान्य उद्देश्य व्यक्तिगत साहूकारी का नियमन है जो कि बैंको, सरकारी समितियो व सरकार के उधार-व्यवहार की तरह सगठित नही है।

२ साहूकारों को अनुज्ञा प्रदान करना और उनका पजीकरण—मध्यप्रदेश, विहार और पंजाब में साहूकार के लिए आवश्यक है कि वह अपना पजीकरण कराए और अनुज्ञा प्राप्त करे। बम्बई साहूकार बिल में भी इस प्रकार की व्यवस्था है। बगाल साहूकार कानून १९३९ तथा उत्तरप्रदेश साहूकार बिल १९३९ मे भी ऐसी ही व्यवस्था है। बम्बई बिल मे वार्षिक अनुज्ञा-कर साहूकार की विनियुक्त पूँजी के अनुसार है। यदि पूँजी २ हज़ार से अधिक नही है तो कर १ रुपया है। यह कर बढते-बढते १० लाख की पूँजी से अधिक के लिए १ हजार रुपया तक हो जाता है। किन्ही परिस्थितियो में, जैसे साहूकार के बेईमानी करने पर, अनुज्ञा-पत्र रद्द करने की भी व्यवस्था है। अनुज्ञा-पत्र न प्राप्त करने पर साहूकार के लिए यह दण्ड है कि अपने अधिकारो को प्राप्त करने में उसे अदालत की सहायता नही मिलेगी। इस प्रकार की व्यवस्था विहार, पजाव, बगाल और उत्तरप्रदेश में है। मध्यप्रदेश में साहूकार पर जुरमाना हो सकता है। बम्बई में दण्ड-शुल्क देकर अनुज्ञा प्राप्त की जा सकती है। अनेक साहूकारो का पजीकरण, उदाहरणार्थ पजाव प्रान्त में, कोई आसान काम नही है। इगलैण्ड में भी अनुज्ञा न लेने वाले व्यक्तियो का समय-समय पर पता चल जाता है। जजीबार में आदमी के पुतले की मार्फत कर्ज देने की प्रथा है। इस उपाय से बार-बार पकडे जाने का डर नही रहता। "कानून एक ईमानदार साहूकार को केवल यह क्षमता देता है कि वह पहली दृष्टि में ही अपनी ईमानदारी की साक्षी दे सके।"[1] अमेरिका के समान यदि सरकार साहूकारो की कार्यवाहियो का निरीक्षण और पर्यवेक्षण करे तो कानून ज्यादा अच्छी तरह से लागू हो सकता है।

३ लेखा-नियमन—साहूकार पर नियन्त्रण करने वाले विभिन्न राज्यीय कानूनो के अन्तर्गत साहूकार के लिए आवश्यक है कि वह नियमित रूप से खाते रखे और प्रत्येक ऋणी को उसके हिसाव का वार्षिक या छमाही सुस्पष्ट विवरण दे जिसमें ऋण का पूरा व्यौरा दिया हो, मूल और व्याज की वकाया रकम और ऋणी से प्राप्त प्रत्येक रकम लिखी गई हो तथा विवरण पर उसके या उसके एजेन्ट के हस्ताक्षर हो। आसाम और मद्रास में यह विवरण ऋणी के माँगने पर ही दिया जाता है। ऋणी

१. स्ट्रिकलैंड, पूर्व उद्धृत, पृ० १७।

साहूकार द्वारा दिये गए हिसाब को सही मानने के लिए वाध्य नही है। साहूकार के लिए यह भी आवश्यक है कि वह पाने वाली रकमो के लिए रसीदें दे। हिसाव के खाते ठीक न रखने पर सामान्य दण्ड यह है कि बकाया व्याज (पूर्ण या आंशिक) नही मिलता और न बकाया की वसूली के मुकदमो में साहूकार को खर्च ही मिलता है। इस सम्बन्ध में साधारण विचार यह है कि ये दण्ड हलके हैं और कदाचित् ही प्रतिरोधक हो सकते हैं। ऋण दी गई वास्तविक रकम से अधिक झूठी रकम लिखना अपराध घोषित कर दिया गया है, जिसके लिए आसाम, बिहार, उडीसा, बम्बई और उत्तरप्रदेश में जुरमाने की सजा है। पजाब के कानून में साहूकार का मुकदमा खारिज कर देने की व्यवस्था है।

खाते रखने से सम्बन्धित व्यवस्था के परिणामो की समीक्षा भी रोचक होगी। यह पाया गया है कि उत्तरप्रदेश में कानून की तत्सम्बन्धी धाराएँ एक मृत-पत्र सिद्ध हुई हैं। दकन कृषक सहायता अधिनियम (डैकन एग्रीकल्चरिस्ट्स रिलीफ एक्ट) में भी इस विषय में ऐसा ही अनुभव रहा है। मध्यप्रदेश में यह देखा गया है कि कानूनी अदालत में कर्जदार कदाचित् ही इस बात पर विवाद करता है कि उसे रसीदें या हिसाब नही मिले हैं। पजाब में, जहाँ इस प्रकार का कानून सबसे पहले जारी किया गया था, गाँव के साहूकार साधारणतया इन धाराओ की अवहेलना करते हैं। इसलिए एक तो विवादग्रस्त मामले वढ गए हैं और दूसरे साहूकार मामले को अदालत के बाहर तय करना चाहता है, क्योकि वह जानता है, कि हिसाब के खाते न रखने के कारण उसे व्याज और खर्च नही मिलेगा। 'इस प्रकार की व्यवस्था दण्ड देने वाले कानून न होकर शिक्षा का ही कार्य अधिक करते हैं। इस प्रकार के पाठ निरीक्षण और लेखा-परीक्षण की जाँच के द्वारा अधिक पूरे हो सकते हैं। साहूकारी नियमन के लिए सर्वोत्तम व्यवस्था ऋणी की आवश्यकताओ और साहूकार के लालच के कारण निरर्थक हो सकती है।'[1]

४ व्याज की दरो को सीमित करना—विभिन्न कानून ऋणी से वसूल की जाने वाली व्याज की अधिकतम दरो को निश्चित करते हैं। हाँ, (मद्रास के अतिरिक्त) जमानती तथा गैर-जमानती कर्जों के बीच भेद रखा गया है। गैर-जमानती कर्जो पर व्याज की दर ली जा सकती है। बम्वई-बिल में तथा बिहार और आसाम में चक्रवृद्धि व्याज निषिद्ध है।

नीचे की तालिका एक ही दृष्टि में विभिन्न राज्यो द्वारा निर्धारित व्याज की दर-सम्बन्धी स्थिति वतलाती है।[2] उत्तरप्रदेश ने एक अनूठी व्यवस्था को अपनाया है—कृपक-सहायता अधिनियम १९३४ के पूर्व लिये गए ऋणो के सम्बन्ध में द्रव्य-बाजार (money market) की स्थिति के अनुसार सरकार समय-समय पर व्याज की दर सूचित करती है। इस अधिनियम से वाद के ऋणो पर व्याज की दर ऋण की रकम

१. शिवस्वामी, पूर्व उद्धृत, पृ० १८२-८३।

२. "लेजिस्लेशन फॉर द रिलीफ ऑफ इनडैटेडनेस" निवन्ध देखिए, जिसे प्रो० सी० एन० वकील ने इण्डियन इकानामिक कान्फ्रेंस, १९३८ में पढ़ा था।

राज्य	जमानती		गैर-जमानती	
	साधारण व्याज	चक्रवृद्धि व्याज	साधारण व्याज	चकवृद्धि व्याज
मद्रास	६$\frac{1}{4}$		६$\frac{1}{4}$	..
वम्वई (विल)	६	निषिद्ध	१२	निषिद्ध
वगाल	१५	१०	२५	१०
पजाव	१२	६	१८	१४
विहार	६	निषिद्ध	१२	निषिद्ध
उडीसा (विल)	६	निषिद्ध	१२	निषिद्ध
मध्यप्रदेश	७	५ एक-एक वर्ष के स्थगन से	१०	५ एक-एक वर्ष के स्थगन से
ग्रासाम	१२$\frac{1}{2}$	निषिद्ध	१८$\frac{3}{4}$	निषिद्ध

के ग्रनुसार घटती-वढती रहती है। ज्यो-ज्यो रकम ज्यादा होती जाती है, दर घटती जाती है। इस व्यवस्था से कानून में एक उचित मात्रा मे नम्यता ग्रा जाती है जो कि ग्रन्य राज्यीय कानूनो में नही है।

इस सम्वन्ध में इस वात पर ध्यान देना चाहिए कि ग्रधिकाश राज्यो (ग्रासाम, वगाल, विहार, मध्यप्रदेश, मद्रास, पजाव ग्रौर उत्तरप्रदेश) ने 'दामदुपट' के पुराने हिन्दू नियम को ग्रहण किया है जो हिन्दुग्रो को ग्राकर्षित भी करता है। इसे वम्वई साहूकार विल (१९३८) तथा ग्रन्य ग्राधुनिक कानूनो में सम्मिलित किया गया है। इस नियम के ग्रनुसार व्याज मूलधन से ग्रधिक नही वढ सकता। इस नियम की व्याख्या चालू खाते मे ग्रासान नही है तथा विभिन्न ग्रधिनियमो की वाक्यावली भी समान नही है। इस नियम का इसी सीमा तक स्वागत किया जा सकता है कि साहूकार ऋणी पर एक उचित समय के ग्रन्दर ही नालिश कर सकते हैं।

विभिन्न राज्यीय ग्रधिनियमो द्वारा निर्धारित व्याज की दरों में ग्रन्तर से प्रकट होता है कि भारत के विभिन्न भागो में द्रव्य-वाजारो की स्थिति में ग्रन्तर है तथा द्रव्य-वाजारो पर रिजर्व वैक का नियन्त्रण ग्रपूर्ण है। गत वर्षो मे व्याज की दर को सीमित करने की वात वहुत सी राज्यीय सरकारो ने पसन्द की थी, लेकिन इसे व्यवहार में कार्यान्वित करना कठिन है। उन मामलो में जहाँ कि व्याज की कानूनी दर ऋण में निहित जोखिम को नही सँभालती ग्रथवा जहाँ ऋण चाहने वाला वहुत जरूरतमन्द है ग्रथवा जहाँ साहूकार वेईमान है, कानून से कई प्रकार से वचा जा सकता है। उदाहरणार्थ, ग्रदालत के वाहर एक ऊँची व्याज की दर के लिए समझौता करके ग्रथवा कानूनी व्याज की दर पर झूठे ही ग्रधिक ऋण को मानकर इस कानून से वचा जा सकता है। वगाल ग्रौर उत्तरप्रदेश में ऋण-कानून की प्रगति पर प्रकाशित रिपोर्टों ने इस वात पर जोर दिया कि व्यवहार में व्याज की ग्रधिकतम दर लागू करना वहुत कठिन पाया गया है। सामान्यतया साहूकार दस्तावेज में वास्तविक से ग्रधिक रकम लिख देते है ग्रौर इसके लिए ग्रत्यधिक-व्याज-दर-सूची (यूजूरियस रेट्स शिडयूल) में दिया गया दण्ड प्रतिरोधक सिद्ध नही हुग्रा है। साथ-ही-साथ यह भी याद

रखना चाहिए कि इस सूची का मुख्य उद्देश्य निवारक की अपेक्षा शिक्षणात्मक है। आवश्यकता जोरदार शिक्षणात्मक प्रचार की है ताकि अनभिज्ञ किसान अपनी रक्षा के लिए कानूनी बचावो को जान सकें।[1] मद्रास ऋणी कृषक सहायता अधिनियम (मद्रास एग्रीकल्चरिस्ट्स डैटर्स रिलीफ एक्ट) १९३८ के अन्तर्गत भविष्य के सभी ऋणो पर निर्धारित ६¼% (साधारण ब्याज) की कानूनी दर इतनी कम है कि कर्ज समुचित मात्रा मे मिलना कठिन हो जाता है और जमानती व गैर-जमानती कर्जो के बीच कोई भेद नही रह जाता। यह देखते हुए कि (भूमिबधक बैंको के अतिरिक्त) सहकारी समितियाँ भी मद्रास के एक कानून द्वारा निर्धारित दर से अधिक ब्याज की दर वसूल कर रही है, स्थानीय सरकारो को इस कानून के द्वारा अधिक ब्याज की दर घोषित करने की आज्ञा दे दी गई है।

५ विविध—अन्त मे, साहूकारी का नियमन और ऋणी किसानो की सुरक्षा करने वाले राज्यीय कानूनो में ऐसी व्यवस्था है जो ऋणी को परेशान करने व उन्हें धमकी देने का निषेध करती है (जैसे मध्यप्रदेश एक्ट में, बम्बई, बगाल तथा उत्तरप्रदेश बिलो में) और इस अपराध के लिए दण्ड निर्धारित करती है। ऋणी किसान को दी गई सहायता के अन्य रूप ये हैं अदालत की डिग्री की वसूली में सामान के कुछ भाग की कुर्की और बिक्री से छूट, जैसा कि पजाब, बिहार, उत्तरप्रदेश और बम्बई में[2], किश्तो की व्यवस्था, जैसा कि मध्यप्रदेश और उत्तरप्रदेश, बिहार (रहन के मुकदमो में) और बम्बई में, समुचित वर्षो तक फलोपभोग बन्धक पर रोक और कुछ पुराने रहनो को छुडाने के लिए ऋणियो को इजाजत, जैसी कि उत्तरप्रदेश में।

उपर्युक्त ऋण-समझौता व ऋण कम करने से सम्बन्धित ग्रामीण ऋण कानून का एक परिणाम यह होता है (आगे देखिए सेक्शन १० और ११) कि कुछ हद तक ग्रामीण क्षेत्रो में कर्ज कम मात्रा में मिल पाता है। प्राप्त सूचनाओ के अनुसार ऐसी प्रवृत्ति पहले से ही दिखाई पड रही है। "उन क्षेत्रो में जहाँ ऐसे कानून लागू है, यह कहा जाता है कि साहूकार ने अपने पुराने और विश्वासी आसामियो को छोडकर अन्य लोगों को ऋण देना बन्द कर दिया है और ऋण की मात्रा कम कर दी है।"[3] यह बिलकुल बुरा भी नही है, यदि इससे किसान अपने साधनो के अन्दर रहना सीख जायें और सहकारी समितियों के लिए अधिक माँग उत्पन्न हो जाय। इसके अलावा साहूकारी का नियमन करने वाले कानूनो को उनके अस्थायी फल-मात्र से ही नही आँकना चाहिए। अशिक्षित व जरूरतमन्द किसानो को बेईमान साहूकारो के गन्दे तरीको से बचाने के

---

१ अभयकर, पूर्व उद्धृत, पृ० ४५-४७।

२ बगाल और बिहार एक एकड जमीन और बगाल रहने के घर की छूट देते हैं। उत्तरप्रदेश में ऐसी ही लेकिन कम स्पष्ट व्यवस्था है। बम्बई छोटे किसान (अस्थायी) सहायता एक्ट, १९३८ (बॉम्बे स्माल-होल्डर्स (टैम्परेरी) रिलीफ एक्ट) (एक छोटे किसान की, अर्थात् एक किसान जिसके पास ६ एकड तक सिचाई वाली अथवा १८ एकड अन्य जमीन हो) जमीन, मकान, फसल व ढोरों की छूट देता है। —स्ट्रिकलैण्ड, पूर्व उद्धृत, पृ० २३।

३ स्टेच्यूटरी रिपोर्ट ऑन एग्रीकल्चरल क्रैडिट (रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया), पैरा ११।

लिए बनाये गए कानूनो से ईमानदार साहूकारो को कोई हानि नही होगी। पुन, इस समय उधार देने में लगी पूँजी का भी कोई उपयोग होगा ही और साहूकार के पास पूँजी के लाभदायक विनियोजन के लिए कोई अन्य मार्ग नही है। कृषि-कार्यो की उचित आवश्यकताओ की पूर्ति की दृष्टि से आने वाले बहुत वर्षो तक ईमानदारी के व्यवसाय के लिए बहुत विस्तृत क्षेत्र रहेगा।

९. ऋण-सम्बन्धी समझौता और अपाकरण—केन्द्रीय बैंक-व्यवहार-जाँच समिति ने सुझाव दिया था कि ऐसे ऋण जिनसे कर्जदार को कोई प्रतिफल न मिले, समाप्त न करने का उपाय ढूँढने के लिए गम्भीरतापूर्वक प्रयास होना चाहिए। उनको समाप्त करने के लिए सबसे अधिक प्रभावपूर्ण उपाय यह होगा कि राज्य सरकारे ऐच्छिक ऋण-समझौतो की शक्तिशाली नीति का अनुसरण करें। इस उद्देश्य से प्रत्येक राज्य में विशेष अधिकारी नियुक्त होने चाहिएँ जिनका कार्य प्रचार करना हो। यह प्रचार ऋणकर्ता और ऋणदाता दोनो को एक नकद अदायगी या बहुत वर्षो पर फैली बराबर अदायगी के आधार पर बकाया ऋण के भुगतान के प्रोत्साहन के लिए होना चाहिए। महाजन को अदायगी करने के लिए ऋणी को वर्तमान सहकारी समितियो का उपयोग करना चाहिए। इसके लिए ऋणी को सहकारी समिति का सदस्य हो जाना चाहिए और उसे भविष्य में उसकी चालू आवश्यकताओ की पूर्ति करनी चाहिए। ऋण के भुगतान के लिए, जहाँ ऋण देने वाला नकद अदायगी चाहता है, सरकार को चाहिए कि वह सहकारी समितियो को पेशगी रुपया देने के नियन्त्रित कार्यक्रम को अपनाए। यदि आवश्यकता हो तो इस सारी व्यवस्था के पीछे कानूनी शक्ति होनी चाहिए। उन मामलो में, जहाँ रुपया उधार देने वाला ऋण के ऐच्छिक निपटारे पर राजी नही होता, यह आवश्यक होगा कि कानून द्वारा अनिवार्य रूप से मामला तय कर दिया जाय।[1]

१०. आधुनिक ऋण-समझौता कानून[2]—ऋणी कृषक-वर्ग पर कृषि-मूल्यो के ह्रास का भयकर प्रभाव पडने के कारण लगभग सभी राज्यीय-सरकारो ने ग्रामीण ऋण के समझौते के प्रश्न को उठाया। मध्यप्रदेश व बरार की सरकार ने सबसे पहले फरवरी १९३३ में पास हुए ऋण-समझौता कानून के अन्तर्गत ऋण-समझौता-बोर्ड का उपयोग प्रारम्भ किया। १९३४ में पजाब ने ऐसा ही किया और पजाब ऋणिता मुक्ति अधिनियम (पजाब रिलीफ ऑफ इन्डैटिडनैस एक्ट) पास किया। पजाब ने मध्यप्रदेश की भाँति ही ऋण-समझौता बोर्ड की स्थापना का अधिकार दिया। १९३५ में बगाल ने अपने ऋणी कृषक अधिनियम (एग्रीकल्चरल डैटर्स एक्ट) द्वारा इनका अनुकरण किया। उसी साल आसाम ने अपना ऋण-समझौता अधिनियम (डैट कन्सिलियेशन एक्ट) पास किया। मद्रास ने १९३७ में ऋण-समझौता अधिनियम (डैट कन्सिलियेशन एक्ट) बनाकर ऋण-समझौते की व्यवस्था की। १९३९ में सिन्ध ने भी ऋण-समझौता एक्ट (सिंध डैट कन्सिलियेशन एक्ट) पास कर ऋण-समझौते की व्यवस्था की।

विभिन्न राज्यो के ऋण-समझौता कानूनो में कुछ सामान्य बातें हैं, यद्यपि

१. देखिए, रिपोर्ट ऑफ़ द सेन्ट्रल बैंकिङ्ग इन्क्वायरी कमेटी, पैरा ९१-७।
२. इस व्यवस्था की मनोरजक व्याख्या के लिये देखिए शिवस्वामी पूर्व उद्धृत तथा अभयकर पूर्व उद्धृत।

विस्तृत कार्य-प्रणाली में अन्तर है। अब हम कानूनो की मुख्य धाराओ की व्याख्या कर सकते हैं।

ऋण समझौता बोर्ड—इन कानूनो की मूल भावना यह है कि ऋणी और साहूकार के बीच पारस्परिक समझौते के फलस्वरूप ऋण में कमी हो। यह कार्य ऋण-समझौता बोर्डो के माध्यम से हो, जिनमें इसे लेकर ९ व्यक्ति तक हो, इन बोर्डो में सरकारी व गैर-सरकारी सदस्य दोनो होते है तथा ऋणी और साहूकार दोनो वर्गों के प्रतिनिधि भी सम्मिलित रहते है। इसका सभापति कार्याङ्ग या न्यायाग का एक अधिकारी होता है। किन्ही राज्यो में इन बोर्डो का कार्यक्षेत्र सीमित है, जैसे मध्यप्रदेश में केवल वे ही ऋणी जिन्हे २५,००० रु० से अधिक न देना हो, ऋण-समझौता बोर्ड को आवेदनपत्र दे सकते हैं। पजाब में यह सीमा १०,००० रुपये हैं। मद्रास में निम्नतम सीमा १०० रु० और अधिकतम सीमा २५,००० रुपये है। विभिन्न राज्यो में सहकारी ऋणो के लिए विभिन्न व्यवस्था है, जैसे मध्यप्रदेश और मद्रास में सरकारी समितियो के रजिस्ट्रार की पूर्व-स्वीकृति से वे ऋण-समझौते के क्षेत्र में सम्मिलित किये जा सकते है। दूसरी ओर पजाब में सरकारी ऋण इन बोर्डो के कार्य-क्षेत्र के बाहर रखे गए है। जहाँ तक ऋण के समझौते की सीमा का सम्बन्ध है, यह ज्यादा अच्छा है कि उन्हे बोर्ड के कार्य-क्षेत्र में शामिल कर लिया जाय और तब उनके और दूसरे ऋणो के बीच भेद किया जाय। व्यापारिक ऋण तथा वे ऋण जो सरकार तथा बैंको के प्रति है, सामान्य रूप से आशिक या पूर्ण रूप से इन बोर्डो के बाहर रखे गए हैं अथवा इन मामलो में समझौते के साथ विशेष शर्तें लगा दी गई है।

कार्यविधि—कोई ऋणी या उसका कोई भी साहूकार अपने व क्रमश अपने ऋणी या साहूकार के बीच समझौता कराने के लिए, उस क्षेत्र के लिए नियुक्त बोर्ड को आवेदन दे सकता है जहाँ ऋणी रहता है। प्रत्येक साहूकार से कहा जाता है कि वह ऋणी को दिये गए ऋणो का विवरण एक निश्चित समय के अन्दर पेश करे। ऐसा न करने पर उस ऋणी पर उसके सारे ऋण समाप्त हो जाते है। कुछ राज्यो में, जैसे मध्यप्रदेश में बोर्डो के सामने वकीलो को लाने की इजाजत नही है। दूसरे राज्यो में जैसे पजाब और आसाम में, उन्हे इसकी इजाजत है। बोर्ड को कोई निर्णय देने का अधिकार नही है, उसे तो केवल दोनो दलो के बीच एक शान्तिपूर्ण समझौता प्रोत्साहित करने का सहारा ही लेना पडता है। ऋणी को जो ऋण देना है यदि उसके किसी प्रतिशत (मध्यप्रदेश में ४० प्रतिशत) के लिए समझौता हो जाता है तो इस पर बोर्ड के हस्ताक्षर हो जाते हैं और भारतीय पजीकरण अधिनियम (इण्डियन रजिस्ट्रेशन एक्ट) के अन्तर्गत इसका पजीकरण हो जाता है और तब इसकी स्थिति कानूनी अदालत की डिग्री जैसी हो जाती है। समझौते के बाद कर्ज की किश्तें कर्जदार की अदा करने की शक्ति के अनुसार तय की जाती है और साधारणतया समझौते के बाद इस कर्ज पर ब्याज लगाने की इजाजत नही दी जाती। सामान्यतया दामदुपट का सिद्धान्त बरता जाता है।

बगाल में यह आवश्यक समझा गया कि ऐसे अवसरो पर जबकि ऐच्छिक

उपाय असफल हो, बोर्ड को विभिन्न मात्रा में दबाव डालने की शक्ति सौंपी जाय। बगाल ऋणी कृषक अधिनियम १६३५ (बगाल एग्रीकल्चरल डैटर्स एक्ट) की दूसरी ध्यान देने योग्य विशेषता यह है कि इसमें ग्रामीण क्षेत्रो के लिए राजकीय कृषि आयोग द्वारा सुझाये गए मार्ग के अनुसार दिवालिया होने की सहज विधि की व्यवस्था है।[1] अन्य राज्य कानूनो में ऐसी कार्य-विधि के न होने से उन मामलो में असुविधा होती है, जहाँ समझौता हुए ऋणो को बहुत सी किश्तो में अदा करने की व्यवस्था तक मे कठिनाइयाँ आती है।

हठी साहूकार—विभिन्न अधिनियमो में ऐसी व्यवस्था है कि ऐसे साहूकारो के, जो एक उचित प्रस्ताव को स्वीकार करने से इन्कार करते है, कर्जदारो को बोर्ड एक प्रमाण-पत्र दे दे। ऐसे साहूकार इन कर्जो को वसूल करने के लिए चलाये गए मुकदमो में खर्च के अधिकारी न होगे और उन्हे इस प्रमाणपत्र के मिलने के बाद बकाया रकम पर ६ प्रतिशत प्रतिवर्ष साधारण ब्याज से अधिक ब्याज भी नही मिलेगा। पजाब में बोर्ड ऐसा प्रमाणपत्र तभी दे सकता है जब कर्जदार से साहूकार उसकी कर्जदारी के ४० प्रतिशत तक शातिपूर्वक समझौता कर लें, मद्रास मे यह दर ५० प्रतिशत है। बोर्ड के निर्णय अन्तिम होते है और नागरिक अदालतो को समझौता हुए ऋण-सम्बन्धी मुकदमो की सुनवाई करना निषिद्ध है। हाँ, बोर्ड को अधिकार है कि वह किन्ही परिस्थितियो में अपने पहले निर्णय पर पुन विचार करे। बगाल में बोर्ड द्वारा दिये गये निर्णय के विरुद्ध अपील की जा सकती है।

ऋण समझौता बोर्डो का कार्य—इन बोर्डों के कार्य प्रत्येक राज्य में अलग-अलग है। केवल तीन राज्यो—मध्यप्रदेश, पजाब और कुछ हद तक बगाल—में पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई है। मध्यप्रदेश में ऋण समझौते के प्रयोग में अधिक सफलता मिली है। यहां पर सरकार ने कई ऋण-समझौता बोर्ड स्थापित किये थे। इन बोर्डो ने जुलाई १६३८ के अन्त तक रु० ६५८·६६ लाख रुपये के कर्जो का समझौता रु० ४७६ २२ लाख के लिए किया। इस प्रकार कुल दावो में ५० प्रतिशत की छूट कराई।[2] साधारणतया यह छूट गैर-जमानती कर्जो में सबसे अधिक हुई है। कम किये हुए कर्ज पर अधिकतर आगे के लिए ब्याज की इजाजत नही दी गई है। मध्य-प्रदेश में १६३६ के नये कानून के अन्तर्गत ऋण समझौता बोर्ड समाप्त कर दिये गए। [दिखिये आगे सेक्शन ११ (२)]। ऐसे ही परिणाम दूसरे राज्यो, जैसे पजाब, बगाल, आसाम में प्राप्त हुए है। बगाल में बोर्डो का कार्य निर्विघ्न नही रहा और उसमें देर भी बहुत होती थी। यह अनुमान लगाया गया था कि उस राज्य में १ अप्रैल, १६३६ तक ५ करोड़ रुपये के ऋण कम कर दिये गए है। बोर्डो के कार्य करने में कुछ त्रुटियाँ भी सामने आई है। उदाहरणार्थ पजाब कानून में यह व्यवस्था है कि जिन कर्जदारो के

---

१ रिपोर्ट, पैरा ३६७।

२ अभयकर, पूर्व उद्धृत, पृ० ३५, मध्यप्रदेश व बरार में ऋण समझौता बोर्डो के कार्य की विस्तृत व आलोचनात्मक परीक्षा के लिए 'द इडियन कोऑपरेटिव रिव्यू' जनवरी-मार्च १६३६, पृ० ६५-७० पर सर एम० जी० देशपाडे का लेख देखिए।

विस्तृत कार्य-प्रणाली में अन्तर है। अब हम कानूनो की मुख्य धाराओ की व्याख्या कर सकते हैं।

ऋण समझौता बोर्ड—इन कानूनो की मूल भावना यह है कि ऋणी और साहूकार के बीच पारस्परिक समझौते के फलस्वरूप ऋण में कमी हो। यह कार्य ऋण-समझौता बोर्डो के माध्यम से हो, जिनमें इसे लेकर ९ व्यक्ति तक हो, इन बोर्डो में सरकारी व गैर-सरकारी सदस्य दोनो होते है तथा ऋणी और साहूकार दोनो वर्गो के प्रतिनिधि भी सम्मिलित रहते है। इसका सभापति कार्याङ्ग या न्यायाग का एक अधिकारी होता है। किन्ही राज्यो में इन बोर्डो का कार्यक्षेत्र सीमित है, जैसे मध्यप्रदेश में केवल वे ही ऋणी जिन्हे २५,००० रु० से अधिक न देना हो, ऋण-समझौता बोर्ड को आवेदनपत्र दे सकते है। पजाब में यह सीमा १०,००० रुपये है। मद्रास में निम्नतम सीमा १०० रु० और अधिकतम सीमा २५,००० रुपये है। विभिन्न राज्यो में सहकारी ऋणो के लिए विभिन्न व्यवस्था है, जैसे मध्यप्रदेश और मद्रास में सरकारी समितियो के रजिस्ट्रार की पूर्व-स्वीकृति से वे ऋण-समझौते के क्षेत्र में सम्मिलित किये जा सकते है। दूसरी ओर पजाब में सरकारी ऋण इन बोर्डो के कार्य-क्षेत्र के बाहर रखे गए है। जहाँ तक ऋण के समझौते की सीमा का सम्बन्ध है, यह ज्यादा अच्छा है कि उन्हे बोर्ड के कार्य-क्षेत्र में शामिल कर लिया जाय और तब उनके और दूसरे ऋणो के बीच भेद किया जाय। व्यापारिक ऋण तथा वे ऋण जो सरकार तथा बैंको के प्रति है, सामान्य रूप से आशिक या पूर्ण रूप से इन बोर्डो के बाहर रखे गए है अथवा इन मामलो में समझौते के साथ विशेष शर्ते लगा दी गई है।

कार्यविधि—कोई ऋणी या उसका कोई भी साहूकार अपने व क्रमश अपने ऋणी या साहूकार के बीच समझौता कराने के लिए, उस क्षेत्र के लिए नियुक्त बोर्ड को आवेदन दे सकता है जहाँ ऋणी रहता है। प्रत्येक साहूकार से कहा जाता है कि वह *ऋणी को दिये गए ऋणो का विवरण एक निश्चित समय के अन्दर पेश करे। ऐसा न* करने पर उस ऋणी पर उसके सारे ऋण समाप्त हो जाते है। कुछ राज्यो में, जैसे मध्यप्रदेश में बोर्डो के सामने वकीलो को लाने की इजाजत नही है। दूसरे राज्यो में जैसे पजाब और आसाम में, उन्हे इसकी इजाज़त है। बोर्ड को कोई निर्णय देने का अधिकार नही है, उसे तो केवल दोनो दलो के बीच एक शान्तिपूर्ण समझौता प्रोत्साहित करने का सहारा ही लेना पड़ता है। ऋणी को जो ऋण देना है यदि उसके किसी प्रतिशत (मध्यप्रदेश में ४० प्रतिशत) के लिए समझौता हो जाता है तो इस पर बोर्ड के हस्ताक्षर हो जाते है और भारतीय पजीकरण अधिनियम (इण्डियन रजिस्ट्रेशन एक्ट) के अन्तर्गत इसका पजीकरण हो जाता है और तब इसकी स्थिति कानूनी अदालत की डिग्री जैसी हो जाती है। समझौते के बाद कर्ज की किश्तें कर्जदार की अदा करने की शक्ति के अनुसार तय की जाती है और साधारणतया समझौते के बाद इस कर्ज पर व्याज लगाने की इजाज़त नही दी जाती। सामान्यतया दामदुपट का सिद्धान्त बरता जाता है।

बगाल में यह आवश्यक समझा गया कि ऐसे अवसरो पर जबकि ऐच्छिक

उपाय असफल हो, बोर्ड को विभिन्न मात्रा में दबाव डालने की शक्ति सौंपी जाय। बंगाल ऋणी कृषक अधिनियम १९३५ (बगाल एग्रीकल्चरल डैटर्स एक्ट) की दूसरी ध्यान देने योग्य विशेषता यह है कि इसमें ग्रामीण क्षेत्रो के लिए राजकीय कृषि आयोग द्वारा सुझाये गए मार्ग के अनुसार दिवालिया होने की सहज विधि की व्यवस्था है।[1] अन्य राज्य कानूनो में ऐसी कार्य-विधि के न होने से उन मामलो में असुविधा होती है, जहाँ समझौता हुए ऋणो को बहुत सी किश्तो में अदा करने की व्यवस्था तक में कठिनाइयाँ आती है।

हठी साहूकार—विभिन्न अधिनियमो में ऐसी व्यवस्था है कि ऐसे साहूकारो के, जो एक उचित प्रस्ताव को स्वीकार करने से इन्कार करते है, कर्जदारो को बोर्ड एक प्रमाण-पत्र दे दे। ऐसे साहूकार इन कर्जो को वसूल करने के लिए चलाये गए मुकदमो में खर्च के अधिकारी न होगे और उन्हे इस प्रमाणपत्र के मिलने के बाद बकाया रकम पर ६ प्रतिशत प्रतिवर्ष साधारण ब्याज से अधिक ब्याज भी नही मिलेगा। पजाब में बोर्ड ऐसा प्रमाणपत्र तभी दे सकता है जब कर्जदार से साहूकार उसकी क़र्जदारी के ४० प्रतिशत तक शातिपूर्वक समझौता कर लें, मद्रास में यह दर ५० प्रतिशत है। बोर्ड के निर्णय अन्तिम होते है और नागरिक अदालतो को समझौता हुए ऋण-सम्बन्धी मुकदमो की सुनवाई करना निषिद्ध है। हाँ, बोर्ड को अधिकार है कि वह किन्ही परिस्थितियो में अपने पहले निर्णय पर पुन विचार करे। बगाल में बोर्ड द्वारा दिये गये निर्णय के विरुद्ध अपील की जा सकती है।

ऋण समझौता बोर्डो का कार्य—इन बोर्डो के कार्य प्रत्येक राज्य में अलग-अलग है। केवल तीन राज्यो—मध्यप्रदेश, पजाब और कुछ हद तक बगाल—में पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई है। मध्यप्रदेश में ऋण समझौते के प्रयोग में अधिक सफलता मिली है। यहाँ पर सरकार ने कई ऋण-समझौता बोर्ड स्थापित किये थे। इन बोर्डो ने जुलाई १९३८ के अन्त तक रु० ९५८·६९ लाख रुपये के कर्जो का समझौता रु० ४७९·२२ लाख के लिए किया। इस प्रकार कुल दावो में ५० प्रतिशत की छूट कराई।[2] साधारणतया यह छूट गैर-जमानती कर्जो में सबसे अधिक हुई है। कम किये हुए कर्ज पर अधिकतर आगे के लिए ब्याज की इजाज़त नही दी गई है। मध्य-प्रदेश में १९३९ के नये कानून के अन्तर्गत ऋण समझौता बोर्ड समाप्त कर दिये गए। [देखिये आगे सेक्शन ११ (२)]। ऐसे ही परिणाम दूसरे राज्यो, जैसे पजाब, बगाल, आसाम में प्राप्त हुए है। बगाल में बोर्डो का कार्य निर्विघ्न नही रहा और उसमे देर भी बहुत होती थी। यह अनुमान लगाया गया था कि उस राज्य में १ अप्रैल, १९३९ तक ५ करोड़ रुपये के ऋण कम कर दिये गए है। बोर्डो के कार्य करने में कुछ त्रुटियाँ भी सामने आई है। उदाहरणार्थ पजाब कानून मे यह व्यवस्था है कि जिन कर्जदारो के

१ रिपोर्ट, पैरा ३६७।

२. अभयकर, पूर्व उद्धृत, पृ० ३५, मध्यप्रदेश व बरार में ऋण समझौता बोर्डो के कार्य की विस्तृत व आलोचनात्मक परीक्षा के लिए 'द इडियन कोऑपरेटिव रिव्यू' जनवरी-मार्च १९३९, पृ० ६५-७० पर सर एम०.जी० देशपाडे का लेख देखिए।

अपने कुल कर्ज का कम-से-कम ४० प्रतिशत भाग अदा कर दिया हो, उनके साथ साहूकार को शांतिपूर्वक समझौता करना पडेगा ताकि उसे प्रमाणपत्र मिल जाय। इसका फल यह हुआ कि कर्जदार अपनी फहरिस्त में झूठे साहूकार शामिल कर लेते हैं ताकि किसी प्रकार ४० प्रतिशत की सीमा पहुँच जाय। पुन उत्तर प्रदेश तथा कुछ अन्य राज्यो में गैर किसानो ने भी, जैसे व्यापारी, जिनके पास जमीन का एक छोटा-सा टुकडा था और जिनकी प्रधान आय व्यापारिक पेशो से प्राप्त होती है, ऋण सहायता कानून (डैट रिलीफ एक्ट्स) का फायदा उठाया। इस प्रकार वास्तविक साहूकारो को नुकसान उठाना पडा। हम ग्रामीण कर्जो के सभरण पर इसके अवरोधक प्रभाव की बात पहले ही कह चुके हैं।

समझौता हुए ऋणो की अदायगी—ऋण समझौते की सारी समस्या का सार यही है कि अन्तिम रूप से तय ऋण की अदायगी का प्रबन्ध हो सके। यद्यपि कुछ स्थानो में, विशेष कर पजाब में गाय, ढोर और जेवर बेचकर या जमीन को नियत समय के लिए पट्टे पर देकर सारा ऋण एक ही बार में चुका दिया गया है, परन्तु सामान्यतया ऋण की अदायगी १५-२० वर्षो की किश्तों द्वारा की जाती है। जैसा कि श्री स्ट्रिकलैंड ने लिखा है 'समझौते की परीक्षा तो तभी होगी जब कि पहली कुछ वार्षिक किश्तें चुका दी जायँगी और छुटकारे की भावना समाप्त हो जायगी।'[1] यह स्पष्ट है कि ऋण-समझौते का उपाय तभी अधिक सफल हो सकेगा जब रकम की वापसी का कोई बढ़िया तरीका खोज निकाला जाय। तब साहूकार भी भारी छूट देने को राजी हो जायँगे। व्यापारिक आधार पर दीर्घकालीन लेन-देन के लिए आवश्यक औद्योगिक सभार से युक्त भूमि-बन्धक बैंक (देखिए, अध्याय १०) ऋण-समझौते के कार्यक्रम को पूर्ण करने के लिए बहुत उपयुक्त साधन प्रतीत होते हैं। यदि ऐसा बैंक सारी समझौता शुदा रकम साहूकार को देने के लिए तैयार हो जाय तो वह ऋण में भारी कमी कर देने के लिए तैयार हो जायगा। इसलिए ऋण समझौता बोर्डो और भूमि-बधक बैंकों के कार्यो के बीच समन्वय की आवश्यकता सुस्पष्ट है। इस प्रकार की आवश्यकता समझकर ही १९३५ में मध्यप्रदेश की सरकार ने भूमि-बधक बैंको का प्रारम्भ किया, जिनकी सख्या अब २५ (सन् १९५१ में) है।[2] मद्रास में, जहाँ १२९ (सन् १९५१ में) भूमि-बधक बैंक हैं। इस दिशा में सबसे अधिक उत्साहवर्द्धक प्रगति दिखाई देती है।[3]

अनिवार्यता की आवश्यकता—मध्यप्रदेश, मद्रास व अन्य राज्यो में यह विश्वास बढता गया कि यदि ऋण-समझौतो को समुचित समय के अन्दर अच्छी प्रगति करनी है, तो स्वेच्छा-सिद्धान्त के-स्थान पर अनिवार्यता का नियम होना चाहिए। यह

१ स्ट्रिकलैंड, पूर्व उद्धृत, पृ० १३।

२ ऐसा प्रतीत होता है कि भूमि-बधक बैंकों द्वारा दी जाने वाली दीर्घकालीन साख की सुविधाओं का फायदा किसान नहीं उठाते हैं। इसका कारण यह है कि समझौता बोर्डो ने किश्तों की सख्या और किश्तों पर ब्याज से छूट के सम्बन्ध में अधिक-से-अधिक रियायतें दी हैं।

३ १० वें अध्याय में विभिन्न राज्यों में भूमि-बधक बैंकों की प्रगति की समीक्षा की गई है।

ध्यान में रखना चाहिए कि समझौता एक आपत्कालीन उपाय है और शल्य-चिकित्सा के समान है। किसी हानिकारक गम्भीर प्रतिक्रिया के बजाय इससे कुछ फायदा उठाना है तो इसे समुचित गति से क्रियान्वित करना चाहिए और अनावश्यक देर नही लगानी चाहिए। ऐच्छिक ऋण समझौतो मे शीघ्रता नही हो पाती और इससे कार्य अनिश्चित और असमान होने की सम्भावना रहती है। अतएव मद्रास, मध्य-प्रदेश, बम्बई और उत्तरप्रदेश के आधुनिक कानूनो में ऋणी किसानो की देनदारी को अनिवार्य रूप से कम करने की व्यवस्था है।

११. ऋण को अनिवार्य रूप से कम करना—(१) मद्रास कृषक सहायता एक्ट १९३८ (मद्रास एग्रीकलचरिस्ट्स रिलीफ़ एक्ट)—इस तथ्य को समझकर ही मद्रास के कांग्रेस मन्त्रिमण्डल ने ऋण-मुक्ति की दृढ नीति को ग्रहण किया और १९३८ के प्रारम्भ में ही राज्य विधान सभा से कृषक सहायता कानून पास कराया। यह कानून शेष भारत में पास हुए अथवा विचारित कानूनो से कही अधिक परिवर्तनकारी और तीव्र था। इसका उद्देश्य, अन्न उत्पादको को भयानक स्थिति से मुक्त करके प्रान्त के मूल उद्योग कृपि का पुन प्रतिष्ठापन है। अधिनियम में ऋण कम करने के लिए आपसी समझौतों और समाधानो की अपेक्षा अनिवार्यता की व्यवस्था है। किसानो की अदायगी की क्षमता व साहूकार की स्थिति को विचार में न लाकर यह कानून कोई ऊपरी सीमा निर्धारित न कर किसानो को मदद पहुँचाता है। यह कानून मदी के पहले व बाद के ऋण में भेद करता है। अक्तूबर १९३२ से पहले के ऋणो पर जो ब्याज १ अक्तूबर १९३७ को बकाया था वह सब खत्म कर दिया गया, केवल मूलधन ही अदायगी के लिए शेष रहा। उस तारीख से बाद के ऋणो पर ३१ अक्तूबर १९३७ तक केवल ५% ब्याज ही लिया जायगा। दामदुपट का नियम ऋणी के हित के लिए व्यवहार में लाया जायगा। यदि अदायगी मूलधन के दुगने से कम हो तो केवल बकाया का ही भुगतान होगा। इस प्रकार कम किये हुए ऋणो व कानून के जारी होने के बाद के ऋणो पर अधिकतम कानूनी ब्याज ६¼% निर्धारित किया गया। लेकिन राज्य सरकार इसे समय-समय पर बदल सकती है। यह कानून सरकारी समितियो और बैंकों के कुछ वर्गों पर लागू नही होता। कानून ने लगान की सारी बकाया को समाप्त करके भी किसान की सहायता की, बशर्ते यह बकाया पहले दो वर्षो की न हो और सितम्बर १९३९ तक अदा कर दी जाय। डिग्री हुए ऋणो पर भी यह कानून लागू किया जा सकता है। यदि १ अक्टूबर, १९३७ के बाद किसी डिग्री के कारण किसान की चल अथवा अचल सम्पत्ति की बिक्री हो तो उसे खत्म किया जा सकता था। इस कानून को साधारण अदालतें क्रियान्वित करेंगी। सितम्बर १९४१ की समाप्ति तक इस कानून के अन्तर्गत १६८,००० से अधिक मामले निपटाये गए। इन मामलो में ६५२ लाख रु० के ऋण कम करके ३४६ लाख रु० के कर दिये गए अर्थात् ४७% की कमी की गई।

मद्रास का यह अनूठा ग्रामीण ऋण कानून अनेक आलोचनाओ का विषय रहा है। प्रथम, कानून में किसी ऐसे यन्त्र की स्थापना की व्यवस्था नही है जिसमें कानूनी शक्ति और वित्तीय साधन हो ताकि वह साहूकार के ऋण को अदा कर सके और इस

प्रकार ऋणी को शीघ्रता से ऋण-मुक्त किया जा सके, जो कम किया हुआ कर्ज साहूकार को अदा होगा वह धीरे-धीरे ऋणी से वसूल किया जायगा। निश्चय ही राज्य में कुछ भूमि-बंधक बैंक काम कर रहे हैं, लेकिन उनके द्वारा भुगतान लेने के लिए साहूकार बाध्य नही है। पुन, ये ऋण देर मे देते हैं। इसके अतिरिक्त इनके साधन भी सीमित हैं।

दूसरी आलोचना यह है कि कानून द्वारा निर्धारित अधिकतम ब्याज की दर (६¼%) बहुत कम है, विशेषकर गैर-जमानती कर्जे के लिए। यह भी कहा जाता है कि कानून के कारण कर्ज कम मिलने लगा है, यहाँ तक कि कुछ जिलो में जमीन परती पडी है। दूसरी ओर विभिन्न चालाकी भरे उपायो के द्वारा ब्याज की कानूनी दर की अवहेलना की जा रही है और इस अपराध में स्वय जरूरतमन्द किसान भी एक साथी है।

(२) मध्यप्रदेश व बरार ऋणिता-मुक्ति कानून (१६३६) (सेन्ट्रल प्रोविन्सेज़ एण्ड बरार रिलीफ़ ऑफ इन्डैटिडनैस ऐक्ट)—इसमें पुराने ऋण समझौता कानून (१६३३) (डैट कन्सिलियेशन एक्ट) की ऋण कम करने के लिए पारस्परिक स्वीकृति की व्यवस्था के स्थान पर कुछ अनिवार्य उपाय रखे गए हैं। इस कानून द्वारा ऋण-समझौता बोर्डो को खतम किया जाता है (इस विषय में यह १६३८ के मद्रास एक्ट से भिन्न है जिसने कि इन बोर्डो को समाप्त नही किया है) और इनके स्थान पर ऋण-मुक्ति अदालतो (डैट रिलीफ कोर्ट्स) की व्यवस्था करता है जहाँ से कुछ सीमित अपीलें जिला जज के यहाँ होगी। यह ऋणो के मूलधन के सम्बन्ध में जमीन की कीमत की अनुमानित कमी के आधार पर क्रमिक सहायता की व्यवस्था करता है जोकि निम्न प्रकार होगी—(क) ३१ दिसम्बर, १६२५ से पहले के ऋणो में ३०% की कमी, (ख) ३१ दिसम्बर १६२५ के बाद और ३१ दिसम्बर १६२६ से पहले के ऋणो में २०% की कमी, (ग) ३१ दिसम्बर १६२६ से बाद व ३१ दिसम्बर १६३१ से पहले के ऋणो में १५% की कमी। ३१ दिसम्बर १६३१ के बाद के ऋणो से कोई छूट नही दी गई है। ब्याज की अदायगी सालाना ४½% चक्रवृद्धि ब्याज से होगी अथवा जमानती कर्जों पर ६% व गैर-जमानती कर्जो पर ६% साधारण ब्याज से होगी। लगान के ऋण (मद्रास की भाँति नही) व सहकारी समितियो व कुछ बैंको द्वारा दिये गए ऋण इस कानून की सीमा के बाहर रखे गए हैं। मद्रास की तुलना में इस कानून में ऋण कम करने के उपाय अधिक पूर्ण हैं, लेकिन इसमें अधिक देर लगने की भी सम्भावना है, क्योकि यह कानूनी व्यवस्था पर आश्रित है जबकि मद्रास में अदालत की शरण लेना तभी आवश्यक होता है जब कि दोनो पक्ष अपने मामले में कानून के प्रयोग पर राजी नही होते हैं। इस कानून में ऋण के बदले जमीन के हस्तान्तरण की व्यवस्था है।

(३) बम्बई ऋणी कृषक कानून (१६३६)[1] (बॉम्बे एग्रीकल्चरल डैटर्स रिलीफ़

१ देखिए, बम्बई का १६३६ का XXVIII एक्ट, 'नोट ऑन बाम्बे एग्रीकल्चरल डैटर्स रिलीफ ६३६ तथा इस एक्ट के अतर्गत बम्बई सरकार द्वारा जारी किये गए नियम (१२ अगस्त १६४१)।

एक्ट)—१९३९ का यह-कानून राज्य के तीन डिवीजनो के कुछ तालुको में प्रयोगात्मक रूप में १९४१ में लागू किया गया। कानून का उद्देश्य किसान के कुल ऋणो को उसकी अदा करने की शक्ति की सीमा के अन्दर लाना है। इस सारी योजना का सार विशेष रूप से निर्मित ऋण-व्यवस्थापन बोर्डो द्वारा ऋणो को अनिवार्य रूप से कम करना है। ये बोर्ड कानूनी अदालतो के नियन्त्रण में काम करेगे। बाद में समुचित किश्तो में व्यवस्थापित रकम के भुगतान का प्रबन्ध भी इस कानून के अन्तर्गत है। कानून द्वारा विचारित सहायता खेती करने वाले उन किसानो तक ही सीमित है जिन पर (१ जनवरी १९३९ को) १५,००० रु० से अधिक ऋण नही था। बोर्ड की स्थापना की तारीख के १८ महीने के अन्दर ऋणी अथवा साहूकार अपने ऋणो के व्यवस्थापन के लिए बोर्ड को आवेदन पत्र दे सकता है। यदि इस समय के अन्दर साहूकार आवेदन पत्र नही देता तो उसका ऋण बेकार हो जाता है और वसूल नही किया जा सकता। यह कानून निम्नलिखित उपाय से मूल और ब्याज दोनो के क्रमिक निवारण की व्यवस्था करता है। जनवरी १९३१ से पहले के लेन-देन पर (मूल व ब्याज दोनो को हिसाब में लेते हुए) ब्याज १२% पर अथवा स्वीकृत दर पर, जो भी कम हो, लगाया जायगा, तब मूलधन व ब्याज में ४०% की कमी कर दी जायगी। यदि लेन-देन १ जनवरी १९३० के बाद व ३१ दिसम्बर १९३० के पहले प्रारम्भ हुआ तो १ जनवरी १९३१ तक लेखा १२% पर अथवा स्वीकृत ब्याज की दर पर जो भी कम हो, तैयार किए जायँगे और मूलधन व ब्याज दोनो में ३०% की कमी कर दी जायगी। आवेदन-पत्र की तारीख तक इस प्रकार व्यवस्थित रकमो पर ९% तक ब्याज लगाया जा सकेगा। उन लेन-देन पर, जो १ जनवरी, १९३१ के बाद प्रारम्भ हुए, ब्याज ९% अथवा स्वीकृत दर पर, जो भी कम हो, लगाया जायगा। ब्याज और मूलधन के अलग-अलग हिसाब किए जायँगे और इकट्ठा हुआ ब्याज मूलधन के हिसाब में नही जोड़ा जायगा। लेखा-जोखा करते समय साधारण ब्याज ही लगेगा। ब्याज की रकम मूल से किसी भी हालत में अधिक नही होगी।

लेखा तैयार हो जाने के बाद बोर्ड का अगला कदम यह होगा कि वह कुछ चीजो को छोडकर, चल व अचल, सारी सम्पत्ति के मूल्य को दृष्टि में रखते हुए ऋणी की अदा करने की शक्ति का अनुमान लगाए। ऐसी अचल सम्पत्ति के मूल्य से जो जमानती कर्जो की अदायगी के लिए सुरक्षित है, सरकार व स्थानीय सस्थाओ (Local bodies) के कर घटा दिए जायँगे। मोटे तौर पर ऋण-व्यवस्थापन बोर्डो को अधिकार है कि वे बकाया मूलधन को घटाकर ऋणी की अदा करने की शक्ति का ८० प्रतिशत तक कर दें। यह शक्ति निम्नलिखित चीजो की कुल रकम से प्रगट होगी—(क) यदि हिसाब लगाने के बाद जमानती कर्जो की रकम अचल सम्पत्ति के मूल्य के ८० प्रतिशत से कम है, तो इन कर्जो की रकम और ऐसी सम्पत्ति के ८० प्रतिशत मूल्य का अन्तर, (ख) ऐसी अचल सम्पत्ति के मूल्य का ८० प्रतिशत जिस पर जमानती कर्जों की अदायगी का भार नही है, (ग) अन्य परिसम्पत्ति के मूल्य का ८० प्रतिशत।

ऋणियो को राज्यीय भूमि-बंधक बैंकों द्वारा जारी किये गए बंध-पत्रो से

उनकी कम की हुई रकमो का भुगतान करने की भी इस कानून में व्यवस्था है, शर्त यह है कि साहूकार दिये हुए ऋण की, ऋणी की सम्पत्ति के अनुकूल, ५० प्रतिशत तक कम कर दें। दूसरे मामलो में साहूकार कम किये हुए ऋण को ऋणी से किश्तो में वसूल कर सकते है। ये किश्तें सख्या में २५ से अधिक नही होगी। बोर्ड एक ऐसे ऋणी को, जिसकी सम्पत्ति कम किये हुए ऋण का भी भुगतान नही कर सकती, दिवालिया घोषित कर सकता है। बोर्ड द्वारा दिये गए निर्णय सिविल अदालत द्वारा पजीकरण के बाद अदालत की डिग्री के रूप में मान्य होंगे। बोर्ड को यह भी अधिकार है कि वह किसी ऋणी के ऋण के अपाकरण के लिए उसकी सम्पत्ति की बिक्री की आज्ञा दे, यदि ऐसा करना उसके ही हित में है। कोई भी ऋणी जो इस कानून के अन्तर्गत निर्णय पाता है, किसी साधन-समिति अथवा किसी व्यक्ति (सयुक्त पूंजी, कम्पनी, या अन्य सस्था) जिसे नियत दशाओ में ऋण देने का अधिकार हो, के हित के खिलाफ ऐसे साहूकारो की पूर्व आज्ञा के बिना अपनी खडी फसलें या ज़मीन की उपज को हस्तान्तरित नही कर सकता।

(४) उत्तरप्रदेश कृषक ऋण-मुक्ति अधिनियम १९३९ (दि यू० पी० एग्रीकल्चरिस्ट डैट रिडैम्प्शन एक्ट)—उत्तरप्रदेश विधान सभा ने ऋण-मुक्ति विधेयक को जुलाई १९३९ में पास किया। यह कानूनी अदालतो को इस बात का अधिकार देता है कि वे बकाया मूलधन की अदायगी में इतनी रकम दिला दें जो मूलधन की रकम की दुगनी से अधिक नही होगी। इस ऋण के सम्बन्ध में जो-कुछ रकम गत दिनो में साहूकार ने वसूल की होगी वह इसमें से घटा दी जायगी। इसका मुख्य उद्देश्य छोटे किसानो के ऋणों में पर्याप्त कमी करना है। रक्षित किसानो के सम्बन्ध में व्यवस्था यह है कि साहूकार ऋणी की भू-सम्पत्ति फलोपभोग बन्धक के रूप में ले सकते हैं, लेकिन ऋण वसूल करने के लिए वे इसको बेच नही सकते।[1]

(५) भावनगर, मैसूर तथा ट्रावनकोर तथा कुछ अन्य भारतीय रियासतो ने भी ऋण-समझौते के लिए बोर्ड स्थापित करने की दिशा में कदम उठाए हैं। सबसे अधिक प्रभावशाली सफलता तो भावनगर में प्राप्त हुई है, जहाँ पर तय हो जाने और बहुत कम हो जाने पर ऋणो को राज्य ने अपने ऊपर ले लिया और साहूकारो को भुगतान कर दिया। भावनगर में ऋण-मुक्ति के बाद के प्रभावो का एक अध्ययन १९३९ में प्रकाशित हुआ था। उसके अनुसार ६ प्रतिशत किसानो ने नये ऋण ले लिये थे जो कुल पुराने ऋणो के ३% थे। ये नये ऋण विविध चालू कामो के लिए थे और फसल कटने के समय अदा कर दिये गए। सब बातो को ध्यान में रखकर यह कहा जा सकता है कि ऋण-मुक्ति की इस योजना का प्रभाव हितकर ही हुआ है। लेकिन हमें यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि ब्रिटिश भारत में उतनी ही सफलता की आशा के साथ ऋण-समझौता योजना चालू करना इतना आसान न होता जैसा कि छोटी-सी भावनगर रियासत में हुआ, क्योंकि इसके शासक जमीन के लगान की बकाया खत्म करने के लिए तैयार थे। वहाँ स्वर्गीय सर प्रभाशकर पट्टनी जैसे उदार और योग्य सलाहकार भी थे और स्थिति

[1] अभयकर, पूर्व उद्धृत, पृ० १९ और ९०।

से भिन्न यहाँ के साहूकार २५ प्रतिशत तक अपने ऋण कम करने के लिए तैयार थे। किसी ऐसे राज्य में, जिसमें साहूकारो की आबादी अधिक हो और बडी विभिन्नता हो तो स्वभावत कुछ कठिनाइयाँ होती हैं।

निष्कर्ष में यह कहा जा सकता है कि स्वेच्छा के आधार पर अथवा अनिवार्यता के उपाय से ऋणो को कम करने का उद्देश्य ग्रामीण ऋणिता को कम करना है, उसका निवारण करना नही, और इसलिए इसकी उपयोगिता सीमित ही है। कृषि-साख पर अपनी प्रारम्भिक रिपोर्ट, १९३६ (प्रिलिमिन रिपोर्टरी ऑन एग्रीकल्चरल क्रेडिट) में रिजर्व बैंक ने इस समस्या के दो पहलुओ पर ठीक ही जोर दिया था—ऋण को कम करने और साख को रोकने की आवश्यकता और साथ ही गाँव की उन्नति के विविध उपायो द्वारा किसान की कमाने व खर्च करने की शक्ति को बढाना (रिपोर्ट, पैरा १०)

१२. भूमि के हस्तान्तरण पर प्रतिबन्ध—भारत में प्राय सभी जगह पिछली शताब्दी के अन्तिम ४०-५० वर्षों में स्वामित्व और काश्तकारी अधिकारो के मूल्य बहुत बढ गए। फलत किसान की साख में अभूतपूर्व विस्तार हुआ पर अधिकाश में इसका दुरुपयोग ही हुआ। जमीन की जमानत के आधार पर अन्धाधुन्ध ऋण लेने वाले अज्ञानी और फिजूलखर्च किसान को इससे रोकने के लिए कोई सावधानी नही बरती गई और जमीन शीघ्रता से किसान के हाथ से निकलने लगी। जमीन के हस्तान्तरण को रोकने की इच्छा तो दूर रही, पहले ऐसा प्रतीत हुआ कि सरकार इसका स्वागत कर रही है। इस बारे में यह विचार था कि हस्तान्तरण की सुविधा के कारण प्रभाव यह होगा कि जमीन पर्याप्त साधन-सम्पन्न किसानो के हाथ में आ जायगी, जो अच्छी प्रकार उसका उपयोग कर सकेंगे। उदाहरण के लिए बम्बई में 'सयुक्त रिपोर्ट' के लेखको ने इच्छा प्रकट की कि हस्तान्तरण के निर्विघ्न होने के लिए विशेष उपाय काम में लाए जायें—विशेषकर इस विचार से कि देश के रीति-रिवाज हस्तान्तरण के विरुद्ध हैं। लेकिन धीरे-धीरे सरकार ने अनुभव किया कि खेती न करने वाले वर्ग के हाथ में जमीन का हस्तान्तरण एक ऐसी अवस्था को पहुँच गया है जो आर्थिक व राजनीतिक दोनो दृष्टि-कोणो से भयकर है। इसलिए निर्बाध हस्तान्तरण को रोकना आवश्यक है। वे लोग जो जमीन के निर्बाध हस्तान्तरण पर कानूनी रोक के पक्ष में थे, मुख्य रूप से खेती न करने वाले वर्ग के हाथ में जमीन का चला जाना ही रोकना चाहते थे, यद्यपि वे इस रोक के गौण प्रभाव अर्थात् साख में कमी का भी स्वागत करते थे, जिससे किसान-वर्ग के ऋण लेने की मात्रा के घट जाने की सम्भावना थी। इस सम्बन्ध में किसी-न-किसी रूप में कदम उठाये गए या उस पर विचार किया गया। सबसे महत्त्वपूर्ण काम पजाब में हुआ। पजाब के भूमि हस्तान्तरण कानून १९०१ (लैण्ड एलीनेशन एक्ट) के अन्तर्गत कृषक-वर्ग के सदस्य की जमीन खेती न करने वाला नही खरीद सकता, और न बीस साल से अधिक के लिए रहन के रूप में ही ले सकता है। साहूकार द्वारा भूस्वामी किसानो की बेदखली रोकने में इस कानून की उपयोगिता में सन्देह नही किया जा सकता। इस अच्छाई में भी एक कमी, बल्कि कई कमियाँ हैं। प्रथम, इस कानून के कारण एक पढा-लिखा शहर का रहने वाला अपनी पूँजी, उद्यम और बुद्धि को जमीन में नही लगा

सकता। इस प्रकार यह खेती की उन्नति मे बाधक है। इस प्रकार का जागरूक उद्यम ब्रिटेन की खेती की उन्नति का प्रमुख कारण रहा है। इससे हुई साख की अनिवार्य कमी से भी किसान-वर्ग को कठिनाई हुई है। दूसरी गम्भीर और अनपेक्षित बुराई खेती करने वाले साहूकार का अभ्युदय और उसके प्रभाव की वृद्धि है। कुछ समय पूर्व तक (आगे देखिए) कानून के प्रतिबन्ध उस पर लागू नही होते थे और उसने अपने किसान भाई को बेदखल करने में, पहले के साहूकार की ही भाँति बेईमानी के तरीको से, अपनी विशिष्ट स्थिति का फायदा उठाया है। इसलिए इस कानून द्वारा किसान के हाथ में ही जमीन रहने में बहुत सहायता मिलने पर भी, इसमें सन्देह है कि इसने ऋणिता की बुराई को काफी कम किया है।[1] इस सम्बन्ध में १९३८ में कानून के दो सशोधन ध्यान देने योग्य है। इनमें से पहले सशोधन द्वारा बेनामी लेन-देन रद्द घोषित कर दिये गए है। इस प्रकार वे जमीन को कल्पित व्यक्तियो के हाथ में जाने से रोकते है। दूसरे सशोधन का उद्देश्य खेती करने वाले साहूकार को भी कुछ हद तक उसी वर्ग में शामिल करना है जिसमें कि खेती न करने वाला साहूकार है। यह खेती करने वाले साहूकार को मौलिक कानून के अन्तर्गत अपनी विशिष्ट स्थिति का अनुचित लाभ उठाने से रोकने के लिए किया गया है।

पजाब रहन भूमि वापिसी कानून (द पजाब रेस्टीट्यूशन आफ मॉरगेज लैंड्स एक्ट) १९३८, रहन रखने वाले को इस बात का अधिकार देता है कि वह ८ जून, १९०१ से पहले रहन रखी हुई जमीन के दखल की वापिसी के लिए, कुछ शर्तो के साथ जिलाधीश को आवेदन-पत्र दे सकता है। जैसा कि पहले ही बतलाया जा चुका है (देखिए सेक्शन ८) बहुत से राज्यो में आधुनिक ऋण कानून अदालत की डिग्री के कार्यवाही काल में सम्पत्ति के कुछ भाग की कुर्की या बिक्री से छूट व फलोपभोग बन्धको पर कुछ उचित वर्षो की रोक लगाकर, ऋण लेने वालो की सम्पत्ति की रक्षा करने का प्रयास करते है। उत्तरप्रदेश में कुछ पुरानी बधको की मुक्ति के लिए सुविधाएँ भी दी जाती है।

१३. द्रव्य और साख की पूर्ति[2]—भारत में किसानो[3] को राज्य की सहायता का तकावी ऋण बहुत प्राचीन रूप है। सरकार ने १८७१, १८७६ व १८७९ में तकावी अधिनियम पास किया, लेकिन भूमि-सुधार ऋण कानून (लैंड इम्प्रूवमेंट लोन्स एक्ट) १८८३ व कृषक ऋण कानून (ऐग्रीकल्चरिस्ट लोन्स एक्ट) १८८४, जिनकी सिफारिश अकाल कमीशन (१८८०) ने की थी, के पास होने तक कोई क्रियात्मक सहायक नही दी गई। पहले

१ देखिए, रिपोर्ट आफ द पजाब बैंकिंग इन्क्वायरी कमेटी पैरा १७५। १९०३ में बुन्देलखण्ड के लिए भी ऐसा ही भूमि हस्तान्तरण कानून (लैण्ड एलिनेशन एक्ट) पास किया गया था। मध्यप्रदेश व बम्बई में आदिम जातियों द्वारा जमीन के हस्तान्तरण पर प्रतिबन्ध है।

२ जिन साधनों से अब ग्रामीण धन प्राप्त करते है उनको यहां आसानी से बतलाया जा सकता है। वे ये हैं—(१) पेशेवर व गैर पेशेवर साहूकार (उधार बेचने वालो सहित), (२) देशी बैंकर, (३) सहकारी सगठन, (४) सरकार, (५) व्यापारिक बैंक—इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया, विनिमय बैंक व सयुक्त पूँजी बैंकों सहित, (६) बगाल के ऋण कार्यालय (लोन आफिसेज), (७) मद्रास में निधि व चिट कोप। देखिए, रिपोर्ट ऑफ द सेन्ट्रल बैंकिंग इन्क्वायरी कमेटी, पैरा १०४।

३ ग्रामीण साख सर्वेक्षण (१९५४) के अनुसार ग्रामीण साख की वर्तमान सस्थाएँ निम्न हैं। उनसे लिया

कानून के अन्तर्गत जमीन के स्थायी सुधार—जैसे कुएँ, बाँध के लिए दीर्घकालीन ऋण, व दूसरे के अन्तर्गत खेती की चालू जरूरतो, जैसे बीज, पशु खाद व औजारो आदि—के लिए अल्पकालीन ऋण दिये जाते थे। ये ऋण किसान के लिए लाभदायक सिद्ध हुए है, विशेषकर सकट के समय में जबकि उन्होने ब्याज की आय दर को कम करने में सहायता दी है और किसान तथा विस्तृत द्रव्य-बाजार में जिससे कि सरकार भी कभी-कभी इस कार्य के लिए ऋण लेती है, कुछ हद तक सम्बन्ध स्थापित किया है।

तकावी ऋण कभी लोकप्रिय नही रहे। सिंचाई आयोग १९०१-३ (इरीगेशन कमीशन) ने ऐसे ऋणो की कुल रकम का अनुमान ६ करोड रुपया लगाया था, जो सागर में एक बूद के समान ही है। इन दोनो कानूनो के अन्तर्गत दिये गए ऋणो के आँकडे प्रान्तीय वैक-व्यवहार जाँच समितियो ने दिए है। इनसे स्पष्ट है कि ग्रामीण अर्थ-पूर्ति की दिशा में सरकार ने नगण्य कार्य किया है।[1] ये ऋण केवल विशेष कार्यो के लिए दिये जाते है। इसलिए काश्तकार इस डर से कि कही साहूकार से, जिससे कि वह हर काम के लिए ऋण ले सकता है, उसकी साख विगड न जाय, सरकारी ऋण नही लेना चाहता जब तक कि वह बिलकुल मजबूर ही न हो जाय। सरकारी ऋण-व्यवस्था साहूकारी ऋण-व्यवस्था के बराबर लचीली नही हो सकती। तकावी वसूल करने में सख्ती एक दूसरी बुराई है जो तकावी ऋणो को अप्रिय बनाती है। वितरण में देरी, छोटे-छोटे सरकारी कर्मचारियो की अनुचित माँगें और इसकी प्रशासन-व्यवस्था, भू-राजस्व एजेन्सी की ढील-ढाल आदि अन्य असुविधाएँ है। इसका निरीक्षण भी असाधारण रूप से कठिन है। तकावी प्रथा विषय के मूल तक नही पहुँचती, क्योकि यह काश्तकारो के चरित्र पर कोई शिक्षणात्मक प्रभाव डालने में असमर्थ है। कुछ लोग तो यहाँ तक कहने को तैयार है कि इसकी प्रवृत्ति उनको अनैतिक बनाने की है। भूमि-सुधार-ऋण कानून (लैण्ड इम्प्रूवमेंट लोन्स एक्ट) की मौलिक कमी यह है कि इसके अन्तर्गत पुराने ऋणो के भुगतान और चकबन्दी के लिए ऋण नही दिये जा सकते, जो खेती के सुधार के लिए दो सारभूत पूर्व आवश्यकताएँ है। मद्रास (१९३५) और उत्तर-प्रदेश (१९३४) में पास हुए सशोधक कानूनों के अनुसार इन राज्यो में पुराने ऋणो की

[1] ऋण कुल उधार के प्रतिशत के रूप में दिखाया गया है

साख संख्या	उधार की प्रतिशत
सरकार	३ ३
सहकारी सस्था	३.१
व्यापारिक वैंक	० ९
सम्बन्धी (रिश्तेदार)	१४ २
जमींदार	१ ५
कृषक महाजन	२४.९
पेशेवर महाजन	४४.८
व्यापारी तथा कमीशन एजेन्ट	५ ५
अन्य	१ ८

देखिए, रिपोर्ट ऑफ द सेन्ट्रल वैंकिंग इन्क्वायरी कमेटी, पैरा २३६।

समाप्ति के लिए ऋण दिये जा सकते हैं।[1] अन्त में सरकार की साख और साधन सीमित होने के कारण आवश्यक मात्रा में धन नही दिया जा सकता।[2] कृषि के अर्थ-प्रबन्धन के सामान्य साधन के रूप में यह प्रबन्ध असफल रहा है, यद्यपि विशिष्ट दुर्भिक्ष-क्षेत्रो और पिछडे इलाको के लिए इसकी सीमित उपयोगिता है।[3] ऐसा प्रतीत होता है कि सरकार तकावी के प्रशासन में सुधार के प्रति सचेत हो रही है ताकि इसकी कार्य-प्रणाली की कठोरता कम हो जाय।[4] बम्बई में, १९२२ में बने नियमो के अन्तर्गत सरकार ने स्थायी सुधार करने के लिए इन दीर्घकालीन ऋणों के वितरण में सहकारी एजेन्सी का उपयोग किया है। तकावी ऋणो की सम्पूर्ण व्यवस्था पर विभिन्न प्रान्तीय बैंक-व्यवहार जांच समितियो व केन्द्रीय बैंक-व्यवहार जांच समिति[5] ने भी विचार किया (१९२९-३०) और बहुत से उपयोगी सुझाव (जैसे सरकारी प्रचार एजेन्सी की स्थापना) दिए।

ऋणिता की प्रमुख समस्या हल करने में ये सब उपाय असफल रहे हैं और किसानो के लिए साख की एक उपयुक्त और सस्ती व्यवस्था अब भी अत्यन्त वांछनीय है। जैसा कि मि० ईवबैंक ने कहा है "कोई कानूनी करामात ही आर्थिक नियम के कार्य को नियन्त्रित नही कर सकती।"[6] सरकार यह बात १८८४ में ही समझ चुकी थी जब राज्यसचिव के नाम एक सन्देश में वाइसराय ने गाँव के सूदखोरो के स्थान पर एक व्यक्तिगत बैंक की आवश्यकता पर जोर दिया था जो कि ऋण चुकाने की योग्यता

---

१ मद्रास की सरकार ने १९३८-३९ के बजट में सरकार द्वारा सीधे ऋणों के रूप में ऋणी किसानों की सहायता के लिए ५० लाख रुपये रखे थे।

२ ग्रामीण साख सर्वेक्षण (१९५४) की रिपोर्ट के अनुसार ग्रामीणों के कुल ऋण का केवल ३% तकावी से प्राप्त होता है। निर्देशक-समिति (कमेटी ऑफ डाइरेक्शन), जिसने यह रिपोर्ट प्रस्तुत की है, के अनुसार तकावी का इतिहास उसकी अपर्याप्तता का इतिहास है। इस अपर्याप्तता के अन्तर्गत तीन बातें सम्मिलित है

(क) उधार दिये जाने वाले धन की अपर्याप्तता और वितरण की असमानता,

(ख) उचित समय पर न मिलना, अन्य दरें तथा उधार लेने वाले से दूसरी वसूलियाँ,

(ग) अयोग्य निरीक्षण तथा सयोजन की अपूर्णता।

३. देखिए, कृषि आयोग रिपोर्ट, साक्ष्य विवरण, जिल्द ३, श्रीनिवास आचारियर की साक्षी, रिपोर्ट ऑफ द सेन्ट्रल बैंकिंग इन्क्वायरी कमेटी भी देखिए, पैरा २४१।

४ उदाहरण के लिए मध्यप्रदेश सरकार ने अगस्त १९५२ में तकावी नीति तथा उसकी कार्य-विधि की परीक्षा और तत्सम्बन्धी सिफारिशें पेश करने लिए तकावी नीति समिति (तकावी पालिसी कमेटी) की नियुक्ति की। इस समिति की रिपोर्ट १९५४ में प्रकाशित हुई। अन्य अनेक बातों के अतिरिक्त समिति ने तकावी प्रथा को जारी रखने तथा तकावी-वितरण में सुधार करने की सिफारिश की। उनके मतानुसार सहकारी संस्थाएँ इसके लिए अत्यन्त उपयुक्त है। सरकार को सारा धन प्रान्तीय बैंक को दे देना चाहिए। इसे सरकार को अदा करने के लिए यह बैंक उत्तरदायी होगी। कृषकों में वितरण करने के लिए यह उन क्षेत्रों में सर्वश्रेष्ठ सहकारी समिति को चुनेगी ताकि ऋण तुरन्त ही बाँटे जा सकें और उनकी वापसी शीघ्रता से हो सके। यह समितियाँ ऋणों के उपयोग की भी जाँच-पड़ताल कर सकती हैं।

५ रिपोर्ट, पैरा २३८-४५।

६ आर० बी० ईवबैंक (Ewbank), 'ए मैनुअल ऑफ कोऑपरेटिव सोसाइटीज', पृ० २।

वाले किसानो को सस्ती पूँजी दे। सर विलियम वैडरबर्न व एम० जी० रानाडे की प्रेरणा के फलस्वरूप १८८३ में पूना जिले के पूँजीपतियो की एक समिति बनी थी जिसका उद्देश्य पुरन्धर तालुका के किसानो को धन देने के लिए एक बैंक की स्थापना करना था। यद्यपि भारत सरकार व बम्बई की सरकार दोनो ने इस योजना का अनुमोदन किया लेकिन तत्कालीन राज्यसचिव लार्ड किम्बरले ने इसे अस्वीकृत कर दिया। उनकी अस्वीकृति का आधार यह था कि बैंक वास्तव में एक सरकारी संस्था होगी और पूर्व-वर्णित १८८३ व १८८४ के तकावी कानून, दक्षिण कृषक सहायता कानून तथा उत्तरोत्तर न्याय-व्यवस्था और भूमि के स्वामित्व का उचित पंजीकरण, स्थिति की आवश्यकताओ को पूरा करने में पर्याप्त होगे।

सरकारी साख के विषय की विवेचना अगले अध्याय में की गई है।

१४. कृषि वित्त उपसमिति की रिपोर्ट, १९४४—कृषि, वन व मत्स्य-नीति समिति (पालिसी कमेटी ऑन एग्रीकल्चर, फारेस्ट्री एण्ड फिशरीज़) की सिफारिशो के अनुसार भारत सरकार ने सितम्बर १९४४ में एक उपसमिति नियुक्त की जिसके चेयरमैन प्रोफेसर डी० आर० गाडगिल थे। इसका उद्देश्य ऋणिता कम करने और कृषि व पशुपालन-कार्यों के लिए योग्य नियन्त्रण में दीर्घ एवम् अल्पकालीन वित्त की व्यवस्था के उपायो पर रिपोर्ट देना था। इसकी कुछ सिफारिशे निम्नलिखित है .

(१) पुराने ऋणो का व्यवस्थापन, कमी और संराधन—ऐसे ऋणी किसानो के आवेदन-पत्रो को, जिनका जमीन में कोई पुश्तैनी या हस्तान्तरण का अधिकार नही है, अनिवार्य व्यवस्थापन के लिए स्वीकृत करना चाहिए। उन किसानो के ऋणो का व्यवस्थापन, जिसके जमीन में पुश्तैनी या हस्तान्तरण के अधिकार है, आवेदनपत्र की प्रतीक्षा किये बिना ही अनिवार्य रूप से कर देना चाहिए। लगान की बकाया को ऋण के रूप में ही मानना चाहिए, हाँ चालू लगान को ऐसा नही मानना चाहिए। राज्य की सहकारी समितियो के रजिस्ट्रार की सहमति से सहकारी समितियो द्वारा दिये गए ऋणों को व्यवस्थापित कर देना चाहिए। इन ऋणो पर समितियो द्वारा दी जाने वाली छूट की मात्रा रजिस्ट्रार को निश्चित करनी चाहिए।

व्यवस्थापन का कार्य न्याय-अधिकारियो अथवा बोर्डों को, जिनमें पर्याप्त संख्या में न्याय-अधिकारी हो, सौंपा जाना चाहिए।

इन बोर्डों की कार्यविधि को न्यायिक (Judicial) कार्यविधि का ही दर्जा मिलना चाहिए और उनके निर्णय अन्तिम होने चाहिएँ, किसी भी दल को अपने पक्ष में वकील खड़ा करने की इजाज़त अधिकार के रूप में नही मिलनी चाहिए। प्रत्येक बोर्ड अथवा कार्याधिकारी की सहायता के लिए विशेषज्ञो का एक दल होना चाहिए जोकि सम्पत्ति के मूल्य, किसान की ऋण वापिस करने की शक्ति आदि का अनुमान लगा सके। एक निश्चित समय के अन्दर व्यवस्थापन का कार्य समाप्त हो जाना चाहिए। यह समय दो साल से अधिक नही होना चाहिए।

अपने अधिकारो को बोर्ड के पास भेजने के लिए सब साहूकारो को बाध्य होना चाहिए। बोर्ड के पास अपने अधिकार व लिखित प्रमाण (Documentary

evidence) भेजने की आरम्भ व अन्त की तारीखें कानून द्वारा निर्धारित होनी चाहिए। यदि कोई अधिकार समय के अन्दर न भेजा गया हो तो सब उद्देश्यो व सब अवसरो के लिए उसे समाप्त समझना चाहिए, जब तक कि देर के लिए कोई विशेष कारण न हो, और ऐसी दशा में भी एक निर्धारित समय के अन्दर ही उनको दाखिल कर देना चाहिए। ऋणियो के लिए एक निश्चित तिथि से पहले ही अपनी सम्पत्ति और देनदारी का विवरण होना चाहिए। ऋणी के लिए ऋण की उचित रकम निश्चित करने में व्यवस्थापन एजेंसी को प्रत्येक हिसाब की छानवीन करनी चाहिए और उसकी प्रत्येक रकम की जाँच करनी चाहिए जैसी व्यवस्था व्याजाधिक्य कानून व दक्षिण कृषक सहायता कानून में है।

इसे दामदुपट का नियम भी लागू करना चाहिए, जिसकी परिभाषा यह हो कि कुल अदायगी आरम्भ में उधार दिये गए मूलधन के दुगने से अधिक नही हो सकती तथा सूद को मूलधन में परिवर्तित नही किया जा सकता।

जो उचित रकम निश्चित की जाय उसे ऋणी की अदा करने की सामान्य शक्ति के वर्तमान मूल्य पर ४% व्याज की दर पर २० साल के लिए कर दिया जाय। इसके तथा किसान की अचल सम्पत्ति के सामान्य मूल्य के ५० प्रतिशत के बीच जो भी कम हो, उसके हिसाब से उचित समझी गई रकम को इनमें से किसी एक के बराबर कम कर देना चाहिए, परन्तु शर्त यह होगी कि

(क) एक जमानती कर्ज को, जिस सम्पत्ति पर वह आधारित हो, उसके मूल्य के ५०% से अधिक नही घटाना चाहिए।

(ख) जिस सम्पत्ति पर जमानती कर्ज आधारित हो, उस सम्पत्ति के मूल्य और जमानती कर्ज का स्वीकृत अनुपात उस अनुपात से कम नही होना चाहिए जो स्वीकृत गैर-जमानती कर्जो व ऐसे सब कर्जो के योगफल मे हो।

यदि किसी ऋणी का भूमि में कोई पुश्तैनी या हस्तान्तरण का अधिकार नही है और उचित मानकर निश्चित किया गया ऋण उसकी अदा करने की शक्ति से उस अनुपात में अधिक हो जिसे कि कानून निर्धारित करे, तो बोर्ड को उसे दिवालिया घोषित कर देना चाहिए और उस पर एक सामान्य दिवालिया कार्यविधि अनिवार्य रूप से लागू होनी चाहिए। यदि किसी ऋणी के जमीन में पुश्तैनी या हस्तान्तरण के अधिकार है और उसका ऋण उसकी कुल अदा करने की शक्ति या उसकी अचल सम्पत्ति के मूल्य के आधे से (जो भी कम हो) किसी निश्चित अनुपात में, जिसे कि कानून निर्धारित करे, अधिक है तो बोर्ड को उसे दिवालिया घोषित कर देना चाहिए और एक सामान्य दिवालिया कार्यविधि अनिवार्य रूप से लागू होनी चाहिए—भले ही उसके ऋण की रकम या सम्पत्ति का मूल्य कुछ भी हो।

कानून में ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि ऋणी की भू-सम्पत्ति का सरसरी तौर पर प्रबन्ध हो सके ताकि यथासम्भव उचित शीघ्रता के साथ उसकी सम्पत्ति बेची जा सके और जहाँ तक हो सके एक ही वार में बाँटी जा सके। ऐसे दिवालियो के लिए उचित सहायता व रोज़गार की उचित व्यवस्था को खेती, उद्योग अथवा अन्य

पुनर्निर्माण कार्य का भाग मानना चाहिए और सरकार को इन पर पहले ही ध्यान देना चाहिए ।

व्यवस्थापन के दौरान में दिवालियो की कृषि अचल सम्पत्ति को, बोर्ड द्वारा निश्चित मूल्य पर विकास और पुनर्वास प्रशासन को सौंप देना चहिए। सहकारी प्रयत्न अथवा सम्पन्न किसान-वर्ग की स्थापना द्वारा भूमि के सर्वोत्तम उपयोग की दृष्टि से ही इन सम्पत्तियो का प्रबन्ध व विक्रय होना चाहिए ।

अन्य ऋणियो के मामले में व्यवस्थापित ऋण का तत्काल ही, एक ही रकम में (सरकार, सहकारी समितियाँ इत्यादि) साहूकारो को भुगतान कर देने का निर्णय हो जाना चाहिए । भुगतान करने के लिए यह रुपया किसी भूमि-बधक बैक अथवा इसी उद्देश्य से स्थापित सरकारी एजेंसी से उधार लेना चाहिए। ऋण-व्यवस्थापन की योजना का यह एक आवश्यक भाग होगा ।

जहाँ पर सहकारी भूमि-बधक बैंक हो, इन व्यवस्थापित ऋणो को लेने का उन्ही का पहला हक होना चाहिए। अपने ही स्तर से प्रत्येक मामले पर निर्णय करने के लिए उन्हे स्वतन्त्रता होनी चाहिए। उन सब मामलो को जिन्हे कि सहकारी भूमि-बधक बैंक न लें, सरकारी एजेंसी को ले लेना चाहिए। जो एजेंसी इन ऋणो को लेंगी वह किश्तो में, जो कि २० साल से अधिक के लिए न होगी इन्हे ऋणी से वसूल कर लेंगी ।

ऋण-व्यवस्था के कार्य के साथ-साथ प्रत्येक क्षेत्र में व्यक्तिगत साहूकार के बजाय ऋण के अन्य साधनो की व्यवस्था व उनके कार्यो का नियमन भी होना चाहिए ।

(२) सामान्य समय व परिस्थितियो में राज्य-वित्त की पद्धति व विस्तार—ऋण-व्यवस्था की प्रक्रिया के साथ वित्तीय ढाँचे का पूर्ण पुनर्निर्माण अवश्य ही होना चाहिए। निकट भविष्य में इस पुनर्निर्माण का मुख्य उद्देश्य ऋण चुकाने की योग्यता रखने वाले किसानो के लिए हर जगह व्यक्तिगत साहूकार के अलावा अन्य एजेन्सी की व्यवस्था करना हो, जहाँ से उन्हे सब उचित कार्यो के लिए व उचित शर्तो पर धन मिलने का विश्वास हो ।

ऋण की यह अन्य एजेन्सी सरकार द्वारा स्थापित एक स्वायत्त सार्वजनिक कारपोरेशन होनी चाहिए जो कि सामान्य सरकारी निरीक्षण व निर्देश में काम करे, लेकिन अपने दिन-प्रतिदिन के कार्य और सामान्य व्यापारिक लेन-देन में उसे स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिए ।

मुख्य रूप से राज्य सरकार ही इसकी पूँजी देगी, कम-से-कम ५० प्रतिशत अवश्य देगी। सामान्य ऋण-व्यवस्था या अन्य सस्थाओ को भी पूँजी के हिस्से खरीदने के लिए निमन्त्रित करना चाहिए। हिस्से केवल चुनी हुई साख-सस्थाओ, मुख्य रूप मे सयुक्त पूँजी कम्पनियाँ, सहकारी बैंको और विपणन सगठनो को ही देने चाहिएँ ।

इसका कार्य-सचालन प्रबन्धक अफसरो द्वारा होना चाहिए और इसकी नीति मुख्य रूप से सरकार द्वारा नामजद तथा अन्य हिस्सेदारो के प्रतिनिधियो से निर्मित बोर्ड

को बनानी चाहिए। प्रबन्धक अफसर व बोर्ड दोनो राज्य सरकार द्वारा निश्चित काल के लिए नियुक्त होने चाहिएँ। सरकार द्वारा नामजद कुछ व्यक्ति अधिकारी होंगे। अन्य सदस्यो को नामजद करने में सरकार को खेती व सहकारी सगठनो में लगे व्यक्तियो का विशेष प्रतितिधित्व प्राप्त करना चाहिए।

अल्पकालीन अथवा दीर्घकालीन वित्त देने में, कारपोरेशन को ऋण लेने वाले की वास्तविक सम्पत्ति और उसके व्यक्तिगत व्यापार के स्वरूप, दोनो पर अवश्य ही ध्यान देना चाहिए। बन्धक पर दीर्घकालीन ऋण देने में उसको व्यक्ति की परिसम्पत्ति और उसकी उपार्जन क्षमता के सम्बन्ध में पूरी जाँच-पडताल करनी पडेगी। मध्यमकालीन ऋण में सामान और चल सम्पत्ति पर विशेप प्रभार के साथ-साथ आनुषगिक रहन भी हो सकता है। अल्पकालीन ऋण की सीमा वास्तविक भू-सम्पत्ति के मूल्य व व्यक्तिगत व्यापार की कुछ विशेषताओ के रूप में स्पष्ट की जा सकती है।

कारपोरेशन देशव्यापी आधार पर कुशलता के साथ शीघ्रतापूर्वक बन्धक ऋण देने में तत्काल ही समर्थ होगा।

मध्यमकालीन ऋण के लिए, विशेषकर उन स्थानो में जहाँ सामान्यतया मिश्रित खेती होती हो, अथवा पशु-पालन को विशेष महत्त्व दिया जाता हो, अथवा खेती व्यापारिक आधार पर होती हो, हो सकता है कि वहाँ ऋण लेने के लिए किसी प्रकार का सगठन—सहकारी अथवा अन्य—स्थापित करना पडे।

उन क्षेत्रो में जहाँ महत्त्वपूर्ण व्यापारिक फसलें केन्द्रित है, अल्पकालीन ऋण देना कठिन नही होगा, यदि कृषि-मूल्य के स्थायी कारण आदि के प्रयत्नो द्वारा उनके विपणन व मूल्यो पर राज्य का पर्याप्त नियन्त्रण हो जाय ताकि ऋण की अदायगी सुनिश्चित हो जाय।

ऐसी परिस्थितियो के अभाव में कारपोरेशन सीधे ही सम्पन्न किसानो को मध्यम-कालीन व अल्पकालीन ऋण दे सकता है। यदि वह इन्हें पहले ही दीर्घकालीन बन्धक ऋण दे चुका है तो वह जमीन को दुबारा बन्धक रखकर अथवा चल सम्पत्ति का बन्धक रखकर अथवा फसल पर किसी प्रकार के प्रभार (charge) आधार पर अल्पकालीन ऋण दे सकता है।

छोटे किसानो की अल्पकालीन आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए इन्हे अपनी सहकारी ऋण-विपणन या विक्रय-समितियाँ बनाने के लिए उत्साहित करना चाहिए।

जहाँ यह सम्भव न हो वहाँ ऋण लेने वालो के समुदायो में किसी प्रकार का सामान्य सगठन बनाने का प्रयत्न करना आवश्यक है, ताकि वह कारपोरेशन की स्थानीय एजेंसी और गाँवो में भारी सख्या में बिखरे हुए किसानो के बीच कडी बन सके।

ऋण लेने वालो के समुदाय का मुख्य कार्य यह हो सकता है कि वे ऋण के आवेदन-पत्रो व उनके सम्बन्ध में आवश्यक सूचनाओ को इकट्ठा कर, उन्हें आगे भेज दें।

कृषि-ऋण कारपोरेशन एक केन्द्रीय सगठन होगा। प्रत्येक क्षेत्र में प्राप्त व्यापार के विस्तार के आधार पर ही एजेन्सियो व उप-एजेन्सियो का सगठन और सख्या निर्भर

होगी ।

अपने अधिकांश साधारण व्यापार के लिए ब्याज की दर को बनाए रखने में नियम को किसी विशेष सरकारी आर्थिक सहायता की आवश्यकता न पड़ेगी। कम विकसित भागो में जहाँ कि प्रशासन व ऋण वसूल करने के व्यय और जोखिम अधिक होंगे, राज्य की आर्थिक सहायता की आवश्यकता होगी। यह आर्थिक सहायता इन रूपो में दी जा सकती है, जैसे काफी रुपये को बिना ब्याज के देना, अथवा प्रशासन, निरीक्षण आदि के व्यय में सीधी आर्थिक सहायता देना।

जहाँ पर सहकारी बैंक-व्यवहार अभी तक काफी विकसित नही है, सहकारी समितियों को वित्त देने का भार कारपोरेशन को स्वय अपने ऊपर लेना चाहिए। जहाँ पर सहकारी बैंक-व्यवहार, भूमि-बन्धक बैंक-व्यवहार प्रणाली के अलावा अन्य दिशाओ में विकसित हो, वहाँ कारपोरेशन बन्धक व्यापार को भी कर सकता है। उस स्थिति में सहकारी भूमिबन्धक-बैंको को विकसित करने के लिए किसी विशेष प्रयास की आवश्यकता भी नही है। जहाँ पर सहकारी बैंक-व्यवहार सामान्य एवम् भूमि-बन्धक व्यापार दोनो में ही बहुत अधिक विकसित है, कारपोरेशन एक तीसरी प्रणाली के रूप में होगा। इन दोनो मामलो में, तीनो एजेन्सियो का खूब समन्वय हो जाना चाहिए और यह सावधानी बरतनी चाहिए कि क्षेत्रो का अतिक्रमण, प्रयत्नो का दोहरा-पन और धन की अधिकता न होने पाए।

कृषि ऋण कारपोरेशन को राज्य की टैक्नीकल व अन्य एजेन्सियो के निकट सम्पर्क में काम करना चाहिए।

ब्याज की दर चालू व मध्यमकालीन वित्त के लिए समुचित रूप से कम होनी चाहिए और विकास के लिए और भी कम होनी चाहिए। सामान्यता ६½% ब्याज चालू वित्त के लिए व ४% ब्याज विकास-वित्त के लिए उपयुक्त सीमाएँ हैं।

(३) सहकारी आन्दोलन—प्राथमिक सहकारी समितियो द्वारा दिये गए सहकारी वित्त की प्रणाली को सुधारने के लिए सहकारी समितियो की जडीकृत परिसम्पत्ति को समितियों के दावो को सदस्यो की अदा करने की शक्ति के अनुसार व्यवस्थित करके तरल कर देना चाहिए।

सहकारी साख के ढाँचे का केन्द्र प्राथमिक साख-समिति रहनी चाहिए।

ऋण-समिति को एक नियम के रूप में असीमित उत्तरदायित्व के सिद्धान्त को अपनाना चाहिए। यदि किसी प्रदेश में सीमित उत्तरदायित्व आन्दोलन में मूल्यवान तत्वो को आकर्षित करने में समर्थ होता है तो इसे अपनाया जा सकता है, बशर्ते कि समिति के लिए आवश्यक कोष का अधिकांश भाग हिस्सा-पूँजी के द्वारा एकत्रित किया जा सके। ऐसे मामलो में उत्तरदायित्व हिस्सो के मूल्य अथवा उनके किसी गुणक तक सीमित किया जा सकता है।

प्राथमिक साख-समिति को अपने सदस्यों की सभी अल्पकालीन वित्तीय आवश्य-कताओ को पूर्ण करने का प्रयत्न करना चाहिए और कुछ सीमाओ के अन्दर उनकी मध्यमकालीन आवश्यकताओ को भी पूरा करना चाहिए। एक सहकारी समिति में एक

सदस्य की साख योग्यता उसकी अदा करने की शक्ति के आधार पर आँकनी चाहि
साधारणतया ऋण की जमानत वैयक्तिक होनी चाहिए, लेकिन मौसमी वित्त के
अतिरिक्त सुरक्षा के रूप मे फसल के ऊपर समिति का सवैध प्रभार होना चाहिए
इसको जान-बूझकर अतिक्रमण करने को अपराध मानना चाहिए। ऋण के विस्तार
समय को देखते हुए आवश्यकतानुसार रहन-जमानत भी उचित हो सकती है, ले
यह केवल आनुषगिक होना चाहिए।

ऋण के आवेदन-पत्रो के भुगतान में कम-से-कम देर होनी चाहिए।

ऋण की नियमित वापिसी पर जोर देना चाहिए। अस्थायी कठिनाइयो के स
अवधि विस्तार की अनुमति दी जा सकती है। जान-बूझकर चूक करने वालो पर दव
डालने मे भी कोई हिचक नही होनी चाहिए। किसी क्षेत्र मे जहाँ इकाई के छो
आकार तथा प्रशासन के अधिक व्यय के कारण व्याज की दर ऊँची (६¼% से अधिक
है, राज्य को प्रशासन के लिए आर्थिक सहायता देनी चाहिए ताकि व्याज की दर प्रस्त
वित सीमा के अन्दर ही आ जाय।

प्रान्तीय सहकारी बैंको को रिजर्व बैंक द्वारा रियायती दर पर अनुग्रह देने
लिए निर्मित योजनाओ का अधिकाधिक लाभ उठाना चाहिए। रिजर्व बैंक के अ
कारियो को ऐसे अवसर पर बैंक दर को १½ या २ प्रतिशत तक घटाने की वांछनीय
पर विचार करना चाहिए।

ऋण समितियो और विक्रय-समितियो के कार्यों मे भली प्रकार सम्बन्ध जोड़
कर सहकारी वित्त की क्षमता को बढाना चाहिए।

ऋणो के उचित उपयोग के द्वारा भी सहकारी वित्त की क्षमता को बढान
चाहिए

(क) जहाँ तक सम्भव हो सके, सदस्यो की आवश्यकताओ को वस्तुरूप मे क्रय
यूनियन तथा उपभोक्ता-भण्डारो से प्रबन्ध करके पूरा करना चाहिए। ये यूनियन तथ
भण्डार सामान अपने खातो में समिति के नाम लिखकर सदस्यों को दे देंगे। ऐसे
सगठनो के अभाव मे समिति स्वय ही सामान दे सकती है, लेकिन इसे सख्ती के साथ
माँग-सूची प्रणाली पर कार्यान्वित करना चाहिए, तथा

(ख) एक क्षमतावान निरीक्षक-वर्ग के द्वारा समितियो व उनके सदस्यो के कार्यो
पर अनवरत व सावधानी के साथ निरीक्षण रखना चाहिए। निरीक्षक-वर्ग रखने का
व्यय राज्य को देना चाहिए।

उत्सवो के अवसरो पर फिजूलखर्ची के विरुद्ध लोकमत के निर्माण के लिए
प्रयत्न होने चाहिएँ। ऐसे अवसरो पर उचित व्यय के लिए, सहकारी समितियो को
वचत कार्यक्रम के रूप मे, पहले से ही व्यवस्था करने की सम्भावना पर खोजबीन
करनी चाहिए।

जहाँ कही सम्भव हो वर्तमान भूमि-बंधक बैंको के व्यापार को बढाना चाहिए।

किसानो को दीर्घकालीन बंधक-वित्त अधिक-से-अधिक ४% व्याज पर दिया
जाना चाहिए और भूमि-बंधक बैंको को इस योग्य बनाने के लिए सरकार को आर्थिक

सहायता देनी चाहिए। भूमि-बंधक बैंको को कृषि-विभाग के परामर्श से भूमि-सुधार के लिए अधिक वित्त देने का प्रयास करना चाहिए।

(४) व्यक्तिगत वित्तीय एजेंसी और उनका नियमन—देश अत्यधिक विस्तृत है और इसमें पाई जाने वाली अवस्थाओ में बडी विभिन्नताएँ है। अतएव, खेती की वित्त-व्यवस्था के लिए सस्थागत साख की यथासम्भव विभिन्न प्रणाली के विकसित करने का प्रयास होना चाहिए। ऐसी सब उचित सुविधाएँ जो सहकारी साख-व्यवस्था के विकास को नही रोकती, व्यापारिक बैंको को दी जानी चाहिएँ, जिससे कि वे ग्रामीण साख-सगठन में एक महत्त्वपूर्ण भाग लेने में समर्थ हो सकें।

कृषि-क्षेत्र में व्यापारिक बैंक अपने व्यापार के विस्तार व क्षेत्र को बढा सकें, इसलिए—

(क) विपणन का कानून द्वारा नियमन होना चाहिए,

(ख) अनुज्ञा-प्राप्त भाण्डागार स्थापित होने चाहिएँ और उनकी रसीदो को विनिमय-साध्य बना देना चाहिए।

राज्य को (अपनी यातायात-विकास योजना के आन्तरिक भाग के रूप में) उन सब स्थानो में भाण्डागार बनाने चाहिएँ जो खेती की उपज में व्यापार के केन्द्र हो। 'पोर्ट ट्रस्ट' या इम्प्रूवमेंट ट्रस्ट' के ही आधार पर एक सार्वजनिक नियम द्वारा भाण्डा-गार-प्रणाली का सगठन होना चाहिए।

साहूकारी का नियमन करने वाले वर्तमान कानून को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए उसमें सुधार किया जाना चाहिए। सब राज्यो के कानून में निम्न व्यवस्था होनी चाहिए—(क) साहूकारो को अनुज्ञा देना, (ख) विहित रूप में लेखा रखना, (ग) जितना रुपया वास्तव में उधार दिया गया हो इससे अधिक हिसाब की बहियो में या किसी अन्य अभिपत्र में दिखाने का निषेध, (घ) समय-समय पर ऋणियो को हिसाब के विवरण भेजना, (ङ) एक निर्धारित रूप में ऋणियो को विवरण देना जिसमें कि प्रत्येक ऋण का जब और जैसे वह दिया गया हो, ब्यौरा हो, (च) प्रत्येक भुगतान के लिए ऋणियो को रसीद देना आदि।

'साहूकार' की परिभाषा को और अधिक विस्तृत बना देना चाहिए, ताकि उसमें वे सभी ऋण आ जायें जिन पर ब्याज दिया जाता हो। केवल ऐसे ऋणो को मुक्त कर देना चाहिए जो कि ऐसी सस्थाओ द्वारा दिये गए हो, जैसे सरकार, सहकारी समि-तियाँ, सब अनुसूचित बैंक और वे गैर-अनुसूचित बैंक जो कुछ निर्धारित शर्तो को पूरा करते हो।

हर एक राज्य में एक ऐसी राजकीय निरीक्षण एजेंसी स्थापित होनी चाहिए जैसी कि अमेरिका में अल्प ऋण विधान (स्मॉल लोन लैजिस्लेशन) के अन्तर्गत काम करती है। इसको साहूकारो की हिसाब बहियो का समय-समय पर और अचानक निरीक्षण करना चाहिए। प्रत्येक साहूकार के लिए यह आवश्यक होना चाहिए कि वह एजेंसी को अपने व्यापार के वार्षिक विवरण भेजे। एजेंसी को ऋण कानूनो के कार्य व प्रभाव की समय-समय पर समीक्षा प्रकाशित करानी चाहिए।

साहूकारी के नियमन के साथ-साथ कृषि विपणन का नियमन भी केवल बाजारो के अन्दर ही नही वरन् उनके बाहर भी न होना चाहिए। विपणन की सब एजेंसियो के लिए यह आवश्यक होना चाहिए कि वे हिसाब-किताब ठीक तरह से रखें और बेचने वालो को निर्धारित रूप में प्रमाणक (वाउचर) और निश्चित फार्म में विवरण दें।

फलोपभोग बन्धक, जिनमें २० वर्ष के अन्दर स्वत अदायगी की व्यवस्था नही है, कानून द्वारा निषिद्ध हो जाना चाहिए।

साधारण बन्धको में ज़मीन का हस्तान्तरण (बिक्री के रूप में) रद्द कर देना चाहिए और जिसके पास बधक रखी जाय उसे बकाया रकम को वसूल करने के लिए २० वर्ष तक ही सम्पत्ति को उपयोग के लिए रखने का अधिकार होना चाहिए और यह बन्धक रखने वाले की इच्छा पर होना चाहिए कि वह किसी भी समय सामान्य बन्धक को स्वत अदा होने वाले फलोपभोग बन्धक में बदल सके।

सस्थाओ के विशेष वर्गो को, जैसे सहकारी भूमि-बन्धक बैंको तथा कृषि ऋण कारपोरेशन को बधक पर ऋण देने के नियमो से मुक्त कर देना चाहिए।

(५) सहायता व पुनर्वास और विकास—अकाल वित्त, जिसमें कि अनुदानों व रियायती दर पर विशेष उद्देश्यो के लिए ऋणो की प्रधानता रहती है, सामान्य वित्त की प्रणाली द्वारा प्रशासित नही हो सकता। अकाल-निवारण की प्रशासक राजकीय एजेंसी को अपने सामान्य कार्यो के साथ-साथ इस अकाल वित्त को भी वितरित करना पडेगा।

ऐसे क्षेत्रो में जहाँ नियमित रूप से सकटापन्न स्थिति आती ही रहती है, सम्पूर्ण प्रदेश की आर्थिक व्यवस्था का, सकट की वास्तविक स्थिति के समय, सहायता कार्य के अतिरिक्त दीर्घकालीन कार्यक्रम के अनुसार पुनर्निर्माण करना पडेगा।

पुनर्वास कार्यक्रम को क्रियान्वित करते समय, वित्त एव अन्य अत्यन्त सामान्य कार्य भी व्यवस्थित किये जायेंगे। इसको क्रियान्वित करने वाले प्रधान अधिकारी के हाथ में इसके नियन्त्रण को सर्वोत्तम प्रकार से केन्द्रित किया जा सकता है।

सम्पन्न आर्थिक व्यवस्था के क्षेत्रो में, जहाँ विशेष जातियाँ ही सकटावस्था में पडती हैं, इन जातियो की स्थायी समस्या का हल तभी हो सकता है जब कि कोई राजकीय एजेंसी पुनर्वास की सर्वागीण योजना तैयार करे और वही एजेंसी इसके क्रियान्वित होते समय निरीक्षण करे।

पुनर्वास कार्यक्रम व विकास कार्यक्रम के क्रियान्वित करने वाली एजेंसियो के कार्य के समन्वय के लिए अमेरिका के कृषि-क्षेत्र ऋण-प्रशासन (फार्म क्रेडिट एडमिनिस्ट्रेशन) व कृषि क्षेत्र-सुरक्षा-प्रशासन (फार्म सीक्योरिटी एडमिनिस्ट्रेशन) के समान प्रत्येक राज्य में दो प्रशासकीय विभाग स्थापित होने चाहिएँ।

एक विभाग का सम्बन्ध सामान्य ऋण-कार्य से होना चाहिए। इसे कृषि-साख निगम व सहकारी आन्दोलन का निरीक्षण करना चाहिए। ऋण-व्यवस्थापन-तन्त्र व साहूकारो के कार्य-निरीक्षण का उत्तरदायित्व भी इस पर होना चाहिए। बाज़ारो के

नियमो व भाण्डागारो की देख-भाल करने व निगम के प्रशासन के निरीक्षण का काम भी यह भली प्रकार कर सकता है।

दूसरे विभाग का सम्बन्ध मुख्य रूप से सहायता व पुनर्वास से होगा और यह राजकीय ऋणो व अनुदानो जैसे कार्यों के लिए आवश्यक वित्त की व्यवस्था करेगा।

अध्याय १०

भारत में सहकारी आन्दोलन

१ सहकारिता का अर्थ—निम्नलिखित उद्धरण सहकारिता की मुख्य विशेषताएँ स्पष्ट करने में सहायक हैं

"अति सक्षेप में सहकारिता का सिद्धान्त यह है कि कोई विविक्त और शक्तिहीन व्यक्ति दूसरो के योग एव नैतिक विकास तथा पारस्परिक सहयोग से अपनी सामर्थ्य के अनुसार ऐसे भौतिक लाभ अथवा सुख प्राप्त कर सके जो धनाढ्यो या सशक्त लोगो को उपलब्ध हैं और अपने सहज गुणो का पूर्ण रूप से विस्तार कर सके। शक्तियो के सहयोग से भौतिक उन्नति होती है, सम्मिलित कार्य से आत्म-विश्वास बढता है, एव इन शक्तियो की एक-दूसरी पर प्रतिक्रिया के फलस्वरूप जीवन के उच्च और समुन्नत स्तर की वास्तविक सिद्धि की आशा की जाती है जिसमें 'अधिक अच्छा व्यापार होगा, सुव्यवस्थित कृषि होगी तथा समृद्ध जीवन होगा।' "[१]

"सगठित व्यक्तियो के किसी भी समुदाय के सामान्य लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सम्मिलित प्रयास को सहयोग कहा जा सकता है। उदाहरणार्थ, फुटवाल की टीम, डाकुओ का गिरोह अथवा लाभेच्छुक कम्पनियो के साझीदारो को लिया जा सकता है। इतिहास की एक शताब्दी ने अग्रेजी के वडे अक्षर 'C' से आरम्भ होने वाले Co-operation' (सहकारिता) शब्द को एक विशिष्ट अर्थ प्रदान किया है। यह शब्द सच्चे साधनो से एक सामान्य आर्थिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए व्यक्तियो के सगठन का द्योतक है। सहकारिता के अनेक रूपो में यह भी आवश्यक है कि व्यक्तियो को एक-दूसरे के बारे में प्रत्यक्ष ज्ञान हो।"[२]

"सहकारिता का पारिभाषिक अर्थ उत्पादन और वितरण में प्रतिस्पर्धा का परित्याग तथा सभी प्रकार के मध्यस्थो की जरूरत खतम कर देना है।"[३]

"सहकारिता का प्रारम्भ पारस्परिक सहयोग मे इस उद्देश्य से होता है कि उसका पर्यवसान सामान्य समर्थता में हो।"[४]

"यह आर्थिक सगठन का एक विशिष्ट रूप है जिसमें लोग सुनिश्चित व्याव-

---

१ मैक्लेगन कमेटी रिपोर्ट, पैरा २।

२. सी० एफ० स्ट्रिकलैण्ड, कोआपरेशन इन इण्डिया (तीसरा सस्करण, १९३८) पृ० १५।

३ सैलिगमैन, प्रिन्सिपल्स ऑफ इकनामिक्स, पृ० १५१।

४ एच० मिरिक, फेडरल फार्म लोन सिस्टम, पृ० १८।

सायिक नियमो के अनुसार निश्चित व्यावसायिक उद्देश्यो के लिए मिलकर काम करते हैं। सहकारिता का आधार व्यापार और नीतिशास्त्र का वह सम्बन्ध है जो हमारी वर्तमान औद्योगिक प्रणाली की आवश्यक व्यावसायिक ईमानदारी से श्रेष्ठ-तर है।"[1]

अतएव प्रकट है कि किसी भी सहकारी समिति में—(१) सामान्य आर्थिक लाभ के लिए लोगो का सम्मिलन पूर्णतया ऐच्छिक होता है। (२) नैतिक दृष्टिकोण पर भौतिक दृष्टिकोण के बराबर ही बल दिया जाता है। (३) सहकारी प्रयास के शिक्षणात्मक प्रभाव को विशेष महत्त्व दिया जाता है।

सहकारिता का क्षेत्र—सिद्धान्त रूप में ही सही—अर्थशास्त्र के क्षेत्र के समान ही व्यापक है। व्यवहार रूप में, धन के उत्पादन के लिए उद्योग के क्षेत्र में इसका प्रयोग अब तक सीमित रहा है, यद्यपि छोटे-छोटे उद्योग-धन्धो की सहायता सहकारी-सगठन से हो सकती है, जैसे करघे की बुनाई जिसमें अधिक पूँजी, सूझ-बूझ और विशेष व्यापारिक कौशल आदि आवश्यक नही है। आधुनिक बडे-बडे उद्योग-धन्धो में, जो मँहगे और जटिल यन्त्रो, कुशल व्यापार-प्रबन्ध और अनुशासन की अपेक्षा रखते हैं, सहकारिता व्यवहार-रूप में कम सफल हुई है। क्रय अथवा धन के उपभोग और साख के क्षेत्र में इसे काफी सफलता मिली है।

२ जर्मनी में सहकारिता—भारत में कृषि और गैर-कृषि वाली उधार समितियाँ क्रमश रेफेजन तथा शुल्ज-डिलिट्स की प्रणालियो पर आधारित है, जिनका विकास जर्मनी में गत शताब्दी के मध्य में हुआ था। अत उनमें से प्रत्येक के प्रमुख सिद्धान्तो का विवरण हम यहाँ दे सकते हैं।

(१) समुचित रूप से संगठित रेफेजन समिति के बारे में निम्नलिखित आवश्यक बातो पर साधारणतया ज्यादा ज़ोर दिया जाता है (क) कार्यक्षेत्र का सीमित होना। (ख) हिस्सो का न होना अथवा बहुत कम मूल्य वाले हिस्से (जिससे लाभाश की प्राप्ति पर शक्तियाँ केन्द्रित न हो और गरीब-से-गरीब लोग सदस्य बन सकें)। (ग) असीमित दायित्व, ताकि अधिक साख तथा पारस्परिक निरीक्षण निश्चित हो।[2] (घ) जहाँ तक सम्भव हो ऋण केवल प्रतिफलात्मक कार्यो के लिए तथा सदस्यों को ही दिया जाय। (ड) किश्तो द्वारा चुकता करने की सुविधाओ के साथ अपेक्षाकृत दीर्घकाल के लिए उधार की व्यवस्था हो। (च) स्थायी सुरक्षित कोष हो जिसका हस्तान्तरण न किया जा सके। (छ) मुनाफाखोरी और लाभाशबाजी न हो और लाभो को सुरक्षित कोष में जमा कराया जाय। (ज) अवैतनिक प्रशासन तथा जनतन्त्रात्मक प्रबन्ध। और (झ) सदस्यो की भौतिक तथा नैतिक प्रगति को प्रोत्साहन मिले।

(२) निम्नलिखित बातें शुल्ज-डिलिट्स को रेफेजन प्रणाली से पृथक् करती हैं (क) कार्य का बृहत्तर क्षेत्र, (ख) हिस्सा-पूँजी का अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व, (ग) सीमित उत्तरदायित्व, (घ) अल्पकालीन उधार, (ड) अपेक्षाकृत थोडा सुरक्षित कोप

१. एल० एस० गॉर्टन और सी० ओ'ब्रियेन, कोआपरेशन इन डेन्मार्क।
२. आगे सेक्शन १० (३) देखिए।

अध्याय १०

भारत में सहकारी आन्दोलन

१ सहकारिता का अर्थ—निम्नलिखित उद्धरण सहकारिता की मुख्य विशेषताएँ स्पष्ट करने में सहायक है

"अति सक्षेप में सहकारिता का सिद्धान्त यह है कि कोई विविक्त और शक्तिहीन व्यक्ति दूसरो के योग एव नैतिक विकास तथा पारस्परिक सहयोग से अपनी सामर्थ्य के अनुसार ऐसे भौतिक लाभ अथवा सुख प्राप्त कर सके जो धनाढ्यो या सशक्त लोगो को उपलब्ध है और अपने सहज गुणो का पूर्ण रूप से विस्तार कर सके। शक्तियो के सहयोग से भौतिक उन्नति होती है, सम्मिलित कार्य से आत्म-विश्वास बढता है, एव इन शक्तियो की एक-दूसरी पर प्रतिक्रिया के फलस्वरूप जीवन के उच्च और समुन्नत स्तर की वास्तविक सिद्धि की आशा की जाती है जिसमें 'अधिक अच्छा व्यापार होगा, सुव्यवस्थित कृषि होगी तथा समृद्ध जीवन होगा।' "[१]

"सगठित व्यक्तियो के किसी भी समुदाय के सामान्य लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सम्मिलित प्रयास को सहयोग कहा जा सकता है। उदाहरणार्थ, फुटबाल की टीम, डाकुओ का गिरोह अथवा लाभेच्छुक कम्पनियो के साझीदारो को लिया जा सकता है। इतिहास की एक शताब्दी ने अग्रेजी के बडे अक्षर 'C' से आरम्भ होने वाले 'Co-operation' (सहकारिता) शब्द को एक विशिष्ट अर्थ प्रदान किया है। यह शब्द सच्चे साधनो से एक सामान्य आर्थिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए व्यक्तियों के सगठन का द्योतक है। सहकारिता के अनेक रूपो में यह भी आवश्यक है कि व्यक्तियो को एक-दूसरे के बारे में प्रत्यक्ष ज्ञान हो।"[२]

"सहकारिता का पारिभाषिक अर्थ उत्पादन और वितरण में प्रतिस्पर्धा का परित्याग तथा सभी प्रकार के मध्यस्थो की ज़रूरत खतम कर देना है।"[३]

"सहकारिता का प्रारम्भ पारस्परिक सहयोग में इस उद्देश्य से होता है कि उसका पर्यवसान सामान्य समर्थता मे हो।"[४]

"यह आर्थिक सगठन का एक विशिष्ट रूप है जिसमें लोग सुनिश्चित व्याव-

१ मैक्लेगन कमेटी रिपोर्ट, पैरा २।
२ सी० एफ० स्ट्रिकलैण्ड, कोआपरेशन इन इण्डिया (तीसरा सस्करण, १९३८) पृ० १५।
३ सैलिगमैन, प्रिन्सिपल्स ऑफ़ इकनामिक्स, पृ० १५१।
४ एच० मिरिक, फेडरल फार्म लोन सिस्टम, पृ० १८।

सहकारी उधार समिति अधिनियम बनाया गया। इस कानून में केवल उधार-समितियो की स्थापना की ही व्यवस्था की गई थी तथा गैर उधार वाली सहकारिता के समस्त रूपो को भविष्य के लिए स्थगित कर दिया गया। यह नीति जान-बूझकर अपनाई गई क्योकि उनका खयाल था कि अपेक्षाकृत पिछडी हुई जाति में उत्पादन तथा वितरण व्यापार के प्रबन्ध की कठिनाइयाँ प्रगति के रास्ते में बाधक हो सकती थी। अपने सरल सगठन एव प्रबन्ध से युक्त उधार समितियाँ सहकारिता के सिद्धान्तो को सीखने और अभ्यास करने का सुगम स्थल थी और इसलिए उन पर विशेष ध्यान दिया गया।[1] शहरी उधार समितियो की अपेक्षा ग्रामीण उधार-समितियो पर विशेष बल दिया गया क्योंकि वे अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण और आवश्यक थी।

अब हम अधिनियम के महत्त्वपूर्ण तत्त्वो पर विचार करेंगे। दस वयस्को का कोई भी समुदाय रजिस्ट्री के लिए प्रार्थना-पत्र देकर अपनी सहकारी समिति बना सकता है। शुरू के प्रार्थी तथा भविष्य में होने वाले अन्य सदस्य एक ही गाँव या जाति अथवा एक ही नगर के होने चाहिएँ। उधार समितियो के ग्रामीण या शहरी होने की कसौटी उनके सदस्यो की सख्या थी—सदस्य सख्या के ४/५ भाग का क्रमश. कृषक अथवा गैर-कृषक होना। ग्रामीण समितियो में असीमित उत्तरदायित्व का ही नियम था, परन्तु शहरी समितियो के लिए यह विषय समिति की इच्छा पर निर्भर था। ग्रामीण समिति अपने सारे लाभ को अ-हस्तान्तरणीय सुरक्षित कोष में जमा करती थी, जब तक कि किसी विशेष कारणवश स्थानीय सरकार द्वारा कोई आदेश न दिया जाय। नगरों की समितियाँ अपने लाभ का एक चौथाई हिस्सा ही अपने सुरक्षित कोष में जमा करती थी। जिन स्थानो पर हिस्सो से पूँजी एकत्रित की जाती थी, वहाँ उनके परिमाण की कुछ सीमा निर्धारित कर दी गई थी। कोई भी सदस्य कुल हिस्सो के १/५ भाग से अधिक नही रख सकता था। एक अकेले सदस्य के हिस्से की कीमत १००० रुपये से अधिक नही हो सकती थी और न उसे एक से अधिक वोट देने का अधिकार होता था। समिति अपनी आवश्यक चालू पूँजी, प्रवेश शुल्क, हिस्सो तथा सदस्यो द्वारा जमा किये हुए धन और बाहर से लिये हुए ऋण से एकत्रित करती थी और इस प्रकार से एकत्रित किये हुए धन को केवल सदस्यो में ही बाँट सकती थी। एक समिति का दूसरी समिति से रुपया उधार लेना रजिस्ट्रार की स्वीकृति के अधीन था। आन्दोलन के सगठन और नियन्त्रण की देख-रेख के लिए सभी राज्यो में रजिस्ट्रारो की नियुक्ति की जाती थी। सरकार ने उनके लिए कुछ अधिकार सुरक्षित रखे थे। उदाहरण के लिए (१) अनिवार्य निरीक्षण तथा लेखा-परीक्षण, (२) आवश्यकता पडने पर रजिस्ट्रार द्वारा समिति का अनिवार्य विघटन—परन्तु इसके विरुद्ध प्रान्तीय सरकार से अपील की जा सकती थी, (३) नियम बनाने के व्यापक अधिकार।

आन्दोलन को साधारणतया सरकार के सहयोग, सहानुभूति तथा पथ-प्रदर्शन का आश्वासन प्राप्त था। उपर्युक्त व्यवस्था के लिए सरकार ने सरलता तथा लचीलापन, इन दो प्रधान तत्त्वो को ध्यान में रखा था—सरलता, किसानो के समझ के

१. देखिए, मेक्लेगन कमेटी रिपोर्ट, पैरा ८।

जिसमें लाभ का कुछ भाग ही दिया जाता है, (च) लाभ का अधिक स्वतन्त्र वितरण, (छ) सवेतन प्रशासन ताकि प्रबन्ध कुशलता से चलाया जाने का निश्चय रहे, (ज) नैतिक परिणामो की अपेक्षा समिति के व्यावसायिक पहलू पर ज्यादा जोर दिया जाता है।

जनता के दोनो वर्गो की—जिनके लिए ये अभिप्रेत हैं—विभिन्न आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए उपयुक्त होने के कारण ये दोनो प्रकार आवश्यक हैं। इसका अधिक विवेचन हम आगे चलकर भारत में स्थापित उधार-समितियो का सर्वेक्षण करते समय करेंगे।

दुनिया के पूर्वी तथा पश्चिमी देशो में सहकारी आन्दोलन बहुत ही व्यापक हो गया है और हाल ही में उद्देश्य तथा प्रवृत्तियो के देखे उसने अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप धारण कर लिया है। पूँजीवाद के दोषो के निराकरण के सम्बन्ध में समाजवाद तथा अन्य सुझाई हुई व्यवस्थाओ की तुलना में सहकारिता का यह दावा है कि वह व्यक्तिगत स्वार्थ को अक्षुण्ण बनाए रखकर भी उसे सामूहिक प्रयास के आधार पर एक उच्च-स्तर पर सगठित करती है। इस प्रकार वह पूँजीवाद और समाजवाद का स्वर्णिम माध्यम बनने का भी दावा करती है।

३. सहकारिता तथा भारत में इसके उपयोग—भारत में हम लोगो के लिए सहकारिता का एक विशेष सन्देश है। हमारे देश की जनसख्या का अधिक भाग छोटे-छोटे किसानो और कारीगरो का है। देश के वर्धमान नगरो में भी सहकारी सिद्धान्तो पर अमल करके लाभ उठाया जा सकता है। उदाहरणार्थ समुचित घरो की व्यवस्था अथवा मजदूरो तथा मध्यवर्ग के लिए समुचित दरो पर बढ़िया किस्म की आवश्यकीय घरेलू वस्तुओ के सम्भरण को ले सकते हैं। यद्यपि पाश्चात्य ढग की सहकारिता के कुछ रूप हमारे लिए नये हो सकते हैं परन्तु तत्त्व और सिद्धान्त रूप में वे किसी भी प्रकार हमारे देश के लिए नये या अपरिचित नही है, क्योकि यहाँ की कई विशिष्ट सस्थाओ—वर्ण-व्यवस्था, सयुक्त परिवार आदि—का मूलाधार सहकारिता ही है। मद्रास की 'निधियों' जैसे सगठनो में भी हम इसी सिद्धान्त को क्रियाशील पाते हैं।

४ सहकारी उधार समिति अधिनियम, १९०४—सर्वप्रथम फ्रेडरिक निकलसन नामक मद्रासी नागरिक द्वारा ग्रामीणो के ऋण को दूर करने तथा उन्हे ऋण देने के लिए सहकारिता का विचार प्रस्तुत किया गया। वे मद्रास सरकार द्वारा भूमि-बैंको के प्रारम्भ करने की सम्भावना की जाँच करने के लिए नियुक्त किये गए थे। १८९७ में प्रकाशित अपनी प्रसिद्ध रिपोर्ट में उन्होने सहकारी उधार समितियो के प्रवर्त्तन की जोरदार सिफारिश की। उन्होने कहा कि भारतवर्ष जैसे देश में किसानो को सदैव उनकी आवश्यकतानुसार आर्थिक सहायता देने का एकमात्र सन्तोषजनक साधन सहकारी उधार समितियाँ ही हो सकती हैं। इस रिपोर्ट पर कोई कार्यवाही नही की गई। सहकारी उधार समितियो को स्थापित करने के लिए उत्तरप्रदेश में मि० डूपरने तथा पजाब और बगाल में अन्य ज़िला अधिकारियो द्वारा जहाँ-तहाँ असगठित और व्यक्तिगत प्रयत्न किये गए। १९०१ में लार्ड कर्जन ने सर एडवर्ड लॉ की प्रधानता में एक शक्तिशाली समिति की स्थापना की, जिसकी सिफारिशो के परिणामस्वरूप १९०४ का

सहकारी उधार समिति अधिनियम बनाया गया। इस कानून में केवल उधार-समितियो की स्थापना की ही व्यवस्था की गई थी तथा गैर उधार वाली सहकारिता के समस्त रूपो को भविष्य के लिए स्थगित कर दिया गया। यह नीति जान-बूझकर अपनाई गई क्योकि उनका खयाल था कि अपेक्षाकृत पिछडी हुई जाति में उत्पादन तथा वितरण व्यापार के प्रवन्ध की कठिनाइयाँ प्रगति के रास्ते में बाधक हो सकती थी। अपने सरल सगठन एव प्रबन्ध से युक्त उधार समितियाँ सहकारिता के सिद्धान्तो को सीखने और अभ्यास करने का सुगम स्थल थी और इसलिए उन पर विशेष ध्यान दिया गया।[1] शहरी उधार समितियो की अपेक्षा ग्रामीण उधार-समितियो पर विशेष बल दिया गया क्योकि वे अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण और आवश्यक थी।

अब हम अधिनियम के महत्त्वपूर्ण तत्त्वो पर विचार करेंगे। दस वयस्को का कोई भी समुदाय रजिस्ट्री के लिए प्रार्थना-पत्र देकर अपनी सहकारी समिति बना सकता है। शुरू के प्रार्थी तथा भविष्य में होने वाले अन्य सदस्य एक ही गाँव या जाति अथवा एक ही नगर के होने चाहिएँ। उधार समितियो के ग्रामीण या शहरी होने की कसौटी उनके सदस्यो की सख्या थी—सदस्य सख्या के ४/५ भाग का क्रमश. कृषक अथवा गैर-कृषक होना। ग्रामीण समितियो में असीमित उत्तरदायित्व का ही नियम था, परन्तु शहरी समितियो के लिए यह विषय समिति की इच्छा पर निर्भर था। ग्रामीण समिति अपने सारे लाभ को अ-हस्तान्तरणीय सुरक्षित कोष में जमा करती थी, जब तक कि किसी विशेष कारणवश स्थानीय सरकार द्वारा कोई आदेश न दिया जाय। नगरो की समितियाँ अपने लाभ का एक चौथाई हिस्सा ही अपने सुरक्षित कोप में जमा करती थी। जिन स्थानो पर हिस्सो से पूँजी एकत्रित की जाती थी, वहाँ उनके परिमाण की कुछ सीमा निर्धारित कर दी गई थी। कोई भी सदस्य कुल हिस्सो के १/५ भाग से अधिक नही रख सकता था। एक अकेले सदस्य के हिस्से की कीमत १००० रुपये से अधिक नही हो सकती थी और न उसे एक से अधिक वोट देने का अधिकार होता था। समिति अपनी आवश्यक चालू पूँजी, प्रवेश शुल्क, हिस्सो तथा सदस्यो द्वारा जमा किये हुए धन और वाहर से लिये हुए ऋण से एकत्रित करती थी और इस प्रकार से एकत्रित किये हुए धन को केवल सदस्यो में ही बाँट सकती थी। एक समिति का दूसरी समिति से रुपया उधार लेना रजिस्ट्रार की स्वीकृति के अधीन था। आन्दोलन के सगठन और नियन्त्रण की देख-रेख के लिए सभी राज्यो में रजिस्ट्रारो की नियुक्ति की जाती थी। सरकार ने उनके लिए कुछ अधिकार सुरक्षित रखे थे। उदाहरण के लिए (१) अनिवार्य निरीक्षण तथा लेखा-परीक्षण, (२) आवश्यकता पडने पर रजिस्ट्रार द्वारा समिति का अनिवार्य विघटन—परन्तु इसके विरुद्ध प्रान्तीय सरकार से अपील की जा सकती थी, (३) नियम बनाने के व्यापक अधिकार।

आन्दोलन को साधारणतया सरकार के सहयोग, सहानुभूति तथा पथ-प्रदर्शन का आश्वासन प्राप्त था। उपर्युक्त व्यवस्था के लिए सरकार ने सरलता तथा लचीलापन, इन दो प्रधान तत्त्वो को ध्यान में रखा था—सरलता, किसानो के समझ के

१. देखिए, मेक्लेगन कमेटी रिपोर्ट, पैरा ८।

वाहर की बडी-बडी स्कीमो को दूर रखने के लिए रखी गई तथा लचीलापन अधिनियम में निर्धारित कुछ मोटे-मोटे नियमो के अनुकूल रहते हुए प्रत्येक प्रान्त में आन्दोलन को उसकी आवश्यकतानुसार पूर्ण रूप से विकसित होने का अवसर देने के लिए। इस अधिनियम के अधीन रजिस्ट्री की हुई समितियो को उत्साहित करने के लिए सरकार ने उन्हें अनेक अधिकार और छूटें दे रखी थी।[1] उदाहरणार्थ, हम आय कर, मुद्राक कर (स्टैम्प ड्यूटी) और रजिस्ट्री शुल्क से छूट, नैगम निकाय जैसी सुविधाओं का दिया जाना, मालगुजारी के वाद सदस्य से ऋण वसूल करने के लिए उसके अन्य साहूकारो की तुलना में समिति की प्रथमता, सरकार द्वारा हिसाव की नि शुल्क जांच आदि को ले सकते है। सरकार ने समितियो को प्रथम तीन वर्षो के लिए विना व्याज रुपया उधार देने का वचन दिया। मगर शर्त यह थी कि उधार की रकम दो हजार रुपये से अधिक न होगी और साथ ही समितियो द्वारा स्वतन्त्र रूप से इकट्ठे किये हुए धन के वरावर ही ऋण दिया जा सकेगा।

५. सन् १९०४ से १९१२ तक की प्रगति का दिग्दर्शन—प्रान्तीय सरकारो ने रजिस्ट्रारो के पथ-प्रदर्शन में सहकारिता की नई योजनाओ को क्रियात्मक रूप देने में विलकुल देर नही की। प्रत्येक राज्य में नये सिद्धान्तो ने जड पकड ली तथा आन्दोलन ने अद्भुत प्रगति की, जैसा कि हमें नीचे दी हुई तालिका से ज्ञात होगा।

वर्ष	समितियो की सख्या	प्राथमिक समितियो के सदस्यो की सख्या	चालू पूंजी रु०
१९०६-७	८४३	९०,८४४	२३,७१,६८३ रु०
१९०७-८	१,३५७	१४९,१६०	४४,१४,०८६ ,,
१९०८-९	१,९६३	१८०,३३८	८२,३२,२२५ ,,
१९०९-१०	३,४२८	२२४,३९७	१,२४,६८,३१२ ,,
१९१०-११	५,३२१	३०५,०५८	२,०३,०५,८०० ,,
१९११-१२	८,१७७	४०३,३१८	३,३५,७४,१६२ ,,

आन्दोलन को समारम्भकर्ताओ (प्रोमोटर्स) की आशा से कही अधिक सफलता मिली—कम-से-कम नई खोली जाने वाली समितियो की सख्या के वारे में तो यह वात विलकुल सच है। विशेषकर दो दिशाओ में १९०४ के अधिनियम में परिवर्तन की आवश्यकता प्रतीत हुई। इस अधिनियम के अन्तर्गत स्थापित की गई समितियों ने वितरण और उधार से इतर उद्देश्यो वाली सहकारी समितियो के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया था, जिनके लिए तव तक कोई वैधानिक सुरक्षा नही दी गई थी। उसी समय पूंजी के निर्वाध सम्भरण और निरीक्षण की सुचारुतर प्रणाली की जरूरत के कारण विभिन्न केन्द्रीय अधिकरण वने, जिन्हे वाद में चलकर सघो तथा केन्द्रीय वैंको के नाम से अभिहित किया गया, जिनका काम प्राथमिक सहकारी उधार-समितियो को

१ सन् १९०४ के कानून से सलग्न सर डेन्जिल इवटसन द्वारा व्याख्यात्मक लेख देखिए।

धन देना तथा उन पर नियन्त्रण रखना था। सन् १९०४ के अधिनियम में इनकी भी स्वीकृति नही थी।[1] इसके अतिरिक्त इन प्राथमिक समितियो का ग्रामीण और शहरी समितियो में विभाजन अवैज्ञानिक और असुविधाजनक था। अन्त में असीमित उत्तर-दायित्व वाली ग्रामीण समितियो में लाभ बाँटने की मनाही एक कठिनाई का कारण थी, विशेषतया मद्रास और पजाब आदि प्रान्तो में जहाँ हिस्से की पूँजी बहुत महत्त्व-पूर्ण हो गई थी। सम्पूर्ण स्थिति की परीक्षा के उपरान्त भारत सरकार ने सन् १९०४ के अधिनियम की इन कमियो को दूर करने के लिए एकदम नया विधान बनाने का निश्चय किया।

६. सहकारी समिति अधिनियम, १९१२—सन् १९१२ के अधिनियम ने सहकारिता के उधार से इतर रूपो—क्रय, विक्रय, उत्पादन, बीमा तथा गृह-निर्माण आदि—को स्वीकृति प्रदान की। इस अधिनियम ने प्राथमिक सहकारी समितियो से भिन्न तीन प्रकार की केन्द्रीय समितियो को भी स्वीकृति प्रदान की (१) पारस्परिक नियन्त्रण और लेखा-परीक्षण के लिए प्राथमिक समितियो के सघ। (२) केन्द्रीय बैंक, जिनकी सदस्यता अशत. व्यक्तियो और अशत समितियो से निर्मित होगी। (३) प्रान्तीय बैंक—जिनके सदस्य व्यक्ति होगे।

सम्बद्ध राज्यीय सरकारो के साधारण अथवा विशेष आदेशानुसार बर्मा, पजाब, मद्रास आदि राज्यो में हिस्से की पूँजी के महत्त्व के कारण, हिस्सो पर लाभाश घोषित करने की आज्ञा दी गई। सारी समितियो को स्पष्ट आदेश दिया गया कि वे अपने लाभ का चतुर्थांश सुरक्षित कोष में जमा करने के बाद शेष लाभ का कुछ भाग जो लाभ के १०% से अधिक न हो, शिक्षा अथवा दान सम्बन्धी कार्यो के लिए रख लें। नये अधिनियम द्वारा ग्रामीण और शहरी समितियो के विभेद को सीमित और असीमित दायित्व वाली समितियो का रूप देकर अधिक वैज्ञानिक आधार दे दिया गया। इस अधिनियम के अनुसार उन समितियो का दायित्व सीमित रहेगा, जिनकी सदस्य रजि-स्टर्ड समितियाँ है और वे समितियाँ असीमित दायित्व वाली होगी जिनका उद्देश्य केवल अपने सदस्यो के लिए उधार की व्यवस्था करना है और जिनके अधिकाश सदस्य कृपक हैं। अन्य दशाओ मे उनका रूप ऐच्छिक होगा।

७. १९१२ के अधिनियम के बाद आन्दोलन की प्रगति—इस नये अधिनियम का तात्कालिक प्रभाव यह हुआ कि सहकारी आन्दोलन को नई गति और प्रेरणा मिली। नीचे दिये गए विवरण से स्पष्ट है कि समितियो और उनके सदस्यो की सख्या तथा चालू पूँजी की मात्रा बराबर बढती गई। सन् १९१४-१८ के प्रथम विश्व-युद्ध के बाद आर्थिक सकट या मन्दी आने तक आन्दोलन का विस्तार तेजी से हुआ। इसके बाद समितियो की कठिनाइयो के कारण विभिन्न राज्यो द्वारा अपनाई गई दृढ़ीकरण तथा शुद्धीकरण की नीति ने विकास की प्रगति को शिथिल कर दिया।[2]

१. देखिए, मेक्लेगन कमेटी रिपोर्ट, पैरा ५।

२. रिव्यू ऑफ द कोआपरेटिव मूवमेंट इन इण्डिया (१९३९-४०) पृ० ४, रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया द्वारा प्रकाशित।

	समितियो की सख्या (हज़ारो में)	सदस्यो की सख्या (लाखो में)	चालू पूँजी (करोड रुपयो में)
५ वर्ष का औसत १९१०-११ से १९१४-१५ तक	१२	५ ५	५ ४८ ६
५ वर्ष का औसत १९१५-१६ से १९१९-२० तक	२८	११ ३	१५ १८
५ वर्ष का औसत १९२०-२१ से १९२४-२५ तक	५८	२१ ५	३६ ३६
५ वर्ष का औसत १९२५-२६ से १९२९-३० तक	९४	३६ ९	७४ ८९
५ वर्ष का औसत १९३०-३१ से १९३४-३५ तक	१,०६	४३ २	९४ ६१
१९३७-३८	१,११	४८ ५	१०३ ०२
१९३८-३९	१,२२	५३ ७	१०६ ५६
१९३९-४०	१,३७	६० ८	१०७ १०

आन्दोलन की प्रगति विभिन्न राज्यो में असमान है और उनकी पहुँच जन-सख्या के एक छोटे हिस्से तक ही हुई है। सहकारिता की प्रगति रैयतवारी प्रान्तो में बडी तेजी से हुई, क्योकि इन प्रान्तो में किसान को अपनी जमीन को रहन रखने का अधिकार था और इस प्रकार वह ठोस जमानत दे सकता था। जमीदारी-प्रथा वाले प्रान्तो में वह केवल निजी जमानत ही दे सकता था।

उत्पन्न की हुई वस्तुओ के विक्रय, पशु-बीमा, दूध-सम्भरण, सूत, सिल्क और खाद का क्रय तथा खेती के औजारो और सामान्य आवश्यक वस्तुओ का फुटकर विक्रय करने वाली नये प्रकार की अनेक सहकारी समितियाँ खोली गई। उनमे से अनेक तेजी से उन्नति की ओर दिखाई पडने लगी। केन्द्रीय समितियो की सख्या भी बडी तेजी से वढने लगी और प्रकट रूप से आन्दोलन में जनता का विश्वास तेजी से दृढ होता जा रहा था। सन् १९१४ में भारत सरकार ने पूरी स्थिति पर पुन विचार किया और अनुभव द्वारा प्राप्त किये हुए व्यावहारिक ज्ञान का सामान्यत समावेश करते हुए एक व्यापक प्रस्ताव जारी किया। आन्दोलन में लगाई हुई पूँजी दिन-प्रतिदिन बढ़ रही थी, प्राथमिक सहकारी समितियों से ऊपर के स्तर पर आर्थिक प्रबन्ध जटिल हो रहा था तथा निरीक्षण एव लेखा-परीक्षण सम्बन्धी नियमो का स्पष्टीकरण भी आवश्यक हो रहा था। अत आन्दोलन को और आगे वढाने के लिए उसके पोषण और प्रोत्साहन का उत्तरदायित्व स्वीकार करने से पूर्व सरकार यह निश्चय कर लेना चाहती थी कि आन्दोलन एक सुदृढ आर्थिक आधार पर वढ रहा है।[1] इन परिस्थितियो में प्रश्न के इस पहलू की जाँच करने और रिपोर्ट देने के लिए सन् १९१४ में मेक्लेगन समिति

१ देखिए, मेक्लेगन कमिटी रिपोर्ट, पैरा ६।

की नियुक्ति हुई। सन् १९१५ में इस समिति की महत्त्वपूर्ण रिपोर्ट छप जाने के वाद आन्दोलन ने प्रगति के तीसरे अवस्थान में प्रवेश किया। प्रथम और द्वितीय अवस्थानों का द्योतन कमश: १९०४ और १९११ के अधिनियम करते है जिसमें भावी उन्नति के लिए व्यापक रचनात्मक प्रस्ताव दिये गए। आन्दोलन को गैर-सरकारी सहयोग भी काफी मात्रा में मिला तथा ग्रामीण उधार के अतिरिक्त अन्य दिशाओ में भी उसने पर्याप्त उन्नति की। १९१९ के सुधार अधिनियम (रिफार्म्स एक्ट, १९१९) के अन्तर्गत सहकारिता राज्यीय विषय वन गया और उसका दायित्व मन्त्रिमण्डल के किसी सदस्य को दे दिया गया। इसे आन्दोलन के विकास का चौथा अवस्थान कहा जा सकता है। सुधार अधिनियम के अनन्तर प्रारम्भ में बहुत से राज्यो ने अपनी स्थानीय आवश्यकताओ के अनुकूल सहकारी आन्दोलन को आगे वढाया। वम्वई ने १९२५ में एक अलग सहकारी-समिति-अधिनियम वनाकर अन्य प्रान्तो का पथ-प्रदर्शन किया। यद्यपि वम्वई अधिनियम मुख्यत १९१२ के अधिनियम के स्वरूप पर ही आधारित था, परन्तु नीचे लिखी वातो में वह सन् १९१२ के अधिनियम से आगे वढा हुआ है।

(१) उद्देश्य, अर्थ तथा कार्य-प्रणालियो के अनुसार विभिन्न समितियो का स्पष्ट वर्गीकरण। (२) समिति के ऋण से किसी सदस्य द्वारा उगाई गई फसलो पर समिति को प्रथम अधिकार देना। (३) रद्द की हुई समितियो के अपाकरण की कार्यविधि में सुधार। (४) विवाचको (पचो) के निर्णय द्वारा तुरन्त ही वसूलयावी करने के अधिकारो का विस्तार। (५) निर्दिष्ट अपराधो के लिए सजा की व्यवस्था।[1] वम्वई द्वारा प्रदर्शित मार्ग का अनुसरण अन्य प्रान्तो, जैसे मद्रास (१९३२), विहार और उडीसा (१९३५), कुर्ग (१९३७) और वगाल (१९४१) ने भी किया। जिन प्रान्तो ने नया अधिनियम नही वनाया—उदाहरणार्थ उत्तरप्रदेश—वहाँ सन् १९१२ का अधिनियम ही सशोधित रूप में लागू है।

यद्यपि सन् १९२१ से भारतवर्ष में समितियो की सख्या में काफी वृद्धि हुई, परन्तु वाद में—विशेपकर चौथी दशाब्दी के सहकारी आर्थिक सकट के पश्चात्, समितियो के तेजी से विस्तार के वजाय तत्कालीन समितियो की स्थिति सुधारने तथा उनके पुनर्निर्माण और पुन सगठन की दिशा में अधिक प्रयत्न किये गए। सहकारिता के हाल के इतिहास को, रिजर्व वैक में कृषि-उधार विभाग की स्थापना, (आगे सेक्शन २२ देखिए) अनेक प्रान्तो के ग्राम-सुधार आन्दोलन और सन् १९३७ में भारत के ८ राज्यो में काग्रेस मन्त्रिमण्डलो के वनने आदि महत्त्वपूर्ण घटनाओ ने प्रभावित किया है।

८. सन् १९३९-४५ के विश्वयुद्ध के समय सहकारिता आन्दोलन—सन् १९३९ के विश्वयुद्ध के प्रारम्भ मे सहकारिता आन्दोलन एक नये सन्तुलन और प्रगति के नये आधार की खोज मे प्रयत्नशील था। निश्चित समय पर न चुकाये हुए ऋणो के अपाकरण की तथा सहकारी आन्दोलन को सशक्त वनाने की प्रारम्भिक आशाएँ पूरी नही हो सकी, जिसका कारण चीजो के भावो, विशेप रूप से कृषि-उत्पाद के भावो, की अनिश्चित गति थी। युद्ध ने ऐसे सूत्रो का मिलना भी दुष्कर वना दिया जहाँ से

[1] देखिए, डी० जी० खाण्डेकर, द वॉम्वे कोआपरेटिव सोसाइटीज एक्ट, १९२५, पृ० ३।

हर समय सस्ते ब्याज पर दीर्घकालिक ऋण मिल सके। इसके अतिरिक्त युद्ध के प्रारम्भ में सम्मिलित पूँजी वाले बैंको के साथ ही सहकारी बैंको को जमा पूँजी लौटाने की कठिनाई का सामना करना पडा। मई-जून सन् १९४० मे उन्हे पुन इस कठिनाई का अनुभव हुआ। शीघ्र ही लोगो में फिर विश्वास की भावना आ गई। युद्ध के अन्य उल्लेखनीय प्रभाव ये थे कि कुछ प्रान्तो में मुनाफाखोरी से बचने के लिए उपभोक्ता-भण्डारो की स्थापना को प्रोत्साहन मिला तथा उत्पादको को ऊँचे मूल्यो का लाभ देने के लिए सहकारी विक्रय को प्रेरणा मिली। इसके अतिरिक्त युद्ध ने अनेक छोटे-छोटे उद्योगो, जैसे हाथ के करघे पर ऊनी और सूती कपडे की बुनाई,[1] को प्रोत्साहित किया। यह स्वाभाविक ही था कि सहकारी विभागो ने सरकार से प्राप्त अनुदानो की सहायता से छोटे उद्योगो की उन्नति मे खूब दिलचस्पी ली तथा उन्हे परामर्श और पथ-प्रदर्शन द्वारा उत्साहित किया।[2]

१२ सितम्बर, सन् १९४४ को भारत सरकार ने प्रो० डी० आर० गाडगिल की[3] अध्यक्षता में कृषि-वित्त उप-समिति की नियुक्ति की। इसका कार्य ऋण कम करने के उपायो तथा अल्पकालीन और दीर्घकालीन ऋण पर उचित नियन्त्रण के तरीको पर रिपोर्ट प्रस्तुत करना था। १८ जनवरी, सन् १९४५ को रजिस्ट्रारो के चौदहवें सम्मेलन की सिफारिशो के अनुसार भारत सरकार ने श्री आ० जी० सरैया की अध्यक्षता में सहकारी आयोजन समिति की नियुक्ति की। इसका कार्य सहकारी आन्दोलन के विकास के लिए एक योजना तैयार करना था। इस समिति ने व्यापक सिफारिशें पेश की। उनके अनुसार प्राथमिक ऋण-समितियो के बजाय बहुध्येयी समितियो का सगठन अधिक वाञ्छनीय और आवश्यक था। पुन प्राप्त भूमि भूमिहीन मजदूरो तथा पूर्व-सैनिको के लिए सुरक्षित रखी जाय और उन्हे सहकारी कृषि-समिति में सगठित किया जाय। प्रत्येक जिले में कम-से-कम दो सहकारी-कृषि-समितियो की स्थापना की सिफारिश की गई। इनके अतिरिक्त अन्य अनेक विषयो पर, उदाहरणार्थ कृषि-उत्पत्ति की सहकारी बिक्री, दूध के सम्भरण, शहरी साख आदि पर भी विस्तृत सुझाव दिये गए।

मई सन् १९४७ में गाडगिल कमेटी (कृषि-वित्त-उपसमिति) तथा सरैया-कमेटी (सहकारी आयोजन समिति) की सिफारिशो पर रजिस्ट्रारो के पन्द्रहवें सम्मेलन में विचार किया गया। इस सम्मेलन में रजिस्ट्रारो के सम्मेलन और अखिल भारतीय सहकारी सस्था द्वारा आयोजित सम्मेलन—दोनो सम्मेलनो को एक कर देने के विषय पर भी विचार किया। सन् १९४९ में दोनो सम्मेलन एक कर दिये गए। इससे आन्दोलन में सरकारी तथा गैर-सरकारी सहयोगियो के मध्य सम्पर्क और सहयोग की वृद्धि हुई। रजिस्ट्रारो के इस पन्द्रहवें सम्मेलन के कुछ दिन बाद ही देश स्वतन्त्र हुआ और

१ देखिए, अध्याय १३, तथा खण्ड २, अध्याय २।

२ रिव्यू ऑफ द को-आपरेटिव मूवमेंट इन इण्डिया (१९३९-४०), पृ० २-३, सिक्स्थ रिपोर्ट ऑफ द बाम्बे प्रॉविन्शल को-आपरेटिव लैण्ड मॉर्गेज बैंक (१९४१) तथा द इण्डियन को-आपरेटिव रिव्यू, जनवरी-मार्च १९४० में वी० एल० मेहता का लेख।

३ इस पैरे से लेकर पृष्ठ ३३५ सेक्शन ९ के ऊपर तक का अश अनुवादक द्वारा जोड़ा गया है।

विभाजित भी। इस घटना ने आन्दोलन के समक्ष अनेक नई समस्याएँ उत्पन्न कर दीं और कुछ समय के लिए उसकी गति अवरुद्ध हो गई, परन्तु शीघ्र ही आन्दोलन नवीन समस्याओ के हल में व्यस्त हो गया और सामान्य प्रगति फिर से होने लगी।

विभाजन के बाद सहकारिता आन्दोलन—विभाजन के पश्चात् सहकारिता-आन्दोलन को अनेक महत्त्वपूर्ण घटनाओ ने प्रभावित किया। लाखों व्यक्तियो की पुनर्वास की समस्या के निदान का भार सहकारिता आन्दोलन पर भी पडा। भारत सरकार के पुनर्वास मन्त्रिमण्डल ने विस्थापित व्यक्तियो की सहकारी समितियो द्वारा पुनर्स्थापना की सम्भावनाओ की जाँच करने के लिए एक समिति (कमेटी) नियुक्ति की जिसने समितियो के प्रकार तथा उन्हे दी जाने वाली आर्थिक सहायता के सम्वन्ध में सितम्वर सन् १९४८ में अपनी रिपोर्ट दी। जिन राज्यो के सामने यह समस्या थी, उन्होने इस उद्देश्य से विभिन्न प्रकार की समितियो का सगठन किया। पजाव राज्य में जहाँ यह समस्या अधिक विषम थी, सहकारिता का प्रयोग लगभग नही के वरावर किया गया। सम्भवतया इसे सहकारिता की सामर्थ्य से परे समझकर ही यह काम एक अलग विभाग को सौंप दिया गया। कुछ अन्य राज्यो में जैसे वम्वई, मध्यप्रदेश, दिल्ली आदि में इस दिशा में ठोस कदम उठाये गए। सन् १९४९-५० के अन्त में वम्वई राज्य में विभिन्न प्रकार की १२४ सहकारी समितियाँ विस्थापित व्यक्तियो की सहायता के लिए काम कर रही थी। उनकी सदस्य-सख्या तथा चालू पूँजी क्रमश २४९६ तथा ३ २६ लाख रुपये थी। वहाँ की राज्यीय सरकार का आदेश है कि सरकार की ओर से विस्थापित व्यक्तियो के कैम्पो में किया जाने वाला कार्य सहकारी समितियो को सौप दिया जाय। मध्यप्रदेश में १९४९-५० में तीन सहकारी कृषि-समितियाँ, ४ गृह-निर्माण समितियाँ, ३ उद्योग समितियाँ तथा दो सहकारी भण्डार विस्थापित व्यक्तियो के लिए काम कर रहे थे। दिल्ली प्रान्त की सरकार ने विस्थापित व्यक्तियो के मध्य सहकारी-समितियो के सगठन के लिए सन् १९४८-४९ में विशेष कर्मचारियो की नियुक्ति की। उनका ध्येय ऐसी ५०० समितियो का सगठन था, परन्तु कुछ कठिनाइयो के कारण वे उसे पूरा नही कर सके। सन् १९४९-५० के अन्त में वहाँ इस प्रकार की ३४८ समितियाँ काम कर रही थी।

युद्ध के अनन्तर सभी देशो में, सेना से निकाले हुए व्यक्तियो की पुनर्स्थापना का प्रश्न समान रूप से उठा। इस कार्य के लिए भारत में युद्धोत्तर सैनिक-सेवा पुनर्निर्माण कोष[1] से आवश्यक धन प्राप्त हुआ। कुछ राज्यो ने इस समस्या को सुलझाने के लिए सहकारी समितियो का सगठन किया। इन समितियों ने साधारणतया सहकारी उद्योग-शालाओ (कारखानो) का रूप लिया। अन्य प्रकार की समितियो का भी सगठन हुआ है जिनमें उपनिवेशन समिनियाँ मुख्य है। मद्रास में ऐसे व्यक्तियो के लिए १० उपनिवेशन समितियाँ थी, जिन्होने ५, ३०० एकड भूमि को सन् १९४९-५० के अन्त तक कृषि योग्य वना लिया था।

खाद्य-उत्पत्ति वढाने में भी सहकारिता ने काफी हाथ वटाया। खाद्य और कृषि-

१. पोस्ट वार सर्विसिज रिकन्स्ट्रक्शन फ़ण्ड।

उत्पादन और विक्रय, (५) बीमा तथा (६) अन्य ।

नीचे दिये हुए आँकडे विभिन्न प्रकार की (१) कृषि तथा (२) गैर-कृषि समितियो की सन् १६५२ तक की प्रगति का कुछ आभास कराते हैं ।[1]

उधार	क्रय तथा क्रय-विक्रय	उत्पादन	उत्पादन और विक्रय	अन्य	कुल योग	सदस्यो की सख्या (हजारो में)
		कृषि समितियाँ				
१,१५,४६२	१०,४८२	११,६६१	५,६२६	५,२०३	१,४६,०३७	८,५०७
		गैर-कृषि समितियाँ				
७,८०७	८,३४५	८३६	६,४१५	४,८३७	२८,२४०	४,६७७

इस तालिका से स्पष्ट है कि उधार-समितियो का, विशेषत कृषि-उधार समितियो का, प्राधान्य है और उनके मुकाबले में दूसरे प्रकार की समितियो का विकास बहुत ही नगण्य है, हालाकि इस दिशा में स्थिति धीरे-धीरे सुधरती जा रही है । यह वर्गीकरण कुछ दोषपूर्ण है, क्योकि इस पर आधारित विवरण कुछ महत्त्वपूर्ण दिशाओ में भारतीय सहकारिता के सच्चे विकास का सही अनुमान नही देता । उदाहरणार्थ भारत में बहुत सी उधार समितियो ने उधार देने के अपने मुख्य कार्य के अलावा क्रय, विक्रय, उत्पादन अथवा इनमें से दो या तीन कार्यो को एक साथ करने का प्रयत्न भी किया है ।

१० प्राथमिक कृषि-उधार समितियाँ—अब हम कुल समितियो के अधिकाश भाग का प्रतिनिधित्व करने वाली ग्रामीण उधार-समितियो पर विशेष जोर देते हुए सहकारी समितियो के विभिन्न प्रकारो के विवेचन करेंगे । एक ठेठ प्राथमिक कृषि-उधार समिति से आरम्भ करके हम यह अध्ययन निम्न शीर्षको के अन्तर्गत कर सकते हैं

(१) आकार—प्रस्तावित ग्रामीण उधार समिति की रजिस्ट्री के लिए कोई भी दस व्यक्ति प्रार्थना-पत्र दे सकते हैं। अच्छा तो यह होगा कि समिति के सदस्यो की सख्या सौ से अधिक किसी हालत में न हो, क्योंकि सदस्यो की सख्या बढने के साथ प्रबन्ध और निरीक्षण की क्षमता घट जाती है और सदस्यो को प्रशिक्षण भी उतने अच्छे ढग से नही मिल पाता ।

(२) कार्य-क्षेत्र—रेफेज़न का नियम यह है कि जहाँ तक सम्भव हो एक गाँव के लिए एक ही समिति होनी चाहिए । साधारणतया ऐसा होता भी है । यह सदस्यो में पारस्परिक ज्ञान तथा नियन्त्रण बनाए रखने के लिए आवश्यक है। विचारणीय बात यह है कि मद्रास की सहकारिता समिति (मद्रास कमेटी आन को-आपरेशन) ने छोटी-छोटी समितियो के समेकन और उनके पुनर्संगठन का समर्थन किया है ताकि उनका कार्य-क्षेत्र बढाया जा सके । उदाहरण के लिए ३ से ५ मील तक के घेरे में आने वाले क्षेत्र उसकी

[1] वही ।

हद में आ जायें। यह योजना समितियो को आर्थिक इकाइयो में परिणत क
सहकारी आन्दोलन को उचित समय में विशाल ग्रामीण क्षेत्रो में फैलने यो
एगी।[1] बम्बई में बहुध्येयी समितियाँ गाँवो के एक समूह के लिए सगठित की
हैं (देखिए, आगे सेक्शन १३)। कार्य-क्षेत्र के विस्तार का सीमित दायित्व के पक्ष
गए सुझाव से बडा घनिष्ठ सम्बन्ध है जिसका विवेचन नीचे (३) में किया गया है।

(३) दायित्व—जब तक सरकार द्वारा छूट न मिल जाय, तब तक दायित्व असीमित होता है। जैसा कि मैक्लेगन कमेटी ने कहा है, असीमित दायित्व का अर्थ अशदायी असीमित दायित्व है, अर्थात् दोषी होने पर, जब समिति ऋणदाताओ के प्रति अपना वादा पूरा नही कर पाती है तो हिस्सो की पूर्ण अदायगी के बाद प्रत्येक सदस्य से व्यक्तिश देय-अश निश्चित कर उसे वसूल किया जाता है। ऋणदाता किसी एक सदस्य पर अलग से प्रत्यक्ष कार्यवाही नही कर सकता।[2] इसके समर्थको का कथन है कि असीमित दायित्व से दो लाभ हैं असीमित दायित्व पारस्परिक नियन्त्रण और निरीक्षण को प्रोत्साहन देकर सदस्यो के ऊपर शिक्षणात्मक प्रभाव डालता है तथा बाहर के ऋणदाताओ में विश्वास उत्पन्न कर समिति की साख बढाता है। आधुनिक मत सीमित दायित्व के पक्ष में बदल रहा है। उदाहरणार्थ सन् १६३६-४० में मद्रास की सहकारिता-समिति ने यह विचार प्रकट किया कि असीमित दायित्व की उपयोगिता समाप्त हो गई है और उन्होने बहुमत से पुनर्संगठित समितियो के लिए सीमित दायित्व की सिफारिश की। समिति ने कहा है कि हाल के अपाकरण (liquidations) में असीमित दायित्व उन सदस्यो के लिए कठोर सिद्ध हुआ है जिन्होने न तो कोई ऋण लिया था और न जिनकी कोई और देनदारी थी। उसने आन्दोलन को बदनाम किया है एव ऋण चुकाने योग्य उच्चवर्ग के किसानो को दूर रखा है तथा इसके विषय में पारस्परिक चौकसी और नियन्त्रण की आधारभूत धारणा आधुनिक ग्राम्य जीवन के बारे में सत्य नही।[3] फिर भी इस समय अधिकाश विचारक असीमित दायित्व का ही पक्ष लेते हैं। उनका कहना है कि वह सहकारिता का अति आवश्यक और मूल-वर्ती सिद्धान्त है। उसका आकस्मिक परिवर्तन ऋणदाताओ के विश्वास को हिला देगा और आन्दोलन में पूँजी के निवेश पर असर डालेगा। इसके विपरीत, जैसा कि डॉ० वी० वी० एन० नायडू का कथन है, सीमित दायित्व के आधार पर काम करने वाली शहरी सहकारी समितियाँ भी सहकारी ही हैं तब क्यो न इस नियम को उन बृहत्तर (बहुध्येयी) ग्रामीण समितियो के लिए भी अपनाया जाय जिनका सगठन प्रस्तावित है।[4]

(४) प्रबन्ध—प्रबन्ध अवैतनिक और जनतन्त्रीय होता है। यह काम दो मण्डलो को सौंपा जाता है. (१) सारे सदस्यो की एक साधारण सभा और (२) साधारण सभा

१ रिपोर्ट आफ द कमेटी आन कोआपरेशन इन मद्रास, पृष्ठ १५४।
२ मैक्लेगन कमेटी रिपोर्ट, पैरा ४७।
३ रिपोर्ट ऑफ द कमेटी ऑन को-आपरेशन इन मद्रास, पैरा १६५।
४ १६४१ के २४वें राज्यीय सहकारी कान्फ्रेन्स, मद्रास, के सभापति पद से डॉ० वी० वी० एन० नायडू का भाषण देखिए; आगे सेक्शन १३ भी देखिए।

की वार्षिक बैठक में उसके सदस्यो में से ही चुने हुए ५ से ६ व्यक्तियो तक की एक प्रबन्ध-समिति। साधारण सभा प्रबन्ध समिति के सदस्यो का चुनाव, वैतनिक मन्त्री की नियुक्ति (जो सदस्य नही होगा), प्रबन्ध-समिति द्वारा प्रस्तुत वार्षिक चिट्ठे की स्वीकृति, रजिस्ट्रार और लेखा-परीक्षणो के आदेशो और रिपोर्टों पर विचार, आवश्यकता पडने पर सदस्यो का बहिष्कार, समिति तथा व्यक्तिगत सदस्यो के उधार की सीमा का निर्धारण और समितियो के उपनियमो का सुधार करती है। प्रबन्ध समिति सहकारी समिति की दैनिक कार्यवाही और शासन-कार्य के लिए उत्तरदायी है। यह नये सदस्यो को भरती करने के साथ सदस्यो द्वारा दिये गए ऋण के प्रार्थना-पत्रो पर कार्यवाही करती है; सदस्यो से शेष ऋणो को वसूल करने के साथ उन पर निरीक्षण करती है। यह समिति के लिए पूंजी एकत्र करती और मन्त्री के हिसाब-किताब की जाँच भी करती है।

(५) चालू पूंजी—इसके साधन दो हो सकते हैं आन्तरिक और बाह्य। आन्तरिक साधन का निर्माण, सदस्यो के प्रवेश शुल्क, निक्षेप, हिस्सा पूंजी तथा समिति के सुरक्षित कोष की अतिरिक्त सम्पत्ति से होता है। प्रवेश शुल्क प्रारम्भिक खर्चे को पूरा करने के लिए आवश्यक है। सदस्यता के विशेषाधिकार त्याग से ही मिलते है, यह भली प्रकार समझाने का कार्य भी इससे पूरा होता है। पजाब मद्रास और उत्तरप्रदेश के सिवाय अन्य स्थानो में हिस्सा पूंजी का कोई महत्त्व नही है। हाल ही में, बम्बई राज्य में (विशेषकर नहर वाले क्षेत्रो में) किश्तो द्वारा हिस्सा लेने की प्रणाली का प्रारम्भ किया गया है। यह स्तुत्य है, क्योकि इससे एक तो दूसरी 'रक्षा-पक्ति' तैयार होती है और साथ ही 'सदस्यो के असीमित दायित्व का कुछ आधार मिल जाता है।' साधारणतया इसका समर्थन इस आधार पर होता है कि यह यथेष्ठ और स्थायी पूंजी की शीघ्र प्राप्ति के लिए सहकारी सस्थाओ की सहायता करता है। इस उद्देश्य की पूर्ति सबसे अच्छी तरह ऋण लेने और देने की दरो के यथासम्भव विस्तृत अन्तर से निर्मित सुरक्षित कोष से होती है, परन्तु यह अन्तर वित्तीय आत्म-निर्भरता प्राप्त करने और उधार देने की सस्ती व्यवस्था के अनुरूप होना चाहिए। साधारणतया भारत मे ब्याज की दर बहुत ऊँची है, इसलिए उधार लेने और देने पर ब्याज की दरो में ऐसा अन्तर सम्भव है। ब्याज की बहुत नीची दर को भी निरुत्साहित करना चाहिए, क्योकि यह ऋण लेने वालो को पुन उधार लेने का प्रलोभन दे सकती है। उपर्युक्त प्रान्तो में ग्रामीण उधार-समितियो के सदस्यो ने हिस्सा पूंजी के लिए अपनी अधिमान्यता (Preference) प्रकट की है, ताकि उनकी अपनी पूंजी हो सके। यदि हिस्सों (शेअर्स) का नतीजा निर्धनो को सदस्य होने से रोकना तथा साधारण सम्मिलित पूंजी वाली कम्पनियो की तरह लाभाशबाजी को जन्म देना नही तो इसके विरोध की कोई आवश्यकता नही है। सच तो यह है कि पूंजी के लिए बाहरी एजेन्सियो पर निर्भरता कम करने के लिए हिस्सो का होना आवश्यक है। ग्रामीण उधार समिति की आवश्यक पूंजी एकत्रित करने का सबसे अच्छा साधन स्थानीय निक्षेप (जमा) है, क्योकि इससे ग्रामीणो में किफायतसारी की आदत पैदा होती है तथा सुरक्षित द्रव्य बढता रहता है और समिति के प्रवन्ध में अपने निक्षेपो पर स्वय चौकसी करने वाले

उपयोगी व्यक्तियो की दिलचस्पी बढती है।[1] जर्मनी की रेफेज़न समितियो की तुलना में जो अपनी आवश्यक पूँजी मुख्यतया स्थानीय निक्षेपो से प्राप्त करती है, भारत की ग्रामीण उधार समितियो द्वारा एकत्रित निक्षेप उनकी कुल चालू पूँजी का एक छोटा-सा अश है। इस प्रकार के निक्षेपो को बढाने के लिए चारो और प्रयत्न किये जा रहे है। बम्बई राज्य के अतिरिक्त, जहाँ पर सदस्यो का निक्षेप चालू पूँजी का $\frac{1}{6}$ भाग है, अन्य स्थानो में बहुत कम सफलता मिली है। बैंको में जमा करने की आदत की प्रधानतया ग्रामीण क्षेत्रो में अभी शुरुआत ही हुई है। वाणिज्य और उधार दिये हुए रुपये पर निक्षेपो की तुलना में अधिक ब्याज मिलता है। देश के समुन्नत भागो में ज़मीन अथवा सोना-चाँदी खरीदने की प्रवृत्ति अब भी विद्यमान है। वर्तमान ग्रामीण उधार समितियो में हर वर्ग के लोग नही है, वे अधिकाशत निर्धनो से ही बनी हैं। धनी व्यक्ति इनसे दूर है और वे साहूकारो का काम करते है। जनता की औसत आय बहुत थोडी है, अत. बचत बिलकुल नही हो पाती है। जब तक कि निक्षेप में पर्याप्त वृद्धि नही होगी, सहकारिता अपने इस उद्देश्य में अवश्य ही असफल रहेगी। अनिवार्य निक्षेप की प्रणाली ठीक नही है। मितव्ययिता किश्तो में अदा किये जाने वाले हिस्सो को प्रारम्भ करने से अच्छी तरह प्रोत्साहित की जा सकती है।

अब हम पूँजी के बाह्य साधनो पर विचार करेंगे। यह (बाह्य) पूँजी अन्य समितियो, सरकार और मुख्यतया वित्तीय सस्थाओ, जैसे केन्द्रीय तथा राज्यीय सहकारी बैंको के, जो हर राज्य में बहुत ही आवश्यक हैं, निक्षेप और ऋण से प्राप्त होती है। सरकार ने दान की नीति का परित्याग कर बडी बुद्धिमानी की। साथ ही अपने द्वारा दिये जाने वाले ऋण की मात्रा बहुत थोडी कर दी है। जब हम सहकारी वित्त के प्रश्न का विवेचन करेंगे, तो केन्द्रीय वित्तीय समितियो के बारे में कुछ और कहेगे। यहाँ हम केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि आज ग्रामीण उधार-समितियाँ अधिकाशत बाह्य ऋणो, हिस्सो और निक्षेपो पर आधारित है, जो कुल चालू पूँजी का एक अश ही होते है।

निम्नलिखित आँकडे जून सन् १९५१ में भारत-सघ की समस्त सहकारी समितियो की चालू पूँजी की सघटना पर प्रकाश डालते है।[2]

पूँजी तथा संचय	**रुपया (हजारों में)**
हिस्सा पूँजी (परिदत्त)	४१,०२,९३
सुरक्षित तथा अन्य कोष	३२,००,६२
निम्नांकित से प्राप्त ऋण और निक्षेप	
व्यक्ति तथा अन्य	९७,०७,१९
समितियाँ	१६,९६,७३
केन्द्रीय तथा राज्य बैंक	४३,०२,५६
सरकार	८,३६,६४

१ मैक्लेगन कमेटी की रिपोर्ट, पैरा ४८।
२ बैंकिंग एण्ड मानीटरी स्टैटिस्टिक्स ऑफ इण्डिया, (१९५४), पृ० ३८४।

रिजर्व बैंक		३,१५,००
	कुल जोड	२५४,६५,६२

(६) ऋण का उद्देश्य—सदस्यो को ऋण केवल तीन ही उद्देश्यो से दिया जाता है। ये उद्देश्य हैं प्रतिफलात्मक कार्य, अप्रतिफलात्मक कार्य और पूर्व ऋण से मुक्ति। प्रतिफलात्मक ऋण तीन प्रकार का होता है (१) चालू कृषि-कार्यो के लिए, (२) सरकारी करो को चुकाने के लिए अल्पकालीन ऋण और (३) भूमि की स्थायी उन्नति लिए दीर्घकालीन ऋण। उत्सवो जैसे अप्रतिफलात्मक कार्यो के लिए ऋण देना सिद्धान्तत उचित नही है, परन्तु किसानो को महाजनो के पञ्जे से बचाने के लिए वे आवश्यक हो जाते हैं।[1] उत्सवादि के सम्बन्ध में मितव्ययिता सिखाने के लिए इन ऋणो को अत्यावश्यक कार्यो के लिए ही दिया जाना चाहिए और इनकी मात्रा भी सीमित कर देनी चाहिए। पूर्व ऋणो की मुक्ति के सम्बन्ध में आदर्श नीति यह होनी चाहिए कि सदस्य केवल समिति का ही देनदार रहे तथा इस प्रकार के अन्य सम्बन्धो से मुक्त हो जाय। ऋणो से एकदम पूर्ण मुक्ति अव्यावहारिक तथा अवाञ्छनीय है। यह अव्यावहारिक तो इसलिए है, क्योकि इसके लिए सदस्यो को ऋण देने के लिए आवश्यक धन के अतिरिक्त बहुत बडी मात्रा में धन एकत्रित करना होगा जो कि असम्भव है, अवाञ्छनीय इसलिए है कि हमें सदैव घोर ऋण में फँसे रहने वाले व्यक्ति की, जैसा कि भारत का एक सामान्य किसान होता है, मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति को भी ध्यान में रखना चाहिए। ऋण के भार से एक ही बार पूर्णतया मुक्ति जैसी आश्चर्यजनक करामात यदि सम्भव भी हो, यह किसानो को नैतिक पतन की ओर ले जायगी, जब तक कि फिजूल और अनाप-शनाप खर्चो को रोकने के लिए दृढ कदम न उठाये जायें। बैंको के दृष्टिकोण से दीर्घकालीन और अल्पकालीन ऋण का सयोग अवाञ्छनीय है। निपुण सहकारी विशेषज्ञो के अनुसार साधारण ग्रामीण उधार-समिति को दीर्घकालीन उधार नही देना चाहिए, क्योंकि ये भूमि-बन्धक बैंक के अन्तर्गत हैं (आगे सेक्शन २८ देखें)। सदस्यो के पुराने ऋण को समाप्त करने के लिए भूतकाल में ग्रामीण समितियो द्वारा किया गया प्रयास व्यर्थ सिद्ध हुआ है।

(७) ऋणो की अदायगी—ऋण चुकता करने के समय के सम्बन्ध मे साधारण नियम यह है कि कृषि-वित्त को, खेती के फसल-चक्र का अनुसरण करना चाहिए, जो अच्छे, बुरे एव सामान्य फसलो की औसत हो। दूसरे शब्दो में, ऋण की अदायगी प्रतिफलात्मक कार्यो से प्राप्त धन द्वारा की जानी चाहिए जिनके लिए ऋण दिया गया था। अप्रतिफलात्मक कार्यो के ऋण को ऋणकर्ता की स्थिति के अनुसार

१ बम्बई और मद्रास में साधारण साख का ऐसा विवरण सोचा गया है जो किसानों के विवाह आदि, अनुत्पादक कार्यो सहित लगभग उनकी हर आवश्यकता को ध्यान में रखकर अग्रिम ऋतु से पहले ही सदस्यों की साख निर्धारित करता है तथा उचित समय पर उनके लिए रुपयों का प्रवन्ध करता है। इस प्रणाली का केन्द्रीय बैंकिंग जाच कमेटी ने समर्थन किया है (रिपोर्ट पैरा १७४)। अनुत्पादक उद्देश्यों के लिए ऋण लेने को हतोत्साहित किया जा रहा है और इसकी प्रवृत्ति कम होती जा रही है। बम्बई राज्य में सहकारी समितियों के कार्य की वार्षिक रिपोर्ट (१९३९-४०), पैरा १९।

व्यवस्थित करना चाहिए, ताकि वह मितव्ययिता के अभ्यास से ऋण को किश्तों द्वारा चुकाने के लिए अपनी आय से पर्याप्त धन बचा सके।' उचित समय में आसानी से मामूली किश्तो द्वारा चुकाई जा सकने वाली रकम से अधिक ऋण नही देना चाहिए। सामयिक अदायगी का अनवरत प्रयत्न ही आदर्श होना चाहिए और इस विषय में कोई ढील नही की जानी चाहिए। अत्यावश्यक तथा वास्तविक कठिनाई के समय में ही अदायगी को भविष्य के लिए स्थगित करना चाहिए। ऋण की अदायगी की मियाद बराबर बढाना और उसकी झूठी अदायगी को कोई प्रश्रय नही मिलना चाहिए, क्योकि इससे समिति की हित-हानि होती है। सदस्यो द्वारा ऋण की शीघ्र अदायगी सहकारी उधार-समितियो की सफलता की कसौटी ठीक ही मानी गई है। इस कसौटी के अनुसार हम कह सकते हैं कि भारत में साख-समितियो को कोई विशेष सफलता नही प्राप्त हुई है। प्रान्तीय बैंकिग जांच समितियाँ, रिजर्व बैंक की कृषि उधार-सम्बन्धी रिपोर्ट, १९४१ में रिजर्व बैंक द्वारा सहकारी आन्दोलन की समीक्षा आदि ने ठीक समय पर चुकता न किये हुए ऋण के स्वरूप और उसके बुरे प्रभावो पर विशेष बल दिया है। गत वर्षो में ठीक समय पर चुकता न किये हुए ऋणो में भयावह वृद्धि हुई है। कृषि-मूल्यो की भारी कमी तथा व्यापारिक मन्दी ने उधार लेने वाले कृषक की ऋण चुकाने की शक्ति को कम कर दिया और इससे स्थिति बहुत शोचनीय हो गई। ठीक समय पर अदा न किये हुए ऋणो का बहुत बडी मात्रा में सचयन तथा समितियो की सम्पत्ति-सम्बन्धी रुकावट ने, समितियो के व्यवसाय को बन्द-सा कर दिया तथा देश के अधिकाश भागो में आन्दोलन को शक्तिहीन कर दिया—विशेषकर बरार, बिहार, उडीसा और बगाल में, जहाँ पर सहकारी आन्दोलन नष्टप्राय ही हो गया। (देखिये सेक्शन २६)[1]। समयानुसार अदायगी को निश्चित करने में हर प्रकार की सावधानी बरतनी चाहिए। उदाहरणार्थ, प्रत्येक सदस्य के लिए सामान्य उधार निश्चित करना, प्रार्थियो में से ऋणकर्ताओ का सावधानी से चुनाव, सहकारी ऋण देते समय उसके उद्देश्य तथा ऋणकर्ताओ की अदायगी की सामर्थ्य की उचित जाँच,

१. बिना अदा किये हुए ऋण और उनके कुप्रभाव आज भी विद्यमान हैं। सन् १९४६-४८ और १९४८-५० के समीक्षण में रिजर्व बैंक ने इस चिन्तनीय स्थिति की ओर फिर से ध्यान आकर्षित किया है। यद्यपि ऋणों की वापसी की स्थिति सन्तोषजनक है, परन्तु न अदा किये हुए ऋणों की वृद्धि ने उसे भी दूषित कर दिया है। निम्न आंकडे वर्तमान स्थिति स्पष्ट करते हैं

वर्ष	अदा न किये हुए ऋण (रुपया लाखों में)
१९४६-४७	३७८·८३
१९४७-४८	३९३·२३
१९४८-४९	४५५·८०
१९४९-५०	५३५·७०

कुछ राज्यों में परिस्थिति बहुत ही गम्भीर है। उदाहरणार्थ, पश्चिमी बगाल में सन् १९४६-४७ में कुल ऋणों का ६४% बिना अदा किया हुआ था। (आंकड़े रिजर्व बैंक के १९४६-४८ और १९४८-५० के समीक्षण से लिये गए हैं।)

तथा अन्य सदस्यो द्वारा उधार लेने वाले सदस्यो के निरीक्षण को ले सकते है। यह आवश्यक नही है कि सारे सदस्यो के लिए ऋण की अदायगी का एक ही समय नियत किया जाय। प्रत्येक ऋणकर्ता की आवश्यकताओ के अनुसार अदायगी की अवधि निश्चित करनी चाहिए।[1]

(८) ज़मानत—ईमानदारी और चारित्र्य ही आदर्श सहकारी ज़मानत है। 'ईमानदारी को पूँजी स्वीकार किया जाना चाहिए।' व्यवहार में उधार लेने वाले सदस्यो से ऋण के साथ ही चल और अचल सम्पत्ति की ज़मानत लेकर—यद्यपि ऐसी ज़मानत सहकारिता के सिद्धान्तो के विरुद्ध है—तथा अन्य व्यक्तियो से इस सम्बन्ध में ज़मानत लेकर बुरे ऋणो को कम किया जा सकता है तथा समिति की साख बढाई जा सकती है। यदि ज़मानत के रूप में कोई मूर्तवस्तु न ली जाय तो ऋणकर्ताओ द्वारा महाजनो के यहाँ बन्धक रख दिये जाने का भय बना रहेगा। अत कुछ सीमा तक इसे रखना ही पड़ेगा। कानून के अन्तर्गत बन्धक की ज़मानत की इजाज़त है और किसी भी समिति अथवा समितिवर्ग के लिए, इसे आवश्यकतानुसार बदलने का अधिकार प्रान्तीय सरकारो को दिया गया है। प्रत्येक दशा में, व्यक्तिगत ज़मानत मुख्य होनी चाहिए, परन्तु मूर्तवस्तु आदि की ज़मानत के लिए भी ज़ोर देना चाहिए।

(९) लाभ का विवरण—यदि ग्रामीण उधार-समितियो में हिस्सा पूँजी नही है तो साधारण व्यापारिक अर्थ में वितरण के लिए कोई लाभ नही होता। सारे लाभ को सुरक्षित कोष में जमा किया जाता है। १९१२ के कानून में निर्धारित दो दशाओं में अपवाद सम्भव है, अर्थात् लाभ का कुछ भाग शिक्षा एव दान के लिए व्यय किया जा सकता है तथा जहाँ पर हिस्सा पूँजी है, वहाँ सीमित लाभाश का वितरण किया जा सकता है। इन व्ययो का विशेष लाभ आन्दोलन में दिलचस्पी पैदा करना है। एक सहकारी समिति को किसी भी दशा में लाभाश को ही साध्य बना लेने वाली सस्था नही बनने देना चाहिए।

(१०) विवाचन (Arbitration)—समितियो और उसके सदस्यो के झगडे को निपटाने, समय को बचाने, समिति के कोष और शक्ति को बचाने तथा समितियो को साधारण दीवानी कचहरी के विधानो से मुक्त करने और मुकदमेबाज़ी से बचाने के लिए विवाचन की व्यवस्था बहुत ही आवश्यक है। बम्बई तथा कुछ अन्य राज्यो में इस प्रकार की सुविधा है।

(११) तुरन्त फैसले के अधिकार—अवशेष ऋणो की पुनर्प्राप्ति के लिए समितियो को सहित (summary) अधिकार देना आपत्तिजनक है, क्योकि यह सहकारी सिद्धान्तो के घोर प्रतिकूल है। दीवानी अदालत द्वारा पुनर्प्राप्ति के साधारण उपायो के अतिरिक्त, नैतिक प्रभाव और सम्मिलित दायित्व ही ऋणो की पुनर्प्राप्ति के एकमात्र साधन होने चाहिएँ। उपर्युक्त अधिकारो की स्वीकृति पारस्परिक चौकसी और निरीक्षण की हानि कर शिथिलता को जन्म देती है।

---

१ देखिए मैक्लेगन कमेटी रिपोर्ट, पैरा ६३, वी० एल० मेहता, स्टडीज इन कोआपरेटिव फाइनेन्स, ऑफ द सेन्ट्रल बैंकिंग इन्क्वायरी कमेटी, पैरा १७०।

(१२) विघटन—समितियो के विघटन अधिकार को बहुत कम प्रयोग में लाना वाञ्छनीय है। समिति की लाभदायक कार्यनिधि की जीवन-आशा न होने पर तथा समूचे सहकारी आन्दोलन को कलकित करने पर समिति को समाप्त करने के लिए यह अधिकार आवश्यक है।[1] कानून ने समिति के मामलो में जाँच करने के बाद इस अधिकार को लागू करने के लिए रजिस्ट्रार को आदेश प्रदान किया है।

सहकारी समितियो के लाभ, उनकी सीमाएँ तथा दोष और उन्हे दूर करने के उपाय आदि का अध्ययन इस अध्याय में आगे होगा (सेक्शन २६-२७)

११. कृषीतर उधार-समितियाँ—कृषीतर उधार-समितियो के सम्वन्ध में मैक्लेगन कमेटी ने कहा था . "वढते हुए मूल्य, अपर्याप्त और गन्दी गृह-व्यवस्था, प्राय समयानुसार न दी हुई मजदूरी, शिक्षा के विस्तार के साथ रहन-सहन के उच्च स्तर की अभिलाषा के साथ-साथ औद्योगिक वाधाएँ अवश्य ही वढेंगी। हम लोगो का विचार है कि सहकारी समितियो की तरह की कोई भी सस्था या सगठन, जो इन वाधाओ को दूर कर सके, सहायता देने योग्य है।"[2] सहकारी समितियो द्वारा रुपये की विशेष समय पर अत्यधिक माँग केन्द्रीय वैको द्वारा पूँजी के लाभदायक प्रयोग में वाधक है। प्रारम्भ में ग्रामीण उधार-समितियो के सगठन पर ही अधिक ध्यान दिया गया था। फिर भी शुल्ज-डिलिट्स के प्रकार की कृषीतर उधार-समितियो ने भी सारे राज्यो में कुछ-न-कुछ प्रगति की है। यह वात मैक्लेगन कमेटी की इस सिफारिश के अनुरूप है कि कृषि उधार-समितियो को पहले जितना महत्त्व न दिया जाय। अव हम निम्नलिखित मुख्य गैर उधार समितियो का अध्ययन करेंगे।

(१) जन-वैक—मध्यम वर्ग को लाभ पहुँचाने वाले लुजैटी किस्म की शहरी उधार समितियाँ भारत में सम्मिलित पूँजी वाले वैको की कमी दूर करने और वैक-सम्वन्धी सिद्धान्त और व्यवहार के लिए शिक्षणात्मक क्षेत्र प्रदान करने का उपयोगी काम करती है, यद्यपि प्राय: वे सच्चे सहकारी सिद्धान्त के अनुकूल नही हैं। वम्वई और मद्रास में जहाँ कि लगभग हर मुख्य शहर को वैको की सेवा प्राप्त है, शहरी वैक प्रणाली भली प्रकार विकसित है। बम्वई में उनकी क्रियाओ का सयोजन सहकारी वैक सस्था (कोआपरेटिव वैक्स एसोसिएशन) करती है जिसने शहरी वैक प्रणाली के विकास में वहुमूल्य योग दिया है। यह सस्था संयुक्त पुनर्सगठन की रिपोर्ट (जाइन्ट रिआर्गनाइजेशन रिपोर्ट) के आधार पर १९३९-४० में केन्द्रीय और राज्यीय वैको द्वारा वनाई गई। वम्वई सहकारी समिति के रजिस्ट्रार ने शहरी उधार समितियो

१. समितियों की असफलता के अनेक कारण हैं और इनमें उचित निरीक्षण का अभाव, अन्धाधुन्ध ऋण, उधार लेने वालों की मनमानी, अदा करने में अनियमितता, उधार कुछेक व्यक्तियों तक ही सीमित रहना, समिति के सदस्यों की अयोग्यता और वेईमानी, सदस्यों का दोषपूर्ण चुनाव, समिति के कार्य-क्षेत्र का फैलाव, पुराने ऋणों का छिपाव, दोषपूर्ण विधान, आतरिक भेदभाव, रुपये अथवा सदस्य-सख्या की कमी, किसी एक सदस्य का व्यापक प्रभाव और समिति के काम में सदस्यों की अरुचि आदि सम्मिलित हैं। (मैक्लेगन कमेटी रिपोर्ट, पैरा ८६)। सैण्ट्रल वैंकिंग इन्क्वायरी कमेटी की रिपोर्ट और रिव्यू ऑफ़ द कोआपरेटिव मूवमेंट इन इण्डिया, (१९३९-४०) पृष्ठ १,७ और ८ देखें।

२. मैक्लेगन कमेटी रिपोर्ट, पैरा १५।

का विवरण देते हुए अपनी १९२६-२७ की वार्षिक रिपोर्ट में कहा, "नगरो के जीवन पर शहरी और जन-बैंक जो प्रभाव डाल रहे हैं, उसको बढा-चढाकर कहना कठिन है। जहाँ पर जनसख्या और उद्योग कम है, उन क्षेत्रो में स्थानीय व्यापार का विकास किया जा रहा है। छोटे-छोटे कारीगरो और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में कार्य करने वाले नागरिको को अधिकोषण (बैंकिंग) की आदत पडती जा रही है।[1] लगभग हर प्रमुख नगर में प्रत्येक जाति और पेशे के प्रभावशाली व्यक्ति, जनता के एक सेवा-कार्य की तरह सहकारी कार्यो के इस अश को अपना रहे हैं।" गुजरात की शहरी उधार समितियो ने आन्तरिक लेखा-परीक्षण के लिए एक निरीक्षण-सघ बनाया है।[2]

(२) मितव्ययिता और जीवन-बीमा समितियाँ—शहरी सहकारी समितियो की प्रमुख किस्मो में से मितव्ययिता समिति एक है, जिसका उद्देश्य, लोगो से २ या ३ साल के लिए हर महीने में नियमित बचत को एकत्र कर और अधिक-से-अधिक लाभ के लिए उसका निवेश कर, मितव्ययिता बढाना है। बहुत-सी समितियों में ऋण भी दिया जाता है। पजाब में इस प्रकार की समितियाँ १००० से अधिक हैं, जिनके अधिकाश सदस्य स्कूलो के अध्यापक हैं। मद्रास और कुछ हद तक बम्बई ने भी इस दिशा में प्रगति की है।

गत वर्षो में जीवन बीमा समितियाँ बम्बई, बगाल और मद्रास में स्थापित की गई हैं। बम्बई सहकारी जीवन बीमा समिति १९३० में खोली गई। इसने अच्छी प्रगति की है और हाल ही में अपने ग्रामीण विभाग में प्रारम्भिक सहकारी समितियों के सदस्यो के हितार्थ, एक विशेष योजना को चालू किया है। मद्रास की दक्षिण भारतीय सहकारी जीवन बीमा समिति ने भी प्रशसनीय प्रगति की है।

(३) बडे-बडे कारखानो और सरकारी विभागो के कर्मचारियो की समितियाँ—इन समितियो का उद्देश्य (इन्हे वेतन पाने वालो की समितियाँ भी कहते हैं) प्रधानतया बचत और मितव्ययिता को ही उत्साहित करना है, पूर्व-ऋणो से मुक्ति नही। बगाल, बम्बई और कुछ हद तक मद्रास में अपूर्व उन्नति करने वाली इन समितियो की सफलता, वेतन-पत्रो के द्वारा लेनदारी की पुनर्प्राप्ति की सुविधाओ और विभागीय अध्यक्षो की दिलचस्पी के कारण है। इस प्रकार की समितियो को पक्षपात और सरकार पर निर्भरता के दोषो से बचाना चाहिए।

(४) जातीय समितियाँ—साम्प्रदायिक आधारो पर बनी हुई ये साख समितियाँ सशक्त जातीय भावनाओ के कारण सहकारी प्रयासो को सहायता देती हैं। पर इस भावना को व्यापक राष्ट्रीय भावना के हित में निरुत्साहित किया जाना चाहिए। पिछडी हुई जातियो के आर्थिक और शिक्षा-सम्बन्धी उद्धार के लिए ये समितियाँ कुछ सीमा तक लाभप्रद हैं।

---

१. १९२८-२९ की बम्बई की वार्षिक रिपोर्ट चैकों के प्रयोग को प्रचलित करने के लिए इसके प्रशासात्मक कार्य का सकेत करती है (पैरा ८०)। बगाल बैंकिंग इन्क्वायरी कमेटी की रिपोर्ट, पैरा २८३ भी देखिए।

२ भारत में शहरी बैंकों के शिक्षणात्मक अध्ययन के लिए जनवरी १९३६ की इण्डियन कोआपरेटिव

(५) कारीगरो की समितियाँ—(आगे सेक्शन १५ भी देखिए) ये समितियाँ भी विधान और व्यापार में कृषि साख समितियो के समान हैं। इनका कार्यक्षेत्र छोटा है, एक ही पेशे के लोग सदस्य हो सकते हैं, हिस्सा पूँजी थोडी है, और केन्द्रीय सस्थाओ तथा अन्य साधनो से रुपया उधार प्राप्त होता है। यद्यपि कानूनी दृष्टिकोण से दायित्व ऐच्छिक है, परन्तु ऐसी दशा में असीमित दायित्व आवश्यक है। इनमे से प्रमुख सस्थाएँ जुलाहो की है। हाथ करघे की बुनाई का उद्योग बहुत महत्त्वपूर्ण कुटीर उद्योग है। इसे सरकारी सहायता और सहकारी सगठन की आवश्यकता है। बम्बई राज्य ने इस दिशा में काफी सफलता प्राप्त की है। इन समितियो को दी गई सीधी सरकारी सहायता पूर्णतया न्याय है। अन्य छोटे कारीगरो के लिए भी कुछ उधार समितियाँ खोली गई हैं, जैसे टोकरी बनाने वालो, मोचियो, लुहारो और बढइयो के लिये सगठित समितियाँ। इन समितियो की प्रगति नही के बराबर है। आशा है कि भारत में सहकारिता छोटे उद्योगो के पुनरुत्थान को प्रभावित करेगी। सचमुच छोटे-छोटे कारीगर भी छोटे-छोटे किसानो के समान ही तथा अन्य आवश्यकताओ के सम्बन्ध में कठिनाइयो का सामना करते है। अत दोनो प्रकार के छोटे उद्योग-धन्धो का एक साथ सगठन अत्यन्त आवश्यक है।

(६) फैक्ट्री मजदूरो की समितियाँ—बम्बई और कलकत्ता जैसे नगरो में फैक्ट्री मजदूरो के लिए उधार-समितियो की आवश्यकता है। उनकी आर्थिक और सामाजिक अवस्था बडी असन्तोषजनक है। वे कम मजदूरी, घरो की बुरी अवस्था, रहन-सहन का ऊँचा व्यय, दलालो द्वारा शोषण, अज्ञान, निरक्षरता, भारी ऋण और मद्यपान आदि दुर्गुणो से बुरी तरह ग्रस्त है। मजदूरो को सहकारी समितियो में सगठित करके इन परिस्थितियो में सुधार किया जा सकता है। जनहित प्रेरित मालिको ने इन समितियो को सहायता दी है। मितव्ययिता और कम ब्याज पर उधार देने के अतिरिक्त ये समितियाँ अनेक सामाजिक और शिक्षणात्मक कार्यो की केन्द्र बनी हुई है, जो मजदूरो की क्षमता बढाने में अनुकूल प्रभाव डालती है। फैक्ट्री-मजदूरो में सहकारिता की शीघ्र उन्नति में उनकी निरक्षरता तथा देशान्तर-गमन की आदतें बाधक है।

गैर-उधार सहकारी आन्दोलन

१२. कुछ सामान्य प्रश्न—अनेक प्रकार की गैर-उधार समितियो के अध्ययन के पहले हम लोग इस विषय के सम्बन्ध में कुछ सामान्य प्रश्नो का सक्षेप में विवेचन करेंगे।

(१) गैर-उधार सहकारी आन्दोलन का आधुनिक विकास—"सहकारी समितियो के कार्यो के वे रूप जो इंगलैंड में बहुत लोकप्रिय और सफल हुए है, क्रय, उत्पत्ति और वितरण से सम्बन्धित हैं। अधिकाश यूरोपीय देशो में इस प्रकार के काम उधार समितियो के अच्छी तरह स्थापित हो जाने तक प्रारम्भ नही किये गए। भारत में सहकारिता विकास यूरोप के अनुसरण पर ही हुआ है।[1] गैर-उधार सहकारिता आन्दोलन के प्रारम्भ होने के बाद ही सहकारिता की माँग, जनता द्वारा सहकारी सिद्धान्तो की प्रशसा का प्रतीक थी, साथ ही वह देश की सन्तुलित आर्थिक

१. मैक्लेगन कमेटी रिपोर्ट, पैरा ८।

उन्नति के लिए अत्यन्त आवश्यक थी। १६१२ के कानून ने गैर-उधार समितियों को मान्यता देकर इस माँग को पूरा करने का प्रयत्न किया। साखविहीन आन्दोलन की प्रगति हर राज्य में एक-सी नही हुई। ग्रामीण उधार पर विशेष बल देने की नीति अब भी कमजोर नही हुई है। इसके अतिरिक्त गैर-उधार सहकारिता में उधार-सहकारिता की अपेक्षा अधिक कठिनाइयाँ उपस्थित होती है। फिर भी गैर-उधार समितियो की महत्ता कुछ अशो तक स्वीकार की जा रही है। इसकी पुष्टि अनेक उद्देश्यो के लिए समितियो की स्थापना से होती है। कृषि और कृषीतर दोनो क्षेत्रो में क्रय-विक्रय, उत्पादन, जीवन बीमा और गृह-निर्माण समितियो का सगठन इसका प्रमाण है। कृषि के सारे अवस्थानो का समावेश करते हुए सहकारी सिद्धान्त के अनुसार कृषि केन्द्र सगठन का आन्दोलन भविष्य के लिए अनेक आशाओ से पूर्ण है। सहकारी उधार समितियो के लाभ की पूर्ण प्राप्ति तभी होती है जबकि डेन्मार्क की भाँति गैर-उधार-कार्यो के लिए सहकारी सगठन द्वारा दूसरे क्षेत्रो से भी दलालो का लोप कर दिया जाय।

(२) गैर उधार-समितियो के रूप—गैर उधार समितियो को कृषि और कृषीतर दो प्रकार की समितियो में बाँट सकते है। प्रत्येक प्रकार कई उपविभागो में विभाजित हो सकता है, जैसे कच्चे मालो और औज़ारो को खरीदने वाली समिति, उत्पाद के विक्रय की समिति, उत्पादन, वितरण, उपभोग, जीवन-बीमा और निर्माण आदि की समितियाँ।

(३) दायित्व—१६१२ के कानून के अनुसार गैर-उधार समित्तियो के लिए सीमित दायित्व का प्रश्न ऐच्छिक है। दायित्व की प्रगति समितियो की आवश्यकता और परिस्थितियो के अनुसार बदलती है। उदाहरणार्थ, कृषक गैर-उधार समितियाँ सामान्यतया सीमित दायित्व पसन्द करेंगी, क्योकि यह सम्भव है कि उनके सदस्यो ने, यदि वे उधार समिति के भी सदस्य है, वहाँ असीमित दायित्व स्वीकार कर लिया हो। दूसरी ओर डेरी और जुलाहो की समितियो के लिए शायद असीमित दायित्व अधिक उपयुक्त है, क्योकि उनकी बाह्य पूँजी की आवश्यकता बहुत अधिक होती है।[1]

(४) गैर-सदस्यो से लेन-देन—सहकारी सिद्धान्तो के अनुसार इस प्रकार का लेन-देन उचित नही। कारीगरो की जीवन बीमा समितियो और गृह निर्माण समितियो का लेन-देन सदस्यो तक ही सीमित रहता है। क्रय और विक्रय समितियो में गैर सदस्यो से व्यवहार का प्रश्न उठता है। अगर इसकी आज्ञा दे दी जाय, तो सदस्यता बढेगी नही, साधारण व्यापारिक मुनाफाखोरी शुरु हो जायगी और व्यक्तिगत व्यापारियो के साथ अनुचित प्रतियोगिता की शिकायत होगी, क्योकि कानून के अन्दर सहकारी समितियो को विशेष अधिकार और छूट प्राप्त हैं जिनसे व्यक्तिगत व्यापारी वचित हैं। कुछ दशाओ में, ऐसे लेन-देन की—विशेषकर प्रचार कार्य के लिए—आज्ञा दी जा सकती है। इससे समिति केवल लाभ और मितव्ययिता से अपने कार्यों का प्रबन्ध

[1] देखिए, वी० एल० मेहता और वी० सुबैया, कोआपरेशन इन इण्डिया, पृष्ठ ११६।

करने योग्य हो जाती है । साथ ही वह गैर सदस्यो को अपनी उपयोगिता दिखाने योग्य भी हो जाती है ताकि वे लोग भी सम्मिलित हो जायें ।

१३ **एकध्येयी बनाम बहुध्येयी समिति**[1]—एक और अनेक ध्येय वाली समितियो के प्रश्न पर बहुत विवाद हुआ है । इस देश में भी डेन्मार्क की तरह प्रत्येक ध्येय (उद्देश्य) के लिए एक समिति का समर्थन कुछ दिन पहले तक किया गया है, और एक प्रकार से यह योजना आदर्श और व्यावहारिक भी प्रतीत होती है । इस सम्बन्ध में मुख्य व्यावहारिक आपत्ति प्रत्येक गाँव मे समितियो के प्रबन्ध के लिए उपयुक्त व्यक्तियो का अभाव है । इसके अतिरिक्त भारतीय किसान एजेन्सियो की अधिकता नही पसन्द करते, क्योकि क्रय-विक्रय अथवा साख जैसे कामो के लिए वे साहूकारो से ही लेन-देन करने के अभ्यस्त हैं । सहकारी साख से अधिकतम लाभ पाने के लिए यह आवश्यक है कि इसे क्रय और विक्रय से भी जोड दिया जाय तथा इन दोनो में उचित सम्बन्ध स्थापित हो जाय । गत वर्षो में विशेषज्ञो ने बहुध्येयी समितियो की स्थापना का पक्ष लिया है । कृषिक सहकारी उधार समिति के प्रधान उद्देश्य सदस्यो को धन के मूल्य और प्रयोग की शिक्षा तथा उनके नियमित उधार की व्यवस्था करना है । व्यवहार में इन उद्देश्यो की प्राप्ति, सम्भरण और विक्रय से उधार का नाता तोड देने पर कठिन हो जाती है ।

"यद्यपि भारत में उचित कारणो से सहकारिता आन्दोलन छोटी और सरल उधार-समितियो से प्रारम्भ हुआ, परन्तु आजकल सामान्य और प्रचलित विचार यह है कि कृषिक उधार-आन्दोलन से प्रयत्नो के अनुरूप फल प्राप्त नही हुए । इसलिए अब प्राथमिक समिति का आधार विस्तृत करना सम्भव और वाञ्छनीय है । दूसरे शब्दो में ग्रामीण समितियो को अपने सदस्यो की अधिक-से-अधिक आवश्यकताओ को पूरा करना चाहिए । गत वर्षो में भारत के रिजर्व बैंक के कृषिक उधार-विभाग ने इसका ज़ोरदार समर्थन किया है । १९३७ ई० में रिजर्व बैंक द्वारा प्रकाशित 'ग्रामीण बैंको के बुलेटिन' ने सारे किसानो के जीवन को सहकारिता की परिधि में लाने के लिए प्राथमिक सहकारी उधार-समितियो के सहकारी सिद्धान्तो के अनुसार, पुनर्निर्माण का समर्थन किया है, जो कि सारे सहकारी आन्दोलन की धुरी है । सितम्बर १९३७ ई० में सरकारी प्रस्ताव की आज्ञानुसार एक जाँच के फलस्वरूप, श्री वी० एल० मेहता तथा रजिस्ट्रार द्वारा बम्बई सरकार को दी गई एक सम्मिलित रिपोर्ट में बहुध्येयी समितियो के स्थापित करने की नीति का समर्थन किया गया । बम्बई में बाजार की सुविधाओ से युक्त प्रत्येक तालुका के कुछ उचित केन्द्रो में सीमित दायित्व के आधार पर ऐसी समितियाँ सगठित की गई । कार्यालय (रजिस्ट्री किये हुए) से लगभग पाँच मील के घेरे में इन समितियो का कार्यक्षेत्र फैला होता है । उत्तरप्रदेश ने सीमित दायित्व के आधार पर बहुध्येयी समितियो के सगठन के लिए एक साहसपूर्ण प्रयोग किया है, और राज्य में १००० से अधिक ग्रामीण बैंक हैं । मद्रास सहकारी समिति ने भी बहुध्येयी समिति के आधार

१. देखिए, कोआपरेटिव विलेज बैंक्स, (बुलेटिन न० २, पैरा २३–२४) कृषि साख की स्टेट्यूटरी रिपोर्ट, (रिजर्व बैंक ऑफ़ इण्डिया) पैरा १८ ।

पर ग्रामीण उधार-समितियो के पुनर्संगठन का पक्ष लिया है।[1] रजिस्ट्रार कान्फ्रेंस (१६३६) ने, जो नई योजना के बारे में सदिग्ध थी, सिफारिश की कि राज्य बहुध्येयी समितियो की स्थापना करें तथा उनके परिणामो को देखें। इस प्रकार बहुध्येयी समिति का विचार दिन-प्रतिदिन मान्य होता जा रहा है।[2] कृषि की सामान्य आवश्यकताओ के लिए ऐसी समितियाँ बीज, खाद, कृषि-कार्यो, जैसे बैल खरीदना आदि, के लिए उनकी एक हद तक उधार भी देंगी। वे उनकी तथा अन्य समितियो के सदस्यो के पण्य उत्पाद इत्यादि को बेचने वाली एजेन्सी का भी काम करेंगी। जैसे-जैसे बहुध्येयी समितियो का विकास होता जाय वैसे ही उन्हें ग्रामीण क्षेत्रो में उपभोक्ता समिति का भी काम करना चाहिए।

बहुध्येयी समिति के पक्ष में निम्न बातें कही जाती हैं अधिक निष्ठा, सदस्यों की सतत अभिरुचि, नियमित उधार, वैतनिक कर्मचारियो द्वारा किया हुआ कुशल और मितव्ययितापूर्ण प्रबन्ध, व्यक्तियो और साधनो की मितव्ययिता, गाँवो को सहयोग द्वारा आर्थिक एव सामजिक सुधार के लिए काम करने का अवसर आदि। रिजर्व बैंक के कृषि उधार-विभाग द्वारा अनुमोदित आधारो पर बहुध्येयी समितियाँ अपने आपको एक तालुका में काम करने वाले सघ (यूनियन) से सम्बन्ध कर लें तो वे और सशक्त हो जायँगी (आगे सेक्शन १८ देखिए)। ऐसा सघ प्रारम्भिक बहुध्येयी समितियो के विभिन्न कार्यो में अभिरुचि रखेगा। इसके विपरीत बहुध्येयी समितियो में कुछ दोष भी है। आर्थिक उत्तरदायित्व के साथ कार्यो की अधिकता से यह भय रहता है कि एक विषय की

---

१ रिपोर्ट, पैरा १६०।

२ हाल में ही इस इस विचार को और अधिक मान्यता मिली है। सन् १६३६-४० के सहकारी आन्दोलन के सर्वेक्षण में रिजर्व बैंक ने उधार-समितियो के कार्यो के विस्तार और बहुध्येयी समितियों के सगठन पर बल दिया था। सहकारी आयोजन कमेटी ने १६४६ में बहुध्येयी-समितियों के सगठन का पुन समर्थन किया और उनका लक्ष्य १० वर्ष के भीतर ५० प्रतिशत गाँव तथा ३० प्रतिशत जनसख्या में फैल जाना निश्चित किया। द्वितीय विश्व युद्ध के समाप्त होने के बाद बहुध्येयी समितियों में आश्चर्यजनक वृद्धि हुई। कुछ राज्यों ने इस काम के लिए योजनाएँ अपनाईं। उत्तरप्रदेश (१६४७), आसाम (१६४८), मैसूर (१६४६) और बिहार (१६४८-४६) ने बहुध्येयी समितियो के सगठन के लिए सुविचारित योजनाओं को कार्यान्वित किया। उत्तरप्रदेश में बहुध्येयी समितियों के सगठन में स्तुत्य विकास १६४७ के विकास-समन्वय-आयोजन (डिवेलपमेण्ट कोआर्डिनेशन प्लान) के प्रारम्भ होने के बाद हुआ। सक्षेप में इस योजना के अन्तर्गत १०-१५ गाँवों के विकास-समूहों का सगठन किया जाता है। प्रत्येक गाँव में एक बहुध्येयी समिति होती है और प्रत्येक समूह में एक सघ (यूनियन) होता है। १६४८-४६ में २१००० गाँवों में १३०० समूह सगठित किये गए। इन गाँवों में काम करने वाली उधार समितियों को बहुध्येयी समितियों में परिवर्तित किया गया। उत्तरप्रदेश में कुल २२७८६ बहुध्येयी समितियाँ काम कर रही हैं, जिनके सदस्य ७ ३५ लाख और चालू पूँजी २ ८६ लाख रुपया है। बम्बई कृषिक उधार-सगठन कमेटी (१६४७) (एग्रीकल्चरल क्रेडिट आर्गनाइजेशन कमेटी) की सिफारिशों के अनुसार बहुध्येयी समितियों के सगठन और वर्तमान उधार समितियों को बहुध्येयी समितियों में बदलने की नीति अपनाई गई। १६४८-५० के बीच बम्बई में २१६१ बहुध्येयी समितियाँ थीं। १६४६-५० के अन्त तक मद्रास में बहुध्येयी समितियाँ ६१ २८ प्रतिशत गाँवों में और १६ १० प्रतिशत जनसख्या में फैल चुकी थीं। अब बहुध्येयी समितियों के सगठन के विचार ने लगभग सारे राज्यों में जड पकड़ ली है। —अनुवादक

असफलता दूसरे विषयो को भी प्रभावित करेगी। सामान्य शर्तो पर साख और निक्षेप को प्राप्त करने के लिए आवश्यक तथा सदस्यो के प्रभावपूर्ण पारस्परिक निरीक्षण को लाने वाला असीमित दायित्व, समिति के उधार देने से इतर कार्यो के लिए आसानी से प्रयोग में नही आ सकता है।[1] जैसा कहा जा चुका है कि बम्बई, मद्रास और उत्तरप्रदेश में बहुध्येयी समितियाँ सीमित दायित्व के आधार पर सगठित की जा रही हैं। आजकल साधारण उधार समितियो के प्रबन्ध के लिए कुशल व्यक्ति नही मिलते तो बडी-बडी बहुध्येयी समितियो को चलाने के लिए योग्य व्यक्तियो का मिलना भी सन्देहास्पद है। अन्त में, बहुमुखी समिति, जो ग्राम-समूहो में काम करती है, सहकारिता की सफलता के लिए आवश्यक घनिष्ठ पारस्परिक ज्ञान का विश्वास नही दिलाती।[2] ये कठिनाइयाँ वास्तविक है और इन्हे यो ही भुलाया नही जा सकता। भारत की वर्तमान ग्रामीण आर्थिक व्यवस्था में बहुमुखी समिति को काम करने का अवसर दिया जाना चाहिए। डेन्मार्क के अतिरिक्त अन्य देशो का अनुभव बहुमुखी समिति के विचार का समर्थन करता है। बावेरिया, सेक्सोनी, बेल्जियम और आस्ट्रिया आदि देशो में साख-समिति अथवा स्थानीय बैंक, उधार देने के अतिरिक्त और बहुत से काम भी करते है। जापान में ग्रामीण सहकारिता का अत्यन्त आश्चर्यजनक गुण यह है कि एक ही समिति में आम-तौर से उधार, क्रय-विक्रय आदि कार्य सम्मिलित रहते है। बहुमुखी समितियाँ हर प्रकार की ग्रामीण साख-समितियो का स्थान लेने के लिए नही है, वरन् पूरक बनने के लिए है।

१४. ऋण-इतर कृषि-आन्दोलन—अब हम भारत में साख-इतर आन्दोलन की प्रगति का विवेचन कृषि और गैर-कृषि दो शाखाओ के अन्तर्गत करेंगे। साख-इतर कृषि-आन्दोलन की बडी आवश्यकता है। डेन्मार्क का उदाहरण यह प्रकट करता है कि किसानो के देश में कृषि तभी उन्नति कर सकती है, जब इसके सारे कार्यो को सह-कारिता के आधार पर सगठित किया जाय तथा दलालो को समाप्त कर दिया जाय ताकि सारा लाभ किसानो को ही मिले। उचित मूल्य पर औजार, मशीन, खाद तथा अच्छे किस्म के बीजो को प्राप्त करने के लिए सहकारी समितियो की आवश्यकता है। इस कार्य तथा सहकारी विक्रय के लिए कुछ सहकारी समितियाँ खोली जा चुकी है।[3] यह बहुत बडा काम है और अब तक इसकी प्रगति शिथिल रही है। सहकारी सम्भरण ने छोटे पैमाने के व्यापार के रूप में अच्छी प्रगति नही की तथा इसके अच्छे प्रबन्ध और पर्यवेक्षण के लिए पर्याप्त कर्मचारियो का अभाव है।

सहकारी बीमा का सिद्धान्त अभी तक पशुओ तक ही सीमित है। खेतो में बनी हुई इमारतो, फसलो तथा पशुओं के चारे आदि का बीमा नही किया जाता। १९२९ में बर्मा सहकारिता कमेटी (कमेटी ऑफ कोआपरेशन इन बर्मा १९२९) के

१. कृषि आयोग रिपोर्ट, पैरा ३७५।

२. जनवरी-मार्च १९३८ के इण्डियन कोआपरेटिव रिव्यू में के० सी० रामकृष्णन द्वारा लिखित 'बहुध्येयी समिति' वाला लेख देखिए।

३. कृषि-उत्पादन के बाजार के लिए सगठित सहकारी विक्रय समितियों का विवेचन ऊपर किया जा चुका है। अध्याय ८, सेक्शन ११ देखिए।

अनुसार वर्मा में ऐसी समितियो की दशा साधारणतया शोचनीय थी। गाँवो का सामाजिक विघटन, रिण्डरपेस्ट जैसी पशुओ की भयकर महामारी, प्रवन्ध एव वित्त-कार्य में कठिनाई आदि इसकी सफलता में बाधक है। हमारा उद्देश्य यह होना चाहिए कि कृषि में सहकारी बीमा का विस्तार और विकास हो। पशुओ की नस्ल मे सुधार तथा बीमा द्वारा अकाल के समय चारे का प्रवन्ध करने के लिए पशु-प्रजनन समितियो की भी चर्चा की जा सकती है। इन समितियो ने सामान्यतया अच्छी प्रगति नही की है, यद्यपि उन्हे पजाब में थोडी सी सफलता प्राप्त हुई है। वैज्ञानिक रीति से पशु-प्रजनन कार्य में पडने वाली बाधाओ का सकेत हम लोग कर चुके है (अध्याय ८ सेक्शन १३-१४ देखिए)। विनाशक रोगो और जगली सूअरो के आक्रमण से फसलो को वचाने के लिए वम्बई के दक्षिणी प्रदेश में कुछ मेंडवन्दी और फसल-सुरक्षा समितियाँ प्रारम्भ की गई है। बहुत थोडी सख्या में सहकारी सिंचाई समितियाँ भी सगठित की गई है। ये समितियाँ सूखे भागो में जहाँ पर नहर की सिंचाई महँगी या असम्भव है, पानी के प्रश्न को हल करती है। बगाल और मद्रास के कुछ जिलो में इन्हे उल्लेख्य सफलता प्राप्त हुई है। वम्बई राज्य में आजकल नौ भूमि-सुधार समितियाँ काम कर रही है।

सहकारी कार्यो का दूसरा महत्त्वपूर्ण उदाहरण जिसका सकेत ऊपर किया जा चुका है (अध्याय ७, सेक्शन ८), पजाब के कुछ गाँवो में किया गया चकवन्दी का काम है। सहकारी फार्म कृषि में कुछ भी काम नही किया गया है। यह स्पष्ट है कि जब तक खेत छोटे और बिखरे है, कृषि-कार्यो में सुधार के लिए इटली की तरह सम्मिश्रित खेती अपेक्षित है।

उपभोक्ता आन्दोलन, जिसने इगलैण्ड में बहुत प्रगति की है, भारत के ग्रामीण क्षेत्रो में उन्नति नही कर सका। किसानो की घरेलू आवश्यकताएँ थोडी है तथा स्थानीय उत्पादन अथवा गाँव के बाजारो से उनकी माँग पूरी हो सकती है। उनके रहन-सहन का स्तर इतना निम्न है कि यदि प्रबन्ध-सम्बन्धी कठिनाइयो को भुला भी दिया जाय तो भी वितरण-सहकारिता का कोई स्थान नही है। इस सम्बन्ध में हमारी आशा कृषको की सामान्य प्रगति और उनके रहन-सहन के स्तर के सुधार पर ही अवलम्बित है। विशेषकर नगरो में उचित दर पर शुद्ध दूध देने वाली डेरी समितियो के लिए पर्याप्त क्षेत्र है। देश में इस प्रकार की बहुत कम समितियाँ है, यद्यपि ऐसी समितियो की बहुत अधिक आवश्यकता है।

भारतीय कृषि में सहकारी आन्दोलन अभी अपनी शैशवावस्था में है और ऋण-इतर कृषि सहकारिता को अभी बहुत लाभदायक कार्य पूरे करने है। इस प्रकार की सहकारिता ने डेन्मार्क तथा कुछ अन्य यूरोपीय देशो में किसानो को इतना सबल बना दिया है कि वे पूँजीवादी किसानो की बराबरी कर सकते है।[1] जैसा कि डॉ० क्लाउस्टन का कहना है, "वम्बई में रुई-विक्रय-समितियो, बगाल की सिंचाई और दुग्ध समितियो, मध्यप्रदेश की सहकारी बीज और डेरी-समितियो तथा पजाब

१ एच० टी० इरविन, द मेकिंग ऑफ रूरल यूरोप, पृष्ठ १६५ देखिए।

की चकवन्दी, नहरो की रेत साफ करने वाली तथा कृषि-उत्पादन को बेचने वाली समितियो के कार्यो को देखकर ऐसी आशा की जा सकती है कि आवश्यक सगठन-कर्ता प्राप्त होने पर सहकारिता कृपको को उनके श्रम का पूर्ण लाभ दिलाने में वैसा ही काम करेगी जैसे उसने किसानो की सस्ती पू जी देने में किया है।"[1] इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए सरकार को यथेष्ट सहायता देनी चाहिए। इसके लिए वाछनीय सुधार यह है कि सहकारी विभाग और कृपि एव पशु-चिकित्सा-विभाग का सम्बन्ध और अधिक घनिष्ठ होना चाहिए। सचमुच, सहकारी समितियाँ कृषि एव पशु-चिकित्सा विभाग के प्रचार-कार्य के लिए श्रेष्ठ एजेन्सी वनने की क्षमता रखती हैं। ऋण-इतर सहकारिता के विकास से ही विशेषज्ञो की शिक्षा जनता तक पहुँचाई जा सकती है जिन लोगो तक किसी सरकारी सस्था द्वारा व्यक्तिगत पहुँच कभी हो ही नही सकती।[2] जिला ग्रामोत्थान समिति (डिस्ट्रिक्ट विलेज अपलिफ्ट कमेटी), तालुका विकास सस्थाओ (तालुका डिवेलपमेन्ट एसोसिएशन्स), प्रान्तीय ग्रामीण विकास परिषद (प्राविंशल रूरल डिवेलपमेन्ट वोर्ड) के सगठन द्वारा इस दिशा में वम्बई मे आन्दोलन किया गया (अध्याय ११ भी देखिए)। ये सस्थाएँ खेती की अच्छी विधि, पशुओ और मुर्गियो के नसल-सुधार के कार्य को प्रारम्भ करने के लिए प्रचार कर रही है। इनमें से अनेक ग्रामोत्थान आन्दोलन में भाग ले रही हैं। हाल में कुछ उत्तम फार्म-कृषि-समितियाँ (वैटर फार्मिङ्ग सोसाइटीज) स्थापित की गई हैं। यह सुझाव दिया गया है कि सीमित क्षेत्र में काम करने वाली कृषि-सुधार समितियाँ, कृषि तथा अन्य सुधारो के सम्बन्ध में तालुका-विकास सस्था से अच्छा काम कर सकती है, क्योकि तालुका-विकास सस्था पूरे तालुके में काम करती है। कृषि-सुधार समितियाँ मद्रास और पजाव मे भी पाई जाती हैं। इस सम्बन्ध में रहन-सहन सुधार-समितियाँ (वैटर लिविंग सोसाइटीज) की चर्चा की जा सकती है। उत्तरप्रदेश और पजाब में ग्रामीण पुनर्निर्माण योजना (रूरल रिकन्स्ट्रक्शन प्रोग्राम) के अन्तर्गत इनके सरक्षण में अच्छा काम किया गया है। सर्वप्रथम ये समितियाँ पजाव में विकसित हुई और इनका ध्यान मुख्यत विवाह और अन्य उत्सवो के व्यय को कम करने पर ही केन्द्रित रहा। इन समितियो की सहायता से सडको का सुधार हुआ, सार्वजनिक कुएँ खोदे गए, तालाव साफ किये गए, चिकित्सालय और स्कूल खोले गए। उत्सवो के व्यय को कम करने का प्रचार, सफाई में उन्नति, अच्छे बीज का वितरण, जुताई की अच्छी विधियो का प्रारम्भ तथा पशुओ की नस्ल में भी सुधार किया गया। रहन-सहन सुधार समितियो ने वगाल में भी कुछ प्रगति की है।

१४. ऋण-इतर गैर कृषि समितियाँ—यद्यपि इस आन्दोलन में अभी पर्याप्त-शक्ति नही है, फिर भी कुछ राज्यो में थोडी-बहुत उन्नति हुई है। मैक्लेगन कमेटी के अनुसार, जुलाहो के लिए सूत और टोकरी वनाने वालो के लिए बेंत, वढइयो के लिए लकडी, अनेक उद्योगो के लिए (विशेषकर अच्छे प्रकार के) औज़ार आदि खरीदने के लिए सफल प्रयास किया गया हैं। सूत, सिल्क के कपडे, दरी और फर्नीचर के

---

१. रिव्यू ऑफ एग्रीकल्चरल आपरेशन्स इन इण्डिया (१९२६-२७)।
२. एग्रीकल्चरल कमीशन रिपोर्ट, पैरा ३८६।

उत्पादन और विक्रय के लिए भी प्रयत्न किया गया है। गृह-निर्माण समितियाँ भी सगठित की गई हैं। अत्यन्त साधारण आवश्यकीय वस्तुओ के क्रय-विक्रय का कार्य अनेक सहकारी भण्डार कर रहे हैं।[1] अब हम विभिन्न प्रकार की ऋण-इतर गैर कृषि समितियो का विवेचन करेंगे।

(१) क्रय और विक्रय के लिए कारीगरो की समितियाँ—कुटीर उद्योगो की आर्थिक उन्नति के लिए किसानो की तरह ही कारीगरो के विषय में, उधार ही नही बल्कि अन्य आवश्यकताएँ, जैसे कच्चा माल खरीदना, तैयार माल की बिक्री आदि को सहकारी आधार पर सगठित करना चाहिए। करघा उद्योग को सहकारी आधार पर अच्छी प्रकार सगठित किया जा सकता है। इससे कच्चे माल की थोक खरीद, अच्छे प्रकार के करघो और अन्य औजारो के प्रयोग तथा सीधे उपभोक्ताओ को कपडे की बिक्री आदि उद्देश्यो की प्राप्ति हो सकती है। अनेक स्थानो पर की गई सहकारी औद्योगिक प्रदर्शनियाँ इस प्रकार की सहकारी उत्पत्ति की विभिन्नता और विस्तार का परिचय देती है। बम्बई में सहकारी बुनाई की महत्ता को सरकार ने भी स्वीकार कर लिया है। इसलिए सहकारी विभाग के निरीक्षण मे कुछ बुनाई के स्कूल भी चलाये जा रहे हैं। सन् १९३५ में करघा उद्योग को बढाने के लिए प्रान्त के प्रमुख केन्द्रो मे जिला औद्योगिक सहकारी सस्थाओ (डिस्ट्रिक्ट इन्डस्ट्रियल कोआपरेटिव एसोसिएशन्स) की स्थापना की गई। इनका कार्य उचित दर पर कच्चा माल देना, आशिक अदायगी पर जुलाहो से करघो से बने कपडे को बाहर भेजने की शर्त पर प्रेषण-लेखा के आधार पर स्वीकार करना तथा करघो के माल को तुरन्त खरीदना और बेचना था। बाजार में बिक्री की नई योजना उद्योगो के सचालक तथा सहकारी समितियो के रजिस्ट्रार के सम्मिलित बोर्ड द्वारा नियन्त्रित है। अन्य राज्यो में भी करघे के माल के बाजार के प्रबन्ध के लिए आशाजनक योजनाएँ बनाई गई।[2] अन्य कारीगरो, जैसे मोची, सुनार, बेत का काम करने वाले, लकडी का सामान (फर्नीचर) बनाने वाले, ठठेरे आदि के विषय में भी कुछ उन्नति की गई है। जैसा कहा जा चुका है, कि १९३९-४५ के युद्ध ने कुटीर उद्योगो को प्रोत्साहन दिया। विभिन्न प्रान्तो में इन उद्योगो को सहकारी आधार पर विकसित करने के लिए कुछ प्रयास किये जा रहे है।

(२) अकुशल मजदूरो की समितियाँ—मद्रास के बहुत से ज़िलो में अकुशल मजदूरो की सहकारी समितियाँ पाई जाती हैं। ये समितियाँ मिट्टी खोदने तथा सडक मरम्मत करने का ठेका लेती हैं, जिनमें अकुशल मजदूरो की आवश्यकता होती है। इसमें बहुत से छोटे किसान भी सम्मिलित रहते हैं जो इस प्रकार अपनी कृषि-आय को वढा लेते हैं। बुरा प्रबन्ध और ठेकेदारो का विरोध आदि कठिनाइयो का इन्हें सामना करना पडता है। अन्य समितियाँ भी है जो सयुक्त रूप से सडक बनाने का कार्य करती हैं।[3]

१ मैक्लेगन कमेटी रिपोर्ट, पैरा १०।

२ द्वितीय खण्ड, अध्याय २, सेक्शन ६४ देखिए।

३, एग्रीकल्चरल कमीशन रिपोर्ट, साक्ष्य विवरण, खण्ड ३, मद्रास रजिस्ट्रार की गवाही और १९२७-२८ की उनकी वार्षिक रिपोर्ट, पैरा ८२ देखिए।

(३) शहरी उपभोक्ता समितियाँ—ग्रामीण क्षेत्रो में इस आन्दोलन के पिछडे रहने का सकेत ऊपर किया जा चुका है। शहरी क्षेत्रो में इनकी स्थिति कुछ ही अच्छी है। मद्रास और उत्तरप्रदेश में थोडे से सहकारी भण्डार खोले गए हैं। मद्रास की ट्रिप्लीकेन शहरी-सहकारी समिति, इन भण्डारो में सबसे अधिक सफल मानी जाती है। उत्तरप्रदेश और बम्बई में छात्रावासो से सम्बन्धित कुछ भण्डारो का प्रबन्ध बडी सफलता से किया जा रहा है। रेलवे भण्डार भी कुछ सफल सिद्ध हुए हैं।[1] पश्चिमी देशो, विशेषकर इगलैण्ड की तुलना में, भारत के उपभोक्ता आन्दोलन की प्रगति नही के बराबर है। अनेक समितियो की असफलता के प्रधान कारण सदस्यो की निष्ठा, अच्छा व्यापारिक प्रबन्ध तथा उचित पर्यवेक्षण का अभाव आदि है। एक अन्य कठिनाई फुटकर और थोक दामो का अल्प अन्तर है जो उपभोक्ताओ को पर्याप्त रूप से आकर्षित नही करता। इसके अतिरिक्त बाह्य स्पर्धा का सामना करने की अक्षमता, अधिकाश जनता में नियत सामयिक आय का अभाव, तथा कही-कही नकद बिक्री और केवल सदस्यो से ही सम्बन्ध रखने के सच्चे सहकारी सिद्धान्तो का परित्याग आदि अन्य कारण हैं। इसमें कोई सन्देह नही कि वितरण भण्डारो की आवश्यकता शहरो के मध्यम तथा श्रमिक वर्गो के हितो के लिए अत्यावश्यक है, परन्तु इस दृष्टिकोण से उपभोक्ता आन्दोलन भारत के सहकारी सगठन का सबसे दुर्बल अग है। जब तक जनता में व्यवस्थित और योजनाबद्ध व्यय की आदत नही आती तथा वे खरीदी हुई वस्तुओ के गुणो के बारे में उचित निर्णय करने में भी असमर्थ हैं, तब तक भण्डार आन्दोलन उन्नति नही कर सकता। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं युद्धकालीन परिस्थितियो के कारण, जब खाद्य सामग्री तथा अन्य पदार्थो का मूल्य बढ गया, तथा फुटकर व्यापार में मुनाफाखोरी फैलने लगी, तो उपभोक्ता-सहकारिता को अधिक प्रोत्साहन, विशेषकर मद्रास में, मिला।

१६. गृह-निर्माण समितियाँ—इगलैण्ड में औद्योगिक नगरो की गन्दी बस्तियो के प्रश्न को हल करने तथा अच्छी गृह-व्यवस्था के लिए किये गए विभिन्न प्रयत्नो में सहकारी गृह-निर्माण समितियो का स्थान प्रमुख है। इगलैण्ड में उनकी सफलता से भारत भी उनकी ओर आकर्षित हुआ। बम्बई तथा अन्य शहरी क्षेत्रो में हमारे सामने ऐसी ही समस्या है। गाँवो के लिए सुन्दर गृह-व्यवस्था बनाने के विशाल प्रश्न का तो कहना ही क्या है, मद्रास, मैसूर और हाल में बम्बई के कुछ नगरो में भी, सहकारी गृह-निर्माण का प्रारम्भ किया जा चुका है। बम्बई सरकार ने विभिन्न गृह-निर्माण समितियो को आर्थिक सहायता दी है। बम्बई नगर में, बम्बई सहकारी गृह-निर्माण

[1] उपभोक्ता सहकारिता के क्षेत्र में मद्रास और बम्बई ने ही कुछ उन्नति की थी, परन्तु अब अन्य राज्यों ने भी इस क्षेत्र में काफी सफलता प्राप्त कर ली है। देश में उपभोक्ता समितियों की स्थिति में हर तरह से विकास हुआ है। सन् १९४९-५० के अन्त में ८९४९ समितियां थीं, जिनकी सदस्य-संख्या ??.५५ लाख थी। उनका निजी कोष (फण्ड) ४४६.४१ लाख रुपया था। उस वर्ष (वार्षिक) विक्रय और क्रय की रकम क्रमश ७०४५.४१ और ६७४४ ८० लाख रुपया था। प्रारम्भिक भण्डारों की वृद्धि गत वर्षो में भारत के उपभोक्ता आन्दोलन की विशेषता रही है, परन्तु थोक भण्डारों के बारे में यह बात नहीं कही जा सकती। मद्रास के अतिरिक्त अन्य राज्यों में थोक-भण्डार प्रमुख नहीं थे।

सस्था (बॉम्बे को-आपरेटिव हाउसिंग एसोसिएशन) के सरक्षण में, विशेपकर मध्यम वर्ग के हित के लिए बहुत सी गृह-निर्माण समितियो का सगठन किया गया है। सन् १६४६-५० में बम्बई राज्य में ७६६ समितियाँ थी जिनकी सदस्य-सख्या ३७,११७ और चालू पूंजी लगभग ५ ६ करोड रुपये थी। मद्रास में सन् १६४६-५० के अन्त में २८० गृह-निर्माण समितियाँ थी, जिनकी सदस्य सख्या २५,६३३ थी तथा १५८ १७ लाख रुपया सरकारी ऋण था।

गृह समितियो के दो मुख्य प्रकारो में अन्तर किया जा सकता है (१) पहली वे समितियाँ है जो सामूहिक रूप से भूमि खरीदती है, तथा सदस्यो को कच्चे माल की खरीद, टेक्नीकल सलाह, क्रय और यदि सम्भव हुआ तो बन्धक पर ऋण देकर उन्हे निजी मकान बनाने में सहायता करती हैं। (२) दूसरे प्रकार की समितियाँ वे है, जो अपनी एक बडी इमारत अथवा अनेक इमारते बनाती है और उसमें रहने वाले सदस्यो से, दीर्घकाल में निर्माण एव मरम्मत की लागत को पूरा करने के लिए किराया लेती है। भारत में दोनो प्रकार की समितियाँ पाई जाती है।

१७. केन्द्रीय समितियाँ, सहकारी वित्त—अब तक हमने प्रारम्भिक समितियो के अनेक प्रकारो का विवेचन किया है। अब केवल उच्चतर स्तर के सहकारी सगठन के विषय में कुछ कहना शेप है, जिनका कार्य विभिन्न प्रकार की प्रारम्भिक समितियो का निरीक्षण और सगठन तथा आर्थिक सहायता देना है। आन्दोलन के इस पहलू को हम तीन प्रकार की केन्द्रीय समितियो से—सघ (यूनियन) केन्द्रीय बैक तथा राज्यीय बैंक से—अध्ययन कर सकते है।

१८. सघ—भारत में लगभग सारे राज्यो में केन्द्रीय सहकारी एजेन्सियाँ है जिनके निरीक्षण का क्षेत्र एक जिले से कही छोटा है। ये सघ निम्न प्रकार के हो सकते है : (१) गारण्टी देने वाले सघ (यूनियन), जैसे पहले बर्मा और बम्बई में थे। (२) पर्यवेक्षक सघ (सुपरवाइजिंग यूनियन) जैसे बम्बई और मद्रास में है। (३) बैक-व्यवहार सघ, जैसे पजाब में है। एक दिये हुए क्षेत्र में कई समितियो के सधान (फेडरेशन) को सघ (यूनियन) कहते है। प्रबन्ध की बागडोर सघ-कमेटी के हाथ में रहती है। यह कमेटी अनेक सदस्य समितियो के प्रतिनिधियो से बनती है। यह एक वैतनिक मन्त्री तथा एक उपसमिति नियुक्त करती है जिनका कार्य सदस्य समितियो के कार्यो की जांच तथा उनकी कार्य-विधि का निर्देश करना है। जहाँ पर सघ एक गारन्टी सघ भी होता है वहाँ यह कमेटी (सघ-कमेटी) सदस्य समितियो के कुल वाह्य ऋणो को निश्चित करती है जिसके लिए यह केन्द्रीय बैक से सिफारिश करने के लिए तैयार रहती है। कुछ दशाओ मे यह केन्द्रीय बैको को सदस्य समितियो के ऋणो के सम्बन्ध में कुछ सीमा तक गारन्टी भी देती है। सोचा यह गया था कि सघ सदस्य-समितियो के कार्यो के पर्यवेक्षण में लाभप्रद होने के साथ ही केन्द्रीय वित्तीय सस्थाओ और प्रारम्भिक समितियो के बीच एक कडी भी बन जायेंगे, यद्यपि वे स्वय वित्तदायी सस्थाएँ नही होंगे। जहाँ पर प्रारम्भिक समितियाँ और केन्द्रीय बैक हैं वहाँ गारन्टी सघ की स्थापना के लिए मैक्लेगन कमेटी ने जोरदार सिफारिश की थी। उनका विचार था कि जहाँ

पर केवल प्रान्तीय बैंक ही प्रत्यक्ष रूप से प्रारम्भिक समितियो से व्यवहार करते हैं, वहाँ पर इन सघो का होना बहुत ही आवश्यक है। बर्मा की तरह की गारन्टी यूनियनें बम्बई मे असफल रही। अशत इसका कारण यह था कि गारन्टी केवल नाममात्र की होती थी और धनाभाव के कारण कोई योग्य पर्यवेक्षक नही रखा जा सकता था। समिति का काम प्राय अनियमित और अयोग्य था। इसलिए मद्रास की तरह के केवल निरीक्षक सघ को ही उत्साहित करने का निश्चय किया गया है, जो विस्तृत क्षेत्र में फैले हो तथा कुशल निरीक्षण के लिए जिनकी आर्थिक स्थिति दृढ हो।

सन् १९३४ की निरीक्षण कमेटी की सिफारिशो के आधार पर सघो की कार्य-प्रणाली को उचित और कुशल बनाने के लिए बम्बई सरकार ने सन् १९३६ में नई योजना प्रारम्भ की, जिसके अन्तर्गत निरीक्षण के लिए जिला परिषदो की स्थापना तथा केवल योग्य पर्यवेक्षको की नियुक्ति पर बल दिया। उपनियम के अन्तर्गत इन परिषदों को विस्तृत अधिकार दिया गया है। इनमें से सबसे प्रमुख अधिकार सम्बन्धित समिति के प्रबन्ध कमेटी को स्थगित करना है। इनसे यह भी आशा की जाती है कि वे सहकारी कृषि-सगठन में दृढता लाने वाली शक्ति का भी काम करेंगी।[1] केन्द्रीय बैंको द्वारा नियुक्त किये गए निरीक्षक (इन्सपेक्टर) भी निरीक्षण कार्य में सहायता करते हैं।

प्रत्येक कमेटी और आयोग ने अच्छे निरीक्षण की आवश्यकता को स्वीकार किया है, परन्तु इस काम के लिए सबसे उपयुक्त एजेन्सी के सम्बन्ध में एक-से कदम नहीं उठाये गए हैं। विभिन्न राज्यो ने विभिन्न प्रकार की निरीक्षण पद्धतियो को अपनाया है। साधारणतया निरीक्षण का कार्य या तो सहकारी विभाग के जरिए सरकार द्वारा किया जाता है, अथवा विशेष प्रकार की सहकारी निरीक्षक सस्थाओ द्वारा किया जाता है, जैसा कि बम्बई, मद्रास, पजाब और मध्यप्रदेश में होता है, या दोनो प्रकार से किया जाता है। सामान्यतया इसका प्रबन्ध स्थानीय पर्यवेक्षक सघों, जिला पर्यवेक्षक परिषदो या सघो, प्रदेशीय अथवा प्रान्तीय सहकारी सस्थाओ और केन्द्रीय बैंको अथवा इनके सघो से किया जाता है। बम्बई और मद्रास में विभागीय अधिकारियो द्वारा विशेष प्रकार की समितियाँ, जैसे ऋण-इतर और परिगणित जातियों के निरीक्षण के लिए विशेष प्रबन्ध किया गया है।

निरीक्षण प्रणाली कही भी पूर्णतया सन्तोषजनक नही है। अनेक राज्यो में अति अल्प निरीक्षण का ही प्रबन्ध है और बहुत से राज्यो में वित्तीय एजेन्सियो के अधिकारियो द्वारा किये हुए निरीक्षण से इसका सघात होता है।[2] बम्बई में निरीक्षण करने वाली विभिन्न एजेन्सियो के सयोग की ओर विभाग प्रयत्नशील है।

१९३७ में रिजर्व बैंक के कृषि-ऋण विभाग ने कोदिनार (बडौदा स्टेट)[3] के बैंक-व्यवहार सघ पर रिपोर्ट प्रस्तुत की और अन्यत्र प्रयोग करने के विषय में सुझाव पेश किये। इस प्रकार का बैंक-व्यवहार सघ वित्त के अतिरिक्त, निरीक्षण-सघ का काम

१ निरीक्षण समिति की रिपोर्ट (१९३४) और रजिस्ट्रार की वार्षिक रिपोर्ट (१९३६-३७), पैरा ४०।
२ रिव्यू ऑफ द कोआपरेटिव मूवमेन्ट इन इण्डिया (१९३९-४०) पृ० ७१-३।
३ नानावती और अजारिया, देखिए. (द इण्डियन रूरल प्रोब्लम) पृ० ४०६-१० और कोदिनार बैंकिंग

अपने हाथ में ले लेगा। जो निरीक्षण सघ सन्तोषजनक काम कर रहे हैं तथा जिनसे काफी सख्या में प्रारम्भिक समितियाँ सम्बन्धित हैं, उन्हे बैक-व्यवहार सघ में परिवर्तित करने योग्य समझा जा सकता है, यदि आवश्यकता पडने पर यह बैक-व्यवहार सघ राज्यीय बैक की सहायता से अपने साधनो की पूर्ति कर सकता है।[1] सहकारी क्षेत्रो में इस सुझाव को विशेष पसन्द नही किया गया है, क्योकि इससे मितव्ययी और कुशल कार्य सम्भव नही होगा। यह भी हो सकता है कि उसे इतना विश्वास प्राप्त न हो कि वह पर्याप्त निक्षेपो को आकर्षित कर सके।

१६ केन्द्रीय सहकारी बैंक—सामान्यत केन्द्रीय सहकारी बैक भारत जैसे देश के लिए आवश्यक उच्चतर वित्तीय एजेन्सियाँ हैं, क्योकि भारत में प्रारम्भिक समितियो द्वारा पूँजी स्थानीय रूप से एकत्रित की जाती है तथा उसकी पूर्ति बाहर से और सुदूर द्रव्य-बाजारो से करनी पडती है। इसलिए केन्द्रीय अथवा राज्य बैको, जैसे उच्चतर सघो या वित्तीय सस्थाओ की स्थापना की आवश्यकता होती है। ये बैक क्रमश प्रारम्भिक समितियो को दूरस्थ नगरो से सम्बन्धित करेंगे, जिनसे प्रारम्भिक समितियो को चालू पूँजी मिल सके। इस प्रकार की विशेष सहकारी वित्तीय प्रणाली आवश्यक है। एक तो ग्रामीण वित्त को दीर्घकालीन पूँजी की अधिक मात्रा में आवश्यकता होती है और दूसरे सम्मिलित पूँजी वाले बैक, जो अपना व्यापार कुछ प्रमुख नगरो में ही चलाते है, दूरस्थ ग्रामीण समितियो को जिनके बारे में वे कुछ नही जानते, कृषि-उत्पादन के लिए आवश्यक अर्थ उपलब्ध कराने के हेतु दीर्घकालीन ऋण नही दे सकते, भले ही वे ऋण देने में समर्थ क्यो न हो। वित्तीय वितरक पद्धति की आधारभूत भावना यह है कि समिति के साधन उन हजारो कृषको के लिए सुलभ बनाए जायँ, जिन्हे उनकी आवश्यकता है।

जो प्रारम्भिक समितियाँ इनके अन्तर्गत होती है उनकी चालू पूँजी की कमी और अधिकता के सन्तुलन-केन्द्र का काम भी ये केन्द्रीय बैक करते हैं। प्रारम्भिक समितियो के लिए आवश्यक पूँजी को यह एकत्र करते हैं और प्रत्यक्ष रूप से अथवा जहाँ पर गारन्टी यूनियन है वहाँ उनके द्वारा, प्रारम्भिक समितियो को उधार देते हैं। कई राज्यो में केन्द्रीय बैक समितियो के निरीक्षण और सगठन का काम भी कर सकते है, विशेषकर उस समय जब कि वे समितियाँ इसकी हिस्सेदार हो। केन्द्रीय बैक मुख्यत एक वित्तीय एजेन्सी है। सम्बन्धित समितियो के वित्तीय प्रबन्ध के अलावा, केन्द्रीय बैक अन्य काम भी करते हैं जैसे, विभिन्न प्रकार के निक्षेपो को स्वीकार करना, बिल, चेक, हुण्डी, डिविडेण्ड वारन्ट और रेलवे सम्बन्धी कार्य करना, ड्राफ्ट और हुण्डी को जारी करना, बहुमूल्य पदार्थो को सुरक्षा में रखना और प्रतिभूतियो (सीक्योरिटी) का क्रय-विक्रय आदि।[2] इसका कार्य-क्षेत्र कुछ राज्यो, जैसे बगाल, बिहार, उडीसा और पजाब में एक तालुका अथवा तहसील से लेकर, अन्य राज्यो में जैसे बम्बई, मद्रास और मध्यप्रदेश में एक

सघ के सगठन पर नानवती की रिपोर्ट।

२ एग्रीकल्चर क्रेडिट डिपार्टमेन्ट (रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया) बुलेटिन न० १।

३ रिव्यू ऑफ द कोआपरेटिव मूवमेन्ट इन इण्डिया (१९३९-४०), पृ० ११।

जिले अथवा बहुत से तालुको में फैला होता है। अत्यन्त छोटे क्षेत्र में प्रबन्ध-व्यय अनावश्यक रूप से अधिक होता है और अत्यन्त बडे क्षेत्र में पर्यवेक्षण का कार्य कुशल नही होता। प्रत्येक दशा में हमें बीच के मार्ग को अपनाने का प्रयत्न करना चाहिए।

केन्द्रीय बैंक अपनी सरचना के अनुसार मिश्रित और शुद्ध दो प्रकार के होते हैं। मिश्रित केन्द्रीय बैंक समितियो और व्यक्तियो से मिलकर बनते है, और ये बैंक हिस्सा, पूँजी और प्रबन्ध-परिषद् के प्रतिनिधित्व के सम्बन्ध में समिति को ही विशेष सुविधाएँ देते हैं। इस प्रकार के बैंक सघीय बैंको के आदर्श को प्राप्त करने के लिए स्वीकार किये जा सकते हैं अर्थात् ऐसे केन्द्रीय बैंक के लिए जिसकी सदस्यता केवल समितियो तक सीमित हो। मिश्रित केन्द्रीय बैंक धनी व्यापारियो और मध्यम-वर्ग के सदस्यो की राय और सहायता को प्राप्त करते है, तथा केवल समितियो के हितो की रक्षा करते हैं और वे एक शुद्ध केन्द्रीय बैंक में बदले जा सकते हैं जिसमें व्यक्तिगत सदस्यता का लोप हो जायगा। मिश्रित प्रकार की बैंक भारत की वर्तमान परिस्थितियों में उपयुक्ततम हैं तथा सभी राज्यो में उनका प्रचार है। आदर्श सघीय बैंक यद्यपि सिद्धान्तत. श्रेष्ठ है, परन्तु उनकी कुछ कमियाँ हैं। उदाहरणार्थ, आवश्यक व्यापारिक योग्यता के लिए वे आत्म-निर्भर नही होते, और न वे मध्यम वर्ग को ही आकर्षित कर सकते हैं, और इस प्रकार प्रारम्भिक समितियो के लिए आवश्यक धन भी उन्हे नही मिल पाता। कुछ राज्यो में, जैसे बगाल और पजाब में शुद्ध सघीय केन्द्रीय बैंको की सख्या बढ़ रही है, जिन्हे बैंकिंग सघ (यूनियन) कहते हैं।

भारतीय सघ में राज्य-बैंको सहित कुल ५२० केन्द्रीय बैंक थे, और उनके सदस्य (१९५१ में) २२८,१४८ थे। चालू पूँजी का मुख्य भाग हिस्सा पूँजी (लगभग ७ प्रतिशत) था। व्यक्तियो एव समितियो से प्राप्त निक्षेप (लगभग ६८ ५ प्रतिशत) भी चालू पूँजी का अधिकाश भाग थे। केन्द्रीय और प्रान्तीय बैंको के ऋण १५ प्रतिशत तथा सुरक्षित एव अन्य कोष ८ ५ प्रतिशत थे। सन् १९५१ में केन्द्रीय बैंको की चालू पूँजी ५६ ३८ करोड रुपये थी।

चालू पूँजी का ८४ प्रतिशत भाग (ऋण और निक्षेप आदि विभिन्न साधनो से) उधार लिया हुआ है। केन्द्रीय बैंको के निक्षेपो के दायित्व के विचार से केवल पर्याप्त (सुरक्षित) नकद रखना ही आवश्यक नही है,[1] वरन् पर्याप्त दीर्घकालीन निक्षेपो को आकर्षित करना भी आवश्यक है अन्य लोगो के समान सुरक्षित नकदी रखने पर मैक्लेगन कमेटी ने भी विशेष बल दिया था।[1] १९३७ में भारत के रिज़र्व बैंक के कृषि-ऋण

---

१. यद्यपि अधिकृत कोष का अनुपात चालू पूँजी के साथ असन्तोषजनक नहीं मालूम होता, फिर भी सुरक्षित कोष के निर्माण के दृष्टिकोण से कुछ केन्द्रीय बैंकों की वास्तविक स्थिति इतनी सन्तोषजनक नहीं है। कभी-कभी सुरक्षित कोष, बुरे ऋणों के लिए उचित व्यवस्था के बिना ही बनाए जाते हैं और इस प्रकार परीक्षा करने पर यह कुछ अंश तक कल्पित भी हो सकते हैं।—रिव्यू ऑफ़ द कोआपरेटिव मूवमेन्ट इन इण्डिया (१९३९-४०) पृष्ठ ११।

१. मैक्लेगन कमेटी रिपोर्ट, पैरा १८। मेहता, पूर्व उद्धृत, पृष्ठ १३२ और स्टेटयुटरी रिपोर्ट ऑन एग्रीकल्चरल क्रेडिट (रिज़र्व बैंक ऑफ इण्डिया), पैरा २२।

अपने हाथ में ले लेगा। जो निरीक्षण सघ सन्तोषजनक काम कर रहे हैं तथा जिनसे काफी सख्या में प्रारम्भिक समितियाँ सम्बन्धित हैं, उन्हे बैंक-व्यवहार सघ में परिवर्तित करने योग्य समझा जा सकता है, यदि आवश्यकता पडने पर यह बैंक-व्यवहार सघ राज्यीय बैंक की सहायता से अपने साधनो की पूर्ति कर सकता है।[1] सहकारी क्षेत्रो में इस सुझाव को विशेष पसन्द नही किया गया है, क्योकि इससे मितव्ययी और कुशल कार्य सम्भव नही होगा। यह भी हो सकता है कि उसे इतना विश्वास प्राप्त न हो कि वह पर्याप्त निक्षेपो को आकर्षित कर सके।

१६ केन्द्रीय सहकारी बैंक—सामान्यत केन्द्रीय सहकारी बैंक भारत जैसे देश के लिए आवश्यक उच्चतर वित्तीय एजेन्सियाँ हैं, क्योकि भारत में प्रारम्भिक समितियो द्वारा पूँजी स्थानीय रूप से एकत्रित की जाती है तथा उसकी पूर्ति बाहर से और सुदूर द्रव्य-बाजारो से करनी पडती है। इसलिए केन्द्रीय अथवा राज्य बैंको, जैसे उच्चतर सघो या वित्तीय सस्थाओ की स्थापना की आवश्यकता होती है। ये बैंक क्रमश प्रारम्भिक समितियो को दूरस्थ नगरो से सम्बन्धित करेंगे, जिनसे प्रारम्भिक समितियो को चालू पूँजी मिल सके। इस प्रकार की विशेष सहकारी वित्तीय प्रणाली आवश्यक है। एक तो ग्रामीण वित्त को दीर्घकालीन पूँजी की अधिक मात्रा में आवश्यकता होती है और दूसरे सम्मिलित पूँजी वाले बैंक, जो अपना व्यापार कुछ प्रमुख नगरो में ही चलाते है, दूरस्थ ग्रामीण समितियो को जिनके बारे में वे कुछ नही जानते, कृषि-उत्पादन के लिए आवश्यक अर्थ उपलब्ध कराने के हेतु दीर्घकालीन ऋण नही दे सकते, भले ही वे ऋण देने में समर्थ क्यो न हों। वित्तीय वितरक पद्धति की आधारभूत भावना यह है कि समिति के साधन उन हजारो कृषको के लिए सुलभ बनाए जायँ, जिन्हे उनकी आवश्यकता है।

जो प्रारम्भिक समितियाँ इनके अन्तर्गत होती है उनकी चालू पूँजी की कमी और अधिकता के सन्तुलन-केन्द्र का काम भी ये केन्द्रीय बैंक करते हैं। प्रारम्भिक समितियो के लिए आवश्यक पूँजी को यह एकत्र करते हैं और प्रत्यक्ष रूप से अथवा जहाँ पर गारन्टी यूनियन है वहाँ उनके द्वारा, प्रारम्भिक समितियो को उधार देते हैं। कई राज्यो में केन्द्रीय बैंक समितियो के निरीक्षण और सगठन का काम भी कर सकते है, विशेषकर उस समय जब कि वे समितियाँ इसकी हिस्सेदार हो। केन्द्रीय बैंक मुख्यत एक वित्तीय एजेन्सी है। सम्बन्धित समितियो के वित्तीय प्रबन्ध के अलावा, केन्द्रीय बैंक अन्य काम भी करते हैं जैसे, विभिन्न प्रकार के निक्षेपो को स्वीकार करना, बिल, चेक, हुण्डी, डिविडेण्ड वारन्ट और रेलवे सम्बन्धी कार्य करना, ड्राफ्ट और हुण्डी को जारी करना, बहुमूल्य पदार्थो को सुरक्षा में रखना और प्रतिभूतियो (सीक्योरिटी) का क्रय-विक्रय आदि।[2] इसका कार्य-क्षेत्र कुछ राज्यो, जैसे बगाल, बिहार, उडीसा और पजाब में एक तालुका अथवा तहसील से लेकर, अन्य राज्यो में जैसे बम्बई, मद्रास और मध्यप्रदेश में एक

सघ के सगठन पर नानवती की रिपोर्ट।

२ एग्रीकल्चर क्रेडिट डिपार्टमेन्ट (रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया) बुलेटिन न० १।

३ रिव्यू ऑफ द कोआपरेटिव मूवमेन्ट इन इण्डिया (१९३९-४०), पृ० ११।

जिले अथवा बहुत से तालुको में फैला होता है। अत्यन्त छोटे क्षेत्र में प्रबन्ध-व्यय अनावश्यक रूप से अधिक होता है और अत्यन्त बडे क्षेत्र में पर्यवेक्षण का कार्य कुशल नही होता। प्रत्येक दशा में हमें बीच के मार्ग को अपनाने का प्रयत्न करना चाहिए।

केन्द्रीय बैंक अपनी सरचना के अनुसार मिश्रित और शुद्ध दो प्रकार के होते हैं। मिश्रित केन्द्रीय बैंक समितियो और व्यक्तियो से मिलकर बनते है, और ये बैंक हिस्सा, पूँजी और प्रबन्ध-परिषद् के प्रतिनिधित्व के सम्बन्ध में समिति को ही विशेष सुविधाएँ देते है। इस प्रकार के बैंक सघीय बैंको के आदर्श को प्राप्त करने के लिए स्वीकार किये जा सकते है अर्थात् ऐसे केन्द्रीय बैंक के लिए जिसकी सदस्यता केवल समितियों तक सीमित हो। मिश्रित केन्द्रीय बैंक धनी व्यापारियो और मध्यम-वर्ग के सदस्यो की राय और सहायता को प्राप्त करते है, तथा केवल समितियो के हितो की रक्षा करते है और वे एक शुद्ध केन्द्रीय बैंक में बदले जा सकते है जिसमें व्यक्तिगत सदस्यता का लोप हो जायगा। मिश्रित प्रकार की बैंक भारत की वर्तमान परिस्थितियो में उपयुक्ततम हैं तथा सभी राज्यो में उनका प्रचार है। आदर्श सघीय बैंक यद्यपि सिद्धान्तत श्रेष्ठ है, परन्तु उनकी कुछ कमियाँ है। उदाहरणार्थ, आवश्यक व्यापारिक योग्यता के लिए वे आत्म-निर्भर नही होते, और न वे मध्यम वर्ग को ही आकर्षित कर सकते हैं, और इस प्रकार प्रारम्भिक समितियो के लिए आवश्यक धन भी उन्हे नही मिल पाता। कुछ राज्यो में, जैसे बगाल और पंजाब में शुद्ध संघीय केन्द्रीय बैंको की सख्या बढ रही है, जिन्हें बैंकिंग सघ (यूनियन) कहते है।

भारतीय सघ में राज्य-बैंको सहित कुल ५२० केन्द्रीय बैंक थे, और उनके सदस्य (१९५१ में) २२८, १४८ थे। चालू पूँजी का मुख्य भाग हिस्सा पूँजी (लगभग ७ प्रतिशत) था। व्यक्तियो एव समितियो से प्राप्त निक्षेप (लगभग ६८ ५ प्रतिशत) भी चालू पूँजी का अधिकाश भाग थे। केन्द्रीय और प्रान्तीय बैंको के ऋण १५ प्रतिशत तथा सुरक्षित एव अन्य कोष ८.५ प्रतिशत थे। सन् १९५१ में केन्द्रीय बैंको की चालू पूँजी ५६ ३८ करोड़ रुपये थी।

चालू पूँजी का ८४ प्रतिशत भाग (ऋण और निक्षेप आदि विभिन्न साधनो से) उधार लिया हुआ है। केन्द्रीय बैंको के निक्षेपो के दायित्व के विचार से केवल पर्याप्त (सुरक्षित) नकद रखना ही आवश्यक नही है,[1] वरन् पर्याप्त दीर्घकालीन निक्षेपो को आकर्षित करना भी आवश्यक है अन्य लोगो के समान सुरक्षित नकदी रखने पर मैक्लेगन कमेटी ने भी विशेष बल दिया था।[1] १९३७ में भारत के रिज़र्व बैंक के कृषि-ऋण

[1] यद्यपि अधिकृत कोष का अनुपात चालू पूँजी के साथ असन्तोषजनक नहीं मालूम होता, फिर भी रक्षित कोष के निर्माण के दृष्टिकोण से कुछ केन्द्रीय बैंकों की वास्तविक स्थिति इतनी सन्तोषजनक नहीं है। कभी-कभी सुरक्षित कोष, बुरे ऋणों के लिए उचित व्यवस्था के बिना ही बनाए जाते हैं और इस प्रकार परीक्षा करने पर यह कुछ अश तक कल्पित भी हो सकते हैं।—रिव्यू ऑफ़ द कोआपरेटिव मूवमेन्ट इन इण्डिया (१९३९-४०) पृष्ठ ११।

१. मैक्लेगन कमेटी रिपोर्ट, पैरा १८। मेहता, पूर्व उद्धृत, पृष्ठ १३२ और स्टेटयुटरी रिपोर्ट ऑन एग्रीकल्चरल क्रेडिट (रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया), पैरा २२।

विभाग ने अपनी सर्वेक्ष रिपोर्ट तथा प्रान्तीय सहकारी बैंको को जारी किये हुए परिपत्र में इसी बात पर बल दिया है (आगे सेक्शन २३ देखिए)। केन्द्रीय बैंको को प्रारम्भीय समितियो को दिये हुए ऋणो को इस प्रकार व्यवस्थित करना चाहिए कि निक्षेपो की यथासमय अदायगी का निश्चय बना रहे। केन्दीय बैंको के उधार लिये हुए धन का (उधार कोष) लगभग ६० प्रतिशत ऋण के रूप में दे दिया जाता है। इस प्रकार केन्द्रीय बैंको के पास 'तरल' साधन बहुत निचले स्तर पर रहते है। समय पर चुकता न किया हुआ या कालातीत ऋण केन्द्रीय बैंको की अप्राप्त राशि का बहुत बडा अश है। अधिकतर असाध्य ऋण केन्द्रीय बैंक के निजी कोष से बढ सकते है। सामान्यत बम्बई, मद्रास, और पजाब आदि राज्यो में केन्द्रीय बैंको की सापेक्षिक अवस्था सुदृढ है, परन्तु कुछ अन्य राज्यो मे, विशेषकर बगाल, बिहार, उडीसा, मध्यप्रदेश और बरार मे इनकी अवस्था शोचनीय है। लगभग १० वर्ष इन राज्यो में अनेक केन्द्रीय बैंको को निक्षेपो की वापसी की असमर्थता के कारण अपना काम बन्द करना पडा। केन्द्रीय बैंको के फेल हो जाने के कारण इन राज्यो में समितियो को असावधानी से अत्यधिक ऋण देना, अयोग्य निरीक्षण, कार्य-व्यापार में बैंक-व्यवहार के नियमो का उल्लघन और प्रारम्भिक समितियो का दोषपूर्ण सगठन आदि थे।[1]

बैंक के कार्यो में लचक लाने के लिए नकद साख और सहकारी कागजो के भुनाने की सुविधाओ का होना आवश्यक है। पुराने होने के कारण, बहुत से केन्द्रीय बैंको के पास इतने साधन है कि वे बाह्य वित्तीय सहायता से मुक्त हो सकें, परन्तु वे अपनी साख-व्यवस्था राज्यीय बैंको से ही बनाये रखते है, क्योकि इन राज्यीय बैंको पर वे सकट-काल में भरोसा रखते है। अब हम राज्यीय सहकारी बैंको की प्रवृत्ति और उपयोगिता पर विचार करेंगे।

२०. राज्यीय सहकारी बैंक—सहकारी समितियो की बढती हुई सख्या के सम्बन्ध में अपने कार्यो को उचित रूप से पूरा करने, उन्हे सयोजित और नियन्त्रित करने, निकास-गृह के रूप में चालू पूँजी की अधिकता और कमी को सन्तुलित करने तथा राज्य के वित्तीय केन्द्र की तरह काम करने के लिए केन्द्रीय बैंको को राज्यीय शीर्ष बैंक की सहायता की आवश्यकता होती है।

उपरोक्त नकद और सहकारी कागज भुनाने की सुविधाएँ भी ये बैंक केन्द्रीय बैंकों को प्रदान करते है। इस विषय में सम्मिलित पूँजी वाले बैंको पर भरोसा नही किया जा सकता, क्योकि वे विशेष प्रतिभूति को स्वीकार नही कर सकते। राज्यीय बैंक एक ओर सामान्य द्रव्य-बाजार और सम्मिलित पूँजी वाले बैंको के बीच, और दूसरी ओर प्रारम्भिक ग्रामीण समितियो के बीच एक लाभदायक कडी है। इस सम्बन्ध में बगाल की एक रोचक प्रणाली का हवाला दिया जा सकता है। इसके अनुसार कृषि की शिथिल ऋतु में राज्यीय बैंको मे जमा किया हुआ अतिरिक्त सहकारी द्रव्य सम्मिलित पूँजी वाले बैंको के द्वारा व्यापार और वाणिज्य के लिए उपलब्ध हो जाता है, जो दोनो

१ रिव्यू ऑफ द कोआपरेटिव मूवमेंट इन इण्डिया (१९३९-४०), पृष्ठ ११-१२। केन्द्रीय बैंकों के पुनर्निर्माण के लिए सुझाये और अपनाये गए उपायों के लिए, सेक्शन २६-२७ देखिए।

ही पक्षो के लिए लाभदायक है। राज्यीय बैंको को गृह-समिति, विक्रय-सघ, भूमि-बन्धक बैंक जैसी विशेष समितियो को छोडकर, अन्य समितियो के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही रखना चाहिए, बल्कि केन्द्रीय बैंको के लिए सन्तुलन-केन्द्रो और वित्तीय एजेन्सियो के रूप में अपनी स्थिति को सशक्त और पुष्ट करना चाहिए।[1] इस सम्बन्ध में एक-सी विधि नही है। कुछ राज्यो में शीर्ष बैंक प्रारम्भिक समितियो से कोई सम्बन्ध नही रखते और कुछ अन्य राज्यो में (बिहार, उडीसा, बम्बई और मैसूर), उन क्षेत्रो में वे अब भी प्रारम्भिक समितियो का आर्थिक प्रबन्ध करते है, जहाँ केन्द्रीय बैंक नही है। बम्बई में राज्यीय बैंक की ३१ शाखाएँ है जो उन जिलो अथवा उनके भागो में फैली हुई है जहाँ किसी-न-किसी कारण से कोई स्थानीय बैंक नही है।

राज्यीय बैंको का विधान विभिन्न प्रान्तो में अलग-अलग है। बम्बई, मद्रास, मध्यप्रदेश व बरार, बिहार और आसाम में व्यक्ति एव समिति दोनो ही स दस्य हो सकते है। सचालक-परिषद् विभिन्न प्रकार की समितियो और व्यक्तिगत सदस्यो के प्रतिनिधियो से बनती है। आजकल आवश्यक व्यापारिक ज्ञान और राज्यीय द्रव्य-बाजार से निक्षेप पाने के लिए व्यक्तियो को सम्मिलित करना आवश्यक है। पजाब और बगाल में सदस्यता केवल समितियो के ही लिए खुली है और सचालक-परिषद् के सदस्य केवल सम्बन्धित केन्द्रीय बैंक, बैंकिंग-सघ तथा अन्य समितियो के प्रतिनिधि ही हो सकते है। बगाल में रजिस्ट्रार गैर-सदस्यो में से ३ सचालको को नियुक्त करता है।

राज्यीय शीर्ष बैंक १४ राज्यो में लगभग इन्ही आधारो पर स्थापित किये जा चुके है। ये राज्य मद्रास, बम्बई, पश्चिमी बंगाल, उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, पजाब, बिहार, उडीसा, आसाम, मैसूर, हैदराबाद अजमेर, कुर्ग और विन्ध्यप्रदेश है। इनमें से बम्बई राज्यीय बैंक केन्द्रीय बैंक के रूप में १९११ में स्थापित किया गया और सर्वसम्मति से योग्यतम माना जाता है। उसका कार्य-व्यापार अनेक प्रकार का है। आर्थिक प्रबन्ध, प्रचार अथवा निरीक्षण आदि सहकारी विकास का कोई ऐसा रूप नही है जिसमे यह हाथ न बँटाता हो। प्रारम्भ से ही बैंक ने उपयोगी कार्य किये है तथा सहकारिता की परम्परा में इसका स्थान अद्वितीय है।

राज्यीय बैंक का निजी कोष चालू पूँजी के १२ प्रतिशत के लगभग है और उधार लिया हुआ कोष (समितियो, केन्द्रीय बैंको, व्यक्तियो, अन्य साधनो से निक्षेप तथा सरकार से ऋण) चालू पूँजी का ८८ प्रतिशत है। असाध्य ऋणो के लिए हमेशा पर्याप्त प्रबन्ध नही किया गया है, और इसलिए वास्तविक बची अतिरिक्त परिसम्पत्ति उतनी नही है जितनी सुरक्षित कोष के आँकडो में दीखती है। सम्पूर्ण स्थिति को ध्यान में रखते हुए राज्यीय बैंको की आर्थिक अवस्था केन्द्रीय बैंको से कही अच्छी है, यद्यपि इसके कुछ अपवाद भी है। राज्यीय बैंको का कार्यारम्भ और उदाहरण ही सहकारिता आन्दोलन में बैंकिंग के सिद्धान्तो के अधिकाधिक प्रयोग के लिए उत्तरदायी है। नकद सुरक्षित कोष, नकद ऋण जैसी सुविधाएँ, राज्यीय बैंको द्वारा पहली बार

१. रिपोर्ट ऑफ द सेन्ट्रल बैंकिंग इन्क्वायरी कमेटी, देखिए पैरा १५९।

भुनाये हुए सहकारी विपत्रों को पुन भुनाने आदि के सम्बन्ध में केन्द्रीय वैंको पर लागू विचार यहाँ के लिए भी उचित है। राज्यीय और केन्द्रीय वैंको के पुनर्सगठन के लिए रिज़र्व वैंक ऑफ इण्डिया ने अपने कृषि-साख की सवैध रिपोर्ट में जो सुझाव पेश किये है, वे वाद में दिये गए है (देखिए सेक्शन २७)।

२१ क्या अखिल भारतीय सहकारी बैंक आवश्यक है?—मैक्लेगन कमेटी ने सिफारिश की थी कि उपर्युक्त प्रकार की वित्तदायी एजेन्सियो के अतिरिक्त अखिल भारतीय सहकारी वैंक स्थापित किया जाय, जो राज्यीय बैंको को पुन भुनाने की सुविधा दे सके ताकि उनकी अर्थ-व्यवस्था मे लोच आ जाय जिस लचीलेपन के विना आन्दोलन का स्थायित्व और विकास कठिन हो जायगा।[1]

मैक्लेगन कमेटी की रिपोर्ट के बाद, अखिल भारतीय वैक की आवश्यकता अथवा वाञ्छनीयता के वारे में विचार वदल गए हैं। इस वर्तमान स्थिति के नये तत्त्व ये हैं कि राज्यीय वैंको के पास भारी रकम बेकार पडी रहती है, तथा अनेक वैंक १९-१५ की कमेटी द्वारा प्रस्तावित स्तर मे कही अधिक 'तरल' साधन रखते है। इम्पीरियल बैंक तथा अन्य वैंकों से आर्थिक सहायता का आश्वासन, सहकारिता का राज्यीय विषय होना, अखिल भारतीय बैंक जैसे वाह्य अधिकारियो से स्वतन्त्र होकर राज्यो की अपने अनुकूल विकास करने की प्रवृत्ति, तथा विभिन्न राज्यीय वैंको में पारस्परिक लेन-देन की स्वस्थ और ऐच्छिक प्रणाली का प्रारम्भ, जिसमें भारतीय राज्यीय वैंक सस्था भी मदद देती है, आदि बातें भी हैं। अब रिज़र्व वैंक की स्थापना हो चुकी है, इसलिए राज्यीय बैंको के लिए किसी शीर्ष बैंक की आवश्यकता नही रही, क्योकि राज्यीय वैंको को पुन भुनाने और ऋण की सुविधाएँ रिज़र्व बैंक से प्राप्त हो जाती है। अतएव वर्तमान प्रणाली के लिए किसी शीर्ष बैंक की आवश्यकता नही है। (सेक्शन २२-२३ देखिए)।

२२ रिज़र्व बैंक ऑफ इण्डिया और सहकारी कृषि-वित्त का सम्बन्ध—१ अप्रैल १९३५ को रिज़र्व वैंक के उद्घाटन के बाद[2] उससे कृषि की वित्तीय सहायता के सम्बन्ध में वडी आशाएँ की जाने लगी।[3] वैंक को कृषि विपत्र (विल) और रुक्को (प्रामिसरी नोट को) जिन पर किसी अनुसूचित बैंक या राज्यीय सहकारी बैंक के हस्ताक्षर हो, तथा जो कृषि-कार्यो को वित्त प्रदान करने के उद्देश्य से बनाये गए हो और जिनकी समयावधि ९ महीने की हो, उन्हें खरीदने, बेचने और पुन भुनाने की इजाज़त है। व्यापारिक विपत्र के सम्बन्ध में केवल ३ महीने की ही समयावधि है। चूँकि कृषि-वित्त का चक्र व्यापारिक वित्त-चक्र से वडा होता है, इसलिए यह कृषि के लिए एक प्रकार की रियायत है। वे भूमि-बन्धक वैंक, जिन्हे राज्यीय सहकारी बैंक घोपित कर दिया गया है तथा अन्य राज्यीय सहकारी वैंको को ९० दिन के लिए

१ रिपोर्ट, पैरा २१९-२९।

२ रिज़र्व वैंक का विवेचन, द्वितीय खण्ड, अध्याय ११ में किया गया है।

३ रिज़र्व वैंक ऑफ इण्डिया ऐक्ट (१९३४) के (२) वी, (४) ए, सी और डी और सेक्शन १७ देखिए। रिज़र्व वैंक ऑफ इण्डिया द्वारा प्रकाशित कृषि साख की सवैध रिपोर्ट, पैरा ३७ भी देखिए।

उधार अथवा अग्रिम देने का अधिकार भी रिज़र्व बैंक को दिया गया है। इनके द्वारा रिज़र्व बैंक केन्द्रीय बैंको और प्रारम्भिक भूमि-बन्धक बैंको को सरकारी पत्र या स्वीकृत भूमि-बन्धक बैंको के ऋण-पत्रो की, जो न्यासी प्रतिभूतियो के समकक्ष और सरलता से बिकने योग्य है, जमानत पर ऋण दे सकते हैं। रिजर्व बैंक ६० दिन के लिए निम्न-लिखित जमानतो पर राज्यीय सहकारी बैंको को अग्रिम दे सकता है · (१) कृषि-कार्यो के आर्थिक प्रबन्ध के लिए केन्द्रीय सहकारी बैंको के रुक्को पर, (२) स्वीकृत सहकारी विक्रय-समितियो या भाण्डागार समितियो के रुक्को पर, जो फसलो की बिक्री के लिए बनाये गए हो और जिन पर राज्यीय गोदाम की रसीद या उसमे सहकारी बैंक के हस्ता-क्षर हो, तथा (३) उधार और जमा से अधिक रुपया निकालने की स्वीकृति बन्धक रखी हुई वस्तुओ के आधार पर तथा राज्यीय सहकारी बैंक द्वारा विक्रय या भाण्डागार समि-तियो को दिये हुए नकद साख या अधिकर्षण के होने पर राज्यीय सहकारी बैंको के रुक्को पर।

इसका कार्य सन् १६३५ में रिज़र्व बैंक के कृषि ऋण-विभाग की स्थापना, कृषि-ऋण से सम्बन्धित सभी प्रश्नो का अध्ययन करना, सरकार और सहकारी बैंको को योग्य सलाह देना तथा कृषि-उधार के सम्बन्ध में राज्यीय बैंको अथवा अन्य सगठनो के कार्यों को सयोजित करना है। कानून के अनुसार कृषि ऋण-विभाग ने दिसम्बर सन् १६३७ में सरकार के समक्ष कृषि उधार पर एक रिपोर्ट पेश की। कृषि ऋण-विभाग ने निम्न विषयो पर चार रोचक और शिक्षणात्मक बुलेटिन प्रकाशित किये—(१) कोदिनार का बैंकिंग सघ (१६३७), (२) सहकारी ग्रामीण बैंक (१६३७), (३) बर्मा में सहकारिता आन्दोलन का वर्तमान विकास (१६३८), और (४) पजाबर में सह-कारिता (पजाब १६३६)। सन् १६४१ में रिज़र्व बैंक ने सुधारो का निर्देश करते हुए तथा सर्वेध रिपोर्ट को पूर्ण करने के लिए प्राप्त सफलता तथा वर्तमान प्रवृत्तियो का विश्लेषणात्मक अध्ययन 'रिव्यू ऑफ द को-ऑपरेटिव मूवमेन्ट इन इण्डिया'[1] में बडे रोचक और सरल ढग से छापा।[2]

२३ सहकारी बैंकों के सम्बन्ध में रिज़र्व बैंक का कार्य—कृषि-ऋण की रिपोर्ट (१६३७) में रिजर्व बैंक ने सहकारी बैंको की वित्तीय सहायता से सम्बन्धित अधि-नियम की धाराओ और उनके प्रति अपना रुख स्पष्ट किया है। आम विचार यह है कि रिज़र्व बैंक को कृषि का वित्त-प्रबन्ध अपने हाथ में लेना चाहिए। भारत जैसे देश में कृषि-कार्य अशिक्षित और छोटे-छोटे किसानो द्वारा किया जाता है। यह कार्य असग-ठित है एव जोखिमो से भरा है। इस बात को ध्यान में रखते हुए, बैंकिंग के पुराने सिद्धान्तो के अनुसार, केन्द्रीय बैंको के लिए न तो यह वाञ्छनीय है और न सम्भव ही कि वे प्रत्यक्ष रूप से अल्प अथवा दीर्घ काल के लिए कृषि का अर्थ-प्रबन्धन कर सकें। कृषि-

१. अब तक रिजर्व बैंक इस प्रकार के चार 'रिव्यू' छाप चुका है। अन्तिम रिव्यू १६४८-५० का है। अब १६५०-५२ का पाँचवाँ रिव्यू भी छप गया है।

२ अन्य बातों के लिए 'फक्शन्स एण्ड वर्किंग ऑफ द रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया', देखिए (१६४१ में रिजर्व बैंक द्वारा प्रकाशित) अध्याय ६, पृष्ठ ६६-७६।

वित्त के सम्बन्ध में रिज़र्व बैंक के निर्णय प्राचीन विचारो से ही प्रभावित रहे हैं। इसके अतिरिक्त जैसा कि सर्वेध रिपोर्ट में कहा गया है कि प्रमुख बैंको के निक्षेपो के आधार पर उनके नकद कोष और 'तरल' साधन रिज़र्व बैंक को सौंपे हुए हैं। यही उसकी चालू पूँजी का सबसे बडा भाग है। इस प्रबन्ध में मूल विचार यह है कि इन साधनो की सारी निधि सकट-काल में प्राप्त हो सके। ऐसे व्यापारो में धन नही लगाया जा सकता जिन्हे अनुसूचित बैंक स्वय नही कर सकते। इस प्रकार यह बैंक व्यवहारियो का बैंक है। इसलिए यह किसानो को सीधे ऋण नही दे सकता और किसी भी ऋण-एजेन्सी की सामान्य वित्त की पूर्ति नही कर सकता। इन समितियो को अपने व्यापार के लिए रिजर्व बैंक पर भरोसा नही करना चाहिए। रिज़र्व बैंक का सही कार्य ऐसी वित्त-सम्बन्धी परिस्थितियाँ उत्पन्न करना है जिनमें निवेश करने वालो के लिए और ऋण चाहने वालो के लिए पर्याप्त सुविधाएँ हो। जिस समय देश की व्यापारिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए व्यापारिक ऋण का भण्डार अपर्याप्त होता है, केवल उसी समय रिजर्व बैंक उधार देने का काम करता है। सहकारी बैंको के विषय में भी इन्ही आधारभूत सिद्धान्तो का अनुसरण करना चाहिए। व्यापारिक बैंको के समान इन बैंको को भी अपने पैरो पर खडा होना चाहिए तथा सामान्य वित्त को निक्षेपो से प्राप्त करना चाहिए। उन्हे आन्दोलन के शीर्ष बैंक की तरह रिजर्व बैंक से इसकी आशा नही करनी चाहिए। आर्थिक सहायता देने की आवश्यकता और औचित्य पर परिस्थिति के अनुसार रिजर्व बैंक को निर्णय करना चाहिए। अधिक-से-अधिक रिज़र्व बैंक प्रान्तीय बैंको के कोष की अस्थायी कमी को दूर कर सकता है। रिजर्व बैंक सहकारी बैंको को नैकद-उधार की सुविधा के अनुदान के लिए अभी प्रस्तुत नही है, क्योकि सरकारी प्रतिभूतियो के प्रति उनको अग्रिम देने के लिए कानून में धारा है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि सहकारी वित्त को लचकदार बनाने और सहकारी बैंक की दर को कम करने के लिए प्रान्तीय सहकारी बैंको को नकद साख की सुविधाओ का मिलना आवश्यक है।

समय-समय पर रिज़र्व बैंक बैंकिंग के नियमो को बताने के लिए सहकारी बैंको को परिपत्र और आदेश जारी करता है। उदाहरण के लिए मई, सन् १९३८ और जून, सन् १९३९ में रिज़र्व बैंक ने प्रान्तीय सहकारी बैंको को सलाह दी कि वे अन्य बैंको के साथ नकदी और सरकारी प्रतिभूतियो के रूप में 'तरल' साधन बनाए रखें, जो उनकी देनदारी का लगभग ४० प्रतिशत हो तथा अपने-आपको अल्पकालीन ऋणो तक ही सीमित रखें। रिज़र्व बैंक से वित्तीय सुविधा प्राप्त करने के लिए एक शर्त यह है कि राज्यीय बैंको को रिज़र्व बैंक में नकद रुपया जमा रखना चाहिए, जिसकी राशि ऐसे बैंक की त्वरित देनदारी (डिमाण्ड लाइबिलिटी) के २½ प्रतिशत और समयावधि देनदारी (टाइम लाइबिलिटी) के एक प्रतिशत से कम न हो और इस सम्बन्ध में रिज़र्व बैंक को विवरण प्रस्तुत करना चाहिए।[1] १९३८ के बाद केवल दो राज्यीय बैंको ने सरकारी प्रतिभूतियो के आधार पर रिज़र्व बैंक से थोडी राशि के अग्रिम लिए हैं। उनके साधन पर्याप्त थे, परन्तु उन्होने रिज़र्व बैंक का आश्रय इसलिए लिया ताकि वे प्रतिभूतियो को

१ फक्शन्स एण्ड वर्किंग ऑफ द रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया, पृ० ७० ।

बेचने से बच जायँ और निम्नतम दर पर उधार ले सकें।

कृषिक वित्त और औद्योगिक वित्त में बहुत अन्तर है और भारत की विशेष परिस्थितियो के कारण इनका हल और भी कठिन हो जाता है। निवेशित धन को 'तरल' रखने और खतरो को दूर करने की रिज़र्व बैंक की चिन्ता स्वाभाविक ही है। कृषि के अल्प, मध्यम तथा दीर्घकालीन ऋण की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए इगलैण्ड, अमेरिका और आस्ट्रेलिया के ढग पर एक विशेष ऋण-व्यवस्था की स्थापना से इस कठिनाई को दूर करने का एक मार्ग ढूँढा जा सकता है।[1] रिज़र्व बैंक के लिए वर्तमान सहकारी एजेन्सियो द्वारा कृषि के साथ आर्थिक सम्बन्ध स्थापित करना और कृषि ऋण-विभाग[2] को विस्तृत करना सम्भव है। देशी बैंको को रिज़र्व बैंक के दायरे के अन्दर लाने के लिए शीघ्र ही कदम उठाना चाहिए, क्योकि इससे कृषिको को बैंक द्वारा दी हुई सहायता बहुत बढ जायगी।[3]

२४. सहकारिता आन्दोलन और सरकार का सम्बन्ध—सरकार का कर्तव्य है कि अनुचित हस्तक्षेप किये बिना वह सहकारी आन्दोलन के प्रति एक मित्र, विचारक और पथ-प्रदर्शक का काम करे, जोकि सामाजिक पुनरुत्थान का शक्तिशाली साधन बन सकता है। भारत में जनसाधारण के अज्ञान, राज्य-हस्तक्षेप करने की प्राचीन परिपाटी तथा ग्रामीण ऋण की समस्या तुरन्त हल करने की आवश्यकता के कारण सरकार ने ठीक ही सहकारी आन्दोलन के रूप में पहला कदम उठाया है। वे अनावश्यक रूप से आर्थिक सहायता देने की नीति से दूर रहे है, क्योकि फ्रान्स का अनुभव यह प्रकट करता है कि यह लाभ की अपेक्षा अधिक हानिकारक है। हम लोग देख चुके है कि राज्य ने सहकारी सस्थाओ को कुछ आर्थिक और न्यायिक छूट तथा नई समितियो को सीमित आर्थिक सहायता दे रखी है। बम्बई में सरकार ने बम्बई की राज्यीय सहकारी बैंक द्वारा जारी किये हुए ऋण-पत्रो पर २० लाख की रकम तक ४ प्रतिशत ब्याज की गारन्टी दी है। इस छूट के कारण बैंक कृषि-वित्त के लिए अत्यावश्यक दीर्घकालीन पूँजी उचित दर पर एकत्रित कर लेता है। इसके लिए उसे सरकारी कोष की

---

१. दीर्घकालीन ऋण और भूमिबन्धक बैंकों के प्रति रिजर्व बैंक के व्यवहार के प्रश्न का विवेचन इस अध्याय में आगे किया गया है। सेक्शन २८-२९, ३१ देखिए।

२. दिसम्बर ३०, सन् १९५३ में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया (अमेन्डमेन्ट एण्ड मिसलेनियस प्रॉविज़न्स) एक्ट पास किया गया। इस कानून ने 'फसलों' (क्रॉप्स) 'कृषि कार्य' (एग्रिकल्चरल आपेरशन्स) और 'फसलों का विपणन' (मार्केटिंग ऑफ क्रॉप्स) आदि शब्दों के अर्थ को विस्तृत कर दिया है। इन शब्दों का प्रयोग कानून की धारा १७ (२) (बी) में हुआ है, अर्थ के विस्तृत हो जाने से वस्तुओं की उत्पत्ति, उनके विपणन तथा विधायन के लिए भी धन मिल सकेगा। विधायन के लिए धन उसी दशा में दिया जायगा जब विपणन के पूर्व यह अत्यावश्यक हो, उदाहरण के लिए चावल की भूसी अलग करना, कपास को दवाना आदि। इस कानून के अन्तर्गत सहकारी राज्यीय बैंकों को अनुग्रह मिलने का भी विधान है ताकि वे स्वीकृत कुटीर उद्योग-धन्धों और छोटे पैमाने के उद्योगों की आर्थिक सहायता कर सकें। परन्तु रिजर्व बैंक द्वारा अनुग्रह की शर्त यह होगी कि इस कार्य के लिए दिये हुए ऋणों के मूल धन और ब्याज की गारन्टी राज्यीय सरकारें दें।—अनुवादक

३ इस प्रश्न का पूर्ण विवेचन द्वितीय खड के ११वें अध्याय सेक्शन ४-५ में किया गया है।

सहायता नही लेनी पडती। बैंक के व्यापार के सुरक्षित गुण के कारण सरकार द्वारा गारन्टी पूरी करने की सम्भावना नही रहती। हाल में ही बम्बई और मद्रास की सरकार ने राज्यीय सहकारी भूमि-बन्धक बैंक द्वारा जारी किये हुए ऋण-पत्रो की इसी प्रकार की सहायता दी है।[१] बम्बई सरकार ने सहकारी एजेन्सियो के द्वारा स्थायी भूमि-सुधार के लिए तकावी बाँटने की नीति को अपनाया है। चकबन्दी, प्रौढ-शिक्षा, सिंचाई आदि जैसे सहकारिता के विशिष्ट रूपो को अधिक सहायता देना प्रान्तो के लिए एक उचित नीति होगी। हम रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के कृषि-ऋण-विभाग की स्थापना और सहकारी आन्दोलन में इसकी अभिरुचि की चर्चा पहले ही कर चुके हैं।[२] सन् १६३५ में केन्द्रीय सरकार द्वारा ग्राम सुधार के १ करोड रुपये के कुल अनुदान में १५ लाख रुपया, रिजर्व बैंक के कृषि ऋण-विभाग के खुलने पर श्री एम० एल० (अब सर मैल्कम) डार्लिंग आई० सी० एस० की रिपोर्ट के अनुसार सहकारी आन्दोलन के सुधार और विस्तार-कार्य के लिए निर्दिष्ट था। प्रशिक्षण के लिए केन्द्रीय सरकार आर्थिक सहायता के अलावा, राज्यीय सरकारो ने सहकारी शिक्षा देने वाली वर्तमान सस्थाओ के अनुदानो को बढा दिया। यहाँ यह बता देना अनुचित न होगा कि बम्बई सरकार ने विभागीय अधिकारियो, केन्द्रीय और शहरी बैंको के कर्मचारियो और ग्रामीण विकास-अधिकारियो की ट्रेनिंग के लिए सहकारी ट्रेनिंग योजनाएँ चालू की हैं।[३] पजाब में विभागीय अधिकारियो की ट्रेनिंग पर विशेष ध्यान दिया जाता है और यह कार्य विशेष शैक्षणिक अधिकारियो द्वारा सम्पन्न किया जाता है। मद्रास सहकारिता कमेटी (मद्रास कमेटी ऑन को-आपरेशन) ने अपनी रिपोर्ट (पैरा ३७६) में शहरी और केन्द्रीय बैंको के बडे-बडे पदो तथा सहकारी विभाग में नौकरी चाहने वालो के लिए एक सहकारी विद्यालय प्रारम्भ करने की सिफारिश की, जिसका सगठन और प्रबन्ध सरकार द्वारा होगा।

आन्दोलन के नियन्त्रण और पथ-प्रदर्शन के सम्बन्ध में सरकार की नीति दृढ रही है। उदाहरण के लिए रजिस्ट्रार के कुछ कर्तव्यो को जिला अधिकारियो को हस्तान्तरित करने की माँग को न मानने में सरकार का मैक्लेगन कमेटी से सहमत होना ठीक ही था। इस कमेटी ने अत्यधिक सरकारी हस्तक्षेप की निन्दा की और लिखा कि कलेक्टर जैसे अधिकारियो की सही स्थिति तो यही होगी कि वे समुचित सहानुभूति और जानकारी के साथ हितैषियो की तरह आन्दोलन की सहायता करें। उन्हे प्रबन्ध में कोई घनिष्ठ सम्बन्ध या कोई प्रत्यक्ष वित्तीय उत्तरदायित्व नही लेना चाहिए। सहकारी विभाग और सहकारिता आन्दोलन का सम्बन्ध एक अपवाद है। प्रारम्भिक नीति तो यह थी कि आन्दोलन पर विभाग का अधिकार तेजी से कम होता जाय तथा समितियो के आत्म-निर्भर तथा व्यक्तिगत उद्यम के स्वावलम्वी

१ आगे सेक्शन ३१ देखिए।

२ सेक्शन २२-२३ देखिए।

३ एनुअल रिपोर्ट ऑन द वर्किंग ऑफ कोआपरेटिव सोसाइटीज इन द प्राविन्स ऑफ बाम्बे (१६३६-४०), पैरा १२०।

होने पर रजिस्ट्रार केवल रजिस्ट्री करने वाला अधिकारी रह जाय, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि यह नीति उचित रूप से कार्यान्वित नही की जा सकी। रजिस्ट्रार की स्थिति का महत्त्व प्रतिदिन बढता जा रहा है और उसके कामो में शुष्कता के दूर होने के चिन्ह भी नही है। इस प्रतिगामी नीति को मैक्लेगन समिति ने मानो अपनी अनुमति प्रदान की। उनके अनुसार भारत में सहकारिता का सतत विकास उच्च वैतनिक और योग्य रजिस्ट्रारो के अभाव में सोचा ही नही जा सकता। यह आम धारणा है कि कुछ अयोग्यता रहने पर भी व्यक्तिगत उद्यम को उत्साहित करने तथा आन्दोलन को यथासम्भव गैर-सरकारी और आत्मनिर्भर बनाने की नीति होनी चाहिए। १९२१ में मान्टेग्यू चेम्सफोर्ड के सुधार के बाद, आन्दोलन को स्वतन्त्र करने की प्रवृत्ति देखी गई, परन्तु सन् १९३० की आर्थिक मन्दी के बाद प्रतिक्रिया हुई और अब आन्दोलन को विभाग के अधिकाधिक नियन्त्रण में लाने की प्रवृत्ति है। आन्दोलन को गैर-सरकारी रूप देने का एक उपाय यह है कि गैर-सरकारी सस्थाओ, जैसे बम्बई राज्यीय सहकारी सस्थान (इन्स्टीट्यूट) अथवा मद्रास सहकारी सघ को सहायता देनी चाहिए। इस सस्थाओ को समितियो के पर्यवेक्षण, सगठन और लेखा-परीक्षण के लिए रजिस्ट्रार के कुछ अधिकार भी देने चाहिएँ। कान्फ्रेन्स, कर्मचारियो और सामान्य जनता के लिए ट्रेनिंग की व्यवस्था, पत्रिका-प्रकाशन तथा गाँवो के पुनर्निर्माण आदि कार्यों द्वारा प्रचार-कार्य के लिए उन्हे उत्साहित करना चाहिए। आन्दोलन की महत्त्वपूर्ण आवश्यकता, गैर-सरकारी-सघ और केन्द्रीय एजेन्सियो द्वारा पर्यवेक्षण और नियन्त्रण के लिए निजी अधिकारियो को रखना है, जिनके अभाव अथवा अपर्याप्त होने पर सरकारी हस्तक्षेप स्वाभाविक रूप से आवश्यक हो जाता है। समितियो के कार्य पर नियन्त्रण और जन-विश्वास के लिए समय-समय पर सरकारी लेखा-परीक्षण किया जा सकता है। निस्सन्देह सरकारी पथ-प्रदर्शन और नियन्त्रण आवश्यक है और निकट भविष्य में यह बराबर रहेगा।[1] विभाग के सबंध कर्तव्यो को पूरा करने के लिए विभाग में सरकारी अधिकारियो की वृद्धि तथा उनकी उच्च शिक्षा, अच्छी ट्रेनिंग और ऊँचे वेतन के पक्ष में कहना बिलकुल अनुचित नही है। "यह कहना उपयुक्त होगा कि कठिन कर्तव्यो को दृष्टि में रखते हुए रजिस्ट्रार का व्यक्तित्व अत्यधिक महत्त्व का विषय है तथा इस पद के लिए सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति को रखना चाहिए।"[2] परन्तु परिस्थितियो के अनुसार आन्दोलन से सम्बन्धित सरकारी एव गैर-सरकारी सभी व्यक्तियो को उसे यथाशीघ्र स्वचालित, स्वनिर्भर तथा जनतन्त्रात्मक बनाने के लिए कठोर परिश्रम करना चाहिए।

१. तुलना कीजिए, सी० आर० फे, कोआपरेशन ऐट होम एण्ड एब्रॉड, खण्ड १, पृ० ३९। 'यह पुराना विचार कि सरकार सहकारी समितियों को प्रारम्भ करके अपना हाथ खींच सकती है, मैं समझता हूँ, झूठ है। उचित नीति चाहती है कि सरकार को सावधानी से प्रवेश करना चाहिए और सदस्यों को आत्मसाहाय्य के अनु रूप ही प्रगतिशील सहायता देनी चाहिए।

२. रजिस्ट्रार की योग्यताओं के सुन्दर विवेचन और उनके कार्यों की प्रकृति के लिए देखिए, कृषि-आयोग रिपोर्ट, पैरा ३७५ तथा स्ट्रिकलेंड, रिपोर्ट ऑन एग्रीकल्चरल कोआपरेशन इन पेलेस्टाइन, पैरा २६-९।

२५. सहकारी सस्थान आदि—वम्बई के सहकारी समिति अधिनियम (१९२५) ने (वाम्बे प्राविन्शल को-आपरेटिव इन्स्टीट्यूट) वम्बई राज्यीय सहकारी सस्थान को मान्यता प्रदान की, जो गैर-सरकारी सभापतित्व में, राज्यीय सहकारी कान्फ्रेन्सो और राज्य के सहकारी कामो को सम्पादित करती है। प्रशिक्षण-कार्य और सहकारी साहित्य के प्रकाशन के लिए इस सस्थान को राज्यीय सरकार से अनुदान मिलता है। राज्यीय सहकारी यूनियन सहकारी समितियो का अन्तिम सघ है। इसकी कानूनी अधिष्ठा है तथा इसे लेखा-परीक्षण का कार्य सौंपा गया है। इसके विपरीत उपर्युक्त सस्थान मुख्यत सहकारी शिक्षा देने का माध्यम है। इस कार्य में वे सरकार के साथ भाग लेती है। यद्यपि सस्थान प्रचार-कार्य के लिए लाभप्रद काम कर रहा है, तथापि समस्याओ के क्रमवद्ध अध्ययन और आन्दोलन के विशिष्ट पहलुओ पर विशेष ज्ञान और सलाह देने के अतिरिक्त उद्देश्यो को वह अभी पूरा नही कर सका है। सन् १९३८ में वम्बई सरकार ने सस्थान के पुनर्सगठन के लिए एक योजना बनाई जिसके अन्तर्गत उसके विधान का सशोधन होगा और उसका मुख्य कार्य सहकारी समितियो के सदस्यो और सहकारी आन्दोलन के कार्यकर्ताओ को शिक्षा देना होगा। साथ ही इसकी सदस्यता जिला पर्यवेक्षण परिषद् (डिस्ट्रिक्ट सुपरविजन बोर्ड) और अन्य सहकारी समितियो के सघो को प्राप्य होगी। आन्दोलन को प्रभावित करने वाले अनेक विषयो पर गैर-सरकारी विचारो का सकलन करना भी इसका कार्य है।

१ अक्टूबर, सन् १९२९ को (ऑल इण्डिया कोआपरेटिव इस्टिट्यूट्स एसोसिएशन) अखिल भारतीय सहकारी सस्था-सघ की स्थापना से गैर सरकारी एजेन्सियों की उन्नति के सम्बन्ध में एक अच्छा विकास हुआ है। सितम्बर सन् १९२९ में बम्वई में, अखिल भारतीय सहकारी सस्थान-सघ की कान्फ्रेंस में सर्वसम्मति से इसका निर्माण हुआ। इसका प्रधान उद्देश्य समस्त सरकारी प्रश्नो पर सदस्य सस्थाओं को और सहायता देना तथा उनके द्वारा सहकारिता की उन्नति और विस्तार करना है। जनवरी सन् १९३५ से उपयुक्त सघ ने एक त्रैमासिक पत्रिका 'इण्डियन कोआपरेटिव रिव्यू' का प्रकाशन आरम्भ किया। यह समस्त भारत में सहकारी आन्दोलन का सामाजिक सर्वेक्षण प्रस्तुत करता है।

एक दूसरा अखिल भारतीय सहकारी बैक सगठन (इण्डियन प्राविशल को-आपरेटिव बैक्स असोसिएशन) भारतीय राज्यीय सहकारी बैक एसोसिएशन है जिसका उद्देश्य विशेषकर वित्त, शासन और विधान द्वारा सामान्य हितो की वृद्धि करना है।

२६. भारत में सहकारी आन्दोलन का आलोचनात्मक मूल्यांकन—भारत में सहकारी आन्दोलन ने उन सारी आर्थिक और सामाजिक बुराइयो, जिनसे भारत आज पीडित है, को दूर करने में सफलता नही पाई है। इसके विपरीत, वह नितान्त निष्प्रयोजन भी नही है। सर्वप्रथम सहकारी समितियो द्वारा सुलभ सस्ते उधार के कारण, किसान और कारीगर वर्ग ने लगभग १ करोड रुपये की बचत की। यह आशा करना अनुचित न होगा कि निकट भविष्य में ये आँकडे कई गुना हो जायँगे, विशेषकर उस समय जब दीर्घकालीन उधार देने वालो के सहकारी सगठन का जन्म हो जायगा। सहकारिता

ने महाजन की नैतिक पतन करने वाली भयावह रूप से सरल ऋण-पद्धति के स्थान पर ऐसी व्यवस्था की है कि ऋण नियन्त्रित और सीमित रहते है। अनेक स्थानो पर सहकारिता ने महाजनो की प्रबल स्थिति को नष्ट कर दिया है और उन्हे व्याज की दर कम करने के लिए विवश कर दिया है। ऋण-मुक्ति के विपय में यद्यपि बहुत कुछ करना शेष है और यह सत्य भी है कि सहकारिता अकेले ही किसानो को ऋण के भार से मुक्त करने में असमर्थ होगी, परन्तु फिर भी सहकारी आधार पर भूमि-बन्धक बैंको की स्थापना से कुछ-न-कुछ सफलता अवश्य हुई है।[1] सामूहिक जीवन का प्राचीन रूप, जो कृषक को शोषित होने से बचाता था, के स्थान पर सहकारिता किसानो की घर के बाहर और भीतर रक्षा करने के लिए सामूहिक जीवन का नया रूप है।[2] सहकारिता की उन्नति के साथ, बैंक-व्यवहार की आदत धीरे-धीरे, परन्तु तत्परता से ग्रामीण और शहरी दोनो क्षेत्रो में बढ रही है। बेकार पडी हुई सम्पत्ति अब धीरे-धीरे उपयोगी कार्यों में प्रयुक्त हो रही है। कृषि, जो भारत का प्रधान उद्योग है, सहकारिता से कई प्रकार से लाभान्वित हुई है। सहकारिता ने कृपि-विभाग के काम, जैसे सुधारे हुए बीज और पशु, सस्ती खादो, और औजारो को लोकप्रिय बनाने और सामान्यता 'सुचारु कृपि, सुचारु व्यापार और सुचारु रहन-सहन' के आदर्श की प्राप्ति में, काफी सहायता की है। सहकारिता और कृषि के आपसी विकास के सच्चे और सजीव सम्बन्ध में बडी सम्भावनाएँ है।[3] ग्रामीण सफाई और ग्रामीण क्षेत्रो में उचित औषधि की सुविधा के विधान के सम्बन्ध में सहकारिता ने महत्त्वपूर्ण कार्य प्रारम्भ किया है। साथ ही सहकारी आन्दोलन ने देश के कुछ भागो में ग्रामीण क्षेत्रो से जनसख्या के कम होने की प्रवृत्ति का विरोध किया है।

विशेषकर कृपि-इतर कार्यों के लिए खोली गई समितियाँ यद्यपि छोटे पैमाने पर है, फिर भी अपने क्षेत्र में लाभदायक काम कर रही है। मिल-मज़दूरो, दलित जातियो और हर प्रकार के कर्मचारियो की दशा, सहकारिता के प्रभाव से सुधर रही है। कुटीर-उद्योगो, विशेषकर हाथ-करघा उद्योग को सहकारिता का सहयोग प्राप्त है।[4]

विस्तृत अर्थ में, सहकारिता से बौद्धिक और नैतिक लाभ भी हैं जिनका महत्त्व किसी प्रकार भी कम नही है। जहाँ कही भी सहकारी समितियाँ प्रारम्भ की गई हैं उनसे ऐसे लाभ हुए है। "नैतिक उन्नति की स्पष्ट साक्षी देना कठिन है, क्योकि नैतिक उन्नति के चिह्न तथ्यो के रूप में नही गिनाए जा सकते। परन्तु इस पर भी आन्दोलन को निकटता से देखने-समझने वाले इन नैतिक प्रभावो को जान सकते हैं। मुकदमेबाजी, फिजूलखर्ची, शराब और जुएबाजी सब-के-सब दोप अच्छे सहकारी समाज

१. आगे सेक्शन ३० देखिए।

२. डार्लिंग, पजाब पेजैन्ट्स, चतुर्थ सस्करण, पृष्ठ २४८ देखिए।

३. देखिए, भारत सरकार का सहकारिता पर प्रस्ताव १७ जून १९१४, पैरा ७।

४. आन्दोलन के ग्रामीण और शहरी, इन दो पहलुओं में शहरी आन्दोलन की उन्नति अधिक सन्तोषजनक है। कार्य, व्यापार, प्रबन्ध की कुशलता तथा सदस्यों की सख्या आदि सभी दृष्टिकोणों से इसका कार्य अपेक्षाकृत अधिक सन्तोषप्रद है।—रिव्यू ऑफ द कोआपरेटिव मूवमेन्ट इन इण्डिया, १९३९-४०), पृ० ८०।

में कम हो रहे हैं और उनका स्थान, उद्योग, आत्मविश्वास, स्पष्ट व्यवहार, शिक्षा और निर्णायक समिति, मितव्ययिता, आत्म-साहाय्य और पारस्परिक सहायता आदि ने ले लिया है" (एम० एल० डार्लिंग)। आन्दोलन ने किन्ही बातो में शिक्षा के लिए अत्यन्त रुचि पैदा कर दी है और वृद्ध लोग भी इससे लाभ उठाने के लिए तत्पर दिखाई देते हैं। इसने नैतिकता के सामान्य स्तर और गुण को भी सुधारा है और ग्रामीण जनता में 'एक सब के लिए और सब एक के लिए' की भावना का विकास किया है। सक्षेप में सहकारिता आन्दोलन गांवो के पुराने सघटित जीवन के पुनरुत्थान और उसकी शक्ति को पुन लाने के लिए एक सशक्त साधन है।

हमें यह स्वीकार करना ही पडेगा कि नैतिक, शैक्षणिक और पूर्णतया आर्थिक आदि सभी लाभ बहुत छोटे पैमाने पर प्राप्त हुए हैं। उदाहरण के लिए कृषि-इतर सहकारिता के क्षेत्र में बहुत काफी काम करना है और सफलता प्राप्त करनी है। कृषि सहकारिता भी व्यवहारत ऋण देने तक ही सीमित है और यहाँ भी, जैसा कि सर एम० विश्वेश्वरैया ने व्यग्यपूर्वक कहा है, "जो कुछ किया गया है वह सतह खरोचने के बराबर है।"[1] जहाँ सामान्य वर्षा होती है सहकारिता वही उन्नत हो पाई है। अनिश्चित वर्षा वाले भागो में कालातीत ऋण और अदायगी की असफलता साधारण बात है। केन्द्रीय बैंक-व्यवहार जाँच समिति ने निर्देश किया है कि कुछ राज्यों में सहकारिता सगठनों द्वारा दिया गया ऋण किसानो के लिए बहुत मँहगा है और यह आवश्यक है कि ब्याज की वर्तमान दरो में कमी करने के लिए कदम उठाए जायें।

स्पष्टतया यह भी आवश्यक है कि आन्दोलन की वास्तविक कार्य-प्रणाली के विभिन्न दुर्गुणो को दूर करने के लिए उन्हें स्वीकार करना चाहिए। इन दोषो में असमय अदायगी, झूठी अदायगी, कालातीत ऋण, सदोष लेखा-परीक्षण, अयोग्य नियन्त्रण, बेनामी ऋण, सम्बन्धियो के प्रति पक्षपात, शिथिल कार्यवाही, सख्ती, टालमटोल करना और सहकारी वित्त का अपर्याप्त होना आदि हैं।[2] सदस्यो को सहकारिता के सही नियमो की शिक्षा देने वाला अधिकारी-वर्ग कभी-कभी स्वय ही अज्ञानी, कम ट्रेनिंग पाया हुआ तथा कार्य के अयोग्य होता है। प्राय सभी साधारण सदस्यो के अहित मे प्रबन्ध-समितियाँ और सभापति सारे अधिकार हडप लेते हैं। "पदाधिकारी और आन्दोलन के नेता बहुधा सदस्यो के दोषो और दुर्व्यवहारो के प्रति अनुचित शिष्टाचार और नैतिक शक्ति का अभाव" दिखाते हैं और गम्भीर

---

१ पूर्व उद्धृत, पृ० १८५। केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति का भी यही मत था कि सहकारी आन्दोलन द्वारा कृषकों को दी हुई साख-सुविधाएँ उनकी आवश्यकताओं के अनुपात में बहुत थोड़ी थीं। रिपोर्ट, पैरा १६६।

२ भारत में सहकारिता आन्दोलन की विभिन्न कमियों के विस्तृत अध्ययन के लिए, रिपोर्ट ऑन एग्रीकल्चरल क्रेडिट, फ़ाइनान्स एण्ड बर्किंग ऑफ रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया और रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया द्वारा प्रकाशित रिव्यू ऑफ द कोआपरेटिव मूवमेंट इन इण्डिया (१९३९-४०), रिपोर्ट ऑफ़ द कमेटी ऑन को आपरेशन इन मद्रास (१९३९-४०), इण्डियन जनरल ऑफ इकनामिक्स में प्रकाशित २५वें इण्डियन इकनॉमिक्स कान्फ्रेन्स में ग्रामीण सहकारिता पर पढ़े गए लेख, कान्फ्रेन्स नम्बर १९४१, डी० एम० हाऊ 'द कोआपरेटिव मूवमेंट इन इण्डिया, पृष्ठ २२६-४० देखिए।

अनियमितताओ को, इस आशा में झेलते हैं कि कोई सरकारी अधिकारी आकर सब ठीक कर देगा। कालातीत ऋणो की पुनर्प्राप्ति के लिए वैधानिक उपायो एव सख्त कार्यवाही के प्रति व्यक्तिगत अप्रियता होने के भय से वे वडी अनिच्छा दिखाते हैं। हाल में कालातीत ऋण में वहुत वृद्धि हुई है और यह आन्दोलन के लिए अत्यधिक शोचनीय बात है। ऋणो का अत्यधिक उदारतापूर्वक दिया जाना, अनुत्पादक ऋण और उनकी पुनर्प्राप्ति में ढिलाई, कालातीत ऋणो के प्रधान कारण हैं, जो हर जगह वहुत वडी मात्रा में हैं और जो यथार्थ में दीर्घकालीन ऋण हो गए हैं।

वहुत से सदस्यो का यह विश्वास है कि सहकारिता आन्दोलन केवल राज्य द्वारा प्रवन्धित है और समिति से जो रुपया उधार लिया जाता है, वह सरकार का है। सहकारिता के उद्देश्यो को सदस्यो द्वारा उचित ढग से न समझे जाने के कारण वे इसके प्रति उदासीन हो जाते हैं, जो आन्दोलन के लिए घातक है। समितियो को महाजनो के स्थान पर एक दूसरी सस्ती व्यवस्था समझकर समिति के बारे में उनकी धारणा स्वार्थमय होती हैं। और इस प्रकार वे आन्दोलन के साथ अपने को पूर्णतया नही मिला पाते, जो इसकी सफलता के लिए आवश्यक है।

जैसा कि हमने देखा है भारत में सहकारिता का प्रारम्भ सरकार द्वारा हुआ है न कि जनता द्वारा। परन्तु अव भी आन्दोलन की वागडोर का सरकारी हाथो में होना वहुत वडा दोष है, क्योकि सहकारिता का सार अपनी सहायता अपने आप करना है। ये सिद्धान्त तथा जीवित रहने की इच्छा, आन्तरिक प्रेरणा से प्राप्त होनी चाहिए, किसी वाह्य साधन से नही।

जैसा कि पहले सकेत किया जा चुका है, १९२९ में मूल्य ह्रास होने पर आन्दोलन को गहरा धक्का लगा। यद्यपि मूल्य ह्रास, आन्दोलन की कठिनाइयो का प्रधान कारण था तथापि यह भी स्पष्ट हो गया कि आन्दोलन में स्वत कुछ वुराइयाँ हैं जो आन्दोलन के विस्तार-काल में नही देखी जा सकी, परन्तु मूल्य ह्रास के सकट के समय में प्रत्यक्ष रूप से प्रकट हो गई। कुछ राज्यो में जिनमें विहार, उडीसा, मध्यप्रदेश, वगाल भी हैं, सकट आया। आर्थिक सकट के कारण वहुत से अप्रिय समजन करने पडे। परन्तु उससे यह लाभ भी हुआ कि हमारा ध्यान आन्दोलन की कठिनाइयो पर केन्द्रित हो गया। तदनन्तर आन्दोलन स्वस्थ अन्तरावलोकन और आत्मालोचन करता रहा है। आश्चर्यजनक सफलताओ को छोडकर ठोस परिणामो की प्राप्ति की अधिकाधिक चेष्टा की जाने लगी है। सर्वत्र अधिकारियो का मूल-मन्त्र विस्तार के स्थान पर 'एकीकरण' और 'शुद्धिकरण' हो गया है। फेरीवालो की तरह चिल्ला-चिल्लाकर इस आन्दोलन को वढावा नही दिया जा रहा, वल्कि इसका स्थान दोपो को दूर करने के लिए उन्हे ढूँढ निकालने की एक सच्ची भावना ने ले लिया। मध्यप्रदेश व वरार, विहार, उडीसा, वम्वई और मद्रास में जाँच का कार्य प्रारम्भ किया गया है। रिज़र्व वैंक ऑफ इण्डिया द्वारा प्रकाशित प्रारम्भिक और सवैध कृषि-ऋण की रिपोर्ट, वैंक द्वारा प्रकाशित पत्रिकाएँ और रिव्यू ऑफ द कोआपरेटिव मूवमेण्ट इन इण्डिया (१९४१) आदि ने सहकारी आन्दोलन को फिर से आलोचनात्मक दृष्टि से देखा है। इन जाँचो

के परिणामस्वरूप,सहकारी आन्दोलन के लिए पुनर्सगठन की योजना मध्यप्रदेश, बगाल और बिहार में बनाई गई है, तथा सभी राज्यो में विभिन्न उपायो से समितियो के पुनर्निर्माण और उनको पुन शक्ति प्रदान करने के लिए कदम उठाए जा रहे है जिनमें से कुछ की चर्चा अगले खण्ड में की गई है। यह सब बिलकुल ठीक है, क्योकि आन्दोलन की बुराइयो की अवहेलना करना, उसकी हत्या करना है। उनका सामना निष्कपटता से और हल दृढता से करना चाहिए। आशाओ के अनुरूप फल न प्राप्त होने के कारण आन्दोलन के कार्यकर्ताओ को निराश न होना चाहिए। उन्हे सहकारिता के सदेश में विश्वास रखना चाहिए। जिसने अन्यत्र चमत्कार कर दिये हैं उस सहकारिता को इस देश में भी सफल बनाने के लिए पहले से भी अधिक परिश्रम से कार्य करना चाहिए, क्योकि, जैसा कि कृषि-आयोग ने कहा है, "यदि सहकारिता असफल होती है तो ग्रामीण भारत की सबसे बडी आशा निष्फल हो जायगी।"[1]

२७. सहकारिता आन्दोलन का नवीकरण—सवैध रिपोर्ट में कृषि-ऋण विभाग द्वारा दिये हुए मुख्य सुझाव और तदनुसार आन्दोलन के शुद्धीकरण और पुनर्सगठन के लिए किये गए प्रयत्नो का विवरण देकर हम सहकारी आन्दोलन के इतिहास को समाप्त कर सकते हैं।[2] विभिन्न राज्यो में ग्रामीण ऋण-मुक्ति (रूरल डेट रिलीफ) सम्बन्धी कानून बन जाने के कारण व्यक्तिगत ऋण-व्यवस्था कम हो गई है और इसलिए इस प्रकार के सुधार की आवश्यकता और भी अधिक हो गई है।

(१) सहकारी समितियो के कालातीत और दीर्घकालीन ऋणो को अल्पकालीन ऋणो से अलग और उचित स्थान पर रखना चाहिए। उद्देश्य-प्राप्ति के लिए कालातीत ऋण को इतना कम कर देना चाहिए ताकि उनसे २० वर्ष की अवधि में खेती में हुए लाभ से ही छुटकारा मिल जाय। यह कार्य अशत सुरक्षित एव अन्य कोषो द्वारा ऋणो के अपलेखन तथा अशत सदस्यो की परिसम्पत्ति के कुछ भाग को बेचकर ऋण वसूल करने से हो सकता है। शेष ऋण को भूमि-बधक बैंक जैसी विशेष एजेन्सियो को सौंप देना चाहिए। भविष्य में आर्थिक सहायता न देने तथा समितियों के अपकरण की नीति अपनाने की तुलना में उपर्युक्त प्रणाली कम आपत्तिजनक है।

पुनर्निर्माण की सामान्य कार्य-प्रणाली यह थी कि समितियो के देय की परीक्षा की जाय और उन्हे ऋणी व्यक्तियो की देय-क्षमता के अनुरूप कम कर दिया जाय तथा यह राशि कुछ वर्षो में किश्तो से अदा की जाय। समितियो के शेष सदस्यो को कृषि तथा अन्य आवश्यक कार्यो के लिए वस्तुरूप में पुन आर्थिक सहायता देना पुनर्सगठन की नीति का मुख्य भाग था। बहुधा राज्यीय सरकारें राज्यीय बैंको द्वारा भी सहायता पहुँचाती थी। वर्तमान ग्रामीण समितियाँ कृषि-कार्यो के लिए तुरन्त ऋण देने में अस-

१ कृषि आयोग रिपोर्ट, पैरा ३७१, 'भूतकाल की असफलताओं के बावजूद भी आन्दोलन वित्त सम्बन्धी सकुचित कार्य को पूरा करने के अतिरिक्त ग्रामीण भारत के पुनर्निर्माण के साधन के रूप में विकसित किया जा सकता है।'—सर मनीलाल बी० नानावती द्वारा रिव्यू ऑफ द कोआपरेटिव मूवमेंट इन इण्डिया (१९३९-४०) का प्राक्कथन।

२ रिव्यू ऑफ द कोआपरेटिव मूवमेंट इन इण्डिया (१९३९-४०), पृ०, १५-३५।

मर्थ थी, इसलिए सामयिक कृपि-कार्यो में किसानो की सहायता करने के लिए वगाल, और वरार में वहुत अधिक सख्या में फसलो के लिए ऋण देने वाली समितियाँ सगठित की गई। इन राज्यो में, जहाँ स्थिति अत्यन्त खराब है, केन्द्रीय वैंको की परिसम्पत्ति और देनदारी को ठीक करने और उनके कार्यो को पुनर्सगठित करने के लिए उन्हे फिर से निर्मित किया जा रहा है।

(२) ऋण लेने और देने की दरो में पर्याप्त अन्तर द्वारा सुदृढ सुरक्षित कोष वनाने के लिए सहकारी समितियो को राय दी गई। इससे समितियाँ प्रतिकूल काल में अपनी कठिनाइयो तथा हानियो का सामना करने मे समर्थ हो जायँगी, क्योकि इस समय सदस्य अपने ऋण नही चुका सकते। यह कार्य निस्सन्देह सहकारी समितियो की आर्थिक स्थिति को सुदृढ करेगा। परन्तु इस आलोचना के सत्य को भी नही भुला देना चाहिए कि इस प्रस्ताव को अपनाने से व्याज की दरें इतनी ऊँची हो जायँगी कि कृषक उन्हे दे ही न सकेंगे। इसमें ऋणो को कृपि व्ययो तक ही सीमित रखना चाहिए।

(३) औजारो और पशुओ के क्रय जैसे उद्देश्यो के लिए मध्यम ऋण की पूर्ति-सम्वन्धी सीमित अग्रिम भी सम्मिलित होगा। अन्य कार्यो के लिए, जो उत्पादक तो नही हैं परन्तु अत्यन्त आवश्यक हैं, कम-से-कम ऋण देना चाहिए जो कृपक की देय-क्षमता से अधिक न हो। इस कार्य के लिए एक से अधिक साधनो से उधार लेने के लिए उन्हे रोकना चाहिए तथा उनका कुल देय धन भूमि के औसत मूल्य या मालगुजारी के आधार पर सीमित होना चाहिए।

(४) प्रारम्भिक समितियो को, जो सम्पूर्ण सहकारी आन्दोलन की मूल हैं, ग्रामीण वैंको पर प्रकाशित रिज़र्व वैंक के वुलेटिन में प्रस्तावित आधारो पर पुनर्सगठित करना चाहिए। इसे वहुमुखी समितियो की तरह काम करना चाहिए और किसानों के सम्पूर्ण जीवन को अपने क्षेत्र के अन्दर ले आना चाहिए। इसे हिस्सा और सुरक्षित कोप से निजी कोष वनाने चाहिएँ और मितव्ययिता तथा वुद्धिमानी का पाठ पढाकर सदस्यो से निक्षेप प्राप्त करना चाहिए। हम इस सिफारिश के आधार पर किये गए कार्यो और कुछ राज्यो में वहुमुखी समिति की स्थापना का सकेत कर चुके हैं। (ऊपर सेक्शन १३ देखिए।)

(५) प्रारम्भिक समितियो को छोटे-छोटे वैंक-व्यवहार सघ वनाने चाहिएँ, (जैसे वडौदा राज्य के कोदिनार में है), जो अपने हाथ में वित्त, पर्यवेक्षण और शिक्षा के कार्यो को ले लेंगे और जिनके लिए आजकल वहुत सी एजेन्सियाँ काम कर रही हैं। एजेन्सियों की अधिकता से शक्ति का ह्रास होता है। (ऊपर सेक्शन १७ देखिए।)

(६) सहकारी विपणन का विकास नीचे से करना चाहिए। इस उद्देश्य के विचार से प्रारम्भिक समितियो को उनके सदस्यो द्वारा एकत्रित कृपि-उत्पत्ति के सयुक्त विपणन के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। उन्हे वडी केन्द्रीय विक्रय-समितियो से सम्वन्धित करना चाहिए। हम वम्वई राज्य में नई विपणन-योजना का हवाला पहले ही दे चुके हैं।

(७) वर्तमान केन्द्रीय और राज्यीय वैंको को पुन सगठित करना चाहिए। यदि

केन्द्रीय बैंको को बनाए रखना हो, तब भी बडे केन्द्रीय बैंको को बैंक-व्यवहार सघो में विभक्त कर देना चाहिए। केन्द्रीय बैंको को अपनी सदस्य-समितियो के कार्य मे अधिक रुचि लेनी चाहिए। सदस्यो के नैतिक और भौतिक स्तर को ऊँचा करने के लिए केन्द्रीय बैंको को समितियो के कार्यों का पथ-प्रदर्शन, पर्यवेक्षण, सदस्यो को सहकारी सिद्धान्तो की शिक्षा देने में सहयोग तथा सामान्यत महकारिता की कार्य-प्रणाली के सुधार मे सहायता देनी चाहिए। सम्पूर्ण राज्य में आन्दोलन के पथ-प्रदर्शन और सचालन के कार्य में राज्यीय बैंको को कही अधिक भाग लेना चाहिए। दोनो प्रकार के बैंको को निक्षेपो की वापसी के लिए पर्याप्त तरल साधन (सुरक्षित कोप) रखना चाहिए तथा अपनी वास्तविक स्थिति प्रकट करने के लिए विवरण-पत्र में कालातीत ऋणो को दिखाने का प्रबन्ध अवश्य करना चाहिए। सहकारी बैंको को उत्तम श्रेणी के व्यापारिक बैंको से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करना चाहिए और अपने व्यापार के पुनर्संगठन में उनसे राय लेनी चाहिए तथा बैंकिंग व्यवसाय के व्यक्तियो को भी परिषद में स्थान देना चाहिए। उन्हे अपने अधिकारी-वर्ग की समुचित ट्रेनिंग का भी प्रबन्ध करना चाहिए।

(८) सहकारी अधिकारियो को बैंकिंग के सिद्धान्त और व्यवहार, ग्रामीण अर्थशास्त्र तथा सहकारिता के नियमो की विशेष ट्रेनिंग का प्रबन्ध करना चाहिए। रजिस्ट्रार की ट्रेनिंग को विशेष महत्त्व देना चाहिए, क्योकि वह सम्पूर्ण आन्दोलन का आधार है।

भूमि-बन्धक बैंक

२८ भूमि-बन्धक बैंकों की आवश्यकता—किसानो की ऋणो से स्थायी मुक्ति के लिए दीर्घकालीन ऋण आवश्यक हैं। छोटे और बडे सभी किसानो को मँहगे, परन्तु लाभदायक सुधार करने के लिए उनकी आवश्यकता होती है। सहकारी समितियाँ इनमें से कोई भी आवश्यकता पूरी नही कर सकती और उनसे किसानों की अल्प और मध्यमकालीन ऋण की आवश्यकताओ को पूरा करने की ही आशा की जा सकती है। वे दीर्घकालीन ऋण नही दे सकती हैं, यद्यपि किसान को अनेक कार्यो के लिए इनकी आवश्यकता होती है। रेफ़ेजन प्रकार के ग्रामीण बैंको का उद्देश्य बडे ज़मीदारो की आवश्यकता को पूरा करना नही है जो महाजनो के शिकार सरलता से हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त साधारण व्यापारिक बैंक और महाजन अपनी पूँजी को लम्बे समय के लिए नही दे सकते और न ऋण लेने वालो की आय अथवा बचत से थोडे-थोडे में अपने ऋण की पूर्ति कर सकते हैं। इसलिए विशेष प्रकार की ऋण-सस्था की आवश्यकता पडती है जिसे हम भूमि-बन्धक बैंक कहते हैं। इन बैंको का उद्देश्य केवल महाजनो को हराना ही नही है वरन् राज्य-ऋणो की असन्तोपजनक पद्धति को भी दूर करना है। साथ ही इसका कार्य ब्याज की दर को कम करके उत्पादक सुधारो को किसानो की पहुँच के अन्दर लाना है।[1]

२९ भूमि-बन्धक बैंकों के तीन प्रकार—भूमिबन्धक बैंक सहकारी, गैर-सहकारी और अर्द्ध सहकारी हो सकते हैं। जहाँ तक किसानो और छोटे-छोटे काश्तकारो की मुक्ति का

[1] देखिए, रिपोर्ट ऑफ द सेण्ट्रल बैंकिंग इन्क्वायरी कमेटी, पैरा ३८९-८४।

सम्बन्ध है, सदस्यो द्वारा वन्धक रखी हुई सम्पत्ति की गारण्टी और पारस्परिक सहयोग पर आधारित सहकारी प्रकार का बैंक अत्यन्त उपयोगी है। भारत में प्रचलित बैंक अधिकतर अर्द्ध-सहकारी प्रकार के है। यद्यपि सभी भूमि-वन्धक बैंको में सिद्धान्त रूप से सहकारिता के तत्त्व विद्यमान हैं, परन्तु वे अधिकतर ऋणकर्ताओ की सीमित दायित्व वाली सस्थाएँ ही समझे जाते हैं, जिनके कुछ सदस्य गैर-ऋणकर्ता भी होते है। गैर-ऋण-कर्ताओ की सदस्यता प्रारम्भिक पूँजी तथा योग्य प्रवन्ध के लिए आवश्यक व्यापारिक कुशलता और सगठन की प्राप्ति के लिए होती है। इसके अतिरिक्त भूमि का मूल्याकन सरकार द्वारा नियुक्त किये गए अधिकारियो द्वारा किया जाता है और ऋण रजिस्ट्रार की पूर्व अनुमति से दिया जाता है। रिजर्व बैंक ने सहकारी गुणो से युक्त सस्थाओ पर अत्यधिक विश्वास करने के खतरो पर बल दिया है। इनके सचालक-वर्ग और प्रवन्ध में भावी ऋणकर्ताओ का ही प्रतिनिधित्व होता है और उधार देने वालो को अपर्याप्त सुरक्षा अर्पित की जाती है। बम्बई और अन्य राज्यो में अर्ध-सहकारी भूमिवन्धक बैंको की स्थापना की जा रही है (आगे सेक्शन ३० और ३२ देखिए)। ये बैंक रिजर्व बैंक द्वारा सकेत किये हुए खतरो को दूर करने में वहुत ही सफल होंगे। बडे-बडे जमीदारो को आर्थिक सहायता देने के लिए गैर-सहकारी अथवा व्यापारिक भूमि-वन्धक बैंक अधिक उपयुक्त है।[1]

३०. भारत में भूमिबन्धक बैंकों का इतिहास[2]—सन् १८६३ में लन्दन में लैण्ड मार्गेज बैंक ऑफ इण्डिया लिमिटेड नाम की कम्पनी की रजिस्ट्री हुई, जिसका उपनाम 'क्रेडिट फोशिर इन्डीन' था। यह फ्रेंच क्रेडिट फोशिर के प्रतिरूप पर आधारित थी। इस बैंक ने बीस वर्ष तक खूब उन्नति की, परन्तु उसके वाद इसकी दशा गिरने लगी। इसके प्रधान कारण चाय उद्योग के लिए अग्रिम देना (जिसका दाम उस समय गिर रहा था), सम्पूर्ण देश में स्थायी बन्दोबस्त का न होना, वगाल में जमीदारो को उधार देने वाले ऋण-कार्यालयो जैसे प्रतिद्वन्द्वियो का प्रकट होना, आदि है। १८८३ में सर विलियम वेडरवर्न द्वारा प्रस्तावित पूना जिले के लिए भूमि-बैंक की असफल योजना का वर्णन पहले ही किया जा चुका है। सर फ्रेडरिक निकलसन (१८९५) का विचार था कि भूमि-बैंक मद्रास प्रेसीडेन्सी के किसानो के लिए न तो उचित है और न आवश्यक ही। सर दिनशा वाचा मिश्र की तरह के भूमि-बैंको के जोरदार समर्थक थे, जिसे वे ऋण के प्रश्न को हल करने का एकमात्र उपाय मानते थे। १९१९ मे तत्कालीन वित्त सदस्य सर जेम्स मेस्टन ने उन भूमिबैंको का पक्ष लिया जो मुख्यत बुद्धिमान जमीदारो, स्थानीय

१ रिपोर्ट ऑफ द सेंट्रल बैंकिंग इन्क्वायरी कमेटी, पैरा १९८-९ और प्रिलिमिनरी रिपोर्ट ऑन एग्रीकल्चरल क्रेडिट (रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया), पैरा १७।

२ भूमि-बन्धक बैंक के प्रारम्भिक इतिहास के लिए १९२८ के इण्डियन इकनामिक कान्फ्रेंस (लखनऊ) में पढा गया भूमिबन्धक बैंक पर जे० सी० मिनहा का लेख देखिए। वर्तमान स्थिति के लिए, केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति की रिपोर्ट, पैरा २०४-१०; तथा इण्डियन कोआपरेटिव रिव्यू में अनेक प्रान्तों में भूमिबन्धक बैंकों के कार्यो पर दिये गए नोट देखिए। (जुलाई-सितम्बर १९३७) पृष्ठ, ४९८-५०१ देखिए, (अप्रैल-जून १९४१), पृठ २९५-३०३, और रिव्यू ऑफ द कोआपरेटिव मूवमेंट इन इण्डिया (१९३९-४०), पृ० ३६-४०।

साहसी व्यक्तियो द्वारा प्रारम्भ किये गए थे और अपना कार्य स्थानीय निरीक्षण और बुद्धिमान जमीदारो की देख-रेख में करते थे। उन्होने यह भी कहा कि इस प्रकार का कोई भी बडे पैमाने का कार्य करना सरकार के लिए उचित न था। प्रारम्भ की अधिकाश योजनाओं में किसानो को उनकी सम्पत्ति की जमानत पर, ऋण देने का विचार नही किया गया था, क्योकि वे अधिकतर बडे जमीदारो के लिए बने थे। इसके बाद से विचारो में परिवर्तन हो गया और अब ऐसे बैंको की स्थापना को सरकारी और गैर सरकारी समर्थन प्राप्त है। १९२६ में बम्बई रजिस्ट्रार कान्फ्रंस ने भी इसे अपनाया।

इस विषय में पजाब को पथ-प्रदर्शन करने का गौरव प्राप्त है। वहाँ १९२० मे झग नामक स्थान पर पहला भूमि-बन्धक बैंक स्थापित किया गया। मूल्य-ह्रास प्रारम्भ होने से पूर्व ऐसे बैंको की सख्या १२ हो गई। ये बैंक सफलता से बहुत दूर थे और दुर्भाग्य की बात यह है कि यह आन्दोलन पजाब में अब बिलकुल उन्नति नही कर रहा। किसी नये बैंक की स्थापना नही की जा रही है और बहुत कम ऋण दिये जा रहे हे। पुराने बैंको की सख्या घटकर १० रह गई है। लैण्ड एलिनेशन एक्ट, मूल्य-ह्रास के साथ भूमि के मूल्य की कमी और भूमि-हस्तान्तरण अधिनियम इसकी असफलता के मुख्य कारण हे। इसकी असफलता के लिए अवैतनिक कर्मचारियो और सचालको की, जो स्वय बडे ऋणकर्ता थे, गलतियाँ भी उत्तरदायी है।[1] ऋणो की पूर्ति पर ध्यान केन्द्रित किया जा रहा है और इन बैंकों के पुनर्गठन का प्रश्न भी सरकार के विचाराधीन है।

इस क्षेत्र में मद्रास पजाब के बाद आया, परन्तु उससे कही अधिक अच्छा काम किया (देखिए, सेक्शन ३२)। बगाल, उत्तरप्रदेश और आसाम ने इस प्रकार के बैंको के उद्घाटन के लिए कदम उठाए है। बम्बई ने अमेरिका की राष्ट्रीय कृषि ऋण-सस्था (नेशनल फार्म लोन एसोसिएशन) के आदर्श पर राज्य के चुने हुए जिलो में इस प्रकार के १९ बैंक (सन् १९५१ तक) स्थापित किये हे।[2] मध्यप्रदेश की सरकार ने इस प्रकार के २५ (१९५१) सहकारी भूमिबन्धक बैंको की स्थापना की और ५० लाख तक उनकी पूँजी और ब्याज की गारन्टी भी दी। मद्रास ने इस दिशा में उल्लेख्य काम किया है। इस राज्य मे १२९ (सन् १९५१ तक) भूमिबन्धक बैंक हे (आगे सेक्शन ३२ देखिये)। पश्चिमी बगाल और उत्तरप्रदेश में प्रगति धीमी रही है। प्रत्येक राज्य में क्रमश ३ और ६ भूमिबन्धक बैंक हे (सन् १९५१)। बगाल में भूमिबन्धक बन्ध-पत्रो की कार्यवाही के सम्बन्ध में सदस्यो की अनिच्छा भी एक कठिनाई है। भूमि का विभाजन और ब्याज की ऊँची दर अन्य कठिनाइयाँ हे। आसाम में दो और उडीसा में एक भूमि-बन्धक बैंक है (सन् १९५१)। मैसूर, बडौदा और कोचीन जैसे अन्य भागो में भी ऐसे बैंक स्थापित किये गए हे। जर्मनी में (लैण्डशेफ्टेन) भूमिबन्धक बैंको की

[1] रिव्यू आफ द कोआपरेटिव मूवमेन्ट इन इण्डिया (१९३९-४०), पृष्ठ ३९।

[2] बम्बई सरकार ने एक आज्ञा जारी की है कि जब तक वर्तमान भूमिबन्धक बैंकों की स्थिति में सुधार नहीं हो जाता तब तक नये भूमिबन्धक बैंकों की रजिस्ट्री न की जाय।

सफलता का, यहाँ के भूमिबन्धक बैंको की स्थापना के आन्दोलन पर बडा प्रभाव पडा। वहाँ की तरह के बको की स्थापना के प्रश्न का अध्ययन भारत में भी हुआ है। इस प्रश्न का अध्ययन विशेपकर कृषि आयोग, राज्यीय और केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समितियो ने किया।

गत वर्षो में, विशेषकर मूल्य-ह्रास के बाद, भूमिबन्धक बैंक के विस्तार के लिए परिस्थितियाँ अनुकूल हो गई। प्रथम, ग्रामीण क्षेत्रो में महाजन अपने ऋणो के बदले मे, नकद रुपया मिलने का विश्वास हो जाने पर, कम रकम लेने के लिए भी तैयार हो गए। इसलिए अब ये बैंक ऋण कम करने की योजना को कार्यान्वित करके ऋण देय धन कम कर सकते थे। द्वितीय, द्रव्य बाजार में उचित प्रतिभूति के आधार पर सस्ते दर पर पर्याप्त रुपया उपलब्ध था।[1] सितम्बर १९३९ में युद्ध के प्रारम्भ होने से इस स्थिति पर बुरा प्रभाव पडा। भूमिबन्धक बैंक के ऋणपत्र को पहले की तरह ही जनता नही लेती थी, क्योकि वे दीर्घकाल के लिए अपने धन को फँसाने में हिचकते थे। रुपये के लेन-देन की दर को अपरिवर्तित रखने की भी कुछ प्रवृत्ति थी। सन् १९१४-१८ के विश्व-युद्ध की तरह द्वितीय विश्व-युद्ध ने ब्याज की ऊँची दर और द्रव्य बाजार मे मँहगी परिस्थितियो को नही उत्पन्न किया। मूल्य-ह्रास (१९२९) के बाद भूमिबन्धक बैंक को सगठित करने के लिए परिस्थितियाँ अनुकूल हो गई।

इन बैंको के सगठन मे सावधानी की आवश्यकता है। उन्हे अत्यन्त सावधानी के साथ की हुई प्रारम्भिक जाँच के पश्चात् ही स्थापित करना चाहिए, तथा उनका विधान और कार्य-प्रणाली यथासम्भव सरल होनी चाहिए। प्रबन्ध-कुशल और समय-पाबन्द होना चाहिए। बुरे बैंको की गलतियाँ अच्छे बैंको को बदनाम कर सकती है। ऐसा होने पर ऋण-पत्रो से जनता का विश्वास उठ जायगा। ऐसे ऋण न देने चाहिएँ जिससे ऋणकर्ताओ को लाभ न हो।

३१. भूमिबन्धक बैंकों को राज्य की सहायता—भारत में भूमिबन्धक बैंको की सफलता के लिए राज्य की सहायता पर बल देने की आवश्यकता नही है। मूलधन और ब्याज दोनो की अदायगी की गारन्टी, बन्धक मे रखे गए भूमि के बन्ध-पत्रो अथवा ऋणपत्रो की सरकार द्वारा आशिक खरीद, बन्ध-पत्रो की न्यासी-प्रतिभूति[2] घोषित कर, बन्धक रखने वाले बैंको को विशेष सुविधा और अधिकार देकर, जैसे जर्मनी में सहकारी समितियो की तरह इन बैंको को भी रियायत और व्यय को पूरा करने के लिए आर्थिक सहायता आदि के रूप में राज्य द्वारा मदद दी जा सकती है।[3] इस प्रकार की राज्य सहायता न मिलने पर, भूमिबैंक बाजार में अपने बन्ध-पत्रो को उचित मूल्य पर बेचने और मामूली ब्याज की दर देने में समर्थ नही हो सकेंगे। यद्यपि रिजर्व बैंक ने भूमिबन्धक बैंको के विकास की इस अवस्था में बान्ड और ऋण-पत्रो को खरीदने की

१. देखिए, रिपोर्ट ऑफ़ द बाम्बे लैण्ड मार्गेज कमेटी, पैरा ११-१३।

२ १९३४ के इण्डियन ट्रस्ट एक्ट के सुधार ने निक्षेप प्रतिभूतियों की सूची में भूमि-बन्धक बैंक द्वारा लिखे गए ऋण-पत्रों के समावेश के लिए प्रस्ताव पेश किया।

३ कुछ राज्यीय सरकारों द्वारा भूमि-बन्धक बैंकों को दी गई सहायता के लिए नीचे सेक्शन ३२ देखिए।

अनिच्छा प्रकट की है, परन्तु उसने ऋण-पत्र जारी रखने तथा उनसे मुक्ति पाने के लिए कोष के निर्माण के सम्बन्ध में बहुमूल्य राय दी है।[1]

३२ बम्बई और मद्रास की योजनाएँ—बम्बई और मद्रास, जहाँ भूमिबन्धक बैंको के कार्य का सबसे अधिक विकास हुआ है, के भूमिबन्धक बैंको के अध्ययन से हमें इन बैंको के विधान, वित्त और प्रबन्ध का सामान्य ज्ञान हो जायगा।

(१) मद्रास योजना—भारत में भूमिबन्धक बैंको के कार्य का प्रारम्भ मद्रास में सन् १६२६ में केन्द्रीय भूमिबन्धक बैंक की स्थापना से हुआ। इस बैंक की स्थापना १६२४-२५ में मद्रास सरकार द्वारा स्वीकृत भूमिबन्धक बैंको की एक विशेष योजना के अन्तर्गत हुई थी। इसकी स्थापना का उद्देश्य उपर्युक्त योजना के अन्तर्गत प्रारम्भिक बैंको का सयोजन तथा ऋणपत्रो को जारी करना था।[2] इस योजना के अन्तर्गत सरकार ने २½ लाख रुपये के लगभग आधे ऋण-पत्रो को इस शर्त पर स्वीकार किया कि इतनी ही राशि के ऋण-पत्र जनता भी ले। ऋणपत्रो और निक्षेप के अतिरिक्त (जो कम-से-कम ३ साल के लिए हो) चालू पूँजी का एक भाग हिस्सा पूँजी भी था। इन हिस्सो का मूल्य कम रखा गया ताकि छोटे किसान भी बैंक के सदस्य हो सकें। ये बैंक लाभदायक पानी वाले क्षेत्रो में ही बनाये गए।

बैंक के प्रधान कार्यालय से ६ या ७ मील के ही अन्दर के गाँवो के समूह तक कार्यक्षेत्र को सीमित रखना वाञ्छनीय समझा गया ताकि पारस्परिक ज्ञान सम्भव हो और बैंको की रहन में दी जाने वाली भूमि का मूल्याकन और पहचान व्यावसायिक विशेषज्ञो के बिना भी आसानी से की जा सके। १६२६ तक इस प्रकार के २० बैंक खुल गए। इनमें से केवल ८ बैंको ने ही ऋणपत्र जारी किये। सरकार की सहायता के बावजूद इन बैंको ने बहुत कम उन्नति की, जिसका प्रधान कारण जनता को ऋणपत्र बेचने की अयोग्यता थी। सहकारिता की टाउनसेण्ड कमेटी (१६२७-२८) ने (टाउनसेण्ड कमेटी आन को-आपरेशन)उनकी परीक्षा की और कहा कि केन्द्रीय भूमिबैंक के बिना यह सन्तोषजनक उन्नति नही कर सकती थी। इस केन्द्रीय बैंक के सदस्य व्यक्ति और प्रारम्भिक भूमिबन्धक बैंक हो तथा इन बैंको का कार्य प्रारम्भिक भूमिबन्धक बैंको द्वारा केन्द्रीय बैंक को हस्तान्तरित किये हुए बन्धको के मूल्य पर अस्थायी प्रभार के रूप में ऋणपत्र जारी करना था। इसके अनुसार दिसम्बर सन् १६२६ में मद्रास में केन्द्रीय भूमिबन्धक बैंक स्थापित किया गया, जिसका कार्य मद्रास योजना के गम्भीर दोष—असयोजित और बिखरे हुए छोटे-छोटे भूमिबन्धक बैंक, जो बाजार में आपस में प्रतिस्पर्धा करते थे—को दूर करना था। मद्रास सरकार ने बैंको को सुविधाएँ दे रखी हैं, जैसे बैंक द्वारा जारी किये गए सारे ऋणपत्रो पर पहले ५ वर्ष के लिए ५० लाख की सीमा तक ६ प्रतिशत ब्याज की गारन्टी। यह सीमा बाद में बढा दी गई और अब ३१० लाख है। प्रारम्भिक भूमिबन्धक बैंको का निरीक्षण करने के लिए दो डिप्टी रजिस्ट्रार और प्रारम्भिक बैंको

१ कृषि ऋण के सम्बन्ध में आरम्भिक रिपोर्ट, पैरा २१।

२. विकास-विभाग के मन्त्री को मद्रास रजिस्ट्रार द्वारा पेश की हुई प्रारूप योजना देखिए, १ जून १६२४।

की ओर से जॉच की सहायता के लिए १० उप-डिप्टीरजिस्ट्रारो की सेवाएँ और कार्य-व्यय के लिए २५००० रुपये की आर्थिक सहायता आदि की सुविधा भी, मद्रास सरकार ने दी, जो प्रारम्भ मे ३ वर्ष के ही लिए थी। उनके हितो की रक्षा के लिए परिषद् में सरकार का प्रतिनिधित्व रजिस्ट्रार तथा उसके द्वारा नियुक्त और सरकार द्वारा स्वीकृत प्रतिनिधि भी करता था। रजिस्ट्रार ऋणपत्र के मालिको के हितो का न्यासधारी भी था। केन्द्रीय भूमिबन्धक बैंक की सचालक परिषद में, प्रमुख सहयोगियो के अतिरिक्त प्रेसीडेन्सी के बडे-बडे व्यापारी-वर्ग के नेता भी सम्मिलित थे। बैंक के ऋणपत्रो के सम्बन्ध में निवेश करने वाली जनता ने पर्याप्त रुचि दिखाई। ३० जून, १९४० तक बैंक ने २ ६४ करोड रुपये तक के ऋणपत्र जारी किये जिसमें से उसी दिन केवल १ ६५ करोड रुपये अप्राप्य रहे। ३० जून, १९४१ को २ ४३ करोड के ऋणपत्र परिचलन में थे।

१९३१-३२ के क्रियाहीन वर्षो को छोडकर, जो वडी आर्थिक कठिनाई के दिन थे, बैंक वहुत सफल रहा। जून सन् १९५१ के अन्त तक केन्द्रीय भूमिबन्धक बैंक से १२९ प्रारम्भिक भूमिबन्धक बैंक सम्बन्धित थे। ऋणपत्रो की माँग इतनी अधिक थी कि युद्ध के पहले वे ३ प्रतिशत की दर पर जारी किये जा सके। द्रव्य बाजार में युद्ध-जनित परिवर्तनो के बाद ऋणपत्रो पर व्याज की दर ½ प्रतिशत और वढा दी गई। आजकल प्रारम्भिक बैंको की उधार देने की दर ४⅞ प्रतिशत है और अन्तिम उधार लेने वाले व्यक्ति को ऋण ५⅞ प्रतिशत पर मिलते हैं। सन् १९४९-५० में राज्य के १२६ प्रारम्भिक भूमिबन्धक बैंको ने ७५ ८७ लाख रुपये उधार दिये। मद्रास के सह-कारी भूमिबन्धक बैंक अधिनियम (१९३४) ने केन्द्रीय भूमिबन्धक बैंक द्वारा जारी किये हुए ऋणपत्रो के मूलधन और व्याज की गारन्टी देने का अधिकार स्थानीय सरकार को दिया। बैंको को भी भुगतान न करने वाले व्यक्तियो से ऋण वसूल करने का अधिकार दिया गया तथा इन बैंको की सफलता में वाधक कानूनी रुकावटो को दूर किया गया।

इस प्रकार मद्रास ने भूमिबन्धक बैंको के नवीन क्षेत्र में अपेक्षाकृत अधिक सफ-लता प्राप्त की और अन्य राज्यो के लिए आदर्श बन गया।

(२) बम्बई-योजना—सितम्बर सन् १९२६ में बम्बई सरकार ने तत्कालीन रजिस्ट्रार श्री जे० ए० मदन, आई० सी० एस० द्वारा तैयार की हुई प्रारूप योजना को स्वीकार किया। प्रयोग के लिए सरकार ने धारवाड, भडौच, पूर्वीखानदेश (पचोरा) जिलो में (अमेरिका की राष्ट्रीय कृषि-ऋण सस्थाओ के आधार पर) तीन भूमिबन्धक बैंको की रजिस्ट्री स्वीकार की। इनका अस्थायी आर्थिक प्रबन्ध बम्बई के प्रान्तीय सहकारी बैंक को सौंपा गया और सरकार ने २ लाख के ४ प्रतिशत व्याज वाले ऋणपत्रो को खरीदना स्वीकार किया। प्रान्तीय बैंक ने अपने नये कर्तव्यो के पालन के लिए भूमिबन्धक विभाग की अलग स्थापना की।

भडौच ज़िले का प्रयोग वहुत सफल रहा, यद्यपि बम्बई भूमिबन्धक बैंक कमेटी द्वारा, इनके कार्य की जाँच से इनके कुछ दोष प्रगट हुए। उदाहरणार्थ पचोरा और धारवाड के बैंको ने ऋणकर्ताओ की देय-क्षमता का गलत अनुमान किया था। परन्तु जैसा कि बम्बई भूमिबन्धक कमेटी ने कहा है, ये कठिनाइयाँ ऐसी नही है जिनको दूर न

किया जा सके। इसलिए कमेटी ने राज्य के विभिन्न ज़िलो में भूमिवन्धक वैंको के विस्तार पर जोर दिया और एक परिष्कृत योजना वनाई। इस योजना में (अमेरिका के सघीय भूमि वैंक के अनुरूप) ऋणपत्र जारी करने के लिए केन्द्रीय भूमिवन्धक वैंक की स्थापना का प्रवन्ध था। वम्वई राज्यीय सहकारी वैंक जो जनता से अल्प-कालीन निक्षेप प्राप्त करता है और अल्पकालीन ऋण देने के लिए, प्रारम्भिक समि-तियो और ज़िला केन्द्रीय सहकारी वैंक के लिए शीर्ष वैंक का काम करता है, प्रारम्भिक भूमिवन्वक वैंको के अर्थ-प्रवन्धन के लिए नितान्त अनुपयुक्त है। इसके अतिरिक्त भूमि-वन्वक वैंक एक विशेष प्रकार का व्यापार करता है जिसके लिए विशेपज्ञ अधिकारी अपेक्षित है।[1]

१६३५ में वम्वई सरकार ने भूमिवन्वक कमेटी की सिफारिशो को कार्यान्वित किया और १ अप्रैल सन् १६३५ के वाद वहुत से भूमिवन्वक वैंको की रजिस्ट्री भी की गई। इनका कार्यक्षेत्र उन्ही स्थानो तक सीमित था जो अकाल और महगाई से कम प्रभावित थे और जहाँ सहकारिता आन्दोलन ने प्रशसनीय उन्नति की थी। उसी समय नये केन्द्रीय भूमिवन्धक वैंक को वनाने के लिए कदम उठाये गए। इसलिए वम्वई सहकारी समिति अधिनियम के अन्तर्गत वम्वई के प्रान्तीय सहकारी भूमिवन्वक वैंक की ७ दिसम्वर, १६३५ में रजिस्ट्री की गई, जिसके प्रथम सभापति स्वर्गीय सर लालूभाई सामलदास थे।

इस नये शीर्प वैंक का मुख्य कार्य ऋणपत्र जारी करके, शीर्ष वैंक से सम्वन्धित प्रारम्भिक भूमिबन्धक बैंको का अर्थ-प्रवन्धन, कार्य का निरीक्षण करना, उनको राय और सहायता देना था। सन् १६३५ के आय-व्ययक काल में बम्बई राज्यीय विधान-सभा ने एक प्रस्ताव पास किया और सरकार को यह अधिकार दिया कि वह ५० लाख रुपये तक के वैंक द्वारा जारी किये ऋणपत्रो के ब्याज और मूलधन, दोनो की गारन्टी दे। ३० जून, सन् १६३८ में पहली बार वैंक ने ३½ प्रतिशत वाले २० लाख के ऋण-पत्र जारी किए और सन् १६३६-४० में दूसरी बार ३½ प्रतिशत ब्याज के ऋणपत्र जारी किये गए।[2] ऋणपत्र के प्रत्येक पृथक् प्रचलन से प्राप्त राशि की पूर्ति के लिए कोप का प्रवन्ध किया गया। सरकार द्वारा नियुक्त न्यासधारी के जरिये ऋण-पत्र के मालिको के प्रति वैंक के कर्तव्यो के निर्वाह का आश्वासन रहता है। इन ऋण-पत्रो को न्यासी-प्रतिभूतियाँ घोपित कर दिया गया है, जो निवेश करने वाली वीमा-कम्पनियो, वैंको और व्यक्तियो के लिए धन-निवेश का लोकप्रिय तरीका है।

प्रान्तीय भूमिवन्धक वैंक प्रारम्भिक भूमिवन्धक वैंक के जरिये किसानो को उनकी भूमि की जमानत पर ऋण देते है। प्रारम्भिक वैंको को किसानो की देय-

---

[1] देखिए, रिपोर्ट ऑफ द वाम्वे लैंड मार्गेज कमेटी, पैरा २१। दीर्घकालीन भूमिवन्धक वित्त की पूर्ति के लिए राज्याय सहकारी वैंक की अवाञ्छनीयता है, द इण्डियन प्राविंशल कोआपरेटिव वैंक्स नामक शिक्षणात्मक लेख में भली प्रकार समझाई गई है—द इन्डियन कोआपरेटिव रिव्यू, अप्रैल सन् १६४१।

[2] वम्वई राज्यीय सहकारी भूमिवन्धक वैंक लिमिटेड, तारीख ६ सितम्बर, १६४१ के सचालकों की —ी रिपोर्ट देखिये।

क्षमता, आय तथा भूमि के अधिकार की जांच करनी पडती है। प्रारम्भिक बैंको की सचालक-परिषद की सिफारिश पर केवल सदस्यो को ऋण दिया जाता है। व्यक्तिगत सदस्यो के ऋण की १०,००० रु० अधिकतम सीमा है। इस अधिकतम ऋण के अन्दर, कोई अकेला सदस्य बैंक में अपने परिदत्त हिस्सा-पूंजी के २० गुणा से अधिक अथवा रेहन में रखी हुई ऋण सम्पत्ति के आधे मूल्य से अधिक ऋण नही ले सकता। २० वर्ष से अधिक समय के लिए कोई ऋण नही दिया जाता। राज्यीय बैंको से प्रारम्भिक बैंको के ऋण और प्रारम्भिक बैंको से सदस्यो के ऋण के लिए रजिस्ट्रार की स्वीकृति आवश्यक है। बैंक के ऋणों की ब्याज-दर प्रान्तीय भूमिबन्धक बैंक की ब्याज-दर (४½%) से १½ प्रतिशत से अधिक नही हो सकती। प्रारम्भिक बैंको के सदस्य इस प्रकार ६ प्रतिशत पर उधार ले सकते है। यह दर महाजनो द्वारा किसानो से ली गई दरो से कही कम है। ऋणकर्ताओ के वर्तमान देयधन कम करने में इससे बहुत सहायता मिलनी चाहिए। ऋण की अदायगी मूलधन के समान वार्षिक किश्तो द्वारा तथा समय-समय पर ऋण के ब्याज को देकर की जा सकती है, अथवा मूलधन और ब्याज को सम्मिलित करती हुई समान वार्षिक किश्तो द्वारा दी जा सकती है। प्रारम्भिक बैंको द्वारा लिये गए भूमिबन्धक शीर्ष भूमिबन्धक बैंको से लिये ऋणो की जमानत के रूप में उनके नाम कर दिये जाते थे। इस प्रकार ऋण देने वाले बैंको के लिए काफी ज़मानत थी।

पहले तो अधिकतर ऋण पुराने ऋणो को चुकाने के लिए दिये जाते थे। जब तक ऋण-मुक्ति, किसानो की महत्त्वपूर्ण तत्कालीन आवश्यकता रहती है, व्यापार की यह विशेषता अवश्य ही रहेगी। बैंक, व्यक्तिगत समाधान-समितियो के द्वारा, महाजनो की ऋण-सम्बन्धी परेशानी का लाभ उठाकर चुकाये जाने वाले ऋणो में कमी करने के लिए, महाजनो और ऋणदाताओ से बातचीत करता है। सन् १९४९-५० के अन्त मे कुल अप्राप्त राशि ३९ ७७ लाख रुपये तथा कालातीत ऋण ० ३३ लाख रुपये था।

राज्यीय सहकारी भूमिबंधक बैंक द्वारा जारी किये गए ऋणपत्रो के मूलधन और ब्याज दोनो की गारन्टी के रूप में पर्याप्त सहायता के अलावा, बम्बई सरकार ने निम्न-लिखित छूटें भी दी हैं (क) (१) मुद्राक शुल्क, (२) रजिस्ट्री फीस, और (३) बैंक के लाभ और हिस्से-पूंजी के लाभाश पर आय-कर से अन्य समितियो के समान ही छूट और (ख) प्रथम ३ वर्षो में बैंक के घाटे को पूरा करने के लिए सहायता दी जायगी, जो पहले वर्ष में अधिक-से-अधिक १०,००० रुपये और तीसरे वर्ष में ६,००० रुपये होगी। उपर्युक्त सहायता के अतिरिक्त, ५००० रु० प्रतिवर्ष की आर्थिक सहायता भी दी जाती है। इस सहायता का उद्देश्य यह है कि बैंक सरकार द्वारा दिये हुए भूमि-मूल्याकन-अधिकारियो के व्यय को अशत पूरा कर सके। इन बैंको के सही कार्य का आश्वासन देने के लिए और इसके हितो की रक्षा करने के लिए शीर्ष बैंको की परि-षद में सरकार का प्रतिनिधित्व रजिस्ट्रार करता है, और प्रारम्भिक बैंको की परिषद में रजिस्ट्रार द्वारा नियुक्त व्यक्ति करता है। यह सब छूट मद्रास राज्य के आधार पर ही की गई हैं।

राज्यीय भूमिबधक बैंक की सदस्यता प्रारम्भिक भूमिबधक बैंक, सहकारी समितियो और व्यक्तियो को प्राप्त है। यद्यपि यह मिश्रित सदस्यता सच्चे सहकारी सिद्धान्तो के विपरीत है, तथापि व्यक्तियो की सदस्यता वाछनीय है क्योकि उनकी उपस्थिति, निवेश करने वाली जनता का बैंक में विश्वास बढा देगी और व्यापारिक सिद्धान्तो का पूर्ण पालन निश्चित हो जायगा। लाभाश प्राप्ति की इच्छा उपनियमो द्वारा रोकी गई है जिनके अनुसार वास्तविक लाभ का २५ प्रतिशत सुरक्षित कोप में जमा कर दिया जाता है तथा हिस्सो पर लाभाश ६$\frac{1}{4}$ प्रतिशत तक सीमित कर दिया जाता है। शीर्ष बैंको के सचालको की परिषद मे, प्रारम्भिक बैंको को पर्याप्त प्रतिनिधित्व देने के लिए उन्हे ५ सचालको के (१५ में से) क्षेत्र चुनने का अधिकार है, जिन्हे ५ निर्वाचीन-क्षेत्रो में प्रत्येक क्षेत्र के बैंक-समूह द्वारा चुना जाता है।

प्रारम्भिक भूमिबन्धक बैंक की सदस्यता केवल ऋणकर्ताओ तक ही सीमित नही है। गैर ऋणकर्ताओ को हिस्सेदारो की सचालक परिषद में पृथक् प्रतिनिधित्व दिया गया है। प्रारम्भिक भूमिबन्धक बैंक के उपनियमो के अनुसार प्रथम तीन साल के लिए रजिस्ट्रार सचालक परिषद को नियुक्त कर सकता है।[1]

३३ भूमिबन्धक बैंकों के कार्य[2]—जून सन् १९५१ मे भारत में भूमिबन्धक बैंको के कार्य का प्रदर्शन निम्नलिखित आँकडो से प्रकट है।

बैंक और समितियो की सख्या	२८६
सदस्यो की सख्या	२,१५,०००
चालू पूँजी	(हजार रुपयो में)
परिदत्त पूँजी	५२५०
सुरक्षित कोष	११६५
अन्य कोष	४५५
व्यक्तियो तथा अन्य साधनो से लिया हुआ ऋण	५४३
बैंक और समितियो से लिया हुआ ऋण	५७,६४९
ऋणपत्र	८५९
ऋण दिया गया	१२९०२
लाभ	२७६

३४ भूमिबन्धक बैंकों की परिसीमाएँ—ग्रामीण ऋण के सूक्ष्म और कठिन प्रश्नो के विवेचन में सावधानी की बडी आवश्यकता है। बुरे ऋण और अवशिष्ट ऋण से बचने के लिए बहुत सावधानी की आवश्यकता है। 'जहाँ पर प्रारम्भिक बैंक सावधान है, वहाँ पर राज्यीय बैंक को उनसे दूना सावधान रहना चाहिए क्योकि वह समस्त सगठन का वित्तीय आधार है।'

---

१ बम्बई राज्यीय सहकारी भूमिबन्धक बैंक लिमिटेड और प्रारम्भिक भूमिबन्धक बैंक के उपनियम देखिए।

२ बैंकिंग एण्ड मॉनिटरी स्टेटिस्टिक्स ऑफ इण्डिया, पृ० ५०४।

भूमिबन्धक बैंको की आवश्यक सीमाओ को हमें स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए। प्रथम यह स्पष्ट है कि वे सम्पूर्ण कृषि-ऋण को स्वय नही ले सकते। ऋणो की अधिकतम सीमा तथा उन पर लगाये हुए प्रतिबन्ध, जो अत्यावश्यक हैं, ज़मानत के लिए भूमि का होना तथा ऋणकर्ताओ का सावधानी से चुनाव आदि के कारण यह असम्भव है। द्वितीय, भूमिबन्धक बैंक ऋण के भार को अपने ऊपर लेकर और ब्याज की दर घटाकर ही कम कर सकते हैं। वे उसे एकदम नही हटा सकते।[1] चतुर किसान ही छोटी-छोटी किश्तो में ऋणो की समाप्ति की सुविधाओ से लाभ उठाएँगे। जब तक वह हर दिशा में मितव्ययिता नही अपनाता, विशेषकर उत्सवो के व्ययो के लिए अनुत्पादक ऋणो का त्याग नही करता और अपनी आय बढाने का प्रयत्न नही करता, तब तक उसके पुराने ऋणो की समाप्ति का भविष्य उज्ज्वल नही है। किसानो की अर्जन-शक्ति को बढाने के लिए सर्वांगीण आर्थिक योजना अथवा ग्रामीण पुनर्निर्माण आवश्यक है।

भूमिबन्धक बैंको द्वारा अपने सदस्यो के पुराने ऋणो की समाप्ति मात्र पर ध्यान देने के खतरे की ओर भी रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया ने सकेत किया है।[2] भूमि की ज़मानत पर दिये हुए दीर्घकालीन ऋणो का प्रधान उद्देश्य भूमि और कृषि की उन्नति तथा कृषि की उत्तम प्रणाली का प्रारम्भ होना चाहिए। इन बैंको को अन्य कार्य की अपेक्षा भूमि और कृषि की उन्नति के लिए अधिक ऋण देने की, कृषि-विभाग के सहयोग मे राय ठीक ही दी गई है। यह एक अच्छी योजना है जिसमें वे व्यक्ति, जिनका ऋण भूमिबन्धक बैंक द्वारा चुकाया जाता है, एक अच्छी प्रारम्भिक कृषि-ऋण-समिति के साथ परीक्षणकाल बिताते है। भूमिबन्धक बैंको से ऋण मिलने के बाद भी, उन्हे बहुमुखी समिति का सदस्य बना रहना चाहिए ताकि उनके कार्यो का उचित निरीक्षण हो सके और किश्ते नियमित रूप से अदा की जा सकें। भूमिबन्धक बैंको में भी कालातीत ऋणो की प्रवृत्ति के कारण इस प्रकार का प्रबन्ध और भी आवश्यक है। अन्त में हम कह सकते है कि भूमि-बन्धक बैंक को आर्थिक सुधार में काम करने वाली अन्य एजेन्सियो से निकट का सम्बन्ध स्थापित करना चाहिए और ग्रामीण पुनर्निर्माण आन्दोलन का एक भाग बन जाना चाहिए।

३९. व्यापारिक भूमिबन्धक बैंक—केन्द्रीय बैंकिग जाँच-समिति और रिजर्व बैंक के कृषि ऋण-विभाग ने देश के विभिन्न प्रकार के कृषको की भलाई के लिए सुसगठित व्यापारिक भूमिबन्धक बैंको की स्थापना की सिफारिश की, क्योकि सहकारी ऋण-व्यवस्था से इनकी आवश्यकता पूरी नही होती। राज्यीय सरकार ऐसी बैंको की प्रार-

१ यह आश्चर्यजनक है कि ऋण-समाधान तथा भूमिबन्धक ऋण एक-दूसरे के पूरक होने के बजाय प्रतिस्पर्धी हो रहे है, तथा अनेक राज्यों में भूमिबन्धक बैंकों की प्रगति में ऋण मुक्ति कानून बाधा डाल रहा है। अवश्य ही ऐसा न होना चाहिए। द इण्डिया कोआपरेटिव रिव्यू (अप्रेल-जून, १९४१) पृष्ठ २१६-१७। देखिए, सेक्शन ३२ (२) और अध्याय ६ में सेक्शन १०।

२. कृषि ऋण की सर्वेध रिपोर्ट, पैरा २७-३०, और रिव्यू ऑफ द कोआपरेटिव मूवमेन्ट इन इण्डिया (१९३९-४०), पृ० ३८-३९।

म्भिक पूँजी के कर तथा ऋणपत्रो पर ब्याज की गारन्टी देकर सहायता कर सकती है। उन राज्यो में जहाँ स्थायी वन्दोवस्त है, इस प्रकार के भूमिवन्धक वैंको की आवश्यकता विशेष रूप से प्रतीत होती है। ऐसे वैंको को जमीदारो की ऋण-मुक्ति के लिए प्रयत्नशील और दीर्घकालीन आवश्यकताओ का अर्थप्रवन्धक होना चाहिए।[1]

१. देखिए, रिपोर्ट ऑफ द सेन्ट्रल वैंकिंग इन्क्वायरी कमेटी, पैरा २३३-३४, और रिजर्व वैंक की प्रिलिमिनरी रिपोर्ट ऑन एग्रीकल्चरल क्रेडिट, पैरा १९।

अध्याय ११

राज्य और कृषि का सम्बन्ध

१. कृषि विभागों का विकास—पहली वार सन् १८६६ के उडीसा दुर्भिक्ष के सम्वन्ध में, एक विशेष सरकारी विभाग द्वारा कृषि-सुधार करने के प्रस्ताव पर विवाद हुआ। कालान्तर में लार्ड मेयो की सरकार द्वारा यह प्रश्न हाथ में लिया गया, किन्तु दुर्भिक्ष आयोग (१८८०) की सिफारिशो के फलस्वरूप और लकाशायर के कपास-उद्योग की, जिसका हित भारत में लम्बे रेशे के कपास की वृद्धि में था, माँगो के फलस्वरूप १८८४ में विभिन्न राज्यो में सञ्चालको (डाइरेक्टर) उप-सञ्चालको (डिप्टी डाइरेक्टर), अधीक्षको (सुपरिन्टेण्डेन्ट) और ओवरसीयरो के मातहत कृषि-विभाग स्थापित किये गए। प्रारम्भ में कृषि की जाँच, दुर्भिक्ष सहायता और भूमि-सुधार को हाथ में लेने का विचार था, किन्तु आँकडे-सम्वन्धी थोडे से कार्य के अतिरिक्त और कुछ नही हो सका। दुर्भाग्यवश, विभागो पर ऐसा काम लाद दिया गया जो उनसे सम्वन्धित न था। उदाहरण के लिए भूमि का लेखा रखना और उसकी जाँच-पडताल तथा रजिस्ट्री आदि। अनुदानो की कमी के कारण भी उनके काम में वाधा पहुँची। हम पहले सन् १८८९ में डाक्टर वॉयलकर के आगमन की चर्चा कर चुके है।[1] उनके मतानुसार भारतीय कृषि उतनी प्रारम्भिक या पिछडी अवस्था में नही थी जितनी कि प्राय. कही जाती थी। आधुनिक कृषि-पद्धति को पर्याप्त साधन उपलब्ध न थे। उन्होने कृषि-शिक्षा के महत्त्व और सुधार पर बल दिया। १८९२ में भारत सरकार के कृषि रसायन शास्त्रज्ञ की नियुक्ति हुई। इस वीच एक अमेरिकन दर्शक एच० फिप्स और सर डेविड सॉसून के दानो से विभाग की आर्थिक स्थिति कुछ सुधर गई। सन् १९०१ में राजकीय (इम्पीरियल) और राज्यीय सरकारो को परामर्श देने के लिए एक (इन्स्पेक्टर जनरल ऑफ एग्रीकल्चर) कृषि-महानिरीक्षक की नियुक्ति हुई। इस प्रकार पहली वार राजकीय कृषि-विभाग को एक कृषि-विशेषज्ञ की सेवाएँ प्राप्त हुई। सन् १९१२ में यह पद समाप्त कर दिया गया और इसके कार्य पूसा की कृषि-अनुसन्धान-सस्थान (एग्रीकल्चरल रिसर्च इन्स्टीट्यूट) के सचालक को, जो १९२९ तक भारत सरकार के कृषि-परामर्शदाता भी रहे, सौंप दिये गए। उच्च प्रशिक्षण तथा विशिष्ट अल्पकालीन व्यावहारिक शिक्षा के लिए एक कॉलेज के साथ पूसा-सस्थान की स्थापना सन् १९०३ में की गई। लार्ड कर्जन के अथक उत्साह के फलस्वरूप १९०५ में विभागो का सगठन काफी

१. पीछे, पृ० २४१।

सुधर गया और अतिरिक्त कार्य-भार, जिससे वे अब तक बोझिल थे, हलका हो गया। उन्हे कृषि-सम्बन्धी प्रयोग, अनुसन्धान, प्रदर्शन और प्रशिक्षण के विकास के लिए काफी धन भी मिला। १६०८ में पूना के कृषि कॉलेज की नीव पडी तथा पूना के विज्ञान कॉलेज से सम्बद्ध कृषि-कक्षाओ की भीड को कम करने के लिए एक खोज सस्थान भी खोला गया। पीछे आने वाले वर्षों में कानपुर, नागपुर, लायलपुर, कोयम्बटूर और इधर हाल में बापाटला में विज्ञान कॉलेजो की स्थापना हुई।

हाल में, कृषि-यन्त्रो से—विशेषतया सिंचाई के लिए—प्रयोग के प्रसार के परिणामस्वरूप, किसानो को सलाह देने और मशीनो के स्थापन और सुचारु सचालन के लिए, कृषि इजीनियरो की नियुक्ति हुई। अन्त में, राज्यीय विभागो को एक-दूसरे के निकट सम्पर्क में लाने के दृष्टिकोण से—ताकि वे अपनी वार्षिक बैठको में कार्यक्रमो पर विवाद करके भारतीय सरकार को सुझाव पेश कर सकें—अखिल भारतीय कृषि-परिषद् (ऑल इण्डिया बोर्ड ऑफ एग्रीकल्चर) की स्थापना हुई। १६१६ के सुधार के अनुसार राज्यीय विभागो पर भारत सरकार का केन्द्रीय नियन्त्रण काफी ढीला कर दिया गया और १६१६ से कृषि राज्यीय सरकारो के नियन्त्रण में है। अब केन्द्रीय कृषि मन्त्रिमण्डल अखिल भारतीय महत्त्व की समस्याओ से ही सम्बन्ध रखता है और निम्न सस्थाओ की देख-रेख करता है (१) कृषि अनुसन्धान-सस्था, (एग्रीकल्चरल रिसर्च इन्स्टीट्यूट) जो सितम्बर १६३६ में पूसा से नई दिल्ली स्थानान्तरित कर दी गई। (२) भारतीय पशु-चिकित्सा अनुसन्धान सस्थान, (इण्डियन वेटेरिनरी रिसर्च इन्स्टीट्यूट) मुक्तेश्वर, (३) बगलौर और विलिंगटन की पशु-पालन और दूध की अनुसन्धान सस्थाएँ, (४) भारतीय पशु-सुधार (उत्पादन) फार्म, (५) आनन्द की मक्खनशाला, (६) भारतीय गन्ना उत्पादन केन्द्र, कोयम्बटूर, (७) चीनी-ब्यूरो, जो प्रारम्भ में पूसा में था तथा १६३१ में एक शकर विशेषज्ञ की अध्यक्षता में कानपुर स्थानान्तरित कर दिया गया।[1] भारत सरकार के कृषि परामर्शदाता के—जो पहले इन सस्थाओं के प्रशासकीय

---

१ वर्तमान समय में खाद्य और कृषि मन्त्रि-मण्डल की देख-रेख में कतिपय अनुसन्धान-प्रयोगशालाएँ भी हैं

(१) इन्डियन एग्रीकल्चरल रिसर्च इन्स्टीट यूट, पूसा, नई दिल्ली।
(२) सेन्ट्रल पोटेटो रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पटना।
(३) सेन्ट्रल राइस रिसर्च इन्स्टीट्यूट, कटक।
(४) रिसर्च लेबोरेटरी, सेन्ट्रल पामगुड़ ट्रेनिंग स्कूल, कदालोर (मद्रास)।
(५) फारेस्ट रिसर्च इन्स्टीट्यूट एण्ड कालिज, देहरादून।
(६) शुगरकेन ब्रीडिंग स्टेशन, कोयम्बटूर।
(७) इण्डियन वेटेरिनरी रिसर्च इन्स्टीट्यूट, इज्जटनगर-मुक्तेश्वर।
(८) इण्डियन डेरी रिसर्च इन्स्टीट्यूट, बगलोर।
(९) सेन्ट्रल वेजीटेबल ब्रीडिंग स्टेशन, कुलू, कागड़ा।
(१०) सेन्ट्रल मेरीन फिशरीज रिसर्च स्टेशन, मजयम।
(११) सेन्ट्रल इनलैण्ड फिशरीज रिसर्च स्टेशन, मनीरामपुर, (२४ परगना)।
(१२) डीप सी फिशिंग स्टेशन, बम्बई।

नियन्त्रण के लिए भी उत्तरदायी थे—परामर्श-कार्य भारतीय कृषि-अनुसन्धान-परिषद् (इण्डियन काउन्सिल ऑफ एग्रीकल्चरल रिसर्च) के सदस्यो को स्थानान्तरित कर दिये गए। यह परिषद् जुलाई सन् १६२६ में राजकीय कृषि आयोग[1] की सिफारिशो के आधार पर स्थापित की गई थी। उसी आयोग की सिफारिश पर भारतीय कृषि-अनुसन्धान सस्थान (इण्डियन एग्रीकलचरल रिसर्च इन्स्टीट्यूट) और भारतीय पशु-चिकित्सा अनुसन्धान सस्थान, मुक्तेश्वर, के लिए अलग-अलग सञ्चालको की नियुक्ति की गई। अक्तूवर १६२६ में भारत सरकार के कृषि-परामर्शदाता का पद समाप्त कर दिया गया। साम्राज्यिक (अब भारतीय) कृषि-अनुसन्धान परिपद् ने उन सब कृषि-सम्वन्धी प्रकाशनो का दायित्व सँभाल लिया है जो पहले कृषि-परामर्शदाता और पूसा अनुसन्धान सस्थान[2] (पूसा रिसर्च इन्स्टीट्यूट) से सम्पादित होते थे। सन् १६३४ में भारत-सरकार के कृषि विपणन परामर्शदाता (एग्रीकल्चरल मार्केटिंग एडवाइज़र) के, जो भारतीय कृषि अनुसन्धान परिषद् के केन्द्रीय विपणन-विभाग का अध्यक्ष भी होता है, पद-निर्माण की ओर हम पहले सकेत कर चुके हैं।

कृषि-विभागो के कार्य की पूर्ति और सहयोग के लिए कतिपय अन्य सस्थाओ की सृष्टि की गई है। विभिन्न राज्यो में कृषि-सस्थाएँ इसका एक उदाहरण है। इधर कुछ वर्षो से वहुत से राज्यो में राज्यीय ग्राम-विकास या ग्रामोद्धार परिपदो की स्थापना से ग्राम-विकास एव ग्राम-सुधार कार्यो को सयोजित करने का प्रयास किया गया है। इन परिपदो में ग्राम-सुधार से सम्वन्धित विभागो, जैसे कृषि, सहकारी, सिंचाई, उद्योग, वन, शिक्षा, जन-स्वास्थ्य आदि के अध्यक्ष तथा अन्य गैर-सरकारी व्यक्ति भी सम्मिलित होगे। कृषि-विभाग के कार्य को आगे बढाने में सहकारी विभाग तथा गैर-सरकारी व्यक्तियो, दोनो के प्रयोग का सर्वोत्तम उदाहरण वम्वई और पजाब राज्यो ने प्रस्तुत किया है। इन राज्यो में ग्राम-सुधार-कार्य सहकारी सस्थाओ के रजिस्ट्रार को, जो वम्वई में ग्राम-सुधार-सचालक भी कहा जाता है—सौंपा गया है (आगे सेक्शन ७ देखिए)। इसके अतिरिक्त बम्वई के कुछ तालुको में तालुका-विकास सस्थाएँ भी हैं।

२. कृषि विभागों के कार्य—राज्यीय कृषि-विभाग, कृषि-क्षेत्रो तथा प्रयोगशालाओ में प्रयोग और अनुसधान तथा नये तरीको और नये औज़ारो को अपनाने के लिए प्रचार करते हैं। इनके अन्य कार्य नवीन तथा कृत्रिम खादो का उपयोग, सुधारी हुई फसलो के शुद्ध वीजो का उत्पादन, सरक्षण और वितरण हैं। सरकारी कृपि-क्षेत्र (फार्म) या किसानो के खेतो पर प्रदर्शन भी किये जाते हैं।

भारत की प्रधान फसलो के सर्वेक्षण के सम्वन्ध में—विशेषतया गेहूँ, गन्ने, मूँगफली, कपास, तम्बाकू और चारे की फसलो के सम्वन्ध में—हम कृपि-विभाग द्वारा किये गए लाभदायक कार्य पहले ही वता चुके हैं। जूट, चावल तथा आलू आदि कुछ अन्य

[1] आगे सेक्शन १० देखिए।

[2] अनुसन्धान परिपद् (रिसर्च काउन्सिल) तीन पत्रिकाएँ छापती है ' द इण्डियन जरनल ऑफ वेटेरिनरी साइन्स एण्ड एनीमल हस्वेंडरी, द इण्डियन जरनल ऑफ एग्रीकल्चरल साइन्स, और एग्रीकल्चर एण्ड लाइव स्टॉक इन इण्डिया।

फसलें है जिन पर विभाग ध्यान दे रहा है। उपलब्ध आँकडो के आधार पर निम्न तालिका ब्रिटिश भारत और भारतीय रियासतो में विभिन्न प्रकार की सुधरी फसलो का क्षेत्रफल एकडो में प्रस्तुत करती है।[1]

फसल	१९२८-२९	१९३५-३६	१९३७-३८
कपास	३९,६३,९९१	५०,५९,९३२	५६,७१,५५९
गेहूँ	४१,२६,६०५	६९,७०,८५५	६९,३०,०६८
चावल	९,७६,९१३	३६,६९,०९७	३७,५८,९४७
जूट	११,४३,६६५	११,२१,०१९	१७,८१,०६९
गन्ना	४,९९,८९०	३२,४४,३३६	२८,५५,३७९
अन्यफसले[2]	१४,६४,५२८	२१,१८,४२४	२९,७९,०४१
कुल योग	१,२१,७५,८९२	२,२१,८३,६,६३	२,३९,७६,०६३

यह तालिका प्रकट करती है कि १९२८-२९ की तुलना में सुधरी फसलो का क्षेत्रफल १९३७-३८ में प्राय दुगुना हो गया। इससे देश की कृषि की फसलो का उत्पादन काफी बढ गया। जो कुछ वृद्धि हुई है, वह सराहनीय तो है परन्तु पर्याप्त नही हैं। यद्यपि गेहूँ, कपास और जूट की स्थिति सन्तोषजनक है, किन्तु जब हम इस बात पर विचार करते है कि धान के ७३० लाख एकड क्षेत्र में से सिर्फ ४० लाख एकड (६ प्रतिशत) में ही उत्तम और अधिक उत्पत्ति वाली जाति के धान बोए जाते है तो हमें ज्ञात होता है कि अभी क्या करना शेष है।[3] भारतीय कृषि अनुसधान परिषद् के तत्त्वावधान में किये जाने वाले धान और गन्ने-सम्बन्धी अन्वेषणो के परिणामस्वरूप इन फसलो के सुधार की हुई खेती के क्षेत्र में पर्याप्त वृद्धि हुई है। भारतीय कृषि-अनुसधान-परिषद् की परामर्श-परिषद् ने अपनी मार्च, १९४२ की बैठक मे आगामी तीन वर्षो में १० लाख एकड भूमि को सुधरी जाति के चावल उत्पादन क्षेत्र के अन्तर्गत लाने का प्रस्ताव स्वीकार किया। यह प्रस्ताव चावल के लिए भारत की बर्मा पर निर्भरता को क्रमशः

१ रिव्यू ऑफ एग्रिकल्चरल ऑपरेशन्स इन इडिया (१९२८-२९), पृ० १४, एग्रिकल्चर एण्ड एनिमल हसबेंडरी इन इण्डिया (१९३७-३८), पृ० १५, १९२८ और १९३५-३६ के आँकड़ों में बर्मा के आँकड़े भी सम्मिलित हैं।

२ इसमें मूँगफली (४१७,४४२), चना (८३,७६२), ज्वार-बाजरा (३४७,२००), आलू (२०,९९६), इत्यादि शामिल हैं।

३ अच्छे बीजों का प्रयोग उत्पत्ति की वृद्धि में बहुत मदद करता है। वर्तमान समय में राज्य-योजनाओं के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के अच्छे बीजों के वितरण के लिए ६.३ करोड रुपया खर्च करना निश्चित किया गया है। १९५३-५४ तक २ ५८ करोड़ रुपये खर्च किये जा चुके हैं। 'अधिक अन्न उपजाओ' कोष में से १ ५ करोड रुपये की केन्द्रीय सहायता भी इसी उद्देश्य के लिए दी गई थी। योजना के अन्तर्गत लगभग सभी राज्यों में अच्छे बीज के वितरण का कार्यक्रम है, परन्तु यह कार्यक्रम सभी राज्यों में सुसगठित नहीं है। सन् १९५३-५४ के (मार्च १९५४ तक) ९ महीनों में विभिन्न राज्यों में अच्छे बीजों की निम्न मात्रा का वितरण हुआ है

बम्बई	मध्यप्रदेश	मद्रास	उत्तरप्रदेश	हैदराबाद	राजस्थान	पैप्सू
३,३२०	५,२८५	१,६२१	२५,७३१	६,१५५	१,२२५	१,४८६ (मात्रा टनों में)

समाप्त करने की (जनता की) माँग और विपणन सर्वेक्षण द्वारा प्रकट तथ्यो को दृष्टि में रखकर स्वीकृत किया गया था। तुलनात्मक दृष्टि से कपास की सतोषजनक स्थिति केन्द्रीय-कपास-समिति के कार्यो का परिणाम है। केन्द्रीय-कपास-समिति का अपना अलग कोष है। इसमे अन्य फसलो के सुधार के लिए भी समितियो के निर्माण की आवश्यकता प्रतीत होती है।[1] कृषि-आयोग ने जूट के लिए ऐसी समिति की आवश्यकता पर जोर दिया था और इसकी स्थापना सन् १९३६ में हुई। अखिल-भारतीय-फसल-आयोजना सम्मेलन (१९३४) ने विशेष सस्थाओ द्वारा गेहूँ और धान जैसी अन्य प्रधान फसलो के स्थायी और क्रमबद्ध अध्ययन की सिफारिश की। यह सुझाव सरकार द्वारा मान लिया गया। एक बहुत पुरानी शिकायत यह थी कि कृषि-विभाग अपनी सुधारक शक्तियो को निर्यात की फसलो पर केन्द्रित करता है तथा ज्वार, बाजरा, फल और तरकारी की फसलो पर अपेक्षाकृत कम ध्यान देता है, यद्यपि ये फसलें भी कृपको के लाभ और जनता की खाद्य आवश्यकताओ के दृष्टिकोण से उतनी ही महत्त्वपूर्ण है। भारतीय कृपि-अनुसधान-परिषद् अब अपना ध्यान इनमें से कुछ के उत्पादन, जैसे फलो के उत्पादन, पर केन्द्रित कर रही है। उदाहरणार्थ, बम्बई राज्य में परिषद् ने भारत के प्रधान फलो के सग्रह और परिवहन की परिस्थितियो के अनुसधान के लिए धन दिया है।

२. सुधरे औजारों और नवीन पद्धतियों का प्रदर्शन—फसल-सम्बन्धी आर्थिक कार्यो के अतिरिक्त विभागो के तत्त्वावधान में कृषि-रसायन-शास्त्र, कृपि-शाकाण्विकी (एग्रीकल्चरल बेक्टीरियोलॉजी), पौधो की रोग-विद्या (प्लाण्ट पेथोलॉजी), कवक शास्त्र (माइकोलॉजी) और कीट-विद्या (एण्टोमोलॉजी) की आधारभूत समस्याओ पर खोज और अनुसधान-कार्य प्रारम्भ कर दिया गया है। इनमें भूमि को चूने की आवश्यकता, क्षारीय भूमि के पुनरुद्धार, भूमि की नमी को कायम रखना, सूखी खेती, नाइट्रोजन का निर्धारण, कृत्रिम प्रक्षेत्र खाद का निर्माण, भूमि की खादो में नाइट्रोजन पहुँचाना, देश में पाए जाने वाले फॉस्फेट के प्राकृतिक साधनो का उपयोग, घी में मिलावट की खोज, गन्ने की बीमारियो (जिन्हे अग्रेजी में मोज़ेक डिजीज़िस कहते है) और खाद्यान्नो को नुकसान पहुँचाने वाले कीडो का नियन्त्रण, इत्यादि के नाम गिनाए जा सकते है।

पाश्चात्य देशो में कृषि-सम्बन्धी प्रदर्शनो का उपयोग और शैक्षणिक महत्त्व

---

१ कृपि-वस्तुओं के विपणन और उत्पादन के लिए कतिपय केन्द्रीय कमेटियो स्थापित की गई हैं, जैसे,
इण्डियन सेन्ट्रल कॉटन कमेटी, बम्बई।
इण्डियन सेन्ट्रल जूट कमेटी, कलकत्ता।
इण्डियन सेन्ट्रल टोबेको कमेटी, मद्रास।
इण्डियन सेन्ट्रल आयल-सीड्स कमेटी, नई दिल्ली।
इण्डियन सेन्ट्रल कोकोनट कमेटी, अर्नाकुलम्।
इण्डियन सेन्ट्रल शुगरकेन कमेटी, नई दिल्ली।
इण्डियन सेन्ट्रल एरीकानट (सुपारी) कमेटी, कालीकट।
इण्डियन सेन्ट्रल लैक (लाख) सैस कमेटी, राची।
ऑल इण्डिया कैटल शो कमेटी, करनाल।—अनुवादक

पूर्णरूप से आँका जा चुका है और उन पर व्यय की जाने वाली विशाल धन-राशि को पूँजी लगाने का एक उत्तम मार्ग समझा जाता है। भारत में अब निश्चित अवधि के उपरान्त किये जाने वाले प्रदर्शनो का महत्त्व समझा जाने लगा है। पूना में किया गया बम्बई प्रेसिडेन्सी कृषि-प्रदर्शन (१६२६) एशिया में उस समय तक किये गए प्रदर्शनो में सबसे बडा था। इन महान् प्रदर्शनो को यथा सम्भव जल्दी-जल्दी करना चाहिए, परन्तु इनके अतिरिक्त जिलो और तालुको के लिए भी छोटे-छोटे प्रदर्शनो का सगठन अवश्य करना चाहिए, ताकि स्थानीय परिस्थितियो और आवश्यकताओ के अनुरूप विभिन्नताओ का ज्ञान हो मके और प्रदर्शनो से प्राप्त शिक्षा देश के कोने-कोने में पहुँचाई जा सके।

इस प्रकार कृषि-विभाग विभिन्न दिशाओ में उपयोगी काम करते हुए अनुभव और ज्ञान प्राप्त कर रहे हैं, फिर भी सुधारों की प्रगति बहुत धीमी रही है। यह अशत सरकारी कामो में बहुत ज्यादा कागजी कार्यवाही का परिणाम है। अन्य विभागो की अपेक्षा कृषि-विभाग को इस प्रकार की शिथिलता का शीघ्र परित्याग करना चाहिए। धीमी प्रगति के अपेक्षाकृत मुख्य कारण किसानो के पास पूँजी की कमी, सिंचाई की अपर्याप्त सुविधाएँ और जनता की रूढिवादिता तथा अज्ञान हैं। इनके अतिरिक्त कृषि-विभागो को दिया गया अपर्याप्त धन भी एक कारण है। १६३६-४० में केन्द्रीय और राज्यीय कृषि-विभागो का कुल व्यय ३ करोड से भी कम था। यह २१४ करोड के सम्पूर्ण व्यय की तुलना में बहुत कम है, जिसका अभिप्राय यह है कि देश के सबसे प्रधान उद्योग पर देश की आय का नगण्य प्रतिशत खर्च किया जाता है। अमेरिका और जापान जैसे देशो में कृषि-सुधार पर किये गए उदार व्ययो की तुलना से इस सम्बन्ध में हमारे देश के व्यय की विपरीतता अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है। १६३६ में युद्ध प्रारम्भ होने के पूर्व आय-व्ययक की स्थिति में सुधार, वायसराय लिनलिथगो तथा (१६३६ में त्यागपत्र देने से पहले) राज्यो को कांग्रेस सरकार के कृषि-मन्त्रियो द्वारा कृषि-सम्बन्धी विषयो में प्रदर्शित किये गए उत्साह तथा युद्ध-जनित नवीन कृषि-समस्याओ की कठिनाई और खाद्यान्नो की कमी ने कृषि-विभागो में नवीन तथा अभूतपूर्व स्फूर्ति और क्रियाशीलता उत्पन्न कर दी।

४ राज्य-सहायता की दूसरी मदें—राज्य-सहायता की अन्य मदों का सक्षिप्त पुनरावलोकन इस प्रकार किया जा सकता है

(१) भूमि सम्बन्धी नीति—इस सम्बन्ध में निम्न विशेषताएँ द्रष्टव्य है—कृषको के भूमिगत अधिकारो की सुरक्षा तथा विशेष अधिनियमो द्वारा जमीदारी और इधर हाल मे अन्य क्षेत्रो के कृषको की सुरक्षा (देखिए अध्याय १२)। सरकार द्वारा किसानो को दिये गए अन्य विशेषाधिकारो में हस्तान्तरण की स्वतन्त्रता का नाम लिया जा सकता है। यह सुविधा, जैसा हम देख चुके है केवल वरदान ही नही सिद्ध हुई, अतएव एक विशेष कानून द्वारा इस पर प्रतिबन्ध लगाना पडा। भू-राजस्व-नीति की समीक्षा एक अन्य अध्याय में की जायगी। सरकार द्वारा सिंचाई के साधनो के निर्माण

तथा किसानो को अपनी भूमि में स्वय स्थायी सुधार करने के लिए तकावी[1] के रूप में दी गई सरकारी सहायता का विवेचन हम पहले ही कर चुके है।

(२) शुल्क—शुल्क के प्रयोग के एक पहलू—खाद्यान्न, कच्चे माल तथा खाद पर निर्यात-कर के प्रभाव—पर हम पहले ही विचार कर चुके है और इस सम्बन्ध में विभिन्न प्रस्तावो का भारतीय कृषि-समृद्धि पर प्रभाव पर्याप्त रूप से स्पष्ट किया जा चुका है। आस्ट्रेलिया के गेहूँ की प्रतिस्पर्धा के कारण १९३९-४५ के पूर्व आयात-कर का प्रश्न किंचित् महत्त्वपूर्ण हो उठा। सन् १९३१ का गेहूँ आयात-कर कानून गेहूँ के उत्पादको को सहायता देने के लिए था तथा बाद के वर्षो में इसे पुन लागू किया गया। भारतीय चीनी उद्योग का प्रश्न अधिक महत्त्वपूर्ण है, जिसकी समीक्षा पहले ही जा चुकी है। तटकर मण्डल की सिफारिशो पर सन् १९३२ में चीनी पर लगाया गया सरक्षण-आयात-कर परिष्कृत चीनी-उद्योग के राष्ट्रीय महत्त्व को देखते हुए न्यायोचित है। चावल के भारतीय उत्पादको को भी सस्ते टूटे चावल की आयात की प्रतिस्पर्धा से बचाने के लिए १९३५ में आयात-कर लगाना पडा। वर्तमान खाद्याभाव ने समस्या का रूप ही परिवर्तित कर दिया है, कम करने के विपरीत आज भारत किसी भी मूल्य पर खाद्यान्नो का आयात करने के लिए इच्छुक है।[2]

वित्त-सम्भार सहकारिता और विपणन के क्षेत्र में सरकार द्वारा किये गए कार्यो का विस्तृत विवेचन पिछले अध्यायो में हो चुका है।

४. कृषि-शिक्षा—कृषि-कुशलता से सम्बन्धित ग्रामीण शिक्षा को निर्धारित करने वाले सिद्धान्तो की ओर सकेत किया जा चुका है। अब केवल राज्य द्वारा सचालित शिक्षण-तन्त्र का विवरण देना शेष है।[3]

---

१ स्वतन्त्रता के बाद तकावी के रूप में दी जाने वाली रकम काफी बढ गई है। उदाहरण के लिए उत्तर प्रदेश और मध्यप्रदेश के आकडे देखिए .

	१९४७-४८	१९५०-५१	१९५१-५२	१९५२-५३ (लाख रुपयों में)
उत्तरप्रदेश	८२ ७८	२९८ ३७	३८९.९३	४८०·९७
मध्यप्रदेश	११९ ४०	२२५.०४	२८० ०६	२८७ ०९

तकावी के दोषों की चर्चा अध्याय ९ में की जा चुकी है। कुछ राज्यों में, जैसे मध्यप्रदेश में, इसके दोषों को दूर करने के लिए प्रयत्न किये जा रहे हैं जिनकी चर्चा अध्याय ९ की पाद-टिप्पणियों में की जा चुकी है।—अनुवादक

२ यह कथन कुछ वर्ष पूर्व की परिस्थितियों के सम्बन्ध में है अन्यथा वर्तमान समय में खाद्यान्न का आयात घट रहा है तथा आयात पर निर्भरता भी समाप्तप्राय है। नीचे दिये हुए आंकडे इस प्रवृत्ति को स्पष्ट कर रहे हैं

वर्ष	आयात की मात्रा (दस लाख टन में)	आयात में कमी (दस लाख टन में)
१९५१	४.७	...
१९५२	३.९	० ८
१९५३	२ ०	१ ९

पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत उत्पादन की वृद्धि के परिणामस्वरूप यह सम्भव हुआ है। भारत की वर्तमान खाद्य-नीति खाद्य-पदार्थो के सम्बन्ध में आत्म-निर्भरता प्राप्त करने की है।—अनुवादक

३ भारत में प्रचलित ग्रामीण शिक्षा के विस्तृत विवरण के लिए कृषि आयोग रिपोर्ट, साक्ष्य विवरण, खण्ड १, पृ० ११४-१८ देखिए। भारत सरकार के शिक्षण कमिश्नर जे० ए० रिचे का स्मृतिपत्र, रिपोर्ट, अध्याय १५, एग्रीकल्चर एण्ड एनिमल हसबैंडरी इन इंडिया (१९३७-३८), पृ० २४२-५३।

(१) कृषि-कॉलेज—इस समय विभिन्न राज्यो के निम्न स्थानो—पूना, कोयम्बटूर, कानपुर, नागपुर, वपाटला और लायलपुर—में ६ कालेज स्थापित हैं।[1] निकट भविष्य में देश के विभिन्न भागो में और कॉलेजो के खुलने की सम्भावना है। ये कॉलेज, कृषि-विभागो के लिए अधिकारियो के प्रशिक्षण तथा उन व्यक्तियो को, जो मालिक या एजेण्ट के रूप में कृषि-कार्य कर रहे है या करने के इच्छुक है, आधुनिक पद्धतियो की शिक्षा देने के उद्देश्य से स्थापित किये गए है। इसके अलावा ये अपने राज्यो के कृषि-सम्बन्धी वैज्ञानिक अनुसन्धान-केन्द्र भी है। स्नातक-पत्र (डिग्री) के सम्पूर्ण पाठ्य-क्रम के अतिरिक्त इन कॉलेजो मे एक या दो साल के उपाधि-पत्र (डिप्लोमा) के पाठ्य-क्रम भी हैं। ये पाठ्य-क्रम अधिकतर कृषि करने वालो ही के लिए हैं, लेकिन साथ ही, सहायक कृषि-नौकरियो की भरती के लिए उपयुक्त भी है। कृषि-सम्बन्धी स्नातकोत्तर प्रशिक्षण का प्रबन्ध भारतीय कृषि-अनुसधान विद्यालय (इण्डियन एग्रीकल्चरल रिसर्च इन्स्टीट्यूट) नई दिल्ली मे है।

(२) कृषि मिडल स्कूल—कृषि के व्यावसायिक मिडल स्कूल किसानो के लडको के विशेष प्रशिक्षण के निमित्त है। ये वास्तव में औद्योगिक या शिल्प पाठशालाएँ है जिनमें कृषि-सम्बन्धी व्यावहारिक शिक्षा देने के लिए, साधारण शिक्षा प्राप्त करने के बाद, तेरह साल की अवस्था से अधिक के विद्यार्थी भरती किये जाते है। शिक्षा स्थानीय भारतीय भाषाओ के माध्यम से दी जाती है। यद्यपि इनका उद्देश्य विद्यार्थियो को पुन अपनी खेती पर भेज देने का है ताकि वे प्रशिक्षण का उपयोग अच्छी खेती के लिए कर सकें, किन्तु आशका है कि इस उद्देश्य की पूर्ति साधारणतया नही हो रही है। अन्य शिकायतें भी है कि किसान अपने बच्चो को स्कूलो मे भरती कराने में उत्साह प्रदर्शित नही करते तथा शिक्षा-पद्धति काफी खरचीली है। साथ ही यह शिक्षा-पद्धति का प्राकृतिक विकास न होकर कृत्रिम विकास-सा लगता है, यद्यपि बम्बई सरकार का दावा है कि वहाँ ये स्कूल सफल हुए है।

(३) सामान्य पाठ्य-क्रम में एक विषय के रूप में कृषि का स्थान—कृषि सम्बन्धी व्यावहारिक शिक्षा किसी भी प्रारम्भिक पाठशाला में नही दी जाती। ये साधारण प्रकृति-अध्ययन ही से सन्तुष्ट रहते है जो कि ग्राम्य जीवन में रुचि उत्पन्न करने में सहायक होता है। कृषि तथा ग्राम्य जीवन में रुझान उत्पन्न करने वाली पाठशालाओ का महत्त्व शिक्षा-पद्धति को ग्रामीण जीवन की आवश्यकताओ से सम्बद्ध करने वाले उपायो के रूप में अधिकाधिक स्वीकार किया जा रहा है। पजाव और उत्तरप्रदेश में तो अध्यापको के प्रशिक्षण के लिए निश्चित कदम उठाये गए है। इसी प्रकार हाल ही में वम्बई की पाठशालाओ में कृषि-सम्वन्धी कक्षाओ का प्रारम्भ किया गया। कहा जाता है कि शिक्षा के उपरान्त अधिकाश विद्यार्थियो ने अपने गाँवो में कृषि प्रारम्भ की है। इसके अलावा इन पाठशालाओ का प्रसार-कार्य प्रशिक्षित अध्यापको की कमी के कारण भी वाधित हो रहा है।

अन्य राज्यो की तरह कृषि-मिडल स्कूल खोलने के वजाय पजाव ने वर्ना-

[1] १६५४ में कृषि सम्वन्धी उच्चतर अध्ययन के लिए १३ से अधिक विद्यालय हैं।—अनुवादक

क्युलर मिडल स्कूलो में ही कृषि की व्यावहारिक शिक्षा देना प्रारम्भ किया है। यह इस बात को ध्यान में रखकर किया गया है कि अध्ययन में कृषि विषय लेने वाले विद्यार्थी यदि आगे पढना चाहें तो उनकी हानि न हो। कृषि-शिक्षा देने वाली पाठशालाओ के साथ कृषि-फार्म (क्षेत्र) भी जुडे होते है। इसमें काफी सफलता प्राप्त हुई है और सम्पूर्ण पद्धति शीघ्र ही अन्य राज्यो द्वारा अपनाई जाने वाली है। कृषि-आयोग ने, असमानुपातिक व्यय के आधार पर बम्बई की पाठशालाओ के प्रति काफी विरोध प्रकट किया तथा मिडल स्कूलो में दी जाने वाली शिक्षा को ग्रामीण वातावरण से सम्बन्धित करने की समस्या के हल के रूप में पजाव के स्कूलो को बहुत पसन्द किया। उन्होंने आशा प्रकट की कि ये पाठशालाएँ गाँवो में सच्चे केन्द्रो का रूप ग्रहण करेंगी। जहाँ तक हाईस्कूलो का प्रश्न है, आयोग ने पाठ्यक्रम में कृषि सम्बन्धी उच्चतर अध्ययन रखने का सुझाव पेश किया। १९३९-४० में बम्बई के सितारा, बीजापुर, गोधरा के तीन हाई-स्कूलो में कृषि-कक्षाएँ प्रारम्भ की गईं। कृषको के लाभ के लिए कृषि के विभिन्न पहलुओ, जैसे, मुर्गीपालन, उद्यानविद्या आदि से सम्बन्धित विशेष प्रशिक्षण का भी प्रबन्ध किया जाता है, जो राज्य में अधिकाधिक लोकप्रिय सिद्ध हो रहा है।[1]

शिक्षा को वर्धा-योजना के अनुरूप बनाने से देश की कृषि-शिक्षा पर भी महत्त्व-पूर्ण प्रभाव पडने की सम्भावना है (दे० पीछे अध्याय ८, सेक्शन २)।

ऊपर दिये गए विवरण से स्पष्ट है कि यद्यपि सरकार ने देश के कृषि-सुधार में कुछ काम किया है, परन्तु अभी वह और कर सकती है। शिक्षित वर्ग ने अभी पूरी तौर से कृषि के महत्त्व की सराहना नही की है। अभी तक समाज-सेवको ने भी अपना ध्यान विशेष रूप से नगरो और उनकी समस्याओ पर ही केन्द्रित किया है। कुछ सस्थाओ, जैसे 'सर्वेंट्स ऑफ इण्डिया सोसायटी' द्वारा पिछडे ग्राम-क्षेत्रो में प्रारम्भ किये गए कार्य काफी आशाप्रद हैं। किन्तु इन्हे और बडे पैमाने पर सचालित करने की आवश्यकता है। स्थायित्व तथा निरन्तरता के दृष्टिकोण से वैयक्तिक प्रयत्नो की अपेक्षा सुसगठित समितियो द्वारा किये गए प्रयत्न अधिक सराहनीय हैं।[2] कृषि-विद्यालयो को छोड़कर प्राय सभी विश्वविद्यालयो ने कृषि-अर्थशास्त्र के अध्ययन की उपेक्षा की है। जैसा कि कृषि-आयोग ने सकेत किया था, दो दिशाओ में विश्वविद्यालय अपने को लाभकारी सिद्ध कर सकते है प्रथम, औद्योगिक विषयो, जैसे सामाजिक दशाओ के आर्थिक सर्वेक्षण के सम्बन्ध में और दूसरे, ग्रामीण जन-समूह में नेतृत्व और सेवा की भावना जगाने में।[3]

६. ग्रामोद्धार : गुड़गाँव का प्रयोग—कृषि-आयोग ने ठीक ही कहा है कि जब तक किसान में स्वय अपने रहन-सहन का दर्जा ऊँचा करने की भावना तथा सुविचारित अधिनियमो, सुशासन, और विज्ञान द्वारा प्राप्त अवसरो से लाभ उठाने की मानसिक और शारीरिक क्षमता न हो तब तक कृषि में कोई महत्त्वपूर्ण सुधार सम्भव नही। कृषि को समृद्ध बनाने वाले साधनो में सबसे महत्त्वपूर्ण किसान का मानसिक

१ कृषि-विभाग, बम्बई की वार्षिक रिपर्ट (१९३९-४०), पैरा ७५-६।

२ कृषि आयोग की रिपोर्ट, पैरा, ४२५।

३ वही, पैरा ४२६।

दृष्टिकोण है। गांवो की दशा को सुधारने के लिए सुविचारित और सयुक्त प्रयत्नो द्वारा ही उच्चतर जीवन-स्तर की मांग को प्रोत्साहित किया जा सकता है। इसको प्रारम्भ करने की जिम्मेदारी सरकार पर है। आवश्यकता इस बात की है कि वे विभाग, जिनके कामो का ग्रामीणो के जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है, सगठित रूप से लगातार प्रयत्न करें।[1] इसमें जन-साधारण की सहानुभूति, रुचि एव क्रियात्मक सहायता अनिवार्य रूप से अपेक्षित है। जो लोग ग्रामीणो के जीवन का नेतृत्व कर रहे हैं उनको अपनी पूरी शक्ति इस पहलू पर लगानी चाहिए कि कैसे वे सम्मिलित प्रयत्नो से ग्रामीणो को अधिक-से-अधिक सुविधा पहुंचा सकते हैं। गाँव तथा उसके आसपास की परिस्थितियाँ सुधारने के लिए मिल-जुलकर काम करने की पुरातन परम्परा को फिर से जीवित करने के लिए सुलझे हुए नेतृत्व की आवश्यकता है। ऐसा करने का एक तरीका यह भी है कि गाँवो में काम करने वाले हज़ारो पटवारी और पटेल जैसे पदाधिकारियो को ग्राम-सुधार के आदर्शो से अनुप्राणित कर दिया जाय। एक दूसरा तरीका एफ० एल० ब्रेन द्वारा पजाब के गुडगाँव जिले में प्रारम्भ की गई ग्राम-पथ-प्रदर्शको की योजना है। इसमें निहित अभिप्राय यह है कि ग्रामीणो को चकित करने वाली विभिन्न एजेन्सियो के स्थान पर एक निश्चित विश्वसनीय व्यक्ति मिल जायगा जिससे वे सहायता की आशा कर सकते हैं। वह एक माध्यम का भी कार्य करेगा जिसके द्वारा विभिन्न विभागो के विशेषज्ञो के परामर्श गाँववालो तक सरलता से पहुंच सकें।

किन्तु निष्क्रिय होने से बचाने के लिए ग्राम-पथ-प्रदर्शको को सदैव नये विचारो से प्रेरणा देने और उनके कार्यो की प्रशसा तथा प्रोत्साहन की आवश्यकता होगी। इसी लिए गुडगाँव-ग्रामोद्धार-योजना में "एक केन्द्रीय प्रेरक-शक्ति प्रदान करने की कोशिश की गई ताकि सामुदायिक-भावना का विकास एव उत्साह-सवर्धन हो सके तथा गाँवो में काम करने वालो को योजना सफल बनाने के लिए उपयुक्त सामग्री मिल सके।"

अपने "रस्टिकर लॉक्विटर" में श्री (अब सर माल्कम) डार्लिंग ने गुडगाँव योजना में मि० ब्रेन द्वारा किये गए कार्य की सहानुभूतिपूर्ण शब्दो में कठोर आलोचना की।[2] गुडगाँव का प्रयोग इस अर्थ में नया था कि "तब तक भारत के किसी हिस्से में इतने विस्तृत क्षेत्र और इतने गहन रूप से ग्राम-सुधार का न तो प्रचार किया गया था और न ग्राम-सुधार के सयोग में अधिकारियो के प्रभाव का इतना उपयोग किया गया था।" ऐसा विश्वास था कि यह अन्यत्र होने वाले इस प्रकार के प्रयत्नो के लिए नमूने का काम करेगा। किन्तु दुर्भाग्यवश, योजना अपने प्रवर्तक की आशाओ के अनुसार फल-फूल न सकी। असफलता का प्रधान कारण यह था कि छोटे-मोटे सभी पहलुओ पर पूरा विचार किये विना ही एक अनिच्छुक और विनम्र ग्रामीण समाज पर यह योजना लाद दी गई,

१ वही, पैरा ४२३, मि० ब्रेन ने गुडगाव के प्रयोग और ग्रामोद्धार के तरीके का वर्णन अपनी निम्न पुस्तकों में किया है विलेज अपलिफ्ट इन इण्डिया (१९२७), रिमेकिंग ऑफ विलेज इण्डिया (१९२९), सॉक्रेट्स इन एन इन्डियन विलेज (१९२९), सॉक्रेट्स परसिस्ट्स इन इन्डिया (१९३२) और बैटर विलेजिज़ (तृतीय सस्करण, १९४५)।

२ डार्लि ग, रस्टीकस लॉक्विटर, पृ० १२१-८, १५५-६ डी०। स्पेन्सर हैच की 'अप फ्रॉम पॉवर्टी, अध्याय १ और पैस्मिम भी देखें।

ग्राम-पथ-प्रदर्शको का चुनाव शीघ्रता से किया गया तथा उनका प्रशिक्षण और उनका निरीक्षण भी अपर्याप्त था। अपनी अल्प-वयस्कता और अज्ञानता के कारण भी वे गाँवो में न तो उचित आदर ही पा सके और न प्रभाव ही स्थापित कर सके। हमें यह स्वीकार करना ही पडेगा कि स्थानीय परिस्थितियो की विभिन्नताओ पर भी पर्याप्त ध्यान नही दिया गया। बात यह थी कि मि० ब्रेन शीघ्रतापूर्वक कोई बडा फल प्राप्त करना चाहते थे। अपने डिप्टी कमिश्नर पद की अल्पकालावधि में ही वे गाँवो की युगों की गन्दगी को सदा के लिए दूर करना चाहते थे तथा जिले और दुनिया को कुछ पूरा किया हुआ काम दिखाने के लिए तत्पर थे। परिणाम यह हुआ कि जिन गाँवो में सुधार लागू किये गए उनकी परिस्थितियो का केवल ऊपरी और अधूरा अध्ययन ही सभव हो सका। योजना की आशिक असफलता का कारण यह भी था कि प्रचार अत्यधिक किन्तु अनियमित था और वास्तविक शिक्षा कम दी जा सकी।

गुडगाव के प्रयोग से निम्न परिणामो की पुष्टि हुई (१) किसी प्रकार के परिवर्तन करने के पूर्व यह देखना होगा कि वे कहाँ तक व्यावहारिक एव उपयोगी है। जिन आधारो पर उनका विरोध किया जा सकता है, उन पर भी अच्छी तरह निष्पक्ष रूप से विचार कर लेना चाहिए। (२) वैयक्तिक प्रयत्नो से गाँवो के सुधार की समस्या नही हल हो सकती। दीर्घावधि तक स्थायी नीति का अनुसरण करने के लिए स्थायी सगठन आवश्यक हैं। इससे हर प्रकार के विचारो को सुनने का अवसर मिलेगा और अनुचित जल्दबाजी भी न होगी। इस सम्बन्ध में उत्तरप्रदेश के रायबरेली जिले के ग्रामीण क्षेत्र का, जहाँ ग्रामोद्धार के लिए गाँव और जिला समितियाँ बनाई गई है, उदाहरण काफी शिक्षाप्रद है। मनुष्यो द्वारा बनाई गई किसी भी निर्माण-योजना में गलतियाँ होना अवश्यम्भावी है (सेक्शन ७ भी देखिए)। किन्तु उत्साही व्यक्तियो की अपेक्षा सस्थाओ से कम गलतिया होगी। (३) छिपे या खुले रूप में बल-प्रयोग की अपेक्षा जहाँ तक सभव हो शिक्षा एव प्रोत्साहन से काम लेना चाहिए। लेकिन इतना ध्यान रखना चाहिए कि कभी-कभी अल्पसख्यक दुराग्रहियो के विरोध को दूर करने के लिए बल-प्रयोग आवश्यक भी हो सकता है। (४) ब्रेन द्वारा अपनाये गए तरीको की डार्लिंग द्वारा की गई आलोचना मूलत उचित है। लेकिन इससे साधारण पाठक के मन में यह विचार उठ सकता है कि इस समय केवल शिक्षा देने का ही प्रयत्न सफलतापूर्वक किया जाय और बाकी बातो के लिए गाँव को अपने-आप पर छोड देना चाहिए। किन्तु इस कथन में निर्विरोध करने देने के सिद्धान्त की प्रमुखता दिखलाई देती है। भारतीय ग्राम-सुधार का प्रश्न इतना अनिवार्य है कि इस प्रकार के निष्क्रिय तरीको से लाभ न होगा। यदि उचित मात्रा और समय में कुछ महत्त्वपूर्ण प्रगति करने की इच्छा है तो एक निश्चित और सुनियोजित कार्यक्रम का आग्रहपूर्वक अनुसरण करना होगा।

७ ग्राम-सुधार की आधुनिक योजनाएँ—पिछले कुछ वर्षो से ग्रामोद्धार में पर्याप्त उत्साह दिखाया जा रहा है। १६३५-३६ में ग्रामो की आर्थिक और विकास-योजनाओ पर व्यय करने के लिए सरकार ने १ करोड के अनुदान को विभिन्न राज्यो में वितरित किया। इससे योजना को पहली बार निश्चित प्रोत्साहन मिला। विभिन्न राज्यो मे

किये गए ग्रामोन्नति कार्यों का उद्देश्य गाँवो के सचार-साधन, सफाई, आमोद-प्रमोद, औषधि सहायता, ग्रामोद्योग तथा अन्य कृषि-सम्बन्धी सुधार करना है (राज्यो में लोक-प्रिय मन्त्रिमण्डलो की स्थापना से इसे बहुत प्रोत्साहन मिला)। कुछ चुने हुए क्षेत्रो में ठोस कार्य के लिए ग्राम-पुनर्निर्माण-केन्द्रो का सगठन किया गया है। इनमें से कुछ ने जनता को सामाजिक एव नैतिक सुधार और गाँवो को उन्नति की दिशा में अग्रसर करने में पर्याप्त सफलता प्राप्त की है तथा ग्रामीण क्षेत्रो में ग्रामोद्धार का पथ-प्रदर्शन किया है। शिक्षा-सस्थाओ और सहकारी सगठनो और मानव-प्रेमियो द्वारा भी काफी लाभप्रद कार्य हुआ है। गैर-सरकारी और सरकारी व्यक्तियो के सयोग से निर्मित ग्राम-विकास या ग्रामोद्धार परिषदो द्वारा ग्राम-विकास के कार्य को समन्वित (सयोजित) करने की बात हम पहले कह आए हैं। कुछ क्षेत्रो में ग्राम-विकास अफसरो की नियुक्ति हुई है।[1]

ग्रामोद्धार सगठन और पुनर्निर्माण के कार्य को स्पष्ट करने के लिए बम्बई राज्य में की गई दो योजनाओ का उल्लेख किया जा सकता है। पहली योजना सर फ्रेडरिक साइक्स ने अपने राज्यपाल-काल के अन्तिम वर्ष (१६३३) में प्रारम्भ की। ग्रामोद्धार का एक कार्यक्रम जारी किया गया, जिसमें इस बात का निर्देश किया गया कि किन आधारो पर सरकारी तथा गैर-सरकारी व्यक्तियो का यह सगठन राज्य के विभिन्न कमिश्नरियो, जिलो और तालुकों में स्थापित किया जायगा।[2] विभिन्न विभाग और एजेन्सियाँ एक सगठन में सयुक्त की जाने वाली थी, ताकि उनमें नवीन प्राण-शक्ति का सचार किया जा सके। बम्बई की इस नवीन योजना को कार्यान्वित करने के लिए मुख्य सस्था 'जिला ग्रामोद्धार समिति' थी, जिसका सभापति जिलाधीश और उप-सभापति स्थानीय जिला-बोर्ड का अध्यक्ष था। विभिन्न विभागो के पुराने स्थानीय अधिकारियो और प्रमुख गैर-सरकारी व्यक्तियो को भी समिति में स्थान दिया गया। समिति का कार्य ग्राम-सुधार की विभिन्न शाखाओ, जैसे शिक्षा, कृषि, गृह-निर्माण, कुटीर उद्योग, स्वास्थ्य, मुकदमेबाजी और कर्ज इत्यादि के कामो को सयोजित और नियन्त्रित करना था। यद्यपि यह योजना केन्द्रीय प्रदेश (सेन्ट्रल डिवीजन) में काफी सफल हुई, किन्तु पूरे समय तक काम करने वाले ग्राम-विकास अधिकारी और समुचित धन के अभाव में इनके काम में काफी बाधा पहुँची।

फरवरी, सन् १६३६ में वित्त-मत्री श्री ए० बी० लाथे ने अपने आय-व्ययक (बजट) भाषण मे ग्राम-विकास एव पुनर्निर्माण की एक विस्तृत योजना प्रस्तुत की। सहकारी विभाग के गाँव की समस्याओं के निकट सम्बन्ध को ध्यान में रखकर बम्बई-सरकार ने नव-निर्मित ग्राम-विकास विभाग को सहकारी विभाग से जोड देने का निश्चय किया और इसे सहकारी-समितियो के रजिस्ट्रार के अन्तर्गत रखा, जिसे ग्राम-विकास सचालक भी कहा जाता था। विभिन्न विभागो के काम को सयोजित करने के विचार से सम्बन्धित विभागो के क्षेत्र-कर्मचारियो (फील्ड स्टाफ) का

१ रिव्यू ऑफ द कोआपरेटिव मूवमेण्ट इन इण्डिया (१६३६-४०), पृ० ८६-८७।
२ बाद में वह एक सरकारी पुस्तक 'मैन्युअल ऑफ विलेज इम्प्रूवमेण्ट' के रूप में प्रकाशित हुई।

सयुक्त सरकारी और ग्राम-विकास-विभाग में तबादला कर दिया। लेकिन वाद के अनुभव पर सरकार ने फिर दोनो विभागो को पृथक्-पृथक् कर दिया। अब दोनो विभागो का सयोजन जिलाधीश करता है, जो अधीनस्थ ग्राम-विकास के अधिकारियो के नियन्त्रण के लिए उत्तरदायी है। ग्राम-विकास योजना में प्रचार-कार्य करने वाला जिले का कर्मचारी वर्ग राजस्व, कृषि और सहकारी विभाग में बाँट दिया गया। कृपि-विभाग के विशेषज्ञ अधिकारियो का पुन उनके विभाग में तबादला कर दिया गया। लेकिन विपणन अधिकारी-वर्ग प्रधान विपणन अधिकारी, चार सहायक विपणन अधिकारी, दस विपणन-निरीक्षक, जिनकी नियुक्ति 'कृषि-उत्पत्ति-विपणन अधिनियम (एग्रीकल्चर प्रोड्यूस मार्केट्स एक्ट) १९३९ के अन्तर्गत नये नियमित वाजारो को सुचारु रूप से चलाने के विचार से की गई थी, सहकारी समितियो के रजिस्ट्रार के अन्तर्गत ही रहे। यद्यपि उसे अब भी सहकारी समितियो का रजिस्ट्रार और ग्राम-विकास-सचालक कहा जाता है, किन्तु १९४१ के पुनर्संगठित योजना के अनुसार वह अब ग्राम-विकास के लिए उत्तरदायी नही है। जैसा हम पहले कह चुके है, ग्राम-विकास के लिए उच्च राजस्व अधिकारी उत्तरदायी है। ग्राम-सुधार कार्य के विभिन्न विभागो के सयोजन का कार्य काफी सफल कहा जा सकता है। वन, पुलिस और आबकारी विभाग ने भी इसमें रुचि प्रदर्शित की है।

१९३९ से निर्मित ग्राम-विकास परिषदो द्वारा ग्राम-विकास-विभाग का काम हो रहा है। इन परिषदो के सशोधित विधान के अनुसार इनका अध्यक्ष जिलाधीश होता है तथा विभिन्न विभागो के अधिकारी पदेन सदस्य होते है। इसके अतिरिक्त सरकार द्वारा नामजद किये हुए या जिला ग्राम-विकास-परिषद के नियमों के अन्तर्गत निर्वाचित और वहुत से सदस्य होते है। प्रवन्ध-कार्य एक कार्यकारिणी समिति के सुपुर्द है जिसका अध्यक्ष जिलाधीश होता है। अपने-अपने क्षेत्रो में सुधार-कार्य करने के लिए वहुत से जिलो में तालुका और ग्राम-सुधार-समितियाँ होती है।[1]

ग्राम-सुधार-विभाग को राज्यीय ग्राम-सुधार परिपद से सहायता मिलती है, जिसमें १९४१ के पुनर्गठन के अनुसार कुछ पदेन सदस्य (जैसे ग्रामीण आर्थिक व्यवस्था से सम्वन्धित सरकारी विभागों के अध्यक्ष) होते है तथा कुछ विभिन्न सस्थाओ, जैसे जिला ग्राम-सुधार-परिषद और सहकारी सगठनो द्वारा चुने गए और कुछ सरकार द्वारा नामजद होते है। ग्राम-सुधार का अधिकारी परामर्शदाता परिपद का सभापति होता है। उसका काम सरकार को ग्राम-सुधार से सम्वन्धित विपयो के सैद्धान्तिक और नीति सम्वन्वी पहलुओ पर सलाह देना है।

प्रचार-कार्य के लिए उचित प्रशिक्षण के वाद गाँवो में ग्राम-सहायक नियुक्त हो रहे है ताकि वे गाँवो की वहु-उद्देश्यीय समितियो और पचायतो के सचिव का काम सँभाल सकें। उचित प्रशिक्षण के लिए राज्य में पाँच केन्द्रो की स्थापना की गई है।

ग्राम-सुधार विभाग ने विविध विपयो से सम्वन्धित अपने विभिन्न कार्यो की रिपोर्ट १९४०-४१ में दी। जैसे भूमि-कटान (erosion) को रोकना, शुष्क-कृपि पद्धति

१ एनुअल एडमिनिस्ट्रेशन रिपोर्ट ऑफ द रूरल डिवेलपमेंट डिपार्टमेंट, वम्बई (१९४०-४१), पृ० १-५।

किये गए ग्रामोन्नति कार्यों का उद्देश्य गांवो के सचार-साधन, सफाई, आमोद-प्रमोद, औषधि सहायता, ग्रामोद्योग तथा अन्य कृषि-सम्बन्धी सुधार करना है (राज्यो में लोकप्रिय मन्त्रिमण्डलो की स्थापना से इसे बहुत प्रोत्साहन मिला)। कुछ चुने हुए क्षेत्रो में ठोस कार्य के लिए ग्राम-पुनर्निर्माण-केन्द्रो का सगठन किया गया है। इनमें से कुछ ने जनता को सामाजिक एव नैतिक सुधार और गांवो को उन्नति की दिशा में अग्रसर करने मे पर्याप्त सफलता प्राप्त की है तथा ग्रामीण क्षेत्रो में ग्रामोद्धार का पथ-प्रदर्शन किया है। शिक्षा-सस्थाओ और सहकारी सगठनों और मानव-प्रेमियो द्वारा भी काफी लाभप्रद कार्य हुआ है। गैर-सरकारी और सरकारी व्यक्तियो के सयोग से निर्मित ग्राम-विकास या ग्रामोद्धार परिषदो द्वारा ग्राम-विकास के कार्य को समन्वित (सयोजित) करने की बात हम पहले कह आए हैं। कुछ क्षेत्रो में ग्राम-विकास अफसरो की नियुक्ति हुई है।[1]

ग्रामोद्धार सगठन और पुनर्निर्माण के कार्य को स्पष्ट करने के लिए बम्बई राज्य में की गई दो योजनाओ का उल्लेख किया जा सकता है। पहली योजना सर फ्रेडरिक साइक्स ने अपने राज्यपाल-काल के अन्तिम वर्ष (१९३३) में प्रारम्भ की। ग्रामोद्धार का एक कार्यक्रम जारी किया गया, जिसमें इस बात का निर्देश किया गया कि किन आधारो पर सरकारी तथा गैर-सरकारी व्यक्तियो का यह सगठन राज्य के विभिन्न कमिश्नरियो, जिलों और तालुको में स्थापित किया जायगा।[2] विभिन्न विभाग और एजेन्सियां एक सगठन में सयुक्त की जाने वाली थी, ताकि उनमें नवीन प्राण-शक्ति का सचार किया जा सके। बम्बई की इस नवीन योजना को कार्यान्वित करने के लिए मुख्य सस्था 'जिला ग्रामोद्धार समिति' थी, जिसका सभापति जिलाधीश और उपसभापति स्थानीय जिला-बोर्ड का अध्यक्ष था। विभिन्न विभागो के पुराने स्थानीय अधिकारियो और प्रमुख गैर-सरकारी व्यक्तियो को भी समिति में स्थान दिया गया। समिति का कार्य ग्राम-सुधार की विभिन्न शाखाओं, जैसे शिक्षा, कृषि, गृह-निर्माण, कुटीर उद्योग, स्वास्थ्य, मुकदमेबाजी और कर्ज इत्यादि के कामो को सयोजित और नियन्त्रित करना था। यद्यपि यह योजना केन्द्रीय प्रदेश (सेन्ट्रल डिवीजन) में काफी सफल हुई, किन्तु पूरे समय तक काम करने वाले ग्राम-विकास अधिकारी और समुचित धन के अभाव में इनके काम में काफी बाधा पहुँची।

फरवरी, सन् १९३९ में वित्त-मन्त्री श्री ए० बी० लाथे ने अपने आय-व्ययक (बजट) भाषण में ग्राम-विकास एव पुनर्निर्माण की एक विस्तृत योजना प्रस्तुत की। सहकारी विभाग के गांव की समस्याओ के निकट सम्बन्ध को ध्यान में रखकर बम्बई-सरकार ने नव-निर्मित ग्राम-विकास विभाग को सहकारी विभाग से जोड देने का निश्चय किया और इसे सहकारी-समितियो के रजिस्ट्रार के अन्तर्गत रखा, जिसे ग्राम-विकास सचालक भी कहा जाता था। विभिन्न विभागो के काम को सयोजित करने के विचार से सम्बन्धित विभागो के क्षेत्र-कर्मचारियो (फील्ड स्टाफ) का

१ रिव्यू ऑफ द कोआपरेटिव मूवमेण्ट इन इण्डिया (१९३९-४०), पृ० ८६-८७।

२ बाद में वह एक सरकारी पुस्तक 'मैन्युअल ऑफ विलेज इम्प्रूवमेण्ट' के रूप में प्रकाशित हुई।

सयुक्त सरकारी और ग्राम-विकास-विभाग में तबादला कर दिया। लेकिन वाद के अनुभव पर सरकार ने फिर दोनो विभागो को पृथक्-पृथक् कर दिया। अब दोनो विभागो का सयोजन जिलाधीश करता है, जो अधीनस्थ ग्राम-विकास के अधिकारियो के नियन्त्रण के लिए उत्तरदायी है। ग्राम-विकास योजना में प्रचार-कार्य करने वाला ज़िले का कर्मचारी वर्ग राजस्व, कृषि और सहकारी विभाग में बाँट दिया गया। कृषि-विभाग के विशेषज्ञ अधिकारियो का पुन उनके विभाग में तबादला कर दिया गया। लेकिन विपणन अधिकारी-वर्ग प्रधान विपणन अधिकारी, चार सहायक विपणन अधिकारी, दस विपणन-निरीक्षक, जिनकी नियुक्ति 'कृषि-उत्पत्ति-विपणन अधिनियम (एग्रीकल्चर प्रोड्यूस मार्केट्स एक्ट) १९३९ के अन्तर्गत नये नियमित बाजारो को सुचारु रूप से चलाने के विचार से की गई थी, सहकारी समितियो के रजिस्ट्रार के अन्तर्गत ही रहे। यद्यपि उसे अब भी सहकारी समितियो का रजिस्ट्रार और ग्राम-विकास-सचालक कहा जाता है, किन्तु १९४१ के पुनर्संगठित योजना के अनुसार वह अब ग्राम-विकास के लिए उत्तरदायी नही है। जैसा हम पहले कह चुके है, ग्राम-विकास के लिए उच्च राजस्व अधिकारी उत्तरदायी है। ग्राम-सुधार कार्य के विभिन्न विभागो के सयोजन का कार्य काफी सफल कहा जा सकता है। वन, पुलिस और आबकारी विभाग ने भी इसमें रुचि प्रदर्शित की है।

१९३९ से निर्मित ग्राम-विकास परिषदो द्वारा ग्राम-विकास-विभाग का काम हो रहा है। इन परिषदो के सशोधित विधान के अनुसार इनका अध्यक्ष जिलाधीश होता है तथा विभिन्न विभागो के अधिकारी पदेन सदस्य होते है। इसके अतिरिक्त सरकार द्वारा नामजद किये हुए या जिला ग्राम-विकास-परिषद के नियमो के अन्तर्गत निर्वाचित और बहुत से सदस्य होते है। प्रबन्ध-कार्य एक कार्यकारिणी समिति के सुपुर्द है जिसका अध्यक्ष जिलाधीश होता है। अपने-अपने क्षेत्रो में सुधार-कार्य करने के लिए बहुत से जिलो में तालुका और ग्राम-सुधार-समितियाँ होती है।[1]

ग्राम-सुधार-विभाग को राज्यीय ग्राम-सुधार परिपद से सहायता मिलती है, जिसमें १९४१ के पुनर्गठन के अनुसार कुछ पदेन सदस्य (जैसे ग्रामीण आर्थिक व्यवस्था से सम्बन्धित सरकारी विभागो के अध्यक्ष) होते है तथा कुछ विभिन्न सस्थाओ, जैसे जिला ग्राम-सुधार-परिषद और सहकारी सगठनो द्वारा चुने गए और कुछ सरकार द्वारा नामजद होते है। ग्राम-सुधार का अधिकारी परामर्शदाता परिषद का सभापति होता है। उसका काम सरकार को ग्राम-सुधार से सम्बन्धित विषयो के सैद्धान्तिक और नीति सम्बन्धी पहलुओ पर सलाह देना है।

प्रचार-कार्य के लिए उचित प्रशिक्षण के बाद गाँवो में ग्राम-सहायक नियुक्त हो रहे है ताकि वे गाँवो की बहु-उद्देश्यीय समितियो और पचायतो के सचिव का काम सँभाल सकें। उचित प्रशिक्षण के लिए राज्य में पाँच केन्द्रो की स्थापना की गई है।

ग्राम-सुधार विभाग ने विविध विषयो से सम्बन्धित अपने विभिन्न कार्यो की रिपोर्ट १९४०-४१ में दी। जैसे भूमि-कटान (erosion) को रोकना, शुष्क-कृषि पद्धति

१ एनुअल एडमिनिस्ट्रेशन रिपोर्ट ऑफ द रूरल डिवेलपमेंट डिपार्टमेंट, बम्बई (१९४०-४१), पृ० १-५।

प्रसार, सुधरे औजारो और तरीको का उपयोग, सुधरे बीजो का वितरण, हानिकारक कीडो-मकौडो का नियन्त्रण, फसलो की बीमारियाँ, फलो की खेती, पशुओ और मुर्गियो का सुधार, बाजार और विक्रय, प्रदर्शन, सिंचाई की सुविधा और पानी की पूर्ति, अच्छे सचार-साधन, औषधियो द्वारा सहायता, सफाई और शिक्षा—जिसमें शारीरिक प्रशिक्षण और गाँवो के पुस्तकालय भी शामिल है—तथा प्रदर्शन और कक्षाएँ। गाँवो में दौरे करने के लिए तीन कमिश्नरियो में तीन गाडियाँ भी रखी गई। हर एक पडाव पर छोटे-छोटे प्रदर्शनो का प्रबन्ध किया गया। स्वास्थ्य तथा सफाई की बातें भी बताई गई।[1]

अन्य राज्यो मे भी इसी प्रकार ग्राम-सुधार-कार्य मे रुचि प्रदर्शित की जा रही है। उदाहरण के लिए पजाब, उत्तरप्रदेश-मध्यप्रदेश, मद्रास और बगाल[2] पजाब में ग्राम-सुधार की देख-रेख करने के लिए एक ग्राम-सुधार कमिश्नर भी है। विभिन्न राज्यो में ग्राम-पचायतो की भी स्थापना हो रही है। मैसूर और बडौदा में इस काम को आगे बढाने का कुछ प्रयत्न किया गया है। १९३४ के राज्यीय आर्थिक सम्मेलन से ग्राम-सुधार को प्रेरणा मिली। किन्तु जैसा पहले सकेत कर चुके है, सबसे अधिक प्रेरणा उस समय मिली जब भारत सरकार ने १९३५ के आय-व्ययक से गाँवो के आर्थिक विकास और सुधार के लिए १ करोड रुपया अलग रख दिया। दूसरे वर्ष जब केन्द्रीय सरकार का अनुदान फिर मिला तो ग्राम-सुधार को एक नवीन स्फूर्ति प्राप्त हुई—विशेषकर स्वास्थ्य सफाई और कृषि के क्षेत्र मे। किन्तु केन्द्रीय अनुदानो से ग्राम-सुधार योजनाओ को सफल बनाने के लिए आवश्यक धन के अल्पाश की ही पूर्ति होती है, सम्बन्धित राज्यो को और धन देना चाहिए। जैसा पहले कहा जा चुका है बम्बई राज्य इस विषय में अन्य राज्यो का नेतृत्व कर रहा है और ऐसी आशा है कि निकट भविष्य में महत्त्व-पूर्ण परिणाम सामने आएँगे।[3]

---

१ वही, पृष्ठ, ३७।

२ स्ट्रिकलैण्ड, रूरल वैलफेयर इन इण्डिया, (१९३६), और रिव्यू ऑफ द कोआपरेटिव मूवमैण्ट इन इण्डिया (१९३९-४०), पृष्ठ ८५-८।

३ वर्तमान समय में योजना आयोग ने ग्रामीण आयोजन, भूमि-सुधार और भूमि प्रबन्ध के लिए पचायतों की सिफारिश की। ग्रामीण विकास और आयोजन के माध्यम के रूप में पचायतों को लगभग सभी राज्यों ने स्वीकार कर लिया है। लगभग सभी राज्यों में पचायत-सम्बन्धी कानून बन गए हैं। पचायत कानून के अनुसार तीन प्रकार की पचायतें बताई जा सकती हैं

क वे पचायत कानून, जिनके अन्तर्गत पचायतों को नगरपालिकाओं के-से कार्य तथा कुछ न्यायिक अधिकार सौंपे गए हैं,

ख वे पचायत कानून जिनमें पचायतों के ऐच्छिक कार्यों में आर्थिक और विकास कार्य भी सम्मिलित हैं;

ग वे पचायत कानून (जैसे, आसाम और सौराष्ट्र) जिनमें आर्थिक और विकास-कार्यों को पचायतों के अन्य कार्यों के समकक्ष रखा गया है।

५

इस प्रकार आधुनिक समय में पचायत ग्राम-विकास का माध्यम है। इन पचायतों ने विभिन्न राज्यों में तालाब, कुएँ, नहरों और सड़कों की मरम्मत, नई सड़कें खोलना, गाँव में पानी के निकास को ठीक करना, पुस्तकालय खोलना आदि अनेक काम किये है। इनमें इन्हें पर्याप्त सफलता भी प्राप्त हुई है। पचायतों की मुख्य कठिनाइयाँ धनाभाव तथा गाँव वालों की उदासीनता है। यदि गाँव वाले इसमें रुचि रखें तो प्रगति अधिक तीव्र हो सकती है।

८. राजकीय-कृषि-आयोग—अप्रैल सन् १६२६ में नियुक्त कृषि-आयोग ग्रामीण आर्थिक व्यवस्था की विशेष रूप से जाँच करने के लिए नियुक्त पहला आयोग था। इसकी सिफारिशें (१६२८ में इसकी विस्तृत रिपोर्ट प्रकाशित हुई) ग्रामीण हितो के अनेक पहलुओ को स्पर्श करती हैं। उनका वर्णन हम यथास्थान कर आए हैं। आयोग के परिश्रमो से कृषि में फिर से रुचि जाग उठी और उसके महत्त्व की ओर लोगो का ध्यान गया। यह भी लाभ हुआ कि इसने विभिन्न राज्यो में गाँवो की समस्याओ को सुलझाने के लिए किये गए उपचार एक जगह एकत्र कर दिये। इससे पहले राज्य बिना एक-दूसरे की सलाह-सहायता और अनुभव से लाभ उठाए, अपने-अपने अलग रास्तो पर चल रहे थे। रिपोर्ट ने उनके अन्दर एक-दूसरे से सीखने और सहयोग करने की भावना उत्पन्न कर दी।

आयोग की इन सिफारिशो को कार्यान्वित करने की गति स्पष्टत बहुत धीमी रही है। आने वाले अनेक वर्षो तक सरकार और जनता के समस्त साधनो को धैर्यपूर्वक प्रयोग में लाना होगा, तभी ग्रामीण भारत अन्धकार की गहन छाया से निकलकर दिन के जगमग प्रकाश में समृद्धिशील तथा मुस्कराता हुआ दिखाई देगा।

९. रिपोर्ट पर सरकार की कार्यवाही : शिमला सम्मेलन—राज्य प्रतिनिधियो (कृषि मन्त्री, कृषि सचालक, सहकारी समितियो के रजिस्ट्रार आदि) का एक कृषि-सम्मेलन अक्टूबर १६२८ में शिमला में हुआ। उसमें आयोग की विशेष सिफारिशो पर विचार किया गया और विभिन्न राज्यो द्वारा किये गए कार्य का निर्धारण हुआ। आयोग के सुझावो के आर्थिक पक्ष पर, जिसके कारण उनका एक साथ और तुरन्त कार्य-रूप में परिणत होना असम्भव हो रहा था, काफी जोर दिया गया। आयोग की रिपोर्ट ग्राम-पुनर्निर्माण और कृषि-सवर्धन के आधार के रूप में स्वीकार कर ली गई। यह सोचा गया कि जैसे-जैसे परिस्थितियाँ अनुकूल होगी उन्हे कार्य-रूप में परिणत किया जायगा।[1] केन्द्रीय सरकार द्वारा एक साम्राज्यिक अनुसन्धान परिपद् की

गाँव वालो में अपने सुधार के प्रति रुचि उत्पन्न करने के लिए ही सामूहिक विकास केन्द्र तथा राष्ट्रीय प्रसार सेवा केन्द्र खोले गए है। सामूहिक विकास केन्द्र सर्वांगीण उन्नति के लिए कोई क्षेत्र चुन लेते हैं और आशा यह की जाती है कि इस क्षेत्र के उन्नतिशील तरीकों का अनुसरण अन्य ग्रामवासी भी करेंगे। इस प्रकार भारतीय ग्राम्य-जीवन सुधरता चला जायगा। सुधार का काम एकदम छोड़ देने से जो कुछ भी किया जाता है, वह व्यर्थ हो जाता है। इसी ध्येय से १६५३ से राष्ट्रीय प्रसार सेवा का सूत्रपात किया गया ताकि सुधार कार्य की निरन्तरता बनी रहे।

ग्राम सुधार के लिए प्रत्येक राज्य में एक विकास-समिति (डिवेलपमेन्ट कमेटी) होती है। इस समिति का अध्यक्ष मुख्य मन्त्री होता है तथा मन्त्री, विकास-आयुक्त (डिवेलपमेन्ट कमिश्नर) होता है। जिले में भी जिला विकास समिति या जिला आयोजन-समिति होती है, जिसका अध्यक्ष जिलाधीश तथा मन्त्री आयोजन अधिकारी (प्लानिंग अफसर) होता है। यह समिति जिले के विकास के लिए उत्तरदायी होती है। इस प्रकार ग्रामीण विकास के लिए बराबर प्रयत्न हो रहा है। एक दृष्टिकोण से सिचाई और विद्युत् की बड़ी योजनाएँ भी ग्रामोन्नति का उपाय ही है, क्योंकि इनसे ग्रामीणो के रहन-सहन के स्तर को उच्च बनाने में काफी सहायता मिलेगी। (राष्ट्रीय प्रसार सेवा और सामूहिक विकास योजना के लिए, अध्याय ८ की पादटिप्पणियां भी देखिए)। —अनुवादक

१. हम पहले ही कृषि आयोग द्वारा की गई सिफारिशो की व्याख्या कर चुके है और उन पर किये गए

स्थापना और अर्थ-प्रबन्ध की सिफारिश सामान्य अर्थ में स्वीकार कर ली गई।[1]

१०. भारतीय कृषि-अनुसन्धान परिषद्—कृषि आयोग ने ठीक ही कहा है कि देश की खेती का समस्त प्रगति का आधार प्रयोग है। "प्रदर्शन और प्रचार के लिए चाहे कितना भी कार्य-कुशल सगठन क्यो न हो, किन्तु यदि वह अनुसन्धान की पुष्ट आधार-शिलाओ पर आधारित नही है तो वह बालू के महल के समान अस्थिर है।" १९२९ में एक अखिल भारतीय कृषि-अनुसन्धान परिषद् का निर्माण हुआ और १८६० के समिति-रजिस्ट्रेशन-अधिनियम (रजिस्ट्रेशन ऑफ सोसाइटीज़ एक्ट) के अनुसार उसकी रजिस्ट्री भी हो गई। इससे उसे पर्याप्त आर्थिक आत्म-निर्भरता प्राप्त हो गई। इसका प्रधान काम सारे भारत में कृषि-अनुसन्धान-कार्य को बढाना और उसे सचालित और सयोजित करना है। राज्यीय तथा केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल अनुसन्धान-सम्बन्धी विषयो में पथ-प्रदर्शन के लिए इसका सहारा लेते हैं। उनके द्वारा बनाये गए अनुसधान कार्यक्रम इसकी स्वीकृति के लिए रखे जाते है। कृषि और पशु-चिकित्सा-सम्बन्धी ज्ञान के लिए यह एक निकास-गृह का काम करती है तथा भारत के अनुसन्धान-कार्य के सम्बन्ध में भारत के तथा अन्य देशो के बीच एक कडी है। इसे अनुसन्धान करने वालो के प्रशिक्षण का भी प्रबन्ध करना पडता है।[2] यह केन्द्रीय सस्था दो भागो में विभाजित है। पहला प्रशासविक समिति है, जिसका सभापति कृषि-मन्त्री होता है। इसमें राज्यो के कृषि-मन्त्री केन्द्रीय विधान सभा के तीन प्रतिनिधि, वाणिज्यिक हित के दो प्रतिनिधि, परामर्शदायी परिषद् द्वारा चुने हुए दो सदस्य तथा एक स्थायी उपसभापति, जो कि समिति का प्रधान प्रशासकीय अधिकारी होता है, भी सम्मिलित हैं। दूसरा अग परामर्शदायी परिषद है, जिसका कार्य वैज्ञानिक अनुसन्धानो से सम्बद्ध प्रस्तावो की जाँच करना है। इसका प्रधान प्रशासकीय अधिकारी परिपद् का आधार होता है। इसके सदस्यों में दो स्थायी (पूरे समय काम करने वाले) अधिकारी, एक कृषि-विभाग का, दूसरा पशु-चिकित्सा का, और बहुत-से निर्वाचित एव मनोनीत (नामजद) सदस्य—कृषि और पशु-विभाग के प्रधान, विश्वविद्यालयो, भारतीय केन्द्रीय कपास-समिति तथा सरकारी सभाओ के प्रतिनिधि हैं। गवर्नर-जनरल (गवर्नर-जनरल इन कौन्सिल) को आवश्यकता पडने पर परामर्शदात्री तथा शासकीय अग के लिए अतिरिक्त सदस्यो को मनोनीत या नामजद करने का अधिकार था। जून १९२९ में कुछ प्रारम्भिक विषयो को तय करने के लिए परिपद् की बैठक हुई और रजिस्ट्रेशन अधिनियम के अनुसार इसकी रजिस्ट्री भी हो गई। परामर्शदात्री परिषद की बैठक साल में दो बार होती है। वैसे तो इसकी कार्यवाही साल भर चलती रहती है, परन्तु इसके कार्य विशेप समितियो द्वारा सम्पादित होते हैं। इस समय भारतीय कृपि-अनुसन्धान परिपद् की निम्नलिखित स्थायी समितियाँ काम कर रही है—चीनी समिति, चावल समिति, कृत्रिम खाद समिति,

केन्द्रीय और राज्यीय सरकारों के कामों को देख चुके हैं (देखिए अध्याय ८, सेक्शन २४-२५)। आयोग की अन्य सिफारिशों की कृषि से सम्बन्धित विभिन्न पहलुओं की जाच करते समय व्याख्या की गई है।

१ कृषि आयोग रिपोर्ट, पृ० ३-४।

२ मैमोरेण्डम ऑफ़ ऐसोसिएशन ऑफ़ द इम्पीरियल कौंसिल (सोसाइटी) ऑफ़ एग्रीकल्चरल रिसर्च।

टिड्डी समिति, भूमि-विज्ञान समिति, शुष्क-कृषि सयोजन समिति, तेल पेरने के उद्योग से सम्बन्धित समिति, भारतीय कृषि अनुसन्धान और केन्द्रीय कपास की सयुक्त समिति पशुओ के पोषक चारा-सम्बन्धी समिति, डेरी समिति, पशु-प्रजनन समिति, केन्द्रीय चारा और चराई समिति ।[1] परामर्श-परिषद् प्रान्तीय सरकारो, विश्वविद्यालयो, गैर-सरकारी सस्थाओ का अनुसन्धान योजनाओ का पुनरावलोकन करके यह निश्चित करती है कि इनमे से किस पर काम किया जाय, प्रत्येक समस्या का कैसे हल किया जाय तथा भारत के किस भाग मे उस समस्या पर विशेष कार्य सरलता से किया जा सकता है। मार्च सन् १६४२ से परिषद् ने अपनी कार्य-पद्धति में कतिपय परिवर्तन करने का निश्चय किया। विभिन्न राज्यो के विचारो के निकास-गृह का काम करने के अतिरिक्त यह एक बुद्धि-न्यासी सस्था का भी काम करती है। अब यह स्वय ही योजनाओ का प्रारम्भ और अनुसन्धान-कार्य का सयोजन करती है। सबसे महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि इसने पहली बार फार्म-प्रदर्शनो से आगे बढकर कुछ राज्यो में थोड़े-से गाँव चुने और अनुसन्धानो से प्राप्त परिणामो को, विशेषज्ञो की देख-रेख में, स्वय किसानो से उनके खेतो में लागू कराके परिणामो की परीक्षा करने का अवसर दिया। परामर्श-परिषद् के निर्णय प्रशासकीय अग की स्वीकृति तथा पूरी परिषद् के विचारो के अधीन रहते हैं। समिति का धन प्रशासक अग के नियन्त्रण में होता है। शिमला स्थित प्रमुख केन्द्र नये भारतीय कृषि ब्यूरो से सलग्न कर दिया गया है ताकि ब्रिटिश साम्राज्य के विभिन्न भागो के अनुसन्धानो को उनके विषय की नवीनतम खोजो के सम्पर्क में रखा जा सके। भारतीय-सभा (इण्डियन सोसाइटी) अर्थात् भारतीय कृषि-अनुसन्धान परिषद् ब्यूरो को चलाने के लिए थोडा-सा धन देती है तथा उसके नियत्रक अग में एक प्रतिनिधि भी होता है। प्रशासक अग ने अनुसन्धान और हवाले के लिए दिल्ली में एक पुस्तकालय भी खोला है।

परिषद् में पूरे समय तक काम करने वाले प्रमुख अधिकारियो में, उप-सभापति (प्रमुख प्रशासकीय अधिकारी), सचिव, भारतीय सरकार के कृषि-आयुक्त, कृषि विपणन परामर्शदाता, भारत सरकार के पशु-पालन आयुक्त, कानपुर के चीनी प्रौद्योगिकी (टेक्नालोजी) सस्थान (इस्टीट्यूट ऑफ शुगर टेक्नालोजी) के सचालक तथा साख्यिकीवेत्ता (स्टेटिस्टीशियन) इत्यादि प्रमुख हैं।

भारतीय कृषि-अनुसन्धान परिषद् जिन समस्याओ पर ध्यान दे रही है उनमें चावल, चीनी प्रौद्योगिकी, गन्ना उत्पादन, फल और शुष्क-कृषि अनुसन्धान, कृषि विपणन, टिड्डी अनुसन्धान, आलू का उत्पादन तथा पशुपालन मुख्य हैं। विश्वविद्यालय के अध्यापक वर्ग को कृषि से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण अनुसन्धान को बढाने के लिए या किसी दूसरे अनुसन्धान के कृषि पहलू का विकास करने के लिए विश्वविद्यालयो को अनुदान दिया जाता है।

भारत-सरकार ने परिषद् के प्रथम ६ वर्षो में कृषि-सम्बन्धी अनुसन्धान के लिए एक करोड़ से अधिक रुपये दिए। अनुसन्धान-परिषद् को प्रशासकीय अग के आय-

१. देखिए, एग्रीकल्चरल एण्ड एनिमल हस्बैंडरी इन इण्डिया (१६३७-८), पृ० ८।

व्ययक अनुदान के अतिरिक्त सामान्य अनुसन्धान-कार्य के लिए ५० लाख रु०, विक्रय-केन्द्र और राज्यो में विक्रय-योजना के लिए २५ लाख रुपये, चीनी-सम्बन्वी अनुसन्धान के लिए २० लाख रु०, नवीन डेरी अनुसन्धान-सस्थान के लिए ६ लाख रु०, कुल मिलाकर १०१ लाख रुपये दिए। इसके अतिरिक्त सरकार कानपुर के चीनी प्रौद्योगिक सस्थान को पाच वर्षों तक प्रतिवर्ष १४ लाख रुपए देती रही।

भारतीय कृपि-अनुसन्धान परिषद् की आर्थिक दशा को सुदृढ करने के लिए तथा कृपि के अनुसन्धान-कार्य को व्यवस्थित रूप से चलाने के लिए और अधिक धन की (जो कि भारत सरकार की आर्थिक दशा के उतार-चढाव से अप्रभावित हो) आवश्यकता समझी गई। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए कृपि-उत्पन्न उन वस्तुओ पर जिन पर पहले कर नही लगता था, ½% निर्यात-कर या उपकर लगा दिया गया (गेहूँ, चावल, फल, मछली, चमडे और बीजो को छोडकर)। इसकी व्यवस्था कृषि उत्पादन उपकर अधिनियम १९४०[1] (एग्रीकल्चरल प्रोड्यूस सेस एक्ट) के द्वारा की गई। इतना ध्यान रखना होगा कि परिषद् के कार्यालय, गन्ना-अनुसन्धान और कृपि-विक्रय-सम्बन्धी सगठनो का व्यय केन्द्रीय आय से सम्भाला जायगा।

कृपि-आयोग की सिफारिशो के अनुसार राज्यो में अनुसन्धान समितियो का निर्माण हुआ। ये भारतीय कृषि अनुसन्धान परिपद् के सहयोग में काम करती है तथा अनुदान के लिए प्रेपित प्रार्थना-पत्रो पर विचार करके अनुसन्धान परिषद् को रिपोर्ट देती है। ये समितियाँ राज्यो में अनुसन्धान-कार्य को अग्रसर करने में काफी सफल सिद्ध हुई हैं। अनुसन्धान-परिपद् ने वे उद्देश्य अच्छी तरह पूरे किये जिनको ध्यान में रखकर इसका निर्माण किया गया था। राज्यीय रिपोर्टो से स्पष्ट प्रकट होता है कि परिपद के अनुदानो ने अनुसन्धान-कार्य को जारी रखने में पर्याप्त सहायता पहुँचाई। यही नही बल्कि आर्थिक कठिनाइयो के समय राज्यीय प्रयत्नो में योग देकर कमी को पूरा भी किया और अनुसन्धान-कार्य को आगे भी बढाया। यह ठीक है कि अर्थाभाव के कारण यह राजकीय आयोग की सब आशाएँ पूरी न कर सकी।[2]

११ रसेल-राइट जाँच—सन् १९३६-३७ में राजकीय-आयोग की सिफारशो के अनुसार भारतीय कृषि-अनुसधान परिषद द्वारा किये हुए कामो की सामयिक जाँच करने तथा भविष्य के लिए सुझाव पेश करने के विचार से इगलैण्ड से दो विशेषज्ञ निमन्त्रित किये गए। इस काम के लिए चुने गए विशेषज्ञ थे रॉथामस्टेड प्रयोग-केन्द्र के सचालक सर जॉन रसेल और हन्नाह डेरी रिसर्च इन्स्टीट्यूट स्कॉटलैण्ड के सचा-

[1] रिव्यू ऑफ द ट्रेड आफ इण्डिया (१९३९-४०), पृ० १०५।

[2] सन् १९५१ में भारतीय कृपि-अनुसन्धान परिपद का पूर्णतया पुनर्गठन किया गया ताकि वह अपने दायित्वों को—विशेषकर प्रसार-कार्य में—भली प्रकार पूरा कर सके। सन् १९५२-५३ में परिपद ने लगभग ३०० योजनाएँ प्रारम्भ कीं। ४० लाख रुपये नई योजनाओं तथा कुछ पुरानी योजनाओं के प्रसार के लिए निश्चित कर दिये गए। एक महत्त्वपूर्ण योजना जापानी ढग पर चावल की खेती करना था, जिसका प्रयोग बम्बई राज्य में किया गया। अब परिषद ने विभिन्न राज्यों के सरकारी फार्मो पर जापानी ढग की उपयोगिता की परीक्षा करने का प्रबन्ध किया है। गेहूँ, ज्वार, बाजरा आदि के सुधार के लिए भी परिपद प्रयत्नशील है।

लक डॉ० एन० सी० राइट। इनकी रिपोर्टों में अनुसधान करने वालो और किसानो के बीच की खाई को भरने की पर्याप्त सामग्री है। अन्य सिफ'रिशें निम्न समस्याओ के हल से सम्वन्धित हैं हानिकारक कीडो को दूर करने के उपाय, शुष्क कृषि-अनुसधान योजनाएँ, नकद विकाऊ फसलो का कुशलक्र्ताओ और उपभोक्ताओ के सहयोग से उत्पादन, खाद्य फसलो पर आहार-विशेषज्ञो की सहायता से काम करने की आवश्यकता, भूमि की सुरक्षा करने वाली समितियो का निर्माण, फसलो का सरक्षण करने वाली समितियो का निर्माण—जो कि फसल आयोजन सम्मेलन (क्रॉप प्लानिंग कमेटी) के सुझावो के अनुसार फसलो के उगाने-काटने का प्रवन्ध कर सकें—कीडो-मकोडो और अन्य हानिकारक घासो के नियन्त्रण का प्रवन्ध करना, पशुओ और डेरी से सम्बन्धित विषयो की शिक्षा, अनुसन्धान तथा सलाह इत्यादि सेवाओ का प्रवन्ध। उन गवेषणाओं को फलवती बनाने के लिए जो कि प्रयोगात्मक स्थिति तक पहुँचकर रुक जाती हैं, यह सिफारिश की गई कि भारतीय कृषि-अनुसन्धान परिषद् को और अधिक आर्थिक सहायता दी जाय। जैसा पहले देख चुके हैं, १९४० के कृषि-उत्पादन उपकर अधिनियम ने परिषद के हाथ में अधिक धन दिया।[1]

१२. अधिक खाद्य-उत्पादन और आयोजित विकास—१९३९-४५ के युद्धकाल में वर्मा से चावल का आयात रुक जाने, सुरक्षा की बढती हुई माँग, सैनिको की माँग, यातायात के साधनो की अव्यवस्था के कारण उत्पन्न वाजारो की हलचल तथा चावल और गेहूँ का ह्रासमान उत्पादन, इन सबके सामूहिक प्रभाव ने खाद्यान्नो में भारी कमी और मूल्यो में अत्यधिक वृद्धि कर दी। युद्ध से उत्पन्न भीषण खाद्य-सकट के अतिरिक्त हमें यह स्वीकार करना होगा कि खाद्यान्न में समानुपातिक वृद्धि के अभाव में जनसख्या बडी तीव्र गति से वढ रही थी। अतएव इस वात की अत्यन्त आवश्यकता है कि समस्त देश के लिए सहकारिता के आधार पर आयोजित कृषि-उत्पादन को हाथ में लिया जाय तथा एक सुविचारित कृषि-नीति को अपनाया जाय। खाद्याभाव को ध्यान में रखते हुए भारत सरकार ने छोटे रेशो की कपास के उत्पादको की अन्य फसलों, विशेषकर खाद्यान्नो को उत्पन्न करने के लिए प्रोत्साहन देने के लिए एक कोष स्थापित किया है।

ऐसा कहा जाता है कि भारत सरकार द्वारा सचालित 'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन ने ७,५०,००० टन अधिक खाद्यान्न उत्पन्न किया। १९४५-४६ में इस आन्दोलन के खर्च के लिए २ करोड कर्ज और १७ करोड अनुदान दिया गया। इसी योजना के अन्तर्गत ७,००० 'नल-कूप' वनाये गए, ३,००० तालावो की खुदाई की गई तथा ४,००० और छोटे-मोटे सिचाई के काम हाथ में लिये गए। शिक्षा, कृषि, खाद्य, सडक, रेल और उड्डयन आदि से सम्वन्धित अखिल भारतीय योजनाएँ वनाई गई हैं और केन्द्रीय टैक्नीकल शक्ति परिषद (सेण्ट्रल टेक्निकल पॉवर वोर्ड) केन्द्रीय जलपथ, सिंचाई और नौगमन आयोग इत्यादि की स्थापना विकास के महत्त्वपूर्ण पहलुओ को सुलझाने के लिए हुई है।

---

१. विशेष विवरण के लिए देखिए, एग्रीकल्चर एण्ड एनीमल हस्वेण्डरी इन इण्डिया (१९३७-३८), पृ० २

अध्याय १२

भू-धृति (पट्टेदारी) तथा भू-राजस्व

१. भारत में भू-राजस्व का ऐतिहासिक सर्वेक्षण[1]—अति प्राचीन काल से भारत में राज्य किसानो से भूमि की उपज का कुछ अंश लेता रहा है। मनु ने अपने नियमो में खलिहान में पडी सम्पूर्ण उत्पत्ति का $\frac{1}{6}$ भाग राज्य का अंश बताया है। युद्ध आदि अन्य संकटकालीन स्थितियो में राज्य का यह अंश $\frac{1}{4}$ तक हो सकता था। समाज की प्रारम्भिक अवस्था में खलिहान में पडी सम्पूर्ण उपज का कुछ भाग राज्य-अंश के रूप में लेने की विधि के अनेक लाभ थे। खेत से काटकर एकत्रित की गई उपज में से ही राज्य का अंश राजा के अधिकारी के सम्मुख निकाल लिया जाता था। स्पष्ट है कि इस प्रकार उत्पत्ति के परिमाण के हिसाब से ही राज्य के भाग में स्वत. ही परिवर्तन हो जाते थे और राज्य द्वारा माफी अथवा छूट देने के लिए किसी विस्तृत प्रणाली की आवश्यकता न थी। साथ ही इस प्रणाली के अवगुण भी प्रत्यक्ष दीख पडते हैं। जनसंख्या की वृद्धि तथा कृषि-कार्य में विस्तार के साथ उपज के अंश के रूप में भू-राजस्व वसूल करना अत्यधिक कठिन होता गया। जब तक कि बहुत अधिक संख्या में निरीक्षण हेतु अफसर न नियुक्त किये जाते, जिनका मुख्य कार्य उपज में से राज्य के अंश के बटवारे का निरीक्षण होता, तब तक इस बात की पूर्ण सम्भावना थी कि किसान कुछ उपज छिपाकर रख लेते अथवा अन्न लेकर भाग जाते अथवा राज्य की ओर से मालगुजारी वसूल करने वाले स्थानीय कर्मचारी-गण स्वय अपने लिए ही उपज के कुछ अंश को अलग रखने का प्रयत्न करते, और इस प्रकार राज्य तथा किसान दोनो को हानि उठानी पडती। यही नही, उस स्थिति में इस बात की भी सम्भावना थी कि उपज खेत में पडी खराब होती रहती, यदि राज्य के अफसर उपज के बँटवारे के निरीक्षण हेतु खेत पर पहुँचने में किसी कारण देर से आते। ऐसी ही अनेक असुविधाओ एव हानियो के कारण भू-राजस्व (मालगुज़ारी) वसूल करने की किसी अन्य प्रणाली को अपनाने के लिए राज्य को बाध्य होना पडा। उदाहरणार्थ, कभी-कभी फसल कटने और तब उपज का वास्तविक परिमाण जाने बिना ही खेत में खडी फसल से ही उपज के परिमाण का अनुमान लगा लिया जाता था और राज्य का अंश निश्चित कर दिया जाता था।[2]

१ विशेष विवरण के लिए देखिए, बगाल भू-राजस्व आयोग की रिपोर्ट (१९४०), खण्ड १, पैरा १३-४०, खण्ड

२, डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी द्वारा लिखित 'भारतीय भूमि-व्यवस्था' पर टिप्पणी।

बाद में फसल कट जाने के पश्चात् उपज का परिमाण पहले लगाए अनुमान के बराबर भी हो सकता था और नही भी हो सकता था। वसूली की ऐसी और इसी प्रकार की अन्य विधियो के अपनाने के कारण ही धीरे-धीरे मालगुज़ारी, उपज की बजाय मुद्रा के रूप में दी जाने लगी। बाद में मुस्लिम राज्यो के शीघ्र विस्तार ने उपज में मालगुज़ारी वसूल करने की पुरानी प्रणाली को उचित एव सुविधाजनक रीति से कार्य न करने योग्य बना दिया और मालगुजारी अधिकाधिक मुद्रा के रूप में ही वसूल की जाने लगी।[1]

तैमूर द्वारा की गई व्यवस्था राज्य के अश को उपज से मुद्रा में परिवर्तित करने का प्रथम विधिवत् प्रयास है। उसके पश्चात् दूसरा प्रयास शेरशाह ने सन् १५४० से १५४५ के बीच में किया, किन्तु उसका राज्य-काल थोडा होने के कारण उसके प्रयत्न सफल न हो सके। इस दिशा में तीसरा और सबसे अधिक प्रसिद्ध बन्दोबस्त अकबर के राज्य-काल में उसके योग्य वित्त-मन्त्री टोडरमल द्वारा किया गया। सरकार की मालगुजारी निश्चित करने के पूर्व सम्पूर्ण भूमि की विभिन्नताओ का विस्तृत एव वैज्ञानिक दृष्टिकोण से परीक्षण किया जाना प्राथमिक कार्य समझा गया, जिससे प्रत्येक भूमि की कर देने की क्षमता का अनुमान लगाया जा सके। समस्त भूमि को बडी सावधानी से नापा गया और उपजाऊपन के विचार से उसे चार भागो में विभाजित किया गया। राज्य का अश, सम्पूर्ण उपज का $\frac{1}{3}$ भाग निश्चित किया गया। किसान को यह विकल्प दिया गया कि वह अपनी इच्छानुसार राज्य का अश चाहे तो नकद मुद्रा में दे। उपज का मूल्य जानने के लिए यह विधि रखी गई कि इस व्यवस्था से पूर्व के १९ वर्षो के अन्न के औसत भाव से उपज का मूल्य आँका जायगा। बन्दोबस्त की अवधि ९ वर्ष रखी गई।

इस प्रकार मुगल राजाओ ने हिन्दू राजाओ की अति प्राचीन लगान वसूल करने की प्रणालियो में कोई सैद्धान्तिक परिवर्तन नही किया। उन्होने अब तक की हिन्दू-शासन की मालगुजारी वसूल करने की प्रचलित, किन्तु अलिखित, रीति को एक सम्बद्ध व्यवस्था का रूप दिया। इसके अतिरिक्त उनको इस बात का भी श्रेय दिया जा सकता है कि उन्होने राज्य के आर्थिक साधनो के विषय में ज्ञान प्राप्त कर सकने के उद्देश्य से मालगुजारी-सम्बन्धी खाते एव अन्य कागज़ातो को क्रमानुसार रखे जाने की व्यवस्था का प्रारम्भ किया। दक्षिण में मुख्य रूप से अहमदनगर के मलिक अम्बर के सरक्षण में मालगुजारी वसूल करने की प्रणाली निश्चित करने के सम्बन्ध मे ऐसी ही उन्नति हुई। इसने मालगुजारी की दरें निश्चित की जिन्हे स्वत रूप (ain) दरें कहा गया। उसने सम्पूर्ण उपज के मुद्रा-मूल्य के $\frac{1}{3}$ भाग को मालगुजारी निश्चित किया। मराठो ने इन दरो को अपनी व्यवस्था का आधार बनाया। उन्होने इस दर को 'कमल' की सज्ञा दी, जिसका अर्थ था कि यह सबसे उत्तम भूमि द्वारा देय (मालगुजारी की) अधिकतम दर है। अधिकाश स्थितियो में मालगुजारी का निर्धारण स्थायी रूप से नही किया गया था, किन्तु सयोग से दक्षिण में मालगुज़ारी वसूल करने की 'मीरास-

१. देखिए, टैक्सेशन इन्क्वायरी कमिटी रिपोर्ट, पेरा ५३।

व्यवस्था[1] स्थायी थी, पट्टेदारी स्थायी तथा पीढी-दर-पीढी चलने वाली होती थी। उसे एक निश्चित मालगुजारी देनी पड़ती थी, चाहे वह अपनी भूमि में खेती करे अथवा न करे।[2] कुछ दशाओं में अनेक उपकर लगाकर निश्चित मालगुजारी में और वृद्धि कर दी गई। सम्पूर्ण भारत में जहाँ-जहाँ केन्द्रीय सरकार का प्रभुत्व क्षीण हो गया था, वहीं मालगुजारी में इस प्रकार की वृद्धि पाई जाने लगी। नियमानुसार निर्धारित मालगुजारी में जो अतिरिक्त उपकर लगाकर वृद्धि की गई, उस वृद्धि का अनुपात सर जॉन शोर की गणना के अनुसार, जैसा कि बंगाल में हुआ, ३३ से ५० प्रतिशत तक था।[3]

मालगुजारी और पट्टेदारी के इतिहास की दूसरी महत्त्वपूर्ण विशेषता राजस्व-कृषि का प्रारम्भ है, जो अनेक राज्यों में स्थानीय भू-धृति के विकास में बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई। इस प्रकार की व्यवस्था केन्द्रीय सरकार के खजाने में नियमित रूप से आय का प्रवाह बनाए रखने के लिए थी। क्योंकि मुगल साम्राज्य के अन्तिम दिनों में केन्द्रीय सरकार सुदूर राज्यों के सरकारी भू-राजस्व कर्मचारियों पर प्रभावपूर्ण नियन्त्रण रखने में असमर्थ होती जा रही थी, सन् १७१३ से १७१९ तक शाहशाह फर्रुखशियर के राज्य-काल में यह पद्धति बंगाल में काफी प्रचलित हो गई। इसके अन्तर्गत (मालगुजारी जमा करने वाला) राजस्व-कृषक अपनी फसल के सम्पूर्ण संग्रह का $\frac{9}{10}$ भाग सरकार को दे देता था तथा शेष अपने प्रतिफल अथवा वेतन के रूप में रख लेता था। किन्तु धीरे-धीरे यह पद्धति मर्यादा का त्याग करती गई और कुछ समय पश्चात् भ्रष्टाचार की ऐसी अवस्था आ गई जब एक परगना अथवा जिले की मालगुजारी वसूल करने का अधिकार जनता में नीलाम द्वारा बेचा जाने लगा। जो सबसे ऊँची बोली बोलता था, उसी को यह अधिकार प्रदान किया जाता था। यह व्यक्ति उपरोक्त रीति के अनुसार निश्चित मालगुजारी की सम्पूर्ण रकम एक साथ सरकारी खजाने में जमा करने के लिए उत्तरदायी था तथा उस रकम के अतिरिक्त जो कुछ भी वह संग्रह करता उसे अपने पास रख सकता था। व्यवहार में मालगुजारी जमा करने वाले कृषक खेतिहर किसानों से यथासम्भव अधिक धन लेते थे तथा सरकार को यथासम्भव कम धन देते थे। कुछ स्थितियों में मुगल शासकों द्वारा युद्धों में अधीन किये गए हिन्दू सेनापतियों और शासकों को शाही आज्ञा-पत्र के अन्तर्गत मालगुजारी वसूल करके जमा करने वाला कृषक बना दिया गया। यद्यपि प्रारम्भ में मालगुजारी जमा करने वाले, कृषक वंश-परम्परागत न होकर सरकारी अफसरों के निरीक्षण के अधीन होते थे, किन्तु जैसे-जैसे केन्द्रीय प्रभुता के नियन्त्रण में ढिलाई हुई, यह कार्य पीढी-दर-पीढी प्राप्त होने लगा। तत्कालीन राजनीतिक अव्यवस्था के कारण इन मालगुजारी जमा करने वाले

---

१ मराठा राज्य में एक सुनिश्चित भू-धृति होती थी जिसे 'उपरी' कहते थे। 'उपरी' सरकार की इच्छानुसार एक काश्तकार होता था जो प्रतिवर्ष अपनी इच्छानुसार खेती करने के उद्देश्य से जितनी अधिक भूमि चाहे ले सकता था, किन्तु उसकी मालगुजारी सरकार जब चाहे बढ़ा भी सकती थी। उसकी मालगुजारी फसल के आधार पर निर्धारित की जाती थी।

२ कीटिङ्ग, 'रूरल इकनामी इन द बॉम्बे डैकन', पृष्ठ ३।

३ 'टैक्सेशन इन्क्वायरी कमेटी रिपोर्ट देखिए।

कृषकों ने अपनी स्थिति शनै-शनै काफी पुष्ट एव ठोस वना ली। ऐसे मालगुज़ारी जमा करने वाले कृषक ने अपने अधिकार के अन्तर्गत अतिरिक्त अन्य बेकार पड़े क्षेत्रफल पर भी खेती करके तथा बाद में समीप के छोटे-छोटे पडोसी खेतिहर किसानो की भूमि का उचित-अनुचित प्रकार से क्रय करके उस भूमि पर स्वय अपना अधिकार दिखलाने की चेष्टा की। इस प्रकार धीरे-धीरे लार्ड कार्नवालिस के समय तक इन कृषको ने अपनी स्थिति इतनी मज़बूत कर ली कि इनमें तथा भूमि के विधिवत् स्वामियो में कोई अन्तर ही न रह गया। श्री रॉवर्ट्स ने अपनी 'हिस्टॉरीकल ज्योग्रेफी ऑफ इण्डिया' नामक पुस्तक में इनका वर्णन करते हुए लिखा है कि 'ज़मीदारी,[1] जो मौलिक रूप से वश-परम्परागत मालगुजारी वसूल करने का ठेका लेने वाली एजेन्सी थी, अव भू-स्वामी की मल्कीयत के सदृश हो गई थी।' मुगल राज्य के अन्तिम दिनो में शासन-प्रवन्ध में आम दुर्व्यवस्था के आ जाने के कारण तथा सरकार की स्थायी आर्थिक कठिनाइयो के कारण मालगुज़ारी जमा करने वाले कृषको की स्थिति उत्तरोत्तर दृढ होती गई, क्योंकि सरकार के समक्ष केवल ये ही ऐसे साधन थे जिन पर वह तत्काल धन-सम्बन्धी आवश्यकताओ के हेतु निर्भर रह सकती थी। भूमि की मालगुज़ारी-सम्वन्धी सरकारी कर्मचारियो का शासन-प्रवन्ध लगभग समाप्त हो चुका था और मालगुज़ारी जमा करने वाले इन कृषको के कार्यो पर कोई प्रतिवन्ध एव नियन्त्रण नही था। देश की शासन-व्यवस्था इतनी अधिक पतित हो चुकी थी कि सरकार में न तो इतनी शक्ति ही सन्निहित रह गई थी और न उसकी इच्छा ही रही कि वह इनके द्वारा खेतिहर किसानो पर होने वाले अत्यन्त कठोर, क्रूर, निर्दय तरीको से की जाने वाली लूट को समाप्त करे।

मालगुज़ारी जमा करने वाली पद्धति पहले मुगल साम्राज्य तक और मुख्य रूप से वगाल राज्य तक ही सीमित रही, किन्तु उपरोक्त कारणों से शीघ्र ही देश के अन्य भागो में भी इसी पद्धति का चलन होने लगा। यहाँ तक कि मराठो ने भी, जिनकी लगान वसूली सम्वन्वी व्यवस्था १८वी शताव्दी के उत्तरार्द्ध में नाना फडनवीस के शासन-काल में एक स्वर से अपूर्व रूप से निपुण एवं निष्पक्ष मानी जाती थी, नाना फडनवीस की मृत्यु के कुछ ही पश्चात् अपने अन्तिम पेशवा के अयोग्य शासन में इसी पद्धति को अपना लिया। यहाँ इस वात को जान लेना चाहिए कि यद्यपि यह पद्धति धीरे-धीरे विस्तृत क्षेत्र में फैलने लगी तथापि इसका प्रभाव सव स्थानों पर एक-सा नही पडा। उत्तरी भारत में, जहाँ बहुत पहले ही यह प्रचलित की गई और जहाँ केन्द्रीय सत्ता की प्रभुता शीघ्र ही क्षीण होने लगी, इस पद्धति का प्रभाव पूर्ण एव स्थायी हुआ जैसा कि वगाल के ज़मीदारी अधिकारो के विकास से प्रतीत होता है। अन्य स्थानो में, जैसा कि दक्षिण में हुआ, इस पद्धति के कोई स्थायी प्रभाव न रह सके। केवल कोकण के सुदूर ज़िलो में खोट लोगो को, जो पहले मालगुज़ारी जमा करने वाले कृपक थे, ज़मीदारी के

१ समस्त मालगुजारी जमा करने वाले कृपक—उनके उद्गम के विषय में किसी प्रकार का विचार किये विना ही—ज़मींदार और कभी-कभी ताल्लुकेदार कहलाते हैं। जमीदारी एव ताल्लुकेदारी स्वय निश्चित रूप से भूमि-सम्वन्धी स्वामित्व के किसी प्रकार के अधिकारों की प्रतीक न थी।

अधिकार मिल गए। उपरोक्त प्रभावो के मध्यवर्ती प्रभाव उत्तरप्रदेश में हुए जहाँ मालगुज़ारी जमा करने वाले कृषक केवल कुछ भू-स्वामियो जैसे अधिकार प्राप्त करने में सफल हुए। लगभग ऐसा ही पजाब में भी हुआ। इस प्रकार मालगुज़ारी जमा करने वाली कृषि-प्रथा (राजस्व-कृषि) तथा लगान-वसूली से सम्बन्धित सामान्य दुर्व्यवस्था का मुख्य परिणाम यह हुआ कि भू-धृति एव भू-अधिकार सम्बन्धी व्यवस्था निरन्तर जटिल एव पेचीदा होती गई तथा अकबर के दिनो में जिस प्रकार भूमि का नियमित सर्वेक्षण और मालगुज़ारी का निर्धारण होता था, उन सब कार्य-कलापो का अन्त होने लगा। इन सबके परिणामस्वरूप लगान वसूली-सम्बन्धी किसी भी विवेकयुक्त योजना के अभाव में नये ब्रिटिश शासको को बडी कठिनाई का अनुभव करना पडा। अत यह स्वाभाविक ही था कि उनके द्वारा प्रारम्भिक अवस्था में गलतियाँ की जाती और विभिन्न राज्यो के लिए पूर्णरूप से सन्तोषजनक व्यवस्था बनाने में काफी समय लगता।

२ भू-धृति के तीन प्रकार[1]—भू-धृति के विषय में जानने के लिए स्वाभाविक रुचि होने के अतिरिक्त इनका उचित रीति से ज्ञान होना इस दृष्टि से भी आवश्यक है कि इनके पर्याप्त रूप में बोधगम्य होने के अभाव में भारत के विभिन्न राज्यो में प्रचलित सरकारी मालगुजारी-सम्बन्धी व्यवस्था सम्भवत समझ में न आएगी। उदाहरणार्थ, भू-धृति अर्थात् भूमि जिस रीति से एक व्यक्ति के पास है, यह निश्चित करती है कि कौन व्यक्ति अथवा कई व्यक्ति मिलकर उस भूमि की मालगुजारी देने के लिए उत्तरदायी होंगे। इनका भूमि में क्या हित होगा तथा इनके क्या अधिकार होंगे तथा मालगुजारी निर्धारण करने के हेतु क्या इकाई तथा क्या विधि अपनाई जायगी।

'भारत में भू-धृति के सभी रूप-प्रकार मिलते है। यहाँ ऐसी बहुत बडी-बडी मल्कीयतें है, जिनमें हज़ारो काश्तकार हैं और ऐसी भी जमीनें है जो आकार में एक एकड से भी कम है, परन्तु फिर भी इन जमीनो को स्पष्टत अलग-अलग कुछ श्रेणियो में क्रमबद्ध करना सम्भव है।'[2] भारत में भू-धृति के निम्नलिखित तीन मुख्य प्रकार है (१) विभिन्न रूपो में ज़मीदारी प्रथा जिसमें एक व्यक्ति या अधिक-से-अधिक कुछ व्यक्तियो के सम्मिलित स्वामित्व में भूमि रहती है, जो सयुक्त रूप से सम्पूर्ण मल्कीयत की मालगुजारी की एक निश्चित रकम देने के उत्तर-दायी होते है। ऐसा बगाल में है। (२) उपर्युक्त प्रकार की कुछ छोटी मल्कीयतें है, परन्तु इनमें कुछ विशिष्ट लक्षण है। ये गाँव की मल्कीयतें है जो गाँव में बराबर का हिस्सा बँटाने वाले समुदायो के अधिकार में होती है। इन समुदायो के सदस्य एक सम्मिलित एव व्यक्तिगत रूप से सरकारी मालगुज़ारी जमा करने के लिए उत्तरदायी होते है। यहाँ हमें 'सामूहिक जमीदार' या 'आदर्श जमीदार' से काम पडता है। (३) यद्यपि भूमि व्यक्तिगत एव स्वतन्त्र अधिकारो में रहे तथापि गाँव की दृष्टि से

१ इस अध्याय के विवरणात्मक भाग के लिए हम श्री बी० एच० बैडेन पोवेल द्वारा लिखित 'लेन्ड सिस्टम्स आफ ब्रिटिश इण्डिया' तथा 'लेन्ड रेवेन्यू एण्ड टेन्योर इन ब्रिटिश इण्डिया' पुस्तकों के लिए उनके कृतज्ञ हैं।

२ 'इन्डिया इन १६३०-१', पृ० १६६।

उसका एकत्रीकरण रहे और प्रत्येक भू-स्वामी अलग-अलग मालगुजारी जमा करने के लिए उत्तरदायी हो। इन तीन प्रकार की भू-धृति को क्रमानुसार (१) जमीदारी प्रथा, (२) सयुक्त-ग्राम अथवा महलवारी प्रथा, तथा (३) रैयतवारी प्रथा कहते है।[1]

३ **गाँवों के सगठन के दो प्रमुख रूप**[2]—अब हमारे लिए यह आवश्यक है कि हम भारत के गाँवो का भेद उनके आन्तरिक सगठन की दृष्टि से समझ लें। इसका अध्ययन इस दृष्टि से आवश्यक है कि भू-धृति की प्रकृति पर इसका बहुत महत्त्वपूर्ण प्रभाव पडता है और उसके द्वारा मालगुजारी निर्धारण का स्वरूप भी अतिशय प्रभावित होता है। भारत में मुख्यत दो प्रकार के गाँव है: (१) रैयतवारी अर्थात् भिन्न-भिन्न स्वामित्व तथा (२) जमीदारी अथवा सयुक्त गाँव। इसमें दूसरा रूप पुन अनेक छोटे-छोटे मनोरजक भेदो में विभाजित है।[3]

(१) रैयतवारी गाँव—रैयतवारी गाँव का आन्तरिक सगठन अपेक्षाकृत सरल होता है। भूमि विभिन्न स्वामियो के अधिकार में व्यक्तिगत रूप से होती है और वे स्वतन्त्र रूप से उस पर खेती करते है। इनमें से प्रत्येक स्वामी या तो भूमि सम्बन्धी अधिकार वश-परम्परा से प्राप्त करता है, अपने अधिकार की भूमि का क्रय करता है अथवा जगल कटवाकर इस भूमि को साफ करके उस पर कृषि करता है। स्वतन्त्र रूप से भूमि के स्वामी कृषक तथा उनके अधिकार में खेती की जाने वाली भूमि का समूहमात्र ही रैयतवारी गाँव कहलाता है। ऐसे गाँव की बेकार भूमि सरकार की सम्पत्ति होती है, यद्यपि गाँव वाले अपने जानवर चराने, लकडी काटने आदि उद्देश्यो के हेतु इस भूमि का उपयोग कर सकते है। खेतीवारी के हेतु प्रत्येक जमीन की मालगुजारी अलग-अलग निर्धारित की जाती है तथा मालगुजारी जमा करने का उत्तरदायित्व वैयक्तिक होता है। गाँव के निवासी गाँव के साधारण सरकारी कर्मचारियो के अधीन होते है तथा गाँव के शिल्पकारो एव परिचारको की सेवाओ का सामूहिक रूप से उपभोग कर सकने के अतिरिक्त उनमें परस्पर और कोई सम्पर्क नही होता। इस सबसे यह निश्चित होता है कि रैयतवारी गाँव में जमीदारी गाँव की अपेक्षा गाँव के मुखिया अथवा पटेल तथा साधारण रूप से गाँव के सरकारी कर्मचारियों

---

१. अकाल जाँच आयोग ने भारत की प्रमुख भू-धृति व्यवस्थाओं को निम्नलिखित श्रेणियों में बाँटा था—(१) ऐसी मल्कीयतें जिनका बन्दोबस्त स्थायी रूप से किया जा चुका है, (२) ऐसी मल्कीयतें जिनका बन्दोबस्त अस्थायी रूप से हुआ है, और (३) रैयतवारी व्यवस्था। तीसरी व्यवस्था के अन्तर्गत लगान भूमि के अलग-अलग टुकडों के अनुसार निश्चित किया जाता है और उसके वास्तविक अधिकारी, जिनका कि उक्त भूमि पर स्थायी एव वशपरम्परागत अधिकार माना जाता है, मालगुजारी जमा करने के लिए उत्तरदायी होते हैं। पहली तथा दूसरी व्यवस्थाओं के अन्तर्गत मल्कीयत एक इकाई मानी जाती है और उसका स्वामी, उसका वास्तविक अधिकारी नहीं, सरकारी मालगुजारी जमा करने के लिए उत्तरदायी होता है।—'अकाल जाच आयोग, अन्तिम रिपोर्ट', पृ० २५१)।

२ भारत में गाँव की उत्पत्ति एव उनके भेद से सम्बन्धित मनोरजक किन्तु विवादग्रस्त प्रश्न के लिए बडेन पावेल की 'लेन्ड रेवेन्यू एण्ट टेन्योर इन ब्रिटिश इण्डिया' नामक पुस्तक के, पृष्ठ ८८-९० देखिए।

३ बेडेन पावेल की 'लेन्ड सिस्टम्स ऑफ ब्रिटिश इण्डिया', खण्ड १, अध्याय ४, देखिए।

का प्रभुत्व अधिक रहता है। इस प्रकार के गाँव सम्पूर्ण मद्रास, वम्वई, वरार तथा मध्य भारत में है तथा मध्य प्रदेश में मालगुजारी एव वगाल में जमीदारी व्यवस्था के पूर्व इन राज्यो में भी थे।

(२) जमीदारी अथवा सयुक्त गाँव—इस स्वरूप के अन्तर्गत गाँव एक इकाई के रूप में माना जाता है जिसका स्वामित्व एक व्यक्ति-विशेष अथवा एक साथ हिस्सा बँटाने वाले व्यक्तियो के एक समुदाय में निहित रहता है। यह व्यक्ति अथवा यह समुदाय जमीदार कहलाता है, जो या तो वश-परम्परागत यह अधिकार प्राप्त करता है अथवा यह दिखलाता है कि उन्होने स्वय जमीदारी अधिकार प्राप्त किये। यदि जमीदारी अधिकार किसी समुदाय में निहित रहते है तो पहली स्थिति में उस समुदाय के सदस्यो को यह दिखलाना पडता है कि उनके परिवारो के पूर्वज सम्मिलित थे और सभी से वश-परम्परागत वे जमींदारी अधिकार प्राप्त किये हुए है। जमींदार, चाहे वह व्यक्ति के रूप में हो अथवा समुदाय के रूप मे, का महत्व इस वात मे होता है कि वह अन्य खेतिहर किसानो की अपेक्षा उच्च जाति का है, एव उनसे श्रेष्ठ पदवी धारण किये हुए है। कभी-कभी यह भी होता है कि समदाय के हिस्से बँटाने वाले सदस्य स्वय अपनी जमीदारी मे खेती करें। गाँव में बेकार पडी भूमि गाँव की समस्त जातियो की सामूहिक सम्पत्ति होती है, अत यह खेतिहर काश्तकारो को लगान पर ही दी जा सकती है और इस प्रकार जो लगान आए उसे सब आपस में विभाजित कर सकते है। यदि वे चाहे तो उसका वँटवारा भी कर सकते है, अथवा सरकार से अनुमति प्राप्त किये विना ही उस पर खेती भी कर सकते है। सम्पूर्ण जमीदारी के लिए मालगुजारी की एक रकम निर्धारित की जाती है जिसको जमा करने के लिए जमीदारी में हिस्सा बँटाने वाले सब सदस्य सम्मिलित रूप से तथा अलग-अलग भी उत्तरदायी होते है। सरकार की आज्ञा से यदि कोई हिस्सेदार चाहे तो वह सयुक्त उत्तरदायित्व से छुटकारा प्राप्त कर सकता है और व्यक्तिगत रूप से अपने द्वारा देय मालगुजारी का हिस्सा अलग करा सकता है। गाँव के सामूहिक कार्य मौलिक रूप से प्रारम्भ में पचायतो, प्रतिनिधि-सस्थाओ—जिनके सदस्य प्रमुख जमीदार परिवार होते थे—द्वारा सम्पादित किये जाते थे। वस्तुत गाँव का कोई एक व्यक्ति मुखिया के रूप में नही होता है, फिर भी किसी एक व्यक्ति को नम्वरदार के रूप में कार्य करने के लिए चुना जा सकता है जो सरकार से व्यवहार करते समय मुख्य रूप से लगान-सम्वन्धी मामलो के तय करने में गाँव का प्रतिनिधित्व करता है। इस प्रकार के गाँवो का मुख्य रूप से पजाव मे वहुत विकास हुआ। रैयतवारी गाँव हिन्दू शासन के अनुरूप हिन्दू विचारो से मिलता-जुलता है, यह गाँव मुसलमानी विचारो से अधिक प्रभावित होता है। यह प्रथा मध्य पजाव के जाट, गूजर एव अन्य जातियो के वीच तथा दूसरे भागो में विजेता आर्य-वर्ग एव अन्य नायको एव सुप्रतिष्ठित तेजस्वी कुलीन पुरुषो के वशो में पाई जाती है।

४ **जमींदारी अथवा सयुक्त गाँव का सगठन और प्रकार**— ऐसे गाँवो मे ज़मीदारी के हिस्सेदार आपस मे भूमि, उसकी उपज तथा उससे सम्वन्धित लाभ किन सिद्धान्तो पर

विभाजित करते है, इस आधार पर हम इन गाँवो के तीन भेद कर सकते है (१) सर्व-प्रथम, कुछ वश-परम्परा के गाँव होते है। इनमें जमीदारी में हिस्सा बँटाने वाले हिस्से-दारो में से प्रत्येक का हिस्सा उसके पूर्वजो अथवा उसके वश के हिस्से के अनुसार निर्धारित होता है तथा वर्तमान हिस्सेदार वशावली के अनुसार जितना अश पाने का अधिकारी होता है, जमीदारी में उसे उतना ही हिस्सा दे दिया जाता है। वश-परम्परा-गत गाँव के निम्नलिखित रूप हो सकते है · (क) ऐसे गाँव जिनका स्वामित्व सयुक्त हिन्दू-परिवार के सदृश अविभाजित ही रहता है और समस्त हिस्सेदारो का उस पर सयुक्त रूप से स्वामित्व रहता है। (ख) ऐसे गाँव जिनका स्वामित्व वश की पट्टीदारी के अनुसार अविभाजित रहता है, (ग) ऐसे गाँव जिनका विभाजन आशिक रूप से ही पट्टीदारी के अनुसार किया हुआ रहता है। (२) दूसरी प्रकार के गाँव वश परम्परा-गत नही होते, वरन् उनमें भाईचारा[1] के सिद्धान्त के अनुसार हिस्से बाँटने के हेतु कतिपय विशेष रीतियाँ प्रचलित होती है। यह भाईचारे के सिद्धान्त निम्न है . (क) कृत्रिम रूप से भूमि के अनेक टुकडे करके बराबर-बराबर भूमि बाँट लेना, (ख) हल के आधार पर हिस्से बाँट लेना। इसमें हलो की सख्या पर स्वामित्व के अनुसार भूमि बाँटी जाती है। (ग) कृषि-हेतु आने वाले सिंचाई के पानी में, जिसका जितना हिस्सा होता है, उनके अनुसार भूमि का बाँटा जाना, अथवा (घ) कुओ में हिस्सो के अनुसार भूमि का बाँटा जाना। फिर भी इनमें से समस्त स्थितियो में समस्त बँटे हुए अश सयुक्त स्वामित्व के अन्तर्गत ही माने जाते है। (३) तीसरे प्रकार के गाँवो में हिस्से बाँटने के लिए कोई विशिष्ट नियम नही होता, वरन् जिसके अधिकार में जो भूमि यथार्थ में रहती है, वही उसकी मानी जाती है।

वश-परम्परागत गाँवो में सिद्धान्तत मल्कीयत में जिसका जितना अश होता है, लगभग उसी के अनुपात में मालगुजारी का हिस्सा बाँट दिया जाता है, किन्तु ऐसे गाँवो में जो वश परम्परागत वाले गाँव नही होते वहाँ भाईचारे अथवा यथार्थ स्वामित्व के अनुसार जो जितनी भूमि का वास्तविक स्वामी होता है उसको उसी के अनुपात में मालगुजारी देनी पडती है।

जमीदारी अथवा सयुक्त-गाँव जिन तीन विभिन्न रीतियो से बने, उन्ही के अनु-सार हिस्से बाँटने की उपरोक्त तीन विधियाँ प्रचलन मे आई। ये तीन रीतियाँ निम्न है (१) गाँव की जमीदारी में हिस्सा बँटाने वाले सब हिस्सेदार किसी एक पूर्वज के वशज हो जो उस गाँव का स्वामी रहा हो। गाँव पर यह स्वामित्व उस पूर्वज ने उस गाँव को बसाकर प्राप्त किया हो अथवा उसे जागीरदार बनाकर वह गाँव जागीर के रूप में दिया गया हो अथवा वह मालगुजारी जमा करने वाला कृषक रहा हो अथवा वह पहले राज्य करने वाला सरदार रहा हो किन्तु बाद में उसे जमीदार बना दिया गया हो, जैसा कि उत्तरप्रदेश में किया गया। (२) ये सब हिस्सेदार कुछ ऐसे परिवारो के भी वशज हो सकते है, जो कभी सम्मिलित रूप से इस गाँव में आ गए हो

१. भाईचारा शब्द के सरकारी प्रयोग के अनुसार इसके अन्तर्गत वे समस्त गाँव आने है जो वश-परम्परा-गत नहीं होते।

अथवा जो युद्ध करने वाली जाति के वशज रहे हो और जिन्होने अपने यहाँ की प्रचलित रीति के अनुसार उस गाँव के क्षेत्रफल का विभाजन कर लिया हो, अथवा (३) वे सामूहिक रूप से नई बस्ती बनाने वालो में से रहे हो, जो अनेक परिस्थितियो के कारण वहाँ सयुक्त-पूँजी के आधार पर खेती करने लगे हों।

यह यहाँ बात ध्यान में रखनी चाहिए कि गाँव के जमीदारो के ऊपर कभी-कभी वृहत्तर भू-स्वामी भी होते हैं, जैसे अवध और आगरा में ताल्लुकेदार, जो कई गाँवो के जमीदार-समुदायो के स्वामी माने जाते हैं। इनकी कार्य-पद्धति के भी वे ही सिद्धान्त होते है जो स्वतन्त्र गाँव के जमीदार-समुदाय के होते हो। इन वृहत्तर भू-स्वामियो के अधिकारो की उत्पत्ति भी गाँव के स्वतन्त्र जमीदार-समुदाय की ही भाँति हुई।

५ एक से अधिक गाँवों की मल्कीयतें सम्मिलित करने वाली जमींदारियाँ—कुछ जमीदारियाँ जागीर एक गाँव से अधिक क्षेत्रफल की, प्राय एक पूरे परगने अथवा जिले तक की होती हैं, यद्यपि ऐसी स्थिति में भी उक्त जागीर के अगभूत गाँव अपना सम्पूर्ण महत्त्व नही खो देते। ऐसी बडी-बडी जागीरो की उत्पत्ति भी किन्ही विशिष्ट कारणो से नही हुई वरन् गाँव की जागीरो की भाँति ही हुई। इनका वर्तमान जमीदार पहले के किसी राजा अथवा नायक का, अथवा मालगुजारी जमा करने वाले कृषक का अथवा भूमि-सम्बन्धी राज्य-पदाधिकारी का अथवा किसी जागीर इत्यादि को पाने वाले जागीरदार अथवा अन्य किसी प्रकार के इनामदार का वशज हो सकता है। ऐसी बडी-बडी मल्कीयतो वाले जमीदार बगाल में बहुत है। ये अवध और आगरा में भी हैं, जहाँ इन्हे ताल्लुकेदार कहा जाता है। पजाब में ये अपवादस्वरूप ही दीख पडते हैं। मध्यप्रदेश में एक विशिष्ट वर्ग के जमीदार पाये जाते हैं जिन्हे मालगुजार कहते हैं। ये इस प्रदेश के बहुत बडे भाग में पाये जाते हैं, किन्तु ये बगाल के जमीदारो जैसे नही होते। बम्बई में जमीदारी-जागीरो के विभिन्न रूप देख पडते हैं। जागीरदार और इनामदार वर्ग के अतिरिक्त वहाँ इस श्रेणी के अन्तर्गत गुजरात के ताल्लुकेदार और दक्षिण के पश्चिमी किनारे के 'खोट' गिने जाते हैं। मद्रास में, मुख्य रूप से उत्तरी भाग में, बगाल की तरह के कुछ बहुत बडे-बडे जमीदार है।

भारत में भू-वृति (स्वामित्व-सम्बन्धी) के सर्वेक्षण से इसके असाधारण रूप से जटिल एव अनेक प्रकार के स्वरूप दृष्टिगत होते हैं जो अनेक ऐतिहासिक कारणो, जैसे आक्रमण एव युद्ध, जातियो द्वारा अन्य कबीलो पर विजय, स्थानीय विजय, राज-परिवारो के उत्थान एव पतन आदि से विकसित हुए। जगल साफ करने के प्रथम अधिकार, जो प्रारम्भ में बहुत महत्त्वपूर्ण था, में विजय, जागीरदारी, स्वाभाविक श्रेष्ठता आदि के कारण भी जोड दिये गए।

६. उप-स्वामित्व एव आसामियों के अधिकार—जिस प्रकार विजय, जागीरदारी अथवा मालगुजारी जमा करने वाले कृषको के कारण जमीदारो के ऊपर बडे सामन्तों के अधिकार उत्पन्न हो सकते हैं, उसी प्रकार स्वामित्व के प्रारम्भिक जमीदारी के अधिकार उप-स्वामित्व वाले अधिकारो में पतित हो सकते हैं। कुछ स्थितियो में भूमि

के पूर्व स्वामी बड़े जागीरदार के अधीन अपनी विशेषाधिकार वाली स्थिति को अक्षुण्ण बनाये हुए थे तथा जिस प्रकार बृहत्तर भू-स्वामी के अधिकार माने जाते थे उसी प्रकार उनसे निम्न श्रेणियों के स्वामियों को भी स्वीकार किया जाता था। भूमिगत अधिकारों में जो गड़बड़ी थी—विशेषरूप से विभिन्न जमींदारी अधिकारों की विभिन्न श्रेणियों के कारण—उनके कारण उपरोक्त अधिकारों का स्वीकार किया जाना बड़ा कठिन हो गया।

रैयतवारी क्षेत्रों में यह प्रश्न अपेक्षाकृत सरल था, क्योंकि वहाँ अधिकारों की अत्यधिक वृद्धि नहीं हुई। अधिकतर किसान ही जमींदार होते थे। जहाँ किसान से वैतनिक कार्य कराया जाता था, वहाँ निस्सन्देह ही वे अपने स्वामी के साथ हुए सामान्य समझौते के अन्तर्गत कार्य करते थे और इस प्रकार उनकी कोई वैधानिक मान्यता नहीं होती थी। केवल कुछ ही स्थितियों में सामन्तों जैसे जमींदारी अधिकार हो सकते थे जिनके लिए भूमि के वास्तविक स्वामी को केवल कुछ निश्चित लगान देना पड़ता था। जमींदारी प्रदेशों में तथा संयुक्त गाँवों वाली जागीरों में अनेक मध्यवर्गीय श्रेणियों की स्थापना के कारण स्थिति बहुत पेचीदा हो गई थी। बैडेन-पावेल ने निम्न तालिका में यह दिखलाया है कि सर्वोच्च शिखर पर सम्पूर्ण मालगुजारी-सम्बन्धी एवं भूमि के प्रत्यक्ष स्वामित्व-सम्बन्धी सरकार के अधिकारों तथा सबसे नीचे खेतिहर आसामी के अधिकारों के बीच—जहाँ कहीं उनके भूमि सम्बन्धी स्थायी अधिकार हैं—कितने विभिन्न हित कार्य करते हैं।[1]

केवल एक हित	दो हित	तीन हित	चार हित	
१. केवल राज्य ही भूमि का स्वामी होता है।	१. राज्य २. किसान अथवा कब्जेदार जिसके अधिकार निश्चित होते थे। (यह आसामी नहीं होता था जैसे कि मद्रास, बम्बई, बरार इत्यादि में हैं।)	१ राज्य २. जमींदार, ताल्लुकेदार, अथवा संयुक्त गाँव समुदाय ३. वास्तविक कृषि करने वाला भूमि का अधिकारी, हिस्सेदार इत्यादि।	१ राज्य २ जमींदार ३. अधीनस्थ-स्वामी अथवा भूमिगत अधिकार-पत्र प्राप्त कृषक, ४. रैयत अथवा वास्तविक किसान	१. राज्य २ सामन्त अथवा बड़े जागीरदार जैसे अधिकार-प्राप्त जमींदार ३. भूमि का वास्तविक स्वामी अथवा जमींदार (साधारणत., गाँव समुदाय) ४. वास्तविक कृषि-कार्य करने वाला भूमि का अधिकारी, व्यक्ति विशेष, हिस्सेदार आदि

१. बैडेन-पॉवेल द्वारा लिखित 'लैन्ड रेवेन्यू एण्ड टेन्योर इन ब्रिटिश इण्डिया' नामक पुस्तक का

१ अधीनस्थ उप-स्वामित्व के अधिकार—अधीनस्थ उप-स्वामित्व का मुख्य लक्षण यह होता है कि इसमें अपने अधिकार की भूमि का स्वामी, उस भूमि के समस्त अधिकार रखता है, किन्तु समस्त सपत्ति के लाभ अथवा उसके प्रबन्ध में उसका कोई हाथ नही होता। इस प्रकार के उदाहरण बङ्गाल में पाए जाते हैं, जहाँ कतिपय भूमि-सम्बन्धी पट्टो के स्वामियो को निश्चित रकम का भुगतान करने पर स्वाधिकार-युक्त स्थायी वशपरम्परागत तथा हस्तान्तरित किये जाने योग्य भूमि-सम्बन्धी अधिकार प्रदान किये जाते हैं। इसका कारण यह था कि ये जमीदारी वर्ग के प्रभुत्व के होते हुए भी अपने विशेष अधिकार सुरक्षित रखने में सफल हो सके थे। किन्तु उनकी वास्तविक स्थिति की परिभाषा देने में कठिनाई अनुभव करने के कारण सन् १८८५ के विधान के अन्तर्गत यह नियम अपनाया गया कि वे सब भू-स्वामी जो जमीदारो से नीचे होगे तथा जिन्हें सौ बीघा भूमि के स्वामित्व के अधिकार प्राप्त होंगे, उन्हें भू-धृति युक्त कहा जायगा।

इस प्रकार का दूसरा आधुनिक उदाहरण पट्टेदार-वर्ग द्वारा प्रस्तुत किया जाता है, जिनको स्थायी रूप से प्रबन्ध करने के हेतु उन जमीदारो द्वारा पट्टे दिये गए जो अपनी जमीदारी के बहुत बडी होने के कारण मालगुजारी देने का दायित्व, आशिक रूप से अन्य व्यक्ति को हस्तान्तरित करना चाहते थे। इन पट्टेदारो ने अपने खेतिहर आसामी बनाए जिन्हें 'दीरपट्टेदार' कहा जाता था। इन्हे भी इसी प्रकार के अधिकार प्राप्त थे तथा उसी के अनुरूप उनका मालगुजारी जमा करने का दायित्व था। ऐसे अधिकार सन् १८१९ के बगाल नियमन (बगाल रेग्युलेशन) द्वारा स्वीकृत किये गए।

अधीनस्थ (उप) स्वामित्व वाले जमींदारो का एक दूसरा वर्ग उन स्थितियो मे पाया जाता है जहाँ स्वामित्व के अधिकार वाले वर्तमान जमीदार पहले जमीदारो के ऊपर हो गए हो। कुछ परिवार केवल सरकार को मालगुजारी देकर तथा अपने से उच्च जमीदार को अपने अधीनस्थ भूमि का किसी प्रकार का लगान न देकर भी अपनी स्थिति को बनाए रख सकते हैं। मध्यप्रदेश में उत्तर भारत जैसी नीति के पालन से कृत्रिम रूप से मालगुजारो की उत्पत्ति के कारण प्रत्येक गाँव के लिए मालगुजारी जमा करने का दायित्व एक जमीदार पर निश्चित करना—चाहे यह मौलिक रूप से रैयतवारी की ही भाँति रहा हो—आवश्यक हो गया। इससे अधीनस्थ (उप) स्वामित्व के अधिकारो को भी स्वीकार करना पडा। अन्तत, अवध में कभी-कभी सम्पूर्ण गाँव की सस्थाएँ स्वतन्त्र प्रवन्ध के अधिकार को सुरक्षित रख सकती थी। यदि वे अपने ऊपर के बडे जागीरदार जैसे अधिकार-प्राप्त ताल्लुकेदार को लगान की निश्चित रकम का

पृष्ठ १२९ देखिए। इसकी तुलना निम्न से कीजिए बङ्गाल बैंकिंग जाँच समिति ने अपनी रिपोर्ट के पैरा १७ के अन्तर्गत लिखा है कि "बाकरगज की एक जागीर में भूमि के स्वामी एव खेतिहर आसामी के बीच लगभग ३० मध्यस्थ अधिकारी है।" भूराजस्व आयोग बगाल ने अपनी रिपोर्ट के प्रथम भाग के पैरा ७७ में लिखा है कि "बगाल में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के इस वचन पर कि मालगुजारी के निर्धारण में कभी परिवर्तन न किया जायगा, के पश्चात् भी जमीदारों के लाभ में सामान्य वृद्धि रहने के कारण अधीनस्थ छोटे-छोटे जमींदार बनते गए जिनकी सख्या प्रारम्भ के जमीदारों से भी अधिक थी।"

भुगतान कर देती थी। उनके उपस्वामित्व के अधिकार इस प्रकार स्वीकृत किए जाते हैं कि यद्यपि सरकार का मुख्य वन्दोवस्त ताल्लुकदार के साथ होता है तथापि उनके एव ताल्लुकेदार के मध्य का उप-वन्दोवस्त भी स्वीकार किया जाता है जिसके अन्तर्गत उनके द्वारा ताल्लुकेदार को दिया जाने वाला लगान निश्चित कर दिया जाता है।

(२) आसामियो (काश्तकारो) के अधिकार[1]—अव हम खेतिहर आसामियो के अधिकारो के सम्वन्ध में अध्ययन करेंगे, किन्तु ऐसे आसामियो के विषय मे, जो कुछ विशेषाधिकार रखते हैं तथा केवल साधारण सविदा किसान नही हैं। पहले हम इस सम्वन्ध में सव राज्यो में विद्यमान कुछ सामान्य लक्षणो का अध्ययन करेंगे, जो राज्यो में सन् १९३७ मे स्वायत्त शासन की स्थापना के वाद काश्तकारी विधान वनने के पूर्व मौजूद थे। यहा इनका सूक्ष्म विवरण नही दिया जायगा। वे ही लक्षण, जिनके कारण जमीदारो एव उनके ऊपर वडे जागीरदारो के अधिकार आधारित थे, काश्तकारो के विभिन्न वर्ग वनने के भी कारण हैं। आजकल वैयक्तिक अथवा सयुक्त जमीदारी मल्कीयतो में जो काश्तकार हैं, वे पहले इससे उच्च अवस्था में रहे होंगे। जमीदारो एव वड़े जागीरदारो के अधिकारो की अधिकाधिक पूर्णता तथा उनके पास सुविधाओ अथवा समय की अधिकता के अनुसार निम्नतम-वर्ग सामाजिक परिष्ठा में अधिकाधिक गिरता चला जायगा। इस प्रकार जमीदारो का जितना प्रभुत्व रहेगा, उसी के अनुसार काश्तकारो के अधिकार कम अथवा अधिक हो जायेंगे। खेतिहर काश्तकारो के अधिकारो की परिभाषा देने एव उनको स्वीकृति प्रदान करने में ब्रिटिश शासन को दो कठिनाइयो का अनुभव हुआ था। प्रथम यह कि सव स्थितियो में इस वात का प्रत्यक्ष प्रमाण नही मिल रहा था कि ये काश्तकार पहले कभी उच्च अवस्था में थे। दूसरी कठिनाई यह थी कि स्वामित्व की पहली स्थिति के आधार पर स्वीकृत किये जा सकने योग्य काश्तकारो के अतिरिक्त कुछ ऐसे काश्तकार भी थे, जो एक प्रकार से कुछ विशेषाधिकार भी रखते थे, क्योकि उन्हे जमीदार सविदा पर लाये थे, किन्तु ऐसे समय में, जव काश्तकार अत्यावश्क थे, एव उनको निकालना या बेदखल करना सम्भव न था। परिणामस्वरूप स्वाभाविक एव कृत्रिम काश्तकारो में भेद करना आवश्यक समझा गया। स्वाभाविक काश्तकार वे थे जिनके पक्ष में निश्चित एव प्रामाणिक तथ्य प्राप्त किये जा सकते थे, तथा कृत्रिम काश्तकार वे होते थे जो अपने काश्तकारी के अधिकारो की उत्पत्ति के सम्वन्ध में कोई निश्चित प्रमाण प्रस्तुत नही कर सकते थे। कृत्रिम काश्तकारो के लिए वगाल, आगरा तथा थोडे समय के लिए मध्यप्रदेश में १२ वर्षीय नियम अपनाये गए। वगाल तथा आगरा में सन् १८५९ के काश्तकारी विधान (कानून) के अन्तर्गत उसे काश्तकार माना गया, यदि उसने एक ही भूमि पर निरन्तर वारह वर्ष तक खेती की हो। जमीदारो ने इस विधान के लागू होने के प्रभाव से वचने के लिए ऐसा करना प्रारम्भ कर दिया कि कोई काश्तकार एक ही भूमि को लगातार वारह वर्ष तक जोत ही न सके और इस प्रकार उसके लिए मौरूसी काश्तकार वनना

---

१. बैडेन पॉवेल, 'लैण्ड रेवेन्यू एण्ड टेन्योर इन ब्रिटिश इण्डिया', अध्याय ७, भाग ५; तथा टैनसेशन इन्क्वायरी कमिटी रिपोर्ट, पैरा ६०।

असम्भव हो जाय। अत बगाल में सन् १८८५ में इस विधान में सशोधन किया गया। अब यह किया गया कि एक काश्तकार को मौरूसी काश्तकार बनने के लिए एक ही भूमि को निरन्तर १२ वर्ष तक जोतना आवश्यक नही रह गया, वरन् उसके लिए यह आवश्यक हो गया कि वह एक ही गाँव में बारह वर्ष तक लगातार खेती करे। सन् १९२८ के काश्तकारी कानून के अन्तर्गत हस्तान्तरण शुल्क देकर काश्तकारी की भूमि का हस्तान्तरित किया जाना भी वैध कर दिया गया और जमीदार को पूर्व क्रयाधिकार प्रदान किया गया अर्थात् उसे सबसे पहले क्रय करने का अधिकार दिया गया। इससे छोटे किसानो के अधिकार काफी सुदृढ हो गए तथा रक्षा की दृष्टि से उन्हे तीन श्रेणियो में विभाजित किया गया।[1]

आगरा में बगाल के सन् १८८५ के सशोधन की भाँति विधान मे सशोधन नही किया गया, किन्तु सन् १९०१ के विधान के अन्तर्गत कतिपय नियन्त्रण लगाये गए, जिनका उद्देश्य यह था कि ज़मीदार विधान के नियमो को क्रियान्वित होने से रोक न सके।[2] सन् १९०१ के विधान को सन् १९२१ के अवध लगान विधान के आधार पर १९२६ में सशोधित किया गया अर्थात् गैर मौरुसी काश्तकारो को जीवन-पर्यन्त की भू-धृति का प्रतिपादन किया गया तथा इसके बदले में ज़मीदारो के सीर (निजी-खेती) के क्षेत्रफल-सम्बन्धी अधिकार काफी विस्तृत किये गए। कानूनी काश्तकारो के उत्तराधिकारी पाँच वर्ष तक काश्तकारी की भूमि पर अधिकार रख सकते थे। इस प्रकार से सीर की भूमि अत्यधिक बढाई गई। उत्तर प्रदेश के १९३९ के काश्तकारी विधान के अन्तर्गत काश्तकारो के हित में सीर की भूमि को नियन्त्रित करने की चेष्टा की गई (नीचे सेक्शन ९ (२) देखिए)। अवध में खेतीबारी की भूमि के काश्तकारो के अधिकारो को पहले सन् १८८६ के विधान के अन्तर्गत सीमित किया गया। यह उन काश्तकारो को सम्बन्ध में किया गया जो एक बार स्वामित्व के अधिकार प्राप्त करके उन्हें खो बैठे थे, परन्तु बाद में उन काश्तकारो पर भी लागू कर दिया गया जिनके स्वामित्व के अधिकार विक्रय अथवा कुर्की के द्वारा हस्तान्तरित किये जा चुके थे।

मौरुसी काश्तकार के अधिकार पजाब में केवल उन्ही काश्तकारो द्वारा प्राप्त किये जा सकते हैं जिनके हक किन्ही ऐतिहासिक प्रमाणो पर आधारित हों। वहाँ केवल समय बीत जाने में ही मौरुसी काश्तकार के अधिकार प्राप्त नही किये जा सकते। पजाब के सन् १८८७ के विधान के अन्तर्गत एक मौरुसी काश्तकार वह होता है जिसने दो पीढियो से केवल सरकारी मालगुज़ारी ही दी हो तथा भूमि के स्वामी को न तो कोई लगान दिया हो और न इसके लिए कोई सेवा ही अर्पित की हो।

मध्य प्रदेश में भी पहले बारह-साला नियम लागू होता था, किन्तु बाद में इसे छोड दिया गया और यह कर दिया गया कि वार्षिक लगान का अढाई गुणा जमा करके मौरूसी काश्तकार के अधिकार खरीदे जा सकते थे। सन् १९२० में फिर एक नया

---

१ लैण्ड रेवेन्यू कमीशन, बगाल, रिपोर्ट, खण्ड १, पैरा ७१।

२ आगरा व अवध में लगान सम्बन्धी कानून के विशेष विवरण के लिए 'रिपोर्ट आफ द यूनाइटिड प्राविन्सेज़ बैंकिंग इन्क्वायरी कमेटी', पैरा ३२७-८ देखिए।

नियम वनाया गया जिसके अन्तर्गत दो प्रकार के मौरूसी काश्तकार माने गए तथा दोनो ही कतिपय अवस्थाओ में अपने अधिकार हस्तान्तरित कर सकते थे।

मद्रास की ज़मीदारी जागीरो में प्रत्येक रैयत, जिसके पास रैयती भूमि थी, अर्थात् ऐसी भूमि जो घर का फार्म, अथवा स्वामी की सीर की भूमि नही थी, सन् १६०८ के जागीरी भूमि-विधान (एस्टेट्स लेण्ड एक्ट) (जो सन् १८८५ के बगाल के विधान के अनुरूप ही वनाया गया था) के अन्तर्गत मौरूसी काश्तकार के अधिकार स्थायी रूप से रखने लगा। साथ ही ऐसे किसान को भी मौरूसी काश्तकार के अधिकार स्थायी रूप से मिल गए जिन्हे जमीदार द्वारा रैयती भूमि दी गई हो। इस प्रकार ऐसे रैयत के अधिकार रैयतवारी प्रदेशो के मौरूसी काश्तकारो के सदृश ही कर दिये गए।

वम्बई में खोटो से सम्बन्धित सन् १८८० के विशेष विधान के अन्तर्गत पुराने रहने वाले आसामियो के अधिकारो की उसी प्रकार रक्षा की गई जिस प्रकार अन्यत्र मौरूसी काश्तकारो के अधिकार सुरक्षित किये गए। इसके अतिरिक्त अन्य प्रकार की भू-धृति भी है, जैसे ताल्लुकेदारी भू-धृति आदि, जिन्हे सन् १८६२ के विशेष विधान के अन्तर्गत पृथक् रूप से रखा गया है।

७. **मौरूसी काश्तकारों के अतिरिक्त अन्य काश्तकार**—हमने अभी तक इतना अधिक ध्यान मौरूसी काश्तकारो की ही ओर रखा है क्योकि ज़मीदारी प्रदेशो में ये ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण विशेषाधिकार वाले काश्तकार होते हैं। किन्तु यहां इस बात का भी उल्लेख कर देना अत्यावश्यक है कि इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी काश्तकार थे जिनकी स्थिति मौरूसी काश्तकारो से उच्च अथवा निम्न थी। उदाहरणार्थ, हम बगाल के उच्च श्रेणी के काश्तकारो को ले सकते हैं जिन्हे भूमि पर अधिकार-सम्बन्धी पट्टे प्राप्त रहते है जिनके विषय में ऊपर लिखा जा चुका है तथा किसान, जो निश्चित दर पर मालगुजारी देते है तथा जिन्हे न तो वेदखल ही किया जा सकता है और न उनके लगान में ही वृद्धि की जा सकती है। इसी प्रकार वनारस के स्थायी पट्टो वाले ज़िलो में निश्चित दर पर मालगुजारी देने वाले कुछ काश्तकार है। मध्यप्रदेश में स्वतन्त्र मौरूसी काश्तकार होते है जिनके विषय में प्रथम पट्टे के अनुसार ही यह कहा जा सकता है कि उनकी स्थिति अपूर्व रूप से सुदृढ है। इन्हे व्यवहार में किन्ही भी कारणो से हटाया नही जा सकता है। वे स्वाधिकार युक्त मालगुजारी देते है जो कि मालगुजारी की व्यवस्था करने वाले पदाधिकारी द्वारा व्यवस्था-काल तक के लिए निश्चित रहती है। इसके विपरीत कुछ निम्न श्रेणी के भी काश्तकार होते है जिनकी तुलना रैयतवारी प्रदेशो के इच्छानुसार काश्तकारो से की जा सकती है, किन्तु ये इन इच्छानुसार काश्तकारो की अपेक्षा अधिक रक्षा प्राप्त किये हुए रहते है।

८. **मौरूसी विशेषाधिकारों के सामान्य लक्षण**—अब हम सक्षेप में मौरूसी काश्तकारो की, जिस प्रकार से रक्षा की जाती है उसका अध्ययन करेंगे। (१) लगान में वृद्धि करने की सीमा रकम तथा समय दोनो ही तरह से नियमित है, अर्थात् लगान की वृद्धि एक निश्चित रकम तक तथा एक निश्चित अवधि वीत जाने के पश्चात् की जा सकती है। लगान में वृद्धि केवल समझौते के द्वारा अथवा विशेष कारण होने पर अदालत की डिग्री

वकाया रकम पर ६¼ प्रतिशत वार्षिक व्याज की दर वसूल की जा सकती थी।

(३) बङ्गाल—सन् १९३८ का वङ्गाल का काश्तकारी अधिनियम भी काश्तकारो को कुछ सुविधाएँ प्रदान करता है। इसके अन्तर्गत काश्तकारो से अवैधानिक वसूली नही होगी तथा उपकर नही लगाए जा सकेंगे, अब तक जमीदारो के लिए पूर्वक्रय के जो अधिकार सुरक्षित थे, वे भी समाप्त कर दिये गए। उनके बजाय ये अधिकार हिस्सेदार काश्तकारो को दिये गए। जमीदार को हस्तान्तरण शुल्क (सलामी) दिया जाना तथा प्रमाणपत्रो के द्वारा लगान वसूल किया जाना भी समाप्त कर दिया गया। काश्तकार को यह अधिकार दिया गया है कि वह बीस वर्ष के अन्दर कछार की भूमि को केवल चार वर्ष का लगान देकर प्राप्त कर सकता है। इनके नीचे वाले किसान को मौरूसी किसान जैसे अधिकार दिये गए तथा लगान की वकाया रकम पर वसूल की जाने वाली व्याज की दर को घटाकर केवल ६¼ प्रतिशत कर दिया गया। नये विधान के अन्तर्गत दस वर्ष तक लगान में वृद्धि करने की सुविधा प्रदान करने वाले सब नियमो का लागू होना समाप्त कर दिया गया।[1] बङ्गाल सरकार के अनुसार काश्तकारो के प्रमुख कष्टो को दूर करने की दिशा में यह अधिनियम प्रथम प्रयास था। अत एक आयोग की नियुक्ति की गई जिसका कार्य बङ्गाल में स्थायी बन्दोबस्त के सदर्भ में तात्कालिक भू-राजस्व व्यवस्था की सामान्य जाँच करना था। (आगे सेक्शन ३२ देखिए।)

(४) मध्यप्रदेश—राज्य के तत्कालीन भूमिगत अधिकारो एव भू-राजस्व व्यवस्था को पुष्ट करने के उद्देश्य से सरकार ने जिस भू-राजस्व समिति की नियुक्ति की थी, उसकी सिफारिशो के आधार पर मध्यप्रदेश की काग्रेस सरकार सन् १९३९ में मध्यप्रदेश काश्तकारी बिल (सेण्ट्रल प्राविन्सेज़ टेनेन्सी बिल) को अधिनियम का रूप में समर्थ हुई।

१० रैयतवारी राज्यों में काश्तकारी—यहाँ साधारणत खेतिहर काश्तकार तथा सरकार के मध्य किसी जमीदार अथवा मध्यस्थ-वर्ग की कृत्रिम उत्पत्ति अपेक्षाकृत कम हुई है, अत उत्तरी भारत के बन्दोबस्त की तुलना में यहाँ अधीनस्थ काश्तकारो के अधिकारो एव उनके विभिन्न वर्गों को स्वीकृत किये जाने की उतनी अधिक आवश्यकता का अनुभव नही किया गया है जैसा कि हम पहले देख चुके हैं। रैयतवारी राज्यों में भी कुछ जमीदारी जागीरें हैं। मद्रास के जमीदार अथवा बम्बई के खोट और ताल्लुकेदार ऐसे ही है तथा अधिकाश स्थितियो में, जैसा कि हमने अभी देखा, ये विशेष काश्तकारी विधान के अन्तर्गत है। मद्रास, बम्बई अथवा अन्य किसी राज्य के, जहाँ रैयतवारी व्यवस्था मुख्य रूप से प्रचलन में है, जहाँ तक साधारण प्रसविदायुक्त किसानो का सम्बन्ध है, अभी तक लगान में इच्छानुसार वृद्धि करने अथवा उन्हें चाहे जब बेदखल करने से उनकी रक्षा करने का कोई विशेष विधान न था, केवल एक साधारण काश्तकारी अधिनियम प्रचलन में था जिसके अन्तर्गत यदि दोनो पक्षो में कुछ समझौता हो चुका हो तो उसे क्रियान्वित किया जा सकता था पर यदि कोई समझौता न हुआ हो तो स्थानीय व्यवहृत रीतियो के अनुसार ही कार्य किया जायगा। किन्तु काश्तकारों की

[1] लैण्ड रेवेन्यू कमीशन, बगाल, रिपोर्ट, खण्ड १, पैरा ६८।

सख्या में वृद्धि होने, कृपि की अधोगति होने तथा ग्रामीण समुदाय के छिन्न-भिन्न होने के कारण, आसामियो में भूमि के लिए अत्यधिक स्पर्धा होने के कारण तथा इससे लगान की दरो में वृद्धि होने के कारण रैयतवारी प्रदेशो में भी जमीदारी राज्यो की भाँति काश्तकारी विधान की आवश्यकता का अनुभव किया जाने लगा।

४१. सन् १९३९ का बम्बई का काश्तकारी अधिनियम (द बॉम्बे टेनेन्सी एक्ट)—बम्बई का काश्तकारी अधिनियम अक्तूबर सन् १९३९ में पास किया गया। अप्रैल सन् १९४० में इस पर गवर्नर जनरल की स्वीकृति प्रदान की गई तथा सन् १९४१ में राज्य के कुछ चुने हुए भागो में यह व्यवहार में लाया गया।[1]

काश्तकारी विधेयक के उद्देश्य एव इसे प्रस्तुत करने के कारणो को बताते हुए जो कुछ कहा गया उससे यह प्रतीत होता था कि सन् १८७९ के बम्बई भूमि लगान-सम्बन्धी नियम तथा सन् १८८० का खोटी-बन्दोबस्त का अधिनियम जिनके अन्तर्गत राज्य में जमीदार एव काश्तकार के मध्य के सम्बन्धो की व्यवस्था की गई थी, वे कुछ स्थितियो में पूर्णत असन्तोषजनक पाये गए।[2] अनेक काश्तकार ऐसे थे जो कई पीढियो से एक ही भूमि के अधिकारी होते चले आ रहे थे, किन्तु उनको उस भूमि से सम्बन्धित स्थायी अधिकार प्रदान नही किये गए थे तथा अब भी वे गैर-मौरूसी काश्तकार ही बने हुए थे जिनकी काश्तकारी जमीदार की इच्छानुसार कभी भी हटाई जा सकती थी। इस कारण उन्हे भूमि में सुधार करने की कभी प्रेरणा ही नही होती थी, क्योकि ऐसा करने पर लगान में वृद्धि हो जाने की सभावना रहती थी। यहाँ तक कि स्थानीय रीतियाँ, स्थायी काश्तकारो पर भी महसूल लगा देने की अथवा जबरदस्ती अथवा कम पारिश्रमिक देकर मजदूरी करा लेने की अनुमति प्रदान करती थी। बडे भू-पतियो के आसामी, चाहे वे खालसा गाँव के हो और चाहे हस्तान्तरित गाँव के, इन अवगुणो के विशेष रूप से शिकार होते थे। अतः यह काश्तकारी विधान ऐसे ज़मीदारो के काश्तकारो की विशेष रूप से रक्षा करता है।

इस अधिनियम के अन्तर्गत रक्षित काश्तकारो के एक नये वर्ग की रचना की गई। १ जनवरी, सन् १९३८ से ही ६ वर्ष पहले से जो काश्तकार भूमि पर अधिकार किये हुए थे, तथा ऐसी भूमि पर इस अवधि में वे स्वय खेती करते थे, बेदखली से उनकी रक्षा की गई। ऐसे काश्तकार भी, जिन्हे १ अप्रैल सन् १९३७ के पश्चात् बेदखल किया गया था, कुछ परिस्थितियो में रक्षित काश्तकार माने गए। भू-धृति की यह सुरक्षा कुछ शर्तो पर आधारित है। यदि ज़मीदार स्वय किसी भूमि पर खेती करना चाहे अथवा उसे कृपि के अतिरिक्त किसी अन्य कार्य-हेतु प्रयुक्त करना चाहे, अथवा कोई काश्तकार लगान अदा न कर सके, अथवा बुरे या हानिकारक ढग से काश्तकारी की जाय अथवा

१ अप्रैल, सन् १९४१ में बम्बई सरकार-द्वारा एक विज्ञप्ति प्रकाशित की गई जिसमें यह कहा गया कि इस विधान की पेचीदी प्रकृति, इसके द्वारा शासन सम्बन्धी जटिल समस्याओं के उत्पन्न किये जाने, एव राज्य के आर्थिक ढाँचे में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किये जाने के कारण इसे पहले राज्य के कुछ चुने हुए भागों में ही व्यवहार में लाना उचित होगा।

२. बम्बई सरकार का गजट, दिनाक २६ अगस्त, सन् १९३८, पृ० ४९७-५११ देखिए।

कोई काश्तकार भूमि को स्वय न जोते तथा किसी अन्य को लगान पर उठा दे, तो इन स्थितियो में काश्तकार को उपरोक्त रक्षा प्राप्त न हो सकेगी। यदि एक रक्षित काश्तकार को बेदखल किया जाय तो वह मुआवज़ा पाने का अधिकारी हो जाता है। जिसने भूमि में कोई सुधार किये हैं ऐसे काश्तकार की काश्तकारी कुछ शर्तो के साथ उसके वशजो को हस्तान्तरित हो जाती है, किन्तु वह अपने काश्तकारी के अधिकारो को कही रहन नही रख सकता है, अथवा किसी अन्य प्रकार से उनको हस्तान्तरित नही कर सकता और न अदालत के द्वारा उनको ज़बरदस्ती छीना जा सकता है, न उनकी कुर्की कराई जा सकती है और न उनका विक्रय ही कराया जा सकता है। स्थानीय प्रचलित रीति अथवा ज़मीदार के साथ हुए समझौते के अभाव में अधिनियम के अन्तर्गत रक्षित काश्तकार द्वारा दिये जाने वाले उचित लगान को निश्चित करने की विधि भी दी हुई है। उचित लगान निर्दिष्ट वैधानिक रीति के अनुसार मामलतदार द्वारा निश्चित किया जाता है तथा उसके निर्णय के विरुद्ध प्रथम श्रेणी के अधीनस्थ न्यायाधीश के यहाँ अपील की जा सकती है।

अधिनियम के अन्तर्गत समस्त वर्ग के काश्तकारो को कुछ सुविधाएँ दी गई हैं। उदाहरणार्थ, ज़मीदार द्वारा वैधानिक लगान के अतिरिक्त न्याय-विरुद्ध किसी महसूल, लगान, टैक्स, तथा सेवा आदि लेने का निषेध है। इन निषिद्ध कार्यों के लिए भारी जुर्माने की व्यवस्था है। कुछ क्षेत्रो के लिए सरकार काश्तकारो द्वारा देय लगान की उच्चतम सीमा निर्धारित कर सकती है। जब कभी सरकार ज़मीदारो को मालगुज़ारी के सम्बन्ध में परिहार अथवा निलम्बन प्रदान करती है तो यह आवश्यक है कि ज़मीदार भी काश्तकारो को इसी प्रकार की सुविधाएँ दे। यह नियम फसल के भाग के रूप में दिये जाने वाले लगानो के सम्बन्ध में लागू नही होता।

सब काश्तकार अपनी भूमि पर अपने ही द्वारा उत्पन्न की हुई उपज तथा अपने द्वारा लगाए पेड तथा उनकी लकडी प्राप्त करने के अधिकारी है। उनकी काश्तकारी के समाप्त होने पर वे ऐसे पेडो के हेतु उचित मुआवज़ा भी पाने के अधिकारी हैं। कुछ स्थितियो में काश्तकारी की समाप्ति पर कुछ सहायता प्रदान की गई है।

अधिनियम की ३३वी धारा के अन्तर्गत कृपि सम्बन्धी कोई भी पट्टा दस वर्ष से कम की अवधि के लिए नही किया जा सकता ताकि काश्तकार अपनी भूमि में सुधार करने के लिए प्रोत्साहित हो और अपने परिश्रम के बदले उचित लाभ प्राप्त कर सकें।

इसके अतिरिक्त काश्तकारो की रक्षा बम्बई विधान परिपद द्वारा अक्तूबर सन् १९४६ में पास किये गए विधेयक के द्वारा की गई है।

१२ बन्दोबस्त क्या है?—भू-धृति का प्रारम्भिक अध्ययन कर लेने के उपरान्त अब हम इस स्थिति पर आ गए हैं कि मालगुज़ारी के बन्दोबस्त का निरूपण करें। पारिभाषिक अर्थ में मालगुज़ारी के बन्दोबस्त में निम्नलिखित बातो को निश्चित किया जाता है (१) राज्य उत्पादन के कौनसे अश अथवा कितने वार्षिक लगान (मालगुज़ारी) अधिकारी है, (२) कौन व्यक्ति अथवा कौन-कौन व्यक्ति राज्य का अश जमा करने लिए उत्तरदायी है, तथा (३) व्यक्तियो के भूमि से सम्बन्धित जो-जो अधिकार हैं,

उनका लेखा रखना। जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है तीसरा प्रश्न जमीदारी प्रदेशो में, चाहे वह वैयक्तिक हो अथवा सयुक्त, विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है, क्योकि वहाँ भूमिगत अधिकारो में क्रमिक वृद्धि होती है तथा भूमि में कुछ हित होते है जिन्हे स्वीकार करना पडता है।

१३. वन्दोबस्त के आवश्यक तत्त्व[1]—भू-राजस्व अथवा मालगुजारी के वन्दोबस्त की तीन मुख्य दशाएँ है—(१) क्षेत्रफल एव स्वामित्व सम्वन्धी (कैडेस्ट्रॉल)[2] लेखो का तैयार करना, (२) मालगुजारी का निर्धारण और (३) निर्धारित मालगुजारी की वसूली।

(१) क्षेत्रफल एव स्वामित्व लेखे—इन लेखो, जिनके अन्तर्गत गाँव का नक्शा, वित्त अथवा मालगुजारी-सम्वन्धी लेखे तथा अधिकारो के लेख सम्मिलित किये जाते हैं, के तैयार करने की विधि इस प्रकार होती है पहले समस्त भूमि का प्रत्येक खेत पर जाकर सर्वेक्षण किया जाता है, साथ ही सीमाओ का निर्धारण किया जाता है ताकि खेती योग्य भूमि का तथा मालगुजारी के लिए हर तरह की मिट्टी का सही अनुमान लगाया जा सके और अधिकार-सम्वन्धी सही लेखे तैयार किये जा सकें। इस सर्वेक्षण के आधार पर प्रत्येक गाँव के लिए एक नक्शा वनाया जाता है जिसमें हर जोत पृथक्-पृथक् दिखलाई जाती है तथा खेती योग्य एव बेकार पडी भूमि का सम्पूर्ण क्षेत्रफल एव उसकी स्थिति दिखलाई जाती है। गाँव के नक्शे के अनुरूप साधारण खतौनी (खेतो का रजिस्टर) भी वनाया जाता है और इन दोनो के आधार पर वित्त अथवा मालगुजारी-सम्वन्धी लेखे तैयार किये जाते हैं जिनमें मालगुजारी जमा करने वालो की सही सूची रहती है तथा प्रत्येक नाम के सामने उसके द्वारा देय रकम लिखी होती है। इनके पूरक के रूप में आँकड़े देने वाली तालिकाएँ एव आँकडो से पूर्व अन्य लेख-पत्र रहते हैं, जिनसे गाँव के पिछले इतिहास एव उसकी वर्तमान अवस्था का अनुमान लगाया जा सकता है। अन्तत. अधिकारो का एक लेखा स्वतन्त्र रूप से अथवा मालगुजारी के लेखे में ही जुडा हुआ तैयार किया जाता है, जो भू-धृति तथा भूमि-सम्वन्धी विभिन्न अधिकार, जैसे जमीदार, हिस्सा वँटाने वाले, अधीनस्थ स्वामी, मौरूसी काश्तकार आदि के अधिकार और रहन, विक्रय, पट्टे आदि द्वारा उत्पन्न हुए अधिकार दिखलाता है। प्रत्येक व्यक्ति के इस प्रकार के लेखो के दर्ज करने एव उनमे किसी भी प्रकार के परिवर्तन होने पर उसकी रजिस्ट्री करने की व्यवस्था से ये सब लेखे अन्तिम तिथि तक पूर्ण रहते हैं। इस प्रकार लिखे गए अधिकार वैधानिक समझे जाते है जब तक कि उनके विरुद्ध कुछ प्रमाण न मिले।

(२) मालगुजारी का निर्धारण—मालगुजारी की माँग निश्चित करने के उद्देश्य से पहले भूमि का मूल्याङ्कन किया जाता है और लगान की दरें मालूम की जाती हैं और उनको जोडकर उसकी ठीक-ठीक-व्यवस्था की जाती है। यह सम्पत्ति (जमीदारी)

१. इम्पीरियल गजेटियर, खण्ड ४, अध्याय ७ देखिए।

२. 'कैडेस्ट्रॉल' का शाब्दिक अर्थ भूमि के स्वामित्व एव क्षेत्रफल से है, जिस पर लगान निर्धारित किया जा सके।

अथवा जोत की जमीन द्वारा देय रकम होती है। कुछ स्थितियो में इसके अतिरिक्त भी कार्य करना शेष रहता है, जिसके अन्तर्गत इस सम्पूर्ण रकम में से कितना-कितना हिस्सेदारो अथवा काश्तकारो द्वारा देय होगा, यह मालूम करना आवश्यक हो जाता है।[1] विभिन्न राज्यो में मालगुजारी निर्धारित करने के विभिन्न आधारों के सम्बन्ध में अभी विचार किया जायगा।

(३) मालगुजारी की वसूली (क) किश्तें—सरकारी मालगुजारी की सम्पूर्ण रकम एक साथ वसूल नही की जाती, वरन् मालगुजारी देने वालो की सुविधानुसार किश्तो में वसूल की जाती है। उदाहरणार्थ, एक सामान्य जमीदार मालगुजारी की रकम उस समय तक जमा नही कर सकता जव तक कि फसल कट न जाय तथा उत्पाद को वाजार में बेच न दिया जाय। किश्तों की रीति का चलन में आने का दूसरा कारण यह है कि एक ही वार में बहुत अधिक रुपये की मांग को बचाया जा सके, क्योकि इससे कीमतो के गिरने एव व्याज की दर बहुत अधिक (असुविधाजनक स्तर तक) चढ जाने की सम्भावना रहती है।

(ख) मालगुजारी की वकाया रकम की वसूली का ढग—मालगुजारी की वकाया रकम वसूल करने के सम्बन्ध में स्थायी वन्दोवस्त तथा अस्थायी वन्दोवस्त वाले प्रदेशों में भिन्नता है। स्थायी वन्दोबस्त वाले प्रदेशो में जमीदारी की भेंट के साथ यह कठिन शर्त भी थी कि निश्चित समय पर मालगुजारी अवश्य जमा कर दी जाय अन्यथा जमीदारी का तुरन्त विक्रय कर दिया जायगा। जमींदार की प्रतिष्ठा को दृष्टि में रखकर उसे सजा दिलवाना अथवा चल-सम्पत्ति की कुर्की कराना उचित नही समझा गया। अस्थायी वन्दोबस्त वाले क्षेत्रो में बकाया लगान वसूल करने की विधि इससे कम कठोर है तथा भूमि का विक्रय पहला कदम न होकर सब प्रयत्न कर लेने के पश्चात् अन्तिम उपाय के रूप में ही अपनाया जाता है।

(ग) मालगुजारी या भू-राजस्व का परिहार और निलम्बन—एक वन्दोवस्त के लिए जो मालगुजारी निर्धारित की जाती है, वह उस वन्दोवस्त की सम्पूर्ण अवधि के लिए यह ध्यान में रखकर निश्चित की जाती है कि उस काल की ऋतुएँ और परिस्थितियाँ सामान्य रहेगी, तथापि स्थानीय अथवा व्यापक रूप से फैली हुई असामान्य विपदाएँ आ जाती हैं, जैसे नदियो में वाढ आना, वर्षा का विलकुल न होना अथवा सिंचाई के साधनो का पूर्णत अभाव हो जाना या उपज के बाजार-भावो का वहुत अधिक गिर जाना इत्यादि। यह वात होते हुए भी कि प्रत्येक समय हर तरह की विपत्तियो के वावजूद किसान अच्छी-से-अच्छी फसल उत्पन्न करना चाहता है, ये कारण उसे असहाय वना देते हैं। ऐसी स्थिति में किसान को कुछ सहायता देना अनिवार्य हो जाता है। जिस अनुपात में फसल नष्ट होती है यह सहायता उस अनुपात में दी जाती है तथा यह सहायता मालगुजारी के आशिक अथवा पूर्ण परिहार और निलम्वन के रूप में दी जा सकती है। वाद में होने वाली फसल के अनुसार निलम्बित मालगुजारी या तो जमा करा ली जाती है या उसका परिहार कर दिया जाता है। आशिक अथवा पूर्ण परि-

१ वेडेन पॉवेल, 'लैण्ड रेवेन्यू एण्ड टेन्योर इन ब्रिटिश इण्डिया', पृ० १४८।

हार फसलो के लगातार नष्ट होते रहने पर ही किया जाता है।

१४. बन्दोवस्तों का वर्गीकरण—बन्दोवस्तो की अवधि के हिसाव से उन्हे दो वर्गो में विभाजित किया जा सकता है। जव राज्य का अश स्थायी रूप से सदैव के लिए निश्चित कर दिया जाता है जैसा कि वगाल में होता है, तो उसे स्थायी वन्दोवस्त कहते हैं तथा जहाँ यह अस्थायी रूप से केवल एक निश्चित समय तक के लिए ही निर्धारित किया जाता है, वहाँ उसे अस्थायी वन्दोवस्त कहते हैं। ऐसे अस्थायी वन्दोवस्त ३० साल के लिए वम्बई, मद्रास और उत्तरप्रदेश में, २० साल के लिए मध्यप्रदेश में और ४० साल के लिए पजाव में है।

वन्दोवस्त का वर्गीकरण भू-धृति की प्रणाली के आधार पर भी किया जाता है। भू-धृति के जिन तीन प्रमुख प्रकारो का उल्लेख हम पहले कर चुके है, उसी के अनुसार वन्दोवस्त भी निम्न तीन प्रकार के होते हैं.[1]

(१) एक जमीदार के अन्तर्गत एक ही भू-सम्पत्ति या जागीर का वन्दोवस्त। इसके अन्तर्गत निम्नलिखित भेद हो सकते है

(क) वगाल, उत्तरी मद्रास तथा वनारस में जमीदारो के साथ स्थायी वन्दोवस्त।

(ख) वगाल के शेष जमीदारो[2] के साथ अस्थायी वन्दोवस्त।

(ग) अवध के ताल्लुकेदारो के साथ अस्थायी वन्दोवस्त।

(२) स्वामित्व वाले समुदायो, अधिकाशत: गाँव वालो के समुदायो, की भू-सम्पत्ति का वन्दोवस्त। इन्हे महलवारी वन्दोवस्त कहते है। ऐसे वन्दोवस्तो के निम्नलिखित रूप होते हैं जिन सवका आधार अस्थायी होता है

(क) उत्तरप्रदेश व आगरा और अवध में महलवारी वन्दोवस्त। (यहाँ कोई ताल्लुकेदार नही होते है, केवल गाँव के समुदाय ही होते हैं।)

(ख) पजाव के महलवारी वन्दोवस्त।

(ग) मध्यप्रदेश के मालगुजारी वन्दोवस्त।

(३) वैयक्तिक खेतिहर भूमि के स्वामित्व के वन्दोवस्त। इसके भी भेद अस्थायी रूप के है तथा निम्नलिखित है

(क) मद्रास की रैयतवारी प्रथा।

(ख) वम्बई और वरार की रैयतवारी प्रथा।

(ग) आसाम और कुर्ग की विशेष प्रथाएँ (ये सिद्धान्तत: रैयतवारी ही हैं,

---

१ वन्दोबस्त चाहे जिस प्रकार के हों किन्तु "वे सब निम्नलिखित तीन बातों में आपस में अवश्य मिलते हैं। प्रथम मालगुजारी के निर्धारण के पूर्व नक्शा तथा अधिकारों के लेखे तैयार किये जाते हैं; द्वितीय, भूमि को मिट्टियों के अनुसार बाँट लिया जाता है, तथा तृतीय, मालगुजारी का निर्धारण अब फसल की उपज पर निर्भर नहीं करता वरन् कृषक की वास्तविक सम्पत्ति पर निर्धारित किया जाता है।" सर एडवर्ड ब्लन्ट, 'द आई० सी० एस०' पृ० १३१।

२ एक जमींदारी बन्दोबस्त आवश्यक रूप से स्थायी बन्दोबस्त नहीं होता है, तथा एक रैयतवारी बन्दोबस्त आवश्यक रूप से अस्थायी बन्दोबस्त ही नहीं होता है। अवध में जमींदारी बन्दोबस्त अस्थायी होते हैं। इसी प्रकार रैयतवारी बन्दोबस्तों के स्थायी ढग के होने पर भी कोई रोक नहीं है,- यद्यपि ऐसा कोई उदाहरण नहीं दीख पड़ता।

अथवा जोत की जमीन द्वारा देय रकम होती है। कुछ स्थितियो में इसके अतिरिक्त भी कार्य करना शेष रहता है, जिसके अन्तर्गत इस सम्पूर्ण रकम में से कितना-कितना हिस्सेदारो अथवा काश्तकारो द्वारा देय होगा, यह मालूम करना आवश्यक हो जाता है।[1] विभिन्न राज्यो में मालगुजारी निर्धारित करने के विभिन्न आधारो के सम्बन्ध में अभी विचार किया जायगा।

(३) मालगुजारी की वसूली (क) किश्तें—सरकारी मालगुजारी की सम्पूर्ण रकम एक साथ वसूल नही की जाती, वरन् मालगुजारी देने वालो की सुविधानुसार किश्तो में वसूल की जाती है। उदाहरणार्थ, एक सामान्य जमीदार मालगुजारी की रकम उस समय तक जमा नही कर सकता जब तक कि फसल कट न जाय तथा उत्पाद को बाजार में बेच न दिया जाय। किश्तो की रीति का चलन में आने का दूसरा कारण यह है कि एक ही बार में बहुत अधिक रुपये की माँग को बचाया जा सके, क्योकि इससे कीमतो के गिरने एव ब्याज की दर बहुत अधिक (असुविधाजनक स्तर तक) चढ जाने की सम्भावना रहती है।

(ख) मालगुजारी की बकाया रकम की वसूली का ढग—मालगुजारी की बकाया रकम वसूल करने के सम्बन्ध में स्थायी बन्दोबस्त तथा अस्थायी बन्दोबस्त वाले प्रदेशों में भिन्नता है। स्थायी बन्दोबस्त वाले प्रदेशो में जमीदारी की भेंट के साथ यह कठिन शर्त भी थी कि निश्चित समय पर मालगुजारी अवश्य जमा कर दी जाय अन्यथा जमीदारी का तुरन्त विक्रय कर दिया जायगा। जमीदार की प्रतिष्ठा को दृष्टि में रखकर उसे सजा दिलवाना अथवा चल-सम्पत्ति की कुर्की कराना उचित नही समझा गया। अस्थायी बन्दोबस्त वाले क्षेत्रो में बकाया लगान वसूल करने की विधि इससे कम कठोर है तथा भूमि का विक्रय पहला कदम न होकर सब प्रयत्न कर लेने के पश्चात् अन्तिम उपाय के रूप में ही अपनाया जाता है।

(ग) मालगुजारी या भू-राजस्व का परिहार और निलम्बन—एक बन्दोबस्त के लिए जो मालगुजारी निर्धारित की जाती है, वह उस बन्दोबस्त की सम्पूर्ण अवधि के लिए यह ध्यान में रखकर निश्चित की जाती है कि उस काल की ऋतुएँ और परिस्थितियाँ सामान्य रहेगी, तथापि स्थानीय अथवा व्यापक रूप से फैली हुई असामान्य विपदाएँ आ जाती है, जैसे नदियो में बाढ़ आना, वर्षा का बिलकुल न होना अथवा सिंचाई के साधनो का पूर्णत अभाव हो जाना या उपज के बाजार-भावो का बहुत अधिक गिर जाना इत्यादि। यह बातें होते हुए भी कि प्रत्येक समय हर तरह की विपत्तियो के बावजूद किसान अच्छी-से-अच्छी फसल उत्पन्न करना चाहता है, ये कारण उसे असहाय बना देते है। ऐसी स्थिति में किसान को कुछ सहायता देना अनिवार्य हो जाता है। जिस अनुपात में फसल नष्ट होती है यह सहायता उस अनुपात में दी जाती है तथा यह सहायता मालगुजारी के आंशिक अथवा पूर्ण परिहार और निलम्बन के रूप में [illegible]कती है। बाद में होने वाली फसल के अनुसार निलम्बित मालगुजारी या तो जमा करा ली जाती है या उसका परिहार कर दिया जाता है। आंशिक अथवा पूर्ण परि-

[1] [illegible] ...ोर इन ब्रिटिश इण्डिया', पृ० १४८।

हार फसलो के लगातार नष्ट होते रहने पर ही किया जाता है।

१४. वन्दोवस्तों का वर्गीकरण—वन्दोवस्तो की अवधि के हिसाव से उन्हे दो वर्गो में विभाजित किया जा सकता है। जव राज्य का अश स्थायी रूप से सदैव के लिए निश्चित कर दिया जाता है जैसा कि वगाल में होता है, तो उसे स्थायी वन्दोवस्त कहते हैं तथा जहाँ यह अस्थायी रूप से केवल एक निश्चित समय तक के लिए ही निर्धारित किया जाता है, वहाँ उसे अस्थायी वन्दोवस्त कहते हैं। ऐसे अस्थायी वन्दोवस्त ३० साल के लिए वम्वई, मद्रास और उत्तरप्रदेश में, २० साल के लिए मध्यप्रदेश में और ४० साल के लिए पजाव में है।

वन्दोवस्त का वर्गीकरण भू-धृति की प्रणाली के आधार पर भी किया जाता है। भू-धृति के जिन तीन प्रमुख प्रकारो का उल्लेख हम पहले कर चुके है, उसी के अनुसार वन्दोवस्त भी निम्न तीन प्रकार के होते है[1]

(१) एक जमीदार के अन्तर्गत एक ही भू-सम्पत्ति या जागीर का वन्दोवस्त। इसके अन्तर्गत निम्नलिखित भेद हो सकते है·

(क) वगाल, उत्तरी मद्रास तथा वनारस में जमीदारो के साथ स्थायी वन्दोवस्त।

(ख) वगाल के शेष जमीदारो[2] के साथ अस्थायी बन्दोवस्त।

(ग) अवध के ताल्लुकेदारो के साथ अस्थायी वन्दोवस्त।

(२) स्वामित्व वाले समुदायो, अधिकाशत गाँव वालो के समुदायो, की भू-सम्पत्ति के वन्दोवस्त। इन्हे महलवारी वन्दोवस्त कहते हैं। ऐसे वन्दोवस्तो के निम्नलिखित रूप होते है जिन सवका आधार अस्थायी होता है

(क) उत्तरप्रदेश व आगरा और अवध में महलवारी वन्दोवस्त। (यहाँ कोई ताल्लुकेदार नही होते है, केवल गाँव के समुदाय ही होते है।)

(ख) पजाव के महलवारी वन्दोवस्त।

(ग) मध्यप्रदेश के मालगुजारी वन्दोवस्त।

(३) वैयक्तिक खेतिहर भूमि के स्वामित्व के वन्दोवस्त। इसके भी भेद अस्थायी रूप के है तथा निम्नलिखित है

(क) मद्रास की रैयतवारी प्रथा।

(ख) वम्वई और वरार की रैयतवारी प्रथा।

(ग) आसाम और कुर्ग की विशेप प्रथाएँ (ये सिद्धान्तत रैयतवारी ही हैं,

---

१. वन्दोवस्त चाहे जिस प्रकार के हों किन्तु "वे सव निम्नलिखित तीन वातों में आपस में अवश्य मिलते हैं। प्रथम मालगुजारी के निर्धारण के पूर्व नक्शा तथा अधिकारों के लेखे तैयार किये जाते हैं; द्वितीय, भूमि को मिट्टियों के अनुसार बाँट लिया जाता है, तथा तृतीय, मालगुजारी का निर्धारण अव फसल की उपज पर निर्भर नहीं करता वरन् कृपक की वास्तविक सम्पत्ति पर निर्धारित किया जाता है।" सर एडवर्ड ब्लन्ट, 'द आई० सी० एस०' पृ० १३१।

२ एक जमीदारी वन्दोवस्त आवश्यक रूप से स्थायी वन्दोवस्त नहीं होता है, तथा एक रैयतवारी वन्दोवस्त आवश्यक रूप से अस्थायी वन्दोवस्त ही नहीं होता है। अवध में जमींदारी वन्दोवस्त अस्थायी होते है। इसी प्रकार रैयतवारी वन्दोवस्तों के स्थायी ढग के होने पर भी कोई रोक नहीं है, यद्यपि ऐसा कोई उदाहरण नहीं दीख पड़ता।

किन्तु सरकारी भाषा में ऐसी नही कही जाती।)

प्रत्येक बन्दोबस्त ऊपर दिये तीन वर्गों में से किसी एक प्रकार का होना चाहिए और अवश्य ही उसे या तो स्थायी अथवा अस्थायी होना चाहिए।[1]

१५. जमींदारी बन्दोबस्त बंगाल का स्थायी बन्दोबस्त—हम अब तक यह देख चुके है कि किस प्रकार (मालगुज़ारी जमा करने वाले) राजस्व-कृषि के विकास ने, विशेष रूप से बगाल में पुराने किसानो को दबा दिया और नये भूमि-स्वामियो को जन्म दिया, जो ज़मीदारो के नाम से प्रसिद्ध हुए। हम यह भी देख चुके है कि किस प्रकार मुगल साम्राज्य के पतन होने के कारण अकबर द्वारा प्रतिपादित राजस्व-प्रशासन के अन्त हो जाने से किसान को एक ओर तो ज़मीदारो के नाना प्रकार के अधिक लगानो का शिकार होना पडा तथा दूसरी ओर राज्यीय शासको द्वारा भूमि पर लगाए असख्य अतिरिक्त-कर देने पडते थे। जो कुछ व्यवस्था शेष रह गई थी, वह सन् १७६५ में दीवानी के अधिकार दे दिये जाने के उपरान्त कम्पनी के शासन-काल के प्रारम्भिक वर्षों में और बिगड गई। लॉर्ड क्लाइव की दोहरी शासन-प्रणाली के अन्तर्गत तो स्थिति अत्यधिक शोचनीय हो गई। अब न तो नवाब के लगान वसूल करने वाले राज्य-कर्मचारी ही सुशासन बनाए रखने का अपना उत्तरदायित्व अनुभव करते थे, और न ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा नियुक्त कर्मचारी ही देश में अच्छी शासन-व्यवस्था स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील थे। फलस्वरूप जनता का इन दोनो द्वारा दमन किया जाता था, किन्तु इनमें से जनता की रक्षा कोई भी न करता था। सन् १७६९ में नियुक्त किये गए राजस्व-पर्यवेक्षक भी ज़मीदारो द्वारा किसान की लूट को रोकने में असमर्थ ही रहे, क्योकि एक तो वे कम उम्र के अनुभवहीन कर्मचारी थे, दूसरे इस सम्बन्ध में प्रत्येक आवश्यक सूचना केवल ज़मीदारो और कानूनगो तक ही सीमित थी और वे कोई भी सूचना देना नहीं चाहते थे। सन् १७७० में जो भयकर अकाल पडा उससे किसानो की कठिनाई में और वृद्धि ही हुई। सन् १७७२ में कम्पनी की सचालक-सभा ने दीवान का कार्य स्वय करने का निश्चय किया तथा वारेन हेस्टिग्ज़ को राजस्व-शासन प्रत्यक्ष रूप से चलाने का आदेश दिया। उसने कलक्टरो की नियुक्ति करके मालगुज़ारी वसूल करने की स्थिति को कुछ सँभाला। बाद में उसने माल-सम्बन्धी परगना, राज्यीय तथा केन्द्रीय बोर्ड भी स्थापित किये, परन्तु मालगुज़ारी निर्धारित करने की पद्धति में परिवर्तन करने का बहुत बुरा प्रभाव हुआ। पहले पाँच साल के लिए तथा फिर प्रति वर्ष लगान वसूल करने के लिए पट्टो की जनता में नीलामी की जाने लगी तथा जो सबसे ऊँची बोली बोलता था उसे ही लगान वसूल करने के सम्बन्ध में पट्टे दिये जाने लगे। इससे ज़मीदार को तो अलग किया जाने लगा किन्तु पूँजीपतियो एव सट्टेबाजो-

---

१ सन् १९२८-२९ में रैयतवारी प्रथा के अन्तर्गत खेतिहर भूमि का क्षेत्रफल ३३४,५९८,००० अथवा सम्पूर्ण क्षेत्रफल का ५१% था स्थायी रूप से जमीदारा अथवा गाँव की जातियों के अन्तर्गत १२१,०१७,७०० अथवा सम्पूर्ण क्षेत्रफल का १९% था, तथा जमीदारी एव गाव की जातियों की अस्थायी रूप से निर्धारित खेतिहर भूमि का क्षेत्रफल १९८,६०२,००० अथवा सम्पूर्ण क्षेत्रफल का ३०% था।—इण्डिया इन १९३०-३५, पृ० १६६।

को बढावा मिला, जो किसानो पर अत्यधिक लगान तथा अन्य नाना प्रकार के अवैध अतिरिक्त भूमि-कर लगाकर उनसे भरसक धन खीचने की चेष्टा करते थे। लगान वसूल करने की इस नई पद्धति का मूल कारण सम्भवत. यही था कि अब तक ईस्ट-इण्डिया कम्पनी की आर्थिक अवस्था बहुत बिगड चुकी थी, किन्तु कम्पनी के सचालक-गण कम्पनी के अशधारियो को बहुत ऊँचे लाभाश देने के लिए चिन्तातुर थे। इस प्रकार की बिगडी हुई परिस्थिति में सुधार करने तथा बगाल के कृषको की कठिनाइयो को कम करने के मुख्य उद्देश्यो से प्रेरित होकर सन् १७८६ मे लार्ड कार्नवालिस भारत आये।

लार्ड कार्नवालिस के शासन का सबसे महत्त्वपूर्ण कदम बगाल का स्थायी बन्दोबस्त है। राज्य का अश स्थायी रूप से सदैव के लिए निश्चित कर दिया जाय, यह विचार सबसे पहले फ्रान्सिस के मस्तिष्क में आया था। बाद में इसे फॉक्स ने अपने 'भारत विधेयक' मे स्थान दिया। सन् १७८५ में सचालक-सभा ने इसके लिए भारत के शासन-प्रबन्ध-कर्ताओ को सिफारिश की। किन्तु अन्त में लार्ड कार्नवालिस ने ही सर जॉन शोर की सहायता से बगाल में स्थायी बन्दोबस्त की नीति को कार्य-रूप में परिणत किया। तीन वर्ष की जाँच के पश्चात् जमीदारो के साथ एक निर्णय किया गया, जिसके अन्तर्गत जितने क्षेत्रफल का वे लगान वसूल करते थे उस क्षेत्रफल का उन्हे पूर्ण स्वामी घोषित किया गया, जिससे जमीदारो की स्थिति वैध हो सके और वे सरकार के प्रति अपने दायित्व को भली प्रकार से निभा सकें। ऐसा करने का एक अन्य उद्देश्य यह भी था कि जमीदार इससे अपनी भू-सम्पत्ति में दिलचस्पी लेने लगेंगे। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि जमीदारो को यह अधिकार केवल इसी शर्त पर दिया गया था कि वे सरकार को सदैव मालगुज़ारी देते रहेगे तथा यदि कभी उन्होने मालगुजारी जमा न की तो उनकी भू-सम्पत्ति को बेचा जा सकेगा। इस सम्बन्ध मे अतिवृष्टि अथवा अनावृष्टि के कारण फसल न होने और मालगुज़ारी जमा न किये जाने का बहाना नही सुना जायगा। इसके साथ ही सरकार ने "अधीनस्थ ताल्लुकेदार, रैयत एव कृषको की भलाई और उनकी रक्षा के लिए आवश्यक उपायो को क्रियान्वित करने का अधिकार भी अपने पास सुरक्षित रखा।" मालगुज़ारी का निर्धारण इस प्रकार किया गया कि जमीदार किसानो से जो लगान वसूल करेंगे उसका $\frac{10}{11}$ भाग सरकार का अश होगा तथा शेष $\frac{1}{11}$वाँ भाग वे अपने दायित्व तथा अन्य परेशानियो के एवज में रख लेंगे। मालगुजारी की रकम भूमि का सर्वेक्षण किये बिना, भूमिगत अधिकारो एव स्वार्थो के लेखो को देखे बिना तथा विभिन्न प्रकार की मिट्टियो की उत्पादन-क्षमता पर विचार किये बिना ही तुरन्त निश्चित कर दी गई। सन् १७९३ में सचालक-सभा की सलाह से यह बन्दोबस्त सदैव के लिए स्थायी घोषित कर दिया गया। साथ ही यह भी घोषित किया गया कि मालगुजारी की निर्धारित रकम में भी कभी कोई परिवर्तन न किया जा सकेगा तथा सरकार ने स्पष्ट शब्दो में यह आश्वासन दिया कि जमीदारो से अथवा उनके उत्तराधिकारियो से कभी भी मालगुजारी की निर्धारित रकम में वृद्धि करने के लिए नही कहा जायगा। चाहे वे अपनी भू-सम्पत्ति की

कितनी भी उन्नति कर लें।[1] ईस्ट इण्डिया कम्पनी का मुख्य उद्देश्य यह था कि सरकारी मालगुजारी नियत समय पर अवश्य जमा हो जाय। इसके लिए खेती का विकास अत्यन्त आवश्यक था तथा सचालको की राय में यह उसी समय सम्भव था जब कि स्थायी बन्दोबस्त कर दिया जाय। यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि यद्यपि जमीदारो के अधिकारो को स्वीकार करने में सर जॉन शोर लार्ड कार्नवालिस से सहमत थे, तथापि वे बन्दोबस्त को सदैव के लिए स्थायी घोषित करने से पूर्व अब तक चले आ रहे दस-वर्षीय बन्दोबस्त के समाप्त होने तक प्रतीक्षा करने के पक्ष में थे।

१६ बंगाल में सन् १७९३ के जमींदारी बन्दोबस्त की आलोचना—उक्त बन्दोबस्त की अनेक प्रकार से आलोचना की जा सकती है। प्रथम, कोई भी बन्दोबस्त करने से पूर्व जो आवश्यक प्रारम्भिक क्रियाएँ की जानी चाहिएँ, जैसे भूमि का विस्तृत सर्वेक्षण, मिट्टी के अनुसार भूमि का विभाजन, भूमिगत अधिकारो के लेखे तैयार करना इत्यादि, यह सब-कुछ नही किया गया। दूसरे, इस डर से कि कही जमीदारो में अविश्वास न उत्पन्न हो जाय, उनकी जागीरो के आन्तरिक हितो एव स्वार्थों की विवेचना नही की गई। रैयतो के विषय में यह आशा की गई कि जमीदार उनसे आपस में समझौता कर लेंगे तथा जमीदार उनके अधिकारो की रक्षा करेंगे। फिर भी जैसा कि बैडेन-पॉवेल ने कहा है, "भूमि के सर्वेक्षण के बिना तथा भूमिगत अधिकारो एव हितो को देखे बिना ही स्थायी बन्दोबस्त करना अन्य बातो की अपेक्षा कही अधिक प्रतिकूल प्रभावों से पूर्ण सिद्ध हुआ है।"[2]

स्थायी बन्दोबस्त का दूसरा बडा दोष यह था कि इसमें रैयतो के अधिकारो एव हितो की रक्षा करने की कोई व्यवस्था नही की गई। इन पर दो प्रकार के अन्याय हुए। एक तो इनसे भू-स्वामित्व के अधिकार छीन लिये गए और दूसरे, इन्हें पूर्ण रूप से केवल जमीदारो की ही दया पर छोड दिया गया जिन्होने इन पर नाना प्रकार से अधिक लगान लगाना आरम्भ कर दिया।[3] यह समझना एक भूल ही थी कि देश में प्रचलित रीति-व्यवहारो ने भूमि से सम्बन्धित पक्षो के अधिकारो को सुनिश्चित कर दिया था तथा उनके आधार पर अदालतें सम्बद्ध पक्षों के भूमिगत हितो एव वैय-क्तिक अधिकारो की रक्षा कर सकेंगी। यद्यपि ऐसा एक सामान्य नियम था कि रैयतो को भी पट्टे दिये जायें, जिसमें प्रत्येक रैयत का क्षेत्र दर्ज हो और उन सब शर्तों तथा

१ टैक्सेशन इन्क्वायरी कमिटी रिपोर्ट, पैरा ५५। लैण्ड रेवेन्यू कमीशन, बगाल, रिपोर्ट, खण्ड १, पैरा ४४ भी देखिए।

२ 'लैंड सिस्टम्स ऑफ ब्रिटिश इण्डिया', खण्ड १, पृ० २८९।

३ स्थायी बन्दोबस्त के दो दोष थे "पहला यह कि, गांवों में खेतिहर भूमि पर स्वामित्व अथवा अधिकार सम्बन्धी किसानों के सब अधिकार समाप्त कर भूमि पर केवल जमीदार का ही स्थायी आधि-पत्य स्वीकार किया गया, और दूसरे, सब किसानों के लिए एक ऐसा अधिनियम पास कर दिया गया जिसके अन्तर्गत समस्त किसानों को जमींदार से ऐसे समझौते के लिए छोड दिया गया जिसमें उन्हें वे सब बातें स्वीकार करनी पड़ीं जिन्हें जमीदार ने चाहा।" सर जे० ई० कोलब्रुक (इसे मॉरीसन ने अपनी 'द इण्डस्ट्रियल आर्गनाइजेशन ऑफ ऐन इण्डियन प्रॉविन्स' नामक पुस्तक में पृष्ठ २७ पर उद्धृत किया है।)

स्थितियो का उल्लेख हो जिन पर उस रैयत को खेतिहर भूमि ठेके पर दी जा रही है, किन्तु अमल में ऐसा नही किया जाता था, क्योकि पहले तो पट्टो को न्यायालय में प्रस्तुत किये जा सकने की दृष्टि से उनका कोई मूल्य न था। दूसरे, पट्टा लिखवाने के लिए किसान भी राजी नही थे। उन्होने इसमे अपनी दो हानियाँ देखी। एक यह कि ऐसा करने से उनकी अधीनस्थ स्थिति प्रमाणित हो जाती, तथा दूसरी यह कि उन्हे फिर पट्टे में लिखी सारी बातो एव स्थितियो को स्वीकार करना पडता जिन्हे वस्तुत वे स्वय भली प्रकार से नही समझते थे। यह भी स्वीकार करना ही पडेगा कि तत्कालीन भूमि को बेचे जा सकने की छूट देने वाले नियम के अन्तर्गत किसानो से जिस कडाई के साथ बहुत अधिक लगान वसूल कर लिया जाता था, यह भी उनकी दु खमय अवस्था का एक बहुत बडा कारण था। जब भी किसान वायदे के अनुसार मालगुजारी नही चुकाते थे उनकी जमीन तुरन्त ही नीलाम कर दी जाती थी। ऐसा इसलिए आवश्यक समझा गया कि सरकार जिस प्रकार वायदे के अनुसार नियत समय पर जमीदार से सदैव मालगुजारी जमा करा लेना चाहती थी उसी भाँति ज़मीदार भी अपने आसामियो से लगान वसूल कर सके और इसमें जमीदार की कुछ सहायता करना भी आवश्यक समझा गया। सन् १७९९ के विनियम ७ के अन्तर्गत ज़मीदार को कुर्की करा लेने से सम्बन्धित व्यापक एव मनमाने अधिकार प्रदान किये गए। यही नही, अनेक स्थितियो में राज्य का अश न देने के कारण स्वय ज़मीदार को अपनी भू-सम्पत्ति का वास्तव में विक्रय करना पडता था। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक था कि ज़मीदारो के उत्तराधिकारी भूमि का क्रय करने के पूर्व उससे सम्बन्धित अपने अधिकारो की स्पष्ट रूप से व्याख्या कराने के लिए ज़िद करते। स्पष्ट ही इसका अर्थ यह था कि किसानो के अधिकारो को पूर्ण रूप से कुचल दिया जाय तथा उसे नये स्वामी की अधिकाधिक एव बलपूर्वक वसूल किये जाने योग्य माँगो के अधीन बना दिया जाय। आसामी की यह अत्यधिक शोचनीय एव अन्यायपूर्ण स्थिति लगभग ७५ वर्ष, सन् १८५९ और १८८५ के काश्तकारी नियम बनने तक, रही।[1]

प्राय. यह दृढतापूर्वक कहा जाता है कि लार्ड कार्नवालिस स्वय एक अग्रेज जमीदार था अत वह अपने अभिजात पूर्व ग्रहो को लेकर भारतवर्ष में भी इगलैण्ड की तरह ज़मीदारो का एक नया अभिजात वर्ग बनाना चाहता था, यद्यपि इन दोनो देशो की स्थितियो में बहुत अधिक अन्तर था। वास्तव में यह तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि स्थायी बन्दोबस्त कम्पनी के मध्यमवर्गीय कर्मचारियो की देन थी। हाँ, हो सकता है, स्वय एक अभिजात अग्रेज परिवार का व्यक्ति होने के नाते लार्ड कार्नवालिस ने इस नीति को, जिससे उसका नाम सम्बन्धित हो गया है, तुरन्त ही अपना लिया हो जिसे अन्यथा वह इतनी प्रसन्नता एव शीघ्रता से स्वीकार न करता। यह तो निश्चित रूप से असत्य है कि केवल कार्नवालिस ही स्थायी बन्दोबस्त का जन्मदाता और सबसे बडा समर्थक था। यही नही, इसके अतिरिक्त यह भी उल्लेखनीय है कि जिस

१ सन् १७९३ से १८५९ तक के समय के लिए बगाल लैण्ड रेवेन्यू कमीशन, खण्ड १, पैरा ४९ देखिए।

समय लार्ड कार्नवालिस के हाथ में सत्ता आई, उस समय तक ये जमीदार अपनी स्थिति इतनी अधिक सुदृढ बना चुके थे कि उनकी उपेक्षा करना तथा पिछली एक शताब्दी की घटनाओ को भुलाकर नये सिरे से इस समस्या का विश्लेषण करना असम्भव हो चुका था और जमीदारो के अतिरिक्त भूमि का वास्तव में, मौलिक रूप से, स्वामी कौन था—क्योकि जमीदार तो केवल मालगुजारी जमा करने वाले कृषक-मात्र ही थे। इस प्रकार अब तक जो कुछ किया जा चुका था उसको लार्ड कार्नवालिस ने निष्ठुर तथ्यो के परिणाम के रूप में स्वीकार कर लिया। यहाँ इस बात को भी याद रखना चाहिए कि उस समय बगाल की कृषि कुछ तो दीवानी के बाद की लगान-सम्बन्धी सर्वदा बदलने वाली नीति के कारण तथा सन् १७७० के भयकर अकाल के कारण जिस प्रकार की हीन अवस्था को प्राप्त हो चुकी थी, उसका शीघ्र हल निकालना अत्यन्त आवश्यक था। अत इसके पक्ष में बडे प्रबल कारण थे कि किसी-न-किसी तरह का जमीदारी बन्दोबस्त होना ही चाहिए। नक्शो एव प्रत्येक व्यक्ति की खेतिहर भूमि के क्षेत्रफल एव लगान के सम्बन्ध में विश्वसनीय लेखो के अभाव में रैयतवारी बन्दोबस्त करना असम्भव था। सडको तथा सचार-साधनो की कमी तथा किसानो से प्रत्यक्ष रूप से लगान वसूल कर सकने योग्य शिक्षित कर्मचारियो के अभाव में यह आवश्यक हो गया कि कोई ऐसी सस्था अवश्य होनी चाहिए जो ठेके पर अथवा कमीशन पर मालगुजारी वसूल कर ले।[1] ऐसी स्थितियो में यही उचित समझा गया कि जमीदारो को ही भू-स्वामी मान लिया जाय, क्योकि वे ही मालगुजारी वसूल करने का व्यवस्थित माध्यम प्रस्तुत करते थे तथा उन्ही को स्वीकार करने में कृषि के पुनरुद्धार के कुछ आसार दृष्टिगत होते थे।

बङ्गाल के बन्दोबस्त का तीसरा तथा सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष निर्धारण की चिरन्तनता का प्रश्न है, किन्तु यह केवल बङ्गाल तक ही सीमित न होकर अन्य क्षेत्रो के लिए भी महत्त्व का है। अत इसके सम्बन्ध में विशेष अध्ययन बाद में किया जायगा। (आगे सेक्शन ३१-३२ देखिए।)

१७ बनारस तथा मद्रास में स्थायी बन्दोबस्त—बनारस में अग्रेज बङ्गाल का ही नमूना अपनाना चाहते थे, किन्तु वस्तुत वे यहाँ की विशिष्ट सयुक्त भू-धृति पद्धति से अपरिचित थे, अत उन्होने जमीदारी गाँवो की स्थिति को बिलकुल भुला दिया—जिनमें एक सबल जातीय भावना से युक्त व्यक्ति निवास करते थे। उन्होने किसी एक मुख्य हिस्सेदार अथवा किसी अन्य प्रमुख व्यक्ति के साथ ही स्थायी बन्दोबस्त (सन् १७९५ में) पूर्ण कर लिया। मद्रास में मैसूर तथा कर्नाटक के जिले मिलने तक किसी निश्चित योजना का पालन नही किया गया। इसके पश्चात पूरी प्रेसीडेन्सी में स्थायी बन्दोबस्त करने का प्रयत्न किया गया, यद्यपि रैयतवारी के आधार पर बन्दोबस्त प्रारम्भ कर दिया गया था। यहाँ कौनसी पद्धति अपनाई जाय, इस सम्बन्ध में काफी मतभेद रहा, किन्तु सचालक-सभा ने बङ्गाल में स्थायी बन्दोबस्त के अन्तर्गत मालगुजारी के नियत समय पर जमा किये जाने से बहुत प्रभावित होकर मद्रास सरकार को यह आदेश दिया कि वह जमीदारो के साथ स्थायी रूप से बन्दोबस्त कर ले। उत्तरी मद्रास में तथा

१ देखिए, लैण्ड रेवेन्यू कमीशन, बगाल, रिपोर्ट खण्ड १, पैरा ४५।

दक्षिणी मद्रास के कुछ भागो में जमीदारो का अस्तित्व था। ये लोग अधिकतर भूतपूर्व राजाओ—शासको—के उत्तराधिकारी थे। अत इनके साथ वन्दोवस्त करने में कोई कठिनाई नही हुई। दक्षिणी मद्रास में इनमें से कुछ ही जमीदारो को, जिन्हे पोलीगार कहा जाता था, स्वीकृत किया गया तथा शेष से उनके स्वामित्व के अधिकार दण्ड-स्वरूप छीन लिये गए, क्योकि इन्होने ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना का विरोध किया था। इस प्रेसीडेन्सी के अधिकांश भाग में रैयतवारी गाँव थे, जहाँ इस प्रकार के मध्यस्थ थे ही नही तथा सचालक-सभा के आदेशानुसार इनके स्थान पर साहसी ठेकेदारो की खोज की गई। गाँवो को कृत्रिम जिलो के रूप में अथवा अन्य गाँवो के समूह के रूप में एकत्र किया गया तथा सबसे ऊँची बोली बोलने वालो के हाथ उन्हे नीलाम कर दिया गया। ये इस सम्पूर्ण भू-सम्पत्ति के जमीदार बन जाते थे। किन्तु यह प्रयोग बुरी तरह से असफल रहा और होना भी यह चाहिए था। जैसा कि बैडेन पावेल ने कहा है, "जब वास्तविक जमीदार ही, जिसका स्वाभाविक विकास १५० वर्षो में हुआ था, इतना बुरा था तब ऐसे नीलाम खरीदकर बनने वाले जमीदार के विषय में क्या कहा जा सकता था? यह पद्धति पूर्णत असफल ही रही।"[१] अत इस प्रयोग को सदैव के लिए छोड दिया गया तथा मनरो द्वारा विकसित एव दृढतापूर्वक समर्थित—चाहे उसकी उद्भावना किसी के भी द्वारा हुई हो—रैयतवारी पद्धति को अपनाया गया। किन्तु रैयतवारी पद्धति को भली प्रकार अपनाने से पूर्व ही मद्रास प्रेसीडेन्सी का लगभग २० प्रतिशत से ३३ प्रतिशत के बीच का भाग स्थायी वन्दोवस्त के अन्तर्गत आ चुका था। मद्रास में जमीदारी जागीरो के लिए काश्तकारी विधानो की प्रगति का विवरण पहले ही दिया जा चुका है।

१८. स्थायी बन्दोबस्त का बाद का इतिहास —(क) कम्पनी के अधीन—कम्पनी के शासन के दिनो में वैल्जली, मिण्टो, हेस्टिंग्ज, वैंटिक तथा मनरो, इन सबने भारत के शेष भागो में स्थायी वन्दोवस्त का विस्तार करने का दृढता से समर्थन किया। उनका विश्वास था कि बगाल के उदाहरण को देखते हुए—जो पुनर्जीवित हो चला था—यह पूर्ण रूप से आशा थी कि इससे कृषि के शीघ्र विकास की सम्भावनाएँ अवश्य दृष्टिगत होगी। फिर भी सन् १८२० में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के सचालको ने ऐसे प्रस्तावो को अस्वीकृत कर दिया, यद्यपि देश के सब भागो में इस आशय की प्रतिज्ञाएँ घोषणा द्वारा तथा अनेक प्रकार की आशाएँ दिलाकर की गई थी।[२]

(ख) सम्राट् के अधीन—कम्पनी के समाप्त कर दिये जाने के उपरान्त लार्ड कैनिंग ने कर्नल बेअर्ड स्मिथ की सिफारिश पर इस प्रश्न को पुन उठाया। सन् १८६० में उडीसा में एक भयकर अकाल पडा था जिसके कारणो की जाँच करने तथा ऐसे सकटो

१ लेण्ड सिस्टम्स ऑफ ब्रिटिश इण्डिया, खण्ड १, पृ० २६२।

२ जैसा कि रानाडे ने कहा था "कैप्टेन विन्गेट और उसके साथी जो बम्बई सर्वेक्षण के अग्रसर थे, सदैव स्थायी वन्दोबस्त को अपनी भू-सम्बन्धी नीति का उत्कृष्ट नमूना मानते थे तथा समय-समय पर होने वाले वन्दोवस्तों को तो केवल स्थायी बन्दोवस्त की तैयारी अथवा बीच-बीच में वन्दोवस्त का प्रारम्भ मानते थे।"—रिपोर्ट ऑफ द लैण्ड रेवेन्यू एसेसमेण्ट कमिटी (१६२६), पृ० ७२।

के निवारण के लिए सुझाव प्रस्तुत करने के उद्देश्य से कर्नल वेअर्ड स्मिथ की नियुक्ति की गई थी। सर चार्ल्स वुड इनकी कुछ सिफारिशो से सहमत थे, किन्तु इन पर कोई कार्यवाही न कर सके। सर स्टैफर्ड नॉर्थकोट ने, जो उनके पश्चात् भारत-सचिव हुए, सन् १८६७ में कुछ शर्तों के साथ स्थायी वन्दोवस्त करने के लिए कहा। ये शर्ते इस प्रकार थी जहाँ कृषि योग्य भूमि के ८० प्रतिशत भाग पर खेती की जाती थी तथा ऐसी कोई सम्भावना न थी कि नहर द्वारा सिंचाई इत्यादि करके उपज को २० प्रतिशत से अधिक बढाया जा सके, वहाँ राज्य का अश सदैव के लिए स्थिर कर दिया जाय। इन शर्तों का व्यवहार में अर्थ यह था कि स्थायी वन्दोवस्त उस समय तक के लिए स्थगित किया जाय जब तक कि भूमि के मूल्य में किसी भी प्रकार की उन्नति होने की सम्भावनाएँ रहे। सन् १८८३ में भारत-सचिव लार्ड किम्बरले ने अन्तिम रूप से इस प्रस्ताव को ठुकरा दिया—मुख्यत इस आधार पर कि देश अभी अविकसित ही है। उस समय से इस सम्बन्ध में सरकार का रुख कुछ ऐसा रहा कि स्थायी वन्दोवस्त का प्रश्न सदैव के लिए समाप्त मान लिया जाय। परन्तु फिर भी यदा-कदा स्थायी अथवा अस्थायी वन्दोवस्त सम्बन्धी पुराने वादविवाद की प्रतिध्वनि सुनने को मिलती रही। हाल ही के वर्षो में बगाल भू-राजस्व आयोग ने प्रस्ताव रखा कि बगाल की जमीदारी की स्थायी वन्दोवस्त वाली व्यवस्था को समाप्त कर दिया जाय तथा उसके स्थान पर जमीदारियो को राज्य द्वारा खरीद लिया जाय। इस प्रस्ताव पर जो मतभेद रहे उनका विवरण आगे सेक्शन ३२ में देखिए।

१६ बंगाल के शेष ज़मींदारों तथा अवध के ताल्लुकेदारों के साथ अस्थायी वन्दोबस्त—बगाल के उन भागो में जहाँ किन्ही कारणो से स्थायी वन्दोवस्त नही किया जा सका वहाँ अस्थायी वन्दोवस्त किये गए, जिनके अन्तर्गत लगभग ७० प्रतिशत सम्पत्ति (मालगुजारी के रूप में) सरकार द्वारा ले ली जाती है तथा शेष ३० प्रतिशत खेतिहर भूमि के अधिकारियो—जो मध्यमवर्गीय होते है—को छोड दी जाती है। जहाँ तक मालगुजारी के निर्धारण का प्रश्न है, बगाल में जो पद्धति अपनाई जाती है वह ठीक वैसी ही है जो आगरा में प्रयुक्त की जाती है। इसका वर्णन आगे किया गया है।

ताल्लुकेदारी के अगभूत गाँव इतने महत्त्वपूर्ण है कि वास्तव में अवध के वन्दोबस्त को सयुक्त गाँव वन्दोवस्त पद्धति का ही सुधरा हुआ रूप माना जा सकता है, जिसका विवरण हम आगे दे रहे है।

२० महलवारी वन्दोवस्त—आगरा क्षेत्र में अस्थायी वन्दोवस्त का जो रूप विकसित हुआ वह बिलकुल उन राज्यों जैसा है जहाँ अधिकतर जमीदारी के अधिकारो से युक्त ग्रामीण समुदायों से व्यवहार किया जाता है। पहले यह प्रयत्न किया गया कि मालगुजारी जमा करने वाले कृषक अथवा किसी अन्य ख्याति-प्राप्त व्यक्ति के साथ स्थायी रूप से वन्दोवस्त कर दिया जाय, किन्तु गृह-विभाग के अधिकारी तो स्थायी वन्दोवस्त जैसी किसी व्यवस्था की बात सुनना ही नही चाहते थे। इसके अतिरिक्त सन् १८१६ में हॉल्ट मैकेन्जी ने, जो कि एक जांच आयोग के सचिव थे, गाँवो पर स्वामित्व वाली सस्थाओ के अस्तित्व की ओर ध्यान दिलाया और कहा कि उनकी तो प्रतिष्ठा करनी ही

होगी तथा ऐसी अवस्था में बगाल में वैयक्तिक जमीदारो का-सा स्वरूप यहाँ न चल सकेगा और एक पूर्ण सर्वेक्षण तथा समस्त भूमिगत अधिकारो का लेखा अत्यन्त आवश्यक है। अत एक सामान्य उपाय के रूप में स्थायी बन्दोबस्त की कल्पना भी नही की जा सकती।

उडीसा में बन्दोबस्त करने का प्रश्न भी इसी समय उपस्थित हुआ तथा उत्तरी पश्चिमी प्रान्त (जिसे आगरा व अवध का सयुक्त प्रान्त कहा जाने लगा) में इस समय जाँच की ही जा रही थी। इन दोनो राज्यो की स्थितियो को ध्यान में रखते हुए सन् १८८२ का ७वाँ विनियम पास किया गया। यह विनियम तथा इसमें बाद में किये गए सशोधन ही जमीदारो तथा गाँव-समुदायो के साथ किये गए अस्थायी बन्दोबस्तो के मुख्य आधार हैं।

आगरा में केवल कुछ व्यक्तिगत जमीदारो तथा ताल्लुकेदारो को छोडकर अधिकाश दशाओ में गाँव-समुदायो के ऊपर कोई व्यक्ति न था। अत इनसे सयुक्त रूप से ही समझौते किये गए, यद्यपि इनमें से कोई एक प्रतिष्ठित हिस्सेदार साधारणत. चुन लिया जाता था जिसे मालगुजारी जमा करने का काम सौप दिया जाता था तथा वह शेप हिस्सेदारों की ओर से समझौते पर हस्ताक्षर कर देता था। यह उल्लेखनीय है कि मालगुजारी के निर्धारण के सम्बन्ध में सभी हिस्सेदार सयुक्त एव वैयक्तिक रूप से उत्तरदायी होते थे। आगरा के ताल्लुकेदारो के सामन्तो जैसे अधिकार भी अवध के ताल्लुकेदारो के स्वामित्व के अधिकारो के समक्ष हीन थे, अत उनकी माँग को इस प्रकार पूरा किया गया कि उनके अधीनस्थ गाँव-समुदाय से जितनी आवश्यक हो उतनी अधिक मालगुजारी जमा करने के लिए कहा गया तथा ताल्लुकेदारी के भत्ते के रूप में उन्हें मालगुजारी का १० प्रतिशत सरकारी खजाने से सीधा दे दिया जाता था। आगरा के गाँव-समुदाय से जो बन्दोबस्त किया गया उसके सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि गाँव का कोई भाग अथवा कोई विशेष हिस्सेदार, जो एक निश्चित सीमा से ऊपर का हो, पूर्ण बँटवारा करा सकता है तथा मालगुजारी जमा करने के सयुक्त दायित्व के स्थान पर स्वतन्त्र एव व्यक्तिगत दायित्व ले सकता है। बन्दोबस्त का कार्य अशत अदालती होता है तथा अशत. राज-वित्त से सम्बन्धित। भूमि पर जिसका अधिकार है, उससे सम्बन्धित लेखे एव उन अधिकारो का निर्धारण करना अदालती कार्य है तथा आसामियो पर लगान का निर्धारित किया जाना राज-वित्त से सम्बन्धित है। बन्दोबस्त करते समय सामान्य प्रकार से पहले भूमि की सीमाएँ निर्धारित कर दी जाती है, भूमि का सर्वेक्षण किया जाता है, खेतिहर ठेके की भूमि के स्वामित्व एव उससे सम्बन्धित अधिकारो का ज्ञान किया जाता है तथा अन्त में मालगुजारी का निर्धारण किया जाता है।

२१. महलवारी पद्धति में मालगुज़ारी निर्धारित करने के सिद्धान्त—अभी हम मालगुजारी निर्धारित करने के सम्बन्ध में जिन सिद्धान्तो का वर्णन करेंगे उनके विपय में यह जान लेना चाहिए कि वे सब प्रकार की महलवारी पद्धतियो पर लागू होते हैं। अनेक प्रकार की विधियो, जैसे कुल उत्पाद का मूल्याङ्कन किया जाना इत्यादि का

प्रयोग करने के उपरान्त मालगुजारी निर्धारित करने के उद्देश्य से सरकार ने निम्न-लिखित प्रणाली अपनाई। लगान के हिसाब से भूमि का जो वास्तविक मूल्य होता है उसे प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से मालगुजारी के निर्धारण का आधार बनाया जाता है। जागीर की परिसम्पत्ति का एक अश जो वर्ष-भर में प्राप्त हो, उसे मालगुजारी कहा जा सकता है। यह अश समय-समय पर बदलता रहा है। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के समय में प्रारम्भ में यह अश बहुत अधिक, यहाँ तक कि ८० प्रतिशत से भी अधिक, था।[1] लार्ड विलियम बेंटिक ने सन् १८३३ में इसे घटाकर ६६ प्रतिशत कर दिया। सन् १८५५ के सहारनपुर नियमो के अन्तर्गत इसे और घटाकर ५० प्रतिशत कर दिया गया और सरकारी कर्मचारियो द्वारा यह दृढतापूर्वक कहा जाता है कि वर्तमान काल में यह अश अधिकाश स्थितियो में ५० प्रतिशत से भी कम वसूल हुआ है (आगे सेक्शन ४३ देखिए।)

परिसम्पत्ति में मुख्यत निम्न की गिनती की जाती है (१) कुल लगान जो वास्तव में वसूल किया गया हो। आगरा में मुख्यत यही मालगुजारी निर्धारित करने का मुख्य आधार होता है, (२) जिन कृषि-जमीनों पर स्वामियो का स्वय अधिकार होता है अथवा जिन्हें वे बिना कोई लगान वसूल किये उठा देते हैं, उन जमीनो का लगान के आधार पर अनुमान से मूल्याङ्कन कर लिया जाता है, तथा (३) कुछ अन्य साधारण लाभ, जैसे उपयोगी किन्तु बेकार पडी भूमि, जानवरो के चराने, फलादि और जगली उपज से होने वाली आय इत्यादि। इन तीनो में से पहले दो जो रियासत का लगान के अनुसार मूल्याङ्कन निश्चित करते हैं, मुख्य तत्त्व हैं।

आगरा, अवध, पजाब तथा मध्यप्रदेश में प्रयुक्त विभिन्न महलवारी पद्धति वाले क्षेत्रो में मालगुजारी निर्धारित करने के ये सामान्य सिद्धान्त हैं, यद्यपि विभिन्न प्रान्तो में अपनाई जाने वाली रीति के विस्तार में कुछ अन्तर होना स्वाभाविक ही है। बन्दोबस्त के समय, जो वास्तविक लगान अदा किये जाने योग्य होता है वह आगरा वाली विधि के अनुसार ही निर्धारित किया जाता है। मध्यप्रदेश में इस उद्देश्य से कि लगान का प्रभाव उन पर पूर्णत समान रूप से पड सके, एक विशिष्ट प्रणाली अपनाई जाती है जिसका वर्णन बाद में किया जायगा। पजाब में क्योकि अधिकाश भूमि स्वय स्वामियो के अधिकार में रहती है अथवा आसामी लोग उपज के रूप में लगान अदा करते है, अत: भूमि का लगान के आधार पर नकद रुपयो के रूप में मूल्याकन करने वाली विधि नही अपनाई जा सकती। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक हो जाता है कि कतिपय नमूने की भूमि छाँटकर उन पर नकद रुपयो में दिये जाने योग्य लगान की रकम मालूम कर ली जाय तथा इनके आधार पर गाँव की समस्त जमीनों का लगान मालूम कर लिया जाय।

---

[1] उदाहरणार्थ उडीसा में सन् १८०२ में अधिकृत रूप से सम्पत्ति का ८३ ३ प्रतिशत घोषित किया गया। सन् १८४० में यह ६५ प्रतिशत किया गया तथा कहीं-कही कुछ कमी करके ६० प्रतिशत ही रखा जाता था और सन् १९०१ में जब पुन बन्दोबस्त किया गया तो इसे ५४ प्रतिशत तक घटा दिया गया। देखिए, लैण्ड रेवेन्यू पॉलिसी ऑफ द गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया, पृ० १३।

२२. उत्तर प्रदेश में महलवारी वन्दोवस्त सम्वन्धी कार्य—उत्तर प्रदेश में वन्दोवस्त सम्वन्धी कार्य प्रारम्भ करने के पूर्व वन्दोवस्त अधिकारी गाँवो का मुआयना करता है तथा एक-सी मिट्टी तथा अन्य प्राकृतिक बातो के आधार पर मालगुजारी के निर्धारण के हेतु उनके वर्ग बना देता है। इसके पश्चात् प्रत्येक प्रकार की मिट्टी का लगान निर्धारित कर लिया जाता है। लगान निर्धारित करने का मुख्य आधार यह होता है कि कुछ स्थायी तथा प्रतिष्ठित आसामियो की भूमि जिस किराये पर दी जा सके, वह रकम मालूम कर ली जाती है। यह ख्याल रखा जाता है कि ये आसामी अपनी आजीविका के लिए पूर्णत अपनी भूमि पर ही अवलम्बित हो जिससे यह निश्चित हो कि वे अपनी भूमि की सव प्रकार से देख-रेख रखते होगे। इस रकम का अनुमान कर लेने के उपरान्त वन्दोवस्त अधिकारी मालगुजारी का निर्धारण कर देता है। यह करते समय वह कुछ ऐसी वातो का भी ख्याल रखता है जैसे सचार-साधन, जनसख्या में वृद्धि, फसल सम्वन्धी आँकडे, खेती की हुई भूमि के क्षेत्र में वढोतरी इत्यादि।[1] जिन स्थानो पर भूमि को नकद किराये पर नही दिया जाता वहाँ पर वन्दोवस्त सम्वन्धी अधिकारी उसी प्रकार की भूमि के अन्य स्थानो पर किराये की रकम का अनुमान करके मालगुजारी का निर्धारण कर देता है।

अवध में लागू की गई विधि—अवध में वन्दोवस्त का तरीका प्राय वैसा ही है जैसा आगरे में है। उसमें केवल इतना अन्तर है कि कभी-कभी वन्दोवस्त पूरे गाँव-समुदाय के साथ किया जाता है और अधिकाश स्थितियो में कम अथवा अधिक गावो की वडी जागीर की मालगुजारी अकेले ताल्लुकेदारो से ही निश्चित कर ली जाती है। एक ताल्लुकेदार पर जो मालगुजारी निर्धारित की जाती है वह उसकी जागीर के प्रत्येक गाँव पर लगाये जा सकने वाले लगान की रकमो का जोड होता है। कुछ स्थितियो मे, जैसा कि पहले देखा जा चुका है, जहाँ उसके अधीनस्थ गाँव-समुदाय अपने अधिकारो को सुरक्षित रखने में सफल हो सके है, वहाँ इनके साथ एक सहायक वन्दोवस्त किया जाता है—जिसमे उनके द्वारा ताल्लुकेदारो को दी जाने वाली रकम निश्चित कर ली जाती है। यह रकम इतनी अवश्य होती है कि ताल्लुकेदार को मालगुजारी की दस प्रतिशत रकम लाभ के रूप मे अवश्य मिल जाय।

२३. पंजाव का महलवारी वन्दोवस्त—यहाँ पर भी गाँवो के सर्वेक्षण, अधिकारो के लेखे आदि से सम्वन्धित सव वे ही विधियाँ होती हैं, किन्तु मालगुजारी के निर्धारण की विधि में कुछ अन्तर होता है। यहाँ आसामियो की सख्या वहुत अधिक नही होती तथा अधिकतर आसामी उपज के रूप में लगान देते है। ऐसी स्थिति में वन्दोवस्त-अधिकारी गाँव की प्रत्येक प्रकार की भूमि को ध्यान में रखकर उससे मिल सकने वाली लगान की रकम अनुमान लगाकर, समस्त गाँव के लिए एक-सी दर पर मालगुजारी का निर्धारण कर देता है। वह इस वात को ध्यान में रखता है कि यदि सव लोग नकद लगान देते तव क्या रकम प्राप्त हो सकती थी और उसी के अनुसार मिट्टी की प्रकृति को देखते हुए अनेक हिस्सो में वाँट देता है। इसके पश्चात् वह नमूने के तौर

१ देखिए, टैक्सेशन इन्क्वायरी कमिटी रिपोर्ट, पैरा ६७।

पर कुछ जमीनो के लगान की नकद आमदनी का अनुमान लगाकर कुछ ऐसे नियम निर्धारित कर लेता है, जिनके अनुसार वह समस्त क्षेत्रफल की मालगुजारी निर्धारित कर देता है। पजाब में यद्यपि सिद्धान्त रूप से लगान प्रत्येक आसामी से वसूल नही किया जाता तथा गाँव की सपत्ति के समस्त स्वामियो से सयुक्त रूप से वसूल किया जाता है—और वे सब उसे सयुक्त रूप से ही देने के लिए उत्तरदायी होते हे—तथापि व्यवहार में प्रत्येक आसामी की लगान की रकम निर्धारित कर ली जाती है, तथा वह उससे पृथक् रूप मे वसूल की जा सकती है। इस प्रकार यहाँ के खेतिहर किसानो की भी प्राय वही स्थिति होती है जो बम्बई तथा मद्रास के स्वामित्व वाले किसानो की।[1] सन् १९२९ के पजाब भू-राजस्व सशोधित विधान के अन्तर्गत राज्य का अश परिसम्पत्ति का एक चौथाई तथा बन्दोवस्त ४० वर्ष तक के लिए निश्चित किया गया है (आगे सेक्शन ४३ भी देखिए।)

२४ मध्यप्रदेश का मालगुजारी बन्दोबस्त—जहाँ तक मालगुजारी-निर्धारण के आधार का सम्बन्ध है यहाँ भी लगभग वही विधि अपनाई जाती है जो आगरा में व्यवहार में लाई जाती है, किन्तु एक प्रकार से दोनो में महत्त्वपूर्ण अन्तर है। मध्यप्रदेश में मराठो ने गाँवों की मालगुजारी मालगुजार कहलाने वाले व्यक्तियो के सुपुर्द कर दी। ब्रिटिश सरकार ने इन व्यक्तिगत ताल्लुकेदारो से व्यवहार करने के लिए उन्हें स्वामित्व का पद प्रदान कर दिया और उनको गाँवो के मुखिया के रूप में स्वीकार कर लिया, यद्यपि यहाँ के गाँव भी बम्बई तथा मद्रास जैसे रैयतवारी गाँव थे जिनमें बहुत अधिक आसामी थे तथा प्रत्येक अपनी भूमि का स्वामी था। ऐसी स्थिति में उनकी बहुत अधिक रक्षा करना आवश्यक हो गया, विशेष रूप से यह ख्याल करते हुए कि उनके स्वामित्व के पद से उन्हे केवल मालगुजारो का आसामी बना दिया गया था। बन्दोबस्त सम्बन्धी अधिकारो को केवल मालगुजारों द्वारा देय मालगुजारी की रकम ही निर्धारित नही करनी थी वरन् लगभग सभी आसामियो द्वारा मालगुजारो को दी जाने वाली रकम भी निर्धारित करनी थी।[2] इससे यह स्पष्ट है कि यहाँ वार्षिक लगान का अनुमान उन स्थानो की अपेक्षा अधिक सही होगा जहाँ केवल सरकार को देय मालगुजारी का निर्धारण किया जाता है।

इस प्रकार मध्यप्रदेश में लगान के निर्धारण की विधि बहुत जटिल होती है। इसके लिए भूमि को मिट्टी की प्रकृति के अनुसार अनेक भागों में बाँट दिया जाता है। यह विभाजन मिट्टी की उत्पादन-क्षमता को ध्यान में रखकर किया जाता है। खेती के द्वारा होने वाले औसत लाभ का अनुमान लगाया जाता है तथा इस प्रकार विभिन्न मिट्टियों का अन्तर ज्ञात कर लिया जाता है। यह ध्यान में रखा जाता है कि मिट्टियो

१ वही, पैरा १६८।

२ "बन्दोबस्त के कार्य में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य मालगुजारी का निर्धारण, इसलिए भी अधिक जटिल हो जाता था कि मालगुजार लगान तो बहुत कम वसूल करते थे, किन्तु आसामियों को नये पट्टेदारों पर अथवा पहली बार भूमि को पट्टे पर देते समय नजराने के रूप में बहुत रकम वसूल कर लेते थे।"—टैक्सेशन इन्क्वायरी कमिटी रिपोर्ट, पैरा ६९।

की उत्पादन-क्षमता के अन्तर के अतिरिक्त भूमि की स्थिति का भी लगान के निर्धारण पर बहुत प्रभाव पडता है।[1]

२५. रैयतवारी बन्दोबस्त : मद्रास की रैयतवारी विधि—हम यह देख ही चुके हैं कि किस प्रकार मद्रास में स्थायी बन्दोबस्त करने के प्रयत्नो के विफल हो जाने के परिणामस्वरूप रैयतवारी विधि अपनाई गई। इस बन्दोबस्त के सिद्धान्त किसी विधान में प्रतिपादित नही हैं वरन् इस सम्बन्ध मे व्यापक आदेश दिये गए हैं। प्रत्येक गाँव का ठीक-ठीक सर्वेक्षण किया जाता है तथा गाँव का नक्शा तथा कृषि की जमीनो के स्वामित्व का विवरण तैयार किया जाता है। मिट्टी की उत्पादन-क्षमता के अनुसार भूमि का वर्गीकरण कर लिया जाता है। भूमि की उत्पादन-क्षमता औसत उपज के आधार पर निश्चित कर ली जाती है। प्रत्येक भूमि की उपज के नकद मूल्य का अनुमान बन्दोबस्त के पूर्व के २० ऐसे वर्षो के आधार पर लगा दिया जाता है जिनमें अकाल न पडा हो। इसमें से किसान के व्यय घटा दिये जाते हैं और जब उत्पाद का सही मूल्य मालूम कर लिया जाता है। इसका लगभग आधा भाग मालगुजारी की अधिकतम सीमा के रूप में निर्धारित कर दिया जाता है। व्यापारियो के लाभ, उपज को बाजार तक ले जाने के लिए बाजार की दूरी, खराब मौसम तथा लाभ की दृष्टि से उतने अधिक अच्छे क्षेत्र न होने आदि के लिए छूट भी दी जाती है। इसके पश्चात् विभिन्न वर्गो की मिट्टियो को अलग-अलग भागो में बाँटा जाता है जिसे 'तरम' कहते हैं तथा प्रत्येक वर्ग की मालगुजारी की दर निश्चित कर ली जाती है। जिस गाँव में ये जमीने रहती हैं उसकी स्थिति तथा सिंचाई के साधनो की प्रकृति को ध्यान में रखकर इस दर मे आवश्यक परिवर्तन कर दिये जाते हैं। ऐसा करने के लिए गाँवो के समूह (वर्ग) बना लिये जाते हैं। यह समूह (वर्ग) दो बातो को ध्यान में रखकर बनाए जाते हैं। एक तो गाँवो की सडक तथा बाजार से निकटता को ध्यान में रखा जाता है तथा दूसरे, गाँवो में पानी की सुविधा को ध्यान में रखा जाता है। इस प्रकार एक ही मिट्टी की जमीनो की भी मालगुजारी विभिन्न दरो पर निर्धारित की जाती है, क्योकि वे दूसरे समूह के गाँव की हो सकती हैं अथवा उनमें सिंचाई के साधन भिन्न-भिन्न प्रकार के हो सकते हैं। इस प्रकार जो मालगुजारी निर्धारित की जाती है वह खेत की उपज के सरकारी हिस्से का विनिमय-मूल्य समझा जा सकता है। यह ध्यान रखना चाहिए कि यदि किसी भूमि मे खानें पाई जाती हैं तो उसके लिए अलग से मालगुजारी निर्धारित की जायगी।[2]

२६. बम्बई की रैयतवारी विधि—बम्बई की अपनी भू-राजस्व-संहिता[3] है जिसके अनुसार बन्दोबस्त-सम्बन्धी सब मामले निपटाए जाते हैं। जैसा कि हम अभी कह चुके हैं, मद्रास में ऐसा नही है। बम्बई में उन नियमो के अतिरिक्त विशेष प्रकार की जागीर-

---

१ टैक्सेशन इन्क्वायरी कमिटी रिपोर्ट, विशेष विवरण के लिए बैडेन पॉवेल की लैण्ड रेवेन्यू एण्ड टेन्योर इन ब्रिटिश इण्डिया, पृ० १८६-८।

२. मद्रास के लगान-सम्बन्धी बोर्ड के आदेशानुसार जिनका उल्लेख टैक्सेशन इन्क्वायरी कमिटी रिपोर्ट, पैरा ६४, में किया गया है।

३. बॉम्बे लैण्ड रेवेन्यू कोड (१८७९) १९३९ में संशोधित किया गया। आगे सेक्शन ४४ देखिए।

दारियो के लिए विशेष अधिनियम भी है जैसे गुजरात में ताल्लुकेदारो के लिए, कोकण में खोटो के लिए तथा कैरा और भडौंच जिले के कुछ सयुक्त गाँवो के लिए ।

भू-राजस्व के सामान्य इतिहास का अध्ययन करते समय हमने मराठो के भू-राजस्व-सम्बन्धी शासन का सकेत किया था तथा यह भी निर्देशित किया था कि अन्तिम पेशवाओ के काल में मालगुजारी जमा करने वाले किसानो की पद्धति अपनाई जाने के कारण उस शासन का ह्रास भी हुआ । जब दक्षिण का शासन पेशवाओ से अग्रेजो ने लिया तो उन्होने इस हानिकर पद्धति का अन्त करने की सोची तथा यह निश्चित किया कि वे नाना फडनवीस वाली अधिक न्याय्य विधि को ही अपनाएँ ।

कुछ थोडी-थोडी अवधि वाले प्रयोगों तथा अनेक सुझावो के—जिनमें एक सुझाव यह भी था कि गाँवो का बन्दोबस्त महलवारी पद्धति के अनुसार कर दिया जाय—पश्चात् अन्त मे रैयतवारी प्रथा को अपनाया गया । सन् १८२५ में प्रिंगल को यह आदेश दिया गया कि भूमि का विस्तृत रूप से सर्वेक्षण करे । उसने भूमि को, वार्षिक लाभ के आधार पर, विस्तृत वर्गों में बाँटना चाहा । ऐसा करने में बहुत अधिक विवरण ज्ञात करने की आवश्यकता पडती थी । यह समस्त प्रयोग असफल रहा । इस प्रयोग की असफलता का एक कारण यह भी था कि इस विधि के परिणामस्वरूप बहुत अधिक मालगुजारी निर्धारित किया जाना अवश्यम्भावी था । इस प्रयोग के पश्चात् ही अकस्मात् कई वर्ष लगातार अकाल पडते गए, इसलिए भी यह असफल हो गया ।

ऐसी स्थिति में सरकार ने यह आदेश दिया कि इस सम्बन्ध में सब कार्य फिर से किया जाय और सन् १८३६ में इसके लिए मिस्टर गोल्डस्मिथ तथा लैफ्टिनेण्ट विनगेट नामक दो अफसर नियुक्त किये गए । उन लोगो ने जो प्रणाली प्रवर्तित की उसी में समयानुसार आवश्यक परिवर्तन होते रहे, किन्तु अभी भी वास्तविक रूप से वही चलन में है ।[1] सन् १८४० में उन अफसरो ने अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की । इस रिपोर्ट में उन्होने वे सामान्य सिद्धान्त बनाए जिनके आधार पर बम्बई प्रेसीडेन्सी की विशेष स्थितियो को ध्यान में रखते हुए सर्वेक्षण करके बन्दोबस्त किया जा सकता है । कुछ कम मालगुजारी निर्धारित करने की सिफारिश की गई । उन्होने यह भी कहा कि बन्दोबस्त ३० वर्षो के लिए हो । बन्दोबस्त के काल मे अधिक कर लगाये जाने से बचाया जाय, भूमि पर स्वामित्व माना जाय, भूमि के विक्रय अथवा उसके हस्तान्तरण के लिए पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान की जाय तथा अधीनस्थ आसामियो से क्या लगान वसूल किया जाय, इस सम्बन्ध में भी पूरी छूट दी जाय । बाद में इनके साथ कार्य करने के लिए केप्टन डेविडसन को नियुक्त किया गया और इन लोगो ने सन् १८४७ में एक रिपोर्ट प्रस्तुत की जिसे सयुक्त रिपोर्ट कहते हैं तथा जिसमें उन सिद्धान्तो का विशद विवरण है जो वर्तमान पद्धति के आधार हैं ।

इस रिपोर्ट में जो व्यवस्था अपनाई गई उसके अनुसार प्रिंगल की पद्धति के अनुसार भूमि का वर्गीकरण करने के लिए वार्षिक लाभ की रकम को आधार बनाना छोड दिया गया तथा इसके स्थान पर मिट्टी की गहराई तथा बनावट को ध्यान में रखना

[1] रिपोर्ट ऑफ द लैण्ड रेवेन्यू एमेण्डमेंट कमिटी, बॉम्बे, १९२६, पृ० ८-९ ।

आवश्यक समझा गया। मालगुजारी के निर्धारण करने के सम्बन्ध में यह तय किया गया कि वर्षा, उपज की कीमतो, कृषि की समृद्धि आदि को ध्यान में रखकर कतिपय प्रयोगो के आधार पर मालगुलारी निर्धारित की जाय, किन्तु यह सिद्धान्त सदैव ध्यान में रखना चाहिए कि किसान से इतनी अधिक मालगुजारी देने के लिए न कहा जाय जितनी वह सरलता से नही दे सकता। पुराने समय के 'मीरासी' और 'उपरी' भू-वृति को एक मौरूसी भू-वृति में बदल दिया गया। जब तक खेतिहर किसान निर्धारित मालगुजारी जमा करता जाता था, तब तक भूमि पर उसका स्वामित्व समाप्त नही किया जा सकता था। वह किसी भी खेत को छोड सकता था अथवा दूसरे खेतो पर अधिकार कर सकता था। अपनी शक्ति तथा अपने ससाधनो को ध्यान में रखकर वह ऐसे किसी भी कार्य के लिए पूरी तरह स्वतन्त्र था। इसी आधार पर सन् १८७९ की बम्बई भू-राजस्व सहिता में उसकी परिष्ठा और स्थिति की परिभाषा दी गई है। इस प्रकार की भू-धृति को रैयतवारी कहते है, जिसके अन्तर्गत आसामी अपनी भूमि का स्वामो होता है तथा इसे वह सीधे सरकार से प्राप्त करता है। पूर्ण अधिकार-सम्पन्न अथवा मौरूसी भू-धृति आनुवशिक होती है, यह हस्तान्तरित की जा सकती है तथा सरकार की आज्ञा प्राप्त किये बिना ही इस पर से अपना स्वत्व हटाया जा सकता है। यदि मालगुजारी जमा न की जाय तो यह भूमिगत अधिकार समाप्त किया जा सकता है। साथ ही यह प्रतिभूति (गारण्टी) दी जाती है कि आसामी यदि अपनी भूमि में कोई सुधार करेगा तो इस कारण उस पर कोई अतिरिक्त कर नही लगाया जायगा।

२७. बम्बई के बन्दोबस्त की मुख्य बातें[२]—बम्बई की रैयतवारी व्यवस्था की भी वही मुख्य बातें है, जो मद्रास की व्यवस्था की, उसी प्रकार से भूमि की सीमाएँ निर्धारित कर दी जाती है, सर्वेक्षण के अनुसार नम्बर निर्धारित कर दिये जाते है जो अपरिवर्तनीय होते है, मिट्टी का वर्गीकरण किया जाता है किन्तु मालगुजारी के निर्धारित करने की विधि भिन्न होती है। प्रत्येक मिट्टी का आनुपातिक मूल्य आनो के हिसाब से निश्चित किया जाता है, यह ध्यान में रखकर कि सबसे अच्छी मिट्टी का मूल्य १६ आने है। इस प्रकार मिट्टी का आनुपातिक मूल्य निर्धारित करते समय मिट्टी की गहराई, रचना, नमी सोखने की क्षमता तथा मिट्टी के उपजाऊ-पन से सम्बन्धित अन्य भौतिक विशेषताओ का खयाल रखा जाता है। इन सबके आधार पर मिट्टी के कई वर्ग कर दिये जाते है और ऊपर बताई विधि के अनुसार प्रत्येक वर्ग के विषय में यह निश्चित कर दिया जाता है कि वह वर्ग किस श्रेणी में आता है। मद्रास में तो यह किया जाता था कि इस प्रकार के मिट्टी के वर्गीकरण के पश्चात् ही प्रत्येक वर्ग की उपज के अनुसार उसकी मालगुजारी निर्धारित कर दी जाती थी, किन्तु यहाँ सम्पूर्ण क्षेत्र के लिए एक निश्चित मालगुजारी निर्धारित कर दी जाती है तथा इन वर्गो के आधार पर उस

१. कीटिंग, पृष्ठ २०-१ देखिए।

२. बॉम्बे लैण्ड रेवेन्यू कोड (१८७९) तथा सशोधित विधान (१९३९); आगे सेक्शन ४४ भी देखिए।

क्षेत्र की निर्धारित मालगुजारी बाँट ली जाती है।

१६३६ के बम्बई भू-राजस्व सहिता (सशोधन) अधिनियम के अन्तर्गत मालगुजारी निर्धारित करने में तीन मुख्य कार्य करने पडते हैं। पहला यह कि समस्त भूमि को तालुको में अथवा तालुको के हिस्सो मे विभाजित कर लिया जाता है, जिससे उनके समूह या वर्ग बनाए जा सकें। ये समूह या वर्ग निम्नलिखित वातो को ध्यान में रखकर बनाए जाते हैं भौतिक स्वरूप, जलवायु, वर्षा, बाजार, सचार, कृषि का स्वरूप, जनसख्या, श्रम-सम्भरण, कृषि-सम्बन्धी सशोधन, पिछले तीस वर्पो मे कृषि-कर्म के लिए अधिकार में किये गए तथा कृषित क्षेत्र, मजदूरी, कीमतें, मुख्य फसलो की उपज, इन फसलो को उगाने में सामान्य व्यय, कृषित ज़मीन का लगान पर उठाने की दृष्टि से मूल्य तथा कृषि-कार्य के हेतु भूमि को बेचने की सुविधा। अत एक समूह (वर्ग) का तात्पर्य यह होता है कि इसके अन्तर्गत तालुको अथवा तालुको के हिस्सो की जमीनें ऐसी होगी जिनमें ऊपर लिखी वाते अधिकाश रूप से समान पाई जायँ। इसके पश्चात् दूसरा कदम यह होता है कि प्रत्येक समूह या वर्ग के लिए मालगुजारी की प्रामाणिक दर निश्चित की जाती है। प्रामाणिक दर का तात्पर्य उस दर से होता है जो सब प्रकार से श्रेष्ठ १६ आने वाली, उस समूह या वर्ग की एक विशेष-भूमि—जैसे शुष्क फसलों की अथवा चावल की अथवा वागबानी की—पर प्रति एकड लगाई जाय। 'प्रामाणिक दर' पहले कार्य के अन्तगत लिखी सब वातो का खयाल करके निश्चित की जाती है तथा यह इस प्रकार निश्चित की जानी चाहिए कि सम्पूर्ण मालगुजारी की रकम किसी समूह या वर्ग की ज़मीनो पर इतनी न हो जाय कि वह किसी भी भूमि के बन्दोबस्त से पाँच साल पहले के औसत लगान के ३५ प्रतिशत से अधिक हो जाय। यहाँ इस वात का उल्लेख कर देना आवश्यक है कि भूमि के वार्षिक लगान के अनुसार उसका मूल्याकन सन् १६३६ के बम्बई भू-राजस्व सहिता सशोधन अधिनियम (बाम्बे लेण्ड रेवेन्यू एमेण्डमेण्ट एक्ट) के अन्तर्गत मालगुजारी की अधिकतर सीमा निर्धारित करने का आधार माना गया है। बम्बई की यह व्यवस्था बहुत समय तक केवल प्रयोगो के रूप में ही चलती रही, क्योकि लगान की दर के सम्बन्ध में बन्दोवस्त-अधिकारी का जो निर्णय होता था वह किन्ही सिद्धान्तो पर आधारित न होकर स्थानीय ज्ञान एव अनुभव पर ही आधारित रहता था।[1] इन सबके होते हुए भी हाल के कुछ वर्षो से भूमि का लगान दर जो पट्टो एव भूमि के विक्रय-सम्बन्धी लेखो से जाना जा सकता है, व्यवहार में मालगुलारी निर्धारित करने का मुख्य आधार हो गया है।[2] वार्षिक लगान की दृष्टि से भूमि का मूल्याकन ही अब निश्चित एव वैधानिक रूप से मालगुलारी की अधिकतम सीमा निर्धारित करने का आधार स्वीकार कर लिया गया है। सन् १६३६ के बम्बई भू-राजस्व सहिता सशोधन अधिनियम के अन्तर्गत इसकी परिभाषा इस प्रकार दी

१ 'द बॉम्बे सर्वे एण्ड सैटलमेन्ट मेनुअल', जिसे 'टैक्सेशन इन्क्वायरी कमिटी रिपोर्ट', पैरा ६६ उद्धृत किया गया है।

२ रिपोर्ट ऑफ द लैण्ड रेवेन्यू एसेसमेंट कमिटी, बम्बई, १६२६, पर बम्बई सरकार का प्रस्ताव देखिए।

गई है एक वर्ष के लिए भूमि के सबसे अधिक लाभदायक उपयोग के हेतु जो प्रतिफल दिया जाय वह उसका लगान-मूल्य है। इसमें भूमि को इस प्रकार लगान पर देने वाले के लिए कुछ लाभ अथवा फसल का कुछ भाग, अथवा समय-समय पर या विशिष्ट अवसरो पर भी कोई सेवा सम्मिलित है। बन्दोबस्त-अधिकारी को यह आदेश होते हैं कि वह बन्दोबस्त करने के लिए विधान के अन्तर्गत दिये नियमो के अनुसार भूमि का लगान-मूल्य निश्चित करें। मालगुजारी निर्धारण के सम्बन्ध में तीसरा तथा अन्तिम कदम यह होता है कि सम्पूर्ण मालगुजारी के दायित्व को व्यक्तिगत अथवा ताल्लुको का उपविभाजन करके उसके अनुसार बाँट दिया जाय। यह कार्य, जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, मिट्टी के आनावारी वर्गीकरण के आधार पर किया जाता है। उदाहरणार्थ, यदि १६ आने वाली भूमि पर अधिकतम मालगुजारी तीन रुपये प्रति एकड है तो ८ आने वाली भूमि के खेत पर यह १ रु० ८ आ० प्रति एकड के हिसाब से होगी।[1]

यह उल्लेखनीय है कि सन् १९३९ के सशोधित भू-राजस्व सहिता कानून के अन्तर्गत सरकार को यह अधिकार है कि यदि कोई बन्दोबस्त कृषि उपज की किन्ही विशेष कीमतो के आधार पर किया गया है तथा यदि उन कीमतो में भी परिवर्तन हो जाता है तो वह निर्धारित मालगुजारी में भी परिवर्तन कर सकती है। इस प्रकार राजस्व सम्बन्धी व्यवस्था में अत्यधिक अपेक्षित लोच का प्रारम्भ किया गया है। इस प्रकार के किसी विधान के अभाव में किसानो को बडी कठिनाई उठानी पडती थी, विशेष रूप से उस समय जब कृषि-सम्बन्धी पदार्थो की कीमतें निरन्तर गिरती जाती थी, जैसा कि १९२९-३३ की मन्दी के समय हुआ। इसके विपरीत यह भी न्याय-सगत ही है कि यदि कृषि की उपज के मूल्यो में वृद्धि हो जाय तो सरकार अधिक मालगुजारी प्राप्त करने की भी अधिकारी है। इस प्रकार की व्यवस्था का प्रारम्भ अन्य राज्यो में भी किया जाना चाहिए।

सशोधन के फलस्वरूप निर्धारित मालगुजारी में वृद्धि करने पर कुछ नियन्त्रण भी है जिनके अन्तर्गत मालगुजारी की वृद्धि सम्पूर्ण ताल्लुका और समूह की मालगुजारी के २५ प्रतिशत से अधिक न की जा सकेगी तथा किसी गाँव, सर्वेक्षण के किसी एक क्षेत्र अथवा ताल्लुके के उप-विभाग की सम्पूर्ण मालगुजारी के ५० प्रतिशत से अधिक न की जा सकेगी। भूमि में सुधार करने की इस प्रकार से रक्षा की गई है कि यदि खेतिहर जमीन में आसामी के द्वारा कराये गए सुधारो के प्रयत्नस्वरूप भूमि का लगान की दृष्टि से मूल्याकन बढेगा तो किसी स्थिति में मालगुजारी पुन निर्धारित कराने की आवश्यकता न पडेगी।

२८ **आसाम की व्यवस्था**—आसाम में भूमि के स्वामी तो केवल वही थे जो पुराने बगाल के जिलो के स्थायी बन्दोबस्त के अन्तर्गत भूमि पर आधिपत्य रखते थे तथा कुछ ऐसे स्थायी किसान थे जिन्हे भू-स्वामित्व की पदवी स्थायी रूप से प्राप्त थी। यह पदवी उन किसानो को प्राप्त थी जो सन् १८८६ के विनियमन के पूर्व के दस वर्षो से निरन्तर भूमि पर अधिकार किये हुए थे तथा उस नियम के पश्चात् १० वर्षो

१. बम्बई में बन्दोबस्त-सम्बन्धी जो व्यवस्था है वही बरार में है।

के लिए किसी बन्दोबस्त के अन्तर्गत अथवा पट्टे के अन्तर्गत भूमि पर कब्जा किये हुए थे। वहाँ काफी भूमि पर इस प्रकार भी कब्जा होता है कि उनकी अनुज्ञा (परमिट) पर पट्टा प्रतिवर्ष नया होता रहता है अथवा उनका पट्टा १० वर्ष से कम के लिए लिखा रहता है। आसाम में बेकार भूमि-सम्बन्धी नियम विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है, क्योकि किसी भी जिले मे मुश्किल से २५ प्रतिशत से कम भाग में ही खेती की जाती है।

वगाल में चाय वाली जमीनें कम लगान पर लम्बी अवधि के पट्टे पर होती हैं। पट्टे की अवधि समाप्त होने के उपरान्त तत्कालीन नियमो के अनुसार उस भूमि पर पुन लगान निर्धारित किया जा सकता है, किन्तु केवल यही विशेषता रहती है कि इसके फलस्वरूप लगान की अधिकतम दर वही हो सकती है जो जिले की सामान्य कृषि की फसल की सबसे ऊँची दर है।

२६. **राज्य स्वामित्व अथवा वैयक्तिक स्वामित्व**—वर्तमान काल में भू-राजस्व-सम्बन्धी जो व्यवस्था है उसका आलोचनात्मक अध्ययन तथा उससे सम्बन्धित अन्य जटिल प्रश्नो का अध्ययन करने के पूर्व हमें इस प्रश्न को भुला देना चाहिए कि भारत में भूमि का स्वामित्व सम्पूर्ण रूप से राज्य में निहित है अथवा यहाँ निर्विवाद रूप से भूमि व्यक्तिगत स्वामित्व के अन्तर्गत आती है। इस सम्बन्ध में प्रारम्भ में ही यह कह देना अत्यन्त आवश्यक दीख पडता है कि इस प्रश्न का स्पष्ट तथा निश्चित रूप से कोई उत्तर नहीं दिया जा सकता तथा किसी भी प्रकार से व्यवहार में इस बात से कोई अन्तर नही पडता कि भू-राजस्व लगान है अथवा कर।

पहले हम इस प्रश्न का अध्ययन सामान्य रीति से करेंगे। इस सम्बन्ध में जो विशेष प्रकार से विचारणीय विषय हैं, वे कर जाच-समिति के अनुसार निम्नलिखित हैं : (१) क्या राज्य ने भूमि पर हिन्दू एव मुस्लिम राज्यो के अन्तर्गत अपने ही स्वामित्व का अधिकार स्थापित किया ? (२) क्या ब्रिटिश सरकार ने ऐसे किन्ही अधिकारो का उत्तराधिकार प्राप्त किया था ? (३) क्या अब राज्य का भूमि पर स्वामित्व है, जबकि भूमि (क) जमीदारी अथवा (ख) रैयतवारी के अन्तर्गत उठी हुई है ? (४) यदि नही, तो क्या जमीदार तथा किसान जितनी भूमि की मालगुजारी देते हैं उस पर स्वामित्व का अधिकार रखते हैं ? (५) भू-राजस्व को कर कहा जाय अथवा लगान ?

जहाँ तक पहले दो प्रश्नो का सम्बन्ध है सामान्यत यह माना जाता है कि ब्रिटिश राज्य के प्रादुर्भाव के पूर्व भूमि पर राज्य का ही अनन्य स्वामित्व न था, अत ब्रिटिश सरकार को भी ऐसा कोई अधिकार हस्तगत न हुआ होगा। इस सम्बन्ध में माउण्ट स्टुअर्ट एलफिनस्टन, एच० एच० विलसन, वैडेन पॉवेल आदि के विचार तथा वम्बई के उच्च न्यायालय का कनारा के एक मुकदमे में सन् १८७५ में दिया गया विस्तृत निर्णय इत्यादि उद्धृत किये जाते हैं। वम्बई के उच्च न्यायालय का यह निर्णय विल्सन के विचारो का समर्थन करता है कि भूमि पर राज्य का स्वामित्व प्राचीन नियम अथवा हिन्दुओ की किसी भी व्यवस्था[1] के अनुसार नही है तथा आधुनिक हिन्दू वकील भी इस सम्बन्ध में वैयक्तिक स्वामित्व का निषेध करके केवल राज्य का ही अनन्य अधिकार स्वीकार नही करते। इसी प्रकार मुस्लिम विधान से सम्बन्धित अपने

निष्कर्ष को कर्नल गैलोवे ने सक्षेप में निम्न प्रकार से कहा है "भूमि जितनी अधिक किसानो की सम्पत्ति हो सकती थी, उतनी थी। जब तक वह लगान तथा अन्य कर इत्यादि देता था तब तक न कोई कानून और न कोई नीति ही उससे छेड-छाड कर सकती थी। यदि वह लगान इत्यादि जमा न करता तो उसकी भूमि को कुर्क कराया जा सकता था और ऐसा तो इगलैण्ड के विधान के अन्तर्गत सुदृढतम भू-धृति के अधिकार-प्राप्त प्रथम श्रेणी के सम्मानित पुरुषो के साथ भी हो सकता है। भारतीय किसान का अधिकार भूमि पर कब्ज़ा पाने तथा उसे हस्तान्तरित करने का अधिकार है, उसकी भूमि की लगान की दर निश्चित कर दी जाती है तथा कभी-कभी तो सम्पूर्ण रकम भी निर्धारित कर दी जाती है। तब किस प्रकार भारतीय किसान के भूमि-सम्बन्धी अधिकार अग्रेज भू-स्वामियो के अधिकारो से कम है ?"[२]

जो व्यवस्था उत्तरी भारत में है तथा जो मुसलमान शासको के राज्य में थी, वह कही अधिक स्पष्ट एवम् प्रभावपूर्ण ढग से दक्षिणी भारत में लागू होती है, क्योकि वहाँ तो भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व निश्चित रूप से माना गया है और विशेष रूप से देश के उन भागो में, जो कभी मुसलमान शासको के अधीन रहे ही नही।

अत प्रथम दो विषयो के सम्बन्ध में कर-जाँच-समिति एकमत थी कि हिन्दू तथा मुसलमान दोनो शासनो के अन्तर्गत राज्य का भूमि पर कभी अनन्य आधिपत्य नही रहा तथा राज्य ने भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व को निश्चित रूप से स्वीकार किया।[३] सन् १६४० में नियुक्त बगाल भू-राजस्व आयोग ने भी इस मत का समर्थन करते हुए कहा कि स्थायी बन्दोबस्त के समय भी यद्यपि सिद्धान्तत भारत के कुछ भागो में राज्य को ही भूमि का सर्वोच्च स्वामी माना गया है, परन्तु व्यवहार में सरकार ने भूमि पर अपना वास्तविक स्वामित्व कभी प्रदर्शित नही किया। सरकार की माँग केवल उपज के एक अश तक ही सीमित रही।[४]

औरगज़ेब की मृत्यु के पश्चात् तथा देश में ब्रिटिश शासन के पूर्ण स्थायी रूप से जम जाने तक के बीच के समय में राज्य के गवर्नरो तथा अन्य अपने साहस से कुछ प्रदेशो पर अधिकार करने वाले व्यक्तियो ने, अपने मनमाने अधिकार प्रदर्शित करना प्रारम्भ किया। इन लोगो ने जब अधिक-से-अधिक लगान लगाना तथा वसूल करना प्रारम्भ कर दिया तो उस स्थिति में किसानो के दिमाग में केवल यही परेशानी रहती थी कि चाहे भूमि पर उनका वैयक्तिक स्वामित्व स्वीकार न किया जाय किन्तु उन्हे इतनी स्वतन्त्रता अवश्य मिले कि वे जब चाहे भूमि को त्याग सकें और इस प्रकार बढते हुए लगान के बोझ से बच सकें। ऐसी स्थिति में सरकार ने भूमि पर अपने

१ 'भूमि उसकी है जिसने सबसे पहले उसको साफ किया, जिस प्रकार कि हिरन उसका होता है जो उसे सर्वप्रथम गिरा देता है।' मनु के इन नियमों का उल्लेख बैडेन पॉवेल ने अपनी 'लेन्ड रेवेन्यू एण्ड टेन्योर इन ब्रिटिश इण्डिया' पृ० १२३ पर किया है।

२ टैक्सेशन इन्क्वायरी कमिटी रिपोर्ट, पैरा ८०।

३ जे० ब्रिग्स, 'लेन्ड टैक्स इन इण्डिया', पृष्ठ १२७ भी देखिए।

४. रिपोर्ट ऑफ द लैण्ड रेवेन्यू कमीशन, बगाल, खण्ड १, पैरा ४१।

अनन्य स्वामित्व का अधिकार जमाया जिसकी प्रतिद्वन्द्विता करने की लोगो ने परवाह न की। अत बैडेन पॉवेल का यह कहना सही है कि "यह तो कभी सत्य नही हो सकता कि मि० जेम्स जॉन, कर्नल मनरो तथा अन्य व्यक्तियो को इस तथ्य के विषय में असत्य ज्ञान हो कि उनके समय में, अर्थात् बगाल के स्थायी बन्दोबस्त के समय में, सब सरकारें भू-स्वामित्व का अधिकार जता रही थी।"[1]

ब्रिटिश सरकार ने इस सम्बन्ध में जो तर्क प्रस्तुत किये उनमें न तो दृढता थी और न एकरूपता। साथ ही उनकी सामान्य नीति का सदैव यही रुख रहा कि भूमि पर वैयक्तिक स्वामित्व स्वीकार किया जाय। गांवो तथा जागीरो की खेती-योग्य भूमि (बेकार भूमि अथवा ऐसी भूमि के विषय में नही जिनका स्वमित्व का अधिकार स्पष्ट एव निश्चित रूप में सरकार को प्राप्त है) के विषय में बैडेन पॉवेल कहते है कि ब्रिटिश सरकार ने प्रत्येक स्थान पर भूमि पर वैयक्तिक स्वामित्व प्रदान किया है अथवा स्वीकार किया है तथा देश के बडे-बडे भागों में, जैसे बगाल, अवध, सम्पूर्ण उत्तरी भारत इत्यादि में ब्रिटिश सरकार ने जमीदारों तथा गाँव के मालिको के भूमि पर स्वामित्व-सम्बन्धी अधिकारो को स्पष्ट रूप से घोषित किया है।[2]

यह सामान्य धारणा है कि जहाँ तक बगाल तथा अन्य स्थानो की जमीदारी तथा अन्य जागीरो का सम्बन्ध है भूमि पर वैयक्तिक अधिकार के सम्बन्ध में कोई झगडा नहीं है। इसके विपरीत इस बात पर भी कोई झगडा नही है कि बेकार भूमि पर तथा बगाल और बिहार की 'खास महल' जैसी जागीरो पर जो सरकार के प्रत्यक्ष प्रबन्ध में है, सरकार का पूर्ण स्वामित्व है। परन्तु जहाँ तक रैयतवारी प्रदेशो की भूमि का प्रश्न है, इस सम्बन्ध में काफ़ी मतभेद है। एक तरफ यह कहा जाता है कि रैयत—अथवा बम्बई में जिसे भू-अधिकारी कहते हैं—स्थायी जमीदार की हैसियत से किसी प्रकार भी कम नही है, तथा वह भूमि पर पूर्ण स्वामी के रूप में कब्ज़ा करता है, जिस सम्बन्ध में केवल शर्त यही रहती है कि वह निर्धारित लगान जमा करता रहे। यह तथ्य कि

---

१ राजा का भूमि के स्वामित्व का निश्चित अधिकार स्पष्ट रूप से टीपू सुलतान द्वारा व्यक्त किया गया। इसके विपरीत मराठों के मीरासी भूमिगत अधिकारों के सम्बन्ध में लिखते हुए माउन्ट स्टुअर्ट एलफिंस्टन ने कहा, "अधिकाश रैयत अपनी भू-सम्पत्तियो के स्वामी हैं, केवल उन्हें सरकार को एक निश्चित भूमि-कर आवश्यक रूप से देना पडता है। उनकी सम्पत्ति वशपरम्परागत हस्तान्तरित हो सकती है तथा उसका विक्रय किया जा सकता है। जब तक वे मालगुजारी देते रहें उन्हें कभी हटाया नही जा सकता और यदि कभी ऐसा कर भी दिया जाय तब भी उन्हें यह छूट रहती है कि अपनी भू-सम्पत्ति से सम्बन्धित सरकार के कर जमा करके काफ़ी समय तक—कम-से-कम ३० वर्ष तक—वे अपनी भू-सम्पत्ति को वापस माँग सकते हैं।"—'रिपोर्ट आन द टेरीटरीज काकर्ड फ्रॉम पेशवाज'।

२ इस स्थिति की कभी अधिकारपूर्वक आलोचना भी की जाती थी। यह कहा जाता था कि बगाल तक में जमींदारों को पूर्ण स्वामित्व के अधिकार प्रदान नहीं किये गए। उनके साथ जो स्थायी बन्दोबस्त किया गया वह उन पर कृपा की गई थी तथा ऐसा इसलिए किया गया था कि वह उचित नीति समझी गई। ऐसा पूर्व शासनों के सिद्धान्तों अथवा इनके कार्य-कलापों के आधार पर नहीं किया गया तथा मालगुजारी के अपरिवर्तनीय निर्धारण के अतिरिक्त सरकार तब भी स्वामी बनी रही तथा जमीदार मालगुजारी एकत्र करने के हेतु प्रतिनिधि मात्र रहे अथवा उनकी स्थिति सरकार के अधीन केवल आसामी की रही।

यदि वह लगान जमा नही करेगा तो सरकार भूमि पर से उसका कब्जा छीनकर अपना अधिकार घोषित कर देगी, यह प्रमाणित नही कर सकता कि उसका किसी प्रकार भी भूमि पर कम स्वामित्व है। इसका कारण यह है कि किसी प्रकार भी यह असाधारण अथवा असामान्य नियम नही है तथा यह व्यक्तिगत अधिकार वाली भूमि पर समस्त स्थानो पर लागू होता है, जहाँ सरकार मालगुजारी जमा न करने पर उस सम्पत्ति को कुर्क करा सकती है। इस सम्बन्ध में अधिक-से-अधिक हम यही कह सकते हैं कि सरकार भूमि को रहन में जमानत बतौर रखी हुई समझ सकती है, जिस जमानत को उस भूमि पर निर्धारित मालगुज़ारी वसूल करने के लिए केवल अन्तिम आश्रय के रूप में छुआ जा सकेगा।[1] रैयतवारी को ज़मीदारी से पृथक् करने वाला एक लक्षण यह भी है कि यदि अधिकारी चाहे तो उसकी इच्छा पर रैयतवारी भूमि को छोडना पड सकता है। इसी वजह से रैयतवारी प्रदेशो में राज्य को ही वास्तविक भू-स्वामी मानने का यह बहुत ही कमजोर कारण दीख पडता है। खेती-योग्य भूमि पर कब्जे वाले व्यक्ति या मौरूसी काश्तकार के समान इस लक्षण का जन्म भी उस समय से होता है जब किसान से बलपूर्वक अधिक-से-अधिक लगान वसूल किया जाता था तथा उसे नाना प्रकार से कुचला जाता था और इस कारण वह किसी भी भूमि से बँधना और बिना किसी शर्त के माँगे गए लगान के लिए उत्तरदायी नही होना चाहता था। किसान के स्वाभाविक भय को मिटाने के लिए उसे यह छूट प्रदान की गई कि वह जब चाहे अपनी भूमि को छोड सके, ऐसा इसलिए नही किया गया कि ब्रिटिश सरकार की ऐसी कोई इच्छा रही हो कि किसान से स्वामित्व का अधिकार किसी प्रकार से हस्तगत कर लिया जाय। वास्तविकता तो यह है कि वे इसे प्रदान करने के इच्छुक ही थे। एक दूसरी बात जो राज्य के स्वामित्व के सम्बन्ध में कही जाती है, वह यह है कि कुछ राज्यो में सरकार की अनुमति प्राप्त किये बिना कृषि की भूमि का कृषि के अतिरिक्त अन्य कार्यों के लिए उपयोग नही किया जा सकता तथा सरकार यदि ऐसा करने देती है तो उस स्थिति में मालगुजारी पुन निर्धारित की जायगी। परन्तु ऐसी स्थिति की तुलना को हम प्राय सभी सभ्य देशो में वैयक्तिक सम्पत्ति पर लगे प्रतिबन्धो से कर सकते है, जिनके अन्तर्गत जन-साधारण के स्वास्थ्य अथवा अन्य जन-हित की दृष्टि से व्यक्तिगत अधिकारो को नियन्त्रित कर दिया जाता है। अत हम तो जाँच समिति के मत का समर्थन करते है कि ज़मीदार तथा रैयत दोनो को ही भूमि के सम्बन्ध में स्वामित्व का अधिकार इस शर्त पर प्राप्त है कि वे मालगुजारी जमा करते रहे, यद्यपि रैयतवारी अवस्था में भू-स्वामी की निश्चित एव साधारण परिभाषा देना कठिन है।[2] यहाँ हम एक अन्य मत का भी वर्णन कर देना आवश्यक समझते है जिसके अनुसार भारतीय भू-धृति का स्वरूप भूमि पर पूर्ण स्वामित्व की अंग्रेजी प्रथा तथा राज्य का अनन्य रूप से स्वामित्व, इन दोनो के बीच का रास्ता है। यहाँ न तो भूमि पर पूर्ण रूप से वैयक्तिक स्वामित्व ही है और न यहाँ भूमि केवल सरकार की ही सम्पत्ति है

१. बैडेन पॉवेल, 'लेन्ड रेवेन्यू एण्ड टेन्योर इन ब्रिटिश इण्डिया', पृ० ४६।
२. टैक्सेशन इन्क्वायरी कमेटी रिपोर्ट, पैरा ८३।

परन्तु यहाँ इन दोनो के बीच की व्यवस्था है। यहाँ की स्थिति को नियन्त्रित राज्य स्वामित्व अथवा प्रतिबन्धित वैयक्तिक स्वामित्व कहा जा सकता है। जमीदार अथवा रैयत के अधिकार को तो स्वीकार किया जाता है किन्तु उसके साथ ही राज्य का भी सयुक्त रूप से हित सन्निहित रहता है अथवा भूमि पर उनके अधिकार में राज्य का भी अधिकार एकीभूत रहता है तथा उत्तरी भारत में आसामियो के भी अधीनस्थ भूमिगत अधिकार होते हैं, जैसे भू-धृति की स्थिरता।[1]

३० भू-राजस्व (मालगुज़ारी) कर अथवा लगान?—यदि भूमि पर वैयक्तिक अधिकार स्वीकार कर लिया जाता है तब तर्क के अनुसार उसका यही अर्थ निकलता है कि भू-राजस्व कर है, लगान नही। यह निश्चित करने के लिए कि भू-राजस्व लगान है अथवा कर, भूमि पर राज्य का स्वामित्व सिद्ध करने और न करने वाले सब तर्क-वितर्क यहाँ भी लागू किये जा सकते है। इसके अतिरिक्त इस विशेष प्रश्न का कि भू-राजस्व लगान है अथवा कर, को तय करने के लिए हम कुछ अन्य विशिष्ट बातें भी बताना चाहते हैं।[2] उदाहरणार्थ, भू-राजस्व को कर से भिन्न तथा लगान की प्रकृति का सिद्ध करने के लिए यह तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि भू-राजस्व कितने समय के लिए निश्चित किया जाता है। उस काल में राज्य की सकटकालीन अथवा अत्यावश्यक परिस्थितियो के अनुसार उसमें परिवर्तन नही किये जा सकते। यही नही, इसके निर्धारित करते समय लगान देने वालो को अनेक प्रकार की छूट भी दे दी जाती है, जैसे मकान आदि के लिए बिना किराये की भूमि तथा सर्वसाधारण के जानवरो के लिए चरागाह आदि। परन्तु इसके विपरीत यह तर्क प्रस्तुत किया जा सकता है कि सरकार द्वारा प्रत्येक वर्ष इस लगान को परिवर्तित करने पर कोई प्रतिबन्ध नही है। ऐसा न करने का निश्चय करते समय सरकार के सम्मुख केवल नीति, आवश्यकता एव मितव्ययिता के ही विचार रहते है। इसके साथ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि वैयक्तिक ज़मीनो पर वार्षिक लगान बहुत लम्बी अवधि के लिए नही निश्चित किये जाते। सच तो यह है कि अधिकाश पट्टो का प्रतिवर्ष नवीकरण होता है। जहाँ तक मकान अथवा चरागाह इत्यादि की बिना किराये की ज़मीनो को देने का सम्बन्ध है, वस्तुत इस प्रश्न को सुलझाने में ये सब बातें निर्णायक महत्व नही रखतीं। वर्तमान काल की ज्ञानयुक्त सरकारें, जिनके सम्मुख कृषको की भलाई का ध्येय होता है, उन्हे इस प्रकार की सुविधाएँ दे सकती है, परन्तु इससे वे किसी भी प्रकार अपनी ज़मीदारी का अधिकार स्थापित नही करती। भू-राजस्व एक कर है, इस सम्बन्ध में एक अनावश्यक तथा तुच्छ तर्क यह भी प्रस्तुत किया जाता है कि इसका निर्धारण एव इसे वसूल करने की विधि कर की भाँति ही होती है।

अन्तिम रूप में भूमि के वैयक्तिक स्वामित्व के पक्ष में जो एक अन्य तर्क प्रस्तुत किया जाता है, वह यह है कि सन् १८८६ के आय-कर विधान के अन्तर्गत कृषि आय को कर-मुक्त रखा गया है तथा यह कहा जाता है कि इससे यह ध्वनित होता है कि

१ मॉरीसन, पूर्व उद्धृत, पृष्ठ १८।
२ टैक्सेशन इन्क्वायरी कमिटी रिपोर्ट, पैरा ४४-४५।

भूमि-सम्बन्धी आय द्वारा पहले ही कर दे दिया जाता है। यदि भू-राजस्व केवल लगान ही होता, तथा वह इसलिए दिया जाता कि सरकार भूमि पर स्वामित्व-प्राप्त जमीदार है तो कृषि-आय पर कर लगाना पूर्णतया न्यायोचित होता।[1]

उपर्युक्त विवरण से यह प्रतीत होता है कि यह प्रश्न अत्यधिक पेचीदा है तथा इसका उत्तर स्पष्ट एव निश्चित शब्दो में किसी प्रकार नही दिया जा सकता, यद्यपि राज्य स्वामित्व के स्थान पर वैयक्तिक स्वामित्व का पक्ष सवसे अधिक प्रतीत होता है। हम वैडेन पॉवेल के विचार से पूर्णत सहमत है कि यह वादानुवाद एक निष्प्रयोजन वाक् युद्ध मात्र है। यह निष्प्रयोजन इस कारण है कि इसका कोई अन्त ही नही। इन दोनो विरोधी सिद्धान्तो के पक्ष तथा विपक्ष में तर्क प्रस्तुत किये जा सकते हैं। कुछ व्यक्तियो को एक पक्ष के तर्क विशेष प्रभावित कर सकते हैं तथा अन्य व्यक्तियो पर विपक्ष के तर्क विशेष प्रभाव डाल सकते हैं, भले ही वे किसी पक्ष-विशेष के समर्थक न हो। यह निष्फल भी हैं, क्योकि इस प्रश्न का हल हम किस प्रकार ढूँढते है इससे व्यावहारिक रूप में नीति-निर्धारण पर कोई प्रभाव नही पडता तथा इस विषय का व्यावहारिक पक्ष इसके सैद्धान्तिक पक्ष से अधिक महत्त्वपूर्ण है। यदि भू-राजस्व इतना सीमित नही है कि उसे वसूल कर लेने के उपरान्त भू-स्वामी के पास जीवन की निम्नतम आवश्यकताओ के अतिरिक्त कुछ और नही वचता तो पूर्ण एव विना किसी शर्त पर भी रैयत के लिए स्वामित्व के अधिकारो का कोई महत्त्व नही है। इसी प्रकार यदि किसान के वर्तमान अधिकार—अर्थात् भूमि को वेचने, गिरवी रखने आदि—सुरक्षित रहे तथा सरकार द्वारा लगाई मालगुजारी थोडी ही रहे, तो किसान को दूसरी कोई चिन्ता न होगी कि सरकार सर्वमान्य भू-स्वामी एव जमीदार है। हम यहाँ कुछ उदाहरण देते है जिनसे यह स्पष्ट हो जायगा कि सम्पूर्ण वादविवाद व्यवहार की दृष्टि से वहुत कम महत्त्व का है। उदाहरणार्थ, भू-राजस्व सम्वन्धी विपयो के अन्तर्गत अधिशासी वर्ग पर विधान सभा के नियन्त्रण का, इस प्रश्न से कि भूमि की स्पष्ट रूप से सरकार स्वामिनी है अथवा नही, कोई सम्वन्ध ही नही है। यदि सरकार ही जमीदार रहती तव भी राज्य का अभिप्राय केवल अधिशासी-वर्ग से नही होता। राज्य के एक अग अर्थात् विधान मण्डल को दूसरे अग अर्थात् अधिशासी-वर्ग के कार्यों में कितना हस्तक्षेप करना चाहिए यह केवल शासन-

---

१ यहाँ इस बात का उल्लेख कर देना आवश्यक है कि यह तर्क भी वैयक्तिक स्वामित्व के पक्ष में निश्चित एव अन्तिम रूप से समर्थक तर्क नहीं है, क्योंकि यह तर्क प्रस्तुत करना भी सम्भव है कि कृषि-आय को आय-कर से मुक्त रखने का कारण यह है कि ऐसे किसान बहुत ही सीमित सख्या में वचेंगे जो सरकार को लगान देकर भी इतनी आय प्राप्त करते हों कि उनकी आमदनी आय-कर की छूट की सीमा से अधिक हो; और इन पर कर लगाना उचित भी नहीं है। इससे, सरकार यह भी कह सकती है कि कृषि-आय का आय-कर के उद्देश्य से निर्धारण न करना साधारण दृष्टि से ही किया गया है तथा जब सरकार चाहेगी वह ऐसा कर लेगी। यह तर्क इस तथ्य से भी प्रवलता प्राप्त करता है कि विहार सरकार ने सन् १६३८ से कृषि-आय पर भी कर लगा दिया है। तथा अन्य राज्यीय सरकारें भी ऐसा करने को सोच रही हैं। अन्तिम रूप से यह कहा जा सकता है कि इगलैण्ड में भूमि-कर के अतिरिक्त कृषि-लाभ पर आय कर भी दिया जाता है, किन्तु इससे वहाँ भूमि वैयक्तिक स्वामित्व के सम्बन्ध में कोई झगड़ा नहीं उत्पन्न होता है।

सम्बन्धी-सुविधा, कार्यक्षमता तथा राजनीतिक विचार-धारा पर निर्भर होता है। यह भली प्रकार कहा जा सकता है कि देश की भू-राजस्व सम्बन्धी व्यवस्था का प्रभाव देश के लाखो-करोडो व्यक्तियो पर पड़ेगा, अतएव ऐसी स्थिति मे विधान-मण्डल का अपेक्षाकृत अधिक नियन्त्रण श्रेयस्कर होगा। यह सत्य है कि अपने उत्तरदायित्वो के प्रति पूर्ण, सजग सरकारो में प्रत्येक कर के बारे में विधान-मण्डल को निर्णय करने का अधिकार होता है, किन्तु इसका यह अभिप्राय नही है कि कर के अतिरिक्त वे किसी अन्य प्रकार के भार नही लगा सकते। इस सम्बन्ध में अधिक-से-अधिक हम यही कह सकते हैं कि विधान-मण्डल के अधिक नियन्त्रण का समर्थन, इस अनुमान के आधार पर और भी हो जाता है, कि भू-राजस्व कर है लगान नही, यद्यपि इसके लिए इस अनुमान का निश्चय रूप से सच होना आवश्यक नहीं।

कभी-कभी यह भी कहा जाता है कि जब हम सरकार का पूर्ण स्वामित्व स्वीकार करते है तो हमें सरकार का यह अधिकार भी स्वीकार करना चाहिए कि वह पूर्ण आर्थिक लगान वसूल कर सकती है।[1] परन्तु यह तो ऐसी स्थिति है जिससे हम कभी बच ही नही सकते, क्योंकि यह तो कर-निर्धारण का सिद्धान्त है कि सिद्धान्त-रूप से कर के अन्तर्गत आर्थिक लगान भी अवश्य रह सकता है और इससे कर देने वालो को भी कोई हानि न होगी यदि हम निश्चित रूप से आर्थिक लगान (अथवा वास्तविक अनुपार्जित वृद्धि) को अलग कर सकें तथा इसमें मजदूरी, लाभ, ब्याज इत्यादि को सम्मिलिति न करें। मालगुजारी निर्धारित करते समय हम चाहे लगान सिद्धान्त का अनुसरण करें और चाहे कर लगाने में सम्बन्धित नियमो का पालन करें, इससे व्यवहार मे कोई अन्तर नही पडता है। इसका ज्ञान इस तथ्य से किया जा सकता है कि सरकार ने इस मत का, कि भू-राजस्व कर है, निश्चय रूप से समर्थन किये बिना ही कर-जाँच-समिति को यह निर्देश देने मे कोई आपत्ति न देखी कि वह भू-राजस्व के प्रति व्यक्ति का अध्ययन करे तथा कर लगाने के सिद्धान्तों के अनुसार, यदि वर्तमान भू-राजस्व व्यवस्था में कोई दोष हो तो, उन्हे बताए और यदि आवश्यक हो तो सम्पूर्ण वर्तमान व्यवस्था को परिवर्तित कर देने की भी सिफारिश करे। जहाँ तक निर्धारित मालगुजारी मे वृद्धि करने का प्रश्न है अथवा अनाप-शनाप लगान वसूल करने का सम्बन्ध है,

---

१. बारदोली रिपोर्ट पढ़कर श्री वी० जी० काले ने जो निष्कर्ष निकाले उनमें से एक इस सम्बन्ध में भी था कि भू-स्वामी राज्य है अथवा व्यक्ति। इस प्रश्न का उत्तर प्राप्त करना व्यावहारिक दृष्टि से बड़ा आवश्यक है। (जुलाई, सन् १६२६ के इण्डियन जर्नल ऑफ इकनामिक्स में 'ए लैसन फ्रॉम बारदोली' नामक लेख पढ़िए।) बारदोली की समस्या का कारण यह था कि बम्बई के तत्कालीन बन्दोबस्त कमिश्नर एफ० जी० एच० एण्डरसन ने असावधानी से लगान-मूल्य एव भू-राजस्व सूत्रनाक सिद्धान्त (लैण्ड रेवेन्यू इन्डेक्स थ्योरी) का एक साथ व्यवहार में प्रयोग करना चाहा। एण्डरसन रिकार्डो के लगान सिद्धान्त में विश्वास करने वाला था। यह तो ठीक है किन्तु रिकार्डो का लगान सिद्धान्त इस कल्पना पर तो आधारित नहीं है कि भूमि का स्वामित्व राज्य में निहित है। एण्डरसन ने स्वय यह घोषित किया था कि मालगुजारी की अधिकारी तो सरकार है ही, परन्तु इसका इस बात से कोई सम्बन्ध नहीं है कि भूमि का स्वामित्व सरकार में निहित है अथवा व्यक्ति-विशेष में।" (फैक्ट्स एण्ड फैलेसीज ऑफ द बाम्बे लैन्ड रेवेन्यू सिस्टम, पृ० १४७।)

यह तो स्पष्ट है कि कोई भी सभ्य सरकार, इस आधार पर कि वह भू-स्वामिनी है, अपने ऐसे कार्यों को, जिनसे किसान पर निर्दयता अथवा कठोरता वरती जाय, न्यायोचित नही ठहरा सकती। भू-स्वामी हो जाने के वावजूद भी राज्य को कोई वैधानिक अधिकार प्राप्त नही है कि वह भूमि के उपयोग के वदले जैसा चाहे वैसा लगान वसूल कर ले। फिर सरकार केवल वैधानिक अधिकारो के वल पर ही तो सव कार्य नही कर सकती; उसे अपने प्रत्येक कार्य पर नैतिक दृष्टि से भी विचार करना होता है। अत अत्यधिक मालगुज़ारी लगाकर सरकार यह वचाव नही ले सकती कि भूमि पर उसका पूर्ण स्वामित्व है। कभी-कभी यह तर्क भी प्रस्तुत किया जाता है कि भू-राजस्व की आलोचना करने वाले इसे जितना अधिक एव भारदायक समझते हैं, यह वास्तव में उतना नही है, हालांकि यह नही कहा जा सकता कि उनका यह तर्क कहाँ तक सही है। यदि यह मान भी लिया जाय कि भूमि पर राज्य का ही स्वामित्व होता है, तव भी उसे एक सुज्ञानी भू-पति की भाँति व्यवहार करना चाहिए और अन्तत अपने ही हित में उसे भू-राजस्व की ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए जिससे कि किसान के उचित लाभ मे किसी प्रकार कमी न आए अथवा उसका व्यवसाय करने का उत्साह मन्द न पडे अथवा किसी प्रकार उसकी कार्य-क्षमता का ह्रास न हो। उदाहरणार्थ, एक उदार, शुभ-चिन्तक एव सुज्ञानी भू-स्वामी कभी ऐसी जमीनो से वलपूर्वक लगान नही लेगा जो कृषि-कार्य की दृष्टि से अनार्थिक हैं। इसके विपरीत वह पहले छोटे-छोटे खेतो की चकवन्दी करना चाहेगा और जव उनके आकार का इतना विस्तार हो जायगा कि उसकी आय में से व्यय निकालकर भी कुछ वचत हो सकेगी, तभी वह भूमि का लगान वसूल करना चाहेगा। अत. भूमि पर सरकार का आधिपत्य चाहे स्वीकार कर लिया जाय फिर भी अनार्थिक जमीनो पर लगान की छूट की स्थिति भली प्रकार समझ में आ सकती है। साधारण तथा कम मालगुजारी निर्धारित करने वाली वात भी दृष्टि में रखने पर समझ में आ सकती है कि वास्तव में सरकार का जनता से स्वतन्त्र कोई पृथक् हित नही होता है। सरकार अपने लिए सवसे अच्छा काम उसी समय करती है, जव वह जनता की सवसे अच्छी प्रकार से सेवा कर रही हो, क्योकि सरकार वस्तुत जनता ही है।

इस वादविवाद के सम्वन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि कतिपय सैद्धान्तिक प्रश्नो पर दोनो मतो के अनुयायी सहमत हैं। उदाहरणार्थ, यद्यपि सरकार ने यह समझकर कि वही भूमि की स्वामी है, इससे अनुचित लाभ भी उठाने की चेष्टा की है तथापि वास्तव में सरकार की नीति सदैव यही रही है कि वैयक्तिक स्वामित्व की भावना का विकास किया जाय। सरकार ने यह वात साधारणत स्वीकार की है कि इस भावना को किसी प्रकार भी क्षुब्ध करना हानिकारक होगा। एक साधारण सरल हृदय भारतीय किसान के मस्तिष्क मे इस प्रकार का कोई सन्देह नही होता है कि जव तक वह अपनी भू-सम्पत्ति को वश-परम्परा से प्राप्त करने का अधिकार रखता है तथा उसे वेचने, किसी को पट्टे पर देने तथा उसे रहन रखने के लिए स्वतन्त्र है—तथा जिन अधिकारो को देश के राज्य-स्वामित्व के प्रवल समर्थक भी नही छेडना चाहते हैं—तब तक यदि राज्य-स्वामित्व जैसी कोई स्थिति है तो वह कोरे नाम की ही वस्तु है।

सरकार द्वारा अपने वर्तमान अधिकारो में किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप स्वीकार
ी करेगा।[1] इस बात पर भी साधारणत लोग एकमत हैं कि जहाँ तक कर के प्रति
र की दृष्टि से विचार करने का सम्बन्ध है भू-राजस्व को कर समझना चाहिए तथा
जाँच समिति ने इस मत का समर्थन भी किया है, यद्यपि उनका ऐसा करने का
आर यह है कि भू-राजस्व राष्ट्रीय आय में से घटाया जाता है।[2]

इसके अतिरिक्त भू-राजस्व से सम्बन्धित सम्पूर्ण नीति, उदाहरणार्थ, निर्धारण
अधिकतम सीमा, बन्दोबस्त की अवधि इत्यादि के विषय में जो वादविवाद किया
ता है उसमें स्थिर रूप से इस बात का कोई सन्दर्भ नही दिया जाता कि भू-राजस्व
है अथवा लगान। ऐसी स्थिति में यदि सरकार स्पष्ट एव निश्चित शब्दो में यह
षित कर देती कि वह भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व को पूर्ण स्वीकृति प्रदान करती है
ा इस अभिमानपूर्ण बहाने को त्याग देती कि वह स्वय सम्पूर्ण रूप से भू-स्वामित्व
अधिकार रखती है, तो सम्भवत इस सम्बन्ध में होने वाले निरर्थक वादविवाद का
त-कुछ अन्त हो जाता और इससे जनता में पुन विश्वास का सचार भी होता। साथ
यह स्वीकार कर लेने से राज-कर से सम्बन्धित अथवा अन्य किसी प्रकार की भी
ुविधा होने की सम्भावना नही है।

।. **स्थायी बनाम अस्थायी बन्दोबस्त**—पिछली शताब्दी के अन्तिम दिनो में विस्तृत
त्र में तथा बहुत गम्भीर प्रकृति के अकालो के कारण देश के अधिकाश व्यक्तियो को
ोर यातनाओ का शिकार बनना पडा। उसके कारण सरकार की भू-राजस्व सम्बन्धी
ति के प्रति सब लोगो का ध्यान आकर्षित हुआ तथा साधारणत भारत सरकार की
ति तथा इस सम्बन्ध में प्रत्येक राज्यीय सरकार की नीति की स्वर्गीय आर० सी०
ा द्वारा कडी आलोचना की गई तथा दत्त साहब ने इण्डियन सिविल सर्विस के कुछ
ान प्राप्त यूरोपियन सदस्यो के साथ इस विषय पर राज्यसचिव (सेक्रेटरी ऑफ स्टेट)
समक्ष एक प्रार्थना-पत्र प्रस्तुत किया। इसके कुछ समय पूर्व आर० सी० दत्त ने
् १६०० में लार्ड कर्जन के नाम कुछ 'खुले पत्र' भी लिखे थे। लार्ड कर्जन की
कार ने सन् १६०२ में एक महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव प्रकाशित कराया जिसमें समस्त
लोचनाओ का उत्तर दिया गया था तथा राज्यीय सरकारो द्वारा प्रस्तुत रिपोर्टो के
धार पर सरकार की सामान्य नीति की रूप-रेखा दी गई थी।

श्री दत्त ने एक बात यह भी कही कि चाहे स्थायी बन्दोबस्त ४० वर्ष पूर्व ही
रम्भ कर दिया जाता, जब कि सन् १८६० में लार्ड केनिंग ने इसका विस्तार करने का
ताव रखा था, तो भारत इन भयानक तथा उजाडने वाले भयकर अकालो से बच
ता—जिनका शिकार उसे उन्नीसवी शताब्दी के अन्त में होना पडा। उन्होने बगाल के

[1] मेवाड़ का किसान सदैव निम्न कहावत कहता रहता है जो बड़ी स्पष्ट एव उसके अधिकारों की
क है कि 'भोगरा धणी राज हो भूमरा धणी माज हो' अर्थात् कर राज का होता है तथा भूमि मेरी
ी है।—ग्रिग्स, पूर्व उद्धृत, पृ० ६०। यह धारणा मेवाड के किसान की ही नही है वरन् देश के
भागों के किसानों की है।

[2] टैक्सेशन इन्क्वायरी कमिटी रिपोर्ट, पैरा ८४।

किसानो की समृद्धि का मुख्य श्रेय स्थायी वन्दोवस्त को ही दिया तथा यह भी कहा कि उनके इतने अधिक ससाधनो का होना, बुरी फसलो के दिनो में भी उस स्थिति का सामना करने की क्षमता, उनका कृषि-व्यवसाय का विकास करना, पूँजी सचय करना तथा उसे उपयोगी उद्योगो, सार्वजनिक कार्यो एव सस्थाओ में विनियोग करना आदि, इन समस्त कार्यो के पीछे मूल रूप में स्थायी वन्दोवस्त ही है। यद्यपि स्थायी वन्दोवस्त के अव उतने समर्थक न तो सरकारी कर्मचारियो में ही और न गैर-सरकारी व्यक्तियो में ही रह गए हैं, तथापि अव भी यह विषय समाप्त नही हो गया है। उदाहरणस्वरूप सन् १९२४-२५ में वम्बई भू-राजस्व निर्धारण समिति के समक्ष कुछ व्यक्तियो ने गवाही देते हुए कहा था कि वे स्थायी वन्दोवस्त के ही पक्ष में हैं। वगाल मे यह वादविवाद पुन प्रवल हो गया तव भू-राजस्व आयोग की नियुक्ति की गई तथा इस आयोग ने अपने अनुभव प्रकाशित कराये (सेक्शन ३२ देखिए)। अत यह अनुचित न होगा यदि हम स्थायी वन्दोवस्त तथा इसके वगाल में क्रियान्वित होने से सम्वन्ध रखते हुए पक्ष तथा विपक्ष में प्रस्तुत किये जाने वाले तर्कों का सक्षेप में अध्ययन कर लें।

जो इसका समर्थन करते हैं वे यह वात दृढतापूर्वक कहते हैं कि वगाल मे यह अत्यधिक सफल रहा है।[1] (१) जहाँ तक इसके आर्थिक पक्ष का सम्वन्ध है उनका कथन है कि इससे राज्य को एक निश्चित तथा स्थायी मालगुजारी मिल जाती है तथा इसके लिए सरकार को समय-समय पर मालगुजारी के निर्धारण तथा उसे वसूल करने में वहुत अधिक व्यय नही करना पडता। (२) दूसरे, इससे जमीदार किसानो के स्वभावत नेता वन सके हैं जो व्यावहारिक जीवन में सार्वजनिक हित की भावना से प्रेरित होकर शिक्षा-प्रसार, जन-स्वास्थ्य सुधार तथा अन्य कार्य करते रहते हो[2]। (३) जहाँ तक मितव्ययिता का सम्वन्ध है, इससे कृषि-कार्य के प्रति लोगो में साहस का सचार हुआ है जिससे कृषि की उन्नति हुई है तथा कृषक के ससाधनो का विस्तार हुआ है जिससे अभाव अथवा न्यूनता के काल में भी किसानो में स्थिति का सामना करने की विलक्षण क्षमता उत्पन्न हो सकी है। (४) अन्तिम, स्थायी वन्दोवस्त द्वारा अस्थायी वन्दोवस्त की बुराइयो को दूर किया जा सकता है। ये बुराइयाँ इस प्रकार की थी जैसे मालगुजारी के पुनर्निर्धारण के समय काश्तकार को अत्यधिक परेशान करना, दुवारा वन्दोवस्त करने के लिए वहुत अधिक व्यय करके कर्मचारी आदि रखना, वन्दोवस्त के अन्तिम दिनो में स्वाभाविक रूप से काश्तकारो की भूमि के क्षय होने की प्रवृत्ति—जो उनकी

---

१. स्थायी वन्दोवस्त के पक्ष में हाल ही में प्रस्तुत किये गए तर्कों के सम्वन्ध में वर्दवान के महाराजाधिराज वहादुर, सर विजयचन्द मेहताव तथा श्री वी० के० राय चौधरी के भिन्न मत प्रकट करने वाली टिप्पणी देखिए। रिपोर्ट ऑफ द लैण्ड रेवेन्यू कमीशन, वगाल, खण्ड १, पैरा २९-३४।

२ यह भी तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि स्थायी वन्दोवस्त द्वारा जमींदारों के लाभ में वृद्धि हुई जिसके फलस्वरूप वे ऐसे भूमि गत पट्टे वाले नियुक्त कर सके जो भूमि पर खेती करते थे तथा उनके इस कार्य के कारण वगाल में ऐसे जमींदारों की उन्नति हुई जिनके पास सस्कृति तथा राजनीति के हेतु पर्याप्त समय था, जो शिक्षा प्राप्त करके अनेक व्यवसाय तथा सरकारी नौकरियाँ कर सकते थे तथा ज राजनीतिक प्रगति के लिए उत्तरदायी हैं। रिपोर्ट ऑफ द लैण्ड रेवेन्यू कमीशन, वगाल, खण्ड १, पैरा ७७।

जान-बूझकर की हुई लापरवाही के कारण होती थी ताकि उस भूमि का लगान बढाया न जा सके, उद्योगो के विकास तथा कृषि-सुधार में रुकावटें तथा किसी वैधानिक अथवा न्याय-प्रणाली के उचित नियन्त्रण के अभाव में भू-राजस्व सम्बन्धी सरकारी कर्मचारियो के हाथो में समस्त अधिकारो का केन्द्रित हो जाना इत्यादि ।

(१) स्थायी बन्दोबस्त के विरुद्ध महत्वपूर्ण तर्क यह है कि इससे राज्य की मालगुजारी एक निश्चित रकम पर सीमित हो गई है तथा यह रकम भूमि की उपज को देखते हुए राज्य के भाग की जो रकम होनी चाहिए थी उससे कही कम थी। यही नही, जिन राज्यो में स्थायी बन्दोबस्त नही है, वहाँ की भूमि चाहे बगाल की भूमि से कम उपजाऊ हो, फिर भी स्थायी बन्दोबस्त वाले राज्यो की मालगुजारी की रकम उन राज्यो से बहुत कम है। जनसख्या की वृद्धि तथा उसके परिणामस्वरूप खेती के विस्तार एव भूमि के मूल्य में हुई वृद्धि में भी सरकार को कोई अश नही मिल सका है। स्थायी बन्दोबस्त के फलस्वरूप वह मालगुजारी चलती आ रही है जिसके निर्धारण का भूमि के उपजाऊपन से कोई सम्बन्ध नही है। इस प्रकार निर्धारित की गई मालगुजारी प्रत्येक जिले में भिन्न है तथा जैसे-जैसे समय बीतता जाता है यह और अधिक असमान होती जाती है। इसमें सन्देह नही कि राज्य को एक निश्चित तथा स्थायी मालगुजारी मिल जाती है, किन्तु इसके लिए राज्य को बहुत बडी कीमत चुकानी पडती है। सन् १९३८-४० के बगाल के भू-राजस्व आयोग के अनुमान के अनुसार सरकार को प्रति वर्ष २ करोड रुपये से ८ करोड रुपये के बीच की हानि होती है। इसमें वह हानि सम्मिलित नही है जो सन् १७९३ से रुपये की क्रय-शक्ति के ह्रास के कारण हुई।[१] एक कृषि-प्रधान देश में जहाँ भू-राजस्व से प्राप्त आय राज्य की आय का प्रमुख साधन है, वहाँ भू-राजस्व के स्थायी एव लोचहीन होने के कारण बगाल सरकार को अत्यधिक असुविधा का सामना करना पडता है तथा इसके परिणामस्वरूप अनेक दिशाओ में जहाँ सरकार को कार्य करने की आवश्यकता थी, वहाँ वह कार्य करने से रुक जाती है। यह आशा कि स्थायी बन्दोबस्त के फलस्वरूप राज्य की आय के अन्य साधनो में वृद्धि सम्भव हो सकेगी कोरी आशा ही रह गई तथा जहाँ कही सफल भी हुई वहाँ उतनी नही जितनी कि सोची गई थी। इस प्रकार जमीदारो की निरन्तर बढती हुई सम्पन्नता में सरकार का जो उचित अश था उससे वह वचित ही रही। यह उल्लेखनीय है कि जमीदारो के वैभव की वृद्धि उनके प्रत्यक्ष प्रयत्नो के परिणामस्वरूप न थी वरन् कुछ अनुकूल स्थितियाँ ही उत्पन्न हो गई थी, जैसे जनसख्या में वृद्धि, सुधरे हुए सचार-साधन, मूल्यो में वृद्धि आदि।[२] इसके अतिरिक्त स्थायी बन्दोबस्त के कारण सरकार को खनिज तथा नाव चलाने योग्य नदियो में मछलियो आदि पर लगाये जा सकने योग्य लगान की भी हानि

१ रिपोर्ट ऑफ द लैण्ड रेवेन्यू कमीशन, बगाल, खण्ड १, पैरा ७३ और ८०।

२. बगाल के स्थायी बन्दोबस्त के कुछ परिणामों का अध्ययन करने के लिए 'रिपोर्ट ऑफ द इण्डियन स्टेट्यूटरी कमीशन' के ३८१-२ पैरा देखिए, श्री एम० ए० हक द्वारा लिखित 'द मैन बिहाइण्ड द प्लो', पृष्ठ सख्या २२८-६७ तथा रिपोर्ट ऑफ द लैण्ड रेवेन्यू कमीशन, बगाल, खण्ड १, पैरा ७२-९३ भी देखिए।

हुई क्योकि स्थायी बन्दोबस्त के समय इन प्राकृतिक ससाधनो का कोई ख्याल नही किया गया था जिनके कारण सामञ्जस्य स्थापित किये बिना ही जमीदारो ने ऐसे साधनो का अपने स्वार्थ-हित खूब उपयोग किया। यह उल्लेखनीय है कि भूमि पर कम कर लगाने के पक्ष में जो नीति रही उसके परिणामस्वरूप लोगो में अपना धन उद्योगो की अपेक्षा भूमि में विनियोग करने के प्रति अधिक झुकाव हुआ तथा भूमि का लगान वसूल करने के उद्देश्य से ही इतनी अधिक मात्रा में पूँजी का विनियोग किया गया न कि कृषि अथवा उद्योग-धन्धो की उत्पादन-क्षमता बढाने के ध्येय से।[1] (२) स्थायी बन्दोबस्त के पक्ष मे कभी जो राजनीतिक दृष्टि से यह तर्क प्रस्तुत किया जाता था कि इस बन्दोबस्त के अन्तर्गत जमीदारो की स्वामि-भक्ति प्राप्त की जा सकी है, इसमें वस्तुत अब कोई सत्यता नहीं रह गई है। यही नहीं, अब तो राज्यीय सरकारें समस्त जनता से राजभक्ति प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करना चाहती हैं; वे केवल कुछ बडे ज़मीदारो की स्वामि-भक्ति से ही सन्तुष्ट नही रहना चाहती। (३) जहाँ तक इस बात का सम्बन्ध है कि यह आशा की जाती थी कि ज़मीदार धनिक एव सहृदय होंगे तथा अपनी रयत के स्वाभाविक नेता के रूप में उनकी स्थिति को ऊँचा उठाने का यत्न करेंगे, उसके सम्बन्ध में भी साधारणत· यह विश्वास किया जाने लगा कि यह आशा भी फलीभूत नही हो सकी है। यही नही, "यद्यपि बगाल में काफी सख्या में योग्य, सहृदय तथा मुज्ञानी ज़मीदार हे तथा देश के अन्य भागो में भी है, किन्तु इनके साथ-ही-साथ ज़मीदारी प्रथा की कुछ ऐसी विशिष्ट कुरीतियाँ भी है, जो बगाल में ही नही पनप रही वरन् देश के अन्य भागो में भी पनप रही है। यह बुराई इस प्रकार की है जैसे कार्य से अनुपस्थित होना, क्रूर-हृदय प्रतिनिधियो द्वारा रियासत का इन्तज़ाम कराना, ज़मीदार तथा आसामियो के मध्य दु.खमय सम्बन्ध रहना, आसामी तथा ज़मीदार के बीच बहुत सख्या में तथा विभिन्न अधिकार-प्राप्त अनेक भूमिगत अधिकार-सम्पन्न मध्यस्थो का उपस्थित होना, आदि आदि।" निश्चित लगान तथा भूमि के आर्थिक लगान में काफी गुञ्जाइश रहने के कारण भूमि एक के पश्चात् दूसरे के द्वारा पट्टे पर दी जाने लगी थी जिससे आसामी तथा ज़मीदार के बीच मध्यस्थो की एक लम्बी कडी सी बन गई थी। परिणामस्वरूप ज़मीदार तथा रैयतो के प्रत्यक्ष सम्बन्ध लगभग समाप्तप्राय हो गए और लार्ड कार्नवालिस की इग्लैण्ड के नमूने पर बगाल में ज़मीदार तथा आसामी व्यवस्था स्थापित करने की इच्छा पूरी न हो सकी। "भूमि में किसी विशिष्ट व्यक्ति की रुचि नही रह गई। ज़मीदार तथा आसामी के मध्य जो एक लम्बी कडी स्थापित हो गई, उसमें से कृषि के कल्याण करने का उत्तरदायित्व किसी पर भी निश्चित नही किया जा सकता था।"[2] यह बुराई उस स्थिति में और भी अधिक बढ जाती है जब भूमि में स्वामित्व के अधिकार और अधिक बढते चले जाते हैं। (४) जहाँ तक स्थायी बन्दोबस्त के कारण बगाल की समृद्धि का सम्बन्ध है, उसके सम्बन्ध में यह तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि ऐसा तो वस्तुत दूसरे कारणो से ही हुआ है, जैसे

१ रिपोर्ट ऑफ द लैण्ड रेवेन्यू कमीशन, बगाल, खण्ड १, पैरा ८०।
२. वही, पैरा ७८।

विशेष काश्तकारी कानूनो के अन्तर्गत आसामियो की रक्षा, जलवायु की अनिश्चितता से बगाल की अपेक्षाकृत मुक्ति, सञ्चार (आवागमन) के अत्यन्त सुविधाजनक साधन, यहाँ के जूट का व्यावहारिक रूप से विश्व में एकाधिकार तथा कलकत्ता मे होने वाला अत्यधिक व्यापार। परन्तु इस विचार की श्री आर० सी० दत्त ने बहुत कडे शब्दो में आलोचना भी की थी। उनका कथन था कि यद्यपि स्थायी बन्दोबस्त के अन्तर्गत आसामियो के लिए अच्छा कार्य हुआ, उसे पूर्ण करने एव उसकी पुष्टि करने के लिए काश्तकारी कानूनो की आवश्यकता भी थी, तथापि उन्होने सरकार के इस कथन के सम्बन्ध में बहुत विरोध प्रदर्शित किया कि जब तक काश्तकारी विधान पास न किये गए स्थायी बन्दोबस्त ने कोई भी भलाई नही की। इस सम्बन्ध मे श्री दत्त ने वेलसले, मिण्टो, हेस्टिंग्ज़ तथा ऐसे ही अन्य विख्यात, राज-काज में कुशल राजनीतिज्ञो के उदाहरण प्रमाणस्वरूप प्रस्तुत किये। (५) जहाँ तक शासन-सम्बन्धी सुविधा का प्रश्न है, बगाल की पेचीदा व्यवस्था ने अत्यधिक मुकदमेबाजी को जन्म दिया। इस व्यवस्था के अन्तर्गत सब लेखे गडबड हैं तथा अनिश्चित रूप से रखे जाते हैं। लगान वसूल करने की कोई सन्तोषजनक विधि नही है जिससे कभी-कभी लगातार अनेक वर्षो तक लगान नही दिया जाता। परिणामस्वरूप किसानो में लगान न देने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। जैसा कि बगाल भू-राजस्व आयोग ने कहा था कि वर्तमान ज़मीदारी व्यवस्था में ज़मीदार, काश्तकार तथा किसान, तीनो के स्वामित्व वाली व्यवस्थाओ के मुख्य लक्षण है, किन्तु इनके गुणो की अपेक्षा इनके अवगुण इसमें कही अधिक है।[१] (६) अन्तिम, इस बात के विरुद्ध कि बन्दोबस्त के प्रत्येक बार दुहराने में बहुत समय लगता है, बहुत व्यय होता है तथा गाँवो की अर्थ-व्यवस्था ही सम्पूर्ण रूप से छिन्न-भिन्न हो जाती है, अब यह कहा जा सकता है कि इतने लम्बे अनुभव के परिणामस्वरूप अब बन्दोबस्त का दुहराना कोई मुश्किल कार्य नही रह गया है तथा यह काफी सरलता तथा शीघ्रता से किया जा सकता है। वर्तमान व्यवस्था के अन्तर्गत भूमि-सम्बन्धी लेखे जो स्थायी रूप से लिखे जाते हैं प्रतिवर्ष दुहराए जाने के कारण प्रत्येक बन्दोबस्त तक अन्तिम तिथि की स्थिति के अनुसार पूर्ण रहते हैं। इन लेखो में भूमिगत अधिकार का विशेष रूप से उल्लेख रहता है। इसके साथ खेतो की सीमाएँ निर्धारित की हुई रहती ही हैं, भूमि का भी स्थायी रूप से वर्गीकरण होता है। इस सबसे बन्दोबस्त का कार्य बहुत सरल हो जाता है और फिर बन्दोबस्त भी साधारणत २९-३० वर्ष के अन्तर से तो होता ही है। अत गाँवो की अर्थ-व्यवस्था मे कोई गडबडी पैदा नही होने पाती तथा हाल के बन्दोबस्तो में तो सरकार के व्यय मे भी बहुत कमी रही है। यह भी प्रयत्न किया जाता है कि छोटे कर्मचारियो की सख्या कम-से-कम कर दी जाया करे तथा बन्दोबस्त-सम्बन्धी अधिकाश कार्य-दायित्व सम्पन्न एव बडे राज्य-कर्मचारियो को ही दिया जाय जो किसान के प्रति स्वभावत ही सहृदय होते हैं। यह भी निश्चित रहता है कि यदि स्थायी रूप से अथवा बहुत लम्बे समय तक खेतो में सुधार कराये जायँगे तो उनके कारण लगान में कोई वृद्धि न की जायगी। इस प्रकार

१ रिपोर्ट, खण्ड १, पैरा ८५।

लगान-वृद्धि के भय से भूमि का स्थायी सुधार न करने वाली प्रवृत्ति को भी समाप्त करने की चेष्टा की जाती है। यह भी कहा जाता है कि स्थायी बन्दोबस्त के अन्तर्गत लगान की कडाई के साथ वसूलयाबी वाली परेशानी भी समाप्त हो जाती है, क्योंकि अस्थायी बन्दोबस्त के अन्तर्गत लगान देर से वसूल करने अथवा छूट देने के सम्बन्ध में काफी उदार नियम रहते है। इस प्रकार वर्तमान अस्थायी बन्दोबस्तो में स्थायी बन्दोबस्तो के अनेक गुण विद्यमान रहते है, किन्तु कमियाँ कम रहती है तथा इसके द्वारा राज्य के न्यायोचित अश तथा कृपको के अधिकार एव उनकी सुविधाओ के बीच बडा सुन्दर सामजस्य स्थापित किया जा सकता है।

स्थायी बन्दोबस्त के सम्बन्ध में शासन-सम्बन्धी मत अब यह है कि अस्थायी बन्दोबस्त वाले प्रदेशो मे स्थायी बन्दोबस्त के विस्तार के प्रश्न के सम्बन्ध में तो सोचा भी नही जा सकता। जैसा कि लार्ड इरविन ने एक बार कहा था कि लार्ड कार्नवालिस के समय से अब विश्व के व्यापार एव बाजारो में भारत की स्थिति बहुत ऊँची हो गई है तथा देश की वित्त-सम्बन्धी एव सामाजिक समस्याओ मे ऐसे नवीन तत्त्व उपस्थित हो गए है जिनके कारण देश की आय एव उसके व्यय में बहुत अधिक प्रत्यास्था सभव करने की आवश्यकता आ पडी है। अब निरन्तर सरकार के सम्मुख यह दायित्व आता जा रहा है कि वह नवीन कार्य करे तथा सरकार के पुराने कार्यो मे सुधार करे, किन्तु इसके लिए सरकार के पास प्रत्येक समय अधिक-से-अधिक धन की आवश्यकता पडती जाती है। ऐसी स्थिति मे यह असम्भव हो जाता है कि भूमि के मूल्य में होने वाली वृद्धि में सरकार का जो न्यायोचित अश हो, उसे वह किसी भी कारण से छोड़ दे। इस बात में अब कोई सन्देह नही है कि अब वह समय आ गया है जब बगाल तथा अन्य स्थानो की अस्थायी बन्दोबस्त वाली व्यवस्था को पुन· दुहराया जाय, जिससे कि कर के भार के वितरण में न्याय सभव हो सके तथा आय में लोच लाई जा सके।[1] ऐसा करने में चाहे इस प्रकार की कोई आपत्ति उठाई जाय कि इस प्रकार का सुधार करने से सरकार एक निश्चयपूर्वक की गई प्रतिज्ञा तथा नियम भग करेगी तो उसके उत्तर में यह आसानी से कहा जा सकता है कि लगभग डेढ शताब्दी से भी अधिक समय व्यतीत हो जाने के उपरान्त मौलिक पट्टे का न तो अब कोई अर्थ रह गया है और न वह न्यायोचित ही रह गया है तथा अब स्वार्थी हितो को सार्वजनिक हित की वेदी पर फलने-फूलने का अवसर प्रदान नही किया जा सकता। "पूर्वकाल में जो प्रतिज्ञा की गई थी वह भूत की आवश्यकता थी, अब उसे भग करना वर्तमान की आवश्यकता है," यह मेकियाविली का एक सिद्धान्त है जिसमें निष्कपटता की झलक स्पष्ट ही दीख पडती है। साथ ही व्यावहारिक दृष्टि से इस सिद्धान्त की बुद्धिमत्ता को भी कोई स्वीकार किये बिना न रहेगा, विशेष रूप से उस समय जब कि हम यह देखते है कि भूत और वर्तमान लगभग डेढ शताब्दी की लम्बी किन्तु महत्त्वपूर्ण अवधि के द्वारा एक-दूसरे से अलग हो चुके है।

सन् १९३५ के भारतीय विधान ने सार्वजनिक हित के लिए आवश्यक

१. देखिए, टैक्सेशन इन्क्वायरी कमीशन रिपोर्ट, पैरा ८७-८।

होने पर स्थायी बन्दोबस्त को समाप्त कर देने का अधिकार समाप्त नही किया। उक्त विधान के अन्तर्गत कतिपय वैधानिक सावधानियाँ रखी गई ताकि गवर्नरो तथा गवर्नर-जनरल के हेतु नियमित आदेशो के अनुसार हिज़ मैजेस्टी का अभिप्राय समझा दिया जाय।

३२ बगाल का भू राजस्व आयोग (१९३८-४०)—बगाल की सरकार ने नवम्बर १९३८ में सर फ्रान्सिस फ्लाउड की अध्यक्षता मे एक आयोग की नियुक्ति की जिसको यह कार्य सौंपा गया कि वह बगाल की वर्तमान भू-राजस्व व्यवस्था तथा विशेष रूप से स्थायी बन्दोबस्त को ध्यान में रखकर उसकी जाँच करे तथा सरकार को वर्तमान व्यवस्था के गुण तथा अवगुणो से अवगत कराए। इस आयोग ने अपनी रिपोर्ट मार्च सन् १९४० में प्रस्तुत की।

इस आयोग का बहुमत इस पक्ष में था कि सन् १७९३ मे स्थायी बन्दोबस्त लागू करने के जो भी न्यायपूर्ण कारण एव स्थितियाँ रही हो, वर्तमान स्थिति में यह बिलकुल अनुकूल नही रह गया है तथा जमीदारी प्रथा में अब इतने दोष आ गए हैं कि वह देश के हित एव स्वार्थ के हेतु कोई कार्य नही कर सकती (ऊपर सेक्शन ३१ देखिए)। बहुमत के अनुसार वर्तमान व्यवस्था के स्थान पर एक ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए जिससे वास्तविक खेती करने वाला काश्तकार भूमि सम्बन्धी पट्टा सीधे सरकार से ले तथा सरकार लगान वसूल करने वाले अन्य सब व्यक्तियो से यह अधिकार अपने हाथ में ले ले।[1] आयोग ने यह भी कहा कि स्थायी बन्दोबस्त के स्थान पर अस्थायी बन्दोबस्त कर देने से भी कोई सारपूर्ण लाभ न होगा (पैरा १३२)। ध्येय तो यह होना चाहिए कि स्थायी बन्दोबस्त तथा जमीदारी प्रथा के स्थान पर रैयतवारी व्यवस्था स्थापित की जाय ताकि सरकार तथा वास्तविक काश्तकार के बीच प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित किये जा सकें और सरकार स्वय ही ज़मीदार की हैसियत से कृषको के कल्याण की भावना से कृषि-सुधार हेतु नाना प्रकार की योजनाएँ क्रियान्वित करे। (पैरा ९४-५)।

इस आयोग ने बहुमत से यह सिफारिश की कि एक ऐसा विधान प्रस्तावित किया जाय जिसके अन्तर्गत लगान वसूल करने वाले प्रत्येक किसान, यहाँ तक कि भूमि जोतने वाले वास्तविक काश्तकार तक के हित का क्रय कर लिया जाय। भूमि के स्वामियो तथा पट्टेदारो को उनके वास्तविक लाभ का दस गुना क्षतिपूर्ति के रूप में दे दिया जाय। यदि सम्भव हो सके तो इसे नकद दे दिया जाय अथवा यह रकम उन्हे बन्धपत्रो के (बाण्डो) रूप मे दे दी जाय जिनका भुगतान ६० वर्ष के पश्चात् हो सके। उन्होने खनिज तथा मछलियो की आय पर भी अधिकार प्राप्त करने को कहा। जब तक राज्य द्वारा इस प्रकार क्रय करने का कार्य समाप्त न हो जाय, तब तक के लिए किसी अन्य शुल्क के बजाय कृषि-आय-कर लगाने का सुझाव रखा। उन्होने यह भी कहा कि उक्त कर की सम्पूर्ण रकम को केवल कृषि के सुधार हेतु ही लगाया जाय।[2]

---

१ रिपोर्ट, खण्ड १, पैरा ९६।

२ २७ अप्रैल सन् १९४५ को बगाल विधान सभा ने बगाल कृषि आय कर बिल पास किया जिसके

इस आयोग की रिपोर्ट पर समस्त सदस्यो की सहमति न थी। इसके छ सदस्यो ने चार विषयो पर अपने विरोधी मत व्यक्त किये। विरोध प्रदर्शित करने वाले सदस्यो के मतानुसार राज्य द्वारा अधिकार प्राप्त कर लेना केवल वित्त-सम्बन्धी दृष्टि से ही सकटमय प्रयोग न होगा, वरन् सामाजिक तथा आर्थिक कारणो से भी यह अनुचित सिद्ध होगा। उनके मतानुसार बगाल के काश्तकारो की आर्थिक कठिनाइयाँ भू-राजस्व व्यवस्था से सम्बन्धित नही हैं। इन कठिनाइयो के मुख्य कारणो में से जनसख्या का बढता हुआ दबाव, हिन्दुओ तथा मुसलमानो के उत्तराधिकार सम्बन्धी नियम जिनके कारण खेती की जाने वाली जमीन का अपखण्डन एव अन्तर्विभाजन हो गया है, वर्ष के अधिकाश भाग में कृषि से बेकार रहने पर धनोपार्जन के अन्य किसी भी प्रकार के साधनो का अभाव तथा कृषि पदार्थो के मूल्यो में कमी आदि कुछ महत्त्वपूर्ण कारण हैं। वर्तमान व्यवस्था के जो भी दोष रहे हो, उनका कहना था कि इस व्यवस्था के अन्तर्गत बगाल में मौरूसी किसान अन्य राज्यो की अपेक्षा कम लगान देता है तथा काश्तकारी विधानो के अन्तर्गत उसे अन्य राज्यो की अपेक्षा अधिक सरक्षण प्राप्त है। ऐसी अवस्था में राज्य द्वारा अधिकार प्राप्त कर लेने से काश्तकारो को कोई लाभ न होगा तथा ऐसी किसी भी योजना के क्रियान्वित होने से बगाल में बहुत ही अनुचित प्रकार का सामाजिक बवण्डर खडा हो जायगा, जिसके शिकार अधिकाश मध्यमवर्गीय परिवार ही होगे जिनके भूमि-गत हित समाप्त कर दिये जायँगे। इसके अतिरिक्त क्षति-पूर्ति भी थोडी है तथा इसका आधार बहुत ही असन्तोषजनक है। इस बात का भी भय है कि यदि सरकार ही भूमि पर सम्पूर्ण स्वामित्व प्राप्त कर लेगी तो ग्रामीण वोट देने वालो के दबाव में आकर लगान भी कम हो जाय (पैरा ८९-९४)।

आयोग के बहुमत ने उन कारणो के सम्बन्ध में कोई आपत्ति नही की जो अल्पमत द्वारा बगाल की कृषि की हीन अवस्था के लिए उत्तरदायी ठहराये गए थे। परन्तु उन्होने इस बात पर जोर देकर कहा कि ज़मीदारी व्यवस्था उक्त स्थिति को लाने का एक महत्त्वपूर्ण सहायक कारण रही है तथा अल्पमत ने जिन कारणो का उल्लेख किया है उनमे सबसे सरल रीति से इसके दोषो का निवारण किया जा सकता है। बहुमत ने इस बात को स्वीकार किया कि राज्य द्वारा अधिकार प्राप्त कर लेने वाले उनके प्रस्ताव के परिणामस्वरूप बगाल की ग्राम्य अर्थ-व्यवस्था में एक महत्त्वपूर्ण सैद्धान्तिक अन्तर आ जायगा जिससे समस्त राज्य के सामाजिक तथा आर्थिक ढाँचे पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पडेगा। साथ ही उन्होने इस बात को भी स्वीकार किया कि इतना महत्त्वपूर्ण परिवर्तन शनै-शनै. कुछ वर्षो में ही किया जा सकेगा। यह शासन-सम्बन्धी बहुत बडा कार्य होगा, जो सरकार के समस्त अगो द्वारा पूर्ण उत्तरदायित्व के साथ अपने कर्तव्यो का पालन किये बिना पूरा न किया जा सकेगा। उन्होने सम्भावित सामाजिक छिन्न-भिन्नता की सम्भावना पर भी अपनी सहमति प्रकट की, परन्तु उनका यह मत था कि सम्पूर्ण राज्य के हित को ध्यान में रखते हुए वर्तमान भू-धृति व्यवस्था में परिवर्तन किये बिना उसे चालू नही रखा जा सकता तथा इसके दोष तभी दूर किये जा

अन्तर्गत ३,५०० रु० प्रति वर्ष से अधिक की कृषि आय पर कर लगाने की व्यवस्था की गई।

सकते है जब सरकार वास्तविक काश्तकार से प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित कर ले (पैरा १३८)।[1]

२३ बन्दोबस्त की अवधि—इस सम्बन्ध में काफी मतभेद है कि बन्दोबस्त की अवधि कम-से-कम हो अथवा अधिक-से-अधिक। कुछ लोग कहते हैं कि बन्दोबस्त केवल १० वर्ष के लिए ही तय किये जायँ, किन्तु इसके विपरीत कुछ व्यक्ति चाहते हैं कि बन्दोबस्त की अवधि ९९ वर्ष निश्चित की जाय। जो लोग थोडी अवधि वाले बन्दोबस्त चाहते हैं, वे यह तर्क रखते है कि इससे सरकार तथा समुदाय को यह लाभ होगा कि सामान्य सम्पन्नता के दिनो में विना परिश्रम किये जो वृद्धि होगी उसमें सरकार अपना उचित अश प्राप्त कर सकेगी। यह तर्क उन प्रदेशो में विशेप रूप से लागू होता है जहाँ आर्थिक समाधानो की उन्नति अति शीघ्रता से हो रही है। साथ ही उनका यह भी कहना था कि इससे एक लाभ यह होगा कि कृषि-जमीनो के लगान गिरते समय तथा कृषि-पदार्थों के मूल्यो में गिरावट आने के समय कम अवधि वाले बन्दोवस्तो मे मालगुजारी का कम निर्धारण किया जाना सम्भव है जिससे कृपकों को तुरन्त सहायता प्राप्त हो सकेगी। यह भी कहा गया कि थोडी अवधि वाले बन्दोवस्तो में हर बन्दोवस्त के समय थोडा-थोडा लगान बढ़ाते रहने से जनता में कम असन्तोष फैलेगा। इसके विपरीत उस स्थिति मे जव लम्वी अवधि वाले वन्दोबस्तो के समाप्त होने पर फिर लम्बे समय के लिए किये जाने वाले वन्दोबस्त के समय यदि वहुत अधिक लगान में वृद्धि कर दी जाय तो अधिक असन्तोप फैलेगा। यह भी कहा जाता है कि लम्वी अवधि वाले बन्दोवस्त लगान देने वाले की दृष्टि से कम परेशान करने वाले होते है। उसे यह भय भी नहीं रहता कि यदि वह भूमि में सुधार कर लेगा तो उस पर लगान बढ जायगा। ऐसी स्थिति में वह अपने आर्थिक साधनो को भली प्रकार से एकत्र करके अपनी भूमि का स्थायी सुधार करा सकता है। यह मान लेने के उपरान्त भी कि नई मालगुजारी के निर्धारित करने हेतु एक उचित एव वैज्ञानिक विधि का अनुसरण किया गया है, तुरन्त ही यह कह देना कठिन है कि निश्चित रूप से अमुक अवधि आदर्श रहेगी तथा शेष सब ठीक न रहेगी। देश में साधारण विचारधारा यह है कि वन्दोबस्त लम्बी अवधि के लिए किये जायँ तथा उसे पुन दुहराने के समय लगान बढाने के सम्बन्ध में साधारणत यह सोच ही लिया जाता है कि ऐसा तो होगा ही। यह उल्लेखनीय है कि कम-से-कम एक राज्य, पजाव, में सन् १९२९ के पजाव भू-राजस्व सशोधित विधान के अन्तर्गत वन्दोबस्त की अवधि बढाकर ४० वर्ष के लिए कर दी गई। वम्बई भू-राजस्व निर्धारण

---

१ मार्च १९४५ में वगाल की सरकार ने फ्लाउड कमीशन की सिफारिशों को क्रियान्वित करने का निश्चय किया। इसे फरीदपुर जिले से प्रारम्भ किया गया जहाँ वन्दोबस्त सम्बन्धी कार्य किया जा रहा था। यह अनुमान लगाया गया कि अन्य सव जिलों में इस योजना के विस्तार करने से राज्य की मालगुजारी लगभग १२ करोड़ रुपये प्रतिवर्ष के हिसाब से बढ जायगी।

अखिल भारतीय कांग्रेस यह ऐलान कर चुकी है कि वह सरकार तथा काश्तकार के बीच सब मध्यस्थों को समाप्त कर देगी। इसी नीति को क्रियान्वित करने के उद्देश्य से काग्रेस की कार्यकारिणी ने अक्तूबर सन् १९४६ में एक प्रस्ताव पास किया जिसके अन्तर्गत समस्त राज्यीय काग्रेस सरकारों से यह कहा गया कि वे जमींदारी की समाप्ति के सम्बन्ध में अपने प्रस्ताव भेजें।

समिति ने ३० वर्ष की अवधि की सिफारिश करते हुए कहा कि "३० वर्ष कृषको के जीवन में एक पीढी है। यदि किसान को इस अवधि के प्रारम्भ में ही इस बात का ज्ञान हो जाय कि सरकार उसकी मालगुजारी को बढा सकती है, तो उसके पास इतना समय रहता है कि वह अपने सब व्ययो का अनुमान लगाकर अपने जीवन का रहन-सहन इस प्रकार निश्चित कर लेता है और जिस अनुपात मे मालगुजारी में वृद्धि की जाने की सम्भावना होती है, उसी के अनुसार वह अपनी स्थिति को बना लेता है। इसके अतिरिक्त इस बीच में यदि उसकी भूमि का मूल्य बढ जाता है अथवा कृषि-पदार्थों के मूल्यो मे निरन्तर वृद्धि होती है अथवा बाजारो तथा सञ्चार-साधनो में सुधार हो जाता है, तो उसकी आर्थिक स्थिति और भी अच्छी हो जाती है और वह बन्दोबस्त के पुन दुहराये जाने के समय मालगुजारी में होने वाली वृद्धि के लिए अपने को और भी तैयार कर लेता है।" श्री एण्डरसन इतनी लम्बी अर्थात् ३० साल की अवधि के विरुद्ध थे क्योकि उस समय बम्बई की पद्धति मे यह दोप था कि प्रत्येक बन्दोबस्त के समय, जो ३३ प्रतिशत[1] वृद्धि का नियम था उससे कृषि के लाभो पर सब स्थानो पर समान रूप से कर लगाना सम्भव न था। लाभ अथवा लगान की वृद्धि भू-राजस्व की अपेक्षा तीव्रतर होती है तथा यह प्रति ३० वर्षो में ३३ प्रतिशत की अधिकतम दर से बढ सकते है।[2]

३४. मालगुजारी निर्धारण के सिद्धान्त—भारत के विभिन्न मालगुजारी-सम्बन्धी बन्दोबस्तो का अध्ययन करते समय, जैसा कि हम देख चुके है, कोई सर्व स्वीकृत तथा सदैव प्रयोग में लाये जाने वाले ऐसे सिद्धान्त नही है, जो मालगुजारी के निर्धारण किये जाते समय सदैव व्यवहृत होते हो। तथ्य तो यह है कि लगभग सभी राज्यो के सैद्धान्तिक नियम एक-दूसरे से भिन्न रहे है तथा अनेक बातो के आधार पर उनमें परिवर्तन किये जाते रहे है। यही नही, इस सम्बन्ध में बन्दोबस्त अधिकारी को अपना स्वतन्त्र निर्णय करने की भी छूट दी गई है। उत्तरप्रदेश, पजाब तथा मध्यप्रदेश में मालगुजारी निर्धारित करने का सैद्धान्तिक आधार आर्थिक लगान है तथा मद्रास में वास्तविक उपज। बम्बई में कुछ समय पूर्व तक निश्चयात्मक रूप से कोई भी आधार नही था। वहाँ केवल अनुभव के आधार पर सामान्य आर्थिक स्थिति को दृष्टि में रखते हुए बन्दोबस्त अधिकारी को जो उचित प्रतीत होता था, उसी के आधार पर वह मालगुजारी निर्धारित कर देता था।

३५. मालगुजारी निर्धारित करने के आधार के रूप में लगान-मूल्य—हाल ही में बम्बई[3] में जिस रीति को अपनाया गया, अर्थात् लगान-मूल्य को मालगुजारी निर्धारित करने का आधार बनाना, उससे ऐसे प्रश्न उपस्थित होते है, जो स्थानीय महत्त्व से भी अधिक महत्त्व के है। कृषि के लाभ को जानने के लिए भू-लगान के आँकडो पर निर्भर रहने के लिए

---

१ सन् १९३९ के बम्बई भू-राजस्व नियम सशोधित विधान के अन्तर्गत इसे घटाकर २५ प्रतिशत कर दिया गया।

२. 'फैक्ट्स एण्ड फैलेसीज़ ऑफ द बाम्बे लैन्ड रेवेन्यू सिस्टम', पृष्ठ १०९।

३. सेक्शन २७ और ४४ भी देखें।

इस दृष्टि से कहा जाता है कि यह विधि अधिक निश्चित है तथा इसके अपनाने से वन्दोवस्त अधिकारी अपने कार्य का औचित्य अधिक विधिपूर्वक ज्ञात कर सकता है—अपेक्षाकृत उस स्थिति के जब वह कोई अन्य विधि अपनावे—जो फसलो, कीमतो, सञ्चार-साधन की उन्नति आदि पर आधारित हो। परन्तु सन् १९२९ की वारदोली की पेचीदा स्थिति ने यह प्रमाणित कर दिया कि जब तक पूर्ण सावधानी के साथ प्रयुक्त न किये जायँ, लगान-सम्बन्धी आँकडे गम्भीर अशुद्धियो तथा असहनीय मालगुजारी के अधिक एवम् असहनीय निर्धारण को जन्म दे सकते है। वास्तविक लगान कई कारणो से सच्चे लगान से वहुत अधिक हो सकता है। ये कारण इस प्रकार के हो सकते है—जैसे काश्तकारो में वहुत अधिक स्पर्धा हो, आसामी जमीदार का ऋणी हो तथा ऐसी स्थिति मे वह वहुत अधिक लगान देने के लिए वाध्य कर लिया जाय, इस लगान में ऋण पर लगाये जाने वाले व्याज की रकम भी सम्मिलित हो जिससे भूमि की उपज का कोई सम्वन्ध न रहे, लगान-समृद्धि के समय निश्चित किया गया हो जिसे सामान्य स्थितियो का सूचक नही कहा जा सकता, लगान की रकम इस प्रकार भी निश्चित की जा सकती है कि यह लगान किसान सम्पन्न वर्षो में दे सकेगा तथा वुरे वर्षो में आवश्यकतानुसार इसमें काफी कमी कर दी जायगी, यह भूमि की आय में से ही दिया जाने वाला न हो वरन् किसान की समस्त आय को ध्यान में रखकर उसमें से दिये जाने वाला हो। औद्योगिक फसलो, यथा कपास आदि के लिए जो भूमि दी जाती है उसका लगान खाद्य-पदार्थ वाली फसलो की भूमि से कम होता है, अत स्वाभाविक रूप से इसके परिणामस्वरूप लगान की रकम में अत्यधिक वृद्धि हो जायगी और भले ही इसका बहुत अधिक प्रभाव न पड़े तथापि इससे हानि होने की सम्भावना हो सकती है। कभी-कभी काश्तकार को ऐसी भूमि के लिए, जो केवल उसके खेत के समीप है, जमीदार की रुचि के अनुसार लगान देना पडता है। यह भी सम्भव हो सकता है कि समस्त प्रदेश का वहुत थोडा भाग ही नकद लगान पर उठाया जाय और यद्यपि लगान का मूल्य विक्रय के आधार पर जाना जा सकता है, यदि यह विक्रय सामान्य स्थितियो में हो तथा इस पर किसी प्रकार से गडवड करने वाले तत्त्व प्रभाव न डालें तथा यह भी सम्भव है कि इस प्रकार प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से एकत्रित आँकडे सामान्य निष्कर्ष निकालने के लिए पूर्ण न हो।[1] वारदोली समिति के शब्दो मे, "कच्चे माल को ध्यान में रखकर काफी गुंजायश छोडना अत्यन्तावश्यक है। लगान के आँकडो के वारे में, जिन पर मालगुजारी का निर्धारण आवश्यक होगा, काफी जाँच-पडताल करना भी अत्यावश्यक है। यह तो अवश्य स्वीकार किया जाना चाहिए कि लगान के आँकडे यदि पूर्ण सावधानी के साथ एकत्र किये जायँ, इस प्रकार उनकी तालिका वनाई जाय जिससे उनका वास्तविक महत्त्व जाना जा सके तथा जिस प्रकार के व्यवहारो में लगान की रकमें काम में लाई गई हो, उनका पूर्ण ध्यान रखा जावे तो भूमि के लगान की रकम ही केवल वह प्रमाण उपस्थित कर सकती है जिसके आधार पर मालगुजारी का पुनर्निर्धारण किया जा सकता है। अत

१ इन विषयों के सम्बन्ध में पूर्ण अध्ययन के लिए वारदोली रिपोर्ट, पैरा २९-३८ देखिए। गाडगिल द्वारा लिखित 'बॉम्बे लैण्ड रेवेन्यू सिस्टम' भी देखिए।

इस बात के पूर्ण प्रयत्न किये जाने चाहिएँ कि भूमि के लगान तथा उसके विक्रय से सम्बन्धित विश्वसनीय आँकडे एकत्र किये जायँ तथा पूर्ण सावधानी के साथ उनका सकलन किया जाय।[1] इस सम्बन्ध मे यह भी ध्यान देने योग्य है कि एकत्र किये गए आँकडे तथा अन्य सूचनाएँ मालगुजारी के पुन निर्धारण के कार्य में विश्वसनीय होगी अथवा नही तथा उनका किस प्रकार अत्युत्तम उपयोग किया जा सकता है, आदि सब बातो का निश्चय करना केवल बन्दोबस्त अधिकारी अथवा अन्य सरकारी कर्मचारी पर ही नही छोडना चाहिए, वरन् इसके लिए एक उपयुक्त सलाहकार समिति का निर्माण किया जाना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त जहाँ लगान के आधार पर भूमि का मूल्याकन काफी उचित एव सन्तोपजनक प्रतीत हो, वहाँ भी बम्बई भू-राजस्व निर्धारण समिति के निर्देशो के अनुसार मालगुजारी के दुहराते समय अन्य तत्त्वो जैसे सञ्चार-साधन, बाजार की कीमतें, आर्थिक दशा, फसल की उपज से सम्बन्धित किये गए प्रयोगो के परिणाम आदि के आधार पर मालगुजारी पुनर्निर्धारित की जानी चाहिए। ऐसा बहुत कम स्थितियो में होगा, जब इन सब सम्बन्धित बातो के बिना ही मालगुजारी पुनर्निर्धारित कर ली जाय।

अत हम सन् १६३६ मे बम्बई भू-राजस्व सम्बन्धी नियमो के इन सशोधनो का स्वागत करते है जिनमें लगान की दृष्टि से भूमि के मूल्याकन को मालगुजारी के पुनर्निर्धारित करने का आधार माना गया है तथा इस सम्बन्ध में अन्य तत्त्वो को भी पूर्ण महत्त्व दिया है। यही नही, बन्दोबस्त अधिकारी द्वारा सताये गए व्यक्ति को, उसके निर्णय के विरुद्ध आपत्ति करने का भी अवसर प्रदान किया गया है।

३६ भारत के भू-राजस्व के सम्बन्ध में रिकार्डो का सिद्धान्त—जैसा कि हम पहले देख चुके है प्रत्येक राज्य मे मालगुजारी निर्धारित करने के सिद्धान्त विभिन्न है। फिर भी तत्कालीन भारत सरकार का यह कथन था कि जहाँ तक ब्रिटिश भारत का सम्बन्ध है प्रत्येक स्थान पर मालगुजारी आर्थिक लगान का मामूली भाग है। किन्तु स्पष्टत. ऐसा उन स्थितियो में तो अवश्य नही होगा जहाँ खेती की अनार्थिक भूमि है, जिसके होने से सरकार भी इन्कार नही करती। ऐसी स्थिति में जैसा कि वाडिया और जोशी ने कहा है, "भूमि-कर भूमि के आधार पर नही लगाया जाता वरन् काश्तकार को निम्नतम जीवित रहने-भर के लिए छोडकर शेष सब ले लिया जाता है।"[2] इससे स्थितियो में जहाँ व्यवहार मे शुद्ध आर्थिक लगान से अधिक नही लिया जाता वहाँ यह सयोग-वश ही है, इसके लिए विशेष प्रयत्न नही किये जाते, क्योकि वास्तव में किसान का अतिरिक्त या अतिरेक निकालते समय उसकी उपज के मूल्य में से उपज के हेतु किये गए अनेक व्यय नही घटाये जाते। उदाहरणार्थ, काश्तकार तथा उसके परिवार के श्रम को काम में नही जोडा जाता। उत्तरी भारत में वास्तविक लगान, जिस पर मालगुजारी आधारित रहती है, वस्तुत आर्थिक लगान की अपेक्षा बहुत अधिक भी होता है, क्योकि भारत एक ऐसा देश है जहाँ का मुख्य उद्यम कृषि ही है तथा कृषि

१. बारदोली रिपोर्ट, पैरा ३८ देखिए।
२. 'वैल्थ ऑफ इण्डिया', पृ० २८१।

एव अन्य व्यवसायो में प्राप्त श्रम एव पूजी की दृष्टि से कोई स्पर्धा भी नही है। काश्तकार को तो अपनी भूमि पर खेती करनी ही है चाहे उसे इतना अधिक लगान क्यो न देना पडे कि उसे भूखो मरने तक की नौबत आ जाय। "इसमें कोई सन्देह नही कि यदि हम उद्योग एव शिल्पकारी आदि के रूप में जीविकोपार्जन के अन्य साधन प्रस्तुत कर सकें तो अन्य किसी साधन के अभाव में परवश होकर जो इतनी बडी सख्या में लोग केवल खेती ही करते है, यह स्थिति न रहे।"[1] लगान-मूल्य के वर्तमान अक इसलिए भी आर्थिक लगान के सूचक नही कहे जा सकते क्योकि आज किसान को भूमि की भूख-सी है, उसकी आर्थिक स्थिति ऐसी है कि उसे केवल भूमि ही चाहिए। आर्थिक स्थिति के अतिरिक्त वर्तमान स्थिति में किसानो की कुछ विचारधारा भी ऐसी ही है कि वे अपने धन को केवल खेती में ही लगाएँ। अरसे से चली आई यह विचारधारा उसी समय परिवर्तित हो सकती है जब उद्योगो का विकास करके पूँजी के विनियोग के हेतु अन्य साधन प्रस्तुत किए जायें। रिकार्ड के सिद्धान्त के अनुसार आर्थिक लगान का जो अभि-प्राय है उसका मालगुजारी के निर्धारण से कोई निश्चित सम्बन्ध स्थापित नही किया जा सकता, यद्यपि हम यह भी नही कह सकते कि प्रत्येक स्थिति मे भू-राजस्व अर्जित आय पर ही लगाया जाता है। इसके साथ ही हम इस बात को भी नही मान सकते कि केवल इसलिए कि भूमि की उपज पर पहला भार भू-राजस्व का है, इसलिए यह आर्थिक लगान[2] का भाग नही हो सकता, क्योकि रिकार्ड के सिद्धान्त के अनुसार आर्थिक लगान उत्पत्ति का अन्तिम भार है। जब हम यह कहते हैं कि आर्थिक लगान उपज पर अन्तिम भार होता है तो हम इस ख्याल से नही कहते कि आर्थिक लगान को समय के अनुसार सबसे बाद में दिया जाता है, परन्तु लगान का आर्थिक विश्लेषण करते समय हम ऐसा कहते है। जिस प्रकार मजदूरी, मजदूरो द्वारा की गई उत्पत्ति से प्राप्त की जाती है, किन्तु इनका भुगतान पहले ही होता है, इसी प्रकार अतिरिक्त या अतिरेक प्राप्त होने की आशा में किसान को अतिरिक्त या अतिरेक प्राप्त होने से पूर्व ही उससे लगान वसूल किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में सही आलोचना यह होगी कि माल-गुजारी का निर्धारण ऐसे समय भी कर लिया जाता है जब किसान को अतिरिक्त या अतिरेक प्राप्त होने की कोई सम्भावना नहीं दीख पडती। यही नही, उससे मालगुजारी वसूल भी कर ली जाती है और अतिरिक्त प्राप्त न होने पर मालगुजारी वापस नही की जाती। मालगुजारी माफ करना अथवा उसमें से छूट देने वाली विधि सदैव ही क्रियान्वित होती रहेगी, इसकी निश्चयात्मक रूप से कोई गारन्टी नही दी जा सकती तथा व्यवहार में ऐसा सदैव होता भी नही है, अत किसी भी स्थिति में मालगुजारी को सम्पूर्ण उपज पर नही लगाना चाहिए, क्योंकि यह शुद्ध आर्थिक लगान अथवा अनर्जित आय नही है।

२७ मालगुजारी या भू-राजस्व निर्धारित करने का एक नया आधार—कर जाँच समिति ने यह सिफारिश की कि प्रत्येक राज्य में भूमि के वार्षिक मूल्य को समान रूप से माल-

१. वही।
२ वही।

गुजारी निर्धारित करने का आधार बनाया जाय तथा बन्दोबस्त अधिकारी को यह कार्य सौंप दिया जाय कि वह प्रत्येक राज्य की विशेष परिस्थितियों को ध्यान में रखकर वार्षिक मूल्य मालूम कर लेवे। वार्षिक मूल्य की परिभाषा इस प्रकार की गई है कि "कुल उपज में से उत्पादन-लागत घटाने पर जो शेष रहे वही वार्षिक मूल्य है। यह ध्यान रहे कि उत्पादन-लागत में किसान तथा उसके परिवार द्वारा किये हुए श्रम का मूल्य एवम् (कृषि करने के हेतु) साहसोद्यम का प्रतिफल भी सम्मिलित है।" जहां पर लगान काश्तकारी कानूनों अथवा रीति-रिवाजों, जो कानून के समान ही हैं, के द्वारा निर्धारित होते हैं अथवा जहां बन्दोबस्त अधिकारी निश्चित किये जाते हों, वहां यह लगान ही वार्षिक मूल्य मानना चाहिए। इस प्रकार वर्तमान काल में मालगुजारी निर्धारित करने के आधार के सम्बन्ध में जो अनिश्चितता चल रही है, उसका अन्त किया जा सकेगा। हमारे अनुसार वार्षिक मूल्य स्पर्धाजन्य लगान-मूल्य नहीं है जो बहुत अधिक भी हो सकता है। उदाहरणार्थ उन स्थितियों में जब किसानों में भूमि के लिए बहुत अधिक स्पर्धा हो, चाहे इस कारण से कि दूसरे व्यवसायों का अभाव है और चाहे इस कारण से कि परम्परानुसार कृषि के प्रति उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है, बहुत ही कम स्थितियों में यह लगान बहुत कम हो सकता है, जैसे उस समय जब कम मालगुजारी निर्धारित कराने के उद्देश्य से जमींदार तथा किसान दोनों आपस में मिल जायें और स्वयं जान-बूझकर लगान बहुत अधिक गिरा दें। वार्षिक मूल्य वाला आधार अधिक वैज्ञानिक है क्योंकि यह काश्तकार तथा उसके परिवार के श्रम और साहसोद्यम का प्रतिफल उन्हें प्रदान करता है।

३८. **मालगुजारी की दर: एक सिफारिश**—वार्षिक मूल्य का क्या अनुपात ले लिया जाय, इस सम्बन्ध में दूसरे देशों के प्रयासों को ध्यान में रखकर कर-जांच-समिति ने सिफारिश की कि मालगुजारी का निर्धारण वार्षिक मूल्य के २५ प्रतिशत से अधिक न होना चाहिए। यह ध्यान में रखते हुए कि विभिन्न राज्यों में सम्भवत: वार्षिक मूल्य के विभिन्न प्रतिशत के आधार पर मालगुजारी वसूल की जाती होगी तथा जिसका पता तुरन्त नहीं लगाया जा सकता, उन्होंने यह सिफारिश की कि पहले योग्य व्यक्तियों द्वारा जांच का प्रबन्ध किया जाय ताकि यह ज्ञात हो जाय कि वर्तमान काल में किस दर पर मालगुजारी वसूल की जाती है और उसके पश्चात् प्रत्येक राज्य में विधान द्वारा एक सामान्य दर निर्धारित कर ली जाय।

प्रामाणिक दर के अतिरिक्त समिति ने सिफारिश की कि स्थानीय संस्थाएँ अपनी आवश्यकताओं के हेतु कर लगाएँ और सामान्यत: स्थानीय दर अधिक-से-अधिक भू-राजस्व के २५ प्रतिशत के आसपास हो। इस बात को ध्यान में रखकर कि स्थानीय परिषदों (बोर्डों) में अधिकांशत: कृषक तथा जमींदार ही होंगे तथा यह कि इनके द्वारा प्राप्त आय अधिकांश में उस स्थान-विशेष के सुधार एवं उसकी उन्नति के लिए ही व्यय की जायगी, समिति ने यह आशा प्रकट की कि इनके द्वारा वसूल की जाने वाली दर के प्रति काश्तकारों में सामान्य कार्यों के हेतु मालगुजारी में वृद्धि की अपेक्षा कम असन्तोष होगा। यूरोप के देशों में भी जहां यह रीति प्रचलित है, एक सामान्य प्रामाणिक दर से

अतिरिक्त स्थानीय कर वसूल करने की रीति सन्तोषप्रद सिद्ध हुई है।

३६ मालगुजारी में वृद्धि करने की क्या सीमाएँ होनी चाहिए—यह ध्यान में रखकर कि कही मालगुजारी में वहुत अधिक वृद्धि न कर दी जाय, यह आवश्यक जान पड़ता है कि इसके लिए भी एक अधिकतम सीमा निर्धारित कर ली जाय। इस सम्बन्ध में हम वम्बई भू-राजस्व निर्धारण समिति की सिफारिश को स्वीकार करते हैं कि यह अधिकतम सीमा वर्तमान गाँव, समूह, खेती करने योग्य जमीन आदि किसी में भी भेद न करते हुए अधिक-से-अधिक २५ प्रतिशत होनी चाहिए। इस सम्बन्ध मे यह ध्यान रखना आवश्यक होगा कि जिस तालुका की मालगुजारी वढाई जा रही है उसकी मालगुजारी का दूसरी वार निरीक्षण हो चुका है।

४० भू-राजस्व में कर के सिद्धान्तों को लागू करना[1]—(१) कर का पहला सिद्धान्त अर्थात् निश्चयात्मकता, तो पूर्णत लागू होता है, क्योकि वन्दोवस्त की अवधि तक के लिए भू-राजस्व निश्चित रहता है। काश्तकार यह जानता है कि उसे निश्चित रूप से क्या देना है। यद्यपि मालगुजारी के निर्धारित करने का आधार अस्थिर है फिर भी मालगुजारी के पुन निर्धारित होने के समय यह अस्थिरता भी समाप्त होने की सम्भावना रहती है। मालगुजारी के निर्धारण हेतु ऊपर लिखे अनुसार एक समान आधार अपनाने से यह अस्थिरता भी समाप्त हो जायगी।

(२) कर-निर्धारण का दूसरा सिद्धान्त सुविधा है। यह सिद्धान्त भी लागू होता है। इसे हम इस प्रकार दिखा सकते हैं कि भू-राजस्व, जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, काश्तकार की सुविधा के अनुसार किश्तो मे वसूल किया जाता है। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि निश्चितता के सिद्धान्त का पूरी तरह से पालन करने के कारण सुविधा के सिद्धान्त का कुछ कम ख्याल रखा जाता है, क्योकि मालगुजारी की रकम निश्चित करते समय अच्छे तथा वुरे दोनो प्रकार के वर्षो में दी जाने योग्य मालगुजारी का औसत निकालकर यह मालगुजारी काश्तकार से प्रतिवर्ष वसूल की जाती है। ऐसी स्थिति में यह सम्भव है कि वुरे वर्षो में काश्तकार की सुविधा का पूर्ण ध्यान रखना सम्भव न हो सकता हो। इस सम्बन्ध में यह ध्यान में रखकर कार्य किया जाता है कि किसान अच्छी फसल वाले वर्षो में कुछ वचा लेगा तथा इससे वुरे वर्षो की कमी को पूरा कर लेगा, परन्तु यह आशा तथ्यो के आधार पर सही नही उतरती। परिणामस्वरूप प्रतिवर्ष वसूल की जाने वाली यह औसत रकम अभाव वाले वर्षो में वहुत कठोर तथा क्रूर प्रतीत होती है। जैसा कि हम पहले देख चुके है, मालगुजारी का परिहार और निलम्वन पर्याप्त लोच के साथ नही होता तथा कर-जाँच समिति के अनुसार वुरे वर्षो में भू-राजस्व मे लोच न होने के कारण वहुत सख्या में किसानों को साहूकारो एव महाजनो की शरण लेनी पडती है। एक दूसरी असुविधा वन्दोवस्त की लम्वी अवधि कही जा सकती है। वर्तमान वन्दोवस्त के समय में जो लगान काश्तकार को देना पडता है वह उसके अनुसार अपने जीवन का रहन-सहन निर्धारित कर लेता है। ऐसी स्थिति में यदि अगले वन्दोवस्त के समय मालगुजारी में काफी वृद्धि कर दी

१ टैक्सेशन इन्क्वायरी कमिटी रिपोर्ट, पैरा ८६-६।

जाती है तो उस वृद्धि के पश्चात् तुरन्त ही उसे अपने परिवार का बजट अनुकूल रूप से बनाने में कठिनाई का सामना करना पड़ता है, यद्यपि लम्बी अवधि के लिए बन्दोबस्त करते समय यही आशा की जाती है कि बन्दोबस्त की अवधि में वह इतना अवसर प्राप्त कर लेगा कि मालगुजारी के पुनः निर्धारित होने तक सम्भावित वृद्धि का अनुमान लगाकर उसके अनुरूप अपने रहन-सहन का स्तर बना लेगा। इस कठिनाई को कम करने के उद्देश्य से मालगुजारी बढ़ाने की अधिकतम सीमा निर्धारित कर दी जाती है[1] तथा इस सीमा के अन्दर भी यदि अधिक वृद्धि का किया जाना निश्चित होता है तो उसे एक स बढ़ाने के यत्न किये जाते हैं। पुनः बन्दोबस्त के कारण जो परेशानी होती उसे भूमि-सम्बन्धी लेखों को शनैः शनैः पूर्ण करके कम-से-कम करने की चेष्टा की जाती है, यद्यपि इस कार्य के पूर्ण करने में काफी वर्षों तक जांच-पड़ताल करने की आवश्यकता होती है।

(३) जहां तक मितव्ययिता के सिद्धान्त का सम्बन्ध है इस सम्बन्ध में यह कहना आवश्यक है कि राजस्व से सम्बन्धित जो सरकारी कार्य-प्रणाली स्थापित की जाती है, उसका पूर्ण व्यय भू-राजस्व के निर्धारण एवं एकत्रीकरण पर ही नहीं डालना चाहिए, क्योंकि उक्त कर्मचारियों से ऐसे अन्य अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य भी कराये जाते हैं जिनका भू-राजस्व से कोई सम्बन्ध नहीं होता।

(४) जहां तक 'योग्यता' अथवा 'क्षमता' के सिद्धान्त का सम्बन्ध है, सरकार का कहना है कि इस सिद्धान्त का भी सन्तोषजनक रीति से पालन किया जाता है, क्योंकि सब राज्य के अंश में निरन्तर अधिक ह्रास ही होता जा रहा है। हम इस कथन के प्रमाण में पहले ही आवश्यक अंश प्रस्तुत कर चुके हैं। श्री आर० सी० दत्त ने भू-राजस्व सम्बन्धी नीति पर जो वादविवाद प्रारम्भ किया था उसके परिणामस्वरूप प्रामाणिक दर को अधिकतम दर में परिवर्तित कर दिया गया था।[2] कर जांच-समिति ने यह दिखलाने के लिए अंक प्रस्तुत किये हैं कि किस प्रकार सन् १९०३ से १९२४ तक निरन्तर राज्य के अंश के कम होने की ही प्रवृत्ति रही है। इस काल में जब कि कीमतों में ११७ प्रतिशत वृद्धि हुई, लगान केवल २० प्रतिशत ही बढ़ा।[3] इसके अतिरिक्त लगान की इस वृद्धि में ७ प्रतिशत वृद्धि अवश्य ही अतिरिक्त बोये गए क्षेत्रफल-विस्तार के कारण हुई होगी।

जहाँ तक भू-राजस्व के आपात का सम्बन्ध है, प्रत्येक प्रान्त में और प्रत्येक

---

१. देखिए, 'लैण्ड रेवेन्यू पालिसी ऑफ द डिवेलपमेन्ट आफ इण्डिया', पृष्ठ ३८-४०।

२. श्री आर० सी० दत्त ने यह कहा कि मालगुजारी की अधिकता पिछली शताब्दी के अन्तिम वर्षों में अकाल पड़ने का महत्त्वपूर्ण कारण था। जहां तक भू-लगान तथा अकालों का सम्बन्ध है, इस प्रश्न पर हमारे विचार ऐसे ही एक अन्य वादविवाद, भू-राजस्व तथा ऋणिता के प्रश्न के अनुरूप हैं। हमारी यह सम्मति है कि जिस प्रकार भू-राजस्व ऋणिता का एक छोटा कारण हो सकता है उसी प्रकार अकालों का भी यह एक मामूली कारण हो सकता है।

३ विश्वव्यापी मंदी के सन् १९२९-३३ के वर्षों में कृषि-पदार्थों की कीमतों में बहुत अधिक गिरावट आ जाने के कारण कर-जांच समिति द्वारा उल्लिखित प्रवृत्ति में बहुत विघ्न पड़ा।

ज़िले में भी भिन्न-भिन्न विधियो के अपनाये जाने के कारण इस सम्बन्ध में सामान्य रूप से कुछ भी कहना वाछित न होगा। इस पर पाँच कसौटियो के आधार पर विचार किया जा सकता है (१) भू-राजस्व तथा जनसख्या में क्या अनुपात है, (२) भू-राजस्व तथा कृषि-क्षेत्रफल में क्या अनुपात है, अर्थात् प्रति एकड का क्या औसत निर्धारण है, (३) विभिन्न प्रकार की मिट्टियो पर किये हुए निर्धारण की तुलना, (४) कुल अथवा वास्तविक उपज तथा निर्धारित मालगुजारी का क्या अनुपात है, तथा (५) भूमि के लगान अथवा वार्षिक मूल्य का निर्धारित मालगुजारी से क्या अनुपात है ? कर-जाँच समिति ने अन्तिम सिद्धान्त को सबसे कम असन्तोषजनक पाया किन्तु इस रीति में भी सम्पूर्ण एव विश्वसनीय आँकडो के अभाव में वे कोई निश्चित निष्कर्ष निकालने में असमर्थ रहे कि विभिन्न राज्यो में मालगुजारी का वास्तविक भार क्या है।

४१. औपचारिक न्याय का सिद्धान्त—वर्तमान भू-राजस्व व्यवस्था के अन्तर्गत इस सिद्धान्त की काफी उपेक्षा की जाती है क्योंकि एक तो, जैसा कि हम देख चुके हैं, विभिन्न राज्यो, यहाँ तक कि विभिन्न जिलो में ही असमानता पाई जाती है तथा दूसरे कर लगाने के उद्देश्य से भूमि से प्राप्त आय को अन्य साधनो से प्राप्त आय से भिन्न माना जाता है।

१ अन्तर्प्रान्तीय असमानताएँ—प्रथम, स्थायी वन्दोवस्त वाले क्षेत्रो में स्पष्टत ही अस्थायी वन्दोवस्त वाले प्रदेशो से कम कर लगाया जाता है। अस्थायी वन्दोवस्त वाले प्रदेशो में पजाव के ११ जिलो में जिनमें हाल ही में वन्दोवस्त किये गए, वास्तविक लगान के अनुपात में भू-राजस्व का प्रतिशत १६ से ३६ के बीच में रहता है तथा औसत २५ प्रतिशत रहता है। उत्तर प्रदेश में यह २० से ४२ प्रतिशत के बीच में रहता है तथा औसत २७ प्रतिशत रहता है। रैयतवारी राज्यो में वम्बई के विभिन्न भागो में यह प्रतिशत १७ से ५० के वीच में रहता है। वरार में दो ताल्लुको में जिनका वन्दोवस्त हाल ही में किया गया है, औसत १० प्रतिशत है। मद्रास में लगभग आधे जिलो में यह प्रतिशत स्पष्टत ही १७ है।[1] ये अक पूर्णत शुद्ध नही हैं, किन्तु फिर भी वे यह दिखलाने के लिए पर्याप्त रूप से विश्वसनीय है कि मालगुजारी के भार के सम्बन्ध में विभिन्न प्रान्तो में काफी असमानता हैं। औपचारिक न्याय उस समय हो सकेगा जब कर-जाँच-समिति की सिफारिशो के अनुसार भूमि के वार्षिक मूल्य का २५ प्रतिशत राज्य के अश के रूप में समान रूप से वसूल किया जाय।

२ भू-राजस्व तथा आय-कर की तुलना—जहाँ तक इस दूसरे प्रश्न का सम्बन्ध है भू-राजस्व तथा आय-कर की तुलना करने पर इन दोनो प्रकार की आय में तीन मुख्य भेद स्पष्टत लक्षित होते हैं। पहला यह कि भूमि से प्राप्त आय की कोई निम्नतम सीमा[2] नही होती जिस पर कर न लगे जैसा कि आय-कर में होता है। दूसरा यह

१ देखिए, टैक्सेशन इन्क्वायरी कमिटी रिपोर्ट, पैरा ६४।

२ यह तथ्य कि सिद्धान्तत भू-राजस्व केवल अनर्जित आय में से ही लिया जाता है इस बात के लिए पर्याप्त रूप से पूरक नहीं समझा जा सकता कि उसके आधार पर एक कर-मुक्त निम्नतम सीमा निर्धारित कर ली जाय। कृषि-आय में साधारणत बहुत अधिक अन्तर नहीं होते हैं तथा विशेष रूप से रैयतवारी प्रदेशों में

कि भूमि-राजस्व के सम्बन्ध में आय के अनुपात में कर का प्रतिशत बहुत अधिक होता है। तीसरा भेद यह है कि भू-राजस्व के कर में क्रमिक वृद्धि नहीं होती है अर्थात् प्रगामी नहीं है। इन दोनों प्रकार के करों में साम्य दो प्रकार से स्थापित किया जा सकता है। एक यह कि आय-कर को भू-राजस्व के समस्त लक्षणों के अनुरूप बनाया जाय तथा दूसरा यह कि भू-राजस्व में इस प्रकार परिवर्तन किया जाय कि वह हर प्रकार से आय-कर की भाँति हो जाय। इनमें पहला रास्ता अपनाना तो सम्भव नहीं मालूम देता। यह कार्य प्रतीपगामी भी होगा, क्योंकि ऐसा करने से कर-मुक्त निम्नतम सीमा तथा क्रमिक वृद्धि जैसे ठोस सिद्धान्तों को त्यागना पड़ेगा। तब हमको दूसरे मार्ग की व्यावहारिकता और उसकी समस्याओं पर विचार करना चाहिए। इस सम्बन्ध में पहले इस बात पर विचार करने की आवश्यकता है कि कृषि-आय में से ३,००० रु० से कम की कर-मुक्त आय पर कर न लगाने का क्या प्रभाव पड़ेगा। स्पष्ट है कि ऐसी स्थिति की सम्भावना तो पूर्णतः काल्पनिक एवं अव्यावहारिक होने के आधार पर अस्वीकृत कर देना चाहिए, क्योंकि इससे राज्य की आर्थिक सम्पन्नता पर गम्भीर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। इसी प्रकार का निष्कर्ष उस समय निकलता है जब हम इसकी भिन्नता के आधार पर दोनों की एकरूपता की कल्पना करते हैं। ऐसी स्थिति में औपचारिक न्याय के सिद्धान्त को उत्पादन अथवा व्यावहारिक उपयोगिता के सिद्धान्त के पक्ष में त्यागना पड़ेगा। यदि हम कर-जाँच समिति की यह सिफारिश मान लें कि वार्षिक मूल्य का २५ प्रतिशत भू-राजस्व की प्रामाणिक दर मानी जाय तथा इसके अतिरिक्त स्थानीय दर के आधार पर अन्य कर लगा दिये जायें तब भी यह प्रतिशत गैर-कृषि की आय से अधिक बैठेगा (केवल कुछ उन बहुत ऊँची रकम की आय को छोड़कर जिन पर बहुत अधिक प्रतिशत आय-कर तथा अधिकर के रूप में देना पड़ता है)। प्रगामी सिद्धान्त भू-राजस्व में भी लागू किया जा सकता है जैसा कि अधिक प्रगतिशील यूरोप के देशों तथा जापान में किया भी जाता है जहाँ कृषि-आय पर भी आय-कर लगता[1] है अथवा उन पर मृत्यु-कर[2] लगता है।

सम्पूर्ण विवरण के पश्चात् हम इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि कृषि-आय को पूर्ण रूप से आय-कर के सदृश कर देना ही व्यावहारिक नहीं है तथा कुछ समय तक के लिए तो कृषि-आय पर कर आदि के उद्देश्य से स्वयं भू-राजस्व को ही कर के रूप में देखना पड़ेगा। इसका यह अभिप्राय नहीं कि कृषि-आय पर सदैव के लिए कर नहीं लगाया जा सकेगा। वस्तुतः भू-राजस्व तथा आय-कर दोनों में ही सुधार करने की

अतः ऐसी स्थिति में यदि भू-राजस्व को भी वर्तमान आय-कर के सिद्धान्तों के आधार पर निश्चित किया गया तो बहुत-सी आय कर से पूर्णतः छुटकारा पा जायगी।

१ साइमन कमीशन के राजस्व-निर्धारक (फिनेन्शियल असेसर) सर वाल्टर लेटन के इस प्रस्ताव का विवरण कि कृषि-सम्बन्धी आय पर भी आय-कर लगाया जाय, जो कि अभी इससे मुक्त है, खण्ड २, अध्याय १२, सेक्शन ११ में दिया हुआ है।

२. टैक्सेशन इन्क्वायरी कमिटी ने डॉ० ग्रेगरी का मत स्वीकार करते हुए कहा कि भू-लगान आवश्यक रूप से पदार्थों पर कर है, व्यक्तियों पर नहीं और इस प्रकार इसमें क्रमिक वृद्धि करने वाले सिद्धान्त का प्रत्यक्षतः लागू किया जाना सम्भव नहीं। (रिपोर्ट, पेज ८९)।

आवश्यकता है जिससे वे पूर्णत कर के सिद्धान्तो के अनुरूप बनाए जा सकें। एक ठोस कर-पद्धति वह है जो न तो उत्पादन के हेतु उपयोगी एव आवश्यक कार्य-विधि को हटाती है अथवा उसके प्रति उत्साह को किसी प्रकार भग करती है और न उपयोगी एव आवश्यक उपभोग में ही किसी प्रकार की कमी करती है।[1] इन सिद्धान्तो का पालन करना यह बतलाता है कि अनर्जित आय पर, चाहे वह भूमि से प्राप्त हुई हो अथवा अन्य साधनो से, कर अवश्य लगाना चाहिए और यदि अनर्जित तथा अर्जित दोनो प्रकार की आय पर कर लगाना हो तो अर्जित आय पर अनर्जित आय की अपेक्षा बहुत कम कर लगाना चाहिए। सिद्धान्त रूप मे समस्त अनर्जित आय को राज्य ले सकता है यद्यपि व्यवहार में सरकार इसका कुछ प्रतिशत ही लेती है, क्योकि सम्पूर्ण आय में से अनर्जित रकम को सही-सही जानना कठिन होता है। इस प्रकार अनर्जित आय की आड में आवश्यकता से अधिक कर वसूल नही किया जाता। आय-कर की वर्तमान व्यवस्था इसीलिए दूषित है कि वह अर्जित एवम् अनर्जित दोनो प्रकार की आय पर समान दर से ही कर लगाती है। भूमि-कर इसलिए दोषयुक्त है कि वह खेती की सबसे छोटी जमीन की आय पर भी लगाया जाता है चाहे वह भूमि कितनी ही अनार्थिक क्यो न हो। यही नही, भू-राजस्व तो समस्त भूमियो पर दिया जाता है चाहे किसी भूमि से वास्तव में आय होती हो और चाहे न होती हो। भू-राजस्व तथा आय-कर में एक यह भी अन्तर है कि आय-कर व्यक्तियो की आय पर लगाया जाता है जिससे उसके द्वारा दिखाई हुई आय की जाँच करके उस पर ही कर लगता है, परन्तु भू-राजस्व में प्रत्येक खेती-योग्य जमीन पर लगान वसूल किया जाता है। प्रत्येक भूमि पर अलग-अलग लगान निर्धारित करना सम्भव नही होता, इसलिए अनेक अच्छी-बुरी जमीनो का औसत निकालकर उस औसत के अनुसार प्रत्येक जमीन पर लगान वसूल किया जाता है। इससे किसी जमीन पर आवश्यकता से कही अधिक लगान लग सकता है तथा कही बहुत कम लगान हो सकता है। सिद्धान्तत भू-राजस्व अतिरिक्त आय का एक अश माना जाता है, परन्तु स्पष्ट ही अनार्थिक जमीनो से कोई अतिरिक्त आय नही होती फिर भी उन पर लगान लगाया जाता है। अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि एक निश्चित आकार से कम होने वाली जमीनो को भू-राजस्व से मुक्त करना कहाँ तक व्यावहारिक है। यहाँ फिर यह कठिनाई उपस्थित होगी कि अनार्थिक जमीनो पर लगान की छूट देने से सरकार को गम्भीर आर्थिक कठिनाई का सामना करना पडेगा। इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि अतिप्राचीन काल से लोग इसी प्रकार भूमि-कर देते चले आ रहे है जिससे वे उसके आदी हो चुके हैं और यह अब विना किसी शका एव विरोध के दे दिया जाता है तथा इसे देते समय किसान किसी प्रकार का अन्याय अनुभव नही करता है। इसके साथ ही इस बात मे भी कोई सन्देह नही कि यदि हमें अपनी कर-व्यवस्था को न्याय एव युक्तिपूर्ण बनाना है तो कालान्तर में अनार्थिक क्षेत्रो को कर मे छूट देनी ही पडेगी[2] तथा एक उच्चतम निर्धारित सीमा से नीचे की सब

---

१ देखिए, जे० ए० हॉब्सन, 'टैक्सेशन इन द न्यू स्टेट', पृ० ८०।

२ चतुर किन्तु भ्रमात्मक तर्क, जो अनार्थिक भूमियों को मुक्त करने के खिलाफ दिया गया है, के लिए

जमीनो को भू-राजस्व से मुक्त करना पडेगा जैसा कि गैर-कृषि आय के सम्बन्ध में किया जाता है। इससे अनार्थिक क्षेत्रो को कर से छूट देने के विरोध मे एक तर्क—अन्तर्विभाजन—को प्रोत्साहन भी मिलेगा। परन्तु भूमि के अन्तर्विभाजन को दूर करने का उचित उपाय उसे प्रत्यक्ष रूप से कानून द्वारा हल करना है, अप्रत्यक्ष रूप से भू-राजस्व-व्यवस्था के निर्धारण से ही यह बुराई दूर नही की जा सकेगी।

४२. वैधानिक नियन्त्रण—भारत में भू-राजस्व-सम्बन्धी विषयो के वैधानिक नियन्त्रण का सिद्धान्त नया नही है। देश के कुछ राज्यो में पहले से ही विधान-मण्डलो द्वारा भू-राजस्व-व्यवस्था के सम्बन्ध में विशेष विधान बनाए जा चुके है। उदाहरणार्थ बम्बई में सन् १८७९ में पास हुए बम्बई भू-राजस्व संहिता (बाम्बे लेण्ड रेवेन्यू कोड) के अन्तर्गत भू-राजस्व की व्यवस्था की गई है। किन्तु फिर भी इस सम्बन्ध में देश मे स्थिति बहुत असन्तोषजनक ही थी, क्योंकि कुछ राज्यो मे कोई भी वैधानिक नियन्त्रण न था तथा कुछ अन्य राज्यो मे जहाँ कुछ नियन्त्रण था भी तो वह क्षुद्र प्रकार का था तथा उसके विस्तार की अत्यधिक आवश्यकता थी जिससे कि भू-राजस्व-सम्बन्धी व्यवस्था पर जो यह दोषारोपण किया जाता था कि शासन मनमानी करता रहता है उस दोष को समाप्त किया जा सके।[1] इस सम्बन्ध में सन् १९१९ की संयुक्त संसदीय समिति के निम्नलिखित शब्द उल्लेखनीय है "समिति कुछ साक्षियो द्वारा बताई गई इस बात से बहुत प्रभावित है कि किस प्रकार भारतीय जनता पर मनमाने ढग से कर लादे जा सकते है जिन करो में से अधिकांश के सम्बन्ध मे न तो विधान द्वारा उनकी अधिकतम सीमा निश्चित की गई है और ऐसे ही कुछ अन्य करो के निर्धारण के सम्बन्ध मे भी विधान द्वारा निश्चित कोई प्रणाली नही बनाई गई है। समिति का विचार है कि देश की जनता पर जो भी भार पडे वह अधिक-से-अधिक मात्रा मे विधान-मण्डल की देख-रेख में ही हो। विशेष रूप से मालगुजारी के पुन निर्धारण के सम्बन्ध में उनका निश्चित मत है कि इसे विधान द्वारा अवश्य नियन्त्रित होना चाहिए। समिति का यह मत है कि अब वह समय आ गया है जब मालगुजारी जिन सिद्धान्तो के आधार पर निर्धारित की जायगी उन सिद्धान्तो को एक विधान का रूप दे दिया जाय। यही नही, भूमि के मूल्याकन, निर्धारण की अधिकतम सीमा, पुन दुहराने की अवधि, निर्धारित मालगुजारी में क्रमिक वृद्धि एव लगान देने वाले के हित से सम्बन्धित समस्त क्रियाओ के मुख्य सिद्धान्तो को विधान का रूप दिया जाना अत्यावश्यक है।" समिति ने यह सोचा कि विधान-परिषदो मे ग्रामीण जनता को उचित प्रतिनिधित्व देने तथा कृषि-विषय को मन्त्रियो को सौंपने के पहले ऐसा सुधार कर लेना अत्यावश्यक है।

४३. भू-राजस्व सम्बन्धी विधान की प्रगति—उपर्युक्त सिफारिशो पर राज्यीय विधान-सभाओ में बहुत वादविवाद हुआ और उन्होने भू-राजस्व सम्बन्धी विषयो के सम्बन्ध में विधान बनाने प्रारम्भ कर दिये अथवा इस सम्बन्ध मे आवश्यक कार्य करना प्रारम्भ कर दिया।

एण्डरसन, पूर्व उद्धृत, पृ० १४-१६ देखिए।

१ सन् १९१९ के वैधानिक सुधारों पर भारत सरकार का नोट तथा सर शंकरन नय्यर का विरोधी मत देखिए।

ये विषय निम्नलिखित थे—(१) वन्दोवस्त के सिद्धान्त तथा मालगुजारी के निर्धारण हेतु प्रामाणिक दर का निश्चित किया जाना, (२) वन्दोवस्त को दुहराते समय मालगुजारी बढाने की अधिकतम सीमा निर्धारित करना, तथा (३) वन्दोवस्त की अवधि। सन् १६२८-२६ मे भू-राजस्व निर्धारण से सम्बन्धित सिद्धान्तो को सम्मिलित करते हुए पजाव, उत्तर प्रदेश तथा मध्य प्रदेश की विधान-परिषदो ने विधान पास कर लिए।[1] सन् १६२६ के पजाब भू-राजस्व सशोधन विधान के अन्तर्गत राज्य का अश वास्तविक सम्पत्ति का चौथाई निश्चित किया गया है तथा वन्दोवस्त की अवधि ४० वर्ष निश्चित की गई है। वगाल, विहार तथा उडीसा में कोई विधान पास करने की आवश्यकता नही समझी गई, क्योकि इन राज्यो में अधिकाश प्रदेश स्थायी वन्दोवस्त के अन्तर्गत हैं। मद्रास तथा आसाम[2] में मालगुजारी के निर्धारण के सम्वन्ध में विधान पास कराने के प्रयत्न सफल न हो सके। बम्बई में मालगुजारी निर्धारित करने के हेतु जून सन् १६२४ में भू-राजस्व निर्धारण समिति नियुक्त की गई। इस सम्वन्ध में एक प्रस्ताव विधान परिषद् में पास किया जा चुका था। इस समिति के गैर सरकारी सदस्यो ने इस वात की जोरदार शब्दो में सिफारिश की कि विधान परिषद् की एक स्थायी परामर्श समिति की नियुक्ति की जाय जो वन्दोबस्तो के दुहराने से सम्वन्धित सब प्रस्तावो पर विचार करे और यदि सरकार इस समिति की सिफारिशो को स्वीकार न करे तो जब तक विधान परिषद् की स्पष्ट स्वीकृति प्राप्त न कर ली जाय उन प्रस्तावो पर कार्य न किया जाय। ऐसी समिति का निर्माण इस दृष्टि से भी अत्यन्त आवश्यक है कि शासन-सम्वन्धी अधिकारी सदैव सरकार के आर्थिक दृष्टिकोण से ही सद्भावना रखते है, वे लगान देने वाले के प्रति कोई भी दिलचस्पी नही दिखलाते।[3] वम्बई सरकार ने, जो इस प्रस्ताव के विरुद्ध थी, वाद में अपने रुख में परिवर्तन किया और गैर सरकारी नियन्त्रण को भी कुछ हद तक स्वीकार किया और यह विश्वास दिलाया कि वम्बई भू-राजस्व सम्वन्धी नियमो के प्रस्तावित सशोधनो में वह इसका ध्यान रखेगी (नीचे सेक्शन ४४ देखिए) कि सम्वन्धित मौरूसी काश्तकारो को ही नही वरन् सार्वजनिक सस्थाओ एव अन्य समुदायो को भी इस वात का अवसर प्रदान किया जायगा कि वे वन्दोबस्त-अधिकारी के प्रस्तावो पर वादविवाद कर सकें।

सन् १६३७ में राज्यीय स्वायत्त-शासन के आगमन तथा काग्रेस मन्त्रि-मण्डलो द्वारा सरकार का कार्य-भार सँभाल लेने के उपरान्त पुन अनेक राज्यो में भू-राजस्व

१. देखिए, 'इण्डिया इन १६२८-२६', पृ० ३२१।

२ आसाम में सितम्बर सन् १६३० में एक बिल पास किया गया जिसके अन्तर्गत अधिकतम लगान सम्पूर्ण उपज का १० प्रतिशत निर्धारित किया जा सकता था जबकि सरकार ने १२½ प्रतिशत का सुझाव दिया था। यह दर परिषद् के सब दलों के प्रतिनिधियों के समझौता कर लेने के कारण रखी गई थी, किन्तु गवर्नर ने इस बिल को विधान परिषद् के विचारार्थ पुन वापिस भेज दिया। परिषद् ने १२½ प्रतिशत पास करना अस्वीकार कर दिया। गवर्नर ने अपनी स्वीकृति रोक ली। देखिए, 'इण्डिया इन १६३०-३१', पृ० ५७७।

३ देखिए, रिपोर्ट ऑफ द लैंण्ड रेवेन्यू एसेसमेंट कमिटी, बम्बई (१६२६) पर सन् १६२७ का भारत सरकार का प्रस्ताव तथा समिति के सरकारी सदस्यों की रिपोर्ट।

सम्बन्धी सुधारों को बल मिला तथा मालगुजारी के निर्धारण की विधि तथा इसकी व्यवस्था में प्रत्येक स्थान पर बहुत महत्त्वपूर्ण परिवर्तन के प्रयत्न किये जाने लगे।

४४. सन् १९३९ का बम्बई भू-राजस्व संहिता (संशोधन) विधान—बम्बई में कांग्रेस सरकार ने अप्रैल सन् १९३९ में विधान-सभा में भू-राजस्व संहिता को संशोधित करने के उद्देश्य से एक बिल प्रस्तावित किया ताकि थोड़े-बहुत रूपान्तर के पश्चात् भू-राजस्व निर्धारण समिति की सिफारिशों को कार्य-रूप में परिणत किया जा सके। यह बिल बाद में विधान बना दिया गया तथा विधान द्वारा राज्य में भू-राजस्व निर्धारण को नियन्त्रित कर दिया गया। सन् १९३९ के बम्बई भू-राजस्व सम्बन्धी नियमों के संशोधित विधान के अन्तर्गत बन्दोबस्तों के सम्बन्ध में जो भी आदेश दिये जायेंगे उनके निश्चित करने का अधिकार विधान-सभा को होगा। इस विधान के अन्तर्गत बन्दोबस्त की अवधि ३० वर्ष से अधिक की न होगी सिवाय तब जब कि सरकार की राय में बन्दोबस्त का दुहराना उचित न हो। एक सदृश समूह में एक विशेष वर्ग की भूमि पर मालगुजारी के निर्धारण की प्रामाणिक दर इस प्रकार निश्चित की जायगी कि वह बन्दोबस्त वाले वर्ष के पूर्व के पाँच सालों में भूमि का जो लगान-मूल्य रहा है उसके ३५ प्रतिशत से अधिक न हो।[१] बन्दोबस्त की क्रिया से सम्बन्धित अन्य सैद्धान्तिक विषय जैसे समूह बनाना, वैयक्तिक सुधारों द्वारा भूमि के मूल्य की वृद्धि होने पर उसकी मालगुजारी में वृद्धि से मुक्ति, मालगुजारी का निर्धारण, मालगुजारी की वृद्धि की सीमाएँ इत्यादि सब विषय इस विधान के अन्तर्गत आ गए।[२] इस बात की भी व्यवस्था की गई कि प्रत्येक गाँव की बन्दोबस्त की रिपोर्ट प्रकाशित की जाय तथा प्रत्येक व्यक्ति इसके सम्बन्ध में अपनी आपत्ति कहने के लिए स्वतन्त्र हो। इस रिपोर्ट से असन्तुष्ट या पीड़ित व्यक्ति द्वारा प्रार्थना पत्र देने के सम्बन्ध में यह व्यवस्था है कि सन् १९३९ के बम्बई राजस्व न्यायाधिकरण विधान के अन्तर्गत जिस राजस्व न्यायाधिकरण की स्थापना की गई है उसके समक्ष भी यह रिपोर्ट प्रस्तुत की जाय। इसके पहले कि राज्यीय सरकार बन्दोबस्त सम्बन्धी रिपोर्ट पर आदेश निर्गमित करे, यह रिपोर्ट तथा इस पर की गई आपत्तियाँ, एवम् राजस्व-न्यायाधिकरण के मत, यदि रिपोर्ट न्यायाधिकरण को भेजी गई हो तो, सहित प्रत्येक राज्यीय विधान-मण्डल के सम्मुख लाई जाती हैं। नया विधान सरकार को यह भी अधिकार प्रदान करता है कि वह उपयुक्त स्थितियों में कृषि-पदार्थों के मूल्यों में वृद्धि अथवा कमी होने पर उसी के अनुसार मालगुजारी को भी व्यवस्थित कर ले।[३]

परिशिष्ट[४]

ऊपर अध्याय का बहुत-कुछ अविभाजित भारत से ही सम्बन्धित है।

---

१. विशेष विवरण के लिए ऊपर सेक्शन २७ देखिए।

२. ऊपर सेक्शन २७ भी देखिए।

३. बम्बई सरकार का गजट, १६ फरवरी, सन् १९३९, विधान न० १२ सन् १९३९ का देखिए, तथा ऊपर सेक्शन २७ भी देखिए।

४. यह परिशिष्ट, अद्यतन सूचनाएँ देने के लिए यहाँ अनुवादक द्वारा दिया जा रहा है।

स्वतन्त्रता के पश्चात् देश की भूमि-व्यवस्था मे अनेक आधारभूत परिवर्तन हुए। इन परिवर्तनो का उचित महत्त्व समझने के लिए इन्हे एक साथ देखना चाहिए। इसी कारण हम इन्हें पाद-टिप्पणियो में प्रस्तुत न करके एक परिशिष्ट में प्रस्तुत कर रहे हैं।

अध्याय के अध्ययन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि स्वतन्त्रता के पश्चात् जो भूमि-व्यवस्था हमें अग्रेजो से प्राप्त हुई, उसमे प्रधानत दो दोप थे।

(१) भूमि-व्यवस्था शोपणात्मक थी। लगभग आधी भूमि पर ज़मीदारो का अधिकार था जो किसानो से अत्यधिक लगान वसूल करते थे और उसका थोडा-सा भाग ही सरकारी खज़ाने में जमा करते थे। किसान अत्याचार के शिकार होते थे, सरकार को उसका भाग नही मिलता था तथा मध्यस्थ (ज़मीदार) कोई काम किये विना ही वहुत अधिक प्रतिफल पाते थे।

(२) ज़मीदारी के अतिरिक्त रैयतवारी प्रान्तो में भी भूमि को उप-कृपको को देना वहुत प्रचलित था। भूमि अधिकतर उन लोगो द्वारा जोती जाती जो उसके स्वामी न थे। परिणामस्वरूप भूमि का लगान बहुत वढ गया।

स्वतन्त्रता प्राप्त होने के पश्चात् भूमि-व्यवस्था के इन दोपो को दूर करने के प्रति भारत सरकार जागरूक हुई। काग्रेस की आर्थिक योजना समिति ने सिफारिश की कि राज्य और किसान के वीच सारे मध्यस्थो का अन्त कर दिया जाय और उनके स्थान पर सहकारी एजेन्सियो का सगठन किया जाय। अतएव समस्त राज्यो ने इस सम्वन्ध में विधान वनाए।

समस्त राज्यो ने ज़मीदारी प्रथा के उन्मूलन को सिद्धान्त के रूप में स्वीकार कर लिया। लगभग सभी पार्ट ए० और पार्ट वी० राज्यो में इस सम्बन्ध में कानून वन चुके हैं। इसी प्रकार के कदम विन्ध्य प्रदेश, भोपाल, दिल्ली और हिमाचल प्रदेश में उठाये गए हैं जब कि अजमेर और कच्छ भी पीछे नही हैं।

ज़मीदारी-प्रथा के उन्मूलन में मुख्यतया तीन कठिनाइयाँ उपस्थित हुई। प्रथम—जमीदारो ने इस कानून का वैधानिक ढग से विरोध किया। उन्होने इसे विधान के अन्तर्गत मूलभूत अधिकारो के विरुद्ध ठहराने की कोशिश की। अतएव विधान में सशोधन किये गए। इन सशोधनो का भी प्रतिवाद किया गया, परन्तु अन्त मे उच्चतम न्यायालय (सुप्रीम कोर्ट) द्वारा इन सशोधनो को वैध ठहराने पर यह कठिनाई दूर हो गई। द्वितीय—गाँवो में पूर्ण लेखो तथा यथोचित शासन-व्यवस्था के अभाव के कारण भी इसे कार्यान्वित करने में कठिनाई हुई। तीसरी और अन्तिम कठिनाई क्षति-पूर्ति की थी। ज़मीदारो को क्षति-पूर्ति देने के लिए वहुत धन अपेक्षित था इसलिए भी इसे कार्यान्वित करने में देर हुई। इन कठिनाइयो के होते हुए भी राज्यो ने अच्छी प्रगति की। (रामपुर को छोडकर) उत्तरप्रदेश और मध्यप्रदेश में सभी ज़मीदारियाँ समाप्त कर दी गई हैं। मद्रास और उडीसा में भी अधिकाश ज़मीदारियाँ छीन ली गई हैं। नीचे कुछ प्रमुख राज्यो के सम्वन्ध में ज़मीदारी-उन्मूलन कानून की कार्य-प्रणाली दी जा रही है।

उत्तर प्रदेश—ज़मीदारी उन्मूलन तथा भूमि सुधार कानून के अन्तर्गत

३,६०,००,०००[१] एकड़ भूमि १६० १३ करोड़ रु० की क्षति-पूर्ति देकर जमींदारो से ले लेने की व्यवस्था है। जमींदारी उन्मूलन के बाद प्रान्त मे एक नई भू-धृति प्रणाली का विकास हुआ जिसके निम्न प्रकार हैं—

(१) भूमिधर—इन्हें बेदखल नहीं किया जा सकता। ये अपनी भूमि को किसी भी काम के लिए प्रयोग मे ला सकते हैं। भूमि पर इनका स्थायी एवम् वंश परम्परागत अधिकार होता है तथा वे इनका हस्तान्तरण कर सकते हैं।

जमींदारो को इनकी सीर, खुदकाश्त और बागान के सम्बन्ध में भूमिधर के अधिकार प्रदान किये गए हैं। सीर को लगान पर जोतने वाले किसानो को यह अधिकार दिया गया है कि वे दस गुना लगान जमा करके भूमिधर के अधिकार प्राप्त कर लें।

(२) सीरदार—उन सब किसानो को जिनके मौरूसी अधिकार है, उदाहरणार्थ खास शर्तों पर जोतने वाले अवध के किसान, लगान-मुक्त किसान, लगान की निश्चित दर पर जोतने वाले किसान आदि, कानून के अन्तर्गत सीरदार के अधिकार प्राप्त होंगे। सीरदारो का भूमि पर स्थायी एवम् वंश परम्परागत अधिकार तो होगा, परन्तु वे भूमि को कृषि, पशु-पालन या बाग लगाने के अतिरिक्त अन्य किसी काम में प्रयोग न कर सकेंगे।

(३) आसामी अधिकार उन कृषकों या उपकृषको को प्रदान किये गए हैं जो चरागाह या जलमग्न भूमि या कभी-कभी खेती होने वाली जमीन के गैर मौरूसी किसान है। कानून के अन्तर्गत जिन व्यक्तियो को भूमिधर और सीरदार पट्टे पर जमीन देंगे, उन्हे भी आसामी अधिकार प्राप्त होगे। इस दशा मे भूमि पर आसामियो का अधिकार उस समय तक के लिए होगा जब तक कि भूमिधर और सीरदार उसे स्वय न जोतना चाहे या उनकी वह अयोग्यता समाप्त न हो जाय किसके कारण उन्होने भूमि उठा दी है। आसामियो के अधिकार वंश परम्परागत तो होगे परन्तु सामान्यत स्थायी न होंगे।

(४) वे सब किसान जिनके भूमि मे कोई स्थायी अधिकार न थे, जिनमें लगान पर जोतने वाले कृषक और उपकृषक भी सम्मिलित थे, अधिवासी कहलाए। कानून प्रारम्भ होने के पांच वर्ष तक इन्हे भूमि रखने का अधिकार दिया गया। यदि पाँच वर्ष बाद ये किसान परम्परा मे चले आये सीर के लगान का १५ गुना जमा कर दे (उपकृषक प्रधान कृषक के लगान का १५ गुना जमा कर दें) तो उन्हे भूमिधर के अधिकार प्राप्त हो जायँगे।

अत स्पष्ट है कि आसामी और अधिवासी भू-धृति का सक्रमणकालीन रूप है। भविष्य मे भूमिधर और सीरदार मालगुजारी (भू-राजस्व) जमा करेंगे तथा आसामी और अधिवासी लगान देंगे।

जमींदारो को वास्तविक सम्पत्ति की ८ गुनी क्षतिपूर्ति दी जायगी। छोटे जमीदारो को पुनर्वास अनुदान देने की भी व्यवस्था है। मालगुजारी की रकम के

१. देखिए, 'लैण्ड रिफॉर्म्स इन इण्डिया', एच० डी० मालवीय, पृ० १०८।

अनुसार छोटे ज़मीदारो को वास्तविक सम्पत्ति की २ से लेकर २० गुनी राशि पुनर्वास अनुदान के रूप में मिलेगी। उदाहरण के लिए जो जमीदार २५ रु० तक की मालगुजारी देते थे उन्हे उनकी वास्तविक सम्पत्ति का २० गुना पुनर्वास अनुदान के रूप में मिलेगा। जो ज़मीदार ३५०० रु० से लेकर ५००० रु० तक मालगुज़ारी जमा करते थे उन्हे उनकी वास्तविक सम्पत्ति का दुगुना पुनर्वास अनुदान के रूप में मिलेगा। वास्तविक सम्पत्ति (नेट एसेट्स) जानने के लिए कुल सम्पत्ति (ग्रॉस एसेट्स) मे से निम्न व्यय घटा दिये जाते हैं।

(१) मध्यस्थ द्वारा दी जाने वाली मालगुज़ारी, लगान, उपकर या स्थानीय कर।

(२) प्रवन्ध-व्यय तथा वसूल न होने वाला बकाया लगान।

(३) मध्यस्थ की निजी काश्त की भूमि की आय।

मध्यप्रदेश—मध्यप्रदेश स्वामित्व अधिकार उन्मूलन अधिनियम १९५० (मध्यप्रदेश एवालीशन आफ प्रोप्राइटरी राइट्स एक्ट १९५०) के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के मध्यस्थो, उदाहरणार्थ ज़मीदार, मालगुज़ार आदि का उन्मूलन कर दिया गया है। इस कानून के अनुसार केवल सीर और खुदकाश्त मालिक-मकबूज़ा[1] (प्लॉट प्रोप्राइटरशिप) अधिकारो के अन्तर्गत उनके पास रहेगे जिसके लिए उन्हे उस स्थान के किसानो द्वारा दिये जाने वाले अधिकतम लगान के समान ही मालगुजारी देनी होगी। इस प्रकार वहाँ भी जमीदारी उन्मूलन के बाद भू-धृति की एक नई प्रणाली की स्थापना की व्यवस्था की गई है। निर्धारित रकम देने पर सभी किसानो को मालिक-मकबूज़ा के अधिकार प्रदान करने की व्यवस्था है। गाँव का राजस्व-शासन एक पटेल की नियुक्ति द्वारा चलाया जायगा। इनका प्रवन्ध भी ऐसी ग्राम-पचायतो के हाथ में सौंप दिया जायगा जो इस योग्य होगी।

जमीदारो की क्षतिपूर्ति की योजना उत्तरप्रदेश के समान ही है। स्थानीय आवश्यकताओ के अनुसार उसमें यत्र-तत्र परिवर्तन कर दिये गए है।

पजाब—पजाब सरकार ने भूमि समस्याओ की परीक्षा एवम् उनके सुधार के लिए सुझाव प्रस्तुत करने के हेतु एक भूमिसुधार समिति की स्थापना की। इस समिति का मत था कि आला-मालिक, ताल्लुकदार आदि का भूमि से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही है अतएव उनके भूमिगत अधिकार समाप्त कर दिये जायें। इन सिफारिशो को स्वीकार कर लिया गया और १९५१ में पजाब औक्यूपेन्सी एक्ट और पजाब एवालीशन आफ आलामालकियत एण्ड ताल्लुकदार राइट्स एक्ट राष्ट्रपति के कानून के रूप मे लागू किये गए। इन दोनो कानूनो को सन् १९५२ में पुन पास किया गया। इन कानूनो के अन्तर्गत ऐसे जमीदारो और आला-मालिको के अधिकार समाप्त कर दिये गए और ये अधिकार मौरूसी किसानो और अदना मालिको को प्रदान किये गए। ज़मीदारो और आला-मालिको की क्षतिपूर्ति की भी व्यवस्था की गई है।

गैर मौरूसी (इच्छाधीन) किसानो की सुरक्षा के सम्बन्ध में भी तीन दृष्टिकोणो से विचार किया गया

१ देखिए, 'लैण्ड रिफॉर्म्स इन इण्डिया', एच० डी० मालवीय, पृ० २४५।

(१) भू-धृति की स्थिरता,

(२) लगान पर औचित्य, तथा

(३) बेदखल करने के लिए क्षतिपूर्ति ।

इस सम्बन्ध में पंजाब टेनेन्ट्स सीक्योरिटी आफ टेन्योर एक्ट, १९५३, पास किया गया है जो उपर्युक्त समस्याओं से सम्बन्धित है ।

अन्य राज्यों में भी इसी प्रकार के कानून बनाये गए हैं । बिहार में ५०,००० रु० की वार्षिक आय वाली जमींदारियां सरकार ने ले ली हैं । आसाम में स्थायी बन्दोबस्त वाली जमींदारियों के उन्मूलन का कार्य १५ अप्रैल १९५५ से शुरू होने वाला था । मध्यस्थों के उन्मूलन के सम्बन्ध में वर्तमान स्थिति इस प्रकार है ।

(१) मध्यप्रदेश, पंजाब, हैदराबाद, पैप्सू और भोपाल में मध्यस्थों के उन्मूलन सम्बन्धी कानून पूर्णतया कार्यान्वित किये जा चुके हैं ।

(२) आन्ध्र, बम्बई, मद्रास, उत्तरप्रदेश, मध्यभारत और सौराष्ट्र में बहुत हद तक कार्यान्वित किये जा चुके हैं ।

(३) बिहार, उड़ीसा, राजस्थान और विन्ध्यप्रदेश में अंशत कार्यान्वित किये जा चुके हैं ।

मध्यस्थों के उन्मूलन से ही समस्या का पूर्ण निदान नहीं हो सकता । किसानों की सुरक्षा, उचित लगान तथा उनके अधिकारों को स्थायित्व प्रदान करना भी आवश्यक है । इसी उद्देश्य से विभिन्न राज्यों के जमींदारी उन्मूलन कानून मध्यस्थों के उन्मूलन के साथ ही उपर्युक्त तत्त्वों से भी युक्त हैं । उदाहरणार्थ, उत्तरप्रदेश में जमींदारी उन्मूलन के साथ ही किसानों को स्थायी अधिकार प्रदान किये गए हैं । कुछ राज्यों में उनके लिए अलग से कानून भी बनाये गए हैं । लगान कम करने के सम्बन्ध में भी कदम उठाये गए हैं । योजना आयोग की सिफारिश के अनुसार लगान उपज के ⅙ या ⅕ से अधिक न होना चाहिए । कुछ राज्यों में पट्टे की अवधि भी निश्चित कर दी गई है । यह अवधि बम्बई में १० वर्ष तथा हैदराबाद में ५ वर्ष है । यदि भूमि का स्वामी जमीन वापिस लेने के लिए एक साल का नोटिस नहीं देता तो यह पट्टा पुन चालू किया जा सकता है ।

स्थायी बन्दोबस्त के गुण-दोषों का विवाद तो समाप्त हो चुका है । जमींदारी उन्मूलन सिद्धान्तत हर राज्यों ने स्वीकार कर लिया है । १० नवम्बर १९५३ को पश्चिमी बंगाल विधान सभा में जमींदारी उन्मूलन के सम्बन्ध में एक बिल (वेस्ट बंगाल एस्टेट्स एक्वीजीशन बिल) पेश किया गया जो उसी माह में पास कर दिया गया । इस बिल में प्रवर-समिति ने कुछ परिवर्तन भी किये । बिल का प्रधान उद्देश्य क्षति-पूर्ति द्वारा मध्यस्थों को समाप्त करना है, यद्यपि कुछ हद तक उन्हें खास भूमि रखने की इजाजत है । यह बिल अन्य प्रान्तों के कानूनों की भांति सर्वांगीण नहीं है । इसमें भूमि के वितरण की व्यवस्था नहीं की गई है । इस उद्देश्य से वहाँ भूमि सुधार बिल (लैण्ड रिफॉर्म बिल) बनाया जा रहा है [1] जो भूमि-वितरण की पूर्ण व्यवस्था करने में समर्थ होगा ।

---

[1] देखिए, 'लैन्ड रिफॉर्म्स इन इण्डिया', एच० डी० मालवीय, पृ० १४१ ।

अध्याय १३

उद्योग : एक सामान्य सर्वेक्षण

१ **हाल के वर्षों में भारत का औद्योगिक इतिहास**—इस अध्याय में हम भारत की औद्योगिक स्थिति का साधारण रूप से अवलोकन करना चाहते हैं। दूसरे भाग में हम विशिष्ट समस्याओ, जैसे सरक्षण, बडे पैमाने के उद्याग और कुटीर उद्योग आदि का विस्तार से वर्णन करेंगे। हम उन्नीसवी शताब्दी के अन्त तक भारत के औद्योगिक इतिहास का वर्णन पहले ही कर चुके है।[1] हम देख चुके है कि किस प्रकार उन्नीसवी शताब्दी के प्रारम्भ में भारत एक औद्योगिक और खेतिहर देश था और कहाँ तक तत्कालीन मापदण्ड से उद्योगो ने उच्च कोटि की प्रवीणता प्राप्त कर ली थी। हम यह भी देख चुके है कि किस प्रकार १८वी शताब्दी के अन्तिम वर्षो से अनेक प्रतिकूल परिस्थितियो के परिणामस्वरूप उसके उद्योग शिथिल होने लगे। गत शताब्दी की अन्तिम दो दशाब्दियो तथा विशेपकर वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भ में देश का औद्योगिक पिछडापन दादाभाई नौरोजी और रानाडे जैसे देशभक्तो का घ्यान आकर्षित करने लगा। इसे देश में बार-बार पडने वाले अकालो एवम् देश को पीस देने वाली दरिद्रता का कारण समझा गया जो अकालो का प्रतीक थी। सन् १८८० के दुर्भिक्ष आयोग (फैमीन कमीशन) ने समस्या का सही निदान किया जब उन्होने यह बताया कि बार-बार अकाल पडने का कारण देश में उद्योगो की विविधता का अभाव है और इसका उपचार किया जाना चाहिए। १६०१ के दुर्भिक्ष आयोग ने भी वही बात दुहराई और वही उपचार बताए। यह विचार पनपने लगा कि प्रकृति ने भारत को सदैव के लिए अपनी आवश्यकताओ के हेतु दूसरे देशो पर निर्भर रहने के लिए नही बनाया है। देश में जो थोडे से उद्योग सरकारी सहायता के बिना जड जमा चुके थे वे बहुत अशो में विदेशी धन और साहस के आभारी थे।

ऐसी दशा राष्ट्रीय दृष्टिकोण से सन्तोषजनक नही कही जा सकती थी। जापानी सरकार के घोर प्रयत्न, जिनके फलस्वरूप अत्यन्त थोडे समय में जापान औद्योगिक देशो की प्रथम पक्ति में आ गया, हमारी सरकार की उदासीन नीति से कितने विपरीत हैं? लकाशायर के कपडो के व्यापारियो के प्रभाव में आकर जब सरकार ने गत शताब्दी के अन्त में कपास पर उत्पाद-कर (कॉटन एक्साइज ड्यूटी) लगा दी तब यह सन्देह होने लगा कि सरकार भारत के औद्योगिक विकास के प्रति केवल

१ पीछे अध्याय ५।

उदासीन ही नहीं बल्कि विरोधी भी है। इन परिस्थितियों को ध्यान में रखने पर इस बात पर आश्चर्य नहीं होता कि उद्योगों के अभाव में जनता का मध्यवर्गीय शिक्षित नवयुवक समाज की दरिद्रता और आर्थिक असन्तोष राजनीतिक रंग में रँगने लगा। आर्थिक और राजनीतिक असन्तोष के गठबन्धन के प्रथम निश्चित चिह्न तब प्रकट हुए जब १९०५ में भारतीय कांग्रेस के साथ भारतीय औद्योगिक सम्मेलन का भी प्रारम्भ हुआ। बंग-भंग को समाप्त करने वाले आन्दोलन ने इस गठबन्धन को और भी दृढ़ कर दिया। "स्वदेशी आन्दोलन तथा विदेशी बहिष्कार एक ही उद्देश्य के दो पहलू थे।"[1] देश-भर में औद्योगिक उत्साह की एक लहर फैल गई। कपड़ा, पेन्सिल, चाकू-छुरे, माचिस, शीशा आदि के अनेक कारखाने स्थापित हो गए। किन्तु ये सब धीरे-धीरे समाप्त हो गए। इसका कारण व्यावहारिक और व्यावसायिक शिक्षा का अभाव था, परन्तु सबसे प्रधान कारण यह था कि इनके समाप्तप्राय होने पर भी सरकार ने इनकी ओर आँख उठाकर नहीं देखा। भारतीय निर्माताओं के हितों की प्रतिकूलता में भी रेलवे की भेदात्मक-दर की नीति वैसी ही रहने दी गई। संरक्षण करों से अबाधित विदेशी प्रतिस्पर्धा वैसी ही बनी रही। परन्तु यह केवल राज्य-निर्बाधता के व्यक्तिवादी सिद्धान्तों का फल नहीं था जो सदैव से अफसरों की नीति रही है। विदेशी बहिष्कार ने सरकार को विरोधी बनाने में सहायता दी। चाहे जिन कारणों से हो, असफलता ने इस बात को साफ कर दिया कि इस देश के औद्योगिक विकास में व्यवस्थित और दृढ़ सरकारी सहायता की अत्यन्त आवश्यकता है। कम-से-कम प्रारम्भिक अवस्था में तो वह आवश्यक है ही। इस प्रकार १९१४-१८ के युद्ध के पूर्व भारतीय उद्योग अत्यन्त अविकसित अवस्था में था। कुल मिलाकर व्यवस्थित उद्योगों में केवल पश्चिमी भारत की कपड़े की मिलें, बंगाल की जूट मिलें, बिहार, बंगाल और उड़ीसा की कोयले की खानें थीं। यहाँ १९०७ में स्थापित (१९१२ में चालू) टाटा आयरन और स्टील कम्पनी को विशेष रूप से ध्यान में रखना होगा, क्योंकि यह औद्योगिक प्रगति में भारतीय साहसोद्यम का महत्त्वपूर्ण कदम है। कपास ओटने और दबाने के कारखाने, जूट दबाने के कारखाने, कागज, चावल और चीनी की मिलें, पेट्रोल साफ करने, चमड़े इत्यादि के कारखाने भी खुले, किन्तु ये बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं, इनका उल्लेख-मात्र ही पर्याप्त है।

२. औद्योगिक विकास के सम्बन्ध में सरकारी नीति का सर्वेक्षण[2]—यहाँ हम रुककर औद्योगिक नीति का संक्षेप में पुनरावलोकन कर लेना ठीक समझते हैं। हम पहले ही देख चुके हैं कि किस प्रकार वाणिज्य-भावना से प्रेरित ईस्ट इण्डिया कम्पनी पहले उन उद्योगों पर जोर देती थी जिस पर उसका निर्यात-व्यापार निर्भर था। किन्तु

---

१. देखिए, माटेंग्यू चेम्सफोर्ड रिपोर्ट, पैरा ३३५।

२. विषय की विस्तृत व्याख्या के लिए देखिए, ए० जी० क्लो, 'द स्टेट एण्ड इण्डस्ट्री', अ० १-३; 'स्टेट एक्शन इन रिस्पेक्ट ऑफ इण्डस्ट्रीज', १९२८-३५, बुचानन, द डिवेलपमेंट ऑफ कैपिटलिस्ट एण्टरप्राइज इन इण्डिया, पृ० ४६०-७५, और जी० ई० हबर्ट, ईस्टर्न इण्डस्ट्रियलाइजेशन एण्ड इट्स इफेक्ट ऑन द वेस्ट, पृ० २६०-५।

होने के कारण आयात करने वालो को धक्का पहुँचा और निर्यात करने वालो ने विनिमय-दर के ऊँची रहने के पूरे प्रभाव का अनुभव किया। अभिवृद्धि काल में पुराने उद्योगो के प्रसार तथा नये उद्योगो की स्थापना का प्रभाव बाजार पर पडने लगा और मन्दी की हालत और भी खराब होने लगी। कितनी ही कम्पनियो और फर्मो का अवसायन् (लिक्विडेशन) हो गया। जो बची उनके लिए भी कोई उज्ज्वल भविष्य नही दिखाई पडा। १९२४ में रुपये के विनिमय-मूल्य में जो वृद्धि हुई उससे मन्दी की अवधि और बढ गई। साथ ही इसने विदेशी प्रतिद्वन्द्विता मुद्रा को और भी घनीभूत कर दिया क्योकि अन्य देशो के मुद्रा-अवमूल्यन ने प्रतिद्वन्द्विता को उनके (विदेशियो के) पक्ष में कर दिया था। अतएव टेरिफ बोड (देखिए, नीचे सेक्शन ८) को लोहे और इस्पात तथा कपडे के उद्योग की सुरक्षा के लिए सिफारिशें करते समय मजबूर हो इन बाधाओ को ध्यान में रखना पडा। समय बदलने के साथ ही इन उद्योगो को बडी हानि होती या इन्हें परिदत्त पूँजी (पेड-अप केपीटल) पर ४ ९% (१९२३) तथा २ २% (१९२५ और २६) के लाभाश से सन्तोष करना पडता। इन परिस्थितियो में स्टाक एक्सचेंज काफी अस्थिर हो उठा और मन्दी की प्रवृत्तियाँ स्पष्ट दिखाई देने लगी। न्यूयार्क सकट (१९२९) और मूल्यो की ससार-व्यापी भारी कमी ने समस्या को और विकट बना दिया। कृषि-प्रधान भारत को ब्रिटेन जैसे औद्योगिक देशो की अपेक्षा अधिक हानि उठानी पडी।[1] कृषि-उत्पादित वस्तुओ के मूल्य में भारी कमी ने कृषको की क्रय-शक्ति को घटाकर भारतीय उद्योगो के लाभो को बुरी तरह प्रभावित किया। विदेशो की कृषि-मन्दी ने वहाँ भारत के जूट की माँग कम कर दी। इसके अतिरिक्त औद्योगिक देशो की मन्दी तथा उनमें से कुछ द्वारा किये गए मुद्रा के अवमूल्यन ने भारतीय बाजारो में विदेशी प्रतिस्पर्धा घनीभूत करके औद्योगिक वस्तुओ के मूल्यो की कमी को और बुरी तरह प्रभावित किया।

७. औद्योगिक समुत्थान व पश्चायन (रिसेशन)—विभिन्न देशो—विशेषकर स्टर्लिंग समूह के देशो में जिन्होने महान् मदी का सामना किया था—के समान ही भारत में सन् १९३२ में उद्योगो की अवस्था में समुत्थान के प्रथम चिह्न निश्चित रूप से दिखाई पडे। कोयले को छोडकर प्राय सभी उद्योगो का उत्पादन बढा। सबसे अधिक वृद्धि चीनी उद्योग में हुई और १९२९-३० से १९३६-३७ में उत्पादन तिगुना हो गया। दूसरे नम्बर पर कपडे के उत्पादन में वृद्धि हुई जिसका उत्पादन इसी अवधि में दुगना हो गया। सीमेन्ट, जूट, लोहा इस्पात तथा कागज आदि में भी काफी वृद्धि हुई।[2] कृषको की क्रय-शक्ति घटने के बावजूद उद्योगो में इस प्रकार की वृद्धि के कई कारण कहे जाते हैं। इसका मुख्य कारण तो भारत की चीनी, कपडा लोहा आदि उद्योगो के प्रति सरक्षण की नीति तथा सस्ती उत्पादन मशीनों के आयात से मिला हुआ प्रोत्साहन है। सितम्बर १९३[illegible] के बाद बडी मात्रा में सोना बाहर भेजने से पूँजी की वृद्धि हुई। इस प्रकार बडी

१ विश्व आर्थिक अवसाद के कारणों तथा भारत पर उसके प्रभाव के लिए खण्ड २, अध्याय ९ और १० देखिए।

२ विशेष विवरण के लिए खण्ड २, अध्याय २ देखिए।

सख्या मे कम्पनियो का निर्माण सम्भव हुआ।[1] अन्त में कांग्रेस द्वारा प्रेरित स्वदेशी आन्दोलन ने भी उद्योगो के विकास में पर्याप्त महायता पहुँचाई।

१९३७-३८ मे एकाएक अभिवृद्धि से अवसाद की ओर झुकाव हुआ। इसे साधारणत पश्चायन (रिसेशन) कहा जाता है। साल के प्रारम्भ में हिस्सो के वाजार और विभिन्न वस्तुओ के उत्पादन में वडी क्रियाशीलता थी। व्यापारियो में आशा और विश्वास का सचार था जिससे व्यापारिक चक्र के परिचित लक्षण—सट्टा और अधिव्यापार (ओवर ट्रेडिंग)—उत्पन्न हो गए। १९३७ के प्रारम्भिक महीनो में कृषि-वस्तुओ के पुन मूल्य वढने तथा दुनिया के कृषि-उत्पाद के व्यापार में वृद्धि के परिणाम-स्वरुप किसानो की आय वढने लगी।[2] किसानो की क्रय-शक्ति वढ जाने से उद्योगो की सामग्री की माँग भी वढी और उनकी अवस्था पहले की अपेक्षा सुधरने लगी। १९३७-३८ के पूर्वार्द्ध मे उत्पादन मे और वृद्धि हुई। चीनी का उत्पादन सवसे अधिक वढा। कपडे तथा लोहे के उत्पादन ने नया रिकार्ड स्थापित किया। कोयले का भी उत्पादन वढा। काम के घण्टो के समझौते के टूटने के पश्चात् जूट की उत्पत्ति में अप्रत्याशित वृद्धि हुई। लेकिन हवा का रुख १९३७-३८ मे फिर वदला और प्राथमिक वस्तुओ तथा हिस्सो के मूल्य में भारी कमी हुई। कुछ दिन तक यह अधोगामी प्रवृत्ति चलती रही, किन्तु अक्तूवर १९३७ के वाद जव अमेरिका पश्चायन में और वढ गया तो भारतीय उद्योगो का प्रतिरोध टूट गया और वे मन्दी के शिकार हुए। सयुक्त राज्य अमरीका और ब्रिटेन में जव दशा-सुधार के चिन्ह दिखाई पडने लगे तव जून १९३८ मे उद्योगो के लाभ और प्रतिभूतियो के मूल्य में थोडी-सी वृद्धि दिखाई पडने लगी। लेकिन इसे कायम नही रखा जा सका, क्योकि दुनिया के सभी भागो मे मन्दी का वोलवाला था। इसीसे युद्ध प्रारम्भ होने के पहले आठ महीनो में दिखाई पडने वाली समृद्धि को भी धक्का पहुँचा। लोहे और इस्पात को छोडकर जिनका कि उत्पादन वरावर चल रहा था, प्राय: सभी उद्योगो मे एक प्रकार की निराशा और उदासी छायी रहती थी।

८ **संरक्षणात्मक प्रशुल्क का सूत्रपात, आदि**—१९१४-१८ में भारतीय उद्योगो को जो प्रोत्साहन मिला था वह निश्चय ही अस्थायी था और नवम्वर १९१८ में जव अल्पकालिक सन्धि हुई तो युद्ध-सामग्री का खरीदना वन्द हो गया तथा अन्य देशो से पूर्ववत् व्यापार सम्वन्ध स्थापित हो गए तव यह प्रोत्साहन समाप्त हो गया। युद्धजनित कठिनाइयो के कारण आय के लिए आयात-कर अवश्य वढा दिये गए थे फिर भी सरक्षण प्रशुल्को की दीवाल की ओट न होने के कारण भारतीय उद्योगो को फिर वाहरी प्रतिद्वन्द्विता का धक्का सहना पडा। इन परिस्थितियो में प्रशुल्क नीति को फिर से वदलने की माँग जोर पकडने लगी। जन-साधारण की इच्छाओ के वावजूद भी उद्योग-आयोग के विचाराधीन विषयो में प्रशुल्क नीति को नही रखा गया। कारण यह वताया गया कि उस अवसर पर भारत सरकार की आर्थिक नीति को वदलने के सम्वन्ध में कोई प्रश्न उठाना वुद्धि-मानी नही थी। माटेग्यू चेम्सफर्ड रिपोर्ट ने वताया कि सैद्धान्तिक रूप से भारत में

१. देखिए, खण्ड २, अध्याय ६, सेक्शन २२।
२. देखिए, खण्ड २, अध्याय ६, सेक्शन ८।

की अपूर्णता तथा धन के अभाव में आयोजन समिति के कार्य में वाधा पहुँची। परिणामत इसके निष्कर्ष वडे ही उलझे हुए और साधारणीकृत थे जिनकी व्यावहारिक उपयोगिता वहुत कम थी। अन्य गैर-सरकारी योजनाओ में वम्वई योजना है जिसका विवरण इस पुस्तक के द्वितीय खण्ड सेक्शन १५ में दिया गया है। विभिन्न प्रान्तो तथा कुछ वडी रियासतो ने भी अपने युद्धोत्तर पुर्ननिर्माण की योजनाएँ वनाई।

१० (द्वितीय) युद्धकालीन एव युद्धोत्तर औद्योगिक विकास—अव हम सक्षेप उन कारणो की समीक्षा करेंगे जिन्होने कुछ हद तक १९३९-४५ में औद्योगिक विका में सहायता दी। प्रथम, विदेशी आयात के कम होने के कारण देश के वाजारो भारतीय उत्पादको के लिए, कम-से-कम कुछ उद्योगो में, अर्द्ध-एकाधिकार की स्थि उत्पन्न हो गई। दूसरे, कामनवेल्थ देशो से युद्ध-सामग्री की माँग तथा देश की सुरक्ष की आवश्यकताओ ने देश में औद्योगिक क्रियाशीलता उत्पन्न कर दी और देश औद्योगिक साधनो का अधिकाधिक उपयोग किया जाने लगा। कामनवेल्थ देशो के पूर्व समूह के नेता तथा निकट पूर्व में मित्र-राष्ट्रो की सेनाओ के सहायक के रूप में भार की स्थिति का अनुमान १९४० में नई दिल्ली में हुए पूर्वी समूह सम्मेलन (ईस्टर्न ग्रु कान्फ्रेन्स), रोजर मिशन के आगमन तथा भारत में पूर्वी-समूह परिषद् (ईस्टर्न ग्रु कौंसिल) की स्थापना से लगाया जा सकता है। १९४२ के अप्रैल में आया अमेरिक प्राविधिक मिशन (अमेरिकन टेक्निकल मिशन) भी इसी प्रकार का महत्त्व रखता है भारत की सेना को आधुनिक वनाने के सम्वन्ध में चैटफील्ड समिति की सिफारिश ने भी भारत के औद्योगिक विकास को प्रेरणा दी। इन विकासो की पुष्टि तथ्यो औ आँकडो से होती है। युद्ध के प्रथम दो वर्षो में समुद्र पार से १६० करोड की सामग्र की माँग हुई। पहली लडाई में स्थापित युद्ध-सामग्री परिषद् के अनुरूप ही स्थापि किये गए पूर्ति-विभाग (डिपार्टमेण्ट ऑफ सप्लाई) ने पहले और दूसरे वर्षो में क्रमश ५६ और ७६ करोड का आर्डर किया। इन आर्डरो में कपडे और लोहे से लेकर चम तक की चीजें शामिल थी। भारत सरकार ने युद्ध सामग्री वनाने वाली फैक्टरियों विकास की एक विस्तृत योजना कार्यान्वित की। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि यु से सम्वन्धित २०,००० वस्तुएँ देश में उत्पन्न की जाने लगी। भारत अपनी यौद्धि आवश्यकताओ का ९०% उत्पन्न करता था तथा हथियार, गोलियाँ, गोले, वन्दूकें वालू के वोरे, गद्दियाँ, विजली के तार (केवल), सडक वनाने वाली मशीनें, विजली पखे जैसी वस्तुएँ वाहर भी भेजता था।

दूसरी अनुकूल परिस्थिति युद्ध-काल में भारत सरकार की औद्योगिक नीति का और अधिक उदार हो जाना था। लोहे के पाइप और ट्यूब उद्योग तथा अल्यूमीनियम जैसे उद्योगो को, जो कि युद्ध-काल में प्रारम्भ किये गए थे, युद्धोत्तर काल में भी वाह्य प्रतिस्पर्धा से सुरक्षित करने का आश्वासन दिया गया। दूसरे, १९४० में भारत सरकार ने वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसन्धान की एक परिषद् (वोर्ड) स्थापित की जिसकी आर्थिक व्यवस्था को सुदृढ करने के लिए, दूसरे वर्ष ही एक अलग औद्योगिक अनुसन्धान-कोष की स्थापना की गई जिसे ५ वर्ष तक १० लाख वार्षिक अनुदान दिया गया।

तीसरे, भारत सरकार ने प्राविधिको (टेक्निशियन) और कुशल श्रमिको की कमी को दूर करने के लिए सार्जेण्ट कमेटी की सिफारिश के अनुसार युद्ध के प्राविधिको के प्रशिक्षण का प्रबन्ध किया तथा बेविन योजना के अन्तर्गत इगलिस्तान की फैक्टरियो मे भारतीय अप्रेन्टिसो को दी गई सुविधा से भी लाभ उठाया। अन्त मे युद्धोत्तर पुनर्निर्माण तथा युद्धकालीन अर्थ-व्यवस्था मे शान्तिकालीन अर्थ-व्यवस्था की ओर सक्रमण से सम्बन्धित समस्याओ को सुलझाने के लिए बनाई गई समितियो का भी जिक्र कर देना उचित होगा।

११. पुनर्निर्माण समितियों की स्थापना—जून १९४१ में भारत सरकार ने देश के युद्धोत्तर आर्थिक पुनर्निर्माण सम्बन्धी प्रश्नो पर विचार करने के लिए 'युद्धोत्तर-पुनर्निर्माण समिति' स्थापित करने की घोषणा की। इस समिति की पहली बैठक २३ जून १९४१ को हुई जिसमें तमाम विभागो के सचिव उपस्थित थे और इसका सभापतित्व वाणिज्य-सदस्य ने किया। इसने पुनर्निर्माण समस्या को सुलझाने के लिए चार उप-समितियाँ स्थापित करने का निश्चय किया। उद्योग, वाणिज्य और व्यापार के सरकारी और गैर-सरकारी सदस्यो से निर्मित ये समितियाँ इस प्रकार थी—(१) श्रम और सैन्य-भजन समिति (२) लडाई में लिये गए ठेको को सुलझाने वाली समिति, (३) सार्वजनिक-कार्य-समिति, (४) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एव कृषि समिति। बाद में, भारतीय विश्वविद्यालयो से लिये गए सदस्यो से एक पाँचवीं समिति बनाई गई। सरकारी पुनर्निर्माण (सयोजन) समिति का उद्देश्य पाँचो समितियो के कार्य को सयोजित करने और न्हे आवश्यक सामग्री देने का था। सयोजक समिति का कार्य अन्य समितियो से रिपोर्ट लेना और उनके कार्य का पथ-प्रदर्शन करना था। सयोजन-समिति की सिफारिश पर गवर्नर-जनरल इन-काउन्सिल जैसा उचित समझता वैसा निर्णय करता।

(१) श्रम और सैन्य भंजन समिति—इसके कर्तव्य इस प्रकार है (क) युद्ध से प्रभावित उद्योगो के बढते हुए नियोजन (एम्प्लायमेण्ट) के आकार का सांख्यिकी अनुमान लगाना। इन उद्योगो मे हथियार बनाने की फैक्टरियो, कपडे बनाने की फैक्टरियो, इजीनियरिंग एव कपडे की मिलो को लिया जा सकता है। (ख) कहाँ तक एक उद्योग में लगे हुए श्रमिक दुबारा ट्रेनिंग दिये बिना दूसरे उद्योग मे लगाए जा सकते हैं, इस प्रश्न पर विचार करना। फिर से ट्रेनिंग देने के लिए क्या व्यवस्था की जा सकती है और ट्रेनिंग की दिशा क्या होगी, अन्त में किसी सहायता की आवश्यकता होगी या नही, यदि होगी तो तनख्वाह और नौकरी की शर्ते क्या होगी। (ग) सेना के अधिकारियो से सम्पर्क बनाए रखना ताकि युद्ध के समाप्त होने पर श्रम की समस्या और जटिल न हो जाय। (अतएव सेना को रगरूटो के पहले के पेशो का लेखा रखना होगा।) (घ) इस बात पर विचार करना कि क्या भावी मालिक और नौकर को सयुक्त करने की सुविधाएँ युद्धोत्तर काल के रोजगारी सकट को देखते हुए उचित हैं।

(२) युद्ध के ठेको को समाप्त करने वाली समिति—इस समिति का कार्य युद्ध-सामग्री के उत्पादन समाप्त होने से आर्थिक ढाँचे को पतन और भ्रष्ट होने से बचाने की व्यवस्था का सुझाव देना और जैसे-जैसे वाणिज्यिक माँग बढती जाय वैसे-वैसे युद्ध-

सामग्री का उत्पादन कम करते जाना तथा बचे स्टॉक को इस प्रकार निकालना कि न तो कीमतो पर बुरा प्रभाव पडे और न नये उत्पादन की प्रारम्भिक माँगों में रुकावट ही पडे ।

(३) **सरकारी क्रय-नीति तथा सार्वजनिक कार्य सम्बन्धी समिति**—इसका कार्य काम छूटे मजदूरो को फिर से रोजी देने की समस्या पर विचार करना तथा सार्वजनिक कार्य की एक व्यवस्थित नीति का अनुसरण करते हुए जैसे-जैसे युद्ध-सामग्री की माँग कम होती जाय सार्वजनिक कार्यो का प्रसार करना ।

(४) **कृषि और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार समिति**—इसका कार्य विदेश-व्यापार नीति तथा कृषि नीति से सम्बन्धित था ।

१२. अर्थशास्त्रियों की परामर्श समिति—इस पाँचवी समिति का निर्माण भारत के विभिन्न विश्वविद्यालयो के अर्थ-शास्त्रियो द्वारा हुआ । इसका कार्य विभिन्न समितियो से सहयोग करना तथा उपलब्ध सूचना और सामग्री के आधार पर भारत सरकार को युद्धोत्तर पुनर्निर्माण-सम्बन्धी समस्याओ को सुलझाने के लिए सुझाव देना था । २४ अक्तूबर, १९४१ को समिति के अध्यक्ष पद से भाषण देते हुए सर ए० मुदालियार ने समिति के समक्ष प्रस्तुत कार्यो की ओर सकेत किया और कहा कि समिति को तुरन्त लागू की जा सकने वाली विभिन्न वैकल्पिक नीतियो का निर्माण करना चाहिए । इनका सम्बन्ध इस प्रकार के प्रश्नो से था उद्योग और व्यापार के सम्बन्ध मे सरकार की युद्धोत्तर नीति क्या होगी ? पूर्व आयोजित रेखाओ पर किस प्रकार उनका विकास सुरक्षित किया जा सकता है ? कहाँ तक भारत आत्म-निर्भर हो सकता है और कहाँ तक ऐसा करना वाछनीय है ? बाद में, मुद्रा, विनिमय और वैंकिंग जैसी समस्याओ के हल से भी समिति सम्बन्ध रखती ।

देश के शीघ्र उद्योगीकरण की माँग युद्धकाल में जोर पकडती गई और अन्त मे अनिवार्य हो गई । इसके फलस्वरूप आर्थिक आयोजन के विभिन्न यन्त्र स्थापित हुए । यहाँ पर हम निष्कर्ष रूप में उनका सक्षिप्त विवरण देगे ।

१९४४ में बम्बई योजना के प्रकाशन ने निस्सन्देह उद्योगीकरण के प्रश्न मे सरकार की रुचि उत्पन्न कर दी और इस प्रश्न के हल के लिए ठोस कदम उठाने के लिए मजबूर किया । १९४४ में एक विशेष विभाग जिसका नाम 'आयोजन और विकास-विभाग' था, बनाया गया । अगस्त सन् १९४४ से इसने कार्य प्रारम्भ किया किन्तु १९-४६ में मध्यकालीन सरकार (इन्टेरिम गवर्नमेंट) के स्थापित होने के पूर्व ही वह बन्द कर दिया गया । इसका विशेष कार्य औद्योगिक आयोजन था । औद्योगिक परामर्शदाता के अधीन एक अलग कार्यालय की स्थापना हुई । २९ विशेष मण्डल (पेनेल) स्थापित किये गए जिनमें से प्रत्येक को एक या अधिक उद्योग सौंपे गए । इनका कर्तव्य सम्वन्धित उद्योगो का आयोजन करना और रिपोर्ट देना था । यातायात, व्यापार, डाक, उड्डयन उद्योग, कृषि तथा जहाजो के निर्माण-जैसे विपयो से सम्बन्धित अनेक नीति-समितियाँ थी । इनके सदस्य सरकारी और गैर सरकारी दोनो प्रकार के व्यक्ति थे जो केन्द्र या विभिन्न राज्यो का प्रतिनिधित्व करते थे । इनका कार्य साल में दो या एक बैठको

में किये गए काम का पुनरावलोकन तथा भविष्य के लिए नीति-निर्धारण करना था।

आयोजन और विकास-विभाग के कहने पर विभिन्न राज्यो ने अपनी अलग-अलग पचवर्षीय योजनाएँ प्रकाशित की। लेकिन ये योजनाएँ विभिन्न विभागो द्वारा अपने प्रसार और विकास के लिए बनाये गए कार्यक्रमो के सग्रह के अतिरिक्त और कुछ नही थी।

युद्ध की आकस्मिक समाप्ति, फसलो की असफलता से उत्पन्न खाद्य-सकट, एवं बाद की शरणार्थी पुनर्वास-समस्या [illegible] सबके सम्मिलित प्रभाव ने सरकार को कितनी [illegible] किया। अतएव केवल [illegible]

[illegible] खण्ड २, अध्याय २, चीना के

अल्यूमीनियम और भारी रसायन उद्योग, इन्जीनियरिंग की नवीन शाखाएँ जिनमें मशीन, औजार, वायुयान तथा जलयान के उद्योग है, भारत के लिए विशेष महत्त्व रखते है। यहाँ यह कह देना उचित होगा कि जब प्रथम युद्ध ने उपभोक्ताओ की सामग्री के उत्पादन करने वाले उद्योगो को प्रेरणा दी तो द्वितीय युद्ध ने आधारोद्योगो को प्रोत्साहित किया और उत्पादकों की सामग्री उत्पन्न करने में सहायता दी।

यह ध्यान में रखना चाहिए कि युद्ध ने अनेक मध्यम और छोटे पैमाने के उद्योगो और कुटीर उद्योगो को भी प्रोत्साहित किया। युद्ध से लाभान्वित उद्योगो में शीशा, रबर का सामान, स्टेश्नरी, छोटे-मोटे रासायनिक पदार्थ, बटन, दरी, चाकू, छुरी, मसहरी आदि के उद्योग प्रमुख है।

कपडे की मिलो पर युद्ध की माँगो के कारण तथा यह अनुभव होने पर कि हाथ से बुने कपडो से कुछ प्रकार की आवश्यकताएँ, जैसे पट्टी बाँधने के कपडे इत्यादि अधिक आसानी से पूरी की जा सकती है, हाथ से कपडा बुनने वालो को अधिक काम मिलने लगा। हाथ से ऊनी कम्बल तैयार करने वालो को सेना के लिए कम्बल बनाने के बडे-बडे आर्डर भी मिले।

१४ अमेरिकन टेकनिकल मिशन—यहाँ हम डॉ० हेनरी ग्रेडी की अध्यक्षता मे आये अमेरिकन टेकनिकल मिशन की चर्चा कर सकते हैं। यह मिशन अप्रैल सन् १९४२ में भारत आया और भारत के युद्धकालीन उत्पादन की जाँच-पडताल करके जून के आरम्भ में ही इसने गवर्नर जनरल को अपनी रिपोर्ट दी। यद्यपि मिशन का उद्देश्य युद्ध जीतने के लिए उत्पादन की वृद्धि करने का था किन्तु इसकी रिपोर्ट में कुछ ऐसी सिफारिशें भी है जो शान्ति के समय में पुनर्निर्माण के लिए बहुमूल्य हैं। उदाहरण के लिए मिशन ने उद्योगो के शीघ्र युक्तीकरण एव कठोर नियन्त्रण पर जोर दिया। इसके साथ ही पावर अल्कोहल की उत्पत्ति की सम्भावनाओ की खोज, विद्युत शक्ति की प्राप्ति और प्रसार, लोहे और इस्पात के उद्योग का विस्तार, रबर इकट्ठा करने, अल्यूमीनियम उत्पन्न करने तथा शुद्ध गधक उत्पन्न करने पर भी जोर दिया। इसने भारत सरकार द्वारा प्रारम्भ किये गए प्रशिक्षण-कार्यक्रम—विशेष सस्थाओ या उद्योग-केन्द्रो के अन्तर्गत—का भी पक्ष लिया। समस्त जाति के आर्थिक जीवन के नियमन का सिद्धान्त मिशन की रिपोर्ट में निहित है।

१५ भारत का औद्योगिक पिछडापन—इसमें कोई मतभेद नही कि भारत औद्योगिक दृष्टि से बहुत पीछे है। यह बात कृषि की प्रधानता, नगरो की अल्प-सख्या, कच्चे माल का बडी मात्रा में निर्यात, निर्मित वस्तुओ का आयात, और राष्ट्रीय आय की अल्पता आदि से स्पष्ट है। उद्योगो का विकास सीमित होने के साथ ही असमान भी है। यह उन्ही उद्योगो तक सीमित है जहाँ लाभ आसानी से और सुरक्षापूर्वक प्राप्त हो सकता है। नये उद्योगो की अपेक्षा विनियोग के लिए वाणिज्य अधिक लाभकारी समझा जाता है। दूसरी बात यह है कि अर्थ-आयोग का यह कथन कि 'देश की जनसख्या, साधनो और विस्तार को देखते हुए उद्योग अविकसित है' अभी तक उतना ही

सत्य है।[1] वे उद्योग भी जो देश मे दृढतापूर्वक जड जमा चुके हैं, जैसे कपडे की मिलें, सहायक वस्तुओ और मशीनो के आयात पर निर्भर रहते हैं। उद्योग-प्रधान देशो द्वारा भारतीय बाजारो पर अपना अधिकार जमाने की उत्सुकता के कारण आयात की सरलता और स्वतन्त्र व्यापार-नीति आदि ने देश मे इन उद्योगो की स्थापना कर दी। भारत सरकार की भारत कार्यालय में विविध सामग्रियो के लिए आर्डर (इण्डेन्ट) देने की पुरानी नीति, जिसे भारत में भण्डार क्रय-विभाग (स्टोर्स परचेज डिपार्टमेन्ट) के अभाव से और भी प्रोत्साहन मिला, भारत के औद्योगिक प्रगति को वढाने के उद्देश्य से सचालित नही थी। इस प्रकार भारत ने अपने को स्थायी, सुस्थिर, औद्योगिक सगठन के लिए आवश्यक आधारभूत धात्वीय एव रासायनिक उद्योगो से रहित पाया। लोहा और इस्पात तथा अभियान्त्रिकी (इन्जीनियरिंग) नगण्य पैमाने पर विद्यमान थे। भारत स्वय एक "कील या ढिवरी वनाने की मशीन भी नहीं वना सकता था, किन्तु यदि वाहर से लगभग सव हिस्से आ जायें तो वह रेलवे इन्जन तक वना सकता था।"[2] औद्योगिक महत्त्व के तेजाव और क्षार उत्पन्न करने के आधारभूत उद्योग नही थे जिनकी कमी के कारण कागज, माचिस, तेल, विस्फोटक, रग और कपडे वनाने के उद्योगो के काम में भी रुकावट पडती थी और इनके लिए आवश्यक रासायनिक पदार्थों के लिए भारत को विदेशो का मुँह ताकना पडता था। इसके अतिरिक्त कारीगर, अभियन्ता, प्राविधिक एवम् रासायनिक विशेपज्ञो की कमी ने भी काम मे पर्याप्त रुकावट डाली। इसका कारण भारत में प्रशिक्षण-केन्द्रो का अभाव था जिसके फलस्वरूप विदेशी सहायता पर निर्भर रहना पडता था।

भारत के शक्ति-साधनो का विवरण दिया जा चुका है। जैसा कि हम देख चुके हैं कोयला, तेल, ईंधन के सम्वन्ध में भारत की स्थिति इतनी सन्तोपजनक नही है जसी कि प्राय कल्पना की जाती है। फिर भी इसकी नदियो, झरनो आदि की शक्ति के उपयोग और औद्योगिक प्रयोग की वडी सम्भावनाएँ हे। इसके जगलो में अतुल सम्पत्ति है। परिवहन के नये साधनो, अन्वेपण की सुविधाओ और अधिक पूँजी लगाने से वनोत्पत्ति पर आधारित उद्योगो को काफी प्रोत्साहन मिलेगा। जहाँ तक मानव-शक्ति का सम्वन्ध है यह मानना पडेगा कि यूरोपीय श्रमिक की कल्पना में भारतीय श्रमिक अवश्य ही अकुशल है, वह अस्थिर है और उसका स्वभाव परिवर्तनशील है। इतना मान लेने पर भी उत्तम प्रशिक्षण, कार्य-दशाओ में सुधार तथा रहने की परिस्थितियो के परिवर्तन, अच्छे श्रम-सघ सगठन से इसको काफी कार्य-कुशल वनाया जा सकता है। इसकी सख्या विपुल है। जहाँ तक दक्ष प्रवन्धको का प्रश्न है, उसके विपय मे कालवर्ट का मत है कि "भावी प्रवन्धको को सर्वोत्तम प्रशिक्षा मिल और मजदूरो के वीच ही मिल सकती है। प्रवन्ध-कला उद्योग के वातावरण मे ही सीखी जा सकती है।"[3] चूँकि देश में ऐसे औद्योगिक वातावरण का अभाव है अत. देश को जापान की तरह

१. रिपोर्ट, पैरा ४१।
२ देखिए, इण्डस्ट्रियल कमीशन रिपोर्ट, पैरा ८१
३ वैल्थ एण्ड वेलफेअर ऑफ द पजाव, पृ० १६८।

विदेशो से कुशल प्रवन्धको को बुलाना होगा और देश के नवयुवको को आवश्यक अनुभव और शिक्षा के लिए विदेश भेजना होगा। एक समय आएगा जवकि देश में इस प्रकार के औद्योगिक वातावरण का निर्माण हो जायगा। तव इन उपायो का आश्रय लेने की आवश्यकता न रहेगी। भारतीय पूँजी ने बहुत दिनो से 'लज्जाशील' होने का नाम कमा रखा है, किन्तु यदि आशा और सुरक्षा के वातावरण का सचार हो जाय तो भविष्य में यह आशा की जा सकती है कि वह धीरे-धीरे अपनी लज्जाशीलता और सकोच का परित्याग कर देगी। सुधरे हुए वैंकिंग सगठन, विस्तृत गृह-बाजार एव भारत के औद्योगिक जागरण के लिए प्रदर्शित उत्साह, इन सवके सयुक्त प्रभाव से आधुनिक उद्योगो के लिए भारतीय पूँजी अधिकाधिक मात्रा में प्राप्त होगी। भारतीय रेलवे कम्पनियो द्वारा अनुसरण की जाने वाली भेदात्मक नीति—इस दुर्गुण की उपस्थिति औद्योगिक एव अर्थ-आयोग दोनो ने ही स्वीकार की थी—भारतीय वाणिज्य एव औद्योगिक समुदाय की शिकायत का एक प्राधन कारण रही है। सरकार द्वारा प्रधान रेलो के प्रबन्ध का भार सँभालने, कर परामर्श समिति (रेट्स एडवाइजरी कमेटी की स्थापना तथा स्वतन्त्र राष्ट्रीय सरकार द्वारा रेल नीति का नियन्त्रण आदि उद्योगीकरण की प्रगति में अवश्य सहायक होगे। देश की सडको के सुधार की समस्या—जो असाधारण रूप से दोषपूर्ण हैं, विशेषकर गाँवो में—को सुलझाने का प्रयत्न किया जा रहा है। और देश के भावी विकास की हर योजना में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है।

१६. औद्योगिक विकास से लाभ[1]—औद्योगिक विकास से देश को होने वाले लाभ इतने स्पष्ट है कि उनका विवरण देने की आवश्यकता नही। वहुत से अवसरो पर हमने देश की गरीबी और उसके कारणो की आलोचना की है तथा देश की आर्थिक पद्धति की कमियो की चर्चा की है।

(१) एक कमी देश की उत्पादक शक्तियो का केवल कृषि-मात्र पर अनुचित केन्द्रीकरण है। उद्योगो का समुचित विकास इस दोष को दूर करने में सहायक होगा। इससे विभिन्न उद्योगो में जनसख्या का वितरण समान होने में सहायता मिलेगी एव देश की अर्थ-व्यवस्था अधिक दृढ हो जायगी। इस प्रकार दुर्भिक्ष-पीडितो की सहायता करने की समस्या हल्की हो जायगी क्योकि कृषि में इस समय लगे बहुत से अतिरिक्त व्यक्ति अन्य प्रदेशो में चले जायेंगे।

(२) दूसरे, उद्योगो के स्थापन से राष्ट्रीय आय वढेगी और जनसाधारण के रहन-सहन का स्तर ऊँचा हो जायगा। इससे उनकी कार्य-कुशलता में वृद्धि होगी जिससे उत्पादक शक्ति वढेगी। इस प्रकार लाभप्रद क्रिया-प्रतिक्रियाओ की शृङ्खला प्रारम्भ हो जायगी।

(३) राष्ट्रीय आय के वढने से जन-साधारण की कर-क्षमता वढ जायगी और सरकार राष्ट्रीय पुनर्जीवन के कार्यो को हाथ में ले सकेगी जो कि इस समय धनाभाव के कारण नही प्रारम्भ किये जा रहे हैं। उद्योगो के विकर्षण से कर-पद्धति अधिक

[1] टेरिफ फिस्कल कमीशन रिपोर्ट, अध्याय ४।

लचीली हो जायगी, क्योकि मालगुजारी जैसे कर जो कृषि पर लगते हैं जल्दी नही बढाए जा सकते जब कि अन्य साधनों पर लगाये गए कर शीघ्रता से बढाए जा सकते हैं। आय-कर इसका प्रमुख उदाहरण है। ये कर सरलता से राज्य-कोष मे धन जमा कर सकते हैं।

इसलिए यह सोचना कि देश का उद्योगीकरण होने से विदेशी वस्तुओ का आयात कम हो जायगा और उसके परिणामस्वरूप सरकार की आय घट जायगी, बिलकुल गलत है। हो सकता है कि कुछ आयात-कर समाप्त हो जायँ लेकिन जब देश का जीवन-स्तर ऊँचा होगा तो उनके स्थान पर अन्य सामग्रियाँ मँगाई जायँगी। अस्तु, उद्योगीकरण से सरकार की आय बढेगी।

(४) उद्योगीकरण का अन्य लाभ यह होगा कि राष्ट्रीय चरित्र को प्रवृत्ति और प्रतिभा के अनुकूल विकसित होने का अवसर प्राप्त होगा। इससे देश की रगो में समाए हुए बौद्धिक जडत्व एव पुरातनवादिता—जो कृषि-प्रधान देश की विशेषता होती है—को दूर करने में भी सहायता मिलेगी और धीरे-धीरे डेनमार्क और अमेरिका की तरह कृषि का भी उद्योगीकरण हो जायगा। साधारणतया एक औद्योगिक जन-समूह अपेक्षाकृत अधिक जागरूक होता है और यही कारण है कि नगर सदैव से सभ्यता और सस्कृति के केन्द्र रहे हैं। जैसा कि मेटलैण्ड ने कहा "जब मनुष्य निकट सम्पर्क में रहते हैं तब उनके मस्तिष्क में विचार जागते हैं।" औद्योगिक शिक्षा अत्यधिक साहित्यिक शिक्षा के दुर्गुणो को दूर करने में भी सहायक होगी और धीरे-धीरे प्रबन्ध का व्यावहारिक ज्ञान भी प्राप्त होगा। इस प्रकार जनता स्वतन्त्रता से प्राप्त उत्तर-दायित्व को अच्छी तरह निभा सकेगी।

(५) उद्योगीकरण युद्धोत्तर काल मे उत्पन्न मध्यवर्ग की बढती बेरोजगारी की समस्या को भी हल करने में सहायक होगा। नवयुवक नौकरी के लिए केवल सरकारी नौकरियो और कुछ आवश्यकता मे अधिक भरे पेशो, जैसे डाक्टरी और वकालत, का ही मुँह न देखेंगे।

(६) उद्योगीकरण के सैनिक महत्त्व पर हम अन्यत्र विचार कर चुके हैं।

(७) द्रव्य के आसचयन की प्रवृत्ति, जिसकी बहुधा अतिशयोक्ति की जाती है, परन्तु जिसके विद्यमान होने से इन्कार नही किया जा सकता, उद्योगीकरण द्वारा पूँजी का सुरक्षित विनियोग और लाभ के मार्ग में लगाए जाने के अवसर प्राप्त होने पर कम हो जायगी। सम्मिलित पूँजी वाली (ज्वाइट-स्टाक) कम्पनियो के खुलने से सुप्तावस्था में पडी रहने वाली छोटी-छोटी रकमें भी उत्पादन के कार्य में लगाई जा सकेंगी। यह भी ध्यान देने की बात है कि कृषि से पैदा और इकट्ठी की गई धन-राशि की अपेक्षा उद्योगो से प्राप्त पूँजी अधिक सरलता से नवीन उद्योगो के सचालन के लिए मिल सकती है।

(८) अन्त में, उद्योगो के प्रसार से राष्ट्र के धन में वृद्धि होगी और जो भाग इस उत्पादन में लगा होगा उसकी आर्थिक स्थिति कृषि में लगे व्यक्तियो की अपेक्षा अधिक सुधरी होगी, क्योकि उद्योगो में कृषि की अपेक्षा ऊँची मजदूरी मिलती है। इस

प्रकार समूचे क्षेत्र का कल्याण होगा ।

१७ **उद्योग की कृषि पर प्रतिक्रिया**—सब बातो को ध्यान में रखकर कहा जा सकता है कि औद्योगीकरण का कृषि पर लाभप्रद प्रभाव पडेगा । भारतीय कृषि की दुरवस्था का एक कारण पूँजी का अभाव है । यह कमी उद्योगो में एकत्र धनराशि खेती में लगाने के लिए प्राप्त होने पर पूरी हो जायगी । यहाँ हम इगलैण्ड के 'औद्योगिक क्रान्ति' के समय वहाँ की कृषि सम्बन्धी उन्नति की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं जहाँ कृषि-विकास का अर्थ-प्रबन्धन बडे-बडे उद्योगपतियो और व्यापारियो ने किया । भू-स्वामित्व के राजनीतिक एव सामाजिक प्रतिष्ठा का आधार होने के कारण, इगलैण्ड की भाँति यहाँ भी भू-विनियोग अनेक उद्योगपतियो को अपनी ओर आकर्षित करेगा ।

कृषि का पारिश्रमिक भी, विशेपकर औद्योगिक क्षेत्रो के पास, बढ जायगा । औद्योगिक प्रगति का परिणाम यह भी होगा कि कस्बो और नगरो की सख्या बढेगी तथा उनके निकट सम्पर्क में आने से ग्रामीण जनता का मानसिक विकास होगा, वह प्रगतिशील हो जायगी । उद्योगो को कच्चा माल देने की हैसियत से भी कृषि-विकास में प्रेरणा मिलेगी । ज्यो-ज्यो उद्योग विकसित होगे कृषि को और भी प्रोत्साहन मिलेगा ।

कभी-कभी कहा जाता है कि उद्योगो के विकास से ग्रामीण श्रमिको का प्रवाह नगर की ओर होगा, फलत कृषि-काम में बाधा पडेगी और खाद्य-पूर्ति घट जायगी । यदि इस बात पर ध्यान दिया जाय कि इस समय खेती पर काम करने वालो का केवल २% उद्योगो में लगा हुआ है तो यह भ्रम कि अति शीघ्र गति से होता हुआ उद्योगीकरण कृषि के विपक्ष और उद्योगो के पक्ष में जनसख्या का असमान वितरण कर देगा, भी निराधार प्रतीत होता है । इसके अलावा हम एक सुधरी कृपि के ज़माने की ओर आँख लगाए बैठे हैं जब थोडी जनसख्या सुधरे आधुनिकतम तरीको द्वारा केवल निर्वाह के लिए ही नही वरन् बढती आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए अधिक अन्न उत्पन्न करने में भी सहायक होगी । यह धारणा भी निराधार है कि औद्योगिक विकास के फलस्वरूप कृपि एक गौण स्थान की अधिकारिणी हो जायगी । कुछ भी हो, हमें कृपि-मात्र या उद्योग-मात्र को उपास्य नही बना लेना चाहिए । जब तक उद्योग और कृषि के मध्य राष्ट्र श्रम और पूँजी को इस तरह से विभाजित करता है कि राष्ट्रीय आय अधिकतम हो जाय तब तक यह प्रश्न बिलकुल महत्त्वहीन है कि कृपि को पहला स्थान मिलता है या दूसरा । सच बात तो यह है कि खेती इस देश की परिस्थितियो के इतनी अनुकूल है कि भारत में यह सदैव महत्त्वपूर्ण बनी रहेगी । यदि हम गैर-आर्थिक तर्कों का सहारा लें—और ऐसा करना उचित भी है—तो हम कह सकते हैं कि कृपि सुदृढ और समृद्ध कृषक-समूह को बनाए रखने में हमारी सहायता करती है जो देश का सुदृढ-तम आधार है ।

अतएव कृपि और उद्योगो को लेकर खडा किया गया विवाद भ्रामक और सारहीन है । हम देख चुके हैं कि उद्योगो के विकास से कृपि को बहुत लाभ होगा और इसी प्रकार उद्योगो की समृद्धि भी कृपि पर निर्भर है जो स्वय स्पष्ट है यदि हम केवल इतना ध्यान में रखें कि अन्ततोगत्वा भारतीय उद्योगो से उत्पन्न वस्तुओ के

प्रधान ग्राहक कृषक ही होंगे।[1]

१८ उद्योगों के लिए पूँजी—इसकी व्याख्या दो भागों में की जा सकती है—(१) तीय (देशी) पूँजी, (२) विदेशी पूँजी।

(१) भारतीय (देशी) पूँजी—हम पहले यह आए हैं कि भारतीय पूँजी की ा और उत्साह दोनों विशेष रूप से १९१४-१८ के युद्ध के बाद से बढ़ रहे हैं। भारत सरकार को रुपयों के रूप में दिये जाने वाले ऋण और भारत की सम्मिलित ो वाली कम्पनियों की परिदत्त पूँजी के लेखे से प्रकट है। परन्तु फिर भी देश की ी के साधनों के विकास और विनियोग को बढ़ाने की अत्यन्त आवश्यकता है। के बिना देश की औद्योगिक प्रगति में बड़ी रुकावट पड़ेगी। इस प्रश्न का महत्व : बढ़ गया है क्योंकि अब औद्योगिक कार्य कुछ इने-गिने क्षेत्रों, जैसे जूट और कपास मिलों, तक ही सीमित नहीं है वरन् वह अनेक क्षेत्रों की खोज में है जैसे टाटा का (का कारखाना, सीमेंट, चीनी, शीशे की फैक्टरियाँ, कागज की मिलें तथा नई तनाएँ भी जो अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं, यथा देश की जल-शक्ति का उपयोग, मशीनों उत्पादन, मोटर और मिलों की सहायक सामग्री आदि-आदि। इन प्रस्तावित एवं वारित योजनाओं की पूर्ति के लिए अपार धनराशि की आवश्यकता है। अतएव आवश्यक है कि देश के गुप्त धन के समस्त साधनों का प्रयोग किया जाय। यह ा किया जाय इसे समझने के लिए हमें (१) मोफसिल और (२) बड़े-बड़े व्यापारिक रों में प्राप्त धन के रूप तथा विस्तार का अध्ययन करना होगा एवं विचारना ा कि किस प्रकार इसका उपयोग किया जा सकता है।

(१) मोफसिल में बैंकिंग की सुविधाओं के अभाव के कारण पूँजी में किसी गार का संगठन नहीं है। वाणिज्यिक सम्मिलित पूँजी वाले बैंकों का प्रसार विशेष ठनाइयों से युक्त है यद्यपि प्रमुख नगरों में इम्पीरियल बैंक[2] की शाखाएँ खुलने परिस्थिति बहुत कुछ सुधर गई है। डाकखाने के सेविंग्स बैंक एवं सहकारी बैंकों ने गाँवों की बचत का कुछ भाग प्राप्त किया है, परन्तु व्यवहारतः गाँव के छोटे व्यापा- रों, कारीगरों एवं कृषकों को पूँजी देने का प्रधान साधन गाँव का साहूकार है। शायद कभी वह अपना धन नये कामों में लगाता हो। गाँवों की बचत का एक बड़ा भाग भूषणों और आमचयन के रूप में एकत्र किया जाता है। सरकारी नौकर और पेशेवर ग भी धन भूमि में विनियोग करने को, चाहे वह खरीदने के रूप में हो या रहन रने के रूप में, अधिक पसन्द करते हैं। यह मानना पड़ेगा कि बैंकिंग क ार कृषकों की अपेक्षा इस श्रेणी के व्यक्तियों में शीघ्रता से हो रहा है।

(२) प्रेसिडेन्सी और व्यावसायिक नगरों में परिस्थिति अधिक सन्तोषजनक है। ाँ बैंकिंग की अधिक सुविधाएँ हैं और लोगों में उद्योग और वाणिज्य में रुपया गाने की तत्परता भी है। साधारण तौर से यह कहा जा सकता है कि ख्याति-प्राप्त

[1] 'यह कृषि बनाम उद्योग का प्रश्न नहीं है बल्कि दो बड़े धन्धों के साथ-साथ पनपने का प्रश्न है, नमें कृषि सदा अग्रिणी है।' डार्लिंग, वैल्थ एण्ड वेलफेअर ऑफ द पंजाब, पृ० १८६।

[2] अब स्टेट बैंक आफ इण्डिया।

और कुशल व्यक्तियो के प्रवर्त्तक होने पर ऐसे उद्योग में कभी भी धन का अभाव नही पडता। लेकिन यहाँ भी कठिनाइयो का एकदम अभाव नही है। औद्योगिक अर्थ-प्रबन्धन की दृष्टि से वर्तमान बैंकिंग पद्धति काफी लचीली नही है। वर्तमान नियमो के अन्तर्गत इम्पीरियल बैंक अचल सम्पत्ति पर ऋण नही दे सकता, और न ही लम्बे समय के लिए उद्योगो को धन ही दे सकता है। १९३५ में रिजर्व बैंक के स्थापित होने पर भी इस दृष्टि मे इम्पीरियल बैंक के कानून में कोई परिवर्तन नही हुआ। इसके अतिरिक्त तरल सम्पत्ति के आधार पर कर्ज देने में इम्पीरियल बैंक ३०% का अन्तर (मार्जिन) रखता है। अन्य बैंको ने भी यही नीति बरतनी प्रारम्भ कर दी है जिससे उद्योगो को बहुत कठिनाई होती है। विनिमय बैंक विदेशी विनिमय के लाभप्रद व्यापार में अपना धन लगाते है और इनमें से बहुतो की पूँजी और प्रबन्ध भी विदेशी है। अतएव भारत की आर्थिक अवस्था के ज्ञान और जन-सम्पर्क के अभाव के कारण वे भारतीय उद्योग-धन्धो को धन नही देते और न उनसे औद्योगिक विकास के लिए सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण की आशा ही करनी चाहिए। सम्मिलित पूँजी वाली भारतीय कम्पनियाँ भी पुरानी प्रथा के अनुसार अल्प काल के लिए धन देती है। इस शताब्दी के प्रारम्भ में जिन बैंको ने (उदाहरणार्थ पीपुल्स बैंक ऑफ लाहौर जो सन् १९१३ में फेल हो गया) साधारण वाणिज्यिक बैंकिंग को औद्योगिक बैंकिंग से सयुक्त करने का प्रयास किया वे असफल रहे। इसका कारण थोडे दिन के लिए जमा की हुई रकम को दीर्घकालिक व्यापार में लगाना तथा एक ही उद्योग में अधिक धन लगा देना था।

औद्योगिक धन की कमी के कारण बडी-बडी कम्पनियो को प्रारम्भिक एवं चालू पूँजी के लिए प्रबन्धक एजेन्टो पर निर्भर रहना पडता है। प्रबन्धक एजेण्ट भी स्वनियन्त्रित मिलो के हिस्से और ऋणपत्र खरीदते है और उन्ही (प्रबन्धक एजेण्टो) की साख पर बैंक उद्योग-कम्पनियो को धन देते है।[1] प्रबन्धकारिणी एजेन्सी प्रणाली विदेशो के सुसगठित द्रव्य बाजार तथा पाश्चात्य औद्योगिक बैंकिंग पद्धति का भारतीय रूप (स्थानापन्न) है और इसका जन्म आर्थिक परिस्थितियो के परिणामस्वरूप हुआ है।[2] यह किसी भी प्रकार आदर्श व्यवस्था नही कही जा सकती क्योकि इसमें अनेक गम्भीर दोष है।[3] बम्बई, अहमदाबाद और इन्दौर में मिलो को जनता के निक्षेपो (डिपाज़िट) से धन मिल जाता है। किन्तु धन प्राप्त करने का यह बडा ही अस्थिर और असन्तोषजनक साधन है और इसे 'सुख के साथी' (फेअर-फ्रेण्ड) की उपाधि ठीक ही दी गई है। जब बुरा समय आता है तो अच्छे-बुरे दोनो प्रकार के उद्योगो मे धन (खीच) लिया जाता है। अतएव ऐसे समय जब कि मन्दी, भले ही वह अस्थायी हो, को रोकने के लिए सारे साधनो (धन) की अधिक आवश्यकता होती है धन वापस लेने से बिगडी हुई स्थिति और भी बिगड जाती है। जनता को सलाह देने का कोई

---

१ रिपोर्ट ऑफ द सेण्ट्रल बैंकिंग इन्क्वायरी कमिटी, पैरा ३५० देखिए, एम० के० बसु, 'इण्डस्ट्रियल फाइनेन्स इन इण्डिया' अध्याय ६ भी देखिए।

२ पनन्दीकर, बैंकिंग इन इण्डिया, पृ० २८५।

३ इस प्रणाली के उद्भव और कार्यों का सक्षिप्त वर्णन खण्ड २, अध्याय २ में दिया गया है।

मान्यता-प्राप्त साधन न होने के कारण भी पूंजी का प्रवाह मुक्त रूप मे औद्योगिक विकास के लिए नही हो पाता।

अतएव हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते है कि नगरो में भी उद्योगो के लिए आवश्यक दीर्घकालिक ऋण की समुचित व्यवस्था नही है। थोडे से औद्योगिक बैंको की स्थापना की गई। उनमें से सबसे महत्त्वपूर्ण बैंक, जिससे भविष्य के लिए बडी आशाएँ बँध गई थी, टाटा इण्डस्ट्रियल बैंक था। किन्तु थोडे समय के प्रभावहीन-वैभवहीन जीवन के उपरान्त उसने औद्योगिक कार्य बिलकुल छोड दिया। फिर कुछ दिनो तक साधारण वाणिज्य-बैंकिंग और विदेशी विनिमय में लगा रहा और अन्त में इसका विलयन सेण्ट्रल बैंक ऑफ इण्डिया में कर दिया गया जो केवल वाणिज्य-बैंक है। टाटा इण्डस्ट्रियल बैंक की असफलता के अन्य कारणो में एक कारण यह भी है कि बैंक अभिवृद्धि काल में स्थापित किया गया था इसलिए बाद में उसे कठिन परेशानियो का सामना करना पडा। इसके अलावा एक गलती यह भी थी कि वह किसी एक प्रबन्धक एजेण्टों की फर्म से सम्बन्धित उद्योगों के प्रवर्तन और अर्थ-प्रबन्धन मे लगा रहता था।[1]

छोटे और मध्यम श्रेणी के साहसोद्यमियों को धन मिलने में अधिक कठिनाइयां होती है क्योकि न तो ये सुरक्षा के रूप में स्टाक उपस्थित कर सकते है न उनकी इतनी प्रतिष्ठा और साख ही होती है कि नाम पर रुपये मिल जायें। सहकारी साख भी उनके लिए उपयुक्त नही है, क्योकि वह छोटे पैमाने पर काम करने वाले कारीगरो—उदाहरणार्थ जुलाहो—के लिए उपयुक्त है। अतएव बहुत दिनो से सरकार से इस बात की मांग की जा रही है कि वह सुरक्षित लाभांश, प्रत्यक्ष ऋण और तैयार माल की खरीद द्वारा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से इन उद्योगो को सहायता पहुँचाए। औद्योगिक अर्थ-प्रबन्धन की समीक्षा औद्योगिक आयोग (१९१६-१८) और बाद में केन्द्रीय बैंकिंग जॉच समिति (१९३०-३१)ने विस्तृत रूप से की।

औद्योगिक आयोग ने विशेष प्रकार की उद्योग-बैंको की स्थापना की सिफारिश की। उनके विचार में इस प्रकार के बैंको की स्थापना इतने राष्ट्रीय महत्त्व की थी कि उसके लिए सरकारी सहायता की मांग करना उचित था। वास्तव में एक ऐसे बैंक की आवश्यकता थी जो छोटे उद्योगपतियो से सम्पर्क स्थापित कर सके, विस्तृत क्षेत्र में उद्योगो की भावी सम्भावनाओ का अनुमान लगा सके, और जिसके पास इतना धन हो जो तुरन्त न भुनाई जा सकने वाली प्रतिभूतियो में लगाया जा सके। उनके विचार मे सरकार और चाहे जो सहायता दे, उसे विशेष रूप से उद्योग-विभाग के द्वारा विशेषज्ञो की सम्मति का प्रबन्ध करना चाहिए ताकि औद्योगिक बैंक कम-से-कम इतना तो अनुमान लगा सकें कि जो उद्योग उनसे सहायता की मांग कर रहे है उनका भविष्य कैसा है। औद्योगिक बैंक स्वय विशेषज्ञो को नही रख सकते अत सरकार को इस कमी को पूरा करना होगा।[2] औद्योगिक बैंको के निर्माण के प्रश्न तथा केन्द्रीय बैंकिंग जांच समिति द्वारा सुझाये गए राज्यीय एव केन्द्रीय औद्योगिक निगम (कारपोरेशन) का

१. देखिए, पी० एस० लोकनाथन, 'इण्डस्ट्रियल आर्गनाइजेशन इन इण्डिया', पृ० २५८-९।
२. देखिए, इण्डस्ट्रियल कमीशन रिपोर्ट, पृ० २८७-९२।

विवरण पुस्तक के दूसरे खण्ड में दिया गया है।[1]

औद्योगिक आयोग ने सुझाव दिया कि इस प्रकार बैंको के स्थापना होने तक वर्तमान सम्मिलित पूँजी वाले बैंक मध्यम-श्रेणी के उद्योगो को ऋण देकर सहायता करें। उद्योग-सञ्चालक और विशेषज्ञो द्वारा प्रार्थी उद्योग की आर्थिक दशा और भविष्य की जाँच के उपरान्त इस ऋण को सरकार की गारटी प्राप्त होनी चाहिए। आयोग ने यह भी सिफारिश की कि कुछ दशाओ में जैसे जन-लाभ के कार्य या राष्ट्रीय महत्त्व के उद्योगो को सरकार को स्वय आर्थिक सहायता देनी चाहिए। इस प्रकार की सहायता विभिन्न रूप ग्रहण कर सकती है, जैसे लाभाश की गारटी, रुपयो के रूप में ऋण, सरकार द्वारा उत्पादित वस्तुओ के क्रय का आश्वासन, या हिस्से की पूँजी में सरकारी योग आदि। ऐसी सहायता देने के पूर्व उचित सावधानी बरतना आवश्यक है ताकि सरकार के आर्थिक हित सुरक्षित रहे और विदेशी पूँजीपति, दी गई रियायतो से अनुचित लाभ न उठा सकें। सम्भवत दोनो युद्धो के बीच आर्थिक कठिनाइयो ने औद्योगिक बैंको की स्थापना के महत्त्वपूर्ण प्रस्तावो को अनिश्चित समय के लिए स्थगित कर दिया। यह ठीक है कि सन् १९२३ से पजाब, मद्रास, मैसूर, बिहार, बगाल एव उडीसा में उद्योगो को सरकारी सहायता देने का कानून (स्टेट एड टु इण्डस्ट्रीज एक्ट) लागू है और बम्बई में उद्योगो को सरकारी सहायता देने के नियम प्रचलित किये गए है, परन्तु ये कानून और नियम उद्योगो को धन देने में अधिक सहायक नही हुए है और कुल मिलाकर इनकी धाराओ के अन्तर्गत बहुत थोडा धन दिया गया है।[2] अत औद्योगिक बैंको का स्थापन अब भी अति वाञ्छनीय है। केन्द्रीय तथा राज्यीय बैंकिग जाँच-समितियो द्वारा किये गए विस्तृत सर्वेक्षण से भी उद्योगो की वर्तमान आर्थिक कठिनाइयो के समाधान की तीव्र आवश्यकता की पुष्टि हो गई है। केन्द्रीय बैंकिग जाँच-समिति द्वारा प्रकाशित प्रश्नावली में औद्योगिक बैंको और प्रधान उद्योगों के लिए साख-सुविधाओ को प्रमुखता दी गई। यदि समिति की सिफारिशो को कार्यान्वित किया जाय तो औद्योगिक अर्थ-प्रबन्धन एक सुदृढ एव प्रगतिशील आधार पर हो जायगा। सरकारी सहायता प्राप्त औद्योगिक-साख-निगम (कारपोरेशन) सन् १९३६-३७ मे उत्तरप्रदेश और बगाल में स्थापित हुए।[3] बम्बई की आर्थिक एव औद्योगिक सर्वेक्षण समिति ने भी छोटे पैमाने के उद्योगो को धन देने के लिए राज्यीय सरकार द्वारा एक छोटे उद्योगो के बैंक की स्थापना की जोरदार सिफारिश की। इस सम्बन्ध में हाल में किये गए वैधानिक कार्य (औद्योगिक-आर्थिक निगम अधिनियम, १९४८) की व्याख्या द्वितीय खण्ड के ११वें अध्याय के सेक्शन ५५ में की गई है।[4]

१. अध्याय ११, सेन्ट्रल बैंकिंग इन्क्वायरी कमिटी रिपोर्ट, पैरा ४०१-९ भी देखिए।

२ इन अधिनियमों की विस्तृत समाक्षा के लिए देखिए, प्रोसीडिंग्स ऑफ फिफ्थ इन्डस्ट्रीज कान्फ्रेंस बुलेटिन न० ५० ऑफ इण्डियन इण्डस्ट्रीज एण्ड लेबर।

३ खण्ड २ अध्याय १, सेक्शन १४ और अध्याय ११, सेक्शन ५४ में भी इस प्रश्न पर विचार किया गया है, एन० दास० 'इन्डस्ट्रियल एन्टरप्राइज इन इण्डिया', पृ० १३८-४०, भी देखिए।

४ अधिक विवरण के लिए देखिए, रिपोर्ट ऑफ द बॉम्बे इकनामिक एण्ड इण्डस्ट्रियल सर्वे कमिटी पैरा २/९।

१६. बाह्य पूँजी—सन् १६२३ में संरक्षण नीति के अपनाने के साथ ही विदेशी पूँजी का प्रश्न महत्त्वपूर्ण हो उठा है। साधारणत कहा जाता है कि यदि विदेशी पूँजी बिना किसी प्रतिबन्ध के प्रशुल्क की दीवाल के पीछे आश्रय पा सकी तो संरक्षण से होने वाले लाभ प्राय समाप्त हो जायेंगे। स्वतन्त्र व्यापार के युग में भी विदेशी पूँजी से अनेक कम्पनियाँ देश में स्थापित हो गई थी। अर्थ आयोग (फिस्कल कमीशन) तथा १६२४ में नियुक्त बाह्य-पूँजी समिति (एक्सटर्नल कैपीटल कमिटी) दोनो ने बाह्य-पूँजी के सम्बन्ध मे उचित नीति अपनाने के प्रश्न पर विचार किया।

२०. विदेशी पूँजी की मात्रा—यद्यपि भारत मे विदेशी पूँजी का शुद्ध अनुमान कठिन है परन्तु मोटे तौर पर अनुमान लगाने के लिए पर्याप्त आँकडे उपलब्ध हैं।[1] अभी हाल में वी० आर० शिनोय द्वारा लगाये गए अनुमान के अनुसार मार्च १६४५ में विदेशी पूँजी २२७५० लाख पौण्ड थी। यह अनुमान इस प्रकार लगाया गया था—बाह्य-ऋण का बाजार-मूल्य = ८३०६ १ लाख × थोक मूल्य देशनाक। यह बराबर है= २०५८० लाख पौण्ड। इसमें १६२४ लाख पौण्ड और जोडा जायगा जो रुपयो में दिये गए भारतीय ऋण मे विदेशियो के भाग का प्रतिनिधित्व करता है। यह एक अति-रंजित अनुमान है[2] क्योंकि यह १६३६ से विदेशियो द्वारा भारतीयो को हस्तान्तरित किये गए व्यवसायो को ध्यान में नही रखता।[3] प्रतिभूतियो और हिस्सो के मूल्य में हुई वृद्धि को घटा देना उचित नहीं है—अधिकतर इनके मूल्य कृत्रिम रूप से बढे हुए है—क्योकि यदि सब विदेशी सम्पत्ति को खरीद लेने का निश्चय भी कर लिया जाय तो भी क्रय-मूल्यो का एक उचित और प्रचलित मूल्य स्तर से काफी नीचे स्तर पर निर्धारण करना असम्भव न होगा।

इसके अतिरिक्त, भारतवासी विदेशी कम्पनियो तथा रुपये की पूँजी से स्थापित गैर भारतीयो द्वारा प्रबन्धित कम्पनियो—जैसे जूट की मिलो—में बडे-बडे हिस्सो के अधिकारी है जो नित्य ही बढते जा रहे है। लेकिन इसके विपरीत हमें इस बात का भी ध्यान रखना होगा कि रुपये की पूँजी से सञ्चालित अनेक भारतीय कम्पनियो में विदेशी पूँजी भी लगी हो सकती है और प्रबन्ध भी गैर भारतीयो के हाथो में हो सकता है। कलकत्ता की जूट की मिलें, बकिंघम और कर्नाटक की कपडे की मिलें, मद्रास और कानपुर की ऊन की मिलें इसका उदाहरण हैं।[4]

---

१. २८ मई १६४६ के ईस्टर्न इकनामिस्ट में 'इण्डिया डेटर ऑर क्रेडिटर' नामक लेख देखिए।

२. अभी हाल में रिजर्व बैंक द्वारा किये गए सर्वेक्षण के अनुसार जून १६४८ तक विदेशियों द्वारा विनियोजित पूँजी की मात्रा ५६६ करोड रुपया आँकी गई है। इसमें विभिन्न देशों का भाग इस प्रकार है: इंगलिस्तान ३७६ करोड रुपया, अमरीका ३० करोड रु०, पाकिस्तान २१ करोड रु०, और कनाडा ६ करोड रुपया।

३. सन् १६१४ से देखा गया है कि विदेशी पूँजी और फर्मो की तुलना में भारतीय पूँजी की मात्रा और फर्मो की संख्या अधिक बढ रही है। १६३६-४५ के युद्ध से उत्पन्न परिस्थितियों ने इस प्रवृत्ति को और तीव्र कर दिया है।

४. गत वर्षो में नाम के लिए भारतीय कहलाने वाली फर्मो की संख्या में बहुत वृद्धि हुई है, उदाहरणार्थ इन शब्दों को जोड़ा गया है 'इण्डिया लिमिटेड।'

विदेशी पूँजी की शुद्ध गणना के प्रश्न को छोड देने पर भी इस बात में कोई सन्देह नही कि भारत में लगी विदेशी पूँजी की मात्रा बहुत है। भारत में बडे पैमाने पर किये जाने वाले अनेक उद्योग, जैसे बैक, जहाज, रेलवे, चमडा कमाना, चाय व कहवा और बीमा कम्पनियाँ इत्यादि विदेशी पूँजी की सहायता से चल रहे है, यद्यपि यह मानना पडेगा कि इधर कुछ वर्षों से, भारतीय पूँजी अपने लिए एक अलग रास्ता बना रही है और मात्रा में भी बढ रही है।

२१. भारत में विदेशी पूँजी मुख्य समस्याएँ—अब हम विदेशी पूँजी से सम्बन्धित राष्ट्रीय नीति के प्रश्न पर विचार करेगे। विदेशी पूँजी ऋण या उद्योगो में लगी पूँजी के रूप में आ सकती है। ऋण के रूप में विदेशी पूँजी के सम्बन्ध में सभी लोग इस बात से सहमत है कि जब तक देश की पूँजी प्राप्त नही होती तब तक विदेशी ऋण विरोध के स्थान पर प्रोत्साहन का विषय है। ऐसा करना हानिकारक न होकर लाभ-प्रद है। परन्तु हमें देश की पूँजी को प्राप्त करने का भरसक प्रयत्न करना चाहिए।

अमेरिका और जापान[1] जैसे राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत देशो ने भी इस प्रकार से विदेशी पूँजी को देश में लगाने के लिए प्रोत्साहन दिया है। साथ ही गैर-सरकारी भारतीय शिक्षित मत भी इस अर्थ में विदेशी पूँजी के उपयोग के पक्ष में है। उदाहरणार्थ आर० सी० दत्त ने देश की रेलो के अर्थ-प्रबन्धन के लिए विदेशो में ऋण एकत्र करने को ठोस एवम् सुविचरित नीति माना। इसमें विदेशी पूँजीपति अपनी लगाई पूँजी पर केवल एक निश्चित ब्याज पाता है और ब्याज और ऋण न चुकाए जाने पर ही उद्योग पर अधिकार प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार से लिये गए ऋण के अनेक उदाहरण है जैसे राज्य और नगरपालिका द्वारा लिये गए ऋण, बन्दरगाहो के अधिकारियो के बन्ध-पत्र (बाण्ड), निजी कम्पनियो के बन्ध-पत्र (बाड) और ऋण-पत्र (डिबेंचर), बैंको द्वारा लिये गए ऋण।[2] जैसा कि डॉ० स्लेटर ने लिखा है "चूँकि विदेशी नियन्त्रण का प्रश्न नही उठता अतएव केवल निम्न मुख्य बातें ही विचारणीय है (१) क्या लिये गए ऋण से कोई नई सम्पत्ति उत्पन्न की जा सकती है जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से निश्चित ब्याज से अधिक उत्पादन करने में सहायक हो सके, (२) क्या विदेशो से ऋण लेना भारत में ऋण लेने की अपेक्षा अधिक लाभप्रद है? यदि दोनो प्रश्नो का उत्तर 'हाँ' में है तो निश्चय ही विदेशी पूँजी का उपयोग लाभ-कारी है।" बाह्य-पूँजी समिति ने भी कहा था कि सरकारी या अर्द्ध-सरकारी ऋण में बाह्य या देश की पूँजी के बीच विचारशील वस्तु केवल ब्याज की दर ही नही है।

---

१ तुलना कीजिए, "भारत की स्थिति, जहाँ तक विदेशी पूँजी का सम्बन्ध है, जापान से बिलकुल भिन्न है। जापान ने विदेशों से अपने औद्योगिक विकास के लिए ऋण लिया, किन्तु पूँजी का नियन्त्रण अपने हाथ में रखा और शीघ्र ही ऋणी से ऋण देने वाला राष्ट्र हो गया। किन्तु भारत में जापान की तुलना में यह कमी रही है कि जिन उद्योगों में विदेशी पूँजी लगी उनका नियन्त्रण भी विदेशी हाथों में चला गया और इस प्रकार आर्थिक विकास की सामान्य दिशा भी उन्ही के हाथ में चली गई।" हबर्ट, पूर्व उद्धृत, पृ० २७३।

२ देखिए, एक्सटर्नल कैपीटल कमिटी रिपोर्ट, पैरा १७।

उन्होंने यह प्रस्ताव किया कि विनिमय की आवश्यकताओं के अतिरिक्त, जहाँ तक सम्भव हो बाह्य ऋण की अपेक्षा रुपये के रूप में ऋण लेना चाहिए, भले ही इसमें ब्याज की दर कुछ ज्यादा क्यों न हो। इससे देश में बचत करने और उद्योगों में पूँजी लगाने की शक्ति बढ़ जायगी और इससे सरकारी अपक्व प्रमाण पत्र (स्क्रिप), एवम् सुरक्षित बन्ध-पत्रों (बाण्डों) के रूप में बैंकों को सुरक्षा प्राप्त होगी और वे उद्योगों को अधिक धन दे सकेंगे। विशेषकर इस दृष्टि से हम भारत के स्टर्लिंग ऋण के लौटाने और रुपयों में परिवर्तन करने का स्वागत करते हैं।

विदेशी पूँजी लाभ में हिस्सा लेने या सट्टे के रूप में दूसरे देश में आ सकती है। इसके साथ ही विदेशी प्रबन्ध और नियन्त्रण भी आ जाते हैं। इस प्रकार की पूँजी का ही प्राय विरोध किया जाता है।

२२. **विदेशी पूँजी के विरुद्ध आपत्तियाँ**—विदेशी पूँजी के विरुद्ध मुख्य तर्क निम्न हैं।[1] (१) पहला स्पष्ट विरोध इस आधार पर किया जाता है कि लाभ देश के बाहर जाता है। कई व्यक्तियों को तो यह इतना भयंकर दोष दिखाई पड़ता है कि देश के प्राकृतिक साधनों को विकसित और लाभपूर्ण बनाने की अपेक्षा, जिससे विशेषकर विदेशियों को लाभ हो, वे बाहरी पूँजी पर एकदम प्रतिबन्ध लगा देना चाहते हैं। इससे देश का औद्योगिक विकास भले ही अनियत काल के लिए स्थगित हो जाय लेकिन वे विदेशियों के लाभ के लिए बाहर से धन मँगाना उचित नहीं समझते। आधारोद्योगों एवम् उन उद्योगों के सम्बन्ध में जो देश की सुरक्षा से सम्बन्ध रखते हैं तथा ऐसे प्राकृतिक साधनों के विषय में भी जैसे खनिज पदार्थ, जो एक बार समाप्त हो जाने पर किसी भी हालत में नहीं मिल सकते, यह भावना बड़ी तीव्र है। (२) दूसरा विरोध इस आधार पर किया जाता है कि विदेशी फर्मों के सचालक उन्हीं देशों से चुने जाते हैं, यही नहीं, उच्च पदाधिकारियों का चुनाव भी इसी प्रकार होता है। फलत. दायित्व-पूर्ण पदों पर भारतीयों के पहुँचने के कम ही अवसर आ पाते हैं। साधारणतया वे भारतीयों को शिक्षार्थी (एप्रेन्टिस) के रूप में भी प्रशिक्षा देने से इन्कार कर देते हैं। इस प्रकार विदेशी पूँजी के पक्ष में कहे जाने वाले लाभ से लोग वंचित रह जाते हैं। (३) उससे कुछ ऐसे स्थायी स्वार्थ उत्पन्न हो जाते हैं जो देश के राजनीतिक एव आर्थिक आकाक्षाओं के विरोधी होते हैं। यह बात राजनीतिक दृष्टि से पराधीन राष्ट्रों के विषय में विशेष रूप से लागू होती है। नियम या सत्ता विदेशी पूँजीपतियों को अपने हित के लिए देश का शोषण करने देती है ताकि पराधीन देश पिछड़े रहें और विदेशी पूँजी-पति इन देशों के राजनीतिक स्वतन्त्रता या प्रगति के किसी भी आन्दोलन का विरोध करने में यथासामर्थ्य नहीं चूकते। स्वतन्त्र देशों में प्राय देखा जाता है कि विदेशी पूँजी राजसत्ता से गठबंधन कर लेती है चाहे राजसत्ता कितनी ही निरकुश क्यों न हो। कारण यह है कि विदेशी पूँजी का हित स्थिरता में है प्रगति में नहीं। दूसरे अपनी सरकारों द्वारा वे देश के राजनीतिक या आर्थिक मामलों में हस्तक्षेप करा सकते हैं।

---

१. देखिए, फिस्कल कमीशन रिपोर्ट, पैरा २६०, बिमति टिप्पणी, पैरा ५४-८, एक्सटर्नल कैपीटल कमिटी रिपोर्ट, पैरा १७।

यह खतरा हमेशा मौजूद रहता है। भारतवर्ष ने तो विदेशी पूँजी और विदेशी सत्ता के इस अपवित्र गठबधन का कुपरिणाम भोगा है। जब स्वतन्त्रता की ओर भारत की प्रगति रुक न सकी तब आत्मरक्षा से प्रेरित होकर विदेशी पूँजी ने राष्ट्रीय हितो का दामन पकडा।

२३ बाह्य-पूँजी के उपयोग और लाभ—इन सब त्रुटियो के बावजूद भी कुछ कारणो से कतिपय प्रतिबन्ध सहित विदेशी पूँजी का स्वागत वाछनीय है। इससे पहला लाभ है कि यह देश के उद्योगीकरण में सहायता देकर देश को धनी बनाने म उपयोगी सिद्ध होती है। उद्योगो के विदेशी पूँजी पर निर्भर होने पर भी प्रारम्भ से ही लाभ मालूम होने लगता है, क्योकि श्रमिको के पारिश्रमिक के रूप में ही सही, राष्ट्रीय आय बढती अवश्य है। यदि औद्योगिक विकास न करने और विदेशी धन की सहायता से औद्योगिक विकास करने के बीच चुनाव करना पडे तो आर्थिक दृष्टिकोण से दूसरे मार्ग को चुनना पडेगा। इसमें सन्देह नही कि यदि लाभ और मजूरी दोनों ही देश में रहें तो अधिक लाभ होगा। यह बडे महत्त्व की बात होगी यदि देश के साहसोद्यमी देश की पूँजी से औद्योगिक विकास को अपने हाथ में ले लें। ऐसा करने के लिए हर सम्भव प्रयत्न करना चाहिए। परन्तु यह तो मानना ही पडेगा कि मजूरी से कुल मिलाकर देश का लाभ ही होगा, भले ही वे कुल अर्जित आय का अल्पाश या अधिकाश हो।[1] मजूरी के रूप में देश को होने वाले लाभ के अतिरिक्त एक महत्त्वपूर्ण लाभ यह भी है कि विदेशी पूँजीपति के साथ प्राविधिक कुशलता और बहुमूल्य पेटेन्ट के अधिकार तथा सगठन भी देश में आ जाते हैं जो उद्योगो को प्रोत्साहित करने के लिए आवश्यक हैं। लेकिन इसका पूरा लाभ तभी उठाया जा सकता है जबकि विदेशी फर्में अपने उद्योग-केन्द्र में देश के नव-युवको और श्रमिको को प्रविधि (टेकनीक) की शिक्षा दें। इस सम्बन्ध में ध्यान देने की बात यह है कि यद्यपि बहुत दिनों से विदेशी—विशेषकर यूरोपीय—पूँजी देश के उद्योगो में लगी है फिर भी उपर्युक्त प्रकार के कोई उल्लेख्य लाभ नही हुए हैं। इससे स्पष्ट है कि देश में विदेशी पूँजी के निर्बाध आगमन-मात्र से ही उससे सम्बन्धित सब फायदे नही ले सकते हैं। विदेशी कम्पनियो पर ऐसी शर्तें लगाना आवश्यक है जिनसे देश में औद्योगिक शिक्षा शीघ्रता से प्रसारित हो। इस बात से इन्कार करने से कि भारतीयो में औद्योगिक नेतृत्व एव ज्ञान का अभाव है कोई लाभ नही होता। परन्तु इसमें सन्देह नही कि अवसर और सुविधाएँ प्राप्त होने पर वे पश्चिम से इस विषय में सीख सकते हैं। यदि विदेशी उद्योगपतियो से भारतीयो को आधुनिक ढग और नये विचारो की दीक्षा नही मिल पाती तो देश में विदेशी पूँजी के लाने का उद्देश्य ही असफल हो जायगा।

बाह्य-पूँजी से दूसरा लाभ यह बताया जाता है कि यह उद्योग को प्रारम्भ करने का व्यय-भार सम्हालती है और इस तरह विकास का पथ प्रशस्त करती है।[2] परन्तु औद्योगिक कार्यों को प्रारम्भ करने में विदेशियो पर निर्भर रहना कमजोरी का

[1] [illegible]खिए, मारीसन, 'इकनामिक ट्रान्जीशन इन इण्डिया', पृ० २२०।

[2] [illegible] में यूरोपीय उद्योग का इतिहास सक्षेप में बुचानन, पूर्व उद्धृत, अ० ३ में दिया गया है।

लक्षण है। इधर हाल में वायुयान-निर्माण और जहाज बनाने के क्षेत्र में दिखाये गए साहस से स्पष्ट लक्षित होता है कि भारतीय पूँजी की हिम्मत बढ रही है और देश के उद्योगीकरण में उस पर अधिकाधिक विश्वास किया जा सकता है। वह उद्योग प्रारम्भ करने की जोखिम उठाने को धीरे-धीरे तत्पर हो रही है। कभी-कभी तो विदेशियो के साथ—उन्हे थोड़े हिस्से देकर—भी उद्योग प्रारम्भ किये जा रहे हैं, किन्तु इनमें नियन्त्रण पर उनका प्रमुख अधिकार नहीं रहता। इनके हाल ही के उदाहरण बिरला-नफील्ड और टाटा-इम्पीरियल-केमीकल इण्डस्ट्रीज हैं जिन्होने क्रमश मिलकर मोटरकार बनाने और रग बनाने के उद्योग प्रारम्भ किये हैं।

२४ बाह्य-पूँजी पर प्रतिबन्ध—विदेशी पूँजी से होने वाले लाभ और हानि पर विचार करने के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि यद्यपि देश मे बाह्य-पूँजी का उन्मुक्त प्रवाह वाछनीय नही है फिर भी देश के औद्योगिक विकास मे यह महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है, यदि इसका समुचित नियमन किया जाय और इस पर आवश्यक प्रतिबन्ध लगाए जायें। प्रतिबन्धो की ऐसी व्यवस्था करनी होगी कि दोनो विरोधी विचारो में समन्वय स्थापित किया जा सके। एक ओर तो आवश्यक मात्रा और उचित प्रकार की विदेशी पूँजी को आकर्षित करने का प्रश्न है, क्योंकि यदि प्रतिबन्ध अत्यन्त कठोर, हैं तो विदेशी पूँजी बाहर ही रहेगी और इससे देश को हानि होगी, दूसरी ओर प्रतिबन्धो का नितान्त अभाव या उन्हे लगाने में बहुत ढिलाई बरतने से भी यह डर है कि कही विदेशी पूँजी देश के सभी लाभप्रद उद्योगो पर अधिकार न जमा ले और देश को आनुषगिक लाभ भी न प्राप्त हो। प्रस्तावित प्रतिबन्ध निम्न प्रकार के है

(१) विदेशी कम्पनियो की सस्थापना और रजिस्ट्री यहाँ होनी चाहिए। उनकी पूँजी रुपयो में होनी चाहिए ताकि भारतीयो को भी विनियोग के अवसर मिल सके तथा प्रबन्ध भारत के राष्ट्रीय हितो से तादात्म्य कर सके। यह कहा जाता है कि इस प्रकार के प्रतिबन्ध से सम्मिलित पूँजी वाली कम्पनियाँ बनाने के स्थान पर निजी कम्पनियाँ बनाकर बचा जा सकता है। लेकिन इसके प्रत्युत्तर में यह कहा जा सकता है कि बड़े पैमाने के आधुनिक उद्योगो के लिए निजी कम्पनियाँ पर्याप्त धन एकत्र नही कर सकती। फिर भी यदि इस प्रकार से बच निकलने के अत्यधिक प्रयत्न हो तो विशेष कानून बनाकर इन्हे रोका जा सकता है।

(२) दूसरे, प्रबन्ध पर पर्याप्त भारतीय नियन्त्रण को सुरक्षित करने के लिए ऐसी कम्पनियो के हिस्सो का एक भाग भारतीय पूँजी के लिए निर्दिष्ट कर देना चाहिए। यह भी किया जा सकता है कि नई कम्पनियो में भारतीय पूँजी के लिए कुछ स्थान अल्प समय के लिए सुरक्षित रखा जाय। इस व्यवस्था के विरुद्ध यह कहा जाता है कि जब तक प्रारम्भ में भारतीयो द्वारा लगाई गई पूँजी के मुक्त हस्तान्तरण पर प्रतिबन्ध न लगाए जायेंगे तब तक यह व्यवस्था बिलकुल बेकार होगी। परन्तु हिस्सो के हस्तान्तरण पर प्रतिबन्ध लगाने का परिणाम यह होगा कि सीमित बाजार के कारण भारतीय हिस्सेदारो को हानि होगी। दूसरे, जहाँ तक भारतीयो के लिए हिस्से अलग किये जायेंगे वहाँ तक पूँजी सीमित हो जायगी और प्रतिस्पर्धा के अभाव में इस पूँजी पर

लाभ बढ जायगा, जिसका अर्थ यह होगा कि उपभोक्ता को हानि पहुँचेगी और पूँजी-पतियो को लाभ होगा। यह भी कहा जाता है कि चाहे कितने ही प्रतिबन्ध क्यो न लगाए जायें किन्तु व्यवहार में उनसे बच निकलना कठिन न होगा।[1]

(३) तीसरे, यह भी प्रस्तावित किया गया है कि सचालको में से कुछ प्रतिशत भारतीय हो और हो सके तो वे भारतीय हिस्सेदारो द्वारा ही चुने जायें। यह आपत्ति, कि ऐसा करने में साम्प्रदायिकता की गध आती है जो व्यापारिक हित और कुशल-प्रबन्ध के लिए घातक है, भी इस प्रत्युत्तर से दूर हो जाती है कि विदेशी पूँजी पर केवल विदेशी होने के नाते प्रतिबन्ध लगाना भी साम्प्रदायिकता की बू लिये हुए है। परन्तु फिर भी कुछ अन्य कारणो से इसे आवश्यक माना जाता है। इसके उदाहरण में प० मालवीय ने इगलिश ओवरसीज (क्रेडिट इन्श्योरेंस) ऐक्ट १९२० की व्यवस्था की ओर सकेत किया था जिसके अन्तर्गत उन्ही फर्मो को ऋण दिया जाता जो प्रधानत अंग्रेजी फर्में हों। उसी प्रकार भारत में भी स्वतन्त्र-व्यापार-काल में भी जब कभी व्यक्तिगत कम्पनियो को रियायतें दी गईं तो सरकार को इस प्रकार के प्रतिबन्ध लगाने की आवश्यकता प्रतीत हुई।

(४) यह सुझाव भी रखा गया है कि भारतीय और गैर-भारतीय सभी कम्पनियो को चाहिए कि वे भारतीय शिक्षार्थी (अप्रेन्टिसो) की प्रशिक्षा का प्रबन्ध करें और इसका पालन न करने पर उन पर दण्डकारी कर लगाए जायें।

यह सभी लोग स्वीकार करते हैं कि विदेशी पूँजी से होने वाले लाभो के बढाने और हानियो को कम करने के लिए इस प्रकार के कुछ प्रतिबन्ध आवश्यक हैं। १९२४ के भारतीय लौह उद्योग सरक्षण अधिनियम (इण्डियन स्टील इण्डस्ट्री प्रोटेक्शन एक्ट) के अन्तर्गत इन प्रतिबन्धो को कानूनी रूप दे दिया गया है। यह किन दशाओ में लागू किया जाय इस विषय में मतभेद हैं। अर्थ-आयोग तथा बाह्य-पूँजी समिति की बहुमत रिपोर्ट ने कहा कि सरकार द्वारा आर्थिक सहायता इत्यादि दिये जाने पर ही इस प्रकार के प्रतिबन्ध लगाए जाने चाहिएँ। सब दशाओ मे प्रतिबन्ध लगाने का उन्होने इसलिए विरोध किया कि वे अधिक भारकारी होगे और इसलिए इनसे बचने की कोशिश की जायगी। यदि यह सम्भव न हुआ तो इसका प्रभाव यह होगा कि विदेशी पूँजी इस भय से देश में आने से रुक जायगी। अर्थ-आयोग की अल्पमत-रिपोर्ट (माइनॉरिटी रिपोर्ट) ने कहा कि सरक्षण स्वय एक महत्त्वपूर्ण रियायत है। आर्थिक सहायता और सरक्षण द्वारा सहायता पहुँचाने में कोई तर्कसम्मत भेद नही किया जा सकता। इनके मतानुसार ऊपर निर्देशित प्रतिबन्ध हर हालत में लागू किये जाने चाहिएँ, चाहे रियायतें दी जाती है या नही।

उपर्युक्त विवेचन से यही सामान्य निष्कर्ष निकलता है कि वर्तमान परिस्थिति में देश के औद्योगिक विकास की गति को तेज करने के लिए बाह्य-पूँजी आवश्यक है। इससे उपभोक्ताओ के हितो की हानि के समय को कम किया जा सकता है (जो उस समय तक चलेगा जब तक सरक्षण-कर कायम रहते हैं) और उद्योगो को आधुनिक मशीनें

१ एक्स्टर्नल कैपिटल कमिटी रिपोर्ट, पैरा ७१-२।

प्राप्त हो सकती है। दूसरे, ऊपर बताये गए लाभो को सुरक्षित करने के लिए बाह्य-पूँजी के मुक्त-प्रवाह को नियन्त्रित करना होगा। किन परिस्थितियो में, किस प्रकार, यह नियन्त्रण होना चाहिए, यह विस्तृत विवेचना का विषय है। अर्थ-आयोग (फिस्कल कमीशन) के बहुमत और अल्पमत के मतभेद (जिसका निर्देश हम ऊपर कर चुके है) का प्रधान कारण यह था कि जहाँ बहुमत प्रतिबन्धो की प्रभावात्मकता पर कम विश्वास करता था वहाँ अल्पमत निश्चय रूप से उनके पक्ष मे था। परन्तु बाह्य-पूँजी के नियमन और नियन्त्रण द्वारा राष्ट्रीय उद्देश्य की प्राप्ति के प्रश्न पर दोनो में मतैक्य है।

विदेशी पूँजी के नियमन के उपाय कहाँ तक सफल होगे यह प्रयोग और गलतियो द्वारा ही जाना जा सकता है। यदि विशेष प्रकार का प्रतिबन्ध किसी एक विशिष्ट उद्योग या परिस्थिति में ठीक परिणाम नही देता तो उसे हटाकर उसके स्थान पर अन्य प्रकार का उचित प्रतिबन्ध लगाना होगा। हमारे विचार से अल्पमत की सिफारिशो के अनुसार प्राथमिक अवस्था मे थोड़ा कठोर प्रतिबन्ध लगाने से बहुत बड़ी हानि न होगी। यदि वे अनुपयुक्त सिद्ध होते है तो परिस्थितियो के अनुसार उनमें परिवर्तन या सशोधन किया जा सकता है। हम इस बात मे विश्वास नही करते कि अत्यन्त कठोर प्रतिबन्धो से विदेशी पूँजी डरकर बाहर भाग जायगी और फिर बन्धनो के पुन शिथिल किये जाने पर वह न लौटेगी। जागरूक भारतीय जनमत के अनुसार विदेशी पूँजी पर प्रारम्भ में ही प्रतिबन्ध लगाना आवश्यक है।

१९३५ के संविधान में विदेशी-पूँजी की स्थिति—१९३५ के 'भारत सरकार-अधिनियम' (गवर्नमेंट ऑफ इन्डिया एक्ट) मे कितनी ही ऐसी धाराएँ थी जो विदेशी पूँजी के प्रति विवेचनात्मक व्यवहार से सम्बन्धित है। उन्हे सक्षेप मे नीचे दिया जाता है।

इगलिस्तान में अधिवासित ब्रिटिश प्रजाजनो को न तो भारत में आने से रोका जा सकता है और न उनके यात्रा करने, रहने, सम्पत्ति खरीदने, सरकारी पद ग्रहण करने या किसी भी प्रकार का पेशा अपनाने मे किसी प्रकार से बाधा पहुँचाई जा सकती है।

इगलिस्तान या बर्मा मे अधिवासित प्रजाजनो तथा ब्रिटिश अथवा इगलिस्तान या बर्मा में सस्थापित ब्रिटिश कम्पनियो के सम्बन्ध में कर-विषयक कोई भेद न किया जायगा।

भारत मे व्यापार करने वाली ब्रिटिश कम्पनियो को भी वही अनुदान एव सहायता मिलेगी जो कि ब्रिटिश-भारत में सस्थापित कम्पनियो को मिल सकती है।

ब्रिटिश भारत में रजिस्ट्री हुए किसी भी जहाज या हवाई जहाज के पक्ष में ऐसा व्यवहार न किया जायगा जो इगलिस्तान में रजिस्ट्री हुए जहाज या हवाई जहाज के प्रति विवेचनात्मक (भेद-भावपूर्ण) हो।

भारतीय धारासभाओ को इजाजत दी गई कि वे उद्योग और व्यापार को प्रोत्साहन देने के लिए आर्थिक सहायता उन उद्योगो तक सीमित रखें जो ब्रिटिश-भारत के नियमो के अन्दर सस्थापित है और जो भारतीयो को प्रशिक्षण की सुविधा

देती है तथा जिनके आधे से अधिक सचालक भारतीय है। यह बात उन कम्पनियो के लिए थी जो कानून बनने के समय ऐसे कार्यो (उद्योग-व्यापार) मे सलग्न नही थी।

विवेचनात्मक व्यवहार की धाराएँ तभी तक लागू हो सकती थी जब तक कि उसी प्रकार का व्यवहार इगलिस्तान में भारतीयो या भारतीय कम्पनियों के प्रति न दिखाया जाय। यदि इगलैण्ड की सरकार और फेडरल सरकार के बीच ऐसा समझौता हो जाय कि सघ (फेडरेशन) स्थापित हो जाने के बाद वे एक-दूसरे के नागरिको एव कम्पनियो से समान व्यवहार करेंगी तो ये धाराएँ स्थगित कर दी जायँगी।[1]

उपर्युक्त परिनियत व्यवस्थाओ के अतिरिक्त गवर्नर-जनरल और गवर्नरो को प्राप्त आदेशो (इन्स्ट्रूमेन्ट्स आफ इन्स्ट्रक्शन) के अनुसार किसी बिल पर स्वीकृति देने या रोक रखने की विवेकपूर्ण शक्ति प्राप्त थी और जिस बिल के प्रभाव को भी वे भेद-भावपूर्ण समझते थे उसे रोक रखने का उन्हे अधिकार था। यदि उन्हे यह सन्देह हो कि कोई बिल सविधान अधिनियम (कान्स्टीट्यूशन एक्ट) के उद्देश्यो को आघात पहुँचा रहा है तो वे उसे सम्राट् की सरकार द्वारा विचार के लिए रख सकते थे।

यदि हम यह ध्यान में रखे कि इगलिस्तान में अग्रेजी उद्योगो से प्रतिस्पर्धा करने वाला कोई भी भारतीय उद्योग नही है तो आदान-प्रदान का सिद्धान्त, जिसके द्वारा साधारणतया इगलैण्ड में भारतीयो या कम्पनियो पर किसी प्रकार के प्रतिबन्ध न लगाए जायँगे, बिलकुल निरर्थक प्रतीत होगा। इस सिद्धान्त को सार्थक करने के लिए यह आवश्यक है कि भारतीय उद्योगो का इतना तीव्र विकास किया जाय ताकि उनमें इतनी क्षमता और प्राण-शक्ति आ जाय कि वे अगरेजी कम्पनियो का सामना कर सकें। वाणिज्य-सम्बन्धी विवेचनात्मक व्यवहार के विरोधी धाराओ के शाब्दिक अनुशीलन से पता चलता है कि राष्ट्रीय हित एव सुरक्षा की दृष्टि से शक्तिशाली ब्रिटिश फर्मो के विरुद्ध उठाया जाने वाला हर कदम कठिनाइयो से भरा है।

आज जब हम अपने देश के स्वामी हो गए है तथा देश के सर्वोत्तम हितो में विदेशी पूँजी के प्रति कोई भी व्यवहार करने के लिए स्वतन्त्र है, उपर्युक्त सभी कठिनाइयाँ दूर हो जायँगी।

२६ **आन्तरिक पूँजी के साधनों के विकास की आवश्यकता**—यह तो स्पष्ट ही है कि देश को सबसे अधिक लाभ तभी होगा जब नई पूँजी के लिए बाह्य पूँजी पर निर्भर न रहकर वह आन्तरिक पूँजी से अपनी सारी आवश्यकताएँ पूरी करने में समर्थ होगा। जैसा कि बाह्य-पूँजी समिति ने कहा था "बाह्य पूँजी की वास्तविक समस्या भारत की पूँजी के आन्तरिक साधनो के विकास में निहित है। भारत की 'विशाल सुप्त पूँजी' को जागृत करने के लिए बैंकिंग की सुविधाओ के अभिवर्द्धन एव प्रसार की आवश्यकता है।"[2] भारतीय बैंको के विकास और पुनर्गठन तथा केन्द्रीय एव राज्यीय बैंकिंग जाँच समितियो की सिफारिशो का विवरण बैंकिंग के अध्याय में

[1] देखिए, गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया ऐक्ट, १९३५, सेक्शन १११-१८, एन० एस० पारदशानी, 'हाउ इण्डिया इज गवर्न्ड' पृ० १३६-३७, जी० एन० जोशी, 'इण्डियन एडमिनिस्ट्रेशन' पृ० १७२-३।

[2] देखिए, एक्सटर्नल कैपीटल कमिटी रिपोर्ट, 'सिफारिशों का साराश'।

किया गया है।[1]

विदेशी पूँजी के स्थान पर देशी पूँजी के प्रयोग का अर्थ यह है कि उद्योग केवल भारतीयों द्वारा दिये गए धन से संचालित ही न हों अपितु उनका स्वामित्व एवम् प्रबन्ध भी भारतीयों के हाथ में हो। इस पिछली बात का विवरण हम इसी अध्याय में पहले कर चुके हैं।

---

[1] देखिए, खण्ड २, अध्याय ११।

परिशिष्ट[1]

विभाजन के बाद[2]

१. जनसंख्या—१९४१ की जनगणना पर आधारित, निम्न तालिका, दोनो देशो और उनसे बाहर की रियासतो का क्षेत्रफल हजार-वर्गमील मे तथा जनसख्या दस लाख व्यक्तियो में प्रदर्शित करती है।

	जन सख्या (दस लाख)	कुल का प्रतिशत	क्षेत्रफल (१००० वर्ग मील)	सम्पूर्ण क्षेत्रफल का प्रतिशत	घनत्व
भारतीय संघ					
प्रान्त	२३०	५७ ८	६२७	४० १	३६८
रियासतें	६८	१७ ६	४१८	२६ ५	१६७
योग	२९८	७५ ४	१,०४५	६६ ६	२९९
पाकिस्तान					
प्रान्त	६६	१६ ९	२३६	१४ ९	२८०
रियासतें	५	२ ६	१२९	८ १	३७
योग	७१	१९ ५	३६५	२३ ०	१९५
हैदराबाद	१६	४ १	८२	५ २	१९८
कश्मीर	४	१ ०	८२	५ २	
कुल योग	३८९	१००	१५७४	१००	२४१

पूर्वी पाकिस्तान के २५ प्रतिशत क्षेत्रफल में पाकिस्तान की लगभग ६४ प्रतिशत जनसख्या केन्द्रित है। पूर्वी पाकिस्तान में जनसख्या का घनत्व ७१८ है जब कि पश्चिमी पाकिस्तान का घनत्व १३६ है।

भारत की नागरिक जनसख्या १४ प्रतिशत और पाकिस्तान की ८ प्रतिशत है।

ऐसा अनुमान लगाया गया है कि विभाजन के समय प्राय ५० लाख मुसलमान भारत से पाकिस्तान गये और प्राय इतने ही हिन्दुओ का आगमन भारत में हुआ। इस

१ इस परिशिष्ट का उद्देश्य विभाजन के तात्कालिक परिणामों का दिग्दर्शन कराना है।

२ यह परिशिष्ट अधिकतर प्रो० सी० एन० वकील के उपयोगी प्रकाशन 'इकनामिक कॉन्सीक्वेन्सेज ऑफ द पार्टीशन', द्वितीय सस्करण, पर आधारित है।

प्रकार अब भी ३२० लाख मुसलमान हिन्दुस्तान में हैं और १५० लाख गैर मुसलमान पाकिस्तान में हैं।

२. कृषि—१९३८-९ के अको से स्पष्ट है कि प्राय. दोनो देशो में क्षेत्रफल का प्राय आधा विना जुताई के पडा है। आनुपातिक रूप से जोती जाने वाली भूमि पाकिस्तान में भारत से थोडी ज्यादा है। भारत में प्रति व्यक्ति वोया गया क्षेत्र ० ७५ एकड है और पाकिस्तान में ० ६४ एकड है। भारत में कुल क्षेत्रफल का १५% जगल है और पाकिस्तान में ५%। न जोती जाने वाली भूमि पाकिस्तान में आनुपातिक दृष्टि से अधिक है।

क्षेत्र का विभाजन १०लाख एकडो में	भारतीय सघ		पाकिस्तान		हैदराबाद	कश्मीर	कुल
	क्षेत्र	%	क्षेत्र	%	क्षेत्र	क्षेत्र	क्षेत्र
कुल वोई गई भूमि	२०४	४२	४३	३७	२७	२	२७७
परती	४७	९	११	९	३	० ३	६१
कुल जोती भूमि	२५१	५१	५४	४६	३०	२ ३	३३८
जगल—	७४	१५	५	५	६	२	८७
जुताई के लिए अप्राप्य	८०	१६	३०	२६	१०	३	१२३
अन्य न जोती जाती हुई भूमि	८६	१८	२६	२३	२	१	११५
कुल न जोती जाती भूमि	२४०	४९	६१	५४	१८	६	३२५
कुल योग	४९१	१००	११५	१००	४८	८ ३	६६३

भारत में २५१० लाख एकड अर्थात् जोती जाने वाली भूमि के १८% की सिंचाई होती है। इसके विपरीत पाकिस्तान मे ५४० लाख एकड अर्थात् जोती हुई भूमि के ३९% की सिंचाई होती है। प्राय अधिक सिंचाई के साधन पाकिस्तान में ही स्थित थे।

लगभग १८३६ लाख एकड अर्थात् ७८% भारत की और ३७७ लाख एकड अर्थात् ७७ प्रतिशत पाकिस्तान की भूमि में खाद्यान्नो की खेती की जाती है। भारत में प्रति-व्यक्ति खाद्यान्न उत्पन्न करने वाली भूमि ० ६१ एकड तथा पाकिस्तान में ० ५४ एकड है। लेकिन सिंचाई के साधनो की सुविधा के कारण पाकिस्तान की प्रति एकड उपज भारत से ज्यादा है। परिणामत पाकिस्तान में खाद्यान्नो की बचत होती है जब कि भारत में खाद्यान्नो की कमी है जोकि प्रतिवर्ष ३० और ५० लाख टन के बीच रहती है।

भारत को पाकिस्तान से कपास और जूट की आयात करनी पडती है। इसके विपरीत मूंगफली, कहवा, चाय केवल भारत में उत्पन्न होते है और इनके लिए पाकिस्तान भारत पर निर्भर है।

दूध के मामले में पाकिस्तान की परिस्थिति भारत से अच्छी है। चमडे भी पाकिस्तान में अधिकता से मिलते है।

३. **खनिज पदार्थ**—कहने की आवश्यकता नही कि भारत का खनिज-उत्पादन पाकिस्तान की अपेक्षा कही अधिक है।

खनिज	भारत (१९४४)	पाकिस्तान (१९४४)
कोयला (लाख टन)	२४८	३
लोहा ,,	२३	—
तांबा ,,	३ ३	—
मैगनीज ,,	३ ७	—
वाक्साइट (टन)	१२,१३५	—
पेट्रोल (दस लाख गैलन)	६६	२१
अभ्रक (हण्ड्रेड वेट)	१३९,०००	—
क्रोमाइट (हजार टन)	२१	१९
जिप्सम ,,	२६	५८

४ **व्यापार और उद्योग**—विभाजन के परिणामस्वरूप समस्त औद्योगिक ढाँचा ही अस्त-व्यस्त हो गया। कारीगर और कुशल श्रमिक जो कि प्रधानतया मुसलमान थे पूर्वी पजाब की फैक्ट्रियो को बिना मजदूरो की छोडकर पाकिस्तान चले गए। पश्चिमी पाकिस्तान से हिन्दू पूंजीपति फैक्ट्रियो के लिए प्रबन्ध-कुशलता की कमी उत्पन्न करके हिन्दुस्तान चले आए। जबकि कपास और जूट अधिकतर पाकिस्तान में उन्पन्न किया जाता है कपडे और जूट की प्राय सब मिलें भारतवर्ष में है।

नीचे दिये गए १९४२ के अको से विभिन्न उद्योगो के वितरण का अदाज़ा मिल जायगा।

उद्योग	भारत	पाकिस्तान
कपडे की मिले	३५७	१५
जूट ,,	१११	—
चीनी ,,	१७६	१५
लोहा और इस्पात के कारखाने	३६	—
सीमेन्ट की फैक्ट्रियाँ	५७	८
कागज़ की मिलें	१९	—
शीशे की फैक्ट्रियाँ	११२	५

१९४३-४ में सूती कपडे की मिलो की कुल सख्या ४१० थी जिनमें से केवल

१५ पाकिस्तान में स्थित थी। भारत की कपड और जूट की मिलें कच्चे माल के लिए पाकिस्तान पर निर्भर है।

अविभाजित भारत में औद्योगिक कारखानो का ८६% भारत के हिस्से में है और उद्योगो में लगे हुए व्यक्तियो में ९०% भारत में पाए जाते हैं। पाकिस्तान में बहुत बड़े उद्योगो की कमी है। मध्यम-श्रेणी के भी जो उद्योग पाकिस्तान के पास हैं वे भी भारत से हीन कोटि के हैं। इसके अतिरिक्त भारत में पाकिस्तान की अपेक्षा उद्योगो की अधिक विविधता है।

हालाकि पाकिस्तान के पास थोडी सी सीमेन्ट की फैक्ट्रियाँ हैं, लेकिन वे कोयले और टाट के बोरो के लिए भारत पर निर्भर हैं। पाकिस्तान का चीनी उद्योग भी गन्ने के क्षेत्रफल को ध्यान मे रखते हुए अविकसित है।

पाकिस्तान के औद्योगिक ढाँचे की सबसे बडी कमी है लोहे और इस्पात के कारखानो का एकदम अभाव।

पाकिस्तान भारत से भी अधिक कृषि-प्रधान देश है। जब कि पहले अविभाजित भारत दुनिया में जूट की निर्यात करने का एकाधिकार रखता था अब विभाजित भारत दुनिया में सबसे अधिक जूट की आयात करने वाला हो गया है। इसी तरह भारतीय सघ को लगभग रुई की दस लाख गाँठें पाकिस्तान से मँगानी पडती हैं (प्राय मध्यम और बडे रेशे की रुई की)। अविभाजित भारत का रुई उत्पन्न करने वाले प्रदेश का अधिकाश भाग पाकिस्तान के हिस्से में है। भारतीय सघ का पाकिस्तान तथा अन्य देशो के साथ व्यापार-सन्तुलन (भारत के लिए घाटे का व्यापार सन्तुलन है) ठीक नही है। भारत की सबसे जटिल समस्या, जो कि पाकिस्तान में भी कुछ रूप में है, यह है कि वह किस प्रकार आयात और निर्यात के बीच की खाई को कम करे, कैसे आयात घटाए और निर्यात बढाए।

४. यातायात—रेलवे—भारतीय रेलो में लगी कुल पूँजी ७०२ करोड है जब कि पाकिस्तान की १३६ करोड। अविभाजित भारत के रेलो की कुल लम्बाई का ७७% भारतीय सघ में है। निम्न तालिका से मीलो के हिसाब से हुआ विभाजन स्पष्ट हो जायगा ·

भारतीय सघ	मील	पाकिस्तान	मील
१ पश्चिमोत्तर रेलवे (पूर्वी पजाब व्यापारिक लाइनें)	१६१०	१ पश्चिमोत्तर रेलवे	
२ आसाम रेलवे		व्यापारिक लाइनें	३११०
ब्राड गॉज	३७६	स्ट्रैटेजिक रेलवे	१८१७
मीटर गॉज	१३६६	२ आसाम रेलवे	
३ ई० आई० आर०		ब्रॉड गॉज	५०३
बी० बी० सी० आई०		मीटर गॉज	६६६
बी० एन० आर०		३ जोधपुर हैदराबाद रेलवे	३१६
जी० आई० पी०			
एम० एण्ड एस० एम०	२११८०		
ओ० टी० आर०			
एस० आई० आर०			
बेजवाडा और धोर करनूल			
	२४५६५		६७४८

भारतीय-सघ पश्चिमोत्तर रेलवे की सैनिक महत्त्व की लाइनो के उत्तरदायित्व से मुक्त हो गया है जिनसे १६२४ से १६४६ के बीच में लगभग ४२ करोड रुपये का घाटा हुआ। लेकिन इसके बदले 'केन्द्रीय-वेतन-आयोग' (सेन्ट्रल पे कमीशन) के सुझावों को स्वीकार करने, और 'भण्डार और ईंधन' की बढती कीमतो से कुछ कठिनाइयाँ हो रही हैं।

शरणार्थियो की बाढ ने दोनो देशो के रेलवे की आर्थिक दशा तथा साधारण प्रशासन को अस्त-व्यस्त कर दिया। ढाई महीने के बीच रेलवे को ३० लाख शरणार्थियो को ढोना पडा। इस कार्याधिक्य से पुराने और बदले जाने लायक इन्जिनो पर बडा बुरा प्रभाव पडा।

लेकिन भारतीय रेलो का भविष्य बडा ही उज्ज्वल है और वे धीरे-धीरे सुधार की ओर बढ रही हैं। नीचे की तालिका से विभाजन के बाद रेलो की आय-व्यय में हुई वृद्धि स्पष्ट हो जायगी

	अविभाजित-भारत (१६३६-४०)	भारतीय सघ (१६४८-४६)	पाकिस्तान[1] (१६४८-४६)
कुल आय	१०२ ७३	१६०	३६ ८६
कुल व्यय	६६ ६३	१५६ ७८	३७ १५
विविध आय	० ६४	२ १६	—
नेट आय	३३ ४४	३२ ३८	—
व्याज का खर्च	२६ ११	२२ ५३	—
वचत-लाभ	४ ३३	६ ८५	—

१ पाकिस्तान के अङ्कों में पोस्ट और तार की आय भी शामिल है।

पश्चिमोत्तर रेलवे तथा आसाम-बगाल रेलवे जिनका कि दोनो देशो में विभाजन हो गया अन्य रेलो की अपेक्षा बहुत ही कम लाभ कर सकी। इसका अभिप्राय यह है कि पाकिस्तान का रेलवे-बजट घाटे में होगा, हालाकि उसने (पाकिस्तान ने) केन्द्रीय-वेतन आयोग की वेतन दर की सिफारिशो को स्वीकार नही किया है।

इगलिस्तान से विभिन्न पुर्जो को मँगाकर अपनी फैक्टरियो मे इजिन तैयार करने, डिब्बो और इजिनो की शीघ्रता से दिशा बदलने तथा बिना टिकट चलने वालो के साथ शीघ्रता से बरती गई सख्तियो तथा इन सबके सम्मिलित प्रभाव से भारतीय रेलो में काफी सुधार हो गया है।

२. जहाज—अविभाजित भारत का जहाजी परिवहन १,५०,००० टन था जो कि विश्व का ० २४ प्रतिशत है। इसमें पाकिस्तान का हिस्सा ४०,००० टन से अधिक नही है।

३. सड़कें—कच्ची और पक्की दोनो मिलाकर ३१५,००० मील लम्बी सडको में से २६५,००० भारत और ५०००० मील पाकिस्तान में है।

६. **मुद्रा (करेन्सी) और विनिमय**—पाकिस्तान-मॉनिटरी सिस्टम एव रिजर्व बैक आर्डर, १९४७, की मुख्य व्यवस्थाएँ नीचे दी जाती हैं

(१) ३० सितम्बर, १९४८ तक भारतीय नोट (लीगल टेन्डर) वैध-मुद्रा के रूप में स्वीकार किये जाने थे।

(२) ३० सितम्बर, १९४८ के बाद रिज़र्व बैक पाकिस्तान के लिए नोट छापने वाली सत्ता नही रहा। तब से पाकिस्तान को अपनी मुद्रा बनाने का अबाध अधिकार है।

(३) १ अप्रैल, सन् १९४८ से रिज़र्व बैक 'पाकिस्तान नोट' जारी कर सकता था।

(४) ३० सितम्बर, १९४८ के पश्चात् शीघ्र ही रिजर्व बैक आफ इण्डिया को चाहिए कि निकाले हुए नोटो के मूल्य के बराबर सम्पत्ति assets पाकिस्तान सरकार को हस्तान्तरित कर दे।

(५) १ अक्तूबर, १९४९ तक पाकिस्तान सरकार रिजर्व बैक आफ इण्डिया से कुछ परिस्थितियो में भारतीय नोट स्वीकार कर सकती थी, लेकिन ये नोट, जब और जैसे पाकिस्तान चाहे, पाकिस्तान के नोटो द्वारा बदलने पडेगे।

(६) पाकिस्तानी मुद्रा के प्रचलन के एक वर्ष बाद तक पाकिस्तान मे भारतीय रुपया और अन्य सहायक सिक्के वैध मुद्रा (Legal tender) के रूप में स्वीकार किये जायँगे।

इस प्रकार ऊपर बताई गई तिथियो से पाकिस्तानी नोटो और मुद्रा का प्रचलन हुआ।

अक्तूबर १९४८ से पाकिस्तान को अपनी मुद्रा के मूल्य-निर्धारण का अधिकार मिल गया। विदेशी व्यापार से पाकिस्तान की स्थिति देखते हुए यह अनुमान लगाया जाता है कि पाकिस्तानी मुद्रा भारतीय रुपये की समता में रहेगी।

आसाम	४६२
मध्यप्रदेश—बरार	६६२
बम्बई	३३६७
मद्रास	४१२४
पश्चिमी बगाल	१४७८

विभाजन के परिणामस्वरूप दोनो देशो का खर्च बहुत बढ गया है। साम्प्रदायिक दगो को शान्त करने के लिए तथा शासन और सुरक्षा कायम रखने के लिए सुरक्षा और पुलिस को सुदृढ करना पडा है।

एक अन्य आनुषगिक किन्तु बडी ही जटिल समस्या शरणार्थियो को सहायता देने और उनके पुनर्वासन की है। यह कुछ दिनो तक चलेगी।

विस्तृत उपद्रवो से खाद्य-फसलो को बडी क्षति हुई जिससे देश की खाद्य-समस्या और भी सकटपूर्ण हो गई। परिणामत खाद्य-सहायता पहुँचाने के खर्च में बडी ही वृद्धि हुई है।

विशेषकर अनुत्पादक व्यय के कारण मुद्रा-प्रसार की प्रवृत्तियो को बल मिला जिनके भार से सरकार को राष्ट्र-निर्माण-सम्बन्धी अनेक योजनाओ को स्थगित करना पडा।

समुद्र-पार पेन्शनें, विभाजन के पूर्व लिये गए ऋण पर ब्याज, जो कि प्रतिवर्ष ६८ ५ करोड रु० है कई वर्षो तक भारतीय सघ के उत्तरदायित्व का प्रधान अग बनेंगी।

६ **सम्पत्ति और देनदारियों का विभाजन**—१२ दिसम्बर, १९४७ को दोनो देशो में सम्पत्ति और देनदारियो के वितरण के मोटे-मोटे सिद्धान्तो के निर्धारण के लिए एक समझौता हुआ—

१ मार्च को ब्याज देने वाली सम्पत्ति का मूल्य १००० करोड रुपये था, अरक्षित ऋण ८६७ करोड रु० और खजाने में रखे गए नकद और प्रतिभूतियाँ लगभग ५१४ करोड रु० मूल्य की थी—

समझौते के अन्तर्गत हुआ विभाजन इस प्रकार है—

	भारत (करोड रुपये)	पाकिस्तान (करोड रुपये)
ब्याज देने वाली सम्पत्ति	८३५	१६५
नकद बाकी	३२५	७५

८६७ करोड रुपये के ऋण में पाकिस्तान का हिस्सा १७ ५% है। ⅓ युद्ध-सामग्री पाकिस्तान को मिली। पाकिस्तान को ६ करोड रुपये अपनी युद्ध-सामग्री की फैक्टरियाँ चलाने के लिए और मिले। कुछ समय तक भारतीय और पाकिस्तानी दोनों प्रतिभूतियो पर भारतीय सरकार ब्याज देगी। उसके बाद पाकिस्तान अपने हिस्से का ब्याज देगा। पाकिस्तान भारत का ऋण वार्षिक किश्तो में ५० वर्ष में चुकाएगा। यह विभाजन के पाँच वर्ष बाद से प्रारम्भ होगा। भारत को पाकिस्तान में प्रतिभूतियाँ रखने वालो को लगभग ७ करोड देना होगा।

खण्ड २

अध्याय १

औद्योगीकरण : साधन तथा विधि

१ भारत में संरक्षण के पक्ष में प्रमुख तर्क—सरक्षण को औद्योगिक विकास का साधन मानने वाले मुख्यत इस तर्क में विश्वास करते हैं कि भारतीय उद्योग अभी अपनी शैशवावस्था में हैं। उनकी धारणा है कि सरक्षण के फलस्वरूप अनेक उद्योग पनप उठेंगे और यदि विकास के प्रारम्भिक वर्षों में उन्हे सन्तोषजनक लाभ का आश्वासन मिल सका तो शीघ्र ही उनकी शक्ति और क्षमता बढ़ जायगी, आगे चलकर उन्हे किसी कृत्रिम सहायता की आवश्यकता नही रहेगी तथा विकास के आरम्भिक चरणो में जो हानि होगी वह अन्ततोगत्वा राष्ट्र के लाभ को ध्यान में रखते हुए पूरी हो जायगी। सरक्षण के लिए भारतीय उद्योगो की स्पष्ट उपयुक्तता की ओर सकेत करते हुए १९५४ के अर्थ आयोग (फिस्कल कमीशन) ने प्रो० पीगू के निम्नलिखित शब्दो को उद्धृत किया—'उत्पादन के प्राकृतिक साधनो से सम्पन्न किसी भी कृषि-प्रधान देश में उत्पादन-क्षमता बढाने के लिए सरक्षण की नीति का दृढता से समर्थन किया जा सकता है। ऐसे देश में सरक्षण के फलस्वरूप देश के उत्पादन का विदेशी उत्पादन से कम विनिमय होने के कारण जो हानि होगी अन्ततोगत्वा राष्ट्र को देश की उत्पादन-शक्ति के विकास की तीव्र गति द्वारा उसकी पूर्ति से अधिक लाभ होगा। संरक्षण-कर जिन्हे काल्वर्ट ने नये उद्योगो को चलना सिखाने वाली बैसाखी बताया है जो उद्योगो के स्वत चलना सीखने की अपेक्षा उन्हें इतनी जल्दी चलने की शक्ति प्रदान कर देती हे कि बैसाखियो की लागत से कही अधिक लाभ प्राप्त होता है।'[1]

२. संरक्षण और राष्ट्रीय स्व-निर्भरता—सरक्षण का समर्थन कभी-कभी इस तर्क के आधार पर किया जाता है कि किसी देश को आर्थिक दृष्टि से आत्म-निर्भर बनाने के लिए भी यह उपयोगी हो सकता है। यह बता देना उपयुक्त होगा कि जो लोग सरक्षण के पक्षपाती होते हे वे हर सम्भव उपाय से निर्यात को भी प्रोत्साहन देने का समर्थन करते हैं। किन्तु यह स्पष्ट है कि यह आत्म-निर्भरता के आदर्श के विपरीत है क्योकि निर्यात के साथ-साथ आयात अवश्यमेव बढेगा। इसके अतिरिक्त यह प्रश्न भी किया जा सकता है कि क्या एक राष्ट्र की स्व-निर्भरता व्यक्ति की आत्म-निर्भरता से किसी भाँति अधिक वाञ्छनीय है ? डॉ० एडविन कैनन का कथन है कि 'संरक्षण का कट्टर पक्षपाती उस साधु की भाँति है जिसे अपने पडोसी से कुछ भी खरीदना स्वीकार नही।'[2] और एक साधु राष्ट्र एक साधु व्यक्ति से किसी भी भाँति अधिक प्रशसनीय

१. फिस्कल कमीशन रिपोर्ट (१९७४), पैरा ७४।
२. इकनामिक जर्नल, मार्च १९१९, पृ० ७९।

नही कहा जा सकता। साधारणतया आत्म-निर्भरता के आदर्श का पालन सापेक्षिक लागत के नियम द्वारा निर्धारित सीमाओ के भीतर ही करना चाहिए और केवल उन्ही उद्योगो के सम्बन्ध में सरक्षण की नीति पर विचार करना चाहिए जिनके सम्बन्ध में एक देश को निश्चित रूप से प्राकृतिक सुविधाएँ प्राप्त हो।

राष्ट्रीय स्व-निर्भरता के सिद्धान्त का समर्थन बहुधा राष्ट्रीय सुरक्षा के दृष्टि-कोण से किया जाता है। बहुधा लोग यह तर्क देते हैं कि राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए एक देश को आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए, भले ही सारे जन-समुदाय पर इससे एक स्थायी भार ही क्यो न पडे। वास्तव मे राष्ट्रीय सुरक्षा के उद्देश्य के लिए आर्थिक हितो की बलि देकर भी कुछ उद्योगो को सुदृढ करना ठीक और उचित ही है। फिर भी शान्ति-काल की सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था को युद्ध कालीन स्तर पर नियन्त्रित करना बुद्धिमानी न होगी। भारत उत्पादन के विभिन्न साधनो से सम्पन्न एक विशाल देश है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए भारत के लिए आत्म-निर्भरता ग्रेट ब्रिटेन की अपेक्षा अधिक सुलभ है। किन्तु न तो यह सम्भव ही है और न वान्छनीय ही कि भारत अपनी सारी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए अन्य सारे देशो से सम्बन्ध-विच्छेद कर ले।

३ भारत में संरक्षण के पक्ष में प्रबल भावना—ब्रिटिश सरकार द्वारा अपनाई गई स्वतन्त्र व्यापार की नीति मुख्यतया इस सन्देह के कारण अलोकप्रिय रही कि मुक्त-द्वार की यह नीति भारत की अपेक्षा ब्रिटेन के हितों की अधिक पोषक थी। लंका-शायर के उद्योगपतियों द्वारा समय-समय पर भारत की आर्थिक और औद्योगिक नीति में दखल देने से इस सन्देह को और बल मिलता था। इसके अतिरिक्त उत्पादन और निर्माण की प्रसिद्धि के बीते दिनो की स्मृति और इसके विपरीत वर्तमान समय में एक औद्योगिक राष्ट्र के रूप में उसकी नगण्य स्थिति ने राष्ट्र-भक्त भारतीयो के क्षोभ को और तीव्र कर दिया। यूनाइटेड स्टेट्स, जर्मनी और यहाँ तक कि जापान जैसे अन्य देशो की समृद्धि भी सरक्षण के ही बल पर हुई थी। लोगो को इस तर्क पर विश्वास ही नही होता था कि उनके विकास के कारण बिलकुल दूसरे ही थे तथा सरक्षण उनके औद्योगिक विकास में सहायक होने के बजाय गतिरोधक सिद्ध हुआ था। यह भी कहा जाता था कि ब्रिटेन ने स्वय भी सरक्षण की नीति का तभी परित्याग किया जब उसकी औद्योगिक श्रेष्ठता का सिक्का निश्चित रूप से जम चुका था। यह बात भी सत्य थी कि ब्रिटेन में स्वतंत्र व्यापार-काल का प्रारम्भ कृषि से सरक्षण हटाकर उद्योगो को सरक्षण देने के ध्येय से हुआ था। अन्त में, १९१५ से स्वय ही सरक्षण की नीति का अनुसरण करने के कारण ग्रेट ब्रिटेन किस मुँह से भारत को स्वतंत्र व्यापार की शिक्षा दे सकता था?

प्रथम महायुद्ध (१९१४-१८) के बाद सार्वजनिक व्यय में हुई अत्यधिक वृद्धि ने सरकार को आयात-कर बढाने के लिए बाध्य कर दिया। यह एक ऐसी पद्धति थी जो बहुत से उद्योगो के लिए स्वत सरक्षक सिद्ध हुई। अव्यवस्थित और अनियमित होने के कारण ऐसे सरक्षणो के कुछ परिणामो का अहितकर होना अवश्यम्भावी था।

किसी स्थायी नीति के आश्वासन के विना ही इन्होने उद्योगो को प्रश्रय दिया, अतएव यह आवश्यक नही था कि सरक्षण उन्ही उद्योगो को मिलेगा जो इस योग्य थे। आय वढाने के उद्देश्य से लगाये गए ऊँचे निराक्राम्य कर (कस्टम ड्यूटीज), जो सयोग से सरक्षणात्मक भी थे, औद्योगिक विकास में सहायक सिद्ध होने के बजाय अधिक बाधक थे। कच्चे माल और अर्द्ध-निर्मित वस्तुओ पर लगाये गए कर उदाहरण के रूप में दिये जा सकते हैं। इन तथ्यो को विचार में रखने से देश में एक सुविचारित सरक्षण का आगमन सरल हो गया होता, किन्तु इसे एक नीति के रूप में नही अपनाया गया। सरक्षण नीति का आरम्भ स्वत सरक्षक वित्त-करो से छुटकारा पाने के लिए न होकर इससे सम्भव निश्चित लाभो की आशा से हुआ।

४. विवेचनात्मक संरक्षण—भारतवर्ष में अपनाये गए विवेचनात्मक सरक्षण का लक्ष्य समाज पर कम-से-कम आर्थिक भार डालकर औद्योगिक विकास को आवश्यक सहारा देना है। इसका लक्ष्य केवल सरक्षण-योग्य उद्योगो को ही सरक्षण देना तथा इस तथ्य पर जोर देना है कि सरक्षण-प्राप्त उद्योग अधिक कुशल उपायों का उपयोग करें।

अर्थ-आयोग द्वारा निर्धारित निम्नलिखित सामान्य नियमो को पथ-प्रदर्शन के लिए अपनाया गया है—(१) उद्योगो को प्राकृतिक सुविधाओ से सम्पन्न होना चाहिए; उदाहरणार्थ कच्चे माल की पूर्ति की अधिकता, सस्ती शक्ति, श्रम की पर्याप्त पूर्ति और देश में विस्तृत बाजार की उपलब्धि। (२) सरक्षण उन उद्योगो को ही देना चाहिए जो या तो उसके विना बिलकुल पनप ही न सकते हो या इसके अभाव में जिनका विकास उस गति से न हो सकता हो जो राष्ट्रीय हित के लिए आवश्यक है। (३) सरक्षण दिया जाने वाला उद्योग ऐसा होना चाहिए जो आगे चलकर बिना सरक्षण के ही विश्व-प्रतिस्पर्द्धा का सफलतापूर्वक सामना कर सके।

अन्य गौण सुझावो के अनुसार वे उद्योग जिनमें वृद्धिमान् प्रत्युपलब्धि नियम लागू हो तथा वे उद्योग जिनसे निकट भविष्य में ही सारे देश की आवश्यकता-पूर्ति का आश्वासन मिलता हो, सरक्षण-योग्य हैं। ऐसे उद्योगो को संरक्षण कभी नही मिलना चाहिए जिनसे देश की आवश्यकता की केवल आशिक पूर्ति हो सकती हो। एक उद्योग के सरक्षण से सम्भवत दूसरे उद्योग के हित को धक्का पहुँच सकता है, किन्तु साधारणत इस आधार पर किसी उद्योग को सरक्षण से वचित नही करना चाहिए क्योकि हो सकता है कि सम्पूर्ण बातो को ध्यान में रखने पर इससे वास्तविक लाभ हो।

कभी-कभी बाहरी देशो द्वारा राशिपातन (डम्पिग) करने पर सरक्षण अपनाया जा सकता है या उसमें वृद्धि की जा सकती है। जब यह स्पष्ट रूप से विदित हो जाय कि अन्य देश राशिपातन कर रहे है और इस कारण उस राष्ट्रीय उद्योग को हानि पहुँच रही है जिसकी समृद्धि से राष्ट्र की समृद्धि सम्बद्ध है तो एक विशेष राशिपातन कर आवश्यक हो सकता है। जिन देशो मे मुद्रा का मूल्य बहुत कम हो गया हो जिसके फलस्वरूप वे अन्य सुदृढ मुद्रा वाले देशो के साथ नीचे भाव पर निर्यात करने के योग्य हो गए हो, तो उन देशो की वस्तुओ पर भी ऐसे कर लगाना उचित ठहराया जा सकता है। अन्त में, अन्य देशो से आने वाली आर्थिक सहायता-प्राप्त वस्तुओ के साथ

भी सरक्षण के विशेष उपायो का सहारा लेना आवश्यक हो सकता है। ऐसी स्थिति का सामना करने के लिए इस देश मे पहले से ही वैधानिक उपाय विद्यमान है। १८९९ के XIV अधिनियम के अनुसार यदि कोई भी देश प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से निर्यात को आर्थिक सहायता देता है तो गवर्नर जनरल को यह अधिकार है कि भारत गज़ट में अधिसूचित करके ऐसी सहायता की वास्तविक मात्रा के बराबर आयात पर अतिरिक्त कर लगा दे।[1]

अर्थ-आयोग के विचार में प्राय नवीन उद्योगो को ही सरक्षण प्रदान करना चाहिए। फिर भी उनका मत है कि सुदृढ उद्योगो के साथ भी ऐसी आकस्मिक परिस्थितियाँ उत्पन्न हो सकती है जब उन्हे सरक्षण देना उचित हो, ताकि वे उन कारणो से उत्पन्न सक्रमणकालीन मन्दी का सामना कर सकें जिनका उपचार उनकी शक्ति के परे है। समय-समय पर सूती वस्त्र उद्योग को दिया गया सरक्षण इस कोटि में भली भाँति आता है, क्योंकि यह उद्योग अब अपनी शैशवावस्था में नही है। अतएव विकास के सम्बन्ध में कोई ऐसा सर्वमान्य और सुनिश्चित नियम नही बनाया जा सकता जिसके अनुसार सरक्षण को उचित ठहराया जाय।

पूर्ण रूप से नवीन उद्योगो के विषय में अर्थ-आयोग के सदस्यों का विचार था कि वास्तविक स्थिति का अध्ययन न कर नवीन उद्योगो के प्रवर्त्तको के अनुमानो पर विश्वास करके सरक्षण प्रदान करना बहुत बडा जोखिम उठाना होगा। किन्तु विद्यमान उद्योगो के सम्बन्ध में भी अनिश्चितता और अनुमान का सामना किये बिना नीति निर्धारित करना सम्भव नही है। परिकल्पना की मात्रा उन उद्योगो के सम्बन्ध में और भी अधिक होगी जिनको अन्य शाखाएँ खोलने के लिए सरक्षण दिया जायगा। फिर भी आयोग इस आधार पर सरक्षण देने का विरोधी नही था।[2] अतएव यह स्पष्ट है कि उन सभी दशाओ में, जिनमें सरक्षण की माग की जाती है, अनिश्चितता अवश्य विद्यमान रहेगी। सरक्षण प्रदान किये जाने वाले एक नवीन उद्योग के विषय में यह सम्भव है कि बाहरी देशो से, जहाँ यह उद्योग भली भाँति स्थापित हो चुका है, ऐसे विश्वसनीय तथ्य प्राप्त हो सकें जिनसे यहाँ इस उद्योग के विषय में कोई शका न रह जाय। अर्थ-आयोग का मत है कि आम तौर से नये उद्योगो के लिए सरक्षण आपत्तिजनक ही नही बल्कि अनावश्यक सिद्ध होगा, क्योकि सरकार की आर्थिक आवश्यकताएँ आगम करो के स्तर को ऊँचा रखने के लिए बाध्य करेंगी। फलस्वरूप प्रारम्भ में आवश्यक सरक्षण स्वत ही प्राप्त हो जायगा। किन्तु यह प्रारम्भिक कठिनाइयो को सरल करके देखना है और इस तथ्य की अवहेलना करना है कि कुछ उद्योगो में प्रारम्भिक कठिनाइयाँ विकास के बाद के स्तरो मे आने वाली कठिनाइयो

[1] अप्रैल, १९३३ में पास हुए उद्योग सुरक्षा अधिनियम के अनुसार गवर्नर जनरल को यह अधिकार दिया गया था कि वह उन सभी दशाओ में अतिरिक्त कर लगा सकता है जिनमें उसके अनुसार विदेशी माल का इतने कम मूल्य पर आयात हो रहा है कि उससे एक स्थापित उद्योग को सकट है। ३१ मार्च १९३५ को यह अधिनियम समाप्त हो गया।

[2] अर्थ-आयोग (फिस्कल कमीशन) रिपोर्ट, पैरा १००।

से कही अधिक होती हैं। अतएव ऐसे उद्योग को, अन्यथा जिसका भविष्य बहुत उज्ज्वल है, आरम्भ करने के पहले पर्याप्त सरकारी सहायता का आश्वासन प्राप्त होना चाहिए। सरकार द्वारा नये साहसोद्यमियो को कुछ बैंको की निम्नतम ब्याज-दर की गारण्टी देने का सिद्धान्त, जिसका सभी क्षेत्रो में स्वागत हुआ है, मूलत उन्हे सरक्षण देने की नीति के अलावा और कुछ नही है (नीचे १४ सेक्शन देखिए)। हर एक दशा में यह आवश्यक है कि उद्योग नीचे दी हुई शर्तें पूरी करें। अर्थ-आयोग का यह सुझाव है कि नये उद्योगो के सम्बन्ध में सरक्षण-कर की अपेक्षा आर्थिक सहायता को एक नियम के रूप में अपनाना उचित है, क्योकि जब तक एक उद्योग देश की मांग के बडे भाग की पूर्ति नही करता तब तक सरक्षण-कर उपभोक्ताओ के लिए बहुत बडा भार होगा। आधारोद्योग, अर्थात् वे उद्योग जो अन्य उद्योगो के कच्चे माल की पूर्ति के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं, विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं। भारतवर्ष के राष्ट्रीय महत्त्व के आधारोद्योगो में साधारणतया निम्नलिखित उद्योगो का नाम लिया जाता है—भारी रासायनिक उद्योग, रजक द्रव्य, यन्त्र व औजार, रेल के डब्बे, इजन, हवाई जहाज, मोटरगाडियाँ, कागज, छुरी-काँटे, बर्त्तन और बिजली के सामान।

किसी उद्योग को सरक्षण देना निश्चय कर लेने के बाद मुख्य समस्या सरक्षण की मात्रा निश्चित करना है। उद्योग को इतना अधिक सरक्षण नही देना चाहिए कि वह स्वत प्रयत्न करना ही छोड दे। वास्तव में उद्योग को निष्क्रिय करने की अपेक्षा उसे उत्तेजित करने की आवश्यकता है। कर की ऐसी यथोचित मात्रा, जो न कम हो न अधिक, निश्चित करना बहुत मुश्किल है। यह निश्चित रूप से जान लेना आवश्यक होगा कि भारत में उत्पादन लागत की सापेक्षिक अधिकता पूर्णतया अकुशलता अथवा सरलता से रोके जाने योग्य अन्य कारणो से तो नही है। पुन, भारत और विदेशो की उत्पादन लागत की तुलना के लिए हमें ऐसी औसत फर्मों को लेकर अध्ययन करना होगा जो न तो असाधारण रूप से कुशल हैं और न अकुशल ही।[१] सरक्षण की दर निर्धारित करते समय उपभोक्ताओ के हित का भी ध्यान रखना चाहिए। सरक्षण-कर की दर ऊँची होने में तीव्र औद्योगिक विकास हो सकता है, किन्तु मूल्यो की अनुचित वृद्धि रोकने के लिए यह सम्भव है कि इस दर को कम रखना पडे और विकास की अपेक्षाकृत मन्द गति को स्वीकार करना पडे।

कुछ आलोचको के अनुसार, विवेचनात्मक सरक्षण की नीति को अपनाने का फल यह हुआ कि व्यवहार में सरकार बिना सोचे-समझे ही सरक्षण देने से इन्कार करने लगी। यदि वास्तव में यह सत्य है कि सरकार आवश्यकता से अधिक सतर्क थी तो यह दोष विवेचनात्मक सरक्षण के सिर पर नही मढा जा सकता जो अत्यधिक सरक्षण के ही समान अत्यल्प सरक्षण का भी विरोधी है। विवेचनात्मक सरक्षण

---

१ लागत विश्लेषण की जटिलता का अनुमान लगाने के लिए पाठक 'इण्डियन फिस्कल प्राब्लम' (जे० सी० कोयाजी द्वारा लिखित) पृ० ३६-३७ देखें, वी० जी० काले 'इकनामिक्स ऑव प्रोटेक्शन इन इण्डिया', सी० एन० वकील और एम० सी० मुशी 'इण्डस्ट्रियल पॉलिसी ऑव इण्डिया विद स्पेशल रेफरेन्स टु कस्टम्स टैरिफ़' पृ० ८२-८५, तथा टैरिफ बोर्ड की विभिन्न रिपोर्टें देखें।

की अनुचित रूप से कठोर और अनुदार व्याख्या करने की प्रवृत्ति को उसे दूसरे शब्दो में रखकर कुछ सीमा तक ठीक किया जा सकता है। उदाहरण के लिए कुछ परिस्थितियो में देश के भीतर कच्चे माल की प्रचुर मात्रा में प्राप्ति की शर्तों को या तो भुलाया ही जा सकता है या उनकी अवहेलना की जा सकती है। इगलैण्ड स्वय कपास बाहर से मँगाता है, फिर भी सूती वस्त्रोद्योग में अब तक उसका स्थान बेजोड न, सही, परन्तु उच्च कोटि का अवश्य है। फिर सूती वस्त्रोद्योग और अपने कई अन्य उद्योगो के लिए उसे बाहरी बाजारो पर निर्भर रहना पडता है, अत अर्थ-आयोग द्वारा सुझाई गई पद्धति एक साधारण पथ-प्रदर्शक के रूप में ही अपनाई जा सकती है। उसका शाब्दिक या कठोर पालन करना उचित नही। समय-समय पर नियुक्त प्रशुल्क-मण्डलो (टैरिफ बोर्ड) और सरकार ने भी इस महत्त्वपूर्ण सुझाव पर ध्यान नही दिया है। भारत में विवेचनात्मक सरक्षण की दूसरी आलोचना यह है कि इसने औद्योगीकरण की सम्पूर्ण समस्या को ध्यान में न रखकर उद्योगो पर अलग-अलग विचार किया है। फलत औद्योगिक विकास के पथ में अनावश्यक बाधाएँ उत्पन्न हो गई है और इसका स्वरूप अनियन्त्रित-सा हो गया है।

भारतवर्ष में विवेचनात्मक सरक्षण की असफलता का प्रमुख कारण देश के शीघ्र औद्योगीकरण के प्रति ब्रिटिश सरकार की सहानुभूति का अभाव था। जैसा प्रो० बी० पी० अदारकर का कहना है, 'पाश्चात्य देशो में सरकारो की सहायता से सरक्षण के अतिरिक्त और भी उपाय काम में लाये गए है, जैसे आर्थिक सहायता, राजकीय सहायता, औद्योगिक अनुसधान और औद्योगिक सस्थाओ का पथ-प्रदर्शन एव नियन्त्रण। वास्तव में वहाँ विवेचनात्मक सरक्षण ने उद्योगो को उदासीन और अनमने भाव से नाममात्र की सहायता देने के अतिरिक्त और कुछ नही किया है। तदनन्तर वे उद्योग अपने विकास के लिए स्वतन्त्र छोड दिये गए है। प्रशुल्क-मण्डल और सरकार की विलम्बकारी नीति के कारण प्राप्त सरक्षण बहुधा लाभकर नही होता।[1] इस भाँति भारतवर्ष में बहुत दिनो से औद्योगीकरण की समस्या का रूप आर्थिक की अपेक्षा राजनीतिक अधिक रहा है। अब स्वतन्त्रता प्राप्त हो गई है अतएव इसका हल सरल हो जायगा।

४ विवेचनात्मक सरक्षण नीति में युद्धकालीन व्यवस्था की आवश्यकता—विगत युद्ध ने अर्थ-आयोग द्वारा सरक्षण के सम्बन्ध में दी गई शर्तों में ढील देने का प्रश्न बडा महत्त्वपूर्ण बना दिया। जून, १९४० में जारी की गई एक अधिसूचना में भारत सरकार ने घोषित किया कि वह उन उद्योगो को बाह्य प्रतिस्पर्धा से बचाने का आश्वासन देने को तैयार है जिनका प्रारम्भ युद्धकालीन परिस्थितियो के कारण आवश्यक है तथा जिनकी युद्धोत्तर काल की स्थिति इसी सहायता पर निर्भर है। इस अधिनियम में इस्पात के नल (पाइप) और ट्यूब के बारे में एक विशेष हवाला दिया गया था। यह भी माँग की गई थी कि वे उद्योग जिन पर युद्ध का प्रत्यक्ष प्रभाव

१ श्री पी० सी० जैन द्वारा सम्पादित 'इण्डस्ट्रियल प्राब्लम्स आव इण्डिया' में अदारकर का 'फिस्कल और कमर्शयल पॉलिसी' नामक लेख देखिए।

नही पडा था किन्तु जिनके प्रारम्भ के लिए युद्धजनित परिस्थितियाँ अनुकूल थी उनको भी युद्ध के बाद सरक्षण का आश्वासन मिलना चाहिए।[1] वास्तव में अब युद्ध-समाप्ति के बाद बाहरी देशो की तीव्र स्पर्धा और सरक्षण को अकस्मात् समाप्त कर देने के फलस्वरूप उत्पन्न तीव्र असन्तुलन की स्थिति से अपने उद्योगो को बचाने के लिए एक सामान्य सरक्षण काल की आवश्यकता है। १६४७ ई० से प्रशुल्क-मण्डल विभिन्न उद्योगो के सरक्षण के लिए आये आवेदन-पत्रो पर विचार करने में लगा हुआ है और उनमें से बहुतो को सरक्षण मिल भी चुका है।[2]

प्रत्येक उद्योग के सम्बन्ध में मण्डल निम्न बातो की जाँच करता है—(१) वह उद्योग भली भाँति स्थापित और सचालित है या नही, (२) एक निश्चित समय में उसके विकास की सम्भावना है या नही ताकि फिर सरक्षण अथवा किसी प्रकार की सहायता की आवश्यकता न रह जाय, (३) उस उद्योग को सरक्षण देना राष्ट्रीय हित में है अथवा नही और यह सरक्षण समाज को आर्थिक क्षति पहुँचाए बिना सम्भव है या नही। सरकार के आदेश पर मण्डल को निम्न कार्य भी करने पडते हैं—देश में पैदा होने वाली वस्तुओ की उत्पादन लागत की जाँच करना, थोक और फुटकर तथा अन्य मूल्यो पर रिपोर्ट प्रस्तुत करना, विदेशो की राशिपातन नीति से उद्योगो के लिए सरक्षण सम्बन्धी सिफारिशें प्रस्तुत करना, आवश्यकता पडने पर विभिन्न वस्तुओ पर मूल्यानुसार लगाये हुए तथा विशिष्ट करो के प्रभावो और प्रशुल्क-करो का मूल्याकन करना तथा अन्य देशो को प्रशुल्क-कर में दी गई छूट के प्रभावो का अध्ययन करना, मूल्य को ऊँचा उठाने वाली, गिरने से रोकने वाली या प्रभावित करने वाली और इस भाँति व्यापार को रोकने वाली सस्थाओ, एकाधिकार, ट्रस्ट एव सयोजनो (कम्बिनेशन्स) के विषय में रिपोर्ट देना और उनकी गतिविधि को रोकने के लिए उपायो को सुझाना तथा सरक्षित उद्योगो पर निरन्तर दृष्टि रखना।

सरकार ने १६४६ में भारत के व्यापार और उद्योग की पिछले २५ वर्षो में हुई प्रगति पर विवेचनात्मक सरक्षण के प्रभाव का अनुमान लगाने और इस नीति के पुनर्विलोकनार्थ एक अर्थ-आयोग की नियुक्ति की। इस पुनर्विलोकन के आधार पर एक नवीन अर्थ-व्यवस्था का निर्माण हो सकता है। अर्थ-आयोग द्वारा तैयार की गई प्रश्नावली में मुख्य-मुख्य बातें निम्नलिखित हैं—(१) आर्थिक पृष्ठभूमि में १६२२ से लेकर अब तक हुए परिवर्तन, (२) विवेचनात्मक सरक्षण की नीति और उसका प्रयोग, (३) गत प्रशुल्क नीति के प्रभावो की समीक्षा, (४) सशोधित प्रशुल्क नीति के सिद्धान्त, (५) व्यापार और उद्योग के लिए सम्भव गैर-आर्थिक उपाय, (६) व्यापार और नियोजन पर हवाना चार्टर के अनुसार निर्धारित अर्थ-व्यवस्था (७) सहायता-प्राप्त और सरक्षित उद्योग के अधिकार और कर्त्तव्य तथा (८) अर्थनीति और अधिमान। इस अर्थ-आयोग (फिस्कल कमीशन) ने सरक्षण देने के लिए उद्योगो को तीन भागो

[1] जर्नल आव द इण्डियन मर्चेंट्स चेम्बर, सितम्बर १६४० देखिए।

[2] कुछ उद्योगों, जिनमें सूती वस्त्रोद्योग, लोहा और इस्पात, कागज और लुगदी, मैगनेशियम क्लोराइड और चीनी आदि के उद्योग भी सम्मिलित हैं, सरक्षित उद्योगों की कोटि से हटा दिये गए है।

में विभाजित किया—(१) सुरक्षा एव सैनिक महत्त्व के उद्योग, (२) आधारोद्योग तथा (३) अन्य उद्योग। पहले प्रकार के उद्योगो को सरक्षण अनिवार्य रूप से देने की सिफारिश की गई, भले ही इससे समाज को कितना भी कष्ट क्यो न हो। दूसरे प्रकार के उद्योगो के सरक्षण के रूप और मात्रा का पूर्णतया निश्चय अर्थ-आयोग के ऊपर था। इन उद्योगो को सरक्षण देने के लिए कोई सीमित शर्ते नही रखी गई। तीसरे प्रकार के उद्योगो को सरक्षण देने के लिए दो शर्ते रखी गई। प्रथम, उचित समय के भीतर ये उद्योग इतने विकसित हो सकें कि सरक्षण या किसी प्रकार की आर्थिक सहायता के बिना पनप सकें और द्वितीय, सरक्षण की सम्भाव्य लागत समाज के लिए अधिक न हो। अर्थ-आयोग ने एक स्थायी प्रशुल्क आयोग (टैरिफ कमीशन) की नियुक्ति की सिफारिश की। प्रशुल्क आयोग अधिनियम, १९५१ के अन्तर्गत २१ जनवरी, १९५२ को सरकार ने प्रशुल्क आयोग की स्थापना की, जिसके तीन सदस्य होते है (इनमें से एक सभापति होता है)। प्रशुल्क आयोग को विस्तृत अधिकार दिये गए हैं परन्तु इधर हाल में सरकार ने प्रशुल्क आयोग की सिफारिशो में परिवर्तन करके उसके कार्य में हस्तक्षेप भी किया है जो अवाञ्छनीय है।

६ सरक्षण से सम्भावित हानियाँ—"शिशु का पोषण करो, बालक की रक्षा करो तथा युवक को मुक्त कर दो।" लाला हरकिशनलाल की इस कहावत को अर्थ-आयोग ने सरक्षण के सही नियमो के सक्षिप्त सार के रूप में उद्धृत किया है। इस कहावत का अन्तिम भाग—युवक को मुक्त कर देने का सुझाव—सरक्षण की सबसे दुरूह समस्या है, क्योकि युवक उन सरक्षणात्मक बन्धनो से, जो उसके लिए बहुत सुख-दायी थे, मुक्त होने पर अपने को अप्रिय बना सकता है और बहुधा अपनी हानि कर सकता है। जब एक उद्योग को सरक्षण प्राप्त हो जाता है तो वह स्वभावत उसका लाभ यथासम्भव समय तक उठाना चाहता है और वह जिन उपायो का बहुधा सहारा लेता है उनमें से एक उपाय समृद्धि को छिपाना और प्रारम्भिक काल की असमर्थता का प्रदर्शन करना है। दूसरा उपाय आयात-कर कम करने वाली सस्था पर राजनीतिक प्रभाव डालना है। सरक्षण की अवधि को पहले से ही निश्चित कर लेना ठीक नही है, क्योकि यदि बीच में ही परिस्थितियो में मौलिक परिवर्तन हो जाय तो सरक्षण की नीति पर पुन विचार करना और सम्भवत सरक्षण की अवधि बढाना होगा।

अर्थ-आयोग का मत है कि प्रशुल्क-मण्डल के लिए सन्तोपजनक नियन्त्रण बनाए रखने का एक ही रास्ता है कि वह सरक्षित उद्योगो की दशा की समय-समय पर जाँच करे और तर्कयुक्त निर्णय दे कि अमुक वस्तु पर कर बना रहने दिया जाय या हटा लिया जाय और यदि बना रहने दिया जाय तो उसकी दर में परि-वर्तन किया जाय या नही। प्रशुल्क-मण्डल के सदस्यो के चुनाव में सबसे अधिक सावधानी रखने की आवश्यकता है। सरक्षण के प्रयोग की सफलता इस सस्था की कार्य-प्रणाली पर निर्भर करती है।[1] सरक्षण अपनाने वाले बहुत से देशो में प्रशुल्क

---

१ १९२९ के भारतीय आर्थिक सम्मेलन के सभापति पद से भाषण करते हुए दिवगत प्रो० एन० एस० सुब्बाराव ने यह सुझाव रखा था कि यूनाइटेड स्टेट्स के फेडरल ट्रेड कमीशन और टैरिफ कमी-

अधिनियम स्वार्थी गुटो से प्रभावित रहता है और समस्त देश के हित को ध्यान में रखकर निश्चित की गई योजना का शायद ही कभी अनुसरण करता है। अर्थ-आयोग का मत है कि विधान सभा में भिन्न-भिन्न स्वार्थों के प्रतिनिधित्व और विशेषकर कृषि तथा भूमि के सदैव बने रहने वाले महत्त्वपूर्ण प्रतिनिधित्व के कारण भारतवर्ष में अन्य देशो की भाँति भ्रष्टाचार का भय नही है। किन्तु सम्भवत यह परिस्थिति का अनावश्यक रूप से अधिक आशावादी दृष्टिकोण से अध्ययन है और राजनीतिक भ्रष्टाचार से उत्पन्न होने वाली हानियो को कम करके देखना है। सरक्षण द्वारा जो स्वार्थ फूले-फलेंगे वे अपने विरोधियो की अपेक्षा अधिक साधनयुक्त तथा सुसगठित होगे, क्योकि विरोधी स्वार्थ भिन्न-भिन्न भाँति के होने के कारण प्रभाव-कारी ढग से सयुक्त नही हो सकते। विशेप व्यवहार की अपेक्षा रखने वाले उद्योगो की दशाओ में प्रशुल्क-मण्डल द्वारा की गई खोजो का अधिकाधिक प्रचार करने की आवश्यकता है। जनता के पर्याप्त रूप से शिक्षित और सतर्क होने पर भ्रष्टाचार का भय बहुत कम हो जायगा। यह और भी अधिक वाञ्छनीय होगा कि उपभोक्ता अपने को शक्तिशाली सस्थाओ में सगठित करना सीख ले और इस प्रकार सरक्षण को उचित सीमाओ के अन्दर रखने में सहयोग प्रदान करने लग जायें।

राजनीतिक भ्रष्टाचार के अतिरिक्त सरक्षण द्वारा प्रोत्साहित दूसरा दोष, जिससे बचने की आवश्यकता है, उत्पादको का सयोजन है। किसी भाँति पैदा हुआ सयोजन वास्तव में देश के लिए हितकर है या नही, इसका उत्तरदायित्व प्रशुल्क-मण्डल पर ही है और यदि वह हानिकर है तो मण्डल को उस पर से सरक्षण उठा लेने या कम कर देने का सुझाव देना चाहिए।

७. संरक्षण के अतिरिक्त अन्य आवश्यकीय तत्व—भारत ने अपने उद्योगो के शीघ्र विकास के लिए सरक्षण को आवश्यक सहायता के रूप में अपनाया है। किन्तु केवल विधान द्वारा हम एक राष्ट्र को धनी और समृद्ध नही बना सकते और एकमात्र सरक्षण जादू के बल से किसी भी देश की मध्यकालीन सस्थाओ को आधुनिकतम औद्योगिक ढाँचे में नही बदल सकता। सरक्षण के बावजूद भी आधुनिक आर्थिक जीवन के अन्य अनिवार्य अगो, जैसे एक कुशल बैंकिंग व्यवस्था, आवागमन के समुन्नत साधन, रेलो और जहाजो की दर सम्बन्धी सहानुभूतिपूर्ण नीति, विक्रय के लिए सुगठित सगठन, औद्योगिक और व्यापारिक सूचनाओ के लिए कुशल व्यवस्था, पूँजी-प्राप्ति के

शन की भाँति, जो अपनी विशद कार्य-प्रणाली द्वारा सदैव नये-नये उपाय ढूँढते रहते हैं, भारत में भी एक राष्ट्रीय आर्थिक परिषद का निर्माण होना चाहिए। प्रशुल्क-मण्डल को उचित रूप से विस्तृत करना चाहिए और इसे उपसमितियों तथा व्यक्तिगत सर्वेक्षकों की नियुक्ति की अनुमति देनी चाहिए। इसे स्वत जाँच और सर्वेक्षण करने तथा समय-समय पर अपने परामर्शों को सरकार के सम्मुख रखने का अधिकार होना चाहिए। यह शीघ्रता से की जाने वाली वर्तमानकालीन अव्यवस्थित खोजों को दूर कर देगा, व्यवस्थित आर्थिक विकास का मार्ग प्रशस्त करेगा और देश में आवश्यक औद्योगिक सन्तुलन को सुलभ बना देगा। मार्च, १९३६ की विधान सभा में श्री एच० पी० मोदी ने सुझाव रखा कि ग्रेट-ब्रिटेन की आयात-कर परामर्शदात्री समिति की तुलना में भारतीय प्रशुल्क-मण्डल को अधिक गति-शील और प्रभावशाली बनाने के लिए इसकी कार्यविधियों में सशोधन होना चाहिए।

पर्याप्त साधनो आदि के अभाव में देश आर्थिक रूप से सदैव पिछडा रह सकता है।

८ शिक्षा—भारतवर्ष में जिस बात की सर्वोपरि आवश्यकता है वह है प्रत्येक वर्ग के लोगो के मानसिक दृष्टिकोण में परिवर्तन।[1] आत्मविश्वास की कमी और साहस का अभाव, जो आज भारतीय चरित्र के अग बन चुके हैं, हमारी दोषपूर्ण शिक्षा-व्यवस्था के परिणाम है। नीचे से लेकर ऊपर तक हमारी शिक्षा-पद्धति आवश्यकता से अधिक साहित्यिक और सस्थात्मक (एकेडेमिक) है। इसे और अधिक व्यावहारिक स्वरूप प्रदान करने की आवश्यकता है। बुद्धिमानी से आयोजित शिक्षा-पद्धति श्रम की प्रतिष्ठा के सिद्धान्तो पर जोर देने पर विशेष ध्यान देगी। हाथ से होने वाले कार्य अथवा भिन्न-

१ अपने एक पुराने शिष्य द्वारा पूछे जाने पर भारत के लिए सरक्षण के प्रश्न पर डॉ० मार्शल ने लिखा—"सिद्धान्तत भारत के शैशव-कालीन उद्योगों को सरक्षण देने के विषय में मुझे कोई आपत्ति नही है। किन्तु इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए निराकाम्य कर एक बहुत मँहगी विधि है मेरे विचार से जब तक अन्य उपायों की परीक्षा न कर ली जाय इसको प्रयोग में नही लाना चाहिए। कम-से-कम उस समय तक इसे प्रयोग में नही लाना चाहिए जब तक कि वे उद्योग, जिन्हें माल पहुँचाने की लागत के लिए बहुत अधिक सरक्षण मिला है, (कुछ दशाओं में माल पहुँचाने की लागत का दूना सरक्षण मिला है) भारतीय साहस को प्रोत्साहित करने में सफल नही हो जाते। इस दृष्टिकोण से प्रमुख उद्योग चमड़ा, कागज और तिलहन के उद्योग हैं। यदि भारत के पास श्री टाटा के समान एक या दो कोड़ी व्यक्ति होते और जापानियों की भाँति वास्तविकता से सम्बन्ध रखने वाले, राजनीति और न्यायालयों में भाषण देने से घोर घृणा करने वाले और विचारों से भरे मस्तिष्क के साथ अन्य 'वस्तुओं' का काम करने से घृणा न रखने वाले कुछ व्यक्ति भी होते तो भारत शीघ्र एक महान् राष्ट्र बन जाता। ऐसा होने पर कोई उसे रोक न सकेगा, न कोई निराकाम्य कर ही बाधक सिद्ध हो सकेगा तथा अपनी परम्पराओं को वह शीघ्र प्राप्त कर लेगा। किन्तु जब तक उच्च शिक्षा-प्राप्त भारतीय सुसस्कृत विलास में अपना समय नष्ट करते रहेंगे या भारतीय न्यायालयों में धनोपार्जन करते रहेंगे—जो दोनो ही समुद्र के किनारे की रेत की भाँति ही देश के कल्याण के दृष्टिकोण से अनुपयोगी हैं—भारत के लिए कोई भी वस्तु लाभकर नहीं हो सकती। मैं २० वर्ष से केम्ब्रिज में भारतीयों को जोर देकर बतला रहा हूँ कि वे दूसरों से पूछें कि 'हममें से कितने पश्चिम जाते समय अपने विकास के अतिरिक्त किसी अन्य विषय के बारे में सोचते हैं? क्या जापानी सदैव अपने से नही पूछा करते कि वे वापस लौटने पर किस भाँति अपने को अपने राष्ट्र के लिए अधिक-से-अधिक उपयोगी बना सकेंगे? क्या उनको वास्तविक अध्ययन की लालसा नही रहती? क्या पश्चिम की शक्ति के मूल पर वे दृष्टिपात नही करते? क्या यही जापान के शीघ्र विकास का प्रमुख कारण नहीं है? क्या हम उसका अनुकरण नही कर सकते? क्या हमें जापानियो की भाँति अपने देश के विषय में पहले और अपने विषय में बाद में सोचने का परिवर्तन लाने की आवश्यकता नहीं है?"—ए० सी० पीगू, 'मेमोरियल्स आव अल्फ्रेट मार्शल', पृ० ४७२। यदि मार्शल आज भी जीवित होते तो सरक्षण के सम्बन्ध में भारतीय भावना के विषय में इतनी हीनता से लिखते, यह सन्देहास्पद है। सम्भवत वह इतने उदार अवश्य होते कि जापान के साथ भारतीयों की तुलना को भ्रमात्मक स्वीकार कर लेते। भारतीय और जापानियों के मानसिक दृष्टिकोण का अन्तर विशेषकर उनकी सरकारों के अन्तर का परिणाम है। जापान में शिक्षा और अन्य प्रत्येक विधि से सरकार ने जनता के दृष्टिकोण को आधुनिक बनाने का प्रयत्न किया है। इस विषय में भारत में सरकार सदैव उत्तरदायित्व से विमुख रही है और यद्यपि सरकार भारतीयों की चारित्रिक त्रुटियों को औद्योगिक विकास के पथ में सदैव गहरी रुकावट के रूप में गिनती रही है, फिर भी उसने अनिवारणीय परिस्थितियों के अतिरिक्त शायद ही कभी इन दोषों को दूर करने का प्रयत्न किया है। इसमें सन्देह नहीं कि जनता के चरित्र में परिवर्तन आवश्यक है, किन्तु इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सबसे मुख्य साधन पूर्णत राष्ट्रीय दृष्टिकोण से युक्त सरकार है।

भिन्न भाँति की रचनात्मक मानवीय क्रियाएँ प्रत्येक स्कूल के शिक्षा-क्रम (करीक्युलम) में रखी जानी चाहिएँ।'[1] हाथ से होने वाले कार्यों के प्रति भारतवर्ष में पाई जाने वाली अरुचि के कारण मुख्यतया सामाजिक हैं। किन्तु इस तथ्य का एक कारण यह भी रहा है कि अभी हाल तक भारतवर्ष के स्कूलों में बच्चों के लिए हाथ के कार्यों के सन्तोषजनक प्रबन्ध का बिलकुल अभाव-सा रहा है। कुछ कलाओं या उत्पादक क्रियाओं के माध्यम से प्रारम्भिक स्कूलों में शिक्षा देने के महात्मा गाधी के मौलिक विचारों पर आधारित वर्धा शिक्षा योजना का उद्देश्य हमारी शिक्षा-पद्धति के उपर्युक्त दोषों को दूर करना है।[2] बहुत से प्रान्तों एवं राज्यों में इसका प्रयोग हो रहा है।[3] विद्यार्थी को अपनी आँखों और हाथ का अधिकाधिक उपयोग सिखलाना उचित शिक्षा-पद्धति का एक उद्देश्य होना चाहिए। किसी भी भाँति की शिक्षा या उचित शिक्षा के अभाव से भारतीय श्रमिक केवल अकुशल और अविश्वसनीय ही नही हो जाता वरन् उसकी आत्मोन्नति की सारी अभिलाषा ही मर जाती है। शिक्षा उसकी आवश्यकताओं को बढा देगी, उनकी पूर्ति के लिए अधिक और अच्छी तरह से काम करने के लिए उसे प्रेरित करेगी और इस प्रकार उसके जीवन को समुन्नत कर देगी। भारतीय उद्योगों की एक समस्या यह है कि कुशल कार्यकर्त्ता, निरीक्षक एव यन्त्रों के चालक बाहर से मँगाने पडते हैं। ये मनुष्य स्वभावत मँहगे पडते हैं और उन्हे ऊँची दर से पारिश्रमिक देना पडता है। इसके अलावा उनको उनके देश वापस करते समय भी भारी खर्च उठाना पडता है। अर्थ-आयोग ने सिफारिश की थी कि सरकार को चाहिए "विदेशी फर्मों को आर्डर देते समय शिक्षार्थियों (अप्रेण्टिस) के प्रशिक्षण की शर्त भी टेण्डर में रखे। कुशल कार्यकर्त्ताओं, निरीक्षकों एव यन्त्रचालकों के अतिरिक्त भारतीय प्रबन्धकों की भी आवश्यकता है। इस क्षेत्र में आवश्यक प्रशिक्षण के हेतु विदेश जाने के लिए राज्य द्वारा दी गई प्राविधिक छात्रवृत्तियाँ बहुत सीमित मात्रा में ही आवश्यकता की पूर्ति कर सकती हैं। इस समस्या का एकमात्र वास्तविक हल यह है कि देश में ही हर श्रेणी के प्राविधिक विद्यालय खोले जायँ ताकि भारतीय उद्योग प्रत्येक प्रकार के विदेशी श्रम से छुटकारा पा जायँ। औद्योगिक समस्याओं में अनुसन्धान-कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण श्रेणी का कार्य है और इसके लिए आवश्यक सस्थाओं की स्थापना और सचालन की आवश्यकता है। औद्योगिक विकास के लिए प्राविधिक ज्ञान-मात्र से ही काम नही चल सकता। औद्योगिक होड में अन्य देशों से कदम मिलाकर चलने के लिए देश को सूक्ष्मदर्शी, साहसी और योग्य सगठनकर्ताओं की आवश्यकता है। वाणिज्य-स्कूलों की वृद्धि से इस प्रकार के व्यक्ति स्वत. योग्य हो जायँगे। इस क्षेत्र में हमारी हीनता का आशिक कारण यह भी रहा है कि हमारी शिक्षा-पद्धति ने अब तक सफल व्यावसायिक पुरुषों के लिए आवश्यक गुणों को विकसित करने का प्रयास नही किया है। सरकार के शासन-सम्बन्धी आवश्यकताओं के उद्देश्य से बनाई गई अत्यधिक

१. ए० एब्बट और एस० एच० वुड, 'रिपोर्ट आन वोकेशनल एजुकेशन इन इण्डिया', पृ० ३३।

२. रिपोर्ट आव द जाकिर हुसेन कमेटी, सेक्शन १।

३. सी० जे० वर्के, द वर्धा स्कीम आव एजुकेशन, द्वितीय सस्करण, अध्याय ६।

साहित्यिक ढग की शिक्षा कुछ अशो में विद्यालयो तथा विश्वविद्यालयो में आधुनिक विज्ञान के अध्यापन और उसकी बढती महत्ता के कारण कम हो गई है। विशिष्ट सत्यो से व्यक्तिगत सम्पर्क एव प्रयोगशाला में सम्भव प्रमाण योग्य तर्क का अभ्यास मनुष्यो के विचारो और क्रियाओ को लाभकारी दिशा प्रदान करते है। वाणिज्यिक एव प्राविधिक स्कूलो तथा कॉलेजो के भी ऐसे ही वाञ्छनीय फल होने चाहिएँ। जीवन-सघर्ष की बढती तीव्रता पढ़े-लिखे लोगो को सरकारी नौकरियो की अपेक्षा व्यवसाय की ओर खीच रही है क्योकि सरकारी नौकरियॉ असख्य स्नातको को प्राप्त नही हो सकती। उद्योगो के विकास से जब रोजगार के अन्य क्षेत्र खुल जायँगे तो सरकारी नौकरियो और आवश्यकता से अधिक भरे पेशों (उदाहरणार्थ कानून का पेशा) का आकर्षण कम हो जायगा। यह सभी परिवर्तन वर्तमान की अपेक्षा और भी अधिक तीव्र गति से होना चाहिए और इसके लिए साहसिक प्रयत्न की आवश्यकता है।

६. भारत में औद्योगिक शिक्षा की स्थिति—विक्टोरिया जयन्ती प्राविधिक शिक्षालय (विक्टोरिया ज्युबिली टेकनिकल इस्टीट्यूट), जो बम्बई में मुख्यतया व्यक्तिगत प्रयत्नो द्वारा १८७७ में प्रारम्भ किया गया था, ही स्थानीय मिल-उद्योगो की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए देश मे इस प्रकार की एकमात्र सस्था है। भारतीय शिक्षा-पद्धति के दोषो की जॉच-पडताल ने, जो लार्ड कर्जन ने प्रारम्भ की थी और १९०१ मे शिमला में शिक्षा-विशेषज्ञो का एक सम्मेलन बुलाया था, प्राविधिक शिक्षा के प्रश्न को अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया। परन्तु इस सबका व्यावहारिक परिणाम केवल यह हुआ कि विश्वविद्यालयो में वैज्ञानिक विषयो के अध्यापन मे सुधार हुआ तथा भारत सरकार इगलैण्ड तथा अमेरिका जाने के लिए भारतीयो को छात्रवृत्ति देने लगी। इस व्यवस्था को सन्तोषजनक सफलता नही मिली।

सामान्य और प्राविधिक शिक्षा के विषय में इधर कुछ वर्ष से सार्वजनिक वादविवाद बहुत बढ गया है। औद्योगिक आयोग (१९१६-१८), कलकत्ता विश्वविद्यालय (सैडलर) आयोग (१९१७-१९), बम्बई सरकार द्वारा नियुक्त १९२१ और १९३८ की समितियाँ एव वर्धा शिक्षा सम्मेलन (१९३७)[1] द्वारा नियुक्त जाकिर हुसेन समिति और इगलैण्ड से आये शिक्षा-विशेषज्ञ श्रीयुत एब्बट और वुड (१९३७)[2] द्वारा इस प्रश्न पर विस्तृत रूप से विचार किया गया। औद्योगिक आयोग ने निम्नलिखित सिफारिशें की—(१) कारीगर तथा श्रमिक वर्ग के लिए औद्योगिक विधि की समुचित प्रारम्भिक शिक्षा-व्यवस्था का स्थानीय सरकार एव अधिकारियो द्वारा प्रबन्ध। उसके अन्तर्गत ऐसे नियोक्ताओ को आर्थिक सहायता देने की भी व्यवस्था हो जो अपने श्रमिको के लाभ के लिए शिक्षा की सुविधाएँ प्रदान करे। (२) उद्योग-विभाग के नियन्त्रण मे कुटीर-उद्योगो के लिए उद्योग और कला के शिक्षालयो की व्यवस्था और (३) सगठित उद्योगो के लिए प्रशिक्षण की व्यवस्था। इनका विभाजन हस्तसाध्य उद्योग जैसे अभियान्त्रिक और अहस्तसाध्य उद्योग जैसे रासायनिक पदार्थो के निर्माण

[1] प्रथम भाग, अध्याय आठ, सेक्शन ? देखिए।

[2] दूसरा सेक्शन देखिए।

में हुआ। पहले प्रकार के उद्योगो में शिक्षा कारखानो में ही देने और सैद्धान्तिक शिक्षा की कक्षाएँ इनसे सयुक्त कर देने की व्यवस्था बनाई गई। कुछ दशाओ, जैसे वस्त्र-व्यापार के सम्बन्ध में, प्राविधिक स्कूलो के साथ उद्योगशालाएँ खोली गईं। दूसरे प्रकार के उद्योगो के सम्बन्ध में प्राविधिक स्कूल की शिक्षा कारखानो में प्राप्त व्यावहारिक अनुभव से पूर्ण होती थी। वर्तमान प्रान्तीय शिक्षालयो के अतिरिक्त आयोग ने दो राजकीय विद्यालयो (इम्पीरियल कॉलेजो) की स्थापना की सिफारिश की—एक उच्चतम अभियान्त्रिक शिक्षा के लिए और दूसरा धात्विक एव खनिज सम्बन्धी प्राविधिक शिक्षा के लिए।[1]

१६१६ के सुधार के अनुसार शिक्षा एक प्रान्तीय विषय हो गई और औद्योगिक तथा प्राविधिक शिक्षा का नियन्त्रण प्रान्तीय उद्योग विभागो से होने लगा। किन्तु आर्थिक असुविधाओ के कारण अब तक कोई ठोस परिणाम नही प्राप्त हो सका। १६२२ के फैक्ट्री अधिनियम द्वारा मजदूरी करने वाले बच्चो की उम्र बढा देने और बहुत से प्रान्तो में प्रारम्भिक शिक्षा को विधानत अनिवार्य घोषित कर देने पर भी प्रारम्भिक शिक्षा की उन्नति बडी धीमी रही।[2]

प्राविधिक शिक्षा और औद्योगिक प्रशिक्षण के प्रसार की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए बम्बई सरकार ने फरवरी, १६२१ में औद्योगिक और प्राविधिक शिक्षा के लिए एक समिति नियुक्त की। समिति ने दो रिपोर्टें तैयार की—एक यूरोपियन बहुमत की थी और दूसरी भारतीय अल्पमत की थी (अध्यक्ष एम० विश्वेश्वराया अल्पमत के समर्थक थे)। दोनो दलो के मतभेद के मुख्य विषय थे सस्थाओ का रूप, प्रशिक्षण पाने वाले विद्यार्थियो की सख्या एव लागत का अनुमान और सगठन तथा योजना कार्यान्वित करने के लिए सगठन एव एजेंसियाँ।

बहुमत वर्ग की सूचनाओ के आधार पर भी रञ्च-मात्र कार्यवाही नही की गई, यद्यपि उद्योग-विभाग द्वारा सचालित बुनाई के शिक्षण-केन्द्र अब भी करघा उद्योग को मदद दे रहे हैं। इस भाँति सामान्य प्राविधिक एव वाणिज्यिक शिक्षा की दशाएँ असन्तोषजनक ही रही और देश की विशालता तथा बढती आवश्यकताओ को देखते

---

१ भूगर्भशास्त्रियों और खानों के अभियन्ताओ के लिए १६२६ के अन्त में धनबाद में इण्डियन स्कूल आव माइन्स खोला गया।

२ गत महायुद्ध के बाद प्रान्तीय सरकारों के पास पर्याप्त धन बच रहा था और यह आशा की जाती थी कि शिक्षा के शीघ्र प्रसार के लिए वे तेजी से काम करेंगी। उदाहरणस्वरूप हाल ही में (अक्तूबर १६४६) शिक्षा सम्बन्धी केन्द्रीय परामर्श परिषद् की सिफारिशों के अनुसार बम्बई सरकार ने एक हजार से ऊपर जनसख्या के सभी गांवों, नगरों तथा शीघ्र ही अन्य क्षेत्रों में नि शुल्क अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा के सात वर्ष के पाठ्य-क्रम (कोर्स) को प्रचलित करने की आवश्यकता को एक प्रारम्भिक कदम के रूप में स्वीकार किया है। सरकार ने यह स्वीकार कर लिया है कि शिक्षा का उद्देश्य लाभकारी कार्य सिखाना है तथा प्रत्येक प्रारम्भिक स्कूल में कला की शिक्षा शीघ्र प्रचलित करना और सारे प्रारम्भिक अध्यापकों को बेसिक ट्रेनिंग देना भी तय कर लिया है। सरकार स्वत लोकशालाएँ स्थापित करने जा रही है तथा स्थानीय मण्डलों एव अन्य सस्थाओं द्वारा उनकी स्थापना को प्रोत्साहन देगी ताकि प्रारम्भिक स्कूलों के लिए उत्तम कोटि के अध्यापक मिल सकें।

से भारत में तैयार हुए माल को प्राथमिकता देना निश्चय किया गया। ऐसी दशाओ में जब विदेशी वस्तुओ की तुलना में भारत में बनी वस्तुएँ उतनी ही अच्छी और उसी ही मूल्य की हो तो यह स्पष्ट ही है कि भारतीय वस्तुओ को प्राथमिकता दी जायगी। कुछ लोग इस विचार के भी हैं कि यदि यहाँ की तैयार वस्तुओ की लागत कुछ अधिक हो तो भी उन्ही को खरीदना चाहिए। इस नीति के परिणामस्वरूप कर-दाताओ पर भार बढ जायगा और वास्तविक अर्थ मे यह उद्योग को सरक्षण देने के समान होगा। किसी भी एक उद्योग के पक्ष में ऐसा कदम उठाने और इस भाँति सार्वजनिक व्यय में वृद्धि करने के पहले यह उचित होगा कि प्रशुल्क-मण्डल को इस विपय पर अपनी सम्मति प्रकट करने का अवसर दिया जाय। किसी भी दशा में ऊपर निर्धारित सिद्धान्तो के प्रकाश में इस प्रश्न पर विचार करना चाहिए। उद्योग-आयोग की जाँच के अनुसार व्यवहार में कोटि एव मूल्य में समान होने पर भी भारतीय भण्डारो की तुलना में ब्रिटिश भण्डारो को प्राथमिकता दी जाती थी। विभिन्न सरकारी विभागो की माँगो की पूर्ति करने के लिए लन्दन-स्थित भारतीय कार्यालय के भण्डार-विभाग द्वारा माँगे गए टेण्डर के सम्बन्ध में प्रतिस्पर्द्धा करने में भी भारतीय निर्माताओ को अनेक कठिनाइयो तथा बाधाओ का सामना करना पडता था। भण्डार-क्रय के नियम से लाभ उठाने तथा इस भाँति देश की निर्माण-शक्ति का पूर्ण विकास करने के प्रयत्न में असफल रहने के लिए सरकार ने यह सफाई दी कि खरीद करने वाले भारतीय अधिकारी को राय और सूचना देने के लिए कोई योग्य निरीक्षणात्मक एजेंसी नही है। इस कारण सारे उत्तरदायित्व और मुसीबतों से छुटकारा पाने के लिए वह सारे आर्डर लन्दन-स्थित भारत कार्यालय के भण्डार-विभाग को भेज देती थी। इस सफाई के विरुद्ध यह प्रश्न उठा कि विशेषज्ञो की राय प्राप्त करने के लिए आवश्यक एजेन्सी की नियुक्ति का प्रयत्न क्यो नही किया गया? भारतीय उद्योगो को प्रोत्साहन देने के लिए क्रय-नीति को उपयुक्त रीति से नियोजित करने की नीति का भारतीय उद्योग-मण्डल ने भी समर्थन किया था। यदि भारतीय उत्पादको को सरक्षणा-त्मक अधिमान दिये बिना ही 'उचित अवसर और निष्पक्ष व्यवहार' की नीति अपनाई जाय तो सरकार के लिए अधिक मात्रा में कर-प्राप्ति स्वयमेव एक स्वस्थ और बहुमूल्य प्रोत्साहन का काम करेगी। जैसा औद्योगिक आयोग ने भी कहा था कि यदि आर्डर देने की विधि में कुछ सुधार के सुझाव स्वीकृत हो गए होते तो न केवल विद्यमान उद्योगो को ही लाभ होता वरन् नये उद्योग भी आरम्भ हो जाते। उदाहरण के लिए यदि एक ही भाँति की वस्तुओ के लिए विभिन्न भाँति के आर्डर न दिये जाते और कोई एक प्रमाप अपना लिया गया होता तो इसके परिणामस्वरूप एक ही प्रमाप की वस्तुओ की विशाल माँग को दृष्टि में रखते हुए भारत में एक विशिष्ट यन्त्रशाला की स्थापना कही अधिक लाभप्रद होती।

औद्योगिक विकास की प्रगति के साथ-साथ सरकारी माँग की अधिकाधिक पूर्ति स्थानीय उद्योगो द्वारा सम्भव होती जा रही है—विशेपकर इसलिए कि निरी-क्षणात्मक एजेंसियो तथा भारतीय भण्डारो की प्राप्ति के स्थान और मूल्य के विपय

में सूचना के अभाव के कारण उत्पन्न होने वाली कठिनाइयो को दूर करने का प्रवन्ध किया जा रहा है। औद्योगिक आयोग की सिफारिशो के अनुसार नियुक्त भण्डार-क्रय समिति १९२१ ने आयोग के इस सुझाव का समर्थन किया कि राजकीय भण्डार के निरीक्षण के लिए एक केन्द्रीय विशेषज्ञ एजेन्सी की स्थापना होनी चाहिए। फलस्वरूप भारतीय भण्डार-विभाग का सगठन हुआ किन्तु प्रान्तीय सरकारो, नगरपालिकाओ, वन्दरगाह-अधिकारियो, कम्पनी द्वारा प्रवन्धित रेलवे, अन्य सार्वजनिक तथा अर्द्ध-सार्वजनिक सस्थाओ तथा भारतीय रियासतो के लिए भी इसकी सेवाएँ प्राप्त हो सकती है। यह विभाग क्रय और निरीक्षक एजेन्सी के रूप में परामर्शदाता की हैसियत से काम करता है। यह आॅर्डरो की जाँच इस दृष्टिकोण से करता है कि कोई भी आॅर्डर व्यर्थ ही बाहर न भेजा जाय जवकि उस भाँति की वस्तुओ की उचित मूल्य पर पूर्ति भारतीय उत्पत्ति की वस्तुओ से सम्भव है। यह कुछ निर्दिष्ट वस्तुओ का भारत में क्रय करता है और निरीक्षण करता है, भण्डार के क्रय और मूल्यो से सम्वन्धित सारे मामलो पर सूचनाएँ एकत्र करने के केन्द्रीय कार्यालय के रूप में काम करता है और भारतीय उद्योगो को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से अन्य अनेक काम करता है। कलकत्ता और वम्बई में स्थानीय क्रय-शाखाएँ स्थापित की गई है और मद्रास, कानपुर और दिल्ली में निरीक्षक एजेन्सियाँ स्थापित की गई है। विदेशी फर्मो से प्रतियोगिता करने वाली भारतीय फर्मो को सुविधा और प्रोत्साहन देने के लिए विभाग ने भारत में दिये जाने वाले टेण्डरो को रुपयो मे माँगने की नीति का अधिका-[illegible] के अनुसरण प्रारम्भ किया। रुपये की टेण्डर-पद्धति को सफल वनाने के उद्देश्य से लन्दन-स्थित उच्च आयुक्त के परामर्श अभियन्ता विशेषज्ञ नियुक्त किये गए और उन्होने कलकत्ता में इसी उद्देश्य से एक शाखा खोली। भण्डार-विभाग का महत्त्वपूर्ण कार्य है कि भारत की पूर्ति के स्रोतो की क्षमता की निरन्तर जाँच करता रहे और इसके परिणामस्वरूप स्वीकृत ठेकेदारो की सूची वरावर वढती गई।

युद्धकाल में पूर्ति-विभाग के निर्माण के फलस्वरूप सरकार द्वारा देश के अन्दर किये जाने वाले क्रय की मात्रा में काफी वृद्धि हुई।

१३. औद्योगिक अनुसन्धान—अनुसन्धान को सयोजित करने के उद्देश्य से जुलाई १९३४ के पाँचवें औद्योगिक सम्मेलन ने एक केन्द्रीय औद्योगिक सूचना और अनुसन्धान-कार्यालय (सेण्ट्रल इण्डस्ट्रियल इण्टेलिजेन्स एण्ड रिसर्च व्यूरो) की स्थापना के प्रस्ताव पर विचार किया। १९३५ में अलीपुर में औद्योगिक अनुसन्धान कार्यालय (इण्डस्ट्रियल रिसर्च व्यूरो) की स्थापना एक अनुसन्धान-शाखा के साथ हुई। एक सलग्न परामर्श-दात्री सस्था—औद्योगिक अनुसन्धान परिषद (इण्डस्ट्रियल रिसर्च कौंसिल) की सहायता से कार्य करने वाला यह कार्यालय भारतीय भण्डार-विभाग से सलग्न है। औद्योगिक सूचनाओ को एकत्र तथा प्रसारित करना, औद्योगिक अनुसन्धान में उद्योगो से सहयोग करना, औद्योगिक प्रमापन के विषय में परामर्श देने वाली उपयुक्त पत्रिकाओ का सम्पादन और औद्योगिक प्रदर्शन के सगठन में सहयोग देना इसके कार्य हैं। ऐसी केन्द्रीय सस्था की आवश्यकता और औद्योगिक अनुसन्धान के मूल्य

के सम्बन्ध में अतिशयोक्ति नही की जा सकती। हाल ही में वैज्ञानिक एव औद्योगिक अनुसन्धान परिषद् (साइण्टिफिक एण्ड इण्डस्ट्रियल रिसर्च कौंसिल) नामक एक नवीन सस्था स्थापित की गई है। विभिन्न प्रमुख उद्योगों के प्रतिनिधि इस परिषद् से सम्बद्ध हैं। सितम्बर, १९४० में बम्बई में हुई बैठक में इस परिषद् ने भारत की युद्धकालीन उद्योगहीनता की समस्या के हल के लिए कई योजनाओ पर विचार किया। इसमें वनस्पति रगो, भारी रसायन, भारत के तिलहन के निर्यात-बाजारो के अभाव से उत्पन्न हानि की पूर्ति के लिए वनस्पति तेलो के उपयोग आदि की समस्याओ को विशेष महत्त्व दिया गया। तीन करोड अस्सी लाख रुपये की पूंजी की लागत से भारत सरकार देश के विभिन्न भागो में ११ राष्ट्रीय प्रयोगशालाएँ खोलने का विचार कर रही है।

१४ प्रान्तीय उद्योग-विभागों का कार्य—औद्योगिक आयोग की सिफारिशो के अनुसार प्रान्तीय उद्योग-विभागो की स्थापना की चर्चा हम पहले ही कर चुके है। इन विभागो के मुख्य कार्य तीन प्रकार के है—(१) औद्योगिक एव प्राविधिक शिक्षा का विकास, (२) औद्योगिक शिक्षा की पूर्ति और (३) औद्योगिक प्रदर्शनियों, हस्तकला-भण्डारो एव अर्थ (धन) द्वारा उद्योगो की सहायता। उनकी क्रियाएँ बडे पैमाने के उद्योगो की अपेक्षा कुटीर तथा ग्रामोद्योगो से अधिक सम्बद्ध हैं।[1] औद्योगिक आयोग के काल से आज की औद्योगिक दशा में महान् परिवर्तन तथा धनाभाव के कारण उद्योग-विभागो ने औद्योगिक आयोग द्वारा अनुमानित मात्रा एव दिशा में सफलता नही प्राप्त की। १९१९ और १९३५ के वैधानिक परिवर्तनो के कारण औद्योगिक विकास का उत्तरदायित्व बहुत अशो में प्रान्तो पर आ पडा। इससे भी एक व्यवस्थित और सम्यक् औद्योगिक नीति अपनाने में बाधा पहुँची है। अखिल भारतीय औद्योगिक सम्मेलन के वार्षिक अधिवेशनो द्वारा, जिनमें प्रान्तो के मन्त्रीगण तथा उद्योग-सचालक एव कुछ भारतीय रियासतो के भी प्रतिनिधि उपस्थित रहते है, कुछ अशो में उपयोगी सयोजन हो सका है। बगाल के उद्योग-विभाग ने अपेक्षाकृत अधिक सफलता प्राप्त की है। अपने पर्याप्त कर्मचारी-वर्ग तथा कलकत्ता में अनुसन्धान प्रयोगशाला खुलने के उपरान्त औद्योगिक आयोग की निर्धारित नीति का पालन करने के लिए बगाल का उद्योग-विभाग भली भाँति सुसज्जित समझा जा सकता है। बगाल में औद्योगिक रसायनशास्त्री का काम वहाँ प्राप्त हो सकने वाले कच्चे पदार्थो के सर्वोत्तम उपयोग के विषय में खोज करना है। बगाल ट्रेनिंग इस्टीट्यूट स्थानीय चमडे और इसके सिझाने की समस्याओ पर अनुसन्धान कर रहा है। उत्तर प्रदेश, बगाल, मद्रास और बम्बई में किये गए औद्योगिक सर्वेक्षणो की भी चर्चा की जा सकती है। कुछ प्रान्तो में प्रदर्शनात्मक कारखाने भी खोले गए है, किन्तु दुर्भाग्यवश उनमें से कुछ ही सफल हो पाए हैं। उदाहरणार्थ मद्रास में स्याही बनाने के कारखाने की चर्चा की जा सकती है। अन्य उद्योग असफल हो गए है, जैसे उत्तर प्रदेश में गिर्री (बॉबिन) बनाने का उद्योग।

१ इन क्रियाओं का पुनरावलोकन अगले अध्याय में किया गया है।

उद्योगो को आर्थिक सहायता देने के लिए प्रान्तीय विधानमण्डलो द्वारा पास किये गए कानूनो का हम पहले ही उल्लेख कर चुके हैं। मद्रास, पजाब, विहार और उडीसा में ये कानून १९२३ से ही लागू हैं। बगाल और मध्य प्रदेश में पास हुए ऐसे ही नियम १९३१ और १९३३ में क्रमश कानून के रूप में सामने आये। १९३५ के राजकीय सहायता-नियम के अपर्याप्त होने के कारण छोटे उद्योगो के लिए बम्बई विधानमण्डल ने एक प्रस्ताव द्वारा कुछ नये नियम बनाये है। ये नियम कई प्रकार की राजकीय सहायता की व्यवस्था करते हैं, जिनमें ऋणपत्रो या हिस्सो पर व्याज की गारण्टी, हिस्सो या ऋणपत्रो का लेना, ऋण प्रदान करना और अनुसन्धान-कार्य के लिए सहायता देना आदि सम्मिलित है। कुछ दशाओ में उपर्युक्त नियमो के अनुसार नये उद्योग आरम्भ करने के लिए व्यक्तिगत साहसोद्यमियो को ऋण भी दिया जा सकता है। वास्तव में ये नियम वृहद्-प्रमाप उद्योगो की अपेक्षा लघु-प्रमाप उद्योगो के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध हुए है।[1] बडी-बडी मिलो, जैसे कर्नाटक पेपर मिल्स (मद्रास) और इण्डियन स्टील वायर प्राडक्ट लिमिटेड (विहार) को दिये गए बडे-बडे ऋणो की असफलता से यह सिद्ध है कि बडे उद्योगो को आर्थिक सहायता की समस्या हल करने के लिए विशेष उपायो की आवश्यकता है।

मद्रास के उद्योग-विभाग ने मार्च, १९३५ की रिपोर्ट में यह स्वीकार किया है कि उद्योगो को आर्थिक सहायता देने का अधिनियम बारह वर्ष तक लागू रहने के बाद भी औद्योगिक विकास को प्रोत्साहित करने में सफल नही हुआ। इस रिपोर्ट में उत्तर प्रदेश का अनुकरण करते हुए उद्योगो को आर्थिक सहायता देने की नवीन योजना बनाने के लिए एक विशेष समिति की नियुक्ति का प्रस्ताव दिया गया है। उत्तर प्रदेश में स्वर्गीय सर एस० एन० पोचखनवाला की अध्यक्षता में १९३४ में औद्योगिक वित्त-समिति की स्थापना हुई। इसने प्रधान एव अप्रधान उद्योगो को अल्पकालीन एव दीर्घकालीन ऋण देने के लिए २५ लाख की पूँजी तथा अधिक-से-अधिक २० वर्ष के लिए हिस्सो पर ४% करमुक्त लाभाश पर सरकारी गारण्टी सहित 'दि यूनाटेड प्राविसेज़ इण्डस्ट्रियल क्रेडिट बैंक लिमिटेड' की स्थापना के लिए सिफारिश की। इस समिति ने 'दि यूनाइटेड प्राविसेज़ फाइनेंसिंग एण्ड मार्केटिंग कम्पनी लिमिटेड' नामक एक विपणन (मार्केटिंग) सगठन प्रारम्भ करने की सिफारिश की जिसकी पूँजी ५ लाख रुपये होती तथा जो सम्मिलित पूँजी वाली कम्पनियो की भाँति चलाई जाती। समिति के मतानुसार इस पूँजी के हिस्सो के वितरण का उत्तरदायित्व औद्योगिक बैंक के ऊपर होगा।[2] जून, १९३६ में समिति की सिफारिशो के अनुसार निर्मित सरकारी योजना को उत्तर प्रदेश विधानमण्डल ने स्वीकार कर लिया।[3] दिसम्बर, १९३६ में

१ देखिए, 'प्रोसीडिंग्स ऑव दि फिफ्थ इण्डस्ट्रीज कान्फ्रेन्स' (१९३३) तथा डी० आर० गाडगिल, इण्डस्ट्रियल इवालूशन ऑव इण्डिया, चतुर्थ सस्करण, पृ० ३२५।

२ स्टेट एक्शन इन रेस्पेक्ट ऑव इण्डस्ट्रीज, १९२८-३५, पृ० ४२।

३ इस योजना का विशेष विवरण 'बैंकिंग और साख' वाले अध्याय में 'औद्योगिक वित्त' शीर्षक के नीचे दिया गया है।

बगाल विधानमण्डल ने भी एक औद्योगिक साख-निगम सस्था की स्थापना स्वीकार की। इसका उद्देश्य कारागृह से मुक्त वन्दियो द्वारा लघु-प्रमाप उद्योगो की स्थापना के लिए ऋण देना था। बगाल के किसी ऐसे नागरिक को भी ऋण दिया जा सकता था जो व्यावहारिक प्रस्ताव प्रस्तुत करता।[1]

१५ आयोजन और औद्योगीकरण—बहुत से कारणो, विशेपकर रूस के प्रयोगो ने भारत में इस विचार को और भी प्रवल कर दिया है कि सामान्य रूप से देश के आर्थिक पुनरुद्धार तथा आधुनिक उद्योगो के सन्तोपजनक विकास के लिए सरकार को व्यवस्थित तथा उद्देश्यपूर्ण आयोजन अपनाना आवश्यक है। सितम्वर, १९४३ में सर एम० विश्वेस्वराया ने अखिल भारतीय-निर्माता सगठन (ऑल इण्डिया मेनुफेक्चरर्स आर्गनाइज़ेशन) के सम्मुख युद्धोत्तर काल में भारत के पुनर्निर्माण की एक योजना रखी। इस योजना में कुछ वर्प के भीतर आधारोद्योगो, उत्पादक जनकार्यो और जनोपयोगी सस्थाओ, कृषि एव औद्योगिक उत्पादन को दूना करने, वैंकिग की सुविधाओ के विकास का प्रवन्ध करने, आयात किये गए यन्त्रो पर आयात-कर में आशिक मुक्ति के साथ प्रशुल्क सरक्षण, भारी उद्योगो के प्रति अधिमानपूर्ण व्यवहार और वार्पिक आयोजनो आदि में एक हजार करोड रुपये के विनियोग का सुझाव रखा गया।

१९४४ में आठ प्रमुख भारतीय व्यापारियो ने भारत के औद्योगिक विकास की योजना का निरूपण करते हुए एक सक्षिप्त स्मृति-पत्र का पहला भाग प्रकाशित किया। सामान्यत यह बम्बई योजना (बॉम्बे प्लान) के नाम से प्रसिद्ध है।[2]

इस योजना का प्रमुख उद्देश्य पन्द्रह वर्प की अवधि के भीतर प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय को दूना कर देना था। जनसख्या की वृद्धि ५० लाख प्रति वर्ष अनुमान करने पर पन्द्रह वर्ष में प्रति व्यक्ति आय को दूना करने का अर्थ है वर्तमान सम्पूर्ण आय को तिगुना कर देना। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए यह प्रस्तावित किया गया कि कृपि की वास्तविक उत्पत्ति को दुगने से कुछ अधिक और बडे तथा छोटे उद्योगो के सम्मिलित उत्पादन को पाँच गुना कर दिया जाय।

योजना के लिए आवश्यक पूँजी लगभग १०,००० करोड रुपये है जिसका वितरण निम्नलिखित प्रकार से किया गया है

	करोड रुपये		करोड रुपये
उद्योग	४,४८०	स्वास्थ्य	४५०
कृषि	१,२४०	आवास	२,२००
सचार	९४०	अन्य	२००
शिक्षा	४९०	कुल	१०,०००

[1] विशेप विवरण के लिए देखिए, एन० दास, 'इण्डस्ट्रियल इण्टरप्राइज़ इन इण्डिया'।

[2] इस योजना के नाम का कारण यह है कि एक-दो व्यक्तियो को छोड़कर इसके सभी लेखक बम्बई के हैं सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास, जे० आर० डी० टाटा, जी० डी० बिरला, सर आरदेशर दलाल, सर श्रीराम, कस्तूरभाई लालभाई, ए० डी० श्रॉफ और जॉन मथाई।

राष्ट्रीय आय में जिस त्रिमुखी वृद्धि का ध्येय रखा गया है उसमें उद्योग, कृषि व नौकरी में आय पर निम्न वृद्धि अनुमानित है —

	आय १९३१-२ (करोड़ रुपयों में)	१५ वर्ष पश्चात् अनुमानित आय (करोड़ रुपयों में)	प्रतिशत वृद्धि
उद्योग	३७४	२,२४०	५००
कृषि	१,१६६	२,६७०	१३०
नौकरी	४८४	१,४५०	२००

उद्योगो को दो प्रधान वर्गो में विभाजित किया गया—(१) आधारोद्योग, (२) उपभोग-पदार्थो के उद्योग।

महत्त्वपूर्ण आधारोद्योगो में निम्नलिखित को योजना के आरम्भिक वर्षो में प्रधानता दी जायगी शक्ति—विद्युत्, खानें और धातुएँ—लोहा और इस्पात, अल्यूमिनियम, मैगनीज़, अभियान्त्रिकी—सभी भाँति के यन्त्र, यान्त्रिक औजार; रसायन—भारी रसायन, रासायनिक खादें, रंग, प्लास्टिक, दवाएँ, यातायात—रेल के इञ्जन और डिब्बे, जहाजो का निर्माण, मोटर-गाडियाँ, हवाई जहाज, सीमेण्ट।

उपभोग-पदार्थो के प्रमुख उद्योग, जिनका और विकास करना है, निम्नलिखित है वस्त्र—सूती, ऊनी और रेशमी, शीशे का उद्योग, चमडे की वस्तुओ का उद्योग, कागज का उद्योग, तम्बाकू का उद्योग, तेल उद्योग।

बडे पैमाने के उद्योगो के साथ ही छोटे तथा कुटीर-उद्योगो के विकास का भी प्रवन्ध किया गया था, ताकि योजना की आरम्भिक अवस्था में पूँजी, विशेपकर बाहरी पूँजी की आवश्यकता कम हो सके और लोगो को काम मिल सके।

कृषि के लक्षित उत्पादन की प्राप्ति के लिए आवश्यक पूँजी का अनुमान नीचे दिया गया है

	अनावर्त्तक व्यय (करोड़ रुपयों में)	आवर्त्तक व्यय (करोड रुपयों में)
भूमि रक्षा आदि	२००	१०
चालू पूँजी		२५०
सिंचाई		
नहरें	४००	१०
कुएँ	५०	
आदर्श खेत	१९५	१३०
कुल योग	८४५	४००

रेल और सडको की मील-दूरी वढाने और वन्दरगाहो के विकास में लगने वाली कुल लागत का अनुमान निम्नलिखित था

	अनावर्त्तक व्यय (करोड रुपयों में)	आवर्त्तक व्यय (करोड़ रुपयों में)
रेल	४३४	९
नई बनने वाली सड़कें	३००	३५
पुनर्निर्माण की सड़कें	११३	
बन्दरगाह	५०	५
कुल योग	८९७	४९

धन-प्राप्ति के प्रस्तावित साधन निम्नलिखित थे

बाह्य वित्त।—

साधन	धन (करोड रुपये में)	
आसचित धन	३००	
स्टर्लिंग प्रतिभूतियां	१,०००	
व्यापार-सन्तुलन	६००	
बाह्य देशों से ऋण	७००	
कुल योग		२,६००

आन्तरिक वित्त।—

साधन	धन की मात्रा (करोड़ रुपये में)	
बचत	४,०००	
निर्मित मुद्रा[१]	३,४००	
कुल योग		७,४००
महायोग		१०,००० करोड़ रु०

योजना को कार्यान्वित करने के विषय में यह तय किया गया था कि यह तीन पचवर्षीय योजनाओ में विभाजित की जायगी। इन योजनाओ पर किया जाने वाला व्यय इस प्रकार था

	प्रथम योजना (करोड रु० में)	द्वितीय योजना (करोड़ रु० में)	तृतीय योजना (करोड़ रु० में)	कुल योग (करोड़ रु० में)
उद्योग	(७९०)	(१,५३०)	(२,१६०)	(४,४८०)
आधारोद्योग	४८०	१,२००	१,८००	३,४८०
उपभोग-पदार्थों के उद्योग	३१०	३३०	३६०	१,०००
कृषि	२००	४००	६४०	१,२४०
सचार	११०	३२०	५१०	९४०
शिक्षा	४०	८०	३७०	४९०
स्वास्थ्य	४०	८०	३३०	४५०
आवास	१९०	४२०	१,५९०	२,२००
अन्य	३०	७०	१००	२००
कुल योग	१,४००	२,९००	५,७००	१०,०००

[१] निर्मित मुद्रा का अर्थ तदर्थ प्रतिभूतियों के आधार पर जारी किये गए धन से है।

वम्बई योजना का दूसरा भाग जनवरी, १९४५ में प्रकाशित हुआ। इसने वितरण की समस्या पर कुछ सामान्य विचार प्रस्तुत किये तथा योजना के फलस्वरूप धन में होने वाली वृद्धि के समान वितरण का प्रतिपादन किया। इसका लक्ष्य धन के वितरण की असमानता को कम करना और सबके लिए रहन-सहन के एक निम्नतम स्तर का प्रवन्ध करना था। अतिरिक्त आय या पूँजी पर मृत्यु-कर जैसे प्रगामी प्रत्यक्ष करो के प्रयोग का भी समर्थन किया गया। अर्जित तथा अनर्जित आय के अन्तर, भूधृति का सुधार तथा सम्मिलित पूँजी वाली कम्पनियो में हिस्सो के विस्तृत वितरण का भी समर्थन किया गया। कृषि और औद्योगिक मजदूरी की दरो में सुधार करने के साथ ही काम करने वाली सारी जनसख्या को काम देने की भी व्यवस्था की गई। प्रधान योजना (मास्टर प्लान) के अधीन उद्योगो के विकीरण तथा प्रादेशिक वितरण के सम्वन्ध में भी सुझाव रखे गए। कुटीर एवं लघु-प्रमाप उद्योगो के प्रोत्साहन की आवश्यकता स्वीकार की गई और राजकीय तथा व्यक्तिगत साहस के उचित सहयोग पर जोर दिया गया। वम्बई योजना के निर्माताओ के तीन प्रमुख उद्देश्य थे (क) पूर्वस्थित आर्थिक व्यवस्था के सुव्यवस्थित विकास की आवश्यकता, (ख) केन्द्रीय नियन्त्रण की अर्थ-व्यवस्था और अन्तिम (ग) समाज के सामाजिक और वितरणात्मक आदर्शो के अनुकूल कृपि और उद्योग तथा उत्पादन के साधनो और वास्तविक उत्पादन का अधिकाधिक विकीरण।[1]

यदि हम अपने राष्ट्रीय साधन-स्रोतो के पूर्ण उपयोग तथा जनता और सरकार में पूर्ण तथा स्थायी सहयोग की कल्पना कर लें तो वम्बई योजना द्वारा अनुमानित स्तर पर पुनर्निर्माण असम्भव नही है। किन्तु उपभोग-पदार्थो का वर्तमान विधि से उत्पादन करने के पहले पूँजी-निर्माण आवश्यक है तथा इस अवधि (पूँजी-निर्माण काल) में जनता को एक महान् त्याग करना होगा। निर्धन भारत की जनता के अति शोचनीय जीवन-स्तर के कारण पूँजी एकत्र करने के लिए वर्तमान उपभोग का वलिदान करना वास्तव में वहुत कठिन होगा। वम्वई योजना अव पुरानी पड गई है और अपने निर्माण-काल से वाद में हुए विकास के प्रकाश में इसमें विस्तृत रूप से सशोधन करने की आवश्यकता है, क्योकि तव से वस्तुओ और सामानो के मूल्य में वहुत वृद्धि हो गई है। अव (१९५०) इस योजना को कार्यान्वित करने के लिए आवश्यक धन की मात्रा १०,००० करोड रुपये के स्थान पर ३०,००० करोड रुपये होगी। किन्तु वर्तमान धनाभाव के कारण सरकार को कम धन की अपेक्षा रखने वाली तथा शीघ्र परिणामदायी योजना से सन्तोष करना होगा।

१९३८ ई० की राष्ट्रीय आयोजन समिति की स्थापना के बाद सरकारी और गर-सरकारी योजनाओ की भरमार-सी हो गई है। केन्द्रीय सरकार[2] का पहला कर्तव्य

---

१ दी ईस्टर्न इकनामिस्ट, २६ जनवरी १९४५, पृ० ९५-९६।

२ सन् १९४६ में भारत सरकार के आयोजन और विकास-विभाग वन्द कर दिये गए तथा उनके कार्य अन्य विभागों में वाँट दिये गए। अपने सक्षिप्त जीवनकाल में सर आर्देशर दलाल की सक्रिय अध्यक्षता में विभाग ने नीति-निर्धारण के विषय में वहुमूल्य काम किया।

होगा कि विभिन्न योजनाओ को सयोजित करके पूर्ण बनाए। निर्दिष्ट लक्ष्य और की प्राप्ति के उद्देश्यो लिए केन्द्रीय सरकार को प्राथमिकता का निर्णय और योजना को व्यवस्थित रूप से कार्यान्वित करना चाहिए।

१९३९ में युद्ध की घोषणा के पश्चात् शीघ्र ही कांग्रेस मन्त्रिमण्डलो के छिन्न-भिन्न हो जाने के बाद राष्ट्रीय आयोजन समिति का कार्य बिलकुल बन्द हो गया। पांच वर्ष के विराम के पश्चात् सितम्बर, १९४५ में समिति की पुन बैठक हुई। आर्थिक दशा में युद्धकालीन मौलिक परिवर्तनो के कारण समिति ने अपनी विभिन्न उपसमितियो को सशोधित निर्देश भेजे। किन्तु अपर्याप्त धन, शासन-तन्त्र की शिथिलता तथा साख्यिकी तथ्यो के अभाव में समिति के लिए ऐसी योजनाओ का निर्माण, जिन्हे सरकारी योजना (ब्ल्यू-प्रिण्ट) कहा जा सके, असम्भव हो गया। अत समिति के प्रस्ताव और निष्कर्ष सामान्य ज्ञान और पथ-प्रदर्शन-मात्र ही प्रदान करते है।[1]

---

१ मार्च, १९५० में भारत सरकार ने योजना-आयोग की नियुक्ति की। जुलाई, १९५१ में योजना-आयोग ने प्रथम पचवर्षीय योजना की प्रस्तावित रूपरेखा सामने रखी। दिसम्बर १९५२ में योजना पार्लियामेण्ट के सामने अपने अन्तिम रूप में रखी गई। इस योजना के अन्तर्गत १९५१-५६ में २,०६९ करोड रुपये व्यय करना निश्चित किया गया। (अक्तूबर, १९५३ में बेकारी दूर करने तथा अन्य विशिष्ट योजनाओं के लिए इसके अतिरिक्त १८० करोड़ रुपये और व्यय करने का निश्चय किया गया) योजना के अन्तर्गत निम्न प्रकार से व्यय करना निश्चित किया गया।

	१९५१-५६ में प्रस्तावित व्यय	कुल व्यय का प्रतिशत
कृषि और सामूहिक विकास	३६१	१७ ५
सिंचाई	१६८	८ १
बहुउद्देशीय सिंचाई और शक्ति योजनाएँ	२६६	१२ ९
शक्ति	१२७	६ १
यातायात और सचार	४९७	२४ ०
उद्योग	१७३	८ ४
सामाजिक सेवाएँ	३४०	१६ ४
पुनर्वास	८५	४ १
अन्य	५२	२ ५
योग	२,०६९	१०० ०

यह योजना १९७७ तक प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय को दूना करने के उद्देश्य की प्राप्ति के प्रति पहला कदम है। अभी ऐसी कई पचवर्षीय योजनाएँ चालू की जायेंगी।

द्वितीय अध्याय

भारतीय उद्योग—नवीन तथा पुरातन

१ अध्याय का क्षेत्र—भारतीय उद्योग दो वर्गों में विभाजित किये जा सकते है (१) कारीगरो के घरो में हस्तचालित यन्त्रो से सम्पादित उद्योग जिन्हे कुटीर-उद्योग कहा जा सकता है। यहाँ काम का प्रमाप छोटा, सगठन सीमित तथा उत्पादन मुख्यतया स्थानीय आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए होता है। इस अध्याय के अन्त में हम इन कुटीर-उद्योगो का विवेचन करेंगे। (२) शक्ति-चालित यन्त्रो से सम्पादित सुसगठित उद्योग जो कारखानो या उद्योगशालाओ में चलाए जाते है। इन सगठित उद्योगो का आकार साधारण ग्रामीण कारखानो से लेकर कपडे की बडी-बडी मिलो एव अभियान्त्रिकी उद्योगशालाओ के समान होता है जहाँ हजारो मजदूर कार्य करते है और निर्माण एव व्यापार के लिए पूर्ण सगठन होता है।[1] कृषि से सम्बन्धित सगठित-उद्योग, जसे चाय, कहवा, नील और चीनी उद्योग का वर्णन कृषि के अध्याय में हो चुका है।[2] अब सबसे पहले हम भारत के नये प्रकार के प्रमुख सगठित उद्योगो का वर्णन करेंगे। इससे औद्योगीकरण की प्रगति का आभास मिल जायगा और उसी प्रसग में प्रशुल्क-मण्डल की देखरेख में लागू किए जाने वाले सरक्षण की विधि पर भी प्रकाश पडेगा।

२. सूती मिल उद्योग—भारत के वृहद्-प्रमाप के कुछ उद्योगो का विवरण नीचे दिया जा रहा है। भारत में पहली सूती-वस्त्र मिल १८१८ में कलकत्ता में स्थापित हुई।

---

१ भारतीय उद्योगों के हाल के वर्गीकरण में सगठित उद्योगों को पुन दो वर्गों में विभाजित किया गया है लघु-प्रमाप उद्योग तथा बृहद्-प्रमाप उद्योग। उदाहरण के लिए बम्बई की औद्योगिक एव आर्थिक सर्वेक्षण समिति का कहना है कि "लघु-प्रमाप उद्योगों से हमारा तात्पर्य उन उद्योगों से है जहां शक्ति का प्रयोग होता है, परन्तु काम करने वालों की सख्या ५० से अधिक नहीं होती और न विनियोजित पूँजी ही ३०,००० रुपये से अधिक होती है। मोटर की मरम्मत, तेल, हॉजिरी, घड़ी-निर्माण, साबुन-निर्माण, चावल और आटे की चक्कियां इसका उदाहरण हैं। बृहद्-प्रमाप उद्योग वे है जहां शक्ति का प्रयोग होता है परन्तु काम करने वालों की सख्या ५० से अधिक होती है तथा विनियोजित पूँजी भी ३०,००० रुपये से अधिक होती है। इसका उदाहरण कपडा, कागज और शक्कर की मिलें है (रिपोर्ट-पैरा १५-१६)। आयोजन-समिति ने भी भारतीय उद्योगों को तीन वर्गों में विभाजित किया है (१) कुटीर-उद्योग, (२) लघु-प्रमाप (मध्यम आकार वाले) उद्योग और (३) बृहद्-प्रमाप उद्योग।

२ देखिए, खण्ड १, अध्याय ६।

बम्बई में, जो सूती-मिल उद्योग का गढ है, पहली मिल पारसी साहस के फलस्वरूप स्थापित हुई और इसने १८५४ से कार्य आरम्भ किया।

बम्बई द्वीप पर सूती-मिलो का केन्द्रीकरण स्थायी और प्राकृतिक कारणो से उतना प्रभावित नही हुआ था जितना अन्य लाभो से, जैसे पूँजी और साख-सम्बन्धी सुविधाओ की प्रचुरता, सस्ते और वेगमान परिवहन की उपलब्धि और चीन द्वारा सूत की माँग मे अस्थायी वृद्धि जिसकी पूर्ति के लिए बम्बई विशेप रूप से उपयुक्त था। वितरण के दृष्टिकोण से १८७७ का वर्ष उद्योग के विकास को एक नवीन दिशा प्रदान करता है। कपास उत्पन्न करने वाले क्षेत्र के ठीक मध्य मे स्थित नगरो, जैसे नागपुर, अहमदाबाद और शोलापुर, मे इस वर्ष बडी तेजी मे मिलो की स्थापना हुई। यह वितरण प्राकृतिक कारणो से हुआ, जैसे कच्चा माल, पर्याप्त श्रम तथा बडे-बडे विपणन-केन्द्रो की सन्निकटता। रेलो के विकास के कारण ही यह सम्भव हो सका। वर्तमान शताब्दी के आरम्भ मे चीन से सूती व्यापार की कमी ने बम्बई के अद्वितीय महत्त्व को बहुत आघात पहुँचाया। स्वदेशी आन्दोलन ने भी बुनाई व्यवसाय को बम्बई के बाहर प्रोत्साहन दिया। ब्रिटिश भारत मे कारखाना सम्बन्धी कानूनों (फैक्ट्री लेजिस्लेशन) के विकास ने उद्योग के देशी रियासतो मे स्थापित होने की प्रवृत्ति को जन्म दिया, क्योंकि वहाँ कारखाना-कानूनो का प्रशासन बहुत ढीला था।

कुछ दिनो से भारतीय मिलो मे अधिक मात्रा मे महीन सूत उत्पादन की प्रवृत्ति आ गई है और इसके लिए सयुक्त राष्ट्र तथा अन्य स्थानो से लम्बे रेशे की कपास का आयात होने लगा है। किन्तु महीन सूत का उत्पादन आयात की हुई कपास के मँहगापन और सूत बनाने के लिए आवश्यक नये यन्त्रो के कारण सीमित मात्रा मे हो रहा है। देश मे उत्पन्न होने वाली कपास की किस्म मे सुधार करने से यह परिस्थिति बदल सकती है।

१९१४-१८ के युद्धकाल मे सूती वस्त्र-उद्योग को काफी प्रोत्साहन मिला। युद्ध के पूर्वी रगमचो मे सूती सामान की सैनिक आवश्यकताओ के कारण सरकार द्वारा मिलो को दिया गया प्रोत्साहन, जहाजो की कमी के कारण आयात की कमी तथा आयात किये हुए कपडे के मूल्यो की बढती से उत्पादन मे पर्याप्त वृद्धि हुई। यद्यपि यन्त्रो के आयात की कठिनाई के कारण विकास उतनी अच्छी तरह नही हो सका जितना कि इस कठिनाई के न होने पर होता। परन्तु फिर भी द्वितीय महायुद्ध के समय सूती वस्त्र-उद्योग का आश्चर्यजनक विस्तार हुआ। आयात की कमी, निर्यात की वृद्धि, युद्ध के लिए कपडे की बढती हुई माँग, देश की अधिक माँग और युद्ध के आरम्भ में कुछ समय तक के लिए मजदूरो की प्राप्ति की अनुकूल परिस्थितियाँ आदि इस विस्तार का कारण थी।

३ सूती मिल-उद्योग का विकास—निम्नलिखित तालिका सारे भारतवर्ष में सूती-मिल उद्योग में हुई प्रगति और कपडो की आयात मे हुई कमी को प्रदर्शित करती है।

तालिका १

वर्ष	मिलों की सख्या	तकुओं की सख्या	करघों की सख्या	काम में लगे हुए मनुष्यों की औसत सख्या
१९००	१९३	४९,४५,७८३	४०,१२४	१,६१,१८९
१९१४	२७१	६७,७८,८९५	१,०४,१७९	२,६०,२७६
१९१८	२६२	६६,५३,८७१	१,१६,४८४	२,८२,२२७
१९२२	२९८	७३,३१,२१९	१,३४,६२०	३,४३,७२३
१९३६	३७९	९८,५६,६५८	२,००,०६२	४,१७,८०३
१९३९	३८९	१,००,५९,३७०	२,०२,४६४	४,४१,९४९
१९४२	३९६	१,००,२६,४२५	२,००,१७०	४,८०,४८७
१९४३	४०१	१,०१,३०,५६८	२,००,८९०	५,०२,६५०
१९४८[1]	४२२	१,०४,३३,०६५	२,०२,०७२	४,७६,१४५

मिल के वनाए कपडे का उत्पादन १९०४-५ में ६,७८० लाख गज था। १९४३-४४ में यह बढकर ४८,७०० लाख गज हो गया।

१९०४-५ तक सूत के निर्यात-व्यापार में होने वाली निरन्तर वृद्धि का कारण वम्बई की चीन के वाजार के सम्वन्ध में अनुकूल भौगोलिक स्थिति थी। सम्पूर्ण निर्यात के ९० प्रतिशत से भी अधिक की पूर्ति वम्बई की मिलो द्वारा होती थी और इस स्थिति के ९० प्रतिशत की खपत चीन में होती थी। १८९० तक दूसरा महत्त्वपूर्ण ग्राहक जापान था। मलाया और अरब मे भी नये वाजार स्थापित हो चुके थे। १९०५ के वाद व्यापार में अवनति उतनी ही तेजी से हुई जितनी तेजी से पहले विकास हुआ था। व्यापार की अवनति के प्रमुख कारण भारत में चाँदी के सिक्को की मुक्त ढलाई पर रोक लग जाने से चीन के साथ विनिमय दर में उत्पन्न अव्यवस्था, चीन में स्वय सूत कातने के उद्योग का विकास, युद्ध के कारण जहाज पाने में भारतीय व्यापारियो की कठिनाइयाँ जिससे जापान को अत्यन्त सुअवसर मिला, वुनाई के उद्योग का स्वय भारत में विकास और देश में ही अधिक लाभ होने के कारण वाहरी देशो के वाजारो के प्रति भारतीय उत्पादको की उदासीनता आदि थे। यह ध्यान रखने योग्य है कि जापान १९१४-१८ के युद्ध के आरम्भ तक चीन के सूत वाजार में भारत के प्रतिद्वन्द्वी के रूप में नही रहा। किन्तु उसके वाद जापान ने न केवल चीन के वाजार से भारत को निकाल वाहर किया वरन् जापान के सूत का स्वय भारत में आयात भयकर गति से वढा और यहाँ के सूत कातने के उद्योग को वहुत गहरा धक्का पहुँचा। १८९९-१९०० के २,४४० लाख पौंड से गिरकर भारतीय सूत का निर्यात युद्ध के पहले के पाँच वर्षो में औसतन १९३० लाख पौण्ड रह गया। यह औसत युद्ध के पाँच वर्षो में १३०० लाख पौण्ड, युद्ध के वाद के पाँच वर्षो में ८२० लाख पौण्ड और १९३८-३९ में ३८० लाख पौंड हो गया। उस वर्ष भारतवर्ष की मिलो का कुल सूत उत्पादन १३,०३० लाख पौण्ड था। इस भाँति अब भारतवर्ष अपने सूत उत्पादन के अल्पाश का ही निर्यात करता है, क्योकि लगभग सभी सूत की देश में खपत हो जाती है। वर्तमान शताब्दी के आरम्भ से वुनाई उद्योग में चमत्कारिक विस्तार हुआ है। चीन

१. पाकिस्तान भी सम्मिलित है।

के साथ सूत के व्यापार की समाप्ति से इस उन्नति को बल मिला है। फलस्वरूप हमारी विदेशी कपडो की निर्भरता मे काफी कमी आ गई है।

युद्ध से सम्बन्धित कारणो के फलस्वरूप १९१७ से एक स्मरणीय अभिवृद्धि-काल आरम्भ हुआ। १९१७-१८ और १९२१-२२ के बीच उद्योग में विनियोजित पूँजी २० ८४ करोड से बढकर ४० ९८ करोड रुपये हो गई। अत्यधिक ऊँचे मूल्यो के प्रभाव के कारण मिलें अपनी पूरी शक्ति-भर काम कर रही थी। परिदत्त पूँजी पर बम्बई सूती मिल उद्योग ने बहुत ऊँचे लाभाश दिये, जो १९१९ में ४० १ प्रतिशत, १९२० मे ३५ २ प्रतिशत और १९२१ में ३० प्रतिशत थे।[1]

अभिवृद्धि काल छ वर्ष तक रहा। इसकी समाप्ति होते ही सकट-काल आरम्भ हुआ। इस बीच जापान ने हमसे अधिक उन्नति कर ली थी और न केवल चीन के बाजार में ही बल्कि हमारे देश के बाजार में भी अपनी सस्ती वस्तुएँ भेजने लगा जिससे भारतीय मिलो में भी उत्पन्न वस्तुओं के मूल्य कम करने पडे। जिस प्रकार भारत ने विश्व की अभिवृद्धि में भाग लिया था उसी तरह विश्वव्यापी अवसाद को भी झेलना पडा। १९२० के बाद कृषि एव साधारण मूल्यो के सम्बन्ध में परिवर्तन और १९१७ से ही कपास के मूल्यो में भयकर घटा-बढी आदि अन्य ससार-व्यापी कारण थे।

१९२० से कृषि-मूल्यो के घट जाने के कारण कृषक वर्ग की क्रय-शक्ति कम हो गई, जिसके फलस्वरूप ससार-भर में उद्योगो में सामान्य अवसाद छा गया। अभिवृद्धि काल में आयोजित विस्तार १९२२ से पहले नही पूरे किये जा सके। नये स्थापित सस्थानो में वास्तव में अभिवृद्धि-काल के मूल्यो की तुलना में पूँजी खर्च की गईं थी और १९२० में विनिमय-सम्बन्धी आकस्मिक परिवर्तन के कारण यह लागत और भी अधिक हो गई।[2] १९१७ से अमेरिका के कपास की पूर्ति तथा उसके मूल्यो से प्रभावित उतार-चढाव ने भारत में इस उद्योग की कठिनाइयाँ और बढा दी। सम्भवत इस उद्योग के लिए, विशेषकर इस उद्योग के प्रधान केन्द्र बम्बई के लिए, सबसे बुरा वर्ष १९२३ था। (नीचे सेक्शन ७ देखिए)

४ **भारत में सूती वस्त्र का प्रति व्यक्ति उपभोग**—निम्नलिखित तालिका[3] में भारत में प्रति व्यक्ति सूती वस्त्र के उपभोग के रोचक आँकडे दिये गए हैं। हाथ के करघे द्वारा उत्पन्न वस्त्र भी इसमें सम्मिलित हैं

प्रति व्यक्ति उपभोग का अनुमान लगाते समय जनसख्या के वार्षिक परिवर्तन को ध्यान में रखा गया है। एक वर्ष से दूसरे वर्ष के लिए बच जाने वाले माल तथा स्थल से होने वाले निर्यात की गणना सम्भव नही हो सकी है। उपभोग के लिए प्रतिवर्ष प्राप्त सूत की मात्रा पर करघा से उत्पन्न वस्त्र की मात्रा का अनुमान लगा लिया गया है।

१ देखिए, रिपोर्ट ऑव दि टैरिफ बोर्ड (टेक्सटाइल इण्डस्ट्री, १९२७) परिशिष्ट ५, और ब्रजनारायण, 'इकनॉमिक लाइफ इन इण्डिया' पृ० ४५८।

२ देखिए, गैडगिल, पूर्वोद्धृत, पृ० २५०।

३ रिव्यू ऑव दि ट्रेड ऑव इण्डिया (१९३६-३७), पृ० ४३ और (१९४१-४२), पृ० ११०।

वर्ष	वास्तविक आयात[1]		मिल का प्राप्य वास्तविक उत्पादन[2]		हाथ के करघे का उत्पादन		उपभोग के लिए वास्तविक उपलब्धि	
	वास्तविक	प्रति व्यक्ति	वास्तविक	प्रति व्यक्ति	सम्भावित	प्रति व्यक्ति	कुल	प्रति व्यक्ति
	गज (करोडों में)	गज	गज (करोडों में)	गज	गज (करोड़ों में)	गज	गज (करोड़ों में)	गज
१९०५-६	२३९	७ ९७	६१	२ ०३	१०८	३ ६	४०८	१३.६०
१९२३-२४	१४२	४ ३०	१५४	४ ६७	१०१	३ ०६	३९७	१२ ०३
१९३६-३७	७९	२ १३	३४७	९ ३८	१४९	४ ०३	५७५	१५ ५४
१९३७ ३८	५८	१ ५७	३८४	१० ३८	१४९	४ ०२	५९१	१५ ९७
१९३८-३९	६३	१ ६६	४०९	१० ७६	१९२	५ ०५	६६४	१७ ४७
१९३९-४०	५६	१ ४७	३७९	९ ९७	१८२	४ ७९	६१७	१६ २३
१९४०-४१	४०	१ ०२	३८८	९ ९५	१६५	४ २३	५९३	१५ २०
१९४१-४२	१०	० २६	३७२	९ ५४	२०७	५ ३०	५८०	१५ १०

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि विदेशी आयात व्यवहारत बन्द हो गया है। यह भी स्पष्ट है कि भारत के वस्त्र-उपभोग में हाथ के करघे का स्थान अब भी महत्त्वपूर्ण है। पूरे उपभोग का लगभग ⅓ और मिल से बने वस्त्र के आधे से अधिक का उत्पादन हाथ के करघे से होता है। अन्त में, युद्ध की परिस्थितियो तथा मूल्यो में वृद्धि के कारण तालिका में प्रति व्यक्ति उपभोग[3] की मात्रा में कमी दिखाई पडती है।[4]

५ **सूती मिल उद्योग की कुछ कठिनाइयाँ**—यदि देखा जाय तो एक प्रकार से कपडे के व्यापार की दशा सूत के व्यापार की दशा से अधिक सुरक्षित है। सूत-व्यापार की कमजोरी का मूल कारण एक ही बाज़ार अर्थात् चीन के ऊपर पूर्ण रूप से निर्भर होना था। कपडे के निर्यात के अनेक बाजार है जिनमें से कुछ में भारतीय कपडो की अधिकाधिक खपत की क्षमता दिखलाई पड रही है। इस कारण किसी एक ग्राहक की खरीद की मात्रा में कमी हो जाने का वस्त्र-व्यापार के ऊपर कोई विशेष प्रभाव नही पड सकता। किन्तु यह विचारणीय है कि भारतीय उद्योगपतियो ने विदेशी बाजारो के विकास के लिए अब तक कोई विशेष प्रयत्न नही किया है। १९३०-३१ के पहले वस्त्र के आयात की मात्रा में पर्याप्त वृद्धि हुई। जापान एक सशक्त प्रतिद्वन्द्वी के रूप में सामने आया, क्योंकि जापानी और भारतीय वस्तुओ में प्रत्यक्ष प्रतिस्पर्द्धा होती थी। यह बात लकाशायर के बारे में नही थी। कुछ विशेष सुविधाओ, जैसे श्रम की कुशलता में वृद्धि करने वाली उत्तम जलवायु और स्त्रियो द्वारा सस्ते में काम कराने की परिस्थितियो आदि, के कारण जापान भारतीयो की अपेक्षा सस्ते मूल्य पर वस्तुएँ

१ वास्तविक आयात=विदेशों से आयात किया हुआ सामान—पुन निर्यात किये हुए विदेशी सामान।

२ मिल का प्राप्य वास्तविक उत्पादन=भारत में मिल का उत्पादन—सूती कपडे का निर्यात।

३ राशनिंग की व्यवस्था में कपडे का प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष उपभोग १२ गज था और भविष्य में कुछ वर्ष के लिए अधिक-से-अधिक सम्भव उपभोग की मात्रा १८ गज प्रति व्यक्ति तक आँकी जाती है।

४ सूती वस्त्र के प्रति व्यक्ति उपभोग के आधुनिक आँकडे इस प्रकार है १९४६ में १२ २ गज, १९४८ में १५ ४ गज, १९५१ में ११ ८६ गज। १९५१ के बाद उत्पादन में बराबर वृद्धि हुई तथा १९५४ में कपडे की प्रति व्यक्ति प्राप्यता १५ ३ गज हो गई थी।

—नोट्स एण्ड न्यूज, १ अक्तूबर, १९५५ (F I C.C I)

बेचने में समर्थ था। यूनाइटेड स्टेट्स और भारत से बहुत बडे पैमाने एव सुसगठित ढग से कपास खरीदने के कारण जापान को भारत की तुलना में अनेक लाभ प्राप्त थे, यद्यपि छोटे रेशे वाली कपास के सम्बन्ध में भारत को अधिक लाभ प्राप्त थे। भारतीय और अमेरिकन कपास के मिश्रण से तैयार भूरा कपडा (Grey cloth) भारतीय कपडो की अपेक्षा अधिक आकर्षक होता है। ये सभी सुविधाएँ किसी भी भाँति अनुचित नही कहीं जा सकती, किन्तु जापान को ये सुविधाएँ काम के घण्टो, कम उम्र के लोगो तथा रात में स्त्रियो से काम लेने के निषेध के सम्बन्ध में वाशिंगटन सम्मेलन में स्वीकृत श्रम-सम्बन्धी नियमो (लेबर कन्वेंशन्स) को न मानने के फलस्वरूप प्राप्त थी। जापान में काम करने की दशाएँ निश्चित रूप से भारत की तुलना में खराब थी और वे जून, १९२९ तक वैसी ही रही जब तक कि १९२६ का जापान का फैक्ट्री कानून कार्यरूप में परिणत नही हुआ।[1]

१८९३ से करेंसी नीति में बार-बार किये गए परिवर्तनो तथा १९२४ में विनिमय दर के १ शि० ४ पे० के स्थान पर १ शि० ६ पे० कर देने के कारण सूती वस्त्र उद्योग की कठिनाइयाँ और बढ गई। १९२३-२५ तथा फिर १९३२ में जापानी सिक्के येन के अवमूल्यन (डेप्रिसियेशन) ने भारतीय बाजारो में जापानी प्रतिस्पर्द्धा और बढा दी।

सूती मिल उद्योग के अवसाद के कुछ कारणो में सगठन के दोष भी है, यथा अधिपूँजीकरण सचालक परिपद् में प्राविधिक विशेषज्ञो का अभाव और उससे उत्पन्न व्ययपूर्ण त्रुटियाँ, यन्त्रो का गलत ढग से सचालन और समयानुसार उनको नये यन्त्रो से न बदलना, श्रम बचाने के अद्यतन उपायो की कमी, कपास, कोयला, भण्डार और बेकार वस्तुओ का अनार्थिक प्रयोग, माँग के शिथिल होने पर एक अल्पकालीन व्यवस्थित योजना का अभाव आदि। यहाँ विक्रय-व्यवस्था के दोष और अर्थ-प्रबन्धन की सतोषपूर्ण व्यवस्था के अभाव, जिसके कारण व्यापारियो और मिलो दोनो को ही कठिनाइयाँ पडती है, की भी चर्चा की जा सकती है।[2]

६ प्रबन्धकारिणी एजेंसी प्रणाली (मैनेजिग एजेन्सी सिस्टम)—भारत में प्रबन्धकारिणी एजेंसी प्रणाली की बडी कडी आलोचना हुई है, अतएव इसके विषय में कुछ शब्द कहना आवश्यक है।[3] प्रबन्धकारिणी एजेंसी प्रणाली तीन या चार परस्पर सम्बन्धित सदस्यो की एक व्यक्तिगत साझेदारी है। १९३६ तक इस एजेंसी का स्वामित्व पैतृक नियम पर आधारित था। इस कारण

१ श्रम-सम्बन्धी परिस्थितियों के सर्वेक्षण और आँकड़ो के लिए देखिए, एम० सी० मेथेसन, इण्डियन इण्डस्ट्री, भाग २, अध्याय २।

२ दूसरा दोष है कि बहुत सी मिलें अपनी चालू पूँजी के लिए अल्पकालीन निक्षेप (short time deposits) मुख्यतया नकद माल और ऋण पर निर्भर रहती हैं जो बुरे समय में अत्यन्त कम हो जाती हैं। विरा ऐन्स्टे, दि इकनॉमिक डिवलपमेण्ट ऑव इण्डिया, पृ० २७५।

३ इस प्रणाली की उत्पत्ति, लाभ और हानियों के संक्षिप्त परन्तु शिक्षणात्मक विवरण के लिए देखिए, विरा ऐन्स्टे, पूर्व उद्धृत, पृ० २२२ २५, २५३ या रिपोर्ट आव दि इण्डियन टैरिफ बोर्ड (कॉटन टेक्सटाइल इण्डस्ट्री) १९३२, पैरा ६५-८३।

प्रवन्ध वहुधा अकुशल लोगो के हाथ में चला जाता था। प्रवन्धक एजेण्ट (मैनेजिंग एजेंट) मिल के वहुत से हिस्सो (शेयर्स) के स्वय मालिक होते हैं और मिल की अर्थ-व्यवस्था, प्रवन्ध, आवश्यक पदार्थों की खरीद और तैयार माल के विक्रय के प्रति स्वय उत्तरदायी होते हैं। उनके पारिश्रमिक देने की कुछ विधियाँ ऐसी थी जो कि उनके व्यक्तिगत लाभ के लिए तो हितकर थी किन्तु मिल के हित में बुरी थी। उदाहरण के लिए जहाँ पर उनका अपना कमीशन उत्पादन की मात्रा पर निर्भर था वे मिल के लाभ के प्रति आँख बन्द करके भी उत्पादन को यथासम्भव वढाने में ही अपना हित समझते थे। मिल के लिए क्रय-विक्रय करते समय चुपचाप कमीशन लेने का दोष भी इन प्रवन्धक एजेण्टो पर लगाया गया। प्रवन्धक एजेण्ट कभी-कभी अपने व्यापार के प्राविधिक ज्ञान से रहित होते हैं और कभी-कभी उनके पास अपने कार्यकर्ताओ में एक भी जानकार विशेषज्ञ नही होता। अत-एव वे गलत निर्णय करने की भयानक भूल कर सकते हैं। इस प्रणाली के अन्य दोष हैं कि सचालको का कोई निश्चित उत्तरदायित्व नही होता जिससे वे उदा-सीन और अज्ञान वने रहते हैं। यह व्यवस्था हिस्सेदारो (शेयर होल्डर्स) को शक्तिहीन और लापरवाह वना देती है। फलस्वरूप कम्पनी के लिए त्याग करने या और अधिक रुपया लगाने में वे हिचकिचाते हैं। इसके अतिरिक्त उनमें अत्य-धिक रूढिवादिता और साहसोद्यम की कमी वढती जाती है। उन्नीसवी और बीसवी शताब्दी में औद्योगिक विकास के स्थान पर हुआ वाणिज्यिक विकास अशत प्रवन्धक एजेन्सी-प्रणाली के कारण है। यह बिलकुल सत्य है कि यदि इन प्रवन्धक एजेण्टो ने औद्योगिक और व्यावसायिक सस्थाओ के अर्थ-प्रवन्धन और वहुत सी दशाओ में अपने पास से धन लगाने का भार अपने ऊपर नही लिया होता तो भारत का आर्थिक विकास जितनी मन्द गति से हुआ है उससे भी मन्दतर होता। भारतीय पूँजी अपनी लज्जाशीलता के लिए वदनाम है और जनता की मनोवृत्ति में पूँजी प्रदान करने का शुभ परिवर्तन अभी वहुत हाल में हुआ है। अव भी कोई बैंक आवेदन-पत्र पर प्रवन्धक एजेण्टो के हस्ताक्षर बिना ऋण देने को तैयार नही हो सकता। इसका कारण यह है कि प्रवन्धक एजेण्ट व्यक्तिगत रूप से इसके लिए उत्तरदायी होते हैं। उद्योगो के लिए आवश्यक स्थिर एव चालू पूँजियो का प्रवन्ध करने के अतिरिक्त प्रवन्धक एजेण्ट समिति नये उद्योगो के विषय में भी अनुसन्धान और जाँच-पडताल की उत्तर-दायी है। यह भी नही भुलाया जा सकता कि १९३०-३१ के अद्वितीय सकट-काल मे प्रवन्धक एजेण्टो ने उद्योगो की हानियो को अपना पूरा भाग सहन किया और न केवल अपने कमीशन को ही त्यागा वरन् अति आवश्यक धन-राशि का भी प्रवन्ध किया। परन्तु साथ-ही-साथ सामान्यतया यह भी स्वीकार किया जाता था कि प्रवन्धकारिणी एजेंसी प्रणाली में मौलिक परिवर्तन लाने का समय आ गया है।[1]

१ 'यह पूर्ण सत्य हो सकता है कि वहुतों या अधिक प्रवन्धक एजेण्टों ने अपने कर्तव्य का कुशलता और ईमानदारी से पालन किया है, किन्तु शोषण और धोखा को प्रश्रय देने वाली व्यवस्था इस तर्क के आधार पर आलोचना से वच नहीं सकती। यह हर तरह से स्पष्ट हो गया है कि भारत में औद्योगिक और

१९३२ के प्रशुल्क मण्डल ने प्रबन्धकारिणी एजेंसी प्रणाली पर उत्तम नियन्त्रण करने के लिए वैधानिक कार्यो की शीघ्र जांच की सिफारिश की। १९३६ में सशोधित भारतीय कम्पनी एक्ट प्रबन्धक एजेन्सी प्रणाली के बहुत से दोषो को दूर करने में निम्न प्रकार से सफल हुआ है प्रबन्धक एजेण्ट की कार्यावधि को २० वर्ष तक सीमित करके उसके पद के स्थानान्तरण और पारिश्रमिक को सीमित करके, धोखा देने पर उसे हटा देने की व्यवस्था करके, एजेण्ट के पारिश्रमिक के लिए समान आधार (वास्तविक वार्षिक लाभ) प्रस्तुत करके तथा एक ही प्रबन्धक एजेण्ट की कम्पनियो में पारस्परिक ऋण देने और ऋणपत्रों के क्रय पर रोक लगाकर इन दोषो के दूर करने का प्रयत्न किया गया है।[1]

व्यावसायिक साहस कुछ यूरोपीय और भारतीय व्यक्तियों के छोटे गुट के हाथों में जाने का कारण अधिकाशत यह प्रथा ही है। दृष्टान्त के लिए प्रसिद्ध एण्ड्रयू यूल एण्ड कम्पनी को लिया जा सकता है जो १० जूट मिलों, १५ कोयले की कम्पनियों, दो हाइड्रालिक कम्पनियों, दो तेल की मिलों, एक आटा मिल, नौगमन, रबर, चीनी, ईंटे और बर्तन और हर तरह की भिन्न-भिन्न सस्थानों की प्रबधक एजेन्ट है (केपिटल, ३ मार्च १९२७)। यह स्पष्ट है कि सारी आय बहुत बड़ी होगी और कभी-कभी विभिन्न स्वार्थों का सामजस्य बड़ा कठिन होता होगा और उससे भी कठिन होता होगा इतनी विस्तृत और विभिन्न प्रकृति के व्यापारों के भाग्य का किसी एक फर्म द्वारा नियन्त्रण। वि० ऐ८ पृ० ३०, पृ०५०१-२।

१ सन् १९३६ के इण्डियन कम्पनीज एक्ट से प्रबन्धकारिणी एजेंसी प्रणाली की स्थिति और अधिक दृढ भी हो गई थी। उदाहरण के लिए इस कानून के अनुसार प्रबन्धकारक एजेण्ट केवल उसी समय हटाये या निकाले जा सकते हैं जबकि उन्होंने ऐसा जुर्म किया हो जिसकी जमानत न की जा सकती हो। ऐसा जुर्म करने पर भी यदि जुर्मवार के सजा होने के बाद ३० दिन के अन्दर ही निकाल दिया हुआ, तो भी प्रबन्धकारक एजेण्टों को निकाला नहीं जा सकता। इसी प्रकार कानून के अन्य अनेक प्रतिबन्ध आशा के विपरीत हानिकारक सिद्ध हुए हैं। फल यह हुआ कि इस प्रणाली के सुधार की मांग जोर पकड़ती गई। १९४९ में बाम्बे शेअर होल्डर्स असोसिएशन तथा वाणिज्य मन्त्रिमण्डल ने अपने स्मृति-पत्र प्रकाशित किये, जिनमें इस प्रणाली के दोषों पर प्रकाश डाला गया और उन्हें दूर करने के लिए सुझाव दिये गए। २१ जुलाई, १९५१ को भारत सरकार ने एक आर्डिनेंस जारी किया तथा बाद में आर्डिनेंस के स्थान पर इण्डियन कम्पनीज अमेण्डमेण्ट एक्ट पास किया जिसके द्वारा प्रबन्धकारक एजेण्टों के आपत्तिजनक कामों की रोक-थाम करने की कोशिश की गई। इस कानून के अनुसार प्रबन्धकारक एजेण्टों की नियुक्ति, प्रबन्ध सचालकों का पारिश्रमिक आदि २१ जुलाई, १९५१ के बाद केन्द्रीय सरकार की अनुमति से ही हो सकता था। इसी प्रकार प्रबन्धकारक एजेण्टों की अवधि का विस्तार भी केन्द्रीय सरकार की अनुमति से ही हो सकता था। २८ अक्तूबर, १९५० को नियुक्त की गई कम्पनी कानून समिति (कम्पनी लॉ कमिटी) से भी इस सम्बन्ध में सलाह गई थी। इसी प्रकार के अन्य अनेक सुधार सन् १९५१ के सशोधन-कानून में किये गए।

मार्च, १९५२ में भाभा समिति (कम्पनी लॉ कमिटी) की सिफारिशें प्रकाशित की गईं। इस समिति ने प्रबन्धकारक एजेण्टों के कार्य की अवधि, उनकी बर्खास्तगी आदि के सम्बन्ध में अनेक सिफारिशें प्रस्तुत कीं। २ सितम्बर, १९५३ को ससद में कम्पनीज बिल पेश किया गया। यह बिल विचार के लिए दोनों ससदों की एक सम्मिलित समिति (जॉइण्ट कमिटी) को सौंप दिया गया। इस समिति ने २ मई, १९५५ को अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की जिसके अन्तर्गत कुछ स्थानों पर प्रबन्धकारिणी एजेंसी प्रणाली के विरुद्ध विधान सख्त कर दिये गए और कुछ नये विधान भी जोड़े गए। ऐसा प्रतीत होता था कि प्रबन्धकारिणी एजेंसी प्रणाली का अन्त आ गया है, परन्तु आगामी पचवर्षीय योजनाओं में उद्योगों के लिए आवश्यक धन की उपलब्धि में रखकर इसे समाप्त करने का विचार त्याग दिया गया

७. बम्बई में अवसाद—जापान की स्पर्धा के कारण चीन से सूत के व्यापार की समाप्ति और चीन के अपने उद्योग के विकास के कारण उत्पन्न हानि (जिसकी पूर्ति कपडे की मात्रा के निर्यात में वृद्धि से भी होनी सम्भव न थी), १९१४-१८ के युद्ध के बाद जहाजो की प्राप्ति में कठिनाई तथा देश के भीतरी भागो में विशेषकर देशी रियासतो में फैली मिलो, जहाँ श्रम-सम्बन्धी नियम बहुत ढीले थे और ब्रिटिश भारत में उत्पन्न कपडो पर कर भी देना पडता था, आदि कारणो से बम्बई में बहुत गम्भीर अवसाद छा गया। निस्सन्देह कुछ अशो में बम्बई की मिलें स्वय इसके लिए दोषी थी, क्योकि (१) बम्बई की मिलो ने उत्पादन की विभिन्नता, विशेषकर अधिकाधिक महीन सूत की ओर ध्यान न देकर देश के बाजारो की उपेक्षा की थी। (२) उन्होने उपभोग के केन्द्रो से प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही स्थापित किया तथा उनके कमीशन एजेण्ट पर्याप्त सतर्कता दिखाने में असफल रहे। किन्तु बम्बई की असमर्थता के और भी कई गम्भीर कारण थे, उदाहरणार्थ अपेक्षाकृत श्रम, ईधन, जल-शक्ति की मँहगाई तथा उच्च स्थानीय कर (१९३९ से लगे हुए १०% के सम्पत्ति-कर को मिलाकर जो मद्य-निषेध की लागत को वसूलने के लिए लगाया गया था), मुफसिल बाजारो तथा कच्चे पदार्थों के स्रोतो से दूरी आदि। बम्बई वस्त्र उद्योग में अपनी प्रमुखता खो रहा था। यह बात बम्बई में चालू मिलो की सख्या से स्पष्ट हो जाती है जो १९२६ मे ७८ थी और १९३९ में घटकर ६८ रह गई। उसी समय अहमदाबाद में चालू मिलो की सख्या ५९ से ७७ हो गई।

८. वस्त्र उद्योग को संरक्षण—भारत में सूती वस्त्र उद्योग को सरक्षण देने के प्रश्न की परीक्षा सन् १९२९ से तीन भिन्न-भिन्न अवसरो पर की जा चुकी है और आग्ल-भारतीय व्यापारिक समझौता (इण्डो-ब्रिटिश ट्रेड एग्रीमेण्ट) के सम्बन्ध में यह प्रकाश में भी आ चुका है। यह स्पष्ट हो जाने पर कि उद्योग विशेषकर बम्बई में सन्तोषजनक स्थिति में नही था, पहला सर्वेक्षण १९२६ में किया गया। प्रशुल्क-मण्डल ने १९२७ में रिपोर्ट प्रस्तुत की कि यह शोचनीय अवस्था असन्तोषजनक आन्तरिक परिस्थितियो, जापान के साथ अनुचित और अनार्थिक प्रतिस्पर्धा तथा सामान्य व्यापारिक अवसाद के कारण थी।[1] इस अवसाद को दूर करने के लिए, जो बम्बई में विशेष रूप से गम्भीर था, मण्डल ने यह सिफारिश की कि कच्चे माल का सुसगठित क्रय, श्रम से अधिक उत्पादन-प्राप्त करने के लिए विभिन्न उपायो का प्रयोग, जैसे मजदूरो की भरती में अधिक सावधानी, मजदूरो के लिए अच्छी आवास-व्यवस्था और शिक्षा, मिल-मालिको द्वारा सामान्य हितो के लिए अधिक सुसगठित प्रयत्न किये जायँ तथा उत्पादन में विभिन्नता और उच्च कोटि के उत्पादन में अधिक विशिष्टीकरण अपनाया जाय ताकि लम्बे रेशे वाली अमेरिका और अफ्रीका की कपास के आयात के दृष्टिकोण से बम्बई की अनुकूल स्थिति और नम जलवायु का पूर्ण लाभ उठाया जा सके। उत्पादन के नवीन तरीको

है। यह बिल अब भी ससद के विचाराधीन है और प्रबन्धकारिणी एजेंसी प्रणाली के दोषों को दूर करने के लिए उठाया गया एक महत्त्वपूर्ण कदम है।

१ स्टेट एक्शन इन रिस्पेक्ट ऑव इण्डस्ट्रीज, १९२८-३५, पृ० ६१।

का विकास, उदाहरणार्थ कपडो की छपाई के उद्योग की स्थापना, ईरान और इराक जैसे उन्नतिशील बाजारो के विकास पर अधिक ध्यान और भारत तथा बाहर सभी जगह के उपभोग-केन्द्रो से निकटतम सम्पर्क बनाये रखने की भी सिफारिश की गई।

संरक्षण के सम्बन्ध में मण्डल की मुख्य सिफारिशें इस प्रकार थी—आयात-कर ११ प्रतिशत के बजाय १५ प्रतिशत कर दिया जाय, उच्च कोटि (महीन) के सूत की कताई को आर्थिक सहायता दी जाय और वस्त्र-उद्योग के लिए आवश्यक यन्त्रो तथा मिलो के सामान को आयात-कर से मुक्त कर दिया जाय। भारत सरकार ने केवल अन्तिम सिफारिश स्वीकार की। इस निर्णय का मिल-मालिको ने बहुत विरोध किया और फलस्वरूप कपास के सूत पर मूल्यानुसार ५ प्रतिशत या डेढ आना प्रति पौण्ड (जो भी अधिक हो) के संरक्षणात्मक कर लगा दिये गए। ये कर ३१ मार्च, १९३० तक के लिए भारतीय प्रशुल्क अधिनियम (इण्डियन टैरिफ एक्ट, १९२७) के अनुसार लगाये गए। यन्त्रो और मिलो के सामानो पर लगे कर भी हटा दिये गए।

कृत्रिम रेशमी सूत पर लगे आयात-कर को भी १५ प्रतिशत से घटाकर ७½ प्रतिशत कर दिया गया ताकि सूत के संशोधित आयात कर के भार से हाथ के करघे के उद्योग को कुछ मुक्ति मिल सके और भारतीय मिलो के उत्पादन में कुछ विभिन्नता उत्पन्न हो सके। यह ध्यान देने योग्य है कि कृत्रिम रेशमी सूत का हाथ के करघे और भारतीय सूती मिलें अधिकाधिक उपयोग कर रही है। मण्डल की सिफारिशो के अनुसार भारत सरकार ने एक वाणिज्य शिष्ट-मण्डल (कमर्शियल मिशन) की भी नियुक्ति की। किन्तु ये सभी उपाय न तो मिल उद्योग को ही सन्तुष्ट कर सके और न जनमत को ही। उद्योग में अवसाद बना रहा और सामान्य धारणा यह थी कि और अधिक सहायता अपेक्षित थी।

९. श्री जी० एस० हार्डी की जाँच (१९२९)—फलस्वरूप सरकार ने कलकत्ता के कलक्टर ऑव कस्टम्स श्री जी० एस० हार्डी को जुलाई, १९२९ में बाह्य प्रतिस्पर्धा की उग्रता और विस्तार की जाँच के लिए नियुक्त किया।

श्री हार्डी की रिपोर्ट[1] ने सरकार से आवेदन किया कि मिल-उद्योग को और अधिक सहयता दी जाय और १९३० की अप्रैल में सूती वस्त्र-उद्योग संरक्षण अधिनियम पास हुआ, जिसका मुख्य उद्देश्य जापान के विरुद्ध ३१ मार्च, १९३३ तक पर्याप्त संरक्षण प्रदान करना था। इस नियम के फलस्वरूप मूल्यानुसार सामान्य कर बढाकर १५ प्रतिशत कर दिया गया। इसके अतिरिक्त बम्बई को आर्थिक एवं प्राविधिक दृष्टिकोण से संगठित करने के लिए सादे भूरे कपडो पर कम-से-कम साढे तीन आना प्रति पौण्ड का कर लगाया गया। सर जार्ज रेनी के शब्दो में ये कपडे बम्बई के व्यापार का 'जीवन' है।

५ प्रतिशत का एक विशेष संरक्षण-कर और लगाया गया। किन्तु इस कर का क्षेत्र गैर-ब्रिटिश सामानो तक ही सीमित था ताकि उद्योग को कोई लाभ न होने पर उपभोक्ता के त्याग को सीमित किया जा सके, क्योंकि यह उद्योग ब्रिटेन की अपेक्षा

१ [illegible], रिपोर्ट आन् [illegible] कॉम्पटीशन इन पाम गुड्स—जा० एम० हार्डी, पैरा १८।

जापान की प्रतिस्पर्द्धा से अधिक हानि उठाता था। सरकार की इस घोषणा के बावजूद भी कि ब्रिटिश सामानो के प्रति अधिमान पूर्णतया सयोग की बात थी, यह सुआधारित सन्देह अब भी है कि ऐसा जान-बूझकर ही किया गया था।

१०. करो में अन्य परिवर्तन (१९३१)—सूती वस्त्र-उद्योग का और भी अधिक सरक्षण मार्च १९३१ के भारतीय वित्त अधिनियम (इण्डियन फाइनेन्स एक्ट) के अन्तर्गत प्राप्त हुआ, जिसने आयात किये गए कपडो पर मूल्यानुसार ५% कर और लगा दिया और फिर नवम्बर १९३१ के पूरक वित्त अधिनियम (सप्लिमेण्टरी फाइनेंस एक्ट) ने उस समय के सभी आयात-करो पर २५ प्रतिशत अधिभार लगा दिया और इस भाँति आयात-कर बढकर मूल्यानुसार २५% या ४$\frac{3}{8}$ आना प्रति पौण्ड (इनमें से जो भी अधिक हो) हो गया। यह कर ब्रिटेन के भूरे वस्त्रो पर लागू होता था तथा अन्य स्थानो के ऐसे ही वस्त्रो पर यह मूल्यानुसार ३१$\frac{1}{4}$% या ४$\frac{3}{8}$ आना प्रति पौण्ड (इनमें से जो भी अधिक हो) था। अन्य वस्तुओ के सम्बन्ध में ब्रिटेन की वस्तुओ पर कर २५ प्रतिशत और ब्रिटेन से बाहर की वस्तुओ पर ३१$\frac{1}{4}$ प्रतिशत था। अनुमान किया जाता था कि कृत्रिम रेशमी वस्त्रो के आयात पर बढे हुए ४०% के आयात-कर से भी भारत के वस्त्र-उद्योग को सहायता मिलेगी।

#११. प्रशुल्क-मण्डल द्वारा दूसरी जाँच (१९३२)—चूँकि १९३० के अधिनियम में प्रस्तावित सरक्षण-करो की अवधि ३१ मार्च, १९३३ तक थी। अतएव प्रशुल्क-मण्डल को भारतीय सूती वस्त्र-उद्योग के सरक्षण के विषय में पुन जाँच करने की आज्ञा अप्रैल, १९३२ में दी गई। मण्डल की जाँच समाप्त होने से पूर्व ही जापान के सिक्के येन के मूल्य में बहुत कमी आ गई और जापान से आयात किये सूती कपडो का मूल्य भारतीय सिक्के मे बहुत कम हो गया। अतएव मण्डल को जुलाई, १९३२ में एक तात्कालिक जाँच करने का आदेश दिया गया और परिणामस्वरूप सूती वस्त्र पर आयात-कर ३१$\frac{1}{4}$ प्रतिशत से बढाकर मूल्यानुसार ५० प्रतिशत और सादे भूरे कपडो पर कम-से-कम विशिष्ट कर ४$\frac{3}{8}$ आना से बढाकर ५$\frac{1}{4}$ आना प्रति पौण्ड कर दिया गया। ये कर ३० अगस्त, १९३२ से लागू किये गए। १७ जून, १९३३ से ये दरें फिर मूल्यानुसार ७५% और प्रति पौंड ६$\frac{3}{4}$ आने कर दी गईं ताकि जापान के राशिपातन का सफलतापूर्वक सामना किया जा सके। वस्त्र-उद्योग पर प्रशुल्क-मण्डल की रिपोर्ट के ऊपर सरकार को विचार करने का मौका देने के लिए १९३० के लगाये गए सरक्षणात्मक करो को ३१ अक्तूबर, १९३३ तक बढा दिया गया। १९०४ के भारत-जापान समझौते के अनुसार भारत केवल जापान की वस्तुओ पर ही सुरक्षा-कर नही लगा सकता था। इसे भारत सरकार ने अप्रैल, १९३३ में तोड दिया और उसके स्थान पर भारत और जापान के बीच एक नया व्यापारिक समझौता होने तक उपर्युक्त करो की अवधि ३१ अक्तूबर, १९३३ से बढाकर ३० अप्रैल, १९३४ कर दी गई। अन्त में भारतीय विधानमण्डल ने २६ अप्रैल, १९३४ को १९३४ का भारतीय प्रशुल्क (वस्त्र-सरक्षण) सशोधन अधिनियम पास किया। यह अधिनियम १ मई से लागू हुआ। इससे भारत-जापान के समझौते (१९३४) तथा भारत और इगलिस्तान

के वस्त्र-उद्योग के प्रतिनिधियो के गैर-सरकारी समझौते (जिसे मोदी—ली पैक्ट कहा जाता है)[1] के आधार पर प्रशुल्क-मण्डल की वस्त्र-उद्योग को पर्याप्त सरक्षण देने की सिफारिश को कार्यान्वित किया। इस अधिनियम ने गैर-ब्रिटिश सूती वस्त्रो पर मूल्यानुसार ५०% आयात-कर निश्चित किया, जोकि सादे भूरे कपडो पर कम-से-कम ५¼ आना प्रति पौण्ड था।[2] इस अधिनियम की अवधि ३१ मार्च, १९३९ तक थी।

#१२ वस्त्र सम्बन्धी विशेष प्रशुल्क-मण्डल (१९३५)—१० सितम्बर, १९३५ को भारत सरकार ने इगलैण्ड से आने वाले वस्त्रो के विरुद्ध भारतीय सूती वस्त्र-उद्योग को सरक्षण देने के प्रश्न की जाँच करने और रिपोर्ट देने के लिए एक विशेष प्रशुल्क-मण्डल की स्थापना की।

मण्डल ने अपनी जाँच दिसम्बर, १९३५ में समाप्त की और जून, १९३६ में इसकी रिपोर्ट प्रकाशित होने के लिए दे दी गई। साथ ही भारतीय प्रशुल्क-अधिनियम की धारा ४ के अन्तर्गत एक अधिसूचना द्वारा भारत सरकार ने प्रशुल्क-मण्डल के सुझावो के अनुकूल लकाशायर के बने कपडो पर कर की दर में २५ जून, १९३६ से तत्काल कमी की घोषणा की। प्रशुल्क-मण्डल की सिफारिशें निम्नलिखित थी[3]—

(१) सादे भूरे वस्त्रो पर मूल्यानुसार २५% या ४⅜ आना प्रति पौण्ड (जो भी दर ऊँची हो) से घटाकर, कर की दर मूल्यानुसार २०% या ३½ आना प्रति पौण्ड (जो भी ऊँची हो) कर दी जाय।

(२) छपे कपडो के अतिरिक्त किनारेदार भूरे, कलफ किये या रगीन वस्त्रो पर कर की दर २५ प्रतिशत से घटाकर मूल्यानुसार २० प्रतिशत कर दी जाय।

(३) कपास के सूत पर कर की दर पूर्ववत् रहे। लकाशायर में निराशा प्रकट की गई कि कर में उतनी कमी नही की गई जितनी होनी चाहिए थी। दूसरी तरफ प्रमुख भारतीय व्यवसायियो ने सरकार की कर घटाने की नीति की कडी आलोचना की, क्योकि यह भारतीय उद्योग, जिसके स्वाभाविक विकास का क्षेत्र बहुत सीमित था, के लिए घातक थी।

#१३ भारत-ब्रिटेन व्यापारिक समझौते के अन्तर्गत प्रशुल्क-परिवर्तन (१९३९)—ओटावा समझौते के स्थान पर भारत और ब्रिटेन के बीच एक नये व्यापारिक समझौते के प्रश्न पर लम्बी कार्रवाइयो के दौरान मे ब्रिटिश वस्त्रो पर लगाये गए प्रवेश्य करो में सशोधन का प्रश्न पुन प्रमुख हो उठा।[4] २० मार्च, १९३९ को हस्ताक्षरित

१ देखिए अध्याय १३।

२ ८ जनवरी, १९३४ से ब्रिटेन के बाहर के आयात की वस्तुओं पर यही आयात की दर था। भारत-जापान समझौते के फलस्वरूप कर की दर ७५ प्रतिशत से घटाकर ५० प्रतिशत कर दी गई।

३ रिपोर्ट ऑव दि स्पैशल टैरिफ बोर्ड ऑन दि ग्राण्ट ऑव प्रोटेक्शन टु दि इण्डियन कॉटन टेक्सटाइल इण्डस्ट्री (१९३६), पृ० १०९-१४।

४ देखिए अध्याय १३।

इस नये व्यापारिक समझौते के अन्तर्गत भारत से ब्रिटेन को कच्ची कपास के निर्यात को ब्रिटिश वस्त्रो के आयात से सम्बद्ध कर दिया गया और इसके फलस्वरूप ब्रिटिश वस्तुओ पर आयात-कर में पुन कमी की गई। तदनुसार अप्रैल, १९३९ में पास हुए भारतीय प्रशुल्क (तृतीय सशोधन) अधिनियम के अनुसार ब्रिटेन के छपे कपडो पर मूल्यानुसार सरक्षणात्मक आयात-कर १७½% हो गया, भूरे वस्त्रो पर मूल्यानुसार १५% या २ आना ७½ पाई प्रति पौण्ड, जो भी ऊँचा हो और शेष वस्त्रो पर मूल्यानुसार १५ प्रतिशत हो गया। ये आधारभूत कर थे। ब्रिटेन को ३५०० लाख गज के निम्नतम कोटा के आयात की स्वीकृति दी गई और यदि किसी भी वर्ष सूती वस्त्रो का आयात ब्रिटेन से ३५०० लाख गज से कम हुआ तो आधारभूत करो में २½ प्रतिशत छूट देने की व्यवस्था थी। यदि किसी वर्ष ब्रिटिश आयात भारत में ५००० लाख गज से अधिक हुआ तो आधारभूत करो में वृद्धि की भी व्यवस्था थी। यदि किसी भी वर्ष इगलिस्तान का कुल आयात ४२५० लाख गज न होता तो उस वर्ष के बाद ये बढे हुए कर पुन घटाकर आधारभूत करो के बराबर कर दिये जाते। ब्रिटेन के वस्त्रो पर कर की दर-निर्धारण के समय भारत की कपास के निर्यात पर भी ध्यान देना आवश्यक था। नये समझौते के अनुसार इगलैण्ड में भारतीय कपास की खपत एक निश्चित मात्रा से कम होने पर दण्ड की व्यवस्था थी। यह मात्रा ३१ दिसम्बर, १९३९ को समाप्त होने वाले कपास के वर्ष के लिए ५ लाख गाँठें, ३१ दिसम्बर, १९४० को समाप्त होने वाले वर्ष के लिए ५½ लाख गाँठें और अन्य किसी भी वर्ष के लिए ६ लाख गाँठें थी। ७½ लाख गाँठो से अधिक की खपत पर पुरस्कार की व्यवस्था थी।

भारतीय सूती वस्त्र-उद्योग और विधान सभा ने करो के इस नये प्रबन्ध का बहुत विरोध किया, क्योकि भारतीय कपास पैदा करने वालो के सापेक्षिक लाभ पर ध्यान न देकर इस अधिनियम में लकाशायर का अनुचित पक्षपात किया गया था और ऐसे समय में जबकि भारतीय सूती वस्त्र-उद्योग तनिक भी अच्छी अवस्था मे नही था, सरक्षण की दरो में कमी करके इस अधिनियम ने उसके हितो की बलि दे दी।

उपरोक्त भारतीय प्रशुल्क (तृतीय सशोधन) अधिनियम (१९३९) ने सूती वस्त्र के लिए निश्चित सरक्षणात्मक करो की अवधि बढाकर ३१ मार्च, १९४२ तक कर दी।[1]

#१४. १९३९-४५ के युद्ध-काल और बाद में सूती वस्त्र-उद्योग—१९२९-३३ के अवसाद तथा १९३७-३८ की मन्दी के फलस्वरूप देश की वस्त्र की माँग में कमी हो जाने के कारण विगत महायुद्ध के प्रारम्भ के समय सूती वस्त्र-उद्योग एक निष्क्रिय

१ ग्रेट ब्रिटेन के साथ हुए व्यापारिक समझौते के अनुसार ब्रिटिश कपडों पर आयात-कर में १७ अप्रैल, १९४० से कमी कर दी गई। भारतीय प्रशुल्क (सशोधन) अधिनियम, १९४७ के अनुसार तत्कालीन सरक्षणात्मक करों को आगम करों में परिणत कर दिया गया। १ जनवरी, १९४९ को मूल्यानुसार २५ प्रतिशत महीन वस्त्रों पर और ३ पाई प्रति गज मध्यम और मोटे कपड़ों पर एक उत्पाद-कर लगा दिया गया।

अवस्था में था। भारतीय बाजार में जापान का प्रवेश, उत्पादन की बढी हुई लागत और बम्बई तथा अहमदाबाद में १० प्रतिशत सम्पत्ति-कर के रूप में बढे हुए कर-भार तथा कच्ची कपास पर १९३९ में द्विगुणित आयात-कर अन्य अहितकारी कारण थे।

महायुद्ध के द्वितीय वर्ष से सुधार-काल प्रारम्भ हुआ। वस्त्रो का आयात विशेषकर जुलाई, १९४१ में जापान के आयात समाप्त करने के बाद से नगण्य हो गया। सरकार और पूर्वी दल द्वारा युद्ध के लिए वस्त्रो की माँग में अपूर्व वृद्धि हुई तथा पश्चिमी और दक्षिणी अफ्रीका, मध्य-पूर्व आस्ट्रेलिया, मलाया और डच पूर्वी द्वीप समूह के लिए कपास से निर्मित वस्तुओ के निर्यात में बहुत वृद्धि हुई। सूती वस्त्रो के मूल्य में इतनी वृद्धि हो गई कि सरकार को उपभोक्ताओ के हितो की रक्षा के लिए कदम उठाने को बाध्य होना पडा। सरकार के सहयोग से मिलो द्वारा जनता के लिए सस्ते वस्त्रो के निर्माण की एक योजना चालू की गई और सरकार ने अपनी एजेंसियो द्वारा निश्चित मूल्य पर इन्हे बेचने का निश्चय किया। किन्तु यह योजना त्याग देनी पडी क्योकि ये 'उपयोगी' वस्त्र बिक न सके और उत्पादन में वृद्धि नही हो सकी। मई, १९४६ में भारत सरकार द्वारा सूती वस्त्र-उद्योग के लिए मध्यान्तर-कालीन योजना घोषित की गई। आगामी पाँच वर्ष में प्रति वर्ष के लिए वस्त्र-उत्पादन की सीमा ६५००० लाख गज निश्चित की गई। हाथ के करघो द्वारा उत्पादित वस्त्र से १५००० लाख गज प्रति वर्ष प्राप्त होने की आशा की गई। इस प्रकार आशा की गई थी कि प्रति व्यक्ति वस्त्र-उपभोग की मात्रा १८ गज तक हो जायगी और ८००० लाख गज के निर्यात से विनिमय में खाद्यान्न की प्राप्ति होगी तथा समुद्र-पार के बाज़ारो से बहुमूल्य सम्बन्ध बने रहेगे। सम्पूर्ण देश में उद्योग को समान रूप से वितरित करने के लिए एक आयोजित प्रयास की आवश्यकता थी।[1]

[1] सूती वस्त्र-उद्योग ने पर्याप्त उन्नति की है। १९५४ में ५०,००० लाख गज कपड़े का उत्पादन हुआ जो पचवर्षीय योजना के लक्ष्य से भी अधिक था। पचवर्षीय योजना का लक्ष्य १९५५ ५६ तक ४७७९० लाख गज कपड़े का उत्पादन करना था। निर्यात-व्यापार को प्रोत्साहित करने के लिए ४ अक्तूबर, १९५४ को सूती वस्त्र निर्यात प्रोत्साहन समिति (काटन टेक्सटाइल एक्सपोर्ट प्रमोशन कौंसिल) की स्थापना की गई। इस समिति का मुख्य कार्य समुद्र-पार के बाजारों का अध्ययन करना, व्यापारिक शिष्ट मण्डलों को बाहर भेजना तथा सूती वस्त्रों के निर्यात का उच्च-स्तर बनाये रखना था। इसी वर्ष निर्यात किये जाने वाले सामान का निरीक्षण करने के लिए निरीक्षणालय की स्थापना की गई। इसका उद्देश्य ठीक प्रकार की वस्तुओं को बाहर भेजना और इस प्रकार विदेशों की शिकायतें कम करना है। यह निरीक्षण-व्यवस्था सूती वस्त्र कोष समिति (काटन फण्ड टेक्सटाइल कमेटी) द्वारा स्थापित की गई है।

कानूनगो समिति (टेक्सटाइल इन्क्वाइरी कमेटी), जो नवम्बर, १९५२ में मिलों, शक्तिचालित तथा हस्तचालित करघों के विभिन्न पहलुओं पर रिपोर्ट देने के लिए नियुक्त की गई थी, ने १९५४ में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। समिति ने अच्छे प्रकार के हस्तचालित तथा शक्तिचालित करघों द्वारा सूती वस्त्रों की माग की सम्भावित वृद्धि को पूरा करने की सिफारिश की। अतएव समिति ने बुनने वाली मिलों के प्रसार का समर्थन नहीं किया है। सादे करघों के स्थान पर ५,००० प्रति वर्ष के हिसाब से स्वचालित करघों की स्थापना का भी सुझाव दिया है ताकि २० वर्ष में सादे करघों के बजाय केवल स्वचालित (ओटोमेटिक) करघे ही प्रयोग में रहें। १२ लाख हाथ के करघों को शक्तिचालित करघों में बदलने

*१९. जूट उद्योग—१८५५ में जूट कातने की पहली मिल बंगाल में सिरामपुर के समीप रिशरा मे चालू की गई और पहले शक्तिचालित करघे का प्रयोग १८५९ में हुआ। पहले ३० वर्ष में इस उद्योग का विकास बहुत मन्द रहा और इस समय जूट-निर्मित वस्तुओ का कोई निर्यात-व्यापार न था। फिर भी अपेक्षाकृत मन्द विकास के इस काल में उद्योग ने समृद्धि का भी अनुभव किया। १८६८ से १८७३ तक मिलो ने 'खूब रुपया बनाया' और १५ से २५ प्रतिशत तक लाभांश दिये। परिणामस्वरूप बहुत सी नई मिले खोली गई और अति उत्पादन होने लगा। फल यह हुआ कि लाभ शीघ्र ही घटने लगे। उद्योग को एक संकटकाल से गुज़रना पडा और बहुत सी मिले बन्द कर दी गई। किन्तु जूट-उद्योग का आकार बहुत बडा हो चुका था, यहाँ तक कि १८८१ में बंगाल में ५,००० शक्तिचालित करघे चालू थे। १८८५ से उद्योग में टाट के बोरो की अपेक्षा जूट के कपडो के अधिक उत्पादन की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होने लगी। १८७७ और १९१५ के बीच जहाँ बोरे बनाने के करघे २,९५० से बढकर १७,७५० हो गए जूट के कपडो के करघे ९१० से बढकर २२,६०३ हो गए, अर्थात् जूट के कपडो के करघो की वृद्धि २४०० प्रतिशत हुई जबकि बोरे बनाने के करघो में ४३० प्रतिशत की वृद्धि हुई। प्रथम महायुद्ध में जूट-उद्योग में पर्याप्त प्रसार और समृद्धि हुई, क्योकि विभिन्न युद्ध-क्षेत्रो की खाइयो के लिए बालू भरने के बोरों, तिरपाल, गाडियो को ढकने के कपडे आदि युद्ध-सम्बन्धी माँग की पूर्ति उद्योग को करनी पडी। सन् १९१५-१६ में रूस पर जर्मनी के आक्रमण के कारण रूसी सन

के लिए समिति का सुझाव है कि प्रथम छ वर्ष में ३००,००० हाथ के करघों को २१३,००० अच्छे प्रकार के हस्तचालित तथा शक्तिचालित करघों में बदल दिया जाय तथा शेष करघों को दो या तीन पंचवर्षीय कालों में बदल दिया जाय। इस प्रकार २० वर्ष की अवधि में हाथ के करघों का सम्पूर्ण उद्योग अच्छे प्रकार के हाथ के करघों तथा शक्तिचालित करघा-उद्योग में बदल जायगा। समिति के मतानुसार १९६० तक उत्पादन के कुछ अंश को हाथ के करघे या घरेलू शक्तिचालित करघों के लिए सुरक्षित रखना चाहिए।

उद्योग की मुख्य समस्या युक्तीकरण (राशनलाइजेशन) है। देश में कपड़ा सस्ता करने और समुद्र-पार के बाजारों में भारतीय कपडे की प्रतिस्पर्धा-शक्ति बढाने के लिए यह अति आवश्यक है। इसमें सन्देह नहीं कि सूती वस्त्र-उद्योग का भविष्य युक्तीकरण पर ही निर्भर है। लोक-सभा ने भी इसे स्वीकार किया है। परन्तु युक्तीकरण एक सरल समस्या नहीं है और इसके मार्ग में दो बडे रोडे पूँजी तथा श्रम का विरोध हैं।

सूती वस्त्र-उद्योग की हाल की प्रगति निम्न तालिका से स्पष्ट है —

वर्ष	मिलों की संख्या	करघे हजारों में	तकुआ हजारों में	उत्पादित सूत १०लाखपौ०में	उत्पादित कपडा १० लाख गज में	निर्यात दस लाख गजमें
१९४७-४८	४०८	१९७	१०,२६६	१,३३०	३,७७०	१९२
१९४८-४९	४१६	१९८	१०,५३४	१,४७५	४,३८१	३४१
१९४९-५०	४२५	२००	१०,८४९	१,२९०	३,७७९	६९०
१९५०-५१	४४५	२०१	११,२४१	१,१९२	३,६७६	१,२१०
१९५१-५२	४५३	२०४	११,४२७	१,३२५	४,२९७	४२३
१९५२-५३	४५३	२०४	११,४२७	१,५०० (लगभग)	४,८०० (लगभग)	६५० (लगभग)

(फ्लैक्स)की पूर्ति बन्द हो गई और उसके स्थान पर भारतीय जूट का प्रयोग आवश्यक हो गया। इससे भी जूट-उद्योग को प्रोत्साहन मिला। विगत युद्ध में भी जूट के बोरो और जूट के कपडो की सरकारी तथा समुद्र-पार की अधिक माँग ने जूट मिल उद्योग को प्रोत्साहित किया। (नीचे सेक्शन १८ देखिए) जूट-उद्योग की कहानी सतत एव निरन्तर विकास की है। १८६१ में बगाल में ८,००० शक्तिचालित करघे चालू थे, १६०१ में १६,०००, १६११ में ३३,०००, १६२१ में ४३,०००, १६२६-२७ में ५१,०६१ और १६३७-३८ मे ६६,७०५ करघे थे। अगले पृष्ठ की तालिका से उद्योग की उल्लेखनीय प्रगति पर और प्रकाश पडता है। बाद के भागो में विश्वव्यापी अवसाद और विगत महायुद्ध के जूट-उद्योग पर प्रभाव की समीक्षा की गई है।

बहुत समय तक केवल ग्रेट ब्रिटेन ही जूट की वस्तुएँ बनाने वाला देश और डण्डी निर्माण का प्रमुख केन्द्र था। अब कलकत्ता ने डण्डी का बहुत-कुछ व्यापार ले लिया है। १६२८-२६ में निर्यात की गई जूट-निर्मित वस्तुओ का मूल्य ५६ ६ करोड रुपये था जब कि १८७६-८० से १८८३-८४ के बीच निर्यात की गई वस्तुओ का औसत मूल्य केवल १ २ करोड रुपये था। व्यापारिक मन्दी के कारण १६३३-३४ में इस निर्यात का मूल्य घटकर २१ ३८ करोड रुपये रह गया। १६३४-३५ से कुछ सुधार दृष्टिगत हो रहा है क्योकि १६३७-३८ में जूट-निर्मित वस्तुओ के निर्यात का मूल्य २६ १० करोड रुपये था। १६३८-३६ में यह घटकर फिर २६ २६ करोड रुपये हो गया। कुल जूट के उत्पादन का लगभग दो-तिहाई सामान्यतया बगाल की मिलो में ही खप जाता है, जबकि इसकी तुलना में १६१४ से पहले आधे से कम ही खपता था। फलस्वरूप मुख्यतया टाट के बोरो, जूट के कपडो और डोरियो के रूप में बगाल का जूट-निर्मित वस्तुओ का उत्पादन शेष ससार की तुलना में लगभग दूना है।[1]

अद्यतन आँकडो से (३१ दिसम्बर, १६३७ को समाप्त होने वाले वर्ष के लिए) भारत गणराज्य में स्थित मिलो की सख्या ११३ है और उनकी सयुक्त करघा-शक्ति ६८,५४७ है। मिलो में काम करने वाले श्रमिको की औसत सख्या ३००,००० है।

विभाजन के फलस्वरूप जूट-उद्योग का (जो भारतीय गणराज्य में है) जूट उत्पादक-क्षेत्र (जो पाकिस्तान में है) से सम्बन्ध-विच्छेद हो गया है। भारतीय गणराज्य कच्चे जूट का सबसे बडा उपभोक्ता है, जबकि पाकिस्तान सबसे बडा विक्रेता है। विभाजन ने, विशेषकर मुद्रा-अवमूल्यन (सितम्बर, १६४६) से, जूट-उद्योग को पूर्ण रूप से अव्यवस्थित कर दिया है। पाकिस्तान ने भारत को जूट निर्यात करना पूर्णत बन्द कर दिया है और जिसके प्रत्युत्तर में भारत ने (दिसम्बर, १६४६) पाकिस्तान को कोयले का निर्यात बन्द कर दिया है। भारत कच्चे जूट के विषय मे आत्मनिर्भर होने के लिए प्रयत्नशील है।

जूट-निर्मित वस्तुओ की माँग ससार-भर की कृषि-सम्बन्धी उत्पादन की मात्रा पर निर्भर करती है क्योकि आन्तरिक या अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार दोनो ही में कृषि की उत्पाद्य वस्तुओ को एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजने के लिए जूट-निर्मित वस्तुओ

[1] देखिए, एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका में भारत पर लेख, १४वा सस्करण।

	चालू मिलों की सख्या	अधिकृत पूँजी (लाख रु० में)	हजार में		
			काम में लगे व्यक्ति	करघे	तकुए
औसत					
१८७९-८० से १८८३-८४	२१	२७० ७	३८ ८	५ ५	८८
१८९९-१९०० से १९०३-४	३६	६८०	११४ २	१६ २	३३४ ६
१९०९-१० से १९१३-१४	६०	१२०९	२०८ ४	३३ ५	६९१ ८
१९१४-१५ से १९१८-१९	७३	१४०३ ६	२५९·३	३९ ७	८२१ ७
१९२५-२६	९०	२१३४ ७	३३१·३	५० ५	१०६३·७
१९२८-२९	९५	२३३६·७	३४३ ९	५२	११०८ १
१९३०-३१	१००	२३६०·६	३०७ ६	६१·८	१२२४ ९
१९३३ ३४	९९	२३७० ६	२५७ १	९ ५५	११९४ ४
१९३७-३८	१०५	२४८८ ५	३०८·७[1]	५२·४	११०८·१

की आवश्यकता होती है। भारत में कृषि के अच्छे साल में जूट-निर्मित वस्तुओ के निर्यात में कमी आ जाती है क्योकि फसलो की वृहद् राशि को एक स्थान से दूसरे स्थान पर हटाने के लिए जूट-निर्मित सामानो की आवश्यकता पडती है। इसी भांति बाहरी मांग में कभी भी, उदाहरणार्थ आर्थिक अवसाद के समय की कमी जूट-निर्मित वस्तुओ के निर्यात पर बुरा प्रभाव डालती है। जूट का स्थानापन्न ढूंढने में अब तक कोई विशेष सफलता नही मिली है। हां, जूट के अन्य नये प्रयोग अवश्य ढूंढ निकाले गए हैं। सयुक्त राष्ट्र अमेरिका और अन्य देश कुछ सीमा तक जूट के बोरो के स्थान पर कपास के बोरो का प्रयोग कर रहे हैं। अब ऐसी सम्भावना स्वत. भारत में ही उत्पन्न हो गई है। १९३६ में स्थापित केन्द्रीय भारतीय जूट समिति ने जूट और जूट से उत्पन्न वस्तुओ के ऊपर इस ध्येय से अनुसन्धान-कार्य आरम्भ किया है ताकि और बाजार हाथ से न निकल जायँ।

१६. जूट और सूती उद्योग की तुलना—जूट और कपास-उद्योग भारत में आधुनिक वृहत् प्रमाप उद्योगो की प्रगति के उदाहरण हैं। जूट पर भारत का एकाधिकार होने के कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भारत की स्थिति जूट के विषय में कपास-उद्योग से अधिक सुदृढ है। जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है, भारत के इन दो सबसे अधिक सगठित उद्योगो में एक बहुत महत्वपूर्ण अन्तर है कि जहाँ सूती वस्त्र-उद्योग लगभग पूर्ण रूप से भारतीयो के हाथ में है और उसमें पूर्णत भारतीय पूँजी लगी है वहाँ जूट-उद्योग अपने जन्म और विकास के लिए यूरोपीय विशेषकर स्काटलैण्ड-निवासियो के साहस और पूँजी का ऋणी है। दूसरा अन्तर यह है कि जहाँ सूती वस्त्र-उद्योग भली भांति विकेन्द्रित है वहाँ जूट-उद्योग का अत्यधिक केन्द्रीकरण हुआ है। ९० जूट मिलें केवल ४० मील के अर्द्धव्यास में स्थित हैं। अन्त में. एक औसत जूट मिल एक औसत सूती मिल से कही बडी इकाई होती है।

१ लार्ज इडस्ट्रियल इस्टेब्लिशमेण्ट इन इडिया (१९३७) के आधार पर।

जैसा कि डॉ० पिलाई का कहना है,"कुशल सगठन के दृष्टिकोण से जूट-उद्योग भारत में किसी से भी कम नही है ।[1] यह केवल इसकी अत्यधिक केन्द्रीभूत अवस्था के कारण सम्भव हो सका है। १८८६ में भारतीय जूट मिल सस्था बनाई गई। इसका उद्देश्य अन्य बातो के अतिरिक्त मिलो में अति उत्पादन रोकने के लिए कम काम करने की व्यवस्था अपनाने में सुविधा प्रदान करना था। १९१४-१८ के युद्धकाल के लाभ के फलस्वरूप अति उत्पादन होने लगा और युद्ध समाप्त होने पर उद्योग को बुरे दिन देखने पडे । एक ओर माँग कम हो गई और दूसरी ओर जूट के मूल्य और मजदूरी बढ जाने के कारण उत्पादन-लागत बढ गई ।[2] १९२१-२२ मे जूट के उत्पादन और मूल्य पर नियन्त्रण रखने के लिए एक जूट ट्रस्ट स्थापित करने की सम्भावना पर राय देने के लिए सस्था ने एक अमेरिकन व्यावसायिक विशेषज्ञ को आमन्त्रित किया, किन्तु मन्दी की समाप्ति के कारण इस योजना को स्थगित कर दिया गया। कलकत्ता जूट व्यापार मण्डल (कलकत्ता जूट डीलर्स असोसिएशन) स्थानीय खपत के लिए अपने व्यापारी सदस्यो के सामूहिक हितो की देखभाल करता है।

१७ अवसाद-काल और तदनन्तर जूट उद्योग—न्यूनाधिक मात्रा में प्रत्येक उद्योग को प्रभावित करने वाले पिछले विश्वव्यापी आर्थिक अवसाद से जूट मिल उद्योग भी अछूता न रह सका। गिरते मूल्यो, प्रमुख उपभोग-केन्द्रो पर भण्डारो की उपस्थिति, श्रम-अशान्ति आदि कारणो से जूट-उद्योग को भी हानि पहुँची। इस सबके बावजूद भी इसने बम्बई के सूती मिल उद्योग की अपेक्षा युद्धोत्तर (१९२९) अवसाद की कठिनाइयो का सामना कही अच्छी तरह किया। यह पर्याप्त सुरक्षित कोष तथा समयानुसार कार्यविधि में कमी आदि उपायो का परिणाम था। मार्च, १९३६ में समाप्त होने वाले दस वर्ष में उत्पत्ति को कम करने की नीति का सदैव पालन किया गया था। जो मिलें सस्था की सदस्य थी वे प्रति सप्ताह ४० घण्टे काम कर रही थी और उनके करघो का एक निश्चित प्रतिशत बन्द रहता था। यह प्रतिशत १९३१ में १५ और १९३५ में १० था। बन्द करघो की प्रतिशत में कमी आने के कई कारण थे, यथा सीमीकरण-योजना के बाहर वाली मिलो की प्रतिस्पर्धा, व्यापारिक परिस्थितियो में सुधार तथा अन्य उत्पादन-केन्द्रो से प्रतिस्पर्धा। सस्था के बाहर की मिलो से समझौता न हो सका, अत सस्था की सदस्य-मिलो को भी काम के घण्टो या यन्त्रो पर किसी प्रकार की रोक के बिना कार्य करने को स्वतन्त्र कर दिया गया। बिना किसी रोक-टोक के हुए अति उत्पादन और श्रम-समस्याओं के कारण १९३७ जूट-उद्योग के लिए चिन्ता का वर्ष था। अगले वर्ष में अन्य कारणो के साथ ही व्यावसायिक दशाओ में 'मन्दी' के आगमन और निर्बाध आन्तरिक स्पर्द्धा के कारण उद्योग की दशा और खराब हो गई। सितम्बर, १९३८ तक उद्योग एक भीषण सकट (मेजर क्राइसिस) की ओर अगसर हो रहा था, अतएव बगाल के हितो के लिए प्रान्तीय सरकार को कदम उठाना पडा तथा सितम्बर, १९३८ में जारी किये गए

---

१ पी० जो० पिलाई—इकनामिक कण्डीशन इन इण्डिया, पृष्ठ १७५।

२ जूट उद्योग के सर्वेक्षण के लिए देखिए सेरिमन, पूर्वोद्धृत भाग २, अध्याय ४।

एक आर्डिनेंस द्वारा सरकार ने उद्योग का नियन्त्रण अपने हाथ में ले लिया और काम के प्रति सप्ताह घण्टे ४५ निश्चित कर दिये गए।

सरकारी आर्डिनेन्स के स्थायी विधान में परिवर्तित हो जाने के डर से जनवरी, १९३९ में सस्था और बाहरी मिलो में कम घण्टे काम करने के लिए एक समझौता हो जाने से कानून द्वारा काम के घण्टे सीमित करने की आवश्यकता नही रही। जुलाई में एक पूरक समझौते के द्वारा मिलो ने २० प्रतिशत जूट के कपडे और ७½ प्रतिशत बोरे बनाने के करघो को बन्द रखकर ४५ घण्टे प्रति सप्ताह काम करने का निश्चय किया। कच्चे जूट के मूल्य में कमी और बगाल के जूट-उत्पादको पर इसके बुरे प्रभाव के कारण अगस्त, १९३९ में कच्चे जूट और टाट के निम्नतम मूल्य निश्चित करने के लिए प्रान्तीय सरकार को दो आर्डिनेस जारी करने पडे।

१८. जूट मिल उद्योग पर द्वितीय विश्वयुद्ध का प्रभाव—द्वितीय विश्वयुद्ध प्रारम्भ होने के कारण अन्य देशो की सब प्रकार की जूट की वस्तुओ की माँग अत्यधिक बढ गई और इस प्रकार जूट उद्योग भीषण अवसाद से मुक्त हो गया। मासिक उत्पादन सितम्बर, १९३९ के ९०,७०० टन से एकाएक बढकर मार्च, १९४० मे १,२५,७०० टन हो गया। जहाज द्वारा बाहर भेजी जाने वाली जूट-निर्मित वस्तुओ ने पूरे दशक के लिए एक रिकार्ड स्थापित कर दिया और १२,८०,४०० टन के वार्षिक उत्पादन में से १०,९८,७२५ टन का निर्यात हुआ। जूट और जूट-निर्मित वस्तुओ के मूल्यो मे अत्यधिक वृद्धि हुई जो मुख्यतया परिकल्पना का परिणाम थी। काम करने के घण्टो पर लगी रोक हटा ली गई और ६० घण्टे प्रति सप्ताह के अनुसार मिलें पूर्ण उत्पादन करने लगी तथा फैक्टरी-अधिनियम की कुछ धाराओ को भारत सरकार ने एक आर्डिनेंस द्वारा स्थगित कर दिया। बगाल सरकार ने भी जूट के कृषि-क्षेत्र को सीमित करने से सम्बन्धित एक बिल पर विचार करना स्थगित कर दिया।[1]

किन्तु जूट उद्योग पूर्ण रूप से स्वस्थ दशा में नही है। जूट के मूल्यो में परिकल्पित वृद्धि की उद्योग पर बुरी प्रतिक्रिया हुई है। ऐसा मालूम होता है कि ऊँचे मूल्यो के कारण माँग रुक गई है और स्थानापन्न अपनाने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिल रहा है। समय-समय पर युद्ध की माँग में कमी और यूरोप महाद्वीप के देशो के बाजारो की समाप्ति का भी बुरा प्रभाव पडा। जूट मिल सस्था ने अगस्त, १९४० में काम करने के घण्टो को कम करके ४५ घण्टे प्रति सप्ताह और मास में केवल ३ सप्ताह काम करना निश्चित किया। बालू भरने के बोरो के लिए नये आर्डरो के साथ काम करने के प्रति सप्ताह घण्टे बढकर पुन ६० हो गए, पर १८ मई, १९४२ से कम होकर यह फिर ५४ घण्टे प्रति सप्ताह हो गए और १० प्रतिशत करघे भी बन्द रहने लगे। विगत युद्ध में छब्बीस मिले सैनिक भण्डार और सामग्री

१ बाद में बगाल विधान सभा ने अगस्त, १९४० में बगाल जूट रेगुलेशन बिल जूट-उत्पादकों के हित में पास किया जो १९४१ में उत्पन्न होने वाली फसल पर लागू हुआ। इससे पहले मई, १९४० में सट्टा बाजारों में कच्चे जूट और टाट के निम्नतम और अधिकतम मूल्य निश्चित करने के लिए बगाल सरकार ने दो आर्डिनेंस जारी किये।

के उत्पादन के लिए ले ली गई। यद्यपि उद्योग इस भाँति अपनी उत्पादन-क्षमता के २५ प्रतिशत भाग से वञ्चित हो गया, परन्तु फिर भी यह युद्ध की माँग सहित सारी माँग की पूर्ति करने में समर्थ था। उद्योग की समस्या उत्पादन-क्षमता की अतिरिक्तता है जो सीमीकरण की नीति का कारण है। इस नीति में काम के घण्टो और उत्पत्ति को कम करना तथा काम से विरत मिलो को लाभ वितरित करना भी शामिल है। यद्यपि अन्य भारतीय उद्योगो की तुलना में जूट उद्योग कुशल है, किन्तु स्कॉटलैण्ड, फ्रास तथा अन्यत्र अपने विदेशी प्रतिरूपो से उत्पादन-क्षमता की तुलना में यह हीन है। अपनी समृद्धि को बनाये रखने के लिए इसे दृढता और दूरदर्शिता से पुनर्संगठन की समस्या को हल करना चाहिए, उत्पादन तथा विपणन-व्यवस्था में सुधार करना चाहिए तथा अनेक प्रकार की माँगो के लिए अपने उत्पादन में विविधता लानी चाहिए। विभाजन के कारण जूट उद्योग और जूट उत्पन्न करने के क्षेत्र विभक्त हो गए, इस कारण जूट उद्योग की कच्चे माल की पूर्ति की कठिनाइयाँ और बढ़ गई। अब जूट उद्योग का भविष्य दोनो देशों के मैत्री सम्बन्ध पर निर्भर रहेगा।[1]

---

१ इधर हाल में जूट उद्योग ने कुछ कठिनाइयों का अनुभव किया परन्तु अब हालत सुधर रही है। सन् १९५३ में मिलों के पास जूट के भण्डार बहुत बढ गए। पाकिस्तान से सस्ता जूट मिलने के कारण यूरोपीय मिलों की प्रतिस्पर्धा बढ गई, फलत मन्दी आ गई। २८ फरवरी, १९५३ को बोरे के टाट का कर १७५ रु० प्रति टन से घटाकर ८० रु० प्रति टन कर दिया गया। सितम्बर, १९५३ में जूट के कपड़े (bessian) का कर भी २७५ रु० प्रति टन से घटाकर १२० रु० प्रतिटन कर दिया गया। करों के इन परिवर्तनों के फलस्वरूप भारतीय जूट की प्रतिस्पर्धा-शक्ति बढ़ गई और इसका प्रभाव १९५४ में परिलक्षित हुआ। इस वर्ष जूट के निर्यात में वृद्धि हुई।

जूट उद्योग को अमरीकी बाजारों में अब भी कठिनाइयो का सामना करना पड़ रहा है। भारतीय जूट मिल सस्था द्वारा अमेरिका में प्रचार करने, टाट विक्रय योजना अपनाने, करों के कम होने से प्रतिस्पर्धा-शक्ति के बढने तथा भारतीय मिलों द्वारा जूट के सामान की पूर्ति बढ़ने के कारण स्थिति सुधर रही है।

अब जूट के अनेक स्थानापन्न हो गए हैं। यूरोपीय देशों ने भारतीय प्रतिस्पर्धा से अपने हितों की रक्षा करने के लिए एक सघ बना लिया है। जूट के कपड़े के निर्यातक के रूप में जापान भी मैदान में आ रहा है। इधर पाकिस्तान भी अपनी उत्पादन-क्षमता बढ़ा रहा है। वह कालान्तर में एक विकट प्रतिस्पर्धा का रूप धारण कर सकता है, क्योंकि उसके पास अच्छे प्रकार का जूट, अद्यतन यन्त्रों से सुसज्जित कारखाने तथा सस्ता श्रम है। अतएव उद्योग को भविष्य में अपना स्थान बनाये रखने के लिए घोर प्रयत्न करने की आवश्यकता है। उद्योग और सरकार दोनों को ही जूट के सामान का प्रतिस्पर्धा-शक्ति बढाने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। इसमें अच्छे प्रकार के कच्चे जूट की पूर्ति, अद्यतन यन्त्रों की स्थापना तथा उत्पादन में विविधता लाने का प्रयत्न करना चाहिए। सरकार को भी अपनी कर-नीति इस प्रकार व्यवस्थित करनी चाहिए ताकि उद्योग भली प्रकार अपनी प्रतिस्पर्धा-शक्ति बनाए रहे।

जूट जाच आयोग, जिसके अध्यक्ष श्री के० आर० पी० आयगर थे, की रिपोर्ट, जो मई, १९५४ में प्रकाशित हुई थी, के अनुसार भी उद्योग को सरकारी करों से कुछ मुक्ति मिलनी चाहिए। इस आयोग ने भी अद्यतन यन्त्रों की स्थापना तथा उद्योग के लिए एक विकास परिषद (डिवलपमेण्ट कौंसिल) के सगठन की सिफारिश की।

प्रथम पचवर्षीय योजना में जूट उद्योग के उत्पादन की वृद्धि का आयोजन किया गया है। योजना में १९५५-५६ तक ५४ लाख कच्चे जूट की गाठें तथा १२ लाख टन जूट के सामानों में उत्पादन

११ लोहा और इस्पात उद्योग—किसी भी अन्य उद्योग की अपेक्षा लोहा और इस्पात उद्योग आधारोद्योग कहलाने का कही अधिक अधिकारी है। इसकी राष्ट्रीय महत्ता के सम्बन्ध में अतिशयोक्ति नही की जा सकती। भारत और इगलैण्ड की औद्योगिक क्रान्ति में एक विलक्षण विरोध है। भारत मे इसका श्रीगणेश वस्त्रोद्योग में वाष्प-शक्ति के प्रयोग से आरम्भ हुआ जबकि इंगलैण्ड में लोहा और इस्पात के आधारभूत उद्योगो के विकास के साथ इसका जन्म हुआ। इगलैण्ड की नवीन औद्योगिक व्यवस्था की ठोस नीव लोहा और इस्पात उद्योग तथा सहायक यान्त्रिक उद्योगो के सुदृढ आधार पर पडी थी, किन्तु भारतवर्ष में क्रान्ति का पथ ऐसे विकास से नही निश्चित हुआ है। हाल तक भारतीय उद्योग पूर्णरूपेण आयात किये गए यन्त्रो, यान्त्रिक वस्तुओ और धात्विक वस्तुओ पर साधारणतया निर्भर रहे हैं।

दक्षिण अर्काट जिले में अशुद्ध लोहे और इस्पात के निर्माण के लिए आधुनिक विधियों को अपनाने के प्रशसनीय प्रयत्न १८३० मे ही हो चुके थे। बगाल में झरिया कोयले की खदानो पर १८७४ में बराकार आयरन वर्क्स के चालू होने तक, जो १८८९ में बगाल स्टील एण्ड आयरन कम्पनी में सम्मिलित कर लिये गए, सारे प्रयत्न असफल ही रहे। बगाल स्टील एण्ड आयरन कम्पनी ने केवल १८९९ से लाभ प्राप्त करना आरम्भ किया। वर्तमान शताब्दी के आरम्भ में वास्तविक उत्पादन लगभग ३५,००० टन था। इस्पात बनाने के लिए किये गए एक प्रयत्न के परिणामस्वरूप गहरी हानि उठानी पडी।[1] सिंहभूमि और मानभूमि जिलो की लोहे की खानो के नये स्रोतो के प्रयोग के साथ १९१० में बंगाल कम्पनी के इतिहास में एक नये युग का सूत्रपात हुआ। टाटा कम्पनी की स्थापना उद्योग के इतिहास में दूसरा महत्त्वपूर्ण चरण था। स्वर्गीय जे० एन० टाटा द्वारा १९०७ में कम्पनी सिंहभूमि जिले में सकची नामक स्थान पर स्थापित हुई और कारखाने का निर्माण १९०८ से आरम्भ हुआ। दिसम्बर, १९११ में पहली बार अशुद्ध लोहा तैयार किया गया और वर्तमान काल में भारतवर्ष में इस्पात का उत्पादन पहली बार १९१३ में हुआ। १९१६ तक युद्ध की मांगो से

की व्यवस्था की गई है।

जूट उद्योग की अभी हाल की प्रगति निम्न तालिका से स्पष्ट है·

जूट का सामान

वर्ष जून-जुलाई	मिलों की सख्या	उत्पादन हजार टनों में	निर्यात हजार टनों में	प्रतिदिन काम करने वाले व्यक्तियों की सख्या (हजारों में)
१९४७-४८	१०४	१०३५	८९६	३१५
१९४८-४९	१०४	१०४०	८७२	३०३
१९४९-५०	१०४	८२५	७५४	२७८
१९५०-५१	१०४	८५८	५४७	२८४
१९५१-५२	१०४	९४५	७९७	२७६
१९५२-५३	१०४	९२०	७३०	२७०

इस समय (१९५५) जूट की ११३ मिलें काम कर रही है। १९५५-५६ में जूट के सामान के निर्यात का अनुमान लगभग ९ लाख गाठें हैं।

१ इण्डस्ट्रियल हैण्डबुक ओव दि म्युनिशन बोर्ड, पृष्ठ १३८-९।

उत्तेजना पाकर समस्त यन्त्र पूर्ण उत्पादन कर रहे थे। इस भाँति कुछ चिन्तापूर्ण समय के बाद कारखाने सुदृढ आधार पर स्थित हो गए तथा इन्होने मेसोपोटामिया, फिलिस्तीन, पूर्वी अफ्रीका और सैलोनिका मे सैनिक रेलो के लिए वृहद् मात्रा मे रेल की पटरी और स्लीपरो की पूर्ति करने में बहुमूल्य सहायता प्रदान की। १९१७ में विस्तार की एक बडी योजना सामने रखी गई जो १९२४ में पूरी हो गई। कारखानो में स्थित पहली मशीनें इस्पात का तैयार माल, जैसे रेल की पटरी, निर्माण-सम्बन्धी भारी वस्तुएँ, छडें, निर्माण-सम्बन्धी हल्की वस्तुएँ, हल्की रेल की पटरियाँ और फिश-प्लेटें आदि बनाती थी। १९२६ से कारखानो में स्थित नये यन्त्रो द्वारा उत्पन्न की जाने वाली अन्य वस्तुएँ प्लेटें, चद्दर (काली और धातु चढी हुई), चद्दरो की छडे और चद्दरो की स्लीपर आदि थी।[1] टाटा के साहस की सफलता ने कुछ नवीन कम्पनियो को जन्म दिया, जैसे कलकत्ता में मेसर्स बर्न एण्ड कम्पनी, १९०८ में आसनसोल के पास हीरापुर में स्थापित इण्डियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी, १९२३ में भद्रावती में प्रारम्भ किये गए मैसूर स्टेट आयरन वर्क्स इत्यादि। यह ध्यान रखने योग्य है कि मैसूर स्टेट आयरन वर्क्स में भट्टियाँ लकडी के कोयले से जलाई जाती हैं।

उद्योग के स्थायी प्रसार की झाँकी उत्पादन और आयात के आकडो से मिल सकती है। शताब्दी के आरम्भ में अशुद्ध लोहे का उत्पादन ३५००० टन से बढकर १९३८-३९ में १५,७६,००० टन हो गया, जिसमें से २५६ लाख के मूल्य का ५,१४,००० टन निर्यात किया गया, जिसका ग्राहक जापान था। जापान के बाद इगलिस्तान और सयुक्त राष्ट्र अमेरिका भारतीय अशुद्ध लोहे के ग्राहक रहे हैं। भारत मे उत्पादित अशुद्ध लोहा सब प्रकार से यूरोपीय अशुद्ध लोहे के समान है। वास्तव में अशुद्ध लोहे का आयात अब लगभग नगण्य है। इस्पात का उत्पादन १९१६-१७ के १,३९,४३३ टन से बढकर १९२७-२८ में ५,९९,५६५ टन हो गया और इसी अवधि में तैयार इस्पात का उत्पादन ९८,७२६ टन से बढकर ४,२८,६५४ टन हो गया। १९३८-३९ में इस्पात पिण्डो का उत्पादन ९,७७,००० टन और तैयार इस्पात का उत्पादन ७,२६,००० टन था। पुनर्शस्त्रीकरण के विश्वव्यापी आन्दोलन ने लोहा और इस्पात उद्योग को प्रेरणा दी और भारत ने अपने उद्योग की स्थिति दृढ करने में इस परिस्थिति से लाभ उठाया।

२० **लोहा और इस्पात उद्योग की वर्तमान स्थिति**—सितम्बर, १९३९ में युद्ध छिड जाने से भारत के लोहा और इस्पात उद्योग को एक नवीन प्रेरणा मिली। मिलो को सरकार और रेलो से बडे-बडे ऑर्डर मिले जिसके फलस्वरूप उन्होने अभिवृद्धि-काल का लाभ उठाया जो इस्पात के हिस्सो पर दिये गए ऊँचे लाभाश और उनके मूल्यो की तीव्र वृद्धि से स्पष्ट है। सरकारी शस्त्रो के कारखानो के शीघ्र प्रसार ने भी भारत के इस्पात और यान्त्रिक उद्योगो के प्रसार को गति दी। यह १९३९ और १९३८ के उत्पादन की तुलना से स्पष्ट हो जाता है जब दोनो वर्षों में अशुद्ध लोहे का कुल उत्पादन क्रमश १८,३५,००० टन और १५,७५,००० टन था। इस्पात पिण्डो और तैयार इस्पात का उत्पादन बढकर क्रमश १०,९७,००० टन और १० ९२,९०० टन

१ प्रशुल्क-मण्डल की इस्पात उद्योग पर रिपोर्ट (१९२४), पैरा १४-१५।

हो गया जोकि पिछले वर्ष की तुलना मे क्रमश ६ २ प्रतिशत और १४ १ प्रतिशत अधिक था। १६३६ का उत्पादन १६३२-३३ के उत्पादन का लगभग दूना था।

युद्ध के कारण १६३६ में सरक्षित लोहा और इस्पात का आयात उद्योग के इतिहास मे सबसे कम था। इसके विपरीत अशुद्ध और कच्चे लोहे को छोडकर भारत के लोहे और इस्पात का निर्यात उस वर्ष २५ प्रतिशत से अधिक था और प्राप्त मूल्य भी बहुत ऊँचे थे।

पहिये, टायर और धुरो इत्यादि के निर्माण के लिए जमशेदपुर में इस्पात उत्पादन करने के नये यन्त्र स्थापित किये गए हैं, जिससे इजनो और डिब्बो के बडे पैमाने पर बनाने की सम्भावनाएँ हो गई हैं।

***२१. लोहे और इस्पात का आयात**—अपने बढते उत्पादन के बावजूद भी भारत बाहरी लोहे और इस्पात पर बडी मात्रा में निर्भर है। १६१४ के पहले भारत के लोहे और इस्पात का औसत आयात ८,०८,००० टन था और इसका मूल्य १२ ४८ करोड रुपये था। १६१४-१८ के युद्ध-काल में औसत आयात घटकर ४,३२,००० टन रह गया जिसका मूल्य १० ११ करोड रुपये था। इसी काल मे टाटा कम्पनी ने अपना उत्पादन बढाया और सरकार की युद्ध-सामग्रियो की पूर्ति की। दोनों महायुद्धो के बीच आयात बढता गया। आयात के पचवर्षीय औसत ६,६१,००० टन, जिसका मूल्य २१ ३८ करोड रुपये था, से बढकर १६२६-३० में आयात की मात्रा और मूल्य क्रमश ८,६८,००० टन तथा १७ १६ करोड रुपया हो गया। यह बढता आयात रेलो, अन्य सार्वजनिक कार्यो तथा निर्माण-व्यापार के वर्द्धमान उपभोग का परिणाम बताया गया। युद्धो के मध्यवर्ती काल के इस बढते आयात ने उद्योग को सरक्षण प्रदान करने के विषय में एक और तर्क प्रस्तुत किया। विश्वव्यापी आर्थिक अवसाद और देश के उत्पादन की वृद्धि के फलस्वरूप गत वर्षो में आयात मे कमी आ गई है और विगत महायुद्ध के दौरान में यह कमी और भी तीव्र हो गई है।

२२. सहायक उद्योग—सरक्षण के प्रश्न की ओर ध्यान देने के पहले जमशेदपुर (पहले के सकची) के पडोस में स्थापित गौण उद्योगो के आश्चर्यजनक विकास पर दृष्टिपात कर लेना उचित होगा। प्रसार योजना के अन्तर्गत उत्पादित वस्तुओ में कुछ निम्नलिखित हैं—स्टील ट्यूब, टिन प्लेट, कलई का सामान, तार, कील, रेल के डिब्बे, ढले हुए लोहे के स्लीपर, चाय और जूट मिल के यन्त्र, कृषि के औजार, धातु चढी हुई वस्तुएँ, लोहे और इस्पात की ढली वस्तुएँ, भारी रसायन, गन्धकीय अम्ल, क्षारीय अम्ल, रासायनिक खादे, चूना, अमोनियम सलफेट इत्यादि। इस्पात उद्योग से अपने सामान पाने वाली सैकडो कार्यशालाएँ देश-भर में फैली हुई हैं। इस उद्देश्य से अनेक कम्पनियाँ पहले से ही स्थापित हो गई है। इस भाँति जमशेदपुर और उसका समीपवर्ती क्षेत्र मधुमक्खियो के छत्तो के समान आधुनिक उद्योगो से गुजायमान होता जा रहा है।

२३. लोहे और इस्पात उद्योग को संरक्षण प्रदान करना—अर्थ आयोग के सुझाव के अनुसार भारतवर्ष मे विवेचनात्मक सरक्षण की नीति पहले-पहल लोहा और इस्पात

उद्योग में कार्यान्वित की गई। प्रशुल्क-मण्डल, जो जुलाई, १९२३ में सस्थापित किया गया था, का निष्कर्ष था कि श्रम को छोडकर उद्योग अर्थ आयोग द्वारा दी गई सभी शर्तों की पूर्ति करता है। श्रम के सम्बन्ध में भारत की स्थिति लाभपूर्ण नहीं थी, परन्तु यह किसी भी कृषि-प्रधान देश में, जहाँ औद्योगिक अनुभव तथा प्रशिक्षण प्राप्त करना शेष हो, अवश्यम्भावी है। इस कारण ही इस समय अमेरिका तथा यूरोप से कुशल निरीक्षको का आयात आवश्यक है। किन्तु यह एक अस्थायी असुविधा थी जो कालान्तर में दूर हो जाती। मण्डल की सम्मति थी कि सरक्षण दिये बिना आगामी वर्षों में उद्योग के विकास की कोई आशा न थी और यह भय अवश्य था कि कहीं उद्योग ही न ठप हो जाय। उसका यह भी मत था कि यह एक आधारोद्योग था और सैन्य सम्बन्धी वस्तुओ के लिए अनिवार्य था। अतएव यह विशेष रूप से सरक्षण का अधिकारी था। उपभोक्ता पर पडने वाला बोझ अनुमानत अस्थायी एवम् भली भाँति बँटा हुआ था।

जून, १९२४ मे मण्डल की सिफारिशो का समावेश करते हुए इस्पात सरक्षण बिल (स्टील प्रोटेक्शन बिल) पास किया गया। इस्पात से तैयार कुछ वस्तुओ पर कर बढा दिया गया। भारत में निर्मित इस्पात की भारी रेलो, फिश प्लेटो और रेल के डिब्बो को सहायता प्रदान की गई। १९२४-२७ तक का पूर्ण योग २४२ लाख रुपये था। अवधि के समाप्त होने पर कर और सहायता दोनों में सशोधन किया जा सकता था।

इस्पात को अपने कच्चे पदार्थ के रूप में उपयोग में लाने वाले उद्योगों के हितो की रक्षा के लिए सरक्षण के अन्य उपायो का सहारा लेना पडा। सरक्षण के कारण बढा हुआ मूल्य अभियान्त्रिक उद्योग की अनेक शाखाओ के लिए घातक हो सकता था, विशेषकर उस समय जब विदेशी प्रतिस्पर्धा के समक्ष वह (अभियान्त्रिक उद्योग) किसी भाँति अपने पैर जमाये हुए था। इस्पात के सरक्षण के इस पहलू के लिए प्रशुल्क-मण्डल ने कुछ सिफारिशें की जो सरकार और विधान सभा द्वारा स्वीकार कर ली गई। कुछ अपवाद सहित आयात किये हुए इस्पात पर उच्चतर कर लगाकर अभियान्त्रिक उद्योग को सरक्षण प्रदान किया गया।

६·२४ इस्पात उद्योग की परिनियत जाँच (१९२६-२७)—३१ मार्च, १९२७ को समाप्त होने वाले १९२४ के इस्पात सरक्षण अधिनियम के अनुसार १९२६ में प्रशुल्क-मण्डल ने उद्योग की दशा की सावधानीपूर्वक जाँच की और कुछ विशिष्ट दिशाओ में सरक्षण की अवधि सात वर्ष के लिए और बढा देने की सिफारिश की। अब सरक्षण उत्पादन की सहायता के लिए न होकर बढे हुए आयात-कर के रूप में हो गया। इसका कारण यह था कि सात वर्ष तक सहायता के रूप में सरक्षण देना बहुत महगा होता तथा इस अवधि के बाद पुन जाँच करनी पडती कि कितना और कैसा सरक्षण अभी और आवश्यक है। तदनुसार १९२७ के दिल्ली-अधिवेशन में एक बिल पेश किया गया जो १ अप्रैल, १९२७ से लागू हुआ। इसके अनुसार लोहे और इस्पात की विभिन्न वस्तुओ पर करो की विभिन्न दरे निर्धारित की गई, साथ ही

ब्रिटिश उत्पादन की वस्तुओ पर एक आधारभूत कर और ब्रिटेन से बाहर बनी वस्तुओ पर एक अतिरिक्त कर भी लगाया गया। वास्तव में ब्रिटिश और यूरोपीय देशो के इस्पात मे विभेद करने के लिए प्रामाणिक और अप्रामाणिक इस्पात की आड मे विधान सभा में गरम बहस हुई। सरकार का विचार था कि उपभोक्ताओ के विभिन्न वर्गो पर समुचित बोझ पडने और सरक्षण की योजना को स्थायित्व प्रदान करने के लिए यह आवश्यक था। विरोधी दल को सन्देह था कि बिल में ब्रिटिश इस्पात को अधिमान देने का उसूल सन्निहित था जिसके वे विरोधी थे।

२५. लोहे और इस्पात के उद्योग के विषय में संरक्षण के अन्य कदम—भारतीय प्रशुल्क (ओटावा व्यापार समझौता) सशोधन अधिनियम, १९३२ ने, जो १ जनवरी, १९३३ से लागू हुआ, जुलाई और अगस्त, १९३२ में ओटावा में भारत सरकार और इगलिस्तान की सरकार के बीच हुए समझौते तथा सितम्बर में लोहे और इस्पात के पूरक समझौते के फलस्वरूप हुए प्रशुल्क-सम्बन्धी परिवर्तनो को कार्यान्वित किया। लोहे और इस्पात की वस्तुओ की श्रेणी में केवल उन्ही वस्तुओ को प्राथमिकता दी गई जो सरक्षक करो से मुक्त थी। पूरक समझौते द्वारा निर्धारित धातु चढी हुई चद्दरो के ऊपर भारतीय आयात-कर की दर निम्न थी—भारतीय चद्दर के पाट से इगलिस्तान में बनी चद्दरो पर ३० रु० प्रति टन, अन्य चद्दरो के पाट से इगलिस्तान में बनी चद्दरो पर ५३ रु० प्रति टन, इगलिस्तान से बाहर बनी हुई चद्दरो पर ८३ रु० प्रति टन। १९२७ के अधिनियम द्वारा लगाये गए सरक्षक करो की कार्यावधि बढाकर ३१ अक्तूबर, १९३४ कर दी गई। इसी बीच इस्पात उद्योग (सरक्षण) अधिनियम, १९२७ के अनुसार प्रशुल्क-मण्डल ने सरक्षण के नवीकरण के प्रश्न की पूर्ण समीक्षा की। लोहे और इस्पात-कर अधिनियम, १९३४ ने प्रशुल्क-मण्डल द्वारा सुझाये गए सरक्षण के उपायो को १ नवम्बर से लागू किया। मण्डल की सिफारिशो के अनुसार कुछ महत्त्वपूर्ण वस्तुओ के विषय में सरक्षण कर के स्तर में कमी और उसके फलस्वरूप प्राप्त आय में कमी होने के कारण यह आवश्यक हो गया कि आय के लिए ब्रिटिश भारत में इस्पात के पिण्डो के उत्पादन पर ४ रु० प्रति टन का उत्पाद-कर और इस्पात के पिण्डो पर समप्रभावोत्पादक कर लगा दिया जाय। यह समप्रभावोत्पादक कर मण्डल द्वारा सुझाये गए सरक्षण करो के अलावा है और जिन वस्तुओ को सरक्षण नही दिया गया उन पर मूल्यानुसार लगाये हुए आगम करो का विकल्प है। जैसा कि प्रशुल्क-मण्डल का सुझाव था पूरक समझौता १९३४ मे समाप्त कर दिया गया।[1]

सब बातो को ध्यान में रखकर यह कहा जा सकता है कि १९२४ के बाद भारत सरकार की नीति लोहा और इस्पात उद्योग के विषय में सहायक रही। राज्य के सामयिक हस्तक्षेप के बिना उद्योग युद्धोत्तर काल की प्रतिस्पर्धा के धक्के को सहन नही कर सकता था, फिर भी १९२४ और १९२७ के बीच प्राप्त सरक्षण पर्याप्त नही था और टाटा स्टील कम्पनी किसी भाँति अपना काम चलाती थी। इन प्रतिकूल

१. वी० एन० अदारकर, 'हिस्ट्री ऑव इण्डियन टैरिफ', पृ० २२।

परिस्थितियो के वावजूद भी उद्योग ने प्रशसनीय उन्नति की, जैसा उत्पादन की वृद्धि, श्रम की कुशलता में सुधार, विदेशी कर्मचारियो की सख्या में कमी, कार्यशाला की लागत में विचारणीय कमी और श्रमिकों की दशा में भी विचारणीय सुधार, विशेषकर मजदूरी, आवास तथा जीवन की अन्य विभिन्न सुविधाओ के सम्बन्ध में उन्नति से स्पष्ट है।[1] उत्पादन-लागत में हुई कमी ने उद्योग को स्थायी बना दिया और उसकी दशा को सुधार दिया है। फलस्वरूप आयात कम होता जा रहा है। गत युद्ध ने उद्योग के लिए हितकारी परिस्थितियों को जन्म दिया, जैसे आयात की व्यवहारत समाप्ति, नागरिक और सैनिक मॉगो का जन्म तथा निर्यात में वृद्धि। वास्तव में मॉग इतनी अधिक थी कि उद्योग के लिए उसे पूरा करना कठिन हो रहा था। अतएव सरकार को बाध्य होकर नागरिक और सैनिक उपयोग के लिए इस्पात का सन्तुलित वितरण करने की दृष्टि से राशनिंग की योजना लागू करनी पडी। पुरानी दिशाओ में उत्पादन की मात्रा की अधिक वृद्धि होने के अतिरिक्त अनेक नवीन दिशाओ में उद्योग की शाखाएँ फैल गई हैं, उदाहरणार्थ टाटा स्टील वर्क्स के नवीन सुधार से भारत में रेलवे इजनो के निर्माण की सम्भावना बहुत बढ गई है।

लोहा और इस्पात उद्योग के युद्धकालीन विकास से अभियान्त्रिकी उद्योग का विकास घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है। इसके निम्नलिखित अति महत्त्वपूर्ण पहलू हैं—

(१) युद्ध-सामग्री की फैक्ट्रियाँ—रक्षा-विभाग-योजना के अन्तर्गत युद्ध-सामग्री की फैक्ट्रियो का बहुत अधिक विकास और अभिनवीकरण हुआ है। इसकी सिफारिश चैटफील्ड समिति ने भी की थी। बन्दूको, गोलो और विस्फोटको के उत्पादन की वृद्धि के साथ भारत पूर्व और मध्यपूर्व के देशो का आयुधागार बन गया।

(२) यान्त्रिक औजार (मशीन टूल्स)—युद्ध-सामग्री के लिए अपेक्षित विशिष्ट मशीनो से लेकर बरमा (एक प्रकार का औजार) और खराद जैसे साधारण औजारो और सभी यान्त्रिक औजारो के निर्माण में युद्ध-काल में कुछ-न-कुछ उन्नति हुई, किन्तु मिल, जहाज, मोटरगाडियाँ, हवाईजहाज आदि के लिए आवश्यक भारी यन्त्रो के निर्माण में बहुत कम सफलता हुई है।

(३) अभियान्त्रिक भण्डार—युद्ध से अभियान्त्रिक सामग्रियो और भण्डारो के निर्माण को बहुत प्रोत्साहन मिला। इस सामग्री और भण्डार के कुछ उदाहरण निम्न हैं—स्टील पाइपें, छादक (शैड), क्रेन, पेट्रोल और पानी एकत्र करने की टकियाँ, लारियाँ, हथियारबन्द कारें, रेल के डिब्बे, रेलवे भण्डार, बिजली का भण्डार, इस्पात के तारो के रस्से, अग्नि से लडने वाले औजार इत्यादि।

१९१४ के पहले भारत लोहा और इस्पात की वस्तुओ के लिए लगभग पूर्ण रूप से आयात पर निर्भर था। यह निर्भरता अधिकाशत अब समाप्त हो गई है। किन्तु इस पर ध्यान देना चाहिए कि हमारा लोहा और इस्पात का वर्तमान उपभोग १९१४ के स्तर से नीचे है। औद्योगीकरण, पुनर्निर्माण तथा स्वतन्त्र भारत की रक्षा की

१ देखिए, एच० एल० डे का लेख 'प्रोटेक्शन ऑव दि स्टील इण्डस्ट्री १९२४-३७' इण्डियन जरनल ऑव इकनामिक्स, जुलाई, १९३८।

आवश्यकताओं को दृष्टि में रखते हुए हमें बहुत शीघ्र ही उत्पादन पर्याप्त मात्रा में बढाना होगा।[1]

---

१ वर्तमान समय में भारत को लोहा और इस्पात के सम्बन्ध में आत्म-निर्भर बनाने की पूरी चेष्टा की जा रही है। १५ फरवरी, १९५४ को भारत सरकार ने रूरकेला नामक स्थान पर हिन्दुस्तान स्टील वर्क्स की स्थापना सम्बन्धी निर्णय प्रकट किया। नवम्बर, १९५४ में रूसी आर्थिक और प्राविधिक सहायता से इस्पात यन्त्र की स्थापना की सम्भावनाओं की खोज के लिए रूसी विशेषज्ञ भी आये। इधर इगलिस्तान के निर्यात के सहयोग से बिरला ने भी दो लोहा और इस्पात यन्त्रों की स्थापना का प्रस्ताव रखा।

रूरकेला के सरकारी कारखाने के सम्बन्ध में क्रप्स और डिमाग नामक सयोजन ने अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत कर दी है जो अधिकाशत. सरकार द्वारा मान ली गई है। प्रथम पञ्चवर्षीय योजना में इस पर लगभग ३३ करोड रु० के व्यय का अनुमान किया गया। रूरकेला का कारखाना अद्यतन यन्त्रों से सुसज्जित होगा तथा उसकी प्रारम्भिक क्षमता ५ लाख टन पिण्ड होगी। आशा की जाती है कि सन् १९५८ से यह उत्पादन भी प्रारम्भ कर देगा।

२ फरवरी, १९५५ में भारत और रूसी सरकार के मध्य लोहा और इस्पात के कारखाने की स्थापना के सम्बन्ध में एक राजीनामा हुआ। यह कारखाना प्रारम्भ में १० लाख टन पिण्डों से ७ ५ लाख टन तैयार वस्तुएँ (रोल्ड प्रोडक्ट) बनाने की क्षमता रखेगा। सरकार ने इस कारखाने के लिए मध्य प्रदेश का भीलई नामक स्थान चुना है।

२९ मई को १५ जून, १९५५ से भारत सरकार ने लोहा और इस्पात मन्त्रिमण्डल की स्थापना का निर्णय किया। लोहे और इस्पात के उत्पादन के लिए उत्तरदायी प्रयास तथा सरकारी कारखाने इस मन्त्रिमण्डल के अधीन होंगे। लोहे और इस्पात उद्योग के सम्बन्ध में उपर्युक्त विकास इस विषय में भारत सरकार की सजगता स्पष्ट कर रहे हैं।

लोहा और इस्पात के नये कारखानों का प्रारम्भ वास्तव में इस्पात की माँग की पूर्ति के लिए किया गया है। योजना आयोग के अनुसार १९५७ तक इस्पात की माग २८ लाख टन प्रति वर्ष हो जायगी, परन्तु इस उद्योग के प्रसार और विकास-सम्बन्धी योजनाओं के पूरा होने पर भी इस्पात की पूर्ति इतनी न होगी। लोहे और इस्पात के तीन प्रमुख उत्पादकों (टाटा आइरन एण्ड स्टील क०, इण्डियन आइरन एण्ड स्टील क० (जिसमें स्टील कारपोरेशन ऑफ बगाल विलयित है) तथा मैसूर आइरन एण्ड स्टील वर्क्स) की प्रसार योजनाओं के बाद भी इस्पात के उत्पादन में अपेक्षित वृद्धि सम्भव नहीं है। इसलिए सरकार इस्पात के और नये कारखाने खोलने की समस्या पर बराबर विचार कर रही है। अभी हाल में सरकार ने इस्पात के तीसरे कारखाने की स्थापना के सम्बन्ध में ब्रिटिश स्टील मिशन की सिफारिशें स्वीकार कर ली हैं तथा योजना के विस्तृत परीक्षण के लिए परामर्शदात्री अभियन्ता-फर्म नियुक्त करेगी। साथ ही पश्चिमी बगाल के दुर्गापुर नामक स्थान में एक कोकिंग प्लाण्ट की स्थापना का निर्णय भी किया जा चुका है।

उड़ीसा सरकार के औद्योगिक परामर्शदाता डॉ० हरिबन्धु महन्ती के अनुसार भारत सरकार १९६० में इस्पात का चौथा कारखाना उड़ीसा के बोनरगढ़ नामक स्थान पर खोलने का विचार कर रही है।

लोहा और इस्पात के उत्पादन सम्बन्धी आधुनिक आंकड़े इस प्रकार हैं·

वर्ष	कुल उत्पादन (लाख टनों में)
१९४८-४९	३६·२०
१९४९-५०	३९ ७३
१९५०-५१	४० ०८
१९५१ ५२	४३ ०९
१९५२-५३	४१·००

—अनुवादक

२६. चमड़ा सिझाने और चमड़े का उद्योग[1]—भारत में चमडा और खाल बहुतायत से मिलती है। गाय की खाल, जो 'ईस्ट इण्डिया किप्स' के नाम से ज्ञात है, बकरी का चमडा, भैंस की खाल और भेड का चमडा इत्यादि भारत के कृषि-उद्योग के उपोत्पाद माने जा सकते हैं। १९१४-१८ के युद्ध के पूर्व भारत ने कच्ची खाल का निर्यात बहुत मात्रा में, विशेषकर जर्मनी और आस्ट्रेलिया को किया, जिनका मूल्य १९१३ में ७ १७ करोड रुपये था। उसी वर्ष ३ ४ करोड रुपये के मूल्य का कच्चा चर्म विशेषकर संयुक्त राज्य अमरीका को निर्यात किया गया। बाहरी देशो में इसकी बडी माँग थी और ऊंचे दाम दिये जा रहे थे।

दीर्घ काल से भारत में चमडा सिझाने का घरेलू उद्योग विद्यमान है जिसमे निम्न कोटि के चमडे की स्थानीय पूर्ति के लिए चमडे और खालो को सिझाने तथा शुद्ध करने के स्थानीय मसाले प्रयोग में लाये जाते हैं। किन्तु सिझाने के यूरोपीय ढग में अत्यन्त आश्चर्यजनक परिवर्तन हुए है, भारत में जिनका प्रयोग पहले-पहल सैनिक अधिकारियो ने काठी तथा अन्य सैनिक आवश्यकताओ के उपयुक्त उच्च कोटि का चमडा बनाने के लिए किया। सिझाव के कारखाने सामान्यतया आयुधागारो के साथ ही स्थापित होने लगे। कानपुर में जब सरकारी साज और जीन का कारखाना (हार-नेस एण्ड सैडलरी फैक्ट्री) १८६० में खोला गया तभी से उत्पादन की दिशा में एक नया कदम उठाया गया। कुछ ही दिन बाद श्रीयुत एलन और कूपर ने आर्मी बूट एण्ड इक्विपमेण्ट फैक्ट्री खोली और सरकार से उन्हें पर्याप्त आर्थिक सहायता मिली। आदमजी पीरभाय ने बम्बई में स्योन नामक स्थान पर वेस्टर्न इण्डिया आर्मी एण्ड इक्विपमेण्ट फैक्ट्री स्थापित की। कुछ और फैक्ट्रियाँ विभिन्न केन्द्रो पर खोली गई जहाँ तैयार माल के उत्पादन का प्रयास किया गया। यद्यपि यूरोप की सिझावशालाओं (टेनरीज़) और चमडे का काम करने वाली फैक्ट्रियो में यन्त्रो का पर्याप्त उपयोग होता है परन्तु भारतीय सिझावशालाओ में यह अभी हाल तक उपयोग में नही लाया गया। इसके कतिपय अपवाद कानपुर और स्योन की फैक्ट्रियाँ तथा मद्रास की सिझावशाला (मद्रास टेनरी) हैं, जहाँ भारत का आधा सिझाया हुआ सम्पूर्ण चर्म और चमडा तैयार होता है जिसका निर्यात-व्यापार में बहुत बडा भाग है। १९१४ के पहले सिझाये हुए चर्म और खालो का निर्यात-व्यापार मुख्यत दक्षिणी भारत में सीमित था, जहाँ दालचीनी के प्रकार के वृक्ष (कैसिया आरिकुलाटा) की छाल, जो मद्रास में अवेरम और बम्बई में तरवार नाम से ज्ञात है, मिलती है। मद्रास में सिझावशालाओ की सख्या सबसे अधिक है।[2]

१९१४-१८ के युद्ध-काल में सिझाव और चमडे के उद्योग में उल्लेखनीय परि-

[1] खाल उप-कर जाच समिति के अनुमान से भारत के लिए इस सम्पूर्ण उद्योग का कुल मूल्य ४० या ५० करोड रुपये के लगभग है। इससे अनेक व्यक्तियों को रोजी मिलती है तथा भारत के दलित वर्गो की आर्थिक उन्नति का यह एक साधन है।—रिपोर्ट आव दि हाइड्स सेस इन्क्वायरी कमेटी, १९३०, पैरा ५८।

[2] मार्येसन, पूर्व उद्धृत, भाग २, अध्याय ५, पृष्ठ ६४-५।

वर्तन हुआ। भारतीय शस्त्रास्त्र-परिषद् ने अपने उत्पादन को बढाने और उन किस्मो के चमडो के उत्पादन को नियमित करने की ओर अपने कार्यो को केन्द्रित किया जो युद्ध-सामग्री के रूप में विशेष महत्त्वपूर्ण थे। मद्रास और बम्बई की सिझावशालाओ में सिझाए हुए ईस्ट इण्डिया किप्स के उत्पादन के सम्बन्ध में सबसे महत्त्वपूर्ण प्रगति हुई। युद्ध-काल में सैनिक बूटो के ऊपरी भाग बनाने के लिए इनका महत्त्व ज्ञात हुआ। सरकार ने व्यापार का पूर्ण नियन्त्रण अपने हाथ में ले लिया और निर्यात के लिए उपलब्ध सामग्री खरीदकर ब्रिटिश युद्ध-कार्यालय को भेज दी। १६१७-१८ में ४ ८६ करोड रुपये के मूल्य की ३,६१,६७४ हण्ड्रेडवेट सिझाई हुई खालो का निर्यात हुआ, जबकि १६१३ में १ ७५ करोड रुपयो की १,६४,७६३ हण्ड्रेडवेट खालें ही बाहर भेजी गई थी। ईस्ट इण्डिया किप्स के निर्यात व्यापार के अतिरिक्त, युद्धकाल में भारतीय सिझावशालाओ ने चमड़े के सभी तरह के सैनिक सामान तथा बूटो के उत्पादन में वृद्धि की। इस भाँति शस्त्रास्त्र-परिषद् के निर्देशानुसार सरकार ने सिझाव-उद्योग को बहुत प्रोत्साहन दिया। निर्मित बूटो और जूतो का वार्षिक उत्पादन युद्ध-समाप्ति पर युद्ध के पहले के वर्षो से बीस गुना अधिक था।

गत युद्ध के अन्तर्गत बढती माँग की पूर्ति के लिए उद्योग का और अधिक विस्तार हुआ। युद्ध के ऑर्डरो की पूर्ति के लिए यत्रो और अधिक श्रम का प्रयोग हुआ। जनवरी, १६४२ में सरकार ने सगठित सिझावशालाओ के सारे उत्पादन को ले लिया।

सिझाने की क्रोम विधि का, जिससे उत्तम कोटि के चमडे का उत्पादन होता है, भारत में बहुत मन्द विकास हुआ है। १६०३ से १६११ तक मद्रास सरकार ने इस देश में सिझाव की क्रोम विधि की सफल स्थापना के सम्बन्ध में पथ-प्रदर्शन का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। किन्तु यह दु ख का विषय है कि अपर इण्डिया और मद्रास वाणिज्य सघ द्वारा यह विरोध करने पर कि व्यक्तिगत व्यापार पर अत्याचार हो रहा है, सरकार को फैक्ट्री बेच देनी पडी। १६१४ के बाद बहुत तीव्र प्रगति हुई और भारतीय क्रोम चमडे की खालो को ग्रेट ब्रिटेन में लाभदायक बाजार प्राप्त हुआ। भारत में क्रोम सिझाव उद्योग के विकास के सम्बन्ध में बहुत सी कठिनाइयो का अनुभव हुआ है जैसे रासायनिक ज्ञान और मँहगी यान्त्रिक सामग्रियो की अपेक्षा रखने वाली उच्च प्राविधिक विधाएँ। भारतीय गायो की खाल और बकरियो के चर्म की एक पर्याप्त मात्रा इस श्रेणी के कार्य के लिए विशेष रूप से उपयुक्त है और उद्योग के आशाजनक विकास का अनुमान किया जाता है। भारतीय सिझाव उद्योग की एक औद्योगिक जाँच १६३६ में औद्योगिक अनुसधान ब्यूरो (इण्डस्ट्रियल रिसर्च ब्यूरो) ने की। इसका उद्देश्य सिझाव की प्रविधि के स्तर में सुधार करना और इस भाँति अच्छी किस्म के तैयार चमडे के निर्यात व्यापार को विकसित करना था।

२७. सिझाव उद्योग को संरक्षण—१६१६ में १८६४ के भारतीय प्रशुल्क-अधिनियम का सशोधन हुआ और खाल तथा चर्म पर १५% का निर्यात कर लगाया गया। जो खालें और चर्म साम्राज्य के अन्य भागो को भेजी जाती थी और वही सिझाई जाती थी उन पर १०% की छूट दी गई। कर सरक्षणार्थ लगाया गया था, परन्तु भारतीय

प्रयोगशालाएँ देश की कुल पूर्ति का अल्पांश ही प्रयोग कर सकती थी। अतएव छूट का समर्थन इस आधार पर किया गया कि वह भारतीय खालो के सिझाव को जर्मनी से हटाकर ब्रिटिश साम्राज्य की ओर ले जायगा और इस प्रकार साम्राज्य के सिझाव उद्योग के लिए सहायक सिद्ध होगा। किन्तु यह प्रयोग किसी भी लक्ष्य की प्राप्ति में असफल रहा। अर्थ-आयोग ने कर को सिद्धान्तत गलत ठहराकर इसकी निन्दा इस आधार पर की कि यदि सरक्षण की आवश्यकता थी तो यह निर्यात-कर के रूप में न होकर आयात-कर के रूप में होनी चाहिए थी। भारत सरकार ने १९२३ में कर को ५% कर दिया और १०% छूट को समाप्त कर दिया। ५% कर को वित्त आवश्यकताओ के लिए आवश्यक बतलाकर न्यायोचित ठहराया गया। कर-जाँच समिति (टैक्सेशन इनक्वायरी कमेटी) के बहुमत ने अर्थ-आयोग से सहमत होकर इसकी शीघ्र समाप्ति की राय दी, किन्तु उन चर्मो पर कर के पूर्ववत् रहने का भी मत दिया जिनकी विश्व-बाजार में अच्छी साख थी और जिन पर कर से कोई हानिकारक प्रभाव पडने का भय नही था।

१९३४ के वित्त अधिनियम के अनुसार कच्ची खाल पर से ५% निर्यात-कर जर्मनी के साथ निर्यात व्यापार के ह्रास के कारण समाप्त कर दिया गया, जबकि भारत के निर्यात व्यापार के पुनरुत्थान के लिए १९३५ के वित्त अधिनियम के अनुसार कच्चे चमडे पर लगा निर्यात कर उठा लिया गया (अध्याय १२ भी देखिए)।[1]

आधारोद्योग के रूप में भारतीय सिझाव और चमडा बनाने के उद्योग को सरक्षण देने के प्रश्न पर सावधानी से विचार करना आवश्यक है। सरक्षण के साथ पर्याप्त आन्तरिक सुधार भी अभी सम्भव है, क्योकि उद्योग की प्रमुख कठिनाई सगठन और कौशल का अभाव है।

२८ रासायनिक उद्योग—एक आधुनिक राज्य में रासायनिक उद्योगो का ऐसे प्रमाप पर विकास करने के लिए कि वे राज्य के आर्थिक जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अग बन

१. चमडा उद्योग की आयात-निर्यात सम्बन्धी स्थिति अब इस प्रकार है

(मूल्य लाख रु० में)

निर्यात	कमाई हुई खाल	कमाया हुआ चर्म	बिना कमाया चमडा
१९४८-४९	८६६ ४	७२० ४	३९ ४
१९४९ ५०	८५३ ३	१,१७३ ०	५८ ५
१९५०-५१	१,२१२ २	१,३२४ ८	३८ ०
१९५१-५२	१,३६१ ३	१,२३१ ७	३९ २
आयात			
१९४८-४९	० ०२	१ ०७	४ ३
१९४९-५०	० ०१	० ४९	७ ६
१९५०-५१	० ०९	१ ७	४ ५
१९५१-५२	० ०२	० २	६ ६

जायँ—जैसाकि वे इगलैण्ड, जर्मनी और अमरीका में हैं—यह आवश्यक है कि कुछ आवश्यकीय पदार्थ बहुत सस्ती दरो पर उपलब्ध हो। ये आवश्यक पदार्थ क्रमानुसार भारी रसायन, विशेषकर गन्धकीय (सल्फ्यूरिक) और उद्नीरिक (हाइड्रोक्लोरिक) अम्ल, चूना, कास्टिक सोडा, सोडियम कार्बोनेट, क्षारीय (नाइट्रिक) अम्ल इत्यादि हैं। देशी साधनो से उत्पन्न अन्य रसायनो के निर्माण मे इनका उपयोग होता है। विभिन्न प्राकृतिक उत्पादनो या ऐसे उत्पादनो से बने पदार्थों के परिशोधन में भी इनका उपयोग होता है। अतएव स्थिर और खनिज तेलो के शोधन में गधकीय (सल्फ्यूरिक) अम्ल और क्षारो की बडी मात्रा में आवश्यकता होती है। अन्य दो आवश्यक पदार्थ (१) गरम करने, धात्विक क्रियाओ और शक्ति के लिए ईंधन तथा (२) रासायनिक स्थिर यन्त्र हैं।[1]

यद्यपि १९१४-१८ के युद्ध ने बहुत से रासायनिक उद्योगो को पर्याप्त प्रोत्साहन दिया परन्तु भारत अब भी बाह्य देशो के रसायन पर बडे अश में निर्भर है। अतएव १९१४ के पूर्व काल के ९० लाख रुपये के औसत की तुलना में १९३८-३९में भारत ने ३०५ लाख रुपये के रासायनिक पदार्थ का आयात किया। यद्यपि रासायनिक पदार्थों का उत्पादन भारत में धीरे-धीरे बढ रहा है, परन्तु यह अभी देश की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए भी पर्याप्त नही है। गन्धक के अम्ल से तैयार किये गए रसायनो का उत्पादन हुआ है, किन्तु क्षारो के निर्माण के लिए कोई भी गम्भीर प्रयास अब तक नही हुआ है। इन्हे (क्षारो को) अपने सामुद्रिक परिवहन की ऊँची लागत के कारण अम्लो की भाँति प्राकृतिक सरक्षण का लाभ सुलभ नही है। इम्पीरियल केमिकल इण्डस्ट्रीज़ तथा टाटा एण्ड सन्स के प्रबन्ध के अन्तर्गत सोडा ऐश, कास्टिक सोडा और बाद में इसी प्रकार के अन्य रसायनो के उत्पादन के लिए दो कम्पनियो की स्थापना एक नवीन आकर्षक विकास है।[2] १९४८-४९ में सरकार द्वारा भारी मात्रा में सोडा ऐश और कास्टिक सोडा के आयात की अनुमति के कारण गृह-उद्योग को गहरा धक्का लगा।

यदि विभिन्न खनिज पदार्थों को केवल उचित रूप से प्रयोग में लाया जाय तो भारत में भारी रसायन के लिए कच्चे माल की कमी नही है। शुल्बेय (सल्फाइड) की खान, शोरा (यव क्षार—साल्ट पीटर), फिटकरी, चूने का पत्थर, मैगनेसियम इत्यादि के रूप में उसकी सम्पत्ति का पहले ही सकेत किया जा चुका है। गधकीय अम्ल के निर्माण में आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त हो चुकी है जो सभी रासायनिक उद्योगो के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पदार्थ है, यहाँ तक कि इसके उत्पादन को किसी देश की सम्पत्ति आँकने की कसौटी कहा जाता है। विशेषकर १९१४-१८ के बीच इसकी देश में बडी माँग थी और उद्योग भली भाँति स्थापित हो चुका है। ईस्टर्न केमिकल कम्पनी लिमिटेड, बम्बई ने १९२८ में प्रशुल्क-मण्डल के सामने गन्धकीय अम्ल के उत्पादन के लिए पर्याप्त सहायता की माँग रखी। १९३९-४५ के युद्ध के पहले उद्योग को शक्तिमान यूरोपीय सिंडिकेटो के साथ तीव्र प्रतिस्पर्धा का सामना करना पड़ा।

१ इण्डस्ट्रियल हैण्डबुक, पृ० ५८।
२. रिव्यू ऑव दि ट्रेड ऑव इण्डिया, १९३८-३९, पृ० १०५।

जर्मनी और ग्रेट ब्रिटेन (इगलिस्तान) सबसे बडे प्रतिद्वन्द्वी थे।[1]

रसायन उद्योग के अन्य आवश्यक पदार्थ ईधन और यन्त्र हैं। इंधन सम्बन्ध परिस्थिति की परीक्षा पहले ही की जा चुकी है और यह दिखाया जा चुका है कि भारत की कोयले की खानें किस भाँति असमान रूप से वितरित हैं। विद्युत्-चालि धात्विक उद्योग और विद्युत्-चालित रासायनिक उद्योग के विकास के लिए सस्ती विद्युत शक्ति की पूर्ति के विषय में प्रयत्न करना आवश्यक है। रसायन-उद्योग के लिए विशे यन्त्र का आयात १९१४ से पहले हुआ, किन्तु बहुत से सरल यन्त्रो का निर्माण यह किया जा सकता है और इस दिशा में पहले ही से काम प्रारम्भ हो चुका है।

२६. रसायन उद्योग पर युद्ध के प्रभाव—द्वितीय महायुद्ध ने रसायन उद्योग को ए नवीन प्रोत्साहन दिया और आयात, जो बहुत कम किये जा चुके हैं, को स्थानापन्न कर के प्रश्न को इसने पुन प्रमुखता प्रदान की। रासायनिक एव औषधीय पदार्थो निर्माता, जो नवम्बर १९३९ में कलकत्ता में हुए एक सम्मेलन में मिल चुके थे, रासायनि पदार्थो को नई विधियो से उत्पादित करने की सम्भावनाओ का पता लगा रहे हैं। भार सरकार ने हाल ही में भारी रसायनो के उत्पादन के लिए एक सरकारी यन्त्र स्थापि करने की स्वीकृति दे दी है। पहले आयात होने वाली बहुत अधिक सख्या में विभिन्न दवाइयाँ अब देश में तैयार हो रही हैं। भारतीय कच्चे (क्रूड) तैलो से उड्डयन स्पिरि (एविएशन स्पिरिट) का निर्माण हो रहा है, जबकि बाइक्रोमाइट का उत्पादन भी भलं भाँति हो रहा है। गन्धकीय अम्ल और अमोनियम सल्फेट का उत्पादन १५% ब गया है। जबकि सरकार ने श्वेतन-क्षोद (ब्लीचिंग पाउडर) के निर्माण की दिशा म कदम उठाया है वैज्ञानिक एव औद्योगिक अनुन्सधान परिषद् वनस्पति एव सश्लिष्ट (सिंथेटिक) रजक द्रव्यो के निर्माण की सम्भावनाओ पर विचार कर रही है।[2]

[1] देखिए, रिपोर्ट आव दि टैरिफ बोर्ड आन दि हेवी केमिकल इण्डस्ट्री (१९२९), पैरा ७२।

३० भारी रसायन उद्योग को संरक्षण—भारी रसायन उद्योग आधारोद्योग है जिसकी सामग्रियाँ लगभग सभी उद्योगो में प्रयुक्त होती है। राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए यह अनिवार्य है तथा उद्योग और कृषि सम्बन्धी रासायनिक अनुसन्धान का आधार है। सात वर्ष की अवधि के सरक्षण के उपरान्त इस्पात उद्योग की भाँति इस उद्योग की भी पुन जाँच होने वाली थी। सुपरफासफेट के निर्माण के लिए एक सहायता की स्वीकृति मिलने वाली थी। इसका उपयोग कृत्रिम खाद के रूप मे होता है। भारत में बृहद् प्रमाप रासायनिक उद्योग की स्थापना के उद्देश्य से सरकार ने रेलवे किराये में कमी होने की स्वीकृति प्रदान की।[1] काफी विलम्ब के बाद भारी रसायन उद्योग (सरक्षण) अधिनियम १९३१ ने प्रशुल्क-मण्डल की कुछ सिफारिशो को कार्यान्वित किया। कर-मुक्त वस्तुओ की सूची से मैगनेशियम क्लोराइड को हटाकर इस पर और कुछ अन्य भारी रसायनो पर विभिन्न दर से सरक्षण-कर लगा दिये गए। केवल मैगनेशियम क्लोराइड, जिसका सरक्षण मार्च, १९३९ तक था तथा आवश्यकता पडने पर इस पर कर बढ भी सकता था, के अलावा अन्य वस्तुओ पर लगाये गए कर ३१ मार्च, १९३३ तक के लिए थे। अधिनियम द्वारा लगाये गए अन्य कर ३१ मार्च, १९३३ को समाप्त हो गए। दिसम्बर, १९३७ में सरक्षण को जारी रखने का प्रश्न प्रशुल्क-मण्डल को प्रेषित कर दिया गया। बाह्य प्रतिस्पर्धा से, विशेषकर जापान के राशिपातन (डम्पिग) से, उद्योग को बचाने के लिए मण्डल ने सरक्षण जारी रखने की सिफारश की।[2] पन्द्रह आना प्रति हण्ड्रेडवेट के स्थान पर मण्डल द्वारा प्रस्तावित बारह आना प्रति हण्ड्रेडवेट की दर पर सरक्षण देने की व्यवस्था अप्रैल, १९३९ में पास किये गए भारतीय प्रशुल्क सशोधन अधिनियम (१९३९) मे की गई।

३१ तेल पेरने का उद्योग—यद्यपि भारत में विविध प्रकार के तिलहन उत्पन्न होते हैं, परन्तु वह प्रमुख रूप से बीज निर्यात करने वाला देश है और अभी तैयार वस्तुएँ, जैसे परिष्कृत तेल और खली, के उत्पादन का समुचित विकास नही कर सका है। यूरोप और अमेरिका में अच्छे यन्त्र तथा सुधरी हुई विधाओ (प्रॉसेस) का प्रयोग होता है। भारत में हम अब भी तेल पेरने का काम बैलो और घानी की पुरातन विधि से ही करते हैं, जिससे खली में बहुत अधिक मात्रा में तेल रह जाता है और इस प्रकार पशुओ को खिलाने या खाद के रूप में उसके प्रयोग की उपादेयता कम हो जाती है। इसके अतिरिक्त तेल गहरे रग का और अशुद्ध होता है तथा बाजार में अपेक्षाकृत उसके कम दाम मिलते हैं।

वाष्प या अन्य यान्त्रिक शक्ति से काम करने वाली मिलो की सख्या में, खासकर सरसो, अरण्डी और मूँगफली के तेल के विषय में, गत वर्षो में काफी वृद्धि हुई है। तेल और खली के स्वत निर्माण के स्थान पर तिलहन का निर्यात अनुचित और अनार्थिक है, क्योकि इससे वह निर्माताओ के लाभ, पशुओ के भोजन तथा अच्छी खाद,

१. रिपोर्ट आव दि टैरिफ बोर्ड आन हेवी केमिकल इण्डस्ट्री (१९२९) पैरा ७४।
२. मैगनेशियम क्लोराइड उद्योग पर प्रशुल्क-मण्डल की रिपोर्ट (१९३८), पृ० १५।

से वञ्चित रह जाता है। इसके अतिरिक्त वनस्पति तेलो के और भी अनेक महत्त्वपूर्ण उपयोग हैं और सभ्य समाज के आर्थिक जीवन में उनका बडा महत्त्वपूर्ण स्थान है। वनस्पति तेल और चरबी साबुन और ग्लिसरीन बनाने, भोजन पकाने तथा मशीनो में तेल लगाने (लुब्रीकेटिंग) के लिए आवश्यक हैं। १९१४-१८ के युद्ध के बाद से भारतीय मिल उद्योग को बडे पैमाने पर विकसित करने की सम्भावना पर पर्याप्त ध्यान दिया गया है। द्वितीय विश्व-युद्ध ने इसे नवीन प्रोत्साहन दिया और निर्यात में कमी आ जाने के कारण विकास की आवश्यकता अब और अधिक बढ गई है।

३२ कागज़ निर्माण—भारत में आधुनिक काल में यन्त्र-निर्मित कागज का प्रारम्भ १८७० में हुगली पर बैली मिल्स की स्थापना से होता है। उसके आस-पास का क्षेत्र अब भी उद्योग का प्रधान केन्द्र है। १८८२ में टीटागढ पेपर मिल्स की स्थापना हुई और बाद में १८९२-९४ में ककीनारा की इम्पीरियल पेपर मिल इसमें मिल गई। १८९२ के तीस वर्ष बाद तक हुगली पर कागज़ की कोई नई मिल नही स्थापित हुई। किन्तु १९२२ में इण्डियन पेपर पल्प कम्पनी ने, जो बाँस से कागज़ और लुगदी बनाने के लिए १९१८ में बनाई गई थी, नैहाटी मिल में कागज़ उत्पन्न करना आरम्भ कर दिया। जहाँ तक देश के उत्तरी भागो की कागज मिलो का सम्बन्ध है अपर इण्डिया पेपर मिल लखनऊ में १८७९ में स्थापित हुई। १८८५ में दकन पेपर मिल कम्पनी बनाई गई और उसने १८८७ से पूना में काम चालू किया। उत्तरी भागो में वर्तमान काल की सबसे महत्त्वपूर्ण कागज मिल रानीगज में है। यह १८८९ में बनाई गई तथा बगाल पेपर मिल कम्पनी द्वारा १८९१ में चालू की गई थी। पजाब पेपर मिल्स कम्पनी को सहारनपुर के निकट अपनी मिल के लिए भाबर घास के सम्बन्ध में बहुत छूट (रिआयत) प्राप्त है। आसाम में एक नई कम्पनी की स्थापना की गई है और चिटगाँव में बाँस से लुगदी बनाने के लिए एक नई फैक्ट्री खोली गई है। १९३८-३९ में भारत में कुल ११ कागज की मिलें थी बम्बई में चार, बगाल में चार, उत्तर प्रदेश में एक, मद्रास में एक और त्रावनकोर में एक। कागज के निर्माण के लिए तब से नई-नई कितनी सस्थाएँ प्रारम्भ हुई हैं। इनमें मैसूर पेपर मिल्स, जिसने भद्रावती में १९३९ से कार्य आरम्भ किया तथा निजाम के राज्य में सिरपुर पेपर मिल्स (१९४२) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। गत युद्ध से कागज उद्योग को बहुत लाभ हुआ है जैसा उसकी उत्पादन की वृद्धि से प्रकट है—१९३८ मे कागज़ का उत्पादन ४८,५३१ टन था जबकि १९४४ में बढकर १०३,८८४ टन हो गया।[1] कागज के मूल्य में भी ३०० प्रतिशत से अधिक की वृद्धि हुई।

प्रशुल्क-मण्डल ने कागज के वार्षिक उपभोग की कुल अनुमानित मात्रा १००,००० टन में से भारतीय कागज-निर्माताओं के लिए ५०,००० टन की माँग का अनुमान किया।

अभी हाल के वर्षो तक कागज बनाने वालो का मुख्य कच्चा माल सबाई घास थी, जो उत्तरी भारत में बहुतायत से उत्पन्न होती है। कागज बनाने मे भारतीय

[1] ईस्टर्न इकानामिस्ट, जुलाई १९, १९४६, पृ० १११।

लकडी का उपयोग अभी नही हुआ है और लुगदी का आयात यूरोप से होता है। सस्ते कोटि के कागज के लिए जूट की रद्दी और रद्दी कागज प्रयोग में आते हैं। बाँस की लुगंदी से कागज वनाने वाली पहली कम्पनी इण्डियन पेपर पल्प कम्पनी थी। सवाई घास अन्य वनस्पतियों के साथ यत्र-तत्र गुच्छो में उगती है और इस पर प्रतिकूल मौसम का कुप्रभाव भी पडता है। बाँस की प्रति एकड उपज घासो से अधिक है और उत्पादन की लागत कम है। वाँस बगाल, उडीसा और दक्षिण-पश्चिमी भारत में सुगमता से मिल जाता है। भारत में उपभोग होने वाले कागज़ की वृहद् मात्रा के लिए वाँस के रेशे काफी अच्छे है यद्यपि मजबूती और टिकाऊपन में वे सवाई घास से हीन होते है, परन्तु वन अनुसन्धान केन्द्र (फारेस्ट रिसर्च इस्टीट्यूट) द्वारा किये गए अनुसन्धानो के फलस्वरूप वाँस के कागज़ की लुगदी के उद्योग से वहुत आशाएँ हो गई है। उद्योग अभी तक कुछ असुविधाओ, जैसे रसायनो की ऊँची लागत, कोयला ढोने की ऊँची दर, और स्कॅडिनेविया, जर्मनी, इंगलिस्तान, आस्ट्रिया, जापान और सयुक्त राज्य अमेरिका से कठोर प्रतिस्पर्धा आदि से ग्रस्त रहा है। १९३९ में युद्ध आरम्भ होने के वाद—अस्थायी रूप ही से सही—यह प्रतिस्पर्धा अधिकांशत. समाप्त हो गई।

३३. कागज उद्योग को संरक्षण—भारतीय कागज़ से प्रतिस्पर्धा करने वाले लिखाई और छपाई के कुछ कागजो पर १९२४ के प्रशुल्क-मण्डल ने पाँच वर्ष के लिए एक आना प्रति पौण्ड का सरक्षण-कर लगाने की सिफारिश की। १९२५ में बाँसी कागज़ उद्योग (बैम्बू पेपर इण्डस्ट्री) (सरक्षण) अधिनियम पास किया गया जिसमें उद्योग को सुदृढ आधार प्रदान करने के हेतु ३१ मार्च, १९३२ तक सात वर्ष के लिए एक आना प्रति पौण्ड का सरक्षण-कर लगाने की व्यवस्था थी। प्रशुल्क-मण्डल के सुझाव के अनुरूप बाँसी कागज उद्योग (सरक्षण) अधिनियम (१९३२) ने ३१ मार्च १९३९ तक के लिए सरक्षण कर का पुन नवीकरण कर दिया। बाँस की लुगदी के उत्पादन और उपयोग को निश्चित रूप से प्रोत्साहन देने के लिए इसी अधिनियम ने आयात की हुई लुगदी पर ४५ रु० प्रति टन के हिसाब से एक नया सरक्षण-कर लगा दिया। ३१ मार्च, १९३९ के वाद भी कागज उद्योग को सरक्षण देने का प्रश्न १९३७-३८ में प्रशुल्क मण्डल की जाँच का विषय था। भारत सरकार ने मण्डल द्वारा प्रस्तावित दर से नीची दर पर उद्योग के लिए सरक्षण जारी रखने का निश्चय किया[१] और अपने निर्णय को भारतीय प्रशुल्क (द्वितीय सशोधन) अधिनियम १९३९ पास करके कार्यान्वित किया। सरक्षण तीन वर्ष के लिए दिया गया किन्तु वाद में इसकी अवधि मार्च, १९४७ तक के लिए वढा दी गई तथा इसी वर्ष सरक्षण-कर समाप्त कर दिया गया।[२] कागज की लुगदी पर ३० रु० प्रति टन या मूल्यानुसार २५ प्रतिशत का कर (जो भी अधिक हो) लगाया गया। कागज़ पर सरक्षण कर ११ पाई प्रति पौण्ड के स्थान पर ९ पाई प्रति पौण्ड निश्चित किया गया।

---

१. कागज और कागज की लुगदी के उद्योगों पर प्रशुल्क-मण्डल की रिपोर्ट (१९३८), पैरा ७१ देखिए।

२. मार्च १९४७ से आयात किये हुए कागज पर मूल्यानुसार ३० प्रतिशत कर लगता है।

भारत अखबारी कागज तथा कुछ अन्य विशेष प्रकार के कागजो, जैसे लिथो और पोस्टर के कागज तथा परिवेष्टन (पैकिंग) कागज के लिए बडी मात्रा में पुराने अखबारो आदि के लिए बाहरी आयात पर निर्भर है। १९३९ से आयात के कम हो जाने तथा जहाजरानी की कठिन परिस्थितियो के कारण बडी कठिनाई अनुभव की जाने लगी। देश में उत्पन्न विभिन्न प्रकार के कागज १९४४ के पेपर कण्ट्रोल आर्डर के अन्तर्गत (मित-व्यय) कर दिये गए और उत्पादन का बडा प्रतिशत सरकारी उपभोग के लिए निश्चित कर दिया जाने लगा। इससे नागरिक उपयोग के लिए कागज की कमी, विशेषकर विश्वविद्यालयो तथा अन्य शिक्षण-सस्थाओ के लिए, गम्भीर कठिनाई बन गई।[1]

---

[1] अब भारत में कागज और पट्ठा बनाने की १७ फैक्ट्रियाँ हैं। इन मिलों का विभिन्न राज्यों में वितरण तथा उनकी वार्षिक उत्पादन-क्षमता नीचे दिखाई गई है

राज्य	मिलों की सख्या	वार्षिक उत्पादन क्षमता (टनों में) (३०० दिन के अनुसार)
पश्चिमी बगाल	४	५८,५००
बिहार	१	११,०००
उडीसा	१	३१,५००
उत्तर प्रदेश	२	६,४००
पजाब और पेप्सू	१	८,५००
बम्बई	३	५,१००
मद्रास	२	२,६००
हैदराबाद	१	५,०००
मैसूर	१	४,०००
त्रावनकोर-कोचीन	१	४,०००
	१७	१३६,६००

अभी हाल के वर्षों में विभिन्न प्रकार के कागज और पट्ठे का उत्पादन निम्न था

	१९५०-५१ ('००० टनों में)	१९५१-५२ ('००० टनों में)
(i) छापने और लिखने का कागज	७२ १४६	८२ ९७७
(ii) परिवेष्टन	१७·५११	२५ ३८६
(iii) विशेष प्रकार	३ २६२	२ ४८३
(iv) पट्ठा		
(अ) डूप्ले और ट्रिप्ले	६ ६३७	१२ ०१५
(ब) लुगदी का पट्ठा	७ ४५३	६ ३८३
(स) अन्य पट्ठे	३ ६३१	५ ६२८
	११३ ७४३	१३४·८७२

देश में कागज के उपभोग के सम्बन्ध में पेपर पेनल (१९४७) का अनुमान (१९५१ के लिए) २,२०,००० टन था। १९५६ में उपभोग की मात्रा ३,२०,००० टन अनुमानित की गई है। इस अनुमान में न्यूजप्रिण्ट शामिल नहीं है। योजना आयोग ने न्यूजप्रिण्ट तथा पुराने अखबारों को छोड़कर १९५१-५२ और १९५२-५३ के लिए १,७५,००० टन के वार्षिक उपभोग का अनुमान लगाया। उनके अनुसार १९५५-५६ तक उपभोग की मात्रा २,००,००० टन हो जायगी। न्यूजप्रिण्ट के सम्बन्ध में उपभोग के अनुमान इस प्रकार हैं १९५१-५२ और १९५२-५३ में ८०,००० टन, १९५५-५६ में १००,००० टन।

३४. शीशा-निर्माण—शीशा बनाने का उद्योग बहुत प्राचीन है और इसका हवाला प्लिनी ने भी दिया है, जिसने रवो से बने उत्तम 'भारतीय शीशो' की बहुत प्रशसा की है। किन्तु प्राचीन उद्योग के कोई चिह्न अवशेष नही हैं और अब निश्चित रूप से केवल इतना ही कहा जा सकता है कि सोलहवी शताब्दी में यह एक भली भाँति स्थापित उद्योग के रूप में विद्यमान था। किन्तु उस समय भी यह उद्योग चूड़ियो तथा कुछ सीमा तक छोटी बोतलो और फ्लास्को के निर्माण में प्रयुक्त निम्न कोटि की सामग्री के उत्पादन से अधिक विकसित नही हो सका था। आज की भाँति उस समय भी देश में चूडियो की बडी माँग थी। हाल में ही १८९२-९३ के बीच आधुनिक प्रकार की शीशे की पाँच फैक्ट्रियाँ खोली गईं। किन्तु थोडे-बहुत समय के बाद वे सभी समाप्त हो गईं। जो फैक्ट्रियाँ यूरोपीय प्रबन्धको के हाथ में थी उन्होने कठिन सघर्ष किया और अधिक समय तक टिकी रही, किन्तु उनमें से अन्तिम १९०८ में फेल हो गई। एक अन्य असफल यूरोपीय प्रयास मद्रास में १९०९ में किया गया।

ऐसा प्रतीत होता है कि शीशा उद्योग के प्रति भारतीय विशेष रूप से आकृष्ट हैं, क्योकि पिछली असफलताओ के बावजूद भी १९०६-१३ के स्वदेशी काल में भारतीय साहसोद्यमियो द्वारा छोटे पैमाने पर सोलह फैक्ट्रियाँ खोली गईं। किन्तु सन् १९१४ में उनमें से केवल तीन ही चालू थी और कोई भी व्यापारिक लाभ नही उठा रही थी। यद्यपि पूना जिले में पयसा कोप की सहायता से तलगाँव फैक्ट्री विचित्र और अव्यापारिक ढग से अपना काम चला रही थी।

उद्योग की वर्तमान अवस्था में उसे दो स्पष्ट भागो में विभाजित किया जा सकता है (१) देशी कुटीर (चूडी बनाने का) उद्योग और (२) आधुनिक फैक्ट्री उद्योग। यों तो देशी उद्योग सम्पूर्ण भारत में बिखरा हुआ है किन्तु यह उत्तर प्रदेश के फिरोजाबाद और दक्षिण के बेलगाँव में विशेष रूप से केन्द्रित है। फिरोजाबाद मे चूडी बनाने वालो की एक बडी बस्ती है और चूडी की लगभग ६० फैक्ट्रियाँ हैं। किन्तु जापान से आयात की हुई 'रेशमी' चूडियाँ देश में तैयार वस्तुओ की गम्भीर प्रतिद्वन्द्वी रही हैं।

फैक्ट्री उद्योग अब भी अपनी शैशवावस्था में है और इसका उत्पादन प्रमुख रूप से अभी लैम्प के सामान तथा कुछ कम मात्रा में बोतलो तथा करावा के निर्माण तक सीमित है। युद्धकाल (१९१४-१८) मे अस्त्र-शस्त्र-मण्डल द्वारा स्वीकृत विशिष्ट प्रकार के शीशो की माँग के कारण मिले प्रोत्साहन के फलस्वरूप बहुत सी फैक्ट्रियाँ शीशे की नलियो, फलास्को, बीकरो, पेट्री तश्तरियो और टेस्ट ट्यूबो के उत्पादन में सफल रही और इण्डियन मेडिकल सर्विस द्वारा नियन्त्रित वैज्ञानिक प्रयोगशालाओ की

पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत कागज के मूल्य को कम करने तथा और अच्छे प्रकार के कागज का उत्पादन करने के लिए उत्पादन-विधि का आधुनीकरण प्रस्तावित है। आशा की जाती है कि मिलों की विस्तार योजनाओं के फलस्वरूप १९५५-५६ तक उद्योग की उत्पादन-क्षमता कागज और पट्ठे के लिए २,११,००० टन और न्यूज प्रिण्ट के लिए ३०,००० टन हो जायगी तथा कागज और पट्ठे तथा न्यूज प्रिण्ट का वास्तविक उत्पादन क्रमश' २,००,००० टन और २७,००० टन हो जायगा।

माँग की पूर्ति के लिए भी कुछ फैक्ट्रियाँ आरम्भ की गईं।

१९३९-४५ के युद्ध के दौरान में उद्योग ने परिमाण तथा उत्पादन की विविधता दोनो ही दिशाओ में पर्याप्त उन्नति की।

भारतीय शीशा उद्योग के आयोजित विकास के सम्बन्ध में सुझाव देने के लिए भारत सरकार ने १९४५ में एक शीशा जाँच मण्डल (पेनल) की नियुक्ति की। मण्डल ने यह मत प्रकट किया है कि शीशा औद्योगिक विकास के लिए एक मूल पदार्थ है, अतएव आगामी दस वर्ष में उसके विकास के लिए दृढ प्रयत्न करने चाहिएँ ताकि यह उद्योग विकसित देशो के शीशा-उद्योग के समान हो जाय।

३९. शीशे का आयात—१९१४ के पहले भारत १९० लाख रुपये के शीशा और शीशे के वर्तनो का आयात करता था। उसके प्रमुख आयात चूडियाँ, काँच के गुटिके, नकली मोती, लैम्प का सामान, बोतलें और शीशियाँ, सोडावाटर की बोतलें आदि थे। इस व्यापार में आस्ट्रिया और जर्मनी का स्थान प्रमुख था। कुल आयात में उनका भाग ५७% था। १९१४-१८ के युद्धकाल में चूडियो और लैम्प के सामानो का आयात कम हो गया और उनका स्थान आशिक रूप से भारतीय सामान ने ले लिया। १९२९-३० में आयात का मूल्य २५२ लाख रुपये था और ये मुख्यतया जापान, इगलिस्तान, जर्मनी, बेल्जियम और जेकोस्लोवाकिया से आते थे। इससे प्रकट है कि भारतीय उद्योग उस समय भी अपनी शैशवावस्था में ही था। आयात का मूल्य १९२९-३० के २५२ लाख रुपये से घटकर १९३१-३२ में १२२ लाख रुपये रह गया। १९३७-३८ में वह बढकर १५२ लाख रुपये हो गया किन्तु १९३८-३९ में घट कर पुन १२५ लाख रुपये रह गया। आयात व्यापार में जापान का स्थान अब भी सर्वप्रथम था।[1]

वाह्य प्रतिस्पर्धा के अतिरिक्त अनुभवहीन नियन्त्रण, प्रशिक्षित व्यक्तियो का अभाव, कोयला, सोडा ऐश, चूना और रेत जैसे पदार्थो की कमी तथा अपर्याप्त धन आदि अन्य कठिनाइयाँ थी। प्रशुल्क-मण्डल द्वारा प्रकाशित आँकडो के अनुसार १९३२ में शीशे की ५९ फैक्ट्रियाँ थी। इनके प्रधान केन्द्र बम्बई, जबलपुर, इलाहाबाद, नैनी, बहजोई, अम्बाला, लाहौर और कलकत्ता थे। उत्तर प्रदेश में इलाहाबाद और नैनी को

१ काच उद्योग की वर्तमान स्थिति इस प्रकार है

देश में उत्पादन धीरे-धीरे बढ रहा है जैसा कि उत्पादन के निम्न आंकड़ों से प्रकट है

वर्ष	काच का सामान	शीशे की चद्दरें
१९४५	१,१०,००० टन	१३० लाख वर्गफीट
१९४८	६५,००० ,,	६२५ ,, ,,
१९४९	६६,८२४ ,,	३४५ ,, ,,
१९५०	८६,०९८ ,,	९५७ ,, ,,
१९५१	९०,३२४ ,,	११०८ ,, ,,
१९५२*	९०,९०० ,,	१४७९ ,, ,,

*अनुमानित

इसके विपरीत काच के सामान का निर्यात धीरे-धीरे कम हो रहा है। सन् १९४५ में निर्यात का मूल्य ४६ लाख रुपये था, परन्तु इधर हाल में निर्यात बहुत कम हो गए हैं जैसा कि नीचे दी गई तालिका मे स्पष्ट है

कच्चे पदार्थ और ईंधन की पूर्ति की सन्निकटता के कारण वम्बई जैसे-अन्य केन्द्रो की तुलना में कही अधिक सुविधाएँ प्राप्त हैं।[1]

विद्युत्-चालित शीशे की भट्टियो को सस्ती विजली की पूर्ति करके ईंधन की समस्या को हल किया जा सकता है, किन्तु यह इतना सरल नही है जितना किसी [illegible]मेय लोग समझते थे। शीशा उद्योग अपने सरलतम रूप में भी अत्यन्त प्रौद्योगिक है और केवल वैज्ञानिक विधि से प्रशिक्षित प्रवन्धको तथा कुशल कारीगरो द्वारा ही कुशलतापूर्वक चलाया जा सकता है। अतएव इस उद्योग के सम्बन्ध में श्रम सम्बन्धी कठिनाइयाँ वहुत गम्भीर हैं। तेलगांव में पयसा फण्ड ग्लास वर्क्स ने शीशा धोकने वालो को प्रशिक्षित करने की दिशा मे उपयोगी काम किया है और युद्ध की परिस्थितियों में उद्योग का प्रसार केवल उन व्यक्तियो की उपलब्धि के कारण हो सका जो तेलगांव के थे, यद्यपि वहाँ के प्रशिक्षण मे वहुत सी वाञ्छनीय वातो का अभाव है। रेल सम्वन्धी सुविधाएँ भी आवश्यक हैं।

३९. शीशा उद्योग को संरक्षण—उत्तर प्रदेशीय सरकार द्वारा एक शीशे के प्रौद्योगिक विशेषज्ञ की नियुक्ति के फलस्वरूप शीशे के उद्योग का भविष्य सुधर गया है। विजली के लैम्प के लिए वल्वो, शीशे की ढक्कनदार वोतलो, प्रयोगशाला के शीशे इत्यादि के निर्माण में सन्तोषजनक फल प्राप्त हुआ है। द्वितीय महायुद्ध ने भी उद्योग को प्रोत्साहित किया। १९३९ में दो नवीन फैक्ट्रियाँ खोली गई और आयात में प्रशसनीय कमी हुई। अक्तूबर १९३१ में शीशा उद्योग को सरक्षण देने की उपयुक्तता के प्रश्न प्रशुल्क-मण्डल को सौंप दिया गया। सन् १९३२ में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करते हुए मण्डल ने दस वर्ष की अवधि के लिए सरक्षण देने की सिफारिश की और शीशे की चादर, प्लेट ग्लास, चूडियाँ, काचगुटिका, नकली मोती, शीशे और शीशे के

वर्ष	निर्यात का मूल्य (लाख रुपयों में)
१९४५	४६ ००
१९४७-४८	२५·७०
१९४८-४९	२४·२९
१९४९-५०	१०·०५
१९५०-५१	१५·०४
१९५१-५२	२१ ४२

निर्यात में कमी के प्रमुख कारण अन्य देशों का शीशे के आयात पर प्रतिवन्ध लगाना तथा देश में शीशे की उत्पादन-लागत वढ जाना है।

प्रथम पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत शीशे के उद्योग की स्थिति इस प्रकार वताई गई है

	१९५०-५१ (उत्पादन सामर्थ्य टनों में)	१९५० उत्पादन	१९५५-५६ (अनुमानित उत्पादन सामर्थ्य टनों में)	अनुमानित उत्पादन (टनों में)
कॉंच का सामान जैसे वोतल, चिमनी आदि	२,११,०००	८६,०००	२,३७,८००	१,३७,५०० से १,४२,५००
शीशे की चद्दरें	१२,०००	५,०००	५२,२००	२६,०००
चूड़ियाँ	३५,०००	१६,०००	३५,०००	१६,०००

१ देखिए फाक्स, 'नोट्स ऑन ग्लास मैनुफैक्चर', (इण्डियन इण्डस्ट्री एण्ड लेवर की वुलेटिनें) न० २९, १९२२।

सामानो पर सरक्षण कर सम्वन्धी प्रस्ताव प्रस्तुत किये। भारत सरकार का निर्णय, जो अत्यधिक विलम्ब से जून, १६३५ में घोपित हुआ, प्रशुल्क-मण्डल की खोज के विरुद्ध था। उन्होने सरक्षण के तर्क को इस आधार पर अस्वीकार किया कि देश में कच्चे माल (सोडा ऐश) की पूर्ति का अभाव एक ऐसी कठिनाई है जो उद्योग के अन्य लाभो से पूरी नही की जा सकती। उन्होने अपने अन्तिम निर्णय को उस समय तक के लिए स्थगित कर दिया जब तक कि सोडा ऐश के नवीन साधनो की पूरी खोज न हो जाय। इस बीच उन्होने तीन वर्प की अवधि के लिए आयात किये हुए सोडा ऐश पर कर में छूट देकर कुछ सहायता देने का निर्णय किया। भारत सरकार के इस निर्णय ने शीशा-उत्पादको में बहुत निराशा उत्पन्न की और यह निर्णय सामान्य रूप से आलोचना का विपय रहा। प्रशुल्क-मण्डल का मत यह था कि भारत में सोडा ऐश के पर्याप्त साधन न होते हुए भी इस आधार पर शीशा उद्योग का सरक्षण पाने का अधिकार समाप्त नही हो जाता।[1]

३७ **सीमेण्ट उद्योग**—बडे आश्चर्य की बात है कि देश में विस्तृत बाजार, उत्पादन की अनुकूल परिस्थितियाँ तथा राष्ट्रीय महत्ता होते हुए भी सन् १६१४ के पहले सीमेण्ट उद्योग का नगण्य स्थान था और यह उद्योग ब्रिटिश प्रमापो के अनुकूल उत्पादन करने में असमर्थ था। भारत में १६१४ के पूर्व भी सीमेण्ट की बहुत अधिक खपत थी और प्रतिवर्प लगभग १८०,००० टन का आयात होता था। १६१८ के बाद सीमेण्ट की माँग तीव्रता से बढ गई और यह माँग प्रतिवर्ष १०,००,००० टन से भी अधिक है। पुलो तथा भारी भवन-निर्माण के सभी भाँति के कार्यो में लौह ककडी का प्रयोग शीघ्रता से बढ रहा है। यह भी कहा जाता है कि अब इस्पात-युग के बजाय सीमेण्ट और लौह ककडी का जमाना आ रहा है।

पोर्टलैण्ड सीमेण्ट का उत्पादन बहुत काल पहले १६०४ में ही मद्रास में आरम्भ हो गया, किन्तु दस वर्ष तक उत्पादन बडे पैमाने पर नही किया जा सका। १६१२-१३ में तीन कम्पनी बनाई गई। सबसे पहले कार्य आरम्भ करने वाली पोरबन्दर (काठियावाड) की इण्डियन सीमेण्ट कम्पनी थी, जिसका अनुसरण कटनी सीमेण्ट एण्ड इडस्ट्रियल कम्पनी (मध्य प्रदेश) और बूँदी सीमेण्ट पोर्टलैण्ड कम्पनी राजस्थान ने किया। उद्योग मुख्यत सरकार के सरक्षण से ही विकसित हुआ जो १६१४-१८ के युद्ध में उत्पादन का बहुत बडा भाग खरीदती थी। दोनो युद्धो के बीच के अभिवृद्धि-काल में अनेक कम्पनियो का प्रवर्तन हुआ। तीन पुरानी कम्पनियो का उत्पादन दूना हो गया और सात नई कम्पनियाँ खोली गई, जिनमें से छ कम्पनियो ने १६२३ तक कार्य करना आरभ कर दिया। इस भाँति विकास बड़ी तेजी से हुआ और उत्पादन १६१४ के ६४५ टन से बढकर १६२४ में २३६,७४६ टन हो गया। इसी काल में आयात १६५,७३३ टन से घटकर १२४,१८६ टन रह गया। १६३०-३१ में आयात और कम हुआ तथा ११२,००० टन रह गया, जिसमें से इगलिस्तान ने ६३,२०० टन की पूर्ति की। अन्य प्रधान साधन जापान, जर्मनी,

१ प्रशुल्क मण्डल (शीशा उद्योग) की रिपोर्ट, पैरा ३६।

इटली और बेलजियम थे। १९३८-३९ में सीमेण्ट के आयात में और कमी हुई और १० लाख रु० के मूल्य के २१,००० टन सीमेण्ट का आयात हुआ। १९४०-४१ मे ६ लाख रुपये का ४,२०० टन आयात हुआ। इस सम्बन्ध में देश अब लगभग आत्म-निर्भर हो गया है। १९३२-३३ मे भारत में ५९३,००० टन सीमेण्ट का उत्पादन हुआ जो १९३७-३८ में लगभग दूना हो गया। भारतीय सीमेण्ट ब्रिटिश सीमेण्ट से खराब नही और यूरोप के सस्ते सीमेण्ट से भली भाँति स्पर्धा करता है। भारत के असोशिएटेड सीमेण्ट कम्पनीज़ ऑव इण्डिया लिमिटेड नामक एक प्रभावशाली सयोजन का निर्माण प्रगति की दिशा में एक बडा कदम था। दस प्रधान कम्पनियो के इस आश्चर्यजनक सयोजन ने उद्योग के प्रौद्योगिक और वाणिज्यिक सगठन में सुधार ला दिया है।[1] प्रतिद्वन्द्वी कम्पनियो के सयोजन की बातचीत अभी फलित नही हुई है। अनेक प्रमुख नगरो में भवन-निर्माण की अभिवृद्धि की शिथिलता, बम्बई और अहमदाबाद मे सम्पत्ति-कर का आरोपण तथा इस्पात के मूल्य में युद्धकालीन वृद्धि आदि ने भी देश में सीमेण्ट की माँग पर प्रतिकूल प्रभाव डाला है। जहाँ एक ओर १९३९-४५ के युद्ध ने उत्पादन-लागत बढा दी वहाँ दूसरी ओर निर्यात के लिए पर्याप्त माँग के द्वार भी खोल दिए। सीमेंट उद्योग पर उत्पादको के दो समूहो का प्रभुत्व है—असोशिएटेड कम्पनी और डालमिया, जिनके उत्पादन का योग कुल उत्पादन का ८५% है। गत वर्षो में सीमेण्ट की माग बहुत बढ गई है और उद्योग की उत्पादन-क्षमता बढाने की अत्यन्त आवश्यकता है।[2]

प्रशुल्क-मण्डल ने देखा कि उद्योग को कच्चे माल की सुविधाएँ प्राप्त थी, किन्तु कोयले की खानो से दूर होने के कारण ईधन के सम्बन्ध में बडी कठिनाई थी। बाज़ार के विषय में मण्डल का कहना है कि काठियावाड की फैक्ट्रियो को छोडकर भारतीय सीमेण्ट फैक्ट्रियो के लिए देश के अन्दर के बाज़ार स्वभावत सरक्षित बाजार है, क्योंकि वे किसी भी बन्दरगाह से ३०० मील से अधिक दूरी पर स्थित है। अन्यत्र भारतीय सीमेंट को विदेशी सीमेण्ट से प्रतिस्पर्धा करनी पडती है। किन्तु भारत की सीमेण्ट का प्रधान बाज़ार सुदूरवर्ती आन्तरिक भाग में न होकर बम्बई और कलकत्ता के बन्दरगाहों के समीप है, अतएव भारतीय फैक्ट्रियो को बन्दरगाहो से दूर होने के कारण यहाँ

१ तब से एक इकाई (कटनी सीमेण्ट कम्पनी) बन्द हो गई है, परन्तु दो नई कम्पनियों ने काम करना आरम्भ कर दिया है।

२ नीचे दी हुई तालिका सीमेण्ट का उत्पादन और आयात दिखा रही है.

वर्ष	उत्पादन (लाख टन)	आयात (लाख टन)
१९४८-४९	१६'२	१'४७
१९४९-५०	२२'६	३ ४०
१९५०-५१	२६ ९	० १८
१९५१-५२	३३'०	० १३
१९५२-५३	३६ ०	० १३

इस समय भारतवर्ष में सीमेण्ट की २३ फैक्ट्रियाँ है। नीचे दी हुई तालिका १९५०-५१ में विभिन्न राज्यों में फैक्ट्रियों का वितरण दिखा रही है। १९५५-५६ में इनके वितरण का स्वरूप भी तालिका में दिखाया गया है।

असुविधा है।[1]

१९२४ में मण्डल ने इस आधार पर सरक्षण देने से इन्कार कर दिया कि उद्योग अति-उत्पादन से ग्रस्त था और मूल्य आयात के बजाय भारतीय उत्पादको की आन्तरिक प्रतिस्पर्धा से निश्चित होता था। किन्तु उनका विचार था कि शीघ्र ही स्थिरता आ जायगी। सीमेण्ट की फैक्ट्रियो के कोयले के क्षेत्रो और बन्दरगाहो से अधिक दूर होने के कारण उत्पन्न हुई कठिनाई को दूर करने के लिए मण्डल ने एक विधान बनाने की सिफारिश की, जिससे सरकार बन्दरगाहो के निश्चित अर्द्धव्यास की परिधि के अन्दर भारतीय फैक्ट्रियो द्वारा भेजे जाने वाले सीमेण्ट को सहायता प्रदान कर सकें। परन्तु यह सहायता उसी समय दी जा सकती थी जब इसके कारण आयात की हुई सीमेण्ट की तुलना में भारतीय सीमेण्ट के मूल्य में कमी न हो। भारत सरकार ने ऐसी दशाबद्ध नियमावली के सिद्धान्त को स्वीकार नही किया और रिपोर्ट पर कोई कार्रवाई न करने का निर्णय किया।

२८ दियासलाई उद्योग[2]—१८९५ में स्थापित अहमदाबाद की गुजरात इस्लाम मैच फैक्ट्री को छोडकर, १९२१ तक दियासलाइयो का निर्माण व्यावसायिक स्तर पर सफलतापूर्वक नही होता था। वित्त के उद्देश्य से १९२२ में एक रुपया आठ आना प्रति ग्रॉस (ग्रॉस=बारह दर्जन) या मूल्यानुसार १०० प्रतिशत से भी अधिक आयात-कर लगा देने से गत वर्षों में उद्योग का पर्याप्त विस्तार हुआ है। प्रति वर्ष सात करोड ग्रास खपत के होने के कारण उद्योग को एक विशाल घरेलू बाजार प्राप्त

राज्य	१९५०-५१		१९५५-५६	
	सख्या	नियत सामर्थ्य हजार टनों में	सख्या	नियत सामर्थ्य हजार टनों में
बिहार	५	९२१	६	१,१६०
उडीसा	.		१	१६५
उत्तर प्रदेश			१	२००
मध्य प्रदेश	१	३५०	१	३५०
मध्य भारत	१	६०	१	६०
राजस्थान	१	२२५	२	५२५
पेप्सू	२	२४२	२	३८२
सौराष्ट्र	३	३३७	३	५६२
बम्बई			२	३००
मद्रास	५	७६६	५	८८२
मैसूर	१	८६	१	९०
ट्रावनकोर-कोचीन	१	५०	१	५०
हैदराबाद	१	२४०	१	२८०
योग	२१	३,२८०	२७	५,००६

[1] प्रशुल्क मण्डल की (सीमेण्ट उद्योग) १९२५ की रिपोर्ट देखिए, पैरा ८-१२।

[2] कोयला और नमक उद्योग का विवरण प्रथम खण्ड के दूसरे अध्याय में दिया गया है और चीनी तथा चाय उद्योग इसी भाग के छठे अध्याय में दिये गए हैं।

है। श्रम सस्ता है और सरल यन्त्रो के सचालन में भली भाँति पटु है। आयात-कर लग जाने के कारण स्वीडन के विशाल सयोजन (कम्बाइन) द्वारा, जो संसार की ७०% माँग का नियन्त्रण करता है, भारत में दियासलाई की फैक्ट्रियो की स्थापना उद्योग का महत्त्वपूर्ण विकास है। इस विदेशी व्यापारिक सस्था का भारतीय उद्योग पर प्रतिकूल प्रभाव पडने के कारण दियासलाई के भारतीय निर्माताओ ने इसका पर्याप्त विरोध किया। १९२८ में प्रशुल्क-मण्डल ने सरक्षण के सम्बन्ध में रिपोर्ट देते हुए कहा कि दियासलाई के मूल्य का नियमन आन्तरिक स्पर्धा द्वारा होता है तथा उपभोक्ता को वे यथासम्भव सस्ती मिल जाती है और इसलिए उद्योग बिना सहायता के ही अन्य देशों की प्रतिस्पर्धा का सामना करने मे समर्थ है। किन्तु उन्होने सिफारिश की कि एक रुपया आठ आना प्रति ग्रॉस का चालू आयात-कर अनिश्चित काल के लिए एक सरक्षण-कर में बदल दिया जाय ताकि उद्योग को आश्वासन प्राप्त हो सके कि अब तक प्राप्त सुरक्षा से वह यकायक ही वञ्चित नही कर दिया जायगा। इनका मत था कि स्वीडिश मैंच कम्पनी भारत में उद्योग के प्रसार के सम्बन्ध में उपयोगी काम करती रही है। परन्तु उन्होने कम्पनी को रुपये की पूँजी और भारतीय सचालको की नियुक्ति द्वारा भारत की राष्ट्रीय एव राजनीतिक चेतना के अनुरूप पुनर्निर्माण करने की राय दी। उन्होने कम्पनी की देख-रेख करने की आवश्यकता भी स्वीकार की ताकि वह अपने वृहद साधनो द्वारा एकाधिकार न स्थापित कर ले।[1]

प्रशुल्क-मण्डल के सुझाव के अनुरूप विधान सभा ने दियासलाई उद्योग (सरक्षण) अधिनियम (बिल) सितम्बर, १९२८ में पास किया, जिसके अनुसार एक ग्रॉस डिबियो पर (जिनमें एक दियासलाई में १०० सलाइयाँ होती थी) १ रु० ८ आ० का कर निर्धारित किया गया।[2] दियासलाई बनाने के लिए बिना डुबोई सलाइयो पर ४½ आना प्रति पौण्ड की दर से और डिबियाँ बनाने के लिए उपयोग मे आने वाली पतली लकडी पर ६ आना प्रति पौण्ड की दर से कर लगाया गया। प्रशुल्क-मण्डल और सरकार की स्वीडिश मैंच कम्पनी जैसी एक विदेशी सस्था को भारतीय हितो की रक्षा के लिए परिनियत ढग से सावधानियो को अपनाए बिना उसे सरक्षण का लाभ देने की नीति का देश के जनमत के बहुत बडे भाग और भारतीय वाणिज्य मण्डल ने तीव्र विरोध किया।

एक ऊँचे कर की छाया में भारतीय दियासलाई उद्योग भारत की घरेलू माँग की पूर्ति करने में समर्थ रहा है और विदेशी दियासलाइयो का आयात अब कम है। दियासलाई बनाने के पदार्थों के आयात में ह्रास हो रहा है जिससे यह स्पष्ट है कि उद्योग अपनी आवश्यकताओ की अधिकाधिक पूर्ति घरेलू साधनो से कर

१ मण्डल का मत था कि फैक्ट्रियों के वृहद् उत्पादन को दृष्टि में रखते हुए कुटीरोद्योग आधार पर दियासलाई का उत्पादन बिलकुल असम्भव है। प्रशुल्क-मण्डल (दियासलाई उद्योग) की रिपोर्ट (१९२८), पैरा १३१-२ देखिए।

२ १९३४ में दियासलाइयों पर उत्पादन-कर लगाने तथा आयात-कर के परिवर्तन का विवरण १२वें अध्याय में देखिए।

हा है।[1]

कुटीर उद्योग

३६. लघु प्रमाप उत्पादन के बने रहने के कारण—वर्तमान युग की औद्योगिक प्रगति सामान्यतया वृहद् प्रमापीय उत्पादन की प्रमुखता से सम्बद्ध है, किन्तु इसके फलस्वरूप लघु पमाप उद्योग का सर्वथा लोप नही हो जाता। मुख्य आन्तरिक तथा बाह्य मितव्ययताओ के त्याग के बिना ही वाष्प के स्थान पर विद्युत् के बढते हुए प्रयोग ने उत्पादन की इकाइयो को छोटा करने की प्रवृत्ति को जन्म दिया है। पुन, प्रत्येक उन्नतिशील समाज में बहुत सी कलापूर्ण तथा विलास की सामग्रियाँ होती है जिनका प्रमाणीकृत उत्पादन नही हो सकता। इसके अतिरिक्त सभ्यता के भौतिक उपस्करो के अनेक सुधार छोटे-छोटे कारखानो को जन्म देते है और इस प्रकार लघु प्रमाप उद्योग चलते रहते हैं। अन्तिम, नये उद्योग, जब तक वे प्रयोग रूप होते है, पहले छोटे पैमानो पर ही आजमाये जाते है और सफल होने पर ही बडे पैमाने पर सगठित किये जाते है।[2] इस भाँति पश्चिम के अत्युन्नत देशो में भी वृहद् प्रमाप उद्योगो के साथ-ही-साथ बहुत से लघु प्रमाप उद्योग भी फूलते-फलते हैं। जापान की आर्थिक व्यवस्था में लघु-प्रमाप और कुटीर उद्योगो का महत्त्वपूर्ण योग सर्वविदित है।

४० भारत में कुटीर उद्योग और औद्योगीकरण—भारत में, विशेपकर वर्तमान परिस्थितियो में, निकट भविष्य के औद्योगिक विस्तार की विशेषता से देश-भर मे लघु प्रमाप उद्योगो की वृद्धि होगी। परन्तु इसका अर्थ यह नही है कि भारत की औद्योगीकरण सम्बन्धी प्रगति प्राचीन प्रणाली के सभी उद्योगो को यथास्थित रहने देगी और उनकी शक्ति में कमी न आएगी। नवीन उद्योगो के पालनो के पास सदैव ही कुछ प्राचीन प्राणहीन उद्योग पडे रहेगे और यह अवश्य होगा कि वेगमान औद्योगीकरण

---

१ इस समय भारत में दियासलाई के उत्पादन की इकाइया २०० से ऊपर हैं। इनमें से वेस्टर्न इण्डिया मैच कम्पनी द्वारा प्रबन्धित पाँच इकाइयां यन्त्रीकृत हैं, २५ इकाइयां अशत यन्त्रीकृत है तथा शेष कुटीर उद्योग को इकाइया हैं। रामनद जिले में सतुर, सिकवासी तथा तिनेवेली जिले में कोविलपट्टी कुटीर-उत्पादन के प्रधान केन्द्र हैं। देश की आवश्यकताओं को पूरा करने के अतिरिक्त उद्योग थोड़ा-सा निर्यात करने में भी समर्थ हो गया है।

दियासलाई उद्योग एक कुटीर उद्योग की तरह सगठित किया जा सकता है और इससे गाववालों, विशेपकर महिलाओं को बडो सरलता से रोजी मिल सकती है। सरकार दियासलाई उद्योग को इस रूप में विकसित करने के लिए प्रयत्नशील है। उदाहरणार्थ, इलाहाबाद में दियासलाई बनाने के प्रशिक्षण-केन्द्र की स्थापना की गई है तथा कोविलपट्टी से एक विशेषज्ञ प्रशिक्षण हेतु बुलाया गया है। प्रशिक्षित महिलाएँ गावों में इन उद्योगों की स्थापना और प्रसार का काम करेंगी। वास्तव में दियासलाई बनाने की विधि इतनी सरल है कि इसे बिना किसी कठिनाई के हृदयगम किया जा सकता है और इस प्रकार यह उद्योग गावों और कस्बों में फैल जायगा तथा बेकारी रोकने में मदद करेगा।

निम्न तालिका इस उद्योग का वास्तविक उत्पादन तथा उत्पादन-सामर्थ्य दिखलाती है

	१९५०-५१	१९५५-५६
वास्तविक उत्पादन	२९? लाख ग्रॉस	३५३ लाख ग्रॉस
(वार्षिक) उत्पादन-सामर्थ्य	३५३ लाख ग्रॉस	३८३ लाख ग्रॉस

२ राधाकमल मुकर्जी, 'दि फाउण्डेशन्स आव इण्डियन इकनॉमिक्स', पृ० ३६०।

आज भी विद्यमान कुछ दस्तकारियो के लिए हानिकर होगा। आर्थिक सक्रान्ति ने किस भाँति देश के विभिन्न उद्योगो को प्रभावित किया है इसका सक्षिप्त विवरण पहले ही दिया जा चुका है।[1] यह भी सकेत किया जा चुका है कि कारीगरो को उनके ही भरोसे पर छोड दिया गया था और उन्हे नवीन परिस्थिति का सामना किसी राज्यीय पथ-प्रदर्शन या मदद के बिना करना पडा। भविष्य में ऐसी उपेक्षा और उदासीनता से बचने की आवश्यकता है। पूर्ण और व्यवस्थित आर्थिक विकास के लिए भारत में ग्रामीण स्तर पर मध्यम आकार के तथा कुटीर उद्योगो की आवश्यकता है और इन सबका उचित समन्वय होना चाहिए। भारत की वर्तमान परिस्थितियो में केवल इसी उपाय से अधिकतम उत्पादन, पूर्ण रोजगार और सम्पत्ति के न्यायोचित वितरण के आदर्श का अनुसरण हो सकता है। वृहद् प्रमाप उत्पादन के बिना अधिकतम उत्पादन सम्भव नही, किन्तु आधुनिक उद्योगो की प्रगति कितनी भी तीव्र क्यो न हो सम्भवत भारत की विशाल जनसख्या को यह पूर्ण रोजगार नही दे सकती। अतएव छोटे पैमाने के उद्योगो को प्रोत्साहन देने की आवश्यकता है। बडे उद्योगो के विपरीत जो धन कुछ हाथो में केन्द्रित करते हैं, छोटे उद्योग धन के समान वितरण का मार्ग प्रशस्त करते हैं। प्रश्न के मानवीय पहलू की भी उपेक्षा नही की जा सकती। यदि औद्योगीकरण या बडे उद्योगो के विकास का अर्थ पुराने उद्योगो में लगे व्यक्तियो की बेरोजगारी और बरबादी हो, तो इसे हल करने का सबसे अच्छा उपाय यह हो सकता है कि पुराने उद्योगो को कृत्रिम रूप से ऐसी मदद दी जाय कि वे नवीन उद्योगो के साथ-साथ जीवित रह सकें। अन्त में, विगत युद्ध के चीन और रूस के अनुभव ने सिद्ध कर दिया है कि महाद्वीपीय विस्तार वाले भारत जैसे देश के लिए सम्भावित आक्रमण के विरुद्ध सरक्षण के कदम के रूप में यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि उसके उद्योग कुछ बडे केन्द्रो में सीमित होने के बजाय छोटी-छोटी इकाइयो में दूर-दूर बिखरे हों।

भारत के कुटीर उद्योग निम्नलिखित तीन भागो में विभाजित किये जा सकते है —

(१) हाथ की कताई जैसे कुछ पुराने उद्योग लुप्तप्राय हो गए हैं, किन्तु जैसा हम पहले ही देख चुके है[2] कृषि के सहायक उद्योग के रूप में अब भी हाथ की कताई के उद्योग के विकास की सम्भावना है। (२) कुछ अन्य उद्योग है जिनके उत्पादन यन्त्रोत्पादित वस्तुओ से स्पर्धा कर रहे है और इनकी दशा त्रिशकु जैसी है। जो इन उद्योगो में लगे हुए है वे अपने पैतृक पेशे को छोडने की अनिच्छा या फैक्टियों में काम की कठोर दशाओ के कारण उन्हे नही छोडते। यह भी हो सकता है कि उनमें लगे रहने के लिए कारीगर अर्थ-प्रबन्धक सौदागर द्वारा बाध्य किये जाते हो ताकि वह अनिश्चित काल तक उनका शोषण करता रहे और अपना धन प्राप्त

१. खण्ड १, अध्याय ५, पैरा २१, २२, २५ तथा रिपोर्ट आन दि सर्वे आव काटेज इडस्ट्री मद्रास प्रेसीडेंसी, १९२९ भी देखिए।

२. भाग १, अध्याय ८, पैरा १९ देखिए।

कर ले।[1] (३) तीसरी श्रेणी उन कुटीर उद्योगो की है जो आन्तरिक और निवारणीय त्रुटियो से मुक्त हैं तथा वर्तमान दशाओ में भी जीवित रहने योग्य है। उदाहरण के लिए, वे उद्योग जो खेती से सम्बन्ध रखते हैं और जिनमें सरल औजारो की आवश्यकता पडती है, इसी प्रकार के है। उन्हे फैक्ट्री में उत्पादित वस्तुओ से डरने का कोई कारण नही है। ऐसे भी उदाहरण है जहाँ कारीगरो ने नवीन दशाओ के अनुरूप अपने को सफलतापूर्वक ढाल लिया है और उत्तम कोटि के कच्चे पदार्थ तथा अच्छे औजारो का प्रयोग सीख लिया है। बुनकर मिल के सूत का रगरेज कृत्रिम रगो का, पीतल और तांबे के कारीगर धातु की चादरो का तथा लुहार सुविधाजनक भागो में पर्त किये हुए लोहे का उपयोग करने लगे है। प्रत्येक दशा में उत्पादन की लागत कम हो जाने से कारीगरो को सुविधा हो गई है और उनका बाजार बहुत बढ गया है। निचले बगाल में कुछ जिलो मे बुनकर फ्लाई शटिल का उपयोग करने लग गए है और हाल ही में मद्रास के तटवर्ती जिलो में बडी अधिक सख्या मे बुनकरो ने इसे अपनाया है। साथ ही अन्य स्थानो पर भी यह धीरे-धीरे प्रयोग में आ रहा है। दर्जी आवश्यक रूप से सिलाई की मशीनो का प्रयोग करते हैं और शहरो के कारीगर शीघ्र ही यूरोप या अमेरिका में बने औजारो को अपना लेते हैं।[2] इसके अतिरिक्त, कुछ दस्तकारो की आर्थिक शक्ति इस तथ्य में निहित है कि जिन वस्तुओ को वे बनाते है वे ऐसी होती है कि उनके लिए बृहद् प्रमाप उत्पादन या स्वत.चालित यन्त्रो की गुन्जायश ही नही होती, या जो हाथ से बने होने की अपेक्षा यन्त्र-निर्मित होने के कारण किसी भाँति सस्ती भी नही होती और न उत्तम ही होती है। जनरुचि के अनुकूल विविध प्रकार की वस्तुओ का यन्त्रो से बृहद् प्रमाप उत्पादन न तो लाभकर है, न सम्भव ही। बाजार का सामीप्य और उपभोक्ता की माँग का अधिक सम्यक् ज्ञान भी कुटीर उद्योगो के पक्ष में हितकर सिद्ध हो सकता है। फिर गाँवो की आत्म-निर्भरता, यद्यपि अपनी पूर्णता में वह अब कही भी शेप नही है, अभी अतीत की बात नही हो गई है, विशेषकर उन स्थानो में जहाँ रेलें अभी नही पहुँची है। फलस्वरूप गाँव के सामुदायिक सगठन में कारीगरो में से कुछ अब भी अपना प्राचीन ख्यात स्थान अक्षुण्ण बनाये हुए है तथा पहले ही बतलाई गई विधि से अपना पारिश्रमिक प्राप्त करते हुए गाँव के लोगो की सामान्य आवश्यकताओ की पूर्ति प्राचीन काल की भाँति ही कर रहे है।[3] किन्तु गाँव की आत्मनिर्भरता पर अधिकाधिक आक्रमण होता जा रहा है और जब यह लुप्त हो जायगी तो इन कारीगरो की दशा के प्रतिस्थापन की आवश्यकता होगी।

अब तक इस देश में आधुनिक उद्योग की प्रगति मन्द रही है। लगभग सभी शहर या गाँव की जनसख्या का बडा शताश विभिन्न कुटीर उद्योगो में लगे मजदूरो

---

१ कुटीर उद्योगों के आर्थिक और अन्य कठिनाइयों सम्बन्धी विस्तृत विवरण के लिए बॉम्बे इकनामिक एण्ड इण्डस्ट्रियल सर्वे कमेटी की रिपोर्ट देखिए, पैरा १०६—४२।

२ औद्योगिक आयोग रिपोर्ट, पैरा २५५।

३ खण्ड १, अध्याय ५, पैरा १४ देखिए।

का है। उनकी सख्या अब भी सगठित उद्योगो में लगे मजदूरो से बहुत अधिक है।[1] अतएव तीव्र औद्योगिक प्रसार का प्रयत्न करते समय हमें देश-भर मे फैले असख्य कारीगरो पर इससे पडने वाले प्रभावो का भी ध्यान रखना चाहिए। अब हम भारत के कुछ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उद्योगो की वर्तमान दशा की सक्षेप में परीक्षा करेंगे।

४१. सूती (हस्तचालित) करघा उद्योग—सामान्यतया करघा उद्योग के महत्त्व और व्यापकता पर ध्यान नही दिया जाता। सूती वस्त्र प्रशुल्क-मण्डल ने १९३२ में प्रकाशित अपनी रिपोर्ट में १९,८४,९५० करघो की सख्या का अनुमान लगाया था, जबकि १९३१ की गणना के अनुसार सूत और रेशम कातने और बुनने के काम में लगे लोगो की सख्या २५,७५,००० थी।[2] यद्यपि पिरार्ड का यह कथन कि 'उत्तमाशा अन्तरीप (केप आव गुड होप) से लेकर चीन तक स्त्री और पुरुष सिर से पाँव तक भारतीय करघो से उत्पन्न वस्त्र पहनते है,' अब सत्य नही है और उद्योग की वर्तमान दशा सन्तोषजनक होने से अत्यन्त दूर है, परन्तु फिर भी यदि इसको समुचित ढग से सगठित करने के लिए उपयुक्त कदम उठाए जायँ तो इसके सम्मुख अब भी एक महान् भविष्य है।

इस तथ्य की उपेक्षा नही की जा सकती कि मिल में बनी वस्तुओ से स्पर्धा के कारण करघे की बुनाई को नुकसान—और कुछ दशाओ में बहुत गम्भीर नुकसान—पहुँचा है। कही कम लागत पर एकरूप वस्तुएँ उत्पन्न करने वाले बृहद् प्रमाप सग-ठनो की तुलना में बुनकरो की सफलता की आशा नही की जा सकती। इन परिस्थितियो में अपना पेशा त्यागकर बुनकर को कृषि अपनानी पडी और बहुधा भूमिहीन मजदूरो की पक्ति में सम्मिलित होना पडा। इस प्रकार उसे अकाल तथा अभाव के विरुद्ध सामान्य कृषक से भी कम विरोध-शक्ति के साथ अत्यन्त शोचनीय जीवन बिताने के लिए बाध्य होना पडा। किन्तु उन वस्तुओ के सम्बन्ध में उसकी दशा अब भी सुदृढ है जो या तो इतनी मोटी या इतनी महीन तथा कलात्मक होती है कि यन्त्र से नही बन सकती तथा जिनके विषय में करघा यन्त्र की प्रतिद्वन्द्विता में टिक सकता है। गरीब लोग, विशेषकर ग्रामीण, करघे के कपडे को इस कारण पसन्द करते है कि ये मिल के बने हुए कपडो की तुलना में कही अधिक मजबूत और टिकाऊ होते है। अनेक विशिष्ट प्रकार के वस्त्रो का उत्पादन, जिनका उपयोग मन्दगामी भारतीय रिवाजो द्वारा अनुमोदित है, मिलें नही कर सकती। यद्यपि उनकी कुल माँग बहुत अधिक है किन्तु प्रत्येक प्रकार के लिए माँग इतनी कम है कि उनका फैक्ट्री में उत्पादन आर्थिक दृष्टिकोण से विचारणीय ही नही है। वास्तव में मौलिक एव कलात्मक उत्कृष्टता की वस्तुओ—जो व्यक्तिगत कुशलता की अपेक्षा रखती है—की दशा भी

१. औद्योगिक आयोग रिपोर्ट, पैरा २५५ देखिए।

२ विभिन्न राज्यों में सूती करघा उद्योग की वर्तमान दशा के उत्कृष्ट विवरण के लिए सेण्ट्रल बैंकिंग इनक्वायरी कमेटी की रिपोर्ट का पैरा २९९ देखिए। स्टेट एक्शन इन रिस्पेक्ट आव इण्डस्ट्रीज, १९२८-३५ अध्याय ३ भी देखिए। बम्बई राज्य के हाल के सर्वेक्षण के लिए (१९४०) देखिए बम्बई की आर्थिक और औद्योगिक सर्वेक्षण समिति की रिपोर्ट, पैरा ७०-३।

ऐसी ही है। इस प्रकार स्पष्ट रूप से निर्दिष्ट एक क्षेत्र अब भी ऐसा है जहाँ दस्तकार सर्वोपरि है और जिसमें फैक्ट्री के अतिक्रमण का भय नही है। ऊपर सेक्शन ४ के अन्तर्गत दी गई तालिका १९०५-६ और १९४१-४२ के बीच भारतीय करघे द्वारा क्रमश १०८ करोड गज और २०७ करोड गज के उत्पादन और उसकी वृद्धि को प्रकट करती है। इसका अर्थ यह है कि करघा भारत की कुल मांग के लगभग एक तिहाई भाग की पूर्ति करता है। १९१४-१८ के युद्धकाल में आयात किये गए कपडे के ह्रास को पूरा करने में भारतीय मिलो की असमर्थता तथा युद्ध समाप्ति के वाद के मिल के वने कपडो के वहुत ऊँचे मूल्य ऐसे कारण थे जिन्होने बुनकरो को वहुत मदद दी। १९२२ के वाद विदेशी (विशेषकर जापान से) और भारतीय मिलो की वढी हुई प्रतिस्पर्धा से बुनकरो को अधिक हानि हुई, यद्यपि अधिक कुशल और साहसी व्यक्तियो ने रेशम की बुनाई तथा गोटे की कढाई का काम अपना लिया। करघे के बुनाई उद्योग ने अद्भुत जीवन-शक्ति और ग्रहणशीलता का प्रदर्शन किया है।

अपने घरो में काम करने वाला बुनकर फैक्ट्री के मजदूर से अधिक घण्टे काम करता है और उसे कोई पारिश्रमिक दिये बिना ही घर के काम-काज से फुरसत होने पर परिवार की स्त्रियो से सहायता मिल जाती है। आराम का स्तर बहुत निम्न होने के कारण वह बहुत थोडे से लाभ से ही सन्तुष्ट हो जाता है। यद्यपि इससे उसकी स्पर्धा-शक्ति तो वढती है परन्तु यह बधाई योग्य बात नही है। सुधार का लक्ष्य हाथ से काम करने वालो की क्षमता को इस भाँति वढ़ाने का होना चाहिए कि वे एक उच्च जीवन-स्तर को ग्रहण करने और निबाहने में समर्थ हो सकें। यद्यपि उसके कार्यक्षेत्र के भीतर जहाँ कारखाने का अतिक्रमण नही हो सकता, उसकी उन्नति की आशा करने के लिए उचित आर्थिक कारण है, परन्तु उसकी वास्तविक दशा घोर दारिद्रचमय और कष्टपूर्ण है। १९४१ के आरम्भ मे ही भारत सरकार ने हाथ के करघे की बुनाई के उद्योग को मदद देने के लिए आवश्यक उपायो को निश्चित करने के उद्देश्य से आँकडो के सकलन हेतु एक तथ्य-निर्देशक समिति (फैक्ट-फाइण्डिग कमेटी) (करघे और मिलो) की नियुक्ति की। इस समिति की रिपोर्ट से स्पष्ट है कि मध्यस्थो की एक शृङ्खला द्वारा लाभ के वडे अश को हथिया लेने के कारण उद्योग की उत्पादन--लागत ऊँची और बुनकर की आमदनी अनुचित रूप से कम है।

महात्मा गांधी की प्रेरणा से अखिल भारतीय कर्तक सस्था (आल इण्डिया स्पिनर्स असोसिएशन) ने करघा-उद्योग के उत्थान के लिए वहुमूल्य काम किया। इस सम्बन्ध में प्रान्तीय सरकारो के कार्यो को आर्थिक सहायता देकर भारत सरकार ने भी १९३४ से सक्रिय प्रोत्साहन की नीति अपनाई है।

उद्योग की दशा को सुधारने के उद्देश्य से अखिल भारतीय (हस्तचालित) करघा परिषद् की हाल ही में स्थापना हुई है जिसमें बुनकरो, प्रान्तीय सरकारो तथा उद्योग में रुचि रखने वाले राज्यो को प्रतिनिधित्व प्राप्त है। परिषद् के इस सुझाव को सरकार ने स्वीकार कर लिया कि उद्योग को सूत की पूर्ति का आश्वासन मिलना चाहिए और युद्धोत्तरकालीन विकास-योजना के पहले पाँच वर्ष में लगाये गए

तकुओ के उत्पादन में से आधा सुरक्षित रखकर इसकी मात्रा बढानी चाहिए। उद्योग के युक्तीकरण, उत्पत्ति के प्रमापन तथा बाजारो के एकीकरण द्वारा उद्योग को ठोस नीव पर सगठित करने के प्रस्ताव सक्रिय रूप से विचाराधीन हैं। देश में युद्ध से पहले के बाजारो को पुनः प्राप्त करने के उद्देश्य से (हस्तचालित) करघे के कपडे के निर्बाध अन्तर्राज्यीय आवागमन की एक योजना भी बनाई जा रही है।[1]

४२ **ऊनी उद्योग**—किसी-न-किसी रूप मे ऊनी वस्तुओ का उत्पादन देश के सब भागो में पाया जाता है, क्योंकि भेड हर स्थान पर पाया जाने वाला जानवर है। उनकी किस्म प्रत्येक स्थान पर भिन्न है। मैदानी भेडो की तुलना मे पहाडी भेडो का ऊन सामान्यतया अच्छी किस्म का होता है। ऊनी करघा उद्योग ४०,००० लोगो को आंशिक समय के लिए काम देता है।

मुगल काल में ऊनी कालीनो का निर्माण उत्कृष्टता के उच्चतम शिखर पर पहुँच चुका था। कालीनो की माँग, विशेषकर शाही दरबारो और अमीरो के यहाँ

१. हाथ के करघों के कपड़ों के उत्पादन और निर्यात सम्बन्धी आंकड़े इस प्रकार है

	उत्पादन	निर्यात
१९५१	८,५०० लाख गज	४३६ लाख गज
१९५२	११,०९० ,, ,,	५३९ ,, ,,
१९५३	१२,००० ,, ,,	६२५ ,, ,,
१९५४	१३,१८० ,, ,,	५६१ ,, ,,

सन् १९५१-५४ में हस्तचालित करघा उद्योग को निम्न आर्थिक सहायता दी गई ·

(हजार रु० में)

मजूर की गई आर्थिक सहायता	१९५१-५२	१९५२-५३	१९५३-५४
उपस्कर	२६	१३१	१९३२
विपणन	४४	२२४	१२९६८
प्रशिक्षण	—	५१	—
प्रसार और प्रचार	—	—	४६३
अनुसन्धान	—	४८	१९१
उत्पादन योजना	१००	६८	१२५९
सहकारी समितियाँ	१६	२४	१३१९४
अन्य	—	—	३८८
कुल योग	१८६	५४६	३०४४५
वास्तविक व्यय	१४	६३३	६३४८

अखिल भारतीय करघा वस्त्र उद्योग बोर्ड, जिसकी स्थापना अक्तूबर, १९५२ में हुई थी, इस उद्योग की उन्नति के लिए सतत प्रयत्नशील है।

सन् १९५३ में स्थापित अखिल भारतीय खादी और ग्राम उद्योग बोर्ड भी इस उद्योग से सम्बन्धित समस्याओं को हल करके उसे उन्नत बनाने में प्रयत्नशील है। खादी और ग्राम उद्योग के विकास के लिए भारत सरकार ने १९५४-५५ में २४८ ५९ लाख रु० का अनुदान और १६० ०९ लाख रु० का ऋण देना स्वीकार किया है। इसमें से १७७ ९१ लाख रु० के अनुदान और १११ ०९ लाख रु० के ऋण का उपयोग फरवरी, १९५५ तक बोर्ड द्वारा किया जा चुका था।

से होती थी। अतएव उद्योग के स्वाभाविक स्थान राजधानी के प्रमुख नगर थे, यद्यपि मुगल साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होने के बाद यह अन्य केन्द्रो मे स्थापित हो गया। साम्राज्य के पतन ने व्यवहारत कालीनो की स्थानीय माँग को समाप्त कर दिया, किन्तु ब्रिटिश शासन के स्थापित हो जाने के बाद इसका स्थान बाहरी माँग ने ले लिया। यद्यपि बाहरी माँग ने कारीगरो के आर्थिक विनाश को रोकने में मदद की, परन्तु वस्तुओ की उत्कृष्टता के ह्रास के लिए यही उत्तरदायी थी। इसने बाहर से भेजे गए नमूनो के आधार पर सस्ती वस्तुओ के उत्पादन को प्रोत्साहन दिया। उत्कृष्टता की कमी का अन्य कारण रासायनिक रगो का बढता हुआ उपयोग था। बाह्य बाजार के फलस्वरूप बडी सख्या में मध्यस्थ उत्पन्न हो गए जो आधुनिक भारत के व्यापार, विशेषकर निर्यात व्यापार, की विशेषता हैं। वर्तमान काल में भारत में कालीन की बुनाई लगभग पूर्णतया विदेशी माँग पर निर्भर है जिसमें पूर्ण उत्पादन के ९० प्रतिशत भाग की खपत होती है।

बुनकरो की अज्ञानता, दरिद्रता और सगठन के अभाव के फलस्वरूप कुटीर उद्योग के रूप में कालीन की बुनाई का उद्योग मृतप्राय दशा में है।[1] बुनकर का व्यापारी से अग्रिम लेना स्वाभाविक है और यह प्रथा स्वतत्र दस्तकारो को व्यापारी का दास बना देती है तथा कार्य में व्यक्तिगत रुचि और उन्नति की भावना को समाप्त कर देती है। बुनकर अपनी वस्तु या श्रम को सर्वोत्तम बाजार में ले जाने में भी असमर्थ होता है और उसे व्यापारी के अनुसार कार्य करना पडता है।

ब्रिटिश काल के पूर्व शॉलो के निर्माण ने भारत में, विशेषकर काश्मीर और पजाब में, बडी ख्याति प्राप्त की थी और मुगल विशेष रूप से इसके विकास में रुचि लेते थे। १८३० के अकाल से उद्योग को ऐसा गम्भीर धक्का पहुँचा जिससे यह पुन पनप न सका तथा काश्मीर राज्य में लगाये गए अनेक करो से इसकी कठिनाइयाँ और बढ गई। यूरोप से निर्यात व्यापार का विकास, जो उन्नीसवी शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षो में शुरू हुआ उद्योग के पतन को रोकने में सहायक सिद्ध हुआ और अनुमान किया जाता है कि किसी समय इसमें १५,००० मजदूर काम करते थे। किन्तु १८७१ के फ्रास-जर्मन युद्ध के कारण इसकी यूरोपीय माँग एकदम कम हो गई। यह आकस्मिक रोक अस्थायी प्रकृति की भी नही थी, क्योकि यूरोप में शॉल शीघ्र ही फैशन से बाहर हो गए और युद्ध के बाद भी व्यापार में पुनरुत्थान का अनुभव नही हुआ। इस परिणाम मे योग देने वाला अन्य कारण स्कॉटलैण्ड में पैसले नामक स्थान पर शालो के निर्माण का आरम्भ था।

ऊन का बना अन्य महत्त्वपूर्ण पदार्थ, जो देश में बहुत प्रचलित है, कम्बल है जो गरीब लोगो द्वारा गाँवो में विभिन्न उपयोगो में लाया जाता है और 'बिस्तर, सामान बाँधने की वस्तु, ओवरकोट और छाता' हर काम में प्रयुक्त होता है। कम्बलो का उत्पादन साधारणतया हिन्दू गडरियो और किसानो द्वारा एक उपजीविका के रूप में होता है। इस वस्तु का कोई निर्यात व्यापार नही है, परन्तु इसमें बहुत बडी

[1] भारतीय जेलों में भी कुछ मात्रा में कालीन बुनने का काम होता है।

सख्या में लोगो के लगे होने के कारण यह महत्त्वपूर्ण है। यह यत्र-निर्मित वस्तुओ की प्रतिस्पर्धा से मुक्त है, क्योकि वे कम्वल की तरह अनेक उपयोगो में नही टिक सकती। देश के प्रत्येक भाग में कच्चे माल की प्राप्ति की सुविधा और वाजार के विस्तार को ध्यान मे रखते हुए कुटीर उद्योग के रूप में कम्बल वुनने का उद्योग आशाजनक प्रतीत होता है। अतएव उसकी सम्भावनाओ की भली भाँति छानवीन करनी चाहिए।

१९३९-४५ के युद्धकाल में सेना के लिए कम्बलो की विशाल माँग के कारण ऊनी (हस्तचालित) करघा उद्योग को बहुत लाभ हुआ, चूँकि इगलिस्तान द्वारा दिये गए आर्डरो को पूरा करने के लिए ऊनी मिले अपनी पूर्ण क्षमता तक कार्य कर रही थी, अतएव (हस्तचालित) करघे की वस्तुओ का स्थानीय वाजार वहुत वढ गया। युद्धकाल की यह समृद्धि अल्पकालीन सिद्ध हुई, किन्तु उद्योग के लिए सहकारी उत्पादन और विपणन अव भी नवीन सगठन और क्रियाओ की आशा दिलाते है।

४२. कच्चा रेशम और रेशम का निर्माण—भारत मे कच्चे रेशम के उत्पादन में जो भी सफलता मिली है वह देश के उन भागो—जैसे वगाल, काश्मीर और मैसूर—तक ही सीमित है जहाँ शहतूत के पेड और श्रम प्रचुरता से उपलब्ध है।

मोटे तौर पर सत्रहवी शताब्दी के प्रथम तीन-चतुर्थांश में ईस्ट इण्डिया कम्पनी प्रमुख रूप से कच्चे रेशम के व्यापार की ओर आकृष्ट थी। बाद में कम्पनी ने अनुभव किया कि भारत-निर्मित रेशमी वस्तुओ को इगलैण्ड भेजने से और अधिक लाभ सम्भव था। उन्होने इस नीति को ऐसी सफलता से अपनाया कि इगलैण्ड के बुनकर भयभीत हो उठे। ब्रिटिश बुनकरो के विरोध तथा अन्य कारणों से ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने पुन कच्चे रेशम के व्यापार की नीति अपना ली। कच्चे रेशम के उत्पादन को प्रश्रय देने और रेशमी उत्पादन को हतोत्साहित करने की नीति का देशी बुनाई उद्योग पर प्रतिकूल प्रभाव पडा।[1] ऊनी कालीन और शॉल के निर्माण के ह्रास के लिए उत्तरदायी कारणो के समान ही यूरोपीय माँग की प्रकृति में परिवर्तन और यूरोप में रेशम की बुनाई की उन्नति ने इस उद्योग की स्थिति और खराब कर दी। उत्पादन-प्रविधि (टेक्नीक) में यूरोप शीघ्र ही भारतीय उद्योग से आगे वढ गया। कारणो की इस सूची में जापान, चीन और सयुक्त राज्य अमरीका के यूरोपीय वाजार में प्रतिद्वन्द्वियो के रूप में प्रकट होने को भी जोडा जा सकता है। जहाँ तक स्थानीय वाजारो का सम्वन्ध है, सरक्षक के रूप में पुराने अमीरो और शाही दरवारो का स्थान शिक्षितो और सम्पन्न घरानो ने ले लिया था और इनकी (हस्तचालित) करघे की वस्तुओ की माँग कम होती जा रही थी।

सक्षेप में, अभी हाल के वर्षो में कच्चे रेशम और रेशम की बुनाई के उद्योग ह्रासोन्मुख रहे हैं। भारत के कच्चे माल का निर्यात केवल घट ही नही गया है वरन् उसका रूप भी वदल गया है। वर्तमान समय मे अधिकतर रेशम का कोवा वाहर भेजा

१ निर्यात व्यापार के आँकडों द्वारा रेशम उद्योग का ह्रास बिलकुल स्पष्ट हो जाता है। १८८६ में निर्यात हुए रेशमी उत्पादन का मूल्य ३२,९६,००० रु० था, १९४१-४२ में केवल २,९६,००० रु० था।

जाता है। भारत में रेशम लपेटने (रीलिंग) का काम इतनी बुरी तरह किया जाता है कि अन्य देश भारत से कोवे लेकर सूत लपेटने का काम स्वय करना पसन्द करते हैं। भारत में आयात किये गए रेशम की बढती लोकप्रियता का भी यही कारण है। भारतीय बुनकर स्वय देशी माल की अपेक्षा जापान या चीन के अधिक समान लपेटे सूतो को पसन्द करते हैं। भारतीय रेशम की किस्म को उन्नत करने के प्रयत्न किये जा रहे हैं। बगाल का कृषि-विभाग रेशम पैदा करने की शिक्षा देने के लिए दो विद्यालय चला रहा है। आसाम, काश्मीर और मैसूर के भारतीय राज्यो में भी रेशम-उत्पादन को प्रोत्साहन देने के प्रयत्न किये जा रहे है। १९३५ में भारत सरकार ने राजकीय रेशम-उत्पादन समिति (इम्पीरियल सेरीकल्चरल कमेटी) की स्थापना की और उसकी सिफारिश के अनुसार ९३,००० रुपये की मदद विभिन्न प्रदेशो को प्रदान की गई, ताकि वे रेशम-उत्पादन के लाभ के लिए बगाल, आसाम, मद्रास, बिहार और उडीसा तथा बर्मा में योजनाएँ कार्यान्वित करने में समर्थ हो सकें।[1] योजनाओ का लक्ष्य रोगमुक्त बीजो से उत्पादन बढाना और रेशम के कीडो के रोग के विषय के प्रश्नो के अनुसन्धान में सहायता देना है। भारत सरकार ने १ अप्रैल, १९३५ से ३१ मार्च, १९४० तक पाँच वर्ष के लिए १००,००० रुपये की वार्षिक सहायता देना स्वीकार किया। गत वर्षो में कृत्रिम रेशम के सूत का आयात बढता रहा है। १९२२-२३ और १९२८-२९ के बीच आयात बढकर २,२५,००० पौण्ड से ७७,००,००० पौण्ड हो गया। १९३७-३८ में आयात अपनी उच्चतम सीमा ३ करोड १६ लाख पौण्ड पर पहुँच गया, जिसका मूल्य २ करोड ५ लाख रुपये था। १९३८-३९ में १ करोड ७२ लाख पौण्ड का आयात हुआ जिसका मूल्य ९६ लाख रुपये था। १९४१-४२ मे १ करोड ३७ लाख पौण्ड का आयात हुआ जिसका मूल्य १ करोड ५५ लाख रुपये था। आयात व्यापार की सभी शाखाओ में जापान का प्रभुत्व था, किन्तु उस देश में कृत्रिम रेशम उद्योग में अवसाद और चीन-जापान युद्ध के आरम्भ के बाद कच्चे माल की प्राप्ति की कठिनाइयो के फलस्वरूप इटली ने १९४० में युद्ध में उतरने से पहले ही जापान को प्रथम स्थान से च्युत कर दिया। रेयन की वस्तुओ के कम मूल्य और उत्कृष्टता ने उनकी लोकप्रियता में बहुत वृद्धि की है। युद्ध में सम्मिलित होने के पहले जापान से आयात पुन. बढने लगा था। अकुशल सगठन, औसत बुनकर के अपर्याप्त आर्थिक साधन तथा उत्पादन की प्राचीन प्रणाली के कारण देश का रेशम उद्योग सदैव बाहर की वस्तुओं से प्रतिस्पर्धा में पिछडता गया है। वर्तमान परिस्थितियो में भारत में कुटीर उद्योग के रूप में रेशमी वस्तुओ के उत्पादन को कुछ विशेष सुविधाएँ प्राप्त हैं। सूती वस्त्रो के उत्पादन की तुलना में आधुनिक यन्त्रो की सहायता से रेशमी वस्तुओ का उत्पादन अधिक कठिन है और अभी यह आरम्भ भी नही हुआ है। इसके अतिरिक्त रेशम के बने सामान अधिकतर विलास की वस्तु होने के कारण कारीगरी की विविधता इसमें सम्भव है। जहाँ तक बाहर से तैयार वस्तुओ के आयात का प्रश्न है, उद्योग तैयार माल पर ऊँचे आयात-कर से सुरक्षित है। अन्तिम, गत वर्षो में भारतीयो में

[1] देखिए, 'इण्डिया इन १९३४-३५', पृ० ७५।

बाहरी वस्तुओ की तुलना मे राष्ट्रीय भावना के कारण देशी वस्तुओ को पसन्द करने की स्पष्ट प्रवृत्ति परिलक्षित हो रही है। इस भाँति रेशम उद्योग को पुनर्जीवित करने की परिस्थितियाँ बहुत अनुकूल हैं।

यहाँ यह बता देना उचित होगा कि भारतीय प्रशुल्क (वस्त्र सरक्षण) अधिनियम, १९३४ ने कच्चे रेशम, रेशमी सूत, कमीज के कपडो और मिश्रित कपडो, कृत्रिम रेशम के वस्त्रो तथा मिश्रित वस्तुओ पर सरक्षण-कर लगा दिए। इसके अतिरिक्त रेशम के सूत से प्रतिस्पर्धा करने वाले कृत्रिम रेशमी सूत पर तीन आना प्रति पौण्ड के वैकल्पिक निम्नतम विशिष्ट कर के साथ मूल्यानुसार कर बढाकर २५% कर दिया गया। अप्रैल, १९४० में रेशम और रेशम से बनी वस्तुओ पर लगाये हुए सरक्षण-करो को दो वर्ष के लिए बढा दिया गया। भारतीय रेशम उद्योग के पाँच वर्ष के सरक्षण और आयात-कर में सर्वत्र वृद्धि के लिए १९३८ के प्रशुल्क-मण्डल द्वारा की गई सिफारिशो को १९४२ में अपनाया गया और सरक्षण-कर पाँच वर्ष के लिए बढ़ाकर २५ प्रतिशत + १४ आना प्रति पौण्ड + कुल कर का $\frac{1}{5}$ कर दिये गए।[1]

४४. अन्य कुटीर उद्योग— पहले भाग के पाँचवें अध्याय में विभिन्न कुटीर उद्योगो की वर्तमान दशा का सकेत पहले ही किया जा चुका है (खण्ड १, अध्याय ५), जबकि तेल पेरने, चमडा सिझाने, शीशा बनाने और दियासलाई बनाने के उद्योग के विवरण में हमने इनकी कुटीर शाखाओ पर विचार किया है। कृषि के गौण उद्योगो की दशा और उनके भविष्य पर भी कृषि सगठन के अन्तर्गत (खण्ड १, अध्याय १) विचार हो चुका है। अन्य अनेक कुटीर उद्योग भी हैं, उदाहरणार्थ कढाई का काम, लकडी का सामान, धातु और छुरी काँटा, सोने और चाँदी के तारो का उद्योग, बरतन, साबुन बनाना, टोपी बनाना, खिलौने और मूर्ति-निर्माण, गुटके बनाना आदि को लिया जा

---

१ केन्द्रीय रेशम परिषद् (सेण्ट्रल सिल्क बोर्ड)

१९४९ में स्थापित इस परिषद् का पुनर्निर्माण सितम्बर, १९५२ में किया गया। इस परिषद् ने एक प्राविधिक विकास समिति की स्थापना की जो राज्य सरकारों की योजनाओं की परीक्षा करती है। १९५३-५४ में १३ २३ लाख रु० इस कार्य के लिए मजूर किया गया।

रेशम उद्योग के लिए १९५१-५२ तथा १९५२-५३ में क्रमशः १·४ लाख रु० और २ ७ लाख रु० मजूर किया गया। रेशम उद्योग (सेरीकल्चर) पर किये गए व्यय का ब्यौरा इस प्रकार है :

(हजार रु० में)

	१९५१-५२	१९५२-५३	१९५३-५४
अनुसन्धान	२७	११२	४२४
विपणन	१	१०	१६
उत्पादन	११४	११०	४९८
उपस्कर	—	२१	२९१
प्रशिक्षण	—	१७	७२
सहकारी समितियों का निर्माण	—	—	१६
प्रचार कार्य	—	—	६
कुल	१४२	२७०	१३२३

सकता है ।[1]

४५ कुटीर उद्योगों को सहायता की विधियाँ[2]—कारीगरो की अज्ञानता और निर्धनता के कारण यह आवश्यक है कि उनको मदद देने की एक सर्वांगीण योजना बनाई और कार्यान्वित की जाय। इस दिशा में प्रकट रूप से पहला कदम अधिक अच्छी सामान्य शिक्षा देना है जिसके द्वारा कुछ दस्तकारी और औद्योगिक कारीगरी की शिक्षा देने का प्रयास किया जाय। बम्बई आर्थिक और औद्योगिक सर्वेक्षण समिति ने सिफारिश की कि प्रारम्भिक शिक्षा, विशेषकर गाँवों में दस्तकारी के माध्यम से दी जाय।[3] इसके अतिरिक्त विशेष औद्योगिक स्कूलो में, विशेषकर उद्योग सञ्चालक द्वारा नियन्त्रित स्कूलों में, भी कारीगरो की शिक्षा की व्यवस्था आवश्यक है। औद्योगिक आयोग ने भी सिफारिश की थी कि अधिक तीव्र बुद्धि के कारीगरो के प्रशिक्षण के लिए सरकार की सहायता से प्रदर्शनार्थ हस्तचालित करघे के कारखाने खोले जायँ और बुनाई के स्कूलो से एक वाणिज्य विभाग सम्बन्धित कर दिया जाय, ताकि इस भाँति प्रशिक्षित साहसी कारीगर स्वय अपनी छोटी करघा फैक्ट्री खोल सकें। जेल और सुधारात्मक स्कूलो की विशेषता उनमें रहने वालो को काष्ठशिल्प, बेंत और बाँस के काम जैसी औद्योगिक दस्तकारियो की शिक्षा देना है, ताकि छूटने पर कैदी कारीगरो की तरह जीवन प्रारम्भ कर सकें। अच्छे प्रकार का कच्चा माल मिलने की कठिनाई भी कुटीर उद्योगो के विकास में बाधक है। इस दृष्टिकोण से कपास और रेशम की किस्म के सुधार की आवश्यकता स्पष्ट है। अन्य आवश्यक सुधार अच्छे औजारो का आविष्कार और प्रयोग है। बिहार और उडीसा में प्रदर्शक उन्नत औजारो का घूम-घूमकर प्रदर्शन करते हैं। ये प्रदर्शन कुटीर उद्योग विद्यालय (काटेज इण्डस्ट्रीज इस्टीट्यूट) पर निर्भर हैं जो अपने विभिन्न विभागो में प्रयोगात्मक कार्य करता रहता है और करघो, रग, अन्य सामान इत्यादि की पूर्ति का प्रबन्ध करता है तथा बुनकरो को नये कपडों तथा नये नमूनो से परिचित कराता है। भागलपुर रेशम विद्यालय द्वारा ऐसी ही सेवाएँ रेशम उद्योग के लिए की जाती हैं और पटना प्रदेश के दक्षिण में गया की प्रयोगात्मक कम्बल फैक्ट्री प्राचीन कम्बल उद्योग के लिए ऐसे ही प्रयत्न कर रही है। मध्य प्रदेश में उद्योग-विभाग बुनकरो में अच्छे प्रकार की स्लेज के प्रयोग का प्रचार कर रहा है। प्रौद्योगिक प्रशिक्षण के लिए प्रौद्योगिक परामर्श और सुविधाएँ प्रदान करके तथा कारीगरों को नवीन तर्ज और उन पर काम करने के लिए नमूने देकर उन्हें बहुत मदद दी जा सकती है तथा उनकी बिक्री बढाई जा सकती है।

१ मद्रास में विभिन्न कुटीरोद्योगों के रुचिकर विवरण के लिए देखिए, मद्रास प्रेसीडेंसी कुटीरोद्योगों के सर्वेक्षण की रिपोर्ट, बम्बई के लिए देखिए, बम्बई आर्थिक और औद्योगिक सर्वेक्षण समिति की रिपोर्ट (१९४०), पैरा ६८-१०५, और उत्तर प्रदेश के कुटीरोद्योगों के लिए देखिए, कुटीरोद्योग उपसमिति की रिपोर्ट (१९४७) (परिशिष्ट १, पृ० ६५) जिसमें ६८ कुटीरोद्योगों की चर्चा है जो बिना यान्त्रिक शक्ति के कारीगरों द्वारा उनके घरों में ही किये जाते हैं।

२ देखिए, वनो, पूर्वाद्धृत, अध्याय ६, केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति की रिपोर्ट, पैरा ३०० और बम्बई आर्थिक और औद्योगिक सर्वेक्षण समिति की रिपोर्ट, पैरा १४३ ७६।

३. रिपोर्ट, पैरा २३४।

वम्बई आर्थिक और औद्योगिक सर्वेक्षण समिति ने कुटीर उद्योगो से सम्बन्धित समस्याओ के अध्ययन के लिए कुटीर-उद्योग उपसञ्चालक के अधीन एक राज्यीय कुटीर-उद्योग अनुसन्धान विद्यालय की स्थापना की सिफारिश की। यह विद्यालय केवल औजारो तथा उत्पादन की विद्यमान विधियो में सुधार का ही प्रयत्न नही करेगा वरन् नवीन कुटीरोद्योगो के आरम्भ करने की सम्भावनाओ की भी खोज करेगा।

दस्तकारी में लगे मनुष्यो को आवश्यक पूँजी प्रदान करने के उद्देश्य से औद्योगिक आयोग ने सिफारिश की कि उद्योगो के सचालक द्वारा कुछ दशाओ में छोटे ऋण दिये जाने चाहिएँ या यत्र और औजार किराये पर खरीद की पद्धति पर प्रदान करने चाहिएँ ताकि अन्त में वे कारीगर की सम्पत्ति हो जायें। किन्तु समस्या का अत्यधिक आशामय हल सहकारी ऋण व्यवस्था मे निहित है। छोटे कारीगर की दशा सुधारने के लिए सहकारिता का सिद्धान्त वहुत लाभदायक है, चाहे वह मामूली व्याज की दर पर ऋण देने के रूप में हो या कच्चे माल तथा औजार खरीदने और तैयार वस्तु के वेचने में सहायता देने के रूप में हो।

वर्तमान व्यवस्था की एक अन्य दुर्बलता प्रभावपूर्ण विपणन सगठन का अभाव है। समुचित रूप से प्रचार करने में असमर्थ होने के कारण कारीगर अपनी वस्तु का सर्वोत्तम मूल्य पाने में असफल रहता है। लखनऊ का आर्ट्स एण्ड क्राफ्ट इम्पोरियम और मद्रास में इसी प्रकार की दूकानें कुछ सीमा तक इस त्रुटि को दूर करने के उद्देश्य से खोली गई हैं, किन्तु ऐसी अनेक दूकानो की आवश्यकता है। जर्मनी के खिलौने के उद्योग और जापान के कुटीर उद्योग अपनी सफलता के लिए उन व्यावसायिक सगठनो के अस्तित्व के ऋणी थे जो उनकी उत्पादित वस्तुओ को खरीदकर देश-विदेश में विक्रय करते थे। इस समय भारत में विदेशी बाजार तो उपेक्षित हैं ही, परन्तु घरेलू बाजार का भी भली भाँति विकास नही किया जा रहा है। वम्बई के स्वदेशी भण्डार देश में वनी वस्तुओ को देश के भीतर वितरित करने के सक्रिय और सफल एजेंसी के उत्तम तथा अनुकरणीय उदाहरण हैं। वम्बई के उद्योग-विभाग ने कुटीर उद्योगो के उत्पादनो को लोकप्रिय बनाने के उद्देश्य से वम्वई में एक विक्रय गोदाम (सेल्स डिपो) खोल रखा है। इसी लक्ष्य से वम्बई आर्थिक और औद्योगिक सर्वेक्षण समिति ने सामयिक प्रदर्शनियो के प्रबन्ध तथा स्थायी सग्रहालयो के निर्माण की सिफारिश की थी।[1]

१६३४ के छठे औद्योगिक सम्मेलन में करघे से वनाई हुई वस्तुओ के विक्रय के प्रश्न पर विचार किया गया और उसके वाद मद्रास, वम्वई, मध्य प्रान्त और वरार, विहार और उडीसा आदि की प्रान्तीय सरकारो ने सहकारी प्रयत्नो के आधार पर अनेक आशाप्रद योजनाएँ अपनाई। वम्वई मे मुख्य-मुख्य केन्द्रो पर आठ जिला सहकारी सस्थाएँ वनाई गई हैं। प्रत्येक सस्था की अपनी दूकान है जो सामान भेजने के लिए कुछ अग्रिम लेती है और करघा-वुनकरो को वनाई हुई वस्तुएँ कमीशन के आधार पर वेचती है। एक विक्रय अधिकारी और एक वस्त्र डिजाइनर की भी नियुक्ति की गई

१ रिपोर्ट, पैरा २०८।

है।[1] बम्बई की आर्थिक और औद्योगिक सर्वेक्षण समिति ने भी सिफारिश की थी कि प्रत्येक जिले में एक स्थानीय परामर्शदात्री समिति की सहायता से जिला उद्योग अधिकारी के अधीन एक जिला औद्योगिक सस्था होनी चाहिए।[2]

शिक्षित वर्ग को सम्मिलित करते हुए सभी लोगो के विषय में यह सामान्य शिकायत है कि कलापूर्ण रुचि का पतन हो रहा है। देशी उत्पादन की कलापूर्ण वस्तुओ का विस्तृत विज्ञापन केवल दस्तकारो को ही लाभकर न होकर जनता में भी विवेचनात्मक रुचि के निर्माण में सहायक होगा।

अन्य प्रकार से सरकार कुटीर उद्योगो की सहायता सरक्षण द्वारा कर सकती है। उदाहरण के लिए, उत्तर प्रदेश में प्रान्तीय भण्डार क्रय-विभाग ने इस नीति को अपना लिया है और यथासम्भव स्थानीय उत्पादको या निर्माताओ से ही वस्तुएँ खरीदता है। बम्बई आर्थिक और औद्योगिक सर्वेक्षण समिति ने भी भण्डार क्रय-नीति में कुटीर उद्योगो को प्रधानता देने की सिफारिश की थी।[3]

विभिन्न प्रान्तो द्वारा पास किये गए उद्योगो के राजकीय सहायता अधिनियम तथा बम्बई में छोटे उद्योगो को आर्थिक सहायता देने के नियमो की उदार व्याख्या का विवरण पहले ही दिया जा चुका है। पर्याप्त राजकीय सहायता और प्रेरणा दीर्घ काल तक आवश्यक हैं तथा आरम्भ में कुटीर उद्योगो को कठिनाइयो पर विजय पाने योग्य बनाने के लिए राजकीय प्रबन्ध भी आवश्यक है। आर्थिक विकास विभाग की सहायता से राज्य द्वारा एक सुनिश्चित औद्योगिक नीति और आयोजन की आवश्यकता है।[4]

४६ कुटीर उद्योगों की राजकीय सहायता के हाल के उपाय—भारत सरकार कुछ वर्षो से कुटीर उद्योगो, विशेषकर सूती (हस्तचालित) करघा-उद्योग और रेशम पैदा करने के उद्योग के उत्पादन में मनोयोग से लगी हुई है। जुलाई, १९३४ में हुए छठे अन्तर्प्रान्तीय उद्योग सम्मेलन ने देश के प्रधान कुटीर उद्योग—करघा उद्योग—के विकास के लिए विभिन्न प्रान्तीय सरकारो द्वारा प्रस्तुत की गई योजनाओ पर विचार किया। सरकार ने सम्मेलन में हस्तचालित करघा उद्योग के विकास के लिए पाँच वर्ष तक ५ लाख रुपया प्रति वर्ष खर्च करने की घोषणा की।[5] इस भाँति विभिन्न प्रान्तो में चालू की गई योजनाएँ विभिन्न प्रकार की हैं। इन योजनाओं में उन्नत उत्पादन-विधियो में बुनकरो का प्रशिक्षण, हाथ के करघे की वस्तुओ को बेचने के लिए विक्रय गोदाम और बुनकरो की सहकारी समितियो की स्थापना, तथा नवीन तर्जो, नये नमूनो और उन्नत औजारो का प्रचलन भी शामिल है। प्रान्तो को अनुदान उनके व्यय और

१ विभिन्न विक्रय योजनाओं के सम्बन्ध में अन्य विवरण के लिए देखिए, 'स्टेट एक्शन इन रिस्पेक्ट ऑव इण्डस्ट्रीज' १९२८-३५, पृ० २८-९, और बम्बई आर्थिक और औद्योगिक सर्वेक्षण समिति की रिपोर्ट, पैरा १५६।

२ रिपोर्ट, पैरा २०६ और २१२।

३ रिपोर्ट, पैरा २१४।

४ रिपोर्ट, पैरा २०८ और २३१।

५ स्टेट एक्शन इन रिस्पेक्ट ऑव इण्डस्ट्रीज, १९२८-३५, पृष्ठ २०।

सूत की खपत के आधार पर दिया जाता है। सातवें उद्योग सम्मेलन ने भी करघे के यत्रो तथा वस्त्रो के प्रदर्शन के पक्ष में निश्चय किया।[1] हम रेशम उत्पन्न करने के उद्योग को सरक्षरण और प्रोत्साहन देने के लिए भारत सरकार द्वारा अपनाये गए उपायो की समीक्षा कर चुके हैं। भारत सरकार ने १६३६ में ऊनी मिल उद्योग को सरक्षण देने के सम्बन्ध में प्रशुल्क-मण्डल की सिफारिश स्वीकार नही की और कुटीर उद्योगो के लाभार्थ पाँच वर्ष तक के लिए धारा-सभा से ५ लाख रुपये के अनुदान की स्वीकृति माँगने की घोषणा की।

१६३७ में स्थापित काग्रेस मन्त्रिमण्डलो के अन्तर्गत प्रान्तीय सरकारो ने कुटीर उद्योगो को पुनरुज्जीवित करने की ओर विशेष ध्यान दिया। इण्डियन नेशनल काग्रेस के तत्त्वावधान में १६३५ में स्थापित अखिल भारतीय ग्रामोद्योग सघ (आॅल इण्डिया विलेज इण्डस्ट्रीज असोसिएशन) और १६३६ में काग्रेस की कार्यकारिणी समिति द्वारा स्थापित राष्ट्रीय आयोजन समिति (नेशनल प्लानिंग कमेटी) ने भी देश की किसी भी आर्थिक योजना में कुटीर उद्योगो के महत्त्व की ओर ध्यान आकृष्ट किया। जैसी आशा की जाती थी, वर्तमान काल में भारत तथा पाकिस्तान की सरकारो द्वारा कुटीर उद्योगो के प्रश्न पर अधिक विचार-विमर्श हो रहा है, यद्यपि स्वराज्य प्राप्ति के बाद भी उनकी दशा में बहुत सुधार नही हुआ है।[2]

---

१ अक्तूबर १६३५ में दिल्ली में हुए उद्योग सम्मेलन के सातवें अधिवेशन की कार्रवाई।

२ नवम्बर १६५३ में आए फोर्ड फाउण्डेशन आयोजन दल ने छोटे पैमाने के उद्योगों के सम्बन्ध में अपनी रिपोर्ट मार्च १६५४ में प्रस्तुत की। सरकार ने निम्न सिफारिशों को यथाशीघ्र कार्यान्वित करने का निश्चय किया।

(१) चार प्रादेशिक प्राविधिक सस्थाओं (रीजनल टेक्नालॉजिकल इन्स्टीट्यूट्स) की स्थापना,
(२) विपणन निगम (मार्केटिंग सर्विस कारपोरेशन) की स्थापना, तथा
(३) लघु-प्रमाप उद्योग निगम की स्थापना।

फोर्ड फाउण्डेशन दल की सिफारिशों के अनुरूप भारत सरकार ने स्मॉल स्केल इण्डस्ट्रीज बोर्ड, ऑफिस ऑफ दि डेवलपमेन्ट कमिश्नर फॉर स्माल स्केल इण्डस्ट्रीज, नेशनल स्माल स्केल इण्डस्ट्रीज कारपोरेशन आदि की स्थापना की, ताकि मध्यम-प्रमाप उद्योगों द्वारा औद्योगीकरण की योजना कार्यान्वित की जा सके। उद्योग के प्रकार, आकार, विपणन आदि के सम्बन्ध में सरकार ने डॉ० यूजीन स्टेली को एक परामर्शदाता के रूप में आमन्त्रित किया। विपणन निगम की स्थापना तथा अन्य सम्बन्धित समस्याओं के लिए न्यूयार्क यूनीवर्सिटी के प्रोफेसर लिंकन क्लार्क को भी आमन्त्रित किया गया था।

११ जून, १६५५ को सरकार ने लघु प्रमाप उद्योगों को 'प्रसार सेवा' प्रदान करने के लिए चार प्रादेशिक सस्थाओं की स्थापना के निर्णय की घोषणा की। ये सस्थाएँ कलकत्ता, बम्बई, फरीदाबाद, मदुरई में स्थापित की जायँगी। प्रत्येक सस्था में ३० से अधिक अधिकारी होंगे, जो अधिकतर प्राविधिक विशेषज्ञ होंगे। प्रत्येक सस्था सादी मशीनों और अच्छे औजारों का प्रयोग दिखाने के लिए आदर्श कार्यशालाएँ स्थापित करेगी तथा उनका प्रचार करेगी।

राज्य सरकारों द्वारा इन उद्योगों को आर्थिक सहायता देने की भी व्यवस्था थी। राज्य सरकारों द्वारा सिफारिश की गई योजनाओं को आर्थिक सहायता देने के लिए केन्द्रीय सरकार तैयार थी। उदाहरणार्थ, केन्द्रीय सरकार यन्त्र-सम्बन्धी व्यय का ७५% तथा भूमि और जमीन सम्बन्धी व्यय का ५०% अनुदान के रूप में देती है, यदि आदर्श कार्यशालाओं आदि के लिए राज्य सरकार इनकी सिफारिश कर दे।

अध्याय ३

औद्योगिक श्रम

१ श्रम-सम्बन्धी बढ़ती हुई समस्याएँ—हमारे औद्योगीकरण की गति धीमी होने के कारण यद्यपि यहाँ श्रम-समस्या यूरोपीय देशो के समान कठिन नहीं है, परन्तु उनके जैसी होने में अब देर भी नही है। १६१४-१८ के महायुद्ध के साथ आए नव-जागरण ने श्रमिक वर्ग को उनके महत्त्व तथा अधिकारो के प्रति अधिक सजग बना दिया। युद्ध के समय तथा बाद में भी वस्तुओ की कीमत में वृद्धि हो जाने के कारण उनके रहन-सहन का व्यय इतना बढ गया कि उन्हे अपने हितो की रक्षा हेतु ही सगठित होने के लिए बाध्य होना पडा। अब तो भारतीय श्रम-आन्दोलन अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-आन्दोलन से सम्बन्धित है तथा भारत के प्रतिनिधि उसके वार्षिक सम्मेलन में भाग लेते हैं। लीग ऑफ नेशन्स भी स्वीकार कर चुकी है कि भारतवर्ष ससार के आठ प्रमुख औद्योगिक राष्ट्रो में एक है। अब सरकार और जनता दोनो ही राष्ट्रहित में कुशल और सन्तुष्ट श्रम के महत्त्व को अनुभव करने लगी है। मई, १६२६ में माननीय जे० एच० ह्विटले की अध्यक्षता में राजकीय श्रम आयोग (रायल कमीशन ऑन लेबर) की नियुक्ति इस बात की पुष्टि थी। आयोग की सिफारिशें सरकार की श्रमनीति का आधार मानी जा चुकी हैं और हाल के श्रम-सम्बन्धी कानूनो को उन्होने काफी प्रभावित किया है।[1] १६३७ के मध्य में कई प्रान्तो में काग्रेस मन्त्रिमण्डलो के आगमन ने इस दिशा में और भी योग दिया। इस सम्बन्ध में बम्बई सरकार के १६३७ के उस वक्तव्य को उद्धृत करना उचित होगा जिसमें उसने औद्योगिक श्रम सम्बन्धी अपनी नीति को स्पष्ट करते हुए कहा था कि सरकार का उद्देश्य सामाजिक और आर्थिक क्रिया को इस रूप में व्यवस्थित करना है जो मजदूरो को उनकी निम्नतम आवश्यकता, नौकरी की सुरक्षा, बेकारी के समय वैकल्पिक व्यवसाय का विधान तथा उनके काम करने में असमर्थ होने के समय जीविका की निश्चितता प्रदान करे।[2] बम्बई सरकार का यह कार्यक्रम अखिल भारतीय श्रमनीति के आधाररूप में स्वीकृत हो चुका है। काग्रेसी मन्त्रिमण्डलों ने श्रमसम्बन्धी कानूनो के क्षेत्र में बहुत ही क्रिया-

[1] १६३१ में प्रकाशित ह्विटले आयोग के प्रतिवेदन का निर्देश इस परिच्छेद में श्र० आ० प्र० तथा उसके पृष्ठों का निर्देश अकों द्वारा किया गया है। इस प्रकार श्र० आ० प्र० ४=श्रम आयोग प्रतिवेदन पृष्ठ ४।

[2] लेबर गजट, बम्बई, अगस्त १६३७, पृष्ठ ८६१ तथा ६२२-४।

शीलता दिखाई है। नवम्बर, १९३९ में उनके पद-त्याग के बाद इस दिशा मे शिथिलता आना अवश्यम्भावी था। पर इधर द्वितीय महायुद्ध ने श्रम-समस्या को पुन प्रमुखता प्रदान की, क्योकि श्रमिक वर्ग ने इस बार प्रथम महायुद्ध की अपेक्षा अधिक सुचारु रूप में सगठित होकर मँहगाई तथा अन्य रियायतो की सफल माँग की है।

२. औद्योगिक श्रम की पूर्ति और उसका देशान्तर गमनीय स्वभाव—पाश्चात्य देशो के कारखानो में काम करने वाले व्यवसायिक मजदूरो के स्थायी वर्ग होते हैं तथा वे खेती से एकदम सम्बन्ध-विच्छेद कर लेते हैं। अत ठीक उनके अर्थ में हम भारतीय कारखानो के श्रमिको को श्रमिक वर्ग में नही रख सकते। वहाँ प्राय: अधिकाश मजदूरों का पालन-पोषण शहरो में ही होता है तथा कुछ तो गाँवो से अपना नाता पूर्णत तोड-कर शहर के निवासी बन जाते हैं। कारखानो के क्षेत्र का लालन-पालन पश्चिमी देशो के श्रमिक की श्रेष्ठता के लिए बहुत-कुछ उत्तरदायी है, पर इस देश के कारखानो का श्रमिक तो प्राय प्रवासी होता है और शायद ही कभी गाँव से सम्बन्ध-विच्छेद करता हो।[1] पर यह भी कहना ठीक नही कि भारतीय कारखाने का प्रतिनिधि श्रमिक असल में खेतिहर है जो अस्थायी रूप से कृषि-कार्य छोडकर अपनी आय बढाने के लिए शहर में आता है। अधिकाश मजदूरो का शीघ्र ही गाँव को लौटना तथा एक कारखाने मे अधिक दिन न टिकना अवश्य ही इस बात का द्योतक है कि वे कृषि-कार्य अल्पकाल के लिए ही छोडते हैं। औद्योगिक केन्द्रो के अधिकाश श्रमिक असल में ग्रामीण ही होते हैं जिनकी प्रारम्भिक शिक्षा गाँवो में ही होती है तथा ग्रामीण रीति-रिवाजो में ही उनकी आस्था होती है। उनका अभीष्ट गाँव लौटना ही होता है तथा ऐसा करने में प्राय: वे सफल ही होते हैं। यद्यपि इधर हाल में स्थापित कारखानो मे आने वाले कुछ श्रमिक ग्रामीण शिल्पो से भी आते हैं पर अधिकाश की पूर्ति कृषि ही करती है। खेती से आर्थिक लाभ प्राप्त करने वाले श्रमिकों का प्राय जो अनुमान किया जाता है वास्तव में उनकी सख्या उतनी नही है। बहुतो का कृषि से प्राय अप्रत्यक्ष सम्बन्ध ही होता है, उदाहरणार्थ, वे या तो किसी सयुक्त कृषक परिवार के सदस्य होते हैं या उनका कोई घनिष्ठ सम्बन्धी कृषि-कार्य करता है। अधिकाश औद्योगिक श्रमिक गाँवों में ही पैदा होते हैं तथा उनका पालन-पोषण भी वही होता है। अब तो कारखानो मे काम करने वाले बच्चो की उम्र की निम्नतम सीमा बढ जाने से यह प्रवृत्ति और भी बढ रही है। बहुत से श्रमिक अपना परिवार गाँवो मे ही रखते हैं। शहर में अपने पति के साथ आने वाली पत्नी भी प्रसव के समय प्राय गाँव ही चली जाती है। हमारे उद्योगो के विकास के साथ ही गाँव से आने वाले मजदूरो की सख्या तेजी से बढती ही जा रही है। आर्थिक दृष्टिकोण से सम्भव होने पर ही वे गाँव जाते हैं। यह आवश्यक नही कि वहाँ जाने पर वे कृषि-कार्य मे सहयोग दें ही, बेकार बैठकर वे छुट्टी भी मना सकते हैं। शहर में रहते हुए भी उनका सम्बन्ध गाँव से इसलिए नही टूट पाता कि वहाँ से उनको अपने परिवार, किसी सम्बन्धी या अपने साहूकार को कुछ

१ उदाहरणार्थ १९२१ की जनगणनानुसार ८४% बम्बई-निवासी शहर के बाहर ही पैदा हुए थे। १९३१ में यह सख्या ७५.४% तक आई, पर यह गणना सन्देहास्पद है।

रकम भेजनी ही होती है।[१]

श्रमिको के गाँव से शहर आने के कारणो पर दृष्टिपात करने पर हम देखेंगे कि कृषि पर पडने वाली विपत्ति का पहला असर भूमिहीन खेतिहर मजदूरो पर ही पडता है, अत उन्हें गाँव छोडकर कारखानो, नौका-निर्माण स्थानो, बगीचो तथा रेल, सिंचाई आदि सरकारी निर्माण-कार्य वाले स्थानो में अधिक वेतन के लिए काम ढूँढने हेतु जाना पडता है। उन्नत आवागमन के साधन उनके इस प्रवास में सहायक होते है, जैसे उत्तर प्रदेश, विहार, उडीसा आदि राज्यो तथा वम्वई के रत्नगिरि आदि कुछ जिलो में जनघनत्व तथा भूभार इतना अधिक है और अनार्थिक जोतें इतना भयावह रूप धारण कर चुकी हैं कि साधारण कृषक जीविकोपार्जन हेतु शहर में जाने को वाध्य हो जाते हे। उनके इस प्रवास-कार्य में सयुक्तपरिवार प्रणाली इस अर्थ में सहायक होती है कि परिवार के कुछ सदस्य अपने घर तथा खेत से सम्वन्ध-विच्छेद किये बिना ही उसे परिवार के अन्य व्यक्तियो की देख-रेख में छोडकर गाँव से चले जाते हे। कभी-कभी कृषक गाँव के साहूकार से वचने या भूमि और पशु खरीदने के लिए पर्याप्त धन कमाने के उद्देश्य से शहरो में नौकरी तलाश करते हैं। फिर कभी अपनी जीविका और भावी जीवन को उत्तम वनाने की आशा से निम्न श्रेणी के ग्रामीण श्रमिक (जो कि दलित-वर्ग से सम्बन्ध रखते हे) शहरो और कस्वो को चले जाते हे। चूँकि उनके नगर जाने का प्रधान कारण कष्ट है न कि महत्त्वाकाक्षा, अत हम यह कह सकते हे कि गाँवो से नगरो को प्रवास करने वाले सवसे कम कुशल और अत्यन्त निरुपाय ग्रामीण होते हे। जैसा कि श्रम आयोग (लेबर कमीशन) का कहना है, "प्रवास की प्रेरक शक्ति एक सिरे से आती है अर्थात् गाँवो से। औद्योगिक श्रमिक नागरिक जीवन के आकर्षण से शहरो में नही जाता और न उसके प्रवास का कारण महत्त्वाकाक्षा ही होती है। शहर स्वय उसके लिए कोई आकर्पण की वस्तु नही है और अपना गाँव छोडने के समय उसके मन में जीवन की आवश्यकताओ की प्राप्ति के अतिरिक्त और कोई भावना नहीं रहती। बहुत ही कम औद्योगिक श्रमिक उद्योग में रहना चाहेगे, यदि उन्हें गाँवो में जीवन-यापन के लिए पर्याप्त अन्न और वस्त्र मिल जाय। वे नगर की ओर आकर्पित नहीं होते वरन् ढकेले जाते हैं।" (श्र० आ० प्र० ४)

३. देशान्तर-गमन के प्रभाव—देशान्तर-गमन के परिणामस्वरूप कारखानो में काम करने वालो के कितने ही वर्ग अपने को एकदम अपरिचित रीति-रिवाजो और परम्पराओ के मध्य पाते हे। यह भी हो सकता है कि वहाँ भापा भी दूसरी हो। पुरानी प्रथाओ और मान्यताओ के वन्धन ढीले पड जाते हे। "वे सव वन्धन, जो ग्रामीण जीवन को सन्तुष्ट रूप प्रदान करते हे, ढीले पड जाते ह, नवीन सम्वन्ध शीघ्रता से नही स्थापित हो पाते। फलत जीवन अधिकाधिक वैयक्तिक हो जाता है।" जलवायु के अत्यधिक परिवर्तन, दोपपूर्ण भोजन, स्थानाभाव के कारण अत्यधिक भीड-भाड, सफाई का अभाव तथा पारिवारिक जीवन से विच्छेद होने के वाद पुन मिलने का प्रलोभन,

१ श्र० आ० प्र०, ११-१४।

इन सबका संयुक्त प्रभाव श्रमिक के स्वास्थ्य पर बहुत बुरा पडता है। कुछ दुर्व्यसनो के कारण श्रमिक के नैतिक जीवन का और भी पतन होता है। शराब और जुआ इन दुर्व्यसनो के उदाहरण हैं जोकि गाँवो में अपेक्षाकृत अज्ञात हैं। ग्रामीण श्रमिक का काम कभी-कभी होता है और काम के बीच उसे लम्बे-लम्बे विश्राम लेने की आदत रहती है। इसके विपरीत औद्योगिक श्रमिक होने पर अनुशासित जीवन मे उसे नियमित रूप से लगातार कई घटे काम करना पडता है, इससे उसके स्वास्थ्य और मानसिक शक्ति पर भी बुरा प्रभाव पडता है। इन कठिनाइयो को कितने ही नई भरती वाले लोग सहन नही कर पाते और विवश होकर गाँवो को लौट पडते हैं। चूँकि श्रमिक के मन में गाँव लौटने की इच्छा सदैव बनी रहती है अत वह अपनी नागरिक वृत्ति में स्थायी रुचि उत्पन्न नही कर पाता। सम्भवत यही कारण है कि वह उच्च कोटि की प्राविधिक कुशलता नही प्राप्त कर पाता। उसके बार-बार गाँव लौटने तथा अन्य कारणो से मालिक और श्रमिक के बीच सम्पर्क की घनिष्ठता नष्ट हो जाती है और उनमें प्रभावपूर्ण सगठन का भी अभाव हो जाता है। श्रमिक जब लम्बी अनुपस्थिति के बाद लौटता है तो यह निश्चित नही होता कि उसे काम मिलेगा ही। पुन काम मिलने की कठिनाइयाँ उसे साहूकार, मजदूरो के ठेकेदार, शराब बेचने वाले आदि की दया पर आश्रित कर देती हैं।[1]

श्रम आयोग के मतानुसार श्रमिको का गाँवो से सम्पर्क लाभहीन नही है। शहरो की अपेक्षा गाँवो के अधिक स्वास्थ्यप्रद वातावरण में पोपित होने के कारण ग्रामीण श्रमिको का स्वास्थ्य अधिक उत्तम होता है। समय-समय पर गाँव जाने से खोई हुई मानसिक और शारीरिक शक्ति फिर से लौट आती है। बीमारी और वृत्तिहीनता के अवसर पर गाँव का घर एक शरण-स्थल का काम देता है। जिस प्रकार गाँवो के आर्थिक भार को नगर-प्रवास हल्का कर देता है उसी प्रकार गाँव नगरो की वृत्तिहीनता के प्रति एक प्रकार की सुरक्षा (बीमा) प्रदान करते हैं। ग्रामीण और नागरिक जीवन का सयोग दोनों (नगरो और गाँवो) के लिए हितकर होता है। इससे ग्रामीण जीवन में बाहरी दुनिया का थोडा-सा ज्ञान आ जाता है तथा पुरानी जर्जर प्रथाओ की शृङ्खला तोडने में सहायता मिलती है। इसी प्रकार नागरिको को भारतीय जीवन की वास्तविकताओ का सूक्ष्म ज्ञान हो जाता है। इन सब बातो को ध्यान में रखकर श्रम आयोग का सुविचारित मत यह था कि इस समय गाँवो से सम्बन्ध की कडी को बनाए रखना लाभदायक है और उद्देश्य यह होना चाहिए कि समाप्त करने के बजाय इसे सुनियमित और प्रोत्साहित किया जाय। (देखिए श्र० आ० प्र० १७-२०।)

४. औद्योगिकश्रम का अभाव—हम भारतीय औद्योगिक श्रम की कमी और मँहगेपन की ओर सकेत कर चुके हैं।[2] इस अभाव के वास्तविक कारण बम्बई जैसे नगरो में गृह और निवास की भयकर परिस्थिति, कम मजदूरी और रहन-सहन का ऊँचा व्यय

१ देखिए बी० हर्स्ट 'लेबर एण्ड हाउसिंग इन बॉम्बे', आमुख लेखक श्री स्टैनली रीड, पृ० ५-६।

२ देखिए खण्ड १, अध्याय ३, सेक्शन २४।

तथा मजदूरो को भरती करने के लिए सुव्यस्थित सगठन का अभाव है। इन सबके अतिरिक्त समय-समय पर प्लेग और इनफ्लुएजा तथा अकाल से होने वाली अधिक सख्या में मृत्यु भी श्रम की कमी को और बढा देती है। श्रम का देशान्तर-गमनीय स्वभाव इस कमी का अनुभव और तीव्र कर देता है। कुशल-श्रम का एक प्रकार से अभाव ही है। इसका कारण यह है कि यहाँ आधुनिक उद्योगो के लिए श्रमिको के प्रशिक्षण की सुविधाओ का अभाव है। प्राविधिक एव व्यापारिक अनुभव से युक्त मिस्त्री अथवा फोरमैन वर्ग के अभाव का कारण साधारण शिक्षित वर्ग की हर प्रकार के हाथ के काम के प्रति अरुचि भी है।

श्रम आयोग के मतानुसार यद्यपि औद्योगिक इतिहास के प्रारम्भ से ही सगठित उद्योग में श्रम का अभाव रहा है, किन्तु १९२५ से परिस्थिति धीरे-धीरे सुधरने लगी है। आवागमन के साधनो में सुधार के कारण देश के विस्तृततर क्षेत्र से श्रमिक मिलने लगे है। कारखानो और शहरो के जीवन में धीरे-धीरे सुधार हो रहा है यद्यपि अभी हम इस दिशा में आदर्श से बहुत दूर है। ज्ञान के प्रसार के साथ-ही-साथ ग्रामीण जनता देशान्तर-गमन के लिए अधिक उद्यत होती जा रही है, हालाकि भूमि पर पडने वाला भार किसी भी प्रकार कम होता नही दिखाई पडता। (श्र० आ० प्र० २१-२)।

४ **भरती करने का ढंग**—यहाँ भरती करने के ढग के विषय में दो शब्द कह देना उचित होगा। मिल के प्रबन्धक सीधे-सीधे ही आवश्यक श्रम की भरती नही करते। कुछ हालतो में ठेकेदारो द्वारा गाँवो में घूम-घूमकर भरती करना आवश्यक हो सकता है, उदाहरणार्थ, आसाम के चाय के बगीचो में ऐसा ही होता है, परन्तु अब साधारणतया ऐसा नही होता। लेकिन अब भी सामान्यत मध्यस्थो (जॉबर) या फोरमैन के माध्यम से ही श्रमिको की भरती होती है। जहाँ पर विभागाध्यक्ष यूरोपियन है वहाँ उनके और मजदूरो के बीच भारतीय मध्यस्थ (जॉबर) एक अनिवार्य कडी है। उसकी महत्ता का एक कारण यह भी है कि नियोक्ता श्रम सघो से दूर रहते है। यह कभी-कभी हडताल के नेता का भी काम करता है।[१] उसके कुछ कार्य पाश्चात्य श्रम-सघ के अधिकारियो की भाँति है। वह अनेक प्रकार से श्रमिको के लिए अनिवार्य बन जाता है। वह उन्हे धन देता है, झगडो में मध्यस्थ का काम करता है और कुटुम्ब-सम्बन्धी मामलो में राय देता है। चूँकि सभी श्रमिक उसी के द्वारा भरती किये जाते है अत नवीन श्रमिक स्थायी अथवा अस्थायी किसी भी प्रकार का काम पाने का एक-मात्र उपाय उसे घूस देना समझते है। कलकत्ता की जूट मिलो में दस्तूरी के नाम पर घूसखोरी खूब फैली हुई है और सरदार द्वारा इधर-उधर से वसूल की गई रकमो से उसकी आय कभी-कभी मासिक मजदूरी की पचगुनी तक हो जाती है, यहाँ तक कि तनख्वाह देने वाले छोटे-छोटे क्लर्क भी इस प्रकार की आमदनी करते है। भरती करने वाला एजेण्ट प्राय ऐसा प्रबन्ध करता है कि श्रमिक काम छूटने के भय से उसे कुछ-न-कुछ देने पर सदैव मजबूर होता है। स्त्रियो को भी, विशेषकर विधवा होने पर

[१] भारत के विभिन्न भागों में 'जॉबर' के भिन्न-भिन्न नाम हैं, यथा सरदार, मुकद्दम, मिस्त्री आदि।

ओवरसियरो द्वारा मजदूरो पर लगाये गए भार में भाग बँटाना पड़ता है।[1] बम्बई की कपास की मिलो में सूत वटने और (चर्खी पर) लपेटने वाले विभागो में जहाँ स्त्रियाँ काम करती हैं, नायकिन होती हैं। वे वर्ग-रूप में निम्न नैतिक स्तर की समझी जाती है और बहुधा नई लडकियो और स्त्री कर्मचारियो के ऊपर अपने प्रभाव का दुरुपयोग करती है।

मध्यस्थो या जॉवर का प्रचार एक दुर्गुण माना गया है। इसका एकमात्र उपचार मिल के अधिकारियो द्वारा और अधिक नियन्त्रण तथा भरती, नियुक्ति और बर्खास्तगी पर प्रत्यक्ष रूप से नियन्त्रण रखना है। जहाँ प्रत्येक नये व्यक्ति की नियुक्ति पर रुपये मिलने की आशा होती है वहाँ मध्यस्थ (जॉवर) यह चाहता है कि अधिक-से-अधिक व्यक्तियो की नियुक्ति हो और एक कारखाने से दूसरे कारखाने में श्रम का प्रवाह जारी रहे। इस प्रकार घूसखोरी और श्रम-प्रवाह में घनिष्ठ सम्बन्ध है। मध्यस्थो (जॉबर) को श्रमिको की नियुक्ति और बर्खास्तगी के काम से हटा देना चाहिए। श्रम आयोग की सिफारिशो के अनुसरण में कितने ही बडे-बडे सगठनो, जैसे ई० डी० सासून एण्ड कम्पनी तथा बर्मा शेल कम्पनी इत्यादि, ने मजदूरो की भरती और कल्याण के लिए विशेष श्रम-कल्याण अधिकारी नियुक्त किये हैं। बम्बई के मिल-मालिक सघ ने 'बदली-नियन्त्रण-पद्धति' जारी की है जिसमें केवल कार्ड रखने वालो को ही रिक्त स्थान पर रखा जाता है। कितने ही जूट मिलो ने श्रम-नियोजनालय (ब्यूरो) स्थापित किये हैं जिनका एक प्रधान काम श्रमिको की भरती है।

कानपुर श्रम जाँच समिति (कानपुर लेबर इन्क्वारी कमेटी) ने श्रमिको की नियुक्ति से मिस्त्रियो को बिलकुल अलग करने का सुझाव रखा और सरकारी नियन्त्रण में श्रम-विनिमय की स्थापना पर जोर दिया जो कि फैक्टरियो की माँग पर प्रार्थियो को नौकरी देंगे।[2] उत्तर भारत नियोक्ता सघ, कानपुर ने इन्ही आधारो पर एक वृत्ति-विनिमयालय (एम्प्लायमेण्ट एक्सचेञ्ज) स्थापित किया है। यह वाञ्छनीय होगा कि नियमित छुट्टियाँ मिलें और छुट्टियो में भत्ता देना भी शुरू किया जाय, ताकि मध्यस्थो (जॉबर) की शक्ति क्षीण हो जाय और एक सन्तुष्ट एवम् कुशल श्रम-शक्ति का निर्माण हो।[3]

जनवरी, १९४० में हुए श्रम-मत्री सम्मेलन में भारतीय श्रमिको को सवेतन छुट्टी देने के प्रश्न पर भी विवाद हुआ। सम्मेलन ने इस प्रश्न पर केन्द्रीय अधिनियम का पक्ष लिया।

६. पारिश्रमिक देने की अवधि—बम्बई की प्राय सभी मिलो में वेतन माहवारी दिया जाता है। यह अगले महीने की ८ तारीख को दिया जाता है। इस प्रकार भरती होने के बाद नये मजदूर को वेतन के लिए छ सप्ताह तक प्रतीक्षा करनी पडती है। इससे काफी कष्ट होता है और अधिकाशत यही औद्योगिक जनता की ऋणिता का

१ देखिए, जे० एच० केलमैन, लेबर इन इण्डिया, पृ० १०८-९।
२ रिपोर्ट, पैरा १३९-४०।
३ श्र० आ० प्र०, २३-२७।

कारण भी है। वस्तुत ऋणिता समान रूप से ग्रामीण और नागरिक जीवन की विशेषता बन चुकी है। मिल-मालिको का कहना है कि बिना नोटिस दिये ही श्रमिकों के भाग जाने को रोकने का एकमात्र उपाय उनकी मजदूरी रोक लेना है। मासिक वेतन देने से काम छोडने वाले श्रमिक को यह आवश्यक हो जाता है कि वह एक महीने पहले सूचना दे। कितने ही श्रमिक इस नियम की अज्ञानता में बिना सूचना दिये ही काम छोड देते हैं और इस प्रकार एक महीने के वेतन से हाथ धो बैठते हैं। साधारण रूप से यह कहा जा सकता है कि श्रम की अवधि जितनी ही लम्बी होगी पारिश्रमिक मिलने में उतनी ही देर भी होगी। कलकत्ता की जूट मिलो में साप्ताहिक पारिश्रमिक मिलता है अत केवल एक सप्ताह की ही मजदूरी रुकी रहती है। अहमदाबाद में मजदूरी हप्तावारी मिलती है अर्थात् १४ या १६ दिन बाद।

सितम्बर, १९२४ में स्थानीय सरकारो से कहा गया कि वे मजदूरी देने की अवधि के सम्बन्ध में जानकारी एकत्रित करें। पता चला कि एक उद्योग से दूसरे उद्योग तथा एक स्थान से दूसरे स्थान में मजदूरी देने की अवधि में बडी असमानता है। कभी-कभी एक ही कारखाने में भी विभिन्न तरीके पाए जायेंगे।[1] १९३६ में पास किये गए पारिश्रमिक देने के अधिनियम के अनुसार (१) मजदूरी की अवधि एक महीने से अधिक न रखी जाय,[2] (२) सब मजदूरी सिक्को या करेंसी नोटो में दी जाय, (३) १००० से अधिक कर्मचारियो के रेलवे या अन्य किसी भी औद्योगिक कारखाने में प्रत्येक व्यक्ति की मजदूरी ७वें दिन के समाप्त होने के पूर्व मिल जानी चाहिए और अन्य रेलवे तथा औद्योगिक कारखानो में मजदूरी की अवधि के अन्तिम दिन से दसवें दिन तक अवश्य मिल जानी चाहिए।

७. मजदूरी में से कटौती—उपर्युक्त अधिनियम मे मजदूरी मे से कटौती को नियमित करने की चेष्टा की गई है। किसी भी वृत्ति-प्राप्त मनुष्य की मजदूरी में से निम्न प्रकार की कटौतियाँ ही हो सकती हैं। जुर्माना, गैरहाजिरी पर कटौती, वृत्ति-प्राप्त मनुष्य को सरक्षण के लिए सौंपी गई सामग्री की हानि होने पर या उसको सौंपे गए रुपये के खो जाने पर कटौती, ऐसे स्थानो पर, जहाँ हानि उसकी भूल का परिणाम है, नियोक्ता द्वारा दिये गए रहने के मकान के लिए कटौती, पूर्वोपाय कोष (प्राविडेण्ट फण्ड) के लिए अथवा उसमें से उधार लिये गए ऋण को चुकाने के लिए कटौती।

जुर्माना—किसी भी वृत्ति-प्राप्त व्यक्ति पर जुर्माना उसी दशा में किया जा सकता है जबकि हानि या भूल केवल भली प्रकार अधिसूचित कार्यों के सम्बन्ध में

[1] इस सम्बन्ध में 'पीरियड्स ऑफ वेज पेमेण्ट' में सूचना प्रकाशित की गई है। (बुलेटिन्स ऑफ इण्डियन इण्डस्ट्रीज एण्ड लेबर न० ३४, १९२५)।

[2] श्रम सदस्यों द्वारा प्रस्तावित उपर्युक्त अधिनियम का सशोधन, जिसमें १५ दिन से ७ दिन पर पारिश्रमिक देने की व्यवस्था थी, बहुमत न प्राप्त कर सका। इसका प्रधान कारण मासिक वेतन पाने वालों का विरोध था। उनका कहना था कि मकान का किराया और खर्च के बिल महीने पर आएँगे और उन्हें तनख्वाह सप्ताह पर मिलेगी, तब तक वह समाप्त हो जायगी—'इण्डियन ईअर बुक' १९४४-४५, पृ० ५१५।

उस स्थान पर हो, जहाँ काम होता है। जुर्माने की कुल रकम किसी भी पारिश्रमिक अवधि में ½ आना प्रति रुपये से अधिक न होनी चाहिए। पन्द्रह वर्ष से नीचे के किसी भी व्यक्ति पर जुर्माना नही किया जा सकेगा।

इस अधिनियम के परिणामस्वरूप जुर्माना करना प्राय बन्द-सा हो गया है, परन्तु नियोक्ताओ ने अधिनियम से बचने के कितने ही तरीके निकाल लिए हैं, उदाहरण के लिए, वे मजदूरो को बिना वेतन के छुट्टी पर जाने के लिए विवश करते हैं तथा मजदूरी की भेदात्मक दरें प्रारम्भ करते हैं।

८. काम के घंटे और भ्रमणशील प्रवृत्ति—भारत के नियोक्ता की हमेशा से यह शिकायत रही है कि भारतीय श्रमिक लगातार स्थिर रूप से काम नही करता। वह अनेक बहाने बनाकर इधर-उधर समय बिताया करता है। काम करने वाले अपनी मशीनो से अनुपस्थित रहते हैं जिनके बदले दूसरे आदमियो को लगाना पडता है। १९०८ के भारतीय फैक्ट्री-आयोग (इण्डियन फैक्ट्री कमीशन) के अनुसार "यद्यपि भारतीय श्रमिक थोडी देर तक काफी शक्ति और कुशलता से काम कर सकता है, परन्तु स्वभावत वह काम को काफी देर तक फैलाए रहना चाहता है तथा उसकी प्रवृत्ति आराम के साथ काम करने और परिश्रम करने की अनिच्छा होने पर विश्राम लेने की होती है।" सन् १९११ और १९२२ के फैक्ट्री एक्ट पास होने के पूर्व काम की लम्बी अवधि, जो १२ से १४ घण्टे तक होती थी, इस भ्रमणशील प्रवृत्ति का प्रधान कारण बताई जाती है। फैक्ट्री-आयोग की विमति टिप्पणी (मिनट ऑव डिसेण्ट) में डॉ० टी० एम० नैयर ने इसे स्थिति के अनुकूल होने की शक्ति का चिह्न माना जो सभी मनुष्यो में न्यूनाधिक मात्रा में विद्यमान रहती है और शारीरिक कल्याण के लिए इसे श्रम की कठोरता को कम करने का एक ढंग बताया। अन्य कारणो में जलवायु, मजदूर का कृषि से लगाव तथा उसकी शारीरिक दुर्बलता है। काम के घण्टो में कमी, सफाई की दशा में सुधार, कारखानो मे हवादानो का प्रबन्ध, उचित निरीक्षण आदि से घूमने की आदत कम हो जायगी और श्रम की कुशलता बढ जायगी। उदाहरण के लिए, कलकत्ता की जूट मिलो में भ्रमण की आदत कम है क्योकि वहाँ श्रमिको के काम करने की पारी (शिफ्ट) कम घण्टो की है। यही हालत अभियन्त्रण की दूकानो की है जहाँ काम के घण्टे ८ से अधिक नही हैं।

९. मिलों में काम करने की कठोर परिस्थिति—काम करने वालो की कुशलता और स्वास्थ्य को ध्यान में रखते हुए हवादान, नमीकरण का नियमन, भोजन की व्यवस्था, नहाने और शौच के स्थानो का प्रबन्ध आदि की ओर विशेष ध्यान देना आवश्यक है। इन सब बातो में धीरे-धीरे सुधार हो रहा है परन्तु अभी इस दिशा में सुधार की बहुत गुंजाइश है। हवा और प्रकाश का प्रबन्ध कपडे की मिलो में पर्याप्त कठिनता प्रस्तुत करता है। बम्बई जैसे शहरो में मिलें कई मंजिलो मे होती हैं। अन्तिम मंजिल को छोडकर शेष मंजिलो में छत से प्रकाश नही आ सकता। जितने भी प्रयोग किये गए हैं उनसे मालूम हुआ है कि गरमी में पर्याप्त रूप से हवादान न होने से कुशलता में २०% तक कमी हो जाती है। नमीकरण एक अन्य कठिन समस्या है। भारत

की जलवायु स्वत नम नही है। कपडे की बुनाई के लिए इसी प्रकार की जलवायु आवश्यक है। कपडे के धागे को टूटने से बचाने के लिए कारखानो में कृत्रिम उपायो से नमी रखना आवश्यक हो जाता है। जब इस प्रकार का नमीकरण अन्दर भाप पहुँचाकर तथा गन्दे पानी के प्रयोग से किया जाता है तो यह काम करने वालो के स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होता है। भारत सरकार ने इस विषय के एक विशेषज्ञ की नियुक्ति की है जिसका काम नमीकरण की सर्वोत्तम विधि बताना है।

भारत की अनेक मिलो में काम करने वालो के लिए भोजन की कोई व्यवस्था नही है। मद्रास में कर्नाटक मिल्स तथा बकिंघम मिल्स इत्यादि मिलो में विभिन्न जाति के व्यक्तियो के लिए भोजनार्थ छादक (शेड) की व्यवस्था है। ऐसे जलपान-गृहो की अत्यन्त आवश्यकता है जिनमें स्त्री-पुरुष दोनो वर्ग के लोग जा सकें। पीने के लिए शुद्ध जल की पूर्ति, स्नान सम्बन्धी व्यवस्था—जोकि एक गरम देश मे अत्यन्त आवश्यक है—स्वच्छ शौचालय आदि अन्य बातें हैं जिन पर श्रमिक की सुविधा और कुशलता बढाने के दृष्टिकोण से अभी तक नियोक्ताओ ने पर्याप्त ध्यान नही दिया है।

१० भारतीय कारखानों में अनुपस्थिति—भारतीय श्रमिको के एक बडे भाग (प्रतिशत) की अनुपस्थिति कारखानो के काम को अत्यन्त ही कठिन बना देती है। मिल-मालिको का कथन है कि बोनस तथा मजदूरी बढने या मिलने से अनुपस्थिति बहुत बढ जाती है। भारतीय श्रमिक जीवन-यापन के लिए पर्याप्त धन मिल जाने पर सन्तुष्ट हो जाता है। अनुपस्थिति की मात्रा (बम्बई में ८ से १२ प्रतिशत तक है) मौसम के अनुसार भी बदलती रहती है। यह मानसून के समय तथा विवाहादि अवसरो पर अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है, अर्थात् मार्च से जून तक बहुत अधिक होती है तथा दिसम्बर और जनवरी में सबसे कम रहती है। कलकत्ता से गरमी के मौसम में लोग बडी सख्या में बाहर जाते हैं क्योकि उस समय जूट का काम प्राय बन्द-सा रहता है और साथ ही ग्रीष्म ऋतु के प्रारम्भिक महीने अत्यन्त कठोर होते हैं।

इस पैमाने पर होने वाली अनुपस्थिति के कारण यह आवश्यक हो जाता है कि बडी सख्या में ऐसे नौकर रखे जायँ जिनसे समय-समय पर काम लिया जा सके। इस प्रकार घटिया श्रमिक काम पर लगा दिए जाते हैं जिससे काम भी निम्न कोटि का होता है। इसके लिए उपचार बताना सरल नही है। उपस्थिति के लिए भत्ते (अलाउन्स) देकर कुछ सफलता प्राप्त की गई है। टेक्स्टाइल टेरिफ बोर्ड (वस्त्र प्रशुल्क-मण्डल) ने श्रम-सचय के निर्माण पर जोर दिया है। इससे अस्थायी 'बदली वालो' की आवश्यकता न पडेगी और छुट्टी देने के काम में भी सरलता होगी (रिपोर्ट, पैरा ६०)।

एक कारखाने से दूसरे कारखाने में श्रम के आने-जाने से भी अनुपस्थिति अधिक होती है।[1] बम्बई, मद्रास और नागपुर जैसे औद्योगिक केन्द्रो में औसतन मिल-

---

[1] काम के घण्टों और पारिश्रमिक सम्बन्धी असतोप के कारण एक कारखाने से दूसरे कारखाने में बदली होती रहती है। प्रामाणिक मजदूरी के अभाव में कारखाना छोड़ने की भावना और प्रबल होती है—(आर० के० दास फैक्ट्री लेबर इन इण्डिया, पृ० ४४-५)। मध्यस्थ (जॉबर) के कारण भी इस काम में

कर्मचारी १½ वर्ष में प्राय सब-के-सब बदल जाते हैं। इस प्रकार कर्मचारियो की कुशलता घटने के साथ-ही-साथ उत्पादन लागत भी बढ जाती है।

११. औद्योगिक श्रम की कार्यक्षमता—भारतीय श्रमिक की कथित हीन कार्यक्षमता के स्पष्ट उल्लेख की आवश्यकता है। भारतीय श्रमिक यूरोपीय श्रमिक की अपेक्षा अधिक अकुशल माना जाता है। यदि इससे हमारा अभिप्राय यह है कि एक निश्चित समय के अन्दर यूरोपीय श्रमिक भारतीय श्रमिक की अपेक्षा अधिक उत्पादन करता है, तो इसके विरुद्ध कुछ नही कहा जा सकता। औद्योगिक आयोग के समक्ष गवाही देते हुए सर अलेक्जेण्डर मैकराबर्ट ने बताया कि भारतीय श्रमिक की तुलना में यूरोपीय श्रमिक साढ़े तीन या चार गुना कुशल और कार्यक्षम है। सर क्लीमेंट सिम्पसन के अनुमान के अनुसार लकाशायर की मिल का एक श्रमिक २·६७ भारतीय श्रमिको के बराबर काम करता है। डॉ० गिलबर्ट स्लेटर के मतानुसार इन गणनाओ में भारतीय श्रमिक की अकुशलता अधिक बढा-चढाकर प्रदर्शित की गई है। भारत और इगलैण्ड में एक (लूम) करघे को चलाने के लिए लगाये गए श्रमिको की सख्या से परिस्थिति का यथार्थ अकन नही होता। भारत में अधिक व्यक्ति लगाए जाने का कारण यह है कि इनके उत्पादन का मूल्य दिये गए पारिश्रमिक की अपेक्षा अधिक होता है। इगलैण्ड में पारिश्रमिक अधिक होने के कारण श्रमिको की सख्या में मितव्ययता करनी पडती है। डॉ० स्लेटर भी यह स्वीकार करते है कि यद्यपि भारतीय श्रमिक की अकुशलता अधिक बढा-चढाकर प्रदर्शित की जाती है परन्तु इसका अस्तित्व असदिग्ध है। इगलैण्ड के श्रमिको की अपेक्षाकृत कही अच्छी शारीरिक गठन, लगातार काम करने की शक्ति, अनुशासनबद्धता के कारण इसमें कोई आश्चर्य नही कि वे भारतीय श्रमिक की अपेक्षा अधिक कुशल है। उपर्युक्त प्रकार के गणितात्मक अनुमानो को अपनाने में सावधानी से काम लेना चाहिए। भारतीय मिलो के कम उत्पादन का उत्तरदायित्व केवल भारतीय श्रमिक पर ही नही रखा जा सकता। इसका आशिक कारण प्रबन्ध की अकुशलता भी हो सकती है। इसके अतिरिक्त कपास की खराबी के कारण भी सूत बराबर टूटा करता है, परिणामस्वरूप अधिक आदमी काम में लगाने पडते हैं। यह भी शिकायत है कि लकाशायर के मिल-मालिको की तरह भारत के मिल-मालिक अद्यतन मशीनो का उपयोग नही करते। बाहर से मशीने मँगाने के कारण इगलैण्ड की अपेक्षा भारतीय मिलो का उत्पादन अधिक व्ययशील होता है। चूँकि भारत में पारिश्रमिक की दर कम है, अतएव अद्यतन मशीनो पर व्यय करने की अपेक्षा अधिक मजदूर सरलता और मितव्ययता से लगाए जा सकते हैं।

उद्योग आयोग के मतानुसार निम्नतम मजदूरी के बावजूद भारतीय श्रमिक का उत्पादन पाश्चात्य श्रमिको से सस्ता नही पड़ता। १६०८ में डॉ० नैयर ने कहा कि "यदि लंकाशायर का एक श्रमिक भारत के २·६७ के बराबर है तो लकाशायर में काम करने वाले की मजदूरी ४ पेनी या ६० रु० है, जबकि मद्रास के एक मजदूर की

काफी बुराइयॉ पैदा हो गई हैं। इसे दूर करने के लिए सरकारी वृत्ति व्यूरो को काम में लाया जायगा।

मजदूरी १५ रु० है। इस प्रकार स्पष्ट है कि समान व्यय करने पर अंग्रेज मिल-मालिक की तुलना में भारतीय मिल-मालिक लगभग दूना काम करा लेते हैं।" इसका अभिप्राय यह हुआ कि वस्तुत भारतीय श्रमिक अधिक कुशल हैं। किन्तु अब तो यह सर्वमान्य है कि पाश्चात्य श्रमिक की तुलना में भारतीय श्रमिक अकुशल है।[१]

१२. भारतीय श्रम की अकुशलता के कारण—अकुशलता के कुछ स्थायी कारण हैं, परन्तु कुछ अस्थायी और उपचार योग्य कारण भी हैं। प्रथम प्रकार के कारणो में भारत की जलवायु का नाम लिया जा सकता है जोकि अधिक ऊँची कार्यक्षमता के प्रतिकूल है। उदाहरण के लिए, यदि हम कपास के उद्योग के बारे में सोचें तो भारत की मिलो की अपेक्षा लकाशायर की ठण्डी और प्राणदायी जलवायु कितनी अनुकूल है। इस प्रकार लकाशायर अधिक लाभप्रद स्थान पर स्थित है। भारत में किया गया कृत्रिक नमीकरण प्राकृतिक नमी से कही निम्न कोटि का होता है। इसके अतिरिक्त यदि इसका भली प्रकार नियमन न किया जाय तो काम करने वालो के स्वास्थ्य पर इसका बुरा प्रभाव पडता है। ऐसे कारण, जिनको दूर किया जा सकता हैं, उनमें सफाई, हवा का प्रबन्ध इत्यादि की चर्चा पहले ही की जा चुकी है। भारत की उष्ण जलवायु को ध्यान में रखते हुए यह भी कहा जा सकता है कि काम के घण्टे अब भी काफी लम्बे हे और इस कथन में पर्याप्त सत्य है कि भारतीय श्रमिक की ढील डालने और विश्राम लेने की आदत स्वास्थ्य-रक्षा का एक उपाय है जिसे वह अचेतन रूप से अधिक कठोर परिश्रम से अपनी शारीरिक रक्षा के लिए अपनाता है। यह निर्विवाद है कि भारतीय श्रमिक की शारीरिक शक्ति एक अंग्रेज की अपेक्षा कम है। इसके दो प्रधान कारण हैं—(१) बीमारी के कारण होने वाली हानियाँ, (२) भोजन में कमी। जैसा कि स्पष्ट है भारत के गाँवो में भी मलेरिया, प्लेग, हैजा, काला अजार, हुकवर्म जैसी बीमारियाँ होती हैं, परन्तु घनी आबादी वाले औद्योगिक क्षेत्रो में उनका प्रभाव कही अधिक है। अँधेरी और घनी बसी कोठरियो (स्लम्स) में बीमारियाँ पलती हैं। इन स्थानो में उनके प्रसार की आदर्श दशाएँ होती है।

जन-स्वास्थ्य को सुधारने के लिए एक सगठन आवश्यक है जिससे कि शुद्ध जल, बिना मिलावट का भोजन, गन्दे पानी के निकास का प्रबन्ध इत्यादि की व्यवस्था हो सके। इसके साथ ही अच्छी औषधि की व्यवस्था तथा औद्योगिक श्रमिको के लिए बीमारी के बीमा का भी प्रबन्ध होना चाहिए।

जहाँ तक भोजन की कमी का सवाल है, वह समस्त भारत से सम्बन्धित है और इसका विस्तृत विवेचन अध्याय ४ में किया जायगा।

---

१ श्री (अब हिज एक्सेलेन्सी सर) एच० पी० मोदी ने, जोकि बम्बई मिल मालिक सघ के चेयरमैन थे, अपनी मौखिक गवाही में श्रम आयोग के समक्ष श्रम-कुशलता के निम्न आँकडे दिये 'जापान में एक बुनने वाला ६ करघे देखता है, उसकी कुशलता ९५% है। चीन में एक बुनने वाला ४ करघे देखता है, उसकी कुशलता ८०% है। बम्बई में एक बुनने वाला २ करघे देखता है, उसकी कुशलता ८०% है। चीन और जापान की गणना के आधार पर एक बुनने वाला बम्बई में चीन जापान की अपेक्षा २००% और ३००% अधिक पाता है।'

१२. आवास (हाउसिंग) की परिस्थितियाँ—अधिकांश औद्योगिक नगरो में ऐसी घनी आबादी और सफाई की दुर्व्यवस्था है जिस पर विश्वास नही किया जा सकता। बहुत अशो में यह श्रम की अकुशलता के कारण है। उन औद्योगिक क्षेत्रो में, जहाँ कारखाने नगर से कुछ दूर स्थित हैं, मजदूरो की घर सम्बन्धी समस्या अपेक्षाकृत सरल है। श्रमिको के रहने की व्यवस्था पास के गाँवो में की जाती है तथा जो नियोक्ता सरलता से भूमि प्राप्त कर लेते हैं वे उनके लिए एक मजिल वाले मकान एक कतार में बनवा देते हैं। घनी आबादी की दूसरी स्थिति मद्रास, कानपुर, नागपुर और अहमदाबाद जैसे औद्योगिक केन्द्रो में पाई जाती है। यही स्थिति कलकत्ता के औद्योगिक क्षेत्रो में भी है। इन स्थानो में बम्बई की अपेक्षा कम दाम पर भूमि मिल जाती है। यहाँ मजदूरो के घर झोपडियो की कतारें हैं जिन्हें बस्ती कहा जाता है। ये झोपडे मिल-मालिको द्वारा नही बनाये गए हैं और मिलो में काम करने वालो को उचित किराये पर दिये जाते हैं। कुछ स्थानो, जैसे कानपुर, कलकत्ता और अहमदाबाद में बुद्धिमान नियोक्ताओ ने स्वय श्रमिको के लिए रहने के स्थान बनवाए हैं ताकि वे श्रम-बाजार पर प्रभाव स्थापित कर सकें और उस प्रकार के श्रम को प्राप्त कर सकें जिस पर प्रधान रूप से कपास की मिलें चलती हैं।[1] अन्य औद्योगिक केन्द्रो की अपेक्षा अहमदाबाद में मजदूरो के रहने की व्यवस्था अधिक खराब है। प्राय सभी औद्योगिक केन्द्रो में घनी आबादी की समस्या बढती गई है, क्योकि औद्योगिक विकास के लिए स्थान चुनने पर किसी प्रकार का नियन्त्रण नही रखा जाता। इस दुर्व्यवस्था का यही कारण है। श्रमिक वर्ग में से अधिकाश चालो में रहते हैं जोकि प्राय एक कमरे की होती है, लेकिन इनमें दो से अधिक कमरे नही होते। इन चालो का प्रधान उद्देश्य सस्ते-से-सस्ते मे अधिक-से-अधिक श्रमिको को निवास-स्थान देना है।[2]

बम्बई में अधिकाश श्रमिक परिवार केवल एक कमरे में रहते हैं (प्राय. ७०%)। प्रत्येक कमरे में रहने वालो की सख्या ४ ०३ है। इनमें और लन्दन के अको मे बडा अन्तर है, जहाँ केवल ६% जनसख्या १ कमरे वाले मकानो में रहती है और प्रत्येक कमरे में औसतन १ ९२ व्यक्ति रहते हैं। बम्बई के मजदूरो में मकानो को पुन किराये पर देने की प्रथा है, जिससे घनी आबादी की समस्या और बढ जाती है। यद्यपि बम्बई की चालें बहुत बदनाम हैं किन्तु अन्य औद्योगिक केन्द्रो में भी समस्या इतनी ही जटिल है। हावडा के कुछ भागो में इतनी अधिक भीड है जितनी भारत के किसी भी औद्योगिक केन्द्र में न होगी। छोटे-छोटे औद्योगिक कस्बों में भी यही प्रवृत्ति दृष्टिगोचर हो रही है।

---

१ श्रमिक नियोक्ताओं द्वारा दी गई आवास सुविधाओं से पूरा-पूरा लाभ नहीं उठाते। कारण यह है कि इससे उनकी स्वतन्त्रता में बाधा पहुँचती है, क्योंकि हड़ताल और मिल-बन्दी के समय वे उन आवासों से निकाल दिए जाते हैं। उनके अन्य कार्यों की, जिन्हें नियोक्ता अनुचित समझता है, निगरानी भी अवश्य होगी। बी० शिवराव, 'इण्डस्ट्रियल वर्कर इन इण्डिया'।

२. हर्स्ट—पूर्वोद्धृत, पृ० २०, श्रम आयोग १, रिपोर्ट, पैरा २४१ भी देखिए।

१४. आवास की कठिनाइयों और स्वच्छता की कमी के दुष्परिणाम—"अच्छे घरो का अर्थ है, गृह-जीवन की सम्भावना, सुख और स्वास्थ्य, बुरे घरो का अर्थ है, गन्दगी, शराबखोरी, बीमारी, आचारहीनता, व्यभिचार और अपराध। इनके लिए अस्पताल, जेल और पागलखानो की आवश्यकता होती है, जहाँ समाज के भ्रष्ट और पतित लोगो को छिपाया जाता है जो स्वय समाज की लापरवाही के ही परिणाम हैं।" अपूर्ण और गन्दे मकान भी औद्योगिक अशान्ति का कारण हैं। ये सब बुराइयाँ न्यूनाधिक मात्रा में बम्बई में पाई जाती हैं। इनमें से एक सबसे बडी बुराई अधिक सख्या में शिशु-मृत्यु है जो बम्बई की गन्दी बस्तियो (स्लम्स) में पाई जाती है। मृत्यु-सख्या निवास के कमरो के विपरीत अनुपात में है। उदाहरण के लिए, १९३६ में एक कमरे वाले निवास-स्थानो में मृत्यु-सख्या ७८.३% थी।[1] सबसे गन्दे स्थानो में मृत्यु-दर २९८ प्रति हजार थी जबकि साधारण दर २०० से २५० प्रति हजार ही थी।[2] अन्त में चाल के जीवन की, भयकर दशाएँ तथा गोपनीयता के अभाव के कारण लोग अपने कुटुम्ब को नही ला पाते जिससे श्रम की कुशलता और स्थिरता पर बडा बुरा प्रभाव पडता है। श्रम जाँच समिति (लेबर इनवेस्टीगेशन कमेटी) इस परिणाम पर पहुँची कि शिक्षा और औषधि सम्बन्धी सहायता की भाँति सरकार को औद्योगिक आवास का भी उत्तरदायित्व सँभालना चाहिए।

१५. सुधरे आवासों के लिए प्रयास—बम्बई में जब पानी की पूर्ति, सफाई और गन्दे पानी के निकास सम्बन्धी सुधार किये गए तो वहाँ घनी आबादी कम करने और गन्दे निवास-स्थानो (स्लम) को नष्ट करने पर कोई ध्यान नही दिया गया। इस प्रकार हालत बिगडती चली गई। १८९६ में प्लेग के कारण हुई मृत्युएँ तथा बडी सख्या में बम्बई छोडने और तज्जन्य व्यापार और उद्योग के विनाश के कारण समस्या का हल अति आवश्यक हो गया। फलत १८९८ में बम्बई इम्प्रूवमेंट ट्रस्ट की स्थापना हुई। इसका काम नई गलियों का निर्माण, घने क्षेत्रो का विस्तार, समुद्र से भूमि को निकालना—ताकि प्रसार-कार्य में सुविधा हो—और गरीबो के लिए स्वच्छ मकानो का निर्माण करना था, किन्तु ट्रस्ट की सीमित शक्ति और धन, ट्रस्ट और कारपोरेशन के बीच सहयोग के अभाव, वैयक्तिक सम्पत्ति पर अनिवार्य अधिकार प्राप्त करने के कारण उत्पन्न अलोकप्रियता तथा इमारतो को गिराने से इसकी प्रगति में बाधा पहुँची और गन्दी बस्तियों को ठीक-ठाक करने की नीति (स्लम पेचिंग) को जन्म दिया। फिर भी ट्रस्ट ने कुछ सीमा तक बहुत प्रशसनीय कार्य किया।

१९२० तक नगरपालिका (म्युनिसिपैलिटी) ने भी अपने कर्मचारियो के लिए २९०० मकान बनवाए और २२०० के लिए स्वीकृति दी। पोर्ट ट्रस्ट ने ५०००६ व्यक्तियो के लिए मकान बनवाए। इधर नगर की जनसख्या बडी तेजी से बढ रही थी, परन्तु मिल-मालिको ने अपने मजदूरो के आवास के लिए कोई प्रयास नही किया। घनी आबादी से बचने के लिए तथा अच्छी आवास-व्यवस्था के लिए उद्योग आयोग

[1] रिपोर्ट ऑफ दि रेण्ट इन्क्वायरी कमेटी, बम्बई, १९३९ पैरा, २६।

[2] अ० आ० प्र०, २७१।

ने कुछ अपवादसहित नई फर्मो की स्थापना के लिए स्वीकृति देना बन्द करने की सिफारिश की।[1] औद्योगिक विकास के लिए एक विशिष्ट क्षेत्र चुनने, रेलवे के कारखाने नगर से उचित दूरी पर स्थापित करने, रेलवे, सरकार और सार्वजनिक सस्थाओ द्वारा अपने नौकरो को निवास-स्थान देने, उपनगर-निर्माण के लिए सचार-साधन के आयोजन तथा नगर में स्थित आवासो में रहने की सख्या का निश्चित प्रमाप तथा स्थानीय अधिकारियो द्वारा निर्माण-योजना बनाने और कार्यान्वित करने की सिफारिशें भी की। १९१४-१८ के युद्ध के उपरान्त बम्बई सरकार द्वारा इस समस्या को सुलझाने के लिए सुविस्तृत योजना तैयार की गई। इसके लिए ९ करोड के विकास-ऋण तथा बम्बई आने वाली सभी कपास पर १ रु० प्रति गाँठ के हिसाब से नगर-कर (टाउन ड्यूटी) लगाकर आवश्यक धन इकट्ठा किया गया। किन्तु इस प्रकार बनी कितनी ही चालें, विशेषकर 'वोरली' की चालें, लगभग दस साल तक खाली पडी रही। इनमें रहने के लिए मजदूरो के आकर्षित न होने के निम्न कारण थे—वहाँ तक पहुँचने की कठिनाइयाँ, बाजार सम्बन्धी सुविधाओ का अभाव, उनका सीमेण्ट से बना होना—जिसके कारण वे गरमी में अधिक गरम तथा जाडे में अत्यन्त ठण्डी रहती हैं, किराये की ऊँची दर तथा प्रकाश सम्बन्धी व्यवस्था और पुलिस सुरक्षा का अभाव। इन दोषो को दूर करने के लिए कुछ प्रयास किये गए हैं। नगरपालिका तथा पोर्ट ट्रस्ट भी अपनी विकास-योजनाएँ कार्यान्वित करने में प्रयत्नशील है। पोर्ट ट्रस्ट ने सिउरी में एक कपास डिपो बनवाया है। मई, १९४७ मे बम्बई सरकार वोरली पर भवन-निर्माण योजना प्रारम्भ की, जिसमें काम करने वाले एक व्यक्ति तथा परिवार दोनो के लिए आवास बनाये गए है। अब बम्बई नगर में एक कमरे वाले मकान नही रहेगे। आर्थिक किराया और लिये जाने वाले किराये के बीच पडने वाले अन्तर को आर्थिक सहायता, चन्दा और कर द्वारा पूरा किया जायगा।

जहाँ तक मिल-मालिको का प्रश्न है कुछ मिलो ने, जैसे जैकब सासून मिल ने, अपने कर्मचारियो के लिए मकान देने की व्यवस्था की है। उचित दर पर कारखानो के समीप स्थान मिलने की कठिनाई, इस बात की सुरक्षा का अभाव कि मकान मिलने पर वे कर्मचारी मकान देने वाली मिल में ही काम करेंगे, तथा स्वय कर्मचारियो की उन मकानो में रहने की अनिच्छा, इन सब कारणो से काम के प्रसार में काफी शिथिलता आ गई है। कर्मचारी डरते है कि उनकी स्वतन्त्रता में बाधा पडेगी और हडताल के समय वे निकाल दिए जायेंगे। वे स्वच्छता और अनुशासन के नियमो को भी पसन्द नही करते क्योकि वे उनका महत्त्व ही नही समझते। कानपुर, नागपुर, अहमदाबाद मद्रास इत्यादि स्थानो में इस विषय में अधिक सुविधाजनक परिस्थितियाँ है। यहाँ पर मिल-मालिको ने कर्मचारियो के हित पर अधिक ध्यान दिया है। इससे दोनो दलो को लाभ हुआ है। इस सम्बन्ध में एम्प्रेस मिल्स नागपुर और टाटा के जमशेदपुर के लोहे और इस्पात के कारखानो के प्रबन्धको द्वारा किये गए आवास सम्बन्धी स्तुत्य प्रयत्नो की चर्चा करना उचित है। इस समय कर्म-

१ यह सुझाव स्वीकार कर लिया गया और बम्बई खास में नई मिलें नहीं बनाई जातीं।

चारियो के मकान की समस्या को हल करने में प्रधान कठिनाइयाँ निर्माण के लिए उचित स्थलो का अभाव, श्रम तथा भवन-निर्माण सामग्री की ऊँची कीमतें और अभाव हैं।

श्रम आयोग ने अनेक प्रकार के सुझाव पेश किये—(१) भूमि प्राप्त करने के अधिनियम को इस प्रकार सशोधित किया जाय ताकि मिल-मालिक कर्मचारियो के हेतु मकान वनवाने के लिए भूमि प्राप्त कर सकें। अतएव १९३३ में स्वय भारत सरकार ने इस अधिनियम को सशोधित किया। (२) प्रान्तीय सरकारें उद्योग और नगर क्षेत्रो का सर्वेक्षण कर आवास सम्वन्धी आवश्यकताओ का पता लगाएँ और सब दलो के सहयोग के लिए व्यावहारिक योजनाओ पर परस्पर परामर्श का प्रवन्ध करें। (३) सरकार को एक निम्नतम मानदण्ड स्थापित करना चाहिए जिसमें घनफल, स्थान, हवादारी, प्रकाश आदि की उचित व्यवस्था हो। (४) जहाँ आवश्यक हो नगर आयोजन अधिनियम पास किये जायँ। (५) प्रत्येक इम्प्रूवमेंट ट्रस्ट पर वैधरूप से श्रमिक वर्ग के लिए भवन-निर्माण का उत्तरदायित्व रखा जाय। (६) सरकारी आवास समितियो को प्रोत्साहन दिया जाय। (७) स्वास्थ्य, सफाई और आवास से सम्वन्धित उपनियमो को सशोधित एव अद्यतन बनाया जाय और उन्हे कठोरता के साथ लागू किया जाय। (श्रम आयोग रिपोर्ट, अध्याय १५)[1]

कानपुर श्रम जाँच समिति ने अपनी रिपोर्ट (पैरा २११-१२) में सिफारिश की कि प्रान्तीय सरकार को ५० लाख ऋण लेना चाहिए और ५ वर्ष तक १० लाख प्रति वर्ष इम्प्रूवमेंट ट्रस्ट को श्रमिको के लिए १२००० मकान बनवाने के लिए दें। १९३८ में वम्बई सरकार द्वारा नियुक्त किराया जाँच समिति (रेण्ट इन्क्वायरी कमेटी) ने एक दस-वर्षीय आवास-योजना अपनाने की सिफारिश की जिसमें राज्य की सहायता से नगरपालिकाओ द्वारा छोटे-छोटे और सस्ते मकानो के निर्माण का सुझाव रखा गया था। समिति ने यह भी सुझाव रखा कि १०००० या इससे अधिक श्रमिको को रखने वाला नियोक्ता कम-से-कम २५% श्रमिको के लिए आवास की व्यवस्था करे।[2] औद्योगिक आवास की समस्या अनेक कठिनाइयो से परिपूर्ण है। इसमें वित्त, प्रवन्ध और नक्शा आदि की समस्याएँ प्रधान हैं। इसमें से अनेक स्वय श्रमिको की आवास सम्वन्धी स्वच्छता के प्रति उदासीनता से उत्पन्न होती है, प्रारम्भिक स्वास्थ्य विज्ञान (हाईजीन) के सम्वन्ध में श्रमिको को उचित शिक्षा देने, औद्योगिक क्षेत्र के निवास-स्थानो को ग्रामीण मकानो के समान वनाये रहने के लिए साफ और स्वच्छ मकान मिल सकेंगे जिससे औद्योगिक श्रम के स्वास्थ्य की रक्षा होगी तथा उनमें स्थिरता आएगी।[3]

१ नगरपालिकाओं द्वारा आवास-सुधार में एक कठिनाई यह है कि वे विशेष रूप से स्लम के मालिकों द्वारा प्रभावित और परिचालित होती हैं।

२ रिपोर्ट ऑफ दि रेण्ट इन्क्वायरी कमेटी (वम्वई), १९३९, पैरा ८५-७।

३ श्रमिकों के आवास के लिए इधर हाल में कुछ महत्त्वपूर्ण प्रयत्न किये गए हैं। अप्रैल १९४८ में केन्द्रीय सरकार ने १० वर्ष में श्रमिकों के लिए १० लाख मकान वनाने का निर्णय किया। धनाभाव के कारण अप्रैल १९४९ में एक नई योजना औद्योगिक आवास योजना (इण्डस्ट्रियल हाउसिंग स्कीम)

१६. मज़दूरी की दर[1]—बम्बई के श्रम-कार्यालय ने सूत की मिलो के श्रमिको की मज़दूरी के सम्बन्ध में ४ जाँचें की (१९२१, १९२३, १९२६, १९३४)।[2] बम्बई सरकार ने १९३४ में एक सामान्य पारिश्रमिक-गणना (जनरल वेजेज़ सेन्सस) प्रारम्भ की। इसके अनुसार बम्बई की सूत की मिलो में प्रौढ श्रमिको के दैनिक पारिश्रमिक निम्न थे रु० १-१-१० बम्बई शहर, रु० १-५-७ अहमदावाद शहर, रु० ०-१५-७ पूना, रु० ०-११-८ शोलापुर शहर।[3]

घोषित की गई। इसके अन्तर्गत विभिन्न प्रान्तीय सरकारों को ऋण दिये गए हैं। सन् १९५१-५२ में इस योजना के अन्तर्गत आसाम को १० लाख रु०, बिहार को ३० लाख रु०, बम्बई को ४४ लाख रु०, मध्यप्रदेश को १० लाख रु०, मद्रास को ९ लाख रु०, उडीसा को १० लाख रु०, पंजाब को ५ लाख रु०, हैदराबाद को २० लाख रु०, मैसूर को २० लाख रु०, ट्रावनकोर-कोचीन को १० लाख रु० का ऋण दिया गया।

राज्यीय सरकारों, नियोक्ताओं और श्रमिकों के प्रतिनिधियों से परामर्श करने के बाद भारत सरकार ने सितम्बर, १९५२ में आर्थिक सहायता प्राप्त औद्योगिक आवास योजना (सब्सिडाइज्ड इण्डस्ट्रियल हाउसिंग) को अन्तिम रूप दिया।

इस योजना के अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार प्रारम्भ में प्रान्तीय सरकार को सम्पूर्ण लागत देगी जिसका ५० प्रतिशत आर्थिक सहायता के रूप में होगा और ५० प्रतिशत ऋण के रूप में होगा, जिसे २५ वर्ष में वापस करना होगा।

श्रमिकों के आवास की स्वीकृत योजनाओं के लिए नियोक्ताओं को लागत का २५% आर्थिक सहायता तथा ३७½ प्रतिशत ऋण के रूप में देने की व्यवस्था है।

श्रमिकों की रजिस्टर्ड सरकारी समितियों को कुल लागत की २५% आर्थिक सहायता तथा ५०% ऋण के रूप में देने की व्यवस्था है।

मार्च, १९५४ तक इस योजना के अन्तर्गत ३१,९८० छोटे-छोटे मकान (टेनेमेण्ट) बनाने के लिए ४१३·४ लाख रुपये की आर्थिक सहायता और ४१२·३ लाख रु० ऋण के रूप में दिये गए। सभी स्वीकृत योजनाएँ चालू हैं और १०,२५८ टेनेमेण्ट बन चुके हैं। १९५४-५५ के बजट में इस कार्य के लिए १० करोड़ रु० निर्दिष्ट था। १९५४-५५ में इस कार्य के लिए विभिन्न समयों पर निम्न रक़म मंजूर की गई—

मई १,९७,९५० रु०, जून १२,६८,२३० रु०, जुलाई ३,१०,८०० रु०, अगस्त ३,१४,२९७ रु०।

पंचवर्षीय योजना में आवास के लिए ४८.६९ करोड़ रु० व्यय करने का निश्चय किया गया। इसमें से ३८.५ करोड़ रु० केन्द्रीय सरकार और १०.१९ करोड़ रु० प्रान्तीय सरकारों के लिए था।

सभी राज्यीय सरकारें औद्योगिक आवास के कार्यक्रम में आगे बढ़ रही हैं। विभिन्न राज्यों में इस सम्बन्ध में आवश्यक विधान भी पास किये जा चुके हैं। उदाहरणार्थ, बाम्बे हाउसिंग एक्ट, मैसूर लेबर हाउसिंग एक्ट, १९४९, मध्य प्रदेश हाउसिंग बोर्ड एक्ट, १९५० तथा यू० पी० शुगर एण्ड पावर अलकोहल इण्डस्ट्रीज़ लेबर वेलफेअर एण्ड डेवलपमेण्ट एक्ट, १९५१। इसके लिए आवश्यक धन केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों के अनुदान, नियोक्ताओं के अंशदान तथा काम करने वालों से प्राप्त किराये द्वारा मिलता है।

१. यहाँ उद्धृत पारिश्रमिक दर युद्ध-पूर्व-काल की है। (१९३९ के पूर्व) बढती हुई कीमतों के विरुद्ध मँहगाई दी गई है। मँहगाई को जीवन-यापन की कीमतों से सम्बद्ध करने का भी प्रयास किया गया है। इन भत्तों को स्थिर करने की वास्तविक विधि प्रत्येक केन्द्र में भिन्न-भिन्न है।

२. 'वेजेज एण्ड अनएम्प्लायमेण्ट इन दि बॉम्बे टेक्सटाइल इण्डस्ट्री' (१९३४)।

३. श्रम गजट (बम्बई), जुलाई १९३७, पृ० ६८१।

पारिश्रमिक गणना के अनुसार अकुशल श्रम को छोडकर बम्बई में प्राय सभी इन्जीनियरिंग और साधारण पेशो में औसत मासिक आय इस प्रकार थी रु० ४१-८-५ बम्बई शहर, रु० ३३-७-४ अहमदाबाद शहर, रु० २९-१-७ पूना, रु० २२-१-४ शोलापुर। सम्पूर्ण राज्य की औसत रु० ३८-३-३ है।[1]

बगाल के जूट उद्योग में पारिश्रमिक विभिन्न वर्गों के लिए ४० रु० से लेकर ११ रु० तक है। यहाँ हम कुशल (बढ़ई का काम करने वाले) चीनी श्रमिको की गणना नही कर रहे हैं जिन्हे ९३ रु० मासिक तक मिलता है। एक पारी (शिफ्ट)-व्यवस्था में काम करने वालों की मजदूरी अनेक पारी-व्यवस्था में काम करने वालो की अपेक्षा काफी ऊँची है।

ब्रिटिश भारत की कोयले की खानो में सरदार (फोरमन) आदि की दैनिक मजदूरी रु० १-७-० और १३ आने के बीच है। खोदने वालो की मजदूरी ८ आना से १४ आना तक और ढोने वालो की ६ आना से १२ आना तक है। भूमि के नीचे काम करने वाले अन्य मजदूरो की मजदूरी उनके कुशल और अकुशल होने पर निर्भर थी।

खुली खानो में काम करने वालो की मजदूरी साधारणतया कम थी और धरातल पर काम करने वालो की मजदूरी सबसे कम थी। आसाम के चाय के बागों में एक कुटुम्ब को कार्य की-इकाई के रूप में स्वीकार करना होगा। प्रत्येक कुटुम्ब की मासिक नकद आय विभिन्न प्रान्तो में विभिन्न थी। डिब्रूगढ़ जिले में सबसे अधिक (३२ रु०) और सबसे कम (१५ रु०) कचार, सद्र और हेलाकाण्डी जिलो में थी। इधर कुछ वर्षो में औद्योगिक मजदूरी के ढांचे में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ है। सरकार इस बात पर ध्यान रखने लगी कि पिछली लडाई के समय औद्योगिक अशान्ति का कुप्रभाव कही उत्पादन पर न पडने लगे। मध्यस्थो और औद्योगिक न्यायालयो के निर्णयो (अवार्ड्स) ने औद्योगिक मजदूरी के ढांचे में पर्याप्त सुधार कर दिया है, यद्यपि अनेक दशाओ में मजदूरी में हुई वृद्धि कीमतो में होने वाली वृद्धि की समवर्तिनी नही हो सकी है।

१७ **रहन-सहन का निम्न स्तर**—भारतीय कृषक की अकुशलता का एक प्रधान कारण उसके रहन-सहन के स्तर की निम्नता भी है। यह निम्न मजदूरी का कारण और परिणाम दोनो ही है। एजिल्स के नियम के अनुसार भारत के साधारण श्रमिक की औसत आय बहुत कम होने के कारण उसका अधिकाश अर्थात् उच्च प्रतिशत खाद्य पर व्यय होता है और आय की वृद्धि के साथ यह प्रतिशत कम होता जाता है। उदाहरण के लिए, बम्बई में श्रमिको के बजट की जाँच से पता चला कि (१९२१-२२) ३० रुपया या इससे कम मजदूरी पाने वालो का खाद्य सम्बन्धी व्यय ६० ५% था और ८० रु० से ९० रु० प्रति मास पाने वालो का व्यय ५२ ६% था। ब्रिटेन जैसे उच्च जीवनस्तर के देशो में मजदूर की आय का एक अल्पाश ही खाद्य पर व्यय होता है और प्रथानुकूल अथवा कृत्रिम आवश्यकताओ और विलासिताओ के लिए अधिक बच रहता है। पूर्ण कुशलता के लिए आवश्यक जीवन-यापन स्तर से भारतीय श्रमिक का

[1] सामान्य पारिश्रमिक गणना, इन्जीनियरिंग उद्योग, खण्ड ८, पृ० ९७।

स्तर बहुत नीचा है।

(१९३२-३३) में की गई श्रमिको के बजट की अन्तिम जाँच से स्पष्ट हो गया कि एक औसत कुटुम्ब का औसत व्यय रु०४५-१५-९ था। ३० रु० या ३० रु० और ४० रु० के नीचे के आय-समूहो को छोडकर प्राय सभी की आय व्यय से अधिक थी। ५० रु० से अधिक की आय पर मास के अन्त में २२ ५% के लगभग बचत होती थी। यह स्थिति जाँच के समय थी (१९३१-३३) जबकि मजदूरी में से कटौती नही होती थी। बाद में ये कटौतियाँ विशेषकर सूती मिल उद्योग में होने लगी।

उपर्युक्त जाँच द्वारा यह स्पष्ट हुआ कि एक श्रमिक-परिवार[1] की औसत आय बम्बई में रु० ५०-१-७, अहमदाबाद में रु० ४६-५-०, शोलापुर में रु० ३९-१४-१० तथा मद्रास में रु० ३७-५-११ थी। इस आमदनी से सन्तोषजनक जीवन-स्तर कायम रखना प्राय असम्भव-सा ही है। काम करने वाला स्वास्थ्यवर्धक भोजन नही खरीद सकता चाहे वह अपनी आय कितनी ही बुद्धिमानी से खर्च करे। हम रहने के मकानो के सम्बन्ध में दयनीय अवस्था का विवरण पहले ही कर आए हैं। देश की गरम आबहवा को ध्यान में रखते हुए उसके कपडे बहुत ही कम हैं। शिक्षा पर होने वाला व्यय प्राय नही के बराबर है। उसके फर्नीचर हैं कुछ लकडी के टूटे सन्दूक, लोहे की चद्दर के बक्स, बाँस के डण्डे, देशी कम्बल और कागजो पर बने कुछ पौराणिक चित्र।[2] कितने ही श्रमिक अपने गाँव से उद्योग-केन्द्रो तक आने-जाने में काफी धन व्यय करते हैं। उनकी आय का एक और भाग लिये गए कर्ज पर ब्याज के रूप में दिया जाता है।[3] ब्याज की साधारण दर १ आना प्रति रुपया है, अर्थात् ७५% प्रतिवर्ष। यदि ब्याज नियमित रूप से नही चुकाया जाता तो चक्रवृद्धि ब्याज भी लगता है। लिये गए कर्ज पर ब्याज कुल मासिक व्यय का ३% होता है।[4]

१८ शराबखोरी पर व्यय—कारखानो में काम करने वालो में शराबखोरी बडी ही तीव्र गति से फैल रही है। लगभग कुल आय का ४ प्रतिशत शराब पर खर्च होता है। यह सख्या परिवार-बजट की साक्षी पर दी जा रही है। भगी जैसे निम्न श्रेणी के श्रमिको के मामले में यह सख्या १० प्रतिशत तक पहुँच जाती है। पुरुष श्रमिक (स्त्रियाँ शायद ही कभी पीती हैं) अपने दिन के कठोर श्रम को भूलने के लिए शराब की शरण लेता है। शराब पीने की अभिलाषा और गन्दे निवास-स्थान, काम करने की अस्वास्थ्यकर परिस्थिति, दरिद्रता तथा भोजन की कमी में कुछ अनिवार्य-सा सम्बन्ध है। यदि शराब पर खर्च किया जाने वाला धन अच्छा भोजन खरीदने मे व्यय किया जाय तो भोजन की कमी कुछ अश में घट जाय। श्रमिक न केवल दरिद्र है वरन् वह अपनी आय को अच्छी तरह व्यय करने में भी अयोग्य है। शराबखोरी

१ बम्बई में औसत परिवार का आकार ३ ७० व्यक्ति, अहमदाबाद में ४'०५, शोलापुर में ४ ५७, नागपुर में ४'३३, जबलपुर में ३ ७६, और मद्रास में ६ ०३।

२ हर्स्ट, पूर्वोद्धृत, पृ० ६३।

३. १९२३ में की गई जाँच के अनुसार बम्बई के श्रम-कार्यालय में ४७ प्रतिशत कुटुम्ब कर्ज में थे। यह कर्ज उनके दो से ढाई माह तक की कमाई के बराबर था (एक माह की औसत रु० ५२-४-६)।

४ देखिए, पैरा २१।

पर होने वाला व्यय उसकी दरिद्रता को और बढाता है तथा दरिद्रताजन्य परिस्थितियाँ शराबखोरी को और बढाती है। शराबखोरी को कम करने के लिए चाय की दुकानो, सिनेमागृहो, क्लबो तथा अन्य प्रकार के मनोविनोद के अन्य साधनो का निर्माण तथा शराब की दुकानो और उनके खुलने के घण्टो को कम करने तथा मिल क्षेत्र में राशनिंग का प्रयोग किया गया है। इस सम्बन्ध में कांग्रेस सरकार द्वारा बम्बई, मद्रास तथा अन्य राज्यो में अपनाई गई मद्य-निषेध की नीति की चर्चा की जा सकती है। बम्बई की सरकार ने १९३८ में अहमदाबाद और '३९ में बम्बई जैसे उद्योग-केन्द्रो में पूर्णतया मद्य-निषेध किया। किन्तु न्यायालयो में इसका सफल विरोध किया गया और इस प्रकार थोडी-सी ढिलाई आ गई। विदेशी शराब के विक्रय पर लगाया गया निषेध २ जुलाई, १९४० को हटा लिया गया और देशी शराब पर लगे निषेध में भी कुछ परिवर्तन किया गया। किन्तु कांग्रेस ने इस नीति के पालन का प्रण किया है और कितने ही राज्यो की सरकारें काफी वित्तीय क्षति तथा इस सम्बन्ध में सावधानी और धीरे-धीरे बढने के लिए केन्द्रीय सरकार के आदेशों के बावजूद भी इस नीति को अपना चुकी है।

१९. ऊँची मजदूरी का पक्ष—नियोक्ताओ का कथन है कि यदि मजदूरी अधिक दी जाती है तो उसका अधिकाश शराबखोरी में खर्च हो जाता है और श्रमिको की सुस्ती बढ़ जाती है। श्रमिको की कार्यकुशलता में वृद्धि नही होती और न उनका जीवन-यापन का स्तर ही ऊँचा उठता है। प्रो० पीगू इस आक्षेप का निवारण निम्न शब्दो में करते हैं—

"इसमें सन्देह नही कि गरीबो की मनोवृत्ति अपने वातावरण के अनुकूल ढल जाती है और अचानक आमदनी बढ जाने से अवश्य ही अनेक बेवकूफी के खर्च किये जायेंगे जिनसे सम्भवत आर्थिक सुख की अधिक वृद्धि या कुछ भी वृद्धि नही होती। किन्तु यह वृद्धि कुछ अधिक दिन तक कायम रहे तो यह दशा समाप्त हो जायगी और यदि यह वृद्धि क्रमिक होगी तो यह बेवकूफी की दशा शायद आए ही नही। लेकिन यह कहना कि गरीब आदमियो की फिजूलखर्ची और बेवकूफी इतनी अधिक है कि उसकी आय में वृद्धि ही अवाञ्छनीय है क्योकि उससे आर्थिक सुख-समृद्धि की वृद्धि ही नहीं होगी, नितान्त भ्रामक है।"[1]

मजदूरी बढाने का विरोध इस आधार पर भी किया जाता है कि इसका प्रभाव जनसख्या की वृद्धि के कारण शीघ्र ही समाप्त हो जायगा। इसका विवेचन हम पहले ही कर चुके हैं। हमारे विचार से धन की वृद्धि से जहाँ जनसख्या में वृद्धि होगी वहाँ साथ-ही-साथ यह भी मानना पडेगा कि इससे जीवन-स्तर में भी उन्नति होगी। भारतीय श्रमिक का निम्न जीवन-स्तर धीरे-धीरे ऊपर उठ रहा है। ईर्से आयोग की सिफारिशो ने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से देश-भर के वेतन और पारिश्रमिक निर्धारण को प्रभावित किया है।[2]

१ ए० सी० पीगू, 'इकनामिक्स आफ वेलफेयर'।

२ सन् १९४८ में न्यूनतम मजदूरी अधिनियम (मिनिमम वेजेज एक्ट) पास किया गया। इस कानून

अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा की दशा भी पारिश्रमिक को समता की ओर ले जाने में भयानक बाधा डाल रही है। यह तो मानना पडेगा कि कम-से-कम अल्पकाल के ही लिए कोई भी देश अपने श्रमिको से भरपूर परिश्रम लेकर काफी लाभ उठा सकता है। लेकिन इससे यह निष्कर्ष नही निकाला जा सकता कि सभी देश इसी नीति का अनुसरण करेंगे। यह कहा जा सकता है कि अत्यन्त घोर परिश्रम से अर्जित व्यापार में स्थायी लाभ नही होगा, क्योकि अन्त में इस प्रकार के श्रम का परिणाम यह होगा कि कार्य-क्षमता घट जायगी। इसके विपरीत कोई भी सभ्य देश यह नही भूल सकता कि उत्पादन-वृद्धि के आर्थिक आदर्श के समान ही महत्त्वपूर्ण आदर्श मानव-जीवन को उच्चतर बनाना है। अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा को समान करने का एक तरीका यह है कि काम की दशाओ का एक निश्चित न्यूनतम मानदण्ड स्थिर किया जाय। जब कोई राष्ट्र इसकी पूर्ति नही भी करता तो भी इससे सुरक्षा के अन्य तरीके काम में लाने चाहिएँ, न कि श्रमिको का जीवन-स्तर निम्न कर देना चाहिए।

२०. निम्नतम वैध मजदूरी[१]—जनेवा में हुए १९२८ के ११वें अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन में एक ऐसे यन्त्र के निर्माण और कायम रखने पर जोर दिया जिसके द्वारा विशिष्ट व्यापार और उद्योग में लगे कर्मचारियो के लिए एक न्यूनतम वेतन का मानदण्ड निश्चित किया जाय। यह ऐसे उद्योगो, विशेषकर गृह-उद्योगो, से सम्बन्ध रखता है जिनमे वेतन का कोई निश्चित मानदण्ड नही है और जिनमें पारिश्रमिक ...की नीचा है। श्रम आयोग का सुझाव है कि न्यूनतम पारिश्रमिक निर्धारक यन्त्र की स्थापना के पहले ऐसे उद्योगो को चुनना होगा जिनके सम्बन्ध में यह निश्चित धारणा है कि उनमें वेतन की दशा शोचनीय है और विस्तृत गवेषणा वाञ्छनीय है। इन गवेषणाओ के आधार पर यह निश्चित किया जाय कि क्या न्यूनतम पारिश्रमिक निर्धारण व्यवहार्य और वाञ्छनीय है। इस प्रकार के निर्णय के पश्चात् व्यय पर विशिष्ट रूप से आँख रखनी होगी, क्योकि नियोक्ताओ की उदासीनता और कर्मचारियो के अज्ञान के कारण इन नियमो के पालन में बडी असुविधा और शिथिलता होती है। यदि बिना भयकर परिणामो के वाञ्छनीय उद्देश्य प्राप्त करना है तो गति को धीमा करना होगा।[२]

कानपुर श्रम जाँच समिति ने एक आधारभूत न्यूनतम मजदूरी का सिद्धान्त स्वीकार किया। उन्होने यह सुझाव रखा कि कोई भी काम करने वाला व्यक्ति महीने में २६ दिन काम करके १५ रु० से कम वेतन नही पाएगा। उनकी सख्या

में सन् १९५० और १९५४ में सशोधन किये गए। सन् १९५४ के सशोधन द्वारा अनुसूची भाग १ और अनुसूची भाग २ के अन्तर्गत रोजगारों में न्यूनतम मजदूरी नियत करने की अवधि ३१ दिसम्बर, १९५४ तक बढा दी गई। इस कानून के अन्तर्गत विभिन्न राज्यों में निम्नतम मजदूरी निश्चित कर दी गई है। उदाहरण के लिए, चावल, आटा और दाल की मिलों में यह मजदूरी मद्रास में १२ आ०, उड़ीसा और उत्तर प्रदेश में १ रु० तथा पजाब में १ रु० १२ आ० निश्चित की गई है।

१ देखिए, इण्डियन जर्नल ऑफ इकनामिक्स, कान्फरेंस नम्बर १९४०, मजदूरी विधान तथा भारतीय दशाओ से इसका सम्बन्ध, वी० आर० सेठ और एस० पी० सक्सेना।

२ श्र० आ० प्र०, २१२-१४।

समस्या का अधिक स्थायी समाधान है।[1]

भारत में श्रम-विधान

२२. भारत में श्रम-विधान का उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ क्षेत्र—भारत में श्रम-विधान इगलैण्ड जैसे औद्योगिक देश के समान महत्त्वपूर्ण नही है। कारण यह है कि यहाँ यान्त्रिक शक्ति का प्रसार और प्रभाव-क्षेत्र सीमित है। काम का अधिकाश बाहर या बिना दीवारो के छादको (शेड) में किया जाता है। अतएव अधिक भीड, प्रकाश का कुप्रबन्ध तथा स्त्री-पुरुषो का अवाञ्छित सम्मिश्रण जैसी समस्याएँ यहाँ उस परिमाप में नही हैं जैसी इगलैण्ड में। देश के उद्योगीकरण के साथ ही राज्य श्रम के प्रति अपने उत्तरदायित्व को समझेगा। भारत के श्रमिको की अपने अधिकारो के प्रति जागरूकता, भारत सरकार का अन्तर्राष्ट्रीय-श्रम सघ के प्रति अपने उत्तरदायित्व को स्वीकार करना, इन सबके साथ-ही-साथ श्रम विधान अधिकाधिक महत्त्वपूर्ण होता जा रहा है।[2] उद्योगीकरण के दुर्गुणो को दूर करने के लिए दृढतापूर्वक सरकारी हस्तक्षेप की आवश्यकता है, चाहे इससे उद्योगीकरण में थोडी बाधा ही पहुँचे। अब तक हम यूरोपीय देशो के अनुभव से लाभ उठाने में असफल रहे हैं। अज्ञानता का बहाना किये बिना ही हमने अपने बीच अनेक दुर्गुण ही रहने दिए हैं जैसे, स्लम वाले शहरो का बढना, शिशु श्रम का शोषण, काम के अधिक लम्बे घण्टे, सफाई की कमी, सुरक्षा का अभाव इत्यादि। इन्हे दूर करने का हम अब प्रयास कर रहे है।

२३. श्रम-विधान की एकरूपता की आवश्यकता—१९३५ के भारत सरकार अधिनियम के अनुसार स्थापित प्रान्तीय स्वतन्त्रता के साथ ही प्रान्तो में लोकप्रिय मन्त्रि-मण्डलो का शासन प्रारम्भ हुआ। इन्होने श्रम की स्थिति के सुधार पर जोर दिया। इसमे अनेक प्रान्तीय सरकारो के श्रम अधिनियम में एकरूपता का अभाव भी स्पष्ट रूप से लक्षित होने लगा। एकरूपता का अभाव निश्चित रूप से औद्योगिक प्रगति के लिए घातक है, विशेपकर उन प्रान्तो के लिए जो औद्योगिक विकास में आगे बढे हुए हे। इस प्रश्न पर श्रम-मन्त्रियो और राज्य-प्रशासको (स्टेट एडमिनिस्ट्रेटर्स) के प्रथम सम्मेलन में विचार किया गया। सम्मेलन ने निश्चय किया कि केन्द्रीय सरकार चार प्रमुख विपयो पर कानून बनाए (औद्योगिक झगडे, सवेतन छुट्टियाँ, श्रम और उद्योग सम्बन्धी आँकडो का सकलन और पारिश्रमिक देने के अधिनियम का सशोधन) जिन पर प्रान्तो और श्रम मन्त्रियो के दूसरे सम्मेलन द्वारा विचार किया जाय।

२४ भारत में फैक्ट्री-विधान का प्रारम्भ—बम्बई में कपास उद्योग की प्रगति से लकाशायर के निर्माण करने वालो की ईर्ष्या जाग उठी। उन्होने आदोलन खडा किया जिसका दिखावटी उद्देश्य तो भारत के श्रमिको को लाभ पहुँचाना था, किन्तु अन्तिम उद्देश्य भारत के उद्योगपतियो के मार्ग में बाधाएँ खडी करना था। इस आन्दोलन के परिणामस्वरूप १८७५ मे बम्बई सरकार ने कारखाना आयोग की नियुक्ति की।

१. देखिए, भाग १, अध्याय १०, सेक्शन ११।
२ देखिए, पैरा १।

को (१९५०) अब तिगुना करना होगा। उन्होने ब्रिटिश व्यापार परिषद् (ब्रिटिश ट्रेड वोर्ड) की लाइनो पर काम करने वाली एक पारिश्रमिक-निर्धारक-परिषद् (वेज फिक्सेशन वोर्ड) की स्थापना का भी सुझाव रखा। इसका कार्य न्यूनतम जीवन-निर्वाह मूल्य के अनुसार पारिश्रमिक को व्यवस्थित करना था।[1] १९३८ में नियुक्त बिहार श्रम-जांच समिति ने जून, १९४० में रिपोर्ट दी तथा अन्त में श्रमिको की दशा सुधारने के लिए १५० सिफारिशें की। १९४७ के केन्द्रीय वेतन आयोग की रिपोर्ट ने ऊँची श्रेणी से लेकर नीची श्रेणी के सरकारी कर्मचारियो के लिए वेतन का एक नया ढांचा स्वीकार करने की सिफारिश की है। इसके प्रस्ताव के अनुसार न्यूनतम वेतन ३० रु० माहवार से कम न होना चाहिए और अधिकतम वेतन २००० रु० माहवार से अधिक नही होना चाहिए।

२१ ऋणिता—भारत के अधिकाश श्रमिक अपने क्रियाशील जीवन में ऋणी रहते है। ऐसा अनुमान किया गया है कि कितने ही उद्योग-केन्द्रो में लगभग दो-तिहाई श्रमजीवी ऋणी है और उनका ऋण तीन महीने मे मिलने वाले पारिश्रमिक के वरावर है। वहुत से श्रमिक अपने खाद्य देने वालो के ऋणी होते है। कर्ज की गैर-अदायगी प्रचलित है और कर्ज देने वाले इसे प्रोत्साहन देते है, जिससे ऋण दिया हुआ मूलधन व्याज और चक्रवृद्धि व्याजसहित एक स्थायी एव दुर्वह वोझ का रूप धारण कर लेता है। ऋणिता का एक प्रधान कारण उत्सवो, विशेषकर विवाह, पर होने वाला व्यय है। यदि श्रमजीवी को ऋण देना कम आकर्षक वनाया जा सके और साहूकार को ऋणदाता की सामर्थ्य से अधिक ऋण देना अलाभप्रद वनाया जा सके तो श्रमिक को अवश्य लाभ होगा। श्रम आयोग ने सुझाव रखा था कि ३००) प्रति मास से कम पाने वाले सव श्रमजीवियो के वेतन को कुर्की से मुक्त कर देना चाहिए और पूर्वोपाय-कोप (प्राविडेण्ड फण्ड) के प्रति अशदान से भी श्रमिको को मुक्त कर देना चाहिए। भारत सरकार ने इसी आधार पर व्यवहार-विधि-सग्रह (सिविल प्रोसीजर कोड) को सशोधित किया ताकि एक निश्चित सीमा के नीचे के वेतन कुर्की से मुक्त रहे। यह भी सुझाव रखा गया है कि ऋण के सम्वन्ध में औद्योगिक श्रमिको की गिरफ्तारी और जेल की सजा वन्द कर दी जाय। गिरफ्तारी और जेल की सजा केवल उन हालतो में दी जाय जवकि श्रमिक कर्ज चुकाने के योग्य होकर भी उसे अदा नही करता। श्रमिको के अप्राप्य कर्ज को समाप्त करने में सरसरी-विधि का उपयोग करना चाहिए और कर्ज की अदायगी को श्रमिक के वेतन के साथ इस प्रकार सन्तुलित करना चाहिए ताकि उसे चुकाने में अधिक कठिनाई का सामना न करना पडे। कर्जदार श्रमिको की सुरक्षा के लिए कानपुर श्रम जाँच समिति ने मध्य प्रदेश के कर्जदार सुरक्षा नियम (१९३७) के आधार पर उपाय अपनाने का प्रस्ताव किया।[2] इस अधिनियम के अनुसार किसी कर्जदार के साथ बुरी तरह से व्यवहार करना दण्डनीय अपराध है। वगाल में अधिक सीमित अधिनियम प्रचलित है। सहकारी ऋण इस

[1] कानपुर श्रम जांच समिति की रिपोर्ट (१९३८), पैरा ८५ और ९८।
[2] देखिए, रिपोर्ट, पृ० २३७।

समस्या का अधिक स्थायी समाधान है।[1]

भारत में श्रम-विधान

२२. भारत मे श्रम-विधान का उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ क्षेत्र—भारत में श्रम-विधान इगलैण्ड जैसे औद्योगिक देश के समान महत्त्वपूर्ण नही है। कारण यह है कि यहाँ यान्त्रिक शक्ति का प्रसार और प्रभाव-क्षेत्र सीमित है। काम का अधिकाश बाहर या बिना दीवारो के छादकों (शेड) में किया जाता है। अतएव अधिक भीड़, प्रकाश का कुप्रबन्ध तथा स्त्री-पुरुषो का अवाञ्छित सम्मिश्रण जैसी समस्याएँ यहाँ उस परिमाण में नही हैं जैसी इगलैण्ड में। देश के उद्योगीकरण के साथ ही राज्य श्रम के प्रति अपने उत्तरदायित्व को समझेगा। भारत के श्रमिको की अपने अधिकारो के प्रति जागरूकता, भारत सरकार का अन्तर्राष्ट्रीय-श्रम सघ के प्रति अपने उत्तरदायित्व को स्वीकार करना, इन सबके साथ-ही-साथ श्रम विधान अधिकाधिक महत्त्वपूर्ण होता जा रहा है।[2] उद्योगीकरण के दुर्गुणो को दूर करने के लिए दृढतापूर्वक सरकारी हस्तक्षेप की आवश्यकता है, चाहे इससे उद्योगीकरण में थोडी बाधा ही पहुँचे। अब तक हम यूरोपीय देशो के अनुभव से लाभ उठाने में असफल रहे हैं। अज्ञानता का बहाना किये बिना ही हमने अपने बीच अनेक दुर्गुण ही रहने दिए हैं जैसे, स्लम वाले शहरो का बढना, शिशु श्रम का शोषण, काम के अधिक लम्बे घण्टे, सफाई की कमी, सुरक्षा का अभाव इत्यादि। इन्हे दूर करने का हम अब प्रयास कर रहे हैं।

२३. श्रम-विधान की एकरूपता की आवश्यकता—१९३५ के भारत सरकार अधिनियम के अनुसार स्थापित प्रान्तीय स्वतन्त्रता के साथ ही प्रान्तो में लोकप्रिय मन्त्रि-मण्डलो का शासन प्रारम्भ हुआ। इन्होने श्रम की स्थिति के सुधार पर जोर दिया। इससे अनेक प्रान्तीय सरकारो के श्रम अधिनियम में एकरूपता का अभाव भी स्पष्ट रूप से लक्षित होने लगा। एकरूपता का अभाव निश्चित रूप से औद्योगिक प्रगति के लिए घातक है, विशेषकर उन प्रान्तो के लिए जो औद्योगिक विकास में आगे बढे हुए हैं। इस प्रश्न पर श्रम-मन्त्रियो और राज्य-प्रशासको (स्टेट एडमिनिस्ट्रेटर्स) के प्रथम सम्मेलन में विचार किया गया। सम्मेलन ने निश्चय किया कि केन्द्रीय सरकार चार प्रमुख विषयो पर कानून बनाए (औद्योगिक झगडे, सवेतन छुट्टियाँ, श्रम और उद्योग सम्बन्धी आँकडो का सकलन और पारिश्रमिक देने के अधिनियम का सशोधन) जिन पर प्रान्तो और श्रम मन्त्रियो के दूसरे सम्मेलन द्वारा विचार किया जाय।

२४. भारत में फैक्ट्री-विधान का प्रारम्भ—बम्बई में कपास-उद्योग की प्रगति से लकाशायर के निर्माण करने वालो की ईर्ष्या जाग उठी। उन्होने आदोलन खडा किया जिसका दिखावटी उद्देश्य तो भारत के श्रमिको को लाभ पहुँचाना था, किन्तु अन्तिम उद्देश्य भारत के उद्योगपतियो के मार्ग मे बाधाएँ खडी करना था। इस आन्दोलन के परिणामस्वरूप १८७५ में बम्बई सरकार ने कारखाना आयोग की नियुक्ति की।

१ देखिए, भाग १, अध्याय १०, सेक्शन ११।

२ देखिए, पैरा १।

फलस्वरूप १८८१ में प्रथम फैक्ट्री अधिनियम पास हुआ। इसकी प्रमुख व्यवस्थाएँ निम्न हैं—

७ वर्ष से कम उम्र के बच्चो का काम में लगाना वन्द कर दिया गया। ७ से १२ साल के बच्चो को ६ घटे प्रतिदिन से अधिक काम करने से मना कर दिया गया। दिन में एक घटे का विश्राम और महीने में चार छुट्टियाँ अनिवार्य रूप से देने की व्यवस्था की गई। किन्तु औरतो तथा प्रौढ काम करने वालो को इससे कोई राहत न मिली। यह अधिनियम १०० से अधिक व्यक्तियो और शक्ति (विद्युत्) का प्रयोग करने वाले कारखानो तक सीमित था। स्थानीय सरकारो का कर्तव्य था कि वे कारखानो के निरीक्षक नियुक्त करें।

प्रथम कारखाना अधिनियम के पास होते ही उसमें परिवर्तन करने के लिए आन्दोलन प्रारम्भ हो गया। किन्तु लकाशायर के हितो के दबाव के कारण राज्य-सचिव (सेक्रेटरी ऑफ स्टेट) ने हस्तक्षेप किया और १८६१ में एक और भी कठोर अधिनियम पास किया गया। यह कानून कम-से-कम पचास व्यक्तियो द्वारा शक्ति-परिचालित कारखानो तक लागू होता था। परन्तु स्थानीय सरकारो को इसे बीस व्यक्तियो वाले कारखानो पर भी लागू करने का अधिकार था। बच्चो के लिए निम्न और ऊर्ध्व-आयु की सीमाएँ क्रमश ६ और १४ हो गईं। उनके काम के घटे किसी भी दिन ७ से ज्यादा नही हो सकते और वह भी ५ बजे प्रात से ८ बजे सायकाल के बीच में ही हो सकते थे। औरतें किसी भी कारखाने में ८ बजे के वाद और ५ बजे के पहले काम नही कर सकती थी। यदि कोई अपवाद हो सकता था तो केवल उन्ही स्थानो में जहाँ स्वीकृत पारी-प्रथा थी। उनके प्रतिदिन काम के घटे ११ कर दिये गए और उन्हे बीच में १½ घटे का विश्राम दिया गया। पुरुष श्रमिको को १२ और २ बजे के बीच दोपहर में ½ घटे का मध्यान्तर तथा सप्ताह में १ दिन का विश्राम मिलने लगा। अन्य ऐसी धाराएँ भी थी जिनके स्वच्छता और प्रकाश पर अधिक ध्यान दिया जाने लगा तथा कारखानो में भीड-भाड बचाने का प्रयास किया गया।

२५ १६११ का कारखाना अधिनियम (फैक्ट्री एक्ट)—वम्बई की मिलो में काम करने के लम्वे घटे जो कि शक्ति के विकसित प्रयोग द्वारा सम्भव हो सके थे, लकाशायर के उद्योगपतियो का लगातार आन्दोलन, भारतीय (प्रेस) समाचारपत्रो द्वारा होने वाले आन्दोलन तथा कुछ नियोक्ताओ की श्रम के सम्वन्ध में उदारता—इन सवका परिणाम यह हुआ कि एक आयोग की नियुक्ति हुई जिसने १६०८ में अपनी रिपोर्ट दी।[1] इसके वाद १६११ का फैक्ट्री एक्ट पास हुआ। इसके अन्तर्गत ४ महीने से कम समय तक काम करने वाले मौसमी कारखाने भी आ गए। इसमें आयु प्रमाण-पत्र अनिवार्य कर दिया और सूत की मिलो में काम करने वाले वाल-श्रमिको की कार्यविधि ६ घटे कर दी गई। इस अधिनियम द्वारा कपास से विनौला निकालने और उसे दवाने के काम को छोडकर औरतो का रात में काम करना वन्द कर दिया गया।

[1] ए० आ० केनो, इण्डियन फैक्ट्री लेजिस्लेशन, पृ० ३६-४५

प्रथम बार प्रौढ पुरुषो के घटे वैध रूप से नियमित किये गए जिसके अनुसार कपास की मिलो में १२ घटे दैनिक काम करने की व्यवस्था की गई। जिन कारखानो में पारी-प्रथा (शिफ्ट सिस्टम) है उन्हें छोडकर कपास के कारखानो में कोई भी व्यक्ति प्रात ५ बजे से पहले और रात्रि में ७ बजे के बाद काम पर नही लगाया जा सकता—ये सीमाएँ विशेष रूप से औरतो और बच्चो के लिए थी। अन्त में स्वास्थ्य और सुरक्षा की व्यापक व्यवस्थाएँ की गई तथा फैक्ट्री का निरीक्षण और अधिक प्रभावपूर्ण बना दिया गया।

२६. **१९२२ का कारखाना-अधिनियम**—कारखानो के प्रशासन पर १९१४-१८ के युद्ध का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रभाव पडा। भारत में औद्योगिक क्रियाशीलता का पर्याप्त प्रसार हुआ तथा १९१४-१९ के बीच कारखानो तथा उनमें लगे व्यक्तियो की सख्या में २५% की वृद्धि हुई। कारखाना-अधिनियम की कितनी ही धाराओ से कारखानो को मुक्त करना पडा। निरीक्षण की सख्याओ का भी औसत घट गया। लेकिन सबसे महत्त्वपूर्ण प्रभाव श्रमिको पर पडा। श्रमिको की बढती हुई माँग ने उनकी स्थिति दृढ कर दी, साथ ही बढती हुई कीमतो और लाभो तथा युद्धोत्तरकालीन अशान्ति के कारण श्रमिको में अपनी दुरवस्था के प्रति एक प्रकार की चेतना की उत्पत्ति हुई और वे बुरी दशाओ के प्रति तीव्र असन्तोष प्रकट करने लगे। इस प्रकार भारत में पहली बार श्रमिको की माँग ने (दशा-सुधार के लिए) शक्ति सग्रह की ओर अधिनियमो के निर्माण में सहायता दी।

१९१९ में वाशिगटन में हुए अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन की मान्यताओ को स्वीकार करने के कारण भारत में श्रम विधान सम्बन्धी अन्य परिवर्तन आवश्यकीय हुए। १९२२ के कारखाना-अधिनियम (फैक्ट्रीज एक्ट) के अनुसार २० से अधिक व्यक्तियो द्वारा शक्ति से परिचालित सभी कारखाने अधिनियम की परिधि में आ गए। स्थानीय सरकारो को स्वतन्त्रता दी गई कि वे इसे दस से अधिक व्यक्तियो वाले कारखानो पर भी लागू कर सकती थी, चाहे उनमें विद्युत्-शक्ति का उपयोग होता हो या नही। काम करने वाले बच्चो की निम्नतम अवस्था १२ और उच्चतम १५ वर्ष कर दी गई। इनके काम के घण्टे छ तक सीमित कर दिये गए। बच्चे और औरतें सुबह ५½ बजे से पहले शाम के ७ बजे के बाद में काम पर नही लगाये जा सकते थे। प्रौढ पुरुषो के काम के घण्टे ६० घण्टे प्रति सप्ताह और ११ घण्टे प्रति दिन से अधिक नही हो सकते थे। सप्ताह ६ दिन से अधिक का नही हो सकता। सभी वर्ग के श्रमिको के लिए मध्यान्तर और विश्राम का आयोजन किया गया। ६ घण्टे के बाद १ घण्टे का विश्राम आवश्यक घोषित किया गया। इसे श्रमिको की प्रार्थना पर ½ घण्टे के दो विश्रामो में विभाजित किया जा सकता है, यदि लगातार ५ घण्टे से अधिक काम न किया जाता हो। निरीक्षण की पद्धति में और सुधार कर दिया गया। पूरे समय तक काम करने वाले निरीक्षको की नियुक्ति की गई। सुरक्षा और स्वास्थ्य से सम्बन्धित धाराएँ और व्यापक बना दी गईं। स्थानीय सरकारो को प्रकाश और कृत्रिम नमीकरण के मानदण्ड स्थिर करने के अधिकार दिये गए।

२७ १९३४ का कारखाना-अधिनियम, १९४६ का संशोधन तथा १९४८ का अधिनियम—१९२२ के अधिनियम में १९२३, १९२६ और १९३१ में संशोधन करके कितनी ही प्रशासकीय कठिनाइयाँ दूर कर दी गई। कुछ मामूली सुधार भी किये गए। १९३४ में एक नवीन अधिनियम पास किया गया। श्रम आयोग की सिफारिश पर पास किया गया यह अधिनियम १ जनवरी, १९३५ में लागू किया गया। यह अधिनियम

(१) वर्ष-भर चालू रहने वाले और मौसमी कारखानो में भेद स्थापित करता है।

(२) १५ और १७ वर्ष के आयु वालो के एक तृतीय किशोर-वर्ग की स्थापना करता है, जिन्हे वयस्को के काम के उपयुक्त न समझा जाने पर बच्चा समझा जायगा।

(३) मौसमी कारखानो में काम करने वालो के लिए ११ घण्टा प्रतिदिन और ६० घण्टा प्रति सप्ताह की सीमाएँ अब भी लागू है। किन्तु वर्ष-भर चालू रहने वाले कारखानो के श्रमिको के सम्बन्ध में ये सीमाएँ १० घण्टा प्रतिदिन और ५४ घण्टा प्रति सप्ताह कर दी गई। बच्चो के लिए सर्वत्र ५ घण्टे प्रतिदिन की व्यवस्था है।

(४) प्रथम बार प्रसार का सिद्धान्त व्यवहार में लाया गया, अर्थात् लगातार काम करने की सीमा पुरुषो के सम्बन्ध में १३ और बच्चो के सम्बन्ध मे ७½ घण्टे कर दी गई।

(५) कृत्रिम नमीकरण की वर्तमान धाराएँ और व्यापक बना दी गई। इस अधिनियम द्वारा स्थानीय सरकारो को एक निरीक्षक नियुक्त करने का अधिकार दिया गया, जिसका कार्य सब कारखानो के प्रबन्धको को हवा में ठण्डक बढाने का प्रबन्ध करने का निर्देश देना और पालन कराना था।

(६) भलाई के लिए भी कुछ व्यवस्थाएँ की गई हैं। उदाहरण के लिए, कारखानो में विश्राम के लिए समुचित व्यवस्था, जिनमें स्त्री और बच्चो के लिए कमरे सुरक्षित रहे और प्राथमिक सहायता की व्यवस्था आदि।

(७) स्थानीय सरकारो को यह अधिकार दिया गया है कि वे कार्य-समर्थता के सम्बन्ध में नियम बनाएँ और उन बच्चो को कारखानो में काम न करने दें जो काम करने के अयोग्य प्रमाणित किये गए हैं।

(८) निरीक्षको को यह अधिकार दिया गया है कि वे प्रबन्धको से कारखानो के निर्माण के ऐसे दोष दूर करने के लिए कहे जिनसे काम करने वालो को खतरा पहुँचता हो।

(९) निर्धारित समय से अधिक समय तक काम करने की सीमाएँ निर्धारित कर दी गई हैं। उसका वेतन भी नियमित है। इस अधिनियम द्वारा ब्रिटिश भारत मे वर्ष-भर चालू रहने वाले कारखानो में ४८ घण्टे का सप्ताह होता है। प्रान्तीय सरकारो को यह अधिकार दिया गया है कि यदि वे चाहे तो जनता के हित में इस सीमा को घटा सकती है।

१९४८ का फैक्ट्रीज एक्ट १ अप्रैल, १९४९ में लागू किया गया। इसके

अन्तर्गत दस या दस से अधिक व्यक्तियो द्वारा परिचालित शक्ति का प्रयोग करने वाले तथा बीस या बीस से अधिक व्यक्तियो द्वारा चालित परन्तु शक्ति का प्रयोग न करने वाले सभी कारखाने आ जाते हैं। राज्यो की सरकारे व्यक्तियो की सख्या तथा शक्ति के प्रयोग के प्रति निरपेक्ष होकर इस कानून की धाराओ को जहाँ उचित समझें लागू कर सकती हैं। ये नियम केवल वही लागू न होगे जहाँ एक व्यक्ति बाहरी मजदूरो को लगाए बिना केवल अपने परिवार की सहायता से काम कर रहा हो। अब मौसमी और वर्ष-भर चलने वाले कारखानो वाला भेद हट गया है।

राज्य की सरकारो को कारखानो की रजिस्ट्री और अनुज्ञा देने के सम्बन्ध में नियम बनाने का अधिकार दिया गया है। इस नियम के अनुसार कारखाने के मालिक को कारखाना लेते समय कारखानो के प्रधान निरीक्षक के पास उसका पूर्ण विवरण भेजना चाहिए।

इस अधिनियम में स्वच्छता, तापमान, हवादारी, भीड से बचने तथा अन्य सुविधाओ की व्यवस्था है। साथ ही सुरक्षा और हानि से बचने की आवश्यक सावधानियाँ भी ध्यान में रखी गई हैं ताकि धुआँ और विस्फोट आदि से बचा जा सके।

प्रतिदिन और प्रति सप्ताह अधिकतम काम के घण्टे क्रमश ९ और ४८ हैं। कार्य का प्रसार अधिक-से-अधिक १०½ घण्टे तक किया जा सकता है। लगातार ५ घण्टे काम करने के बाद प्रत्येक काम करने वाले को कम-से-कम ½ घण्टे का विश्राम आवश्यक है। निर्धारित समय से अधिक समय काम करने की मजदूरी साधारण मजदूरी की दूनी होगी। औरतो के काम करने के घण्टे प्रात काल ६ बजे से सायकाल ७ बजे तक होगे और सप्ताह में १ दिन का विश्राम अवश्य होगा।

१४ वर्ष से कम उम्र के बच्चे काम पर न लगाए जायँगे। १४ से १८ साल तक के बच्चे शारीरिक समर्थता के प्रमाण के बिना काम पर न लगाए जायँगे। वे ४½ घण्टे प्रतिदिन से अधिक काम न करेगे तथा उनके काम करने के घण्टे प्रात काल ७ बजे से सायकाल ६ बजे तक ही होगे।

२८ बम्बई की दूकानों और वाणिज्यिक सस्थापन सम्बन्धी अधिनियम (१९३९) (दि बॉम्बे शाप्स एण्ड कमर्शियल एस्टाब्लिशमेण्ट्स एक्ट)—बम्बई की काग्रेस सरकार ने एक नया श्रम-विधान प्रारम्भ किया। इस विषय में इसने अन्य प्रान्तो की अगुआई की। वाणिज्य और उपभोक्ता की आवश्यकताओ को ध्यान में रखते हुए इसका उद्देश्य दूकानो, रेस्टराँ, थियेटरो और अन्य सस्थापनो में काम के घण्टो का नियन्त्रण करना है। इसका उद्देश्य काम के लम्बे घण्टो—११ से १५ घण्टो तक—और छुट्टियो की अपर्याप्त व्यवस्था तथा विश्राम की कमी का निराकरण करना है। जहाँ तक दूकानो का सम्बन्ध है काम के अधिकतम घण्टे ९½ हैं। ५ घण्टे के काम के बाद ½ घण्टे का विश्राम और सप्ताह में १ दिन की छुट्टी आवश्यक है। बगाल, पजाब और सिन्ध में १९४१ में इसी प्रकार के अधिनियम लागू किये गए।[1]

[1] बम्बई के कानून में सन् १९४९ में सशोधन किया गया। इस प्रकार के अधिनियम १९४७ में उत्तर प्रदेश, मद्रास और मध्यप्रदेश में, १९४८ में आसाम और मैसूर मे, १९५० में ट्रावनकोर-कोचीन में,

२९ चाय के जिलों के प्रवासी श्रम अधिनियम १९३२ (दि टी डिस्ट्रिक्ट्स एमीग्रेण्ट लेबर एक्ट)—बाग लगाना औद्योगिक श्रम से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है, परन्तु इसकी कुछ अपनी समस्याएँ हैं जो विशेष रूप से आसाम के चाय के बगीचो के लिए श्रमिको की भरती से सम्बन्धित हैं। चाय के बगीचे लगाने वाले श्रमिको की नियुक्ति सम्बन्धी मामले उपर्युक्त अधिनियम द्वारा नियन्त्रित होते हैं। १९३२ का अधिनियम श्रम आयोग की सिफारिशो पर आधारित है। यह सम्पूर्ण ब्रिटिश भारत (जिसमें सथाल परगना भी शामिल है) में लागू होता है। इससे १९०१ का आसाम श्रम और प्रवास अधिनियम तथा उसके सशोधक अधिनियम रद्द हो जाते है। १९०१ के अधिनियम का उद्देश्य (इण्डेंचर) श्रम-पद्धति का नियमन करना था, जोकि उस प्रान्त में चाय के बगीचे लगाने के लिए गत शताब्दी के अन्तिम ३० वर्षो में प्रचलित की गई थी। १९१५ के सशोधित अधिनियम के अनुसार स्वीकृति-प्राप्त ठेकेदारो द्वारा नियुक्ति-पद्धति समाप्त की गई। इसके पश्चात् नियुक्ति केवल श्रम-परिषद् (लेबर बोर्ड) के एजेण्टों द्वारा हो सकती थी। १९३२ के नियम का प्रथम उद्देश्य नियुक्ति पर नियन्त्रण करना सहायता-प्राप्त प्रवासियो को आसाम के चाय के बगीचो की ओर भेजना तथा यह देखना था कि उनके ऊपर अनुचित प्रतिबन्ध न लगाए जायँ। भारत-सरकार के नियन्त्रण में स्थानीय सरकारो को यह अधिकार दिया गया कि वे सहायता-प्राप्त प्रवासियो के ऊपर नियन्त्रण रखें। नियोक्ताओ को प्रमाण-प्राप्त बगीचो के सरदार अथवा अनुज्ञा-प्राप्त भरती करने वालो के अलावा अन्य किसी माध्यम द्वारा भर्ती करने से रोका गया। १६ साल से नीचे के व्यक्तियो को प्रवास में सहायता देना अवैध घोषित किया गया, जब तक कि वे अपने माता-पिता या अभिभावको के साथ न हो। जहाँ तक फिर से लौटने का सम्बन्ध है प्रत्येक प्रवासी श्रमिक आसाम में आने के तीन वर्ष बाद लौटने का अधिकारी है, भले ही किसी नियोक्ता ने उसे पुन नौकर रख लिया हो। तीन साल के पहले भी लौटना सम्भव था, परन्तु यह ऐसी दशा में ही हो सकता था जबकि प्रवासी का स्वास्थ्य खराब हो रहा हो या उसे समुचित काम न मिला हो या उसकी मजदूरी रोक ली गई हो या और कोई पर्याप्त कारण हो।

एक प्रवासी नियन्त्रण अधिकारी तथा उसके साथ साधारण प्रशासन के निरीक्षण हेतु सम्भवत एक या अधिक सह-नियन्त्रण अधिकारियो की नियुक्ति की व्यवस्था थी। प्रशासन का व्यय वार्षिक उपकर, जिसे प्रवासी श्रम उपकर कहते हैं, से प्राप्त होता है। यह उपकर प्रत्येक वर्ष गवर्नर-जनरल-इन-कौंसिल द्वारा निश्चित और गजट में प्रकाशित किया जाता है, परन्तु यह ९ रु० प्रति प्रवासी से अधिक नही हो सकता।

३० खानों के लिए श्रम-विधान—कपडे के उद्योग की अपेक्षा खानो के श्रमिको के सम्बन्ध में श्रम विधान काफी धीरे-धीरे प्रारम्भ हुआ। १९०१ में पहला भारतीय खान अधिनियम (इण्डियन माइन्स एक्ट) पास हुआ और निरीक्षको की नियुक्ति हुई। वाशिगटन सम्मेलन की सिफारिशो तथा शीघ्रता से विकसित होते हुए खान उद्योग में

१९५१ में हैदराबाद में और १९५२ में मध्य भारत में पास किये गए। मार्च, १९५३ में दिल्ली राज्य में भी ऐसा अधिनियम पास किया गया।

अधिक सख्या में काम करने वालो को दृष्टि में रखते हुए १९२३ मे सशोधित विधान पास किया गया। इससे खान की परिभाषा विस्तृत हो गई तथा खान के बाहर काम करने वालो का सप्ताह ६० घटे और अन्दर काम करने वालो का सप्ताह ५४ घटे का हो गया। एक हफ्ते में ६ से अधिक दिन नही होगे। कोई भी बच्चा खान के अन्दर काम नही करेगा। बच्चे की परिभाषा में १३ साल तक के व्यक्ति आते हैं। भूमि के अन्दर स्त्रियो की नियुक्ति पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नही लगाया गया। चूँकि खान के अन्दर काम करने वालो में ४५% औरते थी, अतएव इनको काम में लगाने से रोकने का परिणाम यह होता कि देश का एक प्रधान उद्योग विस्थापित हो जाता। इसके विपरीत सुधार की भी आवश्यकता अत्यन्त तीव्रता के साथ अनुभव की जा रही थी। १९०१ के अधिनियम (जोकि १९२३ में सशोधित किया गया था) के अनुसार भारत सरकार को जो अधिकार मिले थे उनका उपयोग करते हुए उसने १९२९ में नियम बनाए, जिनका उद्देश्य उसी समय से खान के अन्दर औरतों का काम करना बन्द कर देना था। वे केवल इन अधिनियमो से मुक्त खानो, जैसे बगाल, बिहार, उडीसा तथा मध्य प्रान्त की कोयले की खानो और पजाब की नमक की खानो में काम कर सकती थी। उपर्युक्त खानो को भी धीरे-धीरे इन नियमो की मुक्ति से अलग करने की व्यवस्था थी ताकि १ जुलाई १९३९ तक औरतो का खानो के अन्दर काम करना एकदम बन्द हो जाय। युद्धकालीन उत्पादन की विशेष आवश्यकताओ को ध्यान में रखते हुए खान के अन्दर औरतो के काम पर जो प्रतिबन्ध लगाया गया था वह १९४३ में कुछ समय के लिए स्थगित कर दिया गया, परन्तु फरवरी, १९४६ में फिर से लागू कर दिया गया। १९२३ के अधिनियम में काम के दैनिक घटो के सम्बन्ध में किसी प्रकार की व्यवस्था नही थी। १९२८ (मार्च) में एक सशोधन-नियम पास किया गया। इसके अनुसार किसी भी खान के कर्मचारियो के एक ही समूह द्वारा किसी भी खान में १२ घण्टे से अधिक काम नही कराया जा सकता था। यह व्यवस्था भी की गई कि मालिक कार्यालयो के सामने काम के घण्टो को निर्धारित करने वाले नोटिस लगाएँ। १९३५ के सशोधन अधिनियम द्वारा निम्न परिवर्तन हुए।

कोई भी व्यक्ति खान में एक हफ्ते में ६ दिन से अधिक काम नही कर सकता। खान के ऊपर काम करने वाला कोई भी व्यक्ति हफ्ते में ५४ घण्टे से अधिक काम नही कर सकता। एक दिन में १० घण्टे से अधिक कोई भी व्यक्ति काम नही करेगा। कार्य-काल इस प्रकार होगा कि विश्राम-काल को लेकर वह एक दिन में १२ घण्टे से अधिक नही होगा। उसे ६ घण्टे लगातार काम करने के बाद १ घण्टे का विश्राम अवश्य मिलेगा। खान में अन्दर काम करने वाले व्यक्ति को एक दिन में ९ घण्टे से अधिक काम नही करना होगा। खान के अन्दर एक ही प्रकार का काम ९ घण्टे से अधिक नही किया जायगा। यदि बारी-बारी से काम करने की पद्धति हो तो उसे अपवाद माना जा सकता है, किन्तु इसमें भी एक बार में ९ घण्टे से अधिक काम नही होगा। खान के अन्दर १५ साल से नीचे के बच्चो को काम करने की मनाही है।

खान-अधिनियम के अतिरिक्त खानो में काम करने की दशाओ का नियमन खान-स्वास्थ्य-परिषद् (माइन्स बोर्ड्स ऑफ हेल्थ) द्वारा किया जाता है। इसका काम श्रमिको के स्वास्थ्य की देख-रेख करना है। परिषद् को अधिकार है कि वह खान के मालिको को खानो के क्षेत्र में मकान, पानी, स्वास्थ्य, सफाई तथा औषधि सम्बन्धी सुविधाओ का प्रबन्ध करने के लिए बाध्य करें।

कुछ वर्ष पूर्व खानो में हुई कितनी ही भयकर दुर्घटनाओ से यह बात स्पष्ट हो गई कि खान में काम करने वालो की सुरक्षा के लिए अभी बहुत-कुछ करना है। १६३७ में एक विशेषज्ञ समिति की नियुक्ति हुई जिसका काम दुर्घटनाओ के कारणो की जाँच करना था। समिति का कोयले की खानो का विवरण उद्धृत करने योग्य है। "सक्षेप में एक खेल के रूपक का उपयोग करने पर यह कहा जा सकता है कि कोयले की खान का काम भारतवर्ष में एक दौड के समान है, जिसमें लाभ हमेशा प्रथम रहा है। बेचारी सुरक्षा द्वितीय, अच्छी पद्धतियाँ 'नाम के लिए दौडने वाली' तथा राष्ट्रीय हित एक 'मृत अश्व' के समान रहा है जिसका नाम तो दर्ज कर लिया गया किन्तु जो दौड न सका।"[1]

३१ रेलवे के श्रमिकों से सम्बन्धित अधिनियम—रेलवे के सभी कारखाने १६२२ के कारखाना अधिनियम के अन्तर्गत आते हैं। भारतीय रेलवे में २½ लाख श्रमिक ऐसे हैं जिनके लिए अभी हाल तक उनके काम के घण्टो इत्यादि को नियन्त्रित करने की कोई व्यवस्था नही की गई, यद्यपि सरकार ने वाशिंगटन और जेनेवा सम्मेलनो की प्रतिज्ञाओ को स्वीकार कर लिया था। समस्या में अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ थी जिनका निराकरण १६३० के सशोधन अधिनियम द्वारा किया गया। इससे भारत अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सभा के प्रति अपने परिनियत कर्त्तव्यो को पूरा कर सका। इसके अनुसार कोई भी रेलवे कर्मचारी एक सप्ताह में ६० घण्टे से अधिक काम न करेगा। ऐसा रेलवे कर्मचारी, जिसका काम स्थायी नही है, ८४ घण्टे से अधिक काम नहीं करेगा। उपर्युक्त व्यवस्थाओ से अस्थायी छूट प्राप्त हो सकती है (१) ऐसी कठिन परिस्थिति में जबकि रेलवे के काम में, कोई भयकर बाधा उपस्थित हो गई हो,

---

१　१६४८ में नये फैक्ट्री कानून पास हो जाने के बाद खानों में काम करने वाले श्रमिकों से सम्बन्धित विधान को सशोधित करना आवश्यक हो गया। इस उद्देश्य से ८ दिसम्बर, १६४६ को खानों में काम करने वाले श्रमिकों के विधान में सशोधन करने के लिए एक बिल पेश किया गया जो १५ मार्च, १६५२ को पास होकर १ जुलाई, १६५२ से लागू किया गया। जम्मू और काश्मीर को छोड़कर यह कानून सारे भारत पर लागू है। इस कानून के अन्दर खानों की परिभाषा और विशद रूप से दी गई। मजदूरों की सुरक्षा तथा भलाई के विषय में भी विशद व्यवस्थाएँ की गईं। इस कानून के अनुसार खान के ऊपर काम करने वाले श्रमिकों का काम ६ घण्टा प्रतिदिन तथा ४८ घण्टा प्रति सप्ताह कर दिया गया। खान के भीतर काम करने वाले श्रमिकों की विधि ८ घण्टा प्रतिदिन तथा ४८ घण्टा प्रति सप्ताह कर दी गई। स्त्रियाँ खानों के ऊपर शाम के ७ बजे से प्रात ६ बजे तक काम नहीं करेंगी। केन्द्रीय सरकार इस सम्बन्ध में थोड़ा-बहुत परिवर्तन कर सकती है, परन्तु वह रात्रि के १०बजे और प्रात ५ बजे के बीच स्त्रियों और वयस्कों का काम करना वैध नहीं कर सकती। इस कानून में सवेतन छुट्टियों की भी व्यवस्था है।

(२) या कार्यभार अत्यन्त अधिक हो, परन्तु ऐसी दशा मे अधिक समय तक काम करने का वेतन मिलेगा। सप्ताह मे लगातार २४ घण्टे का विश्राम आवश्यक था। इसमें कभी-कभी, उदाहरणार्थ उपर्युक्त परिस्थितियाँ आने पर, व्यतिक्रम हो सकता है। गवर्नर-जनरल-इन-कौंसिल को रेलवे श्रम के निरीक्षको की नियुक्ति का अधिकार था, ताकि वह इस बात का पता लग सके कि कानून की धाराओं का पालन हो रहा है या नही।

३२. सन् १९२३ का श्रमिक क्षतिपूर्ति कानून (संशोधित रूप में)—प्राय सभी पाश्चात्य देशो में इस बात को वैध स्थान प्राप्त हो गया है कि यदि श्रम के नियमित घण्टो के बीच किसी कर्मचारी को काम करते समय किसी प्रकार की शारीरिक हानि पहुँचे तो उसे क्षतिपूर्ति दी जाय। भारत में क्षतिपूर्ति देने के विचार की प्रगति धीमी रही है। १८८४ में ही बम्बई के श्रमिको ने क्षतिपूर्ति की माँग की थी। यद्यपि कुछ उदार व्यक्तियो ने इस पद्धति को अपने कारखानो में प्रारम्भ किया किन्तु साधारणत यह पद्धति स्वीकार नही की गई। १९२३ के अधिनियम के पूर्व दुर्घटना से मृत्यु हो जाने पर १८८५ के घातक दुर्घटना अधिनियम (फेटल एक्सीडेण्ट्स एक्ट) के अन्तर्गत नियोक्ता पर मुकदमा दायर किया जा सकता था, परन्तु इस अधिनियम का शायद ही कभी प्रयोग किया गया हो। इसके अतिरिक्त नियोक्ता का उत्तरदायित्व भी अनिश्चित था।

१९२३ के अधिनियम का सिद्धान्त यह था कि दुर्घटना से घायल हुए कर्मचारियो को मुआवजा दिया जायगा, यदि दुर्घटना काम करते समय हुई हो। कुछ हालतो में बीमारियो के लिए भी मुआवजा (क्षतिपूर्ति) दिया जाता था। यद्यपि इस अधिनियम में अन्यत्र व्यवहृत सिद्धान्तो का अनुसरण किया गया था, फिर भी इसमें कुछ विशेषता थी जो भारतीय औद्योगिक जीवन के अनुरूप थी। पहले तो इस अधिनियम का क्षेत्र सीमित था, किन्तु १९२६, १९२९, १९३१ और १९३३ के सशोधनो द्वारा उसे काफी व्यापक बना दिया गया। यह अशत सातवें अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन द्वारा पेशे में पैदा हुई बीमारियो के लिए श्रमिको को दिये जाने वाले मुआवजे के सिद्धान्त को अपनाने, जिसे भारत ने भी माना था, और अशत राजकीय आयोग (१९३१) की सिफारिशो के कारण आवश्यक हो गया था। १९२३ का अधिनियम प्रयोगात्मक था। इसके स्थान पर अब १९३३ में सशोधित अधिनियम लागू है। १९३९ में थोडे से प्राविधिक प्रकार के सशोधन किये गए।

१९३३ के अधिनियम के अन्तर्गत रेलवे, ट्रामवे, कारखाने, खानें, सामुद्रिक व्यक्ति, वन्दरगाह, सडको या इमारतो, सुरगो और पुलो की मरम्मत या निर्माण या उन्हे गिराने के काम में लगे व्यक्ति, सामुद्रिक कार्य, तार, टेलीफोन से सम्बन्धित काम या बिजली के तार, उखाड़ना या खोदना, नौ-सेना, प्रकाश-स्तम्भ, चाय, कॉफी, रबर या सिनकोना के बगीचे, विद्युत् या गैस बनाने के स्टेशन, सिनेमा कर्मचारी, वेतन, प्राप्त मोटरो के ड्राइवर तथा जमीन के नीचे बहने वाली नालियो की सफाई करने वाले कर्मचारी आदि सभी आते हैं। इन सभी कामो में लगे हुए प्रशासकीय या बाबूगीरी

(क्लेरीकल) ढग के काम करने वाले तथा ३०० रु० से अधिक वेतन पाने वाले लोग इसमें शामिल नही हैं। इस अधिनियम के अन्तर्गत देश के ७० लाख कर्मचारी आते हैं।

दिये जाने वाले मुआवज़े की मात्रा घायल या मृत व्यक्ति की मासिक औसत आय पर निर्भर करती है। जिस व्यक्ति की मासिक आय १० रु० से अधिक नही है, मृत्यु की दशा में उसका मुआवज़ा ५०० रु०, स्थायी अयोग्यता की दशा में ७०० रु० और क्षणिक अयोग्यता की दशा में मासिक आय का आधा रखा गया है। ५०रु० से ६०रु० तक पाने वाले कर्मचारी के सम्बन्ध में ये सख्याएँ क्रमश १८००रु० और २५००रु० तथा १५रु० प्रतिमास हैं। २०० रु० प्रति मास वालो की अधिकतम सख्याएँ क्रमश ४००० रु० और ५६०० रु० तथा ३० रु० प्रति मास हैं। नाबालिगो के सम्बन्ध में ये सख्याएँ मृत्यु के लिए २०० रु० और स्थायी अयोग्यता के लिए १२०० रु० है तथा अल्पकालीन अयोग्यता के लिए मासिक मजदूरी का आधा है। सभी नाबालिग़ो पर ये दरें समान रूप से लागू होती हैं। चोट लगने के ७ दिन तक के प्रतीक्षा-काल के लिए कोई मुआवजा नही दिया जायगा।

वास्तविक आश्रितों को ही मुआवजा मिलेगा, जैसे पत्नी या अवयस्क (नाबालिग) पुत्र। दूसरे वे लोग जो इस परिस्थिति में नही हैं, जैसे पति या माता-पिता आदि। ऐसी व्यवस्था की गई है कि घातक दुर्घटनाओ से आश्रितों का हित अच्छी तरह सुरक्षित रहे। यह भी प्रबन्ध है कि ये दुर्घटनाएँ आयुक्तो के सामने भी लाई जायँ, जो प्रान्तीय सरकारो द्वारा कानून के अन्दर नियुक्त किये जाते हैं।

इस अधिनियम का प्रशासन और झगडो का निर्णय इन्ही आयुक्तो को सौंपा गया है जिन्हे बहुत अधिकार दिये गए हैं। क्रिया-पद्धति सीधी है और अपील करने के अवसर सीमित हैं। इस प्रकार के विधान की सफलता के लिए कुशल डॉक्टरो द्वारा चोट की ठीक-ठीक जाँच और रिपोर्ट की आवश्यकता है, साथ ही सरकार द्वारा निष्पक्ष जजो की नियुक्ति भी आवश्यक है ताकि श्रमिक अपना उचित प्राप्य (लाभ) पा सके। भारतीय श्रमिक की प्रवासी प्रवृत्ति, कानून के अन्दर प्राप्य आर्थिक सहायताओं के विषय में अज्ञान तथा श्रमिको के पक्ष को मुआवजे के लिए प्रस्तुत कर सकने वाले व्यक्तियो का अभाव—इन सब कारणो से यह विधान कठिनता से लागू हो पाता है। १९४६ के मुआवजा (सशोधन) विधान ने मुआवजा पाने वालो की वेतन की सीमा ३०० रु० से बढाकर ४०० रु० कर दी है और इनके बीच की आमदनी के लिए मुआवज़े की दर भी निर्धारित कर दी है।

यह कहा जा सकता है कि नियोक्ताओ के भय के विपरीत इस मुआवजा अधिनियम से उत्पादन-लागत में वृद्धि नही हुई है, परन्तु सुरक्षा का स्तर काफी ऊँचा हो गया है।

२३ सामाजिक-बीमा—औद्योगिक श्रमिक की सुरक्षा के लिए सामाजिक सुरक्षा का सिद्धान्त औद्योगिक दृष्टि से विकसित जर्मनी और ब्रिटेन जैसे सभी देशो में स्वीकार किया गया है। इसमें श्रमिको को होने वाली कठिनाइयां, जैसे बीमारी, वृत्तिहीनता, वृद्धावस्था दे से बचाने की व्यवस्था है। इन सभी विषयो के सम्बन्ध में प्रस्ताव पास करके

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-सगठनो ने भी इसे पुष्ट करने में योग दिया है। इनमें से कितने ही प्रश्नो पर भारत सरकार तथा अन्य सम्वन्धित दल ध्यान दे रहे हैं, विशेष रूप से १९२७ के दसवें श्रम सम्मेलन के वाद से। बम्बई की काग्रेस सरकार ने सामाजिक बीमा के विकास की एक विस्तृत योजना प्रस्तुत की तथा इस वात पर भी विचार किया कि बीमारी के समय में भी वेतन दिया जाय। यह इस आशा से किया गया कि इससे बीमारी के बीमे का मार्ग प्रशस्त होगा।[1]

भारत में सामाजिक बीमा योजना को कार्यान्वित करने के मार्ग में प्रशासकीय तथा वित्तीय प्रकार की अनेक कठिनाइयाँ हैं। सामाजिक बीमा के लिए वास्तविक आँकडो का भी अभाव है। कृषि सम्वन्धी श्रम के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि जिलो में योग्य डॉक्टरो का अभाव है। गवर्नर-जनरल-इन-कौंसिल ने १९४४ में एक श्रम जाँच समिति (लेबर इनवेस्टिगेशन कमेटी) नियुक्त की। इसने ३६ उद्योगो की विस्तृत तथ्य-स्थापक जाँच की। इस समिति द्वारा प्राप्त तथ्यो ने नीति-निर्धारण को पुष्ट आधार प्रदान किया। सामाजिक बीमा की योजनाओ के सम्वन्ध में विचारणीय महत्वपूर्ण वात यह है कि उद्योग इस प्रकार से पडे हुए भार को कहाँ तक सह सकता है? यह वाञ्छनीय है कि सामाजिक बीमा की योजनाएँ अन्य देशो की योजनाओ के समान अशदायी हो और श्रमिक, नियोक्ता तथा सरकार तीनो ही अपना-अपना न्यायोचित भार वहन करें। यह भी वाञ्छनीय है कि इस सम्बन्ध में अखिल भारतीय प्रयत्न करना चाहिए, क्योकि ऐसा न होने से एक प्रान्त के उद्योग अनुचित रूप से भाराक्रान्त होगे जबकि अन्य प्रान्तो या रियासतो के उद्योग वच जायँगे।

श्रमिक राज्यीय वीमा अधिनियम (एम्प्लाईज स्टेट इश्योरेंस एक्ट), जोकि अप्रैल, १९४८ में पास किया गया, में इस बात की व्यवस्था है कि बीमारी और काम के समय लगी चोट आदि के सम्बन्ध में अनिवार्य राज्यीय बीमा हो तथा ४००) माहवार से कम पाने वाली स्त्रियो को प्रसूति सहायता प्राप्त हो, चाहे वे हाथ का काम करती हो या बाबूगीरी (क्लर्की)। राज्य सरकारो को अस्पताल द्वारा देख-रेख और दवा का व्यय सँभालना होगा। बीमारी के लिए नकद सहायता एक वर्ष में अधिक-से अधिक आठ सप्ताह मिलेगी। काम में लगने वाली चोट से उत्पन्न अयोग्यता के समय अयोग्यता-सहायता (डिसेवलमेण्ट वेनीफिट्स) प्राप्त होगी। कुछ दशाओं में विधवाओ, पुत्रो और पुत्रियो को 'आश्रितो की सहायता' देने की भी व्यवस्था की गई है।

३४. भारत में औद्योगिक झगड़ों का इतिहास—१९१७ से पहले भारत में हडतालें प्रायः नही होती थी। १९०५ में वम्बई में कई हडतालें हुई, जिनका कारण विजली का प्रचार था जिससे काम बहुत अधिक समय तक सम्भव था। १९१४-१८ के युद्ध-काल में हडतालें औद्योगिक सुख की वृद्धि में एक साधारण अस्त्र के रूप में ग्रहण की गईं। आर्थिक उथल-पुथल और युद्धजनित अशान्ति की सामान्य भावना, मूल्यो की वृद्धि के कारण जीवन-यापन (की लागत) में वृद्धि तथा वर्ग-चेतना के उदय के

१. लेबर गजट (बम्बई), अगस्त १९३७, पृ० ९२३।

कारण १९१७ से कितनी ही हडतालें हुई। १९१९-२० में जब बम्बई में कपास की मिलो के १,५०,००० श्रमिको की बडी हडताल हुई, तब से स्थिति विशेष रूप से सकटापन्न हुई। इन हडतालो के सहायक कारणो में काम के लम्बे घण्टे, आवास की बुरी परिस्थितियाँ, चोट के खिलाफ मुआवजे की अव्यवस्था, (फोरमैन) सरदारो द्वारा श्रमिको के साथ होने वाला दुर्व्यवहार तथा एक वर्ग की हडलात का अन्य वर्ग की हडतालों के साथ सहानुभूति आदि का नाम लिया जा सकता है।

१९१९-२१ में हडताल की स्थिति अधिक भयकर हो गई। इसका कारण आर्थिक कष्ट तथा ऊँची कीमतें थी। परिस्थिति के पुन शान्त हो जाने तथा जीवन-यापन के मूल्य में कमी के साथ हडताल का ज्वर उतरने लगा। युद्ध-काल में दी जाने वाली ऊँची मजदूरी युद्ध समाप्त होने पर भी कुछ काल तक वैसी ही बनी रही। इस प्रकार कीमतो के गिर जाने के कारण श्रमिक की वास्तविक मजदूरी कुछ बढ गई। युद्धोत्तर अभिवृद्धि के अनन्तर आने वाली मन्दी में नियोक्ताओ की ओर से युद्धकालीन बोनस बन्द करने और मजदूरी घटाने का आन्दोलन चला। परिणाम यह हुआ कि औद्योगिक केन्द्रो में हडतालो की एक लहर आ गई। १९२६-२७ अपेक्षाकृत शान्त वर्ष थे। १९२८ में औद्योगिक अशान्ति पुन उत्पन्न हो गई और कितनी ही बडी-बडी हडतालें हुईं। उदाहरण के लिए, बम्बई की कपास की मिलो की बडी हडताल (अक्तूबर, १९२८) का नाम लिया जा सकता है। इसका कारण मिल मालिको द्वारा युक्तीकरण अपनाने तथा काम करने के नवीन ढगो का प्रयोग था। इन हडतालो के तीव्रतर होने तथा काफी लम्बी अवधि तक चलने के कारणो में रूसी साम्यवादियो का बढता हुआ प्रभाव और गुप्त सहायता का नाम लिया जाने लगा। जमशेदपुर के लोहा और इस्पात के कारखाने में हुई लम्बी हडताल और रेलवे की वास्तविक हडतालें या धमकी, जिनमें से ई० आई० आर० तथा एस० आई० आर० रेलवे की हडतालो में काफी दगा भी हुआ था, १९२८ की विशेषताएँ थी। १९२९ में पूर्व वर्ष की औद्योगिक हलचल जारी रही तथा साम्यवादी प्रभाव स्पष्टत लक्षित हुए। बम्बई में फिर एक सम्पूर्ण हडताल रही। इन तूफानी वर्षों के बाद कुछ समय तक देश-भर में शान्ति रही। १९२९-३३ के आर्थिक अवसाद में मजदूरी में कटौती हुई और कुछ हडतालें भी हुई। बम्बई की सरकार ने प्रान्त में मजदूरी में कटौती के प्रश्न पर वैभागिक जांच प्रारम्भ की। १९३४ में इसकी रिपोर्ट प्रकाशित हुई। इसी समय अर्ध-साधारण हडताल, जो बम्बई की मिलों में चालू थी, समाप्त कर दी गई। इस जांच का सबसे महत्त्वपूर्ण परिणाम बम्बई सरकार द्वारा ट्रेड डिसप्यूट्स कसीलियेशन एक्ट पास किया जाना था। इसकी समीक्षा आगे सेक्शन् ३७ में की गई है। इस अधिनियम के पास होने के तीन वर्ष बाद तक बम्बई नगर की कपास की मिलो में हलचल न रही। १९३७ में बम्बई, अहमदाबाद, कानपुर और मद्रास जैसे उद्योग-केन्द्रों में फिर श्रम-अशान्ति प्रारम्भ हो गई। इसका कारण औद्योगिक एव व्यापारिक समुत्यान के आधार पर ऊँचे वेतन की माँग तथा कटौती की पूर्ति और अशत साम्यवादियो द्वारा भडकाया जाना था। श्रमिक वर्ग में फैला हुआ

भीषरण असन्तोष, यद्यपि पहले वर्ष में ही उनकी दशा सुधारने के नियम पास हो चुके थे, १९३७-३८ में हुई बडी हडतालो के रूप में प्रकट हुआ। १९३७-३८ में क्रमश ३७९ और ३९९ औद्योगिक झगडे हुए, जबकि १९२४ से १९३६ तक की औसत हड-ताल-सख्या १४७ थी। इसी वर्ष (१९३७-३८) में काग्रेस सरकार ने श्रम-सम्बन्धी जाँच प्रारम्भ की। ये जाँचें या तो कपडे के उद्योग के श्रमिको तक सीमित थी, जैसे बम्बई और (१९३७) मध्य प्रान्त (१९३८) या साधारण प्रकार की थी जैसी कि उत्तर प्रदेश (१९३७) तथा बिहार (१९३८) में हुई।

३५. १९३९ के पश्चात् औद्योगिक झगड़े—१९३९ में झगड़ो की औसत सख्या ४०६ थी। यह उस समय तक की उच्चतम सख्या थी।[1] बम्बई में झगडो की सख्या १९४२ में और भी अधिक अर्थात् ६९४[2] थी। युद्ध के उपरान्त श्रम-अशान्ति का प्रधान कारण मूल्यो तथा जीवन-स्तर में वृद्धि थी जोकि प्रधानतया मुद्रास्फीति के कारण थी। मजदूरी और कीमतो के बीच होने वाली दौड में मजदूरी सदैव पीछे रह गई। इस स्थिति पर तभी काबू पाया जा सकता है जबकि कीमतें नियन्त्रित और स्थिर कर दी जायें। यद्यपि अनेक उद्योगो में अभूतपूर्व लाभ हुए परन्तु सामान्य रूप से श्रमिको की दशा गिरती ही गई। हडतालो का भूत सवार हो गया और देश में श्रम-असन्तोष की लहर-सी आ गई। इसका कारण राजनीतिक एव सामाजिक भी है और अशत साम्यवादियो की क्रियाएँ भी हैं, लेकिन प्रधान कारण कीमतो और मज़दूरी के बीच की गहरी खाई ही है।[3]

३६. औद्योगिक झगड़ों की रोक-थाम—औद्योगिक झगडो को निपटाने के लिए स्थापित यन्त्र की विवेचना करने से पूर्व उन्हे रोकने के सम्बन्ध में दो शब्द कह देना उचित होगा। इन्हे रोकने के लिए नियोक्ताओ और श्रमिको के दृढ सगठन पहली आवश्यक वस्तु हैं। भारत में नियोक्ता प्राय अच्छी तरह सगठित हैं लेकिन श्रमिको की दशा ऐसी नही है। अत मजबूत श्रम-सघो की आवश्यकता है। दोनो पक्षो के सुदृढ सघो (जो अपने-अपने पक्ष के लिए अच्छी तरह बोल सकते हैं) के निर्माण से यत्र-तत्र होने वाली हडतालें और काम-बन्दी रुक जायगी। साथ ही हडताल करने के पहले ही माँगो की रूपरेखा तैयार हो जायगी न कि हडताल करने के बाद, जो भारतीय हडताल की प्रधान विशेपता है। अहमदाबाद की कपडे की मिलो के झगडो में मध्यस्थता करने के लिए एक स्थायी मध्यस्थ परिषद् (आरबीट्रेशन बोर्ड) की स्थापना की गई है। श्रम आयोग तथा १९२२ की बम्बई की औद्योगिक विग्रह समिति

---

१. बम्बई का श्रम गजट, जून १९४०, पृ० ८९६।

२. सन् १९४६ में अगस्त के महीने तक केवल बम्बई नगर में ही ३०० से अधिक हडतालें हुई। अन्य श्रम-केन्द्र भी इसी प्रकार प्रभावित थे।

३ सन् १९४७ से १९५२ तक के औद्योगिक झगडों की सख्या इस प्रकार है .

	१९४७	१९४८	१९४९	१९५०	१९५१	१९५२
झगड़ों की सख्या	१,८११	१२५९	९२०	८१४	१,०७१	९६३
प्रभावित मजदूर	१८,४०,७८४	१०,५९,१२०	६,८५,४५७	७,१९,८८३	६,९१,३२१	८,०९,२४२

—लेबर ईअर बुक, १९५२-५३

(इण्डस्ट्रियल डिसप्यूट्स कमेटी) ने कार्य-समिति या दूकान-समितियो के निर्माण की आवश्यकता पर जोर दिया और इगलैण्ड की ह्विटले समितियो के आधार पर इनके निर्माण की सिफारिश की। इन समितियो में नियोक्ताओ के साथ ही श्रमिको का भी प्रतिनिधित्व होगा। वे काम की शर्तो और उनके पालन के लिए उत्तरदायी होगी। यह कहा जा सकता है कि इस प्रकार की समितियाँ उदार नियोक्ताओ, जैसे टाटा तथा नियोक्ता की हैसियत से सरकार द्वारा पहले ही स्थापित की जा चुकी थी।

अब हम झगडो को तय करने के लिए मध्यस्थता और समझौते के तरीको की विवेचना करेंगे। १९१४-१८ के बाद हुए अनेक झगडो से उन्हे सुलझाने और जाँच करने के लिए उचित साधन की आवश्यकता स्पष्ट हो गई। इस ओर सबसे पहला कदम मद्रास सरकार ने उठाया। १९२१ में बगाल सरकार द्वारा नियुक्त तथा १९२२ में बम्बई सरकार द्वारा नियुक्त समितियो ने बहुत अच्छा प्रारम्भिक काम किया और झगडो के निवारण और मध्यस्थता के सम्बन्ध में विस्तृत सिफारिशें पेश की। भारत सरकार ने समस्या की अखिल भारतीयता पर जोर दिया। लेकिन श्रम सघ बिल (ट्रेड यूनियन बिल) पास होने से पूर्व इसे अपरिपक्व माना गया। श्रम सघ बिल १९२६ में कानून बन गया और अगले वर्ष से लागू कर दिया गया। व्यापार विग्रह अधिनियम (ट्रेड डिसप्यूट्स एक्ट), जो १९२९ में पास किया गया था और प्रारम्भ में केवल आगामी ५ वर्ष तक लागू रहता, १९३४ में स्थायी बना दिया गया।

सन् १९४० से भारत सरकार ने एक नवीन परामर्शदात्री सस्था को जन्म दिया और उसे पूर्णता प्रदान की। इसका नाम भारतीय श्रम सम्मेलन (त्रिदलीय श्रम सम्मेलन)[1] था। श्रम से सम्बन्धित पक्ष—भारतीय सरकार, प्रान्त और रियासतें, नियोक्ता तथा श्रमिको के सगठन—सभी का प्रतिनिधित्व वर्ष में एक बार होने वाले पूर्ण श्रम सम्मेलन प्लेनरी लेबर कॉन्फरेंस में होता है। सम्मेलन की एक स्थायी समिति भी है जिसकी बैठकें प्राय हुआ करती है। अधिकाशत श्रम विधान स्थायी समितियो तथा श्रम सम्मेलन द्वारा विवादित होने के उपरान्त ही धारा सभा के सामने आते है। इस प्रकार उनके पास होने में सरलता होती है, क्योकि पहले के विवाद में प्राय सभी विरोधी दृष्टिकोण सामने आ जाते है और इस प्रकार उनका अन्तिम रूप सरलता से निखर आता है।[2]

२७ व्यापार विग्रह विधान (ट्रेड डिसप्यूट्स लेजिस्लेशन)—(१) सन् १९२९ का व्यापार विग्रह अधिनियम—यह अधिनियम अग्रेजी कानून के अनुसार है। इसमें अनिवार्य मध्यस्थता की व्यवस्था नही है। ब्रिटेन की तरह झगडो के निर्णय में जनमत को एक निश्चित साधन माना गया है और निहित विचार यह है कि निश्चित प्रश्नो पर विवाद हो और निष्पक्ष (मध्यस्थ) न्यायाधिकरण (ट्रिब्यूनल) द्वारा उन पर मत प्रकट किया जाय ताकि भली प्रकार सूचित जनमत का निर्माण हो सके। इस विधान में जाँच-न्यायालय (इनक्वायरी कोर्ट्स) और समझौता परिषदो (कसीलियेशन

---

१ ट्रिपार्टाइट लेबर कॉन्फ्रेंस।

२ देखिए, 'ईस्टर्न इकनामिस्ट' १६ जुलाई, १९४९, श्रम और धारासभा, पृ० ९९ १००।

वोर्ड्स) के निर्माण की व्यवस्था है।

(क) जाँच किस प्रकार की होगी—प्रान्तीय सरकार या गवर्नर-जनरल तथा जहाँ नियोक्ता गवर्नर जनरल इन-कौंसिल के अधीन किसी विभाग या रेलवे कम्पनी का अध्यक्ष है, वहाँ गवर्नर-जनरल-इन-कौंसिल को झगडो को तय करने के लिए एक जाँच-न्यायालय या समझौता वोर्ड (कसीलियेशन वोर्ड) स्थापित करने का अधिकार है। आवेदन देने वाले व्यक्ति दोनो दलो के बहुमत का प्रतिनिधित्व करते है।[1] **(ख) जाँच न्यायालय का निर्माण**—इसमें एक निष्पक्ष सभापति, अन्य ऐसे स्वतन्त्र व्यक्ति जिन्हे नियुक्ति-अधिकारी योग्य समझे अथवा एक स्वतन्त्र व्यक्ति हो सकता है। **(ग) समझौता वोर्ड** का विधान अलग है। इसमें एक सभापति, दो या चार अन्य सदस्य जिन्हे नियुक्ति-अधिकारी योग्य समझे या एक ही स्वतन्त्र व्यक्ति होगा। सभापति एक स्वतन्त्र व्यक्ति होगा तथा अन्य व्यक्ति भी स्वतन्त्र होगे या वरावर सख्या में नियुक्त ऐसे व्यक्ति होगे जो दोनो पक्षो की सिफारिशो पर उनका प्रतिनिधित्व करते होगे। **(घ) क्रियाविधि**—ऐसे वोर्ड का काम झगडो के गुण-दोषो का विवेचन तथा वे सव काम करना होता है जिनसे दोनो दलो के झगडे शान्तिपूर्वक तथा न्यायोचित ढग से तय हो जायँ और उन्हे (दलो को) इसके लिए पर्याप्त समय मिल जाय। असफल होने पर इसे अपनी कार्यवाही का पूर्ण विवरण नियुक्ति-अधिकारी के पास भेजना पडता है जिसमें वोर्ड द्वारा उठाये गए कदम, उसकी जाँच के परिणाम और सिफारिशें भी होती हैं। नियुक्ति-अधिकारी को इसकी मध्यवर्ती (इण्टेरिम) या अन्तिम रिपोर्ट यथाशीघ्र प्रकाशित करनी पडती है। **(च) जनोपयोगी सेवाओं में हड़ताल**—जनोपयोगी सेवाओ से सम्वन्धित अधिनियम का द्वितीय भाग सवसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। जनोपयोगी सेवा का अर्थ यह है—(१) गवर्नर-जनरल-इन-कौंसिल द्वारा जनोपयोगी घोपित कोई भी रेलवे सेवा। (२) कोई भी तार, टेलीफोन और डाक की सेवाएँ। (३) कोई भी व्यापार या व्यवसाय जो जनता के लिए प्रकाश और पानी की व्यवस्था करता है। (४) जन-स्वास्थ्य और स्वच्छता की कोई भी सेवा। इन सेवाओ में मासिक वेतन पर नियुक्त श्रमिक यदि अपने नियोक्ता को हडताल करने से पहले एक महीने के अन्दर कम-से-कम १४ दिन की अग्रिम सूचना न दें तो उन्हे विशेप दण्ड दिया जाता है। इसी प्रकार यदि जनोपयोगी सेवाओ के नियोक्ता पूर्व सूचना दिये विना ही उन्हे स्वय वन्द करते हैं तो उन्हे विशेप दण्ड दिया जाता है (इनका दण्ड अधिक होता है)। अपराध को प्रोत्साहन देने वालो को साधारण अपराधी सशोधन अधिनियम (क्रिमिनल अमेण्डमेण्ट लॉ) के अनुसार सजा मिलेगी। **(छ) अवैध हडतालें**—१९२७ के व्रिटिश व्यापार विग्रह अधिनियम (व्रिटिश ट्रेड डिसप्यूट्स एक्ट) के अनुसार अवैध हडतालो के सम्वन्ध में और भी व्यवस्थाएँ है। ऐसी हडताल या मिल-वन्दी को अवैध करार दिया जाता है (१) जिसमें व्यापार अथवा उद्योग सम्वन्ध के वजाय अन्य उद्देश्य हो। (२) ऐसी हडतालें भी अवैध हैं जिनका उद्देश्य समाज को अत्यन्त कष्ट देना है ताकि सरकार

१ श्रम आयोग ने अधिनियम के अन्तर्गत तदर्थ न्यायालयों के स्थान पर स्थायी न्यायालयों की स्थापना सम्वन्धी सम्भाव्यता की जाँच करने की सिफारिश की। (श्र० आ० प्र०, पृ० ३४६)

कोई विशेष कार्यवाही करने से रोकी जा सके। ऐसी हडतालो के लिए एकत्र किया गया धन भी अवैध है। सहानुभूति में की गई हडतालें अवैध हैं क्योकि व्यापारिक विग्रह (ट्रेड डिसप्यूट) की परिभाषा के अन्तर्गत नियोक्ता और श्रमिको के बीच केवल उसी उद्योग की वृत्ति (एम्प्लॉयमेण्ट) सम्बन्धी झगडे आते है। श्रम-सघो के सदस्यो के विशेषाधिकारो की रक्षा इस आधार पर की जाती है कि वे अवैध हडतालो में भाग न लें।

इस विधान के अनुसार नियोक्ता और श्रमिको के सगठन का अस्तित्व पहले से ही मान लिया जाता है। इसका उद्देश्य इस प्रकार के सगठन का विकास करना, यत्र-तत्र होने वाली हडतालो को रोकना तथा इस बात में सहायता करना है कि मांगें हडताल होने के पहले ही व्यवस्थित रूप धारण कर लें (न कि हडताल होने के बाद)। अधिनियम के अन्तर्गत सहानुभूति में की गई हडतालें अवैध होगी। इसके विपक्ष में कहा गया है कि सरकार इस आधार पर किसी भी बडी हडताल को अवैध घोषित कर सकती है। लेकिन इसके प्रत्युत्तर में कहा जा सकता है कि इगलैण्ड की त्रिगुट हडताल (ट्रिपल स्ट्राइक) (१९२६) जैसी हडतालें देश के लिए घातक सिद्ध हो सकती है। कानून की अन्य धाराओ के समान इस धारा का भी केवल इसी आधार पर विरोध नही किया जा सकता है कि इसका दुरुपयोग हो सकता है। यह भी कहा गया है कि हडतालो को अवैध घोषित करने वाली धाराएँ श्रमिको के आधारभूत अधिकारो में हस्तक्षेप करती है और श्रम-सघ आन्दोलन का शैशव काल में ही गला घोट देंगी तथा मजदूरो के मन में अविश्वास उत्पन्न करेंगी। यह भी कहा जाता है कि अधिनियम में जनोपयोगी सेवाओ और अवैध हडतालो से सम्बन्धित भाग अनावश्यक हैं। समाज-सुरक्षा, जैसे पानी की पूर्ति, प्रकाश तथा सफाई आदि ,में यकायक की गई हडतालें पहले से ही दण्ड-विधान (पीनल कोड) के अन्तर्गत दण्डनीय है। साधारण जनोपयोगी सेवाओ में होने वाली हडतालो (उदाहरण के लिए, डाक, तार, टेलीफोन या रेलवे) के सम्बन्ध में इतनी सख्ती न बरतनी चाहिए।[1]

अधिनियम पास होने और प्रान्तीय स्वायत्त शासन प्रारम्भ होने के बीच जो आठ वर्ष बीते उनमें व्यापार विग्रह अधिनियम का केवल पाँच बार प्रयोग किया गया। अगस्त, १९३७ से लोकप्रिय मन्त्रिमण्डलो की स्थापना के बाद अधिनियम का प्राय उपयोग किया जा रहा है, विशेष रूप से मद्रास प्रान्त में। जांच न्यायालय और समझौता परिषद् की नियुक्ति सम्बन्धी कार्यविधि भाराक्रान्त प्रतीत हुई। परिणामस्वरूप बम्बई की सरकार ने १९३४ में नवीन अधिनियम पास किया।

लिए एक या एकाधिक अफसर रखे। मद्रास के श्रमायुक्त, पजाब के उद्योग-सञ्चालक, मध्य प्रान्त के साख्यिकीय सञ्चालक, सहायुक्त और उद्योग-सञ्चालक को समझौता अफसर के अधिकार दिये गए है।

(३) १९३४ का बम्बई व्यापार विग्रह समझौता अधिनियम (द बाम्बे ट्रेड डिसप्यूट्स कंसीलियेशन एक्ट)—इसमें एक श्रम आयुक्त की नियुक्ति की व्यवस्था भी की गई जो पदेन प्रधान समझौताकार होता है। इसमें श्रमाधिकारी और सह-समझौताकार की भी व्यवस्था थी। श्रमिको के हितो की रक्षा के लिए १९३४ में एक श्रम-अधिकारी की नियुक्ति हुई। मिल-मालिक सघ ने भी सरकारी श्रमाधिकारी और प्रमुख समझौताकार की कार्यवाहियो में अपनी मिलो का प्रतिनिधित्व करने के लिए श्रमाधिकारियो की नियुक्ति की।[1]

(४) बम्बई औद्योगिक विग्रह अधिनियम (१९३८)—१९३४ के अधिनियम के स्थान पर बने १९३८ के इस नियम का उद्देश्य हडताल या मिल-बन्दी से पहले समझौते और मध्यस्थता के सभी अस्त्रो का पूरा उपयोग करना है।

इस अधिनियम में उन सघो की रजिस्ट्री की व्यवस्था है जो नियोक्ताओ द्वारा स्वीकार किये जा चुके है या सदस्यता की कुछ शर्तो को पूरा करते है। रजिस्ट्री से सघो को मजदूरो का प्रतिनिधित्व करने के अनेक अधिकार मिल जाते है। श्रमाधिकारी और समझौताकार (कसीलियेटर) प्रान्त के विभिन्न क्षेत्रो या उद्योगो के लिए नियुक्त किये जा सकते है। ऐसी व्यवस्था की जायगी ताकि मजदूरो की मॉंगो, शिकायतो या ८।की सेवा की शर्तो में किये गए परिवर्तनो पर पूरा विचार किया जा सके। हडताल और मिल-बन्दी उस समय तक अवैध मानी जायगी जब तक कि वाद-विवाद और विचार-विनिमय के सभी साधनो का प्रयोग न कर लिया जाय। समझौते की कार्रवाई के दो महीने वाद हडताल या मिल-बन्दी के अधिकार का उपयोग करना चाहिए। विग्रह प्रारम्भ होने की सम्भावना के साथ ही समझौता का काम शुरू हो जाता है, क्योकि अधिनियम में ऐसी व्यवस्था है कि मजदूरी, काम के घण्टे या दशाओ में परिवर्तन चाहने वाले नियोक्ता या श्रमिक ऐसा करने की सूचना नियत अधिकारियो को देगे और उस समय तक कोई परिवर्तन नही किया जा सकता जब तक कि अधिनियम के अन्तर्गत की गई व्यवस्थाएँ पूरी तरह कार्य नही कर लेती।

ऐसे क्षेत्रो और उद्योगो में, जहाँ मजदूर किसी मान्यता-प्राप्त सघ के सदस्य है, समस्या का विचार-विमर्श नियोक्ताओ और श्रम-सघ पर छोड दिया जाता है। ऐसी दशाओ में, जहाँ श्रम-सघ नही है, श्रमिको द्वारा प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित प्रतिनिधि या श्रमाधिकारी श्रमिको की ओर से प्रारम्भिक बातचीत शुरू करेगे। यदि समझौता हो जाता है तो उसकी रजिस्ट्री करा दी जाती है। यदि दोनो पक्ष किसी समझौते पर नही पहुँचते तो समझा जायगा कि व्यापार-विग्रह प्रारम्भ हो गया है और सरकारी समझौताकार झगडे को शान्त करने का प्रयास करेगा। यदि समझौताकार भी असफल रहता है अथवा सरकार आज्ञा देती है तो समझौता-परिषद् नियुक्त की जाती है।

१ ऐसे ही श्रमाधिकारी बगाल, उत्तर प्रदेश, मद्रास और बिहार में भी नियुक्त हुए हैं।

ऐसे उद्योगो और केन्द्रो में, जहाँ नियोक्ता और श्रम-सघो में झगड़े का फैसला मध्यस्थो को सौंप दिया गया है, सरकारी कार्यवाही प्रारम्भिक दशा में और हो सका तो अन्त तक नहीं की जायगी। फिर भी सभी समझौतो और परिनिर्णयो (अवार्ड्स) की रजिस्ट्री अवश्य होगी।

अधिनियम के अन्तर्गत एक रजिस्ट्रार की नियुक्ति हुई है जिसका काम सघो की रजिस्ट्री, उनकी ग्राह्यता का निर्णय, समझौतो, परिनिर्णयो, सूचनाओं तथा अन्य रिपोर्टों का लेखा रखना है।

एक महत्त्वपूर्ण विषय में अधिनियम एकदम नवीन है। इसमें हाईकोर्ट के जज या जज होने योग्य वकील की अध्यक्षता में एक औद्योगिक न्यायालय की स्थापना की व्यवस्था है। यह न्यायालय स्वैच्छिक मध्यस्थता में निर्णायक का काम करेगा और इस अधिनियम के अन्तर्गत उठ खड़े होने वाले अन्य झगड़ों के लिए भी न्यायालय का काम करेगा। यह मिल-बन्दी और हड़तालो की अवैधता का निर्णय करेगा तथा समझौतो और परिनिर्णयो की व्यवस्था करेगा। ऐसे न्यायालय की स्थापना हो चुकी है।

सन् १९३८ का बम्बई उद्योग विग्रह अधिनियम देश में श्रम सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण और सर्वाग्र अधिनियम है। इस विधान की आलोचना में कहा जाता है कि यह आवश्यकता से अधिक सख्त और कामगरो के हड़ताल घोषित करने के स्वतन्त्र अधिकार का विरोधी है। इसके विपरीत यह भी कहा जाता है कि यह हड़ताल करने के अधिकार को समाप्त नही करता बल्कि इसके उपयोग को तब तक टालता रहता है जब तक कि सभी शान्तिपूर्ण तरीके, जिनसे व्यापारिक विग्रह का समझौता किया जा सकता है, समाप्त न हो जायें।

इस अधिनियम की दूसरी आलोचना यह है कि यह आन्तरिक सगठन के मूल्य को आंकने के लिए कुछ भी नही करता, जिससे श्रमिको के सहयोग में बाधक मनोवैज्ञानिक अन्तर दूर किये जा सकते है। इसका आधारभूत विचार सामूहिक सौदे (कलेक्टिव बार्गेनिंग) का प्रचलन है, जिसमें एक ओर नियोक्ता और दूसरी ओर सगठित श्रमिक-समाज होता है।[1]

सन् १९३९-४५ के युद्धकाल में और भी कानूनी व्यवस्थाओ की आवश्यकता प्रतीत हुई जो न केवल पर्याप्त रूप से लचीली ही हो बल्कि झगडो के समझौते के निश्चित उपाय भी प्रस्तुत करें। १९४२ में भारत सरकार द्वारा पास किये गए भारत-सुरक्षा-नियम ८१ 'अ' का यही मूल सिद्धान्त था। इससे श्रमिको की हड़ताल करने की स्वतन्त्रता बहुत सीमित हो गई। १९४१ का आवश्यक सेवा (स्थापन) अध्यादेश (असेंशियल सर्विसेज़ मेण्टिनेंस एक्ट) भी इसी प्रकार का था। इसका उद्देश्य श्रमिको को सरकार द्वारा आवश्यक घोषित की गई सेवाओ को छोड़ने से रोकना था।

(५) बम्बई औद्योगिक सम्बन्ध अधिनियम (१९४६)—का उद्देश्य १९३८ के औद्योगिक विग्रह अधिनियम को स्थानान्तरित करना है, जिसकी प्राय सभी धाराएँ पूर्व-

[1] देखिए, 'इण्डियन जर्नल आफ इकनामिक्स, कॉन्फ्रेंस अङ्क, १९४०, में श्री पी० एम० लोकनाथन का 'इण्डस्ट्रियल डिसप्यूट्स एण्ड लेजिस्लेशन' नामक लेख।

वत् रखी गई है तथा कुछ नई धाराएँ भी जोडी गई है। अनुभव से सिद्ध हुआ है कि मध्यस्थता तथा समझौतो और निर्णयो से पर्याप्त सफलता मिली है तथा श्रमिको को भी लाभ हुआ है। इस अधिनियम से अनिवार्य मध्यस्थता द्वारा झगडो को तय करने का क्षेत्र भी वढ गया है। झगडो के निर्णय के लिए स्थापित यन्त्र, जिसमें श्रम न्यायालये और औद्योगिक न्यायालय है, का उद्देश्य झगडो का शीघ्र निर्णय तथा काम वन्द होने से आर्थिक शैथिल्य को रोकना है।

(६) औद्योगिक विग्रह अधिनियम (१९४७)—इसमें समझौते के विस्तृत यन्त्र की व्यवस्था है। यदि औद्योगिक झगडा होता है या होने की सम्भावना होती है तो समझौता अधिकारी उसकी जाँच करता है और मैत्रीपूर्ण ढग से समझौता कराने की कोशिश करता है। उसे १४ दिन के अन्दर अपनी जाँच की रिपोर्ट देनी पडती है। यदि समझौताकार मैत्रीपूर्ण ढग से समझौता नही करा सकता तो मामला समझौता-परिषद् के हाथ में चला जाता है, जिसमें एक स्वतन्त्र सभापति और दो से चार तक अन्य सदस्य होते है। यह आशा की जाती है कि परिषद् अपना काम दो महीने में समाप्त करेगी। यदि परिषद् समझौता कराने में सफल होती है तो यह समझौता छ महीने या दोनो दलो द्वारा स्वीकृत अवधि में से उस समय तक के लिए लागू किया जाता है जो अधिक लम्बा हो। इसमें एक जाँच-न्यायालय की नियुक्ति की भी व्यवस्था है जो कि सौंपे गए विवादास्पद प्रश्न की छानवीन करता है। न्यायालय में एक या अधिक स्वतन्त्र व्यक्ति होते हैं। इसे उचित सरकार को अपनी जाँच छ महीने के अन्दर देनी होती है। उच्च न्यायालय (हाईकोर्ट) के न्यायाधीशो द्वारा निर्मित एक औद्योगिक मध्यस्थ न्यायालय (इण्डस्ट्रियल ट्रिब्यूनल) का निर्णय छ महीने या दोनो पक्षो को मजूर किसी अन्य अवधि—इन दोनो में जो भी अधिक हो—तक मान्य होगा। समझौते की कार्रवाई के समय हडताल या मिल-वन्दी की इजाजत नही है।

सौ या सौ से अधिक व्यक्तियो को काम में लगाने वाले औद्योगिक कारखानो या सस्थापनो (एस्टाब्लिशमेण्ट) में श्रम-समितियो (वर्क्स कमेटी) को स्थापित करने की व्यवस्था है। इनमें नियोक्ताओ और श्रमिको के प्रतिनिधि होगे। श्रमिको के प्रतिनिधियो की सख्या (जोकि रजिस्ट्रीशुदा श्रम-सघो की सलाह से चुने जायँगे) कम-से-कम नियोक्ताओ की सख्या के वरावर होगी। इन समितियो का काम श्रमिको और मालिको के बीच अच्छे सम्बन्ध वनाये रखना और उन्हें ऐसे अनौपचारिक ढग से मिलने-जुलने देना है कि वे एक-दूसरे से मिलकर रोजमर्रा के झगडे तय कर सकें। अधिनियम में अनिवार्य मध्यस्थता के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है। इसके विरुद्ध यह कहा गया है कि यह श्रमिकों की सामूहिक सौदा करने की शक्ति को नष्ट करता है और इस प्रकार नियोक्ताओ के विरुद्ध प्रयोग में लाए जाने वाले सवसे शक्तिशाली अस्त्र अर्थात् हडताल को छीन लेता है। प्रत्युत्तर में कहा जाता है कि समस्त राष्ट्र के हित को ध्यान में रखते हुए सरकार द्वारा अनिवार्य मध्यस्थता लागू करना उचित है। यह भी कहा जाता है कि व्यवहार में उसूलन समझौता के प्रयोग और ऐच्छिक मध्यस्थता की भी व्यवस्था है। सरकार के अनिवार्य मध्यस्थता

पर हठ करने की नीति से दोनो दल अधिक विवेकपूर्ण ढग तथा सरलता से समझौता कर सकेगे।

मूल विधेयक (बिल) में सन्निविष्ट वाक्याश, जिसमें सहानुभूति में की गई तथा राजनीतिक हडतालो को अवैध घोषित किया गया था, श्रम-प्रतिनिधियो के पक्ष में रियायतन छोड दिया गया। इससे ऐसा लग सकता है कि अधिनियम का उद्देश्य ही नष्ट हो गया, क्योकि इसका उद्देश्य तो श्रमिको की स्वतन्त्रता के अधिकारो का अतिक्रमण किये बिना ही औद्योगिक सघर्ष को कम करना है। अच्छी मजदूरी और रहने की दशा में सुधार के लिए हडताल करना मूलभूत अधिकार है, किन्तु राजनीतिक उद्देश्यो के लिए अथवा सहानुभूति में हडताल करने का अधिकार मूलभूत नही कहा जा सकता।[1]

३८ भारत में श्रम-संघ आन्दोलन—श्री बी० पी० वाडिया के नेतृत्व में मद्रास में १९१८ में ही श्रम-सघो का सगठन किया गया था। मद्रास से श्रम-सघ आन्दोलन बम्बई पहुँचा। १९१७ में प्रारम्भ होने वाली औद्योगिक अशान्ति के परिणामस्वरूप कितने ही श्रम-सघ स्थापित किये गए। ये सब अस्थायी थे और उद्देश्य पूरा होते ही—चाहे वह मजदूरी की वृद्धि हो या कुछ और—विनष्ट हो गए। ये हडताल-समितियाँ-सी थी जिनमें कुछ अफसर और कुछ चन्दा देने वाले सदस्य थे।[2] परिस्थिति धीरे-धीरे सुधर रही है। आन्दोलन की प्रारम्भिक दशा में आर्थिक कष्ट के एकमात्र सूत्र से श्रमिक बँधे रहते थे। यह बन्धन आर्थिक स्थिति के सुधार के साथ ही कमजोर होता जाता था। बाद में आन्दोलन में शक्ति आती गई। इसे १९२६ के श्रम-संघ अधिनियम द्वारा काफी बल मिला। भारत के व्यापार-सघ आन्दोलन को प्रारम्भ से ही एक अखिल भारतीय सस्था—अखिल भारतीय श्रम सघ काग्रेस (ऑल इण्डिया ट्रेड यूनियन काग्रेस)—का सहयोग प्राप्त हुआ जिसके अधिवेशन १९२० से होते आ रहे हैं।[3] अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय की स्थापना से भारत में केन्द्रीय श्रम-सघ

१ सन् १९४७ की धाराओं को पूरा करने के लिए दिसम्बर, १९४९ में इण्डस्ट्रियल डिसप्यूट्स (बैंकिंग एण्ड इन्श्योरेंस कम्पनीज) एक्ट पास किया गया। सन् १९४७ के केन्द्रीय कानून को कुछ राज्य सरकारों ने भी सशोधित किया है, उदाहरणार्थ उत्तर प्रदेश (१९५१), मैसूर (१९५३)। केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों के कानूनों के अन्तर्गत किये गए निर्णयों की अपील की व्यवस्था करने के लिए २० मई, १९५० में इण्डस्ट्रियल डिसप्यूट्स (एपीलेट ट्रिब्यूनल) एक्ट पास किया गया। जम्मू और काश्मीर को छोडकर यह कानून सारे भारत में लागू है। अपील सुनने के लिए एक न्यायालय (अपीलेट ट्रिब्यूनल) का स्थापना हो चुकी है। इस न्यायालय के तीन स्थान है बम्बई, कलकत्ता और लखनऊ।

२ देखिए, हर्स्ट, पूर्वोद्धृत, पृ० २०१।

३ १९२९ में श्रम सघ काग्रेस के कार्यकर्त्ताओं में भयकर फूट पड गई। तीन विभिन्न समूह बन गए—साम्यवादी दल, उदार दल तथा अन्य। १९३८ के सयुक्त अधिवेशन में भारतीय श्रम-सघ आन्दोलन का एकीकरण हुआ। श्रम-सघ फेडरेशन श्रम-सघ काग्रेस में समाहित हो गया (१९४०)। किन्तु सितम्बर, १९४० में बम्बई में हुए अधिवेशन में फिर मतभेद हो गया। इसका कारण युद्ध के प्रयत्नों में उदासीनता के प्रस्ताव का स्वीकार करना था। डॉक्टर आफताब अली (कलकत्ता के नाविक सघ के अध्यक्ष) युद्ध के प्रयत्नों के पक्ष में थे। उन्होंने अपने सघ (यूनियन) का श्रम-सघ काग्रेस से सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया। दूसरा भाग, जिसके अगुआ श्री एम० एन० राय और श्री जमुनादास मेहता थे,

स्थापित होने में शीघ्रता हुई। जेनेवा सम्मेलनो में भारतीय प्रतिनिधियों की उपस्थिति से भारतीय श्रम आन्दोलन पश्चिमी दुनिया के सम्पर्क में आ गया।

१६४० में अखिल भारतीय श्रम सघ कांग्रेस में कुल १६१ सघ थे तथा इससे सम्बद्ध सदस्यो की सख्या ३५४,५४१ थी। १६२६ के श्रम-सघ के अन्तर्गत रजिस्ट्रीशुदा श्रम-सघो की कुल सख्या सितम्बर, १६३६ में ७०० थी। उस महीने में इन सघो की कुल सदस्यता पाँच लाख रु० से भी अधिक थी।[1] १६४६-४७ में रजिस्ट्रीशुदा श्रम-सघो की सख्या १,७२५ थी जिनमें से ६६८ ने अपना लेखा पेश किया। उनकी सदस्यता १,३३१, ६६२ थी। स्त्रियो की सदस्यता कुल सदस्यता के ४ प्रतिशत से भी कम थी। ये सब सघ शक्ति और सामर्थ्य में समान नही है। लगभग आधे सघ तो सरकारी कर्मचारियो या सरकारी नौकरियो से सम्बद्ध व्यक्तियो के थे। रेलवे तथा पोस्ट ऑफिस के कर्मचारियो में श्रम-सघ को काफी सफलता मिली है, परन्तु कुल मिलाकर वस्त्र और खदान जैसे सगठित उद्योगो में इसकी शक्ति कम है। भारत में सबसे बडा और सबसे अच्छी तरह सुसगठित श्रम-सघ अहमदाबाद का श्रम-सघ (अहमदाबाद टेक्सटाइल लेबर यूनियन) है।

३६. भारत में श्रम-आन्दोलन की कठिनाइयाँ—सबसे प्रधान कठिनाई भारतीय श्रमिको की परिवर्तनशीलता है (देखिए, सेक्शन ३)। द्वितीय, बम्बई तथा कलकत्ता जैसे उद्योग-केन्द्रो में काम करने वाले व्यक्तियो में इतनी विभिन्नता है कि वे अलग-अलग भाषाएँ बोलते हैं और इसलिए एक-दूसरे के प्रति आकृष्ट नही होते। जहाँ पर प्रवासी श्रमिको की सख्या कम है, जैसे अहमदाबाद में, वहाँ व्यापार सघ काफी सुदृढ है। तीसरे, बहुत से श्रमिक नियमित चन्दा तथा सघ अनुशासन से भी घबराते हैं। यही वजह है कि सघो में नाम लिखे गए व्यक्तियो का प्रतिशत बहुत कम है। साधारण मजदूर इतना गरीब होता है कि थोडा-सा भी चन्दा देना उसे भारी मालूम होता है। चौथे, अधिकाश मजदूर निरक्षर होते हैं। परिणाम यह होता है कि उन्हे अपने वर्ग से नेता नही मिल पाते। इसी वजह से भारतीय श्रम-सघ आन्दोलन की यह विशेषता है कि इसके नेता अधिकतर मध्य वर्ग के व्यक्ति रहे है, जैसे पेशेवर वकील या अन्य

भी एक नये सगठन ट्रेड यूनियन फेडरेशन में परिणित हो गया। इसका प्रधान कार्यालय दिल्ली में था। १६४८ के अन्तिम तथा १६४६ के प्रारम्भिक महीनों में ट्रेड यूनियन काग्रेस से कितने ही सघ अलग हो गए। ट्रेड यूनियन काग्रेस अब कम्यूनिस्टों के अधिकार में है। इधर हाल में काग्रेस के सिद्धान्तों का अनुसरण करते हुए अहमदाबाद में भी एक सघ बनाया गया। इसका नाम भारतीय राष्ट्रीय श्रम-सघ काग्रेस (इण्डियन नेशनल ट्रेड यूनियन काग्रेस) है और यह धीरे-धीरे शक्ति सग्रह कर रहा है। श्री जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में समाजवादियों ने हिन्द मजदूर पचायत नाम का एक शक्तिशाली सगठन बनाया है।

[1] सर्व श्री पुरसेल और हालसवर्थ (भारत में आए ब्रिटिश श्रम सघ प्रतिनिधि) ने गणना की कि कुल मिलाकर सगठन योग्य श्रमिकों के समूह में २५,२६६,१०६ व्यक्ति है। (इसमें खेती के काम करने वाले व्यक्ति २१,६७६,१०७ हैं, इसमें गृह-सेवक तथा पोस्ट और सरकारी ऑफिसों के कर्मचारी नहीं शामिल नहीं है। देखिए, रिपोर्ट आन लेबर कडीशस इन इण्डिया (ब्रिटिश ट्रेड यूनियन काग्रेस डेलीगेशन, १६२८) पृ० १५।

ऐसे व्यक्ति जिन्हें राजनीतिक या आर्थिक क्षेत्र में कोई विशिष्टता प्राप्त नही हुई है।[1] इसके अतिरिक्त उनके हित कितने ही सघो में विभक्त होते हैं और उनका कानूनी पेचीदगी सम्बन्धी ज्ञान भी अत्यन्त सीमित होता है। अन्य बाधा वास्तविक जनतन्त्रीय आदर्श का अभाव है जोकि श्रम सघो के लिए अत्यन्त आवश्यक है। अन्त में, सफल श्रम-सघ वर्तमान सामाजिक व्यवस्था की स्वीकृति पर भी निर्भर करते हैं ताकि श्रमिको के लिए अधिक-से-अधिक लाभ उठाया जा सके।[2] यदि श्रमिक वर्ग के नेता वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था को विनष्ट करने पर तुले होगे तो उनका प्रभाव इस आन्दोलन को कमजोर ही बनाएगा। कितने ही योग्य आलोचको के अनुसार अहमदाबाद की अपेक्षा बम्बई में इस आन्दोलन के कमजोर होने का यही कारण है। १९३५ के भारत सरकार अधिनियम के अन्तर्गत प्रान्तीय धारासभाओं में श्रमिको को मिले प्रतिनिधित्व का उद्देश्य केवल नवीन सघो की रजिस्ट्री को अग्रसर करना ही न था, बल्कि सदस्यो का रजिस्टर और उचित लेखा रखने की व्यवस्था करना भी था।

४० १९२६ का श्रम-संघ अधिनियम—१९२० में मद्रास उच्च न्यायालय ने एक निर्णय दिया, जिसमें श्रम-सघ के कर्मचारियो तथा सगठनकर्ताओ को श्रमिको को नियोक्ताओ के साथ अधिक मजदूरी के लिए समझौतो को हडताल करके तोडने के लिए प्रभावित करने से रोका गया। इससे भारतीय श्रम-सघो की रजिस्ट्री और सुरक्षा के लिए विधान की आवश्यकता प्रतीत हुई। श्री एन० एम० जोशी ने मार्च, १९२१ में धारासभा के सामने यह प्रश्न रखा और उनके प्रयत्नो के फलस्वरूप १९२६ में पास होकर ट्रेड यूनियन एक्ट १५ जून, १९२७ को लागू किया गया। इसमें भारतीय श्रम-सघो की कानूनी स्थिति की सुस्पष्ट शब्दो मे व्याख्या की गई है। श्रम-सघो की रजिस्ट्री ऐच्छिक है, किन्तु रजिस्ट्रीशुदा सघो को कुछ ऐसे अधिकार प्राप्त है जो कि गैर-रजिस्ट्रीशुदा सघो को प्राप्त नही हैं। रजिस्ट्रीशुदा सघो को अपना नाम और उद्देश्य निश्चित करना होता है। इन्हे सदस्यो की सूची रखनी पडती है और अपने धन-कोप की जांच करानी होती है। यह धन कुछ निश्चित विषयों पर सदस्यो के हित के लिए व्यय किया जाता है। रजिस्ट्रीशुदा श्रम-सघ के कम-से-कम आधे पदाधिकारी उसी उद्योग के होने चाहिएं। इन प्रतिबन्धो के साथ ही कानून ने सभी श्रम-सघो के कर्मचारियो को श्रम-सघ के वैधानिक उद्देश्यो की पूर्ति के लिए किये गए कामो में अपराध की जिम्मेदारी से छूट दे दी है। उनके ऊपर षड्यन्त्र का दोप नही लगाया जा सकता है। अधिनियम में ऐसी व्यवस्था है कि (१) किसी रजिस्ट्रीशुदा सघ के कर्मचारी के खिलाफ व्यापारिक झगडे को अग्रसर करने के लिए किये गए किसी काम

१ जैसा कि ब्रिटिश श्रम-सघ आन्दोलन के प्रारम्भिक दिनों में हुआ था जबकि श्रम-सघ अपने नेतृत्व के लिए राबर्ट ओवेन, फ्रासिस प्लेस, किंग्स्ले, लडलो और फ्रेडरिक हेरिसन आदि व्यक्तियों पर निर्भर थे, इसी प्रकार भारतीय आन्दोलन अपने प्रारम्भिक दिनों में प्राय सम्पूर्णतया वकीलों के ऊपर ही निर्भर था। इसी वर्ग से अध्यक्ष और सचिव मिलते थे। इस विषय पर रोचक आलोचनाओं के लिए देखिए, अ० आ० प्र०, पृष्ठ ३२४-२५ और ३२८-२९।

२ अहमद मुख्तार, ट्रेड यूनियनिज्म एण्ड लेबर डिसप्यूट्स इन इण्डिया।

का मुकदमा दीवानी कचहरी में इस आधार पर दायर नही किया जा सकता कि वह नौकरी के खिलाफ भडकाता है या व्यापार अथवा व्यवसाय या दूसरे की नौकरी या अपनी सम्पत्ति को प्रयोग करने के अधिकार में हस्तक्षेप करता है। दीवानी कचहरी में (२) किसी भी रजिस्ट्रीशुदा श्रम-सघ के खिलाफ इस आधार पर भी कोई मुकदमा दायर नही किया जा सकता कि कोई कर्मचारी व्यापारिक विग्रह को अग्रसर कर रहा है, जब तक कि यह न साबित हो जाय कि वह सघ की कार्यकारिणी को बिना बताए या उसके प्रकट आदेशो के विरुद्ध काम कर रहा है। रजिस्ट्रीशुदा श्रम-सघ सदस्यो के नागरिक एव राजनीतिक हितो की पूर्ति के लिए कोष इकट्ठा कर सकता है किन्तु इसके लिए चन्दा पूर्णतया ऐच्छिक होता है।

औद्योगिक कल्याण[1]

४१. कल्याण-कार्य की प्रकृति—कल्याण-कार्य की अनेक प्रकार से परिभाषा की गई है। एक परिभाषा के अनुसार इसका अभिप्राय कारखानो में नौकरी की सर्वोत्तम दशाओ के लिए नियोक्ताओ के ऐच्छिक प्रयत्न हैं। अधिक सामान्य रूप से स्वीकृत परिभाषा में कल्याण-कार्य के अन्तर्गत स्वास्थ्य-सुधार, सुरक्षा एव साधारण कल्याण तथा औद्योगिक कुशलता को बढाने के सभी प्रयत्न आते है।[2]

सरकार, श्रमिको, नियोक्ताओ या सामाजिक सस्थाओ द्वारा ऐसे प्रयत्न किये जा सकते है। एक दृष्टिकोण से ऐसे प्रयत्नो को मानवता का कार्य कहा जा सकता है, जिसका उद्देश्य औद्योगिक जानता का हित होता है। सकुचित और केवल उपयोगितावादी अर्थ में तथाकथित कल्याण-कार्यो को कुशलता-कार्य भी कहा जा सकता है। इसका श्रमिक के शारीरिक स्वास्थ्य और कुशलता पर सीधा प्रभाव पडता है। इस प्रकार भारतीय श्रमिक की प्रवासी प्रवृत्ति कम होती है। कल्याण-कार्य को निरक्षर श्रमिक वर्ग में उत्तरदायित्व और गौरव की भावना भरने तथा उन्हें अच्छे श्रमिक बनाने का साधन भी समझा जा सकता है।

४२ कल्याण-कार्य का विभाजन—कल्याण-कार्य के दो प्रधान भाग है. (१) कारखाने के अन्दर के कल्याण-कार्य तथा (२) कारखाने के बाहर के कल्याण-कार्य। जहाँ तक कारखाने के अन्दर काम की दशाओ के सुधारने का सवाल है इसके विषय में सरकार, नियोक्ताओ तथा अन्य साधनो द्वारा किये गए प्रयत्नो का विवेचन अध्याय में पहले ही किया जा चुका है।

बीते युग के नियोक्ताओ की ओर से श्रमिको के अवकाश का सदुपयोग करने के प्रश्न पर बहुत कम ध्यान दिया गया है। जो प्रयत्न किये गए वे औषधि सम्बन्धी सहायता या शिक्षा और आवास की सहायता के रूप में थे। वर्तमान समय में बढती हुई औद्योगिक अशान्ति के कारण इस पर अधिकाधिक ध्यान दिया जा रहा है। १९१८ में बम्बई के समाज सेवा सघ (सोशल सर्विस लीग) ने दो उदार मिल एजेण्टो

---

१ इस विषय पर श्रम आयोग की रिपोर्ट का चौदहवाँ अध्याय देखिए।

२. अध्यक्षीय भाषण, अखिल भारतीय औद्योगिक कल्याण सम्मेलन।

—करीम भाई इब्राहीम एण्ड सस तथा टाटा सस—को इस बात पर तैयार किया कि वे श्रमिको के हित के लिए उनकी दो सस्थाओ का प्रबन्ध तथा सगठन उसे (समाज सेवा सघ को) सौंप दें। १९२२ में बम्बई में अखिल भारतीय औद्योगिक कल्याण सम्मेलन हुआ। इसमें कल्याण-कार्य से सम्बन्धित अनेक प्रश्नों पर विवाद हुआ और कितने ही उद्योग-केन्द्रो की विभिन्न एजेंसियो द्वारा किये गए कल्याण-कार्य को समन्वित किया जा सका। अखिल भारतीय व्यापार श्रम-सघ काग्रेस इस दिशा में काम कर रही है। मई, १९२६ में भारत सरकार ने सभी प्रान्तीय सरकारो से काम पर न होने के समय श्रमिको की रहने की दशा सुधारने के लिए किये गए प्रयत्नों के आँकडे एकत्रित करने के लिए कहा। यह जाँच अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन के छठे सम्मेलन की सिफारिश पर की गई। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन ने विभिन्न सरकारो से इस बात की प्रार्थना की कि वे श्रमिको के खाली समय के उपयोग से सम्बन्धित अद्यतन सूचना दें।

बम्बई के कुछ उदार नियोक्ताओ द्वारा प्रदर्शित रुचि के अतिरिक्त कितने ही नियोक्ताओ ने अन्य औद्योगिक केन्द्रो, विशेषकर नागपुर, मद्रास, जमशेदपुर और कानपुर, में श्रम-कल्याण-कार्य की योजनाएँ प्रारम्भ की हैं। बकिंघम कर्नाटिक मिलो द्वारा भूतकाल में किया गया कल्याण-कार्य सभी को ज्ञात है। नागपुर की इम्प्रेस मिल ने श्रमिको के हित की देख-भाल का काम वाई० एम० सी० ए० (नवयुवक ईसाई सघ) को सौंप दिया है। जमशेदपुर के टाटा आइरन और स्टील कम्पनी के सचालको का कहना है कि कम्पनी के प्रारम्भ से ही श्रम के प्रति उनका रुख तथा श्रमिको के लिए सफाई, सुरक्षा, शिक्षा, जल-वितरण, आवास, जल-निकासी, अस्पताल तथा अन्य सार्वजनिक सेवाओ की व्यवस्था भारत में बेजोड है और भारतीय जनता के सभी मतो के व्यक्तियो ने उसे सहर्ष स्वीकार किया है। कानपुर में ब्रिटिश इण्डिया कारपोरेशन ने कल्याण-कार्य अधीक्षक की व्यवस्था की है जोकि श्रमिको के रहने के लिए बनाई गई दो बस्तियो की देख-रेख करता है। बम्बई कारपोरेशन, पोर्ट ट्रस्ट जैसी नगरपालिकाओ और रेलो जैसी जनोपयोगी सेवाओ ने भी अपने कर्मचारियो के हित के लिए काम किया है। अन्त में कितनी ही समाज-सेवा सस्थाएँ, जैसे बम्बई समाज-सेवा सघ तथा मद्रास बगाल के ऐसे ही अनेक सघ, सेवा सदन समिति (सेवा सदन सोसायटी), बम्बई प्रेसिडेंसी की महिला-परिषद्, मातृत्व और शिशु कल्याण सस्था, ईसाई नवयुवक सघ, दलित वर्ग समिति (डिप्रेस्ड क्लासेज मिशन सोसाइटी) और कितने ही समाज और सघ नियोक्ताओ को सहायता देकर और अपने प्रयत्नो द्वारा श्रमिको के हित के लाभदायक काम कर रहे हैं।

प्रान्तीय स्वशासन के अन्तर्गत कितनी ही सरकारो ने नियोक्ताओ के द्वारा किये गए कल्याण और आमोद-प्रमोद की क्रियाओ को पूरा करने के लिए स्वय कल्याण-योजनाएँ प्रारम्भ की हैं। उदाहरणार्थ, बम्बई की सरकार ने बम्बई के औद्योगिक क्षेत्रों तथा राज्य के अन्य नगरो में कल्याण-केन्द्र खोले हैं।[1]

[1] इण्डियन ईयर बुक, १९४०-१, पृ० ५५६।

कानपुर श्रम जाँच समिति ने अपनी रिपोर्ट (पैरा ३१) में कल्याण-परिषद् की स्थापना पर ज़ोर दिया, जिसमें इस काम में रुचि लेने वाली विभिन्न सस्थाओ के प्रतिनिधि हो।

४३. कल्याण-कार्य के मद—(१) शिक्षा—औद्योगिक श्रमिको की शिक्षा से सम्बन्धित दयनीय दशा की चर्चा की जा चुकी है।[1] टाटा जैसे कुछ उदार नियोक्ताओ ने श्रमिको की शिक्षा का भी प्रबन्ध किया है। उनके और उनके बच्चो के लिए दिन और रात्रि की पाठशालाएँ खोली गई हैं। बम्बई के समाज सेवा सघ और ईसाई नवयुवक सघ ने भी औद्योगिक श्रमिको की शिक्षा के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण काम किया है। इन्होने स्कूल और रात्रि पाठशालाओ के अतिरिक्त पाठ-गृहो और पुस्तकालयों की भी व्यवस्था की है। **(२) औषधि-सहायता**—भारत के बडे कारखानो में औषधि-सहायता की सुविधाएँ सामान्यत प्राप्त हैं, किन्तु लेडी डॉक्टरो द्वारा स्त्रियो की आवश्यकताओ की पूर्ति बहुत कम पाई जाती है। **(३) प्रसवकालीन लाभ**—स्त्रियो और उनके बच्चो के हित के लिए पाश्चात्य देशो में प्रसवकालीन लाभ और बच्चा होने के कुछ दिन पूर्व और पश्चात् तक काम न करने देने की प्रथा है। चूँकि भारत में स्त्रियाँ गृह-सेवक का भी काम करती हैं अत यहाँ भी यह व्यवस्था अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो जाती है। १९१९ के वाशिंगटन अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-सम्मेलन ने औरतो को काम में लगाने के सम्बन्ध में एक प्रस्ताव पास किया। इसमें प्रसवकालीन लाभ के प्रश्न पर भी विचार किया गया। यह आशा नही की जाती थी कि भारत इस प्रस्ताव को तुरन्त स्वीकार कर लेगा, फिर भी भारत सरकार को इस प्रश्न की छानबीन करने के लिए आमन्त्रित किया गया ताकि वह दूसरे सम्मेलन को अपनी रिपोर्ट दे सके। प्रस्तुत की गई जाँचो से यह सिद्ध हुआ कि बहुत थोडे से ही नियोक्ताओ ने इस प्रकार का काम प्रारम्भ किया है। प्रान्तीय सरकारो ने ऐसी ऐच्छिक योजनाओ को प्रोत्साहित करने के लिए अपनी इच्छा प्रकट की। जून, १९२४ में भारत सरकार द्वारा की गई अन्य जाँचो से भी स्पष्ट हो गया कि बगाल के तीन प्रधान और सगठित उद्योगो—जूट, चाय और कोयला—में प्रसवकालीन लाभ की निश्चित योजनाएँ चालू थी। आसाम के चाय के बगीचो, आसाम-रेलवे तथा व्यापार कम्पनी, बिहार और उडीसा की खानो और बम्बई के कारखानो में भी इस प्रकार की योजनाएँ चल रही थी। इनमें विभिन्न प्रकार की सुविधाएँ प्राप्त हैं जैसे गर्भावस्था में कुछ समय की छुट्टी, दूध तथा दूध पिलाने वाली बोतलो का निर्मूल्य वितरण। इन सबके अतिरिक्त बम्बई में प्रसूति-गृह भी है। बम्बई सरकार द्वारा नियुक्त लेडी डॉक्टर बेर्न्स ने अपनी अन्तिम रिपोर्ट में टाटा मिल-समूह द्वारा दी गई प्रसवकालीन सुविधाओ का रोचक विवरण दिया है। कम-से-कम ११ महीने काम कर चुकने वाली स्त्री को बच्चा पैदा होने के एक महीने पहले और एक महीने बाद की तनख्वाह भत्ते के रूप में दी जाती है, यदि वह किसी लेडी डॉक्टर द्वारा गर्भावस्था के आठ महीने पूरे होने का प्रमाण-पत्र पेश करे और यह आश्वासन दे कि वह मजदूरी पर अन्यत्र काम न करेगी।

---

१ देखिए, अध्याय १, सेक्शन ९।

१६२४ में श्री एन० एम० जोशी ने बच्चा होने के पहले और बाद में नौकरी के नियमन के लिए विधेयक धारा सभा में बिल पेश किया। यह बिल उन औरतो के ऊपर लागू होता था जो खानो या कारखानो में काम करती थी न कि आसाम श्रम और प्रवासी अधिनियम १६०१ के अन्तर्गत आती थी। इसके अन्तर्गत बच्चा होने के ६ सप्ताह पहले और बाद तक छुट्टी तथा नियोक्ताओ द्वारा एकत्रित प्रसव-कालीन लाभकोष (मेटर्निटी बेनिफिट फण्ड) से भत्ता मिलने की व्यवस्था भी थी। यह बिल इस आधार पर अस्वीकृत कर दिया गया कि भारतीय जनमत से यह बहुत आगे था। परन्तु इसी प्रकार का बिल १६२६ में बम्बई में बॉम्बे मेटर्निटी एक्ट के नाम से पास हो गया जो पहले प्रान्त के कुछ चुने हुए नगरो पर लागू होता परन्तु सरकार द्वारा अन्य नगरो में भी लागू किया जा सकता था। १६३४ में सशोधित अधिनियम द्वारा बच्चा पैदा होने के चार सप्ताह तक काम करना अवैध घोषित किया गया। आठ आने प्रतिदिन के हिसाब से प्रसवकालीन लाभ बच्चा पैदा होने के चार सप्ताह पहले और बाद तक मिलेगा, बशर्ते कि वह नियोक्ता को इस बात की सूचना देने की तिथि के ६ महीने पहले से काम कर रही हो और सूचना देने के एक महीने बाद ही बच्चा पैदा होने को हो। यदि इस छुट्टी की अवधि में वह कही और काम करेगी तो उसे यह लाभ नही मिलेगा। १६३८ में यह अधिनियम सभी औद्योगिक क्षेत्रों में काम करने वाली स्त्रियो पर लागू कर दिया गया। १६३० में एक सीमित प्रकार का प्रसवकालीन लाभ अधिनियम मध्य प्रदेश में भी पास किया गया। १६३५ में मद्रास में भी बम्बई जैसा एक अधिनियम पास किया गया। आसाम का अधिनियम ही कारखानो और चाय के बगीचो दोनो में लागू होता हैं। शेष सभी अधिनियम केवल कारखानो पर ही लागू होते हैं। सभी प्रसवकालीन लाभ विधानो के आधारभूत सिद्धान्त एक ही हैं, अर्थात् बच्चा पैदा होने के कुछ समय पूर्व और पश्चात् स्त्रियो को नकद आर्थिक सहायता दी जाय, प्रसव के बाद उन्हें अनिवार्य रूप से कुछ समय तक विश्राम करने दिया जाय और यदि वे बच्चा पैदा होने की सूचना देती है तो पहले भी करने दिया जाय। सभी अधिनियमो में लाभ मिलने के लिए एक निश्चित अवधि की नौकरी या काम आवश्यक है। यह अवधि ६ माह से १ साल तक है। औरतो को अन्य नियोक्ताओ के यहाँ उतने समय के लिए काम करने की मनाही होती है, जितने समय तक उन्हे अपने नियोक्ता से नकद रुपया मिलता है।[1]

(४) आमोद-प्रमोद—आमोद-प्रमोद का महत्त्व स्वय इतना स्पष्ट है कि उस पर विशेष बल देने की आवश्यकता नही है। श्रमिको के नीरस जीवन में थोडी भी हरियाली लाने वाली कोई भी चीज स्वागत योग्य है। श्रमिक को ऐसे काम में लगाना आवश्यक है ताकि उसका फालतू समय शराबखोरी और नशे में व्यतीत न हो तथा औद्योगिक केन्द्रो में औद्योगिक काम के प्रति उसका आकर्षण बढ जाय और वह बिना हिचक के वहाँ बस जाय। इस सम्बन्ध में बम्बई समाज सेवा सघ और टाटा

[1] देखिए, इण्डिया एण्ड पाकिस्तान ईयर बुक, १६४६, पृ० १६६।

तथा बकिंघम कर्नाटक मिल्स जैसे उदार नियोक्ताओ के कार्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है। बम्बई समाज सेवा सघ ने परेल में एक श्रमिक सस्था (वर्किंग मेन्स इस्टिट्यूट) स्थापित की है। बम्बई सरकार के कल्याण केन्द्र की स्थापना के प्रयत्न भी स्तुत्य है। इन क्रियाओ के फलस्वरूप सिनेमा, मेजिक लेण्टर्न की सहायता से भाषण, सगीत-सम्मेलन, नाटक, अखाडे, दगल आदि के आयोजन का नाम लिया जा सकता है। (५) आवास—इस समस्या का विवेचन इस अध्याय में पहले ही हो चुका है।[1] (६) सहकारी समितियाँ—सहकारी आन्दोलन के विवरण में इसका पूरा वर्णन हो चुका है।[2] (७) अन्न-वस्त्र की दूकानें—कुछ मिलो में श्रमिको को सस्ती दर पर अन्न-वस्त्र बेचने के लिए दूकानें भी खोली गई है, जिससे वे धोखेबाज बनियो के चगुल से बच सकें। परन्तु कालान्तर में इन दूकानो में मजदूरी के बदले सामान देने की प्रथा प्रचलित हो जाने से श्रमिको को उधार सुविधा के कारण बनिया से सामान खरीदना अधिक आकर्षक प्रतीत होता है। इस समस्या का सन्तोषजनक निदान सहकारी स्टोर खोलने से ही हो सकता है। (८) चाय की दूकानें और केण्टीन—चाय और स्वास्थ्यजनक खाद्य की आवश्यकता प्रतीत होने पर भी हमारी मिलो में इनका प्रबन्ध नही के बराबर है। गत युद्ध में इगलैण्ड में जिस प्रकार की केण्टीनो ने काफी प्रगति की उस प्रकार के बहुत थोडी केण्टीनें अपने देश में है। इसमें जाति सम्बन्धी भेद-भाव और स्त्रियो की रूढिवादिता के कारण काफी कठिनाई हुई है।

उपर बताये गए फैक्ट्री एक्ट के आधुनिकतम सशोधन में कल्याण-कार्य के लिए अनेक धाराएँ हैं जिनमें विश्राम के लिए सुन्दर विश्राम-गृहो का निर्माण, ५० से अधिक स्त्रियो को नौकर रखने वाली फैक्ट्रियो में उनके बच्चो के लिए कमरो की व्यवस्था तथा प्राथमिक सहायता के उपस्कर की व्यवस्था आदि का नाम गिनाया जा सकता है। भारत में केवल कल्याण-कार्य के प्रसार की ही आवश्यकता नही है वरन् इसका नियन्त्रण जहाँ तक हो श्रमिको के हाथ में ही होना चाहिए। इस समय कल्याण-कार्य अधिकतर नियोक्ताओ के ही हाथ मे है, जिससे श्रम सघ के कार्यो में हस्तक्षेप होता है। कल्याण-समितियो के प्रबन्ध के लिए श्रमिको में से नेतृत्व की क्षमता रखने वाले कर्मचारियो का चुनाव बहुत सन्तोषजनक सुझाव नही है, क्योकि इससे वे साधारण काम करने वालो से अलग जा पडते है।[3]

---

१ देखिए, सेक्शन १३-१५।

२. देखिए, खण्ड १, अध्याय १०, सेक्शन ११।

३. देखिए, रिपोर्ट ऑन लेबर कडीशन्स इन इण्डिया (ब्रिटिश ट्रेड यूनियन कांग्रेस डेलीगेशन, १९२८) पृ० १२।

अध्याय ४

राष्ट्रीय आय

१. राष्ट्रीय आय के अनुमान : दादाभाई नौरोजी का अनुमान—दादाभाई नौरोजी ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'पॉवर्टी एण्ड दि ब्रिटिश रूल इन इण्डिया' में पहली बार भारत की राष्ट्रीय आय आँकने का गम्भीर प्रयास किया। यह अनुमान १८६७-७० के सरकारी आँकडो पर आधारित है। डा० नौरोजी ने जिन सिद्धान्तो का अनुसरण किया, उनकी व्याख्या वह निम्न शब्दो में करते है—"मैंने प्रान्त की एक या दो मुख्य उत्पत्तियो को उस प्रान्त की कुल उत्पत्ति का प्रतिनिधि मान लिया है। मैंने प्रत्येक जिले की जोती जाने वाली सम्पूर्ण भूमि, प्रति एकड उत्पादन एव उसके मूल्य को लिया है, अब साधारण गुणा और जोड से कुल उत्पादन की मात्रा और मूल्य मालूम हो जाता है। इससे प्रति एकड औसत उत्पादन और सम्पूर्ण उत्पादन का मूल्य भी सही-सही मालूम हो जाता है।" इस आधार पर काम करते हुए वह इस परिणाम पर पहुँचे कि कृषि-उत्पादन का कुल मूल्य २,७७,०००,००० पौंड है। इसमें से ६% वह बीज के लिए घटा देते है। इसके बाद २६०,०००,००० पौंड बचा। नमक,अफीम, कोयला और व्यापार से होने वाले लाभ का मूल्य प्राय १७,०००,००० पौंड, निर्मित वस्तुओ का मूल्य १५,०००,००० पौंड लगभग इतना ही मछली, दूध, गोश्त इत्यादि का मूल्य तथा ३०,०००,००० पौंड अन्य बातो के लिए रख लेने पर इन सबका योग ३४०,०००,००० पौंड होता है। जनसख्या को १७०,०००,००० मानने पर ब्रिटिश भारत की प्रति व्यक्ति वार्षिक आय ४० शिलिंग या २० रुपये हुई। जेल में दी जाने वाली खुराक और प्रवासी कुलियो को दिये जाने वाले राशन के आधार पर वह इस नतीजे पर पहुँचे कि यह केवल जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक आय—३४ रु०—से भी कम है। "बहुत अच्छी फसलो में भी भारत का उत्पादन इतना कम है कि जैसा खाना और कपडा जेल में अपराधियों को मिलता है उतने के लिए भी काफी नही है। सामाजिक-धार्मिक आवश्यकताओ, दु ख-सुख के अवसरो के लिए आवश्यक धन, दुर्दिन के लिए व्यवस्था तथा जीवन के लिए अनिवार्य कुछ सुविधाओ की तो बात ही अलग है। भारत की साधारण जनता का यह हाल है। उनके पास जीवन-निर्वाह-मात्र की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए भी पर्याप्त साधन नही है।" "चूँकि राष्ट्रीय आय दैनिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए भी पर्याप्त नही थी, अतएव देश की उत्पादक पूँजी धीरे-धीरे प्रति वर्ष व्यय होती गई और देश की बढती गरीबी के साथ उत्पादन-शक्ति का ह्रास होता गया।"

डॉ० वी० के० आर० वी० राव का मत है कि दूध, मछलियाँ तथा मास के सम्बन्ध में दादाभाई नौरोजी का अनुमान कम है। दूध, मास और मछलियो का

उत्पादन कृषि का चतुर्थांश है। इस प्रकार इन साधनो से प्राप्त आय ६५० लाख पौंड होगी न कि १५० लाख पौंड। उद्योगो पर अवलम्बित जनसख्या कृषि-जनसख्या के ६% से अधिक है तथा कृषि-जनसख्या की तुलना में औद्योगिक श्रमिको की आय भी अपेक्षाकृत अधिक है। अतएव निर्माणो से प्राप्त आय १५० लाख पौंड के बजाय ६०० लाख पौंड होनी चाहिए। इसी प्रकार प्रशासन, परिवहन, पेशो और गृह-सेवको के लिए भी कुछ जोडना होगा। इन सशोधनो के बाद राष्ट्रीय आय २० रु० प्रति व्यक्ति से बढकर २३ या २४ रु० प्रति व्यक्ति हो जायगी।[1]

२. राष्ट्रीय आय १८७५ से १९११ तक—दादाभाई नौरोजी के बाद, १८८२ में दूसरी जाँच अर्ल क्रोमर (उस समय, मेजर ईवलिन बेरिंग) तथा सर (उस समय मिस्टर) डेविड वारवर ने की और उनके परिणाम इस प्रकार थे—

कृषि-आय	रु० ३५०,००,००,०००
गैर-कृषि-आय	रु० १७५,००,००,०००
योग	रु० ५२५,००,००,०००

१९४,५३९,००० व्यक्तियो में बाँट देने पर, जो तत्कालीन जनसख्या थी, प्रति व्यक्ति औसत आय २७ रुपये हुई।

अब हम श्री डिग्वी के अनुमान को देखेंगे जिसका आधार यह था कि सरकारी मालगुजारी और उत्पादन के बीच एक निश्चित सम्बन्ध है। श्री डिग्वी ने मालगुजारी और उत्पादन के भिन्न प्रतिशतो का प्रयोग किया जिन्हे श्री आर० सी० दत्त ने निकाला था तथा जिनका प्रयोग उन्होने लार्ड कर्जन को भेजी गई खुली चिट्ठी में किया था। प्रतिशत इस प्रकार थे—

बगाल	५ से ६ प्रतिशत	
सीमाप्रान्त	८ ,,	
पजाब	१० ,,	
मद्रास	१२ से ३१ ,,	मान लीजिए २० प्रतिशत
बम्बई	२० से ३३ ,,	,, २५ ,,

डिग्वी की गणनाओ से निम्न परिणाम निकला—

कृषि-आय (१८९८-९ के लिए)	रु० २८५,००,००,०००	पौंड १८९,०००,०००
गैर-कृषि-आय (कृषि-आय का आधा)	रु० १४३,००,००,०००	पौंड ९५,०००,०००
योग	रु० ४२८,००,००,०००	पौंड २८४,०००,०००

उस समय की सरकारी गणना के अनुसार सम्भावित जनसख्या २४,५०,००,००० से विभाजित करने पर औसत आय रु० १७-८-५ हुई। १९०१ की जनगणना के अनुसार जनसख्या २३,१०,००,००० थी। इस आधार पर एक अच्छे वर्ष में प्रति व्यक्ति आय १८ रु० ८ आना ११ पाई होती। दुर्भिक्ष वर्ष १८९९-१९०० के लिए डिग्वी द्वारा अनुमानित आय १२ रु० ६ आना थी।

दुर्भिक्ष आयोग के लिए आकलित आँकडों के आधार पर कृषि-आय को

१. देखिए, वी० के० आर० वी० राव, 'इण्डियन नेशनल इन्कम', १९२५-२९ पृ० १७-२२।

४५०,००,००,००० रु० मानकर लार्ड कर्जन ने उपर्युक्त कथनो के उत्तर में अपना अनुमान प्रस्तुत किया। १८८० की गणना के अनुसार कृषि-आय १८ रु० प्रति व्यक्ति थी। उसी क्षेत्र की अद्यतन जनगणना की सख्याओ को लेकर यह अनुमान लगाया गया कि कृषि-आय १८ रु० से बढकर २० रु० हो गई। यह मानने पर कि गैर-कृषि-आय भी उसी अनुपात में बढी होगी १९०० में भारत की प्रति व्यक्ति औसत आय १८८० के २७ रु० के बजाय ३० रु० हुई। लार्ड कर्जन ने स्वीकार किया कि आँकडे निर्विवाद नही थे। लेकिन उन्होने यह भी कहा कि १८८० की सख्याएँ भी अनुमानित ही थी और यदि एक तर्क के समर्थन के लिए एक सख्या प्रयुक्त की जा सकती है तो उसी प्रकार दूसरी सख्या का भी प्रयोग किया जा सकता है। उन्होंने यह भी स्वीकार किया कि गणना के आधार पर निर्दिष्ट आर्थिक दशा की प्रगति न तो महत्त्वपूर्ण ही थी और न सतोपजनक ही। लेकिन इससे यह बात तो स्पष्ट हो ही जाती है कि हम आगे बढ रहे हैं, पीछे नही लौट रहे हैं।

डिग्बी ने यह साबित करने के लिए कि लार्ड कर्जन का अनुमान आवश्यकता से अधिक आशावादी था, प्रश्न की पुन परीक्षा की। जहाँ तक कृषि-आय का प्रश्न था उन्होने मालगुजारी से निर्धारित करने वाला पुराना तरीका ही अपनाया। लेकिन गैर-कृषि-आय को कृषि-आय का आधा मान लेने के बजाय उन्होने और अधिक वस्तुओ की गणना की और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि देश की सम्पूर्ण आय २५९,०००,००० पौड है। इसे २२६,०००,००० की जनसख्या से विभाजित करने पर प्रति व्यक्ति औसत आय १७ रु० ४ आने ही हुई।

१९०२ में एफ० जे० अटकिसन ने एक लेख 'ए स्टेटिस्टिकल रिव्यू ऑफ दि इनकम एण्ड वेल्थ ऑफ ब्रिटिश इण्डिया' लिखा जो लन्दन में रॉयल स्टेटिस्टिकल सोसाइटी के सामने पढा गया। उन्होने सम्पूर्ण जनसख्या को तीन वर्गो में विभाजित किया—(१) कृषि जनसख्या, (२) गैर-कृषीय जनसख्या (गरीब), (३) गैर-कृषीय जनसख्या (धनी)। पहले वर्ग की आय क्षेत्रफल, उत्पादन और कीमतो के आँकडो पर निर्धारित की गई। दूसरे वर्ग की आय प्रत्येक वर्ग के श्रमिको की सख्या को उनकी पारिश्रमिक दर से गुणा करके प्राप्त की गई। तृतीय वर्ग में सरकारी नौकरो के लिए सरकारी अनुमान (सिविल एस्टिमेट्स) और पेशेवर लोगो के लिए आयकर को प्रयोग में लाया गया। इस आधार पर अटकिसन ने अनुमान लगाया कि १८७५ में प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय ३० ५ रु० तथा १८९५ में ३९ ५ रु० थी। इसमें से बीज, घिसाव आदि के लिए कुछ नही घटाया गया। लाभप्रद रूप से काम में लगे व्यक्तियो तथा उनके काम के समय को भी बढा-चढाकर प्रदर्शित किया गया। इसके अतिरिक्त साधुओ और भिक्षुओ की कमाई को भी जोडा गया जोकि आश्चर्यजनक है। इस प्रकार अन्तिम परिणाम में अतिरजन का दोप आ गया और डॉ० राव ने इसमें सुधार करना आवश्यक समझा तथा अनुमान को ३९ रु० ८ आने से घटाकर ३१ रु० ८ आ० कर दिया।[1]

[1] पूर्व उद्धृत, पृ० ८८-३६।

३. वाडिया और जोशी का अनुमान—१९१३-१४ की राष्ट्रीय आय का अनुमान श्री पी० ए० वाडिया और श्री जी० एन० जोशी ने लगाया है।[1] हम उनकी जाँच का परिणाम संक्षेप में नीचे दे रहे हैं। कृषि-उत्पादन का मूल्य १०,७२,९९,९३,२८२ रु० रखा गया। इसमें से बीज और खाद के लिए २०% घटाया गया। अतएव वास्तविक कृषि-आय ८,५८,३९,९४,६२६ रु० हुई। खनिज पदार्थों का मूल्य १४,४०,९५,००० रु० अनुमान किया गया। इसमें से २०% घिसाव और मजदूरी से सम्बन्धित खनन का व्यय घटाया गया। (गणना में आगे खनिज-उत्पादन निर्माण (मेनूफेक्चर्स) में जोड़ लिया गया है।) इस तरह वास्तविक मूल्याकन ११,५२,७६,००० रु० हुआ। इसके बाद विभिन्न वस्तुओ, उदाहरण के लिए चमडा, खाद, ऊन, सिल्क, मुर्गियाँ इत्यादि, का मूल्याकन इस आधार पर किया गया कि इन वस्तुओ का निर्यात कुल उत्पादन का ८०% है। इसमें मछलियो का उत्पादन जोड दिया गया जोकि इनमें काम करने वाले ८६५,००० व्यक्तियो के २७५ दिन के काम पर ४ आना प्रति व्यक्ति के हिसाब से निर्धारित किया गया। अन्त में इसमें दस्तकार (आर्टिजस) एव वाणिज्य और व्यवसाय में लगे लोगो की आमदनी भी जोडी गई। यह १,८०,००,००० व्यक्तियों के ३१० दिन के काम पर ४ आना प्रतिदिन प्रति व्यक्ति के हिसाब से १,५४,२९,५८,७५० रु० हुई। दूसरा मद, जिसकी विवेचना इस सम्बन्ध में की गई है, वह पशुओ की है। इसके लिए प्रयुक्त आँकडे १९१७-१८ के हैं। यह मान लिया गया कि १९१३-१४ और १९१७-१८ में पशुओ की सख्या में कोई वडा अन्तर नही पडा होगा। कुल पशुओ का मूल्य ३,९९,०५,११,५१८ रु० लगाया गया। इस वात को ध्यान में रखते हुए कि कृषि में काम करने वाले पशुओ की सेवाओ का मूल्य कृषि-उत्पादन मे सम्मिलित किया जा चुका है, उसे घटा दिया गया ताकि दुहरी गणना न हो जाय। जहाँ तक निर्मित वस्तुओ (मेनूफेक्चर्स) के मूल्य-निर्धारण का प्रश्न है इसे कच्चे माल का $\frac{1}{5}$ अर्थात् २०% माना गया। इसका मूल्य (२०४,७६,६५,०००—५)= ४०,९५,३३,००० रु० हुआ। लेखकगण ऊपर बताई गई पद्धतियो से इस कुल आय में से कई चीजें घटाकर निम्न आलेख प्रस्तुत करते हैं जोकि १९१३-१४ की कुल राष्ट्रीय आय में से घटाई गई राशि प्रदर्शित करता है—

(१)	गृह-व्यय	२००,००,००० पौण्ड
(२)	सरकार की ओर से विदेशी पूँजी का विनियोग	८०,००,००० पौण्ड
(३)	भारत में लगी विदेशी पूँजी पर लाभ	३९०,००,००० पौण्ड
(४)	भारत में नई विदेशी पूँजी का विनियोग	५०,००,०००[2] पौण्ड
(५)	सरकारी अफसरो, यूरोपीय नौकरो आदि द्वारा भारत से वाहर भेजा जाने वाला द्रव्य ...	१००,००,००० पौण्ड
		८२०,००,००० पौण्ड
		=१२३,००,००,००० रु०

१. 'द वैल्थ आफ इण्डिया', पृ० ९७-११२।

२. शाउली-राबर्टसन की रिपोर्ट के लेखकों का कहना है कि इस मद का मूल्य दो वार घटाया गया है।

निम्न तालिका वाडिया और जोशी के परिमाणो को सक्षिप्त रूप से प्रकट करती है—

कुल सालाना आय या भारत (ब्रिटिश) की राष्ट्रीय आय १९१३-१४

	कुल मूल्य रुपयों में
(१) कृषि-उत्पादन	८५८,३९,९४,६२६
(२) खनिज पदार्थ	११,५२,७६,०००
(३) विविध उत्पादन	१५४,२९,५८,७५०
(४) पशुजन्य उत्पत्ति	१४५,१०,३४,६३४
(५) निर्मित वस्तुएँ	४०,९५,३३,०००
कुल वास्तविक मूल्याकन	१२,१०,२७,९७,०१०
गृह-खर्च (घटाना)	१२३,००,००,०००
वास्तविक वार्षिक आय	१०,८७,२७,९७,०१०

इस आय को ब्रिटिश भारत की जनसख्या में विभाजित करने पर प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय ४४ रु० ५ आ० ६ पा० आती है। १९११ की जनगणना के अनुसार ब्रिटिश भारत की जनसख्या २४,४१,८९,७१६ थी। इसमें तीन वर्ष की सम्भावित वृद्धि के लिए १०,००,००० जोड दिया गया है।

४. शाह और खबाटा का अनुमान—के० टी० शाह और के० जे० खबाटा के अनुमान का साराश इस प्रकार है[1]—

मदें	युद्ध-पूर्व काल १९००-१४	युद्ध-युद्धोत्तर काल १९१४-२२	कुल अवधि १९००-२२	वर्ष १९२१-२२
	करोड़ रुपयों में			
कृषि-उत्पादन	१०१४·८	१६८६ ५	१२५७ १	२१५५ ८
बीजों के लिए घटाया गया	२०	३५	२५	५८
वास्तविक कृषि-उत्पादन	९९४ ८	१६५१ ५	१२३२ १	२०९७ ८
वन-धन	१०	२०	१४	२८
मछलियाँ	१ २	२ ५	१ ६	३ २
निर्मित वस्तुएँ	८०	२५०	१०६	१८६
खनिज पदार्थ	१०	२१ ६	१४	२८
मकान इत्यादि	१०	१६·४	१२	२० ३
योग	११०६	१८६२	१३८०	२३६४

१ के० टी० शाह और के० जे० खबाटा, 'दि वेल्थ एण्ड टेक्सेबल केपेसिटी आफ इण्डिया', पृ० १९९-२००।

इस प्रकार प्रति व्यक्ति कुल आय
- १६००-१४—३६ रु०
- १६१४-२२—५८½ रु०
- १६००-२२—४४½ रु०
- १६२१-२२—७४ रु०

मूल्य-परिवर्तनो की व्यवस्था करते हुए युद्ध-पूर्व औसत मूल्य-स्तर पर प्रति व्यक्ति ट्रीय आय ३६ रु० हुई और युद्ध तथा युद्धोत्तर काल में ३८ रु० २ आ० हुई। आय में से लेखको ने गृह-व्यय इत्यादि अनेक बातो के लिए घटाया भी है और स निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि इसके फलस्वरूप प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय में से ७ रु० जायगा और १६२१-२२ की आय ६७ रु० ही रह जायगी। डॉ० राव कथन है कि (१) सेवाओ के न शामिल करने तथा (२) पशुओ, दस्तकारी तथा मेत वस्तुओ के सम्बन्ध में निम्नानुमान होने के कारण इसमें ७ रु० और जोडने गे।

फिण्डले शिराज़ का अनुमान—१६२०-२१ और १६२१-२२ के लिए फिण्डले शिराज़ अनुमान में कृषि-उत्पादन क्रमश: १,७१,४६४ लाख रु० तथा १,६८,३४१ लाख रु० ा गैर-कृषि-उत्पादन ८८३ करोड़ रु० रखा गया। इस आधार पर १६२१ और २२ के लिए प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय क्रमश १०७ रु० तथा ११६ रु० हुई। राज ने बताया कि १८८१ से १६११ तक की अवधि में किये गए सब अनुमानो में मान लिया गया था कि कृषीय और गैर-कृषीय आय दोनो वर्गों में उनकी संख्या अनुपात से विभाजित है। यह गणना तब तक ठीक थी जब तक देश का औद्योगिक कास अपनी शैशवावस्था में था। लेकिन इधर हाल में कुछ शीघ्रता से परिवर्तन हैं, अतएव कुल गैर-कृषीय उत्पादन पर पहुँचने के लिए कुछ और जोडना आवश्यक गया है। इसके लिए ७५ करोड रु० जोडना उपयुक्त होगा और इसे जोडने पर न ८८३ करोड रुपये हुए। शिराज के अनुमान के विरुद्ध एक स्पष्ट आलोचना यह कि कृषि-उत्पादन-गणना में उन्होने बीज इत्यादि को घटाने की आवश्यकता नही ाझी। यह भी ध्यान देने की बात है कि शाह और खबाटा के अनुमान में गैर-कृषीय ाय १०% ही है और वाडिया और जोशी के अनुमान में ३०% है, परन्तु इसके विपत शिराज़ के अनुमान में वह ४०% है। यह अन्तर इस कारण है कि सेवा-उपयोताओं की गणना भिन्न प्रकार से की गई है। जबकि शाह और खबाटा उसे पनी गणना में सम्मिलित नही करते, शिराज उसे अपनी गणना में शामिल करता है।

वी० के० आर० वी० राव का अनुमान—डॉ० राव ने १६३१-३२ के लिए ष्ट्रीय आय का अनुमान लगाया है। उनके अनुसार वास्तविक आय (ब्रिटिश भारत ो) १,६०,००० लाख और १,८०,००० लाख रु० के बीच है और प्रति व्यक्ति आय ५ रु०। इसमें मूल-सशोधन के लिए ६% जोडा या घटाया जा सकता है। नीचे ो सारणी में विस्तृत वर्णन दिया गया है—

	मूल्य दस लाख रुपयों में	भूल की सीमा, प्रतिशत
कृषि उत्पादन का मूल्य	५,९२७	—
पशु ,, ,,	२,६८३	±१०
मछली और शिकार ,,	१२०	±२०
जगल के उत्पादन ,,	९२	—
खनिज ,, ,,	१८०	—
आयकर पर लगी हुई आय	२,१९१	—
,, से मुक्त आय (उद्योगों में लगे श्रमिकों की)	२,१००	±१७
,, ,, ,, ,, रेलवे, पोस्ट, टेलीग्राफ	५९०	—
व्यापार में लगे लोगों की आयकर से मुक्त आय	१,२३३	±१५
शिक्षा इत्यादि में ,, ,, ,, ,, ,, ,,	४१६	±१५
रेलवे, पोस्ट, टेलीग्राफ को छोड़कर परिवहन में लगे लोगों की आयकर मुक्त आय	२८३	±२०
गृह-सेवाओं में लगे श्रमिकों का आयकर	३२५	±२०
विविध मदों से मुक्त आय	७८०	±१०
योग	१६,८९०	± ६

डॉ० राव अपने अनुमान को इस आधार पर अधिक सही बताते हैं कि उन्होंने प्राप्य आँकडो को मास, दूध की उत्पत्ति, उद्योग में लगे हुए लोगों की आय, स्थानीय अधिकारियो की सेवाओं इत्यादि के सम्बन्ध में की गई तदर्थ (एड हॉक) जांचो द्वारा पूर्ण किया है।[1]

७ ईस्टर्न इकनामिस्ट का अनुमान—ईस्टर्न इकनामिस्ट ने अपने वार्षिक अक (३१ दिसम्बर, १९४८) में १९३९-४० से १९४७-४८ के लिए राष्ट्रीय आय के सम्बन्ध में निम्न सख्याएँ दी—

ब्रिटिश भारत की आय (१९३९-४० से १९४७-४८ तक)

(दस लाख रुपयो में)

	१९३९-४०	४०-४१	४१-४२	४२-४३	४३-४४	४४-४५	४५-४६	४६-४७	१९४७-४८
कृषि तथा अन्य सबधित पेशों से आय	९५२७	१०३९५	११०४८	१७४०२	२१२८१	२२९३८	२२२८५	२५६९२	२१२९३
उद्योगों से आय	३७९०	४०६२	६०२०	९५६०	१२४००	१११२०	१०३३८	९३८२	९८००
अन्य मदों से	६०२६	६१२६	६२९२	६७७२	८६५१	८६५१	९७९९	९७९८	८३२८
कुल आय	१९३४३	२०५८३	२३३६०	३३७३४	४२३३२	४२७०९	४२३८२	४४८७२	३९४२१

[1] देश भारत की राष्ट्रीय आय (१९३१-३२), पृ० ४ और १८५-६।

जीवन-निर्वाह-व्यय देशनाक की सहायता से व्यवस्थित (द्रव्य आय से भिन्न) वास्तविक आय के परिवर्तन निम्न तालिका में प्रदर्शित किये गए हैं—

भारत और पाकिस्तान की प्रति व्यक्ति आय

	१९३९-४०	४०-४१	४१-४२	४२-४३	४३-४४	४४-४५	४५-४६	४६-४७	४७-४८ केवल भारत
कुल आय (दस लाख रुपयों में)	१९३४३	२०५८३	२३३६०	३३७३४	४२३३२	४२७०९	४२३८०	४४८७२	३९४२१
जनसख्या (दस लाख में)	२९०	२९४	२९८	३०२	३०५	३०६ ५	३१०	३१४	३४६
प्रति व्यक्ति आय (रुपयों में)	६७	७०	७८	११२	१३९	१३९	१३७	१४३	१६०
बम्बई जीवन-निर्वाह सूची आधार वर्ष (१९३९-४० = १००)	१००	१०५	११७	१६०	२१७	२१६	२१९	२४२	२५८
बम्बई निर्वाह व्यय देशनाक से व्यवस्थित आय	६७	६७	६६	७०	६४	६४	६३	५९	६२

उपर्युक्त संख्याओ से स्पष्ट है कि वास्तविक आय, जो १९३९-४० मे ६७ रु० प्रति व्यक्ति थी, १९४७-४८ में घटकर ६२ रु० हो गई। इसके अतिरिक्त इस आय का कुछ भाग उपभोग पर नही व्यय किया गया वरन् पौण्ड पावना के निर्माण में खर्च हुआ। यह बात निम्न तालिका से स्पष्ट हो जायगी जोकि उपभोग (खाना और कपड़े) की कमी प्रदर्शित करती है।

खाना और कपडा प्रति व्यक्ति उपभोग

	१९३९-४०	१९४०-१	१९४१-२	१९४२-३	१९४३-४	१९४४-५	१९४५-६	१९४६-७	१९४७-८
प्रति व्यक्ति भोजन का उपभोग	३८८	३६६	३४८	३७८	३७९	३७०	३४०	३५८	३५७
प्रति व्यक्ति कपड़े का उपभोग (गजों में)	१६	१६	१४	१०	१४	१४	१२	१२	११

८. व्याख्या तथा तुलना की कठिनाइयाँ—इन परिणामो की तुलना करते समय पाठक को बहुत सी बातों का ध्यान रखना होगा। पहली बात तो यह है कि वे

	मूल्य दस लाख रुपयों में	भूल की सीमा, प्रतिशत
कृषि उत्पादन का मूल्य	५,६२७	—
पशु ,, ,,	२,६८३	±१०
मछली और शिकार ,,	१२०	±२०
जगल के उत्पादन ,,	६२	—
खनिज ,, ,,	१८०	—
आयकर पर लगी हुई आय	२,१६१	—
,, से मुक्त आय (उद्योगों में लगे श्रमिकों की)	२,१००	±१७
,, ,, ,, ,, रेलवे, पोस्ट, टेलीग्राफ	५६०	—
व्यापार में लगे लोगों की आयकर से मुक्त आय	१,२३३	±१५
शिक्षा इत्यादि में ,, ,, ,, ,, ,, ,,	४१६	±१५
रेलवे,पोस्ट, टेलीग्राफ को छोड़कर परिवहन में लगे लोगों की आयकर मुक्त आय	२८३	±२०
गृह-सेवाओं में लगे श्रमिकों का आयकर	३२५	±२०
विविध मदों से मुक्त आय	७८०	±१०
योग	१६,८६०	± ६

डॉ० राव अपने अनुमान को इस आधार पर अधिक सही बताते हैं f उन्होने प्राप्य आँकडो को मास, दूध की उत्पत्ति, उद्योग में लगे हुए लोगो की आर स्थानीय अधिकारियो की सेवाओ इत्यादि के सम्बन्ध में की गई तदर्थ (एड हॉक जाँचो द्वारा पूर्ण किया है।[1]

७. ईस्टर्न इकनामिस्ट का अनुमान—ईस्टर्न इकनामिस्ट ने अपने वार्षिक अ (३१ दिसम्बर, १६४८) में १६३६-४० से १६४७-४८ के लिए राष्ट्रीय आय के सम्बन् में निम्न सख्याएँ दी—

ब्रिटिश भारत की आय (१६३६-४० से १६४७-४८ तक)
(दस लाख रुपयो में)

	१६३६-४०	४०-४१	४१-४२	४२-४३	४३-४४	४४-४५	४५-४६	४६-४७	१६४७-
कृषि तथा अन्य सबधित पेशों से आय	६५२७	१०३६५	११०४८	१७४०२	२१२८१	२२६३८	२२२४५	२५६६२	२१२६
उद्योगों से आय	३७६०	४०६२	६०२०	६५६०	१२४००	१११२०	१०३३८	६३८२	६८०
अन्य मदों से	६०२६	६१२६	६२६२	६७७२	८६५१	८६५१	६७६६	६७६८	८३२
कुल आय	१६३४३	२०५८३	२३३६०	३३७३४	४२३३२	४२७०६	४२३८२	४४८७२	३६४२१

[1] ब्रिटिश भारत की राष्ट्रीय आय (१६३१-३२), पृ० ४ और १८५-६।

कभी-कभी तो दरिद्रता की तसवीर इसलिए बढा-चढाकर खीच दी जाती है कि वे समझते हैं कि प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय एक औसत कुटुम्ब की आय का प्रतिनिधित्व करती है। यदि हम जनता को जरूरत से ज्यादा खुशहाल समझते हैं तो हम दूसरी दिशा में गलती करते हैं, क्योकि ऐसा करने में हम यह भूल जाते हैं कि आय का वितरण असमान है। कुछ लोगो की आय औसत से बहुत ज्यादा और बहुतो की औसत से बहुत कम है। विद्वत्तापूर्ण पेशो और जमीदारियो में अपेक्षाकृत अधिक आय है। छोटे-मोटे व्यापारियो की आय मध्यम श्रेणी की है। नगरो में आधी आय आबादी के दशमांश लोगो के हाथ में है। पढे-लिखे, पेशे वाले तथा बडे-बडे जमीदारो की आमदनी काफी ज्यादा है। ऐसे लोगो का ३८%, जिनकी आय २००० रु० से ज्यादा है, कुल आय के १७% का अधिकारी है, जबकि १% व्यक्तियों के पास कुल आय का १०% है। कृषि-वर्गो में भी वितरण की असमानता अत्यन्त स्पष्ट है। इसका प्रमाण अन्य बातो को छोड देने पर भी कृषि जोतो के वितरण से स्पष्ट रूप से मिल जाता है। उदाहरण के लिए, बम्बई में २२ लाख रजिस्ट्रीशुदा भूमि के मालिको में से १० लाख के पास ५ एकड से कम भूमि है, अर्थात् ४८% जोतने वाले के पास ९% भूमि है जबकि १ प्रतिशत लोगो के पास १९% जमीन है। इसके अतिरिक्त बिना जमीन वाले श्रमिको का भी एक वर्ग है जिनकी आर्थिक स्थिति स्पष्ट ही इन दोनो से नीची है।[1]

शाह और खम्बाटा की गणना के अनुसार १ प्रतिशत या आश्रितो को सम्मिलित करने पर अधिक-से-अधिक ५% व्यक्ति देश की एक-तिहाई सम्पत्ति का उपभोग करते है और देश की सम्पत्ति के एक-तिहाई से कुछ अधिक लगभग ३५% आय का उपभोग एक-तिहाई जनसख्या (आश्रितों को मिलाकर) करती है और तत्कालीन ब्रिटिश भारत के शेष लगभग ६०% व्यक्ति देश में उत्पन्न सम्पत्ति के ३०% का उपभोग करते है। हमारे पास ये विश्वास करने के आधार है कि दूसरे और तीसरे वर्गो से प्राथमिक वर्ग की (कृषि की) ओर प्रवाह हो रहा है, साथ ही श्रमिको की द्राव्यिक एव वास्तविक आय में भी वृद्धि हुई है। यह भी सच है कि कुछ उद्योगो में श्रम की उत्पादकता घट जाने से उनकी वास्तविक आय १३% कम हो गई है। उत्पादकता के ह्रास का कारण अशत तो मशीनो की दुरवस्था तथा अशत काम के घण्टो का घट जाना भी है। १९४३ के बाद से वास्तविक मुनाफा भी घट रहा है।[2]

यह भी ध्यान देने की बात है कि एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त में भी प्रति व्यक्ति आय में अन्तर पडता है।[3] व्यावसायिक फसलें बोने वाले तथा अधिक उद्योगीकृत प्रान्तो में आय अधिक है, जैसे बम्बई, बिहार, मध्यप्रान्त और बरार, जबकि उडीसा, उत्तर प्रदेश और मद्रास अपेक्षाकृत गरीब है।

९. अन्तर्राष्ट्रीय तुलनाएँ—अन्तर्राष्ट्रीय तुलना विचाराधीन देश की प्रति व्यक्ति आय

डा० राव, 'दि नेशनल इनकम ऑफ ब्रिटिश इण्डिया' (१९३२-३३), पृ० १८९।

ईस्टर्न इकानामिस्ट, वार्षिक अक १९४८, पृ० ११२३-९।

मुरजन, उद्धृत, ३५६-७।

विभिन्न तिथियो और वर्षों की हैं, अतएव इस बीच हुए मूल्यो के अन्तर का खया रखना होगा। मूल्यो में ८०% वृद्धि की मान्यता पर १९१३-१४ का ४५ रु० १९२१-२२ के ८१ रु० के बराबर होगा। दूसरी बात यह है कि गणना में लिया गय क्षेत्र हर गणना में एक ही नही है। उदाहरणार्थ शाह और खबाटा ने केवल ब्रिटि भारत ही नही, अपितु भारतीय रियासतो को भी शामिल कर लिया है। अतएव इ गणना और उस गणना के बीच, जोकि केवल ब्रिटिश भारत तक सीमित है, तुलना कर समय हमें शाह-खम्बाटा की प्रति व्यक्ति आय को बढना पडेगा क्योकि ब्रिटिश भार रियासतों की अपेक्षा थोडा अधिक धनी और आर्थिक दृष्टि से विकसित है। हम अपनाई गई पद्धतियो से उत्पन्न अन्तर भी ध्यान में रखना होगा। जैसा कि हम देख चुके हैं शिराज कुछ भी नहीं घटाते जबकि अन्य गणनाओ में थोडा बहुत घटाया गया है। राष्ट्रीय आय के तत्त्वो के सम्बन्ध में भी मतभेद है। जबकि शिराज पेशो में हुई आमदनी को जोडता है अन्य गणनाएँ ऐसा नही करती।[1] अतएव विभिन्न अनुमानो की तुलना करते समय हमें दी गई वास्तविक सख्याओ को ध्यान में न रखकर उन सख्याओ को ध्यान में रखना चाहिए जो सबके द्वारा एक ही पद्धति अपनाने पर होतीं। एक और ध्यान देने की बात यह है कि बाद की गणनाएँ अधिक वैज्ञानिक आधार पर हैं। जैसा कि शिराज ने कहा है, यदि उसके विस्तृत तरीके के स्थान पर पुरानी पद्धति का अनुसरण किया जाय तो कृषि और अन्य पेशो से होने वाली आय का मूल्य काफी कम होगा।

इन गणनाओ से आर्थिक समृद्धि के सम्बन्ध में परिणाम निकालते समय भी काफी सावधानी से काम लेना होगा। यहाँ केवल प्रति व्यक्ति औसत आय को ही ध्यान में नही रखना होगा बल्कि राष्ट्रीय आय किन अगो से मिलकर बनी है इसका भी ध्यान रखना होगा। भारत जैसे देश के लिए यह महत्त्वपूर्ण होगा कि आय का कितना भाग खाद्य सामग्री के रूप में है, क्योकि यदि खाद्य सामग्री जैसी जीवन की आवश्यकताओ में कमी है तो अन्य प्रकार की आय में वृद्धि उतने महत्त्व की नही होगी। यदि सेवाओं को राष्ट्रीय आय के अन्तर्गत लेना है तो यह ध्यान रखना होगा कि क्या हमारी परतन्त्रता के युग में कुछ सेवाओं का बहुत बढा-चढाकर मूल्याकन नही किया जाता था?

अन्त में, किसी खास जाँच के परिणामों की समीक्षा करते समय हमें उसका उद्देश्य भी परखना होगा। ऊपर की बहुत सी गवेषणाएँ राजनीतिक विवादो से ओत-प्रोत हैं। कभी-कभी तो गवेषणाएँ करने वालो का ध्यान छोटी-छोटी बातो में उलझ जाता है। विचित्र बात तो यह है कि निम्नानुमानो का मूल्याकन बढ़ा-चढ़ाकर किये गए अनुमानों से ऊँचा है, क्योकि प्रतिपक्षियो को विवाद के लिए एक दिशा में दी गई रियायतें अन्य दिशा में ली गई स्वतन्त्रताओ से सन्तुलित हो जाती हैं और इस प्रकार अनुमान अतिरजित हो जाते हैं।

[1] शिराज अपने खास अनुमान में खुले रूप से सेवाओं को शामिल नहीं करता लेकिन अपनी गैर-कृषीय आय की जाँच एक तालिका द्वारा करता है जिसमें सेवाएँ सम्मिलित हैं।

कभी-कभी तो दरिद्रता की तसवीर इसलिए बढा-चढाकर खींच दी जाती है कि वे समझते हैं कि प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय एक औसत कुटुम्ब की आय का प्रतिनिधित्व करती है। यदि हम जनता को जरूरत से ज्यादा खुशहाल समझते है तो हम दूसरी दिशा में गलती करते हैं, क्योकि ऐसा करने में हम यह भूल जाते है कि आय का वितरण असमान है। कुछ लोगो की आय औसत से बहुत ज्यादा और बहुतो की औसत से बहुत कम है। विद्वत्तापूर्ण पेशो और जमीदारियो में अपेक्षाकृत अधिक आय है। छोटे-मोटे व्यापारियो की आय मध्यम श्रेणी की है। नगरो में आधी आय आबादी के दशमाश लोगो के हाथ में है। पढे-लिखे, पेशे वाले तथा बडे-बडे जमीदारों की आमदनी काफी ज्यादा है। ऐसे लोगो का ३८%, जिनकी आय २००० रु० से ज्यादा है, कुल आय के १७% का अधिकारी है, जबकि १% व्यक्तियो के पास कुल आय का १०% है। कृषि-वर्गो में भी वितरण की असमानता अत्यन्त स्पष्ट है। इसका प्रमाण अन्य बातो को छोड देने पर भी कृषि जोतो के वितरण से स्पष्ट रूप से मिल जाता है। उदाहरण के लिए, बम्बई में २२ लाख रजिस्ट्रीशुदा भूमि के मालिको में से १० लाख के पास ५ एकड से कम भूमि है, अर्थात् ४८% जोतने वाले के पास ६% भूमि है जबकि १ प्रतिशत लोगो के पास १६% जमीन है। इसके अतिरिक्त बिना जमीन वाले श्रमिको का भी एक वर्ग है जिनकी आर्थिक स्थिति स्पष्ट ही इन दोनो से नीची है।[1]

शाह और खम्भाटा की गणना के अनुसार १ प्रतिशत या आश्रितो को सम्मिलित करने पर अधिक-से-अधिक ५% व्यक्ति देश की एक-तिहाई सम्पत्ति का उपभोग करते हैं और देश की सम्पत्ति के एक-तिहाई से कुछ अधिक लगभग ३५% आय का उपभोग एक-तिहाई जनसख्या (आश्रितो को मिलाकर) करती है और तत्कालीन ब्रिटिश भारत के शेष लगभग ६०% व्यक्ति देश में उत्पन्न सम्पत्ति के ३०% का उपभोग करते हैं। हमारे पास ये विश्वास करने के आधार है कि दूसरे और तीसरे वर्गो से प्राथमिक वर्ग की (कृषि की) ओर प्रवाह हो रहा है, साथ ही श्रमिको की द्राव्यिक एव वास्तविक आय में भी वृद्धि हुई है। यह भी सच है कि कुछ उद्योगो में श्रम की उत्पादकता घट जाने से उनकी वास्तविक आय १३% कम हो गई है। उत्पादकता के ह्रास का कारण अंशत तो मशीनो की दुरवस्था तथा अशत काम के घण्टो का घट जाना भी है। १६४३ के बाद से वास्तविक मुनाफा भी घट रहा है।[2]

यह भी ध्यान देने की बात है कि एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त में भी प्रति व्यक्ति आय में अन्तर पडता है।[3] व्यावसायिक फसलें बोने वाले तथा अधिक उद्योगीकृत प्रान्तो में आय अधिक है, जैसे बम्बई, बिहार, मध्यप्रान्त और बरार, जबकि उडीसा, उत्तर प्रदेश और मद्रास अपेक्षाकृत गरीब है।

६. अन्तर्राष्ट्रीय तुलनाएँ—अन्तर्राष्ट्रीय तुलना विचाराधीन देश की प्रति व्यक्ति आय

१. डा० राव, 'दि नेशनल इनकम ऑफ ब्रिटिश इण्डिया' (१६३२-३३), पृ० १८६।
२ ईस्टर्न इकानामिस्ट, वार्षिक अक १६४८, पृ० ११२३-६।
३. वकील और मुरजन, पूर्वोद्धृत, ३५६-७।

पर ही निर्भर न होगी। सर राबर्ट जिकेन ने बतलाया कि बिना सशोधन के इस प्रकार की तुलनाएँ उस समय तक अर्थहीन है जब तक कि यह निश्चय न हो कि एक ही नाम से पुकारी जाने वाली विभिन्न देशो की सख्याएँ यथार्थ में एक-सी है। प्रति व्यक्ति आय के अक विभिन्न देशो की तुलना में आर्थिक समृद्धि के मानदण्ड तब तक नही, हो सकते जब तक कि हम जीवन-स्तर, आदतो और आचार-व्यवहारो को ध्यान में नही रखते। सर जोशिया स्टॉम्प का कथन है कि "जिन देशो की तुलना करनी है उनके निवासियो का निश्चित वस्तु के प्रति एक-सा ही दृष्टिकोण होना चाहिए तथा उनके पारस्परिक मूल्यो का मानदण्ड भी समान होना चाहिए। इस बात में जहाँ तक देशो में विभिन्नता होगी तुलना सारहीन होगी।"[1] भारत और इगलैण्ड जैसे देशों की एक ही सख्याओ के मूल्य में बडा अन्तर होगा। कारण यह है कि न केवल इन देशों के मूल्य का मानदण्ड विभिन्न है अपितु भिन्न बाह्य परिस्थितियाँ भिन्न प्रकार की आवश्यकताओ को जन्म देती है। गरम जलवायु के कारण भारत में भोजन, वस्त्र और रहन-सहन का खर्च कम पडता है। यह भी ध्यान देने की बात है कि भारत की जन-सख्या का एक बडा भाग द्रव्य-अर्थ व्यवस्था से कम सम्बन्ध रखता है, क्योकि वह स्थानीय उत्पादन पर निर्भर है और कभी-कभी ही बाजार की शरण लेता है। इन सब बातों के होते हुए भी इतना तो मानना ही पडेगा कि भारत पाश्चात्य देशो, विशेषकर अमेरिका इत्यादि, की तुलना में अत्यन्त ही निर्धन देश है। बलगेरिया और सक्रमण-कालीन पीडा से व्याकुल रूस से ही भारत की थोडी-बहुत तुलना की जा सकती है।

१० गहन परीक्षण—व्यक्तिगत रूप में की गई जांचो, जैसे बम्बई में डॉ० मैन द्वारा की गई जांच तथा मद्रास में डॉ० स्लेटर द्वारा की गई जाँचो के अतिरिक्त ग्रामीण और नागरिक विभाग, पजाब आर्थिक जांच-परिषद् (पजाब बोर्ड ऑफ इकनामिक इन्क्वायरी) के तत्त्वावधान में कई सर्वेक्षण किये गए। भारतीय केन्द्रीय कपास समिति ने भी कुछ वर्ष हुए, कपास उगाने वालो की आर्थिक और विपणन परिस्थितियो के सम्बन्ध में ८ जांचें की। भारतीय आर्थिक जांच समिति द्वारा प्रस्तावित नमूने की यह पहली गहन जांच थी तथा इसमें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ज्ञान भरा है।[2] इन सब जांचो से भारतीयो की आर्थिक दशा के सम्बन्ध में उपर्युक्त निष्कर्षो की पुष्टि होती है।

११. क्या भारतीय दरिद्रता घट रही है?—घोर निर्धनता को एक निर्विवाद सत्य

---

[1] तुलना कीजिए, "दो देशों की आकिक तुलना बडा ही सदिग्ध विषय है। मकान, कपड़े और खान-पान की भी तुलना नहीं की जा सकती, श्र-पारिश्रमिक आय का महत्त्व भी घटता-बढता है। एक देश में कुछ ऐसी चीजें खरीदी जाती हैं जो दूसरे देश में बेकार होंगी या उन्मुक्त रूप से प्रकृति के दान के रूप में मिलती होंगी। हमें औद्योगिक वर्गो की तुलना नहीं करनी चाहिए—जैसे इन्जीनियरिंग, छपाई, मकान निर्माण इत्यादि में लगे लोगों की। क्योंकि काम के तरीके और परिस्थितियों में बडा अन्तर होता है। इन बाता को ध्यान में रखे बिना तुलना अर्थहीन है।—ए० एल० बाउली, 'नेचर एण्ड परपज ऑव दि मेजरमेण्ट ऑव सोशल फेनामेना', इकनामिक इन्क्वायरी रिपोर्ट में उद्धृत, पृ० ११७.

[2] देखिए, कपास उगाने वालों की आर्थिक एव विक्रय में की गई आठ जांचों पर साधारण रिपोर्ट, १९२८

के रूप में स्वीकार करने पर प्रश्न यह उठता है कि यह घट रही है या बढ रही है या स्थिर है। इसका उत्तर कई प्रकार से दिया गया है। वाडिया और जोशी के मतानुसार १८९५ से १९१४ तक कोई परिवर्तन नही हुआ। लेकिन साधारणतया स्वीकार किया जाता है कि दशा में वास्तविक सुधार हुआ, यद्यपि सुधार की गति अत्यन्त धीमी थी। यह बात बिलकुल ठीक है कि लोगो का असतोष बढता जा रहा है, किन्तु यूरोपीय अनुभवो से पता चलता है कि जनता की आर्थिक स्थिति के सुधार से इनका कोई विरोध नही है। धन की वृद्धि के साथ दरिद्रता का अनुभव भी तीव्र हो जाता है। दरिद्रता मनुष्य को इतना पशुवत् बना सकती है कि दरिद्रता के विपय में उसकी चेतना ही खो जाती है। गरीबी से थोडी-सी राहत मिली कि और अधिक राहत की इच्छा प्रबल हो उठती है। आधुनिक आर्थिक विकास तथा आवश्यकता की तृप्ति के विभिन्न साधनो की उपस्थिति के साथ आवश्यकताओ की वृद्धि बडी तीव्रता से होती जा रही है। फलत' अब दरिद्रता केवल कुछ प्रारम्भिक आवश्यकताओ को अतृप्ति ही नही बल्कि इस युग की नवीनतम वस्तुओ में भाग न पा सकने का नाम हो गया है। हालाँकि आज पाश्चात्य देशो में पचास साल पहले की अपेक्षा जनता को अच्छा भोजन, कपडे और मकान प्राप्त है, किन्तु उसका असतोष पहले से कही तीव्र है। कुछ लोगो के मतानुसार भारत में भी वैसा ही परिवर्तन हो रहा है और असतोष आर्थिक अवस्था में सुधार का परिणाम है। ऊपर दिये गए विविध अनुमान अपनी अपूर्णता के बावजूद इतनी बात तो स्पष्ट करते ही है कि भारत की आर्थिक अवस्था की गति सुधार की ओर है। इस बात की पुष्टि इससे भी हो जाती है कि भारतीय औद्योगिक तथा कृषि श्रमिक की भावना में एक प्रकार की स्वच्छन्दता के दर्शन होते हैं। १९३९-४५ के युद्धकाल के पूर्व इस पर भी विश्वास किया जा सकता था कि भारत में प्रति व्यक्ति भोजन और कपडे के उपभोग की मात्रा बढ रही है। सरकारी अधिकारियो का निश्चित मत था कि देश की आर्थिक दशा सुधर रही है, जैसा कि निम्न उद्धरण से स्पष्ट हो जायगा—"जहाँ तक साधारण कसौटी का उपयोग किया जा सकता है यह कहा जा सकता है कि भारतीय भू-धारक, व्यापारी, रैयत और दस्तकार की दशा आज से पचास वर्ष पूर्व की अपेक्षा सुधरी हुई है। वह चीनी, नमक, तम्बाकू तथा आयात-विलासिताओ (इम्पोर्टेड लक्सरीज) का पहले की पीढी की तुलना में अधिक मात्रा में उपभोग कर रहा है। जहाँ घर-घर जाँच की गई है वहाँ पता चला है कि साधारण ग्रामीण अपने पिता की अपेक्षा अच्छा खाना खाता और अच्छे कपडे पहनता है। पीतल या अन्य धातु के बरतनो ने पुराने मिट्टी के बरतनो का स्थान ले लिया है और उसके घर में पहले की अपेक्षा अधिक कपडे है।"[1] इस प्रकार की तसवीर की सत्यता पर गैर-सरकारी लोगो ने मतभेद और कुछ छोटी-छोटी बातो पर तो खुले आम सन्देह प्रकट किया। उदाहरण के लिए, ग्रामीणो का अधिक भोजन सर्वमत से

१ 'रिजल्ट्स ऑफ इण्डियन एडमिनिस्ट्रेशन इन दि पास्ट फिफ्टी ईअर्स', १९०९, पृ० २६। एल० सी० ए० नाउल्स द्वारा 'इकनामिक डेवलपमेण्ट ऑफ दि ब्रिटिश ओवरसीज एम्पाइर' में उद्धृत (१७६३-१९१४), भाग १, पृ० २७५।

पर ही निर्भर न होगी। सर रावर्ट जिकेन ने वतलाया कि बिना सशोधन के इस प्रकार की तुलनाएँ उस समय तक अर्थहीन है जब तक कि यह निश्चय न हो कि एक ही नाम से पुकारी जाने वाली विभिन्न देशो की सख्याएँ यथार्थ में एक-सी है। प्रति व्यक्ति आय के अक विभिन्न देशो की तुलना में आर्थिक समृद्धि के मानदण्ड तव तक नहीं हो सकते जब तक कि हम जीवन-स्तर, आदतो और आचार-व्यवहारो को ध्यान में नही रखते। सर जोशिया स्टॉम्प का कथन है कि "जिन देशो की तुलना करनी है उनके निवासियो का निश्चित वस्तु के प्रति एक-सा ही दृष्टिकोण होना चाहिए तथा उनके पारस्परिक मूल्यो का मानदण्ड भी समान होना चाहिए। इस बात में जहाँ तक देशो में विभिन्नता होगी तुलना सारहीन होगी।"[1] भारत और इगलैण्ड जैसे देशों की एक ही सख्याओ के मूल्य में वडा अन्तर होगा। कारण यह है कि न केवल इन देशों के मूल्य का मानदण्ड विभिन्न है अपितु भिन्न वाह्य परिस्थितियाँ भिन्न प्रकार की आवश्यकताओ को जन्म देती है। गरम जलवायु के कारण भारत में भोजन, वस्त्र और रहन-सहन का खर्च कम पडता है। यह भी ध्यान देने की वात है कि भारत की जन-सख्या का एक बडा भाग द्रव्य-अर्थ व्यवस्था से कम सम्बन्ध रखता है, क्योकि वह स्थानीय उत्पादन पर निर्भर है और कभी-कभी ही वाजार की शरण लेता है। इन सब वातो के होते हुए भी इतना तो मानना ही पडेगा कि भारत पाश्चात्य देशो, विशेषकर अमेरिका इत्यादि, की तुलना में अत्यन्त ही निर्धन देश है। बलगेरिया और सक्रमण-कालीन पीडा से व्याकुल रूस से ही भारत की थोडी-बहुत तुलना की जा सकती है।

१० गहन परीक्षण—व्यक्तिगत रूप में की गई जाँचो, जैसे वम्बई में डॉ० मैन द्वारा की गई जांच तथा मद्रास में डॉ० स्लेटर द्वारा की गई जाँचो के अतिरिक्त ग्रामीण और नागरिक विभाग, पजाब आर्थिक जाँच-परिषद् (पजाव वोर्ड ऑफ इकनामिक इन्क्वायरी) के तत्त्वावधान में कई सर्वेक्षण किये गए। भारतीय केन्द्रीय कपास समिति ने भी कुछ वर्ष हुए, कपास उगाने वालो की आर्थिक और विपणन परिस्थितियो के सम्बन्ध में ८ जाँचें की। भारतीय आर्थिक जाँच समिति द्वारा प्रस्तावित नमूने की यह पहली गहन जाँच थी तथा इसमें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ज्ञान भरा है।[2] इन सब जाँचों से भारतीयों की आर्थिक दशा के सम्बन्ध में उपर्युक्त निष्कर्षों की पुष्टि होती है।

११ क्या भारतीय दरिद्रता घट रही है?—घोर निर्धनता को एक निर्विवाद सत्य

---

१ तुलना कीजिए, "दो देशों की आंकिक तुलना बड़ा ही सदिग्ध विषय है। मकान, कपड़े और खान-पान की भी तुलना नहीं की जा सकती, अ-पारिश्रमिक आय का महत्त्व भी घटता-बढता है। एक देश में कुछ ऐसी चीजें खरीदी जाती हैं जो दूसरे देश में वेकार होंगी या उन्मुक्त रूप से प्रकृति के दान के रूप में मिलती होंगी। हमें औद्योगिक वर्गों की तुलना नहीं करनी चाहिए—जैसे इन्जीनियरिंग, छपाई, मकान निर्माण इत्यादि में लगे लोगों की। क्योंकि काम के तरीके और परिस्थितियों में बड़ा अन्तर होता है। इन बातो को ध्यान में रखे बिना तुलना अर्थहीन है।—ए० एल० बाउली, 'नेचर एण्ड परपज ऑव दि मेजरमेण्ट ऑव सोशल फेनामेना', इकनामिक इन्क्वायरी रिपोर्ट में उद्धृत, पृ० ११७.

२ देखिए, कपास उगाने वालों की आर्थिक एव विक्रय में की गई आठ जाँचों पर साधारण रिपोर्ट, १९२८

के रूप में स्वीकार करने पर प्रश्न यह उठता है कि यह घट रही है या बढ रही है या स्थिर है। इसका उत्तर कई प्रकार से दिया गया है। वाडिया और जोशी के मतानुसार १८९५ से १९१४ तक कोई परिवर्तन नही हुआ। लेकिन साधारणतया स्वीकार किया जाता है कि दशा में वास्तविक सुधार हुआ, यद्यपि सुधार की गति अत्यन्त धीमी थी। यह बात बिलकुल ठीक है कि लोगो का असतोष बढता जा रहा है, किन्तु यूरोपीय अनुभवो से पता चलता है कि जनता की आर्थिक स्थिति के सुधार से इनका कोई विरोध नही है। धन की वृद्धि के साथ दरिद्रता का अनुभव भी तीव्र हो जाता है। दरिद्रता मनुष्य को इतना पशुवत् बना सकती है कि दरिद्रता के विपय में उसकी चेतना ही खो जाती है। गरीबी से थोडी-सी राहत मिली कि और अधिक राहत की इच्छा प्रवल हो उठती है। आधुनिक आर्थिक विकास तथा आवश्यकता की तृप्ति के विभिन्न साधनो की उपस्थिति के साथ आवश्यकताओ की वृद्धि वडी तीव्रता से होती जा रही है। फलत. अब दरिद्रता केवल कुछ प्रारम्भिक आवश्यकताओ को अतृप्ति ही नही वल्कि इस युग की नवीनतम वस्तुओ में भाग न पा सकने का नाम हो गया है। हालाँकि आज पाश्चात्य देशो में पचास साल पहले की अपेक्षा जनता को अच्छा भोजन, कपडे और मकान प्राप्त है, किन्तु उसका असंतोप पहले से कही तीव्र है। कुछ लोगो के मतानुसार भारत में भी वैसा ही परिवर्तन हो रहा है और असतोष आर्थिक अवस्था में सुधार का परिणाम है। ऊपर दिये गए विविध अनुमान अपनी अपूर्णता के वावजूद इतनी बात तो स्पष्ट करते ही है कि भारत की आर्थिक अवस्था की गति सुधार की ओर है। इस वात की पुष्टि इससे भी हो जाती है कि भारतीय औद्योगिक तथा कृपि श्रमिक की भावना में एक प्रकार की स्वच्छन्दता के दर्शन होते हैं। १९३९-४५ के युद्धकाल के पूर्व इस पर भी विश्वास किया जा सकता था कि भारत में प्रति व्यक्ति भोजन और कपडे के उपभोग की मात्रा बढ़ रही है। सरकारी अधिकारियो का निश्चित मत था कि देश की आर्थिक दशा सुधर रही है, जैसा कि निम्न उद्धरण से स्पष्ट हो जायगा—"जहाँ तक साधारण कसौटी का उपयोग किया जा सकता है यह कहा जा सकता है कि भारतीय भू-धारक, व्यापारी, रैयत और दस्तकार की दशा आज से पचास वर्ष पूर्व की अपेक्षा सुधरी हुई है। वह चीनी, नमक, तम्बाकू तथा आयात-विलासिताओ (इम्पोर्टेड लक्सरीज़) का पहले की पीढी की तुलना में अधिक मात्रा में उपभोग कर रहा है। जहाँ घर-घर जाँच की गई है वहाँ पता चला है कि साधारण ग्रामीण अपने पिता की अपेक्षा अच्छा खाना खाता और अच्छे कपडे पहनता है। पीतल या अन्य धातु के वरतनो ने पुराने मिट्टी के वरतनो का स्थान ले लिया है और उसके घर में पहले की अपेक्षा अधिक कपडे है।"[1] इस प्रकार की तसवीर की सत्यता पर गैर-सरकारी लोगो ने मतभेद और कुछ छोटी-छोटी बातो पर तो खुले आम सन्देह प्रकट किया। उदाहरण के लिए, ग्रामीणो का अधिक भोजन सर्वमत से

१ 'रिज़ल्ट्स ऑफ़ इण्डियन एडमिनिस्ट्रेशन इन दि पास्ट फिफ्टी ईअर्स', १९०९, पृ० २६। एल० सी० ए० नाउल्स द्वारा 'इकनामिक डेवलपमेण्ट ऑफ़ दि ब्रिटिश ओवरसीज़ एम्पायर' में उद्धृत (१७६३-१९१४), भाग १, पृ० २७५।

पर ही निर्भर न होगी। सर राबर्ट जिकेन ने बतलाया कि बिना सशोधन के इस प्रकार की तुलनाएँ उस समय तक अर्थहीन है जब तक कि यह निश्चय न हो कि एक ही नाम से पुकारी जाने वाली विभिन्न देशो की सख्याएँ यथार्थ में एक-सी है। प्रति व्यक्ति आय के अक विभिन्न देशो की तुलना में आर्थिक समृद्धि के मानदण्ड तब तक नही हो सकते जब तक कि हम जीवन-स्तर, आदतो और आचार-व्यवहारो को ध्यान में नही रखते। सर, जोशिया स्टॉम्प का कथन है कि "जिन देशो की तुलना करनी है उनके निवासियो का निश्चित वस्तु के प्रति एक-सा ही दृष्टिकोण होना चाहिए तथा उनके पारस्परिक मूल्यो का मानदण्ड भी समान होना चाहिए। इस बात में जहाँ तक देशो में विभिन्नता होगी तुलना सारहीन होगी।"[१] भारत और इगलैण्ड जैसे देशो की एक ही सख्याओ के मूल्य में बडा अन्तर होगा। कारण यह है कि न केवल इन देशो के मूल्य का मानदण्ड विभिन्न है अपितु भिन्न बाह्य परिस्थितियाँ भिन्न प्रकार की आवश्यकताओ को जन्म देती है। गरम जलवायु के कारण भारत में भोजन, वस्त्र और रहन-सहन का खर्च कम पडता है। यह भी ध्यान देने की बात है कि भारत की जन-सख्या का एक बडा भाग द्रव्य-अर्थ व्यवस्था से कम सम्बन्ध रखता है, क्योकि वह स्थानीय उत्पादन पर निर्भर है और कभी-कभी ही बाजार की शरण लेता है। इन सब बातो के होते हुए भी इतना तो मानना ही पडेगा कि भारत पाश्चात्य देशो, विशेषकर अमेरिका इत्यादि, की तुलना में अत्यन्त ही निर्धन देश है। बलगेरिया और सक्रमण-कालीन पीडा से व्याकुल रूस से ही भारत की थोडी-बहुत तुलना की जा सकती है।

१० गहन परीक्षण—व्यक्तिगत रूप में की गई जाँचो, जैसे बम्बई में डॉ० मैन द्वारा की गई जाँच तथा मद्रास में डॉ० स्लेटर द्वारा की गई जाँचो के अतिरिक्त ग्रामीण और नागरिक विभाग, पजाब आर्थिक जाँच-परिषद् (पजाब बोर्ड ऑफ इकनामिक इन्क्वायरी) के तत्त्वावधान में कई सर्वेक्षण किये गए। भारतीय केन्द्रीय कपास समिति ने भी कुछ वर्ष हुए, कपास उगाने वालो की आर्थिक और विपणन परिस्थितियो के सम्बन्ध में ८ जाँचें की। भारतीय आर्थिक जाँच समिति द्वारा प्रस्तावित नमूने की यह पहली गहन जाँच थी तथा इसमें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ज्ञान भरा है।[२] इन सब जाँचो से भारतीयो की आर्थिक दशा के सम्बन्ध में उपर्युक्त निष्कर्षो की पुष्टि होती है।

११ क्या भारतीय दरिद्रता घट रही है?—घोर निर्धनता को एक निर्विवाद सत्य

१ तुलना कीजिए, "दो देशों की आर्थिक तुलना बड़ा ही सदिग्ध विषय है। मकान, कपडे और खान-पान का भी तुलना नहीं की जा सकती, अ-पारिश्रमिक आय का महत्त्व भी घटता-बढता है। एक देश में कुछ ऐसी चीजें खरीदी जाती हैं जो दूसरे देश में बेकार होंगी या उन्मुक्त रूप से प्रकृति के दान के रूप में मिलती होंगी। हमें औद्योगिक वर्गो की तुलना नहीं करनी चाहिए—जैसे इन्जीनियरिंग, ट्रांसपोर्ट, मकान निर्माण इत्यादि में लगे लोगों की। क्योंकि काम के तरीके और परिस्थितियों में बड़ा अन्तर होता है। इन बातों को ध्यान में रखे बिना तुलना अर्थहीन है।—ए० एल० बाउली, 'नेचर एण्ड पर्पज ऑव दि मेजरमेण्ट ऑव सोशल फेनामेना', इकनामिक इन्क्वायरी रिपोर्ट में उद्धृत, पृ० ११७.

२ देखिए, कपास उगाने वालों की आर्थिक एव विक्रय में की गई आठ जाँचों पर साधारण रिपोर्ट, १९२८

सकते है तथा उस राष्ट्र की अपेक्षा निश्चित ही अच्छे हैं जो केवल अनुभवजन्य ज्ञान पर निर्भर है।"[1] इस समय एकत्रित आँकडे विशेषज्ञो के निर्देशन से रहित एव असम्बद्ध है। वस्तुत वे सरकारी वैभागिक कार्रवाई के उपोत्पाद है, उनका उद्देश्य जनता को सामाजिक और आर्थिक महत्त्व की बातो की जानकारी कराना नही होता।

यह बात सच है कि भारत में आँकडो के एकत्र करने के मार्ग में अनेक बाधाएँ है। पहले तो देश का विशाल आकार ही काम को व्ययशील और कठिन बना देता है। दूसरे जनता कस्बो और नगरो में केन्द्रित न होकर गाँवो में बिखरी पडी है। तीसरे जनता की अशिक्षा और अज्ञान के कारण आँकडे एकत्र करने के काम में उससे ज़रा भी सहायता नही मिलती, इससे यह प्राय व्यावहारिक असम्भावना का रूप धारण कर लेता है। इगलैण्ड या अन्य देशो में उत्पादन, पारिश्रमिक एव कीमतो के आँकडे व्यक्तियो को अनुसूचियाँ बाँटकर एकत्र किये जाते है जो भरकर निश्चित समय में लौटा देते है। वैतनिक कर्मचारियों की अपेक्षा यह अधिक सत्य और कम व्ययसाध्य होता है। व्यक्तिगत सस्थाओं से भी बडी सहायता मिल जाती है। इस प्रकार की सस्थाएँ भारत में नही है। संगठित उद्योग का अभाव तथा विशृङ्खल छोटे-बडे उद्योगो की उपस्थिति साख्यिकीय कार्य को साधारण रूप से कठिन बना देती है।[2] यह स्वीकार करते हुए भी कि हम पाश्चात्य देशो के स्तर पर इतनी शीघ्रता से नही पहुँच सकते, इतना तो स्वीकार करना ही पडेगा कि इस विषय में पर्याप्त सुधार किया जा सकता है।

१३. बाउली-राबर्टसन जाँच—नवम्बर, १९३३ में भारत सरकार ने प्रो० ए० एल० बाउली (लन्दन स्कूल आव इकनामिक्स) और मि० डी० एच० राबर्टसन को (केम्ब्रिज में इकनामिक्स के प्राध्यापक) अधिक सही और व्यापक आँकडे इकट्ठा करने तथा उत्पादन-गणना करने की व्यावहारिकता पर परामर्श देने के लिए नियुक्त किया। इनके साथ ही तीन भारतीय अर्थशास्त्रियो ने भी काम किया और इन लोगो के सम्मिलित प्रयत्न के फलस्वरूप १९३४ से एक महत्त्वपूर्ण रिपोर्ट प्रकाशित हुई जिसका नाम था 'भारत की आर्थिक गणना की योजना' (ए स्कीम फॉर एन इकनामिक सेन्सस ऑफ इण्डिया)। सक्षेप में उसको नीचे दिया जाता है—

१४. (१) आँकडे संकलित करने का सकलन—केन्द्रीय कार्यकारिणी की आर्थिक समिति से सलग्न एक स्थायी आर्थिक कर्मचारी वर्ग नियुक्त किया जाय, जिसमें चार सदस्य हो। पुराना सदस्य कार्यकारिणी की आर्थिक समिति के सचिव का काम करेगा और यह आर्थिक समिति के प्रति सम्पूर्ण आर्थिक सूचना के सगठन कार्य के लिए उत्तरदायी होगा। इस प्रकार वह अत्यावश्यक प्रश्नो पर, जैसे-जैसे वे सामने आएँगे, रिपोर्ट तैयार करेगा। इस कार्य के लिए उसे देश-विदेश दोनो से आर्थिक और व्यावसायिक घटनाओ की जानकारी उपलब्ध करनी होगी। उसे और विस्तृत तथा आधारभूत प्रकार की जाँचो की

१ आर्थिक जाँच समिति रिपोर्ट, पृ० ४।

२. देखिए, प्रो० बर्नेट हर्स्ट की विमति टिप्पणी, आर्थिक जांच समिति रिपोर्ट, पृ० ६१-२।

स्वीकृति न पा सका। अन्य बातो के साथ यह बताया गया कि विशेषकर कस्बो के समीप के गाँवो का आहार-स्तर बहुत ही गिरा हुआ है। दूध का, जो कि एक शाकाहार-प्रधान देश में प्रधान खाद्य है, नितान्त अभाव होता जा रहा है और उसी उपयोगिता के आहार रूप में और कोई पदार्थ उसका स्थान नही ले पाया है। यह मान लेने पर भी कि थोडा-बहुत सुधार हुआ है यह तो सच ही है कि भारत पाश्चात्य देशो, विशेषकर इगलैण्ड, की तुलना में एक क्षण भी खडा नही हो सकता; जब कि हम वहाँ की दरिद्रता में कमी, मृत्यु की दर तथा गरीबी से उत्पन्न बीमारियो में घटती, शिक्षा का प्रसार, आमोद-प्रमोद के साधनो में वृद्धि, अधिक अच्छी सफाई और मकान की दशाओ को देखते हैं। पश्चिम में भी धन के वितरण में भी बडी असमानता है, किन्तु आर्थिक समृद्धि का भी विस्तृत प्रसार है, यह निस्सन्देह कहा जा सकता है। जीवन की अच्छी वस्तुओ की अधिकता और आमदनी में साधारण रूप से वृद्धि ने सर्वसाधारण की क्रय-शक्ति की क्षमता के अन्तर्गत अनेक ऐसी वस्तुएँ ला दी हैं जो पहले बहुत थोडे से धनी लोगों का एकाधिकार थी। विकाम्टे ड' एवेनेल ने इसे सुख का सामान्यीकरण (लेवलिंग अप ऑफ इजायमेंट) कहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रति व्यक्ति वास्तविक आय १९३९ से १९४३ में ४५% बढ गई है, लेकिन बाद में परिस्थिति बिगड गई।[1] ३० अगस्त, १९४९ को डोमिनियन पालियामेण्ट में भाषण करते हुए वित्त-मन्त्री श्री के० सी० नियोगी ने बताया कि वाणिज्य मन्त्रिमण्डल द्वारा प्रस्तुत किये गए एक अनुमान के अनुसार अविभाजित भारत में प्रति व्यक्ति आय, १९४५-४६ में, १९८ रुपये है। यदि केवल भारत के प्रान्तो को ही लिया जाय तो यह २०४ रुपये होगी। अन्य देशो की सख्याएँ इस प्रकार थी आस्ट्रेलिया १७९९ रुपये, कनाडा २८६८ रु०, इगलिस्तान २३५५ रु०, सयुक्त राज्य ४८६८ रु०।

१२. अधिक सही आँकड़ों की आवश्यकता—भारत की आर्थिक दशा से सम्बन्धित समस्याओ के सुलझाने या निर्धारित करने के लिए जो त्रुटियाँ और अव्यवस्थाएँ आ जाती हैं उनका प्रधान कारण है सही आँकडो का अभाव। घोर निर्धनता को छोडकर और सब विषयों में हम लोग प्राय अन्धकार में हैं। ठीक आँकडो के प्राप्त हो जाने पर अनेक अनुमानित मान्यताओ का सहारा न लेना होगा और हमारी गणना अधिक सही और विश्वसनीय होगी। इससे देश की अनेक दुरवस्थाओ के कारणो का ठीक-ठीक पता लगेगा तथा उन्हें सुलझाने में बडी सहायता मिलेगी। प्रशासन की कितनी ही कठिनाइयाँ दूर हो जायँगी। १९२५ की भारतीय आर्थिक जांच समिति ने इस सम्बन्ध में (लन्दन) 'टाइम्स' का उपयुक्त मत उद्धृत किया है। १९२१ में हुए साम्राज्य आँकडा सम्मेलन (एम्पायर स्टेटिस्टिक्स कॉन्फ्रेंस) के सम्बन्ध में 'टाइम्स' का मत है कि "युद्ध से पूर्व जर्मनी में स्टेटिस्टिकल ब्यूरो अविराम गति से उन आँकडों का संकलन करने में सलग्न था जिनसे देश के भविष्य-निर्माण में किंचित् भी सहायता मिल सकती थी। अब जो युग प्रारम्भ हो गया है उसमें जो राष्ट्र आँकडो के द्वारा की गई व्याख्या से सुसज्जित हैं वे उनसे प्रस्तुत किये गए लाभो का पूरा उपयोग कर

[1] ईस्टर्न इकॉनामिस्ट, वार्षिक अक, १९४८, पृ० ११४८।

सकते है तथा उस राष्ट्र की अपेक्षा निश्चित ही अच्छे हैं जो केवल अनुभवजन्य ज्ञान पर निर्भर है।"[1] इस समय एकत्रित आँकडे विशेषज्ञो के निर्देशन से रहित एवं असम्बद्ध हैं। वस्तुत वे सरकारी वैभागिक कार्रवाई के उपोत्पाद है, उनका उद्देश्य जनता को सामाजिक और आर्थिक महत्त्व की बातो की जानकारी कराना नही होता।

यह बात सच है कि भारत में आँकडो के एकत्र करने के मार्ग में अनेक बाधाएँ हैं। पहले तो देश का विशाल आकार ही काम को व्ययशील और कठिन बना देता है। दूसरे जनता कस्बो और नगरो में केन्द्रित न होकर गाँवो में बिखरी पडी है। तीसरे जनता की अशिक्षा और अज्ञान के कारण आँकडे एकत्र करने के काम में उससे ज़रा भी सहायता नही मिलती, इससे यह प्राय व्यावहारिक असम्भावना का रूप धारण कर लेता है। इगलैण्ड या अन्य देशो में उत्पादन, पारिश्रमिक एव कीमतो के आँकडे व्यक्तियो को अनुसूचियाँ बाँटकर एकत्र किये जाते है जो भरकर निश्चित समय में लौटा देते है। वैतनिक कर्मचारियो की अपेक्षा यह अधिक सत्य और कम व्ययसाध्य होता है। व्यक्तिगत सस्थाओ से भी बडी सहायता मिल जाती है। इस प्रकार की सस्थाएँ भारत में नही है। सगठित उद्योग का अभाव तथा विशृङ्खल छोटे-बडे उद्योगो की उपस्थिति साख्यिकीय कार्य को साधारण रूप से कठिन बना देती है।[2] यह स्वीकार करते हुए भी कि हम पाश्चात्य देशो के स्तर पर इतनी शीघ्रता से नही पहुँच सकते, इतना तो स्वीकार करना ही पडेगा कि इस विषय में पर्याप्त सुधार किया जा सकता है।

१३. बाउली-राबर्टसन जाँच—नवम्बर, १९३३ में भारत सरकार ने प्रो० ए० एल० बाउली (लन्दन स्कूल आव इकनामिक्स) और मि० डी० एच० राबर्टसन को (केम्ब्रिज में इकनामिक्स के प्राध्यापक) अधिक सही और व्यापक आँकडे इकट्ठा करने तथा उत्पादन-गणना करने की व्यावहारिकता पर परामर्श देने के लिए नियुक्त किया। इनके साथ ही तीन भारतीय अर्थशास्त्रियो ने भी काम किया और इन लोगो के सम्मिलित प्रयत्न के फलस्वरूप १९३४ से एक महत्त्वपूर्ण रिपोर्ट प्रकाशित हुई जिसका नाम था 'भारत की आर्थिक गणना की योजना' (ए स्कीम फॉर एन इकनामिक सेन्सस ऑफ इण्डिया)। सक्षेप में उसको नीचे दिया जाता है—

१४. (१) आँकडे संकलित करने का सकलन—केन्द्रीय कार्यकारिणी की आर्थिक समिति से सलग्न एक स्थायी आर्थिक कर्मचारी वर्ग नियुक्त किया जाय, जिसमें चार सदस्य हो। पुराना सदस्य कार्यकारिणी की आर्थिक समिति के सचिव का काम करेगा और यह आर्थिक समिति के प्रति सम्पूर्ण आर्थिक सूचना के सगठन कार्य के लिए उत्तरदायी होगा। इस प्रकार वह अत्यावश्यक प्रश्नो पर, जैसे-जैसे वे सामने आएँगे, रिपोर्ट तैयार करेगा। इस कार्य के लिए उसे देश-विदेश दोनो से आर्थिक और व्यावसायिक घटनाओ की जानकारी उपलब्ध करनी होगी। उसे और विस्तृत तथा आधारभूत प्रकार की जाँचो की

---

१ आर्थिक जाँच समिति रिपोर्ट, पृ० ४।

२. देखिए, प्रो० बर्नेट हर्स्ट की विमति टिप्पणी, आर्थिक जाँच समिति रिपोर्ट, पृ० ९१-२।

स्वीकृति न पा सका। अन्य बातो के साथ यह बताया गया कि विशेषकर कस्बो के समीप के गाँवो का आहार-स्तर बहुत ही गिरा हुआ है। दूध का, जो कि एक शाकाहार-प्रधान देश में प्रधान खाद्य है, नितान्त अभाव होता जा रहा है और उसी उपयोगिता के आहार रूप में और कोई पदार्थ उसका स्थान नही ले पाया है। यह मान लेने पर भी कि थोडा-बहुत सुधार हुआ है यह तो सच ही है कि भारत पाश्चात्य देशो, विशेषकर इगलैण्ड, की तुलना में एक क्षरण भी खडा नही हो सकता; जब कि हम वहाँ की दरिद्रता में कमी, मृत्यु की दर तथा गरीबी से उत्पन्न बीमारियो में घटती, शिक्षा का प्रसार, आमोद-प्रमोद के साधनों में वृद्धि, अधिक अच्छी सफाई और मकान की दशाओ को देखते है। पश्चिम में भी धन के वितरण में भी बडी असमानता है, किन्तु आर्थिक समृद्धि का भी विस्तृत प्रसार है, यह निस्सन्देह कहा जा सकता है। जीवन की अच्छी वस्तुओ की अधिकता और आमदनी में साधारण रूप से वृद्धि ने सर्व-साधारण की क्रय-शक्ति की क्षमता के अन्तर्गत अनेक ऐसी वस्तुएँ ला दी है जो पहले बहुत थोडे से धनी लोगो का एकाधिकार थी। विकाम्टे ड' एवेनेल ने इसे सुख का सामान्यीकरण (लेवलिंग अप ऑफ इजायमेंट) कहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रति व्यक्ति वास्तविक आय १९३९ से १९४३ में ४५% बढ गई है, लेकिन बाद में परि-स्थिति विगड गई।[1] ३० अगस्त, १९४९ को डोमिनियन पार्लियामेण्ट में भाषण करते हुए वित्त-मन्त्री श्री के० सी० नियोगी ने बताया कि वाणिज्य मन्त्रिमण्डल द्वारा प्रस्तुत किये गए एक अनुमान के अनुसार अविभाजित भारत में प्रति व्यक्ति आय, १९४५-४६ में, १९८ रुपये है। यदि केवल भारत के प्रान्तो को ही लिया जाय तो यह २०४ रुपये होगी। अन्य देशो की सख्याएँ इस प्रकार थी आस्ट्रेलिया १७९९ रुपये, कनाडा २८६८ रु०, इगलिस्तान २३५५ रु०, सयुक्त राज्य ४८६८ रु०।

१२ अधिक सही आँकड़ों की आवश्यकता—भारत की आर्थिक दशा से सम्बन्धित समस्याओ के सुलझाने या निर्धारित करने के लिए जो त्रुटियाँ और अव्यवस्थाएँ आ जाती है उनका प्रधान कारण है सही आँकडो का अभाव। घोर निर्धनता को छोडकर और सब विषयों में हम लोग प्राय अन्धकार में हैं। ठीक आँकडो के प्राप्त हो जाने पर अनेक अनुमानित मान्यताओ का सहारा न लेना होगा और हमारी गणना अधिक सही और विश्वसनीय होगी। इससे देश की अनेक दुरवस्थाओ के कारणो का ठीक-ठीक पता लगेगा तथा उन्हे सुलझाने में बडी सहायता मिलेगी। प्रशासन की कितनी ही कठिनाइयाँ दूर हो जायँगी। १९२५ की भारतीय आर्थिक जाँच समिति ने इस सम्बन्ध में (लन्दन) 'टाइम्स' का उपयुक्त मत उद्धृत किया है। १९२१ में हुए साम्राज्य आँकडा सम्मेलन (एम्पायर स्टेटिस्टिक्स कॉन्फ्रेंस) के सम्बन्ध में 'टाइम्स' का मत है कि "युद्ध से पूर्व जर्मनी में स्टेटिस्टिकल व्यूरो अविराम गति से उन आँकडो का संकलन करने में सलग्न था जिनसे देश के भविष्य-निर्माण में किंचित् भी सहायता मिल सकती थी। अब जो युग प्रारम्भ हो गया है उसमें जो राष्ट्र आँकडो के द्वारा की गई व्याख्या से सुसज्जित है वे उनसे प्रस्तुत किये गए लाभो का पूरा उपयोग कर

१ ईस्टर्न इकानामिस्ट, वार्षिक अङ्क, १९४८, पृ० ११४८।

सकते है तथा उस राष्ट्र की अपेक्षा निश्चित ही अच्छे हैं जो केवल अनुभवजन्य ज्ञान पर निर्भर है।"[1] इस समय एकत्रित आँकडे विशेषज्ञो के निर्देशन से रहित एव असम्बद्ध हैं। वस्तुत. वे सरकारी वैभागिक कार्रवाई के उपोत्पाद है, उनका उद्देश्य जनता को सामाजिक और आर्थिक महत्त्व की बातो की जानकारी कराना नही होता।

यह बात सच है कि भारत में आँकडो के एकत्र करने के मार्ग में अनेक बाधाएँ हैं। पहले तो देश का विशाल आकार ही काम को व्ययशील और कठिन बना देता है। दूसरे जनता कस्बो और नगरो में केन्द्रित न होकर गाँवो में बिखरी पडी है। तीसरे जनता की अशिक्षा और अज्ञान के कारण आँकडे एकत्र करने के काम में उससे जरा भी सहायता नही मिलती, इससे यह प्राय· व्यावहारिक असम्भावना का रूप धारण कर लेता है। इंगलैण्ड या अन्य देशो में उत्पादन, पारिश्रमिक एव कीमतो के आँकडे व्यक्तियो को अनुसूचियाँ बाँटकर एकत्र किये जाते है जो भरकर निश्चित समय में लौटा देते है। वैतनिक कर्मचारियो की अपेक्षा यह अधिक सत्य और कम व्ययसाध्य होता है। व्यक्तिगत सस्थाओ से भी बडी सहायता मिल जाती है। इस प्रकार की सस्थाएँ भारत में नही है। सगठित उद्योग का अभाव तथा विशृङ्खल छोटे-बडे उद्योगो की उपस्थिति साख्यिकीय कार्य को साधारण रूप से कठिन बना देती है।[2] यह स्वीकार करते हुए भी कि हम पाश्चात्य देशो के स्तर पर इतनी शीघ्रता से नही पहुँच सकते, इतना तो स्वीकार करना ही पडेगा कि इस विषय में पर्याप्त सुधार किया जा सकता है।

१३. बाउली-राबर्टसन जाँच—नवम्बर, १९३३ में भारत सरकार ने प्रो० ए० एल० बाउली (लन्दन स्कूल आव इकनामिक्स) और मि० डी० एच० राबर्टसन को (केम्ब्रिज में इकनामिक्स के प्राध्यापक) अधिक सही और व्यापक आँकडे इकट्ठा करने तथा उत्पादन-गणना करने की व्यावहारिकता पर परामर्श देने के लिए नियुक्त किया। इनके साथ ही तीन भारतीय अर्थशास्त्रियो ने भी काम किया और इन लोगो के सम्मिलित प्रयत्न के फलस्वरूप १९३४ से एक महत्त्वपूर्ण रिपोर्ट प्रकाशित हुई जिसका नाम था 'भारत की आर्थिक गणना की योजना' (ए स्कीम फॉर एन इकनामिक सेन्सस ऑफ इण्डिया)। सक्षेप में उसको नीचे दिया जाता है—

१४. (१) आँकड़े संकलित करने का सकलन—केन्द्रीय कार्यकारिणी की आर्थिक समिति से सलग्न एक स्थायी आर्थिक कर्मचारी वर्ग नियुक्त किया जाय, जिसमें चार सदस्य हो। पुराना सदस्य कार्यकारिणी की आर्थिक समिति के सचिव का काम करेगा और यह आर्थिक समिति के प्रति सम्पूर्ण आर्थिक सूचना के सगठन कार्य के लिए उत्तरदायी होगा। इस प्रकार वह अत्यावश्यक प्रश्नों पर, जैसे-जैसे वे सामने आएँगे, रिपोर्ट तैयार करेगा। इस कार्य के लिए उसे देश-विदेश दोनो से आर्थिक और व्यावसायिक घटनाओ की जानकारी उपलब्ध करनी होगी। उसे और विस्तृत तथा आधारभूत प्रकार की जाँचो की

१ आर्थिक जाँच समिति रिपोर्ट, पृ० ४।

२. देखिए, प्रो० बर्नेट हर्स्ट की विमति टिप्पणी, आर्थिक जाँच समिति रिपोर्ट, पृ० ९१-२।

स्वीकृति न पा सका। अन्य बातो के साथ यह बताया गया कि विशेषकर कस्बो के समीप के गाँवो का आहार-स्तर बहुत ही गिरा हुआ है। दूध का, जो कि एक शाकाहार-प्रधान देश में प्रधान खाद्य है, नितान्त अभाव होता जा रहा है और उसी उपयोगिता के आहार रूप में और कोई पदार्थ उसका स्थान नही ले पाया है। यह मान लेने पर भी कि थोडा-बहुत सुधार हुआ है यह तो सच ही है कि भारत पाश्चात्य देशो, विशेषकर इगलैण्ड, की तुलना में एक क्षण भी खडा नही हो सकता; जब कि हम वहाँ की दरिद्रता में कमी, मृत्यु की दर तथा गरीबी से उत्पन्न बीमारियो में घटती, शिक्षा का प्रसार, आमोद-प्रमोद के साधनो में वृद्धि, अधिक अच्छी सफाई और मकान की दशाओ को देखते हैं। पश्चिम में भी धन के वितरण में भी बडी असमानता है, किन्तु आर्थिक समृद्धि का भी विस्तृत प्रसार है, यह निस्सन्देह कहा जा सकता है। जीवन की अच्छी वस्तुओ की अधिकता और आमदनी में साधारण रूप से वृद्धि ने सर्वसाधारण की क्रय-शक्ति की क्षमता के अन्तर्गत अनेक ऐसी वस्तुएँ ला दी हैं जो पहले बहुत थोडे से धनी लोगो का एकाधिकार थी। विकाम्टे ड' एवेनेल ने इसे सुख का सामान्यीकरण (लेवलिंग अप ऑफ इजायमेंट) कहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रति व्यक्ति वास्तविक आय १९३९ से १९४३ में ४५% बढ गई है, लेकिन बाद में परिस्थिति बिगड गई।[1] ३० अगस्त, १९४९ को डोमिनियन पार्लियामेण्ट में भाषण करते हुए वित्त-मन्त्री श्री के० सी० नियोगी ने बताया कि वाणिज्य मन्त्रिमण्डल द्वारा प्रस्तुत किये गए एक अनुमान के अनुसार अविभाजित भारत में प्रति व्यक्ति आय, १९४५-४६ में, १९८ रुपये है। यदि केवल भारत के प्रान्तो को ही लिया जाय तो यह २०४ रुपये होगी। अन्य देशो की सख्याएँ इस प्रकार थी आस्ट्रेलिया १७९९ रुपये, कनाडा २८६८ रु०, इगलिस्तान २३५५ रु०, सयुक्त राज्य ४८६८ रु०।

१२. अधिक सही आँकडों की आवश्यकता—भारत की आर्थिक दशा से सम्बन्धित समस्याओ के सुलझाने या निर्धारित करने के लिए जो त्रुटियाँ और अव्यवस्थाएँ आ जाती हैं उनका प्रधान कारण है सही आँकडो का अभाव। घोर निर्धनता को छोडकर और सब विषयो में हम लोग प्राय अन्धकार में हैं। ठीक आँकडो के प्राप्त हो जाने पर अनेक अनुमानित मान्यताओ का सहारा न लेना होगा और हमारी गणना अधिक सही और विश्वसनीय होगी। इससे देश की अनेक दुरवस्थाओ के कारणो का ठीक-ठीक पता लगेगा तथा उन्हें सुलझाने में बडी सहायता मिलेगी। प्रशासन की कितनी ही कठिनाइयाँ दूर हो जायेंगी। १९२५ की भारतीय आर्थिक जाँच समिति ने इस सम्बन्ध में (लन्दन) 'टाइम्स' का उपयुक्त मत उद्धृत किया है। १९२१ में हुए साम्राज्य आँकडा सम्मेलन (एम्पायर स्टेटिस्टिक्स कॉन्फ्रेंस) के सम्बन्ध में 'टाइम्स' का मत है कि "युद्ध से पूर्व जर्मनी में स्टेटिस्टिकल ब्यूरो अविराम गति से उन आँकडो का संकलन करने मे सलग्न था जिनसे देश के भविष्य-निर्माण में किंचित् भी सहायता मिल सकती थी। अब जो युग प्रारम्भ हो गया है उसमें जो राष्ट्र आँकडो के द्वारा की गई व्याख्या मे सुसज्जित हैं वे उनसे प्रस्तुत किये गए लाभो का पूरा उपयोग कर

१ ईस्टर्न इकॉनामिस्ट, वार्षिक अक, १९४८, पृ० ११४८।

सकते हैं तथा उस राष्ट्र की अपेक्षा निश्चित ही अच्छे हैं जो केवल अनुभवजन्य ज्ञान पर निर्भर है।"[1] इस समय एकत्रित आँकडे विशेषज्ञो के निर्देशन से रहित एव असम्बद्ध हैं। वस्तुत वे सरकारी वैभागिक कार्रवाई के उपोत्पाद है, उनका उद्देश्य जनता को सामाजिक और आर्थिक महत्त्व की बातो की जानकारी कराना नही होता।

यह बात सच है कि भारत में आँकडो के एकत्र करने के मार्ग में अनेक बाधाएँ हैं। पहले तो देश का विशाल आकार ही काम को व्ययशील और कठिन बना देता है। दूसरे जनता कस्बो और नगरो में केन्द्रित न होकर गाँवो में बिखरी पडी है। तीसरे जनता की अशिक्षा और अज्ञान के कारण आँकडे एकत्र करने के काम में उससे जरा भी सहायता नही मिलती, इससे यह प्राय. व्यावहारिक असम्भावना का रूप धारण कर लेता है। इगलैण्ड या अन्य देशो में उत्पादन, पारिश्रमिक एव कीमतो के आँकडे व्यक्तियो को अनुसूचियाँ बाँटकर एकत्र किये जाते हैं जो भरकर निश्चित समय में लौटा देते हैं। वैतनिक कर्मचारियो की अपेक्षा यह अधिक सत्य और कम व्ययसाध्य होता है। व्यक्तिगत सस्थाओ से भी बडी सहायता मिल जाती है। इस प्रकार की सस्थाएँ भारत में नही हैं। सगठित उद्योग का अभाव तथा विशृङ्खल छोटे-बडे उद्योगो की उपस्थिति साख्यिकीय कार्य को साधारण रूप से कठिन बना देती है।[2] यह स्वीकार करते हुए भी कि हम पाश्चात्य देशों के स्तर पर इतनी शीघ्रता से नही पहुँच सकते, इतना तो स्वीकार करना ही पडेगा कि इस विषय में पर्याप्त सुधार किया जा सकता है।

१३. बाउली-राबर्टसन जाँच—नवम्बर, १९३३ में भारत सरकार ने प्रो० ए० एल० बाउली (लन्दन स्कूल आव इकनामिक्स) और मि० डी० एच० राबर्टसन को (केम्ब्रिज में इकनामिक्स के प्राध्यापक) अधिक सही और व्यापक आँकडे इकट्ठा करने तथा उत्पादन-गणना करने की व्यावहारिकता पर परामर्श देने के लिए नियुक्त किया। इनके साथ ही तीन भारतीय अर्थशास्त्रियो ने भी काम किया और इन लोगो के सम्मिलित प्रयत्न के फलस्वरूप १९३४ से एक महत्त्वपूर्ण रिपोर्ट प्रकाशित हुई जिसका नाम था 'भारत की आर्थिक गणना की योजना' (ए स्कीम फॉर एन इकनामिक सेन्सस ऑफ इण्डिया)। सक्षेप में उसको नीचे दिया जाता है—

१४. (१) आँकडे संकलित करने का सकलन—केन्द्रीय कार्यकारिणी की आर्थिक समिति से सलग्न एक स्थायी आर्थिक कर्मचारी वर्ग नियुक्त किया जाय, जिसमें चार सदस्य हो। पुराना सदस्य कार्यकारिणी की आर्थिक समिति के सचिव का काम करेगा और यह आर्थिक समिति के प्रति सम्पूर्ण आर्थिक सूचना के सगठन कार्य के लिए उत्तरदायी होगा। इस प्रकार वह अत्यावश्यक प्रश्नो पर, जैसे-जैसे वे सामने आएँगे, रिपोर्ट तैयार करेगा। इस कार्य के लिए उसे देश-विदेश दोनो से आर्थिक और व्यावसायिक घटनाओ की जानकारी उपलब्ध करनी होगी। उसे और विस्तृत तथा आधारभूत प्रकार की जांचो की

१ आर्थिक जाँच समिति रिपोर्ट, पृ० ४।

२ देखिए, प्रो० बर्नेट हर्स्ट की विमति टिप्पणी, आर्थिक जाँच समिति रिपोर्ट, पृ० ९१-२।

योजना बनानी होगी। स्टाफ के दो और सदस्य प्रशिक्षित अर्थशास्त्री होगे। तीसरा सांख्यिकी सचालक होगा। जहाँ तक हो सकेगा स्टाफ एक समूह के रूप में कार्य करेगा, न कि अलग-अलग व्यक्तियो के रूप में। लेकिन पुराना अफसर और दो अर्थ-शास्त्री अपनी खोज का कार्य क्षेत्र आपस में अपनी प्रवृत्ति के अनुसार बाँट लेंगे। उदाहरणार्थ यह अधिक स्वाभाविक होगा कि उनमें से एक भारत के विदेश-व्यापार को नियमित करने के साधनो का अध्ययन और आयात-निर्यात-कर तथा व्यापारिक समझौतो की जांच करेगा। दोनो अर्थशास्त्री गृह-सेवाओं में पूर्ण स्वतन्त्रता से काम करेंगे। स्टॉफ कुछ और सरकारी अफसरो से घनिष्ठतम सम्बन्ध बनाए रखेगा। वे आर्थिक समिति को किसी भी विशिष्ट क्षेत्र व शाखाओ अथवा उत्पादन की विधाओं की आर्थिक सामर्थ्य पर रिपोर्ट देने के लिए बाह्य विशेषज्ञ नियुक्त करने की सलाह दे सकते है। सांख्यिकी सचालक को सूचना का प्रमुख अग तथा सदस्य होने के अतिरिक्त और भी कार्य करने पडते थे। (१) जनगणना कराना, (२) उत्पादन-गणना कराना (३) केन्द्रीय आँकडो का सयोजन और (४) प्रान्तीय आँकडो का सयोजन। इस कार्य में उसकी सहायता करने के लिए वाणिज्य सूचना विभाग की सांख्यिकीय शाखा उसके अधीन कर दी जायगी और उसके कुछ स्थायी सदस्य भी बढा दिए जायेंगे। 'वाणिज्य सूचना विभाग', जो केवल व्यावसायिक दुनिया की जाँच-पडताल का जवाब देने में लगा रहता है, वाणिज्य-विभाग का एक अग हो जायगा।

उत्पादन गणना हर पाँचवें वर्ष होनी चाहिए। यद्यपि जनगणना दस वर्ष बाद होती है परन्तु दस वर्ष के बीच मुख्यतया सख्या, आयु, लिंग, व्यवसाय (पेशे) आदि से सम्बन्धित सक्षिप्त प्रश्नावली के आधार पर जनगणना करनी चाहिए सारणीपन की दृष्टि से जहाँ तक सम्भव हो सके उत्पादन और जनसख्या की गणनाएं एक समय पर की जायें। एक स्थायी सांख्यिकीय विभाग गणना की तैयारी तथा उसके परिणामो का विश्लेपण करेगा और उसे प्राय सदैव कार्य-लग्न रहना पडेगा तथा दसवर्षीय जनगणना की अवस्था पर उसे थोडा-सा और बढा दिया जायगा। वर्गीकरण में एकता लाने के लिए सांख्यिकीय सचालक को अन्य विभागो में आँकडे प्रस्तुत करने के लिए उत्तरदायी व्यक्तियो से सलाह ले सकने का अधिकार होना चाहिए। इससे साधारण उपयोग के लिए आँकडे प्राप्त होगे और विभाग के कार्य के लिए भी आवश्यक आँकडे एकत्र रहेगे। उसे सांख्यिकीय साराश (स्टेटिस्टिकल एब्स्ट्रैक्ट) प्रकाशित करने के लिए भी उत्तरदायी होना चाहिए। हर प्रान्त में पूरे समय तक काम करने वाले अकशास्त्री होगे। प्रशासनात्मक आवश्यकताओ को ध्यान में रखते हुए उन्हे यथासम्भव स्वतन्त्रता मिलेगी तथा उसकी सेवाएँ हर विभाग को प्राप्य होगी। वह उन सबके आँकडो का पुनर्विलोकन करेगा। वह केन्द्रीय सांख्यिकीय सचालक से हर प्रकार से सहयोग करेगा और उसके निर्देशानुसार जनगणना कराएगा।

१४. (२) राष्ट्रीय आय का माप—रिपोर्ट के लेखको के मतानुसार वर्तमान समय में प्राप्य सामग्री भारत की आय और धन का नाप करने के लिए अत्यन्त दोपपूर्ण है। अब तक किये गए विभिन्न अनुमान पुराने पड गए है और समस्या को फिर शुरू से

जांच करनी आवश्यक है।

राष्ट्रीय आय किसी देश के निवासियो को एक वर्ष में प्राप्त होने वाली कुल वस्तुओ और सेवाओ की द्राव्यिक नाप है, जिसमें उनकी व्यक्तिगत या सामूहिक धनराशि से होने वाली वृद्धि शामिल या कमी निकाली हुई है। अच्छा होगा कि हम दैवी आपत्तियो से होने वाली हानि (जैसे भूचाल, ज्वालामुखी या पशुओ की भयकर बीमारियो) को गणना में स्थान न दें।

जैसा कि सभी जानते हैं, गणना की दो विधियाँ हैं—पहली वस्तुओ और सेवाओ के मूल्याकन की है और दूसरी व्यक्तिगत आयो के योग की। ये दोनो पद्धतियाँ एक-दूसरे की सत्यता सिद्ध करने में हर जगह सहायक नही होती—उदाहरण के लिए, मत्रिमण्डल के मन्त्रियो की सेवाएँ उनको मिलने वाले वेतन के बराबर हैं क्योकि उनको नापने का और कोई तरीका ही नही है। भारत के विषय में तो ऐसा असम्भव दीखता है कि पूरे क्षेत्र या केवल उद्योगो के सम्पूर्ण क्षेत्र में भी प्रथम (उत्पादन-गणना) विधि पूरी तरह से लागू होगी। दोनो विधियो के परिणामो को मिलाने में भी विशेष सावधानी आवश्यक हो सकती है। प्रथम (उत्पादन-गणना) विधि में निम्न बातें हैं·

(१) खेती, खनिज, उद्योग इत्यादि उत्पादन की विभिन्न शाखाओ के वास्तविक उत्पादन को उत्पादन होते ही आंक लिया जाय ताकि दुबारा गणना करने की गलती से बच जायँ।

(२) गृह-उत्पादित वस्तुओ एव आयातो में परिवहन और व्यवसायियो की सेवाओ द्वारा हुई मूल्य-वृद्धि को जोडा जाय।

(३) गृह-उत्पादित वस्तुओ पर लगाया जाने वाला उत्पाद-कर जोडा जाय।

(४) निर्यात (जिसमें सोना-चाँदी भी शामिल है) का मूल्य घटाया जाय।

(५) आयात (जिसमें सोना-चाँदी भी शामिल है) का मूल्य जोडा जाय।

(६) आयात पर लगे आयात-कर (कस्टम्स ड्यूटीज़) को जोडा जाय।

(७) उन वस्तुओ के मूल्य को—चाहे वे देश में उत्पन्न की जाती हो या विदेश से मँगाई जाती हो, जो स्थिर पूँजी को कायम रखने में प्रयोग में लाई जाती हैं—घटा दिया जाय।

(८) सब प्रकार की वैयक्तिक सेवाओ को जोडा जाय।

(९) मकानो का सालाना किराया जोडा जाय—चाहे वे किराये पर उठे हों या मालिक-मकान द्वारा उपयोग किये जाते हो।

(१०) धन-राशि में (चाहे सरकारी हो या व्यक्तिगत) विदेशी प्रतिभूतियो द्वारा हुई अभिवृद्धि को जोडा जाय, या इस प्रकार की धन-राशि में से देश में विदेशियो की प्रतिभूतियो की वृद्धि को घटाया जाय या इनकी कमी को जोडा जाय।

इनमें से कुछ पर टिप्पणी की आवश्यकता है—

(१) कृषि का वह भाग जो उत्पादको द्वारा उपयुक्त होता है—भारत में यह हिस्सा बहुत अधिक है—और वह हिस्सा जोकि स्थानीय सेवाओ से बदला जाता है इनका भी मूल्याकन होना चाहिए। यह मूल्याकन स्थानीय मूल्य में ही होना चाहिए,

न कि दूर के वाजारो के फुटकर मूल्य पर, जिसमें उठाने, ले जाने आदि की मजदूरी भी शामिल रहती है जोकि स्थानीय मूल्य में नही होती ।

(३,६) यह आवश्यक है क्योंकि जिस योग की हमें खोज है वह उपभोक्ताओ के विनिमय-मूल्य का कुल जोड है ।

(४,५,१०) यह आसानी से देखा जा सकता है कि जव भारत सरकार रेलवे निर्माण के लिए इगलैण्ड से ऋण लेती है तो जिन प्रतिभूतियो का आयात होता है वे इगलैण्ड के विनियोक्ताओ की वास्तविक आय का एक भाग होती है, ठीक उसी प्रकार जैसे भारतीय चाय का आयात वास्तविक आय का भाग है । इसी सत्य का दूसरा पहलू यह है कि भारत की पूंजी की वृद्धि, जोकि आयात अथवा उत्पादन के मूल्याकन में शामिल है, का सन्तुलन विदेशो की देनदारी द्वारा हो जाता है और सही अनुमान पर पहुँचने के लिए इसे घटाना जरूरी है । यही वातें देश अथवा विदेश की वैंको में जमा राशि के स्वामित्व-परिवर्तन के लिए भी लागू होती है जो भारत के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । यह वहुमूल्य धातुओ की वृद्धि या कमी पर भी लागू होती है जोकि इस काम के लिए भारत में विदेशी प्रतिभूतियो के रूप में मानी जा सकती है ।

(९) (१) सरलता के लिए यह मान लिया जाता है कि सरकारी नौकरो की सेवाएँ जनता को सीधा लाभ पहुँचाती है और उपयोगी है । अतएव वे वास्तविक राष्ट्रीय आय का एक अग है । इनके मूल्याकन में पेंशन-अधिकारो को भी शामिल कर लेना चाहिए । (२) भारत में दान, उपहार और धार्मिक सेवाओ के लिए दिये गए रुपये के सम्वन्ध में वडी अनिश्चितता है और जो भी विभाजन-रेखा खीची जायगी वह अवश्यमेव स्वेच्छा पर निर्भर होगी ।

राष्ट्रीय आय निकालने के लिए उत्पादन-गणना विधि दोनो विधियो मे अधिक आधारभूत है । दूसरी विधि (आय-गणना) के परिणाम उपर्युक्त विधि के परिणामो से मिल सकें, इसके लिए कुछ सावधानियाँ वरतनी पडेंगी ।

(१) स्वय उपभुक्त वस्तुओ तथा वस्तु-रूप में प्राप्त आय को गणना में शामिल करना होगा । इसकी कीमत उत्पादन के स्थान की कीमत के अनुसार लगानी होगी । इसी प्रकार जिन घरो में लोग रहते है—चाहे वे उसके मकान-मालिक ही क्यो न हो—उसका भी वार्षिक मूल्य लगाना होगा ।

(२) सव प्रकार के व्याज, चाहे वे उपभोग के लिए लिये गए ऋण पर ही क्यो न दिये गए हो, व्यक्ति की आय में से घटाने होंगे ।

(३) इसके अतिरिक्त हर एक व्यक्ति की आय, जिसमें सरकारी नौकरो की पेंशनें और सरकारी ऋण पर व्याज ज्यो-की-त्यो शामिल करनी होगी अर्थात् इन्हे कर देने से पूर्व शामिल करना होगा । कर में मालगुजारी भी शामिल है । सरकारी नौकरो की आय में उस वर्ष के पेंशन के अधिकार भी जोड लेने चाहिएँ । इस प्रकार के योग में कम्पनियो के अविभाजित मुनाफे और सरकारी कामो से होने वाले लाभो को भी जोडना होगा । इस प्रकार प्राप्त योग में से उत्पादक ऋणों के अतिरिक्त शेष

सरकारी ऋण के ब्याज की राशि तथा पहले के सरकारी नौकरों की पेंशनें—चाहे वे देश मे दी जायँ या विदेश में—भी घटानी होगी।

(४) इस प्रकार प्राप्त योग में आयात-कर, उत्पाद-कर, स्टाम्प-कर और स्थानीय कर (लोकल रेट्स) भी जोडने होगे, क्योकि यह उत्पादको को मिलने वाले विनिमय-मूल्य का कुल योग है जबकि उत्पादन-गणना विधि से आकलित वास्तविक राष्ट्रीय आय उपभोक्ताओ को मिलने वाले विनिमय-मूल्यो का समूह है। अतः जब तक यह नही जोडा जाता, गलतियाँ होने की सम्भावना है।

नीचे जो सुझाव दिये गए है वे राष्ट्रीय आय के बडे भागो से सम्बद्ध हैं। ऊपर निर्देश की गई विभिन्न व्यवस्थाएँ अन्तिम गणना में अपना स्थान रखेंगी।

लेखकों ने इस समय राष्ट्रीय धन को सम्पूर्ण रूप में आंकने की कोई सिफारिश नही की। अन्यत्र दो और तरीके काम में लाए जाते है जो भारतवर्ष के लिए उपयुक्त नही है। पहला, हर आय देने वाली सम्पत्ति का पूँजीकरण अर्थात् द्रव्य के रूप मे उसका मूल्याकन—जिसमें ख्याति, मकानो के किराये, भूमि की मालगुजारी, ब्याज और हिस्से भी शामिल है तथा कभी-कभी सरकारी सम्पत्ति, जैसे बन्दरगाह, रेलवे, सरकारी इमारतें भी शामिल कर ली जाती है। दूसरा तरीका, मृत्यु के समय एक से दूसरे के पास जाने वाली सम्पत्ति के आंकडो का उपयोग तथा जीवन-तालिका के आधार पर उसका सम्पूर्ण मूल्य मालूम करना है। यह पद्धति भारत में असम्भव है, क्योंकि साधारणत यहाँ मृत्यु-कर नही के बराबर है। जहाँ तक पहले तरीके का ख्याल है वैयक्तिक सम्पत्ति के कुछ बहुत ही महत्त्वपूर्ण प्रकारो के विषय में जानकारी का बिलकुल अभाव है। यद्यपि रेलो का मूल्याकन किया जा सकता है परन्तु सडको, कुछ सिंचाई के कामों और सुरक्षा इत्यादि पर किये गए सरकारी खर्चों का पूरा मूल्याकन असम्भव है।

यद्यपि ठीक-ठीक राष्ट्रीय धन का अनुमान लगाना सम्भव नही है, फिर भी स्थायी कामो में सरकारी खर्च, नई पूँजी के विनियोग तथा पूँजी के विनियोग की तरह के व्ययो के अनुमानो से राष्ट्रीय आय के परिवर्तनो का निर्देश तो किया ही जा सकता है।

राष्ट्रीय आय के अनुमान के लिए प्रस्तावित गवेषणा प्रधानतया उत्पादन के आधार पर है, लेकिन जैसा सभी देशो में होता है कुछ भाग वैयक्तिक आय पर निर्भर रहता है। भारत में इस प्रकार की आय नगरो में ज्यादा है परन्तु पाश्चात्य देशो की तुलना में बहुत ही कम है। कुछ तो उत्पादन के स्वभाव और कुछ इसलिए क्योकि गवेषणा के विभिन्न तरीके आवश्यक है, ग्रामीण आय नागरिक आय से भिन्न रखी जाती है।

ग्रामीण आय के लिए उन्होने सुझाव रखा कि कुछ चुने हुए गाँवो का घना सर्वेक्षण करके भूमि से उत्पादित सब वस्तुओ और गांवो में की जाने वाली सब सेवाओ का पता लगाया जाय।

नागरिक आय के लिए उन्होने अन्यत्र सफलतापूर्वक काम में लाई गई विधियो

पर बडे नगरो के सर्वेक्षण की सिफारिश की। यह कुटुम्बो की जीविका की जाँच द्वारा किया जा सकता है, जिसमें नमूने के कुछ कुटुम्ब लेकर कुछ तो उनके स्वय के विवरणो द्वारा और कुछ प्रचलित वेतन और पारिश्रमिक की दर के अनुसार उनकी आय का पता लगाया जाय। कर-मुक्त आयो से ऊपर की आयो के लिए आय-कर के आँकडे बडे ही लाभदायक सिद्ध होगे।

उन्होंने यह भी सुझाव दिया कि एक माध्यमिक शहरी गणना कर ली जाय। इन तीनो जाँचो की पूर्ति विद्युत् शक्ति का उपयोग करने वाली फैक्ट्रियो, खानो तथा अन्य कुछ उद्योगो की उत्पादन-गणना से की जायगी। यह बहुत अशो में नागरिक सर्वेक्षण तथा कुछ अशो में ग्रामीण सर्वेक्षण की पुनरावृत्ति होगी। लेकिन यह स्वत बडा ही महत्त्वपूर्ण है और अन्य सर्वेक्षणो की तुलना में सम्पूर्ण जाँच के कुछ भाग का बहुत सही विवरण प्रस्तुत करेगा। ऐसा विश्वास है कि जब सब प्रकार की सामग्री सामने होगी तो शहरी या ग्रामीण उत्पादन-गणना या अन्य विधियो में सम्मिलित आय का अनुमान लगाकर दोहरी गणना के दोष से बचने के तरीके निकाले जा सकेगे।

अब जनसख्या और सर्वेक्षणो के आधार पर छोटे-छोटे कस्बो की आय का अनुमान लगाना शेष रहेगा। चाय के बगीचो तथा अन्य विशेप क्षेत्रो के सम्बन्ध में, जो ग्रामीण सर्वेक्षणो में नही है, अन्य अनुमानो की आवश्यकता होगी।

इन प्रस्तावो का यह परिणाम होगा कि देश के काफी बडे भाग की आय और उत्पादन का ठीक-ठीक अनुमान लगाया जा सकेगा। जब ये निश्चित हो जायँगे तो अनुमानशीलता कम हो जायगी और अधिक सही आँकडो पर आधारित सत्य प्राप्त हो सकेगा।

१६ **(३) उत्पादन-गणना**—इगलैण्ड की तरह उत्पादन-गणना की व्यवस्था धारा-सभा के अधिनियम द्वारा कर देनी चाहिए, जिसके अन्तर्गत माँगे गए तथ्यो के सम्बन्ध में सूचना देना अनिवार्य हो। जहाँ तक अग्रेजी या अमरीकी ढग का प्रश्न है, इसका क्षेत्र बडे कारखानो तक सीमित करना आवश्यक प्रतीत होता है। फैक्ट्री एक्ट के अनुसार वीस या अधिक व्यक्तियो द्वारा यान्त्रिक शक्ति से सचालित कारखानो तथा अन्य कारखानो के वीच विभाजन-रेखा खींची जा सकती है। इस विभाजन को उन छोटे कारखानो पर लागू न करना चाहिए, जिनको कुछ विशेप कारणो से प्रान्तीय सरकारो ने फैक्ट्री एक्ट के अन्तर्गत माना है। इसके विपरीत कुछ छोटे कारखाने ऐसे हो सकते है जिनमें उत्पादन-गणना सरलता से लागू हो सकती है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे काम जो वडे पैमाने पर चल रहे हो और जिनमें किसी प्रकार की यान्त्रिक शक्ति का उपयोग न किया जाता हो—उदाहरण के लिए ईंटें वनाना, मकान वनाना और दरी वुनना—उत्पादन-गणना विधि के अन्तर्गत लाने चाहिएँ। इसी प्रकार 'खान-अधिनियम' के अन्तर्गत कारखानो और रेलो को भी इसी विधि के अन्तर्गत लाना होगा।

यद्यपि फैक्ट्रियो में लगे व्यक्ति उद्योगो में लगे व्यक्तियो से अनुपात में वहुत

कम है, फिर भी निर्यात की दृष्टि से विशेष महत्त्व होने के कारण इस पर विशेष ध्यान देना आवश्यक है। यह ध्यान में रखना होगा कि फैक्ट्री उद्योग कुछ अंशो में कुटीर उद्योगो को नष्ट करके आगे बढ रहा है और इन दोनो को सांख्यिकीय दृष्टि से सम्बद्ध करना होगा। इन उद्योगो की गणना-सामग्री की इस प्रकार भी तालिका बनाई जा सकती है कि जब वे फैक्ट्री के आँकडो के साथ उपयोग में लाई जायें तो इन दोनो सगठनो (उद्योगो) के आपेक्षिक महत्त्व का भी पता चल जाय।

ग्रामीण सर्वेक्षण—भारतीय आर्थिक सर्वेक्षण में यह आवश्यक है कि अन्य आयो के साथ भूमि से प्राप्त आय (चाहे रुपये के रूप में हो या अन्न इत्यादि के रूप में) की जानकारी प्राप्त की जाय और यह देखा जाय कि वह किस तरह मालिको और मजदूरो के बीच वितरित होती है।

यह तो सम्भव नही है कि भारत के लाखो गाँवो में सबका विस्तृत सर्वेक्षण किया जा सके। खर्च बरदाश्त होने और इतनी सख्या में जाँच करने वाले व्यक्ति मिलने पर भी यह काम शीघ्र ही नही हो सकता। इसीलिए नमूने के लिए कुछ गाँवो को लेकर ही आगे बढा जा सकता है।

यद्यपि आर्थिक कठिनाइयो के कारण सब सुझावो को कार्यान्वित नही किया जा सकता, क्योकि ऐसा अनुमान है कि इसमें कुल खर्च ३०,००,०००रु० होगा। फिर भी यह आशा करनी चाहिए कि निकट भविष्य में एक उत्पादन-गणना सम्भव हो सकेगी जो कि आर्थिक नीति के निर्धारण के लिए अत्यन्त आवश्यक है।[1]

१७. भारतीय दरिद्रता को बढ़ाने वाली उपभोग सम्बन्धी कुछ भूलें—जो भी बात देश की उत्पादन-शक्ति को घटाने में सहायक होती है उसे अवश्य ही भारतीय दरि-

---

१ अगस्त, १९४९ में भारत सरकार ने राष्ट्रीय आय समिति (नेशनल इन्कम कमेटी) नियुक्त की, जिसके अध्यक्ष प्रो० पी० सी० महलनोबिस थे। फरवरी, १९५४ में समिति की रिपोर्ट प्रकाशित हुई। समिति ने उत्पादन-गणना तथा आय-गणना दोनों विधियों के समन्वय से काम किया। कृषि, वन, पशु-पालन, खनन आदि के सम्बन्ध में उत्पादन-गणना-विधि अपनाई गई, जबकि व्यापार, परिवहन, प्रशासन आदि के सम्बन्ध में आय-गणना-विधि अपनाई गई। समिति ने चालू मूल्यों तथा १९४८-४९ के मूल्यों के आधार पर राष्ट्रीय आय के अनुमान प्रस्तुत किये हैं। इन दोनों मूल्यों के आधार पर १९४८-४९, १९४९-५० तथा १९५०-५१ के लिए समिति ने राष्ट्रीय आय के निम्न अनुमान प्रस्तुत किये हैं—

	वास्तविक उत्पत्ति करोड़ रु० में		प्रति व्यक्ति वास्तविक उत्पत्ति करोड़ रु० में	
	चालू मूल्य	१९४८-४९ के मूल्य	चालू मूल्य	१९४८-४९ के मूल्य
१९४८-४९	८,६५०	८,६५०	२४६·९	२४६ ९
१९४९-५०	९,०१०	८ ८२०	२५३·९	२४८ ६
१९५०-५१	९,५३०	८,८५०	२६५·२	२४६ ३

चालू मूल्यों तथा १९४८-४९ के मूल्यों पर अनुमानित राष्ट्रीय आय की तुलना से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि १९४८-४९ से १९५०-५१ तक राष्ट्रीय आय में द्रव्य के रूप में तो वृद्धि हुई है, परन्तु वास्तविक आय की वृद्धि नहीं के बराबर है, जैसा कि १९४८-४९ के मूल्य पर अनुमानित राष्ट्रीय आय के आँकड़ों से स्पष्ट है।

द्रता का कारण मानना पड़ेगा। निम्न उत्पादन के अतिरिक्त बुद्धिहीन उपभोग भी आर्थिक विकास के मार्ग में एक भारी रुकावट है। बुद्धिसगत उपभोग या 'उपयोगिताओ के नाश' के लिए 'विचारशीलता, बुद्धि और कल्पना' की आवश्यकता है।[1] धन का अपव्यय धनवान को तो बरबाद कर ही सकता है, किन्तु साथ ही ऐसी विलासिताओ पर किया गया निरर्थक व्यय, जो जीवन को अधिक समृद्ध और पूर्ण नही बनाता, समाज के लिए भी घातक सिद्ध हो सकता है। कारण यह है कि इससे इतनी पूँजी और श्रम आवश्यकताओ के उत्पादन से हटकर विलासिताओं के उत्पादन में लग जाता है। यह कहना गलत होगा कि केवल धनी लोग ही अपव्यय के दोषी है। प्राय सभी दरिद्र देशो में गरीब अपनी गरीबी के ही कारण अनेक प्रकार की फिजूलखर्चियाँ करते है। इसके विपरीत कुछ वर्गो के व्यक्ति, जैसे मध्यवर्गीय लोग और मारवाडी, मितव्ययिता के नाम पर इतने कजूस होते है कि अपनी आवश्यकताओ की भी पूर्ति न करके कौडी-कौडी को दाँत से पकडते है और जहाँ उन्हे स्वच्छन्दता से खर्च करना चाहिए वहाँ भी कजूसी बरतने से बाज नही आते। ऐसा देखा गया है कि पुरानी पद्धति में सन्तानो के लिए धन का एकत्रीकरण किया जाता था ताकि जीवन प्रारम्भ करने में उन्हें अच्छे साधन प्राप्त हो, परन्तु अब इसका स्थान नवीन विचारधारा ले रही है जिसमें अर्जन करने वाले के वर्तमान जीवन को अधिक पूर्ण बनाने का प्रयास किया जाता है और अपनी सुख-समृद्धि के लिए सन्तान स्वय अपने ऊपर ही निर्भर होती है। सन्तान को निजी पूँजी से युक्त अर्थात् भली भाँति सुशिक्षित अवश्य करा दिया जाता है।[2] यह दृष्टिकोण अशत जनता की मानसिक प्रवृत्ति के परिवर्तन का परिणाम है। कुछ सीमा तक सम्भवत १९१९ के पश्चात् मूल्यो की अत्यधिक वृद्धि भी इसका कारण है। मध्यवर्ग की आय मूल्यो की वृद्धि के अनुपात में नही बढी। अतएव जो बचत वे अपने को कष्ट देकर भी कर सकते थे, रुपये की क्रय-शक्ति के घट जाने के कारण लाभदायक प्रतीत नही हुई। इस बात के पर्याप्त सकेत हैं—यद्यपि छोटे पैमाने पर ही हैं—कि इस प्रकार का परिवर्तन भारतीय मध्यवर्ग की मनोवृत्ति में हो रहा है। कुछ अश तक इस परिवर्तन का स्वागत करना चाहिए क्योकि यथार्थ में मितव्ययिता बचाकर रखने में नही, अपितु वर्तमान सुखो की वृद्धि करने में है ताकि भविष्य का सुख भी सुरक्षित रह सके। बहुत अधिक सचय की भावना या निर्बुद्धि अपव्यय, दोनो ही देश की आर्थिक स्थिति को कमजोर बनाते है और इसलिए हेय है।

यहाँ भारत की उपभोग-समस्या के सब पहलुओ का विवेचन सम्भव नही है।

---

[1] तुलना कीजिए, "रुपये को अच्छी तरह पैदा करने की अपेक्षा उसका सदुपयोग करना कठिन काम है। रुपये पैदा करने के तरीके निश्चित हैं, काम निश्चित है, किन्तु खर्च करने के लिए व्ययकर्ता स्वतन्त्र है। अब केवल निष्क्रिय आज्ञाकारिता के स्थान पर सद्बुद्धि की आवश्यकता है।"—जे०एस० निकल्सन, 'प्रिंसिपल्स ऑफ पोलिटिकल इकानामी', खण्ड ३, पृ० ४३६।

[2] 'रिपोर्ट ऑफ दि कमेटी आन नेशनल डेट एण्ड टैक्सेशन' पर डब्ल्यू० एच० कोट्स के कथन के लिए देखिए 'जर्नल ऑफ रायल स्टेटिस्टिकल सोसाइटी,' १९२७, खण्ड XC, भाग २, पृ० ३५६।

परन्तु इतना तो सच ही है कि यद्यपि भारतीय दरिद्रता बहुत अशो में कम उत्पादन का परिणाम है, फिर भी बुद्धिहीन और अव्यवस्थित उपभोग ने भी समस्या को और जटिल बना दिया है। यहाँ हम केवल एक प्रकार के बुद्धिहीन उपभोग का, जिस पर इधर पर्याप्त ध्यान दिया जा रहा है, वर्णन करेंगे। यह कहने की आवश्यकता नही है कि शारीरिक स्वास्थ्य, कुशलता तथा भोजन के बीच बडा ही गहरा सम्बन्ध है। जर्मन कहावत "मनुष्य जो खाता है वही बनता है" में बहुत सत्य है। भारतीयो का भोजन स्थानीय परिस्थितियो और प्रथाओ पर निर्भर है। प्राय जो वस्तुएँ एक स्थान पर उत्पन्न होती हैं वे ही वहाँ के भोजन में सम्मिलित होती है। इसको सीमित करने में अनेक धार्मिक एव सामाजिक बन्धनो ने भी सहायता पहुँचाई है। परिणामत कुछ प्रान्तो के भोजन में आवश्यकीय पौष्टिक पदार्थों का अभाव रहता है। भारत की विभिन्न जातियो, यथा मद्रासी, पजाबी, बगाली, मराठा आदि, की शारीरिक क्षमता के विभेद को उनके भोजन की विभिन्नता द्वारा समझा जा सकता है और "अब तो इसे निश्चित रूप से भोजन के जीव-सम्बन्धी मूल्यो से सम्बद्ध कर दिया गया है।" शारीरिक असमता के कारण के रूप में आहार की अपौष्टिकता के सम्बन्ध में लेफ्टिनेण्ट कर्नल मैक् केरिसन द्वारा किये गए अनुसधान बडे शिक्षात्मक है तथा उन्होने विभिन्न राष्ट्रीय आहारो की सापेक्षिक पोषणता को ही अच्छे ढग से प्रदर्शित किया है। इन अनुसधानो से पता चलता है कि चावल, जो भारत में बहुत से लोगो का, विशेषकर बगालियो और मद्रासियो का, भोजन है निम्न कोटि का आहार है। इसमें कितने ही महत्त्वपूर्ण कार्बनिक (आर्गनिक) नमक नही हैं तथा अत्यन्त आवश्यक विटामिनो का अभाव है। इनकी तुलना में गेहूँ और मास आदि का भोजन करने वाले सिख, पठान और गोरखे अधिक शक्तिशाली होते हैं। चावल के साथ गेहूँ, दूध, मास इत्यादि का सेवन करने से चावल का आहार बहुत अच्छा हो जायगा। उदाहरण के लिए मराठो को लिया जा सकता है जो ज्वार-बाजरा के साथ गेहूँ और दूध का भी उपयोग करके अपनी शारीरिक शक्ति बढाने का प्रयत्न करते हैं। आहार की कमी वाले भोजन का लगातार उपयोग शरीर के लिए बडा ही हानिकारक होता है, लेकिन इसके महत्त्व पर प्राय ध्यान नही दिया जाता। अपौष्टिक भोजन की समस्या दरिद्रता से भिन्न है, क्योकि भोजन केवल आवश्यक मात्रा में खाद्यो का एकत्रीकरण ही नही है, वरन् स्वास्थ्य और शक्ति बनाए रखने के लिए आवश्यक पौष्टिक तत्त्वो का सतुलन भी है। जैसा कि कृषि आयोग ने कहा था, 'अपौष्टिक आहार और भुखमरी एक ही बात नही है।' ऐसा सभव है कि अपोषणता से ग्रस्त एक व्यक्ति शरीर द्वारा आसानी से पचाए जा सकने की तुलना में अधिक भोजन कर रहा हो, जब कि उसका भोजन भली प्रकार सतुलित होने पर कम होता। भोजन में किसी खास पोषक तत्त्व के अभाव में बीमारियाँ उत्पन्न हो सकती हैं। उनका होना दरिद्रता[1] का परिचायक नही है,

१ डॉक्टर स्लेटर इस बात की ओर ध्यान आकृष्ट करते हैं कि रहन-सहन के दर्जे की वृद्धि से कुछ अर्थ में शारीरिक हानि हुई है। उदाहरण के लिए चावल की मिलों ने स्त्रियों को परिश्रम से तो बचाया किन्तु वह परिश्रम शरीर के लिए लाभदायक था। साथ ही चावल की बहुत-कुछ पौष्टिकता भी नष्ट हो

और न खाद्यान्न की कमी का ही। अपोषक तत्त्वों से युक्त भोजन, ऐसा सभव है, स्वास्थ्यवर्द्धक एव भली प्रकार सन्तुलित भोजन से अधिक व्ययशील भी हो सकता है।[1]

प्राधिकृत गवेषणाओ के आधार पर किया गया प्रचार निश्चय ही इस विषय में लोगो की जानकारी वढाएगा कि किस प्रकार खर्च में वृद्धि हुए बिना उचित प्रकार से चुने भोजन से अधिक आहार-मूल्य तथा अधिक शारीरिक सुख प्राप्त हो सकता है। भारतीय श्रमिको की सुस्ती और काम में मन न लगने की प्रवृत्ति प्राय उनकी खाद्य सम्बन्धी दुरवस्था का परिणाम है, जो अपर्याप्त होने के साथ ही असन्तुलित भी है। १९१५ में कर्नल मेके द्वारा वगाल और सयुक्त प्रान्त के जेलो के भोजन के सम्बन्ध में की गई खोजो से पता चला कि भोजन जनता के शारीरिक विकास और साधारण सुख का एक महत्त्वपूर्ण कारण है। उन्होंने बताया कि वगाली की शारीरिक अशक्तता के मूल में उसके भोजन में प्रोटीन जैसे तत्त्वो की कमी है। ज्यो-ज्यो पूर्व से पश्चिम की ओर वढते हैं भोजन में गेहूँ की मात्रा वढती जाती है और उसी अनुपात में उडीसा, बिहार, सयुक्तप्रान्त और पजाब में शारीरिक परिवर्तन भी दृष्टिगोचर होते हैं।[2] परिवहन के साधनो में सुधार के साथ एक प्रान्त के खाद्यान्नो को उन प्रान्तो में, जहाँ उनकी कमी है, पहुँचाया जा सकता है और इस प्रकार असन्तुलित भोजन की समस्या को हल किया जा सकता है। लेकिन इसके लिए यह आवश्यक है कि लोग अपने भोजन में परिवर्तन करने के लिए तैयार हो और उस प्रकार के पौष्टिक आहार की माँग करें जिनकी उनके प्रान्त में कमी है। भोजन के विषय में शिक्षा और जानकारी से यह काम सरल हो सकता है। कृषि आयोग ने जनता के स्वास्थ्य में सुधार करने के लिए जो सुझाव रखे उनमें एक यह भी है कि देश के मछली के मत्स्य-साधनो का सरक्षण किया जाय। यह एक ऐसा काम है जिसे सरकार, स्थानीय बोर्ड और साधारण रूप से ग्रामीण समुदाय अपने सक्रिय सहयोग से सफल बना सकते है। यह इसलिए आवश्यक है कि मछली चावल खाने वाले लोगो के लिए अधिक आहार-मूल्य प्रस्तुत करेगी।[3] जनता के एक विशाल भाग में मछली खाने के प्रति किसी प्रकार

गई। एकदम वाहरी सतह पर जो विटामिन रहता था वह मिलों में नष्ट हो जाता है।—इकनामिक कण्डीशस इन इण्डिया, पिल्लई की भूमिका से उद्धृत, पृ० १४।

१ कृषि आयोग रिपोर्ट, पृ० ४९४-५। यह स्वीकार करना होगा कि जनता की आर्थिक स्थिति में सुधार होने पर वे अधिक आहार-मूल्य के भोजनों को चुनेंगे जो कि वर्तमान परिस्थिति में अपनी आर्थिक कठिनाइयों के कारण वे नही कर सकते। डा० डब्ल्यू० आर० अक्रोयड के मतानुसार एक सुसतुलित आहार की कीमत युद्ध-पूर्व के दिनों में ४ रु० से ६ रु० प्रति वयस्क प्रति मास थी या चार वयस्क पुरुषों के परिवार के लिए १६ रु० से लेकर २४ रु० के बीच थी। एक असतुलित भोजन की कीमत, जोकि मात्रा में पूर्ण परन्तु गुण में अपर्याप्त था, १०) प्रति मास थी। इन अकों की युद्ध-पूर्व के वास्तविक आय-स्तर से तुलना करने पर खाद्य पदार्थों पर सम्बन्धित और वाञ्छनीय व्यय के बीच की खाई साफ जाहिर हो जायगी। देखिए डा० घोष, 'प्रेशर ऑफ पॉपुलेशन एण्ड इकनामिक एफिशेंसी इन इण्डिया, पृ० ५६।

२ कृषि आयोग की रिपोर्ट, पृ० ४९३।

३ वही, पृ० ४११-१७। आयोग ने यह भी सुझाव रखा कि एक सेण्ट्रल इन्स्टिट्यूट ऑव ह्यूमन न्यूट्रिशन की स्थापना की जाय तथा प्रान्तीय सरकारों द्वारा सगठित अनुसन्धानों को भी उससे नियोजित

का धार्मिक विरोध नही है और इसका पूरा लाभ उठाना चाहिए।

एक जमाना था जबकि इगलैंगड में लेखको और सुधारकों का कि वे 'चाय पीने के दुर्गुणों' को बहुत बढा-चढाकर सामने रखते थे,[1] ले ...मिक इसका प्रयोग करते आ रहे हैं और अब तो इसका उपयोग इतन कि यह जीवन की आवश्यकताओ में से एक हो गई है। जनमत भी धी गया है और चाय पीने को दुर्गुण बताने के बजाय जल-पान में ए शालीनता का चिह्न समझा जाने लगा है। चाय पीना अधिक शराब पी को दूर करने का एक साधन माना जाने लगा है। डॉ० स्लेटर का मत है किसान एक बात में बड़ा गरीब है और वह है पेय पदार्थ तथा वह इसके नही समझता।[2] "जनता का बडा भाग गन्दे स्थिर तालाबो, सिंचाई की नदियो से प्राप्त गन्दा पानी पीता है जिसमें हर प्रकार की अशुद्धता और रहती है।" डा० स्लेटर का मत है कि वर्तमान समय में उबाले हुए पानी में सबसे सस्ते पेय अर्थात् चाय का प्रचार करने से बहुत लाभ होगा। यह स तक भी पानी पिया जाता है तब तक गन्दा पानी पीने से होने वाली तरह से दूर नही की जा सकती। अच्छा तो यह होगा कि किसी प्रकार व्यवस्था की जाय। शराब के स्थान पर तो चाय एक वरदान ही है। हाँ, पीना शरीर के लिए हानिकारक हो सकता है, विशेषकर जब निम्न कोटि ...ग किया जाता है, जैसी कि भारत की अधिक चाय की दूकानो पर अच्छी चाय की व्यवस्था करने के लिए कुछ कदम उठाना आवश्यक प्र ताकि गन्दी चाय पीने को न मिले, यद्यपि सबसे अधिक प्रभावपूर्ण कदम कि जनता की रुचि में ही सुधार किया जाय।[3]

कर दिया जाय। उन्होंने यह भी सिफारिश की कि पशु-आहार एव मानवीय आहार में स्थापित किया जाय तथा भारत में की गई इस प्रकार की खोजों को विदेशों में होने वाल से सयुक्त किया जाय। समस्याएँ इतनी महान् हैं कि समस्त कर्मचारियों (स्टाफ) और समस्या के समाधान के लिए काम में लगाना होगा।

१ हेलेन बोसान्क्वेट, 'दि स्टेण्डर्ड ऑफ लाइफ़', पृ० ३०।

२. सम साउथ इण्डियन विलेजेज, पृ० २३२।

३. दक्षिण भारत में प्रचलित कॉफी पीने पर भी इसी प्रकार के आक्षेप किये जाते हैं। व्यय और उसके सम्बन्ध में बरती जाने वाली नीति का अन्यत्र विवरण किया जायगा (१२)। और भी इसी प्रकार के गलत उपयोग भारतीय अर्थशास्त्र के विद्यार्थियों के दिमाग शादी और मृत्यु के अपव्यय, सोने-चाँदी के गहने बनाने की आदत आदि (अध्याय १

अध्याय ५

संवहन

१ परिवहन[1] का महत्त्व—आर्थिक, सामाजिक, यौद्धिक, प्रशासकीय एव सास्कृतिक दृष्टिकोण से परिवहन का महत्त्व इतना स्पष्ट है कि उस पर जोर देने की आवश्यकता नही है। भारत के सम्पूर्ण इतिहास में प्रारम्भ से ही सचार की कठिनाइयाँ आर्थिक एव राजनीतिक विकास का रूप निर्धारित करने में महत्त्वपूर्ण रही हैं। भारत जैसे विशाल देश को अद्यतन परिवहन की पर्याप्त सुविधाओ से सुसज्जित करने का व्यय अपार होगा। भारत एक उप-महाद्वीप है, यहाँ तय करने के लिए महान् दूरियाँ है। एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में जाने के लिए बडी कठिन प्राकृतिक बाधाएँ हैं, यहाँ तक कि बरसात के मौसम में सीमित क्षेत्र के अन्दर भी आन्तरिक सचार बिलकुल ठप हो जाता है। फिर, भारत इगलैण्ड जैसे देशो की तुलना में जल-पथों की दृष्टि से कम भाग्यशाली है। कितने ही देशो में रेलो के पूर्व जल-पथो का बडा ही ऐतिहासिक महत्त्व था, क्योकि उन्होने देश के वाणिज्य और व्यवसाय को पर्याप्त रूप से लाभान्वित किया।

उन्नीसवी शताब्दी के मध्य तक भारत में परिवहन के साधन अत्यन्त ही अविकसित थे। उनकी तुलना इगलैण्ड की अठारहवी सदी की परिस्थिति से की जा सकती थी। हाँ, कुछ अच्छी जलवायु की परिस्थितियो के कारण भारत में सडको की हालत इगलैण्ड की अपेक्षा कुछ अच्छी थी। देश में उस समय तक रेलें नही चली थी तथा उत्तर भारत में मुगल शासको द्वारा बनवाई गई थोडी-सी मुख्य सडकें काम देने लायक नही रह गई थी।[2] कितनी ही तथाकथित सडकें भूमि पर गाडियो और छकडो द्वारा बनाई गई थी, जिन पर बरसात में किसी भी पहियेदार गाडी का चलना असम्भव था। भारवाही पशु ही देश के अन्दर जाने के एकमात्र साधन थे। सडकें सुरक्षित नही थीं। उन पर ठगो और पिण्डारियो का बोलबाला था। नौगम्य नहरें नही थी। कुछ स्थान, जैसे गगा और सिन्धु के किनारे के स्थान, अन्य स्थानो की अपेक्षा इस दृष्टि से अधिक भाग्यशाली थे। कुल मिलाकर सूखे मौसम में सफर योग्य मैदान, कुछ नौगम्य नदियाँ और थोडी-सी बनाई हुई सडको के कारण उत्तरी भारत में सचार की दशा दक्षिण प्रायद्वीप की अपेक्षा अधिक सतोपजनक थी। दक्षिण में बीहड पहाडो और तेज नदियो के कारण परिवहन की स्थिति बडी ही असतोपजनक

१ 'ट्रान्सपोर्ट' के लिए परिवहन और 'कम्यूनिकेशन' के लिए सचार शब्द का प्रयोग किया गया है।—अनु०

२ देखिए, डब्ल्यू० एच० मोरलैण्ट, 'इण्डिया एट दि डेथ ऑफ अकबर', पृष्ठ १६६-६७।

थी। केवल दोनो समुद्री किनारो पर थोडी-सी सुविधा थी।

हम सचार साधनो के आर्थिक और सामाजिक स्थानो की विवेचना कर चुके हैं। हमने अलगाव, आत्म-निर्भरता और स्थानीय आर्थिक व्यवस्था के प्रचार का उसकी बाधाओं के साथ विस्तृत विवेचन किया है। हम श्रम की गतिहीनता, लोगों की पुरातन-वादिता तथा दुर्भिक्ष के समय में अन्यथा सीधी और सरल अर्थ-व्यवस्था का भयंकर विघटन भी देख आए हैं।[1] सार्वजनिक कार्य की सशक्त नीति का प्रारम्भ करने वाले लार्ड डलहौज़ी के समय से होने वाले परिवहन सम्बन्धी सुधारो से लेकर आज तक के सुधारो पर दृष्टिपात करने से ऐसा लगता है मानो इन्होंने एक प्रकार की आर्थिक और सामाजिक क्रान्ति कर दी है।

इस अध्याय में हम इस सम्बन्ध में किये गए विभिन्न प्रयासो का सक्षिप्त विवरण देंगे।

विवरण की सुविधा के लिए हम इसे चार उप-विभागो में विभाजित करेंगे।—
(१) रेलवे, (२) सडकें, (३) जल-पथ, और (४) वायु-परिवहन।

रेलवे

२ राज्य और रेलवे के बीच सम्बन्धों की विविधता[2]— भारतीय रेलो की एक विशेषता नियन्त्रण और स्वामित्व की दृष्टि से राज्यो और रेलो में विविध सम्बन्धो की स्थापना रही है। मुख्य लाइनो में से चार लाइनें अभी हाल तक सरकार के स्वामित्व में थी (नॉर्थ वेस्टर्न रेलवे, ईस्टर्न बगाल रेलवे, ईस्ट इण्डियन रेलवे जिसमें १ जुलाई १९२९ को अवध और रुहेलखण्ड रेलवे मिला दी गई थी, और चौथी जी० आई० पी० रेलवे)।[3] अन्य पाँच का स्वामित्व तो सरकार के पास था, किन्तु वे सरकार की तरफ से वैयक्तिक कम्पनियो द्वारा प्रबन्धित थी जिन्हे सरकार व्याज की सुरक्षा दे चुकी थी (बी० बी० एण्ड सी० आई० रेलवे और एम० एण्ड एस० एम० रेलवे, आसाम बगाल रेलवे, बगाल नागपुर रेलवे और एस० आई० रेलवे)। दो महत्त्वपूर्ण लाइनें (बंगाल एण्ड नार्थ वेस्टर्न रेलवे तथा रुहेलखण्ड कुमायूँ रेलवे) तथा कम महत्त्व की अनेक लाइनें व्यक्तिगत कम्पनियो की सम्पत्ति थीं। इनमे से कुछ तो स्वय कम्पनियो द्वारा तथा कुछ सरकार द्वारा शासित होती थी। कितनी ही छोटी-छोटी लाइनें तो जिला बोर्डो के स्वामित्व में थी या उन्हे इन बोर्डो द्वारा व्याज की गारण्टी प्राप्त थी। मार्च, १९३९ को भारतीय रेलो की कुल लम्बाई ४१,१३४ मील थी, जिसमें से ७२% या २९,७६४ मील सरकार के अधिकार में थी और उस समय के कुल लाइन की ४२% अर्थात् १७,१५८ मील सीधे सरकारी प्रबन्ध के अन्तर्गत थी।[4]

---

१ देखिए, खण्ड १, अध्याय ५।

२ देखिए, रिपोर्ट आन इण्डियन रेलवेज (१९३८-९) भाग १, अनुसूची बी।

३. १ अप्रैल, १९३७ को बर्मा रेलवे भारतीय रेलवे से अलग कर दी गई, जब बर्मा ब्रिटिश सरकार से अलग कर दिया गया।

४. १९५२-५३ में भारतीय रेलों की लम्बाई ३४,२७५ मील थी।

३. रेलवे के इतिहास के प्रधान काल-खण्ड—भारतीय रेलो के इतिहास में १० काल-खण्ड स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होते है—(१) १८४४-६६ पुराना गारण्टी सिस्टम, (२) १८६६-७६ सरकारी निर्माण और प्रवन्ध, (३) १८७६-१६०० नई गारण्टीपद्धति, (४) १६००-१४ तीव्र प्रगति और विकास, (५)१६१४-२१, १६१४-१८ की युद्ध-जनित परिस्थितियों के परिणामस्वरूप रेलवे का विघटन (६) १६२१-२५ आकवर्थ कमेटी की रिपोर्ट तथा सरकारी प्रवन्ध और नियन्त्रण, (७) १६२४-२५ से १६२६-३० तक सेपरेशन कन्वेंशन और समृद्धि-काल, (८) १६३०-३१ से १६३५-३६ तक अवसाद, (६) १६३६-३६ आंशिक पुनरुत्थान तथा रेलवे जाँच और (१०) १६३६ के बाद ।

४. पुरानी गारण्टी प्रथा—१८४४ में पहली बार रेलवे बनाने का प्रस्ताव रखा गया, जिसमें इगलैण्ड में सस्थापित कम्पनियो को ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा निश्चित लाभ के आश्वासन पर भारत में रेलें वनाने देने के प्रश्न पर विचार किया गया। कलकत्ता और वम्वई के पास दो छोटी-छोटी रेलवे बनाने के ठेके दिये गए। ये ठेके क्रमश ईस्ट इण्डियन रेलवे कम्पनी और ग्रेट इण्डियन पेनिनसुला रेलवे कम्पनी को दिये गए। १८५३ में लार्ड डलहौजी की प्रसिद्ध टिप्पणी ने नीति को निश्चित दिशा प्रदान की। इस टिप्पणी में लार्ड डलहौजी ने रेलो का निर्माण ट्रक सिस्टम पर करने का प्रस्ताव रखा, ताकि प्रेसिडेंसी प्रान्तों में आन्तरिक भाग को उसके प्रधान नगरो एव बन्दरगाहों से जोड दिया जाय तथा एक प्रेसीडेंसी को दूसरी प्रेसिडेंसी से जोड दिया जाय। उन्होंने रेलो के निर्माण से भारत तथा इगलैण्ड को होने वाले सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक लाभो की ओर सकेत किया। रेलो के शीघ्र निर्माण और प्रसार के लाभो में लार्ड डलहौजी ने यह भी देखा कि इससे इगलैण्ड की पूँजी और साहस का भारतीय वस्तु-निर्माण (मेनूफेक्चर्स) और व्यापार में उपयोग होगा। उन्होने राज्य के नियन्त्रण और निरीक्षण में कम्पनियो द्वारा रेलों के प्रवन्ध और निर्माण को सरकारी निर्माण से अधिक प्राथमिकता दी, क्योकि उनके विचार में व्यावसायिक कार्य सरकारी कार्य-क्षेत्र से वाहर थे विशेषकर भारत में, जहाँ हर वात के लिए जनता की सरकार पर निर्भर रहने की प्रवृत्ति को घटाने की अत्यन्त आवश्यकता है।

१८५४-६० के वीच डलहौजी की योजना के अनुसार ८ कम्पनियो के साथ भारत के विभिन्न भागो में रेलो के निर्माण और नियन्त्रण का ठेका किया गया। १८५७ के विद्रोह से रेल-निर्माण को एक नवीन प्रेरणा मिली, जव कि परिवहन की कठिनाइयो के कारण सेवाओ और सामग्री को एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाने में काफी कठिनाई का अनुभव किया गया। प्रारम्भिक गारण्टी-प्राप्त कम्पनियों के साथ किये गए ठेके की विशेष वातें नीचे दी जाती है—(१) कम्पनियो को भूमि विना मूल्य के दी गई, (२) २२ पेन्स = १ रु० के हिसाव से ४½% से ५% व्याज की गारण्टी (३) मुनाफे की आधी वचत को सरकार द्वारा व्याज की गारण्टी में दिये गए धन को चुकाने में खर्च किया जाय, वाकी हिस्सेदारो में विभाजित किया जाय, (४) अधिकारियो की नियुक्ति को छोडकर सरकार हर एक महत्त्वपूर्ण मामले में कुछ अधिकार, जैसे नियन्त्रण और निरीक्षण अपने पास सुरक्षित रखती थी और (५)

सरकार को यह स्वतन्त्रता थी कि पच्चीस या पचास वर्ष के बाद कम्पनी के स्वार्थो के बराबर धन देकर रेलो को खरीद सकती थी।

लेकिन यह पद्धति सरकार के लिए बडी व्ययशील और करदाता के लिए बडी भारस्वरूप सिद्ध हुई। कम्पनियाँ अपना व्याज पैदा न कर सकी और सरकार से व्याज अदायगी की माँग करने लगी। १८६९ में रेलवे बजट में १,६६,५०,००० रु० का घाटा हुआ। लार्ड लारेंस, जिन्होने १८६७ में गारण्टी सिस्टम की बडी निन्दा की थी तथा ऐसे अन्य आलोचको ने इस गारण्टी सिस्टम की भी कडी आलोचना की और घाटे को कम्पनियो के अपव्यय का परिणाम बताया जिन्हे निर्माण में धन की मितव्ययता का कोई ध्यान ही न था।[1] आॅकवर्थ रेलवे समिति ने राय दी कि तत्कालीन परिस्थिति में इगलैण्ड में बसे हुए लोगो की कम्पनियो का निर्माण ही उचित था, क्योकि रेलो का निर्माण अत्यन्त आवश्यक था और भारतीय पूँजी की लज्जाशीलता को देखते हुए अँग्रेजी पूँजी को आकर्षित करने के लिए कुछ सुविधाएँ और आश्वासन देना अत्यन्त आवश्यक था। इसके विपरीत (१८७२ में) विलियम थार्नटन ने ससदीय (पालियामेण्टरी) समिति के सामने यह गवाही पेश की कि यदि गारण्टी न दी गई होती तो भी अँग्रेजी पूँजी भारत में रेलो के निर्माण में विनियोजित की जाती, क्योंकि इगलैण्ड की अपार धन-राशि दक्षिणी अमेरिका तथा अन्य देशो में विनियोग के साधन ढूँढ रही थी और कोई कारण नही दिखाई देता था कि वह लगातार भारत की उपेक्षा करती।[2] कम्पनियो को दी जाने वाली व्याज दर को काफी ऊँचा मानने वाली विचारधारा की पुष्टि इस बात से भी होती है कि बाद में सरकार बिना किसी विशेष कठिनाई के कम व्याज दर पर अन्य कम्पनियो से समझौता करने में समर्थ हो सकी। यही नही, उसे कम रियायतें भी देनी पडी। यह भी कहना पडेगा कि जहाँ सरकार ने रेलो के निर्माण को इतना प्रोत्साहन दिया, वहाँ उसने रेलो के निर्माण के लिए आवश्यक सामग्री बनाने वाले उद्योगो को स्थापित करने का कोई प्रयास नही किया। फलत: रेलवे का निर्माण अधिक व्ययशील हो गया।

५. सरकारी निर्माण और प्रबन्ध (१८६९-७९)—भारत सरकार पुराने गारण्टी सिस्टम पर अधिक दिनो तक चलने के लिए तैयार न थी। इसके विशेष कारण ये थे—प्रथम, कम्पनियाँ अपव्ययी थी। दूसरे, सरकार का उन पर नियन्त्रण अधूरा था। व्याज-दर और उसे चुकाने का आश्वासन सरकार के लिए काफी खर्चीला सिद्ध हुआ। सरकार को कम्पनियो को होने वाले लाभ की भी निकट भविष्य में कोई आशा न दिखाई पडी। इसलिए दो परिवर्तन किये गए। कुछ कम्पनियो के सम्बन्ध में, जैसे जी० आई० पी०, सरकार ने मुनाफे के वितरण की व्यवस्था बदल दी। सरकार ने २५ साल के बाद रेलो को खरीदने का अधिकार छोड दिया और प्रति छमाही में होने वाले लाभ का आधा हिस्सा माँगने लगी। इससे भी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन—उस समय जब कि राज्य-निर्बाधता का व्यक्तिवादी सिद्धान्त अपने विकास

१ देखिए, आर०सी० दत्त,'दि एकनोमिक हिस्ट्री आफ इण्डिया इन दि विक्टोरियन एज', पृ०३५५-६।
२ वही, पृ० ३९०।

की चरम सीमा पर था—तब हुआ जब कि भारत-सचिव (सेक्रेटरी ऑव स्टेट) ने यह निश्चय किया कि सरकार को अपनी साख का पूरा लाभ उठाकर स्वय सस्ते में रेलो का निर्माण करना चाहिए । अत १८६९ के बाद कई वर्ष तक सरकार ने स्वय पूँजी लगाई और नये ठेके नही दिये गए । यह निश्चय किया गया कि सरकार द्वारा प्रबन्धित और अधिकृत रेलवे लाइनो के निर्माण के लिए प्रति वर्ष २० लाख पौण्ड कर्ज लिया जायगा तथा सस्ते अर्थात् मीटर गेज पर रेलो का निर्माण होगा । फलत रेलों के निर्माण का कार्य बडे जोर-शोर से और सस्ते दाम पर होने लगा, लेकिन लगातार धन की व्यवस्था सबसे कठिन समस्या थी । पहले तो सैनिक एव यौद्धिक कारणो से पजाब और सिन्ध की लाइनें (जो बाद में नार्थ वेस्टर्न रेलवे के नाम से प्रसिद्ध हुई) मीटर गेज से ब्रॉड गेज में बदलनी पडी । दूसरे, १८७४ और ७९ के दुर्भिक्ष तथा सीमाप्रान्त और अफगान युद्धो के कारण सरकारी खजाने पर काफी भार पडा । इसके अतिरिक्त १८८० के दुर्भिक्ष आयोग ने ५००० मील रेलो का निर्माण अनिवार्य बताया ताकि देश को दुर्भिक्ष के चगुल से बचाया जा सके । यह तभी सम्भव था जब इस निर्माण (५००० मील) को मिलाकर कुल रेलवे लाइन २०,००० मील हो जाती । इससे सरकार इस नतीजे पर पहुँची कि इस योजना को पूरा करने के लिए अकेले सरकार द्वारा आवश्यक धन की पूर्ति न हो सकेगी । अतएव सरकार ने दुर्भिक्ष आयोग की सिफारिशो को शीघ्र कार्यान्वित करने के लिए निजी कम्पनियो द्वारा उधार ली हुई पूँजी की सहायता लेने का निश्चय किया ।

६ **नया गारण्टी सिस्टम (१८७९-१९००)**—इस प्रकार सरकारी प्रबन्ध में रेलो के निर्माण की विचारधारा की शक्ति क्षीण होने लगी और रेलवे के इतिहास का एक नया अध्याय प्रारम्भ हुआ । सरकार ने फिर कम्पनियो की सहायता से रेलवे के निर्माण करने की साधी और थोडे से परिवर्तनो के साथ पुराने गारण्टी सिस्टम को फिर से जीवित किया । बगाल, नागपुर, मद्रास, सदर्न मराठा रेलवे कम्पनियो को नये ठेके दिये गए । पुरानी प्रथा से भिन्न नई प्रथा की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—(१) नई कम्पनियों द्वारा बनाई गई लाइनें भारत-सचिव की सम्पत्ति घोषित की गई । भारत-सचिव को २५ वर्ष के बाद, या हर १० वर्ष के बाद दी गई पूँजी को कम्पनियों द्वारा दे देने के बाद पुन ठेका निश्चित करने का अधिकार था, (२) कम्पनियो द्वारा एकत्र धन पर गारण्टी की हुई ब्याज-दर पहले की अपेक्षा कम थी । प्राय यह ३½% थी और (३) सरकार ने लाभ का अधिकांश (३/५) अपने हित के लिए सुरक्षित रखा ।

इस प्रकार, नई पद्धति पर निर्मित रेलवे लाइनें प्रारम्भ से ही सरकारी सम्पत्ति थी, यद्यपि कम्पनियों को ब्याज-दर की गारण्टी दी गई थी और रेलें बन जाने पर प्रबन्ध भी उन्ही के हाथ में दिया गया था । इसी प्रकार जब कम्पनियो को पुरानी पद्धति पर दिये गए ठेके समाप्त हो गए तो सरकार ने उन्हें खतम करने का तरीका अपनाया, हालांकि यह तरीका लागू करने में काफी भेद-भाव बरता गया । उदाहरण के लिए, जैसे ईस्टर्न बगाल, अवध और रुहेलखण्ड तथा सिन्ध-

पजाब रेलवे की लाइनें सरकार ने खरीद ली और उनका प्रवन्ध सरकार के हाथ में आ गया। लेकिन कुछ अन्य रेलें, जैसे ई० आई० और जी० आई० पी० रेलवे लाइनें, सरकार द्वारा खरीदी जाने पर भी सशोधित ठेको पर उन्ही कम्पनियो के प्रबन्ध में रही। इसी प्रकार कई कम्पनियो के ठेके समाप्त होने पर, हालांकि प्रवन्ध कम्पनियो के हाथ में ही रहने दिया गया, सरकार ने विभिन्न तरीको से अपने लिए लाभदायक शर्तें तय की, जैसे कम्पनी के हिस्से की पूंजी और गारण्टी की हुई व्याज-दर घटा दी तथा लाभ के वटवारे से सम्बन्धित शर्तों में भी परिवर्तन किया।

७. वर्तमान स्थिति—अव सरकार प्राय सभी ट्रंक लाइनो की मालिक है। रेलो की पूंजी भी सरकारी हो गई है, चाहे वह प्रारम्भ में लगाई गई सरकारी पूंजी का परिणाम हो या पुराने ठेको के समाप्त होने पर सरकार द्वारा प्राप्त कर ली गई हो। थोडे-से अपवादो को छोडकर प्रवन्ध प्राय कम्पनियो के हाथ में ही रखा गया, परन्तु सरकार ने निरीक्षण और कम्पनियो की परिषद् में एक सचालक की नियुक्ति का अधिकार अपने हाथ में ले लिया। १९०५ से इजन, डिव्वे (रोलिंग स्टॉक), जन-सुरक्षा, रेल-सयोजन, रेल-सेवाएँ, किराये की दर इत्यादि विषयो के सम्वन्ध में रेलवे बोर्ड के द्वारा सरकार उपर्युक्त अधिकार का प्रयोग (अर्थात् निरीक्षण) करने लगी। एक कम्पनी को छोडकर, जिसका ठेका २५ साल के लिए था, शेप कम्पनियो के ठेके भारत सचिव की इच्छानुसार कम्पनियो को वरावर पूंजी देकर समाप्त किये जा सकते थे। वंगाल, नागपुर का ठेका सन् १९५० में समाप्त हुआ और यह आखिरी था। लेकिन सरकार ने लाइन को १ अक्तूवर, १९४४ से ही ले लिया था।

८. रेलों का शीघ्र विस्तार और लाभ का प्रारम्भ (१९००-१४)—इस काल की विशिष्टता थी राष्ट्र विकास की जोरदार नीति, जिसने सम्पूर्ण आर्थिक जीवन को प्रभावित किया। फलतः रेलो का भी वडी शीघ्रता से प्रसार हुआ। १९०५ में एक अलग रेलवे विभाग खोला गया और सार्वजनिक कार्य विभाग (पब्लिक वर्क्स डिपार्टमेण्ट) रेलवे शाखा समाप्त करके रेलवे वोर्ड की स्थापना की गई। इसमें एक सभापति तथा दो सदस्य थे और वे वाणिज्य तथा उद्योग विभाग के अन्तर्गत रेलवे विभाग के प्रधान थे। १९०८ में जब मैके-समिति ने रेलों के लिए १२,५००,००० पौण्ड वार्षिक पूंजी व्यय करने का सुझाव रखा—यद्यपि यह सचय समय पर संशोधन के अधीन थे—तो एक नवीन प्रेरणा मिली। यद्यपि सरकार मैके-समिति द्वारा रखे गए सुझावो को कार्यान्वित न कर सकी और न उतना धन ही व्यय कर पाई, किन्तु यह मानना पडेगा कि पहले की अपेक्षा उसने काफी अधिक धन व्यय किया। इस कालावधि में रेलो की मीलो में दूरी १९०० में २४,७५२ मील से वढकर १९१३-१४ में ३४,६५६ मील हो गई और विनियोजित पूंजी ३२९ ५३ करोड रुपये से वढकर ४९५·०९ करोड रुपये हो गई।

इस कालावधि की दूसरी विशेषता १९०० से रेलो को लाभ होना है। इससे पहले रेलवे से लाभ न होने का कारण अंशत तो कम्पनियो का मितव्ययितारहित निर्माण और पुरानी गारण्टी कम्पनियो का प्रवन्ध था और अशतः यौद्धिक लाइनो,

असम्भव और अव्यवहार्य है। अतएव जैसा आकवर्थ समिति की बहुमत रिपोर्ट ने कहा ह, विदेशो में प्रचलित कम्पनी-प्रबन्ध तथा उसकी सफलता आदि की चर्चा करना विलकुल व्यर्थ है। इस देश में पहले से भी सरकारी प्रबन्ध रहा है और सीधा सरकारी प्रवन्ध भी रहा है। हालांकि बहुत सी सरकारी रेलो का प्रबन्ध लन्दन-स्थित अग्रेजी कम्पनियो के हाथ में था, परन्तु जनमत इस पक्ष में है कि रेलवे का प्रबन्ध सरकार के हाथ में होना चाहिए। आकवर्थ समिति की बहुमत रिपोर्ट ने भी भारतीय जनमत का समर्थन किया है। समिति की रिपोर्ट का साराश इस प्रकार है।[1]

हालांकि कम्पनियां, जो अपना रुपया लगाती, अपनी सम्पत्ति का स्वय प्रवन्ध करती और लाभाश के रूप में परिणाम के आधार पर अपने अधिकारियो की नियुक्ति करती है, निश्चय ही सरकार द्वारा प्रबन्धित साहसिक कार्यो की अपेक्षा अधिक कार्य-कुशल होगी। परन्तु भारत में रेलो का प्रबन्ध करने वाली अग्रेजी कम्पनियां इस अर्थ में कम्पनियां नही थी। उनको प्रबन्ध के लिए सौंपी गई सम्पत्ति उनकी अपनी नही थी और उनके द्वारा विनियोजित पूंजी भी अपेक्षाकृत कम थी।[2] इस प्रकार की योजना भूतकाल में कभी सफल नही हुई और न भविष्य में ही सफल हो सकती है। प्रवन्ध केवल नाम-मात्र के लिए ही कम्पनियो के हाथ में था, क्योकि सरकार अपने को मालिक समझती थी और कम्पनियों को प्रेरक शक्ति के कार्य के लिए कोई स्थान न था। सभी महत्त्वपूर्ण बातें जैसे नये स्थानो और पदो का निर्माण, सरकार के हाथ में था। परिणाम यह हुआ कि कम्पनियां उचित रूप से न तो प्रबन्ध ही कर पाई और न कर ही सकती थी, क्योकि कोई भी नया मार्ग अनुसरण करने के पूर्व उन्हे सरकारी स्वीकृति लेनी पडती थी। सरकार में स्वय किसी काम के लिए अग्रसर होने की प्रेरणा ही नही थी और न कम्पनियो के निष्क्रिय होने पर सरकार उन्हें खट-खटाती ही थी। सक्षेप में, यह एक ऐसी व्यवस्था थी जिसमें एक प्रगतिशील कम्पनी व्यय पर सूक्ष्म सरकारी नियन्त्रण के कारण आगे नही बढ सकती थी। दूसरी ओर इस व्यवस्था में सरकार लाख प्रयत्न करने पर भी कम्पनी के बोर्ड की अप्रगति-शील और बुद्धिहीन नीति के फलस्वरूप राज्य की आय और देश के आर्थिक विकास की सम्भावित हानि को नही रोक सकती थी। जहाँ तक अल्पमत रिपोर्ट के इस प्रस्ताव का प्रश्न है कि प्रवन्व अग्रेजी कम्पनियो से भारतीय कम्पनियो के हाथ में सौंप दिया जाय, इसके सम्बन्ध में पहला विरोध यह है कि इस काम में भारतीय कम्पनियो का अल्पहित होगा और सरकार प्रभावशाली साझीदार बनकर आधे से अधिक सचालको

१ देखिए, आकवर्थ कमेटी रिपोर्ट, पैरा २१०-३९।

२ इस सम्बन्ध में निम्न सख्याएँ मनोरजक हैं—मार्च १९४०, के अन्त में कुल लगी पूंजी, जिसमें बनती हुई रेलें भी शामिल हैं, ८५२.५९ करोड़ रु० थी। इसमें ७५८.६२ करोड़ रु० सरकारी रेलवे का था, ९३.९७ करोड़ भारतीय रियासतों, जिला बोर्डों और कम्पनियों का था। इसमें अधिकाश प्राय ७२९.७२ करोड रुपये सरकारी पूंजी थी और केवल १/२५ भाग, अर्थात् २८.८९ करोड़ रुपये कम्पनियों की पूंजी थी। इन सख्याओं में मार्च के अन्त तक का व्यय (३८.८२ करोड़) भी शामिल है जोकि यौद्धिक महत्त्व की लाइनों के लिए व्यय किया गया था। देखिए, रिपोर्ट आन इण्डियन रेलवेज़ (१९३९-४०) वाल्यूम १, पैरा ३३।

की नियुक्ति करेगी तथा अपना नियन्त्रण यथावत् बनाए रहेगी। सरकार और सचालक-मण्डल (वोर्ड ऑफ डाइरेक्टर्स) के बीच कार्य का विभाजन अब भी रहेगा। अधिकारियो की भक्ति नियुक्त करने और तनख्वाह देने वाले सचालक-मण्डल सरकार के बीच विभाजित रहेगी और वे पूर्ण क्षमता तथा ध्यान से काम न कर पाएँगे। योग्य व्यापारी सचालक-मण्डल में आने से इन्कार कर देंगे, क्योकि यहाँ उनकी प्रतिभा को पूरा अवसर न मिलेगा, सरकारी नियन्त्रण और नियमन से उनका हाथ बँधा रहेगा। अतएव कम्पनियो को भारतीय कर देने से ही मामला हल नही हो सकता। भारत में सरकारी नियन्त्रण से पूर्णतया मुक्त कम्पनियाँ बनाना भी आसान न था, क्योकि ऐसी स्थिति में आवश्यक धन मिलना बहुत कठिन होगा। सरकार को हमेशा इस काम में अधिक हिस्सा बँटाना पड़ेगा और सरकारी प्रबन्ध कम्पनियो के प्रबन्ध से कही अच्छा रहेगा। कम्पनी-प्रबन्ध भारत में कभी भी लोकप्रिय न होगा। राजनीतिक और आर्थिक दृष्टिकोण से भी यह आवश्यक है कि जहाँ तक सम्भव हो रेलवे निर्माण के लिए जनता धन दे और यह शीघ्रता से तभी सम्भव हो सकता है जबकि प्रबन्ध सरकार के हाथ में हो। फिर भी यदि बाहरी कर्ज लेना जरूरी ही हुआ तो ऋण देने वालो की निगाहो में भारत सरकार की प्रतिष्ठा अधिक मूल्यवान वस्तु होगी। सरकारी प्रबन्ध के पक्ष में एक सबसे बडा तर्क यह भी था कि विदेशी कम्पनियों ने जान-बूझकर राष्ट्रीय हितो की चिन्ता नही की, बल्कि विरोधी बनी रही। ये सब बुराइयाँ राष्ट्रीय प्रबन्ध से दूर हो जायँगी। सरकार द्वारा किये गए प्रबन्ध से प्राप्त अनुभव ने यह सिद्ध कर दिया था कि सरकारी प्रबन्ध किसी भी अश में कम्पनियो की तुलना में बुरा नही है। इन पूँजीपतियो ने न केवल देश के विभिन्न भागो में सामग्री और मनुष्यो के परिवहन पर ही नियन्त्रण रखा, बल्कि प्रधान (ट्रक) और सहायक नई लाइनो तथा दो या अधिक लाइनो के सम्बन्ध को भी नियन्त्रित किया। प्रभाव-क्षेत्र उत्पन्न हो गए थे, जिनसे रेलवे के उचित प्रसार में बाधा उत्पन्न हो रही थी। सरकारी प्रबन्ध में यह दोष दूर हो जायगा और लाइनें देश के हितो को ध्यान में रखकर बनाई जायँगी। व्यापारियो और यात्रियो की सुविधाओ का भी अधिक अच्छी तरह ध्यान रखा जायगा।[1] सरकारी प्रबन्ध में जनता की माँगें अधिक शीघ्रता से सुनी और पूरी की जा सकती हैं। लन्दन-स्थित रेलवे बोर्ड भारत की माँगो को नही समझ पाते थे और समझने पर भी पूरी करने की जिम्मेदारी महसूस नही करते थे। इसके विपरीत अधिक अच्छी तरह सगठित यूरोपीय व्यापारी इगलैण्ड में अपनी माँगो को अधिक सरलता से पूरा करा सकते थे। ऐसी दशा भारत के वाणिज्य और उद्योग के शीघ्र विकास के लिए बहुत अनुकूल नही थी। ६००० मील की दूरी से किये जाने वाले नियन्त्रण ने अधिकारियो के हाथो को बुरी तरह बाँध रखा था।

१६२४-२५ में ईस्ट इण्डिया रेलवे और जी० आई० पी० रेलवे के ठेके खत्म

१. जैसा कि श्री एन० बी० मेहता का कहना है अन्तर रेलवे-प्रतिस्पर्धा के अभाव और जागृत जनमत के प्रभाव ने रेलों के सरकारी नियन्त्रण को एक नैतिक आवश्यकता में परिवर्तित कर दिया है। देखिए, इण्डियन रेलवेज रेट्स रेगूलेशन, पृ० ८१।

होने के समय यह विवाद और तीव्र हो गया। फरवरी, १९२३ में विषय धारासभा के सामने रखा गया। गैर-सरकारी भारतीयो का मत निश्चित रूप से सरकारी प्रबन्ध के पक्ष में था। परिणामत इन दोनो रेलवे को सरकार द्वारा ले लिये जाने का प्रस्ताव पास हो गया। ये दोनो प्रत्यक्ष सरकारी प्रबन्ध के अन्तर्गत आ गई। (जनवरी, १९२९ में बर्मा रेलवे भी सरकारी प्रबन्ध में आ गई)। १९३० में सरकार ने दक्षिण पजाब रेलवे खरीद ली। यह सरकार द्वारा अधिकृत और प्रबन्धित पश्चिमोत्तर रेलवे के अन्तर्गत कर दी गई। बी० बी० एण्ड सी० आई० तथा आसाम बगाल रेलवे १ जनवरी, १९४२ से सरकार के प्रबन्ध में आ गई। १ जनवरी, १९४३ में बगाल और नार्थ ईस्टर्न रेलवे तथा रुहेलखण्ड और कुमायूँ रेलवे भी सरकारी प्रबन्ध में ले ली गई और एक में मिला दी गईं तथा उनका नाम अवध तिरहुत रेलवे रखा गया।

१२ साधारण वित्त से रेलवे वित्त का पृथक्करण (अलगाव)—आकवर्थ समिति ने अनेक आधारो पर रेलवे वित्त को साधारण वित्त से अलग करने के लिए जोर दिया। प्रथम वार्षिक आय-व्ययक (बजट) से रेलवे के लाभ के कारण होने वाली सदिग्धता दूर हो जायगी। रेलो का मुनाफा मौसम और व्यापार के साथ बदलता रहता है, फलत. बजट के अनुमान कई करोड रुपयो से भी गलत हो सकते है। रेलवे के दृष्टिकोण से भी दोनो को अलग करने की आवश्यकता और भी अधिक प्रतीत होती है। केन्द्रीय सरकारी बजट पर निर्भर होने से रेलो को व्यावसायिक रूप से चलाने में बाधा पहुँचती है। ऐसी व्यवस्था, जिसमें यह मान लिया जाता है कि हर वर्ष की ३१ मार्च को काम समाप्त हो जाता है और नये सरकारी वर्ष के साथ फिर प्रारम्भ होता है, रेलवे के विकास के लिए घातक थी। अतएव केवल व्यावसायिक आधार पर रेलो के सुचारु सचालन की दृष्टि से ही नही, वरन् पुरानी पद्धति की अनेक सदिग्धताओ और बुराइयो से सरकार को स्वतन्त्र करने के लिए भी रेलवे वित्त को पृथक् करने का निश्चय किया गया। विषय के महत्त्व को ध्यान में रखकर सितम्बर, १९२१ में धारासभा में एक प्रस्ताव रखा गया और इस प्रश्न पर विचार करने के लिए दोनो सदनो की एक सयुक्त समिति की नियुक्ति हुई। समिति ने यह निर्णय किया कि तुरन्त अलग करना व्यावहारिक राजनीति के बाहर की बात होगी। किन्तु उन्हे इस बात की आवश्यकता प्रतीत हुई कि वर्तमान रेलवे लाइनें, जो युद्ध के कारण बिगड गई थी या उपेक्षित थी, उनको फिर से चालू किया जाय। इस काम के लिए उन्होने १५० करोड रुपये व्यय करने की सिफारिश की जोकि पाँच वर्ष में रेलो के सुधार और तृतीय श्रेणी के यात्रियो को अधिक सुविधाएँ देने के लिए व्यय किये जायँ। १९२४ में धारासभा ने इसे स्वीकार किया और रेलवे वित्त को अलग करने की योजना को भी मानने के लिए तैयार हो गई। शर्त यह थी कि रेलवे के मुनाफे से प्रति वर्ष एक निश्चित धनराशि सरकारी बजट के लिए दी जाय। यह हिस्सा इस आधार पर तय किया गया कि वर्ष के अन्त में वाणिज्य सम्बन्धी लाइनो पर लगी पूँजी पर १% (कम्पनियो और रियासतो द्वारा दी गई पूँजी को छोडकर चलाने

के घाटे तथा यौद्धिक लाइनो पर लगी पूँजी के व्याज को घटाकर) लाभ का $\frac{1}{5}$ भाग सरकार को दिया गया। धारासभा ने यह तय किया कि इस प्रकार निश्चित धनराशि को देने के पश्चात् यदि रेलवे सुरक्षित कोष (रिज़र्व) को हस्तान्तरित किया जाने वाला मुनाफा ३ करोड से अधिक हो तो इस अधिक धन का $\frac{1}{3}$ साधारण आगम (रेवेन्यू) में दे दिया जाय। रेलवे सुरक्षित कोप (रिज़र्व) का उपयोग वार्पिक अंशदान, वकाया अपकर्ष (डिप्रेशियेशन) पूरा करने और साधारण रूप से रेलवे की आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए था। ऐसी आशा की जाती थी कि इस व्यवस्था से रेलवे में लगी पूँजी से प्राप्त अशदान द्वारा भारतीय करदाता का भार कुछ हलका हो जायगा और एक व्यवस्थित स्थायी वित्तीय नीति का अनुसरण तथा लेखे में लाभ और घाटे का स्थायी और अस्थायी अन्तर भी सरलता से किया जा सकेगा। इस योजना के अन्तर्गत अलग से पहला रेलवे वजट १९२५ (मार्च) में धारासभा के सामने रखा गया। पृथक्करण सम्मेलन (सेपरेशन कन्वेंशन) के परिणामो का विवेचन अध्याय १२ में किया गया है।

१३. वेजवुड रेलवे जाँच समिति (१९३६-३७)—१९३० से ३६ तक रेलवे की आर्थिक दशा में होने वाले भयकर ह्रास ने विषय की जाँच-पडताल अनिवार्य कर दी। सर-ऑटो नेमियर (एक वित्तीय विशेषज्ञ, जो १९३६ में भारत आये) ने रेलवे के खर्च में सम्पूर्ण परिवर्तन की राय दी। उन्होने अपनी रिपोर्ट, '१९३५ के सविधान के अन्त-र्गत प्रान्तो और केन्द्र में वित्तीय व्यवस्था' मे परिवहन के विभिन्न साधनो के सयोजन पर जोर दिया। उनकी रिपोर्ट से रेलवे की आर्थिक व्यवस्था के पुनर्गठन के प्रश्न को वल मिला। इसके लिए रिपोर्ट में सिफारिश की गई कि आयकर का आधा भाग केन्द्रीय सरकार उन प्रान्तो को दे, जिनकी रेलें लाभपूर्वक काम कर रही हो तथा जिन्होने साधारण रेवेन्यू अशदान देना शुरू कर दिया हो। धारासभा की सार्वजनिक लेखा समिति (पब्लिक अकाउण्ट्स कमेटी) ने ऑटोनेमियर के सुझावो का सवल समर्थन किया। इस प्रकार अक्तूवर, १९३६ में भारतीय रेलवे जांच समिति की नियुक्ति हुई। इसके सभापति लन्दन और नार्थ ईस्टर्न रेलवे के प्रधान जनरल मैनेजर श्री राल्फ० एल० वेजवुड थे।

जून, १९३७ में प्रकाशित समिति की रिपोर्ट में रेलवे के हर पहलू को स्पर्श करने वाले ऐसे सुझाव हैं जिनसे उसकी कार्य-कुशलता और आर्थिक परिस्थिति दोनो ही सुधारी जा सकती हैं। इसने पोप समिति, जिसने १९३२-३४ में मितव्ययता और कुशलता वढाने की दृष्टि से रेलवे के हर महत्त्वपूर्ण कार्य का विस्तृत विश्लेपण किया था, के सब सुझावो का समर्थन किया तथा एक पर्याप्त अपकर्प-कोप (डेप्रिसियेशन फण्ड) की आवश्यकता पर जोर दिया। इसके विचार में ३० करोड़ रुपये की वचत साधा-रणत ज्यादा नही कही जा सकती। इसने रेलवे के साधारण सुरक्षित कोष के निर्माण की सिफारिश की, इससे ऋण ली हुई पूँजी और व्याज को चुकता किया जा सकेगा।[२]

१. इण्डियन फाइनैंशल इन्क्वायरी (नेमियर) रिपोर्ट, पैरा ३१, १९३६ में प्रकाशित, (अध्याय १२)।
२. रिपोर्ट, पैरा २०६, २१०-११।

समिति ने रेलो को अपनी लोकप्रियता बढाने और जनता से अपने सम्बन्ध अच्छे करने के सुझाव रखे। इस काम के लिए समाचार पत्रो से घनिष्ठता बढाने पर ज़ोर दिया। समिति ने अनेक रेलो को एक में मिलाने पर अधिक ज़ोर नही दिया, क्योकि इससे प्रबन्ध और प्रशासन में असुविधा उत्पन्न होती।[1] वेजवुड समिति की रेल-सडक सयोजन, तथा किराये की दर में सशोधन की सिफारिशो की चर्चा अन्य भागो में की गई है।

१४. द्वितीय विश्व-युद्ध-काल में भारतीय रेलवे—द्वितीय विश्वयुद्ध का एक परिणाम यह हुआ कि यातायात में काफी वृद्धि हो गई। फलत परिवहन क्षमता पर असाधारण भार पडा। समृद्धि-काल के कारण रेलवे इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए थोडी-बहुत सुसज्जित थी। रेलवे के निर्माण में बडा रुपया खर्च किया गया था। कार्य-विधि में सुधार भी किया गया तथा अच्छे शक्तिशाली इजन भी मँगाये गए थे। १६४१ के अपने बजट भाषण में सर गुथरी रसेल, रेलवे चीफ कमिश्नर ने अनुमान लगाया कि आवश्यकता पडने पर अपनी वर्तमान कार्य-क्षमता से रेलवे कोयला को छोडकर समुद्र-तट के तमाम यातायात को सभाल सकती है।[2] रेलवे को कुछ कठिनाइयो का सामना करना पडा—निरीक्षक कार्यकर्ताओ की कमी हो गई, क्योकि रेलवे कर्मचारियो को सैनिक सेवा के लिए मुक्त कर दिया गया। कितनी ही ब्राच लाइनें उखाडकर बाहर समुद्र पार भेज दी गई।

रेलवे प्रशासन की कुछ समस्याएँ

१५ रेलवे-दर नीति—एक बडी पुरानी शिकायत थी कि रेलवे की दर मूलत आर्थिक लाभ के सिद्धान्त पर आधारित है और यूरोपीय सौदागरो को फायदा तथा भारतीय उद्योग और साहस के विकास को बाधा पहुँचाती है। १६१५ में सर इब्राहीम रहीमतुल्ला ने (इम्पीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल) धारासभा में इसका जिक्र किया। उद्योग और वित्त आयोग के सामने भी कितने लोगो ने इस बात की गवाही दी। आकवर्थ समिति ने भी इस ओर ध्यान आकृष्ट किया। एक खास शिकायत यह थी कि दरें इस प्रकार रखी गई थी कि वे आन्तरिक यातायात की अपेक्षा अन्दर से बन्दरगाहो तक आने वाले और बन्दरगाहो से अन्दर जाने वाले यातायात को प्रोत्साहन देने वाली थी। इससे कच्चे माल के निर्यात और विदेशी निर्मित वस्तुओ के आयात को प्रोत्साहन मिलता था।[3] भारतीय व्यापारियो की शिकायत थी कि उन्हें देश के विभिन्न भागो से कच्चा माल मँगाने और विभिन्न बाजारो में तैयार माल भेजने में काफी ऊँची दर देनी पडती थी। अवरोधक-दर प्रथा (ब्लाक रेट सिस्टम)[4] से भी काफी असन्तोष

१ इण्डियन रेलवे इन्क्वायरी रिपोर्ट, अध्याय १२-१३।

२. देखिए, रेलवे बजट १६४०-४१, पैरा २।

३ फिस्कल कमीशन रिपोर्ट, पैरा १२७।

४ 'ब्लाक रेट' का मतलब है कि जंकशन के निकट किसी स्टेशन से थोड़ी दूर उस जंकशन तक और वहाँ से दूसरी रेलवे पर अधिक दूर तक जाने वाले यातायात से जंकशन तक की थोड़ी दूरी के लिए अधिक रेट मे किराया लेना। इसका उद्देश्य यातायात को प्रतिद्वन्द्वी लाइनों पर जाने से रोकना तथा एक लाइन तक ही सीमित रखना है।

था क्योकि इससे यातायात का कृत्रिम विकीरण होता था जिससे उद्योग और व्यापार दोनो को असुविधा होती थी। रेलवे दर का एक प्रभाव यह भी था कि भूतकाल में प्राय उद्योग बन्दरगाहो के पास केन्द्रित होने लगे थे, जिसके फलस्वरूप उन्हे भी कितनी ही कठिनाइयो का सामना करना पड़ रहा है। उदाहरण के लिए, श्रम सम्बन्धी कठिनाइयो का कारण बहुत अशो में उद्योगो का देश के आन्तरिक भाग से बहुत दूर स्थान पर केन्द्रित होना ही है। जल-परिवहन पर दर नीति के दुष्परिणामो की चर्चा अन्यत्र की जायगी।

जैसा कि अर्थ आयोग (फिस्कल कमीशन) ने स्वीकार किया था, भारतीय उद्योगो के साथ किये गए अनुचित व्यवहार की बात निराधार नही थी। व्यवहार में रेलो को अपने ढग से दर निश्चित करने की स्वतत्रता थी। यद्यपि यह स्वतन्त्रता रेलवे बोर्ड द्वारा दी गई स्वीकृतियो के अन्तर्गत ही थी, किन्तु उन्हे विशिष्ट सामग्री विशष्ट वर्ग में रखने की स्वतत्रता थी। प्रश्न का गम्भीर अध्ययन करने के उपरान्त उद्योग आयोग ने यह सिफारिश की कि एक प्रकार की सामग्री को उतनी ही दूरी पर ले जाने का किराया बराबर होना चाहिए, ताकि कच्चा माल जहाँ तक सम्भव हो सके निर्यात के पूर्व निर्मित सामग्री की दशा में हो जाय। उन्होने यह भी सुझाव रखा कि एक से अधिक लाइनो पर चलने वाली वस्तु की पूरी दूरी का किराया एक ही दर से एक ही बार ले लिया जाय। अर्थ आयोग ने इन सुझावो को स्वीकार किया और यह भी सुझाव रखा कि नये उद्योगो के लिए कुछ वर्ष तक विशेष रूप से रियायती दर देनी चाहिए और अन्य उद्योगो को भी विशेष रियायत दी जाय, यदि वे अपने को इस योग्य सिद्ध कर सकें। कृषि आयोग, जिसने रेलवे दर से कृषि विकास पर पडने वाले प्रभाव की जांच की, ने यह सुझाव रखा कि कृषि विभाग और रेलवे विभाग के बीच अधिक सम्पर्क स्थापित किया जाय तथा कृत्रिम खादो, ईंधन, चारा और दूध देने वाले पशुओ के यातायात को विशेष सुविधा दी जाय। उन्होने कृषि के औजारो के कच्चे माल और औजारो के परिवहन की दर को फिर से जाँच करने की सिफारिश की।[1] इनमें से कुछ सुझाव अप्रैल, १९३० में भारत सरकार द्वारा स्वीकृत कर लिये गए। कृषि के औजारो का वर्गीकरण कर दिया गया है ताकि किसी प्रकार की गडबडी न हो। पशुओ के परिवहन के लिए दर घटा दी गई है। वेजवुड समिति ने स्वीकार किया कि भारतीय रेलो की दर काफी भारी और तर्कहीन है तथा इनमें भारी परिवर्तन अपेक्षित है। रेलवे बोर्ड को इन सब दरो की जाँच करके इनमें सरलता लानी चाहिए।[2]

१९२६ में आकवर्थ समिति के सुझाव के अनुसार एक अध्यक्ष, एक व्यवसायी हितो का प्रतिनिधि सदस्य, दूसरा रेलवे का प्रतिनिधि सदस्य, इनकी एक दर-परामर्श-दात्री समिति (रेट्स एडावइज़री कमेटी) का निर्माण किया गया। इसे जाँच करके निम्न विषयों पर सुझाव देने के लिए कहा गया :

१. कृषि आयोग रिपोर्ट, पृ० ३७७-९।
२. इण्डियन रेलवे इन्क्वायरी कमेटी रिपोर्ट, पैरा १२७।

(१) अनुचित अधिमान की शिकायतो की जाँच । (२) यह शिकायत की कि रेलवे कम्पनियाँ व्यापार को पूरी सुविधा देने का कार्य नही कर रही हैं तथा अन्तिम स्थान सम्बन्धी (टर्मिनल्स) झगडे । (३) ये शिकायतें कि दरें उचित नही है । (४) नुकसान पहुँचने या पहुँचाने वाली सामग्री के परिवेष्टन (पैकिग) से सम्बन्धित शर्तो के औचित्य सम्बन्धी शिकायतें । (५) किसी दर से सम्बन्धित परिवेष्टन सम्बन्धी शिकायतें । जैसी कि वेजवुड जाँच समिति ने सिफारिश की थी, १९४० में समिति की कार्य-विधि अधिक सरल कर दी गई ।

१६. रेलवे बोर्ड का पुनर्गठन—आकवर्थ समिति ने रेलवे बोर्ड के पुनर्संगठन पर जोर दिया था ताकि इसे एक सन्तोषजनक माध्यम बनाया जा सके जिससे भारत सरकार सम्पूर्ण रेल व्यवस्था के ऊपर प्रभावपूर्ण निरीक्षण सरलता से कर सके । पुनर्गठित रेलवे वोर्ड में एक प्रधानायुक्त (चीफ कमिश्नर), एक वित्तायुक्त और तीन सदस्य हैं ।[1] आकवर्थ समिति की सिफारिश थी कि रेलें तीन क्षेत्रो में विभाजित हो, जिनमें से प्रत्येक क्षेत्र एक कमिश्नर के अधीन हो । इसके स्थान पर विषय के आधार पर काम को विभाजित करने का ढग अपनाया गया । एक सदस्य प्राविधिक (टेकनिकल) विषयो का काम देखता है, दूसरा साधारण प्रशासन, कर्मचारी और यातायात सम्बन्धी विषयो का काम देखता है और तीसरा वित्तायुक्त, जो कि वित्त विभाग का प्रतिनिधि होता है, सभी आर्थिक पहलुओं की देख-रेख करता है । बोर्ड की सहायता के लिए पाँच सचालक होते हैं । (सिविल इजीनियरिंग, मेकेनिकल इजीनियरिंग, यातायात, वित्त, और सस्थापन—एस्टेब्लिशमेण्ट), जोकि प्रधानायुक्त और सदस्यो के दिन-प्रतिदिन के काम में सहायता पहुँचाते है ताकि वे अपना ध्यान रेलवे नीति के महत्त्वपूर्ण प्रश्नो पर केन्द्रित कर सकें और विभिन्न रेलो पर यात्रा करके स्थानीय सरकारो से पहले की अपेक्षा कही अधिक व्यक्तिगत सम्पर्क स्थापित कर सकें ।

१७. रेलवे परामर्शदात्री समितियाँ—समिति ने केन्द्रीय और स्थानीय परामर्शदात्री समितियो की स्थापना का सुझाव रखा ताकि भारतीय जनमत की आवाज रेलवे प्रवन्धको तक पहुँच सके । इस प्रकार सभी रेलवे में परामर्शदात्री समितियो की स्थापना की गई । इन समितियो के अतिरिक्त केन्द्रीय धारासभा की एक समिति थी जिसमें धारासभा (असेम्वली) और राज्य-परिषद् (कौंसिल ऑफ स्टेट) के प्रतिनिधि रहते थे ।

१८ भारतीयकरण इत्यादि—आकवर्थ समिति और ली आयोग (१९२३) दोनो ने उच्च रेलवे सेवाओ के लिए भारतीयो को प्रशिक्षित करने की सुविधाओ के प्रसार की सिफारिश की थी । ली आयोग ने ऐसे ७५% पदो के लिए प्रशिक्षण की सिफारिश की । सरकार ने यह वात स्वीकार कर ली और प्रशिक्षण-सुविधाओ के प्रसार के लिए कदम उठाया । वेजवुड समिति की रिपोर्ट पर विवाद होते समय भारत सकार ने रेलवे-सेवाओ के भारतीयकरण की वात को पुन दुहराया । अव यूरोपीयो को नौकरियाँ मिलना वन्द हो गया है और भारतीयकरण का प्रश्न भी राजसत्ता भारतीय हाथो

[1] अतिरिक्त सुझावों के लिए देखिए, इण्डियन रेलवे इनक्वायरी रिपोर्ट (१९३७), पैरा ७८-९० ।

में हस्तान्तरित हो जाने से समाप्त हो गया है।

आकवर्थ समिति ने अनेक मांगो और शिकायतो को दूर करने का भी सुझाव रखा। सरकार ने रोलिंग स्टॉक में वृद्धि की, प्लेटफार्म और प्रतीक्षालय बढाए। नये स्टेशन बनाये और पानी इत्यादि का भी अच्छा प्रबन्ध किया। इस काम के लिए नियन्त्रक-यात्री निरीक्षक (कण्ट्रोलिंग पैसेंजर सुपरिण्टेण्डेण्ट) की नियुक्ति हुई। तीसरी श्रेणी के यात्रियो से रेलवे को सबसे अधिक आमदनी होती है, इसलिए उनकी यात्रा में सुविधाएँ देकर तीसरी श्रेणी की यात्रा को अधिक आकर्षक बनाना अधिक लाभप्रद होगा।

१६. संघीय रेलवे सत्ता (फेडरल रेलवे अथारिटी)—१६३५ के भारत सरकार अधिनियम में यह व्यवस्था की गई कि यद्यपि सघ-सरकार और धारासभा को रेलवे नीति पर साधारण नियन्त्रण रखना होगा किन्तु रेलवे का वास्तविक प्रशासन एक परिनियत संस्था के हाथ में होना चाहिए। यह परिनियत रेलवे प्राधिकारी सस्था रेलवे के निर्माण, सुरक्षा, नियमन आदि का काम करेगी और सघ सरकार की रेलवे की कार्यकारिणी सस्था होगी। रेलवे प्राधिकारी (सत्ता) को व्यावसायिक सिद्धान्तो पर कार्य करना होगा परन्तु साथ ही कृषि, उद्योग, वाणिज्य तथा जनसाधारण के हितो का भी ध्यान रखना होगा। कार्य करने में इसे केन्द्रीय सरकार के नीति सम्बन्धी आदेशो और नियमो के अनुसार चलना होगा।

सघ-रेलवे-प्राधिकारी से सम्बन्धित १६३५ के भारत सरकार अधिनियम की धाराओ का इस आधार पर विरोध किया गया कि इनसे रेलवे की नीति और प्रशासन पर से सरकारी नियन्त्रण बहुत-कुछ अशो में घट जायगा। १६३५ के अधिनियम द्वारा निर्मित की जाने वाली अनेक सघीय व्यवस्थाओ की भाँति सघीय रेलवे सत्ता की भी स्थापना न हो सकी।

२०. रेलवे के आर्थिक प्रभाव—रेलवे या अन्य दूरी को नष्ट करने वाले साधनो के लाभ इतने स्पष्ट है कि उन्हें गिनाने की आवश्यकता नही। राजनीतिक, सामाजिक और सास्कृतिक दृष्टि से इनका बडा ही महत्त्व है। कुशल प्रशासन, सुरक्षा, दुर्भिक्ष-सहायता, व्यापार और उद्योग का विकास, प्राकृतिक साधनो का अधिक अच्छा उपयोग, जनसख्या का सम-विभाजन, ये सब रेलो पर निर्भर है। कस्बो और बन्दरगाहो का विकास भी बहुत हद तक रेलवे के कारण ही सम्भव हुआ। रेलों द्वारा सफाई और कृषि-सुधार में भी बडी सहायता पहुँच सकती है। अन्त में, सरकारी आय प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनो रूप से बढती है। प्रत्यक्ष रूप से सरकार रेलवे के मुनाफे में हिस्सेदार है। परोक्ष रूप से रेलों से देश की सम्पत्ति में वृद्धि होने से जनता की कर देने की शक्ति बढ जाती है।

रेलो से भारत को केवल लाभ-ही-लाभ नही हुआ है। रेलो के निर्माण ने गृह-उद्योगो को नष्ट करने में कितनी सहायता पहुँचाई इसकी चर्चा हम कर चुके है। इससे देश का एकागी आर्थिक विकास हुआ, देश प्राय कच्चे माल का निर्यात और तैयार वस्तुओ का आयात करने लगा। रेलो से दुर्भिक्ष में सहायता पहुँचाई जाती है,

किन्तु इसका दूसरा पहलू भी है। रेलो ने देशी उद्योगो को नष्ट करके देश के ग्रामीणी-करण (रूरलाइजेशन) में सहायता दी, गाँव के जुलाहो तथा अन्य हाथ से काम करने वालो की रोजी छीनकर उन्हें निराश्रय कर दिया और इस प्रकार उन्हे दुर्भिक्ष का सरल शिकार बना दिया। इस तरह जहाँ एक ओर रेलो ने दुर्भिक्ष में सहायता की वहाँ दूसरी ओर सहायता पहुँचाने का यह काम भी बढा दिया। रेलवे विकास के प्रथम चरण में रेलो की ईंधन सम्बन्धी आवश्यकता की पूर्ति के लिए जगलो को काफी क्षति पहुँची। बाद में सरकार ने इसे रोकने का प्रयत्न किया। रेलवे विकास के साथ-ही-साथ देश में विदेशी पूँजी काफी मात्रा में आई। इससे लाभ के साथ ही अनेक हानियाँ भी हुईं, जसा हम देख चुके हैं।

२१ रेलों के और अधिक विकास की आवश्यकता—रेलो से होने वाली अनेक हानियो का कारण देश में रेलो का निर्माण न होकर निर्माण की पद्धति और उसके सम्बन्ध में दिखाई गई अनुचित जलदबाजी है। यह बात बहुत जरूरी है कि कुछ प्रतिबन्धो के अन्तर्गत देश में रेलों का विकास यथासम्भव शीघ्रता से हो। इससे देश का व्यावसायिक और औद्योगिक विकास सरलता से होगा। यह बात तो स्पष्ट है कि देश में अभी रेलवे का पूर्ण प्रसार नही हो पाया है। प्रमाण के लिए हम यूरोप को ले सकते हैं। यूरोप का क्षेत्रफल (रूस को निकाल देने पर) १,६६०,००० वर्ग मील है, जिसमें १६०,००० मील रेल है। भारत और पाकिस्तान का क्षेत्रफल १,८०३,००० वर्ग मील था, लेकिन इसमें केवल ४०,५१८ मील रेलवे लाइन थी (१६४६)।

विशेषतया जनसख्या की दृष्टि से देखने पर रेलवे के सम्बन्ध में भारत की हालत और भी खराब है। इस सम्बन्ध में भारत जैसे कृषि-प्रधान देश—जिसमें विशाल पर्वत मालाएँ, बडी-बडी नदियो के मुहाने, विस्तृत रेगिस्तान और उजाड-खण्ड हैं—की इगलैण्ड जैसे उद्योगीकृत देश तुलना करना ही व्यर्थ है, जहाँ लगभग प्रत्येक वर्गमील राष्ट्रीय आय में कुछ-न-कुछ वृद्धि करने में समर्थ है। यह भी ध्यान में रखना होगा कि कितने ही अशो में भारत की सचार-समस्या रेलो की अपेक्षा सडकों और जलमार्गो द्वारा अधिक सस्तेपन और सरलता से हल की जा सकती है। इतना होने पर भी रेलवे के प्रसार के लिए पर्याप्त क्षेत्र है। आवश्यकता इस बात की है कि रेलवे के प्रसार के साथ रेलवे की सामग्री निर्माण करने वाले उद्योगो की स्थापना और विकास किया जाय। इसकी अब तक बिलकुल उपेक्षा की गई है। १६१४-१८ के युद्ध में रेलवे सामग्री के लिए भारत की अन्य देशो पर निर्भ-रता के भयकर परिणाम सामने आ चुके हैं। इसे दूर करने के प्रयत्न किये जाने चाहिएँ। ऐसी आशा की जाती थी कि १६५२ के अन्त तक चितरजन फैक्ट्री काम करना प्रारम्भ कर देगी और भारत में ही रेलवे इजन बनने लगेंगे। दिसम्बर, १६४६ में भारत सरकार और इगलैण्ड की लोकोमोटिव मेनुफेक्चर कम्पनी लिमिटेड में यह समझौता हुआ कि वह अगले पाँच वर्ष तक भारत में चितरजन के उत्पादन-कार्य का निरीक्षण करे। इसके बदले भारत सरकार ने कम्पनी से २०० (लोकोमोटिव) इजनो को खरीदने का वचन दिया है। चितरजन का कुल खर्च, कारखानो के लिए १४

करोड़ रुपये तथा कार्यालय और नगर-निर्माण के लिए ५·५ करोड होगा। यह प्रति वर्ष १२० इजन और ५० वॉयलर बनाएगा। इसके अतिरिक्त औद्योगीकरण के हित में देशी रेल उद्योगो का विकास अत्यन्त आवश्यक है।[1]

[1] चितरजन कारखाने की उत्पादन-क्षमता अब २०० रेलवे इजन कर दी गई है।

१९५३-५४ में चितरजन में ६४ रेलवे इजनों का उत्पादन हुआ। योजना के अन्तिम वर्ष में यह उत्पादन बढ़कर ९२ इन्जन हो जायगा। टाटा इजीनियरिंग एण्ड लोकोमोटिव क० लि० ने १९५३-५४ में २२ इजन बनाये और आशा की गई कि योजना के शेष वर्षो में यह प्रतिवर्ष ५० इंजन बनायेगी।

योजना के अन्तर्गत प्रारम्भ में १०३८ इजन प्राप्त करने का प्रस्ताव था जिसमें से ६०० बाहर से तथा ४३८ चितरजन और टाटा के कारखानों से प्राप्त करने का विचार था। अब २०६२ इजनों के लिए ऑर्डर दिया गया है—१३३५ बाहर से तथा ७२७ भारत से। १९५१-५४ में ५१० इजन प्राप्त किये गए जिनमें ३३४ बाहर से तथा १७६ भारत के ही थे। इनमें चितरजन के ११४ और टाटा क० के ६२ इजन थे। ५६७४ कोच मँगाने का प्रारम्भिक लक्ष्य बढा दिया गया और ५७८६ कोचों का ऑर्डर दिया गया—४९९७ भारत से तथा ७८९ बाहर से। योजना के प्रथम ३ वर्षो में २२७० कोच भारत से तथा ४६४ बाहर से मिलीं। १९५३-५४ में ८०६ भारत से और १७४ बाहर से मिलीं।

योजना-काल में ३०,००० वेगन भारत से तथा १९,१४३ बाहर से मँगाने का लक्ष्य था। वास्तव में ४१,९०३ वेगन भारत से और १८,५२५ बाहर से मँगाने के लिए ऑर्डर दिया गया। १९५१-५४ में १७,०६२ वेगन भारत से और ९,२०८ वेगन बाहर से प्राप्त हुए। १९५३-५४ में ही १०,६११ वेगन के लिए ऑर्डर दिया गया। देश की वेगन उत्पादन-क्षमता ६,००० प्रति वर्ष से बढ़कर १०,००० प्रति वर्ष हो गई और आशा की जाती है कि १९५५-५६ में यह १२,००० प्रति वर्ष हो जायगी।

रेल-मार्गो के नवीकरण पर भी खर्च किया जा रहा है। १८६८ मील लम्बे रेल-मार्ग का नवीकरण कर दिया गया है। इस्पात, रेल और स्लीपरों के अभाव के कारण रेल-मार्गो के नवीकरण का कार्य कुछ धीमा रहा है। देश के उत्पादन से अब रेलों की आर्थिक आवश्यकताओं—वेगन, कोच आदि—की पूर्ति सम्भव है। इजन के लगभग ७०%भाग अब देश में ही बनने लगे हैं। चितरजन और टाटा के कारखानों के पूरी तरह से उत्पादन करने पर भारत इजनों के सम्बन्ध में भी शीघ्र ही आत्म-निर्भर हो जायगा।

रेलवे-परिवहन के अन्य परिवर्तन—रेलवे प्रशासन को अधिक कुशल और मितव्ययी बनाने के लिए १९५० में रेलवे बोर्ड ने पुन. वर्गीकरण की योजना बनाई जिसे १९५१-५२ में कार्यान्वित किया गया। इस वर्गीकरण से पूर्व देश में ३५ रेल व्यवस्थाएँ थीं जिनमें से २२ सरकार की थीं। पुन: वर्गीकरण के फलस्वरूप अब निम्न भाग बना दिये गए हैं—

भाग (जोन)	तिथि	विभिन्न भागों की रेलें	प्रधान कार्यालय
दक्षिणी	१४ अप्रेल, १९५१	मद्रास और दक्षिणी मरहठा, दक्षिणी भारत, मैसूर रेलवे	मद्रास
मध्य (सेण्ट्रल)	५ नवम्बर १९५१	जी० आई० पी०, निजाम स्टेट, सिंधिया और धौलपुर रेलवे	बम्बई
पश्चिमी	५ नवम्बर, १९५१	बी० बी० एण्ड सी० आई०, सौराष्ट्र, कच्छ, राजस्थान एण्ड जयपुर रेलवे	बम्बई
उत्तरी	१४ अप्रेल, १९५२	ईस्टर्न पजाब, जोधपुर, बीकानेर तथा ई० आई० आर० के तीन ऊपरी भागों की रेलें	दिल्ली
उत्तर पूर्वी	१४ अप्रेल, १९५२	अवध-तिरहुत तथा आसाम रेलवे	गोरखपुर
पूर्वी	१४ अप्रेल, १९५२	ई० आई० आर० की सभी रेलें (तीन उत्तरी भागों की रेलों को छोड़कर) तथा बी०एन०रेलवे	कलकत्ता

सडक परिवहन

२२. हाल का सड़क इतिहास—१९वी सदी के मध्य भाग में सडको की स्थिति की ओर सकेत किया जा चुका है। ईस्ट इण्डिया कम्पनी एक व्यापारिक सस्था थी, इसलिए इसने सभ्य सरकार के एक महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व अर्थात् सडक वनाने की ओर बहुत ही कम ध्यान दिया। जो कुछ काम इस दिशा में किया गया उसका श्रेय व्यक्तिगत प्रयत्नो को है, जैसे लार्ड विलियम बेंटिक को, जिन्होने उत्तरी भारत को वगाल से जोडने के विचार को पुनर्जीवित किया और ग्राड ट्रक रोड को पूरा कराया, जिससे पेशावर, दिल्ली और कलकत्ता सडक द्वारा एक-दूसरे से सम्बद्ध हो गए। कम्पनी ने सडको की बहुत ही उपेक्षा की। इस बात की पुष्टि इससे होती है कि सडकें सार्व-जनिक कार्य विभाग (पब्लिक वर्क्स डिपार्टमेण्ट) के अन्तर्गत न रखी जाकर प्रान्तीय सैनिक बोर्ड के अन्तर्गत रखी गई थी।

लार्ड डलहौज़ी के समय में भारत की सडको के निर्माण का एक नया युग प्रारम्भ हुआ। डलहौजी ने रेलो के निर्माण के अतिरिक्त सडको के निर्माण के लिए भी कुछ शक्तिशाली नीति का अनुसरण किया। इस काम के लिए केन्द्रीय सार्वजनिक कार्य विभाग के अतिरिक्त (१८५५ में) प्रत्येक प्रान्त में सैनिक बोर्ड (मिलिटरी बोर्ड) के स्थान पर सार्वजनिक कार्य विभाग (पी० डब्ल्यू० डी०) की स्थापना की गई (१८५५)। प्राय ९० वर्षो से रेलो के प्रभाव से भी सडको के निर्माण में सहायता मिलती आ रही है। ज्यो-ज्यो रेलो का प्रसार होता गया, रेलो की सामग्री, माल और जनता की माँग पूरी करने के लिए एक सहायक के रूप में (न कि प्रतिद्वन्द्वी के रूप में) सडको का निर्माण आवश्यक हो गया। रेलवे ने पक्की सडको की—जोकि रेलवे से समकोण पर देश के आन्तरिक भाग से साल-भर सवारी और माल लाने में सहायता पहुँचाएँ—आवश्यकता को और भी तीव्र कर दिया और यह माँग आज भी पूरी तरह से सतुष्ट नही हो पाई है।[1] लेकिन रेलो के प्रसार से होने वाले लाभ ने सरकार का ध्यान सडको की ओर कम जाने दिया, खास तौर से उन सडको की ओर जो रेलवे के समानान्तर चलती हैं।[2] स्थानीय स्वशासन के सम्बन्ध में लार्ड मेयो और लार्ड रिपन की प्रगतिशील नीति लोकल सेल्फ गवर्नमेण्ट ने भी सडको के निर्माण को प्रेरणा दी। इन सबके सयुक्त प्रभाव से गत ९० वर्ष से सडको के निर्माण में काफी रुचि और उत्साह दिखाई पड रहा है।

२३ भारतीय सड़कों की विशेषताएँ—इस समय देश के एक छोर से दूसरे छोर तक फैली हुई चार ट्रक सडकें है। इनके साथ अनेक सहायक सडकें जुडी हुई हैं। सबसे प्रसिद्ध ट्रक रोड, जो पुराने जमाने में सेनाओ के आवागमन के लिए बनाई गई थी, ग्राड ट्रक रोड है। यह खैबर से कलकत्ता तक जाती है। अन्य तीन सडको में से, एक कलकत्ता और मद्रास को मिलाती है, दूसरो मद्रास को वम्वई से मिलाती है और तीसरी वम्बई को दिल्ली से मिलाती है। इन चारो प्रधान सडको की लम्बाई ५,०००

[1] कृषि आयोग रिपोर्ट, पैरा ३७०।
[2] देखिए, रोड डिवेलपमेंट कमेटी रिपोर्ट, पैरा १७।

से परे है। अतएव उनका सुझाव है कि जिलो की सडकें विशेषकर प्रान्तीय सडक विभाग को हस्तान्तरित कर दी जायें और स्थानीय सस्थाएँ उनके निर्माण और सुरक्षा के लिए उत्तरदायी न रहे।

जिस आश्चर्यजनक शीघ्रता से मोटर परिवहन—बसें और निजी कारें—का देश में विकास हुआ है उससे सडको के निर्माण और सुरक्षा से सम्वन्धित कितनी ही नई समस्याएँ उठ खडी हुई हैं। यह बात सच है कि मोटर-लारी ने कृषि-उत्पादन और तैयार माल को (ले जाने) ढोने में बैलगाडियो के काम को कम ही प्रभावित किया है। यह सडको की दुर्दशा बिना पुलवाली नदियो और रेलगाडी की प्रतिद्वन्द्विता के कारण है। जब ये सब कठिनाइयाँ दूर हो जायँगी तो हमें आशा है कि यन्त्र-सज्जित परिवहन (मेकनाइज्ड ट्रासपोर्ट) यातायात के अधिकाश भाग को अपने अधिकार में कर लेगा। यह विकास खासकर पहाडी इलाको में अधिक प्रभावशाली होगा, क्योकि वहाँ रेलवे-निर्माण की अपेक्षा सडकें बनाना सस्ता पडेगा और सम्भव भी होगा। इसके अतिरिक्त बडे नगरो के समीप नष्ट होने वाली वस्तुओ के लिए भी मोटर परिवहन के लिए पर्याप्त अवसर हैं।

२४ अधिक सडकों की आवश्यकता—जैसा कि कृषि आयोग ने कहा है, '*परिवहन विक्रय का आवश्यक अग है। आधुनिक व्यावसायिक विकास ने अच्छी सडको के सचार-महत्त्व को वहुत वढा दिया है।*' अच्छी परिवहन-व्यवस्था से कृषि-उत्पादन को निश्चय ही प्रेरणा मिलेगी और जीवन-निर्वाह कृषि का स्थान व्यावसायिक कृषि ले लेगी जिससे ग्रामीणो का जीवन-स्तर भी ऊँचा उठेगा। इससे खीचने वाले और भारवाही पशुओ की शक्ति और प्राणवत्ता पर भी कम भार पडेगा और उनकी कार्य-क्षमता बढेगी। इससे सवारियो का घिसना भी कम हो जायगा, समय की भी वचत होगी। निर्यात या आन्तरिक उपभोग वाले कृषि-उत्पादन से सम्वन्धित उद्योगों को भी कृषि से पर्याप्त सहायता पहुँचेगी। वे (सडकें) उद्योगों के विकेन्द्रीयकरण में भी सहायक होगी। इस प्रकार अनुचित स्थानीयकरण से उत्पन्न श्रम और मकानो की जटिल समस्याएँ भी कम होगी, ग्रामीण वातावरण में उद्यान-फैक्टिर्यों का स्वप्न सत्य होने लगेगा। अन्त में, उपयुक्त सडक-परिवहन की सहायता से भारत की अपार धन-राशि का भी पूरा-पूरा उपयोग किया जा सकेगा।

२५. सडक बनाम रेलवे—यद्यपि निकट भविष्य में रेलवे के प्रसार के लिए वडी योजनाएँ वन रही हैं, फिर भी यह सम्भव नही दिखाई देता कि शीघ्रतापूर्वक इस विशाल देश की आवश्यकताओ के अनुसार और पाश्चात्य देशो के प्रमाप के समक्ष विकास सम्भव हो सकेगा। अतएव वीच की भूमि को औद्योगिक केन्द्रो और वन्दरगाहो से सम्वद्ध करने के लिए देश में प्रधान और सहायक सडको का एक जाल विछाना पडेगा। इसमें सन्देह नही कि सडको के निर्माण और प्रतिवर्ष उनके सरक्षण में पर्याप्त धन व्यय होगा, किन्तु कम-से-कम स्थानीय यातायात के लिए रेलें तो और भी खर्चीली हैं। हलके यातायात और थोडी दूर की यात्रा के लिए सडकें अधिक सुविधाजनक हैं और रेलो की तुलना में सडकें कही भी कम खर्च पर वनाई जा सकती

है।[1] यह भी ध्यान रखना होगा कि भारत में कितने ही सूखे महीनो के बाद कुछ महीनो में अत्यधिक वर्षा होती है। इस दृष्टिकोण से बरसाती मौसम में सडको को मोटर चलाने योग्य बनाए रखना बहुत व्ययशील होगा, अतएव यहाँ रेलो का पक्ष अधिक दृढ है। सडक-परिवहन रेल-परिवहन से इस अर्थ में अच्छा है कि इसके लिए स्टेशनो, सिगनलो, छादको आदि की आवश्यकता नही पडती। न तो इसमें समाप्ति (टरमिनी) पर समय का ही नुकसान होता है, न खाली डिब्बे ही ढोने पडते हैं और न रोलिंग स्टॉक ही बेकार रहता है। सडको का स्पष्ट सस्तापन इसलिए भी है क्योकि रेलवे को अपनी लाइनें बनाने और उन्हे सुरक्षित रखने का सब खर्च स्वय बरदाश्त करना पडता है, इसके विपरीत, सडकों का निर्माण और सुरक्षा साधारण कर देने वालो के धन से होती है। यदि मोटरो को ही सडको की सुरक्षा का खर्च भी बरदाश्त करना पडे तो भी सडक-परिवहन सस्ता ही पडेगा। यह बात थोडी दूर की यात्रा और हल्के यातायात के विषय में ही लागू होगी। इसके विपरीत दूर की यात्रा और भारी बोझ ढोने का काम रेलवे द्वारा अधिक सस्ते में होगा, क्योंकि उनके चलाने का खर्च कम पडता है। कुछ जगहो पर रेलवे और सडको में प्रतिद्वन्द्विता भी रहती है। कुछ स्थानों पर वे एक-दूसरे को सहायता पहुँचाती और पूरक का काम करती हैं। इसे निम्न शब्दो में भली प्रकार प्रकट किया गया है, "सडकें किसानों की जोतो को बाजारो और पास के स्टेशन से संयुक्त करती हैं। इसके विपरीत रेलवे उत्पादन-क्षेत्र और दूर के उपभोक्ताओ के बीच सम्बन्ध स्थापित करती है तथा नगर के उत्पादको और हल, कृत्रिम खाद और कपडा खरीदने वाले किसानो को मिलाती है। अच्छी और पर्याप्त सडको के बिना कोई भी रेलवे परिवहन के लिए पर्याप्त सामग्री इकट्ठी नही कर सकती। इसके विपरीत सबसे अच्छी सडकें भी फसल का उत्पादन करने वालो को उपभोक्ताओ के सम्पर्क में नही ला सकती।"[2] इसलिए यह सोचना कि रेलवे में लगी ८०० करोड़ रुपये की पूँजी को सडको के प्रसार से हानि पहुँचेगी बिलकुल भ्रामक है। यह ठीक है कि रेलवे और सडको के बीच थोडी-सी प्रतिद्वन्द्विता रहेगी, इसे बिलकुल समाप्त नही किया जा सकता। यह बात बड़े नगरो के समीप और उपनगरो के लिए भी उतनी ही सच है जितनी देश के अन्य भागो के लिए जहाँ रेलवे और मोटरें समानान्तर पर चलती हैं, जैसे अहमदनगर और पूना के बीच। रेलवे की सामान्य नीति सडक-परिवहन से अधिक सुविधा देना तथा मोटरों द्वारा ढोये गए माल और व्यापार का भी पूरा लाभ उठाना है। मोटरें तभी चालू की जाती हैं जब किसी-न-किसी प्रकार जनता की माँग रेलो द्वारा पूरी नही हो पाती। जनता के दृष्टिकोण से यह प्रतिस्पर्धा लाभदायक ही सिद्ध हुई है, क्योकि इसने रेलवे को जनता की सुविधाओ का अधिक ध्यान रखने के लिए बाध्य किया है।

२६. सडकों की प्रतिस्पर्धा को कम करने के लिए अपनाये गए उपाय—सडको की

१. आने वाले दिनों में हल्की और कीमती चीजों के परिवहन के लिए हवाई जहाजों का कोई प्रतिद्वन्द्वी न रहेगा।

२. कृषि आयोग रिपोर्ट, पैरा ३१२।

से परे है। अतएव उनका सुझाव है कि जिलो की सडके विशेषकर प्रान्तीय सडक विभाग को हस्तान्तरित कर दी जायें और स्थानीय सस्थाएँ उनके निर्माण और सुरक्षा के लिए उत्तरदायी न रहे।

जिस आश्चर्यजनक शीघ्रता से मोटर परिवहन—बसें और निजी कारें—का देश में विकास हुआ है उससे सडको के निर्माण और सुरक्षा से सम्बन्धित कितनी ही नई समस्याएँ उठ खडी हुई हैं। यह बात सच है कि मोटर-लारी ने कृषि-उत्पादन और तैयार माल को (ले जाने) ढोने में बैलगाडियो के काम को कम ही प्रभावित किया है। यह सडको की दुर्दशा बिना पुलवाली नदियो और रेलगाडी की प्रतिद्वन्द्विता के कारण है। जब ये सब कठिनाइयाँ दूर हो जायँगी तो हमें आशा है कि यन्त्र-सज्जित परिवहन (मेकनाइज्ड ट्रासपोर्ट) यातायात के अधिकाश भाग को अपने अधिकार में कर लेगा। यह विकास खासकर पहाडी इलाको में अधिक प्रभावशाली होगा, क्योंकि वहाँ रेलवे-निर्माण की अपेक्षा सडकें बनाना सस्ता पडेगा और सम्भव भी होगा। इसके अतिरिक्त बडे नगरो के समीप नष्ट होने वाली वस्तुओ के लिए भी मोटर परिवहन के लिए पर्याप्त अवसर है।

२४ अधिक सडकों की आवश्यकता—जैसा कि कृषि आयोग ने कहा है, 'परिवहन विक्रय का आवश्यक अग है। आधुनिक व्यावसायिक विकास ने अच्छी सडको के सचार-महत्त्व को बहुत बढा दिया है।' अच्छी परिवहन-व्यवस्था से कृषि-उत्पादन को निश्चय ही प्रेरणा मिलेगी और जीवन-निर्वाह कृषि का स्थान व्यावसायिक कृषि ले लेगी जिससे ग्रामीणो का जीवन-स्तर भी ऊँचा उठेगा। इससे खीचने वाले और भारवाही पशुओ की शक्ति और प्राणवत्ता पर भी कम भार पडेगा और उनकी कार्य-क्षमता बढेगी। इससे सवारियो का घिसना भी कम हो जायगा, समय की भी बचत होगी। निर्यात या आन्तरिक उपभोग वाले कृषि-उत्पादन से सम्बन्धित उद्योगो को भी कृषि से पर्याप्त सहायता पहुँचेगी। वे (सडकें) उद्योगो के विकेन्द्रीयकरण में भी सहायक होगी। इस प्रकार अनुचित स्थानीयकरण से उत्पन्न श्रम और मकानो की जटिल समस्याएँ भी कम होगी, ग्रामीण वातावरण में उद्यान-फैक्ट्रियों का स्वप्न सत्य होने लगेगा। अन्त में, उपयुक्त सडक-परिवहन की सहायता से भारत की अपार धन-राशि का भी पूरा-पूरा उपयोग किया जा सकेगा।

२५ सडक बनाम रेलवे—यद्यपि निकट भविष्य में रेलवे के प्रसार के लिए बडी योजनाएँ बन रही है, फिर भी यह सम्भव नही दिखाई देता कि शीघ्रतापूर्वक इस विशाल देश की आवश्यकताओं के अनुसार और पाश्चात्य देशों के प्रमाप के समक्ष विकास सम्भव हो सकेगा। अतएव बीच की भूमि को औद्योगिक केन्द्रो और बन्दरगाहो से सम्बद्ध करने के लिए देश में प्रधान और सहायक सडको का एक जाल बिछाना पडेगा। इसमें सन्देह नही कि सडको के निर्माण और प्रतिवर्ष उनके सरक्षण में पर्याप्त धन व्यय होगा, किन्तु कम-से-कम स्थानीय यातायात के लिए रेलें तो और भी खर्चीली है। हलके यातायात और थोडी दूर की यात्रा के लिए सडकें अधिक सुविधाजनक हैं और रेलो की तुलना में सडकें कही भी कम खर्च पर बनाई जा सकती

है।[1] यह भी ध्यान रखना होगा कि भारत में कितने ही सूखे महीनो के बाद कुछ महीनो में अत्यधिक वर्षा होती है। इस दृष्टिकोण से बरसाती मौसम में सड़को को मोटर चलाने योग्य बनाए रखना बहुत व्ययशील होगा, अतएव यहाँ रेलो का पक्ष अधिक दृढ है। सडक-परिवहन रेल-परिवहन से इस अर्थ में अच्छा है कि इसके लिए स्टेशनो, सिगनलो, छादको आदि की आवश्यकता नही पडती। न तो इसमें समाप्ति (टरमिनी) पर समय का ही नुकसान होता है, न खाली डिब्बे ही ढोने पडते हैं और न रोलिग स्टॉक ही बेकार रहता है। सडकों का स्पष्ट सस्तापन इसलिए भी है क्योकि रेलवे को अपनी लाइनें बनाने और उन्हें सुरक्षित रखने का सब खर्च स्वय बरदाश्त करना पडता है, इसके विपरीत, सडको का निर्माण और सुरक्षा साधारण कर देने वालो के धन से होती है। यदि मोटरो को ही सडको की सुरक्षा का खर्च भी बरदाश्त करना पडे तो भी सडक-परिवहन सस्ता ही पडेगा। यह बात थोडी दूर की यात्रा और हल्के यातायात के विषय में ही लागू होगी। इसके विपरीत दूर की यात्रा और भारी बोझ ढोने का काम रेलवे द्वारा अधिक सस्ते में होगा, क्योकि उनके चलाने का खर्च कम पडता है। कुछ जगहो पर रेलवे और सडको में प्रतिद्वन्द्विता भी रहती है। कुछ स्थानो पर वे एक-दूसरे को सहायता पहुँचाती और पूरक का काम करती हैं। इसे निम्न शब्दो में भली प्रकार प्रकट किया गया है, "सडकें किसानो की जोतो को बाजारो और पास के स्टेशन से सयुक्त करती हैं। इसके विपरीत रेलवे उत्पादन-क्षेत्र और दूर के उपभोक्ताओ के बीच सम्बन्ध स्थापित करती है तथा नगर के उत्पादको और हल, कृत्रिम खाद और कपडा खरीदने वाले किसानो को मिलाती हैं। अच्छी और पर्याप्त सडको के बिना कोई भी रेलवे परिवहन के लिए पर्याप्त सामग्री इकट्ठी नही कर सकती। इसके विपरीत सबसे अच्छी सडकें भी फसल का उत्पादन करने वालो को उपभोक्ताओ के सम्पर्क में नही ला सकती।"[2] इसलिए यह सोचना कि रेलवे में लगी ८०० करोड रुपये की पूँजी को सडको के प्रसार से हानि पहुँचेगी बिलकुल भ्रामक है। यह ठीक है कि रेलवे और सडको के बीच थोडी-सी प्रतिद्वन्द्विता रहेगी, इसे बिलकुल समाप्त नही किया जा सकता। यह बात बड़े नगरो के समीप और उपनगरो के लिए भी उतनी ही सच है जितनी देश के अन्य भागो के लिए जहाँ रेलवे और मोटरें समानान्तर पर चलती हे, जैसे अहमदनगर और पूना के बीच। रेलवे की सामान्य नीति सडक-परिवहन से अधिक सुविधा देना तथा मोटरो द्वारा ढोये गए माल और व्यापार का भी पूरा लाभ उठाना है। मोटरें तभी चालू की जाती हैं जब किसी-न-किसी प्रकार जनता की मांग रेलो द्वारा पूरी नही हो पाती। जनता के दृष्टिकोण से यह प्रतिस्पर्धा लाभदायक ही सिद्ध हुई है, क्योकि इसने रेलवे को जनता की सुविधाओ का अधिक ध्यान रखने के लिए बाध्य किया है।

२६. सड़कों की प्रतिस्पर्धा को कम करने के लिए अपनाये गए उपाय—सड़को की

१. आने वाले दिनों में हल्की और कीमती चीजों के परिवहन के लिए हवाई जहाजों का कोई प्रतिद्वन्द्वी न रहेगा।

२. कृषि आयोग रिपोर्ट, पैरा ३१२।

प्रतिस्पर्धा कम करने के लिए रेलवे ने निम्नलिखित तरीके अपनाए है—रेलवे आम्नीवस सेवाएँ, सन्तरी कोचेज, शटल ट्रेनें, टाइम टेवल में परिवर्तन, सस्ते वापसी टिकट, तृतीय श्रेणी के मौसमी और जोन टिकट, वारातो के लिए रियायती दर, कम दर पर स्पेशल ट्रेनें, रेलवे की सेवाओ का प्रचार तथा अन्य सुविधाए।[1] वेजवुड समिति ने इस प्रकार के अनेक तरीके वताए जिनसे सडको की प्रतिद्वन्द्विता को कम किया जा सकता है।[2] जहाँ तक पैसेंजर ट्रेनो का सवाल है सरकार ने तेज चलने वाली पैसेंजर ट्रेनें, ट्रेनो का एक-दूसरे से मेल, अधिक अच्छी सेवाएँ और नीचे दर्जे के यात्रियो को अधिक सुविधाएँ देना पसन्द किया। उन्होने सडको की प्रतिस्पर्धा कम करने के लिए किराये को एक-साथ कम करने का विरोध किया। किराये किसी स्थान विशेप पर जनता को रेलो के प्रति आकर्षित करने के लिए कम किये जा सकते हैं या वहाँ कम किये जा सकते हैं जहाँ यह भय है कि अन्य सवारियाँ रेलो से विमुख होकर किसी अन्य परिवहन की ओर चली जायेंगी। भारतीय रेलो को बुकिंग एजेंसी द्वारा यातायात के विकास का प्रयास करना चाहिए। यह ध्यान देने की वात है कि इधर वेजवुड समिति की सिफारिशो के अस्वरूप रेलवे प्रशासन का व्यावसायिक पक्ष पर्याप्त सुदृढ कर दिया गया है। जहाँ तक माल के यातायात का सवाल है, इस समिति ने तेज मालगाडियाँ, माल का जल्दी उतारना-चढ़ाना, लिखा-पढी की विधि को सरल वनाना, एकत्र करने और छोडने की सेवाओ में विकास, कन्टेनर और रेलवे रेफ्रिजरेटर ट्रको का प्रयोग आदि के सुझाव दिए। चूँकि आधुनिक परिस्थितियाँ माल के शीघ्र ले जाने और ले आने के पक्ष में हैं, अतएव रेलवे को चाहिए कि अच्छी सेवा के हित में पूरे डिव्वे के माल या पूरी गाडी के माल को त्याग देना वाञ्छनीय है। यदि सडको की होड का मुकावला करने के लिए किराये की दर सर्वत्र कम कर दी जाय तो रेलवे को वडा घाटा होगा, अतएव रेलवे को चाहिए कि जहाँ कही अधिक आवश्यकता हो वहाँ दरो को चतुरता से घटाएँ।

२७ **परिवहन सयोजन नीति**—यद्यपि इन दोनो प्रकार के परिवहन-साधनो को पूरी तरह से सयोजित करना वहुत कठिन है, फिर भी ऐसी व्यवस्था की जा सकती है कि विस्तार के नये प्रोग्राम में सडकें रेलो की प्रतिद्वन्द्वी न होकर उनकी सहायक और पूरक का काम करें, विशेपकर उन सेवाओ के सम्वन्ध में जो रेलवे द्वारा वडी कुशलता और मितव्ययिता से पूरी हो सकती हैं। अनेक यूरोपीय देशो में पाई जाने वाली सडक और रेल की अर्थहीन प्रतिस्पर्धा से इस प्रकार वचा जा सकता है। प्राप्त धन से सडको का इस प्रकार निर्माण किया जाना चाहिए कि वे रेलवे द्वारा दी जाने वाली सुविधाओ की पूरक का काम करें, न कि प्रतिद्वन्द्वी का और ऐसे स्थानो पर वनाई जायें जहाँ परिवहन की वहुत कम सुविधाएँ हो। इस प्रकार के विवेकपूर्ण सयोजन ने हर प्रकार के परिवहन के साधन को उसके द्वारा की जाने वाली सेवा के कार्य

१ रिपोर्ट आफ दि रेलवे वोर्ड आन इण्डियन रेलवेज (१९३९-४०), पैरा ६२-४।

२ भारत सरकार द्वारा वेजवुड रिपोर्ट की सिफारिशों पर किये गए काम के विशेप विवरण के लिए देखिए, रेलवे वजट (१९३८-३९), पैरा ८-१० और (१९३९-४०), पैरा ६-१७।

प्राप्त होगे। मिचेल कर्कनेस रिपोर्ट ने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रान्तो में केन्द्रीय परामर्शदात्री-परिषद् और कमिश्नरियो में वैभागिक समितियो के निर्माण पर जोर दिया। यह रिपोर्ट १९३२-३३ में रेलवे और सडको की प्रतिद्वन्द्विता की जाँच करने के लिए नियुक्त अफसरो की एक छोटी-सी समिति की जाँचो का फल थी। वे दोनो अफसर भारत सरकार के सडक इन्जीनियर श्री (अब सर) के० जी० मिचेल और एल० एच० कर्कनेस रेलवे बोर्ड में विशेष अधिकारी थे। इसमें प्रतिद्वन्द्विता को उचित बनाने के लिए मोटर परिवहन पर और अधिक नियत्रण करने का सुझाव दिया गया।[1] १९३३ में हुए रेल-सडक सम्मेलन में विभिन्न प्रकार के परिवहन के सयोजन से सम्बन्धित कई प्रस्ताव पास किये गए ताकि इनकी प्रतिद्वन्द्विता घट जाय। अन्य तरीको में सम्मेलन ने रेलवे द्वारा चलाई जाने वाली बस-सर्विस पर से कानूनी प्रतिबन्ध हटाने का सुझाव दिया। सडक परिवहन सेवाओ को, ग्रामीण सेवाओ के विकास को दृष्टि में रखकर, एकाधिकार दे दिया जाय तथा केन्द्र और प्रान्तो में सयोजन का काम सरल करने के लिए सस्थाएँ स्थापित की जायँ। परिवहन मत्री की अध्यक्षता में एक परिवहन परामर्शदात्री समिति की स्थापना हुई (१९३५)। इसका काम रेल, सडक तथा परिवहन के अन्य माध्यमो को सयोजित कर सडको के सम्बन्ध में ऐसी नीति प्रस्तुत करना था जो रेल, सडक तथा अन्य परिवहन साधनो के विकास के लिए प्रान्तो द्वारा अपनाई जाय। यह उद्देश्य देश के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था।[2] सयोजन नीति का अनुसरण १९३७ में सचार-विभाग की स्थापना द्वारा सरल हो गया। इस नये विभाग ने १९४७ से रेलवे, पोस्ट, तार, वायुयान, सूचना-प्रसार आदि का काम सभाला।

२८. रेल-सड़क सयोजन पर वेजवुड समिति और उसके बाद—वेजवुड समिति ने बताया कि प्रान्तीय सरकारो का सडक परिवहन का नियमन अपर्याप्त और अस्त-व्यस्त था। प्रान्तीय सरकारो द्वारा अनुसरण की जाने वाली नीति ने एक असगठित और अकुशल सडक परिवहन को जन्म दिया, जिसने रेलवे को कमजोर बनाने में सहायता तो दी पर स्वय विश्वसनीय सेवाएँ न दे सका। इसके विपरीत केन्द्रीय सरकार द्वारा प्रान्तीय सरकारो को सडको के निर्माण के लिए दिये गए धन को देने में देर करके ही केन्द्रीय सरकार के नियन्त्रण को प्रभावशाली बनाया जा सकता था जो (सडक-निर्माण) स्वय जनता की प्राथमिक आवश्यकताओ में से है। अतएव इस नीति से भारत में रेलें—अवनत रेलें—और सडकें अपर्याप्त रहेंगी।[3] प्रभावपूर्ण सयोजन तो रेलवे और सडक दोनो को जन-सेवाओ के रूप में चलाने पर ही हो सकता है। समिति इससे सहमत नही थी कि सडको का नियमन केवल रेलवे की सुरक्षा की दृष्टि से ही किया जा रहा था। सड़को का उचित नियमन केवल सुरक्षा की दृष्टि से ही

१. देखिए, मिचेल कर्कनेस रिपोर्ट, पृ० २४।
२. सयोजन के विषय पर शिक्षाप्रद विकास के लिए देखिए, एस० के० गुहा 'प्रोब्लम्स ऑफ ट्रासपोर्ट को-ऑर्डिनेशन इन इण्डिया।'
३. रिपोर्ट, पैरा १३८।

आवश्यक नही था, अपितु वह उन (सडको) के विकास को पुष्ट आर्थिक आधारो पर लाने के लिए भी आवश्यक था। रेलवे को एक नये प्रतिद्वन्द्वी की अनुचित और अनार्थिक प्रतिद्वन्द्विता से बचाना भी वाञ्छनीय है। केन्द्रीय सरकार द्वारा निश्चित सिद्धान्तो के अनुसार प्रान्तीय सरकारो को सडकों का नियमन करना चाहिए, किन्तु सडको के परिवहन पर इस प्रकार के कोई प्रतिबन्ध न लगाने चाहिएँ जिनसे उनके विकास में बाधा पडे। जन-सुरक्षा को ध्यान में रखकर एक ही प्रकार के नियम बसो और लारियो दोनो के लिए लागू किये जाने चाहिएँ। परिवहन की अनावश्यक (अधिक) व्यवस्था और दुर्वितरण से बचने के लिए जनता की आवश्यकताओ के अनुसार लाइसेंस दिये जाने चाहिएँ। टाइम-टेबल और किराया निश्चित होना चाहिए तथा यात्रियो को ले जाने वाली सेवाओ का मार्ग अनुज्ञा (लाइसेंस) द्वारा नियमित होना चाहिए। समिति ने माल ढोने वाली गाडियो की प्रादेशिक अनुज्ञा प्रणाली (रीजनल लाइसेंसिग) की सिफारिश की और भविष्य में वस्तुओ के भाडे को नियन्त्रित करने के लिए वैधानिक व्यवस्था का सुझाव रखा। व्यक्तिगत और सार्वजनिक दोनो ही लारियो के लिए एक-से ही नियम लागू किये जाने चाहिएँ। प्रान्तीय नियन्त्रण को कार्यान्वित करने के लिए पुलिस की शक्ति और नियन्त्रण को सुदृढ बनाना होगा। प्रान्तो को मोटरगाडियों की कर-सम्बन्धी नीति में एकता लानी चाहिए।

वेजवुड समिति ने सडक परिवहन में रेलवे को भी भाग देने की जोरदार सिफारिश की। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए रेलवे को सडक पर बसें चलाने या सडक परिवहन की सेवाओ की व्यवस्था करने के लिए ठेकेदारो या सडक-परिवहन से समझौता करने का अधिकार होना चाहिए। रेलवे को यात्रियो और सडक की सेवाओ की जाँच करनी चाहिए तथा प्रतिद्वन्द्वी और सहायक सेवाओ के सम्बन्ध में अपने प्रस्ताव प्रान्तीय सरकारो के सामने रखने चाहिएँ। भारतीय रेलवे इन प्रस्तावो को कार्यान्वित कर रही है। अन्त में समिति ने सडक-परिवहन उद्योग के उत्तरदायी तत्त्वो और रेलवे के बीच स्वैच्छिक सयोजन पर भी जोर दिया।[१]

२६. सडक के मोटर यातायात (ट्रैफिक) का नियमन—१९१४ के अधिनियम के बाद १९३९ का मोटर विहिकल्स अधिनियम पास हुआ, जिसमें पुराने अधिनियम की त्रुटियो को दूर करने और मोटर-प्रयोग के प्रसार के कारण उत्पन्न नई परिस्थितियो की पूर्ति करने का प्रयास किया गया था।

अधिनियम क दो खास पहलू है—(१) नियमन करने वाला, (२) सयोजन करने वाला। इसकी साधारण योजना थी कि किराये पर या किसी भी प्रकार माल और यात्रियो को ढोने वाली सभी सवारियो का नियन्त्रण रीजनल ट्रासपोर्ट प्राधिकारियो के हाथ में रहेगा, जोकि प्रान्त के निश्चित भागों के लिए नियुक्त किये जायेंगे तथा अपील सुनने और सयोजन के काम के लिए सारे प्रान्त के लिए एक प्रान्तीय परिवहन प्राधिकारी होगा। कोई भी व्यक्ति, जिसका किसी भी परिवहन कम्पनी से

[१] इण्डियन रेलवे इन्क्वायरी कमेटी रिपोर्ट, पैरा १३५-६७।

जरा-सा भी आर्थिक सम्बन्ध होगा, प्राधिकारी के रूप में नियुक्त नही किया जायगा और सदस्य की तरह ही रह सकेगा। प्रत्येक गाडी के पास परमिट का होना अनिवार्य है जोकि उस क्षेत्र के अधिकारियो द्वारा दिया जायगा। परमिट पाने वाले को कुछ शर्तें स्वीकार करनी होगी, जैसे गाडी को अच्छी दशा मे रखना, गति की सीमा को पालन करना, अधिक भीड न करना और ड्राइवरो से बहुत अधिक काम न लेना।[1] प्रान्तीय प्राधिकारी या सत्ता के रूप के सम्बन्ध में प्रान्त स्वतन्त्र है। प्रान्तीय सत्ता की आवश्यकता सयोजन के लिए या (रीजनल) प्रादेशिक प्राधिकारियो के मतभेदो को दूर करने के लिए या सीधे रास्तो (थॉरो रूट्स) के ऊपर नियन्त्रण बढाने के लिए पड सकती है।

मोटर बसो और टैक्सियो को अनुज्ञा (परमिट) देते समय परिवहन-अधिकारी निम्न बातो का ध्यान रखते है—जनता की आवश्यकता और सुविधा, आर्थिक दृष्टि से हानिकारक प्रतिद्वन्द्विता को रोकना तथा उन परिवहनो को बरदाश्त करने के लिए सडको की उपयुक्तता। जनता के माल के यातायात के सम्बन्ध में यह सिद्धान्त है कि शीघ्रता से नष्ट होने वाले पदार्थो का थोडी दूर तक का यातायात सडक के वहन के लिए छोड दिया जाता है, किन्तु लम्बी दूरी का यातायात प्रधानतया रेलवे के लिए रखा जाता है। सडक के परिवहन का आवश्यक नियन्त्रण प्रान्तीय सरकारो के हाथ में रहता है। यह व्यवस्था की गई है कि मार्ग सम्बन्धी अनुज्ञा (रूट परमिट) प्राप्त व्यक्ति अनावश्यक होड से सुरक्षा करने के बदले में नियमित सेवाएँ दे अर्थात् अपना उत्तर-[illegible] एक जन-सेवा कम्पनी के समान समझें। निममन-प्राधिकारी को सडक यातायात के सम्बन्ध में उच्चतम और निम्नतम दरें निश्चित करने का अधिकार है।

अधिनियम की एक विशेषता, जिस पर बडा ही विवाद हुआ है, तीसरे पक्ष की जोखिम के लिए गाडियो का अनिवार्य बीमा कराने की व्यवस्था है। यह व्यवस्था १ जुलाई, १९४६ को लागू की गई। यह देखते हुए कि इस देश में सडको पर बहुत ही दुर्घटनाएँ हुआ करती हैं हमें इसका स्वागत करना चाहिए। यह सार्वजनिक भारवाही गाडियाँ (पब्लिक केरियर) पर सामाजिक उत्तरदायित्व लागू करने की दृष्टि से आवश्यक है।

यह भी व्यवस्था की गई है कि मोटर लाइसेंस समस्त भारत में वैध होगा। प्रत्येक राज्य अपना कर निश्चित करने के लिए स्वतन्त्र है। नये प्रार्थियो को लाइसेंस लेते समय कुछ शर्तें पूरी करनी होती हैं।

यद्यपि नवीन अधिनियम की कुछ धाराओ ने विवाद को जन्म दिया है, परन्तु सिद्धान्तत यह विवादहीन है और इसे 'सडक संहिता' (हाईवेज कोड) का नाम ठीक [illegible] दिया गया है। अराजकता से व्यवस्था की ओर बढने, सुरक्षा की विधियों को अपनाने, जनता की सुविधाओ का ध्यान रखने तथा परिवहन की संयोजित पद्धति को अपनाने की आवश्यकता सबको प्रतीत हो रही है।

१. ड्राइवरों के काम के ९ घण्टे प्रतिदिन और ५४ घण्टे प्रति सप्ताह है तथा ५ घण्टे के काम के बाद आधा घण्टा विश्राम मिलना चाहिए।

३०. भारतीय सड़क विकास-समिति—मोटर यातायात की वृद्धि ने केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारो को एक विस्तृत सडक योजना और स्थानीय योजनाओ के सयोजन की नीति का अनुसरण करने के लिए वाध्य कर दिया है। वम्वई, मद्रास, पजाव, उत्तर प्रदेश सड़क परिषदें (रोड वोर्ड) स्थापित की गई हैं। साधारणतया इनका काम परामर्श देना है।

अप्रैल, १९४५ में भारत सरकार ने एक पूरक माँग पेश की ताकि रेलवे समानान्तर सडको पर बस कम्पनियो में पूँजी लगा सके, लेकिन यह माँग स्वीकार करने के पहले धारासभा ने सरकार से सडक और रेलवे के सयोजन के सम्वन्ध में एक स्पष्ट नीति के कथन की माँग की। अतएव सरकार ने जनवरी, १९४६ में एक व्हाइट पेपर प्रकाशित किया, जिसमें कहा गया कि सरकार का उद्देश्य दोनो प्रकार के परिवहनो का विकास इस प्रकार करना है कि ये प्रतिद्वन्द्वी न होकर पूरक रहे। जहाँ रेलवे और सडकें समानान्तर थी और भीषण होड की सम्भावना थी, वहाँ सबसे सन्तोषजनक समाधान दोनो पक्षो के आर्थिक हितो का एकीकरण था। इसलिए एक सयुक्त मोटर वस सेवा प्रारम्भ करने का विचार किया गया जिसमें बसो के वर्तमान मालिक, रेलवे और प्रान्तीय सरकार तीनों का हिस्सा रहे। ये सयुक्त कम्पनियाँ एक सचालक-मण्डल द्वारा प्रशासित होने को थी। इसके लिए प्रवन्धकारक एजेण्ट (मेनेजिंग एजेण्ट) रखने की आवश्यकता नही थी। अनेक प्रान्तीय सरकारो ने योजना को कार्यान्वित करने का प्रयास किया, किन्तु ऐसा करने में वहुतो ने निर्दिष्ट साधारण नीति का उल्लघन किया। केन्द्रीय धारासभा द्वारा सडक-रेल सयोजन की जाँच करने के लिए नियुक्त की गई समिति ने योजना कार्यान्वित करने में अनेक गलतियाँ देखी और इस निष्कर्ष पर पहुँची कि जब तक प्रान्तो में लोकप्रिय सरकार न वन जाय तब तक इस प्रकार की कम्पनियाँ वनाने का काम स्थगित कर देना चाहिए।

धारासभा ने एकदम विरोधी रुख अपनाया और इस योजना में रेलवे को भाग देने के लिए की गई माँग को ठुकरा दिया। वर्तमान स्थिति यह है कि सडक-परिवहन का राष्ट्रीयकरण प्रान्तीय सरकारो की निश्चित नीति है, परन्तु सयोजन के प्रश्न पर अभी वे कोई निश्चित नीति निर्धारित नही कर पाई हैं।

३१ सड़क-वित्त—जैसा कि भारतीय सडक विकास (जयकर) समिति ने कहा—"भारत का सडक-निर्माण और विकास स्थानीय वोर्डों और स्थानीय सरकारो की आर्थिक क्षमता के वाहर होता जा रहा है और एक ऐसा काम होता जा रहा है जिसमें राष्ट्र को दिलचस्पी लेनी चाहिए। अत केन्द्रीय वित्त से उसका काम करना उचित होगा। केन्द्रीय वित्त को सडको के विकास से केवल रेलवे की प्राप्ति में वृद्धि द्वारा ही लाभ नही होता, वल्कि सडको पर चलने वाली मोटरो, मोटर स्पिरिट से प्राप्त चुगी इत्यादि से भी लाभ होता है, जो (मोटर यातायात) इस समय शीघ्रता से वढ रहा है। एक सुसतुलित मोटर-कर योजना में, पेट्रोल-कर, गाडियो का कर, किराये पर चलने वाली गाडियो की लाइसेंस फीस इत्यादि शामिल होने चाहिए। इन सबसे होने वाली आमदनी को सडको के विकास पर खर्च करना चाहिए। सडको का पुनर्विभाजन इस

प्रकार होना चाहिए कि कुछ स्थानीय सडको को प्रधान (आरटीरियल) सडको के वर्ग में कर दिया जाय ताकि स्थानीय सस्थाएँ उनके भार से मुक्त हो जायें और अपना ध्यान सहायक और स्थानीय महत्त्व की सडकों के निर्माण और सुरक्षा की ओर लगा सकें। सडक समिति ने बताया कि तमाम दुनिया में यह बात स्पष्ट रूप से स्वीकार की गई है कि स्थानीय छोटी-छोटी सस्थाओ पर प्रधान सडको के निर्माण और सुरक्षा का भार छोडना न्यायसगत नहीं है। स्थानीय सस्थाओ को प्रान्तो से और अधिक आर्थिक सहायता मिलनी चाहिए। यदि सड़क समिति की सिफारिशें अपनाई जाती हैं तो उससे गावो में सडकें बनाने के काम में परोक्ष रूप से सहायता मिलेगी, क्योकि इस प्रकार स्थानीय और प्रान्तीय धन, जो बडी-बडी सडको की देखरेख और निर्माण में प्रयुक्त होता है, इस काम से बच जायगा। सडक समिति ने यह भी सुझाव रखा कि रेलवे को भी अपनी सहायक सडको के निर्माण और देख-रेख की जिम्मेदारी ग्रहण करनी चाहिए। समिति ने सड़को पर किसी प्रकार की चुगी (सिवाय पुलो के जहाँ नदियो को पार करने के लिए नावो के स्थान पर विशेष सेवा की जाती है) को सडको के निर्माण की प्रगति में बाधक और तेज परिवहन के विकास में अनुचित रुकावट माना। जहाँ आवश्यक हो वहाँ इनके बजाय कम कष्टदायक कर लगा दिये जायें। कृषि आयोग ने ग्रामीणो के सयुक्त परिश्रम की पुरानी प्रथा को पुनर्जीवित करने का सुझाव रखा और यदि वे अपने हिस्से का काम अच्छी तरह कर रहे हो तो उन्हें सरकारी सहायता देने की भी सिफारिश की।

कृषि आयोग के मत में प्रचलित वित्त पर निर्भर न रहकर यदि सडको के विकास के लिए ऋण लिया जाय तो उनके विकास में सरलता और शीघ्रता होगी। सडको और उनसे सम्बन्धित काम के अर्ध-स्थायी स्वभाव को देखते हुए उनका विचार था कि ऋण को चुकता करने के लिए वार्षिक धन प्रान्त के साधनो की सीमा के बाहर न होगा।[1] सडक समिति के विचार से कर्ज लेने के औचित्य पर स्थानीय सरकारो को अपनी परिस्थिति के अनुसार विचार करना चाहिए। उन्होने ऋण लेकर सडको के निर्माण की बडी योजनाओ को चलाने का विरोध किया, क्योकि ऐसा करने पर प्रान्तीय वित्त बहुत दिनो के लिए केवल सडको के निर्माण के लिए गिरवी रख दिया जायगा, जबकि अन्य उतने ही महत्त्वपूर्ण विभाग अर्थ के अभाव में कठिनाइयो का अनुभव करेंगे। उनके मत में, केवल सडको के निर्माण और पुनर्निर्माण के लिए ऋण लिये जाने चाहिएँ। ऋण थोडे समय के लिए लिया जाना चाहिए और यह भी देख लेना चाहिए कि उसके व्याज तथा ऋण चुकाने के लिए एकत्रित कोष और सडको के बन जाने पर उनको बनाए रखने के लिए पर्याप्त धन मिलता रहेगा या नही। सडक समिति का यह मत था कि ऋण किसी योजना के स्थायी भागो, जैसे पुलो के निर्माण, के लिए खर्च करना चाहिए क्योकि पुल का जीवन निश्चित रूप से मालूम किया जा सकता है तथा ऋण चुकाने के लिए आवश्यक कोप की गणना सरलता से की जा सकती है तथा पुल की सुरक्षा का व्यय भी अधिक नही होता। १६३३

१. कृषि आयोग रिपोर्ट, पैरा ३०६।

के रेल-सडक सम्मेलन में सुरक्षा के साधनो के अन्दर ऋण लिये धन से प्रधान और सहायक सडको के विकास की सम्भावनाओ की परीक्षा के लिए एक विस्तृत योजना बनाने की सिफारिश की। भारतीय सडक और परिवहन विकास सस्था लि० की बारहवी बैठक में (१९४०) सडको के निर्माण और रक्षा के लिए उचित आर्थिक व्यवस्था से युक्त एक नई सडक नीति का समर्थन किया, जबकि रेलें ऋण लिये गए धन से बनाई गई थी और सडको का निर्माण आगम (रेवेन्यू) से हुआ था, अतएव ऋण लिये हुए धन का प्रयोग किये बिना सडको के लिए पर्याप्त धन की व्यवस्था अव्यवहार्य है।

३२ **नवीन सड़क नीति**—सडक समिति की खास सिफारिशो के आधार पर मार्च, १९२९ में भारतीय वित्त अधिनियम ने मोटर स्पिरिट पर ४ आने के स्थान पर ६ आने प्रति गेलन उत्पाद कर लगा दिया (इससे १९२९-३० में ९४ लाख रुपये मिले)। सर बी० एन० मित्रा ने धारासभा में एक प्रस्ताव रखा (११ सितम्बर, १९२९), जिसका आधार सडक समिति के पैरा ७०-७९ में की गई सिफारिशो के विवाद थे। इसकी प्रधान बातें ये थी—(१) सडक के कार्यक्रम को जारी रखने का प्रयत्न किया जाय। मोटर स्पिरिट पर कम-से-कम पाँच वर्ष तक कर होना चाहिए, (२) पाँच वर्ष तक इस अधिक कर की आय को सडको के विकास पर खर्च किया जाय। एक अलग रोड विकास खाता खोल दिया जाय और उसका बाकी रुपया वित्तीय वर्ष के अन्त में कालातीत न माना जाय, (३) वार्षिक अनुदान को इस प्रकार विभाजित किया जाय—(क) भारत सरकार दो वर्ष तक १०% अपने पास सुरक्षित रखती, उसके बाद फिर विचार किया जाता। इस सुरक्षित धन में से आवश्यकता पडने पर विशेष अनुदान दिये जाते। ये विशेष अनुदान उन परिस्थितियो में दिये जाते जबकि कोई योजना स्थानीय सस्थाओ की आर्थिक शक्ति के बाहर होती या दो प्रान्तो की सीमाओ पर पडने के कारण किसी विशेष प्रान्त का काम न होती या प्रान्तीय या केन्द्रीय सीमाओ पर पुलो के निर्माण से सम्बन्धित होती। (ख) शेष में से (१) पिछले वर्ष में भारत में उपभोग किये गए कुल पेट्रोल का जितना हिस्सा प्रान्तो में उपभुक्त होता उसी हिसाब से उसे धन दिया जाता, (२) बाकी जो छोटे प्रान्तो, रियासतो या प्रशासनो के उपभोग का प्रतिनिधित्व करता, वह भारत सरकार को दे दिया जाता। (४) सडको की स्थायी समिति की सलाह पर गवर्नर जनरल इन कौंसिल द्वारा स्वीकृत योजनाओ पर खर्च करने के लिए प्रान्तो को अनुदान दिया जाता। (५) प्रतिवर्ष सडको के लिए एक स्थायी समिति (स्टैंडिंग कमेटी) का निर्माण किया जाय, जिसमें भारतीय विधान-मण्डल के दोनो ससदो के कुछ निर्वाचित और कुछ मनोनीत सदस्य होते। इसका सभा-पति गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी समिति का सडको से सम्बन्ध रखने वाला सदस्य होता। इसका काम गवर्नर जनरल को सडको से सम्बन्धित हर एक मामले पर परामर्श देना था, जिसमें केन्द्रीय सडक अनुसधान और सामयिक सडक सम्मेलनो पर सरकार द्वारा की गई कार्यवाही भी शामिल है। (६) वार्षिक अनुदान से किये जाने वाले सब व्यय या एकत्रित शेष धन स्वीकृति के लिए वित्त-उप-समिति के समक्ष

रखना होता था, जिसमें (वित्त-उप-समिति) स्थायी समिति का सभापति और वे सदस्य होते थे जो धारासभा के भी सदस्य थे।

१९३० के दिल्ली के अधिवेशन में ५ वर्ष के लिए इसे स्वीकार कर लिया गया।

जैसा कि सडक समिति ने सुझाव रखा था, प्रान्तीय एव केन्द्रीय सरकारो में कुछ थोडा सयोजन स्थापित हो रहा है, जो समय-समय पर प्रान्तीय और केन्द्रीय प्रतिनिधियो के सम्मेलनो के कारण ही सम्भव हुआ है। समिति की सिफारिशो के अनुसार एक भारत सरकार सडक इजीनियर की नियुक्ति हुई जो सम्मेलनो का सचिव भी रहता है।

३३. सड़क खाते की आर्थिक दशा—पेट्रोल पर लगाये गए अधिभार के साथ ही सडक के लिए प्राप्य पेट्रोल-कर का भाग १ अक्तूबर, १९३१ से २ आना प्रति गेलन से २½ आना प्रति गेलन हो गया। सडक विकास खाते की पहले पाँच वर्षो की कुल आय ५१८ लाख रुपये हुई। मार्च, १९४४ तक २१ करोड रुपये आ चुके थे। (विभाजन से पूर्व) वर्मा का हिस्सा निकाल देने और ४ करोड सुरक्षित कोष में[1] रख देने पर प्रान्तो, रियासतो आदि में विकास के लिए १६ करोड रु० वाकी रहा। १ अप्रैल, १९४४ को सडक कोष में कुल धन २३२ ३५ करोड रु० था।

३४. सड़क सम्बन्धी नवीन प्रस्ताव—(१) सडक खाते का ५ वर्ष का परीक्षण-काल १९३३-३४ में बीत गया। १९३४ में केन्द्रीय विधानमण्डल ने एक नया प्रस्ताव अपनाया जिससे सडक खाता स्थायी हो गया। इससे भारत सरकार का सुरक्षित धनकोष १०% से १५% हो गया ताकि वह अपेक्षाकृत अविकसित प्रान्तो को उदारता से धन दे सके। इसमें से सडको के विकास, निर्माण एव सुरक्षित रखने के लिए ऋण भी दिया जा सकता था।

(२) परिवहन परामर्शदात्री समिति के सुझाव पर सड़क कोष से अनुदान के वितरण पर केन्द्रीय सभा द्वारा एक नया प्रस्ताव पास किया गया (फरवरी, १९३७)। इसके द्वारा निम्न परिवर्तन किये गए—(क) गवर्नरो के प्रान्तो को दिये जाने वाले धन को गवर्नर-जनरल-इन-कौंसिल तब तक अपने पास रख सकता था जब तक कि प्रान्तो द्वारा उस धन का तुरन्त उपयोग करने के लिए उसकी माँग न की जाती। (ख) यदि कोई प्रान्त बिना समुचित कारण के अपने धन का उपयोग सडक विकास के लिए समय से न कर पाता तो केन्द्र को अधिकार होता कि वह सपूर्ण धनराशि या उसका एक अश देने से इन्कार कर दे। (ग) लेकिन सबसे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन यह था कि गवर्नर-जनरल-इन-कौंसिल को यह अधिकार था कि यदि कोई प्रान्त उसके द्वारा बतलाये गए मोटरो के नियमन और नियत्रण से सम्बन्धित नियमों को कार्यान्वित करने में चूकता तो वह उसका भाग न दे। प्रान्तो ने इसे अनुचित हस्तक्षेप माना और कहा कि यह रेलवे की आय-व्ययक स्थिति को दृढ रखने का एक तरीका था। केन्द्रीय सरकार

१. फरवरी १९३७ के प्रस्ताव (देखिए, सेक्शन ३४) के अनुसार सुरक्षित कोष में वार्षिक अनुदान का १० के बजाय १५ प्रतिशत रखा जाने लगा।

ने कहा कि इसका उद्देश्य एक सतुलित सचार-व्यवस्था स्थापित करना था।(घ) शीघ्र ही मिलने वाली प्रान्तीय स्वतन्त्रता को दृष्टि में रखकर सडक कोष से सडको का कर्ज चुकाए जाने की नीति बन्द कर दी गई।

यद्यपि सडक कोष पर पास किये गए इस प्रस्ताव से केन्द्र तथा प्रान्तो के बीच थोडा सघर्ष होने की सम्भावना उत्पन्न हो गई, किन्तु ऐसे सघर्ष के चिह्न दिखाई न पडे क्योकि सँर ऑटो नेमियर की आर्थिक योजना के अन्तर्गत केन्द्र द्वारा प्रान्तो को आय-कर का एक भाग देने की व्यवस्था की जा चुकी थी। इससे प्रान्त रेलवे की आर्थिक क्षमता को कायम रखने और मोटर परिवहन द्वारा रेलवे की आमदनी को क्षति पहुँचने से बचाने का प्रयास करेंगे (देखिए अध्याय १२)।

सडक विकास खाते से सम्बन्धित प्रारम्भिक प्रस्ताव में तीन बार सशोधन किया गया। इस समय लागू नियम नवम्बर, १६४७ को डोमिनियन विधानमण्डल ने पास किया। इसके परिणामस्वरूप १६२६ में लगाया गया विशेष पेट्रोल-कर लागू रहेगा और उससे प्राप्त आय में से १५% प्रशासन, अन्वेषण तथा विशेष अनुदान के लिए घटाने के उपरान्त, शेष आय को विभिन्न राज्यो में वितरित किया जायगा। यह वितरण पेट्रोल के उपभोग के अनुपात में किया जायगा। यह धन सडको के साधारण सरक्षण और बनाए रखने के अतिरिक्त अन्य सभी सम्बन्धित विषयो पर खर्च किया जा सकता है।[1]

जल-परिवहन

३५. (१) अन्तर्देशीय-जलपथ—जल-परिवहन का विवरण स्वभावत दो भागो में विभाजित किया जा सकता है—(१) अन्तर्देशीय परिवहन, (२) सामुद्रिक परिवहन।

भारत में इगलैण्ड जैसी नदियाँ, जो स्वाभाविक जलपथ का काम देती है,

१ पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत भी सड़कों के विकास की व्यवस्था की गई है। इसके ऊपर १०० करोड़ रुपये खर्च करने का निश्चय किया गया है जिसमें से २७ करोड़ राष्ट्रीय सड़कों पर तथा शेष मुख्यतया राज्य की सड़कों पर व्यय किया जायगा। योजना के अन्तर्गत ३००० मील नई सड़कें और १६०००-१७००० मील ग्रामीण सड़कों के निर्माण का प्रस्ताव है। यदि ग्रामीण श्रमदान द्वारा या किसी अन्य रूप में सड़कों की लागत का १/३ देने को तैयार हों, तो शेष लागत का आधा-आधा राज्यीय और केन्द्रीय सरकार देती हैं।

१६५१-५४ में केन्द्रीय सरकार ने राष्ट्रीय सड़कों के विकास पर ११ ७३ करोड़ रुपये खर्च किये। लगभग ३०० मील नई सड़कें और २० पुल बनाये गए। २१०० मील सड़कों की मरम्मत की गई। ५३ बड़े पुलों और १४०५ मील पुरानी सड़कों पर काम हो रहा है। राष्ट्रीय सड़कों के अलावा कुछ चुनी हुई सड़कों पर, जैसे त्रिपुरा और आसाम को जोड़ने वाली सड़क, पठानकोट जम्मू सड़क आदि १६५३-५४ के अन्त तक १ ८२ करोड़ रुपये खर्च किये गए। इन सड़कों के लिए सरकार ने ४ २४ करोड़ रुपये मजूर किये थे। १४७ मील नई सड़कें और एक पुल बनाया जा चुका है तथा ८ पुल और ७८९ मील सड़क पर काम चालू है।

राज्य, जिला, गाव आदि की सड़कें मिलाकर लगभग ७७०० मील पर काम हुआ। १६५१-५४ में राज्य की सड़कों पर ८७ करोड़ रु० खर्च किया गया। हाल ही में अन्तर्राज्यीय सड़कों पर व्यय करने के लिए १० करोड़ रुपया और मजूर किया गया है।

नही है। उत्तर भारतीय और प्रायद्वीप की नदियो का जिक्र करते समय हम इस विषमता की ओर सकेत कर चुके है।[1] ऐसा कहा जाता है कि उत्तर भारत और पाकिस्तान की सब नदियो को मिलाकर कुल नौगम्य जलपथ लगभग २६,००० मील है। सिन्ध और इसकी सहायक चिनाव और सतलज तथा गगा, हुगली और ब्रह्मपुत्र में उनके मुहाने से सैकडो मील तक या डेल्टा के आर-पार जाने वाली नौगम्य नहरो के द्वारा और दूर तक प्राय साल-भर स्टीमर चल सकते है।

लेकिन प्रायद्वीप की नदियाँ इस प्रकार नौगम्य नही है। मौसम के अनुसार कभी तो वे तूफानी हो जाती है और कभी केवल जल की पतली रेखा-मात्र रह जाती है और इस प्रकार इनमे नावें चलाना प्राय असम्भव-सा हो जाता है। नर्मदा और ताप्ती जैसी कुछ नदियों की पथरीली सतह और तेज धार नौगम्यता के लिए जटिल समस्या वन जाती है। महानदी, गोदावरी और कृष्णा अवश्य ऊपर तक नौगम्य हैं, किन्तु उनसे यातायात कम ही है।

जलपथ की इन सकुचित सुविधाओ के अतिरिक्त किनारे-किनारे कुछ छोटी-छोटी नदियाँ और खाडियाँ है, जिनका छोटी-मोटी नावो द्वारा उपयोग किया जाता है। लेकिन इस प्रकार के क्षेत्र के वाहर नौका-गमन प्राय. डेल्टा और घाटियो तक ही सीमित है।

प्राचीन काल में अन्तर्देशीय नौका-गमन का बहुत सहारा लिया जाता था—विशेष रूप से मौर्य और मुगल काल में तो नदियो द्वारा काफी यातायात होता था। उदाहरण के लिए गगा व्यवसाय का प्रधान मार्ग थी। इसके किनारे मिरज़ापुर जैसा नगर था जो केन्द्रीय भारत और वगाल के बीच व्यापार की प्रधान कडी था। रेलो के आगमन के साथ नदियो के यातायात को धक्का पहुँचा। जैसा कि उद्योग आयोग ने बताया, "उचित प्रतिनिधित्व के अभाव में रेलवे के हितो ने भारत के जल-परिवहन को अवरुद्ध कर दिया और उन पर विदेशो के समान ही ध्यान नही दिया जा सका।"[2] आकवर्थ समिति ने भी वही बात दुहराई तथा अपने मत की पुष्टि के लिए वे वम्बई के पास भड़ौच (भारुकच्छ) और मद्रास के वकिंघम का उदाहरण प्रस्तुत करते है।

एक समय नौगम्य नहरो के पक्ष में वडा आन्दोलन चला था। भव्य कावेरी और गोदावरी नहरो के निर्माता सर आर्थर कॉटन ने नौगम्य नहरो की एक महत्वाकाक्षी योजना प्रस्तुत की, जो १८७२ में ससदीय समिति के समक्ष रखी गई। उनके मतानुसार रेलवे की अपेक्षा जल-परिवहन की सुविधाएँ भारत के लिए अधिक उपयुक्त तथा कम खर्चीली है। इसके अतिरिक्त उनसे यह भी लाभ होगा कि इनको सिंचाई के लिए भी प्रयोग में लाया जा सकता है। खर्च की अधिकता (३०० लाख पौण्ड) के कारण योजना को त्याग देना पडा। इसका एक कारण यह भी था कि अंग्रेज अपने देश के अनुभव के आधार पर भारत में नहरो की उपयोगिता भली भाँति नही समझ सके,

१. खण्ड १, अध्याय २, सेक्शन १०।
२. उद्योग आयोग रिपोर्ट, पैरा २७६।

क्योकि उनके यहाँ रेलवे ही अधिक लाभप्रद सिद्ध हुई थी। रेलवे द्वारा किया गया विरोध भी एक और कारण था।

जब रेलवे से घाटा हो रहा था तो नहरो का निर्माण चाहे सिंचाई के काम के लिए या केवल नौगम्य के लिए ही आकर्षक प्रतीत होता था। लेकिन जब हवा का रुख बदला और रेलवे से लाभ होने लगा तो उत्साह कुछ ठडा पड़ने लगा। इस समय नौगम्य नहरें केवल थोडी-सी हैं—उदाहरण के लिए हरिद्वार से कानपुर तक गगा नहर और पूर्वी तट के समानान्तर मद्रास की बकिंघम नहर। अनेक सिंचाई की नहरें नौगम्य जल-पथ का काम नही दे सकती। दोनो प्रकार की नहरें सरलता से एक में सयुक्त भी नही की जा सकती। वस्तुत जिस मौसम में कम पानी मिल रहा हो उस समय सिंचाई को बिना हानि पहुँचाए नहरो में नौकागमन नही किया जा सकता। सिंचाई की नहरें एक तो छिछली होती हे, दूसरे सिंचाई के काम के लिए उन्हे छितरे बसे हुए ग्रामीण क्षेत्रो में घुमावदार रास्तो से जाना पडता है। इसके विपरीत नौगम्य चक्करदार नहरें गहरी होनी चाहिएँ और उन्हे उद्योग-केन्द्रो से होकर गुजरना चाहिए, ताकि वे काफी व्यापार-सामग्री को आकर्षित कर सकें। उडीसा, बगाल और मद्रास में इस काम के लिए परिस्थिति काफी अनुकूल है।

भौतिक सीमाओ (फिजीकल डायमेंशन) के बावजूद भारत में नौका-गमन के विकास के लिए पर्याप्त क्षेत्र हैं। औद्योगिक आयोग ने सिफारिश की थी कि भारत सरकार को इस प्रश्न पर ध्यान देना चाहिए और जो भाग रेल और जल-पथ दोनो ही द्वारा सेवित हो वहाँ इनके प्रशासन समन्वय से काम करें तथा जल-पथ ट्रस्ट के निर्माण के प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाय। समुचित रीति से विकसित जल-पथो से रेलो की भीड कम हो जायगी और छोटे पैमाने के परिवहन का कार्य भी इनके द्वारा पूरा हो सकेगा। कुछ सिंचाई की नहरो को परिवहन की नहरो में भी परिवर्तित किया जा सकेगा। नदियो और जल-पथो के नियमन, नियन्त्रण एव विकास के लिए प्रान्तीय और अन्तर्प्रान्तीय आयोगो की नियुक्ति का प्रस्ताव राष्ट्रीय आयोजन समिति (१९३८)[1] ने रखा। केन्द्रीय जल-पथ एव नौका-गमन आयोग पुराने जल-पथो के पुनर्जीवन एव नवीन पथो के निर्माण द्वारा देश के नौका-गमन विकास के प्रश्न की विस्तारपूर्वक जाँच-पडताल कर रहा है। चूँकि बहुत सी भारतीय नदियाँ एक से अधिक प्रान्तो की सीमा-रेखाओ को पार करती हैं, इसलिए एक केन्द्रीय सघीय प्राधिकारी सस्था का निर्माण आवश्यक होगा या हमारे जल-पथो के समुचित विकास के लिए सयुक्त राज्य की टेनेसी वैली अथारिटी की भाँति किसी प्रादेशिक सस्था[2] (रीजनल बॉडी) की आवश्यकता होगी।[3]

३६ **(२) सामुद्रिक परिवहन**—जहाँ तक बाह्य जल-परिवहन का प्रश्न है, यद्यपि भारत

---

[1] नेशनल प्लानिंग कमेटी, सीरीज न० १, पैग १४।

[2] देखिए, ईस्टर्न इकनामिस्ट, २८ मार्च १९४७, पृ० ५००-११।

[3] विधान के अन्तर्गत आन्तरिक नौका-गमन को समवर्ती सूची (कानकरेंट लिस्ट) में रखा गया है। १९१७ के इनलैण्ड स्टीम वेसिल्स एक्ट का १९५१ में सशोधन किया गया, जिसके अन्तर्गत

की इगलैण्ड से तुलना न हो सकेगी क्योकि यहाँ पर न तो इगलैण्ड जैसा कटा-फटा समुद्र-तट है और न प्राकृतिक बन्दरगाह ही हैं, फिर भी उसकी सामुद्रिक स्थिति काफी महत्त्वपूर्ण है। जैसा एस० एन० हाजी ने कहा है कि "एक देश, जोकि प्राचीन विश्व के महाद्वीपो में झुमके की भाँति जडा है, जिसका समुद्र-तट ४००० मील लम्बा है और जो अनेक प्रकार की वस्तुओ के निर्माण की खान है जिन्हे अन्यत्र नही पैदा किया जा सकता, प्रकृति द्वारा एक नाविक देश होने के लिए ही बना है। इसके बन्दरगाह सख्या और आकार में इसकी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए पर्याप्त हैं।"[1]

शायद यहाँ अतिरजित चित्र खीचा गया है। यह चित्र भारत में प्राकृतिक बन्दरगाहों की कमी को उचित रूप से हमारे सामने नही रखता, फिर भी अपनी भौगोलिक स्थिति और विस्तृत समुद्र के कारण वह दुनिया का एक मुख्य जल-परिवाहक देश हो सकता है। १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक भारत को एक नवीन देश कहा जा सकता था। "जलयानो का निर्माण ऐसी अच्छी दशा में था कि भारत के बने जहाज अँग्रेजी जहाजो के सरक्षण में और उनके साथ टेम्स तक जाते थे। १८०० में गवर्नर जनरल ने लीडेनहाल स्ट्रीट में अपने स्वामियो को सूचना देते हुए कहा कि 'कलकत्ता के बन्दरगाह में भारत-निर्मित १०,००० टन के जहाज हैं जो इगलैण्ड तक माल ले जाने योग्य हैं।' सागवान की लकडी के बने बम्बई के जहाज इगलैण्ड के शीशम की लकडी के जहाज से कही अच्छे थे।"[2]

अकबर की मृत्यु के समय की दशा का वर्णन करते हुए मोरलैण्ड का कहना है कि भारतीय समुद्र का अधिकाश वाणिज्य भारत में बने जहाजो द्वारा होता था। भारत के यात्री-जहाज पुर्तगालियो द्वारा बनाये गए जहाजो को छोडकर तत्कालीन सभी यूरोपीय देशो से बडे थे।[3]

लोहे के बने जहाजो ने उत्तम लकड़ी से जहाज बनाने के लाभ से भारत को

वाष्पचालित नौका-गमन के सभी साधनों की रजिस्ट्री अनिवार्य हो गई।

बहु-उद्देश्यीय योजनाओं के अन्तर्गत नौका-गमन की योजनाएँ भी सम्मिलित हैं। उदाहरण के लिए दामोदर घाटी योजना के अन्तर्गत कलकत्ता से रानीगज की कोयले की खानों तक एक नौगम्य नहर का निर्माण हो रहा है। बम्बई की ककरापट योजना में समुद्र से ककरापट बाध तक और ५० मील और अन्दर तक नौगम्य नहर बनाने की योजना है।

गगा, ब्रह्मपुत्र तथा उनकी सहायक नदियों के जल-पथों का सयोजन करने के उद्देश्य से १९५२ में एक गगा-ब्रह्मपुत्र जल-परिवहन परिषद (गैंजिज-ब्रह्मपुत्र वाटर ट्रासपोर्ट बोर्ड) की स्थापना की गई। सयुक्त राष्ट्र के एक विशेषज्ञ की प्रार्थना पर उत्तर में, जहाँ गगा छिछली है, माल लादने वाली बडी-बडी नावें चलाने की योजना के प्रारम्भ की तैयारिया की जा रही हैं।

१. देखिए, इकनामिक्स ऑफ शिपिग, पृ० ३६५-६।

२ डब्ल्यू० डिगबी, प्रॉस्पेरस ब्रिटिश इण्डिया, पृ० ८५-६

३. जे० ई० कैस्टेलीनो का लेख, प्लानिंग इन ट्रासपोर्ट, ईस्टर्न इकनामिस्ट, "भारतवासियों ने नये समुद्रों का अन्वेषण चाहे भले ही न किया हो किन्तु उनका सामुद्रिक ज्ञान, दिशा-निर्देशक यन्त्रों की सूक्ष्मता एव जलयान-दक्षता वास्कोडिगामा को चकित करने वाली थी।"

वञ्चित कर दिया। भारतीय जलयानो और सामुद्रिकता के विनाश के कारणों में जलयानो का शीघ्र विकास, नौका-गमन में यान्त्रिक परिवहन का प्रयोग, ब्रिटिश हितो की ईर्ष्या और ब्रिटिश नौका-गमन अधिनियमो को लागू किये जाने को गिनाया जा सकता है।[1]

२७. जलयान के सम्बन्ध में भारतीय साहस की बाधाएँ—हमारे तटीय व्यापार का कुल मूल्य (१९३७-३८ में) लगभग ८७ करोड रुपये था। इस मूल्य और वहन किये जाने वाले भार में वृद्धि की जा सकती है, बशर्ते कि बन्दरगाहो की सुविधाओ का विकास किया जाय और रेलवे का अधिक सहयोग प्राप्त किया जा सके। भारतीयो द्वारा नियन्त्रित व्यावसायिक समुद्री बेडे से भारत के तटीय व्यापार को पर्याप्त प्रेरणा मिलेगी। सरकारी नीति से भी इस दिशा में काफी सहायता मिल सकती है। सरकार ने कोचीन और विजगापट्टम की ओर ध्यान देकर इस बात का प्रमाण प्रस्तुत किया है।

भारतीय समुद्र-वाहित व्यापार का अन्तर्युद्ध औसत मूल्य प्राय ६३९ ८५ करोड रु० अनुमानित किया गया। इसमें शक नही कि इधर हाल में इसमें कुछ कमी हो गई है, फिर भी यह पर्याप्त है। १९४४-४५ में इसका कुल मूल्य ४२९ करोड रु० था। १९३८-३९ में सामुद्रिक प्रान्तो से कुल आयात और निकासी २२,१००,००० टन थी। ऐसा अनुमान किया गया है कि तटीय व्यापार में भारतीयो का हिस्सा ४०% था और सामुद्रिक व्यापार में ४%। १९३८-३९ में विदेशी समुद्र-वाहित व्यापार में लगे अंग्रेजी जहाजो का भाग कुल वाहित-भार का ६६% था और ब्रिटिश भारत का हिस्सा ३ ६%, विदेशी हिस्सा २९ ८% और देशी बेडो का हिस्सा ० ६ प्रतिशत था।[2] इसी प्रकार से जिन जहाजो ने भारत के बदरगाहो पर माल उतारे, उनका हिस्सा क्रमश ९ ६%, ३ ४ %, २९ ३% और ० ७% था। इस सब का अर्थ यह है कि देश को खूब रुपया देने वाली एक व्यापारिक शाखा की हानि हो रही है।

---

[1] देखिए, डिगबी, पूर्वोद्धृत, पृ० ८७-९ और मालवीय जी की दि इण्डस्ट्रियल कमीशन रिपोर्ट पर विमति टिप्पणी, पृ० २९९-३००।

[2] इधर हाल में मछवा या पटनार छोटे-छोटे बेडों, जोकि तटों के समीप चलते हैं, पर अधिक ध्यान केन्द्रित किया गया है। अगस्त, १९४२ में सामुद्रिक बेडों के विकास और सभावनाओं की जाँच करने के लिए एक समिति नियुक्त की गई। यह बड़ा आश्चर्यजनक प्रतीत होता है कि भारत के पश्चिमी तट पर ४८०० बेडे चलते हैं और उनमें से प्रत्येक की औसत वाहक-शक्ति ४२ टन है। इनसे वाहित व्यापार का अनुमान प्रति वर्ष १५ लाख टन होगा। बन्दरगाहों पर सूचना-अधिकारियों (इण्टेलिजेंस अफ़सर) की नियुक्ति के साथ देश में देशी बेड़ा सगठन (कण्ट्री क्रॉफ्ट ऑर्गनाइजेशन) के संस्थापन, जहाजरानी की आवश्यकताओं को खाली जहाजों से सन्तुलित करके तथा बन्दरगाहों पर होने वाली देर को दूर करके यानायात का युक्तिकरण कर तथा समुद्र-रेल बुकिंग का प्रचार कर इस पुराने किन्तु सबल सामुद्रिक परिवहन का मूल्य काफी बढ़ाया जा सकता है। कराची, काठियावाड़ और गुजरात, [illegible], मार्मागोआ, बगलौर तथा कोचीन के बीच रेलों पर भार हलका करने के प्रयत्न किये गए हैं। [illegible]न सम्बन्ध में सबसे जटिल समस्या बीमा का अत्यधिक खर्च है।

—जे० ई० केस्टेलिनो, ईस्टर्न इकनामिस्ट, ३ दिसम्बर १९४३, पृ० १०४७।

ब्रिटिश इण्डिया स्टीम नेविगेशन कम्पनी ने, जोकि एक ब्रिटिश कम्पनी है, प्राय १०० वर्ष से अधिक से देश का तटीय एव समुद्र-पार व्यापार अपने कब्जे में कर रखा है। भारतीय और अग्रेजी कम्पनियो ने दर-युद्ध (रेट वार) से बचने के लिए और व्यापार को अपने बीच बाँट रखने की दृष्टि से अपने को एक सम्मेलन में संगठित कर लिया है। चूँकि यह सम्मेलन विदेशी हितो से अनुशासित है, इसका उद्देश्य देशी जलयानो को दबाने का ही रहता है। भारत के जहाजो के मालिको की दो शिकायतें थी—(१) विलम्बित छूट प्रथा (डेफर्ड रिवेट सिस्टम),[1] (२) दर-युद्ध (रेट वार)।[2]

३८. विलम्बित छूट व्यवस्था, दर-युद्ध इत्यादि—इसकी व्याख्या इस प्रकार की गई है, "परिवहन कम्पनियाँ जहाज से माल भेजने वालो के लिए एक परिपत्र जारी करती है कि यदि उन्होने एक निश्चित समय के अन्त तक (प्राय ४ या ६ महीने तक) कम्पनी के अतिरिक्त किसी अन्य जहाज से सामान नही भेजा है तो कम्पनी उन्हें इसके बदले में उनके इस अवधि के कुल भाडे में कुल का कुछ हिस्सा (प्राय १०%) रियायत के तौर पर उनके नाम लिख देगी और यदि इसके बाद कुछ और समय तक (प्राय ४ या ६ महीने तक) वे सम्मेलन (कान्फ्रेन्स) के जहाजो से ही सामान भेजते रहे, तो छूट की यह रकम उन्हें दे दी जायगी। इस प्रकार दी गई धनराशि को विलम्बित छूट कहते है।[3] यह पद्धति माल भेजने वालो को कम्पनी के प्रति भक्ति बनाए रखने के लिए अपनाई गई थी। इससे वे अपना माल अन्य जहाजो से भेजने की स्वतन्त्रता खो बैठे और देशी जहाजो को समाप्त करने का एक शक्तिशाली हथियार सम्मेलन के हाथ में आ गया। अर्थ आयोग (फिस्कल कमीशन) ने इस पद्धति को समाप्त करने के लिए अन्य देशो द्वारा अपनाये गए अधिनियमो के समान कानून लागू करने की जोरदार सिफारिश की।

ब्रिटिश कम्पनियो को वैसे भी एक प्रतिद्वन्द्विताहीन क्षेत्र प्राप्त था। उनकी शक्ति सरकार के संरक्षण से और भी दृढ हो गई, क्योकि डाक की सहायता और सरकारी माल लाने का भी काम उन्हे मिला। विलम्बित छूट प्रथा के अलावा विदेशी जहाज कम्पनियाँ अन्य हथियारो का भी उपयोग करती है। वे अपने प्रतिद्वन्द्वियो की तुलना में कम दर लेती है, लेकिन इसका अन्तिम उद्देश्य यह होता है कि जब प्रतिद्वन्द्वी मैदान छोड दे तो फिर दर पहले से भी अधिक बढा दी जाय। अत. इसमें कोई आश्चर्य नही कि विगत ४० वर्षो से भारतीयो द्वारा इस उद्योग में प्रवेश पाने के प्राय सभी प्रयत्न विफल रहे। जितनी भी कम्पनियाँ बनी प्राय. सब विलीन हो गई। इसके मार्ग में दूसरी बाधा यह थी कि यूरोपीय बीमा कम्पनियों ने भारतीय कम्पनियो के साथ भेदपूर्ण व्यवहार किया और जो जहाज लन्दन में भी प्रथम श्रेणी के समझे

१. इसके विस्तृत विवरण के लिए देखिए, एस० एन० हाजी, 'इकानमिक्स ऑफ शिपिंग', अध्याय ५।
२. १९३८-३९ में बम्बई स्टीम नेविगेशन कम्पनी और भारतीय कम्पनियों (जोकि सिन्धिया स्टीम नेविगेशन कम्पनी द्वारा नियन्त्रित थीं) के बीच दर-युद्ध चला था।
३. हाजी, पूर्व उद्धृत, पृ० १२६।

जाते थे उनको भी वे द्वितीय श्रेणी में इसलिए रख देते थे क्योंकि उनके मालिक भारतीय थे।

विदेशी जहाजी कम्पनियो के विरुद्ध अन्य शिकायतें निम्न है—यात्रियो की सुविधाओ का कम ध्यान रखना, ऊँचे पदों पर केवल यूरोपियनो की नियुक्ति और उच्च पदो, जैसे इजीनियर आदि, के लिए भारतीयो को काम न सिखाना आदि।

३९ भारतीय जलयान-निर्माण उद्योग की स्थिति—भारतीय जहाज बनाने का उद्योग भारतीय जहाज़रानी से कोई खास अच्छी परिस्थिति में नही है। सन् १९१४-१८ से १० वर्ष पहले १०० टन या अधिक के जहाजो की सख्या १७,००० थी और उनकी कुल टन-क्षमता २,८०,००,००० थी। इस समय की कुल टन-क्षमता को जानने के लिए इन आँकडों को काफी बढाना होगा। पहली लडाई से पहले और बाद में भारत ने कुल २२ जहाज बनाए।[१] गैर-भारतीय जहाज-निर्माताओ से केवल छोटे जहाजो के सम्बन्ध में प्रतिस्पर्धा की जा सकती है, क्योंकि उन्हें यहाँ लाने की लागत उनके मूल्य के अनुपात से अधिक है। अन्यथा विदेशी जहाज बनाने वाले कारखानों का स्वच्छन्द एकाधिपत्य है। अभी हाल तक भारत में बडे जहाज बनाने के लिए उपयुक्त इस्पात कारखाने नही थे। थोडे-से मरम्मत करने वाले कारखाने थे, परन्तु वे भी गैर-भारतीयो के हाथ में थे।

४० भारतीय व्यापारिक बेड़े की आवश्यकता—जहाजरानी और जहाज बनाने के सम्बन्ध में भारत के पास पर्याप्त सुविधाएँ है। ऐसा कहा जाता है कि जापान, सयुक्त राज्य अमरीका और जर्मनी की भाँति सरकारी हस्तक्षेप से थोडे ही दिनो में एक पर्याप्त व्यापारिक बेडे का निर्माण हो सकता है। इगलैण्ड की भी सामुद्रिक महत्ता और शक्ति का श्रेय बहुत अशो में नौका-गमन अधिनियमो को है। ये अधिनियम प्राय. दो शताब्दियो तक लागू रहे और उन्नीसवी शताब्दी के मध्य में समाप्त कर दिये गए। एक दृढ राज्य-हस्तक्षेप के अभाव में भारतीय नाविकता यूरोपीय प्रतिद्वन्द्वियो से होड लेने में असफल रही।

युद्ध के दिनो में व्यापारिक बेडा सुरक्षा के दूसरे आधार का काम करता है, इसे सभी मानते हैं। अब, जबकि भारत अपने समुद्री बेडे की नींव डाल चुका है, इस प्रश्न की अपेक्षा न करनी चाहिए। भारत का तटीय और विदेशी समुद्र-वाहित व्यापार इतना प्रचुर है कि वह भारतीय व्यापारिक बेडे को साल-भर तक काम दे सकता है। विदेशी कम्पनियो पर निर्भर रहना एक बडी कमजोरी है। इससे आर्थिक स्थिति को बडी हानि पहुँचती है। यह बात पिछले दो विश्व-युद्धों से स्पष्ट हो चुकी है। व्यापारिक बेडे के विकास से रोजगार के नये द्वार खुल जायँगे। नौका-गमन, सामुद्रिक इञ्जीनियरिंग और बीमा बडे लाभप्रद व्यवसाय है, जिन पर अब तक यूरोपीयो का एकाधिकार रहा है।

४१ व्यापारिक जहाज़रानी समिति (१९२३)—इस समिति की नियुक्ति फरवरी,

[१] अन्य देशों में जहाजरानी और जहाज निर्माण हेतु राजकीय सहायता के विभिन्न रूपों के लिए देखिए, 'स्टेट एड टु नेशनल शिपिंग'।

१६२३ में हुई । इसका कार्य भारतीय जहाजरानी और जलयान-निर्माण उद्योग के विकास के प्रश्न पर विचार करना था। समिति के विशेष सुझाव निम्न• हैं—

(१) भारतीय व्यापारिक जहाजरानी के लिए अनिवार्य अफसरो की शिक्षा हेतु सरकार द्वारा बम्बई. में जलयान-प्रशिक्षण की स्थापना की जानी चाहिए। सरकार ने सुझाव स्वीकार कर लिया और शाही भारतीय समुद्री जहाज 'डफरिन' पुन. सुसज्जित होकर भारतीय व्यापारिक जहाजरानी के प्रशिक्षण के लिए रखा गया (२) सामुद्रिक इञ्जीनियरो की ट्रेनिंग के लिए इञ्जीनियरिंग कालेजो में सुविधाएँ दी जानी चाहिएँ तथा सामुद्रिक अनुभवो की सुविधाएँ भी देनी चाहिएँ। (३) तटीय व्यापार लाइसेंस-प्राप्त जहाजो के लिए सुरक्षित रखा जाय जो अन्ततः भारतीय आधिपत्य और नियन्त्रण के लिए काम करें। (४) जब भारतीय अधिकारी और कर्मचारी तटीय व्यापार में पर्याप्त दक्षता दिखाएँ तो विदेशी समुद्र-पार व्यापार के लिए भारतीय कम्पनियो को अनुदान देने के प्रश्न पर विचार किया जाय। (५) कलकत्ता को स्वत चालित जलयानो के निर्माण का केन्द्र बनाया जाय क्योकि यहाँ पर लोहे और कोयले का सामीप्य है और अन्य स्थानो की तुलना में सामुद्रिक अनुभव की भी अधिकता है। इसके निर्माण के लिए (कन्स्ट्रक्शन बाउटीज) सहायता देकर इसे विदेशो के निर्माण के समक्ष लाने का प्रयास किया जाय। यह सहायता विदेशो के निर्माण-मूल्य से २५% से अधिक न हो। (६) भारतीय कम्पनियो द्वारा जलयान-निर्माण प्रागण (शिप बिल्डिग यार्ड) की स्थापना में सरकार को सहायता देनी चाहिए। इसके अन्तर्गत सस्ते व्याज पर कर्ज दिलाना, स्थान की सुविधा देना, तथा व्यय के सम्बन्ध में सरकार और पोर्ट ट्रस्ट सरक्षण का उन तक प्रसार करना आदि है। यह कानूनी व्यवस्था बना दी जाय कि जब यह पूरा हो जायगा तो तट पर लाइसेंस लेने वाले सभी जहाजो का भारत में बना होना अनिवार्य होगा। (७) प्रारम्भ करने के लिए विदेशो से विशेषज्ञो की सहायता ली जा सकती है। लेकिन अन्त मे भारत को ही नौका-निर्माण के अध्ययन के लिए स्कूल और कालेजो की स्थापना करनी होगी। इनकी स्थापना होने तक इञ्जीनियरिंग कालेजो में ही नौका-गमन के पाठ्य-क्रम को स्थान मिलना चाहिए।

४२. तटीय यातायात को भारतीय जहाज़ों के लिए सुरक्षित करने का बिल—प्रशिक्षण जलयान 'डफरिन' की स्थापना के अतिरिक्त सरकार समिति के अन्य किसी भी सुझाव को कार्यान्वित न कर सकी, अतः सितम्बर, १६२८ में मि० हाजी ने धारासभा में तटीय यातायात के सुरक्षण के लिए एक बिल पेश किया। इसमें कुल हिस्सो का ७५% भारतीयो के हाथ में निहित करने की व्यवस्था थी। सम्मिलित पूँजी वाली कम्पनी (जायँट स्टॉक), निगम (कारपोरेशन) या सस्था के सम्बन्ध में सचालक मण्डल (बोर्ड ऑफ डाइरेक्टर्स) के सभापति तथा सदस्यो में से कम-से-कम ७५% भारतीय नागरिक होने चाहिएँ और भारतीयो को ७५% मतदान अधिकार मिलना चाहिए। भारत के तटीय व्यापार में काम करने वाले जहाज़ो को गवर्नर-

जनरल-इन-कौंसिल द्वारा लाइसेंस दिये जायेंगे। भारत के तटीय व्यापार के क्रमश संरक्षण के लिए पाँच वर्ष का समय निश्चित किया गया।

बिल के ये सिद्धान्त अपनी व्यापारिक जहाजरानी का विकास करने के इच्छुक प्रत्येक राष्ट्र द्वारा अपनाये गए हैं, लेकिन भारत सरकार ने कहा कि वे इस मामले को तब तक हाथ में नहीं ले सकते जब तक कि भारत और इगलैण्ड के व्यापारिक सम्बन्ध और विभेदकारी अधिनियमो के बारे में निर्णय नही हो जाता। ये प्रश्न उस समय गोल मेज सम्मेलन (राउण्ड टेबिल) के सामने थे। सम्पूर्ण गोल मेज सम्मेलन की समिति ने अल्पमत उपसमिति की रिपोर्ट में निम्न परिच्छेद भी सम्मिलित कर लिया—"ब्रिटिश व्यापारिक वर्ग के कहने पर यह निश्चय किया गया है कि भारत-उत्पन्न प्रजाजनो एव इगलिश व्यावसायिक समुदाय के बीच किसी प्रकार का भेद-भाव न किया जाय और इन अधिकारो के नियमन के लिए पारस्परिक आदान-प्रदान के आधार पर एक समझौता किया जाय।[1]

४३. विलम्बित छूट व्यवस्था की समाप्ति सम्बन्धी बिल—मि० हाजी ने विलम्बित छूट व्यवस्था के उन्मूलन के लिए फरवरी, १६२६ में एक बिल पेश किया, जिसका उद्देश्य तटीय सुरक्षा बिल का पूरा करना था जबकि सुरक्षा बिल जहाजरानी से होने वाली आय को भारत में रखना चाहता था। विलम्बित छूट बिल का उद्देश्य तटीय व्यापार के सुरक्षित हो जाने पर व्यापार का भारतीय जहाजो के बीच समुचित वितरण करना था। इस बिल का उद्देश्य था भारतीय अभारतीय किसी प्रकार की कम्पनियो के एकाधिकार को समाप्त करना तथा एक नवीन युग का प्रारम्भ करना, जिसमें एकाधिकार का अन्त करके नवीन कम्पनियो के आगमन के पथ को प्रशस्त कर दिया जायगा। तत्कालीन वाणिज्य सदस्य सर जार्ज रेनी ने इस आधार पर बिल की आलोचना की कि इसने दर-युद्ध को समाप्त करने के लिए कुछ भी नही किया। उनके मत में छूट की व्यवस्था इस अर्थ में अच्छी थी कि उसमें नियमित सेवाएँ, स्थिर भाडा तथा बडे और छोटे माल भेजने वालों के साथ एक-सा का व्यवहार होता था। उन्होंने सुझाव रखा कि स्ट्रेट्स सेटलमेण्ट्स की तरह ही व्यवस्था करनी चाहिए जिससे कि माल भेजने वाले तीन वर्ष में एक बार छूट की बिना किसी हानि के सम्मेलन से अलग हो सकें। उन्होंने यह भी कहा कि बिल को तब तक प्रतीक्षा करनी चाहिए जब तक कि सदन स्वय सुरक्षा बिल के सम्बन्ध में निर्णय नही कर लेता।

इस प्रकार के विधान का इस आधार पर हमेशा विरोध किया जा सकता है कि यह भारत सरकार अधिनियम १६३५ की विभेद सम्बन्धी व्यवस्थाओं के विपरीत है। इन व्यवस्थाओं के अन्तर्गत तटीय जल में काम करती हुई ब्रिटिश स्टीमशिप कम्पनियो के खिलाफ भेदभाव बरतना असभव होगा। (देखिए सेक्शन ११३, ११८, भारत सरकार अधिनियम १६३५)।[2]

१ भारत गोलमेज सम्मेलन उपसमिति रिपोर्ट, पृ० ४६।

२ इस वर्ष (१६५५) भारत सरकार द्वारा नियुक्त एक समिति तटीय जहाजरानी से सम्बन्धित समस्याओं की जाँच कर रही है।

४४. जहाज़रानी पुनर्निर्माण नीति उप-समिति—भारत सरकार द्वारा जहाजरानी (शिपिंग) के लिए एक पुनर्निर्माण नीति समिति की नियुक्ति हुई। इसने अपनी रिपोर्ट १६४७ (अप्रैल) में प्रस्तुत की। समिति ने जहाजरानी के लिए एक सबल राष्ट्रीय नीति का अनुमोदन किया। इसने १६५४ तक प्राप्त करने के लिए २० लाख टन भारवाहिकता का लक्ष्य रखा, ताकि भारतीय जहाजरानी को (१) सम्पूर्ण तटीय व्यापार, (२) भारत के वर्मा और सीलोन के व्यापार का ७५%, (३) भारत के दूरवर्ती व्यापार का ५०% और (४) पूर्व में धुरी शक्तियो द्वारा खोये गए व्यापार में से ३०% प्राप्त हो जाय।[1]

समिति ने एक जहाजरानी वोर्ड की स्थापना का प्रस्ताव रखा। वोर्ड का काम तटीय समुद्र में जहाज चलाने वाली कम्पनियो को लाइसेंस देना, अनुचित प्रतिद्वन्द्विता को नियन्त्रित करना और सरकार द्वारा भारतीय जहाजरानी को दी जाने वाली सहायता के विषय में सलाह देना तथा सहायता प्राप्त करने वाली कम्पनियो पर लगाए जाने वाले प्रतिवन्ध और नियन्त्रण को निर्धारित करना था।

वहुमत रिपोर्ट ने भारतीय जहाजरानी उसे कहा है जो 'भारतीयो द्वारा अधिकृत, नियन्त्रित एव प्रवधित' हो। सर ए० एच० गजनवी के मतानुसार भारतीय जहाजरानी का अभिप्राय उन कम्पनियो से भी है जिनमें कम-से-कम ७०% हिस्से भारतीयो के है। इस मत का आधार यह था कि वर्तमान परिस्थिति में अल्प सख्या विदेशियो का भाग लेना हानिकारक तो है ही नही, प्रत्युत लाभदायक ही है।

४५. तटीय यातायात को नियन्त्रित करने के लिए हाल में किये गए प्रयत्न—सितम्बर, १६३७ मे गैर-सरकारी तटीय यातायात विल सर ए० एच० गजनवी द्वारा केन्द्रीय सभा में पेश किया गया। विल एक प्रवर-समिति[2] को सौंप दिया गया। विल में भारतीय एव विदेशी कम्पनियों में किसी प्रकार का भेद नही किया गया था। इसका उद्देश्य तटीय समुद्र में होने वाली अनुचित होड को रोकना था, जिसका रूप दर की कमी या छूट की व्यवस्था ने ले लिया था और जिससे जहाजरानी में भारतीय पूँजी लगने में वाधा पहुँचती थी।[3] प्रवर-समिति द्वारा फिर से प्रस्तुत किये गए विल द्वारा केन्द्रीय सरकार को अनुचित होड कम करने का अधिकार मिला। इसके अनुसार जाँच करने के बाद वह यात्रियो और माल के लिए क्रमश किराये और भाडे की निम्नतम दर तय कर सकती थी। निश्चित दर से कम किराया लेना दण्डनीय अपराध था। भारत सरकार ने विल का इस आधार पर विरोध किया कि वह अनावश्यक एव अव्यवहार्य था। पहले १८५० के पुराने अधिनियम को रद्द करके पृष्ठ-

---

१. भारतीय जहाजरानी कम्पनियों का एक प्रतिनिधि-मण्डल मई, १६४७ को इगलैण्ड के लिए रवाना हुआ। इसका उद्देश्य ब्रिटिश सरकार और जहाजरानी के हितों से भारतीय जहाजरानी के विकास के सम्बन्ध में वार्तालाप करना था। यह सितम्बर, १६४७ में विना किसी परिणाम पर पहुँचे लौट आया।

२. इसी प्रकार का एक विधेयक, जिसे पी० एन० सप्रू ने पेश किया था, अस्वीकृत कर दिया गया था।

३. भारतीय कम्पनियों के विचार के लिए देखिए, सर ए०एच० गजनवी के विल पर भारतीय कम्पनियों का प्रतिरोध।

भूमि तैयार करने का विचार किया गया। १८५० के अधिनियम के अनुसार तटीय समुद्र सब देशो के लिए खुला था, अतएव इसे रद्द करने के बाद ही जहाजरानी को नियन्त्रित करना उचित समझा गया। इसका उद्देश्य प्रधानतया जापानी और कुछ अश तक जर्मनी के जहाजो के बढते हस्तक्षेप को रोकना था।

मार्च, १९३९ मे काउन्सिल ऑफ स्टेट ने एक प्रस्ताव पास करके भारत सरकार से भारतीय व्यापारिक जहाजरानी के प्रसार तथा सरक्षरण की माँग की। प्रस्ताव रखने वाले श्री पी० एन० सप्रू ने खेद प्रकट किया कि ग्रेट ब्रिटेन के साथ नवीन व्यापारिक समझौता (१९३९) करते समय सरकार ने भारतीय जहाजरानी के लिए कुछ नही किया।[1] पी० एन० सप्रू ने निम्न सुझाव रखे—भारतीय कम्पनियो के लिए तटीय व्यापार को सुरक्षित रखा जाय, सहायता के लिए धन दिया जाय तथा किराये-भाडे की निम्नतम एव उच्चतम दर निर्धारित कर दी जाय। वारिणज्य सचिव मि० डाड ने कहा कि सरकार द्वारा दर निर्धारण करना व्यर्थ था, क्योकि उनके परिवर्तन को रोकना और उन्हे लागू करना कठिन ही नही, बल्कि असम्भव भी था। उन्हे खेद था कि सरकार द्वारा कम्पनियो को किसी प्रकार की आर्थिक सहायता मिलने की आशा न थी और न १९३५ के अधिनियम के अनुसार सरकार तटीय व्यापार को उनके लिए सुरक्षित ही कर सकती थी।

४६ विजगापट्टम का जलयान निर्माण-प्रांगण—द्वितीय विश्वयुद्ध में प्रत्येक सामुद्रिक देश द्वारा अपने जहाजो को बनाने का महत्त्व स्पष्ट हो गया। श्री वालचन्द हीराचन्द के उद्योग से विजगापट्टम में एक जलयान-निर्माण-प्रागण की स्थापना हुई। सिंधिया स्टीम नेविगेशन कम्पनी ने जलयान-निर्माण बर्थ बनाने का काम अपने हाथ मे लिया। जहाज बनाने का काम कुछ दिन तक सरकार की आवश्यक यन्त्र और लोहा देने की अक्षमता के कारण रुका रहा। कम्पनी द्वारा बना पहला जहाज एस० एस० जलउषा जनवरी, १९४८ में पानी में उतारा गया। कुल मिलाकर (जिसमें जलपखी दिसम्बर, १९४९, जलपद्मा सितम्बर, १९५० भी शामिल हैं) ८००० टन वाले ५ जहाज (विजगापट्टम में) तीन वर्ष में बनाये गए। जलयान-प्रागण को बन्द होने से बचाने के लिए भारत सरकार ने जलपद्मा को खरीद लिया। १९४९ में सिन्धिया कम्पनी ने भारत सरकार से प्रागण अपने हाथ में ले लेने की प्रार्थना की।

४७ इधर हाल में हुआ विकास—द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद भारत सरकार ने जहाजरानी नीति समिति नियुक्त की, जिसने पाँच वर्ष में २० लाख टन का लक्ष्य सामने रखा। कितनी ही कम्पनियाँ स्थापित की गईं और अब भारत की जहाजरानी शक्ति कुल ३९३,०५३ टन है। इसके अतिरिक्त तीन पाकिस्तानी कम्पनियो के पास कुल मिलाकर ३४,८०९ टन के दस जहाज है।

नवम्बर, १९४७ में वारिणज्य मन्त्री ने तीन जहाज-निगम (कारपोरेशन) स्थापित करने के सरकारी इरादे की घोषणा की, जिसमें सरकारी हिस्सा ५१% होगा।

१ विशेष विवरण के लिए देखिए, 'इण्डियन शिपिंग एण्ड दि प्रपोज्ड इण्डो-ब्रिटिश ट्रेड एग्रीमेण्ट', १९३९।

सरकार अपनी पूँजी के अनुपात में सचालक नियुक्त करेगी और कम्पनियाँ प्रबन्ध का काम करेंगी तथा निगम को चलाएँगी। संघर्ष बचाने के लिए तीनो निगम (कार-पोरेशन) विभिन्न मार्गो पर सेवाएँ करेंगे।[1] प्रारम्भ में सरकार ने केवल एक निगम स्थापित करने का विचार किया है, जिसके लिए ४० लाख की कीमत के दो जहाज खरीदे गए है।[2]

वायु-परिवहन

४८. नागरिक उड्डयन[3]—१६१४-१८ के युद्ध के वाद से नागरिक उड्डयन में विशेपतया पाश्चात्य देशो में बडी ही तीव्र प्रगति हुई है और इसने विश्व के परिवहन में एक क्रान्ति ला दी है।

कराची और वम्बई के वीच हवाई डाक सेवा (पोस्टल एअर मेल सर्विस) के प्रारम्भ के साथ नागरिक उड्डयन मे रुचि जाग उठी। भारत से होकर जाने वाली डच और फ्रेंच नागरिक उड्डयन सेवाओ के प्रारम्भ होने, इगलैण्ड और कराची के वीच नियमित साप्ताहिक साम्राज्य डाक के प्रारम्भ तथा विश्व के सभी देशो में नागरिक उड्डयन में हुई प्रगति के साथ ही भारतीय उड्डयन भी विकास की प्रेरणा पाने लगा। भारत अन्तर्राष्ट्रीय हवाई सम्मेलन (इण्टरनेशनल ऐअर कनवेंशन) में शामिल हो गया है। भारत सरकार ने नागरिक उड्डयन का एक सचालक एव उप-सचालक तथा वायुयान-प्रधान निरीक्षक नियुक्त किये है। व्यक्तिगत साहसोद्योगी भी सामने आये और भारत में उड्डयन सिखाने वाले अनेक उड्डयन क्लब स्थापित हो गए है। उच्च उड्डयन की प्रशिक्षा के लिए उडाको को दी गई सहायता के अतिरिक्त सरकार ने नागरिक उड्डयन छात्रवृत्तियाँ भी देना प्रारम्भ किया है। व्यक्तिगत सस्थाओ, जैसे 'रतन और दुरावजी टाटा ट्रस्ट' तथा अन्य कम्पनियो द्वारा भी छात्रवृत्तियाँ दी जा रही हैं। अन्तरिक्ष विभाग ने भी उड्डयन में सुधार किए हैं।

भारत में दक्षिण से उत्तर तथा पूरब से पश्चिम तक फैले प्रधान वायु मार्गो पर दैनिक हवाई सेवाएँ स्थापित हो गई और समीपवर्ती देशो की राजधानियो तथा देश के प्रधान नगरो से शीघ्र ही सम्बन्ध स्थापित हो गया। यह सब नागरिक उड्डयन के विकास से ही सम्भव हुआ।

१. दि इण्डिया एण्ड पाकिस्तान ईयर बुक, १६४६, पृ० ४०६-१०।

२ सरकार ने १६५० में ईस्टर्न शिपिंग लि० की स्थापना की। इसकी अधिकृत पूँजी १० करोड़ रु० थी। इसका उद्देश्य आस्ट्रेलिया, सुदूरपूर्व और निकट पूर्व से व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करना था। पचवर्षीय योजना में भारतीय कम्पनियों को १४.६४ करोड़ रु० उधार देना स्वीकार किया गया है ताकि वे अपनी टन-क्षमता वढा सकें।

जहाजरानी का क्षेत्र	ऋण की रकम (करोड़ रु० में)	टन-क्षमता की अनुमानित वृद्धि (ग्रॉस रजिस्टर्ड टनेज)
तटीय व्यापार	४ ०	६५,०००
समुद्री व्यापार	६.५	७०,०००
ईस्टर्न शिपिंग कारपोरेशन	४ ४४	४०,०००

३ इसके सक्षिप्त विवरण के लिए देखिए, दि इण्डिया एण्ड पाकिस्तान ईअर बुक, १६४६, पृ० २७५-८१।

भूमि तैयार करने का विचार किया गया। १८५० के अधिनियम के अनुसार तटीय समुद्र सब देशो के लिए खुला था, अतएव इसे रद्द करने के बाद ही जहाजरानी को नियन्त्रित करना उचित समझा गया। इसका उद्देश्य प्रधानतया जापानी और कुछ अश तक जर्मनी के जहाजो के बढते हस्तक्षेप को रोकना था। ८

मार्च, १९३९ मे काउन्सिल ऑफ स्टेट ने एक प्रस्ताव पास करके भारत सरकार से भारतीय व्यापारिक जहाजरानी के प्रसार तथा सरक्षण की माँग की। प्रस्ताव रखने वाले श्री पी० एन० सप्रू ने खेद प्रकट किया कि ग्रेट ब्रिटेन के साथ नवीन व्यापारिक समझौता (१९३९) करते समय सरकार ने भारतीय जहाजरानी के लिए कुछ नही किया।[1] पी० एन० सप्रू ने निम्न सुझाव रखे—भारतीय कम्पनियो के लिए तटीय व्यापार को सुरक्षित रखा जाय, सहायता के लिए धन दिया जाय तथा किराये-भाडे की निम्नतम एव उच्चतम दर निर्धारित कर दी जाय। वाणिज्य सचिव मि० डाड ने कहा कि सरकार द्वारा दर निर्धारण करना व्यर्थ था, क्योकि उनके परिवर्तन को रोकना और उन्हे लागू करना कठिन ही नही, बल्कि असम्भव भी था। उन्हें खेद था कि सरकार द्वारा कम्पनियो को किसी प्रकार की आर्थिक सहायता मिलने की आशा न थी और न १९३५ के अधिनियम के अनुसार सरकार तटीय व्यापार को उनके लिए सुरक्षित ही कर सकती थी।

४६ विजगापट्टम का जलयान निर्माण-प्रांगण—द्वितीय विश्वयुद्ध में प्रत्येक सामुद्रिक देश द्वारा अपने जहाजो को बनाने का महत्त्व स्पष्ट हो गया। श्री वालचन्द हीराचन्द के उद्योग से विजगापट्टम में एक जलयान-निर्माण-प्रागण की स्थापना हुई। सिंधिया स्टीम नेविगेशन कम्पनी ने जलयान-निर्माण बर्थ बनाने का काम अपने हाथ में लिया। जहाज बनाने का काम कुछ दिन तक सरकार की आवश्यक यन्त्र और लोहा देने की अक्षमता के कारण रुका रहा। कम्पनी द्वारा बना पहला जहाज एस० एस० जलउषा जनवरी, १९४८ में पानी में उतारा गया। कुल मिलाकर (जिसमें जलपखी दिसम्बर, १९४९, जलपद्मा सितम्बर, १९५० भी शामिल हैं) ८००० टन वाले ५ जहाज (विजगापट्टम में) तीन वर्ष में बनाये गए। जलयान-प्रागण को बन्द होने से बचाने के लिए भारत सरकार ने जलपद्मा को खरीद लिया। १९४९ में सिन्धिया कम्पनी ने भारत सरकार से प्रागण अपने हाथ में ले लेने की प्रार्थना की।

४७ इधर हाल में हुआ विकास—द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद भारत सरकार ने जहाजरानी नीति समिति नियुक्त की, जिसने पांच वर्ष में २० लाख टन का लक्ष्य सामने रखा। कितनी ही कम्पनियाँ स्थापित की गईं और अब भारत की जहाजरानी शक्ति कुल ३६३,०५३ टन है। इसके अतिरिक्त तीन पाकिस्तानी कम्पनियो के पास कुल मिलाकर ३४,८०९ टन के दस जहाज है।

नवम्बर, १९४७ में वाणिज्य मन्त्री ने तीन जहाज-निगम (कारपोरेशन) स्थापित करने के सरकारी इरादे की घोषणा की, जिसमें सरकारी हिस्सा ५१% होगा।

[1] विशेष विवरण के लिए देखिए, 'इण्डियन शिपिंग एण्ड दि प्रपोज्ड इण्डो-ब्रिटिश ट्रेड एग्रीमेण्ट', १९३९।

युद्ध-काल तक स्वय चलाने का निश्चय किया । इसका प्रधान कारण उसके व्यावसायिक रूप से चलने में निहित आर्थिक जोखिम और प्रशासकीय उलझनें थी । इसलिए वालचन्द हीराचन्द के हिस्से १९४२ (अप्रैल) में भारत सरकार द्वारा खरीद लिये गए । मैसूर सरकार ने यद्यपि अपना आर्थिक हित ज्यो-का-त्यो रहने दिया, किन्तु कुछ काल के लिए प्रबन्ध-कार्य में अपने अधिकार को छोड़ दिया । कारखाने के काम को युद्ध-काल में बडी ही गुप्त रीति से चलाया जाता था, लेकिन यह काम सिर्फ जहाजो की मरम्मत और सुरक्षा तक ही सीमित था ।

मार्च, १९४६ के इगलिस्तान शिष्टमण्डल (यू० के० एअरक्राफ्ट मिशन) के सुझाव के अनुसार भारत सरकार ने भारत में एक वायुयान कारखाना खोलने का निश्चय किया । इसे बगलौर फैक्ट्री में ही आरम्भ किया जायगा । २० वर्ष में भारत की समस्त सैनिक एव नागरिक उड्डयन की आवश्यकताओ के सम्बन्ध में आत्म-निर्भरता प्राप्त करने का लक्ष्य रखा गया है । वायु-सेवाओ के लिए आवश्यक कर्मचारियो की पूर्ति के लिए सहारनपुर में एक प्रशिक्षण-केन्द्र स्थापित किया गया है ।[1]

१ वायु-परिवहन उद्योग का राष्ट्रीयकरण करने की दृष्टि से १९५३ में एअर कारपोरेशन्स एक्ट पास किया गया तथा १५ जून १९५३ को इडियन एअर लाइन्स कारपोरेशन और एअर इण्डिया इण्टरनेशनल दो निगमों (कारपोरेशन्स) की स्थापना की गई । पचवर्षीय योजना में राष्ट्रीयकरण पूरा करने के लिए ९'५ करोड़ रु० की व्यवस्था की गई है ।

पचवर्षीय योजना में नागरिक उड्डयन के विकास के लिए कुल २२'८ करोड रु० व्यय करना निश्चित किया गया है । इसमें ११'०७ करोड रु० हवाई अड्डों के सुधार और नये हवाई अड्डों के बनाने पर खर्च किया जायगा तथा ९'५ करोड रु० नई निगम बनाने, कम्पनियों को क्षति-पूर्ति देने तथा हवाई जहाज खरीदने पर व्यय किया जायगा । १९५१-५४ में हवाई अड्डों के सुधार और नये हवाई अड्डों के निर्माण पर ३'८४ करोड़ रु० व्यय हुआ । इसी अवधि में नये जहाज खरीदने और नये निगम बनाने में ३'०५ करोड़ रु० व्यय किया गया ।

इन प्रधान वायु-सेवाओ से प्रेरित होकर बहुत-सी स्थानीय एव गौण महत्त्व की और भी सेवाएँ स्थापित हो जायँगी। युक्तिमूलक आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करने, सुरक्षा, नियमितता एव विश्वसनीयता बनाए रखने तथा सस्थाओ की बेशुमार वृद्धि रोकने और आर्थिक दृष्टि से हानिकारक प्रतिद्वन्द्विता से बचाने के लिए सरकार ने वायु-परिवहन को लाइसेंस देकर नियमित करने का विचार किया। जुलाई, १९४६ में एक वायु-परिवहन अनुज्ञा परिपद् (एअर ट्रान्सपोर्टिंग लाइसेंसिग बोर्ड) की स्थापना हुई। १ अक्तूबर, १९४६ के बाद बिना बोर्ड से अनुज्ञा प्राप्त किये कोई भी वायु-सेवाएँ प्रारम्भ नही की जा सकेंगी। इस समय भारतीय वायु-परिवहन कम्पनियो द्वारा ९ वायु-सेवाएँ सचालित हो रही हैं। १९४७ के अन्त में एअर इण्डिया इण्टरनेशनल की स्थापना हुई, जिसमें भारत सरकार का हिस्सा ४९% था जिसे वह किसी भी समय ५१% कर सकती थी। ५ वर्ष में होने वाली सब हानि को सरकार पूरा करेगी, किन्तु बाद के लाभ से उसके द्वारा दिया गया धन चुकाना पडेगा।

वर्तमान समय में भारत उड्डयन उद्योग उडने वाले जहाजो की सख्या की अधिकता का शिकार हो रहा है। कमजोर आर्थिक स्थिति का भी यही एक कारण है। सबसे आधारभूत कठिनाई जनता की दरिद्रता है, जिसके कारण यात्रियो का यातायात बहुत कम होता है। उद्योग का विकास सीमित होने से भाडे की आय भी बहुत कम होती है। भारत में उड्डयन की प्रगति सरकारी सहायता और नियन्त्रण पर निर्भर है।

१९३९–४५ के युद्ध ने शीघ्रता से उड्डयन का विकास करने की आवश्यकता का अनुभव कराया। क्रेनवेल में भारतीय सैनिक शिक्षार्थियो की ट्रेनिंग के उपरान्त १९३२ में भारतीय वायु सेना छोटे पैमाने पर स्थापित हुई। युद्ध के आरम्भ होने पर शीघ्रता से इसके विकास का कार्यक्रम कार्यान्वित किया गया और तत्कालीन प्रशिक्षण की सुविधाएँ भी काफी बढा दी गई।

४१ बगलोर की वायुयान फैक्ट्री—इस प्रकार इस युद्ध ने भारत में वायुयान-निर्माण के विकास की महत्ता को बहुत बढा दिया। इस कार्य में भी अग्रगामी होने का श्रेय श्री वालचन्द हीराचन्द को है। एक सम्मिलित पूँजी वाली कम्पनी (ज्वाइंट स्टॉक कम्पनी), जिसका नाम हिन्दुस्तान एयरक्राफ्ट कम्पनी लिमिटेड था और जिसकी अधिकृत पूँजी (ऑथराइज्ड केपिटल) ४ करोड रु० थी, की रजिस्ट्री दिसम्बर १९४० में मैसूर राज्य में हुई। यह कम्पनी वालचन्द हीराचन्द और मैसूर सरकार के सरक्षण में स्थापित हुई। एक अमेरिकन विशेषज्ञ के निर्देशन में यह फैक्ट्री बगलौर में स्थापित की गई। बगलौर में कारखाने को स्थापित करने के दो कारण थे—एक तो वहाँ सस्ती विद्युत् शक्ति सरलता से प्राप्त हो सकती थी और दूसरे भद्रावती आइरन एण्ड स्टील वर्क्स मे उत्तम इस्पात प्राप्त हो सकता था। जुलाई, १९४१ में पहला वायुयान तैयार हुआ, दूसरे महीने में एक और बना। कारखाने की योजना इतनी विकसित हो गई कि १९४२ तक यह आशा की जाने लगी कि फैक्ट्री में शीघ्र ही प्रति मास १५ से ३० तक वायुयान तैयार होने लगेंगे। इसी समय भारत सरकार ने कारखाने को कम-से-कम

युद्ध-काल तक स्वय चलाने का निश्चय किया। इसका प्रधान कारण उसके व्यावसायिक रूप से चलने में निहित आर्थिक जोखिम और प्रशासकीय उलझनें थी। इसलिए वालचन्द हीराचन्द के हिस्से १९४२ (अप्रैल) में भारत सरकार द्वारा खरीद लिये गए। मैसूर सरकार ने यद्यपि अपना आर्थिक हित ज्यो-का-त्यों रहने दिया, किन्तु कुछ काल के लिए प्रबन्ध-कार्य में अपने अधिकार को छोड दिया। कारखाने के काम को युद्ध-काल में बडी ही गुप्त रीति से चलाया जाता था, लेकिन यह काम सिर्फ जहाजो की मरम्मत और सुरक्षा तक ही सीमित था।

मार्च, १९४६ के इगलिस्तान शिष्टमण्डल (यू० के० एअरक्राफ्ट मिशन) के सुझाव के अनुसार भारत सरकार ने भारत में एक वायुयान कारखाना खोलने का निश्चय किया। इसे बगलौर फैक्ट्री में ही आरम्भ किया जायगा। २० वर्ष में भारत की समस्त सैनिक एव नागरिक उड्डयन की आवश्यकताओ के सम्बन्ध में आत्म-निर्भरता प्राप्त करने का लक्ष्य रखा गया है। वायु-सेवाओ के लिए आवश्यक कर्मचारियो की पूर्ति के लिए सहारनपुर में एक प्रशिक्षण-केन्द्र स्थापित किया गया है।[1]

---

१ वायु-परिवहन उद्योग का राष्ट्रीयकरण करने की दृष्टि से १९५३ में एअर कारपोरेशन्स एक्ट पास किया गया तथा १५ जून १९५३ को इण्डियन एअर लाइन्स कारपोरेशन और एअर इण्डिया इण्टरनेशनल दो निगमों (कारपोरेशन्स) की स्थापना की गई। पचवर्षीय योजना में राष्ट्रीयकरण पूरा करने के लिए ९'५ करोड रु० की व्यवस्था की गई है।

पचवर्षीय योजना में नागरिक उड्डयन के विकास के लिए कुल २२'८ करोड़ रु० व्यय करना निश्चित किया गया है। इसमें ११'०७ करोड़ रु० हवाई अड्डों के सुधार और नये हवाई अड्डों के बनाने पर खर्च किया जायगा तथा ९ ५ करोड़ रु० नई निगम बनाने, कम्पनियों को क्षति-पूर्ति देने तथा हवाई जहाज खरीदने पर व्यय किया जायगा। १९५१-५४ में हवाई अड्डों के सुधार और नये हवाई अड्डों के निर्माण पर ३ ८४ करोड़ रु० व्यय हुआ। इसी अवधि में नये जहाज खरीदने और नये निगम बनाने में ३'०५ करोड़ रु० व्यय किया गया।

अध्याय ६

भारत का व्यापार

इस अध्याय का विषय भारत का व्यापार है, जिसे अध्ययन की सुविधा के लिए निम्न प्रधान शाखाओं में विभाजित किया जा सकता है—(१) बाह्य व्यापार, जिसमें (क) समुद्र-वाहित व्यापार, (ख) मध्यागार (एण्ट्रीपॉट) व्यापार, तथा (ग) सीमा-पार व्यापार सम्मिलित हैं। (२) आन्तरिक व्यापार, जिसमें देश के अन्दर का तथा तटीय व्यापार शामिल है।

बाह्य व्यापार

१ **ऐतिहासिक सिंहावलोकन**—भारत के प्राचीन व्यापार का वर्णन बहुत सक्षेप में किया जायगा, क्योकि हमारा प्रधान लक्ष्य उन्नीसवी शती के उत्तरार्द्ध से होने वाले विकासो से है। इस बात के प्रमाणो की कमी नही है कि प्राचीन काल में भारत का व्यापार सुदूर देशो तक फैला हुआ था। ईसा से ३००० वर्ष पूर्व भारत के व्यापार-सम्बन्ध बेबीलन से थे। मिस्र के २००० वर्ष ईसा-पूर्व के रक्षित मृतक शरीर (ममीज), ऐसी कल्पना की जाती है, भारत में बनी अत्युत्तम प्रकार की मलमल से ढके थे। "भारत-की निर्मित वस्तुओ की रोम में बडी ही मॉग थी। बडे प्लिनी की शिकायत थी कि प्रति वर्ष भारत के वाणिज्य में अपार धनराशि खप जाती थी। ढाका का मलमल ग्रीस में गजेटिका के नाम से प्रसिद्ध था।"[१] उन अन्य देशो में, जिनके साथ भारत का व्यापार-सम्बन्ध था, चीन, अरब और फारस का नाम लिया जा सकता है। भारत या समस्त विश्व का पुराने जमाने का व्यापार दुर्लभ और बहुमूल्य वस्तुओ का व्यापार था, जबकि इसके विपरीत आज का व्यापार जनसाधारण की आवश्यकता की पूर्ति करने वाली सस्ती और भारी वस्तुओ का व्यापार है जो वस्तुएँ दूर-दूर देशो में भेजी जाती है। पुराने जमाने के निर्यात की प्रधान वस्तुएँ कपडे, धातु के बर्तन, हाथी-दांत, इत्र, रग और मसाले इत्यादि थी। आयात में खनिज-पदार्थो की प्रमुखता थी जिनकी भारत में कमी थी, जैसे पीतल, टिन, रांगा आदि। इनके अलावा शराब और घोडे आदि अन्य वस्तुओ का भी आयात होता था। चूँकि उस जमाने में विदेशो से सोना अधिक मात्रा में भारत आ रहा था, इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि आयात की तुलना में निर्यात अधिक था। निर्यात की अधिकता भारत के विदेशी व्यापार की विशेषता थी। थोडा-सा मध्यागार व्यापार भी होता था। इसमें प्रधानतया चीन से

१ दि इण्डस्ट्रियल कमीशन रिपोर्ट, श्री मालवीय की विमति टिप्पणी, पृ० २९५।

चीनी मिट्टी के बर्तन और रेशम, सीलोन से मोती तथा भारतीय द्वीप-समूहो से कीमती पत्थर, बहुमूल्य हीरे इत्यादि का व्यापार सम्मिलित था। यह इस बात का द्योतक है कि भारत के पास व्यापारिक जहाजी बेड़े अवश्य थे।

मुसलमानो के समय में भारत के विदेशी व्यापार पर कुछ नये प्रभाव पडने लगे। हिन्दू-युग की अपेक्षा मुसलमानो के प्रारम्भिक काल में अधिक अशान्ति थी, फलत व्यापार को धक्का लगा होगा। इसके विपरीत, पश्चिमोत्तर सीमान्त से यातायात के सम्बन्ध स्थापित होने से उन देशो से व्यापार को प्रेरणा मिली। जैसा कि मोरलैण्ड का कथन है, सीमान्त पर दो निश्चित व्यापार-मार्ग थे—एक लाहौर से काबुल तक, दूसरा मुलतान से कन्धार तक। "काबुल एक विशाल वाणिज्य-केन्द्र था। यहाँ फारस, हिन्दुस्तान तथा अन्य उत्तर के देशो के व्यापारी मिलते थे। यह चीन और यूरोप के काफिलो (कारवाँ) के मार्ग पर भी पडता था। कन्धार भारत से फारस के बहुत बडे भाग के लिए प्रवेश-द्वार था। तत्कालीन परिस्थिति और मानदण्ड से यह निर्णय करना पडेगा कि इन दोनो मार्गों से काफी यातायात और व्यापार होता था।"[1] मुगल-दरबार के सरक्षण ने कितने ही भारतीय उद्योगो को प्रेरणा दी। इनमें विलासिता की वस्तुओ का उत्पादन प्रधान था। सामुद्रिक व्यापार—विशेषकर मालाबार तट का, कुछ अशो में केम्बे की खाडी और कोरोमण्डल तट का—मुसलमानो के हाथ में था, जो कि बाद में बनियो और चेटियारो के हाथ में आ गया। भारतीय समुद्र से होने वाले सुदूरपूर्व और लालसागर तक के सब व्यापार का प्रधान मध्यागार मालाबार और बन्दरगाह कालीकट था। मुस्लिम-काल में व्यापार प्राय· वैसा ही बना रहा और गिबन का यह कटु कथन कि " 'पौर्वात्य व्यापार की वस्तुएँ भव्य और तुच्छ थीं' वस्तुत १६वी शताब्दी के लिए उतना ही लागू होता है जितना कि दूसरी शताब्दी के लिए।"[2] आयात में प्रधानतया सोना सिक्के बनाने और प्रदर्शन के लिए, बहुत बडी सख्या में घोडे, धातुओ में जस्ता, रागा, पारा, ताँबा इत्यादि, विलास की वस्तुओ में हीरे, जवाहर और एम्बर आदि वस्तुएँ थी। इनके बदले भारत से कपडे, रग की सामग्री, अफीम तथा अन्य मादक वस्तुएँ, काली मिर्च तथा कुछ अन्य मसाले भेजे जाते थे।

पन्द्रहवी शताब्दी में उत्तमाशा अन्तरीप से होकर भारत के लिए समुद्री मार्ग की खोज हो जाने से पूर्व और पश्चिम में सम्बन्ध स्थापित हो गया और व्यापारिक मार्गों में युगान्तकारी परिवर्तन हुए। इसके पहले भारत का यूरोप से सामुद्रिक व्यापार हिन्द महासागर से अदन तक होता था, इसके बाद माल उतार दिया जाता था तथा जल-थल के मार्गो से भूमध्य सागर तक पहुँचाया जाता था। फिर इटली के व्यापारियो द्वारा यह माल वेनिस और जिनेवा पहुँचाया जाता था और वहाँ से समुद्र द्वारा सुदूर-पश्चिम या भूमि के रास्ते से आल्प्स के उस पार राइन द्वारा एण्टवर्प पहुँचाया जाता था जो उस समय पश्चिमी यूरोप का प्रधान वितरक था। इस लाभ को अपनाने

१. 'इण्डिया एट दि डैथ ऑफ अकबर', पृ० २१६।
२ वही, पृ० १६६।

के लिए ही पुर्तगालियो ने भारत के नवीन रास्ते की खोज प्रारम्भ की। इगलैण्ड, हालैण्ड तथा फ्रास के आकर्षण का प्रधान कारण कच्चा माल नही था, वरन् लिनेन, छीट, हीरे, जरी के काम किये हुए कपडे, ऊनी और रेशमी वस्तुएँ आदि थी। यही वस्तुएँ ईस्ट इण्डिया कम्पनी के लाभदायक व्यापार का आधार थी, जिस पर अन्त में सप्तवर्षीय युद्ध की समाप्ति और फ्रासीसियो की हार के उपरान्त उसे पूर्ण एकाधिकार प्राप्त हो गया। एक समय इगलैण्ड में भारत से व्यापार करने के कारण ईस्ट इण्डिया कम्पनी का बडा विरोध होता था। कारण यह था कि इगलैण्ड मे भारतीय सफेद कपडो और मसाले की बडी माँग थी और उसके बदले में नकद रुपया देना पडता था, क्योकि इगलैण्ड के ऊनी कपडो की भारत में खपत न थी।[1] सत्रहवी शती के अन्त में भारतीय कपडो का प्रयोग दण्डनीय अपराध घोषित कर दिया गया। इसके लिए या तो भारतीय कपडो पर इतना अधिक आयात-कर लगाया गया कि उसका आयात बिलकुल बन्द हो जाय या उसके प्रयोग की बिलकुल मनाही कर दी गई। हम पहले बता चुके है कि कम्पनी के व्यापारी हितो ने पहले तो भारत के उद्योगों को बढावा दिया, किन्तु बाद में इगलैण्ड के पूँजीपतियो के विरोध से इस नीति में आमूल परिवर्तन कर दिया गया तथा अठारहवी शती के बाद से भारत केवल इगलैण्ड को कच्चा माल देने वाला देश समझा जाने लगा। इगलैण्ड के गृह-उद्योगो के विकास के लिए, जो कि औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप बढ रहे थे, कच्चे माल की बडी आवश्यकता थी।

उन्नीसवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में इगलैण्ड और भारत में होने वाले व्यापार के स्वभाव में काफी परिवर्तन हो गया। अब भारत उन्ही वस्तुओ, उदाहरणार्थ कपडा और चीनी, का आयात करने लगा जिनका वह अब तक निर्यात करता आया था। उन्नीसवी शताब्दी के मध्य तक लकाशायर में कपडे का उद्योग इतना विकसित हो गया था कि भारत में भेजी जाने वाली वस्तुओ का आधा भाग कपडा ही होता था।

२ १८६४-६५ से भारत का व्यापार—१८६९ में जब स्वेज नहर साधारण नौगमन के लिए खोल दी गई तब से भारत के व्यापारिक इतिहास का आधुनिक काल प्रारम्भ होता है। इस काल की विशेषता है आयात-निर्यात की मात्रा में हुई वृद्धि।

१८६४-६५ से १८६८-६९ तक प्रतिवर्ष औसत निर्यात मूल्य ५५ ८६ करोड रुपये था। सन् १९२४-२५ से १९२८-२९ तक का पचवर्षीय औसत ३५३ ३१ करोड रुपये हो गया। इसी काल में आयात मूल्य ३१ ७ करोड रुपये से बढकर २५१ करोड रु० हो गया।

अब हम इस वृद्धि के प्रधान कारणो का सक्षिप्त विवरण दे सकते हैं। १९वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारत की अग्रेजी विजय पूरी होने के साथ देश में शान्ति-व्यवस्था स्थापित हो गई। परिणामत वाणिज्य के विकास के लिए अत्यावश्यक जीवन और धन की सुरक्षा प्राप्त हुई। यातायात के नवीन साधनो से देश का

[1] बगाल की दीवानी मिल जाने पर विनियोग की विपाक्त पद्धति से (जिसमें भारतीय मालगुजारी से निर्यात के माल खरीदे जाते थे) भारत में सोने का आना बन्द हो गया और भारतीय व्यापार के प्रति विरोध कम हो गया।

कोना-कोना व्यापार के लिए खुल गया। इनमे सबसे प्रधान कारण था स्वेज़ नहर का खुलना, जिससे इगलैण्ड और भारत के बीच की दूरी तीन हजार मील से कम हो गई। नहर ने पुराना भूमध्य सागरीय रास्ता फिर से खोला और भूमध्य सागर वाले फ्रास, इटली और आस्ट्रिया जैसे देशो को नवीन अवसर दिया। बम्बई और स्वेज़ के बीच अन्तर्सामुद्रिक तारो के बिछ जाने से इस मार्ग की उपयोगिता में वृद्धि हो गई। इसके साथ ही विभिन्न देशो द्वारा जलयान-निर्माण में सुधार तथा व्यापारिक जहाज़-रानी के विकास ने भी सुदूर देशो के साथ होने वाले भारतीय व्यापार को नवीन प्रेरणा दी। अब भारतीय निर्यात की वस्तुओ का आकार अधिक और मूल्य कम होने-लगा, क्योंकि अब अधिक मात्रा और कम मूल्य वाली वस्तुओ की मांग की वृद्धि के साथ-ही-साथ वे सस्ते किराये पर एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजी जा सकती थी। गेहूँ, चावल, चाय जैसी खाद्य-सामग्री तथा कपास, जूट, तिलहन और चमडे जैसे कच्चे माल बाहर भेजे जाने लगे[1] और उनके बदले में कपडे, मशीनें, रेलवे और शीशे के सामान पहले तो इगलैड से, उसके बाद जर्मनी, सयुक्त राज्य अमरीका और जापान से मँगाए जाने लगे, जहाँ पर निर्मायक उद्योगो का शीघ्रता से विकास हो रहा था। १८५३ से व्यापार में रुकावट डालने वाले कितने ही आयात-निर्यात-कर समाप्त कर दिये गए। स्वतन्त्र व्यापार का सिद्धान्त, जिससे इगलैड को अन्तिम शताब्दी के मध्य में अत्यन्त लाभ हुआ था, भारत में भी बिना किसी हिचक के लागू किया गया। १८७४ तक प्राय सभी निर्यात-कर उन्मूलित कर दिये गए और ब्रिटिश तथा विदेशो के बीच किया जाने वाला भेद-भाव हटा दिया गया। स्वतन्त्र व्यापार की सबसे बडी विजय उस समय हुई जबकि लकाशायर के हितो के दबाव से १८८२ में थोडे से तुच्छ अपवादो के अतिरिक्त सभी आयात-कर हटा दिये गए।[2]

हालांकि १८१३ में व्यापार में कम्पनी का एकाधिकार समाप्त हो गया तथा अन्य राष्ट्रो को भारत के साथ वाणिज्य-सम्बन्ध स्थापित करने की पूर्ण स्वतन्त्रता दी गई और धीरे-धीरे जहाज़रानी की दृष्टि से विदेशी राष्ट्र इगलैड की समकक्षता में आ गए, फिर भी अभी हाल तक व्यावहारिक रूप से इगलैड की स्थिति एकाधि-कारी की ही थी। भारत की रेलो में लगी हुई अग्रेजी पूँजी, जिसके फलस्वरूप ब्रिटिश कम्पनियो को रेलवे का प्रबन्ध मिल गया था, बैंकिंग और जहाज़रानी का (अग्रेजो द्वारा) नियन्त्रण, देश में विभिन्न व्यापारिक सगठनो की स्थापना, जैसे ब्रिटिश निर्यात-गृह, ब्रिटिश वाणिज्य-मण्डल और देश की वित्तीय नीति के सचालन का अधिकार आदि, कारणो ने ब्रिटेन को सर्वोपरि रखा।

३. भारतीय बाजार के लिए संघर्ष—१९वी शताब्दी के अन्तिम दशक में अग्रेजी

१. भारत सरकार की कृषि नीति भारतीय कृषि-उत्पादनों के निर्यात को प्रेरणा देने वाली थी। पजाब, यू० पा० और सिन्ध में प्रारम्भ की गई सिचाई की योजनाएँ इसी नीति को आगे बढाने की दृष्टि से हाथ में ली गई।

२. यह सच है कि वित्तीय उद्देश्य से १८९४ में आयात-कर फिर से लगाने पड़े, लेकिन उनकी दर बहुत ही नीची थी—मूल्य पर ५ प्रतिशत।

आधिपत्य क्रमश खोखला होने लगा। सबसे पहले जर्मनी तथा उसके बाद जापान ने चुनौती दी। रूस और जापान के युद्ध के उपरान्त भारतीय व्यापार में जापान की दिलचस्पी तेजी से बढने लगी। इन देशो का उद्देश्य भारत में अपनी निर्मित वस्तुओ की बिक्री बढाना था, लेकिन इस उद्देश्य से निर्मित सगठनो ने भारत के कच्चे माल तथा खाद्यान्न, जो इन देशो के उद्योगों के लिए आवश्यक थे, के निर्यात को प्रेरणा दी। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए निम्नलिखित तरीके काम में लाये गए—(१) राष्ट्रीय जहाजरानी सेवाओं का विकास, (२) राष्ट्रीय बैंको की शाखाओ की स्थापना, जैसे जर्मन ड्यूट्स्के एशियाटिक बैंक और जापानी याकोहामा स्पेशी बैंक, जो अपने देशवासियो को साख की विशेष सुविधाएँ देते थे और (३) बम्बई, कलकत्ता जैसे व्यवसाय-प्रधान केन्द्रो में वाणिज्य-सदनो की स्थापना। इस कार्यवाही में उन देशो की सरकारो की भी पूरी सहानुभूति थी तथा उनके भारत-स्थित राजदूतों ने भी अपने देश के व्यापारिक हित को पूरा प्रोत्साहन दिया। सयुक्त राज्य अमरीका ने लन्दन द्वारा भारत से सम्बन्ध स्थापित कर रखा था। १९१४-१८ के युद्ध के प्रारम्भ होने के बाद भी भारत से व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए सयुक्त राज्य के प्रयत्न इतने जागरूक एव कटिबद्ध नही थे जितने कि जापान और जर्मनी के।

४ **१९१४-१८ के युद्ध के पूर्व की स्थिति का सारांश**—ऊपर निर्देश किये गए सब कारणो के सम्मिलित प्रभाव को हम भारत के आयात-निर्यात व्यापार में होने वाली अपार वृद्धि के रूप में देख चुके है, हालाँकि उपरोक्त काल में यह वृद्धि सर्वत्र समान गति से नही हुई है। १८७३ तक, विशेष रूप से १८६२ से १८६९ तक, भारतीय निर्यात में बहुत वृद्धि हुई। इसका कारण अमेरिका का गृह-युद्ध था, जिससे ऊँचे मूल्य पर भारत के कपास का अमेरिका में आयात बढ गया। इसके विपरीत कच्चे माल (कपास) की कमी के कारण इगलैण्ड से भारत में आने वाले कपडों में कमी हो गई। १८७३ से शताब्दी के अन्त तक व्यापार के विकास की गति अपेक्षाकृत धीमी थी। रुपये के मूल्य में भारी चढाव-उतार से स्वर्ण-प्रमाप वाले देशो के साथ व्यापार में एक प्रकार की अनिश्चितता और परिकल्पना (सट्टेबाजी) शुरू हो गई, जिससे व्यापार की साधारण गति रुक गई। इसके अलावा १८७६-७८ तथा उसके बाद शताब्दी के अन्त में पडने वाले दोनो दुर्भिक्षो तथा बार-बार होने वाली महामारियो के प्रकोपो ने परिस्थिति को और भी भयकर कर दिया। अन्त में, जब कि १ शिलिंग ४ पेंस पर रुपये के मूल्य के स्थिरीकरण ने स्वर्ण-प्रमाप वाले देशो के साथ भारत के व्यापार का पथ प्रशस्त कर दिया, तो साथ ही रुपये के मूल्य में थोडी-सी वृद्धि हो जाने से जापान और चीन के साथ होने वाले कपडे का व्यापार कम हो गया।

नवीन शताब्दी के प्रथम चौदह वर्षो में, विशेषकर १९०५ के बाद, भारत के विदेशी व्यापार में आश्चर्यजनक वृद्धि हुई। सबसे महान् वृद्धि प्रथम विश्वयुद्ध के प्रारम्भ होने से पहले पाँच वर्षो में हुई। इन वर्षो में रुपये का मूल्य प्राय स्थिर था। रेलवे और सिंचाई जैसे जन-कार्य बडी तत्परता के साथ किये जा रहे थे, शताब्दी के अन्त में पडने वाले दुर्भिक्षो जैसे दुर्भिक्ष भी नही पडे थे और महामारी का प्रकोप भी कम

हो रहा था। इसके अतिरिक्त, जैसे कि पहले कहा जा चुका है जर्मनी, जापान तथा सयुक्तराज्य भी कुछ अपने व्यापार को आगे बढाने का संगठित प्रयत्न कर रहे थे, जो इन देशो में होने वाले आर्थिक परिवर्तनो के फलस्वरूप तेजी से बढ रहा था तथा जिसने औद्योगिक दृष्टि से उन्हे इगलैण्ड के समक्ष कर दिया था।

९. प्रथम विश्वयुद्ध का भारत के व्यापार पर प्रभाव—यह प्रभाव निम्न तालिका से स्पष्ट हो जायगा—

तालिका नं० १

समुद्र-पार व्यापार के कुल सौदे का मूल्य (दस लाख पौण्ड में)

	१९१३-१४	१९१४-१५	१९१५-१६	१९१६-१७	१९१७-१८	१९१८-१९
आयात	१२७ ५	९६ ५	९२'१	१०६'८	१०९ ६	१२५ ७
निर्यात	१६६	१२१ ४	१३३	१६७ ९	१६३'३	१७० २

तालिका नं० २

समुद्र-पार व्यापार का मूल्य (दस लाख पौण्ड मे)

(१९१३-१४ में प्रचलित मूल्यो के आधार पर)

	१९१३-१४	१९१४-१५	१९१५-१६	१९१६-१७	१९१७-१८	१९१८-१९
आयात	१२७'५	९५'६	७३'१	६२ ८	५१'९	४६'९
निर्यात	१६६	११९	१२९ १	१४० ९	१३० ६	११३ ५

तालिका नं० १ से ज्ञात होता है कि अगस्त, १९१४ में युद्ध प्रारम्भ होने पर भारत के विदेश व्यापार की दोनो शाखाओ को धक्का लगा। १९१६-१७ के बाद निर्यात का मूल्य तो अपनी पूर्व स्थिति में आने लगा, परन्तु आयात १९१८-१९ तक युद्ध पूर्व स्थिति से पीछे ही रहा। द्वितीय तालिका, जिसमें युद्ध-काल में होने वाली कीमतो की वृद्धि के लिए भी स्थान रखा गया था, यह स्पष्ट करती है कि आयात व्यापार में विशेष रूप से कमी हुई और यह कमी युद्ध काल में लगातार जारी रही। अब हम सक्षेप में इस परिस्थिति के लिए उत्तरदायी कारणो की विवेचना करेंगे। युद्ध प्रारम्भ होने पर शत्रु देशो के साथ व्यापार बिलकुल ठप हो गया। मित्र-राष्ट्रो, जैसे इंगलैण्ड, फ्रांस, बेल्जियम इत्यादि, से भी युद्ध-पूर्व स्तर पर व्यापार कायम न रखा जा सका, क्योकि ये देश स्वयं युद्ध में सलग्न थे। निष्पक्ष देशो के साथ होने वाले व्यापार पर भी अनेक प्रतिबन्ध लगाये गए ताकि इन देशो द्वारा युद्ध-सामग्री जर्मनी न पहुँचने पाए और भारत की सामग्री केवल मित्रराष्ट्रो को ही उपलब्ध हो। समुद्र से शत्रु के जहाजो के हट जाने तथा अवशिष्ट जलयानो पर युद्ध के बोझ के परिणामस्वरूप

किराये में काफी वृद्धि हो गई। परिणाम यह हुआ कि यूरोप में भारतीय वस्तुओ की बढती हुई माँग से भारत पूरी तरह लाभ नही उठा पाया। व्यापार की स्थिति को बिगाडने वाले कारणो में सामुद्रिक सुरक्षा के अभाव तथा विदेशी विनिमयों के विस्थापन (डिसलोकेशन) का नाम लिया जा सकता है। देश ने शीघ्र ही युद्ध की परिस्थितियो से सामजस्य स्थापित करना प्रारम्भ कर दिया। खाइयो में युद्ध के लिए बडी मात्रा में बोरो तथा सिपाहियो के बूट बनाने के लिए चमडे की आवश्यकता हुई। फलत इनके निर्यात को बडी प्रेरणा मिली। हालांकि आयात-व्यापार में वैसा ही समुत्थान नही हुआ, फिर भी अशत भारतीय बाजारो की कमी जापान तथा सयुक्तराज्य के आयात से पूरी हो गई। इन दोनो राष्ट्रो ने परिस्थिति से पूरा लाभ उठाया। इस प्रकार जापान जैसे देशो की तुलना में भारत के व्यापार पर युद्ध का बुरा प्रभाव पडा।

१९१४-१८ के युद्ध-काल की विशेष बात निर्मित वस्तुओ के निर्यात में हुई वृद्धि है, कुल व्यापार से जिनका प्रतिशत १९१३-१४ में २२ ४ से बढकर १९१८-१९ में ३६ ६ प्रतिशत हो गया। युद्ध द्वारा दी गई कृत्रिम प्रेरणा का उल्लेख हम कपास, जूट, चमडा, लोहा इत्यादि के सम्बन्ध में कर आए हैं। इसी कारण निर्मित वस्तुओ का निर्यात बढा।

६. दोनों युद्धो के बीच के समय में व्यापार (१९१९–२० से १९३९–४०)।—इस काल के प्रारम्भिक वर्षो में निर्यात पर लगाये गए युद्धकालीन प्रतिबन्धो के हट जाने, शत्रु देशों से पूर्ववत् व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित होने तथा किराये की स्थिति में सुधार होने के परिणामस्वरूप व्यापार में समृद्धि मालूम होने लगी। औद्योगिक पुनर्गठन के लिए पाश्चात्य देशो में भारत द्वारा उत्पन्न वस्तुओ की माँग बढी। यदि रेलो में स्थान की कमी और भीड न होती, और ऊँचे मूल्य, श्रम की कठिनाइयाँ, अस्थिर विदेशी विनिमय, रुपये के विनिमय-मूल्य में वृद्धि तथा १९१८-१९ के मानसून की असफलता के परिणामस्वरूप भारतीय अन्नो के निर्यात पर प्रतिबन्ध न होते तो भारतीय व्यापार, विशेषकर निर्यात-व्यापार, काफी बढ जाता। इन सबके होने पर भी युद्धोत्तर समृद्धि की गति इतनी तीव्र थी कि अनिवार्यत इसका अन्त मन्दी में होता। इसके चिह्न १९२०-२१ के अन्त में स्पष्ट रूप से लक्षित होने लगे थे। सबसे पहले निर्यात-व्यापार पर प्रभाव पडा। ब्रिटेन, सयुक्त राज्य तथा जापान के बाजार भारतीय उत्पादनो से भर गए और उनकी ओर से माँग काफी कम हो गई। यह ठीक है कि मध्य यूरोप के देशो में भारतीय वस्तुओ की माँग बहुत अधिक थी, लेकिन वे युद्ध से विच्छिन्न हुए साधनो तथा घटी हुई क्रय-शक्ति के कारण इन्हें खरीदने में असमर्थ थे। १९२० की असन्तोषजनक वर्षा तथा खाद्यान्नो की बढती हुई कीमतो के कारण यह आवश्यक हो गया कि खाद्यान्नो के निर्यात पर लगाये गए प्रतिबन्ध जारी रखे जायें। जापान में भी भीषण सकट-स्थिति उत्पन्न हो जाने से उस देश को निर्यात की जाने वाली कपास में रुकावट पड गई। सरकार द्वारा दो शिलिंग पर रुपये के विनिमय-मूल्य को स्थिर करने के प्रयत्न ने भी पहले ही से कमजोर निर्यात-व्यापार को और भी दुर्बल बना दिया। इसके विपरीत आयात-व्यापार शीघ्रता से

बढता गया । युद्ध-काल में भारत की आयरत सम्बन्धी आवश्यकताएँ पूरी नहीं हो सकी मशीन तथा अन्य निर्मित वस्तुओ के लिए दिये गए ऑर्डर अब तक वैसे ही पडे थे । अ ये सामान देश में आने लगे । उच्च विनिमय ने भी आयात-व्यापार को पर्याप्त प्रेरण दी और बहुत बडी मात्रा में विदेश-निर्मित वस्तुओ के लिए ऑर्डर दिये गए । इसलि हमें इस बात पर आश्चर्य न करना चाहिए कि भारत का व्यापारिक सन्तुलन १९२०-२१ में ७९'८० करोड रुपये से प्रतिकूल था । यह सतुलन दूसरे वर्ष भी ३३ ९४ करोड रुपये से प्रतिकूल रहा ।

१९२२-२३ के बाद पुनरुत्थान पुन दृष्टिगोचर होने लगा और जहाँ तक आयात-व्यापार का सम्बन्ध है, १९२९-३० तक सामान्य स्थिति लगातार बनी रही । जिन दशाओ ने क्रमिक पुनरुत्थान में योग दिया उनमें यूरोपीय करेन्सियो का स्थिरीकरण, मध्य यूरोपीय देशो की साख-स्थिति में सुधार तथा १९२४ मे 'डेवे योजना' के अनुसार युद्ध में पहुँचाई गई हानि के लिए दिये जाने वाले हरजाने के प्रश्न का समझौता मुख्य हैं ।

७. विश्व के आर्थिक अवसाद-काल में भारत का व्यापार—वाल स्ट्रीट के आर्थिक विघटन के उपरान्त अक्तूबर, १९२९ में एक अधोमुखी प्रवृत्ति प्रारम्भ हो गई और बाद में यह प्रवृत्ति दुनिया के और देशो मे फैली । १९२९-३० से १९३३-३४ तक भारत के विदेशी व्यापार को प्रभावित करने वाली इस व्यापारिक मन्दी के प्रधान कारणो को संक्षिप्त रूप में दिया जा सकता है । (१) कच्चे माल और निर्मित वस्तुओ का अत्यधिक मात्रा में उत्पादन—(२) द्राव्यिक कारण, विशेषकर अमेरिका तथा फ्रास में स्वर्ण के केन्द्रीयकरण के परिणामस्वरूप अन्य देशो के केन्द्रीय बैंको के रक्षित धन की समाप्ति, जिसके कारण बैंको द्वारा मुद्रा-संकुचन की नीति अपनाई गई और १९३९ में ब्रिटेन द्वारा स्वर्ण-प्रमाप त्याग दिया गया । ब्रिटेन का अनुसरण अन्य देशो ने भी किया । (३) राजनीतिक अव्यवस्था, जो प्रधानतया भारत, चीन, दक्षिणी अमेरिका तथा बाद में अन्य देशो में भी फैली तथा आयात-निर्यात-कर, कोटा, विनिमय-नियन्त्रण आदि के रूप में लगाये गए व्यापारिक प्रतिबन्ध अन्य कारण थे । ये प्रतिबन्ध स्वर्ण-प्रमाप के परित्याग के बाद विनिमय-अस्थिरता के युग में लगाये गए थे । कृषि से उत्पन्न कच्चे माल[1] की कीमतो में हुई अधिक कमी और भारत के मुख्य निर्यातो की विदेशी माँग मे हुई कमी, भारतीय निर्यात-मूल्य की कमी के प्रधान कारण थे । आयात-मूल्यो में कमी आने का प्रधान कारण भारतीय उपभोक्ता की क्रय-शक्ति का ह्रास था, परन्तु देश की तनावपूर्ण राजनीतिक स्थिति और १९२४ से विवेचनात्मक सरक्षण से प्रेरित कपडे तथा चीनी के गृह-उत्पादन के प्रसार का भी नाम इन कारणो में लिया जा सकता है ।

स्वभावत ही निर्यात में आयात की अपेक्षा अधिक कमी हुई । कारण यह था कि भारतीय निर्यात की प्रधान सामग्री कच्चा माल और कृषि-उत्पादन थे, जिनकी कीमतो में आयात की प्रधान सामग्री—निर्मित वस्तुओ—की अपेक्षा अधिक कमी हुई

१ देखिए, अध्याय १० ।

किराये में काफी वृद्धि हो गई। परिणाम यह हुआ कि यूरोप में भारतीय वस्तुओ की बढती हुई माँग से भारत पूरी तरह लाभ नही उठा पाया। व्यापार की स्थिति को बिगाडने वाले कारणो में सामुद्रिक सुरक्षा के अभाव तथा विदेशी विनिमयो के विस्थापन (डिसलोकेशन) का नाम लिया जा सकता है। देश ने शीघ्र ही युद्ध की परिस्थितिओ से सामजस्य स्थापित करना प्रारम्भ कर दिया। खाइयो में युद्ध के लिए बडी मात्रा में बोरो तथा सिपाहियो के बूट बनाने के लिए चमडे की आवश्यकता हुई। फलत इनके निर्यात को बडी प्रेरणा मिली। हालाँकि आयात-व्यापार में वैसा ही समुत्थान नही हुआ, फिर भी अशत भारतीय बाजारो की कमी जापान तथा सयुक्तराज्य के आयात से पूरी हो गई। इन दोनो राष्ट्रो ने परिस्थिति से पूरा लाभ उठाया। इस प्रकार जापान जैसे देशो की तुलना में भारत के व्यापार पर युद्ध का बुरा प्रभाव पडा।

१९१४-१८ के युद्ध-काल की विशेष बात निर्मित वस्तुओ के निर्यात में हुई वृद्धि है, कुल व्यापार से जिनका प्रतिशत १९१३-१४ में २२ ४ से बढकर १९१८-१९ में ३६ ६ प्रतिशत हो गया। युद्ध द्वारा दी गई कृत्रिम प्रेरणा का उल्लेख हम कपास, जूट, चमडा, लोहा इत्यादि के सम्बन्ध में कर आए हैं। इसी कारण निर्मित वस्तुओ का निर्यात बढा।

६ दोनों युद्धो के बीच के समय में व्यापार (१९१९–२० से १९३९–४०)।—इस काल के प्रारम्भिक वर्षो में निर्यात पर लगाये गए युद्धकालीन प्रतिबन्धो के हट जाने, शत्रु देशो से पूर्ववत् व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित होने तथा किराये की स्थिति में सुधार होने के परिणामस्वरूप व्यापार में समृद्धि मालूम होने लगी। औद्योगिक पुनर्गठन के लिए पाश्चात्य देशो में भारत द्वारा उत्पन्न वस्तुओ की माँग बढी। यदि रेलो में स्थान की कमी और भीड न होती, और ऊँचे मूल्य, श्रम की कठिनाइयाँ, अस्थिर विदेशी विनिमय, रुपये के विनिमय-मूल्य में वृद्धि तथा १९१८-१९ के मानसून की असफलता के परिणामस्वरूप भारतीय अन्नो के निर्यात पर प्रतिबन्ध न होते तो भारतीय व्यापार, विशेषकर निर्यात-व्यापार, काफी बढ जाता। इन सबके होने पर भी युद्धोत्तर समृद्धि की गति इतनी तीव्र थी कि अनिवार्यत इसका अन्त मन्दी में होता। इसके चिह्न १९२०-२१ के अन्त में स्पष्ट रूप से लक्षित होने लगे थे। सबसे पहले निर्यात-व्यापार पर प्रभाव पडा। ब्रिटेन, सयुक्त राज्य तथा जापान के बाजार भारतीय उत्पादनो से भर गए और उनकी ओर से माँग काफी कम हो गई। यह ठीक है कि मध्य यूरोप के देशो में भारतीय वस्तुओ की माँग बहुत अधिक थी, लेकिन वे युद्ध से विच्छिन्न हुए साधनो तथा घटी हुई क्रय-शक्ति के कारण इन्हे खरीदने में असमर्थ थे। १९२० की असन्तोषजनक वर्षा तथा खाद्यान्नो की बढती हुई कीमतो के कारण यह आवश्यक हो गया कि खाद्यान्नो के निर्यात पर लगाये गए प्रतिबन्ध जारी रखे जायँ। जापान में भी भीषण सकट-स्थिति उत्पन्न हो जाने से उस देश को निर्यात की जाने वाली कपास में रुकावट पड गई। सरकार द्वारा दो शिलिंग पर रुपये के विनिमय-मूल्य को स्थिर करने के प्रयत्न ने भी पहले ही से कमजोर निर्यात-व्यापार को और भी दुर्बल बना दिया। इसके विपरीत आयात-व्यापार शीघ्रता से

वढता गया। युद्ध-काल में भारत की आयात सम्बन्धी आवश्यकताएँ पूरी नही हो सकी। मशीन तथा अन्य निर्मित वस्तुओ के लिए दिये गए ऑर्डर अव तक वैसे ही पडे थे। अव ये सामान देश में आने लगे। उच्च विनिमय ने भी आयात-व्यापार को पर्याप्त प्रेरणा दी और वहुत वडी मात्रा में विदेश-निर्मित वस्तुओ के लिए ऑर्डर दिये गए। इसलिए हमें इस वात पर आश्चर्य न करना चाहिए कि भारत का व्यापारिक सन्तुलन १९२०-२१ में ७९.८० करोड रुपये से प्रतिकूल था। यह सतुलन दूसरे वर्ष भी ३३.९४ करोड रुपये से प्रतिकूल रहा।

१९२२-२३ के वाद पुनरुत्थान पुन. दृष्टिगोचर होने लगा और जहाँ तक आयात-व्यापार का सम्बन्ध है, १९२९-३० तक सामान्य स्थिति लगातार वनी रही। जिन दशाओ ने क्रमिक पुनरुत्थान में योग दिया उनमें यूरोपीय करेन्सियो का स्थिरीकरण, मध्य यूरोपीय देशो की साख-स्थिति मे सुधार तथा १९२४ में 'डवे योजना' के अनुसार युद्ध में पहुँचाई गई हानि के लिए दिये जाने वाले हरजाने के प्रश्न का समझौता मुख्य हैं।

७. विश्व के आर्थिक अवसाद-काल मे भारत का व्यापार—वाल स्ट्रीट के आर्थिक विघटन के उपरान्त अक्तूवर, १९२९ में एक अधोमुखी प्रवृत्ति प्रारम्भ हो गई और वाद में यह प्रवृत्ति दुनिया के और देशो मे फैली। १९२९-३० से १९३३-३४ तक भारत के विदेशी व्यापार को प्रभावित करने वाली इस व्यापारिक मन्दी के प्रधान कारणो को सक्षिप्त रूप में दिया जा सकता है। (१) कच्चे माल और निर्मित वस्तुओ का अत्यधिक मात्रा में उत्पादन—(२) द्राव्यिक कारण, विशेषकर अमेरिका तथा फ्रास में स्वर्ण के केन्द्रीयकरण के परिणामस्वरूप अन्य देशो के केन्द्रीय वैंको के रक्षित धन की समाप्ति, जिसके कारण वैंको द्वारा मुद्रा-सकुचन की नीति अपनाई गई और १९३१ में ब्रिटेन द्वारा स्वर्ण-प्रमाप त्याग दिया गया। ब्रिटेन का अनुसरण अन्य देशो ने भी किया। (३) राजनीतिक अव्यवस्था, जो प्रधानतया भारत, चीन, दक्षिणी अमेरिका तथा वाद में अन्य देशों में भी फैली तथा आयात-निर्यात-कर, कोटा, विनिमय-नियन्त्रण आदि के रूप में लगाये गए व्यापारिक प्रतिवन्ध अन्य कारण थे। ये प्रतिवन्ध स्वर्ण-प्रमाप के परित्याग के वाद विनिमय-अस्थिरता के युग में लगाये गए थे। कृषि से उत्पन्न कच्चे माल[1] की कीमतो में हुई अधिक कमी और भारत के मुख्य निर्यातो की विदेशी माँग में हुई कमी, भारतीय निर्यात-मूल्य की कमी के प्रधान कारण थे। आयात-मूल्यो में कमी आने का प्रधान कारण भारतीय उपभोक्ता की क्रय-शक्ति का ह्रास था, परन्तु देश की तनावपूर्ण राजनीतिक स्थिति और १९२४ से विवेचनात्मक सरक्षण से प्रेरित कपडे तथा चीनी के गृह-उत्पादन के प्रसार का भी नाम इन कारणो में लिया जा सकता है।

स्वभावत ही निर्यात में आयात की अपेक्षा अधिक कमी हुई। कारण यह था कि भारतीय निर्यात की प्रधान सामग्री कच्चा माल और कृषि-उत्पादन थे, जिनकी कीमतों में आयात की प्रधान सामग्री—निर्मित वस्तुओ—की अपेक्षा अधिक कमी हुई

१ देखिए, अध्याय १०।

थी। इगलैण्ड द्वारा स्वर्ण-प्रमाप त्यागने के बाद यदि भारत से अधिक मात्रा में सोना बाहर न भेजा गया होता तो भारत के व्यापारिक सन्तुलन की अनुकूलता प्राय नगण्य होती। निर्यात-व्यापार की मन्दी १९३२-३३ में प्रतिकूलतम थी, जबकि आयात का मूल्य घटकर १३६ करोड रु० हो गया और सौदो का दृश्यमान व्यापारिक सन्तुलन केवल ३ करोड रु० रह गया जो लिखित प्रमाणो में निम्नतम है। विश्वव्यापी मन्दी का भीषणतम रूप १९३२ के अन्त में समाप्त हो गया और १९३३ के प्रारम्भिक महीनो में अवमूल्यन और सस्ती मुद्रा की प्रेरणा से बहुत से देशो में पर्याप्त व्यापारिक समुत्थान दृष्टिगोचर होने लगा। इसी समय आर्थिक राष्ट्रीयता से अभिभूत होकर प्रत्येक देश अपने बाजारो को अपने राष्ट्रवासियो के लिए सुरक्षित करने लगा। १९३३ में विश्व आर्थिक एव द्राव्यिक सम्मेलन लन्दन में हुआ किन्तु, सयुक्त राज्य द्वारा विश्व की मुद्राओ के स्थिरीकरण की ओर अपनाये गए विरोधी रुख के कारण सम्मेलन असफल रहा। परिणामत विश्व-व्यापार को अपनी पूर्व स्थिति में आने में बाधा पहुँची।

प्रेसिडेण्ट रूजवेल्ट समुत्थान योजना (रिकवरी प्लान) द्वारा प्रारम्भ किये गए उद्योग तथा वित्त के समाजीकरण सम्बन्धी महान् प्रयोग ने विश्व के मूल्यो पर कुछ लाभप्रद प्रभाव डाला, किन्तु अमेरिका में मुद्रा-प्रसार की सम्भावना से मूल्यो की परिकल्पित वृद्धि के कारण विश्व-भर में वस्तुओ के मूल्यो की यथार्थ वृद्धि छायाग्रस्त हो गई। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विस्तार के मार्ग में डालर की अनिश्चितता ने अन्य बाधाएँ उपस्थित कर दी।

८. विश्व का आर्थिक समुत्थान और भारत का व्यापार—१९३३-३४ में भारतीय दशाओ में साधारण प्रगति दिखाई पडी। निर्यात-व्यापार और दृश्यमान व्यापारिक सन्तुलन में समुत्थान के चिह्न दृष्टिगोचर हुए, हालाँकि कृषि की दशा लगभग वैसी ही बनी रही। १९३४-३५, १९३५-३६ और १९३६-३७ में आर्थिक समुत्थान में प्रगति हुई। प्रारम्भिक दशाओ में प्रगति विशेष देशो और उद्योगो तक सीमित रहती, लेकिन १९३६ में विश्व निश्चित रूप से महान् मन्दी से बाहर आ गया। १९३४ से क्रमिक रूप से होती आई प्राथमिक वस्तुओ की कमी, कुछ मुख्य उत्पादको द्वारा कितनी ही वस्तुओ के उत्पादन नियन्त्रित करने के लिए स्वेच्छापूर्वक लागू की गई योजनाएँ, फ्रास के नेतृत्व में चलने वाले स्वर्ण-वर्ग (गोल्ड ब्लॉक) का विनाश और सितम्बर, १९३६ में स्वर्ण मुद्राओ का अवमूल्यन—इन सबके प्रभाव से कितनी ही वस्तुओ के मूल्य चढने लगे। १९३७ के पूर्वार्द्ध में मूल्यो की वृद्धि पर्याप्त रूप से दृष्टिगोचर होने लगी। इसका एक कारण और भी था—सरकारो द्वारा कितने ही देशो में शस्त्रीकरण पर काफी धन खर्च किया जा रहा था। इससे भारी उद्योगो को काफी प्रोत्साहन मिला और साधारण आर्थिक स्थिति पर भी इसका अच्छा प्रभाव पडा। किन्तु मूलत मन्दी के समय की तुलना में, जबकि सभी देशो विशेषकर जर्मनी और इटली ने, आयात कर, कोटा, निकामी-समझौता तथा व्यापार-नियमन के अन्य उपचारो को अपनाया था, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की स्थिति अब भी बहुत स्वतन्त्र नही थी। वस्तुत द्विपक्षवाद

(बाइलेटरलिज्म) की ओर बढती हुई प्रवृत्ति द्वितीय विश्व-युद्ध के ठीक पूर्व विश्व-व्यापार की विशिष्टता थी ।

भारत ने भी विश्व की समुत्थान-प्रवृत्ति का अनुगमन किया, हालाँकि अपनी विशेष परिस्थितियो के कारण उसका मार्ग अन्य देशो से कुछ भिन्न था । १६३६ में प्रारम्भ हुई मन्दी ने भारत जैसे कृषि-प्रधान देश को विशेष रूप से हानि पहुँचाई। इसका कारण प्राथमिक उत्पत्ति (कृषि-उत्पत्ति) के मूल्यो में हुई अभूतपूर्व कमी थी। कृषि-उत्पादन की कीमतो में सुधार भी कुछ पहले ही होने लगा । लेकिन जहाँ तक भारत के कृषि-उत्पादनो का सम्बन्ध है इनकी कीमतो मे पर्याप्त वृद्धि १६३६-३७ के बीच ही दिखाई पडी (देखिए, अध्याय ११) । यह सुधार विशेष रूप से प्रारम्भिक वस्तुओ एव कच्चे माल की बढती माँग का परिणाम था । फलत: भारत का व्यापार, विशेपतया निर्यात-व्यापार, काफी सुधारने लगा—विशेषकर १६३६-३७ में, जबकि विगत वर्ष के कुल योग की तुलना में उसका निर्यात व्यापार ३६ करोड रु० अधिक था । उसी वर्ष व्यक्तिगत सौदो का व्यापारिक सन्तुलन, जो १६३२-३३ में घटकर केवल ३ करोड रुपये रह गया था, अब वढकर ७८ करोड रुपये हो गया ।

६. मन्दी के समय में भारत का व्यापार (१६३७-३८ से १६३८-३६ तक)—अप्रैल, १६३७ के लगभग संयुक्त राज्य में व्यापारिक मन्दी प्रारम्भ हुई। ज्यो-ज्यो वर्ष बीतता गया यह ज़ोर पकडती गई। इससे विश्व के आर्थिक समुत्थान को एक आकस्मिक धक्का लगा। आर्थिक दशाओ की ऊर्ध्वगामी दिशा एकाएक विपरीत हो गई। वह परिकल्पना (सट्टेबाज़ी) का अनिवार्य परिणाम था। अशत भविष्य में कच्चे माल की सम्भावित कमी से उत्पन्न घबराहट भी इसके लिए उत्तरदायी थी। इनके परिणामस्वरूप सयुक्त राज्य में अकारण स्वर्ण-भय उत्पन्न हो गया। बैंको ने साख सुविधाओ पर प्रतिबन्ध लगा दिए और नियन्त्रित उत्पादन की योजनाओ मे ढील दे दी गई। फलत विश्व में प्राथमिक वस्तुओ का मूल्य तेजी से घट गया और जून, १६३८ तक कम बना रहा।

फिर भी १६३६ के प्रारम्भ में व्यापारिक क्रियाशीलता धीरे-धीरे बढने लगी। इसका कारण अशत. द्राव्यिक प्रसार की नीति और सारे ससार मे विशेपतया सयुक्त राज्य में बढता हुआ सार्वजनिक व्यय तथा अशत शस्त्रास्त्रो पर अधिकाधिक व्यय है।

आर्थिक मन्दी तथा १६३७ के बाद विश्व-बाज़ारो की आर्थिक समृद्धि में परिवर्तन ने भारत के कृषि-उत्पादनो को भी बुरी तरह प्रभावित किया। बहुत सी प्रधान वस्तुओ का मूल्य तेजी से गिर गया। इससे किसानो की आय काफी घट गई। चीन-जापान के युद्ध ने भी इस अधोगामिनी प्रवृत्ति को और तीव्र कर दिया, क्योकि जापान ही भारत की कपास का प्रमुख क्रेता था और युद्ध के परिणामस्वरूप उसकी व्यापारिक शक्ति काफी घट गई। विगत वर्ष की तुलना में १६३७-३८ में भारत के समुद्र-पार व्यापार के आयात में थोडी वृद्धि और निर्यात में थोडी कमी हुई। परिणाम यह हुआ कि भारत से व्यक्तिगत सौदो का निर्यात ५१ करोड रुपये (१६३६-३७)

कर १७ ५६ करोड रुपये हो गया। भारतीय विदेशी व्यापार के व्यक्तिगत सौदो
ल मूल्य (१६३६-३७ में) ३६३ करोड रु० था, जोकि १६३८-३६ में घटकर
करोड रु० हो गया। निर्यात में ४१ करोड रु० के मूल्य की कमी कुछ अशो
श्व के बाजारो में प्रारम्भिक वस्तुओ की मन्दी का परिणाम थी और इसद-
ा अशत भारतीय कपास के लिए जापान की क्रय-शक्ति का घट जाना भी है'।
त की कमी का कारण कृपको की क्रय-शक्ति का ह्रास था। विगत वर्प की
ा १६३८-३६ में आयात में कमी होने के कारण लगभग २ करोड रु० से भारत
ापारिक सन्तुलन (बेलेंस ऑफ ट्रेड) सुधर गया।

युद्ध-काल (१६३६-४५) में भारत का विदेशी व्यापार—सितम्बर, १६३६ में
ि प्रारम्भिक तथा आगामी वर्षों में उसके प्रसार और घनत्व के साथ-ही-साथ
के विदेशी व्यापार को प्रभावित करने वाले कितने ही कारण सामने आए।[1]
तो इनमें से अनेक प्रतिकूल थे, लेकिन बाद में अनुकूल कारण भी दृष्टिगत हुए।
विक परिणाम में कोई क्रमिक ह्रास नही दिखाई पडा, वल्कि कुछ सुधार ही
। प्रतिकूल परिस्थितियाँ युद्ध-घोपणा के पूर्व की राजनीतिक अनिश्चितता का
ाम थी। उदाहरण के लिए भारत में यूरोपीय देशो से सामान मँगाने में इस-
स्वाभाविक हिचकिचाहट थी कि हो सकता है कि माल चलने के पूर्व ही उन
से भी युद्ध प्रारम्भ हो जाय। वस्तुत युद्ध की आग वडी तेजी से फैली और भारत
तने ही महत्त्वपूर्ण बाजार और पूर्ति के साधन खो गए। जर्मनी, जेकोस्लो-
या और पोलेंड सितम्बर, १६३६ के पहले हफ्ते में ही समाप्त हो गए। वसत
० तक नार्वे, हालैण्ड, डेनमार्क, वेलजियम, फ्रास और इटली शत्रुओं द्वारा अधि-
क्षेत्र हो गए। दूसरे वर्ष में शत्रु द्वारा पदाक्रान्त क्षेत्र के अन्तर्गत सारा दक्षिण-
यूरोप आ गया। रूस के साथ व्यापार पहले ही समाप्त हो चुका था, लेकिन
१६४१ में जर्मनी द्वारा रूस पर आक्रमण किये जाने पर रूस से फिर व्यापार
हो गया। जुलाई, १६४१ में भारत द्वारा जापान की सम्पत्ति पर अधिकार कर
मे भारत और जापान के व्यापारिक सम्वन्ध को धक्का पहुँचा। दिसम्बर, १६४१
ापान भी एक शत्रु देश हो गया। जापान के तूफानी धावो तथा एक के वाद दूसरी
य ने क्रमश हिन्दचीन, स्याम, ईस्ट इण्डीज़, मलाया और वर्मा जैसे महत्त्वपूर्ण
ारो को वन्द कर दिया। जापान का वर्मा पर अधिकार हो जाने से न केवल
त का सर्वोत्तम क्रेता और पूर्ति करने वाला ही समाप्त हो गया वरन् वर्मा से
तक जाने वाली सडक भी वन्द हो गई जिससे भारत और चीन के व्यापार पर
प्रभाव पडा। यदि उन सव देशो को ध्यान में रखा जाय, जिनके साथ अव भारत
ार नही कर सकता था, तो युद्ध-पूर्व अको के आधार पर यह उक्ति अतिशयोक्ति न
ो कि लगभग भारत का आधा विदेशी व्यापार वन्द हो गया। यह वात निर्यात के
न्व में जितनी सच है उतनी ही आयात के सम्वन्ध में भी सच है।

[1] द्वितीय विश्वयुद्ध से सम्बन्धित भारत के विदेशी व्यापार का विवरण बहुत अशों में प्रो० एन० एस०
ना द्वारा प्रस्तुत किये गए नोट पर आधारित है।

इनके साथ ही कुछ निष्पक्ष देश, जैसे स्वीडन और स्विट्ज़रलैंड भी व्यापार के लिए दुर्गम हो गए, क्योकि ये शत्रु-क्षेत्रो के बहुत ही निकट थे। यातायात अरक्षित था और भेजे हुए माल का शत्रु को पुनर्निर्यात होने का भय सदैव रहता था। इस तरह वे प्रधान देश, जिनके साथ भारत का व्यापार सम्भव रह गया, केवल सयुक्त राज्य, इगलिस्तान, कनाडा, आस्ट्रेलिया तथा ब्रिटिश साम्राज्य के अन्य देश और एशिया तथा अफ्रीका के निकट एव मध्य-पूर्वी देश थे, हालाँकि यहाँ भी एक बहुत बड़ी बाधा जहाजी सुविधाओ की कमी थी। जर्मनी के यू-बोट के डर के कारण किराये की दरें और बीमा का मूल्य बहुत बढ गया था। १९४० में इटली के साथ अग्रेजो के राजनीतिक सम्बन्धो के खराब हो जाने के कारण भारत-यूरोपीय व्यापार उत्तमाशा अन्तरीप की ओर से होने लगा। तब जहाजरानी की कमी का अनुभव बडी तीव्रता से हुआ। दिसम्बर, १९४१ में जापान भी युद्ध के अखाडे में कूद पडा। इससे प्रशान्त महासागर के मार्ग भी अरक्षित हो गए और संयुक्त राज्य, आस्ट्रेलिया एवं न्यूज़ीलैंड के साथ होने वाले भारतीय व्यापार पर प्रतिकूल प्रभाव पडा।

उपर्युक्त कारणो में अब हम एक और कारण भी जोड़ सकते है। युद्ध प्रारम्भ होने के उपरान्त, जिन देशो के साथ भारत का व्यापारिक सम्बन्ध था प्राय उन सभी ने व्यापारिक प्रतिबन्धो का एक जटिल जाल फैला दिया। भारत ने भी अपनी तरफ से ऐसी ही नीति का अनुसरण किया। युद्ध प्रारम्भ होने के ठीक बाद भारतीय सरकार ने निर्यात-व्यापार की अनेक सामग्रियो पर प्रतिबन्ध लगा दिया। शत्रु-देशो के साथ व्यापार करना बिलकुल बन्द कर दिया गया। यह भी दृष्टि में रखा जाता था कि किसी प्रकार परोक्ष रास्तो से भी सामान शत्रुओ तक न पहुँचे और प्रत्येक प्रकार की आवश्यक वस्तुओ की पूर्ति को मित्र-राष्ट्रो तथा भारत की आवश्यकताओ के लिए ही सुरक्षित रखा जाय। इस उद्देश्य को दृष्टि में रखकर निर्यात-प्रतिबन्धो और अनुज्ञाओ (लाइसेंसो) का एक विस्तृत जाल खड़ा कर दिया गया।[1] कुछ वस्तुओ के लिए निर्यात-अनुज्ञा (लाइसेंस) पूर्ति विभाग द्वारा तथा कुछ वस्तुओ के लिए निर्यात-व्यापार-नियन्त्रक (एक्सपोर्ट ट्रेड कण्ट्रोलर) द्वारा दी जाती थी। मई, १९४० में आयात की ६८ मदो पर भी प्रतिबन्ध लगाये गए। इनका उद्देश्य विदेशी विनिमय को सुरक्षित करना एव सीमित जहाजो के बोझ को कम करना था। इसमें से अधिक वस्तुएँ विलासिता की थी, जिनमें प्रतिदिन के प्रयोग की वस्तुएँ भी शामिल थी। इन लगाये गए प्रतिबन्धो के परिणामस्वरूप उन वस्तुओ की पूर्ति या वैकल्पिक पूर्ति के लिए कितने ही छोटे-बडे उद्योग खडे हो गए। इस सबका नतीजा यह हुआ कि व्यापार अपने साधारण मार्ग से बहुत-कुछ हट गया।[2]

यदि केवल उपर्युक्त प्रतिकूल कारण ही क्रियाशील होते तो परिणाम विनाशकारी होता। ब्रिटेन और मित्र-राष्ट्रो के युद्ध-सामग्री के उत्पादन में तल्लीन रहने तथा

१ विस्तृत विवरण के लिए देखिए, 'रिव्यू ऑफ़ दि ट्रेड ऑफ इण्डिया' (१९३९-४०) अनुसूची।

२. युद्ध-काल के नियन्त्रणों के यन्त्र और स्वभाव से सम्बन्धित विशेष विवरण के लिए देखिए, श्री एल० सी० जैन की 'इण्डियन इकनामी ड्यूरिंग दि वार', पृ० ६२-६७।

उनकी मानव-शक्ति पर अत्यधिक भार पडने के कारण भारत की खाद्यान्न, कच्चे माल तथा कितनी ही निर्मित वस्तुओ की माँग बढ गई। एशिया तथा अफ्रीकी देशो में यूरोपीय पूर्ति घट जाने तथा ब्रिटेन और मित्र-राष्ट्रो द्वारा निर्यात-बाजारो के लिए उत्पादन न कर सकने के कारण निकट और मध्य-पूर्व देशो में निम्न भार-क्षेत्र (लो एरिया प्रेशर) तैयार हो गया और वहाँ भारतीय वस्तुओ की माँग बढ गई। जहाजरानी की कमी के कारण समीप के बाजारो पर भरोसा करने की प्रवृत्ति को और बल मिला। इससे इगलिस्तान और अमेरिका तथा हिन्द महासागर की सीमा-रेखाओ पर स्थित देशो का व्यापार भी प्रभावित हुआ। भारत इस रिक्त स्थान की पूर्ति के लिए मैदान में उतरा और निर्यात-व्यापार का काफी भाग अपने अधिकार में कर लिया। युद्ध-दशाओ के अलावा इधर हाल के कुछ वर्षो में व्यापारिक गति आवश्यक कच्चे माल, मशीन और उपभोक्ता-वस्तुओ[1] की पूर्ति को प्रोत्साहन देने वाली सरकारी नीति द्वारा अनुशासित होती रही है। सरकार की नीति राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के लिए अनावश्यक सामग्री के आयात को कम करने तथा आन्तरिक प्रयोग एव हितो के लिए अनिवार्य वस्तुओ के निर्यात को पूर्णतया बन्द करने की थी।

भारत के विदेशी व्यापार-सम्बन्धी आँकडे नीचे लिखी हुई बातो पर आधारित हैं—

(१) सुरक्षा की मद में हुए व्यापार के फलस्वरूप विभिन्न सरकारो के वित्ती-भुगतानो को बाहर रखा गया। लेकिन उधार-पट्टे के आयात (लेंड लीज इम्पोर्ट) और पारस्परिक उधार-पट्टे के निर्यात, जो कि गैर-सुरक्षा के खाते में पडते हैं और जिनके लिए रुपयो का हस्तान्तरण नही होता, इसमें शामिल हैं। शत्रुओ तक इन सूचनाओ को न पहुँचने देने के कारण सरकार ने इन आँकडो को पूरी तरह प्रकाशित नही किया।

(२) इन अको को इधर हाल में होने वाले मूल्य-स्तर के परिवर्तनो के साथ देखना चाहिए। विदेशी व्यापार के मूल्य की वृद्धि में कभी-कभी व्यापार की मात्रा की कमी भी छिपी रहती है।

भारत के समुद्र-वाहित व्यापार का मूल्य[2]
(करोड रुपयो में)

वर्ष	आयात	निर्यात (जिसमें पुनर्निर्यात भी शामिल है)	कुल	व्यापारिक सतुलन
१९३८-३९	१६९	१५२	३२१	+१७
१९४३-४४	२१०	११९	३२९	+९१
१९४४-४५	२२८	२०१	४२९	+२७

युद्ध-काल की असाधारण परिस्थितियो ने अनिवार्य रूप से भारत के विदेशी-

[1] मार्च, १९४५ में कितने ही प्रकार की उपभोक्ता-वस्तुओं एव आवश्यक कच्चे माल के आयात के लिए ओपन जनरल लाइसेंस प्रथा प्रारम्भ की गई।

[2] इण्डियन ईयर बुक, १९४७, पृ० ८४३-४४।

व्यापार में अनेक विस्थापन और उतार-चढाव उत्पन्न कर दिए। १९३९-४० में भारतीय बाजारो से मित्र-राष्ट्रो द्वारा माल खरीदे जाने के कारण निर्यात-व्यापार को प्रेरणा मिली। युद्ध के प्रारम्भिक वर्ष १९४०-४१ में फ्रास, बेलजियम और हालैण्ड पर जर्मनी का अधिकार हो जाने से यूरोपीय बाजारो में भारत का निर्यात काफी कम हो गया। इसका एक कारण जहाजो की कमी भी थी। १९४१-४२ में निर्यात के मूल्य में वृद्धि हुई। इसके दो कारण थे—पहला परिवहन की स्थिति में सुधार; दूसरा भारतीय माल के लिए मित्र-राष्ट्रो और कॉमनवेल्थ के देशो, विशेषकर सयुक्त राज्य और मध्य-पूर्वी (मिडल ईस्ट) देशो, की बढती हुई माँग। १९४२-४३ में होने वाले व्यापारिक ह्रास का प्रधान कारण बर्मा का निकल जाना और प्रशान्त महासागर का बन्द हो जाना था।

११. ग्रेगरी-मीक मिशन[1]—भारत सरकार ने जुलाई, १९४० में भारतीय निर्यात-व्यापार को पुनर्जीवित करने के विचार से एक व्यापारिक शिष्ट-मण्डल संयुक्त राज्य अमरीका को भेजा। इस व्यापारिक मण्डल के सदस्य डाक्टर टी० ई० ग्रेगरी और सर डेविड मीक थे। जनवरी, १९४१ में प्रकाशित हुई अपनी रिपोर्ट में इन्होने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया कि भारत को अपने खोये हुए बाजारो का स्थानापन्न अमरीकी बाजारो में नही मिल सकता।[2] कारण यह था कि भारत द्वारा यूरोप को भेजी जाने वाली सामग्री अधिकतर जूट, मूँगफली, कपास, खली, गेहूँ, कच्चा चमडा इत्यादि थी। ये सब चीजे बडी मात्रा में सयुक्त राज्य को नही भेजी जा सकती थी। अमरीका के पास स्वय उसकी कपास ही आवश्यकता से अधिक थी। यही बात गेहूँ और मूँगफली के लिए भी लागू है। वह जूट के स्थान पर अधिकाधिक कपास और कागज की सामग्री का प्रयोग करता है, साथ ही अपनी खली स्वय तैयार करता है और चमडा सिझाता है। दक्षिणी अमरीका में धुरी राष्ट्रो की महत्त्वाकाक्षाओ को रोकने के लिए किया गया हवाना पान-अमरीकन सम्मेलन अन्तर-अमरीकी व्यापार के विकास का एक अन्य कारण है। दक्षिणी अमरीका के अनेक कच्चे माल, जैसे अर्जण्टाइना के तिल, मूँगफली, खली और बीज इत्यादि, प्रत्यक्ष रूप से भारतीय सामग्री के प्रतिस्पर्धी हैं।

तैयार और आधी तैयार वस्तुओ की अमरीकी उपभोक्ता बाजारो में थोड़ी-सी सम्भावनाएँ हैं, लेकिन यह बडा ही चचल बाजार है। इस पर अधिकार जमाए रखने के लिए बडी बुद्धिमत्ता, प्रतिभा तथा चौकसी की जरूरत है। इसके लिए व्यक्तिगत सम्पर्क तथा प्रचार की बडी भारी आवश्यकता है। जूट के बाजार को भी कायम रखने के लिए प्रचार आवश्यक है, ताकि जूट के प्रतिद्वन्द्वी इसका स्थान न ले ले।

१२. निर्यात-परामर्श समिति तथा अन्य उपाय—ग्रेगरी-मीक की रिपोर्ट से यह बिलकुल स्पष्ट हो गया कि भारत को अपने खोये हुए यूरोपीय बाजारो के घाटे को पूरा करने के लिए गैर-अमरीकी बाजार ढूँढने पडेंगे। उदाहरण के लिए हमें यथा-

१. देखिए, सेक्शन ११-१२ और ३६-३७।
२. रिपोर्ट, पेराग्राफ ६७।

शक्ति इगलैण्ड से भारत के व्यापार को प्रसारित करना चाहिए और गैर-कामनवेल्थ देशो, जैसे चीन, अरब, अफ्रीका, के साथ निर्यात-सम्बन्ध स्थापित करना चाहिए। युद्ध द्वारा दुर्गम बनाये गए बाजारो की कमी की आशिक पूर्ति अन्तर-कामनवेल्थ व्यापार द्वारा हुई। इसमें थोडे-से गैर-कामनवेल्थ देशो से होने वाले व्यापार का भी कुछ हाथ था। अफ्रीका और अरब को निर्यात किये जाने वाले कपडे में हुई वृद्धि को उदाहरण-स्वरूप लिया जा सकता है। इस सम्बन्ध में मई, १९४० में स्थापित निर्यात परामर्श समिति का भी उल्लेख आवश्यक है। इसका सभापति वाणिज्य-सदस्य होता था तथा विभिन्न व्यापारिक एव औद्योगिक हितो का प्रतिनिधित्व करने वाले २९ अन्य सदस्य होते थे। इसके निम्न कार्य थे—(१) वर्तमान निर्यात-कठिनाइयो पर वादविवाद, (२) प्रधान निर्यात-सामग्रियो के प्रसार के लिए सुझाव तथा वैकल्पिक बाजारो की खोज, (३) भारत-निर्मित वस्तुओ के प्रसार को प्रोत्साहित करना और अन्तिम (४) भारत द्वारा अन्य समुद्र-पार देशो में भेजे जाने वाले व्यापारिक शिष्ट-मण्डलो को दी जाने वाली सुविधाओ पर विचार।

१३ भारत के समुद्र-वाहित व्यापार की विशेषताएँ—अगले पृष्ठो पर दी गई तालिका नम्बर १ और २ से क्रमश भारत की आयात और निर्यात की प्रमुख वस्तुओ का आपेक्षिक महत्त्व स्पष्ट हो जायगा। इनसे प्राय कथित इस सत्य की 'कि भारत के निर्यात का अधिकाश खाद्यान्न तथा कच्चा माल और आयात का अधिकाश निर्मित वस्तुओ का है' सख्यात्मक पुष्टि हो जायगी। हम पहले इस बात की व्याख्या कर चुके है कि किस प्रकार भारत के वर्तमान विदेशी व्यापार की स्थिति उसके भूत-कालीन व्यापार की स्थिति से भिन्न है। हम यह भी देख चुके है कि किस प्रकार एक स्थिति का दूसरी में सक्रमण हुआ है। हम खाद्यान्न और कच्चे माल के निर्यात में अपनाई गई नीति की व्याख्या भी कर चुके है।[1] इसी प्रकार पिछले अध्यायो में भारत के औद्योगिक विकास को शीघ्रता से पूर्ण करने की वाञ्छनीयता तथा विदेशो में निर्मित वस्तुओ की निर्भरता घटाने के लिए जहाँ कही भी अवसर मिला है, हमने आग्रहपूर्ण माँग की है।

१९१४-१८ के युद्ध से पहले भी इस दिशा में थोडा-सा सुधार हुआ था और निर्मित वस्तुओ के प्रतिशत निर्यात में थोडी-सी वृद्धि होने लगी थी, यद्यपि आज की ही तरह निर्यात का अधिकाश उस समय भी कच्चे माल तथा खाद्यानो का था। १९१४-१८ के युद्ध-काल में इस (निर्यात प्रतिशत) में दृश्यमान वृद्धि हुई, लेकिन युद्धोत्तर वर्षो में इसे स्थिर न रखा जा सका। १९३९-४५ के युद्ध में देश के औद्योगीकरण में प्रगति होने के कारण निर्यात प्रतिशत में और भी वृद्धि हुई।

भारत के वैदेशिक व्यापार की एक विशेषता यह भी है कि जहाँ आयात की वस्तुओ की परिधि काफी विस्तृत है वहाँ उसके द्वारा निर्यात की जाने वाली वस्तुएँ बहुत थोडी हैं, जैसे कपास, जूट, तिलहन तथा खाद्यान्न।

तीसरी विशेषता यह है कि भारत के विदेशी व्यापार में इगलैण्ड की एक

१ दक्षिण, खण्ड १, अध्याय ६।

तालिका नं० १—आयात
(हज़ार रुपयों में)

	१९४२-४३	१९४३-४४	१९४४-४५	प्रतिशत आयात १९४४-४५
तेल	२७,७६,२५	३६,४८,०२	८०,७०,३३	४०.१४
कपास, कपास की वस्तुएँ	१६,७८,५२	१८,८६,२१	२५,५५,०५	१२ ७०
मशीन	१०,५१,७८	११,३०,८६	१६,२०,०८	८.१०
ग	५,४३,१८	८,२९,६१	७,९२,३०	३ ९३
रासायनिक	४,६७,२९	४,९७,२०	६,८८,२३	३.४२
ऊन	३,७८,२०	४,४६,९८	३,१४,७३	१.५६
धातु	६,१८,८७	४,२३,०१	६,५२,९९	३.२४
परीक्षण-यन्त्र	३,३५,१६	३,०१,०८	४,३८,५७	२ १८
औषधियाँ तथा मादक वस्तुएँ	१,४६,९५	२,०८,७३	२,८७,२४	१ ४२
कागज़, स्टेशनरी	२,१५,५९	१,९६,३३	२,९०,८२	१.४४
तम्बाकू	१,३३,१९	१,५९,७१	२,९०,२८	१.४४
बहुमूल्य हीरे, जवाहरात	५५,७३	१,४३,८२	२,४८,९२	१.२२
अन्न, दाल, आटा	३०,८५	३०,७२	८,०९,१८	४.०१
नमक	८८,७२	१,५४,१३	२,४१,४८	१ २०
शराब	१,१८,९२	१,२४,०९	१,०८,३३	०.५२
सवारियाँ	५,७१,१८	१,२६,९८	१,७७,८६	०.८८
मसाले	१,५१,७२	८९,६०	१,५३,८४	० ७६
पीतल का सामान	१,००,५५	९३,६७	१,२९,२४	० ६४
फल, तरकारी	१,११,५६	८७,०२	१,५५,०३	० ७७
चाय	७०,१९	८२,५२	१,९०,४१	०.९४
तेल की सामग्री	७०,८६	५५,४३	१,२०,६५	०.६०
कच्चा चमड़ा	५३,८९	६२,१७	४१,६६	० २०
अस्त्र	३७,६१	३३,८३	३२,६०	० १६
टैलो, स्टीरिन और मोम	३६,४८	३९,५२	२२,८८	०.११
गोंद, लाख	२७,४८	१९,८०	४८,९३	० २४
शीशा	२५,६४	१५,७७	४१,३२	०.२०
कृत्रिम रेशम	१८,५९	५,८५	३६,०८	०.१८
लकड़ी	१६,१५	११,७६	२,३१	...
मिट्टी के बरतन	१०,७३	६,३९	१८,४६	०.०९
कच्चा और तैयार रेशम	२,९८	४५	९	...
कच्चा तथा निर्मित रबड़	२६,२३	१०,४६	१४,६५	०.०७
हबर्डशेरी एण्ड मिलिनरी	११	१४	१७	...
कपड़े	१०,२४	४,६२	१४	..
चीनी	१,८७	१३	२	...
खिलौने और खेल की सामग्री	१६	१२	७५	
साबुन		६	१४	...
कागज	२,७५	४,३३	३४,०८	०.१७
धातें इत्यादि	.	...	.	..
जीवित जानवर	३,७०	३८	३०	...
मछली	१,९०	१,७४	३,३४	...
जूट और तैयार माल	३,३९	५,७३	१,८५	..
कोयला	१,०८	२९	३	..
अन्य सामग्री	१०,३८,८३	८३,८६७	१४,५३,१४	७ २३
कुल आयात मूल्य	११०,३५,०७	११७,७७,९३	२००,९८,०६	..

तालिका नं० २—निर्यात
(हजार रुपयो में)

	१९४२-४३	१९४३-४४	१९४४-४५	कुल निर्यात का प्रतिशत १९४४-४५
जूट	९,०१,५७	८,३२,९१	७,५०,०२	३ ५२
बना हुआ जूट	३६,४०,९३	४९,४७,१९	६०,४२,४२	२८,६२
कपास	५,३०,५६	७,४८,७९	७,७०,१७	३ ६१
कपास-निर्मित वस्तुएं	४६,१९,१०	४२,६२,४२	३७,६०,२०	१७ ८१
चाय	३१,९०,१३	३७,१८,८२	३८,११,६९	१८ ५०
बीज	१०,५१,७६	११,१४,९२	१०,५३,३५	४·९९
चमड़ा	४,७६,०५	४,३८,४०	४,२१,२२	१ ९९
धातु	३,९२,६७	३,४९,७५	२,५२,३९	१ १८
अधात्वीय, कच्चा माल	२,८०,१७	२,९१,०७	३,०३,९२	१ ४३
अन्न, दाल और आटा	६,९३,२३	२,३०,८२	१,२३,२२	० ५७
कच्चा चमड़ा	३,३८,३६	४,१२,८४	३,९८,५४	१ ८७
तम्बाकू	१,४९,२०	७६,४५	१,४०,०१	० ७०
फल और तरकारी	१,९७,०६	२,२७,५५	४,५६,१४	२ १२
तेल की खली	६१,४९	१४,९२	४१	
कोयला	३५,५४	२१,०८	२२,७८	० १०
कच्चा और बना हुआ ऊन	१,६१,१२	२,३४,९८	३,९०,६८	१ ८४
गोंद और लाख	३,२३,६५	२,७४,८३	४,७४,७०	२ २२
तेल	१,३६,८४	८३,१३	१,०५,५७	० ५०
नारियल की रस्सी	८६,२८	९७,१६	१,९३,४१	० [illegible]
मसाले	१,९४,११	१,४४,८१	१,११,४५	० ५२
कच्चा और बना हुआ रबड़	३७,१३	५१,८९	१,१३,५४	० ५३
कच्चा पटुआ	५२,३७	६७,३०	६९,७९	० ३१
कॉफी	५२,३८	६९,९५	२४,५२	० १२
तेल की सामग्री	५९,९२	५८,४९	२४,६९	० १२
मछली	७२,२९	१,५५,३८	२,२५,७९	१ ०६
रासायनिक औषधियाँ	५८,५२	६६,३३	४०,६६	० १७
रंग, सामग्री	३६,०५	३४,१७	५०,१३	० २३
मोम	२१,३१	१,२२,४७	१,२२,९०	० ५७
लकड़ी	१३,८१	९,६७	१३,४३	० ०६
कपड़ा	५५,०२	४०,९८	५२,७७	० २२
चाँदी	१,०७,९६	४२,२७	३१,७२	० १५
रेशम	२,४९,२४	९	६	
चारा	७,१५	७,०६	३,१२	
छुरी, चाकू इत्यादि	२६,७३	२२,५५	२६,२३	० १२
जानवर	१५,४९	२३,९२	२८,४४	० १२
टैलो, स्टीरिन और मोम	७,६२	२,९२	१,७०	
फरनीचर	१,७०	२,४५	४,३५	
शीशा	७,३३	७,६०	११,७२	० ०५
कागज	५,४७	५,३१	३०,०८	० १४
अन्य सामग्री	५,९४,६३	६,११,५५	६,४३,६२	३ ०४
निर्यात का कुल मूल्य	१८९,४१,९४	१९९,२५,०९	२१०,०४,५५	१०० ००

बहुत महत्त्वपूर्ण स्थिति है, विशेष रूप से जहाँ तक हमारे आयात का सम्बन्ध है (देखिए, सेक्शन १५-१९)। निर्यात की दृष्टि से, यद्यपि भारत का सबसे महत्त्वपूर्ण

ग्राहक ग्रेट ब्रिटेन है, किन्तु कुल व्यापार सम रूप से अनेक देशों में विभाजित है। अन्तिम बात यह है कि भारत के विदेशी व्यापार में आयात की अपेक्षा निर्यात अधिक है (देखिए सेक्शन २४)।

१४ व्यापार की रचना में हाल में हुए परिवर्तन—निम्न तालिका से भारत के आयात और निर्यात (पुनर्निर्यात शामिल है) की रचना (१९४४-४५) स्पष्ट हो जाती है तथा युद्ध-पूर्व (१९३८-३९) काल से तुलना भी हो जाती है। ये संख्याएँ केवल सरकारी व्यापार को शामिल नही करती।[1]

आयात	१९३८-३९		१९४४-४५		१९४५-४६	
	करोड़ रुपया	प्रतिशत	करोड़ रुपया	प्रतिशत	करोड़ रुपया	प्रतिशत
खाद्यान्न ...	२४,००	१५·७	१८,८५	९ ४	२२,२५	९ ३
कच्चा माल ...	३८,१८	२१·७	११७,२६	५८·३	११६,५७	४८·५
निर्मित वस्तुएँ निर्यात	९२,७९	६० ८	६२,४७	३१·८	९७,५३	४० ६
खाद्य ...	३९,४३	२३·३	४९,८३	२०·९	५८,४४	२२ ५
कच्चा माल .	७६,२८	४५ १	५८,१९	२५·६	८४,८५	२६ ५
निर्मित वस्तुएँ ...	५०,७२	३० ०	११६,२७	५१·५	११४,६८	४६·०

आयात के आँकडो में काफी कमी हो गई। १९३८-३९ में प्रतिशत ६० ८ था। १९४४-४५ में यह घटकर ३१·८ रह गया, १९४५-४६ में फिर बढकर ४०·६ हो गया। इसके विपरीत कच्चे माल का आयात २१ ७ प्रतिशत से बढकर १९४५-४६ म ४८ ५ हो गया। यह आयात देश की बढती हुई औद्योगिक क्रियाशीलता की पूर्ति के लिए किया गया। खाद्यान्नो के आयात में होने वाले उतार-चढाव विश्व में इनकी कमी का निर्देश करते है, जिस कारण बडी मात्रा में आयात सम्भव न था। १९३९-४५ के युद्ध-पूर्व कच्चे माल का निर्यात अग्रगण्य था। अब उनका स्थान निर्मित वस्तुओ ने ले लिया। कारण यह था कि मध्य-पूर्व के सभी बाजार निर्मित वस्तुओ की पूर्ति के लिए भारत पर निर्भर हो उठे। इधर युद्ध से नष्ट हुए यूरोपीय देश निर्यात करने की दशा में नही थे। इन लाभो को स्थायी बनाने के लिए हमें दूरदर्शिता के साथ एक उचित सरक्षण-नीति का अवलम्बन करना होगा। अस्थायी रूप से प्रतिद्वन्द्वियो के हट जाने से हमें जो लाभ हुआ है उसे स्थिर रखने के लिए हमारे उद्योगो को कुशलता और विक्रय-दक्षता में तेजी से प्रगति करनी होगी। साथ ही औद्योगीकरण की वर्तमान प्रगति से हमें आवश्यकता से अधिक प्रसन्न नही होना चाहिए। हमें याद रखना चाहिए कि जब तक हम भारी उद्योगो का सतोषजनक विकास नही कर लेते तब तक हमारी नीव बहुत ही कमजोर रहेगी।

युद्ध-काल में कच्चे माल के निर्यात में जो कमी हुई उसका कारण यह नही था कि देश के बढते हुए उद्योगो में इनका उपभोग होने लगा था। इसका वास्तविक कारण अनिवार्य रूप से हमारे महत्त्वपूर्ण विदेशी बाजारो का बन्द हो जाना था। इसके परिणामस्वरूप किसानो को कठिनाई उठानी पड़ी।

१. इण्डियन एण्ड पाकिस्तान ईयर बुक, १९४८, पृष्ठ ३३५-३६।

तालिका न० ३—मुख्य देशों को भारत-निर्मित वस्तुओं के कुल व्यापार में प्रतिशत भाग

देश	युद्ध-पूर्व औसत[1]			युद्ध औसत[1]			युद्धोत्तर औसत[1]			१९३८-३९			१९३९-४०		
	आयात	निर्यात जिसमें पुन-र्निर्यात भी है	कुल	आयात	निर्यात जिसमें पुन-र्निर्यात भी है	कुल	आयात	निर्यात जिसमें पुन-र्निर्यात भी है	कुल	आयात	निर्यात जिसमें पुन-र्निर्यात भी है	कुल	आयात	निर्यात जिसमें पुन-र्निर्यात भी है	कुल
ब्रिटिश साम्राज्य—यू० के०	६२ ८	२५ १	४० ०	५६ ५	३१ १	४१ २	५७ ६	२४ २	३९ ५	३० ५	३४ ३	३२ ५	२५ २	३५ १	३० ८
वर्मा		•				•		•		१६ ०	६ ६	११ ०	१९ ०	६ ३	११ ८
लंका	० ५	३ ७	२ ४	१ १	४·३	३ ०	०·७	४ ८	२ ५	० ८	३ २	२ ०	० ९	३ १	२·२
स्ट्रेट्स सेटलमैंट	२ १	३·४	२ ९	३ ०	२ ७	२ ८	१ ९	२ ७	२ ३	२·७	१ ३	२ ०	२ ९	१ ३	२ ०
आस्ट्रेलिया	० ७	१ ४	१ १	० ८	२·२	१ ७	१ ३	१·७	१ ५	१ ६	१ ८	१ ७	१ ४	२ ६	२ १
हांगकांग	०·७	४ १	२·७	० ९	२·०	१ ६	० ७	२ ३	१·६	० २	० ५	० ४	० ४	० ५	० ४
मारिशस तथा अन्य अधीन देश	१ ८	० ६	१ १	१ १	० ६	० ८	२ २	३ १	२ ७		०·५	० ३		० ४	० २
कुल (जिसमें अन्य ब्रिटिश अधिकृत देश भी हैं)	६९ ७	४१ १	५२·३	६५ ४	५१ ७	५७ १	६५ २	४१ ४	५२ ३	५८ १	५३ ६	५५ ७	५६ ३	५५ ९	५६ १
अन्य देश—जापान	२ ५	७ ५	५ ५	१० ४	११ २	१० ९	६ ९	१३ ३	१०·४	१० १	८ ८	९ ४	११ ७	६·६	८ ८
संयुक्त राज्य	३ १	७ ५	५ ८	७ ०	११ ९	९ ९	८ ५	१२ ०	१० ४	६·४	८ ४	७ ५	९ ०	१२ ७	११ १
जावा	६ ४	१ ३	३ ३	७ ८	१ १	३ ८	६ ८	१ ०	३ ७	० ३	० ४	० ४	२ ०	० ७	१ ३
फ्रान्स	१·५	६ ६	४ ६	१ ३	४ ५	३ २	० ९	४ ८	३ ०	० ९	३·७	२ ४	० ९	३ ७	२ ५
इटली	१ ०	३ २	२ ३	१ २	३ ९	२ ८	१ ०	३ २	२ २	१ ८	१ ५	१ ७	१ २	१ ०	१ १
चीन (हांगकांग मैकाओ को छोड़कर)	१ १	३·९	२ ८	१ ३	२·०	१ २	१ २	३ ६	२ ५	१ १	१ ५	१·३	१ ६	४ ०	२·९
ईरान	० ४	० ५	० ५	१ ६	१ ७	० ७	० ७	१ ३	१ ०	२ ३	०·५	१ ३	१ ९	०·४	१ १
रूस	० १	० ९	०·६	० १	१ २	० ८	० १		० १	०·१	०·२	० २	० १		
हॉलैण्ड	० ९	१ ५	१ ३	० ६	० २	० ३	० ९	१ ५	०·९	० ९	२ २	१ ६	० ९	१ २	१ १
बेल्जियम	१ ९	५ ३	३ ९	० ३	० ५	० ४	१·८	३ ७	२ ९	१·९	२ ५	२ २	१ ५	१ ५	१·५
जर्मनी[1]	६ ४	९ ८	८·५	० ७	० ९	० ८	२ ८	४ ९	४ ०	८ ५	५·०	६ ६	४ ०	१·४	२ ५
आस्ट्रिया[2]	२·२	३·५	२ ९	०·२	० ४	० ३	० २	० २	० २	० ३		० २	० १		
जोड़	३०·३	५८·९	४७ ७	३४ ६	४८ ३	४२ ९	३४ ८	५८·६	४७ ७	४१ ९	४६ ४	४४ ३	४३ ७	४४ १	४३ ९

१. बर्मा के विभाजन के परिणामस्वरूप १९३७-३८ से व्यापार के आँकड़ों की इस तालिका में ब्रिटिश भारत के बर्मा के साथ होने वाले व्यापार शामिल हैं और बर्मा के अन्य देशों से सीधे व्यापार को अलग रखा गया है। (१) युद्ध-पूर्व औसत का आशय ०९-१० से १९१३-१४, युद्ध औसत का आशय १९१४ से १९१९ तक पाँच वर्ष का

इस प्रकार व्यापारिक विकास की जो तसवीर हमारे सामने आती है उससे बहुत प्रसन्न नही हुआ जा सकता। हाँ, औद्योगीकरण की कृत्रिम प्रगति से स्थिति कुछ अच्छी जरूर हो गई है।

१५. भारत के व्यापार की दिशा—पिछले पृष्ठ पर दी गई तालिका से भारत के कुल व्यापार में विदेशो का भाग प्रकट है, साथ ही भारत के समुद्र-पार व्यापार के वितरण पर वर्मा के विभाजन का प्रभाव भी स्पष्ट हो जाता है।

इन अको से प्रकट है कि प्रथम युद्ध के पूर्व आयात-व्यापार का अधिकाश यूरोप और इगलिस्तान के हाथ में था, लेकिन निर्यात में अनेक देशो को भाग मिलता रहा, हालाँकि यहाँ भी इगलिस्तान प्रधान ग्राहक है। ब्रिटेन की इस प्रमुखता के कारणो का उल्लेख हो चुका है। जर्मनी और सयुक्त राज्य द्वारा किये गए प्रयत्नो का भी निर्देश हो चुका है। अब हम युद्ध-पूर्व, युद्धकालीन तथा युद्धोत्तरकालीन भारतीय व्यापार की दिशा को निर्धारित करने वाली प्रमुख प्रवृत्तियो का इन आकडो के आधार पर विवेचन करेंगे।

१६. १९१४ के पहले भारत के व्यापार का वितरण—१९१४ के पूर्व ही आयात-निर्यात व्यापार ग्रेटब्रिटेन से अन्य देशो की ओर उन्मुख हो रहा था। अन्तिम शताब्दी के अन्त में कुल भारतीय आयात का ६९% इगलैण्ड से आता था। जर्मनी केवल २·४, सयुक्त राज्य १·७% तथा जापान केवल ० ६ प्रतिशत माल भेजते थे। १९१३-१४ तक वडा परिवर्तन हो गया। जर्मनी का हिस्सा वढकर ६ ९%, जापान और सयुक्त राज्य में से प्रत्येक का हिस्सा २·६% तथा इगलैण्ड का हिस्सा घटकर ६४·१% हो गया। इस प्रकार जर्मनी ने द्वितीय स्थान प्राप्त कर लिया। जर्मनी की व्यापारिक प्रगति के कारण प्राविधिक कुशलता, भारतीय ग्राहको की मन.स्थिति का गम्भीर अध्ययन तथा महगी अग्रेजी वस्तुओ के स्थान पर सस्ती वस्तुओ का निर्माण थे, जिनकी भारतीय वाजारो में वडी खपत थी। वेलजियम का हिस्सा ३·९%(१९०३-४) से घटकर २·३% रह गया, जबकि भारत से चीनी के निर्यात के कारण जापान का आयात वढकर १९१३-१४ में ५·८ प्रतिशत हो गया।

निर्यात-व्यापार में भी ग्रेटब्रिटेन से दूर हटने की प्रवृत्ति के दर्शन हुए। शताब्दी के प्रारम्भ में भारत के निर्यात का २९%इगलैण्ड, २५% शेष यूरोप, २४% सुदूर-पूर्व, ७% सयुक्त राज्य तथा १५% अन्य देशों में वितरित था। १९१४ में इगलिस्तान का हिस्सा घटकर २४%,शेष यूरोप का वढकर २९%, सुदूर-पूर्व का केवल १७%(अफीम और सूत का निर्यात घटने के कारण), सयुक्त राज्य का वढकर ९%तथा अन्य देशो का २१%हो गया। इससे स्पष्ट हो गया कि व्यापार का जो भाग इगलिस्तान ने खोया वह महाद्वीपीय यूरोप ने प्राप्त किया। पूर्वी वाजारो का घाटा कुछ अन्य छोटे देशो के वाजारो के मिल जाने से पूरा हो गया। इगलैण्ड को छोड़कर, जो कि सवसे वडा क्रेता था, (१९०० में) जर्मनी का स्थान तीसरा था। वह १९१४ मे द्वितीय स्थान का अधिकारी हो गया। जापान की क्रय-शक्ति वढी और उसने छठे से तीसरा स्थान प्राप्त कर लिया। चीन ने अपना १९०० वाला दूसरा स्थान छोडकर (१९१४ में)

तालिका नं० ३—मुख्य देशों को भारत-निर्मित वस्तुओं के कुल व्यापार में प्रतिशत भाग

देश	युद्ध-पूर्व औसत[1]			युद्ध औसत[1]			युद्धोत्तर औसत[1]			१९३८-३९			१९३९-४०		
	आयात	निर्यात जिसमें पुन-निर्यात भी है	कुल	आयात	निर्यात जिसमें पुन-निर्यात भी है	कुल	आयात	निर्यात जिसमें पुन-निर्यात भी है	कुल	आयात	निर्यात जिसमें पुन-निर्यात भी है	कुल	आयात	निर्यात जिसमें पुन-निर्यात भी है	कुल
ब्रिटिश साम्राज्य—यू० के०	६२ ८	२५ १	४० ०	५६ ५	३१ १	४१ २	५७ ६	२४ २	३९ ५	३० ५	३४ ३	३२ ५	२५ २	३५ १	३० ८
बर्मा		•			•					१९ ०	६ ६	११ ०	१९ ०	६ ३	११ ८
लंका	० ५	३ ७	२ ४	१ १	४·३	३ ०	० ७	४ ८	२ ५	० ८	३ २	२ ०	० ९	३ १	२ २
स्ट्रेट्स सेटलमैण्ट	२ १	३·४	२ ९	३ ०	२ ७	२ ८	१ ९	२ ७	२·३	२ ७	१ ३	२ ०	२ ९	१ ३	२ ०
आस्ट्रेलिया	० ७	१ ४	१ १	० ८	२ २	१ ७	१ ३	१·७	१ ५	१ ६	१ ८	१ ७	१ ४	२ ६	२ १
हांगकांग	० ७	४ १	२·७	० ९	२·०	१ ६	० ७	२ ३	१·६	० २	० ५	० ४	० ४	० ५	० ४
मारिशस तथा अन्य अधीन देश	१ ८	० ६	१ १	१ १	० ६	० ८	२ २	३ १	२ ७		० ५	० ३		० ४	० २
कुल (जिसमें अन्य ब्रिटिश अधिकृत देश भी हैं)	६९ ७	४१ १	५२·३	६५ ४	५१ ७	५७ १	६५ २	४१ ४	५२ ३	५८ १	५३ ६	५५ ७	५६ ३	५५ ९	५६ १
अन्य देश—जापान	२ ५	७ ५	५ ५	१० ४	११ २	१० ९	६ ९	१३ ३	१० ४	१० १	८ ८	९ ४	११ ७	६ ६	८·८
संयुक्त राज्य	३ १	७ ५	५ ८	७ ०	११ ९	९ ९	८ ५	१२ ०	१० ४	६ ४	८ ४	७ ५	९ ०	१२ ७	११ १
जावा	६ ४	१ ३	३ ३	७ ८	१ १	३ ८	६ ८	१ ०	३ ७	०·३	० ४	० ४	२ ०	० ७	१ ३
फ्रान्स	१ ५	६ ६	४ ६	१ ३	४·५	३ २	० ९	४ ८	३·०	०·९	३ ७	२ ४	० ९	३·७	२ ५
इटली	१ ०	३ २	२ ३	१ २	३ ९	२ ८	१ ०	३ २	२ २	१ ८	१ ५	१ ७	१ २	१ ०	१ १
चीन (हांगकांग मैकाओ को छोड़कर)	१ १	३ ९	२ ८	१ ३	२ ०	१ २	१ २	३ ६	२ ५	१ १	१·५	१·३	१ ६	४ ०	२·९
ईरान	० ४	० ५	० ५	१·६	१ ७	०·७	० ७	१ ३	१·०	२ ३	० ५	१ ३	१ ९	० ४	१ १
रूस	० १	०·९	०·६	० १	१ २	० ८	० १		० १	० १	०·२	० २	० १		
हॉलैण्ड	० ९	१ ५	१ ३	० ६	० २	० ३	० ९	१ ५	०·९	० ९	२ २	१ ६	०·९	१ २	१ १
बेल्जियम	१ ९	५ ३	३ ९	० ३	० ५	० ४	१ ८	३ ७	२ ९	१·९	२ ५	२ २	१ ५	१ ५	१ ५
जर्मनी[1]	६ ४	९ ८	८·५	० ७	० ९	० ८	२ ८	४ ९	४·०	८ ५	५ ०	६ ६	४ ०	१·४	२ ५
आस्ट्रिया[2]	२·२	३·५	२ ९	० २	० ४	० ३	० २	० २	० २	० ३		० २	०·१		
जोड़	३० ३	५८·९	४७ ७	३४ ६	४८ ३	४२ ९	३४ ८	५८ ६	४७ ७	४१ ९	४६ ४	४४ ३	४३ ७	४४ १	४३ ९

१. बर्मा के विभाजन के परिणामस्वरूप १९३७-३८ से व्यापार के आँकड़ों की इस तालिका में ब्रिटिश भारत के बर्मा के

इस प्रकार व्यापारिक विकास की जो तसवीर हमारे सामने आती है उससे बहुत प्रसन्न नही हुआ जा सकता। हाँ, औद्योगीकरण की कृत्रिम प्रगति से स्थिति कुछ अच्छी जरूर हो गई है।

१५. भारत के व्यापार की दिशा—पिछले पृष्ठ पर दी गई तालिका से भारत के कुल व्यापार में विदेशों का भाग प्रकट है, साथ ही भारत के समुद्र-पार व्यापार के वितरण पर बर्मा के विभाजन का प्रभाव भी स्पष्ट हो जाता है।

इन अको से प्रकट है कि प्रथम युद्ध के पूर्व आयात-व्यापार का अधिकाश यूरोप और इगलिस्तान के हाथ में था, लेकिन निर्यात में अनेक देशो को भाग मिलता रहा, हालाँकि यहाँ भी इगलिस्तान प्रधान ग्राहक है। ब्रिटेन की इस प्रमुखता के कारणो का उल्लेख हो चुका है। जर्मनी और सयुक्त राज्य द्वारा किये गए प्रयत्नो का भी निर्देश हो चुका है। अब हम युद्ध-पूर्व, युद्धकालीन तथा युद्धोत्तरकालीन भारतीय व्यापार की दिशा को निर्धारित करने वाली प्रमुख प्रवृत्तियो का इन आकडो के आधार पर विवेचन करेंगे।

१६. १९१४ के पहले भारत के व्यापार का वितरण—१९१४ के पूर्व ही आयात-निर्यात व्यापार ग्रेटब्रिटेन से अन्य देशो की ओर उन्मुख हो रहा था। अन्तिम शताब्दी के अन्त में कुल भारतीय आयात का ६९% इगलैण्ड से आता था। जर्मनी केवल २·४, सयुक्त राज्य १·७% तथा जापान केवल ० ६ प्रतिशत माल भेजते थे। १९१३-१४ तक बडा परिवर्तन हो गया। जर्मनी का हिस्सा बढकर ६ ९%, जापान और सयुक्त राज्य में से प्रत्येक का हिस्सा २·६% तथा इगलैण्ड का हिस्सा घटकर ६४ १% हो गया। इस प्रकार जर्मनी ने द्वितीय स्थान प्राप्त कर लिया। जर्मनी की व्यापारिक प्रगति के कारण प्राविधिक कुशलता, भारतीय ग्राहको की मनःस्थिति का गम्भीर अध्ययन तथा महगी अग्रेजी वस्तुओ के स्थान पर सस्ती वस्तुओ का निर्माण थे, जिनकी भारतीय बाजारो में बडी खपत थी। बेलजियम का हिस्सा ३·९%(१९०३-४) से घटकर २·३% रह गया, जबकि भारत से चीनी के निर्यात के कारण जापान का आयात बढकर १९१३-१४ में ५·८ प्रतिशत हो गया।

निर्यात-व्यापार में भी ग्रेटब्रिटेन से दूर हटने की प्रवृत्ति के दर्शन हुए। शताब्दी के प्रारम्भ में भारत के निर्यात का २९%इगलैण्ड, २५% शेष यूरोप, २४% सुदूर-पूर्व, ७% सयुक्त राज्य तथा १५% अन्य देशो में वितरित था। १९१४ में इगलिस्तान का हिस्सा घटकर २४%,शेष यूरोप का बढकर २९%, सुदूर-पूर्व का केवल १७%(अफीम और सूत का निर्यात घटने के कारण), सयुक्त राज्य का बढकर ९%तथा अन्य देशो का २१%हो गया। इससे स्पष्ट हो गया कि व्यापार का जो भाग इगलिस्तान ने खोया वह महाद्वीपीय यूरोप ने प्राप्त किया। पूर्वी बाजारो का घाटा कुछ अन्य छोटे देशों के बाजारो के मिल जाने से पूरा हो गया। इगलैण्ड को छोडकर, जो कि सबसे बड़ा क्रेता था, (१९०० में) जर्मनी का स्थान तीसरा था। वह १९१४ में द्वितीय स्थान का अधिकारी हो गया। जापान की क्रय-शक्ति बढी और उसने छठे से तीसरा स्थान प्राप्त कर लिया। चीन ने अपना १९०० वाला दूसरा स्थान छोडकर (१९१४ में)

छठा स्थान ग्रहण किया।[1]

१७ युद्धकाल (१६१४-१८) में भारत के व्यापार का वितरण—इस काल में इगलैण्ड से दूर हटने वाली प्रवृत्तियाँ तो क्रियाशील रही ही, साथ ही उसके युद्ध में व्यस्त हो जाने के कारण वे और भी तीव्र हो गईं, क्योकि गृह-सरकार ने निर्यात को प्रतिबन्धित कर दिया था तथा कीमतें भी काफी ऊँची हो गई थी। अत इगलैण्ड भारतीय बाजार में स्थान खोता गया। भारत के आयात-व्यापार में उसका हिस्सा ६४ १%से घटकर १६१८-१६ में ४५ ५%हो गया। सम्पूर्ण युद्धकाल को दृष्टिगत रखने पर, उसका हिस्सा युद्ध-पूर्व औसत ६२ ८% से घटकर युद्धकाल में औसतन ५६ ५% रह गया। इससे तथा भारतीय बाजारो में जर्मनी के स्थान रिक्त करने से जो कमी हुई उसकी पूर्ति जापान और सयुक्त राज्य ने पूरी की। अब लोहे, इस्पात और कितने ही ऐसे सामान इन देशो से मँगाए जाने लगे। जापान से शीशे के बरतन, कपडा तथा कागज और सयुक्त राज्य से रग-सामग्री आने लगी। जिस प्रकार युद्ध-पूर्व काल से जर्मनी ने भारतीय बाजारो का अध्ययन किया था उसी प्रकार युद्धकाल में इन देशो ने भारतीय वाजारो का बडी शान्ति तथा गम्भीरता से अध्ययन किया तथा अपने वाणिज्यिक सगठन देश में स्थापित किये। जापान ने भारत के प्रमुख नगरो में फुटकर भण्डार (रिटेल स्टोर) तक स्थापित किये। भारत-स्थित जापानी विनिमय बैंको ने भारतीय आयात करने वालो को विशेष सुविधाएँ प्रदान की।

जहाँ तक निर्यात का प्रश्न है, युद्धकालीन क्रय तथा निष्पक्ष एव शत्रु-देशो को निर्यात करने पर लगे प्रतिबन्धो के कारण, कुछ समय के लिए इगलिस्तान और ब्रिटिश कामनवेल्थ के साथ व्यापार बढा। परिणाम यह हुआ कि भारत के निर्यात में इगलिस्तान का हिस्सा, जो १६१४ में २३ ४% था, १६१८-१६ में २६ २% हो गया। इगलिस्तान और कॉमनवेल्थ का हिस्सा युद्ध-पूर्व के २५ १% और ४१ १% के औसत से बढकर क्रमश ३१ १% और ५१ ७% हो गया। जर्मनी भारतीय वस्तुओ के क्रेता के स्थान से बिलकुल हट गया। इसी प्रकार जर्मनी द्वारा अधिकृत किये जाने के कारण फ्रास और बेलजियम का हिस्सा भी घट गया। जापान और सयुक्त राज्य का हिस्सा ६ २% और ८ ६% से बढकर १६१८-१६ में क्रमश १२ १% और १३ ८% हो गया। इसका कारण यह था कि मित्रराष्ट्र होने से इनको लाभदायक स्थिति प्राप्त हो गई थी। इसके अतिरिक्त ये युद्ध के अखाडो से काफी दूर भी थे, इनका निर्यात भी भारत के साथ पर्याप्त मात्रा में था और इन्होने भारत के साथ अपने सम्बन्ध स्थापित करने के प्रयत्न भी किये। इसके अलावा अन्यत्र औद्योगिक उत्पादन के लिए भारतीय माल की माँग भी घट गई थी। इस प्रकार, कुल मिलाकर, भारत को युद्धकाल में अपनी सामग्री एक सीमित बाजार में भेजनी पडती थी। यह ठीक है कि इसके लिए उसे युद्ध-पूर्व कीमतो से ऊँची कीमतें मिली, किन्तु इनके बदले में उसे आयात पर कही अधिक मूल्य चुकाने पडे।

१८ भारत के विदेशी व्यापार की (१६१४-१८) की युद्धोत्तर प्रवृत्तियाँ—युद्धोत्तर-काल

[1] देखिए, आर० एम० जोशी 'इण्डियन एक्सपोर्ट ट्रेड', पृ० १५६-६०।

में इगलैण्ड भारत के आयातो के सम्बन्ध में अशत· पूर्वस्थिति स्थापित कर ही रहा था कि फिर ह्रास प्रारम्भ हो गया। १९३०-३१ और १९३१-३२ में कुछ राजनीतिक कारणो ने इसमें विशेष योग दिया। १९३२ में उसका हिस्सा घटकर ३५·५% हो ...। उसे फिर जर्मनी, जापान, अमेरिका तथा अन्य देशो की प्रतिद्वन्द्विता का सामना करना पडा। इसमें भारत के वढते हुए औद्योगीकरण का भी थोडा-वहुत हाथ अवश्य था। १९३३-३४ में इगलैण्ड की स्थिति कुछ सुधरी दिखाई पडी और उसका हिस्सा ४१ ७% हो गया। इसका कारण १ जनवरी, १९३३ से लागू किये गए 'ओटावा-अविमान' हो सकते हैं। इसके वाद यह १९३६-३७ में ३८·४%; १९३८-३९ में ३० ४% और १९३९-४० में केवल २५·२% रह गया।

भारत के आयात-व्यापार में जापान और संयुक्त राज्य को भी थोडा-सा स्थान छोडना पडा। जापान के स्थान छोडने का कारण १९२०-२१ का वाणिज्य-सकट था। दोनो देशो के निर्यात को प्रभावित करने वाला अन्य कारण पुराने प्रतिद्वन्द्वियो का आगमन और पुरानी होड का प्रारम्भ था। जापान ने १९३३-३७ तक जो हिस्सा वढाया था वह १९३७-३८ में घटने लगा। इसका प्रधान कारण चीन-जापान का युद्ध था। युद्धोत्तर-काल में, विशेष रूप से १९२२-२३ में, जर्मनी आश्चर्यजनक शीघ्रता से अपनी पूर्वस्थिति स्थापित करने लगा।

निर्यात-पक्ष में इगलिस्तान से दूर हटने की प्रवृत्ति और भी निश्चित रूप से ...कर रही थी। यह उसके युद्धोत्तर औसत में स्पष्ट रूप से लक्षित होती है, जो कि घटकर २४·२% हो गया जब कि युद्ध-काल का औसत ३१ १% था। धीरे-धीरे फिर वृद्धि होने लगी, जो १९२८ में पर्याप्त रूप से दृष्टिगोचर होने लगी और १९२८-२९ में २१ ४% से वढकर १९३६-३७ में ३४ ३% हो गई। वस्तुत इगलिस्तान का निर्यात आयात से वढ गया और अनुकूल व्यापारिक सन्तुलन १८ करोड रुपये हो गया। निर्यात-व्यापार में जापान की दशा में भी अपेक्षाकृत सुधार हुआ। उसका हिस्सा ७·२% से वढकर १५ ७% हो गया (१९३४-३५)। उस देश को कच्चा कपास, धातुएँ, वोरे तथा लाख जैसी वस्तुएँ अधिकाधिक मात्रा में भेजी गईं। वाद में भारत जापान को कम माल भेजने लगा तथा जापान का व्यापार भी विनिमय-नियन्त्रण द्वारा नियमित किया जाने लगा। इस प्रकार १९३९-४० में जापान का हिस्सा केवल ६·९% रह गया।

प्रथम युद्ध (१९१४-१८) के वाद भारत के विदेशी व्यापार की परिस्थिति को सक्षेप में इस प्रकार रखा जा सकता है। इगलिस्तान से दूर हटने की युद्ध से पहले की प्रवृत्ति (आयात और निर्यात दोनो पक्षो में) क्रमश प्रवल होती गई, जो १९३१-३२ तक विशेष रूप से प्रवल ही गई। इसके वाद पूर्वस्थिति स्थापित होने लगी। अव जापान और सयुक्त राज्य भारतीय वाजार के लिए इगलैण्ड के सवल प्रतिद्वन्द्वी हो गए। जर्मनी ने भी अपनी पहले वाली स्थिति, विशेपकर आयात-व्यापार में, ग्रहण कर ली थी। इन सव देशो के पास भारत में अपना-अपना व्यापार वढाने के लिए वडे ही प्रवल संगठन थे। इस दृष्टि से वे इगलैण्ड से आगे वढ रहे थे। १९३३ में

प्रचलित किये गए ओटावा अधिमान ने इगलैण्ड को अपनी पुरानी स्थिति स्थापित करने में कुछ सहायता पहुँचाई।

१६ **वस्तु-व्यापार की दिशा**—आगे दी गई तालिकाएँ ४ और ५ क्रमश भारत की कुछ महत्त्वपूर्ण वस्तुओ के आयात-निर्यात की दिशा और परिवर्तन की ओर सकेत करती हैं। इन तालिकाओ के आधार पर भारत के व्यापार की दिशा की विशेषताओ का उल्लेख इस प्रकार किया जा सकता है।

(१) **आयात**—तालिका न० ४ को देखने से यह ज्ञात होगा कि हर ओर से ब्रिटेन को होड का सामना करना पड रहा है—उन दिशाओ में भी जो अब तक एकदम अग्रेजों के अधिकार में समझी जाती थी। यह मानने पर भी कि कपास से बनी वस्तुएँ अब भी अधिक मात्रा में इगलैण्ड से आती हैं यह प्रकट है कि उसका हिस्सा धीरे-धीरे किन्तु निश्चित रूप से घट रहा है। यह १९२८-२९ में ७१·३% था और १९३९-४० में घटकर ३२ १% हो गया। यह ध्यान रखना चाहिए कि १९१३-१४ में इगण्लैंड द्वारा भारत में भेजे जाने वाले माल का भाग ९० १% था। इसके विपरीत जापान का हिस्सा १९२८-२९ के १८ ३% से बढकर १९३९-४० में ५५% हो गया, जबकि उसका हिस्सा १९१३-१४ में केवल १ ८% था। कृत्रिम रेशम की पूर्ति में जापान सबसे प्रमुख था। उसका हिस्सा १९३८-३९ में ६६% था और १९३९-४० में यह ८३% हो गया। इटली का हिस्सा पहले वर्ष की अपेक्षा २५% से घटकर १२% रह गया। यह बात ठीक है कि अब भी इगलैंड सबसे प्रमुख अकेला देश था जो कि भारत को लोहा, इस्पात और मशीनें देता था, किन्तु इस क्षेत्र में सयुक्त राज्य, जर्मनी, बेलजियम, यहाँ तक कि जापान ने भी उसे अशत हटाकर अपने लिए स्थान बना लिया।

खनिज तेलो का आयात प्राय बर्मा से होता था, जिसका हिस्सा १९३८-३९ में ५२% और १९३९-४० में ४८% था। ईरान से तेल की पूर्ति में कमी हुई और रूस की पूर्ति तो बिलकुल बन्द हो गई। इसके विपरीत बहरीन द्वीप समूह बोर्निया सुमात्रा तथा सयुक्त राज्य का हिस्सा बढ गया। ब्रिटेन से आने वाली मोटरो में लगभग ७% कमी हुई, लेकिन सयुक्त राज्य और कनाडा ने अपनी स्थिति सुधार ली और क्रमश ३९ और १३ प्रतिशत से ४८ और १८ प्रतिशत कर ली। आयात-व्यय में जर्मनी और इटली के हिस्से भी घट गए।

(२) **निर्यात**—निर्यात-पक्ष में इगलिस्तान भारतीय चाय का सबसे बडा क्रेता है तथा १९३९-४० में उसने कुल निर्यात का ८१% खरीदा। कनाडा का हिस्सा १९१३-१४ में ४·२% था, वह १९३९-४० में बढकर ७% हो गया। यद्यपि रूस में १९१३ में लगभग ११% चाय की खपत थी, परन्तु अब वहाँ भारतीय चाय की खपत नगण्य हो गई है। कच्चा जूट प्रधानतया सयुक्त राज्य, फ्रान्स और इगलिस्तान को भेजा जाता था और कुछ अशो में बेलजियम, जर्मनी और इटली को भी भेजा जाता था। १९३८-३९ तक सयुक्त राज्य भारतीय जूट का प्रधान क्रेता था, किन्तु १९३८-३९ में २६ ४% से घटकर उसका हिस्सा १९३९-४० में २२·८% हो गया, जब कि उसी समय इगलैंड का १०·४% से बढकर २४·९% हो गया। अर्जेण्टाइना का हिस्सा १०·२ से

घटकर ६.५% हो गया। आस्ट्रेलिया और जावा के हिस्सो में थोडा-बहुत परिवर्तन हुआ। भारतीय जूट-निर्मित वस्तुओ के अन्य ग्राहक कनाडा, जापान और दक्षिण अफ्रीका सघ (यूनियन) हैं। कच्चे कपास का सर्वप्रधान क्रेता जापान था, जिसने कुल निर्यात-मूल्य का ३६% १९३९-४० में और ४७% १९३८-३९ में खरीदा। इसके विपरीत चीन का हिस्सा ७% से बढकर २२% हो गया। १९३९-४० में इगलिस्तान का हिस्सा १७.४% था। खाद्यान्नो में लका भारतीय चावल का सर्वोत्तम ग्राहक था तथा १९४० के कुल निर्यात-मूल्य के २८% के लिए उत्तरदायी था। भारतीय खाद्यान्नो के अन्य प्रधान क्रेताओ में ईरान, एशियायी तुर्किस्तान, अरब और इगलैंड का नाम गिनाया जा सकता है। तिलहनो के खरीदने वालो में फ्रान्स भारत की सबसे अधिक मूँगफली खरीदता था। ब्रिटेन, नीदरलैण्ड्स, जर्मनी तथा इटली भारत से तिलहन खरीदने वाले अन्य प्रमुख देश थे। चमडे के प्रधान क्रेता इगलैंड और सयुक्त राज्य थे।

२०. भारत-बर्मा व्यापार—अप्रैल, १९३७ के पूर्व बर्मा-भारत व्यापार को तटीय व्यापार के अन्दर गिना जाता था, लेकिन उसी समय बर्मा को भारत से अलग कर देने के उपरान्त यह विदेशी व्यापार समझा जाने लगा। अप्रैल, १९४१ में व्यापारिक समझौता होने के पूर्व दोनो देशो के व्यापारिक सम्बन्ध १९३७ के भारत-बर्मा (व्यापार-नियमन) आदेश के अनुसार सचालित होते थे। इन देशो के बीच होने व्यापार का कुल मूल्य ४४८५ लाख रुपये था (१९३९-४०) और १९३८-३९ में ३५४५ लाख रुपये। बर्मा से भारत में आने वाली वस्तुओ में प्रमुख चावल (१६६५ लाख रु०), खनिज तैल (७९१ लाख रु०) और सागवान की लकडी (१९५ लाख रु०) थी। १९३९-४० में ये सब मिलाकर बर्मा से हुए कुल आयात का ८७% थे। तरकारियो के आयात का मूल्य ३१ लाख रु० था।

निर्यात-पक्ष में सबसे महत्त्वपूर्ण वस्तुएँ कपास और जूट थी, जिनसे भारत को १९३९-४० में ५९२ लाख रु० अर्थात् कुल निर्यात-मूल्य का (बर्मा के कुल निर्यात-मूल्य का) ४८% मिला (कुल निर्यात-मूल्य १२३० लाख रु० था)। निर्यात की अन्य मदो में लोहा और इस्पात (८८ लाख रु०), चाय (२१ लाख रु०) और चीनी (२ लाख रु०) का उल्लेख किया जा सकता है।

२१. द्वितीय विश्वयुद्ध और उसके उपरान्त व्यापार की दिशा में परिवर्तन—स्पष्ट कारणो से युद्धकाल में यूरोपीय देशो से व्यापार प्राय बन्द हो गया। निर्मित वस्तुओ का निर्यात बढा और कच्चे माल का निर्यात घट गया।

शताब्दी के प्रारम्भ से ब्रिटेन की कमजोर होती हुई स्थिति इस युद्ध में और भी बिगड गई। ब्रिटेन से किये गए आयात का मूल्य १९३८-३९ के ४६.५ करोड रु० से घटकर १९४२-४३ में २९.५३ करोड रु० हो गया।

प्रचलित किये गए ओटावा अधिमान ने इगलैण्ड को अपनी पुरानी स्थिति स्थापित करने में कुछ सहायता पहुँचाई।

१६ वस्तु-व्यापार की दिशा—आगे दी गईं तालिकाएँ ४ और ५ क्रमश भारत की कुछ महत्त्वपूर्ण वस्तुओ के आयात-निर्यात की दिशा और परिवर्तन की ओर सकेत करती हैं। इन तालिकाओ के आधार पर भारत के व्यापार की दिशा की विशेषताओ का उल्लेख इस प्रकार किया जा सकता है।

(१) आयात—तालिका न० ४ को देखने से यह ज्ञात होगा कि हर ओर से ब्रिटेन को होड का सामना करना पड रहा है—उन दिशाओ में भी जो अब तक एकदम अग्रेजो के अधिकार में समझी जाती थी। यह मानने पर भी कि कपास से बनी वस्तुएँ अब भी अधिक मात्रा में इगलैण्ड से आती हैं यह प्रकट है कि उसका हिस्सा धीरे-धीरे किन्तु निश्चित रूप से घट रहा है। यह १९२८-२९ में ७१ ३% था और १९३९-४० में घटकर ३२ १% हो गया। यह ध्यान रखना चाहिए कि १९१३-१४ में इगण्लैंड द्वारा भारत में भेजे जाने वाले माल का भाग ९० १% था। इसके विपरीत जापान का हिस्सा १९२८-२९ के १८ ३% से बढकर १९३९-४० में ५५% हो गया, जबकि उसका हिस्सा १९१३-१४ में केवल १ ८% था। कृत्रिम रेशम की पूर्ति में जापान सबसे प्रमुख था। उसका हिस्सा १९३८-३९ में ६६% था और १९३९-४० में यह ८३% हो गया। इटली का हिस्सा पहले वर्ष की अपेक्षा २५% से घटकर १२% रह गया। यह बात ठीक है कि अब भी इगलेंड सबसे प्रमुख अकेला देश था जो कि भारत को लोहा, इस्पात और मशीनें देता था, किन्तु इस क्षेत्र में सयुक्त राज्य, जर्मनी, बेलजियम, यहाँ तक कि जापान ने भी उसे अशत हटाकर अपने लिए स्थान बना लिया।

खनिज तेलों का आयात प्राय बर्मा से होता था, जिसका हिस्सा १९३८-३९ में ५२% और १९३९-४० में ४८% था। ईरान से तेल की पूर्ति में कमी हुई और रूस की पूर्ति तो बिलकुल बन्द हो गई। इसके विपरीत बहरीन द्वीप समूह बोर्निया सुमात्रा तथा सयुक्त राज्य का हिस्सा बढ गया। ब्रिटेन से आने वाली मोटरो में लगभग ७% कमी हुई, लेकिन सयुक्त राज्य और कनाडा ने अपनी स्थिति सुधार ली और क्रमश ३९ और १३ प्रतिशत से ४८ और १८ प्रतिशत कर ली। आयात-व्यय में जर्मनी और इटली के हिस्से भी घट गए।

(२) निर्यात—निर्यात-पक्ष में इगलिस्तान भारतीय चाय का सबसे बडा क्रेता है तथा १९३९-४० में उसने कुल निर्यात का ८१% खरीदा। कनाडा का हिस्सा १९१३-१४ में ४·२% था, वह १९३९-४० में बढकर ७% हो गया। यद्यपि रूस में १९१३ में लगभग ११% चाय की खपत थी, परन्तु अब वहाँ भारतीय चाय की खपत नगण्य हो गई है। कच्चा जूट प्रधानतया सयुक्त राज्य, फ्रान्स और इगलिस्तान को भेजा जाता था और कुछ अशों में बेलजियम, जर्मनी और इटली को भी भेजा जाता था। १९३८-३९ तक सयुक्त राज्य भारतीय जूट का प्रधान क्रेता था, किन्तु १९३८-३९ में २६·४% से घटकर उसका हिस्सा १९३९-४० में २२·८% हो गया, जब कि उसी समय इगलेंड का १०·४% से बढकर २४·९% हो गया। अर्जेण्टाइना का हिस्सा १० २ से

घटकर ६ ५% हो गया। आस्ट्रेलिया और जावा के हिस्सो में थोडा-बहुत परिवर्तन हुआ। भारतीय जूट-निर्मित वस्तुओ के अन्य ग्राहक कनाडा, जापान और दक्षिण अफ्रीका सघ (यूनियन) हैं। कच्चे कपास का सर्वप्रधान क्रेता जापान था, जिसने कुल निर्यात-मूल्य का ३६% १९३९-४० में और ४७% १९३८-३९ में खरीदा। इसके विपरीत चीन का हिस्सा ७% से बढकर २२% हो गया। १९३९-४० में इगलिस्तान का हिस्सा १७·४% था। खाद्यान्नो में लका भारतीय चावल का सर्वोत्तम ग्राहक था तथा १९४० के कुल निर्यात-मूल्य के २८% के लिए उत्तरदायी था। भारतीय खाद्यान्नो के अन्य प्रधान क्रेताओ में ईरान, एशियायी तुर्किस्तान, अरब और इगलेंड का नाम गिनाया जा सकता है। तिलहनो के खरीदने वालो में फ्रान्स भारत की सबसे अधिक मूंगफली खरीदता था। ब्रिटेन, नीदरलैण्ड्स, जर्मनी तथा इटली भारत से तिलहन खरीदने वाले अन्य प्रमुख देश थे। चमडे के प्रधान क्रेता इगलेंड और सयुक्त राज्य थे।

२०. भारत-बर्मा व्यापार—अप्रैल, १९३७ के पूर्व बर्मा-भारत व्यापार को तटीय व्यापार के अन्दर गिना जाता था, लेकिन उसी समय बर्मा को भारत से अलग कर देने के उपरान्त यह विदेशी व्यापार समझा जाने लगा। अप्रैल, १९४१ में व्यापारिक समझौता होने के पूर्व दोनो देशो के व्यापारिक सम्बन्ध १९३७ के भारत-बर्मा (व्यापार-नियमन) आदेश के अनुसार संचालित होते थे। इन देशो के बीच होने वाले व्यापार का कुल मूल्य ४४८५ लाख रुपये था (१९३९-४०) और १९३८-३९ में ३५४५ लाख रुपये। बर्मा से भारत में आने वाली वस्तुओ में प्रमुख चावल (१६६५ लाख रु०), खनिज तैल (७९१ लाख रु०) और सागवान की लकड़ी (१९५ लाख रु०) थी। १९३९-४० में ये सब मिलाकर बर्मा से हुए कुल आयात का ८७% थे। तरकारियो के आयात का मूल्य ३१ लाख रु० था।

निर्यात-पक्ष में सबसे महत्त्वपूर्ण वस्तुएँ कपास और जूट थी, जिनसे भारत को १९३९-४० में ५९२ लाख रु० अर्थात् कुल निर्यात-मूल्य का (बर्मा के कुल निर्यात-मूल्य का) ४८% मिला (कुल निर्यात-मूल्य १२३० लाख रु० था)। निर्यात की अन्य मदो में लोहा और इस्पात (८८ लाख रु०), चाय (२१ लाख रु०) और चीनी (२ लाख रु०) का उल्लेख किया जा सकता है।

२१. द्वितीय विश्वयुद्ध और उसके उपरान्त व्यापार की दिशा में परिवर्तन—स्पष्ट कारणो से युद्धकाल में यूरोपीय देशो से व्यापार प्राय बन्द हो गया। निर्मित वस्तुओ का निर्यात बढा और कच्चे माल का निर्यात घट गया।

शताब्दी के प्रारम्भ से ब्रिटेन की कमजोर होती हुई स्थिति इस युद्ध में और भी बिगड़ गई। ब्रिटेन से किये गए आयात का मूल्य १९३८-३९ के ४६·५ करोड रु० से घटकर १९४२-४३ में २९·५३ करोड रु० हो गया।

ब्रिटेन को भेजी जाने वाली वस्तुओ का मूल्य प्राय स्थिर रहा, अत इगलैण्ड में भारत के व्यापारिक सन्तुलन की स्थिति बदल गई। युद्ध के पहले भारत ब्रिटेन से निर्यात की अपेक्षा आयात अधिक करता था, किन्तु बाद में व्यापारिक सन्तुलन भारत के अनुकूल हो गया। यदि हम युद्धकालीन अंग्रेजी क्रय को ध्यान में रखें, जो निर्यात के सरकारी आँकडो में शामिल नही है, तो वस्तुत ऊपर दी गई सख्याओ की अपेक्षा व्यापारिक सन्तुलन कही अधिक था। (१) अभूतपूर्व अनुकूल व्यापारिक सन्तुलन का परिणाम यह हुआ कि भारत इगलैण्ड के प्रति अपनी देनदारियो को सीधे निर्यात से पूरा करने लगा, (२) भारत अपना स्टर्लिंग ऋण चुकाने लगा और (३) लदन में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के नाम से काफी मात्रा में पौण्ड-पावना एकत्र करने लगा। पृष्ठ २२६ पर दी गई तालिका १९४४-४५, १९४५-४६ में विभिन्न देशों के साथ भारत के व्यापार की दिशा और व्यापारिक सन्तुलन को प्रदर्शित करती है। इसमें युद्ध-पूर्व वर्ष (१९३८-३९) से तुलना भी की गई है। १९४५-४६ में भारत का अनुकूल व्यापारिक सन्तुलन १० लाख रु० के प्रतिकूल व्यापारिक सन्तुलन में परिवर्तित हो गया। १९४२-४३ से १९४५-४६ तक आयात निर्यात की अपेक्षा अधिक शीघ्रता से बढा। कुल २४०,४९ करोड रु० के आयात में ब्रिटिश साम्राज्य ने (ब्रिटिश अम्पायर) ४२ ३% का सामान भेजा जिसमें इगलिस्तान का हिस्सा एक चौथाई था। इस दृष्टि से आस्ट्रेलिया की स्थिति द्वितीय थी। विदेशी देशो का हिस्सा १९४५-४६ में १३८,६६ करोड रु० था जोकि कुल व्यापार का ५७ ७% था, जबकि युद्ध-पूर्व वर्ष में यह केवल ४१·९% था। विनिमय-कठिनाइयो के बावजूद सयुक्त राज्य का हिस्सा १९३८-३९ में ६ ४% से बढकर १९४५-४६ में २८% हो गया। भारत को माल भेजने वाला दूसरा महत्त्वपूर्ण देश ईरान था और उसकी प्रधान सामग्री तेल थी। मिस्र की प्रधान सामग्री कच्ची कपास थी और उसका हिस्सा १५१० लाख रु० था।

१९४५-४६ में हमारा निर्यात २४०,३९ करोड रु० का था जिसमें ब्रिटिश साम्राज्य का हिस्सा ५५·५% था। इगलिस्तान का हिस्सा १९३८-३९ में ३४ १% था जोकि १९४५-४६ में घटकर २८ २% रह गया परन्तु, मूल्य ५५,५१ लाख रुपये से बढ़कर ६७,९१ लाख रु० हो गया। अन्य विदेशो में सयुक्त राज्य ने हमारे निर्यात की सबसे अधिक मूल्य की सामग्री खरीदी, जिसका मूल्य ६१,६२ लाख रु० था। इसका लगभग आधा मूल्य काजू के कारण था।

भारत का कॉमनवेल्थ देशो के साथ व्यापारिक सतुलन अनुकूल था और इसका कुल मूल्य ३१७७ करोड रु० था। इसके विपरीत अन्य विदेशो के साथ ३१,७७ करोड रु० का प्रतिकूल व्यापारिक सन्तुलन था।

२२ भारत का मध्यागार (पुनर्निर्यात) व्यापार—मध्यागार व्यापार देश में आयात की गई सामग्री के पुनर्निर्यात को कहते हैं। जिस देश से पुनर्निर्यात किया जाता है वह केवल वितरण के केन्द्र का काम करता है। अति प्राचीन काल से भारत अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण थोडा-बहुत पुनर्निर्यात करता रहा है। सुदूर-पूर्व और पश्चिम के बीच विश्राम-स्थल की स्थिति में होने के कारण यह पूर्वी और पश्चिमी

गोलार्धो के केन्द्र का काम करता रहा। प्राचीन समय में इस प्रकार के व्यापार की मुख्य सामग्री के रूप में चीन से रेशम, चीनी मिट्टी के वर्तन, लका से मोती, पूर्वी द्वीप-समूहो से मसाले और कीमती पत्थर मँगाए जाते थे, जो पश्चिमी देशो को भेजे (पुन-निर्यात) जाते थे तथा वेनिस के शीशे तथा अन्य इसी प्रकार की सामग्रियाँ पश्चिम से मँगाकर पूर्वी देशो को भेजी जाती थी।[1] इधर हाल में भी भारत के पुनर्निर्यात व्यापार में कुछ वृद्धि दिखाई पडी। यह व्यापार १८८२-८३ में ५ ८० करोड रु० से वढकर १९२०-२१ में १८ ०४ करोड रु० हो गया था। १९२०-२१ के वाद से यह व्यापार क्रमशः घटने लगा और १९२४-२५ में १३½ करोड रु०, १९२५-२६ में १०½ करोड रु०, १९२७-२८ में ९½ करोड रु०, १९२९-३० में ७ करोड रु०, १९३१-३२ में ४·६५ करोड रु०, और १९३२-३३ में ३·२२ करोड रु० रह गया। १९३३-३४ में पुनर्निर्यात व्यापार की दशा कुछ सुधरी और ३·२२ करोड रु० से वढकर ३·४२ करोड रु० हो गया। १९३५-३६ से और विकास हुआ—यह व्यापार क्रमश· ३ ५५ करोड रु०, ३ ७६ करोड रु० का था और १९३७-३८ में वढकर ८·२८ करोड रु० हो गया। १९३८-३९ में यह फिर घट गया (६ ४२ करोड रु०), लेकिन १९३९-४० में फिर वढ-कर ९ ६४ करोड रु० हुआ। १९४०-४१ और १९४१-४२ में फिर क्रमश वढता हुआ यह ११ ८१ करोड रु० और १५ ३३ करोड रु० हो गया। प्रमुख देशो के हिस्से इस प्रकार रहे—(१९४१-४२) सयुक्त राज्य ८%; बर्मा ८%, अदन तथा अन्य आश्रित देश ६% और अरव ५%, एग्लो-मिस्री सूडान, ईराक और मिस्र ४%, लका ३%। पुनर्निर्यात व्यापार का अधिकाश सिन्ध और वम्वई से होकर गुजरता था, जो क्रमश ४५% और ४३% व्यापार के लिए उत्तरदायी थे। इसके वाद वगाल का स्थान था जिसके द्वारा व्यापार होता था।

पुनर्निर्यात व्यापार प्रधानतया सूती कपडो जैसी निर्मित वस्तुओ का है, जो पश्चिमी देशो से मँगाई जाती हैं तथा जिन्हे ईरान, मुस्कात और पूर्वी अफ्रीका खरीदते हैं। पश्चिमी देशो को निर्यात की जाने वाली प्रधान सामग्री कच्चा चमडा और ऊन हैं। ईरान से प्राप्त होने वाला थोडा-सा समूर भी वम्वई से वाहर भेजा जाता है। वही से पहले वहरीन और मुस्कात से आयात किये हुए मोती भी वाहर भेजे जाते थे।

यह ठीक है कि भारत उन एशियायी देशो के लिए, जिनके पास अपने बन्दरगाह नही हैं, पुनर्निर्यात का यत्किंचित काम करता रहेगा, किन्तु वर्तमानकालीन प्रत्यक्ष व्यापार सम्वन्ध स्थापित करने की प्रवृत्ति को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि पुनर्निर्यात व्यापार में भारत का भविष्य वहुत उज्ज्वल नही है।[2]

२३. व्यापारिक सन्तुलन—वहुत दिनो तक भारत के विदेशी व्यापार की विशेषता यह थी कि निर्यात आयात से अधिक होता था। कभी-कभी उदाहरणार्थ १९२०-२१

१ देखिए, के० टी शाह "ट्रेड, टेरिफ्स एण्ड ट्रान्सपोर्ट इन इण्डिया", पृ० ९२।

२. १९५१-५२ में भारत के पुनर्निर्यात का कुल मूल्य १३,७५, ७४,००० रु० था। देखिए, स्टेटिस्टीकल एब्सट्रेक्ट, १९५१-५२ पृ०७७१।

और १६२१-२२ में भारत ने प्रतिकूल व्यापारिक सतुलन का भी अनुभव किया है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि सौदो की आयात निर्यात से अधिक हुई है। (देखिए ऊपर सेक्शन ६)। साधारण आयात से निर्यात की अधिकता (तथाकथित अनुकूल व्यापारिक सतुलन) अशत कीमती धातुओ के आयात, व्याज तथा गृह-व्यय देने में (जिन्हे अदृश्य आयात भी कहा जाता है) समाप्त हो गई। युद्ध-पूर्व के पाँच वर्षो में भारत का औसत जमा वाकी ७८ करोड रु० (१६०६-१० से १६१३-१४), पाँच युद्ध-वर्षों में ७६ करोड़ रुपये तथा पाँच युद्धोत्तर वर्षों में ५३ करोड़ रुपये (१६१६ से १६२३-४) रहा। १६२८-२६ में समाप्त होने वाले पाँच वर्षो में यह औसत बढकर ११३ करोड रु० हो गया, लेकिन १६३३-३४ में समाप्त होने वाले पाँच वर्षो में औसत घटकर ४३ करोड रु० रह गया। १६३२-३३ में भारत का व्यापारिक सतुलन अत्यत प्रतिकूल था, यहाँ तक कि जमा बाकी घटकर ३ करोड रु० पर आ गई। १६३३-३४ में फिर बढकर ३५ करोड रु० हो गई और १६३४-३५ में घटकर २३½ करोड रु० रह गई। १६३५-३६ में यह वढकर ३०½ करोड रु० हो गई। १६३६-३७ में यह दुगने से भी ज्यादा हो गई अर्थात् ७७¾ करोड रु०। १६३७-३८ में भारत के व्यक्तिगत सौदो के निर्यात की अधिकता (वर्मा को छोडकर) घटकर १६ करोड रु० हो गई, जबकि पहले वर्ष में यह ५१ करोड रु० थी। बर्मा को लेकर भारत के अक क्रमश ४३ करोड रु० और ७७¾ करोड रु० रहे। १६३८-३६ में 'आर्थिक मदी' के कारण आयात में निर्यात की अपेक्षा अधिक कमी हो जाने से व्यापारिक सतुलन कुछ सुधरा। जो व्यापारिक जमा वाकी पिछले वर्ष मे १६ करोड रु० थी वह इस वर्ष में १७½ करोड रु० हो गई। १६३६-४० में व्यापारिक सतुलन की स्थिति में पर्याप्त सुधार हुआ। इसका कारण युद्ध था। इस प्रकार १६३८-३६ की १७½ करोड रु० की तुलना में अब व्यापारिक जमा वाकी ४८ करोड रु० थी। १६४१-४२ में यह १०७·६ करोड रु० तथा १६४२-४३ में ६१ ६४ करोड रु० रही। ये सख्याएँ भारत में इगलैड की सरकार द्वारा किये गए क्रयो की गणना नही करती, अतः यह समझना चाहिए कि वास्तविक जमा वाकी इनसे अधिक थी। अनुकूल व्यापारिक सतुलन १६४३-४४ में ८६·१७ करोड रु० और १६४४-४५ में ५०·६५ करोड रु० था। १६४५-४६ में अपेक्षाकृत स्वतन्त्र आयात नीति के परिणामस्वरूप व्यापारिक सतुलन प्रतिकूल रहा। व्यापारिक सतुलन दूसरे वर्ष फिर ४१ करोड रु० से अनुकूल हो गया। मार्च, १६४६ में समाप्त होने वाले वर्ष में आयात-मूल्य ५१८ करोड रु० और निर्यात-मूल्य ४२३ करोड रु० था। इस ६५ करोड़ रु० के अंतर में पाकिस्तान का प्रतिकूल व्यापारिक सतुलन शामिल नही है। आयात-संख्याएँ भी निम्नानुमान ही हैं, क्योकि उनका उचित मूल्याकन नही किया गया है। सितम्बर, १६४६ में रुपये के अवमूल्यन के कारण निर्यात को प्रोत्साहन दिया गया है तथा आयात पर कठोर प्रतिबध लग गए हैं। इससे व्यापारिक घाटे की समस्या नियन्त्रण मे आ गई है। भारत सरकार की बाद की नीति प्रधानतया लेने-देने की वाकी (वैलेंस ऑफ पेमैण्ट) की प्रवृत्ति से अनुशासित हुई है। पहले तो समस्या यह थी कि आयात को इस प्रकार निमन्त्रित किया जाय कि लेन-देन की वाकी की कमी

को समझौते द्वारा एक वर्ष में दिये जाने वाले पौंड-पावने से अधिक होने से रोका जाय। इस दृष्टि से आयात को एक निश्चित सीमा के अन्दर रखना आवश्यक था। किन्तु मुद्रास्फीति की प्रवृत्ति को कम करने के लिए आयातो के साथ उदार नीति बरतने की भी आवश्यकता थी, अतएव १९४८ के उत्तरार्द्ध में आयात-नियन्त्रण कुछ ढीला कर दिया गया। इसका दूसरा उद्देश्य औद्योगिक तथा उपभोक्ताओं की अत्यावश्यक सामग्री की कमी की पूर्ति करना भी था। परिणामत आयात में पर्याप्त वृद्धि हुई। जूट और जूट-निर्मित वस्तुओ की अमरीकी माँग घट जाने के कारण निर्यात में काफी कमी हो गई। इससे जुलाई, १९४८ से जून, १९४९ तक व्यापारिक सतुलन अत्यन्त प्रतिकूल हो उठा और पौण्ड-पावने से लगभग ८१० लाख पौंड वापस किये गए। अतएव मई, १९४९ में उदार आयात नीति को बदलने के उपाय काम में लाए जाने लगे। ओपन जनरल लाइसेंस ११ नरम मुद्रा क्षेत्र (साफ्ट करेन्सी एरिया) के लिए रद्द कर दिया गया। बिना लाइसेंस के नरम मुद्रा क्षेत्र से आयात की जा सकने वाली वस्तुओ की एक सशोधित सूची प्रकाशित की गई (ओपन जनरल लाइसेंस१५)।[1] जुलाई, १९४९ के बाद आयात के लाइसेंस पर और भी प्रतिबन्ध लगाये गए। जून के अन्तिम सप्ताह से सितम्बर के प्रथम सप्ताह तक (१९४९) जनरल लाइसेंस बिलकुल बन्द हो गया। वर्तमान लक्ष्य उत्पादन की वृद्धि और प्रतिस्पर्धा-मूल्यो पर निर्यात को बढाना तथा आयात को, विशेषकर मुख्य औद्योगिक वस्तुओ औरखाद्यान्नों के आयात को, कम या बन्द करना था।[2]

१ देखिए, इण्डियन ईअर बुक, १९४९, पृ० ३३१-३२।

२ १९५४ में भारत में आयात और निर्यात के मूल्यों की गति अनुकूल रही। आयात-मूल्यों में लगभग ३% कमी हुई और निर्यात-मूल्य में लगभग इतनी ही वृद्धि हुई। परिणामत. निर्यात से अर्जित आय अधिक और आयात के भुगतान कम रहे।

परन्तु निर्यात की तुलना में आयात की अधिकता के कारण भारत का व्यापारिक सतुलन ७५ ७ करोड़ रु० से प्रतिकूल रहा। कुल आयात में ४९ ४ करोड़ रु० की वृद्धि हुई और उसका मूल्य ६२४ ५ करोड़ रु० था। सरकारी आयात नीति सामान्यत उदार होती गई। औद्योगिक उपस्कर, कच्चे माल एव उपभोक्ताओं के सामानों के आयात के सम्बन्ध में अधिक उदारता बरती गई। देश में औद्योगिक उत्पादन की वृद्धि के फलस्वरूप कुछ अन्य मदों में आयात कम कर दिये गए। दुर्लभ मुद्रा वाले क्षेत्रों में भी आयात के लिए सुविधाओं का विस्तार किया गया। अनेक वस्तुओं के सम्बन्ध में, यथा कच्चा कपास, अनुज्ञा प्रदान करने में भी उदारता बरती गई।

सरकारी आयात क्रमश घटते गए। १९५४ में इसमें ३५ १ करोड़ रु० की कमी हुई।

निर्यात—

१९५४ में निर्यात में १२ ८ करोड़ रु० की वृद्धि हुई और उसका मूल्य ५४८ ८ करोड़ रु० था। यह वृद्धि मुख्यतया जूट और कपास-निर्मित वस्तुओं तथा चाय से हुई।

पिछले दो वर्षों में आयात-निर्यात व्यापार की नीति में पर्याप्त स्थिरता आ गई है। विदेशी बाजारों के उतार-चढ़ाव के अतिरिक्त अब उपभोक्ता और उत्पादकों के हितों को ध्यान में रखने से नीति-निर्माण में अपेक्षाकृत अधिक सफलता मिली है।

पिछले ७ वर्षों मे भारत का व्यापारिक सन्तुलन औसतन १०० करोड़ रु० से प्रतिकूल रहा है, जिसे हम पौंड-पावने (स्टर्लिंग बेलेंसेज) और मित्र देशों की सहायता से पूरा करते रहे है। १९५०-५२ मे इस स्थिति में सुधार हो गया है।

१९२९-३३ के व्यापारिक अवसाद के वस्तुओ के स्वतन्त्र यातायात पर प्रतिबन्ध, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की मात्रा और स्वभाव में परिवर्तन तथा १९३७-३८ की व्यापारिक मन्दी, इन सबने मिलकर भारत के व्यापार-सन्तुलन को बुरी तरह प्रभावित किया। १९३७-३८ में वर्मा का अलग हो जाना भी घातक सिद्ध हुआ। यो तो जमा-बकी के निम्न स्तर से कोई विशेष चिन्ता न होती, किन्तु भारत को विदेशी देनदारी भी देखनी थी। १९३१ में भारत से स्वर्ण का निर्यात ही इसे सुलझाने वाली परिस्थिति थी। स्वर्ण आयात करने वाले देश से स्वर्ण निर्यात करने वाले देश में भारत का वदलना उसके अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। १९३१-३२ में ५८ करोड रु० के मूल्य का सोना वाहर भेज देने पर कीमती धातुओ की साधारण खपत मे वाधा पडने लगी। १९३२-३३ और १९३३-३४ में क्रमश ६५½ और ५७ करोड रुपये का सोना भेजा गया। १९३४-३५ में ५२½ करोड रु०, १९३५-३६ में ३७⅓ करोड रु०, १९३६-३७ में २८ करोड रु०, १९३७-३८ में १६⅓ करोड रु० और १९३८-३९ में १३ करोड रुपये के मूल्य का सोना निर्यात किया गया। यह देखा जायगा कि ज्यो-ज्यों सौदो का निर्यात वढा, सोने का निर्यात कम होने लगा। १९३९-४०) में सोने का निर्यात ३४⅔ करोड रु० हो गया, हालांकि व्यापार-सन्तुलन में सुधार हो रहा था। इसका कारण युद्धजन्य परिस्थितियो से सोने के भाव का वढ जाना था। १९३८-३९ के १ ७५ करोड रु० से वढकर चाँदी की आयात १९३९-४० में ४·७४ करोड हो गई। दृश्यमान व्यापारिक सन्तुलन जहाँ तक निजी सौदो और कोष के आँकडो द्वारा नापा जा [illegible]ा था, ७९ करोड रु० से भारत के पक्ष में था (१९३९-४०), जव कि १९३८-३९ में यह केवल २९ करोड रु० तथा १९३७-३८ में ३० करोड रु० था। जव से इगलैण्ड स्वर्ण-प्रमाप देश न रहा (१९३१) तव से लेकर दिसम्बर, १९३९ तक भारत से निर्यात किये जाने वाले कुल स्वर्ण की कीमत ३५१ ४० करोड रु० थी।

२४. भारत के स्थिति-विवरण पत्रक (वैलेंस शीट) में नामे और जमा की मदें—एक समुचित लेन-देन के लेखे में आयात और निर्यात में विलकुल ठीक-ठीक सन्तुलन होगा। इस वात की स्पष्ट रूप से पुष्टि हो जायगी, यदि हम केवल दृश्यमान लेन-देन (जैसे आयात-निर्यात-कर के विवरण में सम्मिलित तथा प्रकाशित आकडो में सम्मिलित मद) को ही न देखकर अदृश्य मदो को भी ध्यान में रखें। अदृश्य मद वे हैं जिनका ऊपर कोष्ठक में दिये लेखो में विवरण नही रहता। अव हम उन मदो की जाँच करेंगे जो एक पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति-विवरण पत्रक (वैलेंस शीट) वनाने के काम आती है।

आयात-निर्यात व्यापार की भावी स्थिति वहुत-कुछ द्वितीय पचवर्षीय योजना के स्वरूप पर आधारित होगी। सभव है हमें भविष्य में आधारोद्योगों के लिए प्रतिवर्ष ३०० करोड रु० की मशीनों का आयात करना पडे (यह अभी १०० करोड़ रु० है) और इस प्रकार हमारा आयात वहुत वढ जाय। [illegible] भी सम्भव है कि कुछ अन्य मदों में, जैसे खाद्यान्न, कच्चा कपास और पेट्रोलियम आदि के आयात के सम्बन्ध में हम कुछ कमी भी कर सकें।

आयात और निर्यात की परामर्शदात्री समितियाँ समय-समय पर आयात-निर्यात की सरकारी नीति की परीक्षा करती है तथा सम्वन्धित समस्याओं पर यथोचित सलाह देती है। इससे भी आयात-निर्यात व्यापार को सुव्यवस्थित करने में सहायता मिलती है।

को समझौते द्वारा एक वर्ष में दिये जाने वाले पौंड-पावने से अधिक होने से रोका जाय। इस दृष्टि से आयात को एक निश्चित सीमा के अन्दर रखना आवश्यक था। किन्तु मुद्रास्फीति की प्रवृत्ति को कम करने के लिए आयातो के साथ उदार नीति बरतने की भी आवश्यकता थी, अतएव १९४८ के उत्तरार्द्ध में आयात-नियन्त्रण कुछ ढीला कर दिया गया। इसका दूसरा उद्देश्य औद्योगिक तथा उपभोक्ताओ की अत्यावश्यक सामग्री की कमी की पूर्ति करना भी था। परिणामत आयात में पर्याप्त वृद्धि हुई। जूट और जूट-निर्मित वस्तुओ की अमरीकी माँग घट जाने के कारण निर्यात में काफी कमी हो गई। इससे जुलाई, १९४८ से जून, १९४९ तक व्यापारिक सतुलन अत्यन्त प्रतिकूल हो उठा और पौण्ड-पावने से लगभग ८१० लाख पौंड वापस किये गए। अतएव मई, १९४९ में उदार आयात नीति को बदलने के उपाय काम में लाए जाने लगे। ओपन जनरल लाइसेंस ११ नरम मुद्रा क्षेत्र (साफ्ट करेन्सी एरिया) के लिए रद्द कर दिया गया। बिना लाइसेंस के नरम मुद्रा क्षेत्र से आयात की जा सकने वाली वस्तुओ की एक सशोधित सूची प्रकाशित की गई (ओपन जनरल लाइसेंस१५)।[1] जुलाई, १९४९ के बाद आयात के लाइसेंस पर और भी प्रतिबन्ध लगाये गए। जून के अन्तिम सप्ताह से सितम्बर के प्रथम सप्ताह तक (१९४९) जनरल लाइसेंस बिलकुल बन्द हो गया। वर्तमान लक्ष्य उत्पादन की वृद्धि और प्रतिस्पर्धा-मूल्यो पर निर्यात को बढाना तथा आयात को, विशेषकर मुख्य औद्योगिक वस्तुओ और खाद्यान्नों के आयात को, कम या बन्द करना था।[2]

१ देखिए, इण्डियन ईअर बुक, १९४९, पृ० ३३१-३२।

२ १९५४ में भारत में आयात और निर्यात के मूल्यों की गति अनुकूल रही। आयात-मूल्यों में लगभग ३% कमी हुई और निर्यात-मूल्य में लगभग इतनी ही वृद्धि हुई। परिणामत निर्यात से अर्जित आय अधिक और आयात के भुगतान कम रहे।

परन्तु निर्यात की तुलना में आयात की अधिकता के कारण भारत का व्यापारिक सतुलन ७५ ७ करोड़ रु० से प्रतिकूल रहा। कुल आयात में ४९ ४ करोड़ रु० की वृद्धि हुई और उसका मूल्य ६२४ ५ करोड़ रु० था। सरकारी आयात नीति सामान्यत उदार होती गई। औद्योगिक उपस्कर, कच्चे माल एव उपभोक्ताओं के सामानों के आयात के सम्बन्ध में अधिक उदारता वरती गई। देश में औद्योगिक उत्पादन की वृद्धि के फलस्वरूप कुछ अन्य मदों में आयात कम कर दिये गए। दुर्लभ मुद्रा वाले क्षेत्रों में भी आयात के लिए सुविधाओं का विस्तार किया गया। अनेक वस्तुओं के सम्बन्ध में, यथा कच्चा कपास, अनुज्ञा प्रदान करने में भी उदारता बरती गई।

सरकारी आयात क्रमश घटते गए। १९५४ में इसमें ३५ ८ करोड़ रु० की कमी हुई।

निर्यात—

१९५४ में निर्यात में १० ८ करोड़ रु० की वृद्धि हुई और उसका मूल्य ५४८ ८ करोड़ रु० था। यह वृद्धि मुख्यतया जूट और कपास-निर्मित वस्तुओं तथा चाय से हुई।

पिछले दो वर्षों में आयात-निर्यात व्यापार की नीति में पर्याप्त स्थिरता आ गई है। विदेशी बाजारों के उतार-चढाव के अतिरिक्त अब उपभोक्ता और उत्पादकों के हितों को ध्यान में रखने से नीति-निर्माण में अपेक्षाकृत अधिक सफलता मिली है।

पिछले ७ वर्षों मे भारत का व्यापारिक सन्तुलन औसतन १०० करोड़ रु० से प्रतिकूल रहा है, जिसे हम पौंड-पावने (स्टर्लिंग बेलेंसेज) और मित्र देशों की सहायता से पूरा करते रहे है। १९५०-५० मे इस स्थिति में सुधार हो गया है।

१९२९-३३ के व्यापारिक अवसाद के वस्तुओ के स्वतन्त्र यातायात पर प्रतिवन्ध, तर्राष्ट्रीय व्यापार की मात्रा और स्वभाव में परिवर्तन तथा १९३७-३८ की ापारिक मन्दी, इन सबने मिलकर भारत के व्यापार-सन्तुलन को बुरी तरह प्रभावित या। १९३७-३८ में वर्मा का अलग हो जाना भी घातक सिद्ध हुआ। यो तो जमा-की के निम्न स्तर से कोई विशेष चिन्ता न होती, किन्तु भारत को विदेशी देनदारी देखनी थी। १९३१ में भारत से स्वर्ण का निर्यात ही इसे सुलझाने वाली परि-थति थी। स्वर्ण आयात करने वाले देश से स्वर्ण निर्यात करने वाले देश में भारत वदलना उसके अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। १९३१-३२ ५८ करोड रु० के मूल्य का सोना वाहर भेज देने पर कीमती धातुओ की साधारण त में वाधा पडने लगी। १९३२-३३ और १९३३-३४ में क्रमश ६५½ और ५७ करोड ये का सोना भेजा गया। १९३४-३५ में ५२½ करोड रु०, १९३५-३६ में ३७⅓ करोड , १९३६-३७ में २८ करोड रु०, १९३७-३८ में १६⅓ करोड रु० और १९३८-३९ में । करोड़ रुपये के मूल्य का सोना निर्यात किया गया। यह देखा जायगा कि ज्यो-ज्यों दो का निर्यात वढा, सोने का निर्यात कम होने लगा। १९३९-४० में सोने का र्यात ३४⅓ करोड रु० हो गया, हालांकि व्यापार-सन्तुलन में सुधार हो रहा था। का कारण युद्धजन्य परिस्थितियो से सोने के भाव का वढ जाना था। १९३८-३९ के ७५ करोड रु० से वढकर चाँदी की आयात १९३९-४० में ४ ७४ करोड हो गई। यमान व्यापारिक सन्तुलन जहाँ तक निजी सौदो और कोष के आंकडो द्वारा नापा जा ा था, ७९ करोड रु० से भारत के पक्ष में था (१९३९-४०), जव कि १९३८-३९ में केवल २९ करोड रु० तथा १९३७-३८ में ३० करोड रु० था। जव से इगलैण्ड र्ण-प्रमाप देश न रहा (१९३१) तव से लेकर दिसम्वर, १९३९ तक भारत से निर्यात ये जाने वाले कुल स्वर्ण की कीमत ३५१ ४० करोड रु० थी।

. भारत के स्थिति-विवरण पत्रक (वैलेंस शीट) में नामे और जमा की मदें—एक चित लेन-देन के लेखे में आयात और निर्यात में विलकुल ठीक-ठीक सन्तुलन होगा। वात की स्पष्ट रूप से पुष्टि हो जायगी, यदि हम केवल दृश्यमान लेन-देन (जैसे यात-निर्यात-कर के विवरण में सम्मिलित तथा प्रकाशित आकडो में सम्मिलित) को ही न देखकर अदृश्य मदो को भी ध्यान में रखें। अदृश्य मद वे हैं जिनका र कोष्ठक में दिये लेखो में विवरण नही रहता। अव हम उन मदो की जाँच करेंगे एक पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति-विवरण पत्रक (वैलेंस शीट) वनाने के काम आती है।

आयात-निर्यात व्यापार की भावी स्थिति वहुत-कुछ द्वितीय पचवर्षीय योजना के स्वरूप पर ारित होगी। सभव है हमें भविष्य में आधारोद्योगों के लिए प्रतिवर्ष ३०० करोड़ रु० की मशीनों का ात करना पड़े (यह अभी १०० करोड़ रु० है) और इस प्रकार हमारा आयात वहुत वढ जाय। भी सम्भव है कि कुछ अन्य मदों में, जैसे खाद्यान्न, कच्चा कपास और पेट्रोलियम आदि के आयात सम्वन्ध में हम कुछ कमी भी कर सकें।

आयात और निर्यात की परामर्शदात्री समितियाँ समय-समय पर आयात-निर्यात की सरकारी ते की परीक्षा करती हैं तथा सम्वन्धित समस्याओं पर यथोचित सलाह देती हैं। इससे भी आयात-र्यात व्यापार को सुव्यवस्थित करने में सहायता मिलती है।

जमा	नामे
१ सौदों का निर्यात ।	१ बहुमूल्य वस्तुओं का आयात ।
२ वाहर से लिये गए ऋण ।	२ वाहर से लिये गए ऋण पर व्याज ।
३ विदेशियों द्वारा स्कूल मिशन की सहायता तथा अकाल एव दान के लिए भेजा गया धन ।	३ पहले लिये गए ऋण की अदायगी ।
४ भ्रमणार्थियों के व्यय ।	४. यूरोपीय सौदागरों, सरकारी अफसरों, और वकीलों द्वारा वाहर भेजा जाने वाला धन ।
	५. विदेशी वैंकों का लाभ, विदेशी जहाजो कम्पनियों को दिया जाने वाला भाड़ा ।
	६ सरकार द्वारा दिये जाने वाली लम्बी छुट्टी के वेतन, निवृत्ति वेतन, स्टोर, सोना-चाँदी इत्यादि, जो भारत सरकार के लिए खरीदी जाती है। (गृह-व्यय)
	७ भारतीय भ्रमणार्थियों एव विद्यार्थियों के लिए वाहर भेजा गया धन ।

(१) सौदो का आयात-निर्यात—इस मद में जैसा हम देख चुके है भारत एक लेनदार (क्रेडिटर) देश है। (२) मद के सम्बन्ध में भारत १६३०-३१ तक आयात अधिक और निर्यात कम करता था, अतएव देनदार था। १६३१-३२ से परिस्थिति पलट गई और अब भारत वडी मात्रा में सोना वाहर भेजने लगा और लेनदार हो गया। (३) वाहर से दिये गए या लिये गए ऋण—जब तक ऋण लिया जा रहा है तब तक जो देश ऋण दे रहा है वह ऋणी और जो ले रहा है वह लेनदार (क्रेडिटर) कहा जाता है। इस मद में भारत अभी हाल तक एक लेनदार (डेटर) देश था, क्योंकि समय-समय पर वह इगलैण्ड से कर्ज लिया करता था। (४) लगी हुई पूंजी पर वार्षिक व्याज का उलटा प्रभाव होता है और ऋण लेने वाला देश ऋणी और देने वाला लेनदार (क्रेडिटर) हो जाता है। अत जहाँ तक भारत को विदेशो से लिये गए कर्ज पर व्याज देना पडता है वह ऋणी देश है। (५) ऋण की अदायगी देने वाले देश को ऋणी और पाने वाले देश को लेनदार (क्रेडिटर) की दशा में रखती है। भारत प्रति वर्ष व्याज देने के अतिरिक्त पुराने ऋण को भी चुकता कर रहा है और इस मद के ऊपर एक ऋणी देश है। कर्ज की अदायगी इगलैण्ड में सुरक्षित पौण्ड-ऋण को रुपये के ऋण में परिवर्तित करके अथवा रुपये की प्रतिभूतियो के क्रय का रूप ले सकती है। इसका प्रभाव भी वही होगा अर्थात् उस हद तक भारत की देनदारी कम हो जायगी।[1] (६) विदेश में रहने वाले भारतीयो और भारत में रहने वाले विदेशियो की आमदनी, जहाँ तक कि यह सम्वन्धित पक्षो द्वारा अपनी जन्मभूमि को भेजी जाती है। पहले पक्ष में भारत लेनदार और दूसरे में कर्जदार है, लेकिन कुल मिलाकर इस मद में भारत ऋणी देश है। यूरोपीयो द्वारा भारत से भेजा जाने वाला

१ भारत के पौण्ड ऋण की अदायगी ने विदेशी-ऋण के सम्बन्ध में उसकी स्थिति काफी बदल दी है।

धन विदेश से भारतीयो द्वारा भेजे जाने वाले धन से कही अधिक है। (७) विदेशी बैंक, जहाजो तथा बीमा कम्पनियो का लाभ। इन मदो में किये गए भुगतान भारत की देनदारी के द्योतक हैं। (८) जहाँ तक विदेशियो द्वारा उदारता के कार्य के लिए देश के अन्दर या देश से ऐसे ही कामो के लिए बाहर भेजे गए धन का सम्बन्ध है, पहले में भारत लेनदार और दूसरे में देनदार होगा। इस मद में भारत लेनदार देश है, क्योकि उस धन की तुलना में, जो भारत बाहर भेजता है, वह यूरोप, अमरीका तथा अन्य देशो से मिशन, स्कूल तथा कभी-कभी दुर्भिक्ष-निवारण के लिए एकत्र चन्दे के रूप में अधिक धन प्राप्त करता है। (९) सरकार द्वारा विदेशो में खर्च तथा अन्य सरकारों द्वारा भारत में खर्च। पहले में भारत कर्जदार और दूसरे में लेनदार रहेगा।[1] इस मद में भारत एक ऋणी देश रहेगा, क्योकि उसे बड़ी मात्रा में इगलैण्ड में छुट्टी पर गये अफसरो की तनख्वाह और यूरोपीय अफसरो की पेंशनो का रुपया देना पडा तथा अग्रेजी सरकार द्वारा भारत के लिए किये गए खर्चो को भी चुकता करना पडा। यह सब खर्च इगलैण्ड में गृह-व्यय (होम चार्जेज़) के अन्तर्गत रखा गया। (१०) हरजाना देने वाला देश ऋणी होता है। चूँकि भारत न तो हरजाना देता है न पाता ही, अत. इस मद को बिलकुल छोड देना अनुचित न होगा। (११) विदेशी तथा भारतीय भ्रमणार्थियो का क्रमश· भारत और विदेशो में खर्च। इस मद में भारत लेनदार है, क्योकि अनेक विदेशी लोग यहाँ घूमने आते हैं और उनकी सख्या भारतीय विदेश-भ्रमणार्थियो से कही अधिक है। (१२) इसके विपरीत, जहाँ तक भारत विदेशो को भारतीय विद्यार्थियो के अध्ययन के लिए धन भेजता है, वह ऋणी है।

अत एक पूरे स्थिति-विवरण पत्रक (बैलेंस शीट) के लिए हमें इन सबका लेखा लेना होगा और ऐसा करने पर दोनो पक्षो में पूरा सतुलन स्थापित हो जायगा।

पिछले पृष्ठ पर दिये गए लेखे से अभी हाल तक की भारत की स्थिति स्पष्ट हो जायगी। दाहिने हाथ की ओर देनदारी की मदें अर्थात् वे मदें हैं जिनके लिए भारत को देना पडेगा और बाहर से मिलने वाला धन अपेक्षाकृत कम होगा। बाएँ हाथ की ओर वे मदें हैं जिनसे विदेशो से भारत को देनदारी से अधिक धन मिलेगा।

२५. 'निस्सारण' की परिभाषा (दि ड्रेन डिफाइण्ड)—भारत के आयात से निर्यात की अधिकता ने 'निस्सारण' सिद्धान्त को जन्म दिया। निर्यात की अधिकता की प्रत्येक वस्तु के बदले में भारत को कुछ-न-कुछ मिलता है और इसका हिसाब प्राप्ति की विभिन्न मदो से पूरा हो जाता है। लेकिन जैसी कि स्पेनिश कहावत है, 'हिसाब तो ठीक है लेकिन खजाना खाली है।' महत्त्वपूर्ण बात तो प्राप्त धन का हर प्रकार से सन्तोषजनक होना है, बाहर से कुछ मिलना या प्राप्त होना ही नही।

२६. गृह-व्यय (होम चार्जेज़)—भारत के आयात से निर्यात की अधिकता की व्याख्या गृह-व्यय द्वारा की जाती है।

निम्न सख्याएँ १८५९-६० से १९३३-३४ के बीच गृह-व्यय में होने वाली वृद्धि

---

१. उदाहरण के लिए १९१४-१८ और १९३९-४५ के युद्ध में भारत सरकार ने इगलैंड की सरकार की ओर से बड़ी मात्रा में रुपया खर्च किया जो कि ब्रिटेन की सरकार वापस देगी।

जमा	नामे
१ सौदों का निर्यात ।	१ बहुमूल्य वस्तुओं का आयात ।
२ बाहर से लिये गए ऋण ।	२ बाहर से लिये गए ऋण पर व्याज ।
३ विदेशियों द्वारा स्कूल मिशन की सहायता तथा अकाल एव दान के लिए भेजा गया धन ।	३ पहले लिये गए ऋण की अदायगी ।
४ भ्रमणार्थियों के व्यय ।	४ यूरोपीय सौदागरों, सरकारी अफसरों, और वकीलों द्वारा बाहर भेजा जाने वाला धन ।
	५. विदेशी बैंकों का लाभ, विदेशी जहाजी कम्पनियों को दिया जाने वाला भाड़ा ।
	६ सरकार द्वारा दिये जाने वाली लम्बी छुट्टी के वेतन, निवृत्ति वेतन, स्टोर, सोना-चांदी इत्यादि, जो भारत सरकार के लिए खरीदी जाती है। (गृह-व्यय)
	७. भारतीय भ्रमणार्थियों एव विद्यार्थियों के लिए बाहर भेजा गया धन ।

(१) सौदो का आयात-निर्यात—इस मद में जैसा हम देख चुके हैं भारत एक लेनदार (क्रेडिटर) देश है। (२) मद के सम्बन्ध में भारत १९३०-३१ तक आयात अधिक और निर्यात कम करता था, अतएव देनदार था। १९३१-३२ से परिस्थिति पलट गई और अब भारत बडी मात्रा में सोना बाहर भेजने लगा और लेनदार हो गया। (३) बाहर से दिये गए या लिये गए ऋण—जब तक ऋण लिया जा रहा है तब तक जो देश ऋण दे रहा है वह ऋणी और जो ले रहा है वह लेनदार (क्रेडिटर) कहा जाता है। इस मद में भारत अभी हाल तक एक लेनदार (डेटर) देश था, क्योंकि समय-समय पर वह इगलैण्ड से कर्ज लिया करता था। (४) लगी हुई पूंजी पर वार्षिक व्याज का उलटा प्रभाव होता है और ऋण लेने वाला देश ऋणी और देने वाला लेनदार (क्रेडिटर) हो जाता है। अत जहाँ तक भारत को विदेशो से लिये गए कर्ज पर व्याज देना पडता है वह ऋणी देश है। (५) ऋण की अदायगी देने वाले देश को ऋणी और पाने वाले देश को लेनदार (क्रेडिटर) की दशा में रखती है। भारत प्रति वर्ष व्याज देने के अतिरिक्त पुराने ऋण को भी चुकता कर रहा है और इस मद के ऊपर एक ऋणी देश है। कर्ज की अदायगी इगलैण्ड में सुरक्षित पौण्ड-ऋण को रुपये के ऋण में परिवर्तित करके अथवा रुपये की प्रतिभूतियो के क्रय का रूप ले सकती है। इसका प्रभाव भी वही होगा अर्थात् उस हद तक भारत की देनदारी कम हो जायगी।[१] (६) विदेश में रहने वाले भारतीयों और भारत में रहने वाले विदेशियो की आमदनी, जहाँ तक कि यह सम्बन्धित पक्षो द्वारा अपनी जन्मभूमि को भेजी जाती है। पहले पक्ष में भारत लेनदार और दूसरे में कर्जदार है, लेकिन कुल मिलाकर इस मद में भारत ऋणी देश है। यूरोपीयो द्वारा भारत से भेजा जाने वाला

१ भारत के पौण्ड ऋण की अदायगी ने विदेशी-ऋण के सम्बन्ध में उसकी स्थिति काफी बदल दी है।

धन विदेश से भारतीयो द्वारा भेजे जाने वाले धन से कही अधिक है। (७) विदेशी बैंक, जहाजो तथा बीमा कम्पनियो का लाभ। इन मदो में किये गए भुगतान भारत की देनदारी के द्योतक हैं। (८) जहाँ तक विदेशियो द्वारा उदारता के कार्य के लिए देश के अन्दर या देश से ऐसे ही कामो के लिए बाहर भेजे गए धन का सम्बन्ध है, पहले में भारत लेनदार और दूसरे में देनदार होगा। इस मद में भारत लेनदार देश है, क्योकि उस धन की तुलना में, जो भारत बाहर भेजता है, वह यूरोप, अमरीका तथा अन्य देशो से मिशन, स्कूल तथा कभी-कभी दुर्भिक्ष-निवारण के लिए एकत्र चन्दे के रूप में अधिक धन प्राप्त करता है। (९) सरकार द्वारा विदेशो में खर्च तथा अन्य सरकारो द्वारा भारत में खर्च। पहले में भारत कर्जदार और दूसरे में लेनदार रहेगा।[1] इस मद में भारत एक ऋणी देश रहेगा, क्योकि उसे बडी मात्रा में इंगलैण्ड में छुट्टी पर गये अफसरो की तनख्वाह और यूरोपीय अफसरो की पेंशनो का रुपया देना पडा तथा अंग्रेजी सरकार द्वारा भारत के लिए किये गए खर्चों को भी चुकता करना पड़ा। यह सब खर्च इगलैण्ड में गृह-व्यय (होम चार्जेज़) के अन्तर्गत रखा गया। (१०) हरजाना देने वाला देश ऋणी होता है। चूँकि भारत न तो हरजाना देता है न पाता ही, अत इस मद को बिलकुल छोड देना अनुचित न होगा। (११) विदेशी तथा भारतीय भ्रमणार्थियो का क्रमश भारत और विदेशो में खर्च। इस मद में भारत लेनदार है, क्योकि अनेक विदेशी लोग यहाँ घूमने आते हैं और उनकी सख्या भारतीय विदेश-भ्रमणार्थियो से कही अधिक है। (१२) इसके विपरीत, जहाँ तक भारत विदेशो को भारतीय विद्यार्थियो के अध्ययन के लिए धन भेजता है, वह ऋणी है।

अत एक पूरे स्थिति-विवरण पत्रक (बैलेंस शीट) के लिए हमें इन सबका लेखा लेना होगा और ऐसा करने पर दोनो पक्षो में पूरा सतुलन स्थापित हो जायगा।

पिछले पृष्ठ पर दिये गए लेखे से अभी हाल तक की भारत की स्थिति स्पष्ट हो जायगी। दाहिने हाथ की ओर देनदारी की मदें अर्थात् वे मदें हैं जिनके लिए भारत को देना पडेगा और बाहर से मिलने वाला धन अपेक्षाकृत कम होगा। बाएँ हाथ की ओर वे मदें है जिनसे विदेशो से भारत को देनदारी से अधिक धन मिलेगा।

२५. 'निस्सारण' की परिभाषा (दि ड्रेन डिफाइण्ड)—भारत के आयात से निर्यात की अधिकता ने 'निस्सारण' सिद्धान्त को जन्म दिया। निर्यात की अधिकता की प्रत्येक वस्तु के बदले में भारत को कुछ-न-कुछ मिलता है और इसका हिसाब प्राप्ति की विभिन्न मदो से पूरा हो जाता है। लेकिन जैसी कि स्पेनिश कहावत है, 'हिसाब तो ठीक है लेकिन खजाना खाली है।' महत्त्वपूर्ण बात तो प्राप्त धन का हर प्रकार से सन्तोषजनक होना है, बाहर से कुछ मिलना या प्राप्त होना ही नही।

२६. गृह-व्यय (होम चार्जेज़)—भारत के आयात से निर्यात की अधिकता की व्याख्या गृह-व्यय द्वारा की जाती है।

निम्न सख्याएँ १८५९-६० से १९३३-३४ के बीच गृह-व्यय में होने वाली वृद्धि

---

१. उदाहरण के लिए १९१४-१८ और १९३९-४५ के युद्ध में भारत सरकार ने इगलैंड की सरकार की ओर से बड़ी मात्रा में रुपया खर्च किया जो कि ब्रिटेन की सरकार वापस देगी।

को प्रदर्शित करती हैं—[1]

इगलैण्ड में कुल पौण्ड व्यय

वर्ष	मात्रा	वर्ष	मात्रा	वर्ष	मात्रा
१८५९-६०	पौ० ५,०४२,९४५	१९१३-१४	पौ० २०,३११,६७३	१९२८-२९	पौ० २९,७४४,९९३
१८६९-७०	७,६७७,८५०	१९१८-१९	२३,६२९,४९५	१९२९-३०	३१,५५८,७१५
१८७९-८०	१४,५४३,२७७	१९२२-२३	३१,८६०,१७९	१९३०-३१	३१,४२३,१४७
१८८९-९०	१४,८४८,९२३	१९२४-२५	३१,८८८,७७६	१९३१-३२	३०,८९९,३३३
१८९९-१९००	१६,३९२,८६४	१९२६-२७	२९,५०७,४७२	१९३२-३३	२९,५५६,४०१
१९०९-१०	१९,१२२,९१६	१९२७-२८	२८,८६४,७६५	१९३३-३४	२८,८६२,१७७

इस विवाद से हम भारत की ओर से इगलैण्ड में खरीदे गए भण्डारो को छोड देगे, क्योकि वे आयात के अन्दर आ गए होगे। यह विवादास्पद है कि क्या ये और सस्ते में नही खरीदे जा सकते थे और क्या उनकी पूर्ति के लिए भारतीय बाजारो पर निर्भर नही रहा जा सकता था ? लेकिन 'निस्सारण' विवाद में हमें केवल उस अश से मतलब है जिसके लिए (१) उस वर्ष में सामान सामग्री या सेवाएँ नही प्राप्त हुई तथा (२) वह अश जिसके लिए प्राप्त वस्तुएँ अभौतिक थी अर्थात् सामग्री और रुपये के रूप में नही थी।

२७. विदेशी ऋण के सम्बन्ध में किये गए भुगतान—गृह-व्यय की एक महत्त्वपूर्ण मद सरकार द्वारा रेलवे, सिचाई के साधनो के निर्माण इत्यादि के लिए उधार लिये गए धन का व्याज था। इस देश में विदेशी पूँजी लगाने के सम्बन्ध में उठने वाले विभिन्न प्रश्नो की हम व्याख्या कर आए है।[2] अब यह कहने की आवश्यकता नही है "कि विदेशो से लिया गया धन सदैव हानिकारक ही नही होता, बल्कि इसके विपरीत

साम्राज्य के बाहर भी होता तो भी उसे अपने साधनो के विकास के लिए कर्ज लेना ही पडता। यह और बात थी कि वह कर्ज किससे और कहाँ से लेता। ये कर्ज इगलैण्ड से इसलिए लिये गए, क्योंकि लदन दुनिया में सबसे सस्ता द्रव्य (मुद्रा) बाजार था। इसका राजनीतिक सम्बन्ध से कोई प्रयोजन ही नही। यह भी कहा गया कि इस विषय में इगलैण्ड से भारत का सम्बन्ध हानिकारक न होकर लाभदायक रहा, क्योंकि साख बढ जाने से विदेशो से सस्ती दर पर उधार लेना सम्भव हो सका। ब्रिटिश सरकार ने भारतीय साख की गारण्टी ही नही दी बल्कि एक सुव्यवस्थित प्रशासन और देश के आर्थिक विकास द्वारा भारत की साख को सुधार दिया। हम केवल सबसे प्रतिनिधि और महत्त्वपूर्ण ऋण अर्थात् रेलवे-निर्माण के लिए लिये गए ऋण का ही विवेचन करेंगे। इस सम्बन्ध में निम्न प्रश्न उठेंगे—(१) क्या रेलवे का निर्माण देश के सर्वोत्तम हित में था ? (२) क्या कुछ स्थानो की आवश्यकताएँ अन्य सस्ते परिवहनो द्वारा नही पूरी की जा सकती थी ? (३) क्या रेलवे पर किया गया खर्च अन्य उतने ही या उससे भी महत्त्वपूर्ण, उदाहरणार्थ सिचाई के साधनो के जन-व्ययो को स्थगित करके नही किया गया ? (४) क्या विदेशियो को दर-सुरक्षा के रूप में दिया गया व्याज का आश्वासन बहुत अधिक नही था ? और (५) क्या रेलवे-योजना देश के हितो को ध्यान में रखकर यथासभव कुशलता और दक्षता से चलाई गई थी ? इन सब प्रश्नो की विवेचना हो चुकी है। हमें केवल इतना ही कहना है कि इन सब बातो में त्रुटियाँ की गई और होने वाले लाभ पूरी तरह से आर्थिक देनदारियो का हर्जाना न चुका सके। फिर भी हमें स्वीकार करना होगा कि रेलवे देश की आर्थिक समृद्धि का अग्रदूत बनकर आई तथा होने वाले प्रत्यक्ष और परोक्ष लाभो ने लागत को पूरा ही नही किया वरन् अत्यधिक लाभ भी पहुँचाया। लेकिन प्रश्न तो यह है कि क्या इन लाभो को अनावश्यक रूप से अधिक मूल्य पर नही खरीदा गया ?

ऐसी विदेशी पूँजी पर जो विना सरकार के हस्तक्षेप के देश में आई, दिये जाने वाले व्याज को गृह-व्यय (होम चार्जेज़) में स्थान नही मिला, लेकिन वह हमारे निर्यात के काफी हिस्से के लिए उत्तरदायी है। यहाँ भी विदेशी पूँजी द्वारा भारत के हित-अहित का प्रश्न उठता है। इसके लिए हम पाठको से उन सेक्शनो को देखने का आग्रह करेंगे जहाँ इस प्रश्न की विवेचना की गई है।[1] अतएव यह निर्णय कि "भारत विदेशी पूँजी उधार लेने से होने वाले हितो का उदाहरण प्रस्तुत करता है"[2] कुछ सीमाओ के अन्दर ही स्वीकार किया जा सकता है।

२८ नागरिक एवं सैनिक सेवाएँ—अब हम नागरिक एव सैनिक सेवाओ के लिए किये जाने वाले भुगतानो पर विचार करेंगे।

यह असदिग्ध है कि बडी सख्या में तथा ऊँची तनख्वाह पर यूरोपीय अफसरो को काम में लगाने से भारत का व्यय आवश्यकता से अधिक बढ गया था। एक ओर

१. देखिए, खण्ड १, अध्याय १३, सेक्शन १६-२५।
२. देखिए, सर टी० मॉरीसन, 'दि इकनामिक ट्राज़िशन इन इण्डिया', पृ० २१८।

को प्रदर्शित करती हैं—[1]

इगलैण्ड में कुल पौण्ड व्यय

वर्ष	मात्रा	वर्ष	मात्रा	वर्ष	मात्रा
१८५९-६०	पौ० ५,०४२,९४५	१९१३-१४	पौ० २०,३११,६७३	१९२८-२९	पौ० २९,७४४,९९३
१८६९-७०	७,६७७,८५०	१९१८-१९	२३,६२९,४९५	१९२९-३०	३१,५५८,७१५
१८७९-८०	१४,५४३,२७७	१९२२-२३	३१,८६०,१७९	१९३०-३१	३१,४२३,१४७
१८८९-९०	१४,८४८,९२३	१९२४-२५	३१,८८८,७७६	१९३१-३२	३०,८९९,३३३
१८९९-१९००	१६,३९२,८६४	१९२६-२७	२९,५०७,४७२	१९३२-३३	२९,५५६,४०१
१९०९-१०	१९,१२२,९१६	१९२७-२८	२८,८६४,७६५	१९३३-३४	२८,८६२,१७७

इस विवाद से हम भारत की ओर से इगलैण्ड में खरीदे गए भण्डारो को छोड देगे, क्योकि वे आयात के अन्दर आ गए होंगे। यह विवादास्पद है कि क्या ये और सस्ते में नही खरीदे जा सकते थे और क्या उनकी पूर्ति के लिए भारतीय बाजारो पर निर्भर नही रहा जा सकता था ? लेकिन 'निस्सारण' विवाद में हमें केवल उस अश से मतलब है जिसके लिए (१) उस वर्ष में सामान सामग्री या सेवाएँ नहीं प्राप्त हुईं तथा (२) वह अश जिसके लिए प्राप्त वस्तुएँ अभौतिक थी अर्थात् सामग्री और रुपये के रूप में नही थीं।

२७. विदेशी ऋण के सम्बन्ध में किये गए भुगतान—गृह-व्यय की एक महत्त्वपूर्ण मद सरकार द्वारा रेलवे, सिचाई के साधनो के निर्माण इत्यादि के लिए उधार लिये गए धन का व्याज था। इस देश में विदेशी पूंजी लगाने के सम्बन्ध में उठने वाले विभिन्न प्रश्नो की हम व्याख्या कर आए हे।[2] अब यह कहने की आवश्यकता नही है "कि विदेशो से लिया गया धन सदैव हानिकारक ही नही होता, बल्कि इसके विपरीत कभी-कभी तो यह आर्थिक विकास में अत्यन्त सन्तोषजनक साधन का काम देता है।" कितने ही देश, जिनके पास अतुल प्राकृतिक साधन हे किन्तु पूंजी की कमी है, बाहर से धन उधार लेना लाभदायक समझते हैं। कनाडा जैसे कितने ही ऋणी देश विदेशी पूंजी की सहायता से दिन-प्रतिदिन समृद्ध होते जा रहे हैं। अतएव इन ऋणो पर दिये जाने वाले व्याज को 'धन का निस्सारण, (ड्रेन) कहना मूर्खता होगी, चूंकि यह उस विदेशी ऋण पर व्याज है जो देश के गृह-व्ययो में अग्रगण्य था। सर थियोडोर मॉरिसन ने 'निस्सारण' के स्थान पर इसे 'विदेश को किया गया भुगतान कहना अधिक उचित समझा, कारण यह था कि निस्सारण शब्द से यह ध्वनि आती थी कि यह देश के लिए हानिकारक था। उन्होने कहा कि भारत और इगलैण्ड के सम्बन्ध को देखते हुए इसे भारत की कर्जदारी न समझना चाहिए, क्योकि यदि भारत अग्रेजी

[1] १९१८-१९ तक की सख्याएँ शाह के 'सिक्सटी ईयर्स ऑफ इण्डियन फाइनेंस' (द्वितीय सस्करण) से ली गई हैं, (पृ० १८७ ८८)। बाद के वर्षो की सख्याएँ 'स्टेटिस्टीकल एब्सट्रेक्ट्स' १९२६-२७ और

साम्राज्य के बाहर भी होता तो भी उसे अपने साधनो के विकास के लिए कर्ज लेना ही पडता। यह और बात थी कि वह कर्ज किससे और कहाँ से लेता। ये कर्ज इगलैण्ड से इसलिए लिये गए, क्योकि लदन दुनिया में सबसे सस्ता द्रव्य (मुद्रा) बाजार था। इसका राजनीतिक सम्बन्ध से कोई प्रयोजन ही नही। यह भी कहा गया कि इस विषय में इगलैण्ड से भारत का सम्बन्ध हानिकारक न होकर लाभदायक रहा, क्योकि साख बढ जाने से विदेशों से सस्ती दर पर उधार लेना सम्भव हो सका। ब्रिटिश सरकार ने भारतीय साख की गारण्टी ही नही दी बल्कि एक सुव्यवस्थित प्रशासन और देश के आर्थिक विकास द्वारा भारत की साख को सुधार दिया। हम केवल सबसे प्रतिनिधि और महत्त्वपूर्ण ऋरण अर्थात् रेलवे-निर्माण के लिए लिये गए ऋरण का ही विवेचन करेंगे। इस सम्बन्ध में निम्न प्रश्न उठेंगे—(१) क्या रेलवे का निर्माण देश के सर्वोत्तम हित में था ? (२) क्या कुछ स्थानो की आवश्यकताएँ अन्य सस्ते परिवहनो द्वारा नही पूरी की जा सकती थी ? (३) क्या रेलवे पर किया गया खर्च अन्य उतने ही या उससे भी महत्त्वपूर्ण, उदाहरणार्थ सिचाई के साधनो के जन-व्ययो को स्थगित करके नही किया गया ? (४) क्या विदेशियो को दर-सुरक्षा के रूप में दिया गया व्याज का आश्वासन बहुत अधिक नही था ? और (५) क्या रेलवे-योजना देश के हितो को ध्यान में रखकर यथासभव कुशलता और दक्षता से चलाई गई थी ? इन सब प्रश्नो की विवेचना हो चुकी है। हमें केवल इतना ही कहना है कि इन सब बातो में त्रुटियाँ की गईं और होने वाले लाभ पूरी तरह से आर्थिक देनदारियो का हर्जाना न चुका सके। फिर भी हमें स्वीकार करना होगा कि रेलवे देश की आर्थिक समृद्धि का अग्रदूत बनकर आई तथा होने वाले प्रत्यक्ष और परोक्ष लाभो ने लागत को पूरा ही नही किया वरन् अत्यधिक लाभ भी पहुँचाया। लेकिन प्रश्न तो यह है कि क्या इन लाभो को अनावश्यक रूप से अधिक मूल्य पर नही खरीदा गया ?

ऐसी विदेशी पूँजी पर जो बिना सरकार के हस्तक्षेप के देश में आई, दिये जाने वाले व्याज को गृह-व्यय (होम चार्जेज) में स्थान नही मिला, लेकिन वह हमारे निर्यात के काफी हिस्से के लिए उत्तरदायी है। यहाँ भी विदेशी पूँजी द्वारा भारत के हित-अहित का प्रश्न उठता है। इसके लिए हम पाठको से उन सेक्शनो को देखने का आग्रह करेंगे जहाँ इस प्रश्न की विवेचना की गई है।[1] अतएव यह निर्णय कि "भारत विदेशी पूँजी उधार लेने से होने वाले हितो का उदाहरण प्रस्तुत करता है"[2] कुछ सीमाओ के अन्दर ही स्वीकार किया जा सकता है।

२८ **नागरिक एवं सैनिक सेवाएँ**—अब हम नागरिक एव सैनिक सेवाओ के लिए किये जाने वाले भुगतानों पर विचार करेंगे।

यह असदिग्ध है कि बडी सख्या में तथा ऊँची तनख्वाह पर यूरोपीय अफसरो को काम में लगाने से भारत का व्यय आवश्यकता से अधिक बढ गया था। एक ओर

---

१. देखिए, खण्ड १, अध्याय १३, सेक्शन १९-२५।

२. देखिए, सर टी० मॉरीसन, 'दि इकनामिक ट्रांजिशन इन इण्डिया', पृ० २१८।

को प्रदर्शित करती हैं—[१]

इगलैण्ड में कुल पौण्ड व्यय

वर्ष	मात्रा	वर्ष	मात्रा	वर्ष	मात्रा
१८५९-६०	पौ० ५,०४२,९४५	१९१३-१४	पौ० २०,३११,६७३	१९२८-२९	पौ० २९,७४४,९९३
१८६९-७०	७,६७७,८५०	१९१८-१९	२३,६२९,४९५	१९२९-३०	३१,५५८,७१५
१८७९-८०	१४,५४३,२७७	१९२२-२३	३१,८६०,१७९	१९३०-३१	३१,४२३,१४७
१८८९-९०	१४,८४८,९२३	१९२४-२५	३१,८८८,७७६	१९३१-३२	३०,८९९,३३३
१८९९-१९००	१६,३९२,८६४	१९२६-२७	२९,५०७,४७२	१९३२-३३	२९,५५६,४०१
१९०९-१०	१९,१२२,९१६	१९२७-२८	२८,८६४,७६५	१९३३-३४	२८,८६२,१७७

इस विवाद से हम भारत की ओर से इगलैण्ड में खरीदे गए भण्डारो को छोड देंगे, क्योकि वे आयात के अन्दर आ गए होगे। यह विवादास्पद है कि क्या ये और सस्ते में नही खरीदे जा सकते थे और क्या उनकी पूर्ति के लिए भारतीय बाजारो पर निर्भर नही रहा जा सकता था? लेकिन 'निस्सारण' विवाद में हमें केवल उस अश से मतलब है जिसके लिए (१) उस वर्ष में सामान सामग्री या सेवाएँ नही प्राप्त हुई तथा (२) वह अश जिसके लिए प्राप्त वस्तुएँ अभौतिक थी अर्थात् सामग्री और रुपये के रूप में नही थीं।

२७. विदेशी ऋण के सम्बन्ध में किये गए भुगतान—गृह-व्यय की एक महत्त्वपूर्ण मद सरकार द्वारा रेलवे, सिंचाई के साधनो के निर्माण इत्यादि के लिए उधार लिये गए धन का व्याज था। इस देश में विदेशी पूँजी लगाने के सम्बन्ध में उठने वाले विभिन्न प्रश्नो की हम व्याख्या कर आए है।[२] अब यह कहने की आवश्यकता नही है "कि विदेशो से लिया गया धन सदैव हानिकारक ही नही होता, बल्कि इसके विपरीत कभी-कभी तो यह आर्थिक विकास में अत्यन्त सन्तोषजनक साधन का काम देता है।" कितने ही देश, जिनके पास अतुल प्राकृतिक साधन है किन्तु पूँजी की कमी है, बाहर से धन उधार लेना लाभदायक समझते है। कनाडा जैसे कितने ही ऋणी देश विदेशी पूँजी की सहायता से दिन-प्रतिदिन समृद्ध होते जा रहे है। अतएव इन ऋणो पर दिये जाने वाले व्याज को 'धन का निस्सारण, (ड्रेन) कहना मूर्खता होगी, चूँकि यह उस विदेशी ऋण पर व्याज है जो देश के गृह-व्ययो में अग्रगण्य था। सर थियोडोर मॉरिसन ने 'निस्सारण' के स्थान पर इसे 'विदेश को किया गया भुगतान कहना अधिक उचित समझा, कारण यह था कि निस्सारण शब्द से यह ध्वनि आती थी कि यह देश के लिए हानिकारक था। उन्होने कहा कि भारत और इगलैण्ड के सम्बन्ध को देखते हुए इसे भारत की कर्जदारी न समझना चाहिए, क्योंकि यदि भारत अग्रेजी

---

[१] १९१८-१९ तक की सख्याएँ शाह के 'सिक्सटी ईयर्स ऑफ इण्डियन फाइनेंस' (द्वितीय सस्करण) से ली गई हैं, (पृ० १८७-८८)। बाद के वर्षो की सख्याएँ 'स्टेटिस्टीकल एब्सट्रेक्ट्स' १९२६-२७ और १९३३-३४ से।

साम्राज्य के बाहर भी होता तो भी उसे अपने साधनो के विकास के लिए कर्ज लेना ही पडता। यह और बात थी कि वह कर्ज किससे और कहाँ से लेता। ये कर्ज इगलैण्ड से इसलिए लिये गए, क्योकि लदन दुनिया में सबसे सस्ता द्रव्य (मुद्रा) बाजार था। इसका राजनीतिक सम्बन्ध से कोई प्रयोजन ही नही। यह भी कहा गया कि इस विषय में इगलैण्ड से भारत का सम्बन्ध हानिकारक न होकर लाभदायक रहा, क्योकि साख बढ जाने से विदेशो से सस्ती दर पर उधार लेना सम्भव हो सका। ब्रिटिश सरकार ने भारतीय साख की गारण्टी ही नही दी बल्कि एक सुव्यवस्थित प्रशासन और देश के आर्थिक विकास द्वारा भारत की साख को सुधार दिया। हम केवल सबसे प्रतिनिधि और महत्त्वपूर्ण ऋण अर्थात् रेलवे-निर्माण के लिए लिये गए ऋण का ही विवेचन करेंगे। इस सम्बन्ध में निम्न प्रश्न उठेंगे—(१) क्या रेलवे का निर्माण देश के सर्वोत्तम हित में था ? (२) क्या कुछ स्थानो की आवश्यकताएँ अन्य सस्ते परिवहनो द्वारा नही पूरी की जा सकती थी ? (३) क्या रेलवे पर किया गया खर्च अन्य उतने ही या उससे भी महत्त्वपूर्ण, उदाहरणार्थ सिंचाई के साधनो के जन-व्ययो को स्थगित करके नही किया गया ? (४) क्या विदेशियो को दर-सुरक्षा के रूप में दिया गया व्याज का आश्वासन बहुत अधिक नही था ? और (५) क्या रेलवे-योजना देश के हितो को ध्यान में रखकर यथासभव कुशलता और दक्षता से चलाई गई थी ? इन सब प्रश्नो की विवेचना हो चुकी है। हमें केवल इतना ही कहना है कि इन सब बातो में त्रुटियाँ की गई और होने वाले लाभ पूरी तरह से आर्थिक देनदारियो का हर्जाना न चुका सके। फिर भी हमें स्वीकार करना होगा कि रेलवे देश की आर्थिक समृद्धि का अग्रदूत बनकर आई तथा होने वाले प्रत्यक्ष और परोक्ष लाभो ने लागत को पूरा ही नही किया वरन् अत्यधिक लाभ भी पहुँचाया। लेकिन प्रश्न तो यह है कि क्या इन लाभो को अनावश्यक रूप से अधिक मूल्य पर नही खरीदा गया ?

ऐसी विदेशी पूँजी पर जो बिना सरकार के हस्तक्षेप के देश में आई, दिये जाने वाले व्याज को गृह-व्यय (होम चार्जेज) में स्थान नही मिला, लेकिन वह हमारे निर्यात के काफी हिस्से के लिए उत्तरदायी है। यहाँ भी विदेशी पूँजी द्वारा भारत के हित-अहित का प्रश्न उठता है। इसके लिए हम पाठको से उन सेक्शनो को देखने का आग्रह करेंगे जहाँ इस प्रश्न की विवेचना की गई है।[1] अतएव यह निर्णय कि "भारत विदेशी पूँजी उधार लेने से होने वाले हितो का उदाहरण प्रस्तुत करता है"[2] कुछ सीमाओ के अन्दर ही स्वीकार किया जा सकता है।

२८ नागरिक एवं सैनिक सेवाएँ—अब हम नागरिक एव सैनिक सेवाओ के लिए किये जाने वाले भुगतानो पर विचार करेंगे।

यह असदिग्ध है कि बडी सख्या में तथा ऊँची तनख्वाह पर यूरोपीय अफसरो को काम में लगाने से भारत का व्यय आवश्यकता से अधिक बढ गया था। एक ओर

---

१ देखिए, खण्ड १, अध्याय १३, सेक्शन १६-२५।

२. देखिए, सर टी० मॉरीसन, 'दि इकनामिक ट्राजिशन इन इण्डिया', पृ० ७१८।

तो यूरोपीय अफसरो का रखना करदाता के लिए भार-स्वरूप था, दूसरी ओर सेवा से निवृत्त होने पर इनके अनुभवो से भी देश वचित रह जाता था। अपने जन्म-सिद्ध अधिकार से भारतीयो को वचित करने से अग्रेजो और भारतीयो के सम्बन्ध में कटुता आ गई।

सैनिक व्यय के सम्बन्ध में शिकायत यह थी कि भारत की सेना उसकी आवश्यकताओ से बहुत अधिक थी।[1] उसका आकार, अधिकारी और सगठन अग्रेजी हितो से निर्धारित होता था। यद्यपि सभा ने १६१६ की ईशर-समिति का सुझाव, कि भारतीय सेना को साम्राज्यीय सेना का एक अग समझना चाहिए, अस्वीकार कर दिया, फिर भी सेना प्राय साम्राज्यीय हितो की रक्षा के लिए ही काम में लाई जाती थी। अतएव यह आलोचना, कि सेना को रखने का आशिक खर्च अग्रेजी सरकार द्वारा बरदाश्त किया जाना चाहिए, विवेकपूर्ण एव सत्य थी।

२६. जहाज तथा बीमा-कम्पनियों और बैंकों के लाभ—अन्य सेवाएँ, जिनके लिए भारत को भुगतान करना पडता था और जिनका उल्लेख गृह-व्ययो (होम चार्जेज) में नही किया जाता था, विदेशी बैंको, यूरोपीय जहाजो तथा बीमा-कम्पनियो की सेवाएँ थी। कभी-कभी धनी देश भी विदेशियो से इस प्रकार की सेवाएँ खरीदना लाभदायक समझते है। उदाहरण के लिए, १६१४ के पूर्व सयुक्त राज्य सामुद्रिक परिवहन सेवाओ, बैंकिंग, बीमा-कम्पनियो तथा अन्य वित्तीय एव व्यावसायिक सेवाओ के लिए कितने ही यूरोपीय देशो का ऋणी था। इस प्रकार की सेवाओ को उस हद तक, जहाँ तक कि ये इगलैण्ड द्वारा देश पर लाद दी गई थी और इन्होने इन दिशाओ में देश के लोगो का विकास बाधित किया, 'निस्सारण' धन-शोषक या वाहक कहा जा सकता है।

३० निस्सारण विवाद की कुछ आधारभूत मान्यताएँ—निस्सारण के पक्ष में यह कहा जाता था कि इगलैण्ड ने भारत को शान्ति का वरदान देकर सभी दिशाओ में देश का सुव्यवस्थित विकास सम्भव बनाया था। अतएव इन लाभो की तुलना में निस्सारण द्वारा होने वाली हानियाँ तिनके के बराबर भी नही है। लेकिन इस आधार पर तो सरकार के हर एक अपव्यय और अनौचित्य को उचित बताया जा सकता है। अँग्रेजो के सम्बन्ध से भारत को होने वाले लाभो को ठीक-ठीक मापना असम्भव है। अत उन्हें तथ्यो पर आधारित विवाद में लाना ही व्यर्थ है, क्योकि भारत से इसी प्रकार के अगणनीय लाभ इगलैण्ड को भी हुए जो विवाद में नही लाए जाते। अँग्रेज व्यापारियो को भारत के व्यापारिक एव आर्थिक क्षेत्र से होने वाले लाभो की गणना की जा सकती है, किन्तु भारत पर अधिकार करने से इगलैण्ड की प्रतिष्ठा में होने वाली वृद्धि को मापना असम्भव है। क्या पौंड, शिलिंग, पेंस में अँग्रेजो द्वारा भारत को अपना साम्राज्य समझने से होने वाले गर्व और शक्ति के अनुभव का मापा जा सकता है? भारत ने अग्रेजी अफसरो, सैनिको और राष्ट्र-निर्माताओ के प्रशिक्षण की भूमि का काम दिया है, क्या उसकी गणना सम्भव है? अतएव

[1] सैनिक व्यय के विशेष विवरण के लिए देखिए, अध्याय १२।

निस्सारण विवाद से इन वस्तुओ की गणना छोडनी होगी ।

निस्सारण सिद्धान्त की व्याख्या से कितने ही अनिवार्य सुधारो की ओर निर्देश हुआ और कितनी ही वास्तविक शिकायतो की सहायता प्रतीत होने लगी, लेकिन इससे भारतीय दरिद्रता की पूरी व्याख्या नही हो जाती । कितने ही अन्य अधिक महत्त्वपूर्ण कारणो की प्रथम बार व्याख्या करने वाले भारतीय श्री रानाडे थे। उन्होने अन्य कितनी ही बातों के साथ इस पथ का भी प्रदर्शन किया । अनुवर्ती लेखको में उन जैसी सूक्ष्मदर्शिता और समानुपातिक दृष्टिकोण नही पाया गया ।

३१. देश का (भौमिक) सीमान्त व्यापार—भारत की भूमि-सीमा ६००० मील लम्बी है । पश्चिमोत्तर और उत्तर-पूर्व तक फैली यह सीमा-रेखा उसकी तटीय रेखा से अधिक लम्बी है, किन्तु घने, अभेद्य जगलो और दुर्गम पहाडो के कारण व्यापार में अनेक बाधाएँ पडती है । दर्रों की कमी के कारण सीमाप्रान्त देशो से सचार कठिन था । हम भारत की पुरातन भूमि के स्वभाव और व्यापार की ओर निर्देश कर चुके है । मुगल काल में विदेशी व्यापार काफी जोर से चल रहा था । इधर हाल में सीमा-प्रान्त व्यापार की कठिनाइयाँ बहुत कम हो गई है—विशेषकर पश्चिमोत्तर सीमा की । यद्यपि सीमान्त रेलवे के निर्माण का मूल उद्देश्य यौद्धिक था, किन्तु यह व्यापार का भी प्रधान मार्ग सिद्ध हुई । उन प्रधान सीमान्त देशो में, जिनसे भारत का व्यापार सम्बन्ध था, अफगानिस्तान, मध्य एशिया, ईरान, नेपाल और तिब्बत का नाम लिया जा सकता है ।

(१) सीमा से होकर जाने वाले मार्गों के समीपवर्ती व्यापार-केन्द्र—अप्रैल, १९४१ में सशोधित किए जाने से पूर्व भारत के सीमान्त व्यापार की रजिस्ट्री की व्यवस्था दो भागो में विभाजित थी—(क) भूमि-सीमा के समीपवर्ती स्थानो से व्यापार, (ख) भारत-अफगान व्यापार । प्रथम के अन्तर्गत सीमा के उस पार व्यापारिक मार्गो के समीपवर्ती स्टेशनो पर थोडी-सी चुनी हुई वस्तुओ के व्यापार की रजिस्ट्री होती थी । सीमा के उस पार वाले देशो से आयात की जाने वाली प्रधान वस्तुएँ गेहूँ, चना दाल और चावल जैसे खाद्यान्न, कच्चा अन्न, कच्चा जूट, तम्बाकू, तिलहन, तिल्ली, सरसो इत्यादि थी । निर्यात की प्रधान वस्तुएँ निम्न थी—कपास की वस्तुएँ, विदेशी और भारतीय, सूत, चावल, अन्य दालें, चीनी, कपास, लोहा, इस्पात (छुरे-चाकू इत्यादि) पेट्रोल, चमडे के सामान, सिल्क की सामग्री, चाय, तम्बाकू इत्यादि ।

(२) अफगान-भारत व्यापार—इस व्यापार के अलग आँकडे, जो १९३७ से प्राप्त है, उनकी रजिस्ट्री थाल, चमन और तोरखान में होती थी । १ अप्रैल, १९४१ से नोक-कुण्डी में लिखा जाने वाला व्यापार भी शामिल कर लिया गया । अफगान-भारत व्यापार की एक विशेषता भारत से होकर बडी मात्रा में होने वाला सक्रमण-व्यापार (ट्राज़िट ट्रेड) है । अफगानिस्तान से भारत में आने वाली प्रधान वस्तुएँ निम्न है—चमडा, समूर, फल और तरकारियाँ । इनका मूल्य १९४१-४२ में कुल मूल्य का ८६% था । इसमें से प्राय सभी चमड़ा और समूर विदेशो को भेजने के लिए था । इसी प्रकार फलो का काफी भाग बाहर भेज दिया जाता था । भारत से अफगानिस्तान

भेजी जाने वाली भारत-उत्पादित वस्तुओं में जीवित पशु, बूट, जूते, चमडा, सीमेण्ट इत्यादि मुख्य थी तथा लोहा, कपास-निर्मित वस्तुएं और चाय अत्यधिक विदेशी प्रतिस्पर्धा का विषय थी। यन्त्र, औजार, शक्कर इत्यादि के निर्यात में भारत का हिस्सा बहुत थोडा था।

(३) भारत-ईरानी व्यापार—आयात पक्ष मे महत्ता के क्रम से प्रधान वस्तुएं फल, तरकारियां, ऊनी कालीन, कम्बल, मसाले, चमडे और समूर थी। ईरान भेजी जाने वाली सामग्री में चाय, चीनी, गेहूँ और जूट भूमि-पथ से भेजे जाते थे।[1]

[1] अगस्त, १९४७ से भारत के विभाजन के बाद भारत के सीमा-व्यापार की विशेषताएं बदल गई हैं। अब भारत का अधिकाश व्यापार पाकिस्तान के साथ होता है। निम्न तालिकाएं पाकिस्तान, अफगानिस्तान और ईरान के साथ भारत का व्यापार प्रदर्शित करती हैं।

(हजार रुपयो में)

आयात	पाकिस्तान			अफगानिस्तान		ईरान	
	'४८-४९	'४९-५०	'५०-५१	'४९-५०	'५० ५१	'४९-५०	'५०-५१
सीमेण्ट	२,६०१	६,५०९	८३	—	—	—	—
कपास, कच्चा	२,४६७	५,७०७	—	—	—	—	—
बिनौला	४१,०११	२४,१७१	२६,९९८	—	—	—	—
मछली	१,३४८	९,४५६	१६,०७०	—	—	—	—
फल और तरकारियां	२३,७६२	१५,५६१	१२,०७५	२०,९६६	२७,१८३	१५५	१,३४२
चमड़ा और खाल (कच्ची)	१४,९३१	४,९१६	१९,८३९	४	२५८	—	—
कच्चा जूट	७११,४५६	२११,४१०	२७४,१४०	—	—	—	—
नमक	४,४०२	४,५४०	८८९	—	—	—	—
मसाले	२४,८४४	१०,२४८	२३,७२६	२३	२०	३१	—
अन्य वस्तुएं	२३,२२२	८३,२८४	१८,४७९	१४९	६,६८९	—	५९
कुल आयात	८५०,०४४	३१५,८०२	३९२,२९९	२१,१४२	३४,१५०	१८६	१,४०१

(हजार रुपयो में)

निर्यात	पाकिस्तान			अफगानिस्तान		ईरान	
	'४८-४९	'४९-५०	'५०-५१	'४९-५०	'५०-५१	'४९-५०	'५०-५१
कोयला और कोक	८,१४६	३४,२११	१,५३६	—	—	—	—
सूती कपडे (हाथ के करघे के कपड़े को शामिल करते हुए)	३२,८६२	६,१८८	१२,७७०	४९०	६०८	—	—
फल और तरकारियां	१३,२३७	१५,८१७	१७,५०५	—	—	—	—
वनस्पति तेल	३४,०१७	४७,१८४	२०,८३९	—	—	—	—
नमक	—	९,८८५	८,४२०	—	—	—	—
रेशम की बनी वस्तुएं	४,६५३	५,६२४	६,७१२	११	३६	—	—
मसाले	१८,७२९	१०,१३४	५,६४२	१३६	२००	—	६
चीनी	१८,८६७	६,२३१	२,०९७	—	—	—	—
चाय	५,२८१	२,०१७	७९	२९९	५४१२	—	—
तम्बाकू	३९,००३	३७,७८९	३२,४९४	—	—	—	—
अन्य वस्तुएं	१२९,०७८	९९,९५९	६१,१८६	४२९	१,५८८	—	—
कुल निर्यात	३०३ ८७३	२७५,०३९	१७०,२८०	३,७५३	७,८४४	—	६

ये तालिकाएं स्टेटिस्टीकल एब्स्ट्रेक्ट १९५१-५२, पृ० ८४२-४३ से उद्धृत हैं।

३२. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और आर्थिक समृद्धि—भारत के व्यापार का आकार इतना अधिक है कि उसे विश्व के देशो में पाँचवा स्थान प्राप्त है।[1] वर्तमान काल में भारत की व्यापारिक वृद्धि को, जो रेलवे-प्रसार तथा सामुद्रिक सुविधाओ का परिणाम है, देश की औद्योगिक प्रमुखता का चिह्न न मानना चाहिए वरन् उसका प्रथम आवश्यक चरण मानना चाहिए।[2] यदि भारत अपने निर्माण-उद्योगो का विकास करता है तो पहले उसका विदेशी व्यापार काफी कम हो जायगा, क्योकि वह स्वय ही वे निर्मित वस्तुएँ तैयार करने लगेगा जो वह इस समय वाहर से मँगाता है। यदि उसके व्यापार का आकार वैसा ही रहता है तव भी उसकी रचना में परिवर्तन हो जायगा। यह भी सम्भव है कि भविष्य में उसकी निर्मित वस्तुएँ इतनी अधिक हो जायँ कि गृह-आवश्यकताओ की पूर्ति के उपरान्त वह वाहर भी भेज सके। वस्तुत· भारत विदेशी व्यापार और आर्थिक समृद्धि के सम्वन्ध की अनिश्चितता का उदाहरण प्रस्तुत करता है।[3]

आन्तरिक व्यापार

३३. (१) तटीय व्यापार—भारतीय तटीय व्यापार को भारतीय जलयानो के लिए सुरक्षित करने के सम्वन्ध में हम उसकी (तटीय व्यापार की) वर्तमान स्थिति और भावी महत्ता देख आए है। तटीय व्यापार को देश के आन्तरिक व्यापार का अग मानना चाहिए, यद्यपि इसमें थोडा-सा विदेशी व्यापार भी शामिल है।[4]

तटीय-व्यापार[5] (हजार रुपयो में)

	१९१८-१९		१९३७-३८		१९३९-४०	
	आयात	निर्यात	आयात	निर्यात	आयात	निर्यात
वगाल	१४१६,२८	११४६,७०	८५८,२१	५४१,०१	७५१,९५	४०१,१९
उडीसा	२४,३३[6]	१०,६७	१३,२४	९,२४	८,०१	१६,६६
वम्वई	३८६०,३५	११३४,०४	१४४०,५४	२०४६,९६	१२०८,२९	१७०३,२२
सिन्ध	८०९,०५	६०२,७३	८५५,४८	९८०,८४	७६५,१३	७८५,००
मद्रास	९५२,०६	८५८,०६	१०८३,६५	७८७,२३	८०७,०३	६५९,२१
वर्मा	१६९५,११	२०२२,४८	...	...	...	...
योग	८७,५७,१८	६७,७४,६८	४२,५१,१२	४३,६५,२८	३५,४०,४१	३५,६५,२८

१ प्रति व्यक्ति व्यापार में भारत लगभग सवसे नीचे है। स्पष्टतया भारत जैसी जनसख्या वाले देश में प्रति व्यक्ति व्यापारिक वृद्धि में दृश्यमान परिवर्तन होने के लिए यह आवश्यक है कि उसका व्यापार वहुत अधिक मात्रा में वढे। यह देखा जाता है कि अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय वडे देशो की अपेक्षा छोटे देश के लिए अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। २ देखिए, खण्ड १, अध्याय ५, इकनामिक ट्राजीशन इन इडिया।
३ देखिए, ए० मार्शल, 'इण्डस्ट्री एण्ड ट्रेड', पृ० २५।
४. १९३७ ३८ के पहले की सख्याएँ ब्रिटिश इडिया, जिसमें वर्मा भी शामिल है, से सम्वन्धित हैं। १९३७-३८ में कुल निजी सौदों के मूल्य अर्थात् ४२'५१ करोड रु० में से भारतीय सौदे का मूल्य ३७ ५६ करोड रु० और विदेशी सौदे का मूल्य ४ ९५ करोड रु० था। इसी प्रकार कुल निर्यात-मूल्य ४३'६५ करोड रु० में से भारतीय सौदे का मूल्य ३७ १५ करोड रु० और विदेशी का ६ ५० करोड रु० था। ५ स्टेटिस्टिकल एव्स्ट्रेक्ट फॉर ब्रिटिश इण्डिया (१९३७-३८) तालिका न० २६५।
६. विहार भी सम्मिलित है।

ऊपर की तालिका[1] से निजी सौदागरी का (विदेशी और भारतीय) सामुद्रिक प्रान्तों में आयात और वहाँ से अँग्रेजी और विदेशी बन्दरगाहों को निर्यात किये गए सामान का मूल्य स्पष्ट हो जायगा।[2]

सरकारी भण्डार और खजाने के आयात-निर्यात का मूल्य शामिल करने पर व्यापार का कुल मूल्य १९१८-१९, १९३५-३६ और १९३७-३८ में क्रमशः १६६,५९ लाख रु०, १६१,८४ लाख रु० तथा ८७,०२ लाख रु० था। बाद के वर्षों की संख्याएँ १९३८-३९ के लिए ५५,४५ लाख रु०, १९४० के लिए ६९,९६ लाख रु० थीं। इस समय भारत का अधिकांश तटीय व्यापार अँग्रेजों के हाथों में है।[3]

जैसा कि पहले कह चुके हैं १ अप्रैल, १९३७ को ब्रिटिश भारत से बर्मा के अलग हो जाने पर इन दोनों देशों के बीच का व्यापार, जो तब तक तटीय व्यापार के अन्दर था, विदेशी व्यापार समझा जाने लगा। इससे १९३७-३८ के तटीय व्यापार में हुई भारी कमी स्पष्ट हो जायगी।

१९३७-३८ में आठ प्रमुख बन्दरगाहों का कुल (आयात-निर्यात) विदेशी और तटीय व्यापार आगे की तालिका में दिया गया है।

१. इस सम्बन्ध में आधुनिक आंकडे इस प्रकार हैं।

		आयात	निर्यात
पश्चिमी बंगाल	१९४८-४९	४७०,०५३	३०५,३९९
	१९४९-५०	३०४,०८३	२२५,४५२
	१९५०-५१	२९४,२१९	२७५,०३५
	१९५१-५२	३९०,६९८	३७३,७३०
उड़ीसा	१९४८-४९	४९१	२,५६०
	१९४९-५०	१,५४१	४,५५८
	१९५०-५१	७९५	२,९२०
	१९५१-५२	७८५	६९
बम्बई	१९४८-४९	४४७,२९३	७९४,२४४
	१९४९-५०	३७४,९५८	३७४,६०४
	१९५०-५१	४४७,०५६	५२०,५१५
	१९५१-५२	४५४,६१७	६१४.०८७
मद्रास	१९४८-४९	४१३,७१८	४०४,६४४
	१९४९-५०	३२९,३३३	४४१,३२२
	१९५०-५१	४८७,३२१	४६९,७२२
	१९५१-५२	३४३,४३२	३७७,५४०
ट्रावनकोर-कोचीन	१९५०-५१	२,४४१	२५,०४३
	१९५१-५२	५२४	१३,३१८

२. १९५१-५२ में तटीय व्यापार के आयात का कुल मूल्य १५९,९५,४७००० रु० और निर्यात का कुल मूल्य १६८,१७,७६,००० रु० था। व्यापार का कुल मूल्य ३२८,१३,२३,००० रु० था। स्टेटिस्टीकल एब्स्ट्रेक्ट १९५१-५२।

३. जे० ई० करटेलिनो ने अपने लेख 'प्लानिंग ट्रान्सपोर्ट', जो ईस्टर्न इकनामिस्ट में ३ दिसम्बर, १९४३ में प्रकाशित हुआ, लिखा, "भारत के तटीय व्यापार में लगभग ७० लाख टन कोयला, तेल, चावल, नमक और लकड़ी का परिवहन होता है। यात्रियों का आवागमन भी काफी है—पश्चिमी तट पर १५ लाख यात्रियों का आवागमन है। लेकिन दुःख की बात है कि यह व्यापार भारतीय हाथों में नहीं है। भारत के तटीय व्यापार में तीन अँग्रेजी कम्पनियाँ हैं, जिन्होंने व्यापार को प्रायः एकाधिकृत कर रखा क्योंकि उनका हिस्सा ८०% है।"

ऊपर की तालिका[1] से निजी सौदागरी का (विदेशी और भारतीय) सामुद्रिक प्रान्तों में आयात और वहाँ से अँग्रेजी और विदेशी बन्दरगाहों को निर्यात किये गए सामान का मूल्य स्पष्ट हो जायगा।[2]

सरकारी भण्डार और खजाने के आयात-निर्यात का मूल्य शामिल करने पर व्यापार का कुल मूल्य १९१८-१९, १९३५-३६ और १९३७-३८ में क्रमशः १६६,५९ लाख रु०, १६१,८४ लाख रु० तथा ८७,०२ लाख रु० था। बाद के वर्षों की संख्याएँ १९३८-३९ के लिए ५५,४५ लाख रु०, १९४० के लिए ६९,९६ लाख रु० थीं। इस समय भारत का अधिकांश तटीय व्यापार अँग्रेजों के हाथों में है।[3]

जैसा कि पहले कह चुके हैं १ अप्रैल, १९३७ को ब्रिटिश भारत से बर्मा के अलग हो जाने पर इन दोनों देशों के बीच का व्यापार, जो तब तक तटीय व्यापार के अन्दर था, विदेशी व्यापार समझा जाने लगा। इससे १९३७-३८ के तटीय व्यापार में हुई भारी कमी स्पष्ट हो जायगी।

१९३७-३८ में आठ प्रमुख बन्दरगाहों का कुल (आयात-निर्यात) विदेशी और तटीय व्यापार आगे की तालिका में दिया गया है।

१. इस सम्बन्ध में आधुनिक आँकड़े इस प्रकार हैं।

		आयात	निर्यात
पश्चिमी बंगाल	१९४८-४९	४७०,०५३	३०५,३६९
	१९४९-५०	३०४,०८३	२२५,४५२
	१९५०-५१	२९४,२१९	२७५,०३५
	१९५१-५२	३९०,६९८	३७३,७३०
उड़ीसा	१९४८-४९	४९१	२,५६०
	१९४९-५०	१,५४१	४,५५८
	१९५०-५१	७९५	२,९२०
	१९५१-५२	७८५	६९
बम्बई	१९४८-४९	४४७,२९३	७९४,२४४
	१९४९-५०	३७४,९५८	३७४,६०४
	१९५०-५१	४४७,०५६	५२०,५१५
	१९५१-५२	४५४,६१७	६१४,०८७
मद्रास	१९४८-४९	४१३,७१८	४०४,६४४
	१९४९-५०	३२९,३३३	४४१,३२२
	१९५०-५१	४८७,३२१	४६९,७३२
	१९५१-५२	३४३,४३२	३७७,५४०
ट्रावनकोर-कोचीन	१९५०-५१	२,४४१	२५,०४३
	१९५१-५२	५२४	१३,३१८

२. १९५१-५२ में तटीय व्यापार के आयात का कुल मूल्य १५९,९५,४७००० रु० और निर्यात का कुल मूल्य १६८,१७,७६,००० रु० था। व्यापार का कुल मूल्य ३२८,१३,२३,००० रु० था। स्टेटिस्टीकल एब्स्ट्रेक्ट १९५१-५२।

३. जे० ई० कस्टेलिनो ने अपने लेख 'प्लानिंग ट्रान्सपोर्ट', जो ईस्टर्न इकनामिस्ट में ३ दिसम्बर, १९४३ में प्रकाशित हुआ, लिखा, "भारत के तटीय व्यापार में लगभग ७० लाख टन कोयला, तेल, चावल, नमक और लकड़ी का परिवहन होता है। यात्रियों का आवागमन भी काफी है—पश्चिमी तट पर १५ लाख यात्रियों का आवागमन है। लेकिन दुःख की बात है कि यह व्यापार भारतीय हाथों में नहीं है। भारत के तटीय व्यापार में तीन अँग्रेजी कम्पनिया हैं, जिन्होंने व्यापार को प्रायः एकाधिकृत कर रखा क्योंकि उनका हिस्सा ८०% है।"

आठ प्रधान बन्दरगाहों का कुल व्यापार

(लाख रुपयों में)

		१९०९-१४ युद्ध-पूर्व औसत	१९१४-१८ युद्ध-औसत	१९३७-३८	१९३८-३९	१९३९-४०
बम्बई						
विदेशी	...	११३,१५	१२१,३४	११३,१३	९५,९२	१०७,७३
तटीय	...	३२,३०	३७,०३	३७,०२	३५,१९	३०,५०
जोड़	...	१४५,४५	१५८,३७	१५०,१५	१३१,११	१३८,२३
कलकत्ता						
विदेशी	...	१४१,०६	१४५,१०	१२९,०३	१२०,२५	१५७,६९
तटीय	...	१८,७२	१७,४०	१३,८९	१४,०१	११,५२
जोड़	...	१५९,७३	१६२,५०	१४२,९२	१३४,२६	१६९,२१
रंगून						
विदेशी	...	२९,९३	३५,५९	...	...	...
तटीय	...	१९,०३	२५,२७	...	...	...
जोड़	...	४८,९६	६०,८६	...	...	...
कराची						
विदेशी	...	३८,८७	३५,५९	४३,४८	३४,५९	३५,२४
तटीय	...	९,००	११,२९	१८,३६	१६,०७	१७,४८
जोड़	...	४७,८७	४६,८८	६१,८४	५०,६६	५२,७२
मद्रास						
विदेशी	...	१६,८०	१७,७८	३०,६३	२६,४१	२९,४९
तटीय	...	२,८१	३,३७	३,४१	३,२२	३,०४
जोड़	...	१९,६१	२१,१५	३४,०४	२९,६३	३२,५३
कोचीन						
विदेशी	...	२,७२	२,८२	११,११	१०,०४	१२,७६
तटीय	...	३,५६	२,७८	४,२१	४,२१	३,१९
जोड़	...	६,२८	५,६०	१५,३२	१४,२५	१५,९५
टुटिकोरिन						
विदेशी	...	५,५६	५,७२	५,३७	४,१४	५,५८
तटीय	...	१,६७	१,८३	४,६७	३,५२	३,९७
जोड़	...	७,२३	७,५५	१०,०४	७,६६	९,५५
चिटागांग						
विदेशी		५,७१	३,७९	९,६६	१०,०४	१२,३०
तटीय		१,७६	३,१४	७४	३२	२६
जोड़		७,४७	६,९३	१०,४०	१०,३६	१२,५६

इनसे स्पष्ट हो जायगा कि भारत के विदेशी और तटीय व्यापार का प्रधान हिस्सा बम्बई, कलकत्ता और रंगून (विभाजन के पूर्व) का था तथा कुछ हिस्सा कराची और मद्रास का था।[1]

१. देखिए, वीरा एन्स्टे, ट्रेड ऑफ इंडियन ओशन, पृ० ७९-८५।

भारत के तटीय व्यापार को पूरी तरह विकसित करने के लिए बन्दरगाहों के विकास की विस्तृत योजना, भारतीय व्यापारिक जहाजरानी का निर्माण और तटीय तथा रेल के यातायात का समुचित संयोजन आवश्यक है। लेकिन इस विषय पर हम विस्तृत रूप से प्रकाश डाल आए हैं।[१]

३४. (२) आन्तरिक व्यापार—भारत अमरीका की भाँति अपने वाह्य व्यापार की अपेक्षा आन्तरिक व्यापार में अधिक संलग्न रहता है। इस बात में यह इंगलैण्ड से भिन्न है। देश के महाद्वीपीय प्रसार, असंख्य जनता, भौतिक परिस्थितियों एवं जलवायु की विविधता और अपार साधनों को ध्यान में रखने पर यह बात आश्चर्यजनक नहीं प्रतीत होती। आधुनिक समय में परिवहन और संचार के सुधरे हुए साधनों ने व्यापार की मात्रा में पर्याप्त वृद्धि कर दी है। देश के आर्थिक विकास एवं संगठन के साथ ही आन्तरिक व्यापार भी बढ़ता जायगा, क्योंकि इससे देश के गाँवों और नगरों में सम्पर्क और भी घनिष्ठ हो जायगा।

इस आन्तरिक व्यापार का महत्त्वांकन कम किया गया है। कपास, जूट, गेहूँ, तिलहन इत्यादि की वड़ी-बड़ी संख्याएँ देश के कुल उत्पादन का एक अंश ही सामने रखती हैं। यह सच है कि निर्यात के बाद जो बच जाता है वह सब विक्रय के लिए नहीं होता, क्योंकि उत्पादन का एक हिस्सा स्वयं उत्पादकों द्वारा उपभुक्त होता है। उदाहरणार्थ, किसान अपने द्वारा उत्पन्न खाद्य-सामग्री के एक बड़े भाग का स्वयं उपभोग करते हैं। भारत के आन्तरिक व्यापार का महत्त्वांकन इस बात से हो[?] है, "प्रत्येक १ एकड़ जमीन—जिससे उत्पन्न अन्न, तिलहन, कपास और चाय का निर्यात होता है—की तुलना में ११ एकड़ जमीन से उत्पादित सामग्री स्थानीय उत्पादकों द्वारा उपभुक्त होती है।"[२] उत्पादकों द्वारा उपभुक्त इस कृषि-उत्पादन के साथ ही खनिज पदार्थों जैसी सामग्रियों को, जिनका अल्पांश ही वाहर भेजा जाता है, ध्यान में रखना होगा।

देश के आन्तरिक व्यापार के मूल्य और आकार के सत्य और विश्वसनीय आँकड़े प्राप्य नहीं हैं। तटीय व्यापार के सम्बन्ध में काफी सन्तोषजनक आँकड़े प्राप्त हैं जिसका अधिकांश आन्तरिक या अन्तप्रान्तीय व्यापार के अन्तर्गत रखा जा सकता है। लेकिन जहाँ तक वास्तविक आन्तरिक व्यापार का सम्बन्ध है बहुत वर्षों तक रेलवे के यातायात की संख्याओं को छोड़कर कोई आँकड़े नहीं प्राप्त हैं। १९२३ तक भारत का सांख्यिकीय विभाग प्रति वर्ष 'इनलैंड ट्रेड (रेल एण्ड रिवर वोर्न) ऑफ़ इण्डिया' प्रकाशित किया करता था। प्रान्तों से भी इस प्रकार के प्रकाशन निकलते थे। इनसे प्रान्तों के पाँच या छः खण्डों में से प्रत्येक की प्रधान सामग्रियों का अन्दाज़ लग सकता था। इसी प्रकार १८ प्रधान (व्यापारिक) खण्डों से भारत क व्यापार का अनुमान किया जा सकता था। ये संख्याएँ केवल मात्रा (क्वांटिटी) की परिचायक थीं। मूल्य सम्बन्धी जो कुछ संख्याएँ प्राप्त हैं अत्यन्त ही मोटे तौर पर लगाये

१. देखिए, अध्याय ५।
२. देखिए 'दि इकनामिक रिसोर्सेज़ ऑफ़ दि ब्रिटिश अम्पायर' सं० वार्सविक, पृ० १४५।

गए अनुमानों पर आधारित हैं। अन्य पहलुओं में इनके आलेखन में गलती हुई है। एक खण्ड के अन्दर होने वाले व्यापार का लेखा नहीं रखा गया तथा सड़क से होने वाले व्यापार की गणना ही नहीं की गई, यद्यपि सड़कों से होने वाला यह व्यापार पर्याप्त मात्रा में था।[1] इन दोषों के होने पर भी इन आँकड़ों का कुछ मूल्य और उपयोग है। लेकिन दुर्भाग्य की बात तो यह थी कि १९२३ में छटनी समिति (रिट्रेंचमेंट कमेटी) की सलाह पर ये 'इनलैण्ड ट्रेड (रेल एण्ड रिवर बोर्न) ऑफ इण्डिया' प्रकाशन भी बन्द कर दिये गए। आर्थिक जाँच समिति ने प्रकाशन को पुनर्जीवित करने पर जोर दिया और उन्हें संयुक्त राज्य जैसे देश में उसी प्रकार के प्रकाशनों के समकक्ष अद्यतन बनाने की सिफारिश की। भारत सरकार ने अप्रैल, १९३३ से इसे पुनर्जीवित किया। इसका नाम 'अकाउंट्स रिलेटिंग टु इनलैंड (रेल एण्ड रिवर बोर्न) ट्रेड ऑफ इण्डिया' कर दिया गया। यह प्रकाशन मासिक था। इसमें सरकारी वर्ष के आरम्भ से आन्तरिक व्यापार का मासिक सारांश प्रस्तुत किया जाता था। प्रकाशन का यह नवीन क्रम, जो वाणिज्य (कॉमर्स) मंत्रिमण्डल द्वारा प्रकाशित होता है, पुराने प्रकाशन के आवश्यक रूप को सुरक्षित रखे है। रेलवे और स्टीमर द्वारा वाहित आन्तरिक व्यापार सम्बन्धित आँकड़े दिये जाते हैं। ये एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त को जाने वाली सामग्रियों का लेखा प्रस्तुत करते हैं। इस लेखे में दिया गया व्यापार निम्न विभाजित श्रेणियों में से किसी एक में पड़ता है—(क) एक प्रान्त का दूसरे प्रान्त से व्यापार, (ख) एक प्रधान बन्दरगाह का उस प्रांत से व्यापार जिसमें वह बसा हुआ है, और (ग) एक प्रधान बन्दरगाह का अन्य प्रान्तों से व्यापार। एक ही प्रान्त में एक स्टेशन से दूसरे स्टेशन तक ले जाई गई सामग्री का लेखा नहीं लिया जाता। इन लेखों की रजिस्ट्री के लिए देश १८ प्रधान खण्डों में विभाजित किया गया था—(१) ९ ब्लॉक ब्रिटिश प्रान्तों के थे, (२) ४ ब्लॉक प्रधान बन्दरगाह-नगरों के थे, जैसे कलकत्ता, बम्बई, मद्रास तथा कराची, और (३) ५ भारतीय रियासतों का प्रतिनिधित्व करते थे। आँकड़े मात्रा और नाम से ही सम्बन्धित हैं, मूल्यों के अंक नहीं दिये गए हैं।[2] वजन ८२$\frac{६}{७}$ पौण्ड वाले मन में दिये गए हैं। नवीन क्रम (सीरीज़) में भी पुराने क्रम के प्रायः सभी दोष हैं।

नीचे दी हुई तालिका नं० १ से १९३७ से १९४४ तक के आन्तरिक व्यापार की (कुछ वस्तुओं की) मात्रा प्रकट होती है।

इससे यह भी स्पष्ट है कि व्यापार के आकार में १९३९-४० में काफी वृद्धि हुई। जितनी वस्तुओं का लेखा प्रस्तुत किया गया उनमें से चीनी और तिलहन को छोड़कर प्रायः सबमें वृद्धि हुई है। पिछले छः वर्षों की तुलना में १९३९-४० में आन्तरिक व्यापार अच्छी दशा में रहा।

आन्तरिक व्यापार की दशा का निर्धारण कुछ अंशों में रेलवे बोर्ड द्वारा प्रका-

---

१. इकनामिक इनक्वायरी कमेटी रिपोर्ट, पृ० १३।

२. देखिए, अकाउण्ट्स रिलेटिंग टु दि (रेल एण्ड रिवर बोर्न) ट्रेड ऑफ़ इण्डिया, मार्च १९४०, पृ० १-३।

तालिका नं० १[1]
(हजार मन में)

	१९३७-८	१९३८-९	१९३९-४०	१९४०-१	१९४१-२	१९४२-३	१९४३-४
कोयला और कोक	४६४२८६	४४९८५४	४९६५१३	...	......	......	...
कपास, कच्चा	१९१८५	१९५३८	२०७१२	२०९१४	२०६०७	१७७७५	१५३५८
सूती कपड़े	१११९०	११०७७	११२९४	१२७७१	११४४४	१०३५१	११००४
अन्न, दाल, आटा	१३१९००	१३१२७२	१४३३५६	१३०१८७	१३५००४	१०४७३१	१०७४०५
चमड़ा और खालें—कच्ची	२९७०	२६७९	३३८३	....	......	......	......
जूट—कच्चा	३२५७४	३१४९७	३२७६७	२८०७४	२५९५४	१८१४५	१६५९०
जूट की बोरियां व कपड़ा	५३३६	५२१८	५४८४	५८५९	७०११	१२८८६	८४५६
लोहा और इस्पात, छड़ें, चादरें, गार्डर और अन्य वस्तुएँ	३८६५५	४१८९४	४१९८६	...	......	... ..	......
तिलहन	३९६४६	५००६३	४३७७५	३९३६९	४३५४४	३६१४१	३०४७१
चीनी (गुड़ और राब)	३९४८५	३८०७६	२८९४९	३८८६६	३९०८०	११६९१	३०००७
योग	७८५२२७ (१२५)	७८११६८ (१२४)	८२८२१९ (१३२)	....	... .	... .	... .

शित रेलवे के आय और यातायात सम्बन्धी आँकड़ों से भी हो सकता है। आगे दी गई तालिका नं० २ में १९२८-२९ से ये संख्याएँ प्रदर्शित की गई हैं। १९३९-४० में रेलवे की कुल आय पहले वर्ष के जोड़ से ४ करोड़ रु० अधिक थी और १९२८-२९ से लेकर तब तक के सभी वर्षों में अधिक थी। बाद के वर्षों में रेलवे से यातायात की प्रवृत्ति और भी जोर पकड़ने लगी। इसका प्रधान कारण युद्ध के कारण होने वाली आन्तरिक व्यापार में हुई वृद्धि थी।

विश्वसनीय आँकड़ों के अभाव में भारत के आन्तरिक व्यापार के आकार की कोई निश्चित रूपरेखा प्रस्तुत नहीं की जा सकती और न विदेशी व्यापार से तुलना ही की जा सकती है। १९२०-२१ के 'इनलेंड ट्रेड ऑफ़ इण्डिया' के आधार पर इसका मूल्य लगभग १५०० करोड़ रु० आँका गया। इस प्रकार बाह्य[2] और आन्तरिक व्यापार में १:२½ का अनुपात स्थापित किया जा सका। जो संख्याएँ प्राप्य हैं उनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि देश के आकार और जनसंख्या को देखते हुए आन्तरिक व्यापार की मात्रा कम है। देश के आर्थिक साधनों के पूर्ण विकास के साथ निश्चित रूप से उसका आन्तरिक व्यापार भी कई गुना बढ़ेगा। बाह्य-व्यापार के अनिश्चित स्वभाव को ध्यान में रखते हुए आन्तरिक-व्यापार के सम्बन्ध में एक क्रमबद्ध नीति का अनुसरण करना ठीक होगा। यह ठीक है कि बाह्य व्यापार के पुनर्जीवन के साथ देश के

१. विभिन्न राज्यों व बन्दरगाहों में व्यापार के नवीनतम आंकड़ों की तालिका अगले पृष्ठ पर देखिए।
२. के० टी० शाह के मत में यह एक निम्नानुमान है और वह भारत के आन्तरिक व्यापार का मूल्य २५०० करोड़ रु० आंकते हैं। 'ट्रेड, टैरिफ्स एण्ड ट्रांसपोर्ट', पृ० १२२।

	१९४४-४५	१९४५-४६	१९४६-४७	१९४७-४८	१९४८-४९	१९४९-५०	१९५०-५१	१९५१-५२
कोयला और कोक	४५२७७०	४८०,९२९	४५९८५२	४१८६५३	४७९६१,६१	५३२,१९२	५१५,५५४	५४१,३००
कपास कच्चा	१५५११	१८९६८	१९८५७	८३१९	११,२३०	११,९२५	१२,४६३	१३,३६७
सूती कपड़े	९५६४	८५४१	७४५७	६५२९	६७६४	७५९०	६५१४	६६४६
अन्न, दाल, आटा (चावल)	३५९०४	३५४८३	३७३९७	२२४१८	२७५२०	२६,५३४	२५,६८०	२२३२०
(गेहूँ)	२२३८२	२०२३४	२१४१३	१९१८३	२४७६०	३२,५१३	२७,७३६	५२,१४८
जूट कच्चा	२००८३	२५७१२	१९४५१	१४७६१	८४७२	९७८३	१०,७९९	१२,६२६
लोहा और इस्पात, छड़ें, चादरें, गार्डर तथा अन्य वस्तुएँ	३२१४५	३९,३३४	३८,०२३	३३,७६१	३७६०९	४४८०४	४८,१९५	४६,५३७
तिलहन	३२०४५	३३८३१	१७,७८३	२१,९१९	२३५९२	२२,५९०	२२,४२४	२२,२५६
नमक	३४३५५	३४,१९४	३०,५९७	३२,७९९	३१,७९५	३०,०२३	३४,६४९	३३,८६३
चीनी	१७३२२	१५,२२२	१२,८५०	१०,२०८	१९,०९२	१७,८४१	५५,५६	१७,४९९
(गुड़ और राब)	१६६३२	११,६२३	१०,५९५	९८,३२	१२,२२९	१२,६५१	१५,७३८	१५,६९३

स्टेटिस्टीकल एब्सट्रेक्ट—इंडिया १९५१-५२

तालिका नं० १[1]

(हजार मन में)

	१६३७-८	१६३८-६	१६३६-४०	१६४०-१	१६४१-२	१६४२-३	१६४३-४
कोयला और कोक	४६४२८६	४४६८५४	४६६५१३	...	......	......	...
कपास, कच्चा	१६१८५	१६५३८	२०७१२	२०६१४	२०६०७	१७७७५	१५३५८
सूती कपड़े	१११६०	११०७७	११२६४	१२७७१	११४४४	१०३५१	११००४
अन्न, दाल, आटा	१३१६००	१३१२७२	१४३३५६	१३०१८७	१३५००४	१०४७३१	१०७४०५
चमड़ा और खालें—कच्ची	२६७०	२६७६	३३८३	....	......	......	......
जूट—कच्चा	३२५७४	३१४६७	३२७६७	२८०७४	२५६५४	१८१४५	१६५६०
जूट की बोरियाँ व कपड़ा	५३३६	५२१८	५४८४	५८५६	७०११	१२८८६	८४५६
लोहा और इस्पात, छड़ें, चादरें, गार्डर और अन्य वस्तुएँ	३८६५५	४१८६४	४१६८६	...	......	......	......
तिलहन	३६६४६	५००६३	४३७७५	३६३६६	४३५४४	३६१४१	३०४७१
चीनी (गुड़ और राब)	३६४८५	३८०७६	२८६४६	३८८६६	३६०८०	११६६१	३०००७
योग	७८५२२७ (१२५)	७८११६८ (१२४)	८२८२१६ (१३२)	......	...	...	...

शित रेलवे के आय और यातायात सम्बन्धी आँकड़ों से भी हो सकता है। आगे दी गई तालिका नं० २ में १६२८-२६ से ये संख्याएँ प्रदर्शित की गई हैं। १६३६-४० में रेलवे की कुल आय पहले वर्ष के जोड़ से ४ करोड़ रु० अधिक थी और १६२८-२६ से लेकर तब तक के सभी वर्षों में अधिक थी। बाद के वर्षों में रेलवे से यातायात की प्रवृत्ति और भी जोर पकड़ने लगी। इसका प्रधान कारण युद्ध के कारण होने वाली आन्तरिक व्यापार में हुई वृद्धि थी।

विश्वसनीय आँकड़ों के अभाव में भारत के आन्तरिक व्यापार के आकार की कोई निश्चित रूपरेखा प्रस्तुत नहीं की जा सकती और न विदेशी व्यापार से तुलना ही की जा सकती है। १६२०-२१ के 'इनलेंड ट्रेड ऑफ़ इण्डिया' के आधार पर इसका मूल्य लगभग १५०० करोड़ रु० आँका गया। इस प्रकार बाह्य[2] और आन्तरिक व्यापार में १:२३ का अनुपात स्थापित किया जा सका। जो संख्याएँ प्राप्य हैं उनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि देश के आकार और जनसंख्या को देखते हुए आन्तरिक व्यापार की मात्रा कम है। देश के आर्थिक साधनों के पूर्ण विकास के साथ निश्चित रूप से उसका आन्तरिक व्यापार भी कई गुना बढ़ेगा। बाह्य-व्यापार के अनिश्चित स्वभाव को ध्यान में रखते हुए आन्तरिक-व्यापार के सम्बन्ध में एक क्रमबद्ध नीति का अनुसरण करना ठीक होगा। यह ठीक है कि बाह्य व्यापार के पुनर्जीवन के साथ देश के

१. विभिन्न राज्यों व बन्दरगाहों में व्यापार के नवीनतम आंकड़ों की तालिका अगले पृष्ठ पर देखिए।

२. के० टी० शाह के मत में यह एक निम्नानुमान है और वह भारत के आन्तरिक व्यापार का मूल्य २५०० करोड़ रु० आंकते हैं। 'ट्रेड, टेरिफ्स एण्ड ट्रांसपोर्ट', पृ० १२२।

अधिकतर पाश्चात्यों (यूरोपीयों) द्वारा नियंत्रित है। कराची, जो अब पाकिस्तान में है, गेहूँ का प्रधान केन्द्र था। मद्रास भी एक प्रधान व्यापारिक केन्द्र है, किन्तु इसकी तुलना बम्बई और कलकत्ता से नहीं की जा सकती। इन चार[1] प्रधान बन्दरगाहों के अतिरिक्त दिल्ली, अहमदाबाद, अमृतसर, आगरा, लाहौर, बनारस, कानपुर, लखनऊ और नागपुर भी व्यापार के बड़े केन्द्र हैं। कानपुर उत्तर प्रदेश का एक प्रधान रेलवे जंकशन है तथा बम्बई और कलकत्ता के बीच स्थित है। इस प्रकार यह विदेशी और गृह-वस्तुओं के वितरण का भी केन्द्र है। दिल्ली, जोकि भारत की राजधानी है, ९ रेलवे लाइनों का जंकशन है और पंजाब तथा उत्तर प्रदेश के पश्चिमी जिलों का निकास-गृह है—विशेषकर सूती, रेशमी और ऊनी कपड़े की वस्तुओं में। बम्बई राज्य में बम्बई के बाद अहमदाबाद सबसे प्रधान नगर है। अमृतसर पुनर्निर्यात का ही प्रधान केन्द्र नहीं है, बल्कि यहाँ कपड़े का भी काफी व्यवसाय होता है। यह दरी और कालीनों के लिए भी मशहूर है। आगरा दरी, कालीन, पत्थर का काम और ज़री के अतिरिक्त चमड़े के संकलन का भी एक प्रधान स्थान है। पंजाब के कृषि-उत्पादन के व्यापार का प्रधान केन्द्र लाहौर है। बनारस रेशम की बुनाई का केन्द्र है। लखनऊ अवध के कृषि उत्पादन को एकत्र और वितरित करता है। नागपुर का व्यवसायिक महत्त्व बुनाई, कपास ओटने तथा दबाने की मिलों और फैक्ट्रियों के कारण है तथा यहाँ समीप ही मैंगनीज की खानें भी हैं। इनके अतिरिक्त व्यापारिक केन्द्रों में मिर्जापुर, जबलपुर [illegible], ग्वालियर, ढाका, श्रीनगर, शोलापुर, अमरावती, हैदराबाद, इलहाबाद, जयपुर, बड़ौदा, बंगलौर तथा मैसूर का भी नाम लिया जा सकता है।

२६. व्यावसायिक ज्ञान तथा व्यापार-संगठन[2]—वाणिज्य और उद्योग में बढ़ती हुई अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिद्वन्द्विता के कारण अब व्यवसाय और वाणिज्य का संगठन तथा संचालन सभ्य देशों की सरकारों का आवश्यक काम हो गया है। वे ही अब सूचना का अव्यवसायपूर्ण अध्ययन, विश्लेषण और वितरण करती हैं। जर्मनी, जापान और संयुक्त राज्य की व्यावसायिक समृद्धि का कारण बहुत अंशों में उनकी सरकारों द्वारा प्रस्तुत उत्तम वाणिज्य-सूचना का प्रसार भी है। व्यापार-आयुक्त विदेशों में नियुक्त किये जाते हैं और दूतों को विदेशों में रखा जाता है, जिनका प्रधान कार्य स्वदेश को विदेशों की व्यापारिक सूचनां देना होता है। इन सब बातों से भारत अभी पूर्णतया सज्जित नहीं है। यद्यपि वाणिज्य-सूचना विभाग का जन्म १९०५ में ही हो गया था, फिर भी सरकार के पास जनता या व्यक्तियों तक वाणिज्य-सूचना प्रसार के लिए कोई माध्यम नहीं था। इस समय स्थिति कुछ अधिक सन्तोषजनक है। १९२२ में पुनर्संगठित वाणिज्य-सूचना तथा सांख्यिकीय विभाग भारत सरकार और व्यावसायिक जनता के बीच की कड़ी का काम करता है। इसके दो प्रकार के काम हैं: (१) समुद्र-पार व्यापार की वे सूचनाएँ, जो भारतीय व्यापार के लिए हितकर हो सकती हैं; उनका संकलन एवं वित-

१. इन प्रमुख बन्दरगाहों के अतिरिक्त निम्न बन्दरगाह भी महत्त्वपूर्ण हैं—कोचीन, गोआ, चिटगाँव और विजगापटम तथा काठियावाड़ में वेदी, ओखा, पोरबन्दर और भावनगर।

२. देखिए, सेक्शन ३६-७ के साथ ही सेक्शन ११-१२।

तालिका नं० २

१९२८-२९ से १९३९-४० तक की रेलवे की कुल आय और लादे गए डिब्बे

वर्ष	सरकारी रेलवे की कुल आय करोड़ रु० में	कुल लादे गए डिब्बे[1] (०००)
१९२८-२९	९९·६१	६९९३
१९२९-३०	९७·५३	६८९८
१९३०-३१	९०·४०	६६३२
१९३१-३२	८२·५४	६०९८
१९३२-३३	८२·११	५९९६
१९३३-३४	८४·६४	६४८९
१९३४-३५	८७·२४	६८५०
१९३५-३६	८८·३६	६९६२
१९३६-३७	९२·०४	६९००
१९३७-३८	९४ ८५	७१६१
१९३८-३९	९४·३६	७२२५
१९३९-४०	९८·४४	७५०९
१९४०-४१	११२·१६	७५८९
१९४१-४२[2]	१२९·३७	७४९९
१९४२-४३	१५६·४६	६५५३
१९४३-४४	१८५·४९	६९१०

आन्तरिक व्यापार को भी प्रेरणा मिलेगी। किन्तु यह वाञ्छनीय है कि उसके द्वारा स्वतन्त्र रूप से ही देश के आन्तरिक व्यापार को विकसित किया जाय।

३९. भारत के प्रधान व्यापारिक केन्द्र[3]—भारत के प्रमुख व्यापारिक केन्द्रों के विवरण के साथ हम इस अध्याय को समाप्त करेंगे और अन्त में देश की व्यावसायिक सूचना एवं संगठन के लिए दो शब्द कहेंगे। इस सम्बन्ध में पहले चार प्रमुख बन्दरगाह कलकत्ता, बम्बई, मद्रास और कराची का नाम लिया जा सकता है। कलकत्ता और बम्बई केवल प्रधान बन्दरगाह ही नहीं हैं बल्कि व्यवसाय के भी प्रधान केन्द्र हैं। इसके अतिरिक्त बम्बई पाश्चात्य देशों की वस्तुओं का इस देश में प्रधान वितरक भी है। बम्बई का व्यापार प्रधानतया भारतीय हाथों में है, जबकि कलकत्ता का व्यापार

१. इसमें बर्मा के आंकड़े भी शामिल हैं।

२. जबकि १९३९-४० में लादे गए डिब्बों की संख्या में काफी वृद्धि हुई १९४०-४१ में वृद्धि नहीं के बराबर थी और १९४१-४२ से घटने लगी। इस कमी को आर्थिक क्रियाशीलता के ह्रास का कारण नहीं माना जा सकता। इसका कारण यह है कि स्पेशल ट्रेनों पर बड़ी संख्या में सैनिक यातायात इसमें शामिल नहीं है। इसके अतिरिक्त कुशलता की वृद्धि के कारण प्रति डिब्बा अधिक माल ले जाना सम्भव हो सका। १९४१-४२ में माल का कुल भार ५०·२५ लाख टन हो गया और १९४१-४२ की अपेक्षा २०·७५ लाख टन की वृद्धि हुई। इससे आन्तरिक व्यापार में पर्याप्त वृद्धि का संकेत मिलता है। देखिए, 'रिव्यू आफ ट्रेड' १९४१-४२, पृ० ९९-१००।

३. देखिए, सी० डब्ल्यू० ई० कॉटन, 'हैण्डबुक ऑफ कमर्शियल इनफारमेशन फॉर इण्डिया', तृतीय संस्करण, पृ० ६२-११३ तथा खण्ड १, अध्याय २। व्यावसायिक केन्द्रों का यह विवरण सम्पूर्ण भारत (जिसमें पाकिस्तान और भारत संघ दोनों शामिल हैं) के लिए लागू होता है।

अधिकतर पाश्चात्यों (यूरोपीयों) द्वारा नियंत्रित है। कराची, जो अब पाकिस्तान में है, गेहूँ का प्रधान केन्द्र था। मद्रास भी एक प्रधान व्यापारिक केन्द्र है, किन्तु इसकी तुलना बम्बई और कलकत्ता से नहीं की जा सकती। इन चार[1] प्रधान बन्दरगाहों के अतिरिक्त दिल्ली, अहमदाबाद, अमृतसर, आगरा, लाहौर, बनारस, कानपुर, लखनऊ और नागपुर भी व्यापार के बड़े केन्द्र हैं। कानपुर उत्तर प्रदेश का एक प्रधान रेलवे जंकशन है तथा बम्बई और कलकत्ता के बीच स्थित है। इस प्रकार यह विदेशी और गृह-वस्तुओं के वितरण का भी केन्द्र है। दिल्ली, जोकि भारत की राजधानी है, ९ रेलवे लाइनों का जंकशन है और पंजाब तथा उत्तर प्रदेश के पश्चिमी जिलों का निकास-गृह है—विशेषकर सूती, रेशमी और ऊनी कपड़े की वस्तुओं में। बम्बई राज्य में बम्बई के बाद अहमदाबाद सबसे प्रधान नगर है। अमृतसर पुनर्निर्यात का ही प्रधान केन्द्र नहीं है, बल्कि यहाँ कपड़े का भी काफी व्यवसाय होता है। यह दरी और कालीनों के लिए भी मशहूर है। आगरा दरी, कालीन, पत्थर का काम और जरी के अतिरिक्त चमड़े के संकलन का भी एक प्रधान स्थान है। पंजाब के कृषि-उत्पादन के व्यापार का प्रधान केन्द्र लाहौर है। बनारस रेशम की बुनाई का केन्द्र है। लखनऊ अवध के कृषि उत्पादन को एकत्र और वितरित करता है। नागपुर का व्यवसायिक महत्त्व बुनाई, कपास ओटने तथा दबाने की मिलों और फैक्ट्रियों के कारण है तथा यहाँ समीप ही मैंगनीज की खानें भी हैं। इनके अतिरिक्त व्यापारिक केन्द्रों में मिर्जापुर, जबलपुर [illegible], ग्वालियर, ढाका, श्रीनगर, शोलापुर, अमरावती, हैदराबाद, इलहाबाद, जयपुर, बड़ौदा, बंगलोर तथा मैसूर का भी नाम लिया जा सकता है।

३६. व्यावसायिक ज्ञान तथा व्यापार-संगठन[2]—वाणिज्य और उद्योग में बढ़ती हुई अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिद्वन्द्विता के कारण अब व्यवसाय और वाणिज्य का संगठन तथा संचालन सभ्य देशों की सरकारों का आवश्यक काम हो गया है। वे ही अब सूचना का अध्यवसायपूर्ण अध्ययन, विश्लेषण और वितरण करती हैं। जर्मनी, जापान और संयुक्त राज्य की व्यावसायिक समृद्धि का कारण बहुत अंशों में उनकी सरकारों द्वारा प्रस्तुत उत्तम वाणिज्य-सूचना का प्रसार भी है। व्यापार-आयुक्त विदेशों में नियुक्त किये जाते हैं और दूतों को विदेशों में रखा जाता है, जिनका प्रधान कार्य स्वदेश को विदेशों की व्यापारिक सूचना देना होता है। इन सब बातों से भारत अभी पूर्णतया सज्जित नहीं है। यद्यपि वाणिज्य-सूचना विभाग का जन्म १९०५ में ही हो गया था, फिर भी सरकार के पास जनता या व्यक्तियों तक वाणिज्य-सूचना प्रसार के लिए कोई माध्यम नहीं था। इस समय स्थिति कुछ अधिक सन्तोषजनक है। १९२२ में पुनर्संगठित वाणिज्य-सूचना तथा सांख्यिकीय विभाग भारत सरकार और व्यावसायिक जनता के बीच की कड़ी का काम करता है। इसके दो प्रकार के काम हैं: (१) समुद्र-पार व्यापार की वे सूचनाएँ, जो भारतीय व्यापार के लिए हितकर हो सकती हैं; उनका संकलन एवं वित-

१. इन प्रमुख बन्दरगाहों के अतिरिक्त निम्न बन्दरगाह भी महत्त्वपूर्ण हैं—कोचीन, गोआ, चिटगाव और विजगापटम तथा काठियावाड़ में वेदी, ओखा, पोरबन्दर और भावनगर।

२. देखिए, सेक्शन ३६-७ के साथ ही सेक्शन ११-१२।

रण, (२) व्यापार और उद्योग आदि से सम्बन्धित अखिल-भारतीय महत्त्व के आँकड़ों का एकीकरण और प्रकाशन। इस विभाग से पूछताछ का जवाब दिया जाता और (विभाग के साप्ताहिक अंग) 'इण्डियन ट्रेड जर्नल' प्रकाशित किया जाता है। यह इंगलैण्ड के उन व्यापारिक विकासों के सम्पर्क में भी रहता है जो भारत के लिए महत्त्वपूर्ण हैं। इसके लिए विभिन्न देशों में भारतीय व्यापार-आयुक्त नियुक्त किये गए हैं। इस विभाग का काम भारत के उद्योग-संचालकों, लन्दन तथा अन्य देशों में स्थित भारतीय व्यापार-आयुक्तों, अंग्रेजी व्यापार-आयुक्त तथा अन्य देशों के व्यापारिक अफसरों के सहयोग से होता है तथा इसका उद्देश्य समुद्र-पार के बाज़ारों में भारतीय उत्पादन और निर्माण की माँग को बढ़ाना है। १६२० से नियुक्त लन्दन-स्थित भारत के उच्च आयुक्त को कितने ही विविध वित्तीय काम दे दिये गए हैं, जिनमें से सरकारी भण्डारों की खरीद सबसे महत्त्वपूर्ण है। अतः वह बाहरी देशों में भारत के वाणिज्य हितों को अधिक प्रोत्साहन देने में असमर्थ है।

ऊपर वर्णन किये गए संगठन का प्रधान काम वाह्य देशों में विदेशी वस्तुओं के लिए भारतीय बाज़ारों में सम्भावनाओं की सूचना का प्रसार करना है। इस प्रचार को अन्य संगठनों से, जो विदेशी बाजारों में भारतीय वस्तुओं की सम्भावनाओं और माँगों की सूचना दें, पूरा करने की भी आवश्यकता है। भारत सरकार ने टैक्स-टाइल टेरिफ बोर्ड (१६२६) के सुझाव पर विदेशी बाजारों में भारतीय सूती वस्त्रों की माँग का पता लगाने के लिए १६२८ में एक व्यापारिक शिष्ट-मण्डल (ट्रेड मिशन) नियुक्त किया है। इस दिशा में यह पहला कदम था।[1] मिशन की रिपोर्ट में मोम्बासा, अलक्जेण्ड्रिया तथा डरबन में तीन व्यापार-आयुक्तों की नियुक्ति का सुझाव रखा गया। तब से भारतीय व्यापारिक एजेन्सी और दूत सेवाओं की स्थापना हो चुकी है। अफगानिस्तान, इंगलिस्तान (यू० के०), आयरलैंड, जर्मनी, फ्रांस, ब्राज़ील, पाकिस्तान, ईरान, जापान, आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैण्ड, कनाडा, न्यूफाउण्डलैण्ड, बर्मा, मिस्र और लंका में व्यापार-आयुक्त नियुक्त किये जा चुके हैं। इटली, इराक, अदन, जेकोस्लोवाकिया, फिज़ी, पश्चिम कनाडा और स्विटज़रलैण्ड में भी शीघ्र ही व्यापार-आयुक्तों की नियुक्ति होने की सम्भावना है।

इस सम्बन्ध में हम विदेशों में भारतीय वस्तुओं का क्रय बढ़ाने के लिए ग्रेगरी-मीक मिशन के सुझाव की ओर संकेत करना उचित समझते हैं। मार्च, १६४१ की बैठक में भारतीय वाणिज्य एवं व्यापार उद्योग मण्डल संघ (फेडरेशन ऑफ़ इण्डियन चेम्बर्स ऑफ़ कॉमर्स एण्ड इण्डस्ट्री) ने दो सुझाव रखे : (१) भारत सरकार को व्यापारिक शिष्ट मण्डल (मिशन) को संगठित करना चाहिए, जिसमें भारतीय व्यापारी और आवश्यक प्राविधिक वर्ग हो और ये लोग ब्रिटिश कॉमनवेल्थ तथा अन्य पड़ोसी देशों में जाकर उनके आयात-व्यापार की दशा का अध्ययन करें। (२) सरकार को निर्यात के प्रकार और मात्रा के निर्धारण के लिए एक विस्तृत निर्यात-संगठन का निर्माण करना चाहिए और इसके व्यय के लिए थोड़ा-सा निर्यात-

1. देखिए, पीछे पृ० २७, और इण्डिया इन १६२८-२६, पृ० १६८।

उपकर लगाना चाहिए।

३७. भारत के वाणिज्यिक संगठन—सबसे अच्छे और सुसंगठित गैर-सरकारी व्यावसायिक संगठन यूरोपीय सौदागरों द्वारा बनाये गए। असोशियेटेड चेम्बर्स ऑफ़ कॉमर्स ऑफ़ इण्डिया तथा कलकत्ता (१८३४), बम्बई (१८३६) मद्रास (१८३६) और कानपुर तथा अन्य केन्द्रों के वाणिज्य-मण्डल इसके उदाहरण हैं। उनकी सदस्यता अभी हाल तक प्रधानतया यूरोपीयों की थी, यद्यपि यह भारतीयों के लिए भी खुली थी। यह पाश्चात्य व्यापारियों का भारत और पश्चिम के बीच व्यापार-सम्बन्ध स्थापित करने का स्वाभाविक परिणाम था। इन वाणिज्य-मण्डलों के अतिरिक्त व्यापार की विभिन्न शाखाओं का प्रतिनिधित्व करने वाले संगठन भी हैं, जैसे जूट और कपड़े की मिलों के संगठन तथा थोक व्यापारियों के संगठन अब तक भारतीय व्यावसायिक समुदाय समुचित संगठन के अभाव में हानि उठाता रहा है, किन्तु अब वे इसकी आवश्यकता के प्रति जागरूक हो रहे हैं। इस समय कितने ही विशुद्ध भारतीय संगठन हैं जैसे बंगाल राष्ट्रीय वाणिज्य मण्डल (बंगाल नेशनल चेम्बर ऑफ़ कॉमर्स) (१८८७) जोकि भारतीय व्यावसायिक समुदाय का सबसे पुराना संगठन है, भारतीय व्यापार-मण्डल और कार्यालय (इण्डियन मर्चेंट्स चेम्बर एण्ड ब्यूरो) बम्बई (१९०७), दक्षिण भारत वाणिज्य मण्डल (सदर्न इण्डिया चेम्बर ऑफ़ कॉमर्स) मद्रास (१९०९), भारतीय वाणिज्य मण्डल (इण्डियन चेम्बर ऑफ़ कॉमर्स), लाहौर (१९१२), भारतीय वाणिज्य मण्डल (इण्डियन चेम्बर्स ऑफ़ कॉमर्स), कलकत्ता (१९२५), महाराष्ट्र वाणिज्य मण्डल बम्बई (१९२७) तथा यू० पी० व्यापार मण्डल (१९३२)। एक अखिल भारतीय वाणिज्य और उद्योग मण्डल संघ भी है।[1] इन सबसे भारतीय व्यावसायिक मत को प्रकट करने में बड़ी सहायता प्राप्त हो सकती है तथा व्यापारिक और औद्योगिक विकास से सम्बन्धित समस्याओं पर सरकार को राय दी जा सकती है।

---

१. विस्तृत विवरण के लिए देखिए, कॉटन, पूर्वोद्धृत, भाग ४।

रण, (२) व्यापार और उद्योग आदि से सम्बन्धित अखिल-भारतीय महत्त्व के आँकड़ों का एकीकरण और प्रकाशन। इस विभाग से पूछताछ का जवाब दिया जाता और (विभाग के साप्ताहिक अंग) 'इण्डियन ट्रेड जर्नल' प्रकाशित किया जाता है। यह इंगलैण्ड के उन व्यापारिक विकासों के सम्पर्क में भी रहता है जो भारत के लिए महत्त्वपूर्ण हैं। इसके लिए विभिन्न देशों में भारतीय व्यापार-आयुक्त नियुक्त किये गए हैं। इस विभाग का काम भारत के उद्योग-संचालकों, लन्दन तथा अन्य देशों में स्थित भारतीय व्यापार-आयुक्तों, अंग्रेजी व्यापार-आयुक्त तथा अन्य देशों के व्यापारिक अफसरों के सहयोग से होता है तथा इसका उद्देश्य समुद्र-पार के बाज़ारों में भारतीय उत्पादन और निर्माण की माँग को बढ़ाना है। १९२० से नियुक्त लन्दन-स्थित भारत के उच्च आयुक्त को कितने ही विविध वित्तीय काम दे दिये गए हैं, जिनमें से सरकारी भण्डारों की खरीद सबसे महत्त्वपूर्ण है। अतः वह बाहरी देशों में भारत के वाणिज्य हितों को अधिक प्रोत्साहन देने में असमर्थ है।

ऊपर वर्णन किये गए संगठन का प्रधान काम बाह्य देशों में विदेशी वस्तुओं के लिए भारतीय बाज़ारों में सम्भावनाओं की सूचना का प्रसार करना है। इस प्रचार को अन्य संगठनों से, जो विदेशी बाजारों में भारतीय वस्तुओं की सम्भावनाओं और माँगों की सूचना दें, पूरा करने की भी आवश्यकता है। भारत सरकार ने टैक्स-टाइल टेरिफ बोर्ड (१९२६) के सुझाव पर विदेशी बाजारों में भारतीय सूती वस्त्रों की माँग का पता लगाने के लिए १९२८ में एक व्यापारिक शिष्ट-मण्डल (ट्रेड मिशन) नियुक्त किया है। इस दिशा में यह पहला कदम था।[1] मिशन की रिपोर्ट में मोम्बासा, अलक्जेण्ड्रिया तथा डरबन में तीन व्यापार-आयुक्तों की नियुक्ति का सुझाव रखा गया। तब से भारतीय व्यापारिक एजेन्सी और दूत सेवाओं की स्थापना हो चुकी है। अफगानिस्तान, इंगलिस्तान (यू० के०), आयरलैण्ड, जर्मनी, फ्रांस, ब्राज़ील, पाकिस्तान, ईरान, जापान, आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैण्ड, कनाडा, न्यूफाउण्डलैण्ड, बर्मा, मिस्र और लंका में व्यापार-आयुक्त नियुक्त किये जा चुके हैं। इटली, इराक, अदन, जेकोस्लोवाकिया, फिज़ी, पश्चिम कनाडा और स्विटज़रलैण्ड में भी शीघ्र ही व्यापार-आयुक्तों की नियुक्ति होने की सम्भावना है।

इस सम्बन्ध में हम विदेशों में भारतीय वस्तुओं का क्रय बढ़ाने के लिए ग्रेगरी-मीक मिशन के सुझाव की ओर संकेत करना उचित समझते हैं। मार्च, १९४१ की बैठक में भारतीय वाणिज्य एवं व्यापार उद्योग मण्डल संघ (फेडरेशन ऑफ़ इण्डियन चेम्बर्स ऑफ़ कॉमर्स एण्ड इण्डस्ट्री) ने दो सुझाव रखे: (१) भारत सरकार को व्यापारिक शिष्ट मण्डल (मिशन) को संगठित करना चाहिए, जिसमें भारतीय व्यापारी और आवश्यक प्राविधिक वर्ग हो और ये लोग ब्रिटिश कॉमनवेल्थ तथा अन्य पडोसी देशों में जाकर उनके आयात-व्यापार की दशा का अध्ययन करें। (२) सरकार को निर्यात के प्रकार और मात्रा के निर्धारण के लिए एक विस्तृत निर्यात-संगठन का निर्माण करना चाहिए और इसके व्यय के लिए थोड़ा-सा निर्यात-

१. देखिए, पीछे पृ० २७, और इण्डिया इन १९२८-२९, पृ० १९८।

उपकर लगाना चाहिए।

३७. भारत के वाणिज्यिक संगठन—सबसे अच्छे और सुसंगठित गैर-सरकारी व्यावसायिक संगठन यूरोपीय सौदागरों द्वारा बनाये गए। असोशियेटेड चेम्बर्स ऑफ़ कॉमर्स ऑफ़ इण्डिया तथा कलकत्ता (१८३४), बम्बई (१८३६) मद्रास (१८३६) और कानपुर तथा अन्य केन्द्रों के वाणिज्य-मण्डल इसके उदाहरण हैं। उनकी सदस्यता अभी हाल तक प्रधानतया यूरोपीयों की थी, यद्यपि यह भारतीयों के लिए भी खुली थी। यह पाश्चात्य व्यापारियों का भारत और पश्चिम के बीच व्यापार-सम्बन्ध स्थापित करने का स्वाभाविक परिणाम था। इन वाणिज्य-मण्डलों के अतिरिक्त व्यापार की विभिन्न शाखाओं का प्रतिनिधित्व करने वाले संगठन भी हैं, जैसे जूट और कपड़े की मिलों के संगठन तथा थोक व्यापारियों के संगठन अब तक भारतीय व्यावसायिक समुदाय समुचित संगठन के अभाव में हानि उठाता रहा है, किन्तु अब वे इसकी आवश्यकता के प्रति जागरूक हो रहे हैं। इस समय कितने ही विशुद्ध भारतीय संगठन हैं जैसे बंगाल राष्ट्रीय वाणिज्य मण्डल (बंगाल नेशनल चेम्बर ऑफ़ कॉमर्स) (१८८७) जोकि भारतीय व्यावसायिक समुदाय का सबसे पुराना संगठन है, भारतीय व्यापार-मण्डल और कार्यालय (इण्डियन मर्चेंट्स चेम्बर एण्ड ब्यूरो) बम्बई (१६०७), दक्षिण भारत वाणिज्य मण्डल (सदर्न इण्डिया चेम्बर ऑफ़ कॉमर्स) मद्रास (१६०६), भारतीय वाणिज्य मण्डल (इण्डियन चेम्बर ऑफ़ कॉमर्स), लाहौर (१६१२), भारतीय वाणिज्य मण्डल (इण्डियन चेम्बर्स ऑफ़ कॉमर्स), कलकत्ता (१६२५), महाराष्ट्र वाणिज्य मण्डल बम्बई (१६२७) तथा यू० पी० व्यापार मण्डल (१६३२)। एक अखिल भारतीय वाणिज्य और उद्योग मण्डल संघ भी है।[1] इन सबसे भारतीय व्यावसायिक मत को प्रकट करने में बड़ी सहायता प्राप्त हो सकती है तथा व्यापारिक और औद्योगिक विकास से सम्बन्धित समस्याओं पर सरकार को राय दी जा सकती है।

---

१. विस्तृत विवरण के लिए देखिए, कॉटन, पूर्वोद्धृत, भाग ४।

अध्याय ७

व्यापारिक समझौते

१. साम्राज्य अधिमान (इम्पीरियल प्रेफरेंस) आन्दोलन का इतिहास—साम्राज्य व्यापार के संगठन का आन्दोलन १८९७ में प्रारम्भ हुआ, जब कनाडा ने (साम्राज्य) ब्रिटिश वस्तुओं के लिए करों को १२½% कम कर दिया। १८९८ में २५% अधिमान देना निश्चित हुआ। यह अधिमान इंगलिस्तान को हर हालत में उपलब्ध था, परन्तु जहाँ तक अन्य उपनिवेशों का प्रश्न था, यह उनके कनाडा के पक्ष में व्यवहार करने पर निर्भर था। १९०२ में हुए औपनिवेशिक सम्मेलन ने साम्राज्य अधिमान की ऐसी रूपरेखा तैयार की, जो साधारणतया साम्राज्य के हर भाग में लागू होती थी। अतः अधिमान-कर (ग्रेट ब्रिटेन के पक्ष में) न्यूज़ीलैण्ड, साउथ अफ्रीका (१९०३) और बाद में आस्ट्रेलिया द्वारा लगाये गए। आशा की जाती थी कि ग्रेट ब्रिटेन भी इसका प्रतिदान करेगा और उन देशों को अधिमान देगा, लेकिन उस समय इंगलैण्ड अपनी स्वतन्त्र व्यापार-नीति को छोड़ने के लिए तैयार न था। वह मुख्यतया खाद्यान्न और कच्चे माल का आयात करता था और उसका दृष्टिकोण यह था कि निर्मित वस्तुओं के निर्यात को कायम रखने के लिए आवश्यक है कि वह सबसे सस्ते बाज़ारों में खाद्यान्न और कच्चा माल खरीदे—विशेष रूप से खाद्यान्न के प्रश्न में वह अपने 'सब अंडे एक साम्राज्य रूपी टोकरी में रखने के लिए' किसी भी कीमत पर तैयार न था। इस परिस्थिति में इंगलिस्तान (यू० के०) साम्राज्य अधिमान की ओर कोई बड़ा कदम उठाने में असमर्थ था। स्वतन्त्र उपनिवेशों ने इस आशा में अपनी नीति जारी रखी कि भविष्य में इंगलैण्ड उनका साथ अवश्य देगा। १९२० से ही उपनिवेशों ने इंगलैण्ड को बहुत अधिमान देना प्रारम्भ कर दिया और १९२२ तक २६ देशों में अधिमान-कर पद्धति आरम्भ हो गई थी। इस प्रकार उनके आयात-निर्यात-कर में (१) आगम (रेवेन्यू) कर, (२) संरक्षण कर और (३) इंगलिस्तान के प्रति एवं उसके पक्ष में तथा कभी-कभी भारत तथा साम्राज्य के अन्य देशों के पक्ष में भी करों में दी गई छूट सम्मिलित थी। वस्तुओं की एक ऐसी सूची भी थी जिसमें उन वस्तुओं का नाम था, जिन पर साम्राज्य के बाहर से आने पर ही कर लगता था। साधारणतः अधिमान का उद्देश्य ब्रिटेन को लाभान्वित करने का रहा है और साम्राज्य के अन्य देशों से इस विषय पर अलग समझौते करने होते थे। १९१५ से इंगलैण्ड ने संरक्षण की ओर कदम उठाए तथा साम्राज्य-उत्पादित कुछ वस्तुओं को अधिमान देने

लगा। किन्तु कर सम्बन्धी यह अधिमान कुछ वस्तुओं तक ही सीमित था। १९३२ (मार्च) में आयात-कर अधिनियम (इम्पोर्ट ड्यूटीज़ एक्ट) पास होने पर ब्रिटेन ने स्वतन्त्र व्यापार-नीति को औपचारिक रूप से त्याग दिया। साम्राज्य अधिमान की दृष्टि से यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना थी।

२. साम्राज्य अधिमान के प्रति भारत का रुख—साम्राज्य अधिमान को अपनाने में भारत की अनिच्छा अंशतः राजनीतिक कारणों के फलस्वरूप थी। भारत अन्य उपनिवेशों जैसा उत्साह प्रदर्शित न कर सका, क्योंकि साम्राज्य अधिमान का उद्देश्य उस साम्राज्य की शक्ति और एकता को दृढ़ करना था जिसकी सदस्यता भारत की राजनीतिक दासता का कारण थी तथा जो (साम्राज्य के) अन्य देशों में भारत के प्रति जातीय भेद-भाव और अन्याय को दूर करने या रोकने में असफल रहा था।

निम्न कारणों से साम्राज्य अधिमान से भारत को कोई आर्थिक लाभ भी नहीं था—

(१) भारत का निर्यात प्रधानतया खाद्यान्न और कच्चे माल का तथा आयात निर्मित वस्तुओं का है। (२) १९१४ के युद्ध के पूर्व उसके सम्पूर्ण आयात का दो-तिहाई ब्रिटिश साम्राज्य से आता था, जिसमें सबसे बड़ा भाग इंगलिस्तान का था। (३) १९१४-१८ के युद्ध के पहले भारतीय निर्यात के ४०% की खपत ब्रिटिश साम्राज्य में होती थी, शेष (अधिकांश) अन्य देशों को भेजा जाता था। कुल निर्यात का २५% केवल इंगलिस्तान को ही भेजा जाता था। (४) प्रथम विश्व-युद्ध के उपरान्त आयात-निर्यात दोनों में ही, परन्तु मुख्यतया आयात में ब्रिटेन और अन्य कॉमनवेल्थ देशों का महत्त्व घटता गया।

१९०३ में भारत सरकार ने यह मत प्रकट किया कि "आर्थिक दृष्टि से साम्राज्य को भारत से बहुत थोड़ा लाभ हो सकता है तथा इसके बदले में भारत को कम या कुछ भी लाभ नहीं होगा और बहुत-कुछ खोने की सम्भावना है।"[1] उन्हें भय था कि यदि भारत साम्राज्य वाले देशों को अधिमान देगा तो अन्य देश इसके विरुद्ध बदला लेने के उपायों का उपयोग करेंगे। भारत के बाजार उसके लिए इतने महत्त्वपूर्ण हैं कि वह इस प्रकार की अन्यायपूर्ण नीति का अनुसरण करके उन्हें खतरे में नहीं डाल सकता।

३. ओटावा-समझौता—जुलाई और अगस्त, १९३२ में ओटावा में हुए साम्राज्य आर्थिक सम्मेलन में साम्राज्य के देशों में पारस्परिक अधिमान के आधार पर कई व्यापारिक समझौते हुए। भारत ने भी साम्राज्य अधिमान की इस विस्तृत योजना में भाग लिया, जिसके प्रति वह कड़ा विरोध प्रकट कर चुका था। भारतीय आयात-निर्यात-कर (ओटावा व्यापारिक समझौता) संशोधन अधिनियम (दिसम्बर, १९३२) ने २० अगस्त, १९३२ में भारत और इंगलैण्ड के बीच हुए साधारण व्यापारिक समझौते के अन्तर्गत

---

१. १९२३ में भारत के प्रतिनिधियों द्वारा साम्राज्य आर्थिक सम्मेलन के समक्ष यह मत पुनः दुहराया गया।

आयात-निर्यात-कर सम्बन्धी आवश्यक परिवर्तनों को लागू किया।[1] कर-सम्बन्धी ये परिवर्तन १ जनवरी, १९३३ से लागू किये गए। लोहे और इस्पात के सम्बन्ध में एक पूरक समझौता २२ सितम्बर, १९३३ को किया गया।

४. ओटावा समझौता : पक्ष—१९२९ में प्रारम्भ होने वाले आर्थिक संकट की प्रथम दशा में सभी मूल्यों में भारी कमी हुई, लेकिन यह सापेक्षिक कमी कच्चे माल के सम्बन्ध में अधिक थी। फलतः कच्चे माल की पूर्ति करने वाले अन्य देशों के साथ भारत बुरी तरह आहत हुआ। इसके अतिरिक्त पाश्चात्य बाजारों में उसके निर्यात-व्यापार को अधिकाधिक प्रतिस्पर्धा का सामना करना पड़ रहा था। कितने ही नवीन देशों की नई भूमि—अफ्रीका, दक्षिण अमरीका तथा एशियाई द्वीपसमूह—की जुताई प्रारम्भ हो गई थी और परिवहन सुविधाओं के फलस्वरूप उनके उत्पादन विश्व के बाजारों में सरलता से आ रहे थे।

अन्य देशों में भी उत्पादन बढ़ रहा था—विदेशी निर्यातक, जो १९१४-१८ के युद्ध के पहले अपेक्षाकृत नगण्य थे, अब सबल प्रतिद्वन्द्वी सिद्ध हो रहे थे। हमारे निर्यात की कुछ प्रधान वस्तुओं ने भी प्रतिद्वन्द्विता का अनुभव किया, जैसे तिलहन, कपास, खाद्यान्न, लकड़ी इत्यादि। कितने ही यूरोपियन देशों तथा संयुक्त राज्य द्वारा उष्ण और अर्ध-उष्ण देशों में अपने उपनिवेशों की उत्पत्ति की माँग बढ़ाने की नीति का अनुसरण करने से स्थिति और विषम हो गई। एक अन्य कारण संश्लिष्ट विकल्पों (सिन्थेटिक सब्स्टिट्यूट्स) का शीघ्र विकास था। इनसे भारत के निर्यात की कुछ प्रमुख वस्तुओं की माँग घट गई। इसके अतिरिक्त कितने ही देशों ने 'आर्थिक एकान्तवाद' (इकनामिक आइसोलेशन) की नीति का अनुसरण किया और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के स्वतंत्र प्रवाह पर आयात-निर्यात-कर, विदेशी विनिमय-कर, कठोर नियन्त्रण एवं अन्य अनेक प्रतिबन्ध लगाए तथा कण्टिजेण्ट और कोटा सिस्टम को अपनाया।

इसी बीच (सितम्बर, १९३१) ग्रेट ब्रिटेन ने स्वर्ण-प्रमाप का परित्याग कर दिया। इससे भारत तथा साम्राज्य के प्रायः सभी देश पौण्ड से सम्बद्ध हो गए। ऊपर बताये गए आयात-कर अधिनियम (१९३२) के अनुसार ग्रेट ब्रिटेन में कितनी ही वस्तुओं—कुल आयात के लगभग ३/४ भाग—पर कर लगा दिया गया, यद्यपि साम्राज्य की वस्तुओं को इस कर से मुक्ति देने की व्यवस्था भी की गई थी। शर्त यह थी कि वे देश (डोमिनियन और भारत) ब्रिटेन से समझौता कर लें। इन सबका अन्त ओटावा समझौता के रूप में हुआ। इसके समर्थकों की राय में ऐसा करना भारत के लिए बुद्धिमानी थी, क्योंकि ऐसा न करने से उसके लिए विश्व के सबसे स्थिर और विशाल बाजार अर्थात् इंगलिस्तान के प्रवेश का द्वार बन्द हो जाता। जैसा ऊपर संकेत किया जा चुका है, भारत के निर्यात के द्वार बड़ी तेजी से बंद हो रहे थे। फ्रांस और जर्मनी जैसे अन्य देश मुद्रा सम्बन्धी कठिनाइयों से ग्रस्त थे। स्टर्लिंग समूह के देश अपेक्षाकृत इन कठिनाइयों से मुक्त थे। अतः इनसे व्यापार के सुव्यवस्थित और अबाध गति से

१. देखिए, अध्याय १२, सेक्शन ४; ब्रिटेन के लिए लाभदायक अधिमान-दर भारत लोहा-इस्पात-फैक्ट्री की सुरक्षा के लिए स्वीकार किये गए। देखिए, अध्याय २, सेक्शन ११ और २५।

चलते रहने की संभावना थी।

१९३२-३३, १९३३-३४ में इंगलिस्तान के साथ भारत का निर्यात लगभग २८.२% बढ़ गया, जबकि अन्य देशों के साथ केवल ४% वृद्धि हुई। यह सच है कि कच्चे माल की बढ़ती माँग इस वृद्धि के लिए उत्तरदायी थी। इसके अतिरिक्त इंगलिस्तान के १९३२-३३ के कच्चे माल के कुल आयात की वृद्धि के अनुपात की तुलना में भारत से आयात की वृद्धि का अनुपात अधिक था। इससे यह निष्कर्ष निकला कि १९३३-३४ में निर्यात व्यापार का प्रसार प्रधानतया अधिमान के ही कारण था।

१९३१ से १९३४ के बीच अधिमान-सूची की कुल वस्तुओं का आयात इंगलिस्तान में २२% घट गया। इस संकुचित होने वाले बाजार में भारत के आयात में वृद्धि हुई। अतः यह निष्कर्ष स्वाभाविक ही था कि इसमें साम्राज्य अधिमान का हाथ अवश्य रहा होगा। गैर-अधिमान वाली वस्तुओं के निर्यात में प्रसार होना अधिक आश्चर्य की बात नहीं थी, क्योंकि इन वस्तुओं को कोई कठिन प्रतिस्पर्धा का सामना नहीं करना पड़ता था। यही कारण था कि इन्हें अधिमान-सूची में सम्मिलित नहीं किया गया था। गैर-अधिमान समूह की वस्तुओं में कुछ और भी अनुकूल प्रभाव क्रियाशील थे, जिनसे इनकी माँग बढ़ गई। उदाहरणार्थ, कपास की माँग की वृद्धि अधिकांशतः लंकाशायर की भारतीय कपास समिति के प्रचार के कारण थी। रबर में होने वाली वृद्धि का कारण प्रतिबन्ध योजना थी। धातुओं की माँग की वृद्धि भारी उद्योगों की बढ़ती हुई क्रियाशीलता के कारण थी। लाख की माँग की वृद्धि का कारण लंदन गुट (रिंग) के परिकल्पनात्मक (स्पेकुलेटिव) क्रय थे।

समझौते के आलोचकों का यह तर्क, कि इंगलिस्तान से हमारे निर्यात-व्यापार की वृद्धि व्यापार के प्रवाह-परिवर्तन के कारण थी, इस विपक्षी तर्क से कट जाता है कि इंगलिस्तान को किये जाने वाले निर्यात की वृद्धि ओटावा समझौते के कारण मानी जा सकती है। परन्तु अन्य देशों को होने वाले निर्यात की कमी का तो ओटावा समझौते से कोई सम्बन्ध नहीं था, क्योंकि इसका कारण तो उन देशों द्वारा अपनाई गई आत्म-निर्भरता की नीति थी। वास्तव में इस प्रतिबन्धात्मक नीति के फलस्वरूप हुई व्यापार की हानि, जिसे भारत और इंगलैण्ड दोनों ही ने उठाया, ओटावा समझौते के समर्थन का प्रमुख आधार है। इसमें सन्देह नहीं कि तब तक भारत अपने दो-तिहाई निर्यात ब्रिटिश साम्राज्य से बाहर ही बेचता था, परन्तु विदेशी बाजारों पर अधिकार बनाये रखना उसके लिए कठिन होता जा रहा था। अतएव अधिमान-पद्धति आत्म-रक्षा के रूप में भारत द्वारा अपनाई गई। इसके कुछ परिणाम—उदाहरणार्थ विदेशों को निर्यात करने में कमी के फलस्वरूप (उनसे) अपने देश के आयात की कमी—निस्संदेह शोचनीय थे। यह परिणाम भारत की इच्छानुकुल न थे वरन् परिस्थितियों के कारण अवश्यंभावी थे। ओटावा समझौता के विरुद्ध एक यह भी तर्क दिया जाता था कि इससे भारत के विदेशी ग्राहक उससे बदला लेना शुरू कर देंगे। परन्तु विदेशों द्वारा लगाये गए व्यापारिक प्रतिबन्ध केवल भारत के लिए ही नहीं वरन् सभी देशों के लिए थे। व्यापार की ये नवीन नीतियाँ नये उद्देश्यों से

'अदृश्य आयात', जैसे गृह-व्यय, जहाजों का भाड़ा और भारत में विनियोजित विदेशी पूँजी से होने वाले लाभ, के रूप में इंगलैण्ड को बहुत-कुछ रुपया देता था, फिर भी १९३५-३६ तक इंगलिस्तान के साथ भारत का व्यापारिक सन्तुलन ऋणात्मक था। १९३६-३७ से भारत के पक्ष में पर्याप्त निर्यात की बचत हुई है। अतः यह कहा जाने लगा कि भविष्य में होने वाले व्यापारिक समझौते में भारत को इंगलैण्ड के साथ उदारता का बर्ताव करना चाहिए। व्यापार-संतुलन को द्विपक्षवाद के संकीर्ण आधार पर समझने से यह आवश्यक प्रतीत हुआ कि इंगलिस्तान से सौदों के आयात में अदृश्य आयातों को भी जोड़ दिया जाय। यह इसलिए और भी आवश्यक हो गया, क्योंकि यूरोपीय देशों के साथ त्रिपक्षी और बहुपक्षी व्यापार में कमी आ गई थी। अतएव इंगलिस्तान के साथ सौदों में अधिक निर्यात की बचत रखनी पड़ती थी। कुछ अंशों तक ओटावा समझौता ही इसके लिए उत्तरदायी था। इसके अतिरिक्त इंगलैण्ड को निर्यात की जाने वाली सामग्री बहुत अंशों में भारत में विनियोजित अंग्रेजी पूँजी से ही उत्पादित थी, अतएव इसे प्रतिबाधित करने का कोई प्रयत्न अंग्रेजी हितों के विरुद्ध था।[1]

ओटावा समझौते के प्रति असंतोष का एक प्रधान कारण यह भी था कि भारतीय प्रतिनिधि-मण्डल (जिसमें भारतीय वाणिज्य, उद्योग और कृषि के उत्तरदायी प्रतिनिधि सम्मिलित नहीं थे) अपने सौदा करने की शक्ति का पूरा उपयोग करने में असमर्थ रहा। उसने दिया अधिक और बदले में उसे मिला बहुत कम। समझौता बड़ी शीघ्रता से हुआ और जल्दी ही कार्यान्वित किया गया। इसमें जाँच करने वाली किसी योग्य समिति, जैसे प्रशुल्क-मण्डल (टैरिफ बोर्ड) इत्यादि, की सहायता नहीं ली गई, जो साम्राज्य के किसी उद्योग के प्रति अधिमानपूर्ण व्यवहार की सिफारिश करने से पहले उन्हें उसी प्रकार कसौटी पर कसती जिस प्रकार विवेचनात्मक संरक्षण प्रदान करते समय उद्योगों की जाँच की जाती है।

ओटावा समझौते पर धारासभा (असेम्बली) द्वारा विरोधी निर्णय की चर्चा करने से पहले हम बम्बई-लंकाशायर-टेक्सटाइल समझौते (१९३३) और पूरक आंग्ल-भारतीय समझौते (१९३५) का पुनर्विलोकन करना चाहेंगे।

६. बम्बई-लंकाशायर टेक्सटाइल समझौता (मोदी लीज़ पेक्ट)—जिस समय (१९३३ में) भारत और जापान के बीच व्यापारिक समझौते की वार्ता चल रही थी, सितम्बर १९३३ में बम्बई में ब्रिटिश और भारतीय सूती वस्त्र-उद्योग के प्रतिनिधियों में सम्मेलन के फलस्वरूप एक समझौता हुआ। यह समझौता बम्बई मिल-मालिक संस्था, जिसके अध्यक्ष सर होमी मोदी थे और ब्रिटिश टेक्सटाइल मिशन, जो सर विलियम क्लेयर लीज की अध्यक्षता में भारत आया था, के बीच हुआ। यह समझौता, जो 'मोदी-लीज' समझौते के नाम से भी प्रसिद्ध है, ३१ दिसम्बर १९३५ तक के लिए लागू था। भारतीय सूती मिलों के प्रतिनिधियों में काफी मतभेद था और एक

१. देखिए, डॉ० बी० के० आर० वी० राव का लेख, 'दि इंडो-ब्रिटिश ट्रेड एग्रीमेण्ट', इंडियन टेक्सटाइल जरनल, अप्रैल, १९३७।

सामान्य मत पर आने के प्रयत्न असफल रहे, फिर भी लंकाशायर और बम्बई की मिल-मालिक संस्था के बीच समझौता सम्भव हुआ। यह समझौता आंग्ल-भारतीय पूरक समझौते का अग्रदूत था (देखिए, सेक्शन ७)। इसमें उद्योगों को इंगलिस्तान से भी संरक्षित रखने के भारतीय अधिकार को स्वीकार किया गया, परन्तु यह भी स्वीकार किया गया कि इंगलिस्तान की तुलना में अन्य देशों से उच्चतर स्तर का संरक्षण आवश्यक था।[1]

देश की आगम (रेवेन्यू) स्थिति के फलस्वरूप ब्रिटेन से भारत में आने वाले सभी आयात पर अक्तूवर, १९३१ से लगे अधिभार को हटाना सम्भव होने पर, भारत में आने वाले इंगलिस्तानी कपड़े पर प्रशुल्क की स्थिति को स्थिर करने की व्यवस्था की गई। भारत की ओर से यह स्वीकार किया गया कि भारत में लंकाशायर से आने वाले कृत्रिम रेशम और सूती सूत पर निम्न प्रमाप से कर लगेगा। इसे १९२४ के भारतीय प्रशुल्क (सूती वस्त्र संरक्षण) संशोधन अधिनियम में सम्मिलित कर लिया गया। जहाँ तक साम्राज्य तथा अन्य समुद्र-पार देशों का सम्बन्ध था, यह समझौता किया गया कि ब्रिटिश वस्तुओं के लिए जिन किन्हीं भी लाभदायक शर्तों की व्यवस्था की जा सकेगी भारतीय वस्तुओं के लिए भी उसे लागू किया जायगा और उन बाजारों में जहाँ अँग्रेजी वस्तुओं को कोटा मिलेगा भारतीय वस्तुओं को भी उसमें सम्मिलित करने की व्यवस्था की जायगी। कच्चे कपास के सम्बन्ध में यह आश्वासन दिया गया कि ब्रिटिश मिशन भारतीय कपास-उत्पादकों के हित में भारत के कच्चे कपास को लोकप्रिय बनाने के लिए प्रभावपूर्ण कार्यवाही की सिफारिश करेगा।

बम्बई-लंकाशायर समझौता साम्राज्य के औद्योगिक सहयोग द्वारा भारतीय और अँग्रेजी हितों के संयोजन का प्रथम प्रयत्न था। कुछ लोगों के मत में यह समझौता स्वयं ही पर्याप्त रूप से न्यायोचित था। इससे लंकाशायर द्वारा भारत के कपास की माँग में वृद्धि हुई और इस तरह भारत के किसानों को बड़ा लाभ पहुँचा। लंकाशायर ने अपने विरुद्ध भी भारत के वस्त्र उद्योग को सुरक्षित करने की आवश्यकता को मान्यता दी और भारतीय वस्तुओं (कपड़ों) को उपनिवेशों तथा अन्य समुद्र-पार देशों के बाजारों में स्थान दिलाने का प्रयत्न करने का वचन दिया।

इसके विपरीत समझौते के आलोचकों का कथन है कि इसे सम्पूर्ण (भारतीय) सूती वस्त्र उद्योग का समर्थन प्राप्त नहीं था तथा भारत ने (सूती और कृत्रिम रेशमी कपड़ों पर कर घटाकर) लंकाशायर को निश्चित और पर्याप्त लाभ प्रदान किये, परन्तु इसके बदले में लंकाशायर ने केवल अनिश्चित आश्वासन मात्र ही दिये। इसका फल यह हुआ कि पहले के संरक्षण की तुलना में उद्योग का बहुत-कुछ संरक्षण हट गया। समुद्र-पार बाजारों की दृष्टि से भी जब बम्बई की मिलें अपने देश के बाजार में ही बिना सहायता के खड़ी नहीं हो सकती थीं तो समुद्र-पार बाजारों में लंकाशायर की सहानुभूति से उनके स्थान प्राप्त करने की कम ही आशा थी। अन्त में, जहाँ तक लंकाशायर की मिलों द्वारा भारतीय कपास के उपभोग का प्रश्न था, लंकाशायर ने

१. बी० के० मदन, इण्डिया एण्ड इम्पीरियल प्रेफरेन्स, पृ० १६२।

एक बड़ी ही अनिश्चित प्रतिज्ञा की थी कि जापान के समझौते की तरह लंकाशायर भारतीय कपास की कम-से-कम एक निश्चित मात्रा खरीदने के लिए बाध्य न था।

७. (१९३५) का पूरक आंग्ल भारतीय व्यापारिक समझौता—१९३३ के बम्बई-लंकाशायर समझौते के उपरान्त १९३४ में (वस्तुत: ९ जनवरी, १९३५ में) एक आंग्ल-भारतीय व्यापारिक समझौता किया गया। यह ओटावा समझौते का पूरक था और उसकी अवधि तक ही लागू रहा।

भारत सरकार ने केवल उन उद्योगों को संरक्षण देना निश्चय किया जो विवेचनात्मक संरक्षण की नीति के अनुसार प्रशुल्क-मण्डल की उचित जाँच के उपरान्त योग्य पाए जायँ। संरक्षण प्रदान करने में भारत-उत्पादित वस्तुओं तथा आयात की हुई वस्तुओं के मूल्य को बराबर करने का प्रयत्न किया गया था और इस सीमा के अन्दर सम्भव होने पर इंगलिस्तान की वस्तुओं पर कम कर लगाने की व्यवस्था थी। किसी उद्योग को संरक्षण देने का प्रश्न प्रशुल्क-मण्डल को सौंपने पर सरकार ने ब्रिटेन-स्थित किसी भी उद्योग को स्वतन्त्रतापूर्वक अपना पक्ष प्रस्तुत करने और उसका उत्तर देने का वचन दिया। भारत सरकार ने यह भी आश्वासन दिया कि संरक्षण-प्राप्त उद्योग की स्थिति में भारी परिवर्तन होने पर भारत सरकार वर्तमान करों की पूरी-पूरी जाँच करके उनके औचित्य को निर्धारित करने का प्रयास करेगी और ऐसा करते समय ब्रिटेन के हितों के विरोध पर पूरा ध्यान देगी।

इंगलिस्तान की सरकार ने भी अपनी ओर से भारत के उस कच्चे माल या आधे तैयार माल के आयात को विकसित करने का आश्वासन दिया, जो उन वस्तुओं के निर्माण में प्रयुक्त होता हो जिस पर भारत में भेदात्मक आयात-कर लगे हों। उन्होंने (ओटावा समझौते के ८वें अनुच्छेद और मोदी लीज़ पेक्ट के अनुसार) भारतीय कपास की खपत को अनुसन्धान, व्यापारिक जाँच-पड़ताल, बाज़ार-सम्बन्ध तथा प्रचार आदि हर उपाय से बढ़ाने का वचन दिया। उन्होंने भारत के खान से निकले लोहे (पिग आइरन) को बिना कर के ब्रिटेन में प्रवेश करने का वचन दिया। शर्त यह थी कि इंगलिस्तान से आयात की जाने वाली लोहे और इस्पात की वस्तुओं के लिए लगाया गया कर १९३४ के लोहा और इस्पात अधिनियम (आइरन एण्ड स्टील एक्ट) में प्रस्तावित करों से कम अनुकूल न हो।

समझौते के समर्थकों का मत था कि इसके द्वारा ओटावा समझौते में निहित प्रतिज्ञाओं तथा मोदी लीज़ पेक्ट की निश्चित प्रतिज्ञाओं को कार्यान्वित किया गया। समझौते से भारत का कपास तथा कच्चे और आधे तैयार माल का उपभोग बढ़ गया और भारत का खान से निकला लोहा (पिग आइरन) इंगलैण्ड में बिना कर के प्रवेश पाने लगा। उपनिवेशों और संरक्षित देशों (प्रोटेक्टरेट) से इंगलिस्तान को मिलने वाली सुविधाओं में भारत को भी हिस्सा देने का वायदा किया गया था।

इसके विपरीत, गैर-सरकारी व्यापारिक मत इसके विरुद्ध था, क्योंकि इससे १९२३ में स्थापित विवेचनात्मक संरक्षण और अर्थ-स्वतन्त्रता-समझौते (फिस्कल आटोनोमी कन्वेंशन) का प्रभाव नष्ट हो गया। समझौते में पारस्परिक समता का भी

अभाव था। इसमें भारतीय हितों की अपेक्षा ब्रिटिश हितों का अधिक ध्यान रखा गया था जबकि भारत ने निश्चित प्रतिज्ञाएँ की। ब्रिटेन ने भारतीय कपास के उपभोग के विकास-विषयक विभिन्न उपचारों पर विचार करना-भर प्रस्तावित किया और ऐसे वायदे किये जिनका निकट भविष्य में कोई वास्तविक मूल्य और उपयोग न था।

यह भी कहा गया कि इस समझौते में कोटा या कर के प्रतिशत में कमी से कहीं भयंकर सिद्धान्तों की व्याख्या की गई। जब संरक्षण एक निश्चित समय के लिए स्वीकार कर लिया गया था, फिर उस प्रश्न को इंगलिस्तान के कहने से पुनः उठाना वाञ्छनीय नहीं था। इस प्रकार की नीति भारत के औद्योगिक विकास के लिए बाधक सिद्ध होने के अतिरिक्त नये उद्योगों के प्रारम्भ के लिए घातक सिद्ध होगी।

यह पूरक-व्यापारिक समझौता ओटावा समझौते के साथ ही समाप्त हो गया और इसे फिर से नया करने का प्रयत्न नहीं किया गया।

८. ओटावा-समझौते पर धारासभा का विरोधी निर्णय—३० मार्च, १९३६ में भारतीय धारासभा ने एक प्रस्ताव द्वारा ओटावा समझौते तथा इसके पूरक ब्रिटिश व्यापारिक समझौते को अस्वीकृत कर दिया और इनके लागू रहने के विरुद्ध मत प्रकट किया।

चूँकि भारत सरकार धारा (विधान) सभा के निर्णय को मानने के लिए मजबूर थी, अतः १३ मई, १९३६ को छः महीने के अन्दर इसे समाप्त करने की अधिसूचना (नोटिस) दी गई। नोटिस में दिये गए इस छः महीने के समय में एक नया समझौता करने का अवसर मिल गया। भारत तथा ब्रिटिश सरकार के बीच बातचीत चलने लगी। पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास के नेतृत्व में गैर-सरकारी मण्डल ने परामर्श देकर भारत सरकार की सहायता की। २० अक्तूबर, १९३६ को वाणिज्य विभाग द्वारा प्रकाशित एक विज्ञप्ति में बताया गया कि दोनों सरकारों ने यह स्वीकार किया है कि एक नया समझौता होने तक १९३२ का समझौता लागू रहेगा, जिसे (किसी भी ओर से) तीन महीने का नोटिस देकर रद्द किया जा सकता है। यह भी कहा गया कि समझौता न भी हो तब भी दोनों पक्षों को अपने अधिमानों को दूसरे से राय लिये बिना हटाना या रोकना नहीं चाहिए।

९. आंग्ल-भारतीय व्यापारिक समझौता (१९३९)[१]—यह बातचीत ढाई वर्ष तक चलती रही। इसके उपरान्त पहले के दोनों समझौतों के स्थान पर १९३९ में एक नया समझौता किया गया। गवर्नर जनरल ने अपने प्रमाणन (सर्टीफिकेशन) अधिकार का अनुसरण करते हुए इसे वैध रूप दिया। नये समझौते में ओटावा समझौते का रूप बहुत बदल दिया गया। यद्यपि अब भी भारत के निर्यात की अनेक वस्तुएँ अधिमान-क्षेत्र के अन्तर्गत थीं, किन्तु ब्रिटेन को दिये गए अधिमान का क्षेत्र काफी संकुचित कर दिया गया, क्योंकि पुरानी अधिमान-पद्धति के अन्तर्गत खाद्य, पेय, तम्बाकू तथा कच्चे और अर्ध-निर्मित माल अब अधिमान के अधिकारी नहीं रहे।

---

१. देखिए, मदन, पूर्वोद्धृत, पृ० २२२-४९, तथा बी० पी० अदारकर, 'द इण्डियन फिस्कल पॉलिसी', पृ० ५५९-६२।

नये समझौते में अधिकतर मदों का सम्बन्ध विशिष्ट उत्पादनों (जिनका भारत में उत्पादन नहीं होता था) से था, जैसे मोटरकार, साइकल इत्यादि ।

जहाँ तक अन्य मदों का सम्बन्ध था (उदाहरणार्थ ऊनी कालीन, कम्बल, औषधियाँ आदि) ब्रिटेन से इनके विशेप प्रकार मँगाए जाते थे जिनका उत्पादन भारत में नगण्य था। अधिमान की कुछ मदों की पुनः परिभापा की गई, ताकि भारतीय उपभोक्ता के हित में अनेक वस्तुएँ, जो पहले अधिमान की अधिकारी थीं, अब अधिमान न पाएँ । एक महत्त्वपूर्ण अन्तर यह हुआ, जबकि ओटावा समझौते में भारत में संरक्षण-प्राप्त वस्तुओं को बिलकुल अछूता छोड़ दिया था, नये समझौते में लंकाशायर की वस्तुओं पर लगे करों की व्यवस्था को सन्निहित किया गया था, हालाँकि सरकारी तौर पर भारतीय सूती वस्त्र उद्योग संरक्षित उद्योग था । अब वस्तुस्थिति संरक्षण के अन्दर अधिमान देने की न होकर अधिमान के अन्दर संरक्षरण देने की हो गई ।

भारत ने ब्रिटिश से आयात की जाने वाली अनेक वस्तुओं, जैसे रसायन, रंग, कपड़ों के अवशिष्ट, ऊनी कालीनों, सीने की मशीनों इत्यादि, पर १०% तथा मोटरकार, मोटर साइकल और स्कूटर, साइकल तथा आम्नीवस पर ७½% अधिमान दिया ।

इंगलिस्तान ने कुछ वस्तुओं (जैसे लाख, कच्चा जूट इत्यादि) के स्वतन्त्र प्रवेश के अतिरिक्त निम्न मुख्य अधिमान दिये—(१) हड्डियाँ, तिल्ली, रेंडी, मूँगफली, चमड़ा, सोयाबीन और मसालों को मूल्यानुसार १०% का अधिमान दिया गया । (२) अन्य वस्तुओं के अतिरिक्त कुछ जूट-निर्मित वस्तुओं, जैसे डोरी, रस्सी आद, रेंडी का तेल, रेपसीड (एक प्रकार की सरसों) का तेल, तिल्ली का तेल, मूँगफली का तेल, चमड़ा और पैराफिन मोम को १५% का अधिमान दिया गया। (३) ताड़ की चटाई, कपास-निर्मित वस्तुएँ, कुछ प्रकार की जूट-निर्मित वस्तुएँ, जैसे बोरे, थैलों आदि, को २०% का अधिमान दिया गया। (४) मैगनेशियम क्लोराइड (१ शि० प्रति हंड्रेडवेट) हाथ से बुनी दरियाँ और फर्श की दरियाँ (४ शि० ६ पें० प्रति वर्गगज), कहवा (६ शि० ४ पें० प्रति हंड्रेडवेट), चाय (२ शि० प्रति पौण्ड) और चावल (⅔ पें० प्रति पौण्ड) को इन विशिष्ट दरों से अधिमान दिया गया ।

जहाँ तक खान से निकले लोहे (पिग आयरन) का सवाल है, हालाँकि इसका आयात ब्रिटेन में बिना कर के था, फिर भी ब्रिटिश सरकार ने यह अधिकार सुरक्षित रखा था कि यदि १९३४ के लोहे और इस्पात सम्बन्धी अधिनियम के समाप्त होने के बाद भारत में ब्रिटेन से भेजे गए लोहे और इस्पात की वस्तुओं पर अधिनियम में प्रस्तावित दरों से अधिक प्रतिकूल कर लगाये गए तो वह भी भारत के खान से निकले लोहे (पिग आयरन) पर (३१ मार्च, १९४१ के बाद) कर लगा देगा ।

भारत से वर्मा के अलग हो जाने पर कुछ अधिमान समाप्त हो गए (उदाहरणार्थ उत्खनित (खान से निकला) सीसा, चावल इत्यादि) और कुछ का मूल्य भी घट गया (जैसे साखू (टीक) की लकड़ी, मोम, चावल, तम्बाकू) ।

हम इस बात की पहले ही पूरी व्याख्या कर चुके हैं कि किस प्रकार नये

समझौते में कपास की वस्तुओं पर (घटते-बढ़ते क्रम से) विष्टय अनुमाप से कर लगाये गए और कैसे उसे एक ओर तो भारत से ब्रिटेन को निर्यात की जाने वाली कपास और दूसरी ओर ब्रिटेन से भारत आने वाले सूती कपड़ों से सम्बद्ध कर दिया गया। सच तो यह है कि यही समझौते का आधार-भाग था।

जहाँ तक उपनिवेशों का सम्बन्ध है नया समझौता ओटावा समझौते से इस अंश में भिन्न था कि इसमें सीलोन के साथ एक अलग व्यापार-सन्धि की व्यवस्था थी। सीलोन को ओटावा के अधिमान प्रमापों का समझौते के छः महीने बाद तक उपयोग करने का अवसर दिया गया।[1] एक या दो अपवादों को छोड़कर भारत और उपनिवेशों के बीच पारस्परिक अधिमान ज्यों-के-त्यों बने रहे।

साधारण तौर पर यह कहा जा सकता है कि समझौते को न तो भारतीय सूती वस्त्र उद्योग का और न व्यावसायिक संगठनों का ही समर्थन प्राप्त हो सका।

पहले तो सरकार द्वारा धारासभा के निर्णय को ठुकराकर प्रमाणन के अधिकार से बिल को पास करने के कारण बड़ा असन्तोष हुआ। इस बात को दृष्टि में रखने पर यह कार्य और भी खलने लगा कि पहले सरकार ने ओटावा समझौते के विषय में धारासभा के विरोधी निर्णय और अर्थ-आयोग के इस सुझाव को कि भारतीय विधानमण्डल की अनुमति के बिना कोई भी अधिमान न दिया जाय, स्वीकार किया था।

दूसरे समझौते में उस समय की भारत की स्थिति को ध्यान में नहीं रखा गया। तत्कालीन भारत एक ऋणी देश था, जिसे 'अदृश्य आयात' के लिए ब्रिटिश साम्राज्य को बहुत अधिक देना था। अतएव उसे व्यापारिक सन्तुलन के लेखों में निर्यात की अधिकता बनाये रखना आवश्यक था। सरकार ने गैर-सरकारी परामर्श-दाताओं के मत की भी उपेक्षा की, जिसमें उन्होंने भारतीय बीमा कम्पनियों, बैंकिंग तथा जहाजी कम्पनियों के पक्ष में भेदात्मक नीति के विरुद्ध और समान अवसरों की प्राप्ति के लिए सुझाव रखा था। नवीन व्यापारिक समझौतों का मूल्यांकन करते समय यह आवश्यक था कि भारतीय इस्पात संरक्षण अधिनियम के अन्तर्गत इंग-लिस्तान को दिये गए अधिमानों को भी ध्यान में रखा जाय।[2]

भारत में अंग्रेजों को प्राप्त अधिमान गैर-सरकारी परामर्शदाताओं के सुझावों से कहीं अधिक थे तथा भारत को अन्य महाद्वीपीय देशों के साथ समझौता करने से वंचित होना पड़ा, क्योंकि उन्हें बदले में देने के लिए भारत के पास बहुत कम या कुछ भी न था।

यद्यपि भारत द्वारा इंगलैण्ड को दिये गए अधिमान ब्रिटेन के लिए निश्चय

१. यह अवधि १५ फरवरी, १९४० को समाप्त हो गई, लेकिन भारतीय प्रवासियों के सम्बन्ध में सीलोन और भारत सरकार से समझौता होने की कठिनाइयों के कारण व्यापारिक सन्धि की बात सफल न हो सकी।

२. देखिए, इण्डियन टेक्स्टाइल जरनल (अप्रैल १९३७), इण्डो-ब्रिटिश ट्रेड पैक्ट, डॉ० बी० के० आर० वी० राव।

ही लाभदायक थे, जबकि ब्रिटेन द्वारा भारत को दिये गए आश्वासन केवल आश्वासन अथवा नकारात्मक सुरक्षा के अलावा कुछ नहीं थे। कारण यह था कि इंगलिस्तान को दिये गए अधिमान उन वस्तुओं से सम्बन्धित थे जिनमें इंगलिस्तान के निर्यातकों को अति कठिन प्रतिस्पर्धा का सामना करना पड़ता था, जबकि सरकारी अनुमान के अनुसार भारत द्वारा ब्रिटेन को निर्यात की जाने वाली अधिमान-प्राप्त वस्तुओं का व्यापारिक मूल्य ३६·८६ करोड़ रु० था और ब्रिटेन द्वारा भारत में भेजी जाने वाली अधिमान-प्राप्त वस्तुओं का मूल्य केवल ७·६८ करोड़ रु०; गैर-सरकारी अनुमान के अनुसार भारत की प्रभावपूर्ण अधिमान-प्राप्त वस्तुओं (जैसे अलसी, ऊनी कालीन, कम्बल आदि) का मूल्य केवल ६ करोड़ रु० था। इस श्रेणी में कर-मुक्त वस्तुओं की गणना करना उचित न होगा, क्योंकि ब्रिटेन उन वस्तुओं पर कर लगा ही नहीं सकता था (उदाहरण के लिए कच्चा जूट), क्योंकि ये वस्तुएँ प्रमुख ब्रिटिश उद्योगों के लिए अनिवार्य थीं। इसके विपरीत, ब्रिटेन को प्रधानतया निर्यात वस्तुओं, जैसे पेण्ट रसायन, औज़ार और वस्त्र आदि, के सम्बन्ध में अधिमान दिया गया था, जो देश के गृह-उद्योगों के विकास में बाधक था, परन्तु ब्रिटेन द्वारा भारत को दिया गया अधिमान केवल उस कच्चे माल से सम्बन्धित था जो ब्रिटेन के उद्योगों और शस्त्रीकरण योजना के चालू रखने के लिए आवश्यक था।

भारतीय निर्यात को दिये गए अधिमानों की अन्य आधारों पर आलोचना की गई। गेहूँ के अधिमान की हानि, (पुराने अधिमान को इस आधार पर हटाया गया कि यह भारत के लिए विशेष महत्त्व का नही था, किन्तु वास्तविक कारण तो यह था कि अमरीका के गेहूँ को ब्रिटिश बाजारों में प्रवेश की अधिक स्वतन्त्रता देनी थी) चावल के अधिमान में कमी, तिलहन पर रखी गई असुविधाओं को हटाने से सरकार का इनकार करना, क्रोम चमड़े के अधिमान में कमी तथा भारत की हाथ से बनी दरियों पर दिये गए अधिमान की कमी आदि आलोचना के मुख्य विषय थे।

लंकाशायर के लिए भारतीय कपास के निर्यात को भारत में ब्रिटिश कपड़ों के आयात से सम्बद्ध करने की बहुत आलोचना हुई। इस व्यवस्था में गैर-सरकारी परामर्शदाताओं के मत की उपेक्षा की गई। जहाँ तक भारत का सम्बन्ध था, उसे समान लाभ मिलने की कोई व्यवस्था न थी। जहाँ तक इंगलिस्तान द्वारा एक निश्चित मात्रा में कपास खरीदने का प्रश्न था उससे ब्रिटेन की कोई विशेष हानि होने की सम्भावना न थी। यह मात्रा भी साधारणतया लंकाशायर द्वारा खरीदी जाने वाली मात्रा से कम ही थी। इसके स्थान पर भारत से ब्रिटेन के कपास की वस्तुओं की एक निश्चित मात्रा खरीदने का आश्वासन देने के लिए कहा गया जो समझौते से पूर्व के आयात से कहीं अधिक थी। इसके अतिरिक्त विभिन्न प्रकार के कपास के अनुपातों के बारे में कुछ भी नहीं कहा गया, यद्यपि भारत के कपास-उत्पादकों ने इस बात की माँग की थी कि ब्रिटेन द्वारा खरीदी जाने वाली कपास का ६५ प्रतिशत छोटे रेशे की कपास होनी चाहिए। भारतीय गैर-सरकारी सलाहकारों के इस मत के बावजूद भी कि यदि भारतीय कपास-उद्योग पर और अधिक अप्रत्यक्ष कर लगाया

गया तो ब्रिटेन के कपड़ों पर भी प्रतिशुल्क लगा दिया जायगा। लम्बे रेशे के कपास पर लगा आयात-कर दूना कर दिया गया। इससे भारत के सूती मिल उद्योग का संरक्षण कम हो गया, हाथ से बुनने वाले उद्योग पर भी बुरा प्रभाव पड़ा और नये व्यापारिक प्रस्तावों के प्रति एक विरोधी धारणा उत्पन्न की गई।

नये समझौते को सरसरी निगाह से देखने पर ऐसा लगता है कि ओटावा समझौते में काफी सुधार हुआ है। जहाँ तक अधिमानों के पारस्परिक विनिमय का प्रश्न था कपास के अनुच्छेद (कॉटन आर्टिकल) को छोड़कर इसे न्यायसंगत भी कहा जा सकता था। जहाँ तक लंकाशायर के कपड़े लेने और भारतीय कपास देने का प्रश्न है, भारत के लम्बे रेशे के कपास के आयात के द्विगुणित कर को ध्यान में रखते हुए, समझौता लंकाशायर के पक्ष में बहुत अधिक था। यद्यपि गैर-सरकारी सलाहकारों द्वारा रखे गए सुझाव बहुत आकर्षक नहीं थे, फिर भी उनमें से कुछ, जैसे भारतीय कपास के निर्यात या लंकाशायर के कपड़ों के आयात से सम्बन्धित, सुझावों[1] को भी समझौते में शामिल करना चाहिए था। इससे समझौते के लिए एक ग्राह्य आधार प्राप्त हो जाता।

१०. भारत-जापानी समझौते की उत्पत्ति (१९३४)—१९०४ के पुराने भारत-जापानी व्यापारिक सम्मेलन का अप्रैल, १९३३ में भारत सरकार द्वारा विरोध किया गया था। इसकी चर्चा हम पहले ही कर चुके हैं।[2] १९३२ के आरम्भ से येन के मूल्य में हुए क्रामक ह्रास से १९३२-३३ में भारत के लिए जापान के निर्यात अत्यधिक अनुकूल हो गए। भारतीय मिलों को गम्भीर संकट का सामना करना पड़ा और भारत सरकार को हस्तक्षेप करना पड़ा। अगस्त, १९३२ में गैर-ब्रिटिश भूरे कपड़े पर मूल्यानुसार ५०% आयात-कर की वृद्धि और ५¼ आना प्रति पौण्ड का विशिष्ट कर भी जापानी प्रतिस्पर्धा कम करने में असमर्थ रहा। अतएव भारत की कपड़े की मिलें और अधिक संरक्षण के लिए आवाज़ उठाती रहीं। भारत सरकार की ओर से ब्रिटेन की सरकार ने जापान की सरकार को छः महीने के अन्दर पुराने (१९०४) समझौते को रद्द करने की सूचना दी। उस समझौते में जापान के साथ बड़ा ही अनुकूल व्यवहार किया जाता था। जब तक १९०४ का व्यापारिक समझौता प्रभावपूर्ण था तब तक भारत सरकार अकेले जापान के विरुद्ध कोई भी कदम उठाने में असमर्थ थी। १९३३ (अप्रैल) में पास किये गए उद्योग सुरक्षा अधिनियम (सेफगार्डिंग ऑफ़ इण्डस्ट्रीज़ एक्ट), जिसके अनुसार भारत सरकार विदेशी सस्ते माल के आयात से देश के उद्योगों को खतरा

---

१. समझौते में एक निश्चित किये गए ३५००, ४२५०, ५००० लाख गज कपड़े के आयात के स्थान पर गैर-सरकारी सलाहकारों ने इंगलिस्तानी कपड़े के आयात की निम्नतम, मध्यम और अधिकतम सीमाएँ क्रमशः २०००, ३०००, ४००० लाख गज निश्चित कीं। कच्चे कपास के सम्बन्ध में इनकी माँग थी कि इंगलिस्तान को १० लाख गाँठें भारत से लेना चाहिए और कम-से-कम ६½ लाख गाँठें लेने की गारण्टी देनी चाहिए। समझौते में १९३९ में ५ लाख, १९४० में ५½ लाख और इसके बाद ६ लाख गाँठों के आयात की ही व्यवस्था थी।

२. देखिए, पृ० २८।

ही लाभदायक थे, जबकि ब्रिटेन द्वारा भारत को दिये गए आश्वासन केवल आश्वासन अथवा नकारात्मक सुरक्षा के अलावा कुछ नहीं थे। कारण यह था कि इंगलिस्तान को दिये गए अधिमान उन वस्तुओं से सम्बन्धित थे जिनमें इंगलिस्तान के निर्यातकों को अति कठिन प्रतिस्पर्धा का सामना करना पड़ता था, जबकि सरकारी अनुमान के अनुसार भारत द्वारा ब्रिटेन को निर्यात की जाने वाली अधिमान-प्राप्त वस्तुओं का व्यापारिक मूल्य ३६·८६ करोड़ रु० था और ब्रिटेन द्वारा भारत में भेजी जाने वाली अधिमान-प्राप्त वस्तुओं का मूल्य केवल ७·६८ करोड़ रु०; गैर-सरकारी अनुमान के अनुसार भारत की प्रभावपूर्ण अधिमान-प्राप्त वस्तुओं (जैसे अलसी, ऊनी कालीन, कम्बल आदि) का मूल्य केवल ६ करोड़ रु० था। इस श्रेणी में कर-मुक्त वस्तुओं की गणना करना उचित न होगा, क्योंकि ब्रिटेन उन वस्तुओं पर कर लगा ही नहीं सकता था (उदाहरण के लिए कच्चा जूट), क्योंकि ये वस्तुएँ प्रमुख ब्रिटिश उद्योगों के लिए अनिवार्य थीं। इसके विपरीत, ब्रिटेन को प्रधानतया निर्यात वस्तुओं, जैसे पेण्ट रसायन, औज़ार और वस्त्र आदि, के सम्बन्ध में अधिमान दिया गया था, जो देश के गृह-उद्योगों के विकास में बाधक था, परन्तु ब्रिटेन द्वारा भारत को दिया गया अधिमान केवल उस कच्चे माल से सम्बन्धित था जो ब्रिटेन के उद्योगों और शस्त्रीकरण योजना के चालू रखने के लिए आवश्यक था।

भारतीय निर्यात को दिये गए अधिमानों की अन्य आधारों पर आलोचना की गई। गेहूँ के अधिमान की हानि, (पुराने अधिमान को इस आधार पर हटाया गया कि यह भारत के लिए विशेष महत्त्व का नहीं था, किन्तु वास्तविक कारण तो यह था कि अमरीका के गेहूँ को ब्रिटिश बाजारों में प्रवेश की अधिक स्वतन्त्रता देनी थी) चावल के अधिमान में कमी, तिलहन पर रखी गई असुविधाओं को हटाने से सरकार का इनकार करना, क्रोम चमड़े के अधिमान में कमी तथा भारत की हाथ से बनी दरियों पर दिये गए अधिमान की कमी आदि आलोचना के मुख्य विषय थे।

लंकाशायर के लिए भारतीय कपास के निर्यात को भारत में ब्रिटिश कपड़ों के आयात से सम्बद्ध करने की बहुत आलोचना हुई। इस व्यवस्था में गैर-सरकारी परामर्शदाताओं के मत की उपेक्षा की गई। जहाँ तक भारत का सम्बन्ध था, उसे समान लाभ मिलने की कोई व्यवस्था न थी। जहाँ तक इंगलिस्तान द्वारा एक निश्चित मात्रा में कपास खरीदने का प्रश्न था उससे ब्रिटेन की कोई विशेष हानि होने की सम्भावना न थी। यह मात्रा भी साधारणतया लंकाशायर द्वारा खरीदी जाने वाली मात्रा से कम ही थी। इसके स्थान पर भारत से ब्रिटेन के कपास की वस्तुओं की एक निश्चित मात्रा खरीदने का आश्वासन देने के लिए कहा गया जो समझौते से पूर्व के आयात से कहीं अधिक थी। इसके अतिरिक्त विभिन्न प्रकार के कपास के अनुपातों के बारे में कुछ भी नहीं कहा गया, यद्यपि भारत के कपास-उत्पादकों ने इस बात की माँग की थी कि ब्रिटेन द्वारा खरीदी जाने वाली कपास का ६५ प्रतिशत छोटे रेशे की कपास होनी चाहिए। भारतीय गैर-सरकारी सलाहकारों के इस मत के बावजूद भी कि यदि भारतीय कपास-उद्योग पर और अधिक अप्रत्यक्ष कर लगाया

गया तो ब्रिटेन के कपड़ों पर भी प्रतिशुल्क लगा दिया जायगा। लम्बे रेशे के कपास पर लगा आयात-कर दूना कर दिया गया। इससे भारत के सूती मिल उद्योग का संरक्षण कम हो गया, हाथ से बुनने वाले उद्योग पर भी बुरा प्रभाव पड़ा और नये व्यापारिक प्रस्तावों के प्रति एक विरोधी धारणा उत्पन्न की गई।

नये समझौते को सरसरी निगाह से देखने पर ऐसा लगता है कि ओटावा समझौते में काफी सुधार हुआ है। जहाँ तक अधिमानों के पारस्परिक विनिमय का प्रश्न था कपास के अनुच्छेद (कॉटन आर्टिकल) को छोड़कर इसे न्यायसंगत भी कहा जा सकता था। जहाँ तक लंकाशायर के कपड़े लेने और भारतीय कपास देने का प्रश्न है, भारत के लम्बे रेशे के कपास के आयात के द्विगुणित कर को ध्यान में रखते हुए, समझौता लंकाशायर के पक्ष में बहुत अधिक था। यद्यपि गैर-सरकारी सलाहकारों द्वारा रखे गए सुझाव बहुत आकर्षक नहीं थे, फिर भी उनमें से कुछ, जैसे भारतीय कपास के निर्यात या लंकाशायर के कपड़ों के आयात से सम्बन्धित, सुझावों[1] को भी समझौते में शामिल करना चाहिए था। इससे समझौते के लिए एक ग्राह्य आधार प्राप्त हो जाता।

१०. भारत-जापानी समझौते की उत्पत्ति (१९३४)—१९०४ के पुराने भारत-जापानी व्यापारिक सम्मेलन का अप्रैल, १९३३ में भारत सरकार द्वारा विरोध किया गया था। इसकी चर्चा हम पहले ही कर चुके हैं।[2] १९३२ के आरम्भ से येन के मूल्य में हुए क्रामक ह्रास से १९३२-३३ में भारत के लिए जापान के निर्यात अत्यधिक अनुकूल हो गए। भारतीय मिलों को गम्भीर संकट का सामना करना पड़ा और भारत सरकार को हस्तक्षेप करना पड़ा। अगस्त, १९३२ में गैर-ब्रिटिश भूरे कपड़े पर मूल्यानुसार ५०% आयात-कर की वृद्धि और ५¼ आना प्रति पौण्ड का विशिष्ट कर भी जापानी प्रतिस्पर्धा कम करने में असमर्थ रहा। अतएव भारत की कपड़े की मिलें और अधिक संरक्षण के लिए आवाज़ उठाती रहीं। भारत सरकार की ओर से ब्रिटेन की सरकार ने जापान की सरकार को छः महीने के अन्दर पुराने (१९०४) समझौते को रद्द करने की सूचना दी। उस समझौते में जापान के साथ बड़ा ही अनुकूल व्यवहार किया जाता था। जब तक १९०४ का व्यापारिक समझौता प्रभावपूर्ण था तब तक भारत सरकार अकेले जापान के विरुद्ध कोई भी कदम उठाने में असमर्थ थी। १९३३ (अप्रैल) में पास किये गए उद्योग सुरक्षा अधिनियम (सेफगार्डिंग ऑफ़ इण्डस्ट्रीज़ एक्ट), जिसके अनुसार भारत सरकार विदेशी सस्ते माल के आयात से देश के उद्योगों को खतरा

---

१. समझौते में एक निश्चित किये गए ३५००, ४२५०, ५००० लाख गज़ कपड़े के आयात के स्थान पर गैर-सरकारी सलाहकारों ने इंगलिस्तानी कपड़े के आयात की निम्नतम, मध्यम और अधिकतम सीमाएँ क्रमशः २०००, ३०००, ४००० लाख गज़ निश्चित कीं। कच्चे कपास के सम्बन्ध में इनकी माँग थी कि इंगलिस्तान को १० लाख गाँठें भारत से लेना चाहिए और कम-से-कम ६½ लाख गाँठें लेने की गारण्टी देनी चाहिए। समझौते में १९३९ में ५ लाख, १९४० में ५½ लाख और इसके बाद ६ लाख गाँठों के आयात की ही व्यवस्था थी।

२. देखिए, पृ० २८।

होने पर कर लगा सकती थी, से भी कोई विशेष लाभ नहीं हो सकता था। भारत सरकार के इस निर्णय से जापान में भारतीय कपास के विरुद्ध आन्दोलन प्रारम्भ हो गया, लेकिन जापान के कातने वालों और कपास के व्यापारियों के बीच भारतीय कपास स्वीकार न करने के लिए जून, १९३३ के प्रशुल्क सम्बन्धी परिवर्तन जारी किए जाने के पूर्व कोई समझौता नहीं हुआ था। इन प्रशुल्क-परिवर्तनों में यह घोषणा की गई कि विदेशों से आने वाले कपड़ों पर (जिनमें जापानी कपड़े भी शामिल हैं) मूल्यानुसार ७५% (मूल्य पर) कर लगाया जायगा और सादे भूरे कपड़ों पर कम-से-कम ६¾ पेंस प्रति पौंड कर लगाया जायगा। १९३३ में एक जापानी प्रतिनिधि-मण्डल भारत आया। तीन महीने की बातचीत के उपरान्त एक समझौता हुआ। १९३४ में जापानियों ने बहिष्कार समाप्त कर दिया और भारत सरकार ने मूल्यानुसार लगाया गया कर ७५% से घटाकर ५०% कर दिया। १२ जुलाई, १९३४ को लन्दन में एक नवीन पारस्परिक व्यापारिक सन्धि हुई, हालाँकि जापानी कपड़े के आयात को नियमित करने वाली प्रायः सभी धाराएँ जनवरी, १९३४ से ही लागू हो गई थीं।

११. १९३४ के समझौते की धाराएँ—जापान के साथ होने वाले समझौते के दो भाग थे—(१) संप्रतिज्ञा (कनवेन्शन), (२) मसविदा या मूल (प्रोटोकल लेख)। (१) इसमें दोनों देशों के भावी व्यापार-सम्बन्धों की रूपरेखा निर्धारित की गई थी। (२) इसमें जापान से आने वाले कपड़े और भारत से भेजे जाने वाले कपास के सम्बन्ध में हुए समझौते की विवेचना की गई थी। संप्रतिज्ञा (कनवेन्शन) के बिना मसविदा (प्रोटोकल) स्वतः ३१ मार्च, १९३७ को समाप्त होने को था। यदि दोनों में से किसी भी पक्ष द्वारा छः महीने का नोटिस दे दिया जाता तो संप्रतिज्ञा (कनवेन्शन) भी इसी समय समाप्त होती।

संप्रतिज्ञा (कनवेन्शन) की प्रमुख व्यवस्थाएँ इस प्रकार थीं—(१) दोनों पक्षों ने एक-दूसरे के प्रति परम अनुग्रहीत राष्ट्रों जैसा व्यवहार करने का निश्चय किया। (२) दोनों देशों ने अपने पास समय-समय पर परिवर्तन करने और नवीन प्रवेश्य कर लगाने का अधिकार सुरक्षित रखा। यह व्यवस्था रुपये और येन के विनिमय-मूल्य में होने वाले परिवर्तनों को ठीक करने के लिए की गई थी। (३) जबकि दोनों पक्षों ने इस प्रकार के परिवर्तन करने के अधिकार अपने पास रखे वे इस बात पर तैयार थे कि यदि दोनों में से कोई पक्ष चाहे तो दोनों के पारस्परिक हितों के बीच समझौता करने के कार्य में अग्रसर हो सकता है।

मसविदा (प्रोटोकल) के प्रधान अनुच्छेद इस प्रकार थे—(१) भारत में आने वाली वस्तुओं पर लगने वाले प्रवेश्य कर निम्नलिखित दर से अधिक न होंगे—(क) सादे भूरे कपड़े (प्लेन ग्रेज़) पर मूल्यानुसार ५०% या ५¼ आना प्रति पौण्ड जो भी अधिक हो।(ख) अन्य पर मूल्यानुसार ५०%। (२) मसविदा (प्रोटोकल) में भारत में जापानी माल के आयात और भारत से कपास के निर्यात के लिए कोटा सिस्टम की व्यवस्था थी। इस व्यवस्था के अन्तर्गत भारत से प्रतिवर्ष (जो १ जनवरी से प्रारम्भ हो)

१० लाख गाँठ कपास खरीदने पर जापान को ३२५० लाख गज कपड़ा प्रतिवर्ष (जो १ अप्रैल से शुरू हो) भेजने का अधिकार था। यह आधार-भूत कोटा था। भारत को जापान अधिक-से-अधिक ४००० लाख गज कपड़ा प्रति वर्ष भेज सकता था। ३२५० लाख गज से अधिक भेजने के लिए यह व्यवस्था थी कि दस लाख गाँठों से ऊपर हर १०,००० गाँठ खरीदने पर १५ लाख गज कपड़ा और भेजा जा सकता था। जापान द्वारा भेजे सूती कपड़े के थानों को चार श्रेणियों में विभाजित किया गया था—(क) सादा भूरा कपड़ा (प्लेन ग्रेज़) ४५%, (ख) किनारेदार कपड़ा (ग्रेज़) १३%, (ग) सफेद (कलफदार) कपड़ा ८%, (घ) रंगीन (रंगा हुआ, छपा हुआ) ३४%।

१२. १९३४ के भारत-जापानी समझौते की कार्य-विधि—१९३४ के समझौते से दोनों देशों के बीच की दुर्भावनाएँ समाप्त हो गईं। इससे कपास के उत्पादकों, व्यापारियों और कुछ अंशों तक मिल-मालिकों को भी राहत मिली। लेकिन सबसे अधिक लाभ भारत के कपास-उत्पादकों को हुआ और कोटा सिस्टम द्वारा वे निश्चित मात्रा से अधिक कपास जापान भेज सके। उसकी आर्थिक स्थिति में सुधार से स्थानीय कपड़े के उद्योग के लाभान्वित होने की सम्भावना थी, क्योंकि जनता ही स्थानीय कपड़ों की सबसे बड़ी उपभोक्ता है।

जापान को भी काफी लाभ हुआ। एक तो उसे परम अनुग्रहीत राष्ट्र का-सा व्यवहार प्राप्त हुआ। जापान के निर्यात पर लगा प्रवेश्य-कर ७५% से घटाकर ५०% कर दिया गया। जापान के लिए यह दूसरा बड़ा आर्थिक लाभ था, यद्यपि भारतीय मिल-मालिकों के अनुसार इससे उद्योग का संरक्षण अपर्याप्त था।

भारतीय दृष्टिकोण से १९३४ के जापान-भारत व्यापारिक समझौते को कटु आलोचना का सामना करना पड़ा। देश में यह भावना थी कि भारत इस सौदे से घाटे में रहा। सबसे बड़ा असंतोष कोटा सिस्टम के विषय में था। जुलाई, १९३६ में इस समझौते के नवीकरण के सम्बन्ध में शुरू हुई बातचीत के दौरान में भारतीय गैर-सरकारी परामर्शदाताओं ने कहा कि इस पद्धति से बचने के अनेक उपाय थे। जापानी तथा जापान में रहने वाले भारतीय व्यापारियों ने इससे पर्याप्त लाभ उठाया। इस प्रकार समझौते का प्रधान उद्देश्य, अर्थात् जापान से आने वाले कपड़े का नियमन, पूरा न हो सका। परित्यक्त टुकड़े (फेन्ट्स)[1] कोटा सिस्टम के अन्तर्गत नहीं थे, अतः इनका व्यापार बहुत बढ़ गया। इसी प्रकार नकली रेशम की वस्तुएँ भी कोटा सिस्टम के अन्दर न थीं, इसलिए वे बड़ी मात्रा में जापान से भारत आने लगीं। जापानी निर्यातकों द्वारा कोटा सिस्टम से बचने की एक और भी कुशल विधि आविष्कृत की गई—यह थी कपड़े की बनी हुई वस्तुएँ, जैसे कमीजें, पोशाकें इत्यादि, जिनकी भारतीय बाज़ारों में भरमार हो गई। यह भी कहा गया कि कितना ही जापानी कपड़ा अफ-गानिस्तान और नेपाल से होकर भारत आता है।

इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि मसविदा (प्रोटोकल) के बावजूद भी इस

१. फेण्ट्स कपड़े के परित्यक्त टुकड़ों को कहते हैं जिन्हें कम प्रवेश्य-कर पर आयात किया जाता है।

प्रकार निर्यात बढ़ गया और उसका (मसविदा का) जापानी वस्तुओं का उद्देश्य पूरा नहीं हो सका। गज़ लम्बाई के आधार का दुरुपयोग किया गया और अधिक बड़े अर्ज के कपड़े का निर्यात किया गया।

यह भी कहा गया कि जापान ने परम अनुग्रहीत राष्ट्र होने का पूरा लाभ उठाया था और काँच का सामान, ऊनी सामान, साइकल, छाता, जूता जैसी विभिन्न प्रकार की निर्मित वस्तुओं से भारत के बाज़ारों को पाट दिया। इससे अनेक भारतीय उद्योगों और दस्तकारियों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। प्रवेश्य-कर के आँकड़ों से भी यह स्पष्ट था कि जापान की बनी विभिन्न प्रकार की चीजों का आयात करोड़ों रुपयों से बढ़ गया था, जिससे भारत के साथ जापान के व्यापारिक सन्तुलन की प्रतिकूलता दूर हो गई। भारतीय उत्खनित लोहा (पिग आयरन), जूट, तिलहन और तिलहन की जापानी खरीद काफी कम हो गई थी, इसके विपरीत हर प्रकार के जापानी आयातों में बहुत वृद्धि हो गई। अतः यह अनुभव किया गया कि केवल कपास और कपड़े के विनिमय पर आधारित समझौते के स्थान पर एक विस्तृत व्यापारिक समझौता किया जाय।

जहाँ तक जापान द्वारा भारतीय कपास को बड़ी मात्रा में खरीदने का प्रश्न है, यह कहा गया कि जापान इसे इसलिए खरीदता था क्योंकि उसे सस्ते माल की आवश्यकता थी। १९३४-३५ में, अर्थात् समझौते के बाद पूरे एक वर्ष में, जापान ने भारतीय कपास की २०,१०,६०० गाँठें खरीदीं जबकि पिछले दस वर्ष से वह प्रति वर्ष कपास की १५ लाख गाँठें खरीदता था। इसलिए भारत में गैर-सरकारी व्यापारिक मत यह था कि जापान की कपास सम्बन्धी न्यूनतम क्रय-मात्रा १० लाख से १५ लाख गाँठ प्रतिवर्ष कर दी जाय। यह भी कहा गया कि कुछ आगामी वर्षों में जापान में भारत के कपास की माँग कम न होगी, जब तक कि जापान कपास के स्थान पर (स्टेपल फायबर) मुख्य (बड़े) रेशे का उपयोग नहीं करता।

१३. नवीन जापानी-भारत व्यापारिक समझौता (१९३७)—१९३४ के समझौते के नवीकरण के सम्बन्ध में १९३६ से चलने वाली बातों में आलोचना के इन सब आधारों पर ध्यान दिया गया। पुराना समझौता ३१ मार्च, १९३७ को समाप्त होने वाला था। इस बार सरकार के वाणिज्य विभाग के गैर-सरकारी परामर्शदाता अपनी माँगों में एकमत थे। प्रथम यह कहा गया कि जापान द्वारा भारत के कपास के क्रय के सम्बन्ध में समझौता वैसा ही बना रहे, लेकिन भारत में आने वाले जापानी कपड़े की मात्रा में काफी कमी की जाय (उदाहरणार्थ ५०० लाख गज की कमी की जाय)। फेण्ट्स (परित्यक्त कपड़ों) के लिए भी कोटा की व्यवस्था अपनाने की माँग की गई, जो साधारण कपड़े की मात्रा के २½% से अधिक न हो। जापान से कृत्रिम रेशम के बढ़ते हुए आयात को रोकने के लिए रेशम को भी साधारण कपड़ों के कोटा में शामिल करने का सुझाव रखा गया। ऐसी ही व्यवस्था सिले हुए कपड़ों के बारे में भी लागू करने का सुझाव दिया गया। यह भी कहा गया कि कोटा गज़ लम्बाई के सिद्धान्त पर न लगाकर वर्गगज के हिसाब से लगाया जाय और नीचे दर्जे का

जापानी सूत भी (५० से नीचे का) कोटे के अन्दर आना चाहिए। विविध वस्तुओं के लिए या तो कोटा अपनाया जाय या ऐसा विशिष्ट आयात-कर लगाया जाय ताकि गृह-उद्योगों की सुरक्षा हो सके।

यह संशोधित समझौता १९३७ (अप्रैल) में ३१ मार्च, १९४० तक के लिए लागू किया गया।

जहाँ तक व्यापारिक संप्रतिज्ञा (ट्रेड कनवेन्शन) का सवाल है, पुरानी स्थिति कायम रही और फिर तीन वर्ष के लिए जापान परम अनुग्रहीत राष्ट्र का व्यवहार पाने का अधिकारी हो गया।

कुछ थोड़े से परिवर्तनों को छोड़कर, जो १ अप्रैल, १९३७ को बर्मा के विभाजन के कारण आवश्यक हो गए थे, संशोधित मसविदा (प्रोटोकल) भी प्रायः पुराने मसविदे जैसा ही था। जापान द्वारा १० लाख गाँठें खरीदे जाने पर उसके आयात का कोटा अब ३२५० लाख गज से घटाकर २८३० लाख गज कर दिया गया। यह कमी बर्मा-विभाजन के कारण भारतीय बाजार के संकुचित होने का परिणाम थी। इसी प्रकार जापानी कपड़े के आयात की उच्चतम सीमा, जो जापान द्वारा कच्चे कपास की १५ लाख गाँठें खरीदे जाने पर आधारित थी, ४००० लाख गज़ से घटाकर ३५८० लाख गज़ कर दी गई।

नये मसविदे (प्रोटोकल) में रंगीन कपड़े (१) छपे और (२) रंगे या बुने ...ों में विभाजित किये गए और प्रतिशत कोटा ३४ से बढ़ाकर ३७ कर दिया गया। आधारभूत कोटे में फेण्ट्स (परित्यक्त कपड़े) को नहीं रखा गया, लेकिन जापान ने इसे ८९,५०,००० गज प्रतिवर्ष सीमित करने का वचन दिया। भारत सरकार ने यह स्वीकार किया कि परित्यक्त कपड़ों पर मूल्यानुसार ३५ प्रतिशत से अधिक कर नहीं लगेगा।

१९३७ में प्रारम्भ होने वाले समझौते में गैर-सरकारी परामर्शदाताओं की एकमत सिफारिशों को पूरा स्थान नहीं मिला और मूलतः यह पुराने समझौते से कुछ अधिक अच्छा नहीं था। भारत सरकार यदि चाहती तो जापानी प्रतिस्पर्धा से क्षति-ग्रस्त भारत के नवजात उद्योगों के संरक्षण के लिए अधिक उत्तम शर्तों पर समझौता कर सकती थी, लेकिन गृह-उद्योगों की सुरक्षा की माँग पर ध्यान दिए बिना ही व्यापारिक समझौता वैसा ही रहने दिया गया। इस प्रकार दोनों देशों में व्यापारिक सम्बन्ध पहले जैसे ही रहे। अतः इस अंश तक समझौता जापान के लिए हितकर रहा था।

जहाँ तक कपास के मसविदे (प्रोटोकल) का प्रश्न था, जो कुछ अन्तर हुआ वह भारत से बर्मा के अलग हो जाने के कारण था। जापान ने बर्मा से दूसरा समझौता कर लिया, जिसके अनुसार बर्मा में आने वाले जापानी कपड़े की मात्रा ४२० लाख गज़ थी। भारत का कोटा इतना ही कम कर दिया गया। ध्यान रहे कि पुराने मसविदे का आधारभूत कोटा कम करते समय बर्मा की आवश्यकताएँ ७०० लाख गज़ अनुमानित की गई थीं। चूँकि बर्मा का कोटा ४२० लाख गज ही

रखा गया, भारत को बाकी २८० लाख गज़ की खपत करनी पड़ी।

यह कहा गया कि कॉटन फेण्ट्स को कोटे में नहीं शामिल किया गया, हालाँकि उच्चतम सीमा सूती कपड़े के कोटे की २½%अर्थात् ८९,५०,०००गज कर दी गई थी।

सिल्क फेण्ट्स और कृत्रिम सिल्क को भी समझौते से बाहर रखने पर कड़ी आलोचना की गई। लेकिन भारतीय सिल्क और कपड़े के उद्योग को १९३७ में वित्त विभाग के नोटिफिकेशन से लाभ पहुँचा, जिसके अनुसार कृत्रिम सिल्क के फेण्ट्स को भारत में आने से रोका गया और कृत्रिम सिल्क पर एक आना प्रति वर्गगज़ कर लगा दिया गया।

गैर-सरकारी सलाहकारों के कुछ सुझाव स्वीकार नहीं किये गए। उदाहरण के लिए विविध प्रकार की नियमित वस्तुओं, जैसे तौलिया, सूती कम्बल, के लिए अलग कोटे का इन्तज़ाम नहीं किया जा सका और न ही भारत के सीमाप्रान्तों से अफगानिस्तान और नैपाल के बाजारों को पुनर्निर्यात करने पर रोक लगाई गई।

भारत के तटीय जहाज़ी व्यापार में जापान के घुस पड़ने के सम्बन्ध में कोई रोक-टोक नहीं की गई और जापान तथा भारत के बीच होने वाले व्यापार में भारतीय जहाज़ों को उचित भाग देने के सम्बन्ध में भी कुछ नहीं किया जा सका। इन दोनों कारणों से भी असंतोष प्रकट किया गया।

समझौते के पक्ष में यह कहा गया है कि कपास-उत्पादकों के हितों की रक्षा सबसे पहले करना आवश्यक था। नई पंचवर्षीय योजना में चीन ने कपास उत्पादन पर जो ध्यान दिया था उसे देखते हुए यह अच्छा ही हुआ कि कम-से-कम तीन वर्ष तक भारतीय कपास की माँग स्थिर हो गई।[1] इस सम्बन्ध में हमें यह याद रखना चाहिए कि भारत के लिए कपास के निकास का मार्ग बनाये रखना आवश्यक था। भारतीय मिलों में देश में उत्पन्न कपास की ५० लाख गाँठों में से केवल ५०% की खपत होती थी। यूरोप के बाजारों में थोड़ी-सी ही माँग थी, अतः जापानी बाजार को बनाये रखना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था।

सब बातों को देखकर यह कहा जा सकता है कि १९३७ के समझौते से भारत की स्थिति पहले से दृढ़तर हो गई। यह बात अवश्य थी कि भारत ने अपनी सौदा करने की शक्ति का पूरा उपयोग नहीं किया। यह अच्छा हुआ होता कि कपास और कपड़े की अदला-बदली के स्थान पर एक विस्तृत और व्यवस्थित व्यापारिक समझौता किया गया होता, जिसमें देश के नवजात उद्योगों, जैसे शीशा, साबुन, रसायन आदि, की सुरक्षा की व्यवस्था होती।

१४. १९४० का अस्थायी समझौता—जापान सरकार से यह आश्वासन पाने पर कि उनका विचार मसविदा (प्रोटोकल) और संप्रतिज्ञा (कन्वेंशन) की समाप्ति के अन्तर से लाभ उठाने का नहीं है, दिसम्बर १९३९ में भारत सरकार ने व्यापारिक समझौते

---

१. यह ध्यान देने की बात है कि चीन-जापान युद्ध के कारण उत्पन्न मुद्रा-विनिमय की कठिनाइयों के फलस्वरूप जापान ने भारतीय कपास का क्रय काफी कम कर दिया था। १९३६-३७ में २४,२६,०४९ गाँठें और १९३७-३८ में १३,५९,०९२ गाँठें खरीदी गईं।

की समाप्ति के लिए जापान को छः महीने का नोटिस देना आवश्यक नहीं समझा।

३१ मार्च १९४० को मसविदा (प्रोटोकल) की अवधि समाप्त होने पर दोनों सरकारों ने निश्चय किया कि पुराने समझौते की समाप्ति और नये के निर्माण के बीच वे ऐसा कोई कार्य नहीं करेंगे जिससे एक-दूसरे के हित को हानि पहुँचे।

१९४१ में ब्रिटिश सरकार द्वारा जापान के साथ हुई व्यापारिक संधियों को त्यागने के कारण जापान के साथ जल्दी समझौता होने की आशा न रही। अतएव पुरानी जापानी-भारत व्यापारिक संप्रतिज्ञा (१९३४) की समाप्ति के लिए जापान को छः महीने का नोटिस दिया गया।

१५. १९४१ का नया बर्मा-भारत व्यापारिक समझौता—१९३७ (अप्रैल) में भारत से बर्मा के अलग हो जाने पर नये समझौते के होने तक बर्मा के साथ सम्बन्ध भारत-बर्मा नियम सभादेश (इण्डो-बर्मा रेगूलेशन ऑर्डर इन काउन्सिल) द्वारा निर्धारित होते रहे। इसमें दोनों देशों के व्यापारिक तथा प्रशुल्क-सम्बन्धी मामलों को यथावत् रखा गया। बर्मा सरकार को अपने बजट सम्बन्धी कठिनाइयों के कारण इस प्रकार की स्वतन्त्र व्यापारिक नीति ठीक नहीं जँची और १ अप्रैल १९४० को १ अप्रैल १९४१ से सभादेश को समाप्त करने का नोटिस दिया। इसी बीच नवीन समझौते का प्रयत्न किया गया और वह हो भी गया।

नया समझौता अप्रैल १९४१ में हुआ। इसने पुराने स्वतन्त्र व्यापार-काल को समाप्त कर दिया। दोनों पक्ष प्रशुल्क लगाने को स्वतन्त्र थे। भारत और बर्मा ने एक-दूसरे को साम्राज्य की तुलना में १०% और अन्य देशों की तुलना में १५% अधिमान देने के लिए स्वीकृति दी।

इन व्यवस्थाओं के अन्तर्गत दोनों देशों ने एक-दूसरे से परम अनुग्रहीत राष्ट्र का-सा व्यवहार करने का निश्चय किया। इस समझौते की मुख्य बातें निम्न थीं—

(१) बर्मा द्वारा भारत को दी गईं रियायतें—(क) बर्मा ने भारत की ७७ वस्तुओं, जैसे मछली, कोयला, कपास, उत्खनित लोहा (पिग आयरन) आदि, के स्वतन्त्र प्रवेश का अधिकार दिया। (ख) कुछ वस्तुओं पर ५% से अधिक कर न लगाने का वचन दिया (जैसे आलू, नारियल, रसायन, मादक वस्तुएँ, औषधियाँ, रंग, ऊनी कम्बल आदि)। (ग) कुछ वस्तुओं पर १०% से अधिक कर न लगाने की रियायत दी (जैसे कॉफी, सिगार, कुछ मसाले, साबुन (नहाने के), बूट जूते आदि)। (घ) कुछ वस्तुओं पर विशेष दर से टैक्स लगाने की रियायत दी गई—सुपारी २०%, शराब (एल बीअर) पर उत्पाद-कर के हिसाब से, तम्बाकू पर १ आना प्रति पौण्ड की दर से, और सिल्क (कृत्रिम) पर १५% के हिसाब से इत्यादि।

(२) भारत द्वारा बर्मा को दी गई रियायतें—(क) भारत ने स्वीकार किया कि बर्मा की कुछ वस्तुएँ बिना किसी कर के भारत में प्रवेश पाएँगी (जैसे रंगने और सिझाने के सामान, गोंद, लाख, लकड़ी, शहतीर, वार्निश किये सामान, कच्चा लोहा, अल्यूमिनियम, जस्ता और सीसा)। (ख) कुछ वस्तुओं पर विशेष दर से कर लगाया जायगा (जैसे आलू, प्याज ५%, कहवा १०%, सिगार १०%, तम्बाकू (न बनी हुई)

१ आना प्रति पौण्ड)। (ग) बर्मा से आने वाले मिट्टी के तेल और भारत से जाने वाले कपड़े के कर की अलग व्यवस्था की गई। कपड़े के लिए समझौते में केवल ७½% की व्यवस्था थी, परन्तु बर्मा सरकार ने प्रतिज्ञा की कि इस प्रकार की वस्तुओं पर १०% से अधिक कर न लगायेगी। इसके अतिरिक्त जापानी वस्तुओं पर कोटा सिस्टम कायम रखने से भारत के कपड़ों की स्थिति और दृढ़ हो गई। जहाँ तक मिट्टी के तेल का सम्बन्ध है अधिमान कम करके ९ पाई प्रति गैलन कर दिया गया, जबकि पहले यह ११¾ पाई प्रति गैलन था। भारत सरकार ने युद्ध-काल में कुल अधिमान के बराबर अधिभार (सरचार्ज) लगाने का अधिकार प्राप्त कर लिया। यह अधिभार (सरचार्ज) ७ अप्रैल १९४१ को कार्यान्वित किया गया। (घ) यह भी आवश्यक समझा गया कि भारत में आने वाले शहतीर और बर्मा को भेजी जाने वाली चीनी के लिए अलग कर-व्यवस्था की जाय। बर्मा की सरकार ने युद्ध-काल में शहतीर पर निर्यात-कर न लगाने का आश्वासन दिया और भारत से आने वाली चीनी को विशेष सुविधाएँ दीं (जहाँ तक स्थानीय परिस्थितियों में ऐसा कर सकना सम्भव था)। (ङ) चावल और टूटा चावल कर-मुक्त सूची (फ्री लिस्ट) के अन्तर्गत रखे गए और तब तक बर्मा से आने वाले माल पर चुंगी न लगने की व्यवस्था थी जब तक कि अन्य देशों के माल बिना चुंगी के आते रहे। यदि टूटे चावल पर चुंगी लगे भी तो १०% का अधिमान दिया जाय। (च) एक देश से दूसरे देश को किये जाने वाले उन निर्यातों के सम्बन्ध में, जिन पर उत्पाद-कर (एक्साइज़ ड्यूटी) लगता है, (उदाहरणार्थ पेट्रोल, दियासलाई, नमक तथा चीनी) यह व्यवस्था की गई कि कर की दर देश में लगने वाले उत्पाद-कर के बराबर होगी। यह समझौता अनिश्चित काल के लिए था और किसी भी दल को अधिकार था कि छः महीने का नोटिस देकर इसे भंग कर दे।

१६. द्विपक्षी (बिलेटरल) व्यापारिक समझौतों की नई नीति—व्यापारिक नीति की प्रमुखतम विशेषता विशेष रूप से १९३२ के बाद से, यूरोपीय देशों में अनेक देशों द्वारा कुछ समय के लिए द्विपक्षी व्यापारिक समझौता करने की हो गई है। यह अभी हाल तक प्रचलित पुरानी व्यापारिक नीति से बहुत भिन्न है, जिसमें सबसे परम अनुग्रहीत राष्ट्र-व्यवहार का सिद्धान्त माना जाता था।

अनेक प्रकार के द्विपक्षी-समझौतों में सबसे अधिक प्रचलित निम्न हैं—(१) निकासी-समझौते (क्लियरिंग) तथा (२) क्षतिपूर्ति या अदला-बदली के समझौते (कम्पेंज़ेशन या बार्टर एग्रीमेण्ट्स)। दूसरे में वस्तुओं का सीधा विनिमय होता है। इस प्रकार चुकता करने की आवश्यकता ही नहीं उठती। इस प्रकार के समझौते दो देशों या व्यक्तियों या फर्मों के बीच हो सकते हैं। निकासी-समझौते (क्लियरिंग एग्रीमेंट्स) में विनिमय की जाने वाली वस्तुएँ निर्दिष्ट नहीं होतीं। इनका प्रधान उद्देश्य विदेशी विनिमय के नियमन के लिए व्यापार को इस प्रकार व्यवस्थित करना है ताकि आयात और निर्यात के बीच सम्यक् सन्तुलन स्थापित हो जाय।[1] यद्यपि अब भी

१. देखिए, भारत सरकार के सूचना-संचालक द्वारा प्रकाशित तीसरा नोट 'ऑन इंडियाज़ फॉरन ट्रेड पॉलिसी' (१९३९) और पाल एन्ज़िग एक्सचेन्ज कण्ट्रोल, पृ० १५१-२।

परम अनुग्रहीत राष्ट्र-व्यवहार की धारा को द्विपक्षी समझौते में जोड़ दिया जाता है, लेकिन वित्तीय और कोटा-व्यवस्था सम्बन्धी धाराओं को सम्मिलित करने और औद्योगिक प्रतिज्ञाओं तथा प्रादेशिक अधिमानों के कारण इसका कोई क्रियात्मक प्रभाव नहीं रह जाता।

१९२९-३३ के अवसाद-काल में जब भारत का व्यापारिक सन्तुलन बिगड़ने लगा तो भारत का व्यापारिक वर्ग घबरा उठा। कारण यह था कि भारतीय वस्तुओं के विदेशी क्रेताओं ने अनेक प्रतिबन्ध लगा दिए थे, जैसे मनाही, एकाधिकार, कोटा, विनिमय-प्रतिबन्ध, अनुज्ञा-पद्धति (लाइसेन्स सिस्टम) इत्यादि। साधारण प्रवृत्ति व्यापारिक अभिसन्धियों पर आधारित नियोजित व्यापार की ओर थी। स्वयं इंगलिस्तान की व्यापारिक सन्धि करने की प्रवृत्ति ने इसे और बल दिया और भारत में द्विपक्षी समझौतों द्वारा व्यापारिक विकास की एक विस्तृत और सुव्यवस्थित नीति का आन्दोलन दृढ़ हो गया। सितम्बर, १९३९ में युद्ध छिड़ने से पूर्व भारत सरकार ने उन सब प्रमुख देशों के साथ व्यापारिक समझौता करने का निश्चय किया जिनके साथ भारत का वाणिज्य-सम्बन्ध था। इनमें जर्मनी, इटली, ईरान, तुर्की इत्यादि प्रमुख थे, जिनकी नियमित विनिमय-नीति से भारत के निर्यात में बड़ी कठिनाइयाँ उत्पन्न होती थीं। देश के सामने प्रश्न था—क्या भारत को द्विपक्षी समझौते के पक्ष में परम अनुग्रहीत राष्ट्र-व्यवहार की पुरानी नीति को त्याग देना चाहिए? (मार्च, १९३६) धारासभा द्वारा ओटावा समझौते का अन्त करने के पक्ष में दिये गए मत से यह विवाद और भी तीव्र हो गया।

यद्यपि भारत सरकार इस प्रकार द्विपक्षी सन्धियाँ करने के लिए कटिबद्ध हो चुकी थी, फिर भी उन्हें इस नीति की वाञ्छनीयता पर बहुत अधिक विश्वास नहीं था। उनके विचार में पिछले कुछ वर्षों में विश्व की आर्थिक स्थिति के अध्ययन से और भारत की वर्तमान परिस्थितियों के अवलोकन से ऐसा कोई परिवर्तन नहीं दिखाई देता जिससे किसी नीति-परिवर्तन की आवश्यकता प्रतीत होती हो।[1] कहा गया कि भारत के निर्यात की प्रधान वस्तुएँ कच्चे पदार्थ हैं जो विश्व के बाज़ारों में भेजे जाते हैं। अतएव उसकी समृद्धि के लिए आवश्यक था कि उसका व्यापारिक सन्तुलन उसके पक्ष में हो। इसलिए उसे इन बाज़ारों में मुक्त प्रवेश प्राप्त होना चाहिए और भारत परम अनुग्रहीत राष्ट्र के आधार पर अपने लिए खुले दरवाज़ों को बन्द करवाने के लिए सहज ही तैयार नहीं हो सकता। द्विपक्षी समझौतों से न केवल समझौता करने वाले देशों का कुल व्यापार घट जायगा, बल्कि व्यापार के अपने स्वाभाविक मार्गों से मुड़कर अन्य दिशाओं में जाने से अन्य देश भी हानि उठा सकते हैं। कुल व्यापार की मात्रा में वृद्धि की अपेक्षा अनुकूल व्यापारिक सन्तुलन को पसन्द करने

१. जिन आधारों पर यह निष्कर्ष निकाला गया था वे भारत सरकार के सूचना-संचालक द्वारा प्रकाशित १९३६ के प्रेस नोटों में दिये गए हैं। और भी देखिए, बी० के० मदन का लेख 'बिलेटरलिज़्म एण्ड इंडियन ट्रेड', 'इंडियन जनरल ऑफ़ इकनामिक्स' (जुलाई १९३६) और 'इंडिया एण्ड इम्पीरियल प्रिफरेन्स', पृ० १९९-२००।

की नीति से सभी व्यापारिक सन्तुलन नष्ट हो जायँगे और इस प्रकार विश्व-व्यापार में स्थायी संकुचन आ जायगा। इस नीति के अनुसरण से भारत को लाभ की अपेक्षा हानि ही अधिक होगी, क्योंकि इससे उसका विदेशी व्यापार कम हो जायगा, निर्यात बढ़ जायगा और आयात कम हो जायगा। जर्मनी जैसे संकटापन्न देशों के लिए आयात् का नियंत्रण आवश्यक हो सकता है, लेकिन भारत जैसे समृद्ध देश द्वारा इस नीति का अनुसरण कोरी हार होगी।

जहाँ तक जर्मनी, इटली और तुर्की जैसे देशों के साथ द्विपक्षी संधियाँ करने का प्रश्न था, यह ध्यान में रखना होगा कि इन देशों के साथ भारत का व्यापारिक संतुलन अनुकूल[1] था, अर्थात् भारत उन्हें बेचता अधिक था और उनसे खरीदता कम था। जो देश अपना आयात कम कर सकता है वह बेचने के लिए उत्सुक देश से अधिक लाभपूर्ण सौदा कर सकता है। इसके अतिरिक्त इन देशों की निर्मित वस्तुएँ भारत के उद्योगों की उत्पादित वस्तुओं से होड़ करेंगी। साथ ही अब भारत की स्थिति विश्व के बाजारों में प्रधान खाद्यान्न और कच्चे माल के पूरक की नहीं रही। उदाहरण के लिए अब जर्मनी, जोकि पहले अधिकतर भारत से कच्चा माल खरीदता था, अब उन देशों से खरीद रहा था जिनके साथ निकासी-समझौते (क्लियरिंग एग्रीमेंट्स) किये गए थे। इस प्रकार कपास ब्राज़ील, पीरू, टर्की और मिस्र से, चमड़ा दक्षिणी अमेरिका से, और तिलहन अर्जेण्टाइना तथा अन्य फ्रेंच उपनिवेशों से खरीदे जाने लगे। इस बात को भी ध्यान में रखना होगा कि इन देशों की मुद्रा-सम्बन्धी अनिश्चितताएँ तथा अनिश्चित आर्थिक स्थिति इनके साथ द्विपक्षी समझौतों के समुचित संचालन में बाधा पहुँचाएगी।

अन्य देशों के साथ भी कितनी ही कठिनाइयाँ थीं। उदाहरण के लिए फ्रांस अपने उपनिवेशों के आयात को प्रोत्साहन दे रहा था और वह चीन की हलकी सुस्वादु चाय को भारतीय चाय की अपेक्षा अधिक पसन्द कर रहा था। संयुक्तराज्य अब भी अपनी एकान्तवादी तिकड़ियों में लगा हुआ था और विदेशी व्यापार की अपेक्षा देश के वाणिज्य और विकास को अधिक महत्त्व दे रहा था। अतएव इन देशों से द्विपक्षी समझौता करने का अवसर कम ही था।

दीर्घकालिक दृष्टिकोण से तो यह कहा जा सकता है कि भारत विश्व से अलग रहकर व्यापारिक इकाई के रूप में अपना महत्त्व नहीं रख सकता। उसे अपने अतिरिक्त उत्पादन के लिए विश्व के बाजारों में स्थान ढूंढ़ना पड़ेगा और उसकी समृद्धि अन्ततोगत्वा, विश्व के व्यापारियों की समृद्धि से सम्बद्ध है। अतएव उसका हित विश्व-व्यापार के अबाधित और उन्मुक्त प्रवाह में ही है, जिस पर विश्व की समृद्धि निर्भर है।

इसके विपरीत यह कहा गया कि विश्व के समुत्थान और स्वतन्त्र व्यापार के पुनर्स्थापन की बहुत कम आशा है तथा राष्ट्रीय आत्मनिर्भरता, आर्थिक राष्ट्रीयता और व्यापारिक द्विपक्षीयता कम होने के बजाय घनीभूत ही होगी। इस परिस्थिति

१. यह सितम्बर १६३६ में युद्ध छिड़ने के पूर्व के सम्बन्ध में है।

में सुरक्षा के लिए भारत को नवीन व्यापारिक नीति का अनुसरण करना होगा और इसका प्रारम्भ भी भारत-जापान, भारत-ब्रिटिश और भारत-वर्मा समझौतों के रूप में हो चुका है।

मार्च १९४८ में हवाना में हुए संयुक्तराष्ट्र संघ के व्यापार और रोजगारी सम्मेलन ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए एक चार्टर स्वीकृत किया और एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार-संगठन की स्थापना पर जोर दिया, जो कि स्वतन्त्र व्यापार को स्थापित करने तथा विश्व के आर्थिक युद्ध को कम करने का काम करेगा। जेनेवा में २३ राष्ट्रों ने एक-दूसरे को व्यापारिक रियायतें देने की बात स्वीकार कर ली। इसके बाद हवाना में ५३ राष्ट्रों ने समझौते पर हस्ताक्षर किये। हवाना चार्टर के सभी हस्ताक्षर करने वाले देशों—जिनमें भारत भी एक है—ने व्यापारिक प्रतिबन्धों को शिथिल करने और भेद-भाव दूर करने का वचन दिया। परन्तु पिछड़े हुए राष्ट्रों द्वारा औद्योगिक विकास करने, रोजगार देने तथा लेन-देन की कठिनाइयाँ दूर करने के लिए इसमें प्रतिबन्ध लगाने की व्यवस्था थी।

हवाना चार्टर परम अनुग्रहीत राष्ट्र-व्यवहार के सिद्धान्त को पूरी मान्यता देता है, क्योंकि इसके अन्तर्गत एक देश द्वारा दूसरे देश को दी गई रियायतें (कंसेशन्स) चार्टर पर हस्ताक्षर करने वाले सभी देशों को उपलब्ध होंगी।

सम्मेलन में भारतीय प्रतिनिधि-मण्डल के प्रयासों के फलस्वरूप चार्टर में यथोचित परिवर्तन कर दिये गए हैं, जिससे इसे स्वीकार करने पर पिछड़े देशों के आर्थिक विकास में कोई बाधा न पहुँचे। तद्विपरीत यह स्पष्ट ही है (स्वीकृत है) कि जब तक विकसित देश पिछड़े देशों को सहायता नहीं देते, जिससे कि वे अपनी शक्तियों और साधनों का पूरा उपयोग कर सकें, तब तक किसी प्रकार का आर्थिक सहयोग सम्भव न होगा। यह सहायता पूँजी, मशीन और टेकनीकल सहायता के रूप में की जा सकती है।

किन्तु विश्व-व्यापार-संघ की सफलता विश्व-शान्ति पर निर्भर करेगी। यदि वर्तमान युद्ध की धमकियाँ जारी रहेंगी तो निश्चय ही प्रतिद्वन्द्वी आर्थिक वर्ग स्थापित हो जायँगे और सरकारें फिर राष्ट्रीय आत्मनिर्भरता और आर्थिक राष्ट्रीयता की बात सोचने लगेंगी, न कि विश्व-व्यापार और आर्थिक सहयोग की।

१९४८-४९ में भारत ने दस देशों के साथ व्यापारिक समझौता किया। यह व्यापारिक देशों से स्वयं—न कि इंगलिस्तान द्वारा—सम्बन्ध स्थापित करने की नीति का फल था। दूसरा उद्देश्य सुलभ-मुद्रा (साफ्ट करेन्सी) के व्यय तथा दुर्लभ-मुद्रा (हार्ड करेन्सी) के संचय का भी था।[1]

---

१. सन् १९५३ के मुख्य समझौतों में रूस, मिस्र और सीलोन के साथ किये गए समझौते मुख्य हैं। रूस और भारत समझौते में व्यापार के रुपयों में अर्थ-प्रबन्धन करने की व्यवस्था की गई है। मिस्र के समझौते में उसके निर्यात के ४०% का भुगतान रुपयों में करने की व्यवस्था है। सीलोन के समझौते में भारत ने ट्रावनकोर-कोचीन के बन्दरगाहों पर जाफना तम्बाकू विशेष आयात-करों पर आने की इजाजत दी। सीलोन ने भारत को तम्बाकू के आयात के विस्तार के लिए उपाय अपनाने और

अध्याय ८

चलार्थ और विनिमय (भाग १)

१. ब्रिटिश काल से पूर्व भारतीय चलार्थ (करेन्सी)—अकबर के समय से ही चलार्थ के रूप में सोने की मुहर और चाँदी का रुपया दोनों उत्तर भारत में प्रचलित थे जिनका वजन १७५ ग्रेन ट्राय था। इन दोनों में कोई निश्चित वैधानिक अनुपात नहीं था, परन्तु प्रत्येक का मुगल साम्राज्य के ताँबे के सिक्के (दाम) से निश्चित अनुपात था।[1] दक्षिण भारत, जो कभी भी पूर्णतया मुगलों के अधीन नहीं रहा, में स्वर्ण ही प्रमुख चलार्थ (करेन्सी) था। हिन्दुओं के शासन में सामान्यतः सोना अधिक पसन्द किया जाता था जबकि मुसलमान चाँदी अधिक पसन्द करते थे। मुगल साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होने पर, अनेक छोटे-छोटे राज्य उत्पन्न हो गए। इनमें से बहुत से राजाओं ने अपनी स्वतन्त्रता को चिह्नित करने के लिए अपनी अलग मुद्राएँ जारी कीं। यद्यपि सिक्के का मूल्य सामान्यतया उतना ही रखा गया परन्तु परिष्कार और वजन में वे हर तरह से भिन्न थे। जिस समय ईस्ट इण्डिया कम्पनी भारत में आई उस समय यहाँ [illegible] और चाँदी की विभिन्न तरह की मुद्राएँ प्रचलित थीं। अनुमान किया गया है कि उस समय भारत में विभिन्न परिष्कार और वजन की लगभग ९९४ प्रकार की मुद्राएँ प्रचलित थीं।[2] मुद्राओं के मूल्य को निश्चित करने के लिए पेशेवर सर्राफों की सेवाओं का आश्रय लेना पड़ता था। चलार्थ (करेन्सी) की इस अव्यवस्थित दशा के कारण

तौलियों पर आयात-कर निम्नतम करने (जो इसी प्रकार की मिल की वस्तुओं पर लागू हों) का वचन दिया।

१९५४-५५ में फिनलैण्ड, आस्ट्रिया, इण्डोनेशिया, ईराक, जेकोस्लोवाकिया, फेडरल रिपब्लिक ऑफ जर्मनी, पोलैण्ड और बलगेरिया के साथ भारत ने पहले के व्यापारिक समझौतों को पुनः नया किया। हंगरी, इटली, चीन और जर्मन डिमोक्रेटिक रिपब्लिक के साथ नये समझौते किये गए। चीन के साथ एक समझौता २९ अप्रैल, १९५४ को किया गया, जिसमें भारत और तिब्बत के चीनी प्रदेश के बीच सामान्य व्यापार की व्यवस्था की गई। १४ अक्तूबर, १९५४ को एक दूसरा समझौता हुआ, जिसमें दोनों देशों के आयात और निर्यात की वस्तुओं की व्यवस्था की गई। इस समझौते के अन्तर्गत भारत ने चीन को कलकत्ता होकर अपना माल तिब्बत भेजने के लिए सुविधा प्रदान की। इस समझौते के साथ ही एक अलग पैक्ट भी किया गया, जिसमें भारत से ९० लाख पौ० वर्जीनिया तम्बाकू के निर्यात (चीन को) और चीन से ९० लाख पौ० कच्चे रेशम के आयात का प्रबन्ध कि[illegible] गया। १४ अक्तूबर, १९५४ को समझौता दो वर्ष के लिए किया गया है।

१. बी० आर० अम्बेडकर, 'दि प्राब्लम ऑफ दि रुपी', पृ० ३।

२. एच० टी० मेक्लायड, 'इण्डियन करेन्सी', पृ० १३।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी की क्रियाएँ अवरुद्ध हो गई। इस भाँति भारत में चलार्थ संगठन के लिए प्रयोगों का क्रम आरम्भ हुआ। इस अध्याय में इसका इतिहास बताना ही हमारा उद्देश्य है।

२. प्रथम युग (१८०१-१८३५)—उन्नीसवीं शती में चलार्थ के इतिहास का विभाजन चार कालों में हो सकता है—(१) १८०१-१८३५, (२) १८३५-१८७४, (३) १८७४-१८९३, और (४) १८९३-१९००।[१]

टिप्पणी—भारत की तत्कालीन प्रचलित चलार्थ (करेन्सी) सम्बन्धी अव्यवस्था को व्यवस्थित करने के लिए ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा किये गए पहले प्रयत्न के फलस्वरूप कम्पनी की मुहर लगे हुए सोने और चाँदी के सिक्के साथ-साथ जारी किये गए। इन सिक्कों का वजन और परिष्कार तथा वैधानिक अनुपात निश्चित था। परन्तु दोनों धातुओं के बाजार मूल्य के चढ़ाव-उतार के कारण इनके अनुपात को बनाये रखना असम्भव था। सरकारी अनुपात के अनुसार सोने का अधोमूल्यन हुआ, अतएव चाँदी ने उसे चलन से हटा दिया। लगभग इसी समय इंगलैण्ड में लार्ड लिवरपूल की 'ट्रीटीज़ आन दि क्वायन्स ऑफ़ दि रैल्म' नामक प्रसिद्ध पुस्तक प्रकाशित हुई, जिसमें इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया कि केवल एक ही धातु को प्रमाप और असीमित वैधानिक सिक्का होना चाहिए, यद्यपि अन्य धातुओं का भी टंकन किया जा सकता है और बाज़ार मूल्य पर प्रचलन हो सकता है। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के संचालकों ने लार्ड लिवरपूल के सिद्धान्त से प्रभावित होकर भारत की चलार्थ (करेन्सी) सम्बन्धी अव्यवस्था को दूर करने के लिए चाँदी को एकमात्र प्रमाप के रूप में चुना। १८०६ में बंगाल और मद्रास सरकार के भेजे हुए एक पत्र में उन्होंने इस बात की चर्चा की कि उनका उद्देश्य सोने को उन स्थानों से, जहाँ वह अर्घ का सामान्य प्रमाप हो, बहिष्कार करना नहीं था। कम्पनी ने चाँदी के रुपये और सोने की मुहर के अनुपात को स्थिर बनाए रखने का प्रयत्न किया, परन्तु अधोमूल्यन के कारण सोने की मुहर प्रचलन से लुप्त हो गई। १८०६ में संचालकों ने सिफारिशें कार्यान्वित करने के सम्बन्ध में भारतीय अधिकारियों को स्वेच्छा प्रदान की, परन्तु इन सिफारिशों को तुरन्त ही लागू नहीं किया गया। १८१८ में १८० ग्रेन चाँदी के रुपये ने, जिसका ११/१२ भाग परिष्कृत चाँदी होती थी, मद्रास प्रेसीडेन्सी के स्वर्ण पगोडा का स्थान ले लिया। मद्रास में स्वर्ण पगोडा का टंकन बन्द कर दिया गया, परन्तु जनता की सुविधा के लिए यह घोषित किया गया कि स्वर्ण मुद्राएँ जारी की जायँगी और सारे सरकारी कार्यालय समय-समय पर घोषित दर के अनुसार उनका लेन-देन स्वीकार करेंगे। पहली दर १५ : १ थी।

इसी बीच १८२३ में बम्बई का रुपया भी मद्रास के रुपये के अनुरूप बना दिया गया। १८३५ में अन्तिम कदम उठाया गया जबकि १८१८ के मद्रासी रुपये के बराबर वजन और परिष्कार के रुपये को ईस्ट इण्डिया कम्पनी के सारे राज्य में लेन-देन का एकमात्र वैधानिक सिक्का बना दिया गया। उसके स्वतंत्र टंकन

१. शिराज़, 'इण्डियन फाइनेन्स एण्ड बैंकिंग,' पृ० ९३।

के लिए टकसाल खोली गई। इस प्रकार द्विधातु अथवा अनेक प्रमाप-पद्धतियं के स्थान पर चाँदी की एक धातु-प्रथा का प्रारम्भ हुआ। रुपये की चाँदी का मूल्य तथा रुपये का वैधानिक मूल्य बराबर था। यह कानून १८९३ तक लागू रहा।

३. द्वितीय काल (१८३५-७४)—१८३५ के कानून ने सोने की मुहरों तथा जनता द्वारा अपेक्षित होने पर बाजार मूल्य पर ५, १० और ३० रुपये के टुकड़ों के टंकन का अधिकार दिया। सन् १८४१ के घोषणापत्र ने खजानों को यह अधिकार दिया कि वे जनता की देनदारी का भुगतान करने के लिए मुहरों को अंकित मूल्य पर निस्संकोच स्वीकार करें। १८४८-४९ में आस्ट्रेलिया और कैलिफ़ोर्निया के सोने की खानों का पता लग जाने पर सोने का मूल्य चाँदी के दामों में गिर गया १५ : १ के सरकारी अनुपात पर सोने का मूल्य अधिक हो गया। अतएव उन लोग ने, जिनके पास सोने के सिक्के थे, इस परिस्थिति का लाभ उठाया तथा बाज़ार व तुलना में चाँदी का अधिक मूल्य प्राप्त करने की कोशिश की। जनता ने स्वर्ण सिक्के में, जिनका अधोमूल्यन हो चुका था, भुगतान करना आरम्भ कर दिया। सरकार लिए यह एक कठिनाई थी, अतएव लार्ड डलहौज़ी की सरकार ने १८४१ घोषणापत्र को वापस ले लिया और सोने का पूर्णतया विमुद्रीकरण हो गया। इस द्रव्य-बाज़ार में बड़ी तंगी आ गई, जो व्यापार के विस्तार के कारण और अधिक अनुभव की जाने लगी। १८५० में माँग की तुलना में चाँदी की उत्पत्ति अधिक हो गई। चाँदी के रुपये का बहुत बड़ा भाग प्रचलन से निकालकर अद्रव्यात्मक कार्यों में लगाया गया। टकसाल और मुद्रावर्ग (स्मेल्टिग पाट) एक दूसरे के विरोधी हो गए। एक द्वारा इतने धैर्य और कौशल से बनाया हुआ सिक्का दूसरा बड़ी शीघ्रता से कड़ों (चूड़ियों) में बदल देता था।[1] द्रव्य सम्बन्धी कठिनाइयों को दूर करने के लिए वहाँ साख का कोई माध्यम न था। बैंकिंग भी अभी अव्यवस्थित ही था। ऐसी परिस्थिति में लोग अपने-अपने उपायों की शरण लेने लगे। स्वर्ण चलार्थ के लिए प्रार्थना करते हुए बम्बई के व्यापार-मण्डल (चेम्बर ऑफ़ कामर्स) ने सरकार को भेजे हुए स्मृति-पत्र में कहा था—इस देश की जनता में चाँदी के दोषों को दूर करने के लिए स्वर्ण-पिण्ड चलार्थ की वर्द्धमान् प्रवृत्ति थी और इस उद्देश्य से बम्बई के बैंकों की मुहर लगे हुए स्वर्ण-दण्ड देश के बहुत से भागों में प्रचलित थे। अमेरिका के रुई-अकाल के कारण भारत के रुई-निर्यातकों को सोने के रूप में कल्पनातीत मूल्य प्राप्त हुए और इस प्रकार बहुत बड़ी मात्रा में सोने का आयात हुआ। इस प्रकार सोने की करेन्सी के प्रारम्भ की माँग उत्पन्न हो गई जिसको तीन व्यापार-मण्डलों से जोरदार सहायता मिली। नवम्बर, १८६४ में भारत सरकार ने एक अधिसूचना जारी की, जिसके अनुसार सरकारी खजानों पर सावरेन और अर्द्ध-सावरेन क्रमशः १० और ५ रुपये के भाव से स्वीकार की जाने लगी तथा भारत सरकार सुविधानुसार अपने ऋणदाताओं की इच्छानुसार सावरेन और अर्द्ध-सावरेन में ऋण चुकाती थी। १८६६ में कलकत्ता व्यापार-मण्डल ने स्वर्ण चलार्थ (करेन्सी) अपनाने के लिए पुनः

१. अम्बेडकर द्वारा पूर्वोद्धृत कैमरून, पृ० ३४।

जोर दिया। भारत सरकार ने मैन्सफील्ड आयोग की नियुक्ति की। भारतीय करेन्सी की समस्याओं पर विचार करने के लिए समय-समय पर नियुक्त समितियों और आयोगों में यह सर्वप्रथम था। इन आयोगों और समितियों ने भारतीय चलार्थ के दोषों को दूर करने के लिए अनेक विरोधात्मक उपाय बताए। मैन्सफील्ड आयोग ने सिफारिश की कि (१) १५, १० और ५ रुपये का सोने का सिक्का जारी करना चाहिए, क्योंकि जनता ऐसे सिक्कों को इन्हीं मूल्य के नोटों की अपेक्षा अधिक पसन्द करेगी तथा स्वर्ण चलार्थ (करेन्सी) नोट के प्रचलन का मार्ग प्रशस्त करेगा। (२) चलार्थ सोने, चाँदी और कागज का होगा। १८६८ में एक अधिसूचना जारी की गई, जिसके द्वारा सावरेन और अर्द्ध-सावरेन स्वीकार करने की दर क्रमशः दस रुपया आठ आना और पाँच रुपया चार आना कर दी गई, क्योंकि पहली (दस रुपया, पाँच रुपया) बाजार दर के अनुरूप नहीं थी और फलस्वरूप सरकारी खजाने के लिए पर्याप्त सोना आकृष्ट करने में असमर्थ रही। मैन्सफील्ड आयोग का कोई हवाला न देते हुए भारत सरकार ने यह कदम उठाकर अन्ततः सोने को वैधानिक मुद्रा बनाने की इच्छा प्रदर्शित की। सोने को वैधानिक मुद्रा मानने की गलती और उसका परिणाम स्वीकार करने के पहले सरकार भारत में सोने और चाँदी के सापेक्षिक अर्घ को निश्चित कर लेना चाहती थी। १८७२ में सर रिचार्ड टेम्पल ने एक टिप्पणी में भारत सरकार को यह सुझाव दिया कि वास्तव में भारत में स्वर्ण प्रमाप तथा करेन्सी की आवश्यकता थी तथा सोने और चाँदी की दर निश्चित करने के लिए एक आयोग की नियुक्ति की सिफारिश की। गवर्नर जनरल की परिषद् इस प्रश्न पर एकमत नहीं थी और भारत सरकार द्वारा इस प्रस्ताव की अस्वीकृति के साथ १८७४ में भारतीय चलार्थ (करेन्सी) के इतिहास का द्वितीय काल समाप्त हो गया।

४. तृतीय काल (१८७४-९३)—१८७४ तक द्रव्य के रूप में चाँदी की स्थिति में बहुत बड़ा परिवर्तन प्रारम्भ हो चुका था। १८७३ में जर्मनी ने चाँदी का विमुद्रीकरण कर दिया। १८७४ में स्वीडन, नार्वे और डेनमार्क ने चाँदी के स्वतन्त्र टंकन के लिए टकसालों को बन्द कर इसी मार्ग का अनुसरण किया। लैटिन यूनियन के देशों ने भी इनका साथ दिया और इसके फलस्वरूप बाजार में चाँदी की बहुतायत हो गई। नई खानों एवं परिष्कृत विधाओं के कारण चाँदी की उत्पत्ति खूब बढ़ी। इसके विपरीत यूरोप और संयुक्तराज्य में स्वर्ण के प्रमाप की स्वीकृति से तथा व्यापार के सामान्य प्रसार के कारण सोने की माँग बढ़ रही थी, परन्तु उसकी पूर्ति कम होती जा रही थी। सोने और चाँदी का सम्बन्ध सामान्य वस्तुओं-सा रह गया। उनके बीच कोई द्रव्यात्मक सम्बन्ध नहीं रहा। रजत-प्रमाप देशों में अधोमूल्यित धातु का विस्तृत पैमाने पर प्रवाह प्रारम्भ हुआ। भारत पहले से भी अधिक चाँदी के भण्डार का स्थान हो गया। भारतीय टकसालों में इस चाँदी का रुपयों में टंकन किया जाता था। भारत में मूल्यों की वृद्धि की सुनिश्चित प्रवृत्ति का कारण अत्यधिक टंकन था। मूल्यों की वृद्धि सन् १९०० के बाद अधिक स्पष्ट हुई। चाँदी का मूल्य १८७५ में ५८ पेंस प्रति औंस से घटकर १८७९ में ५२$\frac{1}{2}$ पेन्स प्रति औंस, १८८८ में ४३

पेंस प्रति औंस, १८६२ में ३७३/४ पेंस प्रति औंस तथा १८६६ में २७ पेंस प्रति औंस रह गया। चाँदी के अधोमूल्यन के साथ सावरेन में रुपये का विनिमय-मूल्य अर्थात् स्वर्ण-मूल्य गिरने लगा और सन् १८७१ के २ शिलिंग से घटकर १८६२ में १ शिलिंग २ पेंस के लगभग हो गया।

प्रधानतया स्वर्ण-प्रमाप को अपनाने के अभिप्राय से १८७४ से १८७८ तक रजत के स्वतन्त्र टंकन के लिए टकसाल बन्द करने की दिशा में सुधार की आवाज उठाई गई। १८७६ में बंगाल व्यापार-मण्डल और कलकत्ता व्यापार-संस्था ने गवर्नर जनरल को भारतीय टकसालों द्वारा चाँदी की अनिवार्य टंकन-क्रिया के अस्थायी अवरोध के लिए प्रार्थना-पत्र भेजा। सरकार ने इस प्रार्थना को अस्वीकार कर दिया, उनका विचार था कि सोने को प्रमाप रूप में अपनाये बिना कोई कदम उठाना सम्भव नहीं था तथा तत्कालीन अव्यवस्थित परिस्थितियों में वे स्वर्ण-प्रमाप अपनाने में असमर्थ थे। इस अनिश्चितता का प्रधान कारण चाँदी का अधोमूल्यन और सोने का अधिमूल्यन था। १८७८ में भारत सरकार ने भारत-सचिव के समक्ष प्रस्ताव किया कि स्वर्ण चलार्थ (करेन्सी) के साथ स्वर्ण-प्रमाप स्थापित करने के लिए निश्चित कदम उठाये जायँ और इस बीच सोने के सिक्के और रुपये के बीच में निश्चित सम्बन्ध, जिसे आवश्यकता पड़ने पर समय-समय पर परिवर्तित भी किया जा सके, स्थापित करने के लिए टकसाली लाभ वसूल कर रुपये की कीमत बढ़ाई जाय। राज्य-सचिव ने यह प्रस्ताव एक समिति को सौंप दिया, जिसने विभिन्न आधारों पर इस प्रस्ताव का विरोध किया और सलाह दी कि आकस्मिक भय से प्रभावित होकर विधानों की शरण लेने की अपेक्षा शान्ति से बैठना अधिक श्रेयस्कर है। इन विधानों के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता और न उनके प्रभाव ही मापे जा सकते हैं। स्वर्ण-प्रमाप के विकल्प के रूप में भारत सरकार बहुत समय तक अन्तर्राष्ट्रीय द्विधातु प्रथा अपनाये रही, जबकि सारी दुनिया इसका परित्याग करती जा रही थी। १८६७ और १८६६ के बीच उत्तरी अमरीका और विभिन्न यूरोपीय देशों में मुद्रा-प्रचलन की कठिनाइयों के निवारणार्थ कम-से-कम चार अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुए। भारत सदा से ही अन्तर्राष्ट्रीय द्विधातु मुद्रा के पक्ष में था, क्योंकि उसे आशा थी कि ऐसा होने पर अन्य देशों में चाँदी की स्थिर दर हो जाने से उसका मूल्य बढ़ जायगा और भारत की विनिमय सम्बन्धी कठिनाइयाँ दूर हो जायँगी। यह योजना असफल हो गई। इसका प्रधान कारण इंगलैण्ड का विरोध और इंगलैण्ड के अनुकरण में अन्य यूरोपीय देशों की स्वर्ण-प्रमाप स्वीकार करने की साधारण अभिलाषा थी, जिसके फलस्वरूप चाँदी प्रयोग करने वाले देशों में द्विधातु प्रथा प्रारम्भ करने के प्रति इन्होंने विरोधी रुख अपना लिया। इन देशों को यह भय था कि रजत-प्रमाप वाले देशों की स्वर्ण की माँग से सोने की कीमत बढ़ जायगी जिससे यूरोप के देश परेशानी में पड़ जायेंगे, विशेषकर वे देश जो अपनी करेंसी को स्थायी और एकधातु अर्थात् सोने के आधार पर चलाना चाहते थे।

५. चतुर्थ काल (१८६३-१६००)—इस बीच चाँदी के मूल्य में लगातार कमी होने तथा संयुक्तराज्य द्वारा शर्मन कानून हटा देने से प्रतिवर्ष टंकन के लिए

रकार का ५४० लाख औंस चाँदी खरीदनी पड़ती थी। इसके कारण चाँदी था फलस्वरूप भारतीय रुपये की स्थिति पहले से भी अधिक संदिग्ध हो गई। ८९२ में इन परिस्थितियों में भारत सरकार ने फिर राज्य-सचिव तक पहुँच की और न्तेत: स्वर्ण-प्रमाप अपनाने के उद्देश्य से चाँदी की स्वतन्त्र ढलाई बन्द करने का स्ताव उस दशा के लिए रखा जबकि ब्रुसेल्स में हो रहा द्रव्य सम्बन्धी अन्तर्राष्ट्रीय म्मेलन किसी निर्णय पर न पहुँच सके। फलत: १८९२ में भारत सरकार के पर्युक्त प्रस्ताव के साथ चलार्थ और विनिमय की अवस्था पर विचार करने के लिए र्शल समिति की नियुक्ति हुई। जब हर्शल समिति बैठी हुई थी उसी समय ब्रुसेल्स म्मेलन छिन्न-भिन्न हो गया। उस समय भारतीय चलार्थ व्यवस्था की प्रधान ठिनाइयों के लिए हर्शल समिति को निम्न उपाय प्रस्तुत करने पड़े—(१) रजत ी एकधात्वीय प्रथा और स्वर्ण-प्रमाप की देशों में गिरती हुई विनिमय दर के कारण ारत सरकार की वित्तीय कठिनाइयाँ, (२) भारत की जनता और वाणिज्य पर विनिमय दर के कम होने के कुप्रभाव और (३) विनिमय दर के गिराव के कारण ारत में यूरोपीय अफसरों की कठिनाइयाँ।

. (क) **भारत सरकार की वित्तीय कठिनाइयाँ**[1]—भारत सरकार की सबसे ड़ी कठिनाई यह थी कि इसको इंगलैण्ड के प्रति अपनी स्वर्ण देनदारियों, दाहरणार्थ गृह-व्यय (होम चार्जेज़), के लिए प्रतिवर्ष काफी रुपया देना पड़ता , इसके वास्तविक प्रभाव रुपये के स्वर्ण-मूल्य से निश्चित होते थे। यह मूल्य १८७४ तक लगातार कम होता गया और उसके बाद भी गिरने की आशंका नी रही। १८८८ से १८९३ तक गवर्नर जनरल की परिषद् के वित्तीय सदस्य र डेविड बार्बर ने भारत की इस कठिनाई का इस प्रकार वर्णन किया है, "हमारी वित्तीय कठिनाइयों का तात्कालिक कारण सोने की तुलना में चाँदी का अधिमूल्यन था, जिसके फलस्वरूप गत दो वर्ष में भारतीय व्यय ४ करोड़ रुपया और बढ़ गया। यदि यह अवमूल्यन रोका जा सके और इंगलैण्ड के साथ विनिमय की दर स्थायी रूप से वर्तमान आँकड़ों पर भी निश्चित की जा सके, तो वर्तमान घाटे की समस्या का हल अपेक्षाकृत सरल हो जाय। आगामी वर्ष में हमारी वित्तीय स्थिति विनिमय तथा उन लोगों की स्थिति पर निर्भर है जो किसी भी भाँति चाँदी के मूल्य को प्रभावित कर सकते हैं। यदि हम १५,९५,१०० रुपये के घाटे का बजट तैयार करें और विनिमय-दर एक पेंस ही बढ़ जाय तो हमें काफी बचत होगी और यदि एक पेंस और कम हो जाय तो ३ करोड़ से अधिक का घाटा होगा। यदि हम १$\frac{1}{2}$ करोड़ रुपये का कर लगाएँ तो समय-चक्र इतने ही रुपये का कर बार-बार लगाने को बाध्य करेगा और हमें बाद में ज्ञात होगा कि कर की कोई आवश्यकता नहीं थी।"

७. (ख) **विनिमय-दर की गिरावट का भारतीय जनता पर प्रभाव**[2]—पौण्ड देनदारियों को चुकता करने के लिए सरकार को अधिक रुपयों की आवश्यकता थी, जिसके

१. हर्शल कमेटी रिपोर्ट, पैरा ३-६।

२. पूर्वोद्धृत रिपोर्ट, पैरा ३२-३४।

कारण रुपये में और अधिक कर लगाया गया। इसके फलस्वरूप कर-भार में स्थायी वृद्धि आवश्यक नहीं थी, क्योंकि कालान्तर में भारत में चाँदी के मूल्य में वृद्धि से स्थिति व्यवस्थित हो जाती। इसका कारण यह था कि रुपयों की अधिक संख्या का अर्थ उत्पादन की पूर्व मात्रा होती और भार का उचित माप उत्पादन की मात्रा है न कि उसकी सांकेतिक द्रव्य की इकाइयों की संख्या। स्थिति व्यवस्थित होने के लिए कुछ समय अवश्य अपेक्षित है और इसी बीच भारतीय किसानों को उत्पादन के रूप में अधिक देना पड़ा। हर्शल समिति का कहना था कि इससे सम्पूर्ण जनता पर अधिक भार भले ही न पड़े, परन्तु एक वर्ग के भार का दूसरे वर्ग पर स्थानान्तरित हो जाना बिलकुल सम्भव था। विनिमय की गिरावट के कारण स्थायी बन्दोबस्त के अन्तर्गत निश्चित मालगुजारी देने वालों का भार कुछ कम हो गया और इसी प्रकार उन लोगों का भी भार कम हो गया जिनकी मालगुजारी का वन्दोवस्त अभी हाल में नहीं हुआ था। इसके अतिरिक्त बढ़े हुए नमक-कर से लोगों को बहुत कठिनाई हुई और उन लोगों पर कर और अधिक भारी हो गया जो लोग रुपये का स्वर्ण मूल्य कम हो जाने के कारण ऊँचे मूल्यों से त्रस्त हो चुके थे।

आयात और निर्यात की क्रमशः स्थायी हानि और लाभ को छोड़ देने पर भी राज्य की निर्बाधता के विरुद्ध प्रमुख तर्क यह था कि भारतवर्ष के आयात का ७४% सोना प्रयोग करने वाले देशों से और २६% चाँदी प्रयोग करने वाले देशों से [illegible] था।[1] इस प्रकार स्वर्ण-प्रमाप वाले देशों से घनिष्ठ वित्तीय और वाणिज्य सम्बन्ध स्थापित हो चुके थे और रुपये के मूल्य में लगातार कमी होने से भारत के विदेशी व्यापार की कठिनाइयों की वृद्धि तथा परिकल्पना का उत्पन्न होना अवश्यम्भावी था। इसके अतिरिक्त रुपये के मूल्य की कमी से नियोक्ताओं को अस्थायी लाभ मिला, परन्तु यह कारण मजदूरों के मत्थे जाता था क्योंकि मूल्यों की तुलना में मजदूरी की वृद्धि शिथिलतर होती है। भारत के हित को ध्यान में रखते हुए हम यह नहीं कह सकते कि विनिमय का अनवरत गिराव लाभप्रद था।

सरकारी वित्त तथा वाणिज्य-समाज की कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुए स्वर्ण-प्रमाप अपनाने के हेतु रजत-प्रमाप त्यागने की चिन्ता के लिए सरकारी कार्यो को दोप देना कठिन प्रतीत होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कर वढ़ाने की वैकल्पिक विधि, विशेपतया ऐसे रूप में, जिसमें वह अलोकप्रिय न होती, जैसे आयात-कर तथा सरकारी व्यय में घोर कटौती आदि, कदम असम्भव नहीं थे। रुपये के मूल्य में वरावर उतार-चढ़ाव की सम्भावना के कारण करारोपण और मितव्ययता असाधारण रूप से कठिन और अनिश्चित थे।

८. विनिमय और विदेशी पूँजी में गिराव—विनिमय का गंभीर गिराव भारत में विदेशी पूँजी के विनियोग तथा अधिकांशतः उस पर निर्भर देश के विकास को रोकने लगा, क्योंकि उधार देने वाला वाज़ार लन्दन था और वह स्वर्ण में ही सोचता था। विनियोग पर व्याज सम्वन्धी अनिश्चितता तथा विनियोजित पूँजी को पुनः इंगलैण्ड

---

१. इसके लिए ई० डब्ल्यू० की 'माडर्न करेन्सी रिफार्म्स,' पृ० २७-२८ देखिए।

स्थानान्तरित करने में उसके मूल्य में कमी की सम्भावना ने भारत में ब्रिटिश पूँजी के प्रवाह को अवरुद्ध कर दिया। विनिमय के गिराव के कारण यूरोप-निवासियों की सेवाएँ प्राप्त करने के लिए विदेशी फर्मों को कठिनाई का सामना करना पड़ता था। देश में विदेशी पूँजी आकर्षित करने की कठिनाइयों का प्रतिकूल प्रभाव भारत की स्थानीय संस्थाओं के वित्त पर भी पड़ा।

९. (ग) **यूरोपीय अधिकारियों की दशा**—भारत सरकार को अपने अधिकारियों के सम्बन्ध में भी अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। विनिमय में गिराव के कारण अधिकारी-वर्ग क्षतिपूर्ति माँगने लगा। उन्हें वेतन रुपये में मिलता था तथा इंगलैंड में अपने परिवार की सहायता और बच्चों की शिक्षा के लिए उन्हें अपनी आय का पहले से अधिक भाग स्टर्लिंग के रूप में भेजना पड़ता था। इससे अधिकारियों में गहरा असंतोष फैल गया।

१०. **हर्शल समिति की सिफारिशें**—तत्कालीन द्रव्य-व्यवस्था के शीघ्र सुधार के सम्बन्ध में दृढ़मत हो जाने पर हर्शल समिति ने अपने सुझाव दिये। द्विधातु प्रणाली का अब कोई प्रश्न ही नहीं था। चाँदी के विमुद्रीकरण और स्वर्ण-प्रमाप करेन्सी के स्थान पर एक प्रकार की पंगु प्रमाप की सिफारिश की गई, जिसके अन्तर्गत सोने या चाँदी के स्वतंत्र टंकन की मनाही कर दी गई। रुपया असीमित कानूनी मुद्रा बना रहा। संक्रमण में स्वर्ण के केवल आंशिक रूप से चलार्थ के लिए प्रयोग करने की व्यवस्था की गई तथा संक्रमण-काल समाप्त होने पर पूर्णतया स्वर्ण-प्रमाप अपनाने के लिए नये कदम उठाने की सिफारिश की गई।

भारत सरकार ने इसका अनुमोदन किया और १८७० के कानून और भारतीय कागजी चलार्थ अधिनियम (इण्डियन पेपर करेन्सी एक्ट) १८८२ के सुधार के लिए १८९३ में एक कानून पास किया गया। चाँदी की स्वतंत्र ढलाई के लिए टकसालों को तुरन्त बन्द कर देने की व्यवस्था थी, यद्यपि भारत सरकार को अपने-आप (अपने लिए) मुद्रा बनाने की इजाजत थी। उसी समय शासन सम्बन्धी तीन अधिसूचनाएँ जारी की गईं। पहली अधिसूचना ने १६ पेंस=१ रु० की दर से स्वर्ण-मुद्रा और स्वर्ण-पिण्ड के बदले रुपया देने की व्यवस्था की। दूसरी अधिसूचना ने उसी भाव पर सार्वजनिक देनदारी के लिए सावरेन और अर्द्ध-सावरेन को स्वीकार करने को विहित ठहराया। तीसरी अधिसूचना ने उसी भाव पर स्वर्ण-मुद्रा और स्वर्ण-पिण्ड के बदले कागजी चलार्थ कार्यालय (पेपर करेन्सी ऑफिस) से कागज के नोट जारी करने की व्यवस्था की।

इन व्यवस्थाओं के प्रमुख उद्देश्य निम्न थे—प्रथम, रुपये के विनिमय-मूल्य को ऊपर उठाना या उसके गिराव को रोकना। द्वितीय, विदेशी पूँजी के आयात को प्रोत्साहित करना। तृतीय, स्वर्ण-सावरेन के प्रयोग से लोगों को परिचित कराना; और अन्तिम, चाँदी के प्रयोग से लोगों को हतोत्साहित करना। सामान्यतः ये स्वर्ण-प्रमाप को उठाने के लिए पहले कदम थे और इनका उद्देश्य भारत को स्वर्ण-प्रमाप वाले देशों से तुरन्त सम्बद्ध करना था। स्वर्ण-प्रमाप की स्थापना के पूर्व एक संक्रमण-काल आवश्यक था।

११. **फाउलर समिति (१८९८)**—१८९३ के बाद चलार्थ की स्थिति निश्चय

ही संक्रमणकालीन और अस्थायी थी तथा कुछ निश्चित कार्यवाही करना अब भी शेष था। कुछ समय के लिए कौंसिल बिलों की बिक्री रोक देने और टकसालों को बंद कर देने के कारण द्रव्य बाजार में रुपये की कमी हो जाने से वाणिज्यिक समाज को बड़ी कठिनाइयों का अनुभव हुआ और उनके प्रदर्शनों ने शीघ्र ही कार्यवाही करना आवश्यक कर दिया। इस बीच धीरे-धीरे रुपये का विनिमय-मूल्य बढ़ रहा था[1] और ऐसा प्रतीत होने लगा मानो भारतीय चलार्थ को स्वर्ण पर आधारित करने का समय आ गया हो। फलस्वरूप १८९८ में फाउलर समिति की नियुक्ति हुई।

समिति के समक्ष उपस्थित प्रस्तावों में से बंगाल बैंक के कोषाध्यक्ष और उपसचिव श्री ए० एम० लिण्डसे की योजना विशेष रूप से चर्चा योग्य है। इस योजना की महत्ता इस बात में है कि यह बाद में पेश की गई योजना से बहुत मिलती-जुलती थी। इस योजना ने इंगलैण्ड में १०० लाख पौण्ड के दीर्घकालीन ऋण लेने और उसे इंगलैण्ड में ही स्वर्ण-प्रमाप सुरक्षित (गोल्ड-स्टेण्डर्ड रिजर्व) कोष के रूप में रखने की सिफारिश की। स्वर्ण अथवा स्वर्ण सावरेन के बदले में सरकार को रुपया देने के लिए बाध्य करने में १८९३ की व्यवस्था का आशय रुपये के मूल्य को १ शि० ४ पैं० से आगे न बढ़ने देना था। रुपये के बदले स्टर्लिंग देने का प्रबन्ध करके इस योजना को पूरा करना था। अतः यह प्रस्तावित हुआ कि भारत सरकार के १ शि० ३$\frac{३}{४}$ पैं० प्रति रुपया की दर से कम-से-कम १००० पौण्ड के लन्दन स्टर्लिंग ड्राफ्ट भारत में बेचे जायँ जिनकी अदायगी लन्दन के स्वर्ण-प्रमाप सुरक्षित कोष से की जाय।

लन्दन में कम-से-कम १५,००० रु० के ड्राफ्ट १ शि० ४$\frac{१}{१६}$ पैं० प्रति रुपया की दर से प्रार्थियों को बेचने की व्यवस्था थी जो बम्बई और कलकत्ता में भुनाये जा सकते थे। स्टर्लिंग ड्राफ्ट के विक्रय से यदि भारत में रुपये की अधिकता हो जाती थी और इंगलैण्ड का सुरक्षा-कोष रिक्त हो जाता था, तो अधिक रुपया स्वर्ण-पिण्ड की तरह बेच दिया जाता था और प्राप्त राशि लन्दन के सुरक्षित स्वर्ण-कोष में जमा कर दी जाती थी। यदि भारत में रुपये का भण्डार अपर्याप्त होता तो भारत में रुपया बनाने के लिए लन्दन के सुरक्षित स्वर्ण-कोष से खरीदकर चाँदी भेज दी जाती थी। इस योजना का यह आशय था कि भारत का माध्यम रुपया रहे और सोना कानूनी मुद्रा न हो। फाउलर समिति ने इस योजना को अस्वीकार कर दिया, क्योंकि उन्हें भय था कि इसके अपनाने से भारत में पूँजी का प्रभाव, जिस पर देश की आर्थिक उन्नति निर्भर है, रुक जायगा। भारत में इस प्रथा को स्थायी बनाने का भी उन्होंने विरोध किया, क्योंकि वह भारत के स्वर्ण-प्रमाप को सदा के लिए लन्दन में कुछ लाख के सोने पर आधारित कर देगी। साथ ही अनिश्चित सीमा तक प्राप्त रुपयों के बदले लन्दन में सोने में अदा करने की देनदारी भी भारत की होगी।

फाउलर समिति के अनुसार सोने के स्वतन्त्र आवाह-प्रवाह पर आधारित स्वर्ण-प्रमाप और चलार्थ (करेन्सी) की स्थापना ही हमारा उद्देश्य होना चाहिए। इस

१. रुपये का १८९४ में औसत विनिमय मूल्य १ शि० १$\frac{१}{२}$ पैं० था। १८९८ में बढ़कर १ शि० ४ पैं० हो गया।

उद्देश्य से उन्होंने अधोलिखित प्रस्ताव रखा—(१) सावरेन और अर्द्ध-सावरेन के टंकन के लिए भारत में टकसालें खोल दी जायँ। १८९३ के निर्णय के अनुसार चाँदी के स्वतन्त्र टंकन के लिए टकसालें उस समय तक के लिए बन्द कर दी जायँ जब तक चलार्थ में सोने का अनुपात जनता की आवश्यकता से अधिक न हो जाय। (२) अन्ततोगत्वा विनिमय-दर १ शि० ४ पैं० प्रति रुपया स्थिर कर दी जाय, क्योंकि यह पहले भी निश्चित की जा चुकी थी और इस दर से मूल्यों का सामञ्जस्य हो जाने के कारण किसी अन्य अनुपात की तुलना में इसका निर्वाह सरल था। (३) रुपया असीमित वैधानिक ग्राह्य बना रहे। (४) सरकार सोने के बदले में रुपया देना जारी रखे और अपने-आपको रुपये के बदले में सोना देने को बाध्य न करे, क्योंकि सोना देने के लिए बाध्य होना असुविधाजनक होगा तथा सरकार से सोने की आकस्मिक माँग भी की जा सकेगी जिसकी पूर्ति के लिए भारी लागत पर स्टर्लिंग ऋण लेना आवश्यक हो जायगा। (५) रुपये को सावरेन में बदलने के लिए भविष्य में चाँदी के टंकन का लाभ विशेष सुरक्षित कोष के रूप में एक स्वर्ण-कोष में जमा करना चाहिए जो पत्र मुद्रा सुरक्षित-कोष तथा सरकारी कोष से अलग हो। यद्यपि सरकार कानूनी तौर पर रुपये को सोने में बदलने के लिए बाध्य नहीं है, फिर भी लोगों के इच्छुक होने तथा कोष से अदायगी सम्भव होने पर सोना देना लाभप्रद होगा, (६) जिस समय व्यापारिक संतुलन विपरीत हो, उस समय सरकार को सोना सुलभ करने के लिए तैयार रहना चाहिए। समिति ने आशा की कि सोना सामान्यतः स्वर्ण सुरक्षित-कोष और विशेषतया उनके द्वारा प्रस्तावित स्वर्ण-कोष से मिलेगा, यद्यपि अन्ततोगत्वा स्वर्ण-प्रमाप और स्वर्ण चलार्थ (करेन्सी) के पूर्णतया प्रारम्भ हो जाने के फलस्वरूप प्रचलन से भी सोना प्राप्त हो सकेगा।

संक्षेप में, फाउलर समिति का मत था कि निश्चित विनिमय-दर प्रभावपूर्ण स्वर्ण-प्रमाप से ही प्राप्त की जा सकती है। समिति ने लैटिन यूनियन और संयुक्त-राज्य द्वारा अपनाये गए पंगु प्रमाप को नमूने के तौर पर स्वीकार किया। इस प्रमाप में सोना और चाँदी एक निश्चित वैधानिक अनुपात के साथ असीमित वैधानिक ग्राह्य मुद्रा माने गए, परन्तु टकसालों को केवल सोने की स्वतन्त्र टंकन करने की आज्ञा दी गई। भारत सरकार ने फाउलर समिति की लगभग सारी सिफारिशों को पूर्णतया स्वीकार कर लिया और १८९९ के कानून ने फाउलर समिति द्वारा प्रस्तावित अनुपात पर सारे सावरेन और अर्द्ध-सावरेन को वैधानिक ग्राह्य मुद्रा बना दिया। भारत में स्वर्ण टकसाल प्रारम्भ करने की भी बातचीत शुरू हुई, पर इंगलैण्ड के फलस्वरूप बातचीत असफल हो गई। १८९३ के बाद सबसे पहले सरकार द्वारा स्वयं रुपयों का टंकन किया गया, जिसके लाभ से स्वर्ण-प्रमाप सुरक्षित-कोष निर्माण हुआ।

११. द्रव्य सम्बन्धी कठिनाइयों को दूर करने के लिए अपनाये गए उपाय—(१) स्वर्ण का प्रचलन—फाउलर समिति की सिफारिशों को पूरा करने के लिए उपर्युक्त कदम उठाये जाने के बाद सरकारी नीति अपने ध्येय से विचलित होकर निरुद्देश्य इधर-उधर झुकने लगी और अन्ततोगत्वा कठिनाइयों को दूर करते-करते स्वर्ण विनि-

मय प्रमाप पर आ गई। टकसालों के बन्द करने से बड़ी तंगी आ गई जो व्यापार के विस्तार और जनसंख्या में वृद्धि के कारण अत्यधिक अनुभव की जाने लगी। इस परिस्थिति के शमन के लिए १८९८ का एक्ट अस्थायी उपाय के रूप में पास हुआ। इस कानून के अन्तर्गत भारत सचिव द्वारा कौंसिल बिलों की बिक्री से प्राप्त राशि भारतीय पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष के अंश के रूप में बैंक ऑफ़ इंगलैण्ड में सोने में रखी जा सकती थी। इस प्रकार सुरक्षित सोने के आधार पर भारत सरकार नोट जारी कर सकती थी और कोष की धनराशि को कम किये बिना भारत-सचिव के ड्राफ्टों को इन नोटों से खरीद सकती थी।[1] इसका प्रभाव यह हुआ कि भारत सरकार के रुपयों के भण्डार की कमी बढ़ती गई। जनता को स्वर्ण-मुद्रा से परिचित कराने और रुपयों के टंकन की आवश्यकता को दूर करने के उद्देश्य से भारत सरकार ने १८९९ और १९०० में पोस्ट ऑफिसों, पत्र-मुद्रा कार्यालय, जिलों के कोषों तथा रेलों को स्वर्ण-मुद्रा में स्वीकृति और भुगतान को प्रोत्साहित करने के लिए निर्देश देकर सावरेन प्रचलित करने के हेतु सक्रिय प्रयत्न किये। इस प्रकार जारी की गई मुद्राएँ शीघ्र ही सरकार को लौटा दी गई। इस कारण सावरेन को विनिमय के माध्यम के रूप में जनता में प्रचलित करने के लिए किये गए सारे प्रयोग को सरकार ने बड़ी सरलता से असफल मान लिया।

(२) **नोट और रुपये जारी करना**—१९०० में भारत सरकार ने लाचार होकर बड़े पैमाने पर टंकन क्रिया को फिर आरम्भ किया। इसके लिए अपेक्षित चाँदी लन्दन के पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष के सोने से खरीदी गई। १८९८ का संकट पूर्णतया अस्थायी था। उसके अनुसार कौंसिल बिलों की बिक्री से प्राप्त तथा पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष में जमा किया गया सोना भारत-सचिव के पास इंगलैण्ड में रहेगा, जब तक कि वे स्वंय इसे भारत न भेज दें अथवा भारत सरकार कौंसिल बिलों की बिक्री से प्राप्त सोने के आधार पर जारी किये गए नोटों के बराबर सिक्के करेन्सी रिज़र्व के भाग के रूप में अलग रखकर सोना न माँग लें। सर्वप्रथम यह कानून ढाई वर्ष के लिए बढ़ाया गया और १९०० में पुनः दो वर्ष के लिए बढ़ा दिया गया। इस प्रकार प्राप्त हुए सोने से भारत में सिक्का बनाने के लिए चाँदी खरीदने और उसे पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष के अंश के रूप में स्वीकार करने का अधिकार भारत-सचिव को था। इस प्रकार इंगलैण्ड में स्वर्ण सुरक्षित कोष के तीन स्पष्ट उद्देश्य थे—(क) इससे आवश्यकता पड़ने पर टंकन के लिए चाँदी खरीदने के हेतु लन्दन में धन मिल सकता था। (ख) व्यापारिक सन्तुलन प्रतिकूल होने तथा कौंसिल बिलों का विक्रय असम्भव अथवा अलाभप्रद होने पर भारत को विदेशी विनिमय में सहायता मिल सकती थी। ऐसी परिस्थितियों में भारत-सचिव अपने व्यय को पूरा करने के लिए पत्र-

१. जैसा केमरर ने कहा है, यह उपाय व्यवहारतः सरकार द्वारा लिंडसे योजना को अपनाने के बराबर था (जिसे एक साल बाद फाउलर समिति की सिफारिशों पर अस्वीकार कर दिया गया)। इसका अर्थ लन्दन में भारत-स्थित पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष के आधार पर विक्रय करना था (उन दरों पर जो व्यवहारतः लन्दन का स्वर्ण निर्यात-बिन्दु प्रदर्शित करती थीं तथा जिनका प्रमुख उद्देश्य भारत में द्रव्य सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए करेन्सी प्राप्त करना था)—केमरर, पूर्व उद्धृत, पृ० १०२।

मुद्रा सुरक्षित कोष से सोना ले लेगा और समान राशि स्थानांतरित कर दी जायगी।[१]
(ग) अन्तिम यह एक ऐसा कोष था जिसमें विनिमय-दर को अनावश्यक रूप से ऊँचा होने से रोकने तथा भारत के लिए अवांच्छनीय प्रवाह वन्द करने के लिए भारत-सचिव अपनी आवश्यकता से अधिक कौंसिल विल बेचकर राशि जमा कर सकता था। इस जमा की हुई राशि के आधार पर भारत में नोट जारी किए जाते थे।

१६०२ में ये सारे नियम स्थायी बना दिये गए। १६०५ में भारत के सुरक्षित कोष में ५० लाख पौण्ड जमा हो गया और यह रकम लन्दन-स्थित इंगलैण्ड बैंक को पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष में रखने के लिए भेज दी गई। यह साधारण कार्यों के लिए नहीं खर्च किया जाता था। इसका एक भाग इंगलैण्ड की स्टर्लिंग प्रतिभूतियों में जमा किया जाता था। १६०६ के बाद पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष का अधिकांश भाग सोने के रूप में रखा जाने लगा।

१३. स्वर्ण प्रमाप सुरक्षित कोष—१६०० में भारत सरकार ने एक सुरक्षित स्वर्ण-कोष को भारत में रखना प्रस्तावित किया, जिसे फाउलर समिति भी चाहती थी। उन्होंने यह भी प्रस्ताव रखा कि पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष धीरे-धीरे अपनी पूर्व स्थिति पर पहुँच जाय और इसका प्रयोग केवल करेन्सी नोटों के भुगतान के लिए ही किया जाय। इसका निर्माण मुख्यतः रुपयों और प्रतिभूतियों से ही हो। इसके विपरीत सुरक्षित स्वर्ण-कोष में प्रधानतः सोना ही रखा जाय। भारत-सचिव ने इसके विपरीत निर्णय किया। उन्होंने लन्दन-स्थित कोष और स्टर्लिंग में विनियोजित प्रतिभूतियों को ही पसन्द किया। उनका कहना था कि यह कोष आकस्मिक आवश्यकताओं के लिए बनाया गया है और ऐसी स्थिति आने पर इसका प्रयोग लन्दन में ही किया जायगा। अतएव उसे रखने के लिए लंदन ही सर्वोत्तम स्थान है। इस प्रकार रुपये की विनिमय-क्षमता बनाये रखने तथा स्वर्ण दायित्वमुक्ति कोष में प्रयुक्त होने के बजाय स्वर्ण सुरक्षित कोष सरकारी कोष के कुल अतिरिक्त के अंश-मात्र तथा गौण सुरक्षित कोष के रूप में समझा जाने लगा। रुपये के सन्तुलन का कार्यभार प्रधानतया पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष और लंदन में कौंसिल बिलों की बिक्री पर पड़ा। इसका परिणाम यह हुआ कि तीनों कोषों अर्थात् पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष, सुरक्षित स्वर्ण कोष तथा भारत सचिव कोष के काम अस्पष्ट हो गए। भारत-सचिव कोष के राजकोषीय कार्य तथा अन्य दोनों कोषों के मुद्रा सम्बन्धी कार्यों का सम्मिश्रण हो गया।

भारत-सचिव की योजना के अनुसार रुपयों के टंकन का लाभ लंदन भेज दिया जाता था और होता यह था कि भारत में टंकित रुपयों के बदले लन्दन-स्थित पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष में से सोना ले लिया जाता था। १६०६ में रुपयों की माँग की कठिनाई दूर करने के लिए पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष से अलग एक विशेष रुपया सुरक्षित कोष बनाया गया, जिसे स्वर्ण-प्रमाप सुरक्षित कोष की रजत शाखा का नाम दिया गया।[२] रुपया सुरक्षित कोष का उद्देश्य रुपये की विनिमय-दर को

१. देखिए, सेक्शन १४।
२. इस तिथि से स्वर्ण सुरक्षित कोष का नाम स्वर्ण-प्रमाप सुरक्षित कोष हो गया।

से घटकर १५ लाख पौण्ड रह गई, जबकि भारत में सोने का सम्पूर्ण भण्डार समाप्त हो गया था।[1] इस प्रकार सरकार सुरक्षित स्वर्ण कोष को बढ़ाने की आवश्यकता से प्रभावित हुई ताकि भविष्य में ऐसे संकटों का स्थिर-चित्त होकर सामना किया जा सके। १९०९ में उन्होंने भारत-सचिव के सामने प्रस्ताव रखा कि सुरक्षा के लिए आवश्यक न्यूनतम राशि २५० लाख पौण्ड होनी चाहिए और जब तक इतनी रकम पूरी न हो जाय तब तक उसका कोई भाग रेलों पर खर्च न किया जाय। उन्होंने स्वर्ण प्रमाप सुरक्षा कोष को तरल रूप में रखने की भी सिफारिश की।

भारत-सचिव ने उत्तर दिया कि उनके अनुसार स्वर्ण प्रमाप सुरक्षित कोष और पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष दोनों को मिलाकर २५० लाख पौण्ड उचित राशि होगी और जब तक दोनों की संयुक्त राशि इतनी नहीं हो जाती, तब तक स्वर्ण प्रमाप सुरक्षित कोष से कोई भी रकम नहीं ली जायगी। संयुक्त राशि के २५० लाख पौण्ड हो जाने पर इस पर विचार किया जा सकता है।

वे सुरक्षित कोष को तरल रूप में रखने के सुझाव से पूर्णतया सहमत नहीं हुए, परन्तु उन्होंने स्वर्ण प्रमाप सुरक्षित कोष के १० लाख पौण्ड को तरल रूप में रखने का निर्णय किया। यह रकम लंदन में स्वीकृत जमानतों पर स्वीकृत ऋणदाताओं को अल्पकालीन ऋण के रूप में दी जाती थी। शेष राशि उच्च प्रतिभूतियों अथवा कन्सोल तथा अन्य स्वीकृत हिस्सों में विनियोजित की जाती थी।

१९१२ में भारत सरकार की इच्छा के प्रति आदर-भावना तथा सार्वजनिक आलोचना के कारण भारत-सचिव ने यह निर्णय किया कि स्वर्ण प्रमाप सुरक्षित कोष का प्रमाप २५० लाख पौण्ड हो और ५० लाख पौण्ड का सोना बैंक ऑफ़ इंगलैण्ड में प्रक्षेप के रूप में रखा जाय।[2]

उपरोक्त कदम उठाने में सरकार अनजाने में फाउलर समिति द्वारा प्रस्तावित स्वर्ण प्रमाप के सीधे और संकुचित मार्ग से अलग हो गई और अनेक अवसरवादी उपायों के क्रम के फलस्वरूप लिण्डसे द्वारा प्रस्तावित योजना पर पहुँच गई। इस पद्धति के बारे में १८९३ में सोचा भी नहीं गया था और १८९८ में फाउलर समिति और सरकार दोनों ने ही इसका विरोध किया था। कोई ऐसी निश्चित तिथि बताना भी सम्भव नहीं है जिस दिन से यह विचारपूर्वक अपनाई गई हो।

स्वर्गीय सर विट्ठलदास थेकरसे की प्रेरणा से सोने की टकसाल और टंकन के प्रस्ताव पुनः रखे गए। इन्होंने १९१२ में इम्पीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल में इस आशय का एक प्रस्ताव रखा। इस सम्बन्ध में एक वर्ष तक बातचीत चलती रही। उस समय यह निश्चय हुआ कि यह प्रश्न अन्य प्रश्नों के साथ करेन्सी आयोग के समक्ष रखा जाय जिसके बारे में विचार किया जा रहा था।

१६. स्वर्ण विनिमय प्रमाप का स्वरूप—स्वर्गीय लार्ड केन्स ने, जो इस पद्धति के योग्यतम व्याख्याकर्ताओं में से थे तथा जिसका विकास ऊपर किया जा चुका है और जो

१. देखिए, एच० एफ० हॉवर्ड, 'इण्डिया एण्ड द गोल्ड स्टैण्डर्ड', पृ० ३५।
२. देखिए, शिराज़, पूर्व उद्धृत, पृ० २१५।

१८९८-९९ से १९१५-१६ तक भली भाँति कार्यशील रही, संक्षेप में निम्न विशेषताएँ बताई हैं–(१) रुपया असीमित वैधानिक ग्राह्य मुद्रा है, विधानतः अपरिवर्तनीय है, (२) सावरेन भी १ पौण्ड = १५ रुपये की दर से असीमित वैधानिक ग्राह्य मुद्रा है और जब तक १८९३ की अधिसूचना वापस नहीं ली जाती तब तक वह इसी दर पर परिवर्तनीय है, अर्थात सरकार को १ पौण्ड के बदले १५ रुपये देने पड़ेंगे, (३) शासन की दृष्टि से सरकार इस दर पर रुपये के बदले सावरेन देगी, परन्तु यह कार्य कभी-कभी रोका भी जा सकता है और रुपये के बदले यथेष्ट मात्रा में सोना सदैव प्राप्त नहीं किया जा सकता, और (४) शासन-प्रबन्ध के विचार से सरकार लन्दन में रुपये के बदले में चुकता होने वाले बिलों को १ शि० ३$\frac{२९}{३२}$ पैं० प्रति रुपया की दर से कलकत्ता में बेचेगी।

इन प्रस्तावों में चौथा प्रस्ताव रुपये के स्टर्लिंग मूल्य को सहायता देने के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि इसे ठीक रखने के लिए सरकार ने कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया है, फिर भी इस सम्बन्ध में असफलता उनकी पद्धति को एकदम छिन्न-भिन्न कर देगी।

इस प्रकार द्वितीय प्रस्ताव रुपये के १ शि० ४ पैं० के स्टर्लिंग मूल्य को भारत में सावरेन भेजने के खर्चे से अधिक नहीं बढ़ने देगा और चौथा प्रस्ताव उसे १ शि० ३$\frac{२९}{३२}$ पैं० से नीचे गिरने से रोकेगा। व्यवहारतः इसका अर्थ यह हुआ कि रुपये के स्टर्लिंग मूल्य के परिवर्तन की सीमाएँ १ शि० ४$\frac{१}{८}$ पैं० और १ शि० ३$\frac{२९}{३२}$ पैं० हैं।[१]

स्वर्ण विनिमय प्रमाप के सम्बन्ध में कहा जाता है कि स्वर्ण प्रमाप और स्वर्ण करेन्सी से कहीं अधिक सस्ता होने के साथ ही यह स्वर्ण करेन्सी के सभी लाभों से पूर्ण है। यह स्पष्ट है कि भारत में इसका प्रधान उद्देश्य रुपये और सोने का सन्तुलन बनाये रखना था। जिस समय विनिमय निर्बल होता उस समय तो सरकार स्टर्लिंग (रिवर्स कौंसिल) बेचने लगती और जब रुपये का मूल्य बढ़ता, तो वह स्थानीय (करेन्सी कौंसिल बिल) बेचने लगती। सरकार के ऐसे हस्तक्षेप का प्रभाव सोने और रुपयों के सुरक्षित कोष के पर्याप्त होने पर निर्भर था।

१७. कौंसिल ड्राफ्ट प्रथा—१९१४ तक रिवर्स कौंसिल और कौंसिल बिल स्वर्ण विनिमय प्रमाप के महत्त्वपूर्ण अंग बन चुके थे, परन्तु सरकार रिवर्स कौंसिल बेचने के लिए कभी भी विधानतः बाध्य नहीं थी। इसके अतिरिक्त उन्हें बेचने का अवसर भी बहुत कम आये, परन्तु जैसा कि हम देख चुके हैं, कौंसिल ड्राफ्ट पद्धति कौंसिल बिल और टेलीग्राफिक ट्रान्सफर भारतीय करेन्सी विनिमय और वित्त के प्रबन्ध का आधार रही है।

भारत में हुंडियाँ (बिल्स ऑफ एक्सचेंज) बेचकर धन एकत्र करने की प्रथा ईस्ट इण्डिया कम्पनी के समय से प्रचलित थी।[२] १८९३ तक नियम के रूप में

---

१. पूर्व उद्धृत पृ० ६-७। अन्यत्र (पृष्ठ २०), केन्स ने स्वर्ण विनिमय प्रमाप की मुख्य बातें इस प्रकार बताई हैं—एक स्थानीय करेन्सी का प्रयोग, जो मुख्यतः सोने की न हो, स्थानीय करेन्सी के बदले सोना देने की अनिच्छा, परन्तु एक अधिकतम दर पर विदेशी विनिमय को स्थानीय करेन्सी में भुगतान के लिए बेचने की अत्यधिक इच्छा; और ऐसा करने के लिए विदेशी साख का प्रयोग।

२. यह विवरण "चेम्बरलेन कमीशन रिपोर्ट" से संक्षिप्त रूप में लिया गया है, पैरा १७०-७६।

कौंसिल ड्राफ्ट की बिक्री गृह-व्यय की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए भारत-सचिव द्वारा ही की जाती थी। यह प्रथा भारत-सचिव को अनुकूलतम दरों पर अधिक धन प्राप्त करने में सहायक होती थी। व्यापार के लिए भी यह सुविधाजनक थी, क्योंकि भारत के आयात से निर्यात की अधिकता होने के कारण भारत के प्रति अन्य देशों की देनदारी तय करने का यह सरल साधन था। सच तो यह है कि सामान्य परिस्थितियों में निर्यात की अधिकता से हुई बचत के कारण ही कौंसिल ड्राफ्ट प्रथा सम्भव और लाभप्रद हो सकी।

१८९३ के बाद कुछ वर्षों तक इस प्रथा का नकारात्मक प्रयोग किया गया, अर्थात् कौंसिल ड्राफ्ट की बिक्री बन्द करके रुपये के विनिमय-मूल्य को बढ़ाने की चेष्टा की गई। इसका प्रभाव यह हुआ कि रुपया स्वतन्त्रता से मिलना बन्द हो गया और स्टर्लिंग में उसका मूल्य बढ़ने लगा।

यह हम देख चुके हैं कि किस प्रकार १८९८ में जब रुपया १ शि० ४ पैं० के बराबर हो गया था, १८९८ के एक्ट ने भारतीय पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष के अंश के रूप में बैंक ऑफ इंगलैण्ड में जमा सोने के आधार पर कौंसिल ड्राफ्ट बेचने का अधिकार दिया तथा किस प्रकार कौंसिल ड्राफ्ट के लिए समान मूल्य के नोट और रुपये भारत में जारी किये जाते थे। इसका उद्देश्य केवल गृह-व्यय को पूरा करने के लिए धन एकत्रित करना नहीं था, बल्कि द्रव्य सम्बन्धी कठिनाइयाँ होने पर जब भारत सरकार के पास कौंसिल ड्राफ्ट के लिए सरकारी खज़ानों में अतिरिक्त धन नहीं होता, तो व्यक्तिगत रूप से भारत को सावरेन भेजने के विकल्प के रूप में करेन्सी का विस्तार करना भी इसका उद्देश्य था।

लंदन में सोना एकत्रित हो जाने पर, जिसे भारत में जारी किये गए नोटों के विरुद्ध कौंसिल ड्राफ्ट की बिक्री से प्राप्त राशि प्रदर्शित करती और जो भारत में टंकन के लिए चाँदी की खरीद के लिए प्राप्य समझा जाता, एक और कदम उठाया गया। जैसा कि हम देख चुके हैं, १९०४ के बाद से कौंसिल बिल बेचने का एक प्रस्ताव यों ही पड़ा रहा। इसी प्रकार की घटनाओं के फलस्वरूप भारत-सचिव ने अधिसूचना जारी की, जिसमें आस्ट्रेलिया और मिस्र से भारत भेजी गई सावरेन से कौंसिल ड्राफ्ट खरीदने की व्यवस्था थी। भारत में सावरेन एक विशेष सीमा से अधिक अपेक्षित नहीं थी और लंदन में चाँदी खरीदने के लिए सावरेन को पहले भारत भेजने और फिर लंदन भेजने के अनावश्यक व्यय को बचाने के उद्देश्य से भी अधिसूचनाएँ जारी की गई थीं।

१९०९-१० में लंदन में सोना प्राप्त करने के लिए कौंसिल ड्राफ्टों का विक्रय स्वतन्त्रतापूर्वक किया गया। इसका विक्रय रुपयों की उस बड़ी मात्रा के स्थान पर किया गया था जो संकट-काल में लन्दन में रिवर्स कौंसिल की बिक्री से भारत के स्वर्ण प्रमाप सुरक्षित कोष में जमा हो गई थी। इसका फल यह हुआ कि स्वर्ण प्रमाप सुरक्षित कोष पुनः लंदन चला गया।

रुपयों के टंकन का लाभ, जो स्पष्टतः रुपये के रूप में होता था, लंदन में स्टर्लिंग

में परिवर्तित कर दिया गया। लाभ प्रदर्शित करने वाले रुपये लन्दन में बेचे गए कौंसिल ड्राफ्टों के बदले भारत में जारी कर दिये जाते थे। इस प्रकार कौंसिल ड्राफ्ट की प्रथा भारत-सचिव को धन एकत्रित करने का साधन प्रदान करने के अतिरिक्त कहीं अधिक विस्तृत थी। उसका उद्देश्य व्यापार में सुविधा प्रदान करना तथा सरकारी साधनों को इस प्रकार व्यवस्थित करना था, ताकि करेन्सी, विनिमय और वित्तीय मामलों में सरकारी नीति पूर्णतया प्रभावशाली रहे।

१८. चेम्बरलेन आयोग—स्वर्गीय सर आस्टिन चेम्बरलेन की अध्यक्षता में अप्रेल, १९१३ में सरकार के मुद्रा चलन और विनिमय नीति की आग्रहपूर्ण और गहरी आलोचना के कारण एक आयोग की नियुक्ति हुई, जिसने फरवरी, १९१४ में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। इसके निष्कर्ष और सिफारिशें नीचे दी जा रही हैं—

(१) रुपये के विनिमय मूल्य को स्थायी आधार पर स्थापित करना भारत के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण बात थी। (२) रुपये के विनिमय मूल्य को स्थिर रखने के लिए अपनाये हुए उपाय १८९८ की समिति की सिफारिशों के उतने अनुरूप नहीं थे जितने कि उसके पूरक थे। (३) १९०७-८ के संकट-काल में इनकी खूब परीक्षा हुई और उस समय इन्हें सन्तोषजनक पाया गया। ऐसे संकट-काल का सामना करने के लिए पहले से ही तैयार योजनाओं तथा अनुभव के अभाव में सरकार ने प्रारम्भ में कुछ गलतियाँ अवश्य कीं। उदाहरण के लिए भारत कार्यालय (इण्डिया ऑफिस) का विश्वास था कि कौंसिल बिल न बिकने पर लन्दन में भारत-सचिव की आवश्यकताओं की पूर्ति करना ही स्वर्ण प्रमाप सुरक्षित कोप का एकमात्र अथवा प्रमुख उद्देश्य था, जबकि भारत सरकार ने पत्र मुद्रा सुरक्षित कोष से निर्यात के लिए सोना न देने की गलती की, यद्यपि आन्तरिक सोने के खर्च पर उन्होंने कोई आपत्ति नहीं की। दोनों ही अधिकारी इस बात को नहीं समझ सके कि सुरक्षित स्वर्ण कोप का प्रमुख उपयोग विनिमय के स्वर्ण बिन्दु से नीचे हो जाने पर विदेश भेजने के लिए सोने को स्वतन्त्र रूप से प्राप्य बनाना है। व्यवहार में गलतियाँ बड़ी जल्दी सुधार ली गईं। विनिमय दर को पूर्व स्थिति पर लाने और बनाये रखने के लिए उठाये गए कदम अपर्याप्त सिद्ध हुए। (४) गत १५ वर्ष का इतिहास साक्षी है कि स्वर्ण मुद्रा का सक्रिय चलन स्वर्ण प्रमाप की अनिवार्य दशा नहीं है, क्योंकि इस दशा के बिना भी स्वर्ण प्रमाप दृढ़तापूर्वक स्थापित हो चुका था। (५) आन्तरिक प्रचलन के लिए सोने के अधिक प्रयोग को प्रोत्साहित करना भारत के लिए हितकर नहीं था। (६) भारत की जनता करेन्सी के रूप में प्रचलन के लिए न तो सोना चाहती थी और न वह अपेक्षित ही था। भारत की आवश्यकताओं के लिए उपयुक्ततम करेन्सी रुपये और नोटों की थी। (७) करेन्सी या विनिमय के हेतु स्वर्ण के टंकन के लिए टकसाल की कोई आवश्यकता नहीं थी; परन्तु, यदि भारतीय भावनाएँ इसकी माँग करें और भारत सरकार खर्च सहने के लिए तैयार हो तो भारतीय अथवा शाही—किसी भी दृष्टिकोण से इसे स्थापित करने में कोई आपत्ति न होनी चाहिए, बशर्ते कि टंकित सिक्का सावरेन या अर्ध-सावरेन हो। यह एक ऐसा प्रश्न था जिसमें भारतीय भावनाओं के

अनुरूप कार्य होना चाहिए। (८) यदि स्वर्ण के टंकन के लिए टकसाल की स्थापना नहीं होती तो बम्बई की टकसाल पर करेन्सी के बदले परिष्कृत सोना स्वीकार किया जाय। (९) सरकार का उद्देश्य जनता को करेन्सी का वह रूप प्रदान करना होना चाहिए जो वह माँगती हो, चाहे वह रुपयों के रूप में हो अथवा नोट और सोने के रूप में, परन्तु नोट का प्रयोग प्रोत्साहित करना चाहिए। (१०) इस आन्तरिक करेन्सी को विनिमय कार्यों के लिए स्वर्ण और स्टर्लिंग के पर्याप्त सुरक्षित कोष से सहायता देनी चाहिए। (११) स्वर्ण प्रमाप सुरक्षित कोष की कोई निश्चित सीमा नहीं होनी चाहिए। जब तक कि स्वर्ण प्रमाप सुरक्षित कोष स्वयं भार सहने योग्य न हो जाय तब तक पत्र मुद्रा को सुरक्षित कोष पर ही भरोसा करना चाहिए। (१२) रुपयों के टंकन का लाभ कम-से-कम कुछ समय तक केवल सुरक्षित कोष में जमा करना चाहिए। (१३) सुरक्षित कोष का अधिकांश भाग सोने के रूप में होना चाहिए। इस सुरक्षित कोष और पत्र मुद्रा सुरक्षित कोष के बीच सम्पत्ति के विनिमय से १०० लाख पौण्ड का सोना तुरन्त मिल सकता था। अवसर आने पर यह १५० लाख पौंड तक बढ़ाया जा सकता था। इसके बाद अधिकारियों को कुल सुरक्षित कोष के आधे भाग को सोने में रखना चाहिए। सुरक्षित कोष को सोने के रूप में रखना अनावश्यक और फिजूल है। संकट-काल में प्रतिभूतियों के वसूल करने से हुई हानि की रक्षा पर्याप्त राशि को तरल रूप में रखने से होती है। (१४) स्वर्ण प्रमाप सुरक्षित कोष की भारतीय शाखा समाप्त कर देनी चाहिए, क्योंकि इसके कारण बहुत आलोचना हुई और सुरक्षित कोष की उपादेयता के सम्बन्ध में सन्देह उत्पन्न करने के लिए भी यही उत्तरदायी थी। (१५) स्वर्ण प्रमाप सुरक्षित कोष को रखने का उचित स्थान लन्दन ही था। (१६) आवश्यकता होने पर १ शि० ३$\frac{२९}{३२}$ पें० प्रति रुपया की दर से लन्दन की हुण्डियाँ सरकार को भारत में बेचना चाहिए।[1]

आयोग ने इस करेन्सी प्रथा को, जो अनायास ही विकसित हुई थी, पूर्ण स्वीकृति प्रदान की। सरकार इससे संतुष्ट नहीं थी और कभी-कभी प्रमुख अधिकारी ऐसी बातें करते थे जिससे प्रतीत होता था कि वास्तविक लक्ष्य स्वर्ण करेन्सी के साथ स्वर्ण प्रमाप की स्थापना है तथा स्वर्ण विनिमय प्रमाप मार्ग में पड़ने वाली एक सराय है।[2]

देश में, बम्बई में स्वर्ण टकसाल की स्थापना के लिए किये गए प्रदर्शन, जिनकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है, सर विट्ठलदास के प्रस्ताव के रूप में चरम सीमा को

१. चेम्बरलेन कमीशन रिपोर्ट, पैरा २२३।

२. १९१० में सर जेम्स मेस्टन ने आय-व्यय विवाद में बोलते हुए निम्न शब्द कहे—"हम लोगों ने भारत को स्वर्ण मुद्रा वाले देशों से सम्बद्ध कर दिया है। हम स्वर्ण विनिमय प्रमाप पर पहुँच गए हैं, जिसका दृढ़तापूर्वक विकास और सुधार हो रहा है। दूसरा और अन्तिम कदम एक सच्ची स्वर्ण करेन्सी है। मुझे पूरी आशा है कि समयानुसार वह भी आयेगी, परन्तु हम इसे जबरदस्ती नहीं ला सकते। बैंकिंग व्यवस्था का पिछड़ापन, जनता का स्वभाव और सन्देह, सहकारिता का शैशव आदि सभी मार्ग की बाधाएँ हैं। देश के इस योग्य होने पर अन्तिम स्थिति स्वयं आयेगी। मुझे विश्वास है कि वह दिन अब दूर नहीं है, जब स्वर्ण प्रमाप के आने पर हमारी सारी गलतियाँ, असुविधाएँ और कृत्रिमताएँ समाप्त हो जायँगी।

पहुँच गए। इस प्रदर्शन के प्रति सहानुभूति रखते हुए भारत सरकार ने १९१२ में इस विषय पर भारत-सचिव को लिखा और जोर देकर कहा कि जनता की स्वर्ण टंकन की माँग को वे अनसुनी न कर दें। चेम्बरलेन आयोग ने सरकार के विचारों को एकदम नई दिशा में मोड़ने का प्रयत्न किया। आयोग के अनुसार सरकार ने अनजाने में ही स्वर्ण विनिमय प्रमाप अपनाकर भारत को अन्य देशों के साथ प्रथम पंक्ति में ला दिया।

सिफारिशों पर विचार करने और उन्हें लागू करने के लिए पर्याप्त समय मिलने से पहले ही १९१४-१८ के विश्वयुद्ध ने एकदम नई प्रकार की परिस्थितियाँ और समस्याएँ उत्पन्न कर दीं, जिन पर हम अब विचार करेंगे।

१९१४-१८ के युद्ध का भारतीय करेन्सी पर प्रभाव[1]

१९. प्रथम युग (अगस्त, १९१४ से फरवरी, १९१५ तक)—विश्वयुद्ध के प्रभाव का विवेचन दो प्रधान कालों के अन्तर्गत किया जा सकता है—(१) पहले काल की अवधि अगस्त, १९१४ से फरवरी, १९१५ तक है। यह अव्यवस्था का काल था, जिसमें करेन्सी और विनिमय की स्थिति बहुत दुर्बल हो गई।

(२) द्वितीय काल की अवधि फरवरी, १९१५ से १९१९ के अन्त तक है। यह समुत्थान काल था। इसकी विशेषता उत्पादन सम्बन्धी अदम्य उत्साह था। इस काल में विनिमय और चाँदी के स्वर्ण मूल्य में अपूर्व वृद्धि हुई।

युद्ध छिड़ जाने से जनता के विश्वास को बहुत बुरा धक्का लगा, जिससे सामान्यतः सभी व्यापार तथा व्यवसाय अस्त-व्यस्त हो गए। इसके प्रधान लक्षण विनिमय की निर्बलता, सेविंग्स बैंक में जमा रुपयों को निकालना, नोटों के भुगतान की माँग तथा भारत के स्वर्ण भण्डार की अत्यधिक माँग होना है।

सरकार ने इस स्थिति का तुरन्त सामना किया, जिससे लोगों में पुनः विश्वास उत्पन्न करने में सहायता मिली। विनिमय की दुर्बलता का सामना रिवर्स कौंसिल बिल बेचकर किया गया। फरवरी, १९१५ तक लगभग ८० लाख पौण्ड के रिवर्स कौंसिल बिल बेचे गए। यदि दुर्बलता के अल्पकालों को छोड़ दिया जाय तो यह कहा जा सकता है कि कौंसिल बिलों की माँग पुनः उत्पन्न हो जाने के उपरान्त भारतीय विनिमय की स्थिति सम्पूर्ण द्वितीय काल में दृढ़ बनी रही। कौंसिल बिलों की माँग इतनी अधिक बढ़ गई कि वह पूरी भी नहीं की जा सकी।

लड़ाई के पहले दो महीनों में ही सेविंग्स बैंक में जमा २४$\frac{3}{4}$ करोड़ रुपये में से ६ करोड़ रुपया निकाल लिया गया। १९१५-१६ में समय बदलने तक निकाले गए रुपयों की मात्रा ८ करोड़ हो चुकी थी। रुपया निकालने की माँग को स्वतन्त्रतापूर्वक पूरा किया गया, जिससे पुनः विश्वास उत्पन्न करने और निक्षेप आकर्षित करने में बड़ी सहायता मिली। ये निक्षेप पुनः १९१८-१९ तक १८ करोड़ रुपये हो गए (अर्थात् पूर्व राशि से ६$\frac{3}{4}$ करोड़ रुपया कम रहे)।

१. यह विवरण अधिकांशतः बैबिंग्टन स्मिथ समिति की रिपोर्ट पर आधारित है। दूसरे अध्याय में भारतीय करेन्सी पर द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रभाव का विवरण दिया गया है।

नोटों के रुपयों में भुगतान की माँग भी पूरी की गई। मार्च, १९१५ तक १० करोड़ रुपये के नोट खज़ानों को वापस किये गए, परन्तु उसके बाद नोटों के प्रचलन में लगातार वृद्धि हुई।

अन्तिम, भारत के स्वर्ण भण्डार की माँग नोटों के बदले सोना माँगने के रूप में बढ़ गई। इस प्रकार प्राप्त सोने के आन्तरिक प्रयोग के लिए बरती हुई सावधानियाँ व्यर्थ सिद्ध हुईं। व्यक्तिगत कार्य के लिए सोना देना एकदम बन्द कर दिया गया और उसके बाद नोटों का भुगतान केवल चाँदी के सिक्कों में ही किया जाने लगा।

प्रथम काल के अन्त तक ये लक्षण लुप्त हो गए। सरकार ने परिस्थिति का सामना साहस और सफलता के साथ किया। बैंकिंग और व्यावसायिक समाज को धन विदेश भेजने के हेतु सम्बन्ध स्थापित करने के लिए लगातार पर्याप्त सुविधा प्रदान करने का आश्वासन और नोटों को रुपयों में भुगतान करने की तत्परता से जनता में शीघ्र ही विश्वास पैदा हो गया।

२०. द्वितीय काल (फरवरी, १९१५ से १९१९ के अन्त तक)—युद्ध के प्रथम धक्के के समाप्त हो जाने के बाद करेन्सी यन्त्र कुछ समय के लिए बड़ी स्निग्धता से काम करता रहा। १९१६ के अन्त में गम्भीर जटिलता पैदा दो गई। चाँदी का मूल्य बड़ी तेजी से बढ़ता जा रहा था, इसलिए भारत में चाँदी के सिक्कों की भारी माँग को पूरा करने के लिए उसे प्राप्त करने की कठिनाइयाँ भी बढ़ती जाती थीं।

प्रथम, निर्यात आयात से कहीं अधिक बढ़ गए। व्यापारिक सन्तुलन, जो युद्ध के प्रारम्भ में भारत के प्रतिकूल था, अब अनुकूल हो गया। यद्यपि युद्ध के कारण पहले निर्यात में कमी आई, परन्तु इसमें शीघ्र ही सुधार हो गया, जिसके लिए हम मित्र-राष्ट्रों द्वारा भारतीय निर्यात की माँग के आभारी हैं। इसके विपरीत, जैसा कि हम देख चुके हैं, आयात व्यापार बहुत कम हो गया। परिणाम यह हुआ कि निर्यात आयात से बढ़ गया।

भारत सरकार द्वारा ब्रिटिश सरकार की ओर से भारी व्यय करने के कारण परिस्थिति और जटिल हो गई। १९१४ से दिसम्बर, १९१९ तक युद्ध के पूर्वी रंगमंचों में सैनिक आवश्यकताओं और अधिकृत क्षेत्रों में नागरिक व्यय के ऊपर २४०० लाख पौण्ड खर्च किया गया। इसके अतिरिक्त कुछ डोमिनियन और उपनिवेश तथा भारतीय उत्पत्ति के अफ्रीकी आयातकर्ताओं की ओर से की गई खरीद के अर्थ-प्रबन्धन के लिए भी इन्तजाम करना था।

इन सबका सम्मिलित प्रभाव यह हुआ कि करेन्सी की माँग बहुत बढ़ गई। विदेशी सरकारों द्वारा बहुमूल्य धातुओं के निर्यात पर प्रतिबन्ध लगाने के फलस्वरूप उनके आयात में हुई कमी ने समस्या को और जटिल बना दिया। अनुकूल सन्तुलन के निस्तारण के लिए युद्ध से पूर्व प्रयुक्त विधियों के उपलब्ध न होने के कारण युद्ध सफलतापूर्वक चलाने के लिए अति आवश्यक निर्यात-व्यापार की रक्षा के लिए सरकार को एक प्रकार का स्थानापन्न प्रस्तुत करना पड़ा। अतएव उन्हें भारतीय निर्यात की

अदायगी के लिए साधन प्रस्तुत करने के हेतु लन्दन में बहुत बड़ी मात्रा में कौंसिल बिलों को बेचना पड़ा। इन कौंसिल बिलों की बिक्री के कारण भारत में रुपये का अत्यधिक टंकन आवश्यक हो गया। इस काम में बड़ी कठिनाइयाँ थीं, क्योंकि अनेक परिस्थितियों के कारण चाँदी का मूल्य बहुत बढ़ गया था।

२१. चाँदी के मूल्य में वृद्धि—करेन्सी-स्थिति पर चाँदी के मूल्य की असाधारण वृद्धि का प्रमुख प्रभाव था। युद्ध से पूर्व उत्पादन की तुलना में चाँदी की पूर्ति में अत्यधिक कमी आ गई थी, जिसका कारण मैक्सिको की आन्तरिक कलह और लागत में वृद्धि थी। इसके विपरीत सम्पूर्ण विश्व में करेन्सी के लिए इस धातु की माँग असाधारण रूप से बढ़ गई। चाँदी की माँग में वृद्धि होने का प्रमुख कारण सोने की कमी तथा युद्ध में लगी और तटस्थ सरकारों की सोने की पूर्ति को सुरक्षित रखने की चिन्ता थी। सबसे अधिक माँग भारत और चीन की थी। हम लोग भली भाँति देख चुके हैं कि अनुकूल व्यापार सन्तुलन के निस्तारण और ब्रिटिश युद्ध-कार्यालयों (ब्रिटिश वार ऑफिस) की ओर से व्यय करने के लिए क्रय-शक्ति ढूँढने का भार मुख्यतः भारत सरकार पर डाल दिया गया था। इसने स्थानीय करेन्सी, विशेषकर रुपयों की अत्यधिक माँग, का रूप धारण कर लिया। विधानतः मनाही होते हुए भी रुपया पिघलाने के कारण माँगें ये और बढ़ गईं, क्योंकि चाँदी के मूल्य में वृद्धि होने के कारण रुपये का वास्तविक मूल्य इसके अंकित मूल्य से बढ़ गया था। इसी दिशा में प्रभावित करने वाला दूसरा कदम डालर-स्टर्लिंग अथवा न्यूयार्क-लन्दन विनिमय का प्रभाव था। जिस समय मार्च, १९१९ में डालर-स्टर्लिंग विनिमय से नियन्त्रण हटा लिया गया, तो इसका प्रभाव इंगलैण्ड के प्रतिकूल ही हुआ और अन्त में विनिमय दर ३·४० डालर=१ पौण्ड की निम्न सीमा पर पहुँच गई।

भारत के लिए खरीदी गई चाँदी का मूल्य भारत-सचिव को डालर में अमेरिका को देना पड़ता था। स्टर्लिंग के प्रगामी अधोमूल्यन ने लन्दन के स्टर्लिंग मूल्य को बढ़ा दिया, जिससे रुपयों में चाँदी का मूल्य अनिवार्यतः बढ़ गया।

चाँदी की वृद्धि के कारणों को समझने के बाद अब इसकी वृद्धि का क्रम देखना चाहिए। १९१५ में चाँदी का न्यूनतम मूल्य २७ पेंस प्रति औंस था। १९१६ में यह ३७ पेंस प्रति औंस तथा १९१७ में ४३ पेंस प्रति औंस हो गया। (जो रुपये के १ शि० ४ पें० की विनिमय दर पर उसके वास्तविक मूल्य के बराबर था।) सितम्बर, १९१७ में यह ५५ पेंस प्रति औंस हो गया। संयुक्तराज्य, ग्रेट ब्रिटेन, कनाडा आदि देशों ने चाँदी के व्यापार को नियन्त्रित किया और अनुज्ञा-प्राप्त निर्यात को छोड़ शेष निर्यात बन्द कर दिए। बाद में चाँदी का अनुज्ञा-प्राप्त निर्यात निर्दिष्ट मूल्य पर होने लगा। इन उपायों के फलस्वरूप चाँदी का मूल्य ४१ और ४९ पेंस प्रति औंस की सीमाओं के अन्दर आ गया। परन्तु मई, १९१८ में संयुक्तराज्य और ग्रेट ब्रिटेन ने इस नियन्त्रण को हटा दिया, जिससे चाँदी का मूल्य फिर बढ़ गया। उसी महीने में चाँदी का मूल्य ५८ पेंस प्रति औंस हो गया। उसके बाद साल-भर यह बढ़ता ही गया और दिसम्बर में ७८ पेंस प्रति औंस हो

गया। फरवरी, १९२० में मूल्य उच्चतम हो गया, जबकि लन्दन में चाँदी का भाव ८९ पेंस प्रति औंस हो गया।

२२. सरकार द्वारा किये गए उपाय—(१) सरकार का विनिमय पर नियंत्रण—युद्ध के प्रथम धक्के सह लेने के बाद कौंसिल बिलों की माँग निर्यात-व्यापार के समुत्थान के साथ पुनः उत्पन्न हो गई। अक्तूबर, १९१६ तक निर्यात स्पष्ट रूप से साधारण ही रहा। उसके बाद व्यापारिक सन्तुलन की अनुकूलता बढ़ने के साथ बढ़ता गया। इसका निस्तार सोने के आयात द्वारा सम्भव नहीं था। इससे भारत में रुपये का सुरक्षित कोष खाली हो गया, जिससे नोटों की रुपयों में परिवर्तनशीलता संदिग्ध हो गई। अतएव दिसम्बर, १९१६ में कौंसिल बिल की बिक्री पर नियंत्रण लगाया गया और इण्टरमिडियेट कौंसिल बिलों की बिक्री बन्द कर दी गई। इसके परिणामस्वरूप बाजार और सरकारी विनिमय दर में अन्तर हो गया। यह निर्यात-व्यापार के लिए हानिकारक था, परन्तु युद्ध के सफल संचालन के लिए निर्यात-व्यापार को अबाध रूप से बनाए रखना भी अति आवश्यक था। इसलिए सरकार ने कुछ नियंत्रण के उपायों से काम लिया तथा जनवरी, १९१७ में विनिमय दर १ शि० ४$\frac{१}{४}$ पेंस निश्चित कर दी गई। कौंसिल बिलों की बिक्री कुछ चुनी हुई बैंकों और फर्मों तक सीमित कर दी गई, जिन्हें नियत दरों पर एक तीसरी पार्टी से व्यापार करना पड़ता था और अपने साधनों को कुछ चुनी हुई वस्तुओं के निर्यात-व्यापार में लगाना पड़ता था, जो मित्र-राष्ट्रों के लिए भी महत्त्वपूर्ण थीं। नियंत्रण के उपायों और बैंकों के सहयोग से विनिमय के चढ़ाव-उतार कुछ समय के लिए बन्द हो गए।

(२) विनिमय-दर की वृद्धि—चाँदी के मूल्य में अपूर्व वृद्धि होने के कारण विनिमय को स्थायित्व प्रदान करने में ये उपाय अधिक उपयोगी सिद्ध नहीं हुए। चाँदी के मूल्य में लगातार वृद्धि होने के कारण जब रुपया बनाने की लागत लगातार बढ़ती हुई १८ पेंस, २० पेंस आदि होती गई, तो सरकार के लिए जनता को १६ पेंस पर रुपया बेचना सम्भव नहीं हो सका। कुछ व्यक्तियों द्वारा दिये गए इस सुझाव को, कि यह हानि स्वर्ण प्रमाप सुरक्षित कोष के नाम डाल दी जाय, भारत सरकार ने नहीं माना। उन्होंने यह मानने से इन्कार कर दिया कि स्वर्ण प्रमाप सुरक्षित कोष का उद्देश्य विनिमय का स्थायित्व बनाये रखना है और इस हानि को रुपया चाहने वाले व्यक्तियों पर डालने का ही निश्चय किया।

इस नीति के अनुसरण में अगस्त, १९१७ में विनिमय दर बढ़ाकर १शि० ५पेंस कर दी गई और कुछ समय पश्चात् भारत-सचिव ने चाँदी के स्टर्लिंग मूल्य पर विनिमय दर को आधारित करने की घोषणा की।[१] नीचे दी हुई तालिका यह परिणाम दिखा रही है—

---

१. यह घोषणा भारत में १८७३ से पूर्व विद्यमान रजत-प्रमाप को पुनः स्थापित करने की घोषणा के बराबर थी। १८७३ से १८९३ तक चाँदी के स्वर्ण मूल्य के परिवर्तनों के साथ भारत में मूल्य घट-बढ़ रहे थे। भारत में हर समय चाँदी के १६५ ग्रेन का स्वर्ण मूल्य वस्तुओं के विनिमय का माप था। उपर्युक्त परिस्थितियों के विचार में यही बात अब भी सच थी''''''। वकील और मुरञ्जन, 'करेन्सी एण्ड प्राइसेज़ इन इण्डिया', पृ० ११२।

विनिमय दर में परिवर्तन

तारीख	स्टर्लिंग में विनिमय दर	तारीख	स्टर्लिंग में विनिमय दर
३ जनवरी, १९१७	१ शि० ४¼ पैंस	१२ अगस्त, १९१९	१ शि० १० पैंस
२८ अगस्त, १९१७	१ शि० ५ पैंस	१५ सितम्बर, १९१९	२ शि० ० पैंस
१२ अप्रैल, १९१८	१ शि० ६ पैंस	२२ नवम्बर, १९१९	२ शि० २ पैंस
१३ मई, १९१९	१ शि० ८ पैंस	१२ दिसम्बर, १९१९	२ शि० ४ पैंस

बाजार दर तथा फरवरी, १९२० के बाद रिवर्स कौन्सिल बिलों की विक्रय-दर जनवरी से मार्च, १९२० तक २ शि० ६ पैंस, २ शि० ८ पैंस, २ शि० १० पैंस और २ शि० ११ पैंस थी। सबसे ऊँची दर १९२० के प्रारम्भिक महीनों में थी।

(३) रजत क्रय—करेन्सी की पूर्ति के लिए विशेष उपाय अपनाने पड़े। फरवरी, १९१६ से इस काम के लिए चाँदी खरीदी जाने लगी। व्यक्तिगत खरीदारों की ओर से प्रतिस्पर्धा दूर करने के लिए सरकार ने सितम्बर, १९१७ से निजी तौर पर चाँदी के आयात को बन्द कर दिया। संयुक्तराज्य और भारत सरकार के बीच हुए पत्र-व्यवहार के फलस्वरूप संयुक्तराज्य ने पिटमेन कानून पास किया, जिसने सुरक्षित कोष को चाँदी बेचने का अधिकार दिया। १०१½ सेण्ट प्रति शुद्ध औंस के भाव से भारत सरकार ने २००० लाख औंस शुद्ध चाँदी खरीदी।

(४) चाँदी की सुरक्षा और उसकी मितव्ययता—चाँदी की सुरक्षा और मितव्ययता के लिए और उपाय भी अपनाये गए। सोने और चाँदी के सिक्कों को पिघलाने और उसके निर्यात को रोकने के लिए सरकार ने जून, १९१७ में करेन्सी विधान पास किया। दिसम्बर, १९१७ में २½ और १ रुपये के नोट जारी किये गए। सबसे पहले जनवरी, १९१८ में २, ४ और ८ आने के गिलट (निकल) के सिक्के बनाये गए, जिन्हें १ रुपये तक कानूनी मुद्रा माना गया। जून, १९१७ से रुपये के स्टर्लिंग विनिमय मूल्य के आधार पर सरकार ने निजी तौर पर आयात किये हुए सोने को प्राप्त किया। इस प्रकार प्राप्त सोने के बल पर नोट जारी किये गए और चाँदी की करेन्सी तथा सोने की मुहर के पूरक के रूप में सोने की मुहर और सावरेन बनाई तथा जारी की गईं। जून, १९१९ में उत्तरी अमेरिका से स्वर्ण-निर्यात पर लगे प्रतिबन्ध हटा लेने तथा आस्ट्रेलिया और अफ्रीका के स्वर्ण बाजार स्वतन्त्र कर देने से देश में अधिक सोने का आयात होने लगा और सरकार ने भी अधिक सोना प्राप्त किया। आयात को प्रोत्साहित करने के लिए सरकार ने सोना प्राप्त करने के मूल्य को इस प्रकार बढ़ा दिया ताकि उसमें सोने का प्रीमियम भी शामिल हो जाय। प्रीमियम कम करने के विचार से सरकार इस प्रकार प्राप्त हुए सोने को अगस्त, १९१९ से हर पन्द्रह दिन बाद जनता को बेचने लगी।

(५) पत्रमुद्रा-प्रसार—धातु रखे बिना जारी किये गए नोटों की वृद्धि करके भी स्थिति सुधारने का प्रयत्न किया गया। इसकी परिवर्तनीयता पर प्रतिबन्ध लगा दिये गए, उदाहरणार्थ परिवर्तन के लिए अतिरिक्त वैधानिक सुविधाओं को रोक दिया गया। नोटवालों के लिए प्रतिदिन जारी किये गए रुपयों को सीमित करके भी समस्या को हल करने का प्रयत्न किया गया।

(६) आर्थिक उपाय—साधारण और पूँजी-व्यय न्यूनतम रखे गए तथा सरकार की क्रय-शक्ति बढ़ाने के लिए और अधिक कर लगाये गए। इसके अतिरिक्त भारत में ऋण लिये गए, जिससे १९१७-१८ और १९१९ में १३० करोड़ रुपया प्राप्त हुआ। अक्तूबर, १९१७ से १२ महीने की अवधि के अल्पकालीन ट्रेज़री बिल भी जारी किये गए। करेन्सी की प्रत्यक्ष माँग और भारत में भेजने की भारी माँगों को पूरा करने में इन उपायों ने बड़ी सहायता की।

२३. बैबिंगटन समिति—जिस समय चेम्बरलेन समिति की सिफारिशें विचाराधीन थीं, उसी समय युद्ध प्रारम्भ हो गया। हम अभी देख चुके हैं कि युद्ध ने किस प्रकार अनेक समस्याओं को जन्म दिया। अतः सर हेनरी बैबिंगटन स्मिथ की अध्यक्षता में ३० मई, १९१९ को एक दूसरी विशेष समिति की नियुक्ति की गई।

जैसा कि स्मिथ समिति ने कहा है, "व्यापार के चालू कार्य के लिए विनिमय की स्थिरता एक अनिवार्य शर्त न होकर बहुत महत्त्वपूर्ण सुविधा है। यदि विनिमय की गति आर्थिक कारणों के बजाय शासन सम्बन्धी कानूनों से प्रभावित की जाय तो अस्थिरता के दोष और भी बढ़ जायेंगे। सरकारी हस्तक्षेप की सम्भावना व्यापारिक समाज के लिए उतार-चढ़ाव के जोखिम का प्रबन्ध कठिन बना देती है, अतएव विनिमय की स्थिरता भारत जैसे देश में, जहाँ करेन्सी-व्यवस्था स्वचालित नहीं है, और भी महत्त्वपूर्ण है।"

विनिमय को पुराने अथवा नये स्तर पर स्थिर करने के सम्बन्ध में समिति का मत नये स्तर के पक्ष में था, क्योंकि इससे अनिश्चितता की अवधि कम हो जाती तथा आर्थिक अव्यवस्था और सामाजिक असन्तोष भी नहीं होता। संक्षेप में समिति की मुख्य सिफारिशें इस प्रकार हैं—[1]

(१) रुपये को असीमित कानूनी मुद्रा ही रखना चाहिए। (२) इसका निश्चित विनिमय मूल्य होना चाहिए, जो ११·३००१६ ग्रेन शुद्ध सोने के बराबर हो, अर्थात् सावरेन के सोने के $\frac{१}{१०}$ के बराबर हो। (३) सावरेन को, जिसकी पहली दर १५ रुपया = १ सावेरन थी, १० रुपया = १ सावेरन की नई दर पर कानूनी मुद्रा बनाना चाहिए। (४) सोने के आयात और निर्यात से सरकारी नियंत्रण १० रुपया = १ सावरेन की दर स्थापित करते ही हटा लेना चाहिए। बम्बई में जनता द्वारा दिये गए सोने की सावेरन बनाने के लिए सोने की टकसाल खोलनी चाहिए। (५) सावरेन के बदले रुपया देने की

१. उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण हिल्टन यंग कमीशन १९२५-२६ की रिपोर्ट की तीसरी परिशिष्ट से लिया गया है, परन्तु पत्र मुद्रा सुरक्षित कोष के विधान और स्थिति सम्बन्धी सिफारिशों में छोड़ दिया गया है।

सरकारी अधिसूचना वापस ले लेनी चाहिए। (६) निजी तौर पर चाँदी के आयात और निर्यात पर लगी बन्दिश हटा देनी चाहिए तथा राजकोषीय स्थिति के कारण आवश्यक होने तक चाँदी पर लगा आयात-कर हटा देना चाहिए। (७) स्वर्ण प्रमाप सुरक्षित कोष में प्राप्त अनुपात में सोना रखना चाहिए तथा शेष राशि को ब्रिटिश साम्राज्य की सरकारों (भारत सरकार को छोड़कर) द्वारा जारी की गई ऐसी प्रतिभूतियों के रूप में रखना चाहिए जो १२ महीने में परिपक्व होती हों। स्वर्ण-प्रमाप सुरक्षित कोष का भाग, जो आधे से अधिक न हो, भारत में रखना चाहिए। रुपये का विनिमय मूल्य सोने के बराबर निश्चित करने के सम्बन्ध में यह शर्त थी—

"यदि आशा के विपरीत विश्व के मूल्यों में शीघ्र कमी हो जाय और भारत में उत्पादन-लागत इन गिरे हुए मूल्यों से शीघ्र ही व्यवस्थित न हो सके, तो इस प्रश्न पर नये सिरे से विचार करना आवश्यक हो सकता है।"

२४. रिपोर्ट पर सरकार की कार्यवाही[1]—सरकार ने समिति की सिफारिशों को स्वीकार कर लिया और उन्हें लागू करने के लिए निम्नलिखित कदम उठाये—

(१) विनिमय नियंत्रण—जनवरी, १९२० में कौंसिल ड्राफ्ट की माँग समाप्त हो गई और रिवर्स कौंसिल की बहुत माँग होने लगी। जनवरी में कौंसिल ड्राफ्ट २ शि० ४ पेंस की दर पर बेचे गए। यह दर कौंसिल बिलों की बिक्री के लिए निश्चित की गई परन्तु समिति की सिफारिशों के अनुरूप सरकार ने अधिसूचित किया कि कौंसिल ड्राफ्ट और टेलिग्राफिक ट्रान्सफर टेण्डर द्वारा बेचे जायँगे और उनकी कोई निम्नतम दर नहीं होगी तथा अवसर आने पर भविष्य में रिवर्स ड्राफ्ट और टेलिग्राफिक ट्रान्सफर भारत में भी बेचे जायँगे। इनका भाव (दर) ११·३००१६ ग्रेन शुद्ध सोने का स्टर्लिंग मूल्य होगा, जो विद्यमान स्टर्लिंग डालर विनिमय द्वारा निश्चित किया जायगा। इस दर में से सोना बाहर भेजने की लागत कम कर दी जायगी।

(२) सावरेन के कानूनी मुद्रा-मूल्य में परिवर्तन—सावरेन और रुपये का १ : १० का आन्तरिक अनुपात उस समय तक प्रभावपूर्ण नहीं हो सकता जब तक समिति द्वारा प्रस्तावित अनुपात की तुलना में स्वर्ण-पिण्ड अधिक पसन्द किया जायगा। हम देख चुके हैं कि किस प्रकार १९१७ से ही सरकार ने स्वर्ण-पिण्ड की पसन्दगी समाप्त करने के लिए निजी तौर पर आयात किये हुए सोने को प्राप्त करना तथा सितम्बर, १९१९ से हर पन्द्रहवें दिन उसे बेचना प्रारम्भ किया था। स्मिथ समिति द्वारा प्रस्तावित मूल्य के ऊपर भी सोने की पसन्दगी बहुत अधिक बनी रही। फरवरी, १९२० में सरकार ने घोषणा की कि प्रथम छः महीने में १५० लाख तोला शुद्ध सोना बेचा जायगा, परन्तु यह प्रोग्राम अगस्त और सितम्बर तक बढ़ा दिया गया। २२ रु० प्रति तोला की दर से पर्याप्त मात्रा में सोना बेचने के बाद अक्तूबर, १९२० में सोने की बिक्री बन्द कर दी गई। सोने का मूल्य, जो सरकार

१. देखिए, रिपोर्ट ऑफ दि रायल कमीशन आन इण्डियन करेन्सी एण्ड फाइनेन्स १९२५, खण्ड २, परिशिष्ट ३ तथा एच० स्टेनली, जेवन्स 'बैंकिंग एण्ड एक्सचेंज इन इण्डिया', अध्याय १५।

(५) पत्रमुद्रा-प्रसार—धातु रखे बिना जारी किये गए नोटों की वृद्धि करके भी स्थिति सुधारने का प्रयत्न किया गया। इसकी परिवर्तनीयता पर प्रतिबन्ध लगा दिये गए, उदाहरणार्थ परिवर्तन के लिए अतिरिक्त वैधानिक सुविधाओं को रोक दिया गया। नोटवालों के लिए प्रतिदिन जारी किये गए रुपयों को सीमित करके भी समस्या को हल करने का प्रयत्न किया गया।

(६) आर्थिक उपाय—साधारण और पूँजी-व्यय न्यूनतम रखे गए तथा सरकार की क्रय-शक्ति बढ़ाने के लिए और अधिक कर लगाये गए। इसके अतिरिक्त भारत में ऋण लिये गए, जिससे १९१७-१८ और १९१९ में १३० करोड़ रुपया प्राप्त हुआ। अक्तूबर, १९१७ से १२ महीने की अवधि के अल्पकालीन ट्रेज़री बिल भी जारी किये गए। करेन्सी की प्रत्यक्ष माँग और भारत में भेजने की भारी माँगों को पूरा करने में इन उपायों ने बड़ी सहायता की।

२३. बैबिंगटन समिति—जिस समय चेम्बरलेन समिति की सिफारिशें विचाराधीन थीं, उसी समय युद्ध प्रारम्भ हो गया। हम अभी देख चुके हैं कि युद्ध ने किस प्रकार अनेक समस्याओं को जन्म दिया। अतः सर हेनरी बैबिंगटन स्मिथ की अध्यक्षता में ३० मई, १९१९ को एक दूसरी विशेष समिति की नियुक्ति की गई।

जैसा कि स्मिथ समिति ने कहा है, "व्यापार के चालू कार्य के लिए विनिमय की स्थिरता एक अनिवार्य शर्त न होकर बहुत महत्त्वपूर्ण सुविधा है। यदि विनिमय की गति आर्थिक कारणों के बजाय शासन सम्बन्धी कानूनों से प्रभावित की जाय तो अस्थिरता के दोष और भी बढ़ जायँगे। सरकारी हस्तक्षेप की सम्भावना व्यापारिक समाज के लिए उतार-चढ़ाव के जोखिम का प्रबन्ध कठिन बना देती है, अतएव विनिमय की स्थिरता भारत जैसे देश में, जहाँ करेन्सी-व्यवस्था स्वचालित नहीं है, और भी महत्त्वपूर्ण है।"

विनिमय को पुराने अथवा नये स्तर पर स्थिर करने के सम्बन्ध में समिति का मत नये स्तर के पक्ष में था, क्योंकि इससे अनिश्चितता की अवधि कम हो जाती तथा आर्थिक अव्यवस्था और सामाजिक असन्तोष भी नहीं होता। संक्षेप में समिति की मुख्य सिफारिशें इस प्रकार हैं—[1]

(१) रुपये को असीमित कानूनी मुद्रा ही रखना चाहिए। (२) इसका निश्चित विनिमय मूल्य होना चाहिए, जो ११·३००१६ ग्रेन शुद्ध सोने के बराबर हो, अर्थात् सावरेन के सोने के $\frac{१}{१०}$ के बराबर हो। (३) सावरेन को, जिसकी पहली दर १५ रुपया [illegible]ावेरन थी, १० रुपया = १ सावेरन की नई दर पर कानूनी मुद्रा बनाना चाहिए। [illegible]ने के आयात और निर्यात से सरकारी नियंत्रण १० रुपया = १ सावरेन की दर स्थापित करते ही हटा लेना चाहिए। बम्बई में जनता द्वारा दिये गए सोने की सावरेन बनाने के लिए सोने की टकसाल खोलनी चाहिए। (५) सावरेन के बदले रुपया देने की

१. उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण हिल्टन यंग कमीशन १९२५-२६ की रिपोर्ट की तीसरी परिशिष्ट से लिया गया है, परन्तु पत्र मुद्रा सुरक्षित कोष के विधान और स्थिति सम्बन्धी सिफारिशों में छोड़ दिया गया है।

सरकारी अधिसूचना वापस ले लेनी चाहिए। (६) निजी तौर पर चाँदी के आयात और निर्यात पर लगी बन्दिश हटा देनी चाहिए तथा राजकोषीय स्थिति के कारण आवश्यक होने तक चाँदी पर लगा आयात-कर हटा देना चाहिए। (७) स्वर्ण प्रमाप सुरक्षित कोष में प्राप्त अनुपात में सोना रखना चाहिए तथा शेष राशि को ब्रिटिश साम्राज्य की सरकारों (भारत सरकार को छोड़कर) द्वारा जारी की गई ऐसी प्रतिभूतियों के रूप में रखना चाहिए जो १२ महीने में परिपक्व होती हों। स्वर्ण-प्रमाप सुरक्षित कोष का भाग, जो आधे से अधिक न हो, भारत में रखना चाहिए। रुपये का विनिमय मूल्य सोने के बराबर निश्चित करने के सम्बन्ध में यह शर्त थी—

"यदि आशा के विपरीत विश्व के मूल्यों में शीघ्र कमी हो जाय और भारत में उत्पादन-लागत इन गिरे हुए मूल्यों से शीघ्र ही व्यवस्थित न हो सके, तो इस प्रश्न पर नये सिरे से विचार करना आवश्यक हो सकता है।"

२४. रिपोर्ट पर सरकार की कार्यवाही[1]—सरकार ने समिति की सिफारिशों को स्वीकार कर लिया और उन्हें लागू करने के लिए निम्नलिखित कदम उठाये—

(१) विनिमय नियंत्रण—जनवरी, १९२० में कौंसिल ड्राफ्ट की माँग समाप्त हो गई और रिवर्स कौंसिल की बहुत माँग होने लगी। जनवरी में कौंसिल ड्राफ्ट २ शि० ४ पेंस की दर पर बेचे गए। यह दर कौंसिल बिलों की बिक्री के लिए निश्चित की गई परन्तु समिति की सिफारिशों के अनुरूप सरकार ने अधिसूचित किया कि कौंसिल ड्राफ्ट और टेलिग्राफिक ट्रान्सफर टेण्डर द्वारा बेचे जायँगे और उनकी कोई निम्नतम दर नहीं होगी तथा अवसर आने पर भविष्य में रिवर्स ड्राफ्ट और टेलिग्राफिक ट्रान्सफर भारत में भी बेचे जायँगे। इनका भाव (दर) ११·३००१६ ग्रेन शुद्ध सोने का स्टर्लिंग मूल्य होगा, जो विद्यमान स्टर्लिंग डालर विनिमय द्वारा निश्चित किया जायगा। इस दर में से सोना बाहर भेजने की लागत कम कर दी जायगी।

(२) सावरेन के कानूनी मुद्रा-मूल्य में परिवर्तन—सावरेन और रुपये का १ : १० का आन्तरिक अनुपात उस समय तक प्रभावपूर्ण नहीं हो सकता जब तक समिति द्वारा प्रस्तावित अनुपात की तुलना में स्वर्ण-पिण्ड अधिक पसन्द किया जायगा। हम देख चुके हैं कि किस प्रकार १९१७ से ही सरकार ने स्वर्ण-पिण्ड की पसन्दगी समाप्त करने के लिए निजी तौर पर आयात किये हुए सोने को प्राप्त करना तथा सितम्बर, १९१९ से हर पन्द्रहवें दिन उसे बेचना प्रारम्भ किया था। स्मिथ समिति द्वारा प्रस्तावित मूल्य के ऊपर भी सोने की पसन्दगी बहुत अधिक बनी रही। फरवरी, १९२० में सरकार ने घोषणा की कि प्रथम छः महीने में १५० लाख तोला शुद्ध सोना बेचा जायगा, परन्तु यह प्रोग्राम अगस्त और सितम्बर तक बढ़ा दिया गया। २२ रु० प्रति तोला की दर से पर्याप्त मात्रा में सोना बेचने के बाद अक्तूबर, १९२० में सोने की बिक्री बन्द कर दी गई। सोने का मूल्य, जो सरकार

१. देखिए, रिपोर्ट ऑफ दि रायल कमीशन आन इण्डियन करेन्सी एण्ड फाइनेन्स १९२५, खण्ड २, परिशिष्ट ३ तथा एच० स्टेनली, जेवन्स 'बैंकिंग एण्ड एक्सचेंज इन इण्डिया', अध्याय १५।

(५) पत्रमु
स्थिति सुधारने का
दिये गए, उदाहरणा
गया। नोटवालों के लि
को हल करने का प्रयत्न

(६) आर्थिक
की क्रय-शक्ति बढ़ाने के
ऋण लिये गए, जिससे
अक्तूबर, १९१७ से १२
गए। करेन्सी की प्रत्यक्ष
इन उपायों ने बड़ी सहायत

२३. बैबिंगटन समिति—
थीं, उसी समय युद्ध प्रा
प्रकार अनेक समस्याओं को
क्षता में ३० मई, १९१९

जैसा कि स्मिथ स
की स्थिरता एक अनिवार्य
की गति आर्थिक कारणों वे
अस्थिरता के दोष और भी
समाज के लिए उतार-चढ़ा
विनिमय की स्थिरता भारत
और भी महत्त्वपूर्ण है।"

विनिमय को पुराने
का मत नये स्तर के पक्ष में थ
तथा आर्थिक अव्यवस्था और
की मुख्य सिफारिशें इस प्रकार

(१) रुपये को असीमि
विनिमय मूल्य होना चाहिए,
सावरेन के सोने के $\frac{1}{10}$ के बरा
=१ सावेरन थी, १० रुपया=
(४) सोने के आयात और निर्यात
स्थापित करते ही हटा लेना चाहि
बनाने के लिए सोने की टकसाल

१. उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण हिल्टन यंग
गया है, परन्तु पत्र मुद्रा सुरक्षित कोष
गया है।

सरकारी अधिसूचना वापस ले लेनी चाहिए। (६) निजी तौर पर चाँदी के आयात और निर्यात पर लगी बन्दिश हटा देनी चाहिए तथा राजकोषीय स्थिति के कारण आवश्यक होने तक चाँदी पर लगा आयात-कर हटा देना चाहिए। (७) स्वर्ण प्रमाप सुरक्षित कोष में प्राप्त अनुपात में सोना रखना चाहिए तथा शेष राशि को ब्रिटिश साम्राज्य की सरकारों (भारत सरकार को छोड़कर) द्वारा जारी की गई ऐसी प्रतिभूतियों के रूप में रखना चाहिए जो १२ महीने में परिपक्व होती हों। स्वर्ण-प्रमाप सुरक्षित कोष का भाग, जो आधे से अधिक न हो, भारत में रखना चाहिए। रुपये का विनिमय मूल्य सोने के बराबर निश्चित करने के सम्बन्ध में यह शर्त थी—

"यदि आशा के विपरीत विश्व के मूल्यों में शीघ्र कमी हो जाय और भारत में उत्पादन-लागत इन गिरे हुए मूल्यों से शीघ्र ही व्यवस्थित न हो सके, तो इस प्रश्न पर नये सिरे से विचार करना आवश्यक हो सकता है।"

२४. रिपोर्ट पर सरकार की कार्यवाही[1]—सरकार ने समिति की सिफारिशों को स्वीकार कर लिया और उन्हें लागू करने के लिए निम्नलिखित कदम उठाये—

(१) विनिमय नियंत्रण—जनवरी, १९२० में कौंसिल ड्राफ्ट की माँग समाप्त हो गई और रिवर्स कौंसिल की बहुत माँग होने लगी। जनवरी में कौंसिल ड्राफ्ट २ शि० ४ पेंस की दर पर बेचे गए। यह दर कौंसिल बिलों की बिक्री के लिए निश्चित की गई परन्तु समिति की सिफारिशों के अनुरूप सरकार ने अधिसूचित किया कि कौंसिल ड्राफ्ट और टेलिग्राफिक ट्रान्सफर टेण्डर द्वारा बेचे जायँगे और उनकी कोई निम्नतम दर नहीं होगी तथा अवसर आने पर भविष्य में रिवर्स ड्राफ्ट और टेलिग्राफिक ट्रान्सफर भारत में भी बेचे जायँगे। इनका भाव (दर) ११·३००१६ ग्रेन शुद्ध सोने का स्टर्लिंग मूल्य होगा, जो विद्यमान स्टर्लिंग डालर विनिमय द्वारा निश्चित किया जायगा। इस दर में से सोना बाहर भेजने की लागत कम कर दी जायगी।

(२) सावरेन के कानूनी मुद्रा-मूल्य में परिवर्तन—सावरेन और रुपये का १ : १० का आन्तरिक अनुपात उस समय तक प्रभावपूर्ण नहीं हो सकता जब तक समिति द्वारा प्रस्तावित अनुपात की तुलना में स्वर्ण-पिण्ड अधिक पसन्द किया जायगा। हम देख चुके हैं कि किस प्रकार १९१७ से ही सरकार ने स्वर्ण-पिण्ड की पसन्दगी समाप्त करने के लिए निजी तौर पर आयात किये हुए सोने को प्राप्त करना तथा सितम्बर, १९१९ से हर पन्द्रहवें दिन उसे बेचना प्रारम्भ किया था। स्मिथ समिति द्वारा प्रस्तावित मूल्य के ऊपर भी सोने की पसन्दगी बहुत अधिक बनी रही। फरवरी, १९२० में सरकार ने घोषणा की कि प्रथम छः महीने में १५० लाख तोला शुद्ध सोना बेचा जायगा, परन्तु यह प्रोग्राम अगस्त और सितम्बर तक बढ़ा दिया गया। २२ रु० प्रति तोला की दर से पर्याप्त मात्रा में सोना बेचने के बाद अक्तूबर, १९२० में सोने की बिक्री बन्द कर दी गई। सोने का मूल्य, जो सरकार

[1] देखिए, रिपोर्ट ऑफ दि रायल कमीशन आन इण्डियन करेन्सी एण्ड फाइनेन्स १९२५, खण्ड २, परिशिष्ट ३ तथा एच० स्टेनली, जेवन्स 'बैंकिंग एण्ड एक्सचेंज इन इण्डिया', अध्याय १५।

द्वारा किसी अंश तक नियमित था, फिर बढ़ गया। अतः यह कहा जा सकता है कि इस दिशा में सरकारी नीति असफल रही।

२१ जून, १६२० आर्डिनेन्स ३ से सावरेन और अर्ध-सावरेन की वैधानिक ग्राह्यता बन्द हो गई। परन्तु २१ दिन तक १५ रुपये की दर से उन्हें स्वीकार करने की व्यवस्था की गई। इस अवधि के समाप्त होने के बाद ब्रिटिश स्वर्ण मुद्राओं के आयात पर से प्रतिबन्ध हटा लिये गए। २१ दिन की अवधि में ही २५ लाख पौण्ड के सावरेन और अर्ध-सावरेन करेन्सी कार्यालयों और खजानों में पेश किये गए।

१५ रुपये के स्थान पर १० रुपये की दर से सावरेन को कानूनी मुद्रा बनाने के सम्बन्ध में करेन्सी समिति की सिफारिश को जून, १६२० के इण्डियन क्वायनेज (अमेडमेण्ट) एक्ट ३६ द्वारा कार्यान्वित किया गया। इस कानून द्वारा सावरेन और अर्ध-सावरेन को कानूनी मुद्रा का रूप पुनः दे दिया गया, जिसे २१ जून, १६२० के आर्डिनेन्स ३ ने बन्द कर दिया था। नये कानून के अनुसार नई दर १० रु० प्रति सावरेन निश्चित की गई तथा खजानों और करेन्सी कार्यालयों को निर्देश दिया गया कि वे सावरेन और अर्ध-सावरेन क्रमशः १० और ५ रुपये की दर पर स्वीकार करें, परन्तु इस दर पर सावरेन या अर्ध-सावरेन जनता को न दें। सावरेन का बाजारू मूल्य सदैव १० रुपये से अधिक रहने के कारण वह इस नई दर पर करेन्सी के रूप में नहीं चल सकी। अतएव बम्बई में एक स्वर्ण टकसाल खोलना आवश्यक समझा गया।

(३) युद्धकालीन प्रतिबन्धों की समाप्ति—फरवरी, १६२० में चाँदी के आयात पर लगा हुआ प्रतिबन्ध (निर्यात का नहीं) हटा लिया गया और ४ आना प्रति औंस का आयात-कर भी समाप्त कर दिया गया। करेन्सी के अलावा अन्य कार्यों के लिए सोने और चाँदी को बन्द करने वाली युद्धकालीन अधिसूचनाएँ रद्द कर दी गईं। चाँदी के मूल्य में गिरावट तथा चाँदी के सिक्कों के प्रचलन में कमी हो जाने से बहुमूल्य धातुओं पर लगे शेष प्रतिबन्ध को समाप्त करना भी सम्भव हो गया। २१ जून को स्वर्ण-पिण्ड और विदेशी सिक्के के आयात पर से प्रतिबन्ध हटा लिया गया। कुछ दिनों के बाद सरकार की ओर से भुगतान करने के लिए चाँदी के प्रयोग पर से भी प्रतिबन्ध हटा लिया गया। खजानों को आदेश दिया गया कि प्राप्त-कर्ता द्वारा इच्छित करेन्सी में भुगतान किया जाय। अतिरिक्त वैधानिक सुविधाओं को पुनर्जीवित करने के लिए (अर्थात् नोटों को रुपयों में बदलने के लिए) भी कदम उठाये गए। ये सुविधाएँ पहले अस्थायी रूप से समाप्त कर दी गईं थीं। उदाहरणतः खजानों के अधिकारियों को आदेश दिया गया कि यदि उचित मात्रा में नोट दिये जायें तो यथासम्भव उनकी अदायगी रुपये में की जाय। संक्षेप में, जहाँ तक चाँदी का सम्बन्ध था, १६२० के समाप्त होने के पहले ही करेन्सी समिति की सिफारिशों को पूर्ण रूप से कार्यान्वित कर दिया गया था।

पत्र मुद्रा सुरक्षित कोष के पुनर्निर्माण के लिए किये गए उपायों की चर्चा बाद में (सेक्शन ३३ में) की जायगी।

की बाजार दर केवल सोने की समता से ही अलग नहीं हो गई, बल्कि २ शि० स्टर्लिंग से भी कम हो गई। इसके बाद सरकार ने २ शि० की दर को कायम रखने का प्रयत्न किया। तदनुसार २४ जून और उसके बाद टेलिग्राफिक ट्रान्सफर की बिक्री की दर १ शि० ११$\frac{3}{32}$ पें० कर दी गई। इसके पक्ष में दिया गया प्रमुख तर्क यह था कि यह दर स्टर्लिंग की स्वर्ण से समता होने पर बनी रहेगी। यथार्थतः इसका अर्थ यह था कि सरकार ने स्मिथ समिति द्वारा प्रस्तावित २ शि० की स्वर्ण दर को लागू करने की आशा छोड़ दी थी। यह दर छः महीने के अन्दर ही स्थापित की गई और गिर गई। बाजार दर नीचे गिरती गई और सरकार उसके गिराव को नहीं रोक सकी। बाजार दर के अनुसरण में सरकार को अपनी दर भी कम करनी पड़ी और उसे बाजार दर से कुछ ऊँचा रखने के नियम का ही पालन किया जा सका। परन्तु यह दर अनिश्चित काल तक नहीं रह सकती थी, अतएव सरकार ने विनिमय के नियमन के प्रयास छोड़ दिए। १९२० के प्रारम्भ से सितम्बर, १९२० तक रिवर्स कौन्सिल की बिक्री ५५,३८२,००० पौण्ड तक हो गई। लन्दन में रिवर्स कौन्सिल की अदायगी पत्र मुद्रा सुरक्षित कोष से सम्बन्धित स्टर्लिंग प्रतिभूतियों और ट्रेज़री बिल की बिक्री से प्राप्त राशि द्वारा होती थी। ये प्रतिभूतियाँ और बिल १५ रुपये प्रति पौण्ड की दर पर खरीदे गए थे और ७ से १० रुपये प्रति पौण्ड की दर पर बेचे गए। क्रय और विक्रय मूल्य के इस अन्तर के फलस्वरूप भारतीय खजानों को ३५ करोड़ रुपये की हानि हुई।

रिवर्स कौन्सिल की बिक्री से भारतीय खजाने को भारी हानि होने के अलावा विनिमय की प्राणहीनता ने व्यापारी वर्ग को भी अनेक प्रकार से हानि पहुँचाई। रिवर्स कौन्सिल की बिक्री के फलस्वरूप पर्याप्त मुद्रा संकुचन हुआ। १९२० में १ फरवरी से १६ सितम्बर तक नोटों का प्रचलन १८५ करोड़ रु० से घटकर १५८ करोड़ रु० रह गया। यह कमी सरकार द्वारा रिवर्स कौन्सिल की अदायगी में प्राप्त नोटों को रद्द करने से हुई थी। आयात के असाधारण कार्य और निर्यात के सहयोग की अनुपस्थिति के कारण विनिमय को ठीक रखने के लिए करेन्सी की यह कमी व्यर्थ सिद्ध हुई। इससे द्रव्य सम्बन्धी कठिनाइयाँ और तीव्र हो गईं तथा ये ही मूल्य के स्तर को नीचे गिराने के लिए उत्तरदायी थीं। इन दोनों परिस्थितियों के फलस्वरूप एक ही साथ व्यापारियों की कठिनाइयाँ बहुत बढ़ गईं। उन्हें अत्यधिक निम्न मूल्य पर अपने भण्डार बेचने के लिए विवश होना पड़ा।

अधिकतम हानि का कारण व्यापारियों का सरकार द्वारा निर्धारित ऊँची दर पर विश्वास करना था। माल का ऑर्डर इस आशा और विश्वास से किया गया था कि विनिमय दर ऊँची रहेगी, परन्तु माल आने तक विनिमय दर बहुत गिर गई। इस कारण अनेक आयातकर्ताओं का दिवाला पिट गया, क्योंकि सरकार द्वारा ऊँची विनिमय दर बनाये रखने के सम्बन्ध में इन्हें इतना विश्वास था कि इन्होंने कोई सावधानी ही नहीं बरती।

२६. सरकारी नीति की परीक्षा—इन बातों से यह सिद्ध होता है कि अनेक व्यापारी

ऐसी ऊँची दर को बनाये रखना असम्भव नहीं समझते थे, चाहे वे उसकी उपादेयता के बारे में भले ही सन्देह करते हों।

सरकार स्वयं २ शि० स्वर्ण दर की व्यावहारिकता के बारे में सन्देह नहीं करती थी, क्योंकि इस विषय पर उसे स्मिथ समिति के बहुमत का समर्थन भी प्राप्त था। यह सत्य है कि सर ददीबा दलाल ने अपना भिन्न मत प्रकट करते हुए इस उच्च दर से सम्भावित दोषों की योग्यतर पूर्ण विस्तृत विवेचना की थी, परन्तु उन्होंने भी इस दर को बनाये रखने की असम्भाव्यता पर विशेष बल नहीं दिया।

इसके साथ ही यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि जब सरकार बैबिंग्टन स्मिथ समिति की सिफारिशों को कार्यान्वित करने चली, उस समय अनेक ऐसी बातें थीं जो करेन्सी प्रमाप में ऐसे परिवर्तन करने से पहले सरकार को रुकने और सोचने के लिए बाध्य कर रही थीं। उदाहरण के लिए, अगस्त, १९२० में, जिस समय परिवर्तित अनुपात लागू होने वाला था, उस समय सोना २३$\frac{1}{8}$ रुपया प्रति तोला बिक रहा था, परन्तु नये अनुपात के अनुसार उसे १५ रु० १४ आना के भाव से बिकना चाहिए था। इस अन्तर को देखते हुए यह स्पष्ट हो जाना चाहिए था कि २ शि० स्वर्ण दर को बनाये रखना यदि असम्भव नहीं तो असाधारण रूप से कठिन अवश्य होगा। इसके अतिरिक्त पुनः चाँदी का मूल्य गिरकर ४४ पेंस प्रति औंस हो चुका था और रुपया पिघलाने का भय लगभग समाप्त हो चुका था। यदि कहीं थोड़ा-बहुत रुपया पिघलाया भी जाता तो प्रचलन में रुपयों की बढ़ती हुई मात्रा को देखते हुए इसका कोई प्रभाव न होता।[1]

भारतीय विनिमय की वृद्धि के कारणों में चाँदी के मूल्य की वृद्धि को महत्ता देकर बैबिंग्टन स्मिथ समिति ने परिस्थिति को बिलकुल गलत समझा। रुपये के स्टर्लिंग मूल्य के बढ़ने का प्रधान कारण रुपये के मूल्यों की तुलना में स्टर्लिंग के मूल्यों का अधिक बढ़ना था। सम क्रय-शक्ति सिद्धान्त के अनुसार भी सन्तुलन[2] के लिए विनिमय दर को ऊपर उठना चाहिए था। २ शि० स्वर्ण दर का अर्थ क्रय-शक्ति की समता की तुलना में रुपये का अधिमूल्यन था। रुपये के लिए सोने का निश्चित मूल्य स्थापित करने का प्रयत्न अपरिपक्व था, क्योंकि सोने के मूल्य में स्वयं बहुत परिवर्तन हो रहे थे तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की परिस्थितियों में बड़ी अस्थिरता थी।[3]

चाँदी के उच्च मूल्य का आंशिक कारण वस्तुओं के रूप में रुपये और

---

१. देखिए, अम्बेदकर पूर्व उद्धृत, पृ० २०७।

२. परिकल्पना (स्पेकुलेशन) के कारण चाँदी के मूल्य की वृद्धि केवल संयोगवश थी। स्मिथ समिति की आधी मौलिक भूल शीघ्र परिवर्तन होने वाले मूल्य-स्तरों के महत्त्व को न समझने और केवल चाँदी के मूल्यों पर ध्यान देने में थी। रुपये को २ शि० सोने की दर से सम्बन्धित करने में इसने वृद्धि के वास्तविक कारण को भुला दिया और इस दर को बनाये रखने के लिए आवश्यक मुद्रा संकुचन को कम आंका। अन्य देशों में मूल्यों की गतिविधि के सम्बन्ध में इनके अनुमान के हास्यास्पद उदाहरण हैं जो कदाचित ही इतिहास में मिलें। वकील, मुरञ्जन, पूर्व उद्धृत, पृ० ३४०-४१।

३. गुस्टाव केसल्स मेमोरेण्डम और हिल्टन यंग कमीशन रिपोर्ट, खण्ड २, परिशिष्ट ९२।

स्टर्लिंग का अधोमूल्यन था। यदि यह मान भी लिया जाय कि चाँदी के मूल्य की वृद्धि ही विनिमय की वृद्धि का प्रधान कारण थी, तो भी यह मानना पड़ेगा कि चाँदी के मूल्य की वृद्धि परिकल्पनाजन्य थी। मूल्यों के परिवर्तनों के विस्तार से ही यह बात स्पष्ट हो सकती थी कि उनमें कोई स्थिरता नहीं थी।

सरकार के विरुद्ध प्रमुख आलोचना यह नहीं थी कि उसने अपनी नीति को प्रारम्भ में ही एक विशेषज्ञ समिति की सिफारिशों के आधार पर बना दिया, वरन् यह थी कि २ शि० स्वर्ण दर को प्रभावपूर्ण बनाने के सम्बन्ध में प्रयत्नों की निरर्थकता देखते हुए भी वे रिवर्स कौंसिल की बिक्री में लगे रहे। जून, १९२० के अन्त तक यह स्पष्ट हो गया कि सरकार ने एक असम्भव कार्य अपने ऊपर ले लिया था। अत: प्रारम्भ ही में अपनी हार मान लेना कहीं अधिक बुद्धिमानी और साहस का काम होता, परन्तु वे विनिमय दर को बढ़ाने में लगे रहे तथा उन्होंने स्वर्ण-साधनों को रिक्त कर दिया और इस प्रकार औद्योगिक एवं व्यावसायिक दुनिया में बड़ी उथल-पुथल मचा दी। जैसा कि सर स्टेनली रीड ने कहा है कि यह एक ऐसी नीति थी जो विनिमय की स्थिरता के लिए अपनाई गई थी, परन्तु जिसने देश के विनिमय में अत्यधिक परिवर्तन, व्यापारिक उथल-पुथल, राजकीय हानि तथा सैकड़ों व्यापारियों को दिवालिया बना दिया।[1]

२७. निष्क्रियता की नीति (१९२१-२४)—विनिमय को स्थिर करने के प्रयत्न में असफल होने पर सरकार कुछ समय तक कोई निर्णय किये बिना ही घटना-चक्र को शान्तिपूर्वक देखती रही।

१९२१ में भी व्यापारिक सन्तुलन भारत के प्रतिकूल था। विश्व के मूल्यों के सोने में गिरने के कारण निर्यात-व्यापार की दशा बुरी थी। इसका दूसरा कारण स्टर्लिंग मूल्यों में तेजी से हुई कमी थी, जो इंगलैण्ड द्वारा स्टर्लिंग को स्वर्ण समता पर लाने के लिए उठाये गए कदमों के फलस्वरूप हुई थी। इन परिस्थितियों में, जैसा कि होना चाहिए था, रुपये का स्टर्लिंग मूल्य गिरता गया। १९२१ में ३१,५८,००० रुपये की करेन्सी का संकुचन किया गया। यह विनिमय की निम्नगामी गति को रोकने के लिए पर्याप्त नहीं थी, जो १ शि० ३ पैंस के निम्न स्तर तक पहुँच गई थी। लंदन में रखी स्टर्लिंग प्रतिभूतियों को भारत-सचिव की नकदी में स्थानान्तरित करके तथा सुरक्षित कोष में रखे भारतीय ट्रेज़री बिल का भुगतान करके १९२१-२२ और २३ में भी मुद्रा-संकुचन किया गया। रुपये की गिरावट को रोकने के विचार से भारत-सचिव ने कौंसिल ड्राफ्ट की बिक्री समाप्त कर दी।

१९२२-२३ में यूरोपीय देशों में क्रय-शक्ति में सुधार होने और भारत में अच्छी फसल होने के कारण भारत के निर्यात का पुनरुत्थान हुआ। मुद्रा के संकुचन और निर्यात के पुनरुत्थान का सम्मिलित प्रयास रुपये के विनिमय-मूल्य को धीरे-धीरे बढ़ाना था। सितम्बर, १९२३ में रुपया १ शि० ३$\frac{1}{2}$ पैंस सोने के बराबर था और १ शि० ४ पैंस का युद्ध के पूर्व का अनुपात किसी के हित को हानि पहुँचाये बिना

१. बी० ई० दादचंजी, हिस्ट्री ऑफ इण्डियन करेन्सी एण्ड एक्सचेन्ज, पृ० १३७।

ही पुन: स्थापित किया जा सकता था। इसके लिए भारतीय व्यापार-मण्डल ने प्रार्थना भी की थी, जो असफल रही। सरकार १ शि० ६ पेंस के अनुपात को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न कर रही थी। वास्तव में रुपया १ शि० ६ पेंस स्टर्लिंग के स्तर पर अक्तूबर, १९२४ में पहुँच गया। इसके बाद सरकारी कार्य रुपये के मूल्य को इस स्तर से अधिक न बढ़ने की ओर प्रेरित हुआ। इस परिणाम को प्राप्त करने के लिए, सरकारी विप्रेषण के लिए आवश्यक, स्टर्लिंग खरीदने की विधि का स्वतन्त्रतापूर्वक प्रयोग किया गया और इस खरीद के बल पर नई करेन्सी चालू की गई, जिससे द्रव्य-सम्बन्धी कठिनाई भी कम हुई। अप्रैल, १९२५ में रुपये का विनिमय मूल्य १ शि० ६ पेंस स्वर्ण हो गया और २१ सितम्बर, १९३१ तक इसी प्रकार बना रहा, जैसा कि आलोचकों का कथन है, उसे इतना ही रखा गया।[1]

अब निष्क्रियता-नीति का अन्त दृष्टिगोचर होने लगा। अनेक ओर से की गई प्रार्थनाओं के उत्तर में सरकार ने १९२५ के आरम्भ में करेन्सी स्थिति की जाँच करने के लिए एक अधिकृत समिति की स्थापना का वादा किया। सरकार को यह आशा थी कि तब तक विश्व की परिस्थितियों में स्थिरता आ जायगी। लेफ्टिनेण्ट कमाण्डर हिल्टन-यंग की अध्यक्षता में भारतीय करेन्सी और विनिमय के राजकीय आयोग की नियुक्ति हुई।

आयोग के मत और निर्णय पर विचार करने से पहले, हम भारतीय पत्र-मुद्रा पद्धति का विवरण देंगे।

भारतीय पत्र-मुद्रा

२८. प्रारम्भिक इतिहास—१८०९, १८४० और १८४३ के कानूनों के अन्तर्गत बंगाल, बम्बई और मद्रास के प्रेसीडेन्सी बैंकों को यह अधिकार दिया गया कि वे नोट जारी करें, जिनका वाहकों द्वारा माँगे जाने पर भुगतान कर दिया जाय। इन नोटों के जारी करने के सम्बन्ध में अधिकतम सीमा और सुरक्षित-कोष सम्बन्धी नियमों का पालन करना आवश्यक था। परन्तु उनका प्रयत्न व्यवहारतः तीन प्रेसीडेन्सी नगरों तक ही सीमित था। १८६० में भारत के प्रथम वित्त सदस्य श्री जेम्स विल्सन ने सरकारी पत्र-मुद्रा और प्रेसीडेन्सी बैंकों द्वारा नोट जारी करने के अधिकारों के उन्मूलन के लिए योजना बनाई। १८४४ के इंगलिश बैंक चार्टर एक्ट के आधार पर उस समय के भारत-सचिव सर चार्ल्स वुड ने निम्नलिखित सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया—

प्रथम, जैसा कि विल्सन ने भी कहा था, नोट जारी करने का कार्य पूर्ण रूप से बैंकिंग प्रणाली से अलग कर दिया जाय। द्वितीय, जैसा कि सर चार्ल्स वुड ने कहा था, सरकारी प्रतिभूतियों पर जारी किये गए नोटों की मात्रा निश्चित रखी जाय जो निम्नतम सीमा के अन्दर हों और जो अनुभव द्वारा देश के व्यापार और लेन-देन के लिए आवश्यक सिद्ध हो चुकी हो। इसके आगे नोट सिक्का अथवा धातु-पिण्ड पर जारी किये जायँ।[2] इसी के अनुसार १८६१ का पत्र-मुद्रा एक्ट पास हुआ। नोट जारी करने के दृष्टि-

१. देखिए अध्याय १।

२. देखिए केन्स, पूर्व उद्धृत, पृष्ठ ३९।

कोण से पहले देश तीन निर्गम क्षेत्रों में विभाजित किया गया, जिनके प्रधान कार्यालय कलकत्ता, बम्बई और मद्रास थे। केन्द्रों की संख्या १९१० में बढ़कर सात हो गई। चार अतिरिक्त केन्द्र रंगून, कराची, कानपुर और लाहौर थे। १०, २०, ५०, १००, ५००, १०००, १०००० रुपये के नोट जारी किये गए। ५ रुपये का नोट १८९१ में जारी किया गया। ब्रिटिश स्वर्ण मुद्रा और रुपयों के बदले वे जनता में बेरोकटोक जारी किये जा सकते थे। करेन्सी के कण्ट्रोलर की आज्ञा पर वे स्वर्ण-पिण्ड के बदले भी जारी किये जा सकते थे। अपने-अपने क्षेत्र के भीतर वे सरकारी खजानों और जनता के लेन-देन के लिए असीमित कानूनी मुद्रा माने गए।

जारी किये गए नोटों के बराबर मूल्य का सुरक्षित कोष धातु-पिण्ड और सिक्कों के रूप में बनाया गया, जिसका एक छोटा भाग भारत सरकार की "रुपी सिक्योरिटीज़' में उनकी परिवर्तनीयता की गारण्टी देने के लिए विनियोजित था।

केवल नोट जारी करने वाले क्षेत्र के प्रधान कार्यालय पर ही नोटों का भुगतान कराने के अधिकार का प्रयोग किया जा सकता था, साथ ही सरकार खजाने, रेलवे कम्पनी और यात्रियों के लिए अन्य क्षेत्रों के नोटों का भी भुगतान करती थी। सरकारी देनदारियों का भुगतान किसी भी क्षेत्र के नोटों में किया जा सकता था।

२९. नकद भुगतान और कानूनी मुद्रा सम्बन्धी प्रतिबन्ध—भारत एक विशाल देश है तथा व्यापारिक दशाओं के कारण वर्ष के विभिन्न समयों में देश के एक भाग से दूसरे भाग को रुपये भेजे या मँगाये जाते हैं। नोटों का सबसे पहला प्रयोग प्रेषण के लिए सोना भेजने के बजाय अधिक सुविधापूर्वक नोट भेजना होगा। यदि सरकार ने जारी करने वाले क्षेत्र तक ही नोटों को कानूनी मुद्रा न बनाया होता, तो सरकार को एक स्थान से दूसरे स्थान पर नकदी भेजनी पड़ती। इसके विपरीत, यदि नोटों को पूर्णतया कानूनी मुद्रा बना दिया जाता और उनका भुगतान केवल प्रेसीडेन्सी नगरों तक ही सीमित होता, तो निस्सन्देह वर्ष में कुछ समय लोग सिक्कों को अधिक पसन्द करते तथा नोटों की लोकप्रियता कम हो जाती।

क्षेत्र-पद्धति (सर्किल सिस्टम) के कारण नोटों की लोकप्रियता और विस्तार में बहुत बाधा पहुँची और इसे समाप्त करने के लिए १९०३ में पहला कदम उठाया गया, जबकि ५ रुपये का नोट बर्मा को छोड़कर सर्वत्र कानूनी मुद्रा बना दिया गया। यह रोक भी १९०९ में हटा ली गई। इसी प्रकार १९१० में १० और ५० रुपये के नोट भी सर्वत्र कानूनी मुद्रा करार दिये गए तथा अधिशासी आज्ञा द्वारा बड़े नोटों को भी सर्वत्र कानूनी मुद्रा बनाने का अधिकार भी ले लिया गया। तदनुसार १९११ में १०० रुपये का नोट सर्वत्र कानूनी मुद्रा बना दिया गया। चेम्बरलेन आयोग ने ५०० रुपये के नोट को भी कानूनी मुद्रा बनाने की सिफारिश की। इस प्रकार नोटों को सर्वत्र कानूनी मुद्रा बनाने से उनके प्रचलन में शीघ्र ही विस्तार हुआ। इनके भुगतान के लिए सरकारी खजानों पर अतिरिक्त वैधानिक सुविधाएँ प्रदान की गई तथा प्रेसीडेन्सी बैंकों ने इन सुविधाओं को अपने कार्यालयों और शाखाओं में प्रचलित करना प्रारम्भ किया। १९१४-१८ के युद्ध ने इस विकास को रोक दिया, क्योंकि

इस समय रुपयों के टंकन में कठिनाई थी तथा विकसित आधार पर जारी किये गए नोटों का प्रचलन बढ़ गया था। वैबिंग्टन समिति ने युद्धकालीन प्रतिबन्धों को समाप्त करने तथा नोटों को अधिक लोकप्रिय बनाने के हेतु उनके भुगतान के लिए अतिरिक्त वैधानिक सुविधाओं के विस्तार की सिफारिश की। १९३१-३२ में ५०० और १००० रुपये के नोट भी सर्वत्र कानूनी मुद्रा बना दिये गए।[1]

३०. पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष—१८६१ के कानून के अन्तर्गत सरकारी प्रतिभूतियों के रूप में ४ करोड़ रुपये तक स्थायी विश्वासाश्रित निर्गम (फिक्सड फिडूशरी इश्यू) करने की व्यवस्था है। यह सीमा समय-समय पर विशेष कानूनों द्वारा बदल दी गई। यह १८७१ में ६ करोड़, १८९० में ८ करोड़, १८९७ में १० करोड़ तथा १९०५ में १२ करोड़ रुपये कर दी गई। अब तक ये प्रतिभूतियाँ भारत में रखी हुई भारत सरकार की रुपये वाली प्रतिभूतियाँ थीं, परन्तु १९०५ के कानून ने २ करोड़ तक की स्टर्लिंग प्रतिभूतियों को इंगलैण्ड में रखने की भी व्यवस्था कर दी। इस प्रकार सुरक्षित कोष के विनियोजित भाग का कुछ अंश स्टर्लिंग प्रतिभूति के रूप में रखा जाने लगा।[2] १९११ में प्रतिभूतियों की अधिकतम सीमा १४ करोड़ निश्चित की गई, जिसमें से ४ करोड़ स्टर्लिंग प्रतिभूतियों में रखने की व्यवस्था थी।

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, १८९८ तक स्थायी विश्वासाश्रित भाग को छोड़कर अतिरिक्त सम्पूर्ण पत्र मुद्रा सुरक्षित कोष चाँदी के रूप में था। १८९८ में गोल्ड नोट एक्ट ने सरकार को सुरक्षित कोष के धातु वाले भाग के अंश को स्वर्ण मुद्रा रखने का अधिकार दिया। १९०० के कानून ने इन स्वर्ण मुद्राओं को लन्दन में रखने का भी अधिकार दिया। १९०५ के कानून ने सुरक्षित कोष के धात्वीय भाग को अथवा उसके किसी अंश को, लन्दन अथवा भारत में, स्वर्ण मुद्रा या स्वर्ण-पिण्ड या रजत-पिण्ड में रखने का अधिकार दिया; परन्तु सभी टंकित रुपयों को भारत में ही रखने की व्यवस्था थी।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, स्थायी विश्वासाश्रित अधिकतम निर्गम (फिक्स्ड मेक्सिमम फिडूशरी) को छोड़कर शेष भाग सोना या चाँदी या सिक्कों में रखा जाता था। इस प्रथा के फलस्वरूप नोटों के निर्गम के विस्तार के साथ विनियोजित अनुपात क्रमशः घटता गया। इसके विपरीत अधिकाधिक भाग तरल रूप में रखा जाने लगा जो कभी-कभी ८० से ८५ प्रतिशत तक हो गया। यह वास्तव में नीति के विचारपूर्ण परिवर्तन तथा सुरक्षित कोष के तरल भाग से विनिमय की सहायता करने के फलस्वरूप हुआ। जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, यह करेन्सी व्यवस्था की सबसे पहली सुरक्षा-विधि समझी जाती थी।

इसके फलस्वरूप नोटों की परिवर्तनीयता निश्चित करने के लिए अत्यधिक सुरक्षित कोष रखा गया। कुल जारी किये गए नोटों के कुछ प्रतिशत या अनुपात को

१. रिपोर्ट ऑफ़ दि कण्ट्रोलर ऑफ़ करेन्सी (१९३१-३२), पैरा ६०। १०० रुपये से अधिक का नोट १९४७ से सरकारी आर्डिनेन्स द्वारा विमुद्रीकरण कर दिया गया।

२. पीछे सेक्शन १२, अन्तिम पैरा।

तरल रूप में रख और विनियोजित भाग को बढ़ाकर इससे बचा जा सकता था। इस प्रकार भी विश्वासाश्रित सीमा बढ़ाने के लिए वैधानिक आश्रय की आवश्यकता न पड़ती।

३१. पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष की आलोचना—१९१४ से पहले पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष के विरुद्ध प्रमुख आलोचना इन आधारों पर थी—(१) धात्वीय कोष का अनावश्यक रूप से अधिक होना, (२) विशेष कानून के बिना स्थायी विश्वासाश्रित कोष को बढ़ाने की असम्भावना और (३) पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष के भाग का इंगलैण्ड में स्टर्लिंग प्रतिभूतियों में विनियोजित होना।

(१) और (२) के कारण व्यवस्था लोचहीन हो गई। जहाँ तक (३) का सम्बन्ध है इस प्रथा का समर्थन इस आधार पर किया गया कि स्टर्लिंग प्रतिभूतियाँ रुपये का विनिमय मूल्य बनाये रखने के लिए आवश्यक थीं और उनसे एक लाभ यह भी था कि भारत में आन्तरिक संकट आने की दशा में उनके अवमूल्यन की सम्भावना नहीं थी। इसके विपरीत यह कहा गया कि रुपये के विनिमय मूल्य को बनाये रखना पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष का काम नहीं है। भारत में आन्तरिक संकट होने पर स्टर्लिंग प्रतिभूतियों में अवमूल्यन भले ही न हो, परन्तु नोट निर्गम के सम्बन्ध में जनता का विश्वास सम्पूर्ण सुरक्षित कोष को भारत में रखने से ही हो सकता है।[1]

नोट निर्गम का कार्य पूर्णतया बैंकिंग के कार्यों से एकदम अलग कर दिया गया। केन्द्रीय बैंक की तरह की कोई चीज़ नहीं थी, इसलिए कोई सरकारी बैंकर भी नहीं था। केवल रिज़र्व ट्रेज़री व्यवस्था थी, जिसके अन्तर्गत विशेष सरकारी खजानों में रुपया रखा जाता था, जिसके फलस्वरूप वर्ष में कुछ समय के लिए द्रव्य बाजार में कठिनाई उपस्थित हो जाती थी।

आन्तरिक करेन्सी पद्धति विशेष एवं सामान्य उद्देश्यों के लिए लोचहीन थी तथा कौंसिल बिल की खरीद या सावरेन के आयात द्वारा कोष प्राप्त किये बिना उसके अस्थायी विस्तार की भी कोई व्यवस्था न थी। अन्य देशों, जैसे इंगलैण्ड और संयुक्तराज्य, में ये दोष निक्षेप और चैक के प्रयोग द्वारा दूर किये गए हैं अथवा व्यापारिक हुण्डियों के आधार पर अस्थायी रूप से पत्र-मुद्रा जारी कर और अन्त में सरकारी कोष को केन्द्रीय बैंकों के हाथ में देकर भी कठिनाइयाँ हल की गई हैं।

कुछ प्रमुख व्यापारिक केन्द्रों को छोड़कर चैकों और निक्षेपों का तरीका भारत में अब भी अधिक प्रचलित नहीं है। दूसरा तरीका स्मिथ समिति द्वारा प्रस्तावित किया गया था और स्वीकार भी कर लिया गया था। तीसरा तरीका भी रिज़र्व ट्रेज़री की समाप्ति और सरकारी कोष को इम्पीरियल बैंक में रखकर अपनाया गया है। रिजर्व बैंक के खुलने से पहले १९२१-३५ के इम्पीरियल बैंक ने सरकारी बैंक की तरह काम किया। सामान्य लोचहीनता दूर करने के लिए स्मिथ समिति का सुझाव था कि धात्वीय भाग कुल निर्गम के ४०% से कम नहीं होना चाहिए।

१. पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष की आलोचना के लिए अगला अध्याय देखिए।

नका विचार था कि कारोबार के दिनों में परिनियत निम्नतम सीमा से अधिक र रखना ही वांच्छनीय होगा। इस प्रकार कानून का आश्रय लिये बिना ही प्रचलन विस्तार के साथ-ही-साथ विश्वासाश्रित सुरक्षित कोष भी बढ़ जायगा। जैसा कि में बाद में देखेंगे, सरकार ने स्मिथ समिति के सुझाव को १६२० में स्वीकार कर लेया, यद्यपि उन्होंने धात्वीय कोष की अधिक प्रतिशत को अर्थात् ५०% को पनाया।[1]

१२. १६१४-१८ के युद्ध का पत्र-मुद्रा पर प्रभाव—हम ऊपर देख चुके हैं कि किस कार, १६१४ में युद्ध के छिड़ने पर, प्रारम्भ में भय के कारण नोटों के भुगतान के लिए लोग पेपर करेन्सी आफिस पर जमा होने लगे तथा किस प्रकार विश्वास के उत्पन्न हो जाने पर नोट प्रचलन में विस्तार हुआ। मार्च, १६१५ से आगे पत्र-मुद्रा र युद्ध के प्रभावों को संक्षेप में इस प्रकार दिखाया जा सकता है—

(१) करेन्सी की अत्यधिक माँग के कारण पत्र-मुद्रा का प्रसार हुआ, जिसकी र्ति रुपये जारी करने से नहीं की जा सकती थी। इस असाधारण माँग के कारणों का विवेचन हम पहले ही कर चुके हैं। (२) विभिन्न कानूनों के परिणामस्वरूप विश्वासाश्रित (फिडूशरी) सुरक्षित कोष बहुत बढ़ गया, जैसा कि निम्न तालिका में दिखाया गया है।

करोड़ रुपयों में

कानून	स्थायी विनियोग	अनुज्ञेय अस्थायी विनियोग	कुल योग
१६११ का कानून VII (युद्ध के पूर्व)	१४	—	१४
१६१५ का कानून V	१४	६	२०
१६१६ का कानून IX	१४	१२	२६
१६१७ का कानून XI	१४	३६	५०
१६१७ का कानून XIX	१४	४८	६२
१६१८ का कानून V	१४	७२	८६
१६१६ का कानून II	१४	८६	१००
१६१६ का कानून XXVI	२०	१००	१२०

इन कानूनों के पूरक आर्डिनेन्स गवर्नर जनरल द्वारा जारी किये जाते थे। सुरक्षित कोष में रखने के लिए पर्याप्त मुद्रा पाने की कठिनाई के कारण सुरक्षित कोष का अपूर्व विस्तार आवश्यक हो गया। इंगलैण्ड की ओर से भारत में किये गए युद्ध के व्यय भारत सचिव द्वारा लन्दन में ले लिये गए। इसे लन्दन-स्थित पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष में सोने के रूप में रखना राजकीय हित के विरुद्ध समझा गया। अतएव उसे ब्रिटिश ट्रेजरी बिल्स अथवा अल्पकालीन स्टर्लिंग प्रतिभूतियों में रखने के विकल्प को

१. देखिए, सेक्शन ३३।

अपनाया गया।[1] यद्यपि कुछ भाग का विनियोग भारतीय ट्रेज़री बिल में भी किया गया। (३) धात्वीय सुरक्षित कोष १९१४ में ७८.९% था। १९१९ में यह ३५.८% रह गया। (४) चाँदी की मितव्ययता के उपाय के रूप में १९१७ और १९१८ में क्रमशः १ और २½ रुपये के नोट जारी किये गए जो स्पष्टतः इंगलैण्ड में जारी किये गए १ पौण्ड और १० शि० के नोट के अनुकरण-मात्र थे। जनता ने प्रारम्भ में इनके प्रति उदारता नही दिखाई। १ रुपये का नोट खूब चलने लगा। ३१ मार्च, १९१९ को १०५० लाख रुपये के एक रुपये वाले नोट चल रहे थे जबकि २½ रुपये के नोट का प्रचलन केवल १८४ लाख रुपया था।[2] (५) रुपये की कमी के कारण नकदी भुगतान के लिए, अतिरिक्त वैधानिक सुविधाओं[3] को समाप्त कर दिया गया। (६) १९१८ के पत्र-मुद्रा एक्ट का सामना करने के लिए पिटमैन कानून के अन्तर्गत २००० लाख औंस अमरीकी चाँदी का आयात हुआ।

पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष की बनावट और स्थिति पर युद्ध के प्रभाव को निम्न तालिका स्पष्ट करती है।[4]

(लाख रुपयों में)

मार्च की अन्तिम तिथि	नोट प्रचलन	सुरक्षित कोष की बनावट और स्थिति							सुरक्षा कोष में प्रतिभूतियाँ का प्रतिशत
		चाँदी	सोना			प्रतिभूतियाँ (क्रय मूल्य)			
		भारत	भारत	इंगलैण्ड	कुलयोग	भारत	इंगलैण्ड	कुलयोग	
१९१४	६६१२	२०५३	२२४४	९१५	३१५९	१०००	४००	१४००	२१
१९१५	६१६३	३२३४	७६४	७६५	१५२९	१०००	४००	१४००	२३
१९१६	६७७३	२३५७	१२२४	११९२	२४१६	१०००	१०००	२०००	२९
१९१७	८६३७	१९२१	१२००	६६७	१८६७	१०००	३८४९	४८४९	५६
१९१८	९९७९	१०७९	२६८५	६७	२७५२	१०००	५१४८	६१४८	६२
१९१९	१५३४६	३७३९	१७३७	१२	१७४९	१६०८	८२५०	९८५८	६५
१९२०	१७४५२	३९८०	......	... ..	४७४०	... .	......	८६८६	५०

२२. पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष का पुनर्निर्माण—सितम्बर, १९१९ में पत्र-मुद्रा कानून के अस्थायी सुधार से पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष के विनियोग की अधिकतम सीमा १२०

१. ब्रिटिश ट्रेजरी बिल में विनियोग करने का प्रधान कारण यह था कि अल्पकालिक होने के कारण उनके अधोमूल्यन का भय नही था। इसके विपरीत स्टर्लिंग प्रतिभूतियों में होने वाले युद्ध के कारण अधोमूल्यन हो रहा था।

२. भारत सरकार ने १ जनवरी १९२६ से १ और २½ रुपये के नोट को समाप्त करने का निर्णय किया। उनका स्थान चाँदी के रुपये और १० रुपये के नोट ने ले लिया। देखिए अगला अध्याय।

३. जैसा कि कहा जा चुका है, ये सुविधाएँ १९२०-२१ में पुनः प्रारम्भ कर दी गईं और इम्पीरियल बैंक की शाखाओं की वृद्धि के साथ बढ़ती गईं, जहाँ जनता की सुविधा के लिए नोटों के भुगतान की व्यवस्था है।

४. देखिए, शिराज, पूर्व उद्धृत, पृष्ठ २६४।

करोड़ रुपया कर दी गई, जिसमें १०० करोड़ रुपया ब्रिटिश ट्रेज़री बिलों में लगाना आवश्यक था।

मार्च, १९२० में छः महीने के लिए एक अस्थायी कानून बनाया गया जिसने सुरक्षित कोष के विनियोजित भाग को १२० करोड़ रुपया रखने की आज्ञा दी, परन्तु इसने विनियोग के स्थान और उसके स्टर्लिंग अथवा रुपये के प्रकार सम्बन्धी प्रतिबन्ध हटा दिए। इंगलैण्ड को सोना भेजने की तत्कालीन मांग और राज-सचिव के नकद कोष से इसे पूरा करने की असम्भावना ने इसे अनिवार्य कर दिया। लन्दन-स्थित पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष में रखी स्टर्लिंग प्रतिभूतियों के विक्रय से माँग पूरी की गई। वर्तमान कानून के अनुसार रुपये के मूल्य में स्टर्लिंग प्रतिभूतियों के बराबर १५ रु० = १ पौं० की दर से नोटों की वापसी और रद्दगी आवश्यक हो गई।

चेम्बरलेन आयोग और स्मिथ समिति की आलोचना तथा युद्ध-काल में प्राप्त अनुभव को ध्यान में रखते हुए मार्च, १९२० के अस्थायी कानून के स्थान पर नया कानून पास करना आवश्यक हो गया। अतएव भारत में पेपर करेन्सी अमेण्डमेण्ट एक्ट[1] १ अक्टूबर, १९२० को कानून बना दिया गया। इस कानून के विधान (१) स्थायी और (२) अस्थायी दो भागों में विभाजित किये जा सकते हैं।

(१) स्थायी विधान[2]

(क) कुल सुरक्षित कोष का ५०% धात्विक रूप में होना चाहिए। स्मिथ समिति द्वारा प्रस्तावित ४०% से अधिक (५०%) को स्वीकार करने का कारण यह था कि भारत जैसे देश में नोटों का तुरन्त नकद भुगतान करना और कार-बार के दिनों में फसलों की गति के लिए आर्थिक सहायता हेतु, जब नोट सामान्यतः भुगतान के लिए उपस्थित किये जाते हैं, पर्याप्त सिक्का सुरक्षित रखना आवश्यक होता है।

(ख) २० करोड़ रुपये की प्रतिभूतियों को छोड़कर, जो भारत में रखी जाती थीं, शेष रुपया स्मिथ समिति के अनुसार १२ महीने या उससे कम अवधि की अल्प-कालीन प्रतिभूतियों के रूप में इंगलैण्ड में रखा जाता था।

(ग) ९० दिन में परिपक्व होने वाली भुनाई हुई अन्तर्देशीय हुण्डियों के आधार पर करेन्सी का कण्ट्रोलर ५ करोड़ रुपये के नोट जारी कर सकता था। अतिरिक्त निर्गम इम्पीरियल बैंक को दिये ऋण के रूप में हो सकता था, जिस पर बैंक को ८% ब्याज और स्वीकार की हुई हुण्डियाँ सरकार को देनी पड़ती थीं। १९२३ के इण्डियन पेपर करेन्सी अमेण्डमेण्ट एक्ट द्वारा ५ करोड़ की सीमा बढ़ाकर १२ करोड़ कर दी गई।[3] परिनियत धात्विक कोष के ५०% सम्बन्धी विधान का

---

१. यह सामान्यतः १९२३ के पेपर करेन्सी एक्ट की ओर संकेत करता है जो कन्सालिडेटेड एक्ट कह-लाता था।

२. ये विधान व्यवहारतः स्मिथ समिति की सिफारिशों के समान थे।

३. १२ करोड़ में से ४ करोड़ उस समय जारी किया जायगा जबकि बैंक दर ६% हो, दूसरा ४ करोड़ उस समय जारी किया जायगा जब दर ७% हो और अन्तिम ४ करोड़ उस समय जारी किया

अतिरिक्त निर्गम से कोई सम्बन्ध न था, क्योंकि धात्विक कोष निश्चित करने के लिए इस निर्गम पर विचार नहीं किया जाता था।

(घ) राज-सचिव लन्दन में ५० लाख पौण्ड के स्वर्णपिण्ड से अधिक नहीं रख सकता था।

(२) अस्थायी विधान—

१५ रु० = १ सावरेन के स्थान पर १० रु० = १ सावरेन की दर से सोने और प्रतिभूतियों का पुन: मूल्यांकन करने के हेतु उत्पन्न कठिनाई के कारण, स्थायी विधान होने तक अस्थायी विधान बनाना आवश्यक समझा गया। १० रु० की दर से पुन: मूल्यांकन करने पर सुरक्षित कोष का धात्विक भाग ५०% से कम हो जाता, अतएव कुछ समय के लिए विनियोजित पूँजी ८५ करोड़ रुपया निश्चित कर देने की व्यवस्था की गई।[1] दूसरी कठिनाई सोना और प्रतिभूतियों को पहली दर की ⅔ पर पुन:मूल्यन करने से उत्पन्न अन्तर को पूरा करने के सम्बन्ध में थी। इस कठिनाई को हल करने के लिए सरकार को अधिकार दिया गया कि वह रुपये वाली प्रतिभूतियाँ (जिन्हें तदर्थ प्रतिभूतियाँ कहा जाता था) उत्पन्न करे और उन्हें पत्र मुद्रा सुरक्षित कोष को निर्गमित करे। चूँकि ये प्रतिभूतियाँ रुपये वाली प्रतिभूतियों की कानूनी सीमा पार कर जायँगी, इसलिए यह प्रस्तावित किया गया कि इस सीमा से आगे बढ़ी हुई प्रतिभूतियाँ धीरे-धीरे स्टर्लिंग प्रतिभूतियों में परिवर्तित कर दी जायँ। चूँकि यथेष्ट स्टर्लिंग प्रतिभूतियों को खरीदने के लिए कोष नहीं था, अतएव १२ करोड़ रु० की अनुज्ञेय सीमा से अधिक उत्पन्न की गई रुपये वाली प्रतिभूतियों को कम करने के लिए यह व्यवस्था की गई कि पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष का व्याज, नये रुपयों के टंकन का लाभ, तथा ४०० लाख पौण्ड से अधिक होने पर (३० सितम्बर, १९२१ को यह अधिक हो गया था) अस्थायी निर्गम की सुरक्षा के लिए कण्ट्रोलर ऑफ़ करेन्सी के पास जमा व्यापारिक हुण्डियों के व्याज का लाभ पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष में जमा कर दिया जाय। कानून के स्थायी विधान इस प्रकार प्रयोग में आ जायँगे। असन्तोपजनक आर्थिक अवस्था के कारण बाद के कानूनों ने आय के इन साधनों को आगम (आय) की ओर उन्मुख कर दिया। १९२१-२२ ही एक अपवादी था, जबकि स्वर्ण प्रमाप सुरक्षित कोप का आधिक्य तदर्थ प्रतिभूतियों को समाप्त करने के लिए प्रयोग किया गया।

१९२७ के इण्डियन पेपर करेन्सी एक्ट के अनुसार १ अप्रैल, १९२७ से पत्र

जायगा जब दर ८% प्रतिशत हो। सितम्बर, १९२४ में यह विधि दुहराई गई और निम्नलिखित नियम जारी किये गये—

(१) जब तक बैंक दर ६% न हो जाय, तब तक कोई ऋण नहीं दिया जायगा।

(२) दी हुई, अप्राप्त राशि पर किसी भी समय पहले ४ करोड़ रुपये पर कम-से-कम ६% बैंक दर का व्याज लिया जायगा तथा शेष ८ करोड़ रुपये पर ७% की दर से व्याज लिया जायगा।

१. द्रव्य सम्बन्धी कठिनाई दूर करने के लिए फरवरी, १९२५ के संशोधन कानून द्वारा यह सीमा १०० करोड़ कर दी गई। इस कानून के अनुसार भारत सरकार द्वारा उत्पन्न की हुई प्रतिभूतियों की मात्रा ५० करोड़ रु० से अधिक नहीं होनी चाहिए।

मुद्रा सुरक्षित कोष की प्रतिभूतियाँ, जिनका मूल्यन १९२० में १० रुपया प्रति सावरेन की दर पर हुआ था, अब इनका मूल्यन १३ रु० १ आ० ३ पा० की दर से किया गया। इसके परिणामस्वरूप सोना और स्टर्लिंग में ३० लाख रुपये की वृद्धि हो गई, जिससे इतनी ही मात्रा के भारतीय ट्रेज़री बिल रद्द करके बराबर कर दिया गया। इस के फलस्वरूप ट्रेज़री बिल ४९७७ लाख रुपये से घटकर ४०४७ लाख रुपये रह गए।[1]

१४. ३१ मार्च १९२५ और १९३५ के बीच पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष की बनावट और स्थिति[2]—१९२५ और १९३५ के बीच पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष के परिवर्तनों को निम्न तालिका प्रकट करेगी। १९२९-३० और १९३०-३१ के वर्षों में नोटों के प्रचलन में बहुत कमी आ गई, जिसका कारण वस्तुओं के गिरते हुए मूल्य के साथ मुद्रा संकुचन का होना था। मूल्यों में सामान्य कमी १९२९-३० के अन्तिम भाग से प्रारम्भ हुई। दूसरा कारण निर्यात व्यापार में मूल्यों के गिर जाने के कारण विनिमय में कमजोरी आने की प्रवृत्ति थी, जिसके लिए अंशतः भारत की अनिश्चित राजनीतिक और सामाजिक दशा तथा १ शि० ४ पें० की दर की पुनःस्थापना की परिकल्पना के कारण पूँजी स्थानान्तरित करने की प्रवृत्ति भी उत्तरदायी थी। घरेलू व्ययों को पूरा करने के लिए राज्य-सचिव को विप्रेषण (रेमिटेन्स) करने में कठिनाई पैदा हो गई और यही पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोप में १९३१ से १ स्टर्लिंग प्रतिभूतियों के पूर्ण लोप का कारण बताती है, क्योंकि भारत में नोटों के संकुचन के अनुसार प्रतिभूतियों को भारत-सचिव को हस्तान्तरित करना पड़ता था। रुपया प्रतिभूति में १९३०-३१ में और कमी आ गई जो इन प्रतिभूतियों के साथ करेन्सी के संकुचन से स्पष्ट है। इसी वर्ष सुरक्षित कोप में सोने की मात्रा में कमी होने का प्रमुख कारण ८½ करोड़ रु० का सोना स्वर्ण प्रमाप सुरक्षित कोप की भारतीय शाखा को चुका देना था। नवम्बर, १९३० और फरवरी, १९३१ के बीच विनिमय सम्बन्धी परिकल्पना और राजनीतिक परिस्थितियों से प्रभावित जनता की माँग के प्रत्युत्तर में गृह कोप (होम ट्रेज़री) की सहायता तथा १ शि० ५$\frac{49}{64}$ पें० की परिगणित दर पर स्टर्लिंग की बिक्री को पूरा करने के लिए ६२ लाख पौं० की स्टर्लिंग प्रतिभूतियाँ पत्र-मुद्रा कोष के इंगलैण्ड-स्थित भाग से निकाल लेने के कारण ही उपर्युक्त राशि (८½ करोड़ रु०) भारतीय शाखा को दी गई थी। पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोप के निर्माण में अन्य उल्लेख्य परिवर्तन कोप में चाँदी के सिक्कों की वृद्धि थी, जिसके कारण नीचे दिये गए हैं।[3] इसमें और वृद्धि हुई होती, परन्तु हिल्टन यंग आयोग की सिफारिश के अनुसार विक्रय के लिए कुछ चाँदी निकाल लेने के कारण ऐसा नहीं हुआ।

---

१. १९३१-३२ के लिए केन्द्रीय बजट और अध्याय ९ का सेक्शन १७ भी देखिए।

१९२४-२५ से १९३४-३५ तक करेन्सी कण्ट्रोलर की रिपोर्ट देखिए। १९३५ के पत्र मुद्रा चलन सुरक्षा कोप की बनावट और स्थिति का अंक ११वें अध्याय में दिया गया है।

२. पत्र-मुद्रा के सम्बन्ध में हिल्टन यंग आयोग की सिफारिशों और द्वितीय महायुद्ध के प्रभावों के लिए अगला अध्याय देखिए। निर्गम कार्य रिज़र्व बैंक को सुपुर्द करने तथा नोटों के लिए सुरक्षित कोप रखने के लिए नये प्रबन्ध रिज़र्व बैंक ऑफ़ इण्डिया एक्ट (१९३४) के अन्तर्गत अध्याय ११ में दिये गए हैं।

३. देखिए सेक्शन ३५।

अतिरिक्त निर्गम से कोई सम्बन्ध न था, क्योंकि धात्विक कोष निश्चित करने के लिए इस निर्गम पर विचार नहीं किया जाता था।

(घ) राज-सचिव लन्दन में ५० लाख पौण्ड के स्वर्णपिण्ड से अधिक नहीं रख सकता था।

(२) अस्थायी विधान—

१५ रु०=१ सावरेन के स्थान पर १० रु०=१ सावरेन की दर से सोने और प्रतिभूतियों का पुन: मूल्यांकन करने के हेतु उत्पन्न कठिनाई के कारण, स्थायी विधान होने तक अस्थायी विधान बनाना आवश्यक समझा गया। १० रु० की दर से पुन: मूल्यांकन करने पर सुरक्षित कोष का धात्विक भाग ५०% से कम हो जाता, अतएव कुछ समय के लिए विनियोजित पूँजी ८५ करोड़ रुपया निश्चित कर देने की व्यवस्था की गई।[1] दूसरी कठिनाई सोना और प्रतिभूतियों को पहली दर की $\frac{2}{3}$ पर पुन:मूल्यन करने से उत्पन्न अन्तर को पूरा करने के सम्बन्ध में थी। इस कठिनाई को हल करने के लिए सरकार को अधिकार दिया गया कि वह रुपये वाली प्रतिभूतियाँ (जिन्हें तदर्थ प्रतिभूतियाँ कहा जाता था) उत्पन्न करे और उन्हें पत्र मुद्रा सुरक्षित कोष को निर्गमित करे। चूँकि ये प्रतिभूतियाँ रुपये वाली प्रतिभूतियों की कानूनी सीमा पार कर जायँगी, इसलिए यह प्रस्तावित किया गया कि इस सीमा से आगे बढ़ी हुई प्रतिभूतियाँ धीरे-धीरे स्टर्लिंग प्रतिभूतियों में परिवर्तित कर दी जायँ। चूँकि यथेष्ट स्टर्लिंग प्रतिभूतियों को खरीदने के लिए कोष नहीं था, अतएव १२ करोड़ रु० की अनुज्ञेय सीमा से अधिक उत्पन्न की गई रुपये वाली प्रतिभूतियों को कम करने के लिए यह व्यवस्था की गई कि पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष का व्याज, नये रुपयों के टंकन का लाभ, तथा ४०० लाख पौण्ड से अधिक होने पर (३० सितम्बर, १९२१ को यह अधिक हो गया था) अस्थायी निर्गम की सुरक्षा के लिए कण्ट्रोलर ऑफ़ करेन्सी के पास जमा व्यापारिक हुण्डियों के व्याज का लाभ पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष में जमा कर दिया जाय। कानून के स्थायी विधान इस प्रकार प्रयोग में आ जायँगे। असन्तोपजनक आर्थिक अवस्था के कारण बाद के कानूनों ने आय के इन साधनों को आगम (आय) की ओर उन्मुख कर दिया। १९२१-२२ ही एक अपवादी था, जबकि स्वर्ण प्रमाप सुरक्षित कोप का आधिक्य तदर्थ प्रतिभूतियों को समाप्त करने के लिए प्रयोग किया गया।

१९२७ के इण्डियन पेपर करेन्सी एक्ट के अनुसार १ अप्रैल, १९२७ से पत्र

जायगा जब दर ८% प्रतिशत हो। सितम्बर, १९२४ में यह विधि दुहराई गई और निम्नलिखित नियम जारी किये गये—

(१) जब तक बैंक दर ६% न हो जाय, तब तक कोई ऋण नहीं दिया जायगा।

(२) दी हुई, अप्राप्त राशि पर किसी भी समय पहले ४ करोड़ रुपये पर कम-से-कम ६% बैंक दर का ब्याज लिया जायगा तथा शेष ८ करोड़ रुपये पर ७% की दर से ब्याज लिया जायगा।

१. द्रव्य सम्बन्धी कठिनाई दूर करने के लिए फरवरी, १९२५ के संशोधन कानून द्वारा यह सीमा १०० करोड़ कर दी गई। इस कानून के अनुसार भारत सरकार द्वारा उत्पन्न की हुई प्रतिभूतियों की मात्रा ५० करोड़ रु० से अधिक नहीं होनी चाहिए।

मुद्रा सुरक्षित कोप की प्रतिभूतियाँ, जिनका मूल्यन १९२० में १० रुपया प्रति सावरेन की दर पर हुआ था, अब इनका मूल्यन १३ रु० १ आ० ३ पा० की दर से किया गया। इसके परिणामस्वरूप सोना और स्टर्लिंग में ३० लाख रुपये की वृद्धि हो गई, जिसे इतनी ही मात्रा के भारतीय ट्रेजरी बिल रद्द करके बराबर कर दिया गया। इस के फलस्वरूप ट्रेज़री बिल ४९७७ लाख रुपये से घटकर ४०४७ लाख रुपये रह गए।[1]

३४. ३१ मार्च १९२५ और १९३५ के बीच पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष की बनावट और स्थिति[2]—१९२५ और १९३५ के बीच पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष के परिवर्तनों को निम्न तालिका प्रकट करेगी। १९२९-३० और १९३०-३१ के वर्षों में नोटों के प्रचलन में बहुत कमी आ गई, जिसका कारण वस्तुओं के गिरते हुए मूल्य के साथ मुद्रा संकुचन का होना था। मूल्यों में सामान्य कमी १९२९-३० के अन्तिम भाग से प्रारम्भ हुई। दूसरा कारण निर्यात व्यापार में मूल्यों के गिर जाने के कारण विनिमय में कमजोरी आने की प्रवृत्ति थी, जिसके लिए अंशतः भारत की अनिश्चित राजनीतिक और सामाजिक दशा तथा १ शि० ४ पैं० की दर की पुनःस्थापना की परिकल्पना के कारण पूँजी स्थानान्तरित करने की प्रवृत्ति भी उत्तरदायी थी। घरेलू व्ययों को पूरा करने के लिए राज्य-सचिव को विप्रेषण (रेमिटेन्स) करने में कठिनाई पैदा हो गई और यही पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोप में १९३१ से १ स्टर्लिंग प्रतिभूतियों के पूर्ण लोप का कारण बताती है, क्योंकि भारत में नोटों के संकुचन के अनुसार प्रतिभूतियों को भारत-सचिव को हस्तान्तरित करना पड़ता था। रुपया प्रतिभूति में १९३०-३१ में और कमी आ गई जो इन प्रतिभूतियों के साथ करेन्सी के संकुचन से स्पष्ट है। इसी वर्ष सुरक्षित कोप में सोने की मात्रा में कमी होने का प्रमुख कारण ८½ करोड़ रु० का सोना स्वर्ण प्रमाप सुरक्षित कोष की भारतीय शाखा को चुका देना था। नवम्बर, १९३० और फरवरी, १९३१ के बीच विनिमय सम्बन्धी परिकल्पना और राजनीतिक परिस्थितियों से प्रभावित जनता की माँग के प्रत्युत्तर में गृह कोप (होम ट्रेज़री) की सहायता तथा १ शि० ५$\frac{49}{64}$ पैं० की परिगणित दर पर स्टर्लिंग की बिक्री को पूरा करने के लिए ६२ लाख पौं० की स्टर्लिंग प्रतिभूतियाँ पत्र-मुद्रा कोप के इंगलैण्ड-स्थित भाग से निकाल लेने के कारण ही उपर्युक्त राशि (८½ करोड़ रु०) भारतीय शाखा को दी गई थी। पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोप के निर्माण में अन्य उल्लेख्य परिवर्तन कोप में चाँदी के सिक्कों की वृद्धि थी, जिसके कारण नीचे दिये गए हैं।[3] इसमें और वृद्धि हुई होती, परन्तु हिल्टन यंग आयोग की सिफारिश के अनुसार विक्रय के लिए कुछ चाँदी निकाल लेने के कारण ऐसा नहीं हुआ।

---

१. १९३१-३२ के लिए केन्द्रीय बजट और अध्याय ९ का सेक्शन १७ भी देखिए।

१९२४-२५ से १९३४-३५ तक करेन्सी कण्ट्रोलर की रिपोर्ट देखिए। १९३५ के पत्र मुद्रा चलन सुरक्षा कोप की बनावट और स्थिति का अंक ११वें अध्याय में दिया गया है।

२. पत्र-मुद्रा के सम्बन्ध में हिल्टन यंग आयोग की सिफारिशों और द्वितीय महायुद्ध के प्रभावों के लिए अगला अध्याय देखिए। निर्गम कार्य रिज़र्व बैंक को सुपुर्द करने तथा नोटों के लिए सुरक्षित कोप रखने के लिए नये प्रबन्ध रिजर्व बैंक ऑफ़ इण्डिया एक्ट (१९३४) के अन्तर्गत अध्याय ११ में दिये गए हैं।

३. देखिए सेक्शन ३५।

(करोड़ रुपयों में)

३१ मार्च	कुल प्रचलन	चाँदी का सिक्का (भारत में)	स्वर्ण मुद्रा और स्वर्ण पिण्ड (भारत में)	टकन प्रणाली के अन्दर रजत पिण्ड	प्रतिभूतियाँ		अन्तर्देशीय हुण्डियाँ	कुल सुरक्षित कोष में प्रतिभूतियों का प्रतिशत
					भारत में रुपया	इंगलैंड में स्टर्लिङ्ग		
१९२५	१८४ १	७०·२	२२·३	६·७	५७·१	२०·१	८·०	४०·८
१९२६	१९३·३	७७·२	२२·३	७·६	५७·१	२९·०	—	४४·६
१९२७	१८४·१	९५·९	२२·३	८·५	४९·७	५·५	२·०	३१·१
१९२८	१८४·८	९८·७	२९·७	७·६	३७·९	३·७	७·०	२६·४
१९२९	१८८·०	९४·९	३२·२	४·९	४३·२	१०·६	२·०	२८·७
१९३०	१७७·२	१०८·१	३२·२	२·८	३३·८	०·१	—	१९·१
१९३१	१६०·८	११७·८	२५·८	६·९	१०·२	—	—	६·३
१९३२	१७८ १	१०२·०	५·२	९·२	५७·९	—	३·८	३२·४
१९३३	१७६·९	९६·३	२६·०	१५·५	३९·१	—	—	२२·१
१९३४	१७७·२	८६·५	४१·५	११·५	२९·५	८·२	—	२१·२
१९३५	१८६·१	७७·२	४१·६	१३·१	३५·९	१८·३	—	२९·१

मार्च, १९२७ से १९३५ तक भारत सरकार ने २२८,१८२,२५५ औंस शुद्ध चाँदी बेची। इस विक्रय से प्राप्त राशि का विनियोग स्टर्लिंग प्रतिभूतियों में किया गया जो स्वर्ण प्रमाप सुरक्षित कोप को स्थानान्तरित कर दी गई, परन्तु इसके विरुद्ध इस कोप से सोना पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष को स्थानान्तरित कर दिया जाता था जिसमें समान मूल्य की रुपया प्रतिभूति रद्द कर दी जाती थी। स्टर्लिंग की चालू आवश्यकताओं से अधिक खरीद के अतिरिक्त (सरप्लस) का प्रयोग भी इसी प्रकार किया गया। इन कारणों के फलस्वरूप पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोप[1] का स्वर्ण भाग बढ़ गया, परन्तु चाँदी और चाँदी के सिक्के कम हो गए। १९३३-३४ और बाद के वर्षों में गृह कोप (होम ट्रेजरी) के अतिरिक्त धन और चाँदी के विक्रय के लाभ का प्रयोग स्टर्लिंग प्रतिभूतियों के क्रय में किया गया और इस प्रकार पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष की स्टर्लिंग सम्पत्ति बढाई गई। सरकारी करेन्सी कार्यों को रिजर्व बैंक को हस्तान्तरित करते समय पत्र-मुद्रा कोप की यह स्थिति स्वागत योग्य थी।[2]

भारत से निजी तौर पर सोने की बिक्री और निर्यात के बाद, जो सितम्बर, १९३१ के अन्त से प्रारम्भ हुई, नोट प्रचलन में प्रशंसनीय वृद्धि हुई। यह प्रचलन ३१ मार्च, १९३५ में १८६·१ करोड़ रुपया और ३१ दिसम्बर, १९३७ में २१४·७० करोड़ रुपया था। करेन्सी का यह विस्तार मूल्य ऊपर बढ़ने और धन जोड़ने के लिए सोने के स्थान पर करेन्सी के प्रयोग के लिए जनता की माँग बढ़ने के कारण था। २० सितम्बर, १९३१ को इंगलैण्ड के स्वर्ण प्रमाप त्यागने तथा रुपये का मूल्य १ शि०

---

१. रिज़र्व बैंक को हस्तान्तरित करते समय ३१ मार्च, १९३५ में भारत सरकार का स्वर्ण-भण्टार ४४·४२ करोड़ था, जिसमें से ४१·५५ करोड़ पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोप में था और २·८७ करोड़ रु० स्वर्ण प्रमा सुरक्षित कोष में था। यह रुपया परिनियत समता (दर) (१ रु०=८·४७ ग्रेन सोना) पर मूल्यित था। उनका वास्तविक बाजार मूल्य लगभग ७३ करोड़ रुपया था।

२. देखिए अध्याय ११, करेन्सी कण्ट्रोलर की रिपोर्ट (१९३३-३४), पैरा ३९ और (१९३४-३५) पैरा ३१।

६ पैं० निश्चित करने के फलस्वरूप रुपयों में सोने का मूल्य बढ़ जाने से ३१ दिसम्बर १९३७ तक ३०८ करोड़ रुपया बाहर भेजा गया।[१]

३५. नोट प्रचलन और करेन्सी की खपत—इस भाग में २ मुख्य प्रश्नों का विवेचन प्रस्तावित है—

(१) कुल और सक्रिय नोट प्रचलन—जब हम पत्र मुद्रा के प्रचलन की बात करते हैं तो हमें जानना चाहिए कि हम कुल प्रचलन की बात कर रहे हैं अथवा सक्रिय प्रचलन की।

(क) कुल प्रचलन का अर्थ जारी किये गए नोटों के कुल मूल्य से है जिनका भुगतान नहीं हुआ है। (ख) १ अप्रैल, १९३५ से जब नोट चलाने का कार्य रिज़र्व बैंक ने ले लिया, सक्रिय प्रचलन का अर्थ बैंकिंग विभाग में रखे हुए नोटों को छोड़कर जारी किये गए शेष नोटों की संख्या से है।

१९०४-५ और १९३९-४० के बीच पत्र-मुद्रा के कुल और सक्रिय प्रचलन की औसत वृद्धि को निम्न तालिका प्रकट करती है—

तालिका १

(करोड़ रुपयों में)

वर्ष	कुल	सक्रिय	वर्ष	कुल	सक्रिय
१९०४-५	३९·२	२८·१	१९२९-३०	१८३·१	१६३·०
१९०९-१०	४९·६	३७·२	१९३१-३२	१९३·६	१५२·६
१९१३-१४	६५·५	४६·६	१९३३-३४	१७८·१	१५७·४
१९१४-१५	६४·०	४५·४	१९३५-३६	१९२·२	१६३·०
१९१७-१८	१०१·७	७१·८	१९३६-३७	२०२·०	१७६·०
१९१९-२०	१७१·६	१५१·१	१९३७-३८	२११·८	१८६·१
१९२३-२४	१७९·०	१५६·९	१९३८-३९	२१०·६	१८२·३
१९२७-२८	१८०·१	१६२·६	१९३९-४०	२२७·७	२०८·९

हाल के वर्षों में सक्रिय नोट प्रचलन की वृद्धि से देश में नोटों का अधिक प्रयोग और पुनरुत्थान प्रकट होता है। युद्धजनित दशाओं के परिणामस्वरूप १९३९-४० में हुई वृद्धि को दूसरे अध्याय में समझाया गया है।

(२) करेन्सी के विभिन्न रूपों की खपत—नोट और रुपयों की औसत खपत को निम्न तालिका[२] दिखा रही है—

१. अधिक स्पष्टीकरण के लिए अगला अध्याय देखिए और नोट प्रचलन के आँकड़ों के लिए ११वाँ अध्याय देखिए।

२. सावरेन और अर्ध-सावरेन को तालिका में नहीं दिखाया गया है। अप्रैल, १९२७ से वे कानूनी मुद्रा नहीं रहीं और १९१४ से उन्होंने करेन्सी का काम हो किया। १ अप्रैल, १९३५ से करेन्सी के प्रबन्ध का कार्य रिज़र्व बैंक ने लिया है, तब से करेन्सी की खपत या वापसी के अंक निम्नलिखित ढंग से मालूम किये जाते हैं। करेन्सी की खपत निर्गम विभाग (इश्यू डिपार्टमेंट) में दिखाये गए

तालिका २
(लाख रुपयों में)

	रुपया	नोट	योग
पांच वर्ष का औसत १९०९-१० से १९१३-१४	८७७	३०१	११७८
,, ,, ,, १९१४-१५ से १९१८-१९	२२०८	१६७२	३८४०
१९१९-२०	२००१	२०२०	४०२१
१९२०-२१	—२५६८	—५९०	—३१५८
१९२३-२४	७६२	७९६	१५५८
१९२५-२६	—८११	११६	—६९५
१९२६-२७	—१९७६	—३४०	—२३१६
१९२७-२८	—३७१	१०२२	६५१
१९२८-२९	—३०३	३६६	६३
१९२९-३०	—२१७१	—१८८०	—४०५१
१९३०-३१	—२१५८	—११३७	—३२९५
१९३१-३२	३९३	१७२४	२११७
१९३२-३३	—७५६	—१४८३	—२२३९
१९३३-३४	—३०	१३५४	१३२४
१९३४-३५	—३२१	—३२	—३५३
१९३५-३६	—९४६	१८२	—७६४
१९३६-३७	—२४९	२५५३	२३०४
१९३७-३८	—६५२	—८२३	—१४७५
१९३८-३९	—१२६०	२९८	—९६२
१९३९-४०	१००८	४९४५	५९५३
२१ वर्ष का औसत १९१९-२० से १९३९-४०	—५७४	५००	—७४

१९१४-१८ के युद्ध के पूर्व, मध्य और बाद मे मुद्रा चलन के शोषण और नोट तथा रुपये की अपेक्षाकृत लोकप्रियता में आश्चर्यजनक परिवर्तनो को यह तालिका दिखाती है। नोट और रुपया के रूप में बडे पैमाने पर युद्धकालीन मुद्रा चलन का प्रसार भली प्रकार जाँचे गए साधनो के कारण चित्रो द्वारा स्पष्ट हो रहा है। १९२०-२१ में मुद्रा चलन का विस्तृत सकुचन प्रतिकूल व्यापारिक सन्तुलन और हुण्डियों के विक्रय के प्रभाव का प्रतिनिधित्व करता है। १९१४-१८ के बाद के २० वर्षों में बिना अपवाद के एक ओर खजानो से चाँदी के रुपये के लाभ का काल था और दूसरी ओर नोटो द्वारा रुपयो का पक्षपातपूर्ण स्थान-परिवर्तन था। यह तालिका युद्ध पूर्व, युद्ध-काल तथा युद्धोत्तर-काल मे सिक्को और पत्र-मुद्रा की सापेक्षिक खपत और लोकप्रियता के विशेष परिवर्तन को स्पष्ट करती है। इन आंकड़ो से रुपये और नोटो का युद्धकालीन विस्तार भली भाँति प्रकट हो जाता है। १९२०-२१

नोटों के कुल योग का परिवर्तन है। इस प्रकार नोट प्रचलन में सरकारी खजानों में रखे हुए नोट और जनता में प्रचलित नोट दोनों ही शामिल है। रुपयों की खपत अथवा वापसी का अर्थ क्रमशः बैंक के निर्गम विभाग में रखे हुए रुपयों और सिक्कों की कमी अथवा वृद्धि है। रिजर्व बैंक के उद्घाटन के पहले करेन्सी की खपत मालूम करने की विधि के लिए करेन्सी कण्ट्रोलर की पुरानी वार्षिक रिपोर्ट देखिए—रिपोर्ट आन करेन्सी एण्ड फाइनेन्स १९३५-३६, पैरा ४७ और १९३९-४०, पैरा ५० (रिज़र्व बैंक ऑफ इण्डिया द्वारा प्रकाशित)।

में मुद्रा का संकुचन प्रतिकूल व्यापारिक संतुलन और रिवर्स कौंसिल की बिक्री प्रदर्शित करता है। १९१४-१८ के बाद २० वर्ष तक का समय चाँदी के रुपयों की वापसी तथा अंशतः सिक्कों का नोट से प्रतिस्थापन का युग था, यद्यपि कुछ थोड़े-बहुत अपवाद भी थे। रुपयों की वापसी का एक कारण यह था कि लोग धन जोड़ने के लिए उसके स्थान पर सोने का प्रयोग करने लगे, क्योंकि २१ सितम्बर, १९३१ को भारत के स्वर्ण प्रमाप छोड़ने से पहले सोने का मूल्य १९१४-१८ के स्तर से भी नीचा हो गया था (दूसरा अध्याय देखिए)। नोटों की बढ़ती हुई लोकप्रियता, बैंकिंग सुविधाओं के विस्तार और वाहक-चेक की स्वतन्त्रतापूर्वक स्वीकृति ने रुपये की माँग को कम कर दिया। जूट, रुई जैसी प्रमुख व्यापारिक वस्तुओं के मूल्यों की मन्दी और १९२९-३३ का सामान्य व्यापारिक अवसाद रुपयों और नोटों के कम उपभोग के लिए उत्तरदायी है। सरकार की करेन्सी नीति की इस आधार पर आलोचना की जाती थी कि करेन्सी में अनावश्यक रूप से कमी की गई है (जैसे १९२९-३०, १९३०-३१ में), जिससे मूल्यों में कमी आ गई तथा व्यापार के लिए असुविधाएँ उत्पन्न हो गईं। सर जार्ज शुस्टर का कहना था कि करेन्सी का संकुचन विश्व मूल्यों में कमी आने का फल था तथा अत्यधिक संकुचन नहीं किया गया था।[1] मूल्यों की वृद्धि और अंशतः आर्थिक पुनरुत्थान के कारण नोटों की खपत बढ़ गई, परन्तु चाँदी के सिक्के की वापसी के कारण यह अंशतः समाप्त हो गई। बेचे गए, बाहर भेजे गए तथा जोड़े गए सोने के स्थान पर नोट की सार्वजनिक माँग का संकेत हम ऊपर कर चुके हैं। १९३६-३७ में करेन्सी की कुल खपत की मात्रा २३·०४ करोड़ रु० थी। आर्थिक मन्दी के परिणामस्वरूप १९३७-३८ में १४·७५ करोड़ रु० और १९३८-३९ में ९·६२ करोड़ रु० की वापसी हुई। १९३९-४० में करेन्सी की खपत की मात्रा ५९·५३ करोड़ रु० थी। खपत में १०·०८ करोड़ रु० और ४९·४५ करोड़ के नोटों की वृद्धि हुई। १९१८-१९ को छोड़कर, जबकि सितम्बर, १९३९ में युद्ध छिड़ने के उपरान्त मूल्यों की वृद्धि और व्यापारिक तेजी के कारण खपत ९४·२० करोड़ रुपये हो गई थी, अन्य किसी वर्ष करेन्सी की इतनी खपत नहीं हुई। यह भारत में व्यापारिक क्रियाओं की वृद्धि और १९३९ के युद्ध के बाद मूल्य की वृद्धि को चिह्नित करती है। १९१९-२० के बाद किसी भी वर्ष करेन्सी की खपत १९३९-४० से अधिक नहीं हुई। किसी हद तक यह व्यापारिक तेज़ी और अच्छी फसलों के कारण भी थी, परन्तु अंशतः युद्ध-जनित परिस्थितियों के कारण धातु और सिक्कों को जोड़ने की प्रवृत्ति भी इसका कारण थी। युद्धजनित तनाव बढ़ने के साथ यह प्रवृत्ति भी बढ़ती गई। तब जुलाई, १९४० में भारत सरकार को एक रुपया के प्रचलन द्वारा इसे रोकना पड़ा (अगला अध्याय देखिए)। १४ फरवरी, १९४७ को जारी किये गए कुल नोटों की मात्रा १२५७· करोड़ रुपये से कुछ अधिक थी।

---

१. केन्द्रीय बजट १९३१-३२, पृष्ठ २८-२९; अध्याय ९ का सेक्शन १७ भी देखिए।

निम्न तालिका १९४०-४१ से १९४६-४७ तक के करेन्सी खपत के आँकड़े प्रस्तुत करती है—

तालिका ३ [1]

	रुपया, जुलाई १९४० से एक रुपये के नोट को सम्मिलित करते हुए	नोट	कुल योग
१९४०-४१	३३·२३	१९·११	५२·३४
१९४१-४२	७·१८	१५२·४०	१५९·५८
१९४२-४३[2]	४४·९३	२६१·८५	३०६·७८
१९४३-४४[2]	२५·६०	२३८·९१	२६४·५१
१९४४-४५[2]	१०·०५	२०२·३९	२१२·४४
१९४५-४६[2]	१८·३५	१३३·८९	१५२·२४
१९४६-४७[2]	१·९४	२३·२६	२५·२०

युद्ध चलाने के हेतु सामान की भारी खरीद के लिए अपनाई गई विशेष विधि के फलस्वरूप इंगलैण्ड-स्थित करेन्सी कोष में स्टर्लिंग प्रतिभूतियों की अत्यधिक वृद्धि हुई, जिससे देश के नोट प्रचलन में बहुत वृद्धि हो गई, जैसा कि १९४०-४१ से १९४४-४५ तक के आँकड़ों से प्रकट है।[3] १९४५ में युद्ध समाप्त होने के साथ करेन्सी की वृद्धि की गति शिथिल होती गई।

प्रत्येक महीने में करेन्सी की खपत का अध्ययन इस तथ्य को प्रकट करता है कि करेन्सी की खपत सामान्यत: नवम्बर से जून तक कारोबार के महीनों में और जुलाई से अक्टूबर तक के मन्दे महीनों में करेन्सी कार्यालयों और खजानों को वापस लौट आती है।[4]

---

१. १९४६-४७ की 'रिपोर्ट आन करेन्सी एण्ड फाइनेन्स' में XLII कथन देखिए।

२. केवल भारतवर्ष।

३. देखिए अध्याय १२, स्टर्लिंग सन्तुलन का सेक्शन।

४. अध्याय ११ भी देखिए।

अध्याय ६

चलार्थ और विनिमय (भाग २)

कार्यरत हिल्टन यंग कमीशन

१. स्वर्ण विनिमय प्रमाप के दोष—४ जुलाई, १९२६ को हिल्टन यंग आयोग की रिपोर्ट प्रकाशित हुई। भारत के लिए द्रव्य प्रमाप सम्बन्धी अपनी योजना के प्रतिपादन के पूर्व ही आयोग ने पद्धति की निम्नलिखित विद्यमान बुराइयों की ओर संकेत किया।[1]

(१) यह पद्धति सरल और ग्राह्य नहीं थी।[2] करेन्सी में दो संकेत मुद्राएँ—रुपया और नोट—तथा पूर्ण मूल्य की सावरेन नामक एक तीसरी मुद्रा थी, जिसका लेशमात्र प्रचलन नहीं था। संकेत मुद्रा का एक रूप, अर्थात् रुपया, जिसमें दूसरी संकेत मुद्रा अर्थात् नोटों को परिवर्तित करने का असीमित दायित्व था, बहुत ही व्ययशील था और चाँदी का मूल्य एक निश्चित स्तर से ऊपर हो जाने पर जब यह संकेत मुद्रा नहीं रह जाता, तो इसके लुप्त होने की सम्भावना थी।

(२) सुरक्षा स्वर्ण प्रमाप तथा पत्र-मुद्रा और बैंकिंग सुरक्षित कोष के रूप में दोहरे सुरक्षित कोष थे। करेन्सी और साख नीति के नियन्त्रण के लिए उत्तरदायित्व का पुराना और भयानक विभाजन था। जबकि अन्य देशों में यह दायित्व किसी एक केन्द्रीय बैंक पर होता है, भारत में करेन्सी का नियन्त्रण सरकार के हाथ में था और साख का नियंत्रण केवल इम्पीरियल बैंक द्वारा किया जाता था।

(३) इस पद्धति में करेन्सी का स्वाभाविक प्रसार और संकुचन सम्भव नहीं था। इस प्रकार का प्रसार या संकुचन पूर्ण रूप से करेन्सी-अधिकारी अर्थात् सरकार की इच्छा पर निर्भर था। सुरक्षित कोष के रिक्त होने के साथ-साथ इस पद्धति में

---

१. देखिए हिल्टन यंग कमीशन की रिपोर्ट, पैरा २१।

२. रुपये के स्थायित्व का आधार केवल अग्राह्य ही नहीं था, बल्कि इसमें अन्य दोष भी थे। मुद्रा चलन के नियन्त्रक श्री डेनिंग लिखते हैं कि "पद्धति ने रुपए के स्वाभाविक स्थायित्व के लिये कोई अवसर नहीं दिया। सावरेन के बदले में रुपये देने के दायित्व के कारण सरकार द्वारा १ शि० ४$\frac{1}{16}$ पैं० पर काउन्सिल बिलों की माँग पूरी न करने पर भी विनिमय दर ऊपरी स्वर्ण विन्दु से ऊपर नहीं उठ सकती थी। परन्तु निम्न स्वर्ण विन्दु के नीचे विनिमय दर की गिरावट के प्रति कोई कानूनी सुरक्षा नहीं थी। व्यवहार में विनिमय की इस प्रकार की गिरावट को रिवर्स काउन्सिलों की बिक्री से रोका गया, परन्तु सरकार ऐसे कार्य के लिए कानूनन बाध्य नहीं थी। देखिए, हिल्टन यंग कमीशन रिपोर्ट, खंड २, परिशिष्ट।

स्वभावतः आन्तरिक करेन्सी का संकुचन नही होता था।[1]

इस प्रकार करेन्सी प्रसार के सम्बन्ध में अनेक अवसरों पर सरकार ने मुद्रा-प्रसार के बिना ही स्टर्लिंग खरीदने के दायित्व को पूरा किया—पहले-पहल सरकारी कोष से क्रय किया गया और मुद्रा प्रसार सरकार के विवेक पर छोड़ दिया गया।

(४) अन्ततः इस पद्धति में लचक नहीं थी। स्मिथ समिति की सिफारिश पर की गई लचक की व्यवस्था को भारतीय व्यापार के अर्थ-प्रबन्धन के विभिन्न ढंगों द्वारा कार्यान्वित किया गया। ये ढंग नकद साख अथवा अभियाचन प्रतिज्ञा अर्थपत्र (डिमाण्ड प्रोमेसरी नोट्स) के आधार पर अग्रिम देने पर आधारित थे इसलिए करेन्सी की सामयिक वृद्धि की सुरक्षा के रूप में देश के अन्दर व्यापारिक हुण्डियों की कमी हो गई और सितम्बर, १९२४ में सरकार ने घोषित किया कि आवश्यकतानुसार वे लन्दन-स्थित पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष में जमा ट्रेजरी बिल के आधार पर करेन्सी जारी करने के अधिकार का प्रयोग करेंगे।

अन्य आलोचनाएँ, जो हिल्टन यंग आयोग की रिपोर्ट द्वारा प्रमुख रूप से स्पष्ट नहीं हुईं, परन्तु करेन्सी समस्या के विवाद से परिचित व्यक्तियों को पर्याप्त रूप से विदित थीं, यहाँ सरलतापूर्वक एक साथ बताई जा सकती हैं।

२. सुरक्षित कोष और शेष (बैलेन्सेज़)—हम देख चुके हैं कि किस प्रकार एक विशेष उद्देश्य के लिए निर्मित सुरक्षित कोष और शेष अन्य कार्यों के लिए विवेकहीनता से प्रयुक्त होते थे। सुरक्षित कोष और शेष का उपयोग किसी उचित नीति से नियंत्रित नही होता था, जिसके फलस्वरूप उन्हें कभी एक-दूसरे से अलग समझा जाता था और कभी दोनों को मिला दिया जाता था, जिससे काफी गड़बड़ पैदा होती थी।

जहाँ तक स्वर्ण प्रमाप सुरक्षित कोष की रचना (बनावट) का सम्बन्ध है, स्थिति असन्तोषजनक थी। प्रधानतया इसे दीर्घकालीन प्रतिभूतियों में लगाया जाता था और इसका बहुत थोड़ा भाग द्रव्य रूप में रखा जाता था। चेम्बरलेन आयोग[2] ने सिफारिश की कि इसके अधिकांश भाग को तरल रूप और सरलतापूर्वक वसूल होने वाली प्रतिभूतियों में रखना चाहिए तथा स्वर्ण प्रमाप सुरक्षित कोष की रजत शाखा का उन्मूलन कर देना चाहिए। अन्तिम प्रस्ताव को सरकार ने स्वीकार कर लिया, परन्तु शेष सिफारिशें १९१४ का युद्ध प्रारम्भ हो जाने के कारण कार्यान्वित न हो सकी। उस युद्ध के समय लगभग सारा कोष लन्दन में प्रतिभूतियों के रूप में रखा था और ब्रिटिश युद्ध बॉण्ड और ट्रेजरी बिल खरीदे गए। अल्पकालीन प्रतिभूतियों में धन लगाकर सरलता से वसूल होने वाली प्रतिभूतियों के सम्बन्ध में की गई सिफारिश पूरी की गई।

१. जैसा श्री टेनिंग ने आयोग को भेजे गए स्मृति-पत्र (मेमोरेण्डम) में कहा था कि स्वाभाविक संकुचन की व्यवस्था विशेष रूप से दोषपूर्ण थी। बेचे गए रिवर्स काउन्सिल का स्टर्लिंग मूल्य पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष की स्टर्लिंग प्रतिभूतियों से वसूल करने पर करेन्सी में संकुचन हो सकता था, परन्तु करेन्सी की मात्रा को प्रभावित किये बिना ही रिवर्स काउन्सिलों के लिए स्टर्लिंग का भुगतान स्वर्ण प्रमाप सुरक्षित कोष से उधार लेकर किया जा सकता था। देखिए, करेन्सी आयोग, खंड २, परिशिष्ट।

२. देखिए अध्याय ८, सेक्शन १८।

समिति ने सिफारिश की थी कि सुरक्षित कोष के पर्याप्त भाग को सोने में रखना वांच्छनीय था। उन्होंने यह भी सिफारिश की थी कि ये प्रतिभूतियाँ भारत सरकार के अतिरिक्त ब्रिटिश साम्राज्य की किसी अन्य सरकार द्वारा जारी की गई अल्पकालीन प्रतिभूतियों के रूप में होनी चाहिएँ।

पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष के मिलने से पहले और १ अप्रैल, १९३५[१] से रिज़र्व बैंक ऑफ़ इंडिया को हस्तान्तरित होने से पूर्व, स्वर्ण प्रमाप सुरक्षित कोष की स्थिति यह थी कि इसका अधिकांश भाग विभिन्न रूपों में अल्पकालीन पत्रों में लन्दन में रखा गया।

पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष का एक भाग लन्दन में रखा गया। चेम्बरलेन आयोग ने लन्दन में स्वर्ण प्रमाप सुरक्षित कोष की स्थिति को इस आधार पर उचित ठहराया कि लन्दन विश्व का निकास-गृह और ऋण-बाजार है। इसके अतिरिक्त भारत का प्रधान ग्राहक इंगलिस्तान (यूनाइटेड किंगडम) था और लन्दन वह प्रधान स्थान था जहाँ भारत की ओर से राज-सचिव के व्यय और इंगलैण्ड तथा विश्व के प्रति भारत की व्यापारिक देनदारियाँ चुकाने के लिए रुपये की आवश्यकता होती थी। यदि सुरक्षित कोष भारत में रखा जाता तो इसे लन्दन भेजना पड़ता जिससे अनावश्यक विलम्ब और व्यय होता। भारत में कोई अल्पकालीन साख बाजार नहीं था और सुरक्षित कोष का यहाँ रखना बेकार ही था, क्योंकि उस पर किसी प्रकार का ब्याज नहीं मिल सकता था। इसके अतिरिक्त कुछ यूरोपीय देशों की केन्द्रीय बैंकों द्वारा विदेशी हुण्डियाँ रखने की प्रथा ने लन्दन में सुरक्षित कोष रखने की भारतीय प्रथा के लिए एक उदाहरण प्रस्तुत किया।

सुरक्षित कोष की स्थिति सम्बन्धी यह पेचीदी व्यवस्था सम्भवत: व्यापार के प्रतिकूल सन्तुलन द्वारा उत्पन्न विनिमय की कठिनाइयों को ठीक रखने के लिए की गई थी। इस तथ्य को दृष्टि में रखने पर कि भारत के लिए प्रतिकूल व्यापारिक सन्तुलन एक असाधारण बात थी (जो हर दस वर्ष में होती थी) यह प्रतीत होगा कि कभी होने वाली इस घटना के लिए ऐसे विस्तृत और स्थायी प्रबन्ध आवश्यक न थे।

राज-सचिव अपने व्ययों के लिए आवश्यक धन लन्दन में सुरक्षित कोष रखे बिना ही प्राप्त कर सकता था। यह तो स्पष्ट ही है कि सुरक्षा कोष का प्रधान उद्देश्य इस सम्बन्ध में राज-सचिव को सुविधा प्रदान करना नहीं था।

भारत में अल्प-ऋण बाजार के अभाव के सम्बन्ध में यह सच नहीं था कि इस देश में अल्पकालीन पूँजी के विनियोग के लिए कोई स्थान नहीं था, जैसा कि १९१४-१८ के युद्धकालीन और युद्धोत्तर अनुभव ने सिद्ध भी कर दिया। परन्तु सुरक्षित कोष की स्थिति-निर्धारण में ब्याज को एक निर्णायक कारण नहीं माना जा सकता।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में व्यापारिक सन्तुलन प्रतिकूल होने पर अन्य देश विदेशी केन्द्रों में सुरक्षित कोष नहीं रखते हैं। उदाहरण के लिए, प्रतिवर्ष व्यापारिक

२. नीचे सेक्शन २४ और अध्याय ११ देखिए।

देनदारियों के भुगतान के लिए अन्य देशों द्वारा भारत में कोई सुरक्षित कोष नहीं रखा जाता था।

पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष के सम्बन्ध में यह एक नियम-विरुद्ध स्थिति थी कि जो सुरक्षित कोष देश में प्रचलित नोटों को परिवर्तनशीलता प्रदान करने के लिए था, उसे वहाँ रखने के बजाय ६००० मील दूर रखा गया। इससे नोटों के निर्गम में विश्वास भी कम हो गया। इस प्रथा को अपनाने के लिए दिये गए कारणों में एक कारण यह भी था कि लंदन चाँदी की खरीद के लिए सबसे सस्ता और सबसे अच्छा बाज़ार था, अतएव चाँदी खरीदने के लिए हाथ में अधिक धन रखना सुविधाजनक था। परन्तु प्रश्न तो यह था कि यदि इंगलैण्ड चाँदी का उत्पादक न होने पर भी चाँदी के लिए उत्तम बाज़ार हो सकता था, तो भारत में भी, यदि सरकार लगातार भारत में ही चाँदी की खरीद करती, ऐसे ही बाज़ार का विकास हो सकता था। इन दिशाओं में कोई प्रयास करने के बजाय, सरकार ने चाँदी के आयात पर कर लगाकर ऐसे बाज़ार के विकास को रोक दिया। अगर क्रय लंदन में ही किये जाते थे, तो कोष वहाँ रखने के बजाय आवश्यकता पड़ने पर भारत से हस्तान्तरित करने में ही कौनसी विशेष हानि थी? प्रचलित संदेह और असन्तोष को कम करने के लिए आवश्यक धन इंगलैण्ड भेजने की असुविधा और अतिरिक्त व्यय उचित ही थे। यह भी प्रकट ही है कि आवश्यकता पड़ने पर भारत से हस्तान्तरण न होने पर इंगलैण्ड में आवश्यक धन एकत्र करने का प्रबन्ध, उदाहरणार्थ बेंक ऑफ़ इंगलैण्ड की सहायता से, किया जा सकता था। अन्ततः चाँदी की खरीद के सम्बन्ध में बरती जाने वाली गोपनीयता ने स्वभावतः ही अनेक विरोधी आलोचनाओं को जन्म दिया।

२. विप्रेषित धनराशियों (रेमिटेन्सेज़) का प्रबन्ध—जैसा कि हम कह चुके हैं, राज-सचिव द्वारा कौंसिल ड्राफ्ट की बिक्री भारत से लंदन में कोष जमा करने का एक यन्त्र-मात्र थी। इस सम्बन्ध में यह शिकायत थी कि अत्यधिक धनराशि, विशेषकर १९०४ के बाद से, इस प्रकार अनावश्यक रूप से लंदन भेजी गई। इसका समर्थन इस आधार पर किया गया कि इससे राज-सचिव की आर्थिक स्थिति दृढ़ हो गई, परन्तु इस सम्बन्ध में किसी भी प्रकार का स्पष्टीकरण नहीं किया गया कि इस प्रकार की दृढ़ता की क्यों आवश्यकता थी? इसी प्रकार यह भी कहा गया कि राज-सचिव के लिए यह वाञ्छनीय है कि वह कौंसिल बिलों की अत्यन्त लाभपूर्ण दरों का, जब कभी वे प्राप्त हों, लाभ उठाए। यहाँ पुनः यह अनुमान निहित है कि धन की अपेक्षा का प्रश्न एक गौण प्रश्न है। प्रायः इस बात का भी दावा किया गया कि अपने व्यय की आवश्यकता से अधिक रुपया एकत्र करने से राज-सचिव ने ऋण से बचाव या उसमें कमी सम्भव कर दी। इस प्रकार अधिक धन लेने की प्रवृत्ति ने भारत में बचत की आय-व्यय की नीति को प्रोत्साहित किया। ऋणों से बचाव करने या उन्हें कम करने के स्थान पर भारत में कर कम करने की क्रिया का अनुसरण कहीं अधिक वांच्छनीय होता।[1] इसके अतिरिक्त यह भी देखा गया कि राज-सचिव का नकद शेष (बाकी)

१. देखिए, अध्याय १२।

अधिक होने पर भी लंदन में भारी ऋण लिये गए।

इस प्रकार राज-सचिव के हाथ में एकत्र अतिरिक्त रुपया लंदन में बहुत थोड़े व्याज पर 'स्वीकृत' ऋणकर्ताओं को उधार दिया जाता था। इन ऋणकर्ताओं की एक सूची राज-सचिव के पास रहती थी। सामान्य शिकायत यह थी कि इन ऋणों के सम्बन्ध में काफी पक्षपात दिखाया जाता था और ये शिकायतें इसलिए और गम्भीर हो गई क्योंकि राज-सचिव की कौंसिल की वित्त-समिति के सदस्य ही वे संचालक और व्यापारी थे जो ऋण देने के लिए व्यक्तियों का चुनाव करते थे।

लंदन में रुपये की आवश्यकता न होने पर भी कभी-कभी स्वर्ण आयात विन्दु से निम्न दर पर भी कौंसिल विलों की विक्री की प्रथा पर आपत्ति की गई।

राज-सचिव की आवश्यकता से ऊपर कौंसिल विलों की विक्री का समर्थन मुख्यतया इस आधार पर किया गया कि यह भारत के विदेशी व्यापार के लिए बहुत सहायक था। परन्तु व्यापार को इस सहायता की आवश्यकता ही नहीं थी। वास्तव में व्यापार के अर्थ-प्रवन्धन के लिए व्यापार को वैकल्पिक साधन ढूँढ़ने में कोई कठिनाई न थी और कौंसिल विलों की विक्री कम कर देने पर भी व्यापार को कोई कठिनाई नहीं हुई। अतः व्यापार की सहायतार्थ सरकार को अपना मार्ग छोड़ने के लिए कोई विशेष कारण तो नहीं था। उन्हें केवल इतना ही करने की आवश्यकता थी कि निर्यात के लिए स्वर्ण को स्वतन्त्रतापूर्वक प्राप्य बना देते।

कौंसिल विल प्रथा वास्तव में एक ऐसी युक्ति मालूम देती थी जिसका उद्देश्य भारत से स्वर्ण प्रवाह को भिन्न दिशा में मोड़ना तथा भारत के लिए स्वर्ण ढूँढ़ने की असुविधा से लंदन को बचाना था, यद्यपि लंदन यथासम्भव भारत के स्वर्ण को (प्रयोग के लिए) रखने का स्थान था।[1]

वैविंग्टन स्मिथ समिति को दिये गए अपने स्मृतिपत्र में, सर स्टैनली रीड ने भारतीय विनिमय पर राज-सचिव के नियन्त्रण के उन्मूलन की जोरदार सिफारिश की। उन्होंने कहा कि भारत की सरकार और राज-सचिव दोनों पर ही भारत की अधिकांश जनता सन्देह करती थी। राज-सचिव भारत के वड़े वित्तीय केन्द्रों से ६००० मील की दूरी पर वैठकर काम करते थे। वे अभारतीय हितों से आवृत और स्वभावतः उन्हीं के पोपक थे। वे गोपनीयता के साथ काम करते थे और भारत में उन उपायों के मूल आधारों की—भले ही वे उपाय कितनी ही वुद्धिमानी से भरे और आवश्यक क्यों न हों—कोई भी सूचना प्राप्त करना असम्भव था। ऐसे पूर्ण अधिकार, जो जनता से इतनी दूर गोपनीय ढंग से कार्यान्वित होते थे, की राजनीतिक हानियों की अतिरंजना नहीं की जा सकती।

भारतीय प्रथा के प्रति मुख्य आपत्ति उसके प्रवन्धित होने के सम्वन्ध में नहीं थी—क्योंकि सभ्य देशों में किसी-न-किसी रूप में प्रवन्ध तो आवश्यक ही होता है—वरन् उसके कुप्रवन्ध के सम्वन्ध में थी। प्रोफेसर निकल्सन के शब्दों में, "किसी देश की अधिकांश जनता का यह सोचना कि करेन्सी में कुछ दोप है उस देश के लिए वुरा है।

१. देखिए, इण्डियन करेन्सी एण्ड फाइनेन्स ('टाइम्स ऑफ इण्डिया' प्रैस, १९१३), पृ० ५७।

देनदारियों के भुगतान के लिए अन्य देशों द्वारा भारत में कोई सुरक्षित कोष नहीं रखा जाता था।

पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष के सम्बन्ध में यह एक नियम-विरुद्ध स्थिति थी कि जो सुरक्षित कोष देश में प्रचलित नोटों को परिवर्तनशीलता प्रदान करने के लिए था उसे वहाँ रखने के बजाय ६००० मील दूर रखा गया। इससे नोटों के निर्गम में विश्वास भी कम हो गया। इस प्रथा को अपनाने के लिए दिये गए कारणों में एक कारण यह भी था कि लंदन चाँदी की खरीद के लिए सबसे सस्ता और सबसे अच्छा बाज़ार था, अतएव चाँदी खरीदने के लिए हाथ में अधिक धन रखना सुविधाजनक था। परन्तु प्रश्न तो यह था कि यदि इंगलैण्ड चाँदी का उत्पादक न होने पर भी चाँदी के लिए उत्तम बाज़ार हो सकता था, तो भारत में भी, यदि सरकार लगातार भारत में ही चाँदी की खरीद करती, ऐसे ही बाज़ार का विकास हो सकता था। इन दिशाओं में कोई प्रयास करने के बजाय, सरकार ने चाँदी के आयात पर कर लगाकर ऐसे बाज़ार के विकास को रोक दिया। अगर क्रय लंदन में ही किये जाते थे, तो कोष वहाँ रखने के बजाय आवश्यकता पड़ने पर भारत से हस्तान्तरित करने में ही कौनसी विशेष हानि थी ? प्रचलित संदेह और असन्तोष को कम करने के लिए आवश्यक धन इंगलैण्ड भेजने की असुविधा और अतिरिक्त व्यय उचित ही थे। यह भी प्रकट ही है कि आवश्यकता पड़ने पर भारत से हस्तान्तरण न होने पर इंगलैण्ड में आवश्यक धन एकत्र करने का प्रबन्ध, उदाहरणार्थ बैंक ऑफ़ इंगलैण्ड की सहायता से, किया जा सकता था। अन्ततः चाँदी की खरीद के सम्बन्ध में बरती जाने वाली गोपनीयता ने स्वभावतः ही अनेक विरोधी आलोचनाओं को जन्म दिया।

२. विप्रेषित धनराशियों (रेमिटेन्सेज़) का प्रबन्ध—जैसा कि हम कह चुके हैं, राज-सचिव द्वारा कौंसिल ड्राफ्ट की बिक्री भारत से लंदन में कोष जमा करने का एक यन्त्र-मात्र थी। इस सम्बन्ध में यह शिकायत थी कि अत्यधिक धनराशि, विशेषकर १९०४ के बाद से, इस प्रकार अनावश्यक रूप से लंदन भेजी गई। इसका समर्थन इस आधार पर किया गया कि इससे राज-सचिव की आर्थिक स्थिति दृढ़ हो गई, परन्तु इस सम्बन्ध में किसी भी प्रकार का स्पष्टीकरण नहीं किया गया कि इस प्रकार की दृढ़ता की क्यों आवश्यकता थी ? इसी प्रकार यह भी कहा गया कि राज-सचिव के लिए यह वाञ्छनीय है कि वह कौंसिल बिलों की अत्यन्त लाभपूर्ण दरों का, जब कभी वे प्राप्त हों, लाभ उठाए। यहाँ पुनः यह अनुमान निहित है कि धन की अपेक्षा का प्रश्न एक गौण प्रश्न है। प्रायः इस बात का भी दावा किया गया कि अपने व्यय की आवश्यकता से अधिक रुपया एकत्र करने से राज-सचिव ने ऋण से बचाव या उसमें कमी सम्भव कर दी। इस प्रकार अधिक धन लेने की प्रवृत्ति ने भारत में बचत के आय-व्यय की नीति को प्रोत्साहित किया। ऋणों से बचाव करने या उन्हें कम करने के स्थान पर भारत में कर कम करने की क्रिया का अनुसरण कहीं अधिक वांच्छनीय होता।[1] इसके अतिरिक्त यह भी देखा गया कि राज-सचिव का नकद शेष (बाकी)

[1] देखिए, अध्याय १२।

६. आन्तरिक बनाम वाह्य स्थिरता—स्वर्ण विनिमय प्रमाप के प्रति न्याय करने के लिए हमें इसकी सफलता और असफलता दोनों पर ही ध्यान देना चाहिए। इसे श्रेय देने वाली एक सफलता यह है कि इसने देश को विनिमय स्थायित्व का दीर्घ काल प्रदान किया। सचमुच १९१४-१८ के युद्ध में यह बुरी तरह छिन्न-भिन्न हो गया, परन्तु उस समय विश्व में लगभग प्रत्येक देश की करेन्सी भी ऐसी ही हो गई थी। फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि रजत प्रमाप की तुलना में स्वर्ण विनिमय प्रमाप विदेशी विनिमय को अधिक स्थायित्व प्रदान करने में अवश्य सफल रहा। परन्तु समस्त आलोचक इतना भी स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे। उनका कहना था कि युद्धकाल को निकाल देने पर भी स्वर्ण विनिमय प्रमाप प्रस्तावित (स्थायित्व प्रदान करने की) कसौटी पर खरा नहीं उतरता। युद्ध से पहले केवल १९०७-८ के संकटकाल में ही इसकी परीक्षा हुई थी और उस समय इसे बाहरी सहायता से ही बनाये रखा जा सका। सरकार ने प्रमाप को बनाये रखने के लिए आवश्यकता पड़ने पर उधार लेने का आश्वासन दिया और सोने को रखने के लिए मजबूरन कर बढाया, अतएव यह केवल अनुकूल परिस्थितियों की प्रथा थी तथा प्रतिकूलता के चिह्न-मात्र उपस्थित होने पर इसके निष्प्राण होने का भय रहता था। अगर हम यह मान भी लें कि विनिमय स्थायित्व का दीर्घकाल इसकी एक सफलता थी तो इसके विरुद्ध इसी से उत्पन्न मूल्यों की अस्थिरता और वृद्धि को भी ध्यान में रखना होगा। इस सम्बन्ध में अधिकांश अर्थशास्त्रियों का मतैक्य है कि आन्तरिक मूल्यों का स्थायित्व विदेशी विनिमय के स्थायित्व से अधिक महत्त्वपूर्ण है।

पद्धति की इन त्रुटियों ने काफी अविश्वास उत्पन्न कर दिया, जो शासन-कार्यों पर अधिक विश्वास और करेन्सी अधिकारी के रूप में सरकार के कर्तव्यों के परिनियत नियमन के अभाव में और अधिक बढ़ गया। भूतकाल में वाह्य स्थायित्व बहुत हद तक प्राप्त किया गया था, परन्तु कमी तो निश्चितता और सरलता की थी जो करेन्सी प्रथा में विश्वास उत्पन्न करने तथा अशिक्षित जनता की आसंचयन और विनियोग सम्बन्धी अरुचि दूर करने के लिए अत्यन्त आवश्यक थी।

७. स्वर्ण पिण्ड प्रमाप—सुधार के अनेक प्रस्तावों की परीक्षा करने के अनन्तर आयोग इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि भारत की तत्कालीन परिस्थितियों में सच्चे स्वर्ण प्रमाप की आवश्यकता थी। उन्होंने यह भी कहा कि स्वर्ण को प्रचलन में लाये बिना भी सच्चा स्वर्ण प्रमाप सम्भव था। उन्होंने प्रस्तावित किया कि भारत में प्रचलन का साधारण माध्यम वर्तमान नोट और चाँदी का रुपया ही रहे और स्वर्ण में करेन्सी का स्थायित्व करेन्सी को प्रत्यक्ष रूप से सारे उद्देश्यों के लिए सोने में परिवर्तनीय बना देने से प्राप्त किया जाय, परन्तु सोने को करेन्सी के रूप में आदि से अन्त तक कभी नहीं चलना चाहिए। (पैरा ५४)

आयोग के अनुसार सोने के प्रचलन के विरोध का प्रधान कारण यह था कि प्रचलन में सोने की जितनी ही अधिक मात्रा लाई जायगी उतना ही स्वर्ण सुरक्षित कोष कम होता जायगा और उस पर आधारित साख व्यवस्था अधिक बेलोचदार हो

स्वर्ण विनिमय प्रमाप की निहित विशेषताएँ चाहे कुछ भी हों, परन्तु उसके कारण निश्चय ही भारतीय यह सोचने लगे थे कि देश की करेन्सी प्रथा बड़ी गड़बड़ है।

४. मुद्रास्फीति और मूल्यों की वृद्धि—जैसा हम देख चुके हैं हिल्टन यंग आयोग ने कहा था कि भारतीय पद्धति स्वतःचालित नहीं थी और अतिरिक्त करेन्सी को संकुचित करने की दृष्टि से विशेष रूप से दोषपूर्ण थी। इसका स्वाभाविक परिणाम मुद्रास्फीति और मूल्यों की अत्यधिक वृद्धि हुई।[1] जैसा कि चेम्बरलेन आयोग की रिपोर्ट की आलोचना में प्रोफ़ेसर निकल्सन ने कहा था, रुपये की परिवर्तनीयता आंशिक होने और कभी-कभी बन्द कर देने तथा और अधिक रुपया जारी करने के सम्मिलित प्रभाव से मूल्य-वृद्धि अवश्यम्भावी थी।

अत्यधिक शुभचिन्तना के बावजूद भी देश की करेन्सी-सम्बन्धी आवश्यकताओं के सम्बन्ध में सरकार के अनुमान गलत होने की सम्भावना तो थी ही।[2] रुपयों की माँग वास्तविक और आवश्यक होने पर भी बहुधा ऐसी ही प्रतीत होती थी, अतएव गलत निर्णय बहुत सरल थे क्योंकि जनता को एक बार जारी किया गया रुपया पूरे देश में फैलकर शीघ्रता से वापस नहीं आता था।

५. अविचारित एवं व्ययशील पद्धति—किसी विचारपूर्वक अपनाये गए उद्देश्य के प्रतिकूल शासन सम्बन्धी अधिसूचनाओं ने भारत में स्वर्ण विनिमय प्रमाप को जन्म दिया। बहुत सी प्रथाएँ, जो इस पद्धति के मुख्य भाग के रूप में प्रचलित हो गई थीं, वैध नहीं थीं। जैसा कि अपना मतभेद प्रकट करते हुए (मिनट ऑफ़ डिसेण्ट, पै० ५९-६०) स्वर्गीय सर ददीवा दलाल ने कहा था, इस पद्धति की स्पष्ट व्याख्या कभी नहीं की गई और सामान्यतः इसका प्रभाव स्थायित्व के प्रतिकूल ही पड़ा।

स्वर्ण प्रमाप की तुलना में स्वर्ण विनिमय प्रमाप का सस्तापन ही प्रधानतः इसकी प्रशंसा का कारण था। यदि हम ऊपर स्पष्ट की गई सारी हानियों का उचित मूल्य आँकें तो हमारा यह निष्कर्ष क्षम्य होगा कि यह सस्ती पद्धति सचमुच बहुत मँहगी पड़ी।

यह पद्धति जनता की आसंचयन प्रवृत्ति को नष्ट करने और करेन्सी के मितव्ययी रूपों के प्रयोग के लाभ सिखाने में असफल रही।

---

१. देखिए अध्याय १०।

२. भारत में सरकार बहुत प्रयत्न कर रही है; इसने आवश्यक करेन्सी की कुल पूर्ति तथा विभिन्न अवसरों के अनुकूल उसे व्यवस्थित करने का भार अपने ऊपर ले लिया है—यह एक ऐसा काम है जो विश्व के किसी भी बड़े देश में बैंकिंग संस्था को भी पूरी तरह नहीं सौंपा जाता, क्योंकि यह उसकी योग्यता से परे और उस पर अवांच्छनीय भार डाल देता है। वास्तव में टकसालों के बन्द होने के बाद से इंगलैंड से भेजे गए अन्तिम अधिकारी की सनक के मुताबिक ही भारतीय मुद्रा का प्रबन्ध किया जाता था। एक अधिकारी देश में मुद्रा चलन की अधिकता कर सकता था तो दूसरा उसे अत्यन्त कम कर सकता था। करेन्सी के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार की योजना नहीं बनाई गई। हाँ, कुछ नये प्रयोगों के लिए सदैव राय दी गई। कभी स्वर्ण टकसाल तो कभी चाँदी पर निषेधात्मक कर आदि हर तरह के सुझाव दिये गए। चेम्बरलेन आयोग के समक्ष मोर्टन फ्रेवेन की साक्षी। देखिए, एच० एल० छबलानी, 'स्टडीज इन इण्डियन करेन्सी एण्ड एक्सचेंज', पृष्ठ ९३-९४।

आयोग ने सावरेन के कानूनी मुद्रा होने के गुण को तब तक के लिए हटाने का प्रस्ताव किया, जब तक कि सुरक्षित कोष में स्वर्ण करेन्सी को प्रारम्भ करने के लिए पर्याप्त सोना न हो जाय तथा स्वर्ण करेन्सी प्रारम्भ करने के पक्ष में निश्चित निर्णय न हो जाय, अन्यथा करेन्सी के संकुचन को रोकते और विनिमय के क्षतिपूरक प्रभावों का प्रतिरोध करते हुए सोना सुरक्षित कोष से प्रचलन में चला जायगा।

९. नोटों की परिवर्तनीयता—आयोग ने भारतीय करेन्सी पद्धति में एक प्रकार के नोट को अर्थात् कागजी नोट को दूसरे प्रकार के नोट अर्थात् रुपया, जो केवल चाँदी पर अंकित नोट है, में बदलने के दायित्व से उत्पन्न गड़बड़ी को दूर करने की सिफारिश की ताकि पद्धति चाँदी के मूल्य की वृद्धि से उत्पन्न भय से मुक्ति पा सके। निस्सन्देह वर्तमान नोटों को रुपये में बदलने की प्रतिज्ञा तो पूरी करनी ही चाहिए, परन्तु नये नोटों को चाँदी के रुपयों में बदलने का कोई दायित्व नहीं होना चाहिए। फिर भी यह वाञ्छनीय था कि जनता का विश्वास और नोटों की लोकप्रियता बढ़ाने के लिए धातु के रुपये और नोटों के स्वतन्त्र विनिमय की सुविधाएँ दी जायँ।

आयोग ने पूर्ण कानूनी मुद्रा के रूप में एक रुपये का नोट पुनः जारी करने की सिफारिश की जो अन्य नये नोटों की तरह कानूनतः चाँदी के रुपये में परिवर्तनीय न हो। इससे नोटों को लोकप्रिय बनाने में भी मदद मिलेगी तथा यह चाँदी का मूल्य रुपया पिघलाने वाले विन्दु के ऊपर होने की दशा में बचाव प्रस्तुत करेगा।

नोटों की रुपयों में परिवर्तनीयता के कानूनी अधिकार को वापस लेने के कारण यह आवश्यक हो गया कि एक रुपये के नोट को छोड़कर समस्त कानूनी द्रव्य को छोटे नोटों और चाँदी के रुपयों में बदलने का परिनियत दायित्व करेन्सी अधिकारियों पर रखा जाय। नोटों के बदले चाँदी के रुपये देना करेन्सी अधिकारियों की इच्छा पर था, यद्यपि धात्विक करेन्सी के लिए जनता की समस्त उचित माँगों को व्यवहार में पूरा करना चाहिए।

१०. सुरक्षित कोष का एकीकरण और बनावट—आयोग ने सिफारिश की कि पत्र-मुद्रा और स्वर्ण प्रमाप सुरक्षित कोष को मिलाकर एक सुरक्षित कोष कर देना चाहिए ताकि इसकी कार्य-क्षमता का आश्वासन हो सके तथा यह और अधिक सरल होकर जनता की समझ में आ सके।

नये सुरक्षित कोष के सम्बन्ध में आयोग ने निम्न सिफारिशें प्रस्तुत कीं—

(१) विनिमय के क्षतिपूरक प्रभाव, करेन्सी के प्रसार और संकुचन को निश्चित

---

१ पौण्ड के लिए १३·३७ रुपया। इस दर पर एक तोला सोने का सम-मूल्य २१ रुपया ३ आना १० पाई था। आयोग ने भारत के स्वर्ण-केन्द्र लन्दन पर आधारित स्वर्ण की तीन विभिन्न विक्रय-दरें प्रस्तावित कीं—(१) जबकि लन्दन में टी० टी० दर उच्चतर स्वर्ण-विन्दु पर अथवा इससे ऊपर थी (१ शि० ६ $\frac{3}{64}$ पेंस) बम्बई में देने के लिए विक्रय-मूल्य क्रय-मूल्य के ही समान था अर्थात् २१ रुपया ३ आना १० पाई प्रति तोला शुद्ध सोना। जिस समय लन्दन में टी० टी० दर उच्चतर स्वर्ण-विन्दु से नीचे थी (२) उस समय लन्दन में देने के लिए विक्रय-दर २१ रु० ७ आ० ६ पा० थी (लन्दन भेजने के यातायात को सम्मिलित करते हुए) और (३) बम्बई में देने के लिए यह २१ रु० ११ आ० ६ पाई थी (यातायात के दूने व्यय को सम्मिलित करते हुए)। देखिए, हिल्टन यंग कमीशन रिपोर्ट, पृष्ठ ९५।

जायगी। उन्होंने चेम्बरलेन आयोग के इस विचार का समर्थन किया कि विनिमय की सहायता के लिए स्वर्ण प्रचलन की उपादेयता संदिग्ध थी। आयोग ने यह भी कहा कि स्वर्ण पिण्ड प्रमाप से तुरन्त ही पूर्ण स्वर्ण प्रमाप की स्थापना हो जायगी तथा अन्य योजनाओं में विचारित कोई संक्रमण-काल भी नहीं होगा। विश्व की स्थितियों में कोई गड़बड़ी उत्पन्न किये बिना ही इससे स्वर्ण सुरक्षित कोप तो अधिक दृढ़ होंगे ही, साथ ही यह स्वर्ण करेन्सी के चलन के साथ व्यवस्थित भी की जा सकती थी। यद्यपि स्वर्ण करेन्सी का तुरन्त प्रचलन असम्भव था, परन्तु इसके लिए द्वार खुला रखना ही पड़ेगा। आयोग का मत था कि किसी भी स्थिति में स्वर्ण करेन्सी का चलन बुद्धिमानी की बात न होगी और उन्होंने आशा प्रकट की कि कुछ समय बाद भारत इसे जीर्ण-शीर्ण और पुराना आदर्श मानने लगेगा। युद्ध ने यूरोपीय देशों को स्वर्ण-मुद्रा की व्ययशील विलासिता से दूर रहना सिखा दिया। वास्तव में कुछ ऊँचे अधिकारियों के अनुसार स्वर्ण करेन्सी का प्रचलन पिछड़ी हुई सभ्यता का चिह्न समझा जाने लगा। आयोग की योजना के अन्तर्गत करेन्सी अधिकारियों पर कानूनन केवल इतना दायित्व रखा गया कि वे कम-से-कम ४०० औंस शुद्ध सोने की मात्रा में, सोने और रुपये की समता के हिसाब से निश्चित दरों पर सोने का क्रय-विक्रय करेंगे ताकि रुपये के मूल्य और निर्दिष्ट समता के स्वर्ण-बिन्दुओं के बीच (विदेशी) विनिमय की स्थिरता बनी रहे। स्वर्ण प्राप्त करने के उद्देश्य पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया गया। इस प्रकार स्वर्ण अर्थ का वास्तविक प्रमाप बना दिया गया। रुपये को स्वर्ण से सम्बन्धित करना चाहिए, न कि स्टर्लिंग अथवा किसी अन्य करेन्सी या करेन्सी-समूहों से। यह पद्धति पूर्ण रूप से स्वर्ण प्रमाप पद्धति थी, स्वर्ण विनिमय प्रमाप नहीं थी क्योंकि किसी भी उद्देश्य के लिए रुपया और नोट स्वर्ण-दण्डों में परिवर्तनीय थे और इस प्रकार विनिमय की क्षतिपूरक व्यवस्था सुरक्षित रही क्योंकि स्वर्ण-दण्ड करेन्सी नहीं थे।

आयोग द्वारा प्रस्तावित रुपये का स्वर्ण-दण्डों में (सिक्कों में नहीं) परिवर्तन, सावरेन का विमुद्रीकरण (सोने के आसंचित सिक्कों को प्रचलन में आने से रोकने के लिए प्रस्तावित) तथा गोल्ड सेविंग्ज सर्टीफिकेट आदि आसंचित राशि की आन्तरिक मूल्य और द्रव्य दरों की गड़बड़ करने की प्रवृत्ति को रोक देंगे।

८. स्वर्ण की क्रय-विक्रय दरें—आयात लागत अथवा स्वर्ण समता की दृष्टि से करेन्सी के मूल्य के परिवर्तन पर ध्यान दिये बिना रुपये के सम-मूल्य के आधार पर निश्चित स्वर्ण की क्रय-विक्रय दरें करेन्सी अधिकारियों को सोने के लिए सबसे सस्ता बाजार बना देंगी। ये केवल भारत में स्वर्ण-पिण्ड बाज़ार को ही नहीं नष्ट करेंगी वरन् करेन्सी अधिकारियों को अद्रव्यात्मक कार्यों के लिए सोना बेचने का कार्य भी सौंप देंगी, जो वास्तव में इनका कार्य नहीं है। इस बन्धन से स्वतन्त्र करने के लिए आयोग ने सिफारिश की कि स्वर्ण का विक्रय-मूल्य ऐसी दरों पर निश्चित किया जाय ताकि सोने के भण्डार की पुनः पूर्ति किसी हानि के बिना ही इंगलैण्ड से आयात करके सम्भव हो सके।[1]

---

१. आयोग द्वारा प्रस्तावित रुपये का सम-मूल्य १ शि० ६ पेंस था (८·४७ ग्रेन शुद्ध स्वर्ण) अथवा

आयोग ने सावरेन के कानूनी मुद्रा होने के गुण को तब तक के लिए हटाने का प्रस्ताव किया, जब तक कि सुरक्षित कोष में स्वर्ण करेन्सी को प्रारम्भ करने के लिए पर्याप्त सोना न हो जाय तथा स्वर्ण करेन्सी प्रारम्भ करने के पक्ष में निश्चित निर्णय न हो जाय, अन्यथा करेन्सी के संकुचन को रोकते और विनिमय के क्षतिपूरक प्रभावों का प्रतिरोध करते हुए सोना सुरक्षित कोष से प्रचलन में चला जायगा।

९. नोटों की परिवर्तनीयता—आयोग ने भारतीय करेन्सी पद्धति में एक प्रकार के नोट को अर्थात् कागजी नोट को दूसरे प्रकार के नोट अर्थात् रुपया, जो केवल चाँदी पर अंकित नोट है, में बदलने के दायित्व से उत्पन्न गड़बड़ी को दूर करने की सिफारिश की ताकि पद्धति चाँदी के मूल्य की वृद्धि से उत्पन्न भय से मुक्ति पा सके। निस्सन्देह वर्तमान नोटों को रुपये में बदलने की प्रतिज्ञा तो पूरी करनी ही चाहिए, परन्तु नये नोटों को चाँदी के रुपयों में बदलने का कोई दायित्व नहीं होना चाहिए। फिर भी यह वाञ्छनीय था कि जनता का विश्वास और नोटों की लोकप्रियता बढ़ाने के लिए धातु के रुपये और नोटों के स्वतन्त्र विनिमय की सुविधाएँ दी जायँ।

आयोग ने पूर्ण कानूनी मुद्रा के रूप में एक रुपये का नोट पुनः जारी करने की सिफारिश की जो अन्य नये नोटों की तरह कानूनतः चाँदी के रुपये में परिवर्तनीय न हो। इससे नोटों को लोकप्रिय बनाने में भी मदद मिलेगी तथा यह चाँदी का मूल्य रुपया पिघलाने वाले विन्दु के ऊपर होने की दशा में बचाव प्रस्तुत करेगा।

नोटों की रुपयों में परिवर्तनीयता के कानूनी अधिकार को वापस लेने के कारण यह आवश्यक हो गया कि एक रुपये के नोट को छोड़कर समस्त कानूनी द्रव्य को छोटे नोटों और चाँदी के रुपयों में बदलने का परिनियत दायित्व करेन्सी अधिकारियों पर रखा जाय। नोटों के बदले चाँदी के रुपये देना करेन्सी अधिकारियों की इच्छा पर था, यद्यपि धात्विक करेन्सी के लिए जनता की समस्त उचित माँगों को व्यवहार में पूरा करना चाहिए।

१०. सुरक्षित कोष का एकीकरण और बनावट—आयोग ने सिफारिश की कि पत्र-मुद्रा और स्वर्ण प्रमाप सुरक्षित कोष को मिलाकर एक सुरक्षित कोष कर देना चाहिए ताकि इसकी कार्य-क्षमता का आश्वासन हो सके तथा यह और अधिक सरल होकर जनता की समझ में आ सके।

नये सुरक्षित कोष के सम्बन्ध में आयोग ने निम्न सिफारिशें प्रस्तुत कीं—

(१) विनिमय के क्षतिपूरक प्रभाव, करेन्सी के प्रसार और संकुचन को निश्चित

१ पौण्ड के लिए १३·३७ रुपया। इस दर पर एक तोला सोने का सम-मूल्य २१ रुपया ३ आना १० पाई था। आयोग ने भारत के स्वर्ण-केन्द्र लन्दन पर आधारित स्वर्ण की तीन विभिन्न विक्रय-दरें प्रस्तावित कीं—(१) जबकि लन्दन में टी० टी० दर उच्चतर स्वर्ण-विन्दु पर अथवा इससे ऊपर थी (१ शि० ६$\frac{13}{64}$ पैंस) बम्बई में देने के लिए विक्रय-मूल्य क्रय-मूल्य के ही समान था अर्थात् २१ रुपया ३ आना १० पाई प्रति तोला शुद्ध सोना। जिस समय लन्दन में टी० टी० दर उच्चतर स्वर्ण-विन्दु से नीचे थी (२) उस समय लन्दन में देने के लिए विक्रय-दर २१ रु० ७ आ० ६ पा० थी (लन्दन भेजने के यातायात को सम्मिलित करते हुए) और (३) बम्बई में देने के लिए यह २१ रु० ११ आ० ६ पाई थी (यातायात के दूने व्यय को सम्मिलित करते हुए)। देखिए, हिल्टन यंग कमीशन रिपोर्ट, पृष्ठ ६५।

करने के लिए सुरक्षित कोष की बनावट और प्रगति कानून द्वारा निर्धारित होनी चाहिए। (२) आनुपातिक सुरक्षित कोष पद्धति अपनाना चाहिए। स्वर्ण तथा स्वर्ण प्रतिभूतियाँ सुरक्षित कोष का कम-से-कम ४० प्रतिशत भाग हों। करेन्सी अधिकारियों को चाहिए कि वे इन्हें सुरक्षित कोष का ५० या ६० प्रतिशत तक कर दें। शीघ्र-से-शीघ्र स्वर्ण सुरक्षित कोष का २० प्रतिशत यथाशीघ्र स्वर्ण के रूप में हो जाना चाहिए और १० वर्ष के अन्तर्गत यह स्वर्ण २५ प्रतिशत हो जाना चाहिए। इस बीच में सोना सुरक्षित रखने के लिए किसी भी प्रकार का अनुकूल अवसर हाथ से न जाने देना चाहिए। स्वर्ण भण्डार का कम-से-कम ½ भाग भारत में रहना चाहिए। (३) १० वर्ष के संक्रमण-काल में सुरक्षित कोष में रजत भण्डार को काफी कम कर देना चाहिए। (४) शेष सुरक्षित कोष व्यापारिक हुण्डियों और भारत सरकार की प्रतिभूतियों के रूप में रखना चाहिए। १० वर्ष के अन्तर्गत 'उत्पन्न की गई प्रतिभूतियों' का स्थान विपणन योग्य प्रतिभूतियों को ले लेना चाहिए। (५) रुपया-प्रचलन के संकुचन की दृष्टि से ५० करोड़ रुपये का दायित्व पर्याप्त समझना चाहिए। प्रचलन में चाँदी के रुपये की संख्या में की गई वृद्धि अथवा कमी के ⅖ भाग के बराबर की मात्रा इस दायित्व में जोड़ना अथवा घटाना चाहिए और इस प्रकार होने वाला लाभ अथवा हानि सरकारी आगम को सहना चाहिए।

आयोग ने कहा कि ऊपर कहे गए रूप में स्वर्ण सुरक्षित कोष को दृढ़ करने में निम्नतम जोखिम और व्यय होगा और यह निम्न कारणों से आवश्यक भी था—(१) ताकि करेन्सी अधिकारी करेन्सी के बदले सोना बेचने के दायित्व को पूरा कर सकें—विशेषकर नये नोटों की स्वर्ण में परिवर्तनीयता के कारण। (२) स्वर्ण प्रमाण-पत्रों (गोल्ड सर्टीफिकेट्स) के लोकप्रिय होने पर सरकार उन्हें भुनाने योग्य बना सके। (३) स्वर्ण करेन्सी के प्रचलन को सुविधा देने के लिए यदि इसे रखने का निश्चय किया जाय।

आयोग के विचार में स्वर्ण प्रमाप पद्धति में रजत सुरक्षित कोष का कोई स्थान ही नहीं था, परन्तु सम्पूर्ण प्रचलन का अधिकांश भाग होने और इसके मौसमी उतार-चढ़ाव के कारण सुरक्षित कोष का कुछ भाग चाँदी में रखना आवश्यक हो गया। एक रुपये का नोट रुपयों की मात्रा कम कर देगा, इसलिए संक्रमण-काल में सुरक्षित कोष से रजत अंश ८५ करोड़ रु० (३० अप्रैल, १९२६ को) से घटाकर २५ करोड़ रु० कर देना चाहिए।

आयोग ने सिफारिश की कि सुरक्षित कोष में भारत सरकार की रुपया-प्रतिभूतियों की मात्रा वापस न होने वाले प्रचलन के बराबर और इतनी अधिक राशि तक सीमित कर दी जाय जो सरकार की साख को बिगाड़े बिना ही सरलता से वसूल हो सके, क्योंकि ये प्रतिभूतियाँ व्यापारिक हुण्डियों से कम वाञ्छनीय हैं। रुपया-प्रतिभूतियों की तुलना में व्यापारिक हुण्डियाँ करेन्सी अधिकारियों की इच्छा और निर्णय से स्वतन्त्र देश की आवश्यकताओं के अनुसार करेन्सी के स्वाभाविक प्रसार और संकुचन का गुण रखती हैं। इसके अतिरिक्त आवश्यकता पड़ने पर सरकारी प्रति-

भूतियों का वसूलना कठिन हो जायगा। १९३५ में रिज़र्व बैंक ऑफ़ इण्डिया की स्थापना के बाद से पत्र-मुद्रा के निर्गम और सुरक्षित कोष की स्थिति सम्बन्धी नये प्रबन्धों का विवेचन अध्याय ११ में किया गया है।

स्वर्ण-पिण्ड बनाम स्वर्ण करेन्सी प्रमाप

११. स्वर्ण-पिण्ड प्रमाप की आलोचना—आयोग ने स्वर्ण-पिण्ड प्रमाप का समर्थन किया और इसके पक्ष में कहा कि इससे स्वर्ण ही एकमात्र अर्थ का प्रमाप हो जायगा और हर काम के लिए आन्तरिक करेन्सी की स्वर्ण में परिवर्तनीयता का आश्वासन रहेगा, यद्यपि इसके अन्तर्गत ऐसी व्यवस्था की गई कि देश में करेन्सी के बदले स्वर्ण सदैव उपलब्ध रहेगा तथा करेन्सी के विनिमय मूल्य की सहायता के लिए केन्द्रीय सुरक्षित कोष में भी रहेगा परन्तु वह प्रचलन में नहीं आयेगा।[1] अन्तिम उद्देश्य की पूर्ति सावरेन के विमुद्रीकरण और दण्ड (बार) के रूप में करेन्सी अधिकारियों द्वारा सोने के विक्रय से की गई। ग़ैर-मुद्राचलन उद्देश्यों के लिए अधिकारियों द्वारा जनता से स्वर्ण-क्रय के प्रति इस प्रकार सावधानी बरती गई कि कम-से-कम ४०० औंस (१०६५ तोला) की मात्रा में प्रस्तुत किये जाने पर ही सरकार खरीद करे तथा खरीद की दर में लन्दन से बम्बई तक सोना भेजने की लागत भी शामिल हो।

कानूनी मुद्रा की स्वर्ण-दण्डों में परिवर्तनीयता बैंकों और बैंकरों के लिए अच्छी हो सकती है, परन्तु जनता के लिए यह अपर्याप्त और उनकी समझ से परे थी। ४०० औंस की निम्नतम सीमा बहुत अधिक थी, और इससे स्वर्ण में परिवर्तनीयता अव्यावहारिक हो गई। सावरेन और अर्ध-सावरेन के विमुद्रीकरण की कड़ी आलोचना की गई। १९१४-१८ के युद्ध के पहले स्वर्ण विनिमय प्रमाप के अन्तर्गत अनुमानतः ६,०००,००० पौण्ड की सावरेन जनता के हाथ में थी। इंगलैण्ड में भी १९२५ के करेन्सी सम्बन्धी नये प्रबन्धों के अन्तर्गत सावरेन का विमुद्रीकरण नहीं किया गया।

१२. भारत में स्वर्ण करेन्सी प्रमाप का पक्ष—आयोग की स्वर्ण-पिण्ड प्रमाप वाली योजना स्पष्टतः अंग्रेज़ी पद्धति से प्रभावित थी। यह कहा गया कि १९२५ में इंगलैण्ड में पिण्ड प्रमाप के रूप में स्वर्ण प्रमाप की पुनर्स्थापना १९२२ में जेनेवा सम्मेलन की सिफारिशों के अनुसार विश्व करेन्सी की आदर्श पद्धति—अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय प्रमाप—के विकास की ओर कड़ा कदम था। इस पद्धति के अन्तर्गत आंतरिक करेन्सी अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा की होगी और स्वर्ण केवल विदेशी ऋणों के भुगतान के लिए उपलब्ध होगा। १९२६ में भारतीय परिस्थितियाँ स्वर्ण प्रमाप एवं स्वर्ण मुद्रा चलन का निर्देश कर रही थीं। इन परिस्थितियों में स्वर्ण मुद्रा अनावश्यक विलासिता अथवा स्वर्ण प्रमाप से सम्बद्ध परम्परागत शिष्टता नहीं समझी जा सकती थी। इसीलिए लगभग असन्दिग्ध सभी भारतीय साक्षी और कुछ यूरोपीय साक्षी, जैसे डॉ० कैनन और डा० ग्रेगरी[2], ने हिल्टन यंग आयोग से स्वर्ण करेन्सी प्रमाप अपनाने के लिए आग्रह

१. २३ नवम्बर, १९२६ को दिल्ली में सर बेसिल ब्लैकेट का भाषण देखिए।
२. देखिए, हिल्टन यंग कमीशन रिपोर्ट, परिशिष्ट ८० और ८१।

किया। सर बेसिल ब्लैकेट ने स्वयं यह विचार प्रकट किया कि कोई आदर्श पद्धति सोचने से पूर्व भारत को ऐसी स्थिति से निकलना पड़ेगा जिसमें सोने का सिक्का होगा तथा इच्छानुसार करेन्सी के सभी रूप सोने के सिक्के में परिवर्तित किये जा सकेंगे। सरलता और ग्राह्यता, जिन्हें आयोग ने भारत की किसी भी करेन्सी पद्धति के आवश्यक गुणों के रूप में स्वीकार किया था, स्वर्ण-पिण्ड प्रमाप के विशिष्ट गुण नहीं थे।

१३. आयोग के प्रस्तावों के विरुद्ध अन्य आपत्तियाँ—आयोग द्वारा प्रस्तावित स्वर्ण की क्रय-विक्रय दरें भी प्रतिकूल आलोचना का विषय थीं। दरों के ऐसे व्यवस्थापन से, कि करेन्सी अधिकारी सबसे सस्ता होने पर सोना खरीदें और सबसे मँहगा होने पर बेचें, भारत में स्वर्ण का क्रय-विक्रय लगभग नहीं के बराबर हो जायगा। यह बात करेन्सी अधिकारियों द्वारा स्वर्ण-विक्रय पर विशेष रूप से लागू होगी। जनता तो निर्यात कार्य के लिए आवश्यक होने पर ही खरीद करेगी। इसके अतिरिक्त विनिमय-दर उच्चतर स्वर्ण-विन्दु से नीचे होने पर बम्बई की तुलना में लन्दन में अधिक अनुकूल दर पर सोने की बिक्री के सम्बन्ध में आयोग के प्रस्ताव का उद्देश्य लन्दन में स्वर्ण देने (विक्रय के लिए) को प्रोत्साहित करना था। इससे स्वर्ण विनिमय प्रमाप की बुराइयाँ तो बनी ही रहेंगी, इसीलिए इसका विरोध किया गया।[1] इस सम्बन्ध में हम आयोग की इस सिफारिश की ओर संकेत कर सकते हैं कि रिजर्व बैंक स्वर्ण-सिक्कों अथवा स्वर्ण-पिण्ड का कम-से-कम आधा भाग भारत में रखेगा। शेष आधा भाग देश के बाहर उसकी शाखाओं, एजेन्सियों अथवा उसके खाते में अ[illegible] बैंकों में रखा जा सकता है। बैंक के स्वर्ण की कोई भी मात्रा, चाहे वह टकसाल में हो अथवा विप्रेषण के मार्ग में, कोष का एक भाग मानी जायगी। आयोग की सिफारिश के अनुसार स्वर्ण प्रतिभूतियों के रूप में विशाल भण्डार रखने का अर्थ यह है कि उस सीमा तक हमारा सुरक्षित कोष बाहर विनियोजित किया जायगा। लन्दन में सुरक्षित कोष रखने के कारण उत्पन्न सन्देह और अविश्वास के कारण भारतीय द्रव्य के लन्दन में रखने से सम्बन्धित किसी भी प्रबन्ध को प्रस्तावित करने के लिए विशेष ध्यान देना आवश्यक था।

विनिमय प्रमाप को निश्चित रूप से नष्ट कर देने और करेन्सी तथा विनिमय पर सरकारी नियन्त्रण सदा के लिए समाप्त करने के सम्बन्ध में आयोग की सिफारिशों का अच्छी तरह से स्वागत किया गया, परन्तु स्वर्ण-पिण्ड प्रमाप, जिसे उन्होंने विनिमय प्रमाप की सारी बुराइयों के निदान के रूप में प्रस्तावित किया, जनता को उत्साहित नहीं कर सका। आयोग की सिफारिशों के समय पूर्णतया करेन्सी प्रमाप के बजाय भारतीय दशाओं के अनुकूल मौलिक स्वर्ण-पिण्ड प्रमाप अधिक मान्य होता (१९२६)।

रुपये का स्थायित्व

१४. स्थायित्व का अनुपात—आयोग ने सिफारिश की कि स्वर्ण के साथ रुपये का स्थायित्व १ शि० ६ पेंस की विनिमय दर पर किया जाय और इस प्रकार रुपये को

१. देखिए, पी० बी० जुनारकर, एन एग्ज़ामिनेशन ऑफ़ दि करेन्सी कमीशन रिपोर्ट, पृष्ठ ५५।

८·४७ ग्रेन शुद्ध सोने के मूल्य के बराबर कर दिया गया। उनका विचार था कि उस दर पर विश्व के मूल्यों के साथ भारत के मूल्य व्यवस्थित हो चुके थे और उसमें परिवर्तन करने का अर्थ व्यवस्थापन का कठिन समय तथा अत्यधिक आर्थिक अस्त-व्यस्तता होगी।

आयोग ने तर्क उपस्थित किया कि जब विनिमय और मूल्य पर्याप्त समय तक स्थिर रहे तो विपरीत संकेतों के अभाव में यह स्वीकार करना उचित ही था कि मजदूरी का उनसे सामंजस्य हो चुका था। विदेशी व्यापार के आँकड़ों से भी इस अनुमान की पुष्टि होती थी। संविदा के सम्बन्ध में आयोग का तर्क यह था कि वे अधिकतर अल्पकालीन थे और इसलिए उच्चतर अनुपात से प्रभावित नहीं थे।

इस विचार के सम्बन्ध में कि १ शि० ४ पेंस रुपये की स्वाभाविक दर (नेचुरल रेट) थी, आयोग ने यह तर्क उपस्थित किया कि एकमात्र दर, जिसे स्वाभाविक दर कहा जा सकता है, वह है जिसका करेन्सी की वर्तमान मात्रा और वाह्य मूल्यों के साथ सामंजस्य हो। इस दृष्टिकोण से वर्तमान परिस्थिति में उन्हें १ शि० ६ पेंस स्पष्टत: स्वाभाविक दर प्रतीत हुई। इसके विपरीत, यदि स्वाभाविक दर से तात्पर्य उस दर से हो जो सरकारी कानून अथवा कार्यों के अभाव में एक विशेष विन्दु पर रुपये को स्थिर कर दे, तो इस अनुमान के आधार पर भारत जैसे देश में इसके व्यापार के मौसमी चढ़ाव-उतार के साथ विनिमय दर में इतने परिवर्तन होंगे, जिससे किसी विशेष दर को स्वाभाविक दर कहना असम्भव होगा।

यदि मूल्य और श्रम के साथ १ शि० ६ पेंस की दर के व्यवस्थापन को हम न भी मानें तो भी यह गम्भीरतापूर्वक नहीं कहा जा सकता है कि वे किसी तरह भी १ शि० ४ पेंस की दर से व्यवस्थित थीं, क्योंकि गत ८ वर्ष में यह दर कभी भी पर्याप्त रूप से प्रभावपूर्ण नहीं रही। जहाँ तक व्यवस्थापन अथवा सामंजस्य का प्रश्न है, यह १ शि० ६ पेंस पर ही हुआ होगा। इन परिस्थितियों में १ शि० ४ पेंस की दर स्थापित करने से मूल्यों में १२½ प्रतिशत वृद्धि होना अवश्यम्भावी था जिससे साधारणतया उपभोक्ताओं और विशेष रूप से कम वेतन वाले शिक्षित वर्ग की कठिनाइयाँ वहुत वढ़ जायँगी। इससे श्रमिकों की वास्तविक मज़दूरी में भी कमी होगी, जिसके औचित्य अथवा आवश्यकता का किसी भी आधार पर समर्थन नहीं किया जा सकेगा। १ शि० ४ पेंस की दर से केन्द्रीय और प्रान्तीय दोनों सरकारों की वित्त-व्यवस्थाएँ बुरी तरह से अव्यवस्थित हो जायँगी जिससे प्रान्तीय अनुदानों की समाप्ति अनिश्चित काल के लिए स्थगित हो जायगी।

१२. विमति टिप्पणी (मिनट ऑफ़ डिसेण्ट)—सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास ने अपनी विमति टिप्पणी में वताया कि किस प्रकार सरकार ने विनिमय दर वढ़ाकर १ शि० ६ पेंस कर देने का विचार किया और इस निश्चय से आयोग की जाँच और निष्कर्ष दोनों को प्रभावित किया। उन्होंने स्पष्ट रूप से वताया कि किस प्रकार सितम्बर और अक्तूवर, १९२४ में युद्ध के पहले की १ शि० ४ पेंस की दर पर रुपये को स्थिर करने के अवसर को सरकार ने त्याग दिया और विनिमय दर बढ़ाने के लिए

२ शि० स्वर्ण की झूठी दर का प्रयोग किया, जिससे करेन्सी में भयावह रूप से संकुचन हुआ।

उनके प्रधान निर्णय इस प्रकार थे—

(१) मजदूरी में कोई भी सामंजस्य नहीं हुआ था। बिना झगड़े के कोई सामंजस्य सम्भव भी नहीं था। (२) पूर्ण सामंजस्य होने तक १ शि० ६ पेंस की दर ने अप्रत्यक्ष रूप से विदेशी निर्माताओं को १२½ प्रतिशत की आर्थिक सहायता दी, जिससे भारतीय उद्योग पर अधिक भार पड़ा। (३) अनुपात में परिवर्तन का अर्थ ऋणकर्ताओं पर, जो कृषक हैं, १२½ प्रतिशत का अतिरिक्त भार बढ़ाना था। ऋण पुराने होने के कारण यह अनुमान करना स्वाभाविक था कि अधिकांश ऋण १ शि० ४ पेंस के आधार पर ही लिये गए होंगे। (४) अतः १ शि० ४ पेंस की दर स्थापित करने से राजस्व पर पड़ने वाले प्रभावों को वढ़ा-चढ़ाकर कहा गया था। (५) १ शि० ४ पेंस का बुरा प्रभाव जनता के छोटे भाग (लगभग २१ प्रतिशत) तक ही सीमित था जिसमें कम वेतन वाले शिक्षित वर्ग के लोग थे। इसकी तुलना में ऊँची दर से ७९ प्रतिशत व्यक्तियों को कष्ट होगा। जहाँ तक श्रम का सम्बन्ध है, १ शि० ४ पेंस की दर अपनाने से मूल्यों में सम्भावित वृद्धि से पारिश्रमिक की वर्तमान दरें, जो काफी ऊँची थीं, व्यवस्थित हो जायँगी। प्रत्येक दशा में निम्न दर से उद्योग और कृषि अधिक समृद्ध होते और इससे रोज़गार बराबर मिलता रहता, जबकि उच्च अनुपात से इन दोनों को हानि पहुँचती। (६) १९१४-१८ के पूर्व-प्रचलित १ शि० ४ पेंस अनुपात विश्व के अन्य देशों के अनुपात की तरह ही अव्यवस्थित हो गया, परन्तु अन्य देशों ने स्थायी रूप से युद्ध के पहले के अनुपात को पुनः प्राप्त करने का प्रयत्न किया। यदि यह स्वीकार कर लिया जाय कि दोनों दशाओं में उत्पन्न गड़बड़ी समान थी, तो निर्णय १ शि० ४ पेंस के ही पक्ष में होगा।

१६. विनिमय दर के विवाद का परीक्षण—बहुमत की रिपोर्ट और विमति टिप्पणियों ने एक ऐसा शस्त्रागार प्रस्तुत किया जिससे दोनों ओर के प्रतिद्वन्द्वियों ने भयानक विवाद में अपने-अपने हथियार खींच लिए। देखने में तर्क कितने ही युक्तिसंगत क्यों न दिखाई पड़े, परन्तु सूक्ष्म परीक्षण पर नये अनुपात के समर्थकों और विरोधियों द्वारा दिये गए तर्कों में अनेक दोप दिखाई पड़ेंगे।

(१) **बहुमत के तर्कों की आलोचना**—बहुमत के अनुसार १ शि० ६ पें० की दर पर मूल्यों के व्यवस्थापन का तर्क देशनांकों पर आधारित था। देशनांक किसी प्रकार भी पथ-प्रदर्शक नहीं थे।[1] परन्तु इन अपूर्ण देशनांकों पर आधारित अपनी गणनाओं को समाप्त करने पर उन्हें पूर्ण विश्वास हो गया कि निश्चय ही पर्याप्त व्यवस्थापन हो चुका है और देशनांकों के सम्बन्ध में वे स्वयं अपनी चेतावनी को भूलकर १ शि० ६ पेंस की दर के उत्साही समर्थक बन गए। (सर पुरुषोत्तमदास की आलोचना भी इसी आधार पर की जा सकती है कि बहुमत द्वारा प्रयुक्त सांख्यिकीय तथ्यों से वे बिल्कुल विपरीत निष्कर्ष पर पहुँचे और उन्होंने अपने परिणामों की सचाई में असंदिग्ध

१. देखिए, हिल्टन यंग कमीशन रिपोर्ट, पैरा १७८-९।

विश्वास प्रकट किया।)

जूट उद्योग के अतिरिक्त किसी अन्य उद्योग में १ शि० ६ पैंस के साथ मजदूरी का सामंजस्य दिखाने के लिए बहुमत ने कोई सांख्यिकीय साक्षी प्रस्तुत नहीं की। दीर्घकालीन संविदाओं के सम्बन्ध में आयोग ने यह तर्क प्रस्तुत किया कि १ शि० ६ पैंस की दर कठोर सिद्ध नहीं होगी क्योंकि, उदाहरण से लिए, १९१४ के मूल्यों में हुई वृद्धि के कारण मालगुजारी बन्दोबस्त का वास्तविक आयात (इन्सीडेन्स) कम हो गया था। उन्होंने विनिमय के हेर-फेर के कारण मजदूरों के पारिश्रमिक की छिपी हुई कमी के विरुद्ध तर्क प्रस्तुत किया। तर्कसंगत होने के लिए उन्हें मालगुजारी की छिपी हुई वृद्धि को १ शि० ६ पैंस की दर के विरुद्ध समझना चाहिए।

इस बात को स्वीकार करते हुए भी कि सरकारी वित्त पर दर के प्रभाव को निर्णयात्मक नहीं समझना चाहिए, बहुमत इस तर्क का अत्यधिक प्रयोग करने के मोह का संवरण नहीं कर सका।

बहुमत ने १ शि० ४ पैंस की दर की पुनर्स्थापना का इस आधार पर विरोध किया कि यह कम वेतन वाले शिक्षित वर्ग को अवाञ्छनीय कष्ट देगा। हाल में ही मूल्यों में हुई वृद्धि के कारण इस वर्ग ने अन्य वर्गों की अपेक्षा अधिक कष्ट उठाया और संरक्षण-नीति का भार भी अधिकांशतः इन्हीं पर पड़ता। अतएव मध्यम और निम्न-मध्यम वर्ग के हितों को बढ़ाने वाले किसी भी कदम के समर्थन के लिए पर्याप्त आधार था। परन्तु १ शि० ४ पैंस की दर से मूल्यों में १२½ प्रतिशत की वृद्धि के सम्बन्ध में बहुमत का भय केवल इस अनुमान पर आधारित था कि १ शि० ६ पैंस की दर पर मूल्यों का भली भाँति सामंजस्य हो गया है। यदि सामंजस्य को स्वीकार भी कर लें, तो इस बात की सकारण आशा की जा सकती है कि पूरे १२½ प्रतिशत की वृद्धि नहीं होती, क्योंकि कुछ हद तक विश्व के मूल्यों के गिराव की स्पष्ट प्रवृत्ति अवश्य ही इस वृद्धि का प्रतिरोध करती।

बहुमत का दृढ़तम तर्क यह था कि उच्चतर दर लगभग १ वर्ष से अधिक लागू रही और इसलिए पर्याप्त सामंजस्य अवश्य हो गया होगा। इसके विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि पर्याप्त सामंजस्य के लिए एक वर्ष का समय काफी नहीं था, अतएव यह तर्क सामंजस्य के विपक्ष में अधिक पड़ता है।[1]

(२) १ शि० ४ पैं० की दर के पक्ष का आलोचनात्मक परीक्षण—यह भी भली भाँति सिद्ध किया जा सकता है कि १ शि० ४ पैं० के समर्थकों ने भी ऐसे तर्कों का आश्रय नहीं लिया जिनका कोई अपवाद न हो। उदाहरण के लिए, उन्होंने इस बात पर विशेष बल दिया कि १ शि० ६ पैं० के अनुपात को ठीक रखने के लिए सरकार

---

१. अपनी विमति टिप्पणी (मिनट ऑफ़ डिसेंट) में (पैरा ८०) सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास ने केन्स के इस विचार को उद्धृत किया कि इंगलिस्तान जैसे देश में विनिमय के १० प्रतिशत परिवर्तन के सामंजस्य के लिए लगभग २ वर्ष का समय आवश्यक है। यदि एक ऐसे देश में, जिसके व्यापार का अधिकांश भाग बाह्य है, इतना समय आवश्यक है, तो भारत जैसे देश में यह समय अवश्य ही अधिक होना चाहिए, जिसका आन्तरिक व्यापार विदेशी व्यापार की तुलना में कहीं अधिक है।

ने मुद्रा का अत्यधिक संकुचन किया। यदि मुद्रा संकुचन सचमुच इतना अधिक किया गया था, तो यह अवश्य ही मूल्य के सामान्य स्तर को काफी नीचे ले आता। मूल्यों में पर्याप्त कमी को स्वीकार करने का अर्थ होगा कि हम १ शि० ६ पैं० की दर पर सामंजस्य को स्वीकार करते हैं।

उच्चतर अनुपात के विरोधियों ने ग्रामीण ऋणिता के बढ़ते हुए भार पर तो बल दिया, परन्तु किसानों को सस्ते औज़ारों की उपलब्धि और सामान्यतः कम लागत के रूप में प्राप्त अनुपात के क्षतिपूरक प्रभावों पर कोई ध्यान नहीं दिया। वे यह समझने में भी असफल रहे कि अधिकांश कृषि-ऋण वस्तुओं के रूप में लिया जाता है इसका और कुछ भाग अल्पकालीन होता है।[1]

पुराने अनुपात के पक्ष में प्रबलतम तर्क यह था कि १ शि० ६ पैंस पर मूल्यों का स्थायित्व करने का प्रयत्न अर्थ-प्रमाप में अनुचित गड़बड़ी करना है। यदि हम १ शि० ६ पैं० के समर्थकों के अत्यन्त अनुकूल तर्क और अनुमान को मान लें कि १ शि० ४ पैंस के अन्तर्गत अधिक आर्थिक बाधाएँ होंगी, तो भी यह कहा जा सकता है कि इन परिवर्तनों के साथ जनता का तत्परता से सामंजस्य हो जाता। वस्तुस्थिति तो यह थी कि पुराने अनुपात को त्यागने से करेन्सी में अनेक बुरे तत्त्वों की संख्या बढ़ गई और इस प्रकार आलोचकों को सरकार की आलोचना का एक विषय और मिल गया। फल यह हुआ कि नये अनुपात ने हर बुराई के पर्याप्त स्पष्टीकरण के रूप में उत्सारण सिद्धान्त (ड्रेन थ्योरी) का स्थान ले लिया।

भविष्य के आर्थिक इतिहासवेत्ता नये अनुपात के बाद के समय को वैभवशाली समय के रूप में अंकित नहीं करेंगे तथा नये अनुपात के बाद देश के कठिन समय और १९२९-३३ के आर्थिक अवसाद ने सरकारी विनिमय पर किये जाने वाले आक्रमणों को और उग्र बना दिया था। तर्क के रूप में यह कहा जा सकता है कि यदि देश पुराने अनुपात को रखता तो उद्योग और वाणिज्य की और भी बुरी दशा हो गई होती। परन्तु इस तर्क में तो यह मान लिया गया है कि १ शि० ६ पैं० की दर पर आधे से अधिक संक्रमण पूरा हो चुका था, जबकि यही सिद्ध करना है। हम लोग ऊपर कह चुके हैं कि सामंजस्य सम्बन्धी आयोग के विचार के पक्ष में दी गई साक्षियाँ विश्वसनीय नहीं हैं। हम तो यहाँ तक कह चुके हैं कि यदि १ शि० ४ पैं० की दर से अपेक्षाकृत अधिक आर्थिक अव्यवस्था की सम्भावना को मान भी लिया जाय—समस्त साक्षी पर निष्पक्ष रूप से विचार करने वाला व्यक्ति भी इससे अधिक नहीं मान सकता—तो भी पुराने अनुपात के लिए इस अवस्था की जोखिम उठाना श्रेयस्कर था। यह नितान्त स्पष्ट होना चाहिए कि जितने अधिक समय तक नई दर[2] बनी रहेगी, उतनी ही उसके संदर्भ में परिस्थितियों के व्यवस्थित होने की भावना दृढ़ होती जायगी और पुराने अनुपात को पुनः स्थापित करने का पक्ष निर्बल होता

१. देखिए, सर जे० सी० कोयाजी, इण्डियाज़ करेन्सी, एक्सचेंज एण्ड बैंकिंग प्राब्लेम्स, पृष्ठ १०।

२. देखिए नीचे मैनशन १३ मार्च, १९२७ के इण्डियन करेन्सी एक्ट द्वारा १ शि० ६ पैं० की नई दर ६५ घोषित की गई।

जायगा।[1]

१७. अनुपात (विनिमय दर) के विवाद का तदनन्तर विकास (अप्रैल १९२७ से सितम्बर १९३१ तक)—शरद १९२९ में अमेरिका से प्रारम्भ होने वाली आर्थिक संकट की हवा धीरे-धीरे विश्व-भर में फैल गई और सम्पूर्ण विश्व में वस्तुओं और प्रतिभूतियों के मूल्य एकदम गिर गए। भारतीय प्रतिभूतियों का भी यही हाल हुआ। इन परिस्थितियों में विनियोक्ताओं की दुर्वलता विनियोग सम्बन्धी हिचक के रूप में प्रकट हुई। इस प्रवृत्ति को कठिन राजनीतिक विरोध से और भी वल मिला। विश्व आर्थिक अवसाद की प्रमुख विशेषता मूल्यों, विशेषकर कृषि-मूल्यों, का तीव्र गिराव था, जिससे भारत के कच्चे माल के निर्यात को वहुत हानि पहुँची।

इन परिस्थितियों में सरकार १ शि० ६ पैं० की विनिमय दर बनाये रखने और विशेष आर्थिक उपायों को अपनाने के लिए विवश हो गई। विनिमय की दृढ़ता के लिए साख नियन्त्रण के हेतु अपनाये गए इन उपायों में विनिमय बैंकों तथा अन्य क्रेताओं को ट्रेज़री बिलों के निर्गम तथा इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया की वैंक दर की वृद्धि को गिनाया जा सकता है।

१ शि० ६ पैं० के अनुपात के विरोधियों ने यह तर्क उपस्थित किया कि मार्च, १९२७ में इस अनुपात को वैध बना देने के वाद भी १९३१ तक उसे बनाये रखने के लिए इतने अधिक प्रवन्ध की आवश्यकता हुई जिससे यह स्पष्ट हो गया कि परिस्थितियों और इस दर का सामंजस्य नहीं हुआ था, अतएव १ शि० ४ पैं० के पुराने अनुपात को स्थापित करना पुनः वांच्छनीय था। १९२९-३० और १९३०-३१ में (लन्दन को) विप्रेषणार्थ आवश्यक स्टर्लिंग कोष प्राप्त करने में सरकार द्वारा अनुभव की गई कठिनाई की व्याख्या भी अनुपात की अनुपयुक्तता के रूप में की गई। नवम्बर, १९३० और मार्च, १९३१ में अवस्था और भी शोचनीय हो गई। सरकार न केवल स्टर्लिंग की खरीद करने में असमर्थ रही वरन् उन्हें उत्पन्न माँग को पूरा करने के लिए ५६ लाख पौण्ड तक स्टर्लिंग का विक्रय करना पड़ा। १९३१ के जून और सितम्बर के बीच उन्हें पुनः १४० लाख पौण्ड के मूल्य के रिवर्स कौंसिल बेचने पड़े।

विश्व आर्थिक अवसाद के बीच मन्दी की व्याख्या के लिए एकमात्र नये अनुपात को मुख्य कारण के रूप में चुनना असम्भव है। हम यह आशा कर सकते हैं कि अनुपात के कारण उत्पन्न आर्थिक अव्यवस्था अनुपात स्थापित करने की निकटतम अवधि में उग्रतम होगी और धीरे-धीरे समय बीतने के साथ यह कम होती जायगी।

परिस्थितियों में मौलिक परिवर्तन होने पर अनुपात किसी भी समय वदला जा सकता है, भले ही किसी समय उसका कितना ही सामंजस्य क्यों न हो गया हो। सितम्बर, १९३१ में इंगलैण्ड द्वारा स्वर्ण प्रमाप त्यागने के वाद कुछ ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गई थीं जिनके कारण यह कहा जा सकता है कि इस विषय पर पुनः विचार करना आवश्यक हो गया था।[2] एकमात्र आर्थिक दृष्टिकोण से भी प्रश्न

१. देखिए, सेक्शन २०, २३ और २५।

२. देखिए, नीचे सेक्शन २० और २५।

१ शि० ६ पैं० और १ शि० ४ पैं० के बीच चुनाव करने का ही नहीं है। नये अनुपात के परित्याग की सम्भावना का अर्थ १ शि० ४ पैं० के पुराने अनुपात की स्थापना नहीं है। हमें इसके लिए तत्पर रहना चाहिए कि यदि स्थिति का सम्पूर्ण और निष्पक्ष पुनर्विलोकन वर्तमान अनुपात का परिवर्तन आवश्यक समझता है (१ शि० ६ पैं० स्टर्लिंग) तो यह भी सम्भव हो सकता है कि इन परिवर्तित परिस्थितियों में उपयुक्ततम अनुपात १ शि० ४ पैंस न होकर कोई अन्य अनुपात ही हो।

१८. सरकार द्वारा हिल्टन यंग आयोग की रिपोर्ट का स्वीकरण—१६ जनवरी, १९२७ को सरकार ने तीन बिल प्रकाशित किये जिनमें आयोग की सिफारिशें निहित थीं—(१) पहला बिल ब्रिटिश भारत के लिए स्वर्ण प्रमाप करेन्सी स्थापित करने और रिज़र्व बैंक ऑफ़ इण्डिया का निर्माण करने के लिए था। (२) दूसरा बिल १९२० के इम्पीरियल बैंक कानून को सुधारने के लिए था। (३) तीसरा बिल कुछ उद्देश्यों के लिए १९२३ के पत्र-मुद्रा कानून और १९०६ के टंकन कानून को सुधारने और स्वर्ण विनिमय (बाद में बदलकर स्टर्लिंग हो गया) के खरीदने और बेचने के सम्बन्ध में सरकार पर कुछ दायित्व रखने के लिए था। बैंकिंग के अध्याय में हम पहले और दूसरे बिल की चर्चा करेंगे। यहाँ हम तृतीय बिल से सम्बन्धित हैं जो विधान-सभा में ७ मार्च, १९२७ को सर बेसिल ब्लैकेट द्वारा प्रस्तावित किया गया। वित्त मन्त्री ने करेन्सी बिल के सिद्धान्तों को स्पष्ट किया जिसमें कहा गया कि रुपये को स्थिर करने का समय आ गया था और बिल ने भारत के वित्तीय इतिहास में पहला बार इस प्रकार निश्चित दर पर अनुपात को बनाये रखने के लिए करेन्सी अधिकारियों को कानूनन उत्तरदायी ठहराया। युद्ध से पूर्व, स्वर्ण के निश्चित अनुपात से रुपये के गिराव को रोकने के लिए कोई भी वैधानिक व्यवस्था नहीं थी, अतएव रुपये और स्वर्ण का सम्बन्ध अपूर्ण था। सर बेसिल ब्लैकेट ने कहा कि बिल संक्रमणकालीन उपचार के सिवाय और कुछ नहीं था जो उसके पास होने के बाद तथा स्वर्ण प्रमाप और रिज़र्व बैंक एक्ट लागू होने के पहले तक ही कार्यान्वित किया जायगा। हर कदम पर बिल का बुरी तरह से विरोध किया गया, परन्तु अन्त में यह बना दिया गया और १ अप्रैल १९२७ से लागू हुआ।

१९. मार्च १९२७ का करेन्सी एक्ट—बम्बई की टकसाल में २१ रु० ३ आ० १० पा०[१] प्रति तोला शुद्ध स्वर्ण की दर से कम-से-कम ४० तोला (१५ औंस) वाले स्वर्ण-दण्ड के रूप में असीमित स्वर्ण क्रय सम्बन्धी कानून बनाकर सरकार ने १ शि० ६ पैंस के नये अनुपात को स्थापित किया। चाँदी के रुपयों और कागजी नोटों के स्वामी कलकत्ता के करेन्सी-नियंत्रक (करेन्सी कण्ट्रोलर) अथवा बम्बई के करेन्सी उपनियंत्रक (डिप्टी करेन्सी कण्ट्रोलर) को प्रार्थना-पत्र देकर बम्बई की टकसाल से सोना अथवा सरकार की इच्छानुसार लन्दन में तुरन्त अर्पित करने के लिए स्टर्लिंग प्राप्त कर सकते थे, परन्तु शर्त यह थी कि वे २१ रुपया ३ आना १० पाई प्रति तोला शुद्ध स्वर्ण की दर पर कम-से-कम १०६५ तोला (४०० औंस) शुद्ध सोना अथवा

१. विनिमय की समानता इस प्रकार प्रति रुपया ८·४७ ग्रेन शुद्ध सोना था।

स्टर्लिंग की माँग करें और उसका दाम चुकाएँ।[1] बम्बई से लन्दन तक के यातायात व्यय की छूट देकर स्टर्लिंग का विक्रय भी उसी कीमत पर होता था। इन दायित्वों को पूरा करने के लिए स्टर्लिंग की सरकारी विक्रय दर १ शि० ५४९/६४ पें० नियत की गई।[2] १ अप्रैल, १९२७ को, जब इण्डियन करेन्सी एक्ट लागू किया गया, बम्बई टकसाल में स्वर्ण स्वीकार करने की शर्तें प्रकाशित की गईं।

इस कानून के अनुसार सावरेन और अर्ध-सावरेन भारत में कानूनी मुद्रा न रही[3], परन्तु सरकार पर यह दायित्व रखा गया कि वह इन सिक्कों को सभी करेन्सी कार्यालयों और खज़ानों में २१ रु० ३ आ० १० पा० प्रति तोला शुद्ध स्वर्ण के मूल्य पर अर्थात् १३ रुपया ५ आना ४ पाई प्रति सावरेन की दर पर स्वीकार करे। इन सिक्कों के कानूनी मुद्रा न रहने पर भी भारत में सावरेन का प्रशंसनीय आयात हुआ। १९२७ के करेन्सी एक्ट ने देश में स्वर्ण-पिण्ड एवं स्टर्लिंग विनिमय प्रमाप की स्थापना की। स्टर्लिंग देना सरकार की इच्छा पर निर्भर होने के कारण संकुचित अर्थ में इस प्रकार स्थापित प्रमाप स्टर्लिंग विनिमय प्रमाप था, यद्यपि व्यवहार में २० सितम्बर, १९३१ तक इसने स्वर्ण विनिमय प्रमाप के रूप में काम किया, क्योंकि तब तक स्टर्लिंग और सोने का मूल्य समान था। यदि सरकार रुपयों के बदले में स्वर्ण देने के विकल्प का प्रयोग करती तो व्यवहारतः भारत में स्वर्ण प्रमाप ही होता। १९२७ के स्टर्लिंग विनिमय प्रमाप में स्वर्ण प्रमाप बनने की क्षमता थी। इससे यह स्पष्ट होता था कि स्वर्ण प्रमाप निश्चय ही सरकार का उद्देश्य था।[4] पहले विनिमय प्रमाप की तुलना में स्टर्लिंग विनिमय आवश्यक था, क्योंकि इसके अन्तर्गत रुपये और स्वर्ण के नियत सम-मूल्य की स्थापना की गई थी और निश्चित दरों पर स्वर्ण या स्टर्लिंग के क्रय-विक्रय का दायित्व वैधानिक रूप से सरकार पर रखा गया था। अन्य बातों में इसमें वे सभी दोष थे जिनकी चर्चा हम कर आये हैं। (देखिए सेक्शन १-६)

२०. स्टर्लिंग और स्वर्ण का सम्बन्ध तथा भारत में इसकी प्रतिक्रियाएँ—ग्रेट-ब्रिटेन तथा अन्य कई देशों में स्वर्ण प्रमाप की समाप्ति के फलस्वरूप विश्व-करेन्सी तथा विनिमय स्थिति में हुए नाटकीय परिवर्तनों के कारण १९२७ के कानून द्वारा स्थापित द्राव्यिक प्रमाप को मौलिक स्वर्ण (पिण्ड) प्रमाप में परिवर्तित होने का उचित अवसर नहीं मिला। २१ सितम्बर, १९३१ से ग्रेटब्रिटेन ने स्वर्ण प्रमाप को त्याग दिया। उसी तिथि को सोना अथवा स्टर्लिंग बेचने के दायित्व को स्थगित करते हुए गवर्नर जनरल ने एक आर्डिनेन्स जारी किया और राज-सचिव ने १ शि० ६ पेंस स्टर्लिंग की दर पर रुपये को बनाये रखने के निर्णय की घोषणा की। २४ सितम्बर को गवर्नर जनरल ने गोल्ड एण्ड स्टर्लिंग सेल्स रेगुलेशन आर्डिनेन्स

१. देखिये, एल० सी० जैन, मॉनिटरी प्राबलेम ऑफ् इण्डिया, पृष्ठ ३४।
२. रिपोर्ट ऑफ दि कण्ट्रोलर ऑफ करेन्सी (१९२६-२७), पृष्ठ ३।
३. यहाँ यह जानना आवश्यक है कि ब्रिटिश गोल्ड स्टैंडर्ड एक्ट १९२५ द्वारा स्वर्णमुद्रा का विमुद्रीकरण नहीं किया गया, हालांकि स्वतन्त्र मुद्रण बन्द कर दिया गया।
४. जैन, पूर्वोद्धृत पृ० ३५।

को जारी किया, जिसने पुराने आर्डिनेन्स को रद्द कर दिया और पारिभाषिक रूप में १९२७ के करेन्सी कानून के विधानों को पुनः लागू किया, परन्तु इस आर्डिनेन्स के अन्तर्गत व्यवहार में स्टर्लिंग की बिक्री पर प्रभावपूर्ण नियन्त्रण रखा गया और इस प्रकार नियन्त्रित स्टर्लिंग विनिमय प्रमाप प्रारम्भ किया गया। नये आर्डिनेन्स के अन्तर्गत, स्टर्लिंग कुछ मान्यता-प्राप्त बैंकों को ही बेचा जा सकता था जो इस सम्बन्ध में अपना उत्तरदायित्व समझते थे। व्यापार की सामान्य आवश्यकताओं और २१ सितम्बर तक किये गए ठेकों के अर्थ-प्रबन्धन तथा उचित व्यक्तिगत एवं घरेलू उद्देश्यों के लिए यह पहली दर अर्थात् १ शि० ५ ४९/६४ पैंस की पुरानी दर पर बेचा जाता था। यह पिण्ड (बुलियन) के आयात अथवा परिकल्पनात्मक विनिमय के अर्थ-प्रबन्धन के लिए नहीं बेचा जाता था। भारत से धन के प्रवाह को रोकने और सरकार के स्वर्ण एवं स्टर्लिंग साधनों पर अनुचित भार न पड़ने देने के लिए इस प्रकार की सावधानियाँ बरती जाती थीं। इन नियन्त्रणों के लिए इम्पीरियल बैंक की एजेन्सी से काम लिया जाता था। स्टर्लिंग से सम्बद्ध होने के कारण सोने तथा उस पर आधारित अन्य करेन्सियों, जैसे डालर और फ्रैंक, के सम्बन्ध में रुपया स्टर्लिंग के अवमूल्यन एवं उतार-चढ़ाव में स्वाभाविक रूप से भागी होता था। स्टर्लिंग डालर-क्रास-रेट में द्रष्टव्य स्वर्ण के मूल्य की स्टर्लिंग में वृद्धि का अर्थ रुपयों में भी स्वर्ण के मूल्य की वृद्धि होता था। सोने का मूल्य अगस्त, १९३१ के अन्त तक २१ रुपया १३ आना ३ पाई प्रति तोला था, परन्तु दिसम्बर, १९३१ में बढ़कर २९ रुपया २ आना प्रति तोला हो गया।[1] ऊँचे मूल्यों की प्रेरणा और अंशतः ग्रामीण क्षेत्रों में प्रचलित आर्थिक कठिनाई ने जनता को सोना बेचने के लिए प्रस्तुत कर दिया। सितम्बर, १९३१ के अन्त और फरवरी, १९३२ के अन्त के बीच भारत से लगभग ५० करोड़ रुपये के मूल्य का सोना निर्यात किया गया। व्यापारिक स्वर्ण के इस विशाल निर्यात का भारत के व्यापारिक सन्तुलन पर अनुकूल प्रभाव पड़ा। स्वर्ण निर्यात के विपरीत उत्पन्न की गई स्टर्लिंग की पूर्ति माँग से भी अधिक हो गई और स्टर्लिंग की बिक्री पर लगे सरकारी प्रतिबन्ध निरर्थक हो गए। अतएव सरकार ३१ जनवरी, १९३२ को 'गोल्ड एण्ड स्टर्लिंग सेलस रेगुलेशन आर्डिनेन्स' रद्द करने में समर्थ हो सकी। इस प्रकार पारिभाषिक रूप में १९२७ का करेन्सी एक्ट पूर्ण रूप से पुनः लागू कर दिया गया, परन्तु इससे व्यवहार में कोई अन्तर नहीं पड़ा। १ शि० ६ पैंस स्टर्लिंग की दर पर रुपया को बनाए रखने वाली राज-सचिव की घोषणा लागू रही और वस्तुतः भारत स्टर्लिंग विनिमय प्रमाप पर बना रहा।

सरकार की करेन्सी और विनिमय सम्बन्धी नीति के इस पहलू ने तीक्ष्ण विवाद को जन्म दिया। भारतीय विधानमण्डल की राय लिये बिना ही राज-सचिव ने एक नई करेन्सी नीति की घोषणा कर दी, जिससे लोग अप्रसन्न हो गए। इसके अतिरिक्त

१. बाद के वर्षों में सोने का मूल्य और अधिक हो गया। ७ मार्च, १९३५ को ३६ रुपया १३ आना ३ पाई प्रति तोला हो गया। ब्रिटेन द्वारा स्वर्ण प्रमाप छोड़ने के बाद यह सबसे ऊँचा मूल्य था। एनुअल मार्केट रिव्यू (प्रेमचन्द रायचन्द एण्ड सन्स) १९३५, पृष्ठ ८०।

सरकार के विपरीत की गई आलोचनाएँ दो भागों में विभाजित हो गई—(१) १ शि० ६ पैंस पर रुपये का स्टर्लिग से सम्बन्ध, और (२) भारत से सोने का अनियमित निर्यात।

२१. रुपये को १ शि० ६ पैंस से सम्बन्धित करना—सरकार द्वारा अपनाई गई नीति के समर्थन में दिये गए मुख्य तर्क निम्नलिखित हैं—(१) सरकार के पास दो विकल्प थे। रुपये को स्टर्लिंग से सम्बद्ध कर अपेक्षाकृत स्थायित्व प्राप्त करना तथा रुपये के विनिमय मूल्य को नियमित करने के किसी प्रयास के अभाव में पूर्ण अस्थायित्व का जोखिम उठाना। इन विकल्पों में से पहला विकल्प निश्चय ही अधिक पसंद करने योग्य था। (२) यद्यपि हिल्टन यंग आयोग का मत रुपये को स्टर्लिंग से सम्बद्ध करने के विपरीत था, परन्तु इस विचार का, जो साधारण समय में बहुत ठीक था, कठिन परिस्थितियों में अनुसरण नहीं किया जा सकता था। भारत का वार्षिक दायित्व ३२० लाख पौण्ड स्टर्लिंग का था और १५० लाख पौण्ड का स्टर्लिंग ऋण १९३२ के प्रारम्भ में परिपक्व होने वाला था। रुपये को स्टर्लिंग से सम्बद्ध किये बिना इन उद्देश्यों के लिए आवश्यक कोष एकत्र करने में अनेक कठिनाइयाँ थीं। स्टर्लिंग रुपये की स्थिरता के अभाव में भारतीय आय-व्ययक (बजट) विनिमय की द्यूत क्रीड़ा (जुआ) हो जायगा। (३) जब तक भारत ऋणी देश था, तब तक रुपये को अकेला छोड़कर एक अज्ञात दिशा में अचानक कूद पड़ने का जोखिम इंगलैण्ड जैसे साहूकार देशों की तुलना म बहुत अधिक था। (४) स्टर्लिंग पर आधारित देश तथा लन्दन से होने वाला भारत का व्यापार उसके कुल विदेशी व्यापार का बहुत बड़ा भाग था, अतएव इस व्यापार के लिएस्थायी आधार प्राप्त करना उचित ही था। (५) सोने में रुपये के अवमूल्यन के कारण स्वर्ण प्रमाप वाले देशों के साथ भारत के निर्यात व्यापार को प्रोत्साहन—चाहे वह अल्पकालीन ही क्यों न हो—मिलेगा। (६) सरकार के जो आलोचक रुपये को १ शि० ६ पैं० से कम पर स्थिर करना चाहते थे, उनसे तब यह शिकायत करते नहीं बनी जब प्रचलित क्रास रेट पर रुपये का मूल्य १ शि० ४ पैंस से कहीं कम था।

दूसरे पक्ष के प्रधान तर्क इस प्रकार थे—(१) रुपये को स्टर्लिंग से सम्बद्ध करने से भारत स्टर्लिंग के उतार-चढ़ाव का भागी हो गया, जिससे भारत की ही नहीं वरन् इंगलैण्ड की आर्थिक दशा प्रदर्शित होती थी। इसके विपरीत रुपये को अकेला छोड़ देने से निस्सन्देह अस्थायित्व पैदा हो जाता, परन्तु वह स्वयं भारत की दशाओं को प्रदर्शित करता। इस प्रकार विदेशी व्यापार और आन्तरिक मूल्य-स्तर के सम्बन्ध में अपनी आवश्यकताओं के अनुकूल विनिमय-दर अपनाने की स्वतन्त्रता भारत से छीन ली गई। (२) उत्तरी अमरीका जैसे स्वर्ण प्रमाप वाले देशों को निर्यात के लाभ के विपरीत इन देशों से आयात की हानियों को भी ध्यान में रखना चाहिए। साथ ही इस बात को भी ध्यान में रखना चाहिए कि रुपये को स्टर्लिंग से सम्बन्धित करना इंगलैण्ड को दिये गए साम्राज्य अधिमान का एक रूप ही था। (३) यह भय भी था कि १ शि० ६ पैंस की दर पर रुपया स्थिर करने के प्रयास से देश के शेष

सुरक्षित स्वर्ण-कोष समाप्त हो जाते। उसे सुरक्षित रखने के लिए सरकार द्वारा किये गए प्रबन्धों, यथा जनता को स्टर्लिंग बेचने के प्रतिबन्ध, के कारण यह भय अधिक गम्भीर नहीं था। (४) अन्त में यह तर्क भी उपस्थित किया गया कि यद्यपि सोने में रुपये का अवमूल्यन हो गया था, फिर भी १ शि० ६ पेंस की दर पर रुपया अधिमूल्यित था, जबकि येन और अन्य करेन्सियों का स्टर्लिंग में अवमूल्यन हो चुका था। इस प्रकार भारत को काफी हानि उठानी पड़ी।[1]

२२. भारत से स्वर्ण-निर्यात—सितम्बर, १९३१ में ग्रेट ब्रिटेन द्वारा स्वर्ण प्रमाप त्यागने के बाद से जनवरी, १९४० के अन्त तक भारत से ३५१·४० करोड़ रुपये के स्वर्ण का निर्यात किया गया। इस निर्यात की व्याख्या भारत के स्वर्ण साधनों की बरबादी, देशी बैंकिंग प्रणाली की छिन्न-भिन्नता तथा पीढ़ियों की बचत की समाप्ति के रूप में की गई। यह तर्क उपस्थित किया गया कि स्वर्ण निर्यात के आकस्मिक सहयोग ने १ शि० ६ पेंस की दर पर रुपये के अधिमूल्यन को छिपा दिया और सोने के अनियन्त्रित निर्यात ने देश का स्वर्ण-प्रमाप के उद्देश्य तक पहुँचना असम्भव बना दिया। ऐसे अपूर्व पैमाने पर निर्यात किये गए सोने का पुनः खरीदना भारत के लिए आसान नहीं था। भारत के विपरीत विश्व के अन्य देश अपने स्वर्ण-भण्डारों को सुरक्षित रखे हुए थे और सम्भव होने पर उनमें वृद्धि करते जाते थे। अन्त में यह भी कहा गया कि निर्यात किया हुआ सोना संकटापन्न स्वर्ण (डिस्ट्रेस गोल्ड) था और जनता अपनी पूँजी पर निर्वाह कर रही थी। यह विधि अनिश्चित काल तक नहीं चल सकती थी। देश में सोने के निर्यात को पूर्णतया बन्द करने अथवा निर्यात-कर लगाने के पक्ष में काफी सरगर्मी रही। यह प्रस्तावित किया गया कि सरकार (अथवा रिजर्व बैंक ऑफ़ इण्डिया) डालर तथा फ्रान्क स्टर्लिंग क्रास रेट द्वारा नियमित मूल्य पर इस स्वर्ण को स्वयं खरीदे और इस प्रकार अपने सुरक्षित स्वर्ण-कोष को दृढ़ बनाये।[2]

सरकारी नीति[3] के समर्थन में यह तर्क प्रस्तुत किया गया कि विक्रीत सोना करेन्सी-स्वर्ण नहीं था वरन् व्यापारिक स्वर्ण था और मूल्य के भण्डार के रूप में काम करने वाली वस्तु थी। यह इसलिए बेचा गया क्योंकि इसके स्वामियों को इससे लाभ प्राप्त हो रहा था। इसे बेचने का एक अन्य कारण यह भी था कि अपने दायित्वों को

---

१. भारत में स्वर्ण-निर्यात-विवाद के दोनों पक्षों की विवेचना के लिए, बी० आर० शिनाय और बी० पी० अदारकर के लेख 'इण्डियन जर्नल ऑफ इकनामिक्स' जुलाई १९३५ और जनवरी १९३६ में देखिए।

२. सर एम० विश्वेश्वराय, 'प्लाण्ड इकनामी फार इण्डिया', पृष्ठ १८४।

३. अपने आय-व्ययक भाषण के बीच सर जेम्स ग्रिग ने (१९३५ में) सरकारी दृष्टिकोण को इस प्रकार प्रकट किया—"मैं इस विचार से सहमत नहीं हो सकता कि स्वर्ण-निर्यात में कुछ छिपी हुई गूढ़ बातें हैं और वे इस बात का ही संकेत करती हैं कि भारत अपने अन्तिम सुरक्षित कोष से हाथ धोकर परेशानियों से मुक्त हो रहा है। वस्तुतः स्वर्ण-निर्यात किसी भी अन्य वस्तु की तरह, जो भारत में अधिक है, के निर्यात के समान ही है, अतएव मुझे इस बात पर खेद प्रकट करने या उससे भयभीत होने का कोई कारण नहीं दिखाई देता कि भारत अब भी स्वर्ण सुरक्षित कोष से काफी लाभ उठा रहा है जो गत वर्षों में प्रदान किया गया था"—१९३५-३६ का केन्द्रीय आय-व्ययक, पैरा २३।

पूरा करने के लिए अनेक व्यक्ति अपनी सम्पत्तियों को नकद रुपये में बदलने के लिए विवश थे। प्रचलित आर्थिक कठिनाई अत्यन्त शोचनीय थीं, परन्तु स्पष्टतया परेशान व्यक्तियों का हित सबसे महँगे बाजार में सोना बेचने के लिए दी गई असीमित स्वतन्त्रता में था। पुनः यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि व्यक्तिगत अधिकार से सरकार सोने को उस समय तक प्राप्त नहीं कर सकती जब तक कि सोने का मूल्य उसके अधिकारियों के लिए पर्याप्त रूप से आकर्षक न हो। निर्यात किया हुआ सोना भारत के कुल सोने का एक अंशमात्र था। कुल स्वर्ण-भण्डार ७५०० लाख पौण्ड अनुमानित किया गया था। इस देश में जनता की प्रसिद्ध स्वर्ण-भूख का अकस्मात् लोप नहीं हो सकता था, अतएव कालान्तर में मूल्यों के सामान्य हो जाने पर वह पुनः खरीदकर वापस आ जायगा। इस बीच में स्वर्ण-विक्रय व्यापारिक चक्र को स्निग्ध तथा उत्पादन की सहायता कर रहा था। व्यापारिक सन्तुलन पर इसका प्रभाव अनुकूल पड़ा और इसने गतिहीन धातु को सजीव मुद्रा का रूप प्रदान किया। राज-सचिव के लिए स्टर्लिंग विप्रेषण और स्टर्लिंग सुरक्षित कोष को दृढ़तर करने की दृष्टि से सरकार की आर्थिक स्थिति पर इसका अच्छा प्रभाव पड़ा। इसने रुपया स्टर्लिंग विनिमय को १ शि० ६ पेंस की दर पर स्थायित्व प्रदान करने में भी सहायता पहुँचाई और लन्दन तथा विश्व में भारत की साख को सुधार दिया। स्वर्ण-निर्यात ने नोट प्रचलन, पोस्टल केश सर्टिफिकेट, पोस्टल सेविंग्स डिपाजिट, बैंक की जमा आदि में वृद्धि की और सामान्यतः सस्ते द्रव्य की स्थिति उत्पन्न कर देश के व्यापारिक पुनरुत्थान में सहायता पहुँचाई।

स्वर्ण-निर्यात पर लगाये गए कर का भार अन्ततः विक्रेताओं अर्थात् कृषकों पर पड़ेगा। देश की आवश्यकतानुसार रिज़र्व बैंक ऑफ़ इण्डिया द्वारा पर्याप्त सुरक्षित स्वर्ण-कोष प्राप्त करने के मार्ग में जब तक निःहस्तक्षेप की नीति के बाधक सिद्ध होने के लिए पर्याप्त कारण न मिल जाय तब तक सरकार को स्वर्ण के स्वतन्त्र विक्रय पर प्रतिबन्ध लगाने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए।

२३. अनुपात का प्रश्न और रिज़र्व बैंक बिल—हम देख चुके हैं कि किस प्रकार सितम्बर, १९३१ में रुपये को स्टर्लिंग से सम्बद्ध किया गया और मार्च, १९२७ के करेन्सी एक्ट लागू रहने पर भी किस प्रकार भारतीय द्रव्य प्रमाप स्टर्लिंग विनिमय प्रमाप के रूप में काम करने लगा। प्रस्तावित रिज़र्व बैंक ऑफ़ इण्डिया पर लगाए जाने वाले विनिमय सम्बन्धी दायित्वों और बन्धनों की प्रकृति के सम्बन्ध में उचित द्रव्यात्मक प्रमाप और अनुपात का सम्पूर्ण प्रश्न पुनः विवाद का विषय बन गया। रिज़र्व बैंक विधान की लन्दन कमेटी ने अपनी रिपोर्ट (अगस्त, १९३३) में कहा कि बैंक पर लगाये जाने वाले विनिमय-दायित्व के सम्बन्ध में उठने वाले प्रश्न वर्तमान परिस्थितियों में कठिनाई उपस्थित करते हैं। विश्व की वर्तमान द्रव्यात्मक अस्तव्यस्तता के समय में (रिजर्व बैंक) बिल में उन प्रस्तावों को रखना असम्भव है जो द्रव्यात्मक पद्धति के पुनः स्थिर होने पर उचित होंगे। इन परिस्थितियों में भारत के लिए सबसे सुन्दर मार्ग स्टर्लिंग प्रमाप पर रहना ही है। इस आधार पर बिल में निहित

विनिमय-दायित्व बिल पेश करते समय विद्यमान रुपया और स्टर्लिंग के अनुपात के अनुसार होना चाहिए। यह कथन वर्तमान अनुपात के गुण और अवगुण पर कमेटी का कोई मत प्रकट नहीं करता है। बिल में अनुपात सम्बन्धी प्रस्तावों से यह स्पष्ट है कि रिज़र्व बैंक एक्ट के कार्यान्वित होने से ही वस्तुस्थिति में कोई परिवर्तन नहीं होगा। हम सब लोग इससे सहमत हैं कि किसी भी दशा में इसको प्रस्तावना में स्पष्ट कर देना चाहिए कि भारत के लिए उचित द्रव्यात्मक प्रमाप पर उस समय पुनः विचार किया जाय जब अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति स्पष्ट रूप से समक्ष आ जाय और स्थायी विधान के लिए पर्याप्त रूप से स्थिर हो जाय। (पैरा १९) जैसा कि कमेटी ने स्वयं स्वीकार किया है, भारतीय प्रतिनिधियों के बहुमत ने अपने इस विचार को अंकित करना अपना कर्तव्य समझा कि रिज़र्व बैंक के कार्यों की सफलता के लिए उचित विनिमय-अनुपात का होना आवश्यक था। पिछले कुछ वर्षों में विश्व के लगभग सारे देशों में करेन्सी के आधारों और करेन्सी नीति में पर्याप्त परिवर्तन हो चुके थे। उनके अनुसार भारत को करेन्सी पद्धति पर निम्नतम भार रखने के विचार से भारत सरकार और विधानमण्डल को इन बातों की परीक्षा करनी चाहिए। एक पृथक् नोट में सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास ने रिज़र्व बैंक ऑफ़ इण्डिया के उद्घाटन से पूर्व अनुपात के पुनर्विलोकन का जोरदार समर्थन किया और आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैण्ड और संयुक्तराज्य के उदाहरण प्रस्तुत किये, जिन्होंने व्यापारिक सन्तुलन के सुधार और मूल्य-वृद्धि के लिए अपनी करेन्सियों का अवमूल्यन किया था। उन्होंने भारत के इस दृढ़ मत को उद्धृत किया कि १ शि० ६ पैं० के वर्तमान अनुपात की कमी से किसानों को बहुत सहायता मिलेगी। रिज़र्व बैंक बिल सितम्बर, १९३३ में संयुक्त प्रवर समिति (ज्वायण्ट सलेक्ट कमेटी) को सौंपा गया। इसके सदस्यों में भी विचारों की ऐसी ही विभिन्नता थी। बहुमत ने लन्दन कमेटी की वस्तु-स्थिति को ज्यों-का-त्यों रहने देने की सिफारिश का समर्थन किया और स्थायी उपायों के प्रश्न को भविष्य के लिए छोड़ दिया। जब नवम्बर, १९३३ में प्रवर समिति (सलेक्ट कमेटी) द्वारा प्रस्तुत रिज़र्व बैंक बिल विधानसभा के सामने पेश हुआ तो सदस्यों द्वारा अनुपात सम्बन्धी अनेक सुधार प्रस्तावित किये गए। जिस समय बिल विधानसभा में प्रस्तुत था उस समय इण्डियन करेन्सी लीग ने १ शि० ६ पैं० के अनुपात के विरुद्ध देशव्यापी आन्दोलन उठाया।

२४. **नये करेन्सी अधिकारी के रूप में रिज़र्व बैंक ऑफ़ इण्डिया को विनिमय-दायित्व**—१९३४ के कानून में निहित अनुपात सम्बन्धी धाराओं (४० और ४१) ने रिज़र्व बैंक विधान के लिए नियुक्त लन्दन समिति की सिफारिशों को कार्यान्वित किया। रिज़र्व बैंक से वर्तमान अनुपात (१ शि० ६ पैं० स्टर्लिंग) को उच्चतर और निम्नतर बिन्दु के बीच व्यवस्थित करने के लिए कहा गया, मानो रुपया स्वर्ण-प्रमाप पर था। चालीसवीं धारा के अनुसार रिज़र्व बैंक अपने कार्यालयों—बम्बई, कलकत्ता, मद्रास, दिल्ली और रंगून—में कानूनी मुद्रा में भुगतान करने पर किसी भी व्यक्ति को लन्दन में देने के लिए १ शि० ५$\frac{49}{64}$ पेंस की दर पर स्टर्लिंग बेचने के लिए बाध्य था।

इस विधान का अर्थ रुपये को १ शि० ५$\frac{४९}{६४}$ पैं० से नीचे गिरने से बचाना है, जो रुपये के निम्नतर विन्दु के अनुरूप था। (१ शि० ६ पैं०—स्टर्लिंग की इस मात्रा को लन्दन में रखने का व्यय) इसके विपरीत धारा ४१ के अनुसार तत्काल ही लन्दन में देने के लिए १ शि०६$\frac{३}{१६}$ पैं० की दर पर किसी भी व्यक्ति से स्टर्लिंग खरीदना वैंक के लिए आवश्यक था। यह दर रुपये के उच्चतर विन्दु के अनुरूप थी (१ शि० ६ पैं०+इस मात्रा की स्टर्लिंग को लन्दन से वम्वई आयात करने का व्यय)। यह भी निर्धारित किया गया कि कोई भी व्यक्ति १० हजार पौण्ड से कम मात्रा में स्टर्लिंग की माँग वेचने और खरीदने के लिए नहीं कर सकता।[1]

इस प्रकार रिज़र्व वैंक एक्ट ने वर्तमान अनुपात को वैधानिक रूप दे दिया और भारत में एक परिष्कृत स्टर्लिंग विनिमय प्रमाप की स्थापना की, क्योंकि रिज़र्व वैंक रुपये की निश्चित परिनियत समता वनाये रखने के लिए कानून द्वारा वाध्य थी। दो पृथक् करेन्सी सुरक्षित कोष समाप्त कर दिये गए और नये करेन्सी अधिकारी के रूप में रिज़र्व वैंक ऑफ़ इण्डिया नोट जारी करने, करेन्सी सुरक्षित कोष रखने और करेन्सी पद्धति को चलाने के लिए नियुक्त हुई और इस प्रकार उसने सरकार का स्थान ग्रहण कर लिया, जो पहले द्रव्यात्मक दायित्वों के लिए उत्तरदायी थी।[2] फिर भी यह परिष्कृत स्टर्लिंग विनिमय प्रमाप उन आलोचनाओं का विषय वना रहा जिनका संकेत इस अध्याय में पहले किया गया है (देखिए सेक्शन १-६)। रिज़र्व वैंक एक्ट की प्रस्तावना में लन्दन कमेटी का यह प्रस्ताव निहित था कि भारत के लिए उपयुक्ततम द्रव्यात्मक प्रमाप पर उस समय विचार किया जाय जवकि स्थायी उपाय अपनाना अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति की दृष्टि से सम्भव हो।

२५. अवमूल्यन का पक्ष और विपक्ष[3]—उपर्युक्त प्रवन्ध सरकार की करेन्सी नीति के आलोचकों और भारतीय व्यापारिक समाज में अवमूल्यन के समर्थकों को सन्तुष्ट न कर सका (सेक्शन २३ भी देखिए)। उदाहरण के लिए, भारतीय व्यापारिक मण्डल वम्वई के सभापति श्री मनु सूवेदार ने मूल्यों में वृद्धि और किसानों को सहायता देने के विचार से अनुपात के पुनर्विलोकन का प्रस्ताव रखा। वित्त-मंत्री ने उत्तर दिया कि वर्तमान अनुपात के साथ खिलवाड़ करने में वे किसी भी समूह के साथ नहीं रहेंगे। भारत में कृषि-वस्तुओं की मूल्य-वृद्धि को स्वागत योग्य वताते हुए उन्होंने कहा कि अनुपात के कम करने का प्रभाव यह होगा कि कृषि-मूल्य ज्यों-के-त्यों वने रहेंगे या और कम हो जायँगे तथा वढ़ जायँगे। कृषि-मूल्यों तथा अन्य मूल्यों की असमता को ध्यान में रखते हुए ऐसे परिणाम से किसानों की स्थिति और खराव हो जायगी। इसके अतिरिक्त वित्त सदस्य के विचार में अनुपात कम करने से भारत की आय-

१. अप्रैल, १६४७ के रिज़र्व वैंक ऑफ़ इण्डिया अमेण्डमेण्ड एक्ट ने धारा ४०-४१ को रद्द कर दिया और इसलिए अव स्टर्लिंग को वेचने और खरीदने का कोई परिनियत दायित्व रिज़र्व वैंक पर नहीं है।

२. देखिए, अध्याय ११।

३. अवमूल्यन सम्वन्धी विवाद के विस्तृत आलोचनात्मक विवरण के लिए देखिए, वी० एन० अदारकर, 'डिवेल्युएशन ऑफ़ दि रुपी' (१६३७)।

व्ययक सम्बन्धी समस्याएँ, जो अभी बहुत कठिन हैं, हल न हो सकेंगी। (१६३६-४५ के युद्ध के कुछ पूर्व के आय-व्ययक की बचत इस तर्क के विरुद्ध थी।) सस्ते द्रव्य की विद्यमान प्रचुरता ने, जो मूल्य-वृद्धि का मान्यता-प्राप्त सामान्य साधन है, भारत में अस्वास्थ्यकर परिकल्पना की परिस्थितियों को जन्म दिया, जिससे प्रतीत होता था कि कृषि-प्रधान देश में मूल्य की वृद्धि के लिए सस्ता द्रव्य-मात्र ही पर्याप्त नहीं है। वित्त-मन्त्री के विचार में सस्ते द्रव्य के अतिरिक्त यह भी आवश्यक था कि विश्व के देशों में अपनी-अपनी करेन्सियों को स्थिर करने और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर से प्रतिबन्ध कम करने की सहमति हो। अक्तूबर, १६३६ में रुपये के अवमूल्यन के सम्बन्ध में विवाद उठ खड़ा हुआ, जो सितम्बर में फ्रांक तथा स्वर्ण-समूह देशों की करेन्सियों के अवमूल्यन की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप भारत में उत्पन्न हुआ था। अवमूल्यन के समर्थकों ने विधानसभा में काम स्थगित करने का प्रस्ताव पेश किया जो केवल सभापति के वोट से ही हराया गया।

अवमूल्यन के पक्ष में यह तर्क प्रस्तुत किया गया कि फ्रान्क तथा अन्य करेन्सियों के अवमूल्यन की दृष्टि से भारतीय करेन्सी का उनसे पुनः सामंजस्य स्थापित करना आवश्यक था। १ शि० ६ पें० पर रुपया अधिमूल्यित था तथा अवमूल्यन से भारत में न केवल कृषि सम्बन्धी मूल्य ही बढ़ेंगे वरन् निर्यात व्यापार का पुनरुत्थान होगा एवं व्यापारिक सन्तुलन अनुकूल हो जायगा और इस प्रकार स्वर्ण का निर्यात अनावश्यक हो जायगा। यह भी कहा गया कि रुपये का अवमूल्यन ऋणी कृषकों को मुक्ति प्रदान करेगा, देश के औद्योगिक विकास को उत्साहित करेगा और सामान्यतः व्यापारिक पुनरुत्थान में सहयोग देगा।

इसके विपरीत अवमूल्यन के विरोधियों ने यह तर्क प्रस्तुत किया कि उस समय भारत द्वारा करेन्सी का अवमूल्यन (१६३६) इंगलिस्तान (यूनाइटेड किंगडम), संयुक्तराज्य और फ्रांस द्वारा किये गए त्रिपक्षी द्राव्यिक समझौते को भंग कर देगा और इससे विश्व की करेन्सियों के स्थिरीकरण पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। भारत द्वारा रुपये का अवमूल्यन अन्यत्र प्रतिकारों को उत्तेजित करेगा और करेन्सी-युद्ध को पुनर्जीवित कर देगा। स्टर्लिंग से सम्बद्ध होकर सोने की तुलना में रुपये का ४० प्रतिशत अवमूल्यन हो चुका था। अतएव रुपये के और अधिक अवमूल्यन की आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि उपर्युक्त अवमूल्यन के फलस्वरूप भारत स्टर्लिंग क्षेत्र के आर्थिक पुनरुत्थान में भाग लेने योग्य हो गया था। रुपये को अधिमूल्यित नहीं कहा जा सकता था, क्योंकि करेन्सी के अधिमूल्यन का कोई चिह्न ही न था। उदाहरण के लिए, वजट का घाटा, द्रव्य की ऊँची दर, करेन्सी सुरक्षित कोष में सोने की कमी, ह्रासमान व्यापारिक सन्तुलन और मुद्रा-संकुचन जैसे कोई चिह्न विद्यमान नहीं थे। यूरोपीय करेन्सियों के अवमूल्यन ने भारत को अधिक प्रभावित नहीं किया और विदेशी करेन्सियों के अवमूल्यन के फलस्वरूप हुए राशिपतन से अपने उद्योगों की सुरक्षा के लिए १८६४ के प्रशुल्क अधिनियम (टैरिफ एक्ट) से भारत सुसज्जित था। जहाँ तक हमारे अति अभिलषित निर्यात व्यापार के पुनरुत्थान का सम्बन्ध है, अवमूल्यन प्रति-

कार की भावना को उत्तेजित कर स्थिति को और विगाड़ देगा। वास्तविक कठिनाई विदेशों की आर्थिक राष्ट्रीयता और व्यापारिक प्रतिवन्ध थे, अतएव इसका उचित हल अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना और शांति की वृद्धि तथा करेन्सियों का स्थिरीकरण था। अन्त में यह भी कहा गया कि अवमूल्यन करना भारत के लिए बुद्धिमानी न होगी, क्योंकि इससे नये विधान के अन्तर्गत प्रान्तीय स्वतन्त्रता प्राप्त होने के समय ही ओटो-निमेयर (आर्थिक) निर्णय गड़वड़ हो जायगा।

१९३७-३८ की आर्थिक मन्दी के परिणामस्वरूप सोने और व्यापारिक माल के निर्यात में अवनति से रुपये के विनिमय अर्थ में हुई कमी ने अवमूल्यन आन्दोलन को पुनः जागृत करने के लिए समर्थन प्रदान किया। इण्डियन नेशनल कांग्रेस की कार्य-कारिणी समिति ने रुपये के अनुपात को संशोधित कराने का काम अपने हाथ में ले लिया। भारत सरकार परिनियत अनुपात में किसी भी प्रकार के परिवर्तन के विरुद्ध थी और उसने घोषणा की कि रुपये का वर्तमान मूल्य वनाये रखना भारत के हित में आवश्यक था तथा इस कार्य के लिए रिज़र्व वैंक और भारत सरकार के पास स्वर्ण एवं स्टर्लिंग सम्पत्ति प्रचुर मात्रा में थी। फिर भी आन्दोलन जोर पकड़ता गया और सितम्बर, १९३८ में भारतीय द्रव्यात्मक पद्धति के स्थायी आधार को निश्चित करने तथा रुपये के अनुपात के सम्पूर्ण प्रश्न पर रिपोर्ट देने के लिए एक कमेटी की नियुक्ति का असफल प्रयत्न केन्द्रीय विधानसभा के कुछ गैर-सरकारी सदस्यों द्वारा किया गया।

व्यापारिक सन्तुलन में सुधार होने के वाद रुपया विनिमय में दिसम्वर, १९३८ तक स्थिर रहा। १९३८ में अग्रिम विनिमय दर (फारवर्ड एक्सचेंज रेट) कमजोर हुई तो यह कमी परिकल्पना से और भी वढ़ गई, परन्तु भारत सरकार वर्तमान विनिमय दर रखने के निर्णय पर डटी रही। निर्यात व्यापार में मौसमी क्रियाशीलता पुनः आरम्भ होने और द्राव्यिक दरों की स्थिरता के साथ विनिमय दर सुधरकर मार्च, १९३९ में १ शि० ५$\frac{३}{३२}$ पैं० हो गई। मई, १९३९ में मन्दी की अस्थायी प्रवृत्ति को छोड़कर सितम्वर, १९३९ में युद्ध के प्रारम्भ होने तक विनिमय-दर स्थिर रही।[1] युद्ध ने एक-दम परिवर्तन ला दिया और ३ सितम्वर के वाद भारतीय उत्पत्ति और स्वर्ण के प्रवाह (वाह्य) ने विनिमय-प्रवन्ध की ऐसी समस्याएँ उत्पन्न कर दीं जो गत वर्ष की समस्याओं के विलकुल विपरीत थीं। रुपया, जो १९३८ में अधिमूल्यित समझा जाता था, मित्र राष्ट्रों द्वारा जर्मनी के साथ युद्ध की घोषणा करने के वाद अवमूल्यित समझा जाने लगा।[2]

२६. अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्यात्मक कोष और रुपये का सम-मूल्य—३१ दिसम्वर, १९४५ से पहले दोनों समझौतों पर हस्ताक्षर करके भारत सरकार ने व्रेटन वुड्स समझौते पर डटे रहने तथा अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्यात्मक कोष एवं अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण और विकास वैंक की प्रारम्भिक सदस्यता के लाभ भारत के लिए प्राप्त करने का

१. देखिए, रिपोर्ट ऑन करेन्सी एण्ड एक्सचेंज, १९३८-३९ (पैरा २७) और १९३९-४० (पैरा २३)।
२. देखिए, एनुअल मार्केट रिव्यू (१९३९), पृष्ठ १८ और सेक्शन २८ भी देखिए।

निर्णय किया।[1]

देश के जानकार लोग केवल भौतिक लाभ के लिए ही नहीं वरन् देश की अन्तर्राष्ट्रीय महत्ता और प्रतिष्ठा के कारण भी इन महत्त्वपूर्ण संगठनों में भारत के भाग लेने के पक्ष में थे। इसलिए सरकार ने विधानसभा की स्वीकृति से पहले ही कदम उठाना उचित समझा, ताकि प्रारम्भिक सदस्यता का लाभ समाप्त न हो जाय। बाद में विधानसभा की स्वीकृति प्राप्त कर ली गई। प्रारम्भिक सदस्यता के निम्नलिखित लाभ थे—(१) भारत को सदस्यता की शर्तें और अपना कोटा ज्ञात था, जबकि ३१ दिसम्बर १९४५ के बाद सदस्यता की शर्तें कोष और बैंक द्वारा निश्चित की जातीं। (२) प्रारम्भिक सदस्य की हैसियत से भारत प्रारम्भ से ही प्रशासन संचालकों में स्थान ग्रहण करने का अधिकारी होता, जबकि बाद में इस अधिकार के लिए भारत को कम-से-कम दो वर्ष तक प्रतीक्षा करनी पड़ती।

रिजर्व बैंक के परामर्श और दृढ़ जनमत के अनुसार भारत सरकार ने कोष को सूचित किया कि रुपये के सममूल्य में कोई परिवर्तन नहीं होगा। इस सम्बन्ध में दिसम्बर, १९४६ में जारी की गई सरकारी प्रैस विज्ञप्ति से निम्नलिखित उद्धरण दिये जाते हैं—

'अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्यात्मक कोष के समझौते की धाराओं में धारा २० सेक्शन ४ (क) के अन्तर्गत १२ सितम्बर, १९४६ को भारत सरकार से निवेदन किया गया कि वह २८ अक्तूबर, १९४५ अर्थात् समझौते प्रारम्भ होने से साठ दिन पूर्व प्रचलित दरों के अनुसार रुपये का सम-मूल्य अमरीकी डालर अथवा सोने के रूप में स्पष्ट कर १२ अक्तूबर, १९४६ तक कोष को सूचित कर दे। उस दिन प्रचलित विनिमय दरों, जैसे १ रु०=१ शि० ६ पैं०, १ पौण्ड=४·०३ डालर और १ औंस शुद्ध सोना=३५ डालर, के आधार पर सोने के रूप में रुपये का सम-मूल्य ०·००८६३५७ औंस शुद्ध सोना हुआ और यही कोष को सूचित कर दिया गया।'....

'सापेक्षिक परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए और प्राप्त विचारों के बहुमत के अनुरूप भारत सरकार ने निर्णय किया कि रुपये के सम-मूल्य में परिवर्तन करने की कोई आवश्यकता नहीं है। कोष को इस निर्णय से सूचित करने के साथ ही यह सूचना भी दी गई कि शुद्ध गणना के लिए रुपये के सम-मूल्य को औंस सोने में प्रकट करने के बजाय निम्न प्रकार से सोने के ग्रेन ट्राय के रूप में प्रकट करना चाहिए :

सोने को भाजक संख्या के रूप में प्रयोग करते हुए सिद्धान्ततः एक रुपये में ४·१४५१४२८५७ ग्रेन शुद्ध सोने के तत्त्व समझे जाने चाहिए। सोने के इस वजन से रुपये और डालर की दर ३·३०८५१९४ रुपया (अमरीकी) हुई और स्वर्ण का सम-मूल्य २११५ रु० १२—१·२५०५६ प्रति औंस शुद्ध सोना हुआ।[2]

१. भारत की ओर से वाशिंगटन में भारत के एजेण्ट जनरल ने जिस दिन दस्तखत किये वह दिन २७ दिसम्बर १९४५ था।

२. यह १९१४ के पूर्व के अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण प्रमाप का सुधार-मात्र ही नहीं था। अब स्वर्ण और पूँजी के प्रवाह का १९१४ की पद्धति जैसा महत्त्व नहीं रहेगा। इसका एक कारण यह है कि अब केन्द्रीय बैंकों ने ऐसे प्रवाहों को प्रभावहीन बनाने की विधि पूर्ण कर ली है। इसके अतिरिक्त सदस्य देशों की

सम-मूल्य को परिवर्तित न करने के मुख्य कारण निम्नलिखित थे—

(१) प्रचलित आर्थिक दशाओं की अनिश्चितता और संक्रमणकालीन रूप को देखते हुए विश्वास के साथ यह कहना सम्भव नहीं था कि उपयुक्ततम अनुपात कौनसा होगा। अतएव परिस्थितियों के और अधिक स्थायी होने तक अनुपात-परिवर्तन के प्रश्न को स्थगित करना वाञ्छनीय था।

(२) यद्यपि ब्रिटेन और संयुक्तराज्य की तुलना में भारत के ऊँचे मूल्य-स्तर रुपये के अवमूल्यन की आवश्यकता का संकेत करते प्रतीत हो रहे थे, परन्तु इस बात की भी सम्भावना थी कि निकट भविष्य में मूल्य के दोनों स्तर भारत में मूल्यों के गिराव और इंगलिस्तान (युनाइटेड किंगडम) तथा संयुक्तराज्य में मूल्यों की वृद्धि के फलस्वरूप एक-दूसरे के अत्यन्त निकटतर आ जायँगे।

(३) अवमूल्यन भारतीय मूल्यों के अत्यन्त ऊँचे स्तर को और ऊँचा कर देगा और अत्यधिक ऊँचे मूल्यों को कम करने के लिए अत्यधिक समर्थन-प्राप्त घोर उत्पादन तथा स्वतन्त्र आयात की नीति में बाधक सिद्ध होगा।

अवमूल्यन से मशीनों आदि के मूल्य में वृद्धि हो जायगी। औद्योगीकरण के लिए भारत विदेशों से इनका आयात करने के बारे में सोच रहा था। अतएव इनका रुपया-मूल्य बढ़कर अवमूल्यन औद्योगीकरण में भी बाधक सिद्ध होगा।

(४) कोष की योजना के अन्तर्गत भविष्य में यदि अनुपात में उचित परिवर्तन करना आवश्यक हो, तो यह सदैव सम्भव होगा। सदस्य देश स्वयं सम-मूल्य के १० प्रतिशत तक परिवर्तन कर सकता था और मौलिक असन्तुलन को ठीक करने के लिए और अधिक परिवर्तन बाद में कोष की आज्ञा से किया जा सकता था।

२७. रुपये का अवमूल्यन (सितम्बर १९४९)—१९ सितम्बर, १९४९ को ब्रिटिश सरकार ने पौंड स्टर्लिंग के अवमूल्यन की घोषणा की। पौंड-डालर विनिमय की सरकारी दर १ पौंड=४·०३ डालर थी। नया अनुपात १ पौण्ड=२·८० डालर निश्चित किया गया। भारतीय रुपये ने इसका अनुसरण किया। परिणामतः रुपया १ शि० ६ पें० के बराबर रहा, परन्तु डालर में ३०·२२५ अमरीकी सेण्ट के स्थान पर वह २१ सेण्ट के बराबर ही रह गया।[1]

पौण्ड-स्टर्लिंग का अवमूल्यन कम-से-कम २४ अन्य देशों द्वारा करेन्सियों को अवमूल्यित करने का सिगनल था, जिनमें से कुछ स्टर्लिंग क्षेत्र के बाहर और कुछ भीतर थीं। इंगलिस्तान द्वारा स्टर्लिंग के अवमूल्यन के निर्णय ने, जिसका अनुसरण अन्य बहुत से देशों ने भी किया, भारत को भी अवमूल्यन के लिए विवश कर दिया। भारत का विदेशी व्यापार अधिकतर स्टर्लिंग क्षेत्र के देशों के साथ था और यदि रुपया

स्थिति को ठीक करके विनिमय-स्थायित्व बनाये रखने की जिम्मेदारी अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्यात्मक कोष की होगी। इस रूप में स्वर्ण का पहले जैसा निर्णयात्मक भाग नहीं रहेगा।

१. यदि १ पौण्ड २८० सेण्ट के बराबर हो तो १ शि० ६ पैंस, जो रुपये का सम-मूल्य है, २१ सेण्ट के बराबर हुआ। ग्राम में शुद्ध स्वर्ण का सम-मूल्य प्रति रुपया ०·१८६६२१ हुआ, जिसके अनुसार प्रति औंस शुद्ध सोने का मूल्य १६६·६६६६ रुपया हुआ।

स्टर्लिंग की तुलना में अधिमूल्यित हो जायगा तो भारतीय निर्यात पहले से अधिक महँगे हो जायँगे जिससे अपने पुराने बाज़ारों में उनका बेचना कठिन हो जायगा। निर्यात की कमी से कालान्तर में आयात कम हो जायँगे और यह हमारी आर्थिक व्यवस्था के लिए हानिकर सिद्ध होगा। आवश्यक आयात की कमी होने पर आर्थिक विकास और औद्योगिक प्रसार की हमारी योजनाओं को पूरा करना कठिन हो जायगा। अन्य देशों में सामान्यत: आशा यह थी कि इंगलिस्तान द्वारा अवमूल्यन किये जाने पर भारत भी अवमूल्यन से बच नहीं सकेगा, अतएव पुरानी विनिमय-दरों पर किसी भी प्रकार का व्यापार करने में यह भावना मनोवैज्ञानिक बन्धन का काम करती और व्यापार ठप हो गया होता। इसलिए भारत ने भी अन्य स्टर्लिंग वाले देशों की तरह एक रक्षात्मक उपाय के रूप में रुपये का अवमूल्यन करने के लिए अपने को विवश पाया। सरकार को आशा थी कि अवमूल्यन का प्रभाव मुख्यत: देश से उत्पन्न वस्तुओं पर नहीं पड़ेगा जो प्रधानत: हमारे रहन-सहन के व्यय से सम्बन्धित हैं। चालू वर्ष से डालर वाले देशों से खाद्यानों का कोई आयात होने वाला नहीं था, इसलिए यह आशा की गई कि खाद्यान्नों के मूल्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा तथा व्यापार के लिए डालर-क्षेत्र की अपेक्षा स्टर्लिंग क्षेत्र पर हमारी निर्भरता अधिक होने के कारण सामान्य मूल्य-स्तर अथवा उत्पादन-लागत में वृद्धि नहीं होगी और वस्तुओं का आन्तरिक मूल्य भी प्रभावित नहीं होगा। इसके अतिरिक्त मूल्यों की वृद्धि की किसी भी प्रवृत्ति का सामना नियमन अधिकार युक्तीकरण और उत्पादन की वृद्धि से किया जा सकता है।

स्टर्लिंग क्षेत्र के देशों में केवल पाकिस्तान ने अपनी करेन्सी के अवमूल्यन के विरुद्ध निर्णय किया, क्योंकि देश के व्यापारिक भुगतानों में मौलिक असन्तुलन नहीं था तथा पाकिस्तान के निर्यात का कोई विशेष प्रसार, जो प्राय: कच्चे माल का ही था, अवमूल्यन से सम्भव नहीं था। मुद्रा-अवमूल्यन न करने से देश की आर्थिक व्यवस्था को हानि तो होगी ही नहीं वरन् इसके विपरीत देश को अनेक महत्त्वपूर्ण लाभ भी होंगे। इससे आयात सस्ते हो जायँगे, जिसका देश में रहन-सहन के व्यय पर स्वागत-योग्य प्रभाव पड़ेगा—विशेपकर पूर्वी पाकिस्तान में, जहाँ कुछ समय से मुद्रा-स्फीति स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर हो रही है। मशीनें और आवश्यक कच्चे माल को मुद्रा-अवमूल्यन वाले देशों से कहीं अधिक अनुकूल मूल्यों पर प्राप्त किया जा सकेगा और इस प्रकार औद्योगिक विकास में सुविधा होगी।

अवमूल्यन के विषय में भारत का अनुसरण करने में पाकिस्तान की अनिच्छा ने दोनों देशों के बीच तनातनी को और बढ़ा दिया। भारत को निर्यात की गई जूट तथा अन्य कच्ची वस्तुओं के मूल्य की अदायगी पाकिस्तान नई दर पर माँगने लगा जिसका अर्थ यह था कि भारत को पहले के १०० रु० के बदले अब १४४ रुपया चुकाना पड़ता था।[१] भारत ने इस बढ़ी हुई दर पर अदायगी करना स्वीकार नहीं किया, क्योंकि उसे विश्वास था कि आर्थिक शक्तियों के प्रभाव से पाकिस्तान को भी

---

१. भारत का १०० रुपया नई दर पर संयुक्त राज्य के २१०० सेण्ट के बराबर था और पाकिस्तान का १०० रुपया पुरानी दर पर ३०२२ सेण्ट के बराबर था अर्थात् भारत के १४४ रुपये के बराबर था।

अपनी करेन्सी का अवमूल्यन करना पड़ेगा। इससे दोनों देशों के बीच व्यापारिक सम्बन्ध लगभग बन्द हो गए और दोनों देशों को बड़ी कठिनाई और हानि उठानी पड़ी।[1]

२८. द्वितीय विश्वयुद्ध का भारतीय चलार्थ (करेन्सी) और विनिमय पर प्रभाव[2]— भारत की आर्थिक व्यवस्था पर युद्ध के प्रारम्भिक प्रभाव अनेक क्षेत्रों में युद्धजनित अवश्यम्भावी अस्तव्यस्तता के बावजूद भी देश के लिए लाभदायक थे; उत्पादन-मूल्य और विदेशी व्यापार को काफी प्रोत्साहन मिला और कृषक की स्थिति में भी सुधार हुआ। भारतीय करेन्सी और वित्तीय पद्धति ने युद्ध के भार को भली भाँति सहा। कुछ स्थानों पर नोटों को सिक्के में बदलने की वर्धमान माँग के बावजूद भी कागजी करेन्सी में विश्वास बना रहा। अनिश्चितता के कारण प्रारम्भ में बैंक-निक्षेप और प्रतिभूतियों के मूल्य गिर गए, परन्तु बाद में इनमें वृद्धि हुई। युद्ध के कारण रुपया-स्टर्लिंग विनिमय कठिन हो गया, जोकि इस बात से प्रकट है कि बहुत समय के बाद दिसम्बर-फरवरी (१९४०) के टेलिग्राफिक ट्रान्सफर के लिए १ शि० ६ पेंस की दर प्रयुक्त हुई। रिज़र्व बैंक ऑफ़ इण्डिया भी देश के खजानों की आवश्यकता तथा करेन्सी सुरक्षित कोष की बाह्य सम्पत्ति की वृद्धि के लिए अधिक मात्रा में स्टर्लिंग खरीदने में सफल हुई (नीचे सेक्शन ३० और अध्याय ११ देखिए)। यह १९१४-१८ के युद्ध के प्रारम्भ होने पर रुपया-स्टर्लिंग विनिमय की निर्बलता के बिलकुल विपरीत है। उस समय (१९१४-१८) तो रुपया अनुपात की सहायता के लिए सरकार द्वारा स्टर्लिंग की बिक्री की गई थी।

यद्यपि स्टर्लिंग के सम्बन्ध में रुपया स्थिर रहा, परन्तु डालर, येन और महाद्वीपीय करेन्सियों के सम्बन्ध में पौंड की मन्दी के बाद इसका (रुपये) मूल्य कम हो गया। (जर्मनी द्वारा घिरे होने अथवा अधिकृत होने के कारण प्रमुख महाद्वीपीय करेन्सियों की विनिमय-दरों की सूचनाएँ समाप्त हो गईं) १ पौण्ड = ४·०२ डालर की दर पर स्टर्लिंग को डालर के साथ स्थिर करने के कारण रुपया और डालर की विनि-

---

१. अवमूल्यन के बाद भारत की आर्थिक स्थिति और खराब होने तथा मुख्य स्थिति की दशा एक समस्या बन जाने पर, रुपये के पुनर्मूल्यन का प्रश्न उठाया गया। डॉ० मथाई रुपये के पुनर्मूल्यन के प्रमुख समर्थक हुए। उनके अनुसार मुद्रास्फीति के नियन्त्रण के अन्य उपाय, यथा साख नियन्त्रण, सार्वजनिक व्यय सम्बन्धी मितव्ययता, करारोपण आदि, प्रभावपूर्ण नहीं थे अतएव पुनर्मूल्यन ही एक उचित उपाय था।

पुनर्मूल्यन के विरोधियों ने विश्व की परिवर्तनशील स्थिति में भारत द्वारा ऐसा क़दम उठाना अनुपयुक्त बताया। रिज़र्व बैंक के विशेषज्ञों का अनुमान था कि १५% पुनर्मूल्यन से विदेशी व्यापार के लिए देश को ५० करोड़ रु० का घाटा होगा, ३०% पुनर्मूल्यन से १३५ करोड़ रु० का घाटा होगा, जबकि पुनर्मूल्यन न करने से संतुलन बना रहेगा।

यद्यपि विशेषज्ञों के कथन एकदम सत्य नहीं माने जा सकते, क्योंकि उनके अनुमानों की सत्यता सन्दिग्ध है, फिर भी इतना अवश्य कहा जा सकता है कि अब पुनर्मूल्यन की कोई आवश्यकता नहीं है और वर्तमान विनिमय दर का परिस्थितियों से सामंजस्य हो गया है।

२. देखिए, 'एनुअल रिपोर्ट ऑफ़ दि रिज़र्व बैंक ऑफ़ इण्डिया' (फरवरी १९४०, पृ० १४, २३-२४, अगस्त १९४०, पृ० ११-१२, १८), और 'रिपोर्ट ऑन करेन्सी एण्ड फाइनेन्स', (१९३९-४०) पैरा २३-२४।

मय दर १०० डालर=३३२ रुपया के आसपास स्थिर रही। युद्ध प्रारम्भ होने के बाद बढ़ती हुई व्यापारिक क्रियाशीलता और वस्तुओं के मूल्यों की वृद्धि के प्रत्युत्तर में जब बैंक ऑफ़ इण्डिया ने १९३९ में सितम्बर और दिसम्बर के बीच बैंक नोट और सिक्कों के रूप में ४८ करोड़ रुपये से करेन्सी का विस्तार किया तो सक्रिय प्रचलन में नोटों की औसत संख्या सितम्बर, १९३९ में १८६·०६ करोड़ रुपये थी। जून, १९४० में यह २३७·२९ करोड़ रुपये हो गई। करेन्सी का यह विस्तार रिज़र्व बैंक द्वारा ट्रेजरी बिल और स्टर्लिंग की पर्याप्त खरीद के फलस्वरूप हुआ। अतः कोई आश्चर्य नहीं कि इस बीच रुपया-स्टर्लिंग विनिमय बहुत स्थिर रहा।

२९. विनिमय-नियन्त्रण—युद्ध प्रारम्भ होने पर केन्द्रीय सरकार ने भारत सुरक्षा कानून के अन्तर्गत रिज़र्व बैंक को सिक्कों, धातु-पिण्डों, प्रतिभूतियों और विदेशी विनिमय के लेन-देन सम्बन्धी नियमों को कार्यान्वित करने का अधिकार दिया।

विदेशी विनिमय का लेन-देन अधिकृत व्यापारी विनिमय बैंक तथा अनुज्ञा-प्राप्त सम्मिलित पूँजी वाली बैंक ही कर सकती थी। कुछ अपवादों को छोड़कर साम्राज्य की करेन्सी के क्रय-विक्रय पर सामान्यतः कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया गया, परन्तु साम्राज्य के बाहर की करेन्सियों का क्रय-विक्रय व्यापारिक उद्देश्यों, यात्रा-व्यय और व्यक्तिगत विप्रेषण तक सीमित कर दिया गया। विनिमय नियन्त्रण की नीति इस बात को निश्चित करने के लिए थी कि भारत में विदेशी विनिमय का सारा लेन-देन लन्दन विनिमय नियन्त्रण द्वारा उद्धृत दरों तथा स्टर्लिंग के लिए रुपये का चालू दरों के आधार पर किया जाय। विदेशियों से प्रतिभूतियों की खरीद पर भी नियन्त्रण लगाया गया और रिज़र्व बैंक की आज्ञा लिये बिना प्रतिभूतियों का निर्यात नहीं हो सकता था। इन उपायों का अभिप्राय भारत से पूँजी के निर्यात तथा युद्ध-जनित परिस्थितियों से प्रोत्साहित विनिमय सम्बन्धी परिकल्पना को रोकना था।

विनिमय-नियन्त्रण के नियम धीरे-धीरे आवश्यकतानुसार कठोर होते गए। ब्रिटिश सरकार द्वारा बनाई गई साम्राज्य-योजना के अनुरूप दुर्लभ करेन्सी वाले देशों (जैसे उत्तरी अमरीका, स्विटज़रलैण्ड, नीदरलैण्ड, बेल्जियम) को किये गए निर्यात से प्राप्त विदेशी विनिमय के नियन्त्रण के लिए ९ मार्च, १९४० को योजना का निर्माण एक महत्त्वपूर्ण विकास था। इस योजना का उद्देश्य निर्यात से प्राप्त विदेशी विनिमय का नियन्त्रण करना तथा यह भी देखना था कि निर्यात से प्राप्त राशि नियन्त्रित दरों (उदाहरणार्थ प्रसार रुपया दर) पर प्राप्त हो। इससे व्यापारिक वर्गों में कुछ असन्तोष उत्पन्न हो गया। यद्यपि विनिमय-नियन्त्रण युद्ध के समय अवश्यम्भावी था, परन्तु सामान्यतः निर्यात और वस्तुओं के मूल्य पर इसकी प्रतिकूल प्रतिक्रिया हुई।

मई, १९४० में सरकार ने विदेशी विनिमय को सुरक्षित रखने तथा रोक लगी वस्तुओं का बिना आज्ञा भुगतान रोकने के लिए आयात को अनुज्ञा प्रदान करने की पद्धति का प्रारम्भ किया। ये प्रतिबन्ध, जो प्रारम्भ में वस्तुओं की छोटी सूची पर ही लागू थे, दूसरे वर्ष कनाडा की कुछ वस्तुओं को छोड़कर सभी देशों की वस्तुओं पर लगा दिये गए। ये उपाय केवल विदेशी विनिमय के व्यय में मितव्ययता प्राप्त

करने के लिए ही आवश्यक नहीं थे, वरन् संयुक्तराज्य में जहाजों में स्थान तथा उत्पादन-क्षमता सुरक्षित रखने के लिए भी आवश्यक थे, क्योंकि यूरोप से पूर्ति बन्द हो जाने के कारण इस देश मे आयात बढ़ रहे थे। जापान के युद्ध में उतर आने के वाद जहाजरानी की स्थिति और खराब हो गई। अतएव अनुज्ञा (लाइसेंस) देने में जहाजों में स्थान की सुलभता पर अधिक महत्त्व दिया जाने लगा। १९४२-४३ में आयात की अदायगी से प्राप्त डालरों में काफी कमी हुई। यह कमी प्रधानतः मशीन और स्टील आदि के आयात के कारण हुई, जिसके लिए पहले बहुत अधिक मात्रा में डालर की आवश्यकता होती थी तथा जो उधार-पट्टे के अन्तर्गत थे। इस प्रकार के माल का आयात करने वाले भारत सरकार को रुपये में ही भुगतान कर देते थे और विदेशी विनिमय का कोई लेन-देन नहीं होता था। १९४४-४५ में तत्कालीन विनिमय-नियन्त्रण पद्धति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। स्टर्लिंग क्षेत्र के बाहर वाली करेन्सियों की बिक्री पर प्रतिवन्ध लगा रहा और इन देशों को निर्यात की आज्ञा इस शर्त पर दी जाती थी कि प्राप्त राशि विदेशी विनिमय के अधिकृत व्यापारियों के हाथ वेची जाय। इस प्रकार देश के विदेशी विनिमय के साधनों की पूर्ण सुरक्षा और उनका उपयोग किया गया। यद्यपि पद्धति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ, तथापि विदेशी विनिमय की माँग के लिए अपनाई गई नीति में परिवर्तन किया गया और देश के लिए महत्त्वपूर्ण समझे जाने वाले कामों के लिए विदेशी विनिमय को उदारतापूर्वक सुलभ किया जाने लगा।

आयात की घनीभूत माँग को पूरा करने और मुद्रास्फीति को समाप्त करने के साधन के रूप में १९४५-४६ में भारत सरकार ने आयात अनुज्ञा पद्धति (इम्पोर्ट लाइसेन्स सिस्टम) के अन्तर्गत, उपभोग की वस्तुओं का आयात का कोटा काफी बढ़ा दिया। इससे विशेषकर संयुक्तराज्य के साथ भारत के (अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के) लेन-देन के सन्तुलन की अनुकूलता में तेजी से कमी आ गई।

१९४५ में युद्ध के समाप्त होने पर विनिमय नियन्त्रण नीति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। जहाजरानी की दशा में सुधार होने के कारण विनिमय-विचारों से अप्रभावित स्टर्लिंग क्षेत्र के देशों के आयात पर लगे प्रतिबन्ध ढीले कर दिये गए, परन्तु संयुक्तराज्य के डालर के व्यय के सम्बन्ध में कठोर मितव्ययता चलती रही।

३०. स्वर्ण के आयात-निर्यात पर प्रतिबन्ध—ब्रिटिश भारत के अन्दर सोने के स्थानान्तरण पर कोई प्रतिबन्ध नहीं था, परन्तु स्वर्ण का आयात-निर्यात रिजर्व बैंक द्वारा दी गई अनुज्ञा के आधार पर ही हो सकता था। साधारणतया आयात के लिए अनुज्ञा दे दी जाती थी, परन्तु निर्यात की अनुज्ञा तभी मिलती थी जबकि सोना बैंक ऑफ इंगलैण्ड को भेजा जाता हो। अमरीका भेजने के लिए अनुज्ञा उस समय दी जाती थी जब प्राप्त डालर बैंक ऑफ इंगलैण्ड की ओर से फैडरल रिजर्व बैंक को बेच दिये जायँ। इन नियमों का सामान्य विचार भारत और इंगलिस्तान के अतिरिक्त अन्य देशों के बीच सोने के लेन-देन को हतोत्साहित करना था। युद्ध की माँग थी कि भारत और ब्रिटेन के उपयोग के लिए स्वर्ण के सारे साधनों को सुरक्षित रखा जाय।

युद्ध ने भारत के स्वर्ण-निर्यात को उत्साहित किया। रिज़र्व बैंक द्वारा अपनी विदेशी शाखाओं की ओर से भारत में की गई खरीद को सम्मिलित करने पर ३१ जनवरी १९४० के अन्त तक १० महीने में ४२ करोड़ रुपये से अधिक मूल्य के स्वर्ण का निर्यात किया गया।

यद्यपि रिज़र्व बैंक ऑफ़ इण्डिया के निर्गम विभाग (इश्यू डिपार्टमेण्ट) में स्टर्लिंग प्रतिभूतियाँ १ सितम्बर, १९३९ को ५९.५० करोड़ रुपया थीं और १ सितम्बर, १९४० को ये बढ़कर १३१.५० करोड़ रुपया हो गईं, परन्तु रिज़र्व बैंक[1] के स्वर्ण-भण्डार में कोई वृद्धि नहीं हुई तथा वह ४४.४२ करोड़ रुपया ही रहा।[2]

३१. साम्राज्य का डालर संचय तथा युद्धोत्तर डालर कोष (अम्पायर डालर पूल एण्ड पोस्ट-वार डालर फण्ड)[3]—युद्ध से पूर्व बहुत से देश, जो सामान्यतया स्टर्लिंग समूह के देश कहे जाते थे, अपने सम्पूर्ण विदेशी विनिमय या उसका अधिकांश भाग स्टर्लिंग के रूप में लन्दन में रखा करते थे। उस समय स्टर्लिंग अन्य करेन्सियों में स्वतन्त्रतापूर्वक परिवर्तनीय था, इसलिए अपने-अपने विदेशी विनिमय को स्टर्लिंग के रूप में रखने वाले देश अपने अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों को पूरा करने के लिए अपनी इच्छा और आवश्यकतानुसार उन्हें किसी भी करेन्सी में बदल सकते थे। युद्ध के प्रारम्भ होने और स्टर्लिंग की परिवर्तनीयता की कठिनाई के साथ इस पद्धति में कठोरता आ गई, जिसका पहले अनुमान ही नहीं किया गया था। स्टर्लिंग समूह के उन सदस्यों ने, जो स्टर्लिंग क्षेत्र के सदस्य बने रहे, विदेशी विनिमय को अपने संरक्षण में रखने का अधिकार छोड़ दिया तथा विदेशी विनिमय के व्यय पर प्रतिबन्ध लगाना तय किया ताकि स्टर्लिंग क्षेत्र के विदेशी विनिमय के सीमित साधनों का युद्ध चालू रखने के लिए भली प्रकार उपयोग किया जा सके। सम्पूर्ण स्टर्लिंग क्षेत्र के विदेशी विनिमय की राशि एक ही स्थान पर बैंक ऑफ़ इंगलेण्ड तथा ब्रिटिश ट्रेज़री के संरक्षण में रखी हुई थी। इस संचय में डालर सबसे महत्त्वपूर्ण करेन्सी थी, अतएव इसका नाम स्टर्लिंग एरिया पूल ऑफ़ फ़ारिन एक्सचेंज न होकर अम्पायर डालर पूल पड़ गया। साम्राज्य डालर संचय में स्टर्लिंग क्षेत्र के देशों द्वारा व्यय के लिए व्यक्तिगत रूप से विभिन्न विदेशी करेन्सियों का भाग निर्दिष्ट नहीं किया गया था।

व्यय को सीमित करने का उपाय यह था कि सम्बन्धित देश विदेशी विनिमय को उस समय तक व्यय न करने के लिए राज़ी थे जब तक कि कोई ऐसी आवश्यक माँग न उत्पन्न हो जाय जो स्टर्लिंग क्षेत्र के अन्दर पूरी न की जा सके। समयानुसार जैसे-जैसे संचय घटता-बढ़ता था उसी प्रकार माँग के आवश्यक होने की कसौटी भी बद-

१. स्टर्लिंग ऋण के भुगतान के लिए कुछ स्टर्लिंग प्रतिभूतियों के विवरण के लिए अध्याय ११ और १२ देखिए।

२. स्वर्ण का मूल्याङ्कन २१ रुपया ३ आना १० पाई प्रति तोला की दर पर ही किया गया, जबकि बाज़ार में ३१ मार्च, १९४७ को सोने का भाव १०३ रुपया ८ आना था।

३. यह वक्तव्य अधिकांशतः ७ अक्तूबर, १९४६ को भारत सरकार द्वारा प्रकाशित प्रेस नोट से उद्धृत किया गया है।

लती जाती थी। युद्ध की समाप्ति और इसके पूर्व माँग के आवश्यक होने की कसौटी यह थी कि एक माँग युद्ध के लिए अथवा नागरिक अर्थ-व्यवस्था को युद्धकालीन स्तर पर बनाये रखने के लिए हो। सदस्य-देश अपनी आवश्यकताओं का स्वयं निर्णायक था और उसके द्वारा यह प्रमाणित कर देने पर कि अमुक माँग आवश्यक थी और विनिमय-नियन्त्रण से उसे आवश्यक स्वीकृति मिल चुकी थी, संचय इस किये हुए निर्णय को स्वीकार कर लेता था। युद्ध की समाप्ति के साथ माँग के आवश्यक होने का कोई अर्थ ही न रहा और भारत सरकार माँगों को 'आवश्यक' के अनुसार विभाजित करने में भूतकाल की अपेक्षा बहुत अधिक उदार हो गई।

भारत सरकार दुर्लभ करेन्सी के अर्जन और व्यय का हिसाब रखती थी। युद्ध के प्रारम्भ से ३१ मार्च, १९४६ तक भारत ने ४०५ करोड़ रु० के अमरीकी डालर का अर्जन किया और २४० करोड़ रुपये का डालर व्यय किया। इस प्रकार उसके पास १६५ करोड़ रु० के डालर की बचत हुई, परन्तु अन्य दुर्लभ करेन्सियों (जैसे कनाडा, स्वीडन, स्विटज़रलैण्ड और पुर्तगाल) के सम्बन्ध में भारत ने अर्जित राशि से ४१ करोड़ रुपये अधिक व्यय किये, इसलिए १९४५-४६ के अन्त तक संचय में भारत का वास्तविक अंशदान लगभग १२४ करोड़ रुपया था।

१९४६ में जून तक खाद्यान्न के आयात तथा अन्य सरकारी मदों के भुगतान की अदायगी के लिए संचय से भारत ने काफी रुपया लिया।

पोस्ट-वार डालर फण्ड नाम का एक और कोष था जिसमें १९४४ के लिए संचय ने २०० लाख डालर दिया। १९४३-४४ में साम्राज्य डालर संचय के प्रति प्रर्याप्त अंशदान देने और संयुक्त राज्य को पारस्परिक सहायता देने की हमारी इच्छा के कारण राजाधिराज सरकार ने जापान के साथ युद्ध समाप्त होने पर संयुक्त राज्य में पूँजी व्यय के लिए २०० लाख डालर का एक पृथक् कोष भारत को दिया। इन उद्देश्यों के सारे व्यय को इसी कोष में पूरा किया जाता था और इसके समाप्त होने तक इस प्रकार के व्ययों के लिए संचय से डालर नहीं लिये जा सकते थे। ये २०० लाख डालर हमारे १९४४ के व्यापारिक खाते का प्रतिशत अंश था तथा राजाधिराज सरकार इस बात पर राजी हो गई कि १९४५ में हमारी अर्जित आय १९४४ के बराबर होने पर वह इस कोष में हमें अधिक-से-अधिक २०० लाख डालर १९४५ के वर्ष के लिए भी देगी। १९४५ के लिए राजाधिराज सरकार ने २०० लाख डालर देने की सूचना दी। हमारे क्रय की सीमा कोष की मात्रा तक ही नहीं थी, क्योंकि उन मशीनों के आयात के लिए, जिन्हें हम उचित समझते थे, हमें संचय से रुपया निकालने का अधिकार था। जहाज़ों की खरीद तथा अन्य औद्योगिक कार्यों के लिए भारत सरकार ने १९४४ में २०० लाख डालर तथा भविष्य में मिलने वाली अन्य राशि के आधार पर २८० लाख डालर के आयातों की मञ्जूरी दी।

सरकार की आयात-नियंत्रण नीति की आलोचना दो बातों पर आधारित थी—(१) आयात अनुज्ञा प्रदान करने वाला शासन-यंत्र शिथिल और अकुशल था। (२) विनिमय-नियंत्रण की सख्ती के कारण आयातकर्ताओं के लिए मशीन और

अन्य वस्तुएँ स्टर्लिंग क्षेत्र के बाहर से मँगाना बहुत कठिन हो गया। युद्ध की समाप्ति के कारण परिवर्तित परिस्थितियों के फलस्वरूप भारत सरकार ने इस आशा के साथ आयात-नियंत्रण के शासन में परिवर्तन किया कि आयात के लिए अनुज्ञा प्राप्त करने की विधि संक्षिप्त और सरल हो जाय। उन्होंने नियंत्रित वस्तुओं की सूची से यथा- सम्भव वस्तुओं को हटाने और उन्हें स्टर्लिंग क्षेत्र के लिए अनुज्ञायुक्त (ओपन जनरल लाइसेन्स) करने की नीति अपनाई। कुछ अन्य वस्तुएँ पूर्णतया अनुज्ञायुक्त सूची (यूनिवर्सल ओपन जनरल लाइसेन्स) के अन्तर्गत रखी गईं, जिसका अर्थ यह था कि वस्तुओं का आयात स्वतन्त्रतापूर्वक स्टर्लिंग क्षेत्र के अन्दर या बाहर कहीं से भी किया जा सकता था।

भारत सरकार ने विनिमय-नियन्त्रण की कठोरता को काफी शिथिल कर दिया तथा अनिवार्यता और अलभ्यता की दोनों कसौटियों का प्रयोग अधिक लचीलेपन के साथ होने लगा। वे आवश्यकताएँ अनिवार्य मानी गईं जो राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था अथवा रहन-सहन के स्तर के विकास और निर्वाह के लिए जरूरी थीं। स्टर्लिंग क्षेत्रों में तुलनात्मक वस्तुओं के गुण, मूल्य और उन्हें प्राप्त करने की अवधि को ध्यान में रखते हुए अलभ्यता को निश्चित किया जाता था। अलभ्यता सिद्ध करने का भार आयातकर्ताओं से हटाकर सरकार को दे दिया गया, ताकि सरकार अपनी जाँचों से सन्तुष्ट हो सके कि बाहर से आयात की जाने वाली वस्तुएँ स्टर्लिंग क्षेत्र के अन्दर सुलभ थीं अथवा नहीं। एक दूसरा परिवर्तन करेन्सियों को प्राप्त करने ... कठिनाई के अनुसार उनको क्रमबद्ध करना तथा उन्हें प्राप्त करने की सरलता के अनुसार आयातों के लिए अनिवार्यता और अलभ्यता की कसौटियों को ह्रासमान कठोरता के साथ अपनाना था।

३२. रुपये के सिक्के को प्रचलन से वापस लेना और एक रुपये के नोट का प्रचलन—यद्यपि, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, भारतीय करेन्सी पद्धति ने युद्ध की कठिनाइयों का सामना भली प्रकार किया और सामान्यतः कागजी करेन्सी में विश्वास बना रहा, परन्तु यूरोप में युद्ध-स्थिति खराब हो जाने से १९४० की मई-जून में प्रतिकूल प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई। रुपये के सिक्के में नोटों का भुगतान करने के लिए रिजर्व बैंक से माँग की गई। बैंकों से निकाला जाने वाला रुपया, जो पहले औसतन एक करोड़ रुपया प्रति सप्ताह निकाला जाता था, अकस्मात ४-५ करोड़ रु० प्रति सप्ताह हो गया। युद्ध होने के बाद रिजर्व बैंक ने ४३ करोड़ से अधिक रुपये के सिक्कों की पूर्ति की, जिनका आसंचयन कर लिया गया जो निर्गम विभाग (इश्यू डिपार्टमेंट) में रुपये के सिक्के के भण्डार की कमी से भी स्पष्ट है। युद्ध के आरम्भ में निर्गम विभाग में ७५·४७ करोड़ रुपये के सिक्के थे और ५ जुलाई १९४० को केवल ३२ करोड़ रुपये के सिक्के थे। इन परिस्थितियों में सरकार ने रुपये की स्वतन्त्र वापसी की प्रारम्भिक नीति में परिवर्तन करने का निश्चय किया। यद्यपि भारत सरकार का रजत-भण्डार पर्याप्त था, तथापि भारत की टकसालों में उस दर पर रुपया बनाना असम्भव मालूम पड़ता था, जिस दर पर रुपया जनता द्वारा

आसंचित किया जा रहा था। इसलिए २५ जून, १९४० को भारत सरकार ने व्यक्तिगत अथवा व्यापारिक आवश्यकता से अधिक रुपये के सिक्के की प्राप्ति के लिए दण्ड की व्यवस्था करने वाली एक अधिसूचना प्रकाशित की। कुछ समय तक रुपये के सिक्कों को नोटों से अधिक मूल्य पर माँगा गया और रुपये के सिक्कों तथा छोटे-छोटे सिक्कों (रेज़गारी) का अभाव हो गया। इन कठिनाइयों को शीघ्रता से हल किया गया और रिज़र्व बैंक ने छोटे सिक्कों के विस्तृत प्रचलन तथा रुपये की उचित माँग को पूरा करने के लिए प्रबन्ध किया। २४ जुलाई, १९४० को प्रकाशित एक आर्डिनेन्स के अन्तर्गत भारत सरकार द्वारा रिज़र्व बैंक के ज़रिये एक रुपये का नोट जारी किया गया जिससे स्थिति में काफी सुधार हुआ, क्योंकि इस प्रकार के नोट का किसी ने भी आसंचयन नहीं किया और इसलिए यह विनिमय का माध्यम बना रहा। एक रुपये के नोट ने रिज़र्व बैंक के निम्नतम नोट (५ रुपये का नोट) से छोटे विनिमय के माध्यम की सामान्य माँग को पूरा किया। १९०६ के इण्डियन क्वॉयनेज़ एक्ट के अन्तर्गत एक रुपये के सिक्के के समान ही ये नोट असीमित कानूनी मुद्रा हैं। इसलिए १९१४-१८ के युद्ध के समय जारी किये गए २½ रुपये और एक रुपये के नोटों की तरह इन्हें रुपये के सिक्के में बदलने की कोई प्रतिज्ञा नहीं है।

३३. चाँदी के सिक्कों के रजत-तत्त्व में कमी—देश के रजत साधनों को सुरक्षित रखने का दूसरा उपाय कुछ सिक्कों के रजत-तत्त्व की शुद्धता के स्तर को कम करना .. । अप्रैल, १९४० में केन्द्रीय विधानमण्डल ने सरकार को चवन्नी के ११/१२ रजत-तत्त्व को ½ रजत-तत्त्व तक कम करने का अधिकार दिया। इसका उद्देश्य साधारण तौर पर धातुओं के सरकारी भण्डार को और अधिक सेवा योग्य बनाना है। इस उद्देश्य के लिए १९०६ के इण्डियन क्वायनेज़ एक्ट को सुधारने के लिए २६ जुलाई, १९४० को भारत सरकार द्वारा प्रकाशित एक आदेश के अन्तर्गत अठन्नी के रजत-तत्त्व में भी इसी प्रकार की कमा की गई। रुपये के आसंचयन के बाद चवन्नी और अठन्नी की बढ़ती हुई माँग के फलस्वरूप यह कदम उठाया गया। २२ दिसम्बर, १९४० को रुपये में भी आधी चाँदी और आधी मिलावट की व्यवस्था की गई। व्यापार की बढ़ती हुई क्रियाओं, आसंचयन में रुपये की खपत के कारण रुपये के सिक्के की बढ़ती हुई माँग ने इसे और भी आवश्यक बना दिया। एक कारण यह भी था कि एक रुपये का नोट कुछ ग्रामीण क्षेत्रों के लिए पूर्णतया उपयुक्त अथवा सुविधाजनक नहीं था। जाली सिक्कों से बचने के लिए रुपये के सिरों पर कटान की एक नई विधि को अपनाया गया। इस उपाय ने प्रचलन में सिक्कों की कमी को दूर कर दिया। अप्रैल, १९४७ में इण्डियन क्वायनेज़ एक्ट को सुधारने के लिए एक बिल पास हुआ, जिसके फलस्वरूप गिलट के रुपये ने चाँदी के रुपये का स्थान ग्रहण कर लिया। इस प्रकार संयुक्त राज्य को चुकाने के लिए २२६० लाख औंस चाँदी की बचत हुई, जिसे भारत ने उधार-पट्टे के अन्तर्गत उधार लिया था।

अध्याय १०

भारतवर्ष में मूल्य

१. १८६१ से हुए मूल्य-परिवर्तनों पर एक विहंगम दृष्टि—१८७३ को आधार वर्ष मानकर नीचे दी हुई तालिका १८६१ से मूल्य-परिवर्तनों की साधारण गति दिखा रही है।[1] सामान्य देशनांक (इन्डेक्स नम्बर) ३९ वस्तुओं के थोक-मूल्यों पर आधा-

वर्ष[2]	३९ वस्तुओं का सामान्य देशनांक (अभारित)[3]	भारित देशनांक (१०० वस्तुएँ) १८७३ में १०० के बराबर	वर्ष	३९ वस्तुओं का सामान्य देशनांक (अभारित)	भारित देशनांक (१०० वस्तुएँ) १८७३ में १०० के बराबर
१८६१	९०	९३	१९२४	२२१	२५७
१८६५	१०७	१०९	१९२६	२१६	२६०
१८७०	१०२	१०७	१९२७	२०२	—
१८७५	९४	९६	१९२८	२०१	—
१८८०	१०४	१०९	१९२९	२०३	—
१८८५	८७	१०६	१९३०	१७१	—
१८९०	१००	११७	१९३१	१२७	—
१८९५	१०४	१२०	१९३२	१२६	—
१९००	११६	१४३	१९३३	१२१	—
१९०५	११०	१३५	१९३४	११९	—
१९१०	१२२	१५०	१९३५	१२७	—
१९१४	१४७	१८७	१९३६	१२५	—
१९१८	२२५	२१५	१९३७	१३६	—
१९१९	२७६	३०१	१९३८	१३२	—
१९२०	२८१	३०२	१९३९	१४२	—
१९२१	२३६	२७३	१९४०	१६३	—
१९२३	२१५	२५९	१९४१ (फरवरी)[4]	१७४	—

१. १८७३ को आधार वर्ष इसलिए चुना गया है, क्योंकि उस वर्ष ऋतु सामान्य थी तथा उसी वर्ष से चाँदी और उसके परिणामस्वरूप रुपये का अवमूल्यन प्रारम्भ हुआ।

२. देखिए, इन्डक्स नम्बर ऑफ इण्डियन प्राइसेज, १८६१-१९३१ तथा वार्षिक परिशिष्ट। उपर्युक्त तालिका के तीसरे तथा छठे खाने में दिये हुए देशनांक इण्डियन फाइनेन्स डिपार्टमेण्ट के एफ० जी० एटकिन्सन द्वारा संकलित किये गए थे। १९०९ के बाद के देशनांक उनके आधार पर डिपार्टमेण्ट ऑफ स्टेटिस्टिक्स ने संकलित किये।

३. सन् १९३७ से एक वस्तु आयात की हुई वस्तुओं की सूची से निकाल दी गई है।

४. सन् १९४२-४३ से (१९ अगस्त, १९३९ सप्ताह की समाप्ति पर =१००) थोक-मूल्यों के देशनांक इस प्रकार थे—

रित है (जिनमें से २८ निर्यात की तथा ११ आयात की वस्तुएँ हैं)। खाद्यान्न अर्थात् ज्वार, बाजरा, जौ, राई और चना को छोड़कर उपर्युक्त वस्तुओं के १८६७ से पहले के थोक-मूल्य प्राप्त नहीं हैं।

तालिका के दूसरे खाने में दिये हुए सरकारी देशनांक अभारित हैं। प्रत्येक वस्तु को समान महत्ता देने के कारण देशनांक मूल्य-स्तर के परिवर्तनों की प्रकृति और महत्त्व को सही-सही नहीं दिखा रहे हैं। भारत एक कृषि-प्रधान देश है। उसकी कृषि-उत्पत्ति कुल उत्पादन का महत्त्वपूर्ण भाग है। कृषि-उत्पत्ति में चावल, गेहूँ, कपास और जूट जैसी प्रमुख वस्तुओं की प्रधानता होती है तथा शेष वस्तुएँ अपेक्षाकृत नगण्य हैं। कुछ वस्तुएँ जैसे सूती कपड़े, सूत, कच्चा सिल्क और कोयले का अन्तिम परिणाम पर अनुचित प्रभाव पड़ने दिया गया है, और मूल्यों की सम्पूर्ण सूची आयात की हुई वस्तुओं तथा उनकी प्रतिस्पर्धी वस्तुओं द्वारा प्रभावित हैं। चूँकि १८७३ को आधार-वर्ष मानकर बनाया गया अखिल भारतीय देशनांक पुराना पड़ गया है, अतः बम्बई और कलकत्ता की थोक कीमतों के अंकों की ओर निर्देश किया जाता है। अब १८७३ का आधार वर्ष तुलना के लिए उचित नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार वस्तुओं का सापेक्षिक महत्त्व भी घट-बढ़ गया है।

२. **१८६१ से १८९३ तक**—इस काल में कीमतों का सामान्य चढ़ाव-उतार निम्न-प्रकार है—(१) **चढ़ती हुई कीमतें १८६१-६**—अमेरीकी गृह-युद्ध के कारण कपास की कमी हो गई। इस प्रकार चढ़ी कीमतों के कारण भारत में बहुत स्वर्ण आया और चाँदी के सिक्कों का टंकन खूब हुआ जिससे कीमतें बढ़ गईं। इस प्रकार भारत के मूल्य-स्तर पर प्रथम बार बाह्य कारणों का प्रभाव स्पष्ट हुआ। (२) **गिरते हुए मूल्य १८६६-८३**—१८७६ से १८७९ तक दुर्भिक्ष के कारण खाद्यान्नों के मूल्य में हुई आकस्मिक वृद्धि के अतिरिक्त इस काल की कीमतें गिरती रहीं। मूल्यों का यह गिराव १८७४ में पाश्चात्य देशों की कीमतों की निम्नगामी प्रवृत्ति का प्रतिरूप-मात्र था। स्वर्ण के उत्पादन में शिथिलता, रजत प्रमाप के देशों द्वारा स्वर्ण प्रमाप अपनाना, चाँदी का स्वतन्त्र टंकन बन्द होने से रजत करेन्सी के प्रसार में रुकावट, बैंकिंग का शिथिल विकास, भाड़े में कमी हो जाने से व्यापार का प्रसार, और उत्पादन-विधि में सुधार आदि इसके कारण थे।[1] (३) **बढ़ती हुई कीमतें १८८३-९३**—पश्चिम के स्वर्ण प्रमाप देशों की अपेक्षा भारत में गिरती हुई कीमतें शीघ्रता से रुक गईं। इसका कारण रुपये का अवमूल्यन था। यह स्वीकार करना होगा कि हालांकि स्वर्ण की तुलना में चांदी का मूल्य १८७४ से ही घटने लगा था, किन्तु उत्पादन में सामान्य वृद्धि के कारण १८८३ तक कीमतें गिरती ही रहीं। १८८५ के बाद जब रजत का उत्पादन वस्तुओं के

१९४२-४३	१७१	१९४७ (मार्च)	२९२'७
१९४३-४४	२३६'५	१९४८ (अप्रैल)	३४८
१९४४-४५	२४४'२	१९४९ (मार्च)	३७०'२
१९४५-४६	२४४'९	१९५० (अक्तूबर)	४११'४
१९४६-४७	२७५'४		

१. देखिए, इरविंग फिशर, 'परचेज़िंग पॉवर ऑफ़ मनी', पृ० १४२।

उत्पादन से निश्चित रूप से बढ़ गया तो कीमतें बढ़ने लगीं। १८९३ से १८९९ के मध्यान्तर को छोड़कर १९२० तक ऐसा ही रहा। इस काल में टकसालों के हो जाने से मुद्रा-संकुचन हुआ, जिससे कीमतें गिर गईं, हालाँकि दुर्भिक्ष के कारण प्रभाव कुछ विनष्ट हो गया। मूल्यों में वृद्धि का कारण चाँदी का अवमूल्यन १८८१ से १८९२ तक रुपयों का अधिक टंकन है।

३. मूल्य जाँच-समिति (मूल्य, १८९० से १९१२)—१९१० में भारत सरक दत्ता समिति नियुक्त की। इसका काम मूल्यों की लगातार वृद्धि के कारणों का लगाना था। इसने छानबीन के लिए १८९० से १९१२ तक का समय चुना कालावधि में समस्त भारत में सामान्य रूप से मूल्य बढ़ रहे थे। १९०५ ने वृद्धि स्पष्टतः लक्षित हुई, विशेषकर चमड़ा, खाद्यान्न निर्माण-सामग्री, तिलहन इत में, जिनमें ४०% से भी अधिक वृद्धि हुई। कपास और जूट में क्रमशः ३३% ३१% वृद्धि हुई, जबकि अन्य सामग्रियों—खाद्यान्न, धातुएँ तथा अन्य कच्चे निर्मित माल के मूल्य २५% तक बढ़ गए। देशी चीनी में थोड़ी-सी वृद्धि हुई, इसके विपरीत चाय, कहवा, आयात की हुई चीनी, सोने और सिझाने के सा विशेष रूप से नील, कोयला, लाख आदि की कीमतों में काफी कमी हुई। कपड़ कीमतें थोड़ी-सी गिरीं। मूल्यों की वृद्धि भारत में सबसे अधिक थी। यदि १९०१ के पंचवर्षीय काल के मूल्य-स्तर की तुलना १८९४-८ के पंचवर्षीय मूल्य-स्तर जाय, तो भारत की कीमतों में ४०% वृद्धि हुई, जबकि इसी समय में इंगलिस्त २१%, अमरीका में ३८% और आस्ट्रेलिया में २०% वृद्धि हुई।

४. १९१४-१८ के युद्ध से पूर्व मूल्यों की वृद्धि के कारण—मूल्य जांच-समि कारणों को दो वर्गों में विभाजित किया—(१) विशेष रूप से भारतीय कारण (२) ऐसे कारण, जो भारत तक ही सीमित न थे अर्थात् विश्वव्यापी कारण, हा उन्होंने स्वीकार किया कि ये दोनों कारण एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं।

(१) विशेष रूप से भारतीय कारण—(क) कृषि-उत्पादनों, विश खाद्यान्न एवं कच्चे माल की कमी,[१] (ख) इन वस्तुओं की माँग में वृद्धि, (ग) में रेलवे तथा अन्य संचार-साधनों में विकास और प्रत्यक्षाप्रत्यक्ष रूप से भारत उसके बन्दरगाहों और विदेशों के बीच परिवहन लागत में कमी; सामान्य रूप से सुविधाओं, द्रव्य और साख इत्यादि में सुधार; (घ) करेन्सी के आकार में वृद्धि।

(२) विश्व-व्यापी कारण—इनमें (क) दुनिया के बाजारों में प्रधान व की पूर्ति में कमी और मांग में वृद्धि, (ख) दुनिया की खानों से सोने की अधिक (ग) साख का विकास, (घ) विनाशकारी युद्ध तथा थल और जल-सेना में वृद्धि, पाश्चात्य देशों और संयुक्त राज्य में श्रम और पूँजी अनुत्पादक मार्गों में जाने लगी। इससे कितनी ही प्रकार की सामग्रियों की माँग भी बढ़ गई। १८

१. समिति के मत में इस कमी के कारण (क) जनसंख्या के साथ किसी भी उत्पादन का न (ख) अनिश्चित वृष्टि, (ग) खाद्य फसलों के स्थान पर अखाद्य फसलों का प्रतिस्थापन और (घ) के लिए ली गई जमीन की हीनता थे।

रजत प्रभाव का परित्याग करने के कारण भारत भी शेष दुनिया के साथ मुद्रा-मान (करेन्सी गेज़) के प्रवाह में आ गया और असंदिग्ध रूप से दुनिया में होने वाली क़ीमतों के परिवर्तन का भागी बना।

समिति ने मुद्रास्फीति को प्रधान कारण न मानकर बड़ी भूल की। चूँकि रुपया चाँदी पर छपे नोट के अलावा और कुछ नहीं था और इसे सोने में बदला नहीं जा सकता था, अतः इसे उतनी ही आसानी से अधिकता में जारी किया जा सकता था जितनी आसानी से अपरिवर्तनीय नोटों को जारी किया जा सकता था। इस सत्य को केन्स तक ने स्वीकार किया है कि कभी-कभी इसी प्रकार रुपये का अधिकतम टंकन किया जाता था। केन्स भारत के स्वर्ण प्रमाप के सबसे बड़े प्रशंसक थे। उनकी पुस्तक 'इंण्डियन करेन्सी एण्ड फाइनेन्स' का निम्न उद्धरण रुपये के ऐसे टंकन का प्रमाण है: "अत्यधिक टंकन के प्रभाव सामूहिक होते हैं। मालूम होता है भारतीय अधिकारियों ने इसे ठीक प्रकार से नहीं समझा है। वे इस साधारण तर्क से प्रभावित जान पड़ते हैं कि १६०५-६ में माँग अधिक थी, अतः सम्भावना है कि वैसी ही माँग १६०६-७ में भी होगी और जब १६०६-७ में सचमुच अधिक माँग हुई तो १६०७-८ में भारी माँग होने की सम्भावना और बढ़ गई। उन्होंने अपनी नीति इस आधार पर बनाई कि किसी समुदाय करेन्सी का उपभोग शराब की भाँति सदैव दृढ़ता से बढ़ता रहता है।"

१६०८ में गोले ने इम्पीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल में इस मत को प्रकट किया कि अधिक टंकन के कारण ही कीमतें ऊँची उठी हैं। १८६८ में भारत में रुपये का भण्डार विशेषज्ञ श्री हैरिसन ने १३० करोड़ रु० अनुमानित किया था। विगत दस वर्षों में सरकार ने लगभग १०० करोड़ रुपयों का और टंकन किया। इस प्रकार की आकस्मिक स्फीति का स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि कीमतें बढ़ जायँगी। सरकार द्वारा निर्गमित रुपये देश के आन्तरिक भाग में वास्तविक क्रेताओं के हाथों में पहुँच जाते हैं, लेकिन वे शीघ्रता से व्यापार-केन्द्रों या बैंकों की ओर नहीं बहते। इस प्रकार सौदों के लिए नये रुपयों की आवश्यकता पड़ती है, जिसके लिए पुराने रुपये ही पर्याप्त होते। इसी बीच रुपयों का गलाना बन्द हो गया, क्योंकि रुपया अब चाँदी का नहीं रहा और उसका कृत्रिम विनिमय-मूल्य वास्तविक मूल्य से कहीं अधिक हो गया, अतएव प्रत्येक निर्गम करेन्सी के आकार को प्रसारित करता है।[1] १६०३-७ के प्रत्येक वर्ष में मुद्रा की अनुमानित वृद्धि और मूल्य-स्तर में बड़ी ही समानता थी।

६. पूर्व अवसाद-काल तथा युद्ध-काल (१६१४-१८) में मूल्य—पूर्व युद्ध-काल में—१६१४ से १६२०—विशेषकर इस अवधि के उत्तरार्ध में युद्ध-जनित परिस्थितियों के कारण मूल्यों में अभूतपूर्व वृद्धि हुई। किन्तु भारत में अन्य देशों, विशेषकर युद्ध में संलग्न देशों, की अपेक्षा कीमतें कम बढ़ीं। विदेशी मूल्यों की वृद्धि साधारणतः आयात की कमी और निर्यात के प्रसार से ठीक की जा सकती थी। तज्जनित स्वर्ण के आयात से भारत की आन्तरिक कीमतें इतनी अवश्य बढ़तीं कि वे बाह्य कीमतों के बराबर

१. देखिए, श्री गोखले के भाषण, पृ० १५०।

हो जातीं। किन्तु सरकार द्वारा सोने के आयात और वस्तुओं के निर्यात पर लगाये गए प्रतिबन्धों तथा युद्धकालीन कीमतों के नियन्त्रण के कारण यह व्यवस्थापन सम्भव न हो सका। यही कारण था कि भारत अधिक सुरक्षित कोष का निर्माण न कर सका और युद्धकालीन समृद्धि के अनन्तर मन्दी आने पर प्रतिस्पर्धी सामग्रियों का आयात करने वालों की तुलना में घाटे में रहा। फिर सरकारी हस्तक्षेप के अभाव में विनिमय पहले ही और अधिक शीघ्रता से ऊपर उठ गया होता। इसमें आयात को प्रेरणा मिलती तथा आयात की कीमतों में वृद्धि भी अपेक्षाकृत कम होती। भारत को अपने निर्यात का अधिक मूल्य मिलता और वह युद्धोत्तरकालीन पुनर्निर्माण का खर्च आसानी से प्राप्त कर सकता, किन्तु विनिमय की स्वतन्त्रता के कारण युद्ध की नाजुक स्थिति के समय व्यापारिक विस्थापन के भय से भारत सरकार ने हस्तक्षेप करना उचित समझा।

१९१४-१८ में भारत में प्रायः सभी कीमतें बहुत ऊँची हो गईं। युद्ध प्रारम्भ होने के बाद १९१९ में खाद्यान्न के मूल्य ९३% बढ़ गए। आयात किये हुए कपड़ों तथा भारत में बने कपड़े के मूल्यों में क्रमशः १९०% तथा ६०% वृद्धि हुई। हम पहले ही कह आये हैं कि आयात की गई वस्तुओं—कपड़ा, लोहा, इस्पात, चीनी, रंग आदि—का मूल्य निर्यात-सामग्रियों से कहीं अधिक ऊँचा उठा। हम इस विभिन्नता के कारणों का भी विश्लेषण कर आए हैं।[1] उत्पादन में कमी तथा युद्धलग्न देशों की माँग में वृद्धि, करेन्सी और साख के साधनों का बड़ी मात्रा में निर्माण—जोकि युद्धजनित आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आवश्यक था—इन सबके सम्मिलित प्रभाव के कारण कीमतों में अभूतपूर्व वृद्धि हुई। विश्व की इन परिस्थितियों का भारत पर भी प्रभाव पड़ना अनिवार्य था, क्योंकि इससे देश के बाहर उसकी सामग्री की माँग बढ़ जायगी तथा उसके आयात का खर्च भी बढ़ जायगा। जहाजों में स्थान की कमी और निर्यात पर लगे सरकारी नियन्त्रण के कारण मूल्यों की वृद्धि भी कुछ हद तक रुक गई।

६. मुद्रा-स्फीति—हम पहले ही देख चुके हैं कि १९१४-१८ का युद्ध प्रारम्भ होने के कुछ समय बाद तक व्यापारिक सन्तुलन भारत के पक्ष में था। इसी समय खजाने के आयात में भी काफी कमी हो गई। इस प्रकार निर्यात-व्यापार की सारी जिम्मेदारी सरकार पर पड़ी। इस आर्थिक कमी को सरकार ने अधिक नोट छापकर पूरा किया। व्यापार की मात्रा में वृद्धि की अपेक्षा सब प्रकार की मुद्रा में बहुत अधिक वृद्धि हुई। सरकार द्वारा अपनाई गई युद्ध के अर्थ-प्रबन्ध की पद्धति से मुद्रा-स्फीति को और भी बल मिला। युद्ध के विशाल खर्च को पूरा करने के लिए सरकार ने अंशतः कर और कर्ज से रुपया प्राप्त किया तथा अंशतः नोट छापे। सरकार द्वारा लिये गए युद्ध-ऋणों से भी मुद्रा-स्फीति बढ़ी। ऋण का अल्पांश ही जनता की वास्तविक बचत से प्राप्त हुआ। शेष ने बैंक साख और निक्षेप का रूप धारण किया। बैंकों ने सरकार की ओर से भी अपने उन ग्राहकों की ओर से, जो युद्ध-ऋण देना चाहते थे, चेक दिये।[2] भारत सरकार द्वारा जारी किये गए अल्पकालीन ट्रेजरी बिल भी,

१. देखिए, ऊपर अध्याय ६, सेक्शन ५।

२. पनन्दिकर 'दि इकनामिक कान्सिक्वेंसिज ऑफ दि वार', पृ० ३१७-१८।

जो आय-व्ययक के घाटे को पूरा करने के लिए प्रचलित किये गए थे, तथा युद्ध बन्ध-पत्र (वार फण्ड) की भी मुद्रा-स्फीति के कारण सिद्ध हुए, क्योंकि बैंक उनकी सुरक्षा पर निर्भय ऋण दिया करते थे। इस प्रकार बैंकों के निक्षेप में भारी वृद्धि हो गई। उनके प्रचलन की गति[1] भी तीव्र हो गई। इससे क्रय-शक्ति की वृद्धि हुई और कीमतें ऊँची उठीं।[2] अन्य कारण भी थे जिनसे कीमतें बढ़ीं—उदाहरणार्थ युद्ध-वर्षों में रोलिंग-स्टॉक की कमी, १९१८-१९ तथा बाद में १९२० में भी मानसून की असफलता। १९२० में कीमतें चरम शिखर पर जा पहुँचीं। कलकत्ता का मूल्य-निर्देशांक, जो १९१४ में १०० था, १९२० में २०१ हो गया। भारत में अन्य देशों की बराबर कीमतें न बढ़ने का एक कारण यह भी था कि यहाँ मुद्रा-स्फीति उसी मात्रा में नहीं थी जिस मात्रा में अन्य देशों में थी, यद्यपि निरपेक्ष रूप से यह पर्याप्त थी।[3]

७. ऊँची कीमतों का प्रभाव—मूल्य जाँच समिति के मत में युद्ध (१९१४-१८) के पूर्व मूल्यों में हुई वृद्धि से देश को लाभ ही हुआ। सरकार ने भी इससे सहमति प्रकट की, जबकि १९१४ में उन्होंने समिति की रिपोर्ट पर प्रस्ताव पास किया। समिति के अनुसार भारत एक ऋणी देश था, अतः उन वस्तुओं के मूल्य बढ़ जाने से उसे लाभ ही हुआ जिनका निर्यात वह अपने दायित्वों की पूर्ति के लिए किया करता था। अब वह वस्तुओं की थोड़ी मात्रा निर्यात करके अपने विदेशी दायित्वों की पूर्ति कर सकता था, किन्तु इन बढ़ती हुई कीमतों के विरुद्ध हमें आयात के बढ़ते हुए खर्च और बढ़ती हुई उत्पादन-लागत का भी ध्यान रखना होगा। लेकिन यह विश्वास नहीं किया जा सकता कि मुद्रा-प्रसार से उत्पन्न हुई ऊँची कीमतों की परिधि अपने-आप में कोई ऐसे स्थायी लाभ प्रदान कर सकती है, जो उसकी सर्वविदित हानियों को दूर कर सकें। जोशी का मत इस सम्बन्ध में अत्यन्त पुष्ट है कि "धन तथा समृद्धि की वृद्धि राष्ट्र और व्यक्तियों में एक ही प्रकार से आती है। यह वृद्धि न तो रुपयों के ढेर से और न कीमतों की वृद्धि से ही आती है, जो (कीमतों की वृद्धि) भारत में फसलों की कमी, मानसून की असफलता तथा दुर्भिक्ष के कारण होती है। देश की वास्तविक समृद्धि औद्योगिक क्रियाशीलता, कुशलता और कार्य-क्षमता तथा पूँजी के उत्पादक प्रयोग से होती है।"[4] १९१४-१८ के पूर्वकाल के लिए कीमतों तथा पारिश्रमिक की गतिविधि से श्रीमती वेरा एन्स्टे[5] ने राष्ट्रीय समृद्धि के सम्बन्ध में कुछ निष्कर्ष निकाले हैं। उनका कहना है कि इस प्रकार से निकाले गए निष्कर्ष विभिन्न तिथियों पर तथा अनुमानित राष्ट्रीय आय सम्बन्धी आँकड़ों के निष्कर्षों से अधिक विश्वसनीय हैं जिनकी चर्चा ४ अध्याय में की जा चुकी है। यह ध्यान में रखना चाहिए कि मूल्य परिवर्तनों की छानबीन स्वतः धन-उत्पादन की प्रगति या गतिरोध या प्रतिगामिता का कोई अनुमान नहीं दे सकती। इससे केवल इस बात का पता लगता है कि विभिन्न

१. देखिए, अध्याय ११।
२. देखिए, फिनले शिराज, पब्लिक फाइनेन्स, पृ० २३२ और ४१०-११।
३. डी० टी० जैक, रेस्टोरेशन आफ यूरोपियन करेन्सीज़, पृ० ३।
४. श्री जी० वी० जोशी, स्पीचेज़ एण्ड राइटिंग्ज, पृ० ६१०।
५. दि इकनामिक डिवेलपमेंट ऑफ इन्डिया, पृष्ठ ४४५।

वर्गों में वितरित धन कीमतों के स्तर के परिवर्तन से किस प्रकार प्रभावित होता है। इसके अतिरिक्त राष्ट्र के होने वाले लाभ या हानि के निष्कर्ष विभिन्न वर्गों के कल्याण की सापेक्षिक महत्ता सम्बन्धी संदिग्ध मान्यताओं पर आधारित हैं। यह कहा जाता है कि भारत के अधिकांश व्यक्ति उस वर्ग के हैं जो कीमतों के बढ़ जाने से लाभान्वित होते हैं। ऋणी वर्ग इस लाभ के योग्य हैं। यद्यपि उनका लाभ कर्ज देने वाले वर्ग की हानि होता है, परन्तु यह शोचनीय नहीं है क्योंकि ऋण देने वाले खून पीने वाली जोंक के समान होते हैं। किन्तु इस प्रकार का 'योग्य' 'अयोग्य' वर्ग सम्बन्धी विभाजन अनुचित है। सब वर्गों की समृद्धि ही वास्तविक राष्ट्रीय समृद्धि है। साथ ही कठिनाई यह है कि कितने ही व्यक्ति ऋणी और साहूकार दोनो ही हैं तथा सम्पूर्ण ऋणदाता वर्ग की भर्त्सना भी अनुचित है। श्रीमती एन्स्टे के मतानुसार प्रथम विश्वयुद्ध के पूर्व के मूल्य-परिवर्तनों से देश के अधिकांश किसान अवश्य ही लाभान्वित हुए होंगे, क्योंकि निर्यात की सामग्री, जिन्हें किसान बेचता है, उदाहरणार्थ जूट (४३%), चमड़ा और खाल (५६%), तिलहन (४५%), और खाद्यान्न (४२%) के मूल्यों में अधिक वृद्धि हुई। इसके विपरीत आयात सामग्री में अपेक्षाकृत कम वृद्धि हुई। उदाहरणार्थ कपड़े की सामग्री (२५%), धातु (२०%), चीनी (६%), मिट्टी का तेल (कोई परिवर्तन नहीं), और नमक में ३०% कमी हुई। इस प्रकार की वस्तुओं के मूल्यों के सापेक्षिक परिवर्तन से निश्चय ही किसानों को लाभ पहुँचता है। लेकिन इसकी कोई गारण्टी नहीं है कि व्यवहार में ये सब लाभ हमेशा प्राप्त होंगे। किसानों को होने वाले लाभ अनेक स्वार्थों द्वारा हड़प लिये जाते हैं। कृषक को होने वाले लाभ की असंदिग्ध सत्यता स्थापित करने के पूर्व यह निश्चित प्रकार से ज्ञात होना चाहिए कि ऐसे स्वार्थ क्रियाशील नहीं रहे हैं।

युद्ध-काल में आयात-मूल्य निर्यात की अपेक्षा अधिक बढ़े। परिणामस्वरूप किसानों का व्यय आय से अधिक होने लगा। इसे सभी स्वीकार करते हैं कि इससे कृषक वर्ग को हानि हुई। यहाँ इस साधारण मत का खण्डन होता है कि कीमतों की वृद्धि से भारतीय जनता के अधिकांश को अवश्य लाभ होता है।

८. किसानों पर प्रभाव—ऐसा कहा जाता है कि गाँव में जमीन वाले और सामान्यतः ग्रामीण वर्ग कृषि-उत्पादनों के मूल्यों की वृद्धि से अवश्यमेव लाभान्वित होते हैं। लेकिन यह स्पष्ट है कि जिनके पास बेचने के लिए सामग्री बचती होगी केवल उन्हींको लाभ होगा और यह लाभ भी तभी होगा, जबकि उनके द्वारा खरीदी जाने वाली वस्तुओं का मूल्य उनके द्वारा बेची जाने वाली वस्तुओं के अनुपात में नहीं बढ़ता। भारत में कृषकों को होने वाला लाभ मध्यस्थों द्वारा हड़प लिया जाता है। फलतः ऊँची कीमतों से किसानों की आर्थिक दशा में कोई उन्नति नहीं होती। हमें यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि अपनी भूमि या लम्बे पट्टे की जमीन के किसान, जो अपने श्रम पर निर्भर रहते हैं तथा जिनके पास बेचने के लिए कुछ बचता है, ऊँचे मूल्यों से लाभान्वित होते हैं, परन्तु यह बात दूसरों से लगान पर भूमि लेने वाले कृषकों या श्रमिकों से मजदूरी पर काम कराने वालों पर लागू नहीं होती। इसके अतिरिक्त किसानों के दोनों वर्गों

को उत्पादन के खर्च और कपड़ा, तेल तथा जीवन की अन्य प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाली सामग्रियों की ऊँची कीमतों का सामना करना पड़ता है।

मजदूरी में होने वाले परिवर्तन कीमतों के परिवर्तन से पिछड़े रहते हैं। इस प्रकार कीमतों के बढ़ने पर मजदूरों को कुछ समय तक कठिनाई का सामना करना पड़ता है। इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना होगा कि भारत के कितने ही छोटे-छोटे किसान मज़दूर भी हैं। श्री दत्ता के अनुसार ग्रामीण मज़दूरों की मज़दूरी १९१४-१८ के युद्ध में फुटकर कीमतों से अधिक बढ़ी। ग्रामीण क्षेत्रों में यह वृद्धि ३८% थी। इस प्रकार युद्ध और युद्धोत्तर-काल में ग्रामीण मज़दूरी और कीमतों में व्यवस्थापन होता रहा। १९२१ के बाद कीमतों के घटने पर ग्रामीण मज़दूरों की वास्तविक मज़दूरी में वृद्धि हुई।

१९२६ के बाद ग्रामीण क्षेत्रों में मज़दूरी घटने लगी। १९२९-३३ की आर्थिक मन्दी में इसकी गति और तीव्र हो गई। मज़दूरी बड़ी तेजी से घटी, हालाँकि खाद्यान्नों एवं जीवन की अन्य आवश्यक सामग्रियों का मूल्य भी कम हो गया।

लगान पर कीमतों की वृद्धि के प्रभाव के सम्बन्ध में सुरक्षित या सुविधा प्राप्त तथा अरक्षित वर्ग के किसानों में भेद करना आवश्यक होगा। दखीलकार, (मौरुसी), किसानों (जो पहले वर्ग के किसानों का उदाहरण हैं) का लगान धीरे-धीरे बढ़ेगा, जबकि अरक्षित किसान को लगान में अधिक वृद्धि होगी।[1]

९. उद्योगों पर प्रभाव—(१) **दस्तकारी**—हम देशी दस्तकारी में लगे व्यक्तियों के आर्थिक गतिरोध की चर्चा कर चुके हैं। इसका कारण मशीनों से बनी वस्तुओं की होड़ थी। कीमतों के बढ़ जाने से यह होड़ भी बढ़ गई। इससे दस्तकारों की दशा और खराब होती गई। (२) **पूँजीपति-निर्माता**—१९१४-१८ के युद्ध के पहले और बाद में निर्माताओं को असंदिग्ध रूप से लाभ हुआ। लेकिन ये लाभ उच्च लाभांश के वितरण में समाप्त हो गए और इनसे सुरक्षित कोष नहीं बनाया जा सका। परिणामों पर ध्यान न देकर आगे बढ़ते रहने का दण्ड उन्हें भुगतना पड़ा।

१०. ग्रामीण क्षेत्रों तथा नगरों के श्रमिक—१९१४ के पहले वास्तविक और नकद मज़दूरी बढ़ी। गाँवों में वृद्धि ३८% और नगरों में २८% रही। १९१७-२० के बीच कीमतों में शीघ्रता से होने वाली वृद्धि के कारण हड़तालों की महामारी फैल गई। कितनी ही दशाओं में दंगे हुए और बाजार तक लूटे गए। किन्तु १९२१ के बाद औद्योगिक श्रमिकों की दशा निश्चित रूप से सुधरने लगी; मज़दूरी भी बढ़ी और रहन-सहन का खर्च भी कम हुआ। किन्तु मन्दी के दिनों में फिर उद्योग की हालत खराब हो गई। मज़दूरी घट गई, व्यापक रूप से बेकारी फैली और श्रमिक वर्ग को बड़ा कष्ट हुआ। १९३८ में आंशिक सुधार हुआ। बम्बई में मज़दूरों की कटौती बन्द कर दी गई तथा कुछ अन्य प्रान्तों में भी ऐसा ही किया गया (देखिए अध्याय ३)।

१. इधर हाल में श्रमिकों और काश्तकारों ने सामूहिक सौदा करने का लाभ उठाने का प्रयत्न किया है। इसके लिए किसान-सभा और काश्तकार-संघ बनाए हैं। हाल में धारा-सभा ने भी उनके पक्ष में हस्तक्षेप किया है।

११. स्थिर आमदनी वाले व्यक्तियों पर प्रभाव—कीमतों के ऊँची होने से सबसे अधिक कष्ट स्थिर आमदनी के व्यक्तियों—क्लर्कों, पेन्शन पाने वालों, निम्न श्रेणी के सरकारी और व्यावसायिक कर्मचारियों, प्रतिभूतियों तथा लाभांशों की आय पर निर्भर करने वालों तथा पेशेवर लोग, जिनकी फीस निश्चित थी—को हुआ। ये वर्ग—जिन्हें सामूहिक रूप से मध्य वर्ग कहा जाता है—कीमतों के ऊँची होने पर कष्ट उठाते हैं। कारण यह है कि इनकी आमदनी तो स्थिर होती है, किन्तु अन्न, वस्त्र, प्रकाश, किराया-मकान तथा उनके द्वारा रखे जाने वाले मजदूरों की मजदूरियाँ आदि सभी बढ़ जाती हैं। अपनी सामाजिक स्थिति के कारण वे कुछ प्रकार के काम नहीं कर सकते। इसके विपरीत वे बाजार, जहाँ वे काम खोजते हैं, आवश्यकता से अधिक भरे होते है। साथ ही उनमें सामूहिक सौदा करने की शक्ति और संगठन का भी अभाव है।

१२. अवसाद और उसके बाद के समय में मूल्य—१९२० में चरम शिखर पर पहुँच-कर कीमतें १९२१ में घटनी शुरू हुईं। कुछ समय तक इंगलिस्तान में प्रक्रिया भारत से तीव्रतर थी। इससे सरकार की रुपये के मूल्य को दो शिलिंग पर स्थिर करने की नीति खतरे में पड़ी। १९२० में रिवर्स-कौंसिल के विक्रय तथा तज्जन्य मुद्रा-संकुचन के कारण कीमतें घटीं। १९२०–२१, १९२१–२२ के प्रतिकूल व्यापारिक सन्तुलन के परिणामस्वरूप भारत से स्वर्ण का निर्यात हुआ। विश्व की शक्तियों का प्रभाव भी भारत की कीमतों पर पड़ा। संयुक्त राज्य, इंगलिस्तान तथा भारत की कीमतों में १९२९ तक समान रूप से जो घटने की प्रवृति थी वह इन्हीं विश्व-शक्तियों के कारण थी। भारतीय कीमतों के गिरने पर १ शि० ६ पें० के अनुपात का प्रभाव ही देखा जा चुका है।

विश्व आर्थिक-मन्दी के काल में कीमतों की अधोमुखी गति और तीव्र हो गई। विश्व-मन्दी अक्तूबर, १९२९ में अमेरिका में वॉलस्ट्रीट पतन के साथ प्रारम्भ हुई।[1] इससे सभ्य जगत का कोई कोना न बच सका, यह नीचे की तालिका से स्पष्ट है। प्राथमिक (कृषि) वस्तुओं की कीमतें निर्मित वस्तुओं की अपेक्षा अधिक गिरीं और भारत जैसे औद्योगिक देश ब्रिटेन और अमरीका जैसे औद्योगिक देशों की अपेक्षा अधिक बुरी तरह प्रभावित हुए। कलकता का थोक मूल्य देशनांक (जुलाई १९१४=१००) सितम्बर, १९२९ में १४३ था। सितम्बर, १९३१ में जब ब्रिटेन ने स्वर्ण-प्रमाप का परित्याग किया तो देशनांक ९१ हो गया, अर्थात् युद्ध-पूर्व काल के अंक से भी नीचे चला गया। रुपया उस समय पौण्ड से सम्बद्ध था। उसकी प्रतिक्रियास्वरूप मूल्य-स्तर दिसम्बर, १९३१ में ९८ हो गया। १९३२ में यह लाभदायक स्थिति न रही। कीमतें नीचे गिरीं। देशनांक दिसम्बर, १९३२ में ८८ और मार्च में ८२ हो गया। लेकिन इसके पश्चात् मूल्य-स्तर स्थिर हो गया। क्रमिक आर्थिक पुनरुत्थान भारत में भी होने लगा। अप्रैल, १९३३ से १९३७ तक मूल्यों का आंशिक पुनरुत्थान हुआ। अगस्त, १९३७ तक जब कलकत्ता देशनांक १०५ हो गया। कीमतें ११ दर्जा ऊँची उठ गईं। यह वृद्धि विश्वजनीन शस्त्रीकरण का परिणाम थी। इसमें समृद्धि-दशा और

१. देखिए अध्याय ६, ७।

सट्टेबाजी ने भी योग दिया। इस आंशिक पुनरुत्थान को अमरीका तथा अन्य देशों में होने वाली व्यापारिक विश्रान्ति (प्रत्यावर्तन) से धक्का पहुँचा (१९३७ के मध्य में)। इसका भारत के मूल्यों पर बुरा प्रभाव पड़ा। विश्व के बाजारों के साथ कलकत्ता की बाजार का मूल्य देशनांक भी गिरने लगा और १९३८ के अप्रेल में निम्नतम स्तर पर

थोक कीमतों का देशनांक (कलकत्ता बम्बई) तथा कुछ अन्य विदेशी देशों का

	भारत कलकत्ता		भारत बम्बई		ब्रिटेन बोर्ड ऑव ट्रेड	संयुक्त राज्य अमेरिका	कनाडा	आस्ट्रेलिया मेलबोर्न	जापान	फ्रांस
	जुलाई १९१४=१००	१९२९=१००	जुलाई १९१४=१००	१९२९=१००	१९२९=१००					
१९२९ औसत	१४१	१००·०	१४५	१००	१००·०	१००·०	१००·०	१००·०	१००·०	१००·०
१९३० ,,	११६	८२·३	१२६	८६·९	८७·५	९०·७	९०·६	८८·५	८२·४	८८·४
१९३१ ,,	९६	६८·१	१००	७५·२	७६·८	७६·६	७५·४	७९·२	६९·६	८०·०
१९३२ ,,	९१	६४·५	१००	७५·२	७४·९	६८·०	६९·८	७८·३	७३·३	६८·२
१९३३ ,,	८७	६१·७	९८	६७·६	७५·०	६९·३	७०·२	७८·२	८१·६	६३·६
१९३४ ,,	८९	६३·१	९५	६५·५	७७·१	७८·७	७४·९	८१·६	८०·८	६०·०
१९३५ ,,	९१	६४·५	९९	६८·३	७७·८	८३·९	७५·४	८१·५	८४·४	५४·०
१९३६ ,,	९१	६४·५	९६	६६·२	८२·७	८४·८	७८·०	८५·६	८९·९	६५·५
१९३७ ,,	१०२	७२·३	१०६	७३·१	९५·२	९०·६	८८·४	९१·९	१०८·४	९२·७
१९३७ अगस्त	१०५	७४·५	१०६	७३.१	९७·५	९१·८	८९·५	९५·४	१०७·०	९३·२
१९३८ औसत	९५	६७·६	१०१	६९·७	८८·८	८२·५	८२·२	९२·२	११४·३	१०४·१
१९३९ जनवरी	९६	६८	१००	६९	८५	८१	७७	९४	११८	११०
१९३९ अगस्त	१००	७१	१०३	७१	८६	७९	७६	८९	१२४	१०७

पहुँच गया। जून, १९३८ तक इसमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ। जुलाई, १९३८ से जनवरी, १९३९ तक देशनांक ९५ रहा। धीरे-धीरे मई, १९३९ तक बढ़कर यह १०१ हो गया। इसका कारण चीनी, चाय, कच्चे जूट और निर्मित जूट की स्थिरता थी। जुलाई में देशनांक बढ़कर १०० हो गया जबकि युद्ध की छाया तथा राजनीतिक अस्थिरता के बादल यूरोप में छा गए थे। अगस्त तक कोई परिवर्तन नहीं हुआ, यद्यपि युद्ध के चिह्न क्षितिज पर दृष्टिगोचर होने लगे थे। इस प्रकार कलकत्ता का देशनांक १०० पर स्थिर रहा, जैसा कि प्रथम युद्ध प्रारम्भ होने के पूर्व १९१४ में था।

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट होगा कि अन्य देशों की अपेक्षा कीमतें भारत में अधिक गिरीं। उदाहरण के लिए १९२९ के शिखर से मन्दी के निम्नतम गर्त तक प्रतिशत कमी भारत में ४·३, ब्रिटेन में ३०·४, अमेरिका में ३८, आस्ट्रेलिया में २८·५ और जापान में ३५·५ थी। अमेरिका में मार्च, १९३३ में भयंकर पतन के बाद परिस्थिति धीरे-धीरे सुधरने लगी। देश के थोक मूल्य-स्तर में १९३५ में ८ दर्जे की वृद्धि हुई। इसके कारण डॉलर का अवमूल्यन, राष्ट्रीय पुनरुत्थान प्रशासन (नेशनल रिकवरी एडमिनिस्ट्रेशन) और कृषि व्यवस्थापन, प्रशासन (एग्रीकल्चरल एडजस्टमेण्ट एडमिनिस्ट्रेशन) थे। १९३१ में स्वर्ण प्रमाप त्यागने वाले जापान में, विशेषकर १९३५ से ऊर्ध्वगामी

प्रवृत्ति लक्षित होने लगी। स्वर्ण प्रमाप दल के सबसे महत्त्वपूर्ण देश फ्रांस में मूल्यों की गति अधोगामी रही, यहाँ तक कि फ्रैंक के अवमूल्यन के बाद सितम्बर, १९३६ के अन्त में उसे भी स्वर्ण प्रमाप त्यागना पड़ा। इसके बाद फ्रांस की कीमतें भी शीघ्रता से बढ़ीं। पुनरुत्थान काल में भारत की कीमतें अन्य देशों के बराबर नहीं बढ़ीं। देशनांक का उच्चतम बिन्दु १९३७ में ७५ था (१९२९=१००) जबकि इंगलिस्तान का ९७·५ और संयुक्त राज्य का ९१·८ था।

भारत में मूल्यों के गिराव का एक गम्भीर पहलू निर्मित और कच्चे माल की कीमतों की विषमता थी। यह निर्यात और आयात की वस्तुओं के देशनांकों से स्पष्ट है, जिनमें क्रमशः प्रधानतया कच्चा माल तथा निर्मित वस्तुएँ होती हैं। १९३२ की मार्च में सितम्बर, १९२९ की अपेक्षा कलकत्ता देशनांक के अनुसार निर्यात-वस्तुओं[१] का मूल्य ५१% गिरा, जबकि आयात-वस्तुओं का मूल्य २७% ही गिरा। इस विषमता से कृषि-प्रधान वस्तुओं का विनिमय करने वाले भारत को अधिक हानि हुई। १९३६ के बाद मूल्यों के आंशिक पुनरुत्थान-काल में निर्मित-वस्तुएँ धीरे-धीरे निर्यात-वस्तुओं के साथ सन्तुलन स्थापित करने लगीं। यह इससे स्पष्ट है कि निर्यात-मूल्य मार्च १९३७ में २९% कम हुए, जबकि आयात-सामग्रियों का मूल्य २५% ही घटा (आधार-वर्ष १९२९)। इस प्रकार दोनों के बीच का अन्तर ४% ही रह गया। भारत की आर्थिक व्यवस्था पर इसका लाभकारी प्रभाव पड़ा, किन्तु इस कृषि और उद्योग वस्तुओं के मूल्यों का सन्तुलन फिर आर्थिक विश्रान्ति काल में नष्ट हो गया। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि प्राथमिक (कृषि) वस्तुएँ मूल्य-परिवर्तन-चक्र से शीघ्र प्रभावित होती हैं।

१२. मूल्यों के घटने के कारण और प्रभाव—मूल्यों के विश्वव्यापी गिराव के कारण द्राव्यिक और अद्राव्यिक दोनों थे। अभी हाल तक स्वर्ण का कुल उत्पादन माँग के बराबर नहीं था। यह स्थिति संयुक्तराज्य अमेरिका और फ्रांस द्वारा अधिकांश पूर्ति की खपत कर लेने के कारण और बिगड़ गई। इससे अन्य देशों के केन्द्रीय बैंकों के स्वर्ण सुरक्षित कोष समाप्त होने लगे, जिसके परिणामस्वरूप वे मुद्रा-संकुचन की नीति का अनुसरण करने लगे। अद्राव्यिक कारणों से खपत की सामान्य दर की अपेक्षा वस्तुओं–कच्चा माल तथा निर्मित वस्तुओं—का अधिक उत्पादन था। कच्चे माल का उत्पादन बहुत अधिक मात्रा में हुआ। चीन, भारत और दक्षिणी अमेरिका में राजनीतिक अशान्ति होने के कारण मंदी की दशा और भयंकर हो गई। हम पहले ही कह आए हैं कि रुपये का मूल्य १ शि० ६ पेंस कर देने से भारत की कीमतें गिर गईं। यह असंतुलन की प्राथमिक अवस्था की बात है। इससे स्पष्ट है कि आन्तरिक कारणों की तुलना में विश्वजनीन कारण अधिक दोषी थे। १९३७ (अप्रैल) में प्रारम्भ हुई अमरीकी आर्थिक विश्रान्ति—जो भारत में मूल्यों के परिवर्तन के लिए भी उत्तरदायी थी—सट्टेबाजी के पतन का परिणाम थी। इसमें स्वर्ण-भय—प्रेसिडेण्ट रूज़वेल्ट की चेतावनी कि कीमतें

[१] १९३०-३३ में कृषि के प्रधान उत्पादन चावल, गेहूँ, जौ, जूट, तिलहन और कपास के मूल्यों में कमी हुई।

अधिक ऊँची उठ रही हैं—तथा बैंकों द्वारा साख-सुविधाओं पर लगाये गए प्रतिबन्धों का भी बहुत-कुछ हाथ था।[१] भारतीय कीमतों की अधोगामी प्रवृत्ति चीन-जापान के युद्ध के कारण अधिक तीव्र हो गई। इससे भारत के प्रधान कपास-क्रेता के घट जाने से भारत की व्यापार-शक्ति कम हो गई। भारत के विदेशी व्यापार और व्यापारिक संतुलन पर पड़े प्रभाव का (मंदी और विश्रान्ति काल में) विवरण किया जा चुका है (देखिए, अध्याय ६, सेक्शन ९ और २३)। किसानों को बड़ी कठिनाई हुई, क्योंकि उनकी आमदनी शीघ्रता से घटने लगी और इसके विपरीत मालगुजारी, लगान, ब्याज इत्यादि के रूप में लिये जाने वाले भुगतान यद्यपि नाम में वैसे ही रहे, किन्तु वास्तविक रूप में बढ़ गए। इससे किसानों की क्रय-शक्ति घट जाने से आर्थिक मंदी और भी बदतर हो गई। यह ध्यान में रखना होगा कि कीमतों के घट जाने से हमारा कृषि-उत्पादन नहीं गिरा। कुछ क्षेत्रों में उत्पादन बढ़ने की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर हुई। भारतीय दशाओं में कृषक को जो कीमत मिले वही लेनी पड़ती है। इस प्रकार एक विषाक्त चक्र प्रारम्भ हो जाता है, जिससे कीमतें घट जाने से उत्पादन अधिक हो जाता है और अधिक उत्पादन होने से कीमतें और घट जाती हैं। रबर और जूट जैसी औद्योगिक सामग्रियों के उत्पादन में कुछ कमी हुई। इस आर्थिक अंधड़ से राजस्व भी बुरी तरह प्रभावित हुआ। कर बढ़ गए, छँटनी प्रारम्भ हो गई, मुद्रा-संकुचन होने लगा, सोना बाहर जाने लगा तथा बजट में घाटा होने लगा।

किसानों की घटी हुई क्रय-शक्ति तथा उन पर कर-भार बढ़ जाने से उद्योग की स्थिति और वृत्ति की मात्रा पर बुरा प्रभाव पड़ा, यद्यपि अन्यत्र मंदी का प्रभाव कृषि की भाँति गम्भीर नहीं था।[२] इन सबसे स्पष्ट हो गया कि भारतीय अर्थ-व्यवस्था अपने कृषि-प्रधान स्वभाव के कारण कीमतों के गिरने पर शीघ्रता से प्रभावित होती है। शीघ्रता से प्रभावित होने का एक कारण कृषि-सामग्री और उद्योग-सामग्री के मूल्य-चक्र की विषमता है। मार्च, १९३३ से अगस्त, १९३७ के पुनरुत्थान-काल में भारत की आर्थिक दशा में थोड़ा सुधार ही हुआ। शेष दुनिया की तरह भारत में भी वस्तुओं के मूल्य, प्रतिभूतियों के लाभ तथा औद्योगिक लाभ कम हो गए। लेकिन द्वितीय विश्व-युद्ध के प्रारम्भ होने के पहले ही विश्रान्ति घटने लगी थी और इसके बाद कीमतें शीघ्रता से बढ़ने लगीं।

१४. सितम्बर १९३९ के बाद कीमतें[३]—युद्ध प्रारम्भ होने के बाद सितम्बर, १९३९ में औद्योगिक उत्पादन और सामग्रियों की कीमतें बढ़ने लगीं, क्योंकि यह आशा की जाने लगी थी कि युद्ध के कारण भारतीय कृषि और उद्योग का भविष्य उज्ज्वल होगा।

---

१. एच० वी० हडसन, स्लम्प एण्ड रिकवरी, पृ० ४४०-४२।

२. हालांकि औद्योगिक कीमतें, मुनाफे और लाभांशों का मूल्य घटने लगा, परन्तु यह ध्यान देने योग्य है कि कुछ कारणों से औद्योगिक उत्पादन बढ़ रहा था, जैसे स्वदेशी आन्दोलन, संरक्षण-प्रशुल्कों का लगाया जाना (उदाहरण के लिए लोहे, कपड़े और चीनी पर), भारत-जापानी व्यापार-समझौता, सस्ती द्रव्य-दर और मशीनों का सस्ता आयात आदि।

३. देखिए, रिपोर्ट ऑफ करेन्सी एण्ड फाइनेन्स, १९३९-४० से १९४६-४७।

जापान के युद्ध में प्रवेश तथा अफ्रीका में युद्ध तीव्र होने से संयुक्त राष्ट्रों के पूर्वी और मध्य-पूर्वी मोर्चे का आधार भारत ही बना। पूर्ति-विभाग द्वारा दिये गए युद्ध के ठेकों की मात्रा बढ़ती गई। ब्रिटेन की सरकार द्वारा युद्ध की सामग्री और सेवाओं के लिए किये गए भुगतान से ब्रिटेन में पौण्डपावना (Sterling Balances) जमा होने लगे और देश में भुगतान करने के लिए बहुत मात्रा में करेन्सी निर्मित की जाने लगी। देश का सुरक्षा-व्यय भी काफी बढ़ गया। इसी प्रकार ऋण भी बढ़ गया। इस वर्ष में नोटों का प्रचलन, अनुसूचित बैंकों की माँग और देनदारी भी बढ़ी। इसी प्रकार रिज़र्व बैंक द्वारा निरीक्षित निकास-गृहों में चेकों की संख्या भी बढ़ गई। आगे दी गई तालिका से स्पष्ट है कि १६३६ से १६४४ के बीच कीमतें काफी ऊँची उठ गईं। तालिका की सहायता से विदेशों से तुलना भी की जा सकती है। थोक कीमतें (आर्थिक परामर्शदाता देशनांक) ५ % बढ़ गईं। कलकत्ता का देशनांक और भी ऊचा उठा (७६%)। जीवन-यापन का व्यय भी थोक कीमतों का अनुसरण करने लगा। बम्बई का देशनांक ५२% बढ़ गया। प्रशान्त महासागर की ओर युद्ध का प्रसार और जहाजरानी की कमी के कारण विदेशी व्यापार में बाधा उपस्थित हुई। साथ ही परिवहन सम्बन्धी कठिनाइयों, सट्टेबाजी और मुनाफाखोरी के कारण खाद्यान्नों, वस्त्रों आदि का वितरण दोषपूर्ण हो गया और उपभोग की वस्तुओं की कमी और तीव्रता से अनुभव होने लगी। इसका आंशिक कारण साधनों का युद्ध की सेवा में लग जाना था। इसके विपरीत युद्ध-प्रयत्न में धन-व्यय के कारण जनता के हाथ में क्रय-शक्ति बढ़ने लगी। यह वृद्धि कर और ऋण द्वारा उनके हाथ से वापस नहीं ली जा सकती थी।

युद्ध प्रारम्भ होने के बाद तुरन्त ही भारत में वस्तुओं की कीमतें शीघ्रता से बढ़ने लगीं, क्योंकि लोगों का यह विश्वास था कि आर्थिक युद्ध के घनीभूत होने से भारतीय उद्योग और कृषि का भविष्य उज्ज्वल होगा। भारतीय वस्तुओं की बढ़ती माँग के कारण निर्यात-गति तीव्र थी। जहाजों की कठिनाइयाँ, बीमा के खर्च के कारण आयात में कमी, मुनाफे के लिए और भविष्य की व्यवस्था के लिए खरीद, सट्टेबाजी, तथा वस्तुओं के मूल्यों की भावी गतिविधि के सम्बन्ध में आशापूर्ण वातावरण का प्रसार—इन सबके सम्मिलित प्रभाव से युद्ध प्रारम्भ होने के प्रथम चार महीनों (सितम्बर, १६३६—दिसम्बर, १६३६) में कीमतें ऊपर उठ गईं।

जनवरी, १६४० से जून, १६४० तक कीमतों की ऊर्ध्वगति में होने वाला आकस्मिक परिवर्तन, सट्टेबाजी की वजह से बढ़ी कीमतों के विरुद्ध प्रतिक्रिया का परिणाम था, जोकि प्रथम चार महीनों में क्रियाशील रही थी। मूल्य-नियन्त्रण के शीघ्रता से लगाए जाने, मूल्यों पर सरकारी नियन्त्रण के बढ़ने का भय, अधिक लाभ-कर (एक्सेस प्रॉफिट टेक्स) की घोषणा तथा महाद्वीप के बाजारों के समाप्त होने से कीमतें कुछ घटने लगीं। अन्य सहायक कारणों में निर्यात-प्रतिबन्ध, विनिमय-
[illegible]ण तथा ४० करोड़ से अधिक मूल्य के साख को, जो बेकार धातु के रूप में बन्द

थी, वापस लेने का नाम लिया जा सकता है।[1]

भारत तथा विश्व के अन्य प्रधान देशों के थोक मूल्य का देशनांक[2]

	कलकत्ता	बम्बई	यू० के०	यू.एस. ए.	कनाडा	जर्मनी	जापान	स्वीडेन	स्वीटजरलैण्ड
औसत	जुलाई १९१४ =१००	जुलाई १९१४ ..१००	१९३० =१००	१९२६ =१००	१९२६ =१००	१९१३ =१००	अक्टूबर १९०० =१००	१९३५ =१००	जुलाई १९१४ =१००
१९३९ ...	१०८	१०९	१०३	७७	७५	१०७	२७८	११५	१११
१९४० ...	१२०	११८	१३७	७९	८३	११०	३११	१४६	१४३
१९४१ ...	१३९	१३७	१५३	८७	९०		...	...	...
१९४२ मार्च	१५३	१९७	१५९	९८	९५	...	...	१८४	१७०
१९४३ ...	३०७	...	...	...	...	...	...	...	...
१९४४ ...	२९७(१०)	...	१६७(९)	१३५(९)	१३७(९)	१०९(८)	१४२(६)	...	१७९(७)

१९४२ से कीमतों की गति ऊर्ध्वमुखी रही है (देखिए, पृ० २९६ पादटिप्पणी)। द्वितीय विश्वयुद्ध से उत्पन्न मुद्रास्फीति प्रथम युद्ध से अधिक दिनों तक रही। प्रथम युद्ध समाप्त होने के तीन वर्ष बाद (१९२१) से ही कीमतें नीचे गिरने लगीं, लेकिन द्वितीय महायुद्ध के पाँच वर्ष बाद तक भी मुद्रास्फीति की प्रक्रिया वैसी ही बनी रही, क्योंकि प्रथम महायुद्ध की अपेक्षा द्वितीय महायुद्ध से अधिक धन तथा उत्पादन-क्षमता का विनाश हुआ। इस महायुद्ध में व्यय भी अधिक हुआ तथा कहीं अधिक क्रय-शक्ति की भी वृद्धि हुई। परन्तु क्रय-शक्ति की यह वृद्धि बचाने वालों की अपेक्षा उन लोगों के हाथ में गई जिन्हें उसे खर्च करने की आवश्यकता थी। अन्त में, प्रथम महायुद्ध के बाद का तो बहुत सा समय शान्तिमय कार्य-सम्पादन में ही बीता था, पर १९४५ में समाप्त हुए युद्ध के बाद के समय की विशेषता जोर-शोर से शस्त्रीकरण तथा सामरिक और बुनियादी सामग्रियों की माँग ही रही। २५ वर्ष पूर्व की अपेक्षा आज भारतवर्ष बाह्य जगत् के अधिक सम्पर्क में है, अतः उस पर इन सभी विश्वव्यापी कारणों का प्रभाव भी अधिक पड़ा। १९३९ से हमारे सिक्के की मात्रा में हुई अपूर्व वृद्धि, देश का विभाजन तथा हाल में हुए रुपये के अवमूल्यन आदि कारणों की गणना मूल्य-स्तर की वृद्धि के सिलसिले में की जा सकती है। इस प्रवृत्ति को रोकने का एकमात्र उपाय उत्पादन-वृद्धि है।

१५. द्वितीय महायुद्ध-काल तथा युद्धोत्तर-काल में मूल्य-परिवर्तनों का प्रभाव—द्वितीय महायुद्ध के कारण कीमतों में हुई वृद्धि के फलस्वरूप भारतीय कृषकों की उन्नति की आशा की जाती थी। लोगों की धारणा थी कि मंदी की लम्बी अवधि के बाद कृषक-वर्ग अपने ऋण को चुकाकर काफी मुनाफा प्राप्त करेगा। यह भी आशा की जाती थी कि कालातीत ऋणों के भार से दबा हुआ सहकारी आन्दोलन उससे छुटकारा

१. देखिए, रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया, सदस्यों की ९वीं वार्षिक रिपोर्ट और रिजर्व बैंक १९४० की वार्षिक रिपोर्ट।

२. रिव्यू ऑफ ट्रेड ऑफ इण्डिया (१९४१-४२) पृ० ७६-७७। १९४४ के आँकड़े ईस्टर्न इकनामिस्ट, ७ अप्रैल १९४४ अंक से लिये गए हैं। ब्रैकेट में दिये गए अंक मास प्रदर्शित करते हैं।

प्राप्त कर सके और इस प्रकार उसे विकास की प्रेरणा मिले। पर यथार्थतः लड़ाई के उन प्रारम्भिक चार महीनों में भी, जबकि मूल्य काफी अधिक था, किसानों को कोई विशेष लाभ न मिला, क्योंकि वे अपनी फसल को पहले ही बेच चुके थे। नई फसल बाजार में आने के कुछ सप्ताह तक ही मूल्य काफी ऊँचे रहे और उससे और अधिक मूल्य बढ़ने की प्रतीक्षा न करने वाले कुछ मुट्ठी-भर समझदार कृषक ही फायदा उठा सके। बाद की मंदी का कृषकों की क्रय-शक्ति पर बहुत ही बुरा प्रभाव पड़ा और इससे ग्रामीण क्षेत्रों की आर्थिक दशा और भी बिगड़ गई।

कीमतों में १६४० से हुई अत्यधिक वृद्धि का काफी प्रभाव भारत के धन-वितरण पर पड़ा। व्यापार तथा उद्योग में लगे हुए व्यक्ति अत्यधिक समृद्धिशाली हो गए। यह लाभ कुछ अंशों में कृषि-वस्तुओं के उत्पादकों तक भी पहुँचा, जिससे कृषीय ऋण तथा सरकारी देनदारी का भार भी हलका हो गया, परन्तु निश्चित आय वाले व्यक्तियों की हालत बहुत बुरी हो गई जिसका स्पष्ट दृष्टान्त बंगाल के अकाल में काल-कवलित लगभग दस लाख व्यक्ति हैं। इंगलिस्तान तथा संयुक्तराज्य ने इस विपत्ति का सामना राशनिंग, मूल्य-नियन्त्रण तथा मुद्रास्फीति-विरोधी उपाय अपनाकर बड़ी सफलता से किया।[1]

१. इस समय देश में पंचवर्षीय योजना चल रही है। ऐसे समय में मूल्यों में गिराव की प्रवृत्ति अनिष्टकारी सिद्ध हो सकती है। केवल इतना ही नहीं, सरकार कीमतों में गिराव की प्रवृत्ति रोकने के लिए सतत प्रयत्नशील है।

देश के विभिन्न बाजारों में खाद्यान्न और कृषि-वस्तुओं के मूल्य की विषमता की जाँच करने के लिए सरकार ने एम० वी० कृष्णप्पा की अध्यक्षता में एक जाँच समिति की नियुक्ति की है। यह समिति विभिन्न क्षेत्रों में वर्तमान मूल्यों और उनकी गतिविधि की विषमता के सम्बन्ध में उपाय प्रस्तावित करेगी। वर्ष के विभिन्न समयों पर एक ही बाजार में मूल्यों और उनकी गतिविधि की अन्तर्राज्यीय या अन्तर्देशीय या अन्तर्स्थानीय विषमताओं के कारणों की परीक्षा भी समिति करेगी। आशा की जाती है कि समिति छः महीने में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत कर देगी।

अध्याय ११

अधिकोषण (बैंकिंग) और साख[1]

भारतीय अधिकोषण का इतिहास

१. देशी अधिकोष—भारतीय अधिकोष प्रणाली इतनी ही पुरानी है जितना कि यहाँ का व्यापार। सम्भवतः भारतवर्ष में संसार के अन्य देशों से भी पहले तथा उन भी अधिक, अधिकोष प्रणाली का प्रादुर्भाव हुआ। चाणक्य के अर्थशास्त्र (३०० ई पू०) में ऐसे व्यापारी-महाजनों के शक्तिशाली संघों का वर्णन है जो रुपया जमा लें उधार देते तथा अनेक ऐसे कार्यो का सम्पादन करते थे, जो आधुनिक अधिकोष कर हैं। श्री मीडोज़ टेलर अपनी पुस्तक 'स्टुडेण्ट्स मेनुएल ऑफ दि हिस्ट्री ऑफ इंडिय में निम्नलिखित प्रशंसापूर्ण शब्दों में प्राचीन भारतीय अधिकोष-प्रणाली का चित्र करते हैं—"मनु के नियमों से यह स्पष्ट है कि आज से ३००० वर्ष पूर्व भी अधिको विज्ञान पूर्णरूपेण ज्ञात था। महाजन लोग द्रव्य-मूल्य के उतार-चढ़ाव को समभ था तदनुरूप कार्य भी करते थे। वे रोकड़-बही, रोजनामचे तथा खाते को इकह या दोहरे दाखिला के जरिये रखते थे। वे साधारण तथा चक्रवृद्धि ब्याज लेते, सामुद्रि तथा स्थलीय बीमा करते और हुंडी चलाते थे। संक्षेप में हम यों कह सकते हैं कि प्रायः उन सारी आधुनिक बातों का अनुसरण करते थे जो पुराने नियम से किंचित भिन्न हैं।

भारतवर्ष पर मुसलमानों के आक्रमण के साथ ही यहाँ उथल-पुथल त अ-रक्षा काल का प्रारम्भ होता है, जो अधिकोष व्यवस्था के लिए अति हानिकार है। अपने संचित धन को किसी को सौंपना खतरे से खाली न था, अतः इसे अ छिपाकर संचित किया जाने लगा। तो भी व्यक्तिगत साहूकार समृद्धिशाली होते गए। साधारणतया वे व्यापार तथा महाजनी दोनों कार्य साथ-साथ ही करते थे वे राज्य को कर्ज देते थे तथा अनेक प्रभावशाली महाजन परिवारों का सम्ब

१. भारतीय अधिकोष तथा साख विषयक प्रामाणिक सूचना १९२९-३० में नियुक्त विभिन्न प्रान अधिकोष खोज-समितियों तथा केन्द्रीय अधिकोष खोज समिति के साक्ष्य के विवरण तथा पुस्तकों विस्तारपूर्वक दी गई है। अपनी रिपोर्ट पेश करने के पूर्व केन्द्रीय अधिकोष खोज समिति को प्रान समितियों की रिपोर्ट तथा ६ विदेशी विशेषज्ञों के दृष्टिकोण से भी विचार करना था। विदेशी विशे ने अलग से अपनी एक रिपोर्ट तैयार की थी, जिसे केन्द्रीय समिति ने अपनी रिपोर्ट में ही शामि कर लिया। इस परिच्छेद में केन्द्रीय अधिकोष खोज समिति तथा उसके अनुच्छेदों का निर्देश क्रम "के० अ० रि०" तथा अंकों द्वारा किया गया है।

किसी-न-किसी देशी राजदरबार से होता था। 'बिना दरबारी महाजन के शाही दरबार अपूर्ण समझा जाता था। ऐसे महाजन को प्रायः एक मन्त्री की शक्ति प्रदान की जाती थी।' बंगाल के नवाबों के खानदानी महाजन जगतसेठ परिवार का इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि इन महाजनों का देश की राजनीति में कितना हाथ था।[1] ईस्ट इंडिया कम्पनी भी उधार तथा हुण्डी के लिए भारतीय महाजनों का आश्रय लेती थी और इस प्रकार वे महाजन लोग यूरोपीय एजेन्सी-हाउस के आविर्भाव के पहले तक राजकीय कोषाध्यक्ष के रूप में प्रभाव जमाये रहे। इन एजेन्सी-हाउसों के साथ देशी महाजनों की प्रतिस्पर्धा तो थी ही, पर १८वीं सदी के उत्तरार्ध में इनके विपक्ष में अनेक अन्य परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गईं, जैसे प्रेसीडेंसी अधिकोषों की स्थापना तथा समान सिक्कों का प्रचलन, जिससे इन महाजनों के मुद्रा-भुनाई के व्यापार को धक्का लगा। पर इस परिस्थिति में भी ये महाजन बने रहे।

अब भी देशी अधिकोष प्रणाली इस देश की द्रव्य-व्यवस्था का प्रधान अंग है। प्रत्येक गाँव, कस्बे तथा नगर में देशी महाजन[2] मौजूद हैं। एक ओर गाँव में ये छोटे पूँजीपतियों के रूप में हैं, दूसरी ओर देश-विदेश में एजेन्सियाँ रखने वाले व्यापारिक महाजनों ने सम्पन्न और व्यक्तिगत साझेदारियाँ—विशेषतः कौटुम्बिक साझेदारियाँ—बना रखी हैं, जो सम्पन्न तथा सुसंगठित हैं। इन देशी महाजनों की एक विशेष श्रेणी मद्रास के चेट्टी हैं, जिनके व्यापार में सारी जाति की करीब-करीब सम्मिलित जिम्मेदारी होती है।[3] मद्रास के मदुरा जिले के नाट्टुकोट्टई चेट्टी व्यापारी महाजन रूप में विशेष प्रसिद्ध हैं और प्रायः उनका कार्यक्षेत्र संसारव्यापी है। भारतीय सर्राफों तथा साहूकारों द्वारा सम्पादित कुल महाजनी व्यापार अवश्य अत्यधिक होगा तथा इन महाजनों की कारबार-सम्बन्धी नैतिकता अति उच्चकोटि की मानी गई है। भारतीय देशी अधिकोष प्रणाली का संगठन मिश्रित पूँजी के आधार पर नहीं है। निक्षेप रूप में तो प्रायः थोड़ी-सी ही पूँजी आती है, पर इसकी वापसी चेक द्वारा नहीं, वरन् नकद में होती है। यहाँ हिस्सा-पूँजी की प्रथा नहीं है और उत्तरदायित्व वैयक्तिक अथवा साझेदारी में सम्मिलित और असीमित होता है। भारतीय अधिकोष कार्य करने वाले तथा सर्राफगण साधारणतया व्यापार तथा लेन-देन का काम एक ही साथ करते हैं। बहुत दिन तक पत्र-मुद्रा-निर्गमन पर कोई कानूनी प्रतिबन्ध न रहने पर भी भारतीय सर्राफों ने दर्शनी पत्र-मुद्रा का निर्गमन नहीं किया, यद्यपि अठारहवीं सदी में इंगलैण्ड में वहाँ के बैंकरों ने ऐसा किया था। यूरोपीय कोटि के

१. देखिए, एन० सिन्हा द्वारा लिखित 'अर्ली यूरोपियन बैंकिंग इन इण्डिया' पृष्ठ १-३।

२. केन्द्रीय अधिकोष खोज समिति ने निम्नलिखित परिभाषा दी है—"देशी महाजनों से हमारा अभिप्राय इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया, विनिमय बैंक, मिश्रित पूँजी के बैंक तथा सहकारी समितियों को छोड़कर अन्य सभी महाजनों से है। निक्षेप लेने, हुंडियों का कारबार करने तथा रुपया उधार देने वाले व्यक्तिगत तथा निजी फर्म भी इसी कोटि में आते हैं।" (अनुच्छेद १०७)। जो निक्षेप नहीं लेते उनकी गणना देशी साख एजेन्सी की अन्य कोटि में होती है।

३. एल० एस० एम० गुब्बे द्वारा लिखित 'इण्डीजेनस बैंकिंग इन इण्डिया', पृ० ११-१२।

आधुनिक अधिकोष तथा देशी अधिकोष प्रणाली के बीच दो महान् अन्तर हैं—(१) आधुनिक युग में मिश्रित पूँजी वाले अधिकोषों का विकास और (२) निकासी गृह के माध्यम द्वारा रुपया भेजने के लिए चेक का सार्वभौमिक प्रयोग। अतीत काल में सर्राफ लोगों का प्रधान काम मुद्रा-भुनाई था। उस समय इस काम का विशेष महत्त्व था, क्योंकि छोटे-से-छोटे राज्य का भी अपना अलग ही प्रामाणिक सिक्का होता था तथा देश में अनेक प्रकार के धात्विक द्रव्य पर्याप्त मात्रा में होते थे। सर्राफ लोग साख-पत्रों तथा हुंडियों का, जो चेक तथा आन्तरिक हुंडी (बिल्स आफ ऐक्सचेंज) के देशी पर्याय हैं, प्रयोग करते थे। बहुधा वे किसी बड़े कार्य के खर्च को पूरा करने के लिए राज्य को वित्तीय सहायता देते थे।

२. देशी अधिकोष की वर्तमान स्थिति—सर्राफ वर्ग अब भी भारतीय द्रव्य बाजार तथा व्यापारी समुदाय के बीच की अनिवार्य कड़ी के रूप में देश की आर्थिक व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण भाग ले रहा है। वह कृषकों, साधारण शिल्पियों और व्यापारियों को रुपया उधार देता, उपभोग के स्थानों और बन्दरगाहों तक फसलों के पहुँचाने में सहायक होता तथा देश के भीतरी भाग में सब प्रकार की चीजों का वितरण करता है। फसल कटने के मौसम में आवश्यकतानुसार अपने एजेंट को रेल द्वारा नकद रुपये के साथ भेजता है अथवा सरकारी खजाने पर हुंडी खरीदता तथा रुपये की आवश्यकता पड़ने पर उस हुंडी को इम्पीरियल बैंक या व्यावसायिक शहरों के अन्य बैंकों में बट्टा करा लेता है।[1] कुछ अंशों में ये देशी साहूकार आधुनिक प्रणाली के आधार पर संगठित मिश्रित पूँजी वाले बैंकों के घोर प्रतियोगी भी हैं। ऊँची दर की सूद देकर कभी-कभी ये बड़े-बड़े बैंकों से भी अधिक निक्षेप (डिपाजिट्स) इकट्ठा कर लेते हैं। निजी विश्वास पर भी वे कर्ज देते हैं तथा आधुनिक बैंकों की अपेक्षा इन महा-जनों द्वारा माँगी गई जमानत की पूर्ति अधिक आसानी से होती है। उन्हें एक और भी लाभ है। आज की स्थिति में हमारे देश के आधुनिक बैंक मुट्ठी-भर बड़े व्यापा-रियों की सहायता भले ही कर सकें, पर वे समूचे देश के व्यापारी-वर्ग से निकट सम्पर्क स्थापित कर उन्हें सुविधा प्रदान नहीं कर सकते। इस स्थिति में भारतीय साहूकार अनिवार्य मध्यस्थ है। बेबिंगटन स्मिथ समिति के निम्नलिखित शब्दों से यह स्पष्ट है कि देशी महाजनों तथा आधुनिक द्रव्य-व्यवस्था के बीच किस प्रकार का सम्बन्ध है—जिन लोगों का बैंकों से प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है वे प्रायः प्रसिद्ध शहरों के अच्छी स्थिति वाले सर्राफ ही होते हैं। वे अपनी निजी पूँजी से ही कारबार करते हैं और साधारणतया छोटे-छोटे सर्राफों तथा दूसरे लोगों की हुंडियाँ[2] खरीद लेने

१. देखिए, शिराज कृत 'इण्डियन फाइनेन्स एण्ड बैंकिंग', पृ० २४१।

२. हुंडियाँ तीन उद्देश्यों से लिखी जाती हैं—(क) कर्ज प्राप्त करने के लिए (इस हालत में हुंडी व्याव-सायिक हुंडी तथा हस्तपत्रक (हैण्ड बिल) के समान होती है।) (ख) व्यापार को वैत्तिक योग देने के लिए, जबकि यह विनिमय-पत्र के समान होती है, परन्तु विनिमय-पत्र की भाँति हुंडियों के साथ बिक्री के सौदे, बीजक, गोदाम की रसीद आदि स्वत्व-अधिकार-पत्र सदैव नत्थी नहीं किये जाते। साधारणतया केवल हुंडी ही दी जाती है। (ग) रुपये को व्यापार या किसी अन्य अभिप्राय से एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजने के लिए।

के पश्चात् ही वे प्रेसीडेन्सी बैंकों का आश्रय लेते हैं। जिन सर्राफों की हुंडियाँ बड़े सर्राफ खरीदते हैं वे अपने से भी छोटे सर्राफों को रुपया देते हैं। इस प्रकार यह क्रम गाँव के बनियों, अनाज बेचने वालों तथा सुनारों तक चलता है।

आधुनिक अधिकोष प्रणाली के विकास के कारण सर्राफ के कारोबार को कोई विशेष हानि नहीं हुई है, अपितु नकद रुपया भेजने तथा साख की सुविधा ने उसकी बहुत सी असुविधाओं को दूर ही किया है। अतः देशी सर्राफ इस विकास का स्वागत ही करता है। वह व्यापारियों द्वारा लिखी गई हुंडी को बैंक दर से अधिक ही दर पर बट्टा करता है। इन दोनों दरों का अन्तर उसका लाभ होता है।[1] इन दिनों यद्यपि कुछ देशी महाजनी फर्में निजी बैंक का रूप धारण करके आधुनिक प्रणाली की भाँति चेक जारी करने लगी हैं, तो भी अधिकांश पुरानी परम्परा पर ही चल रही हैं।

२. पुरानी तथा नई अधिकोष-प्रणाली के एकीकरण की आवश्यकता—साधारणतया यह अनुभव किया जा रहा है कि देश के पूँजी के साधनों का उपयोग करने तथा इसके साख के संगठन के नियन्त्रण में एकता स्थापित करने के लिए यह आवश्यक है कि देशी अधिकोष-पद्धति और आधुनिक मिश्रित-पूँजी-प्रणाली के बीच निकटतम घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किया जाय। १९३३ में सर जॉर्ज शुस्टर ने असेम्बली में रिज़र्व बैंक विधेयक पर बोलते हुए कहा था कि "भारत के सम्पूर्ण बैंकिंग तथा साख के सम्बन्ध में देशी महाजनों द्वारा किये गए कार्यों को बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन करना अति दुष्कर है। यह कथन अत्युक्ति नहीं कि इनका संगठन सम्पूर्ण साख संगठन के ९० प्रतिशत से भी अधिक है। दुर्भाग्यवश यह भी सत्य है कि सहकारी समितियों के विकसित होने तथा इम्पीरियल बैंक की सौ नई शाखाओं के खुल जाने के बावजूद भी देशी अधिकोष तथा आधुनिक अधिकोष-प्रणाली का सम्बन्ध अभी भी मामूली और अपरिपक्व दशा में ही है। देशी महाजनों के रूप में प्रकट (रिप्रेज़ेंटिड्) भारत के इस वृहत् अधिकोष तथा साख-संगठन का सहयोग जब तक आधुनिक द्रव्य बाज़ार के साथ, जिसका नियन्त्रण रिज़र्व बैंक करता है, नहीं होता तब तक रिज़र्व बैंक के लिए साख तथा सिक्के पर पूर्ण नियन्त्रण करना असम्भव है, यद्यपि पाश्चात्य देशों के केन्द्रीय बैंकों का यह कर्तव्य समझा जाता है। भारत के गाँवों में निवास करने वाली जनता के लिए भी यह सम्भव नहीं होगा कि वह उचित शर्त पर साख तथा अधिकोष सम्बन्धी वह लाभ प्राप्त कर सके, जिसे प्रदान करना एक सुसंगठित अधिकोष-प्रणाली का कर्तव्य है।"

इस सम्बन्ध में केन्द्रीय अधिकोष खोज समिति ने सिफारिशें की हैं। उन्होंने भी इस प्रस्ताव का समर्थन किया कि देशी महाजनों का सम्बन्ध सीधे रिज़र्व बैंक से होना चाहिए। इसने कुछ शर्तें प्रस्तुत कीं, जिनकी पूर्ति करने पर किसी देशी साहूकार को बैंक की स्वीकृत-सूची के अन्तर्गत लिया जाय, जैसे उनका कारबार केवल अधिकोष-सम्बन्धी हो, उनके पास किसी निश्चित सीमा तक निजी पूँजी हो (जो मिश्रित पूँजी

[1] कलकत्ता में हुंडी के भुगतान की बाजार-दर बैंक की दर से २ या ३ प्रतिशत अधिक है, पर बम्बई में, जहाँ सर्राफों के बीच अति तीव्र स्पर्धा होती है, यह दर करीब १½ प्रतिशत अधिक है।

वाले बैंकों के लिए निर्धारित सीमा में हो), वे अपनी हिसाब-वही उचित ढंग से रखें, किसी प्रमाणित संप्रेक्षक (ऑडिटर) से उसका संप्रेक्षण कराएँ तथा रिज़र्व बैंक को संप्रेक्षण और निरीक्षण का अधिकार रहे। रिज़र्व बैंक की अनुसूची में दर्ज देशी महाजनों को निम्नलिखित विशेष अधिकार दिये जायँ—उनके व्यावसायिक पत्रों का रिज़र्व बैंक द्वारा बट्टा करना, मिश्रित पूँजी वाले बैंकों की दर पर ही उनके कोष (फण्ड) का प्रेषण तथा बैंकर्स बुक एवीडेन्स एक्ट की सहूलियत इन देशी साहूकारों को भी प्रदान करना[1] (के० अ० रि० १३९-४२)।

४. देशी साहूकारों से सम्बन्ध स्थापित करने की रिजर्व बैंक की योजना—रिज़र्व बैंक ऑफ़ इण्डिया एक्ट १९३४ की धारा ५५ (१) (अ) के अनुसार रिज़र्व बैंक को तीन वर्ष के अन्तर्गत ही शीघ्रातिशीघ्र गवर्नर जनरल की परिषद (गवर्नर जनरल इन कौंसिल) के सामने ऐसे प्रस्तावों के साथ विवरण प्रस्तुत करना था जिसके अनुसार रिज़र्व बैंक एक्ट में अनुसूचित अधिकोषों को प्रदत्त सुविधाएँ और ब्रिटिश भारत में बैंकिंग व्यापार ऐसे व्यक्तियों और फर्मों को प्रदान किया जाय जो अनुसूचित नहीं हैं।[2]

१९३७ ई० में रिज़र्व बैंक के तत्कालीन गवर्नर ने केन्द्रीय अधिकोष खोज समिति की सिफारिश तथा १९३६ ई० में संशोधित इण्डियन कम्पनी एक्ट में बैंकिंग कम्पनी के नियमों के अनुसार ही निजी साहूकारों को संयुक्त करने की योजना का प्रारूप प्रस्तुत किया।[3] रिज़र्व बैंक ने यह सुझाव रखा कि अगर देशी साहूकारों को रिज़र्व बैंक से सम्बन्धित होना है तो उन्हें अपनी महाजनी व्यवस्था को मिश्रित पूँजी वाले बैंकों के अनुरूप बनाना होगा तथा महाजनी के निक्षेप (डिपाज़िट) पक्ष को अधिक विकसित करना होना। जिन साहूकारों के पास कम-से-कम दो लाख की स्वीकृत पूँजी हो तथा जिसे वे ५ वर्ष में ५ लाख तक कर लेंगे वे वैयक्तिक बैंक बनने के लिए रिज़र्व बैंक को आवेदन-पत्र भेज सकते हैं। उन्हें एक निश्चित समय के भीतर गैर-महाजनी कारबार बन्द करना होगा। उनकी अभियाचना का उत्तरदायित्व (डिमांड लाइबिलिटी) जब तक उनकी निक्षेप देनी उनके कारबार में लगी पूँजी पाँच गुना या उससे अधिक न हो जायगी तब तक उन्हें रिज़र्व बैंक में अनिवार्य निक्षेप (डिपाज़िट) नहीं रखना पड़ेगा। वे हिसाब के उचित खाते रखें तथा हिसाब का संप्रेक्षण किसी निबंधित संख्याता से कराएँ। वे अपने हिसाब-किताब का सत्रिक (पीरियोडिकल) वक्तव्य रिजर्व बैंक को भेजें तथा अधिकोषों की भाँति उनके लिए बने

---

१. केन्द्रीय अधिकोष-समिति ने देशी महाजनों के सम्बन्ध में कुछ सिफारिशें कीं, जैसे इम्पीरियल बैंक तथा मिश्रित पूँजी वाले बैंक अपने चेकों तथा हुंडियों की वसूली के लिए देशी साहूकारों का एजेण्ट के रूप में उसी प्रकार उपयोग करें जैसा वे बैंकों का करते हैं तथा सेण्ट्रल बैंकर्स असोसियेशन की स्थापना के बाद रिजर्व बैंक की स्वीकृत सूची के देशी साहूकार अपने को 'सेण्ट्रल बैंकर्स असोसियेशन का सदस्य' लिख सकें, इत्यादि। समिति देशी साहूकारों के अनिवार्य लाइसेन्स के पक्ष में इस कारण नहीं थी कि संशयपूर्ण साहूकार इससे भयभीत हो उठेंगे और महाजनी के कारोबार को करने में हतोत्साहित होंगे (के० अ० रि० १३८ व १४५)।

२. नीचे सेक्शन ४३ देखिए।

३. देखिए, सेक्शन, १९।

अधिनियम में निर्धारित आँकड़ों को अपने निक्षेपकों की जानकारी के लिए प्रकाशित करें। इन शर्तों को पूरा करने वाले देशी महाजन मान्य पत्रों के आधार पर अपने विनिमय-पत्रों का रिज़र्व बैंक से सीधे बट्टा करा सकेंगे। उन्हें सरकारी पत्रों को गिरवीं रखकर पेशगी लेने तथा अनुसूचित बैंकों को प्राप्त प्रेषण की सुविधाओं को प्राप्त करने का अधिकार होगा। सर्राफों तथा व्यावसायिक संगठनों ने इस प्रस्ताव का जो उत्तर दिया वह इस बात का द्योतक है कि निक्षेप लेने तथा हिसाब को खुले-आम प्रकाशित करने वाले सुझाव पर उनका मतभेद था तथा वे केवल महाजनी कारोबार तक ही बँधे रहना भी नहीं चाहते थे। अतः उन लोगों ने प्रार्थना की कि रिज़र्व बैंक के प्रस्ताव में ऐसा परिवर्तन किया जाय कि मुख्य मतभेद दूर हो जायँ। अतः रिज़र्व बैंक ने भारत सरकार को सूचित किया कि वह रिज़र्व बैंक अधिनियम के संशोधनार्थ ऐसी कोई तात्कालिक सिफारिश नहीं कर सकता जिसके अनुसार अनुसूचित बैंक सम्बन्धी धाराओं को देशी साहूकारों के सम्बन्ध में लागू किया जा सके।[1]

५. आधुनिक अधिकोष का उदय—कलकत्ता के एजेन्सी हाउसों ने सर्वप्रथम इस देश में यूरोपीय अधिकोष प्रणाली का आरम्भ किया। उन लोगों के कारोबार के सहायक अंग के रूप में ही इसका उदय हुआ। साहूकारों की हैसियत से ये एजेन्सी हाउस यहाँ के धनी सौदागरों तथा उद्योगपतियों के साथ कारोबार करते थे तथा उनके जहाजों तथा नील को फैक्ट्रियों को बंधक रखकर उन्हें कर्ज़ देते थे। भारत में निवास करने वाली यूरोपीय जाति तथा ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अधिकारीगण अपनी बचत सरकारी सिक्यूरिटी की अपेक्षा व्याज की ऊँची दर के लोभवश एजेन्सी हाउसों के हवाले करते थे। सट्टेबाजी के कारण एजेन्सी हाउसों को मुसीबत का सामना करना पड़ा और १८२९-३२ के व्यावसायिक संकट ने तो उनका गला ही घोंट दिया। अस्तु

१. अक्तूबर, १९५३ में केन्द्रीय सरकार की स्वीकृति से रिज़र्व बैंक ने एक समिति (जिसे श्रॉफ समिति कहते हैं) यह विचार करने के लिए नियुक्त की कि वैयक्तिक साहस-क्षेत्र में वित्त-व्यवस्था की, विशेषतः अधिकोषों द्वारा, सुविधा कैसे उपलब्ध की जाय। समिति की रिपोर्ट में साहूकारों और सर्राफों के सम्बन्ध में भी कुछ सिफारिशें की गई हैं जिनमें से निम्नलिखित मुख्य हैं—

(क) सर्राफों और साहूकारों का रिज़र्व बैंक से सम्बन्धीकरण करने की चेष्टा अधिक लगन के साथ की जाय।

(ख) सर्राफ उपयुक्त खाते हिन्दी या अंग्रेजी में रखें और रिज़र्व बैंक की स्वीकृति से अपना अखिल भारतीय संगठन बना लें।

(ग) सर्राफ उद्योग तथा व्यापार को वित्तीय योग देते हैं। अतः उन पर ऋण-सम्बन्धी अधिनियम न लागू हों।

(घ) सर्राफ दर्शनी हुंडियों के स्थान पर ९० दिन की हुंडियों का प्रयोग करें और प्रोत्साहन-स्वरूप उनकी ऐसी हुंडियों की आधी स्टाम्प ड्यूटी सरकार कम कर दे।

(च) रिज़र्व बैंक, आवश्यकता हो तो, रिज़र्व बैंक अधिनियम में संशोधन कराके, अनुसूचित बैंकों के माध्यम से सर्राफों, विशेषतः शिकारपुरी सर्राफों की मुद्दती हुंडियों का पुनर्बट्टा करे, जब तक सर्राफों का रिज़र्व बैंक से सीधा सम्बन्ध नहीं स्थापित हो जाता।

(छ) व्यापारिक बैंकों को चाहिए कि छोटे व्यापारियों तथा उद्योग-धन्धियों द्वारा लिखी तथ सर्राफों द्वारा पृष्ठांकित हुंडियों का बट्टा करें, बशर्ते हुंडी सम्बन्धी पक्षों का बैंक को विश्वास हो।

यूरोपीय प्रणाली के आधार पर संगठित बैंक न तो उस समय ही मिश्रित पूँजी वाले थे, न आज ही वे पूर्णतया वैसे हैं। ग्रिडलेज़ जैसी यूरोपीय फर्मों में निजी अधिकोष विभाग होता है। सर्वप्रथम अलेग्जेंडर एण्ड कम्पनी ने कलकत्ता में बैंक ऑफ हिन्दुस्तान की स्थापना की, जो पूर्णतया यूरोपीय प्रणाली पर आधारित प्रथम अधिकोष था। १८२६-३२ के व्यावसायिक संकट के समय अलेग्जेंडर कम्पनी और साथ में उस बैंक का भी दिवाला निकल गया। उसी ध्वंसावशेष पर तत्पश्चात कलकत्ता के प्रायः सभी प्रमुख एजेन्सी हाउसों के सहयोग से यूनियन बैंक नामक मिश्रित पूँजी वाले बैंक की स्थापना की गई, पर १८४८ में वह भी बन्द हो गया।[1]

६. प्रेसीडेन्सी बैंक—१६वीं सदी के आरम्भ में इस देश का विदेशी व्यापार कम था तथा जैसा ऊपर बताया जा चुका है, देशी महाजन घरेलू व्यापार की वैत्तिक व्यवस्था करते थे। व्यापार के क्रमिक विकास के साथ-साथ यूरोपीय श्रेणी के अधिकोषों की आवश्यकता प्रतीत हुई। अधिकोषों की इस आवश्यकता की पृष्ठभूमि में कम्पनी—सरकार—के अपने अधिकोषीय व्यवसाय-हित भी निहित थे। ऐसी परिस्थितियों में प्रेसिडेन्सी बैंकों में सबसे पुराने तथा शक्तिशाली बैंक ऑफ़ बंगाल की कलकत्ता में १८०६ में ५० लाख की पूँजी के साथ ईस्ट इण्डिया कम्पनी की एक सनद द्वारा स्थापना हुई। इस पूँजी में १० लाख रुपया ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने ही दिया था। १८४० में पहली 'बैंक ऑफ़ बम्बई' की स्थापना ५२ लाख रुपये की पूँजी के साथ हुई। इसमें सरकार ने तीन लाख रुपये के हिस्से लिये थे। अमरीका के गृह-युद्ध तथा कपास के अकाल से उत्पन्न तीव्र सट्टेबाज़ी में इस बैंक ने भी हिस्सा बँटाया और उसी के कारण १८६८ में इसका दिवाला भी निकल गया। द्वितीय बैंक ऑफ़ बम्बई की स्थापना उसी साल एक करोड़ रुपये की पूँजी के साथ हुई। १८४३ में बैंक ऑफ़ मद्रास की स्थापना ३० लाख रुपये की पूँजी के साथ हुई, जिसमें ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने तीन लाख रुपये के हिस्से लिये थे। कुछ दिनों से यह कल्पना की जा रही थी कि बैंक ऑफ़ बंगाल अखिल भारतीय बैंक का स्थान ग्रहण कर लेगा, पर इन तीनों बैंकों की स्थापना ने इस सम्भावना की समाप्ति कर दी। प्रारम्भ से ही प्रेसिडेन्सी बैंकों का निकट सम्पर्क सरकार के साथ था, जिसने केवल उनकी हिस्सा-पूँजी में ही योग नहीं दिया वरन् कुछ डाइरेक्टरों की नामज़दगी का भी उसे अधिकार था। १८५७ तक सिविल सर्विस दर्जे के अफसर ही बैंक का मन्त्री, सेक्रेटरी तथा कोषाध्यक्ष हुआ करते थे। इसके बदले बैंकों को कुछ रियायतें मिलती थीं, जिसमें सरकारी अधिकोषीय व्यापार का एकाधिकार सर्वप्रमुख था। उस समय बैंक के पास नोट छापने का अधिकार तो था, पर इस पर भी कुछ नियंत्रण थे, जैसे दर्शनी उत्तरदायित्व नक़द कोष का तीन गुना—और बाद में चौगुना से अधिक नहीं होना चाहिए। इन प्रतिबन्धों की वजह से व्यवहार में इस अधिकार का मूल्य नहीं के बराबर था। १८३६ के बाद तो नोट छापे जा सकने की कुल मात्रा तक निश्चित कर दी गई। जैसा हम देख ही

१. इसके बाद भारत में मिश्रित पूँजी वाले बैंकों की उन्नति का विवरण आगे पैरा १३ व १७ में दिया है।

अधिनियम में निर्धारित आँकड़ों को अपने निक्षेपकों की जानकारी के लिए प्रकाशित करें। इन शर्तो को पूरा करने वाले देशी महाजन मान्य पत्रों के आधार पर अपने विनिमय-पत्रो का रिज़र्व बैंक से सीधे बट्टा करा सकेंगे। उन्हे सरकारी पत्रों को गिरवी रखकर पेशगी लेने तथा अनुसूचित बैंको को प्राप्त प्रेषण की सुविधाओ को प्राप्त करने का अधिकार होगा। सर्राफो तथा व्यावसायिक संगठनों ने इस प्रस्ताव का जो उत्तर दिया वह इस बात का द्योतक है कि निक्षेप लेने तथा हिसाब को खुले-आम प्रकाशित करने वाले सुझाव पर उनका मतभेद था तथा वे केवल महाजनी कारोबार तक ही बँधे रहना भी नही चाहते थे। अतः उन लोगो ने प्रार्थना की कि रिज़र्व बैंक के प्रस्ताव मे ऐसा परिवर्तन किया जाय कि मुख्य मतभेद दूर हो जायँ। अतः रिज़र्व बैंक ने भारत सरकार को सूचित किया कि वह रिज़र्व बैंक अधिनियम के संशोधनार्थ ऐसी कोई तात्कालिक सिफारिश नही कर सकता जिसके अनुसार अनुसूचित बैंक सम्बन्धी धाराओ को देशी साहूकारो के सम्बन्ध मे लागू किया जा सके।[1]

५. आधुनिक अधिकोष का उदय—कलकत्ता के एजेन्सी हाउसों ने सर्वप्रथम इस देश में यूरोपीय अधिकोष प्रणाली का आरम्भ किया। उन लोगों के कारोबार के सहायक अंग के रूप में ही इसका उदय हुआ। साहूकारों की हैसियत से ये एजेन्सी हाउस यहाँ के धनी सौदागरो तथा उद्योगपतियो के साथ कारोबार करते थे तथा उनके जहाज़ो तथा नील को फैक्ट्रियों को बंधक रखकर उन्हे कर्ज देते थे। भारत में निवास करने वाली यूरोपीय जाति तथा ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अधिकारीगण अपनी बचत सरकारी सिक्यूरिटी की अपेक्षा व्याज की ऊँची दर के लोभवश एजेन्सी हाउसों के हवाले करते थे। सट्टेबाजी के कारण एजेन्सी हाउसों को मुसीबत का सामना करना पड़ा और १८२९-३२ के व्यावसायिक संकट ने तो उनका गला ही घोंट दिया। अस्तु

१. अक्तूबर, १९५३ में केन्द्रीय सरकार की स्वीकृति से रिजर्व बैंक ने एक समिति (जिसे श्रॉफ समिति कहते हैं) यह विचार करने के लिए नियुक्त की कि वैयक्तिक साहस-क्षेत्र में वित्त-व्यवस्था की, विशेषतः अधिकोषों द्वारा, सुविधा कैसे उपलब्ध की जाय। समिति की रिपोर्ट में साहूकारों और सर्राफों के सम्बन्ध में भी कुछ सिफारिशें की गई है जिनमें से निम्नलिखित मुख्य है—

(क) सर्राफों और साहूकारों का रिजर्व बैंक से सम्बन्धीकरण करने की चेष्टा अधिक लगन के साथ की जाय।

(ख) सर्राफ उपयुक्त खाते हिन्दी या अंग्रेजी में रखें और रिज़र्व बैंक की स्वीकृति से अपना अखिल भारतीय संगठन बना लें।

(ग) सर्राफ उद्योग तथा व्यापार को वित्तीय योग देते है। अतः उन पर ऋण-सम्बन्धी अधिनियम न लागू हों।

(घ) सर्राफ दर्शनी हुडियों के स्थान पर ९० दिन की हुडियों का प्रयोग करे और प्रोत्साहन-स्वरूप उनकी ऐसी हुंडियो की आधी स्टाम्प ड्यूटी सरकार कम कर दे।

(च) रिज़र्व बैंक, आवश्यकता हो तो, रिज़र्व बैंक अधिनियम में संशोधन कराके, अनुसूचित बैंकों के माध्यम से सर्राफों, विशेषतः शिकारपुरी सर्राफों की मुद्दती हुंडियों का पुनर्बट्टा करे, जब तक सर्राफों का रिज़र्व बैंक से सीधा सम्बन्ध नहीं स्थापित हो जाता।

(छ) व्यापारिक बैंकों को चाहिए कि छोटे व्यापारियों तथा उद्योग-धन्धियों द्वारा लिखी तथ सर्राफों द्वारा पृष्ठांकित हुंडियों का बट्टा करें, बशर्ते हुंडी सम्बन्धी पक्षों का बैंक को विश्वास हो।

यूरोपीय प्रणाली के आधार पर संगठित बैंक न तो उस समय ही मिश्रित पूँजी वाले थे, न आज ही वे पूर्णतया वैसे हैं। ग्रिडलेज़ जैसी यूरोपीय फर्मों में निजी अधिकोष विभाग होता है। सर्वप्रथम अलेग्जेंडर एण्ड कम्पनी ने कलकत्ता में बैंक ऑफ हिन्दुस्तान की स्थापना की, जो पूर्णतया यूरोपीय प्रणाली पर आधारित प्रथम अधिकोष था। १८२९-३२ के व्यावसायिक संकट के समय अलेग्जेंडर कम्पनी और साथ में उस बैंक का भी दिवाला निकल गया। उसी ध्वंसावशेष पर तत्पश्चात कलकत्ता के प्रायः सभी प्रमुख एजेन्सी हाउसों के सहयोग से यूनियन बैंक नामक मिश्रित पूँजी वाले बैंक की स्थापना की गई, पर१८४८ में वह भी बन्द हो गया।[1]

६. प्रेसीडेन्सी बैंक—१९वीं सदी के आरम्भ में इस देश का विदेशी व्यापार कम था तथा जैसा ऊपर बताया जा चुका है, देशी महाजन घरेलू व्यापार की वैत्तिक व्यवस्था करते थे। व्यापार के क्रमिक विकास के साथ-साथ यूरोपीय श्रेणी के अधिकोषों की आवश्यकता प्रतीत हुई। अधिकोषों की इस आवश्यकता की पृष्ठभूमि में कम्पनी—सरकार—के अपने अधिकोषीय व्यवसाय-हित भी निहित थे। ऐसी परिस्थितियों में प्रेसिडेन्सी बैंकों में सबसे पुराने तथा शक्तिशाली बैंक ऑफ़ बंगाल की कलकत्ता में १८०६ में ५० लाख की पूँजी के साथ ईस्ट इण्डिया कम्पनी की एक सनद द्वारा स्थापना हुई। इस पूँजी में १० लाख रुपया ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने ही दिया था। १८४० में पहली 'बैंक ऑफ़ बम्बई' की स्थापना ५२ लाख रुपये की पूँजी के साथ हुई। इसमें सरकार ने तीन लाख रुपये के हिस्से लिये थे। अमरीका के गृह-युद्ध तथा कपास के अकाल से उत्पन्न तीव्र सट्टेबाज़ी में इस बंक ने भी हिस्सा बँटाया और उसी के कारण १८६८ में इसका दिवाला भी निकल गया। द्वितीय बैंक ऑफ़ बम्बई की स्थापना उसी साल एक करोड़ रुपये की पूँजी के साथ हुई। १८४३ में बैंक ऑफ़ मद्रास की स्थापना ३० लाख रुपये की पूँजी के साथ हुई, जिसमें ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने तीन लाख रुपये के हिस्से लिये थे। कुछ दिनों से यह कल्पना की जा रही थी कि बैंक ऑफ़ बंगाल अखिल भारतीय बैंक का स्थान ग्रहण कर लेगा, पर इन तीनों बैंकों की स्थापना ने इस सम्भावना की समाप्ति कर दी। प्रारम्भ से ही प्रेसिडेन्सी बैंकों का निकट सम्पर्क सरकार के साथ था, जिसने केवल उनकी हिस्सा-पूँजी में ही योग नहीं दिया वरन् कुछ डाइरेक्टरों की नामज़दगी का भी उसे अधिकार था। १८५७ तक सिविल सर्विस दर्जे के अफसर ही बैंक का मन्त्री, सेक्रेटरी तथा कोषाध्यक्ष हुआ करते थे। इसके बदले बैंकों को कुछ रियायतें मिलती थीं, जिसमें सरकारी अधिकोषीय व्यापार का एकाधिकार सर्वप्रमुख था। उस समय बैंक के पास नोट छापने का अधिकार तो था, पर इस पर भी कुछ नियंत्रण थे, जैसे दर्शनी उत्तरदायित्व नक़द कोष का तीन गुना—और बाद में चौगुना से अधिक नहीं होना चाहिए। इन प्रतिबन्धों की वजह से व्यवहार में इस अधिकार का मूल्य नहीं के बराबर था। १८३९ के बाद तो नोट छापे जा सकने की कुल मात्रा तक निश्चित कर दी गई। जैसा हम देख ही

१. इसके बाद भारत में मिश्रित पूँजी वाले बैंकों की उन्नति का विवरण आगे पैरा १३ व १७ में दिया है।

चुके हैं, १८६२ में सरकार ने नोट छापने का अधिकार भी छीन लिया और स्वयं अपनी पत्र-मुद्रा का निर्गमन किया। बैंक की क्षतिपूर्ति-स्वरूप सरकारी नक़द प्रेसिडेन्सी नगरों के प्रेसिडेन्सी बैंकों में रखे गए।

भारत सरकार ने १८७६ के प्रेसिडेन्सी एक्ट के अनुसार अपने हिस्से की पूँजी वापस ले ली तथा डाइरेक्टर, मन्त्री और कोषाध्यक्ष नियुक्त करने का अधिकार भी त्याग दिया। इसके बाद प्रेसिडेन्सी बैंकों का सरकारी स्वरूप न रहने पर भी अन्य बैंकों से उनकी भिन्नता इस अर्थ में थी कि वे १८७६ के विशेष अधिकोष-अधिनियम द्वारा शासित थे तथा जनता और सरकार दोनों ही उन्हें इस देश की पद्धति का प्रधान अंग तथा सरकारी खजानों का अनिवार्य अंग मानती थीं। यद्यपि उनका भी काम साधारण बैंकों के ही समान निक्षेप लेने तथा बट्टा काटने का था, पर कुछ सीमा तक वे सरकार के लिए महाजन का भी काम करते थे; जैसे कि वे भारत सरकार की अल्पकालिक सरकारी ऋण का प्रबन्ध करते तथा कुछ निम्नतम सरकारी रकम के इस्तेमाल के अधिकार भी उपभोग करते थे। राजकीय बैंक न होने पर भी राज्य से उनका कुछ-न-कुछ सम्बन्ध हर समय ही बना रहता था, जैसे १८७६ के विशेष अधिनियम के अनुसार सरकार को यह अधिकार था कि वह उनके हिसाबों का संप्रेक्षण करे, उनसे सूचना माँगे तथा उनके हिसाब का साप्ताहिक वक्तव्य प्रकाशित करने को उन्हें बाध्य करे। इस प्रकार के सरकारी नियंत्रण का उद्देश्य सरकार के हित की रक्षा करना तथा देश में अधिकोषों का विकास करना था।

७. **सुरक्षित कोष पद्धति**—१८६३ से सन् १८७६ ई० तक मुख्यावासों (हैड क्वार्टर्स) की सारी सरकारी रकम प्रेसिडेन्सी बैंकों में ही रखी जाती थी, लेकिन बंगाल तथा बम्बई के बैंकों से इन निधियों की वापसी में कठिनाई अनुभव होने के कारण भारत सरकार ने १८७६ में बम्बई, कलकत्ता तथा मद्रास में निजी सुरक्षार्थ-खजानों की स्थापना की। तदनन्तर सरकारी रकम विशेषतया इन्हीं तीन सुरक्षित खजानों में रखी जाती थी। जिला और ताल्लुका के खजाने में तो थोड़ी रकम सुरक्षा तथा दैनिक आवश्यकता के लिए रहती थी। १८७६ में प्रारम्भ होने वाली नई व्यवस्था के अनुसार सरकार इस बात से सहमत हो गई कि अगर वास्तविक निक्षेप निश्चित निम्नतम निक्षेप से कम पड़े तो वह अन्तर-निधि पर बैंकों को सूद देगी। वास्तविकता तो यह थी कि बैंकों में निम्नतम से भी अधिक रक़म रहती थी, लेकिन वे तो इतने से ही सन्तुष्ट नहीं थे। राजस्व का एक बड़ा भाग सरकारी खाते में ऐसे समय में पड़ा रहता था, जबकि द्रव्य-बाजार में उसकी अत्यन्त आवश्यकता थी। हमारे देश में साधारणतया नवम्बर से जून तक कारोबार का मौसम तथा जुलाई से अक्तूबर तक शिथिल मौसम होता है। केवल कलकत्ता में कारोबार का मौसम जुलाई से अक्तूबर तक का होता है। जनवरी से अप्रैल तक के ही चार महीनों में लगान की वसूली होने के कारण लगान का मौसम तथा व्यस्त कारोबारी मौसम एक ही साथ पड़ते हैं। सरकार को बहुत बड़ी मात्रा में कार्यशील रकम रखनी होती थी, क्योंकि मालगुजारी की प्राप्ति बारहों मास तो एक समान होती नहीं पर उसे लगान वसूल करने का व्यय तो साल-

भर समान रूप से करना पड़ता है। इन सब परिस्थितियों से इस बात की सम्भावना समझी गई कि कारोबार के मौसम में सरकार अपनी वैत्तिक स्थिति को क्षति पहुँचाये बिना ही द्रव्य-बाज़ार की अधिकाधिक सहायता कर सकती है।

१६१४-१८ के युद्धकाल में सरकार ने प्रेसिडेन्सी बैंकों के हवाले निम्नतम सीमा से बहुत अधिक रकम इस उद्देश्य से की कि जनता को युद्ध-ऋण में विनियोग करने में सुविधा मिले। १६२१ में सुरक्षित खजाना-पद्धति का अन्त कर दिया गया। सरकारी निधि जिला खजानों तथा छोटे खजानों में रखने के साथ ही इम्पीरियल बैंक के प्रधान कार्यालय तथा उसकी शाखाओं में १६३५ में रिजर्व बैंक की स्थापना होने तक रखी जाती थी। इसके बाद सारी निधि रिज़र्व बैंक के सुपुर्द कर दी गई।

८. प्रेसिडेन्सी बैंकों के कारोबार तथा विकास—प्रेसिडेन्सी बैंकों को (१) विदेशी विनिमय सम्बन्धी कार्य करने और (२) दूसरे देशों से द्रव्य उधार लेने से मना कर दिया गया तथा (३) ऋण देने के लिए ऋण की मात्रा, ऋण-काल, ऋण के बन्धक-पत्रों सम्बन्धी कुछ प्रतिबन्ध लगा दिये गए।

इन सब प्रतिबन्धों तथा विघ्नों के होते हुए भी प्रेसिडेन्सी बैंकों की अनवरत समृद्धि रुकी नहीं। जिस तेजी के साथ उनका विकास हो रहा था उसमें इन प्रतिबन्धों ने प्रभाव तो अवश्य ही डाला, पर दूसरी ओर, इन्हीं सबके कारण उन बैंकों की स्थिरता तथा शक्ति में वृद्धि भी हुई—विशेषत: १६१४-१८ के युद्ध के पूर्वकाल में इन बैंकों में निजी निक्षेपों की मात्रा में सतत वृद्धि हुई। भारतवर्ष के मिश्रित-पूँजी वाले बैंकों से भिन्न प्रेसिडेन्सी बैंक अपने उत्तरदायित्व के ३० प्रतिशत से भी अधिक रक्षित नकद रखकर अपनी स्थिति सुदृढ़ बनाये हुए थे। इन बैंकों में सरकार हर समय कुछ-न-कुछ रकम रखती थी, जो प्राय: निश्चित निम्नतम सीमा से अधिक ही हुआ करती थी तथा जहाँ-जहाँ भी इन बैंकों की शाखाएँ होतीं वहाँ वे कुछ सामान्य सरकारी कारोबार कर दिया करते थे, जिसके बदले उन्हें निश्चित पारिश्रमिक की प्राप्ति हो जाती थी। इसके अतिरिक्त करेन्सी नोटों को प्रचलित कराने के उद्देश्य से ये बैंक अपनी शाखाओं में नोटों को भुनाने में भुगतान का सुभीता भी प्रदान करते थे। सरकारी सहयोग-प्राप्त बैंकों के एसोसियेशन ने लाभदायक शर्तों पर निजी निक्षेप तथा बैंकिंग कारबार को आकर्षित कर बैंकों की प्रतिष्ठा में चार चाँद लगा दिये और देश की अधिकोष-पद्धति में इन बैंकों को महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया।

९. विनिमय बैंक (विदेशी बैंक)—ऊपर हम उल्लेख कर ही चुके हैं कि प्रेसिडेन्सी बैंकों को विदेशी विनिमय सम्बन्धी कार्य करने तथा विदेश में पूँजी इकट्ठा करने की मनाही थी, लेकिन इस देश के विदेशी व्यापार की वृद्धि के साथ इन दोनों कार्यों का महत्त्व बढ़ता ही गया। अत: अब एक ऐसी श्रेणी के बैंक के लिए काफी क्षेत्र उपलब्ध हो गया जो विशेषतया विदेशी विनिमय सम्बन्धी कार्य करे।

भारतीय मिश्रित पूँजी के बैंक इस कारबार में शायद ही कभी हाथ डालते थे, क्योंकि न तो आवश्यक प्रशिक्षण व अनुभव ही प्राप्त था और न लन्दन के द्रव्य-

चुके हैं, १८६२ में सरकार ने नोट छापने का अधिकार भी छीन लिया और स्वयं अपनी पत्र-मुद्रा का निर्गमन किया। बैंक की क्षतिपूर्ति-स्वरूप सरकारी नक़द प्रेसिडेन्सी नगरों के प्रेसिडेन्सी बैंकों में रखे गए।

भारत सरकार ने १८७६ के प्रेसिडेन्सी एक्ट के अनुसार अपने हिस्से की पूँजी वापस ले ली तथा डाइरेक्टर, मन्त्री और कोषाध्यक्ष नियुक्त करने का अधिकार भी त्याग दिया। इसके बाद प्रेसिडेन्सी बैंकों का सरकारी स्वरूप न रहने पर भी अन्य बैंकों से उनकी भिन्नता इस अर्थ में थी कि वे १८७६ के विशेष अधिकोष-अधिनियम द्वारा शासित थे तथा जनता और सरकार दोनों ही उन्हें इस देश की पद्धति का प्रधान अंग तथा सरकारी खजानों का अनिवार्य अंग मानती थीं। यद्यपि उनका भी काम साधारण बैंकों के ही समान निक्षेप लेने तथा बट्टा काटने का था, पर कुछ सीमा तक वे सरकार के लिए महाजन का भी काम करते थे; जैसे कि वे भारत सरकार की अल्पकालिक सरकारी ऋण का प्रवन्ध करते तथा कुछ निम्नतम सरकारी रकम के इस्तेमाल के अधिकार भी उपभोग करते थे। राजकीय बैंक न होने पर भी राज्य से उनका कुछ-न-कुछ सम्बन्ध हर समय ही बना रहता था, जैसे १८७६ के विशेष अधिनियम के अनुसार सरकार को यह अधिकार था कि वह उनके हिसाबों का संप्रेक्षण करे, उनसे सूचना माँगे तथा उनके हिसाब का साप्ताहिक वक्तव्य प्रकाशित करने को उन्हें वाध्य करे। इस प्रकार के सरकारी नियंत्रण का उद्देश्य सरकार के हित की रक्षा करना तथा देश में अधिकोषों का विकास करना था।

७. सुरक्षित कोष पद्धति—१८६३ से सन् १८७६ ई० तक मुख्यावासों (हैड क्वार्टर्स) की सारी सरकारी रकम प्रेसिडेन्सी बैंकों में ही रखी जाती थी, लेकिन बंगाल तथा वम्बई के बैंकों से इन निधियों की वापसी में कठिनाई अनुभव होने के कारण भारत सरकार ने १८७६ में वम्बई, कलकत्ता तथा मद्रास में निजी सुरक्षार्थ-खजानों की स्थापना की। तदनन्तर सरकारी रकम विशेषतया इन्हीं तीन सुरक्षित खजानों में रखी जाती थी। जिला और ताल्लुका के खजाने में तो थोड़ी रकम सुरक्षा तथा दैनिक आवश्यकता के लिए रहती थी। १८७६ में प्रारम्भ होने वाली नई व्यवस्था के अनुसार सरकार इस बात से सहमत हो गई कि अगर वास्तविक निक्षेप निश्चित निम्नतम निक्षेप से कम पड़े तो वह अन्तर-निधि पर बैंकों को सूद देगी। वास्तविकता तो यह थी कि बैंकों में निम्नतम से भी अधिक रक़म रहती थी, लेकिन वे तो इतने से ही सन्तुष्ट नहीं थे। राजस्व का एक बड़ा भाग सरकारी खाते में ऐसे समय में पड़ा रहता था, जबकि द्रव्य-बाजार में उसकी अत्यन्त आवश्यकता थी। हमारे देश में साधारणतया नवम्बर से जून तक कारोबार का मौसम तथा जुलाई से अक्तूबर तक शिथिल मौसम होता है। केवल कलकत्ता में कारोबार का मौसम जुलाई से अक्तूबर तक का होता है। जनवरी से अप्रैल तक के ही चार महीनों में लगान की वसूली होने के कारण लगान का मौसम तथा व्यस्त कारोबारी मौसम एक ही साथ पड़ते हैं। सरकार को बहुत बड़ी मात्रा में कार्यशील रकम रखनी होती थी, क्योंकि मालगुजारी की प्राप्ति बारहों मास तो एक समान होती नहीं पर उसे लगान वसूल करने का व्यय तो साल-

भर समान रूप से करना पड़ता है। इन सब परिस्थितियों से इस बात की सम्भावना समझी गई कि कारोबार के मौसम में सरकार अपनी वैत्तिक स्थिति को क्षति पहुँचाये बिना ही द्रव्य-बाज़ार की अधिकाधिक सहायता कर सकती है।

१९१४-१८ के युद्धकाल में सरकार ने प्रेसिडेन्सी बैंकों के हवाले निम्नतम सीमा से बहुत अधिक रकम इस उद्देश्य से की कि जनता को युद्ध-ऋण में विनियोग करने में सुविधा मिले। १९२१ में सुरक्षित खजाना-पद्धति का अन्त कर दिया गया। सरकारी निधि जिला खजानों तथा छोटे खजानों में रखने के साथ ही इम्पीरियल बैंक के प्रधान कार्यालय तथा उसकी शाखाओं में १९३५ में रिज़र्व बैंक की स्थापना होने तक रखी जाती थी। इसके बाद सारी निधि रिज़र्व बैंक के सुपुर्द कर दी गई।

८. प्रेसिडेन्सी बैंकों के कारोबार तथा विकास—प्रेसिडेन्सी बैंकों को (१) विदेशी विनिमय सम्बन्धी कार्य करने और (२) दूसरे देशों से द्रव्य उधार लेने से मना कर दिया गया तथा (३) ऋण देने के लिए ऋण की मात्रा, ऋण-काल, ऋण के बन्धक-पत्रों सम्बन्धी कुछ प्रतिबन्ध लगा दिये गए।

इन सब प्रतिबन्धों तथा विघ्नों के होते हुए भी प्रेसिडेन्सी बैंकों की अनवरत समृद्धि रुकी नहीं। जिस तेजी के साथ उनका विकास हो रहा था उसमें इन प्रतिबन्धों ने प्रभाव तो अवश्य ही डाला, पर दूसरी ओर, इन्हीं सबके कारण उन बैंकों की स्थिरता तथा शक्ति में वृद्धि भी हुई—विशेषतः १९१४-१८ के युद्ध के पूर्वकाल में इन बैंकों में निजी निक्षेपों की मात्रा में सतत वृद्धि हुई। भारतवर्ष के मिश्रित-पूँजी वाले बैंकों से भिन्न प्रेसिडेन्सी बैंक अपने उत्तरदायित्व के ३० प्रतिशत से भी अधिक रक्षित नकद रखकर अपनी स्थिति सुदृढ़ बनाये हुए थे। इन बैंकों में सरकार हर समय कुछ-न-कुछ रकम रखती थी, जो प्रायः निश्चित निम्नतम सीमा से अधिक ही हुआ करती थी तथा जहाँ-जहाँ भी इन बैंकों की शाखाएँ होतीं वहाँ वे कुछ सामान्य सरकारी कारोबार कर दिया करते थे, जिसके बदले उन्हें निश्चित पारिश्रमिक की प्राप्ति हो जाती थी। इसके अतिरिक्त करेन्सी नोटों को प्रचलित कराने के उद्देश्य से ये बैंक अपनी शाखाओं में नोटों को भुनाने में भुगतान का सुभीता भी प्रदान करते थे। सरकारी सहयोग-प्राप्त बैंकों के एसोसियेशन ने लाभदायक शर्तों पर निजी निक्षेप तथा बैंकिंग कारबार को आकर्षित कर बैंकों की प्रतिष्ठा में चार चाँद लगा दिये और देश की अधिकोष-पद्धति में इन बैंकों को महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया।

९. विनिमय बैंक (विदेशी बैंक)—ऊपर हम उल्लेख कर ही चुके हैं कि प्रेसिडेन्सी बैंकों को विदेशी विनिमय सम्बन्धी कार्य करने तथा विदेश में पूँजी इकट्ठा करने की मनाही थी, लेकिन इस देश के विदेशी व्यापार की वृद्धि के साथ इन दोनों कार्यों का महत्त्व बढ़ता ही गया। अतः अब एक ऐसी श्रेणी के बैंक के लिए काफी क्षेत्र उपलब्ध हो गया जो विशेषतया विदेशी विनिमय सम्बन्धी कार्य करे।

भारतीय मिश्रित पूँजी के बैंक इस कारबार में शायद ही कभी हाथ डालते थे, क्योंकि न तो आवश्यक प्रशिक्षण व अनुभव ही प्राप्त था और न लन्दन के द्रव्य-

बाजार तक उनकी पहुँच थी १९१४ के पूर्व केवल इण्डियन स्पीशी बैंक ही प्रमुख भारतीय मिश्रित पूँजी वाला बैंक था जिसकी विनिमय बैंकों की भाँति लन्दन में एक शाखा थी जिसको खोलने का उद्देश्य विदेशों में बैंक के चाँदी तथा मोती के कारोबार में सहायता प्रदान करना था। अपने जीवन के कुछ प्रारम्भिक वर्षों में भारत के किसी भी विनिमय बैंक ने विनिमय का जितना कारोबार किया[1] उससे कम एलायेन्स बैंक ऑफ शिमला (१९२३ में जिसका दिवाला निकल गया), टाटा इण्डस्ट्रियल बैंक (सेण्ट्रल बैंक ऑफ इण्डिया के साथ इसका एकीकरण १९२३ में हुआ) ने नहीं किया। आज भी कुछ मिश्रित पूँजी वाले बैंक इस कारोबार में हाथ बँटाते तो हैं, पर अभी वे इस क्षेत्र में विशेष विकास नहीं कर पाए हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे देश के विदेशी विनिमय के व्यवसाय पर विदेशी बैंकों का ही एकाधिकार रहा है। विदेशी केन्द्रों में शाखाओं को स्थापित करने के सम्बन्ध में निम्नलिखित प्रमुख कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है—(१) इतनी अधिक पूँजी नहीं है कि इन केन्द्रों के द्रव्य-बाजार में साख बनी रहे; (२) जब तक विदेश-स्थित ये शाखाएँ आत्मनिर्भर नहीं हो जातीं, तब तक इनके संचालन में घाटा उठाना पड़ता है; (३) अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय कार्य की शिक्षा पाये हुए ऐसे कर्मचारियों की कमी, जिन पर निर्भर रहा जा सके; (४) विदेशी बैंकों का वैर-भाव; तथा (५) भारतीय बैंकों के प्रधान कार्यालयों के भारतवर्ष में ही रहने की वजह से वे अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य की स्थिति के निकट सम्पर्क में नहीं रहते तथा आयात-निर्यात का हुण्डी (इम्पोर्ट एण्ड एक्सपोर्ट बिल) एवं वसूली के लिए विनिमय-पत्रों का व्यापार प्राप्त करने में कठिनाई का सामना करना पड़ता है। १९३६ में स्वर्गीय श्री सोरावजी पोचखानवाला ने सेण्ट्रल बैंक ऑफ इण्डिया के संरक्षण में प्रथम भारतीय विनिमय बैंक (सेण्ट्रल एक्सचेंज ऑफ इण्डिया) की स्थापना लन्दन में की। १९३६ में बार्कलेज़ बैंक, लन्दन के साथ इसका एकीकरण हो गया।

भारतवर्ष के विदेशी व्यापार पर इंगलैण्ड का आधिपत्य होने तथा लन्दन के संसार का वित्तीय केन्द्र होने के कारण भारत के प्रारम्भिक विनिमय बैंकों की स्थापना ब्रिटिश साहस की देन थी तथा उनके प्रधान कार्यालय लन्दन में ही रहते थे। लेकिन बाद में इस देश का सम्पर्क अन्य राष्ट्रों के साथ बढ़ा, जिसके परिणामस्वरूप अन्य देशों के प्रमुख बैंकों की शाखाएँ भी यहाँ खुलने लगीं। भारतवर्ष के व्यापार में होने वाले विघ्न तथा कुछ विदेशों के, जिनका पहले भारत के, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में अति छोटा स्थान था, महत्त्वपूर्ण आधिपत्य के कारण विदेशी बैंकों को इस देश में अपनी शाखाएँ खोलने का प्रोत्साहन मिला। अतः भारत-स्थित विनिमय बैंक अधिकांश लन्दन स्थित बैंकों की शाखाएँ हैं। अब यूरोपीय देशों, सुदूरपूर्व तथा अमरीका की बैंकों की शाखाओं की संख्या भी बढ़ रही है। विनिमय बैंकों का वर्गीकरण हम यों कर सकते हैं—(१) जो भारत में अत्यधिक कारोबार करते हैं, और (२) जो सारे एशिया में कारोबार करने वाले बैंकों की एजेन्सी-मात्र हैं।

१. सिन्हा, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ २२०।

१०. विनिमय बैंकों के कारोबार तथा उनकी वर्तमान स्थिति—प्रारम्भ में विनिमय बैंकों का कार्य केवल देश के बाह्य व्यापार की वित्तीय व्यवस्था करने तक ही सीमित था, पर इधर हाल में उनमें से अधिकांश ने देश में, जहाँ-जहाँ इनकी शाखाएं हैं, वहाँ के आन्तरिक व्यापार का वित्तीय योग देना काफी प्रारम्भ कर दिया है। कुछ तो वे साधारण बैंकों की तरह का ही कारोबार करते हैं, पर इस देश में उनका प्रमुख कार्य विदेशी हुण्डी को क्रय करके अथवा बट्टा करके विदेशी व्यापार में वित्तीय योग देना है। आयात विनिमय-पत्रों का उदय इंगलैण्ड एवं अन्य विदेशों में होता है तथा भारत में वे चुकता होते हैं। लेकिन विनिमय-बैंकों की अधिकांश हुण्डियाँ भारतीय निर्यातकों की निर्यात-हुण्डियाँ हैं, जो लन्दन के उन बैंकों या साख-गृहों के नाम होती हैं जिनसे निर्यात को साख-सुविधा प्राप्त होती है। ये निर्यात-हुण्डियाँ अधिकतर त्रैमासिक तथा स्वीकार करने पर दी जाने वाली डी० ए० होती हैं, यद्यपि कुछ मूल्य-प्राप्ति पर दी जाने वाली (डी० पी०) भी होती हैं। लन्दन में विनिमय बैंक डी० पी० हुण्डियों को अपने पास तब तक रखते हैं जब तक ये लौटा नहीं ली जातीं या इनकी अवधि पूरी होने पर ये चुकता नहीं हो जाती। डी० ए० बिल का बट्टा (या पुनर्बट्टा) प्रायः स्वीकृति के तुरन्त ही बाद में हो जाता है। इंगलैण्ड में इनका पुनर्बट्टा इंगलैण्ड तथा स्काटलैण्ड की मिश्रित पूँजी वाले बैंकों या बैंक ऑफ इंगलैण्ड द्वारा होता है। इस प्रकार विनिमय बैंकों द्वारा भारतवर्ष में दिये रुपये के बराबर इंगलैण्ड में पौंड मिल जाते हैं। व्यापार मन्दा होने या भारतवर्ष में कोष की तात्कालिक माँग न होने की हालत में कभी-कभी वे हुण्डी को अवधि पूरी होने तक रोक भी लेते हैं।[1] इस प्रकार भारतवर्ष के निर्यात-व्यापार की वित्तीय व्यवस्था मुख्यतः ब्रिटिश बैंकों की पूँजी से ही होती है। लन्दन के द्रव्य बाजार में हुण्डियों का पुनर्बट्टा कराने की सुविधा—भारत की अपेक्षा वहाँ बट्टा दर भी कम होती है—विशेष लाभदायक है,क्योंकि विनिमय बैंक जितनी निधि की हुण्डियों को अवधि पूरी होने तक अपने पास रख सकते हैं उससे अधिक निधि की हुण्डियाँ खरीद लेते हैं। भारतवर्ष के मिश्रित पूँजी वाले बैंकों को तो ये सुविधाएँ प्राप्य नहीं है, अतः वे इन विदेशी बैंकों के साथ प्रतिस्पर्धा करने में अत्यन्त कठिनाई अनुभव करते हैं, जिनका लाभ कच्चे नहीं बल्कि सुदृढ़ आधार पर स्थित है।

विनिमय बैंकों द्वारा भारत की निर्यात-हुंडी खरीदने का अर्थ है अपने कोष को लन्दन भेजना। जब तक कौंसिल बिल तथा टेलीग्राफिक ट्रान्सफ़र खरीदने की पद्धति थी, तब तक विनिमय बैंक अपने कोषों की भारत वापसी के लिए खुलकर इन दोनों का क्रय लन्दन में करते रहे। अब वे अपनी निधि को लन्दन भेजने के लिए अपनी स्टर्लिंग की बिक्री रिज़र्व बैंक ऑफ इंडिया के हाथ करते हैं। भारत में अपने कोष की वृद्धि करने के उनके कुछ अन्य तरीके भी हैं, जैसे आयात की हुंडी के पक जाने पर उसे भुना लेना; विदेश-स्थित भारतीय छात्रों, मुसाफिरों तथा अन्य भारत से रकम भेजने वाले व्यक्तियों को ड्राफ्ट बेचकर तथा टेलीग्राफिक ट्रान्सफर

१. भारतवर्ष तथा यूरोप, संयुक्तराज्य अमरीका तथा उपनिवेशों के बीच स्टर्लिंग में ही हुण्डियाँ की जाती हैं। भारत और जापान के बीच येन में तथा भारत और चीन के बीच हुण्डियाँ रुपये में की जाती हैं।

करके तथा लन्दन में खरीदे गए भारतीय ऋणपत्रों को भारत में बेचकर, इत्यादि। जब आयात से निर्यात अधिक होता है तो ये विनिमय बैंक लन्दन, मिस्र तथा आस्ट्रेलिया से सोना, चाँदी तथा गिन्नी मँगवा लेते हैं। उसी प्रकार सोना या चाँदी का निर्यात वे उस दशा में करते हैं जब लेन-देन की बाकी भारत के प्रतिकूल होती है। भारत सरकार जब उल्टी हुंडी प्राप्य होने देती थी तो पहले वे उसी को खरीद लेते थे, पर अप्रैल, १९३५ में रिज़र्व बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना के पश्चात् इस बैंक से वे लन्दन में भुगतान के लिए स्टर्लिंग ड्राफ्ट खरीद सकते हैं।[1]

भारतीय आयात व्यापार की वित्तीय व्यवस्था या तो भारतीय आयातकों पर किये गए साठ दिनों की दर्शनी हुण्डी द्वारा या लन्दन बैंक की स्वीकृत 'हाउस पेपर' हुण्डी द्वारा की जाती है। भारतीयों द्वारा किये गए आयात के लिए प्रायः पहले तरीके का उपयोग होता है। स्टर्लिंग में लिखे ऐसे ड्राफ्ट को लन्दन-स्थित विनिमय बैंक भुगतान करते हैं और फिर अपनी भारत-स्थित शाखाओं के पास वसूली के लिए भेज देते हैं जो इन्हें स्वीकृति तथा भुगतान के लिए आयातकों के सामने पेश करते हैं। आयात करने वाले बिना पूरा भुगतान किये ही वस्तुओं को दो तरीकों से प्राप्त कर लेते हैं—(१) विनिमय बैंक की ओर से ट्रस्ट रसीद पेश करके आयातक वस्तुओं को प्राप्त करना तथा चीजों की अन्तिम चुकती होने के पूर्व उन्हें अपने पास धरोहर-स्वरूप रखकर। दूसरा उपाय यूरोप के उन आयातकर्ताओं को प्राप्य है, जिनके लन्दन में पुराने बैंक हैं। ये अपनी लन्दन-स्थित बैंकों के नाम हुण्डियाँ लिखते हैं जो उन बैंकों द्वारा स्वीकृत होने पर लन्दन में ही बट्टे पर भुनाई जा सकती हैं। उनका बट्टा करने वाले बैंक सम्बन्धित पत्रों को अपनी भारत-स्थित शाखाओं को भेज देते हैं। शाखाएँ हुण्डियों की अवधि पूरी होने के पहले रकम वसूल करने लन्दन भेज देती हैं। विनिमय बैंक के विदेश-स्थित कार्यालय तथा शाखाएँ भारतवर्ष के आयात व्यापार की वित्तीय व्यवस्था करने में प्रमुख भाग लेती हैं। भारतीय शाखाओं का तो साधारणतया यही कार्य होता है कि वे आयात की हुण्डी की अवधि पूरी हो जाने पर उसकी वसूली करें तथा हुंडी भुगतान करने वालों की शक्ति तथा स्थिति सम्बन्धी सूचना अपनी शाखाओं को दें। निर्यात की हुण्डियों के विपरीत आयात की हुंडियों का भारतवर्ष में पुनर्बट्टा न होने के कारण विनिमय बैंक निर्यात व्यापार की अपेक्षा आयात व्यापार को ही अधिक वित्तीय सहायता देते हैं। अगर आयात की हुण्डी के बट्टा-बाजार को हम विकसित करना चाहते हैं तो यह आवश्यक है कि इन्हें रुपये में ही किया जाय तथा ये स्वीकृति पर देय हों। इन सुधारों द्वारा भारत के आयातकर्ताओं की यथार्थ शिकायतों को दूर करने में भी सहायता मिलेगी।

केन्स ने भारतीय वित्तीय पद्धति की स्थिरता के खतरे-स्वरूप यह संकेत किया था कि यहाँ के द्रव्य-बाजार की वित्त-व्यवस्था ऐसी पूँजी द्वारा होती थी जो स्थायी रूप

---

१. हाल में की गई विनिमय नियन्त्रण की युक्तियाँ, ९वें परिच्छेद के २९वें पैरा में देखिए।

से नहीं, वरन् अल्पकाल के ही लिए दूर विदेशों में इकट्ठा किया जाता है।[1] पर हाल में विनिमय बैंकों ने भारत में ही काफी कोष इकट्ठा करके लन्दन के द्रव्य-बाजार पर निर्भर रहना कम कर दिया है। तब भी सुरक्षा की दृष्टि से तो उचित यही है कि इंगलैण्ड (या भारतवर्ष) में जो अल्पकालीन कर्ज लिया जाय वह वहाँ जमा आदेय (असेटस) से अधिक न हो।[2] पर्याप्त नकद रिज़र्व की भी आवश्यकता है ताकि निक्षेप-दायित्व का भुगतान किया जा सके। लायड बैंक द्वारा 'कॉक्स एण्ड कम्पनी' के एकीकरण के कारण इंगलैण्ड के 'पाँच बड़े' बैंकों में से एक का भारत आ जाना भारतवर्ष के भारतीय अधिकोष के हाल के इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना है।

अगले पृष्ठ की तालिका में[3] दिये अंकों से १९३९ से १९४३ तक के विनिमय बैंकों में जमा भारतीय पूँजी की स्थिति स्पष्ट है।[4]

११. विदेशी बैंकों पर प्रतिबन्ध—अनुमान है कि इस देश के विदेशी व्यापार में भारतीयों का हिस्सा केवल १५ से २० प्रतिशत है।[5] अतः कमीशन, दलाली तथा बीमा के रूप में गैर-भारतीयों को बहुत सी रकम देकर हमें काफी घाटा उठाना पड़ता है। लोगों की यह धारणा है कि भारत के विदेशी व्यापार में विदेशी संस्थाओं की अधिकता इसलिए है कि ये विदेशी विनिमय बैंक भारत के साथ व्यापार करने वाले अपने देशवासियों को बहुत सुविधा प्रदान करते हैं। इसके अतिरिक्त जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, इन बैंकों को विदेशी व्यापार की वित्तीय व्यवस्था करने का काधिकार है और यह कहा जाता है कि भारतीय व्यापारियों की हानि करने के लिए वे इस अधिकार का दुरुपयोग करते हैं।[6]

१. देखिए, इण्डियन करेंसी एण्ड ऐक्सचेंज, पृ० २१२।

२. केन्स, वही, पृ० २१२-१३।

३. श्री एस० के० मुरंजन द्वारा लिखित 'माडर्न बैंकिंग इन इण्डिया', दूसरा संस्करण, पृ० २०७, पाद-टिप्पणी देखिए।

४. अब १९५२ से भारत में १४ विदेशी विनिमय बैंक हैं, जिनके सम्बन्धित आंकड़े नीचे की तालिका में करोड़ रुपयों में दिये गए हैं—

वर्ष	कुल निक्षेप	माँग निक्षेप	प्रतिशत, नकद का*	अनुपात, कुल उधार का	निक्षेप में विनियोग का
१९५२	१७३	११८	७.८	७९.५	२६.१
१९५३	१६४	१०९	७.१	७४.९	२९.१
१९५४	१७५	११४	७.७	८०.३	२७.५

*इसमें रिजर्व बैंक के पास जमा निधि भी सम्मिलित है।

५. बिमल सी० घोष द्वारा लिखित 'ए स्टडी ऑफ दि इंडियन मनी मार्केट', पृ० ८७।

६. केन्द्रीय अधिकोष खोज समिति के समक्ष अनेक व्यावसायिक संस्थाओं ने कहा था कि विनिमय बैंक विदेशी निर्यातकों को भारतीय व्यावसायिकों के बैंकों के सम्बन्ध में असंतोषजनक संकेत देते हैं; भारतीय आयातकों को स्वीकृत होने पर देय ड्राफ्ट की सुविधा प्राप्त नहीं होती; स्वीकृत साख उल्लेख-पत्र की प्राप्ति के लिए भारत के आयातकर्ताओं को वस्तुओं की कीमत का १० से १५ प्रतिशत तक विदेशी बैंकों में जमा करना पड़ता है (जबकि विदेशी आयात पर यह शर्त लागू नहीं है); आयात-हुंडी स्टर्लिंग मुद्रा में की जाती तथा इस पर ब्याज-दर ऊँची (६%) होती है; भारत के जहाजों तथा बीमा कम्पनियों के साथ विनिमय बैंकों का व्यवहार प्रतिकूल होता है, उनमें भारतीयों की नियुक्ति

विनिमय बैंक (लाख रुपयों में भारतीय चलार्थ)

	निक्षेप	माँग-निक्षेप	माँग-निक्षेप का कुल निक्षेप का प्रतिशत अनुपात	नकद के निक्षेप से प्रतिशत अनुपात
१९३९	७,४१८	४,८२४	६५	९.२
१९४०	८,५२८	६,१६१	७२	२०·१
१९४१	१०,५५०	८,०४८	७६	१२·६
१९४२	११,६८५	९,७४८	८४	१०·२
१९४३	१३,६२७	११,५८६	८७	८·९

केन्द्रीय अधिकोष समिति से कुछ गवाहों ने विनिमय बैंकों के कार्यो के सम्बन्ध में कानून बनाने की प्रार्थना की, क्योंकि उन पर किसी प्रकार का भारतीय कानूनी प्रतिबन्ध नहीं था, यहाँ तक कि वे भारत में रजिस्टर्ड मिश्रित पूँजी वाले बैंकों पर लगाये गए अल्पसंख्यक कानूनी प्रतिबन्धों से भी मुक्त थे। यह भी कहा गया है कि यद्यपि वे भारत में ही निक्षेप इकट्ठा करते हैं, फिर भी भारतीय निक्षेपकों को किसी प्रकार का संरक्षण प्रदान नहीं किया गया है। अन्ततोगत्वा राष्ट्रीय दृष्टिकोणों से भी जापान तथा अन्य देशों के ही समान विनिमय बैंकों की भारत-विरोधी नीति के शोधक-स्वरूप तथा भारतीय व्यापारियों की कठिनाइयों को दूर करने के लिए भी उनके नियंत्रण का समर्थन किया गया (के० अ० रि० ४७७)।

अनेक देशों के विधान में किसी अधिकारी संस्था द्वारा वहाँ के विदेशी बैंकों के नियन्त्रण की व्यवस्था है। समिति ने भी इसी व्यवस्था का कुछ तो निक्षेपकों के हित में, कुछ भारतीय बैंकों को विदेशों में परस्परानुवर्ती व्यवहार की निश्चितता दिलाने और कुछ इस देश में व्यापार करने वाले बैंकों पर रिजर्व बैंक का थोड़ा नियन्त्रण बढ़ाने की दृष्टि से समर्थन किया। गैर-भारतीय बैंकों के प्रार्थना-पत्रों की जाँच करने तथा उन्हें लाइसेन्स देने का सर्वोचित अधिकारी रिजर्व बैंक ही हो सकता था, पर समिति का यह भी कथन था कि जो बैंक पहले से ही स्थापित थे उन्हें तो लाइसेन्स दे ही देना चाहिए। हर लाइसेन्स एक निर्दिष्ट समय तक के ही लिए होना चाहिए, पर अधिकार पत्र देने वाले अधिकारियों को यह विश्वास हो जाता

जिम्मेदार पद पर नहीं की जाती, इत्यादि। देखिए के० अ० रि० ४३९-४५। रिपोर्ट में भारत सरकार को यह सुझाव दिया गया कि वह इन शिकायतों को दूर करने के लिए विनिमय बैंकों के साथ उपयुक्त परिपाटी का सृजन करे।

है कि बैंक से सम्बन्धित भारतीय कानून के निर्देश तथा अधिकार-पत्र में निर्दिष्ट अन्य शर्तों का पालन हो रहा है तो उस बैंक के अधिकार-पत्र को फिर नया कर देना चाहिए। अगर कोई विदेशी बैंक भारत में महाजनी का कारोबार करना चाहता हो तो उसे लाइसेन्स की निम्नलिखित शर्तों को पूरा करना चाहिए—

(१) रिज़र्व बैंक के आदेशानुसार वे अपने भारतीय कारोबार सम्बन्धी आदेय तथा दायित्व का वार्षिक विवरण रिज़र्व बैंक को दें।

(२) कम-से-कम कुछ वर्ष तक वे अपने भारतीय तथा अभारतीय कारोबार का विवरण समय-समय पर रिज़र्व बैंक को दें।

(३) पारस्परिकता के आधार पर अन्य शर्तें भी रखी जा सकती हैं। अनेक देशों ने अपने यहाँ कार्यशील अन्य राष्ट्रीय बैंकों पर कानूनी प्रतिबन्ध लगा दिया है। भारत सरकार भी भारतवर्ष में अधिकार-पत्र-प्राप्त विदेशी बैंकों पर इन्हीं शर्तों को लगाने की अपनी शक्ति का उपयोग करे। इस प्रकार भारत सरकार विदेशी बैंकों के साथ परस्परानुवर्ती व्यवहार कर सकती है (के० अ० रि०, ४५१)।[1]

१२. भारतीय विनिमय बैंक का श्रीगणेश—विदेशी बैंकों पर लगाये गए इस तरह के प्रतिबन्ध हमारी वर्तमान स्थिति में कितना ही सुधार ला दें, पर वे हमारी कमज़ोरी के मूल कारण को दूर नहीं कर सकते, क्योंकि भारतवासी आयात और निर्यात व्यापार तथा ऐसे व्यापार की बैंक-सम्बन्धी सुविधा के निर्देश में बहुत ही कम हिस्सा लेते हैं। केन्द्रीय अधिकोष खोज समिति ने निम्नलिखित युक्तियाँ बताईं जिनके द्वारा भारतवर्ष बैंकिंग तथा व्यापार में उचित स्थान प्राप्त कर सकता है (के० अ० रि० ४८१)—(१) सुस्थापित मिश्रित पूँजी वाले बैंकों को इस प्रकार का विदेशी सम्पर्क करना चाहिए जो उनके ग्राहकों के लिए लाभदायक हो। (२) रिज़र्व बैंक की स्थापना के साथ-ही-साथ इम्पीरियल बैंक पर विदेशी विनिमय कार्य सम्बन्धी प्रतिबन्धों को हटाने के पश्चात् इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया को भारत के विदेशी व्यापार में सहयोग देने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। (१ अप्रैल, १९३५ को रिज़र्व बैंक

१. विदेशी विनिमय बैंकों का नियन्त्रण करने की दृष्टि से बैंकिंग कम्पनी अधिनियम, १९४९ में निम्नलिखित उल्लेखनीय व्यवस्था की गई है—

(क) प्रत्येक विदेशी बैंक के पास त्रैमासिक के अन्त पर उसके भारतीय दायित्व (माँग और अवधि) का ७५% के आदेय भारत में होने चाहिएँ।

(ख) बम्बई और कलकत्ता में स्थित विदेशी बैंकों की पूँजी तथा रिज़र्व कम-से-कम २० लाख रुपये तथा अन्य स्थानों में स्थित होने पर निम्नतम १५ लाख रुपये होना चाहिए। ये निधियाँ भारतीय बैंकों के लिए निर्धारित सीमाओं से अधिक हैं।

(ग) विदेशी बैंक का दिवाला निकलने पर भारतीय निक्षेपकों और ऋणदाताओं का उनके भारत-स्थित आदेय पर प्राथमिक अधिकार होगा।

(घ) प्रत्येक वर्ष विदेशी बैंक अपने भारतीय कारोबार का हानि-लाभ-विवरण तथा स्थिति-विवरण तैयार करके प्रकाशित करेंगे।

रिज़र्व बैंक इन विदेशी बैंकों के कार्य का नियन्त्रण करके ही इनकी ध्वंसात्मक कार्य-नीति को रोक सकता है, क्योंकि अभी तो पूँजी तथा कुशल कार्यकर्ताओं के अभाव में भारतीय बैंक विदेशी विनिमय कार्य उठाने के योग्य नहीं हैं।

की स्थापना के बाद इम्पीरियल बैंक ऑफ़ इण्डिया के विदेशी विनिमय कार्य सम्बन्धी पुराने प्रतिबन्धों को हटा दिया गया है तथा इम्पीरियल बैंक की नियुक्ति रिज़र्व बैंक के एकाकी एजेंट रूप में भी हुई है। (३) समिति ने यह भी सिफारिश की कि अगर इम्पीरियल बैंक भारत के विदेशी व्यापार की वित्तीय व्यवस्था ठीक तरह से नहीं कर पाता तो एक भारतीय विनिमय बैंक की स्थापना की जाय (कें० अ० रि० ४८५)। इस बैंक की ३ करोड़ रुपये की ऐसी पूँजी होनी चाहिए जिसे भारत में रजिस्टर्ड मिश्रित पूँजी वाले बैंक पहली किश्त में ही खरीद लें। अगर सम्पूर्ण हिस्सा-पूँजी की बिक्री निर्दिष्ट समय के भीतर नहीं हो जाती तो सरकार बाकी रकम की पूर्ति करके उसे जनसाधारण के हाथ बेच दे। जब तक ५० प्रतिशत से अधिक पूँजी सरकार की हो, तब तक संचालकों की नियुक्ति में उसका विशेष हाथ होना चाहिए। सरकार के प्रेषण सम्बन्धी कार्यों को रिज़र्व बैंक द्वारा नियंत्रित किसी नये बैंक को सौंपने के प्रश्न पर इस शर्त पर रिज़र्व बैंक के साथ विचार करना चाहिए कि उस नये बैंक को यह स्वीकृति न दी जायगी कि वह एजेण्ट की हैसियत से खुले बाज़ार में इस प्रेषण का उपयोग मुनाफा कमाने के लिए करे।[1] (४) ऐसे बैंकों की स्थापना की जानी चाहिए जिन पर भारतीय तथा विदेशी सम्मिलित नियंत्रण बराबरी के हिस्सेदार की हैसियत से हो।

१३. मिश्रित पूँजी के बैंकों का इतिहास—भारतवर्ष के बढ़ते हुए व्यापार के कारण आधुनिक और सुव्यवस्थित श्रेणी के बैंकों की आवश्यकता थी। पर इस आवश्यकता की पूर्ति न तो प्रेसिडेन्सी बैंक ही कर सकते थे जो अनेक प्रतिबन्धों से युक्त अर्ध-सार्वजनिक संस्था थे तथा कुछ ही बड़े शहरों में जिनकी शाखाएँ थीं और न विनिमय बैंक ही, जिन पर विदेशी व्यापार की पूँजी ने पहले से ही अपना अधिकार जमा रखा था। व्यवस्थित बैंकिंग की प्रगति १८६० तक, जबकि इस देश में पहले-पहल सीमित दायित्व का सिद्धान्त अपनाया गया, बहुत ही धीमी रही। इस यथेष्ट प्रगति के रुके रहने के कारण थे, रूई की तेज़ी द्वारा लाया हुआ १८६५ का वित्तीय संकट तथा रुपये के विनिमय मूल्य का गिर जाना। इस श्रेणी का सर्व प्रथम बैंक था बैंक ऑफ अपर इण्डिया (१८६३), जिसका अनुसरण इलाहाबाद बैंक (१८६५) तथा कुछ अन्य बैंकों ने भी किया, जिनमें एलाएंस बैंक ऑफ़ शिमला भी (१८७४), जिसका दिवाला १९२३ में निकल गया, एक था। १८७० में इस प्रकार के सात बैंक थे। १८९४ में यह संख्या १४ हो गई। उस समय उनमें से अधिकांश यूरोपीय प्रबन्ध में थे तथा अब भी उनकी वही दशा है। अवध कमर्शियल बैंक पहला बैंक था जिसकी स्थापना १८८१ में केवल भारतीय साहसियों द्वारा की गई। १८९४ में लाला हरकिशन लाल के प्रयत्नों से पंजाब नेशनल बैंक की स्थापना हुई। १९०१ में पीपुल्स बैंक की स्थापना का श्रेय भी इन्हीं को था। पीपुल्स बैंक की प्रगति बहुत ही अच्छी रही।

१. समिति के ६ सदस्यों की (जिनमें सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास भी थे) विमति टिप्पणी में इस बात की ज़ोरदार सिफारिश की गई थी कि राज्य द्वारा अपनी ही ३ करोड़ रुपये की पूँजी के साथ शीघ्रातिशीघ्र विनिमय बैंक की स्थापना की जाय।

१९१३ में इसका दिवाला निकलने के समय इसके पास १०० शाखाएँ तथा १३/४ करोड़ रुपये से अधिक निक्षेप थे।[१] १९०५ में स्वदेशी आन्दोलन के कारण, विशेषतः पश्चिमी भारत, उत्तर प्रदेश और पंजाब में, नये बैंकों की बाढ़-सी आ गई। बैंक ऑफ़ इण्डिया, बैंक ऑफ़ बर्मा, दि इण्डियन स्पीशी बैंक, दि सेण्ट्रल बैंक ऑफ़ इण्डिया, दि इण्डिया बैंक (मद्रास), दि पंजाब एण्ड सिंध बैंक, दि बैंक ऑफ़ मैसूर, दि बैंक ऑफ़ बड़ौदा और बम्बई बैंकिंग कम्पनी के आरम्भ का श्रेय भी इसी युग को है।

१४. बैंकों का दिवाला[२]—आरम्भ के कुछ दिनों तक तो इन बैंकों ने अवश्य ही बड़ी प्रगति दिखाई, पर असल में बहुतों का कारोबार सट्टेबाजीमय और अरक्षित था, तथा उनका नक़द रिज़र्व दायित्व की अपेक्षा इतना क्षीण था कि केन्स जैसे विद्वान् के लिए उनके शीघ्र पतन की भविष्यवाणी करना कठिन बात नहीं थी। केन्स ने दुख के साथ अपनी इस भविष्यवाणी को सच होते भी देख लिया।[३] १९१३ में पीपल्स बैंक का दिवाला निकलने के पश्चात् उसी साल स्पीशी बैंक के साथ कई बैंकों की भी वही हालत हुई। १९१३-१४ के बीच लगभग ५५ बैंकों की इतिक्रिया हुई। १९१४-१८ के युद्ध के समय तथा बाद की तेजी ने नये बैंकों को खड़ा होने की और भी प्रेरणा प्रदान की, पर बाद की मन्दी ने अनेकों का दिवाला निकाल दिया। १९१५ में ११ बैंकों का, १९१६ में १३ का तथा १९१८ में १६ बैंकों का दिवाला निकला। भारत के मिश्रित पूँजी वाले बैंकों के लिए १९१३-२४ के बीच के वर्ष अति भयावह थे। इस अवधि में लगभग ६३/४ करोड़ रुपये के प्राप्त हिस्सा-पूँजी वाले करीब १६१ बैंकों का दिवाला निकला। युद्धोत्तरकालीन दिवालों में १९२३ में हुए बैंक ऑफ़ शिमला का दिवाला प्रमुख है। इसका प्रभाव सुदूर-व्यापी तथा अति दुःखदायी था। १९३८ में हुए ट्रावनकोर नैशनल एण्ड क्वीलन बैंक का दिवाला हाल के दिवालों में सर्वप्रमुख है। इस अनुसूचित बैंक की इतिश्री ने निक्षेपकों को अन्य स्थानीय बैंकों की स्थिति के सम्बन्ध में शंकित बनाकर दक्षिण भारत में बैंकिंग संकट पैदा कर दिया। हर्ष है कि दूसरे केन्द्रों पर इसका असर नहीं पड़ा। १९३८-३९ में करीब ६४ बैंकों का या तो दिवाला निकल गया या किसी अन्य प्रकार से वे प्राणहीन हो गए। जनता के विश्वास को धक्का पहुँचना, पूँजी लगाने की आदत में कमी होना तथा औद्योगिक और व्यावसायिक विकास की क्षति इत्यादि इसके अन्य गम्भीर परिणाम थे।

---

१. देखिए बी० टी० ठाकुर द्वारा लिखित ऑर्गनाइजेशन ऑफ इण्डियन बैंकिंग, पृ० ३१-३२।

२. देखिए, श्री एस० के० मुरन्जन द्वारा लिखित 'मॉडर्न बैंकिंग इन इण्डिया' का ९वां परिच्छेद, जिसमें कुछ बैंकों के विशेष उल्लेख के साथ भारतवर्ष के बैंकों के दिवाले का अति पठनीय और स्पष्ट विश्लेषण दिया गया है।

३. केन्स ने भारतीय बैंकों के दिवाला निकलने के पूर्व १९१३ में लिखा था कि "छोटे-छोटे बैंकों का कारोबार ऐसे देश में है जहाँ अब भी संचय की ही प्रधानता है तथा ऐसे लोगों के साथ है, जिनके लिए बैंकिंग एक नई चीज है एवम् इन बैंकों की नक़द रकम भी अति अपर्याप्त दिखाई पड़ती है। अतः इसमें सन्देह करने की कोई भी गुंजाइश नहीं कि आगामी मन्दी के समय ये तहस-नहस हो जायँगे।

१५. बैंकों का दिवाला निकलने के कारण—बैंकों के दिवाले के, विशेषतः १९१३-१४ में होने वाले दिवालों के, कारण निम्न प्रकार थे—(१) निक्षेप-दायित्वों के अनुपात में नकद का प्रतिशत कम अर्थात् औसतन १० से ११ प्रतिशत था, (२) प्राप्त हिस्सा-पूँजी की कमी की पूर्ति हेतु निक्षेप आकर्षित करने के लिए दी जाने वाली ब्याज-दर अधिक थी, (३) स्वीकृत और बिकी हुई हिस्सा-पूँजी में तथा बिकी हुई हिस्सा-पूँजी और प्राप्त हिस्सा-पूँजी के बीच उचित अनुपात का अभाव, (४) बैंकिंग कारोबार जानने वाले योग्य प्रबन्धकों तथा निर्देशकों का अभाव और संचालक-मण्डल द्वारा उचित निरीक्षण का न होना[1]; (५) कुछ संचालकों तथा प्रबन्धकों का कपट व्यवहार, (६) भोले-भाले निक्षेपकों का आँकड़ों की तड़क-भड़क तथा पूँजी में से भी बाँटे लाभांश के कारण ठगा जाना, (७) ऐसे शमनकारी उपायों का अभाव जिनकी पूर्ति केवल सरकारी या अर्द्ध सरकारी संस्थाओं द्वारा हो सकती थी, तथा (८) आपस में बैंकों के बीच सहयोग की परम्परा का अभाव।

कुछ आलोचकों ने गलती से कहा कि बैंकों के ये दिवाले इस तथ्य के द्योतक हैं कि भारतवासी आधुनिक कोटि के व्यवस्थित बैंकों का प्रबन्ध नहीं कर सकते, पर यह भी नहीं भूलना होगा कि इस प्रकार की असफलता इंगलैण्ड तथा अमरीका जैसे देशों की मिश्रित पूंजी की बैंकिंग की अधिकोष-प्रणाली के सामान्य लक्षण हैं, जो आज अधिकोष-कारोबार में अगुआ हैं। जैसा कि श्री डोरास्वामी ने लिखा है भारतीय बैंकों के दिवालापन के पथ पर यूरोपियनों द्वारा संचालित संस्थाओं के दिवा[illegible] भी पड़े मिलते हैं[2]। इसकी पुष्टि वह प्रथम बैंक ऑफ बम्बई (१८६८), आर्वथनाट बैंक तथा एलाएन्स बैंक ऑफ शिमला की असफलताओं के दृष्टान्त द्वारा करते हैं। यद्यपि कुछ हद तक कपट-प्रबन्ध इन बैंकों के दिवालापन का कारण अवश्य ही पाया गया, पर उनका प्रधान कारण तो अनुभव तथा ज्ञान की कमी ही थी। बैंकों की इन असफलताओं ने यह सबक सिखाया कि बैंकिंग न तो सीधा कारोबार है न केवल कपटपूर्ण ही तथा संक्रांति के खतरों को कम करने के लिए बैंक की व्यवस्था-प्रणाली के सुधार, कर्मचारियों का सावधानी से चुनाव और स्वस्थ बैंकिंग व्यवस्था का पालन करना अति आवश्यक है।

१९१३-१४ के बैंकों के दिवालों से यद्यपि अनेक अयोग्य बैंकों के साथ ही कुछ योग्य बैंक भी समाप्त हो गए, पर इसका कम-से-कम एक सुपरिणाम तो अवश्य हुआ कि जो कुछ दुर्बल बैंक भारतीय बैंकिंग प्रणाली के कलंक रूप में थे, उनका अन्त हो गया। इसके अलावा बैंकों की इन असफलताओं ने बैंक ऑफ इंगलैंड के ही समान एक ऐसे केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता स्पष्ट कर दी जो साधारण समय में बैंकों को स्वस्थ मार्ग पर चलने में मदद करे तथा संकट के समय उनके लिए

१. 'यह बात ठीक वैसी ही है कि बिना किसी शिक्षित अफसर को साथ लिये तथा अधिकारियों की आज्ञा लिये ही सेना लड़ाई में चला जाय।'—शिराज लिखित इंडियन फिनान्स एण्ड बैंकिंग, पृष्ठ ३३६।

२. देखिए, श्री एस० वी० डोरास्वामी द्वारा लिखित इंडियन फिनान्स, करेन्सी एण्ड बैंकिंग, पृ० ३।

बैंकिंग नीति निर्धारित करे। यह कहा जा सकता है कि १९३५ में रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया की स्थापना द्वारा ये त्रुटियाँ दूर हो गई हैं (देखिए पैरा ३६)।

१९३८ के दक्षिण भारत के बैंकिंग संकट ने अनुसूचित बैंकों को रिज़र्व बैंक के घनिष्ठ सम्पर्क में रहने की आवश्यकता का अनुभव करा दिया, ताकि इसके समक्ष वे अपनी स्थिति तथा व्यापार का स्पष्ट चित्रण रख सकें, जिससे संकट के समय रिज़र्व बैंक योग्य संस्थाओं को साख सहायता दे सके।[1] इससे यह भी स्पष्ट हो गया कि अनुसूचित बैंकों के पास पुनर्भुगतान योग्य पर्याप्त आदेय का न होना उन्हें पेशगी प्रदान करने की कठिनाइयों में से एक है। १९१३-१४ तथा बाद में होने वाले दिवालों ने भी अधिकोषण सिद्धान्त तथा व्यवहार-सम्बन्धी उचित शिक्षण की व्यवस्था की आवश्यकता को स्पष्ट कर दिया। विस्तीर्ण प्रचार का महत्त्व भी सुशिक्षित बैंक कर्मचारियों तथा बैंक-सम्बन्धी कानूनों से कम नहीं है। जनता इसके सहारे किसी भी समय बैंकों की स्थिति का अनुमान आसानी से लगा लेती है। इसके अलावा यह भी आवश्यक है कि बैंक अपनी गौरवशाली परम्परा तथा जनता के प्रति अपनी जिम्मेवारी को बनाए रखें।

१६. पर्याप्त नकद कोष का महत्त्व—बैंकों के पास पर्याप्त नकद का रहना स्वस्थ महाजनी की प्रारम्भिक आवश्यकता है, पर अनेक देशों में प्रायः देखा गया है कि इसके प्रति असावधानी के कारण काफी बरबादी उठाने के बाद ही वे इस कल्याणकारी सबक को सीखते हैं। ऐसा लगता है कि भारत के मिश्रित पूँजी वाले बैंकों ने दिवाले के रूप में काफी शुल्क चुकाकर कम-से-कम इस सबक को सीख ही लिया है। इसका प्रमाण है हाल में उनके द्वारा की गई काफी सुरक्षित धन रखने की स्तुत्य आकांक्षा। इस विषय की महत्ता बम्बई अधिकोष खोज समिति के उस सुझाव से स्पष्ट हो जाती है जिसमें इसने कहा था कि संयुक्तराज्य अमरीका के समान हमारे देश के बैंक की एजेन्सियाँ भी पर्याप्त नकद कोष रखने के लिए कानून द्वारा बाध्य की जानी चाहिएँ। पर केन्द्रीय अधिकोष खोज समिति ने इस प्रस्ताव का समर्थन नहीं किया। उन्हें इस बात का भय था कि कानून द्वारा निश्चित की गई निम्नतम सीमा को बैंक के प्रबन्धकर्त्ता अधिकतम सीमा मानने लगेंगे तथा कानूनी पाबंदी से बचने के लिए अन्य उपायों का भी सहारा लिया जायगा। समिति ने यह विषय बैंकों की ही सद्बुद्धि तथा विवेक पर छोड़ देना अच्छा समझा (के० अ० रि०, ७०६)। लेकिन १९३६ में संशोधित कम्पनी एक्ट द्वारा निम्नतम नकद रखने का विधान कर दिया गया है (आगे देखिए, पैरा १९) तथा १९३९ में रिज़र्व बैंक ने एक बैंक एक्ट के लिए जो प्रस्ताव रखा उसका प्रयोजन बैंकों के साधनों की पर्याप्त तरलता की प्राप्ति करना ही है (आगे देखिए, पैरा २०)।

१७. सम्मिलित पूँजी वाले बैंकों की प्रगति—३१ दिसम्बर, १९३७ को हिन्दुस्तान में एक लाख तथा उससे अधिक पूँजी वाले १५१ मिश्रित पूँजी वाले बैंक थे। उनके पास ७,७३ करोड़ रुपये प्राप्त हिस्सा-पूँजी में, ६,२७ करोड़ रुपये सुरक्षित तथा

१. यह पहला बैंकिंग संकट था जिसका मुकाबला रिजर्व बैंक को करना पड़ा।

अन्य कोष में, १०८,६६ करोड़ रुपये का निक्षेप एवं १८,१३ करोड़ रुपये नकद थे। इनमें से छः के पास ही सबसे अधिक निक्षेप था। बैंक ऑफ मैसूर तथा बैंक ऑफ बडौदा को तो राज्य की संरक्षता प्राप्त थी, अतः केवल चार मिश्रित पूँजी वाले बैंक ही भारतवर्ष के इस क्षेत्र में निजी व्यावसायिक साहस के एकमात्र दृष्टान्त थे। उन चार बैंक का नाम है दि बैंक ऑफ इंडिया, दि सेण्ट्रल बैंक ऑफ इंडिया, दि पंजाब नेशनल बैंक तथा दि इलाहाबाद बैंक (कलकत्ता)। इनमें से केवल सेण्ट्रल बैंक ऑफ इंडिया तथा पंजाब नेशनल बैंकों ही भारतीयों द्वारा प्रबन्धित थे। १६१३-१४ की असफलताओं के कारण बैंकों के कारोबार में मंदी आ गई, पर १६१५ के आरम्भ से ही बैंकों का सतत विस्तार पुनः शुरू हुआ। यह विस्तार विशेषतया निक्षेप के क्षेत्र में था जो १६२१ में ८० करोड़ रुपये तक पहुँच गया। १६१४-१८ की लड़ाई के समय की मुद्रास्फीति तथा नई बैंकिंग कम्पनी खड़ी करने की युद्धोत्तरकालीन तेजी इस विस्तार के आंशिक कारण थे। १६२१-२२ के बीच कुछ अवनति हुई। युद्धोत्तरकाल की इस अवनति में १६२३ की अवनति विशेष उल्लेखनीय है। इसके बाद स्थिति कुछ सुधरने लगी। शायद चल-कोष के अंधाधुंध पूँजी-विनियोग के अभाव तथा स्वर्ण निर्यात के मुनाफे के कुछ हिस्से को बैंकों को प्राप्त हो जाने के कारण आर्थिक मंदी ने बैंकों की निक्षेप-स्थिति पर बहुत बुरा प्रभाव नहीं डाला। इन बैंकों के निक्षेप की वृद्धि तथा इनकी शाखाओं के कारोबार का बढ़ जाना ही इस लक्ष्य का द्योतक है कि हाल में सम्मिलित पूँजी वाले बैंकों का बहुत अधिक विस्तार हुआ है। अभी हाल तक सरकार तथा सार्वजनिक संस्थाओं से सम्मिलित पूँजी वाले बैंकों को बहुत कम सहायता मिलती थी। अप्रैल, १६३५ में रिज़र्व बैंक ऑफ इंडिया की स्थापना के पश्चात् यह स्थिति बदल गई। बड़े-बड़े बैंक (जो रिज़र्व बैंक से अनुसूचित हैं) तो रिज़र्व बैंक की मदद तथा राय लेने के अधिकारी हैं ही, इसके अलावा कुछ शर्तों को पूरा करने वाले छोटे बैंक (गैर-अनुसूचित) भी रिज़र्व बैंक की राय ले सकते हैं।

भारत के मिश्रित पूँजी वाले बैंकों के इतिहास की १६२३ में घटने वाली दो महत्त्वपूर्ण घटनाएँ विचारणीय हैं। प्रथम, १६१८ में प्रारम्भ हुए टाटा इण्डस्ट्रियल बैंक का विलयन सेण्ट्रल बैंक ऑफ इण्डिया के साथ हो गया और इसने समर्थ भारतीय प्रबन्ध के अन्दर रहकर इस देश के प्रमुख मिश्रित पूँजी वाले बैंकों में अपनी स्थिति बना रखी है। यह विलयन भारतीय बैंकिंग की सामान्य प्रवृत्ति, जो इस प्रकार के विलयन या एकीकरण के विरुद्ध है, का अपवाद-मात्र है।

१६२३ की दूसरी महत्त्वपूर्ण घटना एलाएन्स बैंक ऑफ शिमला का दिवाला निकलना था। इम्पीरियल बैंक ऑफ इंडिया ने भारत सरकार से इस गारंटी पर कि असफलता के परिणामस्वरूप जो कुछ भी घाटा लगेगा उसे वह सहेगी, निक्षेपकों को उनके पावना का ५०% चुकाने का जिम्मा लिया। इस मामले में सरकार ने अपना हस्तक्षेप इस आधार पर न्याय-संगत कहा था कि ऐसे बैंकों के असफल हो जाने से दूसरे बैंकों पर भी विपत्ति आये बिना न रहती तथा इस संकट

को अगर शीघ्र ही दूर नहीं किया जाता तो भारत के बैंकों की स्थिति और भी बुरी हो जाती। एलाएन्स बैंकों के प्रति सरकार तथा इम्पीरियल बैंकों द्वारा किये गए सहानुभूतिपूर्ण कार्यों तथा १६१३-१४ की विपत्ति में पड़े हुए मिश्रित पूँजी वाले बैंकों के प्रति उनकी उदासीनता की भिन्नता की ओर संकेत करके आलोचकों ने सरकार की कड़ी आलोचना की।

ट्रावनकोर नेशनल एण्ड क्वीलन बैंक की १६३८ की असफलता तथा दक्षिणी भारत के बैंक-सम्बन्धी कारोबार के उन संकटों का वर्णन हम ऊपर कर चुके हैं जिनकी दूसरे प्रान्त के बैंकों की स्थिति पर कोई बहुत बुरी प्रतिक्रिया नहीं हुई, पर एक अनुसूचित बैंक की असफलता ने देश में बड़ी बेचैनी फैला दी। एक ओर तो रिज़र्व बैंक तथा परिगणित अनुसूचित बैंकों के आपसी सम्बन्ध का तथा दूसरी ओर बैंक सम्बन्धी विस्तृत अधिनियम का प्रश्न उपस्थित कर दिया[1] (सेक्शन २०)। १६१३-१४ तथा १६३६-४५ के युद्ध का जो कुछ असर भारतीय बैंकिंग पर पड़ा उसका विवेचन इस परिच्छेद के अन्त में किया गया है।

रिज़र्व बैंक के मार्ग-प्रदर्शन में रहने पर इस देश के सम्मिलित पूँजी वाले बैंकों के विकास की बहुत सम्भावना है। ये बैंक अपने दोनों ओर के प्रतिद्वन्द्वियों से बहुत-कुछ शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं। जैसा कि केन्द्रीय अधिकोष खोज समिति का कथन है कि इन्हें देशी महाजनों के मितव्ययी प्रबन्ध तथा पाश्चात्य बैंकों की कार्यक्षमता एवं आधुनिक प्रणाली के सम्मिश्रण पर चलना चाहिए (के० अ० रि० ५६८)।

१८. बैंक सम्बन्धी नियमन—बार-बार होने वाली बैंकों की उपर्युक्त भयावह असफलताओं तथा स्वस्थ राष्ट्रीय आधार पर बैंकों को विकसित करने के विचार से इनका साभिप्राय नियमन आवश्यक समझा गया। सरकार द्वारा परम्परागत निःहस्तक्षेप की नीति अपनाये जाने के कारण इस सम्बन्ध में हमारे देश की स्थिति १६३६ तक असन्तोषजनक ही रही। दूसरी सम्मिलित पूँजी वाली कम्पनियों के ही समान १६३६ तक सम्मिलित पूँजी वाले बैंक भी इण्डियन कम्पनी एक्ट १६१३ द्वारा शासित थे। इस कानून के केवल थोड़े-से परिच्छेद ही सम्मिलित पूँजी वाले बैंकों से विशेष रूप से सम्बन्धित थे। इस पुराने कानून में बैंकों के लिए वार्षिक बैलेन्स शीट को तैयार करने तथा साल में दो बार व्यवस्था-विवरण-पत्र को प्रकाशित करने की रीति के सम्बन्ध में थोड़े नियमों का पालन करने के अलावा और था ही क्या ?

केन्द्रीय अधिकोष खोज समिति ने इस प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने के पश्चात् भारत के सम्मिलित पूँजी वाले बैंकों के सम्बन्ध में कानून बनाने की एक योजना बनाई। उसने सिफारिश की कि कम्पनी एक्ट के वर्तमान नियमों को थोड़े संशोधित रूप में तथा उसमें बैंक-व्यवस्था, प्रबन्ध, जाँच एवं निरीक्षण और दिवाला एवं एकीकरण सम्बन्धी कुछ धाराओं को सम्मिलित करके एक विशेष बैंक अधिनियम

१. दक्षिण भारतीय बैंकिंग संकट के समय रिज़र्व बैंक आफ इंडिया द्वारा किये गए काम और ट्रावनकोर नेशनल एण्ड क्वीलन बैंक के प्रति इसका रुख तथा उसकी आलोचना के लिए श्री एस० के० मुरंजन लिखित 'मॉडर्न बैंकिंग इन इण्डिया' के प्रथम संस्करण के पृ० २८५-८८ देखिए।

पारित किया जाना चाहिए।[1]

१९. संशोधित इण्डियन कम्पनीज़ एक्ट (१९३६) में बैंकिंग कम्पनियों से सम्बद्ध विशेष विधान—पाँच वर्ष के विलम्ब के पश्चात् भारत सरकार ने अधिकोषों से सम्बद्ध विशेष विधानों को अपने इण्डियन कम्पनीज़ (एमेण्डेड) बिल में सम्मिलित करने का निश्चय किया। १९३६ में इस बिल ने कानून का रूप ले लिया। सरकार ने स्पेशल बैंक एक्ट का आश्रय न लेकर इस रास्ते को इस आधार पर अपनाया, क्योंकि अधिकोष से सम्बन्धित अलग अधिनियम बनाने की सम्भावना निकट भविष्य में नहीं थी। इसके अलावा रिज़र्व बैंक एक्ट तो पहले से ही करीब सभी प्रमुख बैंकों के सम्बन्ध में लागू हो चुका था। नये विधान निम्नलिखित हैं और इनका प्रारूप तैयार करते समय केन्द्रीय अधिकोष खोज समिति की सिफारिशों का ध्यान रखा गया था।[2]

(१) बैंकिंग कम्पनी वह है जो रुपया उधार देने, हुण्डियों का बट्टा करने, विदेशी विनिमय की खरीद या बिक्री करने, साख-पत्रों की मंजूरी देने, बेशकीमती वस्तुओं को संरक्षण में रखने, पूँजी-हिस्से, ऋण-पत्र आदि का बीमा करने तथा उनका लेन-देन करने, और प्रन्यासों को ग्रहण तथा उनका सम्पादन करने आदि कार्यों में से किसी एक या सभी को करने के अतिरिक्त चालू खाते पर या अन्य प्रकार से निक्षेप स्वीकार करने का, जिसकी वापसी चेक, हुण्डी या आर्डर द्वारा हो सकती है, अपना प्रमुख व्यवसाय करती है। (२) अधिकोष कम्पनी की रजिस्ट्री इस शर्त पर की जायगी कि कम्पनी के विधान-पत्र में यह उल्लिखित हो कि कम्पनी केवल साधारण बैंक-सम्बन्धी कार्य करेगी। (३) भविष्य में बैंकों के प्रबन्ध-हेतु प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं की नियुक्ति निषिद्ध है। (४) हिस्सा-पूँजी के बँटवारे द्वारा ५०,००० रुपये की कार्यशील पूँजी एकत्र हो जाने का प्रमाण-पत्र देने पर ही कम्पनी कार्य आरम्भ कर सकती है। इस प्रकार निम्नतम पूँजी का रखना अनिवार्य हो गया है। (५) किसी भी बैंकिंग कम्पनी को यह अनुमति नहीं है कि वह अपनी अदत्त पूँजी पर किसी प्रकार का दायित्व लादे। (६) किसी भी प्रकार के वार्षिक लाभांश वितरण की घोषणा करने के पूर्व लाभ का कम-से-कम २० प्रतिशत सुरक्षित कोष में जमा करना अनिवार्य है, जब तक यह कोष चुकाई हुई पूँजी के बराबर न हो जाय। इस प्रकार एक सुरक्षित रकम का होना अनिवार्य कर दिया गया है! अवधि-दायित्व (टाइम लाइबिलिटीज़) का १½ प्रतिशत तथा माँग-दायित्व (डिमाण्ड लाइबिलिटीज़) का ५ प्रतिशत का एक नकद निम्नतम नकद कोष रखना आवश्यक है तथा अनुसूचित बैंकों को छोड़कर अन्य बैंकिंग कम्पनियों द्वारा इस प्रकार की रक़म तथा दोनों प्रकार के दायित्वों का विवरण रजिस्ट्रार के यहाँ दाखिल करना आवश्यक है। (८) किसी बैंकिंग कम्पनी को यह इजाज़त नहीं कि वह एक ऐसी कम्पनी के अतिरिक्त, जिसका निर्माण स्वयं उसी ने, प्रन्यास को ग्रहण करने एवं उनका सम्पादन करने या

---

१. देखिए, के०अ०रि० का २५वाँ परिच्छेद तथा एम०एल० टैनन के रेगूलेशन ऑफ़ बैंक्स इन इण्डिया।

२. देखिए १९३६ का एक्ट (जो कुछ विशेष अभिप्राय से भारतीय कम्पनी एक्ट १९१३ में संशोधन हेतु बना) भाग १० ए, धारा २७७ एफ़ से २७७ एन तक।

जायदाद के प्रवन्ध आदि को लेने आदि उद्देश्यों से, जो निक्षेप को स्वीकार करने से सम्वद्ध नहीं हैं, किया है, किसी अन्य सहायक कम्पनी में हिस्सा निर्मित करे या धारण करे। (६) वैंकिंग कम्पनियों को अल्पकालीन कठिनाइयों के कारण दिवालापन से वचाने के लिए अदालत को यह अधिकार दिया गया कि वैंकिग कम्पनियों के दरखास्त करने पर, वशर्ते कि दरखास्त के साथ रजिस्ट्रार का विवरण भी हो, वह इन कम्पनियों के खिलाफ की जाने वाली कार्यवाही को रोक सके। रजिस्ट्रार को यह अधिकार है कि इस हेतु वह कम्पनी के ही खर्च पर उसकी वित्तीय व्यवस्था की जाँच कर सके।

२०. वैंकिंग के नियमन-हेतु हाल में की गई वैधानिक व्यवस्थाएँ[1]—नई व्यवस्था भारतीय वैंकिंग को अधिनियमित करने की दिशा में एक कदम आगे तो अवश्य थी, पर अभी भी अलग से एक वैंक एक्ट की आवश्यकता थी। नवम्बर, १९३९ में रिज़र्व वैंक ने सरकार के सामने जिन थोड़े-से प्रस्तावों को रखा वे इस सामान्य सिद्धान्त पर आधारित थे कि निक्षेपकों के हित की रक्षा करके देश में जनता के मध्य अधिकोष-प्रणाली का प्रचलन वढ़ाना ही सर्वप्रधान उद्देश्य होना चाहिए। वे सुसंचालित तथा आर्थिक दृष्टि से सुदृढ़ अधिकोषों का जाल फैलाना चाहते थे, जिससे रिज़र्व वैंक को देश के साख-संगठन का समन्वय करने तथा रिज़र्व वैंक ऐक्ट द्वारा निर्दिष्ट साख-विस्तार की शक्ति का उचित उपयोग करने में समर्थ वना सके।

११ अप्रैल, १९४५ को असेम्वली ने रिज़र्व वैंक के प्रस्ताव के आधार पर तैयार किए गये एक विल (वैंकिंग कम्पनी विल १९४५) को अपने कार्य सूची मेंरख लिया, पर असेम्वली के भंग हो जाने से यह विधेयक गिर गया। १५ मार्च १९४६ को इसे पुनर्निर्वाचित असेम्वली के सामने पुनः रखा गया। जनमत को दृष्टि में रखते हुए इस विल में कुछ संशोधन इस उद्देश्य से कर दिया गया कि वैंकों के ऊपर रिज़र्व वैंक का अधिक नियन्त्रण रह सके।

जिस समय व्यवस्थापिका सभा में इस विल पर विचार हो रहा था उसी समय केन्द्रीय सरकार ने १५ जनवरी, १९४६ को एक अध्यादेश जारी करके [वैंकिंग कम्पनीज़ (इन्सपेक्शन) ऑर्डिनेन्स १९४६] सरकार को यह अधिकार प्रदान किया कि रिज़र्व वैंक के निरीक्षण के विवरण के अवलोकन के पश्चात् अगर सरकार यह समझती है कि किसी वैंकिंग कम्पनी की कार्यवाहियाँ उसके निक्षेपकों के हित के विरुद्ध हैं तो वह उसे सुधारने का उपाय कर सकती है। जहाँ भी आवश्यकता पड़े सरकार तत्सम्बद्ध वैंकिंग कम्पनी को नया निक्षेप लेने से निषेध कर सकती, उसे अनुसूचित वैंकों की सूची में लेने से इन्कार कर सकती या अगर वह पहले से ही इस सूची में हो तो उसे निकाल भी सकती है। वैंकिंग कम्पनीज़ विल पर विचार-काल में शाखाओं के अनियोजित विस्तार को नियन्त्रित करने[2] तथा शाखाओं के साधनों की अपेक्षा उन पर अधिक खर्च करने एवं अप्रशिक्षित (अनट्रेण्ड) कर्तृ-वर्ग को रखने

१. रिपोर्ट ऑन करेन्सी एण्ड फाइनांस, १९४८-४९ का अनुच्छेद ९५ देखिए।

२. अनुसूचित वैंकों ने १९४६ के प्रथम तीन माह में ७९; अप्रैल से जून तक ७३ तथा जुलाई से सितम्बर, १९४६ ई० तक १४० शाखाएँ खोलीं।

आदि अवांच्छित विकास को रोकने के उद्देश्य से बैंकिंग कम्पनीज़ एक्ट (शाखाओं पर प्रतिबन्ध) १९४६ को पास किया गया जो २२ नवम्बर, १९४६ से लागू हो गया। इसके अनुसार रिज़र्व बैंक की पूर्व-अनुमति बिना कोई भी बैंकिंग कम्पनी न कोई नई शाखा खोल सकती है और न किसी विद्यमान शाखा का स्थान ही बदल सकती है। इस प्रकार की आज्ञा देने के पूर्व रिज़र्व बैंक भी शाखा की वित्तीय स्थिति, पूर्व-इतिहास, प्रबन्ध की सामान्य प्रकृति, पूँजी की पर्याप्तता[1], आमदनी की आशा तथा इसके द्वारा जनहित के लिए किये गए कार्यों पर विचार कर लेगा और अगर आवश्यकता पड़ी तो केन्द्रीय सरकार की पूर्व-स्वीकृति से वह बैंक के हिसाब तथा दूसरे कागजातों की जाँच भी कर लेगा।[2]

दि बैंकिंग कम्पनीज़ (कन्ट्रोल) आर्डिनेन्स, १९४८ में बैंकिंग कम्पनीज़ बिल की कुछ धाराओं को तुरन्त ही इस उद्देश्य से कार्यान्वित किया गया कि वह बैंकिंग पद्धति को ठीक तरह से नियमित करने में रिजर्व बैंक की सहायता कर सके। इसके अन्तर्गत रिज़र्व बैंक को यह अधिकार मिला कि वह अपनी समझ के अनुसार पर्याप्त जमानत पर आवश्यक पेशगी दे और बैंकों की उधार देने की नीति तथा उनके कारोबार की जाँच कर सके। अधिनियम के अन्तर्गत यह आवश्यक होगा कि प्रत्येक बैंक त्रैमासिक अवधि के अन्त में इस देश के अपने अवधि तथा माँग-दायित्व के कम-से-कम ७५% आदेय को भारत में रखे। रिज़र्व बैंक की सहमति से ही बैंकों के बीच एकीकरण प्रबन्ध की योजना तथा समझौते का होना सम्भव था। बैंकों से सामयिक और तदर्थ ब्योरे को माँगने तथा जन-हितार्थ उन्हें प्रकाशित करने का अधिकार रिज़र्व बैंक को दिया गया। अध्यादेश में यह भी निर्देशित था कि आवेदन प्राप्त होने पर न्यायालय द्वारा रिज़र्व बैंक की नियुक्ति किसी बैंक के सरकारी निस्तारक (ऑफिसियल लिक्विडेटर) स्वरूप भी हो सकती है।

अधिकोषीय अधिनियम, १९४९—अन्ततोगत्वा भारतीय संसद ने १७ फरवरी, १९४९ के अधिकोष अधिनियम को पारित कर दिया तथा १६ मार्च, १९४९ से इसे लागू भी कर दिया गया। १९१३ के कम्पनी-अधिनियम के अन्तर्गत दी हुई बैंक-सम्बन्धी धाराओं तथा तब से अब तक के अधिनियमों और अध्यादेशों की बातों का नये अधिनियम में समावेश था और जहाँ तक अधिकोषों का प्रश्न था, केवल नया अधिनियम ही उन पर लागू होगा। इसमें कतिपय नई धाराओं का समावेश भी है—

(१) यह कानून सहकारी बैंकों को छोड़कर सभी अधिकोषों पर लागू है तथा भारतीय संसद को भारतीय संघ में शामिल हो जाने वाले जिन राज्यों के लिए बैंकिंग कानून बनाने का अधिकार है वे राज्य तथा इस देश के सब प्रदेश इस अधिनियम के अधिकार-क्षेत्र के अन्तर्गत हैं। इस अधिनियम ने बैंक-कार्य की परिभाषा यों दी है—कर्ज

१. एक प्रमुख दृष्टान्त के अनुसार २४००० रुपए के प्राप्त हिस्सा पूँजी वाले एक बैंक की ३४ शाखाएँ थी तथा उसने ५ प्रतिशत लाभांश घोषित किया था। अगर उसके निक्षेपकों ने निक्षेप निकालने की अपेक्षा उसे जमा करना ही सरल पाया तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं हुई।

२. सन् १९४५-४६ और १९४६-४७ की रिपोर्ट्स ऑन करेंसी एण्ड फाइनांस देखिए।

देने या विनियोग के प्रयोजन से जनता से ऐसे निक्षेप स्वीकार करना, जिन्हें माँगते ही या अन्य प्रकार से लौटाना हो तथा जो चेक, हुण्डी, आर्डर या अन्य उपाय द्वारा वापस माँगे जाने के योग्य हों। सुरक्षा तथा तात्कालिक वापसी की दृष्टि से जिन संस्थाओं में कोष जमा किया जाता है उन तक अधिनियम के क्षेत्र को सीमित करने तथा १९३६ के इण्डियन कम्पनीज़ एक्ट की २७७वीं धारा में दी 'प्रमुख व्यापार' शब्द की परिभाषा के कारण उत्पन्न कठिनाई को दूर करने के लिए उपर्युक्त सरल परिभाषा आवश्यक थी।

(२) रिज़र्व बैंक इस कानून के अन्तर्गत आने वाले सारे बैंकों की वित्तीय स्थिति की दृढ़ता के प्रति निश्चिन्त हो जाने के बाद उन्हें अधिकार-पत्र प्रदान करेगा, पर अगर कोई देश भारत में निबन्धित बैंकों के प्रति भेद-भाव प्रदर्शित करता है तो उस देश में रजिस्टर्ड (इनकारपोरेटेड्) बैंक को अधिकार-पत्र नहीं दिया जा सकता।

(३) अधिनियम में बैंक के भौगोलिक कार्य-क्षेत्र को दृष्टि में रखते हुए उसकी प्राप्त हिस्सा-पूँजी तथा सुरक्षित कोष की निम्नतम सीमा भी निर्धारित कर दी गई है।

(४) अधिनियम के अनुसार और अनुसूचित बैंकों के लिए भी यह अनिवार्य है कि वे अपने पास या रिज़र्व बैंक में कम-से-कम अवधि-दायित्व का २% तथा माँग-दायित्व का ५% धन सुरक्षित रखें तथा प्रत्येक शुक्रवार के नकद एवं समय व माँग-दायित्व के आँकड़े प्रातिमास रिज़र्व बैंक को प्रस्तुत करें।

(५) प्रत्येक बैंक के लिए यह आवश्यक है कि इस कानून के लागू होने के दो वर्ष पश्चात् अपने समय और माँग-दायित्व का २०% नकद में या प्रचलित बाजार-दर के अनुसार मूल्यांकित स्वर्ण या ऋणमुक्त स्वीकृत प्रतिभूतियों में रखें। इसके अतिरिक्त प्रत्येक त्रैमासिक अवधि के अन्त में उनके समय तथा माँग-दायित्व की ७५% निधि को अपने क्षेत्र में ही रखना भी आवश्यक है।

(६) किसी अधिकोष के संचालकगण को दूसरी कम्पनी का संचालन करने, प्रवन्ध अभिकर्त्ता (मैनेजिंग एजेण्टों) की नियुक्ति करने या किसी ऐसी फर्म को, जिसमें किसी संचालक का स्वार्थ निहित हो या किसी संचालक को असुरक्षित ऋण या पेशगी देने का निषेध है।

(७) रिज़र्व बैंक के इस समय निम्नलिखित कानूनी अधिकार तथा कर्तव्य हैं—(क) बैंकों को ऋण-सम्बन्धी नीति तथा उसकी सीमा निश्चित करने व सूद लेने के सम्बन्ध में निर्देश जारी करना, (ख) किसी विशेष कार्य व किसी प्रकार के कार्यों के सम्बन्ध में चेतावनी देने या उन्हें करने से निषेध करना, (ग) समय-समय पर तथा एतदर्थ व्यौरा माँगना एवं उसे प्रकाशित करना, (घ) स्वयं ही या सरकारी आज्ञा-नुसार बैंकों का निरीक्षण करना, (च) नये शाखा-कार्यालयों को खोलने या किन्हीं वर्तमान शाखा-कार्यालयों का अन्तरण (ट्रान्सफर) करने की अनुमति देना या न देना; (छ) किसी बैंकिंग कम्पनी के कारोबार को बन्द करने वाले मुकद्दमे के सिलसिले में न्यायालय से स्वयं को सरकारी निस्तारक की नियुक्ति की माँग करना; (ज) देश

में अधिकोषीय उन्नति व प्रवृत्ति के बारे में केन्द्रीय सरकार को एक वार्षिक विवरण देना व इसे समृद्धिशाली बनाने के उपायों के बारे में सुझाव देना।[1]

२१. निकासी-गृह—'निकासी-गृह' पद्धति का आरंभ इंगलैण्ड में १८वीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश में हुआ। अनेक प्रतिदावों (क्रासक्लेम्स) का सन्धान (एडजस्टमेण्ट) इसने नकद या द्रव्य के वास्तविक उपयोग के बिना ही कर दिया। इस पद्धति के कारण ही इंगलैण्ड तथा अन्य देशों की चेक पद्धति का आशातीत विकास हुआ है। इस पद्धति की अत्यधिक सफलता के लिए यह आवश्यक है कि निकासी-गृह के सदस्य वेंकों में से एक बैंक भुगतान वेंक या वैंकों का वेंक के रूप में कार्य करे तथा दूसरे बैंक इसके पास कुछ रकम रखें ताकि प्रतिदावों का भुगतान पूर्णरूपेण तथा आसानी से हो जाय।

बर्मा तथा पाकिस्तान के अलग होने के पूर्व कलकत्ता, बम्बई, मद्रास, कराची तथा रंगून के निकासी-गृह भारतवर्ष के प्रमुख गृहों में से थे। कानपुर, लाहौर, दिल्ली, शिमला तथा अहमदाबाद में भी निकासी-गृहों की स्थापना की गई। अनेक स्थानों में, जहाँ ये नहीं हैं, वहाँ हिसाब के निपटारे के लिए एक अन्य पद्धति का ही उपयोग होता है। इसके द्वारा उन जगहों के बीच के देन को चुकाने के लिए इम्पीरियल वेंक पर ही चेक दिया जाता है। रिज़र्व वेंक, इम्पीरियल वेंक, विनिमय बेंक, अंग्रेजी वेंकिंग तथा एजेन्सी-फर्मों और प्रमुख मिश्रित पूँजी वाले बेंकों में से अधिकांश निकासी-गृह के सदस्य हैं। भुगतान करने या वेंकों के वेंक का कार्य भारतीय रिजर्व वेंक करता है। प्रत्येक सदस्य बेंक का एक-एक प्रतिनिधि सप्ताह में एक निश्चित दिन पर निकासी-गृह की सभा में उपस्थित होता है। चूँकि सदस्य वेंक का हिसाव प्रायः रिज़र्व वेंक के साथ रहता ही है, अतः नकद को किसी रूप में भी प्रयोग में लाये विना ही प्रतिदावे (क्रास क्लेम्स) के निरसन (कैन्सिलेशन) के पश्चात् बची हुई अन्तिम रकम का निपटारा चेकों या वही के दाखिलों (बुक एण्ट्रीज़) द्वारा ही हो जाता है। केन्द्रीय अधिकोष खोज समिति के सम्मुख इम्पीरियल वेंक के तत्कालीन मैनेजिंग गवर्नर श्री मैकडानल्ड ने निपटारा करने वाले वेंकों की एक परिषद् की स्थापना का सुझाव रखा था। निकासी-गृह के निजी नियम होने चाहिए तथा प्रत्येक निकासी-गृह का विस्तारपूर्वक प्रबन्ध करना चाहिए। प्रत्येक सदस्य वेंक के अपने-अपने तथा निकासी-गृह के साहूकार वेंक होने चाहिएँ। हमारे देश में रिज़र्व वेंक की स्थापना होने के पहले तक इम्पीरियल वेंक ही इन कामों को करता था। इस कारण गड़बड़ी भी पैदा हो जाती थी तथा अन्य वेंक प्रायः इम्पीरियल वेंक में रखे हुए अपने कोष

---

१. वेंकिंग कम्पनी अधिनियम के अन्तर्गत रिजर्व वेंक ने सन् १९५४ ई० में २२७ वेंकों का निरीक्षण किया। इन निरीक्षणों के फलस्वरूप अशिक्षा, कु-प्रशिक्षण, परम्परा की कमी के कारण होने वाली त्रुटियाँ दूर हो रही हैं। निरीक्षण के फलस्वरूप पता चला है कि वेंकों के कार्यों में निम्नलिखित उल्लेखनीय बुराइयाँ हैं—अपर्याप्त रिजर्व; अति कम नकद-आदेय; अवधि पर न चुकाए ऋण, अचल सम्पत्ति के आधार पर दिये अधिक ऋण तथा सन्देहात्मक ऋणों का अधिक अनुपात। अभी सभी वेंकों ने लाइसेन्स भी नहीं लिया है। रिजर्व वेंक इस सम्बन्ध में शनैः-शनैः प्रगति की नीति बरत रहा है जिससे निक्षेपकों को हानि न पहुँचे और यथासम्भव अधिक वेंक लाइसेन्स प्राप्त कर सकें।

को निकासी-गृह में रखे हुए एक अंश के समान ही इस निपटारे के अंतर को बराबर करने का एक साधन मान लेते थे और वे इस बात को भूल जाते थे कि रकम की आवश्यकता केवल निपटारे की भिन्नता को ही पूरा करने के लिए ही न होकर अन्य बैंक सम्बन्धी कार्य को पूरा करने के लिए भी है। चेक का व्यवहार केवल व्यावसायिक शहरों तक में ही होने के कारण अभी यह अपने शैशव-काल से ही गुजर रहा है, पर अब धीरे-धीरे यह देहात की ओर भी फैल रहा है और इम्पीरियल बैंक की बहुत सी शाखाओं के खुलने के बाद तो यह प्रवृत्ति विशेष स्पष्ट दिखाई पड़ रही है। सहकारी बैंकों द्वारा जारी किये गए चेक भी आंतरिक क्षेत्रों की जनता को चेक-पद्धति से परिचित बना रहे हैं। निकासी-गृह-पद्धति को लोकप्रिय बनाने तथा उसका विस्तार करने के लिए यह आवश्यक है कि देहात की वैयक्तिक फ़र्मों के चेकों के निपटारे के लिए उन्हें अधिक सुविधा दी जाय तथा निकासी-गृहों की सुविधा उचित स्थिति वाली रजिस्टर्ड निजी फ़र्मों को भी दी जाय। चेकों का व्यवहार तो निस्सन्देह ही दिन-ब-दिन बढ़ता जा रहा है, तब भी इस देश के वृहत् आकार तथा जनसंख्या की दृष्टि से अभी यह नहीं के ही बराबर है। दूर-दूर तक फैली हुई निरक्षरता भी इस पद्धति के विकास के बाधकों में है। इसके अतिरिक्त चेक लिखने के लिए केवल साक्षर-मात्र होना ही पर्याप्त नहीं, अपितु अंग्रेजी का भी ज्ञान होना चाहिए। इस त्रुटि को तभी दूर किया जा सकता है जबकि मिश्रित पूँजी वाले बैंक अपनी कुछ रीतियों का संशोधन करें तथा चेक, पास-बुकों, निक्षेप की रसीद आदि के सम्बन्ध में किसी भारतीय भाषा का व्यवहार करें।[1] पर सबसे बड़ी बाधा बैंक के कारोबार सम्बन्धी सुविधाओं की कमी ही है। बम्बई अधिकोष खोज समिति ने चेक को लोकप्रिय बनाने के हेतु कुछ सुझाव दिये थे, जिनमें से कुछ ये हैं—(१) खेतों के लगान, स्थानीय दरों व करों को चुकाने के कार्य में चेक को स्वीकार किया जाना चाहिए। (२) इम्पीरियल बैंक को चाहिए कि वह देहातों (अप-कण्ट्री) के चेक पर कम विनिमय की दर चार्ज करने की नीति पुनः अपनावे। (३) मिश्रित पूँजी वाले तथा सहकारी बैंकों को चाहिए कि वे ग्राहकों को सेविंग बैंक के हिसाब से चेक द्वारा रुपया निकालने दें।[2]

२२. पोस्टल सेविंग बैंक—१८३३ तथा १८३५ के बीच प्रेसिडेंसी नगरों में सरकारी सेविंग बैंकों की स्थापना की गई। १८१७ में कुछ चुने हुए जिला-खजानों से सम्बन्धित जिला सेविंग बैंकों की स्थापना हुई। १८८२ और १८८३ में भारत के सब भागों में पोस्ट ऑफिस सेविंग बैंक तथा १८९६ में प्रेसिडेन्सी सेविंग बैंक खोले गए। अतः आजकल सरकारी सेविंग बैंक पोस्टल शासन के एक विभाग-मात्र ही हैं। सरकार निक्षेप-दायित्व से निपटने के लिए अलग से कोई विशिष्ट नकद कोष नहीं रखती। पोस्टल सेविंग बैंक मध्यम तथा निम्न-मध्यम वर्ग वाले व्यक्तियों की थोड़ी रक़म की बचत के निक्षेप के लिए सुरक्षित साधन प्रस्तुत करता है, जिसके लिए सरकार की सामान्य रकम

१. चेक पर से स्टाम्प शुल्क के उन्मूलन ने इसके इस्तेमाल को प्रोत्साहित किया है।
२. बॉम्बे प्रॉविन्शियल बैंकिंग इन्क्वायरी कमेटी का अनुच्छेद ३०३-६ देखिए।

ही पर्याप्त जमानत के रूप में है। खेतिहर तथा औद्योगिक श्रमिक इस बैंक का बहुत ही कम उपयोग करते हैं। १९१४ में किसी व्यक्तिगत निक्षेपक की सम्भावी वार्षिक तथा कुल निक्षेप की रकम की सीमा बढ़ाकर और निक्षेपों को सरकारी प्रतिभूतियों में विनियोग करने की सहायता देकर के सरकार ने निक्षेपकों को अधिक सुविधा प्रदान की। फलस्वरूप अत्यधिक संख्या में निक्षेप आने लगे। विशेषत: १९१३-१४ की बैंक असफलताओं के कारण व्यक्तिगत बैंकों पर जनता का विश्वास उठ गया था। १९१४-१८ का युद्ध डाकखाने के निक्षेपों में कुछ मंदी तो अवश्य ही लाया, पर युद्धोत्तर-काल में इस दिशा में काफी प्रगति भी हुई। १९२२-२३ के उपरान्त निक्षेप की रकम (२३·१९ करोड़ रुपया) १९१४-१८ की लड़ाई के पूर्व के निक्षेप की अपेक्षा बढ़ गई थी, पर यदि हम रुपये की क्रय-शक्ति के गिर जाने वाले समय का भी खयाल करें तो यह स्थिति उतनी संतोषप्रद नहीं रह जाती। विगत वर्षों में स्वर्ण-विक्रय के कुछ अंश का विनियोग कर देने के फलस्वरूप निक्षेप की रकम में अत्यन्त वृद्धि हो गई है। सितम्बर १९३९ में लड़ाई छिड़ते ही सेविंग बैंकों से वापस होने वाली रकम ७·९५ करोड़ तक थी, पर बाद के महीनों में पुन: विश्वास जमने के साथ-साथ इस दिशा में काफी प्रगति हुई।

भारतवर्ष में पोस्ट ऑफ़िस सेविंग्ज बैंकों के विकास के लिए काफ़ी क्षेत्र है, क्योंकि १९३७-३८ में ब्रिटिश भारत के ५ लाख गाँवों के लिए केवल १२,६३१ सेविंग्ज बैंक थे, जिससे स्पष्ट है कि अनेक गाँव सेविंग्ज़ बैंकों से मीलों दूरी पर थे, जिसके फलस्वरूप गाँव वालों को अपनी बचत को जमा करने में बड़ी असुविधा होती थी। १९४१ में पोस्ट ऑफ़िस ने अधिक सूद की दर पर विशेष डिफेन्स सेविंग्ज़ निक्षेप लिये थे।

सेविंग्ज बैंकों को अधिक लोकप्रिय बनाने के सुझावों में कुछ निम्नलिखित हैं—(१) निक्षेपों पर दिये जाने वाले सूद की दर अधिक हो, (२) आकस्मिक वापसी के सम्बन्ध में प्रतिबन्ध लगाकर हर साल जमा होने वाली रकम तथा रक़म की बाकी की सीमा बढ़ा दी जाय,[१] (३) चेक द्वारा निक्षेप स्वीकार किये जायँ तथा चेक द्वारा रुपया निकालने दिया जाय, और (४) नये सेविंग्ज़ बैंक खोलने के लिए प्रचार किया जाय।

पोस्ट ऑफ़िस में जनता की बचत कैश-सर्टिफिकेट द्वारा भी आती है। ये सर्टिफिकेट १० रुपये या उसके अपवर्त्य (मल्टिपल) रक़म में जारी किये जाते हैं तथा एक व्यक्ति अधिक-से-अधिक दस हज़ार रुपये के अंकित मूल्य तक के सर्टिफिकेट खरीद सकता है। क्रय के दिन से ५ वर्ष के पश्चात् उनका भुगतान होता है तथा वे बट्टे पर जारी किये जाते हैं, जिसका अर्थ है कि ५ वर्ष के बाद ही उनके अंकित

१. साल-भर में निक्षेपक ७५० रुपये तक ही जमा कर सकता है और उसके हिसाब की कुल रकम ५,००० रु० तक ही जा सकती है। एक बार कम-से-कम चार आना तक जमा किया जा सकता है तथा रुपये की वापसी सप्ताह में केवल एक ही बार हो सकती है। सूद की दर को घटाकर सन् १९३३ में ३% से २½ प्रतिशत, १९३६ में २% तथा १९३८ में १½% कर दिया गया।

मूल्य का भुगतान होता है। १६१४-१८ के युद्ध के पश्चात् पोस्ट ऑफ़िसों में प्राय: एक सरकारी ऋण-विभाग भी खोल दिया गया है। पोस्ट ऑफ़िस कैश सर्टिफिकेट की पद्धति को और भी विस्तृत तथा लोकप्रिय बनाया जा सकता है, जिससे प्रादेशिक पूँजीगत व्यय निकल सकें। १६३०-३१ में पोस्टल सर्टिफिकेट की बाकी रक़म ३८·४४ करोड़ रुपये थी, जबकि १६२४-२५ में यह रक़म १३·१२ करोड़ रुपये तथा १६१७-१८ में इस पद्धति के आरम्भ के वर्ष में यह केवल ८·८८ करोड़ रुपये थी। १६३४-३५ के पहले कैश सर्टिफिकेट की बाकी रक़म में अत्यधिक वृद्धि हो गई, यहाँ तक कि ३१ मार्च, १६३५ को यह रक़म ६५·६६ करोड़ रुपये थी। इसका कारण अंशतया तो १६३४-३५ के पूर्व, जिस वर्ष प्रथम श्रेणी की प्रतिभूति पर ब्याज की प्रति उपलब्धि की दर आधी हो गई, सूद की ऊँची दर तथा कुछ अंश में सोने के अधिक कीमत पर विक्रय के कारण होने वाले लाभ का कैश-सर्टिफिकेट में विनियोग होना भी था। सूद की दर में कमी होने के साथ ही नये सर्टिफिकेटों की बिक्री कम होने की प्रवृत्ति स्पष्ट हो गई, जिसको रोकने के लिए दिसम्बर, १६३८ के बाद में पोस्ट ऑफ़िस सेविंग्ज़ बैंक के निक्षेप पर सूद की दर कम कर दी गई। ३१ मार्च, १६३६ को कैश सर्टिफिकेट की बाकी रक़म की कुल कीमत (बर्मा के ·५६ करोड़ रुपये को छोड़कर) ५६·५७ करोड़ रुपये थी। लड़ाई प्रारम्भ होते समय सितम्बर, १६३६ में अत्यधिक कैश सर्टिफिकेट भुनाये गए तथा नये कैश सर्टिफिकेटों की बिक्री काफी गिर गई। इन पर जनता का पुनर्विश्वास हो जाने पर कैश सर्टिफिकेट की भुनाई कम हो गई। निर्गमित कैश सर्टिफिकेट का कुल मूल्य १६४६-४७ में ३६·२२ करोड़ तथा १६४८-४६ में (प्रारम्भ में) केवल—७·५० करोड़ रुपया था।

१६४० में दसवर्षीय डिफेन्स सेविंग्ज़ सर्टिफिकेट का प्रचलन हुआ। इनकी बाकी रकम १६४६-४७ में ५·४८ करोड़ रुपया तथा १६४८-४६ में (प्रारम्भ में)–७६ लाख रुपया थी। १ अक्तूबर, १६४३ से उनके बदले में द्वादशवर्षीय नेशनल सेविंग सर्टिफिकेटों को चलाया गया, जिनकी बाकी रक़म १६४६-४७ में ७०·६२ करोड़ रुपया तथा १६४८-४६ में (प्रारम्भ में) २५·०१ करोड़ रुपया थी। इसमें १ जून, १६४८ से प्रचलित किये गए पंचवर्षीय तथा सप्तवर्षीय नेशनल सेविंग्ज़ सर्टिफिकेट की भी बाकी रक़म थी। डिफेन्स सेविंग्ज़ बैंक का कार्यारम्भ १ अप्रैल, १६४१ को हुआ तथा इनका निक्षेप १६४६-४७ में १०·६३ करोड़ रुपया एवं १६४८-४६ में (प्रारम्भ में)—४·०७ करोड़ रुपया था।[1]

---

१. पंचवर्षीय योजना-कार्य हेतु जनसाधारण में बचत की प्रवृत्ति डालने तथा उनकी बचत से काम चलाने हेतु अधिक पूँजी प्राप्त करने की दृष्टि से भारत सरकार के दसवर्षीय राष्ट्रीय बचत सर्टिफिकेट तो जारी करती ही है। अब सन् १६५४-५५ से दसवर्षीय राष्ट्रीय योजना सर्टिफिकेट भी जारी किये हैं। सन् १६५३-५४ की अपेक्षा उपर्युक्त दोनों सर्टिफिकेट से लगभग ५२% अधिक बचत वृद्धि प्राप्त हुई। डाकखाने के सेविंग्ज़ बैंक खाते के कारण ४०% अधिक बचत प्राप्त हुई। डाकखाने द्वारा प्राप्त बचत का शेष सन् १६५४-५५ में २७०·४ करोड़ रुपया था जो सन् १६५३-५४ की अपेक्षा ५१·७ करोड़ रुपया अधिक था। डाकखाना सेविंग्स बैंक में कुल १२७·४ करोड़ रुपया, राष्ट्रीय बचत सर्टिफिकेट में १३४·४ करोड़ रुपया तथा ट्रेजरी बचत सर्टिफिकेट में ३७·२ करोड़ रुपया जमा था। सन् १६५४-५५

भारत तथा पाकिस्तान सरकार के बीच १५ अगस्त, १९४७ के पूर्व जारी किये गए एवं एक देश के पोस्ट ऑफिस में दूसरे देश के पोस्ट ऑफिस के नाम पर दर्ज पोस्ट ऑफिस कैश एवं डिफेन्स तथा नेशनल सर्टिफिकेटों को ३० जून, १९४९ तक हस्तान्तरित करने के लिए सुविधा प्रदान करने का समझौता हुआ। इसमें यह भी तय हुआ कि १५ अगस्त, १९४७ के पूर्व के बाकी तथा ३१ मार्च, १९४९ के पूर्व या उस दिन तक निर्गमन कार्यालय द्वारा हस्तान्तरणार्थ प्रमाणित सर्टिफिकेट साधारण ऋण के समान भारत का वित्तीय दायित्व होगा तथा उसके साथ इस प्रकार व्यवहार किया जायगा मानो विभाजन के पूर्व वह एक भारतीय पोस्ट ऑफिस द्वारा जारी किया गया हो। ३१ मार्च, १९४८ के बाद हस्तान्तरित सर्टिफिकेट उस देश के दायित्व होंगे, जिसमें मूल निर्गमन पोस्ट ऑफिस है तथा जिस देश से वे हस्तान्तरित हुए हैं उसी से उनके बोनस तथा निरसन (डिसचार्ज) की प्राप्ति की जायगी।

अन्तः-डोमिनियन सम्मेलन के १ नवम्बर, १९४८ के समझौते के अनुसार यह तय हुआ कि हिसाब के दरअसल में हस्तान्तरण किये जा सकने की तिथि का खयाल किये बिना ही ३१ मार्च, १९४९ तक प्राप्त आवेदन-पत्रों के अनुसार पाकिस्तान के पोस्ट ऑफिस में बाकी सेविंग्ज़ बैंक के हिसाब को हिन्दुस्तान के पोस्ट आफिसों को हस्तान्तरित कर दिया जाय तथा इसी प्रकार सम्बन्धित हिसाब भारत से पाकिस्तान को।[1]

२३. १९१४-१८ के युद्ध का भारत के बैंक-सम्बन्धी कारोबार पर प्रभाव—प्रथम विश्वयुद्ध के परिणामों में से एक यह भी था कि यहाँ के बैंकों के निक्षेपों में अत्यधिक वृद्धि हो गई। सब बैंकों (प्रेसिडेन्सी बैंकों, मिश्रित पूँजी वाले बैंकों तथा विनिमय बैंकों) का कुल निक्षेप १९१३ में ९७·५१ करोड़ रुपया तथा १९१८ में १६३·६२ करोड़ रुपया था।

सूती मिल तथा जूट मिल आदि उद्योगों ने युद्ध-काल में काफी मुनाफा पैदा करके बैंकों में और भी अधिक निक्षेप जमा किया। इसके अतिरिक्त बैंकों ने सरकार तथा निजी व्यक्तियों एवं समितियों को युद्ध-ऋण तथा सरकारी हुण्डियों को जारी तथा विनियोग करने के लिए उधार दिया। बैंक युद्ध-ऋण तथा सरकारी हुण्डियों को खरीदकर सरकार को उधार देते थे तथा इस उधार को लेने का सरकार का तरीका यह था कि जिन महाजनों से वह अधिक मात्रा में युद्ध-सामग्री खरीदती उन्हें इन उधार देने वाले बैंकों पर चेक काटकर दे देती। सरकार के ये महाजन इन चेकों को बैंकों में लाकर भुगतान करा लेते थे। इस प्रकार बैंक भी यह महसूस करते थे कि सरकारी ऋण को खरीदने से उनका निक्षेप और भी बढ़ता ही है। ये बैंक निजी व्यक्तियों तथा समितियों के साथ जमा खाता रखकर उन्हें युद्ध-ऋण तथा सरकारी हुण्डियों में विनियोग करने में सहायता करते थे। युद्ध का एक अन्य असर यह हुआ

में सरकार ने १५ वर्षीय वार्षिकी सर्टिफिकेट भी जारी किए, परन्तु उनसे केवल आधा करोड़ रुपया प्राप्त हुआ।

१. रिपोर्ट आन करेन्सी एण्ड फाइनान्स, १९४८-४९, अनुच्छेद ७८।

कि युद्ध के पूर्वकाल में बैंकों की जो पूँजी कारोबार की अपेक्षा कम पड़ती थी अब यह स्थिति और भी बुरी हो गई। इसका कारण यह था कि बैंक अपनी पूँजी के शीघ्रातिशीघ्र उलट-फेर से अत्यधिक मुनाफा कमाने की चिन्ता में थे। युद्धकाल में बैंकों के नक़द कोष में अत्यन्त वृद्धि हुई। इसका अंशतः कारण निक्षेप में वृद्धि होना था तथा अंशतः यह कारण था कि बैंक युद्ध की असामान्य स्थिति के प्रति सुरक्षा-हेतु काफी नक़द कोष रखना चाहते थे, क्योंकि १९१३-१४ के बैंकिंग संकट की याद अभी भी ताजी थी। बैंकों से विनियोग में भी काफी वृद्धि हुई। अंशतः इसका कारण निर्यात-व्यापार में तेजी का आना तो अवश्य ही था, पर प्रधान कारण युद्ध-ऋण तथा सरकारी हुण्डियों में बैंकों द्वारा विनियोग का किया जाना ही है। अधिक लाभांश, द्रव्य की कमी, ऊँची बैंकिंग दर तथा चेकों की मात्रा में वृद्धि भी युद्ध के ही साथ आईं। अन्ततोगत्वा जिस केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता का संकेत १९१३-१४ के संकट ने ही कर दिया था, इस युद्ध ने उसकी आवश्यकता का अनुभव और भी तीव्रता से करा दिया।[1]

२४. भारतीय द्रव्य-बाजार की विशेषताएँ तथा त्रुटियाँ—भारत के द्रव्य-बाजार की अनेक विशेषताएँ तथा त्रुटियाँ हैं, जिनमें से कुछ का नीचे उल्लेख किया जाता है। पहले ही वर्णन किया जा चुका है कि भारत का द्रव्य-बाजार अनेक हिस्सों में बँटा हुआ है तथा इन हिस्सों का आपसी सम्बन्ध भी बिलकुल ही शिथिल-सा है। इम्पीरियल [illegible], विनिमय बैंक, मिश्रित पूँजी वाले बैंक, सहकारी बैंक, देशी साहूकार आदि खण्डों सम्बन्धी संस्थाएँ अलग-अलग विशेष श्रेणी के कारोबार तक अपने को सीमित रखती हैं तथा अपने क्षेत्र में प्रायः स्वतन्त्र नीति अपनाती हैं।[2] द्रव्य-बाजार के सदस्यों के बीच का आपसी सम्बन्ध भी उत्तम नहीं है। यथा मिश्रित पूँजी वाले बैंक रिज़र्व बैंक की स्थापना तक कुछ हद तक केन्द्रीय बैंक के समान काम करने वाले इम्पीरियल बैंक के विशेषाधिकार के प्रति ईर्ष्या रखते थे। विनिमय बैंकों की स्थिति बहुत ही मज़बूत है तथा उनके द्वारा मिश्रित पूँजी वाले बैंकों के क्षेत्र में अतिक्रमण की शिकायत भी प्रायः की जाती है। अनुसूचित बैंकों की सूची में दर्ज किये जाने के पूर्व से उन पर भारत के किसी भी कानून या अधिकारी का अंकुश नहीं था। सहकारी बैंकों तथा अन्य बैंकों के बीच की कड़ी तो कमजोर है ही, पर जैसा कि पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है, सुव्यवस्थित बैंकिंग संस्थाओं तथा देशी बैंकों के बीच का अन्तर ही सबसे अधिक चिन्ताजनक है। देशी बैंकिंग, देशी साहूकारों अथवा द्रव्य-बाजार का फुटकर अंग भी एक न होकर अनेक भागों में बँटा हुआ है, जैसे बम्बई में ही गुजराती, मारवाड़ी और मुलतानी बाजार अलग-अलग हैं तथा उनकी ब्याज की दरें भी भिन्न-भिन्न ही हैं। अप्रैल, १९३५ तक के रिज़र्व बैंक के अभाव ने पृथकवादी तथा विकेन्द्रीय प्रवृत्ति को प्रोत्साहित किया। रिज़र्व बैंक ऑफ इण्डिया के

१. भारत के बैंकिंग पर द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रभाव का विवेचन इसी परिच्छेद में आगे किया गया है (देखिए सेक्शन ५०)।

२. यह आलोचना विशेषतया रिज़र्व बैंक की स्थापना के पूर्व के समय के लिए ठीक है।

काम करते हुए बहुत दिन गुजर चुकने के पश्चात् भी निकट भविष्य में उसमे किसी क्रान्तिकारी परिवर्तन की आशा नही की जा सकती। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित कारण उल्लेखनीय हैं—सर्वप्रथम, अभी तक रिज़र्व बैंक तथा देशी साहूकारों के बीच का सम्बन्ध स्थापित नही हो पाया है और दूसरी बात यह है कि इसके पूर्व किसी सुसम्बद्ध तथा सुव्यवस्थित द्रव्य-बाजार का आविर्भाव हो सके, कुछ समय का व्यतीत होना भी आवश्यक है जिसके बीच नवीन केन्द्रीय बैंकिग ढांचे का प्रभाव देश की साख-व्यवस्था पर पड सके।[1]

२९. द्रव्य की दरों में भ्रामकता तथा गोलमाल—इस देश की द्रव्य-व्यवस्था अनेक खण्डो में विभाजित रहने के परिणामस्वरूप द्रव्य-दर में भ्रामकता तथा अनेकरूपता का होना अनिवार्य है। केन्द्रीय अधिकोषण समिति ने यह कहकर अत्युक्ति नही की कि माँग-दर $\frac{3}{4}$%[2], हुँडी-दर ३%[3], बैंक-दर ४%[4], तथा बम्बई में छोटे-छोटे व्यापारियों की हुण्डियों की बाजार-दर ६$\frac{3}{4}$%[5] एवं कलकत्ता मे ऐसी ही हुण्डियों की बाजार-दर १०% एक ही साथ होने का स्पष्ट अर्थ यह है कि विभिन्न बाजारों के बीच साख की गति शिथिल है। पर इसके ठीक विपरीत लन्दन के द्रव्य-बाजार में द्रव्य की विभिन्न दरो में बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। अन्ततोगत्वा सभी दर बैंक-दर पर ही निर्भर करते हैं तथा उस दर मे थोड़ा भी परिवर्तन होने पर ठीक उसी के अनुसार अपना भी समायोजन कर लेती है। इम्पीरियल बैंक द्वारा लिये जाने वाली पुराने बैंक-दर का उल्लेख वित्तीय समाचार-पत्र में और देशो के केन्द्रीय बैंकों की बैंक-दर के साथ रहते हुए भी उसका महत्त्व पृथक् तथा परिमित ही था, क्योंकि केन्द्रीय बैंक का दर साधारणतया उस दर को सूचित करता है, जिस पर प्रथम श्रेणी की व्यापारिक हुण्डियों का बट्टा केन्द्रीय बैंक में हो, पर इम्पीरियल बैंक का दर तो बट्टा का दर न होकर कर्ज का दर था। रिज़र्व बैंक के प्रतिष्ठापन के पूर्व सिक्के पर सरकार के तथा साख पर इम्पीरियल बैंक के विभाजित नियन्त्रण ने दर की इस

---

१. रिजर्व बैंक की स्थापना के पूर्व भारतीय द्रव्य-बाजार की दूसरी त्रुटि द्वैध नियन्त्रण का होना था। एक ओर तो मुद्रा-अधिकारी के रूप में सरकार का तथा दूसरी ओर कुछ हद तक साख-नियन्त्रक के रूप में इम्पीरियल बैंक का नियन्त्रण था। इसके अतिरिक्त सरकार अपने मुद्रा-सम्बन्धी तथा वित्तीय कार्यो द्वारा भी द्रव्य-बाजार पर अधिकार बनाये रखती थी। मुद्रा तथा साख दोनों के अधिकारी के रूप में रिजर्व बैंक की स्थापना द्वारा ये दोनों त्रुटियाँ दूर हो गई हैं।

२. मांग (या मांग-द्रव्य) दर से तात्पर्य उस ब्याज की दर से है जो न्यूनतम २४ घण्टे तक विनियुक्ति हेतु प्राप्य द्रव्य पर ली जाती है।

३. इम्पीरियल बैंक जिस दर पर त्रैमासिक बिल प्रथम श्रेणी की हुण्डी का बट्टा करे वह (इम्पीरियल बैंक की) हुंडी-दर है।

४. रिज़र्व बैंक की स्थापना के पूर्व जिस दर पर इम्पीरियल बैंक सरकारी प्रतिभूतियों के निमित्त माँग ऋण देने को तैयार रहता था उसी दर का निदश यहा (पुराने) बैंक-दर से किया गया है। अब इसे इम्पीरियल बैंक का अग्रिम दर कहा जाता है। रिजर्व बैंक द्वारा निर्धारित बैंक दर के आधार का स्पष्टीकरण पैरा ४६ के नीचे किया गया है।

५. कलकत्ता तथा बम्बई में सर्राफ लोग जिस दर पर हुंडियों का भुगतान करते है, उसे बाजार-दर कहा जाता है।

गड़बड़ को और भी जटिल बना दिया। भारत के द्रव्य-दर की दूसरी विशेषता कलकत्ता तथा बम्बई जैसे दो प्रमुख केन्द्रों के दरों के बीच स्पष्ट अन्तर का होना है। इसी कारण प्रतिभूतियों की कीमत में उतार-चढ़ाव तथा व्यापार की गति में प्रतिक्रिया होती रहती है। नीचे की सारिणी में दिये हुए द्रव्य-दरों से यह स्पष्ट है।

भारतीय द्रव्य-दर प्रतिशत में[1]

पहली		बैंक-दर	याचना-द्रव्य-दर		इम्पीरियल बैंक का हुंडी-दर	बाजार का हुंडी-दर	
			कलकत्ता	बम्बई		कलकत्ता	बम्बई
अप्रैल	१९३९	३	२	२$\frac{1}{4}$	३	६-७	५$\frac{1}{4}$
मई	,,	३	२	२	३	६-७	५$\frac{1}{4}$
जून	,,	३	१$\frac{1}{4}$	$\frac{3}{4}$	३	६-७	५$\frac{1}{4}$
जुलाई	,,	३	$\frac{1}{2}$	$\frac{1}{2}$	३	६-७	५$\frac{1}{4}$
अगस्त	,,	३	$\frac{1}{4}$	$\frac{1}{4}$	३	६-७	५$\frac{1}{4}$
सितम्बर	,,	३	$\frac{1}{4}$	$\frac{1}{4}$	३	६-७	६
अक्तूबर	,,	३	१	$\frac{3}{8}$	३	६-७	५$\frac{1}{4}$
नवम्बर	,,	३	$\frac{1}{2}$	$\frac{1}{2}$	३$\frac{1}{2}$	६-७	५$\frac{1}{4}$
दिसम्बर	,,	३	१	१$\frac{1}{4}$	३$\frac{1}{2}$	६-७	६$\frac{3}{8}$
जनवरी	१९४३	३	$\frac{1}{2}$	$\frac{1}{4}$	३	६-७	५$\frac{1}{4}$
फरवरी	,,	३	$\frac{1}{2}$	$\frac{1}{4}$	३	६-७	५$\frac{1}{4}$
मार्च	,,	३	$\frac{1}{2}$	$\frac{1}{4}$	३	६-७	५$\frac{1}{4}$
,,	१९४७	३	$\frac{1}{2}$	$\frac{1}{2}$	३	९-१०	७$\frac{1}{2}$
,,	१९४८	३	$\frac{1}{2}$	$\frac{1}{2}$	३	९-१०	७$\frac{1}{2}$
,,	१९४९	३	$\frac{1}{2}$	$\frac{3}{4}$	३$\frac{1}{2}$	१२-१५	८$\frac{1}{4}$

अब हम पुराने (इम्पीरियल) बैंक-दर तथा बाजार के हुण्डी-दर के सम्बन्ध पर विचार करें।[2]

हम इस बात का उल्लेख पहले ही कर चुके हैं कि देशी महाजन कारोबार के मौसम में फसलों के आवागमन की वित्तीय व्यवस्था प्रधानतया अपने साधनों से ही करता है, पर अधिक कोष के लिए अन्ततोगत्वा उसे इम्पीरियल बैंक तथा

१. १९३९-४०, १९४३-४४, १९४६-४७, १९४७-४८ और १९४८-४९ के रिपोर्ट ऑन करेन्सी एण्ड फिनान्स के २९वें, २३वें, २१वें तथा १९वें वक्तव्यों को देखिए।

२. १९४९ के पश्चात् भी द्रव्य-दरों में कोई विशेष अन्तर नहीं झलकता है—

प्रतिशत द्रव्य-दर

पहली मार्च	बैंक-दर	याचना-द्रव्य-दर (बड़े बैंकों का)		इम्पीरियल बैंक का हुंडी-दर	बाजार का हुंडी-दर	
		कलकत्ता	बम्बई		कलकत्ता	बम्बई
१९५०	३	$\frac{1}{2}$	$\frac{1}{2}$	३$\frac{1}{2}$	१०-१२	८$\frac{1}{4}$
१९५१	३	$\frac{1}{2}$	१$\frac{1}{4}$	४	१०-१२	९
१९५२	३$\frac{1}{2}$	२$\frac{1}{2}$	३	४$\frac{1}{2}$	१०-१२	९
१९५३	३$\frac{1}{2}$	२$\frac{1}{2}$	३	४$\frac{1}{2}$	१०-१२	९
१९५४	३$\frac{1}{2}$	२$\frac{3}{4}$	३	४$\frac{1}{2}$	१०-१२	९$\frac{3}{4}$
१९५५	३$\frac{1}{2}$	३	३	४$\frac{1}{2}$	१०-१२	९$\frac{3}{4}$

अन्य मिश्रित पूँजी वाले बैंकों पर ही निर्भर रहना पड़ता है, जिसके फलस्वरूप तंगी के समय में प्रथम श्रेणी की हुण्डियों का बाजार-दर इम्पीरियल बैंक के दर का ही अनुसरण करता है। जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं कि हुण्डी बट्टा का कारोबार करने वाले सर्राफ लोग बैंक-दर से अधिक व्याज लेकर इन दोनों के अन्तर को मुनाफे के रूप में प्राप्त करते हैं। मन्दी के मौसम के प्रारम्भ में बैंक-दर प्रायः हुण्डी-दर से अधिक ही होता है, रुपये की प्राप्ति आसानी से हो जाने वाले समय में इन दोनों दरों का अन्तर तङ्ग समय की अपेक्षा अधिक होता है और यह सम्भव रहता है कि सर्राफ बैंक-दर की परवाह ही न करें अथवा जान-बूझकर अपना दर कम कर दें।[1] दोनों दरों के बीच की पूर्ण एकरूपता के सम्बन्ध में यह भी विचारणीय है कि सर्राफ यूरोपीय ऋण-पत्रों का बट्टा शायद ही कभी करते हैं तथा विदेशी या स्टर्लिंग हुण्डियों का क्रय तो वे कभी भी नहीं करते। इसी प्रकार वे न तो सरकारी ऋण-पत्र और न इस तरह की किन्हीं अन्य प्रतिभूतियों पर ही कर्ज देते हैं; हुण्डियों का बट्टा करने, कृषकों को कर्ज देने तथा सोना एवं चाँदी को गिरवी रखकर ऋण देने तक ही अपने को सीमित रखते हैं। व्यापारियों की हुण्डियों को खरीदने के कार्य में बैंक सर्राफों के साथ स्पर्धा नहीं करते, अतः सर्राफों के दर तथा बैंक-दरों में बहुत ही कम सम्बन्ध होता है। सर्राफ बैंक के ऊपर न अधिकतर और न इतना अधिक निर्भर रहते हैं कि दोनों के दर एक समान हों। आज भी सर्राफों का कारोबार अधिक मात्रा में बैंकिंग पद्धति के क्षेत्र से बाहर ही होता है। भारत के द्रव्य-बाजार तथा यूरोपीय संस्थाओं द्वारा नियन्त्रित बाजारों के बीच की स्वाभाविक कड़ी उन हुण्डियों की सतत पूर्ति होगी जिन्हें दोनों बाजारों के सम्पर्क में रहने वाले ऐसे विश्वासी फर्म या बट्टा-गृह पृष्ठांकित करते हों जो एक ओर तो बाजार-वित्त (बाजार फाइनेंस) की नमनशील विधि को प्रश्रय देने वाले व्यापारियों की आवश्यकता की पूर्ति करते हों तथा दूसरी ओर केन्द्रीय द्रव्य तथा हुण्डी बट्टा बाज़ार में प्रवेश का लाभ भी उठाते हों (कें० अ० रि०, ५८१)।

विभिन्न द्रव्य-दरों की समानता का आविर्भाव शनैः-शनैः विकास द्वारा ही सम्भव है। 'हमारा अन्तिम उद्देश्य देश के सारे चल साधनों का एक ऐसे बृहत् कोष के रूप में व्यवस्थित करना होना चाहिए जिससे हुण्डियों का भुगतान शीघ्रातिशीघ्र तथा कम-से-कम मध्यस्थों के हस्तक्षेप से हो जाय।[2] रिज़र्व बैंक की स्थापना के पश्चात् ऐसी आशा की जाती थी कि द्रव्य-दरों की गोलमाल की समाप्ति तथा द्रव्य-बाज़ार में प्रचलित अनियन्त्रित दर पर नियन्त्रण के पश्चात् हुण्डी के बाजार की उन्नति हो सकेगी (आगे सेक्शन २७-२८ को नीचे देखिए)।

२६. द्रव्य सम्बन्धी मौसमी तङ्गी (सीज़नल मोनेटरी स्ट्रिंजेन्सी)—द्रव्य सम्बन्धी मौसमी तङ्गी तथा साल के कुछ महीनों तक द्रव्य की दर का अधिक रहना हमारे देश के द्रव्य-बाज़ार की दूसरी विशेषता है। भारत में साल स्पष्टतया दो पृथक् कालों में विभाजित

१. शराज द्वारा लिखित 'इण्डियन फिनान्स एण्ड बैंकिंग' के ३४१-४२ पृ० पर देखिए।
२. के० अ० रि०, ५८१।

है—(१) नवम्बर से जून तक का समय कारोबारी है। इन दिनों फसल के देहाती इलाकों से बन्दरगाहों तथा देश के भीतरी भागों में उपभोग करने वाले केन्द्रों तक ले जाने के लिए द्रव्य की आवश्यकता पड़ती है। (२) जुलाई से अक्तूबर तक मन्दी का मौसम होता है। इस समय पाट (बुलियन) तथा अन्य वस्तुओं के मूल्य के रूप में द्रव्य वित्तीय केन्द्रों को लौट आता है। हर साल के दोनों कालों के बीच द्रव्य-दरों में बहुत ही उतार-चढ़ाव होते रहते हैं तथा कारोबारी मौसम के अधिकतम बैंक-दर तथा मन्दी के समय के निम्नतम बैंक-दर का अन्तर बहुत अधिक होता है। उदाहरणार्थ १९२४ का अधिकतम बैंक-दर ९ तथा निम्नतम ४ था। इसी प्रकार ये संख्याएँ १९२८ में ७ और ५, १९२९ में ८ और ५ तथा १९३० में ७ और ५ थीं। मन्दी वाले वर्षों में बैंक-दर अपेक्षाकृत निम्न स्तर पर तथा पूरे साल बिना परिवर्तन हुए ही रहा, उदाहरणार्थ, १९३३-३४ तथा १९३४-३५ में बैंक-दर बराबर ३½% पर ही बना रहा। इसका कारण व्यापारिक माँग की सामान्य मन्दी, वस्तुओं की कीमतों का निम्न स्तर, स्वर्ण की बिक्री के फलस्वरूप निर्गमित साख की वसूली तथा मुद्रा-प्रसार के कारण कुछ हद तक निश्चिन्तता की भावना थी। द्रव्य-पूर्ति का सरल व्याज-दर तथा विनियोग हेतु द्रव्य-आधिक्य के कारण रिज़र्व बैंक ऑफ़ इण्डिया को बाध्य होकर २८ नवम्बर १९३५ से बैंक-दर को घटाकर ३ प्रतिशत कर देना पड़ा। सितम्बर, १९३९ में प्रारम्भ हुई युद्धजनित अनेक बाधाओं के होते हुए भी इस दर में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। इसका श्रेय युद्ध सम्बन्धी वित्तीय योग देने की नई विधि को है।[1]

द्रव्य की माँग की उग्रता के ही अनुसार बैंक-दर[2] में परिवर्तन होता है। द्रव्य की माँग फ़सल की स्थिति, कपास, गेहूँ, जूट, चावल आदि कृषि की मुख्य वस्तुओं, विशेषतः निर्यात वाली वस्तुओं, की माँग की तेजी तथा उनकी कीमतों पर निर्भर होती है। इस बात की विवेचना हम पहले ही कर चुके हैं कि ग्रामों में देशी साहूकार व सर्राफ किस प्रकार फ़सलों का वित्तीय प्रबन्ध करते तथा किस प्रकार वे अपनी हुण्डियों को बट्टा तथा पुनर्बट्टा हेतु इम्पीरियल बैंक तथा अन्य बैंकों के पास लाकर उन्हें बहुत कारोबार देते हैं। फसलों के परिवहन हेतु द्रव्य-माँग[3] के कारण द्रव्य-बाजार में मौसमी तङ्गी उपस्थित हो जाती है। पर ठीक इसी समय त्यौहारों तथा शादी आदि के लिए रुपये की अत्यधिक माँग इस कठिनाई को और भी बढ़ा देती है।

---

१. भारत में द्रव्य-दर पर द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रभाव की विशेष जानकारी के लिए सेक्शन ५० देखिए।

२. पहले के इम्पीरियल बैंक का दर बैंक के पास रहने वाली सरकारी नकद-निधि पर निर्भर रहता था, जो व्यापारिक मौसम में कम हो जाता था और मौसम निकल जाने पर अधिक।

३. कारोबार के मौसम में फ़सलों के परिवहन के सम्बन्ध में देश के अन्दर ही रुपया भेजने की निम्नलिखित पाँच उल्लेखनीय प्रणालियाँ हैं—(क) हुण्डियों या चेकों के रूप में भेजना, (ख) रिजर्व या इम्पीरियल बैंक द्वारा हस्तांतरण करना, (ग) सरकारी खजाने द्वारा हस्तांतरण, (घ) रेल या सड़कों द्वारा रुपया भेजना और (ङ) पोस्ट आफिस द्वारा रुपया भेजना। देश में भेजे गए रुपये के आँकड़ों के लिए 'रिपोर्ट आन करेन्सी एण्ड फ़िनान्स' (१९४६-४७) की ३५वीं सारिणी देखिए।

मौसमी कठिनाइयों को लाने वाले इन कारणों के अतिरिक्त आर्थिक मन्दी के
भारत में द्रव्य-दर सामान्यतः अधिक होने के अन्य कारण भी थे। द्रव्य की
के लिए बचत-कोषों का जो हाथ था उसका वर्णन हम पहले ही कर आ
हस्तान्तरण द्वारा इम्पीरियल बैंक को (अब रिज़र्व बैंक को) काफी नकद निधि
जाने के कारण द्रव्य-बाजार की हालत कुछ सुधरी। १९३५ में रिज़र्व बै
हस्तान्तरण से पूर्व नोट-निर्गमन कार्य पर सरकार का एकाधिकार तथा बैंक स
कारोबार से इसका सम्बन्ध-विच्छेद रहना भी द्रव्य की माँग तथा पूर्ति की अव्य
के कारण थे। पत्र-मुद्रा-अधिनियम, १९२३ के अनुसार प्रत्येक मौसम में देशी हु
आधार पर १२ करोड़ रुपये तक मुद्रा-प्रसार सम्भव हो जाने से कुछ हद तक लो
आ गई।[1] १९१४-१८ के युद्ध के बाद द्रव्य-बाजार में सरकार द्वारा अत्
ऋण लेने के कारण द्रव्य-सम्बन्धी तङ्गी की ओर भी वृद्धि हो गई। इसी व
इम्पीरियल बैंक पर्याप्त अतिरिक्त नक़द रक़म एकत्रित न कर सका, फलतः द्र
बहुत ऊँची हो गई। सरकार की विनिमय-नीति, जिसके अन्तर्गत सिक
सामान्य वृद्धि भी न होने दी जाती है, के कारण भी समय-समय पर द्रव्य-सा
कठिनाइयाँ बढ़ी हैं, यद्यपि परिस्थिति ऐसी रहती है कि यह कारण बहुत कम
होता है। दूसरी ओर भारत में स्टर्लिंग की खरीद, देश के अन्दर रुपया भेज
सस्ती व्यवस्था तथा इम्पीरियल एवं अन्य बैंकों द्वारा और भी शाखाओं के खोले
का प्रभाव यह हुआ कि कारोबार के मौसम में द्रव्य-दर की अधिकता में कुछ कम
गई। तब भी हमारे देश के द्रव्य की औसत-दर बहुत ही अधिक तथा व्यापार
को हतोत्साहित करने वाली है। इस ऊँचे दर का एक मौलिक कारण पूँजी की
है, जो हमारे देशवासियों की गरीबी का साक्षात् फल है। अधिकांश व्यक्ति
आमदनी इतनी कम है कि वे कुछ भी बचा नहीं पाते। दूसरा कारण है ह
सम्भाव्य पूँजी का संचित धन के रूप में पड़े रहना। लाभदायक विनियोग के
आकर्षित करने वाली बैंकिंग सुविधाओं के न होने के कारण संचित राशि बेकार
अनुत्पादक ही बनी रहती है। ये त्रुटियाँ एक ऐसी बैंकिंग व्यवस्था की आवश्
की ओर इंगित करती हैं जो आवश्यक साधनों का वितरण देश के विभिन्न भागों
साल के विभिन्न मौसमों में समान रूप से करे। रिज़र्व बैंक की स्थापना के पश्चात
आशा की जाती है कि योग्य व्यावसायिक पत्रों के आधार पर अधिक नोटों को
करने में सुविधा प्राप्त होगी। यदि नोट-निर्गमन हेतु आवश्यक व्यावसायिक पत्र
कमी दूर कर दी गई तो द्रव्य-दर के अहितकर होने का प्रश्न ही नहीं उठेगा।

२७. हुण्डी के बाजार का अभाव—हुण्डी का सुव्यवस्थित बाजार किसी
द्रव्य-बाजार का एक अनिवार्य अंग तथा साख-प्रणाली की उत्तम कार्यशीलता के
आवश्यक है। विभिन्न साख संस्थाओं को देश के केन्द्रीय बैंकों के साथ सम्ब
करने के लिए भी इसकी आवश्यकता है। इस सम्बन्ध में हमारे देश की वर्त

बैंकिंग पद्धति की एक कमजोरी है तथा साख की पूर्ति पर बहुत ही बुरा प्रभाव डालता है। उदाहरणार्थ, अनुसूचित बैंकों को रिज़र्व बैंक से पर्याप्त पेशगी न मिलने का कारण इन बैंकों के पास पर्याप्त मात्रा में पुनर्वट्टा-योग्य आदेय का न होना भी एक है। यह बात नहीं है कि व्यापारी हुण्डियों से अपरिचित तथा उनके उपयोग के प्रति अनिच्छुक हैं। हमारे देश में पाश्चात्य विनिमय-पत्रों के सदृश हुण्डियों का व्यवहार और पहले नहीं तो कम-से-कम १२वीं सदी के पूर्व से तो होता ही है। हुण्डियों की कमी, जो हुण्डियों में लगे बैंकों के आदेय की छोटी मात्रा से ही स्पष्ट है, के निम्नलिखित कारण हो सकते हैं[1]—(१) चूँकि भारतीय बैंकों को पाश्चात्य देशों की अपेक्षा अधिक तरल (लिक्विड) स्थिति कायम रखनी होती है, अतः उनके आदेय का अधिकांश भाग सरकारी प्रतिभूतियों के रूप में रह जाता है। (२) अप्रैल, १९३५ में रिज़र्व बैंक की स्थापना के पूर्व तक बैंक अपनी हुण्डियों का भुगतान इम्पीरियल बैंक ऑफ़ इण्डिया के साथ इसलिए नहीं करना चाहते थे कि ऐसा करने से वे बाजार में कमजोर समझे जाते थे। (३) मिश्रित पूँजीवाले बैंक पुनर्वट्टा के लिए अपनी हुण्डियों को देने की अपेक्षा सरकारी ऋण-पत्र पर इम्पीरियल बैंक से उधार लेना इस कारण पसन्द करते थे कि इम्पीरियल बैंक तो खुद ही प्रतिस्पर्धी व्यावसायिक बैंक था, अतः कोई भी अन्य प्रतिस्पर्धी बैंक अपनी हुण्डी का रहस्य इसके सामने रखना क्यों पसन्द करता ? इसके अतिरिक्त चूँकि इम्पीरियल बैंक सबके प्रति एक-से मापदण्ड और नीति के आधार न रखकर अपनी मर्जी के अनुसार हुण्डियों का बट्टा करता था, कोई भी मिश्रित पूँजी वाला बैंक वित्त-योग प्राप्त करने के लिए अपने ग्राहकों द्वारा प्राप्त हुण्डी पर निर्भर नहीं रह सकता था। (४) एक दूसरी बाधा यह है कि बाजार में प्रचलित हुण्डियों की विभिन्नताओं के कारण बैंक उनका वट्टा तब तक नहीं करते जब तक बैंकों द्वारा मान्य सर्राफों में से कोई सर्राफ निजी जमानत न दे। बाजार में प्रचलित हुण्डी से यह स्पष्ट नहीं होता कि वह शुद्ध वित्तीय हुण्डी है या किसी व्यापारी कार्य हेतु लिखी गई है, क्योंकि उसके साथ बिक्री के संविदे, बीजक तथा स्वत्वाधिकार-पत्र जैसे अधिकार-पत्र तो रहते नहीं जिससे यह समझा जा सके कि यह किसी फसल या वस्तु से सम्बन्धित है। हुण्डियों में लिखी जाने वाली भाषाओं में भी अनेक भेद, रियायती दिन आदि की विभिन्नता तथा आम जनता की अशिक्षा आदि कुछ अन्य कठिनाइयाँ भी हैं। (५) एक अन्य कारण नकद-साख की पद्धति भी है, जिसका उपयोग भारत के देशी व्यापार में अधिक होता है। तब भी अगर हमारे देश के बैंक इस कार्य के सम्पादन में अग्रणी हों तो हुण्डियों को और भी अधिक लोकप्रिय बनाया जा सकता है।

२८. हुण्डी के बाजार की वृद्धि करने के उपाय—केन्द्रीय अधिकोष खोज समिति ने भारत में हुण्डी के बाजार की उन्नति करने के लिए अनेक सुझाव दिये हैं (के० अ० रि० ५९३)—(१) रिज़र्व बैंक ऑफ इण्डिया को व्यावसायिक कार्यों से सम्बद्ध प्रथम

१. और अधिक वर्णन के लिए के० अ० रि० का 'दि बैंकिंग सिस्टम एण्ड मनी मार्केट' नामक परिच्छेद देखिए।

श्रेणी की व्यापारी हुण्डियों तथा प्रपत्रों के प्रकाशित बैंक-दर (जो निम्नतम हो) पर खरीदने या वट्टा करने को तैयार रहना चाहिए तथा अधिकृत प्रतिभूतियों के आधार पर माँगे गए ऋण पर अपनी इच्छानुसार अधिक ब्याज-दर लेनी चाहिए। मिश्रित पूँजी वाले बैंकों को रिज़र्व बैंक को अपना प्रतिद्वन्द्वी न समझना चाहिए। उनसे तो यह आशा है कि वे रिज़र्व बैंक द्वारा दिये गए व्यापारिक पत्रों के पुनर्वट्टा सम्बन्धी सुविधाओं से लाभ उठाएँ। रिज़र्व बैंक को योग्य व्यावसायिक पत्रों का पुनर्वट्टा करने का अधिकार प्राप्त है, पर अभी तक वह भारत में हुण्डी के बाजार को विकसित करने के लिए प्रोत्साहन प्रदान करने में समर्थ नहीं हो सका है। (२) वट्टा-व्यय घटाना चाहिए तथा एक ही बार वट्टा देना पड़े, इस हेतु यह आवश्यक है कि प्रत्येक प्रादेशिक राजधानी में हुण्डियों के लिए निकासी-गृहों की स्थापना की जाय। (३) भारत के विभिन्न भागों में गोदामों की स्थापना की जानी चाहिए, क्योंकि इनके कारण व्यापारियों तथा सर्राफों द्वारा लिखी गई शुद्ध व्यावसायिक (या वित्त योग हेतु लिखी) हुण्डियों का स्थान ऐसी बिल्टी-सहित हुण्डियाँ ले सकेंगी, जिनका बैंक खुशी से पुनर्वट्टा करेंगे। (४) हुण्डियों पर आवश्यक टिकट-व्यय (स्टाम्प ड्यूटी) भी कम कर देनी चाहिए। (५) उचित है कि डाकखानों में अंग्रेजी तथा भारतीय भाषाओं में हुण्डियों के छपे फार्म मिल सकें। हुण्डी के मालिक को असुविधा तथा कष्ट से बचाने के लिए बैंकों, सर्राफों तथा व्यापारियों की अधिकृत संस्थाओं द्वारा की गई हुण्डी आदि की अस्वीकृति की सूचना (नोटिंग ऑफ डिसऑनर) और निकराई-सिकराई (नोटिंग ऑफ प्रोटेस्ट) को मान्यता प्रदान की जानी चाहिए। हुण्डियों का चलन बढ़ाने के उद्देश्य से उनसे सम्बन्धित रस्मों का प्रमाणीकरण कर देना चाहिए। (६) बैंक-स्वीकृत-विपत्रों[1] के निर्माण-कार्य में बैंकों को अग्रणी होना चाहिए। ये हुण्डियाँ साधारण व्यापारी हुण्डियों की अपेक्षा आसानी से विनिमय-साध्य होंगी, (७) हुण्डी के दलाली-कार्य को देशी साहूकारों के व्यापार का एक अंग बनाकर तथा रिज़र्व बैंक की संरक्षता में इन साहूकारों तथा उनके धनी निक्षेपकों द्वारा एक वट्टा-गृह स्थापित करके एक हुण्डी वट्टा बाजार की स्थापना की जानी चाहिए। (८) हुण्डियों के उपयोग का विस्तार कृषकों को फ़सल उपजाने के कार्य के लिए पेशगी देने, फ़सल-बिक्री हेतु वित्त-प्रबन्ध करने, गाँव के साहूकारों को सर्राफों द्वारा आर्थिक सहायता देने, शहरों से वस्तुओं को देश के भीतरी भागों में ले जाने के कार्य का वित्तीय प्रबन्ध करने तथा देश के विदेशी व्यापार के वित्तीय प्रबन्ध करने के लिए कर देना चाहिए।

२९. केन्द्रीय बैंक की उपयोगिता—१९२० में ब्रुसेल्स में हुए अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय सम्मेलन में यह प्रस्ताव पास हुआ कि 'जिन देशों में केन्द्रीय बैंक नहीं है, वहाँ उसकी स्थापना की जानी चाहिए।' इस प्रस्ताव के मूल में यह विचार है कि वित्तीय स्थिरता तथ केन्द्रीय बैंकिंग व्यवस्था के बीच बहुत घना सम्बन्ध है। इस प्रस्ताव में

१. बैंक-स्वीकृत-विपत्र वह हुण्डी है जिसे वस्तु-विक्रेता लिखता है और वस्तु-क्रेता के स्थान पर उसका बैंक उसकी स्वीकृति देता है। उधार क्रय करने की दृष्टि से वस्तु-क्रेता पहले से ही अपने बैंक से इस सम्बन्ध में बातचीत किये रहता है।

निहित राय का अनुसरण यूरोपीय देशों तथा अभी हाल तक के 'विकेन्द्रीय बैंकिंग के देश' संयुक्त राज्य अमेरिका में हुआ।[1] हमारे देश में परिस्थितियों के वश में होकर स्वयं सरकार ही नोट जारी करने, नक़द रक़म का प्रबन्ध करने, विदेशी विनिमय की व्यवस्था करने आदि प्रमुख कार्यों को करने लगी थी, पर ऐसा अनुभव किया जाने लगा कि ये काम केन्द्रीय बैंक द्वारा अच्छी तरह से सम्पादित हो सकते हैं। इसके अरिरिक्त इन कार्यों को बैंकिंग कारोबार से अलग रखना भी बहुत बड़ी त्रुटि थी। इस सम्बन्ध-विच्छेद ने ही बचत को सरकारी बचत तथा साहूकारों की बचत नामक दो भागों में विभक्त कर दिया। इन दोनों का सम्बन्ध भी अस्पष्ट था तथा इसके कारण ही द्रव्य पद्धति अत्यधिक लोचहीन हो गई। केन्द्रीय बैंकिंग अधिकारी के अभाव के ही कारण देश की बैंक-सम्बन्धी नीति अनियन्त्रित-सी थी। सिद्धान्ततः तो हमारे यहाँ बहुसुरक्षित कोष प्रणाली थी, जिसका अर्थ यह था कि विभिन्न बैंक अपना-अपना सुरक्षित कोष रखते थे, पर व्यवहार में ये धन कदापि ही पर्याप्त हो पाते थे तथा इस बात का खतरा बना रहता था कि संकटकाल में ये बैंक एक-दूसरे से सहायता की ही आशा करेंगे। १६१३-१४ की बैंक-असफलता ने इस तर्क की और भी पुष्टि की। एक केन्द्रीय बैंक से जिन अन्य लाभों की आशा की जाती थी वे ये थे—बैंक-दर के अत्यधिक उतार-चढ़ाव में कमी करना तथा बैंकिंग साधनों की वृद्धि एवं आपसी सहयोग द्वारा सामान्यतया ऊँचे रहने वाले द्रव्य-दर के स्तर को कम करना। केन्द्रीय बैंक पर्याप्त पुनर्बट्टा की सुविधा भी प्रदान कर सकता था, जिससे दूसरे बैंक अपने आदेय को तरल बनाने में समर्थ हो सकते थे। इस सुविधा से उनकी साख में भी वृद्धि हो जाती। यह केन्द्रीय बैंक सरकारी कर्मचारियों से उन वित्तीय तथा अर्द्ध-वित्तीय कर्तव्यों की जिम्मेवारी अपने ऊपर ले लेता, जिन्हें वे ठीक तरह से नहीं कर पा रहे थे। हमारे देश में निपुण परामर्श तथा अनुभव के ही अभाव के कारण वित्तीय मामलों की शक्ति का केन्द्र इस देश से हटकर 'इण्डिया आफिस' तथा 'इण्डिया कौंसिल' के हाथ में चला गया, जो पर्याप्त रूप से भारतीय परिस्थिति के सम्पर्क में नहीं थे। केन्द्रीय बैंक प्रशिक्षित अनुभव तथा परामर्श दे सकेगा तथा भारत-सचिव और जन-आलोचना के बीच मध्यस्थ का भी काम करेगा। मुद्रा में स्थिरता रखने की ही दृष्टि से वट्टे की दर पर नियंत्रण रखने का कार्य केन्द्रीय बैंक के ही क्षेत्र के अन्तर्गत पड़ता है। इसी बैंक से यह भी आशा की जाती है कि वह सरकारी विधि का व्यापारिक तथा औद्योगिक कार्य-हेतु उचित उपयोग करेगा। केन्द्रीय बैंक छोटे-छोटे बैंकों की सहायता करके तथा देश में एक जगह से दूसरी जगह को भेजे जाने वाले रुपये के व्यय में धीरे-धीरे कमी करने का प्रबन्ध करके व्यापारी समुदाय को अधिक लाभ पहुँचाएगा। वह स्वस्थ एवं विश्वस्त बैंकिंग व्यवहार के विस्तार का निमित्त बनेगा। अन्त में सिक्कों तथा वित्त के मामले में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की प्राप्ति तभी सम्भव है, जबकि प्रत्येक देश में एक सक्षम केन्द्रीय बैंक हो।[2]

१. कीश एण्ड एलकिन 'सेण्ट्रल बैंक्स', पृष्ठ २।
२. वही, पृ० ३-५।

३०. इम्पीरियल बैंक की रचना—एक केन्द्रीय बैंक की रचना का एकमात्र सम्भव आधार तीनों प्रेसीडेन्सी बैंकों का एकीकरण ही दिखाई पड़ता था। ये तीनों बैंक अपने सब दायित्व तथा आदेय के साथ इम्पीरियल बैंक के अधिकार के अन्तर्गत चालू कारोबार के रूप में चले गए। किसी व्यापक प्रधान कार्यालय के स्थान को निश्चित करने का कोई भी विधान नहीं किया गया था। इम्पीरियल बैंक की केन्द्रीय परिषद् के लिए साल में कम-से-कम एक बार प्रत्येक स्थानीय प्रधान कार्यालयों में एकत्रित होना आवश्यक था। पहले तीनों प्रेसीडेन्सी बैंकों की पूँजी का योग ७ करोड़ रुपये ही था, पर अब पूँजी तथा सुरक्षित धन को १५ करोड़ रुपये करके बैंक के पूँजी के आधार को विस्तृत कर दिया गया।

अतः इम्पीरियल बैंक एक निजी निगम ही है, पर १९३५ में रिज़र्व बैंक ऑफ़ इण्डिया की स्थापना तक यह राज्य-बैंक भी इस सीमित अर्थ में था कि भारतीय व्यवस्थापिका के एक विशिष्ट कानून द्वारा इसका निर्माण हुआ था तथा कुछ अंशों में इसका नियन्त्रण, सहायता तथा निरीक्षण सरकार ही करती थी। इम्पीरियल बैंक और इंगलैण्ड तथा फ्रांस के केन्द्रीय बैंकों के बीच मुख्य भेद यह था कि यह बैंक राज्य-बैंक के बहुत बड़े कार्यों को कर पाता था।

३१. इम्पीरियल बैंक का विधान—इम्पीरियल बैंक का नियन्त्रण गवर्नरों की एक केन्द्रीय परिषद् के सुपुर्द कर दिया गया; इसके साथ-ही-साथ कलकत्ता, बम्बई तथा मद्रास में स्थानीय परिषदों की भी स्थापना की गई। केन्द्रीय परिषद् की सिफारिश पर गवर्नर जनरल की परिषद्(गवर्नर जनरल-इन-कौंसिल)ने दो प्रबंध-गवर्नरों की नियुक्ति की तथा सरकार के आर्थिक हित के संरक्षक के रूप में केन्द्रीय परिषद् में एक मुद्राध्यक्ष मनोनीत किया। गवर्नर जनरल को वित्तीय नीति या सरकारी रकम की सुरक्षा से सम्बन्धित किसी विषय पर बैंक को आदेय देने का अधिकार था। केन्द्रीय परिषद् के कर्तव्य ये थे—सामान्य नीति से सम्बन्धित मामलों को तय करना, स्थानीय परिषदों की नियन्त्रण सम्बन्धी साधारण शक्ति का उपयोग करना, बैंक की निधि के बँटवारे तथा बैंक-दर का निर्णय करना (जिसे अब अग्रिम दर कहा जाता है) तथा बैंक के हिसाब के साप्ताहिक प्रकाशन की जिम्मेदारी लेना। स्थानीय परिषद् अपने-अपने क्षेत्र के दैनिक कारोबार से अपना सम्बन्ध रखते थे। दैनिक साधारण(केन्दीय) प्रवन्ध के लिए केन्दीय परिषद् के तीन सदस्यों की एक समिति होती थी जिनमें से एक मुद्राध्यक्ष होता था। इस सम्बन्ध में एक नई बात यह थी कि बैंक को लन्दन में शाखा स्थापित करने की कानूनन इजाजत थी। यह बैंक लन्दन में भारत-सचिव, सार्वजनिक संस्थाओं, दूसरे बैंकों तथा प्रेसिडेन्सी बैंक के पुराने ग्राहकों के साथ-साथ भारत सरकार की ओर से व्यापार का कारोबार तो कर सकता था पर विदेशी विनिमय के सिलसिले में जनता के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखने की इजाजत इसे नहीं थी।

३२. इम्पीरियल बैंक के कार्य—१८७६ के पुराने प्रेसिडेन्सी बैंक एक्ट के बाद १९२० में एक एक्ट यह स्पष्ट करने के लिए बनाया गया कि यह बैंक किस प्रकार का कारोबार करे। इसके अन्तर्गत पुराने प्रतिबन्धों में केवल छोटे-मोटे

परिवर्तन किये गए—विशेषतः लन्दन के द्रव्य-बाजार में प्रवेश तथा विदेशी विनिमय कार्य से सम्बन्धित अधिकार कुछ सीमित कर दिये गए। इम्पीरियल बैंक को निम्न-लिखित कार्यों को करने की अनुमति दी गई—(१) भारत तथा इंगलैण्ड की सरकारों के कुछ विशिष्ट ऋण-पत्रों तथा बन्दरगाह-समितियों, कुछ नगर-निगमों, सरकारी सहायता-प्राप्त रेलवे एवं कुछ जिला परिषदों के ऋण-पत्रों में पूँजी लगाना। (२) उपर्युक्त किसी भी ऋणपत्र के आधार पर रुपया पेशगी देना। (३) स्वीकृत हुण्डी, प्रपत्र तथा बैंकों के सुपुर्द की गई वस्तुओं या स्वत्वाधिकार-पत्रों के आधार पर रुपया पेशगी देना। (४) भारत तथा लंका में भुगतान होने योग्य हुण्डियों तथा दूसरे विनिमय-साध्य ऋण-पत्रों को लिखना, स्वीकार, बट्टा तथा विक्रय करना तथा गवर्नर जनरल-इन-कौंसिल की आज्ञानुसार विदेशों में चुकता होने योग्य हुण्डियों का बट्टा, खरीद तथा विक्रय करना। जिन व्यक्तियों की जायदाद का प्रबन्ध बैंक करता हो उनके लिए तथा अन्य व्यक्तिगत संस्थाओं एवं ग्राहकों की निजी आवश्यकता के लिए हुण्डी-लेखन तथा साख-पत्रों की स्वीकृति प्रदान करने का अधिकार बैंक को दिया गया। (५) भारत में ऋण लेना, निक्षेप लेना, सुरक्षित धरोहर-स्वरूप ऋण-पत्र रखना एवं उसका सूद वसूल करना तथा सोना-चाँदी खरीदना तथा बेचना। (६) बैंक की लन्दन-शाखा बैंक के व्यापार के लिए बैंक के आदेय की सुरक्षा पर इंगलैण्ड में रुपया उधार तो ले सकती थी, पर उसे रोक-ऋण (केश-क्रेडिट) खाते खोलने, दूसरों के नकद हिसाब रखने या प्रेसिडेन्सी बैंक के पहले के ग्राहकों के अतिरिक्त किसी अन्य से निक्षेप लेने की आज्ञा नहीं थी।

३३. सार्वजनिक संस्था के रूप में कार्य—सरकारी बैंक के रूप में इम्पीरियल बैंक के निम्नलिखित कार्य थे—

(१) इस बैंक ने भारत सरकार के बैंक सम्बन्धी सभी साधारण कार्यों का जिम्मा ले लिया। वह सरकार की ओर से रुपये-पैसे स्वीकार करता तथा सरकार के लिए खर्च भी। जहाँ-जहाँ इसके प्रधान कार्यालय तथा शाखाएँ थीं, सरकारी खजाने की सारी निधि इन्हीं में रखी जाती थी। इस प्रकार सुरक्षित खजाने की पद्धति समाप्त हो गई। (२) एक विशेष पारिश्रमिक पाने के बदले यह बैंक सार्वजनिक ऋण का प्रबन्ध करने लगा। (३) बैंक से कहा गया कि वह १०० नई शाखाएँ खोले, जिनके चतुर्थांश के स्थान का निर्णय सरकार करेगी। (४) बैंक से ऐसी आशा की गई कि वह जनता को अपनी शाखाओं के बीच द्रव्य-हस्तान्तरण की सुविधा मुद्राध्यक्ष द्वारा स्वीकृत उचित दर पर प्रदान करेगा। जिन दो स्थानों में इम्पीरियल बैंक का कारोबार हो वहाँ सरकार ने उनके बीच जनता को रकम भेजने की सुविधा देना बन्द कर दिया। (५) जनवरी, १६२१ में स्थापित बैंक की लन्दन-शाखा ने भारत सरकार के कारोबार के कुछ ऐसे भाग को अपने जिम्मे ले लिया जो पहले बैंक ऑफ इंगलैण्ड के हाथ में थे (जैसे भारत के हाई कमिश्नर का चालू हिसाब)।

३४. इम्पीरियल बैंक की आलोचना के विषय—१६२१ में निर्मित इम्पीरियल बैंक की बहुत ही आलोचना की जा चुकी है। यह व्यक्तिगत कारोबार था तथा

इसमें अत्यधिक यूरोपीय प्रतिनिधित्व होने के कारण यह पूरी सम्भावना एवं सन्देह था कि भारतीय व्यावसायिक तथा औद्योगिक हितों में इसकी उपयोगिता सीमित है। इम्पीरियल वैंक ने प्रेसिडेन्सी वैंक के पुराने प्रबन्ध, पुरानी नीतियों तथा पुरानी परम्पराओं को बनाये रखा। अंग्रेज प्रवन्धकर्ता भारतीय व्यापारियों तथा उद्योगपतियों की आवश्यकताओं को समझने में असमर्थ हो सकते थे तथा इन भारतीयों के प्रति उनका रुख सहानुभूतिरहित भी हो सकता था। देहाती शाखाओं में रहने वाले इनके मुख्यतया गैर-भारतीय एजेण्ट लोगों की स्थानीय आवश्यकताओं को समझने में असमर्थ थे तथा सर्राफों के साथ घनिष्ठ तथा मैत्रीपूर्ण सम्वन्ध पैदा करने का प्रयास नहीं किया गया। वैंकों की शाखाओं द्वारा इकट्ठा किये गए निक्षेप को वहीं पर विनियोग करने की अपेक्षा उसे प्रधान कार्यालय में भेज दिया जाता था। यूरोपीय बैंक की सामान्य रूप से की जाने वाली आलोचना यहाँ भी लागू की गई, अर्थात् वे भारतीयों के शिक्षण की व्यवस्था नहीं करते।[1] इम्पीरियल वैंक पर भारतीय फर्मों तथा संस्थाओं से विभेद रखने तथा यूरोपीय फर्मों तथा संस्थाओं के प्रति अनुचित पक्षपात दिखाने का आरोप भी लगाया गया। बैंक द्वारा घोपित अत्यधिक लाभांश का मेल राष्ट्रीय कल्याण की वृद्धि के उस उद्देश्य के साथ नहीं वैठता था, जिसके लिए इस वैंक की सृष्टि हुई थी। बैंक तथा राज्य के बीच मुनाफे के वँटवारे के लिए कोई भी प्रवन्ध नहीं था। १९२० के ऐक्ट के अन्तर्गत बैंक के ऊपर राज्य का उतना प्रभावशाली नियन्त्रण नहीं था जितना होना चाहिए, क्योंकि मुद्राध्यक्ष द्वारा हस्तक्षेप की सम्भावना तभी की जाती थी जबकि राज्य का हित ही खतरे में पड़ गया हो। वैंक की शाखा खोलने की नीति बहुत सफल नहीं रही। कभी-कभी तो ये शाखाएँ ऐसी जगहों में खोली गईं जहाँ पहले से ही अन्य वैंकों की पर्याप्त सुविधा प्राप्य थीं और इस प्रकार तत्कालीन अन्य भारतीय वैंकों के साथ उस इम्पीरियल वैंक की अनुचित स्पर्धा हुई जिसे रिजर्व वैंक की स्थापना के पूर्व विशेप अधिकार प्राप्त थे और जिसका सरकारी कोष के ऊपर अधिकार था। इसके अतिरिक्त यह भी कहा गया कि वैंक को वहुत ही थोड़े कार्यों का दायित्व सुपुर्द किये जाने के कारण इसकी कुछ भी उपयोगिता नहीं रह पाती। सरकार द्वारा किये जाने योग्य वैंकिंग तथा मुद्रा सम्वन्धी कार्य करने के सम्वन्ध में यूरोप के वैंकों के साथ इस वैंक की वहुत ही कम समानता थी। इसको केवल सरकारी नकद रकम रखने तथा वैंकिंग के साधारण कारोवार की जिम्मेदारी सौंपी गई थी। कागजी मुद्रा, स्वर्ण-मान-कोप तथा भारत सरकार का इंगलैण्ड में खर्च के भुगतान के लिए भेजे जाने वाली रकम का प्रवन्ध स्वयं सरकार ही करती थी। नोट छापने का अधिकार अपने हाथ में न होने के कारण इम्पीरियल वैंक वैंक-दर की सहायता से उतनी अच्छी तरह से द्रव्य-बाजार पर नियन्त्रण नहीं कर सकता था जैसा अन्य वड़े-वड़े केन्द्रीय वैंक किया करते हैं।

१९२० के कानून के अनुसार विदेशी विनिमय के क्षेत्र में विनिमय-बैंकों तथा सरकार का एकाधिकार पूर्ववत् ही रहा। विनिमय-बैंकों की भावी यथार्थ

१. खण्ड १, अध्याय १३।

उन्नति तथा समृद्धि इस बात की साक्षी है कि उक्त कारोबार के खतरे बहुत बढ़ा-चढ़ाकर बताये गए थे। इम्पीरियल बैंक के ऊपर यह भी नियन्त्रण था कि वह विदेश में बिना जमानत के कर्ज नहीं ले सकता तथा निक्षेप स्वीकार नहीं कर सकता। असल में यह विनिमय-बैंकों की ईर्ष्या का ही अनुमोदन था और इसका स्पष्ट अर्थ था इम्पीरियल बैंक को विदेशी विनिमय-व्यापार से बाहर निकालना। भारत के द्रव्य-बाजार की स्थिति सुधारने के लिए विदेशों में कर्ज लेना तथा निक्षेप स्वीकार करना कभी-कभी आवश्यक हो सकता था। अन्त में इम्पीरियल बैंक का उद्देश्य तो यही रखा गया था कि वह बैंकों के बीच आपस में सम्बन्ध बनाये रखेगा, पर व्यवहार में बात ऐसी नहीं थी। दूसरे बैंक इसके पास बहुत ही थोड़ा सुरक्षित धन रखते थे, जिसका परिणाम यह हुआ कि भारतीय द्रव्य-बाजार अब भी वैसा ही निर्जीव बना रहा, जैसा कि वह इम्पीरियल बैंक की स्थापना के पूर्व था।

३५. इम्पीरियल बैंक ऑफ़ इण्डिया संशोधन एक्ट, १९३४—यह सर्वसम्मत बात थी कि देश के केन्द्रीय बैंक के रूप में रिज़र्व बैंक की स्थापना के पश्चात् इम्पीरियल बैंक के मिश्रित रूप के कारण इसके ऊपर रखे गए नियन्त्रण को हटाने तथा इसके कार्य के ऊपर सरकारी नियन्त्रण में संशोधन की दृष्टि से इम्पीरियल बैंक के विधान को बदलना आवश्यक होगा। अतः १९३४ में रिज़र्व बैंक बिल के पारित होने के साथ-ही-साथ इम्पीरियल बैंक ऑफ़ इण्डिया एक्ट (१९३४ का तीसरा) के रूप में इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया संशोधन बिल को भी पारित किया गया।[1] संशोधन अधिनियम द्वारा निम्नलिखित प्रमुख परिवर्तन किए गए—

(१) बैंक के विधान में परिवर्तन—केन्दीय परिषद् की स्थापना निम्नलिखित संचालकों को मिलाकर की गई—(क) इस कानून द्वारा स्थापित स्थानीय परिषदों के अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष; (ख) इस कानून द्वारा स्थापित हर स्थानीय परिषद् के सदस्यों में से ही उन्हीं द्वारा चुना गया एक सदस्य; (ग) केन्द्रीय परिषद् द्वारा ५ वष के लिए नियुक्त एक प्रबन्ध-संचालक, जिसे वह परिषद् अधिक-से-अधिक और ५ वर्ष के लिए रख सकती है; (घ) गवर्नर-जनरल-इन-कौंसिल द्वारा मनोनीत अधिक-से-अधिक दो सदस्य जो सरकारी अफसर न हों; (च) केन्द्रीय परिषद् द्वारा नियुक्त एक उपप्रबन्ध-संचालक; (छ) लोकल बोर्डों के सचिव; (ज) इस कानून द्वारा स्थापित किसी नई स्थानीय परिषद् का प्रतिनिधित्व करने वाले वे सदस्य, जिनकी व्यवस्था केन्द्रीय परिषद् ने की हो। (च) तथा (छ) में निर्दिष्ट संचालकों को केन्द्रीय परिषद् की सभा में मत देने का अधिकार नहीं था। प्रबन्ध-संचालक की अनुपस्थिति में उपप्रबन्ध-संचालक मत दे सकता था। गवर्नर-जनरल-इन-कौंसिल को ऐसे सरकारी अफसर को मनोनीत करने का अधिकार था जो केन्द्रीय परिषद् की सभा में उपस्थित तो रहे पर मत न दे। इस नये कानून के अनुसार मुद्राध्यक्ष परिषद् के पदेन सदस्य न रहे तथा गवर्नर-जनरल द्वारा मनोनीत किये गए व्यक्तियों की संख्या को घटाकर दो कर दिया गया।

---

१. इम्पीरियल बैंक को केन्द्रीय बैंक में रूपान्तर न करने के सरकार के निर्णय के सम्बन्ध में आगे सेक्शन ३६ देखिए।

इसी प्रकार प्रबन्ध-संचालक भी अब सीधे बोर्ड द्वारा ही नियुक्त किया जाता था। इ
प्रकार बैंक के कारोबार पर से सरकारी नियन्त्रण अब कम हो गया। (२) इम्पीरि
बैंक अब सरकार का महाजन नहीं रह गया (रिज़र्व बैंक ने अब यह पद ग्रहण
लिया), पर उसे रिज़र्व बैंक के साथ इकरार करने का यह अधिकार प्रदान कि
गया कि वह उसके एकमात्र एजेंट रूप में सरकारी कारोबार का प्रबन्ध कर सके (अ
सेक्शन ४१ में यह और भी स्पष्ट है।) (३) बैंक के लन्दन शाखा के कार्यों पर लगाये
पुराने प्रतिबन्ध हटा लिये गए। बैंक को भारतवर्ष तथा विदेशों में शाखाएँ या एजेन्सि
स्थापित करने की छूट दी गई। (४) केन्द्रीय परिषद् को यह अधिकार प्रदान कि
गया कि पहले से गवर्नर-जनरल-इन-कौंसिल की आज्ञा लिये बिना भी वह स्था
परिषदों की स्थापना या अपनी पूँजी बढ़ाए। (५) बैंक के कारोबार-सम्बन्धी
प्रतिबन्धों को हटाने के सम्बन्ध में निम्नलिखित परिवर्तन किये गए—बैंक को वि
में चुकता होने योग्य हुण्डियों को खरीदने, भारत से बाहर रुपया उधार लेने त
विदेशी विनिमय-कार्य करने के अधिकार प्रदान किये गए। मौसमी कृषि-कार्यों
वित्तीय व्यवस्था-सम्बन्धी पेशगी तथा कर्ज की (भुगतान की हुण्डी की भी) अवधि
बढ़ाकर ६ से ९ महीने तक कर दिया गया। बैंक को यह अधिकार था कि वह वि
ऐसी चल या अचल सम्पत्ति, जो किसी ऋण या पेशगी के लिए जमानत हो या जमा
से सम्बद्ध हो, सम्बन्धी अधिकार को प्राप्त करे, अपने अधिकार में रखे तथा अ
काम में लाए। रिज़र्व बैंक के हिस्सों की म्युनिसिपल बोर्ड के अधिकारान्तर्गत गव
जनरल-इन-कौंसिल की आज्ञा से निर्गमित ऋण-पत्र, देशी राजाओं के अधिकारान्
निर्गमित ऋण-पत्रों तथा केन्द्रीय बोर्ड की आज्ञा के अनुसार सीमित दायित्व व
कम्पनियों के ऋण-पत्रों पर रुपया पेशगी और कर्ज देने तथा रोक-ऋणखाता खो
का भी अधिकार बैंक को प्रदान किया गया। बैंक को यह भी अधिकार दिया गया
अगर केन्द्रीय परिषद् विशेष आज्ञा दे तो जमानत पर रेहन की गई वस्तु के आ
पर पेशगी या रोक-ऋण दिया जा सकता है। कुछ पुराने प्रतिबन्ध (जैसे जमीन
रेहन, या पेशगी और ऋण की अवधि (पूर्व-वर्णित संशोधनों के साथ), व्यक्तियों
दिये जाने वाले ऋण की मात्रा-सम्बन्धी तथा बैंक के हिस्से पर कर्ज देने के नि
इत्यादि) अब भी चलते रहे। इनके जारी रहने को इस आधार पर न्यायसंगत
राया गया—चूँकि इम्पीरियल बैंक को रिज़र्व बैंक का एकमात्र एजेण्ट होने
अधिकार प्राप्त है, अतः वह सरकारी खजाने का प्रबन्ध करता तथा सरकारी र
को रखता है।[1]

---

१. स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया—ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति की सिफारिश मानकर भारत सरक
१ जुलाई, १९५५ से इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण कर दिया। उसका नया नाम स्टेट
ऑफ इण्डिया है जिसको इम्पीरियल बैंक के सभी आदेय और दायित्व हस्तांतरित कर दिये
इम्पीरियल बैंक के पूरा चुकता हिस्सों पर प्रति हिस्सा रु० १७६५-१०-० तथा आंशिक चुकता ि
पर रु० ४३१-१२-४ देकर हिस्सेदारी का अन्त कर दिया गया। नये बैंक में २० करोड़ रुपये
अधिकृत पूँजी तथा ५.६२५ करोड़ निर्गमित पूँजी है। रिज़र्व बैंक स्टेट बैंक के कम-से-कम ५

२६. रिज़र्व बैंक ऑफ़ इण्डिया एक्ट, १९३४—ऊपर हम एक केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता को मोटे तौर पर समझ चुके हैं। इस देश में ऐसे बैंक की माँग केवल विकसित बैंकिंग तथा सुधरी चलन-पद्धति के ही कारण नहीं, बल्कि बढ़ती हुई राजनीतिक चेतना के भी कारण भी थी। यह चेतना ही हमें हर राष्ट्रीय प्रतीकों की स्थापना करने को बाध्य करती है, जिनमें केन्द्रीय बैंक भी एक है।[1]

१९३३ में प्रकाशित भारतीय सुधार सम्बन्धी श्वेतपत्र में यह शर्त रखी गई कि केन्द्र को वित्तीय जिम्मेदारी सौंपने के पूर्व यह आवश्यक है कि भारतीय व्यवस्थापिका सभा राजनीतिक प्रभावों से रहित एक रिज़र्व बैंक की स्थापना करे। जुलाई, १९३३ में रिज़र्व बैंक विधेयक सम्बन्धी लन्दन समिति ने इस प्रस्ताव का संपरीक्षण फिर किया। इस समिति ने अगस्त, १९३३ में अपनी रिपोर्ट दी तथा इसी की सिफारिश के आधार पर निर्मित रिज़र्व बैंक ऑफ़ इण्डिया बिल को ८ सितम्बर, १९३३ को व्यवस्थापिका सभा में प्रस्तुत किया गया और ६ मार्च, १९३४ को इसने अधिनियम का रूप धारण कर लिया।

(१) यह निर्णय हुआ कि यह बैंक हिस्सेदारों का बैंक होगा। मूल पूँजी ५ करोड़ रुपये की होगी जो पूर्णतया प्राप्त हिस्सा तथा सौ-सौ रुपये के हिस्सों में बँटी हुई होगी। बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली, मद्रास तथा रंगून में हिस्सेदारों के अलग-अलग रजिस्टर रखे गए। इन खातों में पहले से निर्दिष्ट किये गए हिस्सों का नामांकित [illegible] इस प्रकार था—बम्बई १४० लाख रुपया, कलकत्ता १४५ लाख, दिल्ली ११५ लाख, मद्रास ७० लाख तथा रंगून ३० लाख। बाद में होने वाले हस्तांतरण

पुराने हिस्सेदारों को प्राथमिकता दी जायगी।

स्टेट बैंक का संचालन १८-२० संचालकों के एक केन्द्रीय संचालक-मंडल द्वारा किया जायगा जो निम्न प्रकार से निर्वाचित या मनोनीत होंगे—

(१) स्टेट बैंक के सभापति तथा उपसभापति, जिन्हें रिज़र्व बैंक के परामर्श से भारत सरकार नियुक्त करेगी।

(२) रिज़र्व बैंक तथा केन्द्रीय सरकार द्वारा मनोनीत एक-एक संचालक।

(३) क्षेत्रीय तथा आर्थिक हितों के प्रतिनिधित्व हेतु रिज़र्व बैंक के परामर्शसहित केन्द्रीय सरकार द्वारा मनोनीत आठ संचालक।

(४) रिज़र्व बैंक को छोड़कर अन्य हिस्सेदारों द्वारा निर्वाचित छः संचालक।

(५) भारत सरकार की स्वीकृति से स्टेट बैंक के केन्द्रीय संचालक मंडल द्वारा मनोनीत सदस्य, जिनकी संख्या दो तक हो सकती है।

जहाँ रिज़र्व बैंक की शाखा नहीं है तथा जहाँ वह स्टेट बैंक से कहे वहाँ स्टेट बैंक—यदि उसकी वहाँ शाखा है तो—रिज़र्व बैंक के प्रतिनिधि रूप में काम करेगा। भारत सरकार की अनुमति से स्टेट [illegible] अन्य बैंकों के कारोबार, आदेय व दायित्व कम कर सकता है।

स्टेट बैंक इम्पीरियल बैंक की भाँति उद्योग, व्यापार तथा व्यवसाय की सेवा करेगा और बैंकिंग विकास को तीव्र बनाएगा। अगले पाँच वर्ष में वह ४०० शाखाएँ खोलेगा, द्रव्य भेजने की अधिक सुविधाएँ देगा और ग्रामीण बचत प्राप्त करने में योग भी। गोदाम और बिक्री-विकास हो जाने पर यह आशा की जाती है कि स्टेट बैंक ग्रामीण साख प्रसार का महत्त्वपूर्ण साधन सिद्ध होगा।

१. पी० लॉवेट, 'मिरर ऑफ इन्वेस्टमेंट', पृष्ठ १९।

की वजह से हिस्सों के क्षेत्रीय वितरण में अत्यधिक परिवर्तन आ गए तथा वोटों एकत्रीकरण और उनको निष्फल करने की प्रवृत्ति विशेषतः बम्बई क्षेत्र में अत्यधि बढ़ गई। अप्रैल, १९३५ से ३० जून १९४० तक हिस्सेदारों की संख्या ९२०४ से घटकर ५९०५७ हो जाने से यह स्पष्ट है। अतः बैंक के हिस्से को थोड़े लो के हाथों में एकत्रित होने से रोकने के उद्देश्य से मार्च, १९४० में रिज़र्व बै ऑफ इण्डिया एक्ट में संशोधन किया गया। इस संशोधन द्वारा यह निर्धारि हुआ कि अगर किसी व्यक्ति ने मार्च, १९४० के बाद अकेले या सम्मिलित रूप से किसी ऐसे अतिरिक्त हिस्से को प्राप्त किया है, जिससे उसके नाम के हिस्सों का कुल मूल्य २०,००० रुपये से अधिक हो जाता है तो वह इस हिस्से के लिए हिस्सेदार निबन्धित नहीं किया जा सकता।[1] प्रत्येक हिस्सेदार का पाँच हिस्सों पर एक वोट होता है, परन्तु वोटों की अधिकतम संख्या १० है। २,२०,००० रुपये के मूल्य का हिस्सा सरकार अपने पास इस उद्देश्य से रखती है कि निर्वाचित संचालकों को निम्नतम हिस्से की योग्यता प्रदान करने की सुविधा दी जा सके।

(२) कार्यालय, शाखाएँ तथा एजेन्सियाँ—अधिनियम के अनुसार बैंक ने कलकत्ता, बम्बई, दिल्ली, मद्रास तथा रंगून में कार्यालयों की स्थापना की। भारतवर्ष में तो यह किसी भी जगह में शाखाओं[2] तथा एजेन्सियों की स्थापना कर सकता था तथा गवर्नर-जनरल-इन-कौंसिल की स्वीकृति से दूसरे देशों में भी।[3]

(३) प्रबन्ध—बैंक का सामान्य अधीक्षण तथा निर्देश का काम संचालकों की एक केन्द्रीय परिषद् को सौंप दिया गया, जिसके सदस्य निम्नांकित रूप से होते हैं—(क) एक गवर्नर तथा दो डिप्टी-गवर्नर, जिनकी नियुक्ति गवर्नर-जनरल-इन-कौंसिल केन्द्रीय परिषद् की सिफारिश पर विचार करने के बाद करता है। (ख) गवर्नर जनरल-इन-कौंसिल द्वारा नामज़द ४ संचालक। (ग) भिन्न-भिन्न खातों के हिस्सेदारों की ओर से निर्वाचित आठ संचालक—कलकत्ता, बम्बई तथा दिल्ली से दो-दो तथा मद्रास और रंगून से एक-एक। (घ) गवर्नर जनरल-इन-कौंसिल द्वारा मनोनीत एक सरकारी अफसर। इस अफसर तथा डिप्टी गवर्नरों को वोट देने का अधिकार नहीं था। गवर्नर-जनरल-इन-कौंसिल द्वारा चार संचालकों की नामज़दगी का अभिप्राय यह था कि कृषि-हित जैसे देश के आर्थिक जीवन के प्रमुख तत्त्वों के प्रतिनिधित्व सम्बन्धी त्रुटियों की पूर्ति हो जाय। पाँचों क्षेत्रों की स्थानीय परिषदों में निम्नलिखित व्यक्ति हैं—(क) हिस्सेदारों द्वारा निर्वाचित पाँच सदस्य, (ख) केन्द्रीय परिषद् द्वारा मनोनीत अधिकतम तीन ऐसे सदस्य जो ऐसे क्षेत्रीय तथा आर्थिक हित (विशेषतः कृषि सम्बन्धी हित) का प्रतिनिधित्व करें जिनका अन्य निर्वाचित या मनोनीत सदस्य प्रतिनिधित्व

१. रिजर्व बैंक का वार्षिक विवरण (अगस्त, १९४०), पृ० ९।

२. कानपुर, कराची तथा लाहौर में बैंकिंग विभाग की शाखाओं की स्थापना की गई। निर्गमन विभाग ने भी इन तीन जगहों तथा बम्बई, मद्रास, कलकत्ता तथा रंगून में शाखाओं की स्थापना की।

३. १९५३ में रिज़र्व बैंक की सात शाखाएँ तथा निगर्मन विभाग की पांच शाखाएँ थीं, अर्थात् बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली, मद्रास तथा कानपुर में तो दोनों विभागों की तथा बंगलौर एवं लन्दन में केवल बैंकिंग विभाग की शाखाएँ थीं।

नहीं करते। यह व्यवस्था की गई कि स्थानीय परिषद् के निर्वाचित सदस्य अपने बीच से हीं एक या दो ऐसे सदस्यों को चुनें जो केन्द्रीय परिषद् में संचालकों के रूप में उस क्षेत्र के खाते के हिस्सेदारों का प्रतिनिधित्व करें जिस क्षेत्र की वह परिषद् है। स्थानीय परिषद् केन्द्रीय परिषद् को उन विषयों पर राय देती है जिनका उन्हें सामान्यतया या विशेषतया निर्देश किया जाता है। केन्द्रीय परिषद् अधिनियम द्वारा जिन कार्यों को उसे सौंप दे उन्हें भी स्थानीय परिषद् पूरा करती है। अतः स्थानीय परिषद् प्रधानतया परामर्शदात्री परिषद् ही थी। स्थानीय परिषद् का कोई भी सदस्य या संचालक भारतवर्ष की व्यवस्थापिका सभा या स्थानीय व्यवस्थापिका सभा का सदस्य भी नहीं हो सकता था। कोई सरकारी वेतन भोगी अफसर किसी बैंक का कर्मचारी तथा सहकारी बैंक के अतिरिक्त किसी अन्य बैंक का संचालक, किसी स्थानीय परिषद् का संचालक या सदस्य नहीं हो सकता था।

३७. रिजर्व बैंक के कार्य—(१) रिजर्व बैंक सरकार, स्थानीय अधिकारियों, बैंकों तथा दूसरे व्यक्तियों से विना सूद के निक्षेप स्वीकार कर सकता है। इस विधान का उद्देश्य रिजर्व बैंक को दूसरे बैंकों के साथ स्पर्धा करने से रोकना था तथा यह अन्य देशों के बैंकिंग प्रचलन के ही अनुकूल था। (२) ऐसी हुंडियों तथा प्रपत्रों को खरीदना, बेचना तथा बट्टा करना जो व्यावसायिक कारोबार के लिए ही सृजित की गई हों तथा जिन पर ऐसे दो या अधिक 'अच्छे' हस्ताक्षर हों जिनमें से एक किसी अनुसूचित बैंक का हो, तथा जो ऐसे क्रय या बट्टा करने के दिन से रियायती दिन के अतिरिक्त ६० दिनों के अन्दर ही पकने वाले हों। खेती के मौसमी कार्यो या फसलों को बेचने के लिए लिखी हुंडियों के लिए ६ महीने की अवधि थी तथा हस्ताक्षरों में से एक अनुसूचित बैंक या प्रान्तीय सलाहकारी बैंक का होना चाहिए था। किसी अनुसूचित बैंक का हस्ताक्षर लिये हुए तथा विक्रय के दिन से ६० दिन के अन्दर पकने वाले विनिमय-पत्र जो सरकारी प्रतिभूतियों को खरीदने या क्रय-विक्रय करने के लिए लिखे गए हों उनका भी क्रय-विक्रय या बट्टा हो सकता है। (३) कम-से-कम एक लाख रुपये के बराबर की स्टर्लिंग को अनुसूचित बैंकों से खरीदना या उनके हाथ बेचना। (४) संयुक्त राज्य ब्रिटेन में या उस पर की गई किसी हुंडी को क्रय-विक्रय या भुगतान करना, बशर्ते कि यह कारोबार अनुसूचित बैंकों के साथ हो। बैंक अपनी रकम को ब्रिटेन के बैंकों में रख सकता है। (५) यह भारतवर्ष के देशी राज्यों, स्थानीय अधिकारियों, अनुसूचित बैंकों या प्रादेशिक सहकारी बैंकों को ट्रस्टी सिक्यूरिटीज, स्वर्ण या चाँदी स्वीकृत-पत्रों या वस्तुओं के स्वत्वाधिकार-पत्रों द्वारा प्रमाणित अनुसूचित या सहकारी बैंकों के प्रपत्रों के आधार पर दर्शनी या अधिकतम ६० दिनों की निश्चित अवधि पर भुगतान की शर्तयुक्त ऋण या पेशगी दे सकता है। (६) यह गवर्नर जनरल इन-कौंसिल तथा स्थानीय राज्यों को ६० दिनों के अन्दर भुगतान हो जाने वाली अल्पकालीन पेशगी दे सकता है। (७) यह भारत तथा ब्रिटेन की सरकारों की प्रतिभूतियों को एक अधिकतम सीमा तक खरीद या बेच सकता है। (८) यह बैंक सोना या चाँदी बेचने तथा खरीदने तथा सार्वजनिक ऋण के प्रबन्ध आदि

मामलों में भारत सचिव, गवर्नर जनरल इन कौंसिल, स्थानीय सरकारों या स्थानीय-अधिकारियों के एजेण्ट के रूप में काम कर सकता है। (९) दूसरे देशों के केन्द्रीय बैंकों से भी यह एजेन्सी सम्बन्धित समझौता कर सकता है। (१०) अनुसूचित बैंकों या दूसरे केन्द्रीय बैंकों से अधिक-से-अधिक एक माह तक के लिए उधार लेने का अधिकार बैंक को दिया गया है। (११) बैंक को अपने नोट जारी करने का भी अधिकार प्रदान किया गया है (आगे ४० भी पढ़िये)। (१२) बैंक को यह अधिकार दिया गया है कि वह भारत पर की गई तथा यहीं पर भुगतान योग्य हुंडियों की खरीद, बिक्री तथा उनका बट्टा कर सके ताकि, जैसा कि केन्द्रीय अधिकोष खोज समिति ने सोचा था, भविष्य में रौप्य आयात-हुंडी का आविर्भाव होने पर उनका बट्टा किया जा सके। (१३) बैंक को खुले-बाजार-कार्यों को करने का भी अधिकार है। यह कार्य अन्य देशों के केन्द्रीय बैंकिंग के प्रचलन का प्रधान अंग है। केन्द्रीय परिषद् की समझ में जब भारतीय व्यापार, वाणिज्य, उद्योग तथा कृषि के हित के लिए साख को व्यवस्थित करना आवश्यक हो तो बैंक खुले बाजार में प्रत्यक्ष रूप से हुंडियों तथा कर्जपत्रों की खरीद, बिक्री व बट्टा कर सकता है (चाहे किसी अनुसूचित बैंक या सहकारी बैंक के हस्ताक्षर उन पर हों या न हों) या ऋण तथा पेशगी दे सकता है, या स्टर्लिंग की खरीद या बिक्री कर सकता है। परिषद् की समिति या गवर्नर, जिन्हें यह अधिकार दिया जा सकता है, वे किन्हीं खास आवश्यक अवसरों के अतिरिक्त अन्य मौकों पर केन्द्रीय परिषद् से पूर्व परामर्श करके ही इस अधिकार का उपयोग कर सकते हैं। इस प्रकार से किये जाने वाले कार्यों की सूचना केन्द्रीय परिषद् को हर हालत में मिलनी चाहिए।

३८. बैंक द्वारा किये जाने योग्य कारोबार—रिजर्व बैंक को निम्नलिखित कार्यों को करने का निषेध कर दिया गया है—(१) किसी प्रकार का व्यापार करना या किन्हीं व्यावसायिक या औद्योगिक कार्यों से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखना; (२) स्वयं अपने हिस्सों को या किसी दूसरे बैंक या कम्पनी के हिस्सों को खरीदना या उन्हें गिरवी रखकर कर्ज देना; (३) किसी अचल सम्पत्ति पर कर्ज देना तथा केवल अपने कारोबार के स्थान के अतिरिक्त इस प्रकार की सम्पत्ति पर अपना अधिकार जमाना; (४) निक्षेप पर ब्याज देना; (५) ऐसे विनिमय-पत्र लिखना या स्वीकृत करना जो दर्शनी न हों। इन प्रतिबन्धों में अन्य देशों के बैंक सम्बन्धी विधान का ही अनुसरण किया गया है तथा इनका उद्देश्य रिजर्व बैंक के आदेय को अत्यधिक तरलता प्रदान करना है।

३९. केन्द्रीय बैंक सम्बन्धी कार्य—बैंक को सरकारी वित्तीय कार्य करना है अर्थात् उसे द्रव्य लेने, उनका विनिमय करने, रुपया भेजने तथा सार्वजनिक ऋण का प्रबन्ध करने का कर्तव्य निबाहना है। यह कार्य निःशुल्क नहीं वरन् समझौतों की शर्तों पर करना है। बैंक को भारत में सरकारी (केन्द्रीय तथा राज्यीय) कार्यों को करने का तथा बिना सूद के निक्षेप हेतु उनकी नकद निधि रखने का अधिकार है (सिवाय उन जगहों के जहाँ इस बैंक की शाखाएँ तथा एजेन्सियाँ नहीं हैं)। नये ऋण चालू करने का कार्य भी बैंक को सौंपा जाना चाहिए।

४०. बैंक के नोटों का निर्गमन—बैंक को नोट निर्गमन करने का एकमात्र अधिकार

है। बैंक ऑफ इंगलैण्ड की ही तरह निर्गमन-विभाग तथा बैंकिंग विभाग अलग-अलग हैं, पर भारतीय कानून के अनुसार नोट जारी करने के लिए इंगलैण्ड की भाँति बिना सुरक्षित धन रखे नोट-निर्गमन की कोई अधिकतम सीमा (फिडूशरी लिमिट) नहीं है। यहाँ सुरक्षित धन रखने के आनुपातिक तरीके को अपनाया गया है। निर्गमन विभाग के आदेय तथा दायित्व को बैंकिंग विभाग के आदेय तथा दायित्व से अलग रखा जाता है। इस प्रवन्ध में यह खूबी तो अवश्य ही है कि यह हिसाब के प्रवन्ध को सरल-से-सरल रूप में उपस्थित करता तथा नोट निर्गमन-कार्य के प्रति अत्यधिक विश्वास पैदा करता है, पर बैंक के पूरे दायित्व को एक साथ उपस्थित न करने की त्रुटि भी इसमें है। यद्यपि भारतवर्ष से बर्मा का सम्बन्ध-विच्छेद १ अप्रैल, १९३७ को ही हो गया, पर बर्मा के सिक्के का प्रवन्ध रिज़र्व बैंक द्वारा तव तक होता रहा जब तक उसने अपनी राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं कर ली।

निर्गमन-विभाग में कम-से-कम २/५ भाग स्वर्ण-मुद्रा, स्वर्ण-पाट या स्टर्लिंग प्रतिभूतियाँ होनी चाहिएँ, जिसमें स्वर्ण कम-से-कम ४० करोड़ रुपये का हो। स्वर्ण-मुद्रा तथा स्वर्ण-पाट का कम-से-कम १७/२०वाँ भाग ब्रिटिश भारत में रहना चाहिए था। आदेय के शेष ३/५ को रुपया के सिक्के में किसी भी समय पर पकने वाली भारत सरकार की रौप्य-प्रतिभूतियों तथा बैंकों द्वारा क्रय-योग्य ब्रिटिश भारत में चुकता होने वाली हुण्डियों तथा प्रपत्रों के रूप में रखा जा सकता था, परन्तु रौप्य-प्रतिभूतियाँ कुल आदेय के १/४ या ५० करोड़ रुपये (इनमें से जो भी अधिक हो) से अधिक न हों। गवर्नर जनरल की पूर्व-स्वीकृति प्राप्त कर उपर्युक्त सीमा १० करोड़ रुपये से बढ़ाई जा सकती थी। सोने का मूल्य लागत पर अर्थात् एक रुपये के लिए ८·४७५१२ ग्रेन उत्कृष्ट कोटि का सोना, रुपये का उसके अंकित मूल्य पर तथा प्रतिभूतियों का मूल्य बाजार-दर पर लगता था। स्टर्लिंग प्रतिभूतियों में निम्नलिखित शामिल थे—बैंक ऑफ इंगलैण्ड के खाते में शेष, इंगलैण्ड पर किये गए तथा वहीं पर ९० दिन के अन्दर चुकता होने वाली हुण्डियाँ तथा पाँच वर्ष के अन्दर पकने वाली ब्रिटिश सरकार की प्रतिभूतियाँ। नोट-निर्गमन अधिकार देते समय भारत सरकार द्वारा स्वर्ण-मान एवं पत्र मुद्रा-कोष भी बैंक को हस्तान्तरण करना था और यह विधान था कि हस्तान्तरित निधि में कम-से-कम आधी स्वर्ण-मुद्रा, स्वर्ण-पाट एवं स्टर्लिंग प्रतिभूतियों के रूप में होगी तथा रुपये की मात्रा ५० करोड़ रुपये से अधिक न होगी और इससे अधिक निधि को सरकार एक अलग हिसाब में रखेगी। यह भी व्यवस्था की गई कि ५० करोड़ रुपये का आदेय या कुल आदेय का छठा भाग, जो भी अधिक हो, उसमें सरकार तथा बैंक रुपये के सिक्के में रख सकते थे। आनुपातिक सुरक्षित कोष-प्रणाली का अनुगमन करने वाले संसार के फेडरल रिजर्व तथा अन्य केन्द्रीय बैंकों के ही समान इस बैंक को भी यह अधिकार दिया गया कि गवर्नर-जनरल-इन-कौंसिल की पूर्व आज्ञा से अधिक-से-अधिक ३० दिन तक कुल आदेय में स्वर्ण-सिक्के, स्वर्ण-पाट या स्टर्लिंग का अनुपात २/५वें हिस्से से कम होने दिया जा सकता था और पूर्व अनुमति से इस पक्ष में एक बार में १५ दिन की वृद्धि की जा सकती

थी। उपरोक्त सुरक्षित कोष कम पड़ने पर रिज़र्व बैंक को कम-से-कम ६% वार्षिक कर कमी पर देना पड़ता है। टैक्स की दर निकालने के लिए बैंक-दर में निम्नलिखित वृद्धि करते थे—७½% की कमी तक १% और उसके आगे प्रत्येक २½% की कमी के लिए १½%। बैंक पर विभिन्न तरह के सिक्कों की पूर्ति करने का भी दायित्व था। अतः भारत सरकार करेन्सी नोटों या बैंक द्वारा निर्गमित नोटों के बदले में रौप्य-मुद्रा तथा निधि-ग्राह्य सिक्कों के बदले में बैंक-नोटों तथा करेन्सी-नोटों का निर्गमन करे। उसे ५ रुपये या उससे बड़े मूल्य के नोटों को कम मूल्य वाले नोटों या दूसरे विधि-ग्राह्य सिक्कों में, जितना बैंक की समझ के अनुसार चलन के लिए आवश्यक था, रूपान्तर करना था। गवर्नर-जनरल-इन-कौंसिल का यह कर्तव्य था कि इन सिक्कों की माँग होने पर उन्हें बैंकों को दे। इस प्रकार इन विशेष परिस्थितियों को देखते हुए बैंक-नोटों का चाँदी के रुपये में उसी प्रकार असीमित विनिमय रहने दिया गया जो विगत सरकारी करेन्सी नोटों के सम्बन्ध में लागू था (९वें परिच्छेद का सेक्शन ३२ भी देखिए)।

४१. रिज़र्व बैंक के विदेशी विनिमय-सम्बन्धी दायित्व—भारत-सचिव अपने खर्च के लिए भारत सरकार से रकम, कौंसिल बिल को बेचने की पद्धति द्वारा भी, जो कि स्वर्ण-विनिमय-मान का एक अंग था, मँगाते थे। पर १९२३-२४ में कौंसिल बिल की बिक्री के स्थान पर आंशिक रूप में भारत में स्टर्लिंग खरीदी जाने लगी। यह खरीद उन बैंकों तथा व्यक्तिगत वित्तीय संस्थाओं से की जाती थी जो अपने लन्दन-स्थित स्टर्लिंग के साधनों को भारत में रुपया लेकर बेचने को इच्छुक रहते थे। १९२५ से भारत-सचिव को रुपया भेजने का यह प्रधान तरीका १९२७ से एकमात्र तरीका हो गया। सार्वजनिक टेण्डर द्वारा स्टर्लिंग की खरीद का प्रबन्ध सरकार इम्पीरियल बैंक द्वारा करती थी। लेकिन १ अप्रैल, १९३५ से स्टर्लिंग को क्रय करने तथा भारत सचिव को रुपया भेजने की जिम्मेदारी रिजर्व बैंक आफ इण्डिया की हो गई। रुपया स्टर्लिंग की विनिमय-दर की स्थिरता कायम रखने के उद्देश्य से बैंक पर स्टर्लिंग की खरीद तथा बिक्री का दायित्व डालने वाले अनुपात अनुच्छेद का वर्णन तो हम ऊपर कर चुके हैं (९वें परिच्छेद का सेक्शन २४ देखिए)।

४२. अनुसूचित बैंक[1]—भारत में कारोबार करने वाले द्वितीय अनुसूची[2] के अन्तर्गत नामांकित, जिनकी प्राप्त हिस्सा-पूँजी तथा सुरक्षित धन ५ लाख रुपये से कम न हो, बैंकों को रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया में इतनी रकम जमा रखनी पड़ती है जो किसी भी दिन उनके इस देश की माँग-दायित्व के ५% तथा अवधि-दायित्व के २% से कम

१. इसको तथा इसके आगे वाले सेक्शन को पहले के सेक्शन १२ और १५ के साथ पढ़ना चाहिए।

२. मिश्रित पूँजी वाले बैंक दिन-पर-दिन देश के केन्द्रीय बैंकों के साथ सम्पर्क के महत्त्व को अधिकाधिक मात्रा में समझ रहे हैं तथा कुछ ने तो अनुसूचित बैंकों की सूची में अपने को दर्ज कराने के प्रमुख उद्देश्य से ही अपनी प्राप्त हिस्सा-पूँजी में वृद्धि कर ली है। इस प्रवृत्ति की वृद्धि का कुछ हद तक कारण यह है कि विभिन्न प्रान्तों में अनुसूचित बैंकों को ऋण सम्बन्धी अधिनियमों में कुछ छूट दी गई है और बैंक इस सुविधा की प्राप्ति करना चाहते हैं। (रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया का वार्षिक विवरण (१९३७), पृष्ठ १४, (१९३९), पृष्ठ २५-२६ तथा (१९४०), पृष्ठ २६।

न हो। यह विधान संयुक्त राज्य अमेरिका के संघीय रिज़र्व एक्ट की १६वीं धारा वाले सिद्धान्त का अनुसरण करता है तथा इसका प्रमुख अभिप्राय रिज़र्व बैंक को देश के बैंक सम्बन्धी सुरक्षित धन को केन्द्रीयकरण करने में समर्थ बनाना है, ताकि वह सदस्य बैंकों द्वारा निर्मित समस्त बैंक-द्रव्य पर नियन्त्रण द्वारा देश की साख की स्थिति का अधिनियमन तथा नियन्त्रण कर सके। यह उन सदस्य-बैंकों के निक्षेप की तरलता तथा सुरक्षा का भी आंशिक विधान करता है जिन्हें अन्यथा पर्याप्त नकद रोकड़ रखनी पड़ती है। प्रत्येक अनुसूचित बैंक के लिए यह आवश्यक है कि वह रिज़र्व बैंक तथा गवर्नर-जनरल-इन-कौंसिल के पास अपनी मांग तथा अवधि-दायित्व, अपनी भारत-स्थित पत्र-मुद्रा (भारत सरकार तथा रिजर्व बैंक के नोट), रुपये तथा सहायक सिक्के के रूप में रखी हुई, निधि भारत में दिये पेशगी तथा बट्टा की गई हुण्डियों तथा रिजर्व बैंक में रखी गई रकम का साप्ताहिक ब्यौरा भेजे। रिज़र्व बैंक की सूचना माँगने की इस शक्ति का अभिप्राय साख-पद्धति पर पूर्ण नियन्त्रण रखना है। रिजर्व बैंक के साथ कारोबार करने वाले प्रान्तीय बैंकों से भी इस प्रकार का ब्यौरा माँगा जा सकता है, पर उन्हें अपने नकद के किसी अंश को रिज़र्व बैंक में रखने को बाध्य नहीं किया जा सकता। ऊपर इसका उल्लेख हो ही चुका है कि देशी साहूकार अभी अनुसूचित साहूकारों की किसी सूची में नहीं आ सके हैं।

४३. गैर-अनुसूचित बैंक—इस देश में अनुसूचित बैंकों के अतिरिक्त अनेक छोटी-मोटी बैंकिंग तथा उधार देने वाली कम्पनियाँ (विशेषतः बंगाल में) काम कर रही हैं, जिनकी भारतीय कम्पनी अधिनियम के अन्तर्गत रजिस्ट्री है। ३१ दिसम्बर, १९३८ को ऐसी कम्पनियों की संख्या अनुमानतः १४२१ थी जिन्हें हम गैर-अनुसूचित बैंक कह सकते हैं। इनमें से केवल २३६ ऐसी थीं कि प्रत्येक के पास ५०,००० रुपये की प्राप्त हिस्सा-पूँजी थी। १९३८ के आरम्भ तक रिजर्व बैंक केवल अनुसूचित बैंकों से ही साप्ताहिक ब्यौरे तथा आँकड़े मँगाता था। कम्पनी एक्ट (१९३६ में संशोधित) लागू होने के साथ ही यह उचित समझा गया कि केन्द्रीय बैंक के नाते रिजर्व बैंक को इन गैर-अनुसूचित बैंकों के बारे में भी सूचना प्राप्त होनी चाहिए। इसी उद्देश्य से १९३८ में कम्पनी एक्ट का संशोधन कर दिया गया। इन गैर-अनुसूचित बैंकों में अनेक यह दावा करते हैं कि वे कम्पनी एक्ट की २०० एफ वीं धारा (सेक्शन १९ में देखिए) के अर्थ में बैंक की कोटि में नहीं आते, अतः वे एक्ट द्वारा विहित नकद रकम के ब्यौरे को भेजने के दायित्व से मुक्त हैं।

४४. रिजर्व बैंक तथा इम्पीरियल बैंक[1]—गवर्नर जनरल की स्वीकृति से रिज़र्व बैंक ने इम्पीरियल बैंक के साथ १५ वर्ष के लिए एक समझौता किया है। अगर इम्पीरियल बैंक की वित्तीय स्थिति ठीक रही तो उसके बाद भी यह समझौता तब तक चालू रहेगा जब तक दोनों में से किसी पक्ष की ओर से पाँच वर्ष के नोटिस के बाद उसे खत्म नहीं कर दिया जाता। इस समझौते के अनुसार इम्पीरियल बैंक ब्रिटिश

१. अब यह समझौता स्टेट बैंक ऑफ़ इण्डिया के साथ समझा जाना चाहिए। इस सम्बन्ध में देखिए इस पुस्तक में स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया सम्बन्धी अंश।

भारत में उन सब जगहों में रिज़र्व वैंक का एकमात्र एजेंट होगा जहाँ रिज़र्व वैंक एक्ट के कार्य-रूप में परिणत होते समय इम्पीरियल वैंक की एक शाखा हो तथा जहाँ रिज़र्व वैंक के वैंकिंग विभाग की कोई भी शाखा न हो। इस कार्य के पारिश्रमिक-स्वरूप रिज़र्व वैंक इम्पीरियल बैंक को कमीशन देता है। कमीशन का अनुगणन इम्पीरियल बैंक द्वारा सरकार की ओर से प्रत्येक वर्ष कुल प्राप्त तथा दी हुई निधियों के आधार पर किया जाता है। कमीशन की दर में १० वर्ष के बाद विचार करके संशोधन किया जा सकता है। इम्पीरियल वैक द्वारा इतनी शाखाएँ रखे जाने के वदले में उसे रिज़र्व बैंक प्रथम ५ वर्ष तक ९ लाख रुपया वार्षिक, अगले पाँच वर्ष में ६ लाख रुपया वार्षिक तथा उसके बाद के पाँच वर्ष तक ४ लाख रुपया वार्षिक देता था। इम्पीरियल वैंक को यह अधिकार नहीं था कि बिना रिज़र्व वैंक की स्वीकृति के समझौते के समय स्थित किसी शाखा का प्रतिस्थापन या किसी नई शाखा की स्थापना कर सके।

४५. सुरक्षित कोष—गवर्नर-जनरल-इन-कौंसिल द्वारा वैंक को हस्तान्तरित ५ लाख रुपये की रौप्य-प्रतिभूतियों से रिज़र्व वैंक के सुरक्षित कोष का प्रारम्भ किया गया। रिज़र्व बैंक के आदेय के मूल्य-ह्रास की पूर्ति तथा वैंकिंग पद्धति की दृढ़ता में जनसाधारण का विश्वास जमाने के लिए पर्याप्त सुरक्षित कोष रखना आवश्यक है। वार्षिक वास्तविक लाभ में से (जो सम्भव हानि, आदेय-ह्रास आदि निकालने के बाद बचे) हिस्सा-पूँजी पर गवर्नर-जनरल-इन-कौंसिल द्वारा निश्चित (परन्तु यह ५%) की दर से अधिक न हो) लाभांश के चुकता के पश्चात् बचे लाभ से अतिरिक्त लाभांश बाँटा जाता है, परन्तु कुल लाभांश की दर ६% से अधिक नहीं हो सकती। चौथी अनुसूची में वर्णित आधार पर शेष लाभ को इस शर्त पर गवर्नर-जनरल-इन-कौंसिल को दिया जाता है कि अगर किसी समय सुरक्षित कोष प्राप्त हिस्सा-पूँजी से कम पड़े या कुल अतिरेक ही उस रकम से कम पड़े तो शेष लाभ (यदि वह ५० लाख रुपये से कम हो) या कम-से-कम ५० लाख रुपया सुरक्षित कोष में डाला जाय। बैंक अधिक लाभ-कमाने का माध्यम न बन जाय इसलिए ही हिस्सेदारों को दिये जाने वाले मुनाफे में ऐसी पाबन्दी की आवश्यकता है, क्योंकि वह एक प्रकार से पत्र-करेन्सी तथा पुराने स्वर्ण-मान कोष का लाभ-स्वरूप है। अतिरिक्त मुनाफे का राज्य के अधिकार में जाना उचित भी है।

४६. वैंक की दर तथा साप्ताहिक ब्यौरा—रिज़र्व वैंक से यह अभीष्ट है कि वह उस प्रामाणिक बट्टा-दर की विज्ञप्ति दिया करे जिस पर वह अधिनियम के अन्तर्गत खरीद के योग्य हुण्डी या व्यावसायिक पत्रों की खरीद या बट्टा करने के लिए तैयार है। इस प्रकार वैंक को इस बात की स्वतन्त्रता है कि वह कृषि सम्बन्धी हुण्डी का बट्टा ऐसी रिआयती दर पर करे जो व्यावसायिक पत्रों के बट्टा या पुनर्वट्टा की दर से कम हो। यह उल्लेखनीय है कि भारतीय अधिनियम के विधान से भिन्न वैंक ऑफ इंगलैण्ड की रीति ऐसी निम्नतम दर निश्चित करना है जिस पर वह अपने ग्राहकों के अतिरिक्त दूसरों की हुण्डी क बट्टा करेगी और जो प्रायः बाजार में प्रचलित दर से अधिक पर

ही निश्चित की जाती है।[1]

एक निर्दिष्ट रूप में (पाँचवीं अनुसूची) रिज़र्व बैंक को अपने निर्गमन तथा बैंकिंग विभाग के वार्षिक हिसाब तथा साप्ताहिक ब्यौरे को सरकार को भेजना पड़ता है ताकि वह इसे गज़ट ऑफ़ इण्डिया में प्रकाशित करे। किसी भी देश के केन्द्रीय बैंक का साप्ताहिक विवरण वहाँ के द्रव्य-बाजार की स्थिति का स्पष्टीकरण माना जाता है।

४७. कृषि-सम्बन्धी साख विभाग—अधिनियम के अन्तर्गत बैंक को विशेष कृषि-सम्बन्धी साख विभाग खोलना पड़ा है जिसके निम्नलिखित कार्य हैं—(१) एक ऐसे दक्ष कर्तृ-वर्ग को रखना जो कृषि-साख की सभी समस्याओं का अध्ययन करे तथा गवर्नर-जनरल-इन-कौंसिल, स्थानीय सरकारों, प्रान्तीय सहकारी बैंकों तथा दूसरी बैंकिंग संस्थाओं को परामर्श दे, और (२) कृषि-साख-सम्बन्धी बैंक के कार्यों का समन्वयीकरण तथा प्रान्तीय सहकारी बैंकों एवं कृषि-साख-सम्बन्धी कार्य करने वाली अन्य बैंक या संस्था से रिज़र्व बैंक के सम्बन्ध का समन्वय करना। भारत जैसे कृषि-प्रधान देश में ऐसी संस्था का होना अति आवश्यक है। यह विधान कामनवेल्थ बैंक आफ आस्ट्रेलिया एक्ट के इसी प्रकार के एक विधान के आधार पर निर्मित है। दोनों में प्रधान भिन्नता यह है कि भारतीय कृषि-साख विभाग का कार्य तो पूर्णतया परामर्शदात्री सभा का ही है, पर कामनवेल्थ बैंक ऑफ़ आस्ट्रेलिया के कृषि-साख विभाग के पास अपना एक अलग कोष है जिसमें कुछ रकम तो खज़ाने से आती है तथा कुछ बैंक से।

श्री एम० एल० डार्लिंग की नियुक्ति सहकारी बैंकों तथा साख-समितियों के कार्यों की तात्कालिक हालतों तथा देश की ग्रामीण आर्थिक स्थिति से सम्बन्धित देशी महाजनों के कार्यों की जाँच करने के उद्देश्य से की गई। जून, १९३५ के अन्त में रिज़र्व बैंक को उनके विवरण के साथ-साथ कृषि-साख विभाग के निर्माण से सम्बन्धित प्रस्ताव प्राप्त हुआ। इस प्रस्ताव की परीक्षा तथा इस पर विचार करने के पश्चात् बैंक के अधिकारियों ने भारत सरकार द्वारा स्थानीय अधिकारियों से यह प्रार्थना करने का निर्णय किया कि वे सहकारी बैंकों, साख-समितियों तथा कृषि-सम्बन्धी साख में लगे हुए देशी साहूकारों तथा महाजनों-जैसी दूसरी संस्थाओं के बारे में और विवरण इकट्ठा कर बैंक को दें। उपर्युक्त विस्तृत विवरण की प्राप्ति में अत्यधिक देर हो जाती, अतः दिसम्बर १९३६ में बैंक ने कृषि-सम्बन्धी साख का एक विवरण सरकार को इसलिए दिया कि अनेकों सम्बन्धित वर्ग शीघ्रातिशीघ्र इस सवाल के यथार्थ परीक्षण की ओर अग्रसर हों। तत्पश्चात् १९३७ के अन्त में दी गई स्टेचूटरी रिपोर्ट उन उपायों का दिग्दर्शन कराती है जिनके द्वारा तत्कालीन साख-संस्थाएँ, विशेषतः सहकारी समितियाँ, कृषकों के लिए विशेष लाभदायक हो सकती हैं और किस प्रकार

१. देखिए, डब्ल्यू० एफ़० स्पाल्डिंग, 'दि लन्दन मनी मार्केट', पृष्ठ ८९-९०।

रिजर्व बैंक उन्हें अधिक सहायता प्रदान कर सकता है।[1] रिज़र्व बैंक का कथन था कि यह अपेक्षा करना उचित नहीं कि प्रारम्भिक तीन वर्ष के अल्प समय में ही बैंक कोई अन्तिम योजना प्रस्तुत करने में समर्थ होगा। अतः वह निरन्तर कृषि-साख सम्बन्धी प्रमुख समस्याओं पर ही ध्यान दे रहा है।

४८. रिज़र्व बैंक ऑफ़ इण्डिया कार्यरूप में—१ अप्रैल, १९३५ को रिजर्व बैंक ऑफ़ इण्डिया का उद्घाटन हुआ और बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली, मद्रास तथा रंगून में इसके कार्यालयों की स्थापना हुई। बाद में कानून द्वारा विधित लन्दन में भी एक शाखा खोलने की व्यवस्था की गई।

रिजर्व बैंक ऑफ़ इण्डिया का वस्तुतः कार्यरूप में परिणत होना उसके इस दावे को न्यायसंगत सिद्ध करता है कि उसने वित्तीय स्थायित्व, बैंक-सम्बन्धी सुधार तथा द्रव्य-बाजार के विस्तार तथा अभिनवकरण के नये युग का उद्घाटन किया। इसने कम दर की सूद पर केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों के लिए ऋण की व्यवस्था करने, भारत-सचिव को रुपया भेजने, सरकारी हुंडी का विक्रय करने तथा रुपये का स्थायित्व कायम रखने में सहायता की है। इसने बैंकिंग कम्पनी से सम्बन्धित नये विधानों को इण्डियन कम्पनीज़ एक्ट में समावेश करने के सम्बन्ध में बहुमूल्य राय दी तथा भारतवर्ष में बैंक एक्ट बनाने का लाभकारी प्रस्ताव १९३९ में रखा। इसने देश के अन्तर्गत रुपया भेजने की सस्ती सुविधा दी है तथा व्याज की दर कम करने में सहायता की है। देश में बैंक की सुविधा के विस्तार के लिए भी इसने अप्रत्यक्ष रूप से प्रोत्साहन दिया है।

इसने केवल अनुसूचित बैंकों, जो विधिवत् सदस्य-बैंक हैं, के ही साथ लाभकर सम्पर्क स्थापित नहीं किया बल्कि अगणित छोटे-छोटे गैर-अनुसूचित बैंकों के साथ भी द्रव्य तथा साख के अधिकारी की हैसियत से विगत युद्धकाल में अनेक कठिनाइयों को बड़ी चतुरतापूर्वक झेलकर द्रव्य-बाजार में स्थिरता लाने में योगदान दिया। "यह स्पष्ट है कि रिज़र्व बैंक व्याज-दर की उन मौसमी विभिन्नताओं को दूर करने में अत्यधिक हिस्सा लेता रहा है, जिनका भारतवर्ष के भविष्य की आर्थिक स्थिति पर बहुत ही प्रभाव पड़ता।"[2] इसने कृषि-साख तथा सहकारी आन्दोलन के अध्ययन के सम्बन्ध में बहुत काम किया है और ग्रामीण साख-संगठन सम्बन्धी अनेक त्रुटियों को दूर करने के सम्बन्ध में भी बहुमूल्य सुझाव दिये हैं।

पर इसके द्वारा अनुसूचित तथा प्रान्तीय सहकारी बैंकों के लिए बट्टा की गई हुंडियों की तुच्छ निधि से यह स्पष्ट है कि इसने भारत में हुंडी के बाजार को विकसित करने की आशा को पूरा नहीं किया। इसके अतिरिक्त रिज़र्व बैंक ने अभी तक देशी साहूकारों को अपने साथ सम्बद्ध करने, हुंडी के बाजार को पर्याप्त उन्नत बनाने[3] तथा भारतीय द्रव्य-बाजार के दोनों प्रमुख हिस्सों को एकरूपता प्रदान करने

१. यह प्रश्न प्रथम खण्ड के १०वें अध्याय में विस्तार से दिया गया है।
२. मुरंजन, 'मॉडर्न बैंकिंग इन इंडिया', प्रथम संस्करण, पृष्ठ २८५।
३. इस सम्बन्ध में पिछले चार वर्ष में रिज़र्व बैंक ने कुछ उल्लेखनीय कार्य किया है। जनवरी

में सफलता प्राप्त नहीं की।

४६. रिज़र्व बैंक ऑफ़ इंडिया (सार्वजनिक स्वामित्व का हस्तान्तरण) एक्ट १९४८—बैंक को राज्य-अधिकृत संस्था का रूप देने के सरकारी निर्णय को कार्य-रूप में परिणत करने के उद्देश्य से इस अधिनियम को पारित किया गया, जिससे इसके कार्यों का नियन्त्रण सार्वजनिक हित के लिए किया जा सके तथा द्रव्य-सम्बन्धी, आर्थिक एवं वित्तीय नीति के बीच समन्वय स्थापित हो सके। १ जनवरी, १९४९ को यह कानून लागू हो गया तथा बैंक की पूँजी के सारे हिस्सों को केन्द्रीय बैंक द्वारा हस्तान्तरित समझा गया।

हिस्सेदारों की १०० रुपये की प्राप्त हिस्सा-पूँजी पर ११८ रुपये १० आने का मुआवजा देने की व्यवस्था की गई। यह मुआवजा अंशतः तो ३ प्रतिशत वार्षिक सूद वाले ऋण-पत्र तथा अंशतः नकद रकम के रूप में था। (मुआवजा की दर मार्च, १९४७ से फरवरी, १९४८ तक के हिस्से की औसत बाजार-दर पर आधारित थी।)

सामान्य अधीक्षण तथा संचालन का अधिकार केन्द्रीय परिषद को था जिसमें एक गवर्नर, दो डिप्टी गवर्नर तथा आठ संचालक होते थे। सरकार द्वारा नामजद ये आठ संचालक पहले की व्यवस्था के उन बारह संचालकों के बदले में होते थे जिनमें आठ निर्वाचित तथा चार नामज़द होते थे।

५०. १९३९ के बाद भारतीय बैंकिंग—द्वितीय महायुद्ध के विस्फोट तथा दिसम्बर, १९४१ में जापानी युद्ध के प्रारम्भ होने के तुरन्त बाद ही भय के कारण जनता बैंकों से अपना रुपया वापस करने लगी, पर थोड़े ही दिनों के बाद जनता ने इस त्रास की निरर्थकता को महसूस कर लिया और अपने को युद्ध की परिस्थिति के अनुकूल बनाने में समर्थ हो गई। तब शीघ्र ही निक्षेप भी बैंकों में लौटने लगे।[1] हम यह कह सकते हैं कि भारतीय बैंकिंग प्रणाली ने लड़ाई के प्रथम प्रहार को अच्छी तरह से झेला। अतः लड़ाई तथा तत्कालीन ऊँची कीमतों के कारण वस्तुओं के बाजार, स्टाक एक्सचेञ्ज तथा चाँदी के बाजार की रुपये की बढ़ती हुई माँग की पूर्ति हेतु पेशगी के विस्तार के कारण निक्षेप भी निरन्तर बढ़ता ही गया।[2] युद्धकालीन भारतीय

१९५२ में रिज़र्व बैंक ने अनुसूचित बैंकों को उनके प्रपत्रों के आधार पर दर्शनी-ऋण देने की घोषणा की। प्रपत्रों के साथ आवेदक बैंक के ग्राहकों के ऐसे विनिमय-पत्र या प्रपत्र का होना अनिवार्य था जो व्यापारिक या व्यावसायिक कार्यों के लिए निर्मित किये गए हों और ९० दिन में पकते हों। ऐसे ऋण पर रिजर्व बैंक बैंक-दर से $\frac{1}{2}\%$ कम व्याज़-दर रखेगा और स्टाम्प-ड्यूटी का आधा अंश भी स्वयं वहन करेगा। उस समय यह सुविधा केवल उन अनुसूचित बैंकों को दी गई जो कम-से-कम एक लाख रुपये का ऐसा ऋण माँगें तथा जिनके निक्षेप दस करोड़ रुपए हों। कालान्तर में जनता की मांग तथा श्रॉफ समिति की सिफारिश पर रिज़र्व बैंक ने यह सुविधा सभी लाइसेंस-प्राप्त अनुसूचित बैंकों को दी है और प्रत्येक ऐसे ऋण की निम्नतम सीमा तथा प्रत्येक बैंक को दिये ऐसे ऋणों की निम्नतम सीमा घटाकर क्रमशः ५०,००० रु० तथा १० लाख रुपए कर दी है। मई, १९५५ में ऐसे ऋण का शेष ३० करोड़ रुपया था जो अब तक अधिकतम है। नवम्बर, १९५४ में ऐसा ऋण ११० करोड़ रुपया था।

१. डाकखानों के निक्षेप तथा कैश सर्टिफिकेट का विचार पहले ही किया जा चुका है (सेक्शन २२)।

२. देखिए, 'ईस्टर्न इकनामिस्ट', १५ सितम्बर, १९४४ का बैंकिंग विशेषांक।

रिज़र्व बैंक उन्हें अधिक सहायता प्रदान कर सकता है।[1] रिज़र्व बैंक का कथन था कि यह अपेक्षा करना उचित नहीं कि प्रारम्भिक तीन वर्ष के अल्प समय में ही बैंक कोई अन्तिम योजना प्रस्तुत करने में समर्थ होगा। अतः वह निरन्तर कृषि-साख सम्बन्धी प्रमुख समस्याओं पर ही ध्यान दे रहा है।

४८. रिज़र्व बैंक ऑफ़ इण्डिया कार्यरूप में—१ अप्रैल, १९३५ को रिज़र्व बैंक ऑफ़ इण्डिया का उद्घाटन हुआ और बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली, मद्रास तथा रंगून में इसके कार्यालयों की स्थापना हुई। बाद में कानून द्वारा विधित लन्दन में भी एक शाखा खोलने की व्यवस्था की गई।

रिजर्व बैंक ऑफ़ इण्डिया का वस्तुतः कार्यरूप में परिणत होना उसके इस दावे को न्यायसंगत सिद्ध करता है कि उसने वित्तीय स्थायित्व, बैंक-सम्बन्धी सुधार तथा द्रव्य-बाजार के विस्तार तथा अभिनवकरण के नये युग का उद्घाटन किया। इसने कम दर की सूद पर केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों के लिए ऋण की व्यवस्था करने, भारत-सचिव को रुपया भेजने, सरकारी हुंडी का विक्रय करने तथा रुपये का स्थायित्व कायम रखने में सहायता की है। इसने बैंकिंग कम्पनी से सम्बन्धित नये विधानों को इण्डियन कम्पनीज़ एक्ट में समावेश करने के सम्बन्ध में बहुमूल्य राय दी तथा भारतवर्ष में बैंक एक्ट बनाने का लाभकारी प्रस्ताव १९३९ में रखा। इसने देश के अन्तर्गत रुपया भेजने की सस्ती सुविधा दी है तथा व्याज की दर कम करने में सहायता की है। देश में बैंक की सुविधा के विस्तार के लिए भी इसने अप्रत्यक्ष रूप से प्रोत्साहन दिया है।

इसने केवल अनुसूचित बैंकों, जो विधिवत् सदस्य-बैंक हैं, के ही साथ लाभकर सम्पर्क स्थापित नहीं किया बल्कि अगणित छोटे-छोटे गैर-अनुसूचित बैंकों के साथ भी द्रव्य तथा साख के अधिकारी की हैसियत से विगत युद्धकाल में अनेक कठिनाइयों को बड़ी चतुरतापूर्वक झेलकर द्रव्य-बाजार मे स्थिरता लाने में योगदान दिया। "यह स्पष्ट है कि रिज़र्व बैंक व्याज-दर की उन मौसमी विभिन्नताओं को दूर करने में अत्यधिक हिस्सा लेता रहा है, जिनका भारतवर्ष के भविष्य की आर्थिक स्थिति पर बहुत ही प्रभाव पड़ता।"[2] इसने कृषि-साख तथा सहकारी आन्दोलन के अध्ययन के सम्बन्ध में बहुत काम किया है और ग्रामीण साख-संगठन सम्बन्धी अनेक त्रुटियों को दूर करने के सम्बन्ध में भी बहुमूल्य सुझाव दिये हैं।

पर इसके द्वारा अनुसूचित तथा प्रान्तीय सहकारी बैंकों के लिए बट्टा की गई हुंडियों की तुच्छ निधि से यह स्पष्ट है कि इसने भारत में हुंडी के बाजार को विकसित करने की आशा को पूरा नहीं किया। इसके अतिरिक्त रिजर्व बैंक ने अभी तक देशी साहूकारों को अपने साथ सम्बद्ध करने, हुंडी के बाजार को पर्याप्त उन्नत बनाने[3] तथा भारतीय द्रव्य-बाजार के दोनों प्रमुख हिस्सों को एकरूपता प्रदान करने

१. यह प्रश्न प्रथम खण्ड के १०वें अध्याय में विस्तार से दिया गया है।
२. मुरंजन, 'मॉडर्न बैंकिंग इन इंडिया', प्रथम संस्करण, पृष्ठ २८५।
३. इस सम्बन्ध में पिछले चार वर्ष में रिज़र्व बैंक ने कुछ उल्लेखनीय कार्य किया है। जनवरी

में सफलता प्राप्त नहीं की।

४६. रिज़र्व बैंक ऑफ़ इंडिया (सार्वजनिक स्वामित्व का हस्तान्तरण) एक्ट १६४८— बैंक को राज्य-अधिकृत संस्था का रूप देने के सरकारी निर्णय को कार्य-रूप में परिणत करने के उद्देश्य से इस अधिनियम को पारित किया गया, जिससे इसके कार्यों का नियन्त्रण सार्वजनिक हित के लिए किया जा सके तथा द्रव्य-सम्बन्धी, आर्थिक एवं वित्तीय नीति के बीच समन्वय स्थापित हो सके। १ जनवरी, १६४६ को यह कानून लागू हो गया तथा बैंक की पूँजी के सारे हिस्सों को केन्द्रीय बैंक द्वारा हस्तान्तरित समझा गया।

हिस्सेदारों की १०० रुपये की प्राप्त हिस्सा-पूँजी पर ११८ रुपये १० आने का मुआवजा देने की व्यवस्था की गई। यह मुआवजा अंशतः तो ३ प्रतिशत वार्षिक सूद वाले ऋण-पत्र तथा अंशतः नकद रकम के रूप में था। (मुआवजा की दर मार्च, १६४७ से फरवरी, १६४८ तक के हिस्से की औसत बाजार-दर पर आधारित थी।)

सामान्य अधीक्षण तथा संचालन का अधिकार केन्द्रीय परिषद को था जिसमें एक गवर्नर, दो डिप्टी गवर्नर तथा आठ संचालक होते थे। सरकार द्वारा नामजद ये आठ संचालक पहले की व्यवस्था के उन बारह संचालकों के बदले में होते थे जिनमें आठ निर्वाचित तथा चार नामजद होते थे।

५०. १६३६ के बाद भारतीय बैंकिंग—द्वितीय महायुद्ध के विस्फोट तथा दिसम्बर, १६४१ में जापानी युद्ध के प्रारम्भ होने के तुरन्त बाद ही भय के कारण जनता बैंकों से अपना रुपया वापस करने लगी, पर थोड़े ही दिनों के बाद जनता ने इस त्रास की निरर्थकता को महसूस कर लिया और अपने को युद्ध की परिस्थिति के अनुकूल बनाने में समर्थ हो गई। तब शीघ्र ही निक्षेप भी बैंकों में लौटने लगे।[1] हम यह कह सकते हैं कि भारतीय बैंकिंग प्रणाली ने लड़ाई के प्रथम प्रहार को अच्छी तरह से झेला। अतः लड़ाई तथा तत्कालीन ऊँची कीमतों के कारण वस्तुओं के बाजार, स्टाक एक्सचेन्ज तथा चाँदी के बाजार की रुपये की बढ़ती हुई माँग की पूर्ति हेतु पेशगी के विस्तार के कारण निक्षेप भी निरन्तर बढ़ता ही गया।[2] युद्धकालीन भारतीय

१६५२ में रिज़र्व बैंक ने अनुसूचित बैंकों को उनके प्रपत्रों के आधार पर दर्शनी-ऋण देने की घोषणा की। प्रपत्रों के साथ आवेदक बैंक के ग्राहकों के ऐसे विनिमय-पत्र या प्रपत्र का होना अनिवार्य था जो व्यापारिक या व्यावसायिक कार्यों के लिए निर्मित किये गए हों और ६० दिन में पकते हों। ऐसे ऋण पर रिजर्व बैंक बैंक-दर से ½% कम ब्याज़-दर रखेगा और स्टाम्प-ड्यूटी का आधा अंश भी स्वयं वहन करेगा। उस समय यह सुविधा केवल उन अनुसूचित बैंकों को दी गई जो कम-से-कम एक लाख रुपये का ऐसा ऋण माँगें तथा जिनके निक्षेप दस करोड़ रुपए हों। कालान्तर में जनता की मांग तथा श्रॉफ समिति की सिफारिश पर रिज़र्व बैंक ने यह सुविधा सभी लाइसेंस-प्राप्त अनुसूचित बैंकों को दी है और प्रत्येक ऐसे ऋण की निम्नतम सीमा तथा प्रत्येक बैंक को दिये ऐसे ऋणों की निम्नतम सीमा घटाकर क्रमशः ५०,००० रु० तथा १० लाख रुपए कर दी है। मई, १६५५ में ऐसे ऋण का शेष ३० करोड़ रुपया था जो अब तक अधिकतम है। नवम्बर, १६५४ में ऐसा ऋण ११० करोड़ रुपया था।

१. डाकखानों के निक्षेप तथा कैश सर्टिफिकेट का विचार पहले ही किया जा चुका है (सेक्शन २२)।

२. देखिए, 'ईस्टर्न इकनामिस्ट', १५ सितम्बर, १६४४ का बैंकिंग विशेषांक।

रिजर्व बैंक उन्हें अधिक सहायता प्रदान कर सकता है।[1] रिजर्व बैंक का कथन था कि यह अपेक्षा करना उचित नहीं कि प्रारम्भिक तीन वर्ष के अल्प समय में ही बैंक कोई अन्तिम योजना प्रस्तुत करने में समर्थ होगा। अतः वह निरन्तर कृषि-साख सम्बन्धी प्रमुख समस्याओं पर ही ध्यान दे रहा है।

४८. रिज़र्व बैंक ऑफ़ इण्डिया कार्यरूप में—१ अप्रैल, १९३५ को रिजर्व बैंक ऑफ़ इण्डिया का उद्घाटन हुआ और बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली, मद्रास तथा रंगून में इसके कार्यालयों की स्थापना हुई। बाद में कानून द्वारा विधित लन्दन में भी एक शाखा खोलने की व्यवस्था की गई।

रिजर्व बैंक ऑफ़ इण्डिया का वस्तुतः कार्यरूप में परिणत होना उसके इस दावे को न्यायसंगत सिद्ध करता है कि उसने वित्तीय स्थायित्व, बैंक-सम्बन्धी सुधार तथा द्रव्य-बाजार के विस्तार तथा अभिनवकरण के नये युग का उद्घाटन किया। इसने कम दर की सूद पर केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों के लिए ऋण की व्यवस्था करने, भारत-सचिव को रुपया भेजने, सरकारी हुंडी का विक्रय करने तथा रुपये का स्थायित्व कायम रखने में सहायता की है। इसने बैंकिंग कम्पनी से सम्बन्धित नये विधानों को इण्डियन कम्पनीज़ एक्ट में समावेश करने के सम्बन्ध में बहुमूल्य राय दी तथा भारतवर्ष में बैंक एक्ट बनाने का लाभकारी प्रस्ताव १९३९ में रखा। इसने देश के अन्तर्गत रुपया भेजने की सस्ती सुविधा दी है तथा व्याज की दर कम करने में सहायता की है। देश में बैंक की सुविधा के विस्तार के लिए भी इसने अप्रत्यक्ष रूप से प्रोत्साहन दिया है।

इसने केवल अनुसूचित बैंकों, जो विधिवत् सदस्य-बैंक हैं, के ही साथ लाभकर सम्पर्क स्थापित नहीं किया बल्कि अगणित छोटे-छोटे गैर-अनुसूचित बैंकों के साथ भी द्रव्य तथा साख के अधिकारी की हैसियत से विगत युद्धकाल में अनेक कठिनाइयों को बड़ी चतुरतापूर्वक झेलकर द्रव्य-बाजार मे स्थिरता लाने में योगदान दिया। "यह स्पष्ट है कि रिजर्व बैंक व्याज-दर की उन मौसमी विभिन्नताओं को दूर करने में अत्यधिक हिस्सा लेता रहा है, जिनका भारतवर्ष के भविष्य की आर्थिक स्थिति पर बहुत ही प्रभाव पड़ता।"[2] इसने कृषि-साख तथा सहकारी आन्दोलन के अध्ययन के सम्बन्ध में बहुत काम किया है और ग्रामीण साख-संगठन सम्बन्धी अनेक त्रुटियों को दूर करने के सम्बन्ध में भी बहुमूल्य सुझाव दिये हैं।

पर इसके द्वारा अनुसूचित तथा प्रान्तीय सहकारी बैंकों के लिए बट्टा की गई हुंडियों की तुच्छ निधि से यह स्पष्ट है कि इसने भारत में हुंडी के बाजार को विकसित करने की आशा को पूरा नहीं किया। इसके अतिरिक्त रिजर्व बैंक ने अभी तक देशी साहूकारों को अपने साथ सम्बद्ध करने, हुंडी के बाजार को पर्याप्त उन्नत बनाने[3] तथा भारतीय द्रव्य-बाजार के दोनों प्रमुख हिस्सों को एकरूपता प्रदान करने

१. यह प्रश्न प्रथम खण्ड के १०वें अध्याय में विस्तार से दिया गया है।
२. मुरंजन, 'मॉडर्न बैंकिंग इन इंडिया', प्रथम संस्करण, पृष्ठ २८५।
३. इस सम्बन्ध में पिछले चार वर्ष में रिजर्व बैंक ने कुछ उल्लेखनीय कार्य किया है। जनवरी

ालता प्राप्त नहीं की।

रेज़र्व वैंक ऑफ़ इंडिया (सार्वजनिक स्वामित्व का हस्तान्तरण) एक्ट १९४८—ो राज्य-अधिकृत संस्था का रूप देने के सरकारी निर्णय को कार्य-रूप में परिणत के उद्देश्य से इस अधिनियम को पारित किया गया, जिससे इसके कार्यों का ारण सार्वजनिक हित के लिए किया जा सके तथा द्रव्य-सम्बन्धी, आर्थिक एवं ा नीति के बीच समन्वय स्थापित हो सके। १ जनवरी, १९४९ को यह कानून ो गया तथा वैंक की पूँजी के सारे हिस्सों को केन्द्रीय वैंक द्वारा हस्तान्तरित ा गया।

हिस्सेदारों की १०० रुपये की प्राप्त हिस्सा-पूँजी पर ११८ रुपये १० आने आवजा देने की व्यवस्था की गई। यह मुआवजा अंशतः तो ३ प्रतिशत वार्षिक ाले ऋण-पत्र तथा अंशतः नकद रकम के रूप में था। (मुआवजा की दर मार्च, ७ से फरवरी, १९४८ तक के हिस्से की औसत बाजार-दर पर आधारित थी।)

सामान्य अधीक्षण तथा संचालन का अधिकार केन्द्रीय परिषद को था जिसमें वर्नर, दो डिप्टी गवर्नर तथा आठ संचालक होते थे। सरकार द्वारा नामजद ठ संचालक पहले की व्यवस्था के उन वारह संचालकों के बदले में होते थे जिनमें निर्वाचित तथा चार नामजद होते थे।

१९३९ के बाद भारतीय बैंकिंग—द्वितीय महायुद्ध के विस्फोट तथा दिसम्बर, १ में जापानी युद्ध के प्रारम्भ होने के तुरन्त बाद ही भय के कारण जनता से अपना रुपया वापस करने लगी, पर थोड़े ही दिनों के बाद जनता ने इस त्रास नरर्थकता को महसूस कर लिया और अपने को युद्ध की परिस्थिति के अनुकूल ं में समर्थ हो गई। तव शीघ्र ही निक्षेप भी वैंकों में लौटने लगे।[1] हम यह कह सकते भारतीय वैंकिंग प्रणाली ने लड़ाई के प्रथम प्रहार को अच्छी तरह से झेला। लड़ाई तथा तत्कालीन ऊँची कीमतों के कारण वस्तुओं के बाजार, स्टाक चेञ्ज तथा चाँदी के बाजार की रुपये की बढ़ती हुई माँग की पूर्ति हेतु पेशगी स्तार के कारण निक्षेप भी निरन्तर बढ़ता ही गया।[2] युद्धकालीन भारतीय

२ में रिज़र्व वैंक ने अनुसूचित वैंकों को उनके प्रपत्रों के आधार पर दर्शनी-ऋण देने की घोषणा प्रपत्रों के साथ आवेदक वैंक के ग्राहकों के ऐसे विनिमय-पत्र या प्रपत्र का होना अनिवार्य था जो रिक या व्यावसायिक कार्यों के लिए निर्मित किये गए हों और ९० दिन में पकते हों। ऐसे पर रिजर्व वैंक वैंक-दर से ½% कम व्याज़-दर रखेगा और स्टाम्प-डयूटी का आधा अंश भी स्वयं करेगा। उस समय यह सुविधा केवल उन अनुसूचित वैंकों को दी गई जो कम-से-कम एक लाख का ऐसा ऋण माँगें तथा जिनके निक्षेप दस करोड़ रुपए हों। कालान्तर में जनता की मांग तथा समिति की सिफारिश पर रिज़र्व वैंक ने यह सुविधा सभी लाइसेंस-प्राप्त अनुसूचित वैंकों को दी है त्येक ऐसे ऋण की निम्नतम सीमा तथा प्रत्येक वैंक को दिये ऐसे ऋणों की निम्नतम सीमा घटा-मशः ५०,००० रु० तथा १० लाख रुपए कर दी है। मई, १९५५ में ऐसे ऋण का शेष ३० करोड़ था जो अव तक अधिकतम है। नवम्बर, १९५४ में ऐसा ऋण ११० करोड़ रुपया था।

ाकखानों के निक्षेप तथा कैश सर्टिफिकेट का विचार पहले ही किया जा चुका है (सेक्शन २२)।

ेखिए, 'ईस्टर्न इकनामिस्ट', १५ सितम्बर, १९४४ का वैंकिंग विशेषांक।

वैंकों में निक्षेपों की अत्यधिक वृद्धि सबसे विशेष बात रही है। १९३९ में अनुसूचित वैंकों का निक्षेप-दायित्व २४९.४५ करोड़ रुपये का था, पर जुलाई १९४४ के अन्त तक यह बढ़कर ७५९.२९ करोड़ रुपये हो गया। इसके दो मुख्य कारण हैं—वैंकिंग तथा राजस्व का घनिष्ठ सम्बन्ध तथा लड़ाई के कारण मुद्रा-प्रसार, जो साख को और भी अधिक बढ़ाने में सहायक होता है। नीचे दी गई सारिणी में वैंक के निक्षेप तथा नोट के जारी होने का सम्बन्ध स्पष्ट है।

	करोड़ रुपये	
	जारी हुए नोट	निक्षेप
अगस्त १९३८	२१६'७९	२४९.४५
मार्च १९४०	२५२'२१	२५९.२६
मार्च १९४१	२६९'२५	२८४.६४
अक्टूबर १९४१	३०७'३९	३३२.६६
मार्च १९४२	४२१'०६	३२२.१६
,, १९४३	६५५'११	४९३.६०
,, १९४४	८९१'७८	६८८.६५

यह भी विशेष उल्लेखनीय है कि अवधि-निक्षेप (टाइम डिपाज़िट) की अपेक्षा माँग-निक्षेप में अधिक वृद्धि हुई। सितम्बर, १९३९ से सितम्बर, १९४४ तक माँग-निक्षेप १३३ करोड़ रुपये से ५७८ करोड़ रुपये तक बढ़ा, परन्तु अवधि-निक्षेप १०२ करोड़ रुपये से केवल १८६ करोड़ रुपये तक ही बढ़ा। इसका कारण था जन-साधारण द्वारा तरलता को अधिमान दिया जाना। वे अपना रुपया पूँजी-रूप में न लगाकर लाभदायक विनियोग के अवसर आने की प्रतीक्षा कर रहे थे।

माँग-दायित्व के अपेक्षाकृत बढ़ जाने के कारण वैंक अपनी स्थिति को अधिकाधिक तरल रख रहे थे। पेशगी तथा हुंडियाँ (जो वैंक के आदेय के लाभकारी मद हैं) तो बढ़ रही थीं, पर कुल निक्षेप में उनका प्रतिशत १९३९ में ५३ था जो १९४४ में केवल ३० रह गया। इसके दो मुख्य कारण थे—युद्ध के समय में व्यावसायिक विनियोग का अवसर कम हो गया[1] तथा वैंकों ने अपनी रकम को युद्ध-ऋण (वार लोन्स) में लगा दिया। उपर्युक्त अधिक तरलता की इच्छा ने ही सरकारी प्रतिभूतियों में रुपया लगाने की प्रेरणा दी। हिस्सा-पूँजी तथा रक्षित कोष की रकम भी बढ़ी पर वह निक्षेप जितनी न बढ़ सकी। १९४५ के मध्य से, जबकि युद्ध का अन्त समीप ही था, माँग तथा अवधि-दायित्व का असम अनुपात स्वयं ही ठीक होने लगा।

१. विनियोग अवसरों के ह्रास के निम्नलिखित कारण हैं—(१) आयात तथा निर्यात पर नियन्त्रण होना, जो उत्पादन के परिवहन में बाधा डालता है; (२) व्यापारियों के पास काफी द्रव्य का इकट्ठा हो जाना, जिसके कारण वे बैंक का आश्रय न लेकर स्वयं ही वित्त-विनियोग कर लेते हैं; (३) युद्ध-सामग्री उत्पादन करने वाले उद्योगों को सरकार द्वारा अचल तथा कार्यशील पूंजी पेशगी देने की नीति का अपनाया जाना; (४) सट्टेबाज़ी को रोकने के उद्देश्य से अपनाये गए सरकारी उपाय, जैसे अन्न और सोना-चांदी की जमानत पर पेशगी देने का अध्यादेश द्वारा निषेध करना।

१९४६-४७ में पिछले वर्ष के समान माँग-निक्षेप की अपेक्षा अवधि-निक्षेप अधिक तेजी से केवल बढ़े ही नहीं बल्कि जिस समय माँग-निक्षेप में कम होने की प्रवृत्ति थी उस समय भी अवधि-निक्षेप बढ़े। इससे स्पष्ट था कि जनता के तरलता-अधिमान (लिक्विडिटी प्रेफरेन्स) में ह्रास होने लगा तथा निक्षेप का ढांचा युद्ध-पूर्व की स्थिति के समान बदल रहा था।[1]

युद्धकाल की प्रगति के सम्बन्ध में दूसरा उल्लेखनीय विषय यह है कि १९४३ और १९४४ में बैंक के कार्यालयों में अत्यधिक वृद्धि हुई। जून, १९४४ में समाप्त होने वाले अठारह महीनों में ६८८ कार्यालय बढ़े। दिसम्बर १९४३ में समाप्त होने वाले तीन महीनों में १६० की वृद्धि हुई, जबकि १९४४ के प्रथम तीन महीनों में यह वृद्धि केवल १५६ ही थी। तत्पश्चात् वृद्धि-दर घटती ही गई तथा १५ सितम्बर, १९४४ तक १०० नये बैंक-ऑफिस स्थापित किये गए। इस काल की तीव्र वृद्धि का कारण यह है कि केवल इन्हीं दो वर्षों में द्रव्य का विस्तार पूर्ण वेग से हुआ तथा बैंकों को अपना विस्तार करने की प्रेरणा प्राप्त हुई।

वास्तव में यह सारी वृद्धि अनुसूचित बैंकों में ही हुई। सबसे अधिक आश्चर्य-जनक उन्नति भारत बैंक की हुई, जिसका प्रारम्भ १९४२ में हुआ। १९४२ में इसके ६ कार्यालय, नवम्बर १९४३ में १०१ तथा मार्च १९४४ में १८६ कार्यालय थे। निक्षेपों की अत्यधिक वृद्धि के परिणामस्वरूप प्रत्येक कार्यालय के साधन की औसत रकम में वृद्धि तो हुई ही है, पर इन निक्षेपों का अधिकांश भाग इम्पीरियल बैंक तथा बड़े-बड़े अनुसूचित बैंकों, विशेषतः 'पाँच बड़े' बैंकों—इलाहाबाद बैंक, सेण्ट्रल बैंक ऑफ इंडिया, बैंक आफ बड़ौदा, बैंक ऑफ इण्डिया तथा पंजाब नेशनल बैंक—के पास चला गया है। छोटे-छोटे बैंकों ने नई शाखाओं की स्थापना अपने साधनों की समानान्तर वृद्धि किये बिना ही कर ली है। यह उनकी कमजोरी का एक कारण है। छोटे-छोटे शहरों की उपेक्षा कर बड़े शहरों में नये कार्यालयों की स्थापना की भी प्रवृत्ति बढ़ रही है, जिसका नतीजा अत्यधिक स्पर्धा तथा देश-भर में बैंकिंग के असम विकास के रूप में स्पष्ट है।

१९१४-१८ के युद्ध की तरह द्वितीय विश्व-युद्ध में द्रव्य-सम्बन्धी स्थिति तंग तथा बैंक-दर ऊँची नहीं हुई। व्याज की दर पर कठोर नियंत्रण युद्ध के खर्च को पूरा करने की नई शैली रही है तथा इसकी सफलता इसी से सिद्ध हो जाती है कि अत्यधिक बढ़े सार्वजनिक व्यय तथा सरकार द्वारा अत्यधिक उधार लेने की अपेक्षा होते हुए भी ब्रिटेन तथा भारत के द्रव्य-सम्बन्धी अधिकारी व्याज की दर को कम बनाये रहे हैं। अगस्त, १९३९ के अन्त में, जब बैंक ऑफ इंगलैण्ड की बट्टा-दर २ से ४ कर दी गई तो यह शंका की जाने लगी कि भारत में भी अधिकारी-गण इसका अनुसरण करेंगे तथा महाजन लोग व्याज-दर के सम्बन्ध में सावधानी का भाव प्रकट करेंगे। परिणामस्वरूप व्याज-दर कुछ बढ़ गई। पर जब से २५ अक्टूबर, १९३९ को बैंक ऑफ इंगलैण्ड की दर पुनः २ प्रतिशत कर दी

१. देखिए, 'रिपोर्ट आन करेंसी एण्ड फिनान्स' (१९४६-४७), पृष्ठ १०२।

बैंकों में निक्षेपों की अत्यधिक वृद्धि सबसे विशेष बात रही है। १६३६ में अनुसूचित बैंकों का निक्षेप-दायित्व २४६.४५ करोड़ रुपये का था, पर जुलाई १६४४ के अन्त तक यह बढ़कर ७५६.२६ करोड़ रुपये हो गया। इसके दो मुख्य कारण हैं—बैंकिंग तथा राजस्व का घनिष्ठ सम्बन्ध तथा लड़ाई के कारण मुद्रा-प्रसार, जो साख को और भी अधिक बढ़ाने में सहायक होता है। नीचे दी गई सारिणी में बैंक के निक्षेप तथा नोट के जारी होने का सम्बन्ध स्पष्ट है।

	करोड़ रुपये	
	जारी हुए नोट	निक्षेप
अगस्त १६३८	२१६·७६	२४६.४५
मार्च १६४०	२५२·२१	२५६.२६
मार्च १६४१	२६६·२५	२८४.६४
अक्टूबर १६४१	३०७·३६	३३२.६६
मार्च १६४२	४२१·०६	३२२.१६
,, १६४३	६५५·११	४६३.६०
,, १६४४	८६१·७८	६८८.६५

यह भी विशेष उल्लेखनीय है कि अवधि-निक्षेप (टाइम डिपाजिट) की अपेक्षा माँग-निक्षेप में अधिक वृद्धि हुई। सितम्बर, १६३६ से सितम्बर, १६४४ तक माँग-निक्षेप १३३ करोड़ रुपये से ५७८ करोड़ रुपये तक बढ़ा, परन्तु अवधि-निक्षेप १०२ करोड़ रुपये से केवल १८६ करोड़ रुपये तक ही बढ़ा। इसका कारण था जन-साधारण द्वारा तरलता को अधिमान दिया जाना। वे अपना रुपया पूँजी-रूप में न लगाकर लाभदायक विनियोग के अवसर आने की प्रतीक्षा कर रहे थे।

माँग-दायित्व के अपेक्षाकृत बढ़ जाने के कारण बैंक अपनी स्थिति को अधिकाधिक तरल रख रहे थे। पेशगी तथा हुंडियाँ (जो बैंक के आदेय के लाभकारी मद हैं) तो बढ़ रही थीं, पर कुल निक्षेप में उनका प्रतिशत १६३६ में ५३ था जो १६४४ में केवल ३० रह गया। इसके दो मुख्य कारण थे—युद्ध के समय में व्यावसायिक विनियोग का अवसर कम हो गया[1] तथा बैंकों ने अपनी रकम को युद्ध-ऋण (वार लोन्स) में लगा दिया। उपर्युक्त अधिक तरलता की इच्छा ने ही सरकारी प्रतिभूतियों में रुपया लगाने की प्रेरणा दी। हिस्सा-पूँजी तथा रक्षित कोष की रकम भी बढ़ी पर वह निक्षेप जितनी न बढ़ सकी। १६४५ के मध्य से, जबकि युद्ध का अन्त समीप ही था, माँग तथा अवधि-दायित्व का असम अनुपात स्वयं ही ठीक होने लगा।

१. विनियोग अवसरों के ह्रास के निम्नलिखित कारण हैं—(१) आयात तथा निर्यात पर नियन्त्रण होना, जो उत्पादन के परिवहन में बाधा डालता है; (२) व्यापारियों के पास काफी द्रव्य का इकट्ठा हो जाना, जिसके कारण वे बैंक का आश्रय न लेकर स्वयं ही वित्त-विनियोग कर लेते हैं; (३) युद्ध-सामग्री उत्पादन करने वाले उद्योगों को सरकार द्वारा अचल तथा कार्यशील पूँजी पेशगी देने की नीति का अपनाया जाना; (४) सट्टेबाजी को रोकने के उद्देश्य से अपनाये गए सरकारी उपाय, जैसे अन्न और सोना-चाँदी की जमानत पर पेशगी देने का अध्यादेश द्वारा निषेध करना।

१९४६-४७ में पिछले वर्ष के समान माँग-निक्षेप की अपेक्षा अवधि-निक्षेप अधिक तेजी से केवल बढ़े ही नहीं बल्कि जिस समय माँग-निक्षेप में कम होने की प्रवृत्ति थी उस समय भी अवधि-निक्षेप बढ़े। इससे स्पष्ट था कि जनता के तरलता-अधिमान (लिक्विडिटी प्रेफरेन्स) में ह्रास होने लगा तथा निक्षेप का ढांचा युद्ध-पूर्व की स्थिति के समान बदल रहा था।[1]

युद्धकाल की प्रगति के सम्बन्ध में दूसरा उल्लेखनीय विषय यह है कि १९४३ और १९४४ में बैंक के कार्यालयों में अत्यधिक वृद्धि हुई। जून, १९४४ में समाप्त होने वाले अठारह महीनों में ६८८ कार्यालय बढ़े। दिसम्बर १९४३ में समाप्त होने वाले तीन महीनों में १९० की वृद्धि हुई, जबकि १९४४ के प्रथम तीन महीनों में यह वृद्धि केवल १५६ ही थी। तत्पश्चात् वृद्धि-दर घटती ही गई तथा १५ सितम्बर, १९४४ तक १०० नये बैंक-ऑफिस स्थापित किये गए। इस काल की तीव्र वृद्धि का कारण यह है कि केवल इन्हीं दो वर्षों में द्रव्य का विस्तार पूर्ण वेग से हुआ तथा बैंकों को अपना विस्तार करने की प्रेरणा प्राप्त हुई।

वास्तव में यह सारी वृद्धि अनुसूचित बैंकों में ही हुई। सबसे अधिक आश्चर्य-जनक उन्नति भारत बैंक की हुई, जिसका प्रारम्भ १९४२ में हुआ। १९४२ में इसके ६ कार्यालय, नवम्बर १९४३ में १०१ तथा मार्च १९४४ में १८६ कार्यालय थे। निक्षेपों की अत्यधिक वृद्धि के परिणामस्वरूप प्रत्येक कार्यालय के साधन की औसत रकम में वृद्धि तो हुई ही है, पर इन निक्षेपों का अधिकांश भाग इम्पीरियल बैंक तथा बड़े-बड़े अनुसूचित बैंकों, विशेषतः 'पाँच बड़े' बैंकों—इलाहाबाद बैंक, सेण्ट्रल बैंक ऑफ इंडिया, बैंक आफ बड़ौदा, बैंक ऑफ इण्डिया तथा पंजाब नेशनल बैंक—के पास चला गया हैं। छोटे-छोटे बैंकों ने नई शाखाओं की स्थापना अपने साधनों की समा-नान्तर वृद्धि किये बिना ही कर ली है। यह उनकी कमजोरी का एक कारण है। छोटे-छोटे शहरों की उपेक्षा कर बड़े शहरों में नये कार्यालयों की स्थापना की भी प्रवृत्ति बढ़ रही है, जिसका नतीजा अत्यधिक स्पर्धा तथा देश-भर में बैंकिंग के असम विकास के रूप में स्पष्ट हैं।

१९१४-१८ के युद्ध की तरह द्वितीय विश्व-युद्ध में द्रव्य-सम्बन्धी स्थिति तंग तथा बैंक-दर ऊँची नहीं हुई। व्याज की दर पर कठोर नियंत्रण युद्ध के खर्च को पूरा करने की नई शैली रही है तथा इसकी सफलता इसी से सिद्ध हो जाती है कि अत्यधिक बढ़े सार्वजनिक व्यय तथा सरकार द्वारा अत्यधिक उधार लेने की अपेक्षा होते हुए भी ब्रिटेन तथा भारत के द्रव्य-सम्बन्धी अधिकारी व्याज की दर को कम बनाये रहे हैं। अगस्त, १९३९ के अन्त में, जब बैंक ऑफ इंगलैण्ड की बट्टा-दर २ से ४ कर दी गई तो यह शंका की जाने लगी कि भारत में भी अधिकारी-गण इसका अनुसरण करेंगे तथा महाजन लोग व्याज-दर के सम्बन्ध में साव-धानी का भाव प्रकट करेंगे। परिणामस्वरूप व्याज-दर कुछ बढ़ गई। पर जब से २५ अक्टूबर, १९३९ को बैंक ऑफ इंगलैण्ड की दर पुनः २ प्रतिशत कर दी

१. देखिए, 'रिपोर्ट आन करेंसी एण्ड फिनान्स' (१९४६-४७), पृष्ठ १०२।

गई तथा स्टर्लिंग एवं ट्रेजरी-बिल क्रय करके रिजर्व बैंक ने मुद्रा-प्रसार किया (८वें तथा ९वें परिच्छेद में देखिए) द्रव्य-बाजार में तंगी नहीं आने पाई तथा बैंक-दर ३ प्रतिशत रह गया।

१९१४-१८ के सदृश विगत युद्ध ने भारतीय बैंकों के नकद कोप की स्थिति को अधिक सक्षम ही बनाया है। निकासी-गृह के माध्यम से होने वाले भुगतान का सन् १९३८-३९ में २०·०३ अरब रुपये से बढ़कर १९४४-४५ में ५६·१७ अरब रुपया हो जाना भी प्रगति का ही सूचक है। १९४५-४६ तथा १९४६-४७ के अंक क्रमशः ६५·४२ अरब रुपये तथा ७१·६८ अरब रुपये हैं।

यद्यपि विनिमय तथा निर्यात और आयात सम्बन्धी नियन्त्रणों के प्रयोग ने विनिमय-बैंकों पर बहुत ही बुरा प्रभाव डाला है तथा निक्षेपकगण कभी-कभी सशंक हो गए हैं, फिर भी हम यह कह सकते हैं कि भारतीय बैंकिंग पद्धति ने अत्यधिक जीवन-शक्ति दिखाई है तथा युद्ध ने साधारणतया इसे और भी सशक्त बनाया है।[1]

२१. औद्योगिक-वित्त—औद्योगिक वित्त की सुसंगठित पद्धति का अभाव भारत के आर्थिक ढाँचे की सबसे बड़ी कमी है। जर्मनी के बैंकों ने अपने देश के उद्योगों की आर्थिक आवश्यकता की पूर्ति में अत्यधिक योग दिया है। वे उद्योगों की प्रारंभिक पूँजी के अधिकांश भाग का बन्दोबस्त करते हैं, जिसे कालान्तर में विनियोग करने वालों से प्राप्त कर लेते हैं। जोखिम को आपस में बाँटने के उद्देश्य से अनेक बैंक अपने [illegible] (कोन्शोर्सियम) बना लेते तथा निर्गमित हिस्सों के कुछ अंश को लेने की प्रतिज्ञा करते हैं। पर औद्योगिक कम्पनियों के हिस्सों में बैंकों का यह विनियोग औद्योगिक बैंकों द्वारा किये विनियोग के सदृश दीर्घकालीन विनियोग नहीं है, बल्कि इसे बैंक के साधनों की प्रथम श्रेणी की प्रतिभूतियों के विनियोगों की भाँति सुरक्षित विनियोग समझा जाता है, जिसे बैंक अल्पकाल के लिए करते हैं। इन कार्यों से बैंकों को लाभ ही होता है, क्योंकि इस प्रकार उन्हें व्यावसायिक सम्बन्ध स्थापित करने तथा अपना प्रभाव बढ़ाने का अवसर मिलता है। नई पूँजी की प्राप्ति करने के लिए जर्मन औद्योगिक कम्पनियाँ सामान्यतः उन्हीं बैंकों से पूँजी की माँग करती हैं जिनके साथ उनका स्थायी बैंक-व्यवहार है। पर यह बात स्मरणीय है कि बैंक अपने साधनों का एक सीमित अंश ही औद्योगिक वित्त में लगाते हैं तथा उनका प्रधान

---

१. स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् भारतीय बैंकों की प्रगति में दो उल्लेखनीय परिवर्तन हुए हैं। देश-विभाजन के बाद बैंकों तथा उनकी शाखाओं की संख्या तथा उनके निक्षेपों में ह्रास हो रहा था, परन्तु १९५३ के पश्चात् दोनों ही में पुनः वृद्धि की प्रवृत्ति स्पष्ट है। १९५४ में यद्यपि बैंकों की संख्या में २३ की कमी हुई परन्तु शाखाओं को लेकर कुल बैंकों की संख्या में २२ की वृद्धि हुई। वृद्धि अधिक[illegible] अनुसूचित बैंकों में हुई थी। गैर-अनुसूचित बैंकों में तो ह्रास ही हुआ है। १९५४ में बैंकों में कुल निक्षेप १०६३ करोड़ रुपया था, जो दो साल पहले की अपेक्षा लगभग १०० करोड़ रुपया अधिक है। इस वर्ष प्रति साढ़े दस हजार व्यक्तियों के पीछे एक बैंक है। यह भी उल्लेखनीय है कि ५५% अनुसूचित बैंक तथा ३३% गैर अनुसूचित बैंक ५०,००० से अधिक जनसंख्या वाले नगरों में स्थित हैं। निश्चित पूँजी वाले बैंकों की विदेशों में १०७ शाखाएँ हैं।

कार्य बैंक का साधारण कारोबार करना ही होता है।[1] केन्द्रीय अधिकोष खोज समिति के अनुसार मैनेजिंग एजेन्सी पद्धति को समाप्त कर देना चाहिए तथा भावी उन्नति के लिए औद्योगिक कम्पनियों तथा व्यावसायिक बैंकों के बीच मित्रवत् सम्बन्ध स्थापित करने की आशा रखनी चाहिए। समिति ने जर्मन पद्धति को यथोचित संशोधनों के पश्चात् अपना लेने का स्वागत किया तथा यह सुझाव रखा कि इस दिशा में इम्पीरियल बैंक तथा अन्य ख्याति-प्राप्त व्यापारिक बैंक कार्य का श्रीगणेश करें। इस कार्य में अत्यधिक अनुभव तथा विवेक के अतिरिक्त अधिक निजी पूँजी होनी चाहिए एवं प्रतिभूतियों के निर्गमन तथा विक्रय में सट्टेबाजी के प्रलोभन का संवरण करना आवश्यक है। ये गुण आज के थोड़े-से ही बैंकों के पास हैं।[2] अगर देश के प्रमुख बैंकों को उद्योगों के प्रति सच्चा तथा सहानुभूतिपूर्ण अनुराग हो तो इन कठिनाइयों के होते हुए उद्योगों को काफी वित्तीय सहायता दी जा सकती है। जर्मन नमूने का अनुकरण कुछ हद तक हम पारस्परिक विश्वास की सृष्टि करने के लिए कर सकते हैं, बशर्ते स्वस्थ बैंकिंग से असंगत उलझनों से बचे रहें। बैंकों के प्रबन्ध-संचालकों तथा प्रबन्धकों की सम्बन्धित उद्योगों के संचालकों के रूप में नियुक्ति करके बैंकों तथा उनसे सहायता पाने वाले उद्योगों के बीच उपयोगी सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं। बैंक स्थानीय परामर्शदात्री समितियाँ की भी स्थापना इस उद्देश्य से कर सकते हैं कि वे उन्हें उनके ग्राहकों की वित्तीय स्थिति का अनुमान लगाने में सहायक हों तथा ग्राहकों को उचित तथा सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार का विश्वास दिला सकें।

उपर्युक्त व्यावसायिक बैंकों के सहयोग द्वारा निस्सन्देह ही बहुमूल्य परिणाम की आशा की जा सकती है, पर केवल इसी विधि द्वारा पर्याप्त औद्योगिक विकास की आवश्यकताओं की पूर्ति सम्भव नहीं है। अपने-अपने क्षेत्र में उद्योगों का विकास करना प्रादेशिक सरकारों का कार्य है। इन कार्यों को संतोषजनक ढंग से करने के लिए प्रादेशिक सरकार द्वारा प्रारम्भिक अवस्था में या स्थायी रूप से दी गई पूँजी के साथ प्रान्तीय औद्योगिक निगमों और उनकी शाखाओं की स्थापना उपयोगी सिद्ध हो सकती है। इन निगमों द्वारा विशेषतः उन उद्योगों को सहायता मिलनी चाहिए जो जनता के लिए लाभदायक हों, उस प्रदेश की उत्पाद-शक्ति बढ़ाएँ तथा

१. 'इण्डस्ट्रियल ऑर्गेनाइजेशन इन इण्डिया' के पृष्ठ २४१-४२ पर डॉ० पी० एस० लोकनाथन यूरोपीय श्रेणी के मिश्रित बैंकिंग के अनुकूल भारतीय व्यावसायिक बैंकिंग के निरूपण की कठिनाइयों को स्पष्ट करते हैं।

२. पी० बी० ह्वेल, जाइण्ट स्टाक बैंकिंग इन जर्मनी, पृष्ठ ३६-६६।

जर्मनी तथा अन्य देशों में उद्योगों की वित्तीय सहायता करने तथा उन्हें भारत में लागू करने की विधि के रोचक अध्ययन हेतु निम्नलिखित पुस्तकें सहायक हो सकती हैं—(१) पी० एस० लोकनाथन्-लिखित इण्डस्ट्रियल ऑर्गेनाइजेशन इन इण्डिया (१९३५), के पृष्ठ २४२-५०; (२) एन० दास-लिखित बैंकिंग एण्ड फिनान्स इन इण्डिया (१९३६), ९वाँ परिच्छेद; (३) एस० के० बसु-लिखित 'इण्डस्ट्रियल फिनान्स इन इण्डिया' (१९३९) परिच्छेद २-३।

जिनसे लोगों को रोजगार मिलें।[1]

अखिल भारतीय औद्योगिक निगम की आवश्यकता भी समझी जा रही है। राष्ट्रीय महत्त्व के कुछ ऐसे उद्योग हैं जिन्हें विकसित करने की जिम्मेवारी प्रान्तीय सरकारों की नहीं वरन् केन्द्रीय सरकार की समझी जानी चाहिए। इसके अतिरिक्त सम्भव है कि प्रादेशिक सरकारें स्वयं भी ऐसी अखिल भारतीय संस्था की आवश्यकता ठीक समझें जो केन्द्रीय सरकार के अत्यधिक व्ययी विभाग के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित करने के साथ-ही-साथ सरकार की रेलवे-दर, चुंगी, गोदामों के क्रय आदि से सम्बन्धित नीतियों तथा उद्योगों के बीच अनुबन्ध स्थापित करे। नवीन तथा होनहार आधुनिक या कुटीर-उद्योगों को साख की सुविधा प्रदान करने के उद्देश्य से मद्रास उद्योग-वित्तीय सहायता अधिनियम के अनुरूप ही दूसरे प्रान्तों में भी अधिनियम बनना चाहिए। जहाँ-कहीं भी प्रादेशिक औद्योगिक निगम की स्थापना हो गई हो वहाँ उपर्युक्त कानून से सम्बन्धित सरकार द्वारा दी जाने वाली वित्तीय सहायता निगम द्वारा ही दी जानी चाहिए।

५२. औद्योगिक वित्त निगम अधिनियम, १९४८—पार्लमेंट ने १३ फरवरी, १९४८ को औद्योगिक वित्त निगम अधिनियम को पारित किया। इस कानून के अनुसार १ जुलाई १९४८ को औद्योगिक वित्त निगम की स्थापना भारतवर्ष तथा विलयित देशी राज्यों में ऐसी मिश्रित पूँजी वाली रजिस्टर्ड कम्पनियों तथा सहकारी समितियों को मध्यम तथा दीर्घकालीन ऋण देने के लिए हुई जो वस्तुओं का उत्पादन करने, खान खोदने तथा विद्युत् या किसी अन्य प्रकार की शक्ति को पैदा करने या बाँटने के कार्य से सम्बद्ध हों। इस अधिनियम का मुख्य उद्देश्य औद्योगिक धंधों को आज की अपेक्षा अधिक आसानी से मध्यम तथा दीर्घकालीन साख को उपलब्ध बनाना है। कॉर्पोरेशन की हिस्सा-पूँजी १० करोड़ रुपये की है, परन्तु अभी ५ करोड़ रुपया प्राप्त हिस्सा-पूँजी के रूप में है। इस १० करोड़ रुपयों में से १ करोड़ केन्द्रीय सरकार, १ करोड़ रिज़र्व बैंक, ३½ करोड़ अनुसूचित बैंक, बीमा कम्पनियों, विनियोग ट्रस्टों आदि तथा ½ करोड़ सहकारी बैंकों द्वारा प्रदान किया गया। जरूरत के समय शेष पूँजी को सरकार की अनुमति के अनुसार निर्गमित किया जायगा। केन्द्रीय सरकार ने पूँजी के लौटाने तथा आय कर से मुक्त कम-से-कम २½% लाभांश देने की गारंटी दी है। इस निगम पर सरकार तथा रिज़र्व बैंक, इम्पीरियल बैंक,[2] अनुसूचित बैंक, बीमा कम्पनियों आदि का स्वामित्व रहेगा। इसके हिस्से का ४० प्रतिशत सरकार तथा रिज़र्व बैंक के हाथ में तथा १० प्रतिशत सहकारी बैंकों के हाथ में रहेगा। इसमें सरकारें, रिज़र्व बैंक (१ जनवरी, १९४९ को इसका राष्ट्रीयकरण हो गया) तथा इम्पीरियल बैंक के हिस्से का योग कुल हिस्सों का ५२ प्रतिशत होगा

---

१. डॉ० लोकनाथन् ने प्रान्तीय बैंकों को सब कोटि के उद्योगों को आर्थिक सहायता देने की स्वतन्त्रता से उत्पन्न होने वाले खतरों को स्पष्ट करते हुए यह सुझाव दिया है कि वे केवल सार्वजनिक सेवा-उद्योगों को ही आर्थिक सहायता दें। देखिए, वही, पृष्ठ २६८।

२. यह अब स्टेट बैंक ऑफ इंडिया है और सरकारी अधिनियम से बँधा है।

जिससे इस पर सरकारी नियंत्रण का होना निश्चित-सा हो जाता है। सरकार नीति के रूप में जो भी आज्ञा देती है निगम के लिए उसका पालन करना आवश्यक है। इन सब नियंत्रणों का उद्देश्य है निगम को व्यक्तियों तथा गुटबन्दी द्वारा शोषण से बचाना।[1]

निगम का प्रबन्ध १२ सदस्यों की एक समिति को सौंप दिया गया है, जिसमें मैनेजिंग डाइरेक्टर भी सम्मिलित है। इन सदस्यों में चार केन्द्रीय सरकार द्वारा मनोनीत होते हैं, दो रिज़र्व बैंक द्वारा और शेष का चुनाव साझीदार स्वयं करते हैं। कार्पोरेशन को अपनी प्रदत्त-पूँजी व सुरक्षा-कोष की पाँच गुनी रक़म तक ऋण लेने का अधिकार है। यह १० करोड़ रुपये तक के निक्षेप स्वीकार कर सकता है, किन्तु उसकी अवधि पाँच वर्ष से कम नहीं होनी चाहिए। ऋण केवल सीमित दायित्व वाली कम्पनियों और सहकारी समितियों को प्रदान किया जाता है, पर शर्त यह रहती है कि वे स्वयं अपने प्रयत्न द्वारा भी वांछित धन के एक उचित अनुपात की पूर्ति करें। ऋण देने के ढंगे ये हैं—(१) ऋण देकर या २५ वर्ष के अन्तर्गत चुकता होने वाले औद्योगिक संस्थाओं के ऐसे ऋण-पत्रों को खरीदकर, जो सुरक्षित हैं या जिनके साथ जायदाद आदि वस्तुएँ भी गिरवी समझी जाती हैं, (२) कम्पनी के हिस्से, स्टाक तथा विक्री-हेतु ऋणपत्रों की स्वयं गारंटी करके और (३) बाजार में बेचे जाने वाले २५वर्षीय ऋण की वापसी की गारंटी देकर।

निगम को प्रत्यक्ष रीति से कम्पनियों के स्टाक और हिस्से खरीदने का निषेध है। अतएव यह मूलतः उद्योगों को ऋण प्रदान करने वाली संस्था है, न कि उद्योगों की भागीदार। इसकी नीति अचल सम्पत्ति—भूमि, इमारतें, यन्त्र आदि—को प्राप्त करने के लिए वित्तीय योग देना है और इसीलिए यह व्यावसायिक बैंकों के कार्यों की पूरक है, उनकी प्रतियोगी नही। ऋण के प्रार्थना-पत्रों पर विचार करते समय इन बातों पर ध्यान रखा जाता है—(क) आवेदक कम्पनी की आर्थिक स्थिति, जो लेन-देन के चिट्ठों का अध्ययन करने और खातों की जाँच करने के उपरान्त प्रकट होती है, (ख) योजना की यांत्रिक दृढ़ता व व्यवस्था की कार्यकुशलता, और (ग) देश के आर्थिक ढांचे में उस उद्योग का महत्त्व। निगम को अधिकार है कि वह पूँजीगत वस्तुओं को प्राप्त करने की सुविधा के लिए कम्पनियों को आवश्यकतानुसार भारतीय या विदेशी मुद्रा में ऋण दे। यह देश की औद्योगिक प्रगति के लिए अन्तर्राष्ट्रीय बैंक या संयुक्त राज्य के आयात-निर्यात निगम से ऋण प्राप्त कराने के लिए मध्यस्थ के रूप में भी कार्य कर सकता है।

१. १९५२ में उक्त निगम के अधिनियम में संशोधनार्थ पेश विधेयक पर विचार करते समय निगम में पक्षपातपूर्ण नीति आदि की शिकायत होने पर भारत सरकार ने तत्सम्बन्धी खोज करने के लिए एक समिति बिठाई थी, जिसकी रिपोर्ट प्राप्त हो गई है और उसके द्वारा की गई सिफारिशों पर विचार करके भारत सरकार उपयुक्त सिफारिशों को कार्यान्वित कर रही है।

निगम आय-कर के दायित्व से मुक्त नहीं है।[1]

४३. संचय करने की प्रवृत्ति—यह कथन सर्वविदित है कि भारतवर्ष बहुमूल्य धातुओं का अतल कूप है। भारतवासियों की सोने-चाँदी के प्रति तथाकथित अमिट तृष्णा के सम्बन्ध में अत्यन्त चित्रमयता से यह कहा गया है कि 'एक कृष्णवर्ण जाति बहुमूल्य धातुओं का भूमि से उद्धार करती है और दूसरी उन्हें पुनः भूमि के भीतर दफ़ना देती

१. १९५५ तक कार्पोरेशन १२.७८ करोड़ रुपए उधार दे चुका था, जो इसकी कुल सम्पत्ति का ९४% है।

भारतीय राज्यों में प्रादेशिक वित्त निगमों के बन जाने के कारण यह निर्णय हुआ है कि (१) १० लाख रुपए और (२) अपने प्रदेश के वित्त निगम की प्राप्त पूँजी के दस प्रतिशत तक के ऋण के आवेदकों को औद्योगिक वित्त निगम ऋण न दे।

मार्च, १९५५ तक भारत के दस प्रदेशों में प्रादेशिक वित्त निगम बनाए जा चुके थे। १९५१ के अधिनियम के अनुसार ये निगम बांड तथा ऋणपत्र निर्गमित कर सकते हैं, कम्पनियों को गारण्टी दे सकते हैं तथा उनके ऋणपत्रों आदि की बिक्री की सुविधा भी दे सकते हैं, परन्तु ये सभी कार्य कुल निधि-रूप में निगम की प्राप्त पूँजी तथा सुरक्षित कोष के पाँच गुने से अधिक न हों। १९५४-५५ में निगमों ने १.९८ करोड़ रुपए का ऋण स्वीकार किया था, जिसमें से केवल १'२२ करोड़ रुपए के ऋण का उपयोग किया गया।

इसके अतिरिक्त तीन अन्य निगम अखिल भारतीय स्तर पर स्थापित किये गए हैं—

(१) राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम (१९५४) की स्वीकृत पूंजी १ करोड़ रु० तथा प्राप्त पूँजी १० लाख रु० है। निगम नियोजित विकास-हेतु उद्योगों को वित्तीय सहायता देगा। वह स्वयं भी उद्योग स्थापित कर सकता है तथा औद्योगिक योजना की जाँच भी। इस सम्बन्ध में वह वैयक्तिक औद्योगिक क्षेत्र में उपलब्ध औद्योगिक विशेषज्ञों के ज्ञान का पूर्ण लाभ उठाएगा। मुख्यतः यह पूँजीगत माल, यंत्रादि से सम्बन्धित उद्योगों को प्राथमिकता के साथ वित्तीय सहायता देगा। यह अपने हिस्से तथा ऋण-पत्र निर्गमित करके पूंजी प्राप्त कर सकता है।

(२) औद्योगिक साख तथा विनियोग-निगम (१९५५) की स्वीकृत पूंजी २५ करोड़ रु० थी तथा निर्गमित पूंजी ५ करोड़ रु० है, जिसमें से २ करोड़ रु० के हिस्से भारतीय बैंक तथा बीमा-कम्पनियों ने, १ करोड़ अंग्रेजी कम्पनियों ने, ०.५ करोड़ अमरीकी कम्पनियों ने तथा शेष भारतीय जनता ने लिये हैं। निगम इस बात का प्रयत्न करेगा कि इसके सदस्य विस्तृत क्षेत्र के हों। भारत सरकार पन्द्रह वर्ष बाद से अगले पंद्रह वर्षों में चुकाने की शर्त पर ७½ करोड़ रुपए का ऋण दे रही है। भारत सरकार की गारण्टी पर पुनर्निर्माण तथा विकासार्थ अन्तर्राष्ट्रीय बैंक ने भी १ करोड़ डालर का ऋण निगम को ४⅝% वार्षिक सूद की दर पर १५ वर्ष की अवधि के लिए देना स्वीकार किया है। निगम दीर्घ तथा मध्यमकालीन-ऋण देकर, ऋण की गारण्टी देकर, कम्पनियों के हिस्से आदि के बिक्री-कार्य को संभालकर तथा व्यवस्था, संचालन, यांत्रिक व्यवस्था सम्बन्धी राय तथा सुविधा देकर वैयक्तिक क्षेत्र में भारतीय उद्योगों के सृजन, प्रसार तथा आधुनीकरण हेतु भारतीय तथा विदेशी साहसियों को सहायता तथा प्रोत्साहन देगा और विनियोग बाजार का प्रसार करने में भी योग देगा।

(३) राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम (१९५५) की १० लाख रुपए की स्वीकृत पूंजी १०० रुपए वाले १०००० हिस्सों में बँटी है, जो पूर्णतः भारत सरकार ने प्रदान की है। भारत सरकार चालू पूंजी हेतु भी पर्याप्त निधि देगी। निगम पाँच लाख से कम पूंजी वाले शक्ति-चालित परन्तु ५० से कम श्रमिक वाले तथा बिना शक्ति-चालित और १०० तक श्रमिक वाले उद्योगों को सहायता, वित्त, संरक्षण तथा विज्ञान-योग देगा। वह उन्हें सरकारी मांग पूरा करने में सहायता देगा, मिले आर्डर को पूरा करने के लिए वित्तीय तथा टेक्निकल सहायता देगा और बड़ी मात्रा व लघु-उद्योगों के बीच कार्य का समन्वय करेगा, जिससे लघु उद्योगों में बड़े उद्योगों द्वारा प्रयुक्त माल व सामग्री मिल सके।

है।' यह भी कहा जाता है कि जो स्वर्ण भारत में सामान्य उपयोग के लिए पहुँच जाता है, वह शेष संसार के लिए सदैव के लिए लुप्त हो जाता है। दीर्घकाल तक यूरोपवासी भारत में बहुमूल्य धातुओं की निरन्तर खपत पर हर्ष, आश्चर्य और सन्तोष के साथ विचार करते थे। यदि भारत में सोने-चाँदी की इतनी अधिक खपत न हुई होती, तो इधर पिछले वर्षों में नई खानों के अन्वेषण और धातु निकालने की प्रणाली में सुधार हो जाने के फलस्वरूप सोने-चाँदी के उत्पादन में विपुलता आ जाने व मूल्यों में भारी वृद्धि हो जाने के कारण यूरोपीय देशों के आर्थिक जीवन में एक भीषण असन्तुलन आ जाता। किन्तु जब १९२४-२५ में इंगलैण्ड व यूरोप के अन्य देश अपनी मुद्राएँ स्थिर करने के लिए संघर्षरत थे, भारत यूरोप की आवश्यकताओं को तनिक भी ध्यान में न रखते हुए कम-से-कम ५० लाख पौंड के मूल्य का स्वर्ण एकत्र कर चुका था। तब यूरोपीय देशों ने अनुभव किया कि भारत संचय करने के अपने ढर्रे को पूरी सरगर्मी से जारी रखकर उनके मुद्रा स्थिर करने के प्रयास में भारी बाधा पहुँचा रहा है।[1]

भारत में इस संचित धन के सम्बन्ध में अनेक अनुमान लगाये गए हैं। कदाचित् सबसे पहला अनुमान श्री मेक्लायड (एच० डी०) का था। यह पहले अर्थशास्त्री थे जिनके मस्तिष्क में इस संचित धन के सम्बन्ध में जिज्ञासा उत्पन्न हुई। उनका विश्वास था कि यह ३०० लाख पौंड से कम नहीं होना चाहिए। लार्ड कर्ज़न का अनुमान था कि यह ८२५ करोड़ रुपये के निकट होगा, जबकि आर्नल्डराइट ने दिसम्बर १९१६ के फिनान्शियल रिव्यू ऑफ़ रिव्यूज़ में लिखते हुए उसे ७००० लाख पौंड ठहराया था। मि० ई० एल० प्राइस ने तो इसे एक अमरीकन ट्रेड कमिश्नर के अनुमान के आधार पर १०००० लाख पौंड ही मान लिया था। सर फ्रांसिस स्क्राइन का विचार था कि यह अनुमान भी कम है।[2] १९३८ में सर जेम्स ग्रिग ने १९३४-३५ में अंतर्राष्ट्रीय भुगतान बैंक की वार्षिक रिपोर्ट में दिये गए एक मोटे अनुमान का उल्लेख किया था, जिसके अनुसार १४९३ और १९३० के बीच भारत में संचित स्वर्ण कम-से-कम १४५४ करोड़ रुपये का रहा होगा। इस प्रकार प्रत्येक नये अनुमान-कर्त्ता के साथ गणना में एक निरन्तर ऊर्ध्वमुखी वृद्धि होती रही।

भारत के सोने व चाँदी के उपभोग की शिकायत करते हुए यूरोपीय लेखकों ने सारा दोष भारतवासियों के ही गले मढ़ दिया है और स्वर्ण के उपभोग[3] के सम्बन्ध में भारत को द्वेषपूर्ण दायित्व का दोषी करार करने के प्रयास के फलस्वरूप उत्तेजनापूर्ण प्रत्युत्तर तक नौबत आ पहुँची और दोषारोपित करने वालों के सिर भी

---

१. जब हम सितम्बर, १९३१ (जब १ रुपया १ शि० ६ पैं० के बराबर था) से जनवरी, १९४० के बीच के ३५१ करोड़ रुपये के सोने का भारत से निर्यात का ध्यान करते हैं, तो उपर्युक्त दलील में कोई जान नहीं दिखाई पड़ती। पीछे अध्याय ९, सेक्शन २२ देखिए। जिस समय भारत से इतनी बड़ी मात्रा में सोने का निर्यात हो रहा था, ठीक उसी समय संयुक्त राज्य अमरीका तथा अनेक यूरोपीय देशों में (विशेषतः फ्रांस में) इसका अत्यधिक संचय किया जा रहा था।

२. देखिए गब्बे, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ २३ और ३८।

३. सर स्टेनली रीड द्वारा बैबिंगटन स्मिथ समिति को दिया गया वक्तव्य।

दोष मढ़े गए। यह इंगित किया गया कि स्वर्ण-संचय करने का दुर्व्यसन केवल भारतीयों के साथ ही नहीं है। संयुक्त राज्य अमरीका में ही १९१६ से लेकर १९२३[1] के बीच लगभग ५० करोड़ पौण्ड का सोना खप गया और न्यूयार्क में द्रव्य के नाम पर स्वर्ण का ⅔ भाग से भी अधिक स्वर्ण सञ्चय करने के उपरान्त सञ्चय करने की वृत्ति को केवल भारतीय एकाधिकार नहीं कहा जा सकता। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इन केन्द्रों में स्वर्ण का अधिकांश भाग केन्द्रीय बैंक के सुरक्षा-कोष में एकत्र था। परन्तु यदि भारत में स्वर्ण का ऐसा उपयोग नहीं किया गया तो क्या इसका कारण यहाँ की दूषित मुद्रा-प्रणाली (स्वर्ण-विनिमय-मान) को, जो यहाँ पर्याप्त समय तक चलन में रही, आंशिक रूप से नहीं है? जो लोग भारत के सञ्चय पर खेद प्रकट करते हैं, सामान्यतः वे यह भूल जाते हैं कि यहाँ की खपत में आने वाले स्वर्ण के एक अंश का उपयोग औद्योगिक और घरेलू आवश्यकताओं के लिए भी होता रहा है। सर स्टेनली रीड का ऐसा ही विचार है—'संसार का प्रत्येक देश सोने-चाँदी का औद्योगिक और घरेलू कार्यों के लिए उपयोग करता है और यह तो सरासर अन्याय लगता है कि भारत की ठीक वैसे ही उद्देश्य के लिए की गई बहुमूल्य धातुओं की माँग को व्यर्थ ही सञ्चय-वृत्ति के रूप में देखा जाता है। यह तथ्य ध्यान में रखते हुए कि भारत की जनसंख्या संसार की समस्त जनसंख्या का पञ्चमांश है, उसके द्वारा संसार के स्वर्ण-उत्पादन के २० प्रतिशत अंश का वार्षिक उपयोग अनुपातशून्य या अधिक तो नहीं कहा जा सकता[2] और उसे अन्य देशों द्वारा अनुभव होने वाली बहुमूल्य धातुओं की कमी के लिए विशिष्ट रूप से उत्तरदायी ठहराना न्यायसंगत नहीं है।[3]

जब इन सभी तथ्यों को ध्यान में रखकर एक बार यह स्वीकार कर लिया गया कि सोने-चाँदी के लिए भारत की माँग असामान्य नहीं है, तो दूसरे देशों की मुद्रा की स्थिरता में उत्पन्न होने वाली बाधाओं के विशिष्ट दायित्व से भारत को बरी कर दिया गया। यदि भारत की बहुमूल्य धातुओं की उचित माँग दूसरे देशों के लिए चिन्तनीय थी, तो वे ऐसी मुद्रा-प्रणाली का आविष्कार कर लेते थे, जो भूतकाल की अपेक्षा स्वर्ण पर कम निर्भर रहती।

जो कुछ भी ऊपर कहा गया है उसका उद्देश्य यही प्रदर्शित करना था कि

१. वाडिया और जोशी, 'दि वेल्थ ऑफ इण्डिया', पृष्ठ ३८८-८९।

२. इस देश के अत्यधिक स्वर्ण-आयात को न्यायसंगत ठहराने के लिए यह कहा जाता था कि चूँकि विदेशों में हमारी चीजों का उपभोग अधिक है अतः हमारे आयात-निर्यात का अन्तर पक्ष में होकर स्वर्ण-आयात में सहायक होता है। पर असल में इस दलील का कोई मूल्य नहीं, क्योंकि विदेशी राष्ट्र हमारी चीजों को खरीदने के जितने इच्छुक हैं उससे कम इच्छुक हम बेचने को नहीं। अतः अगर हमारा पावना सोने के ही रूप में हमें प्राप्त होता है तो उसका एकमात्र अर्थ यही है कि हम और चीजों की अपेक्षा सोने को ही अधिक प्रश्रय देते हैं।

३. जैसा कि ऊपर ही बताया जा चुका है कि हाल में अमरीका एवं फ्रांस के प्रति यह विरोध प्रदर्शित किया गया है कि वे संसार-भर के सोने के वार्षिक उत्पादन के अधिक अंश का उपयोग साख तथा मुद्रा बनाने के कार्य के बजाय उसे केन्द्रीय संस्थाओं में रखकर अनुत्पादक बना देते हैं।

भारत में सञ्चय की मात्रा के सम्बन्ध में अत्युक्तिपूर्ण उल्लेख हुए हैं। हाँ, सञ्चय के अस्तित्व से बिलकुल इन्कार करना तो सत्य की उपेक्षा करना होगा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मुद्रा के अतिरिक्त अन्य उपयोगों में स्वर्ण की भारी खपत होती है और सञ्चय द्वारा जड़ (अचल) बनी बहुमूल्य धातु की वर्तमान राशि पर्याप्त विपुल होगी।

यह कहना कठिन होगा कि यह प्रवृत्ति धन और सम्पन्नता की परिचायक है। अधिकांशत: यह सञ्चित धन लाखों पृथक्-पृथक् व्यक्तियों के पास छोटी-छोटी राशियों में बिखरा पड़ा है और उत्पादक कार्यों में इसका उपयोग नहीं हो रहा है। यह उचित ही है कि इन्हें सम्पन्नता का संकेतक न स्वीकार करके निर्धनता का कारण माना जाता है।[1]

सोने तथा चाँदी के आभूषणों को भी साधारणतया संचित राशि का एक हिस्सा माना तो जाता है, पर इसकी स्वीकृति विवादास्पद विषय है। यह समझना कठिन है कि अगर हम दाँत में लगाये सोने को सञ्चित धन नहीं मानते तो शृङ्गार के लिए उपयोग किये गए सोने को ऐसा क्यों मानें? सच्ची बात यह है कि भारतवासी सोने तथा चाँदी के गहने दो उद्देश्यों से बनवाते हैं: निजी शृङ्गार के लिए तथा आपत्ति-काल में सहायता के लिए।[2] फिर भी इन दोनों प्रयोजनों में भेद करना आवश्यक ही है तथा इन बहुमूल्य पदार्थों को हम सञ्चित धन तभी कह सकते हैं जबकि प्रयोजन मूल्य के सञ्चित करने से सम्बद्ध हो।

यह प्रश्न, कि क्या भारतवासियों का आभूषण तथा जवाहरात के प्रति अत्यधिक प्रेम नहीं तथा क्या वे उसके लिए अपनी आमदनी का बहुत-सा अन्श व्यय नहीं करते, उसी प्रकार है जैसा हम अंग्रेज मजदूर के सम्बन्ध में यह सवाल करें कि क्या वह शराब के लिए आवश्यकता से अधिक खर्च नहीं करता तथा क्या उस द्रव्य को किसी दूसरी तरह से व्यय करके वह अधिक लाभ नहीं उठा सकता? ये दोनों ही प्रश्न प्रतिभा तथा सुव्यवस्थित उपभोग से सम्बद्ध हैं। बैंकिंग सुविधाओं का विस्तार जिस प्रकार नशाखोरी की फिजूलखर्ची को कम करने का साधन नहीं है, उसी प्रकार यह आभूषण पर की गई फिजूलखर्ची का भी साधन नहीं हो सकता (जब तक हम गहने को बैंक का स्थानापन्न न मानें)। वास्तव में भारतीय कृषक अपने रुपये प्रायः मच्छरदानी तथा भोजन जैसी आवश्यक वस्तुओं पर खर्च करने के बजाय अपने तथा अपनी पत्नी के आभूषण के लिए खर्च करता है। कभी-कभी तो रीति-रस्मों के

१. भारत में सोने का आयात कानून द्वारा बन्द है। तब भी चोरी-चोरी विदेशों से काफी सोना बन्दरगाहों पर आता तथा बिकता है। भारत सरकार ने इस चोरी से किये आयात को रोकने के कड़े उपाय किये हैं। इसके तथा अच्छी फसलों के कारण किसान की बहुमूल्य धातुओं की बड़ी माँग के कारण स्वर्ण के मूल्य बढ़े हैं।

२. बैबिंग्टन स्मिथ समिति ने भी इस व्यावहारिक सत्य को स्वीकार किया है कि जिस किसी भी हिन्दू या मुस्लिम महिला के पास सोने एवं चाँदी के आभूषण तथा आभूषण के ही रूप में परिवर्तित सिक्के होते हैं, उसे यह अधिकार है कि वह उन्हें अपनी निजी जायदाद समझे।

कारण सोने तथा चाँदी का व्यवहार करना पड़ता है, धार्मिक तथा परम्परागत उत्सवों में भी इनका प्रमुख स्थान होता है। यह दुःख की बात तो अवश्य ही है, पर इन्हें दूर करने के लिए हमें मूल्य के समुचित ज्ञान तथा शिक्षा एवं सामान्य चेतना के प्रसार द्वारा सामाजिक तथा धार्मिक रस्मों को मृदुल बनाना पड़ेगा। इसके साथ-ही-साथ यह भी नहीं भूलना होगा कि इस पहलू का सम्बन्ध वास्तविक सञ्चय से न होकर उपभोग तथा व्यय की अच्छी या बुरी रीति से है।

उपर्युक्त सब विषयों के विचार के बाद भी एक शेष बच जाता है जिसे हम 'सञ्चय' ही कह सकते हैं। बार-बार हम सिक्के की त्रुटिपूर्ण पद्धति को इसके कारण रूप में बता तो आये हैं, पर इसका प्रधान कारण यह है कि भूतकाल में यह देश सदा ही विभिन्न आक्रमणों, कुशासन तथा जीवन एवं धन की असुरक्षा से पीड़ित रहा है। असुरक्षा-काल में लगी हुई लत आज के शान्ति तथा सुरक्षा के युग तक चलती आई है। जनता की निरक्षरता और पर्याप्त बैंकिंग सुविधाओं का अभाव आज सुधार के मार्ग में बाधक है। १९२६-२७ एवं १९२७-२८ के बीच सोने का औसत वास्तविक आयात १८·७५ करोड़ रुपये का था जबकि १९०९-१४ के बीच यह २८·१५ करोड़ रुपये था। १९२८-२९ में स्वर्ण का वास्तविक आयात केवल १४·२२ करोड़ रुपये ही रह गया अर्थात् पिछले वर्ष की तुलना में इसमें एक-तिहाई की कमी आ गई। हम पहले ही देख चुके हैं कि १९३१ के पश्चात् सोने का अत्यधिक वास्तविक निर्यात हुआ। इसकी तथा सरकारी ऋण की हाल की कुछ सफलताएँ विनियोग-प्रवृत्ति की वृद्धि का द्योतक तो हैं[1], पर इसे भी न भूलना होगा कि अभी हम असल समस्या के निकट तक ही पहुँच सके हैं। अतः इसके पूर्ण समाधान के लिए हमें समुचित शिक्षा तथा बैंकिंग सुविधाओं के विस्तार पर ही ज़ोर देना होगा। लोगों की गड़ी रकम का उत्पादक-उपयोग करने के विषय पर भी हाल में विचार किया गया है। जहाँ यह बात सत्य है कि दृढ़ चलन (सिक्के व नोट) के अभाव ने संचय की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित किया है, यह भी सत्य है कि जब तक यह सञ्चय बाहर नहीं आता तब तक किसी भी अच्छी-से-अच्छी मुद्रा-प्रणाली का सन्तोषजनक सञ्चालन कठिन होगा। अगर सञ्चय का वर्तमान क्रम जारी रहा तो किसी भी चलन-अधिकारी के लिए चलन तथा साख पर नियन्त्रण करना अत्यन्त दुरूह कार्य होगा। बैंकिंग के जिस विस्तार को संचय बन्द करने के उपाय के रूप में बताया जाता है सञ्चय के कारण वह खुद ही कठिन हो जाता है, क्योंकि जब तक जनता बैंकों में रुपया जमा नहीं करती तब तक वे अपना कार्य-संचालन ही कैसे कर सकते हैं, पर इसके साथ यह कहना भी ठीक है कि जब तक कोई बैंक है ही नहीं तब तक उसमें कोई अपना रुपया जमा ही कैसे कर सकते हैं? अतएव यह प्रश्न क्रिया-प्रतिक्रिया से ही सम्बन्धित है और हमारे सामने केवल यही रास्ता बच जाता है कि हम अधिकाधिक बैंकों तथा लोगों की आवश्यकता तथा रुचि के अनुसार विभिन्न प्रकार

१. कुछ तो सूद की दर के कम होने से तथा कुछ उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के डर के कारण हाल के विगत वर्षों में सरकार उधार लेने में पूर्णतया सफल नहीं हो सकी है।

के बैंकों की स्थापना करें तथा और बातों को शिक्षा एवं सतत प्रचार पर छोड़ दें।

५४. संचय की प्रवृत्ति को दूर करने के उपाय—वर्तमान बैंकिंग व्यवस्था को सुधारने तथा संचय की प्रवृत्ति को दूर करने के अनेक उपाय बताये गए हैं। उनमें से कुछ व्यक्तिगत रूप में भले ही महत्त्वहीन हों, पर सबका संयुक्त प्रभाव बहुत ही अधिक होगा। उनमें से कुछ सुझावों को हम यहाँ रखेंगे—

(१) डाकखाना सर्वाधिक विस्तृत है तथा विनियोग-प्रवृत्ति को बढ़ाने के कार्य में इसका अधिकाधिक उपयोग होना चाहिए। इस क्षेत्र में इसके द्वारा किये गए कार्यों का अवलोकन हम पहले ही कर चुके हैं तथा कुछ सुझाव भी रखते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य सुझाव ये हैं—

(क) डाकखाने के पञ्चवर्षीय कैश सर्टिफिकेट का व्याज चौथे त्रैमासिक के बाद जुड़ने की अपेक्षा पहले ही त्रैमासिक से जुड़ने दिया जाय। (ख) संयुक्त निक्षेपकों, मिश्रित पूँजीवाले बैंकों तथा सहकारी समितियों द्वारा खरीदे कैश सर्टिफिकेट की सीमा को बढ़ाया जाय (ग) सेविंग्स बैंक की पास-बुक दो भाषाओं में छपी रहनी चाहिए—एक भाषा तो अँग्रेजी हो तथा दूसरी भाषा प्रान्त के उस क्षेत्र की प्रमुख भाषा हो जिसमें प्रधान कार्यालय स्थित है। निक्षेप जमा करने तथा निकालने के लिए चेक के प्रयोग की स्वीकृति होनी चाहिए।[1] (घ) डाकखानों द्वारा सरकारी ऋण-पत्रों को खरीदने तथा उनको सुरक्षित रखने के कार्य में विनियोगकों को अधिकाधिक सुविधा दी जाय।

(२) हिल्टन यंग कमीशन के अनुसार स्वर्ण सर्टिफिकेट का प्रचलन यथाशीघ्र करना चाहिए।

(३) बिहार तथा उड़ीसा की बैंकिंग समिति ने स्त्रीधन सर्टिफिकेट नामक स्त्रियों के लिए एक विशिष्ट सर्टिफिकेट चलाने की सिफारिश की है। ये सर्टिफिकेट प्रचलित व्याज की दर से कुछ अधिक दर पर औरतों को दिये जायँगे।[2]

(४) सरकार, म्युनिसिपल बोर्ड एवं स्थानीय संस्थाओं को यथासम्भव चेकों द्वारा ही भुगतान देना तथा लेना चाहिए।

(५) मितव्ययता बढ़ाने एवं थोड़ा रुपया बचाने वालों को सुरक्षित एवं लाभदायक विनियोग का ज्ञान कराने के लिए इंगलैण्ड के ही समान नेशनल सेविंग असोसियेशन का निर्माण करना चाहिए।[3]

५५. बैंकिंग सुविधाओं का विस्तार—अन्य सभ्य देशों की तुलना में हमारे देश में उतनी

---

१. भारत सरकार कुछ चुने हुए बड़े नगरों में इस सम्बन्ध में सफल प्रयोग करने के लिए प्रयत्नशील है।

२. बंगलौर में विद्यार्थियों की एक सभा में बोलते हुए सर बी० एन० मित्रा ने उन्हें अपनी बहनों को यह समझाने का अनुरोध किया कि वे जितने औंस सोने का त्याग करेंगी, उतना ही औंस भारतमाता के गले में आर्थिक स्वतन्त्रता के हार की कड़ी के रूप में जुड़ेगा।

३. भारत सरकार ने इस सम्बन्ध में नेशनल सेविंग्स सर्टिफिकेट, दसवर्षीय राष्ट्रीय योजना सर्टिफिकेट, और पन्द्रहवर्षीय वार्षिकी सर्टिफिकेट चलाये हैं। जनता को एक में तो यह भी सुविधा दी है कि वह चार-चार आने के बचत टिकट खरीदकर डाकखाने से मिलने वाले एक कार्ड पर चिपकाती जाय और कम-से-कम पांच रुपये के टिकट लग जाने पर वह बदले में एक सर्टिफिकेट पा सकती है।

वेंक-सुविधा नहीं है जितनी आवश्यक है। ३१ दिसम्बर, १९३७ को बर्मा को छोड़कर शेष सारे भारत में ५८७ प्रधान कार्यालय थे जिनकी शाखाएँ तथा एजेन्सियों की संख्या १४०९ थी।[1] १९२८ में इस देश में केवल ३३९ ही ऐसे शहर थे जहाँ कोई वेंक, उसकी शाखा या एजेन्सी थी। २३०० शहरों के निमित्त केवल ३३९ बैंकों का होना ही इस देश में व्यावसायिक वेंकों की वृद्धि और विस्तार में तेजी लाने की आवश्यकता स्पष्ट कर देता है।[2]

निम्नलिखित सारिणी में विभिन्न देशों की मंदी के पूर्व के समय के बैंकिंग सुविधाओं की मनोरंजक तुलना स्पष्ट है—

३१ दिसम्बर, १९२४ को भारत तथा विदेशों में बैंकिंग कार्यालय[3]

देश का नाम	वैंकिंग कार्यालयों की संख्या	प्रत्येक १० लाख जनसंख्या पर बैंकिंग कार्यालयों की संख्या	प्रत्येक २७०० वर्ग मील पर बैंकिंग कार्यालयों की संख्या
इंगलैण्ड	११,९७६	२८५	३६२
सं० रा० अमेरिका	३०,०००	२५६	२०
जापान	७,४६५	९२	८०
कनाडा	४,८८३	४४८	३
भारत	५९६	२	१

विगत युद्ध-काल में बेंकिंग कार्यालयों की संख्या में अत्यधिक वृद्धि के वावजूद भी यह कहना गलत नहीं कि हमारे देश में वेंकिंग सुविधाएँ इस देश के वृहत् आकार की दृष्टि से अपर्याप्त हैं तथा उपर्युक्त उन्नत देशों की तुलना में इस देश की स्थिति पहले के ही समान प्रतिकूल है।

वेंकों की संख्या-वृद्धि के साथ-ही-साथ विभिन्न प्रकारों के वेंकों का होना भी आवश्यक है। साधारण प्रकार के मिश्रित पूँजी वाले वेंक भारतीय परिस्थितियों के सदैव अनुकूल नहीं हो सकते हैं। इनके अलावा यहाँ जर्मनी तथा इटली के सहकारी वेंकों का प्रयोग किया जा सकता है। इन लोकप्रिय वेंको की विशेषता यह है कि ये छोटे-छोटे निक्षेपकों को प्रोत्साहन देने के लिए हिस्से को यथासम्भव कम ही रखते हैं। इसके अतिरिक्त इनके लाभांश भी कभी तो क़ानून और कभी रीतियों के कारण परिमित रहते हैं। वचत को प्रोत्साहन देने के उद्देश्य से गरीब निक्षेपकों के साथ रिआयत की जाती है तथा कम दर पर ही उन्हें कर्ज भी दिया जाता है। वेंक द्वारा स्वीकृत वस्तु के निमित्त निजी साख पर भी कर्ज़ दिये जाते हैं। साधारण श्रेणी के मिश्रित पूँजी वाले वेंकों की अपेक्षा हमारे देश में इस तरह के वेंकों की उन्नति का अधिक

१. इन शाखाओं का वँटवारा यों था—रिजर्व बैंक के वैंकिंग विभाग के ७ कार्यालय और शाखाएँ, इम्पीरियल बैंक की १५४ शाखाएँ, विनिमय बैंकों की ८८ शाखाएँ, और मिश्रित पूँजी वाले बैंकों की ११६० शाखाएँ। भारत के बैंकों से सम्बद्ध अंकशास्त्रीय तालिका (१९३७), पैरा १४। १९५४ में ये संख्याएं क्रमशः ७, ४५३, ६५ तथा ३५२३ थीं।

२. के० अ० रि० ५६९।

३. इण्डियन इकनामिक कान्फरेन्स, कलकत्ता, १९२७ के सभापति-पद से प्रिंसिपल एम० एल० टैनन का भाषण।

क्षेत्र है।[१] रिज़र्व बैंक का यह कर्तव्य है कि वह देश के बैंकों का पथ-प्रदर्शन इतनी चतुरतापूर्वक करे कि उनकी प्रगति हो।

२६. भारतीय बैंकरों की संस्था—जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं हमारे देश में आधुनिक बैंकिंग की अज्ञानता १९१३–१४ के बैंक सङ्कट का एक कारण थी। २० अप्रैल, १९२८ को इण्डियन कम्पनीज़ एक्ट के अनुसार स्थापित इण्डियन इन्स्टिट्यूट ऑफ़ बैंकर्स (भारतीय बैंकरों की संस्था) का उद्देश्य इन्हीं त्रुटियों को कुछ हद तक दूर करने का है। इस संस्था के कुछ मुख्य उद्देश्य ये हैं—(१) विशेषतः भारतवर्ष में बैंकिंग कारोबार करने वाले व्यक्तियों के व्यवहार, पद तथा हित की रक्षा तथा सहायता करना। (२) बैंकिंग के सिद्धान्त के अध्ययन को प्रोत्साहन देना तथा इसी उद्देश्य से एक परीक्षा की व्यवस्था करना तथा इस सम्बन्ध में सर्टिफिकेट, छात्रवृत्ति तथा इनाम देना। (३) भाषणों, वादविवाद, समाचार-पत्रों, पुस्तकों, सार्वजनिक संस्थाओं तथा व्यक्तियों से पत्र-व्यवहार द्वारा बैंकिंग तथा उससे सम्बद्ध विषयों की सूचना का प्रचार करना। (४) भारतीय बैंकिंग से सम्बद्ध आँकड़े इकट्ठा करना तथा उनका प्रसार करना।[२]

इन्स्टिट्यूट की ये परीक्षाएँ सुव्यवस्थित हो चुकी हैं। एक पत्रिका भी इस संस्था से निकलती है। बम्बई तथा कलकत्ता में इसके तत्त्वावधान में हुए भाषणों ने बहुत श्रोताओं को आकर्षित किया तो है, पर अभी बैंक-सम्बन्धी अध्ययन की सुविधाएँ केवल प्रेसिडेन्सी शहरों तक ही सीमित हैं। पर इन्स्टिट्यूट को चाहिए कि वह अपने कोष की शक्ति के अनुसार पत्र-व्यवहार के पाठ्यक्रम, पुस्तकालय की शाखाओं, स्थानीय भाषणों और विद्यालयों द्वारा इनके विकास का प्रयत्न करे। केन्द्रीय अधिकोष खोज समिति ने सिफारिश की थी कि इन्स्टिट्यूट को चाहिए कि वह अपनी सूची के अन्तर्गत वाले विषयों पर विभिन्न केन्द्रों में विश्वविद्यालय, शिक्षकों द्वारा भाषण तथा शिक्षा-क्रम का आयोजन करे।[३] यह आशा की जाती है कि यह इन्स्टिट्यूट भारत में बैंकिंग प्रणालियों और व्यवहारों के समन्वयीकरण का माध्यम सिद्ध होगा।[४]

---

१. देखिए, गुब्बे, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ २९-३२।

२. इण्डियन इन्स्टिट्यूट ऑफ़ बैंकर्स के मेमोरेंडम तथा आर्टिकल्स ऑफ़ असोसिएशन देखिए।

३. के० अ० रि०, ७६१।

४. सितम्बर, १९५४ में रिज़र्व बैंक ने अधिकोषों के निरीक्षक-कर्मचारियों को अधिकोषीय व्यवहार की प्रशिक्षा देने के लिए बम्बई में एक बैंकर्स ट्रेनिंग कॉलेज की स्थापना की है।

अध्याय १२

वित्त और कर

१. परिचयात्मक विचार—१९१४-१८ के महायुद्ध के पहले समस्त भारत के लिए एक ही आय-व्ययक (बजट) होता था तथा प्रान्तीय सरकारों को स्वतन्त्र रूप से कर लगाने का अधिकार नहीं था। केवल केन्द्रीय सरकार को ही कर लगाने का अधिकार था। इस युद्ध के पश्चात् प्रान्तीय अर्थ-प्रबन्धन केन्द्रीय अर्थ-प्रबन्धन से सर्वथा पृथक् कर दिया गया और भारतीय अर्थ-व्यवस्था की रूपरेखा संघीय अर्थ-प्रबन्धन के ढंग पर विकसित हो रही है। लगभग पिछले ५० वर्षों से आय के विभिन्न साधनों की सापेक्षिक स्थिति में बहुत बड़ा परिवर्तन होता रहा है। इस बीच मालगुजारी की प्राचीन महत्ता का लोप हो गया और अन्य आय के साधन अधिक महत्त्वशाली हो गए।[1] भारत की अर्थ-व्यवस्था इन दिनों अन्य देशों के समान अधिक अर्वाचीन ढंग की होती जा रही है, जैसा कि करों के प्रकारों की संख्या की वृद्धि तथा आय-कर जैसे प्रत्यक्ष करों पर अधिकाधिक निर्भरता से प्रकट होता है। भारतीय वित्त में दूसरा महान् परिवर्तन रेलों को खून चूसने वाली से बदलकर दुधारू गाय का रूप देने से सम्बन्धित है।[2] अफीम, जो अभी हाल तक आय का एक महत्त्वशाली साधन था और जिसका मालगुजारी के बाद दूसरा स्थान था, लगभग पूर्ण रूप से भारत की परोपकारी अर्थ-व्यवस्था की नीति पर जोर देने के फलस्वरूप लुप्त हो गया और जो थोड़ी-सी आय इस शीर्षक में बजट में दिखाई जाती है वह १९३५ के बाद से भारत में प्रयोग में आने वाली अफीम की बिक्री के उत्पाद-कर से प्राप्त होती है।

१. मालगुजारी, जो कि ४० वर्ष पहले (१८८३-८४) सरकार की आय का मुख्य साधन था और कुल आय का ५३·१५ प्रतिशत होता था, अब (१९२३-२४) में कुल आय का २०·७५ % रह गया है। दूसरी ओर आयात-कर बढ़कर ३% से २४% हो गया है और आय-कर १·३२%से बढ़कर १२·३० प्रतिशत हो गया है। उत्पाद-कर (नमक-कर को लेकर) का भाग २५·०७%से घटकर २१·६७% हो गया है। सम्भवतः नमक-कर के घटने के कारण तथा मद्य के सम्बन्ध में कड़े प्रतिबन्ध लगा देने के कारण ऐसा हुआ है। स्टाम्पड्यूटी तथा इच्छा-पत्र प्रतिलिपि-कर या प्रोबेटड्यूटी (जोकि लगभग १०% होती है) और स्थानीय करों से आय लगभग समान ही रही है। इण्डियन टेक्सेशन इन्क्वायरी कमेटी की रिपोर्ट के ४९६ पैरा से उद्धृत। उपरिलिखित प्रतिशत संख्याओं की गणना करते समय कमेटी ने भारत की कुल आय को विचाराधीन नहीं रखा था, केवल प्रत्येक कर से प्राप्त आय तथा स्थानीय करों को ही विचाराधीन रखा गया था।

२. १९२९ के बाद अवसाद-काल में इस प्रधान गाय ने दूध देना बन्द कर दिया था।

आय के केन्द्रीय शीर्षक

२. निराक्राम्य (कस्टम) प्रशुल्क का इतिहास—(क) १९१४-१८ के महासमर के पहले आयात प्रशुल्क—१९२४ तक तो भारतीय प्रशुल्क पद्धति शुद्धरूपेण स्वतन्त्र व्यापार-नीति पर आधारित थी। इसके कारण बहुत साधारण आयात-कर लगाया जाता था। गदर (प्रथम स्वतन्त्रता-संग्राम) के पहले तैयार माल पर ५% और कच्चे माल पर ३½ प्रतिशत आयात-कर लगाया गया था। जो माल अंग्रेज़ी जहाजों पर नहीं आता था उस पर १८४८ तक दूनी मात्रा में आयात-कर लगता था। उसके पश्चात् जहाजों के अन्तर का विचार छोड़ दिया गया, पर राष्ट्रीयता के आधार पर विभेदात्मक कर १८५९ तक लगता रहा। जो माल इंगलैण्ड के अतिरिक्त अन्य देशों से आता उस पर अंग्रेज़ी माल की तुलना में दूना कर लगाया जाता था। गदर (प्रथम स्वतन्त्रता-युद्ध) के पश्चात् आर्थिक कठिनाई के कारण यह भेद मिटा दिया गया और कर की मात्रा ही बढ़ाकर १०% कर दी गई। १८६४ में इसे घटाकर ७½ % और १८७५ में ५ % कर दिया गया। १८८८ में आयात-कर इंगलैण्ड की सरकार के दबाव के कारण, जो मेनचेस्टर के व्यापारियों की प्रेरणा का फल था, पूर्णतया हटा दिया गया, यद्यपि तत्कालीन वायसराय लार्ड नार्थब्रुक ने इसका विरोध किया था। इस प्रकार १८८८ से १८९४ तक व्यवहारतः कोई भी आयातकर नहीं था। परन्तु १८९४ में रुपये के मूल्य में कमी आ जाने के कारण उत्पन्न आर्थिक कठिनाई के फलस्वरूप सभी वस्तुओं पर मूल्यानुसार ५% कर लगा दिया गया। सूती वस्त्र, सूत और कुछ अन्य वस्तुओं को छोड़ दिया गया था। १८९९ से १९०४ तक जर्मनी, आस्ट्रिया, डेन्मार्क आदि देशों से आने वाली सरकारी सहायता प्राप्त चीनी पर प्रतिकर लगा दिया गया था। बाद में ये कर हटा दिये गए थे। इस प्रकार का अन्तिम कर १९१२ में हटाया गया। इनका प्रभाव यह हुआ कि जर्मनी और आस्ट्रिया से हमारा चीनी का आयात-व्यापार मारीशस और जावा की ओर प्रवृत्त हो गया, जहाँ सरकारी सहायता की प्रथा प्रचलित नहीं थी। महासमर के पहले आयात-कर में अन्य महत्त्वशाली परिवर्तन १९१०-११ में किये गए, जबकि अफ़ीम की आय के घाटे तथा अतिरिक्त व्यय को पूरा करने के लिए चाँदी की सिलों या सिक्कों तथा पेट्रोलियम पर ऊँची दर से आयात-कर लगा दिये गए। १८९४ के अन्त में यह निर्णय हुआ कि सूती कपड़ों और सूत पर ५ %कर लगा दिया जाय, पर मेनचेस्टर को प्रसन्न करने के विचार से भारतीय मिलों में तैयार किये हुए २० अथवा २० से अधिक काउण्ट के सूत पर भी ५% कर लगाया गया। सूत पर लगाये हुए इस कर से लंकाशायर को पूर्ण सन्तुष्टि नहीं हुई, इसलिए १८९६ में सूती वस्त्रों पर आयात-कर की दर घटाकर ३½ % कर दी गई और उसी दर से भारतीय मिलों में बने हुए कपड़ों पर कर लगा दिया गया; सूत को—चाहे देशी अथवा विदेशी हो—इस कर से पूरी छूट दे दी गई।

भारत में इस कर का घोर विरोध हुआ। इस उत्पाद-कर से मेनचेस्टर को किसी प्रकार का लाभ पहुँचाए बिना ही भारत को घाटा हो रहा था। सर

अध्याय १२

वित्त और कर

१. परिचयात्मक विचार—१९१४-१८ के महायुद्ध के पहले समस्त भारत के लिए एक ही आय-व्ययक (बजट) होता था तथा प्रान्तीय सरकारों को स्वतन्त्र रूप से कर लगाने का अधिकार नहीं था। केवल केन्द्रीय सरकार को ही कर लगाने का अधिकार था। इस युद्ध के पश्चात् प्रान्तीय अर्थ-प्रबन्धन केन्द्रीय अर्थ-प्रबन्धन से सर्वथा पृथक् कर दिया गया और भारतीय अर्थ-व्यवस्था की रूपरेखा संघीय अर्थ-प्रबन्धन के ढंग पर विकसित हो रही है। लगभग पिछले ५० वर्षों से आय के विभिन्न साधनों की सापेक्षिक स्थिति में बहुत बड़ा परिवर्तन होता रहा है। इस बीच मालगुजारी की प्राचीन महत्ता का लोप हो गया और अन्य आय के साधन अधिक महत्त्वशाली हो गए।[1] भारत की अर्थ-व्यवस्था इन दिनों अन्य देशों के समान अधिक अर्वाचीन ढंग की होती जा रही है, जैसा कि करों के प्रकारों की संख्या की वृद्धि तथा आय-कर जैसे प्रत्यक्ष करों पर अधिकाधिक निर्भरता से प्रकट होता है। भारतीय वित्त में दूसरा महान् परिवर्तन रेलों को खून चूसने वाली से बदलकर दुधारू गाय का रूप देने से सम्बन्धित है।[2] अफीम, जो अभी हाल तक आय का एक महत्त्वशाली साधन था और जिसका मालगुजारी के बाद दूसरा स्थान था, लगभग पूर्ण रूप से भारत की परोपकारी अर्थ-व्यवस्था की नीति पर जोर देने के फलस्वरूप लुप्त हो गया और जो थोड़ी-सी आय इस शीर्षक में बजट में दिखाई जाती है वह १९३५ के बाद से भारत में प्रयोग में आने वाली अफीम की बिक्री के उत्पाद-कर से प्राप्त होती है।

---

१. मालगुजारी, जो कि ४० वर्ष पहले (१८८३-८४) सरकार की आय का मुख्य साधन था और कुल आय का ५३·१५ प्रतिशत होता था, अब (१९२३-२४) में कुल आय का २०·७५ % रह गया है। दूसरी ओर आयात-कर बढ़कर ३% से २४% हो गया है और आय-कर १·३२% से बढ़कर १२·३० प्रतिशत हो गया है। उत्पाद-कर (नमक-कर को लेकर) का भाग २५·०७% से घटकर २१·६७% हो गया है। सम्भवतः नमक-कर के घटने के कारण तथा मद्य के सम्बन्ध में कड़े प्रतिबन्ध लगा देने के कारण ऐसा हुआ है। स्टाम्पड्यूटी तथा इच्छा-पत्र प्रतिलिपि-कर या प्रोबेटड्यूटी (जोकि लगभग १०% होती है) और स्थानीय करों से आय लगभग समान ही रही है। इण्डियन टैक्सेशन इन्क्वायरी कमेटी की रिपोर्ट के ४९६ पैरा से उद्धृत। उपरिलिखित प्रतिशत संख्याओं की गणना करते समय कमेटी ने भारत की कुल आय को विचाराधीन नहीं रखा था, केवल प्रत्येक कर से प्राप्त आय तथा स्थानीय करों को ही विचाराधीन रखा गया था।

२. १९२९ के बाद अवसाद-काल में इस प्रधान गाय ने दूध देना बन्द कर दिया था।

आय के केन्द्रीय शीर्षक

२. निराक्राम्य (कस्टम) प्रशुल्क का इतिहास—(क) १९१४-१८ के महासमर के पहले आयात प्रशुल्क—१९२४ तक तो भारतीय प्रशुल्क पद्धति शुद्ध रूपेण स्वतन्त्र व्यापार-नीति पर आधारित थी। इसके कारण बहुत साधारण आयात-कर लगाया जाता था। गदर (प्रथम स्वतन्त्रता-संग्राम) के पहले तैयार माल पर ५% और कच्चे माल पर ३½ प्रतिशत आयात-कर लगाया गया था। जो माल अंग्रेज़ी जहाजों पर नहीं आता था उस पर १८४८ तक दूनी मात्रा में आयात-कर लगता था। उसके पश्चात् जहाजों के अन्तर का विचार छोड़ दिया गया, पर राष्ट्रीयता के आधार पर विभेदात्मक कर १८५९ तक लगता रहा। जो माल इंगलैण्ड के अतिरिक्त अन्य देशों से आता उस पर अंग्रेज़ी माल की तुलना में दूना कर लगाया जाता था। गदर (प्रथम स्वतन्त्रता-युद्ध) के पश्चात् आर्थिक कठिनाई के कारण यह भेद मिटा दिया गया और कर की मात्रा ही बढ़ाकर १०% कर दी गई। १८६४ में इसे घटाकर ७½ % और १८७५ में ५ % कर दिया गया। १८८८ में आयात-कर इंगलैण्ड की सरकार के दबाव के कारण, जो मेनचेस्टर के व्यापारियों की प्रेरणा का फल था, पूर्णतया हटा दिया गया, यद्यपि तत्कालीन वायसराय लार्ड नार्थब्रुक ने इसका विरोध किया था। इस प्रकार १८८८ से १८९४ तक व्यवहारतः कोई भी आयातकर नहीं था। परन्तु १८९४ में रुपये के मूल्य में कमी आ जाने के कारण उत्पन्न आर्थिक कठिनाई के फलस्वरूप सभी वस्तुओं पर मूल्यानुसार ५% कर लगा दिया गया। सूती वस्त्र, सूत और कुछ अन्य वस्तुओं को छोड़ दिया गया था। १८९९ से १९०४ तक जर्मनी, आस्ट्रिया, डेन्मार्क आदि देशों से आने वाली सरकारी सहायता प्राप्त चीनी पर प्रतिकर लगा दिया गया था। बाद में ये कर हटा दिये गए थे। इस प्रकार का अन्तिम कर १९१२ में हटाया गया। इनका प्रभाव यह हुआ कि जर्मनी और आस्ट्रिया से हमारा चीनी का आयात-व्यापार मारीशस और जावा की ओर प्रवृत्त हो गया, जहाँ सरकारी सहायता की प्रथा प्रचलित नहीं थी। महासमर के पहले आयात-कर में अन्य महत्त्वशाली परिवर्तन १९१०-११ में किये गए, जबकि अफ़ीम की आय के घाटे तथा अतिरिक्त व्यय को पूरा करने के लिए चाँदी की सिलों या सिक्कों तथा पेट्रोलियम पर ऊँची दर से आयात-कर लगा दिये गए। १८९४ के अन्त में यह निर्णय हुआ कि सूती कपड़ों और सूत पर ५ %कर लगा दिया जाय, पर मेनचेस्टर को प्रसन्न करने के विचार से भारतीय मिलों में तैयार किये हुए २० अथवा २० से अधिक काउण्ट के सूत पर भी ५% कर लगाया गया। सूत पर लगाये हुए इस कर से लंकाशायर को पूर्ण सन्तुष्टि नहीं हुई, इसलिए १८९६ में सूती वस्त्रों पर आयात-कर की दर घटाकर ३½ % कर दी गई और उसी दर से भारतीय मिलों में बने हुए कपड़ों पर कर लगा दिया गया; सूत को—चाहे देशी अथवा विदेशी हो—इस कर से पूरी छूट दे दी गई।

भारत में इस कर का घोर विरोध हुआ। इस उत्पाद-कर से मेनचेस्टर को किसी प्रकार का लाभ पहुँचाए बिना ही भारत को घाटा हो रहा था। सर

जेम्स वेस्टलैण्ड के कथनानुसार भारत के ६४% सूती वस्त्र के निर्माण से मेन्चस्टर की प्रतिद्वन्द्विता की कोई सम्भावना ही न थी। भारतीय माल के मोटे होने के कारण महीन वस्त्रों के सम्बन्ध में मेनचेस्टर का एकाधिकार ही था और उसका अधिकांश व्यापार ३० तथा उससे अधिक काउण्ट के महीन कपड़ों तक ही सीमित था। भारत बड़ी कठिनाई के साथ बहुत थोड़ी मात्रा में २६ या उससे थोड़े अधिक काउण्ट के वस्त्र तैयार कर सकता था। अन्त में यह भी कहा जा सकता है कि आयात-कर ५ से ३½ प्रतिशत कर देने से विदेशी वस्त्रों के धनी उपभोक्ताओं को ही विशेष लाभ होता, पर देशी सूती वस्त्रों पर लगाया हुआ ३½ % कर गरीबों को विशेष हानि पहुँचाता। इसलिए देशी सूती वस्त्रों के उत्पादन पर ३½ % कर कभी भी न्यायसंगत नहीं कहा जा सकता। परन्तु, जैसा कि इम्पीरियल लेजिस्लेटिव काउन्सिल के किसी सदस्य ने व्यंग्य में कहा था कि जब तक वेस्टमिन्स्टर में ६० सदस्य लंकाशायर से भेजे जायँगे तब तक अंग्रेजी सरकार के पास इस कर को लगाये रखने के लिए ६० कारण होंगे और इस प्रकार लोगों के इतने विरोध पर भी यह कर जारी रहा। अन्त में १९२६ में यह कर हटा दिया गया।

(ख) १९१४-१८ के महासमर के पहले निर्यात प्रशुल्क—१८६० तक निर्यात-कर प्रारम्भिक प्रशुल्क नीति का मुख्य अंग था और प्रायः प्रत्येक निर्यात की वस्तु पर ३% का कर लगाया जाता था। यद्यपि यह कर बहुत कम था और आय की ही दृष्टि से लगाया गया था, पर निर्यात-कर के लगाये जाने का सिद्धान्त आर्थिक दृष्टिकोण से अनुपयुक्त समझा जाता था। इससे विदेशी प्रतिस्पर्धा को प्रोत्साहन मिलने के कारण निर्यात-व्यापार को धक्का पहुँचने का भय था। इस विचार से १८६० से १८८० तक निरन्तर इस कर को हटा देने की नीति का ही अनुसरण किया गया। फलतः १८८० में केवल चावल पर ही यह कर लगा रहने दिया गया। १९०३ में भारतीय चाय उद्योग की प्रार्थना पर चाय के निर्यात पर एक साधारण कर लगा दिया गया।[1]

३. युद्धकालीन तथा उत्तर-युद्धकालीन निराक्राम्य प्रशुल्क पद्धति—युद्ध-काल में तथा उसके पश्चात् निराक्राम्य प्रशुल्कों में विस्तृत परिवर्तन हुए। उनका सारांश निम्नलिखित है—

(क) आयात-कर—१९१६-१७ में मूल्यानुसार लगाया जाने वाला कर ७½ प्रतिशत कर दिया गया (केवल सूती वस्त्रों को छोड़कर, जिन पर १९१७-१८ में बढ़ाकर यह कर ७½% किया गया)। १९२१-२२ में सूती वस्त्रों सहित सभी वस्तुओं पर यह कर बढ़ाकर ११% कर दिया गया। १९२२-२३ में सूती वस्त्रों पर ११% ही रहने दिया गया, पर अन्य वस्तुओं पर बढ़ाकर १५% कर दिया गया। रेल से सम्बन्धित वस्तुओं पर १९१६-१७ में २½ का कर लगाया गया और उसे १९२२-२३ में बढ़ाकर १०% कर दिया गया। लोहा और इस्पात पर कर १९१६-१७ में १% से बढ़ाकर २½ प्रतिशत कर दिया गया और १९२२-२३ में १० प्रतिशत कर दिया गया।

१. देखिए, खण्ड १, अध्याय ६, पैरा ७. II (ii)

चीनी पर कर १६१६-१७ में ५% से बढ़ाकर १० % कर दिया गया और १६२२-२३ में १५ से २५ प्रतिशत कर दिया गया। रूई कातने और बुनने की मशीनों तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं पर १६२१-२२ में २½% कर लगाया गया, पर बाद में यह कर हटा लिया गया। १६२१-२२ में ७½ प्रतिशत मूल्यानुसार कर के स्थान पर दियासलाइयों पर १२ आना प्रति ग्रुस का विशिष्ट कर (स्पेसिफिक ड्यूटी) लगा दिया गया। १६२२-२३ में यह कर दूना कर दिया गया। विलासिता की सभी वस्तुओं, जैसे मोटरकार, सिनेमा के फिल्म, घड़ियाँ, रेशम के कपड़े इत्यादि पर लगे कर १६२१-२२ में ७½ प्रतिशत से बढ़ाकर २० प्रतिशत और १६२२-२३ में बढ़ाकर ३० प्रतिशत कर दिये गए। १६२७-२८ में टैक्सेशन इनक्वायरी कमेटी की सिफ़ारिशों के अनुसार, जिसमें मोटर परिवहन को प्रोत्साहन देने पर जोर दिया था, मोटरकार पर कर ३० से २० प्रतिशत कर दिया गया और टायरों पर ३० से १५ प्रतिशत कर दिया गया। इस प्रकार प्रवेश्यकर के घट जाने से प्रान्तीय सरकारों को कार का प्रयोग करने वालों पर प्रान्तीय सड़कों की व्यवस्था सुधारने के ध्येय से कर लगाने का अच्छा अवसर मिला। १६२२-२३ में सिगार और सिगरेटों पर तम्बाकू के मूल्यानुसार कर बढ़ाकर ७५% कर दिया गया। १६२७-२८ में कच्ची तम्बाकू पर कर एक रुपये से डेढ़ रुपये प्रति पौंड कर दिया गया। ५ प्रतिशत का कर विदेशी सूत पर लगा दिया गया, जो १८६३ से कर-मुक्त था। विदेशी सूत के सम्बन्ध में किये गए परिवर्तन तथा सूती वस्त्रों पर १६३० में मूल्यानुसार कर की वृद्धि, ११ प्रतिशत से बढ़ाकर १५ प्रतिशत कर दी गई और तीन साल के लिए इंगलैण्ड के अतिरिक्त अन्य देशों के माल पर ५ प्रतिशत का संरक्षण-कर लगाये जाने की बात से तो हम परिचित हैं ही। एक आना प्रति गैलन का कर मिट्टी के तेल और पेट्रोलियम पर तथा देश में उनसे निर्मित वस्तुओं पर लगाया गया। विदेशी शराब पर लगा कर एक बार १६२१-२२ में तथा फिर १६२२-२३ में बढ़ाया गया। १६३० में चाँदी पर चार आना प्रति औंस का कर फिर से लगाया गया (जो १६२० में हटा दिया गया था)। १६३० के वित्त अधिनियम ने चीनी के आयात पर लगे करों में वृद्धि कर दी। तीव्र आर्थिक अवसाद तथा केन्द्रीय बजट के महान् घाटे ने अधिक आय प्राप्त करने के लिए आयात-करों में भारी और विस्तृत वृद्धि करने पर बाध्य कर दिया। उदाहरणार्थ, मार्च १६३१ के वित्त अधिनियम ने (१) शराब, चीनी, चाँदी और सिनेमा फिल्मों पर लगाये कर की दर में विशेष वृद्धि कर दी। (२) २½ से १५ प्रतिशत अतिरिक्त कर अधिभार के रूप में लगा दिये। १, नवम्बर १६३१ के पूरक वित्त अधिनियम ने रुई, मशीनरी, रंग, कृत्रिम रेशमी सूत, रेशमी वस्त्र, बिजली के बल्व आदि वस्तुओं के आयात-करों में वृद्धि कर दी, और प्रचलित आयात-कर तथा अधिकर, जो पिछले अधिनियम ने लागू कर रखे थे, की एक-चौथाई मात्रा का अधिभार लगा दिया। १६३२ के इण्डियन टैरिफ अमेण्डमेण्ट एक्ट (उटावा ट्रेड एग्रिमेण्ट) ने जुलाई, अगस्त १६३२ में हुए

१. रूई के वस्त्रों पर लागू करों के इन तथा पीछे के परिवर्तनों के सम्बन्ध में जानने के लिए अध्याय २ सेक्शन ६-१४ देखिए।

उटावा ट्रेड एग्रिमेण्ट को कार्यान्वित किया। इस समझौते के अनुसार भारत को इंगलिस्तान के साथ व्यापार में ७½ प्रतिशत का अधिमान विशेष प्रकार की मोटर-गाड़ियों के सम्बन्ध में तथा १० प्रतिशत का प्रशुल्क-अधिमान अन्य वस्तुओं के सम्बन्ध में देना आवश्यक था। लोहे और इस्पात की वस्तुओं के सम्बन्ध में दूसरा प्रबन्ध था। टैरिफ अमेण्डमेण्ट एक्ट ने १ जनवरी, १९३३ से १८९४ के भारतीय टैरिफ एक्ट की अनुसूची नम्बर २ में आवश्यक परिवर्तन कर दिए। कर की पिछली दर को पूर्ण रूप से बढ़ाकर अथवा कहीं कुछ बढ़ाकर तथा कुछ घटाकर आवश्यक अधिमान का प्रबन्ध कर दिया गया, परन्तु प्रामाणिक कर की दर कहीं भी मूल्यानुसार ५० प्रतिशत से अधिक नहीं थी। इसी वित्त अधिनियम ने चाँदी के आयात कर में २½ आना की कमी करके उसे ५ आना कर दिया। १९३४ और १९३५ के वित्त अधिनियमों ने चाँदी पर कर घटाकर क्रमशः ५ आना और २ आना प्रति औंस कर दिया, ताकि छिपा-चुराकर किये जाने वाले विपणन की रोकथाम हो सके और चाँदी के व्यापार को पुनर्जीवित किया जा सके। साथ-ही-साथ चाँदी पर उत्पाद-कर भी घटाकर आयात-कर के बराबर कर दिया गया, परन्तु १९३७ के वित्त अधिनियम ने आय के दृष्टिकोण से आयात-कर बढ़ा दिया और साथ-ही-साथ उत्पाद-कर प्रति औंस ३ आना कर दिया।[1] १९३९ के वित्त अधिनियम द्वारा रुई के ऊपर आयात-कर ६ पाई से एक आना प्रति पौण्ड कर दिया गया।

भारतीय प्रशुल्क (तृतीय संशोधित) अधिनियम (मई, १९३९) ने ऐसे परिवर्तनों को कार्यरूप दिया जो भारत और इंगलैण्ड के बीच हुए नये व्यापारिक समझौते के अन्तर्गत थे। इस समझौते ने पिछले उटावा समझौते का स्थान ले लिया। इस नये समझौते के अनुसार भारत के लिए इंगलिस्तान को ७½ प्रतिशत प्रशुल्क अधिमान विशेष प्रकार की मोटरगाड़ियों पर तथा १० प्रतिशत का अधिमान किन्हीं विशेष वस्तुओं पर देना आवश्यक हो गया।[2] इस नये समझौते के अन्तर्गत इंगलैण्ड के सूती कपड़ों पर आयात-कर में कमी के सम्बन्ध में हम पहले ही संकेत कर चुके हैं। १९४१ के वित्त-अधिनियम ने कृत्रिम रेशम के सूत और डोरे पर आयात-कर ३ आने से ५ आने कर दिया। १९४२-४३ में वर्तमान आयात प्रशुल्क के ऊपर (कपास, पेट्रोल और नमक को छोड़कर, सभी वस्तुओं पर २० प्रतिशत का निराक्राम्य अधिभार लगा दिया गया। पेट्रोल पर भी २५% टैक्स बढ़ा दिया गया। १९४४ में तम्बाकू और स्पिरिट पर भी अधिभार बढ़ा दिया गया। १९४५ में प्रामाणिक निराक्राम्य-कर में, जो कच्ची तम्बाकू और उससे सम्बन्धित वस्तुएँ, जैसे सिगार, सिगरेट और बनी हुई तम्बाकू आदि, पर लागू थे, वृद्धि कर दी गई। १९४६-४७ के नये करों में आयात की गई सुपारी पर लगा कर बढ़ाकर ५⅝ आ० प्रति पौंड की बढ़ी हुई प्रामाणिक दर (बिना अधिभार के) में परिवर्तित कर दिया गया, जिसमें ६ पाई

१. चाँदी पर रक्षण-कर में परिवर्तन के विषय में खण्ड १, अध्याय ६ में वर्णन दिया गया है। सेक्शन ४ भी देखिए।

२. विशेष विवरण के लिए अध्याय ७ देखिए।

प्रति पौण्ड के हिसाब से अंग्रेजी उपनिवेशों को अधिमान देने की व्यवस्था थी। अविगोपित (अनएक्सपोज़्ड) चल-चित्र फिल्मों पर लगे मूल्यानुसार कर को ६ पाई प्रति फुट के विशिष्ट कर में परिवर्तित कर दिया और विगोपित (एक्सपोज़्ड) फिल्मों पर चार आना प्रति फुट कर लगा दिया गया; प्रशुल्क अधिनियम के अन्तर्गत रूई पर लागू १ आना प्रति पौण्ड आयात-कर और १९४२ में काटन फण्ड आर्डिनेन्स के अन्तर्गत १ आना प्रति पौण्ड के कर को मिलाकर २ आना प्रति पौण्ड (बिना अधिभार के) कर दिया गया जो कि पूर्णरूपेण भारतीय प्रशुल्क अधिनियम के अन्तर्गत लागू किया जा सकता था; और विदेश से मँगाये हुए सोने तथा सोने के सिक्के पर २५ रु० प्रति तोला, जिसमें १८० ग्रेन शुद्ध सोना हो, का प्रामाणिक कर (बिना अधिभार के) लगाया गया तथा चाँदी पर ३ आना ७ पाई के वर्तमान कर (जिसमें अधिभार सम्मिलित है) को ८ आना प्रति औंस (बिना अधिभार के) कर दिया गया।

१९४८-४९ में मोटरकार पर आयात-कर ४५ % से ५०% कर दिया गया, पर इंगलिस्तान को ७½% का अधिमान दिया गया। सिगार, सिगरेट तथा बनी तम्बाकू पर कर थोड़ा-सा बढ़ाया गया और कच्ची तम्बाकू पर कर कहीं पर ९ आना से १२ आना प्रति पौण्ड तथा अन्य स्थानों पर ३ आना से ४ आना कर दिया गया। दियासलाई पर कर प्रति ग्रुस १ रु० १२ आ० से २ रु० ८ आ० कर दिया गया और टायरों पर ५० % कर बढ़ा दिया गया (जो अगले वर्ष और अधिक बढ़ाया गया)।

१९४९-५० में मोटर की स्पिरिट पर आयात-कर १२ आना से १५ आना प्रति गैलन (ऐसी ही वृद्धि उत्पाद-कर में भी की गई) कर दिया गया। मोटरों में प्रयुक्त टायरों के मूल्य पर कर १५ % से ३० % कर दिया गया और सुपारी पर कर ५ आना प्रति पौण्ड से ७½ आना प्रति पौण्ड कर दिया गया, परन्तु अंग्रेजी उपनिवेशों से मँगाई हुई सुपारी पर ६ पाई प्रति पौण्ड का अधिमान मिलता रहा।[1]

(ख) निर्यात-कर—१९१६-१७ में दो नये निर्यात-कर चाय और जूट पर लागू

---

१. १९५४-५५ के बजट में आयात-करों में निम्न परिवर्तन किये गए, जिनके फलस्वरूप आय में निम्नलिखित कमी या वृद्धि हुई।

	करोड़ रु० में वृद्धि (+) अथवा ह्रास (—)
१. सुपारी पर लगा अधिमानात्मक आयात-कर बढ़ाकर १ रु० प्रति पौं० कर दिया गया।	+३·०
२. कुछ वस्तुओं के आयात-करों के हेर-फेर	+१·३
३. कच्ची कपास पर लगे आयात-कर की समाप्ति	—४·०
४. कुछ प्रकार की स्टील, जैसे प्लेट्स, रेल आदि पर लगे आयात-कर की समाप्ति	—०·३

१९५५-५६ के बजट में कच्चे माल, जैसे रंजक द्रव्य, चमड़ा कमाने के पदार्थ आदि, पर से आयात-कर हटा लिये गए। कुछ वस्तुओं पर, जैसे कागज की बनी वस्तुओं, विज्ञापन-सम्बन्धी परिपत्र तथा सोना या चाँदी का पानी न चढ़े हुए छुरी-चाकू आदि पर, आयात-कर बढ़ा दिये गए।

किये गए। चाय पर तो निर्यात-कर १ रु० ८ आ० निश्चित कर दिया गया। १९२७-२८ में यह कर हटा दिया गया, परन्तु इसके हटाने का घाटा चाय उद्योग के मुनाफे पर लगे आय-कर में वृद्धि द्वारा पूरा कर दिया गया। जूट की ४०० पौण्ड की प्रत्येक गाँठ पर २ रु० ४ आ० निर्यात-कर निश्चित किया गया, जोकि लगभग ५ प्रतिशत के मूल्यानुसार लगाए कर के बराबर था। जूट से बने माल पर १० रु० प्रति टन बोरों पर और १६ रु० प्रति टन टाट पर कर लगाया गया। १९१७-१८ में जूट पर निर्यात-कर दुगना कर दिया गया। अक्टूबर, १९१९ में कच्चे चमड़े पर भारतीय चमड़ा सिझाने के उद्योग की रक्षा के लिए १५ प्रतिशत मूल्यानुसार कर लगाया गया। इस कर के बाद के इतिहास तथा किस प्रकार यह ५% कर दिया गया आदि पर पहले ही प्रकाश डाला जा चुका है। १९३० के वित्त अधिनियम ने चावल पर लागू निर्यात-कर में एक-चौथाई की कमी कर दी अर्थात् ३ आने से घटाकर २ आना ३ पाई प्रति मन कर दिया, ताकि चावल के मूल्य में हुई संसार-व्यापी कमी का मुकाबला किया जा सके तथा बर्मा और स्याम की, जोकि इस व्यापार में उसके मुख्य प्रतिद्वन्द्वी थे, मुकाबला कर सके और बर्मा के किसानों की सहायता एवं उनके प्रति न्याय हो सके।

१९३४ के वित्त अधिनियम ने कच्चे चमड़े पर लगा निर्यात-कर उठा दिया, क्योंकि चमड़े का निर्यात-व्यापार विशेषकर जर्मनी से घटता जा रहा था। १९३५ के अधिनियम ने सामान्य निर्यात-व्यापार को प्रोत्साहन देने के लिए कच्चे पशु-चर्म पर लगे निर्यात-कर को हटा दिया। १९४० के एग्रिकल्चरल प्रोड्यूसर्स एक्ट के अन्तर्गत कुछ विशेष वस्तुओं पर, जैसे हड्डी, मक्खन, गेहूँ, बीज, चमड़ा, तम्बाकू, कच्चा ऊन इत्यादि, जिन पर अभी तक कोई निर्यात-कर अथवा किसी प्रकार का उप-कर नहीं लगा हुआ था। राजकीय कृषि अनुसन्धान परिषद् (इम्पीरियल काउन्सिल ऑफ़ एग्रिकल्चरल रिसर्च) की आर्थिक स्थिति को दृढ़तर बनाने के दृष्टिकोण से $\frac{1}{2}$% का उप-कर लगा दिया गया। १९४६ में चाय और रूई पर नये निर्यात-कर लगाये गए और जूट के निर्यात पर कर बढा दिया गया। १९४७ में चाय पर निर्यात-कर २ आ० से ४ आ० प्रति पौण्ड कर दिया गया। १९४८-४९ में (१) कपड़े का निर्यात-कर २५% के मूल्यानुसार कर के रूप में परिवर्तित कर दिया गया (करघे द्वारा निर्मित वस्त्रों को छोड़ दिया गया), (२) सूत पर लगाया हुआ कर उठा दिया गया, और (३) ८० रु० प्रति टन का निर्यात-कर तिलहन पर और १६० रु० प्रति टन का निर्यात-कर वनस्पति तेल पर लगा दिया गया (अगले वर्ष दोनों कर उठा लिये गए)। १९४९-५० में १५ % का एक नया मूल्यानुसार कर सिगार, सिगरेट और चुरुट पर लगा दिया गया।[1]

१९१४-१८ के युद्ध-काल में धन की आवश्यकता तथा युद्धोत्तरकालीन आर्थिक घाटे के कारण निराक्राम्य कर पर अधिकाधिक निर्भर रहने की प्रवृत्ति बढ़ती

१. १९५५-५६ के बजट में सूती कपड़े का निर्यात-कर १०% से घटाकर मूल्यानुसार ६$\frac{1}{4}$ प्रतिशत कर दिया गया। चाय के निर्यात के सम्बन्ध में एक ही दर की बजाय वर्ग-दर (स्लाब रेटस) अपनाई गई।

गई। निराक्राम्य-कर से प्राप्त आय में द्वितीय विश्वयुद्ध के कारण शत्रु-देशों से व्यापार बन्द होने के ही कारण नहीं वरन् आयात में प्रतिबन्ध लग जाने तथा जहाजों द्वारा माल के ले आने तथा ले जाने की सुविधा में कमी होने से बहुत कमी हो गई। जब से युद्ध समाप्त हुआ है, निराक्राम्य-कर पर निर्भरता की प्रवृत्ति पुनः बढ़ती जा रही है।

आर्थिक कठिनाई के भार के कारण आये हुए इन परिवर्तनों ने निराक्राम्य-कर की प्रकृति तथा भारतीय राजकोषीय प्रणाली को परिवर्तित कर दिया है। १९१४ के पहले की प्रशुल्क-पद्धति की तुलना में ऊँची दर से लागू सामान्य कर, समानता के सिद्धान्त के प्रयोग में बड़े-बड़े दोष, छूट की तालिका की मदों में कमी, विलासिता की वस्तुओं पर विशेष कर तथा नये-नये निर्यात-कर आदि नई प्रशुल्क-पद्धति की मुख्य विशेषताएँ हैं।

निराक्राम्य कर की आय का विकास

वर्ष	करोड़ रुपये	वर्ष	करोड़ रुपये
१९१३-१४	११·१३	१९३३-३४	४५·७२
१९१८-१९	१८·१८	१९३५-३६	४६·७३
१९२१-२२	३४·४१	१९३६-३७	४०·६१
१९२२-२३	४१·३५	१९३७-३८	४३·११
१९२४-२५	४५·७५	१९३८-३९	४०·५१
१९२६-२७	४७·३८	१९३९-४०	४५·८८
१९२८-२९	४९·२८	१९४२-४३	२५·१२
१९२९-३०	५१·२८	१९४५-४६	७३·६१
१९३०-३१	४६·८१	१९४६-४७	८७·५०
१९३१-३२	४६·४४	१९४९-५०	१०७·२५
१९३२-३३	५१·९६		

१९२४ तक प्रशुल्क में ये परिवर्तन (कच्चे चमड़े पर निर्यात-कर को छोड़कर) आय के ही दृष्टिकोण से नियमित थे। कुछ कर इतनी ऊँची दर के थे कि उनका प्रभाव निश्चित रूप से संरक्षणात्मक होता था। इससे वर्तमान अव्यवस्थित संरक्षण-प्रणाली के स्थान पर, जो अनायास स्थापित हो गई थी, एक सुव्यवस्थित विचारपूर्ण संरक्षण-प्रणाली की स्थापना की आवश्यकता का लोगों को अनुभव हुआ। १९२४ के स्टील प्रोटेक्शन एक्ट के पास होने के बाद से अनेक संरक्षण-करों का आरोप किया गया। उटावा ट्रेड एग्रिमेण्ट (१९३२) तथा इण्डो-ब्रिटिश ट्रेड एग्रिमेण्ट (१९३९) के परिणामस्वरूप भारतीय प्रशुल्क-पद्धति सम व्यवहार वाली न रह सकी, क्योंकि उसमें इंगलिस्तान, उपनिवेशों और संरक्षक शासनाधीन राज्यों से आने वाली कुछ वस्तुओं को अधिमान प्राप्त थे। इस प्रकार विभिन्न देशों की वस्तुओं के आयात के सम्बन्ध में विभिन्न नीति बरती जाती थी।

१९१३-१४ से १९२४-२५ तक की निराक्राम्य-कर की आय सम्बन्धी इन्क्वायरी कमेटी के विश्लेपण से धनिकों द्वारा इस कर के भार

पर स्थानान्तरित किये जाने का पता चलता है।[1] चीनी पर लगाये २५ % कर के ही कारण सम्भवत: ऐसा हुआ, क्योंकि देशी तथा विदेश से मँगाई चीनी का भाव इसके कारण बढ़ गया और इससे निर्धनों पर कर का भार—जोकि दोनों प्रकार की चीनी के वे उपभोक्ता हैं—बढ़ गया। ऐसा ही प्रभाव चीनी ही नहीं वरन् चाँदी और सूती वस्त्रों के आयात-कर की वृद्धि (१९३०-३१) का, १९३० के वित्त अधिनियम द्वारा आरोपित मिट्टी के तेल पर उत्पाद-कर की वृद्धि का, १९३१ के मार्च और नवम्बर में वित्त अधिनियम द्वारा आरोपित अतिरिक्त आयात-कर तथा अधिभार का, और १९३४, १९४० तथा १९४१ में अन्न और दियासलाई पर आरोपित उत्पाद-कर का हुआ।

१९३९ में भारत सरकार के अर्थ-सचिव डॉ० ग्रेगरी के निर्देश में लिखे गए स्मृति-पत्र के अनुसार आयात-कर का सबसे अधिक भार साधारण उपभोग की वस्तुओं पर, उससे कम विलासिता की वस्तुओं पर तथा सबसे कम कच्चे माल तथा पूँजी के अन्तर्गत आने वाली वस्तुओं पर था।[2]

४. केन्द्रीय उत्पाद-कर[3]—मार्च, १९३४ की धारासभा के बजट अधिवेशन में दो नये उत्पाद-करों का आरोप १ अप्रेल, १९३४ से किया गया। १९३४ के चीनी (उत्पाद-कर) अधिनियम ने (क) खाण्डसारी चीनी पर और (ख) अन्य सभी प्रकार की चीनी पर (पामीरा चीनी को छोड़कर, जो ब्रिटिश भारत में स्थित कारखानों में, बनाई जाती थी) (१) १० आ० प्रति हण्ड्रेडवेट और (२) १ रु० ५ आ० प्रति हण्ड्रेडवेट का कर क्रमशः आरोपित कर दिया। यह नया उत्पाद-कर इस आधार पर न्यायसंगत माना गया कि यह आय की उस कमी को पूरा करता था जो चीनी के आयात की कमी, संरक्षण के अनुदान तथा १९३१ के अनुपूरक बजट द्वारा आरोपित अधिकार के फलस्वरूप हो गई थी। ऐसा कहा जाता था कि इधर कुछ ही वर्षों से चीनी उद्योग में बड़ी तीव्र गति से उन्नति हुई थी और आवश्यकता से अधिक उत्पादन हो जाने का भय था, क्योंकि अधिभार के आरोप द्वारा अनुचित तथा अनिश्चित रूप से प्रोत्साहन प्राप्त हुआ था, जो देश के उद्योगों की रक्षा के लिए आवश्यक सहायता से कहीं अधिक था। उत्पाद-कर का आशय अधिभार का संतुलन करने तथा आय की कमी को पूरा करने का था। चीनी और सूती वस्त्रों के आयात

१. टेक्सेशन इन्क्वायरी कमेटी की रिपोर्ट, पैरा १४५।

२. भारत के आयात में (१९२६-२७ से) निश्चित रूप से परिवर्तन आ गया है। साधारण उपयोग की वस्तुओं की सापेक्षिक महत्ता कम हो गई है, कच्चे माल और पूँजी के सामान के आयात की महत्ता बढ़ गई है और विलासिता की वस्तुओं की स्थिति लगभग समान ही बनी रही है। डब्ल्यू० आर० नाट्स तथा टी० ई० ग्रेगरी-कृत 'बर्डन ऑफ़ दि इण्डियन टैरिफ' देखिए और इकनामिक एडवाइज़र द्वारा प्रकाशित 'स्टडीज इन इण्डियन इकनामिक्स' पृष्ठ ४५-४६ देखिए।

३. केन्द्रीय उत्पाद-कर वर्तमान समय में मोटर-स्पिरिट, मिट्टी का तेल, चीनी, दियासलाई, लोहा, टायर, तम्बाकू, वनस्पति घी, सुपारी, कहवा, चाय और कोयले पर लगा हुआ है। मिट्टी का तेल, मोटर-स्पिरिट और चाँदी पर लगाये गए केन्द्रीय उत्पाद-कर के विषय में तो हम जान चुके हैं। कोयले पर लगाये उपकर का आशय १९३९ के कोल माइन्स सेफ्टी एक्ट के अन्तर्गत उपयुक्त व्यवस्था का था।

में और अधिक कमी हो जाने के कारण निराक्राम्य-कर की आय में जो कमी आ गई थी उसे पूरा करने के विचार से १९३७ के इण्डियन फाइनेन्स एक्ट ने खाण्डसारी चीनी पर उत्पाद-कर १० आ० से बढ़ाकर १ रु० ५ आना प्रति हण्ड्रेडवेट कर दिया, और खाण्डसारी तथा पामीरा चीनी के अतिरिक्त अन्य प्रकार की चीनी पर १ रु० ५ आ० से २ रु० प्रति हण्ड्रेडवेट कर दिया। इस परिवर्तन के कारण चीनी के आयात-कर में परिवर्तन करना आवश्यक हो गया, जोकि उसी दर पर निश्चित कर दिया गया जिस दर पर खाण्डसारी और पामीरा को छोड़ अन्य चीनी पर उत्पाद-कर लगाया जा सकता था तथा जिसमें ७ रु० ४ आ० प्रति हण्ड्रेडवेट का संरक्षण-कर भी सम्मिलित था जिसकी प्राप्ति का उद्योग को अधिकार था। १९३४ के शुगर (एक्साइज) आर्डर की १०वीं धारा के अनुसार खाण्डसारी चीनी पर कर हटाकर एक रुपया प्रति हण्ड्रेडवेट कर दिया गया। १९४० के भारतीय वित्त अधिनियम ने खाण्डसारी छोड़कर चीनी पर उत्पाद-कर बढ़ाकर २ रु० से ३ रु० प्रति हण्ड्रेडवेट कर दिया, जिसने स्वयं ही आयात-कर को उसी मात्रा से बढ़ा दिया।[1] यह वृद्धि भारत के प्रथम युद्धकालीन बजट (१९४०-४१) में अधिकाधिक कर लगाने की योजना के अन्तर्गत थी।

१९३४ के दियासलाई (उत्पाद-कर) अधिनियम ने ब्रिटिश भारत में निर्मित दियासलाई पर, जोकि डिब्बों में बेची जाती है और जिसके अन्दर आठ से अधिक दियासलाई नहीं होतीं, (१) एक रुपया प्रति ग्रुस डिबियों पर, जबकि औसत तीलियाँ ४० अथवा उससे कम हों, (२) एक रुपया आठ आना, यदि तीलियों की संख्या ४० से अधिक तथा ६० से कम हो और (३) २ रु०, यदि औसत तीलियों की संख्या ६० से अधिक हो, उत्पाद-कर लगा दिया। इस अधिनियम ने विदेश से आने वाली दियासलाइयों पर लगाये हुए आयात-कर को इस प्रकार परिवर्तित कर दिया कि नये उत्पाद-कर के बराबर होते हुए भी वर्तमान समय में देश के उद्योग को जो संरक्षण प्राप्त था वह बना रहा। सर जार्ज सस्टर द्वारा भी यह उपाय न्यायसंगत ठहराया गया, क्योंकि उनके मतानुसार सरकार द्वारा जूट के निर्यात-कर के आधे अंश को जूट का उत्पादन करने वाले प्रान्तों को (बंगाल, बिहार और आसाम) दे देने से जो घाटा होता था उसे पूरा करने के लिए इसकी अत्यन्त आवश्यकता थी। ऐसी धारणा थी कि बंगाल को, जोकि १९३० से बजट में निरन्तर घाटा सह रहा था, केन्द्रीय सरकार से सहायता की अत्यन्त आवश्यकता थी और यह नीति १९३३ के इण्डियन कान्स्टिट्यूशनल रिफार्म्स से सम्बन्धित ह्वाइट पेपर की सिफारिशों के अनुरूप भी थी। दियासलाई की उत्पत्ति पर कर से प्राप्त आय और भारतीय देशी रियासतों द्वारा भी इस प्रकार के आरोपित कर से प्राप्त आय को संयुक्त कोप में रखा जाता था, जिसमें से देशी रियासतों को जनसंख्या के आधार पर दियासलाइयों के उपयोग के अनुपात में हिस्सा दिया जाता था।

१. इसी अधिनियम ने मोटर-स्पिरिट पर उत्पाद-कर १० आने से बढ़ाकर १२ आने प्रति गैलन कर दिया और उस मात्रा में अपने-आप ही आयात-कर भी बढ़ गया।

युद्ध के बढ़े हुए खर्चों के कारण आर्थिक घाटे को पूरा करने के लिए १९४१-४२ के बजट में जो नये करों के आरोप की योजना बनाई गई थी उसके अन्तर्गत दियासलाई पर उत्पाद-कर दूना कर दिया गया और मार्च, १९४१ में आयात-कर में भी उसी के समान परिवर्तन कर दिया गया। साथ-ही-साथ मूल्यानुसार १० प्रतिशत का एक नया उत्पाद-कर भारत में निर्मित (न्यूमेटिक) टयूब और टायरों पर आरोपित कर दिया गया। १९४४-४५ में तम्बाकू पर उत्पाद-कर बढ़ा दिया गया और सुपारी, कहवा और चाय केन्द्रीय उत्पाद-कर के अन्तर्गत आ गए। १९४५-४६ में तम्बाकू पर लगाये कर में और भी परिवर्तन किये गए। सबसे उत्तम प्रकार की तम्बाकू को गर्म वायु से शुद्ध करके तीन वर्गों मे बाँट दिया गया और तीनों पर क्रमशः ७ रु० ८ आ०, ५ रु० और ३ रु० ८ आ० प्रति पौण्ड का कर आरोपित कर दिया गया, जिसे ६० प्रतिशत, ४० से लगाकर ६० प्रतिशत तथा २० से लगाकर ४० प्रतिशत वज़न की विदेशी तम्बाकू के सिगरेट बनाने में प्रयोग किये जाने के आधार पर लगाया गया था। दुहरे कर-भार को बचाने के लिए कुछ प्रान्तीय सरकारों ने केन्द्रीय सरकार से समझौता कर लिया, जिसके अनुसार उन्होंने तम्बाकू पर आरोपित केन्द्रीय उत्पाद-कर में भाग पाने के बदले प्रान्तीय उत्पाद-कर हटा लिया।

१९४७-४८ में उत्पाद-कर में निम्न परिवर्तन कर दिये गए—(१) फेक्ट्री के बाहर के मूल्य पर २५% का कर सिगरेट पर लगा दिया गया, (२) सुपारी पर उत्पाद-कर हटा दिया गया, और (३) चाय और कहवा पर आरोपित उत्पाद-कर २ आने से घटाकर १ आना प्रति पौण्ड कर दिया गया। १९४८-४९ में जो परिवर्तन किये गए वे निम्न हैं—(१) चीनी पर उत्पाद-कर ३ रु० से ३ रु० १२ आ० प्रति हण्ड्रेडवेट कर दिया गया और (२) ६¼ प्रतिशत का उत्पाद-कर मूल्य के आधार पर महीन कपड़ों पर और ¼ आना प्रति गज साधारण और मोटे कपड़े पर (मिल के ही बने हुए) १ जनवरी, १९४९ से लागू कर दिया गया। यह २५% के मूल्यानुसार कर के जो अत्यधिक महीन कपड़ों पर लगाया गया था, अतिरिक्त था।[1]

१. १९५४-५५ में केन्द्राय उत्पाद-करों में निम्न परिवर्तन किये गए—

(१) सूती कपड़े (सुपर-फाइन) पर बढ़ाकर कर २½ आना प्रति गज तथा अन्य प्रकार के सूती कपड़ों (फाइन) पर बढ़ाकर १½ आना प्रति गज तथा मोटे (मीडियम और कोर्स) कपड़े पर ½ आना प्रति गज कर दिया गया। इनके अलावा ३ पाई प्रति गज का उपकर अपरिवर्तित रहा।

(२) निम्न नये कर लगाये गए—

(क) रेशमी कपड़ों (आर्ट सिल्क फेब्रिक्स) पर ६ पाई प्रतिवर्ग गज का कर लगाया गया तथा ३ पाई प्रति गज का हाथ के करघे पर अतिरिक्त उपकर बना रहा।

(ख) सीमेण्ट पर ५ रु० प्रति टन के हिसाब से कर लगाया गया।

(ग) पदत्राण (फुटवियर) पर मूल्यानुसार १०% का उत्पाद-कर लगाया गया। शक्ति के बिना चलने वाले उन कारखानों को, जिनमें ४९ श्रमिकों से कम श्रमिक काम करते हों, इस कर से पूरी छूट दी गई। शक्ति-चालित वे कारखाने भी इस कर से मुक्त थे जो केवल दो हॉर्स पावर शक्ति का प्रयोग करते हों तथा जिनमें ४९ से कम श्रमिक काम करते हों।

(घ) कपड़ा धोने और नहाने के साबुन पर विभिन्न दरों से उत्पाद-कर लगाया गया। अप्रैल, १९५४ के बाद से साबुन के शक्ति-चालित कारखानों को १२५ टन, घरों और लाउन्ड्रियों में प्रयुक्त

९. आय-कर का इतिहास—भारत में आय-कर का इतिहास बड़ा लम्बा रहा है। सब प्रकार की आय पर कर (जिसमें कृषि-आय भी सम्मिलित थी) सबसे पहले ५ वर्ष के लिए गदर के आर्थिक भार को मिटाने के लिए आरोपित किया गया था, जो अपनी अवधि के बाद १८६५ में हटा दिया गया। १८६७ में एक दूसरे अधिनियम के अन्तर्गत व्यवसायों और व्यापारों पर (कृषि-आय को छोड़कर) लाइसेन्स-कर आरोपित किया गया, जो १८७२-७३ तक चलता रहा। १८७७ तक कोई नया कर नहीं लगाया गया, पर शिल्पियों और व्यापारियों पर लाइसेन्स-कर, दुर्भिक्ष-बीमा-अनुदान (फेमीन इन्श्योरेन्स ग्राण्ट) के खर्चे के एक अंश को पूरा करने के लिए आरोपित कर दिया गया और १८७८ में इसके लिए उत्तर प्रदेश, पंजाब, मद्रास, बंगाल और बम्बई प्रान्तों में अधिनियम पास कर दिये गए। ये अधिनियम १८८६ तक लागू रहे। १८७८ का लाइसेन्स-कर १८८६ के आय-कर अधिनियम द्वारा साधारण आय-कर के रूप में परिणत कर दिया गया, जो समस्त भारत पर लागू हुआ। इस अधिनियम के अनुसार कृषि के अतिरिक्त आय के अन्य सभी साधनों पर कर लगा दिया गया। ५०० रु० से लगाकर २००० रु० तक की आय पर, चाहे वह वेतन से प्राप्त हो या प्रतिभूतियों के व्याज से प्राप्त हो, प्रति रुपया ४ पाई कर लगा दिया गया, और २००० रु० के ऊपर की आय पर और कम्पनियों के लाभ पर ५ पाई प्रति रुपया कर लगाया गया। इसके अतिरिक्त कर का और कोई वर्ग न था। इसी प्रकार की अन्य साधनों से प्राप्त आय पर लगभग इसी दर से कर लगाया गया। दान तथा धार्मिक संस्थाओं की आय को छोड़ दिया गया। १९०३ में आर्थिक स्थिति के अच्छे होने के कारण ५०० रु० से १००० रु० तक की आय को छूट प्रदान कर दी गई।

१९१४ के पहले आय-कर से प्राप्ति बहुत कम थी अर्थात् लगभग ३ करोड़ रुपये के थी, और धनी वर्ग के लोग बड़ी आसानी से ही मुक्त हो जाते थे। १९१४-१८ के

साबुन तथा २५ टन नहाने के साबुन को कर से छूट दी। घरेलू और लाउन्ड्रियों के प्रयोग के लिए २०० टन तथा नहाने और अन्य कार्यों के लिए ५० टन साबुन बनाने वाले कारखानों को पूरी छूट दी गई।

(ङ) सुपारी का प्रामाणिक आयात-कर १ रु० १ आ० ३ पाई प्रति पौण्ड से घटाकर १ रु० ६ पाई प्रति पौण्ड कर दिया गया। १ रु० प्रति पौण्ड की बढ़ी हुई अधिमानात्मक दर ज्यों-की-त्यों रही।

१९५५-५६ के बजट में केन्द्रीय उत्पाद-करों में निम्न परिवर्तन किये गए—

(क) चीनी पर कर ३ रु० १२ आ० प्रति हंड्रेडवेट से बढ़ाकर ५ रु० १० आ० प्रति हंड्रेडवेट कर दिया गया।

(ख) सूती कपड़े पर लगा कर प्रति गज के स्थान पर प्रति वर्गगज कर दिया गया।

(ग) कीमती सिगरेटों पर कर बढ़ा दिये गए।

(घ) कुछ वस्तुओं, जैसे बिजली के पंखे, बल्ब, कागज, रंग, वार्निश आदि, पर विशिष्ट कर लगाये गए।

(ङ) ऊनी कपड़ों तथा बिजली की बैटरी पर क्रमशः ६$\frac{1}{4}$% और १०% के मूल्यानुसार कर लगाये गए।

युद्ध-काल में तथा उसके बाद कर में वृद्धि के कारण १९२१-२२ में आमदनी २२ करोड़ रुपये से अधिक हो गई। पर १९२२ में, जबकि कर की दर और अधिक बढ़ा दी गई, देश एक बहुत लम्बे और गम्भीर औद्योगिक अवसाद से होकर गुज़रा और आय-कर से प्राप्ति १९२३-२४ के १८·४९ करोड़ रुपये से घटकर १९२७-२८ में १५·४२ करोड़ रुपया हो गई। बाद में आय-कर तथा अधिकर की दर में वृद्धि होने के कारण प्राप्ति में कुछ वृद्धि हुई। परन्तु आर्थिक अवसाद के कारण प्राप्ति में वृद्धि अनुमान से बहुत कम हुई और जितनी वृद्धि कर की दर तथा अधिभार के आरोप में की गई थी उसके हिसाब से प्राप्ति कम थी। आय-कर से प्राप्ति (प्रान्तों को दिये जाने वाले अल्प भाग को छोड़कर) १९३३-३४ में १७·१३ करोड़ रु०, १९३४-३५ में १७·५४ करोड़ रु० और १९३५-३६ में १७·०७ करोड़ रु० हुई थी। १ अप्रैल, १९३७ से बर्मा के अलग हो जाने से १·४० करोड़ रुपये का घाटा हुआ। जो कुछ भी हो, १९३८-३९ से आमदनी के एक साधन के रूप में आय-कर की महत्ता निरन्तर बढ़ती जा रही है। १९३८-३९ में कुल आय का २३ प्रतिशत आय-कर की आय थी। अब ५० प्रतिशत से अधिक है।[1]

६. १९१४ से १९३९ तक के आय-कर में परिवर्तनों का सारांश—

१९१६—साधारण आय-कर में उत्तरोत्तर प्रगामी प्रमाप का प्रयोग आरम्भ हुआ।

१९१७—आय-कर के अतिरिक्त एक प्रगामी अधिकर का आरम्भ हुआ।

१९१८—कर-वसूली की प्रणाली में सुधार तथा उन्नति हुई।

१९१९—(१) कर-युक्त आय का स्तर १००० रु० की वार्षिक आय से बढ़ाकर २००० रु० की वार्षिक आय कर दिया गया। (२) अतिरिक्त युद्ध-लाभ-कर ३०,००० रु० आमदनी के ऊपर आरोपित कर दिया गया, जिसमें कृषि-आय, व्यावसायिक आय और राजसेवकों की आय को छोड़ दिया गया।[2]

१९२०—अतिरिक्त युद्ध-लाभ-कर हटा लिया गया। रजिस्ट्री की हुई फर्म तथा कम्पनियों के मुनाफे के सम्बन्ध में अधिकर-अधिनियम में संशोधन किया गया।

१९२१—प्रगामिता का प्रमाप साधारण आय-कर तथा अधिकर के सम्बन्ध में परिवर्तित कर दिया गया तथा बढ़ा दिया गया।

१९२२—१९३०-३१ (मार्च) और १९३१ (नवम्बर)—दोनों प्रकार के करों में और अधिक ऊर्ध्वगामी परिवर्तन किया गया, जिसमें अधिभार का आरोप तथा १००० रु० तक की आय की छूट (नवम्बर, १९३१) सम्मिलित थी।

१९३३-३५ और १९३६—छोटी आमदनियों पर कर की दर में कमी तथा अधिभार में कमी (१९३५-३६) और आय-कर से मुक्त न्यूनतम आय के स्तर

१. १९४२-४३ में अधिक-से-अधिक प्रतिशत अनुपात ६४%, १९४३-४४ में ६६·८% और १९४४-४५ में ६८·१% थे।

२. सरकार अतिरिक्त लाभ का आधा भाग ले लेती थी, जिसकी परिभाषा इस प्रकार की गई थी कि यह १९१८-१९ के लाभ और युद्ध के पहले के दो वर्षों और युद्ध के ठीक पहले के दो वर्षों के औसत लाभ का अन्तर था। ३०,००० से कम की आमदनी को छूट दे दी गई थी।

का २००० रु० कर देना (१९३६) सम्मिलित था।

१९३९—१९३९ के संशोधित आय-कर-अधिनियम के अन्तर्गत अधिभार हटा दिया गया तथा कर लगाने में वर्ग (स्लैब) प्रणाली का अनुसरण किया गया।

१९३९ के पश्चात् जो परिवर्तन हुए उनका वर्णन नीचे दिया गया है।

७. १९३९ के पश्चात् के परिवर्तन—भारतीय आय-कर प्रणाली में किये गए अनेक परिवर्तनों का उत्तरदायित्व युद्धजनित आर्थिक कठिनाइयों पर है। १९४० में अतिरिक्त लाभ-कर प्रचलित किया गया जिससे ३०,००० रु० की न्यूनतम आय के उपरान्त १ सितम्बर, १९३९ के बाद से प्राप्त हुए युद्धकालीन असाधारण लाभों पर ५०% का कर लगाया जा सकता था। इसके लिए देने वाले की इच्छानुसार १९३५-३६ से १९३९-४० के बीच का कोई भी वर्ष प्रामाणिक वर्ष-कर माना जा सकता था। १९१४-१८ के महासमर में लगाये गए अतिरिक्त लाभ-कर के विपरीत यह कर युद्ध के आरम्भ-काल से ही लगा दिया गया। यह कर इसलिए न्यायोचित समझा गया कि इसका भार उन्हीं लोगों पर था जिन्हें युद्ध के कारण विशेष लाभ हुआ था। नवम्बर, १९४० के 'अनुपूरक वित्त अधिनियम' के अनुसार २५% का अधिभार केवल केन्द्रीय सरकार की आवश्यकता के लिए आय पर लागू सब प्रकार के करों पर, जिनमें अधिकर तथा निगम-कर सम्मिलित थे, आरोपित किया जा सकता था। मार्च, १९४१ के वित्त अधिनियम के अतिरिक्त लाभकर को ५०%से बढ़ाकर ६६२/३% कर दिया (जिसका १/१० कर देने वाले को वापस किया जाता था) और आय-कर तथा अधिकर पर लागू केन्द्रीय अधिभार की दर २५% से बढ़ाकर ३३१/३% कर दी गई। १९४२-४३ में अधिकर और अधिक बढ़ाकर ५०% कर दिया गया। १९४३-४४ के बजट के प्रस्तावानुकूल ६६% का आय-कर पर अधिभार सब वर्ग की आय पर लगा दिया गया। उसी वर्ष १५०१ रु० से लगाकर २००० रु० तक की आमदनी पर छः पाई प्रति रुपया कर लगा दिया गया..............। १९४४ में अधिभार १ आना ८ पाई से बढ़ाकर (१९४३ की तरह) २ आना कर दिया गया। जिन आमदनियों पर कर उद्गम स्थान पर ही नहीं लिया जा सकता था, उनसे पेशगी वसूल कर लेने का भी प्रबन्ध कर दिया गया था। कर देने वाले को इस बात की स्वतन्त्रता थी कि वह चाहे तो हर तीन महीने पर आमदनी के पिछले अनुमान के आधार पर अथवा वर्तमान आय के अपने अनुमान पर कर दे सकता था। अपने अनुमान के आधार पर कर देने में यदि कर की मात्रा नियमित ढंग से लगाये हुए कर के ८०% से कम ठहरी तो अन्तर की मात्रा पर ६ प्रतिशत व्याज दण्ड के रूप में देना पड़ता था। इस योजना के अन्तर्गत जो रकम पेशगी दी जाती थी उस पर सरकार को २% व्याज देना पड़ता था। १९४३ में अध्यादेश (आर्डिनेन्स) १६ द्वारा यह निश्चित कर दिया गया कि अतिरिक्त लाभ-कर का १/५ अंश राजकोष में जमा कर दिया जाय। १९४४ में यह बढ़ाकर १९/६४ कर दिया गया। इसका प्रभाव समस्त अतिरिक्त लाभ को उस पर आरोपित अतिरिक्त लाभ-कर अदा कर चुकने के पश्चात् तथा बची हुई आमदनी पर आय-कर तथा अधिकर आदि जमा कर देने के

बाद स्थायी जमा के रूप में रखने का था। इन पेशगी भुगतानों तथा अनिवार्य जमा करने का आशय मुद्रा-प्रसार की रोकथाम करना था, जो रुपये के निर्गम और आगम के व्यवधान को रोक सकता। आय-कर की दर के विषय में कर लगाने की न्यूनतम आधार-मात्रा १५०० रु० से बढ़ाकर २००० रु० कर दी गई। १०,००० रु० से १५,००० रु० तक की आमदनी पर २४ पाई की आधार-दर के अतिरिक्त केन्द्रीय अधिभार १६ पाई से बढ़ाकर १८ पाई कर दिया गया और बची हुई आमदनी पर, जो १५,००० रु० से ऊपर की थी, ३० पाई की आधार-दर के अतिरिक्त अधिभार २० से २४ पाई कर दिया गया। ३५,००० रु० से लगाकर २ लाख रु० की आमदनी पर अधिभार ६ पाई बढ़ा दिया गया। निगम-कर बढ़ाकर रुपये में ३ आने कर दिया गया, पर कम्पनी के अवितरित लाभ पर एक आने के अवहार (रिबेट) की आज्ञा थी। जीवन-बीमा व्यापार के लिए विशेष सुविधा दी गई, जिससे आय-कर और अधिकर की सम्मिलित दर ६३ पाई तक सीमित कर दी गई, जो कि कम्पनियों के लिए १९४२ के वित्त अधिनियम द्वारा निश्चित की हुई सम्मिलित दर थी। १९४३-४४ के लिए भी यह नियम लागू कर दिया गया। कुल आमदनी पर, जो निश्चित दर से बाँटे जाने वाले लाभ के अतिरिक्त अन्य प्रकार के लाभ के रूप में अभी वितरित नहीं की गई थी, १ आना प्रति रुपया अवहार प्रदान करने की अनुमति दी गई। जीवन-बीमा व्यापार के सम्बन्ध में आय-कर और अधिकर की सम्मिलित दर प्रति ६३ पाई नियत कर दी गई।

कर के $\frac{1}{64}$वें अंश के अनिवार्य रूप से जमा किये जाने के साथ-ही-साथ अतिरिक्त लाभ-कर ६६$\frac{2}{3}$ प्रतिशत की दर से वसूल किया गया।

१९४४-४५ में (१) आय-कर पर केन्द्रीय अधिभार १०,००० रु० से १५,००० रुपये की आमदनी पर २४ पाई की आधार-दर के अतिरिक्त १६ पाई से बढ़ाकर १८ पाई कर दिया गया और १५,००० रु० से अधिक आमदनी पर ३० पाई की आधार-दर के अतिरिक्त अधिभार २० पाई से बढ़ाकर २४ पाई कर दिया गया।

(२) ३५,००० और २ लाख रुपये की आमदनी के अधिकर पर आरोपित अधिभार ६ पाई प्रति रुपया कर दिया गया।

(३) निगम-कर २ आने से ३ आने कर दिया गया और रुपये में एक आना कम्पनी की आमदनी के उस भाग पर अवहार दे दिया गया जो निश्चित दर पर बाँटे जाने वाले लाभांश के अतिरिक्त बाँटा गया था।

(४) आय-कर तथा अधिकर दोनों की सम्मिलित दर १९४३-४४ से बीमा कम्पनियों के लिए ६३ पाई पर निश्चित कर दी गई। १९४५ के भारतीय वित्त-अधिनियम के अनुसार (क) १५००० रु० से अधिक आमदनी पर तथा उन आमदनियों पर, जिन पर अधिक-से-अधिक दर पर कर का आरोप होता था, अधिभार की दर बढ़ा देने तथा (ख) अर्जित आय के $\frac{1}{10}$ अंश को अधिक-से-अधिक २००० रु० की आय तक छूट देने की भी अनुमति दी गई थी।

१९४६-४७ में उद्योगों तथा साधारण आय वाले व्यक्तियों को अनेक रिआयतें

दी गई थीं। उदाहरणार्थ (१) १ अप्रेल, १९४६ से अतिरिक्त लाभकर पूर्णतया हटा दिया गया। (२) नई इमारतों पर आरम्भ से ही १०% तथा नये सर्वांग संयन्त्रों पर २०%का अवक्षयण अधिदेय और आय-कर के लिए वैज्ञानिक खोज पर किये जाने वाले व्यय पर अनेक अधिदेयों की अनुमति दी गई। (३) अधिकर के २ आने और आय-कर के $\frac{1}{4}$ आना बढ़ाने के कारण कम्पनियों द्वारा अदा किये जाने वाले अधिकर और आय-कर की वर्तमान दर पर १$\frac{3}{4}$ आने की कमी कर दी गई। (४) आवास-गृहों पर दो वर्ष के लिए आय-कर से छूट तथा व्यापार-भवनों पर आरम्भ से ही १५% का अवक्षयण अधिदेय दे दिया गया। (५) बीमा-कम्पनियों पर लागू कुल कर की दर ५ आना ३ पाई से घटाकर ५ आना कर दी गई। (६) ३५०० रु० तक की आय पर १५ पाई से घटाकर १२ पाई और ५००० रु० तक की आय पर २ आना १ पाई से घटाकर २ आना आय-कर कर दिया गया। (७) अर्जित आय पर अधिदेय $\frac{1}{10}$ से $\frac{1}{5}$ कर दिया गया, जिसकी अधिकतम सीमा ४,००० रु० निश्चित की गई। (८) अधिकर के सम्बन्ध में अर्जित आय की मात्रा के आधार पर विभिन्न दरें नियत की गईं, जैसे २५,००० रु० से २ लाख रु० तक की आमदनी पर रुपये में १ आना और २ लाख रु० से ५ लाख रु० तक की आमदनी पर रुपये में $\frac{1}{2}$ आना कर दिया गया। साथ-ही-साथ दूसरी ओर वृद्धि भी की गई जैसे (१) १५,००० रु० की आय के उपरान्त आमदनी पर ४ आना ९ पाई से बढ़ाकर आय-कर ५ आना कर दिया गया। (२) अधिकर देने वाली आमदनी के अनेक वर्ग बना दिये गए जिससे ऊँची आमदनियों पर ऊँची दर से कर लगाया जा सके। (३) कम्पनियों के लाभांश पर (निश्चित दर से दिये जाने वाले लाभांश को छोड़कर) उत्तरोत्तर बढ़ती हुई दर से अधिकर लगाया गया, जोकि कम्पनी (व्यक्तिगत कम्पनियों के अतिरिक्त) की पूँजी के ५% के उपरान्त था और जिसमें कुल आय का ३०%, जो सुरक्षित कोष में रखा जाता था, भी सम्मिलित था। यह ढंग इसलिए अपनाया गया कि लाभांश का बँटवारा औचित्य की सीमा का अतिक्रमण न कर सके और लाभ उसी उद्योग में फिर से काम आ सके। १९४७ में यद्यपि आय-कर की न्यूनतम सीमा २००० रु० से २५०० रु० कर दी गई, फिर भी (१) एक विशिष्ट आय-कर २५% का (जो कि बाद में घटाकर १६$\frac{2}{3}$% कर दिया गया) एक लाख के ऊपर के व्यापारिन लाभ पर आरोपित किया गया। (२) पूँजी के सामान की बिक्री से प्राप्त ५,००० रु० के उपरान्त लाभ पर (जो बाद में १५,००० रु० कर दिया गया) क्रमिक दर से कर लगाया गया। (३) अधिकर की दर परवर्तित कर दी गई ताकि वह अधिक-से-अधिक दर पर रुपये में १०$\frac{1}{2}$ आना के हिसाब से १·२ लाख की अनर्जित आमदनी पर और १·५ लाख की अर्जित आमदनी पर वसूली जा सके। (४) निगम-कर की दर दूनी करके २ आना कर दी गई। व्यापारिक लाभ पर कर लगाने के औचित्य के सम्बन्ध में भारत की अन्तरिम सरकार के वित्त-मन्त्री श्री लियाकत अली खाँ ने कहा था कि अतिरिक्त लाभ-कर का पिछले वर्ष हटाना अनुचित था और पूँजी के लाभ पर कर संयुक्त राज्य अमरीका की नकल थी और उसका प्रभाव अनर्जित आय पर ही था। १९४८-

४९ में आय-कर को सहायता देने के लिए निम्न उपाय किये गए—(१) व्यापार के लाभ पर कर की दर १६$\frac{२}{३}$% से घटाकर १०% कर दी गई और छूट की सीमा बढ़ाकर २ लाख रु० अथवा कुल लगी हुई पूँजी का ६% जो भी अधिक हो, कर दी गई (वर्तमान सीमा १ लाख रु० अथवा ६% थी)। (२) आय के उस स्तर को, जिस पर १०$\frac{१}{२}$ आना की अधिकतम दर लागू थी, अर्जित अथवा अनर्जित आय को क्रमशः १.५ लाख रु० और १.२ लाख रु० की सीमाओं के स्थान पर बढ़ाकर ३.५ लाख रु० कर दिया गया और विभिन्न वर्गों के अन्दर कर की दर में भी हेर-फेर कर दिया गया। (३) कम्पनियों के अवितरित लाभ को ५ आने से घटाकर ४ आने कर दिया ताकि लाभ को फिर से उद्योग में ही लगाने का प्रोत्साहन मिले। (४) २५००० रु० तथा उससे कम आमदनी वाली कम्पनियों पर आय-कर की दर छोटी-छोटी कम्पनियों की वृद्धि को प्रोत्साहित करने के दृष्टिकोण से आधी कर दी गई। (५) आय-कर का न्यूनतम आय-स्तर २५०० से ३००० रु० कर दिया गया।

१९४९-५० में पूँजी पर प्राप्त लाभ पर आरोपित कर (केपिटल गेन्स टेक्स) हटा दिया गया और १०,००० रु० तक की आय पर कर एक चौथाई आने से घटाकर एक आने से ९ पाई कर दिया गया। अर्जित आय पर अधिकर १$\frac{१}{२}$ लाख रुपये के ऊपर की आय पर १$\frac{१}{२}$ आने से घटा दिया गया, जिसके फलस्वरूप आय-कर और अधिकर मिलाकर १४ आना हो गया। अनर्जित आय के सम्बन्ध में अधिकर की अधिकतम दर में ६ पाई की कमी की गई। १९४८-४९ में २५,००० रु० तथा उससे कम आय वाली कम्पनियों को जो रिआयत दी गई थी उसे निगम-कर के आधे अवहार का रूप दे दिया गया और यह रिआयत जनता द्वारा प्रबन्धित कम्पनियों तक ही सीमित रखी गई, जो कि बड़ी कम्पनियों की न तो शाखाएँ ही थीं और न उनकी सहायक ही। सभी निगमों को, चाहे वे भारतीय हों अथवा अभारतीय, कम्पनी ही माना गया। परन्तु व्यक्तिगत रूप से प्रबन्धित उन कम्पनियों पर १ आना प्रति रुपया अतिरिक्त अधिकर लागू कर दिया गया जो अपना लाभ भारत में नहीं बाँटती थीं। १० जून, १९४९ को गवर्नर जनरल ने एक अध्यादेश (आर्डिनेन्स) जारी किया, जिसे टेक्सेशन लाज़ अमेण्डमेण्ट आर्डिनेन्स कहा गया। इसके अनुसार प्रचलित दर की दूनी दर से नई इमारतों तथा १ अप्रैल, १९४८ अथवा उसके पश्चात् स्थापित यन्त्रों पर अवक्षयण की रिआयत दी गई तथा नये उद्योगों को आय-कर से प्रयुक्त पूँजी के ६% की सीमा तक मुक्ति दी गई—इन रियायतों के विषय में भारत सरकार ने अक्तूबर, १९४८ में ही निश्चय कर लिया था। १९४९-५० में व्यापार लाभ-कर कुछ संशोधनों के साथ जारी रहा। १९५०-५१ में इस आधार पर कि व्यापार में काम के स्तर के बहुत नीचे हो जाने से उद्योग-संस्थाओं पर इसका अनुचित भार पड़ रहा था और इस कर से प्राप्ति भी उत्तरोत्तर कम होती जा रही थी, इसे हटा दिया गया। १९५०-५१ में जो अन्य परिवर्तन किये गए, वे निम्न हैं—(१) आय-कर पर सबसे अधिक दर ५ आने से ४ आने कर दी गई। (२) संयुक्त परिवार की कर-मुक्त आय ५,००० रु० से ६,००० रु० कर दी गई। (३) अधिकर के आरोपण

के लिए अर्जित और अनर्जित आय का अन्तर मिटा दिया गया और दोनों पर समान दर से कर लगा दिया गया। (४) सबसे अधिक अधिकर ८½ आना कर दिया गया। इस प्रकार व्यक्तिगत कर की सबसे अधिक दर १२½ आना अथवा ७८% हो गई।[१]

८. आय-कर में सुधार—सर वाल्टर लेटन ने, जो साइमन कमीशन (१९३०) के वित्तसदस्य थे, तत्कालीन आय-कर पद्धति के अनेक दोष बताए तथा उनके सुधार के लिए सुझाव प्रस्तुत किये।

उनके द्वारा सुझाये गए बहुत-से सुधारों (आय-कर की प्रगामिता को अधिक तीव्र बनाने) को १९३१-३२ के बजट में ही स्थान दे दिया गया। अक्तूबर, १९३५ में भारत सरकार ने भारतीय आय-कर-पद्धति तथा प्रशासन की सम्पूर्ण जाँच एक कमेटी द्वारा कारवाई, जिसके सदस्य दो अंग्रेज विशेषज्ञ तथा सबसे अधिक अनुभव-प्राप्त एक आय-कर कमिश्नर था। भारतीय आय-कर का संशोधन करने के लिए कमेटी की सिफारिशों के अनुसार केन्द्रीय धारासभा द्वारा १९३९ में एक बिल पास किया गया। इसने पहले प्रचलित सीढ़ी-प्रणाली, जिसके अनुसार समान कर की दर पूरी आय पर आरोपित की जाती थी, के स्थान पर वर्ग-प्रणाली (स्लैब सिस्टम) का प्रयोग आरम्भ कर दिया, जिसमें बढ़ती हुई दर से आय के विभिन्न अंशों पर कर आरोपित किया जाता था। आय-कर देने वालों के वर्गों की इस प्रणाली में कुछ ऐसी व्यवस्था कर दी गई थी कि थोड़ी संख्या वाले धनी लोगों से वसूली अधिक हो

१. १९५५-५६ के बजट में आय-कर सम्बन्धी निम्न परिवर्तन किये गए—

(१) विवाहित व्यक्तियों के लिए कर-मुक्त आय-वर्ग बढ़ाकर २,००० रु० कर दिया गया तथा अविवाहित व्यक्तियों के लिए इसे घटाकर १००० रु० कर दिया गया।

(२) ५,०००-१०,००० रु० के आय-वर्ग को दो वर्गों—५,००० रु० से ७,५०० रु० तक और ७,५०० रु० से १०,००० रु० तक—में विभाजित कर दिया गया तथा दूसरे वर्ग में कर की दर बढ़ाकर २ आना ३ पाई प्रति रुपया कर दी गई।

(३) १०,००० रु० से १५,००० रु० के आय-वर्ग में कर की दर बढ़ाकर ३ आना ३ पाई प्रति रुपया कर दी गई।

(४) २५,००० रु० के बाद ४,००० रु० की अर्जित आय-मुक्ति (अर्न्ड इन्कम रिलीफ़) प्रत्येक १,००० रु० पर २०० रु० से कम कर दी गई तथा ४५,००० रु० की आय होने पर कोई मुक्ति प्रदान नहीं की गई।

(५) अधिकर वर्गों का पुनर्व्यवस्थापन किया गया और अधिकर आरोपण का स्तर २५,००० रु० से घटाकर २०,००० रु० कर दिया गया।

(६) ८००० रु० की आय तक के लिए ही जीवन-बीमा के प्रीमियम तथा प्राविडेण्ट फण्ड के लिए दी जाने वाली रकम की छूट की सीमा कुल आय के ⅙ भाग पर निश्चित कर दी गई।

(७) २०% के वर्तमान हिसाब अधिदेय (डेप्रिशिएटिड अलाउन्स) के स्थान पर ३१, मार्च १९५४ के बाद स्थापित नई मशीनों और यन्त्रों की लागत पर २५% का विकास-अवहार प्रदान किया गया।

(८) कर-व्यवस्था के मुक्तीकरण के लिए भी अनेक परिवर्तन किये गए। उदाहरणार्थ, १८,००० रु० से अधिक आय वाले वेतनभोगियों को प्राप्त अन्य लाभ आदि भी करारोप्य कर दिये गए।

आयकर और अधिकर के इन परिवर्तनों के फलस्वरूप राजकीय आय में ८·७ करोड़ की वृद्धि अनुमानित की गई, जिसमें से ४·२ करोड़ रु० राज्यों को प्राप्त होगा।

और निर्धनों पर भार कम हो तथा कुल वसूली भी पहले की अपेक्षा अधिक मिल सके। इसके अनुसार कर देने वाले से उसकी आमदनी का पूरा विवरण अनिवार्य रूप से प्राप्त करके पति-पत्नी दोनों की सम्मिलित आय पर कर वसूल करने की अनुमति प्राप्त थी। इसका ध्येय ऐसे लोगों और फर्मों को कर देने से न बचने देना था जिनके लिए कर देना न्यायसंगत तथा आवश्यक था, पर वर्तमान कर-वसूली के ढंग के अन्तर्गत उनके लिए सम्भव था कि वे किसी-न-किसी तरकीब से कर देने से बच जायँ। अधिनियम की बहुत सी आज्ञाएँ जाइंट स्टॉक कम्पनियों से सम्बन्ध रखती थीं, विशेषकर अवक्षयण अधिदेय (डेप्रिसिएशन अलाउन्स) की परिवर्तित व्यवस्था के कारण। इस अधिनियम में पारिवारिक अधिदेय के रूप में आय-कर में छूट देने की व्यवस्था नहीं थी। पारिवारिक अधिदेय (फैमिली एलाउन्स) देने के विरुद्ध मुख्य आपत्ति यह थी कि ऐसी छूट बहुत बड़ी संख्या में देनी पड़ेगी जो छूट बहुत मँहगी सिद्ध होगी।

९. कृषि-आय पर कर[1]—आय-कर के सुधार का दूसरा अंग कृषि-आय पर कर से सम्बन्धित था। सर वाल्टर लेटन ने इस बात की सिफारिश की थी कि कृषि-आय की कर-मुक्तता निश्चित अवधि में धीरे-धीरे हटा देनी चाहिए।[2] यह तर्क कि अन्य देशों में मालगुजारी आय-कर के ही स्थान पर वसूल की जाती है और यदि आय-कर भी आरोपित कर दिया जाय तो एक प्रकार से दुहरा कर लग जायगा, युक्तिसंगत नहीं लगता; क्योंकि मालगुजारी उत्पादकता की वृद्धि के अनुपात में अस्थायी बन्दोबस्त में ही नहीं बढ़ाई जा सकती और स्थायी बन्दोबस्त में तो बिलकुल ही नहीं बढ़ाई जा सकती है। बार-बार तथा पर्याप्त मात्रा में मालगुजारी में हेर-फेर करने से बहुत सी राजनीतिक कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं और बड़े-बड़े

१. हैदराबाद में कृषि-आय पर १९५०-५१ में कर लगाया गया, परन्तु विधान और नियमों के लागू न हो सकने के कारण उस वर्ष यह कर वसूल न किया जा सका। कृषि-आय पर कर लगाने के सम्बन्ध में राजस्थान के विधानमण्डल ने २६ अप्रैल, १९५३ को कानून पास किया। १९५४-५५ के बजट में मद्रास सरकार ने चाय, कहवा, रबर और काली मिर्च पर कृषि-आय-कर लगाना प्रस्तावित किया।

यू० पी० कृषि-आय-कर विधान को संशोधित करने के लिए ११ मई, १९५४ की धारा-सभा में एक बिल पेश किया गया, जिसके अन्तर्गत अधिकर (सुपर टैक्स) समाप्त करने और कर-मुक्ति की सीमा ८,००० रु० निश्चित करने की व्यवस्था थी। बिल में कर की नई दरें भी प्रस्तावित की गईं, यथा—

कर लगने वाली आय के पहले १५०० रु० पर कोई कर नहीं लगेगा।
बाद के ३५०० रु० पर १ आ० प्रति रु० का कर लगेगा।
,, १०,००० ,, ,, २ आ० प्रति रु० ,, ,,
,, १०,००० ,, ,, ४ ,, ,, ,, ,,
,, १०,००० ,, ,, ८ ,, ,, ,, ,,
,, शेष आय पर १० ,, ,, ,, ,,

२. टैक्सेशन इन्क्वायरी कमेटी ने भी कहा था कि विभिन्न वर्ग के भूस्वामियों के बीच की असमानता कृषि-आय पर कर न होने या मृत्यु-कर के अभाव के कारण और भी अधिक बढ़ जाती है। ये कर उन्नतिशील देशों में भूमि-कर में प्रगामिता के प्रयोग का अवसर प्रदान करते हैं।

भूस्वामियों के साथ-ही-साथ छोटों पर भी उसका अनुचित भार पड़ता है। यदि कृपि-आय पर कर आरोपित कर दिया जाय तब ये आपत्तियाँ उपस्थित नहीं होतीं। भूमि-सम्बन्धी लेखा सुरक्षित रखने तथा प्रशासन और मालगुज़ारी वसूल करने से सम्बन्धित वर्तमान विशद पद्धति का प्रयोग कृपि-लाभ का अनुमान करने में बहुत अच्छे ढंग से किया जा सकता है। इस कर का एक सबसे बड़ा लाभ यह होगा कि हर प्रकार की आय—कृपीय तथा गैर-कृपीय आय—का हिसाब रखने के कारण उन लोगों की, जिनके पास भूमि भी है, गैर-कृपीय आय पर ऊँची दर से आय-कर आरोपित किया जा सकेगा। इसके साथ-ही-साथ यह परिवर्तन कर के बचाव के लिए उद्योगों में बचाये हुए धन को भूमि में लगाने की प्रवृत्ति की रोकथाम भी करेगा।

सभी कारणों से प्राप्त आय का हिसाब कर की दर के आरोपण में समझना आवश्यक होने से कर वसूल करने तथा उसका प्रबन्ध करने वाली संस्था का केन्द्रीय होना आवश्यक था तथा कर की दर भी केन्द्रीय सरकार द्वारा ही निश्चित की जानी चाहिए थी। जिस प्रान्त से जितने कर की वसूली होती उसे उचित रकम दी जा सकती थी। साइमन कमीशन की रिपोर्ट पर अपनी लिखित सम्मति देते समय भारत सरकार ने यह तर्क उपस्थित किया था कि सिद्धान्त के दृष्टिकोण से कृषि-आय को कर से मुक्त कर देने के सम्बन्ध में आपत्ति होते हुए भी परम्परा के आधार पर कृषि-आय को कर-मुक्त रहने की अनुमति थी और भूमि के क्रय-विक्रय करने वालों की यह धारणा थी कि उनके पास भूमि सदा बनी रहेगी। उन्होंने यह भी बताया था कि बहुत सी स्थानीय सरकारें भी कृपि-आय को कर-मुक्त करने की विरोधी थीं और उनका विश्वास था कि निकट भविष्य में यह सुधार कार्यान्वित नहीं किया जा सकता। १९३५ के गवर्नमेण्ट ऑफ़ इण्डिया एक्ट ने प्रत्येक प्रान्त को व्यक्तिगत रूप से अनुमति दे रखी थी कि यदि वे चाहें तो अपने प्रान्त की कृषि-आय पर कर आरोपित कर सकते हैं। १९३९ में आसाम की धारासभा ने कृषि-आय-कर विधेयक, जिसे सरकार की ओर से पेश किया गया था, थोड़े से वोटों के आधिक्य से पास कर दिया। बंगाल, बिहार और ट्रावनकोर ने भी आसाम का अनुकरण किया और कृपि-आय पर कर लगा दिया। इसी प्रकार के नियम प्रचलित करने की बात अन्य प्रान्तों में भी सोची जा रही है।[1]

१०. नमक—ब्रिटिश सरकार को नमक की आय अन्य स्थानान्तरण देयों (ट्रांज़िट ड्यूज़) के साथ अपने पूर्ववर्तियों से प्राप्त हुई थी और १८४३ में यह देय हटा दिये गए और नमक-कर घनीभूत करके बढ़ा दिया गया। १८८२ के पहले नमक-कर

१. उत्तराधिकार कर—१५ अक्तूबर, १९५३ से हमारे देश में उत्तराधिकार कर (एस्टेट ड्यूटी) लागू कर दिया गया है। इस कर को लगाने के सम्बन्ध में बहुधा यह तर्क उपस्थित किया जाता है कि सम्पत्ति को एकत्र करने में सरकार का बहुत योग होता है। अतः व्यक्ति की मृत्यु के उपरान्त कर के रूप में इस सम्पत्ति का कुछ भाग ले लेना उचित ही है। परन्तु सच तो यह है कि उत्तराधिकार में प्राप्त सम्पत्ति कर देने की क्षमता की सूचक है, अतएव उस पर कर लगाना उचित है। व्यक्तियों के लिए कर की न्यूनतम सीमा १ लाख रु० और संयुक्त परिवार के लिए ५०,००० रु० है। कर की दरें निम्न हैं—

की दर विभिन्न प्रान्तों में अलग-अलग थी। उसी वर्ष सर्वत्र उसकी दर २ रु० प्रति मन कर दी गई, पर १८८८ में विनिमय के गिराव-काल में २ रु० ८ आ० कर दी गई। १९०३ तक कर की दर वही बनी रही। १९०३ में आर्थिक स्थिति के सरल होने के कारण उसे घटाकर २ रु० ४ आ० कर दिया गया। १९०५ में फिर यह और अधिक घटाकर १ रु० ८ आ० कर दी गई और १९०७ में इसे १ रु० कर दिया गया। यह दर (१ रु० प्रति मन) १९१६ तक प्रचलित रही, परन्तु १९१४-१८ के महासमर के कारण जब आर्थिक कठिनाई का सामना करना पड़ा तब फिर इसे बढ़ाकर १ रु० ४ आ० कर दिया गया। १९२३ के बजट में इस कर को बढ़ाकर २ रु० ८ आ० कर देने का सरकारी प्रस्ताव धारासभा द्वारा अस्वीकार कर दिया गया, पर गवर्नर जनरल के विशेष अधिकार के प्रयोग से पास कर दिया गया। १९२४ में सरकार ने धारासभा को प्रान्तीय अंशदान की कमी के विकल्प के रूप में नमक-कर को घटाकर १ रु० ४ आ० प्रति मन कर देने का अवसर दिया। १९३१ में अनुपूरक वित्त अधिनियम के अनुसार ३० सितम्बर, १९३१ से यह कर फिर १ रु० ९ आ० कर दिया गया, क्योंकि यह अधिनियम वर्तमान दर पर २५% का अधिभार आरोपित करता था।[1] १९३५ के बजट सेशन में कांग्रेस पार्टी द्वारा १ रु० ४ आ० के आधारभूत नमक-कर को घटाकर १२ आ० कर देने का असफल प्रयत्न किया गया (जिसका अर्थ ३½ करोड़ रु० का घाटा होता)। इसी पार्टी ने १९३६ के बजट सेशन में इस कर को पूर्णतया हटा देने का प्रयास किया, पर असफल रही। नमक प्राप्त करने के साधनों के विषय में तथा उनकी सापेक्षिक महत्ता के विषय में पहले ही बताया जा चुका है (देखिए खण्ड १, अध्याय २, सेक्शन ३६)। देशी नमक का लगभग आधा अंश सरकार द्वारा बनाया जाता है और शेष अनुज्ञा आबकारी पद्धति के अन्तर्गत बनाया जाता है।

नमक-कर को न्यायोचित सिद्ध करने में यह कहा जाता था कि भारतवर्ष में

व्यक्ति के लिए

सम्पत्ति	कर की दर
प्रथम, १ लाख रु०	कुछ नहीं
बाद के, ५०,००० ,,	७½%
,, ५०,००० ,,	१०%
,, १,००,००० ,,	१२½%
,, २,००,००० ,,	१५%
,, ५,००,००० ,,	२०%
,, १०,००,००० ,,	२५%
,, १०,००,००० ,,	३०%
,, २०,००,००० ,,	३५%
शेष सम्पत्ति पर	४०%

संयुक्त परिवार के लिए

सम्पत्ति	कर की दर
प्रथम ५०,००० रु०	कुछ नहीं
बाद के ५०,००० ,,	५%
,, ५०,००० ,,	७½%
,, ५०,००० ,,	१०%
,, १,००,००० ,,	१२½%
,, २,००,००० ,,	१५%
,, ५,००,००० ,,	२०%
,, १०,००,००० ,,	२५%
,, १०,००,००० ,,	३०%
,, २०,००,००० ,,	३५%
शेष सम्पत्ति पर	४०%

१. देखिए खण्ड १, अध्याय २, सेक्शन ३७, नमक पर (अतिरिक्त) आयात-कर के लिए।

यही एक ऐसा प्रत्यक्ष कर है जिसका प्रभाव आम जनता पर पड़ता है। इस कर के विरोध में जो मुख्य तर्क उपस्थित किया जाता था वह यह था कि यह कर आवश्यकता (नैसेसिटी ऑफ़ लाइफ़) पर लगाया गया है।[1] धनिकों की अपेक्षा निर्धनों पर इस कर का अधिक भार पड़ता था, इसलिए यह प्रतगामी कर था; क्योंकि धनिकों की अपेक्षा निर्धनों की आय का अधिक अंश नमक पर खर्च होता है। इस कर के पक्ष में यह कहा गया था कि यह बहुत प्राचीन कर है और प्राचीन कर को कर नहीं समझना चाहिए, क्योंकि कर देने वालों की आदत पड़ जाने से उन्हें कर के भार का अनुभव ही नहीं होता। यह भी कहा जाता था कि इस कर का भार भी इतना कम था कि भारत जैसे निर्धन देश में भी उसे नगण्य समझा जा सकता था।[2] इसलिए यदि इस कर को हटा लिया जाय तो लोग इसके छुटकारे के सुख का तो अनुभव भी न कर पायेंगे, पर राज्य-कोष में आय की बहुत बड़ी कमी हो जायगी।[3] जो कुछ भी हो, नमक-कर का विरोध उतना ही पुराना था जितना कि अंग्रेजी राज्य का विरोध, इसलिए यह बात तो स्वयं-सिद्ध ही थी कि जब जनता का राज्य स्थापित होगा तो सबसे पहला कार्य नमक-कर का हटाना होगा। इसलिए १० मार्च, १९४७ में इस कर को हटा देने की बजट-घोषणा से किसी को आश्चर्य नहीं हुआ।[4]

११. अफ़ीम—जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, अभी हाल तक अफ़ीम आय का महत्त्वपूर्ण साधन था और इस मद से प्राप्त आकस्मिक लाभ बहुत ही कुख्यात है। अफ़ीम की आय को प्रशासन-प्रणाली सरकारी एकाधिकार के उत्पादन और विक्रय की थी, क्योंकि भारी निर्यात-कर की अपेक्षा उपर्युक्त पद्धति अधिक सन्तोष-जनक थी तथा इसके अन्तर्गत चुरा-छिपाकर अफ़ीम बेचने की सम्भावना भी न थी।

१९३५ के अन्त तक अफ़ीम से आय प्राप्त करने के तीन साधन थे—(१) विदेशों को भेजने के लिए सरकारी कारखानों में निर्मित अफ़ीम से प्राप्त एका-

१. नमक-कर के समालोचक प्रायः यह भी कहा करते थे कि १९०३ से निरन्तर इस कर को घटाते जाने के कारण नमक के उपभोग में वृद्धि होती गई है, जिसका अर्थ यह था कि अदूरदर्शिता के कारण इस कर को बहुत ऊँची दर से लागू किया गया था। जो-कुछ भी हो, हमें इस बात का कोई विश्वसनीय प्रमाण नहीं मिलता कि कर के कारण इस वस्तु के उपभोग में कहीं कमी हुई हो। इसके विपरीत आँकड़े यह प्रदर्शित करते हैं कि कर की दर में परिवर्तनों के होते हुए भी पिछले ३० वर्षों में प्रति व्यक्ति उपभोग समान ही रहा है।

२. यदि प्रति व्यक्ति आधा सेर नमक उपभोग मान लिया जाय तो भी कर प्रति व्यक्ति प्रति मास ९ पाई पड़ता है। देखिए, 'ईस्टर्न इकनोमिस्ट', ७ मार्च १९४७, पृष्ठ-संख्या ४४२ 'एण्ड ऑफ़ साल्ट ड्यूटी' शीर्षक लेख।

३. १९४१ और १९४७ के बीच नमक-कर से प्राप्त आय ८·३४ करोड़ से १०·९१ करोड़ रुपये तक बदलती रही।

४. १९४८ में प्रकाशित एक अध्यादेश में पाकिस्तान की सरकार ने पाकिस्तान में फिर से यह कर आरोपित कर दिया और उसके पक्ष में वही प्राचीन तर्क उपस्थित किया, जैसे (१) प्रत्येक नागरिक को सरकारी कोष में कर द्वारा कुछ-न-कुछ अवश्य देना चाहिए, (२) नमक-कर से सरकारी आय वसूली के बहुत कम खर्चे पर ही पर्याप्त मात्रा में होती है तथा (३) व्यक्तिगत उपभोक्ता के ऊपर उसका भार बहुत ही नगण्य है।

धिकार लाभ, (२) अफ़ीम की खरीदारी पर आरोपित निर्यात-कर से प्राप्त आय जो कि राजपूताना और मध्यभारत की रियासतों से भेजी जाती थी, और (३) ब्रिटिश भारत में अफीम के उपभोग से प्राप्त एकाधिकार लाभ, जो कि लाइसेन्स फ़ीस अथवा ठेकेदारी की फीस के रूप में मिलता था। यह आय उत्पाद-कर के अन्तर्गत दिखलाई जाती थी और पहले दो साधनों से प्राप्त आय अफ़ीम के अन्तर्गत दिखलाई जाती थी।

१६०७ में ह्वाइट हाल के दबाव के कारण भारत सरकार को चीन से एक समझौता करना पड़ा, जिसके अनुसार चीन भेजने के लिए सरकारी विक्रय १६१४ से बन्द कर दिया गया। ऐसा कहा जाता था कि इस प्रकार अंग्रेजों की न्याय-परायणता की भावना की सन्तुष्टि भारतीय आय की बलि देकर हुई। यह भी शिकायत की गई थी कि चीन ने स्वयं इस समझौते के अनुसार अपने कर्त्तव्यों को पूरा नहीं किया और अपनी अफ़ीम की उत्पत्ति को घटाने में असमर्थ रहा। आजकल अफ़ीम से प्राप्त आय पहले की अपेक्षा बहुत कम हो गई है। जबकि १६१३ के पहले के तीन वर्षों की वार्षिक औसत आय लगभग ८ करोड़ रुपये थी, १६४१ में केवल १½ करोड़ रुपये से भी कम हो गई। फरवरी, १६२६ में लार्ड रीडिंग ने यह घोषणा की कि भविष्य में सरकार की नीति अफ़ीम के निर्यात को लीग ऑफ़ नेशन्स के आदेशानुसार औषधि सम्बन्धी प्रयोगों को छोड़कर और सब प्रकार के प्रयोगों के लिए पूर्णतः बन्द कर देने की है। भारत सरकार इस बात से भी सहमत हो गई कि १६३५ के पहले ही अफ़ीम का निर्यात पूर्णतः बन्द कर दिया जायगा, जिसका फल यह हुआ कि अ[illegible] प्रयोगों के लिए अफीम के निर्यात से प्राप्त आय का १६३५ से अन्त हो गया। अब अफ़ीम से प्राप्त आय भारत में उपयोग के लिए उसकी बिक्री पर सीमित है जो बहुत ही नियमित है। लीग ऑफ़ नेशन्स द्वारा निर्धारित पैमाने के अनुसार भारत में अफीम का उपयोग अब भी बहुत अधिक है। यह कहा जा सकता है कि अफ़ीम को अब आय का साधन समझना निरर्थक है। वास्तव में १६४३ से १६४६ तक तो यह कर एक प्रकार से सामान्य राजकीय आय पर भार-स्वरूप हो रहा है।[1]

राज्यीय आय के साधन

१२. मालगुज़ारी—खण्ड १ के अध्याय १२ में इस विषय पर हम प्रकाश डाल चुके हैं। १६३६-३७ में ब्रिटिश भारत में वसूल की गई कुल मालगुजारी ३१.८६ करोड़ रुपए थी, जबकि १६२७-२८ में यही रकम ३५.२७ करोड़ रुपए थी। यह कमी ग्रामीण क्षेत्रों में आर्थिक अवसाद का फल था। १ अप्रैल, १६३७ से बर्मा का भारत से पृथक्करण बाद में मालगुजारी से प्राप्त आय में और अधिक कमी का कारण रहा है। १६३६-४० में मालगुजारी २७.२५ करोड़ रुपया ही रह गई थी। तदनन्तर मालगुजारी की रकम में माफी कम कर देने से हुआ सुधार भी पाकिस्तान बन जाने से समाप्त हो गया।

१३. आबकारी (एक्साइज़)—आबकारी की आय नशे की वस्तुओं, जैसे गांजा, भांग,

१. १६५०-५१ में केन्द्रीय सरकार को अफीम से ६०,२५,००० रु० की आय हुई —'स्टेटिस्टिकल-एब्स्ट्रैक्ट', १६५१-५२।

अफीम इत्यादि, के बनाने तथा बिक्री से प्राप्त होती है। यह बनाने पर कर के रूप में और विक्रय अनुज्ञा (सेल लाइसेन्स) पर फीस के रूप में लिया जाता है। आय का अधिकांश देशी शराब से प्राप्त होता है। सम्पूर्ण जिले में थोक बिक्री के लिए शराब का ठेका दे दिया जाता है और फुटकर बेचने के अधिकार का नीलाम होता है। बम्बई की दो बड़ी डिस्टिलरी हाल में पूर्णतया सरकार के निरीक्षण के अन्तर्गत कर दी गईं। इस प्रकार शराब खींचने का ठेका देने की प्रणाली पर प्रतिबन्ध लगाना आरम्भ किया गया। १८६१-६२ में आबकारी की आय १७८,६१,५७० रु० और खर्च १३,५३,४७० रु० था। १९२९-३० में आय २०,४१,२३,२८५ रु० हो गई और खर्च २,१९,१८,३९१ रु० हो गया। आय की इस वृद्धि को शराबखोरी की वृद्धि का संकेत मानने का विषय विवादास्पद है। सरकार ने इसका कारण उत्पाद-कर की वृद्धि तथा कठोरतर नियन्त्रण बताया था, यद्यपि यह भी कहा गया था कि जनसंख्या की वृद्धि और कुछ वर्ग के लोगों की आर्थिक स्थिति की उन्नति भी कुछ सीमा तक इसका कारण थीं। १९३० के आर्थिक अवसाद के कारण उत्पाद-कर बहुत कम हो गया और बाद में प्रान्तों की मद्यनिषेध नीति के प्रचलन ने भी इसमें सहायता की। बर्मा का भारत से पृथक्करण भी उत्पाद-कर से लगभग एक करोड़ रुपये की आय की कमी का कारण था। उदाहरण के लिए १९३६-३७ में इससे प्राप्त आय १५·३७ करोड़ रुपए थी और १९३९-४० में १२·२९ करोड़ रुपए (बर्मा को छोड़कर) हो गई।

जनता इस बात को लोगों में मद्यपान की आदत की वृद्धि का निश्चित लक्षण समझकर बहुत चिन्तित हुई। यद्यपि मद्यपान के दोष को रोकने के विषय में इस बात पर सभी सहमत हैं कि बड़े साहस और अध्यवसाय के साथ काम करना आवश्यक है, पर यह कैसे किया जाय इस पर एकमत नहीं हैं। कांग्रेस मन्त्रिमण्डलों द्वारा प्रान्तीय सरकार का कार्य-भार अपने हाथों में लेने के पहले सरकार यथासम्भव मूल्य बढ़ा देने के उपाय पर विशेषतया निर्भर थी, परन्तु मूल्य इतना अधिक नहीं बढ़ाया जाता था कि अवैध रूप से शराब बनाना आरम्भ हो जाय। शराब के उपयोग में कमी करने के दूसरे उपाय राशनिंग, दुकानों की संख्या में कमी, पास रखी जाने वाली शराब की मात्रा में कमी, शराब की तेज़ी में कमी, बिक्री के घण्टों में कमी आदि थे। गैर-सरकारी मत उत्पाद-कर की दर ऊँची करने के स्थान पर मात्रा पर नियन्त्रण करने, दुकानों की संख्या को कठोरतर नियमों में नियमित करने के पक्ष में था। बम्बई सरकार ने प्रतिवर्ष एक निश्चित मात्रा में देशी शराब देने की नीति का अनुसरण किया, जिसकी वार्षिक मात्रा उत्तरोत्तर घटती जाती थी। जुलाई, १९३७ में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल, जो मद्य-निषेध की नीति के अनुसरण के लिए वचनबद्ध था, के शासन ग्रहण कर लेने से इस समस्या की गम्भीरता बढ़ गई। बहुत से प्रान्तों ने मद्य-निषेध का कार्यक्रम आरम्भ कर दिया जो कि विभिन्न प्रान्तों की स्थानीय स्थिति और इसके फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली आर्थिक कठिनाई को सहन करने की शक्ति पर निर्भर था। इस मामले में मद्रास सरकार ने बड़े साहस से सलेम जिले में पूर्ण

मद्य-निषेध करके नेतृत्व किया। बिहार ने इसका अनुकरण किया। जुलाई, १९३८ में बम्बई ने अहमदाबाद नगर में तथा अगस्त, १९३९ में बम्बई नगर तथा टापू में पूर्ण मद्य-निषेध प्रचलित कर दिया। बम्बई में कांग्रेस सरकार की पूर्ण निषेध की नीति प्रचलित करने में कुछ कानूनी और व्यवस्था की कठिनाइयों के कारण १९४० में निषेध-नियमों को कुछ ढीला करना पड़ा। कुछ प्रान्तों ने छोटे-छोटे क्षेत्रों को चुना, अन्य ने दुकानों को बन्द करवाकर शराब की बिक्री की रोकथाम की और लाइसेन्स पर नियन्त्रण कठोरतर किया तथा जिन स्थानों पर शराब बनने और बिकने की मनाही थी, परन्तु बाहर से लाकर प्रयोग में आ सकती थी, उन्हें 'शुष्क' घोषित कर दिया। अब देश के स्वतन्त्र हो जाने और शासन की बागडोर कांग्रेस के हाथ में होने के कारण भारतीय संघ की राज्यीय सरकारें मद्य-निषेध के लिए कठिन परिश्रम कर रही हैं।[1]

मद्य-निषेध के विरोधी बराबर यह कहा करते हैं कि यदि इसकी रोक के लिए जल्दी की गई अथवा कठोर नियम प्रचलित किये गए तो दोहरी कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। सबसे पहले तो तुरन्त आय में कमी हो जायगी और प्रतिबन्ध लगाने वाली संस्थाओं पर, जो चौर्यपणन तथा अवैध शराब खींचने की रोकथाम के लिए स्थापित की जायँगी, खर्च भी बढ़ जायगा। करोड़ों रुपये, जो अन्यथा शिक्षा, सिंचाई की सुविधाओं तथा देश की उन्नति के लिए अन्य कामों पर खर्च किये जा सकते हैं, वे सब व्यर्थ हो जायँगे। यदि पूर्ण मद्य-निषेध के लिए एकबारगी प्रय[त्न] किया गया तो यथार्थ में ये कठिनाइयाँ बड़े भयंकर रूप में उपस्थित होंगी। दूसरा भय इस बात का है कि बुराई, जो भय के कारण दबा दी जाती है, वह कोई दूसरा उग्रतर रूप धारण करके उपस्थित होती है। इस प्रकार यह शिकायत की जाती है कि देशी शराब के प्रयोग पर रोकथाम लगाने के परिणामस्वरूप विदेशी शराब के प्रयोग में वृद्धि हुई है और लोग शराब के स्थान पर मेथिलेटिड स्पिरिट पीते पाये गए हैं। इस बुराई को समाप्त करने के प्रयत्न तभी सफल हो सकते हैं जबकि सर्व-साधारण के मन में यह भावना उत्पन्न हो जाय कि मद्यपान जुर्म है और यह शिक्षा द्वारा ही सम्भव है। समस्त देश के लिए मद्यपान-सम्बन्धी एक ही नीति होनी चाहिए ताकि चौर्यपणन तथा अन्य बुराई न बढ़ने पाए।

इन बातों के प्रभाव से यदि मद्यपान-निषेध की नीति धीमी गति से ही क्यों

१. पाकिस्तान की सरकार ने भी अपनी नीति मद्य-निषेध के पक्ष में घोषित की है, पर कांग्रेस सरकार की तरह वह मद्य-निषेध के लिए आबद्ध नहीं है। इसलिए वे इस समस्या के प्रति कम कट्टरता तथा अधिक वास्तविकता से काम लेंगे। भारत के कुछ राज्य बड़ी तीव्र गति से इस ओर बढ़ रहे हैं। उदाहरण के लिए मद्रास ने २ अक्तूबर, १९४८ से पूर्ण मद्य-निषेध प्रचलित कर दिया है, जिससे १७ करोड़ रुपये की आय का घाटा हुआ। बम्बई ने ४ वर्ष में पूर्ण निषेध का इरादा किया, जो कि १९४७ से आरम्भ हुआ और ७ अप्रैल, १९५० में पूरा हो गया। यदि अन्य राज्य जरा धीमी गति से चलने के लिए बाध्य हैं तो ऐसा आर्थिक विचारों के फलस्वरूप अनिवार्य हो गया है। परन्तु सभी राज्य यथासम्भव तीव्र गति से एक ही दिशा में चल रहे हैं और सबने एकमत होकर पूर्ण निषेध को ही मद्यपान के दोष दूर कर देने का एकमात्र उपाय मान लिया है।

न लागू की जाय, फिर भी आय में कमी तो टाली नहीं जा सकती।

१४. आय के अन्य साधन—(१) स्टाम्प स्टाम्प से आय व्यापार तथा न्यायालय-सम्बन्धी स्टाम्पों की बिक्री से प्राप्त होती है। न्यायालय-सम्बन्धी स्टाम्प वे हैं जो मुकदमों और अन्य आवश्यक कागजों की फीस के रूप में माल और फौजदारी की कचहरियों में जमा किये जाते हैं। व्यापारिक स्टाम्प वे हैं जिनका प्रयोग उन व्यापारिक लेन-देन में होता है जो लिखा-पढ़ी में होते हैं, जैसे जायदाद, भूमि और हुण्डी आदि एक व्यक्ति से दूसरे के पास जाने में। न्यायालय में प्रयोग किये जानेवाले स्टाम्प की आय कुछ लोगों के मत से वास्तव में कर से प्राप्त आय नहीं है, क्योंकि वे इसे न्यायालय जैसे मँहगे विधान की सेवाओं के लिए दी जाने वाली रकम समझते हैं। ब्रिटिश भारत में १६३६-४० में स्टाम्प से १०·१४ करोड़ रुपये की आय हुई थी। हाल के वर्षों में अनेक राज्यों में ऋण-मुक्ति अधिनियमों (डेट रिलीफ लेजिस्लेशन) के होते हुए भी इस आय में वृद्धि हुई है।[1]

(२) वन—इस साधन से आय मुख्यतः लकड़ी तथा अन्य उत्पत्ति की बिक्री, पशु चराने की फीस, पेड़ों तथा जंगल की अन्य उत्पत्ति को काटने के लाइसेन्स की फीस द्वारा प्राप्त होती है। बाजार की स्थिति के अनुसार आय की मात्रा में परिवर्तन होता है। यदि जंगलों की देख-रेख उचित ढंग से हो और उनकी उत्पत्ति का उचित प्रयोग किया जाय तो भविष्य में इस प्राप्त आय की वृद्धि की बहुत अच्छी सम्भावना दिखाई पड़ती है। राज्यीय सरकारें, जिनके अधिकार में ये जंगल दे दिये गए हैं, प्रतिवर्ष करीब २½ करोड़ रुपये का वास्तविक लाभ आर्थिक अवसाद-काल के आरम्भ तक उठाती रही हैं। अवसाद-काल में वास्तविक लाभ बहुत कम होगा, उदाहरणार्थ १६३३-३४ में केवल ७४·६० लाख रुपया था। १८६४-७० के बीच वास्तविक वार्षिक लाभ लगभग १४ लाख रुपया था। जंगलों से अधिक और स्थायी आय प्राप्त करने के लिए आरम्भ में बहुत अधिक खर्च की आवश्यकता है। १६३६-४० में जंगलों से कुल आय ३·०१ करोड़ रुपया थी, जबकि १६३६-३७ में भारत और बर्मा के अलग किये जाने के पहले आय ४·४० करोड़ रुपया थी। लड़ाई के समय में लकड़ी की असाधारण माँग के कारण आय बहुत बढ़ गई थी और अब भी काफी अधिक है।[2]

---

१. भाग 'क' राज्यों में स्टाम्पों से हुई आय १६४८-४६ में १६३०·३३ लाख रु० थी, परन्तु १६५४-५५ में इसके १६३३·६० लाख रु० तक बढ़ने की सम्भावना थी। १६३८-३६ में भाग 'क' राज्यों में स्टाम्पों की आय कुल कर-आय की ५·५ प्रतिशत थी। १६४८-४६ में यह प्रतिशत ८·५ तथा १६५२-५३ (बजट) में ८·३ था। मद्रास राज्य के विभाजित होने से पूर्व स्टाम्पों से सबसे अधिक आय मद्रास में होती थी और सबसे कम आसाम में। मद्रास के विभाजित होने पर सबसे अधिक आय बम्बई में है।

२. हाल के वर्षों में वनों से प्राप्त आय निम्न प्रकार की रही है—

भाग 'क' राज्य		(लाख रु० में)	
वर्ष १६३८-३६	१६४६-४७	१६४८-४६	१६५४-५५ (बजट)
आय २६१·६७	१०६६·१४	१०६४·५३	१४८७·०७

भाग 'क' राज्यों में १६५०-५१ में वनों से प्राप्त आय ४०७·७८ लाख रु० थी, १६५२-५३ (बजट) में यह बढ़कर ४६४·४४ लाख रु० हो गई।

(३) रजिस्ट्रेशन—रजिस्ट्रेशन से आय न्यायालयों में प्रयोग किये जाने वाले स्टाम्पों से प्राप्त आय की ही तरह होती है और विशेषकर रजिस्ट्री किये जाने वाले प्रलेखों (डाक्यूमेंट) के मूल्य पर निर्भर होती है। दानपत्रों तथा स्थायी सम्पत्ति के क्रय-विक्रय के सम्बन्ध में रजिस्ट्री होना अनिवार्य है और अन्य मामलों में ऐच्छिक। रजिस्ट्रेशन की फीस को एक प्रकार से सेवाओं का मूल्य कह सकते हैं। इससे लाभ तर्क में स्थिरता, उभयपक्ष वालों का सारी कार्यवाही को प्रकाशित कर देने के लिए बाध्य होना तथा लिखा-पढ़ी में एक सन्तोषप्रद सबूत का होना, जिससे या तो भविष्य में मुकदमेबाज़ी कम हो जाय अथवा न्यायालयों में उनका निर्णय जल्दी हो जाय, आदि हैं। कुल आय इस साधन से बहुत कम (१'१८ करोड़ रुपया) है, पर कुछ दिनों से इसमें वृद्धि के चिह्न दिखाई पड़ने लगे हैं।[1]

(४) परिगणित टैक्स—१९२१ के सुधारों के अनुसार प्रान्तीय सरकारों को इन करों के आरोप का अधिकार दे दिया गया था, पर प्रान्तों ने इन करों के विशेष लाभदायक न होने अथवा किसी अन्य कारण से अपने इस अधिकार का समुचित रूप से प्रयोग नहीं किया। जुए और मनोरंजन पर कर अनेक प्रान्तों द्वारा लगाये गए हैं, जैसे बंगाल, बम्बई, मद्रास, उत्तर प्रदेश और आसाम। उनसे प्राप्त आय बहुत कम है, पर बढ़ रही है।

१५. प्रान्तीय स्वायत्त-शासन के अन्तर्गत नये कर—गवर्नमेण्ट ऑफ़ इण्डिया एक्ट १९३५ के अन्तर्गत प्रान्तीय स्वायत्त शासन के १ अप्रैल, १९३७ से आरम्भ होने के कारण प्रान्तों में कुछ ऐसे नये कर लगाये गए जिनके आरोपण का अधिकार उन्हें नये विधान में प्राप्त था। इन नये करों के आरोपित करने का आशय आय और व्यय के बीच के व्यवधान को पूरा करता था। यह व्यवधान कुछ तो कांग्रेस मन्त्रिमण्डल की मद्यपान-निषेध नीति और कुछ सामाजिक सेवा-संस्थाओं को अधिक शक्तिशाली बनाने के लिए किये गए व्यय के कारण उत्पन्न हो गया था। इन नये करों में, जिन्हें प्रान्तों ने प्रचलित किया, बिक्री-कर (सैल्स टैक्स), रोजी-कर (एम्पलायमेण्ट टैक्स) तथा स्थायी सम्पत्ति-कर के नाम यहाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

नये विधान के अन्तर्गत अपने अधिकार का प्रयोग करने वालों में मध्य प्रदेश सबसे प्रथम था। १९३८ में एक अधिनियम द्वारा उसने मोटर स्पिरिट और मशीनों मे देने वाले तेलों की फुटकर बिक्री पर कर आरोपित कर दिया। इसी प्रकार के चुने हुए अन्य बिक्री-कर (सेल्स टैक्स) फुटकर बिक्री पर अन्य प्रान्तों, जैसे उत्तर प्रदेश बिहार, आसाम, बम्बई आदि, द्वारा भी आरोपित कर दिये गए। बम्बई के १९३९ के बिक्री-कर अधिनियम (सेल्स टैक्स एक्ट) के अनुसार चुनी हुई दो वस्तुओं—मोटर स्पिरिट

१. भाग 'क' राज्यों में रजिस्ट्रेशन से प्राप्त आय १९३८-३९ में ११०'२१ लाख रु० थी। विभाजन से ठीक पहले १९४६-४७ में यह २९४'३४ लाख रु० थी। १९४८-४९ में यह २४६'४६ लाख रु० थी। १९५२-५३ में इस आय के ३४३'४८ लाख रु० तक बढ़ने की सम्भावना थी।

भाग 'ख' राज्यों में इस साधन से १९५०-५१ में ६१'८९ लाख रु० की आय हुई और सम्भावना यह थी कि १९५२-५३ में यह बढ़कर ६८'७६ लाख रु० हो जायगी।

तथा मशीनों द्वारा निर्मित वस्त्र—की फुटकर बिक्री पर बिक्री-कर लगाने का अधिकार प्राप्त था। व्यवस्था की कठिनाइयों के कारण कपड़े पर बिक्री-कर लागू नहीं किया गया। १६३६ का मद्रास का सामान्य बिक्री-कर अधिनियम (जनरल सेल्स टैक्स एक्ट) सर्वांगीण था, जो सभी वस्तुओं पर लागू होता था। यह कर मद्रास में कुल बिक्री से आवश्यक खर्चे निकाल देने पर वास्तविक बिक्री पर लगाया जाता था। वस्तुओं की बिक्री पर इसी प्रकार का सामान्य कर बंगाल में बंगाल वित्त अधिनियम द्वारा १६४१ में आरोपित किया गया।[1]

१६३६ में पास किये गए एम्प्लायमेण्ट टैक्स बिल के अन्तर्गत उत्तर प्रदेश की सरकार ने पेशेवर लोगों के वेतन पर क्रमिक दर से कर लगाया, जो कभी-कभी कर देने वाले की आय का १०% तक होता था। बाद में गवर्नमेण्ट ऑफ़ इण्डिया एक्ट के संशोधित रूप के अनुसार इस कर को इस प्रकार परिवर्तित करना पड़ा कि किसी व्यक्ति द्वारा दिये जाने वाला कुल कर ५० रु० प्रतिवर्ष से अधिक न होने पाये। १६३६-४० में बंगाल की सरकार ने एम्प्लायमेण्ट टैक्स बिना किसी क्रम के ३० रु० प्रतिवर्ष सभी प्रकार के व्यवसाय-व्यापार तथा पेशों के ऐसे ही लोगों पर लगाया जो आय-कर देते थे।

१६३६ में बम्बई के कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल ने यह निश्चय किया कि बम्बई और अहमदाबाद में स्थित अचल सम्पत्ति पर, जिसके मूल्य का अनुमान लगाया जा सकता था, १०% का कर लगाया जाय ताकि आय का वह घाटा, जो मद्य-निषेध-नीति के प्रचलन से हुआ था, पूरा हो जाय।

सेल्स टैक्स के विरोध में यह कहा जाता है कि उसके कारण जीवन-यापन-खर्च बढ़ जाता है, मजदूरी की दर में उथल-पुथल मचती है, उपभोग सीमित हो जाता है, उत्पत्ति अवरुद्ध होती है और व्यापार तथा व्यवसायों में हस्तक्षेप होता है। इस कर के आरोप का मुख्य कारण उसकी कम खर्चे पर वसूली की सुविधा रही है। इस गुण से ही प्रान्त इसकी ओर आकर्षित हुए।

नये करों ने प्रान्तीय और केन्द्रीय सरकारों के करारोपण और वसूली के वैधानिक अधिकारों के प्रश्न को जन्म दिया। उदाहरण के लिए पेट्रोल-कर, जिसे मध्य प्रदेश की सरकार ने लगाया था, उसके विरुद्ध केन्द्रीय सरकार ने संघानीय न्यायालय में यह मुकदमा चलाया कि प्रान्तीय सरकार केन्द्रीय सरकार के कर लगाने (उत्पाद-कर) के अधिकारों का, जो उन्हीं के लिए सुरक्षित हैं, अतिक्रमण कर रही है। संघानीय न्यायालय ने इस आधार पर प्रान्तीय सरकारों के हित में न्याय किया कि केन्द्रीय विधानमण्डल को वस्तुओं पर उत्पाद-कर लगाने का उसी समय तक एकाकी अधिकार है जब तक कि वे किसी प्रान्त-विशेष की सम्पत्ति नहीं बन जातीं (अर्थात् उत्पादन अथवा निर्माण की स्थिति तक ही) और उसके बाद प्रान्तीय सर-

---

१. अन्य वस्तुएँ, जो सेल्सटैक्स के लिए चुन गईं वे बिजली, तम्बाकू तथा विलासिता की वस्तुएँ, जैसे मोटरगाड़ी, रेडियो आदि, थीं। बिहार में १६४८ से कोयला, कोक और अभ्रक भी बिक्री-कर के अन्तर्गत आ गए हैं।

कारों को उन वस्तुओं की बिक्री पर कर लगाने का एकाकी अधिकार है। संघानीय न्यायालय के इस हितकारी फैसले ने 'वस्तुओं की बिक्री पर' (देखिए सेक्शन ३७) वाक्यांश का वास्तविक अर्थ स्पष्ट कर दिया और प्रान्तों के लिए कर लगाने का एक विस्तृत क्षेत्र खोल दिया। साथ-ही-साथ, जैसा कि प्रधान न्यायाधीश ने भी नोट दिया था, पारस्परिक सहनशीलता की अत्यन्त आवश्यकता है, ताकि करारोपण के अधिकार वाली दोनों सरकारें कहीं अपने-अपने अधिकारों का एक साथ ही प्रयोग करके आन्तरिक परोक्ष-कर इतना न बढ़ा दें कि वस्तु का मूल्य इतना अधिक ऊँचा हो जाय कि उसका उपभोग अत्यन्त कम हो जाय।

एम्प्लायमेण्ट टेक्स के सम्बन्ध में केन्द्रीय सरकार और भारत-सचिव के दवाव डालने पर पार्लियामेण्ट द्वारा निर्णय किया गया। गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया एक्ट का संशोधित रूप दिसम्बर १९३९ में पार्लियामेण्ट द्वारा पास किया गया, जिसके अनुसार व्यवसायों, व्यापारों और अन्य देशों पर कर लगाने वाले प्रान्तीय नियम वैधानिक हो गए, पर प्रति व्यक्ति अधिक-से-अधिक ५० रु० वार्षिक कर देने की सीमा नियत कर दी गई। इस सीमा का निर्धारित किया जाना इसलिए न्यायसंगत था, क्योंकि इस अधिनियम का आशय यह कभी भी नहीं था कि प्रान्तीय कर इस प्रकार लगाए जायँ कि वे आय-कर की ही तरह हो जायँ और केन्द्रीय सरकार के आय के साधनों का अतिक्रमण करें तथा लोगों की आय पर प्रान्तीय और केन्द्रीय दोनों सरकारों द्वारा असीमित मात्रा में कर लगाया जाय।

१६. युद्धकालीन प्रान्तीय वित्त—युद्ध के कारण प्रान्तीय वित्त में अस्थायी रूप से आश्चर्यजनक उन्नति हुई। निम्न तालिका युद्धकालीन प्रान्तीय आर्थिक स्थिति पर प्रकाश डालती है—

लाख रुपयों में

	१९३९-४०	१९४०-४१	१९४१-४२	१९४२-४३	१९४३-४४	१९४४-४५	१९४५-४६
आय	९०८३	९७४८	१०७४१	१२४३१	१६३३१	२०८१८	२२९३३
व्यय	८९२२	९५१८	१०३४८	११८१८	१५३८५	२०४२८	२१८१४
कुल बचत ..	२०२	३२१	४५२	६४६	१३०४	८६३	११४४
कुल घाटा	४१	९१	५९	३३	३५८	४७३	२५
वास्तविक बचत + अथवा घाटा —	+ १६१	+ २३०	+ ३९३	+ ६१३	+ ९४६	+ ३९०	+ १११९

ऊपर दिये आँकड़ों से युद्ध आरम्भ होने के बाद आय और व्यय में निरन्तर वृद्धि होती दिखाई पड़ती है। आय की वृद्धि कृषि-उत्पत्ति के मूल्य में वृद्धि, प्रान्तीय आय के साधनों, जैसे वन आदि का उत्तरोत्तर अधिक प्रयोग, नये करों के आरोप और आय-कर के केन्द्रीय कोष में से प्रान्तों के भाग में प्रति वर्ग वृद्धि के कारण हुई थी। व्यय में वृद्धि पुलिस और रक्षा-उपायों पर अधिक खर्च करने, मँहगाई भत्ता आदि देने, अन्न की पूर्ति तथा वितरण की योजनाओं पर व्यय करने, केन्द्र के ऋण को कम करने, युद्ध के पश्चात् देश की उन्नति तथा पुनर्निर्माण की राष्ट्रीय योजनाओं

पर अधिक खर्च करने के लिए धन देने के कारण हुई। युद्ध के वर्षों में सब प्रान्तों की सम्मिलित आय की बचत के आँकड़े केन्द्रीय सरकार के उन्हीं वर्षों में रक्षा पर किये गए अधिक व्यय के कारण घाटे के आँकड़ों के बिलकुल विपरीत दिखाई पड़ते हैं। अधिकांश प्रान्तों में युद्ध के काल में बचत ही होती थी, सिवाय बंगाल के, जहाँ पर विशेष रूप से १९४३-४४ और १९४४-४५ में बहुत घाटा हुआ था।[1]

प्रान्तों द्वारा आरोपित नये करों में से कुछ कर, जैसे बिक्री-कर, का इस कारण विरोध किया गया था कि वह प्रतिगामी है। मद्य-निषेध के पक्ष के लोग भी उत्पाद-कर से अधिक आय होने के कारण प्रसन्न होने को तैयार नहीं थे। वनों से बढ़ी हुई आय की प्राप्ति के साथ-ही-साथ देश की उस हानि का भी विचार कर लेना आवश्यक है जो लड़ाई में लकड़ी की आवश्यकता की पूर्ति के लिए वनों को बुरी तरह कटवाने के कारण हुई थी। जो-कुछ भी हो, यदि यह अतिरिक्त आय उन्नति की योजनाओं और युद्धोत्तरकालीन पुनर्निर्माण तथा पुनर्वास पर विचारपूर्ण ढंग से व्यय की जाय तो स्थायी लाभ होने की सम्भावना हो सकती है।[2] विभिन्न प्रान्तों ने अपनी आय की बचत की रकम को आर्थिक और सामाजिक उन्नति की योजनाओं पर खर्च करने में भिन्न मात्रा में दूरदर्शिता का परिचय दिया। प्रान्तों के आर्थिक साधनों का अधिक-से-अधिक लाभ उठाने के लिए यह आवश्यक है कि राष्ट्रीय दृष्टिकोण से उन्नति की विस्तृत योजना बना ली जाय और प्रान्तों तथा केन्द्र के प्रयत्नों का सामंजस्य हो।

१७. भारत में सार्वजनिक व्यय—सार्वजनिक व्यय का निम्न वर्गीकरण किया जा सकता है।[3]

(१) राष्ट्रीय सुरक्षा—पैदल सेना, समुद्री सेना और हवाई सेना, सरहदी तथा सैनिक महत्ता वाली रेलें, बन्दरगाह तथा रक्षा से सम्बन्धित कारखाने और युद्ध, जैसे सरहदी मोर्चा इत्यादि पर किया जाने वाला व्यय इसके अन्तर्गत आता है।

(२) आन्तरिक शांति और व्यवस्था कायम रखना—इसके अन्तर्गत (क) पुलिस, न्यायालय और जेल पर किया जाने वाला व्यय, (ख) सामान्य प्रशासन का व्यय, (ग) कर वसूली पर किया जाने वाला व्यय, (घ) राजनीतिक व्यय, जिसमें विधानमण्डल पर खर्चा, विदेशों के प्रतिनिधियों तथा राजदूतों पर किया जाने वाला व्यय और (च) कर्मचारियों की पेन्शन, भत्ते तथा अन्य व्यय आते हैं।

(३) राष्ट्रीय उन्नति—इसके अन्तर्गत (क) नैतिक तथा (ख) आर्थिक उन्नति के हेतु किये जाने वाला व्यय आता है। पहले शीर्षक में वैज्ञानिक तथा अन्य प्रकार की शिक्षा, उपचार तथा सफाई-सम्बन्धी खर्चे और दूसरे शीर्षक में रेल, सिंचाई, सरकारी सड़कों तथा इमारतों के बनाने के विभाग पर खर्च, कृषि

१. देखिए, १९४६-४७ की 'रिपोर्ट ऑन करेन्सी एण्ड फिनान्स', पैरा ४६।

२. यदि मूल्य की वृद्धि का हिसाब रखा जाय तब तो आर्थिक स्थिति की उन्नति केवल काल्पनिक कही जा सकती है। फिर भी यह सत्य है कि सामान्य शीर्षकों पर प्रान्तीय व्यय आय की वृद्धि के अनुपात में नहीं बढ़ाया गया है।

३. देखिए, शाह, 'सिक्सटी ईअर्स ऑफ इण्डियन फिनान्स' पृष्ठ ४४-४६।

तथा अकाल पर व्यय, तार और डाक पर खर्च और सरकारी ऋण पर दिये जाने वाला व्याज आदि आते हैं। अनुत्पादक ऋण का व्याज पहले अथवा दूसरे शीर्षक के ही अन्तर्गत रखा जाना चाहिए।

१८. राज्य-व्यय की वृद्धि—१८५८-५९ से कितनी तीव्र गति से राज्य-व्यय में वृद्धि हुई है। यह निम्न तालिका से स्पष्ट है[1]—

भारत में राज्य-व्यय (केन्द्रीय तथा प्रान्तीय)[2]

करोड़ रुपयों में

वर्ष	मात्रा	वर्ष	मात्रा
१८५८-५९	५०'१९	१९२९-३०	२२६'८१
१८६८-६९	५८'२९	१९३०-३१	२३०'४२
१८९९-१९००	८८'०७	१९३१-३२	२२०'०९
१९०२-३	७८'३४	१९३२-३३	२०९'५५
१९१०-११	११५'१२	१९३३-३४	२०५'२७
१९१३-१४	१२४'३४	१९३५-३६	२०९'७६
१९१८-१९	१९०'६१	१९३६-३७	२११'१८
१९२०-२१	२१८ ६७	१९३७-३८	२०५'५८
१९२१-२२	२२२'०२	१९३८-३९	२०७'४७
१९२३-२४	२०६'४८	१९४४-४५	४९६ ७१
१९२४-२५	२१० ७५	१९४५-४६	३६०'२३[3]
१९२५-२६	२१५'७५	१९४६-४७	३८१'४८
१९२६-२७	२२१'८२	१९४९-५०	३३६'००
१९२७-२८	२१८ ७३	१९५०-५१	३३७'८८
१९२८-२९	२२२'२१		

१९. राजकीय व्यय की समालोचना—ऊपर दी हुई तालिका इस शताब्दी के आरम्भ से विशेषकर १९१३-१४ से, आर्थिक अवसाद के वर्ष तक, जबकि व्यय का कम करना आवश्यक हो गया, राजकीय व्यय में निरन्तर वृद्धि प्रकट करती है। जैसा कि स्वर्गीय गोखले ने बहुत दिन हुए कहा था, "राजकीय व्यय की वृद्धि हमेशा चिन्ता और भय का कारण नही होनी चाहिए।" इस बारे मे बहुत-कुछ इस बात पर निर्भर रहता है कि व्यय की वृद्धि किसलिए की गई है तथा उसका परिणाम क्या हुआ है। अन्य देशों

१. देखिए, के० टी० शाह, 'सिक्सटी ईअर्स ऑफ इण्डियन फिनान्स' दूसरा संस्करण, पृष्ठ ४६, 'साइमन कमीशन रिपोर्ट', खण्ड २, पैरा २५४, 'स्टेटिस्टिकल एब्सट्रेक्ट फार ब्रिटिश इण्डिया' (१९३७-३८) तालिका १११, 'फिनान्स एण्ड रेवेन्यू अकाउन्ट ऑफ दि गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया' तालिका ५ और ६।

२. हाल के वर्षों में केन्द्रीय सरकार का व्यय निम्न आंकडों से स्पष्ट है—

(करोड रुपयों में)

१९५१-५२	१९५२-५३	१९५३-५४	१९५४-५५	१९५५-५६
३८७'३	३७९'४	४१५'१	४५०'८	४९८'९

३. व्यय में कमी १९४४-४५ की अपेक्षा रक्षा पर खर्च कम हो जाने के कारण हुई थी।

में प्रजातन्त्र राज्य के अन्तर्गत राजकीय व्यय की वृद्धि जनता की शक्ति और राष्ट्र की सुरक्षा बढ़ाने में सहायक हुई है और उनकी बुद्धि के विकास तथा उन्नति का कारण बनी है, परन्तु हमारे देश के निरन्तर बढ़ने वाले व्यय ने साम्राज्यशाही प्रबन्ध, दोषपूर्ण वैधानिक नियन्त्रण और विदेशी शासन के अन्तर्गत केवल उत्तरोत्तर आय के साधनों का शोषण करने में तथा राष्ट्रीय उन्नति में बाधा डालने में सहायता की है और हमारे रक्षा के साधनों को कमज़ोर बनाकर हमारे ऊपर अनिश्चित आर्थिक बोझ लाद दिया है। आगे बढ़ने वाली साम्राज्यवादी सरहदी नीति, युद्ध-विजय के अवसर की आवश्यकताओं, साम्राज्य की सुरक्षा और अंग्रेज व्यापारियों के दबाव में आकर व्यापारिक संस्थाओं के लिए उधार लेने में बाधा होने के कारण सारे करों के होते हुए भी भारत सरकार के पास राष्ट्रीय शिक्षा के ऊपर खर्च करने के लिए धन नहीं बचता।[1] श्री गोखले के मतानुसार राजकीय व्यय की अधिकांश वृद्धि प्रथम स्वातन्त्र्य-युद्ध (गदर) जनित भय और अविश्वास के कारण थी जिसकी वजह से ऊँचे वेतन वाले अंग्रेज अफसर सेना तथा देश के शासन-प्रबन्ध के लिए नियुक्त किये जाते थे।

१९१४-१८ के बीच और इसके बाद में राजकीय व्यय में सबसे अधिक वृद्धि हुई। सेना पर हमारा खर्च तो पहले से ही अधिक था, अब तो वह बड़ी तीव्र गति से बढ़ गया। १९१३-१४ में २९·८४ करोड़ रु० था जो १९१८-१९ में बढ़कर ६६·७२ करोड़ रुपया और १९२०-२१ में ६७·३८ करोड़ हो गया, उसके पश्चात् १९२७-२८ में घटकर ५४·९२ करोड़ रुपया हो गया। सेना का बजट चार वर्ष के लिए १९२८-२९ में ५५·१ करोड़ पर जाकर स्थिर हो गया।[2] १९२२-२३ की इन्चकेप कमेटी ने इस बात की सिफ़ारिश की थी कि सेना का खर्च घटाकर ऐसा कर देना चाहिए कि किसी हालत में ५० करोड़ रुपये से आगे न बढ़े। साइमन कमीशन का अनुमान था कि सेना का यन्त्रीकरण समाप्त हो जाने पर सेना का खर्च ५२ करोड़ रुपये तक घट जायगा और यदि नीति में परिवर्तन न हुआ तो निम्न मूल्य-स्तर पर पहुँचने के लिए और भी कम हो जायगा। रक्षा के व्यय में १९३६-३९ के बीच बहुत कमी की गई और १९३६-३७ में रक्षा की सेना पर (सैनिक आय काटकर) वास्तविक व्यय ४५·४५ करोड़ रु०, १९३७-३८ में ४७·३५ करोड़ रु० और १९३८-३९ में ४५·१८ करोड़ रुपया था। यह भारी कमी मूल्य में कमी, अंग्रेजी सिपाहियों के वेतन में संशोधन, भारतीय सेना के व्यय के लिए ब्रिटिश गवर्नमेण्ट द्वारा २ करोड़ रुपये का अनुदान, जो केपिटेशन ट्रिब्यूनल के आदेशानुसार दिया गया था, सैनिक उपस्करों की उन्नति की योजना को स्थगित कर देने, छटनी करने तथा वेतन घटा देने आदि के कारण थी। १९३८ में अंग्रेजी सरकार ने निश्चय किया कि भारत में अंग्रेजी घुड़सवार तथा पैदल सेना के अंग को यन्त्राधारित बनाने के पूँजी-खर्च में वह ८० लाख रुपया देगी तथा उसी वर्ष अंग्रेजी सरकार ने यह बात भी स्वीकार कर ली कि भारत, जो एक लाख पौण्ड वार्षिक समुद्री रक्षा के खर्च के लिए

१. वेल्बी कमीशन (१८९७) के समक्ष स्वर्गीय गोखले की लिखित साक्षी।

२. आर्थिक अवसाद के आगमन से कंट्रेक्ट अनुदान और पुनर्निर्माण प्रोग्राम को स्थगित करना आवश्यक हो गया।

दिया करता था, उसको बन्द कर दिया जाय। पर इस रिआयत के साथ यह शर्त थी कि भारत एक समुद्री सेना रखे, जिसमें कम-से-कम छः आधुनिक रक्षा करने वाले जहाज़ हों जो भारत की रक्षा के लिए रखी हुई राजकीय समुद्री सेना (रॉयल नेवी) के साथ भारतीय बन्दरगाहों की रक्षा के उत्तरदायित्व को निभाने के साथ ही रायल नेवी से सहयोग करें। इस प्रबन्ध से रॉयल इण्डियन नेवी का विकास हो सकता था।

२०. युद्ध-काल में बढ़ता हुआ रक्षा-व्यय (१९३९-४५)—सितम्बर, १९३९ में युद्ध छिड़ जाने और विशिष्ट रूप से १९४१-४२ के पश्चात् जापान के भी युद्ध में सम्मिलित हो जाने के बाद रक्षा का व्यय बहुत अधिक बढ़ गया। १९३९-४० में ४९.५४ करोड़ रुपया, १९४०-४१ में बढ़कर ७३.६१ करोड़ रुपया, १९४१-४२ में १०३.९३ करोड़ रुपया, १९४२-४३ में २६७.१३ करोड़ रुपया, १९४३-४४ में ३९५.८६ करोड़ रुपया और १९४४-४५ में, जो लड़ाई का अन्तिम वर्ष था ४५८.३२ करोड़ रुपया हो गया। १९५०-५१ के बजट में १६८ करोड़ रुपये का व्यय रक्षा पर दिखाया गया था, जोकि कुल व्यय का ५० % था।

युद्ध छिड़ जाने के ठीक पूर्व भारतीय सेना को नवीनतर रूप देने के सम्बन्ध में चेटफील्ड कमेटी के सुझावों को इंगलैंड तथा भारत की सरकार ने स्वीकार कर लिया था। चेटफील्ड के सुझावों मे इस बात की भी माँग की गई थी कि विदेशों से भारत की रक्षा का उत्तरदायित्व भारत को भी ब्रिटिश सरकार के साथ-साथ अपने ऊपर लेना चाहिए और इस सिद्धान्त के अनुसार विदेशों से रक्षा के लिए भारत की रक्षा-सेना का एक भाग अलग कर दिया जाय और इसके फलस्वरूप इंगलैण्ड की सरकार द्वारा दिये जाने वाले १५ लाख पौण्ड के वार्षिक अनुदान में, जोकि शान्ति के समय भारत में रक्षा-सेना रखने के लिए था, ५ लाख पौण्ड की वृद्धि भी की जाय। भारतीय सेना को नवीनतम रूप देने के व्यय का अनुमान लगभग ४५.७७ करोड़ रुपये कर दिया गया था, जो इंगलैंड की सरकार से ५ वर्ष के अन्दर प्राप्त होने वाला था, जिसका ¾ भाग तो भेंट के रूप में और बाकी ¼ कर्ज के रूप में था, जिसे भारत सुविधा के साथ धीरे-धीरे लौटाता। युद्ध छिड़ जाने के कारण इन प्रस्तावों पर फिर से विचार करना आवश्यक हो गया, क्योंकि सेना का अभिनवीकरण तत्कालीन आवश्यकता के अनुसार तथा बढ़े हुए मूल्य के आधार पर होना चाहिए था। इसके अतिरिक्त भारत में ही पूरी शक्ति पर उत्पत्ति करने के लिए बहुत अधिक खर्च की आवश्यकता थी, ताकि कारखानों, युद्ध और आवश्यकताओं की वस्तुओं के निर्माण की शक्ति बढ़ जाय और बहुत सा सामान सुरक्षित रखा जा सके। भारत को युद्ध का मोर्चा लेने के लिए तैयार रखने के उपायों पर खर्च करने से भी रक्षा-व्यय पर काफी धन खर्च किया गया। इन सब बातों को विचाराधीन रखते हुए नवम्बर, १९३९ में इंगलैण्ड की सरकार और भारत सरकार के बीच एक आर्थिक समझौता हुआ, जिसके अन्तर्गत भारत को निम्न व्यय अपने ऊपर लेने पड़े[1]—

[1] कोष्ठक में लिखी हुई संख्याएँ १९४१-४२ के रक्षा-बजट से सम्बन्धित हैं। १९३९ का आर्थिक समझौता ३१ मार्च, १९४७ को रद्द कर दिया गया।

(क) लड़ाई के पहले के व्यय की निर्धारित ३६·७७ करोड़ रुपये की रकम;

(ख) मूल्य की वृद्धि के लिए अतिरिक्त धन (३·५५ करोड़ रु०);

(ग) युद्ध-सम्बन्धी उन उपायों का खर्च, जिनके लिए पूर्ण रूप से भारत को इसलिए उत्तरदायी समझा जा सकता था क्योंकि वे व्यय भारत अपने हित के लिए कर रहा था (३५·४० करोड़ रुपया); और

(घ) एक करोड़ रुपये की एकत्र रकम जो भारत की रक्षा-सेना को समुद्र-पार बनाए रखने के लिए विदेशों में रखी गई थी (८·४१ करोड़ रु०)।

पहले शीर्षक से चौथे तक का योग ८४·१३ करोड़ रुपया होता है। युद्ध-काल में भारत का वार्षिक रक्षा पर व्यय जितनी रकम से पहले से तीसरे शीर्षक तक के खर्चों के योग से बढ़ता था वह रकम इंगलैण्ड की सरकार से मिलनी थी। केवल शर्त इतनी थी कि युद्ध के पश्चात् जो-कुछ भी समझौता भारत में दोनों देशों के हित के दृष्टिकोण से खरीदी हुई युद्ध-सामग्री के बचे हुए कोश के सम्बन्ध में होता उसके अनुसार परिवर्तन हो सकता था। अप्रभावशाली खर्चों के विषय में अलग से विचार होना था। भारत को अपनी उत्पत्ति में से ही अपने युद्ध-सम्बन्धी उपाय पर जो-कुछ खर्च करना था उसके लिए तथा युद्ध-सम्बन्धी संयुक्त उपायों पर व्यय होने वाली रकम में से अपने हिस्से के लिए, जिसमें वस्तुओं को सुरक्षित रखने का खर्च भी सम्मिलित था, मूल्य देना था और इंगलैण्ड की सरकार को बाकी सभी इकट्ठी रखी जाने वाली युद्ध-सम्बन्धी वस्तुओं के लिए तथा उस सारी पूँजी के लिए जो उत्पत्ति तथा एकत्र रखने की सुविधाओं के बढ़ाने के लिए लगाई गई थी।

इस नये समझौते का आशय वित्तमन्त्री के कथनानुसार भारत के युद्ध-सम्बन्धी आर्थिक देय को सीमित करना था और उन उपायों तक ही बढ़ने देना था जोकि उसकी आर्थिक शक्ति के बाहर नहीं थे। पर भारतीयों के मत में यह नया प्रबन्ध उचित नहीं था। उनके मतानुसार रक्षा-व्यय का बढ़ता हुआ भार, विशेषकर विदेशों में भारतीय सेना के रखने का अतिरिक्त खर्च, भारत जैसे निर्धन देश के लिए अनुचित था।

समय-समय पर जो बचत के उपाय सुझाये गए वे सब सेना को घटाकर इतना कम कर देने के थे जितने की केवल भारत को ही आवश्यकता थी तथा इंगलैण्ड में ब्रिटिश युद्ध कार्यालय द्वारा अधिक वेतन पर नियुक्तियों के बचाव के लिए सेना के भारतीयकरण को तीव्रतर गति से बढ़ाये जाने से सम्बन्धित थे। युद्ध-काल की तरह पूरी सेना को बनाये रखने के स्थान पर शान्ति-काल में ऐच्छिक पद्धति के अनुसार थोड़ी-सी सैनिक सेवा बनाये रखने का भी सुझाव दिया गया था।[1]

२१. नागरिक प्रशासन पर व्यय—नागरिक प्रशासन पर व्यय में हुई महान् वृद्धि अनन्त काल तक चलने वाली समालोचना का एक दूसरा विषय था। इस सम्बन्ध में लोगों का सामान्य विरोध यही था कि भारतीय प्रशासन संसार-भर में सबसे

१. युद्ध की समाप्ति के बाद आशा की जाती थी कि रक्षा-व्यय में भारी कमी होगी और विकास तथा सामाजिक सेवाओं के लिए अधिक धन मिल सकेगा। परन्तु यह आशा सफल नहीं हो सकी जैसा कि

अधिक मँहगा था और जो वेतन तथा भृत्ति उच्चाधिकारियों को दिये जाते थे, जिसमें कुछ दिन पहले तक अधिकतर अंग्रेज ही थे, बहुत अधिक थे। १९१९ और १९३५ के वैधानिक सुधारों ने प्रशासन के व्यय में अनेक प्रकार से और भी अधिक वृद्धि कर दी। १९२४ के ली आयोग द्वारा वेतनों और भृत्तियों की वृद्धि-सम्बन्धी जो सिफारिशें की गई थीं और जिनके विषय में अनुमान था कि १¼ करोड़ रुपये का वार्षिक व्यय बढ़ जायगा, पूर्ण रूप से असंगत समझी गई, क्योंकि पहले के वेतन और भृत्ति की मात्रा इतनी अधिक थी कि मूल्यस्तर के ऊँचे हो जाने पर भी उन पर फिर से विचार करने की आवश्यकता नहीं थी। वास्तविक उपाय तीव्र गति से भारतीयों को उच्च पदों पर नियुक्त करना और वेतन में कमी करना था।

द्वितीय विश्वयुद्ध के आरम्भ हो जाने के बाद से प्रशासन पर व्यय बहुत अधिक मात्रा में बढ़ गया है। इसमें सन्देह नहीं कि युद्ध के समय अनेक विभागों के विस्तार की आवश्यकता थी, पर आश्चर्य तो इस बात का है कि युद्ध समाप्त हो जाने पर व्यय का स्तर पहले की अपेक्षा अधिक ऊँचा था। युद्ध के पहले शासन-व्यवस्था पर व्यय १·८७ करोड़ रुपया था। १९४४-४५ में, जबकि युद्ध अपनी चरम सीमा पर था, यह व्यय ४·२४ करोड़ रु० था, १९४६-४७ में यह ६·२३ करोड़ रु० था और १९४७-४८ में अनुमान किया गया कि उसमें ९ लाख रु० की कमी होगी।

वर्तमान समय में व्यय-वृद्धि अंशतः सरकार द्वारा वेतन आयोग (पे कमीशन) की सिफारिशों की स्वीकृति के कारण है। इनमें से कुछ तो कण्ट्रोल के हट जाने पर अपने-आप ही दूर हो जायँगे। क्योंकि अनेक प्रकार के आर्थिक नियन्त्रणों ने बहुत विस्तृत और मँहगी व्यवस्था को जन्म दिया है। राष्ट्रीय विकास के विभागों में लड़ाई के पहले २·१७ करोड़ रु० के व्यय से बढ़कर अब व्यय १८ करोड़ रुपये से भी अधिक हो गया है। पर यह सभी मानते हैं कि अव्यय दूर करने तथा खर्च कम करने का बहुत अवसर है। प्रशासन के प्रत्येक विभाग में मितव्ययता के गम्भीर प्रयत्नों की सबसे बड़ी आवश्यकता है और जिन लोगों के अधिकार में सरकारी कोष है उन्हें कर देने वाले के दृष्टिकोण से अपनी स्थिति का पूरा ज्ञान होना चाहिए तथा उसके व्यय के ढंग में पूरी जागरूकता का परिचय देना चाहिए।

२२. कर का भार—ब्रिटिश भारत के १९३७-३८ के आँकड़े निम्न तालिका में प्रति

नीचे के आकड़ों से प्रकट है—

भारत का रक्षा-व्यय करोड़ रु० में (आन रेवेन्यू अकाउण्ट)

१९४७-४८ (७½ माह)	१९४८-४९	१९४९-५०	१९५०-५१	१९५१-५२	१९५२-५३	१९५३-५४	१९५४-५५ (रिवाइज्ड बजट)
८६·६३	१४६·०५	१४८·८६	१६४·१३	१७०·९६	१७९·५२	१९९·६८	२०५·६२

अब सेना के भारतीयकरण की योजना लगभग पूर्णतया कार्यान्वित हो चुकी है तथा थोड़े-से अँग्रेजी अफसरों को छोड़कर, जो मुख्यतया टेक्निकल लाइन में हैं, लगभग सारी सैन्य-शक्ति भारतीयों से ही निर्मित है। स्वतन्त्रता के बाद रक्षा-व्यय के बढ़ने के प्रधान कारण विभाजन के फलस्वरूप भारत की सीमा का बढ़ जाना, देशी राज्यों की रक्षा का भार भारत के कन्धों पर पड़ना, रक्षा के सम्बन्ध में आत्म-निर्भरता का प्रयत्न करना, आदि हैं।

व्यक्ति करारोपण का भार प्रदर्शित करते हैं—[1]

१. भारत सरकार ने १ अप्रैल, १९५३ को कर-जाँच आयोग की नियुक्ति की, जिसके अध्यक्ष डॉ० जान मथाई थे। १९२५ में पिछले कर-जाँच आयोग द्वारा रिपोर्ट प्रस्तुत करने के बाद से लेकर अब तक भारत की आर्थिक स्थिति में पर्याप्त परिवर्तन हो चुके थे। अतएव इन नई परिस्थितियों में इस आयोग को अन्य बातों के साथ-साथ केन्द्रीय, राज्यीय तथा स्थानीय करारोपण का विभिन्न राज्यों में विभिन्न वर्गों पर पड़ने वाले भार की परीक्षा का कार्य सौंपा गया। आयोग ने ३० नवम्बर, १९५४ को अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की।

आयोग के मतानुसार ग्रामीण क्षेत्र से नगर-क्षेत्र की ओर बढ़ने पर प्रति व्यक्ति कुल व्यय से रोकड़ व्यय का अनुपात भी बढ़ता जाता है, अधिक करारोपित वस्तुओं की अधिक खरीद के कारण रोकड़-व्यय से कर का अनुपात भी बढ़ता जाता है। इनके फलस्वरूप नगर-क्षेत्रों में कर-तत्त्व (टैक्स एलिमेण्ट) और कर-भार बढ़ता जाता है, यद्यपि ग्रामीण जनसंख्या के आधिक्य के कारण अप्रत्यक्ष करों के प्रति ग्रामीण क्षेत्रों का कुल अंशदान कहीं अधिक है।

युद्ध-पूर्व काल की तुलना में नगर-क्षेत्रों में कर का कुल भार अपेक्षाकृत बढ़ गया है।

निम्न तालिकाएँ कर-भार प्रदर्शित कर रही हैं—

अखिल भारतीय तथा व्यय के समस्त स्तरों को सम्मिलित करने पर व्यय में कर-तत्त्व

प्रति व्यक्ति मासिक कर रुपयों में

	ग्रामीण क्षेत्र	नगर क्षेत्र
केन्द्रीय उत्पाद-कर	०.१७	०.४३
आयात-कर	०.२१	०.५८
केन्द्रीय-कर	०.३८	१.०१
अफीम का उत्पाद-कर	०.०१	०.०१
देशी शराब ,, ,,	०.०९	०.११
बिक्री-कर	०.०९	०.३२
मोटर स्पिरिट पर बिक्री-कर	०.०१	०.०६
आमोद-कर	—	०.०५
अन्तर्राज्यीय-कर (इण्टर स्टेट ट्रांज़िट ड्यूटी)	०.०१	०.०१
गन्ना उपकर	०.०१	०.०३
मोटर गाड़ियों का कर	०.०२	०.०८
राज्यीय-कर	०.२४	०.६९
योग, अप्रत्यक्ष कर	०.६२	१.६९

अप्रत्यक्ष करों का कर-भार (अखिल भारतीय)
(प्रति व्यक्ति रु० में)

	कुल अप्रत्यक्ष कर	कुल व्यय	कर, कुल व्यय के % के रूप में
ग्रामीण	०.६२	२१.१	२.९
१५,००० से कम जनसंख्या वाले नगर	०.९९	२०.९	४.८
१५,००१-५०,००० की ,,	१.६३	२८.२	५.८
५०,०००-१० लाख ,,	१.९१	३०.४	६.३
१० लाख से ऊपर की ,,	२.५८	३९.६	६.५
नगर-क्षेत्र	१.६९	२८.९	५.९
ग्रामीण और नगर-क्षेत्र, सम्मिलित	०.८०	२२.४	३.६

देखिए, टैक्सेशन इन्क्वायरी कमीशन, १९५३-५४, खण्ड १।

लाख रुपयों में

	१९२२-२३	१९२७-२८	१९३३-३४	१९३५-३६	१९३७-३
कुल कर केन्द्रीय और प्रान्तीय (मालगुजारी को सम्मिलित करते हुए)[२]	१३२७९	१४०१८	१३०७९	१३९३७	१३१९३
१९३१[3] की जनगणना के आधार पर प्रति व्यक्ति कर, जो वसूल किया गया—यह मानते हुए कि कुल कर ब्रिटिश भारत के लोगों द्वारा ही प्राप्त हुआ।	रु० आ० पा० ५ ४ ५	रु० आ० पा० ५ ५ ०	रु० आ० पा० ४ १० १०	रु० आ० पा० ४ १४ ३	रु० आ० ४ १२

सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास ने छटनी के सम्बन्ध में व्यापारियों प्रतिनिधि की हैसियत से दिये गए अपने भाषण में कर-भार का निम्न अनुम दिया—

		रु०	आ०	पा०			रु०	आ०	पा०
१८७१	...	१	१३	९	१९११	...	२	११	३
१८८१	...	२	२	३	१९१३	...	२	१४	५
१९०१	...	२	६	६	१९२२	...	६	१	८

इन आँकड़ों के आधार पर १९२२ में कर-भार लड़ाई (१९१४-१८) से प के भार का दूना था। ये आँकड़े वास्तव में करभार प्रकट करते हैं। यह इस ब पर निर्भर होगा कि दोनों कामों के लिए हम प्रति व्यक्ति आय की कौनसी संख मानते हैं।[४]

व्यय के अन्य विशेष कारण वर्तमान समय में (१९५०) विस्थापित लो को सुविधा देना, भोजन-भृत्ति देना, अन्न-उत्पत्ति के लिए सहायता देना, आगा चुनाव-सम्बन्धी खर्च तथा भारत के बँटवारे के पहले की बाकी बची रकम अदायगी करना आदि हैं।

२२. कर-भार का वितरण :—अर्थशास्त्र में कर-भार की समस्या सबसे अधि

१. इन दिनों कर-भार केन्द्रीय करों के आरोप से, जो पहले युद्ध का खर्च पूरा करने के लिए ल गए थे और बाद में देश की उन्नति के लिए तथा शरणार्थियों के पुनरावास के लिए लगाये गए बहुत बढ़ गया है। नये राज्यीय करों ने इसमें सहयोग दिया है। कर-भार की गणना १२ रु० व्यक्ति की गई है।

२. हमने टैक्सेशन इन्क्वायरी कमेटी के मत के विषय में पहले ही कहा है कि मालगुजारी को साम करों के साथ करभार का कारण मानना चाहिए।

३. जनगणना के बीच की समय-समय की जनसंख्या का हिसाब एक ही ज्यामिति की वृद्धि को मान की गई है।

४. देखिए, अध्याय ४, सेक्शन १-७।

जटिल समस्याओं में से एक है और भारत में तो प्रति व्यक्ति आय तथा राष्ट्रीय आय के वितरण के सम्बन्ध में ठीक-ठीक आँकड़े न प्राप्त होने के कारण और भी अधिक जटिल हो गई है। १९२४ में कर-भार के वितरण के विषय में जाँच करने तथा इस बात की परीक्षा करने के लिए कि केन्द्रीय, प्रान्तीय तथा स्थानीय करारोपण की प्रणाली वैज्ञानिक और न्यायोचित है अथवा नहीं, कर जाँच समिति (टैक्सेशन इन्क्वायरी कमेटी) नियुक्त की गई। उन्होंने जनसंख्या से कुछ विशेष वर्गों को चुनकर कुछ सारांश निकाले। कमेटी को इस बात का पता चला कि कर का भार किसी भी वर्ग के लिए दुर्वह नहीं था, पर उसका वितरण असमान था। कुछ वर्ग अपने हिस्से के उचित कर को भी बचा जाते थे, जैसे बड़े-बड़े जमींदार और गाँव का महाजन।[1] १९१४ के पहले करभार समाज के विभिन्न वर्गों में बहुत ही असमान ढंग से बँटा हुआ था। निर्धन लोग मालगुजारी, नमक-कर, उत्पाद-कर, स्टाम्प आदि के रूप में कर का भार पूरा-पूरा वहन करते थे और धनी वर्ग के लोग अपना न्यायपूर्ण भाग भी बचा जाते थे। युद्ध-काल तथा युद्धोत्तर-काल में करारोपण में जो परिवर्तन हुए उन्होंने निश्चय ही आम जनता पर करभार बढ़ा दिया, परन्तु देश की करारोपण पद्धति का उपर्युक्त दोष भी बहुत सीमा तक दूर कर दिया। क्रमिक दर से आय-कर, अधिकर आदि का आरोप करके और विलासिता की वस्तुओं पर विशेष आयात-कर लगाकर करभार को अधिक न्यायपूर्ण कर दिया, फिर भी करभार में पर्याप्त असमानता बनी रही, जैसा कि प्रोफेसर के० टी० शाह द्वारा १९२३-२४ के लिए दी गई निम्न तालिका से प्रकट है—[2]

करोड रुपयों में

आय के शीर्षक	करभार की मात्रा जो वहन की गई	
	धनी वर्ग द्वारा	निर्धन वर्ग द्वारा
निराक्राम्य-कर ...	२०	२१
मालगुजारी और सिंचाई-कर ...	२०½	२१½
आय-कर ...	२०	...
उत्पाद-कर ...	...	२०
नमक ...	१¼	७½
जंगल और रजिस्ट्रेशन ...	२	५
स्टाम्प ...	६½	६½
रेलवे ...	३३	६०
डाकखाना ...	५	५½
नगरपालिका-कर ...	३	१०
जिला परिषेध-कर ...	...	१०
कुल	१११¼	१६७

१. देखिए, टैक्सेशन इन्क्वायरी कमेटी रिपोर्ट, पैरा ४७८-९२।

२. देखिए, शाह और खमांवट्ट, 'वेल्थ एण्ड टेक्सेबल केपेसिटी', पृष्ठ २८९-९१, और शाह, 'सिक्सटी ईअर्स ऑफ़ इण्डियन फिनांस', दूसरा संस्करण, पृष्ठ, ३७३-७४।

इस तालिका से प्रो० शाह इस निर्णय पर पहुँचे कि 'आर्थिक दृष्टि से जो कमजोर तथा कम योग्य थे वे ही लोग भारत में करभार का अधिकांश वहन करते थे। रेल, डाक आदि कुछ करों को अपवाद मानते हुए भी हम यह कह सकते हैं कि जबकि धनी वर्ग १०० करोड़ रुपया कर के रूप में देते हैं तो निर्धन वर्ग के लोग १५० करोड़ रुपया देते हैं। परिवार की १००० रु० और इससे अधिक औसत वार्षिक आय के दृष्टिकोण से कर की कुछ वसूली, ६०० करोड़ रुपये की आमदनी में से जोकि कुल जनसंख्या के $\frac{1}{25}$ अंश से कम लोगों द्वारा उपयोग की जाती है, लगभग १०० करोड़ रुपये के होती है; और बाकी १५० करोड़ रुपया १००० या १२०० करोड़ रुपये की कुल आमदनी में से, जो बाकी जनसंख्या के ९६% लोगों द्वारा उपयोग की जाती है, वसूल किया जाता है। यह वितरण मितव्ययी अथवा न्यायोचित नहीं कहा जा सकता।'

इण्डियन चेम्बर ऑफ़ कामर्स के सलाहकार श्री ए० सी० सम्पत आयंगर ने कुछ समय हुआ (१५ नवम्बर, १९४९) अपनी एक पुस्तक प्रकाशित करवाई है, जिसमें उन्होंने उच्च अथवा मध्यम और निम्नवर्ग के लोगों के ऊपर केन्द्रीय तथा राज्यीय करों का कितना भार पड़ता है इसका सांख्यिक अनुमान लगाने का प्रयास किया है। इस अध्ययन में उन्होंने २००० मासिक आय को दोनों वर्गों के पार्थक्य की सीमा माना है। केन्द्रीय और प्रान्तीय करों से प्राप्त आय को १९४९-५० के बजट में दो वर्गों में बाँटा गया है। पहला वह वर्ग, जिसमें निम्न वर्गों से कुछ भी प्राप्त नहीं होता और दूसरा वह वर्ग, जिसमें उच्च अथवा मध्यम वर्ग वाले लोगों के साथ-साथ निम्नवर्ग के लोग भी कर देते हैं। पहले वर्ग के उदाहरण हैं आय-कर, निगम-कर, व्यवसायों पर कर, कृषि-आय-कर और ऐसी वस्तुओं पर निराक्राम्य-कर, जैसे शराब, स्पिरिट, बूट और जूते, बेतार के तार के औजार, तम्बाकू, कृत्रिम रेशम के सूत और डोरे, चाय पर निर्यात-कर, शराबों के उत्पादन पर तथा व्यापारिक कामों में आने वाली स्पिरिट पर उत्पाद-कर और नगर-स्थित अचल सम्पत्ति पर कर इत्यादि। दूसरे वर्ग की वस्तुओं पर विभिन्न प्रतिशत में निम्नवर्ग वाले लोगों द्वारा कर दिया जाता है; उदाहरण के लिए सुपारी पर आरोपित आयात-कर तथा मिट्टी के तेल पर निम्नवर्ग के लोगों का प्रतिशत भाग ७५ के लगभग है; मसाले पर १० प्रतिशत, सीने की मशीन पर ३५ प्रतिशत तथा इसी प्रकार कर लगाई जाने वाली वस्तुओं पर अन्य प्रतिशत संख्याएँ हैं। देशी रियासतों को छोड़कर भारतीय संघ की कुल जनसंख्या २,४३,०००,००० मानी जाती है जिनमें से लगभग ३०,०००,००० उच्चवर्ग के लोग और २,१३,०००,००० निम्नवर्ग के लोग हैं। इन संख्याओं के आधार पर करों द्वारा प्राप्त ४६६ करोड़ रुपये की आय में से ६४ करोड़ रुपया निम्नवर्ग वाले लोगों द्वारा प्राप्त होता है और बाकी उच्चवर्ग द्वारा। इस प्रकार निम्नवर्ग के लोगों द्वारा प्रति व्यक्ति २ रु० १५ आ० १० पाई प्राप्त होता है और उच्चवर्ग वाले लोगों द्वारा १३४ रु० २ आ० ७ पा०। इसी बात को दूसरे प्रकार से यों कहा जा सकता है कि उच्चवर्ग से, जो जनसंख्या का १२·४ प्रतिशत है, कुल कर द्वारा प्राप्त कुल आय का ८६·३३ प्रतिशत

प्राप्त होता है और निम्नवर्ग, जो जनसंख्या का ८७·६ प्रतिशत है, केवल १३·६७% देता है। इस व्याख्या का यह अर्थ नहीं है कि निम्नवर्ग पर बहुत हल्का भार है, क्योंकि कर का भार केवल दर की मात्रा पर ही नहीं निर्भर रहता वरन् करभार सहन करने की शक्ति पर भी निर्भर रहता है, जो कि भारत जैसे निर्धन देश में बहुत ही कम है। वास्तव में ऊपर के आंकड़ों से यह तो सिद्ध किया जा सकता है कि उच्चवर्ग पर भारत में बहुत कर लगा हुआ है और यदि कर बढ़ाया गया तो लोगों की उत्पादन-शक्ति पर इसका बुरा प्रभाव पड़ेगा।

२४. १९३९ तक भारतीय वित्त पर विस्तृत विचार—स्थानाभाव के कारण ईस्ट इण्डिया कम्पनी और इंगलैण्ड के सम्राट् के अधीन भारतीय वित्त का विस्तृत इतिहास नहीं दिया जा सकता। वर्तमान शताब्दी के आरम्भकाल से आज तक की भारतीय वित्त के इतिहास की मुख्य-मुख्य समस्याएँ निम्न रही हैं—ईस्ट इण्डिया कम्पनी के व्यापारिक और शासन-प्रबन्ध-सम्बन्धी खातों में गड़बड़ी; कम्पनी के प्रशासन में सदा रहने वाला घाटा; ग़दर का आर्थिक भार; कालान्तर में पृथक् वित्त सदस्य की नियुक्ति; आर्थिक विकेन्द्रीकरण की ओर धीरे-धीरे विकास; दुर्भिक्षों, सरहदी युद्ध और विदेशी विनिमय में कमी के कारण उत्पन्न कठिनाइयाँ; सरकार की ऋण-नीति; १९१४-१८ के महायुद्ध के पहले बजट में बचत इत्यादि।

प्रथम विश्व-युद्ध के छिड़ जाते ही युद्ध के पहले की आर्थिक सुगमता तथा बजट में बचत का युग अनायास ही समाप्त हो गया। युद्ध-काल में भारतीय वित्त की विशेषताएँ बजट में घाटा, व्यय कम करने के कठोर उपायों का अपनाना, रेल और सिंचाई की सुविधाओं में भारी कमी, निराक्राम्य-करों में वृद्धि, आय-कर, नमक-कर, उत्पाद-कर और भारत में ही जनता से बड़े-बड़े कर्ज लेना, आदि थीं।

१९१९ के सुधारों के पहले और पश्चात् के कुल आय और व्यय के आँकड़े तथा १९३५ के नये विधान के अन्तर्गत, जो अप्रैल, १९३७ में लागू हुआ था, पहले तीन वर्षों के आँकड़े निम्न तालिकाओं में दिये गए हैं—

तालिका नं० १[1]

करोड़ रुपयों में

वर्ष	आय	व्यय	बचत (+) घाटा (—)	वर्ष	आय	व्यय	बचत (+) घाटा (—)
१९१४-१५	७८·१५	७८·८३	— २·६८	१९१८-१९	१,३०·४०	१,३३·१३	— ५·७३
१९१५-१६	८०·०१	८१·७९	— १·७८	१९१९-२०	१,३७·१४	१,६०·७९	—२३·६५
१९१६-१७	९८·५३	८७·३१	+११·२२	१९२०-२१	१,३५·६४	१,६१·६४	—२६·००
१९१७-१८	११८·७०	१०६·५७	+१२·१३				

१. इन संख्याओं में विशेष विषयों के आँकड़े नहीं दिये गए हैं, जैसे आय सुरक्षित कोष में धन का रखना तथा बची हुई रकम को जर्मन लिक्विडेशन अकाउण्ट के जमा खाते में डालना, आदि।

इस तालिका से प्रो० शाह इस निर्णय पर पहुँचे कि 'आर्थिक दृष्टि से जो कमजोर तथा कम योग्य थे वे ही लोग भारत में करभार का अधिकांश वहन करते थे। रेल, डाक आदि कुछ करों को अपवाद मानते हुए भी हम यह कह सकते हैं कि जबकि धनी वर्ग १०० करोड़ रुपया कर के रूप में देते हैं तो निर्धन वर्ग के लोग १५० करोड़ रुपया देते हैं। परिवार की १००० रु० और इससे अधिक औसत वार्षिक आय के दृष्टिकोण से कर की कुछ वसूली, ६०० करोड़ रुपये की आमदनी में से जोकि कुल जनसंख्या के १/२५ अंश से कम लोगों द्वारा उपयोग की जाती है, लगभग १०० करोड़ रुपये के होती है; और बाकी १५० करोड़ रुपया १००० या १२०० करोड़ रुपये की कुल आमदनी में से, जो बाकी जनसंख्या के ९६% लोगों द्वारा उपयोग की जाती है, वसूल किया जाता है। यह वितरण मितव्ययी अथवा न्यायोचित नहीं कहा जा सकता।'

इण्डियन चेम्बर ऑफ़ कामर्स के सलाहकार श्री ए० सी० सम्पत आयंगर ने कुछ समय हुआ (१५ नवम्बर, १९४९) अपनी एक पुस्तक प्रकाशित करवाई है, जिसमें उन्होंने उच्च अथवा मध्यम और निम्नवर्ग के लोगों के ऊपर केन्द्रीय तथा राज्यीय करों का कितना भार पड़ता है इसका सांख्यिक अनुमान लगाने का प्रयास किया है। इस अध्ययन में उन्होंने २००० मासिक आय को दोनों वर्गों के पार्थक्य की सीमा माना है। केन्द्रीय और प्रान्तीय करों से प्राप्त आय को १९४९-५० के बजट में दो वर्गों में बाँटा गया है। पहला वह वर्ग, जिसमें निम्न वर्गों से कुछ भी प्राप्त नहीं होता और दूसरा वह वर्ग, जिसमें उच्च अथवा मध्यम वर्ग वाले लोगों के साथ-साथ निम्नवर्ग के लोग भी कर देते हैं। पहले वर्ग के उदाहरण हैं आय-कर, निगम-कर, व्यवसायों पर कर, कृषि-आय-कर और ऐसी वस्तुओं पर निराक्राम्य-कर, जैसे शराब, स्पिरिट, बूट और जूते, बेतार के तार के औज़ार, तम्बाकू, कृत्रिम रेशम के सूत और डोरे, चाय पर निर्यात-कर, शराबों के उत्पादन पर तथा व्यापारिक कामों में आने वाली स्पिरिट पर उत्पाद-कर और नगर-स्थित अचल सम्पत्ति पर कर इत्यादि। दूसरे वर्ग की वस्तुओं पर विभिन्न प्रतिशत में निम्नवर्ग वाले लोगों द्वारा कर दिया जाता है; उदाहरण के लिए सुपारी पर आरोपित आयात-कर तथा मिट्टी के तेल पर निम्नवर्ग के लोगों का प्रतिशत भाग ७५ के लगभग है; मसाले पर १० प्रतिशत, सीने की मशीन पर ३५ प्रतिशत तथा इसी प्रकार कर लगाई जाने वाली वस्तुओं पर अन्य प्रतिशत संख्याएँ हैं। देशी रियासतों को छोड़कर भारतीय संघ की कुल जनसंख्या २,४३,०००,००० मानी जाती है जिनमें से लगभग ३०,०००,००० उच्चवर्ग के लोग और २,१३,०००,००० निम्नवर्ग के लोग हैं। इन संख्याओं के आधार पर करों द्वारा प्राप्त ४९६ करोड़ रुपये की आय में से ६४ करोड़ रुपया निम्नवर्ग वाले लोगों द्वारा प्राप्त होता है और बाकी उच्चवर्ग द्वारा। इस प्रकार निम्नवर्ग के लोगों द्वारा प्रति व्यक्ति २ रु० १५ आ० १० पाई प्राप्त होता है और उच्चवर्ग वाले लोगों द्वारा १३४ रु० २ आ० ७ पा०। इसी बात को दूसरे प्रकार से यों कहा जा सकता है कि उच्चवर्ग से, जो जनसंख्या का १२·४ प्रतिशत है, कुल कर द्वारा प्राप्त कुल आय का ८६·३३ प्रतिशत

प्राप्त होता है और निम्नवर्ग, जो जनसंख्या का ८७·६ प्रतिशत है, केवल १३·६७% देता है। इस व्याख्या का यह अर्थ नहीं है कि निम्नवर्ग पर बहुत हलका भार है, क्योंकि कर का भार केवल दर की मात्रा पर ही नहीं निर्भर रहता वरन् करभार सहन करने की शक्ति पर भी निर्भर रहता है, जो कि भारत जैसे निर्धन देश में बहुत ही कम है। वास्तव में ऊपर के आँकड़ों से यह तो सिद्ध किया जा सकता है कि उच्चवर्ग पर भारत में बहुत कर लगा हुआ है और यदि कर बढ़ाया गया तो लोगों की उत्पादन-शक्ति पर इसका बुरा प्रभाव पड़ेगा।

२४. १९३९ तक भारतीय वित्त पर विस्तृत विचार—स्थानाभाव के कारण ईस्ट इण्डिया कम्पनी और इंगलैण्ड के सम्राट् के अधीन भारतीय वित्त का विस्तृत इतिहास नहीं दिया जा सकता। वर्तमान शताब्दी के आरम्भकाल से आज तक की भारतीय वित्त के इतिहास की मुख्य-मुख्य समस्याएँ निम्न रही हैं—ईस्ट इण्डिया कम्पनी के व्यापारिक और शासन-प्रबन्ध-सम्बन्धी खातों में गड़बड़ी; कम्पनी के प्रशासन में सदा रहने वाला घाटा; ग़दर का आर्थिक भार; कालान्तर में पृथक् वित्त सदस्य की नियुक्ति; आर्थिक विकेन्द्रीकरण की ओर धीरे-धीरे विकास; दुर्भिक्षों, सरहदी युद्ध और विदेशी विनिमय में कमी के कारण उत्पन्न कठिनाइयाँ; सरकार की ऋण-नीति; १९१४-१८ के महायुद्ध के पहले बजट में बचत इत्यादि।

प्रथम विश्व-युद्ध के छिड़ जाते ही युद्ध के पहले की आर्थिक सुगमता तथा बजट में बचत का युग अनायास ही समाप्त हो गया। युद्ध-काल में भारतीय वित्त की विशेषताएँ बजट में घाटा, व्यय कम करने के कठोर उपायों का अपनाना, रेल और सिंचाई की सुविधाओं में भारी कमी, निराकाम्य-करों में वृद्धि, आय-कर, नमक-कर, उत्पाद-कर और भारत में ही जनता से बड़े-बड़े कर्ज लेना, आदि थीं।

१९१९ के सुधारों के पहले और पश्चात् के कुल आय और व्यय के आँकड़े तथा १९३५ के नये विधान के अन्तर्गत, जो अप्रैल, १९३७ में लागू हुआ था, पहले तीन वर्षों के आँकड़े निम्न तालिकाओं में दिये गए हैं—

तालिका नं० १[1]

करोड़ रुपयों में

वर्ष	आय	व्यय	बचत (+) घाटा (—)	वर्ष	आय	व्यय	बचत (+) घाटा (—)
१९१४-१५	७८·१५	७८·८३	— २·६८	१९१८-१९	१,३०·४०	१,३३·१३	— ५·७३
१९१५-१६	८०·०१	८१·७९	— १·७८	१९१९-२०	१,३७·१४	१,६०·७९	—२३·६५
१९१६-१७	९८·५३	८७·३१	+११·२२	१९२०-२१	१,३५·६४	१,६१·६४	—२६·००
१९१७-१८	११८·७०	१०६·५७	+१२·१३				

१. इन संख्याओं में विशेष विषयों के आँकड़े नहीं दिये गए हैं, जैसे आय सुरक्षित कोष में धन का रखना तथा बची हुई रकम को जर्मन लिक्विडेशन अकाउण्ट के जमा खाते में डालना, आदि।

तालिका नं० २[1]

करोड़ रुपयों में

वर्ष	आय, जो रक्षित आय कोष से प्राप्त आय से पृथक् थी।	व्यय, जो रक्षित आय कोष में रखे जाने वाले व्यय से तथा कर्ज अदा करने तथा कर्ज लेना बचाने के लिए रखे जाने वाले व्यय से और नं ३ खाने में दिये हुए कारणों पर व्यय से पृथक् था।	ज्वालामुखी फटने तथा अन्य प्रकोपों से बचने के लिये बनाये कोष में जो रखा जाता था।	नं० १ खाने में से नं० २ और ३ खाने के व्यय घटाकर निकाली संख्या।	रक्षित कोष से निकालने वाली तथा उसमें रख दी जाने वाली रकम।	कर्ज घटाने तथा कर्ज लेना बचाने के लिए रखी जाने वाली रकम।	बचत (+) तथा घाटा (—)
१९२१-२२	११५·२१	१३८·४	...	—२३·१९	...	४·४६	—२७·६५
१९२२-२३	१२१·४१	१३१·८८	...	—१०·४७	...	४·५५	—१५·०२
१९२३-२४	१३३·१७	१२७·१६	...	+ ६·०१	...	३·६२	+ २·३९
१९२४-२५	१३८·०४	१२८·५८	...	+ ९·४६	...	३·७८	+ ५·६८
१९२५-२६	१३३·३३	१२५·०५	...	+ ८·२८	...	४·९७	+ ३·३१
१९२६-२७	१३१·७०	१२३·७७	.	+ ७·९३	—२·९६	४·९७	...
१९२७-२८	१२५·०४	१२२·२२	...	+ ०·८२	२·२२	५·०४	...
१९२८-२९	१२८·२४	१२३·८८	...	+ ४·३६	०·७४	५·४२	— ०·३२
१९२९-३०	१३२·६९	१२६·६८	...	+ ६·०१	...	५·७४	+ ०·२७
१९३०-३१	१२४·६०	१३०·०४	...	— ५·४४	...	६·१४	—११·५८
१९३१-३२	१२१·६४	१२६·५०	...	— ४·८६	...	६·८९	—११·७५
१९३२-३३	१२६·४०	११८·०१	...	+ ८·३९	...	६·८४	+ १·५५
१९३३-३४	१२०·३७	११४·६५	२·७२	+ ३·००	...	३·००	...
१९३४-३५	१२५·१०	११७·१४	४·६०[3]	+ ३·३६	...	३·००	+ ०·३६
१९३५-३६	१२२·०१	११६·७२	०·४५[4]	+ ४·८४	—१·८४	३·००	...
१९३६-३७	११८·९८	११७·९०	...	+ १·०८	...	३·००	— १·९२

१. केन्द्रीय बजट, १९३७-३८, पृष्ठ ७५।

२. रकम जो भूकम्प कोष में रखी गई; इसमें से ०·६३ कर्ज अदा करने में खर्च किया गया।

३. २·८२ ग्राम सुधार, ०·२५ उत्तर-पश्चिमी सरहदी सूबे की जंगली जातियों के लिए, ०·२० आकाशवाणी से प्रचार के लिए, ०·९३ असैनिक वायु आवागमन के लिए और ०·४० सड़क-निर्माण के विशेष कोष के लिए।

४. सिन्ध में ०·१७ और उड़ीसा में ०·२७ इमारत बनवाने में व्यय के लिए।

तालिका नं० ३[1]

करोड़ रुपयों में

वर्ष	आय	व्यय	अतिरेक (+) हीनतर (—)
१९३६-३७	११९.२१	१२१.००	—१.७९
१९३७-३८[2]	१२२.४८	१२२.४८	—
१९३८-३९	१२१.०७	१२१.७१	—०.६३
१९३९-४०	१२३.९७	१८३.९७	— —

२५. घाटे के बजट—१९१४ के पहले के अतिरेक बजटों के विपरीत अब केन्द्रीय तथा प्रान्तीय अर्थ प्रबन्धन में निरन्तर घाटे के बजट दिखाई पड़ने लगे। ५ वर्ष के अन्दर केन्द्रीय सरकार के बजटों का कुल घाटा लगभग १०० करोड़ रुपये का यूरोपीय युद्ध के कारण हुए व्यय के अतिरिक्त भारत पर अफगानिस्तान के आक्रमण के कारण भी कठिनाइयाँ बढ़ गईं, जिनके फलस्वरूप कई करोड़ रु० का खर्च बढ़ गया। इसके अतिरिक्त सैनिक तथा असैनिक प्रशासन का खर्च भी उतरोत्तर बढ़ता गया। रेल-प्रबन्ध का खर्च भी बहुत बढ़ गया और व्यापारिक अवसाद के कारण, जो युद्ध के पश्चात् क्षणिक अभिवृद्धि-काल के समाप्त होते ही आरम्भ हो गया था, आमदनी घट गई। रेल की आय की कमी के अतिरिक्त आय-कर से होने वाली प्राप्ति में भी कमी आ गई थी। इन सब कारणों का संयुक्त प्रभाव १९१४-२२ के बीच के काल में करों की वृद्धि के होते हुए भी घाटे के बजटों में लक्षित हुआ।

रिट्रेंचमेण्ट कमेटी[3] (१९२२-२३) की सिफ़ारिशों के अनुसार १९२३-२४ में असैनिक व्यय में ६.६ करोड़ रुपये की कमी और सैनिक व्यय में ५.५ करोड़ रु० की कमी की गई। परन्तु बजट के असन्तुलन को सँभालने के लिए केवल इतना ही पर्याप्त नहीं था और वाइसराय को नमक-कर दूना अर्थात् १ रु० ४ आने से २ रु० ८ आने करने के लिए बाध्य होना पड़ा। १९२३-२४ में स्थिति ने पलटा खाया और आय के अनुमान से आवश्यकता से अधिक सावधानी बरतने, रुपए की विदेशी विनिमय-दर १ शि० ६ पे० पर निश्चित हो जाने, आय दर पर करों के आरोप को ज्यों-का-त्यों बनाए रखने और उद्योग और व्यापार में धीरे-धीरे उन्नति होने के कारण अस्थायी रूप से बजट में अतिरेक की पुरानी प्रवृत्ति फिर से दिखाई पड़ने लगी। इन अतिरेकों का प्रयोग

१. इस तालिका की संख्याओं में विशेष व्यय की मात्रा सम्मिलित है, जैसे आय-रक्षित कोष में रखने वाली तथा उसमें से निकाल लेने वाली रकम, और ऋण को अदा करने वाली रकम तथा वे व्यय जो ऋण से बचने के लिए किये गए थे। जैसा कि पैरा २९ में बताया गया है कि ३ करोड़ रुपया अन्तिम आवश्यकता पर व्यय किए जाने के लिए प्रबन्ध है।

२. १९३७-३८ के आँकड़ों में बर्मा के अलग किये जाने तथा निमेयर की सिफारिशों का (देखिए सेक्शन ३८) प्रभाव लक्षित है। बर्मा के अलग किये जाने का व्यय २.३३ करोड़ रुपया था। प्रान्तों को स्वायत्त शासन देने का खर्च केन्द्र को लगभग १.८५ करोड़ रु० देना पड़ा था।

३. देखिए, 'रिट्रेंचमेण्ट कमेटी की रिपोर्ट,' पार्ट ११, पैरा ८।

प्रान्तों के अनुदान को घटाने तथा अनुत्पादक ऋण को कम करने में किया गया। १९२७-२८ के पश्चात् बजट के सन्तुलन में फिर से गड़बड़ पैदा हुई और प्रान्तीय अनुदान के पूर्ण रूप से हटा देने के पश्चात् बजट बराबर घाटे प्रदर्शित करते रहे और इस अनुदान को हटा देने से आय में जो कमी आ गई उसे सुरक्षित आय-कोष से लेकर (जो इस प्रकार पूर्ण रूप से रिक्त हो गया) पूरा करना पड़ा जैसा कि १९२७-२८ और १९२८-२९ में करना पड़ा था अथवा १९२९-३० की तरह जर्मन क्षति-पूर्ति कोष से लेकर पूरा करना पड़ा। इसके साथ-साथ केन्द्रीय सरकार को रेल से प्राप्त आय में होने वाली कमी के कारण तथा आवश्यक नई प्रकार की सेवाओं के लिए १४६ लाख रुपये के व्यय की माँग के कारण ५५२ लाख रुपये का घाटा हुआ, जिसे कुछ तो खर्च में कमी करके पूरा किया गया और कुछ १९३०-३१ में नये करों के आरोप द्वारा पूरा करना पड़ा।

२९. आर्थिक अवसाद तथा अवसादोत्तर-काल में भारतीय अर्थ-प्रबन्धन[1]—१९३०-३३ में प्रान्तीय बजटों की ही तरह केन्द्रीय बजट में वस्तुओं के मूल्य में भारी कमी हो जाने तथा कठोर और लम्बे आर्थिक अवसाद के कारण बहुत तीव्र आर्थिक संकट आ गया। इसके कारण बहुत से महत्त्वशाली करों, जैसे निराक्राम्य-कर तथा आय-कर आदि, से प्राप्त आय में कमी आ गई और व्यापारिक विभागों, जैसे रेल, तार, डाक आदि, की आय पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। आन्तरिक उथल-पुथल के कारण अनिश्चित वैधानिक परिवर्तनों के होने की सम्भावना के कारण स्थिति और भी अधिक चिन्ताजनक हो गई।

अब हम अवसाद-काल में केन्द्रीय अर्थ-प्रबन्धन की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख कर सकते हैं। १९३०-३१ के संशोधित अनुमान (रिवाइज्ड एस्टिमेट्स) के अनुसार १३·५६ करोड़ रुपये का घाटा हुआ, यद्यपि बजट में ८६ लाख रुपये का अतिरेक दिखाया गया था। १९३०-३१ के आय-व्यय के आधार पर १७·२४ करोड़ के घाटे का अनुमान किया गया था, जिसे वित्त सदस्य १९३१-३२ में सैनिक व्यय में १·७५ करोड़ रुपये की कमी और असैनिक व्यय में ०·९८ करोड़ रुपये की कमी द्वारा घटाकर १४·५१ करोड़ रुपये करना चाहते थे। यह घाटा १४·८२ करोड़ रुपये तक करों के आरोप द्वारा, जिनमें निराक्राम्य-कर से ९·८२ करोड़ की प्राप्ति की आशा की गई थी और ५ करोड़ की आय-कर से आशा की गई थी, पूरा करने का विचार था। इस प्रकार ३१ लाख रु० का अतिरेक हो जाता। अगले छः महीने में ये सब अनुमान झूठे पड़ गए और मार्च, १९३१ के विधेयक के अन्तर्गत सरकार की आवश्यकताओं के लिए आवश्यक आय प्राप्त होने की सम्भावना न होने के कारण विपदावस्था उत्पन्न हो गई। इस संकट-काल का मुकाबला करने के लिए सर जार्ज शुस्टर ने एक अनुपूरक वित्त विधेयक १९३१ में विधानसभा में पेश किया। यह विधेयक १८ महीने

१. कर और निराक्राम्य करों में उत्तरोत्तर परिवर्तन, जिनका ऊपर विविध केन्द्रीय आय क्षेत्र में विवरण [illegible]

किया

तक अर्थात् मार्च, १९३३ तक लागू रहने के लिए था। १९३१-३२ के बजट में १९·५५ करोड़ रुपये और १९३२-३३ में १९·५० करोड़ रुपये के घाटे का अनुमान किया गया था। इस प्रकार ३९·०५ करोड़ रुपये की कुल कमी को १८ महीने के अन्दर पूरा करना था। इस कमी का $\frac{1}{3}$ भाग १०% की वेतन में कटौती तथा व्यय में कमी द्वारा और बाकी $\frac{2}{3}$ भाग २२ करोड़ रुपये के नये करों के आरोप द्वारा पूरा करना था। निराक्राम्य-कर तथा आय-कर में जो परिवर्तन हुए उनका पहले ही उल्लेख किया जा चुका है। नमक-करसहित सब प्रचलित उत्पाद-करों पर $\frac{1}{4}$ भाग का अधिकर तथा बढ़ी हुई डाकखाने की दर अन्य करों के आरोप से आय बढ़ाने के उपाय थे। इस प्रकार अनुपूरक बजट का तत्कालीन ध्येय पूरा हो गया और आय और व्यय के बीच का व्यवधान केवल पूरा ही नहीं हुआ, वरन् १९३२-३३ के आँकड़ों के अनुसार १५५ लाख रुपये का अतिरेक भी ७ करोड़ रुपये के ऋण की अदायगी के पश्चात् हुआ। यह परिणाम कुछ सीमा तक व्यय में कमी करने से और मुख्यतः अतिरिक्त करों के आरोप के कारण हुआ, जिनका कुल योग तीन वर्ष में लगभग ४२ करोड़ रुपये के था।

१९३३-३४ के बजट में वेतनों की कटौती आधी कर दी गई और १९३५-३६ में वह भी हटा दी गई। १९३३-३४ के बजट में २·७२ करोड़ का अतिरेक ३ करोड़ रुपये ऋण की अदायगी के लिए निकाल देने पर हुआ। यह अतिरेक १९३४ के बिहार और उड़ीसा के भयंकर भूचाल से पीड़ितों को सहायता देने के उपायों पर खर्च करने के लिए भूचाल-कोष में डाल दिया गया। कर देने वालों को जो एकमात्र सुविधा मिली थी वह १००० रु० से १४९९ रु० तक की आय पर आरोपित ४ पाई के कर को घटाकर २ पाई कर देने में थी। दूसरी ओर १९३४-३५ के बजट में नये कर (चीनी और दियासलाई की उत्पत्ति पर) लगाये गए थे। चीनी की उत्पत्ति पर लगाए कर से १५३ लाख रुपये की आय में कमी पूरी करने का विचार था। कच्चे चमड़े पर लगाया हुआ निर्यात-कर हटा लिया गया और चाँदी पर लगाया कर ५ आना प्रति औंस कर दिया गया। १९३४-३५ के वास्तविक आँकड़े प्रथम अनुमान की संख्या से अधिक ठहरे और ४९५ लाख रु० अधिक वसूल हुआ। इस अतिरिक्त धन का उपयोग अनेक योजनाओं पर किया गया, जिनमें प्रान्तीय सरकारों को आर्थिक उन्नति तथा गाँवों का सुधार करने के लिए २८१ लाख रुपये के एक कोष का अनुदान भी सम्मिलित था। १९३५-३६ के बजट में वर्तमान करों के आधार पर १५० लाख के अतिरेक का अनुमान किया गया था, जो रकम करों में कमी करने के लिए प्राप्त थी। कच्ची खाल पर निर्यात-कर के हटा देने से १४२ लाख रु० का अतिरेक घट गया। अपने दिये हुए वचन के अनुसार सरकार ने अधिभार तथा छोटी आय पर कर में $\frac{1}{3}$ की कमी करने की व्यवस्था की। अन्य कारणों के साथ-साथ व्यापार में चेतनता आने के कारण वास्तविक आँकड़ों से २२९ लाख रु० का अतिरेक प्राप्त हुआ, यद्यपि केवल ५ लाख रु० के अतिरेक का अनुमान किया गया था। इस अतिरेक का उपयोग (१) इमारतों के निर्माण में काम आने वाले औज़ारों पर (सिन्ध में १७$\frac{1}{2}$

लाख रुपया और बिहार में २७½ लाख रुपया) और (२) रक्षित आय-कोष में जमा कर देने के लिए (१८४ लाख रुपया) किया गया, ताकि केन्द्रीय बजट को प्रान्तों के स्वायत्त शासन प्राप्त करने वाले प्रथम वर्ष में कुछ सहायता मिल सके।

१९३६-३७ के बजट में २०५ लाख रुपये के अतिरेक का अनुमान किया गया, जिसका उपयोग (१) २००० रु० की आय पर कर हटाकर छोटी आमदनी वालों को सहायता देने में, (२) आय-कर तथा अधिकर को घटाकर आधा कर देने में और (३) एक आने में आधा तोला वज़न के पत्र के स्थान पर १ तोला वज़न का पत्र भेजने की सुविधा देने में किया जाने वाला था। इतने खर्चे पर भी ६ लाख रुपये की बचत की आशा थी। व्यापारिक अवसाद के कारण कर द्वारा प्राप्त आय में, विशेषकर निराक्राम्य-कर में और कुछ आय-कर में, कमी आ जाने के कारण १९३४-३७ के संशोधित बजट में १९२ लाख रुपये का घाटा दिखाया गया। बाद में वास्तविक घाटा १७९ लाख रुपये का हुआ। इस कमी को पूरा करने के लिए, जैसा चौथे अध्याय में कहा जा चुका है, चीनी पर उत्पाद-कर बढ़ा दिया गया और १९३७ में चाँदी पर कर ३ आना प्रति औंस कर दिया गया। इस कर के आधार पर १९३७-३८ के बजट में ७ लाख रुपये के अतिरेक की सम्भावना की गई थी। १९३७-३८ के संशोधित अनुमान में कुल आय में ३९० लाख रुपये की वृद्धि निराक्राम्य-कर तथा केन्द्रीय उत्पाद-कर के अन्तर्गत दिखाई गई थी, जो कि मुख्यतः व्यापार की उन्नति और रेल की आय में वृद्धि के कारण हुई थी। दूसरी ओर व्यय में ३३२ लाख रुपये की वृद्धि हुई, जिसमें से कुछ तो रक्षा-सेवाओं के अन्तर्गत, विशेष रूप से वज़ीरिस्तान में युद्ध करने के कारण और कुछ अन्य कारणों से हुई थी। इस प्रकार वास्तविक वृद्धि ६८ लाख रुपये की हुई। बजट की गणनानुसार पूरे रक्षित आय-कोष के काम में ले आने पर, जोकि १८४ लाख रुपये का था, केवल ७ लाख रुपये के अतिरेक का अनुमान लगाया गया था। वास्तव में बजट के सन्तुलन के लिए केवल ७८ लाख रुपये की आवश्यकता थी।

१९३८-३९ के बजट में केवल ९ लाख रु० का अतिरेक दिखाया गया था। १९३८ के बजट पर भाषण देते समय वित्त-मन्त्री ने कहा था कि बिना नये करों का आरोप किये हुए ही प्रान्तीय स्वायत्त शासन के प्रचलित करने के व्यय की व्यवस्था करना, बर्मा को भारत से अलग करने के घाटे को सहना (जोकि करीब २५० लाख रुपये का था) और वज़ीरिस्तान में फ़ौजों को ले जाने का व्यय उठाना, निमेयर की सिफ़ारिशों के अनुसार आय-कर का प्रान्तों में बटवारा आरम्भ करना और १९३७-३८ में तथा १९३८-३९ में सन्तुलित बजट उपस्थित करना आदि सम्भव हो सका है। यह १९३७ में व्यापार में धीरे-धीरे निश्चित रूप से वृद्धि होने के कारण ही सम्भव हुआ है। इससे कुल आय ३·९० करोड़ रुपये बढ़ गई—मुख्यतः निराक्राम्य-कर तथा रेल की आमदनी से, जैसा कि पहले बताया जा चुका है। १९३८-३९ के बजट के संशोधित अनुमान से आय में २९२ लाख रुपये की कमी दिखाई गई। विशेषकर व्यापारिक अवनति के फलस्वरूप निराक्राम्य-कर में कमी हो जाने के कारण व्यय

की ओर भी १८ लाख रुपये की कमी की गई। इस प्रकार ९ लाख रुपये के अतिरेक के स्थान पर लगभग २६५ लाख रुपये की कमी हो गई। बाद में वास्तविक कमी ६४ लाख रुपये से अधिक की नहीं हो पाई, क्योंकि आय में १५१ लाख रुपये की वृद्धि और व्यय में ५० लाख रुपये की कमी कर दी गई थी।

२७. १९३९ के बाद से भारतीय अर्थ-प्रबन्ध—१९३९-४० के व्यापार में निरन्तर होती हुई अवनति के कारण आय में बहुत घाटा हुआ। विशेष रूप से निराक्राम्य-कर में और नये प्रचलित आय-कर की वर्ग-प्रणाली (स्लैब सिस्टम) के अन्तर्गत वृद्धि के होते हुए भी तथा ऋण पर व्याज देने और रक्षा पर व्यय करने में कमी करते हुए भी बजट में लगभग ५० लाख का घाटा पूरा करने के लिए बाकी रह गया। यह कमी कच्ची रुई पर आयात-कर को दूना करके पूरी की गई।[१] सितम्बर १९३९ में लड़ाई छिड़ जाने से बजट में अगले महीने में विभिन्न परिवर्तन हुए। ३ लाख के अनुमानित अतिरेक के स्थान पर संशोधित अनुमान में ९१ लाख रुपये का अतिरेक हुआ। रेल, आय-कर, नमक तथा द्रव्य-चलन से प्राप्त आय में ५०८ लाख रुपये की वृद्धि हुई, जबकि व्यय में, मुख्यतः रक्षा पर, अतिरिक्त व्यय के कारण केवल ४२० लाख रुपये की वृद्धि हुई (देखिए सेक्शन २०)। १९३९-४० के आय-व्यय का अन्तिम परिणाम ७७७ लाख के रु० अतिरेक में लक्षित हुआ, जिसके कारण रक्षित आय-कर कोष में ६८६ लाख रुपये अधिक जमा किया जा सका। यह आय में ६८१ लाख रु० की वृद्धि और व्यय में ५ लाख रुपये की कमी के कारण सम्भव हो सका। लड़ाई छिड़ते ही तीव्र गति से कम हो जाने के बाद निराक्राम्य-कर वर्ष के अन्तिम महीनों में माल इकट्ठा करके रखने के कारण असामान्य रूप से ऊँचे हो गए। रेल, आय-कर, नमक-कर द्रव्य-चलन और टकसाल से आय में और अधिक वृद्धि हुई।

भारत का प्रथम युद्धकालीन बजट (१९४०-४१)—रेल की आय में वृद्धि होते हुए भी पूरे वर्ष के लिए युद्धकालीन बजट ने ७१६ लाख रुपये की सम्भावित कमी को नवीन साधनों से आय में वृद्धि करके पूरा करने की आवश्यकता की ओर संकेत किया था, जोकि युद्धजनित अतिरिक्त आवश्यकताओं को पूरा करने के कारण हुई थी। केवल रक्षा-बजट ही ५२·५२ करोड़ रुपये का था। १९३९-४० के संशोधित अनुमान के अनुसार होने वाले ९१ लाख रुपये के अतिरेक की सहायता से बजट में घाटा घटकर ६२५ लाख रु० हो गया। वित्त-मन्त्री ने यह कमी निम्न प्रत्यक्ष और परोक्ष करों के आरोप द्वारा पूरा करने का प्रस्ताव किया—(१) अतिरिक्त लाभ-कर, युद्धकालीन लाभों के ऊपर ५०% की दर से (३०० लाख रु०), (२) चीनी के उत्पाद-कर को १ रु० प्रति हण्ड्रेडवेट बढ़ाकर (१५० लाख रु०) और (३) मोटर स्पिरिट के उत्पाद-कर पर २ आना बढ़ाकर (१४० लाख रु०)। इस प्रकार १९४०-४१ के बजट में नाम-मात्र को ५ लाख रु० का अतिरेक दिखाया जा सका।

अनुपूरक वित्त अधिनियम (नवम्बर १९४०)—युद्धकालीन व्यय के अनुमानित

१. ६ पाई प्रति पौण्ड से १ आना प्रति पौण्ड कर दी गई।

स्तर से बहुत अधिक बढ़ जाने के कारण नये करों के आरोप की आवश्यकता पड़ी, जोकि दूसरे वित्त-विधेयक में सम्मिलित थे, जिसे सर जर्मी रेजमैन ने ५ नवम्बर, १९४० को पेश किया। स्थिति ऐसी थी कि रक्षा-बजट में १४½ करोड़ रु० की वृद्धि और प्रशासन-व्यय में २½ करोड़ की वृद्धि का प्रबन्ध करना था और रक्षित आय-कोष में ७ करोड़ रुपये की बचत जो प्राप्य थी उसको कम करने के लिए ३ करोड़ रुपये की आय में १९४०-४१ में कमी करनी थी। इस प्रकार भविष्य में लगभग १५ करोड़ रुपये की कमी होने का अनुमान लगाया गया था। इसके अतिरिक्त रक्षा के उपायों पर रुपया खर्च करने के लिए बड़े-बड़े वायदे थे, जिनमें १६ करोड़ रुपये की आवर्ती व्यय में साल-भर के भीतर वृद्धि होनी थी और अनावर्ती व्यय में भी लगभग ३० करोड़ रुपये की वृद्धि दो-एक साल में पूरी करनी थी। नये करारोप के प्रस्तावों में २५% के संधानीय अधिभार की सब आय-करों के ऊपर—अधिकर और निगम-कर को सम्मिलित करते हुए—व्यवस्था थी तथा डाक की दर में वृद्धि भी प्रस्तावित थी।

१९४१-४२ के बजट में १९४०-४१ के संशोधित अनुमानों के अनुसार ८·४२ करोड़ रु० की तथा १९४१-४२ के बजट में २०·४० करोड़ रु० की कमी दिखाई गई थी। १९४०-४१ के संशोधित आँकड़े रक्षित आय-कोष से ६·८६ करोड़ रु० की प्राप्य रकम को छोड़कर बजट के अनुमानित आँकड़ों की अपेक्षा ४·२१ करोड़ रु० की अतिरिक्त आय प्रकट करते थे। इसके विरुद्ध व्यय के संशोधित आँकड़े अधिकतर रक्षा-सेवाओं तथा युद्ध-सम्बन्धित योजनाओं पर १९·५४ करोड़ रु० की वृद्धि प्रकट करते थे। इस प्रकार जबकि १९४०-४१ के बजट में अनुमान के अनुसार ५ लाख रु० के अतिरेक की सम्भावना थी और नवम्बर में आरोपित नये करों से प्राप्त आय को विचाराधीन न रखते हुए बजट में १३ करोड़ रुपये की कमी का अनुमान किया गया था, १९४०-४१ के पूरे वर्ष के लिए संशोधित अनुमान के अनुसार कमी केवल ८·४२ करोड़ रुपये की ही थी। यह उन्नति अतिरिक्त आय की प्राप्ति के कारण हुई, जिसमें २·८१ करोड़ रुपये की रेल-विभाग से अपने अंशदान के बकाया के रूप में प्राप्ति भी सम्मिलित थी। ८·४२ करोड़ की कमी ३ करोड़ रुपये के काम में ले आने से, जोकि बजट में दिखाया जा चुका था और जो ऋण में कमी और अदायगी बचाने के लिए था, घटकर ५·४२ करोड़ रुपया हो गई और इसलिए सरकार के कर्ज में वास्तविक वृद्धि केवल ५½ करोड़ रुपये की ही हुई।

१९४१-४२ के बजट में होने वाली २०·४० करोड़ रु० की भारी कमी बहुत बड़े रक्षा-बजट के कारण पैदा हुई, जिसमें ८४·१३ करोड़ रुपये रक्षा पर तथा युद्ध के कारण शासन-व्यवस्था पर व्यय किये जाने का अनुमान किया गया था। यह प्रस्ताव किया गया था कि यह कमी ६·६१ करोड़ रु० तक नये करों के आरोप द्वारा तथा शेष ऋण लेकर पूरी कर ली जायगी। प्रस्तावित नये करों में, जहाँ तक प्रत्यक्ष करों से सम्बन्ध था, अतिरिक्त लाभ-कर ५० से ६६⅔%(२·५० करोड़ रुपया) और आय-कर तथा अधिकर पर केन्द्रीय अधिभार २५ से ३३⅓% (०·९० करोड़

रुपया) बढ़ाकर कर दिया गया। जहाँ तक परोक्ष करों का सम्बन्ध है, दियासलाई पर उत्पाद-कर दूना कर दिया गया और उसी अनुपात से आयात-कर भी बढ़ा दिया गया (१·५० करोड़ रुपया)। इनके अतिरिक्त दो और छोटे-छोटे प्रस्ताव थे, जिनमें पहला कृत्रिम रेशम के धागों पर आयात-कर को ३ आ० प्रति पौण्ड से ५ आ० प्रति पौण्ड कर देने और दूसरा भारत में निर्मित न्यूमेटिक टायरों पर मूल्य के आधार पर १०% का उत्पाद-कर लगा देने का था (३५ लाख रुपया)।

१९४२-४३ का बजट पेश करते समय वित्त-मन्त्री ने १७ करोड़ रुपये की उसी वर्ष और ४७ करोड़ की अगले वर्ष कमी दिखाई थी। १९४२-४३ में रक्षा पर १३३ करोड़ रु० का व्यय अनुमान किया गया था। यह प्रस्ताव किया गया था कि इस कमी को ३५ करोड़ रुपये के कर्ज द्वारा और १२ करोड़ रु० के नये करों की वृद्धि द्वारा पूरा किया जायगा। नये प्रस्तावित करों में (१) आय-कर पर अधिभार और अधिकर की दर में वृद्धि, (२) सभी वस्तुओं पर २०% निराक्राम्य अधिभार और (३) डाक-कर तथा डाक और तार की दर में वृद्धि आदि सम्मिलित थे।

१९४३-४४ के बजट-आगणन में १९९·३ करोड़ रुपये की आय का अनुमान किया गया था, जबकि १९४२-४३ के संशोधित आगणन में आय केवल १७८·७६ करोड़ रुपये ही थी और २५९·५९ करोड़ रुपये के व्यय की सम्भावना की गई थी। ६०·२९ करोड़ रुपये की कमी को २०·१ करोड़ रुपये तक नये करों के आरोप द्वारा और बाकी कर्ज़ द्वारा पूरा करने का इरादा था। उस वर्ष संशोधित आगणन में ३५·५० करोड़ रुपये की आय में वृद्धि और ८७·३४ करोड़ रुपये की व्यय में वृद्धि दिखाई गई। इस प्रकार वर्ष के अन्त में आय से ९२·४३ करोड़ रुपये की कमी रही।

१९४४-४५ के बजट में वर्तमान समय में आरोपित कर के स्तर पर कुल आय का अनुमान २८४·९७ करोड़ रुपया था और कुल व्यय ३६३·१८ करोड़ रुपया था, इसलिए होने वाली कमी ७८·२१ करोड़ रु० की अनुमानित की गई थी, जिसको कुछ सीमा तक नये करों के आरोप द्वारा और कुछ सीमा तक अनिवार्य रूप से जमा कराये धन द्वारा पूरा करने का इरादा था। ऐसे आय-कर के पेशगी जमा कर दिये जाने की सुविधा, जिस पर उद्गम के स्थान पर ही कर नहीं वसूल कर लिया जाता था, एक बहुत बड़ा आय का साधन था। अतिरिक्त लाभ-कर के अनिवार्य रूप से जमा कर दिये जाने वाले $\frac{१}{५}$ अंश को बढ़ाकर $\frac{१९}{६४}$ अंश कर दिया गया, ताकि सब-का-सब अतिरिक्त लाभ-कर सुरक्षित रूप से जमा रह सके। अन्य करारोप के प्रस्तावित उपाय आय-कर की दर के क्रम को बढ़ाना (८$\frac{१}{२}$ करोड़ रुपया), स्पिरिट और तम्बाकू पर अधिभार में वृद्धि (१ करोड़ रुपया), तम्बाकू पर उत्पाद-कर में वृद्धि (१०करोड़ रुपया) और सुपारी, कहवा और चाय को केन्द्रीय प्रशुल्क के अन्तर्गत ले आना आदि थे। नये करों के अनिवार्य रूप से जमा करने से १०० करोड़ रुपये की आय की वृद्धि की सम्भावना थी अर्थात् जितनी कमी की गणना की गई थी उससे आय २२ करोड़ रु० अधिक थी।

रक्षा पर २७६·६१ करोड़ रु० के व्यय का अनुमान किया गया था और

पूँजी तथा आय पर लगभग २४·६० करोड़ रुपये के व्यय का अनुमान किया गया था (वास्तव में इसी वर्ष में व्यय की उच्चतम मात्रा ४५८·३२ करोड़ रु० तक पहुँच गई थी)।

१९४४-४५ के बजट ने सारे अतिरिक्त लाभ पर अतिरिक्त लाभ-कर अदा करने के बाद तथा शेष लाभ पर आय-कर तथा अधिकर दे देने के बाद जो-कुछ अतिरिक्त लाभ बचता था उसे जमा रूप में स्थिर कर दिया। अनिवार्य रूप से अतिरिक्त लाभ जमा करने वाले को लड़ाई बन्द होने के दो महीने के अन्दर अथवा लाभ जमा करने के दो वर्ष के बाद जो भी समय बाद में आता अपने जमा-लाभ को वापस ले लेने का अधिकार था और इस बीच में उसे २% का ब्याज देने की व्यवस्था थी।

१९४५-४६ की आय का अनुमान ३५३·७४ करोड़ रुपया किया गया था। रक्षा पर लगभग ३९४·२३ करोड़ रुपये और आय की प्राप्ति के साधनों और पूँजी लगाने में ५९·४१ करोड़ रुपये के व्यय का अनुमान किया गया था। शासन-व्यवस्था पर व्यय १२३·४० करोड़ रुपये के लगभग रखा गया था। १६३·८९ करोड़ रुपये की जो कमी होने वाली थी उसे मुख्यतः १५५·२९ करोड़ रुपये तक ऋण लेकर और ८·६० करोड़ रुपये तक करों के द्वारा पूरा करने का विचार था (जो तम्बाकू पर कर बढ़ाकर, डाक द्वारा भेजे जाने वाली पारसल की दर बढ़ाकर और तार-टेली-फोन के किराये तथा ट्रंककाल की फीस पर अधिभार लगाकर पूरी की गई थी)। यह पहला अवसर था जब कि बजट में अर्जित और अनर्जित आय में अन्तर माना गया।

सर्वप्रथम शान्तिकालीन बजट की पृष्ठभूमि में युद्धकालीन व्यय के एकदम कम हो जाने और युद्धकालीन आय में एकदम कमी आ जाने में आर्थिक स्थिति का प्रभाव था और युद्धकालीन मुद्रा-प्रसार के कारण देश की आर्थिक स्थिति के प्रति निरन्तर जागरूक रहना था। युद्धकालीन आर्थिक व्यवस्था से सुगमतापूर्वक शान्ति-काल की आर्थिक व्यवस्था की ओर ले जाने का प्रयास करने में बजट ने आर्थिक नीति को राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के ऊँचे आदर्शों के अनुरूप बनाने में विशेष ध्यान दिया। आय का अनुमान ३११·६५ करोड़ रुपये के लगभग किया गया और व्यय का अनुमान ३५५·७१ करोड़ रुपये के लगभग किया गया तथा होने वाली कमी ४४·०६ करोड़ रुपये की आँकी गई। पिछले वर्ष की संशोधित आय के अनुमान से इस वर्ष की अनुमानित आय लगभग ४९ करोड़ रुपये से कम थी। यह कमी मुख्यतः कर देने वालों को दी हुई सुविधाओं के कारण थी, जोकि विशेपकर उद्योगों में लगे लोगों को व साधारण आय वाले व्यक्तियों को दी गई थी। युद्ध की समाप्ति के पश्चात् भी रक्षा पर २४३·७७ करोड़ रुपये का व्यय मुख्यतः सेना के एक स्थान से दूसरे स्थान ले जाने के कारण था। प्रशासन-व्यवस्था पर १११·९४ करोड़ रुपया खर्च हुआ।

१९४७-४८ के बजट के आगणन के अनुसार व्यय ३२७·८२ करोड़ रुपया और आय २७९·४२ करोड़ रुपया वर्तमान करों के आधार पर की गई। इसके

परिणामस्वरूप बजट में ४८·४६ करोड़ रुपये का घाटा था। रक्षा पर १२२·७१ करोड़ रुपये के व्यय और शासन-व्यवस्था पर १३६·१७ करोड़ रुपये के लगभग अनुमान किया गया।

१९४७-४८ में भारत का आर्थिक इतिहास दो भागों में बाँटा जा सकता है—पूर्व-विभाजन काल तथा उत्तर-विभाजन काल। आय में ४८·४६ करोड़ रुपये की कमी, जिसका ऊपर ज़िक्र आ चुका है, पूर्व-विभाजन काल के बजट में नमक-कर के हटा देने से ८·२४ करोड़ रुपये से और बढ़ गई और ५६·७ करोड़ रुपये हो गई। करों के सम्बन्ध में विधानसभा द्वारा जो परिवर्तन किये गए उनके फलस्वरूप २७·२ करोड़ रुपये की कमी को पूरा कर देने का और आय में जो २९·५ करोड़ रुपये की कमी थी उसे वैसे ही छोड़ देने का प्रस्ताव किया गया।

उत्तर-विभाजन बजट—अन्तर्कालीन बजट में, जोकि ७½ महीने के लिए था, १७१·२ करोड़ रुपये की आय और १९७·४ करोड़ का व्यय तथा आय में २६·२ करोड़ की कमी थी। इस कमी का १·६ करोड़ रुपये का अंश सूती कपड़े पर ३% के मूल्यानुसार कर के स्थान पर ४ आना प्रति वर्गगज की दर से और रुई के सूत पर ६ आना प्रति पौण्ड की दर से परिमाण-कर लगाकर पूरा किया गया। जिस कमी को पूरा नहीं करना था वह २४·६ करोड़ रुपये की थी और वह असामान्य कारणों से थी, जैसे २२ करोड़ रुपया लोगों को पाकिस्तान से रक्षित अवस्था में लिवा लाना और शरणार्थियों को सहायता देना तथा २२·५ करोड़ रुपया विदेश से मँगाये हुए अन्न की सहायता देना आदि। देखने में बहुत अधिक लगने वाला रक्षा पर ९·२७ करोड़ रुपये का खर्च बंटवारे के पश्चात् सेना के धीमी गति से स्थानान्तरण तथा सामान्य काल से अधिक सेना के रखने के कारण था। १०४·७ करोड़ रुपये के प्रशासन पर व्यय में से १८·५ करोड़ व्यवस्था के लिए और १२ करोड़ देश की उन्नति के कार्यों पर खर्च करने के लिए था। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय बजट में प्रान्तीय सरकारों को विकास-कार्य के लिए १०·४ करोड़ रुपये के अनुदान का और ऋण के लिए १५ करोड़ रुपये के अनुदान का प्रबन्ध था।

७½ महीने के लिए बनाये हुए बजट के संशोधित आगणन के अनुसार आय में ५·९७ करोड़ रुपये की और व्यय में १२·१० करोड़ रुपये की कमी दिखाई गई थी।

१९४८-४९ के संशोधित आगणन में ३३८·३२ करोड़ रुपये की आय और ३३९·८७ करोड़ रुपये का व्यय दिखाया गया था। व्यय में बजट के अनुमान से ८२·४९ करोड़ रुपये की वृद्धि मुख्यतः काश्मीर के युद्ध के कारण और हैदराबाद में पुलिस कार्यवाही के कारण थी। असैनिक व्यय में बजट के अनुमान से ४८·१४ करोड़ रुपये की वृद्धि (१) बंटवारे के पूर्वकाल के ऋण को देने के लिए २०·७५ करोड़ रुपये के अलग रख देने के कारण, (२) १२·०५ करोड़ रुपये के व्यय की विदेशों से मँगाये जाने वाले अन्न से सहायता देने के निमित्त तथा प्रान्तीय सरकारों को अपने-अपने राज्य की सीमा में अन्न एकत्रित कर लेने में लाभांश देने के कारण और (३) सहायता तथा पुनर्वास पर अधिक व्यय कर देने के कारण हुई।

१९४९-५० के बजट के अनुसार कुल आय ३२३ करोड़ रुपये और कुल व्यय ३२२½ करोड़ रुपये था। संशोधित आगणन में आय ३३२ करोड़ रुपये से कुछ अधिक और व्यय ३३६ करोड़ रुपये से कुछ अधिक था; इस प्रकार बजट में केवल ३·७४ करोड़ की कमी रह गई थी। रक्षा पर व्यय १२⅔ करोड़ रुपये से बढ़ गया था। इसके विरुद्ध निराक्राम्य-कर में अनुमानित आय से ९ करोड़ रुपये की वृद्धि हो गई थी। इन दोनों के बीच का अन्तर कमी की मात्रा के लगभग बराबर था। रक्षा पर व्यय ऊँचे ही स्तर पर रखना पड़ा, क्योंकि काश्मीर की समस्या का शान्ति से सुलझाव, जिसकी आशा की जाती थी, नहीं हो सका। निराक्राम्य-कर में वृद्धि उदार आयात नीति के कारण तथा निर्यात-कर से रुपये का अवमूल्यन हो जाने के कारण अधिक आय की प्राप्ति के कारण हुई।

वर्तमान कर के स्तर पर १९५०-५१ में कुल आय ३४७·५ करोड़ रुपया और कुल व्यय ३३७·८८ करोड़ रुपया ९·६२ करोड़ रुपये के अतिरेक के साथ आगणित किये गए थे। जहाँ तक आय का सम्बन्ध है निराक्राम्य-कर में १४ करोड़ रुपये की कमी की सम्भावना की गई थी, क्योंकि आयात में कठोर नियन्त्रण की नीति अपनाई गई थी, पर आय-कर से ३५ करोड़ रुपये की वृद्धि का अनुमान किया गया था। इसके तीन कारण थे—(१) भारतीय संघ में मिलने वाली देशी रियासतों से प्राप्त आय, (२) कर की बकाया रकम की तत्परता के साथ वसूली और (३) आय-कर अधिनियम के १८ अ भाग के अन्तर्गत पेशगी वसूली। रक्षा पर १६८ करोड़ रुपये के व्यय का अनुमान था, जबकि १९४९-५० के संशोधित आगणन के अनुसार व्यय के लिए १७० करोड़ रुपया नियत किया गया था।[1]

आगे दी हुई तालिका में पूँजी की मदों के अन्तर्गत भारत सरकार की आय और व्यय का १९४७-४८ से १९४९-५० तक का ४ वर्ष का व्योरा दिया हुआ है।[2]

१. वर्तमान कर-स्तर पर १९५५-५६ के लिए ४६२ करोड़ रुपये की आय और ४९२ करोड़ रु० के व्यय का अनुमान किया गया है।

१९५१-५२ से भारत सरकार की आय और व्यय की प्रवृत्तियाँ निम्न तालिका में दिखाई गई हैं।

	१९५१-५२ (अकाउण्टस)	१९५२-५३ (अकाउण्टस)	१९५३-५४ (अकाउण्टस)	१९५४-५५ (रिवाइज़्ड एस्टिमेट)	१९५५-५६ (बजट)
आय	५०९.५	४२९.६	४०९.८	४४४.४	४६१.९
व्यय	३८१.४	३९०.७	४०१.३	४४९.४	४९२.०
बचत(+)या घाटा(—)	+१२८.१	+ ३८.९	+ ८.५	—५.०	—३०.१

२. देखिए, रिपोर्ट आन करेन्सी एन्ड फिनान्स १९४८-४९, पृष्ठ १०९।

पूँजी के अन्तर्गत भारत सरकार की आय और व्यय[1]

लाख रुपयों में

आय	१९४७-४८ संशोधित	१९४८-४९ बजट	१९४८-४९ संशोधित	१९४९-५० बजट
नये ऋण	४०९५	१५०००	५५,०४	८५,००
ट्रेजरी बिल्स	१०००	१०००	२७०,६५	—
ट्रेजरी में जमा की रसीदें	...	...	४,००	५००
छोटी बचत	९११	३१२५	३२८५	३७५६
अन्य ऋण जिसके लिए कोई कोष नहीं था ...	२०	१०७	६३	१७९
रेल का अवक्षयण और रक्षित कोष ...	७०३	७६४	३९८	१७६६
रेल सुधार कोष	१	११	८	३२
ऋण में कमी के लिए प्रबन्ध	५००	५००	५००	५००
अतिरिक्त लाभ-कर और आय-कर सम्बंधी जमा	६१६८	३९०६	४०८२	३५०९
प्रान्तों द्वारा दिया हुआ कर्ज	४३९	४४५	५५७	४९२
अन्य कारणों से प्राप्ति	९८७	२२८८	२९७८	१८३३
आय का योग	७८३	१७४००	३५६५६	१०६७८
पूँजी के हिसाब में हीनता	१३३४१	११२५७	१८५०९	१३४१०
कुल योग	१४१२४	२८६५७	५४१६५	२४०८८

व्यय	१९४७-४८ संशोधित	१९४८-४९ बजट	१९४८-४९ संशोधित	१९४९-५० बजट
रेल	१६७९	२४४५	२७१५	२८४९
औद्योगिक विकास	६१३	७८८	१०९४	१३१५
द्रव्य-चलन और टकसाल	७९	७२	६८०	९२
रक्षा पर पूँजी का प्रयोग	—	१४९९	९१६६	३२०
प्रान्तों को विकास के लिए अनुदान ...	२०३९	३०००	१८००	२६८१
स्थायी ऋण की अदायगी	५९५७	१०३७८	१०४९५	७१६४
अन्य ऋण	२३३	१६६६	७१४	१६३७
प्रान्तीय सरकारों को उधार	२२४५	३८००	३८९२	५८२५
अन्य व्यय	१२७९	५००९	२३६०९	२२०५
व्यय का योग	१४१२४	२८६५७	५४१६५	२४०८८
कुल योग	१४१२४	२८६५७	५४१६५	२४०८८

[1] हाल के वर्षों में भारत सरकार का पूँजी बजट

(करोड़ रुपयों में)

आय	१९५०-५१	१९५१-५२	१९५२-५३	१९५३-५४	१९५४-५५ बजट	१९५४-५५ संशोधित	१९५५-५६ (बजट)
नये ऋण	३८'०९	१११'३०	३३'६५	७६'८३	७८'२८	१६०'९६	१४१'८९
अन्तर्राज्यीय ऋण व्यवस्थापन	—	—	—	—	—	१०'९२	४'६८
ट्रेजरी बिल	१६'१०	—४३'६९	०'९५	१९'६६	२५०'००	२२०'००	३४०'००
ट्रेजरी डिपाजिट	—७'१३	११'४७	—१८'०३	—०'१५	—	—	—
ट्रेजरी सेविंग डिपाजिट सर्टिफिकेट	५'४७	१३'१०	७'४०	६'३८	७'५०	५'००	५'००

२८. भारत में लोक-ऋण का सर्वेक्षण—हमारे देश में लोक-ऋण के इतिहास का आरम्भ ईस्ट इण्डिया कम्पनी के युद्धों से होता है। १७६२ में ७० लाख पौण्ड के ऋण से धीरे-धीरे बढ़कर गदर के वर्ष १८५६-५७ के तनिक पहलेतक ५६५ लाख पौण्डका ऋण हो गया। एक साल बाद ऋण की मात्रा ६००लाख पौंड से कुछ ऊपर हो गई।

अन्य ऋण	८'३०	१०'१६	८'५८	१५'१६	१५'३६	१५'८४	१७'००
रेलवे फण्ड	१७.५५	२०'०४	०'३४	—६'३१	—१३'४७	—१३'६२	—६'८७
अन्य सुरक्षित कोष	०'१६	०'२६	०'३६	०'१६	—०'६२	—०'१६	०'५४
ऋण कम करने या बचाव के लिए अलग रखा धन	५'००	५'००	५'००	५'००	५'००	५'००	५'००
ई० पी० टी० और आय कर निक्षेप	—३३'२१	—३६'२७	—३६'७२	—१४'६७	—४'२३	—२'५५	—१'३३
राज्यों द्वारा ऋण की अदायगी	८'०८	१२'२८	१३'८०	१३'२१	२०'६०	२४'०५	२४'६२
(कण्टन्जेंसी) फुटकर कोष	१५'००	—	—	—	—	—	—
विशेष विकास कोष	—	५१'०२	३४'०७	१६'६०	४५'१२	२२'७३	५८'५१
अन्य मद	१६'०६	—७'६५	—१२'४२	७'३६	२४'३५	३६'६५	३२'६८
कुल आय	१२०'५५	१६६'०४	६६'७७	२३८'०२	४६२'६५	५२८'६६	६६७'५४
व्यय							
गैर-विकास के मद, जैसे सुरक्षा, करेन्सी, टकसाल आदि पर किये व्यय का योग	१३'७३	६३'४३	७'३३	—२२'७०	१२'६३	७२'८७	७३'८१
विकास के मद, जैसे रेलवे, डाकखाना और तारघर, सिंचाई और बहूद्देश्यीय नदी योजनाएँ आदि के व्यय का योग	५७'४०	५४'७५	३१'७६	४६'१८	१३३'१८	१०५'६७	१४६'४६
अन्य व्यय							
स्थायी ऋण की अदायगी	४५'८५	८७'६४	५'८६	११५'३६	५३'०२	४८'३१	७३'०६
अन्तर्राज्यीय ऋण व्यवस्थापन	—	—	—	—	—	१'१०	०'४५
राज्यों के प्रति अग्रिम	६१'४६	६०'७७	६१'६७	१२५'६४	१८१'४४	२२३'२४	२८२'५१
राज्य विकास-कोष से राज्यों को अग्रिम	—	१४'६४	१६'८२	२८'७१	३२'६७	३१'६७	७'६८
अन्य ऋण और अग्रिम	४'२५	११'६०	७'२१	१३'६४	२६'३२	२८'२३	५०'२३
कुल व्यय	१८२'५६	२६३'४३	१६४'०१	३०७'८६	४३८'५०	५११'०६	६३७'२३

ग़दर में जो-कुछ खर्चा हुआ था सारा-का-सारा भारत के ऊपर डाल दिया गया और १८६० में कुल लोक-ऋण १०,००,००,००० पौण्ड हो गया। १८५८ में जब कम्पनी के राज्य का अन्त हो गया तो भारत सरकार ने केवल देश के ऋण को ही अदा करने की ज़िम्मेदारी नहीं ली, वरन् ईस्ट इण्डिया कम्पनी की १२० लाख पौण्ड की पूँजी पर लाभांश देने का भी वायदा किया, जो १८७४ तक दिया गया, जबकि कम्पनी की सारी पूँजी अदा हो गई। जो ऋण भारत सरकार को कम्पनी से मिला था वह पूर्णतया अनुत्पादक ऋण था। १८६७ के बाद, जब से लोक-निर्माण-कार्य करने की नीति अपनाई गई, जिसे बाद में उत्पादक-कार्य कहा जाने लगा, जैसे रेल, सिंचाई आदि, लोक-निर्माण ऋण अथवा उत्पादक ऋण में निरन्तर वृद्धि हुई है। १८७९ के बाद से अनुत्पादक ऋण को साधारण ऋण कहा जाने लगा। जब से सरकार को भी कर्ज़ लेने की आवश्यकता पड़ी कुछ रेलों को कम्पनियों से खरीदने के लिए अथवा कर्ज देने के लिए सरकार के उत्पादक ऋण में वृद्धि हुई। १८७८ में प्रवर समिति (सिलेक्ट कमेटी) की सिफ़ारिशों के अनुसार किसी एक वर्ष की अतिरेक आय का प्रयोग ऋण की अदायगी में नहीं होना चाहिए, वरन् उसका प्रयोग उत्पादक कार्यों में करना चाहिए, जिसके लिए अन्यथा सरकार को ऋण लेना ही पड़ता। साधारण ऋण में कमी का अर्थ दूसरी ओर लोक-निर्माण-कार्य के लिए लिये गए ऋण में वृद्धि थी। इस प्रकार १९१७ तक साधारण ऋण पूर्णतया अदा हो गया होता, पर लड़ाई के कारण ऋण में बहुत वृद्धि हो जाने से ऐसा न हो सका। स्वर्गीय श्री गोखले इस नीति के बड़े विरोधी थे कि आय के अतिरेक को साधारण ऋण देने के काम में लाया जाय और उत्पादक ऋण बढ़ाया जाय। उनका कहना था कि अनुत्पादक ऋण इतना कम था कि सरकार को साधारण बचत की रकम से उसे समाप्त करने की कोई आवश्यकता नहीं थी। यह बचत तो कर देने वालों को कर की छूट के रूप में अथवा उनके हित के अनावर्ती व्यय पर लगा देनी चाहिए, जैसे शिक्षा, औषधि की सुविधा इत्यादि, जोकि विशेष प्रान्तीय कोषों से लिये जाते थे। केन्द्रीय सरकार इन कोषों को अपनी बचत अनुदान के रूप में दे सकती थी।

१९१४-१८ के युद्ध के पहले भारत के लोक-ऋण का अधिकांश इंगलैण्ड में लिया गया था। सरकार ने इस नीति का अनुमोदन इस आधार पर किया कि इंगलैण्ड और भारत में ब्याज की दर में इतना अन्तर था कि इंगलैण्ड में उधार लेने से यदि कोई हानि की सम्भावना हो तो वह पूरी हो जाय। उन्हें भारत के द्रव्य-बाज़ार का बहुत ही भ्रमपूर्ण ज्ञान था, जिसकी उधार देने की शक्ति वे किसी भी वर्ष ५ करोड़ रुपये से अधिक नहीं समझते थे। १९१४-१८ के महायुद्ध में यह सिद्ध हो गया कि उनका यह अनुमान बहुत कम था। इस काल में साधारण लोक-ऋण बड़ी तीव्र गति से बढ़ा। ३१ मार्च, १९१६ में ३·१ करोड़ रुपया था और मार्च १९२४ में वह २५७·७० करोड़ रुपये हो गया। यह भारत के युद्धकालीन १००० लाख

पौण्ड[1] का अंशदान नई दिल्ली के व्यय और केन्द्रीय सरकार के युद्धोत्तरकालीन घाटे के बजटों के फलस्वरूप था। इन आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए भारत में लगातार युद्धकालीन ऋण लिये गए। इंगलैण्ड के द्रव्य-बाज़ार पर वहीं की सरकार द्वारा युद्ध के लिए माँगे हुए कर्ज़ का भार पहले ही शक्ति-भर पड़ चुका था और भारत से १९१७ में ५३ करोड़ रु० का और १९१८ में ५७ करोड़ रुपये का ऋण प्राप्त हो चुका था। इससे और अधिक ऋण पाने की आशा भी थी। युद्ध-काल में भारत की धन के बाज़ार की ऋण देने की शक्ति का जो परिचय मिला वह युद्धोत्तर-काल में भी जारी रहा। युद्ध-सम्बन्धी ऋण की बड़ी मात्रा के अतिरिक्त इस ऋण की एक दूसरी विशेषता ऋण देने वालों की संख्या थी। इसके लिए हमें प्रभावशाली विज्ञापन और लोक-ऋण प्रशासन द्वारा अधिकाधिक सुविधाओं, जो राज्य के खज़ानों और उप-खज़ानों में प्राप्त थीं, का आभारी होना चाहिए। इस सम्बन्ध में डाकखाने की युद्ध-सम्बन्धी ऋण शाखा और कैश सर्टिफिकेट की प्रणाली, जिसे सरकार की ऋण-नीति में स्थान मिला था, विशेष उल्लेखनीय है।

ट्रेज़री बिल १९१४-१८ की लड़ाई की देन थे, जो सर्वप्रथम १९१७ के ब्रिटिश युद्ध-कार्यालय की तरफ से सरकार द्वारा वितरण के लिए जारी किये गए। युद्धोत्तर-काल में आय की कमी पूरी करने के लिए ये फिर जारी किये गए थे, जबकि पुराने बिलों की रक़म नये बिल जारी करके अदा की गई थी। अन्त में ट्रेज़री बिल की बहुत बड़ी बकाया रकम लम्बी अवधि के ऋण से प्राप्त धनों द्वारा दी गई, जोकि अच्छे अर्थ-प्रबन्ध की दृष्टि से अनुचित थी। १९२९-३० से ट्रेज़री बिल का जारी करना केन्द्रीय अर्थ-प्रबन्ध का एक साधारण कार्य हो गया है।

यहाँ पर युद्ध-सम्बन्धी भारतीय सुरक्षा बचत आन्दोलन का उल्लेख करना आवश्यक है, जोकि जून १९४० में ३% छः वर्षीय डिफेन्स-बाण्ड्स, दशवर्षीय डिफेन्स सर्टीफिकेट और व्याजयुक्त बाण्ड्स को जारी करके आरम्भ किया गया था। युद्ध-सम्बन्धी राज्य-ऋण की योजना में छः वर्षीय डिफेन्स बाण्ड मुख्य थे और इनसे ४५ करोड़ रुपया वसूल हुआ, जिसमें से ३½ करोड़ रोकड़ में और बाकी ५% के ऋण (१९४०-४३) परिवर्तित करके वसूल हुआ। १ फरवरी, १९४१ से छः वर्षीय सुरक्षा-पत्र (डिफेन्स बाण्ड) के स्थान पर ३% का दूसरा सुरक्षा ऋण (डिफेन्स लोन) अधिक लम्बी अवधि के लिए जारी किया गया। १९४२-४३ में सुरक्षा ऋण में लोगों ने ११५ करोड़ रुपया लगाया। बाद में तीसरा, चौथा तथा अन्य अनेक ऋण जारी किये गए, जिनमें १९४३-४४ में कुल २७९ करोड़ रुपया जमा हुआ और यदि युद्ध के आरम्भ-काल से ही हिसाब लगाया जाय तो कुल ५४७ करोड़ रुपया जमा हुआ। ऊपर वर्णित ऋणों में अतिरिक्त सरकारी कर्मचारियों के लिए डिफेन्स सर्विस प्राविडेण्ट फण्ड आरम्भ किया गया, जिससे सरकारी कर्मचारियों के लिए

[1] १९१८ में युद्ध के और अधिक चलने की दशा में युद्ध-सम्बन्धी ४५० लाख के अतिरिक्त अंशदान का वचन दिया जा चुका था, परन्तु १९१९-२० में अफ़गान-युद्ध के कारण १६० लाख पौण्ड का भारी खर्च हो जाने के कारण युद्ध-सम्बन्धी अंशदान की मात्रा बहुत घटा दी गई।

नियमित रूप से रुपया जमा करने की सुविधा हो गई। एक सरल ढंग सर्वसाधारण के लिए रुपया जमा करने का पोस्ट आफिस डिफेन्स सेविंग्ज़ वैंक अकाउण्ट की नई योजना द्वारा प्रचलित किया गया, जिसमें जमा किया हुआ रुपया माँगने पर नहीं वल्कि युद्ध-समाप्ति के एक वर्ष वाद मिल सकता था। इसे प्रोत्साहित करने के लिए इसमें व्याज की दर साधारण पोस्ट सेविंग्ज़ वैंक अकाउण्ट से १% अधिक रखी गई।

३१ मार्च, १९३९ को कुल व्याज देने वाला नियमित ऋण ११५८ करोड़ रुपये का हो गया था। इसमें स्टर्लिग ऋण और रेलवे एनुइटी का ४४५ करोड़ रुपया, रुपये के ऋण और ट्रेजरी विल का ४८४ करोड़ रुपया और विना कोष के ऋण सेविंग वैंक डिपाज़िट और प्रोविडेण्ड फण्ड का २२९ करोड़ रुपया सम्मिलित था।

१९३७-३८ से भारत के लोक-ऋण की निम्न मुख्य विशेषताएँ रही हैं—(१) व्याज वहन करने वाले भारत सरकार के ऋण की मात्रा में निरन्तर वृद्धि (जिसमें अनिश्चित काल के ऋण और निश्चित काल के ऋण सम्मिलित थे); (२) १९४२-४३ तक सावधि और विना अवधि के ऋण की मात्रा में, जो किसी सीमा तक स्टर्लिंग ऋण की अदायगी के सम्वन्ध में प्रचलित किये गए थे, निरन्तर वृद्धि; (३) १९४२-४३ तक अल्पकालीन ऋण में वृद्धि, जिसका प्रतिनिधित्व ट्रेज़री विलों द्वारा किया जा रहा था, जिनकी मात्रा युद्ध के पहले से ६ गुनी वढ़ गई थी और जो स्टर्लिंग ऋण की अदायगी के लिए प्रचलित किये गए थे; (४) अगले चार वर्ष में अल्पकालीन ऋण में कमी होना और अनिश्चित काल के ऋण की मात्रा में वृद्धि; (५) १९४२-४३ तक छोटी मात्रा में वचत में कमी, पर वाद के वर्षों में फिर से मात्रा वढ़ना (विशेषकर नेशनल सेविंग्ज सर्टीफिकेट के प्रचलन के कारण); और (६) स्टर्लिंग ऋण का अन्त, जो युद्ध के समय में रुपये के ऋण से वढ़ गया था आदि।

१९४२-४३ से युद्धकालीन वित्त-सम्वन्धी विकास का नया रूप आरम्भ हुआ, जिसकी एक विशेषता लोक-ऋण की वृद्धि की गति में तीव्रता तथा युद्धकालीन व्यय में निरन्तर वृद्धि के कारण घाटे के वजट और मुद्रा-प्रसार का वढ़ता हुआ भार था।[1]

---

१. १९४८-४९ से भारत का यह दायित्व वढ़ता ही रहा है और १९५३-५४ में यह २६९५ करोड़ रु० था। इसमें से २५५४ करोड़ रु० आन्तरिक ऋण था तथा शेष १४१ करोड़ रु० वाह्य ऋण था। १९५४-५५ में भारत का ऋण वढ़कर ३०३९ करोड़ रु० हो गया। इसमें से २९०० करोड़ रु० आन्तरिक और १३९ करोड़ रु० वाह्य ऋण था। आशा की जाती है कि मार्च, १९५६ के अन्त तक ऋण में ४७० करोड़ रु० की वृद्धि होगी और ऋण वढ़कर ३५०९ करोड़ रु० हो जायगा।

गत वर्षों में भारत के वाह्य ऋण में स्टर्लिंग ऋण के साथ ही डालर ऋण भी प्रकट होने लगा है। नीचे दी हुई तालिका भारत के वाह्य ऋण के इस पहलू को स्पष्ट कर रही है।

डालर ऋण

मार्च १९५०	१९·७७ करोड़ रु०
,, १९५१	२४·६० ,, ,,
,, १९५२	११२.०४ ,, ,,
,, १९५३	११३.७४ ,, ,,

(रिज़र्व वैंक की रिपोर्ट स ऑन करेन्सी एन्ड फ़िनान्स से)

निम्न तालिका में विभिन्न प्रकार के लोक-ऋणों का विवरण १९३९-४० से १९४९-५० तक का दिया हुआ है।

केन्द्रीय सरकार का वर्ष के अन्त में ऋण
(करोड़ रुपयों में) [१]

	१९३९-४०	१९४४-४५	१९४५-४६	१९४६-४७	१९४७-४८	१९४८-४९ रिवाइज्ड	१९४९-५० बजट
(१) स्टर्लिंग लोन	४३९·१०	३४·१६	३३·८४	३२·८४	२६·४२	२४·०१	२३·४६
(२) रुपये का ऋण	४५०.२३	१२१२·१४	१४९२·२०	१५२९·७३	१५१७·०९	१४७८·३९	१४९६·७५
(३) छोटी मात्रा में बचत	१३५·३५	१५९·१८	२२१·५२	२७३·२०	२३३·१०	२७१·७३	३०९·२६
(४) ट्रेजरी बिल और मार्गोपाय अग्रिम	५४·७०	८६·७०	८३·३३	७९·२०	८६·८४	३७३·३३	३७८·३३
(५) कुल ब्याज वाले ऋण (जिनमें निश्चित काल वाले ऋण तथा जमा की रकम सम्मिलित है)	१२०३·८६	१८६०·४४	२२८२·३८	२३५९·३६	२१६२·३४	२४४०·२७	२४५४·९५

२९. ऋण-निष्क्रयण—१९१४-१८ के युद्ध के पहले लोक-ऋण दो प्रकार से कम किया जाता था। एक ढंग पर पहले ही विचार किया जा चुका है, जिसमें अतिरेक आय का प्रयोग पूँजी के रूप में रेल, सिंचाई के साधनों आदि पर किया जाता था, जिससे सरकार का ऋण लेना बचता था और अनुत्पादक ऋण में उतनी कमी होती थी। दूसरे ढंग का अनुसरण कुछ रेलों की खरीदारी के सम्बन्ध में लिये हुए ऋण का निष्क्रयण (रिडेम्पशन) करने के प्रयोग में किया गया। इस ऋण का एक अंश (जो ऋण के मूलधन और ब्याज की अदायगी के लिए प्रचलित किये गए थे) परिनियत दायित्व के अन्तर्गत रेलवे वार्षिक वृत्ति (एनुइटी) देकर कम किया गया और किया जा रहा है। इसी प्रकार इण्डिया स्टाक, जिसके लिए रेलवे के शेयर-होल्डरों को अपनी वार्षिक वृत्ति से मौलिक कम्पनियों की जिनसे रेलवे खरीदी गई थी, प्रतिभूतियों (सिक्योरिटीज़) में बदल लेने की आज्ञा प्राप्त थी,

१. भारत के लोक-ऋण—आन्तरिक एवं बाह्य—के हाल के आंकड़े निम्न तालिका में प्रस्तुत हैं—

(रोकड़ रु० में)

मार्च	रुपये का ऋण	बाह्य ऋण
१९५०	२४६२·७१	४३·३८
१९५१	२४७२·२४	४९·८१
१९५२	२४५९·८३	१३६·९९
१९५३	२४९२·६२	१३८·५३

यहां दिये हुए बाह्य ऋण में डालर ऋण भी सम्मिलित हैं। १९५३-५४ और १९५४-५५ के ऋण के सम्बन्ध में इससे पहला पादटिप्पणी में कहा जा चुका है।

रेलवे के हिसाब में प्रदर्शित किसी शोधन-कोष (सिंकिंग फण्ड) द्वारा कम किया जा रहा था। १९१४-१८ के युद्ध-काल में एक शोधन-कोष की स्थापना १९१७ के ५% युद्ध-ऋण के प्रचलन के सम्बन्ध में हुई थी। सरकार ने ऋण का १½% ऋण प्रतिभूतियों (लोन सिक्योरिटीज़) को, जब तक कि उनका विक्री का मूल्य जारी किये जाने के मूल्य से कम था, खरीदने और रद्द करने के लिए अलग रखने का निर्णय किया। इसके अतिरिक्त लगभग ५००,००० पौण्ड का भारत की युद्ध अंशदान के बकाया भाग की देयता का भी वार्षिक प्रबन्ध किया और १९२१-२२ से निर्णीत ८० लाख रुपये की ऐच्छिक देन का ५% ऋण के लिए अतिरिक्त अवक्षयण कोष का भी प्रबन्ध किया।

परन्तु यह स्थिति अनायास ही उपस्थित हो गई थी और ऋण के निष्क्रयण के प्रश्न पर कभी भी वैज्ञानिक और नियमित रूप से विचार नहीं किया गया था। किसी देश की आन्तरिक और बाह्य साख कायम रखने के लिए यह आवश्यक है कि उस देश में ऋण की अदायगी की एक विचारपूर्ण योजना हो, ताकि पुराने ऋणों के पूरे होने पर नये ऋण सरलता से लिये जा सकें और उपयुक्त व्याज पर जितनी पूँजी की आवश्यकता हो प्राप्त की जा सके। सर बेसिल ब्लैकेट के सुझाव पर दिसम्बर, १९२४ में विधानसभा ने एक नियमित ऋण-निष्क्रयण की योजना को स्वीकार कर लिया। सर बेसिल ने यह सुझाव दिया था कि ऋण की अदायगी के किसी नियमित कार्यक्रम को ढूँढ़ निकालने का उपाय कुल ऋण को विचाराधीन रखकर, उसके आधार पर रखी हुई पूँजी की सम्पत्ति की परीक्षा करके प्रत्येक प्रकार के ऋण-शोधन का एक उपयुक्त समय नियत करना है। इस योजना के आधार पर वित्त-मन्त्री ने ९ दिसम्बर, १९२४ को एक योजना की घोषणा की, जिसके अन्तर्गत सर्वप्रथम पहले ५ वर्ष तक ऋण के घटाने और बचाने के लिए साल-भर की आय में से ४ करोड़ रुपया प्रतिवर्ष अलग रखने का निश्चय किया गया। इस रकम के साथ ३१ मार्च, १९२३ को जितना ऋण शेष था उसके और प्रत्येक साल के अन्त में शेष ऋण के अन्तर का १/८०वाँ भाग भी उसमें सम्मिलित था। इस कार्य के लिए स्टर्लिंग ऋण को रुपये के ऋण में १५ रु० प्रति पौंड[1] की दर से परिवर्तित किया जा सकता था। सर बेसिल ब्लैकेट ने यह स्पष्ट कर दिया था कि इस प्रस्ताव के अनुसार शोधन-कोष (सिंकिंग फ़ण्ड) उस समय तक ऋण की वास्तविक मात्रा को नहीं घटायेगा जब तक कि प्रत्येक वर्ष नई पूँजी के व्यय करने की बड़ी-बड़ी योजनाएँ सामने रहेंगी, वरन् उसमें से अनुत्पादक भाग को कम करेगा। इस प्रकार धन की मात्रा का जो प्रबन्ध किया गया था वह एक प्रकार से उत्पादक पूँजी-व्यय के प्रति आय में से अंशदान कहा जा सकता है। इसलिए इसे यदि आय में से ऋण के बचाने और घटाने के लिए शोधन-कोष के स्थान पर अंशदान कहा जाय तो अधिक उपयुक्त होगा।

१९३० से पहले-पहल कैश सर्टिफिकेट का देयता को पूरा करने के विचार से पर्याप्त प्रबन्ध किया गया और उस समय से उन्हें राज्य के ऋण का हर अंश माना

१. देखिए, इंडियन पार्लियामेंट, खण्ड १०, पृष्ठ २७५।

जाने लगा।

१९३०-३१ के अपने बजट-सम्बन्धी भाषण में वित्त-मन्त्री ने कहा था कि रेल-विभाग की रूढ़ियों (कन्वेंशन्स) में (जो देश की आय में एक निश्चित मात्रा वार्षिक अंशदान के रूप में दिया करता है और जो पूरा-का-पूरा उस विभाग की पूँजी के लिए शोधन-कोष में प्रयुक्त होता है) तथा ऋण-निष्क्रयण-योजना की रूढ़ि में साम्य होने के कारण यह अधिक अच्छा होगा, यदि बाद के सुझावों को ज्यों-का-त्यों छोड़ दिया जाय और आगे चलकर जो अर्थ-प्रबन्ध का पुनर्विलोकन किया जाने वाला है, उस समय इसका भी विचार किया जाय। इसलिए यह निर्णय किया गया कि अब १९३०-३१ के बाद से पहले ही की तरह प्रबन्ध किया जाय, सिवाय इसके कि स्टर्लिंग ऋण को १५ रु० के स्थान पर १३$\frac{1}{3}$ रु० की दर से रुपये में परिवर्तित कर लिया जाय।[1] १९३३-३४ से ऋण को बचाने तथा घटाने की रकम घटाकर ३ करोड़ रुपया इस आधार पर कर दी गई कि भारत सरकार के ऋण का ६०% रेल विभाग के ही कारण था, इसलिए शोधन-कोष-पद्धति के अनुसरण से, जोकि १९३३-३४ में लागू थी और जब तक रेल-विभाग ने सामान्य आय में अंशदान देने की प्रथा को फिर से आरम्भ नहीं किया था, सामान्य बजट पर अनुचित भार पड़ जायगा। यद्यपि यह शर्त हाल में विशेष स्थिति के उपस्थित हो जाने के कारण पूरी हो गई, फिर भी आरम्भ की ऋण-निष्क्रयण-योजना लागू नहीं की गई और प्रतिवर्ष ३ करोड़ रुपया के हिसाब से ऋण के घटाने और बचाने के लिए कर दिया जाता है।

जो ऋण भारत में लिया जाता है उसे रुपये का ऋण कहा जाता है, क्योंकि रुपये में ही यह प्राप्त होता है और मूलधन तथा ब्याज आदि सब रुपये ही में अदा किये जाते हैं। इसका यह अर्थ कदापि नहीं लगाना चाहिए कि रुपये का ऋण देश के ही अन्तर्गत पाया हुआ ऋण है और इसे केवल भारतीयों ने ही दिया है। रुपये के ऋण का अधिकांश भारत में ही प्राप्त होता है, पर उसका कुछ अंश ऐसे लोगों द्वारा भी प्राप्त होता है जो इंगलैण्ड में रहते हैं और उसी देश में अपने ऋण पर ब्याज प्राप्त करते हैं। भारत में रुपये का ऋण दो भागों में विभाजित है—प्रथम भारतीय विनियोजक और दूसरा यूरोपीय विनियोजक। यह सुझाव दिया गया है कि सभी ऋण चाहे रुपये के हों और चाहे स्टर्लिंग के, चाहे भारत में प्राप्त हुए हों और चाहे इंगलैण्ड में यदि गैर-भारतीयों द्वारा दिये गए हैं तो वाह्य ऋण हैं और यदि भारतीयों द्वारा दिये गए हैं तो आन्तरिक ऋण हैं। यदि इस प्रकार देखा जाय तो हमारा अधिकांश ऋण अभी हाल तक वाह्य ऋण ही था।

३०. स्टर्लिंग ऋण की वापसी—१९३७ में स्टर्लिंग ऋण की वापसी का आरम्भ हुआ था, पर स्टर्लिंग विप्रेषण में कमी आ जाने के कारण इसे अस्थायी रूप से रोक दिया था। युद्ध आरम्भ हो जाने के बाद से व्यापारिक सन्तुलन की अनुकूलता के ...न्तर बढ़ने के कारण १९३९ में बहुत बड़ी मात्रा में लन्दन में पौण्ड-पावना ...त हो गया था, क्योंकि (१) भारत ने युद्ध में इंगलैण्ड के हिस्से का जो व्यय किया

[1] ...बजट भाषण, १९३०-३१, पैरा २५-२६ और वित्त सेक्रेटरी का स्मारक १९३१-३२, पैरा ३२।

था और बहुत सी वस्तुएँ और सामान, जिसके लिए पहले भारत ने ही मूल्य दिया था, वह सब इंगलैण्ड की सरकार से वापस मिलना था, (२) चेटफील्ड कमेटी की सिफारिशों के अनुसार सुरक्षा सुविधाओं के अर्वाचीन बनाने में जो व्यय हुआ था, उस मद में इंगलैण्ड से अंशदान मिलना था तथा (३) लन्दन में भारत सरकार की ओर से चाँदी की बिक्री से प्राप्त आय भी भारत को मिलनी थी। इन साधनों के कारण यह सम्भव हो सका कि पुरानी योजना फिर से चालू कर दी जाय, जिसमें रिज़र्व बैंक को अधिकार था कि वह भारत की बिना अवधि वाली पौण्ड प्रतिभूतियाँ खुले बाजार में खरीद ले और उन्हें भारत सरकार के पास विलोपन (केन्सेलेशन) के लिए भेज दे। उनके स्थान पर रुपये का ३% और ३½%का बिना अवधि वाला ऋण बाजार की आवश्यकतानुकूल जारी कर दिया जाय। १९४० में स्टर्लिंग की वापसी की एक और योजना जारी की गई, जिसमें भारतीय पौण्ड-ऋणदाताओं को इस बात का अवसर दिया गया कि यदि वे चाहें तो उसे रुपये के ऋण में परिवर्तित करवा लें, अथवा छः तिथियों के पौंड-ऋण को रुपये के ऋण में बदलवा लें। इस योजना में पौण्ड-ऋणदाता यदि चाहते तो स्वयं ही इंगलैण्ड के बैंक के खाते से रुपये के ऋण में बदलकर भारत में रिजर्व बैंक की किसी शाखा के खाते में उसे रजिस्टर करवा लेते। इंगलैण्ड में भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा काफी खरीदारी की गई और इस प्रकार प्राप्त रकम ८ फरवरी, १९४१ को २८५ लाख पौण्ड हो गई थी।

इस तिथि को अनिवार्य रूप से भारत के सावधि पौण्ड ऋण को इंगलैण्ड की सरकार के सहयोग से खरीदकर दे देने की घोषणा की गई, जिसकी मात्रा लगभग १२० करोड़ रुपये की थी। इंगलैंड की सरकार ने भारत की सहायता की और अपने विशेष अधिकार के प्रयोग से आज्ञा जारी की कि इंगलिस्तान के निवासी, जिनके पास भारत के सावधि ऋण का कागज हों, वे उनके हाथों बेच दें ताकि वे उन्हें बाजार के प्रचलित मूल्य पर भारत सरकार को दे देवें, जो मूल्य आज्ञा प्रचलित करते समय बाजार में हो) और इस प्रकार ऊँचे उठते बाजार में खरीदने के विकल्प से बच जायँ। ऐसी ही आज्ञा भारत सरकार द्वारा भारत-निवासियों के लिए भी जारी की गई जिनके पास पौंड ऋण के कागज थे। अब इस ऋण-वापसी के अर्थ-प्रबन्ध की कार्य-प्रणाली को स्पष्ट किया जा सकता है। इसकी दो दशाएँ थीं—पहली, जब भारत सरकार रिजर्व बैंक से पौण्ड खरीदती थी और दूसरी जब भारत सरकार को पौण्ड के बदले में रुपया देना पड़ता था। भारत के रिजर्व बैंक के अधिकोषण और निष्कासन विभाग (बैंकिंग एण्ड इशू डिपार्टमेण्ट) में बहुत सी पौण्ड प्रतिभूतियाँ और पौण्ड-पावना जमा थीं, जिन्हें उसने युद्ध के आरम्भ से भारत के पौण्ड ऋण को खरीदने के लिए इकट्ठा कर रखा था।

२८ अप्रैल, १९४१ की भारत सरकार की एक विज्ञप्ति के अनुसार ८ फरवरी, १९४१ को भारत के सावधि ऋण का अंकित मूल्य लगभग ८४० लाख पौण्ड था और उसका बाजार में मूल्य करीब ८९० लाख पौण्ड था। अनिवार्य रूप से भारत और इंगलैण्ड में खरीदा हुआ भारतीय पौण्ड ऋण क्रमशः ५९० लाख पौण्ड और

११० लाख पौण्ड था, जो कुल मिलाकर लगभग ७०० लाख पौण्ड का होता था। बचा हुआ १४० लाख पौण्ड वह ऋण था जिसे इंगलैण्ड और ब्रिटिश भारत से बाहर के लोगों ने दिया था। ८० करोड़ रुपये के अंकित मूल्य के ऋण-पत्रों को देने के लिए भारत सरकार को ८८ करोड़ रुपये का बन्दोबस्त करना पड़ा। इसमें से आधा फिलहाल रिज़र्व बैंक को रुपये के ऋण के निष्कासन द्वारा और आधा बैंक से अस्थायी रूप से कामचलाऊ ऋण द्वारा, जोकि धीरे-धीरे चुका दिये जाते, अदा किया गया।[1]

दूसरी अनिवार्य योजना का निर्णय २४ दिसम्बर, १९४१ को हुआ। उसके बाद ही ३½%के पौण्ड ऋण का निष्क्रयण १९४२-४३ में किया गया। कुल ऋण का अंकित मूल्य, जिसका निष्क्रयण १ अप्रैल, १९३७ से ३१ मार्च, १९४३ तक किया गया, ३०७२·६ लाख पौण्ड था और बदले के रुपये-ऋण के सृजन द्वारा २३४·९७ करोड़ रुपये के मूल्य तक सहायता दी गई थी। भारत सरकार के पौण्ड-ऋण और रेल के ऋण-पत्रों की खरीद और विलोपन की मात्रा १९४३-४४ में ३० लाख पौण्ड थी जिनको सरकारी रोकड़ से सहायता दी गई।

१९४३-४४ में ऋण चुकता करने की विभिन्न योजनाएँ पूरी होने के साथ-साथ १९४४-४५ में जो ऋण अदा कर दिया गया था, उसका सम्बन्ध चुकता किये गए ऋण-पत्रों के विलोपन से था, जिसे पहले नहीं दे दिया गया था। इनके अतिरिक्त, (१) मद्रास और दक्षिणी मरहट्टा रेलवे, (२) साउथ इण्डियन रेलवे और (३) बंगाल नागपुर रेलवे क्रमशः ५२·८ लाख पौण्ड, ११·१ लाख पौण्ड और ३६ लाख पौण्ड का मूल्य देकर खरीदी गई थीं। १९४५-४६ में इधर-उधर की देनदारी, जिसका अंकित मूल्य २·८ लाख पौंड था, ३७ लाख रुपये में और १९४६-४७ में ७·६ लाख पौण्ड के अंकित मूल्य की देनदारी १·०६ करोड़ रुपये में वापस की गई।[2]

---

१. अन्तिम व्यवस्थापन जून, १९४१ में किया गया, जिसके अनुसार पौण्ड के बदले रुपये के ऋण की ३% को भारत सरकार के नये रुपये के ऋण का रूप दिया गया। जून, १९४१ के अन्त तक कुल रकम, जो इस प्रकार बदली गई, २८·५६ करोड़ रुपया थी। देखिए, 'रिज़र्व बैंक की वार्षिक रिपोर्ट (१९४१), पृष्ठ १७।

२. १९५३-५४ में ००·३ लाख पौण्ड के अंकित मूल्य का स्टर्लिंग ऋण ३ लाख की लागत पर वापस किया गया। १९५४-५५ में १ लाख पौण्ड का स्टर्लिंग ऋण ०·१४ करोड़ रुपये की लागत पर वापस किया गया। १९५४-५५ के अन्त में कुल वापस किया हुआ ऋण ३२९१ लाख पौण्ड और इसके लिए सृजित रुपये २७४·२ करोड़ थे।

नीचे दी हुई तालिका इस सम्बन्ध में आधुनिक स्थिति प्रकट कर रही है—

	अंकित मूल्य	क्रय-मूल्य		प्रतिरूप सृजित रुपया
	(दस लाख पौण्ड में)	(दस लाख पौण्ड में)	(करोड़ रुपया)	(करोड़ रुपया)
१९४९-५०	०·०८	०·०८	०·११	—
१९५०-५१	०·०४	०·०४	०·०५	०·०१
१९५१-५२	०·०६	०·०५	०·०७	०·०१
१९५२-५३	०·०८	०·०७	०·१०	०·०७

पौण्ड ऋण की मात्रा जो १९३७-३८ से चुकता की गई[1]

वर्ष	अंकित मूल्य (१० लाख पौण्ड)	विक्रय मूल्य		रुपये जो स्रजित किये गए (करोड़ रुपयों की संख्या में)
		(१०लाख पौण्ड)	(करोड़ रुपया)	
१९३७-३८	२·९९	३·०४	४·०५	१·१२
१९३९-४०	१७·०९	१६·५४	२२·०५	२२·७९
१९४०-४१	७१·२९	७५·२४	१००·३२	९४·८६
१९४१-४२	९९·०४	९२·२८	१२३·०४	३३ ५८
१९४२-४३	११९·००	१२०·४८	१६१·६७	८२·६२
१९४३-४४	१३·०२	१२·९७	१७·२९	३८·४२
१९४४-४५	०·४१	०·३७	०·४९	०·१७
१९४५-४६	०·२८	०·२९	०·३७	०·०१
१९४६-४७	०·७६	०·८०	१·०६	०·०१
१९४७-४८	४·६५	५·१२	६·८३	०·४५
कुल	३२८·५३	३२७·१३	४३७·१७	२७४·०३
१९४८-४९				
(१) ८ फ़रवरी की पहली अनिवार्य योजना (विशेष प्रबन्ध सम्मिलित)	०·१२९	०·१३६	०·१८२	०·०२४
(२) २४ दिसम्बर, १९४१ की दूसरी अनिवार्य योजना (विशेष प्रबन्ध सम्मिलित)	०·०३०	०·०२९	०·२३८	—
(३) ३½ % के पौण्ड ऋण का निष्क्रयण १९३१ या उसके पश्चात्	०·०१८	०·०१८	०·०२४	—
(४) रेलवे के ऋण-पत्र की वापसी	०·००३	०·००४	०·००५	—
योग	०·१८०	०·१८७	०·२४९	०·०२४
कुल योग	३२८·७१	३२७·३२	४३७·४२	२७४·०५
१९५३-५४				
(१) ८ फरवरी, १९४१ की पहली अनिवार्य योजना (विशेष प्रबन्धों को सम्मिलित करते हुए)	०·०१९	०·०१९	०·०२५	०·००६
(२) २४ दिसम्बर, १९४१ की दूसरी अनिवार्य योजना (विशेष प्रबन्धों को सम्मिलित करते हुए)	०·००४	०·००३	०·००३	—
(३) ३½ % स्टर्लिंग स्टाक का निष्क्रयण, १९३१ या उसके बाद	—	—	—	—
(४) रेलवे ऋणपत्र (रेलवे डिबेंचर स्टाक की वापसी)	०·००२	०·००२	०·००२	—
योग	०·०२५	०·०२४	०·३०	०·००६

१. रिपोर्ट ऑन करेंसी एण्ड फिनान्स (१९४६-४७), पृष्ठ ९१।

पिछले पृष्ठ पर दी हुई तालिका में १९३७-३८ से १९४५-४६ तक प्रतिवर्ष चुकता और विलोपित ऋण की मात्रा दी गई है और १९४६-४७ में ऋण चुकता करने की अनेक योजनाओं के अन्तर्गत जो ऋण विलोपित किया गया उसका विवरण भी है।

स्टर्लिंग दायित्वों के स्थान पर रुपये के प्रतिस्थापन से देश को वास्तविक लाभ होगा। वाह्य दायित्वों की समाप्ति का अर्थ यह है कि देश के सुरक्षित रोकड़ अर्थात् स्वर्ण तथा बाह्य सम्पत्ति पर भार कम होगा, जो समुद्र-पार का व्यापार कम होने पर प्रकट होने लगता है। पारिभाषिक दृष्टिकोण से भारत और इंगलैण्ड के ऋणी और साहूकार का सम्बन्ध अत्यन्त भारमय था। स्टर्लिंग-ऋण की वापसी भारत की ऋणिता कम करके और उसकी औद्योगिक प्रगति को प्रकट करने के साथ ही द्रव्य-सम्बन्धी अधिक स्वस्थ परिस्थितियाँ उत्पन्न करेगी।[1] वित्तीय दृष्टिकोण से भारत की बाह्य स्थिति काफी सुदृढ़ हो गई है, अतएव रिज़र्व बैंक कम अनुपात में बाह्य सम्पत्ति रखने में समर्थ हो सकेगा। प्रसंगतः स्टर्लिंग-स्टाक से रुपया प्रतिभूतियों में परिवर्तित करने से भारत में सर्वश्रेष्ठ प्रतिभूतियों का बाज़ार विस्तृत होगा तथा विनियोजक संस्थाओं की आवश्यकताओं की पूर्ति होगी।

२१. पौण्ड-पावना—पत्र-मुद्रा सुरक्षित कोष के भाग के रूप में भारत सदैव से इंगलिस्तान में स्टर्लिंग रखता आया है। रिज़र्व बैंक ऑफ़ इण्डिया एक्ट के अन्तर्गत निर्गम-विभाग (इशू डिपार्टमेण्ट) की सम्पत्ति का कम-से-कम ४० प्रतिशत स्वर्ण या स्वर्ण-सिक्के अथवा स्टर्लिंग प्रतिभूतियों के रूप में होना आवश्यक है। साथ ही शर्त यह भी थी कि स्वर्ण की मात्रा का मूल्य कम-से-कम ४० करोड़ रुपये हो। सितम्बर, १९३९ में पौण्ड-पावने ५२० लाख पौण्ड थे। १४ अगस्त, १९४७ को यह ११३७० लाख पौण्ड थे। पौण्ड-पावना एकत्रित होने का मुख्य साधन युद्ध के लिए ब्रिटिश सरकार और मित्र देशों द्वारा भारत से भण्डार और अन्य वस्तुओं का क्रय था। इस क्रय के लिए रुपया रिज़र्व बैंक ऑफ़ इण्डिया एक्ट की उस धारा के अन्तर्गत प्राप्त किया गया, जिसके अन्तर्गत बैंक असीमित मात्रा में स्टर्लिंग खरीदने के लिए बाध्य था। "देश के द्रव्याधिकारियों द्वारा मुद्रा के अत्यधिक विस्तार को रोकने के लिए निर्मित क़ानून युद्ध के समय इंगलैण्ड के इशारे पर मुद्रा के असीमित विस्तार का कारण बन गया।" भारत में की गई खरीद के लिए ब्रिटिश सरकार लन्दन में स्टर्लिंग द्वारा भुगतान करती थी, जो रिज़र्व बैंक को स्थानान्तरित कर दिए जाते थे और बदले में रिज़र्व बैंक उतने ही मूल्य के नोट जारी कर देता था। (जैसा हम पहले ही देख चुके हैं, मुद्रा का यह असाधारण विस्तार उसी अनुपात में उत्पादन की वृद्धि न होने के कारण १९४० से भारतीय मूल्यों की भयानक वृद्धि के लिए उत्तरदायी था।) पौण्ड-पावना भारतीय जनता का भारी त्याग प्रदर्शित करते हैं, जो भारत की अपनी सुरक्षा की लागत तथा ब्रिटेन और मित्र-देशों की सरकार के युद्ध-सम्बन्धी प्रयासों के लिए वस्तुएँ और सेवाएँ प्रस्तुत करने के कारण कठोर अभाव और मुद्रा-स्फीति के रूप में प्रकट हुआ। यह लागत भी भारत को अपनी इच्छा के विरुद्ध केवल

१. देखिए, 'टाइम्स ऑफ़ इंडिया', १८ फरवरी, १९४१।

वाइसराय के अप्रजातन्त्रात्मक आदेश से युद्ध में सम्मिलित होने के कारण उठानी पड़ी। अतएव भारत का पूरा भुगतान मिलने का अधिकार बहुत ही दृढ़ है और उसके प्रति पहले की अपेक्षा अब बहुत कम विरोधी हैं।

३१ दिसम्बर, १९४७ तक की अवधि के लिए भारत के पौण्ड-पावनों के सम्बन्ध में एक अन्तर्कालीन समझौते (इण्टरिम एग्रीमेण्ट) पर लन्दन में १४ अगस्त, १९४७ को हस्ताक्षर हुए। इस समझौते की मुख्य बातें निम्न थीं—

(१) रिज़र्व बैंक को दो खाते रखने के लिए कहा गया। खाता नं० १ खास चालू खाता होगा, जिसमें परिवर्तनीय मुद्रा होगी। पौण्ड-पावने से दी जाने वाली रक़म और भविष्य की अर्जित राशि इसी खाते में जमा की जायगी।

खाता नं० २ शेष एकत्रित राशि होगी।

(२) खाता नं० १ में ३५० लाख पौण्ड जमा करना था। यह राशि भारत के विदेशी लेन-देन के चालू खाते में १५ जुलाई से ३१ दिसम्बर तक के घाटे को पूरा करने के लिए थी।

(३) ३५० लाख पौण्ड के अलावा विदेशों को भुगतान करने के साधनों की कमी पूरा करने के लिए खाता नं० १ में ३०० लाख और जमा किया गया। व्यवहारत: किसी भी मुद्रा में परिवर्तनीय और प्रयोग करने योग्य कुल राशि ६५० लाख पौण्ड थी।

जनवरी, १९४८ में यह समझौता छोटे-मोटे परिवर्तनों के उपरान्त ६ महीने के लिए और बढ़ा दिया गया। जून १९४८ में समझौता समाप्त होने वाला था, अतएव बातचीत करने के लिए एक दल लन्दन भेजा गया, जिसके फलस्वरूप ९ जुलाई, १९४८ के एक नये समझौते पर हस्ताक्षर हुए, जिसकी मुख्य बातें निम्न थीं—

(१) भारत में इंगलिस्तान के भण्डार—१ अप्रैल, १९४७ को दिये गए सारे भण्डारों आदि के पूरे और अन्तिम भुगतान के लिए १००० लाख पौण्ड (१३३ करोड़ रुपये) दिया जायगा।

(२) स्टर्लिंग पेन्शन (निवृत्ति-वेतन)—इंगलिस्तान की सरकार को १४७५ लाख पौण्ड (१९७ करोड़ रु०) दिया जायगा और भारत सरकार क्रमश: ह्रासमान वार्षिक वृत्ति (एनुइटी) खरीद लेगी, जो १९४८ में ६३,००,००० पौण्ड से शुरू होगी। धीरे-धीरे ६० वर्ष में शून्य हो जायगी।

(वार्षिक देयता ६२·५ लाख पौण्ड (८ करोड़ रु०) के लगभग है। स्टर्लिंग निवृत्ति वेतनों का भुगतान पौण्ड-पावने से किया जायगा।) भारत में प्रान्तों की देयता प्रति वर्ष दस लाख पौण्ड (१$\frac{1}{3}$ करोड़ रु०) से कुछ कम है और इन पेन्शनों के सम्बन्ध में भी ऐसी वार्षिकी खरीदने का समझौता किया गया। इस मद में २०५ लाख पौण्ड (२७ करोड़ रु०) का भुगतान करना था।

(३) सुरक्षा-व्यय योजना—अविभाजित भारत के १९४६-४७ के अन्तिम लेखों के अनुसार भारत और इंगलैंण्ड के बीच सुरक्षा-व्यय निर्धारण योजना के अन्तर्गत इंगलिस्तान पर ४९० लाख पौंड (६५ करोड़ रुपया) था। इस योजना में

अवधि की अन्य देयताओं को ध्यान में रखकर अन्तिम रक़म ६५० लाख पौण्ड (७३ करोड़ रु०) निश्चित की गई।

(४) पौण्ड-पावना की अदायगी—१ जुलाई, १९४८ से तीन वर्ष की अवधि में इंगलिस्तान ८०० लाख पौण्ड पौण्ड-पावने में से देगा। और भारत खाता नं० १ में पौण्ड-पावने की इससे पहले अदा की गई रकम से ८०० लाख पौण्ड जमा रखेगा। दूसरे शब्दों में इन तीन सालों में निर्यात के अर्जन को छोड़कर प्राप्य विदेशी विनिमय १६०० लाख पौण्ड (२१३ करोड़ रु०) था।

कुल पौण्ड-पावने लगभग ११,६०० लाख पौण्ड थे तथा सैनिक भण्डारों के लिए भुगतान करने, पेन्शनों के लिए वार्षिकी खरीदने और पाकिस्तान को उसका हिस्सा देने के बाद शेष रकम (जो ८००० लाख पौण्ड अनुमान की गई थी[1]) देश की उन विदेशी-विनिमय की आवश्यकताओं के लिए प्राप्त होगी जो चालू निर्यात से पूरी नहीं हो सकती थीं।

(५) बहु-परिवर्तनशीलता (मल्टीलेटरल कनवर्टिबिलिटी)—पहले वर्ष यानी १९४८ में १५० लाख पौण्ड (२० करोड़ रु०) देने की व्यवस्था थी और ३ वर्ष के अन्त में स्थिति के पुनर्विलोकन की व्यवस्था थी।

जैसा ऊपर (४) कहा जा चुका है सैनिक भण्डारों, पेन्शनों आदि के मद में भुगतान करने के बाद भारत के पौण्ड-पावने ८००० लाख पौण्ड थे। यदि पहले तीन वर्षों में मिलने वाला १६०० लाख पौण्ड इसमें से घटा दिया जाय तो पौण्ड-पावने कुल ६४०० लाख पौण्ड के थे। यदि २००० लाख पौण्ड को रिज़र्व बैंक का साधारण सुरक्षित कोष मान लिया जाय तो केवल ४४०० लाख पौंड पौण्ड-पावने शेष रहते हैं जिनकी अदायगी का प्रश्न वर्तमान समझौते के समाप्त होने पर जुलाई, १९५१ में उठेगा।[2]

१. अवमूल्यन के पश्चात् विदेशी व्यापार के सम्बन्ध में निर्यात को प्रोत्साहित और आयात को सीमित करने की नीति ने विदेशी विनिमय के अर्जन और सुरक्षण में देश की सहायता की। इस प्रकार १९५० के पहले ६ महीनों में पौण्ड-पावनों में ७ करोड़ रु० की वृद्धि हुई और बाद के ६ महीनों में ८ करोड़ रुपये की वृद्धि हुई और ३१ दिसम्बर, १९५० को कुल योग ८३५ करोड़ रु० हो गया।

२. जून, १९५१ में समाप्त होने वाले स्टर्लिंग समझौते को ३० जून, १९५७ तक के लिए बढ़ा दिया गया और उसमें निम्न परिवर्तन किये गए—

(१) (करेन्सी) मुद्रा-सुरक्षित-कोष के रूप में रिज़र्व बैंक द्वारा रखे जाने के लिए खाता नं० २ से ३१०० लाख पौण्ड खाता न० १ में स्थानान्तरित कर दिये गए।

(२) १ जुलाई, १९५१ से १२ महीने की ६ अवधियों में प्रत्येक वर्ष खाता नं० २ से खाता न० १ में अधिक-से-अधिक ३५० लाख पौण्ड स्थानान्तरित किया जा सकता था, बशर्ते कि (क) खाता न० १ की न्यूनतम राशि ३४०० लाख पौण्ड बनाये रखने के लिए स्थानान्तरण हो, या दोनों सरकारों को मान्य इससे कम रक़म का स्थानान्तरण इसी उद्देश्य से हो;(ख) ३५०० लाख पौण्ड का स्थानान्तरण योग्य कोई भी भाग जो किसी अवधि में स्थानान्तरित न किया जाय, वह बाद के वर्षों में स्थानान्तरण-योग्य राशि में जोड़ दिया जाय; (ग) यदि किसी अवधि में भारत सरकार खाता नं० २ से ३५०० लाख पौण्ड से अधिक लेने की आवश्यकता समझे तो बाद की अवधि में स्थानान्तरण-योग्य राशि ५० लाख पौण्ड कर दी जायगी। यदि भारत सरकार बाद की अवधि में इससे अधिक की आव-

जुलाई, १९४८ के समझौते के अन्तर्गत दिये जाने वाले पौण्ड-पावने इंगलैण्ड की अर्थ-व्यवस्था पर अनावश्यक भार डाले बिना भारत के दृष्टिकोण से सन्तोषप्रद थे। पौण्ड-पावने में से पहले दी गई लगभग पूरी-की-पूरी रकम ज्यों-की-त्यों बनी रही और इससे नये समझौते के अन्तर्गत और अधिक पौण्ड-पावने माँगने के लिए भारत की स्थिति कमज़ोर हो गई।

बहु-परिवर्तनीय स्टर्लिंग के सम्बन्ध में पहले वर्ष के १५० लाख पौण्ड के अपर्याप्त होने के बावजूद अन्य क्षतिपूरक कारण भी थे। ब्रिटिश सरकार और स्विट्ज़रलैण्ड के बीच हुए समझौते के अनुसार उस देश को १९४७ के व्यापारिक सन्तुलन की प्रतिकूलता तक स्टर्लिंग में भुगतान करने का अधिकार भारत को मिल गया। इसी प्रकार के प्रबन्ध ब्रिटेन ने फ्रांस, स्वीडन और चेकोस्लोवाकिया के साथ किये। इनमें से कुछ मशीन और अभियायिकी उद्योगों के सम्बन्ध में उन्नत देश भारत की त्वरित आवश्यकताओं को पूरा करने में समर्थ थे और इस सीमा तक आवश्यक आयात के सम्बन्ध में दुर्लभ मुद्रा वाले देशों पर भारत की निर्भरता कम हो जायगी और उसके सीमित डालर साधनों पर भार भी कम हो जायगा। ब्रिटेन भी भारत को ऐसी आवश्यक वस्तुएँ, जिनका भुगतान स्टर्लिंग में किया जा सकता था जैसे तेल, कपास, अलौह-धातुएँ आदि, प्राप्त करने के सम्बन्ध में हर सम्भव सहायता देने के लिए तैयार था।

प्रान्तीय और केन्द्रीय सरकारों के बीच वित्तीय सम्बन्ध

३२. १९१९ के सुधारों के पूर्व के वित्तीय सम्बन्ध—१८३३ से १८७१ तक वित्त-शक्ति पूर्ण रूप से भारत सरकार के ही हाथों में केन्द्रित थी और वही प्रान्तीय सरकार के व्यय की छोटी-से-छोटी बातों पर नियन्त्रण रखती थी। कुल आय भारत सरकार के हिसाब में डाल दी जाती थी और वहाँ से खर्च चलाने के लिए निश्चित अंशदान मिला करता था। इसका परिणाम यह हुआ कि प्रान्तीय अर्थ-प्रबन्ध में अपव्यय, कठोरता तथा संघर्ष और केन्द्रीय अर्थ-प्रबन्ध में अनिश्चितता चलती रही। "राज्य की आय का वितरण एक प्रकार से कलह का कारण बन गया जिसमें सबसे अधिक शक्तिवान् की विजय होती थी और न्याय को कोई स्थान नहीं था। चूँकि मितव्ययता से प्रान्तों को कोई लाभ नहीं था इसलिए व्यर्थ के व्यय को बचाने की मन में कोई प्रेरणा नहीं उठती थी और प्रान्तीय आय की वृद्धि प्रान्त की स्थिति में सुधार नहीं कर सकती थी, इसलिए राज्य की आय बढ़ाने का विचार न्यूनातिन्यून हो गया था" (सर जॉन स्ट्रेची)। यह 'निरर्थक समानता और सिद्धान्तवादी केन्द्रीयता' ऐसे देश के लिए, जिसमें स्थानीय विविधता का आधिक्य हो, नितान्त अनुपयुक्त थी।

श्यकता समझे तो दोनों सरकारें इसे आपस में तय कर लेंगी, (घ) ३० जून १९५७ को खाता नं० २ में जो कुछ भी होगा वह खाता नं० १ को स्थानान्तरित कर दिया जायगा।

फरवरी १९५२ में पौण्ड-पावने के १९५१ के समझौते को ३० जून, १९५७ तक के लिए बढ़ा दिया गया। जुलाई, १९५३ में एक औपचारिक समझौता और किया गया, परन्तु पौण्ड-पावने की १९५१ की व्यवस्था में कोई परिवर्तन नहीं किया गया।

लार्ड मेयो को वित्तीय विकेन्द्रीकरण के उपाय को ढूंढ निकालने की आवश्यकता का ध्यान था, ताकि आय बढ़ाने में और मितव्ययता से प्रबन्ध करने में प्रान्तीय सरकारों का सक्रिय सहयोग और दिलचस्पी प्राप्त हो सके। उन्होंने १८७१ में 'प्रान्तीय समझौते' (प्राविन्शियल सेटलमेन्ट्स) की प्रथा आरम्भ की, जिसके अन्तर्गत स्थानीय प्रकृति के कुछ व्यय प्रान्तों को दे दिये गए, जैसे पुलिस, शिक्षा, सड़कें, नागरिक निर्माण-कार्य (सिविल वर्क्स), रजिस्ट्रेशन, औषधि और जेल। इन विभागों का प्रबन्ध करने के लिए प्रान्तों को विभाग से प्राप्त आय के अतिरिक्त निश्चित वार्षिक रकम का अनुदान मिलता था और यदि कमी पड़ती थी तो स्थानीय करारोपण से उसे पूरा करना पड़ता था।[1]

अनुभव से इस पद्धति के अनेक दोषों का पता चला। इसमें प्रान्तों को पर्याप्त आय नहीं प्राप्त होती थी। यह पद्धति प्रान्त को मितव्ययता की कोई प्रेरणा नहीं देती थी, क्योंकि प्रान्तों को अपनी आय करों द्वारा बढ़ा लेने की अनुमति प्राप्त थी, जिसका अर्थ गरीबों पर अधिक भार ही था।

१८७७ में लार्ड लिटन द्वारा विकेन्द्रीकरण की ओर एक कदम और उठाया गया, जिसमें वित्त-मन्त्री सर जॉन स्ट्रेची ने सहयोग दिया। आय के प्रान्तीय प्रकृति के सभी साधन, जैसे मालगुज़ारी, उत्पादन, स्टाम्प, सामान्य प्रशासन, न्याय आदि, प्रान्तों को दिये गए। विभागों से प्राप्त आय और प्राचीन धन के अनुदान के अतिरिक्त कुछ आय के साधन, जैसे उत्पाद-कर, स्टाम्प, और न्याय प्रान्तीय सरकारों को दे दिये गए। इस प्रबन्ध के अन्तर्गत आय के साधनों को प्रान्तीय और केन्द्रीय दो भागों में बाँट दिया गया। यह अनुभव किया गया कि निश्चित इकट्ठी रक़म का अनुदान अब भी प्रतिवर्ष आवश्यक था और उनके कारण पहले ही की तरह वार्षिक खींचातानी मचती थी। जिस आय से प्रान्तों को कुछ नहीं मिलता था उसको वसूलने में प्रान्त तनिक भी दिलचस्पी नहीं लेते थे। आसाम और बर्मा पिछड़े प्रान्त होने के कारण इस योजना में सम्मिलित नहीं किये गए। १८७९ में जो आर्थिक समझौता हुआ उसके अन्तर्गत प्रान्तीय आय के अतिरिक्त बर्मा को प्रान्तीय घाटा पूरा करने के लिए निश्चित अभिहस्तांकित राशि के अतिरिक्त मालगुज़ारी का एक अंश, वन-विभाग आय का एक अंश तथा चावल और नमक पर वसूले निर्यात-कर का एक अंश दिया गया। आय-विभाजन का यही सिद्धान्त आसाम में भी लागू किया गया और उसे भी मालगुजारी का एक अंश प्राप्त हुआ। इस प्रकार आय के तीन भाग हुए—(१) पूर्णरूपेण केन्द्रीय (२) पूर्णरूपेण प्रान्तीय और (३) संयुक्त रूप से केन्द्रीय और प्रान्तीय। बाद में यह विभाजन लार्ड रिपन द्वारा १८८२ में अन्य प्रान्तों में प्रचलित कर दिया गया।

१. लार्ड मेयो के सुधार-काल (१८७१) से भारत सरकार द्वारा प्रान्तीय सरकारों को आय का भाग दिये जाने के ढंग पर डॉ० अम्बेदकर ने वित्तीय विकेन्द्रीकरण को निम्न भागों में विभाजित किया है—(क) १८७१-७२ से १८७६-७७ तक अभिहस्तांकित बजट, (ख) १८७७-७८ से १८८१-८२ तक अभिहस्तांकित आय के बजट, (ग) आय से बटवारे के आधार पर बजट (१८८२-१९२०)—देखिए अम्बेदकर, 'प्राविंशियल फिनान्स' खण्ड २, अध्याय ४ से ६ तक।

प्रान्तीय सरकारों को करारोपण तथा ऋण लेने का स्वतन्त्र अधिकार नहीं था; (५) केन्द्रीय सरकार द्वारा प्रान्तों के बजट और व्यय पर बहुत विशद नियन्त्रण लगाया गया था। उदाहरण के लिए प्रान्तीय सरकारें घाटे को पूरा करने का न तो कोई प्रबन्ध ही कर सकती थीं और न अपने अतिरेक को स्वतन्त्रतापूर्वक खर्च ही कर सकती थीं।

३३. १९१९ के सुधारों के अन्तर्गत पारस्परिक आर्थिक सम्बन्ध—सुधार के बाद से केन्द्रीय सरकार के साथ आर्थिक सम्बन्ध बिलकुल बदल गए। उत्तरदायित्वपूर्ण सरकार की नीति का प्रान्तों पर प्रयोग होने वाला था और प्रान्तों को वित्त-सम्बन्धी स्वायत्त-शासन प्रदान करना सारे सुधारों की कुंजी थी, अतएव यह आवश्यक प्रतीत हुआ कि नये सिद्धान्त को प्रयोग में लाने के लिए आय के विभाजित मदों का अन्त कर दिया जाय। आय-व्यय का नवीन बटवारा निम्न प्रकार किया गया—(१) केन्द्रीय आय के साधन—अफीम, नमक, निराक्राम्य-कर, आय-कर, रेल, डाक और तार, सेना से आय; (२) प्रान्तीय आय के साधन—मालगुजारी (सिंचाई को सम्मिलित करते हुए), स्टाम्प (व्यापारिक और न्यायिक), रजिस्ट्रेशन, उत्पाद-कर और वन। जो माण्टेगू चेम्सफर्ड सुधार और मेस्टन कमेटी द्वारा आय-कर केन्द्रीय करार दिया गया था, उसे प्रान्तों से पूर्णरूपेण ले लिये जाने के विरुद्ध मुख्यत: बम्बई और बंगाल के औद्योगिक प्रान्तों द्वारा आन्दोलन करने के कारण अन्त में यह निर्णय किया गया कि प्रान्तों को इस कर से प्राप्त आय का एक छोटा-सा अंश दे दिया जाय, जोकि आधार-वर्ष १९२०-२१ में आय-कर की निर्धारित आय के उपरान्त जितने रुपये की आय पर कर-निर्धारण किया गया, उससे प्राप्त कर के प्रत्येक रुपये के ३ पाई के बराबर होगा। टैक्सेशन इन्क्वायरी कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में कहा था कि यह नियम अपने उद्देश्य में असफल रहा। वस्तुत: किसी एक आधार-वर्ष के अनुसार बटवारा करना नितान्त अशुद्ध था।[1]

३४. मेस्टन परिनिर्णय—बाँटे जाने वाले आय के स्रोतों के अन्त और कुछ स्रोतों जैसे मालगुजारी और स्टाम्प आदि, को प्रान्तों को दे देने का परिणाम यह हुआ कि केन्द्रीय सरकार की आय में ९८३ लाख रुपये की कमी हो गई जिसको प्रान्तीय अंशदान की किसी योजना से पूरा करना था। १९२० में एक कमेटी लार्ड मेस्टन के सभापतित्व में इस प्रश्न पर तथा इससे सम्बन्धित प्रश्नों पर विचार करने के लिए नियुक्त की गई और इसकी सिफारिशें मेस्टन परिनिर्णय के नाम से पुकारी जाती हैं। इस कमेटी ने इस भार के बटवारे के लिए यह प्रस्ताव किया कि १९२१-२२ में प्रान्त एक प्रारम्भिक अंशदान दें जिसकी मात्रा प्रान्तों की बढ़ी हुई व्यय-शक्ति के आधार पर निश्चित की जाय। बाद में इस मात्रा में प्रामाणिक अंशदान द्वारा वृद्धि की जायगी, जिसका आधार प्रान्तों की देने की शक्ति होगी, जिसका निर्णय जनसंख्या, आय-कर की वसूली, नमक और वस्त्र का उपभोग, कृषि और औद्योगिक सम्पत्ति

---

१. देखिए, टैक्सेशन इन्क्वायरी कमेटी रिपोर्ट, पैरा ५२९।

आदि[1] कारणों से किया जायगा। ये सिफारिशें संयुक्त संसदीय समिति (पार्लमेण्टरी कमेटी) द्वारा सुझाये संशोधन के साथ गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया एक्ट, १९१९ के अनुक्रमण नियमों (डिवोल्यूशन रूल्स) में सम्मिलित कर ली गईं।

३५. प्रान्तीय अंशदान का अन्त—मेस्टन परिनिर्णय से कोई प्रसन्न न था, वरन् प्रान्तों में इससे बड़ा असन्तोष फैल गया। वम्बई और बंगाल के औद्योगिक प्रान्त आय-कर के घाटे को सहन करने को कभी भी तैयार न थे और कृषि-प्रधान प्रान्त जैसे—मद्रास पञ्जाब और उत्तर प्रदेश इस बात से अप्रसन्न थे कि उनका प्रारम्भिक अंशदान बहुत अधिक था। ये अंशदान यथार्थ में भार लगने लगे, जबकि प्रान्तों को मेस्टन कमेटी के अनुमानित सुखदायी अतिरेक के स्थान पर लगातार आय की कमी का सामना करना पड़ा। जो आय के स्रोत उनको दिये गए थे, जैसे मालगुजारी, वे सामान्य विकास-सम्बन्धी व्यय के लिए ही—समय-समय पर आने वाली विपत्तियों की कौन कहे—अपर्याप्त और लोचहीन थे। इसलिए अंशदान के अन्त के लिए निरन्तर माँग होती रही। केन्द्रीय सरकार की आय में धीरे-धीरे वृद्धि होने के कारण १९२५-२६ और १९२६-२७ में कुछ सहायता सम्भव हो सकी। १९२७-२८ में जो-कुछ अंशदान का अवशेष था उसको कम कर दिया गया और १९२८-२९ में उसका अन्त कर दिया गया।

३६. भारत में संघात्मक वित्त की समस्या—प्रान्तीय अंशदान के अन्त से प्रान्तीय और केन्द्रीय सरकारों के बीच आय के स्रोतों के बटवारे के झगड़े का अन्त नहीं हुआ। प्रान्तों, विशेषकर औद्योगिक प्रान्तों, जैसे बंगाल और वम्बई, की मुख्य आपत्ति फिर भी बनी रही। आपत्ति यह थी कि यद्यपि केन्द्रीय सरकार के व्यय स्थायी बने रहे, जिनमें केवल सेना के बनाए रखने का व्यय और लोक-ऋण पर ब्याज के व्यय ही सम्मिलित थे, केन्द्रीय सरकार ने अपने लिए आय के ऐसे स्रोतों को, जैसे आय-कर और निराकाम्य-कर आदि, अपना लिया था, जिनमें वृद्धि हो रही थी अथवा जिनमें वृद्धि की सम्भावना थी और उन्होंने प्रान्तों के लिए आय के ऐसे स्रोत छोड़ रखे थे जो लोचहीन और न बढ़ने वाले थे, जैसे मालगुजारी और उत्पाद-कर आदि, हालाँकि प्रान्तों की आवश्यकताएँ तीव्र गति से बढ़ रही थीं। कुछ स्थानों पर मालगुजारी पहले से ही बहुत अधिक थी और सर्वत्र बहुत लम्बी अवधि के लिए निश्चित की जा चुकी थी। इसके अतिरिक्त किसी प्रकार की वृद्धि के लिए जनता सहमत नहीं थी। मद्यनिषेध की नीति अपनाने के कारण उत्पाद-कर में अवनति अवश्यम्भावी थी। वन-विभाग के विस्तार के लिए बड़ी मात्रा में पूँजी के विनियोग की आवश्यकता थी। केवल स्टाम्प ही एक ऐसा स्रोत था जिसमें वृद्धि की कुछ सम्भावना थी। प्रान्तों पर ही राष्ट्रीय उन्नति के विभागों, जैसे शिक्षा, औषधि, कृषि आदि, का उत्तरदायित्व था, जिन पर बड़ी मात्रा में विनियोजन अत्यन्त आवश्यक था। दुर्भिक्ष-सम्बन्धी व्यय भी प्रान्तों ही के कन्धों पर डाल दिया गया था। नये सुधारों के अन्तर्गत अतिरेक आय के बटवारे में जो भाग प्रान्तों को हस्तांतरित किया जाता

१. देखिए, 'रिपोर्ट ऑफ़ दि फिनांशियल रिलेशंस' (मेस्टन कमेटी) पैरा १७ और २८, और 'साइमन कमीशन रिपोर्ट' खण्ड १, पैरा ३९९।

था, उसकी मात्रा का निर्णय अनियमित ढंग से किया जाता था और उसका सम्बन्ध न तो प्रान्तों की आवश्यकताओं से ही था और न उनसे वसूल की जाने वाली कुल आय से ही। यह अनियमित ढंग संघात्मक वित्त को पूर्णतया पृथक् रखने की सैद्धान्तिक कट्टरता पर आधारित था जिसको संसार के किसी भी संघात्मक राज्य ने नहीं अपनाया है। विभिन्न प्रान्तों में मुख्य-मुख्य आय-स्रोतों की अलग-अलग महत्ता, हाल के वर्षों में उनका असमान विकास और अन्त में अंशदान का अन्त, जिसने पहले ही नवीन आय-स्रोतों के बटवारे को प्रभावित किया था, आदि ने प्रान्तों की असमानता पर जोर दिया। इस प्रणाली का मौलिक दोष यह था कि यह संघात्मक वित्त के सैद्धान्तिक आदर्श के अनुसरण का दावा करती थी, पर कार्यरूप में उसने प्रान्तों के पास अपर्याप्त आय-स्रोतों को छोड़ा था, जिनको संघात्मक राज्य की इकाइयों की तरह केन्द्रीय सरकार के व्यय की मात्रा और प्रकृति निश्चित करने के पूर्ण अधिकार प्राप्त नहीं थे। इससे भी अधिक असन्तोष की बात यह थी कि १९१९ के गवर्नमेण्ट ऑफ़ इण्डिया एक्ट के अन्तर्गत अवशिष्ट करारोपण (रेजीडुअरी टेक्सेशन) का अधिकार भी केन्द्रीय सरकार के हाथों में दे रखा था। यह प्रणाली उद्योग और व्यापार में अधिक विकसित प्रान्तों को केवल उनकी आवश्यकता-भर देती थी, पर केन्द्रीय सरकार उनसे बहुत बड़ी मात्रा में आय-कर और निराकाम्य-कर वसूल लेती थी। पद्धति के अन्तर्गत कृषि-प्रधान प्रान्तों में अतिरेक आय की काफी मात्रा बच रहती थी। ये प्रान्त मालगुजारी का बहुत बड़ा भाग वसूलते और अपने काम में लाते थे। प्रान्तों को नये आय-स्रोतों के बंटवारे से असमान मात्रा में लाभ पहुँचा, क्योंकि यह बटवारा किसी प्रामाणिक न्याय के आधार पर नहीं किया गया था। निस्सन्देह १९२० के आय-स्रोतों के बटवारे के परिणाम-स्वरूप सब प्रान्तों को अधिक व्यय-शक्ति मिली। इसका लाभ असमान मात्रा में अनुभव किया गया और अंशदान के अन्त ने प्रान्तीय आय-स्रोतों की असमानता को और भी अधिक बढ़ा दिया। जब साइमन कमीशन ने अपनी रिपोर्ट दी (१९३०) तो उस समय स्थिति यह थी कि प्रान्तों की आय तो स्थिर थी पर उनकी भावी आवश्यकताएँ सर्वत्र असीमित थीं।[१]

प्रान्तों को पर्याप्त व्यय-शक्ति प्रदान करने के पश्चात्, जिसके बिना प्रान्तीय स्वायत्त-शासन निरर्थक था, भारतीय वित्त-समस्या विशेष रूप से प्रान्तों और केन्द्र के बीच आय-स्रोतों के बटवारे के साथ कार्यों के बटवारे में समन्वय लाने की हो गई। उचित सिद्धान्त तो यह है कि आय के स्रोत, जो व्यवस्था के दृष्टिकोण से प्रान्तों के भाग में पड़ते हैं, उनका, जहाँ तक उनकी लोच और वसूली से सम्बन्ध है, प्रान्तों की सरकारों को बँटे हुए कर्तव्यों से सामञ्जस्य होना चाहिए और जो केन्द्रीय स्रोत हैं उनका सामञ्जस्य केन्द्र के कर्तव्यों से होना चाहिए। इस दृष्टिकोण से मेस्टन परिनिर्णय की व्यवस्था बहुत ही अधिक दोषपूर्ण थी।[२]

---

१. साइमन कमीशन रिपोर्ट, खण्ड २, पैरा २६०-६१ और २६३।
२. साइमन कमीशन रिपोर्ट, खण्ड २, पैरा २४०।

२७. १९३५ के विधान के अनुसार केन्द्र और प्रान्तों के बीच आय-स्रोतों का बटवारा[1]—गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया एक्ट के अनुसार यह व्यवस्था की गई थी कि कर का आरोपण और वसूली, चाहे एक अधिकारी करे, परन्तु उसे दूसरे अधिकारी को दिया जा सकता है।

संघीय वैधानिक तालिका में निम्न विषय थे—निराक्राम्य-कर, जिनमें निर्यात-कर सम्मिलित था, तम्बाकू और अन्य वस्तुओं पर उत्पाद-कर, जो भारत में उत्पादित अथवा निर्मित हों; सिवाय (१) शराब के, जो मनुष्यों के प्रयोग के लिए थी, (२) अफीम, भारतीय गांजा या भांग और दूसरी प्रमीलक (नारकोटिक) जड़ी-बूटियाँ तथा अप्रमीलक जड़ी-बूटियाँ, (३) उपचार-सम्बन्धी और प्रसाधन-सामग्री, जिसमें अलकोहल अथवा नं० २ में सम्मिलित वस्तुएँ मिश्रित हों; निगम-कर, नमक-कर, कृषि-आय के अतिरिक्त आय-कर, पूँजी-सम्पत्ति पर कर, व्यक्तियों और कम्पनियों की खेती की भूमि को छोड़कर कम्पनियों की पूँजी पर कर, उत्तराधिकार में प्राप्त सम्पत्ति पर खेती की भूमि को छोड़कर लगाया हुआ कर, हुण्डियों पर स्टाम्प-कर तथा चेक प्रामिसरी नोट, बिल ऑफ लेडिंग, साख-पत्र, बीमा-पॉलिसी, वस्तुओं और यात्रियों पर सीमा-मार्ग-शुल्क चाहे वे रेल से अथवा वायुयान से यात्रा करें और रेल-किराये तथा शुल्क पर कर।

प्रान्तीय वैधानिक तालिका में निम्न सम्मिलित थे—मालगुजारी, जिसमें मालगुजारी का निर्धारण और वसूली भी सम्मिलित थी, निम्न वस्तुओं पर उत्पाद-कर, जोकि प्रान्त में ही उत्पादित अथवा निर्मित थीं और वैसी ही वस्तुओं पर, वे चाहे कहीं भी भारत में निर्मित अथवा उत्पादित हों, उसी दर पर अथवा उससे कम दर पर प्रतिशुल्क, (१) मानव-प्रयोग के लिए शराब, (२) अफीम, भारतीय गांजा और अन्य प्रमीलक जड़ी-बूटियाँ तथा अप्रमीलक जड़ी-बूटियाँ, (३) औषधीय और प्रसाधन-सामग्री, जिसमें सुषव (अलकोहल) अथवा नं० २ में आने वाली वस्तुएँ मिश्रित हों; कृषि-आय पर कर भूमि और भवनों तथा चूल्हों और खिड़कियों पर कर, कृषि-भूमि पर उत्तराधिकार के सम्बन्ध में कर। खानों के खोदने के अधिकार पर कर, जिस पर संघीय विधान सभा द्वारा खानों के विकास से सम्बन्धित कोई भी प्रतिबन्ध लगाया जा सकता था, प्रति व्यक्ति कर, व्यवसायों, व्यापारों, पेशों और नौकरियों पर कर, पशुओं और नावों पर कर, वस्तुओं की बिक्री और विज्ञापन पर कर, स्थानीय क्षेत्रों के माल के प्रवेश पाने पर उपकर, विकासिता की वस्तुओं पर कर, जिनमें मनोरंजन, सट्टे और जुए पर लगा कर भी सम्मिलित थे, स्टाम्पों की दर के सम्बन्ध में संघीयविधान तालिका में दिये हुए प्रपत्रों को छोड़कर अन्य प्रपत्रों पर स्टाम्प-कर की दर, देश के अन्दर ही जल-मार्गों से आने-जाने वाले यात्रियों और वस्तुओं पर जो-कुछ बकाया हो, सीमा-मार्ग शुल्क, इस तालिका की किसी बात के सम्बन्ध में फीस जिसमें कचहरियों में ली जाने वाली फीस नहीं सम्मिलित होती।

१. गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया एक्ट की वित्त-सम्बन्धी व्यवस्था उस एक्ट के १३७-४४ सेक्शनों में दी हुई है।

३८. सर ऑटो निमेयर द्वारा वित्त-सम्बन्धी जाँच—सर ऑटो निमेयर की, जिन्हें भारत-मन्त्री ने गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया एक्ट १९३५ की १३८ और १४०-४२ धाराओं के अन्तर्गत विचारित वित्त-सम्बन्धी जाँच करने के लिए नियुक्त किया था, १९३६ की रिपोर्ट की मुख्य सिफारिश केन्द्रीय सरकार द्वारा प्रान्तों को ५०% आय-कर दे देने से सम्बन्धित थी। सर ऑटो निमेयर के अनुमान के अनुसार आय-कर से प्रति वर्ष १२ करोड़ रु० की प्राप्ति थी। इसका आधा अर्थात् ६ करोड़, जो प्रान्तों को अभिहस्तांकित किया जाना था, वह पहले पाँच वर्ष तक केन्द्रीय सरकार के पास रखा रहेगा और इस बीच केन्द्रीय सरकार अपनी स्थिति दृढ़ कर लेगी। अगले ५ वर्ष में प्रान्तीय स्वायत्त-शासन के आरम्भ-काल के ६७वें वर्ष से (पर १९३५ के गवर्नमेण्ट ऑफ़ इण्डिया एक्ट की धारा १३८ (२) के अन्तर्गत) ६ किश्तों में यह आय धीरे-धीरे प्रान्तों को दी जाने वाली थी, ताकि दस वर्ष के पश्चात् प्रत्येक प्रान्त आय-कर के अपने हिस्से को पाने लगता। इस प्रकार जब तक कि बाँटी जाने वाली रकम जो केन्द्रीय सरकार के पास रखी जाती थी, टैक्स-प्राप्त अंशदान के साथ मिलाकर १३ करोड़ रुपये से कम होती उस समय तक आय-कर छोड़ा जाने वाला नहीं था।

जिस प्रतिशत अनुपात में प्रान्तों के बीच आय बँटने वाली थी, वे निम्न हैं—मद्रास १५, बम्बई २०, बंगाल २०, यू० पी० १५, पंजाब ८, बिहार १०, मध्य प्रदेश ५, आसाम २, उ० प० सीमाप्रान्त १, उड़ीसा २ और सिन्ध २।

३९. प्रान्तों को सहायता—प्रान्तीय स्वायत्त-शासन के आरम्भ-काल से ही कुछ प्रान्तों को तुरन्त सहायता देने के लिए सर ऑटो निमेयर ने प्रस्ताव किया था। यह सहायता कुछ सीमा तक नकद सहायता के रूप में थी, कुछ सीमा तक १९३६ के पहले लिये वास्तविक ऋण (कुछ चीजें घटाकर) के विलोपन के रूप में थी और कुछ सीमा तक १२½% के जूट-कर के बटवारे के रूप में थी। बंगाल, बिहार, आसाम, उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त और उड़ीसा के सम्बन्ध में सारा वास्तविक ऋण विलोपित कर दिया गया था और मध्य प्रदेश के सम्बन्ध में १९३६ के पहले के आय के घाटे के कारण लिये गए ऋण और उसके साथ १९२१ के पहले का लगभग २ करोड़ रुपये का ऋण भी विलोपित कर दिया गया था।

वार्षिक अर्थ-सहायता निम्न प्रकार थी—उत्तर प्रदेश २५ लाख पांच वर्ष तक, आसाम ३० लाख, उड़ीसा ४० लाख, उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त १०० लाख, (५ वर्ष पश्चात् इस पर पुनः विचार करना आवश्यक था), सिन्ध १०५ लाख, जो १० वर्ष बाद धीरे-धीरे कम किया जाना था।

सर ऑटो निमेयर द्वारा लक्षित लाख रुपयों में कुल वार्षिक सहायता निम्न प्रकार थी—बंगाल ७५, बिहार २५, मध्य प्रदेश १५, आसाम ४५, उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त ११०, उड़ीसा ५०, सिन्ध १०५, यू०पी० २५। केन्द्रीय सरकार का आवर्त्त-व्यय १९२ लाख रु० था।

उड़ीसा को १९ लाख तथा सिन्ध को ५ लाख का अनावर्त्ती अनुदान

मिलना था।

आय-कर के बँटने वाले अंश का प्रतिशत अनुपात प्रान्तों के बीच निम्न प्रकार था—

मद्रास १५, बम्बई २०, बंगाल २०, यू० पी० १५, पंजाब ८, बिहार १०, मध्य प्रदेश ५, आसाम २, उ०-प० सीमाप्रान्त १, उड़ीसा २ और सिन्ध २।

सर ऑटो निमेयर का कहना था कि पर्याप्त मात्रा में न्याय तभी हो सकेगा जबकि बाँटने की दर कुछ तो निवास-काल और कुछ जनसंख्या के आधार पर निश्चित की जायगी। इन दोनों सिद्धान्तों के प्रति कट्टर सिद्धान्तवादी आदर दिखाना असंगत और अन्यायपूर्ण होगा।

४०. समझौते के सिद्धान्त—रिपोर्ट के मुख्य अंश नीचे दिये जाते हैं—गवर्नमेण्ट ऑफ़ इण्डिया एक्ट तक जितने वादविवाद इस सम्बन्ध में हुए हैं सबमें यह बात मान ली गई थी कि प्रान्तीय स्वायत्त शासन के आरम्भ-काल से ही प्रत्येक प्रान्त को इस प्रकार सम्पन्न कर देना चाहिए कि आर्थिक संतुलन बनाये रखने की सम्भावना पर उनमें विश्वास रहे और विशेष रूप से स्थायी आर्थिक हीनता की दशा का, जिसमें कुछ प्रान्त पड़ गए थे, अन्त हो जाय। इसलिए मेरा सर्वप्रथम ध्येय प्रान्तों की वर्तमान और भावी आर्थिक स्थिति की परीक्षा करना और इस बात का पता लगाना रहा है कि इस ध्येय को पूरा करने के लिए किस सीमा तक सहायता की आवश्यकता पड़ेगी और दूसरे यह समझ लेना भी आवश्यक रहा है कि किस सीमा तक केन्द्रीय सरकार अपनी आर्थिक समृद्धि को हानि पहुँचाए बिना इस प्रकार की सहायता प्रदान करने की स्थिति में है। अन्त में हमें भविष्य की ओर भी देखना और सुझाव देना था कि कब और किस सीमा तक केन्द्रीय सरकार प्रान्तीय सरकारों के समक्ष आय-कर की प्राप्ति में से खर्च करने के लिए और अधिक धन दे सकेगी।

प्रान्तीय दृष्टिकोण से इस ध्येय की प्राप्ति की वाञ्छनीयता अस्वीकार नहीं की जा सकती, पर एक ही प्रश्न (यद्यपि वह कठिन प्रश्न है) उठता है कि पक्षपात-रहित न्यायपूर्ण बटवारे का आधार कैसे निश्चित किया जाय और दूसरी ओर केन्द्रीय सरकार के दृष्टिकोण से यह स्पष्ट है कि भारत की आर्थिक दृढ़ता, स्थिरता और साख का ध्यान सर्वप्रथम होना चाहिए।

जूट की उत्पत्ति करने वाले प्रान्तों की जूट के निर्यात-कर से प्राप्त पूरी अथवा आंशिक आय की माँग करने की युक्तिसंगतता को गवर्नमेण्ट ऑफ़ इण्डिया एक्ट ने ५०% तक मान लिया है। जितनी सहायता देने का मैंने विचार किया है उसका एक अंश यदि इस प्रतिशत में वृद्धि करके दिया जाय तो अधिक सुगम होगा। इसलिए मेरा प्रस्ताव है कि धारा १४० (२) गवर्नमेण्ट ऑफ़ इण्डिया एक्ट के अनुसार सहायता के अनुदान का प्रतिशत बदलकर १९३६-३७ के जूट के निर्यात-कर की कुल आय का, जो ३८० लाख रु० के लगभग होगी, ६२½ प्रतिशत कर दिया जाय। इस १२½% की वृद्धि का अर्थ पूर्णांकों में केन्द्रीय सरकार के खर्च पर प्रान्तीय आय में निम्न वृद्धि होगी—बंगाल ४२ लाख, बिहार २½ लाख, आसाम २½ लाख और उड़ीसा

¾ लाख के कुछ ऊपर।

भारत सरकार ने सर ऑटो निमेयर के सुझावों को पूर्णतः स्वीकार कर लिया और प्रान्तीय स्वायत्त-शासन आरम्भ करने के लिए १ अप्रैल, १९३७ की तिथि प्रस्तावित की। इसलिए २७ मई, १९३६ को कौन्सिल से आय के बटवारे तथा प्रान्तीय स्वायत्त-शासन के आरम्भ की आज्ञा जारी की गई।

४१. प्रान्तों द्वारा आपत्ति—जैसी कि आशा थी बहुत से प्रान्त असंतुष्ट थे और उन्होंने अन्याय की शिकायत की। उड़ीसा को यह शिकायत थी कि उसके लिए अर्थ-सहायता केवल ५० लाख रुपये की थी, जबकि सिन्ध के लिए १०५ लाख रु० थी। इस बात की भी शिकायत की गई कि प्रान्तों को दी गई सहायता का बटवारा वास्तविक आवश्यकता के विचार से किया गया था, न कि उनके गुणों के विचार से, इसलिए प्रान्तों में आय का बटवारा अन्यायपूर्ण और निराधार था। वे प्रान्त, जिन्होंने अपना अर्थ-प्रबन्ध मितव्ययता और योग्यता से नियमित किया था, वे ऐसे प्रान्तों की तुलना में, जो फिजूलखर्ची करने वाले और अयोग्य थे, सबसे अधिक घाटे में रहे। उदाहरण के लिए बम्बई इसलिए दुःखी था कि इतने वर्षों की उसकी कष्टकारी मितव्ययता, जिसके लिए उसे मेस्टन के परिनिर्णय के कारण बाध्य होना पड़ा था, उचित ध्यान नहीं रखा गया। उसने आय-कर में से अधिक बड़े भाग की इस अतिरिक्त आधार पर माँग की थी कि २५% से अधिक आय-कर बम्बई में ही वसूल होता था और बम्बई को औद्योगिक जनसंख्या के हित के लिए अनेक मँहगी सेवाओं की व्यवस्था करनी पड़ती थी। बम्बई ने इस बात पर आपत्ति की कि आय-कर से सहायता का बटवारा पूर्णरूपेण रेलवे-विभाग की सफलता पर आधारित था और इस बात पर जोर दिया कि काल्पनिक ऋण, जिसका सृजन अनुत्पादक सिंचाई के साधनों के सम्बन्ध में किया गया था और जिसे आय से पूरा किया जाता था न कि ऋण से, विलोपित कर दिया जाय। बम्बई सरकार की ओर से यह तर्क भी उपस्थित किया गया था कि यदि बंगाल को जूट के निर्यात-कर से लाभ मिलना था तो उसे भी रुई के निर्यात-कर से लाभ मिलना चाहिए। इस प्रकार मद्रास की यह भावना थी कि उसे अधिक मिलना चाहिए था, क्योंकि यदि जनसंख्या को ही आधार बनाया जाय तो उसे २० प्रतिशत के स्थान पर आय-कर का लगभग २४ प्रतिशत मिलना चाहिए था। मद्रास सरकार ने अपनी तुलना बंगाल जैसे प्रान्तों से की, जिसने अपने आय-व्यय का संतुलन करने की तनिक भी चिन्ता नहीं की थी और यह शिकायत की कि बम्बई को आय-कर का बहुत बड़ा भाग दिया गया है। बिहार ने अपने को सबसे अधिक निर्धन प्रान्त कहकर अधिक सहायता की माँग उपस्थित की और यह इच्छा प्रकट की कि बटवारे का आधार यदि जनसंख्या होता तो अधिक अच्छा होता। पंजाब की यह शिकायत थी कि उसके उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त से पृथक् किये जाने की बहुत पुरानी बात को आवश्यकता से अधिक महत्त्व दिया गया है और बेकार ही यह धारणा ...ा ली गई कि यदि सीमाप्रान्त अलग न किया गया होता तो उसके ऊपर वह एक ...त भारी बोझ के रूप में होता। पंजाब को यह भय था कि निमेयर की सिफारिशों

के अनुसार केन्द्रीय सरकार से प्राप्त आय १९३६ की तुलना में लगभग ५ लाख रुपये प्रति वर्ष कम होगी। उत्तर प्रदेश ने द्वेषपूर्ण दृष्टि से बंगाल और बम्बई के बड़े-बड़े भागों को देखा और इस बात पर जोर दिया कि उसे भी केन्द्रीय सरकार से औद्योगिक प्रान्तों के भाग को कम करके अधिक सहायता मिलनी चाहिए।

जिन तर्कों पर प्रान्तों ने अपनी माँग आधारित की थी, सिद्धान्त की दृष्टि से वे ठीक नहीं थे। उदाहरण के लिए जनसंख्या एवम् जहाँ से कर वसूल किया जाता था, उन स्थानों के आधार पर की गई माँग तथा जूट निर्यात-कर के सम्बन्ध में निमेयर रिपोर्ट ने सैद्धान्तिक असंगतता की ओर संकेत किया था। विचार करने की मुख्य बात यह थी कि जब तक नये राजनीतिक प्रयोग से सहयोगियों को संघ से निश्चित लाभ प्राप्त करने का विश्वास था तो उनके लिए यह कहाँ तक उचित था कि वे सूक्ष्मातिसूक्ष्म समानता और वितरण में लाभ के लिए हठ करें। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कुछ प्रान्त फिजूलखर्ची और अदूरदर्शिता के दोषी थे, फिर भी प्रत्येक को यथासम्भव समान स्तर से आरम्भ करना था और पिछले कार्य के पारितोषिक पाने की दृष्टि से न्याय करवाने का विचार तो सर्वथा असंगत था। प्रान्तों की कुछ शिकायतें अवश्य उचित थीं और उनका उपचार सम्भव था, पर ऐसा असम्भव था कि उनके कारण पुनर्विलोकन आवश्यक सिद्ध कर दिया जा सकता। एक प्रकार के तर्क के समक्ष दूसरे बराबर के युक्तिपूर्ण तर्क उपस्थित करना तो सरल था। यह स्मरण रखना चाहिए कि एक दल को अधिक दे देने का अर्थ दूसरे को कम देना था, चाहे वह केन्द्र हो या अन्य प्रान्त हो और यह सम्भव था कि केन्द्र की आवश्यकता अधिक तीव्र हो अथवा वह राष्ट्र की जनता के साधारण हित के लिए हो और इसलिए उसका पर्याप्त रूप से पूरा करना आवश्यक हो।

४२. केन्द्र की आवश्यकताएँ—यह अत्यन्त आवश्यक है कि प्रान्तों को यथेष्ट मात्रा में देश का विकास करने वाले विभागों पर व्यय करने की पर्याप्त शक्ति प्रदान की जाय, और यह भी सत्य है कि केन्द्रीय सरकार की आवश्यकताएँ तुलनात्मक दृष्टि से स्थायी हैं, इसलिए उसके आय के साधन भी स्थायी होने चाहिएँ। सर ऑटो निमेयर का यह विचार बिल्कुल सत्य था कि केन्द्रीय सरकार का अर्थ-प्रबन्ध स्थायी और पर्याप्त होना एक मूल आवश्यकता थी। अखिल भारतीय कार्यों पर व्यय करने के लिए केन्द्र के पास पर्याप्त धन होना चाहिए, जैसे देश की साख बनाये रखना, बाह्य देशों के आक्रमण से अपने देश की रक्षा करना और आन्तरिक अशान्ति को शान्त करना इत्यादि। इस बात पर भी जोर दिया गया था कि बिना केन्द्रीय सरकार की समृद्धि पर दृढ़ विश्वास हुए भारतीय रियासतें संघ की सदस्य बनने में आनाकानी करेंगी; और चूँकि नई व्यवस्था में केन्द्रीय सरकार को थोड़ा-सा अतिरिक्त व्यय करना पड़ेगा, जैसे संघीय न्यायालय की स्थापना के सम्बन्ध में; और चूँकि उसके कुछ स्रोत अब उतने विश्वसनीय नहीं रहे जितने वे पहले थे;[१] और चूँकि उसके कर्तव्य सदस्य इकाइयों के प्रति

१. संरक्षण की नीति के कारण निराकाम्य-कर से कम आय होने की सम्भावना थी और आयात व्यापार पर युद्ध का बहुत बुरा प्रभाव पड़ा था और रेल की आय की कोई निश्चितता नहीं थी।

तुलनात्मक दृष्टि से संकीर्ण ही होंगे, पर स्वतन्त्र रूप से बहुत ही विस्तृत होंगे, क्योंकि उन्नतिशील आवागमन की सुविधा के कारण प्रान्तों से सम्बन्ध घनिष्ठतर होगा, और चूँकि वर्तमान समय में लोग केन्द्र के हस्तक्षेप और निर्देशन के पक्ष में भी हैं। जैसा कि सर जेम्स ग्रिग ने अपने १९३८ के बजट-सम्बन्धी भाषण में कहा था कि केन्द्रीय सरकार ने युद्ध के समय से (१९१४-१८) लगभग २० करोड़ रुपये की आय प्रान्तों के पक्ष में त्याग दी है। इसके अतिरिक्त व्यापार के क्षेत्र में आर्थिक सहायता की नीति के उस सीमा तक बरतने से, जिस सीमा तक वह बरती गई केन्द्रीय सरकार के लिए यह सम्भव नहीं हो सका है कि आयात-कर में कमी के घाटे को पूरा कर सके।

सर ऑटो की योजना की सफलता, विशेषकर उस भाग की, जिसका सम्बन्ध आय-कर के केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों के बीच बटवारे से था, रेल-विभाग के सन्तोषपूर्ण ढंग से काम करने पर निर्भर थी। प्रान्तीय सरकारों को अपने ही हित के लिए भारत सरकार के साथ रेलवे की समृद्धि को पुनः स्थापित करने के लिए तथा उनको पुनः देश की आय के प्रति पर्याप्त मात्रा में अंशदान देने योग्य बनाने के लिए सहयोग करना चाहिए था। इसके लिए प्रान्तीय सड़क नीति को नियमित करना आवश्यक था, ताकि सड़कें रेलों के साथ प्रतिस्पर्धा करने के बजाय रेलों की सहायता करें। इस सम्बन्ध में केन्द्रीय सरकार द्वारा रेल-विभाग के व्यय का भी आद्योपान्त सुधार होना अत्यावश्यक था और विभिन्न प्रकार के यातायात के साधनों का सामंजस्य भी जरूरी था। १९३७-३८ में रेल-विभाग की आय में अतिरेक होने से, रेल-विभाग की देयता का अन्त होने से और केन्दीय सरकार की आय में वृद्धि होने से निमेयर परिनिर्णय के अन्तर्गत यह सम्भव न हो सका कि प्रान्तों को आय-कर का निर्णीत भाग १९३७-३८ के आर्थिक वर्ष से देना आरम्भ किया जा सके। पुनरीक्षित आगणन के आधार पर प्रान्तों को दी जाने वाली रकमें निम्न प्रकार थीं: १३८ लाख रु० १९३७-३८ में, १५० लाख रु० १९३८-३९ में, २७९ लाख रुपया १९३९-४० में और ३७३ लाख रुपया १९४०-४१ में।

४२. प्रान्तों को आय-कर का भाग अभिहस्तांकित करने में निमेयर-सूत्र में संशोधन—फरवरी, १९४० में आय-कर में से प्रान्तों को उनका भाग देने के सम्बन्ध में निमेयर के सूत्र में संसद ने संशोधन कर दिया। कौन्सिल की संशोधित आज्ञा के अन्तर्गत (जो १ अप्रैल, १९३९ से लागू हुई है) रेल-विभाग का अंशदान पूर्ण रूप से केन्द्रीय धन-राशि की गणना से, जोकि प्रान्तों को बांटने के लिए प्राप्त थी, अलग कर दिया गया और केन्द्र का भाग बांटी जाने वाली धनराशि में पिछले तीन वर्ष के औसत पर नियत कर दिया गया, अर्थात् ४½ करोड़ रुपया १९३९-४०, १९४०-४१, १९४१-४२ के लिए था; बाकी रुपया प्रान्तों के बीच बाँट दिया गया। बाद के संशोधनों के साथ यही व्यवस्था १९४२-४३, १९४३-४४, १९४४-४५ में लागू रही। प्रान्तों के भाग में से जितना केन्द्र को अपने पास रखना था वह घटाकर १९४५-४६ में ३·७५ करोड़ रु० और १९४७-४८ में ३ करोड़ रु० कर दिया गया। इस परिवर्तन का औचित्य युद्ध के कारण आर्थिक परिस्थितियों में हुआ परिवर्तन था, जिसके फलस्वरूप

केन्द्रीय सरकार को व्यय का बहुत अधिक भार उठाना पड़ा था और जिसने निराक्राम्य-कर की आय में बहुत कमी कर दी थी। अतएव यदि आय-कर की बढ़ी हुई प्राप्ति, जो अधिकांशत: लड़ाई की स्थितियों के कारण थी, पूर्ण रूप से प्रान्तों को दे दी जाती, जैसा कि पुराने सूत्र के अनुकूल होना चाहिए था, तो यही बड़ी असंगत बात होती। पुराने सूत्र में रेल विभाग से प्राप्त अतिरेक की वृद्धि का लाभ भी प्रान्तों को देने का प्रस्ताव किया था, यद्यपि यह वृद्धि रेल के किराये और शुल्क की वृद्धि के कारण हुई थी, जिसे केन्द्रीय सरकार ने अपने लाभ के लिए बढ़ाया था और जो यात्रियों की संख्या के बढ़ जाने से हुआ था। यह बात मान ली गई थी कि नई व्यवस्था के अन्तर्गत आय-कर में प्रान्तों के भाग में कमी करने की कोई सम्भावना नहीं है, क्योंकि प्रान्तों को नये आय-कर विधेयक (१६३६) के अन्तर्गत आय-कर की वृद्धि का लाभ प्राप्त होगा और अतिरिक्त लाभ-कर का अंश भी प्राप्त होगा जोकि निगम-कर की श्रेणी में नहीं गिना जाता।

४४. देशमुख परिनिर्णय—भारत के बटवारे के कारण पहले के बंगाल, पंजाब और आसाम प्रान्त के अंश पाकिस्तान में चले गए। इसलिए यह निश्चित करना आवश्यक हो गया कि इन प्रान्तों के कुछ अंश के पाकिस्तान में चल जाने के कारण उनके लिए निश्चित आय के अंश में से कितना वापस ले लिया जाय और भारतीय संघ के राज्यों में वह पुन: किस प्रकार बाँटा जाय। नये विधान की धारा २७ के अन्तर्गत जूट निर्यात-कर की आय में भाग पाने वाले प्रान्तों के लिए अनुदान निश्चित करने का प्रश्न भी हल करना आवश्यक था।[1] ये दोनों जाँच और सिफारिश के लिए नवम्बर, १६४६ में श्री चिन्तामणि देशमुख को सौंप दिये गए।[2] श्री देशमुख का परिनिर्णय जो भारत सरकार के पास, जनवरी, १६५० तक भेजा गया, १ अप्रैल, १६५० से लागू हुआ।

निमेयर-परिनिर्णय के अन्तर्गत आय-कर के बाँटे जानेवाले भाग के बटवारे का प्रतिशत अनुपात सेक्शन ३६ में ऊपर दिया जा चुका है। पाकिस्तान में चले गए प्रान्त के भागों के प्रतिशत की गणना करने में श्री देशमुख ने इस समस्या को हल करने में यह जानने का प्रयत्न किया कि पाकिस्तान में चले गए भागों को अलग प्रान्त मान लेने पर इनके समान क्षेत्रफल और वित्तीय स्थिति वाले प्रान्तों की तुलना में निमेयर इनके लिए कितना भाग निश्चित करते। प्रतिशत के पुन: बटवारे के परिणामस्वरूप निम्न नये प्रतिशत निश्चित किये गए—बम्बई २१, मद्रास १७.५, पश्चिमी बंगाल १३.५, उतर प्रदेश १८, मध्य प्रदेश ६, पूर्वी पंजाब ५.५, बिहार १२.५, उड़ीसा ३ और आसाम ३।

---

१. बटवारे के बाद प्रान्तों का जूट के निर्यात-कर में भाग ६२½% से घटकर २०% हो गया, क्योंकि जूट की उत्पत्ति करने वाला अधिकांश भाग पाकिस्तान के अन्दर चला गया। नये विधान के अन्तर्गत जूट निर्यात-कर बाँटा नहीं जा सकता, परन्तु जूट का उत्पादन करने वाले प्रान्तों को १० वर्ष तक अस्थायी अनुदान मिलेगा।

२. पहले रिजर्व बैंक ऑफ़ इण्डिया के गवर्नर थे और १६५० में भारत सरकार के वित्तमंत्री थे।

तुलनात्मक दृष्टि से संकीर्ण ही होंगे, पर स्वतन्त्र रूप से बहुत ही विस्तृत होंगे, क्योंकि उन्नतिशील आवागमन की सुविधा के कारण प्रान्तों से सम्बन्ध घनिष्ठतर होगा, और चूँकि वर्तमान समय में लोग केन्द्र के हस्तक्षेप और निर्देशन के पक्ष में भी हैं। जैसा कि सर जेम्स ग्रिग ने अपने १९३८ के बजट-सम्बन्धी भाषण में कहा था कि केन्द्रीय सरकार ने युद्ध के समय से (१९१४-१८) लगभग २० करोड़ रुपये की आय प्रान्तों के पक्ष में त्याग दी है। इसके अतिरिक्त व्यापार के क्षेत्र में आर्थिक सहायता की नीति के उस सीमा तक बरतने से, जिस सीमा तक वह बरती गई केन्द्रीय सरकार के लिए यह सम्भव नहीं हो सका है कि आयात-कर में कमी के घाटे को पूरा कर सके।

सर ऑटो की योजना की सफलता, विशेषकर उस भाग की, जिसका सम्बन्ध आय-कर के केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों के बीच बटवारे से था, रेल-विभाग के सन्तोषपूर्ण ढंग से काम करने पर निर्भर थी। प्रान्तीय सरकारों को अपने ही हित के लिए भारत सरकार के साथ रेलवे की समृद्धि को पुनः स्थापित करने के लिए तथा उनको पुनः देश की आय के प्रति पर्याप्त मात्रा में अंशदान देने योग्य बनाने के लिए सहयोग करना चाहिए था। इसके लिए प्रान्तीय सड़क नीति को नियमित करना आवश्यक था, ताकि सड़कें रेलों के साथ प्रतिस्पर्धा करने के बजाय रेलों की सहायता करें। इस सम्बन्ध में केन्द्रीय सरकार द्वारा रेल-विभाग के व्यय का भी आद्योपान्त सुधार होना अत्यावश्यक था और विभिन्न प्रकार के यातायात के साधनों का सामंजस्य भी जरूरी था। १९३७-३८ में रेल-विभाग की आय में अतिरेक होने से, रेल-विभाग की देयता का अन्त होने से और केन्दीय सरकार की आय में वृद्धि होने से निमेयर परिनिर्णय के अन्तर्गत यह सम्भव न हो सका कि प्रान्तों को आय-कर का निर्णीत भाग १९३७-३८ के आर्थिक वर्ष से देना आरम्भ किया जा सके। पुनरीक्षित आगणन के आधार पर प्रान्तों को दी जाने वाली रक़में निम्न प्रकार थीं : १३८ लाख रु० १९३७-३८ में, १५० लाख रु० १९३८-३९ में, २७९ लाख रुपया १९३९-४० में और ३७३ लाख रुपया १९४०-४१ में।

४२. प्रान्तों को आय-कर का भाग अभिहस्तांकित करने में निमेयर-सूत्र में संशोधन—फरवरी, १९४० में आय-कर में से प्रान्तों को उनका भाग देने के सम्बन्ध में निमेयर के सूत्र में संसद ने संशोधन कर दिया। कौन्सिल की संशोधित आज्ञा के अन्तर्गत (जो १ अप्रैल, १९३९ से लागू हुई है) रेल-विभाग का अंशदान पूर्ण रूप से केन्द्रीय धन-राशि की गणना से, जोकि प्रान्तों को बाँटने के लिए प्राप्त थी, अलग कर दिया गया और केन्द्र का भाग बाँटी जाने वाली धनराशि में पिछले तीन वर्ष के औसत पर नियत कर दिया गया, अर्थात् ४½ करोड़ रुपया १९३९-४०, १९४०-४१, १९४१-४२ के लिए था; बाकी रुपया प्रान्तों के बीच बाँट दिया गया। बाद के संशोधनों के साथ यही व्यवस्था १९४२-४३, १९४३-४४, १९४४-४५ में लागू रही। प्रान्तों के भाग में से जितना केन्द्र को अपने पास रखना था वह घटाकर १९४५-४६ में ३·७५ करोड़ रु० और १९४७-४८ में ३ करोड़ रु० कर दिया गया। इस परिवर्तन का औचित्य युद्ध के कारण आर्थिक परिस्थितियों में हुआ परिवर्तन था, जिसके फलस्वरूप

केन्द्रीय सरकार को व्यय का बहुत अधिक भार उठाना पड़ा था और जिसने निरा-क्राम्य-कर की आय में बहुत कमी कर दी थी। अतएव यदि आय-कर की बढ़ी हुई प्राप्ति, जो अधिकांशत: लड़ाई की स्थितियों के कारण थी, पूर्ण रूप से प्रान्तों को दे दी जाती, जैसा कि पुराने सूत्र के अनुकूल होना चाहिए था, तो यही बड़ी असंगत बात होती। पुराने सूत्र में रेल विभाग से प्राप्त अतिरेक की वृद्धि का लाभ भी प्रान्तों को देने का प्रस्ताव किया था, यद्यपि यह वृद्धि रेल के किराये और शुल्क की वृद्धि के कारण हुई थी, जिसे केन्द्रीय सरकार ने अपने लाभ के लिए बढ़ाया था और जो यात्रियों की संख्या के बढ़ जाने से हुआ था। यह बात मान ली गई थी कि नई व्यवस्था के अन्तर्गत आय-कर में प्रान्तों के भाग में कमी करने की कोई सम्भावना नहीं है, क्योंकि प्रान्तों को नये आय-कर विधेयक (१९३९) के अन्तर्गत आय-कर की वृद्धि का लाभ प्राप्त होगा और अतिरिक्त लाभ-कर का अंश भी प्राप्त होगा जोकि निगम-कर की श्रेणी में नहीं गिना जाता।

४४. देशमुख परिनिर्णय—भारत के बटवारे के कारण पहले के बंगाल, पंजाब और आसाम प्रान्त के अंश पाकिस्तान में चले गए। इसलिए यह निश्चित करना आवश्यक हो गया कि इन प्रान्तों के कुछ अंश के पाकिस्तान में चल जाने के कारण उनके लिए निश्चित आय के अंश में से कितना वापस ले लिया जाय और भारतीय संघ के राज्यों में वह पुन: किस प्रकार बाँटा जाय। नये विधान की धारा २७ के अन्तर्गत जूट निर्यात-कर की आय में भाग पाने वाले प्रान्तों के लिए अनुदान निश्चित करने का प्रश्न भी हल करना आवश्यक था।[1] ये दोनों जाँच और सिफारिश के लिए नवम्बर, १९४९ में श्री चिन्तामणि देशमुख को सौंप दिये गए।[2] श्री देशमुख का परिनिर्णय जो भारत सरकार के पास, जनवरी, १९५० तक भेजा गया, १ अप्रैल, १९५० से लागू हुआ।

निमेयर-परिनिर्णय के अन्तर्गत आय-कर के बाँटे जानेवाले भाग के बटवारे का प्रतिशत अनुपात सेक्शन ३९ में ऊपर दिया जा चुका है। पाकिस्तान में चले गए प्रान्त के भागों के प्रतिशत की गणना करने में श्री देशमुख ने इस समस्या को हल करने में यह जानने का प्रयत्न किया कि पाकिस्तान में चले गए भागों को अलग प्रान्त मान लेने पर इनके समान क्षेत्रफल और वित्तीय स्थिति वाले प्रान्तों की तुलना में निमेयर इनके लिए कितना भाग निश्चित करते। प्रतिशत के पुन: बटवारे के परिणामस्वरूप निम्न नये प्रतिशत निश्चित किये गए—बम्बई २१, मद्रास १७.५, पश्चिमी बंगाल १३.५, उत्तर प्रदेश १८, मध्य प्रदेश ६, पूर्वी पंजाब ५.५, बिहार १२.५, उड़ीसा ३ और आसाम ३।

---

१. बटवारे के बाद प्रान्तों का जूट के निर्यात-कर में भाग ६२½% से घटकर २०% हो गया, क्योंकि जूट की उत्पत्ति करने वाला अधिकांश भाग पाकिस्तान के अन्दर चला गया। नये विधान के अन्तर्गत जूट निर्यात-कर बाँटा नहीं जा सकता, परन्तु जूट का उत्पादन करने वाले प्रान्तों को १० वर्ष तक अस्थायी अनुदान मिलेगा।

२. पहले रिजर्व बैंक ऑफ़ इण्डिया के गवर्नर थे और १९५० में भारत सरकार के वित्तमंत्री थे।

जूट के निर्यात-कर के सम्बन्ध में देशमुख-परिनिर्णय के अन्तर्गत सहायक अनुदान (ग्रान्ट्स-इन-एड) लाख रुपयों में निम्न प्रकार है : पश्चिमी बंगाल १०५, आसाम ४०, बिहार ३५ और उड़ीसा ५।

जब तक नये विधान के अन्तर्गत विधान लागू होने के दो वर्ष के अन्दर सम्पूर्ण प्रश्न का पुनर्विलोकन करने के लिए नियुक्त वित्त-आयोग अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत नहीं कर देगा तब तक देशमुख-परिनिर्णय लागू रहेगा।[1]

४५. वर्तमान प्रान्तीय अर्थ प्रबन्ध—प्रान्तों में भी केन्द्र की तरह व्यय में लगातार वृद्धि हुई है। यह वृद्धि विशेष रूप से १९२३-२४ और १९२८-२९ में देखी गई और किसी प्रकार वह २२% से कम न थी, जबकि आय में केवल ४ प्रतिशत की वृद्धि

१. २२ नवम्बर, १९५१ के विधान की धारा १८० (१) के अन्तर्गत राष्ट्रपति ने श्री के० सी० नियोगी की अध्यक्षता में एक वित्त-आयोग (फाइनेन्स कमीशन) की नियुक्ति की। इस आयोग की नियुक्ति कुछ करों की आय का केन्द्र और राज्यों के बीच वितरण, राज्यों को सहायक अनुदान तथा केन्द्र और राज्यों के बीच धारा २७८ (१) के अन्तर्गत किये गए समझौतों आदि के सम्बन्ध में सिफारिश करने के लिए की गई थी। आयोग ने अपनी अन्तिम रिपोर्ट ३१ दिसम्बर, १९५२ को प्रस्तुत की। इस आयोग ने वर्तमान परिस्थितियों में राज्यो की आय निश्चित करने के लिए जनसंख्या को आधार बनाया और आय-कर की विभाज्य राशि में से २०% राज्यों की सापेक्षिक वसूली के आधार पर और ८०% (१९५१ की जन-गणना) सापेक्षिक जनसंख्या के आधार पर बाटने की सिफारिश की। वित्त आयोग की सिफारिशों के अनुसार प्रान्तों का प्रतिशत भाग इस प्रकार है—

भाग 'क' राज्य	वित्त-आयोग की योजना के अन्तर्गत प्रतिशत भाग
मद्रास	१५.२५
बम्बई	१७.५०
पश्चिमी बंगाल	११.२५
यू० पी०	१५.७५
पंजाब	३.२५
बिहार	९.७५
मध्य प्रदेश	५.२५
आसाम	२.२५
उडीसा	३.५०
भाग 'ख' राज्य	
हैदराबाद	४.५०
राजस्थान	३.५०
ट्रावनकोर-कोचीन	२.५०
मैसूर	२.२५
मध्य भारत	१.७५
सौराष्ट्र	१.००
पैप्सू	०.७५

भाग 'ग' राज्यों का अंश आयकर की वास्तविक आय का २¾ प्रतिशत कर दिया गया।

जूट निर्यात-कर

देशमुख-परिनिर्णय के अनुसार पश्चिमी बंगाल, आसाम, बिहार और उडीसा को जूट निर्यात-कर के स्थान पर सहायक अनुदान दिये जाते थे, परन्तु ये राज्य इन अनुदानों से सन्तुष्ट नहीं थे और अधिक की माग करते थे। इस सम्बन्ध में वित्त-आयोग ने निम्न अनुदानों की सिफारिश की—

हुई। कुछ प्रान्तों में व्यय में लगातार वृद्धि उनके अंशदान की माफी के कारण सम्भव हो सकी। १६३०-३१ और १६३४-३५ के बीच, जबकि प्रान्तीय आय में कठिन आर्थिक अवसाद के कारण कमी आ गई थी, उनके खर्चों में उसी के अनुसार कमी नहीं हुई और इसलिए कुछ दिनों तक बजट में लगातार कमी पड़ना अनिवार्य हो गया। कुछ प्रान्तों में इधर कुछ वर्षों में स्थिति सुधर गई है।

प्रान्तीय स्वायत्त शासन के आरम्भ होने के बाद से प्रान्तीय सरकारों की आय और उनके व्यय दोनों में ही बहुत काफी वृद्धि हुई है। प्रान्तों को केन्द्रीय सरकार से प्राप्त अनुदानों से, जो निमेयर परिनिर्णय के अन्तर्गत आय-कर से मिलते थे, वार्षिक नकद आर्थिक सहायता से (जो कुछ प्रान्तों को मिलती थी), और उसी परिनिर्णय के अन्तर्गत जूट पैदा करने वाले प्रान्तों को जूट निर्यात-कर में बढ़े हुए भाग से बहुत लाभ हुआ। यह पहले ही बताया जा चुका है कि बिक्री-कर, व्यवसाय-कर, नगरों में स्थित स्थायी सम्पत्ति-कर (जैसा कि बम्बई में) आदि शिक्षा और राष्ट्रीय विकास की योजनाओं को चलाने के लिए तथा अधूरी अथवा पूर्ण मद्य-निषेध नीति के प्रचलित होने के कारण आय और व्यय के बीच पैदा हुए व्यवधान को पूरा करने के लिए प्रान्तों द्वारा आरोपित किये गए।

निम्न तालिका में पूर्वी पंजाब और पश्चिमी बंगाल को छोड़कर भारतीय संघ के राज्यों का आय-व्यय अतिरेक तथा घाटा दिखाया गया है—

(लाख रु० में)

राज्य	देशमुख-परिनिर्णय के अन्तर्गत दी जाने वाली रकम	वित्त-आयोग द्वारा प्रस्तावित रकम
पश्चिमी बंगाल	१०५	१५०
आसाम	५०	७५
बिहार	३५	७५
उड़ीसा	५	१५

संघीय उत्पाद-कर—इन करों की बढ़ती हुई आय के कारण राज्य की सरकारों ने इनमें भाग माँगना शुरू कर दिया। राज्यों ने वित्त आयोग से इस आय में से भाग देने की माँग की। आयोग ने कुछ वस्तुओं के उत्पाद-कर को वितरित करने का निश्चय किया। इन चुनी हुई वस्तुओं (तम्बाकू—सिगरेट, सिगार आदि, दियासलाई, वनस्पति) के उत्पाद-कर के ४०% भाग को जनसंख्या के अनुपात में विभिन्न राज्यों में निम्न प्रकार से बाँटने की सिफारिश की गई—

राज्य	कुल का प्रतिशत	राज्य	कुल का प्रतिशत
आसाम	२.६१	उड़ीसा	४.२२
बिहार	११.६०	पैप्सू	१.००
बम्बई	१०.३७	पंजाब	३.६६
हैदराबाद	५.३९	राजस्थान	४.४१
मध्य भारत	२.२९	सौराष्ट्र	१.१९
मध्य प्रदेश	६.१३	ट्रावनकोर-कोचीन	२.६८
मद्रास	१६.४४	उत्तर प्रदेश	१८.२८
मैसूर	२.६२	पश्चिमी बंगाल	७.१६

सरकार ने इन सिफारिशों को स्वीकार कर लिया और मार्च, १६५३ में यूनियन ड्यूटीज ऑफ़ एक्साइज (डिस्ट्रीब्यूशन) एक्ट पास किया।

लाख रुपयों में[1]

	१९३९-४०	१९४१-४२	१९४२-४३	१९४३-४४	१९४४-४५	१९४५-४६	१९४६-४७	१९४७-४८	१९४८-४९	१९४९-५०
आय	५८७०	७०११	८२४०	१०५९०	१३४१४	१४८८६	१६९७८	१७६५९	२१२९३	२२३५७
व्यय	५७५३	६६७४	७७४३	१०१९८	१२८००	१४४८७	१६२१७	१७१६०	२१४८२	२१९९०
अतिरेक (+) अथवा कमी (—)	+११७	+३३७	+४९७	+३९२	+६१४	+३९९	+७६१	+४९९	—१८९	+३६७

तालिका युद्ध के पश्चात् प्रत्येक वर्ष आय और व्यय में लगातार वृद्धि प्रदर्शित करती है। आय में वृद्धि कृषि की उत्पत्ति के मूल्य में वृद्धि, प्रान्तीय आय के साधनों, जैसे जंगल के उत्तरोत्तर प्रयोग, अनेक प्रान्तों में अतिरिक्त अथवा नये करों के आरोपण, जो मुद्रा-प्रसार के प्रभाव को रोकने के लिए थे, और केन्द्र के पास एकत्रित आय-कर से प्रान्तों के भाग में प्रतिवर्ष वृद्धि के कारण हुई थी।

व्यय के अन्तर्गत वृद्धि पुलिस और नागरिक रक्षा के उपायों के कारण अतिरिक्त आर्थिक भार, मँहगाई तथा अन्य अधिदेयों, खाद्य सामग्री पर विनियोग, पूर्ति तथा वितरण-सम्बन्धी योजनाओं, कुछ प्रान्तों द्वारा अपने ऋण के भार को कम करने के लिए केन्द्र को धन देने, राष्ट्र-विकास की योजनाओं पर अधिक व्यय करने

१. नीचे दी हुई तालिकाएँ इस सम्बन्ध में आधुनिक स्थिति प्रकट कर रही हैं

(लाख रु० में)

भाग 'क' राज्य	१९५१-५२	१९५२-५३	१९५३-५४	१९५४-५५ (बजट)	१९५४-५५ (रिवाइज्ड)	१९५५-५६ (बजट)
आय	३०४८०	३१८१५	३४७००	३५३४०	३७६०८	३९७८४
व्यय	२९८३१	३१८२९	३४७०८	३८७४९	४०२६५	४४९३७
(—) घाटा या (+) बचत	+६४९	—१४	—८	—३४०९	—२६५७	—५१५३

भाग 'ख' राज्य	१९५१-५२	१९५२-५३	१९५३-५४	१९५४-५५ (बजट)	१९५४-५५ (रिवाइज्ड)	१९५५-५६
आय	१००५४	१०१९९	१०६६६	११२९५	११४६६	१२३७६
व्यय	९४३७	९८७४	१०११२	११८०९	१२०५६	१४०२१
(—) घाटा या (+) बचत	+६१७	+३२५	+५५४	—५१४	—५९०	—१६४५

भाग 'ग' राज्य	१९५२-५३	१९५३-५४	१९५४-५५ (बजट)	१९५४-५५ (रिवाइज्ड)	१९५५-५६ (बजट)
आय	१८३५	१५२८	१७८२	१७५६	२०९७
व्यय	१२१०	१३७२	१८५९	१८६२	२१८७
(—) घाटा या					

और अधिकतर प्रान्तों द्वारा युद्ध के पश्चात् पुनर्निर्माण-कार्यों पर व्यय करने के लिए धन पृथक् करने आदि कारणों से हुई थी।

तालिका द्वारा जो दूसरी विशेषता व्यक्त होती है वह था युद्ध-काल के[1] प्रत्येक वर्ष में आय का अतिरेक होना, जोकि केन्द्र के बड़े घाटों के बजट में नितान्त विपरीत रक्षा पर अधिक व्यय के कारण था।

निम्न तालिका में वह आर्थिक सहायता तथा अन्य प्रकार के अनुदान दिखाये गए हैं जो केन्द्रीय सरकार द्वारा प्रान्तों को १९३७-३८ से १९४० में संशोधित गवर्नमेण्ट ऑफ़ इण्डिया (डिस्ट्रीब्यूशन ऑफ रेवेन्यू) आर्डर के अन्तर्गत दिये गए हैं।

करों की आय में से प्रान्तों का भाग[2],
उनको आर्थिक सहायता तथा सहायता के अनुदान[3]

करोड़ रुपयों में

वर्ष	आय-कर	जूट-कर	आर्थिक सहायता	अन्य सहायता के अनुदान	कुल
१९३७-३८	१·२५	२·६५	३·१२	—	७·०२
१९३८-३९	१·५०	२·५१	३·०३	—	७·०४
१९३९-४०	२·७९	२·५६	३·०३	—	८·३८
१९४०-४१	४·१६	१·८५	३·०३	—	९·०४
१९४१-४२	७·३९	१·९५	३·०३	—	१२·३७
१९४२-४३	१०·९०	१·४०	२·७५	०·०१	१५·०६
१९४३-४४	१९·५०	१·३८	२·७५	३·००	२६·६३
१९४४-४५	२६·५६	१·४९	१·७०	७·००	३६·७५
१९४५-४६	२८·७५	१·५७	१·७०	८·००	४०·०२
१९४७-४८	२९·७४	१·२८	०·४४	१·४०	३२·८६
१९४९-५० (बजट)	४०·६५	१·४६	०·७०	२·२५	४५·०६

इन दिनों सब प्रान्तों में भारत के बटवारे के परिणामस्वरूप हिन्दू-मुस्लिम झगड़ों के कारण रक्षा-सेवाओं पर अधिक व्यय तथा सामाजिक सेवाओं के प्रबन्ध पर व्यय एक समान विशेषता थी। दूसरे कारण, जिनसे व्यय की मात्रा बढ़ गई, वे

१. बंगाल, जिसके बजट में १९४३-४४ और १९४४-४५ में बहुत बड़ी कमी हो गई थी, एक अपवाद था।
२. १९४७-४८ के अंक संयुक्त भारत के हैं। १९४७-४८ के अंक १५ अगस्त, १९४७ से ३१ मार्च, १९४८ तक के हैं।
३. इस सम्बन्ध में आधुनिक स्थिति इस प्रकार है—

(करोड़ रुपयों में)

वर्ष	आय-कर	संघीय उत्पाद कर	उत्तराधिकार कर	विभिन्न अनुदान (ग्राण्ट्स एण्ड सबशान्स)	ऋण	कुल योग
१९५१-५२	५२·८६	—	—	३३·३४	७५·७१	१६१·९१
१९५२-५३	५६·९८	१६·८३	—	३६·६६	१११·७९	२२२·२६
१९५३-५४	५७·२९	१५·५५	—	४७·१०	१६०·२०	२८०·१४
१९५४-५५ (बजट)	५५·९८	१६·२९	३·७५	८७·३८	२१४·४१	३७७·८:

सरकारी कर्मचारियों के वेतन में वृद्धि, खाद्य-सामग्री के लिए अर्थ-सहायता, शिक्षा-योजनाएँ, औद्योगिक उन्नति और सबसे बढ़कर शरणार्थियों को सहायता तथा पुनर्वास की व्यवस्था आदि हैं। मद्य-निषेध की नीति के कारण उत्पाद-कर कम होता जा रहा है, अतएव प्राप्त अधिकाधिक बिक्री-कर का आरोप उसकी दर बढ़ाकर तथा विस्तार करके करते जा रहे हैं।

प्रान्तीय कर-व्यवस्था में कृषि-आय पर कर उत्तरोत्तर महत्ता में बढ़ता जा रहा है। अनेक प्रान्तों, जैसे पश्चिमी बंगाल, उत्तर प्रदेश, बिहार, आसाम, उडीसा आदि, ने पहले से ही यह कर लगा रखा है और दूसरे प्रान्त लगाने की बात सोच रहे हैं।

४६. राज्यीय पुनर्निर्माण वित्त—पुनर्निर्माण की योजनाओं पर पहले-पहल १६४६ में राज्यीय मन्त्रियों की एक सभा में विचार किया गया था। यह आशा की गई थी कि पुनर्निर्माण का आधा खर्च आय के अतिरेक से पूरा हो जायगा। राज्यों से केन्द्रीय सरकार के अनुमानित अतिरेकों के आधे से अधिक के दिये जाने का वायदा किया गया था। परन्तु ये राज्यीय और केन्द्रीय अतिरेक हुए ही नहीं। वे कोष, जो युद्धकालीन आय के अतिरेक से एकत्रित किये गए थे, पुनर्निर्माण के आंशिक खर्च को पूरा करने के लिए उनका प्रयोग आय की कमी को पूरा करने में कर लिया गया। ऐसे रक्षित कोष उड़ीसा, पूर्वी पंजाब और पश्चिमी बंगाल के लिए नहीं हैं। अन्य राज्यों के १६४६-५० के अन्त में बचे हुए उत्तर-युद्धकालीन पुनर्निर्माण-कोष के आँकड़े निम्न तालिका में दिये गए हैं।

१६४६-५० (बजट)[1] करोड़ रुपयों में

मद्रास	३०·३५	मध्य प्रदेश	८·१२
बम्बई	१७·२६	बिहार	१२·५०
उत्तर प्रदेश	१२·७६	आसाम	१·०२

नवम्बर, १६४८ में विकास की सब योजनाओं का पुनर्विलोकन करने के बाद उनका एक पूर्वक्रम बना दिया गया, जिसके अन्तर्गत उन योजनाओं को, जो अन्न के उत्पादन से तथा आवश्यक उपभोग की वस्तुओं से, विशेषकर वे जिनसे तुरन्त लाभ हो सकता था, सम्बन्ध रखती थीं उन्हें सर्वप्रथम स्थान दिया गया। केन्द्रीय सरकार ने आरम्भ में २७० करोड़ रुपये का अंशदान देने का वचन दिया था। बटवारे के बाद चार वर्ष तक (१६४८-४६ से १६५१-५२ तक) बकाया, जो बँटने को था, लगभग १७५ करोड़ रुपये के था। पश्चिमी बंगाल, पूर्वी पंजाब, आसाम और उड़ीसा के सम्बन्ध में स्वीकृत योजनाओं पर पूरा खर्च अधिक-से-अधिक एक निश्चित सीमा तक केन्द्रीय सरकार द्वारा १६४८-४६ और १६४६-५० में पूरा किया गया। अन्य राज्यों के सम्बन्ध में उन्हें केन्द्रीय सरकार से अनुदान इस शर्त पर प्राप्त हो सकता था कि वे राज्य स्वयं भी कम-से-कम उतना ही धन व्यय करें। १६४६-५० के बजट के अनुसार

१. पीछे पाद टिप्पणी में जो तालिका दी गई है उसमें पुनर्निर्माण वित्त भी सम्मिलित है, विशेषकर अनुदान और ऋण के मद में।

केन्द्रीय सरकार से राज्यीय सरकारों को ४७·२० करोड़ रुपये के ऋण के अतिरिक्त २५·३९ करोड़ रुपये का कुल अनुदान दिया गया था।

रेल-वित्त

४७. सेपेरेशन कान्वेन्शन के अन्तर्गत रेल-विभाग क आर्थिक परिणाम—१९२४ के सेपेरेशन कान्वेन्शन के अन्तर्गत रेल-विभाग के कार्यों के आर्थिक परिणामों का सारांश निम्न प्रकार दिया जा सकता है—१९२४-२५ से १९३५-३६ तक के काल को लेने से यह पता लगता है कि प्रथम ६ वर्ष उत्कर्ष के वर्ष थे और अन्तिम ६ वर्ष अपकर्ष के। यदि पूरे काल को लिया जाय तो पहले ६ वर्षों में कुल अतिरेक-आय जो अर्जित की गई वह ५२६४ लाख रुपये थी और पिछले ६ वर्षों की कमी ४१६३ लाख रुपयों की थी। इस बदलते हुए भाग्य की लम्बी अवधि में ११०१ लाख रुपये का वास्तविक अतिरेक हुआ, अर्थात् नित्य-प्रति के कार्यों का व्यय काटकर, अवक्षयण की व्यवस्था करके और ऋण ली हुई पूँजी पर पूरा-पूरा ब्याज देकर प्रतिवर्ष १ करोड़ रुपये से कुछ कम का अतिरेक हुआ। उत्कर्ष के काल में अर्थात् १९२४-२५ से १९२९-३० तक सामान्य आय में कुल अनुदान ४२ करोड़ रुपये का हुआ था अर्थात् ३ करोड़ रुपये का औसत पूरी अवधि के लिए सेपेरेशन कान्वेन्शन के आरम्भ की तिथि से हुआ था। उसी काल में ४१½ करोड़ रुपया अवक्षयण-कोष में एकत्रित हो गया था।

१९३०-३१ के वर्ष से घाटे का युग आरम्भ हुआ, जोकि मुख्यत: विश्व-व्यापी आर्थिक अवसाद, वस्तुओं के मूल्य में कमी, गेहूँ के निर्यात में कमी, राजनीतिक स्थिति में अशांति, बाढ़ और भूकम्पों से पहुँचाई हुई हानि, सड़कों की तीव्र प्रतिस्पर्धा,[1] नदी और समुद्र की बढ़ी हुई प्रतियोगिता, मजदूरी में वृद्धि के कारण नित्य-प्रति के कार्यों के खर्च में वृद्धि आदि के कारण था। संसार के समस्त देशों की, जिनमें से अधिकांश शान्तिकाल से हमारे सर्वोत्तम ग्राहक थे, प्रशुल्क-पद्धति ने रेल की आय की शक्ति पर बुरा प्रभाव डाला।

इन लगातार होने वाले घाटों के कारण १९३१-३२ के बाद देश की सामान्य आय के प्रति रेलवे कोई भी अंशदान न कर सकी। सेपेरेशन कान्वेन्शन के अन्तर्गत एकत्रित किया हुआ, अंशदान का बकाया १९३१-३२ से लगाकर १९३६-३७ तक ३०.७४ करोड़ रुपया हो गया था। १९३९-४० के अन्त तक यह संख्या बढ़कर ३६¾ करोड़ रुपया हो गई थी। इस काल में रेल-विभाग ने यही नहीं कि अपना सामान्य-कोष कम कर दिया हो, वरन् अवक्षयण कोष से भी उन्होंने ३१३४ करोड़ रुपया ऋण पर ब्याज अदा करने के लिए उधार ले लिया। यह नितान्त असम्भव था कि लगभग ६२ करोड़ रुपये की इतनी बड़ी देयता भविष्य में होने वाले अतिरेक से थोड़े-से नपे हुए समय के अन्दर अदा की जा सके। इसी बीच नये विधान के अन्तर्गत प्रान्तीय स्वायत्त शासन के प्रचलित हो जाने के साथ-ही-साथ और अधिक आय के साधनों की प्राप्ति के लिए ज़ोर लगाया जा रहा था। चूँकि वर्तमान सेपेरेशन कान्वेन्शन के अन्तर्गत अवक्षयण कोष से लिये हुए ऋण भविष्य के अतिरेक पर सबसे प्रथम अधिकर समझे

१. वेजवुड इन्क्वायरी कमेटी (१९३७) के अनुमान से सड़क यातायात द्वारा रेलवे को ४½ करोड़ प्रतिवर्ष का घाटा रहा—रिपोर्ट, पैरा १६६।

सरकारी कर्मचारियों के वेतन में वृद्धि, खाद्य-सामग्री के लिए अर्थ-सहायता, शिक्षा-योजनाएँ, औद्योगिक उन्नति और सबसे बढ़कर शरणार्थियों को सहायता तथा पुनर्वास की व्यवस्था आदि हैं। मद्य-निषेध की नीति के कारण उत्पाद-कर कम होता जा रहा है, अतएव प्राप्त अधिकाधिक बिक्री-कर का आरोप उसकी दर बढ़ाकर तथा विस्तार करके करते जा रहे हैं।

प्रान्तीय कर-व्यवस्था में कृषि-आय पर कर उत्तरोत्तर महत्ता में बढ़ता जा रहा है। अनेक प्रान्तों, जैसे पश्चिमी बंगाल, उत्तर प्रदेश, बिहार, आसाम, उडीसा आदि, ने पहले से ही यह कर लगा रखा है और दूसरे प्रान्त लगाने की बात सोच रहे हैं।

४६. राज्यीय पुनर्निर्माण वित्त—पुनर्निर्माण की योजनाओं पर पहले-पहल १९४६ में राज्यीय मन्त्रियों की एक सभा में विचार किया गया था। यह आशा की गई थी कि पुनर्निर्माण का आधा खर्च आय के अतिरेक से पूरा हो जायगा। राज्यों से केन्द्रीय सरकार के अनुमानित अतिरेकों के आधे से अधिक के दिये जाने का वायदा किया गया था। परन्तु ये राज्यीय और केन्द्रीय अतिरेक हुए ही नहीं। वे कोष, जो युद्धकालीन आय के अतिरेक से एकत्रित किये गए थे, पुनर्निर्माण के आंशिक खर्च को पूरा करने के लिए उनका प्रयोग आय की कमी को पूरा करने में कर लिया गया। ऐसे रक्षित कोष उड़ीसा, पूर्वी पंजाब और पश्चिमी बंगाल के लिए नहीं हैं। अन्य राज्यों के १९४९-५० के अन्त में बचे हुए उत्तर-युद्धकालीन पुनर्निर्माण-कोष के आँकड़े निम्न तालिका में दिये गए हैं।

१९४९-५० (बजट)[1] करोड़ रुपयों में

मद्रास	३०·३५	मध्य प्रदेश	८·१२
बम्बई	१७·२६	बिहार	१२·५०
उत्तर प्रदेश	१२·७६	आसाम	१·०२

नवम्बर, १९४८ में विकास की सब योजनाओं का पुनर्विलोकन करने के बाद उनका एक पूर्वक्रम बना दिया गया, जिसके अन्तर्गत उन योजनाओं को, जो अन्न के उत्पादन से तथा आवश्यक उपभोग की वस्तुओं से, विशेषकर वे जिनसे तुरन्त लाभ हो सकता था, सम्बन्ध रखती थीं उन्हें सर्वप्रथम स्थान दिया गया। केन्द्रीय सरकार ने आरम्भ में २७० करोड़ रुपये का अंशदान देने का वचन दिया था। बटवारे के बाद चार वर्ष तक (१९४८-४९ से १९५१-५२ तक) बकाया, जो बँटने को था, लगभग १७५ करोड़ रुपये के था। पश्चिमी बंगाल, पूर्वी पंजाब, आसाम और उड़ीसा के सम्बन्ध में स्वीकृत योजनाओं पर पूरा खर्च अधिक-से-अधिक एक निश्चित सीमा तक केन्द्रीय सरकार द्वारा १९४८-४९ और १९४९-५० में पूरा किया गया। अन्य राज्यों के सम्बन्ध में उन्हें केन्द्रीय सरकार से अनुदान इस शर्त पर प्राप्त हो सकता था कि वे राज्य स्वयं भी कम-से-कम उतना ही धन व्यय करें। १९४९-५० के बजट के अनुसार

१. पीछे पाद टिप्पणी में जो तालिका दी गई है उसमें पुनर्निर्माण वित्त भी सम्मिलित है, विशेषकर अनुदान और ऋण के मद में।

लगाई हुई १ प्रतिशत रकम के, जिसमें से सैनिक महत्त्व रखने वाली रेलों पर घाटा निकाल दिया जाय और जिसमें ३ करोड़ रुपया सुधार-कोष (जो १९४६ में कायम हुआ, जिसमें आरम्भ में ही १२ करोड़ रुपया रेलवे-रक्षित कोष से यात्रियों और कर्मचारियों को सुविधा देने के लिए निकाल लिया गया था) में जमा कर देने के बाद जितना बचे उसका आधा जोड़ दिया जाय, बाद सामान्य आय में ५.६१ करोड़ रुपये के दिये जाने की सम्भावना थी। बटवारे के फलस्वरूप भारतीय संघ को कुल ३३,८६५ मील रेल की लाइन ६७८ करोड़ रुपये की पूँजी के साथ तथा अवक्षयण-कोष ६३.२२ करोड़ रुपया, रेलवे-रक्षित कोष ७.६८ करोड़ रुपया और सुधार-कोष ११.७१ करोड़ रुपया प्राप्त हुआ।

७½ महीनों के बीच, जो १५ मार्च, १९४८ को समाप्त हुए, रेल के काम में २.७४ करोड़ रुपये का घाटा हुआ, जिसको सुरक्षित कोष से पूरा किया गया। १९४८-४९ में सुरक्षित कोष घटकर केवल ३.८ करोड़ रुपया रह गया था और केन्द्रीय वेतन-आयोग की सिफ़ारिशों पर २७ करोड़ रुपये का व्यय आवश्यक था। इसके अतिरिक्त भविष्य में और अधिक भार अधिनिर्णायक (एड्जुडिकेटर) के परिनिर्णय के अन्तर्गत होने वाला था, जिसमें उसने काम तथा छुट्टी और स्थानापन्न कर्मचारियों के विषय में बहुत उदारता दिखाई थी। पुनरीक्षित अतिरेक १९४८-४९ में १५.८३ करोड़ रुपया था, जो निम्न प्रकार बाँटा गया—सामान्य आय ७.३४ करोड़, सुधार-कोष ०.८४ करोड़ और रेलवे अवक्षयण-कोष ७.६५ करोड़ रुपया।

बहुत बड़ी मात्रा में प्रतिस्थापन के बकाया और मूल्यों के बढ़ जाने से प्रतिस्थापन के व्यय में वृद्धि होने के कारण भारतीय रेलवे जाँच कमेटी (कुंजरू कमेटी) ने पाँच वर्ष तक २२ करोड़ रुपये के वार्षिक अंशदान का प्रस्ताव किया है। १९४९-५० के पुनरीक्षित आगणन के अनुसार ११.०२ करोड़ रुपये का अतिरेक था, जिसमें से ७ करोड़ रुपया सामान्य आय में जमा किया गया और ४.०२ करोड़ रुपया अवक्षयण-कोष में।

१९२४ का कान्वेन्शन १ अप्रल, १९४३ से रद्द हो गया। मार्च, १९४३ में विधानसभा द्वारा स्वीकृत एक प्रस्ताव के अनुसार अवक्षयण कोष के बकाया ऋण को देने के पश्चात् १९४३-४४ में व्यापारिक रेलों से लाभ सामान्य आय के साथ ३:१ के अनुपात में बाँटा जाने वाला था। इसके अतिरिक्त व्यापारिक रेलों पर अतिरेक सामान्य आय और रेलवे-रक्षित कोष के बीच दोनों की आवश्यकता के अनुसार बाँटे जाने वाले थे।

१९४९ में बिठाई गई कानवेन्शन कमेटी ने १९२४ के जटिल सूत्र को अस्वीकार कर दिया और दूसरी सरल तथा काम में लाई जाने योग्य व्यवस्था को अपनाया, जिसके अन्तर्गत सामान्य आय में ४% का लाभांश प्रयुक्त पूँजी पर (केपिटल एट चार्ज) दिया जाता। १९५०-५१ में ३१.८५ करोड़[1] रुपये की बजट में व्यवस्था की गई।

१. इसमें २.५७ करोड़ रुपया सम्मिलित है, जो लगभग ६५०० मील दूर तक फैली हुई १० रियासतों की रेलों के लिए था और जो १ अप्रैल, १९५० से केन्द्रीय नियन्त्रण के अन्तर्गत आ गई थीं

जाते थे और उसके पश्चात् सामान्य आय की देयता भी पूरी करनी थी। इसलिए सामान्य आय को रेल से अंशदान पाने के लिए बहुत काफी प्रतीक्षा करनी आवश्यक थी। इससे बचने का उपाय देयता पूरी करने के लिए १९३७ से तीन वर्ष के विलम्ब-काल में निहित था।[1] इस विलम्ब-काल के कारण यह सम्भव हो सका कि व्याज देने के बाद रेल-विभाग की वास्तविक आय के अतिरेक की, जो १९३६-३७ से दिखाई पड़ने लगा था, व्यवस्था की जा सके, ताकि ६२ करोड़ रुपये का भारी ऋण पूरा किये बिना ही सामान्य आय में अंशदान देना तुरन्त आरम्भ किया जा सके। इससे केन्द्रीय सरकार को भी १९३७-३८, १९३८-३९ और १९३९-४० में निमेयर परि-निर्णय के अन्तर्गत आय-कर की प्राप्ति को सीमित मात्रा में प्रान्तों को हस्तांकित करने का अवसर प्राप्त हुआ।

छः वर्ष के घाटे के पश्चात् अन्त में रेल की आय बढ़ी और व्याज देने तथा अवक्षयण-कोष की व्यवस्था करने के बाद आय में अतिरेक दिखाई पड़ने लगे। यह उन्नति कुछ तो व्यापार और मूल्य में वृद्धि के कारण और कुछ व्यय में कमी के कारण १९३६-३७ में प्रत्यक्ष हुई। इस उन्नति में अस्थिरता का अंश था, क्योंकि इसका कारण संसार के देशों का शस्त्रीकरण का कार्यक्रम था। १९३६-३७ में १$\frac{1}{8}$ करोड़ रु० के अतिरेक का प्रयोग अवक्षयण-कोष के ऋण के एक अंश को अदा करने में व्यय किया गया। इसी प्रकार २$\frac{3}{8}$ करोड़ का अतिरेक १९३७-३८ में सामान्य आय में १९३७ के विलम्ब-काल प्रस्ताव के अन्तर्गत जमा कर दिया गया। १९३८-३९ में प्राप्त अतिरेक १.३७ करोड़ रुपये का था, परन्तु १९३९-४० में वह बढ़कर ४.३३ करोड़ रु० हो गया। वर्ष के आरम्भ में अनिश्चित अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक स्थिति के कारण कुछ वस्तुओं की लोगों ने राशि एकत्रित कर ली और यात्रियों की संख्या तथा भेजे जाने वाले माल से प्राप्त आय में कमी आ गई। युद्ध की घोषणा के पश्चात् परिवर्तन हुआ, विशेषकर भेजे जाने वाले माल से प्राप्त आय में और बाद में यात्रियों से भी, क्योंकि लोगों की आरम्भ में ही आर्थिक स्थिति कुछ सुधर गई थी। समुद्र मार्ग से हटकर रेल-मार्ग से यात्रा बढ़ जाने के कारण भी रेल की आर्थिक स्थिति में उन्नति हुई, जैसा कि १ मार्च, १९४० से किराया और शुल्क बढ़ने से हुआ था।

१९४५-४६ के हिसाब में ३८·२० करोड़ रुपये का लाभ दिखाई पड़ा। १९४३ के निर्णय के अनुसार, जिसमें सामान्य आय में ३२ करोड़ रुपये का अंशदान दोनों वर्षों के लिए (१९४४-४५ और १९४५-४६) निश्चित किया गया था, ३२ करोड़ रुपया सामान्य आय में जमा कर दिया गया और ६·२० करोड़ की बची हुई रकम रेलवे-रक्षित कोष में जमा कर दी गई, जिससे उस कोष में अब कुल ३८·१३ करोड़ रुपया इकट्ठा हो गया। १९४६-४७ के पुनरीक्षित आगणन के अनुसार अतिरेक ८·६४ करोड़ रुपये का आँका गया था। पिछले वर्ष के समझौते के अनुसार, जिसमें १९४६-४७ में रेल-विभाग के सामान्य आय के अंशदान को उतनी रकम पर निश्चित कर दिया गया या जितनी कि बराबर होती है, व्यापारिक ढंग पर पूँजी के ऊपर

[1] बाद में ये काल ३१ मार्च १९४२ तक बढ़ा दिया गया।

लगाई हुई १ प्रतिशत रकम के, जिसमें से सैनिक महत्त्व रखने वाली रेलों पर घाटा निकाल दिया जाय और जिसमें ३ करोड़ रुपया सुधार-कोष (जो १९४६ में कायम हुआ, जिसमें आरम्भ में ही १२ करोड़ रुपया रेलवे-रक्षित कोष से यात्रियों और कर्मचारियों को सुविधा देने के लिए निकाल लिया गया था) में जमा कर देने के बाद जितना बचे उसका आधा जोड़ दिया जाय, बाद सामान्य आय में ५.६१ करोड़ रुपये के दिये जाने की सम्भावना थी। बटवारे के फलस्वरूप भारतीय संघ को कुल ३३,८६५ मील रेल की लाइन ६७८ करोड़ रुपये की पूँजी के साथ तथा अवक्षयरण-कोष ९३.२२ करोड़ रुपया, रेलवे-रक्षित कोष ७.९८ करोड़ रुपया और सुधार-कोष ११.७१ करोड़ रुपया प्राप्त हुआ।

७½ महीनों के बीच, जो १५ मार्च, १९४८ को समाप्त हुए, रेल के काम में २.७४ करोड़ रुपये का घाटा हुआ, जिसको सुरक्षित कोष से पूरा किया गया। १९४८-४९ में सुरक्षित कोष घटकर केवल ३.८ करोड़ रुपया रह गया था और केन्द्रीय वेतन-आयोग की सिफ़ारिशों पर २७ करोड़ रुपये का व्यय आवश्यक था। इसके अतिरिक्त भविष्य में और अधिक भार अधिनिर्णायिक (एड्जुडिकेटर) के परिनिर्णय के अन्तर्गत होने वाला था, जिसमें उसने काम तथा छुट्टी और स्थानापन्न कर्मचारियों के विषय में बहुत उदारता दिखाई थी। पुनरीक्षित अतिरेक १९४८-४९ में १५.८३ करोड़ रुपया था, जो निम्न प्रकार बाँटा गया—सामान्य आय ७.३४ करोड़, सुधार-कोष ०.८४ करोड़ और रेलवे अवक्षयरण-कोष ७.६५ करोड़ रुपया।

बहुत बड़ी मात्रा में प्रतिस्थापन के बकाया और मूल्यों के बढ़ जाने से प्रतिस्थापन के व्यय में वृद्धि होने के कारण भारतीय रेलवे जाँच कमेटी (कुंजरू कमेटी) ने पाँच वर्ष तक २२ करोड़ रुपये के वार्षिक अंशदान का प्रस्ताव किया है। १९४९-५० के पुनरीक्षित आगणन के अनुसार ११.०२ करोड़ रुपये का अतिरेक था, जिसमें से ७ करोड़ रुपया सामान्य आय में जमा किया गया और ४.०२ करोड़ रुपया अवक्षयरण-कोष में।

१९२४ का कान्वेन्शन १ अप्रल, १९४३ से रद्द हो गया। मार्च, १९४३ में विधानसभा द्वारा स्वीकृत एक प्रस्ताव के अनुसार अवक्षयरण कोष के बकाया ऋण को देने के पश्चात् १९४३-४४ में व्यापारिक रेलों से लाभ सामान्य आय के साथ ३:१ के अनुपात में बाँटा जाने वाला था। इसके अतिरिक्त व्यापारिक रेलों पर अतिरेक सामान्य आय और रेलवे-रक्षित कोष के बीच दोनों की आवश्यकता के अनुसार बाँटे जाने वाले थे।

१९४९ में बिठाई गई कानवेन्शन कमेटी ने १९२४ के जटिल सूत्र को अस्वीकार कर दिया और दूसरी सरल तथा काम में लाई जाने योग्य व्यवस्था को अपनाया, जिसके अन्तर्गत सामान्य आय में ४% का लाभांश प्रयुक्त पूँजी पर (केपिटल एट चार्ज) दिया जाता। १९५०-५१ में ३१.८५ करोड़[1] रुपये की बजट में व्यवस्था की गई।

१. इसमें २.५७ करोड़ रुपया सम्मिलित है, जो लगभग ६५०० मील दूर तक फैली हुई १० रियासतों की रेलों के लिए था और जो १ अप्रैल, १९५० से केन्द्रीय नियन्त्रण के अन्तर्गत आ गई थीं

१९५०-५१ में आय के अतिरेक की गणना १४·०१ करोड़ रुपये की की गई है (आय २३२·५० करोड़ रु०, व्यय २१८·४९ करोड़ रुपया), जिसका निम्न प्रकार बटवारा होगा—रेलवे विकास-कोष १० करोड़ रुपया, रेलवे रक्षित कोष २·०१ करोड़ रुपया, और रेलवे अवक्षयण कोष २ करोड़ रुपया ।[1]

१. १९५३-५४ की तुलना में १९५४-५५ पुनरीक्षित आगणन और १९५५-५६ (बजट) में रेलवे की आय अधिक होने की सम्भावना है। १९५५-५६ में रेलवे के विकास और पुनर्स्थापन का व्यय १२७ करोड़ रुपये रखा गया है। १९५५-५६ के अन्त तक रेलवे पर ४१८ करोड़ रुपये—२६६ करोड़ रुपये रेलवे आय से और १५२ करोड़ रुपये केन्द्रीय सरकार से—की पूँजी का व्यय होगा।

नवम्बर, १९५४ में रेलवे कान्वेंशन कमेटी ने अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। यह कमेटी दिसम्बर, १९४९ के कान्वेंशन प्रस्ताव के अनुसार, मई १९५४ में बिठाई गई थी। अन्य बातों के साथ इस कमेटी के परीक्षा के विषय निम्न थे—

(१) रेलवे द्वारा सामान्य आय को दिया जाने वाला लाभाश,
(२) पूँजी और आय के खाते में रेलवे व्यय का वितरण, और
(३) तीनों रेलवे कोष—अवक्षयण सुरक्षित कोष, विकास-कोष तथा सुरक्षित आय-कोष—को दी जाने वाली रकम।

कमेटी ने १९५५-५६ से ५ वर्ष तक ४% के लाभांश की सिफारिश की। अवक्षयण सुरक्षित कोष को दी जाने वाली रकम ३० करोड़ से बढ़ाकर ३५ करोड़ रुपये करने की सिफारिश भी की गई!

श्रेणी ३ और ४ के कर्मचारियों के क्वार्टर तथा अन्य अप्रतिफलात्मक व्यय, जो ३ लाख रु० से अधिक हों, विकास-कोष से करने की सिफारिश की गई। यह तथा अन्य सिफारिशें १९५५-५६ के बजट में स्वीकार कर ली गई।

१९५५-५६ के बजट-अनुमान में कुल प्राप्ति २९३ करोड़ रुपये और (क्लोज़िंग बैलेंस) कुल चालू मद २४९ करोड़ रुपये अनुमान किया गया है।

रेलवे कोष की स्थिति निम्न है—

अवक्षयण सुरक्षित कोष	दी गई रक़म	निकाली गई रक़म	वास्तविक प्राप्ति	कुल राशि
१९५१-५२	३३·७९	३५·८७	—२·०८	१२२·०२
१९५२-५३	३४·४२	४०·८९	—६·४७	१२६·३६
१९५३-५४	३३·९७	३८·०२	—४·०५	११२·७९
१९५४-५५ ( )	३३·७५	४३·८६	—१०·११	१०२·६८
१९५५-५६ (बजट)	३८·६१	४१·९८	—३·३७	९९·३१
सुरक्षित आय-कोष				
१९५१-५२	१९·१२	—०·१८	१९·३०	३३·७२
१९५२-५३	२·२६	—०·०४	२·३०	३६·०५
१९५३-५४	१·१३	—	१·१३	३७·१८
१९५४-५५ ( )	१·१९	—	१·१९	३८·३७
१९५५-५६ (बजट)	८·५०	—	८·५०	४६·८७
विकास-कोष				
१९५१-५२	१०·६५	७·७०	२·९५	२२·४८
१९५२-५३	१२·७६	८·१०	४·६६	२७·१४
१९५३-५४	३·२९	९·८१	—६·५२	२०·६२
१९५४-५५ ( )	७·१४	१२·१४	—५·००	१५·६२
१९५५-५६ (बजट)	०·३१	१२·३२	—१२·०१	३·६१

(रिपोर्ट ऑन दि कोल्सी एण्ट फिनान्स, १९५४-५५)

स्थानीय वित्त

४८. स्थानीय (गाँव-सम्बन्धी) बोर्ड—चूँकि भारत के अधिकांश लोग गाँवों में निवास करते हैं, इसलिए नगर-पालिकाओं की तुलना में, जो संख्या में बहुत कम जन-संख्या की सेवा करती हैं, जिला और उपजिला-बोर्डों की महत्ता बहुत अधिक है। किसी समय में भूमि पर प्रान्तीय शुल्क अथवा अधिकर केन्द्रीय सरकार के बजट के मुख्य अंग हुआ करते थे। आज वे स्थानीय और जिला-बोर्डों की आय के मुख्य अंग हो गए हैं, जोकि कुल आय के बम्बई में २५% से लेकर बिहार और उड़ीसा में (१६२२-२३) ६३% तक दिखाई पड़ते हैं। ये आरम्भ-काल में बम्बई और मद्रास में १८६५ और १८६६ के बीच शुरू किये गए थे और सड़कों के निर्माण तथा मरम्मत के लिए, स्कूलों और अस्पतालों को चलाने के लिए, गाँव की सफाई के लिए तथा अन्य स्थानीय खर्चों के लिए भूमि पर लगाये गए थे। इस सिद्धान्त का लार्ड मेयो की विकेन्द्रीकरण-योजना के अनुसार प्रसार किया गया था। इसी प्रकार के उपकर बंगाल, उत्तर प्रदेश और पंजाब में लगाये जाने के लिए अनेक विधेयक पास किये गए। पंजाब और अवध में सड़कों, स्कूलों और जिलों के डाकखानों के लिए मालगुजारी का बन्दोबस्त होते समय निर्धारित उपकर, नये सामान्य उपकर के साथ-साथ जारी रहे। ऐसे ही बन्दोबस्तीय उपकर मध्य प्रदेश, बर्मा और आसाम में लगाये गए, पर बाद में उनका स्थान सामान्य उपकर ने ले लिया। १८७१ और १६०५ के बीच कुछ उपकर केन्द्रीय आवश्यकताओं के लिए लगाये गए। अकाल-बीमा-कोष १८७८ में आरम्भ हुआ, जिसमें कुछ प्रान्तों में अन्य गाँव के कर्मचारियों को देने के लिए प्रान्तीय उपकर भी जोड़ दिये गए। भारत सरकार की आर्थिक स्थिति की उन्नति के कारण १६०५-६ में उन उपकरों को छोड़कर, जो स्थानीय आवश्यकताओं के लिए लगाये गए थे, और सब उपकर हटा दिये गए। इस सुधार का प्रभाव किसी-किसी स्थान पर आरोपित उपकरों की मात्रा में कमी करने का नहीं था, वरन् धन-राशि का प्रान्तों से स्थानीय आवश्यकताओं के लिए स्थानान्तरित करना था। प्रांतीय सरकारों का यह घाटा केन्द्रीय सरकार ने पूरा किया। हाल में कुछ प्रांतों में उपकरों की दर में वृद्धि करने अथवा जैसा मद्रास ने किया है विशेष कार्यों, जैसे प्रारम्भिक शिक्षा आदि, के लिए नये अतिरिक्त उपकर लगाने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ रही है। भूमि पर लगाये हुए इन स्थानीय उपकरों का आधार मालगुज़ारी की प्रथा के अनुसार बदलता रहता है। इसलिए बम्बई, मद्रास, मध्य प्रदेश और बरार तथा अस्थायी बन्दोबस्त वाले आसाम के भागों के रैयतवारी क्षेत्रों में उपकर मालगुजारी के आधार पर लगाया जाता है। उत्तर प्रदेश और पंजाब में दूनी मालगुजारी के आधार पर वार्षिक मूल्य उपकर के निर्धारण का आधार माना जाता है। स्थायी बन्दोबस्त वाले भागों में या तो किराये का मूल्य अथवा खेतों का क्षेत्रफल उपकर का आधार माना गया है। जहाँ तक उपकर की दर का सम्बन्ध है वह स्थानीय संस्थाओं के ऊपर छोड़ दिया गया है। केवल अधिकतम और न्यूनतम सीमाओं के ऊपर प्रतिबन्ध होता है जो प्रान्तीय विधानसभा द्वारा निश्चित किया जाता है। भूमि पर उपकर

मालगुजारी के साथ वसूल किया जाता है, पर उसकी व्यवस्था प्रायः स्थानीय संस्थाओं द्वारा ही की जाती है। उपकर की सीमाएँ ६¼% से १२½%[1] के बीच रहती हैं।[1] भूमि पर उपकर यद्यपि कर देने की शक्ति के अनुपात में नहीं लगाया गया है, क्योंकि इसका आरोप समान रूप से एक ही दर पर होता है। फिर भी प्रत्येक स्थान पर इसे उचित कर मानते हैं, क्योंकि इसका प्रयोग सम्पत्ति के लाभ के लिए किया जाता है, जिन्हें स्थानीय बोर्डों के कार्यों से लाभ पहुँचता है।

४६. नगरपालिका-वित्त—नगरपालिकाओं की आय के मुख्य स्रोत कर और शुल्क हैं, जिनसे लगभग ⅔ आय प्राप्त होती है। बची हुई ⅓ आय नगरपालिका की सम्पत्ति और प्रान्तीय सरकारों की आय के अंशदान तथा अन्य साधनों से प्राप्त होती हैं। स्थानीय अधिकारियों द्वारा आरोपित कर चार वर्गों में बाँटे जा सकते हैं—(१) व्यापार पर कर, जैसे चुंगी, सीमा-मार्ग शुल्क; (२) सम्पत्ति पर कर, जैसे घरों तथा उनकी स्थिति पर कर, (गाँवों में भूमि पर उपकर); (३) व्यक्तियों पर कर, जैसे परिस्थिति-व्यवसाय, व्यापार, पेशा, धार्मिक यात्री, घरेलू नौकर-चाकर आदि; (४) फीस और लाइसेन्स। फीस म्युनिसिपैलिटी द्वारा की गई किसी विशेष सेवा, जैसे सफाई, के लिए वसूल की जाती है अथवा विलासिता पर कर के रूप में वसूल की जाती है, या कभी-कभी नियमित करने के लिए भी लगाई जाती है, जैसे गाने पर लाइसेन्स, गाड़ियों पर, कुत्तों और अन्य पशुओं पर। अप्रिय और खतरनाक व्यापारों पर भी लाइसेन्स-फीस लगाई जाती है। टेक्सेशन इन्क्वायरी कमेटी ने इस बात का संकेत किया था कि परोक्ष-करों के सम्बन्ध में विशेष रूप से जागरूक रहने की आवश्यकता है, जैसे व्यापार पर कर, जो चुंगी का रूप धारण करता है और सीमा-मार्ग-शुल्क, जिससे अन्तर्प्रान्तीय आवागमन में अनावश्यक बाधा पड़ती है। चुंगी और मार्ग-शुल्क पर, जोकि करारोप के सभी सिद्धान्तों के विरुद्ध हैं, विशेष आपत्ति की गई थी और उनके स्थान पर फुटकर बिक्री अथवा पेशों पर कर लगाये जाने की राय दी गई थी। कमेटी ने दूसरा महत्त्वपूर्ण सुझाव नगर की सम्पत्ति पर ऊँची दर से कर लगाने का दिया, क्योंकि उन्हें नगरपालिका के कार्यों से विशेष लाभ पहुँचता है। जो-कुछ भी हो, कर निर्धारित करने और वसूल करने के यन्त्र को आज की अपेक्षा और अधिक कुशल होने की आवश्यकता है। सबसे अधिक व्यय लोक-स्वास्थ्य सुविधा तथा लोक-निर्माण और शिक्षा पर है। नगरपालिकाएँ प्रायः अपनी साधारण आय से अपना व्यय पूरा नहीं कर पातीं और उन्हें प्रायः सरकार अथवा जनता से रुपया उधार लेना पड़ता है, विशेषकर अपनी ऐसी बड़ी-बड़ी योजनाओं को पूरा करने के लिए, जैसे पानी का प्रबन्ध और गन्दे पानी के बहने का प्रबन्ध आदि।

---

१. लेटन रिपोर्ट के अनुसार अब अधिकतम अंश को रोक रखने का कोई भी बहाना नहीं है (जोकि कुछ प्रान्तों में प्रति रुपया १ आना रहा है और ५० वर्षों से बदला नहीं गया है) क्योंकि (१) मालगुजारी की अब वास्तविक उत्पत्ति का कोई बहुत बड़ा अनुपात नहीं है, विशेषकर स्थायी बन्दोबस्त वाले प्रान्तों में और (२) भूमि पर आरोपित अन्य प्रकार के उपकर हटा दिये गए हैं। देखिए, 'साइमन कमीशन रिपोर्ट', पैरा २७५।

है। यद्यपि प्रान्तीय सरकारों को भी पर्याप्त आय के साधन प्राप्त नहीं हैं, फिर भी उन्हें अनेक आर्थिक और सामाजिक सुधार की योजनाओं को चलाना पड़ता है। उन्हें नये करों के आरोप के लिए बाध्य होना पड़ता है, जैसे स्थायी सम्पत्ति पर कर, बम्बई में बिक्री-कर और मनोरंजन-कर, जोकि स्थानीय संस्थाओं के लिए छोड़ दिये जाने चाहिए थे। बम्बई की स्थानीय स्वशासन कमेटी (१९४०) ने कहा था कि "प्रान्तीय सरकारों और स्थानीय बोर्डों के बीच आय के साधनों का बटवारा स्पष्ट रूप से नहीं हुआ है और प्रान्तीय सरकार अच्छे आय के साधनों से लाभ उठाती रही है," जो कि औचित्य के दृष्टिकोण से स्थानीय बोर्डों को मिलने चाहिए थे। स्थानीय और प्रान्तीय आय-प्राप्ति के क्षेत्रों का स्पष्ट बटवारा अत्यन्त आवश्यक है। भारत में स्थानीय संस्थाओं की निर्धनता का एक कारण यह भी रहा है कि उनका विकास धनी, अर्द्ध-स्वतन्त्र और छोटी-छोटी इकाइयों में एक बड़े राजनीतिक संघ के रूप से व्यवस्थित होने के बजाय अधिकारों के अवक्रमण से हुआ है। दूसरा कारण यह भी है कि स्थानीय बोर्डों का अधिकार-क्षेत्र प्रायः इतना विस्तृत होता है कि उनका कर-दाताओं से कोई प्रभावशाली सम्बन्ध ही नहीं रह पाता। यदि ऐसा न हुआ होता तो गाँवों, घरों और व्यक्तियों पर स्थानीय बोर्डों द्वारा कर-आरोप बड़ा सरल होता। इस दृष्टिकोण से गाँव-पंचायतों के प्रभाव को फिर से स्थापित करना तथा वर्तमान स्थानीय बोर्डों के कर्तव्यों को सीमित कर देना वांच्छनीय होगा।

५२. साधनों की उन्नति—यद्यपि विकेन्द्रीकरण-आयोग के प्रस्तावों तथा १९१९ के सुधारों के प्रचलित होने से स्थानीय अधिकारियों को बहुत अधिक आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो गई है, फिर भी जहाँ तक आरोपित करों की प्रकृति से सम्बन्ध है, इसके सिवाय और कुछ नहीं हुआ है कि वे कर, जो बिना भारत सरकार की आज्ञा लिये हुए आरोपित किये जा सकते हैं, उनका स्पष्टीकरण परिगणित कर-नियमों[1] में कर दिया गया है। टेक्सेशन इन्क्वायरी कमेटी ने निम्न प्रस्ताव स्थानीय संस्थाओं के आय-साधनों की वृद्धि के दृष्टिकोण से किये हैं—(१) मालगुजारी का नीची दर पर प्रामाणिक कर देना, ताकि स्थानीय कर-आरोप का अधिक अवसर प्राप्त हो सके; (२) प्रान्तीय सरकारों द्वारा नगरों से भूमि के वसूल किये हुए किराये और कृषि के अतिरिक्त अन्य काम में आने वाली भूमि पर वसूल किये हुए शुल्क का एक अंश स्थानीय संस्थाओं को देना; (३) नगरपालिकाओं को विज्ञापन पर कर लगाने का अधिकार देना; (४) मनोरंजन तथा जुए पर कर-आरोप के क्षेत्र को बढ़ाना और स्थानीय संस्थाओं को इस प्रकार प्राप्त हुई आय का पर्याप्त अंश देना; (५) परि-

[1] परिगणित कर, जो स्थानीय अधिकारी इन नियमों के अन्तर्गत आरोपित कर सकते हैं, वे निम्न हैं—मार्ग-शुल्क, भूमि और भूमि के मूल्य पर कर, भवनों पर कर, गाड़ियों और नावों पर, पशुओं पर, निम्न जाति के घरेलू नौकरों पर, चुंगी और सीमा-मार्ग-शुल्क, किसी स्थान से बाहर भेजे जाने वाली तथा अन्दर मंगाये जाने वाली वस्तुओं पर कर, व्यापार, व्यवसाय तथा पेशों पर कर, व्यक्तिगत बाजारों पर कर, सेवाओं पर कर, जैसे पानी, शुल्क और नाली-कर, बाजारों तथा जनता की सुविधाओं का प्रयोग करने की फीस।

स्थिति और सम्पत्ति तथा पेशों पर कर लगाने की व्यवस्था को अधिक उन्नत तथा विस्तृत करना, (६) मोटरगाड़ियों पर आयात-कर घटाना और प्रान्तीय सरकारों को इस योग्य बनाना कि वे एक प्रान्तीय कर मार्ग-शुल्क के स्थान पर लगा सकें जोकि स्थानीय संस्थाओं को दिया जा सके, (७) चुने हुए क्षेत्रों में स्थानीय संस्थाओं को विवाहों के रजिस्ट्रेशन पर फीस लगाने का अधिकार देना और (८) स्थानीय संस्थाओं के साधनों को आर्थिक सहायता द्वारा बढ़ाना, जोकि साधारणतया राष्ट्रीय महत्ता की सेवाओं तक सीमित होनी चाहिए और इस प्रकार दी जानी चाहिए कि प्रान्तीय सरकार कुशलता पर जोर दे सके।[1] बम्बई की स्थानीय स्वशासन कमेटी ने इनमें से अधिकांश सिफारिशों को स्वीकार किया और स्थानीय संस्थाओं के साधनों को बढ़ाने के लिए निम्न सुझाव दिए। नगरपालिकाओं के आय के साधन निम्न प्रकार बढ़ाए जा सकते हैं—(१) स्थायी सम्पत्ति के स्थानान्तरण पर कर लगाकर, (२) नगरपालिकाओं के अन्दर भवनों के निर्माण किये जाने वाले भूमि के टुकड़ों पर लगाये हुए कर का एक अंश देकर, (३) विवाह, गोद लेने तथा दावतों पर कर लगाकर और (४) मनोरंजन-कर के एक अंश को देकर तथा बिजली के अधिकर से प्राप्त आय का ५०% देकर। गाँव की स्थानीय संस्थाओं के लिए कमेटी ने निम्न सिफारिशें की थीं—(१) स्थानीय धनराशि पर उपकर १ आने के स्थान पर १½ अथवा २½ आना करना, (२) जंगल की प्रमुख उत्पत्ति से प्राप्त आय पर १½ आने का उपकर लगाना और (३) मालगुजारी के १०% का हस्तांकन करना। कमेटी ने ठीक ही कहा था कि स्थानीय संस्थाओं के लिए सबसे उपयुक्त ढंग करों और उपकरों को व्यक्तियों के प्रति की गई निश्चित सेवाओं पर लगाना होना चाहिए, जैसे अनिवार्य शिक्षा पर उपकर।[2] स्थानीय संस्थाओं की आय की वृद्धि करने का दूसरा तरीका नगरपालिकाओं के व्यापार करने के क्षेत्र को विस्तृत करना था, ताकि करों से प्राप्त आय की वर्तमान निर्भरता कम हो जाय। स्थानीय करों की सापेक्षिक लोचहीनता के कारण वर्तमान काल की अपेक्षा कर के अतिरिक्त अन्य आय के साधनों का अधिक प्रयोग किया जाना अधिक वाञ्छनीय होगा। पश्चिमी देशों में नगरपालिकाओं के क्षेत्र के विस्तार—भूमि की स्थायी सम्पत्ति तथा औद्योगिक और व्यापारिक क्षेत्र—में वृद्धि हो रही है और म्युनिसिपेलिटियाँ ट्रैम्वे, पानी के कारखाने, गैस और बिजली के कारखाने, कब्रिस्तान, स्नानागार, मछली मारने के स्थान, जहाजों के ठहरने के स्थान, रोटी बनाने के स्थान, रंगमंच, सराय, जलपानगृह, कारखाने, चक्की और दुग्धशालाएँ इत्यादि चला रही हैं। ये सब आर्थिक कार्य प्रभावशाली रूप से केवल सेवा ही नहीं हैं वरन् आय के अच्छे साधन भी हैं। भारत में स्थानीय वित्त के इस अंग पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया है और यदि स्थानीय संस्थाएँ इन साधनों के प्रयोग की सम्भावनाओं पर अपनी छोटी आय को बढ़ाने तथा नागरिक जीवन की सुविधाओं को बढ़ाने के लिए ध्यान दें तो बहुत अच्छा हो।

१. देखिए, 'टैक्सेशन इन्क्वायरी कमेटी रिपोर्ट', पैरा १६४-६६।
२. देखिए, 'बम्बई स्वशासन कमेटी की रिपोर्ट' (१६४०)।

भारत में स्थानीय स्वशासन की असफलता अनेक कारणों पर निर्भर रही है, जैसे जनता की अरुचि, चुने हुए प्रतिनिधियों में नागरिकता की भावना की कमी अपर्याप्त आय के साधन, कम वेतन पाने वाले और दोषपूर्ण शिक्षा-प्राप्त कर्मचारी, सरकार की ओर से लगातार पथ-प्रदर्शन तथा नियन्त्रण का न होना आदि। जब तक सरकार जनता में शिक्षा के प्रसार द्वारा नागरिकता की भावना के जगाने का दृढ़ प्रयत्न न करेगी और सहायता के अनुदान का कठोर लेखा-परीक्षण और नियमित जाँच द्वारा समुचित नियन्त्रण न रखेगी तब तक कोई विशेष काम न हो सकेगा। बम्बई प्रशासन जाँच कमेटी ने सुझाव दिया था कि दिन-प्रतिदिन की देख-रेख और निर्देश लोकल सेल्फ गवर्नमेण्ट कमिश्नर के अन्तर्गत किसी सरकारी माध्यम द्वारा अथवा किसी गैर-सरकारी बोर्ड द्वारा, जिसे कानून से अधिकार प्राप्त हो और जो स्थानीय संस्थाओं के प्रतिनिधियों से बना हो तथा जो उनका विश्वास और सहयोग प्राप्त कर सके, होना चाहिए।[1]

१. देखिए, रिपोर्ट, सेक्शन ३५५ ८१

अध्याय १३

बेरोज़गारी

१. अध्याय का क्षेत्र—पाश्चात्य देशों में होने वाली औद्योगिक क्रान्ति के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न आर्थिक योजना में यत्किंचित् बेरोज़गारी (वृत्तिहीनता) अनिवार्य है। १९१४-१८ के युद्ध के उपरान्त वाली मन्दी से वृत्तिहीनता की एक अभूतपूर्व परिस्थिति उत्पन्न हो गई। तत्कालीन परिस्थिति की भयंकरता और अभूतपूर्वता के बावजूद यह स्वीकार करना पड़ेगा कि पाश्चात्य देशों में इस प्रकार की परिस्थिति (औद्योगिक (वृत्तिहीनता बिलकुल नई नहीं थी।

भारतवर्ष में बेरोज़गारी से उत्पन्न समस्याओं के कुछ ऐसे पहलू हैं जो पाश्चात्य देशों के लिए बिलकुल नये प्रतीत होंगे। प्रथमतः, देश की जनता का अधि-कांश अपनी रोज़ी के लिए कृषि पर निर्भर है। हम पहले ही देख चुके हैं कि शिथिल मौसमों में ५ से लेकर ९ महीने तक बेकारी रहती है। इस प्रकार की अनिवार्य बेकारी के लिए पूरक उद्योगों की भी चर्चा हो चुकी है। किन्तु बेकारी का एक और भयंकर पक्ष भी है। यह परिस्थिति पूर्णतः या आंशिक रूप से मानसून की विफलता का परिणाम होती है, जिससे दुर्भिक्ष उत्पन्न हो जाता है। एक विस्तृत क्षेत्र में कृषि-कार्य बन्द हो जाने से कृषि तथा उससे सम्बद्ध पूरक उद्योगों में लगे हुए श्रमिक बेकार हो जाते हैं। यह भारत में होने वाली बेकारी का सबसे भयंकर पक्ष है।

उद्योगों तथा अन्य पेशों की ओर दृष्टिपात करने पर हम देखते हैं कि श्रमिक दो वर्गों में विभाजित हैं—एक तो हाथ से काम करने वाले श्रमिक, दूसरे मस्तिष्क से काम करने वाले बाबू लोग, अर्थात् तथाकथित पढ़े-लिखे मध्यवर्गीय लोग। जहाँ तक प्रथम वर्ग का प्रश्न है हमारी समस्या उतनी जटिल नहीं है। कारण यह है कि हमारा औद्योगिक विकास अभी पाश्चात्य स्तर पर नहीं पहुँच सका है। लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि हमारे यहाँ समस्या है ही नहीं। इसमें सन्देह नहीं कि हमारे यहाँ जो भी संगठित उद्योग थे वे विश्व की (१९२९-३३) मन्दी के चंगुल में आ गए थे और अन्य औद्योगिक देशों की भाँति यहाँ भी काफी औद्योगिक वृत्ति-हीनता की समस्या उत्पन्न हो गई थी। कारखानों के बन्द होने या उनके मजदूरों की छटनी (रिट्रेंचमेण्ट) के कारण कितने ही साधारण और कुशल श्रमिक बेकार हो गए। किन्तु साधारण परिस्थितियों में यहाँ कुशल श्रमिकों की अधिकता और तज्जन्य बेकारी न होकर 'औद्योगिक श्रम' की कमी का ही अनुभव किया

जाता है। इसके अतिरिक्त यदि यहाँ वृत्तिहीनता आती भी है तो उसका रूप उतना भयंकर नहीं होता जितना कि पाश्चात्य देशों में। कारण यह है कि बहुत से औद्योगिक श्रमिक खेती से भी सम्बद्ध होते हैं। प्रायः कारखानों का काम केवल सहायक स्थान का अधिकारी माना जाता है, जो धनुप की दूसरी प्रत्यंचा की तरह कृषि के बेकार और शिथिल मौसम में काम देता है। अतएव भारत की वृत्तिहीनता पाश्चात्य वृत्तिहीनता से न केवल आकार में भिन्न होती है वरन् सरकार के लिए तज्जन्य समस्याओं का रूप भी भिन्न होता है। कुछ अंशों तक तो वृत्तिहीनता की समस्या औद्योगिक श्रमिकों के देहात लौट जाने से हल हो जाती है। इस प्रकार कष्ट केवल औद्योगिक क्षेत्रों से ग्रामीण क्षेत्रों को स्थानान्तरित कर दिया जाता है, किन्तु उसका वास्तविक उपचार नहीं हो पाता। हाँ, यह बात अवश्य होती है कि प्रधान रूप से यह औद्योगिक केन्द्रों से दूर हो जाता है और यहाँ पाश्चात्य देशों की भाँति काम की खोज में लगे वृत्तिहीनों के समूह सड़कों पर घूमते नहीं दिखाई पड़ते।

संगठित उद्योगों की वृत्तिहीनता से भिन्न यत्किंचित् बेकारी कुटीर-श्रमिकों में भी पाई जाती है। भारत में 'आर्थिक-संक्रमण'[1] वाले अध्याय तथा कुटीर-उद्योगों की स्थिति[2] के विवरण में हम देख चुके हैं कि किस प्रकार भिन्न-भिन्न वर्ग के लोग आर्थिक संक्रमण से प्रभावित हुए। इस विवरण में ही हमें अपनी रोजी खो देने और कोई उपयुक्त रोजी न मिलने के कारण उत्पन्न कठिनाइयों और दुःखों का भी कुछ अनुमान मिल गया था।

एक और प्रकार की वृत्तिहीनता अभी हाल में ही विकसित होने लगी है। यह है मध्यवर्गीयों की वृत्तिहीनता। इससे वे लोग प्रभावित होते हैं जो कि एक स्तर तक शिक्षा पा चुके हैं और अपनी जीविका के लिए बाबूगीरी या क्लर्की पर निर्भर रहते हैं। हाल में यह समस्या प्रधान स्थान ग्रहण करने लगी थी।

इस अध्याय में हम विशेप रूप से दुर्भिक्षजन्य ग्रामीण वृत्तिहीनता तथा मध्यवर्गीय वृत्तिहीनता पर अपना ध्यान केन्द्रित करेंगे।

ग्रामीण वृत्तिहीनता : दुर्भिक्ष और दुर्भिक्ष-सहायता

२. दुर्भिक्ष का उत्तरदायित्व—देश की राजनीतिक जागृति के साथ-साथ बार-बार दुर्भिक्षों के पड़ने के कारण इन दैवी आपत्तियों को एक प्रकार की प्रमुखता मिल गई जोकि अन्यथा अप्राप्य होती। भारतीय प्रचारकों ने दुर्भिक्षों का कारण सरकार की औद्योगिक, वित्तीय एवं मालगुजारी की नीति को माना; अधिकांश व्यक्तियों ने अँग्रेजी सरकार को ही अकाल का एकमात्र कारण माना। इस प्रकार के दृष्टिकोण में पूर्व-ब्रिटिश युग में पड़ने वाले इतने ही या इससे भी कठोर दुर्भिक्षों के ऐतिहासिक प्रमाण से कोई भी अन्तर नहीं आया। इस प्रकार के विवेकहीन तर्क के उत्तर में कहा गया कि दुर्भिक्ष का एकमात्र उत्तरदायित्व वर्षा की कमी पर है और वर्षा का न होना ब्रिटिश या किसी भी सरकार के वस की बात नहीं है। लेकिन इससे आलोचकों के

१. देखिए, खण्ड १, अध्याय ५।

२. देखिए, अध्याय २, सेक्शन ३६-४६।

प्रधान आक्षेप पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा क्योंकि, उनके मत में सरकार वर्षा रोकने के लिए उत्तरदायी न होकर जनता की दरिद्रता के लिए उत्तरदायी थी, जिससे जनता आपत्तिकालीन कमी को बरदाश्त करने में असमर्थ थी। इस अध्याय में हम इस विवाद में नहीं पड़ेंगे कि दुर्भिक्षों के पड़ने और दरिद्रता का उत्तरदायित्व किस पर है, बल्कि इस अध्याय में हमारा उद्देश्य भारतीय अकाल की प्रकृति और उसे दूर करने के लिए किये गए उपायों का विवेचन करना है।

३. दुर्भिक्षों का आर्थिक प्रभाव—भारत जैसे कृषि-प्रधान देश में दुर्भिक्ष के प्रभाव निश्चय ही भयंकर होंगे। भुखमरी के कारण होने वाली मरणशीलता, जोकि प्राचीन काल के दुर्भिक्षों की विशिष्टता थी, वर्तमान दुर्भिक्षों की विशेषता नहीं रह गई है, हालाँकि अब भी दुर्भिक्ष के पीछे होने वाली भयंकर बीमारियों से मृत्यु-संख्या काफी ऊँची उठ जाती है। साधारण रूप से उपजीवित व्यक्तियों की कार्यकुशलता कम हो जाती है और कृषि-कार्य स्थगित हो जाने से किसानों को काफी हानि उठानी पड़ती है। खाद्यान्नों के साथ-ही-साथ चारे का भी अकाल पड़ता है। इस प्रकार होने वाली पशुओं की हानि से कृषि-कार्य और भी बाधित होता है। बहुसंख्यक व्यक्तियों की क्रय-शक्ति के ह्रास के कारण उद्योग और व्यवसाय पर भी बुरा प्रभाव पड़ता है। राजस्व अव्यवस्थित हो जाता है, सरकार दोनों ओर से क्षतिग्रस्त हो जाती है—एक ओर तो उसकी आय घट जाती है और दूसरी ओर उसका व्यय निश्चित रूप से बढ़ जाता है।

४. दुर्भिक्ष-सहायता का इतिहास—यह सोचना ग़लत होगा कि पूर्व-ब्रिटिश-काल में दुर्भिक्ष नहीं पड़ते थे या वे वर्तमान दुर्भिक्षों से कम भयंकर थे। इतिहास साक्षी है कि १२९१ के दुर्भिक्ष से बचने के प्रयास में परिवार-के-परिवार डूबकर मर गए; १५५५ के दुर्भिक्ष में लोगों ने मृत पशुओं के चमड़े पर जीवन-यापन का प्रयास किया, यहाँ तक कि १६३० के अकाल में मनुष्य-भक्षण तक की नौबत आ गई थी। सच तो यह है कि पूर्व-ब्रिटिश-काल में दुर्भिक्ष अपेक्षाकृत अधिक पड़ते थे। यही नहीं, परिवहन के साधनों के अपूर्ण और दोषपूर्ण होने के कारण उनके लिए सहायता भी शीघ्रता से नहीं पहुँचाई जा सकती थी। केन्द्रीय राजधानियों में अन्नागार थे जोकि प्रायः युद्ध-काल के लिए सुरक्षित रखे जाते थे, किन्तु दुर्भिक्ष-काल में भुखमरों को भोजन देने के लिए उनका प्रयोग किया जा सकता था। परिवहन के साधनों के अविकसित होने के कारण समाज का प्राण-बिन्दु सरकार न होकर गाँव था। फलतः गाँव में एकत्र अन्न से ही यत्किंचित् सहायता प्राप्त होने की आशा थी। इस व्यवस्था की प्रभाव-पूर्णता दुर्भिक्ष की कठोरता और उसकी अवधि पर निर्भर करती थी। मन्दिर, मसजिद, किला या महल जैसे जन-कार्यों का सरकारी खर्च पर निर्माण करने से दुर्भिक्ष-पीड़ितों को थोड़ी-बहुत सहायता मिल जाती थी। अन्त में, यह भी विश्वास किया जाता है कि राजा कभी-कभी स्वयं ही दान इत्यादि से सहायता पहुँचाने का प्रयास करता था, किन्तु इससे पर्याप्त सहायता नहीं पहुँच सकती थी। सरकारी उत्तरदायित्व वाला दृष्टिकोण हाल में ही विकसित हुआ है।

ब्रिटिश-युग में आने पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन-काल (१७६०-१८५७) में सबसे बड़े-बड़े दुर्भिक्ष १७७०, १७८४, १८०२, १८२४ और १८३७ में पड़े। १७७ वाले दुर्भिक्ष को छोड़कर अन्य दुर्भिक्षों की तरफ न तो सरकार ने और न इतिहास कारों ने ही दुर्भिक्ष के रूप में ध्यान दिया। जनता का मस्तिष्क अन्य अधिक महत्त्व पूर्ण समस्याओं में उलझ रहा था—उदाहरण के लिए लगातार होने वाले युद्ध, नवी अपरिचित न्याय-प्रणाली का प्रचलन और नवीन भूमि-व्यवस्था; अनुभवहीन अधि कारियों के हाथों में पड़ा भ्रष्ट शासन; भारतीय राजाओं की सेनाओं को अपने कार्य भार से विरत करने के कारण बड़े पैमाने पर उत्पन्न बेकारी तथा पिंडारियों व लूट-खसोट। कम्पनी राजनीतिक एवं प्रशासकीय समस्याओं से उलझी रहने के कार देश की आर्थिक समस्याओं को सुलझाने और देश का पुनरुद्धार करने की तरफ उदासीन थी। यह सन्दिग्ध विषय है कि अवसर प्राप्त होने पर भी कम्पनी के अन्द देश के आर्थिक उद्धार की इच्छा थी, क्योंकि उनका समस्त दृष्टिकोण व्यावसायि था। देश के हित की अपेक्षा कम्पनी अपने हिस्सेदारों के 'लाभांश' (डिविडेण्ड्स) व अधिक ध्यान रखती थी, यद्यपि देश की जनता से ही उसका सब लाभांश आता था अपने अन्तिम दिनों में कम्पनी साधारण रूप से दुर्भिक्ष-पीड़ित जनता के प्रति अप उत्तरदायित्व को स्वीकार कर रही थी, किन्तु इसने कोई क्रमबद्ध दुर्भिक्ष-निवार नीति का अनुसरण नहीं किया। अन्नों के व्यवसाय और कीमतों के नियमन के रु में यत्र-तत्र प्रयत्न अवश्य किये गए। कभी-कभी जन-प्रवास को प्रोत्साहन दि जाता था और जन-कार्यों का भी निर्माण किया जाता था। लेकिन यह सब ए महान् समस्या के किनारे को स्पर्श करने के समान था।

दुर्भिक्ष-पीड़ितों की सहायता, सुरक्षा और इसके निवारण के क्रमबद्ध प्रयत का प्रारम्भ १८५८ में सम्राट् द्वारा कम्पनी का शासन ले लेने पर हुआ। इस कितनी ही असफलताएँ और प्रयोग हुए। इस काल में कितने ही बड़े-बड़े दुर्भिक्ष पड़े- १८६० में पश्चिमोत्तर भारत में, १८६५ में उड़ीसा में, १८६८ में राजपूताना १८७३ में बिहार में, १८७६ में दक्षिण भारत में, इनके अतिरिक्त दो देशव्यापी दुर्भि १८९६ और १८९९-१९०० में पड़े, जिनके शिकंजे में बम्बई, मद्रास, और मध्य प्रा भी आ गए। १८६५ के उड़ीसा-दुर्भिक्ष ने ५ करोड़ लोगों को प्रभावित किया औ दस लाख व्यक्ति मरे। सरकार ने कार्य प्रारम्भ करने में विलम्ब किया, यद्यपि व में क्षतिग्रस्त क्षेत्रों में बड़ी मात्रा में खाद्यान्न भेजा गया। बड़ी संख्या में होने वा जन-हानि ने सरकार को बाध्य किया कि वह दुर्भिक्षों की जाँच करे और सर ज कैम्पबेल की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त हुई। सरकार ने यह निश्चय किया वह किसी भी कीमत पर हो, जनता को दुर्भिक्ष में मरने से बचाएगी। १८७३ म पड़ने वाले बिहार के अकाल में सरकार ने विवेकहीन उदारता और अपव्यय प्रदर्शित किया। दक्षिण भारत के महान् दुर्भिक्ष (१८७६-७८) में मृत्यु-संख्या ५२ लाख तक पहुँची। फलतः सर रिचर्ड स्ट्रेची की अध्यक्षता में प्रथम दुर्भिक्षायोग नियुक्त किया गया। इसी आयोग की सिफारिशों पर किये गए भारत सरकार के कार्यों पर

पश्चात्कालीन दुर्भिक्ष-सहायता की नीति आधारित है। सरकार द्वारा किये गए कार्यों में १८७८ में प्रचलित दुर्भिक्ष-सुरक्षा-अनुदान (फेमिन इन्स्यूरेन्स ग्राण्ट) का नाम लिया जा सकता है। इसके अनुसार प्रतिवर्ष आय-व्ययक-में दुर्भिक्ष-सहायता के लिए १½ करोड़ रुपये की व्यवस्था की गई। इससे दुर्भिक्ष-काल में ऋण दिया जाता और सुरक्षात्मक कार्य किये जाते। नवीन गारण्टी पद्धति के अनुसार रेलवे का प्रसार, उन सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण जिन पर ग्रामीणों के काम की ऐसी व्यवस्था की जाती है जिनसे उन्हें सुविधाएँ न मिल सकें तो उनके जीवन-यापन की व्यवस्था हो सके—चाहे उनके अपने ही गाँवों में या अनाथालयों, दरिद्र-गृहों में—भूमिधारी (लेण्डओनिंग) वर्ग को तकावी-ऋण के रूप में सहायता, मालगुजारी की छूट या स्थगन इत्यादि भी इसी के अन्दर आते हैं। इन सिद्धान्तों को सन्निहित करने वाले दुर्भिक्ष-नियम प्रत्येक प्रान्त के लिए बनाये गए। १८९६-९७ और १८९९-१९०० के दुर्भिक्ष में इन नियमों की कठोर परीक्षा हुई और प्राप्त अनुभव के प्रकाश में उनमें परिवर्तन किया गया। इनमें से पहले के दुर्भिक्ष के उपरान्त सर जेम्स ल्यॉल की अध्यक्षता में आयोग (कमीशन) नियुक्त किया गया। इसने जुलाहों और पहाड़ी जाति जैसे विशिष्ट वर्ग के लिए कुछ सिफारिशें कीं और दातव्य कोष स्थापित और कायम रखने के लिए प्रस्ताव रखा तथा। गाँवों के लिए अधिक उन्मुक्त दान की सिफारिश की। किन्तु इस आयोग ने विकेन्द्रित सहायता-कार्यों को अस्वीकार किया। दूसरा दुर्भिक्ष इतने शीघ्र आया कि सरकार को आयोग की सिफारिशों पर विचार और कार्य करने का समय ही न मिल सका। १९०० में महाराज जयपुर ने भारत दुर्भिक्ष ट्रस्ट के प्रारम्भ के लिए १६ लाख रुपये का दान दिया। अन्तिम आयोग सर एण्टनी मैकडानल की अध्यक्षता में नियुक्त हुआ। इसने 'नैतिक कौशल' को अपनाने पर जोर दिया, जिससे जनता के अन्दर धैर्य का संचार हो। अभिप्राय यह था कि ज्योंही दुर्भिक्ष पड़ने की सम्भावना का ज्ञान हो त्योंही जनता को ऋण के रूप में सहायता दी जाय तथा मालगुजारी मुल्तवी की जाय और 'बुद्धिसंगत-साहसिकता' की नीति का अनुसरण किया जाय, जिसके अनुसार दुर्भिक्ष-सहायता की एक विस्तृत तथा लोचपूर्ण योजना प्रस्तुत की जा सके और सतत जागरूकता के साथ गैर-सरकारी सहायता भी प्राप्त की जाय। आयोग ने पशुओं के बचाने और चारे के दुर्भिक्ष की समस्या को हल करने का भी प्रयत्न किया। अन्त में इसने सहकारी ऋण समितियों के स्थापन पर भी जोर दिया तथा सुरक्षात्मक सिंचाई के कार्यों को भी प्रारम्भ करने का परामर्श दिया। इन सिद्धान्तों में यत्किंचित् परिवर्तन के साथ प्रस्तुत दुर्भिक्ष-नियम ने आने वाले दुर्भिक्षों का सफलतापूर्वक सामना किया है, जिनमें १९०७ में युक्त प्रान्त १९१२ में अहमदनगर तथा अधिक प्रसारित और कठोर प्रकार के १९१८ और १९२० के दुर्भिक्ष हैं। अब ऐसा कहा जा सकता है कि प्रकृति की ये आपत्तियाँ अधिक मानवी नियन्त्रण के अन्तर्गत आ गई हैं।

५. दुर्भिक्ष की प्रकृति में परिवर्तन—इस परिणाम तक पहुँचने का एक कारण यह भी है कि दुर्भिक्षों की प्रकृति पूर्णतया बदल गई है। १८६७ के विशेष आयोग ने

दुर्भिक्ष की परिभाषा करते हुए बतलाया कि जनता के बड़े समूह का भूख की यातना सहना दुर्भिक्ष है। लेकिन भारत के इतिहास का अध्ययन करने से ऐसा प्रतीत होता है कि दो प्रधान कारणों से शब्द के इस अर्थ में परिवर्तन हो गया है। एक तो यातायात एवं परिवहन के साधनों में सुधार होने के कारण एक भाग के दुर्भिक्ष को दूसरे भाग की बहुलता से सहायता पहुँचाई जा सकती है। दूसरे, प्रशासन में भी दुर्भिक्षों का सामना करने की पद्धति में प्रगति हुई है। अतएव वर्तमान दुर्भिक्ष खाद्य-दुर्भिक्ष न होकर द्रव्य-दुर्भिक्ष हैं। सरकार के सामने समस्या है कि समुचित रूप से मजदूरी और काम की व्यवस्था करे। वर्तमान काल में दुर्भिक्ष की परिभापा इस प्रकार की जा सकती है—"दुर्भिक्ष भुखमरी नहीं बल्कि फसलों की असफलता से उत्पन्न अस्थायी वृत्ति-विस्थापन है।" अतएव दुर्भिक्ष-सहायता प्रथमत: उन बेरोजगारों को सहायता पहुँचाने में है जिनके विरुद्ध प्रकृति ने अपने काम के दरवाजे बन्द कर दिए हैं। जब साधारण जीवन-वृत्ति असफल हो जाती है तो सरकार सहायता-कार्य प्रारम्भ करती है और उसमें हरेक बेरोजगार को, जो काम करने का इच्छुक है, खाद्य-क्रय करने के लिए पर्याप्त मजदूरी मिल जाती है।[1]

६. कारणों का वर्गीकरण एवं उपचार—दुर्भिक्ष के कारणों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—(१) प्रत्यक्ष और तात्कालिक कारण, जैसे अनावृष्टि और तज्जन्य प्रभाव; (२) दूरगत किन्तु आधारभूत कारण, जिनका गम्भीर सम्बन्ध जनता की दरिद्रता से है, जिनके परिणामस्वरूप वे अपने आर्थिक जीवन में होने वाले छोटे-से-छोटे परिवर्तनों के शिकार हो जाते हैं। पहले प्रकार के कारणों का निराकरण दुःख-निवारण के उपचारों द्वारा किया जा सकता है। इसके लिए पहले से व्यवस्था की जा सकती है और इन आपत्तिओं का सामना करने के लिए सदैव प्रस्तुत रहना चाहिए। दूसरी प्रकार के कारणों के समाधान के लिए हमें भारतीय दरिद्रता की तह में जाकर छानबीन करनी पड़ेगी। इस महान् समस्या के समाधान के लिए कई दिशाओं से प्रयत्न किया जा सकता है जिससे कि देश का आर्थिक पुनरुद्धार हो सके।

७. प्रत्यक्ष कारण : उनका उपचार—चूँकि दुर्भिक्षों का प्रधान प्रत्यक्ष कारण अंशत: या पूर्णत: वर्षा का न होना है, अतएव यदि पहले से ही इसका पता लगाया जा सके तो अवश्य ही कुछ लाभ होगा। अन्तरिक्ष विज्ञान (मेटीरियोलॉजिकल) विभाग देश के विभिन्न भागों की मौसम की दशाओं का लेखा रखता है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि इन आँकड़ों और वायु के ऊपरी स्तर की दशाओं के अध्ययन से मानसून के विषय में भविष्यवाणी करने के पर्याप्त चिह्न प्राप्त हो सकते हैं। अतिवृष्टि और बाढ़ से भी अकाल पड़ सकता है, लेकिन इससे होने वाली हानि अपेक्षाकृत सरलता से पूरी की

१. विभाजन के पूर्व भी भारत कुल मिलाकर खाद्यान्नों का आयात ही करता था। खाद्यान्न के सम्बन्ध में विभाजन के उपरान्त भारत और भी पराश्रित हो गया और सरकार ने मार्च, १९५२ तक खाद्यान्न स्वनिर्भरता का लक्ष्य स्थापित किया जोकि उस अवधि में पूर्ण न हो सका। अतएव अब समस्या केवल यह नहीं है कि स्थानीय कमियों को देश के आन्तरिक खाद्यान्न के स्थानान्तरण से पूरा किया जाय, वरन् यह कि देश को सम्पूर्ण रूप से लेने पर खाद्य-विषयक कमी को विदेशों से आयात करके पूरा किया जाय।

जा सकती है। टिड्डी और अन्य हानिकारक कीटाणुओं से भी फसलों को हानि पहुँचती है। सरकार के कृमि-शास्त्री इसके विरुद्ध युद्ध कर रहे हैं।

८. दुर्भिक्ष सुरक्षा और सहायता कोष—सावधानी के लिए किये गए उपचारों में दुर्भिक्ष सुरक्षा अनुदान का ऊपर निर्देश किया जा चुका है। भारत सरकार इस कोष से विभिन्न प्रान्तों को उनकी आवश्यकतानुसार धन देती थी। १९१९ के सुधार के पूर्व दुर्भिक्ष-सहायता सरकारी खर्च की एक मद हो गई थी, जिसमें केन्द्रीय सरकार कुल का $\frac{2}{3}$ और प्रान्तीय सरकारें $\frac{1}{3}$ की हिस्सेदार थीं। लेकिन १९१९ के सुधार के पश्चात् होने वाले वित्तीय विकेन्द्रीकरण के अनुसार प्रत्येक प्रान्त को वार्षिक राजस्व में से ही दुर्भिक्ष के लिए व्यवस्था करनी थी। न खर्च होने वाला अनुदान केन्द्रीय बाकी के अन्तर्गत आता था जिस पर केन्द्रीय सरकार ब्याज देती थी। कोष में बाकी धन (१) दुर्भिक्ष-सहायता, (२) सुरक्षात्मक कार्य-निर्माण और (३) कृषकों को ऋण देने के लिए व्यय किया जा सकता था। दुर्भिक्ष-सुरक्षा कोष का एक मानदण्ड निर्धारित किया गया, जिसके अनुसार प्रत्येक प्रान्त जिस मात्रा में वह दुर्भिक्ष का शिकार हो सकता था उसी मात्रा में धन देता।

१९२८-२९ के वित्तीय वर्ष से दुर्भिक्ष सुरक्षा कोष के विधान में बड़ा परिवर्तन हुआ। नवीन नियमों के अनुसार कोष सुरक्षा-कोष न रहा। इसका नाम दुर्भिक्ष सहायता कोष हो गया और इसका प्रमुख उद्देश्य दुर्भिक्ष-सहायता पर धन व्यय करना हो गया। दुर्भिक्ष शब्द का अभिप्राय अनावृष्टि या अन्य प्राकृतिक कारणों से उत्पन्न सभी प्रकार की आपत्तियों से है। इस प्रकार राजस्व से मिलने वाला वार्षिक धन तथा बाकी तब तक खर्च नहीं किया जा सकता था जब तक कि वह एक निश्चित सीमा से अधिक नहीं हो जाता। इस नवीन दुर्भिक्ष सहायता कोष से कृषकों को सीधे ऋण नहीं दिया जाता था, हालाँकि इससे प्रान्तीय ऋण-विभाग को ऋण दिया जा सकता था, जब इसकी बाकी एक निश्चित न्यूनतम सीमा से बढ़ जाती थी। प्राचीन दुर्भिक्ष सुरक्षा कोष की बाकी धनराशि १ अप्रैल, १९२८ को नवीन कोष को हस्तांतरित कर दी गई। आसाम में, जहाँ किसी दुर्भिक्ष सुरक्षा कोष का निर्माण नहीं किया गया था, प्राचीन सुरक्षा कोष की धनराशि प्रान्तीय बाकी में सम्मिलित कर दी गई। १९३९-४० में दुर्भिक्ष सहायता कोष में दिये जाने वाला योग १३·४५ लाख रु० तक पहुँच गया, कुल २४·२९ लाख रु० वापस लिया गया और अन्तिम कुल बाकी १०७.६७ लाख रु० थी (मार्च ३१, १९४०)।[1]

१९३५ के विधान में दुर्भिक्ष सहायता कोष के लिए कोई अलग व्यवस्था न थी। १ अप्रैल, १९३७ से प्रान्तीय स्वशासन की स्थापना से कोष की बाकी प्रान्तों को हस्तान्तरित कर दी गई और अब तक निर्धारित उपचार प्रान्तों के विवेक पर छोड़ दिये गए कि वे जिस प्रकार चाहें उस पर कार्य करें।

भारतीय दुर्भिक्ष ट्रस्ट का धन उन निर्धनों की सहायता में व्यय किया जाता था जोकि साधारण रीति से वितरित सरकारी ऋण स्वीकार नहीं कर सकते थे।

१. देखिए, भारत सरकार का वित्त और माल लेखा—१९३९-४०, तालिका नं० ९२।

दुर्भिक्ष की परिभाषा करते हुए बतलाया कि जनता के बड़े समूह का भूख की यातना सहना दुर्भिक्ष है। लेकिन भारत के इतिहास का अध्ययन करने से ऐसा प्रतीत होता है कि दो प्रधान कारणों से शब्द के इस अर्थ में परिवर्तन हो गया है। एक तो यातायात एवं परिवहन के साधनों में सुधार होने के कारण एक भाग के दुर्भिक्ष को दूसरे भाग की बहुलता से सहायता पहुँचाई जा सकती है। दूसरे, प्रशासन में भी दुर्भिक्षों का सामना करने की पद्धति में प्रगति हुई है। अतएव वर्तमान दुर्भिक्ष खाद्य-दुर्भिक्ष न होकर द्रव्य-दुर्भिक्ष हैं। सरकार के सामने समस्या है कि समुचित रूप से मजदूरी और काम की व्यवस्था करे। वर्तमान काल में दुर्भिक्ष की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है—"दुर्भिक्ष भुखमरी नहीं बल्कि फसलों की असफलता से उत्पन्न अस्थायी वृत्ति-विस्थापन है।" अतएव दुर्भिक्ष-सहायता प्रथमतः उन बेरोजगारों को सहायता पहुँचाने में है जिनके विरुद्ध प्रकृति ने अपने काम के दरवाजे बन्द कर दिए हैं। जब साधारण जीवन-वृत्ति असफल हो जाती है तो सरकार सहायता-कार्य प्रारम्भ करती है और उसमें हरेक बेरोजगार को, जो काम करने का इच्छुक है, खाद्य-क्रय करने के लिए पर्याप्त मजदूरी मिल जाती है।[1]

६. **कारणों का वर्गीकरण एवं उपचार**—दुर्भिक्ष के कारणों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—(१) प्रत्यक्ष और तात्कालिक कारण, जैसे अनावृष्टि और तज्जन्य प्रभाव; (२) दूरगत किन्तु आधारभूत कारण, जिनका गम्भीर सम्बन्ध जनता की दरिद्रता से है, जिनके परिणामस्वरूप वे अपने आर्थिक जीवन में होने वाले छोटे-से-छोटे परिवर्तनों के शिकार हो जाते हैं। पहले प्रकार के कारणों का निराकरण दुःख-निवारण के उपचारों द्वारा किया जा सकता है। इसके लिए पहले से व्यवस्था की जा सकती है और इन आपत्तिओं का सामना करने के लिए सदैव प्रस्तुत रहना चाहिए। दूसरी प्रकार के कारणों के समाधान के लिए हमें भारतीय दरिद्रता की तह में जाकर छानबीन करनी पड़ेगी। इस महान् समस्या के समाधान के लिए कई दिशाओं से प्रयत्न किया जा सकता है जिससे कि देश का आर्थिक पुनरुद्धार हो सके।

७. **प्रत्यक्ष कारण : उनका उपचार**—चूँकि दुर्भिक्षों का प्रधान प्रत्यक्ष कारण अंशतः या पूर्णतः वर्षा का न होना है, अतएव यदि पहले से ही इसका पता लगाया जा सके तो अवश्य ही कुछ लाभ होगा। अन्तरिक्ष विज्ञान (मेटीरियोलॉजिकल) विभाग देश के विभिन्न भागों की मौसम की दशाओं का लेखा रखता है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि इन आँकड़ों और वायु के ऊपरी स्तर की दशाओं के अध्ययन से मानसून के विषय में भविष्यवाणी करने के पर्याप्त चिह्न प्राप्त हो सकते हैं। अतिवृष्टि और बाढ़ से भी अकाल पड़ सकता है, लेकिन इससे होने वाली हानि अपेक्षाकृत सरलता से पूरी की

१. विभाजन के पूर्व भी भारत कुल मिलाकर खाद्यान्नों का आयात ही करता था। खाद्यान्न के सम्बन्ध में विभाजन के उपरान्त भारत और भी पराश्रित हो गया और सरकार ने मार्च, १९५२ तक खाद्यान्न स्वनिर्भरता का लक्ष्य स्थापित किया जोकि उस अवधि में पूर्ण न हो सका। अतएव अब समस्या केवल यह नहीं है कि स्थानीय कमियों को देश के आन्तरिक खाद्यान्न के स्थानान्तरण से पूरा किया जाय, वरन् यह कि देश को सम्पूर्ण रूप से लेने पर खाद्य-विषयक कमी को विदेशों से आयात करके पूरा किया जाय।

जा सकती है। टिड्डी और अन्य हानिकारक कीटाणुओं से भी फसलों को हानि पहुँचती है। सरकार के कृमि-शास्त्री इसके विरुद्ध युद्ध कर रहे हैं।

८. दुर्भिक्ष सुरक्षा और सहायता कोष—सावधानी के लिए किये गए उपचारों में दुर्भिक्ष सुरक्षा अनुदान का ऊपर निर्देश किया जा चुका है। भारत सरकार इस कोष से विभिन्न प्रान्तों को उनकी आवश्यकतानुसार धन देती थी। १९१९ के सुधार के पूर्व दुर्भिक्ष-सहायता सरकारी खर्च की एक मद हो गई थी, जिसमें केन्द्रीय सरकार कुल का ¾ और प्रान्तीय सरकारें ¼ की हिस्सेदार थीं। लेकिन १९१९ के सुधार के पश्चात् होने वाले वित्तीय विकेन्द्रीकरण के अनुसार प्रत्येक प्रान्त को वार्षिक राजस्व में से ही दुर्भिक्ष के लिए व्यवस्था करनी थी। न खर्च होने वाला अनुदान केन्द्रीय बाकी के अन्तर्गत आता था जिस पर केन्द्रीय सरकार ब्याज देती थी। कोष में बाकी धन (१) दुर्भिक्ष-सहायता, (२) सुरक्षात्मक कार्य-निर्माण और (३) कृषकों को ऋण देने के लिए व्यय किया जा सकता था। दुर्भिक्ष-सुरक्षा कोष का एक मानदण्ड निर्धारित किया गया, जिसके अनुसार प्रत्येक प्रान्त जिस मात्रा में वह दुर्भिक्ष का शिकार हो सकता था उसी मात्रा में धन देता।

१९२८-२९ के वित्तीय वर्ष से दुर्भिक्ष सुरक्षा कोष के विधान में बड़ा परिवर्तन हुआ। नवीन नियमों के अनुसार कोष सुरक्षा-कोष न रहा। इसका नाम दुर्भिक्ष सहायता कोष हो गया और इसका प्रमुख उद्देश्य दुर्भिक्ष-सहायता पर धन व्यय करना हो गया। दुर्भिक्ष शब्द का अभिप्राय अनावृष्टि या अन्य प्राकृतिक कारणों से उत्पन्न सभी प्रकार की आपत्तियों से है। इस प्रकार राजस्व से मिलने वाला वार्षिक धन तथा बाकी तब तक खर्च नहीं किया जा सकता था जब तक कि वह एक निश्चित सीमा से अधिक नहीं हो जाता। इस नवीन दुर्भिक्ष सहायता कोष से कृषकों को सीधे ऋण नहीं दिया जाता था, हालाँकि इससे प्रान्तीय ऋण-विभाग को ऋण दिया जा सकता था, जब इसकी बाकी एक निश्चित न्यूनतम सीमा से बढ़ जाती थी। प्राचीन दुर्भिक्ष सुरक्षा कोष की बाकी धनराशि १ अप्रैल, १९२८ को नवीन कोष को हस्तांतरित कर दी गई। आसाम में, जहाँ किसी दुर्भिक्ष सुरक्षा कोष का निर्माण नहीं किया गया था, प्राचीन सुरक्षा कोष की धनराशि प्रान्तीय बाकी में सम्मिलित कर दी गई। १९३९-४० में दुर्भिक्ष सहायता कोष में दिये जाने वाला योग १३·४५ लाख रु० तक पहुँच गया, कुल २४·२९ लाख रु० वापस लिया गया और अन्तिम कुल बाकी ३०७.६७ लाख रु० थी (मार्च ३१, १९४०)।[1]

१९३५ के विधान में दुर्भिक्ष सहायता कोष के लिए कोई अलग व्यवस्था न थी। १ अप्रैल, १९३७ से प्रान्तीय स्वशासन की स्थापना से कोष की बाकी प्रान्तों को हस्तान्तरित कर दी गई और अब तक निर्धारित उपचार प्रान्तों के विवेक पर छोड़ दिये गए कि वे जिस प्रकार चाहें उस पर कार्य करें।

भारतीय दुर्भिक्ष ट्रस्ट का धन उन निर्धनों की सहायता में व्यय किया जाता था जोकि साधारण रीति से वितरित सरकारी ऋण स्वीकार नहीं कर सकते थे।

१. देखिए, भारत सरकार का वित्त और माल लेखा—१९३९-४०, तालिका नं० ६२।

वास्तविक दुर्भिक्ष की सहायता के लिए सरकार १९वीं शती के उत्तरार्ध में विकसित किये गए दुर्भिक्ष-सहायता-उपचारों पर निर्भर करती है।

९. सहायता के लिए किये गए प्रयत्नों का विवरण—इस संगठन के संक्षिप्त विवरण से इस बात का पता लग जायगा कि किस विस्तार और सावधानी से इस यन्त्र को सम्पूर्ण बनाया गया है।[1] (१) बड़े पैमाने पर स्थायी प्रयत्न किये जाते हैं। मौसमी हालतों से सम्बन्धित विषयों की महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ और ज्ञान का संकलन किया जाता है। इसके साथ ही फसलों की कीमतों और मृत्यु तथा जन्म के भी आँकड़े एकत्र किये जाते हैं। समुचित सहायता के प्रोग्राम प्रस्तुत तथा अद्यतन (अपटूडेट) रखे जाते हैं। देश का सहायता-क्षेत्रों में विभाजन किया जाता है तथा यन्त्रों और औजारों का कोष सुरक्षित किया जाता है। (२) जब कभी वर्षा नहीं होती तो मूल्यों की वृद्धि जैसे खतरे के चिह्नों पर दृष्टि रखी जाती है। खतरे के चिह्नों में जनता की अस्थिरता, उनका निष्प्रयोजन भ्रमण, वैयक्तिक दातव्य का संकोच, अपराधों में वृद्धि इत्यादि का नाम लिया जा सकता है। (३) तब सरकार अपना प्रारम्भिक कार्य प्रारम्भ करती है और नैतिक-कौशल पर अपनी नीति आधारित करती है। सभाएँ की जाती हैं जिनमें जनता को सरकारी नीति से अवगत कराया जाता है। गैर-सरकारी सहायता को भी शामिल किया जाता है। सरकारी मालगुजारी स्थगित कर दी जाती है। कृषि-सुधार के लिए ऋण भी दिये जाते हैं। गाँवों का निरीक्षण प्रारम्भ होता है और वृत्तिहीन तथा आश्रयहीन व्यक्तियों की सूची तैयार की जाती है। (४) इस प्रकार सहायता का प्रथम चरण प्रारम्भ होता है। पहले परीक्षण-कार्य प्रारम्भ किये जाते हैं। यदि उन पर पर्याप्त श्रमिक आते हैं तो उन्हें सहायता-कार्य में परिवर्तित कर दिया जाता है। (५) दूसरा चरण दिसम्बर से प्रारम्भ होता है। केन्द्रीय सहायता-शिविर खोले जाते हैं तथा गाँवों के अपाहिजों को सहायता दी जाती है। कस्बों में निर्धनालय स्थापित किए जाते हैं तथा बच्चों के हित के लिए कस्बों में भोजन भी वितरित किया जाता है। मई में कष्ट अपनी सीमा पर पहुँच जाता है, जबकि हैजे के प्रकोप का भय रहता है। (६) बरसात के प्रारम्भ होने के साथ ही सहायता का अन्तिम चरण प्रारम्भ होता है। बड़े-बड़े सहायता-कार्य बन्द कर दिए जाते हैं और लोग छोटे-छोटे सहायता-कार्यों में लगाए जाते हैं। ये कार्य उनके समीपवर्ती गाँवों में होते हैं ताकि महामारी और हैजे इत्यादि के प्रकोप से बचा जा सके और बिना अनुचित देरी के कृषि-कार्य को संचालित किया जा सके। सरकारी मुफ्त बटाई (वितरण) प्रारम्भ हो जाती है और किसानों को पशुओं, हल और बीज के क्रय के लिए धन दिया जाता है। जब खरीफ की फसलें पक जाती हैं तो शेष कार्य भी बन्द कर दिए जाते हैं और सहायता-कार्य समाप्त कर दिया जाता है। दुर्भिक्ष प्रायः अक्तूबर के मध्य तक समाप्त हो जाता है। इस समय तक बरसात के साथ प्रारम्भ होने वाली बीमारियों, जैसे हैजा मलेरिया इत्यादि, को दूर करने के लिए मेडिकल स्टाफ हमेशा तैयार रखा जाता है। सर्वप्रथम वुडहेड जाँच (कमीशन) आयोग ने यह सिद्धान्त निर्धारित किया कि

१. देखिए, 'इम्पीरियल गजटियर ऑफ इण्डिया', खण्ड ३, पृष्ठ ४७७-८१।

दुर्भिक्ष-काल में प्रत्येक व्यक्ति को भोजन देना सरकारी उत्तरदायित्व है।

१०. अन्तिम कारण और उपचार—जनता की अत्यन्त दरिद्रता ही दुर्भिक्ष का कारण है और इस पुस्तक के आरम्भ से ही हम इसके एक या दूसरे पहलू की परीक्षा कर रहे हैं। ये कारण हैं—जनता का कृषि पर अत्यधिक अवलम्बन—कृषि एक ऐसा पेशा है जो अनिश्चित वृष्टि पर निर्भर है; पुराने उद्योगों का विनाश तथा कितने ही उद्योगों की अनुपस्थिति; जनता का ऋण में डूबा होना आदि। भारतीय जनता किसी प्रकार अपनी आजीविका प्राप्त करती है और उसके पास कोई सुरक्षित धनराशि नहीं रहती जिस पर वह कमी और अकाल के समय आश्रित रह सके। जनता की आर्थिक शक्ति को सुदृढ़ करने के तरीकों में अनेक बातें शामिल हैं, जैसे जनता के जीवन-स्तर को बढ़ाना और उसकी साख को कायम रखना; सुरक्षा-कार्य—सिंचाई की नहरें, सड़कों का निर्माण, कुओं की मरम्मत इत्यादि; साधारण प्रशासन में सुधार, विशेष रूप से माल-प्रसाशन के स्थगन और छूट की व्यवस्था; सुविचारित और उदार वन-नीति; कृषि-महाविद्यालय, अनुसन्धान तथा प्रयोग-केन्द्रों द्वारा सुधार; सरकारी आन्दोलन का पूरा-पूरा उपयोग, बड़े पैमाने के उद्योगों का विकास और छोटे पैमाने के उद्योगों को प्रोत्साहन; संक्षेप में, सब पहलुओं में आर्थिक आयोजन।

मध्यवर्गीय बेरोज़गारी

११. समस्या का विस्तार-क्षेत्र—यद्यपि सभी साधारण तौर से 'शिक्षित' और मध्यवर्गीय शब्द का प्रयोग करते हैं, किन्तु शिक्षित और अशिक्षित के बीच कोई निश्चित रेखा नहीं खींची जा सकती; न तो मध्यवर्ग के उच्चतर और निम्नतर स्तरों को ही अलग किया जा सकता है। साधारणतया 'शिक्षित मध्यवर्ग' में ऐसे लोग आते हैं जो इतनी अच्छी आर्थिक स्थिति में नहीं हैं कि अपनी आय में अच्छी तरह अपना जीवन बिता सकें, जोकि शारीरिक श्रम नहीं करते तथा जिन्हें किसी-न-किसी रूप में माध्यमिक या उच्चतर शिक्षा मिली होती है। कभी-कभी वर्नाक्युलर और एंग्लो वर्नाक्युलर कोर्स पूरा करने वाले लोगों को भी इसमें शामिल किया जाता है।

१२. मध्यवर्गीय बेरोज़गारी की समस्या की गम्भीरता और प्रसार—मध्यवर्गीय वृत्तिहीनता ने इधर हाल में भयंकर आकार ग्रहण कर लिया है।[१] कुछ समय से जनता का ध्यान इस ओर गया है। सरकारी तथा गैर-सरकारी और अर्द्ध-सरकारी संस्थाओं, जैसे विश्वविद्यालयों, ने इसमें रुचि प्रदर्शित की है।[२] १९२४ और २८ के बीच विशिष्ट रूप से आयुक्त समितियों द्वारा कितनी ही गवेषणाएँ की गई हैं। ये गवेषणाएँ एवं प्रयोग बंगाल, मद्रास, पंजाब और बम्बई जैसे प्रान्तों ट्रावनकोर जैसी

१. द्वितीय महायुद्ध ने वृत्ति के अनेक द्वार खोल दिए और कुछ समय के लिए शिक्षित वृत्तिहीनता समाप्तप्राय हो गई। भारत सरकार के श्रम-मन्त्रालय के वृत्ति-विनिमय, जोकि पहले पुराने नौकरी वालों और छूटे लोगों को श्रम दिलाने के लिए काम करते थे, अब सबके लिए खोल दिये गए हैं।

२. १९३० में हुए विश्वविद्यालय सम्मेलन ने इस प्रश्न पर विचार किया, लेकिन वे इसके आगे कोई सुझाव नहीं रख सके कि विश्वविद्यालय अपने स्नातकों की वृत्तिहीनता का पता लगाएँ।

रियासतों में किये गए हैं। सबसे हाल में नियुक्त होने वाली समितियों में युक्त प्रान्त (सर तेजबहादुर सप्रू की अध्यक्षता में) की और बिहार की समितियों का नाम लिया जा सकता है।[1]

इन सब समितियों की रिपोर्ट से यह स्पष्ट हो गया कि मध्यवर्गीय वृत्तिहीनता अखिल-भारतीय प्रकार की है।[2] मद्रास समिति ने बताया कि रोजी खोजने वाले शिक्षित व्यक्तियों और रोजगार का अनुपात २:१ है। स्कूल और कॉलेजों की वार्षिक उत्पत्ति और वर्ष में होने वाली स्थानरिक्तता की गणना के अनुसार वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि वृत्तिहीनता की संख्या वस्तुतः दुखद थी। १९२७ की पंजाब समिति भी इसी प्रकार की गणना के उपरान्त इस नतीजे पर पहुँची। जबकि अँग्रेजी वर्नाक्युलर स्कूलों की उत्पत्ति या उत्पादन ५ वर्ष में (१९२२-२७) बढ़कर दूना हो गया है, इसके विपरीत रोजगार में ऐसी कोई वृद्धि नहीं हुई है—न तो सरकारी नौकरी में और न व्यावसायिक क्षेत्र में ही।

इस प्रकार की वृत्तिहीनता की भयंकरता को हम पूर्णतया समझ नहीं पाते। इससे वृत्तिहीन व्यक्ति को कष्ट तो पहुँचता ही है, साथ ही एक प्रकार का नैतिक पतन होता है जो साधारण रूप से समाज को ग्रस्त कर लेता है और पीढ़ी-दर-पीढ़ी बढ़ता ही जाता है। इस प्रकार के असन्तुष्ट नवयुवकों का अधिक संख्या में बेकार होना देश की राजनीतिक स्थिरता के लिए भी हानिकारक और भयंकर है। इस बात को एडलर कमीशन ने बड़ी ही अच्छी तरह व्यक्त किया है—"एक प्रकार के शिक्षित सर्वहारा-वर्ग की उपस्थिति और क्रमिक वृद्धि किसी भी देश में—और विशेषकर ऐसे देश में जहाँ पर छोटा-सा शिक्षित-वर्ग ही मुखर है—किसी भी प्रकार की सुव्यवस्थित सरकार के लिए भयंकर है। जब तक देश की बुद्धिमान् मनुष्यता का एक विशाल भाग उत्तरोत्तर बढ़ती संख्या में इस प्रकार के अध्ययन में संलग्न है जिससे कि ऐसी उच्चाशाएँ बँध जाती हैं जो पूरी नहीं हो पातीं और जो अध्येताओं को देश और अपने हित के लिए किए जाने वाले कितने ही पेशों के लिए बेकार बना देता है, तब तक कोई भी सरकार चाहे वह कितनी ही अच्छी प्रकार से संगठित हो अपना मार्ग आलोचना-प्रत्यालोचना से अवरुद्ध पाएगी। सहायता की एक ऐसी माँग हमेशा बढ़ती जायगी जिसका किसी भी प्रकार निराकरण नहीं किया जा सकेगा।" और भी क्रान्तिकारी समाजवाद या साम्यवाद उन युवकों में बड़ी ही शीघ्रता से जड़ जमा लेता है, जिनके दिल में वस्तुस्थिति के खिलाफ एक प्रकार का विरोधी भाव पहले से ही घर कर चुका होता है।

१२. विशेष रूप से प्रभावित वर्ग—बम्बई की जाँच से पता चला कि विशेष रूप से

---

१. बम्बई के श्रमालय ने १९३८ में विश्वविद्यालय के स्नातकों की वृत्तिहीनता की जाँच फिर से प्रारम्भ की।

२. १९३७ की नवें उद्योग सम्मेलन की बुलेटिनों में भारत के विभिन्न प्रान्तों और रियासतों की मध्यवर्गीय वृत्तिहीनता की परिस्थिति की समीक्षा और उसे दूर करने के लिए काम में लाये गए या विचारित उपचारों का विवरण प्राप्त होगा। 'बुलेटिन्स ऑफ इण्डियन इण्डस्ट्रीज़ एण्ड लेबर' नं० ६५।

प्रभावित वर्ग में २७ साल से नीचे के नवयुवक अधिक थे। इनमें विशेषकर उनकी संख्या ज्यादा थी जिनका प्रशिक्षण प्रधानतया साहित्यिक था और जो उच्चतर शिक्षा के लिए एंग्लो-वर्नाक्युलर से होकर आगे बढ़े थे। जैसा कि स्वाभाविक है, बेकारी उस वर्ग में ज्यादा थी जोकि मैट्रिक या उसके समकक्ष परीक्षाएँ न पास कर सके थे। क्योंकि यही सरकारी नौकरी की निम्नतम योग्यता मानी जाती थी। बेकारी हाई स्कूल पास और इण्टरमीडियेट पास लोगों में अपेक्षाकृत कम थी और पेशे की योग्यता वाले स्नातकों में सबसे कम। शिक्षा के क्षेत्र में प्रशिक्षितों में अप्रशिक्षितों की अपेक्षा कम बेकारी थी। कानूनी पेशे में बहुमत इस पक्ष में था कि यह जरूरत से ज्यादा भर चुका है। इसी प्रकार औषधि-पेशे के लोग बाज़ारों, विशेषकर बड़े शहरों, में तो भरे पड़े हैं, जबकि छोटे-छोटे गाँवों में इनकी संख्या अत्यन्त कम है, क्योंकि यहाँ पर जीवन की सुविधाएँ अपेक्षाकृत बहुत कम हैं और लोग औषधियों के लिए नियमित रूप से नकद फीस देने के आदी नहीं है। इञ्जीनियरों की दशा कुछ ही अच्छी थी। रेलवे में रोज़ी खोजने वाले काफी बड़ी संख्या में थे, लेकिन प्रशिक्षित न होने के कारण से नौकरी न पा सके। जहाँ तक बैंकिंग का प्रश्न है, जो लोग इस विषय में शिक्षा प्राप्त कर चुके थे वे बेकार न रहे, लेकिन जिन्हें प्रशिक्षा न प्राप्त थी वे नौकरी न पा सके।

१४. वृत्तिहीनता के कारण[1]—**(१) युद्धोत्तर आर्थिक मंदी और छटनी**—अन्य देशों की भाँति भारत में भी युद्धोत्तर आर्थिक मन्दी का प्रभाव पड़ा। बाबूगीरी और युद्ध के अन्य विभागों में वृत्ति-प्राप्त लोग बड़ी संख्या में बाहर निकाल दिये गए। जबकि १९१८-१९ में युद्ध समाप्त हुआ, उन्हें अन्यत्र नौकरी मिलना सम्भव न था। छटनी की कुल्हाड़ी के प्रहार सब दिशाओं में हुए और पुराने संस्थापन की यथास्थिति न रही। १९२९-३४ में यह आर्थिक मंदी और भी भयंकर हो उठी। मध्यवर्ग बड़ी ही कठोर अग्निपरीक्षा से होकर निकला।

(२) शिक्षा-पद्धति के दोष—वृत्तिहीनता का दूसरा तथाकथित कारण देश की औद्योगिक प्रगति और देश में प्रचलित शिक्षा में सन्तुलन का अभाव है। ऐसा कहा जाता है कि वर्तमान शिक्षा-प्रणाली केवल क्लर्की करने योग्य नवयुवक तैयार कर रही है और यह सरकारी नौकरी पाने का केवल एक द्वार-मात्र है।[2] पंजाब समिति के लिए प्रस्तुत की गई अपनी सूची में सर एण्डरसन ने यह स्वीकार किया कि 'प्रारम्भ से ही (वर्तमान शिक्षा-पद्धति) लड़कों को विदेशी परीक्षाओं के लिए तैयार करने के लिए बनाई गई थी, जिनका पास करना बहुतों के लिए एक प्रकार का

१. बंगाल समिति ने वृत्तिहीनता का एक प्रकार का वर्गीकरण करने का सुझाव रखा—ऐसे लोग, जो अपने किसी अपराध या दोष के बिना ही नौकरी न पाने वाले हों; ऐसे व्यक्ति जोकि ऐसी रोजी चाह रहे हैं जिसके लिए अनुपयुक्त है, उसका कारण बहुधा उसके बस के बाहर की बात भले ही हो। देखिए 'बंगाल वृत्तिहीनता समिति की रिपोर्ट', पैरा २।

२. हमारे स्कूल और कालेजों में यह दोष नहीं है कि वे पेशे की शिक्षा नहीं देते, वरन् दोष यह है कि जो पेशे की शिक्षा वे देते हैं वह बहुत ही संकुचित प्रकार की है। यद्यपि उनका दृष्टिकोण नितान्त ही

रियासतों में किये गए हैं। सबसे हाल में नियुक्त होने वाली समितियों में युक्त प्रान्त (सर तेजबहादुर सप्रू की अध्यक्षता में) की और बिहार की समितियों का नाम लिया जा सकता है।[1]

इन सब समितियों की रिपोर्ट से यह स्पष्ट हो गया कि मध्यवर्गीय वृत्ति-हीनता अखिल-भारतीय प्रकार की है।[2] मद्रास समिति ने बताया कि रोजी खोजने वाले शिक्षित व्यक्तियों और रोजगार का अनुपात २:१ है। स्कूल और कॉलेजों की वार्षिक उत्पत्ति और वर्ष में होने वाली स्थानरिक्तता की गणना के अनुसार वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि वृत्तिहीनता की संख्या वस्तुतः दुखद थी। १९२७ की पंजाब समिति भी इसी प्रकार की गणना के उपरान्त इस नतीजे पर पहुँची। जबकि अँग्रेजी वर्नाक्युलर स्कूलों की उत्पत्ति या उत्पादन ५ वर्ष में (१९२२-२७) बढ़कर दूना हो गया है, इसके विपरीत रोजगार में ऐसी कोई वृद्धि नहीं हुई है—न तो सरकारी नौकरी में और न व्यावसायिक क्षेत्र में ही।

इस प्रकार की वृत्तिहीनता की भयंकरता को हम पूर्णतया समझ नहीं पाते। इससे वृत्तिहीन व्यक्ति को कष्ट तो पहुँचता ही है, साथ ही एक प्रकार का नैतिक पतन होता है जो साधारण रूप से समाज को ग्रस्त कर लेता है और पीढ़ी-दर-पीढ़ी बढ़ता ही जाता है। इस प्रकार के असन्तुष्ट नवयुवकों का अधिक संख्या में बेकार होना देश की राजनीतिक स्थिरता के लिए भी हानिकारक और भयंकर है। इस बात को एडलर कमीशन ने बड़ी ही अच्छी तरह व्यक्त किया है—"एक प्रकार के शिक्षित सर्वहारा-वर्ग की उपस्थिति और क्रमिक वृद्धि किसी भी देश में—और विशेषकर ऐसे देश में जहाँ पर छोटा-सा शिक्षित-वर्ग ही मुखर है—किसी भी प्रकार की सुव्यवस्थित सरकार के लिए भयंकर है। जब तक देश की बुद्धिमान् मनुष्यता का एक विशाल भाग उत्तरोत्तर बढ़ती संख्या में इस प्रकार के अध्ययन में संलग्न है जिससे कि ऐसी उच्चाशाएँ बँध जाती हैं जो पूरी नहीं हो पातीं और जो अध्येताओं को देश और अपने हित के लिए किए जाने वाले कितने ही पेशों के लिए बेकार बना देता है, तब तक कोई भी सरकार चाहे वह कितनी ही अच्छी प्रकार से संगठित हो अपना मार्ग आलोचना-प्रत्यालोचना से अवरुद्ध पाएगी। सहायता की एक ऐसी माँग हमेशा बढ़ती जायगी जिसका किसी भी प्रकार निराकरण नहीं किया जा सकेगा।" और भी क्रान्तिकारी समाजवाद या साम्यवाद उन युवकों में बड़ी ही शीघ्रता से जड़ जमा लेता है, जिनके दिल में वस्तुस्थिति के खिलाफ एक प्रकार का विरोधी भाव पहले से ही घर कर चुका होता है।

१२. विशेष रूप से प्रभावित वर्ग—बम्बई की जाँच से पता चला कि विशेष रूप से

---

१. बम्बई के श्रमालय ने १९३८ में विश्वविद्यालय के स्नातकों की वृत्तिहीनता की जाँच फिर से प्रारम्भ की।

२. १९३७ की नवें उद्योग सम्मेलन की बुलेटिनों में भारत के विभिन्न प्रान्तों और रियासतों की मध्य वर्गीय वृत्तिहीनता की परिस्थिति की समीक्षा और उसे दूर करने के लिए काम में लाये गए या विचारित उपचारों का विवरण प्राप्त होगा। 'बुलेटिन्स ऑफ इण्डियन इण्डस्ट्रीज एण्ड लेबर' नं० ६५।

प्रभावित वर्ग में २७ साल से नीचे के नवयुवक अधिक थे। इनमें विशेषकर उनकी संख्या ज्यादा थी जिनका प्रशिक्षण प्रधानतया साहित्यिक था और जो उच्चतर शिक्षा के लिए एंग्लो-वर्नाक्युलर से होकर आगे बढ़े थे। जैसा कि स्वाभाविक है, बेकारी उस वर्ग में ज्यादा थी जोकि मैट्रिक या उसके समकक्ष परीक्षाएँ न पास कर सके थे। क्योंकि यही सरकारी नौकरी की निम्नतम योग्यता मानी जाती थी। बेकारी हाई स्कूल पास और इण्टरमीडियेट पास लोगों में अपेक्षाकृत कम थी और पेशे की योग्यता वाले स्नातकों में सबसे कम। शिक्षा के क्षेत्र में प्रशिक्षितों में अप्रशिक्षितों की अपेक्षा कम बेकारी थी। कानूनी पेशे में बहुमत इस पक्ष में था कि यह जरूरत से ज्यादा भर चुका है। इसी प्रकार औषधि-पेशे के लोग बाज़ारों, विशेषकर बड़े शहरों, में तो भरे पड़े हैं, जबकि छोटे-छोटे गाँवों में इनकी संख्या अत्यन्त कम है, क्योंकि यहाँ पर जीवन की सुविधाएँ अपेक्षाकृत बहुत कम हैं और लोग औषधियों के लिए नियमित रूप से नकद फीस देने के आदी नहीं हैं। इञ्जीनियरों की दशा कुछ ही अच्छी थी। रेलवे में रोज़ी खोजने वाले काफी बड़ी संख्या में थे, लेकिन प्रशिक्षित न होने के कारण से नौकरी न पा सके। जहाँ तक बैंकिंग का प्रश्न है, जो लोग इस विषय में शिक्षा प्राप्त कर चुके थे वे बेकार न रहे, लेकिन जिन्हें प्रशिक्षा न प्राप्त थी वे नौकरी न पा सके।

१४. वृत्तिहीनता के कारण[1]—(१) युद्धोत्तर आर्थिक मंदी और छटनी—अन्य देशों की भाँति भारत में भी युद्धोत्तर आर्थिक मन्दी का प्रभाव पड़ा। बाबूगीरी और युद्ध के अन्य विभागों में वृत्ति-प्राप्त लोग बड़ी संख्या में बाहर निकाल दिये गए। जबकि १९१८-१९ में युद्ध समाप्त हुआ, उन्हें अन्यत्र नौकरी मिलना सम्भव न था। छटनी की कुल्हाड़ी के प्रहार सब दिशाओं में हुए और पुराने संस्थापन की यथास्थिति न रही। १९२९-३४ में यह आर्थिक मंदी और भी भयंकर हो उठी। मध्यवर्ग बड़ी ही कठोर अग्निपरीक्षा से होकर निकला।

(२) शिक्षा-पद्धति के दोष—वृत्तिहीनता का दूसरा तथाकथित कारण देश की औद्योगिक प्रगति और देश में प्रचलित शिक्षा में सन्तुलन का अभाव है। ऐसा कहा जाता है कि वर्तमान शिक्षा-प्रणाली केवल क्लर्की करने योग्य नवयुवक तैयार कर रही है और यह सरकारी नौकरी पाने का केवल एक द्वार-मात्र है।[2] पंजाब समिति के लिए प्रस्तुत की गई अपनी सूची में सर एण्डरसन ने यह स्वीकार किया कि 'प्रारम्भ से ही (वर्तमान शिक्षा-पद्धति) लड़कों को विदेशी परीक्षाओं के लिए तैयार करने के लिए बनाई गई थी, जिनका पास करना बहुतों के लिए एक प्रकार का

१. बंगाल समिति ने वृत्तिहीनता का एक प्रकार का वर्गीकरण करने का सुझाव रखा—ऐसे लोग, जो अपने किसी अपराध या दोष के बिना ही नौकरी न पाने वाले हों; ऐसे व्यक्ति जोकि ऐसी रोजी चाह रहे हैं जिसके लिए अनुपयुक्त हैं, उसका कारण बहुधा उसके बस के बाहर की बात भले ही हो। देखिए 'बंगाल वृत्तिहीनता समिति की रिपोर्ट', पैरा २।

२. हमारे स्कूल और कालेजों में यह दोष नहीं है कि वे पेशे की शिक्षा नहीं देते, वरन् दोष यह है कि जो पेशे की शिक्षा वे देते हैं वह बहुत ही संकुचित प्रकार की है। यद्यपि उनका दृष्टिकोण नितान्त ही

भ्रमजाल था। इसका उद्देश्य लड़कों को बाबूगीरी की शिक्षा देना था। अब बाबूगीरी का पेशा जनसंकुल हो उठा है। इसमें अब नौकरी खोजने वालों की भीड़ के लिए बहुत ही कम स्थान रह गया है। उन्होंने मैट्रिकुलेट की परिभाषा, जिसे वह वृत्ति-समस्या का मूल मानते थे, इस प्रकार की—"एक भ्रमणार्थी जो विश्व में टहलता है, जिसे नौकरी नहीं मिलती, क्योंकि वह नौकरी देने योग्य नहीं है।"[1] भारत का साधारण शिक्षित व्यक्ति सर्वप्रथम जीविका के लिए सरकारी नौकरी की ओर झुकता है। उसके न मिलने पर अर्द्ध-सरकारी प्रकार की क्लर्की, जैसे रेलवे, म्युनिसिपल बोर्ड और अन्य स्थानीय संस्थाएँ, जैसे पोर्ट-ट्रस्ट इत्यादि, की क्लर्की ढूँढ़ता है। शिक्षा-पद्धति के विरुद्ध यह भी आरोप है कि यह लड़कों को अपने पैतृक पेशों के लिए भी बेकार बना देती है, क्योंकि वे एक क्षण के लिए हाथ से काम करके अपनी जीविका कमाने की बात नहीं सोच सकते। वे पंचमश्रेणी का क्लर्क होना पसंद करेंगे, चाहे उन्हें उससे हाथ का काम करने से कम ही आमदनी क्यों न हो। वे कृषि को भी हेय दृष्टि से देखने लगते हैं। इस प्रकार हाथ से काम न करने वालों की संख्या बढ़ती जाती है। इसका कारण वर्तमान शिक्षा-प्रणाली का दूषित होना ही है[2] जो अनुत्पादक होने के अतिरिक्त देश की मानसिक शक्ति को नष्ट कर देती है।[3] किसान, हस्तकार्य करने वाले तथा अन्य पिछड़े वर्ग के लोग भी अपने बच्चों को सरकारी नौकरी के लालच में पड़कर स्कूलों और कॉलेजों में भेजने लगे हैं। इस प्रकार वे सामाजिक सीढ़ी के ऊँचे वाले डंडों पर चढ़ रहे हैं। साहित्यिक एवं अर्द्ध साहित्यिक पेशों का यह आकर्षण, जोकि अपनी परिधि में उन वर्गों को भी सन्निविष्ट कर रहा है जिनके पास कोई भी विद्या की पृष्ठभूमि नहीं है, तथा इससे प्रचलित वृत्तिहीनता भी बढ़ रही है। हम यह कहना चाहेंगे कि यद्यपि पिता अपने बच्चों की ठीक प्रकार का पेशा चुनने की कुशलता और दूरदर्शिता नहीं प्रदर्शित करते, किन्तु इसका कारण अंशतः व्यावहारिक शिक्षा—कृषि-टेकनिकल, औद्योगिक एवं व्यावसायिक—का अभाव भी है।

(२) सामाजिक-कारण—कुछ सामाजिक कारण, जैसे जाति-प्रथा शीघ्र विवाह, संयुक्त परिवार और सामुदायिक असमानताएँ, सब शान्त किन्तु सशक्त रूप से नवयुवक

उपयोगितावादी था, फिर भी उन्होंने सरकारी अफसर, वकील, डॉक्टर तथा व्यावसायिक क्लर्क ही उत्पन्न किए। ए० मेहियू, 'दि एजुकेशन ऑफ़ इण्डिया', पृष्ठ १४६।

१. बंगाल समिति का मत है कि शिक्षा का एक ही अन्त है और वह है एम० ए०, एम० एस-सी० या बी० एल०। यह एक बांस के समान है जिसके प्रत्येक जोड़ पर एक परीक्षा है, जिसका व्यास जड़ से चोटी तक प्रायः एक-सा है। इसमें कोई शाखा नहीं है और चोटी का भाग बहुत ही थोड़ा-सा हिस्सा घेरता है। आवश्यकता इस बात की है कि एक सविस्तार शाखापूर्ण वृक्ष उत्पन्न किया जाय जिसकी शाखाएँ यथासम्भव प्रत्येक दिशा में फैली हों, न कि केवल शिर तक एक ही समान हों—देखिए रिपोर्ट 'बंगाल वृत्ति-समिति', अध्याय २६।

२. इसका संकेत मद्रास में वृत्तिहीनों की बड़ी संख्या से मिलता है, जिनमें से अधिकांश कृषकों के लड़के हैं। इसका अनुमान १६३१ की जनगणना के अंकों से लगता है।

३. सर फिलिप हार्टग की गवाही, 'बंगाल समिति' के सामने।

की आर्थिक महत्त्वाकांक्षाओं और भाग्य को निर्धारित करने में क्रियाशील हैं।[1] उदाहरण के लिए जाति-प्रथा युवकों को कितने ही ऐसे धन्धे करने से रोक देती है, जोकि लाभदायक हैं किन्तु जो सामाजिक दृष्टि से निम्न स्तर के माने जाते हैं। शीघ्र विवाह के परिणामस्वरूप नवयुवकों पर शीघ्र ही ज़िम्मेदारी पड़ जाती है और प्रशिक्षा भी अवरुद्ध हो जाती है। संयुक्त परिवार-प्रथा इस प्रकार के उत्तरदायित्व का भार हलका कर देती है और कमजोर तथा असहाय को सहायता और सुरक्षा[2] देकर आर्थिक पराश्रयता को जन्म देती है और वैयक्तिक महत्त्वाकांक्षा तथा प्रतिभा को समाप्त कर देती है। शिक्षित वर्ग में वृत्तिहीनता का एक कारण नवयुवकों में अपने घरबार से दूर जाकर अपने भाग्य-निर्माण की अनिच्छा भी है, जोकि संयुक्त परिवार-प्रथा की देन है। इसके विपरीत मद्रास समिति के मत में इस प्रकार की गतिहीनता अब धीरे-धीरे घट रही है और इसका वृत्तिहीनता पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। वृत्तिहीनता मूलतः माँग से पूर्ति का अधिक होना ही है।[3]

(४) आर्थिक-पिछड़ापन—देश के आर्थिक अविकास का कारण औद्योगिक दृष्टि से देश का पिछड़ा होना है, जिसके परिणामस्वरूप शिक्षित नवयुवकों को वृत्ति के मार्ग नहीं मिलते। विलायत में सेना, नौसेना और सिविल सर्विसेज़ को छोड़कर इस समय देश में कुल १६,००० पेशे हैं। भारत में कुल मिलाकर ४० से भी कम हैं।[4] यह याद रखना चाहिए कि केवल व्यावहारिक शिक्षा देने और उसकी सुविधाएँ करने से ही परिस्थिति पर पूरी तरह से काबू नहीं पाया जा सकता। यह असंदिग्ध है कि इससे देश की औद्योगिक प्रगति तीव्रतर हो जायगी, लेकिन इससे औद्योगिक प्रगति का जन्म नहीं होगा, जब तक कि शिक्षित और प्रशिक्षित लोगों को खपा लेने वाले उद्योगों का विकास और प्रोत्साहन नहीं किया जाता। जैसा कि बंगाल-समिति का मत है—"एक आदर्श सुसंतुलित विकास में आर्थिक प्रगति और टेकनिकल प्रशिक्षा का साथ-साथ विकास होगा, और एक-दूसरे को प्रोत्साहन देंगी। जब एक पीछे रहेगी तो दूसरी को भी रोकेगी और जब एक बढ़ेगी तो दूसरी को भी बढ़ाएगी।" कभी-कभी साधारण आलोचनाओं में देश की साहित्यिक शिक्षण-पद्धति पर अधिक दोषारोपण किया जाता है और जाति-प्रथागत दोषों को बढ़ा-चढ़ाकर प्रदर्शित किया जाता है तथा देश के आर्थिक साधनों के अपूर्ण विकास की ओर ध्यान नहीं दिया जाता। जैसा बार-बार बताया जा चुका है, देश की दरिद्रता का मूल कारण आर्थिक साधनों का

१. देखिए, मद्रास की रिपोर्ट, पृ० १८; खण्ड १, अध्याय ४ भी देखिए।

२. बम्बई की रिपोर्ट से पता चलता है कि ४९·४६% या प्रायः आधे वृत्तिहीन शिक्षित व्यक्ति अपने रिश्तेदारों द्वारा सँभाले जाते हैं। ८·१५% ने अपना जीवन-यापन पहले की बचत पर किया, ७.६७% को कभी-कभी काम मिल जाता था और ४·९१% लोग अपनी सम्पत्ति से होने वाली आय पर निर्भर थे। ऐसी घटनाएँ जिनमें वृत्तिहीन पुरुष को दातव्य पर निर्भर होना पड़ता था, अपेक्षाकृत कम थीं। देखिए, पूर्वोद्धृत, पैरा ९४।

३. मद्रास रिपोर्ट, पृ० १८ और २७।

४. देखिए, आबमकोर रिपोर्ट, पैरा ५८।

अपर्याप्त विकास ही है और यही अन्तिम विश्लेषण में वृत्तिहीनता के सब कारणों में शीर्ष स्थान का अधिकारी है।

१५. वृत्तिहीनता को दूर करने के उपचार : वृत्ति-व्यूरो—वृत्तिहीनता के अनेक कारण हैं, इसलिए इसकी कोई एक रामबाण-औषधि नहीं हो सकती। पहले तो जो उपचार सामने रखे गए हैं उनके ऊपर दृष्टिपात कर लेना चाहिए। सरकार, यूनिवर्सिटी और वैयक्तिक संस्थाओं द्वारा चलाये गए वृत्ति ब्यूरो का सुझाव सामने रखा गया है। उत्तर प्रदेश और पंजाब में नौकरी चाहने वालों और नौकरी देने वालों को एक-दूसरे के सम्पर्क में लाने के लिए वृत्ति-बोर्ड स्थापित किये गए। इनसे अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण और लाभदायक काम होगा यदि कुशलता से इनका प्रबन्ध किया गया तो जनता में एक प्रकार के विश्वास का संचार होगा। हमें ध्यान रखना होगा कि इनसे केवल माँग और पूर्ति में समुचित सन्तुलन ही होगा—विशेष रूप से वैयक्तिक व्यापार में, जहाँ पर काम में लगे व्यक्ति बहुत योग्य नहीं होते। इससे बढ़ती हुई पूर्ति का कोई उपचार प्रस्तुत नहीं किया जा सकेगा।

जन-प्रवास (माइग्रेशन) भी वृत्तिहीनता को दूर करने का एक साधन माना गया है, किन्तु मध्यवर्गीय वृत्तिहीनता एक अखिल-भारतीय प्रकार की है। इससे देश के अन्दर स्थानान्तरण सम्भव न होगा; इससे समस्या की सघनता का देश के सब भागों में समान रूप से वितरण हो जायगा, जैसा कि हम पहले कह चुके हैं। एक देश से दूसरे देश में जाने से भी समस्या का स्थायी निराकरण न हो सकेगा।[1]

१६. वृत्ति-विनिमयालय (एम्प्लायमेण्ट एक्सचेंज)—द्वितीय विश्वयुद्ध में युद्ध की आवश्यकताओं के हेतु अधिकारियों की नियुक्ति के लिए राष्ट्र-सेवा श्रमिक न्यायालय (नेशनल सर्विस लेबर ट्रिब्यूनल) स्थापित किये गए। तब से ये संघ-संगठन शान्तिकाल में भी कुशल और अर्द्ध-कुशल व्यक्तियों की रजिस्ट्री और स्वेच्छा-स्थानान्तरण-काल के लिए प्रसारित और अनुकूल बनाये गए। १९४५ में युद्ध से निकाले गए श्रमिकों और सिपाहियों तथा विस्थापित और छुड़ाये गए पूर्व-सेवकों (ऐक्स-सर्विसमैन) के पुनर्स्थापन और वृत्ति-दान के लिए वृत्ति-पुनर्स्थापन के सामान्य संचालकालय (डायरेक्ट्रेट जनरल ऑफ़ रिसेटलमेण्ट एण्ड एम्प्लायमेन्ट) की स्थापना की गई। इधर हाल में वृत्ति-विनिमयालयों का कार्य-क्षेत्र शरणार्थियों और साधारण रूप से औद्योगिक श्रमिकों से सम्बन्धित वृत्ति और पुनर्स्थापन के लिए पर्याप्त विकसित कर दिया गया है। सम्पूर्ण संगठन संचालक (डायरेक्ट्रेट-जनरल) की अधीनता में है, जिसमें तीन संचालनालय (डायरेक्ट्रेट) हैं—(१) वृत्ति-विनिमयालयों का संचालकालय, (२) प्रशिक्षण संचालकालय (३) प्रसार संचालकालय। देश का विभाजन आठ भागों में किया गया है और जिनमें से प्रत्येक विभाग एक संचालक के अधीन है। देश में ५४ वृत्ति-विनिमयालय और २३ जिला वृत्ति-कार्यालय हैं। केन्द्रीय वृत्ति-विनिमयालय का काम एक अन्तर्प्रान्तीय निकास-गृह (क्लियरिंग-हाउस) का है। यह विभिन्न भागों के श्रम की माँग और पूर्ति को व्यवस्थित करता है।

१. देखिए, खण्ड १, अध्याय ३, सेक्शन २७ और ३३।

१७. बेरोज़गारी का सांख्यिकीय सर्वेक्षण[1]—मई, १९३७ में भारत सरकार ने प्रान्तीय सरकारों को एक परिपत्र भेजा जिसमें उन्हें विस्तृत आँकड़े एकत्र करने पर जोर दिया, ताकि इसे मध्यवर्गीय वृत्तिहीनता की समस्या को हल करने के प्रथम चरण के रूप में रखा जा सके। सबसे आशापूर्ण पथ था वृत्ति-प्राप्त व्यक्तियों की संख्या निर्धारित करना। यह वृत्तिहीनता के आँकड़ों के संकलन से सरल था। भारत सरकार का विचार है कि इस प्रकार के विश्वसनीय आँकड़ों को प्राप्त करने के लिए विधि-निर्माण आवश्यक है। इस प्रकार की विधि केन्द्रीय सरकार द्वारा निर्मित और प्रान्तों द्वारा पूर्ण सहयोग-प्राप्त होनी चाहिए। पहले तो इस प्रकार की जाँच को संगठित उद्योगों तक सीमित रखना होगा। इनमें नियमित कारखानों, खानों और रेलवे का नाम लिया जायगा। इसके बाद गवेषणा को अन्य पेशों और व्यवसायों तक प्रसारित किया जायगा, तदनन्तर अन्य असंगठित पेशों को भी। इस प्रकार के सर्वेक्षण से विभिन्न उद्योगों के श्रम की माँग की भी समीक्षा हो जायगी और उनके लिए आवश्यक योग्यता का भी एक आधार प्राप्त हो जायगा। इस प्रकार के आँकड़ों से विभिन्न उद्योगों और व्यवसायों द्वारा नवयुवकों को मिलने वाली नौकरियों का भी पता चल जायगा और इस प्रकार वृत्तिहीनता से सम्बन्धित विभिन्न नीतियों का निर्धारण किया जा सकेगा। अन्ततः आँकड़ों से जनता की तत्सम्बन्धी माँग भी पूरी हो जायगी तथा इस समस्या पर तथ्यों के प्रकाश में विचार किया जा सकेगा, न कि केवल अनुमानों के आधार पर। हम इस प्रकार के अखिल भारतीय वृत्तिहीनता के सर्वेक्षण का पूरा-पूरा स्वागत करते हैं।[2]

१८. अन्य उपचार—जैसा ऊपर कहा जा चुका है कि हर प्रकार और श्रेणी की वृत्तिहीनता अन्तिम व्याख्या में देश के आर्थिक अविकास और पिछड़ेपन का प्रतिविम्ब-मात्र है। अतएव जिस किसी भी साधन से देश का आर्थिक विकास होगा उससे देश की वृत्तिहीनता की समस्या का समाधान होगा। भौतिक समृद्धि से न केवल वृत्ति के नवीन पथों का उद्घाटन होगा, वरन् देश की समृद्धि के स्तर के उठ जाने से वकीलों, डॉक्टरों, अध्यापकों इत्यादि की भी आवश्यकता बढ़ जायगी। इसी प्रकार समृद्धि-तल के उठ जाने से प्रशासकीय सेवाओं में भी प्रसार होगा और अन्त में हम कह सकते हैं कि सरकार द्वारा देश के आर्थिक पुनरुद्धार के किसी भी कार्य में शिक्षित वर्ग में से व्यक्ति अवश्य लिये जायँगे।

मद्रास समिति ने यह घोषणा की कि "वृत्तिहीनता का प्रधान उपचार शिक्षित

---

१. द्वितीय पंचवर्षीय योजना में देश की बेकारी दूर करने पर विशेष ध्यान दिया जा रहा है। इस समय देश की बेकारी के सम्बन्ध में पूर्ण और सही आँकड़े हमारे पास नहीं हैं। इसके लिए एक सांख्यिकीय सर्वेक्षण योजना-आयोग द्वारा कराया जा रहा है। उसकी रिपोर्ट मिलने पर इस विषय में स्थिति का अधिक सही ज्ञान सम्भव हो सकेगा।

२. इस सम्बन्ध में १९४१ में प्रकाशित गृह-सूची (हाउसहोल्ड शेड्यूल) की ओर ध्यान आकृष्ट किया जा सकता है। इसमें वृत्ति, आंशिक वृत्ति एवं मौसमी वृत्ति का विवरण है। इससे वृत्तिहीनता के सम्बन्ध में बड़े महत्त्वपूर्ण तथ्य प्रकाश में आए।

मध्य-वर्ग के—और विशेषकर उन लोगों के, जो भूमि के अधिकारी हैं—कृषि की ओर झुकने में है और इसमें सुविधा पहुँचाने के लिए यह विचार दिमाग से निकालना होगा कि किसान सामाजिक दृष्टि से वकील, क्लर्क या अध्यापक से निम्न स्तर का अधिकारी है।[1] १९३७ की अपनी रिपोर्ट में बिहार वृत्तिहीनता जाँच समिति ने भी इसी प्रकार का विचार प्रकट किया कि कुछ शिक्षित नवयुवकों को कृषि की ओर आकृष्ट करना और कम-से-कम कस्बों में स्थानान्तरण को रोकना बिहार जैसे कृषि-प्रधान प्रान्त के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

मद्रास समिति का 'क्षेत्र-उपनिवेश' (फार्म कॉलोनीज़) स्थापित करने का प्रस्ताव काफी आकर्षक था, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से उसकी उपयोगिता सीमित थी। पहले तो पंजाब और आसाम जैसे प्रान्तों को छोड़कर शिक्षित वृत्तिहीनों को देने के लिए काफी भूमि नहीं पाई जा सकती, चाहे इसके लिए ग्रामीण समाज और दलित-वर्ग के दावे को थोड़ी देर के लिए भुला भी दिया जाय। दूसरे, यदि यह पता चल गया कि सरकार शिक्षित वृत्तिहीनों के लिए भूमि देगी तो मध्य-वर्ग के लोगों का अपने पुत्रों को स्कूल और कॉलेजों में भेजने का आकर्षण अधिक बढ़ जायगा।

पंजाब वृत्तिहीनता जाँच समिति के बहुमत ने यह सुझाव रखा कि वृत्तिहीनता को कम करने का एक तरीका यह होगा कि उच्चतर शिक्षा के लिए केवल पर्याप्त योग्यता और तीक्ष्ण बुद्धि वाले छात्रों को ही भेजा जाय। वे यदि गरीब हैं तो उन्हें सरकारी सहायता भी दी जाय या उन लोगों को भेजा जाय जो इसकी पूरी कीमत दे सकें (पैरा १६)। हम यह ठीक नहीं समझते कि उच्चशिक्षा को खरचीली बनाने के लिए कुछ भी किया जाय या इसका क्षेत्र संकुचित किया जाय, हालांकि हम यह स्वीकार करते हैं कि छात्रों के अभिभावकों को इस बात का पता लग जाय कि वर्तमान काल में सरकारी नौकरियों के लिए व्यक्तियों की माँग की अपेक्षा पूर्ति बहुत ही अधिक है, और यह कि उन्हें अपने बच्चों के लिए अन्य प्रकार के पेशों की बात सोचनी चाहिए। सप्रू-समिति भी किसी भी कृत्रिम नियम द्वारा विश्वविद्यालयों में प्रवेश को बाधित करने के खिलाफ थी। ट्रावनकोर समिति के इस कथन में अधिक सार है कि हर प्रकार की सरकारी नौकरी को प्रतियोगिता-परीक्षा के आधार पर होना चाहिए। परीक्षाओं को कठोर कर देने और मानदण्ड को ऊँचा उठा देने से कितने ही उम्मीदवार, जो अयोग्य होंगे, छट जायँगे और इस प्रकार की शिक्षा में होंने वाला शक्ति तथा धन का अपव्यय भी न होगा। जो प्रतियोगिता-परीक्षा में फेल होंगे वे जान जायँगे कि उनके लिए सरकारी नौकरी मिलना सम्भव नहीं और इस प्रकार वे अनिश्चित काल तक इस आशा में तो नहीं रहेंगे कि शायद कभी उन्हें सरकारी नौकरी मिल ही जाय। इससे शिक्षा का स्तर भी ऊँचा उठेगा और सेवा के लिए अधिक उपयुक्त व्यक्ति मिलेंगे।

---

१. मद्रास रिपोर्ट, पृ० २५; बंगाल समिति ने भी इसी प्रकार का सुझाव रखा। भूमि-सुधार तथा कृषि-ऋण अधिनियम में परिवर्तन की सिफारिश की ताकि बंगाल के 'भद्रलोग' वर्ग की सहायता हो सके—देखिए, बंगाल वृत्तिहीनता समिति की रिपोर्ट।

नगर-क्षेत्र में कर के तत्त्व बढ़ते जाते हैं तथा इन सब वृद्धियों के सम्मिलित प्रभाव के फलस्वरूप कर का भार भी अधिक हो जाता है। चूँकि ग्राम्य-क्षेत्रों की अपेक्षा नगर-क्षेत्रों की जनसंख्या कम है, अतएव नगरों की अपेक्षा ग्राम्य-क्षेत्र अप्रत्यक्ष करों की राशि में बहुत अधिक देता है।

१४. अप्रत्यक्ष करों का भार अधिक प्रगामी मालूम पड़ता है—मुख्यत: केन्द्रीय करारोपण के सम्बन्ध में। बिक्री-कर तथा राज्य-कर में प्रगामिता नहीं के बराबर है। बिक्री-कर, केन्द्रीय उत्पाद-कर तथा आयात-करों के ऊँचे भार के कारण, केन्द्रीय और राज्य-कर दोनों का भार नागरिक क्षेत्रों में व्यय करने वालों के प्रत्येक वर्ग पर अधिक पड़ता है। इन तीनों करों में, केन्द्रीय उत्पाद-कर में ग्राम्य-नगर कर-भार की असमानता सबसे कम, बिक्री-कर में अधिक तथा आयात-करों में अधिकतम है।

१५. बिक्री-कर प्रगामी होने के बजाय समानुपातिक प्रकृति का अधिक प्रतीत होता है।

१६. ग्राम्य तथा नागरिक कर-भार की विभिन्नता केन्द्रीय उत्पाद-करों की अपेक्षा बिक्री-कर में कहीं अधिक है।

१७. जब नगर के कर-भार में आय-कर तथा ग्रामीण क्षेत्र के कर-भार में मालगुजारी जोड़ दी जाती है, तब ग्रामीण क्षेत्र का सापेक्षिक कम करारोपण—खासकर ऊँची आय वालों पर—स्पष्ट हो जाता है।

१८. व्यवहारत: सारे देश पर मालगुजारी का भार अब अधिक नहीं है।

१९. नगरों में कर-भार बढ़ाने का कोई सामान्य क्षेत्र नहीं है, प्रत्युत अधिक ऊँची ग्रामीण आयों पर अधिक करारोपण का पर्याप्त क्षेत्र मालूम पड़ता है।

२०. यदि करारोपण अन्यथा उचित समझा जाय तो यह जानते हुए कि *ग्राम्य-जनसंख्या का एक बड़ा हिस्सा इसकी सीमा से बाहर रहेगा, ग्राम्य-अर्थ-व्यवस्था* में अद्रव्यात्मक (नॉन-मोनेटाइज्ड सेक्टर) वृहत क्षेत्र करारोपण की सीमा की सूची है, तथा सापेक्षिक आवश्यकताओं के क्षेत्र में करों के बढ़ाने की सम्भावनाओं का निर्देशक है। साधारणत: जनसंख्या का वह भाग, जोकि द्रव्य-अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत है, उस हिस्से की अपेक्षा जो इससे बाहर है, अधिक धनाढ्य तथा कर-भार सहने योग्य है।

२१. अप्रत्यक्ष कर प्रगामी करारोपण के साधन के रूप में एक सीमा तक लगाए जा सकते हैं। करारोपण के आधार को अधिक विस्तृत करने के लिए क्षेत्र है।

२२. युद्ध के प्रारम्भिक काल से लेकर अब तक नगर से ग्राम अथवा ग्राम से नगर की ओर आय में प्रमुख परिवर्तन हो गया है। ऐसा सिद्ध नहीं किया जा सकता, यद्यपि नगर और ग्राम इन दोनों क्षेत्रों के अन्तर्गत विभिन्न वर्गों की आय में उसी क्षेत्र के अन्दर परिवर्तन हो गए हैं।

२३. युद्ध-पूर्व के समय की तुलना से ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रामीण क्षेत्रों की अपेक्षा कुल कर-भार नगर-क्षेत्रों में अधिक बढ़ गया है।

के लिए बचत और विनियोग को प्रोत्साहन देने की भी अत्यन्त आवश्यकता है। इस प्रसंग में चुनाव-सिद्धान्त (सिलेक्टिव प्रिंसिपल) उपयुक्त हैं।

४३. कर-आय में जितनी ही अधिक वृद्धि की इच्छा की जाती है, इसके लिए अप्रत्यक्ष करों को उतना ही अधिक भाग लेना पड़ेगा।

४४. राज्यों की वित्तीय स्वतन्त्रता कम किए बिना ही राज्य-करों के सम्बन्ध में कर-प्रणाली व दरों में एकता लाने के प्रयत्न न्यूनतम आवश्यक एकता तक ही सीमित होने चाहिएँ।

४५. यद्यपि उपकरों के लगाने और प्रयोग करने पर कोई आपत्ति नहीं हो सकती है, परन्तु एक नियम के रूप में कर की राशि विशेष उद्देश्यों के लिए निर्दिष्ट नहीं करनी चाहिए। यद्यपि कुछ उत्पाद-करों के लगाने में संगठित तथा असंगठित उद्योगों में भेद करना न्यायोचित है, फिर भी उद्योग के किसी एक भाग को लाभ देना और दूसरे भाग पर विशेष भार डालना अच्छी नीति नहीं है।

४६. निकट-भविष्य में बाह्य कारणों के संघात को छोड़ देने पर भी, विकास-आयोजन के अर्थ-प्रबन्धन से उत्पन्न और सम्बन्धित मुद्रा-प्रसार की शक्तियों के दृढ़तर बने रहने की सम्भावना है।

४७. हमारी कर-प्रणाली के पास आय-कर व वस्तु-करों के रूप में मुद्रा-प्रसार के विरोध के आवश्यक साधन हैं, किन्तु उन भागों प. भी विशेष कर लगाना आवश्यक हो सकता है जो मुद्रा प्रसार के अवसर पर सबसे अधिक लाभ उठाते हैं। इनमें कुछ विशेप कर, जैसे अतिरिक्त लाभ-कर आदि, का लगाना भी शामिल है।

४८. दीर्घकालीन दृष्टिकोण से आर्थिक स्थायित्व बनाए रखने का ध्येय र्थिक विकास के वृहत ध्येय में विलीन हो जाता है। अतएव हमारी समस्या आर्थिक रस्थितियों के परिवर्तनों के अनुसार सम-आर्थिक विकास को बनाए रखने, सार्व-नेक व्यय के मद और गति, करारोपण के स्तर और रूप तथा सर्वोपरि बजट की गति—बजट अथवा घाटा—को व्यवस्थित करने के लिए आर्थिक एवं अन्य नीतियों समन्वित करना है। आर्थिक नीति के सभी तत्त्व प्रधानतः आर्थिक विकास की नवायु से समन्वित होने चाहिएँ।

४९. अतिरिक्त लाभ-कर अत्यधिक मुद्रा-प्रसार के समय लगाने के लिए सुर-ित रखा जा सकता है, परन्तु उसे कर-प्रणाली का साधारण अंग न बन जाने देना ाहिए।

५०. वस्तु-कर में जो वृद्धि हुई हैं अथवा भविष्य में जो वृद्धि होगी, इसे ध्यान रखते हुए नमक-कर का भार हल्का होने के कारण ही उसे न्यायोचित नहीं ठह-या जा सकता।

५१. विधान की २८३वीं धारा के अन्तर्गत राज्यों तथा राज्यों और संघ के ाच राज्यों की कर-नीति व कर-प्रशासन को समन्वित करने के लिए एक अखिल-ारतीय-करारोपण-परिषद् (आल-इण्डिया टेक्सेशन कौंसिल) की स्थापना की ाफारिश की गई है।

अन्त में यह ध्यान में रखना अनिवार्य है कि शैक्षिक पद्धति के परिवर्तन के साथ-ही-साथ समाज-प्रथा में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन होना आवश्यक है। सब पुरानी तथा खूसट प्रथाएँ और विचार, जिनसे आर्थिक विकास में बाधा पहुँचती है, उन्हें दूर करना होगा; उनकी कठोर आलोचना करनी होगी, क्योंकि जैसा कि साडलर-आयोग का मत है—"किसी भी राष्ट्र की शिक्षा केवल स्कूलों और कॉलेजों में नहीं मिलती। उनमें अन्य प्रभाव भी मिल जाते हैं, जैसे जाति की प्राण-शक्ति और विचारधारा, प्रचलित विश्वासों, आशाओं और विचारों का प्रभाव, कौटुम्बिक जीवन का प्रभाव, इसके सामाजिक संगठनों तथा नियमों का प्रतिबन्ध और जीविका के लिए काम की दशाओं का प्रभाव।"

१६. सप्रू (वृत्तिहीनता) समिति—यहाँ हम सप्रू-समिति के कुछ महत्त्वपूर्ण सुझावों की ओर संकेत करना चाहेंगे। यह समिति युक्तप्रान्त की वृत्तिहीनता की जाँच के लिए नियुक्त की गई थी, किन्तु इसके सुझावों को समस्त भारत पर लागू किया जा सकता है। इन्हें हम इस प्रकार विभाजित करते हैं—(क) वे, जोकि शिक्षित व्यक्तियों की माँग बढ़ाने से सम्बन्ध रखते हैं; (ख) वे, जो पूर्ति की अधिकता को कम करने से सम्बन्ध रखते हैं; (ग) वे, जिनका उद्देश्य वास्तविक माँग और पूर्ति का समुचित सन्तुलन स्थापित करना है।

(१) जिला और नगरपालिकाओं को बाध्य करना चाहिए कि वे सड़कों और इमारतों को अपनी स्थिति में रखने के लिए कुशल और योग्य इंजीनियर तथा निरीक्षकों को नियुक्त करें। यदि सरकार चाहे तो जन-औषधि-सहायता के प्रसार द्वारा सुयोग्य व्यक्तियों को रोजी दे सकती है। जनता के अस्पतालों में अधिक डॉक्टरों की नियुक्ति—देशी दवाओं और जड़ी-बूटियों की प्रभविष्णुता की छानबीन के लिए भी डॉक्टरों की नियुक्ति कर सकती है। नगरपालिकाओं तथा जिला-बोर्डों को चाहिए कि वे जनता के स्वास्थ्य और स्वच्छता की देख-रेख के लिए योग्य व्यक्तियों को नियुक्त करें। क़ानून के पेशे में होने वाली भीड़ का निराकरण करने के लिए यह आवश्यक होगा कि लोग क़ानून की विशेष शाखाओं में विशिष्टता प्राप्त करें। उदाहरण के लिए, कुछ लोग केवल दस्तावेज़ की रूपरेखा तैयार करने में विशेष योग्यता प्राप्त करें और कुछ मुकदमों की बहस में इत्यादि···। ५५ साल पर सेवा से विरत करने के नियम का कठोरता से पालन किया जाना चाहिए, ताकि नवयुवकों को तुरन्त अवसर प्राप्त हो सके। बड़े और छोटे पैमाने के उद्योगों को साथ-ही-साथ प्रेरणा देनी चाहिए, ताकि वे बड़ी संख्या में नवयुवकों को खपा सकें। अनिवार्य-प्रारम्भिक-शिक्षा प्रचलित करने का जोर-शोर से प्रयास किया जाना चाहिए। इसके बिना देश की आर्थिक प्रगति में बड़ी अड़चनें पड़ेंगी। इसका अर्थ यह होगा कि शिक्षकों की माँग बढ़ेगी और वृत्तिहीनता की समस्या का आंशिक हल प्रस्तुत होगा।

(२) हाई स्कूल-परीक्षा में दो प्रकार के प्रमाण-पत्र प्राप्त होने चाहिएँ। एक तो शिक्षा की समाप्ति का होना चाहिए और उन छात्रों को सहायक सरकारी नौकरियों में स्थान मिलने की योग्यता के प्रमाण-पत्रस्वरूप होना चाहिए, जिससे

अवसर पड़ने पर औद्योगिक, कृषि और अन्य व्यावसायिक स्कूलों में भी प्रवेश पा सकें। दूसरा प्रमाण-पत्र कला और विज्ञान के महाविद्यालयों में प्रवेश पाने के लिए होना चाहिए। इस प्रकार कितने ही छात्र, जो विश्वविद्यालय की शिक्षा के लिए अयोग्य होंगे, अपनी उच्च-माध्यमिक शिक्षा समाप्त करके ही लाभदायक कामों में लग जायँगे। इस प्रकार वृत्ति के लिए अनुपयुक्त स्नातकों की संख्या घट जायगी।

(३) व्यावहारिक शिक्षा के लिए मिलने वाली सुविधाएँ भी बढ़ानी चाहिएँ। समग्र रूप से—और विशेष रूप से प्रारम्भिक कक्षाओं में—शिक्षा की प्रवृत्ति व्यावहारिक और ग्रामीण होनी चाहिए। दवा-दारू की शिक्षा प्राप्त करने और डॉक्टरी पेशा अख्तियार करने वालों को चाहिए कि सरकार उन्हें ग्रामीण क्षेत्रों में बसने की सुविधा और सहायता दे। इस प्रकार बड़े नगरों से डॉक्टरों की भीड़ भी कम हो जायगी। फार्मेसी, डेन्टिस्ट्री (दाँत की विद्या), हिसाब-किताब, निर्माण और वास्तुकला, पुस्तकाध्यक्ष की शिक्षा, बीमा-कार्य और अखबारनवीसी जैसे पेशों का विकास करना चाहिए। ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि डिप्लोमा-प्राप्त व्यक्ति तथा कृषि-स्नातक वैज्ञानिक कृषि को जीविका के साधन के रूप में अपनाएँ। उनके लिए वैज्ञानिक पशुपालन में भी खपत होगी। यह भी कोशिश करनी चाहिए कि योग्य शिक्षित व्यक्ति नौकरी के लिए व्यवसाय-गृहों के सम्पर्क में आ सकें। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए विभिन्न खण्डों में पेशों की रहनुमाई के लिए प्राधिकारियों की नियुक्ति करनी चाहिए। सरकार को चाहिए कि समन्वित जीवन-पथों की सूचना दिया करें और इस प्रकार की व्यवस्था संगठित करें कि अभिभावकों को उनके लड़कों की मानसिक और शारीरिक कुशलता की परीक्षा करके उनके आगे की गति के विषय में सलाह दें। माध्यमिक पाठशालाओं को चाहिए कि वे अध्ययन के और भी अधिक विविध पाठ्य-क्रम निर्धारित करें। विश्वविद्यालयों में वैज्ञानिक और पेशे की शिक्षा पर अधिक ज़ोर दें। कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी के नियुक्ति-संघ (अपॉइण्टमेण्ट्स बोर्ड्स) के ढंग का नियुक्ति-संघ यहाँ भी बनाया जाना चाहिए, जिसमें यूनिवर्सिटियों के उप-कुलपति, कुछ विभागाध्यक्ष (उदाहरण के लिए शिक्षा, उद्योग और कृषि) तथा कुछ जनता के व्यक्ति और कुछ यूरोपीय तथा भारतीय व्यापारी हों। इसी प्रकार माध्यमिक पाठशालाओं के उत्पादनों की समस्या को सुलझाने के लिए भी संघों की नियुक्ति की जानी चाहिए। इन बोर्डों को चाहिए कि वे विश्वविद्यालयों के स्नातक तथा स्कूल और कॉलेजों के छात्रों की वृत्ति की समस्या सुलझाएँ।

समस्या का वास्तविक समाधान प्रत्येक प्रकार के सम्भव तरीकों से उद्योग और कृषि दोनों का उत्पादन बढ़ाने में ही है। खाद्यान्नों की वृद्धि सिंचाई-योजनाओं वृद्धि, बड़े और छोटे पैमाने के उद्योगों को प्रोत्साहन देने तथा जहाँ आवश्यक सरकारी सहायता से की जाय, ताकि वैयक्तिक साहसिक कार्यों को सहायता मिले। । प्रकार वृत्तिहीनता की समस्या को सुलझाया जा सकता है।

परिशिष्ट १

कर-जाँच-आयोग की सिफारिशों और निष्कर्षों का संक्षेप (१९५३-५४)

खण्ड १—कर-प्रणाली[1]

अध्याय २—कर-प्रणाली तथा सार्वजनिक आय की प्रवृत्तियाँ

१. अन्य संघों से तुलना करते हुए सार्वजनिक आय वसूलने व खर्च करने का क्षेत्र भारत में अधिक विस्तृत है, जो हमारी संघ-शासन-प्रणाली की राज्य-सरकारों का अधिक महत्त्व प्रदर्शित करता है।

२. साधारणतः पिछली दो या तीन दशाब्दियों में औसतन राष्ट्रीय-कर-वृद्धि में कोई प्रयत्न नहीं हुआ है, जबकि राष्ट्रीय आय और सार्वजनिक आय द्रव्य के रूप में एक-दूसरे के समन्वय में रही हैं, परन्तु इनमें कोई वास्तविक वृद्धि नहीं है। राष्ट्रीय आय और सार्वजनिक आय का विवरण देश की विभिन्न श्रेणियों के मध्य बदल गया है।

३. केन्द्रीय, राज्य और स्थानीय सरकारों की आय की प्रवृत्तियों (ट्रेण्ड्स) की तुलना करने पर जो महत्त्वपूर्ण बात मालूम होती है, वह यह है कि स्थानीय संस्थाओं की आय की वृद्धि धीमी है।

४. केन्द्रीय कर-प्राप्ति में राज्य सरकारों द्वारा भाग लेने तथा केन्द्रीय सरकार द्वारा साधारण और विशिष्ट कार्यों के लिए पर्याप्त अनुदान (सब्स्टेंशल ग्राण्ट्स) की व्यवस्था ने राज्यों की आय को लोचदार बना दिया है, जोकि युद्ध के पूर्व नहीं थी। युद्ध-पूर्व की तुलना में उपकरों में भी, जोकि राज्यों द्वारा लगाए व रखे जाते हैं, अपेक्षाकृत अधिक लचीलापन है।

५. केन्द्रीय व राज्यों की आय सचमुच ही राज्य सरकारों के राजस्व के लिए मिला दी गई है तथा केन्द्र और राज्य की आयों का पुराना झगड़ा बहुत-कुछ मिट गया है। इस हद तक भारतीय सार्वजनिक राजस्व बहुत-कुछ सुव्यवस्थित हो गया है।

---

१. कर-जाँच-आयोग की रिपोर्ट तीन खण्डों में प्रस्तुत की गई है। प्रथम खण्ड सम्पूर्ण कर-प्रणाली से सम्बन्धित है तथा द्वितीय और तृतीय खण्ड केन्द्रीय, राज्यीय और स्थानीय करों से सम्बन्धित हैं। यहाँ सम्पूर्ण कर प्रणाली के सम्बन्ध में खण्ड १ का संक्षेप प्रस्तुत किया गया है।

अध्याय ३—सार्वजनिक व्यय की प्रवृत्तियाँ

६. अनुत्पादक व्ययों को रोकने की आवश्यकता, चाहे वह केन्द्र में
राज्यों में, स्वतः इतनी महत्त्वपूर्ण है कि उस पर अधिक बल देने की आवश
नहीं है। अधिकतम उन्नति के प्रयत्नों में, जबकि व्यय-सम्बन्धी लक्ष्य का एक
महत्त्व होता है, विकास-क्षेत्र के व्यय में भी मितव्ययिता व बरबादी के बच
सम्भावना रहती है। हम केन्द्रीय तथा राज्य-सरकारों के सार्वजनिक व्यय की
जाँच की आवश्यकता से प्रभावित हैं और यह प्रस्ताव रखते हैं कि ऐसी जाँच
शक्तिशाली संस्था द्वारा शीघ्रातिशीघ्र की जायँ।

७. युद्ध-काल से केन्द्रीय तथा राज्य-सरकारों के अनुत्पादक व्यय की
में उत्पादक व्यय का अधिक महत्त्व उल्लेख्य है।

८. भारतीय सार्वजनिक व्यय, जिस हद तक आर्थिक असमानताओं क
करता है और इस प्रकार से कर-प्रणाली के इस ध्येय की प्राप्ति में सहायता प
है, इस दृष्टि से कम महत्त्व रखता है कि सार्वजनिक व्यय का समस्त
सम्पूर्ण राष्ट्रीय आय का एक बहुत छोटा अंश है तथा इसके अतिरिक्त कम
वालों पर सामाजिक कल्याण व सरकारी सहायता (सोशल वैलफेयर एण्ड स
के व्यय की मदें अधिक महत्त्व नहीं रखतीं।

९. साथ ही प्रादेशिक असमानताओं को ठीक करना भारतीय सार्व
व्यय के साथ समस्त राजस्व का भी एक प्रमुख लक्षण है।

१०. अन्तर्राज्यीय प्रसाधनों में असमानता को कम करने के लिए पुन
का कार्य न केवल राष्ट्रीय स्तर पर होता है, वरन् स्वयं राज्यों के क्षेत्रों में भी
सम्भवतः ग्रामीण तथा शहरी क्षेत्रों की आवश्यकताओं व प्रसाधनों की असमा
को कम करके यह उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण ढंग से काम करता है।

११. सामाजिक कल्याण पर किया जाने वाला व्यय कर-प्रणाली की
प्रियता को बढ़ाता है, जबकि इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण, उत्पादक व्यय दीर्घ
सचमुच ही देश के लोगों की कर देने की क्षमता को बढ़ाता है।

१२. भारतीय सार्वजनिक व्यय की बनावट तथा हाल के वर्षों में
प्रवृत्तियों ने देश की आर्थिक व सामाजिक असमानताओं में मामूली कमी की
इस हद तक कर-भार की वृद्धि से लोगों को समन्वय स्थापित करना चाहिए।
के सार्वजनिक राजस्व के पुनर्वितरण के प्रयत्न तब तक महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं
कर सकते, जब तक कि राष्ट्रीय आय से सार्वजनिक आय व सार्वजनिक
अनुपात इतने कम रहेंगे जितने कि वर्तमान काल में हैं।

अध्याय ५—कर-भार : विश्लेषण

१३. ग्राम से नगर की ओर चलने तथा क्षेत्र के अधिक शहरी
(१) प्रति व्यक्ति व्यय का स्तर ऊँचा होता जाता है, (२) कुल व्यय से प्रति
नकद व्यय का अनुपात बढ़ता जाता है, तथा (३) अधिक कर वाली वस्तुओं प
व्यय होने के फलस्वरूप प्रति व्यक्ति नकद व्यय में कर का अनुपात बढ़ता जाता है